ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

१ धर्म और राजनीति।

(ले०- श्री भ० मायानन्द चैतन्यजी, औपधर्मप्रकाशक, विज्ञान-शाला, ओंकार-मांधाता)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
गीतोपनिषद् ३।२६

[illegible] सम्पूर्ण विश्वमें स्थायी सत् कल्याण अवलोकन [illegible]रनेकी इच्छा करनेवाले जनो,

[illegible] वह महत् शक्ति अविद्या (अज्ञान) है जो बुद्धि-भेद उत्पन्न करके मनुष्य मात्रका अकल्याण करती है। श्रुतिकालसे श्रीकृष्णजी तक सब विभूतियां और सब सत्पुरुष भी इसके प्रभावसे बचने नहीं पाये। 'अच्छे शुभ कर्म करना चाहिये, जैसे जो [illegible] प्रचलित हुए उनका कारण अधिकतर इस [illegible]विद्या का भय ही है न कि समष्टि धर्मका व्यापक अर्थ[illegible]

[illegible] न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्यात् विद्वांस्तथाऽसक्तः चिकीर्षु लोकसंग्रहम्।
गीतो० ३।२३,२५

"आलस छोडकर यदि मैं लोकसंग्रहात्मक स्वभावज कर्म करनेको तत्पर न रहूं, तो ये मनुष्य सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करेंगे। जिस प्रकार अज्ञानी लोग किसी भी कालमें आसक्तिसे काम करते हैं, उसी प्रकार लगातार किन्तु कर्मफलके संबंधमें अनासक्त रहकर लोकसंग्रह करनेके इच्छुक विज्ञानी पुरुषको अपना कर्तव्य (स्वभाव-धर्माचरण) करने चाहिए।" यही उपर्युक्त श्लोकोंका भाव है। भगवान् श्रीकृष्णके बतलाये इस सिद्धान्त के अनुसार इस भयकी भावना सब देशोंके सभी समाजोंमें दिखाई देती है। किंबहुना यही भय सभी मानवजातियोंके पीछे पडा है। यह भय तब तक पूर्ण रीतिसे नष्ट नहीं होता, जबतक 'दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं होती। जब तक दिव्यचक्षु की प्राप्ति नहीं होती तब तक पूर्ण और स्पष्ट बोध नहीं होता कि धर्म क्या चीज है?

बुद्धिभेदका वास्तविक स्वरूप क्या है?

श्रीकृष्णका परम मित्र, राजनीतिनिपुण, क्षत्रियवीरश्रेष्ठ अर्जुन भी पुष्पिताग्रजीवान्, श्रेष्ठ अर्थी, पण्डित मन्वोंके इस प्रकारके अविद्यारूप मोहजालमें फँस गया और किंकर्तव्यमूढ होकर वह कबूल करता है कि-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यत् श्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
गीतोप० २।७

परोक्ष ज्ञान और शब्द ज्ञान बहुतोंने दिया, तब भी श्रुति-कालसे वेदव्यासजी तक और उनके विचारोंका स्व-बुद्धिसे विचार करनेवाले सब आचार्यों तक किसीनेभी प्रत्यक्ष और यथार्थ दृढ निश्चय नहीं कराया। इससे राजधर्म, प्रजाधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, जातिभेदधर्म, देशधर्म, प्रांतधर्म, व्यक्तिधर्म व मनसोक्त धर्म आदि मनुष्यकल्पनानिर्मित बुद्धिभेदरूप भिन्न भिन्न सामाजिक बंधनोंके 'कर्मों' कोही लोग 'धर्म' समझ बैठे।

अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र धर्मरहित हैं और धर्मसे इनका कोई संबंध नहीं, ऐसे प्रलाप ये पर-प्रत्ययनेय बुद्धिके लोग करने लगे।

धर्मही सब कर्मोंका मूल (कर्ता) है।

और धर्मरहित अवस्था का दृश्यही नहीं दिख सकता। किसी भी प्रकार की संस्था क्यों न हो,वह वस्तुतः धर्मसे ही उदय होती है। इसका बोध सर्वथैव नष्ट हुआ। इसलिये प्रथम देखें कि 'धर्म' क्या है। धारण किया हुआ जो स्वभाव—धर्म अर्थात् ईश्वरी स्वभाव (सत्) उसे 'धर्म' संज्ञा है। इसमें 'धर्म' विषयक सभी अर्थोंके हेतु अंतर्गत होते हैं। व्याकरण की दृष्टिसे वस्तुके अनेक रूप नहीं हो सकते, कल्पनाजन्य अनेकविध नाम हो सकते हैं। धर्मके इस स्वरूप की प्रत्यक्षानुभवसे परीक्षा करके देखें क्या निष्कर्ष निकलता है—

'एकोऽहं बहु स्याम्' 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदंति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का हेतु यही दर्शानेका है कि 'एक रहते हुए भी बहुरूपोंमें दिखाई देता हूं'। इसमें धर्मका स्वरूप अभिप्रेत है। क्यों कि एक रहते हुए अनेक होनेका जो कारण है उस कारण(स्वभाव) का नाम 'धर्म' है। 'स्वभाव' या धर्म परस्पर पर्याय की संज्ञाएं हैं और वे एक ही हेतु का बोध कराती हैं। यह स्वभावरूप 'धर्म' ही सब जीवमात्र, वस्तुमात्र अथवा विश्वमात्रमें 'क्षर' स्वरूपजन्य (महद् ब्रह्म या प्रकृतिजन्य) त्रिगुणोंके साथ चक्रगतिमें घूमता है और चार वर्ण, सोलह भेद, तथा चौसट प्रकारके भेद-दृश्य तथा उनके अनेकविध उपप्रकार बनाता हुआ कार्यकर्ता होता है। इसीसे प्रकृति गुणोंके इस स्वभावको अर्थात् 'वर्ण' स्वभावको 'धर्म' संज्ञा प्राप्त होती है; यह 'वर्ण धर्म' पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार इस जन्ममें प्राप्त होता है। जाति तथा जातिभेद, संप्रदाय तथा संप्रदाय भेद आदि मनुष्यकृत कल्पनाओंसे उत्पन्न हुए मान-लिये हुए धर्मकर्म उक्त स्वभाव नियत वर्ण धर्मको सर्वथैव बदल नहीं सकते। अत्यन्त दरिद्री पुरुषसे लेकर अत्यन्त श्रीमान् पुरुष तक, यही नहीं किन्तु सब जातिकी प्रजाओंसे सब जातिकी राजशक्तियों तक जो अनेकविध दृश्य हैं उन सबमें यह वर्णधर्म रहता ही है। इस कारण वर्णधर्मका वास्तविक व्यापक स्वरूप पृथ्वीतल पर स्थित सभी मनुष्योंमें एकही ज्ञान, एकही धर्म, और एकही उपासना के रूपमें प्रकट होता है और इसका आरम्भ शुद्ध प्रेमसे है। यदि किसी प्रजा या राजाको यह लगता है कि निजधर्मका अर्थात् वर्णस्वभावधर्मका त्याग करके कोई भी कर्म कर सकेंगे तो वह भ्रम है।

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
गीतोपनिषद् १८।६०

यह श्रीकृष्ण प्रतिज्ञा इसकी साक्षी है। 'धर्म' की यह परिभाषा दृढ प्रतिज्ञापूर्वक राजकाजपटु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं बतलाते हैं। उक्त विवेचन से विदित होगा कि इसका बीज क्या है।

'राजकाज' और 'धर्म' भिन्न नहीं हैं। जो मनुष्य धर्म को 'राजकाज' से अलग करने की इच्छा करता है,समझ लेना चाहिये कि उस मनुष्यको धर्म का वास्तविक ज्ञान नहीं है।

धर्म और कर्म का स्वरूप।

दृश्य पदार्थों में धर्म (स्वभाव, गुण) तथा [illegible] के स्वभावज गुण विद्यमान हैं। वेद के षड् [illegible] इसका विचार अच्छी तरह किया है। [illegible]शास्त्रने खगोलके कुछ विशेष नक्षत्रों तथा ग्रहों को लेकर उनके धर्म-कर्मका वर्णन किया और कल्प-शास्त्रने (वैद्यकशास्त्रने) वस्तुधर्म (निदान) और तज्जन्य कर्म (चिकित्सा) का विवरण कर जनता के लिए लाभकारी वैद्यकशास्त्र की रचना की। इसी प्रकार अन्य वेदांगों के संबंध में समझना चाहिए। धर्म और कर्म येही नियम उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इस चतुर्विध सृष्टिमें भी हैं। परंतु इस लेखमें जरायुज योनि-श्रेष्ठ मनुष्यदेह का विचार करना है। अतः उसके धर्म-कर्म का वास्तविक जीवकल्पना का मिश्रणरहित स्वरूप क्या है सो तथा देखेंगे। प्रकृतिस्वभावसे विश्व में स्थित मनुष्यमात्र निम्नलिखित नियमों में बंधा है।

स्ववर्ण	स्वधर्म	स्वकर्म
१ 'ब्राह्मण'	सत्व रज, तम .॥. '।' '।'	शम,दम,तप,शौच शांति,ज्ञान,विज्ञान और आस्तिक्य
२ 'क्षत्रिय'	रज,सत्व, तम .॥. .।. '।'	शौर्य, तेज धृति, दक्षता, अपलायन,दान, ईश्वरभाव
३ 'वैश्य'	रज, तम, सत्व .॥. .।. .।.	कृषि, गोरक्षा, और व्यापार
४ 'शूद्र'	तम, सत्व, रज, .॥. .।. .।.	त्रिवर्णों की सेवा

आत्मस्वभाव में कौन कौन वर्ण, धर्म और कर्म प्राप्त होते हैं इसका उपर्युक्त दिग्दर्शन गीतामें बहुत संक्षेप में दिया है; ('गीतोपनिषद्' १८।४०-४४ और १४।१० देखिये) किन्तु विवेकवान् पुरुष उसे समझ सकता है। जिन्हें आत्मविवेक नहीं है, ऐसे लोग मलिन-रजोगुणी भावना में फंसकर कल्पना करने लगते हैं कि राजनैतिक आंदोलन से धर्म का बहिष्कार करो, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में धर्म को स्थान नहीं है। इसी विचार की हवा लोकसमूह में चलपडती है और वे भी इसी प्रकार की समझ बना बैठते हैं। इसलिये आवश्यक है कि इस विषय में आर्य-पुरुषों के प्राचीन राजनैतिक शास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्रका यथार्थ स्वरूप विशद किया जाय। तब मननपूर्वक उसका अवलोकन करने से धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ में आवेगा।

धर्मशास्त्र के यथार्थस्वरूप की मीमांसा।

'शास्त्र' प्रत्यक्षानुभवरूप होता है। प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान और बौद्धिक प्रत्यक्ष ज्ञान पर वह स्थित होता है। अतएव नरदेह के पंच ज्ञानेंद्रिय और मन, बुद्धि तथा अहंकार ये जो प्रत्यक्ष ज्ञान के अष्टविध साधन हैं उनसे पिण्डब्रह्माण्ड के अर्थात् व्यष्टिसमष्टि के एकरूपताका अनुभव लेकर इसके आधारपर प्राकृतिक नियमों का अवलोकन करते हुए सिद्धान्त स्थिर करने पडते हैं। साथ ही व्यष्टिसमष्टि में पुनः उसका अनुभव भी देखना पडता है। इस प्रकार का शास्त्रसंशोधन करके सत् को सिद्ध करने के लिए पूर्वग्रहदोषरहित शुद्ध बुद्धि की (सात्विक श्रद्धा की) आवश्यकता होती है। इस प्रकार की धर्मशास्त्रसिद्धि पूर्वयुग में प्रथमतः श्रीमान् विवस्वान् आदिनारायण ने की और उन से यह विश्वकल्याणकारी सत् ज्ञान जगत् को प्रथम प्राप्त हुआ और अनुभवयुक्त स्वधर्म की प्राप्ति हुई। उसका यथार्थ रहस्य जानकर आचरणद्वारा उक्त चारों वर्णोंके पुरुषों ने खुद का अनुभव इस प्रकार कथन किया –

*

१ चातुर्वर्ण्यस्थित 'ब्राह्मण वर्ण' अपने स्वभाव के तत्त्व का कथन इस प्रकार करता है- 'श्रीमान् राजपुरुष से किसी सामान्य दरिद्री मनुष्यतक सभी मनुष्यमात्र को प्रथमतः सत् उपदेश की आवश्यकता है। यदि बाल्यकाल ही से सत् उपदेश किसी समाज को मिलता जावे,तो वह समाज, वह राजनीति, इत्यादि के जीवनसंबंधी कार्य अति सुंदर होने लगते हैं। यदि ऐसा सत् उपदेश न मिले तो आसुरी संपत्ति के दृश्य वहां दिखते रहेंगे और उसी दशामें देहत्याग करना पडता है। वहां मनुष्य-शरीर की पूर्ण उन्नति नहीं दिखाई देगी। सत् निश्चय प्राप्त करके सत् तत्त्वका उपदेश बनने के लिये मनोनिग्रह (शम), इन्द्रियों का यथार्थ व्यवहार (दम), सत् विचार की धारणा (तप), घृणारहित अर्थात् द्वेषरहित वृत्ति (शौच),शांति, सब के साथ प्रेमयुक्त व्यवहार (आर्जव) और क्षर प्रकृति स्वभाव के स्वरूप का परिज्ञान (ज्ञान), ज्ञानाधिष्ठान प्रत्यक्ष होना (विज्ञान) तथा प्रत्यक्ष स्वानुभव में उस अनुभव की स्थायी स्थिति कायम रहना (आस्तिक्य) इस प्रकार नवविध स्वभाव कर्म रचना होने की आवश्यकता होती है। यदि पुरुष इस पर आरूढ न हुआ तो वह सच्चा उपदेशक बन नहीं सकता। इन गुणों से संपन्न पुरुष ही वस्तुतः राजमन्त्री होने के लिए लायक होता है। वही मन्त्रिपद के यथार्थ कार्य को करने की योग्यता का भाजन बन सकता है। जहां ब्राह्मणवर्ण धर्मवान् अनुभवी पुरुष मंत्री न होगा, उस राज्यसंस्था का

क्षय जल्दही होने लगता है। सब देशों के इतिहास में इसके लिये प्रमाण मिलेंगे। परन्तु उस प्रकार के प्रमाण देना इस लेख की मर्यादा के बाहर की बात है। अतएव यदि सुज्ञ वाचक उन देशों के ऐतिहासिक ग्रन्थों का सूक्ष्म अवलोकन करें तो इस सिद्धान्त की सत्यता के प्रमाण उन्हें मिल जावेंगे। अस्तु। इसीका नाम 'नीति' है। अन्य तीनों वर्णों का कल्याण इस नीतिधर्म का उत्तम रीतिसे पालन करने ही में है।"

२ इसके पश्चात् राजनीतिज्ञ पुरुष राजर्षि बोला, "मेरे स्वभावज धर्म का कर्तव्य शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धक्षेत्र से अ-पलायन, दानवृत्ति और सम्पूर्ण प्रजा को ईश्वरस्वरूप जानना इस प्रकार मुख्यतः सात प्रकारका है। इसके अन्दर कई शाखा-उपशाखाएं भी हैं। ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र इन तीन वर्णों के स्वभावज कर्मोंका उचित रक्षण होने के लिये ये कर्म स्वधर्म के अनुसार धारण किये गये हैं। राजनीति में धर्म-कर्म और उसकी सब शाखाएं शामिल हैं। क्षात्रधर्म का मूल हेतु है कि तीन वर्णों का संरक्षण करे।"

३ अनन्तर वैश्यधर्मवान् पुरुष बोला, "मेरे स्वभावज धर्म के काम हैं कृषि, जीवरक्षा और व्यापार। इसमें तीनों वर्णों के धर्म-कर्म का साधन भरा हुआ स्पष्ट ही है।"

४ शूद्रधर्मवान् पुरुष बोला, "ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इनके कर्मोंमें जिस जिस कार्य की आवश्यकता होगी उस उस कार्य में सहायता करना ही मेरे स्वभाव धर्म का एकविध कर्तव्य कर्म है।"

अब तक वर्णन किये हुए 'धर्म-कर्म' से 'राजनीति' भिन्न नहीं है। वह भिन्न रहभी तो नहीं सकती। साधारण विवेकी मनुष्य भी इस बात को जान सकता है। ऊपर ब्राह्मणवर्ण के धर्मकर्मों का दिग्दर्शन आया है। उससे सहज ही विदित होगा कि वे राजनीति के पोषक ही हैं। वे व्यापारी वर्ग को (वैश्य धर्म को) जागृत करनेवाले और शूद्र वर्ण को सत्य का बोध करनेवाले हैं। राजनीति कदापि प्रतिपादन नहीं कर सकती कि ब्राह्मणवर्ण के विश्वकल्याणकारी स्वभावज कर्मों में विघ्न करनेवाली व्यक्ति को दण्ड न दो। राजनीति यहभी नहीं कहती वैश्य वर्ण के विश्वकल्याणकारी कृषि, व्यापार और जीवरक्षा जैसे कार्यत्रयहेतु के कारण होनेवाले कर्मों में बाधा उत्पन्न करनेवाले का नियमन न करना चाहिये। किंबहुना राजनीति में यह भी व्यवहार संभव नहीं कि शूद्र से द्वेष करके उस की यथार्थ आजीविका में बाधा डालनेवाली व्यक्ति को सजा न दे छोड दिया जाय। राजनीतिको पृथक् करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषों को अवश्यमेव ध्यान देना चाहिए कि—

जो सब कर्मोंमें जय देता है, वही धर्म है।

'यतो धर्मस्ततो जयः' यह तो अनुभव का सिद्धान्त है। 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः०' यह गीतावचन मिथ्या नहीं है। उसमें भी अनुभव का ही रहस्य संचित है। स्वधर्म का आचरण करनेवाले सज्जन पुरुषों का आदर राजशक्ति करती है। क्योंकि ये सब कर्म लोककल्याणकारी होने के कारण उनपर जो पुरुष आरूढ हैं, वे वस्तुतः राजशक्ति को अनेक रूपोंसे बल देनेवाले हैं। ब्राह्मण वर्ण राजशक्ति को 'ज्ञानबल' देता है, क्षत्रिय वर्ण 'शौर्यबल' देता है, वैश्य 'धनबल' और शूद्र 'सेवाबल' देता है। क्षात्रबलप्रधान राजशक्ति पर जब परराष्ट्र का आक्रमण होता है, उस समय ब्राह्मणवर्णधर्मवान् मन्त्री को छोड 'साम, दाम, दण्ड, भेद' की राजनीति अन्य कौन दिखा सकेगा? यदि वैश्यधर्म के लोग राजशक्ति को अन्न धन आदि के द्वारा समय समय पर सहायता न दें, तो सेनासमूह का प्रबन्ध यथोचित न रहेगा, उसमें गडबड मचेगी और उस का नाश भी त्वरित होगा। ऐसे समय शूद्रवर्ण अपने स्वभावज धर्म का यथार्थ आचरण न करेगा तो सब प्रकार का साहित्य कौन लावे-लेजावेगा? घायलों की शुश्रूषा और मृत सैनिकों की अन्त्येष्टि कौन करेगा?

धर्मग्लानि का स्वरूप ।

जो लोग किसी एक विभूति पुरुष से प्रचलित हुई खास कर्मोपासना और मत को ही 'धर्म' समझते हैं और मानते हैं तथा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' को हर कोई चरितार्थ करे ऐसी ही जिन लोगों की हठमूलक दृढ समझ रहती है, उन लोगों को धर्म का यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं है । ये लोग उसी उपासना को और उसी कर्म को धर्म समझ बैठे हैं जिस उपासना और कर्म को श्रीमत् शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, ईसामसीह, मोझेस, मुहम्मद पैगंबर, अरिहंत, कबीर, नानक, आदि पुरुषोंने स्वतः आचरण किया था । जो आचार विचार राजनीतिमें तथा अर्थशास्त्रमें बाधा उत्पन्न करते हैं,वे धर्म स्वरूप हो नहीं सकते । यद्यपि ये लोग मुखसे यही कहते हैं कि " गुरुका वर्णस्वभाव और शिष्यका वर्णस्वभाव भिन्न है, अतएव गुरु जो कुछ 'कहे' उसे करना चाहिए न कि जो कुछ 'करे' । " तथापि यदि इनका आचरण देखें तो विदित होगा कि वे गुरुके द्वारा आचरण किये गये वर्णकर्म तथा उनकी उपासनाकी नकलही कर दिखाते हैं । यद्यपि वे मुखसे –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
गीतोप० ९।२२

इस गीता श्लोकको कहते हैं परन्तु उसमें प्रतिपादित सत् विश्वोपासना का प्रत्यक्ष आचरण करते समय उपकारी पुरुषसे छुताछूत, स्पर्शास्पर्शदोष, उच्चनीचभाव आदि धारण कर लेते हैं । इन लोगोंने धर्मको समझा नहीं है इससे उनके इस आचरणमें आश्चर्य नहीं । परन्तु विवेकवान् पुरुषको समझना चाहिए कि ऐसे आचार विचार सामाजिक संघशक्तिके बाधक हैं । इन्हें 'धर्म' कहना कदापि योग्य नहीं । इसे वास्तवमें 'धर्मग्लानि' का ही स्वरूप समझना चाहिये । इस प्रकारके भावनाप्रवण आचारविचारोंको नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसी विश्वोपकारी संस्थाओंमें प्रवेश न मिलना चाहिए । विवेकवान् लोकोपकारी पुरुषोंको चाहिए कि सर्वसम्मत कानून बनाकर इन धर्म समझी जानेवाली वैयक्तिक, भावनाप्रवण, धर्मग्लानिस्वरूप आचारविचारोंका उच्चाटन कर दें । इस प्रकारके भावनाप्रवण आचार विचार चातुर्वर्ण्य धर्मस्वरूप नहीं हैं अपि तु ईश्वरीय आज्ञा के घातक हैं । यह स्वधर्मविरोधी घोर अज्ञान है और यही 'धर्मग्लानि' है । जो स्वधर्मके अनुसार अर्थात् अपनी प्रकृति – स्वभाव – नियत वर्ण-धर्मका आचरण करनेवाले हैं, उनके लिये जाति, सम्प्रदायआदिजन्य, बुद्धिभेद करनेवाले, मनुष्यकल्पनासृष्ट भेद ईश्वरीय न्यायके विरुद्ध हैं । ऐसे आचार विचार जीवको रोचक भयानक भावनामें फाँस कर प्रजाको दीन, दुर्बल, आलसी और सत् पुरुषार्थहीन बनाते हैं । इसी विचारसे ऋग्वेद संहिताके अन्तिम भागमें संवनन ऋषि उनपर उपाययोजना कथन करते हैं । उसका आशय –

१ हे कामपूरक अग्नि ! (सब सुखोंका अधिष्ठान) तू ईश्वर (अक्षर, आत्मा) सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है । उत्तर वेदीमें (बुद्धिमें) तू ही प्रदीप्त (प्रकाशित) किया जाता है । तू हमें धन (आत्मनिश्चय) दे ।

२ हे जनो! आप एक विचारके होवें और एकही विचार बोलिये । आपके मन निश्चित(अनुभव युक्त) ज्ञान प्राप्त करें । जिस प्रकार सत् युगके पुरुषोंने एकमतसे अपने कार्य सिद्ध किये, उसी प्रकार आप भी अपने अपने कार्य एकमतसे करें ।

३ सबकी प्रार्थना एक होवे । आपके विचारोंका स्थान भी एक होवे । आपके मन भी एक विचारमें मग्न हों। सबका ज्ञान भी एक समान होवे। आपको एक सर्वोत्कृष्ट रहस्य कथन करता हूं कि आप सब मिलकर एक साहित्यसे (प्रेमसे) ईश्वरकी उपासना करें ।

४ आप सबके अभिप्राय एक-समान हों, आपका अंतःकरण एक-समान होवे और आपका मन भी

एक होवे। इससे आपकी संघशक्ति का बल बढेगा। (आपको स्थिर सुख प्राप्त होगा)।

श्रुतिग्रंथोंमें पाये जानेवाले उक्त वैदिक सिद्धान्त-विचार गीतामें प्रतिपादित विश्वोपासना के पोषक ही हैं। ये विचार राजनीति, समाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्रके बाधक न रहते हुए चारों वर्णोंको परस्पर-सहायता करनेवाले हैं। यही नहीं वे—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।

इस व्यास महर्षिके अटल सिद्धान्तके भी रक्षक हैं। क्या कोईकी राजनीतिज्ञ पुरुष कह सकता है कि दूसरेको पीडा देनी चाहिये अथवा परोपकार न करना ही राजधर्म है? क्या समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र कह सकेगा कि प्रकृति के स्वभावज गुणोंके चतुर्विध विभाग कल्याणकारी नहीं हैं और सच्चा धर्म उनसे भिन्न है? श्रीकृष्णोत्तर कालमें जो भिन्न भिन्न विभूतियां निर्माण हुईं उन हजरत ईसा-मसीह ,हजरत महम्मद पैगंबर, अरिहन्त, श्रीमत् शंकराचार्य,स्वामी दयानन्द आदि सभीने पुनः पुनः जतलाकर कहा है कि स्थायी सत्य धारण करो, एकही परमात्मा मानो, खुदाके नूरसे आदम जुदा मत मानो, इत्यादि। परन्तु इनके नामोंपर चलनेवाले मत 'धर्म' नहीं हैं किन्तु वे पुष्पितावाणीवान् पण्डित, पोप, काजी, मुल्ला इत्यादि द्वैतबुद्धि धारण करनेवाले धनलोलुप मनुष्योंके निर्माण किये हुए अपने अपने समाजकी रचनाके सांप्रदायिक मत हैं। ये मत राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र अथवा विश्वरूपका विश्वकल्याणकारी 'भक्तिधर्म' (चारों वर्ण स्वकर्मके द्वारा परस्पर सेवा करें) को सब प्रकारसे बाधक हैं। यही नहीं वे जीवकल्पना-निर्मित होनेके कारण सर्वथा त्याज्य हैं। उनके फंदेमें फँसे हुए मनुष्य को समष्टि भाव की (आत्मभावकी) सेवाकी बुद्धि नहीं होती। इसीका खण्डन श्रीकृष्णजीने गीता के अन्तिम रहस्यभूत श्लोकमें किया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
भगवद्गीतोपनिषद् १८।६६

इस श्लोक में किया हुआ वर्णन—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
गीता० १८।४१,६०

इस सिद्धिप्रद स्वभावज ईश्वरी सत् धर्म को छोडने को नहीं कहता। वह मतमतांतरयुक्त जाति-धर्म, कुलधर्म आदि पाखण्ड-त्याग का निदर्शक है। विश्वकल्याणप्रद अनन्यभक्तिरूप उपासना में से विविध सांप्रदायधर्म का उच्चारण कर दें तो जगत् की तनिक भी हानि होने की संभावना नहीं है। श्रीमान् विवस्वान् नारायण कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋग्वेद० १०।९०।२२

इस प्रकार वर्णन किये हुए उत्पत्तिसिद्ध याने स्वयंभू प्रथम धर्मको धारण कर उसपर आरूढ हो विश्वरूप परमेश्वर की आराधना (उपासना) करनेवाले—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

इस श्रीकृष्ण-प्रोक्त वाक्य का प्रत्यक्ष अनुभव भी ले सकते हैं। किन्तु अधर्म को ही धर्म मान लिए हुए मतों का अनुभव तीनों कालों में भी नहीं दिखाई देगा। इस प्रकार के कल्पनामय धर्म को अपनाने से 'आचारः प्रथमो धर्मः' इस सिद्धान्त का सच्चा रहस्य लोगों के ध्यान में नहीं आता। कुलाचार, ग्रामाचार, देशाचार, जात्याचार, सांप्रदायाचार इत्यादि मनुष्यमात्र का प्रेम नष्ट करनेवाले और जिनका संबंध विश्वसेवा से नहीं है ऐसे बाह्य आचार को ही 'प्रथम धर्म' मानकर ये लोग हठ करते हैं। ऐसे हठवादी विचारों को राजनीति, समाजसंगठन, अर्थशास्त्र इत्यादि विश्वोपकारी संस्थाओं से निकाल बाहर करना चाहिए। ऐसा करने ही में भलाई है और जगत् कल्याण के लिये उपयोगी होनेवाला समय भी व्यर्थ न जावेगा। जिस कालसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि चारों वर्ण अपने

स्वभाव धर्माचरण को (प्रथम धर्म को अर्थात् स्वभाव-नियत स्वयंभू धर्म को) भूल कर अनंत आचार मानने लगते हैं, उस काल से ही उस गृह का, उस गांव का, उस देशका अथवा संपूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों का स्वात्मसुख नष्ट होने लगता है। अतएव अविवेकी लोगों द्वारा माना हुआ 'आचारः प्रथमो धर्मः' का अर्थ सर्वंश छोडकर इस लोकमें जन्मतः अर्थात् सर्व प्रथम गोचर होनेवाले स्वयंभू स्वधर्म का आचरण करते हुए –

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
गीतोप० १२।१७

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।
गीतोप० १८।५४

इस प्रकार श्रीकृष्णके बतलाए हुए यथार्थ भक्ति-योग को ही विवेकशील पुरुषों को धारण करना चाहिए, केवल विशिष्ट मनुष्य का ही नहीं किन्तु जीवमात्र का कल्याण उसी में है ।

गीता-माहात्म्य ।

(गीता माहात्म्य के संबंध में महान् भगवद्भक्त श्री० तुकाराम के वचनों का अनुवाद·)
(अभंग २४३।२४२)

भगवद्गीता ग्रंथ मानो अमृतकी परिपूर्ण सरिता है ।
एक एक अक्षर में हमारा रमाकान्त है ॥ १ ॥
यह जो सगुण निर्गुण है, वह एक रुक्मिणीरमण है ।
तुकाराम कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी आत्मपदकी संबंधी
(रिश्तेदारिन) है ॥२॥

धन्य धन्य देवी गीता आदिमाया वेदमाता ।
(इसका) अर्थ जो जाने वह मातापिता धन्य है ॥ १ ॥
एक एक श्लोक अथवा चरण का अर्थ अनुभवसे शरीरका आभूषण होता है ।
संसारसे मुक्ति का साधन (अन्यत्र) कहीं ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं ॥ २ ॥
एक चरण का अर्थ राजा जनक जानते थे ।
इससे उनके अंग में विदेहावस्था दृढमूल हुई ॥ ३ ॥
एक चरणका अर्थ वसिष्ठ मुनि जानते थे ।
(जोकि) शान्तिरूप गृहमें अपनी शय्यापर पहुडे थे ॥ ४ ॥
एक चरण का अर्थ पंडुपुत्र धर्मराज जानते थे ।
उनका भाषण सत्य और यथार्थ होता था,
उन्हें शत्रुमित्र समान थे ॥५॥
अर्जुन नर और नारायण, ये तो सिद्ध साधक थे ।
दुष्टों का निर्दलन करनेके हेतु (इन्होंने) अवतार लिया ॥६॥

---

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामन्दिर की रचना और सजावट।

(ले०—श्री० जनार्दन सखाराम करंदीकर, B. A., LL. B., संपादक केसरी, पूना)

१

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥
गी. ३।८

संसार की भाषाओं में गीर्वाणवाणीसदृश भाषा नहीं। उस भाषामें महाभारत की तुलना का अन्य ग्रन्थ नहीं। और ऐसे अप्रतिम भारतग्रन्थ में श्रीमद्भगवद्गीता के समान अमृततुल्य दूसरा भाग नहीं। इसीलिए पूर्व के शास्त्रकारोंने—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।

के समान निर्णय दे गीताके सम्बन्ध का आदरातिशय प्रकट किया है। इसी दृष्टिसे लोकमान्य तिलकजीने अपने 'गीतारहस्य' में यह मत प्रकट किया कि "श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यन्त तेजस्वी तथा निर्मल हीरा है।" गरीब मनुष्य यदि हीरा पा ले, तोभी वह उसके मूल्य को तुरंत ही नहीं जान सकता। इसी प्रकार हम लोगों को गीता ग्रन्थ का सच्चा मूल्य अबतक नहीं मालूम हुआ। जिस दिन उस ग्रन्थ की वास्तविक योग्यता हम लोगों के हृदयपर पक्की जम जावेगी, उसी दिन से हम लोग उस ग्रन्थ को सब धर्मग्रन्थों में अग्रमान देंगे। यही नहीं अखिल मानवजाति को इसकी योग्यता का निश्चय करा कर, उसे सब धर्मग्रन्थों में अग्रस्थान प्राप्त करा कर, उस स्थान को ध्रुव के सदृश अटल बनाए रखने का प्रयत्न हम लोग अहोरात्र करेंगे।

इस प्रकार के इस सर्वांगसुन्दर तथा विश्ववंद्य ग्रन्थकी रचना जगत्-गुरु श्रीकृष्णजीने किस उद्देश्य से और किस बुनियाद पर की, तथा उसे किन अलंकारों से सजाया यही संक्षेप में देखना है। 'महाभारत का उपसंहार' नामक ग्रन्थ में भारताचार्य श्रीयुत चिन्तामणरावजी वैद्य महाशयने गीता को सुन्दर तथा भव्य मन्दिर का रूपक दिया है। आप इस मन्दिर का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि

'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'

यह इस गीतारूप मन्दिर की नींव है; 'विश्वरूपदर्शन' इस मन्दिर का मध्य है; और 'करिष्ये वचनं तव' इस मन्दिर का शिखर है। सांख्य, योग, वेदान्त और भक्ति ये चार बाजुएं तथा चार कोने की चार मीनारें हैं। कर्मयोग मुख्य और बीच की मीनार है; और इस मीनार के अंतर्भाग में 'परब्रह्म' भरा है।

श्रीयुत वैद्य महाशय का रूपक पढकर ही मुझे प्रस्तुत प्रबंध लिखनेकी कल्पना हुई। यह स्फूर्ति हुई कि वाचकों के सन्मुख भगवद्गीतासदृश नयनमनोहर मन्दिर जगत्गुरु श्रीकृष्णजीने किस उद्देश्य से किस नींव पर रचा तथा इस मन्दिरको ऐसी अप्रतिम सुन्दरता प्राप्त करा देने में उस जगद्वंद्य कारीगरने रचनाकौशल्य किस प्रकार प्रकट किया इस विषय के अपने विचार रखूं।

गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

भगवद्गीता की यथार्थ योग्यता का परिचय होने के लिये आवश्यक है कि उसको इतिहास की दृष्टि से देखें। यदि कल्पना करें कि गीता का उपदेश तथा उसकी विचारप्रणाली केवल कविकल्पना है, तब तो उसका आधे से अधिक रस नष्ट हो जाता है। कविकल्पना कितनी ही कुतूहलजनक क्यों न हो उसे अनुभवजन्य ज्ञानका आधार न होनेसे वह सदैव डाँवाडोल ही रहेगी। जिस ग्रंथ को ऐतिहासिक परंपरा का आधार है, उस ग्रंथका

मजबूती कवि-कपोल-कल्पित ग्रंथ को कैसे आसक्ती है? गीताका तत्त्वज्ञान ऐसा आधाररहित सूखा फोफला नहीं है। उसे दीर्घकालीन प्राचीन परंपरा है और तत्त्वज्ञान की मात्रासे अर्जुन का मोह नष्ट हुआ यह अनुभवसिद्ध बात उसमें गुथी है। इसलिये इस तत्त्वज्ञानके गुणपर संशय करनेकी गुंजाइशही नहीं।

भारतीय युद्धका ऐतिहासिकत्व सिद्ध करना इस लेखका विषय नहीं। अतएव उसका विस्तृत विवेचन यहां नहीं किया जा सकता। हिन्दुस्थान अनेक विद्यमान राजवंशोंमें यह समझ प्रचलित है कि उनके कुलकी परंपरा रामकृष्ण-आदिसे अथवा तत्कालीन राजवंशोंसे अखण्ड चली आई है, और इस समझको पुराणादि प्राचीन ग्रंथोंका आधार है। सिकंदरकी चढाईसे आरंभ होनेवाले इतिहास-कालके ऐतिहासिक ग्रंथोंमें उन वंशावलियोंको शामिल कर लिया है। यदि हम परिक्षितिके जन्मसे नन्दके राजतिलक तकके बीते हुए वर्षोंकी तथा किसी राजाकी कितनी पीढियां हुई इसका हिसाब करके भारतवर्षके प्राचीन इतिहासकी कालगणना करते हैं और भारतीय युद्धका काल निश्चित करते हैं, तब उस भारतीय युद्धके संबंधमें वह ऐतिहासिक है या काल्पनिक है ऐसी शंका करना केवल भ्रम नहीं तो और क्या है? भारतीय युद्धमें उपस्थित मुख्य राजाओंके पूर्वजोंका उल्लेख वेद जैसे आद्य ग्रंथोंमें मिलता है; उनके वंशजोंका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण जैसे ग्रंथोंमें पाया जाता है, उन वंशोंके आगे की पीढियोंके नाम पुराणग्रंथोंमें विस्तारसे लिखे हुए नजर आते हैं और उन वंशोंके अवशेष अब भी कहीं कहीं राजघरानोंमें दिखाई देते हैं। यह परंपरा इस प्रकार वेदकालसे अखण्ड चली आई है। इसलिये भारतीय युद्धके ऐतिहासिकत्वके संबंधमें शंका करनेका कारण नहीं। भारतीय युद्धका या उसके योद्धाओंका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण अतएव अश्रद्धेय क्यों न हो, किन्तु इतनेही से उन योद्धाओं का अस्तित्व अश्रध्येय नहीं बन सकता। भारतीय योद्धाओंके आजके वंशजोंका यह कहना कि वे भारतीय योद्धा कल्पना मात्र हैं, 'मम माता वन्ध्या' कहनेके सदृश 'वदतो व्याघात' का उदाहरण होगा। भारतीय युद्धस्थित काश्मीरके गोनर्दसे राजतरंगिणीकारके समकालीन राजातक की अविच्छिन्न परंपरा 'राजतरंगिणी' ग्रंथमें दी है। उस ग्रंथकी ऐतिहासिक योग्यता सर्वसंमत ही है।

क्या गीता युद्धके समयही कही गई?

भारतीय योद्धा ऐतिहासिक हुए और कुरुक्षेत्रपर भारतीय युद्धभी प्रत्यक्ष हुआ हो, किन्तु इस प्रश्नका उत्तर उक्त बातोंके समान निश्चयसे नहीं दिया जा सकता कि क्या गीता युद्धके समय ही अर्जुनसे कही गई? क्योंकि यद्यपि गीताका उपदेश महायुद्ध के संबंधमें उत्पन्न होनेवाली शंकाको दूर करनेके लिये ही किया गया था, यह बात अंतःप्रमाणसे निश्चित है, तथापि वह गीता दोनों सेनाओंके बीच रथ खडा कर रथमेंसेही कही गई और उसका विस्तार सांप्रतकी गीताके बराबर याने ७०० श्लोकोंका था, यह बात छातीपर हाथ रखकर कह सकने लायक सबूत अब मिलना मुश्किल है। इस विवादमें किसीको अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिये कि इस प्रकारके सबूत मिले। गीतामें युद्धमूलक आक्षेपोंका खंडन है, अतएव वे बातें युद्धके पूर्व किसी समय श्रीकृष्णजीने पाण्डवोंसे कहीं इतनाभी मान लिया जावे, तो विवाद मिट जायगा। चाहे वह उपदेश रथमें बैठकर किया हो या युद्धके लिए प्रस्थान करनेके पूर्व डेरेमें किया हो; वह अकेले अर्जुनको किया हो या सभी पाण्डवोंको किया हो और वह ७०० श्लोकोंमें किया हो या उनके बीजभूत सौ, सवासौ श्लोकोंमें किया हो। जिस युद्धमें गुरुवधादि घोर और सुहृदर्शनमें ही पापात्मक कर्म करनेका अवसर है ऐसा युद्ध 'करें या न करें' इस प्रकारकी शंका योद्धाओंके मनमें उत्पन्न होनेकी संभावना थी। उद्योगपर्वमें ही धर्मराजने यह शंका कह सुनाई और अर्जुनने स्वयं ही उस शंकाका निराकरण कुंती और विदुरके वचनोंके तथा अनुमतिके आधार पर किया था। वनपर्वमें भी पांच पाण्डव और द्रौपदी के बीच इसी प्रकारकी बहस होनेकी

कथा है। इससे स्पष्ट होता है कि यह प्रश्न पाण्डवों को लगातार रोकता था और उसका शास्त्राधारपूर्वक निश्चित उत्तर अद्यापि नहीं मिला था। श्रीकृष्ण केलिये आवश्यक था कि पाण्डवों के हृदय का किल्मिष उस प्रश्न का निश्चित उत्तर देकर दूर करे। कर्तव्य-अकर्तव्य का ऐसाही अन्तःस्थ कलह अनेकों के मन में अनेक अवसरोंपर आन्दोलन मचाता है, इस गरज से इस प्रश्न का सर्वमान्य निश्चित निर्णय अपने ग्रंथ में देना जयग्रंथकार व्यासमहर्षि को भी उतना ही आवश्यक जान पडा। इसीलिये श्रीकृष्णने युद्ध के पूर्व यह उपदेश दे अर्जुन को निःशंक हो लडने को तैयार किया और श्रीव्यास महर्षीजीने वही उपदेश अपने ग्रंथ में विस्तार से ग्रथित कर सामान्य जनता को कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णयरूप सदा के लिये कह दिया।

मनुष्य-हृदय के अंतःकलह का रूपक नहीं है।

ऊपर के विवेचन से विदित हुआ होगा कि गीता में जो कर्तव्य-अकर्तव्य की मीमांसा है वह प्रत्यक्ष भौतिक युद्ध का उदाहरण आंखों के सामने रहते हुए की है। सामान्यतः यह उपदेश किसी भी प्रकार के कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए उपयोगी होता है। परन्तु उस उपदेश की मूलभूत भूमिका 'कामक्रोधादि षड् रिपुओं के अन्तःकलह' की नहीं है, किन्तु बाह्यतः विगुण दिखनेवाला स्वधर्म और स्वनुष्ठेय दिखनेवाला परधर्म इनके झगडे का निर्णय देनेवाली वह भूमिका निःसंदेह है।

गीता की विचारप्रणाली देखें तो विदित होगा कि अर्जुन का पूर्वपक्ष कामक्रोधादि षड्रिपुओं का समर्थन करनेवाला है और श्रीकृष्णजी का सिद्धांत पक्ष ऐसे लेचेपेचे एवं असमर्थनीय पूर्वपक्ष का खण्डन करनेवाला है, यह कथन वस्तुस्थितिदर्शक नहीं, किन्तु इस प्रकार की कल्पना ही गीताशास्त्र को निम्नता लानेवाली है। क्योंकि ताश के घर के समान फूंक से उडा देने योग्य पूर्वपक्ष का खण्डन करने को श्रीकृष्णसदृश योगेश्वर की आवश्यकता ही क्या? और ऐसे खण्डनमण्डनात्मक वादविवाद को उपनिषद की योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्जुन की शंका फूंक से उडा देने योग्य नहीं थी, इसी गरज से श्रीकृष्ण को इतना विस्तार करने की आवश्यकता हुई। अर्जुन लोभी होता तो उसके मुख से ऐसे उद्गार न निकलते कि—

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥'

इसी प्रकार—

'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥'

इस प्रकार के लोभरहितता के अथवा—

'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥'

इसके समान अनत्याचारी सत्याग्रही के योग्य उद्गार जिसके मुह से निकले वह लोभाविष्ट या मत्सरग्रस्त अथवा आसुरी वृत्ति का न होकर इस के विपरीत पापभीरु याने दैवी वृत्ति का ही होना चाहिये। श्रीकृष्ण भी तो अर्जुन का स्वभाव समझे हुए थे। इसीसे वे उसको यह कह कर पुचकारते थे कि—

'मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।'

ऐसे पापभीरु योद्धा को श्रीकृष्ण उसी 'पाप' के करने में उद्यत करने के लिए 'बुद्धियोग' कह रहे हैं, इस प्रकार सदैव के व्यवहार की प्रचलित बातों के बिलकुल विपरीत बात माननी पडेगी। अतएव यह कल्पना कि गीता में प्रतिपादित युद्ध आधिभौतिक नहीं आध्यात्मिक है, टिकही नहीं सकती। क्यों कि भौतिक युद्ध की आवश्यकता को दूर करते ही अर्जुन और श्रीकृष्ण में मतभेद ही नहीं रहता।

व्यक्ति-धर्म श्रेष्ठ या समाज-धर्म श्रेष्ठ?

अर्जुन के हृदय में जो गडबडी मची थी वह पापपुण्य के झगडे के संबंध में नहीं थी, किन्तु भिन्न भिन्न पुण्यमार्गों के किंबहुना दो प्रकार की

धर्मकल्पनाओं के झगडे की खलबली थी। अर्जुन का मन कहता था कि व्यक्ति के विचार से द्रोणाचार्य गुरु हैं और भीष्माचार्य पितामह हैं। इस युद्ध में प्रहार करना पडेगा सोभी इसलिये कि पाण्डवों को आधा राज्य वापिस मिले! इस प्रकार का घोर कर्म करने की अपेक्षा अच्छा होगा कि राज्य की आशा छोडकर भिक्षावृत्ति का स्वीकार करें। क्या ऐसा करने से यह हिंसा टल कर पुण्य न होगा? यदि व्यक्ति धर्म की दृष्टि से विचार करें तो अर्जुन के विचारों पर आक्षेप के लिए स्थानही नहीं था। तथापि समाजधर्म की दृष्टि से देखने पर असत्यका विजय होना और सत्य पैरोंतले कुचला जाना संसार के लिए अत्यन्त हानिकर होता, यह बात जगच्चालक श्रीकृष्ण को ज्ञात थी और उनका अवतार ही --

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

इस श्लोक में सूचित किये अनुसार --

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय ...... '

था। इससे उनकी दृष्टि व्यक्तिधर्म पर नहीं समाजधर्म पर थी। इसीलिये अर्जुन का यह व्यक्तिधर्म विचार उन्हें 'क्लैव्य और हृदयदौर्बल्य' दर्शक मालूम हुआ। तब उन्होंने उसे समाजधर्म और मुख्यतः क्षात्रधर्म समझा दिया, तथा उस धर्म का आचरण करते समय बुद्धि को शुद्ध, सत्त्वस्थ, त्रैगुण्यरहित, और निर्द्वंद्व रखकर आत्मवान् होने का उपदेश दिया। श्रीकृष्ण के उपदेश का सच्चा सार किस बात में है इसका विचार इसी लेख के उत्तरार्धमें आनेवाला है, इसलिये उसका यहां अधिक विचार नहीं करते। इस स्थानमें यही बतलाना है कि व्यक्तिधर्म (आश्रमधर्म) और समाजधर्म (वर्णधर्म) इन दोनोंका जहां विरोध उत्पन्न होता है वहां यह प्रश्न उठनेके लिए कि व्यक्तिधर्म श्रेष्ठ या समाज धर्म श्रेष्ठ है, भौतिक युद्धकी भूमिका जैसे कारण होती है वैसे केवल आध्यात्मिक भूमिका कारण हो नहीं सकती। इस कारण गीताके वादकी अर्जुनकी शंका यदि असंबद्ध प्रलाप न मानकर सुसंबद्ध मानकर है, तो उसपर श्रीकृष्णका सुझाया हुआ उपाय कि--

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्, न हन्ति न निबध्यते॥

को लाजवाब मानना है, तो यही मानना आवश्यक है कि कुरुक्षेत्रका युद्धप्रसंग ऐतिहासिक है, उस ऐतिहासिक अवसर पर अर्जुनके मनकी शंका ही पूर्वपक्ष है, उसपर श्रीकृष्णजीका जो उत्तर वही सिद्धान्त पक्ष है और वह शिक्षा देता है कि 'हत्वाऽपि न निबध्यते' को कैसे हल करना चाहिए।

श्रीकृष्णजीने अवतार लेनेका कारण बताते समय बतलाया है कि मुझे तीन कार्य करने पडते हैं-साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी संस्थापना। इन कार्योंमें से कंस, जरासंध, शिशुपाल आदिका वध करके दुष्टोंका निर्दालन हो चुका था। कौरवादि का संहार करके पाण्डवादि साधु पुरुषोंकी रक्षा अभी होनी थी, तब भी उसकी सब तैयारी हो चुकी थी। बार ठूंसकर भरा था, बत्ती लगानेकी देर थी। इतना होते ही वह बार प्रलयकालके सदृश आकांत करते हुए एकदम धडाकेसे उडा होता। परन्तु इस बत्तीके लगानेमें निमित्तमात्र कारण होनेवाला अर्जुन ही ऐन मौकेपर अड गया! घडीका लम्बक ही थम जानेसे जैसे अन्य सब कलपूर्जे बन्द हो जाते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्णके मनकी योजना सबकी सब बन्द पडनेका मौका आया। अपना यन्त्र एकाएक बिगडा कैसे? इस बातका विचार करते करते श्रीकृष्णके ध्यानमें आया कि मैंने अपने अवतारका विशिष्ट संदेश अद्यापि किसी से कहा नहीं है और उसके द्वारा प्रकृत कालके अनुरूप जो धर्मसंस्थापना करनी है सो भी करना अभी बाकी है। अतएव उस नये युगधर्म के अभावसे यह गाडी रुक गई है। यह मर्म जानकर भगवान्ने उसी अर्जुनको युगधर्मका उपदेश देनेका योग्य अवसर देखा जिस अर्जुनको निमित्त करके भू-भार हरण करना था। इस योग्य अवसरमें भगवानने अर्जुनको गीताका उपदेश किया।

*

पुराना धर्म अपूर्ण मालुम पडने लगता है अथवा उस धर्मके समान आचरण नहीं होने पाता, तब नवीन धर्मग्रंथकी आवश्यकता जान पडती है। भारतीय युद्धके समय ऐसी ही स्थिति प्राप्त हुई थी। निवृत्ति मार्गका बोलबाला आवश्यकतासे अधिक होगया था। यहांतक कि अर्जुनके समान रणपण्डित भी युद्धके ऐन मौकेपर हतोत्साह हो,मैं संन्यास लेता हूं कहकर, धनुष्यबाण फेंककर बैठ गया! ऐसे समय प्रवृत्ति मार्गका अर्थात् कर्मयोगकाही उपदेश देना आवश्यक था। ब्राह्मण कालमें जब यज्ञयागादिका महत्त्व बढा, तब सांख्योंने निवृत्तिमार्गका उपदेश किया। उसका अतिरेक होकर जब प्रबंध बिगड गया, तब उपनिषदोंको तथा गीताको प्रवृत्ति मार्ग की राह पुनः साफ करके दिखानी पडी। लंबक का झुकाव प्रवृत्तिकी ओर अत्यधिक हुआ देखकर गौतमबुद्धने पुनः संन्यासका तथा अहिंसाका उपदेश शुरू किया। परन्तु गौतमबुद्धके इस उपदेशका दुष्परिणाम देखकर पुनः कर्मकाण्डकी ओर प्रवृत्ति हुई। अनन्तर श्री शंकराचार्य आये। उन्होंने कलिवर्ज्य संन्यासकी पुनः धर्मपीठपर स्थापना की। इसके पश्चात् के समयमें देशकी हीनदीन स्थिति देखकर श्री समर्थ रामदास स्वामीने पुनः कर्मयोग की स्थापना की। इस प्रकार लंबक का झूलना जारी है। प्रस्तुत प्रश्न इतना ही है कि श्रीकृष्णके समय में कौन पक्ष प्रबल था? पाण्डवसेनाका मुख्य सेनाध्यक्ष अर्जुनही युद्धके ऐन मौकेपर कर्मसंन्यासकी बात बोलता है, इससे सिद्ध है कि संन्यास पक्ष उस समय बहुत प्रबल था। इसीलिए श्रीकृष्णका उपदेश अर्जुनको संन्यास मार्गसे परावृत्त करकेकर्मयोगकी राहपर लानेवाला ही होना चाहिए।

कर्मयोग पंथका पुनरुज्जीवन।

श्रीकृष्णजीने अर्जुनको जो उपदेश दिया वह कर्मसंन्यासका नहीं था किन्तु कर्मयोगका ही था। यह बात अर्जुनके पूर्वपक्षसे और ऊपर जो संन्यास मार्ग और कर्ममार्गके ज्वार भाटेका वर्णन दिया है उससे अनुमानसे सिद्ध होता है। परन्तु जहां प्रत्यक्ष भगवानके वचनोंका विवादरहित सबूत है, वहाँ अनुमान की आवश्यकता ही क्या? गीतामें अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश यथासांग करनेके उपरान्त चौथे अध्याय के आरंभ में श्रीकृष्ण कर्मयोग पन्थ की परम्परा कहते हैं--

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययं।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
गीता ४-३

इन तीन श्लोकोंमें कर्मयोगका पुरातनत्व, उसकी श्रीकृष्णसे लगाकर इक्ष्वाकु तक की अखण्डित परम्परा, राजर्षियोंमें वह परम्परा, चालू रहते समय कालमाहात्म्यसे उसका सूत्र खण्डित होनेका ऐतिहासिक हाल और उसी प्राचीन कर्मयोग परम्परा का मैं आज पुनरुज्जीवन करके विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु इत्यादि राजर्षियोंको परम्परासे किया हुआ उपदेश ही आज तुम्हें कर रहा हूं। इस प्रकार का स्पष्ट परिचय श्रीकृष्णने दिया है। इस परम्पराके कथन का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है। पुरानी लकीरके फकीर की मानवी प्रवृत्तिकी कोई कितनीभी निन्दा क्यों न करे, जबतक मनुष्य स्वभाव आजके समान ही रहेगा तब तक नये सम्प्रदाय की अपेक्षा पुराने सम्प्रदाय की ओर जनता का मन अधिक खिंचेगा और नये की अपेक्षा पुराना कहा जानेवाला उपदेश बिनाशिकायदके मान्य होगा। अर्जुन तो किसीभी प्रकार युद्ध टालना चाहता था। और श्रीकृष्ण उसीके हाथों युद्ध की घटना घटित करना चाहते थे। ऐसी मनःस्थितिमें श्रीकृष्ण कितनाही जी तोडकर क्यों न कहें, अर्जुनको शंका अवश्य ही होगी कि श्रीकृष्ण कुछ गडबड करके मुझसे युद्ध कराते हैं। इसी लिये अर्जुन आवश्यकतासे अधिक चिकित्सक बना था। एक वार तो उसने श्रीकृष्ण पर ढोंगलेपनका स्पष्ट आरोप किया और कहा कि--

' व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे । '

इस प्रकार की विपरीत कल्पना को दूर करने के लिए श्रीकृष्णने विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदिकी परम्परा कथन की। पर अर्जुन बडा चांई। वह बोला, ' भगवन्, आप मुझे इस प्रकार चकमा न दे सकेंगे। देवकी के गर्भ से जन्म लेनेवाले आजकल के आप मनु-इक्ष्वाकु आदिकों के उपदेश की गप्पें झाडकर क्या मुझे धोखा देना चाहते हैं ? ' जब अर्जुन ने इस प्रकार की शंका की तब श्रीकृष्णने अपने अवतारों का विवरण किया। उसका अर्जुन ने कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। परन्तु उसे हृदय से विश्वास नहीं हुआ था। विभूतियोग के उपदेश से भी उसका सब संशय नष्ट नहीं हुआ था। अन्तमें श्रीकृष्ण की सचाई की परीक्षा के हेतु उसने उन्हें विश्वरूप दिखाने की विनय की। श्रीकृष्णने सोचा कि विश्वरूपदर्शन से मेरे परमात्मस्वरूप के संबंध में अर्जुन को तो विश्वास होगा ही; पर उसी में दूसरा भी कार्य सध जावेगा। वह यह कि जिन भीष्मद्रोण आदि के विषय में इसे इतना डर लग रहा है, उन्ही भीष्मद्रोणादिकों को मृत्युद्वारा कुचले जाने का दृश्य दिखाकर इसे यह मालूम करा देना कि तुम केवल निमित्तमात्र हो, पर्याप्त होगा। इससे एक दृश्य में दो कार्य सध जावेंगे। इसी विचार से श्रीकृष्णने अपना भयानक विश्वरूप दिखाया। वह रूप देखकर अर्जुन घबडा गया सही; पर साथही-

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः॥
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ।
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति।
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि॥
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु।
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥
गी०अ०११ श्लो० २६।२७

इस दृश्य को देखकर उसे निश्चय हुआ कि कुरुक्षेत्र के इस युद्ध में भीष्मद्रोणादि का नाश अवश्य ही होगा। उसे ऐसा भी लगा कि ये मरते तो हैं ही तब भीष्म जैसे इच्छा-मरणी एवं अजेय वीर को जीतने की किर्ति क्यों खोवें ? उस समय सबके हृदय को जाननेवाले श्रीकृष्णने यह जान कर कि उपाय कामयाब हुआ -

' तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व '

इस मात्रा का भी प्रयोग किया। तब अर्जुन का आरंभ का क्लैब्य और हृदयदौर्बल्य लुप्त हो गया। इस अध्याय से आगे चलकर श्रीकृष्णने जो जो कहा वह सब अर्जुन ने बिनारुकावट के सुना। इसके आगे श्रीकृष्ण को रोकने का या ' आप गप्पें मार रहे हैं ' जैसी अप्रबुद्ध बात कहकर आक्षेप लेने का साहस अर्जुनने नहीं किया।

इतने विस्तारका उद्देश्य यही कि अर्जुनकी शंका यदि केवल आध्यात्मिक होती और उसमें भौतिक युद्ध का संबंध न होता तो अर्जुन को निरुत्तर करने के लिये इतना प्रयास करनेकी श्रीकृष्णके लिये आवश्यकता ही न थी। "तू काम-क्रोधादिके अधीन मत हो तू असत्य न बोल, तू हिंसा न कर," इस नमूनेका सामान्य उपदेश करनेके लिये श्रीकृष्णने अपनी वाणी को इतना कष्ट कदापि न दिया होता। विदुरके द्वारा धृतराष्ट्र को उपदेश कराया, वैसा ही अर्जुनको कराया होता। अर्जुनने भी कब हट किया था कि मैं हिंसा करूंगा, मैं कामक्रोधादिकोका त्याग न करूंगा? सारांश यही कि अर्जुनका पूर्वपक्ष अपूर्व एवं पेचीदा था। यदि यह कहा जाता है कि 'युद्ध न कर, संन्यास का स्वीकार कर,'तो दुष्टनिर्दलनका, साधुरक्षणका तथा धर्मसंस्थापनाका कार्य अधूरा रहता है और अवतारका उद्देश विफल होता है। यदि केवल युद्ध करने भरको कहें तो हिंसा कृतघ्नता, राज्यलोभ आदि दोष लगते हैं। अर्थात् यहांपर श्रेयस् और प्रेयस् का मेल करना ऐसा दुर्घट कार्य था कि अर्जुनने, मनमें निश्चय कर कि यह बात श्रीकृष्णसे भी न सधेगी, धनुष्यबाण फेंक कर। मनही मन संन्यास मार्गपर चलना आरंभ कर दिया। ऐसी दशामें जिस गीतापदेशने अर्जुनकी यच्चयावत् शंकाओंका निरसन किया और उसे धर्म्य युद्ध करनेको प्रवृत्त किया और स्वधर्मच्युतिसे उत्पन्न होनेवाले दोषसे बचाया, उस गीताके उपदेशमें ऐसी ही कोई अपूर्वता अवश्य होनी चाहिए।

गीता-मन्दिर की सजावट।

गीता-मन्दिर कब, किस हेतुसे और किस बुनियाद पर खडा किया सो अब तक बताया। आगे चलकर देखना है कि उसे किस कौशलसे किस प्रकार सजाया है –

गीताकी भाषा।

मनुष्यकी परीक्षा बाह्य स्वरूपसे नहीं की जाती, किन्तु उसके सद्गुणोंसे की जाती है। ठीक इसी प्रकार ग्रन्थ की परीक्षा उसकी भाषासे न करनी चाहिए, अपितु प्रतिपाद्य विषयके विचारोंकी ग्राह्या-ग्राह्यतासे करनी होती है। तथापि जैसे मनुष्यके गुणोंकी अपेक्षा उसके रूपकी ओर ही प्रथम दृष्टि जाती है; उसी प्रकार ग्रन्थकी विचारप्रणाली देखकर मत निश्चित करनेके पूर्व ही उसकी भाषाकी ओर ध्यान जाता है। यदि भाषा चटकीली और प्रसादयुक्त हुई तो ग्रन्थ पढा जाता है, नहीं तो तत्त्व भले ही सर्वोत्कृष्ट हो, भाषा निकृष्ट होनेपर ग्रन्थ पढा ही नहीं जाता। उसके विचारोंको समझ कर उनकी प्रशंसाकी तो बातही दूर है। किन्तु गीता ग्रन्थके संबन्धमें इस आपत्तिका भय नहीं है। धार्मिक ग्रन्थके नाते उसका पठन करनेवाले लाखों मनुष्य तो अवश्य ही होंगे; परन्तु तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जो लोग इस ग्रन्थको पढने की इच्छा करेंगे, उन्हे भी इस ग्रन्थकी भाषा चित्तवेधक जान पडेगी। गीता की भाषा सादी रहते भी मधुर, आकर्षक एवं आल्हादकारी है। साथ ही वह ओजस्विनी, जोरदार एवं प्रसादयुक्त भी है। इतने गहन तत्त्वज्ञानका ग्रन्थ ऐसी रसीली एवं मनको हरनेवाली भाषामें लिखा हुआ क्वचित्‌ही दिखाई देगा। कहीं कहीं गीताकी भाषाका ओघ गंगाके प्रवाहके सदृश गम्भीर निर्मल तथा अस्खलित है। विशेषतः प्रथम अध्यायका अर्जुनकी आत्मस्थिति का वर्णन और युद्ध न करने की कारणपरम्परा, दूसरे अध्याय का स्थितप्रज्ञ का वर्णन, तीसरे अध्यायका यज्ञचक्र का वर्णन, नवमें और बारवें अध्यायका भक्त का वर्णन, चौदहवें अध्याय का गुणातीत का वर्णन, सोलहवें अध्याय का आसुरी सम्पत्ति का वर्णन, ये सब भाग भाषा की सुन्दरता की दृष्टिसे अप्रतिम हैं। कहीं भी भाषा कृत्रिम नहीं है, किन्तु सहजालंकारयुक्त है। उपमा, रूपक, दृष्टान्तादि अलंकार सहज में भाषाके प्रवाह के साथ आने के कारण अधिक शोभादायक हुए हैं। गीता में प्रायः सर्वत्र शान्तरस का ही साम्राज्य है; तथापि बीच बीचमें वीररस की भी छटा दिखाई देती है। ग्यारहवें अध्याय का वर्णन रौद्र, अद्भुत, भयानक आदि रसों का नमूना है।

अरसिक आक्षेपक।

ऐसी रसभरी तथा चित्तवेधक भाषा के भी अरसिक आक्षेपक मिलते ही हैं। उनका मुख्य आक्षेप यह है कि गीता में पाणिनी के व्याकरण की दृष्टिसे अनेक गलतियां हैं। कहीं कारकों के रूप गलत हैं, तो कहीं आत्मनेपद और परस्मैपद में भूल है। कहीं सन्धि की ही नहीं है, तो कहीं गलत की है। कहीं वाजिब से अधिक शब्दों की खिचडी है, तो कहीं आवश्यक शब्द भी लुप्त हैं। इन सब आक्षेपों का सर्वसामान्य उत्तर यह है कि गीताग्रन्थ पाणिनी के पहले का है। उसे पाणिनी के व्याकरण की कसोटी पर कसना उचित नहीं। इसके सिवा यह ग्रंथ संवादात्मक है; अतः इसमें पंचमहाकाव्यों के सदृश सुश्लिष्टता की अपेक्षा करना भी ठीक नहीं। अर्वाचीन काल के 'शंकरदिग्विजय' जैसे ग्रंथमें भी जब 'विचारयित्वा, शृणुध्वम्' सदृश अशुद्ध रूप दिखाई देते हैं, तब गीता के समान प्राचीन ग्रन्थ में कुछ रूप आजकल के व्याकरण की दृष्टिसे सदोष दिखाई दिये, तो भी उतनेसे गीता की भाषा त्याज्य कैसे हो सकती है? भाषा तो हृदयगम्य होती है इससे पाठकों को जो भाषा मधुर मालूम हो वही काव्य भी मीठा होता है; उस भाषा में कुछ रूप व्याकरण के एकाध नियम के अनुसार हों

या न हों। इसके विपरीत भट्टीकाव्य के जैसे शब्दों के सभी रूप पूर्णतया व्याकरणशुद्ध रहनेही से यह नहीं होता कि उनमें काव्य की आत्मा का अस्तित्व निश्चित से हो।

आक्षेपकों ने गलत या सदोष कहे हुए कुछ स्थान वास्तव में आक्षेपार्ह नहीं हैं किन्तु उन्हें ऐसा समझने में ही भूल हुई है। उदाहरण के लिये 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इसमें 'सर्व' 'अखिल' ये एकही अर्थ के शब्द आये हैं, अतः द्विरुक्ति दोष हुआ। परन्तु अनेक टीकाकारों ने बडी मार्मिकता से बतलाया है कि 'सर्व' और 'अखिल' शब्द भिन्न अर्थों में आये हैं। सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में नहीं होता, 'अ-खिल' अर्थात् निर्दोष कर्म जितने होंगे उन्हीं का ज्ञान में पर्यवसान होता है। यह है उसका वास्तविक अर्थ और इसीलिये 'सर्व' और 'अखिल' दो भिन्न अर्थवाले शब्द आवश्यक हैं।

'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु'

इस श्लोकार्ध में भी समानार्थक शब्दोंकी फजूल द्विरुक्ति बतलायी जाती है। परन्तु यह आक्षेप भी गलत है। सुहृद् और मित्र, उदासीन और मध्यस्थ अरि और द्वेष्य ये शब्द समानार्थक नहीं हैं, इनमें भेद हैं। महाभारत में तथा कौटिलीय अर्थशास्त्रादि ग्रन्थों में इन शब्दों का उपयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। द्विरुक्ति दोष के बतलाये गये अधिकांश स्थान इसी प्रकार निर्दोष हैं। आक्षेपकों को ही उन्हें एकार्थक समझने में भूल हुई है। और एक आक्षेप यह है कि क्रियाओं में व्यर्थ ही उपपद जोडे गये हैं। इसका समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है कि उन स्थानों में उस उस उपपद से अर्थ की विशेषता बढती है, इसलिये उपपद निरर्थक नहीं हैं।

अब ऐसे दो एक उदाहरण देखें जो असमंजस के कारण दोषावह माने गये हैं। 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं' इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि 'कर्म बोद्धव्यं' किन्तु 'कर्मणः फलं बोद्धव्यं' है। इसी लिये 'कर्मणः, अकर्मणः, विकर्मणः' ये तीनों शब्द षष्ठ्यन्त हैं। तथा-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ ५।२१

इस श्लोक का अन्वयार्थ ठीक न लगा सकने के कारण सदोष वाक्यरचना का यह उदाहरण कहा जाता है। परन्तु इसका अन्वय इस प्रकार है-'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा आत्मनि यत् सुखं विन्दति (तेन) सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (भूत्वा) अक्षय्यं सुखं अश्नुते।' आपेक्षक समझते हैं वैसा उसका अन्वयार्थ नहीं है।

सार यही कि गीताग्रन्थ पाणिनी के पूर्व का है। उस समय संस्कृत भाषा प्रत्यक्ष व्यवहार में थी। अतएव वह आज जैसी व्याकरणबद्ध नहीं हुई थी। इसीलिये गीता के तत्कालीन शब्दप्रयोगों की ओर या वाक्यरचना की ओर आज की दृष्टि से देखना युक्त नहीं।

गीता की तर्कशुद्ध विचारप्रणालि।

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ काव्य नहीं है। वह तत्त्वज्ञानात्मक ग्रन्थ है। इससे भाषासौष्ठव उसका प्रधान अंग नहीं है। अतः गीता की भाषा की चर्चा छोड अपन गीता के तत्त्वज्ञान को देखें। वेदान्त जैसे गहन विषय की विचारप्रणालि गीताने जिस सिलसिले से तथा तर्कशुद्ध पद्धति से सामने रखी है वैसी अन्यत्र शायद ही दिखाई दे। जैसे अत्यंत कठिन विषय विद्यार्थियों को क्रमसे समझाते जाते हैं वैसे ही गीता का कर्मयोग का सिद्धान्त क्रम से अर्जुन को समझाया गया है। गीता-काल की परिस्थिति कैसी थी और कर्मत्याग का कैसा भारी स्तोम था इसका उल्लेख प्रास्ताविक भागमें आचुका है। ऐसी दशा में 'न योत्स्ये' का निश्चय कर बैठनेवाले अर्जुन को 'कर्मयोग' के उपदेश की सत्यता समझा कर उसे क्षत्रियोचित युद्ध का कर्तव्य करने में लगा देना बडा कठिन काम था। परंतु श्रीकृष्णने अत्यंत चतुराई से, किंबहुना बॅरीस्टरी ठाट से, तर्कशुद्ध विचारप्रणालि से अर्जुन को अपनी बात मानने को विवश किया और उसे 'करिष्ये

वचनं तव ' कहना पडा। गीताके विषयकी रचना वास्तवमें बॅरीस्टरी ठाटबाट की है। अपनी दूकान का माल अच्छा रहनेपर भी उसको ऐसी रचनासे सजा कर रखना पडता है जिससे वह ग्राहक को आकर्षित करे। इसी प्रकार अपने पक्ष का सबूत काफी जोरदार होनेपर भी उसे योग्य रीतिसे और यथाक्रम रखना चाहिये तभी ज्यूरी और कोर्टको अपना पक्ष जँचता है। यह क्रम निश्चित करनेमें मानवी स्वभाव पर ध्यान रखना पडता है. परिस्थिति पहचाननी पडती है, जनता की रुचि समझनी होती है। इन सब अंगोंपर विचार कर अपना कहना योग्यरूपमें गिने हुए शब्दोंमें रखनाही वकीली कुशलता है। अर्जुन को ' योगः कर्मसु कौशलं' का उपदेश करनेवाले योगेश्वरमें यदि इस प्रकारको कुशलता विपुल हो और उस कुशलता का उपयोग उन्होंने पूर्ण तया किया हो तो आश्चर्य कहाँ?

कर्मसंन्यासकी पकड।

भारतीय युद्धके दिनोंमें सांख्य मार्ग इतना अधिक प्रचलित था कि अर्जुन जैसे युद्धपण्डित को भी लडनेका कर्तव्य त्यागकर भैक्ष्यचर्या स्वीकार करना पसंद हुआ। इसके विपरीत कर्मयोग की परंपरा खंडित हुई थी; इस कारण उसका पुनः एकाएक लोकप्रिय होना संभव नथा। तिसपर भी कर्मसंन्यास का मार्ग अहिंसात्मक होनेके कारण वह ग्राह्य मालूम होना तथा ' कर्मयोग ' में युद्ध जैसा घोर कर्म करना आवश्यक होनेका संभव होनेके कारण वह मार्ग सकृद्दर्शनसे ही त्याज्य मालूम होना स्वाभाविक था। ' कर्म ' शब्दका उच्चारण करतेही यज्ञयागादिक काम्य कर्मोंका ' कर्मकाण्ड ' दृष्टिके सन्मुख आता था, और काम्य कर्म मोक्षकी राहके विघ्न हैं; इसीलिये ' कर्म ' मात्र मोक्षका प्रतिबंधक होनाही चाहिये ऐसी समझ रूढ थी। ऐसी दशामें कर्मयोगका उपदेश करना बडा कठिन कार्य था। मोक्षका लक्ष्य तो दृष्टिसे अलग नहीं होने देना। यह निःसंदिग्धतासे दिखा देना कि अपन जिसका उपदेश दे रहे हैं वह ' कर्मयोग ' तत्कालीन रूढ ' कर्मकाण्ड ' से भिन्न है। इसके लिये आवश्यक हो तो कर्मकाण्ड की निन्दा भी करना। सर्वकर्मसंन्यास कैसा असम्भव है और ऐसा कर्मसंन्यास करनेसे शरीरयात्रा का चलना भी किस प्रकार दुर्घट होगा सो मुख्यतः प्रगट करना। इस प्रचलित समझको नष्ट कर देना कि कर्मयोग मोक्षदायक नहीं है तथा उसका मोक्षदत्व सिद्ध करना; यह दिखाकर कि कर्मत्यागसे अघायुत्व आता है, कर्मयोगकी आवश्यकता सिद्ध करना; लोकसेवा तथा लोकसंग्रहकी महत्ता सिद्ध कर यह दिखा देना कि कर्मयोगके विना उनकी साधना असंभव है। यदि वे बिगड जावें तो वर्णसंकर होकर जगत् का उच्छेद किस प्रकार हो जाता है इसका घोर चित्र रंगाकर यह दिखा देना कि समत्वयोग साधकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म करनेसे कर्मयोग से आमुष्मिक और पारलौकिक श्रेय साध्य होता है। इस प्रकार सांख्य मार्गसे कर्मयोगका श्रेष्ठत्व सिद्ध करना। श्रीकृष्ण को गीताका उपदेश करते समय उपरोक्त प्रकारकी अनेक बातें संभालनी पडीं। इन सबको अतीव कुशलतासे संभालकर श्रीकृष्णने गीताके द्वारा कर्मयोगकी प्राणप्रतिष्ठा की है।

कर्मयोगका बीजारोपण।

शिष्टाचार है कि नये दमाद का पूजन करनेके पूर्व पहलेके दमाद की संभावना की जाय। इसी प्रथाके अनुसार श्रीकृष्णजीने कर्मयोगका आवाहन करनेके पूर्व अर्जुनको सांख्य योगका थोडासा उपदेश दिया। अर्जुनकी प्रथम शंका थी कि भीष्मद्रोणादिकों की मृत्युसे मुझे शोक होगा और तब जीवन भी व्यर्थ मालूम होगा। इस शंकाके निरसन के हेतु आत्मा का अमरत्व, देहकी क्षणभंगुरता और मृतकका पुनर्जन्म इत्यादि वेदान्त तत्त्व बतलाना आवश्यक था। ये तत्त्व सांख्य मार्ग या अन्य किसी भी मार्गमें एकसे हैं। इसलिये सांख्यनिष्ठा जो कि रूढ थी उसीके आधारसे श्रीकृष्णजीने अर्जुनको समझाया कि मृतके लिये शोक करना और यह मानना कि आत्मा मारता है या स्वयं मरता है

कितना भ्रमपूर्ण है। सांख्य-तत्वज्ञान से अर्जुन की मनोभूमि साफ करने पर उसमें कर्मयोग का बीज बोनेका आरंभ करना था; परन्तु यदि एकदम कर्मयोगका उपदेश किया जाय तो संभव है कि अर्जुन चकरा जावे, इसलिये—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९

इस प्रकार प्रस्तावना करके श्रीकृष्णने कहा 'मैं तुझे बुद्धियोग बतलाता हूं।' बतलाना तो था 'कर्मयोग' इसलिये इसका प्रस्ताव करते समय जो भाषा उपयोग में लायी गई है-अर्थात् जिस बुद्धियोग से 'कर्मबंध' दूर हो जाते हैं वही बुद्धियोग बतलाता हूं- वह निश्चित उद्देश्य से ही कही गई मालूम पडती है। इसमें निर्दिष्ट उद्देश्य स्पष्टतया प्रतीत होता है कि कर्मयोग के आचरण में बुद्धि को प्रधानता है और उसमें किया हुआ कर्म बंधन कारक नहीं होता। यह बात आरंभ ही में जतला देने से अर्जुन की कर्मयोग के संबंध में गलत समझ न होगी। उन दिनों कर्मत्यागका अधिक बोलाबाला होने का कारण यही भूलभरी समझ थी कि कर्म जितना भी है सब अवश्य ही बंधनकारक है। इसी लिये यज्ञ, दान, तप आदि पुण्यकारक कर्म भी इसी डर से बडे बडे स्थानों ने त्याज्य समझ लिये थे! यह समझ सु-स्थिति के लिये अनिष्ट थी; अतएव श्रीकृष्णने गीता में ही इस मत का खण्डन किया है और स्पष्ट रीतिसे कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यागना नहीं चाहिये।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः॥१८।३
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥१८।५
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥१८।६

इस प्रकार का निश्चितार्थक उपदेश है। परन्तु यह बात अठारहवें अध्याय की है। तब तक अर्जुन के मन पर कर्मयोग के उपदेश का बहुत कुछ असर हो चुका था; इसलिये उस स्थान पर अर्जुन के ही प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्णने यह निश्चित मत बतलाया। कर्मयोग के उपदेश के आरंभ में आवश्यकता यह बतलाने की थी कि इस मार्ग में कर्मबंध का भय नहीं है। इसीलिये इसका उल्लेख प्रथम और प्रमुखतः किया गया है। अनन्तर यह स्पष्ट करनेके अभिप्राय से कि यह कर्मयोग 'भोगैश्वर्यप्रसक्त' कामात्माओं द्वारा किये हुए यज्ञ-याग से भिन्न है, उन यज्ञ-यागादिकों की त्याज्यता दिखाई गई। साथ ही वेद में स्थित कर्म-काण्डात्मक भाग त्याज्य बताकर—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
गी. २।४५

इस श्लोकमें कर्मयोग का सत्य, शुद्ध एवं स्पृहणीय रूप व्यक्त किया। और—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
गी. २।५१

इस श्लोक से कर्मयोग का मोक्षप्रदत्व भी दर्शाकर कर्मयोग का बीजारोपण पक्का किया; परन्तु 'कर्मयोग' शब्द यहां तक एक बार भी प्रत्यक्ष रीतीसे नहीं कहा गया।

सांख्ययोग और कर्मयोग की तुलना।

श्रीकृष्ण की यह दुहरी भाषा सुनकर अर्जुन चक्कर में पड गया। उसने देखा कि श्रीकृष्ण इधर कर्मकी निन्दा भी करते हैं और तुर्त ही कर्म की अतीव स्तुति भी कते हैं। इसमें से सच्चा मत कौनसा सो न समझ सकने के कारण अर्जुन ने कुछ गुस्से से ही श्रीकृष्ण से स्पष्ट रीतिसे कहा कि ऐसी दुहरी सलाह देकर आप मुझे उधेडबुन में न डालिए। जिसमें मेरी भलाई हो ऐसा एकही मार्ग आप मुझे असंदिग्ध रीति से बतलाइए। परंतु श्रीकृष्ण थे पक्के दूरदर्शी और मनको जाननेवाले। उन्होंने देखा अबतक इसकी मनोभूमिका अच्छी तरह तैयार नहीं हुई है। अतएव इसे एकदम यह कह देना ठीक न होगा कि कर्मयोग ही तेरा मार्ग है। इससिये उन्होंने कहा, "अर्जुन, तू मुझे एकही

मार्ग बतलाने को कहता है, पर पुरातन कालसे दो मार्ग चले आये हैं। एक है सांख्योंका (कर्मत्याग-का) मार्ग और दूसरा है कर्मयोगियोंका का मार्ग। ऐसी दशामें मैं कैसे कहूं कि श्रेयोमार्ग एकही है? पर मैं अब इन दोनों मार्गोंकी तुलना कर दिखाता हूं। इनमें मेरी दृष्टिमें कर्मयोग अधिक अच्छा है (५-२)। तथापि इनमें तर-तम देखकर तू ही निश्चय कर कि कौन मार्ग अच्छा है।

निःश्रेयस् प्राप्तिके लिये कर्मसंन्यास एकही उपाय नहीं है (३-४)। सांख्योंको जो पद प्राप्त होता है, वही कर्मयोगियोंको भी मिलता है (५-५)। इस बातमें दोनों तुल्यबल हैं। कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों एकसे मोक्ष-प्रद हैं (५-२)। इनमें कर्म-संन्यास दिखनेमें सरल मालूम होता है; क्योंकि सब कर्मोंको छोड देकर स्वस्थ बैठे, याने कर्म-संन्यास हुआ ऐसा लगता है। किन्तु यह समझकर लेना भारी भूल है कि केवल कोईभी कर्म करना नहीं इतना निश्चय कर लेने भरसे नैष्कर्म सध गया (३-४)। बाह्येन्द्रियोंका निरोध करके कर्म बन्द कर दें, तब भी यदि मन संसार भरमें भटकता रहेगा, तो वह मनुष्य मिथ्याचारी सिद्ध होगा (३-६)। इस प्रकार का मिथ्याचार करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर तो यह होगा कि कर्मेन्द्रियोंको अपने अपने कर्म करने देकर मन भर काबूमें रखा जाय और सब प्रकारकी आसक्ति समूल त्याग दी जाय (३-७)। कोई भी मनुष्य कुछभी कार्य न करते हुए एक क्षणभर भी नहीं रह सकता (३-५)। यदि तुम कहो कि मैं कुछभी काम न करूंगा, तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी अच्छी तरह न चल पावेगी (३-८)। एवंच कर्म-संन्यासका मार्ग सधना कठिण है (५-६)। उसकी अपेक्षा कर्म-योगीको ब्रह्मप्राप्ति जल्दी होती है (५।६)

कर्म-योगकी परंपरा और आवश्यकता।

कर्मयोग और कर्मसंन्यासकी तुलना सुनकर भी अर्जुनको संतोष न हुआ। उसकी यही धारणा हुई कि मुझे किसी भी प्रकार युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये श्रीकृष्णने कर्मयोगका नया झगडा तैयार किया है। अर्जुनकी यह भूल दूर करना आवश्यक था। क्योंकि यद्यपि हर एक पुरानी बातको अच्छा कहनेके लिये हम लोग तैयार नहीं रहते, तथापि पुरानी बातोंके दोषोंको जानते हुए भी उन्हीं का समर्थन हम करते हैं और नया मार्ग कितना भी कल्याणकारी क्यों न दिखे आरंभमें उसकी ओर हम शंका की दृष्टिसेही देखते हैं। अर्जुनके मनकी यही दशा जानकर श्रीकृष्णने कहा, 'यह कर्मयोग मैं तुम्हें पहली बार और बिलकुल नये सिलसिलेसे नहीं बता रहा हूं। विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंको प्राचीन कालमें मुझसेही किन्तु परंपरा से यही उपदेश प्राप्त हुआ था। बीचके कालमें इसमें कुछ रुकावट पड गयी थी, इसलिये आज तुम्हे वही पुराना कर्मयोग बतलाकर मैं उसका पुनः रुज्जीवन कर रहा हूं।'

इससे अर्जुनको इस कर्मयोगका पुरातनत्व जँचा भी हो, तोभी उसके मनमें शंकाएं ऊधम मचा रही थीं कि कर्मत्याग न कर कर्माचरण की आवश्यकता की जिम्मेदारी मनुष्यपर क्यों आती है; कर्म भर जितना है सब बंधनकारक होना ही चाहिये इस सिद्धान्तके रहते कर्मयोगी का कर्म उसे बंधन-कारक कैसे नहीं होता। इस दशाको जानकर श्रीकृष्णने अर्जुनको सृष्टिके यज्ञचक्रके तत्त्वको समझाया यह निरपवाद नियम नहीं हो सकता कि प्रत्येक कर्म बंधनकारक होनाही चाहिये। यज्ञके लिये किया हुआ कर्म बंधनकारक नहीं हो सकता, हाँ वह अनासक्तिसे अवश्य किया हुआ हो। ये बातें समझाते समय श्रीकृष्णने भाषा कैसे संभाल संभाल कर और वकील जैसी कही है सो देखने योग्य है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ३-९

इस श्लोकमें यह नहीं कहा कि यज्ञार्थ किये हुए कर्म बंधनकारक नहीं होते। क्योंकि ऐसा कहनेसे अतिव्याप्ति का दोष होता। यह कहने से कि जो कर्म यज्ञार्थ नहीं हैं वे बंधकारक हैं, यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों का अलग वर्ग होही गया। उस

में के भी सभी कर्म बन्धकारक नहीं होते यह नहीं क्यों कि कुछ यज्ञ काम्य होते हैं और कुछ निष्काम अतएव, यह दर्शाकर कि फल की अपेक्षा से किये हुए कर्म बन्धनकारक होते हैं, यह दिखा दिया कि 'यज्ञार्थ और मुक्तसंगत्व' से किये हुए कर्म भर बन्धनकारक नहीं होते। और आगे-

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ३-१९

इस श्लोक में कहा कि आसक्ति छोडकर कर्माचरण करनेवाला पुरुष निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है। और पुनः एकबार कर्मयोग का मोक्षप्रदत्व अर्जुन को जतलाया।

लोकसेवा तथा लोकसंग्रह।

इसके पूर्व 'कर्म' शब्द सुनकर अर्जुन घबडा उठता था। इस विवेचन से वह भय जाता रहा। तथापि यह शङ्का रही आई कि यदि कर्म न करें तो क्या बिगडेगा। इस शङ्काको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने लोकसेवा तथा लोकसंग्रहकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया। गीता के पूर्व के और उसके पश्चात् के तत्वज्ञानविषयक ग्रन्थों की अपेक्षा गीता में यदि कोई विशेषता है, तो वह विशेषता लोकसंग्रह तथा लोकसेवा के सिखापन में ही है। उपनिषदों में भी प्रवृत्तिपर कर्मयोगका उपदेश दिखाई देने लगाथा। तथापि यज्ञ, परोपकार, लोकसंग्रह आदि सिद्धान्तों की सुश्लिष्ट रचना गीतामें ही सर्व प्रथम इतने सिलसिलेसे की गई है। यह कल्पना वेदकाल से रूढ है कि जगत् का प्रत्येक मानवी प्राणि जन्म के साथही तीन ऋण अपने साथ लाता है और इन ऋणों को चुकायेबिना छुटकारा नहीं है। उसमें देव ऋण तथा पितृऋण का चुकाने के मार्ग कहकर यज्ञ और अध्ययन-अध्यापन का निर्देश है। परन्तु उसमें स्थित यज्ञ की कल्पना गीता की कल्पना के समान व्यापक नहीं है। गीता की यज्ञ-कल्पना में व्यक्तिगत कर्तव्य के साथ ही सामाजिक कर्तव्य के एवं परोपकार शामिल हैं। मनुष्य जन्म लेता है तब ऐसा तो होता ही नहीं कि वह बिना आगापीछा के जन्म लेता हो। वह किसी न किसी देश का निवासी, धर्मका अनुयायी, किसी न किसी का पुत्र, किसी का बांधव, किसी कुल का घटक इस प्रकार के अनेक रिश्ते और संबंध लेकर जन्म ग्रहण करता है। इन नातों के कारण उसे बालपन में जो लाभ होता है उसका बदला होश संभालनेपर किसी न किसी रूपमें चुकाना उसका कर्तव्य हो जाता है। इसी कर्तव्य को गीता ने 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' वचन से यज्ञ का रूप दिया है और-

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

कहकर परस्पर सहकारिता का सिद्धान्त सबके लिये बतला दिया है। गीता का सिद्धांत है कि जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता वह अघायु होता है। इसलिये अघायुत्व का आरोप टालने के हेतु गीताने लोगों को यज्ञ का मार्ग दिखा दिया है। आनृण्य का संपादन करने के लिये तथा अघायुत्व टालनेके लिये जो जो करना है वह यज्ञरूप है। अतएव केवल यज्ञके लिये आसक्तिरहित जो कर्म करना है वह बंधनकारक होहि नहीं सकता। सरकारी नौकर सरकार के हुक्म की तामीली करने में जो कुछ करे उसके लिये वह व्यक्ति के नाते किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं है। यह राजकाज का नियम ही सृष्टिके कानूनों में भी है। यह अवश्य है कि इन दोनों में स्वार्थ निरपेक्षता का पथ्य संभालना पडता है।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

आनृण्य का संपादन तथा अघायुत्वका टालना ये जिम्मेदारियां छोटे, बडे, विद्वान् अविद्वान्, ज्ञानी, अज्ञानी, अधिकारी, अनधिकारी सभी पर समानतासे पडती हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य अपना आचरण वैसे ही रखता है जैसे ज्ञानी मनुष्यका आचरण होता है और उन्हीं नियमोंका पालन करता है जिन्हें ज्ञानी मनुष्यने बतलाया हो या मान लिया हो। इसलिये ज्ञानी मनुष्य पर इतना उत्तरदायित्व अधिक आन पडता है। जिसकी यह इच्छा हो कि जनता सत् मार्गसे चले उसे स्वतःका आचरण शुद्ध रखना चाहिये, स्वतःका कर्तव्य निरलसतासे करना चाहिये, निश्चय कर लेना चाहिये कि कौनसा

शास्त्र मानना है और जहां शास्त्र मुग्ध होगा वहां स्वतः विधिनिषेध लगा लेना चाहिये। 'लोकसंग्रह' शब्दमें ये सब कर्तव्य शामिल हैं। ज्ञानी भी यही अपेक्षा करेगा कि समाज सु-स्थितिमें और सुखसे रहे। अतएव लोकसंग्रह का यह कार्य ज्ञानीकोही करना आवश्य है। यदि ज्ञानी इस कार्यकी टालमटोल करेगा, तो यह सत्ता अनधिकारी मनुष्यके हाथमें चली जावेगी और वर्ण-सङ्कर होगा तथा समाजका उच्छेद होगा। ईश्वर स्वतः अवतार लेकर जगत्‌का योग्य धारण पोषण न करे, तो जगत् काभी उच्छेद होता है। इसीलिये उसे टालनेक लिये मैं दक्षतासे कर्तव्य करता हूं, यह श्रीकृष्ण ने स्वतः बतलाया है।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

यह भगवान् का वचन जो प्रमाण मानता है, उसे

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

यह वचन भी प्रमाण मानना होगा। इस प्रकार आचरण रखनेवाले जनकादि कर्मयोगियोंने कर्मयोगके द्वारा ही संसिद्धि प्राप्त की। श्रीकृष्णने प्राचीन इतिहासका यह दृष्टान्त देकर कर्मयोग का उपदेश पक्का किया है। वकील अपने मतकी पुष्टिके के लिये जब प्रीवी कौंसिल का प्रमाण देता है, तब नीचे के कोर्टका कुछ नहीं चलता। ठीक वैसे ही यहां भी हुआ। कर्मयोगको दोष देनेवालोंको यह स्थान कर्मयोगका दुर्भेद्य किला ही है। जनक ज्ञानी नहीं थे यह तो कह ही नहीं सकते क्योंकि उसे उपनिषदोंकाही आधार है। यह भी नहीं कह सकते कि जनक राज्य नहीं करते थे क्योंकि इसके लिये भी वही आधार है। अर्थात् यह कहनेको कि ज्ञानी मनुष्य ज्ञानोत्तर कर्म नहीं कर सकता मुह ही नहीं रहता। ज्ञान व कर्मका 'तमःप्रकाशवत् विरोध' जनक के उदाहरण में बिलकुल दिखाई नहीं देता। इसलिये अर्जुन भी श्रीकृष्णके वचन पर कुछ भी न कह सका। यह देखकर श्रीकृष्णने अबतक जो उपदेश अप्रत्यक्ष रीतिसे किया था सो—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

इस श्लोकसे स्पष्ट किया। इसमें निर्ममत्व आदि शर्तें पहले की ही हैं; परन्तु 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' पदसे ईश्वरार्पण बुद्धि का नया पथ्य कर्मयोग में क्यों आया।

भक्ति-मार्ग की संस्थापना।

कर्मयोग से लोकसेवा होती है, लोकसंग्रह होता है इसलिये वह कर्मत्याग से श्रेष्ठ है सही; परन्तु लोकसंग्रह या लोकसेवा करना किसलिये? यदि फलाशा रखना ही नहीं तो कार्यकी ओर प्रवृत्ति हो कैसे? शास्त्रज्ञ कहते हैं कि 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितं' अतः उस प्रेरक शक्ति के अभाव में कर्मेंद्रियां हलचल भी कैसे कर सकेंगी? इस लिये कई लोग समझते हैं कि निष्काम कर्मयोग साधना असंभव है। कर्तव्य-बुद्धि, आत्मौपम्यबुद्धि से दूसरों का दुःख निवारण करनेकी इच्छा, ईश्वर का आदेश इत्यादि शक्तियां प्रेरकत्व का कार्य कर सकती हैं। अर्थात् जो सचमुच समझता है कि मुझे जो कुछ करना है वह करने के लिये ईश्वर ही प्रेरणा करता है; वह उस कार्य का कर्तृत्व तथा फल ईश्वर को ही सौंप कर स्वतः अलिप्त रहेगा। इससे ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कार्य तो होगा ही साथ ही अलिप्तता भी सधेगी। इसी लिये कर्मयोग को भक्तिभाव का साथ मिलना आवश्यक है। भक्ति से अन्तःप्रेरणा का कार्य होता है और जब यह तत्व जंचता है कि जनसेवा ही ईश्वरसेवा है, तब कर्मयोगी से निष्काम कर्म बन सकता है। भक्ति की यह महत्ता जान करही श्रीकृष्णने कर्मयोग की पूर्ति के लिये उसे भक्ति का जोड दिया है।

कर्मयोगमन्दिरको भी ज्ञानकाही कलश।

इस प्रकार कर्मयोग के मन्दिर की रचना हुई। तिस पर भी ज्ञानरूप कलसके बिना उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सभी पक्ष 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' का सिद्धान्त पक्का मानते हैं। संन्यास

योग हो, कर्मयोग हो अथवा भक्तियोग हो उसका पर्यवसान ज्ञान में होता है तभी कैवल्यप्राप्ति होती है। इस पर सांख्य-मार्गी या संन्यासमार्गी कहेंगे कि कर्मयोग साक्षात् मोक्ष को देनेवाला नहीं है; कर्मत्याग करके ध्यान-धारणादि नियमों का अवलंब करें तभी ज्ञानप्राप्ति होती है। इस कथन को गीता में कहीं भी आधार नहीं है। इसके विपरीत गीता कण्ठरव से कहती है कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥ ५।२

यदि कर्मयोग का उपयोग केवल चित्तशुद्धि के लिये ही होता, आगे चलकर उसका मज्जाव होता, तो संन्यास के साथ ही कर्मयोग भी निःश्रेयसकर है ऐसा गीता कदापि न कहती। चूंकि गीताने यह बात निस्संदिग्धता से कही है, इसलिये गीता का यही मत होना चाहिये कि कर्मयोगी को आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वतंत्र रीतिसे होती है। गीता में ऐसा कहा भी तो है कि—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
गी० १८। १०

इसमें कहा है कि रागद्वेषादि से मुक्त त्यागी पुरुष सत्त्वसमाविष्ट, मेधावी तथा छिन्नसंशय होता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ १३।२४

इस श्लोक में बतलाया है कि भिन्न भिन्न मार्गोंसे आत्मज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है। इसमें कहीं भी नहीं कहा गया कि कर्मयोग-मार्ग दूसरे पर अवलंबित होता है। इसीसे स्पष्ट है कि प्रत्येक मार्ग पृथक् रीतिसे आत्मज्ञान करा देनेके लिये समर्थ है।

यह गीता—मन्दिर किसका है ?

श्रीकृष्ण परमात्माने भव्य, दिव्य, प्रेक्षणीय, कुतूहलजनक और मोक्षमार्गदर्शक इस गीता-मन्दिर की रचना धर्मक्षेत्र-रूप कुरुक्षेत्र पर उपरोक्त रीति से अत्यन्त चतुराई से की। सांख्यसांप्रदायिकों का कर्मसंन्यास का मन्दिर समाज की आकांक्षाओं के लिये अ-पर्याप्त होता है, क्योंकि उसमें व्यक्तिधर्मका ही अवास्तव स्तोम है और उसमें व्यापक वर्णधर्म, समाजधर्म और राष्ट्रधर्म के लिये पूरा अवसर नहीं मिलता। यह देखकर उसी के पडोस में सनातन वैदिक-धर्म की विस्तृत नीव पर वर्णधर्म, यज्ञ,दान, तप, लोकसेवा, लोकसंग्रह इत्यादि पत्थर और त्रिगुणातीतत्व, निर्द्वंद्वत्व, निष्कामता, निरहंकारता, अनासक्ति इत्यादि मसाला काम में लाकर इस मन्दिर की रचना की गई है। इस मन्दिर पर कर्मयोग का शिखर बनाकर उसपर ज्ञानरूप कलश चढाया। मन्दिर का भीतरी भाग भक्तियोग के विविध रङ्गों से रंगाया गया। उस पर ईश्वरार्पणबुद्धि की कलम से आश्रमधर्म, वर्णधर्म, यज्ञार्थ कर्म, जनसेवा, लोकसंग्रहार्थ कर्म इत्यादि नयनवेधक चित्र खींचकर मन्दिर को अप्रतिम शोभा प्राप्त करा दी है। इस प्रकार का दिव्य मन्दिर देखकर संन्यासवादियों के मन को भी लोभ ने पछाडा। उन्होंने यह कह कर कि आज तक इस धर्मक्षेत्र में हम लोगों का एकही संप्रदाय का मन्दिर था, इस नये कर्मयोग मंदिर के नीचे का स्थान पहले हमारा ही था और इस मन्दिर के शिखरपर स्थित कलश हमारे ही कारखाने में बना है, कर्मयोगियों को भगा दिया और मन्दिर पर अधिकार कर लिया। आगे चलकर मन्दिर की भीतरी दीवालों पर जहाँ तहाँ भक्तियोग की चित्रकला का विलास देख भक्तिमार्गी सांप्रदायिक भी उस मन्दिरपर अपना हक बतलाने लगे। उस समय यह देखकर कि कर्मयोगवालोंसे विवाद उठाने में भक्तिमार्गवालों की गवाह उपयोगी होगी, संन्यासमार्गवालोंने भक्तिमार्गवालोंको मन्दिर में अपनी बराबरी से व्यवहार करने की इजाजत दी। इतनी इजाजत मिलते ही भक्तिमार्ग के सांप्रदायिकों ने मन्दिर का बहुतेरा भाग खुदही व्याप लिया। संन्यासमार्गवालों का हक्क केवल नाममात्र के लिये रहा, व्यवहार और सब ठाट बाट भक्तिमार्गवालोंकाही शुरु हुआ।

सच्चे मालिक जो कर्मयोगी उन्हें कोई पास भी न आने देता। यदि बहुत ही जिद्द की तो दहलान तक आने मिलता और आगे के लिये सदा की मनाही लगी। यह अन्याय देखकर कर्मयोग के नेताओं ने अनेक बार अपना हक स्थापित करनेका प्रयत्न किया। परन्तु परिस्थिति प्रतिकूल होने के कारण सब प्रयत्न असफल हुए। समर्थ रामदास-स्वामी ने अधिक जोरदार प्रयत्न किया और उन्हें कुछ यश मिलाभी। तथापि उनके पश्चात् महाराष्ट्र में रणरङ्ग रचा रहा और समर्थ रामदास के संप्रदाय में भी उनकी परंपरा को चलानेवाले महंत बिरले ही दिखाई देने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो यश मिल चुका था वह भी हाथ से निकल गया।

लोकमान्य तिलक का कार्य।

ऐसी परिस्थिति में लोकमान्य की नजर इस मन्दिर की ओर पडी। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि के सामने और तर्कशुद्ध बुद्धि के आगे कोई भी वस्तुस्थिति छिपाई जाना संभव नहीं था। इससे उन्होंने सकृत् दर्शन से ही ताड लिया कि कर्मयोगी श्रीकृष्णने यह गीतामन्दिर धनुर्धर अर्जुन के लिये रचा; और कर्मयोगी लोग ही उसके सच्चे वारिस हैं। प्रत्यक्ष मन्दिर के अन्तरङ्ग और बहिरंग का निरीक्षण करके कर्मयोगियों के हक के संबंध में उन्होंने निश्चय कर लिया। अनन्तर संपूर्ण सबूत एकत्रित कर के उसे 'गीतारहस्य' में शामिल करके उन्होंने जनता-जनार्दनके सन्मुख अपना हक साबित करने का दावा किया। यह मुकदमा दाखिल होनेके समय से लाखों लोगों का ध्यान इस मन्दिर की ओर आकर्षित हुआ और हर कोई अपनी ओरका सबूत ढूंढने लगा। श्री शंकराचार्य के पहले का अन्य सबूत उपलब्ध न होने से आचार्य का भाष्य और बारह सौ वर्षों की कब्जियत के बले पर संन्यास-मार्गवाले अपना हक छोडने को तैयार न होते थे। परन्तु लोकमान्य तिलक कसे हुए संशोधक तथा वकील होने कारण वे जानते थे कि सबूत कहां मिलेगा। उन्होंने कुछ स्थानों में नीव खुदवाई, नीव के ऊपर के नाम रंग में डूब गये थे उन्हें खरोंचकर साफ किया, दीवाल के चित्रों में पुराने चित्र लुप्त हो गये थे वे ऊपर का रंग पोंछकर दृश्यमान किये; तब तो उन्हें बडा ही मजबूत सबूत मिला। नीव के एक पत्थरपर श्रीकृष्ण, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, अर्जुन जैसे सब राजर्षियों के नाम दिखाई दिये। उनमें एक भी ब्रह्मर्षि का नाम न था। कर्मयोग की मुख्य कमानी पर राजा जनक का भव्य चित्र था और उसके नीचे बडे बडे अक्षरों में लिखा था—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

एक भक्तिपर चित्रके नीचे लिखा था 'मामनुस्मर युध्य च' दूसरे चित्र के नीचे –

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'

लिखकर उसके नीचे 'जनसेवा एव जनार्दन-सेवा' ऐसा उसका स्पष्टीकरण किया था। एक स्थान में संसारदर्शक अश्वत्थ वृक्ष बनाया गया था और दिखाया गया था कि एक मुमुक्षु उस वृक्षको कुल्हाडीसे तोड रहा है। उस कुठारपर'असंग शस्त्र' नाम खुदा था, 'अकर्मशस्त्र' नाम न था। उसी के पास एक संन्यासी बताया गया था जो सर्व कर्मोंका संन्यास किये बैठा था। उसके नीचे यह संदेश लिखा था कि 'मा ते संगोस्त्वकर्मणि'। दूसरा एक संन्यासी अन्नके अभावसे मृत्यु शैय्या पर पडा हुआ दिखाया गया था और उसके नीचे-

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः'

यह भगवद्वचन इशारेके लिये लिखा था। एक स्थानमें एक क्षत्रिय धनुष्यबाण त्यागकर भिक्षापात्र लेनेकी तैयारीमें दिखाया गया था और उसीके सामने बडे अक्षरोंमें लिखा था 'परधर्मो भयावहः'। दूसरे एक स्थानमें एक क्षत्रिय रणपण्डित अपने देशके और धर्मके रक्षणके हेतुको घोर युद्ध कर रहा था और हजारों शत्रुओं को यम सदनको भेज रहा था। उसके नीचे यह लेख खुदा हुआ था कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

यह सब असली सबूत मन्दिरकी नींवकी शिलापर तथा दिवालपर खुदा हुआ देखकर लोकमान्य तिलकको पूर्णतया निश्चय हो गया। इस सबूतके बलपर ही उन्होंने कर्मयोगी लोगोंका गीतामन्दिरपर वारिसका हक बतलाया है। यदि न्यायाधीश पक्षपात-रहित होगा, तो सभी को विश्वास है कि इस दावे का फैसला लोकमान्य तिलक के पक्षको अनुकुल ही होगा।

अस्तु। गीतामन्दिर पर किसी भी पंथकी मालिकता सिद्ध हावे, उस मन्दिरकी शोभा देखनेके लिये तथा उसकी छायामें विश्राम करनेके लिये किसीको भी रुकावट नहीं है। केवल हिन्दू ही नहीं अपि तु अन्य किसी भी धर्मके लोग इस मन्दिर की छायामें विश्राम करनेको आवें, तो कोई हानि नहीं। यही नहीं, संसारके सब मानवी प्राणि इस मन्दिरका उपयोग करें और उसके द्वारा त्रिविध तापसे मुक्त हो जावें, तो उसमें सनातन धर्मियों को आनन्द ही है। परन्तु यदि परंपरा और वारसके बाबत विचार उपस्थित हुआ, तो ऐतिहासिक सत्य प्रतिपादन करनेके हेतु तथा प्रचलित भ्रमनिरसनके हेतु यह स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि यह गीता मन्दिर कर्मयोगी श्रीकृष्णजीने कर्मयोगकी खण्डित परम्पराको पुनरुज्जीवित करनेके हेतु बनाया और अर्जुन को उपदेश करके उस परंपरा का पुनरुज्जीवन किया।

“ गीतार्थ–सार ”

(कवि– 'विवेक' कृत कविता का गद्य भाषान्तर.)

१

कुरुक्षेत्र में उपस्थित सैन्य-समूह में आप्तमित्रोंको देखकर
' इनके साथ युद्ध करना, अथवा धनुष्यबाण का त्याग करना'
ऐसा मनमें विकल्प आकर अर्जुन संभ्रम में पडा।
ऐसे इस कठिण समयपर
सम्मोह को हटाने के हेतु
कर्तव्योन्मुख करने के हेतु
कुरुक्षेत्रपर उस समय श्रीकृष्णने गीता का कथन किया॥

२

शांतिके लिये, धर्मके लिये, नयरक्षण हो इस गरजसे,
जगत् में जो सज्जन हैं, उनके कल्याण के हेतु,
भागश्री और समता का परि पालन हो इस हेतु,
चित्तमें मेरा स्मरण करके
धनुष्यबाण हाथ में लेकर
आगे बढकर युद्ध करो
इस प्रकार शुभशाली 'कर्मयोग' का अर्थात् गीताका कथन
श्रीकृष्णने किया।

गीता-माहात्म्य।

(श्री० ना. वि. गोळिवडेकर, औंध.)

(गद्यानुवाद)

श्रीहरीनें जो तत्त्व वाक्य अपने मुखसे कहे हैं।
वेही गीतारूप से जनों में प्रसिद्ध हुए हैं॥
पृथ्वीपर ऐसा दूसरा ग्रंथ नहीं है।
जो नरको बोध करके शीघ्र संग्राम में नियुक्त करे॥ १॥

(ऐसा नर) कर्म करता है, सुखकी फलाशा छोडता है।
स्वभावतः उसकी सिद्धि स्वधर्म में रममाण होती है॥
सकल विश्व उसके वशमें आता है।
वह सकल जनों को देवतासे अधिक वंद्य समझता है॥२॥

वहां (ऐसे नरके पास) ज्ञान भरा है जैसा समुद्रमें पानी। उस (ज्ञान)में क्षार नहीं है, वह ज्ञान (माधुर्यमें) अमृतको लज्जित करता है। जिसको (इस ज्ञानोदधिमें) तत्त्वबोधसे स्नान करनेका सौभाग्य प्राप्त हो। उसको जन्म मृत्युकी बाधा नहीं होती॥३॥

जो (परमात्मा) सकल विश्वमें व्याप्त होकर निराला है।
तरुमें काष्ठमें पाषाण में अंतराल में (जो व्याप्त है)॥
जो समस्त भूतों के लिये एकमात्र पिता है।
उस विश्वपालक का वर्णन शब्द कैसे करें॥ ४॥

ऐसा गूढ (तत्त्वज्ञान) शब्दोंमें संकलित करनेके हेतु।
गीताने जन्म लिया, जिससे जनों को बोध हो॥
(हे गीते!) इसी कारण योगियोंको तुम्हारी लटक लगती है।
और ऐसा संग × करके वे निःसंग हो जाते हैं॥ ५॥

समरमें भगवानने अपना मनोगत व्यक्त किया।
(कि हे पार्थ!) युद्ध करके इन दुष्ट कौरवोंके बल को मारो॥
पृथ्वीपर पूर्ण शान्ति और धर्म की स्थापना करो।
तभी हे पार्थ! अंत में तुम्हारा जन्म धन्य होगा॥ ६॥

×(तुम्हारा सत्संग)

३ सच्चे धर्मकी शिक्षा ।

(लेखक—श्रीमंत भवानराव उर्फ बालासाहेब पंडित प्रतिनिधि, बी. ए. महाराजा औंध स्टेट.)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥

गी० १८।४६

प्रत्येक प्राणी सुखकी अभिलाषा रखता है; परंतु पशुपक्ष्यादि अन्य प्राणियोंका व्यवहार, आहार, निद्रा, भय और मैथुन के बाहर नहीं जा सकता। इन चार बातोंके संबंध में भी यह कहना चाहिये कि जन्मतः इन प्राणियोंमें जो जो अंगस्वभाव रहता है उससे वे बहुत दूर नहीं जा सकते। अर्थात् अपने अपने अंगस्वभावके अनुसार प्रत्येक प्राणिका व्यवहार मर्यादित रहता है। हजार वर्ष पहिले जिस प्रकारका घोंसला कौवा बनाता था, उसी प्रकारका घोंसला वह आज बीसवीं शताब्दिमें भी बनाता है; उसमें कोई फरक नहीं हुवा। इतनाही नहीं, वरन कौवोंके अंडे कोयलों के अंडोंके सदृश रहते हैं। कोयलोंके अंडे कौवोंके घोंसलोंमें रख दिये, उन अंडोंको कौवोंने ही सेया, उन अंडोंमें से निकले हुए बच्चोंका पोषण भी कौवोंनेही किया; तथापि कोयलोंके यही बच्चे होश सम्हालकर अपने लिये जो घोंसले बनावेंगे वे कोयलोंके घोंसलोंके सदृश होंगे न कि कौवोंके घोंसलोंके सदृश। इसी लिये कोयल को "परभृत" कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पशुपक्ष्यादिकों का व्यवहार अपने अपने अंग स्वभाव के अनुसार होता है। यह न्याय मनुष्यको लागू नहीं है।

परमेश्वरने मनुष्यको एक अजीब वस्तु-बुद्धि दी है। इसके द्वारा वह हरएक वस्तु और हरएक कृतिके संबंधमें विचार कर सकता है। कोई चीज अच्छी क्यों है अथवा बुरी क्यों है इसके बारेमें वह निर्णय कर सकता है, मैं कौन हूं, क्या पसंद है और क्या नापसंद है, मैं क्या कर सकता हूं, क्या करनेसे मुझे सुखकी प्राप्ति होगी, क्या करनेसे समाजको अथवा राष्ट्रको मेरा अधिक उपयोग होगा इत्यादि अनेक बातोंपर वह विचार कर सकता है। और अपनी अकलके अनुसार प्रयत्न भी कर सकता है। ऐसा करनेसे वह अपनी बुद्धिमत्ता और कर्तबगारी अधिक कार्यक्षम कर सकता है।

मनुष्यने आजतक नानाप्रकारकी विद्या निर्माण की है, नाना प्रकारकी इमारतें, तालाव, बावली बांधीं हैं, भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थोंकी नानाप्रकारकी योजना की है, शहर बनाए हैं, गायनकला चित्रकला इत्यादि चौंसठ कलाओंमें उच्च प्रगति की है।

इन सब प्रयत्नोंका एकमात्र उद्देश सुखकी प्राप्ति है। जगत् के प्रारंभ से मनुष्यप्राणी यह सब उद्योग करता चला आया है। जिस कालमें वह पशुपक्षियोंके समान वस्त्रहीन रहता था तबसे सिविलिजेशन अथवा 'कुल्टूर' के हेतु अपनी रहनसहन, बर्ताव, अभ्यास, खानापीना, राजकारण, शास्त्र इत्यादि विषयोंमें जो जो सुधार उसने किये हैं और जो सुधार वह कर रहा है, उन सबका मुख्य उद्देश यही है कि मुझे या मेरे समाज को अथवा यथाधिकार मेरे राष्ट्रको सुख मिले।

पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेंद्रियों द्वारा जिन विषयोंका उपभोग वह ले सकता है उन्हीं विषयोंद्वारा मुझे सच्चा सुख मिलेगा, यही भावना रख-

कर प्रत्येक मनुष्य उन विषयोंकी प्राप्तिके हेतु अव्याहत प्रयत्न करता है। जिसको सुख कहते हैं वह चीज मुझे अमुक वस्तुओंको देखनेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट पदार्थ खानेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट नाद सुननेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट सुवास लेनेसे मिलेगी, अथवा विशिष्ट स्थानको जानेसे मिलेगी, अथवा हाथसे विशिष्टकर्म करनेसे मिलेगी, अथवा त्वचा को विशिष्ट पदार्थका स्पर्श होनेसे मिलेगी, इत्यादि इत्यादि कल्पना करके मनुष्यप्राणी तदनुकूल इंद्रियोंद्वारा उन पदार्थोंका अमर्याद सेवन करता रहता है।

परंतु अंतमें उसे यह प्रतीत होता है कि विषयेंद्रियसंयोग से होनेवाला सुख क्षणिक और केवल भासमात्र है।

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
गीता० १८।३८

इंद्रियोंद्वारा कर्म करनेही का अनेक जन्मार्जित अभ्यास मनुष्यप्राणीको रहता है। इसीलिये इंद्रियों का उपयोग किये विना कर्म कैसे करना इसकी धारणा उसे अत्यन्त दुर्घट है।

मनका व्यापार सदा जारी रहता है, वह व्यापार भी (अमुक इंद्रियोंसे अमुक पदार्थोंका सेवन करना इसप्रकार) संकल्पात्मक रहता है इसलिये मनमें केवल विषयोपभोगकी कल्पनाएं आती हैं।

और इस तरह विषयोंका उपभोग लेते रहनेसे हमें सुख होगा, ऐसी स्वार्थी भावना प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरणमें जागृत रहती है। जहां स्वार्थ है वहां काम क्रोध लोभ तीनों विद्यमान हैं। यह त्रयी नरक अर्थात् अधःपतनका द्वार है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।
गीता० १६।२१

काम क्रोध व लोभके प्रभावसे हम बचे रहें और मनमें सुविचार ही आते रहें इस हेतु अनेक सुबुद्ध ऋषियों व साधुसंतोंने नाना प्रकार के उपाय बतलाए हैं। मनुष्य सुखप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है लेकिन भक्त कबीर कहते हैं कि जिसको सुख कहते हैं वह चीज त्रैलोक्यमें नहीं है-

सुरपुर नरपुर नागपुर, तीनोंमें सुख नहिं।
एक सुख है हरिचरणमें, बीजो संतन पायीं॥

सुख या तो परमेश्वर प्राप्तिसे मिल सकता है अथवा उन सत्पुरुषोंके सहवास से जो परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। अन्यथा मनुष्य चाहे पाताल में जाय, स्वर्गमें जाय अथवा पृथ्वीमें बहुविध विषयोंका सेवन करे, उसे सुखका लाभ नहीं हो सकता। ऐसा सत्पुरुष स्पष्टतया कहते हैं।

सर्व सुखाचें आगर। बाप रखुमादेवीवर॥
"समस्त सुखोंका आगर जगत्पिता परमेश्वर है।
(ज्ञानदेव)

तुका म्हणे माझें। हेंचि सर्व सुख।
पाहीन श्रीमुख। आवडीनें॥
"तुकाराम कहते हैं कि मैं भगवान का मुख प्रीतिसे देखूं यही मेरा सुख सर्वस्व है।"
(तुकाराम।)

सारांश, मनुष्य सुख चाहता है और उसकी खोजमें अनेक प्रयत्न करता है। परंतु सुख तभी मिलता है जब कि परमेश्वर प्राप्ति हो। अन्य किसी भी वस्तुकी प्राप्तिसे सुख नहीं मिलता।

सुख मनका व्यापार है। वास्तविक विचार किया जाय तो पदार्थोंका ज्ञान इंद्रियोंद्वारा पदार्थोंका ग्रहण भी मनही का व्यापार है। मनकी तंद्रा अन्यत्र लगी हो तो आंखोंके सामने पदार्थके रहते हुए उसका ज्ञान न होगा। इसी तरह अन्य किसी भी इंद्रियका व्यापार (मनकी तंद्रा अन्यत्र होनेसे) व्यर्थ होगा। अर्थात् जिसे हम सुख कहते हैं वह वस्तु, चाहें वह क्षणैक भासमान होनेवाली रहे, मन ही के द्वारा हम ले सकते हैं। यह सुख भी केवल मनका है। लेकिन मन चंचल है। कोई सुख सदैव के लिये उसी हालतमें स्थिर रह सकता है जब कि उसका अस्तित्व मनको प्रतीत हो, बुद्धिको जंचे और आत्माको मान्य हो। अन्यथा वह सुख मनके समान चंचल होगा। जो सुख बुद्धिको और आत्मा को जँचता है वह इंद्रियजन्य नहीं रहता।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
गीता ॥ ६ । २१ ॥

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
गीता ॥ ६ । २५ ॥

यह आत्यन्तिक सुख अथवा आत्यन्तिक दुःखध्वंस परमेश्वरकी पूजा करनेसे होता है; और किसी उपायसे नहीं मिलता, ज्ञानवान् मनुष्यको मानवदेह प्राप्त करनेपर जो सिद्धि प्राप्त करना है वह केवल परमेश्वर प्राप्ति है। और यह सिद्धि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इस भगवद्वचनके अनुसार मनुष्यमात्रको अपने कर्मसे परमेश्वरकी पूजा करके प्राप्त करना चाहिये।

जिस परमात्मासे पंचमहाभूत निर्मित हुए और जिसकी इच्छामात्रसे अनंत कोटि ब्रह्माण्डोंका विस्तार हुआ, उसकी अर्चासे यह सिद्धि मिलेगी। उस परमात्माको आकार नहीं, गुण नहीं, नाम नहीं। ऐसी हालतमें मनुष्य उसकी पूजा कैसी करेगा? क्या वह पूजा प्रचलित पूजाविधिके अनुसार ध्यान अवाहन, आसन इत्यादि षोडश उपचारोंसे की जाय या किसी अन्य प्रकारसे की जाय? यह प्रश्न विचारणीय है। यथार्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णोंमें जो अपना वर्ण हो; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास इनमेंसे जो अपना आश्रम हो; अथवा जो उद्योग या जो कार्य हमने परंपरासे अथवा किसी विशेष कारणसे अपनाया हो उसके अनुरोधसे हमारे कर्तव्य कर्मोंद्वारा इस परमात्माकी इस नामरूपातीत परमात्माकी पूजा हम करना चाहें तो वह कैसे करें यही समझना अत्यन्त कठिन है।

मानव जन्म लेनेपर आदमीको दो प्रकारका कर्तव्य करना पडता है। एक अपनी कायिक वाचिक तथा मानसिक उन्नति करना। दूसरा अत्यंत उच्च कर्तव्य यह है कि जिस समाजमें हम रहते हैं, जिस राष्ट्रमें हम रहते हैं उसकी, अथवा यथाधिकार सम्पूर्ण जगतकी, सार्वजनिक ऐहिक, पारमार्थिक उन्नतिके लिये भरसक प्रयत्न करना।

*

मनुष्यकी शक्ति, विद्या, द्रव्य, अधिकार जितना कम या अधिक हो उसी तरह कम या अधिक प्रमाणमें यह कर्तव्य करना उसे आवश्यक है। मनुष्य जिस कदर बडा हो उसी कदर उसके कार्यका क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक रहता है। साधारण मनुष्य केवल अपनाही स्वार्थ देखता है। ज्यादासे ज्यादा वह अपने कुटुंबका स्वार्थ देखता है। गांवके पटवारी अथवा मुकदमको अपने ग्रामके स्वास्थ्यकी ओर प्रथम देखना चाहिये। डिस्ट्रिक्ट कौंसिल अथवा लोकल बोर्डके मेम्बरको अपने जिलेकी अथवा तहसीलकी व्यवस्थाको प्रथम देखना चाहिये। प्रांतीय कौंसिलके सदस्यको समस्त प्रांतके हिताहितकी ओर ध्यान देना चाहिये।

हमारा जो व्यवसाय हो; पूर्वजोंकी प्रणालीसे जो उद्योग हम करते हों, अथवा शोकसे या मनकी प्रवृत्तिसे जो उद्योग हमने अंगीकृत किया हो, उस उद्योग अथवा व्यवसायसे ऊपर लिखे हुए अधिकार क्षेत्रके अनुसार अपने समाजकी अथवा राष्ट्रकी ऐहिक तथा परमार्थिक उन्नति कैसे होगी इसका योग्य विचार करके तदनुसार कर्म करना प्रत्येक विचारवान मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है और यही परमेश्वरकी उपासना है। अपना स्वार्थ हरकोई देखता है। पशु पक्षी कीटक भी अपना स्वार्थ देखते हैं। परंतु मनुष्यत्वका सच्चा लक्षण यह है कि केवल स्वार्थी दृष्टि न रखकर लोक कल्याण करनेके लिये अपने शारीरिक शक्तिका, विद्याका, गुणोंका अथवा अधिकारका विनियोग किस प्रकार हो इसका विचार करके तदनुसार आचरण करे।

समाजकी ऐहिक उत्क्रांति यह है कि समाजके अंतर्गत प्रत्येक मनुष्यका, गरीबसे लेकर धनवान तकका, अत्यन्त हलका काम करनेवालेसे अध्ययन अध्यापनादि उच्च काम करनेवाले ब्राह्मणका, समाज व राष्ट्रकी रक्षा करनेवाले क्षत्रियका, द्रव्योत्पादन पशुपालन करनेवाले वैश्यको भरपूर अन्नवस्त्रादि मिले।

समाजकी, राष्ट्रकी और जगत्‌की पारमार्थिक उत्क्रान्ति यह है कि मुझे अपने समाजके लिये,

राष्ट्रके लिये अथवा जगतके कल्याणके लिये निरंतर उद्योग करना चाहिये। मेरा मनुष्यत्व इसीमें है। इसीमें जनतारूपी जनार्दनकी पूजा है। ऐसा ठान-कर प्रत्येक स्त्री पुरुष आचरण करे।

सत्पुरुषोंका लक्षण यही है कि—

जगाच्या कल्याणा, संतांच्या विभूति।
देह कष्टवीती, उपकारें॥ तुकाराम

[जगतके कल्याणके हेतु संतोंकी विभूतियां उपकार करके अपने देहको कष्ट देते हैं।] इसी बर्तावको सन्मार्ग कहते हैं। सन्मार्गकी ओर लोगोंको प्रवृत्त करना यही श्रेष्ठ पुरुषोंका लक्षण है। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्णनें अर्जुनसे कहा है कि—

लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ ३।२०

लोगोंकी प्रवृत्ति सन्मार्गकी ओर कराना इतना आवश्यक है कि जो बात हमें आवश्यक नहीं वह भी प्रसंगवशात् उक्त हेतु साध्य करनेके लियेहमको करना पडती है। इस संबंधमें भगवान् कहते हैं-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
गीता ३।२२॥

इसका कारण यह है कि—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
गीता ३।२३॥

क्योंकि लोग जिसको श्रेष्ठ, विद्वान् समंजस नेता समझते हैं वह जैसा बर्ताव करता है वैसा बर्ताव करनेमें लोग भूषण मानते हैं। और ऐसे श्रेष्ठ पुरुषको जैसी योग्यता प्राप्त हुई है वैसी योग्यता उस प्रकारके बर्तावसे हमें भी प्राप्त होगी, ऐसी लोगोंकी भावना रहती है। अंशतः यह सच भी है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः॥ ३।२१

इसीलिये वह जो करता है वही उत्तम मार्ग समझकर प्रत्येक विषयमें लोग उसकी नकल करते हैं। और—

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ ३।२१

हम (अर्थात् समाज) जिसको श्रेष्ठ कहते हैं ऐसा पुरुष यदि अपनी मूंछोंकी नोकें ऊपर रखने लगे तो अनेक लोक अपनी मूंछें वैसीही रखने लगते हैं। वह अपनी मूंछे साफ करके बालकोंके समान अपना चेहरा चिकना रखे तो लोग समझते हैं कि ऐसा करनेमें भूषण है। इसीलिये जित राष्ट्रके लोग अनेकवार अपनी अच्छी परंपराको छोडकर अपने जेता राष्ट्रके पोशाख, रहन सहन, विद्या इत्यादि बातोंमें अन्धानुकरण करते हैं। और ऐसा करनेमें अपने देशके हवामान तथा अन्य परिस्थितिका क्या असर होता है यह विचार भी नहीं करते।

तात्पर्य यह कि अपने समाजकी ऐहिक व पारमार्थिक उत्क्रांति हमारी समझसे जिस प्रकारके आचरणसे होगी वैसा आचरण सावधानतासे हमें स्वयं करना चाहिये। हमें उसकी आवश्यकता न हो तब भी करना चाहिये किंबहुना, समाज योग्य मार्गका अवलंब करे इस हेतु उसमें जो अज्ञानी हैं उनका बुद्धिभेद करना अनुचित है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥
गीता ३।२६॥

ऐसे मनुष्यों को अपने समाज अथवा राष्ट्रकी ऐहिक उत्क्रान्ति के मार्ग में पहिले प्रवृत्त करना चाहिये। इसके पीछे योग्य समय पाकर, पारमार्थिक उत्क्रान्तिका मार्ग कौनसा, परमेश्वर की पूजा कैसे करना, "जनता यही जनार्दन" यह तत्त्व क्या है, ऐसी बातें समझाकर उनसे परमार्थ का साधन करा लेना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने परमेश्वर पूजाका जो यह सच्चा तत्त्व बतलाया है उसका योग्य आकलन न होनेसे इस जगत् में परमेश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्तिके लिये नाना पंथ उत्पन्न हुए हैं। नाना पंथोंके प्रवर्तक अपनी अपनी ओर से कहते हैं। "मैं बतलाता हूं वैसी परमेश्वरकी पूजा करो, समस्त लोगोंको वैसी पूजा करने के लिये बाध्य करो। न करेगा वह नरकमें जायगा। जो जो करेगा वह

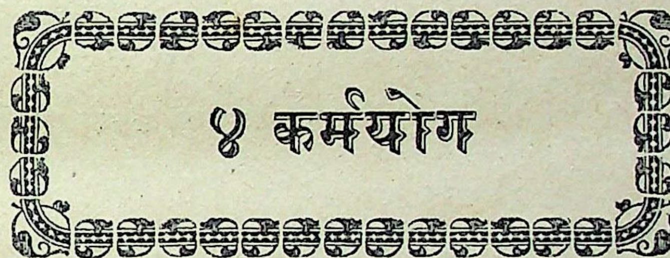
स्वर्गको जायगा, वहां उसको इंद्रियोंसे ग्राह्य अमुक सुख मिलेंगे । ' अर्थात् इससे स्पष्ट होता है कि " इंद्रियजन्य भोगोंका अतिरेक " यही उनकी आत्यंतिक सुखकी कल्पना है ।

इसके विपरीत धर्मकी कल्पना यह है कि "इंद्रिय जन्य सुख सच्चा सुख नहीं, सुखका भास है । ज्योंही मोहका क्षण समाप्त हुवा त्योंही ऐसे सुखका परिणाम दुःखहीमें होगा । " सच्चा सुख बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय है । सच्चे धर्मकी यही शिक्षा है ।

सच्चा धर्म यह कभी नहीं कहता कि किसी विशिष्ट देवताकी आराधना करनेहीमें तुम्हारा कल्याण है । उसका यह आग्रह नहीं कि तुम केवल गणेशजीकी पूजा करो, अथवा केवल शंकरजीका अभिषेक करो या दुर्गादेवी या कालीमाईको ही बलिदान चढाओ ।

आत्यन्तिक दुःखध्वंस यदि चाहिये हो, यदि मोक्षकी अभिलाषा हो तो जिस परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न हुआ जिसमें सर्वत्र उसीका चैतन्य भरा है उसकी पूजा पूर्वोक्त पद्धतिसे करना चाहिये। पदार्थमात्रमें जो चैतन्य भरा हुवा है उसे जानकर और स्वकीय वर्णवृत्तिको समझकर उसकी उत्क्रान्तिके लिये प्रयत्न करनेसे स्वकर्म द्वारा उसकी पूजा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । यही सच्चे धर्मकी शिक्षा है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥



४ कर्मयोग

(ले० – श्री० माननीय न्यायमूर्ति नारायण गोविंद चापेकर, हाइकोर्ट जज्ज, औंध.)

गीताकी कर्मयोग विषयक कल्पना अपूर्व है । पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में इस कल्पनाका उद्गम भी नहीं दीख पडता, यहां भी गीताव्यतिरिक्त अन्य ग्रंथोंमें इस कल्पनाका ऊहापोह किसीने नहीं किया । तथापि यह हमारे आर्यसंस्कृतिका एक विशिष्ट अंग है और हमारा जीवन, हमारे समस्त आचार इस विशिष्ट सिद्धांतपर स्थिर हुए हैं । हमारे अज्ञान के कारण हम इस तत्त्वको भूल गए हैं और परकीय संस्कृतिके संसर्गसे विपरीत तत्त्वका ग्रहण हमनें किया है । सुशिक्षित लोग ऐसा समझते हैं कि हमारी बुद्धिहीं हमारे बर्तावके लिये आधार है। अर्थात् सब लोग ऐसा समझते हैं कि जैसा हमारी बुद्धि बतलाती है वैसा बर्ताव करना हमारा पवित्र कर्तव्य है । राष्ट्रमें कर्मविषयक जो अव्यवस्था आज होगई है वह इसीका परिणाम है ।

" जितने व्यक्ति उतनेही भिन्न भिन्न कर्म "

समाजधारणा के लिये यह तत्त्व विघातक है । यदि एकही मनुष्य प्रत्येक दिन भिन्न भिन्न उद्देश रखकर तदनुसार भिन्न भिन्न कार्य करे तो अवश्यमेव उसका जीवन विफल होगा । कोई भी मनुष्य जिस कार्य को करना चाहे, उसकी सिद्धीको पोषक ऐसाही कर्म उसे करना चाहिये । राष्ट्रकार्य एक प्रकारका और व्यक्तिकर्म उसके विपरीत हो तो वह समाज अथवा राष्ट्र अपने विनाश के मार्ग-

पर जा रहा है ऐसा समझना चाहिये। इसलिये गीताका उपदेश है कि " अपनी अपनी बुद्धिसे कोई कर्म न करे। " किंतु प्रत्येक मनुष्यके लिये शास्त्रने जो कर्म नियत किया है वही करे, अन्यथा न करे। इसपर गीताका कटाक्ष है। जिसका जन्म जिस वर्ण अथवा जातिमें हुवा हो उस जाति अथवा वर्णके लिये जो कर्म शास्त्रमें बतलाया हो वही उस का नियत कर्म है। श्री शंकराचार्य "नियत" शब्द-का अर्थ "शास्त्रोपदिष्ट" करते हैं। यह नियत कर्म करना प्रत्येक का धर्म है। गीताका आग्रह है कि चाहे प्राण जावे, परंतु अपना नियत कर्म छोड दूसरे का कर्म स्वीकृत न करे।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

गीता ३।३५

इसलिये श्रीकृष्णने अर्जुन को जताया है कि तू नियत कर्म कर।

नियतं कुरु कर्म त्वं ॥ गीता ३।८

परमेश्वरने सबको समान बुद्धि नहीं दी। यह बात संशयातीत है। इसके लिये परमेश्वर को दोष नहीं दे सकते। बुद्धिविषयक समता सर्वत्र हो तो कोई भी व्यवहार न होगा। इतना ही नहीं परंतु बहुतसे व्यवहार बंद हो जायगे। शिक्षण, लेखन, व्याख्यान इत्यादि व्यवहारोंकी जरूरत न रहेगी। राष्ट्रकी सर्वांगीण उन्नति तभी होसकती है जब कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न भिन्न गुण हों। यदि एकही मनुष्य में सकल गुण, सब विद्या, समस्त कला होतीं तो इस सृष्टिमें अनेक मनुष्योंको जन्म लेनेका कोई कारण न था। एकही मनुष्यमें सब प्रकारकी कर्तबगारी रही तो अन्य मनुष्योंकी जरूरत क्या है? कल्पना करें कि जगत् में एकही मनुष्य है वह सर्व गुणोंसे परिपूर्ण हो तब भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसके गुणोंका, विद्याओंका, कलाओंका उपयोग किसके खातर हो? ये सब गुण होते हुए नहीं के बराबर हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि जगत् का चक्र जारी रहनेके लिये अनेकोंमें अनेक गुणों का पृथक् वास्तव्य होना आवश्यक है।

गुणोंके बाबत यह कथन हुआ। इसके सिवाय जो बुद्धि निसर्गतः मनुष्यमें रहती है, वह भी पहिले हीसे परिणत नहीं होती। वह प्रयत्नसे परिणत की जाती है; अन्य इंद्रियोंकी वृद्धि नहीं होती, बुद्धींद्रिय की वृद्धि होती है। यौवनावस्थामें श्रवणेन्द्रिय अथवा दृगिन्द्रियकी शक्ति जैसी व जितनी होती है उतनीही शक्ति (यद्यपि जन्मतः न हो तब भी) बचपनमें होती है। इन इंद्रियोंपर कोई संस्कार करना नहीं पडते। इसके विपरीत बुद्धीन्द्रियकी वृद्धि शिक्षणादि संस्कारोंके अभाव में हो नहीं सकती और प्रत्येक मनुष्यके बुद्धीन्द्रियकी संस्कारक्षमता मर्यादित होती है। बुद्धीन्द्रिय की शक्ति अगाध होनेको अनेक जन्म प्रयास करना पडते है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥

गीता ७।१९

इसका कारण स्पष्ट है। जन्मतः मर्यादित बुद्धि-सामर्थ्य और प्रयत्नोंका न्यूनाधिकत्व इन कारणोंसे मनुष्यों मनुष्योंमें फरक होता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

गीता ७।३

जगत् के प्रारंभसे मानवी बुद्धिकी वृद्धि अविश्रांत हो रही है। जगत्का इतिहास प्रायः मानवी बुद्धिकी वृद्धिका इतिहास है। मनुष्यों और पशुपक्षियों में जो भेद है वह इसी में प्रतीत होता है। सृष्टिके आरंभमें पशु जैसा था वैसा आज भी है। पशुपक्षियोंका इतिहास नहीं है। इसके विपरीत बौद्धिक क्षेत्रमें देखिये कि मनुष्यकी मजल कहांतक गई है। सारांश बुद्धि परिणतिक्षम है। परिणत बुद्धिवाले मनुष्योंको परमेश्वरने निर्माण नहीं किया। समाज में न्यूनाधिक बुद्धिवाले मनुष्य हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिकी मर्यादा जान लेना चाहिये। परंतु अनुभव ठीक इसके विरुद्ध है। अज्ञान जितना अधिक उतनाही अधिक घमंड मनुष्यको अपने बुद्धिसामर्थ्यके विषयमें रहता है। जिनको तत्त्वज्ञान अथवा राजकारण में कुछ भी

गम्य नहीं वे अपने को बडे तत्त्वज्ञानी व राजकारणी समझते हैं।

सब मनुष्योंकी बुद्धि परिपक्व नहीं होती, और न वह समान दर्जेकी होती। आगे चलकर हम यह कहेंगे कि परमेश्वरने हमें जो बुद्धि दी है उसे निर्मल रखनेकी खबरदारी हम नहीं रखते। यह बुद्धि मनोविकारोंसे अवगुंठित रहती है। लोभ, मोह, मत्सर, द्वेष, प्रेम इत्यादि मनोविकार प्रबल होकर इसे मलीन कर देते हैं। जिस आयनेपर मैल जमा हो वह देखनेके काममें नहीं आता। इसी प्रकार मलिन बुद्धिके कारण सुविचारोंके निर्गमन को प्रतिबंध होता है।

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
गीता ३।४०॥

बहुतेक लोग अपने मनोविकारोंके आधीन रहते हैं। क्या अंग्रेज लोग यह नहीं समझते कि उनकी राज्यव्यवस्था अन्यायमूलक है? निःसंदेह उनकी बुद्धि इतनी संकुचित नहीं है। परंतु स्वार्थकी बाधा होनेसे उन्हें सुविचार नहीं सूझते। यही मनोविकार सब व्यवहारोंमें विघ्न डालते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धि उसके बर्तावके लिये कसोटी हो नहीं सकती। यह बात सच है कि अच्छे या बुरेका निर्णय करनेके लिये एक मात्र साधन मानवी बुद्धि है। परंतु वह ऐरेगैर आदमीकी बुद्धि नहीं। जिसने मनोविकारोंको जीत लिया ऐसे संयमी मनुष्यकी ही बुद्धि सदाचार ठहरानेमें समर्थ हो सकती है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्॥
गीता ॥ ५।२६॥

ऐसे यतियोंका ही शब्द शिरसावंद्य होता है। सारा संसार मनोविकारोंपर अधिष्ठित रहनेसे दुसरोंको आदर्शपाठ देनेकी पात्रता संसारी मनुष्योंमें नहीं रहती। इस प्रकार बुद्धीन्द्रियका कार्य निर्दोष होनेमें अनेक बाधाएं रहनेसे हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार बर्ताव मत करो, शास्त्रके अनुसार बर्ताव करो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
गीता १६।२४

शास्त्रमें जो हमारा विहित कर्म कहा है उसे छोड हम यदि भलताही कर्म मनमाना करने लगें, तो कोई पुरुषार्थ हम प्राप्त न कर सकेंगे।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
गीता ॥ १६।२३॥

इसलिये मनुष्यको वही कर्म करना चाहिये जो शास्त्रमें बतलाया गया हो।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
गीता १६।२४॥

शास्त्रोक्त कर्म करनेसे अपनी वासनाको, हेतुको अवकाश नहीं मिलता। ऐसे कर्मोंमें अपने मनका संकल्प नहीं रहता। हेतुके अभावमें आत्मवांछित फलकी अभिलाषा कोई नहीं करता। धर्मयुद्ध करना ही क्षत्रियका शास्त्रोक्त कर्तव्य है। अर्जुन क्षत्रिय होनेसे युद्ध करनेका काम उसपर शास्त्रनेही लाद दिया है, उस कामकी योजना उसके मनसे नहीं हुई। युद्धसे प्राप्त होनेवाला फल जो उसको मिलना है वह आपहीसे मिलेगा। उस फलकी प्राप्तिके उद्देशसे वह युद्ध नहीं करता। इसलिये जिसमें फलका हेतु न हो ऐसा कर्म करनेका उपदेश गीताकार करते हैं।

मा कर्मफलहेतुर्भूः॥ गीता २।४७
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः॥
गीता ६।१

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च॥
गीता १८।६॥

अपना कर्तव्य करते रहनेसे फलकी इच्छा नहीं रहती, इसी लिये भगवानने जो कहा है "न मे कर्मफले स्पृहा" वह युक्त है। समझदार मनुष्यको अपने मन माना, अथवा जैसी वासना उत्पन्न हो तदनुसार, अथवा संकल्प करके कोई कर्म नहीं करना चाहिये।

यस्य सर्वे समारंभाः काम संकल्पवर्जिताः ।
... ... तमाहुः पंडितं बुधाः॥ गीता. ४।१९॥

हमें अमुक फल मिले इस गरजसे कर्म करनेवाले मूर्ख समझना चाहिये ।

कृपणाः फलहेतवः गीता २।४९॥

मनसोक्त कर्म- अर्थात् जो कर्म शास्त्रविहित नहीं हैं ऐसा कर्म निष्काम रीतिसे करना अशक्य है। ऐसा नादानी का विधान गीताकार नहीं करते। अर्थात् भगवानने अर्जुनसे यह नहीं कहा कि संकल्प न करके, फलका हेतु मनमें न रखकर शास्त्रके व्यतिरिक्त कर्म करना संभवनीय है। शास्त्रोक्त कर्मके दूसरे नाम गीतामें " कार्य-कर्म, नियत-कर्म, अथवा स्वभावज-कर्म " बतलाए हैं। आर्यतत्त्वज्ञान ऐसा है कि जिसका जैसा स्वभाव हो, उसके अनुरूप वर्णमें मनुष्य जन्म लेता है। क्षत्रियका स्वभावज-कर्म यह है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च ... ॥ गीता १८।४३

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि यदि तू " शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च "

इस ब्रह्मकर्मका अंगिकार करेगा तो तुझे पाप लगेगा। परंतु नियत कर्म करनेसे कोई दोष न लगेगा-

स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

केवल इतनाही नहीं किंतु शास्त्रोक्त कर्म करनेही से मनुष्य मुक्तिके पात्र होता है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

शास्त्रोक्त कर्मोंकी चिकित्सा करनेका अधिकार हमें नहीं है। कोई भी कर्म लीजिये। वह अवश्य दोषयुक्त रहेगा। इसलिये दोषके बहानेसे वर्णोक्त कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये।

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥

वर्णाश्रमी लोगोंके व्यतिरिक्त समस्त लोग "कामकारतः" आचरण करनेवाले हैं। उन्हें मुक्ति दूर रही, सुखका भी लाभ न होगा ऐसा गीताने दावेके साथ कहा है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
गीता १६।२३

इसको आसुरी बुद्धि कहते हैं क्योंकि ऐसा कर्म दंभ व अहंकारसे प्रेरित रहता है। पाश्चात्योंके सब कर्म इसी नमूने के हैं। इसीलिये आजतक हजारों समाज लुप्तप्राय हुए । शास्त्रकार ऐसे कर्मोंका विचार ही नहीं करते। यह अधम कर्म है। कर्मयोग का पहिला पाठ यह है कि शास्त्रोक्त कर्म करो। ऐसा कर्म बुद्धिको शुद्ध करता है।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

तथापि इन कर्मोंमें एक दोष रहता है। वह यह है कि उनमें पावनत्व रहता है। इसी कारण धर्मनिष्ठ अथवा कर्मठ लोग यह कर्म बडी आसक्ति से करते हैं। परंतु यही आसक्ति उनके मोक्षमार्गमें बाधा डालती है। शास्त्रोक्त कर्मोंके फल हमें मिलें ऐसी उनकी इच्छा रहती है। गीतामें इसे "कर्मज फल" कहा है। इसलिये कर्मयोग का दूसरा पाठ यह है कि कर्मविषयक आसक्ति और कर्मसे प्राप्त होनेवाले फल इन दोनोंसे मुमुक्षु अलिप्त रहे।

एतान्यपि (यज्ञ दान व तप) तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यनीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
गीता १८।६

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
गीता ३।१९

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
गीता ६।४

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ गीता १८।९

जो कर्म आसक्ति छोडकर किया जाता है वह जन्ममरणके लिये कारणीभूत नहीं होता।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ गीता ९।९

अनासक्तबुद्धिसे कर्म करनेवाला मुमुक्षु उन कर्मोंकी सिद्धि अथवा असिद्धिके विषयमें बेफिकिर रहता है। इसलिये सिद्धिकी पर्वा न रखकर संग-रहित कर्म करना यही मुमुक्षुका धर्म है। मुमुक्षु के कर्मयोग की यह पहिली सिढ़ी है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ॥

सारांश, शास्त्रोक्त कर्मोंके फलकी भी आकांक्षा मुमुक्षु को रखना न चाहिये। क्योंकि वह मार्ग उन कर्मठोंका है, जिनके अंतःकरण में मोक्षकी वासना उत्पन्न नहीं हुई।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ॥
गीता ४।१२

इस प्रकार अमुमुक्षु और मुमुक्षु के कर्मोंमें जो भेद है उसका गीतामें वर्णन किया है इसके पश्चात् मुक्तोंके कर्मके संबंधमें गीताकार क्या कहते हैं इस का विचार करें। मुक्त होनेहीसे उसका देह नहीं छूटता, और जबतक देह है तबतक कर्म हुए विना न रहेगा।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
गीता १८।११

प्रथमतः शारीरिक कर्म जारी रहता है, क्योंकि वह वासनानिरपेक्ष रहता है। इसलिये वह मौक्षिक दोष उत्पन्न कर नहीं सकता।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन्
स्वपन् श्वसन्। प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्
उन्मिषन् निमिषन्नपि ॥ लिप्यते न स पापेन...।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

इसके उपरान्त शारीरिक कर्मोंके व्यतिरिक्त दूसरे कर्म यदि मुमुक्षु करे तो वे कर्म के श्रेणीके रहेंगे। मुमुक्षु के कर्ममें और मुक्त के कर्म में हेतु व फल की दृष्टिसे कोई भेद नहीं। मुमुक्षु का कर्म भी बंधनकारक नहीं होता। अभी उसे ज्ञान नहीं हुवा इससे वह अमुक्त स्थितिमें रहता है तथापि मुमुक्षु वर्णधर्मकाही आचरण करता रहता है।

५

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
गीता ३।१९

मुक्त पुरुष यज्ञार्थ- अर्थात् ईश्वरविषयक-कर्महो करेगा। देशकार्य में और आत्मकार्य में तत्त्वतः भेद नहीं मान सकते। दोनोंकी प्रवृत्ति रजोगुण से होती है। मुक्त पुरुष में रजोगुण रहना न चाहिये। रामदास स्वामीने इसे स्पष्ट किया है-

माझा देश, माझा गांव। माझा वाडा,माझा ठाव।
ऐसी मनीं धरी हांव। तो रजोगुण ॥

(यह मेरा देश है, यह मेरा गांव है, यह मेरी बखरी है, यह मेरा ठिकाना है; इस प्रकारकी हवस (लालच) रखना, यही रजोगुण है।)

इससे स्पष्ट होता है कि मुक्त पुरुष देशकार्य करनेको प्रवृत्त न होगा। मुक्त पुरुष निर्मम और निरहंकार रहता है।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
गीता २।७१

निर्मम अर्थात् जिसका ममत्व नष्ट हुआ है। मुक्त पुरुषका ममत्व निजदेहपर भी नहीं रहता, फिर देशपर ममत्व कहांसे रहेगा ? परंतु मुमुक्षु का ममत्व अपने देहपर अवश्यही रहेगा। अपने शरीरका संरक्षण करना उसका कर्तव्य है, क्योंकि अभी उसे ज्ञान प्राप्त करना है। इसी कारण श्रीकृष्ण को अर्जुनसे कहना पडा कि "तू यदि कर्म न करेगा, तो तेरी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥
गीता ३।८

और यदि तेरा शरीर गया तो इस जन्ममें तुझे ज्ञानप्राप्तिकी आशा छोड देनी चाहिये। इसी तरह मुमुक्षु को ज्ञानस्पृहा रहती है; ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहता।

तस्य कार्यं न विद्यते ॥ गीता ३।१७

क्रिया का उगम उसके प्रयोजन में रहता है। विना प्रयोजन के कर्म नहीं होता। कर्म को प्रेरणा मनके द्वारा अथवा शास्त्रके द्वारा मिलती है। परंतु ज्ञानीको इन दोनोंमेंसे किसीका आश्रय लेनेका कोई कारण नहीं रहता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
गीता ३।१८

मुमुक्षु सत्वनिष्ठ रहता है, क्योंकि मोक्षज्ञान अथवा आत्मज्ञान सात्विक रहता है। परंतु मुक्त पुरुष गुणातीत रहता है। ज्ञानमार्गके लिये जो अनुकूल व इष्ट हो उसीका अवलंब मुमुक्षुको करना पडता है। परंतु ज्ञानसे इष्टानिष्टादि का द्वंद्व का विलय हो जाता है। इसलीये ज्ञानी—

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
गीता १३।९॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
गीता १४।२५॥

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
गीता १३।१०॥

इस स्वरूपका होता है। इनमेंसे कुछ लक्षण मुमुक्षुको, भक्तको तथा ज्ञानीको समान ही लागू हो सकते हैं, इसलिये उनका अधिक विचार यहां नहीं करते। इस दृष्टिसे स्वामी रामदासने जो तीन वर्ग मुमुक्ष, साधक और सिद्ध किये हैं, वे विशेषतया उपयुक्त होंगे। ज्ञान होनेपर कर्म समाप्त होता है।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
गीता ४।३३॥

ज्ञानी अर्थात् स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन दूसरे अध्यायमें किया गया है (श्लोक ५५ से ५७ तक) उससे सिद्ध है कि ज्ञानी नित्य आत्मतुष्ट रहता है। आत्मतुष्ट मनुष्य स्वयं कोई कर्म न करेगा।

ज्ञानोत्तर कर्मकी चिकित्सा करना इस लेखका उद्देश नहीं। ज्ञानीको कौनसा कर्म करना चाहिये यह असमंजस प्रश्न गीतामें भी उपस्थित किया नहीं गया। गीतामें प्रमुखतः इसीपर विचार किया गया है कि, नित्यानित्यविवेक जिनमें उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे अज्ञ जनोंको तथा जिनमें यह विवेक उत्पन्न हुवा ऐसे मुमुक्ष जनोंको कौनसा कर्म करना चाहिये। इसका निष्कर्ष ऊपर बतलाया गया है कि अज्ञ जनोंको नियत कर्म करना चाहिये और मुमुक्षुको वही कर्म संगरहित और कर्मज फलकी इच्छा छोडकर करना चाहिये। 'निष्काम कर्म' ऐसेही कर्मको कह सकते हैं। इसीका दूसरा नाम 'प्रवृत्ति' है। संकल्पज कर्मको प्रवृत्ति नहीं कह सकते। कर्म करनेकी समझ पशुपक्षियोंको भी है। वे कुछ न कुछ कर्म करते ही रहते हैं। तब ऐसा कैसा कह सकते हैं कि असुरोंको कर्म करना मालूम न था? परंतु गीताकार कहते हैं कि असुरोंको प्रवृत्ति भी मालूम नहीं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः॥
गीता १६।७॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस कर्मका पर्यवसान निवृत्तिमें हो उसीको प्रवृत्ति कहना चाहिये। हमें यह भूलना न चाहिये कि शास्त्रोंमें शास्त्रकारों का भी समावेश होता है। शास्त्रका मतलब केवल स्मृति नहीं है। मनुजीने धर्मके प्रमाण यों बतलाए हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः॥
श्लोक २।१२॥

(१) वेद, (२) स्मृति, (३) सत्पुरुषोंके आचार, (४) अपना प्रेय.

सामान्य मनुष्योंको स्थितप्रज्ञकी इस बुद्धिसे बर्ताव करना चाहिये-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
गीता २।५७

स्थितप्रज्ञ जो कहे वही उनका (सामान्य मनुष्योंका) शास्त्र है। स्वतः स्थितप्रज्ञ को केवल अपनी बुद्धि का आश्रय किये विना गत्यंतर नहीं। अपनी बुद्धिकी प्रेरणाके अनुसार बर्ताव करनेका अधिकार केवल स्थितप्रज्ञको है, अन्य जनोंको नहीं। इस कर्मयोगका अभ्यास, मनन और तदनुसार बर्ताव तरुणोंको करना चाहिये। मनमाना बर्ताव करनेसे राष्ट्रकार्य होगा नहीं, पारतन्त्र्यमें फँसा हुआ पाँव बाहेर नहीं निकलेगा और राष्ट्रका उत्कर्ष न होगा।

५ गीतामें कर्मयोग का स्थान।

(लेखक—श्री० शंकर गणेश लवाटे, पूना)

' फलासक्ति न रखकर कर्मका अनुष्ठान करना ' इसको कर्मयोग कहनेका प्रघात लोकमान्य तिलकसे शुरू होकर अभीतक जारी है। प्रस्तुत उसीका अवलंब करके अपन चलें।

अर्जुनको विश्वरूप बतलाने पर भगवानने यह उपदेश किया कि 'मैं जो विश्वरूप परमेश्वर हूं उस मेरे प्रति—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

इस श्लोक का अर्थ व स्पष्टीकरण इस तरह है— " मैं जो विश्वरूप हूं उसीमें (मुझमें) अपने चित्त को रखना। अपनी बुद्धिको मुझमें स्थापित करना, इससे मरणोत्तर तुम मेरेही स्थान में स्थित होगे, इसमें कोई संदेह नहीं।"

विचार करनेपर मनकी जो निश्चित वृत्ति होती है उसीको बुद्धि कहते हैं। चराचररूप जो भगवान् उसीमें यह बुद्धि स्थापित करनेको कहा गया है (अन्यत्र नहीं)। अर्थात् उस बुद्धिका यह दृढ निश्चय हो जाना चाहिये कि भगवान् के अतिरिक्त कुछ है हो नहीं। सर्वत्र परमेश्वर भरा हुआ है ऐसी दृढ भावना होनेपर ही यह कहा जा सकता है कि विश्वरूप परमेश्वर में बुद्धि स्थिर हुई। अंतःकरणका एकमात्र विषय नारायण होना चाहिये। जहां देखें वहां ईश्वर यही भाव होजाना चाहिये। वृत्ति तदाकार बन जाना चाहिये।

" पांडुरंग ध्यानीं, पांडुरंग मनीं।
जागृति स्वप्नीं पांडुरंग॥ "

(ध्यानमें ईश्वर, मनमें ईश्वर, जागृतिमें ईश्वर, स्वप्नमें ईश्वर) ऐसा जब ध्यान लगे तब वृत्ति तदाकार बनती है और संपूर्ण जगत् विष्णुमय दीखने लगता है। इसीका अर्थ है विश्वरूप परमेश्वर में बुद्धि स्थित होना।

' यत् पश्यति, शृणोति, स्पृशति वा,
सर्वमेव भगवान् वासुदेवः॥ '

(जो कुछ दिखता है, सुन पडता है, शरीरको लगता (स्पर्श करता) है, वह सब भगवान् वासुदेव है)। ऐसी जहां दृढ भावना हुई, संपूर्ण आत्मभाव उसको अर्पण किया, वहां सच्चा ईश्वरभक्त हुआ ऐसा श्रीमत् आचार्य कहते हैं। ईश्वरमें ऐसेही मनुष्य की बुद्धि स्थापित हुई कहना चाहिये। इस प्रकार निश्चल चिन्मय बुद्धि जिसकी हुई वह ज्ञानी हुआ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति॥

भगवान् के इस वाक्यका भी अर्थ यही है कि जिसकी बुद्धि परमेश्वर में स्थिर हुई वह सच्चा ज्ञानी है। " मयि बुद्धिं निवेशय " इस भगवद्वाणी से यही स्थिति संपादन करनेको कहा गया है। सोनेके आभूषण में नामरूपको भलकर सुनार जैसा केवल सुवर्णदृष्टिसे देखता है, वैसही ज्ञानी पुरुष अथवा निःसीम भक्त विनाशी नामरूपात्मक विश्वमें परमेश्वररूप को ही अवलोकन करता है। इस प्रकार जब अंतःकरण ईश्वरमय होता है, मैं और तू यह द्वंद्व लुप्त होता है, तब मन व बुद्धिके साथ अहंकार लुप्त होता है जैसे दीपक के साथ उसका तेज नष्ट होता है, अथवा सूर्यके साथ उसका प्रकाश नष्ट होता है अथवा प्राणोंके साथ उसके इंद्रिय नष्ट होते हैं। इस प्रकार ज्योंही भक्ति अथवा ज्ञान की पूर्णावस्था हुई त्योंही उस पुरुषको ईश्वरस्वरूप

में मिल जानेके लिये केवल उस देह के पतनकी अवधि रह जाती है, जो (देह) प्रारब्ध भोगनेको निर्माण हुवा था। इसीलिये प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्धमें कहा है- "अत ऊर्ध्वं" अर्थात् मरणोत्तर "निवसिष्यसि मय्येव" तू मेरेही स्वरूपमें वास्तव्य करेगा अर्थात् तद्रूप हो जायगा। इसीका नाम है मोक्षसिद्धि।

ऊपर जो श्लोक उद्धृत किया है उसका अर्थ ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम प्रभृति साक्षात्कारी भक्तोंकी वाणीके साहाय्य से जिस कदर युक्त मालूम हुआ वैसा स्फुट करके बतलाया। परंतु उसमें निवेदित की हुई चित्तवृत्ति जिन्होंने कमाई है ऐसे भाग्यशाली पुरुष आजतक कौन हुए कितने हुए यह कौन जाने ! तथापि यह बात सिद्ध है कि यह चित्तवृत्ति साध्य हुए बिना मोक्षप्राप्ति हो नहीं सकती। हमारे आचारविचारोंका, धर्मशास्त्रका, प्रत्येक धार्मिक हलचल का ध्येय केवल मोक्ष है। वही रहना चाहिये और लोकमान्यादि थोर पुरुषों को भी यह बात सर्वथैव मान्य है कि गीताका भी वही ध्येय है। इसलिये परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये कैसी और कितनी ऊंची मजल गांठनी पडती है। (जैसा कि भगवान् ने प्रस्तुत श्लोकमें कहा है।) वह अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये। हमसरीखे सामान्य लोगोंकी नजर भी उस उच्च पदतक पहुंच नहीं सकती, किंबहुना हमारी बुद्धि इतनी संकुचित है कि हमें ऐसा भास कभी कभी होता है कि यह अंतःकरणवृत्ति बहुधा काल्पनिक होगी। परंतु भगवान् की वाणी अमोघ है ऐसी अमोघ श्रद्धा हमें रखना चाहिये, तभी हम किसी लायक होंगे। साथ ही हमें याद रखना चाहिये कि मोक्ष संपादन करने के लिये कितना अपूर्व और उच्च मनःस्थैर्य हासिल करना पडता है।

ऊपर लिखे श्लोकमें वर्णन की हुई स्थिति उन्हीं लोकोत्तर सत्पुरुषोंको साध्य है जो भगवान् के अतिनिकट पहुंचे हों। परंतु उस पदवीको पहुंचे बिना परम पद प्राप्त नहीं होता, ऐसा सोचकर वह स्थिति साध्य करनेका उपाय उसीके आगे बतलाया है। भगवान् कहते हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥
गीता १२। ९

इस श्लोकका भाव यह है कि "मैं जो विश्वमूर्ति हूं उस मुझ में अंतःकरण स्थिर, अचल, कायम करने की शक्ति यदि तुझे न हो तो उस मुझे, अर्थात् विश्वाकार सगुण ब्रह्मको, पहुंचनेके लिये तू अभ्यासयोग का आश्रय कर।"

विश्व में अनंत और नानाविध वस्तुएं भरी हैं। इन सबके विषय में एकत्व की भावना करना बहुत कठीन है। 'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसी दृष्टि बहुत जन्मोंके प्रयत्न के बाद प्राप्त होती है और ऐसी दृष्टि जिसको मिली ऐसा महात्मा अत्यंत दुर्लभ है। ऐसा श्रीभगवान् कृष्ण गीतामें अन्यत्र कहते हैं। परंतु मोक्षप्राप्ति के लिये वह अवस्था प्राप्त किये विना न चलेगा। उस प्रकार जब चित्त स्थिर होगा तभी मनुष्य 'पक्का भागवत' हो सकेगा। और वह जब पक्का भागवत होगा तभी उसको मोक्षका मार्ग मिलेगा। भगवत्प्राप्ति की अंतिम सिढी अथवा अंतरंगसाधन भगवन्मयता है। इसलिये अनंत विपरित प्रत्ययोंसे भरा हुवा यह जगत् सब झूठा है ऐसी वृत्ति होनेके लिये अभ्यास की जरूरत है। इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि यदि अनंत वस्तुओंमें मनकी एकाग्रता नहीं होती तो आंतर अथवा बाह्य एकही वस्तु में अर्थात् प्रतिमादिक में इस भटकनेवाले मन को स्थापित करनेका प्रयत्न करो। यही अभ्यास कहलाता है। परमेश्वर जैसे सर्वत्र है वैसेही एक वस्तुमें भी है इस लिये जब एक मूर्तिमें चित्त एकाग्र होने लगेगा, और समय पाकर वह अभ्यास जब दृढ होगा, तब वही अभ्यास तुम्हारे चित्तकी एकाग्रता विश्वरूप परमेश्वर में स्थिर करने में समर्थ होगा। ऐसा आश्वासन भगवान् इसी श्लोक में अर्जुन को देते हैं। इस अभ्यास से चित्तैकाग्र्य अर्थात् चित्तकी स्थिरता संपादन करना यही 'अभ्यासयोग' का अर्थ है।

विश्वरूप परमेश्वर में चित्तका लय होनेके लिये भगवान् ने यह 'अभ्यासयोग' का मार्ग बतलाया। जिन पुरुषोंका यह साध्य हो वे इसका अवलंब करें। यह सिढी जिन्हें दुर्गम हो उन्हें क्या करना चाहिये? जिनका ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ और जो ध्यानाभ्यास भी नहीं कर सकते ऐसे पुरुषों के लिये मार्ग कौनसा है ? जिन लोगों की तंद्रा मनःकल्पित अथवा प्रत्यक्ष मूर्ति के विषयमें लगकर एकरूप नहीं होती ऐसे पुरुषों को भगवत्प्राप्ति के लिये कौनसा उपाय करना चाहिये ? परम कारुणिक भगवान् ऐसे मनुष्यों की भी उपेक्षा नहीं करते। विश्वरूप परमेश्वरविषयक ऐक्यरूपी ज्ञान जिन्हें अगम्य है, किंबहुना उस ज्ञान की प्राप्ति के हेतु एक वस्तु के अंतर्गत अपनी चित्तवृत्तिको स्थिर करना जिन्हें अशक्य है, अर्थात् इतना भी चित्तसाधनरूपी योग वारंवार प्रयत्न (अभ्यास)करनेपर जिन्हें असाध्य है, जिनका द्वैताभिनिवेश कहीं भी लुप्त नहीं होता, उनके लिये भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयोग अथवा ध्यानयोग का आचरण मत करो, अपने जीव को असह्य कष्ट मत दो, इंद्रियोंको मत रोको, भोगों का त्याग मत करो, देहाभिमान मत छोडो, जैसे हो वैसेही रहो; परंतु एक बात करो---

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
गीता १२। १०

यदि अभ्यासयोग अथवा योगाभ्यास तुम्हें नहीं बनता, तो जो कर्म तुम्हें करना है वह तुम मेरेलिये करो ईश्वर के लिये कर्म करना तुम अपना मुख्य कर्तव्य समझ। केवल परमेश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करने से भी तुम्हें सिद्धि मिलेगी, अर्थात् तुम ब्रह्मभाव अथवा मोक्षपद को प्राप्त होगे।

अभ्यासयोग जिस श्लोकमें बतलाया है उसीके आगे यह उपदेश भगवान् ने दिया है। अभ्यासयोग जिनके शक्तिके बाहर है उनको हरएक कृत्य ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर का स्मरण प्रतिक्षण रखकर सदैव आचरण करना चाहिये। स्वार्थ के हेतुसे अथवा अन्य किसी भी हेतुसे प्रेरित न होकर प्रत्येक कार्य ईश्वरसमर्पण बुद्धिसे करना चाहिये। जैसे हम बेलपत्री, फूल, तुलसी इत्यादि परमेश्वरको चढाते हैं,उसी प्रकार जो जो कार्य अहोरात्र हम करते हैं वह सब उसी को समर्पण करना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं कि-

" यत्करोषि यदश्नासि...तत्कुरुष्व मदर्पणम् "

ऐसा करने में न तो अहंबुद्धि समूल नष्ट होनेकी आवश्यकता है और न व्यवहार को छोडनेकी आवश्यकता है। राजाका सिपाही जैसे अपना समस्त कर्तव्य केवल राजाके लिये करता है, उसमें उस सिपाहीका न कोई लाभ है और न हानि, उसीतरह हम केवल ईश्वर के बंदे गुलाम हैं ऐसा समझकर हमें प्रत्येक व्यवहार उसीके लिये करना चाहिये। अपना निजी स्वार्थ कुछ न रहे। " अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्" इस श्लोकमें जो योगमार्ग बतलाया है उसमें जैसे बहुभांति विघ्न आनेका संभव है वैसी आपत्तियां ईश्वरसमर्पण मार्गमें बिलकुल नहीं है।

" नाम विठोबाचें घ्यावें, पुढें पाऊल टाकावें। " (ईश्वरका नाम लेना और आगे पैर रखना) इतना मंत्र प्रत्येक कार्य करनेमें ध्यानमें रहे,और कुछ नहीं करना। प्रत्येक धार्मिक कृत्य के अंतमें " तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु " इतने शब्दोंका उच्चारण मात्र हम मुखसे कर लेते हैं। परंतु ये शब्द सचमुचमें त्यागपूर्वक अर्थपूर्ण भावनासे, और जो कुछ किया वह ईश्वरको दिया इस निश्चित बुद्धिसे निकलना चाहिये। विषयोंका उपभोग लेना यही ईश्वरकी पूजा, अपने पैरोंसे कहीं जाना यही ईश्वरकी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) और मुखसे बोलना यही ईश्वरका स्तोत्र, सारांश जो कुछ हम करें वह सब शंकरजीका आराधन है ऐसी बुद्धि जहां स्थिर हुई वहां अगला एकएक मार्ग आसानी से खुला होकर हम परमेश्वर की प्राप्ति कर सकते हैं। हमें अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये कि इसप्रकार ईश्वरप्रीणनार्थ किया हुआ जो कर्म उसीका नाम यज्ञ है। इसके अतिरिक्त यज्ञ शब्दका कोई दूसरा मतलब

नहीं है। यज्ञ शब्दमें यज् धातुका अर्थ है पूजा करना। ऐसा नित्य यज्ञ करते रहनेसे सत्वशुद्धि होती है। तथापि ईश्वरसमर्पित कर्माचरणसे अंतःकरण शुद्धि होते ही परमेश्वर अर्थात् मोक्ष हमारे हस्तगत होगया ऐसा ख्याल करना न चाहिये। ऐसा समझना बिलकुल गलत है। सत्वशुद्धि होनेसे मन का मोह याने मल नष्ट होता है, और मल जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच॥
गीता २।५२॥

इस श्लोक में यह बात भगवान् ने स्पष्टतया बतलाई है, इसपर दुर्लक्ष्य न हो। इसीप्रकार यह भी निराबाध सिद्ध है कि सत्वशुद्धि होकर वैराग्य प्राप्त किये विना ज्ञानोत्पत्ति हो नहीं सकती। ज्ञान परिपक्व होनेको अभ्यासयोगकी आवश्यकता है। " अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय " इस श्लोक से यह स्पष्ट होती है। यह अभ्यास परिपूर्ण होकर—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

ऐसी ब्रह्मात्मैक्यबुद्धि निश्चल होनेसे ज्ञानपरिपाक होजाता है। समस्त क्रियाएं प्रकृतिज गुणोंके द्वारा होती हैं; ब्रह्म अर्थात् आत्मा केवल अक्रिय है। वह किसी भी क्रिया का न तो कर्ता है और न कर्म है। वह आत्मा मैं हूं, मैं अकर्ता हूं, मैं कुछ नहीं करता, ऐसी जो निश्चित बुद्धि वही सर्वकर्मसंन्यास है। सर्वकर्मसंन्यास कोई निराला विधि नहीं है। इस संबंधमें " कर्म छोडना " ऐसी भाषा लागू नहीं होती। सर्वकर्मसंन्यासीका मन, बुद्धि व इंद्रिय अपने अपने काम भलीभांति करते रहेंगे, सर्वकर्मसंन्यास से उनका कोई सरोकार नहीं। निष्क्रिय आत्मस्वरूप से रहना यही सर्वकर्मसंन्यास का स्वरूप है। ऐसे सर्वकर्मसंन्यास को ही नैष्कर्म्य कहते हैं। इसीको ज्ञानयोगनिष्ठा कहते हैं। इसीका दूसरा नाम ज्ञानपरिपाक है। यही अवस्था मोक्षका अंतरंग साधन है। और इसीका प्रतिपादन "मय्येव मन आधत्स्व " इस श्लोक में किया गया है।

इस विवेचनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बारहवे अध्याय के तीन श्लोक (८,९,१०) कार्यकारणभावसे निगडित हैं। नीचेका हरएक श्लोक ऊपरके श्लोकका कारण है; अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म करके अंतःकरण निर्मल और वैराग्ययुक्त होकर ज्ञानोत्पत्ति होनेपर भी उस सिढी से परमात्माको पहुंचनेके लिये अभ्यासयोग और सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ऐसी दो ऊपरकी सिढीयां चढनाही पडेंगी।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

इस श्लोक में स्वयं भगवान् कहते हैं कि कर्माचरण योगका साधन है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अभ्यास-योग ज्ञाननिष्ठाका साधन है। और सब के मतसे यह सिद्ध है कि " ज्ञानादेव तु कैवल्यम् "। इसतरह यह सिद्ध हुवा कि परमेश्वर को पहुंचनेकी सबसे ऊंची सिढी ज्ञाननिष्ठा, उससे कनिष्ठ अभ्यासयोग और उससे निकृष्ट ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्मयोग। साधक एक एक सिढी चढकर अंतमें मोक्षका अधिकारी होगा।

इन तीनों सिढीयों में ईश्वरार्थ कर्माचरण ब्रह्मप्राप्तिके लिये सबसे नीचेकी सिढी है। इसके लिये सबूत आखिरी (१० वें) श्लोकमें मिलता है। प्रार्थना है कि उस पर तत्त्वजिज्ञासु ध्यान देवें। " मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि " इस चरणमें " अपि " शब्द का स्वारस्य ध्यानमें रहे। ज्ञाननिष्ठा और अभ्यासयोग ऐसे दो उपाय बतलानेपर भगवान् कहते हैं कि मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम्हें मोक्षकी प्राप्ति होगी। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि पहिले दो उपायोंकी अपेक्षा यह तीसरा मार्ग कनिष्ठ है। " अपिरिहाव-धिसूचनार्थ' ऐसा आनंदगिरीने भी कहा है।

परंतु ईश्वरके आराधनार्थ कर्म करनेकी पदवी प्राप्त करने को अर्जुनकी तैयारी न हो तो उसके नीचेकी पदवीपर स्थित होने को भगवान् कहते हैं।

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
गी० १२।११

इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ईश्वरार्थ कर्माचरणरूपी तीसरी श्रेणीका मार्ग भी यदि तुम्हें दुस्तर हो तो मदेकशरणताका आश्रय करके, अर्थात् अंतमें मुझे मिलना है यह ध्यानमें रखकर मनका निग्रह करके तुम समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो, अर्थात् निष्काम कर्मयोगका आचरण करो।

बाह्य विषय चित्तको आकर्षित कर लेते हैं इस कारण ईश्वरके निमित्त कर्माचरण करनेकी जिन्हें ताकत न हो उनके लिये भगवानने इस श्लोकमें मार्ग बतलाया है; इतनी बात स्पष्ट है। इस मार्गमें भी, जो जो कर्म हम करते हैं वह ईश्वरसमर्पित न होता हो तथापि ईश्वरको शरण जाने तथा अपने मनको स्वाधीन रखनेका उपदेश भगवान्ने किया है। ऐसा करनेमें भगवान्का यह उद्देश स्पष्ट दीखता है कि विषयोन्मुख मनुष्य यदि ईश्वरपर श्रद्धा रखेगा, मनको अपने स्वाधीन रखेगा और कर्मफलकी फिकर न रखेगा, तो समय पाकर वह मनुष्य भी सर्वथा ईश्वरप्रवण हो; और जहां वह ईश्वरप्रवण होकर उसके समस्त कर्म ईश्वरार्पण होने लगें, वहीं से वह मोक्षमार्गमें रुजू हो जाय।

मोक्षमार्गका प्रारंभ ईश्वरार्पित कर्मसे होता है। जबतक विषयोंकी ओर दृष्टि रहती है तबतक ईश्वर नहीं दिखता। ईश्वरार्थ होनेवाले कर्मोंके व्यतिरिक्त सब कर्म बंधनकारक हैं। वे मोक्षके उपयोगी नहीं हैं। ऊपर जो चार श्लोक विवेचनार्थ उद्धृत किये हैं उनमेंसे पहिले तीन श्लोकोंके अंतमें कहा है कि मोक्षसिद्धि होगी; परंतु चौथे श्लोकमें, जिसमें कहा है, भगवान् यह नहीं कहते कि इससे मोक्षप्राप्ति होगी। निष्काम अर्थात् फलासक्तिविरहित कर्म जब ईश्वरार्थ हो तभी वह मोक्षावह होगा; तब तक वह व्यर्थ है, ऐसा गीताका सिद्धान्त है। ऐसा समझा जाता है कि निष्काम कर्म और ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म दोनों एकही हैं; परंतु यह गलत है। ध्यान रहे कि इनका विवेचन दो पृथक श्लोकमें अलग अलग किया है। निर्हेतुक कर्म केवल ईश्वरकर्मकी पूर्व तय्यारी है;उसकी कीमत तभी है जब उसका ईश्वरप्रीणनार्थ संक्रमण होगा। केवल निष्काम कर्म, अर्थात् फलासक्तिविरहित कर्म, जीवका उद्धार कभी नहीं कर सकता। हम समझते हैं कि इस संपूर्ण विवेचनसे कोई भी समझ लेगा कि गीतामें "कर्मयोग" का स्थान कौनसा है।

यह सब ठीक हुआ, तथापि इसपर यह सवाल आता है कि गीतामें निष्काम कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है; मोक्षको पहुँचानेवाले कर्ममार्गही श्रेष्ठ है ऐसा जगह जगह बतलाया है, इसका परिहार कैसे हो? हमारी समझमें उसका उत्तर देनेको हम मजबूर नहीं हैं। जबतक गीतामें वे चार श्लोक उपस्थित हैं जिनका विवेचन ऊपर किया गया है, और जिनमें निष्काम कर्मपर अधिष्ठित (१) ईश्वरार्थ कर्म (२) अभ्यासयोग व (३) ज्ञाननिष्ठा ऐसी मोक्षमार्गकी एकसे एक ऊंची सिढ्यां निःसंदेह रीतिसे बतलाई गई हैं, तबतक हमें दूसरी ओर देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उक्त चार श्लोकोंका अर्थ जबतक निराबाध सिद्ध है और जबतक इस अर्थको कोई बदल नहीं सकता, तबतक हम यही कहेंगे कि ज्ञानमार्गकी अपेक्षा कर्ममार्गकी श्रेष्ठता दर्शानेवाले जितने गीतावचन हमें बतलाये जाँय, या तो सब वचन अर्थवादात्मक होना चाहिये अथवा उनका अर्थ वैसा न होना चाहिये जैसा कर्ममार्गी बतलाते हैं। जबतक उक्त चार श्लोकोंका अर्थ बदल नहीं सकता, अथवा जबतक यह न कहा जाय कि ईश्वरने परस्परविरुद्ध वचन कहे हैं, तबतक समस्त अन्य वचनोंकी राह वही होगी जो हम ऊपर कह चुके हैं। जबतक ये चार श्लोक उक्त अर्थसे अचल हैं तबतक यह कहनेमें कोई डर नहीं कि अन्य सब वचन अर्थवादात्मक हैं अथवा भलतेही अर्थसे इनका ग्रहण किया गया है। यह सिद्ध करनेका बोझा किसी प्रकार हमपर नहीं है।

तथापि, यह भी देखलिया जाय कि ज्ञानमार्गकी अपेक्षा कर्ममार्गकी श्रेष्ठता सूचित करनेवाले कौनसे वचन बतलाये जाते हैं और इनकी ताकत कसौटी

पर कहांतक उतरती है। इससे वह भी खुटका न रहेगा।

गीतारहस्यमें कहा गया है कि गीतामें संन्यास-मार्गसे कर्ममार्गको श्रेष्ठ कहनेवाले वचन ये हैं—

(१) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ २।४७

(२) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ २।५०

(३) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ३।७

(४) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥ ३।८

(५) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ ४।१५

(६) तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४।४२

(७) संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ ५।२

(८) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ६।४६

(९) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ८।७

(१०) श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२।१२

(११) एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ १८।६

(१२) नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसः परिकीर्तितः। १८।७

ऐसे बारा वचन हमें उक्त पुस्तकमें (गीतारहस्य में) मिले हैं, वेही हमने यहां उद्धृत किये हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि इन्हें ध्यानपूर्वक देखें।

इन बारा श्लोकोंमेंसे नंबर (२) (५) (६) (९) व (११) इन पांच श्लोकोंमें हमें कहीं नजर नहीं आता कि संन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगका महत्त्व कहां बतलाया है। यदि कोई महाशय देख सकते हों तो देख लेवें। यह स्पष्ट है कि इन श्लोकोंमें अर्जुनको कर्म करनेका आग्रह किया गया है; परंतु क्या इन श्लोकोंमें कहीं संन्यास का नाम अथवा गंध भी है? मैं कर्ता, मैं हंता ऐसी भावना अर्जुनकी कायम थी; और जिसकी यह भावना है उसको विहित कर्म करनाही चाहिये ऐसा कहनेमें कर्मयोगी कहलानेवालोंका जितना आग्रह है उसके दसगुने आग्रहसे यही बात कहनेको संन्यासवादी हमेशा तत्पर रहते हैं। यह बात संन्यासमार्ग के उपपादन में समाविष्ट है। इसे भूलना न चाहिये। उनपर इन वचनोंकी भरमार करना पागलोंका लक्षण है। यह बतलाना कि लोकमान्य तिलकने यह पागलपन कैसे किया हमारी शक्तिके बाहर है।

इसके उपरान्त श्लोक नंबर (१) (४) (१२) पर विचार करें। इनमें कहा है कि विहित कर्म करो, उन्हें छोडकर सब हलचल बंद करके सुस्तीसे पडे रहना गर्ह्य है। परंतु इसे कौन मंजूर नहीं करता? आज दिनतक संन्यासवादी अट्टहाससे कहते आए हैं कि जिसको देहात्मबुद्धि हैं (यह बुद्धि प्रायः हम सबको है) उसे कर्म छोडना उचित नहीं। तब ऐसे आक्षेप क्यों हों? क्या बात ऐसी है कि जिन वाक्योंका उच्चार भी किसीने किया न हो उसके मत्थे वही वाक्य मढे विना अपना पक्ष सुसज्जित नहीं होता? अस्तु, ध्यान रहे कि इन श्लोकोंके अंतर्गत उपदेश आत्मज्ञोंके लिये नहीं है। क्योंकि (इनमें जिनका उल्लेख किया गया है ऐसे) नियत-कर्म आत्मज्ञोंके लिये नहीं हैं। यह बात संन्यास-वादी को ही नहीं किंतु लोकमान्य आदि को भी सम्मत है।

इसके उपरांत श्लोक नं. ३ की जांच करें। इसमें कहा है कि कर्मयोगका आचरण करनेवाला (विशिष्यते) अधिक है। लोकमान्यने 'विशिष्यते' का भाषांतर 'उसकी योग्यता विशेष है' ऐसा किया है, उसीको लेकर चलें। यह सच है कि यहां कर्मयोग श्रेष्ठ बतलाया गया है; परंतु किससे? लोकमान्य का प्रतिपादन है कि वह संन्यासमार्गसे श्रेष्ठ है, लेकिन इस प्रतिपादन में सत्य कितना है? इसके पिछला श्लोक लीजिये—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
अ०३।६

जो मूढ मनुष्य केवल हस्तपादादि कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनमें विषयोंका चिंतन करता रहता है वह झूठा अथवा ढोंगी है। इसीके आगे प्रस्तुत श्लोक सं० ३ में पक्षांतरबोधक अव्यय "तु" रखकर ऐसा कहा है कि इन्द्रियसंयम करके अनासक्त बुद्धिसे कर्माचरण करनेवालेकी योग्यता अधिक है। अब प्रश्न यह आता है कि यह निष्काम कर्म करनेवाला किससे अधिक समझा जाय? हस्तपादादि इंद्रियों को रोककर हमेशा विषयोंका ध्यान करनेवाले ढोंगीसे अथवा ज्ञानमार्गीय मुमुक्षु से? इसका निपटारा कोईभी कर लेवे। हम नहीं कह सकते कि लोकमान्यने जो यह विपर्यास किया वह किस को और कबतक धोका दे सकता है।

इसके बाद श्लोक नं० ८ लीजिये। इसमें कहा है कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी इन सबकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है। परंतु योगी का मतलब क्या है? रहस्यकार कहते हैं कि हमारा कर्मयोगी। पाठकगण कृपा कर मूल ही में देख लें कि वास्तवमें क्या प्रकार है। समग्र छठवें अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन है। इस अध्यायके अंतमें प्रस्तुत श्लोक आया है। इसके पिछले सब श्लोकोंका संदर्भ ध्यानयोगपर है; और इस श्लोक में योगी शब्दका अर्थ अपरोक्षज्ञानवान् ध्याननिष्ठ ऐसाही है। अगला पिछला सब संदर्भ देखकर कोई भी जांच सकता है कि योगीका वास्तविक अर्थ कर्मयोगी है जैसा कि लोकमान्य बतलाते हैं अथवा अपरोक्षज्ञानवान् ध्याननिष्ठ है जैसा कि हम बतलाते हैं। यहां इसका विस्तृत विवेचन करना संभव नहीं है। हम समझते हैं कि इस श्लोक में योगीका अर्थ कर्मयोगी करनेसे अर्थका अनर्थ होता है। स्वयं अंधे बनकर दूसरोंको अंधे बनाते हैं। यहांतक बात आनेपर इस श्लोकके संबंध में अधिक वाच्यता करने का कोई कारण नहीं रहता। जहां यह प्रकार है वहां तपस्वी ज्ञानी, कर्मी इन सबसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, ऐसा विधान सर्वथा निरर्थक है।

जिन बारा श्लोकों द्वारा संन्यासयोगकी अपेक्षा कर्मयोगकी श्रेष्ठता सूचित की जाती है उनमेंसे दस श्लोकोंकी छानबीन होगई। अब रहे दो श्लोक; उनसे भी क्या अर्थ निकलता है वह देखें।

प्रथमतः श्लोक नं.७ को लेवें। यह पांचवें अध्यायका दूसरा श्लोक है। अर्जुनका प्रश्न था कि "एक वार तुम कहते हो कि कर्म करना छोड दो; फिर कहते हो कि कर्म करो। मुझे स्पष्ट निःसंदग्ध रीतिसे यह बतलाओ कि दोमेंसे कौनसी बात कल्याणवह है।" इसका उत्तर भगवानने प्रस्तुत श्लोकमें दिया है। इस श्लोकका मतलब यह है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं। परंतु इनमेंसे कर्म त्यागने की अपेक्षा कर्म करते रहना अधिक प्रशस्त है। कर्मयोगवादी कहलानेवाले समझते हैं कि संन्यासवादियोंपर छोडनेके लिये यह उत्तर मानो एक बडा भारी शस्त्र है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि अन्य वचनोंका उपयोग यदि कुछ न न हुवा तो इस एकही वचनसे हम संन्यासमार्गियों के मुंह बंद कर देंगे। वे कहते हैं कि "यह लीजिये भगवान् का स्पष्ट और निःसंदिग्ध वचन। संन्यासयोग से कर्मयोगकी श्रेष्ठता स्थापित करने को इससे अधिक सबूत क्या हो सकता है?" परंतु ऐसे विजयोद्गार निकालने में उन्हें यह खबर नहीं रहती कि जिसको संन्यासमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग कहते हैं उसको अर्थ हम नहीं समझे और हम अपना अज्ञान प्रकट कर रहे हैं। वस्तुतः संन्यास अथवा ज्ञानयोगकी कल्पना थोडेसे शब्दोंमें ऐसे हो सकती है- सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष मिल सकता है। कर्म मोक्षप्राप्तिका अंतरंग साधन नहीं है। 'सर्वकर्मसंन्यास' शब्दकी परिस्फुटता इस लेख में पहिलेही हम कर चुके हैं। सर्वकर्मसंन्यास आत्मज्ञानियोंकी सहजावस्था है। आत्मवेत्ताको हमेशा यह प्रतीति रहती है कि निर्विकार ऐसा जो ब्रह्म है वह मैं हूं। इस अवस्थामें वह न तो कर्म करनेकी क्रिया करता और न वह कर्म

न करनेकी क्रिया करता है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि उसका देह और इंद्रिय कर्म नहीं करते। केवल उसकी कर्तृत्वबुद्धि नष्ट होती है। "मैं करता हूं" ऐसा अज्ञान उसमें नहीं रहता। "मैं कर्म छोडता हूं" अथवा "मैं करता हूं" यह भावना आत्मवेत्ताकी नहीं, अनात्मज्ञ की है। श्रीमद् आचार्यने सर्वकर्मसंन्यासकी व्याख्या इस तरह की है-निष्क्रियात्मस्वरूपेण अवस्थानम्। सर्वकर्मसंन्यास का मतलब है निष्क्रियब्रह्मस्वरूपकी अवस्थामें स्थित रहना। कर्म स्वरूपतः छोडने अथवा स्वीकृत करनेका इस अवस्थासे कोई सरोकार नहीं। कर्म मेंसे अहंबुद्धि जहां लुप्त हुई वहां सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध होगया। इस आत्मस्थितिको अन्य लोक सर्वकर्मसंन्यास कहते हैं; परंतु आत्मवेत्ताको संन्यासकी खबर नहीं रहती और कर्मयोगकी खबर नहीं रहती। वह केवल एक सर्वस्थित और अकर्तृ ब्रह्मको जानता है; और वह मैं ही हूं ऐसा समझता है।

संन्यास शब्दका प्रयोग जैसे सर्वकर्मसंन्यस्त स्थितिके अर्थमें किया जाता है वैसे अज्ञ मनुष्य वैराग्य वृत्तिसे संन्यासधारणा करता है, उसके अर्थमें भी यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यह संन्यासधारणा चतुर्थाश्रम स्वीकार है। इस अर्थमें इस शब्दका ज्ञानयोगवाचक संन्यासयोगसे (सिवाय नामसादृश्यके) कोई संबंध नहीं। इसमें ज्ञानका साहचर्य नहीं रहता, वह सर्वकर्मसंन्यासमें रहता है। इसलिये उस संन्यासको ज्ञानयोग कहते हैं, इस (चतुर्थाश्रमस्वीकार)को ज्ञानयोग नहीं कहते। इसे संन्यास कहनेका कारण यही है कि इसका स्वीकार करनेपर गृहस्थाश्रमके कर्म छूट जाते हैं। इसमें सर्वकर्मोंका संन्यास नहीं होता और आत्मैक्य बुद्धि नहीं होती; यह ज्ञानयोगका साधन है, ज्ञानयोग नहीं। कर्मयोग जिस प्रकार ज्ञान द्वारा मोक्षका एक साधन है, उसी प्रकार और उसी रीतिसे यह संन्यासाश्रम भी एक साधन है। इसका स्वीकार आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। वैराग्य उत्पन्न न हुवा हो तो यह संन्यासभी लेना नरकको निकट करना है। शास्त्रकी अनुज्ञा यह है कि संन्यास तभी लिया जाय जब कि ऐहिक व आमुष्मिक सब विषयसुखके संबंधमें वितृष्णा उत्पन्न हो। वह लेनेसे जब गृहस्थाश्रमके सब कर्म और व्याप छूट जाते हैं तब आत्मज्ञान संपादन करनेको मनुष्य अधिक स्वतंत्र होता है। इस संन्याससे आगे आत्मज्ञान संपादन करना है इसीसे यह स्पष्ट होता है कि इसे स्वीकार करनेवाला अनात्मज्ञ रहता है। उसे यह अहंबुद्धि रही है कि मैंने संन्यास लिया, मैं श्रवणमनन करता हूं। जिसकी कर्तृत्वबुद्धि कायम हो वह अनात्मज्ञ है।

अस्तु; संन्यासाश्रम और सर्वकर्मसंन्यास दो सर्वथा भिन्न वस्तु हैं; यह बात ऊपरके विवेचनसे सहज ध्यानमें उतरेगी। इनके अधिकारी क्रमशः अनात्मज्ञ और आत्मज्ञ ऐसे भिन्न भिन्न हैं। अज्ञ मनुष्य विरागी होता हुवा संन्यासदीक्षा लेकर कर्म त्याग करता है; ज्ञानी पुरुष केवल कर्ममेंसे अहंबुद्धि लुप्त कर देता है। अब इन दो प्रकारके संन्यासमेंसे कौनसे संन्यासके विषयमें अर्जुनने भगवानको प्रश्न किया और भगवानने उत्तर दिया? अर्जुन पूछते हैं "हे भगवान्! यहां तुम कर्म छोडनेके कहते हो और यहां कर्म करनेका उपदेश करते हो; इनमेंसे अधिक ग्राह्य कौनसा है?"

भगवान् कहते हैं, "कर्म छोडनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक प्रशस्त है।" इस उत्तरमें भगवान्ने अर्जुनको आत्मज्ञानका संन्यास कहा है कि अनात्मज्ञका संन्यास कहा है? सर्वकर्मसंन्यास कोई क्रिया नहीं है। मैं अकर्ता हूं ऐसी जो आत्मज्ञकी निश्चित बुद्धि उसीका नाम है सर्वकर्मसंन्यास। इतना कहनेपर क्या ऐसी भाषा संभाव्य है कि ज्ञानीको कर्म छोडना चाहिये अथवा कायम रखना चाहिये? इसके अतिरिक्त अर्जुनमें वह कर्तृत्वबुद्धि जो अनात्मज्ञता की निशानी है, स्पष्ट रूपसे विद्यमान थी। वह भगवान्से पूछता था कि मैं युद्ध करूं अथवा न करूं? ऐसी हालतमें यह बतलानेकी जरूरत नहीं कि जिस संन्यासकी अपेक्षा भगवान्ने कर्मयोगको श्रेष्ठ कहा वह संन्यास कौनसा है। स्पष्टसे स्पष्ट है कि संन्यास शब्दसे आत्मवेत्ताका कर्मसंन्यास नहीं

किंतु अनात्मज्ञका कर्मसंत्याग उद्दिष्ट है। इससे यह सिद्ध हुवा कि अनात्मज्ञका कर्मयोग अनात्मज्ञके संन्याससे श्रेष्ठ है। उससे ज्ञानका अथवा ज्ञानमार्ग का कोइ संबंध नहीं। इतना निश्चित होनेपर, इस श्लोकसे कर्मयोगवादियोंने जो निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञानमार्गसे कर्ममार्ग श्रेष्ठ है वह बिलकुल झूठा सिद्ध होता है।

ज्ञानमार्गसे अथवा संन्यासमार्गसे कर्ममार्गको श्रेष्ठ कहनेवालोंका अब एक किला बाकी रहा;देखते हैं, यह भी सरल रीतिसे काबिज हो सकता या नहीं। यह किला (अर्थात् नं. १०) बारहवे अध्यायका बारहवां श्लोक है।

भगवान्ने इस श्लोकमें स्पष्ट कहा है कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। हमने उपपादनके लिये बारहवे अध्यायके जो चार श्लोक (८।९।१०।११) लिये थे उनके आगे प्रस्तुत श्लोक आता है। यह देखा गया है कि श्लोक ८। ९। १०। ११। में जो मार्ग बतलाये गए हैं वे एकसे एक नीचे उतरते हैं और प्रत्येक नीचेवाला श्लोक उपरवाले का उपायभूत है और सबसे कनिष्ठ निष्काम कर्मयोग है। ऐसा होनेपर यह प्रश्न उठता है कि प्रस्तुत श्लोकमें कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम कर्मयोग ज्ञान व ध्यानकी अपेक्षा श्रेष्ठ कैसे कहा गया?मोक्षसाधन की सबसे नीची भूमिका कर्मफलत्याग है ऐसा जोरोंसे प्रतिपादन करनेपर कर्मफलत्यागको सबसे सरल उपाय कहनेका हेतु यही होना चाहिये कि निदान पक्ष इसका आचरण लोग करें। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई उपपत्ति लागू नहीं होती। कर्मफलत्यागके विषयमें लोगोंको अभिरुचि उत्पन्न हो इस गरजसे उसकी यह स्तुति की गई है। अर्थात् यह अर्थवाद है। "अर्थवाद" शब्दपर नाराज होनेकी जरूरत नहीं। अर्थविवरणमें अर्थवादके लिये भी स्थान है; और इसका प्रयोग तब किया जाता है जब कि वक्ता चाहता है कि श्रोता किसी विहित कामको करे। प्रस्तुत प्रसंग वैसाही है। अर्जुनको किसी तरह निःश्रेयसके मार्गमें उद्युक्त करनेके लिये भगवान्का यह भरसक प्रयत्न है। यदि श्लोक ८। ९। १०। ११ का अर्थ जिस प्रकार हमने ऊपर विवेचन किया है, अचल है, तो प्रस्तुत बारहवें श्लोकका अर्थ स्तुतिपर लगाना चाहिये; इससे दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता। अन्यथा भगवान्के माथेपर असंबद्ध प्रलापका दोष पडता है। ऐसा न होना चाहिये, और विवरणरचना उपरिनिर्दिष्ट प्रकारसे किये विना यह हो नहीं सकता। ज्ञानयुक्त ध्यान ब्रह्मसाक्षात्कारका अत्यंत संनिकृष्ट साधन है; कैवल्यप्राप्ति केवल उसीसे होता है, यह सर्वमान्य है। तथापि जब यह कहा जाता है कि वैसे ध्यानसेभी निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है तब यह माननाही पडेगा कि श्रोताओंको अभिमुख करनेके हेतु यह उसकी केवल स्तुति की गई है। श्लोक ८। ९। १०। ११ में वर्णित समस्त मोक्षसाधनोंका पर्यवसान कर्मफलत्यागही पर किया है, इससे उसीकी प्रशंसा युक्त भी है। यदि संन्यासमार्गियोंका तथा कर्मयोगवादियोंको यह मानना पडता है कि ज्ञानयुक्त ध्यानसे कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ कहनेमें केवल अभिरुचि उत्पन्न करनेके लिये उसकी स्तुति की गई है, तब वही न्याय ज्ञानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग जहां श्रेष्ठ बतलाया वहां क्यों न लगाया जाय 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यह सिद्धांत कर्मयोगवादियों कोभी शिरसा मान्य है। मोक्षका साधन ज्ञानही है, अन्य कोई नहीं: ज्ञान व मोक्षके बीचमें कोई चीज बैठ नहीं सकती ऐसा निश्चित मत कर्मवादियोंका भी है;तब वे कैसे कह सकेंगे कि ज्ञानसे कर्मयोग श्रेष्ठ है? उनको भी यह मानना ही पडेगा कि यह केवल कर्मफलत्यागकी स्तुति की गई है। चाहे वे मंजूर करें अथवा न करें। एकवार कहना कि ज्ञानहीसे मोक्षप्राप्ति होती है; फिर कहना मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय कर्म है; ये दोनों बातें एकही मुखमें जमतीं नहीं। अतएव सब प्रकारके मतवादियोंका, जैसे संन्यासमार्गियोंको वैसेही कर्मयोगवादियोंका भी, इस वचनका अर्थ मानना आवश्यक है। सूज्ञ महाशय सोच लेवें कि ऐसी हालतमें इसे अर्थवाद माननेवाला प्रामाणिक

*

है अथवा जो ऐसा नहीं मानता और माननेवालेंको गालियां देता वह प्रामाणिक है।

अस्तु; कर्मफलत्यागका कर्मफलविषयक आसक्तिका त्याग ऐसा एकही अर्थ लेकर यह विवरण किया गया। वामनपंडितने कर्मफलत्याग शब्दके अर्थका विशेष रूपसे परिस्फोट करके जो व्याख्यान दिया वह भी बहुत सरस और मननीय है। उनके परिस्फोटके आधारपर अब विवेचन करते हैं।

भगवानने अर्जुनको ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि यदि तुम ईशपर कर्म करनेमें असमर्थ हो तो इंद्रियनिग्रह करके तुम परित्याग करो। बारहवें श्लोकमें वर्णन है कि ज्ञानकी अपेक्षा और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। ग्यारहवें श्लोकमें कृति करने को कहा है, बारहवें में ज्ञानध्यान व कर्मफलत्याग इन दोनोंमें जो सहजस्थिति है वह बतलाई है।

पूर्व श्लोकीं म्हणे कृष्ण वाचा।
कीं तूं करीं त्याग कर्माच्या फलाचा।
या श्लोकीं म्हणे त्याग हा साचा।
ध्यानें होतसे म्हणोनी॥

[अर्थ—पिछले श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि तुम कर्मके फलका त्याग करो। इस श्लोकमें वे कहते हैं कि त्याग यथार्थ में ध्यानसे होता है।]

त्याग करना और त्याग होना इनमें भेद है, और यह भेद अत्यंत महत्त्वका है। एक कृत्रिम है, दूसरा स्वतःसिद्ध है; एक बनावटी है दूसरा असल है, एक मुमुक्षुस्थितिका है, दूसरा मुक्तावस्था का है। इस प्रकार इन दोनोंमें अत्यंत महदंतर है। कर्म, उपासना, ध्यान इनमेंसे कुछ न होसके तो कमसे कम मनोनिग्रह करके, अर्थात् इंद्रियोंको रोक रखकर कर्मफलका त्याग करना यह बात यद्यपि साधककी प्रथमावस्था में युक्त है, तथापि यह केवल जबरदस्तीका उपाय है। परंतु साधकावस्था से उत्तीर्ण होकर ज्ञानसे और ध्यानसे जहां सिद्धावस्था प्राप्त हुई वहीं कर्मफलत्याग आपसे आप होता है।

कीं जालिया ज्ञान। जेवां घडे ध्यान। ध्यानीं
पावतां समाधान। आपोआप बिंबे हो त्याग॥

(अर्थ—ज्ञान होनेपर जब ध्यान हो जाता है और जब ध्यानमें समाधान प्राप्त होता है, तब यह त्याग आपही आप बद्धमूल होता है।)

इस प्रकार इन दोनोंमें जमीनअस्मानका फरक है। अज्ञस्थितिमें पहिले त्यागका आचरण करना है, दूसरा त्याग ज्ञाननिष्ठ को सहज प्राप्त होनेवाला है। ग्यारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तुम कर्मफलत्याग करो, बारहवें श्लोकमें यह अभिप्राय है कि ज्ञानध्यानके पश्चात् कर्मफलत्याग होजाता है। इन दो श्लोकोंका यह सरल अर्थ है, इसमें अर्थवाद का आश्रय कहीं नहीं लिया गया। अज्ञ स्थितिवाले मनुष्यको फलका त्याग करनेको कहा जाय तो ज्यादा से ज्यादा वह मनका संयमन करके विषयोंसे दूर रहेगा अथवा उनपर जो आसक्ति है उसे छोड देगा, परंतु विषयोंकी उसकी वासना नष्ट होना अशक्य है। वह नष्ट होनेको ध्याननिष्ठाही प्राप्त होनी चाहिये और वह जब नष्ट होगी तभी मुक्तिसुखका लाभ होगा।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

यह श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। ध्याननिष्ठ अवस्थामें कर्मफलत्याग आपही आप होता है,इसका अर्थ यह होता है कि उसकी इच्छा भी नष्ट होती है, और तभी ज्ञानी पुरुष मुक्तिरूप शांतिके लिये पात्र होता है। "त्यागाच्छंतिरनंतरम्" इसका यही अर्थ है। वांच्छा कायम रहते हुए फलत्याग करना साधकावस्था में चाहे कितना भी आवश्यक हो, वह एक प्रकारसे मिथ्याचार ही है, परंतु सच्चे फलत्याग का मतलब इच्छाका भी अभाव है। यह ज्ञान ध्यान के बादही प्राप्त होता है, और ऐसे सद्यःमुक्तिप्रद फलत्यागको अन्य सब साधनोंसे श्रेष्ठ स्थान देनेको कौन इनकार करेगा? यहांभी नामसाद्दश्यने घुटला कर दिया था, परंतु वामनपंडितने जो योग्य खुलासा किया है उससे वह घुटला रह नहीं सकता। जो जिज्ञासु इससे अधिक परिस्फोट चाहते हों उन को वामनपंडितकी शरणमें जाना चाहिये, इससे उनके मनको पूर्ण समाधान होगा। निष्कामकर्मयोग का मतलब है फलासक्तिका त्याग, न कि फलेच्छा

का त्याग । यह अर्थ कर्मयोगवादियोंका ही है परंतु उस निष्कामकर्मयोगकी अब कितनी कीमत रह गई यह ऊपरके विवरण से हरएक के ध्यान में आवेगा। अर्थवादका अथवा स्तुतिवाक्योंका आश्रय किये विना सरल व खुला अर्थ करनेपर भी हमने इस प्रकार यथामति बतलाया है कि गीतामें निष्काम कर्मयोगका स्थान कहां है। सूज्ञ जन इसपर विचार करें।

---

६ श्रीमद्भगवद्गीतांतर्गत योगत्रयका समन्वय ।

(लेखक—श्री० ह० भ० प० धुंडिराज रामचंद्र महाराज, श्री गुंडामहाराज संस्थान देगलूर.)

'श्रीमद्भगवद्गीता' न केवल भरतभूमिके, किंतु यावद् जगत् के साहित्य भांडारमें एक अमूल्य रत्न है। अनेक परीक्षकोंने आजतक इस रत्नका मूल्य जांचनेका प्रयत्न किया है, परंतु यह कहना अयोग्य न होगा कि इसको योग्य कीमत कोई भी न ठहरा सका। विचारी पुरुष जब जब श्रीमद्भगवद्गीता का अवलोकन करेगा तबतब उसे नावीन्यका अनुभव होगा। श्री ज्ञानेश्वर महाराजने कहा है—

तेंथ हर म्हणे नेणिजे। देवीं जैसें का स्वरूप तुझें।
तैसें हें नित्य नूतन देखिजे । गीतातत्व ॥
—ज्ञानेश्वरी १।७१

जें'भगवद्गीता'म्हणिजे । जें ब्रह्मेशांनीं प्रशंसिजे ।
जें सनकादिकीं सेविजें । आदरेंसी ॥ —१।५५

[अर्थ- महादेवजी कहते हैं कि जैसे तुम्हारा स्वरूप कोई जान नहीं सकता, वैसेही यह गीतातत्व नित्य नूतन दीख पडता है ॥

जिसे भगवद्गीता कहते हैं, उसकी प्रशंसा ब्रह्मदेव करते हैं, सनकादिक उसका सेवन आदरसे करते हैं ।]

गीतापर टीका लिखते समय श्री ज्ञानेश्वर महाराज के निम्नलिखित उद्गार हैं—

हें अपार कैसें कवळावें । महातेज कवणें धवळावें । गगन मुठीं सुवावें । मशकें केंवि ॥ १।७४

(अर्थ- इस अपार "गीता"का आकलन कैसे हो, इस महातेज का सामना कौन करे, मच्छर अपनी मुट्ठीमें आकाश को कैसे रखे ?)

इनके समान महानुभावों को जब 'श्रीमद्भगवद्गीता' के विषयमें इतनी अगाधता प्रतीत होती है, तब हमसरीखे अनधिकारी गीताका आकलन कैसे कर सकेंगे ? तथापि 'नभः पतंत्यात्मसमं पतत्रिणः' इस न्यायसे विचार करनेका हमारा उद्देश्य है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में अनेक विषय आये हैं, तथापि यह कोई भी कबूल करेगा कि उसमें प्रमुखतासे 'कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग' इस योगत्रयीपर विचार किया गया है। बहुतसे लोगों का मत है कि इन तीनों का परस्पर कोई संबंध नहीं है। परंतु हम ऐसा नहीं समझते। गीताके कर्मयोगका ज्ञानयोग व भक्तियोग से पूर्ण संबंध है, हमारी समझमें कर्मयोग भक्तिज्ञानरहित नहीं है।

बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९
योगस्थः कुरु कर्माणि ॥ २।४८
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः॥२।५१
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर॥ ३।१९
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तः॥ ३।२५
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥ ३।३०
न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४।१४
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥ ४।१५
कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ॥ ४।१८
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥ ४।२०
नीराशीर्यतचित्तात्मा-
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ॥ ४।२४
योगसंन्यस्तकर्माणं ॥ ४।४१
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥४।३३

इत्यादि इत्यादि वचन यह बतलाते हैं कि किस प्रकार कर्मयोग ज्ञानरहित नहीं किंतु ज्ञानसहकृत है। इसी तरह हम यह प्रमुखतासे सिद्ध करना चाहते है कि कर्मयोग भक्तिरहित नहीं है, बल्कि उसका भक्तियोगसे क्या संबंध है वह बतलाना चाहते हैं। यह भी देखना आवश्यक है कि यदि कर्मयोग भक्तिसहकृत हो तो उसका स्वरूप कैसा है।

इस प्रश्नपर विचार करनेके पहिले यह देख लें कि कर्मका स्वरूप क्या है। यद्यपि कर्मके अनेक प्रकार हैं तथापि उसके तीन विभाग होते हैं—(१) निषिद्ध कर्म, (२) काम्य कर्म, (३) कर्तव्य कर्म। चोरी, हिंसा व्यभिचार, असत्य, कपट, छल इत्यादि निषिद्ध कर्म हैं। स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि प्रियवस्तु-प्राप्त्यर्थ जो कर्म किये जाते हैं उन्हें काम्य कर्म कहते हैं। ईश्वरभक्ति, देवतापूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितागुरुजनोंकी सेवा, वर्णाश्रमधर्मका आचरण, तथा शरीरसंबंधी स्नानपानादि व्यवहार कर्तव्यकर्म कहलाए जाते हैं। कर्तव्यकर्म यदि कामनायुक्त हों तो उनका भी अंतर्भाव काम्य कर्मोंमें हो सकता है। परंतु उन कर्मोंमें स्वाभाविक धर्म तथा जीवनपोषक कर्म भी समाविष्ट हैं, इसलिये मनुष्यमात्रपर उन कर्तव्यकर्मोंके पालन की विशेष जबाबदारी रहती है। कुछ विशेष विषयोंको प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्य कर्मका आचरण करना कर्ताकी इच्छापर निर्भर है।

इन त्रिविध कर्मोंमेंसे निषिद्ध कर्म सबके लिये सर्वस्वी त्याज्य हैं।

मोक्षकी इच्छा धारण करनेवाले मुमुक्षुको काम्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं।

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।

अब रहा कर्तव्यकर्म। वह भी भावनाभेदसे सकाम और निष्काम ऐसा दो प्रकारका है। मनुष्यको जब सकाम कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे लेकर कर्मारंभ करके कर्मसमाप्तिके पश्चात् चिरकालतक उसके अंतःकरणमें केवल फल होका अनुसंधान रहता है। ऐसे काम्य कर्मका आचरण करनेवालेकी चित्तवृत्तियां पदपद पर अपना लक्ष्य जो फल है उसीको विषय बनाती रहती हैं। धनप्राप्तिके लिए कर्म हुआ तो क्षणक्षणमें उसको धनस्मृति रहती है, उसका चित्त धनाकार बनता है। कर्मसिद्धिके बाद जब उसे धनप्राप्ति होती है तब वह आनंदित होता है। परंतु किसी अंतरायके कारण जब उसे उस कर्मका फल नहीं मिलता, अर्थात् द्रव्यलाभ न होकर कोई दूसरीही आपत्ति आती है, तब उसे अत्यंत क्लेश होते हैं; उसका चित्त फलानुसंधानयुक्त रहनेसे सदैव व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषयविमोहित चित्त क्वचित् समयपर उसे निषिद्ध कर्ममें भी प्रवृत्त करेगा। शास्त्रानुसार कर्म करनेवाला सकाम पुरुष यद्यपि निषिद्ध कर्म न करेगा, तथापि विषयलोभके कारण उसे निषिद्ध कर्मकी ओर पतनकी भीति है। कभी कभी क्रियाचरणमें कोई त्रुटि होती है (और ऐसी त्रुटि होना असंभाव्य नहीं) तब उसे उस कर्मकी सिद्धि मिलना दूरही रहा, किंतु उसे प्रायश्चित्त अथवा दुःखफलका भागी होना पडता है।

निष्काम कर्मयोगका आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामी की अपेक्षा अत्यंत विलक्षण रहती है। उसके अंतःकरणमें किसी भी प्रापंचिक कामनाका प्रवेश नहीं होता। वह जो जो कर्म करता वह फलेच्छाका त्याग करके अनासक्त बुद्धिसे ही करता है। यहां भी साहजिक एक शंका होती है कि यदि वह पुरुष फलेच्छारहित है तो कर्म करता ही क्यों?" सर्वसामान्य नियम है कि व्यवहारमें हेतुके विना

मनुष्यके द्वारा कर्म नहीं होते। " प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते। " और हेतु जब रहता तब किसी न किसी फलके विषयमें रहता है। ऐसी स्थितिमें विना फलेच्छाके कर्म होना असंभाव्य है। शंका योग्य है। इसका उत्तर इतनाही है कि साधारण मनुष्यकी कर्मप्रवृत्तिके लिये हेतुका अस्तित्व अनिवार्य है; परंतु उस फलहेतुके स्वरूप भिन्नभिन्न रहते हैं इसलिये फलकामनाके अनुसार वह अनेक प्रकारके कर्मोंका आचरण करता है। उसके कर्मोंमें केवल एक हेतु विषयवासना रहता है और उसीके लिये आसक्त बुद्धिसे वह कर्म करता है। (गीता २ ४२, ४३, ४४ व ९।२०-२१) उसकी बुद्धि कामनापरिपूरित रहनेसे कर्मकी सिद्धि असिद्धिके कारण वह स्वतःको सुखी अथवा दुःखी समझता है। निष्काम कर्मी पुरुषके कर्मोंका एकमात्र हेतु परमात्मप्राप्ति रहता है (निष्कामकर्मयोगी की परमात्मप्राप्तिकी कामना परिणामतः परम कल्याणहेतुक रहती है इसलिये उसे कामनाकी संज्ञा लागू नहीं है। भगवत्प्राप्ति की इच्छा धारण करनेवाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।) " न हि मय्यर्पितधियां कामः कामाय कल्पते। (भा०) वह नित्य नवीन उल्हाससे आलस्यप्रमादरहित होकर कर्माचरणमें प्रवृत्त होता रहता है। सांसारिक फलकामनाओंके अभावसे वह आसक्त नहीं होता, और कर्मकी सिद्धि असिद्धिके विषयमें उसे हर्ष शोक नहीं होता।

आत्मलाभासारिखें। गोमटें कांहींच न देखे।
म्हणोनि भोगविशेखें। हरिखेना जो॥
ज्ञानेश्वरी १२-१९२

(अर्थ- आत्मलाभसरीखा सुहावना कुछ नहीं दीखता;इसलिये जो भोगविशेषसे हर्षित नहीं होता।

पैं आपुलें जें साचें। हें कल्पांतींही न वचे।
हें जाणोनि गताचें। न शोची जो॥
ज्ञानेश्वरी १२-१९२

(अर्थ- परंतु वास्तविक जो अपना है वह कल्पांतमें भी नहीं टलता ऐसा जानकर जो गत वस्तुके लिये शोक नहीं करता।

उसकी दृष्टिमें व्यवहारके सब पदार्थ तुच्छ, अनित्य, मलिन, क्षुद्र प्रतीत होते हैं। परंच सकाम पुरुषके सदृश उससे निषिद्ध कर्माचरण हो नहीं सकता, वह असंभवनीय है। पहिले लिख चुके हैं कि निषिद्ध कर्मका कारण आसक्ति अथवा लोभ है। निष्काम पुरुष जगत्के संपूर्ण पदार्थोंका लोभ छोडकर उनसे अनासक्त रहनेकी इच्छा करता है परमात्मप्राप्तिके अनुकूल जो जो कर्म हों उन्हें बडे प्रेमसे वह करता है। परमात्म प्राप्तिके अनुकूल कर्म वही हैं जिनके लिये भगवानने अथवा भगवदाज्ञारूप वेदने परवानगी दी है। यह निर्विवाद है। जो कर्म शास्त्रविहित हैं,जो किसीके लिये अनिष्टकारक नहीं, ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध कर्मोंका समावेश कदापि नहीं होता; इसलिये निष्काम पुरुषका अधिकार सकामी की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ कोटिका रहता है। सकाम पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उनकी प्राप्तिकी इच्छासे ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता रहता है; निष्काम कर्मी प्रत्येक वस्तु भगवानकी है ऐसा मानकर सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभावता रखकर आसक्ति व फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञाके अनुसार समस्त कर्माचरण केवल भगवत्प्राप्तिके हेतु करता रहता है। सकाम व निष्काम कर्मी के बीचमें यही अंतर है।

" श्रीमद्भगवद्गीतामें " निष्काम कर्मयोगका विवेचन दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे शुरू होता है। श्लोक ११ से ३० तक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेपर ३१ वें श्लोकमें क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करके ३९ वें श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२।३८

मोहके कारण पापभयसे युक्त ऐसे अर्जुनको भगवान्ने कहा कि सुखदुःख, जयापजय,लाभहानि

रूप सिद्धि-असिद्धिविषयक समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं लगता। इतना कहकर आगेके श्लोकसे कर्मयोगके विवेचनको प्रारंभ किया।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥२।३९

'हे पार्थ, यह बुद्धि तुम्हारे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गई। अब निष्काम कर्मके विषयमें उसे तुम श्रवण करो। इस बुद्धिसे युक्त होकर यदि तुम कर्म करोगे तो योग्य रीतिसे कर्मबंधका नाश करनेमें तुम समर्थ होगे।'

इसके आगेके श्लोकमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने निष्कामकर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मका आचरण थोडाभी हो तो वह महान् भयसे रक्षण करनेवाला है। " स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् " आगे ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलके विषयमें अधिकार बतलाकर ४८ वें श्लोकमें कहा कि जो कुछ कर्म किया जाय उसकी पूर्णता अथवा अपूर्णताके विषय में तथा उसके फलके विषयमें जो समभाव उसीका नाम समत्व; इस समत्वभावका कर्मसे संबंध आने से वह कर्मयोग होता है। तत्पश्चात् अर्जुनको आज्ञा दी है कि आसक्ति छोडकर सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समबुद्धि धारण करके कर्म करो; और इसका फल ५१ वें श्लोकमें बतलाया है। वह यह है कि " जन्मबंधसे मुक्त होकर अमृतमय ऐसे परमात्मपदकी प्राप्ति होगी।"

इस प्रकार दूसरे अध्याय के श्लोक ४७ से ५१ तक योगका विवेचन किया है। इस विवेचन में यद्यपि कहीं भक्तिका नामनिर्देश नहीं, तथापि ऐसा न समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है। गीतोक्त निष्कामकर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है। इतना जरूर ध्यानमें रहे कि कहीं कहीं वह भावप्रधानरूपसे योग्य रीतिसे व्यक्त किया है, और कहीं गौण रीतिसे अव्यक्त रूपसे उनका उल्लेख किया गया है।

परमात्मप्राप्तिकी शुभवासना सामान्यतः प्रत्येक कर्मयोगान्तर्गत उपदेश में भरी है। निष्कामकर्मयोगके आचरणका प्रारंभ उसी वक्त होता है जब कि साधक अपने अंतःकरणमें परमात्मप्राप्तिकी शुभ व दृढ भावना रखकर सांसारिक भोगोंके प्राप्ति-अप्राप्तिके विषयमें हर्षशोकरहित होकर फलासक्ति का त्याग करनेकी इच्छा करे। जो कर्म भगवत्प्रीति अथवा प्राप्ति के लिये उपयोगी हो उन कर्मोंको कर्मयोग नहीं कह सकते। कर्मयोग नामकी सार्थकता तबही होती है जब कि उस कर्मका परमात्मासे संबंध आता है। गीतामें कर्मयोगका वर्णन दो प्रकारसे नजर आता है। कोई श्लोकोंमें भक्ति प्रधानरूपसे प्रगट दिखती है, कोई कोई श्लोकोंमें अप्रगट रीतिसे उसका अस्तित्व प्रतीत होता है। जहां प्राधान्यसे भक्तिका कथन है वहां " मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य " [सब कर्मों को मुझे समर्पण करके] " मेरा स्मरण करते हुए कर्म करो " " समस्त कर्म मुझे अर्पण करो " " मदर्थ कर्म करो " " स्वाभाविक कर्म के द्वारा परमात्माकी पूजा करो " "मदाश्रय होकर कर्म करो " " मत्परायण हो " इत्यादि इत्यादि वाक्य आए हैं। [देखो गीता ३। ३०, ५। १०, ८। ७, ९। २७-२८, १२। ९-१०-११, १८। ४६-५६-५७ ६० ६०] जहां भक्तिका सामान्यतः अप्रगट रीतिसे विवेचन हुवा है वहां ऐसे वाक्य नहीं आए. [देखो गीता— २। ४७ से ५१ तक, ३। ७-१९, ४। १६, ९। १६, १८। ६-९ इ. इ.]

इससे यह सिद्ध हुवा कि भगवद्भावना दोनों वर्णनोंमें है; इसलिये भगवन्नाम, भगवच्छरण, भगदर्थ इ० भावनोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्टतया नहीं आते,उन श्लोकोंके अनुसार आचरण करनेसेभी भगवत्प्राप्ति हो सकती है; तथापि इसमें संदेह नहीं कि कर्मयोगाचरण के साथ यदि स्मरणकीर्तनादि भक्तिका संयोग हुवा तो भगवत्प्राप्ति बहुतही शीघ्र होगी, और समस्त कर्मयोगी पुरुषोंमें इसी भांति के योगी उत्तम समझे गए हैं।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥६।४७

भगवान् कहते हैं, "संपूर्ण कर्मयोगियोंमें जो श्रद्धावान् योगी मत्स्वरूप में स्थिर ऐसे अंतःकरण से निरंतर भक्ति करता है, उसे मैं सर्व प्रकारके योगियों से श्रेष्ठ समझता हूं।"

यह बात नहीं कि भक्तियुक्त कर्मयोगका आचरण जो नहीं करते उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। परंतु बहुत विलंब से होगी। (गी०४।३८; ६।४५)

गीतामें निष्काम कर्मयोग का वर्णन समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थ कर्म, मदर्थ कर्म, मदर्पण, मत्कर्म, सात्विक त्याग इत्यादि अनेक नामोंसे किया किया गया है। इन सबका फल एक है, तथापि उनके साधनक्रिया में किंचित् भेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ मदर्पण, व मदर्थ इन दोनों में जो भेद है वह सहज गम्य है। इसी तरह तदर्थ अथवा भगवदर्थ दोनों समानार्थक हैं। मदर्पण कर्मका स्वरूप यह है कि जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे उद्देश्यसे धनसंग्रह करता है और पहिले का भी कुछ द्रव्य उसके पास है। वह अपने द्रव्यसंग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संग्रहीत धनका स्वेच्छानुसार व्ययभी कर सकता है। मदर्पण कर्ममें उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार कर्मका आरंभ करने पर बीचमें अथवा कर्मसमाप्तिके बाद भी वह कर्म भगवदर्पण हो सकता है।

भक्तराजध्रुवने राज्यप्राप्ति के हेतु तपश्चर्यारूप कर्मका आरंभ किया था। परंतु बीचही में उसकी भावना में बदल हुवा और वह तपरूप कर्म उसने भगवान् को अर्पण किया; इसी कारण उसे भगवत्प्राप्ति हुई। इसके अतिरिक्त उसकी कर्मप्रारंभकालीन इच्छाके अनुसार उसे राज्य भी मिला, परंतु वह उसे बाधक नहीं हुवा; यह भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए कर्मका फल समझना चाहिये। इसलिये प्रारंभमें अन्य उद्देश्य रहनेपर भी बीचमें अथवा कर्मसमाप्ति के बाद जो कर्म भगवदर्पण किया जाता वह मदर्पण कर्मस्वरूप है। तदर्थ अथवा भगवदर्थ कर्मका स्वरूप ऐसा नहीं होता, वह आरंभहीसे भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे हविर्भाग तयार करना अथवा ब्राह्मणभोजनके लिये सामग्री तयार करना ऐसे काम किसी विशिष्ट उद्देश्यसे किये जाते हैं, उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधक के हरएक कर्मका आरंभ भगवदुद्देश्य से ही होता है। 'भगवदर्थ' कर्मोंमें भी कुछ विभाग होंगे। जैसे भगवत्प्राप्त्यर्थ कर्म करना, भगवदाज्ञाके अनुसार कर्म करना, और भगवत्सेवास्वरूप कर्मोंमें नियुक्त रहना और भगवत्प्रीतिसंपादनार्थ कर्माचरण में प्रवृत्त होना। ६० ६०

भक्तिप्रधान कर्मयोगविषयक यह विचार हुआ। इसके सिवाय समत्वयोग, कर्मयोग और सात्विक त्याग आदि शब्दोंमें भी एकवाक्यता है। दूसरे अध्याय के श्लोक ४७ से ५१ तक जिस कर्मयोगका विवेचन हुआ है उसे १८ वे अध्याय के श्लोक ६ व ९ में त्याग कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्त्यर्थ किया हुआ कर्मयोगही निष्कामकर्मयोग कहलाया जाता है। निष्काम कर्मयोगी को भगवत्प्राप्ति के लिये कर्मका त्याग करके एकांतमें रहकर भजन ध्यान वगैरे करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह साधक भगवच्चिंतनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ भगवान् की कृपासे परम गति को प्राप्त होता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥१८।५६
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७

"जो मत्परायण होगया ऐसा निष्काम कर्मयोगी सर्व कर्मोंका निरंतर आचरण करता हुआ भी मेरी कृपासे अविनाशी परम पद को प्राप्त होता है। इसलिये मनसे सब कर्मोंको मदर्पण करके मत्परायण होकर समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलंब करके निरंतर मेरे स्वरूप में चित्तको स्थिर करो"। श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कहते हैं-

स्वकर्माच्या वोखाळी। मज पूजा करूनी भली।
तेणें प्रसादें आकळो। ज्ञाननिष्ठेतें ॥ ४७ ॥
ते ज्ञाननिष्ठा जेथ हातवसे। तेथ भक्ति माझी उल्हासे।
तिया मजसी समरसें। सुखिया होय ॥ ४८ ॥

अर्थ— स्वकर्मके द्वारा मेरा पूजन भली भांति करके उसके प्रसादसे ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करो। वह ज्ञाननिष्ठा जहां हस्तगत हुई वहां मेरी भक्ति उल्लसित होती है। उसके द्वारा मुझसे समरस होकर सुखी हो।

वस्तुतः कर्मयोगका आचरण बंधनकारक नहीं है। फलेच्छा व आसक्ति को ही कर्मबंध कहते हैं।

तैसा कर्तृत्वाचा मद। आणि कर्मफलाचा आस्वाद। या दोन्हीं तें नांव बंध। कर्माचा कीं॥

—ज्ञानेश्वरी॥

फलेच्छा व कर्तृत्वके मद ही से वह बद्ध होता है। ये न हों तो कोई भी कर्म मनुष्यको बंधनकारक नहीं हो सकता।

यह बात श्रीकृष्णने अनेक वार अर्जुनको स्पष्ट रीतिसे कही है कि अपने अपने वर्णधर्मके अनुसार निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है; परंतु कर्म करते समय कर्ताका लक्ष्य परमात्मस्वरूपमें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥

गी० १८। ४६॥

जिस परमात्मासे सर्व प्राणिमात्रकी उत्पत्ति हुई है, जो इस सकल जगत्में व्याप्त है, उसकी स्वकर्माचरण रूपसे पूजा करके साधक परमसिद्धीको प्राप्त होता है। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिहीको अपना सर्वस्व मानकर उसीका अखंड चिंतन करती हुई पतिकी आज्ञानुसार पतिके ही लिये कायावाचामनसे संसारके सब कार्य करती हुई पतिकी प्रसन्नता संपादन करती है, उसी तरह निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिंतन करता हुआ काया-वाचा मनसे उस परमात्माके ही लिये सब कर्मोंका आचरण करता हुआ भगवत्प्रसाद संपादन करता है।

तरि एक प्रियोत्तम। वाचोनि वाढों नेदी काम। जैसा का मनोधर्म। पतिव्रतेचा॥ १७१॥
नाना सिंधूतें गंगा। पुढारा न करीचि रिगा। का आत्मा देखोनि उगा। वेद ठेला॥१७२॥
तैसें जें आपुलया स्वहितीं। वेंचूनियां चित्तवृत्ति। नुरवितीचि अहंकृति। फळालागो॥१७३॥

ज्ञा० १७

अर्थ— एक प्रियोत्तमके अतिरिक्त अपनी कामनाको कहीं बढने नहीं देते, जैसा कि पतिव्रताका मनोधर्म है। एक समुद्रको छोडकर गंगा कहीं आगे नहीं बढती, जैसे आत्माको देखकर वेद स्तब्ध होते हैं। उसी तरह जो अपनी चित्तवृत्तियों को अपने परमहितमें खर्च कर डालते हैं, उनका अहंकार बाकी नहीं रहता जो फलकी इच्छा कर सके।

समस्त चराचर सृष्टिमें प्रत्येक वस्तु भगवत्स्वरूप मानकर निष्काम कर्मयोगी भगवानकी पूजा करता है। किसी महाराजाधिराज सम्राट्की प्रसन्नता संपादन करनेके लिये सब सेवकोंको एकही प्रकारका काम करनेकी आवश्यकता नहीं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को प्रधान अथवा सेनापति होना नहीं पडता; किंतु अपनी अपनी योग्यताके अनुसार जो काम जिसके लिये नियुक्त हो वही उसको राजाकी मर्जीके अनुसार करना चाहिये। दूसरोंके भले बुरे कर्मोंकी ओर दुर्लक्ष्य करके अपना काम उत्कृष्टतासे करना चाहिये। राजदरबारमें कोई कुशल गवैया अपनी गायनपटुतासे राजाको जहांतक प्रसन्न कर सकता है वहांतक एक सामान्य वेतनका झाडूवाला भी अपने कर्तव्य योग्य रीतिसे करके राजा को प्रसन्न कर सकता है। किसीको अपना कर्म छोडनेकी आवश्यकता नहीं; केवल परमात्माकी प्रसन्नता हासिल करनेको स्वार्थप्रवृत्ति रोककर समस्त कर्म उसे समर्पण करनेकी आवश्यकता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९।२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

गीता ९। २७॥

निष्काम पुरुषका लक्ष्य केवल एक परमात्मा रहता है। जैसे धनकामी पुरुष अपनी प्रत्येक क्रिया में धनप्राप्तिका उपायही ढूंढता रहता है, किसी भी

उपायसे धन संपादन करना यही भावना उसके अंतःकरणमें वास करती रहती है। जिसमें द्रव्य-प्राप्ति न हो ऐसा रूक्ष व्यवहार करनेको वह कभी प्रवृत्त न होगा, किंतु धनप्राप्तिके जो अनुकूल अथवा सहायक हों ऐसेही प्रयत्न वह नित्य करता है। जैसे निष्काम कर्मयोगी सदैव कायावाचामनसे केवल उन्हीं कर्मोंका आचरण करता है, जो ईश्वर तुष्टिके कारणीभूत हों। भूलसे भी वह ईश्वरप्राप्तिके बाधक ऐसे चोरी, असत्य, कपट, व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण इत्यादि निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं करता। वह अहर्निश उसी न्याययुक्त व शास्त्रीय कर्मविचारके विषयमें यत्नप्रवण रहता है जिसका पर्यवसान भगवत्प्राप्तिमें ही होगा। अमुक कर्म श्रेष्ठ अथवा अमुक कर्म कनिष्ठ ऐसा भेद-भाव वह नहीं रखता। उसे इतना ज्ञान रहता है कि परमात्मप्राप्तिके लिये कर्मका श्रेष्ठत्व अथवा कनिष्ठत्व कारणीभूत नहीं, किंतु अंतःकरणमें वास करनेवाली व्यापक व शुद्ध भावना कारणीभूत है। भावना ही जीवके उत्थान-पतन की प्रेरक है; इसलिये वह दूसरे को देखकर स्वतः को जो विहित नहीं ऐसे श्रेष्ठ कर्मकाभी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करता। इसी तरह वह यहभी नहीं देखता कि दूसरे के कर्म की अपेक्षा मेरे कर्म में अमुक एक दोष है। दूसरे के गुणयुक्त (अर्थात् अपने कर्मसे श्रेष्ठ) कर्म की अपेक्षा अपना कर्म गुण-रहित हो (वास्तविक वह वैसा नहीं है) तथापि उसको वही आदरणीय व आचरणीय रहता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ १८।४७

अपने लिये नियुक्त ऐसे स्वधर्म के आचरण से साधक निष्पाप होता है। इसके आगे भगवान् कहते हैं —

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥१८।४८

"हे अर्जुन! अपने जन्मके साथ जो उत्पन्न हुवा ऐसा अपना कर्म यद्यपि दोषयुक्त हो तथापि उसका त्याग करना न चाहिये। क्यों कि जैसे अग्नि धूम्रसे आच्छादित रहता है, वैसेही समस्त कर्म दोषसे आच्छादित रहते हैं।"

जो मनुष्य जिस वर्णमें जन्म लेता है उस वर्णका विहित धर्म ही उसका स्वधर्म है। भारतवर्ष की सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था परम आदर्शभूत है। लाचारीसे कहना पडता है कि जो इस वर्णव्यवस्था का नाश करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हें वर्णव्यवस्था का स्वरूप यथार्थ रीतिसे ज्ञात नहीं हुआ। जगत् में भेद बनाही रहेगा, वह कभी मिटनेवाला नहीं। वर्णव्यवस्थामें यदि विसंगतता उत्पन्न हुई तो वह औरभी दुःखकी कारणीभूत होगी। जिस जाति-समूह में मनुष्य जन्म लेता है अथवा जिन माता-पिता के रजवीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर स्वकर्तव्य भावनाका ज्ञान होने योग्य उसकी बुद्धि प्रगल्भ होवे तबतक जिन विशिष्ट संस्कारोंसे उसका परिपालन होता है, प्रायः उन्हीं संस्कारों के कारण तदनुकूल कर्मों ही में उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। इसी प्रवृत्ति को स्वभाव अथवा प्रकृति कहते हैं। इस स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म को गीता में स्वधर्म,सहज कर्म,स्वकर्म नियत कर्म,स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म इ०इ० नाम दिये गए हैं। इसी स्वधर्म के अनुसार आसक्ति और स्वार्थ से रहित होकर, अखिल विश्वमें केवल परमात्मा व्याप्त है ऐसी भावना रखकर, हमारे हिस्सेमें जो कर्तव्यकर्म आया हो उसे करना चाहिये। जिस दिन अंतःकरणमें सांसारिक स्वार्थ की जगह परमात्मा को स्थान मिलेगा, उसी दिन उसके वह कर्म परमात्मप्राप्ति के कारणीभूत होंगे।

सोमल, बचनाग, पारा इत्यादि विषैले पदार्थ भी अमृतके समान कार्यकारी होते हैं; परंतु कब? चतुर वैद्यके द्वारा जब उनकी शुद्धि होती है, तब। जिन सोमलादि विषयुक्त पदार्थोंके सेवनसे मृत्यु होता है, वही सोमल अथवा बचनाग (उनमेंसे मारक अंश निकल जानेपर) अमृतके समान गुण-कारी होता है। इसी तरह जबतक कर्मोंमें स्वार्थ व फलासक्ति रहती है,तभीतक वे बंधनकारक होते हैं। जिस दिन स्वार्थ व आसक्तिरूपी मारक अंश

निकलजाने से वे कर्म शुद्ध होते हैं, उसी दिन उनमें अमृतत्वप्रापक गुण उत्पन्न होता है। इसीलिये स्पष्ट रीतिसे भगवान्ने कहा है कि किसीभी कर्तव्यकर्म का त्याग करनेकी जरूरत नहीं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥१८।६

अंतःकरणकी शुद्धता आवश्यक है। कोई एक पुरुष सकाम भावनासे यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मोंका आचरण करता है, और दूसरा एक साधक केवल वर्णाश्रम के अनुसार नित्यकर्म जानकर भिक्षा, युद्ध, व्यापार, सेवा इत्यादि कर्मोंको परमात्मा व्यापक है ऐसा समझकर सबके सुखहेतु करता है। यह दूसरा पुरुष यज्ञदानतपादि कर्म करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्यों कि कामनारहित होनेसे उसका सिद्धि-असिद्धि के विषयमें समभाव रहता है; उसके अंतःकरणमें आत्मभावनापूर्वक भगवदाज्ञाकी यथार्थ स्मृति रहती है। इसलिये लोभ व आसक्ति उसके समीप नहीं आ सकती। लोभ व आसक्ति के अभावमें पाप अथवा निषिद्ध-कर्माचरण उससे न होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यज्ञदानतप करना न चाहिये अथवा वे क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा श्रेष्ठ हैं।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ १८।५

इतनाही नहीं किंतु अंतःकरणशुद्धिद्वारा ये परमात्मप्राप्ति के सहायक हैं, परंतु निष्काम रीतिसे जब इनका आचरण होगा, तभी यह सामर्थ्य उनमें आ सकता है। ऊपर जो लिखा गया वह कर्मयोगी का यथार्थ स्वरूप बतलाने के लिये ही लिखा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुवा कि निष्काम कर्मयोगी पुरुष से जानबूझकर कोई पापकर्माचरण नहीं होता। कदाचित् अदृष्ट स्वभाव अज्ञानसे यदि कोई पाप हुवा तोभी वह उसे बाधक नहीं होता; क्यों कि उस कर्ममें उसका कोई स्वार्थ नहीं रहता। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बंधनकारक नहीं होता। " न लिप्यते कर्मणा पापकेन " श्रुति॥

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥४।१४

'कर्म मुझे संसर्ग नहीं करते। कर्मके विषयमें मेरी इच्छा नहीं। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह कर्मोंसे बंधन नहीं पाता।'

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥ गी० ५।१०

समस्त कर्म ब्रह्मको अर्पण करके, ब्रह्मकी सत्ता से इंद्रिय अपने अपने काम करते हैं ऐसा समझकर फलकी आसक्ति छोडकर, जो कर्म करता है, वह कमलपत्रवत् पापसे अलिप्त रहता है।

तो कर्में करी सकळे। परी कर्मबंधना नाकळे।
जैसे न लिंपे जळीं जळें। पद्मपत्र॥ ज्ञा० ५।५०

और भी एक दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि उसका प्रत्येक कर्म भगवदर्पण होता है, इससे वह परमात्मा का कृपापात्र होता है, उसे सब पातकोंसे मुक्त करनेकी जिम्मेदारी परमात्मा अपने ऊपर लेता है, इस विषयमें श्रीकृष्णजी की प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गी० १८।६६

' सर्व धर्मोंका (अर्थात् धर्म अधर्म के कारणीभूत होनेवाले अज्ञानका) त्याग करके मुझे शरण आओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक मत करो।'

राजाके अनेक सेवक रहते हैं और अपने अपने अधिकारानुसार उन्हें सेवाके बदले वेतन भी मिलता है। इसी तरह प्रत्येक सेवकपर राजाके किसी न किसी कामकी जिम्मेदारी रहती है, इसलिये प्रत्येक सेवक राजनियमोंसे बंधा है यदि अज्ञान से अथवा प्रमादसे किसी सेवक के हाथ राजाज्ञाका भंग हुवा तो वह राजशासनानुसार दंड के पात्र होगा। ठीक है; परंतु ऐसा भी एक पुरुष है जो विना किसी महनताने के निःस्वार्थ बुद्धिसे राजसेवापरायण है। अपनी अहैतुकी सेवासे जिसने

राजाको संतुष्ट किया है, उसके हाथ यद्यपि किसी वक्त कोई प्रमाद अथवा त्रुटि होगई तबभी राजा उसे शासन करनेकी इच्छा नहीं करता। राजाके अंतःकरणमें यह भाव रहता है कि यह अपना निःस्वार्थी सेवक है। वह अपने अपराध के लिये सजा पानेकी इच्छा भलेही करे तथापि राजा उसे कहता है कि "मित्र, मैं तो तुम्हारे उपकारसे बद्ध हूं।" इतनाही नहीं किंतु उसके उपकार से राजा अपने को ऋणी समझकर सब प्रकार उसका भला ही करनेकी इच्छा रखता है। इसतरह जो भगवान्‌की निष्काम सेवा करता है, वह भगवत्प्रीतिसंपादनार्थ भगवच्चरणोंमें अपने समस्त कर्मोंको अर्पण करता है। किसी समय भूलसे उसके हाथ कोई प्रमाद होनेपर भी परमात्मा उसे प्रेमसे क्षमा करता है। तात्पर्य यह है कि निष्कामकर्मयोग जब भक्तिकी सहकारितासे हो तभी उसमें कोई विघ्न आनेका संभव नहीं रहता; उस कर्मयोगीका उद्धार स्वतः भगवान् करते हैं-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२।६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२।७

"हे पार्थ, सर्व कर्म मुझे अर्पण करके मत्पर होकर अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते हुए जो लोग उपासना करते हैं, जिन्होंने अपना चित्त मुझ में रख दिया है, ऐसे लोगोंको मैं अल्पसमयमें मृत्यु व जन्मरूपी संसारसागर से बाहर निकलता हूं।"

अंतःकरणमें भगवद्भावना न रखकर जो कर्म होंगे, वे सब व्यर्थ हैं, उनसे कोई स्वार्थ प्राप्त न होगा।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥९।२४

ऐसा श्रीकृष्ण भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है। जिस कर्मके आचरण में शुरूसे अखीरतक परमात्माका ऐसा नित्य और अविच्छिन्न संबंध रहता है, वह कर्म भक्तिरहित कैसा हो सकता है? इससे यह सिद्ध हुवा कि श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग ज्ञान-भक्तिरहित नहीं किंतु भक्तिसहकृतही है। ऐसा इस योगत्रयीका योग्य समन्वय योगेश्वर श्रीकृष्ण परमात्माने जो गीताका कथन किया उसीमें देखने मिलता है।

---

७ गीता का योगशास्त्र।

(लेखक-श्री० ना० कृ० गोगटे, चालीसगांव.)

प्राणिमात्र को स्वातंत्र्य अथवा मोक्षकी प्राप्ति करादेनेवाली विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस ब्रह्मविद्या से मिलनेवाले मोक्ष के दो प्रकार हैं। पहिला प्रकार यह है कि मृत्यु के बाद फिर जन्म, जन्मके बाद मृत्यु, जरा व्याधि इत्यादि की खटखट हमें न हो इस हेतु इस संसारचक्रसे छुटकारा पाना। इस मोक्षप्राप्तिके लिये गीतामें उपाययोजना कर रखी है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
(गी० ७।२९)

ऐसे लोगोंके लिये भगवान् ने आठवें अध्याय के श्लोक ५।६।७।१२।१३ में खुलासेवार बतलाया है कि मरणसमय में क्या करना चाहिये, कैसा बर्ताव रखना चाहिये, किसका चिंतन करना चाहिये। परंतु इसीके साथ ऐसा इशारा कर दिया है कि, मरणके समय मनकी उस प्रकार धारणा रहे इसलिये मनुष्य

को निरंतर वही भावना मनमें कायम रखना चाहिये। मनुष्यको 'सदातद्भावभावित' हुए विना विवक्षित समयपर विवक्षित प्रकारकी मनोवृत्ति कायम रखना दुर्घट है। विशेषतः मृत्युकी प्राणान्तिक वेदना जब होती हैं तब यह हो नहीं सकता।

भगवान्‌ने भगवद्गीतामें यह भी बतला दिया है कि इस जन्ममें जीवित अवस्थामें स्वातंत्र्य अथवा मोक्षकी प्राप्ति कैसे कर लेना चाहिये, जीवनक्रम कैसा रहनेसे मनुष्यको सदेह मुक्ति मिलती है। इतनाही नहीं, किंतु यही सिखापन गीताका विशेष है। मृत्युके बाद क्या होता है और क्या होगा इसकी अधिक चिकित्सा न करके, मरना कैसे और मरने तक जीना कैसे,आयुष्य किस दृष्टीसे व्यतीत करना, संसार करते हुए कौनसी दृष्टि हमेशा सामने रखना यही बतलानेके लिये भरतखंडमें भगवान्‌ने योगशास्त्रकी फिरसे एक बार स्थापन की है। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण को "योगेश्वर" की पदवी मिली है, और योगधर्मकी यही स्थापना भगवान्‌के कृष्णावतारका कार्य और धर्मविषयक अवतारकृत्य है, ऐसा कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं। गीताशास्त्रको 'योगशास्त्र' इसी नामसे संबोधन करते हैं। इस योगशास्त्रसे जैसे मृत्युके आगेका प्रश्न हल हो सकता है वैसेही मृत्युके पहिले जीवित स्थितिका प्रश्न भी हल होसकता है। इस लिये इसे निष्ठा भी कह सकते हैं। इस शास्त्रके लिये अनधिकारी कोई नहीं। जिसको जन्म है, जिसको जीवित, संसार, व्यवहार और अंतमें मरण है,वह प्रत्येक मनुष्य इस योगशास्त्रका अधिकारी है। इतनाही नहीं, किंतु थोर विभूतियोंका ऐसा मत है कि इस योगशास्त्रको अवगत किये विना बुद्धिमान् और समजदार मनुष्यको अन्य कोई भी व्यासंग करना न चाहिये।

'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' मनुष्य प्राणी अनंत प्रकारके होते हैं। कोई प्रवृत्तिपर होते हैं, कोई निवृत्तिपर होते हैं। गीताका ध्येय है कि जिसकी जैसी श्रद्धा हो, जिसका जैसा सहज धर्म और नैसर्गिक प्रवृत्ति हो, उस श्रद्धाको आधार देना और उसीका पोषण करना। भगवान्‌का आग्रहपूर्वक कहना है कि 'स्वधर्म मत छोडो'। इस जगह 'स्वधर्मका अर्थ केवल अपना हिंदुधर्म ऐसा संकुचित नहीं, किंतु अंतःकरणप्रवृत्ति, स्वभावधर्म, साहजिक मनका झुकाव, यही अर्थ विवक्षित है। 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' ऐसा भगवान् कहते हैं। गीताका यह विश्वास है कि कोई भी मनुष्य किसी भी धर्मका अथवा मार्गका अवलंब करता हो अंतमें वह श्रेष्ठ सनातन योगमार्ग परही आवेगा। वस्तुतः सब ही मार्ग शुरूसे अखीर तक एकहीसे सनातन योगमार्ग हैं। परमेश्वर सनातन, पुरुष सनातन और प्रकृति भी सनातन है। प्रकृतिसे संलग्न जो 'क्षर पुरुष' निर्गुण निराकार ब्रह्मसे संलग्न जो 'अक्षर पुरुष' और इन दोनोंसे (चाहे भिन्न कहलो परंतु) श्रेष्ठ और इनका अपनेमें पूर्ण अंतर्भाव करके इन्हें पूर्णतया व्यापकर जो बचता है ऐसा 'पुरुषोत्तम' ये सब पुरुष सनातन हैं (गीता अध्याय १५ श्लोक १५ व आगे) इसलिये गीता किसीको त्याज्य नहीं ठहराती, किसी मार्गका अनादर नहीं करती। गीताका इतनाही कहना है कि ईश्वरप्राप्तिके लिये, मोक्षप्राप्तिके लिये, स्वातंत्र्यप्राप्तिके लिये जिसको जो मार्ग स्वीकृत करना हो वह शुरूसे अखीरतक सरल एकसा रहा तो घुटाला अथवा बुद्धिभ्रंश नहीं होता और मनुष्य अपने इच्छित स्थानको शीघ्र व अल्पायाससे पहुंचता है। ऐसा अत्यंत सुगम, अत्यंत सरल व अत्यंत गुणकारी 'आत्मसमर्पणयोग' भगवान्‌ने निश्चित शब्दोंमें अर्जुनको निमित्त करके, संपूर्ण जगत्‌को बतलाया है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'स्वतः' को शरण जानेके संबंधमें स्पष्टीकरण पूर्व श्लोकमें हो गया है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

स्वातंत्र्य अथवा मोक्ष कोई जड पदार्थ नहीं है। वह मनकी एक स्थिति अथवा दृष्टि है। जैसे

स्वतंत्रोंको शरीर रहते हैं वैसेही परतंत्रोंको रहते हैं। मुक्त पुरुषोंसे शरीर छूटा नहीं, वैसे बद्धोंको भी शरीरका निर्वाह करना पडता है। सब जीते आदमियोंको शरीर रहता ही है। मोक्षप्राप्तिके बाद देहपात होताही है अथवा होनाही चाहिये। गीता यह नहीं मानती कि वैसा देहपात जबतक न हो तबतक मनुष्य मुक्त नहीं हुवा अथवा उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं हुवा। इसलिये बद्धोंको तथा मुक्तोंको, परतंत्रोंको तथा स्वतंत्रोंको समान उपयोगी ऐसे योगमार्ग अथवा योगशास्त्रका उपदेश गीतामें किया है। इस योगशास्त्रमें शरीरका (व्यापार) कर्म करना, मनका मनन करना, हृदयका अथवा अंतःकरणका प्रेम व भक्ति करना, बुद्धिका ज्ञान संपादन करना और अनेक इंद्रियोंका अपने अपने व्यापार करना इन सबका विचार योगशास्त्रमें किया हुआ नजर आता है। गीता और गीताका योगशास्त्र इकंगी नहीं किंतु सर्वांगीण, सर्वव्यापी और सनातन है। गीताका आग्रह है कि मनुष्य प्राणीको सदासर्वकाल सर्व प्रकारसे युक्त रहना चाहिये। 'नित्ययुक्त' हो 'सर्वभावेन युक्त' हो 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' ऐसा कहके, मनुष्य सर्वभावेन व नित्ययुक्त कैसे हो सकेगा इसीका विवेचन विस्तृत रीतिसे सुगम भाषामें, आबालवृद्धोंकी समझमें आवे इस रीतिसे गीताने किया है। गीताका योगशास्त्र कर्तव्यपराङ्मुखता नहीं सिखलाता। वह यह माननेको नहीं सिखलाता कि ज्ञानका गंध भी नहीं चाहिये अथवा यह कि भक्ति एक प्रकारकी सनक है। गीताका विशेष कटाक्ष स्वार्थपराङ्मुखता व अहंकारत्याग इन्हींपर है। जहां अहंभावनाका त्याग हुवा, मैं और मेरा ऐसी भावना और भाषा नष्ट हुई; मनुष्य जहां निराशीः,निःस्पृह, निर्द्वंद्व,अनासक्त हुवा वहीं उसमें समत्वभाव स्थिर होकर वह ब्रह्मनिष्ठ होता है और वही मुक्त व स्वतंत्र होता है। गीताके योगशास्त्रमें समत्वबुद्धिका मान बहुत उच्च प्रतिका है; और यह समत्वबुद्धि निर्दोष और सम ऐसे ब्रह्मसे बहुत ही निगडित है।

गीताकी दृष्टिसे ब्रह्म केवल निर्गुण, निराकार, अक्षर व कूटस्थ नहीं, अथवा केवल सगुण, साकार, क्षर व गतिमान् नहीं; किंतु इन सबका जिसमें अंतर्भाव हो सकता ऐसा अत्यंत व्यापक, सर्वव्यापक व पुरुषोत्तमस्वरूपी है। इसी अर्थकी अद्वैत सिद्धि गीताको मान्य है। निरा शून्याकार ब्रह्म गीताको मान्य नहीं। सुप्त बालक हलचल नहीं करता; शांत, स्तब्ध अचल रहता है; इसी तरह जब वह जागता है तब ऊधम करके स्वतः हँसता व दूसरोंको भी हँसाता है। ऐसे सब प्रकार करनेवाला ही बालक रहता है। इसी प्रकार गीताका ब्रह्म कूटस्थ व अचल रहकर भी गतिमान् है। सच्चिदानंद पुरुषोत्तम अकेला सर्वव्यापी और सबसे श्रेष्ठ है। गीताका अखिल मानव जातिको उपदेश है कि ऐसे सर्वव्यापी, ज्ञानरूप, तपरूप व आनंदघन पुरुषोत्तमसे, परमेश्वरसे, परमात्मासे, सर्वकाल 'सर्वभावेन' युक्त हो। जिस प्रमाणमें, जितना समय इस स्थितिमें रह सके उतना रहनेका हरएकको प्रयत्न करना चाहिये। यही गीताभक्तोंका कर्तव्य है, यही उनका धर्म है। योगेश्वर श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा है कि "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु" इस प्रकारसे हमसे जो नित्ययुक्त रहेगा वह हमें आकर मिलेगा।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अपना यह अशक्त व मर्यादित शरीर, मर्यादित व उच्छृंखल मन और पंगु, घबडानेवाली और गलतियां करनेवाली बुद्धि उस अमर्याद, सर्वशक्तिमान् व ज्ञानपूर्ण परमेश्वरसे युक्त हो सकेगी और युक्त होनेके पश्चात् उनका क्या होगा? नमक की पुतली महासागरकी गहराई नापनेकी महत्त्वाकांक्षा रखकर किनारेपर गई; और समुद्रके पानीका उसके पैरको स्पर्श होतेही नीचे पानीमें गिरी और घुलकर तद्रूप व तदाकार हुई। देहपातका यह प्रकार संभवनीय है। किंतु अणिमा लघिमादि सिद्धियों द्वारा शरीर, मन और बुद्धिका सामर्थ्य व रूप बिलकुल बदला हुआ बतला सकते हैं। परंतु योगीको ऐसे रूपांतर

की आवश्यकता नहीं है। जीवन्मुक्त अपने पहिले स्थूल शरीरसे समस्त व्यवहार विश्वव्यापक दृष्टिसे ईश्वरयुक्त भावनासे कर सकता है। स्वतःको परमेश्वरका अंकित समझकर जीवन्मुक्त अपने हिस्सेके ईश्वरनियोजित सब कर्म केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे, ईश्वरपूजनबुद्धिसे और लोकसंग्रहार्थ करता हुआ आमरण रह सकता है।

ऐसा स्थितप्रज्ञ कौनसे कर्म करता है? इसके उत्तरमें भगवान्ने योगी के बाह्य आचरणका, अथवा उसके सांसारिक कृत्योंका अथवा दिनचर्या का वर्णन नहीं किया, और न किसी राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक अथवा शिक्षणविषयक कार्यक्रमका उपदेश किया है। भगवानने इतनाही कहा है कि प्रत्येक मनुष्यके हिस्सेमें परिस्थितिके अनुरूप जो जो कार्य आया हो वह उसे हमेशा मनसे, बुद्धिसे, अंतःकरणसे, परमेश्वरसे 'सर्वभावेन' युक्त होकर करते रहना चाहिये। "परमेश्वरका अंकित बनकर सब कर्म करते जाओ, सब कर्म परमेश्वरको ही अर्पण करते जाओ, उनका फल भी परमेश्वर को अर्पण करो; अर्थात् तुम्हें सुखदुःख, आशानिराशा, मानापमान, सिद्धि असिद्धि इत्यादि द्वंद्वों की बाधा कदापि न होगी" इस तरह प्राणिमात्रके लिये गीताका उपदेश है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः॥

यही अपना मत भगवानने अन्वयव्यतिरेक से तीसरे अध्याय में कह दिया। अपना शरीर छोटा, मर्यादित जैसा हो वैसा परमेश्वरकार्य के लिये चलेगा। जिस शरीरमें जन्म लिया उसे देहपात होनेतक विशिष्ट प्रमाण के बाहर बदलने की जरूरत नहीं, अथवा चतुर्थाश्रम लेनेकी भी जरूरत नहीं। मनसा व बुद्धया परमेश्वरसे युक्त अर्थात् परमेश्वरके बराबर व्यापक जब हम होंगे तब अपने साडेतीन हाथकी मर्यादा हमारे कार्यमें बाधक न होगी। मैं मायने देह ऐसा हमारा अहंकार नष्ट होगा। मनका व बुद्धिका देहके संसर्ग से जो मर्यादित अहंभावना का कवच लिपटा हुवा है वह फूट जायगा। स्थूल शरीरके, मनके, बुद्धिके, जीवके, समस्त व्यवहार ईश्वरी ढंग के, ईश्वरी दृष्टिके और ईश्वरी कार्य के सिद्धिके लिये ही होते रहेंगे। उस शरीर-मन-बुद्धिद्वारा विश्वका अपना इष्ट कार्य ईश्वरही करता रहेगा। "निमित्तमात्रं भव" इसका अर्थ क्या यही नहीं है कि अर्जुन के शरीर-मन-बुद्धिद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अपना अवतार कार्य कुरुक्षेत्रपर कर रहे थे? हम लोगों को जो ये शरीर मिले हैं वे हमारे नहीं किंतु ईश्वर के हैं ऐसा स्पष्ट दिखना, इसीका नाम अहंकारनाश। यही अहंकारत्याग है। इसे कोई संन्यास कहे तो वह संन्यास गीताको पूर्णतया मान्य है। सर्व प्रकारसे स्वतःको ईश्वरार्पण करके व्यवहार करना, संसारके सब कर्म ईश्वरपूजन समझके करना, यही गीताका सिखापन भगवान् ने गीताके अंतिम दो श्लोकोंमें कह रखा है-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

---

८ गीतान्तर्गत शास्त्रार्थका मूल स्वरूप ।

(अध्याय १।२।३)

(लेखक—श्री० वे० शा० सं० सदाशिवशास्त्री भिडे, गीताधर्म मंडल, पूना ।)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

मनुष्यने चाहे एकही शास्त्रका अभ्यास किया हो, तथापि उसे अनेक शास्त्रग्रंथ पढने पडते हैं, उसके बिना बहुश्रुतता नहीं आती । और बिना बहुश्रुतता के किसी विषयपर व्यापक दृष्टिसे विचार कर नहीं सकते । सारांश, व्यापक दृष्टिके लिये बहुश्रुतता चाहिये और बहुश्रुतताके लिये अनेक ग्रंथोंका वाचन चाहिये; ऐसी यह कारणमाला कह सकते हैं । अनेक ग्रंथोंके वाचनसे बहुश्रुतता संपादन करते समय उसमें एकसूत्रता रखना अत्यंत आवश्यक है । यह एकसूत्रता रखनेमें गीताशास्त्र के समान उपयोगी दूसरा ग्रंथ क्वचित् ही मिलेगा । इसलिये कोईभी समझ सकता है कि शिरोभाग में उद्धृत किया हुवा वचन केवल अर्थवादात्मक नहीं है । ब्रह्मविद्या के अभ्यास में दशोपनिषद् और गीता इन मूल ग्रंथोंके साथही स्मृति, पुराण, इतिहास इत्यादि ग्रंथोंके अभ्यासकी आवश्यकता रहती है । किंबहुना राजनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि व्यवहारप्रधान शास्त्रोंका तथा संगीतादि कलाओंका भी उपयोग ब्रह्मविद्या के लिये होता है । इसीलिये इन सब विषयोंका समावेश दशोपनिषदों ने ब्रह्मविद्याके अंगकलापमें किया है । इन विषयोंका अवलोकन करते समय यदि उनमें एकसूत्रता उत्पन्न न हो सके, तो अभ्यासक की बुद्धि चकराने लगती है । अपने संगृहीत ज्ञानका संकलीकरण वह नहीं कर सकता । इसलिये अभ्यासक को चाहिये कि वह अपने विचारोंमें हमेशा एकसूत्रता कायम रखनेकी बहुत फिकर रखे । इस काममें गीताशास्त्रकाही उपयोग होता है । जिस ग्रंथके साहाय्य

८

से ज्ञानविज्ञान का संकलन करना हो, उस ग्रंथका अध्ययन सावधानीसे करना चाहिये; इससे अपनी बहुश्रुततामें हम एकसूत्रता उत्पन्न कर सकते हैं । इसलिये अन्य शास्त्रग्रंथोंका वाचन करनेके पहिले गीताशास्त्रका सम्यक् अध्ययन करना चाहिये; उस के बाद अन्य ग्रंथोंका अवलोकन करना । शिरोभाग में दिये हुए वचनका यह अभिप्राय है ।

स्वतंत्र अभ्यास ।

अभ्यास की दो पद्धतियां प्रचलित हैं । एकमें भाष्यग्रंथ और टीकाग्रंथपर अभ्यासकी पूरी दारमदार रहती है; अर्थात् भाष्यों और टीकाओंको प्रायः मूलग्रंथके बराबर महत्त्व देकर उन्हींपर विशेष विचार करना, ऐसी एक पद्धति रूढ है । दूसरी पद्धति ऐसी है कि भाष्या व टीकाग्रंथों को विशेष महत्त्व न देकर मूल ग्रंथपरही पूरा भार रखना । अर्थज्ञान के लिये कोशग्रंथोंके सदृश यद्यपि भाष्यों तथा टीकाग्रंथोंका उपयोग भलेही करना पडे, तथापि शब्द, वाक्य अथवा प्रकरणोंके अर्थका निश्चय करनेमें मूल ग्रंथके अंतःप्रमाणोंकाही उपयोग करना । थोडे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि गीताका विवरण गीताके आधारसेही करना । इसी पद्धतिको स्वतंत्र अभ्यासपद्धति अथवा स्वतंत्र बुद्धिसे किया हुवा अभ्यास कहते हैं ।

अभ्यासक का ज्ञानसामर्थ्य बढानेके लिये और उसके विचारोंकी दिशा निश्चित करनेके लिये यह पद्धति अत्यंत आवश्यक है । अध्यात्मविचारोंकी परंपरा भरतखंडमें लगभग पांच हजार वर्षोंसे जारी है । इस अध्यात्मविद्याके अनेक संप्रदाय अथवा ग्रंथ प्रचलित हुए हैं; इसलिये अध्यात्मके

विषयमें अनेकविध कल्पनाएं मनुष्य सुनता रहता है। मनुष्यका अंतःकरण ऐसी नानाविध कल्पनाओंसे भरा रहता है; इससे अध्यात्मविषयक किसी भी ग्रंथका अध्ययन करनेमें परंपरागत विचार उसके मनको घबडा देते हैं। विशेषतः स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करनेवालेको ये पूर्वग्रह बहुतही बाधक होते हैं। इसलिये गीता शास्त्रका स्वतंत्र अभ्यास करनेवालें को इन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

गीताशास्त्रमें कौनसे विषय गृहीत माने हैं और कौनसे विषय विवेचनीय माने गए हैं यह अच्छीतरह ध्यानमें रखकर गीताके विषयोंका प्रकरणवार अभ्यास बडी सावधानीसे करना चाहिये। इससे गीताके अंतःप्रमाणोंका सम्यक् ज्ञान होकर यह अच्छी तरह समझमें आवेगा कि उन प्रमाणोंका उपयोग कैसा होता है और कैसा करना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि इस रीतिसे जो स्वतंत्र अभ्यास किया जायगा वही अभ्यासक को अत्यंत श्रेयस्कर होगा।

गीताका प्रामाण्य।

स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करना हो तबभी यह न समझ लेना चाहिये कि उसमें शब्दप्रामाण्य को कम महत्त्व दिया जाता है। शास्त्रीय विचार करते समय गृहीत कृत्य, पूर्वविद्वानों के मत इत्यादि बातें समझनेके लिये इन्हीं शब्दप्रमाणोंका उपयोग होता है। शब्दप्रमाणके अनेक प्रकार होते हैं। उन सबमें श्रुति ही श्रेष्ठ प्रमाण है। श्रुतिमें भी मंत्र और ब्राह्मण नामके विभाग होते हैं। इसी तरह वेदान्त शास्त्रमें भी एक भाग दशोपनिषद् व गीता और दूसरा भाग अवान्तर उपनिषद्, अन्य स्मृतिपुराणादि ग्रंथ इत्यादि मिलकर होता है। पहिले भाग का प्रामाण्य मुख्य और दूसरे का गौण है। पहिले कह चुके हैं कि इस प्रथम विभागमें दशोपनिषद् व गीता का समावेश होता है। गीता और दशोपनिषदोंमें यदि तुलना करना हो तो इतना निर्विवाद है कि गीता की अपेक्षा दशोपनिषदों के प्रामाण्य को अधिक महत्व देना चाहिये। तथापि दशोपनिषदों को छोडकर वेदान्त के अन्य किसी भी ग्रंथ को गीताके बराबर प्रामाण्य नहीं मिल सकता। गीता ग्रंथ उपनिषदों के समान ही प्रमाण ग्रंथ है। इसलिये गीताका वचन प्रमाण मानना चाहिये। पूर्वकालीन ऋषि, आचार्य, पंडित, साधुसंत, इन सबोंने गीताका प्रामाण्य शिरसामान्य किया है। हिंदुधर्ममें अनेक पंथ और सांप्रदाय भले ही होवें तथापि उन सबोंने प्रामाण्यकी दृष्टिसे गीता कोही अग्रस्थान दिया है। किंबहुना परधर्मीय विद्वानों ने भी गीता के प्रति अत्यंत आदर व्यक्त किया है। इस तरह अध्यात्मशास्त्र ऐसा शास्त्र है जो गीता जगत् के समस्त विद्वज्जनोंको पूर्णतया मान्य है। इस से इस गीताशास्त्र का प्रामाण्य सुप्रतिष्ठित हुआ है। ऐसे सर्व शिष्टसंमत शास्त्रविषयक प्रामाण्य यदि किसी व्यक्तिको मान्य न हो तो उसपर ख्याल करनेकी कोई जरूरत नहीं।

प्रामाण्य के विषय में एक शंका।

स्वभावतः ऐसी एक शंका उपस्थित हो सकती है कि यदि गीता ग्रंथको इस प्रकार सर्वतः प्रामाण्य है, तो गीताके अभ्यास में बुद्धिको स्वातंत्र्य क्या मिलेगा? इसका उत्तर यह है कि, वचनको प्रामाण्य होनेपर भी वाक्यार्थ के विषयमें अभ्यासक की बुद्धिको पूर्ण स्वातंत्र्य रहता है। न्याय, व्याकरण, मीमांसा इत्यादि शास्त्रोंकी सहायता से और सृष्टिनिरीक्षण व आत्मनिरीक्षण करके उनसे जो अनुभव प्राप्त होंगे उनकी सहायतासे गीता के वचनोंका और प्रकरणोंका अर्थ स्वतंत्र बुद्धिसे निश्चित करना चाहिये, इसी रीतिसे अभ्यासक संपूर्ण ग्रंथके तात्पर्य का निर्णय कर सकता है। यहां यह कहना अनवश्यक है कि पुराने टीकाकारोंका किया हुआ पुराना अर्थ है इसीलिये उसे त्याज्य कहनेकी धृष्टता कोई भी सरल हृदय अभ्यासक न करेगा। परंतु ध्यान रहे कि "युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरुगौरवात्" यह न्याय वाक्यार्थोंके अथवा प्रकरणार्थोंके विषयमें स्वीकृत करनेपर भी अभ्यासके मूलग्रंथ विषयक प्रामाण्यबुद्धिको बाधा नहीं पहुंच सकती। इस प्रकार गीताविषयक प्रामाण्यबुद्धि

कायम रखकर पूर्वकथितानुसार इस शास्त्रका स्वतंत्र बुद्धिसे अध्ययन किया जाय। इसमें संदेह नहीं कि यही अध्ययन साधकके लिये अधिक श्रेयस्कर होगा। ऐसे स्वतंत्र अध्ययनमें प्रकरणोंके ज्ञानको बहुत अधिक महत्त्व रहता है, इसलिये गीताके प्रकरणोंका तथा प्रकरणवार विषयोंका संक्षेपतः विचार करनेका प्रस्तुत लेखका उद्देश है।

अर्जुनका पूर्वपक्ष।

गीताका पहिला अध्याय और दूसरे अध्यायके दस श्लोक इतने विभागमें अनेक विषय आए हैं; उनमेंसे मुख्य विषय अर्जुनका पूर्वपक्ष है; बाकी सब विषय इस पूर्वपक्षके अनुषंगसेही आए हैं। स्थूल मानसे अर्जुनके पूर्वपक्षके तीन विभाग हो सकते हैं- मुख्य विभाग पहिले अध्यायके श्लोक ३१ से ३७ तक में आया है। इस प्रकरणमें अर्जुन कहते हैं- "जिस उद्देशसे हम लढनेको तैयार हुए, वह उद्देश इस युद्धसे साध्य नहीं होता। प्रस्तुत युद्धमें हमारे उद्देश विजय, राज्य और सुख हैं, परंतु जिनके लिये हम विजय, राज्य इत्यादि प्राप्त करनेवाले हैं, इन्हींपर शस्त्र चलानेका प्रसंग इस युद्धमें है। उभय सैन्योंमें मुख्यतः आप्त, इष्ट, पुत्रपौत्र, बापदादे, गुरुजन इत्यादि लोग ही सम्मिलित हुए हैं। इस युद्धमें मुख्य कर्तव्य है उन्हें मारना। ऐसे प्रेमास्पद, उपकारकर्ता और परम पूज्य स्वजनोंको मारकर यदि हमें केवल पृथ्वीका ही नहीं किंतु त्रैलोक्यकाभी राज्य मिलता हो तोभी मुझे नहीं चाहिये। भाईबंदोंका अथवा स्वजनोंका घात करनेसे मुझे इस जन्ममें सुख मिलेगाही नहीं, किंतु मैं पापका धनी अवश्य होऊंगा। इसलिये यह युद्ध ऐहिक तथा पारलौकिक दृष्ट्या अवश्यमेव हानिकारक है।" इस प्रकरणका अभिप्राय संक्षेपतः यह है।

पहिले अध्यायके श्लोक ३८से ४६ तकमें अर्जुनने वर्णन किया है कि कुलक्षय का स्वरूप कितना घोर है। कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाली अनर्थपरंपरा, उसके दुष्परिणाम अर्थात् संपूर्ण कुटुंबोंका धूलमें मिल जाना, इससे कुलक्षयकर्ताओंको जो पाप लगेंगे इन सबका पर्यवसान अर्थात् नरकप्राप्ति है। इन बातोंका अर्जुनने सयुक्तिक प्रतिपादन किया है; और ४५ वें श्लोकमें "राज्यसुखके लोभसे यह स्वजनघातरूपी महापातक करनेको हम कैसे तैयार हुए" इसपर उद्वेग, खेद इत्यादि विकारोंसे मिश्रित आश्चर्य प्रगट करके ४६ वें श्लोकमें यह निश्चय स्थिर किया है कि ऐसे पापकारक युद्धमें शामिल होनेकी अपेक्षा मैं इस क्षात्र धर्मका संन्यास पसंद करता हूं, क्योंकि वही मेरे लिये अधिक श्रेयस्कर है। ऐसा निश्चय करके शोकग्रस्त अंतःकरणसे प्रत्यक्ष शस्त्रसंन्यास करके अर्जुन रथमें स्वस्थ बैठ गए। ऐसा श्लोक ४७ में संजयने कहा और अध्याय समाप्त हुआ।

शोकग्रस्त होकर स्वस्थ बैठनेवाले अर्जुनकी संन्यासवृत्तिका अत्यंत तीव्र शब्दोंमें श्रीकृष्णने निषेध किया और ऐसा न करनेके लिये उसे आग्रह किया, तथापि अर्जुन अपनी बातसे अणुमात्र विचलित न हुआ। उसने इतना जरूर किया कि अपने पूर्वपक्षमेंसे चुना हुवा मुद्दा श्रीकृष्णके सामने रखकर उनसे प्रार्थना की कि इसका सशास्त्र उत्तर देकर सच्चा श्रेयस्कर मार्ग कौनसा है, तो मुझे समझा दीजिये। इस प्रकार अर्जुनके भाषणके मुख्यतः तीन प्रकरण हुए हैं। उनमेंसे पहिला प्रकरण मुख्य है और दूसरे प्रकरणमें पहिले प्रकरणके विषयोंका ही स्पष्टीकरण और समर्थन किया है। तीसरा प्रकरण दूसरे अध्यायके १० वें श्लोक तक आया है; इसमें अर्जुनने अपनी उक्तिका अनुवाद करके अंतमें प्रार्थना की है कि यह गलत हो तो मुझे सत्यज्ञानका उपदेश कीजिये। अर्जुन द्वारा प्रतिपादित इन तीन प्रकरणोंको सिद्धान्त, समर्थन और अनुवाद नाम दे सकते हैं।

अपने उच्च कुलके-कुरु कुलके-प्रति अर्जुनके अंतःकरणमें अत्यंत आदर और निःसीम प्रेम वास करते थे। अपने कुलका सर्वांगीण उत्कर्ष जिस प्रकार हो सके उसी प्रकार संपादन करना ही गृहस्थका श्रेष्ठ धर्म है। परंतु इस अवसरपर जो युद्ध उपस्थित हुआ है, उसमें शरीक होनेसे ऐसे श्रेष्ठ

गृहस्थधर्मपर तिलांजलि देनी पडती है। जिस प्रकार अपने कुलका कल्याण करना श्रेष्ठ गृहस्थ-धर्म है, उसी प्रकार रणभूमिमें खडे होनेपर रण-नीतिके अनुसार युद्ध करना भी क्षत्रियोंका श्रेष्ठ धर्म है। क्षात्रधर्मका आचरण करूं तो गृहस्थधर्म डूबता है, और यदि गृहस्थधर्मको सम्हालने जाता हूं तो मुझे क्षात्रधर्मका पूर्ण त्याग करना पडता है। इस तरफ कूवां उस तरफ बावली; ऐसी दुविधामें अर्जुन पडा था। क्षात्रधर्मका आचरण उसे बहुत भीषण मालूम पडने लगा, इसलिये उसने क्षात्रधर्म का त्याग करना ही उचित समझा।

क्षात्रधर्म अर्थात् वर्णधर्म। इस वर्णधर्मके अंत-र्गत प्राचीन कालमें आर्योंके निर्वाहके साधन समा-विष्ट किये गए थे। इस वर्णधर्मका त्याग करनेसे अपनी उपजीविका के लिये कोई मार्ग नहीं रहता, तब गृहस्थाश्रम कैसे चलेगा? यह प्रश्नभी अर्जुनके सामने उपस्थित था। इसीलिये उसने साफ कह दिया कि मैं भिक्षा मांगने को तैयार हूं। अर्जुनके प्रतिपादन में न केवल व्यवहारशास्त्र है किंतु धर्म-शास्त्र व तत्त्वज्ञान भी भरे हुए हैं। उसकी व्यवहा-रिक विचारप्रणाली आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टिसे भी सयुक्तिक है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि पापपुण्यकी जो चिकित्सा उसने की वह व्यक्ति-धर्म की नीतिकी दृष्टिसे अयोग्य थी। इसी प्रकार उसका तत्त्वज्ञान निःसंदेह संन्यासमार्ग के अनुकूल था। मनुष्य का सच्चा कल्याण मोक्षप्राप्ति से ही होता है; इस मोक्षप्राप्ति के मार्गमें कर्म प्रतिबंधक है, उसका त्याग कभी कभी करनाही पडेगा और ऐसे समय कोई न कोई कर्म प्राप्त रहेगाही; इससे सिद्ध होता है कि संन्यासमार्ग में प्राप्तकर्मका त्याग अप-रिहार्य है।

अर्जुनकी यह दशा आ गई थी कि वर्णधर्म भी नहीं और आश्रमधर्म भी नहीं। तथापि अंतिम-साध्यपर उसकी दृष्टि निश्चल थी। मानवजातिका अंतिम ध्येय मोक्ष है। अर्जुन समझता था कि मोक्षप्राप्तिके लिये कभी न कभी कर्मोंका त्याग आव-श्यक है, वह त्याग इसी समय करनेका उसने निश्चय किया। आत्यंतिक श्रेय का सच्चा मार्ग कौनसा है और उस मार्गकी दृष्टिसे युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा युद्ध न करना श्रेयस्कर है इस विषयमें अर्जुन को तीव्र जिज्ञासा थी। मनका झुकाव संन्यासमार्ग की ओर था, परंतु वह मार्ग श्रीकृष्णको पसंद न था इसलिये वह यहीं रुक गया और उसने भगवान् को साफ कह दिया कि जबतक मुझे पूर्णतया अपने कल्याण का सच्चा मार्ग न समझेगा तबतक मैं एक कदमभी आगे न बढूंगा।

गीताकाल में संन्यासमार्ग को सांख्य कहते थे। वैदिक कालमें संन्यासमार्गका पुरस्कार सांख्योंनेही किया था; इसलिये संन्यासमार्ग को सांख्य कहने की रूढि पड गई होगी। वस्तुतः औपनिषद् विद्याके तत्त्वज्ञान में और सांख्यों के तत्त्वज्ञान में अंतर है। परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि गीता में जो सांख्य शब्द आया है वह बहुतसे स्थानोंमें संन्यास-मार्गका वाचक है। सांख्यों की विचारप्रणालि उपनिषत्कर्ता ऋषियोंने बहुतांश में खंडित कर दी थी; तथापि उस काल (गीताकाल) तक सुशिक्षित-वर्गमें सांख्यों के तत्त्व अथवा मार्ग का प्रादुर्भाव कहीं कहीं दृष्टिगोचर होता था। अर्जुनकी विचार-प्रणालि का यही प्रकार था और उसने अपने मनमें मान लिया कि कर्मसंन्यासका मार्गही सबसे अच्छा। अर्जुन के पूर्वपक्षका संक्षेपमें यह तात्पर्य है।

अर्जुन के हृदयमें जो विलक्षण विचारक्रांति हुई उसका कारण प्रस्तुत युद्धही है। इस रणभूमिपर प्रमुखतः कुरुकुल के लोग ही दिखते थे। इस युद्ध को भाईबंदोंकी लडाई का स्वरूप आया था। यह युद्ध आपसके स्वजनोंमें होनेवाला था। ऐसे स्वज-नविध्वंसक युद्धही के कारण अर्जुके मनको धक्का पहुंचथा। युद्धका यह स्वरूप स्पष्ट होनेके लिये पहिले अध्यायके अवांतर विषयोंका उपयोग होता है। किंबहुना पहिलेही श्लोक में जो धृतराष्ट्रका उल्लेख करके उनके मुखसे प्रश्न आया है वह इसी मुख्य विषयका आनुषंगिक मालूम होता है। इस तरह मुख्य विषयपर दृष्टि स्थिर रखकर अवांतर विषयोंका अभ्यास सावधानीसे किया जाय, तो

अर्जुन का प्रतिपादन पूर्णतया सयुक्तिक मालूम होगा।

व्यक्ति और समाज के जीवनक्रमपर जिसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विचार किया जाता है उस समाजशास्त्रको प्राचीन समय में आर्योंने "वर्णाश्रमधर्मशास्त्र" के नामसे प्रगट किया था। आधुनिक भाषामें उसीको "समाजशास्त्र" कह सकते हैं। अर्जुन के पूर्वपक्षमें समाजशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्र (तत्त्वज्ञान) का पूर्ण संबंध आता है। अर्जुन का पूर्वपक्ष गीताशास्त्रका उत्थापक है इसलिये उसका सावधानीसे अध्ययन करना बहुतही आवश्यक है। ऊपर कहे हुए तीन शास्त्र और इस क्रांतिकारक भारतीय युद्धका पूर्वेतिहास इस दृष्टिसे यदि अर्जुन के पूर्वपक्षका सविस्तर विचार करने लगें तो एक बडा भारी स्वतंत्र ग्रंथ तैयार होगा। यह विषय इतना गहरा और शास्त्रगम्य है। इसीलिये हमने यहां इसका विचार संक्षेपमें किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश।

पहिला प्रकरण।

'तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि'

भगवान् श्रीकृष्णका प्रतिपादन गीताके दूसरे अध्यायके १० वें श्लोकसे शुरू हुआ है। यह पहिला प्रकरण श्लोक ११ से ३० तक है। अर्जुनको श्रेयस्कर मार्गका ज्ञान चाहिये था; परंतु स्वजनों के मरणकी कल्पना उछल पडनेसे उसका अंतःकरण शोकग्रस्त हुवा था। श्रीकृष्णने यह सोचकर कि उसके हृदयकी यह शोक की ऊर्मि जरा शांत होगी तभी उसकी बुद्धि तात्विक विचार ग्रहण करनेमें समर्थ होगी, उसका शोक निवारण करनेके हेतु, इस प्रकरण के विषयका प्रतिपादन किया है। अर्थात् इस प्रकरण का मुख्य विषय अर्जुनका शोकनिवारण है। श्रीकृष्णने आत्माके अविनाशित्व, अमरत्व, अविकार्यत्व इत्यादि धर्म बतलाकर यह तत्त्व समझाया कि मरण केवल कार्यरूप पदार्थका नाश है, आत्माका नाश नहीं; और इन्हीं कारणोंसे तुम्हें शोक करना उचित नहीं। "शोक करना योग्य नहीं" इस अर्थके वाक्य इस प्रकरण में पांच बार आये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकरणका मुख्य उद्देश शोकनिवारण है।

आत्मतत्त्व नित्य है, उसका नाश नहीं होता और वह किसीका नाश नहीं करता। इन्द्रियविषयसंयोग से उत्पन्न होनेवाले सुखदुःख अनित्य हैं तथापि अपरिहार्य हैं, उन्हें शांततासे सहनाही चाहिये। इसी सहनशीलताको तितिक्षा कहते हैं; मोक्षमार्गमें इसका अच्छा उपयोग होता है। "अमृतत्त्व" वैदिक कालकी मोक्षकी संज्ञा है। अमृतत्व ही मानवी जीवित का मुख्य ध्येय है। पिण्डब्रह्माण्डात्मक सृष्टिका कार्यकारणदृष्टिसे विचार करनेपर यह मालूम होगा कि कार्य अस्वतंत्र पदार्थ है, सच्चा स्वातंत्र्य कारणको है। इस प्रकार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि सृष्टिका आदिकारण जो आत्मतत्त्व वही पूर्णतया स्वतंत्र है। जिसका अस्तित्व स्वतंत्र हो वही सत् कहलाया जाता है। कार्य को स्वतंत्र अस्तित्व नहीं इसलिये वह असत् है। इस नियमके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि पिण्डब्रह्माण्डक सृष्टिका जो मूल कारण है वही सत् है बाकी सब असत् है। सत् का नाश नहीं होता और असत् का नाश नहीं टलता। मानवी देह कार्यरूप होनेसे उसका नाश-अर्थात् मृत्यु-अनिवार्य है। इसलिये स्वजनमरण की कल्पना को लेकर युद्धका त्याग करना अयोग्य है। तुम्हें युद्ध करनाही उचित है। मरण (अथवा नाश) कार्यका धर्म है, आत्मा से उसका कोई संबंध नहीं आता। जिस प्रकार अविनाशित्व आत्माका स्वभाव है उसी प्रकार नश्वरता देहका स्वभावही है। इसलिये किसीभी पदार्थका नाश होनेसे तुम्हें शोक करना अनुचित है। ऐसा कहकर भगवान् ने इस प्रकरणका समारोप किया है।

दूसरा प्रकरण।

श्लोक ३१ से ३८ तक इस प्रकरणमें सांख्यमार्ग (संन्यासमार्ग) की दृष्टि से कर्मविषयपर विचार किया गया है। पिछले प्रकरणमें किये हुए उपदेशद्वारा अर्जुनके शोककी ऊर्मि कम हुई। ऐसा देखकर

भगवान् ने इस प्रकरण के पूर्वपक्षपर विचार प्रगट किया है। युद्ध करनेसे कौनसे दोष होते हैं इसका ऐहिक व पारलौकिक दृष्टिसे अर्जुनने पूर्ण विचार किया था। उसका यह विचार संन्यासमार्गके अनुसार था। उसको यह विचार करना आवश्यक था कि जैसे युद्ध करनेसे हानि है, वैसेही संन्यासमार्ग की दृष्टिसे युद्ध न करनेमें भी दोष हैं। यह विचार नहीं किया गया; यही पूर्वपक्षकी विचारसरणीमें त्रुटि रह गई, और वह भगवान् ने अर्जुन को बतलाई। जिस सांख्यमार्ग के आधारपर अर्जुन बोलता था, उसी मार्ग की दृष्टिसे युद्ध न करनेमें जो दोष हैं वे भगवान् ने यहां बतलाए हैं। युद्ध न करनेसे क्षत्रिय को स्वर्गदायक क्षात्रधर्मका त्याग करना पडता है, और यह स्वधर्मत्याग तुम्हें पापकारक होगा। युद्ध करनेसे स्वजनहत्याका पाप होता है और युद्ध न करनेसे स्वधर्मत्यागका पाप लगता है। इसी प्रकार युद्ध करनेसे यदि आप्तइष्टोंका नाश होकर सांसारिक सुखका नाश होगा, तो युद्ध न करनेसे जो अपकीर्ति अथवा लोकनिंदा होगी उससे तुम्हें अपना जीवन असह्य होगा। सारांश, तुम जिस सांख्यमार्ग की दृष्टिसे विचार करते हो, उस मार्गकी दृष्टिसे युद्ध करना न करना प्रायः बराबर है। सांख्यमार्ग के आश्रय से युद्ध के विषयमें तुम यह कह सकते हो कि युद्धमें यदि मरण आजाय तो स्वर्ग मिलेगा, और यदि जयप्राप्ति हो तो साम्राज्याका उपभेग मिलेगा। यह नियम सांख्योंने न केवल युद्ध के लिये किंतु समस्त कर्मोंके लिये लागू किया है। संन्यासमार्गका यह सिद्धान्त है कि कर्मका फल केवल विषयसुखका उपभोग है,वह चाहे ऐहिक हो अथवा पारलौकिक हो। कर्मयोगकी दृष्टिसे यह नियम बिलकुल गौण है। कर्मयोगशास्त्र का यह निश्चित मत है कि बुद्धिमानीसे उसका उपयोग किया जाय तो वह मोक्षमार्ग में अंततक उपयुक्त होगा। ध्यान रहे कि "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्षसे महीम्" यह वाक्य सांख्यबुद्धिके अंतर्गत है न कि कर्मयोग के। यह बात शक्य न थी कि इस वाक्यसे अर्जुनके मनपर कुछ परिणाम होनेकी भगवान् उम्मीद रखते हों। क्यों कि उसने यह कहा था कि "अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धम् राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्" इतना कहकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि संन्यासमार्गमें बतलाया हुवा कर्मोंका फल मुझे सर्वस्वी त्याज्य है।

संन्यासमार्ग की दृष्टिसे मोक्ष के विषय में कर्म प्रायः निरुपयोगी है। किंबहुना मोक्षमार्ग को वह प्रतिबंधक है। यह प्रतिबंधकता निर्मूल करने का उपाय यही है कि लाभहानि, सुखदुःख और यशापयश के विषयमें समबुद्धि रखकर कर्म करना। इस से प्रतिबंधकता नष्ट होगी और वह कर्म मोक्षमार्ग के लिये विघातक न होगा। यह है कर्म के विषयमें सांख्यबुद्धि अर्थात् संन्यासमार्ग की दृष्टि। इस विचारसे अर्जुन के प्रश्न को कोई बाधा नहीं पहुंचती; क्यों कि उसका प्रश्न यह न था कि "मोक्षमार्ग में कर्म प्रतिबंधक कैसे न होगा"? अर्जुन का प्रश्न ऐसा था कि जिस मनुष्य को श्रेय-अर्थात् मोक्ष-की इच्छा है उसके लिये कर्मका उपयोग क्या है? क्या मोक्षके लिये कर्म उपयोगी हो सकता है? सांख्यबुद्धिसे किये हुए कर्मविवेचन में अर्जुन के इस प्रश्नका उत्तर बिलकुल नहीं आता। और कर्मविषय में भगवान् ने जो सांख्यदृष्टि का स्वीकार किया था वह इस प्रश्न का उत्तर देनेके लिये नहीं। अर्जुन के पूर्वपक्ष की न्यूनता बतलाकर उसकी बुद्धि श्रीकृष्णने यहां मध्यबिंदुपर लाकर रखी है। युद्ध करना और न करना इनमें कोई बडा फरक नहीं है। मोक्षकी दृष्टिसे जब प्रस्तुत युद्धका विचार करना है तब वह आध्यात्मिक कर्ममीमांसा के आधारपरही करना होगा; और ऐसा करनेमें संन्यास और कर्मयोग का तुलनात्मक विचार करना आवश्यक है। क्यों कि इन दोनों मार्गोंमें कर्म (मीमांसा) का विचार बिलकुल भिन्न भिन्न प्रकारसे किया गया है। कर्मके विषयमें सांख्यबुद्धि यही है कि मोक्षमार्गमें कर्मका उपयोग नहीं है, किंबहुना मोक्षमार्गके लिये वह विरुद्ध है। बहुत हुवा तो उसकी प्रतिबंधकता निर्मूल करके उसे अकिंचित्कर बना सकते हैं।

(सूचना- ध्यान रहे कि मोक्षमार्गका सच्चा प्रारंभ चित्तशुद्धि होनेपर ही होता है।)

तीसरा प्रकरण।

बुद्धियोग अथवा कर्मयोग का तात्त्विक स्वरूप।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

सभी विद्वानों का यह मत है कि गीताका दूसरा अध्याय समग्र शास्त्रार्थ की बुनियाद है। इस दृष्टि से विचार करनेपर स्वतंत्रबुद्धिके अभ्यासक को निश्चयपूर्वक ज्ञात होगा कि दूसरे अध्याय के श्लोक ३९ से ५३ तक का यह प्रकरण इस सारे अध्यायमें मुख्य है। इस प्रकरणके पहिले श्लोक प्रास्ताविक हैं। इस प्रस्तावनामें योगनिष्ठाकी विशिष्टता बतलाई गई है; और यह कहा गया है कि जो अपनी बुद्धि को थोडी बहुत स्थिर रख सकेगा उसीको यह बुद्धियोग साध्य होगा; बुद्धिकी चंचलता इस मार्ग को अत्यंत विघातक है। इतना कहकर बुद्धिकी चंचलता के कारण बतलाए गए हैं। चंचल अर्थात् उच्छृंखल बुद्धिवाला मनुष्य बुद्धियोग का साधन कर न सकेगा। इस विभाग का अभिप्राय यह है कि इस मार्गमें प्रवेश मिलनेका साधन बुद्धिस्थैर्य है और उपभोग की वासना इस मार्गमें एक बडा विघ्न है। श्लोक ३९ से ४४ तक प्रास्ताविक भाग है, इसमें बुद्धियोग को अनुकूल क्या है और प्रतिकूल क्या है इसका खुलासा किया है। श्लोक ४५ से ४८ तक में बुद्धियोगका प्रधान सिद्धान्त बतलाया है। इसीलिये इस विभागको कर्मयोगशास्त्रकी चतुःसूत्री कह सकते हैं। इन चार श्लोकोंमेंसे ४५वां श्लोक मुख्य उपदेशवाक्य है। वह यह है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

इस श्लोकमें कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वैदिक भागका निषेधात्मक उल्लेख करके आगे पांच तत्वोंका उपदेश किया है। इस श्लोकमें नौ पद (शब्द) हैं। इनमें से "त्रैगुण्यविषया वेदाः" ये दो पद पिछले भाग में जो निषेध आया है उसके दर्शक हैं; इसलिये यह समझना चाहिये कि ये दो पद उपदेशवाक्य में समाविष्ट नहीं हैं। बाकी सात पदोंमेंसे "अर्जुन" और "भव" ये दो पद क्रमशः कर्ता और क्रियापदस्वरूप हैं। उनका अर्थ है कि "हे अर्जुन, तुम ऐसे हो जाओ (बनो)।" कैसे हो जाओ सो बाकी के पांच पदोंमें बतलाया है। इन पांच पदोंमें पांच तत्त्व आए हैं। उनमेंसे तीन दोषाभावस्वरूप हैं और दो गुणस्वरूप हैं। "निस्त्रैगुण्य" "निर्द्वंद्व" और "निर्योगक्षेम" इन शब्दों से तीनों प्रकारकी उपभोगवासना, रागद्वेषादि मनोविकारोंकी जोडियां और योगक्षेम की तलफ इतने दोषोंका उच्छेद करना बतलाया है। "नित्यसत्वस्थ" और "आत्मवान्" इन शब्दोंसे समस्त सद्गुण और आत्मज्ञान संपादन करने को कहा है। उपर्युक्त तीन दोषोंमें सब दुर्गुणों का मूल है, इसलिये वे सर्वस्वी त्याज्य हैं; आत्मज्ञान तथा सर्व सद्गुण ही संपादनीय हैं। ऐसा इस उपदेशवाक्य का तात्पर्य है। ४६ वें श्लोक में आत्मज्ञानका स्वरूप स्पष्ट करके उसका महत्त्व बतलाया है। कर्म करना मनुष्यकी शक्ति के भीतर है, परंतु उसका फल प्राप्त करना सर्वस्वमें उसके आधीन नहीं है, इस फलकी इच्छा न रखकर ही कर्म करना चाहिये। ४७ वें श्लोक में कहा है कि फल की इच्छा छोडनेपरभी कर्म छोडनेका आग्रह करना नहीं चाहिये; और ४८ वें श्लोक में यह बतलाया है कि फलेच्छा का त्याग करनेपर कर्म कैसे किया जाय। इसप्रकार इन चार श्लोकोंमें बुद्धियोगका प्रधान सिद्धान्त पूर्ण होता है। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि तुम अपनी बुद्धि योगयुक्त करो और ऐसी योगयुक्त बुद्धि से ही कर्माचरण करो। ४५ वें श्लोकमें जो बुद्धियोग का स्वरूप बतलाया गया है, उसके पांच अंश हैं। इन पांचों अंशोंसे बुद्धिको परिपूर्ण करना ही बुद्धियोग है और वही मोक्षका प्रत्यक्ष साधन है। इन पांचोंमें मुख्य आत्मज्ञान है, इसमें विज्ञानका भी अंतर्भाव होता है; ऐसा ४९ वें श्लोक में बतलाकर

उसीमें आत्मज्ञान को महत्त्व भी दर्शाया है। ४८ वें श्लोक में यह बतलाकर कि कर्म को बुद्धियोग की जोड देना आवश्यक है, यह मुख्य विभाग समाप्त किया है।

कर्म को योगयुक्त बुद्धि की जोड क्यों देना चाहिये इसका खुलासा ४९ वें श्लोक में किया है। बुद्धियोगरहित कर्म अत्यंत कनिष्ठ दर्जेका है; इस लिये बुद्धियोग संपादन करनेमें भूल न करना, केवल कर्मको अथवा उससे प्राप्त होनेवाले उपभोगात्मक फलोंको अणुमात्र कीमत नहीं है। कर्मको यदि बुद्धियोग की जोड मिले तो वही कर्म मोक्षमार्ग में अत्यंत उपयोगी होगा। इसीलिये कर्म में से उसकी प्रतिबंधकता नष्ट करके उसमें मोक्षोपयोगित्व उत्पन्न करनेकी कुशलता केवल बुद्धियोगमें है (श्लोक५०)। इस दोनों श्लोकों में नवीन उपदेश कुछ नहीं है; केवल पूर्वोपदिष्ट बुद्धियोग का महत्त्व इनमें भलीभांति समझाया गया है।

बुद्धि योगसे परम पदकी प्राप्ति होती है इसलिये बुद्धियोगपूर्वक कर्माचरण ही मोक्षमार्ग है, ऐसा ५१ वें श्लोक में बतलाकर उपदेशका समारोप किया है। वस्तुतः यह प्रकरण ३९ वें श्लोकसे शुरू होकर यहां समाप्त होता है; परन्तु अपने व्यक्तिधर्मके अभिमानसे स्वजनमरण के शोकसे और तज्जन्य मोहसे बुद्धि बावरी होगई थी इससे उसके मनमें संन्यासवृत्ति उछल पडी, और मोक्षमार्गमें कर्मका क्या उपयोग है यह उसके समझ में न आया; किंतु कर्म मोक्षमार्गको बाधक है इससे उसने कर्मसंन्यास करनेका निश्चय किया था। अर्जुन को यह असमंजसता बुद्धिक्षोभके ही कारण से हुई थी। कर्म और उससे मिलनेवाला वैषयिक फल इन्हींमें वह गोते खा रहा था। इनमें से बाहर निकलने के लिये बुद्धियोग ही का विचार करना आवश्यक था। तुम्हारी बुद्धिकी स्थिरता नष्ट हुई है, तुम अपनी बुद्धि स्थिर करोगे तभी तुम्हारा योगनिष्ठामें-कर्मयोग में-प्रवेश होना संभवनीय है। इसलिये तुम अपनी बुद्धि स्थिर करके यह बुद्धियोग संपादन करो। ऐसा श्लोक ५२ व ५३ में कहकर भगवान्ने यह मुख्य उपदेशप्रकरण समाप्त किया है। अर्जुन के प्रश्न करनेपर (श्लोक ५४) स्थितप्रज्ञका वर्णन शुरू हुवा और वह अध्यायकी समाप्तितक जारी रहा। इस अठारह श्लोकके प्रकरणमें जिसका बुद्धियोग पूर्ण हुवा है ऐसे स्थित प्रज्ञके -जीवन्मुक्त के लक्षण बतलाए हैं। उनमें वासनात्याग, संतोष, बुद्धिकी समता, इंद्रियनिग्रह, ईश्वरोपासना, मनःप्रसाद इत्यादि सद्गुण आए हैं। इन सब सद्गुणोंसे युक्त होनेसे जो जीवन्मुक्तावस्था प्रकट होती है उसीको ब्राह्मी स्थिति कहा है। ब्रह्मसाक्षात्कारसंपन्न स्थितप्रज्ञपुरुषमें यह ब्राह्मी स्थिति प्रगट होती है। उसे प्राप्त करना मानवी जीवितका ध्येय है और उसका प्रत्यक्ष साधन बुद्धियोग है। अखीर के प्रकरणमें यह समझा दिया गया है कि बुद्धियोगकी परिपूर्णता क्या चीज है।

चौथा प्रकरण।

कर्मयोग।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

दूसरे अध्याय में योगनिष्ठा के तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन हुवा है। कोई शास्त्रीय सिद्धान्त हो, उसके दो स्वरूप बतलाने पडते हैं; एक तात्त्विक और दूसरा व्यावहारिक। ऐसा किये विना उस सिद्धान्तकी पूर्तता नहीं होती। बुद्धियोग का तात्त्विक विचार करनेपर उसका व्यावहारिक दृष्ट्या विचार करना क्रमप्राप्त है। इस विचारके लिये अर्जुन का प्रश्न उत्थापक हुवा है। मोक्षका प्रत्यक्ष साधन बुद्धियोग ही है; उसके संपादन किये विना मुमुक्षुको गत्यंतर नहीं ऐसा सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा बुद्धियोग संपादन करके अर्थात् योगस्थ होकर कर्माचरण करना चाहिये ऐसा उपदेश करनेका कारण क्या है? ऐसा प्रश्न सहजही उत्पन्न होता है और वही अर्जुनने किया है। योगयुक्त बुद्धिसेही यदि मोक्षप्राप्ति का काम होता है तो उस के गलेमें यह कर्मका पाश काहेको चाहिये? बुद्धि की अपेक्षा कर्म अत्यंत कनिष्ठ है। ऐसे कनिष्ठ दर्जेवाले कर्मका विचार करनेकी क्या जरूरत है? अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य यह है।

कर्म छोडना अथवा अख्त्यारना यदि मनुष्यकी मर्जीपर निर्भर होता तो इस कनिष्ठ दर्जेवाले कर्मके विषयमें यह अर्जुनका प्रश्न योग्य समझा जाता। परंतु यह बात (कर्म छोडना अथवा करना)मनुष्य के स्वाधीन नहीं है। स्थूल सूक्ष्म इत्यादि सब सृष्ट पदार्थ मूळ प्रकृति व उसके गुणोंसे बने हुए हैं। मनुष्यके इंद्रिय, मन व बुद्धिकी बनावट भी इन्हीं कारणोंसे हुई है। कर्म प्रकृतिका स्वभावसिद्ध धर्म है। इसलिये इंद्रियों का, मनका और बुद्धिका अस्तित्व जबतक है, तबतक उनके स्वभावानुसार कर्म होना अपरिहार्य है। इस कर्मको विशिष्ट आकार देने अथवा न देनेका सामर्थ्य केवल बुद्धिमें रहता है। कर्मको स्थगित करना अथवा चालू करना बुद्धिकी शक्ति के बाहर है;क्यों कि यह उन्हीं प्रकृति गुणोंका अथवा सृष्टिचक्रका सहज परिणाम है जिनसे इंद्रिय, मन व बुद्धिका उगम हुवा है। जहाज समुद्रमें स्थित होनेपर उसे स्थिर रखना नाविक के हाथकी बात नहीं हैं। समुद्रकी गतिसेही जहाज की गति अथवा चलन उत्पन्न होता है। उस गति को योग्य दिशा देना नाविक के स्वाधीन जरूर है। इसी प्रकार सृष्टिचक्रसे इंद्रियादिकोंमें जो कर्म उत्पन्न होता है उसे बंद करना बुद्धिके स्वाधीन नहीं है। सिर्फ उसे विशिष्ट प्रकारसे झुकाना बुद्धि के हाथमें है। कर्मका मोक्षमार्ग के विरुद्ध अथवा अनुकूल होना उसको जैसा झुकाव दिया जायगा उसपर अवलंबित है। इसलिये योग्य प्रकारका कर्म मोक्षका साधक होता है और अयोग्य कर्म बाधक होता है। ऐसा है तो कर्म का निर्मूलन करना क्या बुरा है?इसका उत्तर यही है कि कर्मको बंद करना असंभाव्य है। वस्तुतः कर्मका अभाव मोक्षके लिये आवश्यक नहीं है। कर्म कोईभी छोड नहीं सकता, इसलिये उसका योग्य उपयोग करनाही सच्ची बुद्धि का लक्षण है।

कर्म छोडना जब अशक्य है, तब उसे छोडने का प्रयत्न करना मूर्खता का लक्षण है। मानवी जीवनक्रम में परमेश्वरने मनुष्यकी बुद्धिको ही सर्वथा प्राधान्य दिया है। इस बुद्धिके आधीन मन है, मनके आधीन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं; ऐसी सृष्टिकर्ता की योजना है। इस योजनाके अनुसार जीवनक्रम चलनेसे वह अवश्यमेव मोक्षपर्यवसायी होगा। यह योजना योग्य रीतिसे चलाने के लिये मनुष्यकी बुद्धि पूर्णतया समर्थ होनी चाहिये। ऐसी सामर्थ्यसंपन्न बुद्धिके आधीन रहनेवाले इन्द्रियादिकों द्वारा जो कर्म होगा, वही विधाताकी योजना के अनुसार रहेगा, इसलिये उसीको नियत कर्म कहते हैं। कर्मको योग्य आकार देना ही उसीको नियत करना है। कर्मको नियत अथवा अनियत करना मनुष्यके स्वाधीन है। कर्मको नियत करनेका सामर्थ्य बुद्धिहीमें रहनेसे उसकी पूरी जिम्मेदारी बुद्धिपरही रहती है।

वासना बुद्धिका विशिष्ट स्वरूप है। इनमें अच्छा और बुरा दोनों प्रकार हो सकते हैं। बुरी वासनाओंके द्वारा बुद्धि दुर्बल होती है और अच्छी वासनाओंके द्वारा बुद्धि सामर्थ्यसंपन्न होती है। इन शुभ वासनाओंमें ईश्वरोपासनाकी वासना अत्यंत श्रेष्ठ है। इसलिये ईश्वरोपासनाकी वासनाका जतन करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है।(सूचना- हेतु, इच्छा और वासना ये शब्द अन्वर्थक समझना चाहिये।) ईश्वरोपासनाका हेतु अंतःकरणमें दृढतर रखकर मनुष्यको कर्म करना चाहिये। इसलिये इसी हेतुको रखकर जो कर्म होगा वही यज्ञार्थ कर्म है ऐसा गीताने कहा है। ईश्वरोपासना के हेतुसे मनुष्यकी बुद्धिका सामर्थ्य वृद्धिंगत होता है और ऐसी समर्थ बुद्धिसे किया हुवा कर्मही नियत होता है। इससे यह पाया जाता है कि नियत कर्म और यज्ञार्थकर्म में तात्त्विक भेद नहीं है। यज्ञार्थ कर्म भी निष्काम बुद्धिसेही करना चाहिये। क्यों कि ईश्वरोपासना सकाम बुद्धिसेभी किये जानेका संभव रहता है। इसलिये ईश्वरोपासनाके हेतुको ऐसे कामनिक वासनाओंका संपर्क लगने देना नहीं चाहिये।

वैदिक धर्ममें मूलतः ऐसी व्यवस्था की गई है कि मनुष्यका सामाजिक तथा वैयक्तिक कर्म ईश्वरोपासना के हेतुसेही चलता जाय। वैयक्तिक कर्मोंमें दो व्यावहारिक बातें मुख्य हैं- (१) सुखकारक

जीवन (२) संततिवर्धन। ये भी ईश्वरोपासनाकी मर्यादा छोडकर न की जावें। मनुष्यके वैयक्तिक अथवा कौटुंबिक व्यवहार को ईश्वरोपासनाकी मर्यादा जरूर रहनी चाहिये। अर्थात् इन व्यवहारोंमें भी ईश्वरोपासना के हेतु को ही प्राधान्य दिया जाय ऐसा धर्मसंस्थापक ईश्वरका उद्देश है। इस वैयक्तिक धर्मको धर्मशास्त्रकारोंने "आश्रमधर्म" नाम दिया है, और मनुष्य के सामाजिक धर्मको "वर्णधर्म" संज्ञा दी है। वर्णधर्म में ईश्वरोपासना के हेतुको सर्वस्वी प्राधान्य देना चाहिये, मनुष्य अपने सामाजिक व्यवहार यदि ईश्वरोपासनाके हेतुसे और योगयुक्त बुद्धिसे करे तो वह वर्णधर्मही उसे मोक्षदायक होता है। समाज में श्रेष्ठ कनिष्ठ भाव अपरिहार्य है तथापि यदि वह इस उपासना के तत्त्वपर चले तो उससे अनर्थ उत्पन्न नहीं होंगे, किंतु समाज के लिये वह कल्याणकारक होता है और व्यक्तिके लिये मोक्षदायक होता है। यहां "देव" शब्द श्रेष्ठ अथवा पूज्यके अर्थसेही आया है (अ० ३ श्लोक ११) श्रेष्ठोंने कनिष्ठोंसे और कनिष्ठोंने श्रेष्ठोंसे व्यवहार करते समय यह उपासना का तत्त्व ध्यानमें रखना चाहिये। राजा प्रजाको और धनिक कारखानदार मजदूरों को जो सहाय्य करता है वह इस उपासना की बुद्धिसे किया जाय तभी वह व्यवहार मोक्षोपयोगी होता है। क्यों कि मनुष्योंका जीवनक्रम चलने में सब देवता उपयोगी हैं; इसी तरह जगत् के प्राणि और अपना समाज इनकी भी आवश्यकता मानवी जीवनक्रम में बहुत है। इसलिये वैदिक धर्म सिखाता है कि मनुष्यको कृतज्ञतापूर्वक उपासनाबुद्धिसेही अपने सामाजिक कर्म करना चाहिये।

एकमेकां साह्य करूं। अवघे धरूं सुपंथ॥

हम एक दूसरेकी सहायता करें और सब मिलकर सन्मार्गका अवलम्बन करें। यह तुकाराम महाराज के उद्गार गीताके इस वचन के अनुरोधसे हैं, "परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ।" इसमें संदेह नहीं। जगत् अथवा समाजके विषयमें बिलकुल फिकर न करना और केवल स्वार्थ के आधीन होकर विषयों का उपभोग करना निरा पापाचरण है। ऐसे लोगोंको अघाशी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको अपना सामाजिक कर्म उपासना के तत्त्वपरही चलना चाहिये।

यज्ञचक्र और कर्मका मोक्षदायित्व।

मनुष्य के जीवनके लिये प्रत्यक्ष उपयोगी साधनसामग्री अन्न है। प्राणीमात्र अन्नपरही अवलंबित है। अन्न पर्जन्यसे पैदा होता है। पर्जन्यका साधन केवल यज्ञ-ईश्वरोपासना है। यज्ञ की निष्पत्ति कर्म ही से होती है। कर्मकी मूल उत्पत्ति सगुण ब्रह्मसे होती है और यह सगुण ब्रह्म अविकारी अक्षर तत्त्वसे प्रगट होता है। सगुण ब्रह्मही सब सृष्टिका मूल कारण है इससे वह सर्वव्यापी सिद्ध होता है। यही सगुण ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर यज्ञमें उपास्य के नाते से प्रतिष्ठित रहता है। "यज्ञाद्भवति पर्जन्यः" इस वाक्यके विषयमें बहुतसे लोगोंका मन साशंक होता है। पर्जन्य और यज्ञ में कार्यकारणभाव कैसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर अनेक सज्जनोंने अनेक प्रकारसे देनेका प्रयत्न किया है। बुद्धिवादकी दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा कह सकेंगे कि पर्जन्यसरीखी जो बातें प्रयत्नसाध्य नहीं हैं उनकी प्राप्ति के लिये सिवाय ईश्वरोपासना के दूसरा मार्ग नहीं है। यह कहने की जरूरत नहीं कि प्राणी के जीवन के लिये पर्जन्य कितना आवश्यक है। पर्जन्य जीवनका मुख्य आधार है सही, परंतु वह मानवी प्रयत्न की कक्षामें आ नहीं सकता। सृष्टिकर्ताका यह एक चमत्कार ही समझना चाहिये। जिस चीजके बाबत मनुष्यके ऐहिक प्रयत्न नहीं चलते उसके लिये ईश्वरोपासना का सहारा लेना मानवी स्वभावको योग्य ही है। ऐसे प्रसंगपर जगच्चक्र चलानेवाले जगन्नियंता की प्रार्थना एकमात्र साधन है। इसी दृष्टिसे 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इस वाक्य की संगति लग सकती है। इस प्रकार यज्ञका संबंध जगत्, समाज और व्यक्ति इन तीनों से आता है। अन्न और पर्जन्य, व्यक्ति और समाज से समानतः व्यापक हैं और उनका कार्यकारणभाव यज्ञसे जमता है। इस लिये

वह एक प्रकारसे चक्र होता है। वह ऐसा कि यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न (संपत्ति), अन्नके योगसे फिरसे यज्ञ; ऐसा यह चक्र सृष्टिकर्ताने जारी किया है। उसे चलाना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। ऐसा न करनेसे मनुष्य पाप का भागी जरूर होगा।

श्लोक १७ व १८ में जीवन्मुक्त का वर्णन आया है। इनमेंसे १७ वां श्लोक मुख्य है और १८वें श्लोक में उसीका विशेष स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् इन दो श्लोकों का विषय तत्वतः एकही है। ग्रंथ का विवरण करने की दृष्टिसे यह विषय नये पुराने सब टीकाकारोंको कुछ कठीन मालूम होता है। इस लिये आगे पीछेवाले श्लोकोंसे उसका संबंध जोडना आवश्यक है। संन्यासमार्ग की दृष्टिसे इस विषय-का संबंध १९ वे श्लोकसे जोडनेमें अडचन मालूम होने लगती है। और पिछले १६वें श्लोकसे संबंध जोडने में कर्मयोग को अडचन पडती है। सोलहवें श्लोकमें कहा है कि यज्ञचक्र का अनुवर्तन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। ऐसा न करे तो वह पापभागी होता है। १७ वें श्लोकमें कहा है कि ज्ञानी मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं बचता। इसलिये श्लोक १६ व १७ का मेल नहीं जम सकता क्यों कि १६ वे श्लोक का नियम अत्यंत व्यापक दीखता है। उसमेंसे ज्ञानी मनुष्य को वर्ज करना हो तो उस नियम की भाषा अधिक संकुचित होनी चाहिये थी। वैसी संकुचित भाषा न होनेसे कर्म-योगदृष्ट्या इन दोनों में संबंध जोडना बहुत मुस्किल हो गया है। यदि ये दो श्लोक संन्यासमार्ग के नि· दर्शक समझे जांय तो १९ वें श्लोक में "तस्माद-सक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" इस उपदेशवाक्य से इन दो श्लोकोंका संबंध जोडना दुरापास्त है। कई विद्वानोंका मत है कि महाभारत के कूट श्लोकों के समान ये दो भी कूट श्लोक हैं। परंतु उनका यह मत ठीक नहीं है। कूट श्लोक की कल्पना करने में हम अप्रत्यक्ष रीतिसे यह कबूल करते हैं कि हम योग्य रीतिसे शास्त्रार्थ की संगति नहीं लगा सकते। शास्त्रार्थ के विषयमें ऐसा आडपडदा रखना ठीक नहीं। इस लिये कूट श्लोक की यह कल्पना छोडकर इन श्लोकोंकी संगतिके विषयमें हम निम्नलिखित उपपत्ति देते हैं। अन्य ग्रंथकारों की उपपत्ति से इसका मुकाबला करके इसका योग्यायोग्य निर्णय अभ्यासक करें।

रति, तृप्ति और संतोष मनके धर्म हैं। मनुष्य-प्राणियों के जीवनको इनकी अत्यंत आवश्यकता है। अज्ञानी मनुष्य के रति आदि मनोधर्म अधिकांश में विषयोपभोगों ही पर अवलंबित हैं। परंतु ज्ञानी मनुष्य की बात निराली है। ज्ञानी मनुष्यके रत्यादि धर्म आत्मा अथवा आत्मज्ञान पर अवलंबित रहते हैं। ज्ञान की पूर्णताका यह एक लक्षण है। इस लक्षण का गर्भित अर्थ है विषयवासनाओंका पूर्ण निरास। ऐसे वासनाशून्य ज्ञानवान् मनुष्य को अब मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं रहती। इस जीवन्मुक्त मनुष्य को स्वतः के लिये किसी भी ऐहिक अथवा पारमार्थिक कर्मोंकी गरज नहीं रहती। ऐसा ज्ञानी मनुष्य यज्ञचक्र को यदि नहीं चलाता, तो क्या वह १६ वें श्लोक के अनुसार पापका भागी है? १७ वें श्लोकमें इसका उत्तर दिया है- नहीं। क्योंकि पुण्य, पाप अथवा विधिनिषेध ऐसी बातें ज्ञानी मनुष्यको ब्राह्मी स्थिति तक पहुंचही नहीं सकतीं। यज्ञचक्रका चलाना उसके स्वतःके लिये तभीतक आवश्यक है जबतक कि उसे ऐहिक अथवा पारमार्थिक किंबहुना मोक्षकी इच्छा रहती है। परंतु जिसके लिये यज्ञ-चक्र चलाना हो ऐसी कोई आकांक्षा बाकी न रही, तब यह कहना अयोग्य है कि उसे यज्ञचक्र चलाना ही चाहिये। ऐसी शुद्ध मुक्तावस्था अर्थात् ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेका एकमात्र साधन यज्ञचक्र है। साध्य पूर्णतया प्राप्त होनेका मुख्य लक्षण यह है कि साधनकी आवश्यकता समूल नष्ट हो जावे। यही बात १७ वें श्लोक में कही है। और वही स्पष्ट रीति से बतलाने के लिये "तस्य कार्यं न विद्यते" यह वाक्य आया है। जीवन्मुक्त को कर्म करना न चाहिये, अथवा जिस ज्ञानी पुरुषको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हुई हो उसके हाथ के कोई कर्म न होगा, अथवा यह कर्म करेगाही नहीं, इत्यादि कल्पनाओं का इस वाक्यसे कोई संबंध नहीं आ सकता। १७

वें श्लोकका उद्देश केवल पूर्णसाध्यप्राप्ति दर्शाना है। और यह बात प्रत्येक मनुष्यको ध्यान में रखनी चाहिये। यह शुद्ध मुक्तावस्था निष्काम बुद्धिसे यज्ञचक्र चलाकर अर्थात् कर्तव्याचरण करकेही साध्य करनी है। यह विषय अध्याय ३ श्लोक ११ में स्पष्ट बतलाया है। उसीका विशेष स्पष्टीकरण आगेके श्लोकोंमें करनेपर १७ वें व १८ वें श्लोक में साध्य की प्राप्ति का वर्णन किया है। इसलिये १९वें श्लोक के पूर्वार्ध में कहा है कि इस निष्कामकर्माचरणसेही यह साध्य तुम प्राप्त करो और यही निष्कामकर्माचरण १७ वें श्लोकमें वर्णन किये हुए परमप्राप्तिका साधन है, ऐसा सामान्य नियम के रूपसे बतलाया है। इस प्रकार श्लोक १६ से १९ तक आए हुए श्लोकोंकी संगति बराबर लग सकती है। साधनोंकी अनवश्यकता साध्यप्राप्ति की पूर्णता का लक्षण है यही तात्पर्य- " तस्य कार्यं न विद्यते" इस वाक्यसे सूचित किया गया है। वह अच्छी तरह ध्यानमें रखनेसे उपर्युक्त उपपत्ति आनेमें कोई अडचन न होगी। इस प्रकार इस अध्याय के तीसरे श्लोकसे प्रारंभित इस प्रकरण के पृथक् पृथक् विषयोंका विवेचन करके कर्मयोगका सिद्धान्त प्रस्थापित किया है। इस अठारह श्लोकोंके प्रकरण में जो विवेचन किया गया है उसमें मुख्य बातें ये हैं—

(१) मोक्षके लिये कर्म प्रतिबंधक नहीं है, इसलिये उसका अभाव मोक्षको आवश्यक नहीं है।

(२) कर्मका त्याग करना अशक्य बात है; क्यों कि आत्मतत्त्वको छोडकर बाकी सब पदार्थोंका वह स्वभाव ही है।

(३) इंद्रिय, मन व बुद्धि ये बातें एकसे एक वरिष्ठ हैं और बुद्धिही कर्मकी नियामक है।

(४) बुद्धि में नियामक सामर्थ्य आनेके लिये उपासना की आवश्यकता है।

(५) मनुष्य के सामाजिक और वैयक्तिक कर्म के लिये अर्थात् वर्णाश्रमधर्म के लिये ईश्वरोपासना एकमात्र अधिष्ठान है। निष्काम ईश्वरोपासनाकी बुद्धिसे वर्णधर्मका (सामाजिक कर्तव्योंका) आचरण करना यही मोक्षमार्ग है।

(६) मानवी जीवित का अंतिम साध्य मोक्ष है। यह स्थिति पूर्णतया प्राप्त होनेपर साधन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यही साध्यप्राप्तिकी पूर्तता है।

(७) इसलिये ईश्वरोपासनाबुद्धिपूर्वक निष्काम-कर्तव्याचरण ही मोक्षका मार्ग है।

इस प्रकार १९ वें श्लोकतक प्रस्थापित किये हुए सिद्धान्त को २९ वें श्लोकमें जनकादिकों का इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण देकर यह प्रकरण समाप्त किया है।

पांचवां प्रकरण।

लोक-संग्रह।

(अध्याय ३ श्लोक २० से २९ तक)

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'।

यद्यपि यह बात सच है कि मोक्षकी आकांक्षा भी पूर्ण होनेपर साधनरूप कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तस्थिति को पहुंचे हुए मनुष्यके हाथसे कर्म होना असंभाव्य है। जीवन्मुक्त यदि कर्म करे तो उसका लोककल्याण के लिये अतिशय उपयोग होता है; और लोकसंग्रह की ओर पूर्ण ध्यान देने को ज्ञानी पुरुषही योग्य है। इससे यह निष्कर्ष होता है कि ज्ञानी मनुष्यको स्वतः के लिये न हो तथापि लोकसंग्रह के लिये कर्म करना इष्ट है। मनुष्यका स्वभाव है कि श्रेष्ठ मनुष्य जैसा बर्ताव करे वैसा अपन भी करेगा। गीताका उपदेश है कि इस मनुष्यस्वभावको ध्यानमें रखकर जीवन्मुक्त को ऐसा आचरण करना चाहिये जिससे समाज को अच्छी रीति लगे। लोकसंग्रह की पर्वा न करके ज्ञानी मनुष्य यदि अमर्याद आचरण करे तो यद्यपि उसका व्यक्तिशः कोई नुकसान न होगा तथापि उसके इस अमर्याद आचरणसे बहुजनसमाजकी भयंकर हानि होती है। इसलिये लोक-

संग्रहकी जबाबदारी सर्वथा ज्ञानी मनुष्यपर पडती है। इस विषय में श्रीकृष्णने स्वतःका उदाहरण दिया है। ज्ञानी मनुष्य लोकसंग्रह के लिये कर्म करता हो तथापि उसके मनमें कर्मके अथवा कर्म फल के विषयमें अणुमात्र आसक्ति नहीं रहती। कर्म करनेके बारेमें ज्ञानी और अज्ञानी समान दिखेंगे। परंतु उनके अंतःकरणोंमें जमीनआसमान का फरक रहता है। लोकसंग्रह करनेवाले ज्ञानवान् मनुष्यको अपने आचार विचारमें, वेषमें अथवा रहनसहन में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं दर्शाना चाहिये कि जिससे समाज की यह भावना हो कि यह कोई अलौकिक पुरुष है। किसी महापुरुष के बारेमें ऐसी अलौकिक कल्पना समाज में उत्पन्न हुई तो महा पुरुषोंका अनुकरण करने की समाज की बुद्धि नष्ट हो जाती है। यही बुद्धिभेद है। अलौकिक दिखनेवाले इस पुरुषकी मूर्ति अथवा तसबीर को लोग पूजा भी करेंगे;परंतु उसके बर्ताव का अनुकरण न करेंगे। उसके नामका जयजयकार करेंगे परंतु उसके उपदेशानुसार बर्ताव न करेंगे। लोगोंमें उसकी ओर परमावधिकी पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है परंतु उसके चारित्र्य का अनुकरण करनेकी बुद्धि लुप्त हो जाति है। क्या कि लोगों की यह धारणा रहती है कि अमुक महा पुरुष अलौकिक अथवा अवतारी है, उसका अनुकरण हमसे न हो सकेगा। हमको केवल भक्तिभावसे उसका भजन-पूजन करना चाहिये। इसी धारणा में लोकसंग्रह की इतिश्री होती है। भगवान् ने यह धोखेकी सूचना दे रखी है कि ज्ञानी मनुष्य को ऐसे बुद्धिभेद के बारेमें बहुत सावधान रहना चाहिये। यह भूल दूर करनेपर ज्ञानी मनुष्यको लोकसंग्रह के विषयमें हिचकिचाने का कोई प्रयोजन नहीं है, क्यों कि गुणकर्मोंका तत्त्व भलीभांति उसका जाना हुवा रहता है इसलिये कर्म करके भी वह अलिप्तही रहता है। अज्ञानी मनुष्य कर्मों में आसक्त जरूर होता है। ज्योंही उसकी आसक्ति छूटने लगती है त्योंही वह कर्मोंका भी त्याग करने लगता है। ऐसा होने न पावे और निष्काम कर्तव्याचरणकी योग्यता क्रमक्रमसे सामान्य मनुष्य की समझमें आवे ऐसे ढंग से ही ज्ञानवान् पुरुषको कर्म करना चाहिये; इससे समाजका अत्यंत कल्याण होगा। समाज को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना ही लोकसंग्रहका तत्त्व है। इस लोकसंग्रह की आवश्यकता और उसका सोपपत्तिक विवेचन जैसा गीताशास्त्र ने किया है वैसा दूसरी जगह क्वचितही देखने मिलेगा।

२९ वें श्लोकतक लोकसंग्रह का विवेचन हुवा है और ३० वें श्लोक में कर्मयोग के समस्त विवेचन का समारोप किया है। श्लोक ३१ व ३२ में बतलाया है कि कर्मयोग के अनुकूल गुण कौनसे हैं और प्रतिकूल गुण कौनसे हैं। श्लोक ३३-३४ व ३५ में पूरे कर्मयोग का संक्षेपमें अनुवाद किया है। मनोविकारों के स्वाधीन न होकर शुद्ध बुद्धिसे कर्म करना चाहिये। अपनी प्रकृतिसे मिलता जुलता हो ऐसा कोई भी सत्कर्म करनेके लिये गीताकी अनुज्ञा है, प्रकृतिसदृश वर्णधर्म ही स्वधर्म है। शुद्ध अंतःकरणसे इस स्वधर्मका आचरण करनेमें ही सच्चा कल्याण है। प्रसंगविशेषपर दूसरेका वर्णधर्म हमें अच्छा लगता हो तबभी वह प्रकृतिविसदृश और विकारजन्य होनेसे वह हमें श्रेयस्कर नहीं होगा;यह भूलना न चाहिये; ऐसा ३५ वें श्लोक में बतलाकर कर्मयोग का यह विवेचन श्रीकृष्णने समाप्त किया है। दूसरे अध्याय में कर्मयोग का तात्त्विक स्वरूप बतलाया है।(अ० २ श्लो० ३९ से ५३) उस तत्त्वके व्यावहारिक स्वरूपका विवेचन तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक तक किया गया है। यही योगनिष्ठा है। बुद्धियोग इस योगनिष्ठा का व्यावहारिक स्वरूप है। यह कर्मयोग का प्रतिपादन दो प्रकरणोंमें हुवा है और श्लोक ३१ से ३५ तक में आया हुवा विषय कर्मयोगका संग्रहित स्वरूप पूर्व के विवेचन में जोड दिया ऐसा समझना चाहिये।

उपसंहार।

भवद्भिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः।

गीतांतर्गत शास्त्रार्थ के मूल स्वरूपके दो विभाग तात्विक और व्यावहारिक- इस निबंधमें बतलाए हैं। इसके आगे गीतामें जो विषयविवेचन हुवा है वह बुद्धियोग के पांच अंशोंके अनुरोधसेही हुवा है। स्वतंत्रबुद्धिके अभ्यासक ये दो विभाग ध्यानमें रखकर यदि समग्र ग्रंथपर विचार करें तो अवश्यमेव उन्हें प्रतीत होगा कि गीता अत्यंत सुसंबद्ध, अतिशय सोपपत्तिक और अनुभवसिद्ध ऐसा उत्कृष्ट शास्त्र है। स्वतंत्र बुद्धिके अभ्यासकों को प्रस्तुत लेख कहांतक उपयोगी होगा यह देखने के लिये फिलहाल यहां ठहरना अच्छा होगा। इस प्रयत्न को यदि अभ्यासक उपयुक्त समझेंगे तो गीताके उर्वरित भागपर ऐसेही तुलनात्मक निबंध लिखने का संकल्प करके और माघ कविके (ऊपर दिये हुए) शब्दोंमें वाचकोंकी प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करते हैं।

---

१ भगवद्गीता और जागतिक धर्म।

(लेखक—श्री० पंडित रघुनाथशास्त्री कोकजे, काव्यतीर्थ, लोणावला।)

इस बीसवीं शताब्दिमें जो अनेक नूतन आकांक्षाएं उत्पन्न हुई हैं, उनमेंसे एक आकांक्षा 'एक धर्म' है। शासनैक्य, भाषैक्य इसी तरह धर्मैक्य अस्तित्व में आजाय ऐसी लोगोंकी इच्छा है। संपूर्ण जगत् का एक धर्म कैसे हो इसपर अनेक प्रकारसे विचार चल रहा है। इतनाही नहीं किंतु कोई कोई सज्जन इस विचार को मूर्तस्वरूप देने का प्रयत्न करने लगे हैं। विचारतरंगोंपर डुलनेवाला विषय यदि मूर्तिस्वरूप धारण करके आचार में आजाय तो किसको हर्ष न होगा? जागतिक धर्म की स्थापना होनेसे किसीको भी होगा तब आनंद ही होगा; परंतु इस हर्षातिरेक में एक बात का विस्मरण न होवे। जिस धर्मका "जागतिक धर्म" के नामसे जयजयकार होनेवाला है; वह सचमुच में इस संज्ञा के पात्र है या नहीं, इतना अवश्य और बडी होशियारी से देखना चाहिये। अन्यथा वैसा ही होगा जैसा तुकाराम महाराजने भगवान् के विषय में कहा है (यहां थोडासा फरक किया गया है)

> विश्वधर्म हें नांव ऐकुनी आलों शेजारा।
> विश्वधर्म परि नाहिंस म्हणुनी जातों माघारा॥

(अर्थ- तुम्हारा 'विश्वधर्म' नाम सुनकर मैं तुम्हारे पास आया; परंतु तुम विश्वधर्म नहीं हो इसलिये मैं वापिस जाता हूं।) इस तरह निराश होकर वापिस जानेकी नौबत आवेगी। इससे बचना हो तो पहिलेसे उसकी परीक्षा होना वाजिब है। इसीलिये हमें देखना चाहिये कि जिस धर्मपर "विश्वधर्म" अथवा "जागतिक धर्मकी" छाप मारने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी सच्ची कीमत क्या है।

प्रत्येक धर्मके अच्छे तत्वोंको लेकर, उनका एक गट्ठा बांधकर उसपर "जागतिक धर्म' की छाप लगाने में कोई कोई लोग मग्न हो गए हैं। परंतु न मालूम उनके ध्यानमें यह बात कैसे नहीं आती कि

ऐसा करनेमें हम जगत्‌की धर्मसंख्या केवल बढा रहे हैं ! जिस मनुष्यकी सिवाय ईसामसीह के अन्य किसीपर श्रद्धा नहीं अथवा सिवाय बाइबल के जिसको कोई धर्मग्रंथ प्रमाणभूत नहीं, उसके आगे अनेक धर्मोंमेंसे चुनी हुई मेवामिठाई की थाली रखनेसे इतनाही होगा कि वह उसमें उतनाही हिस्सा उठा लेगा जितना ईसामसीह को संमत है। बाकी चीजोंके तरफ वह ढूंककर भी न देखेगा। इसी तरह अन्य धर्मोंके श्रद्धावानों की होगी ! ऐसी हालत में सर्वसंग्रह की खटपट से क्या फायदा निकलेगा ? इसीतरह किसी वचनपर श्रद्धा आनेके लिये उस वचन के प्रणेतापर श्रद्धा होना आवश्यक है; क्यों कि वक्तापर यदि श्रद्धा न हो तो उसके वचन निरर्थक हैं। इसलिये इस ' खिचडीधर्मग्रंथ ' पर लोग श्रद्धा रखें ऐसी इच्छा हो तो जिन जिनके वचनोंका उसमें समावेश किया गया है ऐसे-मनु, मुहंमद, झरथुष्ट्र इत्यादि-सब महात्माओंपर उनकी श्रद्धा होना आवश्यक है। परंतु क्या इतनी व्यक्तियों-पर एक व्यक्तिकी श्रद्धा होना शक्य है। ? हम नहीं समझते कि ऐसी बात कभी भी हो सकेगी। इस कारण तथा दूसरी कई अडचनों के कारण इस प्रकार जागतिक धर्म निर्माण करनेकी आशा रखना मानो मृगजलके पीछे दौडना है।

ख्रिस्तीधर्म और बौद्धधर्म।

सांप्रत काल में बहुतसे मिशनरी अपने धर्म की तारीफ करके ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि "सकल जगत् का उद्धार करने में यही धर्म समर्थ होनेसे वह मान इसीको मिलना चाहिये; " और अखिल-जनोंको उपदेश करते हैं कि 'तमेव शरणं गच्छ सर्व-भावेन।" कोई कोई विद्वानों के मतसे यह सब पूजा पुरस्कार बौद्ध धर्मके मस्तकपर रखना उचित होगा। कोई कोई कण्ठरवसे ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि मुहंमद का चांद ही अवनीतलवर्ति-परिताप-नाशक है। परंतु ये धर्म भी इस मान्यता के पात्र नहीं मालूम होते। ख्रिस्तीधर्म, बौद्धधर्म इ० में से एक एक धर्म लिया जाय तोभी ऊपर बतलाये हुए दोषोंमें से कुछ दोष जरूर रहेंगे। "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" ऐसी मनुष्य के मनकी रचना होनेसे यह नहीं हो सकता कि ईसामसीह अथवा बुद्ध का बतलाया हुवा मार्ग सभी को रुचेगा अथवा पचेगा। ईसामसीह कितनेभी श्रेष्ठ महात्मा क्यों न हों, उनकी यह शिक्षा कि " एक गाल में थप्पड लगनेपर दूस-रा गाल आगे करो " किसी रजोगुणी प्रवृत्तिवाले मनुष्य के (जिसकी यह धारणा है कि विना युद्ध के स्वातन्त्र्य नहीं मिल सकता) कैसे पसंद होगी ? प्रायः ऐसे धर्मकी अपूर्णता बतलाने के ही हेतुसे अर्जुन को भगवान् ने जताया है "प्रकृतिस्त्वां नियो-क्ष्यति, " ईसामसीहकी उपरिनिर्दिष्ट आज्ञा में इस बातपर ध्यान नहीं दिया गया। इसमें संदेह नहीं कि एक प्रकारकी विशिष्ट मनोवृत्तिवाले लोगोंको यह आज्ञा रुचेगी और पचेगी भी। परंतु इतना खूब ध्यानमें रखना चाहिये कि कतिपय धर्मोंका समावे-श करनेवाला धर्म सब धर्मोंका समावेश नहीं कर-ता इस लिये वह जागतिक धर्म होनेके पात्र नहीं है।

इस विवेचन से इतना समझमे आगया होगा कि कोई भी विद्यमान धर्म अथवा सर्व धर्मों की खिचडी जागतिक होनेके पात्र नहीं है। अब यहां स्वभाविक ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा कि " सच्चा जागतिक धर्म कौनसा है ? " इस प्रश्नका उत्तर दिये विना इस विवेचन की पूर्ति हो नहीं सकती। " अन्योंकी कुचेष्टा करना जितना सहल है उतनाही सर्व दोष-विनिर्मुक्त ऐसा धर्म बतलाना कठिन है " ऐसा भी कोई लोग कहेंगे। इस लिये हम अपने मत के अनुसार जो धर्म 'जागतिक' संज्ञाके पात्र है उसको पाठकों के साम्हने उपस्थित करेंगे ही। परंतु उसके पहिले सच्चे जागतिक धर्म की पहिचान अच्छी-तरह होसके इस लिये प्रथम इस बातपर विचार करें कि जागतिक धर्म कैसा होना चाहिये। जाग-तिक धर्म ऐसा होना चाहिये कि वह जगत् के सब लोगोंके लागू हो सके। अर्थात् उसकी व्याप्ति इतनी संकुचित न हो कि वह विशिष्ट व्यक्ति अथवा विशिष्ट समाजको लागू पडे। ये दो सिद्धांत दिखने में सीधे दिखते हैं, परंतु धीरे धीरे

यह समझ में आवेगा कि उनका महत्त्व कितना है। ये दो सिद्धान्त ध्यानमें रखनेसे सच्चे जागतिक धर्मकी कल्पना आजायगी; क्यों कि ये सिद्धान्त मान्य करनेपर जो धर्म विशिष्ट परिस्थिति में उत्पन्न हुआ हो अथवा जिसका आचरण केवल विशिष्ट मनोवृत्ति के लोग कर सकते हैं वह जागतिक हो नहीं सकता। हमने जो ऊपर कहा है कि ईशुखिष्ट का अथवा बुद्धका धर्म जागतिक होने के पात्र नहीं, वह इसी कारण से कहा है। इसी प्रकार जो धर्म विशिष्ट व्यक्तिपर अथवा विशिष्ट ग्रंथपर प्रामाण्यबुद्धि रखनेका आग्रह करे वह भी जागतिक होनेके पात्र नहीं। इसीलिये "काफिरों को स्वर्गका दरवाजा खुला नहीं है जबतक कि वे मुसलमान न हो जांय" ऐसा प्रतिपादन करनेवाला मुहंमद का धर्म भी जागतिक नहीं हो सकता। अनेकविध मनोवृत्ति के अनन्त मानवों को एकही रस्से से बांधना केवल हास्यास्पद है, किंबहुना+ अशक्य है। एकही ग्रंथरूपी कपडे में (वह चाहे जितना बडा कपडा हो) अखिल जगत् की धर्म बुद्धिकी गठडी बांधना अशक्य है। जो धर्म किसी व्यक्तिका अथवा ग्रंथका आश्रय न करके प्रत्येक व्यक्तिके ऐहिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष का मार्ग बतलावेगा वही सच्चा जागतिक धर्म है।

धर्माचरण के दो प्रकार।

धर्माचरण दो प्रकारका होता है। मानसिक और शारीरिक। पहिले प्रकार में उपासना आदिका अंतर्भाव होता है; दूसरेमें भिन्न भिन्न विधि और संस्कारोंका अंतर्भाव होता है। पहिला प्रकार विशेषतया वैयक्तिक अथवा पारलौकिक हित साध्य करता है, दूसरा प्रकार सामाजिक अथवा ऐहिक उत्कर्षका होता है। पहिले को व्यक्तिश्रद्धा की आवश्यकता रहती है, दूसरेको समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानस शास्त्र इत्यादि शास्त्रों का आश्रय लेना पडता है। अस्तु। जागतिक धर्म के लक्षण और धर्माचरण के दो प्रकार देखलिये गए। अब यह देखा जाय कि इस द्विविध धर्माचरण के विषय में गीताके सिद्धांत क्या हैं। इन सिद्धान्तोंको देखनेसे (इनका विवेचन यदि सत्य हो तो)यह प्रतीत होगा कि गीतोक्त धर्महीं जागतिक धर्म है; क्यों कि इस द्विविध धर्माचरणके विषयमें गीताके सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक और मानवी प्रवृत्तिके अनुसार होनेसे हमारी समझ में गीतोक्त धर्ममंदिर में संपूर्ण जगत् का समावेश होने में कोई अडचन न पडेगी। गीतोक्त धर्म की यह व्यापकता सर्वमान्य हो इस गरज से इन दोनों अंग के विषयमें गीताका मत क्रमक्रमसे यहां बतलानेका विचार है।

गीता का उपासना-मार्ग।

उपर्युक्त प्रकारमेंसे 'पहिला धर्मांग उपासना। इस उपासनाको प्रतीककी आवश्यकता रहती है। अन्य धर्मोंका ऐसा कटाक्ष रहता है कि यह प्रतीक किसी विशिष्ट प्रकारकाही रहना चाहिये। अन्य धर्मोंका यह दंडक है कि अमुक प्रकारका ईश्वर और उसका अमुक प्रेषित; इनपर श्रद्धा न हो तो सद्गति न मिलेगी। परंतु ऐसी संकुचित वृत्तिको गीतामें स्थान नहीं है। किसी भी विभूतिकी उपासना करो! वह गीताको सर्वथा मान्य है। किंबहुना जिस व्यक्तिपर साधक की श्रद्धा हो उसीपर वह श्रद्धा दृढ करनेमें गीता को कोई प्रत्यवाय नहीं है।

> यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
> यस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
> गीता ७।२१॥

+ अन्य धर्मोंमें एक ईश्वर, एकही प्रेषित और एकही धर्मग्रंथ का आधार रहता है। परंतु वैदिक धर्म की यह बात नहीं है। इस धर्म में अनंत देवता, अनंत प्रेषित और अनंत ग्रंथ प्रमाणभूत माने जाते हैं, इसका सच्चा कारण इससे मालूम होगा।

ऐसा भगवान् स्वतः कहते हैं। मुसलमान यदि मूर्तिपूजा करे, विशेषतः यदि वह हिंदूके देवताओंको भजने लगे, तो वह तुरंत काफिर ठहराया जाता है। परंतु कोई हिंदू स्वधर्ममें अनिर्दिष्ट किसी देवता की अथवा व्यक्तिकी उपासना करे तो केवल इसी कारण से उसे बहिष्कृत समझने को गीता तैयार नहीं है। गीताका स्पष्ट कहना है कि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
गीता ९।२३॥

येशू, मुहंमद, बुद्ध इत्यादि किसी भी व्यक्तिकी उपासना तुम करो, मुझे वह मान्य है; ऐसा स्पष्ट रीतिसे गीता कहती है। प्रतीकोपासना के बाबत इतनी उदारता धारण करनेवाला दूसरा कौनसा धर्म है? गीताकी यह निराग्रही वृत्ति होनेका कारण गीतामेंही दिया है। गीता सर्वत्र परमात्माका अस्तित्व मानती है, इसलिये उसको ऐसा कोई स्थान नहीं दीखता, जहां परमेश्वर न हो। तब विभूति किसी देशकी अथवा किसी कालकी हो, उसमें वह परमेश्वर को देखेविना कैसी रहेगी? यह बात भी गीताने स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

गीताको किसी भी प्रतीक का तिरस्कार नहीं है। सब प्रतीक, सर्व विभूति गीतोक्तधर्ममंदिरमें राजी-खुशीसे रह सकते हैं। दूसरे कौनसे धर्ममें ऐसा औदार्य और गांभीर्य देखने मिलता है?

गीता और बाह्याचरण।

गीतोक्त धर्मके उपासनारूपी आंतर अंगको जैसे किसी विशिष्ट व्यक्तिका बंधन नहीं है, उसी प्रकार बाह्याचरणके लिये विशिष्ट ग्रंथका पारतंत्र्य नहीं है। धर्मग्रंथोक्त आचारोंका पालन करनेके लिये गीता भी उपदेश करती है, परंतु वह परिपालन करते समय केवल ग्रंथकाही विचार करनेसे काम न होगा। कर्म करनेके पहिले उसका परिणाम, स्वतःका सामर्थ्य, इत्यादि बातोंका विचार अवश्य करना चाहिये। इस प्रकारसे विचार न करके जो कर्म किया जाता है, उसको गीता तामस अतएव निंद्य कहती है।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ १८।२५

गीताको 'वचनात्प्रवृत्तिः' 'वचनान्निवृत्तिः' ऐसी प्रवृत्तिनिवृत्ति पसंद नहीं है। गीता का कहना है कि खुली आंखवाली श्रद्धासेही कर्म करो। इसीलिये वह धर्माधर्मका निर्णय करते समय ग्रंथवचनोंकी ओर ध्यान नहीं देती, किंतु अभ्युदय के तरफ पूरा ध्यान देती है। दुर्दैवसे इस गीताके विषयकी उपेक्षा की जा रही है। धर्ममार्तंडोंको ऐसी आदत पड गई है कि वचनप्रामाण्यरूपी वृक्षको मीमांसापद्धति से पानी देकर वृद्धिगत करके उसपर आरूढ होकर समन्वयपद्धतिका चश्मा लगाकर प्रत्येक ग्रंथको देखना; इसीलिये गीताका यह वैशिष्ट्य उनके गले नहीं उतरता। यह बात भिन्न है, तथापि इससे वस्तुस्थिति छिप नहीं सकती। बाह्याचरणरूपी धर्माधर्मका निर्णय कैसे करना, इस विषयमें गीताकी पद्धति बिलकुल निराली है और इसी कारण गीतोक्त धर्म जागतिक होनेके लिये पात्र है, ऐसा इस लेखकका मत है। परंतु यह बात अच्छी तरह समझने के लिये यह देखनेकी आवश्यकता है कि धर्माधर्मनिर्णय के विषयमें गीता शब्दप्रामाण्य को कहांतक आश्रय देती है। इसलिये इस बातका निर्णय यहां थोडेमें करेंगे।

गीता और शब्दप्रामाण्य।

शब्दप्रामाण्यकी तरफदारी करनवाले महाशय धर्मनिर्णय के प्रान्तमें शब्दों के अतिरिक्त किसीको प्रवेश करने नहीं देते। " धर्म अधर्म, पवित्र अपवित्र, हिंसा अहिंसा इन सब बातोंका निर्णय केवल धर्मपुस्तकोंको देखकर करना चाहिये। इन बातों का निर्णय करने में पवित्र ग्रंथही समर्थ हैं, इसलिये आक्षेपोंको जो उत्तर देना है, वह शब्दोंके आधार-पर स्थित होकर ही देना चाहिये; इसमें पुरुष-बुद्धिकी हिकमत नहीं चलेगी और न ऐसी हिकमत

चलाई जाय।" इस प्रकारके सिद्धान्तों को गलेसे लिपटकर आजकल सनातन धर्मका निर्णय किया जाता है। अगर यह मत सच है, विशेषतः गीताको भी यदि मान्य है, तो यह कहना पडेगा कि गीता भी जागतिक धर्म नहीं बतला सकती! क्यों कि ग्रंथ किसी भी कालमें लिखा गया हो; वह एक-कालीन और विशिष्ट सामाजिक परिस्थितिमें लिखा गया है, इस कारण उसका सार्वकालिक और सार्वदेशिक उपयोग होना अशक्य है; इतनाही नहीं, किंतु ऐसा उपयोग करना घातक भी है।

शब्दप्रामाण्य के दुष्परिणाम।

एक कालमें लिखे हुए शब्दका तत्त्व ध्यानमें न रखते हुए उस शब्दको सर्व कालमें लागू करने से क्या अनर्थ होते हैं, यह समझने के लिये "अहिंसा-धर्म" के विषय में सनातनधर्म और ईसाई धर्म में जो मतभेद फैला है, उसका दिग्दर्शन संक्षेपमें करते हैं। किसी समयमें अखिल मानवजाति मांसाहारी थी। उस समय नित्य व्यवहारमें जो अन्न प्रचलित था, उसीका उपयोग देवतोद्देश्यक यज्ञप्रसंगोंपर भी होना अपरिहार्य था। कुछ समयके बाद वह मांसाहारी व हिंसक प्रवृत्ति बहुत घट गई, और अब अपना पेट भरनेके लिये किसी प्राणीकी हिंसा करना पाप समझा जाने लगा है। ऐसी स्थितिमें यज्ञमें भी प्राणिवध गर्ह्य समझा जाता है और यह स्वाभाविक है। अनन्त वर्षोंतक मांसनिवृत्ति होनेके कारण और नैतिक कल्पनाओंकी अभिवृद्धिके कारण यज्ञका वध भी सदभिरुचिको ग्राह्य नहीं होता। इस सदभिरुचिको आश्रय देकर, और साथही यज्ञसंस्था को डुबा देना इष्ट नहीं यह ध्यान में रखकर, वैष्णवोंने पिष्टपशुकी प्रथा डाल दी। परंतु इसमें एक प्रकारकी गौणता है ऐसा देखकर सांप्रत एक नयी प्रथा निकाली गई है। परमपूज्य ब्रह्मश्री नारायणशास्त्री मराठे और सदाशिवशास्त्री भिडे महाशयकी सहायतासे वे० शा० संपन्न धुंडिराजशास्त्री दीक्षितने घृताहुति देकर यागपूर्ति करनेकी प्रथा शुरू कर दी है। कौन कहेगा कि यह उपक्रम स्तुत्य नहीं है? परंतु इंदौर में जो यज्ञ हुआ उसके बारेमें बडेबडे शिष्टोंने (?) बोंब मचा दी कि यह अधर्म हुआ! तथापि इसमें शिष्टोंको दोष क्यों देना? जहां यह निश्चित हुआ कि 'शब्द' को अक्षरशः प्रमाण मानना चाहिये, वहां ऐसा होनाही चाहिये। खिस्तानुयायिओंमेंसे रोमन कॅथॉलिकोंने भी एक समय ऐसाही दुराग्रह लिया था, उसकी यथार्थ कल्पना आनेके लिये एक खिश्चन धर्मगुरुके निबंधमेंसे यह भाग पाठकोंके सामहने रखते हैं—

During the agitation against the cruelties practised in Plumage trade a lady, who was working for the Plumage Bill, tried to enlist the sympatheis of Roman Catholies and failed completely. The answer which she received was "The lower animals were made for our use, we have no duties towards them." This is I am sorry to say, the common view among Roman Catholcs.

शब्दप्रामाण्यने रोमन कॅथॉलिकोंको कैसे अंधे बना दिया था, इसका उत्तर इस उद्धृतांशमें मिलेगा! "समस्त सृष्ट पदार्थोंमें मनुष्यप्राणि श्रेष्ठ है और उसके उपयोगके लिये और सुखके लिये अन्य सब पदार्थ ईश्वरने उत्पन्न किये हैं।" बाइबल के इस विधान के आधीन होनेहीसे उक्त धर्मगुरुने एक स्त्रीकी नम्र विनतिको इस तरह ठुकरा दिया है। इस बातपरसे रोमन कॅथॉलिकों को हंसनेका कोई कारण नहीं। अपने यहां भी यज्ञीय हिंसाका समर्थन करते समय अनेक श्रुतिवचन और "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" "तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः" ऐसे स्मृतिवचन प्रमाणमें दिये जाते हैं। बादरायणाचार्यने भी इसी शब्द के शरण में जाकर ऐसा निर्णय दिया है कि यज्ञीय हिंसा हिंसा नहीं है। (ब्र. सू. ३।१।२५।) तात्पर्य यह है कि ज्योंही तत्त्व की ओर लक्ष्य न देकर शब्द को प्रमाण मानना निश्चित हुआ, त्योंही यह दोष अनिवार्य हो जाता है! इसलिये सच्चे

जागतिक (सार्वदेशिक व सार्वकालिक) धर्मकी इमारत एकशब्दरूपी खंभेपर उठाना इष्ट नहीं है। निम्नलिखित विवेचनसे मालूम होगा कि गीतोक्त धर्म इस अनिष्ट बातसे अलिप्त है।

शब्द को महत्त्व देकर गीता धर्माधर्मका निर्णय नहीं करती। धर्मको यदि केवल शब्दही प्रमाण होता तो अठारह अध्याय कहनेका कोई प्रयोजन न था। अर्जुनने जब कहा कि " मैं युद्ध नहीं करता, क्योंकि युद्ध करनेसे सुहृद्वध, गुरुजनवध, कुलक्षय, कुलधर्मनाश, वर्णसंकर इत्यादि अनेक पाप मेरे माथे पड़ेंगे।" तब उसपर भगवान्ने क्या जबाब दिया? श्रीकृष्ण भगवान् यदि सच्चे ग्रंथप्रामाण्यके पक्षपाती होते तो " अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् " ऐसा तत्त्वज्ञान बतलानेमें वे वृथा कालक्षेप न करते। उन्होंने जोरदार शब्दोंमें यही कहा होता कि "तुम्हारी जाति क्षत्रिय है, क्षत्रियके लिये उचित धर्म युद्धही कहा गया है। इसलिये फुजूल नुक्ताचीनी मत करो और युद्धके लिये कटिबद्ध हो।" परंतु श्रीकृष्णने इस सरल (?) मार्गका स्वीकार न किया। इससे क्या पाया जाता है? यह तात्त्विक विवेचन समाप्त होनेपर भी भगवान्को धर्मग्रंथोंकी याद आई होती। वह बात दूरही रही, किंतु " अथ चैनं नित्यजातम् " इत्यादि नास्तिक मतोंकाही पुरस्कार उन्होंने किया है। आगे चलकर " स्वधर्ममपि चावेक्ष्य " इत्यादि वाक्य जरूर कहे हैं; परंतु उनमें ' स्वधर्म ' शब्दका अर्थ संदिग्धही है। शिवाय इसके इस श्लोकमें "अपि च" इस शब्द समुच्चयसे इस उत्तरका गौणत्व प्रतीत होता है। दूसरा अध्याय छोड़कर आगे चलनेसे यही दीखता है। शब्दप्रामाण्यको मातब्बरी कहीं नजर नहीं आती। इतनाही नहीं, किंतु कई स्थानोंमें-

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"

इस प्रकार वेदकी प्रत्यक्ष निंदा करनेवाले वचन दिखाई देते हैं। ऐसी हालतमें यह कैसे कहा जा सकता है, कि गीता शब्दप्रामाण्य माननेवाली है? गीतामें शब्दप्रामाण्यवादियोंके लिये निम्नलिखित श्लोक आशाका एक तन्तु है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
गीता १६।२४

परंतु टीकाकारोंने इस श्लोकका जो अर्थ दिया है वह बराबर नहीं। क्योंकि उस दृष्टिसे देखनेसे उत्तरार्धमें पूर्वार्धकी पुनरावृत्ति है। इसके अलावा पीछे जो आसुरी संपत्तिका विवेचन किया है उसमें ' यक्ष्ये ' ' दास्यामि ' ऐसे शास्त्रोक्त यज्ञ और दान क्रियाओंकाभी समावेश होताही है, इससे ऐसे आसुर कर्मोंकाही विधान करना कैसे योग्य होगा? इसी तरह इस श्लोकका 'तस्मात्'पद शब्दप्रामाण्यवादियोंको प्रगट विरोध करनेवाला है। उनके मतसे शब्द स्वतः प्रमाण है, उन्हें यह बात मान्य न होगी कि "कामकारतः वर्तन करनेवालेको सिद्धि, सुख और श्रेष्ठ गति नहीं मिलती, इसलिये शास्त्र को प्रमाण मानो।" ' स्वतःप्रामाण्य ' और वेदका ' अपौरुषत्व ' इनका प्रथम विवेचन होकर उसके आगे ' तस्मात् ' शब्द आया होता, तभी वह शब्दप्रामाण्यको अनुकूल हुआ होता। तात्पर्य, यह श्लोक मीमांसकोंके शब्दप्रामाण्यका प्रतिनिधि हो नहीं सकता। हम कहही चुके हैं कि इस श्लोकके आगे अथवा पीछे उसको आधार नहीं है; और यही ठीक है। क्योंकि गीता यदि आजकलकी रूढ पद्धतिके अनुसार उपदेश करनेवाली होती तो प्रारंभही में ऐसा श्लोक आता कि—

युद्धं तव स्वधर्मोऽयं स कथं त्यज्यते त्वया?
मा श्रुत्यवज्ञां कुर्वीथाः स्वतः तस्याः प्रमाणता॥

ऐसा सीधा जबाब अर्जुनको मिला होता। परंतु आजकल चला हुवा शब्दप्रामाण्यका स्तोम मान्य न होनेसे गीतामें इस प्रकारका श्लोक प्रथित नहीं किया गया। इतने विवेचनसे यह स्पष्ट होगा कि उपरिनिर्दिष्ट दूसरे धर्मांगके संबंधमें गीता किसी विशिष्ट धर्मग्रंथका आग्रह नहीं करती। पहिले अंगके संबंधमें हम विश्वधर्मयोग्यता बतला चुके हैं। अतएव यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि प्रारंभमें निर्दिष्ट किये हुए विश्वधर्मके लक्षण गीतोक्त धर्मको पूर्ण रीतिसे लागू होते हैं।

यहांतक गीतोक्त धर्मके दो विशेष देख लिये गए- (१) प्रतीकाग्रहाभाव, (२) ग्रंथाग्रहाभाव। तथापि इससे एक प्रकारकी गैरसमझ होनेकी संभावना है। किसी धर्मग्रंथको जो प्रमाण नहीं मानता, अर्थात् जिस धर्ममें कोई विवक्षित आचारधर्म नहीं अथवा "मनःपूतं समाचरेत्" यही जिसका नियम है, वह धर्म कैसा? और ऐसाही उपदेश यदि गीता करती हो तो उसमें ऐसा नावीन्य क्या है? "ग्रंथोंका बंधन मत मानो" "जैसा मनको योग्य दिखे वैसा करो" इस प्रकार बंधनके पार जानेका उपदेश गीताके मुखसे सुननेके पहिलेही सब लोग अमलमें ला रहे हैं। इस वास्ते ऐसा तत्त्वज्ञान कहनेके लिये गीताकी आवश्यकता नहीं; ऐसाही स्वभावतः लोग समझेंगे। गीतोक्त आचारधर्म अच्छी तरह ध्यानमें न आनेसे ऐसे प्रश्नोंका उपस्थित होना अपरिहार्य है। इसीलिये अब यह देखना चाहिये कि आचरणात्मक धर्मके विषयमें गीताके सिद्धान्त क्या हैं।

आचरणात्मक धर्मकी बुनियाद।

गीतोक्त आचरणात्मक धर्मकी नींव इतनी विस्तृत और दृढ है कि वह कितने और कैसेभी आघात पडनेसे जरा भी हिल नहीं सकती। "बाप्तिस्मा लेनेसे सर्व पाप क्यों नष्ट होंगे?" इस प्रश्नसे पाद्री लोक जितने घबडाते हैं, उतनेही अपने यहांके + धर्ममार्तंड घबडा गए हैं। संध्या क्यों करना चाहिये? पुरुषोंके लिये दो विवाह करनेमें कोई आपत्ति नहीं है, तो स्त्रियोंने क्याने अपराध किया है? अस्वच्छ ब्राह्मणकी (?) बनाई हुई रसोई पवित्र मानी जाती है, तो स्वच्छ शूद्र की रसोई पवित्र क्यों न मानी जाय? हिंदुओंके सिवाय गोत्रव्यवस्था कोई नहीं पालता, तब हिंदुओंको वह पालनेकी क्या जरूरत? इस तरह के प्रश्न उपस्थित होतेही धर्ममार्तंडोंके क्रोध का पारा चढ जाता है। इस क्रोधाग्निरूपी ज्वालामुखीका स्फोट होकर उसमेंसे यही उत्तर बाहर निकलता है कि "यह नास्तिक है।" सच पूछा जाय तो इन प्रश्नोंका नास्तिकता से कोई संबंध नहीं है। ❀ परंतु इतना विवेक जागृत कहां है? यह क्रोध, यह संताप और यह भय अत्याधिक प्रमाणमें प्रत्येक धर्ममें देखा जाता है। जो धर्म इस भयको नष्ट करनेमें असमर्थ है, वह निडर होकर स्वैर संचार नहीं कर सकता। इस भयको जिसने

+ सनातन धर्मके विषयमें जो मत और जो आचार सांप्रत रूढ हैं, उन्हींके अनुसार यह शब्द और इस लेखके अन्य शब्दप्रयोग किये गए हैं। सनातन धर्म, हिंदूधर्म इत्यादि शब्द भी इसी रूढ अर्थसे नियुक्त किये गए हैं। यह बात स्पष्ट है, कि इन शब्दोंके सच्चे अर्थ लिये जांय, तो ये आक्षेप लागू न होंगे, क्योंकि इस लेखमें "गीताधर्म" के नामसे जिस धर्मका वर्णन किया गया है वह सच्चे सनातन धर्मसे भिन्न नहीं है। इस लेखकका यह मत है। और यही मत विस्तारपूर्वक उपस्थित करनेके हेतु प्रस्तुत लेखककी लेखमाला केसरी पत्रमें प्रसिद्ध हो रही है।

❀ ऐसा कहीं नहीं कहा है कि प्रश्न पूछनेवाले को नास्तिक कहना चाहिये। प्रश्न करनेवालेके तरफ कोई भी शास्त्र क्रोधदृष्टिसे नहीं देखता; किंतु आतुरतासे ही देखता है; क्यों कि ऐसेही लोगोंके लिये शास्त्र लिखे गए हैं। किसी विषयका प्रतिपादन करना होता तब प्राचीन पद्धतिके अनुसार किसी अधिकरण में रखकर उसका विवेचन करना पडता है। इस अधिकरण के पांच अवयव रहते हैं—(१) विषय, (२) संदेह, (३) संगति, (४) पूर्वपक्ष और (५) सिद्धान्त। इनमें दूसरा अवयव संदेह है। सर्व भारतीय शास्त्रकारों का एक मत है कि इस संदेह के विना किसी विषयके विवेचन का प्रारंभ ही नहीं हो सकता। उनका यह पूर्ण विश्वास था कि प्रत्येक संशय का योग्य निवारण किये विना शास्त्र परिपूर्ण और परिणामकारी न होगा।

नष्ट किया; ऐसे प्रश्न सुनकर जो संतप्त नहीं होता, किंतु इन प्रश्नोंद्वारा व्यक्त होनेवाला पृच्छक का अज्ञान देखकर वात्सल्यसे जिसका हृदय पनपता है, और स्नेहपूर्ण कृपादृष्टिसे प्रसन्न और'प्रहसन्निव' जो धर्म उन प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है वही, सच्चा धर्म है । और ऐसेही धर्मको कह सकते हैं कि "अभयं वै धर्म प्राप्तोसि।" गीतोक्त धर्मने यह अभय प्राप्त करलिया है, क्यों कि उसकी बुनियाद अप्रतिष्ठित + शब्द नहीं है, सुप्रतिष्ठित शास्त्रदृष्टि है। "शब्दैकशरणा वयम्" ऐसी गर्जना करनेवाला जितना भयसे और संतापसे पीडित रहता है; उतनाही "शास्त्रैकशरणा वयम्" कहनेवाला निर्भय और शांत वृत्तिका रहता है। गीतामें इसी शांत वृत्तिसे धर्मकी इमारत रची गई है। इस बात का प्रत्यन्तर देखना हो तो गीताका सोलहवां अध्याय जरूर पढना चाहिये।

सोलहवें अध्याय का महत्त्व ।

इस अध्याय का नाम "दैवासुरसंपद्विभागयोग" है। इसमें दैवी संपत्तिका थोडेमें परंतु निःसंदिग्ध रीतिसे विवेचन किया है। और इसीमें गीतोक्त धर्म के आचरणात्मक अंगकी बुनियाद है। इस अध्याय का संपूर्ण विवेचन करनेका यह स्थल नहीं है; तथापि एक श्लोकका दिग्दर्शन करनाही चाहिये। कौनसा आचरण धर्म्य है और वह धर्म्य क्यों है, इसी प्रकार कौनसा आचरण अधर्म्य है और वह अधर्म्य क्यों है,इन सब प्रश्नोंका उत्तर इस श्लोकार्ध में स्पष्टतया दिखेगा-

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ॥ १६।५

इस श्लोकार्धमें यथानुक्रम चार बातें बतलाई गई हैं-

(१) जिस प्रकारसे दैवी संपत्तिकी वृद्धि होगी ऐसा आचरण करना।

(२) दैवी संपत्ति विमोक्ष देनेवाली है।

(३) आसुरी संपत्तिकी जिससे वृद्धि होगी ऐसा आचरण त्याज्य मानना।

(४) आसुरी संपत्ति अतिशय बंधन बढानेवाली है।

ये चार सिद्धान्त ध्यानमें रखनेसे गीताके आचरणधर्मका रहस्य भलीभांति समझमें आवेगा। ये चार सिद्धान्त गीतोक्त धर्मकी चतुःसूत्री है। इस चतुःसूत्री में समस्त गीतोक्त धर्मका सार है; इतना ही नहीं, किंतु वह जागतिक धर्म होनेके पात्र क्यों है इसका भी उत्तर इसीमें है।

गीता धर्माधर्मनिर्णय केवल कर्मके तरफ देखकर नहीं करती, परंतु यह देखकर करती है कि उस कर्मके द्वारा संपत्तिद्वय में से कौनसी संपत्ति वृद्धिगत होगी। इसके लिये मजबूत सबूत इसी अध्याय में मिलेगा। दैवी संपत्तिका वर्णन करते हुए दान और यज्ञ के नाम आए हैं। (१६।१) आगे चलकर आसुरी संपत्ति के वर्णन में फिरसे 'यक्ष्ये' 'दास्यामि' ऐसा उल्लेख आया है! एकही आचरण विमोक्ष देनेवाला और बंधन में डालनेवाला कैसे कहा जा सकता है? गीताका अभिप्राय ऐसा है कि केवल आचरणको (कर्मको) कोई मूल्य नहीं है; उसका धर्म्याधर्म्यत्व इस बातपर निर्भर है कि वह कर्म किस बुद्धिसे किया जाता है? कर्तापर और समाज स्थितिपर उस कर्मके क्या परिणाम होंगे? केवल कर्म को देखकर गीता कभी धर्माधर्मनिर्णय नहीं करती। इसीलिये यज्ञ, दान, तप इत्यादि की त्रिविधता गीताकाराने वर्णित की है। कोई भी कर्म अनुबंधादिकोंका विचार करनेपरही किया जाय, ऐसा जो गीताका उपदेश है, वह इसीलिये है।

+ "तर्काप्रतिष्ठानात्" ऐसा कहकर तर्क की कुचेष्टा की गई है। परंतु निबंधकारोंने अपनी इच्छा के अनुसार गौणत्व अथवा मुख्यत्व मानकर मतमतांतरों की जो धूम मचाई है, वह देखनेसे मालूम होगा कि तर्ककी अपेक्षा शब्दही अधिक अप्रतिष्ठित हैं। इस विषयपर हमें स्वतंत्र लेख लिखना है, इसलिये यहां इतना विवेचन बस है।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ १८।२५

इस श्लोक में अनुबंधादिक न विचार कर किया हुवा कर्म त्याज्य ठहराया गया। इसका कारण यही है कि वह आसुरी संपत्तिको बढाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

इस श्लोकका भी यही रहस्य है। अस्तु।

इस पर शायद कोई पूछेगा कि "तुम्हारे गीताधर्मका रहस्य हम समझ गये, परंतु उसपर भी आक्षेप हैं। तुम कहते हो कि दैवी संपत्तिका अनुसरण करनेको गीता कहती है; परंतु यह आज्ञा हम क्यों माने? जब हम किसी भी ग्रंथको प्रमाण नहीं मानते तब तुम्हारी गीताको हम क्यों मानें? अन्य धर्मग्रंथ विशिष्ट हैं इसलिये तुमने उनको खूब पछाडा; परंतु अब तुम स्वतः वही बात कर रहे हो। गीता ग्रंथको भी तुम प्रमाण ही मानते हो न?" इन सब प्रश्नोंको हमारा उत्तर "नहीं" है। गीता यह उपदेश जरूर करती है कि "दैवी संपत्तिका अनुसरण करो" परन्तु हम यह नहीं कहते कि वह गीताका उपदेश है इसीलिये उसे मानो। हमारा कहना है कि उसका फल है विमोक्ष, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता प्रत्येक मनुष्यको है; इसीलिये उसे मानो। इसी तरह "दैवी संपत्ति विमोक्षका साधन है" यह बात (अर्थात् यह कार्यकारणभाव) गीता बतलाती है, इस कारण मान लेनेके लिये हमारा आग्रह नहीं है। 'अभयादि दैवी संपत्ति विमोक्ष देनेवाली है" यह बात सूक्ष्म निरीक्षणसे ध्यानमें आसकती है। और हम जो कहते हैं कि गीताको प्रमाण मानो, उसका यही कारण है कि गीताने वही बात कही है जो कि इस प्रकार अनुभवसे और शास्त्रीय दृष्टिसे सिद्ध हो सकती है। तात्पर्य, गीतोक्त धर्मपर कोई भी आक्षेप लेनेका प्रयत्न करना मानो सूर्यपर थूंककर अपनी शोभा कर लेना है, अथवा स्वतःका गाढ अज्ञान प्रगट करना है। पाठकोंके समझमें इतनी बात आगई होगी।

केवल गीताही जागतिक धर्म कह सकेगी।

गीताके धार्मिक सिद्धान्त शास्त्रीय आधारपर रचे गए हैं। मानसशास्त्र, मानवी प्रवृत्ति, विश्वका अन्तिम तत्त्व इन सब बातोंपर ध्यान रखकर मजबूत नैसर्गिक बुनियादपर गीताधर्ममंदिर बनाया गया है। इसके लिये अर्जुनका ही उदाहरण दे सकते हैं। "किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा" इस प्रकार जब अर्जुनको वैराग्य प्राप्त हुवा था तब श्रीकृष्णने संमति नहीं दी। उनके स्थानमें यदि ईसामसीह अथवा बुद्ध होते, तो वे ऐसा कहते कि "शाबास! अच्छा हुवा कि तुम्हें वैराग्य प्राप्त होगया! सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ ऐसे संन्यासाश्रमकी दीक्षा मैं तुम्हें देता हूं। जगत्में सच्चा सुख है ही नहीं, सुखका त्यागही करनेमें प्रत्येक मानवी जीवका सच्चा कल्याण है। इतना जरूर है कि तुम्हें यह क्षणिक वैराग्य प्राप्त हुवा है। तथापि कोई हर्जा नहीं है। अरणीमेंसे निकली हुई चारपांच चिनगारियोंको इंधनका योग देनेसे जिस तरह उनमें पूरा जंगल जला देनेका सामर्थ्य आता है, उसी तरह यह वैराग्यकी चिनगारी आध्यात्मिक ग्रंथादिकोंके श्रवणसे तुम बढाओगे, तो यह संसाररूपी महारण्यभी उससे भस्म होगा। इत्यादि।" परंतु भगवानने ऐसा उपदेश नहीं दिया। उन्होंने यह जानकर कि "पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना" अर्जुनको आग्रहपूर्वक कहा-

'मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।'

मानवी प्रवृत्तिका, तथा मानसशास्त्रका पूर्ण विचार करके यथाधिकार उपदेश करना अखिल आर्यसंस्कृतिका ब्रीद है। परंतु दुर्दैवसे इन अमोल तत्त्वोंको फेंककर हम आज अनेक वर्षोंसे सब धान बारा पसेरीका व्यवहार कर रहे हैं। इस कारण समाजकी अपरिमित हानि हुई है। "वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः" इस वैदिक आज्ञाको सब लोगोंने

ठुकराकर "अर्थमनर्थं भावय नित्यम्" का जप शुरू कर दिया। परंतु यह सब लोगोंकी प्रकृतिको मान्य हो नहीं सकता था, इसलिये 'अल्पसंतोष' का उपाय सुझाया गया। संन्यासाश्रमका प्रचार यहांतक कसरतसे बढने लगा है कि उत्तर हिंदुस्थानमें 'उदासी' के सदृश सांप्रदाय बेहद फैल रहे हैं। कहां वह "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" ऐसा उच्च सात्विक ध्येय और कहां यह नालायकीसे होनेवाली तामसी वृत्ति! 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' यह नियम केवल आद्य शंकराचार्यके समान श्रेष्ठ विभूतियोंके लिये है;परंतु केवल सांप्रदायिक अंधत्वसे वह नियम ५-१०वर्षके बालकोंको लागू किया जाता है। ये सब प्रमाद धर्मके व्यापक स्वरूपकी ओर दुर्लक्ष्य करनेहीसे हुए हैं। ये त्रुटियां न होने पावें ऐसी खबरदारी गीताने रखी है। गीताको यह तत्त्व मान्य है कि "कामात्मता न प्रशस्ता" इसी लिये वह जगह जगह पर ऐसा उपदेश करती है कि "कामात्मनः" को सद्गति प्राप्त नहीं होती "तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्"। तथापि गीता यह भी जानती है कि यह उपदेश सार्वत्रिक करना अशक्य है; क्योंकि "न चैवेहास्त्यकामता" यह मानवी प्रवृत्ति गीताको अच्छी तरह मालूम है। इसीलिये वह स्पष्ट रीतिसे कहती है कि "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।" अस्तु। परमात्मा जितना अनन्त है उतनाही उसका उपदेशित धर्म अनन्त है। इसका सांगोपांग विवेचन एकही लेखमें कैसे हो सकता है? इसलिये इस विवेचनको यहीं समाप्त करनेका विचार निश्चित हुआ। अंतमें इस धर्मके प्रसारकी दिशा बतलाना हमें अत्यावश्यक मालूम होता है,इसलिये उसके संबंधमें थोडासा लिखेविना हम पाठकोंसे छुटी ले नहीं सकते।

गीताभक्तोंका कर्तव्य।

गीतोक्त धर्मका जागतिकत्व किसको मान्य न होगा अथवा किसको न रुचेगा? सच्चे गीताभक्तका उत्साह सात्विक आनंदसे निःसंदेह द्विगुणित हो जायगा। सुदैववशात् आजकल गीताका प्रसार बढता जाता है इससे गीतापर भक्ति भी बढतीपर है। ऐसे समय उपर्युक्त गीताधर्मका महत्त्व मान्य होकर श्रद्धा-धैर्य-वीर्य-संपन्न धर्म प्रचारक आगे आवें तो आजकलके नास्तिक युगमें बडा ही कार्य होगा, इसमें संदेह नहीं। यह जागतिक धर्म सचमुचमें सब जगतका धर्म होनेकी आकांक्षा हो, तो प्रथम हम हिंदुओंकोही कटिबद्ध होना चाहिये। वस्तुतः गीताधर्म ही हिंदुओंका सच्चा धर्म है। वैदिक परंपराके सच्चे धर्मतत्त्व इसी धर्ममें भली भांति ग्रथित किये गए हैं। इसलिये सब हिंदुओंको इस धर्मका प्रथम आचरण करने के लिये प्रवृत्त होना चाहिये। इससे संपूर्ण जगत् भर इस धर्मका प्रसार बडी सुलभता से होगा। वैदिक धर्म, सनातन धर्म और हिंदुधर्म ये सब वस्तुतः एकही हैं और इनका संपूर्ण रहस्य इसी गीताधर्म में संग्रहित है। इसलिये सब हिंदुओं को इस धर्म का प्रथम अनुसरण करना चाहिये।

विकट धार्मिक प्रश्न कैसे हल होंगे?

सांप्रत सुधारक व कुधारक, आस्तिक व नास्तिक,अस्पृश्य व स्पृश्य,ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर इनके बीचमें जितने द्वंद्व हैं उन सब को नष्ट करने का भी सामर्थ्य इसी धर्म में है। उस दृष्टिसे धर्मशास्त्रका अभ्यास जरूर होना चाहिये। स्मृतिशास्त्रके शब्दों ही को लेकर यदि हम बैठेंगे तो आग्रहवृत्ति बढती जायगी और ये झगडे भयंकर स्वरूप धारण करेंगे। परंतु गीतामें बतलाए हुए संपत्तिद्वय का संबंध दिखलाते हुए धर्मशास्त्री यदि स्मार्तधर्माधर्म का विवेचन करने लगेंगे, तो शीघ्रही दोनों पक्षोंमें सलोखा के साथ सुलहनामा हो जायगा। धर्माचार्य यदि शब्दमय व्यासपीठपर बैठकर उपदेश करना छोडदें, पुरुष बुद्धिका आश्रय करें, शास्त्रीय व्यासपीठपर आरूढ होकर धर्मनिर्णय जाहिर करें तो सांप्रत जो मतमतांतरोंकी धूम मच रही है वह शांत होकर इस भारतवर्ष को आनंदके दिन देखने मिलेंगे। अंग्रेजी शिक्षा चाहे जितनी फैलती रहे, उससे कोई भय न मालूम होगा। क्यों कि शास्त्रीय

नींवपर अधिष्ठित धर्मश्रद्धा मामूली हवाके तूफानों से उड न सकेगी। तात्पर्य इस सर्वोत्कृष्ट धर्मको जागतिक स्वरूप प्राप्त कराना केवल भारतयोंके हाथ में है। भारतवर्षपर परमात्मकी कृपा है इसीलिये उसे इस जागतिक धर्मकी प्राप्ति हुई है। धर्म के लिये आशा लगाकर दूसरे का मुंह ताकनेकी इन्हें आवश्यकता नहीं। दूसरे धर्मकी भारतीयोंने अपेक्षा करना मानों घरमें कामधेनु रहते हुए दूसरे के पास मही की याचना करना है। इसलिये समस्त भारतियों को हमारी आग्रहपूर्वक प्रार्थना है कि स्वयं आचरण करके, दूसरोंके सामने स्वाचरणका उदाहरण रखकर इस गीतोक्त धर्मको जागतिक स्वरूप देनेमें सहाय्य करो। जागतिक धर्म होनेके लिये गीताधर्महीं समर्थ है। क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त केवल गीताको ही निम्नलिखित वाक्य प्रतिज्ञापूर्वक कहनेका अधिकार है,अन्यों को नहीं। यह श्लोक मानो गीता स्वतः के लिये कहती है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
गीता १८।६६॥

इसीलिये " समस्त भारतवर्षको वैसेही संपूर्ण जगत् को एकही धर्म चाहिये " ऐसा कहकर कोई इस प्रकारके धर्म को शरण जानेको तैयार हो तो उसको हम गीता के शब्दोंमें ऐसा कहेंगे-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
गीता १८।६२

" सकल जनों के अंतःकरणमें इस सच्चे धर्म की जागृतिके लिये प्रेम उत्पन्न हो " ऐसी प्रार्थना उस दयाघन प्रभूसे करके हम पाठकोंसे छुट्टी लेते हैं।

गीताका सुभाषित ।

प्रवेशद्वारोंका रक्षण ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः । ... अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥
भ० गी० १ । ११

" सब प्रवेशद्वारोंमें अपने अपने स्थानमें दक्षतासे रहकर शत्रुओंसे तुम सब प्रकार संरक्षण करो। "

देहद्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ऐसे अनेक द्वार हैं। इन द्वारोंमेंसे शत्रु गुप्त रीतिसे भीतर प्रवेश करते हैं। इन प्रवेशद्वारोंमें यदि उत्तम व्यवस्था रखी जाय और यहां के रक्षक इन द्वारोंका अच्छा रक्षण करें, तो शत्रुका प्रवेश भीतर नहीं हो सकता। और शत्रु अंदर आकर धूम न मचा सकेंगे। इसलिये इन सब प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षक रखना चाहिये। स्वसंरक्षणका यह मुख्य सूत्र है। इससे व्यक्ति, घर, नगर और राष्ट्र इनका रक्षण अच्छी तरह हो सकेगा।

भगवद्गीताका अभ्यास।

(लेखक- श्री० बालकृष्ण भाऊ जोशी, पूना.)

हम सब लोगोंको भगवद्गीता कितना प्रिय ग्रंथ है! क्या अपने धर्ममें ऐसा कोई साक्षर मनुष्य मिलेगा कि जिसको श्रीमद्भगवद्गीताके संबंधमें प्रेम नहीं और आदर नहीं? प्रत्येक मनुष्यकी इच्छा रहती है कि मुझे गीताका मर्म समझे, गीताका वाचन हो, गीता मुखाग्र हो; और गीताका सच्चा मर्म मेरे ध्यानमें आकर मैं उच्च अवस्थाको प्राप्त होऊं। वह महनीय आनंद मुझे प्राप्त हो ऐसी इच्छा हमारे ख्यालसे, प्रायः हम सबहीके अंतःकरणमें वास करती है। वह इच्छा कहीं बीजरूपमें, कहीं अंकुरावस्थामें,कहीं कोमल पल्लवस्थितिमें और कहीं पुष्पाकारमें प्रकट होती है। कोई सज्जन गीताका अभ्यास वर्षानुवर्ष करते रहे हैं और आत्मानंदरूप फलको पहुंचे हैं; कोई अभ्यासके आनंदका सेवन कर रहे हैं; कोई पठनके नियमसे अपनेको पवित्र कर रहे हैं, और कोई गीताकी एक पुस्तक खरीदकर अपने पास रखते हुए यह विचार कर रहे हैं कि इसके पठनको आरंभ कबसे किया जाय! सारांश, मेरी दृष्टिसे, स्वाध्यायके वाचक वर्गमें भगवद्गीतातक सबहीका प्रवेश हुआ है। (थोडा हो या बहुत हो।) और उनमेंसे अपरिचित कोई नहीं रहा। ऐसे वाचकवर्गके साम्हने भगवद्गीतामें से किस विषयका प्रतिपादन करूं, यह मेरे लिये एक बडा प्रश्न है।

भगवद्गीतामें प्रतिपादित विषय कितने बृहत् हैं! "कर्मयोग" आसक्ति छोडकर कर्म करो; "ज्ञानयोग" सर्वत्र एकही आत्मतत्त्व व्यापक है ऐसा समझ कर रहो; "सांख्ययोग" चित्तको आत्मस्वरूपमें निवास मिले इस हेतु यम नियम, आसन प्राणायाम, ध्यान-धारणा इस मार्गसे क्रमशः अभ्यास करो। "भक्तियोग" परमेश्वरको समस्त कर्म समर्पित करके "मैं सर्वथा उसीका सेवक हूं" इस बुद्धिसे आचरण करो। इसी प्रकार और बडे बडे विषय (जिनके केवल नाम देखनेसे अपनी बुद्धि स्तिमित स्तब्ध होती है) 'परम गति' 'ब्राह्मी स्थिति'' स्थितप्रज्ञता' इ० ऐसे गहन और गंभीर विषयोंपर गीता प्रतिपादन करती है! ऐसे बडे बडे विषयोंपर एक सामान्य लेखक, जो इस जगत्के व्यवहार देहबुद्धिसे कर रहा है, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' ऐसे विषयोंको स्वयं भलीभांति न समझता हुआ जो वही विषय दूसरोंको समझानेके लिये व्यासपीठपर आरूढ होता है,कहांतक पांडित्य करेगा? और वह पाण्डित्य कहांतक लोगोंको जचेगा? ऐसे मार्गमें प्रवृत्त होनेके पहिले वाद-विवादके लिये अच्छी तैयारी होनी चाहिये; अपने मतके लिये पूर्ण अभिमान धारण करना चाहिये; प्रतिपक्षका खंडन करनेके आवेशसे शूर वीरके समान वाग्युद्धमें प्रविष्ट होना चाहिये और प्रतिपक्षके प्रखर वाग्बाण सहनेके लिये अपने मनोरूप शरीरको बहुत दृढ और सहिष्णु करना चाहिये! इसमेंसे मेरे पास कौनसा सामान है कि जिसके सहारे मैं इस वादविवादमें प्रवेश करूं? मुझे आरंभहीमें यह कबूल करना आवश्यक है कि मेरी वैसी तैयारी नहीं है।

तथापि वादविवादके विषयोंको छोडकर, गीताके प्रतिपादित गहन तात्त्विक विचारोंमें घुसनेका मौका टालकर, मेरे गीताप्रेमी वाचकोंके लिये दो शब्द लिखनेका विचार मेरे मनमें आया है। इनका

उपयोग उन्हें न हो जिनका अभ्यास पूर्ण हुवा है, अथवा जो अभ्यासमें पूर्ण रम गए हैं; तथापि जो अभ्याके लिये अभी प्रवृत्त हुए हैं अथवा होनेके विचारमें हैं ऐसे बालतरुण वाचकोंको थोडा बहुत उपयोग होगा ऐसी मैं आशा रखता हूं।

(१)

गीतामाहात्म्यमें ऐसे वचन हैं कि गीताका एक श्लोक नित्य पठन करनेसे बडा पुण्य मिलता है;और एक अध्यायका नित्य पठन करनेसे मनुष्यको उस पुण्यके द्वारा रुद्रलोक और चंद्रलोककी प्राप्ति होती है। इसके अनुसार गीतापाठका नियम कियाजाय तो निःसंदेह पुण्यका लाभ होगा। तथापि केवल पठन अभ्यासकी पहिली सिढ़ी है; इसपर चढनेसे यद्यपि गीताके मोक्षरूपशिखरका दर्शन हो जाता है, तथापि दूसरी सिढ़ी चढकर अधिक ऊंचे होकर वही दर्शन अधिक स्पष्टतया लेनेमें क्या हर्जा है? यह दूसरी सिढ़ी अर्थात् गीताके श्लोकार्थका ग्रहण करना। केवल पठनसे मिलनेवाला पुण्य एक तरह उधारीका व्यवहार है। यह उधारी डूबनेवाली नहीं, तथापि इसकी कीमत यदि १०० मानी जाय तो अर्थग्रहणरूपी नगद व्यवहारकी कीमत ११० से कम न होगी। अंग्रेज लोग हमें स्वराज्य देनेवाले हैं, परंतु यह उधारी हमें कहां पसंद है? हमें स्वराज्य आज चाहिये अर्थात् रोख चाहिये; इसके लिये हम कितना स्वार्थत्याग कर रहे हैं, कितने क्लेश उठा रहे हैं। इसका कारण यही है कि उधारीके व्यवहारसे हमारे मनका समाधान नहीं होता। आज हमारे मनकी क्षुधा बहुत बढी हुई है। "बेटा, तुम्हें कल देवेंगे" इस प्रकारके आश्वासनोंसे मनकी आकांक्षा तृप्त होनेकी संभावना अब नहीं रही। सब दुनिया आगे जा रही है, उसके साथ स्वभावतः हम भी आगे आए हैं, और अपना सब व्यवहार रोखीसे चलानेकी इच्छा हमें उत्पन्न हुई है, और ऐसा करनेका सामर्थ्य भी हममें आया है। तब गीतावाचनके संबंधमें एक एक श्लोकका अथवा अध्यायका केवल पठनमात्र करके हमें क्यों तृप्त होना चाहिये? और कभी तोभी पुण्य मिलेगा, इस भरोसे पर हम क्यों टंगे रहें? हमारे वाचनसे मिलनेवाला पुण्य भगवद्गीतासे नगद मांगनेका हमें हक है। इसलिये हम सबका पठन मात्रसे मिलनेवाले पुण्यकी अपेक्षा अर्थग्रहण करके मिलनेवाले मनःसमाधानकी, आत्मानंदकी नगदी याचना गीताके समक्ष करना चाहिये।

(२)

सारांश, केवल शब्द मात्र पठन करनेसे तृप्त न होकर हमारे वाचकोंमेंसे यदि कोई ऐसा निश्चय करेंगे कि "गीताका अर्थ हमें समझना चाहिये, उसे समझनेका हम प्रयत्न करेंगे। विना अर्थके समझे केवल पठन मात्रसे मिलनेवाले पुण्यसे हम तृप्त न होंगे।" तो ऐसे वाचकोंको एक और बात कहना हम चाहते हैं। वह यह है कि अर्थग्रहण कैसे करना? अर्थको समझ लेनेकी एक सुप्रसिद्ध पद्धति प्रायः सबको विदित है। साधारण रीति ऐसी है कि श्लोक पढना, उसमें जो संधि हैं उनको पृथक् करके पद निकालना,उन पदोंका अर्थ समझकर सब पदोंका एक वाक्य (अन्वय) जमा लेना। इतना करनेसे अर्थ समझ लेनेका सब प्रयत्न समाप्त होता है। इसमें एक और बात अधिक करनेकी सूचना हम पाठकोंको देना चाहते हैं; और मेरी समझमें " भगवद्गीताके समान पवित्र आध्यात्मिक ग्रंथका अर्थ मैं समझ गया " ऐसा कहनेकी पात्रता आनेके लिये इसी बातकी अत्यंत आवश्यकता है। किंबहुना मैं यह भी कहूंगा कि आध्यात्मिक ग्रंथोंका अर्थ समझ लेनेकी वह रीति है। वह रीति ऐसी है कि प्रत्येक श्लोकका अर्थ समझ लेते समय गीताके वाचकको अपने मनमें यह निरीक्षण करना चाहिये कि उस श्लोकमें निरूपित किया हुवा अर्थविचार मेरे आचरणमें सांप्रत कहांतक उतरा है, और अधिकाधिक अपने वर्तनमें उतरनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये? उदाहरणार्थ एक श्लोक लेकर देखें—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
गी. २।११

इस श्लोक का अर्थ- "हे अर्जुन, जिनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं, उनके विषयमें तुम शोक कर रहे हो; साथही बडी बडी बुद्धिवादकी बातें तुम कह रहे हो! (क्या तुम्हारा यह करना विसंगत नहीं है?) ज्ञाता लोग किसी के मृत्युपर अथवा किसीके जन्मपर कभी शोक (हर्षशोक) नहीं करते।" जहां हम इतना समझ गए अथवा हमें इतना समझाते बन गया तहां हम अपने दिलमें ठान लेते हैं कि हम गीता समझने लगे! इसी क्रम से गीताके ७०० श्लोक हम तैयार करने लगे। अर्थ समझने के लिये इतनी तैयारी की हुई क्या कम है? इतना करने में क्या हमें थोडे श्रम पडे हैं अथवा पडेंगे? इतना करनेपर अधिक क्या करनेका है?

परंतु मैं समझता हूं, हमें इससे अधिक करना चाहिये! किस वास्ते? गीताका हृद्गत हमारे अंतःकरण में उतरे, इस गरजसे। क्यों कि गीता दूसरे अनेक ग्रंथोंके समान केवल पांडित्य का ग्रंथ नहीं है। क्या हमारी केवल इतनीही मनशा है कि भगवद्गीता पढकर एक बडे वक्ता अथवा निरूपणकार अथवा विद्वान् लेखक की हैसियत से हम दुनियामें आगे आवें? मैं यह नहीं कहता कि यह मनशा भी छोटी है। परंतु क्या वाचकोंका यह कहना है कि इतनेही मतलब से हमें गीता पढना है? क्या हम लोगोंकी यह महत्त्वाकांक्षा नहीं है कि गीतापठनका सच्चा आस्वाद हमें चखने को मिले, उससे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हमें हो, आत्मिक समाधान हमें मिले? कमसे कम हमें क्या ऐसी महत्त्वाकांक्षा रखना न चाहिये? और इसीमें गीताकी पवित्रता है। गीता यदि केवल पांडित्यका ग्रंथ होता तो उसे इतनी लोकप्रीति और लोगों के हृदय में स्थान प्राप्त न होता। इसमें श्रीकृष्णने अपना हृदय निवेदन किया है, गुह्याद् गुह्यतम तत्त्वका निरूपण किया है; और फिर सचेत किया है कि—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
गीता १८।६७

यह किसी भलते मनुष्यको कहने योग्य नहीं है। जो कोई व्रतनियमसे रहनेवाला, भक्ति करनेवाला, गुरुसेवापरायण और श्रीकृष्णके विषय आदर रखनेवाला हो, उसीको यह "परम गुह्य" कहने का है! इससे भी हम जान सकते हैं कि केवल पांडित्यका यह ग्रंथ नहीं है। ऐसी अवस्था में गीता ग्रंथके अभ्यासका प्रारंभ करते समय केवल शब्दोंके और वाक्योंके अर्थ समझनेसे तृप्त होना कैसे योग्य हो सकता है? भोजनका निमंत्रण आनेपर पंगतमें बैठकर जैसे कोई आदमी यह हिसाब करने लगे कि इस पंगत में अन्नखर्च कितना हुवा होगा, और अपना भोजन छोडकर पंगतके मनुष्योंकी गिनती करने में मग्न होजाय; इसी प्रकारकी मूर्खता केवल शब्दार्थके ज्ञानसे तृप्त होनेमें हम करते हैं।

अतएव मेरा कहना यह है कि भगवद्गीतासरीखे पवित्र ग्रंथका अभ्यास शुरू करते समय केवल शब्दार्थज्ञानसे वाचकको संतोष मानना न चाहिये। ऊपरके विवेचनसे यह मेरा कहना वाचक मान्य करेंगे ऐसा समझकर मैं आगे चलता हूं। अब पाठक ऐसा पूछेंगे कि शब्दार्थोंके परे गीताका अर्थ कैसे समझना? उसका थोडासा उत्तर ऊपर आगया है। उपर्युक्त श्लोकके अर्थका उपयोग इस तरह करना चाहिये कि उसमें किये हुए विधानको "मैं अपने आचरणमें लाता हूं अथवा नहीं?" यह देखना; अगर नहीं तो अपनेआचरणमें लानेके लिये उसी समयसे तत्पर होना। अर्थात् उस श्लोकका शब्दार्थ समझते ही अपने मनमें ऐसा विचार करना कि "क्या मैं अर्जुनके समान अशोच्योंका शोक करता हूं? मुझे किस बातपर शोक होता है? वे बातें अशोच्य होकर यदि मैं शोक करता हूं तो क्या अर्जुनके समान वह मेरी मूर्खता नहीं है? उस शोकका नाश करनेकी मुझे जरूरत है। वह कैसे नष्ट होगा? तथापि अब मुझे यह निश्चय करना चाहिये कि ये अयोग्य बातें हैं और इनके लिये मुझे शोक करना न चाहिये। दूसरी बात, क्या मैं अर्जुनके समान प्रज्ञावाद करता हूं? परसों मैंने

अमुक जगह थोडे समय जो पांडित्य किया, जो भाषण किया, क्या वह श्रीकृष्णके मतानुसार केवल प्रज्ञावाद था अथवा उसमें अनुभवका कुछ अंश था? नहीं नहीं; आयंदा मुझे ऐसा शुष्क पांडित्य करना न चाहिये, जबतक अंतःकरणमें तत्त्व जमकर बैठ न गया हो तबतक अनाफ शनाफ बकनेमें क्या मतलब है? " इत्यादि। तात्पर्य, मेरी समझमें भगवद्गीता-सरीखा पवित्र आध्यात्मिक ग्रंथ केवल शब्दार्थ-ज्ञानके लिये पढनेका नहीं है, किंतु ऊपरकी रीतिसे अपने आचरण और वृत्तिकी आलोचना करते हुए और सुधार करते हुए पढनेका है। उसके प्रत्येक श्लोकका, प्रत्येक विधानका, किंबहुना प्रत्येक शब्द-का अर्थ अपने आचरणमें उतारना है। यह बात अगर अपने ध्यानमें आवे और उसके अनुसार अपने आचरणकी आलोचना और सुधार हम करते जांय तो क्या परिणाम होगा? विचार करो कि ऐसा करते रहनेसे कितनी महनीय पवित्रता हमें प्राप्त होगी! हम किस महत्त्वको पहुचेंगे! उस पवित्र-ता और माहात्म्यके पीछे पीछे वह पांडित्य आप-हीसे आजायगा जो केवल अर्थज्ञानसे आसकता है। उस समय उस पांडित्यकी क्या योग्यता होगी? पवित्रता आगे रहेगी और बेचारा पांडित्य गाडीके पीछे दौडनेवाले कुत्तेके समान शोभा और मनबह-लावका पदार्थ मालूम होगा। पाठकगण, क्या आप इस मार्गसे जाना चाहते हैं?

(३)

इसी प्रकारकी एक और सूचना पाठकोंको देनेकी मनशा है। भगवद्गीतापर जो कोई लेख लिखने बैठे, उससे वाचकोंका यह पहिला सवाल होता है कि "क्योंजी, गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है? कर्मयोग कि संन्यास? सरल भावसे तुम्हारा मन क्या कहता है? लोकमान्यका सिद्धान्त क्या गलत है? और राष्ट्रको आवश्यकता किस बातकी है? " अथवा सवाल यों होगा कि "आचार्य क्या मूर्ख थे? उनका संन्यास मार्ग गलत ठहरानेका लोकमान्यको क्या अधिकार है? उन्हें धर्मका रहस्य क्या समझा है? वे केवल राजनैतिक हलचलपर लिखते रहें! सनातनधर्मने बतलाया हुवा मोक्षप्राप्तिका आश्रममार्ग कितना शास्त्रीय और सिलसिलेवार है? और इनमें संन्यासाश्रम श्रेष्ठ है। वह गलत है अथवा गौण है ऐसा कहने का आज के विद्वानों को क्या अधिकार है? अच्छा, यह रहने दो। तुम गीतापर निबंध लिखते हो; तुम्हारा मत लोकमान्यके मतसे मिलता है अथवा आचार्यके मतसे? तुम्हें कर्मयोग योग्य मालूम होता है, या सर्वसंगपरित्याग करके गेंडा, हाथीके समान जंगलमें भटकना पसंद है? " इस प्रकार वाचकोंके प्रश्न मुझे भी किये जांयगे। परंतु मैंने पहले ही कहा है कि यह बतलानेका पंडितों-का अधिकार मुझे नहीं है। और न मुझे यह शौक है कि पांडित्यका वह अधिकार न रखकर वाचकों-को मैं अपना कुछ निश्चित मत बतलाऊं। इसका एक कारण है, वह बहुधा पाठकोंको मान्य होगा।

उक्त प्रकारके प्रश्न जब कोई वाचक किसीको पूछता है, तब उसकी स्वतःकी क्या स्थिति रहती है? उपनयन के बाद गुरुके पास जानेवाला बटु उस समय जैसे किसी शास्त्रका अथवा मतका अभिमानी नहीं रहता, क्यों कि उसके पहले उसका अनुकूल प्रतिकूल कुछभी सुना हुआ नहीं रहता, वैसी निर्मलता आजकलके पृच्छकोंमें प्रायः नहीं रहती, वाचक यदि शांततापूर्वक अपने मनमें विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि पहलेहीसे उनके मन-में योग अथवा संन्यास किसी भी एकके अनुकूल मनोवृत्ति बनी रहती है, उनकी वृत्ति निःपक्षपाती नहीं रहती। कागज कोरा नहीं है; उसपर कुछ लिखा हुवा है, और उनकी अपेक्षा यह रहती है कि उस लिखी हुई इबारतपर लेखक और कुछ लिखे। क्या यह अपेक्षा गलत नहीं है? ऐसा होनेसे कागज खिचडीके बतौर हो जायगा और उसमें यह बत-ला न सकेंगे कि उसमें अमुक एक मत सही है। वाचकका कोई एक मत दृढ अथवा दृढकल्प बन गया तब लेखक के स्वमतनिवेदन का क्या उपयोग है? वह भी " एक मत " कहा जायगा। वाचक-को केवल इतनी बात अधिक मालूम होगी कि

"अमुक लेखकका अमुक मत है।" यह मत यदि उस वाचकके पूर्वनिश्चित मतसे मिलता होगा तो उस लेखकके विषयमें उसे प्रेम होने लगता है। उस लेखकके प्रतिपादनमेंसे कुछ उपयुक्त और भारदस्त कोटिक्रम लेकर उनके सहारे वह अपनाही मत पुष्ट करके इसका प्रतिपादन करता रहेगा। परंतु इस रीतिसे सत्यज्ञान कैसे प्रगट होगा? कर्मयोग हो अथवा संन्यासयोग हो; इनके विषयमें निर्विकार मन रखनेवाला वाचक कहां है? कोई कर्म के आदरसे, और कोई त्यागके आदर के कारण पहलेहीसे कायल रहता है। कोई लोकमान्यका और कोई आचार्यका पहलेहीसे भक्त बना हुवा रहता है। और फिर वह प्रश्न करे कि "कहिये, कर्मयोग सही है कि संन्यासयोग?" ऐसे प्रश्नोंका उत्तर लेखकको देना, अर्थात् अपनी विद्वत्ता और कोटिक्रमकी शक्तिसे उसको परास्त करना, बादमें निरुत्तर करना है। गीताके वाचनसे जिस अनुभवकी अपेक्षा हम करते हैं कि "गीता आध्यात्मिक पवित्रताकी और आत्मानंदकी जननी है," उससे उपर्युक्त प्रश्नोत्तर किसी प्रकार सुसंगत नहीं हैं। वाचकको पूर्वग्रहदूषित होना न चाहिये, परंतु ऐसा वाचक कहां मिलेगा? और पूर्वग्रहदूषित वाचकको अपना पांडित्य बतलाकर और उसे निरुत्तर करके लेखकको क्या लाभ होगा? उसे इतनाही सर्टिफिकेट मिलेगा कि "यह सचमुचमें बडे पंडित हैं।" वाचकोंपर उसके विचारका क्या परिणाम होगा?

अस्तु। इस प्रकारके पूर्वग्रहदूषित वाचकोंके आगे आज जो पांडित्यका प्रवाह बहाया जाता है, वह मेरे मतसे निरुपयोगी है,तथापि जिस जिज्ञासा से वाचकवर्ग ऐसे प्रश्न पूछता है, वह जिज्ञासा मुझे जरूर है। वाचकोंकी जिज्ञासा सही है और उसका तृप्त होना आवश्यक है; परंतु यह जिज्ञासा गंदले पानीमेंसे आती है, और उसके समाधानके लिये स्वतः अपना मत प्रतिपादन करनेवाला लेखक भी अपना गंदला मतही उसमें डालता रहता है। इससे जिज्ञासाका पानी साफ होनेके बदले बहुधा अधिकही गंदला होता है। ऐसी स्थितिमें वाचक अपनी जिज्ञासा कैसे तृप्त करे? इसका जवाब यही है कि उसी भगवद्गीताको शरण जाना चाहिये।

"अंब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

इस प्रकार उसी गीतासे अति नम्रभावपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये, इससे साक्षात् उसकी माता (भगवद्गीता) अपना वास्तविक अर्थ बतलाकर अपने बछडेका सच्चा समाधान करेगी; इसमें संदेह नहीं।

वाचक कहेंगे- "यह क्या हुवा। कहनेके स्वरूप में यह न कहना होगया। ये सब बातें गीताही बतलानेवाली होती तो इतने वादविवादोंकी धूम क्यों मची होती? और उसपर हजारों पृष्ठोंके ग्रंथ और हजारों लेख क्यों छापे गए होते? गीता निःसंदिग्ध रीतिसे कुछ नहीं बतलाती, इसीलिये तुम्हारा मत पूछते हैं; नहीं तो गीता पढकर हम अपना समाधान कभीका कर लेते! मुंहसे "नहीं" न कहकर हाथसे (कृतिसे) "नहीं" कहने सरिखा तुम्हारा उत्तर है।"

वाचकोंका आक्षेप गलत नहीं है। केवल गीता पढकर इतने संशय निवृत्त होना होते, तो वाचकोंकी कल्पनाके अनुसार इतने ग्रंथ निर्माण होनेका और वादविवाद बढनेका कोई कारण न था। परंतु हमारा कहना यह नहीं कि केवल "गीता पढो।" हमारा कहना है कि "गीताकी शरणमें जाओ।" केवल पढना (वाचन) और शरण जाना इनमें महदंतर है। शरण जानेमें पहले अपना अभिमान सर्वथा गलित होना पडता है। वाचकोंको कदाचित् भय होगा कि "अभिमान गलित होना" इस भांतिके प्रयोग करके गहन वेदान्तमें लेजानेका प्रस्तुत लेखका उद्देश्य है। परंतु अभिमान गलित होनेका इतना गूढार्थ यहां उद्दिष्ट नहीं है; उसका बिलकुल सादा और सरल अर्थ लेना है। हम अब यह बात मान लेते हैं कि श्लोकार्थ समझनेकी उपर्युक्त पद्धति वाचकोंको स्वीकृत हुई है। वाचक अपने मनमें कल्पना करें कि इस भांति अर्थग्रहणपूर्वक समग्र गीताका एक बार वाचन समाप्त होनेपर चित्तकी कितनी शुद्धि होगी। किंबहुना मैं

कहूंगा कि एक पारायण होनेके पहलेही ऐसी कल्पना करते बैठनेकी अपेक्षा कहीं अच्छा होगा कि वैसी एक पारायण करही लेवें! उससे वाचकों-के (अथवा मैं कहूंगा "अपने") बहुमतसे मनोमल धुल जावेंगे। इस मतका या उस मतका अभिमान, अथवा मनका थोडा बहुत झुकाव हुवा होगा तो वह बिलकुल नष्ट हो जायगा। तब गीताका स्पष्ट संदेश समझनेके पहिले हमें न कर्मयोगपर प्रेम रहेगा और न संन्यासयोगपर। अपना मन उस समय मानो एक स्वच्छ कोरा कागज हो जायगा। इस रीतिसे अपना मन जहां हमने शुद्ध कर लिया, वहां गीतामाता अपना सच्चा उपदेश हमें जरूर निवेदन करेगी! परंतु ऐसा न करके मनके पूर्वग्रहोंको हटाये विना, लोकमान्यकी अथवा आचार्यकी अंधभक्तिमें लिपटे हुए हम यदि गीतावाचनके लिये प्रवृत्त होंगे, तो अपने उस पूर्वग्रहके अनुसारही सिद्धान्त हमें गीतामें मिलने लगेंगे, अपना मत अपने लिये अभिमानका एक विषय हो जायगा, और नतीजा यह निकलेगा कि मूल शिक्षाकेही विरुद्ध हम आचरण कर रहे हैं। गीताकी यह शिक्षा है न कि "निर्ममो निरहंकार हो"? इसी लिये शुद्ध अंतःकरणसे "अमुक एक योग अच्छा होना चाहिये" ऐसा पक्षपाती भाव मनमें न रखकर, न्यायाधीशके समान समतोलबुद्धिसे, बालकोंके समान निर्विकार मनसे, अपने मनोमल धोते और दूर करते हुए, प्रत्येक श्लोकके विधानका अपने आचरणसे मिलान करते हुए, गीताके ७०० श्लोकोंका कमसे कम एक पारायण अपन कर लेवें; इसके बाद गीताको शरण जाकर, माताके चरणोंपर साष्टांग वंदन करके मातासे पूछें कि "हे माता, बालकको क्या आज्ञा है? कर्मयोगकी अथवा संन्यासयोगकी? बालकको किसका अनुसरण करना चाहिये, जिससे इहपरलोकमें उसका कल्याण होगा? हे माता, तुम्हारा क्या उपदेश होगा, उसका सर्वथा अनुसरण करनेको यह बालक तैयार है। माताकी अनुज्ञा होनेके पहिले स्वतः इस बालकका झुकाव किसी योगके तरफ नहीं है। माताकी आज्ञा प्रमाण है। तुम्हारे उपदेशमें चाहे कर्मयोग हो या संन्यासयोग हो, अथवा दोनों योग हों, अथवा पहिले एक योग हो उसके बाद दूसरा हो, तुम्हारा उपदेश इस बालकको शिरोधार्य है।" इस प्रकार पहिले अपने सब पूर्वग्रह हटाकर शुद्ध मलहीन अंतःकरणवृत्तिसे गीतामैयाको प्रश्न करें। एक पारायण होनेपर माताका स्पष्ट उत्तर न मिले तो फिरसे पूर्ववत्, किंबहुना अधिक आस्थासे, दूसरा पारायण करें। इस बार भी प्रत्येक श्लोकार्थके अनुसार (पीछे श्लोकार्थका उदाहरण दिया है उसके अनुसार) अपना आचरण होता है कि नहीं यह देखते देखते, वृत्तिको बनाते, दोषोंको झडाते झडाते अपन ग्रंथके अंततक जांय और फिरसे उसी गीतामातासे प्रार्थना करें! इस प्रकार अपन शरणभावसे गीतामातापर निर्भर रहें और पूर्वग्रह सब छोडदें, तो कहिये पाठक गण, गीता माता क्या अपना हृद्गत, परम गुह्य, महत्तत्व हमें विशद करके न बतलाएगी? जरूर बतलाएगी। इसमें संदेह नहीं।

पाठकगण, मैंने आपका बहुत समय लिया। गीताका उपदेश निष्काम कर्म करनेके बाबत हो तथापि यह लेख लिखनेमें मेरा कुछ हेतु जरूर है। दो तीन बातें पाठकोंको कहना है। (१) गीताका केवल पठन करके पुण्य संचय करनेकी अपेक्षा अर्थका ज्ञान हासिल करके ज्ञानजन्य समाधान प्राप्त करलेना अधिक श्रेयस्कर है। यह रोख पुण्य है। (२) अर्थका ज्ञान हासिल करनेमें केवल शब्दज्ञानसे तृप्त न होकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह अर्थ आचरणमें, कृतिमें और वृत्तिमें उतरे। अर्थात् गीता ग्रंथका अभ्यास पांडित्यकी दृष्टिसे न करके पवित्रता और चित्तशुद्धिकी दृष्टिसे करना चाहिये। और (३) गीताका सच्चा रहस्य समझ लेनेकी इच्छा हो तो अनेक विद्वानोंके और कोटिक्रमोंके चक्करमें नहीं पडना; किंतु निर्मल मनसे, पूर्वग्रह सब दूर करके, क्रमशः अपनी कृति और वृत्ति सुधारते सुधारते अंतमें गीतामातासेही वह रहस्य पूछना। वही माता हमारे शुद्ध चित्तमें अपना

सच्चा रहस्य निवेदन करेगी; परम गुह्य प्राप्त करा देगी। ऐसी ये तीन बातें इस लेखके निमित्तसे वाचकोंके सामहने रखनेका हमारा हेतु था। उसके अनुसार यहांतक वाचकोंसे संवाद किया। गीताके सिद्धान्तके अनुसार कोई भी कर्म पूर्ण निर्दोष नहीं है।

" सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥"

ऐसा गीताका विधान है। इसके अनुसार, हमने वाचकोंके साथ प्रेमसे वार्तालाप करनेका जो उपक्रम किया, उसमें भी कुछ दोष होंगे। लिखनेकी धुनमें, विषयप्रतिपादनके प्रवाहमें एकाध शब्द न्यूनाधिक हो जाता है; वाक्यमें त्रुटि हो जाती है, और 'संतोषं जनयेत् प्राज्ञः' इस वचनकी ओर लक्ष्य रहनेपर भी कुछ दोष होही जाते हैं। इसी तरह हमारे इस लेखमें भी हुवा होगा। हमें खेद है कि " क्षमस्व " कहनेके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं। श्री० पंडित सातवळेकर महोदयने हमारी और वाचकोंकी भेंटका योग बहुत प्रयत्नसे और बडी चतुराईसे ला दिया; इसके लिये उनके और वाचकोंके आभार अंतःकरणपूर्वक मानकर यह बढा हुआ लेख समाप्त करते हैं।

अनासक्ति-योग।

(लेखक- श्री० श्रीनिवासराव कौजलगी, B. A., LL. B., अॅडवोकेट, बिजापुर)

इस जगत्में आजकलके प्रचलित धर्मोंका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि अन्य सब धर्मोंसे वैदिक धर्म श्रेष्ठ है। इसमें जो नहीं है वह अन्य किसी धर्ममें नहीं है। परंतु ऐसी बहुतसी बातें हैं जो इस धर्ममें हैं और अन्य धर्मोंमें नहीं हैं। यह बात भी विवेचक सज्जनोंकी नजरमें आये विना नहीं रह सकती। ऐसे सर्वश्रेष्ठ धर्मके आधार ग्रंथोंमें श्रीमगगवद्गीता एक है। इसमें मतभेद नहीं है। गीताका वैशिष्ट्य कुछ निरालाही है। पाश्चिमात्य तत्त्ववेत्ताओंने सरल भावसे यह कबूल किया है कि यह ग्रंथ किसी भी धर्मके आधारभूत ग्रंथोंमेंसे एक होनेकी योग्यता रखता है। सांप्रदायिक आचार पर जोर न देकर, सर्व मानवजातिकी बुद्धिको ग्राह्य होंगे ऐसेही तत्त्वोंको विशद करके धर्मके अभ्युदय व निःश्रेयस इन दोनों अंगोंका विवरण ऐसी सुगमतासे इसमें किया है कि जो सामान्य लोगभी भलीभांति समझ सकें; और केवल ज्ञानियोंका ही नहीं किंतु स्त्रीशूद्र बंधुओंको भी ऐहिक व पारमार्थिक मोक्षका मार्ग पूर्णावतारी श्रीकृष्ण भगवान्ने नररूपी अर्जुनको किये हुए उपदेशके द्वारा अखिल जगत्के लिये खुला कर दिया है।

आजतक गीतारूपी समुद्रमें अनेक ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता, सांप्रदायी धर्मप्रणेता और सामान्य विचारकर्तारूपी पनडुब्बोंने डुबकियां मारकर अपनी शक्तिके अनुसार उसमेंसे नाना प्रकारके मौल्यवान् विचार रत्न बाहर निकाले हैं; और कतिपय सज्जनोंने उन्हें स्वच्छ करके, पहलू पाडकर सुंदर बनाया है। इस प्रकार जगत्के कल्याणके हेतु यह रत्नभांडार खुला करनेका कार्य हर रोज जारी है। ऐसा होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि महासागरके तत्त्वरत्न समाप्त हो गए। एक अथवा अनेक जातिके कमज्यादा तेजस्वी रत्न अहर्निश निकाले जाते हैं। इसीमेंसे एक उपक्रम उच्चवर्गीय

"वैदिक धर्म" मासिक द्वारा हो रहा है। यह बहुत स्तुत्य है।

" लोकेऽव्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्ति जंतोर्न हि तत्र चोदना ॥ "

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकार्धमें कहे अनुसार, आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि विषय सुखके पीछे तिर्यग्जंतु भी लगे हैं। इस विषयवासनाको विचारसे रोकना अथवा धर्मबंधनोंसे उसका नियमन करना, इसीमें मानवोंकी श्रेष्ठता है। इसी कर्तव्यके लिये जागृत होकर प्रत्येक धर्मसंस्थापकने अपने अनुयायिओंको तत्तद्देशकालपरिस्थितिके अनुसार उपदेश किया है और आचार-नियम बना दिये हैं। ये नियम अधिकांशमें अंतक्षेपणीय हैं। यह बात भिन्न है कि इन नियमोंका पालन उनके अनुयायीओंसे होता नहीं।

ये आचार नियम देशकालपरिस्थितिके अनुसार बनाए गए हैं, इसलिये उनके शब्दप्रयोगमें बाह्यतः भिन्नता और विरोध दिखते हैं। लोगोंकी ऐसी भावना हो जाती है कि इसी विरोधाभास में अपने धर्मका श्रेष्ठत्व-सार है। इसी भ्रामक कल्पना प्रबल होतेही धर्मयुद्ध शुरू होता है। वस्तुतः यह धर्मयुद्ध नहीं अधर्मयुद्ध है ! इस अधर्मयुद्धसे भारतवर्ष प्राचीन कालसे अलिप्त रहा है; इसीलिये यहां भिन्न भिन्न मतोंके और उच्चनीच संस्कृतिके नानाविध धर्मपंथ बद्धमूल होकर अभीतक जीवित रहे हैं और प्रतिदिन बढते जाते हैं। अस्तु।

गीताकालीन मतमतांतरोंका निर्देश करके उनका अत्युत्तम रीतिसे समन्वय करनेमें भगवान् श्रीकृष्णने अपना अलौकिक ज्ञानचातुर्य प्रगट किया हैं, इसमें संदेह नहीं। जिस प्रकार सब नदियां आखिर महासागरकोही मिलती हैं, इसी प्रकार परमार्थके भिन्न भिन्न मार्ग अंतमें परमेश्वरप्राप्तिमें ही विराम पाते हैं। यही बात दृढ करनेके लिये भगवान् ने अर्जुनके उपदेशके द्वारा गीताके अंतमें (१८।६६) मानवजातिको यह महामंत्र बतलाया है—

" सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

गीताके भिन्न भिन्न अध्यायोंमें उस कालके प्रचलित कुछ मोक्षमार्गोंका ऊहापोह किया है। औपनिषदिक वाङ्मयका भी सादर उल्लेख किया है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, संन्यासयोग इत्यादि विषयोंकी चर्चा आनुषंगिक रीतिसे हुई है। इसीलिये तत्सांप्रदायी लोगोंको (उन विभागोंपर जोर देकर और अन्य विभागोंमें शब्दार्थकी खींचातानी करके) यह प्रतिपादन करनेको अवसर मिला है कि हमारेही मतको गीता अग्रस्थान देती है। संस्कृत भाषामें शब्दोंको चमत्कृतिजनक अनेकार्थता है, संधि-अवग्रह इत्यादि व्याकरणनियमानुसार अनेक रीतियोंसे शब्द तोडनेकी सुलभता है; इस कारण भिन्नमतवालोंकी इस कार्रवाई को बहुत सहायता मिली है। सांप्रदायिक अर्थ करनेकी इस प्रथाको अलग करना चाहिये, गीताके उपक्रम व उपसंहारकी ओर ध्यान देना चाहिये, और गीताका यह उद्देश्य सामहने रखना चाहिये, कि अधर्मके मिथ्या भयसे अर्जुन विषण्ण होकर युद्धपराङ्मुख हुआ था, उसे सच्चा धर्म बतलाकर युद्धोन्मुख करना। इतनी खबरदारी लेकर गीताका अर्थ करते जानेसे देखें क्या निष्पन्न होता है।

कौरव-पांडवोंकी अठारह अक्षौहिणी सेना युद्धसंनद्ध होकर परस्परसन्मुख खडी हुई, और लडाईको प्रारंभ होता है ऐसा सूचित करनेवाले शंखनादसे और रणघोषसे सारा मैदान गूंज उठा, ऐसे समय मुख्य धनुर्धरको ऐसा लगने लगा कि अपने आप्तइष्टोंके साथ, गुरुजनोंके साथ और मित्रोंके साथ युद्ध करके लाखों मनुष्योंका संहार और कुलनाश होगा तब राज्यसुखकी प्राप्ति होगी; ऐसा राज्यसुख मुझे नहीं चाहिये ! वह शोकाकुल होकर कहने लगा कि " वेही मुझे मारें, मैं उन्हें न मारूंगा। उनके हाथ मेरा मृत्यु होजाय; उसीसे मुझे अधिक सुख होगा। " ऐसा कहके, शस्त्रसंन्यास करके विषण्ण होकर वह स्वस्थ बैठ गया ! ऐसे प्रसंगमेंसे उसको बचानेके हेतु उसे ज्ञानका

उपदेश करके, और यह समझकर कि युद्ध करना उचित क्यों है, उसको युद्धोन्मुख करने ही के लिये गीताका उदय हुवा है। इस गीतारूपी सूर्यनारायणका उदय होते ही समस्त संशयपटल दूर हो गए, भीतिके कृष्ण मेघ लुप्त हुए और शिष्यवर नरवर धनंजयके हृदयमें जो अज्ञानांधकार था वह सब नष्ट होगया; और उसके मुखसे यह उद्गार निकले-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥१८-७३

ऐसा कहकर वह चुप नहीं बैठा, किंतु सभावीरके समान श्रीकृष्णके उपदेशानुसार आचरण करके और कठिन प्रसंगोंमें भगवान्‌की आज्ञाका अक्षरशः पालन करके पांडवोंको उसने अच्छा विजय प्राप्त करा दिया। इस उपक्रम-उपसंहारपरसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि गीताका मुख्य उद्देश अर्जुनसे कुलोचित और कालोचित कार्य कराना ही था।

आत्मा अमर है, शरीर अनित्य, मरणाधीन है। परंतु इस मरणाधीन शरीरमें वास्तव्य किये विना आत्मा कोई कार्य नहीं कर सकता, इसीलिये यह निश्चित है कि- "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" यह शरीर पंचभूतात्मक है; पंच कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे यह कर्म करता है, पंच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा यह रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दोंका सेवन करता है; मनसेन्द्रियके द्वारा संकल्पविकल्पात्मक कल्पनाएं यहीं उद्भूत होती हैं, बुद्धींद्रियके द्वारा धर्माधर्मका नीतिअनीतिका अच्छे बुरेका निर्णय यहीं किया जाता है। परंतु इन सबकी कार्रवाई तभी तक चलती है जबतक इन सबके ऊपर अधिकार चलानेवाली, इतनाही नहीं किंतु इन सबको चेतना देकर उनसे सब कार्य कर लेनेवाली, आत्मा इस शरीरमें है। ज्योंही यह आत्मा इस संघको छोडकर अलग हुई त्योंही यह संघ अचेतन बन जाता है; बुद्धि चलती नहीं; मनसेन्द्रियके स्वैर विहार एकदम रुक जाते हैं; ज्ञान देनेका काम ज्ञानेन्द्रिय नहीं करते, कर्मेन्द्रियोंका काम बंद हो जाता है; अल्प अवधिमें यह पंचभूतात्मक शरीर पंचभूतोंमें विलीन होता है। यह बात जितनी सच है उतना यह भी सच है कि शरीरके आधारके विना आत्मा कार्य नहीं कर सकता।

इसी शरीरस्थ आत्माको जीवात्मा कहते हैं। जैसे भाफका यंत्र चलानेवालेको रातदिन उसकी फिकर रखनी पडती है, वक्तपर इंधन और पानी योग्य प्रमाणमें डालकर अंदरकी आंच और भाफ कार्यक्षम रखनी पडती हैं; उसी तरह जीवात्माको अपना शरीरयंत्र युक्ताहारविहारोंसे कार्यक्षम रखना पडता है। इसमें कहीं भूल होनेसे उसको यातना भोगनी पडती हैं; इन यातनाओंसे मुक्त होनेके लिये वह खटपट करता है; उन यातनाओंसे छुटकारा मिलनेके लिये वह परमात्माकी प्रार्थना करता रहता है; परंतु कर्मोंके नियमोंसे बद्ध रहनेके कारण उसको छुटकारा मिलता नहीं। कर्मके फल उसे भोगनेही पडते हैं। इस भोक्तृत्वमेंसे छूटनेका सुंदर मार्ग गीतामें बतलाया है।

प्रत्येक जीव सुखकी खोजमें रहता है; उसकी प्राप्तिके लिये हमेशा वह कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहता है; सुखके संकल्प करता रहता है; संकल्पोंकी सिद्धिके हेतु देवताओंकी मान्यता करता है; ये देवता भी उसे इष्टसिद्धि करा देती हैं। परंतु इस सुखकी कुछ सीमा है; यह हिसाब है; सत्कर्मरूपी पुण्यकी जमा सुखोपभोगरूपी खर्चमें आती है। जमाखर्च बराबर होतेही जीवात्माको फिरसे कर्मभूमिमें जन्म लेना पडता है। यह केवल पुण्यकर्मकी किस्सा हुई। जो मनुष्य विषयासक्त होकर इंद्रियपिपासा तृप्त करनेकी इच्छा रखते हैं उनके कष्ट क्या बतलावें? प्रथम विषयचिंतन, बादमें उनपर आसक्ति, उन्हें प्राप्त करनेके लिये दीर्घ प्रयत्न; प्राप्त न होनेसे मनका संताप; क्या करूं क्या न करूं, इस प्रकार मनका मोह; इससे होनेवाला बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे निश्चित होनेवाला सर्वनाश; ऐसी यह अनर्थपरंपरा टलती नहीं।

पुण्यकर्मोंसे भी जन्मबंध छूटता नहीं; पापकर्मोंसे तो अनर्थही होता है। ऐसे संकटमें उलझा हुवा जीव यदि यह निश्चय करे कि मैं कामही न करूंगा तो उसका वह निश्चय एक क्षण नहीं ठहर सकता; क्यों कि जन्मकालसे लेकर मरणसमयतक उसे

कुछ ना कुछ करनाही पडता है। मनकी वासनाएं जबतक नष्ट नहीं हुई तबतक कर्मेंद्रियोंको निष्क्रिय करनेसे कोई उपयोग न होगा। गीतामें ऐसे मनुष्य को 'मिथ्याचार' कहा है। यह केवल दांभिकता है। इसलिये पहले संकल्पविकल्पात्मक मनका नियमन करना चाहिये, उसको काबूमें रखना चाहिये; उसके संकल्पविकल्प नष्ट करना चाहिये, तब उसकी प्रेरणासे कर्मेन्द्रिय जो कर्म करेंगे वे बंधनकारक न होंगे। परंतु "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते" विनाप्रयोजनके मूर्ख भी कार्यप्रवृत्त नहीं होता; इसलिये मनका नियमन करके भी कार्य करनाही क्यों चाहिये, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। इसके दो कारण भगवान् ने बतलाए हैं। पहिला यह कि "शरीरयात्रा" पार करनी चाहिये; और दूसरा कारण "लोकसंग्रह।" शरीररक्षाके लिये कर्म करना आवश्यक है। खाना, पीना, सोना, उठना, व्यायाम, विश्रांति इत्यादि कर्मोंको किये बिना शरीर जीवित नहीं रह सकता, इसलिये ये कर्म करनाही चाहिये। परंतु ये आसक्ति छोडकर करना चाहिये। खानेके लिये जीवधारणा नहीं करना, किंतु जीवधारणाके लिये खाना चाहिये। कुंभकर्णी निद्रा नहीं लेना किन्तु शरीरको विश्रान्ति आवश्यक है इसलिये नींद लेना, घष्टपुष्ट बनकर शरीरसामर्थ्यसे दूसरोंको डरानेके लिये व्यायाम नहीं करना, किंतु शरीरको निरोगी रखनेके लिये व्यायाम करना चाहिये।

सामान्य लोग महापुरुषोंका अनुकरण करते हैं। उपदेशकी अपेक्षा कृतिसे मिलनेवाला आदेश अधिक परिणामकारी रहता है। इसलिये ज्ञाताओंको आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिये। इसीको अनासक्तियोग कहते हैं।

अनासक्तिके दो प्रकार हैं। (१) कोई कर्म करते समय उससे निष्पन्न होनेवाले फलकी आशा न रखना, (२) "मैं हूं" ऐसा अहंभाव छोड देना।

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।"

इसके अनुसार सचमुचमें यदि ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म किया जाय, तो वह बाधक नहीं होता। परंतु दुनियामें निरालाही अनुभव आता है। हम जिन कर्मोंको "धर्मकर्म" कहते हैं, उनका भी प्रारंभ 'मम सकुटुंबस्य' इत्यादि संकल्प किये बिना होता नहीं! मनमें यही सच्चा हेतु रहता है। कर्मके अंतमें उसे 'ब्रह्मार्पण' करनेका जो शाब्दिक विधि हम करते हैं वह केवल औपचारिक रहता है, सच्चा नहीं। ऐसा न हो तो कार्यके आरंभही में उसे ब्रह्मार्पण करनेमें क्या उजर है? वस्तुतः किसी किसी विशिष्ट संकल्पसे अथवा हेतुसे कार्यका प्रारंभ करना हो तो वैसा करना और उसका फल भोगनेकी तैयारी रखना; केवल ईश्वरके नामसे पानी छोडकर उसमेंसे निकल जानेका फार्स करना न चाहिये।

एकबार फलाशा छूट जायगी, परंतु "मैं और मेरा" का सूक्ष्म अहंकार छूटना कठिन बात है। इस अहंकारने बडोंबडोंको भी नीचा दिखलाया है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग् विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥
भ० गी० १८।१४

इसके अनुसार प्रत्येक कार्य के पांच कारण रहते हुए, यह मानना कि "मैं" ही कारण हूं, मूर्खता का लक्षण है। "मैंने घर बांधा," "मैंने बाग लगाया," "मैंने काव्य रचा," ऐसी अहंताके चक्करमेंसे पहले छूटना चाहिये, उसके बाद फलाशारहित कर्म किया जाय तो वह बंधनकारक नहीं होता। यह बात निम्नलिखित श्लोकमें जोरदार शब्दोंमें बतलाई गई है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हंति न निबध्यते॥
गी० १८।१७

गीता कहती है कि, जिसका अहंकार नष्ट हुवा; जिसकी बुद्धिको फलाशा स्पर्श नहीं करती, वह सारी दुनियाका संहार करे तब भी उसे पाप नहीं लगता, वह कर्म उसे बंधनकारक नहीं होता।

यह अनासक्तियोग और जिसका विवरण गीतारहस्यकारोंने किया है वह निष्काम कर्मयोग, दोनों एकही हैं।

जो संन्यासमार्ग समझा जाता है और जिसके

नाना प्रकार हम नित्यशः देखते हैं वह गीताको संमत नहीं। यह बात स्पष्ट है। तुंडमुंडोंको मुंडाकर काषायवस्त्र परिधान करनेसे कर्मका न्यास नहीं होता; " मैं न करूंगा " ऐसा आग्रह करनेसे भी कर्मसंन्यास नहीं होता; किंतु काम्य कर्मोंका न्यास अथवा त्याग करनेसे ही संन्यास (सम्यक् न्यास) अर्थात् सच्चा त्याग होता है और वही अच्छा है; ऐसा गीता कहती है।

कर्म करना जीवका स्वभावही है। वह मूल स्वभाव किसी तरह जाता नहीं। न करनेका निश्चय करनेपर भी कर्म हुएविना नहीं रहता। इस खटपटमेंसे छूटनेका एकही मार्ग है- अर्थात् निष्कामकर्मयोग। कर्मकी फलाशा न रखते हुए कर्म करना यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुखकारी है; परंतु उसका आकलन करना और आचरण करना उतनाही कठिन है। इसलिये भगवान् ने अंतमें कहा है कि सर्वान्तर्याममें वास करके सबको पुतलीके समान खिलानेवाले ईश्वरकी जीवात्मापर सत्ता धारणकरनेवालेकी शरणमें जाओ। "कर्ता कराता वही है, मैं निमित्त मात्र हूं " ऐसी दृढ भावना रखो। जैसे नौकर अपने श्रमोंका फल अपने मालिकको देता है और मालिक वह लेता है, उसी तरह तुम अपने समस्त कर्मोंके फल उसको अर्पण करो जिसमें समस्त कर्मोंका लय होता है, और तुम निश्चित हो।

प्रपंचको साधकर परमार्थका लाभ करानेवाला सुलभ मार्ग द्वापर युगके अंतमें श्रीनारायणने नरको बतलाया। उस उपदेशसे जागृत होकर सब लोग कलियुगमें बर्ताव करते तो आजकलकी भारतवर्षकी अवनति देखनेका कठिन प्रसंग हमें न आता। परंतु ढाई हजार वर्षके पूर्व वैदिक धर्मपर बुद्ध संस्कृतिने पहिला आघात किया। इससे वर्णाश्रमधर्मको जबरदस्त धक्का लगा;उससे सम्हालनेके पहिलेही महंमदी धर्मके आघात शुरू हुए। शान्तिके इस्लाम धर्मके पाठ तलवारके जोरपर देना शुरू हुआ। उनमेंसे भी बचकर बाहर निकलनेकी चेष्टा की जाती थी,इतनेमें किरस्तानोंकी व्यापारी संस्कृतिकी चढाई और कणिक नीतिका अवलंब करनेवाले उनके अनुयायिओंके गुप्त हल्ले शुरू हुए। जिस संस्कृतिको वर्णाश्रमधर्मकी पहिचानतक नहीं, जो पुनर्जन्मको नहीं जानते, " जैसे करना वैसे भोगना " इस कर्मनियमका जिन्हें स्वप्न नहीं, ऐसी संस्कृतिसे हमारी आंखें चकित हो गईं, हमारे आधारबंध छूट गए और हम बहतेही गए।

वर्णाश्रमधर्म बलहीन हुवा, झूंठा वेदान्त फैल गया, अनधिकारी जीव काषाय वस्त्र पहनकर संन्यासमार्गके आचार पालनकर बैलोंके समान समाजमें चरने लगे; भाग्यवान् लोगोंकी अर्थेषणा वयोमानसे और आश्रमानुसार घटनेके एवजमें मरणसमयतक बढतेही जाने लगी; कर्मके नियमोंका ज्ञान लुप्त होनेके कारण भाग्यहीन लोगोंकी समझमें व्यवहारकी विषमता न आसकी, उनके मनमें ऐसे विचार चलने लगे कि यह मनुष्य पालकीमें बैठे और मैं भारवाहक क्यों होऊं? समाजसत्तावादको इंधन मिलनेसे ऐसे लक्षण दिखने लगे कि यह दावानल सारे जगतभर फैल जायगा। ऐसे समयमें गीताका वास्तविक ज्ञान, उसके तत्वोंका प्रामाणिक आचरण जीवात्माओंके अभ्युदय और निःश्रेयसका सहायकारी होगे इसमें संदेह नहीं।

इन दिनोंमें भगवद्गीताका महत्व सर्व प्रकारसे हमें समझने लगाने है। गीताका सांप्रदायिक मतानुसार अर्थ करनेकी अंधपरंपराको छोडकर लोकमान्य तिलकने स्वतंत्र बुद्धिसे गीताका सार निकाला। उसमेंसे गीतारहस्य निकला। उसने सिद्ध किया कि गीताकी नजरमें निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। लोकमान्य तिलकके पश्चात् गीताका अभ्यास करके उच्च तत्वोंका स्वतः आचरण करके बतलानेवाला महापुरुष महात्मा गांधी हैं। गांधीजी इसी निष्काम कर्मयोगको अनासक्तियोग कहते हैं। दोनोंका अर्थ एकही है।

जहां गीतोपदेशरूपसे भगवान्का सान्निध्य है, गीताके उपदेशसे जिसका संशय दूर हुवा ऐसे ज्ञानी निष्काम-कर्मयोगियोंका भगवत्प्रेरणासे कार्य जहां होता है, वहां श्री, विजय, भूति और अंतमें मुक्ति निश्चित रूपसे हैं।

—०—

भगवद्गीता और आशावाद।

(लेखक— श्री० मा० के० सहस्रबुद्धे, अलिबाग।)

But for me Gita became an infalliable guide of conduct. It became my dictionary of daily reference. I turned to this dictionary of conduct for a real solution of all my troubles and trials.

–Mahatma Gandhi.

जगत्का उद्धार करनेवाले पवित्र ग्रंथोंमें गीता का स्थान श्रेष्ठ है। "श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथोंमेंसे अत्यंत तेजस्वी और निर्मल रत्न है।" यह महाभाग लोकमान्यतिलकका वाक्य चिरस्मरणीय है ही। परंतु रत्नका सौंदर्य देखना और उसका तेज व निर्मलत्व अपने नयनसंपुटमें संग्रहीत करना प्रत्येक मनुष्यके भाग्यमें नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीता चंद्रकिरणोंके समान शीतल,सुखद और सर्वसुलभ है।

सबही धर्मग्रंथ यद्यपि मानवोंको परमार्थप्राप्तिका मार्ग बतलानेके हेतु निर्माण होते हैं, तथापि उनके मार्ग और उनकी रचना भिन्न रहती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया हुवा परमार्थप्राप्तिका मार्ग हीरेसरीखा दुर्गम और दुष्प्राप्य नहीं किंतु शीतलचंद्रकिरणोंसरीखा सर्वसुलभ है। प्रपंच और परमार्थ मानो एकही सिक्केकी दो बाजुएं हैं। सामान्य मनुष्यको यह ज्ञान हो नहीं सकता कि परमार्थके विस्तीर्ण भूप्रदेशमें प्रपंचका प्रदेश कैसे और कब विलीन होता है। गीताका यही महत्व है; आर्यतत्वज्ञान की यही विशिष्टता है !!

आज अनेक शताब्दियोंसे निवृत्तिमार्गके तत्वज्ञानका प्रसार इस देशमें जारी है, इससे निराशावाद बहुतसा फैल गया है। उपनिषत्कालीन तेजस्वी और स्फूर्तिदायक विचार अस्तंगत हुए और उन विचारोंकी अनुचर जो रहनसहन थी उसका भी लोप हुआ; देश स्वातंत्र्यहीन हो गया,लोग कर्तव्यहीन हो गये। तत्वज्ञान और जीवित इन दोनोंकी फारकत हुई। कालवशात् लोकमान्यके सदृश गीताका हृद्गत जाननेवाला तत्वज्ञानी द्रष्टा निर्माण हुआ। उनके गीतारहस्य द्वारा गीताका अमृततुल्य आशावादी संदेश गीतावाचकोंको कर्तव्यसन्मुख करने लगा।

गीताग्रंथ मानवोंकी चित्तवृत्तिको डांवाडोल कर देता है। तुच्छ मिट्टीके डिगलेमें से नररत्नोंको निर्माण करनेका सामर्थ्य इस ग्रंथमें है। गीताग्रंथ वाचकोंके मनमें कोरी आशाके अथवा काल्पनिक मनोरथोंके भडकीले चित्र उपस्थित नहीं करता। उसका संदेश यह है कि अपने शरीर परमेश्वरके पवित्र मंदिर है और अपने शुद्ध आचरण से उन्हें परमेश्वर-निवास के लिये योग्य बनाना यही कर्मकौशल्य है। जिस परिस्थितिमें अपना जन्म हुवा हो, उस परिस्थितिके विषयमें मनमें असंतोष नहीं रखना, किंतु उसी परिस्थितिको अनुकूल बना लेना चाहिये। भूतमात्रके शरीरसे लगाकर अंतर्बाह्य पवित्रता गीताको अभिप्रेत है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ १८।६१

यह श्लोक भूतमात्रकी जन्मजात पवित्रताका वर्णन करके मनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करता है। यह आत्मविश्वास अंतःकरणमें उत्पन्न होकर जब वृद्धिगत होता है तब निराशाके लिये कोई जगह नहीं रहती। हम लोग प्रायः बाह्य सुखके पीछे पडे रहते हैं। बाह्य सुख क्षणभंगुर होनेसे उसका कमी न कमी अंत होना निश्चित है। जहां सुखका अंत हुवा वहां उसके पीछे पीछे दुःख, निराशा,

तृष्णा अवश्य आवेंगी ! इन सबके चक्करमें पडनेपर मनःस्वास्थ कैसे रह सकता है ? परंतु गीताशास्त्रने सुख की कल्पनाही आमूलाग्र बदल दी है।

गीता कहती है कि सज्जनो, सुख बाहरसे नहीं मिलता, तुम अपनी दृष्टि अंतर्मुख करो, तो वह तुम्हें अनायास मिलेगा ! मकडी अपना जाल बुननेके लिये बाहरसे धागे नहीं लाती। धागे उसके शरीरमेंही रहते हैं। इसी सुखको अपने आत्मासेही प्राप्त करके (आत्मन्येवात्मना तुष्टः) उसका आस्वाद लेना चाहिये। इस तरह से प्राप्त किया हुवा सुख क्षणभंगुर नहीं किंतु अमृततुल्य है। " परिणामेऽमृतोपमम्। " ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये बडी बडी इमारतें नहीं चाहिये, बडी बडी पूंजीवाले कारखानोंकी जरूरत नहीं; लाखों रुपये खर्च करके प्राप्त की हुई पाश्चिमात्य शिक्षाकी आवश्यकता नहीं; केवल स्वतःकी जन्मजात पवित्रताको पहचानकर दृष्टि अंतःर्मुख करनेसे यह सुख दुःखीकष्टी लोगोंके हृदयनिर्झरमें अखंड प्रवाह से बहने लगता है।

कोई कोई लोग अपनेको हमेशा हीनदीन व पातकी समझकर अपनेमें वास करनेवाले ईश्वरी अंशको कुंठित करते हैं। हमारा जन्म कितने भी हीन जातिमें हुवा हो, अपनी सांपत्तिक स्थिति कितनी भी निकृष्ट हो, केवल वाङ्मयिक शिक्षामें हम कितने भी पिछडे हुए हों, तथापि निराश होनेका कोई कारण नहीं। भूतकालको भूल जाओ, परमेश्वरकी दयालुता और न्यायप्रियतापर अनन्यभावसे श्रद्धा रखो; वर्तमानकालकी योजना योग्य मार्गका आक्रमण करनेमें करो; इससे तुम्हारा भविष्यकाल अवश्यमेव उज्ज्वल होगा। यह दिव्य संदेश गीता हम लोगोंको निम्नलिखित श्लोकके आधार से देती है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
गीता ९। ३०

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्
गीता ९। ३२

यह जगत् जडवादकी चुंगल में आकर सुवर्णवृद्धिके लिये नीतिकी दुर्दशा कर रहा है। जडवादकी इस चुंगलमें जैसे बडेबडे राष्ट्र आए वैसे हमारे सदृश छोटे लोग भी आ रहे हैं। जडवादके और अर्थोत्पादनके पीछे दडनेसे मानसिक शांतिका लोप हो रहा है। तृष्णा अनावर होगई है। इस परिस्थितिको अपने बेलगाम काबूमें लाकर उसे धर्मकी दासी (Handmaid of Religion) बनानेका अद्भुत सामर्थ्य गीताके ' अपरिग्रह ' के तत्त्वज्ञानहीमें है। यह अपरिग्रहका तत्त्वज्ञान हमारी तृष्णाका शमन करके हमें चिरकालिक शान्ति व संतोष प्राप्त करा देगा। क्या यह प्रभाव गीताके आशावादका नहीं हैं ?

गीताके श्रद्धालु भक्त यदि सात्त्विक संतोषसे रहें तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्यों कि गीता कहनेवाले साक्षात् श्रीकृष्णभगवान् इस विषयमें स्वतःका उदाहरण सामहने रखते हैं। वे स्वयं अपने भक्तोंसे बेलगामी भक्तिकी अपेक्षा नहीं करते; उनका समाधान श्रद्धाभक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए पत्रसे, फूलसे अथवा फलसे भी होता है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
गीता ९। २६

आजकल बहुतसे लोगोंको हलके काम करनेकी शरम मालूम होने लगी है। शूद्रोंको वैश्यवृत्तिका मोह पडता है; वैश्योंकी आंखें क्षात्रवृत्तिके तरफ लगीं रहतीं हैं; क्षत्रियोंकी इच्छा रमती है कि ब्राह्मणसमाजका दर्जा और इज्जत हमें मिल जाय; ब्राह्मणोंके ब्रह्मकर्म छूट गये और वे सेवावृत्तिके मोहमें पडे रहते हैं। एवंच सब लोगोंकी यह स्थिति हुई है- " ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं आशावधिं को गतः। " इस परिस्थितिपर गीताने अच्छा उपाय निकला है। वर्णधर्मके अनुसार जिस कार्यकी जिम्मेदारी हमपर आ पडी हो वह कार्य हमको श्रद्धासे, आस्थासे और कर्तव्यबुद्धिसे करके उसीमें ईश्वरका स्वरूप देखना और किसीकी ईर्षा अथवा द्वेष नहीं करना चाहिये। ऐसा समझौतेका मार्ग

गीताने हमारे साम्हने रखा है। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" जो कार्य हम कर रहे हैं, वह ईशकार्य ही है; वह यज्ञही है; कर्तव्यरूपी कुसुमसे की हुई यह ईश्वरकी पूजाही है, इस भावनासे कर्म किया जाय तो हेवा, द्वेष, विश्वासघात, असत्य इत्यादि प्रकारके दुराचरण हमसे भूलकर भी न होंगे और हमारा आयुष्य धर्ममय होगा!

पुनर्जन्म और कर्मविपाकके तत्त्वज्ञानद्वारा गीताप्रणीत आशावादरूपी भव्य मंदिरपर मानो कलशही चढाया गया है। "अपना कर्तव्य श्रद्धासे करो, उसके विषयमें हृदयमें पवित्र भावना रखो, कर्तव्यपूर्तिके लिये मरणका भी स्वागत करनेको तैयार हो। मरणसे तुम्हारा कुछ नुकसान न होगा। कर्तव्यका मार्ग योगयुक्त बुद्धिसे आक्रमण करते हुए यदि मृत्यु आवे, तबभी आगले जन्ममें तुम पिछले कर्मसंचय के जोरपर अधिक तेजस्वी बनकर जयिष्णु होगे!! कर्मयोगीका तेजस्वी कर्म कभी वृथा न होगा। अनन्यभावसे प्रयत्नवान् हो तुम्हारा विजय निश्चित है।" इस प्रकार स्फूर्तिदायक संदेश हमें निम्नलिखित श्लोक देते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
गीता ६।४०-४३

गीताका तत्त्वज्ञान केवल हमारे मनमें इसी जन्मके वास्ते आशावाद उत्पन्न नहीं करता किंतु आगे चलकर आगले जन्मको मंगलमय और अमृततुल्य बनानेकी कुंजी हमारे हाथमें सौंपता है। इस रीतिसे उत्पन्न होनेवाले आशावादके मुकाबले जागतिक तत्त्वज्ञानके इतिहासमें दूसरा कोई न मिलेगा। अब इसके उपरांत किसीको निराश होनेका कारण नहीं। गीता हम लोगोंके हाथमें उपदेशका पारस (राजविद्याराजगुह्य) रखती है। निराशारूपी लोहा अभी भी कहीं बचा हो तो एक क्षणमें उसका आशारूपी सुवर्ण अवश्यमेव बन जायगा।

एवंच, गीताका आशावादी संदेश प्रत्येक मनुष्यके आयुष्यको इष्ट गति देकर मानसिक शान्ति प्राप्त करा देता है। आज पाश्चात्य राष्ट्रोंमें जो वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कलह जारी हैं, उसमें रुकावट डालनेमें यही तत्त्वज्ञान सहायक होगा।

समस्त प्राणिमात्रोंका उगम परमेश्वरसे हुआ है। उसकी आराधना कर्तव्यकुसुमोंसे करके इहपर कल्याण साध्य हो, ऐसी प्रार्थना है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥
-गीता १८।४६

गीताका सुभाषित।

जो संयमी हो उसकी सलाह लो।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते ... हृषीकेशं...आह॥ भ० गी० १।२०।२१

"युद्ध शुरू होनेपर, जिसने इंद्रियोंका (हृषीकेश) संयम किया हो ऐसे पुरुषको जोकुछ पूछना हो पूछ लेना योग्य है।" असंयमी पुरुषको पूछोगे तो वह अपना स्वार्थ साधनेके लिये कुछ न कुछ घुटाला करेगा।

श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थकी एक नवीन दिशा।

(लेखक- श्री० गोपाल लक्ष्मण कसबेकर, पूना)

रात्रि दिवस आम्हा । युद्धाचा प्रसंग ।
अंतर्बाह्य जग । आणि मन ॥

-श्री तुकाराम

मेरा ऐसा अनुभव है कि श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थके बाबद ज्यों ज्यों विचार किया जाय त्यों त्यों उसपर निरालाही प्रकाश पडने लगता है। भगवद्गीता पढते समय एकही विचार अधिक प्रमुखतासे मनमें उपस्थित होता है- अर्थात् प्रस्तावनाध्यायके बाबद । "भगवद्गीता" के नामपरसे विचार करना शुरू हो तो उसके नामहीमें गौरव है; वह भगवानने कही है । पुराणोंने " सर्वोपनिषदो गावो " अथवा " गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। इस तरह उल्लेख करके जिसको उपनिषदोंका सार ठहराया; जिसके प्रत्येक अध्यायके अखीरमें "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु योगशास्त्रे" ऐसा पाठ प्रक्षिप्त करके प्रायः हेतुपुरःसर ऐसी व्यवस्था कर रखी है, कि पठन करनेमें भी पाठकका ऐसा स्मरण बना रहे कि यह गीता ब्राह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रका प्रतिपादन करनेवाली है। क्या वह गीता सचमुचमें "कौरव-पांडव" इस व्यावहारिक नामसे प्रसिद्धि पाये हुए ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी लढाईके प्रसंगपर गही गई होगी? अथवा यह सारा शब्दोंका खेल है। यह लढाई रूपक क्यों न होगी? विचार करनेवालोंको यह प्रतीत होगा कि आध्यात्मिक विषयोंमें जिसका उपयोग किया जाता है ऐसे प्रत्येक शब्दको स्वतःका स्वतंत्र ऐसा अर्थ रहता है। इस दृष्टिसे भगवद्गीताके पहिले श्लोकको देखा जाय तो उससे क्या अर्थ निकलता है? वह ध्यानमें रखने लायक है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

अंध धृतराष्ट्र दिव्य दृष्टि प्राप्त किये हुए संजयको पूछते हैं—

(शब्दार्थ—) धर्मक्षेत्र करके प्रसिद्ध ऐसे कुरुक्षेत्र नामक मैदानपर युद्धकी इच्छासे जमे हुए मेरे पुत्रोंने (कौरवोंने) और पांडवोंने (पांडुके पुत्रोंने) क्या किया?

शब्दोंकी मजा यहां देखने लायक है; ऐसी कि, धृतराष्ट्र अंध बतलाया है; इसके विरुद्ध संजयको खास इस लढाईके लिये दिव्य दृष्टि दी गई है। ऐसी कथा है ।

धृतराष्ट्र जिसने राष्ट्र धारण किया है वह । (भगवानने १३ वें अध्यायमें क्षेत्र शब्दकी व्याख्या "इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । " ऐसी की है। राष्ट्र=जिसमें बहुतसे क्षेत्र हैं वह । यह बात प्रसिद्ध ही है कि धृतराष्ट्रको सौ पुत्र थे । अथवा राष्ट्र भी एक बडा क्षेत्र ही है । अंध धृतराष्ट्र अर्थात् अज्ञानी जीवधारी जीव दिव्य दृष्टिवाले संजयको अर्थात् ज्ञानीको प्रश्न करता है, कि जिस शरीरमें धर्म और कर्म हो सकता है, उसमें अज्ञान अर्थात् विकार और विचार एकत्र होनेसे क्या स्थिति हुई? (पंडु शब्दका अर्थ है शुभ्र; अर्थात् यह शब्द शुद्ध सत्व अथवा सत्व गुणका दर्शक हो सकता है; उसके पुत्र पांडव अर्थात् शुद्ध सात्विक विचार ।)

स्पष्टार्थ— इस जगत् में जन्म होनेके कारण भवसागरमें फँसकर विकार और विचारकी धूमसे जो हैरान होगया ऐसे मुमुक्षुकी क्या स्थिति होगी वह मुझे बतलाओ ।

" प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते " लढाई शुरू होनेका वह मौका था,और वह भी ऐसा कि दोनों पक्षोंके सेना-पति अपने अपने रणवाद्य बजाकर पहिली सलामी दे चुके थे; ऐसे मौकेपर पांडवोंका धुरीण जो अर्जुन- जिसके पराक्रमके भरोसे लडाई का नतीजा निर्भर था, (दोनों पक्षोंको इस बातकी खातरी थी) जिसके विषयमें स्वयं भगवान्‌ने दसवें अध्यायमें कहा है कि"पांडवानां धनंजयः" (इसका भी दूसरा आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है,परंतु केवल उपमाके मतलबसे ही वह श्लोकार्ध यहां दिया है) वह ऐन लढाई छिडनेकेमौकेपर दोनों सैन्योंके बीचमें हाथके शस्त्र नीचे डालकर " विसृज्य सशरं चापम्' स्तब्ध रहता है, और वहां सारथी श्रीकृष्ण उसे गीताका उपदेश करते हैं। अध्यात्मके वाचकोंको क्षणभर ऐसा भास होता है कि प्रायः इसी उपमापर लुब्ध होकर उपनिषदमें निम्न लिखित श्लोक प्रविष्ट किया गया गया है। उपनिषत्कार कहते हैं-

" आत्मानं रथिनं विद्धि। शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि। मनः प्रग्रहमेव च॥"

यह बात सब लोगोंको विदित है कि लढाईके मुखियापर युद्धकी असल भरमार रहती है। इस तरहका एक अगुवा यकायक शत्रुसैन्यके सामने निःशस्त्र खडा रहता है,वह भी एक दो क्षणके लिये नहीं; जबतक उसको गीता समझाई जाती थी तब तक कमसे कम घंटेतक (भगवद्गीता शीघ्रतासे पढनेको समझनेको नहीं- एक घंटेसे कम समय नहीं लगता) दुर्योधनसरीखा प्रतिपक्षी कुटिलनीति-पटु जिसका अपना कार्य साधनेके लिये चाहे जो अन्याय्य बात करनेमें जरा भी दिक्कत न पडती, उस दुर्योधनके सैन्यके सन्मुख यदि सचमुचमें अर्जुन निःशस्त्र खडा होता, तो कोई समझदार मनुष्य ऐसा अनुमान न करेगा कि दुर्योधनपक्षको उसपर शस्त्रनिक्षेप करके उसका काम खतम करनेमें जराभी हिचकिचाहट मालूम होती।

दुर्योधनको धर्मराजका यह निश्चय मालूम था कि " हममेंसे यदि एकभी मनुष्य मारा गया तो हम सब मर जांयगे। " अर्जुनकी दृष्टिसे यह कह सकते हैं कि जिसने उसके प्रिय बंधुओंको, माताको श्रीकृष्णके समान पूज्य गुरुको अनेक बार दुःख दिया था ,उस शत्रुका बदला लेनेकी अपूर्व संधि प्राप्त होनेपर, जिस लढाईके लिये भीम, द्रौपदी अत्यंत उत्सुक हो रहीं थीं, जिस लढाईके लिये अजातशत्रु धर्मराजकी पूर्ण संमति थी, जिस लढाईका प्रारंभ होनेके पहिले श्रीकृष्णकी शिष्टाई निरर्थक हुई थी, इस तरह एक मतसे जो लढाई शुरू की गई थी, उस लडाईमें सामान्य मनुष्यस्वभावके अनुसार (परंतु अर्जुनका दर्जा सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ था) कदाचित् उसे "किं कर्म किमकर्मेति " इस न्यायसे थोडासा मोह हुवा ऐसा गृहीत मानकर भी, अधिकसे अधिक दुर्योधनके व्यावहारिक दुष्कृत्योंका उल्लेख करके, अथवा कौरवोंके कुटिल कारस्थानोंकी याद दिलाकर अथवा क्षत्रिय धर्मके तत्वोंको बतलाकर उसे युद्धके लिये प्रवृत्त करना वाजिब था; परंतु वैसा न करके भगवान्‌ने केवल तत्वज्ञानका उपदेश इस अवसरपर किया है। तत्वज्ञानकी प्रवृत्ति इस जगतमें लढाइयां उत्पन्न करनेकी अपेक्षा उन्हें मिटानेकी ओर अधिक है इस लिये अर्जुनका उस व्यावहारिक लढाईके लिये लिये प्रवृत्त होनेकी अपेक्षा उससे निवृत्त होनाही अधिक संभवनीय था। अर्थात् यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि भगवानने यह उपदेश कौनसे युद्धके प्रसंगपर किया होगा ?

कोई कोई लेखक कहते हैं कि इस अवसरपर भगवानने सप्त श्लोकी गीता कही है, और बादमें व्यासजीने उसका विस्तार किया; परंतु इसके लिये कोई सबल कारण प्रतीत नहीं होता। व्यासजीने अनेक स्थानोंमें भिन्न भिन्न पुराणोंमें भिन्न भिन्न गीताएं कही हैं; यदि वे समग्र समझी जाय तो इसको सप्तश्लोकी क्यों समझना चाहिये? अन्य सब गीताएं केवल अध्यात्मपरही हैं; तब इसी गीतामें यह व्यावहारिक युद्ध कैसे आया? जिन दो पक्षोंमें यह लढाई हुई उन पक्षोंके प्रमुख व्यक्तियोंके नाम भी ध्यान रखने लायक हैं। एक " धर्मका पक्ष " इस नामसे प्रसिद्ध है और दूसरा " दुर्योधनका

पक्ष" इस नामसे प्रसिद्ध है। धर्म और दुर्योधन इन दो नामोंके अर्थोंको भी इस लढाईकी दृष्टिसे बडा महत्त्व है। "धर्म" शब्दपर मयूर कविने भगवान् के मुखसे निम्न लिखित सूक्ति कहाई है—

रक्षावा धर्म असा करिती उपदेश तरि
असे मान्य। रक्षितसों 'धर्मा' तें आम्हांला
धर्म ठाउका नान्य॥

(अर्थ— श्रेष्ठ लोग ऐसा उपदेश करते हैं कि धर्मकी रक्षा करनी चाहिये। हम 'धर्म'की (धर्मराज की) रक्षा करते हैं, हम दूसरा धर्म नहीं जानते।)

इस विषयमें मतभेद नहीं है कि हिंदुधर्म केवल अध्यात्म धर्म है। समस्त विद्वान् और विचारी लोगोंका मत है कि यही धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। क्योंकि यही एक धर्म है जो कहता है कि मनुष्य प्राणी अपना कर्तव्य करनेसे परब्रह्म हो सकता है। यह बात अनुभवसे सिद्ध हुई है। श्रुति, स्मृति और पुराण हिंदु धर्मके तीन मुख्य ग्रंथ हैं। श्रुति=सुना हुवा; स्मृति = यादगार, अर्थात् इन दोनों शब्दोंका अर्थ अनुभव होता है। पुराण= जो बातें पुरानी हुई हैं वे अर्थात् इसकाभी अर्थ अनुभव होता है। ये तीन ग्रंथ वही हैं जिनमें पूर्वप्राप्त अनुभव वर्णन किये गए हैं। ये तीन ग्रंथ भिन्न भिन्न अधिकारवाले मुमुक्षुओंके लिये रचे गए हैं। अध्यात्मके मार्गसे जानेवाले कतिपय मुमुक्षुओंको श्रुति आल्हाददायक होगी; कतिपय सज्जनोंको स्मृतिका पालन करने हो में आनंद होगा;और किसी किसीको पुराणोंमें रुचि होगी। समाजशास्त्रकी अथवा इतिहासकी दृष्टिसे इन ग्रंथोंको जितना महत्त्व है उससे अधिक महत्त्व अध्यात्मकी दृष्टिसे है। अध्यात्मकी प्राप्ति करते हुए पूर्वकालीन महात्माओंको जो अनुभव आए, उनको दूसरोंके उद्धारके हेतु उन्हें बतलाना थे। भिन्नभिन्न अधिकारवाले व्यक्तियोंकी समझमें ये अनुभव आनेके लिये तीन भिन्न भिन्न प्रकारोंसे इन्हींको कहना आवश्यक था। साधारणतः विद्वान् मनुष्य को केवल तत्त्व विशद करके बतलाने से उसके ध्यानमें आजाता है। वही तत्त्व मध्यम वर्गके मनुष्य-

को दृष्टान्तोंके साथ बतलानेसे वह जँचता है, और अज्ञानी मनुष्यको कहानीरूपसे कहनेपर जँचता है, अन्यथा, वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता। इसी तत्त्वपर श्रुति, स्मृति और पुराण इनकी रचना हुई है। अपने प्रत्येक धार्मिक कृत्यमें "श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त फलप्राप्त्यर्थम्" यह जो मंत्र कहा जाता है उसका रहस्य उपर्युक्त विवेचनसे ध्यानमें आवेगा। ऊपर के विवेचनसे यह बात स्पष्ट होगी कि ये तीनों ग्रंथ उन अनुभवोंके विषयमें हैं,जो कि पारमार्थिक प्राप्ति करनेके समय आते हैं। गीताको पांचवां वेद कहते हैं। गीताको पुराण नहीं समझते; किंतु पूर्ण ज्ञान, उपनिषद् का सार, इसी तरह उसका उल्लेख किया जाता है। अर्थात् यह असंभाव्य बात है कि इस गीताका अधिष्ठानभूत जो युद्ध है वह शस्त्रास्त्रोंका युद्ध हो। यह गीता गोपाल कृष्णने कही है। "गोपालकृष्ण" इस नामका अर्थ करनेसे देखिये क्या चमत्कार दृग्गोचर होता है। गो+पाल+कृष्ण ऐसे तीन शब्द इस नाममें हैं। "गो=इंद्रिय; पाल= पालन करनेवाला, कृष्ण=आकर्षण करनेवाला" इस शब्दका पूरा अर्थ "इंद्रियोंका पालन करने-वालेका आकर्षण करनेवाला" ऐसा होता है। इंद्रियोंका पालन मन, बुद्धि और अहंकार करते हैं। उनपर सत्ता (अधिकार) चलानेवाला वही आत्मा अर्थात् चैतन्य है। चैतन्यके अभावमें मन, बुद्धि और अहंकार निरुपयोगी होंगे; और इन तीनों के अभावमें इंद्रियभी अपना अपना काम न करेंगे। इससे गोपालकृष्णका अर्थ वह पुरुष है जो विदेही अर्थात् देहमें रहकर मन, बुद्धि और अहं-कारसे रहित है, अथवा चैतन्य अर्थात् जिसको परब्रह्मकी पदवी प्राप्त हुई है। ऐसे पुरुषके लक्षण दूसरे अध्यायके अंतमें कहे गए हैं, और यह संभाव्य नहीं कि ऐसे पुरुष अध्यात्मके व्यतिरिक्त और कुछ कहे। ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण (गोपाल कृष्ण) ने "मामनुस्मर युद्धय च" इस प्रकार अर्जुन-को व्यावहारिक युद्धके लिये उत्तेजना दी?

जिस युद्धके लिये श्रीकृष्णने अर्जुनको इतना उपदेश किया वह शस्त्रास्त्रोंकी लडाई न होगी; यह बात और एक दूसरे कारणसे मालूम हो सकती है। इस लडाईकी पूर्व तयारीके लिये दूसरे अध्यायमें भगवान् उपदेश करते हैं कि-

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

और जिस पुरुषको सुखदुःख बराबर हैं, उसका

" दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

ऐसा वर्णन करके उसको स्थितप्रज्ञोंकी मालिका-में स्थान दिया है। परंतु सर्वसाधारण बुद्धिवाले मनुष्यको यह बात नहीं जचेगी कि शस्त्रास्त्रोंकी लडाईके लिये स्थितप्रज्ञताका संपादन प्रथम करना आवश्यक है। इतनाही नहीं, किंतु उपदेश के प्रथम प्रवाह में भगवान् ब्राह्मी स्थितितक पहुंच गए हैं; इससे हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन को पुष्टि मिलती है। मनुष्यप्राणीका स्वभाव कितना बलवत्तर है, इसका विवेचन स्वयं भगवान्ने अठारहवें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक में किया है—

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

" जिस बातको करनेसे तुम मोहवश इनकार करते हो, वह स्वाभाविक गुणोंके कारण और प्रारब्ध कर्मके कारण तुम्हें विवश होकर अवश्य करना पडेगा।" अर्जुनके जन्मजात क्षात्र गुणोंके बाबत श्रीकृष्ण को यदि पूर्ण विश्वास था, तो उन्हें पहलेही यह समझ गया होगा कि उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करनेसे यहां कोई लाभ न होगा। परंतु इतना कहनेपर भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश अर्जुनको किया है, इससे यह क्यों न समझा जाय कि गीताका अधिष्ठान जो युद्ध, गीतामें जिसका उल्लेख किया है वह समरांगण, उसमें जिनका निर्देश किया है वे अर्जुन, कृष्ण, भीष्म इत्यादि योद्धा, ये सब उन पुरानकालीन व्यक्तियोंसे भिन्न होंगे?

" अध्यात्मविद्या विद्यानाम् " इस प्रकार जिस विद्याका महत्त्व बतलाया गया है उस ब्रह्मविद्या के अंतर्गत शास्त्र योगशास्त्रमें विचारवान् मुमुक्षुओंको यह एक बडा भारी गूढ प्रतीत होगा। इस दृष्टिसे विचार करनेपर गीताके कई श्लोकोंपर बिलकुल नये अर्थका प्रकाश पडा हुआ दिखेगा। यहां उन सबका ऊहापोह करना शक्य नहीं और इष्ट नहीं। सब मार्गोंके शीर्षस्थानपर बैठनेही के लिये मानो इस मार्गशीर्षने जन्म लिया है; ऐसा समझकर गीतापर विचार करनेके इस नवीन मार्गका प्रारंभ भी इसी महीनेमें हो; ऐसी प्रार्थना करके इस दीर्घ लेखको समाप्त करते हैं।

गीताका सुभाषित।

शत्रुपक्षका निरीक्षण करना चाहिये।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥
भ० गी० १।२२

" इस रणक्षेत्रमें मुझे जिनके साथ युद्ध करना है, उनका निरीक्षण मैं पहिले करता हूं।" ऐसा कहकर विजयेच्छु पुरुष को युद्ध शुरू करनेके पहिले शत्रुपक्षकी सब तैयारियोंका उत्तम रीतिसे और जडसे शुद्ध ऐसा निरीक्षण करना चाहिये। इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें उपस्थित रहताही है। इसलिये मनुष्य को अपने शत्रुओंके बलका अवलोकन करना चाहिये। यह भलीभांति देख लेना चाहिये कि शत्रुने लडाईके व्यूहकी कैसी रचना की है; और उसके मुकाबले अपनी तरफसे बिनतोड योजना करनी चाहिये।

गीतोक्त निर्भयताकी शिक्षा।

(लेखक- श्री० परशुराम सदाशिव देसाई; संपादक 'रामकृष्ण-निकेतन,' मलकापुर.)

मानवी जीवितमें आयुष्यका अंतिम ध्येय प्राप्त करने और नरका नारायण होकर अपना जन्म सार्थ करनेका निश्चित कार्य पार लगाना है; परंतु मनुष्यको कातरताके सबब अपयशका अनुभव लेना पडता है, और सार्थकता से वह दूर दूर जाने लगता है। अपने पूर्वसंचित अलौकिक स्वयंभू सामर्थ्यका उसे पता नहीं लगता, और मृगजलके पीछे दौडते दौडते उसका दम छटने लगता है और आखिर वह साढे तीन हाथ जमीनका मालिक होता है। यह व्यर्थता आंखोंसे दिखती है और हृदय जानता है, तथापि हम लोग इसपर विचार तक नहीं करते कि मानवी जन्मका-दुर्लभ मनुष्य जन्मका-अंतिम ध्येय क्या है,हमें मनुष्यका जन्म क्यों प्राप्त हुवा, अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा हममें विशेष क्या है,और जगत्का नियंता हमारी ओर किस अपेक्षासे देखता है? किंतु हम लोग पागलसरीखे रात दिन थरथर कांपते हुए,फिकर करते हुए और अश्रु बहाते हुए क्षुद्र कीटकोंके समान शिश्नोदरपरायण होकर "हाय हाय" करते करते यह जीवितयात्रा समाप्त करते हैं। केवल कायरता और विक्षिप्त समझके कारण हम अपना जन्म मिट्टीमोल कर डालते हैं। संशयवाद, निर्बलता और निश्चितताका अभाव इनके कारण हम अंतिम ध्येय भूलते हैं। जीवके तथा रूढिके अवास्तव भयसे हम अपना बढा हुआ कदम पीछे लेते हैं; इसपर यदि हम किसीके भक्ष्यस्थानमें पडें तो वह किसका दोष है?हमें खुद समझता नहीं और यदि कोई अधिकारी पुरुष बतलाता है तो उसका हम सुनते नहीं। ऐसी स्थितिमें मानवी जीवितका पर्यवसान यही होगा कि-

"आला आला प्राणि जन्मासि आला।
गेला गेला बापुडा व्यर्थ गेला।"

(प्राणी इस दुनियामें आया (उसने जन्म लिया) और बिचारा व्यर्थ गया।)

कुरुक्षेत्र हो, धर्मक्षेत्र हो, अथवा गृहक्षेत्र हो, वहां युद्ध होताही रहेगा। और यह भी निश्चित है कि पक्षाभिमानसे अंध बने हुए पुरुष जयापजय की शिकायतें सुननेको स्पर्धापूर्वक तयार रहेंगे। ऐसे समय कर्तृत्ववान् पुरुषका यह आद्य कर्तव्य है कि वह अपनी नजर चौकस रखकर, सदसद्विवेक बुद्धिको जागृत रखकर, केवल मनोभावनाको हटाकर,और हृदयस्थ जनार्दनपर दृढ विश्वास रखकर आगे बढना, निर्भीकतासे विजय संपादन करना और क्षुद्र देहबुद्धिको नष्ट करना। ऐसेही पुरुषको श्रीकृष्ण भगवान् अपने हाथमें लेते हैं; परंतु वह भरोसेका आदमी अपने देहस्वभावानसार कर्मकथा रोने लगे, तो उसकी उपेक्षा न करके अनेक प्रकारोंसे उसको समझाते हैं, घुडकी देकर उसे मार्गपर खींच लाते हैं, और इतनेपर भी उसकी समझमें न आवे और वह अपना रोना रोने लगें तो उसे यह अंतिम मात्रा देते हैं-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
गीता ९।२२

हे वीरपुंगव! मैंने तुझे बहुत प्रकार समझाया, परंतु तेरी समझमें न आया। अभीतक तूं बच्चेसरीखा 'मैं कैसा करूं?' कहकर रोता है; मेरे प्यारे बालक, अब म तुझे एक गुप्त बात बतलाता हूं, हजार झनझटोंको छोडकर एक सीधा उपाय

तुझे बतलाता हूं। तू सब कुछ मेरे भरोसे छोड दे। (मुझे सौंप दे,) मुझे तू अपना मुखतारनामा दे दे। जो कुछ करना है मैं करूंगा। इतना जरूर है कि प्रत्येक कृत्य करते समय तुझे, अपना पूर्ण विश्वास केवल मेरे ऊपर रखना चाहिये। क्यों कि "अनन्याश्रितयंतो......"

आवडीनें भावें, हरिनाम घेसी।
तुझी चिंता त्यासी, सर्व आहे॥—तुकाराम

(अर्थ- यदि तुम प्रेमपूर्वक हरीका नाम लेओगे, तो तुम्हारी सर्व चिंता उसीको रहेगी। किसी बातका खेद मत करो; लक्ष्मीपति सब जानते हैं।)

ऐसा होनेसे जहां तूं इस प्रकार मेरी शरणमें आया (तू अनन्य हुवा) वहींसे तेरी सब प्रकारकी चिंता मैं रखूंगा; तू केवल अनन्य बन मनमें यह दृढ श्रद्धा रखना कि मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है। जब तेरी ऐसी श्रद्धा होगी, तब तू कुछभी कर, कहीं भी जा, मैं तेरा शरीररक्षक बना हूं। तुझे कभी भी, कहीं भी, किसीका भय माननेका कोई कारण नहीं। निर्धास्त होकर जो चाहे वह कर। प्रल्हादकी कहानी तुझे याद होगी; वह मुझे अनन्य हो गया था; इसलिये उसे पहाडपरसे गिरा देनेपर भी मृत्यु न आया, हाथीके पांवके नीचे रगडाया तब भी उसे मृत्यु न आया; तप्त कडाहीमें भी वह जीवित रहा और उसे विषबाधा भी नहीं हुई; परंतु याद रख कि मेरेमें अनन्य होनेके विषयमें उसने अपने बापको भी नहीं समझा। अब तू मुझे पूछेगा कि "इस प्रकार आपने मेरा कार्यभार अपने सिर पर लिया, और मेरी सब प्रकारकी चिंता रखनेका निश्चय किया, और मेरा योगक्षेम चलाने लगे, तब मैं आपके इस उपकारके लिये आपको क्या नजर करूं?" इसपर मैं कहूंगा कि इसकी कोई फिकर करनेकी जरूर नहीं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ ९।२६

"जो कुछ तू मुझे भक्तिपूर्वक देगा, पत्र, फूल, फल अथवा केवल पानी, जो कुछ देगा, वह मैं आनंदपूर्वक लेलूंगा। शर्त यही है कि वह अनन्य भावसे भक्तिपूर्वक अर्पण करना चाहिये।"

अहाहा, परमकारुणिक, परम दयालु श्रीकृष्ण भगवानने इस लोकोत्तर आश्वासनसे कैसी निर्भयताकी अमूल्य शिक्षा दी है? "मैं गश्त देता हूं, तू बेखटके सो जाओ" ऐसा कोई हमें भरोसा दे तो खुले मैदानमें भी हमें गाढ निद्रा आवेगी। ऐसा है तो इतने श्रेष्ठ परम पुरुषने दी हुई भार रखनेकी प्रतिज्ञा मिलनेपर, और पुरस्कारकी कोई बडी जिम्मेदारी हमारे सिरपर नहीं ऐसा ज्ञान लेनेपर हमें अनन्य होनेको देर क्यों लगना चाहिये? ऐसा यह अखीरका सहल उपाय, ऐसा यह निरुपमेय आश्वासन, यह निर्भयताकी अमोलीक शिक्षा क्या दूसरे किसीसे मिलना शक्य है? यह रोख धर्म स्वीकृत करनेको देर क्यों लगना चाहिये? अपने दरवाजेपर आई हुई इस कामधेनु को क्यों भगा देना चाहिये? नहीं, नहीं, ऐसी आत्मवंचना किसीको करना न चाहिये। कमसे कम जो यह समझते हैं कि मनुष्य क्या चीज है, उसको ऐसा कभी न करना चाहिये। एकदम अनन्य होकर ढाडससे कार्यक्रमको प्रारंभ करना चाहिये। माया, ममता, लोभ, ये सब चीजें उसका वह देख लेगा। उस विषयमें अपने तरफ कुछ नहीं रखना चाहिये। अनन्य मायने अनन्य। कायदा शब्दशः अमलमें आना चाहिये। क्यों कि तुम्हारे ऐसे हो जानेपर वह जगन्नायक क्या क्या करता है, वह देखिये—

भक्ताचिया काजासाठीं, लाधूंचिया प्रेमासाठीं।
सोडिली मीं लाज रे।

धुतों अर्जुनाचे घोडे, सदा राहें मागें पुढें।
धर्मगृहीं उच्छिष्टें, बांधुनियां माज रे। ॥१॥

वेडीं गौळियांचीं पोरें, त्यांचें ताक प्यालों बारे।
खातां भिल्लिणीचीं बोरें, उच्छिष्टाचें चीज रे॥२॥

दुर्योधनसदनीं आलों, विदुराच्या गृहा गेलों।
आवडीनें कण्या प्यालों, जेंधळ्याची पेंज रे॥३॥

(अर्थ- भक्तों के कार्यके लिये, साधुओंके प्रेम के खातर, मैंने शरम छोड दी। मैं अर्जुन के घोडे धोता हूं,सदैव उसके आसपास रहता हूं। धर्मराज के गृहमें कमर कसके मैं जूंठा उठाता हूं। ग्वालोंके अज्ञान बालकोंके हाथका मैंने मही पी लिया। भिल्लन के बेर खाते समय मुझे जूंठे का कौतुक मालूम हुआ। दुर्योधन के घर आया, वहांसे विदुर के घर गया, और वहां बडे प्रेमसे कनकी और ज्वारकी पेज पी गया।)

और क्या चाहिये ? हतबल, संशयित, भ्रमिष्ट और उस समय कायर बने हुए अर्जुन को, मिथ्या मायामोह में फंसकर स्वयंभू वीरधर्म से परावृत्त होनेवाले अर्जुनको श्रीकृष्ण भगवान् ने अंतिम उपाय 'अनन्य हो' इतनाही बतलाया; इसका कारण अब कोई भी समझ सकता है। शरीररक्षक खबरदार होनेपर आगे जानेवाला मनुष्य निडर होकर दौडता है; उसे किसी का डर मालूम नहीं होता। प्रत्यक्ष काल के भी मुंहपर थप्पड लगानेका उसको सामर्थ्य आता है। यह वस्तुस्थिति विशद करनेके लिये भगवान् ने वीरधर्म आचारके प्रारंभ में अर्जुन को इस प्रकारसे निर्भयताकी शिक्षा दी। और जो तद्रूप हो गए ऐसे अनेक संतमहंतोंने, कर्मयोगियोंने और अवतारी पुरुषोंने यह अपने उदाहरण से दिखा दिया कि यह शिक्षा कितनी सार्थ है।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्' यह तत्व धर्मवीर स्वामी विवेकानंद के अंतःकरण में कैसे बद्धमूल हुआ, और 'जेथें जावें तेथें, तूं माझा सांगाती' यह संतों को समझा हुआ तत्व स्वामीजीके अनुभव में कैसे आया, यह विशद करते हुए स्वामीजीने अपने अनुभवकी एक बात कही। स्वामीजीने कहा- "मैं परिव्राजकावस्थामें घूमते घूमते गोवर्धन पर्वतकी यात्रा करके "राधाकुंड" के दर्शनको गया। वैष्णव लोग इस तीर्थको अत्यंत पवित्र मानते हैं। इस समय मेरे पास केवल एकही कौपीन थी; और कुंडमें स्नानके लिये उतरने के पहिले मैंने उसे धोकर बाहर सूखने डाल दिया। परंतु स्नान करके बाहर आनेपर उस जगह वह कौपीन मुझे नहीं दिखी। वह कहां गई? हवासे उड गई कहें तो हवा बिलकुल न चलती थी। छोटे बालकसरीखा मैं उस वक्त घबडा गया, और उसी अवस्थामें यहां वहां नजर फिराते फिराते मुझे एक बंदर हाथमें कौपीन लेकर झाडपर बडी शानसे बैठा हुआ दीख पडा। तब उस वृक्षके नीचे जाकर बंदर के तरफ देखकर मैंने कहा "हे कपि मित्र, मेरी वह कौपीन मुझे दे दे;" परंतु मेरे शब्द सुनकर मेरी कौपीन देनेके बदले वह मुझे चिडाने लगा। इस कुंडकी अधिष्ठात्री देवता राधा है। बंदरकी इस कृतिके लिये वही राधा जबाबदार है ऐसा समझकर उस को अपने मनमें फिर्याद की; परंतु उसका कुछ असर न हुवा! तब मुझे राधाका गुस्सा आया और इस गुस्से से भरा हुआ मैं घने जंगलोंमें बैठकर आमरण प्रायोपवेशन करनेके संकल्पसे घूमने लगा। मेरे शरीरपर उस वक्त एक चिंधी भी न थी। थोडी देर चलने के बाद एक आवाज मेरे कानपर आयी। मैंने वहां ध्यान न दिया। परंतु थोडीही देर में एक मनुष्य हाथमें अन्नसे भरी हुई थाली और कांखमें एक नयी छोटी लेकर दौडता हुआ मेरे पास आया, और उस अन्नका और छोटीका स्वीकार करनेके लिये मुझे आग्रह करने लगा। मैं चकित हो गया। मेरी समझमें न आया कि यह सब क्या गोड गुंडाबा है! बाद में 'जय राधा' कहता हुआ मैं राधाकुंडपर आया, और पूर्वस्थानपर सूखती हुई कौपीन मैंने देखी। वह देखकर मुझे बडा आश्चर्य हुवा और मुझे पूर्ण प्रतीति आगई कि भगवान् मेरे साथ छाया के समान घूमता रहता है। यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि ईश्वरपर मेरी भक्ति दृढ होनेके लिये यह घटना साधनीभूत हुई। यह अलग से कहनेकी जरूरत नहीं कि ईश्वरकी देनगीका मैंने आनंद से स्वीकार किया।"

"अनन्याची पाठ राखोतसे देव।
राखी तो स्वयमेव संकटांत॥"

(जो मनुष्य अनन्य हुवा उसकी शरीररक्षा भगवान् करता है और संकटसमय में ईश्वर स्वयं

आकर उसको बचाता है।) अनन्य चिंतन करनेवाले भक्तों को जो साक्षात्कार हुए उसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परंतु उसकी जरूरत यहां नहीं। यहां भगवान् वेदव्यास का सिर्फ एक वचन देते हैं—

व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यताद्भुतरूपमुद्वहन्।
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(भागवत)

इस प्रकारसे अनन्य होनेपर योगक्षेम की फिकर नहीं रही ऐसा आश्वासन भगवान् ने गीतामें दिया है। और

" सुपुर्दम ब तो मायये खेशरा।
तो दानी हिसाबे कमो बेशरा॥ "

(हे भगवान्, मैं अपना सर्वस्व तुम्हें अर्पण कर चुका। अब न्यून अथवा अधिक का नाप तौल जो कुछ करना है, वह तुमही करो।) इस प्रकार सर्वस्वार्पण वृत्ति होनेपर चिंता का, भयका, उद्वेग का नामनिशानतक नहीं रहता। फिकर से और डरसे आदमी दुबला होता है; ढाडस का कोई काम करनेके लिये वह नालायक रहता है इसलिये ऐसे मनुष्योंके लिये भगवान् ने अनन्यत्व का सहज मार्ग बतलाया और निर्भयताकी शिक्षा दी।

श्रीकृष्णके इस बोधसे अर्जुन के उद्विग्न चित्तमें धैर्य और तेजकी ज्योति प्रज्वलित हुई, और 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इस वेदान्तकेसरीकी गर्जनासे जागृत हुए उस नरकेसरीने कुरुक्षेत्रमें अपना पराक्रम बतलाया।

ग्रामकेसरी (कुत्ता) कितना क्षुद्र जानवर है; परंतु मालिक का जोरसे आदेश मिलतेही वह शार्दूलपर आक्रमण करनेमें पीछे नहीं हटता। तब त्रैलोक्यका पालन करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् यह आदेश तुम्हें देते हैं, हजारों वर्ष से तुम्हारे कानोंमें यह आदेश पुकारा जा रहा है, तब " मेरा कैसा होगा, मैं कैसे करूं? मेरे स्त्रीपुत्रोंका पालन कौन करेगा? बुजुर्ग लोग मुझे क्या कहेंगे?" इत्यादि प्रकारसे रोते बैठना कितने आश्चर्यकी बात है?

"कांस घालानी बळकट।
व्हावें कळिकाळासी धीट॥"

(अर्थ- अच्छी तरहसे कमर कसके (आगे बढना,) और कलिकाल को भी नहीं डरना।)

यह अनुभवी पुरुषोंका उपदेश हम भूलने लगे, उस उपदेशकी, हमने यदि उपेक्षा कि, तो " मैं मनुष्य हूं " ऐसा कहनेकी पात्रता क्या हमें रह सकती है? करुणाघन श्रीकृष्ण भगवान् स्वतः हमारी रक्षा के लिये हरतरहसे तैयार रहते हुए यदि हम खिन्नवदन बैठें, तो सिवाय आत्मवंचना के इसका क्या कहेंगे?

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं " लोगोंके मतोंकी अपेक्षा आत्महित के विचारही को प्राधान्य देना चाहिये। लोकमत के भंवर में चक्कर नहीं खाना। अपने हृदयमें 'एकमेवाद्वितीयम्' ऐसा ईश्वर है, उसको संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करते रहो। अपनी माता, पिता, धनी इ० वही है। तुम कितनी भी कोशिश करो, बहुजनसमाज को संतुष्ट रखना अशक्य है। और ऐसा करनेकी तुमपर कोई जिम्मेदारी नहीं है। तुमने क्या लोगोंका कर्जा लिया है? नहीं नहीं। अपन अपने मालिक हैं। हम जगत् में एकही एक हैं और हमारे आसपास कोई नहीं है, ऐसी कल्पना करके आनंदसे भगवन्नामका घोष करो। तुम अपने हृदयस्थ परमेश्वर को खुश करो, लोकसमाज अवश्यमेव संतुष्ट होगा, यह सिद्धान्त है। दूसरोंकी खुशामत करनेके लिये आत्महितसे वंचित होनेमें क्या सार है?

प्रत्यक्ष भगवान् जगन्नायक हमें जब आश्वासन दे रहे हैं कि " तुम केवल अनन्य होकर, देहात्मभावका विसर्जन करके, आत्मसमर्पणके लिये उद्युक्त होकर वीरहुंकारपूर्वक आगे बढो; अष्टौप्रहर तुम्हारे संरक्षणके लिये मेरा सुदर्शनचक्र आसपास घूम रहा है। फिकर करना छोड दो, डरनेका कोई कारण नहीं।" तबभी हम पीछे हटें और थरथर कांपते हुए खडे रहें? यह कितना आत्मघात है? यह कल्पना कितनी हास्यास्पद है कि 'हमही परिवारके जनक, पोषक और संरक्षक हैं?' यह जानते हुए कि देह क्षणभंगुर है, उसके संरक्षणके

लिये पगपगपर डरना कितनी नादानी है ? और कालानुरोधसे निर्माण हुई तात्कालिक समाजकारणकी रूढियों को चिरकालव्यापी समझकर उनके आगे सिर झुकाना कितनी तिरस्करणीय कातरता है ? जिस परमेश्वैर्यसंपन्न परमेश्वर के दिक्कालव्यापी सामर्थ्य के पासंग को भी हम मानवोंका सामर्थ्य नहीं ठहरता, वह समर्थ परमेश्वर हमें आश्वासन देता है कि " डरो मत, रोते हुए मत बैठो; अनन्य होकर आगे बढो, तुम्हारा सब भांति संरक्षण करनेको मैं तैयार हूं। " और हम उस आश्वासनपर विश्वास न रखके कातरता से परदास्यरूपी नरकहीमें रंगरस होकर स्वर्गसौख्य मानते हैं, अपने पैरोंपर खडे रहनेका साहसही न करें, यह कितनी लज्जास्पद बात है? उत्पत्तिस्थितिलय करनेवाले परमेश्वरने " मा भैः " करके पुकारना, और कहना कि " तूं केवल मेरा बन जा, मैं तेरा दास हूं " और हम संशयवादके अंधेरे में ठोकरें खाते हुए आत्मघात के लिये प्रवृत्त होना ! इसे क्या आदमियत कह सकते हैं ? स्वामी विवेकानन्दजीका सिंहनाद सुनिये—

If the Sun by the cloud is hidden a bit
If the welkin shows but gloom
Still hold on a while brave heart
The victory is sure to come.
... ...
No winter was but summer came behind
... ...
Be steady then and brave.
... ...
With thee are those who see afar
With thee is the Lord of Might
All blessings pour on thee, great soul!
To thee all may come right.

इस उत्तेजक संदेश का भी क्या हमपर कुछ परिणाम न हो ? फिर क्या हमको अंतःकरणही नहीं है ? अथवा वह बधिर होकर गुलामी वृत्तिके गहरे रौख में छिपकर बैठा है ? हम क्या गहरी नींदमें डूबे हैं कि मृत हो गए हैं ? क्या हमें यह निनाद भी जागृत नहीं कर सकता- " उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत ? "

भागवतमें स्पष्ट ही कहा है—

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

और क्या चाहिये ? इस निर्भयताकी शिक्षाही में पूरा कर्मयोग संग्रहीत है। इसलिये " तत्कुरुष्व मदर्पणम् " यह कर्मयोगका सिद्धान्त अनन्य होकर आत्मसात् कर लेना और फिर कोईभी कर्म हाथमें लेना। भय मानने अथवा चिंता करनेका कोई कारण नहीं। पूर्ण श्रद्धा जरूर होनी चाहिये।

" यो यच्छ्रद्धः स एव सः। "

प्रत्येक कार्यप्रवण तरुण को धैर्यशील कर्मयोगकी राहपर जाना हो तो भगवान् श्रीकृष्णने दी हुई यह अनन्यता की शिक्षा अपने मनमें बद्धमूल करके अथवा इस शिक्षाका स्पष्टीकरण किसी योग्य पुरुष से कराके, सर्वस्वार्पण भावनासे सुखदुःखोंका त्याग करना, और सुप्त सामर्थ्य को जागृत करके कर्तव्य तत्पर होना चाहिये। आजकल के प्रत्येक मनुष्यका यही काम है। ज्यों ही यह श्रद्धायुक्त भावना दृढ हुई कि मुझे किसी तरहकी फिकर अथवा भय रखनेका कोई कारण नहीं, त्योंही समझ लेना चाहिये कि त्रैलोक्य के विजयकी कुंजी हाथमें आगई। आजकल के होनहार तरुण जितने जल्द इस निर्भयताकी शिक्षाको अपने ध्यानमें चढाएंगे, उतनेही जल्द वे अभ्युदय के मार्गसे लग जांयगे, और अतिशीघ्रतासे वे उत्कर्ष के शिखरपर आरूढ होकर ' अहं ब्रह्मास्मि ' की पुकार करेंगे। वह दिन श्रीकृष्ण भगवान् की प्रेरणासे शीघ्रही उदित होगा, ऐसी आशा करके यह अल्प लेख समाप्त करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत बुद्धियोग।

(लेखक—श्री० गोविंद-सुत, अमलनेर।)

" यो बुद्धेः परतस्तु सः। "

'गीता' शब्द का उच्चार करनेकी भी मेरी योग्यता नहीं, तब गीताके विचार मुझे क्या समझेंगे ? मतमतांतर की दंगलमें हैरान हुई इस भरतभूमिमें धर्मके अभ्युदयार्थ स्वयं भगवान् को जहां अवतार लेना पडा है, वह मेरे लेख के द्वारा क्या जागृत हो सकती है ? तथापि मशक जैसे मेरुपर्वत को उलंघन करनेकी महत्त्वाकांक्षा रखे, उसी तरह मैं गीतामाता के तरफ दौड गया और उसका अंत देखनेकी चेष्टा करने लगा। परंतु मैं हूं प्राकृत और गीतासरस्वती है संस्कृत। इतनाही नहीं, किंतु स्वतः भगवान् इसको 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' कहते हैं। मैं प्रकृतिमान् और गीतामाता उस परमपदका अंत देखनेवाली कि-

" न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ! "

प्रकृति में स्थित होकर प्राकृत ज्ञानसे परात्पर तत्त्वका पता लगाना शक्य नहीं है। उसके लिये चिदचिद्ग्रंथि छुटाकर सत्पद में लीन होना पडता है। यह काम केवल गीताके व्यासंग से न होगा। गीताका व्यासंग शास्त्रप्रचीति है। गुरुप्रचीतिसे आत्मप्रचीति आनेपर दृढताके लिये।

'तच्चिंतनम् तत्कथनम्'

इस प्रकार शास्त्रका व्यासंग करना पडता है।

" पुस्तकज्ञानें निश्चय धरणें।
मग गुरू कासया करणें (दासबोध)

पुस्तकज्ञानसे निश्चय करना हो तो गुरु करनेकी क्या जरूरत ? अतएव समित्पाणी होकर

" शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् "

ऐसी शरणगति से और " तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया " इस मार्गसेही जाना चाहिये। अर्जुन इसी मार्गसे गये और गतसंदेह हुए। सिवाय इसके आजतक ऋषि, मुनि, शास्त्री, पंडित, आचार्य आदि पुरुषोंने विचार करके सिद्धान्त लिख रखे हैं; उनके आगे मैं क्या बोल सकता हूं ?

"बोल बोलुनि मुनि गेले। आतां काय बोलूं॥"

(साधु पुरुष बोल चुके हैं अब मैं अधिक क्या कह सकता हूं ?) परंतु संपादक महाशय की सूचना का अनादर करना योग्य नहीं, इसलिये स्वानुभवी सत्पुरुषोंके वचनोंके आधारसे यथामति विचार करना चाहिये। ऐसी अवस्थामें, नैष्कर्म्ययोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, समाधियोग, संन्यासयोग इत्यादि समस्त योग जिनके चरणोंमें लीन हुए-

" तूतें श्रीमुरारी। म्हणितलें प्रगट करीं।
जे अभिप्राय गव्हरीं। झांकिले आम्हीं॥"

ज्ञानेश्वरी १३।८५६

(श्रीकृष्णमुरारि ने तुमको (ज्ञानेश्वरको) कहा है कि जो अभिप्राय हमने छुपाकर रखा उसको तुम प्रगट करो।) ऐसी साक्षात् भगवान् की आज्ञा पाकर जिन्होंने वेदव्यासजीकी राहका अनुसरण करते करते, भाष्यकारोंसे मार्ग पूंछते हुए, श्लोकसंगति न करते हुए, संस्कृत के समान गहन मराठी बोलीमें कौतुकसे "भावार्थदीपिका" ग्रंथद्वारा गीताका संदेश प्रगट किया, उन स्वात्मानुभवी श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी शरण लेकर उनके ग्रंथ के आधारपर हम यथामति विचार करेंगे।

भगवद्गीता अध्यात्मशास्त्र है। "मैं कौन हूं" इसका बोध जिससे होता है वह अध्यात्मशास्त्र है।

शोधूं जाणें सकळांसी। परि पाहूं नेणें आपणांसी।
(दासबोध)

(बाकी सब पदार्थों और जीवोंकी खोज कर सकता है; परंतु स्वयं अपनेको देखनेकी अकल नहीं है।)अहम् से लगाकर इदम् तक सब आधिभौतिक शास्त्रोंके शोध व बोधसे आधिभौतिक सुखोपभोगोंको अतिसुलभ करके, उनके द्वारा आधिभौतिक सुख लूटनेहीको प्रगति, सुधार, अभ्युदय इत्यादि बडी बडी उपाधियां देकर, उन्हीं की महति गानेमें सब लोग अधिकाधिक प्रवृत्त हो रहे हैं। परंतु सिंहावलोकन करके " मैं कौन हूं? " इसका विचार करनेके अतिरिक्त सब हलचल, आंदोलन, व्यवहार, जन्म, मरण, सुख इत्यादि केवल भ्रममूलक हैं।

भ्रमेणाहं भ्रमेण त्वं भ्रमेणोपासका जनाः।
भ्रमेणेश्वरभावत्वं भ्रममूलमिदं जगत्॥
(योगवासिष्ठ)

इस भ्रमसे मैं बिलकुल अलग हूं। मेरा अंतःकरण भी मुझे पहिचानता नहीं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(१०।२)

" येथ वेद मुके जाहले। मनपवन पांगुळले।
रातीविण मावळले। रविशशी॥ "
(ज्ञानेश्वर १०।६४)

" वेदींचें बृहत्सामसूत्र। देखणेपणें पवित्र।
परी तयाही हें क्षेत्र। नेणवेची॥ "
(ज्ञानेश्वर १३।६८)

(अर्थ- जहां वेद मूक हुए, मनरूपी वायुकी गति कुंठित हुई, चंद्रसूर्य वगैर रातके अस्तंगत हुए; वेदोंका बृहत्सामसूत्र जो अत्यंत दर्शनीय पवित्र है, वह भी इस 'क्षेत्र' को जाननेमें असमर्थ है) तब क्षेत्रक्षेत्रज्ञ से विरहित मेरा 'उत्तम पुरुष' स्वरूप कैसे ज्ञात हो? मेरी बैठक बहुत ऊंची है। (ऐसी जगहपर बैठना कि कोई न बोले 'ऊठ') ऐसा मेरा आत्मपद है। वह मेरा मैंही जानता हूं। यह कैसे हो सकता है कि मेरीही बात मैं न जानूं? मुझे यह भ्रान्ति कभी नहीं होती कि " मैं नहीं हूं " परंतु मुझे यह नहीं समझता कि मैं कौन हूं। यह न समझनेको बुद्धिभ्रंश कहते हैं, क्योंकि आत्मपद बोधरूप है और बुद्धि आत्मरूप है। बुद्धिभ्रंश होनेसे मनुष्य मनसोक किया करता है। अपना राष्ट्र परंपराभ्रष्ट हो गया, इससे उसका बुद्धिभ्रंश हुआ है; और इसी बुद्धिभ्रंशके कारण मतस्वातंत्र्यादि इसप्रकारके स्वातंत्र्यकी लालच बढ रही हैं और मनमाने सुधार इत्यादि जारी हैं। ऐसी परिस्थितिमें स्वतः की पहिचान स्वतःको कराके निःसंदेह बनानेवाला वही अध्यात्मशास्त्र है। आधिभौतिक शास्त्रोंसे जो सुख होता है उससे कृतार्थता मालूम होती है, परंतु इस सुखकी दौड अंतःकरणतकही होती है। परंतु

" देहमात्र निरसुनि गेला। तेथें अंतरात्मा कैंचा उरला॥ "
(दासबोध)

(जहां देह नष्ट हुवा, वहां अंतरात्मा कहांसे बचेगा?)

प्राणान्त होतेही सुखकी समाप्ति होती है; इतनाही नहीं, किंतु सुख होतेही वह भूतकालमें विलीन होता है; यह क्रमप्राप्त है। आत्मसुख अंतःकरणविरहित है इसलिये वह अखंड है।

" ऐसे सकळही गेले। परंतु एकचि राहिले।
जे स्वरुपाकार झाले। आत्मज्ञानी॥ "
(दासबोध)

(ऐसे सब गए, परंतु वेही बच रहे जो आत्मज्ञानी स्वरूपाकार होगए।) इस प्रकारका आत्मबोध युद्धके निमित्तसे भगवान् ने अपना सखा अर्जुनको देकर उसे निःसंदेह देहातीत किया। यह वही गीताशास्त्र है।

"साचचि बोलाचें नव्हे हें शास्त्र। संसार जिणतें शस्त्र। आत्मा अवतरवितें मंत्र। अक्षरें इयें॥ "
(ज्ञानेश्वरी १५।५७७)

(यह शास्त्र केवल बोलनेका नहीं है, किंतु संसार को जीतनेका शस्त्र है। ये अक्षर वह मंत्र है जो आत्माको प्रकट करते हैं।) इसलियें यह शास्त्र बहिर्मुखवृत्तिवाले लोगोंका विषय नहीं है।

" अध्यात्मशास्त्रीं इयें। अंतरंगाचि अधिकारियें
येर लोक वाक्चातुर्यें। होईल सुखिया॥ "
(ज्ञानेश्वर १८।१७५०)

(इस अध्यात्मशास्त्रका अधिकारी वही है जो अंतर्मुख हुवा है; अन्यलोक चाहे वाक्चातुर्य से सुख मान लें।) इसलिये यह शास्त्र केवल शब्दार्थ-से समझनेका नहीं है । पहिले वाच्यार्थ, फिर लक्ष्यार्थ और उसकाभी रहस्यार्थ देखा वह अलक्ष्य परमार्थ है।

"दृश्यावेगळें बोलिजे। त्यासि वाच्यांश म्हणिजे। त्याचा अर्थ तो जाणिजे । शुद्ध लक्ष्यांश ॥ "
" ऐसा जो शुद्ध लक्ष्यांश । तोचि जाणावा पूर्वपक्ष । स्वानुभव तो अलक्ष्य । लक्षिला न वचे "
(दासबोध ६।१०)

(बिना देखे कहना वाच्यांश है; उसका अर्थ जान लेना शुद्ध लक्ष्यांश है। इस तरहका जो शुद्ध लक्ष्यांश है; वही पूर्वपक्ष समझना; क्योंकि स्वानुभव अलक्ष्य है, वह वाणीसे ज्ञात नहीं हो सकता।)

अंधेरेमें वस्तुप्राप्तिके लिये दीप लगाया। उस से जहां वस्तु प्राप्त हुई वहीं अंधेरेका और दीपका त्याग आपही आप होता है। इसीतरह अलक्ष्य जो आत्मवस्तु उसकी प्राप्तिके लिये वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ उपक्रम व उपसंहार, अन्वय और व्यतिरेक करके बतलाना पडता है। परंतु निःशब्द वस्तुका बोध होतेही इन सबोंका आपहीसे त्याग होता है।

" अन्वय आणि व्यतिरेक । हा शब्दभेद कोणी एक । निःशब्दाचा अंतर्विवेक । ओळखला पाहिजे ॥ " (दासबोध)

(अन्वय व्यतिरेक ये शब्दभेद हैं, परंतु निःशब्दका अंतर्विवेक पहचानना चाहिये ।) अध्यात्मशास्त्र पढते समय परस्पर विरोधी वाक्य आते हैं। कौनसा पूर्वपक्ष है, कौनसा सिद्धान्त है, यह यकायक समझमें नहीं आता।

" वेदशास्त्र आणि स्मृति। तेथें वाक्यभेद दिसती। ते सर्वही निवडती। सद्गुरुचेनि वचनें
" पूर्वपक्ष आणि सिद्धान्त। शास्त्रीं बोलिला संकेत। त्याचा होय निश्चितार्थ। साधूचेनि मुखें
" पूर्वपक्ष म्हणिजे झालें। सिद्धान्त म्हणिजे निमालें। पक्षातीत संचलें। परब्रह्म तें ॥ "
"तें परब्रह्म जंव कळेना । तंव जन्ममृत्यु चुकेना"
(दासबोध)

(अर्थ—वेद, शास्त्र और स्मृति, इनमें वाक्यभेद दिखते हैं। सद्गुरुकी शिक्षासे इन सबका निरास होता है। शास्त्रमें पूर्वपक्ष और सिद्धान्त बतलाया जाता है, परंतु उसका निश्चितार्थ साधुके मुखसे होता है। पूर्वपक्ष मायने जो हुवा, सिद्धान्त मायने जिसका लय हुवा;और परब्रह्म वह है जो पक्षातीत है और संचित हुवा है। वह परब्रह्म जबतक नहीं समझता तबतक जन्ममृत्युसे छुटकारा नहीं।)

" ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्... " यह उठावनी, और " न रूपमस्येह तथोपलभ्यते... " यह संहारणी; इनसे उत्तम पुरुष बिलकुल निराला है। इस तरह उपक्रम व उपसंहार, पूर्वपक्ष व सिद्धान्त, अन्वय और व्यतिरेक इन सबसे भिन्न जो उर्वरित " जो 'है' और 'नहीं' से भी परे है " वह अपना निजरूप है। यह सब विचार गुरूपदिष्ट मार्गसे ही होना चाहिये ॥

" शब्दजात आलोडिलें । अथवा योगादि अभ्यासिलें । तें तैंचि म्हणों ये आपुलें । जैं सानुकूल श्रीगुरु ॥ " (ज्ञानेश्वरी१०।१७२)

(अर्थ— संपूर्ण वेदशास्त्रका आलोडन किया, अथवा योगादि अभ्यास किया; तथापि वह अपना तभी कहा जायगा जब गुरुकी कृपा होगी।)

गीताकी प्रतिपाद्य वस्तु निःशब्द है। वहां शब्द की गति कुंठित होती है।

"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः
गीता वाचाल मनुष्योंको गूंगे बनाती है और तप योग आदि पर्वतोंका उलंघन करनेवालोंको पंगु बनाती है; इसमें संदेह नहीं।

" सात शतें श्लोक । अध्यायां अठरावे लेख । परि देव बोलिले एक । दुजें नाहीं ॥ "
(ज्ञानेश्वर १८।५८)

(अठारह अध्यायोंमें ७०० श्लोक लिखे गए। परंतु भगवान् ने एकही बात कही है, दूसरी नहीं।) सारांश यह है कि अर्जुनकी पंक्तिमें बैठनेकी जिन की योग्यता है, उन्हींका यह विषय है।

आराम कुर्सीपर बैठकर वेदान्त विषयमें जो यह देखते हैं कि विवेकानंद क्या कहते हैं, स्पेन्सर, शोपेनहोअर क्या कहते हैं, शंकराचार्य क्या कहते हैं, इतिहास क्या कहता है, और फिर मुझे क्या मालूम होता है; ऐसी स्वयंमन्यताकी छाप लगानेके आगे जिनके विचार बढते नहीं; इसीतरह जिनकी बुद्धिको अनेक शाखाएं फूटती हैं—

बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयो व्यवसायिनाम् ।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
गीता २।४१-४२

और देहाभिमानमें भूलकर जिनकी बुद्धि शरीर में ही लिपटी रही; अध्यात्म विषयमें जिनको अंधकार है, ऐसे लोगोंके लिये भी इस शास्त्रका कोई उपयोग नहीं ।

" हे शब्दैविण संवादिजे । इंद्रियां नेणतां भोगिजे । बोला आदि झोंबिजे । प्रमेयासि ॥ "
" कां आपुला ठाव न सांडितां । आलिंगिजे चंद्र प्रगटतां । हा अनुराग भोगितां । कुमुदिनी जाणे ॥ " " ऐसेनि गंभीरपणें । स्थिरावलेनि अंतःकरणें । आथिला तोचि जाणें । मानूं हये ॥ " ज्ञानेश्वरी १।५८-६०-६१

अर्थ- शब्दके विना संवाद करना, इंद्रियोंको न जानकर उपभोग लेना अथवा बोलनेके पहिले प्रमेयसे लिपट जाना (कैसे हो सकता है?) चंद्रका उदय होनेपर अपनी जगह न छोडते हुए उसका आलिंगन करनेका सौख्य केवल कुमुदिनी जानती है । इसी तरह जिनके अंतःकरण गंभीरतासे स्थिर हुए हैं, उन्हींकी समझमें यह शास्त्र आ सकता है ।) अन्यथा गूंगे बहिरे केसी किस्सा हो जायगी । यह ज्ञानेश्वर महाराजका कहना त्रिवार सत्य है । इसको विस्तारसे सिद्ध कर सकते हैं । परंतु इतनी दीर्घ प्रस्तावनासे वाचक अधीर होंगे। अध्यात्म विचारकी यह भूमिका ध्यानमें रखकर भगवद्गीताकी ओर देखें।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनविषादयोगसे लेकर सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, संन्यासयोग, ध्यानयोग इत्यादि ठीक मोक्षसंन्यास योगतक समस्त योग ग्रंथित हैं । श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं कि छटवें अध्यायमें " योग-विभव-भांडार " ही खुला कर दिया है । अहं मम की धांधलीसे अर्जुन मोह रूपी मदिराके नशेमें स्वतःको भूल गया । उसको आत्मबोध करनेके लिये इतना योगभांडार खुला करना पडा! परंतु आखिर किस योगसे आत्मशुद्धि हुई यह बात उनको समझना कठिन है जो गुरुपदिष्ट मार्गसे नहीं जाते । क्योंकि महापुरुषोंके वचन सूत्रमय, थोडेमें बहुत, ऐसे व्यापक अर्थसे भरे रहते हैं । किसी महंतके पास तीन पीडित लोग दुःखनिवारणार्थ गए । एकने कहा " मेरी स्त्री मर गई, संसार डूब गया । " दूसरेने कहा " मेरा बगीचा सूख गया, ठोकर लगी । " तीसरेने कहा " खिडकीमेंसे हवा जोरसे आती है, इससे मेरी तबियत बिगड गई । " महंतने तीनोंको एकही जबाब दिया " पाट...लावा "+ इस वाक्यका मतलब उन तीनोंने अपनी अपनी गरजके अनुसार किया; और उस उस प्रकारसे बर्ताव करके अपना अपना कार्य भाग साध लिया । इसी तरह भगवान् का संदेश " भक्ति " ऐसा सूत्रमय है । भक्तिका अर्थ है सेवा, अर्थात् ईश्वरप्रीत्यर्थ निष्काम कर्म। भक्तिका दूसरा अर्थ प्रेम, रुचि, अर्थात् भजन पूजन कथादिकसे उपासना करना । भक्तिका तीसरा अर्थ है आत्मज्ञानसे आत्मनिवेदनसे विभक्तता छोडकर ईश्वररूप होना, अर्थात् ज्ञान । इस तरह कर्म, उपासना और ज्ञान ऐसे त्रिकांड वेदका समावेश भक्ति शब्दमें होता है । इस प्रकार भगवान्के घरमें सबके लिये एकही पक्वान्न है, परंतु प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारानुरूप उसका उपयोग करता है। इसलिये ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

+ मराठी के इस शब्दप्रयोग के तीन अर्थ होते हैं । एक अर्थ है " पुनर्विवाह करो । " दूसरा अर्थ है " नहर बनाओ " (इससे तुम्हारे बगीचेको पानी मिलेगा) तीसरा अर्थ है "लकडीका तख्ता लगाओ" (इससे हवाकी रुकावट होगी ।)

" जैसा एकला चेववी जग। सहस्रकर ॥ "
ज्ञानेश्वरी अः ६ ओवी २०

तैसें शब्दाचें व्यापकपण। देखिजे असाधारण।
पाहतयां भावज्ञां फावती गुण। चिंतामणीचे ॥
ज्ञाने० ६ ओ० २१

(अर्थ- एकही सूर्य सकल जगत्‌को उत्तेजन देता है, इसी प्रकार शब्दोंकी व्यापकता असामान्य है। इस चिंतामणिके गुण द्रष्टाओंको और भावज्ञोंको दीखते हैं।)

इस प्रकार सूत्रमय भगवद्गीता व्यापक अर्थसे चिंतामणिकी मात्रा हुई है! एंजिनके " भक् भक् " आवाजसे लडके मनमाना अर्थ निकाल लेते हैं वैसे ही असाधारण व्यापक अर्थवाली गीताके योग-विभवभांडारमेंसे भिन्न भिन्न मनुष्योंको अपनी अपनी इच्छाके अनुसार कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञान-योग, संन्यासयोग, अनासक्तियोग, समतायोग स्वातंत्र्ययोग, विश्वबंधुत्वयोग, सब गोलंकार-योग, इत्यादि जो चाहे वह योग विद्वत्ताके जोरपर, तर्कप्रतिष्ठाके आधारपर, बुद्धिमत्ताके जोरपर, अथवा नरजन्मकी इति कर्तव्यता जैसी निश्चित की हो उस प्रकारके तपोबलसे, इत्यादि रीतिसे भिन्न भिन्न योग सहज सिद्ध किये जा सकते हैं। और विशिष्ट कालके अनुसार विशिष्ट योग उपयुक्त मालूम होता है और उसके लिये अनुयायी भी मिल जाते हैं, और वह एक निराला पंथ बन जाता है। श्रीरामचंद्र प्रभु जैसे सीताको मदनके सदृश, धनु-ष्यको महादेवके सदृश, राजाओंको मूर्तिमंत वीर-श्रीके सदृश प्रतीत होते थे, उसी प्रकार हमारी गीतामाता भिन्न भिन्न लोगोंको अपनी अपनी मतिके अनुसार दिखती है। और भगवान् कहते हैं कि जो भक्त जिस श्रद्धासे भजता है उसकी उसी श्रद्धाको दृढ करके मैं उसकी मनोकामना पूर्ण करता हूं। (अ. ७।२१। २२) परंतु योगमायासे आवृत मेरा परभाव अर्थात् परमात्मतत्त्व इस प्रका-रके योगोंसे अवगत नहीं होता; इसलिये भगवान् कहते हैं " अंतवत्तु फलं तेषाम् " (७-२३) उनके फल नाशवंत है।

भगवद्गीतामें अनेक योग कहे हों; अथवा सूत्रमय गीताके आधारसे अनेक योग प्रतिपादित हों, तथापि उनकी उठावनी प्रकृतिपर है; और प्रकृति पंच भूता-त्मक रहनेसे कर्मयोग (पृथ्वी,) भक्तियोग (जल,) समाधियोग (वायु,) संन्यासयोग (आकाश,) इन पांच वर्गोंमें सब योगोंका समावेश होता है। किसी प्रतीकसे अथवा समता, देशबंधुत्व, देशभक्ति, देशसेवा, परोपकार इत्यादि सात्त्विक भावसे, अथवा वायु, आकाश इत्यादि किसी आधिभौतिक ध्येयसे " अहम् " और " इदम् " का तादात्म्य करनेपर, उपर्युक्त योगोंमेंसे कई योग इहलौकिक दृष्टया निःसंदेह उपयुक्त किंबहुना आवश्यक हैं; तथापि ये योग संघातसे उत्पन्न होनेवाले हैं। और संघातसे उत्पन्न होनेवाले योग, आधिभौतिक अत-एव नश्वर होनेसे, आत्मबोध नहीं कर सकते।

भगवद्गीतामें अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा इत्यादि ज्ञानके अठारह लक्षण (अ. १३ श्लो. ७ से ११) कहे हैं। उनमेंसे अंतिम लक्षण यह कहा गया है-

' अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। '

अमानित्वादि सब लक्षण प्रकृतिके अधिष्ठान-पर सालंकृत देखनेमें आए; तथापि ज्ञानसे यदि ज्ञेय वस्तुका दर्शन न हुवा, तो बाकीके लक्षण अंधेके हाथमें दीपके समान हुए।

ज्ञानेश्वरीमें कहा है- (अध्याय १३)

" परव्हीं बोधा आलेंनि ज्ञानें। जरी ज्ञेय न दिसेचि मनें। तरि ज्ञान लाभहि न मन। जाहला सांतां " ॥ ६२६।

" आंधळेयां हातीं दिवा। देऊनियां काय करावा। तैसा ज्ञान निश्चय आघवा। वायांचि जाय " ॥ ६२७ ॥ " पैं ज्ञानाचिये प्रभेसवें। जयाची मती ज्ञेयीं पावे। तो हात धरूनियां शिवे। परतत्त्वातें " ॥ ६३२ ॥

(अर्थ— ज्ञानके द्वारा हम समझे जरूर, परंतु ज्ञेय जो है वह नहीं देख सके, तो हमें ज्ञानलाभकी प्रतीति न हुई ॥ अंधेके हाथमें दीप देनेसे क्या फायदा ? वैसेही ज्ञाननिश्चय जो कुछ हुवा हो वह सब व्यर्थ है ॥ परंतु ज्ञानके प्रकाशके साथ जिसकी

प्रतिज्ञेयको पहुंच गई, वह बहुत जल्द परतत्वको पाता है।)

सारांश, योग, तप इत्यादि साधन हैं-

" आत्मज्ञानं विना पार्थ सर्वं कर्म निरर्थकम्। "
गर्भगीता। १०

क्षात्रवृत्तिवाले अर्जुन युद्ध ही के लिये युद्धकी तैयारीसे आये; और " प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति " इस हिसाबसे उन्होंने युद्धही किया।

" जया जें कर्मसूत्र। मांडूनि ठेविलें स्वतंत्र।
तियें गतिपात्र। होंचि लागे॥ १८। १३०९ "

(जिसके लिये जो कर्मसूत्र खास करके नियुक्त किया गया है, उसीके अनुरोधसे उसको चलना अनिवार्य है।) अर्थात् अदृष्टके अनुसार जो होना था वही हुवा। दरम्यान उसे " अहम् " व " इदम् " का मोह हुवा था। वह माया थी। भगवान् कहते हैं-

" मीं अर्जुन हे आत्मिक। ययां वध करणें हें पातक।
हें माया वांचूनि तात्त्विक। कांहीं आहे? १८।१२५२

(मैं अर्जुन हूं, और ये मेरे आप्त हैं, इनका वध करना पातक है। यह वस्तुतः सिवाय मायाके और क्या है?) मोह अज्ञानसे होता है। अज्ञान और ज्ञान, विस्मृति और स्मृति, ये अंतःकरणके धर्म हैं। डोरी सर्प नहीं हो सकती, परंतु अज्ञानसे अंतःकरणमें सर्पत्वका प्रतिबिंब हुआ। ऐसी भावना हुई कि सचमुचमें यह सर्प है। ज्ञान होनेपर उसी सर्पकी जगह डोरी दिखी। यह सब भ्रान्ति है। स्वप्नमें राजा दारिद्र्यका भोग भोगता है, तथापि उसके राजत्वमें बाधा नहीं आती! स्वप्नके जाते ही वह राजा ही है। इसी प्रकार अंतःकरणके अज्ञानमें परमात्मस्वरूपका प्रतिबिंब पडा। वही प्रतिबिंब बकने लगा कि " मैं यही अर्जुन हूं, देहके सब धर्म मेरेही धर्म हैं। " भगवान्ने समझाया कि यह बकनेवाला तुम नहीं हो; देहातीत, भास-अभासके अतीत जो है वह तुम हो। इससे अर्जुनकी भ्रान्ति नष्ट हुई।

" जिये वस्तूच्या ठायीं। कांहींच का आभास
नाहीं। तें माझें निजधाम पाहीं। पासचें गा॥
ज्ञानेश्वरी १५।२१६

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
... तद्धाम परमं मम॥ गीता॥ १५।६

अर्जुनको यह उपदेश भगवानने बुद्धियोगद्वारा किया। बुद्धियोग स्वयंसिद्ध है। " आत्मबोध रूप है, इसलिये बुद्धिकी शरणमें जाओ, उससे कर्म-बाधा नहीं होती। संशय नहीं रहता। सिद्धि असिद्धिके विषयमें मनकी समता रहती है। पाप पुण्य स्पर्श नहीं करता। मोह नष्ट होकर अनामय पद प्राप्त होता है। जानने व स्मरणके लिये कोई चीज बाकी नहीं रहती। परात्पर उत्तम पुरुष ही आत्म-बोधका रूप है। यह जानकर तुम बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो।

एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।

इस प्रकार बुद्धियोगका महत्त्व कहा है।

" एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु " (२।३९)

यहांसे बुद्धियोगका प्रारंभ करके उसका अनुस्यूत तंतु अखीर तक कायम रखकर अंतमें " सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। " इस श्लोकसे बुद्धियोगकी समाप्ति की है। इसके बीचमें प्रसंगानुसार योगयागादि अनेक विषय आए हैं। उनका उपक्रम और उपसंहार किया; परंतु बुद्धियोगका तंतु हिलने नहीं दिया। बुद्धियोगकी फलश्रुति इस प्रकार है-

" यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमां ल्लोकान्न हंति न निबध्यते॥ (१५।१७)

कर्म में रहते हुए जिसको कर्म स्पर्श नहीं करता व देहमें ही विदेही होता है।

" तयां करणेबां आंत। घडो त्रैलोक्याचा
घात। परी तेणें केला हे मात। बोलों नये॥ "
ज्ञाने० १८।४४८

(उसके कर्म करनेमें यद्यपि त्रैलोक्यका घात होगया हो, तथापि उसने घात किया ऐसा नहीं कह सकते।)

बुद्धियोगसे प्राप्त होनेवाला आत्मपद देहातीत है। भगवान्ने अर्जुनको आत्म पदकी पहचान इस प्रकार दी है-

" इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तुसः॥ " (३।४२)

इस श्लोकपर श्री ज्ञानेश्वर महाराजने कुछ भी विवरण नहीं किया। उन्होंने इतनाही कहा है कि-

" मग मनाची धांव पारूषेल। आणि बुद्धीची सोडवणुक होईल ॥ " ३।२६९ और

" ते गुरुशिष्यांची गोठी। पिंडपदाची गांठी। तेथ स्थिर राहोन नुठी। कवणे काळीं॥"३।२७२

(अर्थ- तब मनकी दौड कुंठित होगी, और बुद्धि का छुटकारा होगा। गुरुशिष्यके संवादसे जीव-ब्रह्मके संयोगका निर्णय होता है। उस स्थितिमें स्थिर होकर वहांसे कभी भी नहीं हटता। सद्गुरुकी कृपासे जबतक यह योग न आवे तबतक वही हाल है कि शब्दोंका भात और शब्दोंकी दाल खाकर क्या तृप्ति होगी? केवल बात मुखसे लेखमें आई है। इससे ज्यादा क्या हुवा?

बुद्धियोगकी परंपरा भगवान्ने विवस्वत्, रवी, मनु, इक्ष्वाकु इत्यादिसे बतलाकर अखीरमें कहा " स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप। " इसका जो विवरण श्री ज्ञानेश्वर महाराजने किया है वह सांप्रतकी परिस्थितिसे मिलता जुलता है।

" जे प्राणियां कामीं भर। देहाचिवरी आदर। म्हणुनि पडला विसर। आत्मबोधाचा ॥"२०

" आव्हांटलीया आस्थाबुद्धि। विषयसुखाची परमावधि। जीव तैसा उपाधि। आवडे लोकां॥"२१

ज्ञाने० अ० ४

(अर्थ- प्राणियोंको विषयलालसा और देहपर प्रीति होनेसे आत्मबोधका विस्मरण हुवा। आस्था और बुद्धि वक्र मार्गसे गई, विषयसुखकी परमावधि हुई, जैसे जीवपर वैसेही देह आदि उपाधियोंपर मनुष्यकी प्रीति हुई।)

मनुष्यके अंतरंगमें हलचल करनेवाले दो तत्व हैं-आधिभौतिक मन और आध्यात्मिक बुद्धि। मन का कर्तव्य है कि बुद्धिके आधीन रहकर गीतामें कहे हुए दैवी संपत्तिके २६ लक्षणोंकी उपासना करके स्वतःके लिये और राष्ट्रके लिये दैवी संपत्तिकी प्राप्ति करके दैववान् होना और अभ्युदय संपादन करना। बुद्धिका कर्तव्य है कि मनकी सहायतासे अध्यात्मविद्या संपादन करके, जिसमें दुर्लभ मानव देहकी इतिकर्तव्यता और धन्यता है ऐसी निःश्रेयसता संपादन करके स्वयं मुक्त होना और राष्ट्रके लिये लोकसंग्रह करना। एक दूसरेकी सहायता करना और सन्मार्गमें प्रवृत्त होना; क्यों कि-

"समत्व चित्ताचें। तेंचि सार जाण योगाचें। जेथें मन आणि बुद्धिचें। ऐक्य आथी ॥ "

(ज्ञानेश्वर २।२७२)

(चित्तका जो समत्व है, वही योगका सार है- जहां मन और बुद्धिका ऐक्य है।) इस प्रकार हरि-भक्ति करके संपूर्ण वंशका उद्धार करना चाहिये। अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा प्रपंच और परमार्थ का साधन करनेवाली सर्वोत्कृष्ट और सर्वश्रेष्ठ परंपरा और उसकी नींवपर रची हुई संस्कृति जिस भरतभूमिमें विद्यमान् थी, और भरतभूमि की शोभा बढाकर सारे जगत् को आश्चर्यचकित करती थी, उस भरतभूमिमें आज क्या देखते हैं? आत्मबोधकी विस्मृति हो गई, उसकी गंधवार्ता भी नहीं रही! उसके बदले विषयसुखका परमावधि-तक भोग लेना, अपनी परंपरा और संस्कृतिको त्याज्य समझकर ठुकरा देना, और उसके ऐवजमें परकीय दुष्कृतिका यथेच्छ अनुसरण करके परान्नपुष्ट होना, क्षीण होनेवाली आधिभौतिक आसुरी संपत्ति संपादन करके मनलोक व्यवहार करके एक दिन मर जाना! यह उद्धारकी प्रगति नहीं, किंतु नरक में जानेकी अधोगति है! " स्वस्वरूपमें रहना वही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ स्वधर्म है। " मैं कौन हूं इसकी खबरतक न रही, अर्थात् हमारा बुद्धिभ्रंश हुआ और हम पशु बन रहे हैं। धर्माचरणसे रहकर अर्थ और काम साध्य हो सकते हैं; और ऐसी अपनी परंपरा थी—

"संसार सुखें करावा। परी कांहीं परमार्थ वाढवावा। परमार्थ अवघा बुडवावा। हें विहित नव्हे ॥ "

(संसार सुखसे करना, परंतु परमार्थकी भी कुछ वृद्धि करनी चाहिये। परमार्थको बिलकुल डुबा देना उचित नहीं है।)

ईश्वरसे प्रार्थना है कि आत्मबोधके मार्गपर अपनी संस्कृति लाई जावे, और आर्यपुत्रोंको ऐसी सद्बुद्धि हो कि वे स्वतःका और राष्ट्रका उद्धार करके नरजन्मकी सच्ची इतिकर्तव्यता प्राप्त करें—

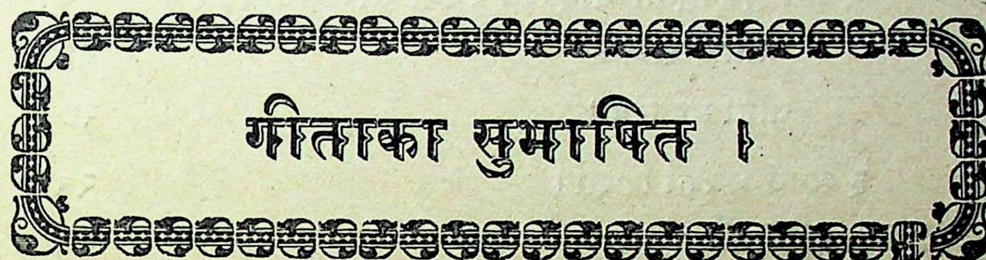
तथास्तु !

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

" क्रमी वेळ जो तत्त्वचिंतानुवादें ।
न लिंपे कदा दंभवादें विवादें ॥
करी सूखसंवाद जो ऊगमाचा ।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा ॥ "

(जो अपना सारा समय तत्त्वचिंतानुवाद में व्यतीत करता है, दांभिकवादविवादमें कभी नहीं रहता, मूलतत्त्वका जो सुखसंवाद करता रहता है, वह पुरुषोत्तमका दास इस जगत् में धन्य है ।)

जय जय रघुवीर समर्थ ।



गीताका सुभाषित ।

स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना ।

" न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे । " भ० गीता १।३१

"हम यदि अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाएंगे,तो अंतमें हमारा उससे किसी प्रकार कल्याण न होगा । " अल्पलाभ के लिये हम यदि अपनेही देशबांधवोंपर शस्त्र चलाकर उनके नाशको कारण हुए, तो उससे कभी हमारा लाभ न होगा, इसलिये ऐसा करना योग्य नहीं; इसी तरह " नार्हा वयं हन्तुं स्वबांधवान् । " १।३७ " हमें अपनेही हाथोंसे अपनेही बांधवोंका वध करना योग्य नहीं । " और भी देखिये -

" स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम । भ० गीता १।३७

" अपनेही लोगोंका वध करके हमें सुख कैसे होगा?"जो लोग ऐसा समझते हैं,कि स्वार्थके हेतु यदि हमने अपनेही बांधवोंपर शस्त्र चलाया तो हमें सुख मिलेगा, उनका चित्त भ्रमिष्ट होगया ऐसा समझ लेना चाहिये। वस्तुतः उनके इस कृत्यसे उन्हींका नाश होता है। शत्रु हम दोनोंको खानेके लिये बैठा ही है। वह जैसे हमें खाएगा वैसे हमारे बांधवोंकोभी खाएगा। ऐसी स्थितिमें हम यदि अपने बांधवोंका वध करेंगे, तो उससे हमाराही बल घटेगा और शत्रुका बल बढेगा; इसलिये अपनेही बांधवोंसे लढाई करना सर्वथा अयोग्य है ।

" महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः । " गीता १ । ४५

" राज्य और सुखके लोभसे यदि हम अपनेही लोगोंका वध करने लगें तो वह बडा पाप होगा। " राज्य, जमीन, नौकरीचाकरी, धन अथवा मान प्राप्त करनेके हेतु जो लोग अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं, उनके समान अन्य पापी कोई नहीं। इसलिये ऐसा निंद्य कर्म कोई न करे।

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

विषयसूची।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	।॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साडेतीन	।॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥ अढाई	।॥
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	।॥) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४) चार।	।॥)
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥) डेढ	॥)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७)	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	(११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	॥

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा मंत्री-स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

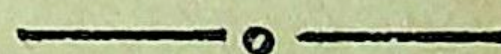


श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

द्वितीय भाग।



संपादक
श्री० दा० सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा.)



प्रथम वार



संवत् १९९०, शके १८५५; सन १९३३.



मूल्य ८ आने

ओ३म्

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

द्वितीय भाग।

१ भगवद्गीतान्तर्गत साधनमार्ग।

(लेखक—श्री० दाजी गणेश आपटे, B. A., LL. B., बडोदा)

श्रीमच्छंकराचार्यने प्रस्थानत्रयीमें श्रीमद्भगवद्गीतापर जो भाष्य लिखा, उसमें मुख्यतः यह प्रतिपादन किया हैं कि भगवान् ने अपनी इस गीतामें संन्यासमार्गकाही उपदेश किया है। उसके पश्चात् भगवद्गीतापर असंख्य टीकाएं हुई और उनके लेखकोंने अपने अपने मतसे गीताके प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें अपना अभिप्राय प्रदर्शित किया। उनमेंसे कतिपय सज्जनोंने ऐसा विवेचन किया है, कि गीतामें कर्मप्रवृत्तिको प्राधान्य दिया है। परंतु जिस अधिकारसे, विद्वत्तासे और साकल्यसे आचार्यजीने संन्यासमार्गका पुरस्कार किया, उसी साधनसामग्रीसे कर्ममार्गका पुरस्कार नहीं किया गया था, वह इस शताब्दिके आरंभमें लोकमान्य तिलकने अपने गीतारहस्यमें किया। उसमें अनेक युक्तियां तर्क प्रमाण इत्यादिसे लोकमान्य तिलकने ऐसा विवेचन किया है कि गीताका मार्ग संन्यासमार्ग नहीं, किंतु कर्ममार्ग है। उनके ग्रंथके पश्चात् श्री० कोल्हटकर महाशयने तथा अन्य सज्जनोंने अनेक लेखोंद्वारा इस अर्थका विवेचन किया कि लोकमान्य तिलकका कहना गलत है, आचार्य का कहनाही सही है। अब अपने सामहने अत्यंत अधिकारयुक्त वाणीसे प्रस्थापित की हुई दो उपपत्तियां सापेक्षसे आई हैं। अर्थात् उन्हें पढकर प्रत्येक मनुष्य अपने अभिप्रायके अनुसार इस या उस मतका प्रामाण्य मानता है।

आचार्यजीका संप्रदाय बडा और वजनदार है, धर्मके संबंधमें निग्रहानुग्रहके अधिकार उस पीठको हैं, हजारों वर्षसे लोगोंकी पूज्य भावना उनपर है, इत्यादि कारणोंसे स्थूलदृष्ट्या पुराणपक्ष आचार्यके मतका अभिमान रखता है। और आचार्यके विरुद्ध सिद्धान्तको स्थापित करनेवाले लो० तिलकको कीर्ति, देशभक्ति, स्वार्थत्याग, विद्वत्ता, परिश्रम इत्यादि गुणोंके कारण अर्वाचीन महाशयापर उनका वजन अधिक पडता है। ऐसी परिस्थितिमें जबतक लोकमान्य तिलक जीवित थे तबतक और उसके बाद कुछ समयतक गीताके प्रतिपाद्य मार्गविषयक तात्त्विक प्रश्नोंका निर्णय करनेमें व्यक्तिमाहात्म्य का अनुकूल अथवा प्रतिकूल असर पडना अनिवार्य था। परंतु लोकमान्य तिलकको दिवंगत होकर आज दस वर्षसे अधिक अवधि हो गया है, इस कारण उस भावनासे विरहित ऐसा विचार करनेके लिये अनुकूल समय अब आगया है, ऐसा कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है। इसीलिये इस प्रश्नके संबंधमें चार शब्द लिखनेका विचार किया है।

यह बात मट नहीं सकते कि औपनिषदिक तत्त्वज्ञानमें संन्यासमार्ग का पुरस्कारही प्रमुखतासे किया गया है। ईशावास्योपनिषद् सरीखे कोई कोई स्थानोंमें निम्नलिखित अर्थके कर्मपर वाक्य जरूर आए हैं—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"

तथापि बृहदारण्यकसरीखे मुख्य मुख्य उपनिषदोंमें संन्यासमार्गकाही पुरस्कार किया है—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति।"

इत्यादि अनेक अवतरणोंके द्वारा उपर्युक्त विधान सिद्ध हो सकता है। इन उपनिदोंके बाद भगवद्गीता हुई; अर्थात उसमें भी उपनिषदोंका प्रतिपाद्य मार्ग होना चाहिये, इस भवनासे श्री० शंकराचार्यने भगवद्गीताका संन्यासपर अर्थ लगाया है। इस दृष्टिसे विचार करके लोकमान्य तिलक अपने गीतारहस्यग्रंथमें कहते हैं- "हमारे धर्मके प्रमाणभूत ग्रंथोंपर जो सांप्रदायिक भाष्य अथवा टीकाएं हुई हैं, उनमें मूल ग्रंथमेंसे सैंकडा ९० से अधिक वचनोंका अथवा श्लोकोंका अभिप्राय एकही प्रकारसे लगाया हुआ नजर आता है।" आचार्यकी विचार-प्रणाली की उपपत्ति इस तरह लगाकर, लोकमान्य तिलकने अपनी स्वतंत्र उपपत्ति लगानेके हेतु ग्रंथतात्पर्य समझनेके लिये गमक ऐसा एक मीमांसाप्रमाण श्लोक स्वीकृत किया है। वह ऐसा है —

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥

ग्रंथका आरंभ व अंत, उसका अभ्यास अथवा बार बार ग्रंथका मनन, उसकी अपूर्वता अथवा वैशिष्ट्य, उसका फल अर्थात् ग्रंथलेखनसे परिणाम रूप हुवा जो कार्य,उसमें आये हुए अर्थवाद अथवा प्रशंसापर आगंतुक वाक्य और अखीरमें उसकी उपपत्ति अथवा ग्रंथमें आये हुए प्रमाणोंकी तर्कशास्त्रानुसार व्यवस्थित रचना; इन सात बातोंसे उस ग्रंथका तात्पर्य समझना चाहिये। भगवद्गीता का तात्पर्य समझनेमें यह श्लोक उपयोगी होगा अथवा नहीं, इसपर विचार हम आगे करेंगे। परंतु वह उपयोगी है ऐसा मान लेनेपर भी क्या निष्पन्न होता है? और उपर्युक्त प्रमाणोंमेंसे आचार्य को और तिलकको कौन कौनसे प्रमाण अनुकूल होते हैं? इसका विचार पहले करें। स्वतः लो० तिलक ऐसा नहीं कह सके कि, उक्त प्रमाणोंमेंसे अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति ये चार प्रमाण आचार्यको अवगत नहीं थे अथवा इसका योग्य उपयोग उन्होंने अपनी बाजूसे नहीं किया। बाकी रहे तीन प्रमाण- उपक्रम, उपसंहार और फल ये तीन प्रमाण लो० तिलकको अधिक अनुकूल हैं; इसलिये वे अपने गीतारहस्यमें स्पष्ट कहते हैं-

"इन तीन विषयों का गीतामें जो मेल किया है वह ऐसा होना चाहिये कि उसके द्वारा अर्जुनको, जब कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मकी कैंची में फंस गया था और यह करूं कि वह करूं इस असमंजस में पडा था और कर्तव्यमूढ होगया था, अपने कर्तव्यका निष्पाप मार्ग मिले, और क्षात्रधर्मके अनुसार अपना शास्त्रोक्त कर्म करनेके लिये वह प्रवृत्त हो। प्रवृत्ति धर्मका ज्ञानही इस जगह प्रस्तुत है, और शेष बातें तन्निमित्तार्थ अर्थात् आनुषंगिक हैं, इसलिये गीताधर्मका जो रहस्य वह भी प्रवृत्तिपर अर्थात् कर्मपर होना चाहिये। ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।"

प्रथम आवृत्ति, पुनर्मुद्रण पृ० २७

होशियार वकील जैसे अपनी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे जो कि न्यायाधीशको मान्य हो सकें) चतुराईसे सिद्ध करके, अपने विरुद्ध मुद्दे धीरेसे उडा देता है, वैसेही यहां युक्तिवाद किया गया है। क्योंकि इसके बाद तिलकने इस प्रकरणकी समाप्ति कर दी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि, चार मुद्दे आचार्यको प्रतिकूल हैं ऐसा लो० तिलक सिद्ध नहीं कर सकते। उनके ग्रंथमें यह विवेचन है कि ये चार मुद्दे स्वतः को अनुकूल हैं; परंतु कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है कि ये मुद्दे विरुद्ध पक्षके विपरीत हैं ऐसा बतलाया नहीं गया। इतना जरूर स्पष्ट है कि बाकीके तीन मुद्दे तिलकको अनुकूल हैं।

"न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।" ऐसा कहके "अर्जुनः रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोक संविग्न मानसः।" ऐसा गीताका उपक्रम अथवा प्रारंभ है। संपूर्ण गीता कहनेके पश्चात्

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।"

यह उसका उपसंहार अथवा अंत है। अर्जुनने युद्ध करके कौरवोंपर विजय प्राप्त किया, यह फल अथवा परिणाम है। अर्थात् ये तीनों प्रमाण आचार्यके विरुद्ध और तिलकके अनुकूल हैं। इसलिये यदि मीमांसकोंका उपर्युक्त श्लोक

गीताके लिये प्रमाण लेना हो तो उस श्लोकोंमेंसे तीन मुद्दे निर्विवाद रीतिसे तिलकके अनुकूल हैं, और बाकीके चार मुद्दे संदिग्ध अथवा उभयानुकूल हैं, ऐसा निर्णय होता है। ऐसी परिस्थितिमें यह ठहराना कठीन होता है कि गीताका मार्ग संन्यास-पर है अथवा कर्मपर है। दोनों पक्षोंको केवल अंशतः पुष्टि मिलती है, इससे वाचक महाशय अपनी अभिरुचि और अभिप्रायके अनुसार इसका निर्णय करेंगे;अर्थात् यह आपत्ति कायम रहती है।

परंतु हमारा मत ऐसा है कि गीतातात्पर्य निश्चित करनेके लिये जो मीमांसाप्रमाणपद्धति लगाई है वह इस ग्रंथको लागू नहीं हो सकती। और यही मत मुख्यतः इस लेखमें हमें बतलाना है। इसमें संदेह नहीं कि जब कोई ग्रंथकार कोई ग्रंथ प्रमाणबद्ध रीतिसे व्यवस्थित लिखने बैठता है, तब उसके ग्रंथका तात्पर्य निकालनेके लिये उपर्युक्त श्लोक प्रमाणभूत होगा। परंतु ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि गीता इस प्रकारका ग्रंथ है। हमारी समझमें यह कोई न कहेगा कि सांप्रत उपलब्ध ७०० श्लोकोंकी समग्र गीता पद्यमय स्वरूपमें श्रीकृष्णने रणभूमिपर गाई होगी। उसको यह पद्यमय स्वरूप अर्थात् व्यासजीने पीछेसे दिया है, इसलिये कि वह पाठान्तरके लिये अनुकूल है, और ग्रंथरचनाकी सर्वमान्य पद्धतिके अनुसार है। रणांगणपर जो असल गद्यसंवाद हुवा वह उसका मूल है। अर्जुनको विषाद हुवा, उसकी उमेद गल गई, इसलिये श्रीकृष्णने उसका लौकिक समझौता करनेका पहिले प्रयत्न किया। "पीछे हटनेसे तुम्हारी अप्रतिष्ठा होगी, तुम्हारे शत्रु तुम्हें नामर्द कहेंगे, विजय पानेसे तुम्हें राज्य मिलेगा, और मरण आनेसे स्वर्ग मिलेगा। मरण सबके लिये निश्चित है तब युद्ध करके और कीर्ति हासिल करके क्यों न मरना ?" यह सर्वसाधारण व्यावहारिक युक्तिवाद है। इसमें तत्त्वज्ञान के पूर्व संकल्पित ग्रंथसरीखा प्रारंभ नहीं है। 'वेणीसंहार' एक नाटक है, वह तत्त्वज्ञानका ग्रंथ नहीं है। उसमें भी इसी अर्थका श्लोक है-

यदि समरमपास्य नास्ति जंतोर्भयमथ युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्। यदि मरणममश्यमेव जंतोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वे॥

यह श्लोक और भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके प्रारंभिक श्लोक समसमान हैं। इस प्रकारका लौकिक उपदेश करनेपर अर्जुन बडी शिष्टताकी बातें बतलाने लगे; तब श्रीकृष्णने ताना मारकर कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

और इस प्रज्ञावादकी शुष्कता बतलानेके लिये भगवान् ने तत्त्वज्ञान में प्रवेश किया। इसके आगे भी श्रीकृष्णने किसी वक्ता के समान एकसा अप्रतिबंध वक्तृत्व अखीरतक जारी रखा हो तो वैसा नहीं है। यह विवेचन संभाषणरूपसे चला था। अर्जुन बीचबीचमें शंकाएं पूछ रहे हैं, श्रीकृष्ण उन शंकाओंपर उत्तर दे रहे हैं, और एकादे नवीन मुद्देका प्रतिपादन शुरू कर देते हैं; इस रीतिसे यह संवाद चल रहा है। इसीलिये इस ग्रंथकी समाप्ति वैसी नहीं की जैसे तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथकी होती है। संवादके अंतमें श्रीकृष्णने सूलके व्यावहारिक मुद्देपर बात लाई है और पूछा-

"कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।"

अर्जुन इसका उत्तर देते हैं "हां, मैंने सुना; और उससे मेरा मोह नष्ट हुवा।" अर्थात् इस प्रकारसे चला हुवा संवाद, मीमांसापद्धति से निश्चित तर्कसरणी से लिखा हुवा ग्रंथ नहीं कहा जा सकता; और इसीलिये मीमांसाकी प्रमाण मानी हुई उस श्लोककी कसौटी यहां पूर्णतया लागू नहीं हो सकती।

यही बात अध्यायोंके अनुक्रमसे भी स्पष्ट होती है। लोकमान्य तिलकने गीतारहस्यके १४वें प्रकरण में गीताध्यायसंगति लगाकर बतलाई है। संगति लगानेही को बैठें तो चाहे जिस तरह लगा सकते हैं। परंतु स्वतंत्र विचार करनेपर वह संगति कैसी लगती है यह देखें। पहिला अध्याय कथाप्रस्तावात्मक है। दूसरे अध्यायमें बहुशः मुख्य तत्त्वोंका विवरण किया है। आत्माका अविनाशित्व और तत्संबंधी सांख्य सिद्धान्त,उसके बाद निष्काम

कर्मतत्त्व और स्थितप्रज्ञके लक्षण इत्यादि सब प्रतिपादन उसमें आया है। तीसरे अध्यायके प्रारंभमें अर्जुन पूछते हैं कि "ऐसे मिश्र वाक्यसे हमारी बुद्धिको मोह क्यों पाडते हो? एक कुछभी निश्चित कहो।।' उसपर श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं, "जगत् में सांख्यनिष्ठा और कर्मनिष्ठा ऐसी दोनों निष्ठा अथवा सांप्रदाय हैं" ऐसा कहकर इस अध्यायमें निरिच्छ कर्मका विवेचन करते हैं। और चौथे अध्यायमें फिरसे-

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

ऐसा कहके ज्ञानरूपी खड्गको अज्ञानरूपी शत्रुका नाश करनेके विषयमें प्राधान्य देते हैं। इसलिये पांचवें अध्यायके प्रारंभमें अर्जुनको स्वभावतः यह कहना पडा कि-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

और इसका उत्तर भगवान् देते हैं- "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ!" और ऐसा कहके भी उन दोनोंमें "कर्मयोगो विशिष्यते" ऐसा कहते हुए उस अध्यायका प्रारंभ करते हैं; और-

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ॥...
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

ऐसी योगारूढ अवस्थाके वर्णनसे उस अध्याय की समाप्ति करते हैं। और फिर छठवें अध्याय में-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

ऐसा भी कहते हैं। इस प्रकार पूरे अठारह अध्यायोंके विवेचनसे यह सहज बतला सकते हैं कि न्यायपद्धतिका अवलंब करके, मीमांसाके अनुरोधसे प्रतिपादन करनेका पूर्व संकल्प करके भगवद्गीता ग्रंथ लिखा नहीं गया, किंतु विवेचनके प्रवाहमें तत्त्वज्ञानके मुख्य तत्त्व जैसे जैसे और जहां जहां आते गए, वैसे वैसे उन उन स्थानोंपर उनका विवेचन किया गया है। लोकमान्य तिलकका यह कहना निर्विवाद है कि अर्जुन को युद्धमें प्रवृत्त करना गीताका मुख्य उद्देश्य था; और यह उतनाही निर्विवाद सत्य है कि श्रीकृष्णने वह उद्देश्य सिद्ध किया। अर्थात् किसी बडे होशियार वकीलके समान अपनी बातको अर्जुनके गले उतारनेके हेतु व्यावहारिक, नैतिक, तात्त्विक इत्यादि अनेक प्रमाणोंका आसरा लिया है। संन्यास और निष्काम कर्ममार्ग इनमेंसे किसी एकका मंडन और दूसरेका खंडन करनेकी गरजसे निश्चित प्रमाणप्रमेयादि तर्कपद्धतिसे गीताग्रंथ नहीं लिखा गया; इसलिये उसको मीमांसाप्रमाणकी कसौटी लगाकर उसके तत्त्वज्ञानमार्गका निर्णय करना योग्य नहीं।

भगवान् ने दोनों तत्त्वोंका योग्य उपयोग किया है। "आत्मा अमर, अविनाशी, अविकार्य है; देहके नष्ट होनेसे वह नष्ट नहीं होता, किंतु भ्रममय संसारको सत्य माननेसे उसको देहादि उपाधियां प्राप्त होती हैं, इसलिये मायाका संसर्ग मननके द्वारा मिटानेपर आत्मा स्वतंत्रही है।" यह तत्त्व प्रकाशित करने के लिये उन्होंने सांख्य वादका विवरण किया। परंतु अर्जुनको धर्मयुद्धतत्पर करनेके लिये भगवान्ने ऐसा उपदेश किया, कि प्राणी संसारमें और उपाधियोंमें जबतक लिप्त है तबतक, लोककल्याणपर नजर रखकर, स्वार्थ निरपेक्ष होकर उसको निष्कामतासे कार्यप्रवण होना चाहिये। उस उपदेशका यह हेतु थाही नहीं कि संन्यास अथवा कर्ममार्ग इनमेंसे एक सिद्धान्त प्रस्थापित हो। यह हेतु जबरदस्तीसे इस इस ग्रंथपर लादना अयोग्य होगा।

परंतु गीताका यही हेतु है, इस कल्पनासे प्रेरित होनेके कारण आचार्यने और तिलकने गीताकी संगति अपने अपने मतके अनुसार जमानेका प्रयत्न किया है। ऐसा करनेमें स्वभावतः दोनोंको गीताके शब्दों और वाक्योंको खींचातानी करनी पडी है। गीताका संन्यासपर अर्थ लगानेमें किस प्रकार आपत्ति आती है इसका वर्णन तिलकने अपने ग्रंथके २१ वें पृष्ठपर किया है। वे कहते हैं 'ग्रंथके वचनोंका सरल अर्थ लेनेसे वह सब सांप्रदायोंको

एकहीका अनुकूल हो नहीं सकता। इसलिये उनमेंसे जो जो वचन अपने सांप्रदायका अनुकूल हो, उन्हींको प्रधान मानकर, और अन्य वचनोंको गौण मानकर, अथवा प्रतिकूल वचनोंका अर्थ युक्तिसे घुमाकर, अथवा जहां शक्य हो वहां साधे और सरल वचनोंमेंसे ही अपने अनुकूल श्लेषार्थ और अनुमान निकालकर, इस ग्रंथसे अपनाही सांप्रदाय सिद्ध होता है ऐसा भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार स्थापित करते हैं। " निःसंदेह यह तिलकका कहना सत्य है; और यह भी निर्विवाद है कि भगवद्गीताका संन्यासपर अर्थ लगानेमें आचार्यने तथा तत्पक्षीयोंने ऐसा किया है।

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।'
'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।'
'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं...कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।'
'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।'
'एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥"
'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥"

इत्यादि कर्मसिद्धान्तैकपर वाक्योंका कर्मविरुद्ध और संन्यासपर अर्थ लगाना केवल डोरीपर सर्कसका खेल खेलना है। अर्थात् तिलकके उक्त वाक्योंमें बतलाई हुई युक्तियोंका अवलंब संन्यासमार्गीयों को करना पडा है। परंतु इस ढाल की दूसरी बाजू देखी जाय, तो क्या तिलकको भी यही बात नहीं करनी पडी ?

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।'
'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'
'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।'
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'
'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'
'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।'
'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते॥'
'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'
'योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥'
'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्॥'
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'

इत्यादि गीताके वाक्योंका कर्मपर और ज्ञानविरुद्ध अर्थ करनेमें तिलकको भी 'अपने अपने अनुकूल वचनोंकोही प्रधान मानकर और अन्य वचनोंको गौण मानकर, प्रतिकूल वचनोंका अर्थ घुमाकर, अथवा उनमेंसे श्लेषार्थ और अनुमान निकालकर' ही अपना कर्ममार्ग सिद्ध करना पडा है! कर्म शब्दका सरल अर्थ 'सर्व अवस्थान्तर्गत समस्त कर्म' ऐसा है, तथापि उन्हें ऐसी युक्ति लडाना पडी है कि ज्ञानपूर्व कर्म निषिद्ध और ज्ञानोत्तर कर्म इष्ट हैं। योग शब्दका अर्थ लोकमान्य तिलकको (संमत-साम्यबुद्धियोग-ऐसा गीतामें किसी किसी स्थानपर जरूर होता है; परंतु छठवें अध्यायमें जब योगका ऐसा वर्णन आया है कि "योगीको चाहिये कि वह एकान्तमें अकेला रहकर चित्त व आत्माको रोककर, कोईभी काम्य वासना न रखकर, परिग्रह अर्थात् पाश छोडकर, सतत अपना योगाभ्यास करे। पहिले दर्भ, उसपर मृगचर्म, और उसपर वस्त्र बिछाकर, न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा ऐसा अपना आसन शुद्ध जगहमें स्थिर जमाकर चित्त व इंद्रियोंके व्यापारोंको रोककर, मनको एकाग्र करके (युंज्यात् योगमात्मविशुद्धय) "आत्मशुद्ध्यर्थ आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे।" (अध्याय ६ श्लोक १० से २०) यह कहना धृष्टता होगी कि यहां भी योग शब्दका उपयोग कर्मयोगके अर्थमें किया गया है। इसलिये इस भाषान्तर को तिलकने एक टिप्पणी जोड दी है—

"इसके आगेके श्लोकोंसे यह स्पष्ट होता है कि 'युंजीत' शब्दसे इस जगह पातंजल योगसूत्रका योग विवक्षित है।" परंतु केवल इतनी कबूली देनेसे अपने सिद्धान्तका बाधा पहुंचेगी, ऐसा

जानकर उसी टिप्पणीमें तिलक आगे कहते हैं– " तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि कर्मयोग प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपना संपूर्ण आयुष्य पातंजल योगही में व्यतीत करना चाहिये। कर्मयोगमें आवश्यक ऐसी साम्यबुद्धि संपादन करनेका वह साधन है, इसलिये पातंजल योगका इस अध्यायमें वर्णन किया गया है और उतने मतलब भरके लिये एकान्तवास बतलाया गया है!" इस मल्लिनाथीके लिये कौनसा आधार है? अर्थात् यहां तिलकने वर्णन किये हुए प्रतिपक्षके शरासनकेही युक्तिबाणका उपयोग किया गया है! इसी प्रकारकी युक्ति तिलकने इसी अध्यायके ३३ वे श्लोकका भाषान्तर करते समय लडाई है। मूल श्लोक ऐसा है।

योऽयं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥

अर्जुन कहते हैं, " हे भगवन् यह योग जो तुमने मुझे बतलाया वह मनकी चंचलताके कारण कायम रहेगा ऐसा लक्षण नहीं दिखता।" अर्थात् जिस योगके बारेमें तिलकने स्पष्ट कहा है कि " पातंजल सूत्रका योग यहां विवक्षित है " उसी योगके संबन्धमें यदि अर्जुन " योऽयं " कहते हैं, तब ३३ वें श्लोकमें उसी योगका भिन्न अर्थ कैसे होगा? तथापि उस श्लोकार्थकी टिप्पणी में तिलक कहते हैं–

" पातंजल योगकी समाधिका यद्यपि पहिले वर्णन आया है, तथापि इस जगह योग शब्दसे पातंजल योग विवक्षित नहीं है।" इसका कारण वे ऐसा बतलाते हैं कि "दूसरे अध्यायमें भगवान्ने " समत्वं योग उच्यते " ऐसी कर्मयोगकी व्याख्या दी है!" अर्थात् तिलकको यह कबूल है कि ९ वें अध्यायके शुरूका योग पातंजल योग है। उसी अध्यायमें उसी योगके बारेमें " जो योग तुमने बतलाया हो " अर्जुन कह रहे हैं। तथापि ' यः ' इस दर्शक सर्वनामसे दर्शाए इसी अध्यायके पूर्वोल्लिखित योग शब्दके अर्थमें इस श्लोकका " योग " शब्द न लेकर दूसरे अध्यायके योग शब्दके अर्थमें लेना, यह क्या सरल अर्थ कहा जा सकता है? ऐसे अन्य उदाहरणभी बतला सकते हैं। इस संपूर्ण विवेचनसे मालूम होगा कि भगवद्गीतामें तत्वज्ञानका कोई एकही विशिष्ट मार्ग बतलाया है ऐसा गृहीत करके यदि उसकी चिकित्सा करने लगें, तो अपनेको प्रतिकूल ऐसे शब्दोंकी, पदोंकी और अर्थकी खींचातानी करके उसमेंसे अपना अभिमत अर्थ निकालकर बतलाना पडता है। तिलकके ग्रंथहीसे यह प्रतीत होता है कि वे इस बातको समझते थे। " संन्यास व कर्मयोग " के प्रकरण (११) में पृष्ठ ३१५ पर संन्यासपक्षीयोंके बारेमें तिलक कहते हैं–

" गीताके " लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा " इस श्लोकके तौलका " द्वाविमाविह पंथानौ " यह श्लोक है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि यहां दो तुल्यबल मार्ग बतलानेका हेतु है। परंतु इस सरल अर्थकी ओर अथवा पूर्वापर संदर्भकी ओर ध्यान न देकर कई महाशय यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि इसी श्लोकमें एकही मार्ग प्रतिपाद्य है।"

यह कहनेवालेही तिलक ऐसा कहते हैं कि गीतामें कर्ममार्गही की श्रेष्ठताका प्रतिपादन है! वाचक महाशय निर्णय करें कि इसीको सरल अर्थ कहना या नहीं।

वास्तविक बात ऐसी है कि भगवद्गीतामें ज्ञानमार्ग और निष्काम कर्ममार्ग दोनों तुल्यबल और तुल्यफलप्रद बतलाए गए हैं। संवादके समयमें उनका भगवान् ने यथाप्रसंग उपयोग किया है, और यथार्थमें यही उचित है। मानवी स्वभावके ये दो प्रकार अथवा भेद स्वतः सिद्ध हैं; इसीलिये गीतामें इन दोनोंको आधार मिलता है अर्थात् इस बातपर दुलक्ष्य करके इन दोनोंमेंसे एकही विशिष्ट मार्ग गीताप्रतिपाद्य है ऐसा कहना कभी सिद्ध नहीं होगा। वस्तुतः जैसे अग्निदग्ध बीज जमीनमें अंकुराता नहीं, वैसेही निष्कामताके कारण कर्मबीज उपाधियुक्त नहीं होता, इससे वह बंधक नहीं होता, और बंधन न रहनेसे जन्ममरण

चक्रमेंसे आत्मा मुक्त होता है। इसी प्रकारसे कर्म-संन्याससे कर्म उत्पन्न होने नहीं पाता, इसलिये आत्मा मुक्त होता है। अर्थात् मार्ग दो हैं तथापि साध्य एकही है। विशिष्ट देशपरिस्थितिके कारण एकएक मार्गको तात्कालीन महत्त्व आता है, तथापि दोनोंका मूल सूत्रोंमेंही रूढ रहनेसे उनमें अधरोत्तर भाव नहीं है। इतनी बात गीताग्रंथसे स्पष्ट होती है।

—o—

आत्मनिष्ठ कर्म का महत्व।

(लेखक- श्री. नारायण श्रीपाद सोनटक्के, वाङ्मयविशारद, तिलकमहाविद्यालय, पूना।)

' स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति।
यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् स्यात्॥
छांदो० ५।२४

प्राणिमात्रको व्यवहारके यच्चयावत् कर्म ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। गीताशास्त्रका ऐसा सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्मकी जडमें आत्मतत्त्वका अधिष्ठान चाहिये। मनुष्यप्राणीके कर्म अथवा व्यवहार ज्ञानपूर्वक अथवा आत्मनिष्ठ नहीं होते। सबही व्यवहार अज्ञानयुक्त, तत्त्वसे विसंगत, संगसक्त अतएव अनात्मस्वरूपी रहते हैं। अखिल मानवजातिको गीताका ऐसा उपदेश है कि अज्ञानपूर्वक, तत्त्वसे विसंगत और संगसक्त होकर कर्म नहीं करना, किंतु आत्मवान्, तत्त्वार्थवित् और निःसंग होकर करना चाहिये। इस तत्त्वकी व्याप्ति केवल अर्जुनकेही लिये व्यक्तिगत नहीं है, किंतु जगत् के प्रत्येक व्यक्तिके आचरणसे इस तत्त्वका संबंध पहुंचता है, इस बातको अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये। भगवान् ने ज्ञानपूर्वक कर्म करनेका जो उपदेश किया उसके मूलमें जो प्रभावशाली तत्त्व है, इसका विचार आजके लेखमें करना है।

ज्ञानपूर्वक कर्म करना चाहिये, यह सिद्धान्त " सुखदुःखे समे कृत्वा " " मुक्तसंगोऽनहंवादी " " सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः " " तत्कुरुष्व मदर्पणम् " " यतः प्रवृत्तिर्भूतानां...स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य " " ब्रह्मण्याधाय कर्माणि " " सर्वधर्मान्परित्यज्य " " योगसंन्यस्तकर्माणम् " " असक्तो ह्याचरन्कर्म " इत्यादि स्थानोंपर गीतामें भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रतिपादन किया गया है। यही सिद्धान्त उपनिषदोंमें निराली रीतिसे रखा गया। ऊपर जो छांदोग्योपनिषद का अवतरण दिया है, उसमें यही सिद्धान्त है। पांचवें अध्यायका उपसंहार करते समय उपनिषत्कारोंने, ज्ञानपूर्वक अथवा आत्मनिष्ठ कर्म करना चाहिये, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके यह भी बतलाया है कि जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक कर्म नहीं करता उसके कर्म कैसे होते हैं। छान्दोग्य श्रुति में कहा है-

" स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् स्यात्। अथ य एतदेवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति। तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवँ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति। तस्मादु-

हैवंवित् यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति ॥"
(५।२४)

इस श्रुतिवचनका आशय ऐसा है कि अविद्वान् जो अग्निमें हवन करता है वह ऐसा है कि जैसे अग्निको छोडकर भस्ममें हवन किया हो। अग्निमें किये हुए हवनको फलद्रूपता है, परंतु अविद्वान् जो हवन करता है उसकी कोई फलद्रूपता नहीं है। उसका हवन व्यर्थ है। विद्वान् के किये हुए हवनसे उसका पाप जलकर भस्म होता है; इतनाही नहीं, किंतु उसकी आहुतिका हवन सब लोगोंमें, समस्त भूतोंमें, समस्त आत्माओंमें होता है। "तस्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति" इस वचनसे भली भांति ध्यानमें आवेगा कि विद्वान् के व्यक्तिनिष्ठ आत्मकल्याणसे और समष्टिसे कैसा अभेद्य संबंध है।

यह जो तत्त्व छांदोग्यमें प्रतिपादित है वही पर्यायसे बृहदारण्यकमें भी आया है। याज्ञवल्क्य और गार्गीमें जो आत्मविषयक संवाद हुवा है उसमें इसका आविष्कारण हुवा है। याज्ञवल्क्य गार्गीको कहते हैं-

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद्भवति । यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥"

(बृह० उपनि० ८।१०)

'हे गार्गि, जो (मनुष्य) यह अक्षर (ब्रह्म) बिना जाने इहलोकमें हवन करता, यजन करता हजारों वर्ष तप करता है, उसका वह सब (करना) अन्तवत् (फल न देनेवाला अतएव विनाशी) है। इस अक्षर (ब्रह्म) को जाने विना जो इहलोक छोडता है वह कृपण है, और अक्षर (ब्रह्म) को जानकर प्रयाण करनेवाला ब्राह्मण है।'

छान्दोग्यके वचनका अर्थ बृहदारण्यके अर्थसे पूर्ण साम्य रखता है। इन दो वचनोंमें "विद्वान् और ब्राह्मण" तथा "अविद्वान् और कृपण" ये जोडियां समानार्थक हैं। जो विद्वान् वही ब्राह्मण और जो अविद्वान् वही कृपण है। उपनिषत्कारोंने जो कर्ताके दो भेद किये हैं वही दो भेद गीताने दैवासुरसंपद्विभागसे किये हैं, और फिर सूक्ष्मत्वसे तीन भेद स्पष्ट गुणदर्शक किये हैं। विद्वान्, ब्राह्मण अथवा दैवका अंतर्भाव सत्त्वमें किया है और अविद्वान्, कृपण अथवा आसुरका अंतर्भाव रजतमोगुणोंमें किया है। भेद यद्यपि तीन पाडे गए हैं तथापि "गुणविरोधात्" केवल दो भेद प्राप्त होते हैं।

उपनिषदोंने कहा है कि 'विद्वान्' अथवा 'ब्राह्मण' होकर कर्म करो; गीताने कहा है कि 'ज्ञानपूर्वक' कर्म करो। दोनोंका मथितार्थ एकही है। 'विद्वान्' अथवा 'ब्राह्मण' होकर कर्म करनेका उपदेश करनेमें जो तत्त्व उपनिषत्कारोंको अभिप्रेत था, वही तत्त्व ज्ञानपूर्वक कर्म करनेको किये हुए उपदेशकी जडमें है। "विद्वान्" अथवा "ब्राह्मण" होकर कर्म करनेमेंही मानवी जीवनके उत्कर्षका रहस्य है। वह जीवन चाहे व्यक्तिनिष्ठ हो अथवा समष्टिनिष्ठ हो। "जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है" इस वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार व्यक्तिगत कल्याणके जो सिद्धान्त लागू होते हैं वेही शाश्वत सिद्धान्त अव्यभिचारसे सर्वत्र लागू होते हैं।

विद्वान् अथवा ब्राह्मण होकर, अथवा ज्ञानपूर्वक कर्म करनेको कहा गया; परंतु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि विद्वान् कौन है, अविद्वान् किसे कहना, विद्वान् होकर कर्म करनेकी आवश्यकता क्या है, अविद्वान् क्या करता है? इ० इन बातोंके संबंधमें अब विचार करेंगे।

गीताके अठारहवें अध्यायमें अच्छे या बुरे-कायिक, वाचिक, मानसिक इत्यादि, सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये पांच सिद्धान्त बतलाकर (१८।१४) कर्मचोदना और कर्मसंग्रहकी त्रिपुटी बतलाई है। (१८।१८) सत्व-रज-तमोगुणानुसार त्रिपुटी भी सत्व-रज-तमोगुणात्मक रहती है। कर्ता-कर्म

इत्यादि सब प्रकारकी बातें सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक रहती हैं। सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे कर्ता के तीन भेद रहनेसे कर्मका प्रारंभ भी उसी भावना से होता जाता है। सात्त्विक कर्ता जब कर्म करता है तब इस बुद्धिसे करता है कि " समस्त भूतोंमें एकही अविनाशी भाव है जो विभक्त नहीं हो सकता।" वह समत्वबुद्धिसे, उच्च नीच भेद को न रखता हुवा, फलकी इच्छा न रखता हुवा, कर्तृता का अहंकार छोडकर, रागद्वेषरहित होकर कर्म करता है। कर्मकी सिद्धि असिद्धि होनेसे उसको कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। वह निरहंकार, धैर्य, उत्साह, सर्व-भूत हितमें रत, इत्यादि दैवी गुणोंसे युक्त रहता है; मानापमान की यत्किंचित् क्षिति वह नहीं रखता, सुखदुःखकी वह कभी पर्वा नहीं करता। सुखदुःख, मानापमान इत्यादि द्वंद्वोंको वह सहता है। वह अपने सब कर्म परमात्माको अर्पण करता है; इस प्रकार कर्म करते रहनेसे उस के मन को अखंड शान्ति प्राप्त होती है। अपने सत्वशाली कर्मोंसे वह न केवल स्वयं उन्नत होता है, किंतु सबको आदर्शभूत होता है। समाजपर उसकी उन्नतिके परिणाम होते हैं। जैसे कोई सुवासिक पुष्प अपने परिमल से सब दिशाओंको सुगंधित कर देता है, अथवा जिस प्रकार सूर्य अपने किरणोंसे अंधकारका नाश करके सब दिशाओंका प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दैवी गुणोंपर अधिष्ठित होकर जो कर्म करता है वह समाज के अज्ञान को नष्ट कर देता है। उसके अस्तित्व से समाज में दैवी गुणोंका प्रादुर्भाव होता है और उसे भी सच्चे अर्थ (स्व + अर्थ) की प्राप्ति होती है। उसके जीवनका ध्येय जड स्वरूपका स्वार्थ नहीं रहता। उसका एकही स्वार्थ रहता है- अर्थात् चैतन्यस्वरूपी श्रेष्ठतम स्वार्थ; इसीको परमार्थ कहते हैं। इस तरह का पारमार्थिक जीवन ही उसके आयुष्यक्रम का ध्येय रहनेसे, वह सुख-दुःख, मानापमान इत्यादि द्वंद्वोंसे निहत नहीं होता। कर्ममें ब्रह्मार्पणबुद्धि रहनेपर सुखदुःख कहां हैं? सुखदुःखरूपी जड स्वरूप के जगत्में वह " लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। " " न तं प्रियाप्रिये स्पृशतः " उसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते।

इसके विपरीत रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। उपनिषदोंमें निर्दिष्ट ' अविद्वान् ' अथवा ' कृपण ' मनुष्यों में इनका अंतर्भाव होता है। अग्नि को छोडकर भस्म में हवन करनेके समान इनके कर्म वैयक्तिक उन्नति के प्रतिबंधक होते हैं, परंतु समष्टि और व्यष्टिके संबंधमें अनर्थोत्पादक होते हैं। इनमें से राजसमार्गी फलकी इच्छा रखकर कर्म करते हैं। इनमें कर्मके विषय में अनासक्ति बिलकुल नहीं रहती। ये अहंमन्य होते हैं। विषयासक्तता, लोभ, घातकी वृत्ति,अपवित्रता, इत्यादि दुर्गुणों के ये मूर्तिमंत पुतले रहते हैं। काया, वाचा और मनसे ये लोग दूसरों को दुःख पहुंचाकर अपना हित साधते हैं। उन्हें दूसरों के दुःखोंकी बिलकुल पर्वा नहीं रहती। ये लोग तमोगुणी, अजितेन्द्रिय, मूर्ख, उन्मत्त, कपटी, परोत्कर्षासहिष्णु, आलसी, विषय-लंपट रहते हैं। कर्मके लिये प्रवृत्त होते समय इन्हें यह विचार कभी नहीं आता कि अपने कर्म का परिणाम क्या होगा। उनको कर्मप्रवृत्ति में स्वतःका और दूसरोंका नुकसान रहता है। इस प्रकार रज-तमोगुणी आसुरी प्रवृत्तिवाले लोग (अथवा उप-निषदोंके शब्दों में ' अविद्वान् ' अथवा ' कृपण ' लोग) व्यष्टिगत और समष्टिगत अधःपातको कारण होते हैं।

प्राणिमात्र की प्रवृत्तिका झुकाव (साकल्य से विचार करनेपर) राजस अथवा तामस भावना की ओरही दीख पडता है। इस प्रकार निसर्गतः प्रवृत्त रहनेवाली व्यक्ति अथवा समष्टि को यदि तत्त्वज्ञान का अथवा कानून का बंधन न रहे, तो अनवस्थाप्रसंग होगा। इसीलिये प्राचीन धर्मशास्त्र-कारोंने भिन्न भिन्न प्रकारके निर्बंध रखे हैं। गीताने जो ज्ञानपूर्वक कर्म करनेका उपदेश किया है,उसका बीज यही है कि समाज उत्सन्न न हो। अस्तु।

रजतमोगुणात्मक नैसर्गिक प्रवृत्तिका त्याग कर के, सत्त्वगुणात्मक प्रवृत्तिपर अधिष्ठित होकर,

कर्म करनाही ज्ञानपूर्वक अथवा आत्मनिष्ठ कर्म करना है । इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य 'विद्वान्' अथवा 'ब्राह्मण' है। विद्वान् ब्राह्मण की पदवी हासिल करनेके लिए जडत्वपर की आसक्ति छोडनी चाहिये। जडत्वपर की आसक्ति छोडकर, उस आसक्ति के दोष नष्ट करके, शुद्ध स्वरूपसे वह आसक्ति अजड आत्मतत्त्वपर एकाग्र करनी चाहिये। दंभ, दर्प, अहंकार, द्रोह, स्वार्थबुद्धि इत्यादि आसुरी गुणोंका त्याग करके, अहिंसा, दया, क्षमा, शांति, अद्रोह, अनासक्ति, सर्वभूतहितरति, समत्वबुद्धि इत्यादि दैवी गुणोंका प्रत्यक्ष आचरण होना चाहिये। दैवी गुण अपने आचरण में आनेपर जो कर्म होंगे, वे सच्चे ज्ञानपूर्वक अथवा आत्मनिष्ठ कर्म हैं। दैवी गुणोंका अंतःकरणमें उदय हुआ है ऐसी जो अवस्था वही ज्ञानावस्था, योगावस्था अथवा आत्मावस्था है। ऐसी अवस्थामें स्थित होकर-दैवी गुणोंकी भूमिकापर स्थित होकर-कर्म करो। ऐसा गीताका उपदेश है।

इस प्रकार उपदेश करनेवाली गीता की दृष्टि सूक्ष्म व दूरदर्शी है। ऐसी भूमिकापर यदि कर्म न होंगे तो समाज को उत्सन्नता प्राप्त होगी। भगवान् कहते हैं—

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

रजतमोगुणों के कारण उन उन दुर्गुणोंकी अभिवृद्धि होगी और इस जगत्में कोई भी व्यवहार सरलता से न चलेंगे।

इसपर कदाचित् यह प्रश्न उठेगा कि, जो मूढ योनिमें उत्पन्न हुए हैं, अंधकारमें रहनेमेंही जिन्हें आनंद होता है, अच्छा या बुरा जिन्हें बिलकुल नहीं समझता, अज्ञानके गहरे गढेमें जो गिरे हुए हैं, ऐसे लोगोंको क्या यह गीताका शंखनाद सुनाई दे सकता है? और सुनाई देगा भी, तो क्या उसका कुछ उपयोग होगा? कुछ पशुओं व पक्षियोंका सारा जीवन अंधेरेमें व्यतीत होता है, वैसा जिनका जीवन है उनकी क्या गति होगी? इस प्रश्नका प्रत्यक्ष कोई उत्तर गीता नहीं देगी; क्योंकि इस प्रकारकी अज्ञानावस्था किसी न किसी कर्मकी परिणतावस्था है। जहांसे यह परिणत हुई उसी मूलमें भारी गलती होनी चाहिये। इसलिये जो केवल अन्ध हैं, जिन्हें प्रकाश दिखताही नहीं, उनको क्या करना चाहिये इस बातकी चर्चा गीता नहीं करती। परंतु जिन्हें अच्छा बुरा समझनेका कुछ विवेक है, उनके लिये, विशेषतः राष्ट्रके बुद्धिप्रधान वर्गके लिये, धुरीणों और समझदार लोगोंके लिये गीताका (ज्ञानपूर्वक कर्म करनेका) उपदेश है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिये। क्योंकि समाजके उत्कर्षापकर्षकी जवाबदारी, समझदार पुरुषोंपर रहती है। गीताका उद्देश यह बतलानेका है कि ऐसे पुरुष कैसा बर्ताव (आचरण) करें। कर्मविपाक शास्त्रका अव्यभिचारी सिद्धान्त ऐसा है कि इस प्रकार के समाजने अथवा समाजकी व्यक्तिने वह चाहे धुरीणपदपरस्थित हो या न हो, यदि अधर्माचरण किया; वह व्यक्ति अथवा समाज यदि तत्त्वज्ञानसे अथवा गीताके सिद्धान्तसे पराङ्मुख रहा, अथवा कर्तव्यसे पराङ्मुख रहा, तो उस व्यक्तिके अधर्माचरणका, कर्तव्यपराङ्मुखताका परिणाम उस व्यक्तिकी अवनतिके साथ समाजपर भी होता है। जैसे वट वृक्षके मूल जमीनमें दूरतक व गहरे रहते हैं; वैसेही अच्छे या बुरे कर्मोंका परिणाम बहुत दूर दूर फैलता है। इसी उद्देश्यसे मनुस्मृतिमें कहा है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।
यदि नात्मनि पुत्रेषु नचेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः॥
—मनुः ४।१७२।१७३

दुराचरण का फल मिलताही है। कभी वह तात्काल मिलता है और कभी देरसे। यदि वह तात्काल अथवा इसी जन्ममें न मिला, तो मनुष्यके इस बुद्धिसे कि अधर्मका फल मिलताही नहीं, दुराचरणमें प्रवृत्त होनेका अधिक संभव है। इसलिये मनुजी चेतावनी देते हैं कि "अधर्मका आचरण करनेपर उसका फल तात्काल मिलता है, ऐसा

नहीं है। उस आचरणका दुष्परिणाम धीरे धीरे कर्ताके नाशमें होता है। यद्यपि कर्ताको वह परिणाम भोगना न पडा,तथापि आगामी पिढीके पुत्रादिकोंको वह परिणाम भोगना पडेगा। "

अधर्मके परिणाम का फल मिलने में किस प्रकार देर लगती है यह बतलाया। यही सिद्धान्त विपरीत करनेसे सदाचरण को, सत्कर्म को ठीक लागू होता है। सत्कर्म के फल कर्ता को भोगने मिलें या न मिलें, परंतु उसके सत्कर्म के सदाचरण के परिणाम समाजपर अवश्य होते हैं। सदाचरण के मधुर फल उसको खानेको नमिलें, तोभी समाजको मिलते हैं। व्यवहार की प्रत्येक बात में यह अपन देखते ही हैं, इसलिये ज्ञाता पुरुष को कर्म करने में दक्षता रखनी चाहिये। गीताने जो उपदेश किया है कि आत्मवान् होकर कर्म करो, रहस्य यही है। आत्मवान होकर कर्म करने में आत्मकल्याण है ही; परंतु विद्यमान और भावी समाजका भी इसमें कल्याण है। आत्मकल्याण और समष्टिकल्याण में परस्पर विरोध नहीं आता। निदान प्राचीन भारतीयों की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, आश्रमभेद, आश्रमधर्म इन सब बातोंका साकल्यसे विचार करनेपर आत्मकल्याण और समष्टिकल्याण में विरोध नहीं आसकता, ऐसा हम समझते हैं।

अस्तु। भगवान् ने अर्जुन को ज्ञानपूर्वक कर्म करनेका शुरू से अखीरतक जो उपदेश किया है उसका आशय यही है। स्वधर्म से प्राप्त हुए युद्धको यदि वह टाल देता, तो उसका आत्मकल्याण होभी जाता तथापि उससे अन्य मनुष्यों का नुकसान होने की संभावना थी। क्यों कि अर्जुन का त्याग सात्त्विक स्वरूप का न था; किंतु " मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः " इस सिद्धान्त के अनुसार वह तामस स्वरूप का था। इस प्रकार के तामस त्यागसे-विशेषतः समाजके और राष्ट्रके प्रतिनिधि भूत अर्जुन तामस त्यागसे अर्जुन को तथा राष्ट्र को अधोगति प्राप्त हो जाती। अर्जुनही यदि युद्ध का त्याग करे तो अन्य मनुष्य उससे क्या बोध लेवें ? कुरुक्षेत्रपर पांडवों के बंधुके नाते से अर्जुन खडा नहीं था, किंतु पांडवपक्षीयों के अग्रणी के नातेसे खडा था। इसलिये भगवान् का उसे ' युद्धयस्व ' का उपदेश करना पडा। अर्जुन यदि यःकश्चित् सैनिक सरीखा होता तो बात अलग थी; कोई इसकी पर्वा न करता कि वह युद्ध करता है या नहीं। वास्तविक यःकश्चित् सैनिक के लिये भी कर्तव्यपराङ्मुखता इष्ट नहीं है, उसको भी अपना कर्तव्य करना ही चाहिये। तब अर्जुनसरीखे धुरीण की बात ही क्या है ?

अस्तु। यह प्रतिपादन हो गया कि आत्मवान् होकर कर्म क्यों करना चाहिये। आत्मबुद्धिसे कर्म करना अत्यंत कठिन है। बात कठिन हो तबभी वह करना ही चाहिये। सच्चा पुरुषार्थ कठिन बात करने ही में है। काम क्रोधका त्याग करके दैवी गुणों का अवलंब करना ही पुरुषार्थ प्राप्त करनेकी कुंजी है। इस प्रकार का पुरुषार्थ प्राप्त करनेके लिये ' पुरुषार्थी ' बनना चाहये।

गीताका सुभाषित।

कुलस्त्रियोंकी भ्रष्टता।

अधर्माभिभवात् ...... प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
भ० गी० १।४१

"मनुष्यकी प्रवृत्ति अधर्म की ओर बढनेसे कुलस्त्रियां भ्रष्ट होती हैं।" कुलस्त्रियोंमें आचार दोष बढनेसे उन कुलोंका नाश होता है। इसलिये समाजमें और राष्ट्रमें ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि स्त्रियोंका और पुरुषोंका शील भ्रष्ट न हो। जहां स्त्रियोंका भ्रष्टाकार होता है वहां पुरुष भ्रष्ट रहते ही हैं;परंतु स्त्रियोंके शीलकी भ्रष्टतासे आगामी संततिभी निःसत्त्व बनती है। इसलिये शीलका संरक्षण करना चाहिये।

शिक्षाक्रम में गीता का समावेश।

(लेखक- श्री० अ० ल० महाजनी, रेणावी; जिला सातारा।)

" ...संसार ही मोक्षदृष्ट्या कैसा करना चाहिये, और मनुष्यमात्र का संसार में सच्चा कर्तव्य क्या है, इसका तात्त्विक दृष्टिसे उपदेश करनेके लिये गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। इस लिये पूर्व वय में गृहस्थाश्रम के अथवा संसार के इस प्राचीन शास्त्र को जितने जल्द हो सके अवगत किये बिना कोई न रहे।" (लोकमान्य तिलक)

शालाओंमें यदि किसी एक विषयका अंतर्भाव अभीतक न हुआ हो तो वह विषय धार्मिक शिक्षण है। हमारी शालाओंमें धार्मिक शिक्षण को स्थान न रहने के जो कारण बतलाए जाते हैं, उनमें से प्रमुख कारण यह है कि सब विद्यार्थी और साथही शिक्षक एकधर्मीय नहीं रहते। इस कथनमें कारण में सार है ऐसा भी मानलें; तथापि ऐसे सिद्धान्त, जो सर्व धर्मोंको सामान्यतः इष्ट हैं, शालाओंमें पढानें में क्या आपत्ति है? मिशनरी लोगों की चलाई हुई शालाओंमें वेलापत्रकों में कुछ घंटे नियुक्त करके धार्मिक उपदेश (ईसाई धर्म का) किया ही जाता है। तब हमारी-बहुसंख्य हिंदुओंकी स्कूलों में ऐसा धार्मिक विषय क्यों नहीं सिखलाया जाता? हमारी समझमें यह नहीं आता कि जो धार्मिक भेद मिशनरियों की स्कूलों में बाधक नहीं समझा जाता, वही धर्मभेद हिन्दुओं की स्कूलों में क्यों बाधक समझा जाय? इसका कारण हमारी अनास्था है! हमें यदि हमारे धर्मका अभिमान है, तो वह अभिमान हमारे बालकोंके हृदय में उतारने के लिये, हमें किसी का डर मानने की, अथवा किसी से इजाजत लेने की क्या जरूरत है? उसमें यदि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अडचनें आती हों, तो क्या उन्हें रस्ते के कांटों सरीखे दूर करना आवश्यक नहीं है?

धार्मिक शिक्षण देनेमें यदि परधर्मीय सरकारकी उदासीनता अथवा प्रतिकूलता हो तो क्या हम अपना धर्म छोड दें? हममें कुछ स्वाभिमान है कि नहीं? हम अपने धर्म के अनुसार आचरण रखेंगे। और अपने वंशजों में भी उसकी रुचि उत्पन्न करेंगे हमें अपना धर्म प्रिय है। हम अपने धर्म ही में जियेंगे, बढेंगे और मरेंगे। परकीय धर्मका वर्चस्व हम अपने ऊपर रहने न देंगे।

' स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। "

यह गीतातत्त्व हमारे रोम रोम में भिन गया है। उसपरकी श्रद्धा हमें बढाना चाहिये कि उडा देना चाहिये?

अपने समाज की ओर, विशेषतः भावी पिढी की ओर लक्ष्य देनेसे मालूम पडता है कि हमारी संस्कृति पीछे हट रही है। इसपर किसी तरह निर्बंध डालना हो, स्वसंस्कृतिरक्षण करना हो, तो उपर्युक्त लोकमान्य के वचनानुसार बाल्यावस्था ही से लडकों को अपने तत्त्वोंका, नीतिधर्म का और संस्कृतिका शिक्षण देना चाहिये। धर्म, नीति और संस्कृति की त्रयीका शिक्षण देनेके लिये भगवद्गीताके समान कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है। भगद्गीता में प्रपंच और परमार्थ साध्य करा देनेवाले सामान्य और विशेष सिद्धान्त ग्रथित किये हैं; और वे सिद्धान्त त्रिकालाबाधित हैं। गीता को मध्यबिंदु माना जाय, तो उस बिंदुके आसपास चाहे जितनी बडी त्रिज्यासे खींचें

हुए वर्तुल की मर्यादा में परिभ्रमण करनेको अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अवसर है। इस वर्तुलमर्यादामें प्राचीन ऋषियोंका संस्कृत वाङ्मय, अर्वाचीन संतोंका पद्य वाङ्मय तथा आधुनिक विद्वानों का गद्य वाङ्मय, इनसे गीताक्षेत्रमें आनेवाला भारतीय ज्ञान, इसी तरह पाश्चात्योंने गीताके संबंधमें प्रगट किये हुए विचार, इन सबका अंतर्भाव होता है।

गत पंद्रह वर्षोंके अनुभव से वर्तमान पिढीको यह भलीभांति जंच गया है कि गीता का अभ्यास जारी रखने से आसुरी संपत्ति कैसी पीछे हटती है, कमसे कम उसकी बाढ कैसी रुक जाती है। प्रत्येक हिंदुमात्र को यह आत्मविश्वास उत्पन्न होना चाहिये कि जिस गीताने तीन हजार वर्षतक हमारा रक्षण किया है, वही गीता इसके आगेभी हमारा रक्षण करने में समर्थ है।

गीता जैसे बडे बडे तत्त्वज्ञोंको मुग्ध कर देती है, वैसेही अनभिज्ञ जनोंको तथा जिनका शील कर्तव्य करनेसे निर्मल हुआ है ऐसे लोगोंको भी राजमार्ग बतलाती है। इसलिये गीताका शिक्षणक्रममें समावेश होना आवश्यक है। सिवाय इसके गीताका शिक्षणक्रममें समावेश होना आवश्यक है। सिवाय इसके गीताका उपदेश किसी विशिष्ट जाति अथवा व्यक्तिके लिये नहीं किया गया है; मनुष्यमात्रको उसका अभ्यास करनेका अधिकार है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
गीता ९।३२

भगवान् स्वयं कहते हैं कि "हे अर्जुन, मेरा (मेरे धर्मका) आश्रय करके स्त्रियां, वैश्य, शूद्र अथवा अत्यंज इत्यादि जो मनुष्यप्राणी हलके समझे जाते होंगे, उनको भी उत्तम गति प्राप्त होती है।" इससे यह सिद्ध होता है कि अस्पृश्य लोग, अथवा लडकियोंके मददसे, अथवा पापी लोग इस गीताके अभ्यासको बाधक नहीं हो सकते। "आहारभेदसे गुणोत्पत्ति कैसी होती है, कर्तव्याकर्तव्यका मोह होनेपर वह दूर कैसे होता है, कर्तव्यका मार्ग नजर आकर आशाबद्धताका निरास कैसे होता है, उत्साहको उत्तेजना कैसे मिलती है," इत्यादि बातें गीता ग्रंथके द्वारा लडकोंको बालबोध रीतिसे समझा सकते हैं। बंधनका उल्लंघन करनेमें कैसा धोका है और संस्कृतिके बंधनमें आनंदसे (जबरदस्तीसे नहीं) रहनेमें क्या और कितना समाधान है यह भी भलीभांति समझा सकते हैं। इसलिये गीताशास्त्रका अभ्यास बचपनसे शुरू होना चाहिये।

पूर्व कालमें गृहशिक्षणके अंतर्गत गीताके पाठान्तरका प्रचार था। आजकल वह प्रथा नष्ट होनेसे, और गृहव्यवस्थाकी वह प्रणाली लौटकर आनेकी संभावना नहीं दिखती इसी कारणसे, धार्मिक शिक्षाकी जबाबदारी समाजपर (और पर्यायसे स्थानिक सरकारपर) पडती है। अखिल शिक्षणसंस्थाओंका कर्तव्य है कि इस जबाबदारीको जानकर उसके योग्य आचरण करें। वह सुदिन होगा कि जब अभ्यासक्रममें गीता शास्त्रका पूर्णतया समावेश होगा।

गीताका सुभाषित।

पापसे अपना बचाव करो।

यद्यप्येते न पश्यंति.........दोषं.........पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्॥ भ० गी० । १ । ३८ । ३९

"यद्यपि लोग इसमें कोई पाप न देखें तथापि हमें यदि पाप दीखता है तो उससे हमें दूर क्यों न रहना चाहिये? " दूसरे लोगोंको दुष्कर्म में पाप न दिखता हो तो न दिखने दो परंतु हमें यदि वह दिखता है, तो हर प्रयत्न करके उस पापसे दूर रहना उत्तम है।

जगत् की अखिल मानवजातिका
श्रीमद्भगवद्गीता एकमात्र धर्मग्रंथ है।

(लेखक—श्री० आनंदघनरामजी, तासगांव)

श्रीमद्भगवद्गीता का निरपेक्षताले निरीक्षण करने पर इस बातका निश्चय होगा कि यह केवल हिंदु-लोगोंही का धर्मग्रंथ नहीं है, किंतु यच्चयावत् मनुष्योंका धर्मग्रंथ है। परंतु इसकी ऐसी श्रेष्ठता के विषयमें खातरी होनेपर भी, मनुष्य अपने पूर्वपरंपरागत ज्ञानसंस्कारोंका और स्वाभिमानका केवल दास रहनेसे, इस ग्रंथमें अपनेही मतके अनुसार सब कुछ कहा हुआ है ऐसा आधार लेनेके हेतु, इस ग्रंथके वचनोंका अर्थ करते समय अपनेही कहनेके अनुकूलही अर्थ करता हुआ नजर आता है। इस कारण भिन्नभिन्न मतवालोंको और सांप्रदायवलों को अपने अपने मतका समर्थन करनेके लिये, यह ग्रंथ एक भारी आधार हुवा है; और इस दृष्टिसे इस ग्रंथपर अनेक टीकाएं हुई हैं, और इसके अनुवाद १०० से अधिक भाषाओंमें हो चुके हैं।

हम लोग अब इस ग्रंथ को देखते समय, अपनी दृष्टिपर रहनेवाला समस्त संस्कारों व पूर्वग्रहों का पटल दूर करके, अपनी दृष्टि शुद्ध और स्वतंत्र करके, भगवद्गीता का निरीक्षण करने लगें, तो इस के न्यास में कहे अनुसार यह प्रतीत होगा कि इस का वक्ता " श्रीकृष्ण परमात्मा देवता " ही है; और इसी लिये ज्ञाता लोग उसी श्रीकृष्ण को सर्व जगत् के वंद्य जानकर कहते हैं- "कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।" परंतु श्रीकृष्ण के स्वरूपका यह सर्वव्यापी ज्ञान बहुतही थोडे लोगों के विचार में आता है। बाकी प्रत्येक मनुष्य श्रीकृष्णके इस स्वरूप के संबंध में एकदेशीय विचार करके अर्थ करता है; इसलिये वह भूल जाता है, कि प्रत्येक धर्मके प्रत्येक मनुष्य का श्रीकृष्ण का ईश्वरस्वरूप से साक्षात्कार होकर अनुभव प्राप्त हो सकता है। इसलिये प्रथम यह देखले कि भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूपके विषय में क्या कहा है, और फिर यह देखें कि यह ग्रंथ सर्व जगत् का धर्मग्रंथ किस प्रकार है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अधिष्ठाता भगवान् गोपालकृष्ण के विषय में कोई ऐसा नहीं कह सकता कि उन्होंने केवल एकहीवार वसुदेव-देवकी के उदरमें जन्म लिया है और उसके पहिले वे स्थूलदेहधारी कभी न थे या आगे न होंगे। क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
(गी० अ० ४)

" (इस जन्म के पहिले) मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो गए हैं; मुझे वे सब मालूम हैं, परंतु तुम्हें मालूम नहीं। " (और भी अ० ४ श्लो० १२ देखो.)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
(गी० ४।७)

(गीता ग्रंथमें बतलाए हुए) धर्मकी जब जब ग्लानि होती है और अधर्म का प्राबल्य होता है, तब मैं (कारण के अनुसार) स्वतःके लिये सूक्ष्म तेजोरूपी लिंगदेह अथवा स्थूल देहमें उत्पन्न करता हूं।

सामर्थ्य लिंगदेह अथवा स्थूल देहमें उत्पन्न होने का कारण भगवान् ने इस तरह बतलाया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ गी०४।८

"(उक्त गीताधर्म के अनुसार आचरण करनेवाले) साधुओंकी रक्षा करने के लिये और बुरा आचरण करनेवालों का नाश करनेके लिये, और (इस गीता-) धर्मकी संस्थापना के लिये मैं प्रत्येक युगमें अथवा कालमें उत्पन्न होता हूं।"

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवद्गीतामें बतलाये हुए धर्मका मतलब किसी विशिष्ट ग्रंथमें बतलाया हुआ धर्म नहीं है। जिस प्रकार खनिज्य पदार्थ की खनिजता, वनस्पति की वनस्पतिजता और प्राणियोंकी प्राणिता को सिद्ध करनेवाला स्वभावधर्म है, इसी प्रकार मनुष्यका मनुष्यत्व बतलानेवाला जो स्वभावधर्म वही धर्म है, ऐसा गीता में स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है। इस धर्मज्ञान के अनुसार संपूर्ण मानवजाति के धर्म का विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के जीवन में सर्वश्रेष्ठ विचार धर्म विचारही है। क्यों कि वह गूढसे गूढ और स्पष्ट से स्पष्ट विचार है। इसलिये अब देखा जाय कि इस धर्मज्ञान के लिये उनकी कौन कौनसी व्याख्याएं निश्चित होती हैं।

(१) धर्म = सच्चा पुरुषार्थ।
(२) धर्म = अपने ऐहिक व पारमार्थिक जीवनका सुखपूर्ण सुधार करने का विचार।
(३) धर्म = उत्तम से उत्तम वस्तुकी प्राप्तिका विचार।
(४) धर्म = मनुष्यके मनुष्यत्वकी जागृति।
(५) धर्म = सर्वसमर्थता की प्राप्ति।
(६) धर्म = अपने स्वतःके परमोच्च स्वरूपका और सामर्थ्यका सत्य ज्ञान।
(७) धर्म = आत्माके आत्मपनका प्रकटीकरण।

इस प्रकार इस गीताधर्म के "धर्म" की व्याख्याएं निश्चित होती हैं।

इसलिये धर्म का अर्थ "कोई एक विशिष्ट बाह्य क्रिया" अथवा "किसी विशिष्ट ग्रंथ में बतलाया हुआ धर्म" ऐसा संकुचित अथवा एकदेशीय कोता नहीं लिया जा सकता; किंतु समग्र मानव जातिके हिततत्वोंकी दृष्टिसे बतलाया हुआ विस्तृत व सर्वव्यापी मनुष्यधर्मही हो सकता है।

मनुष्यजातिके कल्याणकी दृष्टिसे इस मनुष्यस्वभाव धर्मके आचारमार्ग ठहराये जाते हैं। "मनुष्यमें गूढ, गुप्त अथवा सुप्त रहनेवाले, परिपूर्णताको पहुंचनेवाले, सामर्थ्यको जागृत करनेके जो स्वभावसिद्ध मार्ग हैं, उन्हींको धर्माचार कहते हैं"। भगवद्गीतामें जो धर्म और धर्माचार बतलाया गया है, वह इसीलिये बतलाया गया है कि, सृष्टिशास्त्र और सृष्ट धर्मके अनुरूप ऐसी शारीरिक व मानसिक उन्नति करते हुए, परिपूर्ण सामर्थ्य और परिपूर्ण आनंद प्राप्त हो। अब यह देखा जाय कि वह कैसे प्राप्त हो।

विश्वके अत्यंत श्रेष्ठ, अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत गूढ ऐसे सर्वश्रेष्ठ तत्वोंसेही जीवात्मा बना हुवा है। अर्थात् वह विश्वात्मामेंसे आया है। इसलिये वह परमात्माकाही अंश है। (गी. अ. २ श्लो. १७।१८) इस कारण उस सर्वशक्तिमान् परमात्मामें जो ज्ञान, जो सत्ता, जो शाश्वतता, और जो आनंदभोग है, वह सब सुप्त अथवा बीजरूपसे जीवात्मामें है ही। यद्यपि ब्रह्माण्डव्यापक परमात्मशक्ति, और पिण्ड-(देह) व्यापक जीवात्मशक्ति, दोनों सजातीय और सहधर्मीय हैं, (अ. ८ श्लो. ४) तथापि आजके देहधारी जीवात्माके नामरूप अहंकारकी भिन्न भावनाके कारण इसका उसे ज्ञान नहीं है। (अ. ९ श्लो. १४) और उन दोनोंकी सामर्थ्यजागृतिमें उसी तरह अंतर पडा हुवा है, जैसे सागर और जलबिंदुमें अथवा सूर्य और उसके प्रतिबिंबमें। आज परमात्मा सर्वसत्ताधारी, सर्वज्ञानवान्, सर्वचालक, आकर्षक बृहत्केन्द्र है; और जीवात्मा परतंत्र, अल्पज्ञानवान् और उस (परमात्माकी) सत्तासे आकर्षित ऐसा लघुकेन्द्र बना हुवा है। मूल अवस्थामें जीवात्मा परमात्म रूपसे अभिन्न रहते हुए जब उसमेंसे भिन्न होनेकी इच्छा रखकर (एकोऽहं

बहु स्याम्) अलग होता है, तभीसे भिन्नताकी भावनापर आरूढ होकर वह परमात्मभावनासे दूर दूर जाने लगता है; और अपनी ही इच्छा अथवा वासनाशक्ति की प्रेरणासे, आत्मासे चलकर मानस रूपमें जाता है, वहांसे देहेन्द्रियोंमें, और उनमेंसे बाहर विषयोंकी अभिलाषामें गिरता है, और उन विषयोंमें मग्न होता हुआ बाहरही रखनेकी प्रेरणा देता रहता है (अ. ५-२२; अ. ९. ६) हम यह जो बाहर हो रहनेकी वेगप्रेरणा देते हैं, वह प्रेरणा उत्तरोत्तर हमें लघु बनाती हुई, मानवी अहंकारसे प्राणी बनाती है, उससे वनस्पति, वनस्पतिसे वृक्ष, और वृक्षसे खनिज बनाती है। (अ. ७ श्लो. २७; अ. ९ श्लो. २)। इस बातको भूलकर हम हीन और क्षुद्रबल होते जाते हैं। (अ. ६ श्लो. ५-६)

देहेन्द्रियद्वारा बाहर जानेकी और बाहर रहनेकी इस वेगप्रेरणाको रोककर, उसको वापिस आनेकी प्रेरणा देते हुए, इंद्रियोंसे मनकी ओर, मनसे आत्मा (आत्मस्वरूप) की ओर जैसे जैसे हम आते जावेंगे, वैसे वैसे बाह्य विषयविचार और विकार हमसे छूटते जावेंगे; और पिण्डब्रह्माण्डके आधारभूत अपने हृदयस्थ परमात्मासे हम एकरूप (तन्मय) होकर फिरसे बृहत् केन्द्र बन जावेंगे।

अ. ८ श्लो. ८

इस दृष्टिसे गीताधर्मकी शास्त्रीय व्याख्या ऐसी होती है-

" परमात्मा (ईश्वर) और जीवात्मा (जीव) इन दोनोंमें जो धन ऋण अथवा बृहत् लघु केन्द्र संबंध निर्माण हुवा है, वह संबंध लुप्त होकर, बृहत् केन्द्रके समान (एकरूप) होनेकी लघुकेन्द्र (जीव) की जो शारीरिक व मानसिक क्रिया, उसीका नाम धर्म है।"

इस व्याख्याके अनुसार क्रिया शुरू होनेके लिये उस क्रियाके ज्ञानकी आवश्यकता है। सृष्टिने आज मनुष्यके हाथमें क्रियाके मुख्य साधन केवल दो ही दिये हैं· (१) शरीर, (२) मन। इस शरीरके अथवा मनके क्रियाधर्मकी केवल दो अवस्थाएं हैं- (१) वेगवानता अथवा चंचलता, (२) वेगहीनता अथवा स्थिरता। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्यमात्रमें स्वतंत्र चारही भेद निर्माण हैं- (१) शारीरिक क्रियावान् स्वभाव, (२) शारीरिक क्रियाहीन स्वभाव, (३) चंचल विकारी स्वभाव, (४) स्थिर विचारी स्वभाव।

मनुष्यके जन्मही से उसमें इन चार स्वभावधर्मों मेंसे कोई एक धर्म कम या अधिक प्रमाणमें निसर्गतः रहता है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति उस स्वभावानुकूल धर्मप्रवृत्तिकी बनी रहती हैं; और उस प्रवृत्तिके अनुकूल तथा सुकर ऐसाही मार्ग उसको उपयोगी होता है। इसलिये जीवात्मस्वरूपसे छूटकर परमात्माधिकारपर आरूढ होनेके लिये भी ये चार मार्ग मुख्य सिद्ध होते हैं-

शरीरक्रियायुक्त स्वभाव। तया कर्ममार्गे प्रभाव।
शरीर स्तब्ध स्वभाव। तया योगसमाधि॥
मन विकारी चंचळ जाणें। तया प्रेमभक्ती जुळणें।
मन शांत स्वाभाविकपणें। तया ज्ञानमार्ग युक्त॥
(आत्मसामर्थ्यलहरी)

अर्थ जिसका शारीरिक क्रियावान् स्वभाव है उसको कर्ममार्ग योग्य है; जिसका शारीरिक क्रियाहीन स्वभाव है, उसके लिये योगसमाधि मार्ग योग्य है; जिसका चंचल विकारी स्वभाव है, उसको प्रेमभक्तिका मार्ग अनुकूल है, जिसका मन स्वभावतः शांत है, उसके योग्य ज्ञानमार्ग है।

इस प्रकार शरीरकी और मनकी उन्नति होकर परिपूर्णता आनेके लिये—नरका नारायण होनेके लिये सृष्ट स्वभाव धर्मसे सिद्ध ऐसे जो चार मार्ग हैं (अर्थात् १ कर्म, २ योग, ३ भक्ति, और ४ ज्ञान) इन चारों मार्गोंका और मिश्र स्वभावधर्मानुकूल आवश्यक मार्गका सत्यज्ञान यदि किसी ग्रंथने यथार्थ रीतिसे बतलाया हो, तो वह भगवद्गीता ग्रंथ है।

अनुभवके लिये भगवद्गीताके इस निर्दिष्ट मार्गके अनुसार जबतक हम ठीक आचरण न करेंगे, तब तक परमेश्वरके स्वरूप व सामर्थ्यका हमें साक्षात्कारानुभव नहीं आवेगा। इसलिये भगवद्गीताने उनका जो स्वरूप बतलाया है, उसके स्पष्टीकरणका केवल दिग्दर्शन यहां करेंगे।

भगवद्गीतामें कर्मयोग बतलाया है, परंतु वह ...ढ लोगोंका कर्मयोग नहीं; वह कर्मयोग हमें ...ना स्वभावकर्म बदलकर कर्म करनेको नहीं कहता, किंतु वह हमारे स्वभावसिद्ध कर्म के कर्मस्वरूपही को नष्ट करके ज्ञानरूप बनानेवाला कर्मयोग है ।

भगवद्गीतामें योगमार्गका अभ्यास है; परंतु वह हठयोग मार्गका नहीं, किंतु सादा राजयोगमार्गका अभ्यास है ।

भगवद्गीतामें भक्तियोग है, परंतु वह क्षुद्र याचक वृत्ति सकाम भक्तका भक्तियोग नहीं, वह किसीका साधन नहीं है, किंतु वह कर्मको, योगको और ज्ञान को खींचकर श्रीकृष्ण के साकार स्वरूपसहित सकल विश्वको अपने स्वरूपमें लीन करनेवाला, अथवा जीवात्मासहित सबही को परमात्मा बनानेवाला भक्तियोग अर्थात् पूर्ण भक्तियोग है ।

भगवद्गीतामें ज्ञानयोग है। परंतु वह वाचाल वेदान्तियों का ज्ञानयोग नहीं। संसार को छोड विरक्त होकर अरण्य में वास करनेको वह नहीं कहता। " अब यह कैसे करूं, वह कैसे करूं ? " ऐसा कहनेवाली रोती सूरत वह नहीं बनाता; किंतु प्राप्त प्रसंग के योग्य कर्तव्य बतलानेवाला, और उस समय अपने भक्तियोग के सामर्थ्यसे सब पाप-पुण्य कृत्योंको नष्ट करके श्रीकृष्णस्वरूप को पहुंचानेवाला ज्ञानयोग है ।

भगवद्गीतामें मंत्रयोग और यज्ञयोग है। परंतु वह कर्मठ याज्ञिक नहीं बनाता। वह केवल स्वर्गमें अथवा पाताल में ढकेल देनेवाला नहीं है, किंतु अपने हाथसे होनेवाले यच्चयावत् स्वभावसिद्ध कर्मोंकोही ज्ञानस्वरूप में ढकेलनेवाला और यज्ञ कर्ता जीवको ही भगवान् श्रीकृष्ण बनानेवाला यज्ञ-योग है ।

इस प्रकार इस भगवद्गीतोक्त विश्वोपयोगी धर्ममें भावनाप्रधान स्त्रीपुरुषों को प्रेमवृद्धिके लिये स्थान है; संसारी मनुष्यके लिये संसार व्यवहारका निषेध नहीं, यह पक्षपात नहीं कि पुण्यवान् जातियोंकोही मोक्ष मिलेगा, महान् पातकी के लिये भी मुक्तद्वार है। किसी भी जातिधर्म को प्रतिबंध नहीं रखा गया। इस प्रकार सर्वस्वभावधर्मरूप गीतातत्त्व में प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवाले श्रद्धाभक्तिसंपन्न समस्त स्त्रीपुरुषजनोंको अपने पास बुलाकर अपने मूल सर्वसामर्थ्यस्वरूपको पहुंचानेवाली, पतित व अनाथ लोगोंकी एकमात्र उदार धर्ममाता श्रीमद्भगवद्गीता ही है ।

गीताका सुभाषित ।

कुलक्षयसे धर्मनाश होता है ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

— भ० गी० १ । ४०

"कुलनाश होनेसे,उस कुलमें जो सनातन धार्मिक आचार चले आते हैं, उनकाभी नाश होता है । "

कुलपरंपरा से कोई विद्या अथवा कला चली आती है; अथवा दूसरी कोई परंपरा रहती है कि जिससे समाजका अथवा राष्ट्रका बहुतभारी लाभ होना शक्य है। कुलोंका नाश होनेसे ऐसी परंपराओंका नाश होता है और उससे समाज के वैशिष्ट्य का भी नाश होता है। इसलिये ऐसी परंपरा नष्ट होने का प्रसंग जब आवे तब अन्यों को चाहिये कि वे सहायता देकर ऐसे कुलोंका संरक्षण करें ।

ज्ञानोत्तर--कर्म--विचार।

(लेखक— श्री परमहंस शुद्धाश्रम स्वामीजी।)

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य' लिखकर उसमें प्रतिपादन किया है कि "मुक्त पुरुषको कर्म करना ही चाहिये। संन्यासी लोगोंको भी कर्म छोडना न चाहिये, ज्ञान होनेपर भी कर्म करनाही चाहिये।" इस प्रकारकी नवीन विचारप्रणाली लोगोंके सामने आई, और शास्त्रपरिभाषा जिन्हें मालूम नहीं ऐसे लोगोंको वह जंचने लगी; इस कारण यह बतलाना अत्यंत आवश्यक हुवा है कि ज्ञानोत्तर कर्मवादियोंकी यह भूमिका मान्य करनेसे कौनसी आपत्तियां आती हैं। इसीलिये यह लेख लिखनेका हमने विचार किया है।

मुक्त पुरुषका आत्मा देहपतन के पश्चात् (ब्रह्मभूयाय कल्पते (गी०१८।१३)) ब्रह्ममें मिल जाता है इसलिये उस स्थिति के बाद प्रपंच में आकर उससे कर्मका होना असंभव है। अब विचारके लिये यही प्रश्न बाकी बचता है कि, मुक्त पुरुषको देहपतन होते तक, अर्थात् 'जीवन्मुक्त' स्थिति में, कर्म करना चाहिये अथवा नहीं? मनुष्य मुक्त होनेके पश्चात् देहपतन होनेतक जो अवधि रहता है, उस अवधि में उसे 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। मुक्त, जीवन्मुक्त, पूर्णज्ञानी, विज्ञानी, कृतकृत्य-इन सब शब्दोंका भाव एकही है। जीवन्मुक्तकी स्थितिपर ध्यान देनेसे मालूम होगा कि उसके लिये कोई 'कर्तव्य' नहीं बचता।

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
>
> —गी० अ० ३ श्लोक १७
>
> नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
> न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
>
> गी० अ० ३।१८

"जो मनुष्य आत्मा में रममाण है, जो आत्मासे ही तृप्त रहता है, और जो आत्मामें ही संतुष्ट अर्थात् निरिच्छ रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।" "तुम ऐसा करो, अथवा मत करो" ऐसी आज्ञा उसे करनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। कारण, मनुष्य मन और बुद्धिके योगही से कर्म करता है, और इन साधनोंको मुमुक्षु परमेश्वर को समर्पित करता है। देखिये—

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
>
> भ० गी० १२।८

"तुम अपना मन (मयि) ईश्वरमें लगाओ, अपनी बुद्धि ईश्वरमें रखो; इससे तुम निरंतर परमेश्वर में निवास करोगे।" इस प्रकारसे अनुष्ठान करनेपर जब मुमुक्षु का मन और बुद्धि परमेश्वर में पूर्णतया स्थिर होती है, तभी वह मुक्त होता है, और उसको अखंड शान्तिका अनुभव मिलता है। ऐसे मुक्त पुरुष का आत्मा, बुद्धि और मन, तीनों परमेश्वर में पूर्णतया निवास करते हैं, और देहपतनतक उसके शरीरद्वारा जो कार्य होता है, वह ईश्वरी संकेत के अनुसार होता है। देखिये-

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१८।६१

"परमेश्वर सर्व भूतोंके हृदय में रहकर जिस प्रकार यंत्रपर बैठी हुई पुतलियां घूमती हैं, उस प्रकार सर्व भूतोंको अपनी शक्ति से घुमाता है।" इस प्रकार इस मुक्त पुरुष का शरीर परमेश्वरी संकेत के अनुसार कार्य करता है। यह क्रम देह के पतनतक चलता है। इस स्थिति में मुक्त पुरुषके

शरीरसे जो कार्य होता है उसका कर्ता वह नहीं रहता; वह कार्य ईश्वरी संकेत के अनुसार अथवा प्रारब्ध के अनुसार उस पुरुष के द्वारा होता है। परंतु—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ३।२७

"अहंकारसे मूढ बना हुवा मनुष्य समझता है कि मैं करता हूं" और वह धोखा खाता है। तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने अनुभव से जानता है, कि केवल ईश्वरी अधिकार से वह सब कुछ चल रहा है, और यद्यपि इस शरीर के द्वारा कर्म हो रहा है, तथापि मैं उसका अ-कर्ता हूं। इस समय उसके "मैं व मेरा" ऐसे भावही नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थितिवाले मनुष्यही के संबंध में कहा है कि—

हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

गी० १८। १७

"इन सबको मारते हुए भी वह नहीं मारता और इसलिये वह बद्ध नहीं होता।" क्यों कि उस की आत्मा, बुद्धि और मन परमेश्वरमें निमग्न रहते हैं; और शरीरमात्र ईश्वरी संकेत सब ईश्वरही की शक्तिसे यंत्रपर फिरनेवाली पुतली के समान घूमता रहता है। ऐसी स्थितिमें रहनेवाले जीवन्मुक्त परम ज्ञानी पुरुष को अमुक कर्म करना चाहिये, ऐसा कहनेका अधिकार किसका है ? और कोई ऐसा कहे भी तो उसका इस मुक्त पुरुषपर क्या परिणाम होगा ? और इनके कहने सुननेकी उसको सुधही कैसे रहेगी ? क्यों कि वह उस वक्तपर विधिनिषेध की कक्षा के बाहर रहता है, इसलिये कहा गया है कि—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

"जो गुणातीत हैं, उन्हें विधि भी नहीं और निषेध भी नहीं।" इसलिये जो ऐसा कहते हैं कि ऐसे मनुष्योंको 'कर्म करते रहना चाहिये' उन्हें हमें कहना पड़ेगा कि मुक्तावस्थाकी कल्पनाही नहीं हुई है। वस्तुतः मुक्त पुरुष को 'कर्म करना चाहिये अथवा न करना चाहिये' कुछ भी नहीं कह सकते। क्योंकि जैसे उसके हाथसे कर्म होना, यह नहीं कहा जा सकता वैसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके हाथसे कर्म न होगा। परमेश्वरी संकेतके अनुसार और प्रारब्धानुसार उसके शरीरद्वारा जो कुछ होगा वही होगा। मुक्त होनेके समय उनकी जैसी वृत्ति रहती है, वैसीही उनकी वृत्ति मुक्त स्थिति में भी रहती है, कारण-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥ ३।३३

"ज्ञानी हुवा तो भी वह अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता है" इसलिये मुक्त पुरुषोंके व्यवहार विलक्षण होते हैं, देखिये—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः ॥

(जीवन्मुक्तविवेक)

"कृष्ण भोगी थे, शुकाचार्य त्यागी थे, जनक और रामचंद्र राज्य करते थे, और वसिष्ठ ऋषि अध्यापन का कार्य करते थे; तथापि ये सब ज्ञानी अर्थात् मुक्तही थे।" इनके अतिरिक्त जडभरत स्तब्ध पड़े थे, शिखिध्वज राजा राज्य करता था, अपने अर्जुन, जिन्हें गीता सुनाई गई थी, गीता सुनने के बाद और विश्वरूपदर्शन का साक्षात्कार होनेपर मुक्त हुए और उनके शरीरद्वारा ईश्वरी संकेतके अनुसार युद्ध हुवा है; परंतु वह सब उनके शरीरद्वारा हुवा, न कि उसने किया। क्यों कि अर्जुनने अपना मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण की, और ईश्वरी संकेतानुसार कर्म होनेके लिये देह ईश्वरको अर्पण किया; इस विदेह स्थितिमें जो कर्म हुवा उसका कर्ता कौन हो सकता है ? करते हुए अकर्ता रहनेकी जो स्थिति वह यह है। ऐसी स्थितिको पहुंचे हुए मनुष्य के संबंधमें यह कहना कि 'उसको आमरण कर्म करते रहना चाहिये' मुक्तिके अनुभवके अभावका द्योतक है। इसपरसे वाचकों के ध्यान में आवेगा कि जीवन्मुक्त होनेपर मनुष्यके हाथसे स्वतःकी प्रेरणा से कोई कर्म होने का संभव नहीं रहता। उसकी स्वतःकी प्रेरणाही बाकी नहीं रहती। उसके शरीरद्वारा जो कुछ होता है वह ईश्वरी प्रेरणासे होता है; इसका व्यक्तित्व ईश्वरके तद्रूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञानोत्तर कर्मवादी किसको कहते हैं कि "तुम्हें ज्ञानो-

सार कर्म करना चाहिये ।" मुक्त पुरुषको इसकी खबर रहना असंभाव्य है, और खबर रहे भी तो उसका मन उसके पास न रहनेसे उससे कर्म होना भी शक्य नहीं ।

यहां कई लोग आक्षेप कर सकते हैं कि, यदि इन मुक्त जीवोंका मन परमेश्वरमें लीन रहता है, तो केवल उनका शरीर कर्म कैसे कर सकेगा ? यह आक्षेप सच है; वस्तुतः मन समर्पित हुवे बराबर सब शरीर और इंद्रियां परमेश्वर को समर्पित होते ही हैं; और ऐसी स्थितिमें उत्तम कर्म भी हो सकता है ।

इसके लिये एक उदाहरण ऐसा दे सकते हैं कि, किसी सेनापति के हाथके नीचे लाखों सैनिक हैं, और वे सब सैनिक सेनापतिकी आज्ञा के अनुसार कार्य करते हैं । सेनापति उठनेको कहे तब ये उठते हैं, बैठनेको कहे तब बैठते हैं, दौडनेको कहे तब दौडते हैं, शस्त्रधारण करनेको कहे तब शस्त्रधारण करते हैं । ये सैनिक अपने मनसे कुछ नहीं करते; उन्होंने अपने शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, ये सब सेनापतिके सुपुर्द कर दिये हैं, उसकी इच्छा से उनके देह कार्य करते हैं । इसलिये उनका योगक्षेम सेनापति चलाता है,और कर्म करनेपर भी ये लोग जयापजयके जवाबदार नहीं रहते । परंतु उनके आत्मसमर्पणसे राष्ट्रका बहुत काम होता है । इस उदाहरण से वाचक समझ लेंगे कि मुक्त पुरुषोंके व्यवहार परमेश्वरकी प्रेरणासे कैसे होते हैं ।

ऐसे (सेनापतिकी आज्ञासे रहनेवाले) सैनिकों को जैसे कोई बाहरका आदमी यह नहीं कह सकता कि ' तुम अमुक कर्म करो, ' उसी तरह ज्ञानोत्तर कर्मवादी मुक्त अथवा ज्ञानी पुरुष को ऐसी आज्ञा नहीं कर सकता कि ' तुम अमुक कर्म करो । '

जीवन्मुक्त के द्वारा एक तरहसे कर्म होना शक्य है । वह ऐसा कि राष्ट्रमें अन्याय हो रहा है, जहां वहां मनःक्षोभ हो रहा है, जुलुम बढ रहा है, सज्जनोंपर अनन्वित अत्याचार हो रहा है, ऐसे समय भक्त लोग अनन्य भावसे परमेश्वर की शरण लेवें, इसका परिणाम यह होगा कि मुक्त पुरुष अवतीर्ण होंगे और उनके द्वारा क्रान्ति होगी । ये मुक्त पुरुष सज्जनोंका संरक्षण और दुर्जनोंका निर्दलन कर के धर्मव्यवस्था अच्छी तरह जमा देंगे । परंतु यह सब कार्य सर्वथा भक्तोंकी प्रार्थना से और ईश्वरी प्रेरणासे होता है, ज्ञानोत्तर कर्मवादियोंके कहे अनुसार होना अशक्य है ।

कर्मोंके चार भेद हैं- "काम्य कर्म, निष्काम कर्म, कर्मसंन्यास और परेच्छाकर्म, " इनमेंसे पहिले तीन साधक को करना हैं, और चौथा मुक्तोंके द्वारा होता है ।

(१ काम्यकर्मभूमिका) प्रथमतः काम्य कर्म करना चाहिये; उससे बडा पुण्यफल अर्थात् सामर्थ्य प्राप्त होता है । उसके द्वारा मनुष्य बडे परोपकार कर सकता है । ऐसे परोपकार करनेपर उसके मन की तृप्ति होती है, और वह-

(२ निष्कामकर्मभूमिका) फलेच्छा छोडकर दूसरोंके लिये कर्म करने लगता है; इस समय वह निष्कामकर्मकी भूमिका में जाता है । यद्यपि यहां वह मनुष्य परोपकाररत होता है, तथापि उसका ' अहंकार ' नष्ट न होनेसे, और ' वैराग्य ' प्राप्त न होनेसे उसे वारंवार संदेह उत्पन्न होते हैं, और उसका मन भी वारंवार उद्विग्न होता रहता है । इस उद्विग्नतासे आगे चलकर उसे वैराग्य प्राप्त होता है, और -

(३ कर्मसंन्यासभूमिका) उस समय मनकी शान्ति के अतिरिक्त उसका कोई दूसरा ध्येय नहीं रहता । मनको शान्त करना सहज काम नहीं है, वह सत्संग, अभ्यास आदि साधनोंसे शान्त होता है । इसलिये ऐसी विरक्त स्थितिमें सिवाय इन साधनोंके विरक्त पुरुष से अन्य प्रापंचिक कर्मोंका होना असंभाव्य है । इस विरक्त स्थितिमें उससे साधनोंका अभ्यास होता है, और यह अभ्यास -

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।
(योगसूत्र)

" यह अभ्यास बहुत दिनोंतक सतत भक्ति से किया जाय, तब वह स्थिर होता है " और इस

अभ्याससे उसका मन शांत होता है और वह मुक्त होता है। मुक्तिके बाद—

(४ परेच्छाकर्मभूमिका) उससे जो कर्म होता है वह परेच्छासे होता है। क्यों कि उसके स्वतःके लिये करनेका कुछ बाकी नहीं रहता।

इस प्रकार ये कर्मकी चार भूमिकाएं हैं; इनमें निष्कामकर्मयोग दूसरी भूमिका है और उसके बाद कर्मसंन्यास करनेकी तीसरी भूमिका आती है। यह देखनेपर वाचकोंको निश्चय होगा कि सबही जगह 'निष्कामकर्मयोग' ही है ऐसा कहना गलत है। जिस समय वह कर्मसंन्यास की भूमिका में अर्थात् विरक्त स्थितिमें रहता है उस समय उससे काम्यकर्म होना असंभव है, और निष्कामबुद्धि से भी प्रापंचिक, वैयक्तिक अथवा राष्ट्रीय किसी भी प्रकारका कर्म होना अशक्य है। इस समय उससे केवल साधनमार्ग का अनुष्ठान होगा और शरीरधारणके लिये कर्म हो सकेगा। ऐसे कर्मका उसे बिलकुल दोष नहीं लगता, देखिये—

निराशीर्यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
भ० गी० ४।२१

"जो आशासे रहित है, जिसका मन स्वाधीन है और जिसने अपने पास संग्रह करना छोड दिया है, वह यद्यपि (शारीरं कर्म) शरीरधारणा के लिये कर्म करे, तथापि उसको उसका दोष नहीं लगता" क्यों कि इस समय मुमुक्षु सर्वकाल साधन करता रहता है, और जो कुछ करता है वह चित्तशुद्धिके लिये करता है, इसलिये वह निर्दोष रहता है; ऐसा यहां आशय है। (इस श्लोक का अर्थ करते समय लोकमान्य तिलकने 'शारीरकर्म' का अर्थ 'शरीरसे जो कर्म हुवा वह' ऐसा किया है। परंतु यह अर्थ गलत है, क्यों कि—(गी० ५।११)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

"शरीर, मन, बुद्धि अथवा केवल इंद्रियोंके योगसे योगी लोग आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिये कर्म करते हैं।" अर्थात् कर्मयोग चित्तशुद्धिके लिये किया जाता है। आत्मशुद्धि के हेतु जो अनुष्ठान किया जाता है, उस अनुष्ठान के लिये जो कर्म किया जाय उससे कोई दोषी नहीं हो सकता। इस श्लोकमें कहा है कि "शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि के योगसे योगी आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं" इनमेंसे 'शारीर कर्म' से दोष नहीं लगता, ऐसा यदि माना जाय, तो ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि क्या मानसिक और बौद्धिक कर्मसे भी दोष लगता है? इसलिये 'शारीरं कर्म' शब्दोंका अर्थ वैसा नहीं है, जैसा लोकमान्य लेते हैं, किंतु यहां उन शब्दोंका अर्थ- 'शरीरधारणाके लिये जो कर्म करना है वह कर्म' ऐसा ही लेना चाहिये।)

इस तरह यह देखा गया कि कर्मसंन्यासकी तीसरी भूमिका विरक्तही के लिये है। अब यह देखा जाय कि यही बात आश्रम व्यवस्था में किस प्रकार सिद्ध होती है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ऐसे चार आश्रम हैं, और ये एकके बाद एक आते हैं। विशेष प्रसंग में शंकराचार्य के समान अद्वितीय पुरुष को यद्यपि ब्रह्मचर्यसे एकदम संन्यास लेते बनता है, तथापि वह सर्वसाधारण नियम नहीं है। नियम यह है कि पहिले तीन आश्रम हो जानेके बाद संन्यास लेना—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

(मनुस्मृति)

"देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण चुकता कर के, पश्चात् निवृत्तिमार्ग में प्रवेश करना चाहिये। अन्यथा आचरण करनेसे मनुष्य पतित होता है।" अर्थात् नियम यह है कि पहिले प्रपंच करना, पश्चात् परमार्थ करना, क्यों कि विरक्ति उत्पन्न हुए बिना निवृत्तिमार्ग साध्य हो नहीं सकता। गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमार्ग है। गृहस्थाश्रमके कर्म करनेपर विरक्ति की ओर जब प्रवृत्ति हो तब वानप्रस्थाश्रम लेना चाहिये। उस आश्रम में प्रापंचिक लोगोंका संबंध छोड देना चाहिये, कंदमूलोंपर निर्वाह करना

चाहिये, द्वंद्वोंको सहन करना चाहिये, वेदान्त-ग्रंथोंका मनन करना चाहिये; और तदनंतर जब पूर्णतया विरक्ति आवे तब संन्यास लेना चाहिये। इस तरह विरक्ति के बाद संन्यास है, यही देखिये—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥
(गी० अ० ६ श्लोक ३।४।५)

"कर्म करनेसे योगी होता है। योगी होनेके पश्चात् (शम) मनका निग्रह करना पडता है। मनुष्य जब इंद्रियों के विषयोंमें अथवा कर्म में आसक्त नहीं होता, और सब संकल्पोंका त्याग करता है, तब उसे योगारूढ कहते हैं। संन्यास जिसको कहते हैं, उसी को तुम योग समझो। जिस ने संकल्प नहीं छोडा वह योगी नहीं हो सकता।" इस ६ वें अध्याय से स्पष्ट दिखता है कि फलेच्छा छोडकर प्रापंचिक कर्म करनेवाला मनुष्य योगी नहीं है; इसी तरह सब कर्मोंको छोडकर चुपचाप बैठनेवाला मनुष्य संन्यासी नहीं है। योगका अर्थ है ध्यानयोग; इसीको संन्यास कहा है। योगी होने के पहिलका कर्म अलग है और बादका अलग है, ऐसा ६ वें अध्याय में स्पष्ट करके बतलाया है। फलेच्छा छोडकर प्रापंचिक कर्म करनेवालेसे ६ वें अध्याय के योगका साधन कभी भी हो नहीं सकता; क्यों कि "प्रशांतात्मा, विगतभीः, मच्चित्तः,रहसि स्थितः, एकाकी, यतचित्तात्मा,निराशीः,अपरिग्रहः" इत्यादि गुण फलेच्छा छोडकर प्रापंचिक कर्म करनेवाले को प्राप्त होना असंभाव्य है। अस्तु। अब यह देखना चाहिये कि निष्काम कर्मयोग की कौनसी श्रेणी है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥
(गी० अ० १२।९)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गी० १२।१०)

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥(१२।११)

"तुम अपना मन मेरे में रखो, अपनी बुद्धि मेरे में स्थित करो, इसके अनंतर निःसंदेह तुम मुझे आकर मिलोगे। यदि अपना मन मेरे ठिकाने स्थिर करनेमें तुम असमर्थ हो,तो हे धनंजय, अभ्यासयोग के द्वारा मेरी प्राप्ति करनेकी इच्छा रखो। इस प्रकारका अभ्यास जारी रखनाभी तुम्हारी शक्ति के बाहर हो तो सब कर्मोंको मुझे अर्पण करो; और इस प्रकार कर्म करते करतेभी तुम मोक्ष प्राप्त कर सकोगे। और यदि मेरे प्रीत्यर्थ कर्म करनेके योग्य भी तुम्हारी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोंके फलका त्याग करो।"

(१) आठवें श्लोकमें मन और बुद्धिको परमेश्वरमें रखने को कहा है।
(२) यह न होसके तो अभ्यास करनेको कहा है
(३) यहभी न हो सके तो कर्म को भगवत्समर्पण करने को कहा है।
(४) यह भी न हो सके तो कर्मफलका त्याग करनेको कहा है।

इससे स्पष्ट होता है कि कर्मफलका त्याग सबसे नीचे दर्जेका अखीर का मार्ग है। इस निष्काम कर्मयोगसे चित्तशुद्धि होनेपर परमार्थसंन्यासी होकर बादमें ज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। यह बतलानेके लिये कहा है –

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥
(गी० अ० ५।६)

"हे अर्जुन, बिना योग के परमार्थसंन्यास प्राप्त करना दुःखकर है। योगयुक्त होनेपर ब्रह्मप्राप्ति होती

है।" यहाँ मोक्षहिके योग, फिर संन्यास कहा है।

इससे समझमें आवेगा कि जैसे संन्यास सबके लिये नहीं है, वैसेही निष्कामकर्मयोग सब के लिये नहीं है, यह केवल एकही अवस्था में करनेका है।

अब कर्मयोग के संबंध में विचार करेंगे। कर्म का मतलब है शास्त्रविहित कर्म, न कि कोई भी कर्म। शास्त्रविहित कर्म ही को "नियत कर्म, कार्य कर्म, स्वभाज कर्म" ऐसे नाम हैं। फलेच्छा छोडकर शास्त्रविहित कर्म करनेपर चित्तशुद्धि होती है। देखिये-

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः।
कृत्वा समासादित शुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः।
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये १॥ (रामगीता।)

"नित्यानित्यवस्तुविवेकः। इहामुत्रफलभोगविरागः। शमादिषट्कसंपत्तिः। मुमुक्षुत्वम्।"

इनको साधनचतुष्टय कहते हैं। साधनचतुष्टय-सम्पन्न होनेके पश्चात् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।' (वे० सू०) ब्रह्म जाननेकी इच्छा करना। इसका क्रम इस तरह है- पहिले निष्कामकर्म, तदनंतर योगसाधन, तदनंतर शम अर्थात् मनका निग्रह, तदनंतर संकल्पत्याग अर्थात् संन्यास, तदनंतर परमपदप्राप्ति। इससे स्पष्ट होता है कि आमरण यदि कोई केवल निष्कामकर्म करता रहे तो उसको विशेष उन्नति प्राप्त होना असंभाव्य है। व्यावहारिक कर्म करनेमें मन व्यग्र होता है, और यह व्यग्रता निष्काम भावनासे कर्म करनेपर भी दूर नहीं हो सकती। इसके सिवाय प्रापंचिक कर्मों का निष्काम बुद्धिसे होना सर्वथा अशक्य है। क्यों कि-

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२

"सहजहीमें जो कुछ मिल जाय उसीपर जो संतुष्ट रहता है, जो सुखदुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त रहता है, जो मत्सररहित और सिद्धि असिद्धिके विषयमें तटस्थ रहता है, वह कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता।" प्रापंचिक मनुष्य को यह स्थिति प्राप्त हो नहीं सकती। यह स्थिति एकनाथ महाराज सरीखे विरक्तोंको ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये यह कहना गलत है कि निष्काम कर्मयोग सर्वसाधारण लोगों के लिये है। इसी लिये पहिले प्रपंच करना, फिर मुमुक्षु होनेपर उपर्युक्त रीतिसे योगसाधन करना योग्य है।

आधुनिक निष्काम कर्मवादी समझते हैं कि, अच्छे बुद्धिमान् मुमुक्षु लोग यदि प्रापंचिक कर्मों को छोड कर भिक्षावृत्तिपर निर्वाह करते हुए चुपचाप बैठेंगे तो देशपर बडी आपत्ति आवेगी। इसलिये उनको स्वतः प्रापंचिक कर्म करके लोगोंको उदाहरण देना चाहिये। कर्मवादियों की यह भीति बिलकुल निराधार है। क्यों कि उन्हें इसका कुछ ज्ञान नहीं कि लोकसंग्रह कौन कर सकता है; और संन्यासी (मुमुक्षु) लोगोंसे देशको क्या लोभ है।

बहुतसे लोग यह जरूर समझते हैं कि मुक्त पुरुषोंका इस जगत् में कोई उपयोग नाहीं। परंतु यथार्थ में जगत् के आधारस्तंभ मुक्त पुरुषही हैं। उन्हींसे जगत् का उद्धार होता है। उदाहरणार्थ अकेले महात्मा गांधी जो काम करते हैं वह हिंदुस्थानके ३५ करोड आदमियोंसे नहीं होता। इसका कारण यही है कि उन्हो ने अपना आचरण वैसा ही रखा है जैसा कि गीता के दूसरे और ६ वें अध्याय में कहा गया है। न केवल वे फलेच्छा छोडकर कर्म करते हैं, किन्तु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शान्ति, तपश्चर्या, भूतदया, निर्भयता, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि गुण उनमें वास करते हैं। वे कर्म करते हैं तथापि संन्यासी ही हैं। परंतु महात्माजी के सदृश बद्ध पुरुष का कर्म करना अशक्य है। अस्तु।

यतिधर्म के संबंध में विचार करनेपर मालूम होगा कि यतिधर्म के नियम सब आश्रमवाले लोगों के कल्याण के हेतु रहते हैं। संन्यासी आदर्श पुरुष रहता है। गृहस्थों को ऐसा पुरुष सर्वत्र देखने नहीं मिलता। गृहस्थाश्रम में यतिके समान मनोनिग्रह, षड्रिपुजय, सत्य, तितिक्षा इत्यादि गुण क्वचित् ही देखने मिलते हैं। इसलिये यतिका उदाहरण देखकर गृहस्थों को अपना आचरण शुद्ध रखनेके लिये अच्छा साधन मिलता है। शास्त्र पढनेही से कार्य,

भाग नहीं होता। शास्त्र को जिन्होंने आचरण में लाया है ऐसे पुरुषों के सहवास से जो लाभ होता है वह केवल शास्त्र पढनेसे नहीं होता। महात्माओं की वाणी में बहुत सामर्थ्य रहता है। इसलिये उन के उपदेश से बहुत फायदा होता है। ऐसे संन्यासी एकही जगह रहनेसे उनके दर्शन का लाभ बहुत लोगोंको नहीं होता; क्यों कि प्रापंचिक कामोंमें व्यग्र रहनेसे गृहस्थोंको साधुलोगों के दर्शन के लिये जाना कठिन है। सिवाय इसके, लोगोंसे दृढ परिचय होनेके कारण संन्यासी के प्रपंच में फंसने का भी संभव है; इसलिये शास्त्राज्ञा ऐसी है कि संन्यासी प्रापंचिक लोगोंसे ज्यादा संबंध न रखे और हमेशा भ्रमण करता रहे। इस दृष्टिसे संन्यासियोंका कितना उपयोग है, यह सहजही ध्यानमें आवेगा।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(अ० ६।३)

इस श्लोक का अर्थ रहस्यकारोंने ऐसा किया है-

"जो योगारूढ होना चाहता है, उस मुनिके लिये कर्म शमका कारण है। वही पुरुष योगारूढ होनेपर उसके लिये शम कर्मका कारण होता है।"

यह अर्थ कैसा विसंगत है, देखिये। ६वें अध्याय में पातंजलयोगका विधान है-

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः। ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥"
(पातंजलयोगसूत्र)

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(भ० गी० अ० ६।३५)

योग चित्तवृत्तिका निरोध है। अभ्यास और वैराग्य से चित्तका निरोध होता है, और ईश्वरप्रणिधानसे भी होता है। शम (अंतरिन्द्रियनिग्रहः) अभ्यास, वैराग्य और ईश्वरप्रणिधानसे प्राप्त होता है, इसलिये शमका कारण अभ्यास, वैराग्य और ईश्वरप्रणिधान है; न कि कर्म है जैसा कि लो० तिलक कहते हैं।

उपर्युक्त श्लोकका स्पष्ट अर्थ ऐसा है कि-

"योगं आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणम् उच्यते।
तस्यैव योगारूढस्य शमः ज्ञानपरिपाकः साधनम् उच्यते।"

और भी देखिये-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (६।४)

"पुरुष जब सर्वसंकल्पसंन्यासी होकर विषयों में अथवा कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, तब उसे योगारूढ कहते हैं।"

रहस्यकार कहते हैं कि सर्वसंकल्पसंन्यास का अर्थ "कर्मफलका त्याग है, न कि कर्मों का।" यह गलत है; क्यों कि योग करनेकी इच्छा कर्मफल की इच्छा छोडनेही पर होती है। केवल कर्म करने से मनुष्य बद्ध होता है। 'संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' आत्मशुद्धिके हेतु संग छोडकर कर्म करना चाहिये, ऐसा गीतामें कहा है। इसके अनंतर उसको विरक्ति आती है और वह योगारूढ होता है।

इसलिये यह कहना गलत है कि जो फलेच्छा छोडकर कर्म करता है उसको योगारूढ कहते हैं। और जहां संकल्प है, वह चाहे कर्मका भी हो, वहां योगारूढ होना असंभाव्य है।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः॥
(मनुस्मृति)

यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥
(मनुस्मृति)

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

संकल्पसे होनेवाले अनर्थोंका विस्तृत वर्णन महाभारतकी मंकिगीता में किया है-

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि संकल्प से काम उत्पन्न होता है और कामसे घोर अनर्थ होते हैं, इसलिये कोई भी संकल्प न होना चाहिये। जो कर्मोंमें और विषयोंमें आसक्त नहीं है, मनमें कोई संकल्प नहीं करता ज्ञानविज्ञानतृप्त है,

सर्वत्र समबुद्धि है, ऐसा मनुष्य चिंतामणिको छोड कर इमली न लेगा; अर्थात् परमपद छोडकर यःकश्चित् प्रापंचिक कर्म न करेगा। उसकी दृष्टिमें सब विषय विष्ठाके समान होनेसे वह प्रपंचमें पडेगाही नहीं। सारांश यह कि विरक्तिके पूर्व और मुक्तिके पश्चात् प्रापंचिक कर्म हो सकेगा, परंतु वह विरकावस्थामें हो नहीं सकता, और योगारूढसे भी कर्म का होना अशक्य है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

इस श्लोकसे भी प्रतीत होता है कि यतिके द्वारा लौकिक कर्मका होना शक्य नहीं। रहस्यकारने ऐसा पूर्वपक्ष किया कि " योगारूढ होनेपर मनुष्यको कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहता, इसलिये शम कारण निरुपयोगी है। जहां कार्य नहीं वहां कारण भी नहीं। " और आचार्यका अर्थ गलत ठहराया है। रहस्यकारका यह विधान बिलकुल गलत है, क्यों कि योगारूढ होनेपर " तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति " अर्थात् चित्तको स्थिर करना ज्ञानका साधन है। इस लिये यह सिद्ध होता है कि शम ज्ञानका साधन है। इसी तरह कर्मको शमका कारण माननेपर, फिरसे कभीभी कारण कार्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ दही का मंथन करना कारण है; मख्खन कार्य है; तदनंतर मख्खन से दहीका मंथन उत्पन्न होना असंभवनीय है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि रहस्यकारने किया हुआ अर्थ गलत है।

संन्यास व कर्मयोग।

(३) रहस्यकारने कर्मयोगकी विशेषता सिद्ध करनेके लिये जो प्रमाण दिया है वह यह है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
भ० गी० अ० ५।२

इस श्लोकका अर्थ करनेके पहले यह देखना आवश्यक है कि तीसरे अध्याय में अर्जुनने भगवान्

को क्या प्रश्न किया, और भगवान् ने उसका क्या उत्तर दिया।

अर्जुनका प्रश्न।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

द्वितीय अध्याय के ५५ वें श्लोकसे भगवान् ने कहा है कि जिन्होंने कर्मसंन्यास किया है ऐसे पुरुषों को ज्ञानयोगसे मोक्षप्राप्ति होती है और बुद्धियुक्त कर्मकी अपेक्षा (केवल) कर्म बहुत नीचे दर्जेका है। ऐसा कहकर अर्जुन को कहा कि "तुम कर्महीं करो। " बुद्धियुक्त कर्मकी अपेक्षा केवल कर्म बहुत निकृष्ट है; और वही कर्म करनेको भगवान् मुझे कहते हैं और अत्यंत श्रेयस्कर ऐसा ज्ञानयोग नहीं बतलाते; इसलिये विषादसे अर्जुन भगवान् से प्रश्न पूछते हैं- " हे भगवान्, तुम्हारे मतसे बुद्धियुक्त कर्म यदि केवल कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, तो हिंसायुक्त युद्धकर्म में मुझे तुम क्यों नियुक्त करते हो? तुम्हारे द्विविध भाषणसे मैं भ्रम में पडा हूं, इसलिये मुझे एकही निश्चित मार्ग बतलाओ जिससे मेरा कल्याण होगा। "

भगवान् उत्तर देते हैं।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

" हे निष्पाप! इस लोक में मैंने दो प्रकारकी निष्ठाएं बतलाई हैं। एक ज्ञानयोग के द्वारा संन्यासियोंकी और दूसरी कर्मयोगके द्वारा योगियोंकी"

इससे स्पष्ट होता है कि एकएक के लिये एक एक निष्ठा निश्चित है, इसलिये एक की निष्ठा दूसरे को उपयोगी नहीं होती। एकही पुरुष यदि दो मार्गोंसे जा सकता, तो इनमें श्रेष्ठ कनिष्ठका विचार होना शक्य होता। परंतु ऐसा प्रकार यहां संभवनीय नहीं, क्योंकि कर्मनिष्ठावाले लोगोंसे ज्ञानमार्ग नहीं हो सकता और ज्ञाननिष्ठावाले लोगोंसे कर्ममार्ग का आचरण अशक्य है। जिसकी जो निष्ठा

हो उसको अपनी निष्ठाके अनुसार आचरण करना चाहिये। ऐसा होनेपर भी रहस्यकारने विनाकारण यहां ऐसा वाद उपस्थित किया है कि कर्मसंन्यास श्रेष्ठ है कि कर्मयोग ? इसलिये इसपर लडाई मची है। परंतु इस वाद का मूल अज्ञान में है। इस बात को समझने के लिये ऐसी कल्पना की जाय कि एक गाव को जानेके दो रास्ते हैं, उनमें से एक पास का है और उसके बीचमें ऊंचा पहाड है, दूसरा रास्ता दूरका है परंतु सरल है। एक हट्टा-कट्टा और एक लंगडा ऐसे दो मनुष्य उस गांवको जानेके लिये निकले। पहिला मनुष्य पासके मार्ग से जावेगा और दूसरा दूरके रास्तेसे जावेगा। पहिला मनुष्य कहेगा कि पहिला रास्ता अच्छा है, दूसरा कहेगा दूसरा अच्छा है। रास्तेका अच्छापन या बुरापन जानेवालेपर अवलंबित है; इसलिये यह प्रश्न असमंजसका है कि इन मार्गोंमेंसे श्रेष्ठ कौनसा है; क्योंकि करनेवालेके सामर्थ्यके अनुसार प्रत्येक मार्ग श्रेष्ठ होगा और दूसरा कनिष्ठ होगा।

तीसरे और चौथे अध्यायोंमें कर्मयोग बतलाकर चौथे अध्यायके श्लोक १८, १९, २१, २२, २४, ३२, ३३, ३४, ३७, और ४१ में कर्मसंन्यासका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया; और अंतमें भगवानने कहा-

> तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
> छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
> भ. गी. अ. ४।४२

अर्जुनने यहां कर्मसंन्यासकी प्रशंसा सुनकर यह समझ लिया कि मैंने जो कर्मसंन्यास किया वही योग्य है। परंतु शीघ्रही भगवान्‌ने कर्मयोग करनेको कहा, तब अर्जुनको संशय उत्पन्न हुवा इन दोनोंमें भेद क्या है, और अपने लिये कौनसी निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है, यह ठीक तरह अर्जुनके ध्यानमें नहीं आया; इसलिये भगवानका निश्चित मत समझ लेनेके हेतु उन्होंने प्रश्न किया। उनका मनोगत जानकर भगवान्‌ने उनको योग्य उत्तर दिया। उसका मर्म समझनेके लिये अर्जुनका प्रश्न देखिये—

अर्जुनका प्रश्न।

> संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
> यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥
> गी० अ० ५।१

“ हे कृष्ण! कर्मणां संन्यासं पुनश्च कर्मयोगं शंससि। अतो मे एतयोर्यच्छ्रेयः तदेकं सुनिश्चितं ब्रूहि।” “ हे कृष्ण, कर्मसंन्यासकी प्रशंसा करके फिर मुझे कर्मयोग करनेको कहते हो। इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौनसा श्रेयस्कर है इसके बारेमें आप अपना निश्चित मत कहिये।”

> संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
> अ० ५। २

“ संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं; इन दोनोंमें से तुम्हारे आचरण के योग्य कर्मयोगही है” पहिले विभागमें पहिले प्रश्नका उत्तर है, और दूसरे विभागमें दूसरे प्रश्नका उत्तर है। अर्जुन संन्यास लेनेके लिये अधिकारी नहीं थे इसीलिये उन्हें कर्म-योग करनेको कहा। अब रहस्यकारने जो अर्थ किया है उसपर विचार करें। वह ऐसा है—

(१) हे कृष्ण ! एकवार आप कहते हैं कि संन्यास अच्छा है, फिर कहते हैं कि कर्म का योग अच्छा है; इन दोनोंमेंसे सचमुच में जो श्रेयस्कर अधिक प्रशस्त हो वह एकही निश्चित रूपसे मुझे बतलाइये।

(२) कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं। परंतु (मोक्षदृष्ट्या यद्यपि दोनों की योग्यता समान है तथापि) इन दोनोंमेंसे कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

रहस्यकारने जो अर्थ किया है उससे लोगोंकी यह भावना होनेका संभव है कि भगवान्‌के मतसे सांख्यबुद्धिवाले पुरुषोंको भी कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है। उनका यह आशय न होता तो आचार्यने किये हुए अर्थसे भिन्न अर्थ करनेका कोई कारण

न था। अब यह देखा जाय कि रहस्यकारका अर्थ गलत कैसे है। यदि यह माना जाय कि रहस्यकारने किया हुवा अर्थ ही बराबर है, तो अर्जुनके प्रश्नसे यह सिद्ध होगा कि अर्जुनको दोनों मार्गोंसे जाना शक्य था। परंतु उसकी इच्छा यह थी की उनउनमेंसे जो श्रेष्ठ हो उस मार्गसे जाऊं; और यही समझनेके लिये भगवान्‌से पूछा।

भगवान् का यदि ऐसा मत होता कि " कर्मसंन्यास (ज्ञानमार्ग) की अपेक्षा कर्मयोगही श्रेष्ठ मार्ग है, तो सांख्योंके लिये भी भगवान् कनिष्ठ प्रतिका ज्ञानयोग न बतलाते, किंतु कर्मयोगही बतलाते। परंतु ऐसा न करके उन्होंने सांख्यनिष्ठावालोंको ज्ञानयोगही बतलाया है। इससे ऐसा कहना पडता है कि सांख्योंको कर्मयाग युक्त नहीं और ज्ञानयोगही करनेको समर्थ हैं। इसी तरह (योगनिष्ठ) अर्जुनको ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है। क्योंकि अर्जुन केवल कर्मनिष्ठाके ही अधिकारी थे। इसीलिये सांख्योंके समान उन्हें ज्ञानयोग साध्य न होगा। इतनाही नहीं किंतु-

> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
> अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥

अ. १८।५८

" मेरे कहे अनुसार तुम न करोगे तो तुम्हारा नाश होगा " ऐसा जतलाकर अर्जुनको कहा है कि तुम कर्मयोगही करो। इससे मालूम होगा कि अर्जुनसे ज्ञानयोग हो नहीं सकता था, इसलिये भगवान्‌ने अर्जुन (कर्मयोगी) को कहा कि ' कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। " यह सबही लोगोंके लिये नहीं कहा। इससे सिद्ध होगा कि रहस्यकारने जो कहा है कि ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह बिलकुल गलत है। पाठकगण इसपर विचार करें।

गीताका सुभाषित ।

वर्णसंकरसे नरकप्राप्ति ।

संकरो नरकायैव ॥

भ. गी. १।४२

" वर्णसंकर होनेसे नरककी प्राप्ति होती है। " अर्थात् मनुष्य अवनत होता है। "नर-क" अर्थात् ' छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य, अवनत मनुष्य, अशक्त मनुष्य ' " शुद्ध बीजापोटीं, फळें रसाळ गोमटीं। (शुद्ध बीजके अंदर सुंदर और रसभरित फल रहते हैं।) बीजही अशुद्ध (दोषी) हो, तो यह निश्चित है,कि उससे जो फल निकलेगा वह खराब होगा। यह नियम मनुष्यको पशुपक्षियोंको, और वृक्षवनस्पतियोंको समानही लागू होता है। इसी लिये व्यभिचारादि दोषोंसे बचनेका प्रयत्न सदैव करना चाहिये। घोडे, गायें, भैंसें, कुत्ते, बकरियां इत्यादिसे शुद्ध औलाद तैयार होनेके लिये शुद्ध बीज रखना पडता है। शुद्ध बीज न होनेसे गुणोंका नाश होता है, और रक्तबीजकी जितनी अधिक शुद्धता होगी, उतनाही गुणोंका अधिक विकास होता है। आम्र आदि फलोंमें यही बात पाई जाती है। इसलिये यह खबरदारी रखना अत्यंत आवश्यक है कि रक्तबीजका संकर न होने पावे।

भगवद्गीता और अनुगीता।

(ले०- श्री० श्री० ना० ताडपत्रीकर, एम्. ए., भांडारकर इन्स्टिटयूट, पूना ।)

उपोद्घात ।

भारतीय युद्धके प्रारंभमें, स्वकीयों के वधके भय से अर्जुन विषण्ण हुए थे, उनको गीताका उपदेश करके भगवान् श्रीकृष्णने युद्धके लिये तैयार किया। यह गीता महाभारत के एक उपपर्व में समाविष्ट हुई है। आगे इस गीताकी गणना प्रस्थानत्रयी में होने लगी; इसलिये वेदान्तदृष्टिसे उसको स्वतंत्र महत्व प्राप्त हुआ, उसके तत्वज्ञान की चिकित्सा भिन्न भिन्न अधिकारियों द्वारा हुई और अनेक तत्व सामने आने लगे। अर्थात् गीता क्या कहती है, गीताके तत्वज्ञानकी कौनसी दिशा है, इस संबंध में भिन्न भिन्न आचार्योंने भिन्न भिन्न मत प्रतिपादित किये हैं, और ऐसा एकमुखी निर्णय आजतक कोई न कर सका जो सभी को मान्य होगा। श्रीमच्छंकराचार्य से लेकर लोकमान्य तिलक तक अनेक अधिकारी पुरुषोंने गीता के तत्वोंका निर्णय किसी एक विशिष्ट मार्गके अनुसंधान से किया है, और उनके अनुयायिओंने वह मान्य किया। साथही गत शताब्दि में पाश्चात्य पंडितोंने अपने विचार प्रगट किये हैं। इस तरह इस छोटेसे प्रकरण में बहुत विस्तृत और विविध वाङ्मय निर्माण हुआ है, इसको देखकर इसके सच्चे तत्वके बारेमें कितनी ही शांततासे विचार किया जाय, तो भी मनुष्य भ्रम में अवश्य पड जाता है।

गीताके अठारह अध्यायोंमें भिन्न भिन्न विषय आए हैं। इसमें भक्ति है, कर्म है, योग है। इसमें अमुक एकही विषय मुख्यतः प्रतिपाद्य है और बाकी गौण हैं, ऐसा युक्तिवादसे तथा निश्चयात्मक रीतिसे कहनेके लिये वैसाही अधिकारी पुरुष चाहिये। जो किसी विशिष्ट सांप्रदाय से संलग्न नहीं वह इस गीताको तत्वज्ञान की प्राथमिक पुस्तक कहेगा। अर्थात् इसमें ऐसी योजना की हुई दृग्गोचर होती हैं, कि भक्ति, कर्म, योग इत्यादि भिन्न भिन्न विषयोंका सरल भाषामें संक्षिप्त विवेचन करके, एक एक पाठ जिसमें तयार किया है ऐसी यह पुस्तक वेदान्त में प्रवेश करनेवाले नवीन विद्यार्थि को उपयोगी हो; और थोडेमें उसे प्रत्येक विषयका स्थूल रूपसे ज्ञान हो। परंतु गीताका मूल हेतु यदि इस प्रकारका होगा तो यह कहना पडेगा कि उसका समावेश गलत संदर्भमें किया गया। युद्धके आरंभ में जिस को विषाद प्राप्त हुआ उस अर्जुन को इस प्राथमिक वेदान्त शिक्षाकी क्या जरूरत ? अर्जुन यदि वेदान्त सीखने के लिये किसी अधिकारी गुरुके पास गया होता, और वेदान्त के प्राथमिक तत्व स्थूल रूपसे बतलानेकी गरजसे यदि गुरुने गीता पढाई होती, तो वह योग्य होता। परंतु कथा का संदर्भ ऐसा है कि युद्ध का प्रारंभ अब होताही है ऐसे अवसरपर पापके भय से अर्जुन घबडाया, और मुझे यह युद्ध नहीं चाहिये ऐसा कहकर उसने धनुष्यबाण छोड दिये और वह चुपचाप बैठ गया। ऐसे समयपर भिन्न भिन्न विषयोंपर ये प्राथमिक पाठ किस कामके ? इससे स्पष्ट होगा कि यदि कोई गीता के तत्वनिर्णय के लिये उपर्युक्त कथासंदर्भ प्रमुखतासे विचारमें लाया जाय तो ऐसी कल्पना ठीक नहीं जँचती। गीतामें अवश्यमेव भगवानने कोई ऐसी बात कही होगी जिसका परिणाम अर्जुन के 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' इ० वाक्य में स्पष्ट

दृग्गोचर होकर अर्जुन युद्ध के लिये फिरसे तैयार हुवा। इस कथासंदर्भ का महत्त्व ध्यानमें लेकर लोकमान्य तिलकने अपने कर्मयोगका प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत लेखक का विचार इस प्रतिपादन को प्रत्यक्ष पुष्टि देने अथवा विरोध करनेका नहीं है; किंतु विचार यह देखने का है कि अनुगीताके अवलोकनसे भगवद्गीतापर कुछ प्रकाश पड सकता है या नहीं। इस प्रकारका प्रयत्न किया हुवा कहीं देखनेमें नहीं आया। परंतु एकही ग्रंथ में एकही विषयपर दो प्रकरण आए हों तो उनका परस्पर संबंध कहांतक जमता है, यह देखना तत्त्वनिर्णयकी दृष्टिसे अयोग्य न होगा।

'अनुगीता' का नाम ही भगवद्गीतासे प्रत्यक्षतः संबद्ध है। प्रथम जो गीता कही गई वह भीष्मपर्व के अंतर्गत सुप्रसिद्ध भगवद्गीता है। उसके पश्चात् (अनु) कही हुई यह अश्वमेधपर्व के अंतर्गत दूसरी गीता है। एकही महाभारत में ये दो गीताएं एकही वक्ताने उसी विशिष्ट श्रोता को सुनाई हैं; इसमें क्या वैशिष्ट्य है ? इस संबंध में हम क्या सोच सकते हैं, यह देखने के पहिले जब हम इस बातका पता लगाते हैं कि इस विषयपर पूर्व में किसने क्या लिखा है, तब हमारा लक्ष्य दसवीं शताब्दि के प्रख्यात पंडित अभिनवगुप्ताचार्य विरचित भगवद्गीताकी टीका की ओर जाता है। उक्त टीकाकारने "नष्टो मोहः" इ० (अ०१८ श्लो० ७३) की टीकामें इन दो गीताओं का निर्देश इस तरह किया है-

> "एवमत्र नष्टो मोह इत्यादिना युद्धप्रवृत्तिस्तावदर्जुनस्योत्पन्ना, न तु सम्यग्ब्रह्मवित्त्वं जातमिति सूचयन्भाविनोऽनुगीतार्थस्यावकाशं ददाति॥"

भगवद्गीताका सच्चा रुख किस तरफ है, इसका निर्णय करनेके लिये यह अवतरण अत्यंत उपयोगी है। लोकमान्यका मुख्य मुद्दा यह है कि भगवान् ने गीता सुनाकर युद्धके लिये अर्जुन को प्रवृत्त किया, इसलिये गीताके तत्त्वज्ञान की संगति उसी दृष्टिसे लगाई जानी चाहिये। लोकमान्य के इस मुद्दे को दसवीं शताब्दि के एक महापुरुषसे इस तरह पुष्टि मिली है। गीतारहस्य में इस बातका कहीं उल्लेख आया हुवा याद नहीं आता। इसलिये खास कर यहां इसका निर्देश किया है।

इसी अवतरण में अभिनवगुप्त ने अनुगीताका उल्लेख करके वहां के विषयकी दिशा भी बतलाई है। अभिनवगुप्त का कहना है कि 'अर्जुन को भगवद्गीतासे ठीक तरह ब्रह्मज्ञान नहीं हुवा, वह होनेकी गरज से अनुगीता की योजना हुई है।' यह यथार्थ है या नहीं ? अगर नहीं तो क्या भगवद्गीता के संबंध में अनुगीतापरसे और कोई अनुमान सूझते हैं ? इन बातोंपर अब विचार करें।

बहिरंग।

अश्वमेध समाप्त होनेपर, श्रीकृष्ण और अर्जुन बातें कर रहे थे, उस समय अर्जुन बोले "हे भगवान् ! युद्ध के प्रारंभ में तुमने मुझे जो उपदेश किया था वह मैं भूल गया। कृपाकर वह तत्त्वज्ञान मुझे फिर बतलाइये।" इसपर श्रीकृष्णने कहा "यह बहुत खराब बात हुई कि तुम वह भूल गए। मुझे भी अब वह योग्य रीतिसे बतलाते न बनेगा। उस समय मैंने योगयुक्त होकर वह तत्त्वज्ञान तुम्हें बतलाया था। अब उसके बदले तुम्हें एक कथा सुनाता हूं, उस पर से तुम्हें वह ज्ञान होगा।" यह कथासंदर्भ अश्वमेधपर्व के १७ वें अध्याय में आया है; और स्वर्गलोक से आये हुए एक ब्राह्मणने जो तत्त्वज्ञान बतलाया, वह इस स्थानपर दिया है।

अनुगीता का विस्तार साधारणतः इस १७ वें अध्याय से लेकर ५१ वें अध्याय के अंकतक जहां वसुदेव की भेट करनेके लिये श्रीकृष्णने द्वारका को वापिस जानेकी बात छेडी है। वहांतक समझा जाता है। इन ३५ अध्यायोंमें मुख्य तीन प्रकरण हैं। पहिला प्रकरण अध्याय १७ से २० तक-उपर्युक्त ब्राह्मणका कहा हुवा तत्त्वज्ञान। इसके अंतमें उपसंहारात्मक कुछ श्लोक हैं। (अ० २० श्लोक५५ से ६६) इसमें कहा है कि-

'तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि।'

"उस समय भी (युद्धके आरंभ) में रथमें बैठे हुए तुमने यही (ज्ञान) श्रवण किया था।" ऐसा कहकर भगवान् ने यह सूचित किया है कि गीता के तत्वज्ञान का ही यह सार है।

अनुगीताका दूसरा प्रकरण ब्राह्मणब्राह्मणी-संवाद है (अ० २१ से ३५)। और तीसरा प्रकरण गुरु-शिष्यसंवाद है (अ० ३६ से ५१) इस तीसरे प्रकरण के अंतमें फिरसे उपसंहारात्मक कुछ श्लोक (४६ से आगे) आए हैं।

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु॥४९॥

इस श्लोकसे भगवान् निश्चित रूपसे कहते हैं कि पहिले भी यही कहा था। कुंभकोण प्रतिलेख के अनुसार इन ३५ अध्यायोंकी श्लोकसंख्या एकत्र एक हजार से ऊपर होती है। अर्थात् अध्यायसंख्या अथवा श्लोकसंख्याके विषयमें अनुगीताका भगवद्गीतासे किसी तरह मेल नहीं जमता।

इस प्रकार अनुगीता का कथासंदर्भ और उसका बहिरंग देखनेपर यह समझनेके लिये कि अनुगीता के विषयों का भगवद्गीता का मेल कहांतक जमता है।

उसका अंतरंग

क्या है वह देखना चाहिये। यह निरीक्षण अर्थात् अत्यंत स्थूल दृष्टिसे करना है; और प्रस्तुत लेख लिखनेका उद्देश केवल इतनाही है कि जिज्ञासुओं को अभ्यासकी एक दिशा बतलाई जाय, इसलिये इतना निरीक्षण पर्याप्त होगा ऐसी उम्मीद है।

काश्यप नामक एक तपस्वीने किसी सिद्ध पुरुष के पास जाकर शिष्यभावसे संभाषण किये; और इन दोनोंमें जो प्रश्नोत्तर हुए उनका वृत्तान्त स्वर्ग से आये हुए एक ब्राह्मणने श्रीकृष्णका कहा। ऐसा उपोद्घात १७ वें अध्याय में आया है, और अध्याय १८ से २० तक में यह तत्वज्ञान आया है जो कि सिद्ध पुरुषने काश्यप को बतलाया था। काश्यप के प्रश्नों को देखनेसे तत्वज्ञान का इस स्वरूप सहज ध्यान में आवेगा। शरीर से मनुष्य कैसे च्युत होता है? फिरसे उसको शरीर कैसे प्राप्त होता है? शुभाशुभ कर्मोंका भोग उसको कैसे मिलता है? विदेह स्थिति में उसका कर्म कहां रहता है? इनके उत्तर में जीवका गर्भ में प्रवेश, तदनंतर उसका संसार में जन्म, पूर्व कर्मका उपभोग इ० विषय अध्याय १९ व ३० में आये है। २० वें अध्याय में १७ वें श्लोक से कुछ योगशास्त्र का भी विषय है। परंतु उसमें प्रत्यक्ष योगशास्त्र का दिग्दर्शन नहीं है। किंतु योगी पुरुषके माहात्म्यका वर्णन है। श्लोक ३९ से ४४ तकमें फिरसे कुछ प्रश्न आये हैं, जैसे, अन्नका पचन कैसे होता है? रस, रक्त और मांस में उस अन्नका रूपान्तर कैसे होता है? परंतु इनका यथार्थ उत्तर नहीं आया। २० वें अध्याय में "सर्वतः पाणिपादं" (४९) "इमं धर्मं समाश्रित्य" (६१।५२) इ० तीन श्लोक थोडे बहुत फरक से उद्धृत किये हैं। इसके सिवाय उक्त प्रकरण का विषय गीता में विशेष स्पष्ट रीतिसे कहीं नहीं आया; फिर भी उपसंहार में श्रीकृष्णने यह जरूर कहा है कि "उस समय भी रथमें बैठे हुए तुमने यही सुना था।

ब्राह्मणब्राह्मणी-संवाद का दूसरा प्रकरण १५ अध्यायों में आया है। उसमें दृष्टान्त के लिये अलग, अलग कथा दी हैं। परंतु आश्चर्यकी बात है कि मूल प्रश्नका अगले विवेचन से कोई संबंध नहीं है! सर्व कर्मोंका संन्यास करके एकान्त में बैठे हुए एक ब्राह्मण को उसकी स्त्रीने प्रश्न किया-"मैंने यतिधर्म का आश्रय करके आजतक आचरण किया, मुझे अंतमें किस लोक की प्राप्ति होगी?" इसके उत्तर में ब्राह्मणने सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, मूल ब्रह्म कैसा है, इत्यादि विषयोंका ऊहापोह किया है। इसके आगेके अध्यायोंमें 'पुरातन इतिहास' के नामसे भिन्न भिन्न रूपक बतलाये हैं। दस इंद्रिय और उनके गुण, इसी तरह सात, पांच, चार ऐसे इंद्रियों के समूह लेकर उनके गुणादिकों का विवेचन किया है। इसी में आगे ब्रह्मको अरण्य मानकर उस रूपकका दिग्दर्शन किया है। २९ वें अध्याय में

यज्ञीय पशुहिंसापर अध्वर्यु यतियों का संवाद है। समुद्रने कार्तवीर्य को परशुराम से युद्ध करनेको भेजा और परशुरामने निःक्षत्रिय पृथ्वी की है, इसका वृत्तान्त ३० वें अध्याय में आया है। अलर्कने अपने इंद्रियों से संवाद किया वह ३१ वें अध्याय में आया है। इसी प्रकार विविध बातें कहकर ब्राह्मणने अपनी स्त्री को उत्तर दिया है कि "अपन ब्रह्मस्वरूप होनेसे परलोक का भय अपनेको नहीं है, और तुम्हें हमारी ही प्राप्ति होगी।" अंतमें श्रीकृष्णने अर्जुन को कहा है कि अपना मनही ब्राह्मण है, और बुद्धि ब्राह्मणी है। इस समग्र प्रकरण का भगवद्गीता के किस विषय से कैसा संबंध आता है, यह देखने के लिये उतनी सूक्ष्म दृष्टिवाला विचारी पुरुष चाहिये।

अध्याय ३६ से ५१ तक गुरुशिष्यसंवादात्मक तीसरा प्रकरण है। अर्जुनने ब्रह्म समझने की इच्छा प्रदर्शित की; उसपर भगवान् ने यह गुरुशिष्यसंवाद कहा है। "मैं कहां से आया? आप कहांसे आए? यह सब चराचर कहांका है? सत्य क्या है? तप क्या चीज है?" इत्यादि प्रश्न आनेपर ऋषियों से ब्रह्मदेवका जो संवाद हुवा, वह गुरुने कहा है। भारद्वाज, गौतम, भार्गव आदि ऋषि अंगिरस को आगे करके ब्रह्मदेव के पास गए और इस प्रकार के प्रश्न पूछने लगे कि "परम निःश्रेयस क्या है? मोक्ष कैसे मिलता है?कल्याणकर मार्ग कौनसे हैं?" इसपर ब्रह्मदेवने जो कहा वह इस तीसरे प्रकरणमें आया है। यहां यहां तामस, राजस, और सात्विक ऐसे त्रिगुणों का निरूपण प्रथम (अ० ३७ से ४०) किया है। तदनंतर महत्, अहंकार, इत्यादि सांख्यों के तत्त्व, तथा उनके मतानुसार सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, इसका वर्णन आया है। ये दोनों विषय भगद्गीतामें आए हैं। आगे अध्याय ४३-४४ में श्रेष्ठ वस्तुओंका निर्देश किया है। यह विषय गीता के विभूतियोग की याद दिलाता है। इसके बाद गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और अध्यात्म (संन्यास) इन चार आश्रमों का विवेचन आया है। यह विषय गीतामें नहीं है। आगे अध्याय ४९ में भिन्न भिन्न पंथोंका उल्लेख करके ऋषियों ने पूछा है कि इनमेंसे श्रेयस्कर मार्ग कौनसा है? इसमें चार्वाक, जैन इत्यादि बहुधा सर्व मतोंका संग्रह है। इसके आगे के दो अध्यायों में ब्रह्मदेव का उत्तर आया है; उसमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंबंध, सांख्य-निदर्शन, पंचमहाभूत और उनके गुण, इत्यादि विषय आए हैं और तप का माहात्म्य आया है। ये विषय भी थोडेबहुत फरकसे भगवद्गीता में आए हैं। इसके भी अंत में भगवान् का वचन है कि "युद्धकाल उपस्थित होनेके पहिले भी मैंने तुमको यही कहा था। (५१-४९)"

उपसंहार।

उपर्युक्त स्थूल निरीक्षण के द्वारा अनुगीता के संबंध में निम्नलिखित मुख्य बातें अपने सामने आती हैं—

(१) अनुगीता के मुख्य तीन प्रकरण हैं।

(२) इनमेंसे पहिले और तीसरे प्रकरण के अंतमें ऐसा वचन है कि "भगवद्गीता का जो उपदेश है, वह यही है।"

(३) विषय की दृष्टिसे देखनेपर तीसरे प्रकरण के विषयोंका भगवद्गीता से थोडाबहुत मेल दिखता है। दूसरा प्रकरण बिलकुल अव्यवस्थित है। पहिला प्रकरण भी प्रत्यक्ष संबद्ध नहीं दिखता।

इन बातोंपर विचार करनेके पहिले, अपने आगे पहिला अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा होता है, कि महाभारत में एकवार भगवद्गीता आई है; अब उसको 'अनु' गीता की आवश्यक क्या है? इस दूसरी गीता का प्रसंग भी युक्त नहीं कहा जा सकता। अर्जुन की प्रार्थना है, कि गीता का उपदेश मैं भूल गया, वही फिरसे मुझे बतलाइये। उसपर श्रीकृष्ण का उत्तर है कि पहिले कहे के अनुरूप अब कहना शक्य नहीं है; उसी दृष्टि की और कुछ बातें कहकर तुम्हें समझानेका प्रयत्न करता हूं। प्रश्न तथा उत्तर मनुष्य की सामान्य दृष्टि में चमत्कारिक मालूम होते हैं। स्वतः को इतना निश्चय न था, तबभी पहिले और तीसरे अध्यायके अंतमें वही भगवान् निश्चयात्मक वचन कहते हैं कि "युद्ध

के समय जो उपदेश दिया था वह यही है"। इन परस्परविरुद्ध बातोंमें से अनुगीता के संबंध में कुछ अनुमान निकाले जाय तो वे तर्कात्मक ही होंगे। परंतु उसी तर्कपर यदि बारबार चर्चा हुई तो उसमें से कुछ न कुछ निश्चयात्मक बात निकलेगी इस उम्मीदसे प्रस्तुत प्रयत्न किया गया है।

अनुगीता के संबंध में स्वयं अपने विचार भी उपस्थित करना प्रस्तुत लेखककी समझमें अप्रासंगिक न होगा। महाभारत के संबंध में जो भिन्न भिन्न कल्पनाएं अपने साम्हने आती हैं, उनमेंसे एक कल्पना यह है कि, प्रथम पांडवों के आयुष्य के विविध प्रसंगोंपर स्वतंत्र गीत रचे गए, और राजा महाराजाओं के दरबारों में ये गीत गाये जाते थे। आगे चलकर यही गीत व्यवस्थित रीति से संगतिवार इकत्र किये गए। यह भारतसंहिता हुई। इस संहिता में उस समयके लोकप्रिय ऐसे भिन्न भिन्न कथाभाग भिन्नभिन्न प्रसंगोंमें(कभी कभी कथा संदर्भको न देखते हुए वैसेहीके वैसे) प्रक्षिप्त किये गये। इस तरह महाभारतरूपी विश्वकोश तैयार हुआ। अश्वमेधवर्णन का कथाभाग इसी तरह स्वतंत्र था; और कवि को इच्छा हुई कि युद्धारंभमें जैसा तत्त्वज्ञान आया वैसा यहां भी आना चाहिये। इस हेतु से यज्ञके पश्चात् श्रीकृष्णार्जुन का संवाद कविने जोड दिया और गीता के समान इसको भी महत्त्व प्राप्त हो इस गरज से पहिले प्रकरण के अंत में कहा कि "गीता में जो तत्त्वज्ञान कहा गया वह यही है।" दूसरी वार यह देखा गया कि गीता का विषय इस पहिले प्रकरण में नहीं आया, इसलिये थोडे त्रोटक स्वरूप में वह विषय रखकर तीसरा प्रकरण तयार किया गया। इस तीसरे प्रकरण के अंत में भी गीताका निर्देश किया गया है। इन दो प्रकरणों में श्लोकों की संख्या सात सौ के लगभग होती है, इसलिये इस दृष्टिसे भी मूल गीतासे इस 'अनु'गीताका मेल जमानेका प्रयत्न स्पष्ट दीखता है। ब्राह्मणब्राह्मणी संवाद का दूसरा प्रकरण, जिसका गीतासे कोई संबंध नहीं है, सबसे पीछे उसमें डाल दिया गया है; और उसका स्थान जानबूझकर इन दो प्रकरणों के बीचमें नियुक्त करके यह संपूर्ण संधि बेमालूम की गई है। यह दूसरा प्रकरण जिसका कोई संबंध नहीं है, केवल औपनिषदिक चर्चात्मक इसमें डाला गया है। दोनों के बीचमें डाल देनेसे जोड अधिक मजबूत होगा ऐसा विचारसेही यह मध्य में रखा गया है।

वस्तुतः अर्जुनको गीताके तत्त्वज्ञानकी विस्मृति हुई इस सबब से वह फिरसे प्रक्षिप्त करना युक्त नहीं है। केवल तत्त्वज्ञान ही देखना है तो उसके लिये शान्तिपर्वसरीखा अमर्याद समुद्र फैला हुवा है। ऐसी अवस्था में अनुगीता की उत्पत्ति के लिये अश्वमेध प्रकरण का स्वतंत्र अस्तित्व, और तदनंतर उसमें गीताके सदृश कुछ तत्त्वज्ञानात्मक प्रकरण डालनेकी कल्पना ही सयुक्तिक मालूम होती है। ये तीन प्रकरण भी तीन भिन्न भिन्न समयोंपर उपर्युक्त क्रमसे जोडे गए होंगे।

अर्थात् यह तर्क है। महाभारत की रचनाके संबंध में जैसे भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं, वैसेही अनुगीताके संबंध में यह तर्क पाठकों के सामने रखा गया है। इससे भी अधिक सयुक्तिक उपपत्ति बतलाई जाय तो वह सहजही ग्राह्य होगी। अभिनवगुप्तने इन दो गीताओं के संबंध में खुलासा किया वह प्रारंभ में उद्धृत किया है, उससे भी स्पष्ट होता है कि उक्त टीकाकार की दृष्टिसे इन दोनोंका परस्पर संबंध उतना एकरूप नहीं है।

इसके विपरीत यदि अनुगीता जैसी आज उपलब्ध है वैसीही सामने रखकर, भगवद्गीता का उपदेश ही यहां पुनरुक्त है, इस कल्पनापर श्रद्धा रखकर, अनुगीताके आधारसे मूल भगवद्गीता क्या होनी चाहिये इसका अंदाज लगाया जाय, तो सूक्ष्म वाचक देख सकते हैं कि सांप्रत उपलब्ध भगवद्गीता कैसी डुलमुल होने लगेगी।

मनमें आए हुए विचार चर्चा के हेतुसेही यहां रख दिये हैं। उनकी योग्य रीतिसे छानबीन होकर कोई निर्णयात्मक मत बाहर निकले तो वह इष्ट प्राप्ति के समानही होगी।

भगवद्गीताका हेतु।

(लेखक— श्री० रा० वि० ओतुरकर, एम्. ए., पुणे.)

" यह विचार गौण है कि तुम्हारे युद्ध करनेसे भीष्म मरेंगे या द्रोण मरेंगे। मुख्य प्रश्न यह है कि तुम किस बुद्धिसे युद्ध करनेको खडे हो ... भीष्म को मारनेकी फलाशा रखकर तुम युद्ध नहीं करते। तुम्हारे जन्मसिद्ध हक्क से जो राज्यका विभाग प्राप्त है वह तुमने मांगा, युद्ध टालनेकी गरज से जहांतक शक्य था वहांतक त्याग भी तुमने किया, और सुलहके हेतु समझौतेका भी प्रयत्न किया। परंतु शिष्टाई अथवा साधुता के मार्गसे जब निर्वाह न हो सका, तब विवश होकर तुम युद्ध के लिये प्रवृत्त हुए, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, क्यों कि दुष्ट के पास अपने धर्मविहित हक्कके लिये ब्राह्मण-सरीखी भिक्षा न मांगकर, आवश्यकतानुसार क्षात्र धर्मकी राहपर लोकसंग्रहार्थ युद्धद्वारा उस हक्क को प्राप्त करना तुम्हारा कर्तव्य है।"

(गीतारहस्य पृ० १७४ प्रथमावृत्ति।)

आजसे लगभग सोलह वर्ष पहिले स्वर्गीय गुरुवर्य अण्णासाहेब विजापुरकर के साथ तलेगांव के समर्थ विद्यालय के पवित्र वातावरण में प्रस्तुत लेखक को संभाषण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुवा था। उसी समय गीतारहस्य प्रसिद्ध हुवा था, उसको गुरुवर्य अण्णासाहेबने पढलिया था, और उक्त प्रसंगपर वे बोले, " तिलक महाशयने जेल में जाकर गीतारहस्य लिखा, उसका तात्पर्य पृष्ठ १७४ पर (ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरण में) दिया है।" वह अवतरण गुरुवर्यने मुझे पढकर सुनाया और आनंदित हास्य करके मेरे तरफ देखा। उन के देखनेका रुख ऐसा था कि मानो वे मुझे पूछते थे कि 'लोकमान्य का विधान तुम्हें जंचता है या नहीं?' मैंने उनसे पूछा कि आपने यह लोकमान्य से कहा अथवा नहीं ? वे बोले " मैंने तिलक से कहा तब वे हंसे।" गुरुवर्य का आशय यह था कि "जब मैंने तिलकके हेतुका मर्म पहिचान लिया तब सिवाय हसने के वे क्या करते ?" परंतु तिलक का यह भी हेतु हो सकता है कि " भगवद्गीता का तात्पर्य मेरे मतसे कुछ भी हो, परंतु तुम गीताका तात्पर्य वैसा लेते होंगे तोभी मुझे कोई प्रत्यवाय नहीं है।" उसी वर्ष गुरुवर्य ने 'नवयुग' मासिक पुस्तक में गीतारहस्य के संबंध में इसी अर्थका लेख लिखा था। उस पर 'आचार्य' पाक्षिक पत्र में संपादक कै० बापट शास्त्रीने गुरुवर्य का विधान उद्धृत करके टिप्पणी में लोकमान्य के बाबत कहा कि " प्रोफेसर (विजापूरकर) महोदय का उक्त विधान यदि लोकमान्य को मंजूर होगा तो हमें कुछ नहीं कहना।" सारांश, उस समय बहुतसे लोगोंका यह तर्क था कि तिलक ने राजकीय हेतु पेटमें रखकर गीतारहस्य लिखा। परंतु उसके लगभग एक वर्ष के बाद गायकवाड वाडामें एक व्याख्यान में गीतारहस्य के आक्षेपकों को उत्तर देते हुए लो० तिलकने स्पष्ट कहा "गीता में क्या है वह मैंने गीतारहस्य में लिखा है। मैंने अपना कोई एक पंथ शुरू करने के हेतुसे गीताका विशिष्ट अर्थ नहीं किया। यदि कोई पंथ निकलेगा तो वह गीताका होगा न कि तिलक का।"

इस पुरानी यादगार को थोडी देर के लिये अलग रखकर रहस्यकार के हेतुकी अपेक्षा स्वयं

गीताके हेतुकी ऐतिहासिक दृष्टिसे मीमांसा करेंगे। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्ट्या विचार करनेसे अमिश्र तत्त्वका स्वरूप अभ्यासकोंके ध्यानमें आता है। इसी तरह रहस्यकारने जो कहा है कि हमारा हेतु गीतार्थकाही प्रतिपादन करनेका है, वह भी समझनेमें सहायता होगी। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि गीता ग्रंथ भारतीय संस्कृतिके मूलभूत तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला है; क्योंकि आज साढेतीन हजार वर्षोंसे अधिक काल व्यतीत हुवा, तब भी वही ग्रंथ पुश्तान पुश्त भारतीयोंकी टीकाका, चर्चाका, चिंतनका और अध्ययनका विषय हो रहा है,इस बातका खुलासा अन्य रीतिसे हो नहीं सकता। तीन चार हजार वर्षतक एकही देशमें रहनेवाले भारतीयोंके इतिहासका अध्ययन करनेमें भिन्न भिन्न कालोंका स्वतंत्र अध्ययन होता है। अगली पीढीका पिछली पीढीसे लिपटा हुवा धागा सुरक्षाकर बतलाते नहीं बनता। परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि प्राचीन व अर्वाचीन हिंदुस्थानवासी लोगोंका एक दूसरेसे केवल रक्त मांसका संबंध नहीं है, क्योंकि केवल रक्तमांसके संबंधसे राष्ट्र जीवित नहीं रह सकते। प्राचीन मिसर, बॅबिलोनिया देशमें रहनेवालों के वंशज आजभी उन देशोंमें होंगे। सबही निर्वंश न हुए होंगे अथवा देश छोडकर गये न होंगे। परंतु वे मृतराष्ट्र कहाये जाते हैं। प्राचीन व अर्वाचीन हिंदुस्थान के लोग जैसे एकदूसरों से शारीरिक दृष्ट्या संबद्ध हैं, वैसे तात्त्विक दृष्ट्या भी संबद्ध हैं। किसी विशिष्ट जीवनहेतुसे वे पूर्व में जीवित रहे, और जीवन असह्य होते हुए आज भी जिवित रहते हैं। आशा यह है, विश्वास यह है कि जीवनहेतु सफल होगा जीवन हेतुका यह धागा सुरक्षाकर, शतकानुशतकों का इतिहास उनसे संबंद्ध करके बतलाना यही इतिहासका मर्म समझना है। कर्ता पुरुषोंको बारंवार स्फूर्ति देकर कार्यप्रवृत्त करनेवाले गीताके सदृश अनन्यसाधारण ग्रंथ के सिवाय भारतीयों का यह जीवनहेतु और कहां व्यक्त होगा?

यह जीवनहेतु कौनसा ? भारतीय युद्ध न होता तो १८ अक्षौहिणी सैन्य का नाश टल जाता। युद्ध के कारण जो प्रदेश उद्ध्वस्त हुवा वह हरा भरा, सुंदर तृणाच्छादित ऐसा नजरमें आता। कुटुंब अपना देश छोडकर मारे मारे न फिरते, किंबहुना ऐसी कल्पना करलें कि युद्ध में विजयी होनेपर पांडवों को जितना सुख हुवा उससे भी अधिक सुख उन्हें मिलता ,यदि युद्ध टल जाता। अर्जुन केवल निजी स्वार्थ का लोलुप न था। परंतु उसने सोचा कि युद्ध करके जगत् का जितना व्यावहारिक लाभ होगा वह उस लाभके मुकाबले क्षुद्र है जो कि युद्ध टालकर होगा; और यह सोचकर वह श्रीकृष्णसे वादविवाद करने लगा। इस मुद्देपर श्रीकृष्ण चाहे कितना भी वादविवाद करते, तब अर्जुन का पक्ष सबल ठहरा होता। परंतु श्रीकृष्णने कहा कि प्रश्न यह नहीं है कि इस युद्ध में तुम्हारा अथवा जगत् का व्यावहारिक फायदा कितना है। असल मुद्दा यह है कि बुढिया मरनेका रंज नहीं परंतु जमदूत लहट जाते हैं, उनको लहटने न देना चाहिये। दुर्जनों को दंड देनेके लिये तुम युद्ध कर रहे हो, उसमें सर्वनाश हुवा तोभी विश्वका जीवन फिर श्रीगणेशाय नमः से शुरू होगा; परंतु तुम्हारी ध्येयनिष्ठा से और दृढतासे यह दिख जायगा कि दुर्जनों का नाश होता है और सज्जनों व सत्त्वों का रक्षण होता है। दुर्योधन के साथ हिलमिलकर पांडव रहें, उसके प्रधान बन जांय और युद्धविमुख होंगे, तो इस दुनिया में सज्जनों का रक्षक कोई न रहेगा। यह सिद्ध होगा कि भारतवर्ष में सत्त्व का रक्षण करने कोई आगे नहीं बढता। भारतीयों का बाना तो यह है कि वे तत्त्वके, जीवनहेतुके अथवा सांस्कृतिक ध्येय की रक्षण के लिये व्यावहारिक लाभ को तिलांजलि देते हैं, अपने प्राण देते हैं, शत्रुओंके प्राण हरण करते हैं; हरिश्चंद्र सरीखे वीर पुरुष अपने स्त्रीपुत्रों का बलिदान देने को उद्युक्त होते हैं। इस असिधाराव्रत का पालनही भारतीयोंका का जीवनहेतु है; गीताका यही तात्पर्य

है। उच्च ध्येय से दृष्टि जब चलित होती है; कार्य कौनसा, अकार्य कौनसा, इसका मोह जब पडता है, तत्वरक्षण के लिये जो आपत्तियां सहनीं पडती हैं उनसे मुंह मोडकर लोगों की दृष्टि केवल व्यावहारीक लाभ में लिपटी रहती है और लोग जब यह समझने लगते हैं कि व्यावहारिक लाभही जीवित का ध्येय हैं, तब मैं अवतार लेता हूं और लोगों की दृष्टि साफ करता हूं और उन्हें फिरसे योग्य मार्गपर लाता हूं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

इस श्लोक का अर्थ प्रस्तुत लेखक उपर्युक्त दृष्टिसे लगाता हैं; क्योंकि उसका यह मत हैं कि भगवद्गीता में भारतीयों के जीवनहेतुका प्रतिपादन किया हैं।

सर्वसमर्पण-योग ।

(लेखक— श्री० रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर, M. A., धारवाड ।)

मामेकं शरणं व्रज । -श्रीकृष्ण परमात्मा

अध्यात्मशास्त्रपर गीता अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ है। श्रीकृष्णने योगस्थ होकर अर्थात् परमात्मासे तादात्म्य पाकर उस स्थिति में गीताका उपदेश किया है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यही गीताका महावाक्य है। यह वाक्य 'सर्वसमर्पणयोग' का प्रतिपादन करता है। 'सर्वसमर्पणयोग' आध्यात्मिक मार्गोंका समन्वय है।

साधक को परमानंद, 'आत्यन्तिक सुख' नित्य आनंदकी प्राप्ति करा देना अथवा समस्त पापोंसे मुक्त करना, यही अध्यात्मशास्त्रका ब्रीद है। अध्यात्मशास्त्र अपने ब्रीदका पालन भिन्न भिन्न मार्गोंसे करता है। इन भिन्न भिन्न अध्यात्ममार्गोंको योग कहते हैं। योगका अर्थ है चिरशांति प्राप्त करनेके मार्ग; नित्य आनंद प्राप्त करनेके मार्ग।

यद्यपि योग के मार्ग भिन्न भिन्न और अनेक हैं, तथापि उनमें मुख्य तत्व एकही है। जिन कारणोंसे अशांति उत्पन्न होती है; मैं दोषी हूं अथवा पापी हूं ऐसी भावना उत्पन्न होती है; मैं अल्प हूं, दुःखी हूं ऐसी कल्पना उत्पन्न होती है उन कारणों का नाश करना, यही वह मुख्य तत्व है। "मैं देह हूं" इस देहात्मभावना के कारण, इस अहंभाव के कारण, सब प्रकारके दुःख उत्पन्न होते हैं। "मैं अजर, अमर आत्मा हूं" इस अनुभव से सब दुखोंका नाश होता है। इसीलिये "मैं देह हूं" इस कल्पना को नष्ट करके "मैं आत्मा हूं" ऐसा अनुभव लेना यही सब योगमार्गोंका ध्येय ह।

मेरी समझ के अनुसार योग पांच हैं। इन्हें 'योगपंचक' कह सकते हैं। मनुष्य में पांच शक्तियां हैं। एक एक शक्ति के द्वारा एकएक योग सिद्ध होता है, और साधक को चिरशान्ति अथवा गीतामें कहे हुए आत्यन्तिक अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति करा देता है। इन पांच योगोंमेंसे प्रत्येक

योग में अलग अलग प्रक्रिया है परंतु योग-पद्धति साधारण एकही कह सकते हैं। ये योग परस्पर विरुद्ध नहीं हैं; अथवा यह भी नहीं कह सकते कि एक योग का साधक दूसरे योगकी सहायता नहीं लेता। प्रत्येक योगमें पांचों शक्तियों का उपयोग किया जाता है। परंतु मुख्यतः जिस शक्तिका उपयोग किया जाता है, तदनुसार उस योगको नाम दिया जाता है। यह कहना गलत होगा कि इन योगपंचकोंमें से एक श्रेष्ठ है अथवा एक कनिष्ठ है। क्योंकि सबहीका ध्येय एक है: सबही साधक अवश्य अपना ध्येय प्राप्त करेंगे। इनको उच्च नीच कहकर नाम रखनेमें कोई अर्थ नहीं। प्रत्येक साधक, जिस शक्तिका उसमें विकास हुवा रहता है, उस शक्तिकी सहायतासे अपने ध्येयको पाता है।

प्रत्येक योगमें उस उस शक्तिका शोधन अथवा शुद्धीकरण किया जाता है। तदनंतर उसका नियमन, संग्रह, निष्काम उपयोग, एकाग्रीकरण, स्थिरीकरण और लय ऐसी प्रक्रिया हैं। व्यक्तिशक्तिका विश्वशक्ति में लय किया जानेसे अहंभाव नष्ट होकर आत्मानुभव होता है। आत्मानुभवसेही चिरशांति की, दुःखरहित सुखकी प्राप्ति होती है।

ऊपर कहा गया है कि पांच शक्तियों के अनुसार पांच योग हैं। इस प्रमेय का थोडासा विवरण यहां देना चाहिये। प्राण, भावना, क्रिया, चित्त और बुद्धि ऐसी पांच शक्तियां मनुष्य में हैं। उनके अनुसार हठयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग और ज्ञानयोग ऐसे पांच योगमार्ग हैं। इनमेंसे एक योग मार्ग को लेकर उसकी प्रक्रिया संक्षेपतः बतलावें; इससे बाकीके योगोंकी प्रक्रियाओंकी कल्पना आसकेगी। हठयोग प्राणशक्ति के आधारसे सिद्ध होता है। जिस शक्तिके योग से अपने शरीरकी हरएक क्रिया चलती है उस शक्ति को प्राणशक्ति (Vital Power) कहते हैं। हठयोग में इस शक्ति का प्रारंभ में शोधन करना पडता है; और यह शोधन धौति, बस्ति आदि क्रियाओंद्वारा करना पडता है। प्राणायाम, आसन, मुद्रा, बंध इत्यादिकों से यह शक्ति नियमित और संग्रहीत होती है। कुंभकसे यह शक्ति स्थिर, अचल अथवा एकाग्र होती है। साधक इस शक्तिका केवल आरोग्य अथवा चैनबाजोंके लिये उपयोग नहीं करता, किंतु परोपकारार्थ उपयोग करता है और इसलिये उस का अहंकार छूट जाता है। ऐसा करते करते वह अपनी अल्प प्राणशक्तिको विश्वशक्तिमें लीन करता है। और प्राणशक्तिकी समाधि साध्य करता है। यही हठयोगसिद्धि है। इसी तरह पांचों योगोंकी प्रक्रिया समझनी चाहिये।

गीता में ये पांचों योग उन उन प्रसंगोंपर कहे हैं। भक्तियोग विशेष रीतिसे कहा है। कर्मयोग को प्राधान्य दिया है। परंतु गीता ग्रंथ केवल कर्मयोग-पर ग्रंथ नहीं है। अर्जुन अपना शिष्य है और उस के द्वारा विशिष्ट कर्म कराना है, और वह शिष्य कर्मयोग का आचरण करने योग्य है, इसलिये भगवान् ने कर्मयोग को प्राधान्य दिया है। जिसमें संपूर्ण अध्यात्मशास्त्र, समस्त योगमार्ग तथा योग-समन्वयरूपी सर्वसमर्पणयोग कहा है, उस गीताको केवल कर्मयोगप्रतिपादक अथवा भक्तियोग—प्रतिपादक कहना, उसकी व्यापकता और महत्ता को घटाना है। आजदिन प्रचलित ऐसे किसी भी कर्म में अथवा पंथमें इन पांच योगोंके अतिरिक्त कोई योग नहीं बतलाया गया, और न बतलाया जा सकता है। इस दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा कि गीता विश्वधर्म प्रतिपादक ग्रंथ है। अर्थात् विश्वके किसी भी मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिये जो धर्म चाहिये उस धर्मका उपदेश देनेके लिये यह योग्य ग्रंथ है। इसका मतलब यह है कि आज यदि जगत् के अन्य धर्मग्रंथ नष्ट होजांय, तब भी सकल जगत् की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासा शान्त करनेके लिये यह ग्रंथ समर्थ है।

पंचयोग का अथवा योगपंचक का थोडासा दिग्दर्शन ऊपर किया गया। अब सर्वसमर्पणयोग का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। इन पांच

योगोंमें एकएक योग एकएक शक्तिके आधारसे सिद्ध होता है, और साधक को सिद्धि दिलाता है। परंतु सर्वसमर्पणयोगका साधक अपनी समस्त शक्तियोंका एकदम होम करके उन्हें परमेश्वर के चरणों में अर्पण करता है, और इस तरह इस योग का प्रारंभ होता है। इस योगमें पहिली सिद्धी अनन्यशरणागति है। इसलिये पहिलेसेही साधक परमात्मा के अथवा विश्वशक्ति के हाथ की निमित्तमात्र पुतली बनकर साक्षीरूपसे विश्वानंद में लीन होता है।

मामेकं शरणं व्रज।

इस पुकार को जबाब देकर साधक बेफिकिर होजाता है। इस योगको प्रचंड संकल्पशक्ति की साथ अवश्य चाहिये।

गीताका महावाक्य (गीताका सर्वश्रेष्ठ उपदेश) सर्वसमर्पणयोगही है। इस योगमें सबही योगोंका समावेश और समन्वय है, सबही योगोंका सम्मीलन- सम्यक् मीलन- है। सब धर्मोंके परे यह धर्म है। इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इस महामंत्र के स्वारस्य का अनुभव हम सब को मिले, और श्रीकृष्ण की पुकार हम सबका सुन पडे; ऐसी इच्छा रखकर यह छोटासा लेख समाप्त करते हैं।

गीताका सुभाषित।

स्त्रीके दोष से वर्णसंकर होता है।

स्त्रीषु दुष्टासु ... ... जायते वर्णसंकरः।

भ० गी० १।४१

" स्त्रियां दुष्ट होनेसे ... वर्णसंकर होता है।" व्यभिचार आदि दोष जब होते हैं, तब इन दोषों के कारण शुद्ध बीज नष्ट होता है और वर्णसंकर होता है। इसलिये समाज की सुस्थिति रखनेके हेतु, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि समाज में व्यभिचारादि दोष न होने पावें। इस संबंध में जैसे स्त्रियों के बारे में सावधानी की जरूरत है, वैसेही पुरुषों के बारेमें भी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है।

2/55

स्थितप्रज्ञ।

(लेखक- श्री० सदाशिव खंडो आळतेकर, बी. ए., एलएल्. बी., कऱ्हाड।)

(१) श्रीव्यासमुनि-विरचित महाभारत ग्रंथ नानाविध अमूल्य रत्नों की खदान है। इस प्राचीन भारतीय ग्रंथ में जो रत्न मिलते हैं, उनमेंसे श्रीमद्-भगवद्गीता रत्न अप्रतिम व अद्वितीय है। इस दिव्य रत्न के ज्ञानमय प्रकाशसे न केवल समस्त भारत-वासी चकित हुए हैं, किंतु पाश्चिमात्य देशके चिकित्सक पद्धतिसे तत्वज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले महापंडित भी भगवद्गीता के नीतिशास्त्र और तत्वज्ञान से आश्चर्यचकित हुए हैं। जगत के सबही प्रमुख विश्वविद्यालयोंमें तद्देशीय पंडित भगवद्गीता का आस्थासे अध्ययन कर रहे हैं।

(२) भगवद्गीता ग्रंथ जैसा जगत् के समस्त तत्त्वज्ञानग्रंथों में श्रेष्ठ है वैसा वह अन्य तत्त्वज्ञान ग्रंथोंसे प्राचीन भी है। तत्त्वज्ञान विषयक ग्रंथोंके संबंधमें ग्रीस देशकी बहुत प्राचीन कालसे ख्याति है। सॉक्रेटिस, प्लेटो, ॲरिस्टॉटल प्रभृति सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता ग्रीस देशमें हुए हैं; उन्होंने तत्त्वज्ञानपर ग्रंथ लिखे हैं, परंतु भगवद्गीता ग्रंथ उन तत्त्ववेत्ताओंके भी पूर्व लिखा गया है। भगवद्गीता ग्रंथ महाभारतके "भीष्मपर्वान्तर्गत" है। यद्यपि महाभारत रचनाके ठीक समयके विषयमें मतभेद है, तथापि इस बातमें मतभेद नहीं है कि मूल महाभारत ग्रंथ (जय इतिहास) कमसे कम ईसवी सनके १६०० वर्ष पूर्व (अर्थात् महाभारत युद्धके समयमें अथवा तुरंत उसीके पश्चात्) लिखा गया है। कई एक पंडितोंकी रायमें महाभारतका युद्धकाल ईसवी सनके ३००० वर्ष पूर्वमें है। भारतीय युद्धका इतिहास प्रथम व्यासने भारत युद्धके समय अथवा उसीके पश्चात् लिखा। वह ग्रन्थ जय ' नामसे प्रसिद्ध है। तदनंतर वही इतिहास व्यासशिष्य वैशंपायनने जनमेजय राजाको कहा। वह ' भारत ' नामसे प्रसिद्ध है। और अखीरमें वही इतिहास सौतीने नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंको कहा। वह ' महाभारत ' नामसे प्रसिद्ध है। और वह शतसहस्र है!! ऐसा अर्वाचीन पंडितोंका मत है। वैशंपायनके २४००० श्लोकी भारतमें अनेक नवीन उपाख्यान प्रक्षिप्त करके सौतीनें शतसहस्र महाभारत ऐसा प्रचंड ग्रंथ तैयार किया। अर्वाचीन पंडितोंका ऐसा मत है कि सौतीके महाभारतका काल खिस्तपूर्व ३५० वर्ष है। व्यास वैशंपायन और सौतिने जय, भारत, और महाभारत इन नामोंसे भारतीय महायुद्धका इतिहास लिखा है; तथापि भीष्मपर्वान्तर्गत भगवद्गीता इन तीनों ग्रंथोंमें है; अर्थात् वह उन उपाख्यानोंमेंसे नहीं है जोकि वैशंपायन अथवा सौतिने प्रक्षिप्त किये हैं। वह भारतीय युद्धके समयमें अथवा शीघ्रही उसके पश्चात् लिखी गई है। अर्थात् भगवद्गीता का काल खिस्तपूर्व कमसे कम १६०० वर्षका है। भगवद्गीता के दूसरे अध्यायके अंतर्गत ' स्थित प्रज्ञ ' के विषय पर लिखते समय भगवद्गीताके कालनिर्णयके विषयमें जो अल्प विवेचन किया गया, उसका कारण यह है कि, वाचकोंके ध्यानमें यह बात आजाय कि ३५०० वर्ष पेश्तर भी प्राचीन आर्योंके तत्त्वज्ञान-संबंधी विचार कितने प्रगल्भ थे, और स्थितप्रज्ञ लक्षण देते समय इतने प्राचीन कालमें भी उन्होंने कितना सूक्ष्म और सांगापांग विचार किया था।

(३) गीता एवं बहुतसी हैं। उनकी त्रोटक जंत्री समर्थ रामदास स्वामीने दासबोधके पहिले दशक के पहिले समासमें दी है। वह इस तरह है-

शिवगीता रामगीता। गुरुगीता गर्भगीता।
उत्तरगीता अवधूतगीता। वेद आणि वेदान्त ८
भगवद्गीता ब्रह्मगीता। हंसगीता पांडवगीता॥
गणेशगीता यमगीता। उपनिषदें भागवत॥९॥

(दासबोध दशक समास ११।८।९)

दासबोध लिखते समय समर्थ रामदास स्वामी को संमत ऐसे ग्रंथोंमें ऊपरकी बारह गीताओंका उल्लेख आया है। लो० तिलकने गीता रहस्यमें प्रायः सबही उपलब्ध गीताओंका उल्लेख किया। समर्थने जिन गीताओंका उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त लोकमान्यने निम्न लिखित गीताओंका निर्देश किया है-

(१) पिंगलगीता (२) शंपाक गीता (३) मंकिगीता (४) बोध्यगीता (५) विचख्य गीता (६) हारीत गीता (७) वृत्रगीता (८) पाराशर गीता (९) हंसगीता (१०) ब्राह्मणगीता (११) अष्टावक्र गीता (१२) ईश्वरगीता (१३) कपिलगीता (१४) देवीगीता (१५) भिक्षुगीता (१६) व्यास गीता (१७) सूतगीता और (१८) सूर्यगीता। ये सब गीताएं भगवद्गीताके पश्चात् लिखी गई हैं। और तत्वज्ञानविषयक ग्रन्थके नातेसे इनकी योग्यता भगवद्गीतासे बहुत कम है। इसलिये लोकरूढिसे " गीता " शब्दका मतलब भगवद्गीता ग्रन्थ हि लिया जाता है। और ऐसा कहनेका प्रघात पड गया है कि " गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यद्ग्रन्थविस्तरैः। " ऐसे उत्तमोत्तम ग्रंथके दूसरे अध्यायमें अर्जुनने भगवानको प्रश्न किया है कि "स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं? " (२-५४) और इसका उत्तर भगवानने श्लोक ५५ से ६८ तक में दिया है। इस लेखमें उसका विवेचन करनेका विचार है। भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञके जो लक्षण बतलाए हैं, उनका विवेचन करनेके पहिले यह देखना चाहिये कि ऐसा प्रश्न पूछनेका प्रसंग अर्जुन को क्यों और कैसे आया? और आपाततः इसका भी थोडा विचार करना चाहिये कि अर्जुनको गीताका उपदेश करना श्रीकृष्णको आवश्यक क्यों हुआ? इससे वाचकोंके ध्यानमें यह आवेगा कि श्रीकृष्णने स्थितप्रज्ञके लक्षण इतने सुविस्तृत रीतिसे क्यों कहे हैं?

(४) कौरव और पांडवोंके बीचका झगडा सलूखके साथ मिटानेकी शिष्टाई जब निष्फल हुई तब उभय पक्षोंके सैन्य युद्धके लिये कुरुक्षेत्रपर सज्ज हुए। उस वक्त यह जाननेके लिये कि युद्धके लिये कौन कौन उपस्थित हैं और हमें किस किस के साथ लडना है, अर्जुनने श्रीकृष्णको अपना रथ दोनों सैन्योंके मध्यमें खडा करनेको कहा। श्रीकृष्णने वैसा किया, तब अर्जुनकी नजरमें आया कि भीष्म द्रोण प्रभृति पूज्य गुरुजन और अत्यंत निकट बांधव अपने प्राणोंकी पर्वा न करके लडनेके लिये तैयार हैं। युद्धके लिये अपने स्वजन तैयार हुए देखकर अर्जुन बोले " मेरे गात्र शिथिल हुए हैं; हाथसे मेरा धनुष्य गिर पडता है; मैं नहीं समझता कि स्वजनोंको युद्धमें मारकर मेरा कोई कल्याण होगा। हमें मारनेके लिये कौरव तैयार हैं, परंतु त्रैलोक्यका राज्य मिलता हो तो भी उन्हें मारनेकी मेरी इच्छा नहीं है। कौरव आततायी हैं, तथापि उन्हें मारनेसे हमें कुलक्षयका और मित्रद्रोहका पातक लगेगा। राज्यसुखके लिये स्वजनोंको मारनेके लिये हम उद्युक्त हैं। इसकी अपेक्षा मेरा कल्याण इसीसे अधिक होगा कि शस्त्रधारी कौरव अशस्त्रधारी ऐसे मुझे मारें।" ऐसा कहकर हाथका धनुष्य छोडकर अर्जुन (परंतप अर्जुन) अपने रथमें चुपचाप बैठ गए!! इस प्रकार रणभूमिपर जिसकी मनःस्थिति हुई उस अर्जुनको युद्धके लिये प्रवृत्त करनेके हेतु श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया। अंतमें कहा—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ १८।६३

हे अर्जुन! मैंने तुम्हें अत्यंत गूढ ज्ञान बतलाया है इसपर तुम पूर्ण विचार करो, और जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। (मेरा यह आग्रह नहीं कि तुम अमुक बातही करो) इसपर अर्जुन बोले—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥१८।७३

(मोह नष्ट हुआ। तुम्हारे कृपाप्रसाद से मुझे कर्तव्यकी स्मृति हुई। युद्ध में स्वजनों को मारनेसे पाप लगेगा, इस विषयके मेरे सब संशय दूर हुए !! तुम्हारे कहे अनुसार करनेके लिये-क्षात्रधर्मविहित यह प्राप्त युद्ध करनेके लिये मैं सहर्ष तैयार हूं !!) रणभूमिपर स्वजनोंको युद्धके लिये तत्पर देखकर अर्जुन शिथिलगात्र होकर धनुष्यको फेंककर स्वस्थ बैठ गए थे; परंतु श्रीकृष्णसे गीताका उपदेश सुनकर अंतमें मालूम हुआ कि स्वधर्म के अनुसार युद्ध करना ही अपना कर्तव्य है; और तदनुसार क्षात्रधर्म का कर्तव्य समझकर उन्होंने युद्ध किया और परमपद अर्थात् मोक्षपद प्राप्त किया। परंतु युद्ध करते समय—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२।३८

यह श्रीकृष्णका उपदेश, तथा स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत और भगवद्भक्त के लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीकृष्णने जो उपदेश किया था वह उपदेश ध्यानमें रखते हुए अर्जुन लढाई में उद्युक्त रहे। अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर अर्जुन ने युद्ध किया, इसलिये युद्धमें की हुई हत्याओंका पाप उन्हें नहीं लगा, किंतु क्षत्रियधर्मानुसार कर्तव्य करनेका श्रेय उन्हें मिला और अंत में मोक्षप्राप्ति हुई।

(५) स्थितप्रज्ञके लक्षण गीताके २ रे अध्यायमें १४ श्लोकों में कहे हैं (५५ से ६८)। दूसरे अध्यायमें प्रथम अर्जुन का मोह दूर करनेके हेतु श्रीकृष्णने उन्हें सांख्यशास्त्र के तत्त्व बतलाए। योगशास्त्रका प्रतिपादन करते हुए-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥२।५१

(समबुद्धि जिन्हें प्राप्त हुई है ऐसे ज्ञानी-स्थितप्रज्ञ योगी-कर्मफलोंका त्याग करके जन्ममरणसे मुक्त होकर मोक्षपदको पहुंचते हैं) ऐसा कहकर श्रीकृष्णने कहा –

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥२।५३

(अनेक प्रकारके श्रुतिवाक्यों से मोहित तुम्हारी बुद्धि जब समाधिमें स्थिर होगी, तब तुम्हें (समबुद्धियुक्त) योग प्राप्त होगा।) यह सुनकर अर्जुन ने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञके लक्षण क्या हैं? ऐसा प्रश्न भगवान् को किया (२।५४) और ये लक्षण भगवान्ने १४ श्लोकोंमें बतलाए (५५से६८)

(६) हमारी योजना ऐसी है कि प्रथम गीतामें कहे हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण संक्षेप में देखकर, अन्य साधुसंत और तत्त्ववेत्ताओंकी "स्थितप्रज्ञ" "उत्तम पुरुष" "सिद्ध" "महापुरुष" "Perfect man" अथवा "त्रिगुणातीत" इन शब्दों की व्याख्या देना। गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षण ऐसे दिये हैं।

(१) प्रजहाति यदा कामान् ... इत्यादि श्लोक ५५— "(योगी) जब अपने मनकी सब इच्छाओं को पूर्णतया छोडकर अपने आत्मा के योगसे आत्माही में संतुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। 'कामान्' का अर्थ गीताभाष्य में शंकराचार्यने 'इच्छाभेदान्' ऐसा किया है; और 'स्थितप्रज्ञ' का अर्थ –" स्थिता प्रतिष्ठिता आत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य सः " ऐसा किया है।

(२) दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः इ० श्लोक ५६ — " आध्यात्मिक दुःख प्राप्त होनेपर जो खिन्न नहीं होता; सुखकी प्राप्ति होनेपर जिसकी सुखोपभोग की इच्छा बढती नहीं, जिसकी प्रीति, भय और क्रोध नष्ट हुए हैं, उसे स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।

(३) यः सर्वत्रानभिस्नेहः इ० श्लोक ५७— "जो सब जगह स्नेहविरहित रहता है; शुभ अथवा अशुभ प्राप्त होनेपर जिसको आनंद अथवा दुःख नहीं होता, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।" "अनभिस्नेहः" का अर्थ शंकराचार्य "देहजीवित के विषयमें जिसको अतिशय स्नेह नहीं रहता" ऐसा करते हैं।

(४) यदा संहरते इ० श्लोक ५८— "जिस प्रकार कूर्म अपने अवयव सब बाजुसे पूर्णतया ढांक लेता है, उसी प्रकार योगी जब अपने इंद्रियों को इंद्रियोंके विषयों से पूर्णतया रोककर रखता है,

तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

(५) विषया विनिवर्तन्ते इ० श्लोक ५९— " जिसने आहार छोड दिया उस मनुष्य से विषय पीछे हटते हैं, परंतु विषयोंपर की रुचि नहीं हटती; परंतु परब्रह्मका दर्शन (साक्षात्कार) होनेपर विषयोंकी रुचि भी हट जाती है"। "निराहारस्य" का अर्थ शंकराचार्य " अनाह्रियमाणविषयस्य " ऐसा करते हैं; अर्थात् " विषयों का उपभोग जो नहीं लेता " और " रस " का अर्थ " आसक्ति " करते हैं। (ज्ञानेश्वर रस का अर्थ रसना करते हैं)

(६) यततो ह्यपि कौंतेय ... इ० श्लोक ६० — " इंद्रियदमनका प्रयत्न करते हुए भी अनिबद्ध इंद्रिय विद्वान् पुरुषों का मन बलात्कारसे हर लेती हैं।

(७) तानि सर्वाणि ... इ० श्लोक ६१ - " उन सब इंद्रियों को स्वाधीन रखकर योगी को युक्त और मत्परायण होना चाहिये। क्यों कि इंद्रिय जिसके स्वाधीन हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कहते हैं।"

(८) ध्यायतो विषयान् ... इ० श्लोक ६२ — " विषयों का चिंतन करनेवाले को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णासे क्रोध उत्पन्न होता है।"

(९) क्रोधाद्भवति संमोहः इ० श्लोक ६३ — " क्रोधसे अविचार उत्पन्न होता है; अविचार से स्मृतिभ्रंश होता है, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नष्ट होती है, और बुद्धि नष्ट होनेसे मनुष्य का सर्वस्व में नाश होता है"। 'प्रणश्यति' का अर्थ शंकराचार्य 'पुरुषार्थ के लिये अयोग्य' ऐसा करते हैं।

(१०) रागद्वेषवियुक्तैस्तु ... इ० श्लोक ६४ — " जिसका मन स्वाधीन है ऐसा मनुष्य प्रीति और द्वेष से विरहित, अपने स्वाधीन इंद्रियोंसे विषयों का उपभोग लेता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है, अर्थात् उसका चित्त प्रसन्न रहता है"।

'विषयान् चरन्' का अर्थ शंकराचार्य 'अवर्जनीयान् विषयान् उपलभमानः' ऐसा करते हैं (जिन को वर्ज नहीं कर सकते ऐसे विषयोंका-

देह को जीवित रखनेके लिये अन्नपानादिका अनुभव लेनेवाला।)

(११) प्रसादे सर्वदुःखानां ... इ० श्लोक ६५ - " चित्त प्रसन्न होनेसे मनुष्य के सब दुःख नष्ट होते हैं; क्यों कि जिसका चित्त प्रसन्न हुआ उस की बुद्धि शीघ्रही स्थिर होती है"।

(१२) नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य... इ० श्लोक - " जो मनुष्य योगयुक्त नहीं उसकी स्थिर बुद्धि नहीं रहती और भक्ति नहीं रहती; जिसको भक्ति नहीं उसको शान्ति नहीं, जिसको शान्ति नहीं उसको सुख कहां ?" 'भावना' शब्दका अर्थ शंकराचार्य ऐसा करते हैं- आत्मज्ञानाभिनिवेश, अर्थात् साक्षात्कार के विषय में सतत अनुचिंतन। इस शब्दका अर्थ लोकमान्य 'दृढबुद्धिरूप निष्ठा' करते हैं।

(१३) इंद्रियाणां हि चरताम् इ० श्लोक ६७ - " मनुष्य का मन विषयों में संचार करनेवाले इंद्रियों के पीछे जाता है, और जिस प्रकार वायु नौका को पानी में जोरसे खींच लेजाता है उसी प्रकार वह उसका मन उसकी बुद्धि को भलतेही मार्ग में खींच लेजाता है"।

(१४) तस्माद्यस्य महाबाहो ... इ० श्लोक ६८- " इसलिये हे अर्जुन! इंद्रियों के विषयों से जिसके इंद्रिय रोके हुए रहते हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है, अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये।"

(७) गीतामें दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण दिये हैं, उनका साम्य १४ वें अध्याय के 'गुणातीत' के लक्षणोंसे तथा १२ वें अध्याय के भगवद्भक्त के लक्षणोंसे बहुत कुछ है। किंबहुना स्थितप्रज्ञ, गुणातीत और भगवद्भक्त ये तीनों समान कोटि के, समान योग्यतावाले ज्ञाननिष्ठ योगी हैं। गीताके १३ वें अध्याय के श्लोक ७ से ११ तक में ज्ञानी के लक्षण दिये हैं, उन लक्षणों से युक्त ज्ञानी को भी स्थितप्रज्ञ कह सकते हैं। दासबोध के १२ वें दशक के १० वें समास में, तथा १८ वें दशक के ६ वें समास में समर्थ रामदासस्वामीने उत्तम पुरुषों के लक्षण दिये हैं; और ५ वें दशक के ९ वें समास में सिद्ध पुरुष के लक्षण दिये हैं। इसी-

तरह ११ वें दशक के दसवें समास में तथा १९ वें दशक के दूसरे समास में और १८ वें दशक के तीसरे समास में निःस्पृह पुरुष के लक्षण दिये हैं, और बीचबीचमें महापुरुष के लक्षण दिये हैं। इन्हें सूक्ष्म रीतिसे पढनेपर मालूम होता है कि गीताके स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत और भगवद्भक्त तथा दासबोध के उत्तम पुरुष, सिद्ध, निःस्पृह और महापुरुष, ये सब एकही उच्च कोटिके, संसारमें रहकर संसार से निराला आचरण करनेवाले, स्वयं उत्तीर्ण होकर लोगों को तारनेवाले महान् योगी हैं। ग्रीक तत्त्ववेत्ताओंने जिनका वर्णन किया है वे 'पूर्ण मनुष्य' भी इसी उच्च कोटि के हैं। स्थितप्रज्ञ, उत्तम पुरुष अथवा पूर्ण पुरुषके जो लक्षण बतलाए गए हैं, उन सब लक्षणोंसे युक्त कोई पुरुष मिलना क्या संभाव्य है? इस तरह की शंका कोई कोई लेते हैं। सामान्य मनुष्यकी ऐसी कल्पना हो सकती है कि, सुखदुःख, मान-अपमान, शीत-उष्ण इत्यादि द्वंद्वोंको समसमान लेखना, "आत्मवत्सर्वभूतेषु" ऐसी मनोभावना रहना, "दया करी जे पुत्रासी। तेचि दासा आणि दासी" (पुत्रपर जो दया करते हैं वही दया दासी दास पर करना) ऐसी स्थिति रहना सृष्टिनियम के विरुद्ध ह। सुप्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कॉंट सरीखें विद्वान् भी कहने लगते हैं कि ग्रीक तत्वेत्ताओंने "पूर्ण" मनुष्य के जो लक्षण दिये हैं वे मानवी प्राणी में मिलना अशक्य है। अर्वाचीन पाश्चात्य पंडितों का कहना है कि अज्ञ लोगोंकी नीति का महत्व समझानेके हेतु ग्रीक पंडितोंने उत्तम पुरुष का स्वकपोलकल्पित चित्र निर्माण किया है। उन्हीका अनुकरण करते हुए कतिपय अर्वाचीन एतद्देशीय पंडित कह लगे हैं कि स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातित, सिद्ध पुरुषों का जो वर्णन गीतामें अथवा दासबोधादि अर्वाचीन संतकवियोंके ग्रंथोंमें दिया है वह केवल कल्पना सृष्टि है- Ideal Should be approachable to ordinary men, not unapproachable- ध्येय सामान्य मनुष्यों को प्राप्य होना चाहिये, अप्राप्य न हो। गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या अप्राप्य अथवा अशक्य कोटिके हैं? इस बातका अच्छा अच्छा प्रमाण श्रीमत् शंकराचार्य हैं, जिन्होंने गीतापर सर्वोत्कृष्ट भाष्य लिखा है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों मेंसे पहिले श्लोकपर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य कहते हैं-

"यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवंति तानि श्रीभगवानुवाच प्रजाहातीति"— "जो साधन और लक्षण यत्नसाध्य हैं, उन्हें 'प्रजहाति' इत्यादि श्लोकोंद्वारा श्रीभगवान् बतलाते हैं।" आचार्य स्वयं स्थितप्रज्ञ योगी थे; इसलिये उनका कहना शब्दशः सच मानना चाहिये। "पहिले किया फिर कहा" इस कोटिके आचार्य थे। जो लोग ऐषआराम करके शरीरसुख भोगते हैं, 'ऋणं कृत्वा घृतं पिब' इस प्रकार जिन चार्वाक पंथवालोंका समय व्यतीत होता है, जो आधिभौतिक सुखही को अंतिम ध्येय समझकर चाय, मद्य आदि पेय पीकर नृत्यादि क्रीडामें और पत्तों के खेलमें अपना समय गमाते हैं, उनकी समझ में कोई मनुष्य स्थितप्रज्ञ अथवा उत्तम पुरुष के लक्षण प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु आत्मसंयमन करके ब्रह्मचर्यव्रत का उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले शुक, भीष्म, ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास स्वामी के समान महानुभावों को, तथा एकपत्नीव्रतका पालन कर वर्णाश्रम धर्मानुसार गृहस्थाश्रम का स्वीकार करके प्रपंच करनेवाले जनक, श्रीराम, धर्मराज, बुद्ध, तुलसीदास, एकनाथ, तुकाराम, गोरा कुम्हार, सावंता माली, चोखामेला, प्रभृति श्रेष्ठ पुरुषोंको यह कदापि मान्य न होगा कि स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। केवल गृहस्थाश्रमी साधुसंतोंमें ही नहीं, किंतु गृहस्थाश्रमी प्रापंचिकों में भी शिवाजी महाराज, रामशास्त्री प्रभुणे, देव मामलेदार प्रभृति सज्जनोंको भी शुद्ध गंगोदक के समान अपना खासगी आचरण शुद्ध रखकर, नीतीधर्मके नियमों का पालकर वर्णाश्रमधर्मानुसार अपना कर्तव्य करके स्थितप्रज्ञके लक्षण प्राप्त करना दुष्कर न हुवा ऐसा इतिहास मे सबूत है। छत्रपति शिवाजी महाराजको स्थितप्रज्ञोंकी पंक्तिमें रखनेसे बहुतलोगोंको

आश्चर्य होगा। सकृत् दर्शन में यह सवाल उठ सकता है कि वह शिवाजी महाराज स्थितप्रज्ञ कैसे जिन्होंने बालपनमें विजापुरके दरबारमें यवन बादशाहको कुर्निसात नहीं की और बादशाह की राजधानीमें गोवध करनेवाले यवनका शिरच्छेद किया। युवावस्थामें जिन्होंने आत्मसंरक्षण के हेतु प्रतिकारार्थ अफझुल खानका वध किया और प्रौढावस्था में जिन्होंने अत्यंत साहस के साथ सशस्त्र शत्रुके गृह में प्रवेश करके शाहिस्तेखान की उंगलिया कुर्तीसे छांट डाली ? परंतु सूक्ष्म विचार करनेपर हम समझते हैं कि शिवाजी महाराज स्थितप्रज्ञोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य हैं।। क्षात्रधर्म के अनुसार गत स्वराज्य हासिल करना उनका कर्तव्य था, उस कर्तव्य के करने में क्षात्रधर्म का आचरण करना उन्हें आवश्यक था। परंतु क्षात्रधर्मका आचरण करनेमें उन्होंने नीतिशास्त्रके तत्वों को छोड नहीं दिया जैसा कि सिकंदर, सीजर और नेपोलियनने किया; और मुसलमान इतिहासकारों के लेखोंमेंभी औरंगजेब के लिये भी ऐसा एकभी उदाहरण नहीं मिलता कि जब उन्होंने यशप्राप्ति के बाद शत्रुकी अमानुषतासे कतल की हो, अथवा मसजिदें उध्वस्त की हों, फकीरोंको मारा हो अथवा क्लेश पहुंचाया हो; अथवा स्त्रियोंपर बलात्कार किया हो अथवा उनको पापदृष्टि से देखा हो। अत्यंत शारीरिक कष्ट करके प्राप्त किया हुवा स्वराज्य समर्थ रामदासस्वामी की झोलीमें डालनेवाले शिवाजी महाराज, धोखा देकर औरंगजेब ने आग्रेके किले में नजर कैद में रखा तब गलित धैर्य न होकर अनत्याचारी युक्तिसे छुटकारा पाकर जिन्हों ने स्वराज्य में आकर रायगड में राज्याभिषेक करा लिया; तदनंतर कर्नाटक की चढाईमें शिवदर्शन होनेपर विरक्त होकर स्वराज्यको तिलांजलि देनेको जो तयार हुए, कल्याणके सुभेदार की तरुण व अत्यंत रूपवती स्त्री अपने कबजे में आई तथापि उसकी ओर पापदृष्टि से न देखकर उसे उसके पतिके पास सुखरूप पहुंचानेवाले पुण्यश्लोक शिवाजी महाराज गृहस्थाश्रमका सुखानुभव लेते हुए भी स्थितप्रज्ञके समान आचरण करनेवाले राजर्षि थे,इसमें जरा भी संदेह नहीं। उनके पश्चात् उनके वंशमें अथवा उनका गेरुवा झेंडा अटकतक फहरानेवाले महाप्रतापी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा मराठा सरदारोंमें ऐसा एक भी पुरुष न हुआ जिसको 'राजर्षि' का स्पृहणीय नामाभिधान दिया जा सकता है। छत्रपति के घराने में 'राजर्षि' पदके योग्य केवल एकही शककर्ता स्वराज्यसंस्थापक स्थितप्रज्ञ-शिवाजी महाराज हुए।

(८) समर्थ रामदासस्वामी के ज्येष्ठबंधु गंगाधर स्वामी-ऊर्फ श्रेष्ठ-ने साधु स्थितप्रज्ञकी व्याख्या लिखकर एक सर्वोत्कृष्ट श्लोक समर्थ के पास भेजा, उसमें दिया हुवा वर्णन जिस प्रकार सद्गुरु समर्थ को पूर्ण रीतिसे लागू होता है, उसी प्रकार उनके सच्छिष्य छत्रपति शिवाजी महाराज को भी वह लागू होता है। समर्थके स्थितप्रज्ञ शिष्यों में कतिपय स्थितप्रज्ञ शिष्या भी थीं। यह बात कुछ लोगोंने श्रेष्ठ की नजरमें लाई तब श्रेष्ठने निम्नलिखित श्लोक समर्थ के पास भेजा—

> तारुण्य-लावण्यसंपन्न नारी। कौशल्यवैभव-
> चित्त हारी॥ एकांतकाळीं पडतां संबंधु।
> अभिलाष नधरी ते धन्य साधु॥

(अर्थ- तारुण्य और लावण्य से संपन्न और कौशल्यवैभवसंपूर्ण और चित्तहारी ऐसी स्त्री एकान्त में सन्मुख आनेपर जो उसकी अभिलाषा नहीं रखता, वह साधु धन्य है।" इस श्लोकका श्लोकबद्ध उत्तर जो समर्थने दिया वह ध्यानमें रखने योग्य है। वह इस तरह है—

> स्वर्गांगनेसी जरी साम्य आली।
> परंतु तेथें दृष्टी न घाली॥
> निजात्मबोधें निःसंगराशी।
> तथापि आरण्य मिरास त्यासी॥

इंद्रियदमन करके आत्मज्ञान से जो संगरहित हुवा उस स्थितप्रज्ञ के सामहने प्रत्यक्ष स्वर्गकी अप्सरा-रंभा-यदि आकर श्रृंगारोत्तेजक आविर्भाव से उसका मन हरण करनेका प्रयत्न करे, ता भी

उसका मन विचलित नहीं होता। वर्तमान समयमें भी वारकरी सांप्रदाय में और समर्थ सांप्रदाय में कोई कोई पुरुष ऐसे मिलेंगे जो कि वर्णाश्रमधर्मका योग्य पालन करके नीतिधर्मानुसार आचरण करते हैं। परंतु जैसे शिवाजीमहाराज के पश्चात् उनके समान लोकोत्तर राजकारणी स्थितप्रज्ञ कोई दूसरा छत्रपति नहीं हुआ, उसी तरह समर्थसांप्रदाय में अथवा तुकारामवारकरी सांप्रदाय में समर्थ-तुकाराम के तुल्य कोई दूसरा राजकारणी स्थितप्रज्ञ संत अथवा पूर्ण विरक्त समाजनेता स्थितप्रज्ञ साधु नहीं हुवा, ऐसा हमें खेदके साथ कहना पडता है।

कइ लोगोंका यह आक्षेप है कि अंग्रेजी शिक्षासे धर्मश्रद्धा कम होने लगी है और नीतिबंधन शिथिल हो चले हैं। इसमें तथ्यांश है तथापि आजकल के दिनोंमें अंग्रेजी शिक्षा की उपाधि धारण करनेवालों में भी वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण करके बहुजन-समाजको सन्मार्ग बतलाकर उन्हें कर्तव्यदक्ष करनेवाले लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, पंडित मालवीय के सदश शुद्धाचरणी साधुवृत्तिवाले लोकनायक उत्पन्न होते हैं, यह भरतभूमिका सौभाग्य है! हमें यह कहनेमें बिलकुल संकोच नहीं होता कि एकपत्नीव्रत सम्हालकर, सत्य, अहिंसा और अनत्याचारका व्रत पालन करके, नीतिधर्मका उल्लंघन न करते हुए, अनेक संकटोंको तुच्छ लेखकर—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

इस भर्तृहरिके वचनानुसार उत्तम पुरुषके पद को प्राप्त हुए और वृद्धावस्थामें भी स्वराज्यप्राप्तिके लिये आनंद के साथ अनेकवार कारागृहवास में सुख माननेवाले तिलक-गांधी-मालवीय लोकोत्तर लोकनायक स्थितप्रज्ञ हैं। इन त्रैमूर्तिका अनुकरण करनेवाले अनेक लोक यदि आर्यभूमिमें उत्पन्न हों तो आर्यभूमिका गतवैभव फिरसे प्राप्त होनेमें विलंब न लगेगा।

(९) कई लोगों की यह भ्रामक कल्पना रहती है कि स्थितप्रज्ञ होनेके लिये श्री० शंकराचार्य के समान चतुर्थाश्रम लेना चाहिये, अथवा शुकाचार्य, रामदास स्वामीके समान आजन्म ब्रह्मचारी रहना चाहिये। शिखासूत्र का त्याग करके चतुर्थाश्रम का स्वीकार करना सच्चा संन्यास नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
गीता० ६।१

"कर्म के फल की आशा न रखकर जो वर्णाश्रम-धर्मानुसार अपना कर्तव्य करता है, वही (सच्चा) संन्यासी और (सच्चा) योगी है।

समर्थ रामदासस्वामी दासबोध में कहते हैं "संन्यासी का अर्थ है षडन्यासी।" कामक्रोधादि प्रसिद्ध षड्रिपुओंका त्याग करनेवाले अर्थात् उन पर विजय पाकर स्थितप्रज्ञके समान लोकव्यवहार करनेवाले सच्चे संन्यासी हैं; चार आश्रमोंमें से वे चाहे जिस आश्रम के हों। भगवान् श्रीकृष्णका अथवा रामदास स्वामीका यह आग्रह नहीं कि उन को चतुर्थाश्रम लेनाही चाहिये। एकनाथ तुकाराम ने चतुर्थाश्रम का स्वीकार नहीं किया था। वे गृहस्थाश्रमी प्रपंचवाले थे। गृहस्थधर्मानुसार इन्हें लडके बच्चे हुए थे; परंतु प्रपंचमें उनकी वृत्ति सामान्य लोगोंसरीखी न थी। समर्थने जैसा दासबोध के ८ वें दशक में वर्णन किया है, उस प्रकार उनकी वृत्ति थी—

" बाह्य साधकाचे परी। स्वरूपाकार अंतरीं।
सिद्धलक्षण चतुरीं। जाणिजे ऐसे॥ ६॥

अर्थ- बाह्य आचरण साधक के सदश और अंतरंग में आत्मस्वरूपाकार रहना, यही चतुर लोग सिद्ध के लक्षण समझें।

दासबोध के ८ वें दशक के ९ वें समासमें समर्थ ने स्थितप्रज्ञ अथवा सिद्ध पुरुष के लक्षण ऐसे

सुगम और धार्मिक रीतिसे बतलाए हैं कि जो सामान्य लोगोंको भी जचें। इस समास में सिद्ध पुरुषों को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर क्यों नहीं होते, इसका वर्णन बहुत समर्पक रीतिसे दिया है। वाचकगण उस समास को ध्यानपूर्वक पढें, इससे वे सुलभ रीतिसे समझ लेंगे कि स्थित-प्रज्ञ के लक्षण मनःकल्पित नहीं हैं जैसा कि कँट-सरीखे जर्मन तत्ववेत्ता कहते हैं।

भगवद्गीता और साधनचतुष्टयसंपत्ति।

(लेखक- श्री० केशव भिकाजी बापट, चिपलून।)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें से पूर्णतया स्वतंत्र पुरुषार्थ मोक्ष है; और वह प्राप्त होनेसे मनुष्य सदैव के लिये कृतकृत्य होता है। केवल धर्म, केवल अर्थ और केवल काम मनुष्यको चिरंतन तृप्ति देनेमें असमर्थ हैं; इसलिये मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहते हैं। समस्त बंधनों से छुटकारा पाकर निर्भयता से अमिश्र सुखका उपभोग यदि कहीं मिलता हो तो वह इस मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ में है। अपना सर्वांगीण संकोच होनेसे दुःख, और विकास होनेसे सुख होता है। यही बात निम्नलिखित श्रुतिवाक्य में कही है-

" यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखम्।

छां० ७।२३।१

प्राणिमात्र का मूल स्वरूप संकुचित नहीं, विशाल है। परंतु स्वरूप की ज्ञानसे फारकत होनेसे दुःख, दारिद्र्य और दैन्य यह त्रयी पीछे लगती है और सत्, चित्, आनंद यह त्रयी हमें छोड गई है। त्रिकालाबाधित, ज्ञानमय और आनंदमय ऐसी वस्तु केवल ब्रह्मतत्व है; और इसमेंका " ब्रह्म " शब्द उसका बृहत्व अथवा उसकी महत्ता व्यक्त करता है। इस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मायने लाघव को छोडकर विशाल होना है। अर्थ और काम चाहे जितना सुख देवें, वह सुख ब्रह्म-सुखकी बराबरी कभी नहीं कर सकता। सुखकी पराकाष्ठा मोक्ष है। यह अनुपमेय ब्रह्मावस्था प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो ब्रह्मज्ञान ही संपादन करना चाहिये। इस ज्ञान को प्राप्त करने के कौन कौनसे साधन हैं, यह भी जबतक नहीं समझेगा, तबतक अन्य तुच्छ साधनोंके लिये खर्च होनेवाला समय और शक्ति ठहरेगी नहीं। भगवद्गीताका अवतार इन साधनोंको बतलाने के लिये ही है। भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अंतमें जो शब्द कहे जाते हैं उनमें यही बात बतलाई गई है। ब्रह्मविद्या का अर्थ है बृहत्व प्राप्त करनेकी विद्या, और विद्याका योग-शास्त्र मायने उपायोंका ज्ञान करा देनेवाला शास्त्र। ऐसा अर्थ " ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे " इन शब्दों में से निकलता है। बृहत् होनेके शास्त्रीय मार्ग कौनसे हैं, यही बात नारायणने अपने भक्त सखा अर्जुन को कही, और उसके शोक मोह को दूर करके उसका " नरत्व " उसे वापिस दिया; और युद्ध-सरीखा प्रचंड कर्म उसके हाथसे हुवा, तथापि उसका असर उसपर बिलकुल न होने पावे, इस प्रकारका अद्वितीय सामर्थ्य और अद्वितीय ब्राह्मी स्थिति उसको दी। " तरति शोकमात्मवित् " यह श्रुतिवचन बतलाता है कि केवल आत्मवेत्ताही शोक के पार जाता है; और शंकराचार्य कहते हैं कि आत्माही ब्रह्म है। मोक्ष का अर्थ है बंधन से छूटना; और गीतामें कहे अनुसार बंधका मतलब

है जन्मबंध और कर्मबंध। "जन्मबंधविनिर्मुक्ताः" "कर्मबंधं प्रहास्यसि।" "मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।" बंधन से छूटनेपर जो अद्वितीय सुख मिलता है, उस मोक्षसुखको भगवद्गीता में "ब्रह्मनिर्वाणम्, परा शान्ति,अक्षय्यसुख, निर्वाणपरमाशान्ति,आत्यन्तिक सुख, उत्तम सुख, ब्रह्मसंस्पर्शयुक्त सुख, परमा संसिद्धि" इत्यादि शब्द नियुक्त किये हैं। कार्यको जिस प्रकार कारणोंकी आवश्यकता है उसी प्रकार साध्यप्राप्ति को भी साधनोंकी आवश्यकता है। ब्रह्मप्राप्ति अपना ध्येय अथवा साध्य है ऐसा निश्चित होनेपर यह भी विचार करना आवश्यक है कि इसके साधन कौनसे हैं। इन साधनों को शंकराचार्यने 'साधनचतुष्टय' ऐसा संक्षिप्त नाम दिया है। भगवद्गीता में इस साधनचतुष्टयका नामतः साक्षात् उल्लेख नहीं है; तथापि इतस्ततः फैले हुए सात सौ श्लोकोंमेंसे इस साधनचतुष्टयकी सामग्री इकट्ठी कर सकते हैं। यह साधन जबतक हाथ नहीं आता तबतक हमें अपना साध्य प्राप्त करना अशक्य है। "अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिविशेषता" फलप्राप्ति को अधिकार की आवश्यकता है। वह अधिकार इस साधनचतुष्टय से आता है।

साधनचतुष्टय के नामही से बोध होता है कि इसमें चार अंग हैं। उन चार अंगोंके नाम ऐसे हैं- (१) मुमुक्षुत्व (२) नित्यानित्यविवेकित्व (३) विरक्तत्व और (४) शमादिषट्क। अर्जुनके प्रश्न से और भगवान् के उपदेश से अर्जुनका मुमुक्षुत्व सिद्ध होता है।

"यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे।"

अर्जुन की इस विज्ञप्ति से स्पष्ट दीखता है कि अर्जुन को निःश्रेयस् अथवा निश्चित श्रेय अर्थात् मोक्ष चाहिये था। मोक्ष के अतिरिक्त कोई भी अन्य वस्तु को निश्चित श्रेय नहीं कह सकते। दूसरी जगह भगवान् कहते हैं-

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

"पूर्वकालीन मुमुक्षुओंने कर्म किया है; तुम भी कर्म करो" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि अर्जुन में मुमुक्षुत्व था।

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन वाक्योंसे भगवान् अर्जुन की मोक्षविषयक जिज्ञासा सूचित करते हैं। मोक्षसुख यदि आपही आप मिल जाय तो प्राणिमात्र को वह चाहिये। परंतु इतनेही से यह नहीं कह सकते कि प्राणिमात्र में मोक्षार्थित्व है; क्यों कि तीव्र मुमुक्षुत्व के अभाव में ब्रह्मसुख का अथवा मोक्षसुख का आस्वाद मिलना असंभाव्य है। सामान्य मुमुक्षा भी बहुतही थोडे लोगों में रहती है, और जिनमें वह रहती उनमें भी वह थोडेही कालतक स्थिर रहती है। सैंकडों प्रकारके दुःख भोगकर मनुष्य त्रस्त हुवा तब भी उसको तीव्र मुमुक्षुत्व उत्पन्न नहीं होता; इसका कारण उसका जबरदस्त मोह है। और इसीलिये मुमुक्षुत्व अधिकार का एक अंग है ऐसा सिद्ध होता है।

साधनचतुष्टयमें से दूसरा अंग 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' है। दिखाऊ क्या ह और टिकाऊ क्या है, नित्य क्या है और अनित्य क्या है, इसका योग्य विचार करके जो नित्य हो वही ध्येय समझकर लेना चाहिये। हमारे आंखों को अहर्निश दिखनेवाले इस मध्यम लोक का नाम ही मर्त्यलोक है; और यह निश्चित है कि इस मर्त्यलोककी चीजें मर्त्य रहेंगी। यही बात ध्यानमें लानेके लिये भगवान्ने कहा—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

"इस लोकके फलोपभोग अनित्य हैं, टिकनेवाले नहीं हैं, असुख अर्थात् दुःखकारक अथवा अल्पसुखकारक हैं; इसलिये इस लोकमें आकर "मां भजस्व" मेरा भजन करो।" इस श्लोकसे मालूम होता है कि श्रीकृष्णके मतसे यह मृत्युलोक कोई रमणीय स्वर्गीय उद्यान नहीं है। अनित्य वस्तु को ध्येय निश्चित करके नित्य ब्रह्मसुख कैसे मिलेगा? इस लोककी सबही चीजें अनित्य हैं, इतना ज्ञान

मुमुक्षुको होनेसे भी विवेक पूरा नहीं होता। इस लोकके ऊपर परलोक है ही। वहांके सुखोंकी और उसकी नजर जाती है। वेदकी रोचक, "पुष्पिता" और त्रिगुणात्मक वाणी सुनकर उन सुखोंका उपभाग लेनेकी इच्छा मुमुक्षुको हो, तब भी "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस वाक्यपर ध्यान देकर ऐसा दृढ निश्चय करना चाहिये कि स्वर्गीय सुख भी अनित्य ही हैं। अद्भुत कार्य करके यहां मिलनेवाली श्रेष्ठता, तथा पुण्यकर्मों द्वारा परलोक में मिलनेवाली श्रेष्ठता, दोनों अशाश्वत हैं। वैदिक कर्मकाण्डमें त्रिगुणात्मक विषय हैं; और वेदान्तमें अर्थात् वेदशिरोभागमें त्रिगुणातीत विषयोंका दिग्दर्शन है। श्रुति कहती है-

"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।"

श्रीकृष्ण कहते हैं, क्षीणपुण्य होनेपर स्वर्गस्थ लोग नीचे आते हैं- दोनोंका आशय एकही है। शाश्वत सुख चाहिये हो तो तात्कालिक सुख छोड ही देना चाहिये। सत्व, रज और तम इन गुणोंके उत्कर्षसे प्राप्त होनेवाले सुख अनित्य हैं, इसलिये श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा है कि तुम "निस्त्रैगुण्यो भव" गुणातीत हो।

नित्यानित्यविवेकसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य तीसरा अंग है। चित्तके बिगडनेके लिये नाना प्रकारकी वासनाएं कारणीभूत होती हैं। वासनाकलुषित मनको निर्वासन स्थितिमें होनेवाला आनंद कैसे प्रतीत हो सकता है? वैराग्यसे चित्तशुद्धि होते होते मनके विकल्प लुप्त होते हैं,और ब्रह्मानंदका उपभोग लेनेके लिये चित्त समर्थ होता है। ऐहिक-पारलौकिक सुखकी लालचमें डूबे हुए लोग चाहे जितने वेदव्रती हों, उनका आवागमन टलता नहीं। गीता कहती है—

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते" ऐसा परमधाम प्राप्त करनेके लिये इतर धामोंके विषयमें वैराग्य उत्पन्न होना चाहिये। वैराग्य के बिना साधनोंका अभ्यास व्यर्थ होता है। इसीलिये श्रीकृष्णने कहा है कि मनोजय करते समय अभ्यासको वैराग्यकी जोड आवश्यक है।

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥"

वैराग्ययुक्त अभ्याससे सिद्धि त्वरित मिलती है। इंद्रियोंका दृष्ट अथवा अदृष्ट विषयोंमें प्रेम न रहना, यह भी ज्ञानका एक लक्षण भगवान्ने बतलाया है। ज्ञानके अठारह लक्षणोंमें "इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्" ऐसा आधार भगवद्गीतामें मिलता है। इसके अतिरिक्त १८ वें अध्यायमें भी क्रममुक्तिकी इच्छा करनेवाले अभ्यासक के वर्णनमें "वैराग्यं समुपाश्रितः" ऐसा कहा है। इससे इस तीसरे अंगका भी महत्त्व सिद्ध होता है।

साधन-चतुष्टयका अंतिम अंग शम, दम, उपरति, श्रद्धा, तितिक्षा और समाधान ऐसी छः बातें हैं। शम और दमका मतलब है, आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह करना। शम और दमकी गणना गीतामें ब्रह्मकर्ममें ही की है-

"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते"

इन शब्दोंसे शमकी योग्यता बतलाई है। सिवाय इसके, शमकी सखी जो शान्ति उसका उल्लेख गीता में अनेक वार आया है। एक जगह "प्रशान्तात्मा" ऐसा भी शब्दप्रयोग किया है। इंद्रियोंका निग्रह, संयमन अथवा दमन करनेके लिये अर्जुनको जगह जगहपर सचेत किया है। "यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।" इस श्लोकार्धमें, तथा "शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।" इस श्लोकार्धमें बाह्य विषयोंसे मनको खींच लेकर धीरे धीरे आत्मामें स्थिर करनेको कहा है और उपरतिका महत्त्व बतलाया है। श्रद्धाका महत्त्व इतना अधिक है कि श्रीकृष्णने पुरुषको श्रद्धामय कहा है- "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" ऐसा मनुष्य मिलना अशक्य है, जिसकी श्रद्धा किसी भी वस्तुपर नहीं है। श्रद्धाके विषय भिन्न होंगे; परंतु इतनेही कारणसे यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशिष्ट मनुष्यमें श्रद्धा है ही नहीं। ज्ञानप्राप्तिके लिये श्रद्धा अत्यंत आवश्यक - "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" गीतामें ऐसा भी

कहा है कि अश्रद्धधान पुरुषोंको मेरी प्राप्ति नहीं होती, किंतु उनका नाश होता है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति॥"

"भिन्न भिन्न देवताओंमें श्रद्धा रखनेवालेको जो फल मिलता है वह मेरेही कारण मिलता है। इत्यादि वचनोंसे श्रद्धाकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यांस्तांस्तितिक्षस्व भारत॥"

इस श्लोकमें शीतोष्णादि द्वंद्वोंको तथा उनके विषयोंको अप्रतीकारपूर्वक सहन करनेको कहा है; और इस तरह तितिक्षाका महत्त्व बतलाया है।

निराशीः अथवा निरिच्छ होकर संतोषवृत्ति रखनेके विषयमें [समाधानके विषयमें] ऐसे उल्लेख हैं: नित्यतृप्तः (४-२०) यदृच्छालाभसंतुष्टः (४-२२) आत्मन्येव संतुष्टः (३-१७) संतुष्टः (१२-१४) संतुष्टो येन केनचित् (१२-१९)। इससे मुमुक्षुको ध्यानमें रखना चाहिये कि असंतोषके कारण चित्तको व्याकुल होने न देना और ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें इस तरह विघ्न आने न देना चाहिये।

इस प्रकार गीतामें जो जगह जगहपर उल्लेख आए हैं उनसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मविज्ञान परम पुरुषार्थ है; और उपर्युक्त साधनचतुष्टय उस विज्ञानके लिये अधिकारी होनेका प्रमुख साधन है। इसीलिये शंकराचार्य कहते हैं—

"यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।"

4/13

गीतान्तर्गत चातुर्वर्ण्य।

(लेखक- श्री० वासुदेव कृष्ण भावे, बी. ए., पूना।)

भगवद्गीतामें चातुर्वर्ण्यका उल्लेख चौथे अध्यायमें आया है और उसका विस्तृत ऊहापोह १८वें अध्यायमें किया गया है। चौथे अध्यायके १३ वें श्लोकमें श्रीकृष्ण कहते हैं— "गुण और कर्मोंके भेदानुसार मैंने चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया है।" पहिले गुण, और फिर उस गुणके अनुसार कर्म ऐसी वह व्यवस्था है। मनुष्यजातिमें चार प्रकारकी प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई शुचिर्भूततासे और सरलतासे आचरण करके ज्ञान संपादन करना पसंद करते हैं; कोई रणभूमिपर शौर्य प्रगट करके शत्रुको पराभूत करना पसंद करते हैं; कोई व्यापार उद्यम करके द्रव्यार्जन करना पसंद करते हैं, और कोई बनी मजदूरी इत्यादि सेवाके कर्म करके रहना पसंद करते हैं। इन चार प्रकारके कर्म करनेवालोंको क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहते हैं। इसीको गीतामें चातुर्वर्ण्य कहा है। परंतु ये कर्म मनुष्यको अपने जन्मतः प्राप्त गुणोंके अनुसार करना हैं; ऐसा वर्णन गीताके १८ वें अध्यायके श्लोक ४१ से ४४ तकमें है। अर्थात् मनुष्य उत्पन्न होनेपर समझ आनेके बाद जो कर्म पसंद करे उसका स्वीकार करले; और तदनंतर ईश्वरने मेरे लिये यह कर्म नियुक्त किया है ऐसा समझकर उसको आमरण चलाना चाहिये। वह करनेमें मृत्यु भी आवे, तब भी वह आने देना, इतनाही नहीं,

किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्य के लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है। ईश्वरने जो कर्म जिसको प्रकृतिगुणानुसार नियुक्त किया हो, वह उसको निर्लोभ होकर करना चाहिये, इसी में उसका मोक्ष है।

चातुर्वर्ण्य का इतनाही मतलब लेनेसे यह समझनेका कोई कारण नहीं है कि केवल हिंदुधर्मही में यह अलगसे व्यवस्था की गई है। हिंदुधर्म के बाहर जगत् के किसी अन्य समाज की देखने से भी मालूम होगा कि उस समाज के लोग इसी नियम के अनुसार आचरण करते हैं। अमुक मनुष्य समाजका अमुकही काम करे, अमुक काम न करें इस प्रकारका विधिनिषेध किसी भी धर्म में बतलाया नहीं गया। इस कारण से विशिष्ट समाज का मनुष्य शक्य हो तो आनुवंशिक कार्य करता है; और यदि वह साध्य न हो तो दूसरा कोई काम स्वीकृत करता है तथापि ऐसा नहीं है कि जो काम वह करता है वह स्वभावज ही हो। वे कर्म स्वभावज होंगे अथवा न भी होंगे; क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि उस समाज के मनुष्यको इच्छित कर्म करनेका मौका मिलेगाही। वर्तमान युरोपीय समाज की ओर दृष्टिक्षेप करने से इस विधान की सत्यता प्रतीत होगी। वहां पूंजीवाले और मजदूरों के बीच में जो झगडा है वह इसी कारण है। पूंजीवालों ने यंत्रसाहाय्य और द्रव्यके जोरपर ऊंचे दर्जेके बहुधा सबही काम अपने हाथमें रख लिये हैं। इस कारण इंग्लंडसरीखे देशमें सैंकडा ७० वा ८० लोगोंको ऐसे काम करना पडते हैं जिनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं रहती। उदाहरणार्थ कोयलेकी खदान। कोयले की खदान मानो पृथ्वीके पेटमें खोदा हुआ अंधकारमय विवर है। उस विवर में शुद्ध और भरपूर हवा नहीं मिलती; कपडे और वदन काले पड जाते हैं। ऐसी स्थितीमें दिनके आठ आठ घंटे जो लोग व्यतीत करते हैं, क्या उन को यह काम पसंद पडता होगा? उनकि रुचि के अनुसार उन्हें यदि विद्या पढनेकी अनुकूलता होती, वे यदि सुविद्य होते, तो उनका प्रवेश ऐसे कामकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखप्रद कामों में हुए बिना नहीं रहता। सारांश, यह कि इन लोगोंको जो खदानों में घुसे हुए रहना पडता है वह क्या उसी परिस्थिति के कारण नहीं है, जो पूंजीवालोंने और अन्यलोगोंने निर्माण कर रखी है? युरोपीय समाजों में जो यह स्थिति दृगोचर होती है, उसे समाजव्यवस्था कोई न कहेगा। क्यों कि उसमें 'व्यवस्था' ऐसा नाम देनेलायक कोई विशेषत्व नहीं रहता। तब इसको श्रीकृष्णका अभिप्रेत 'चातुर्वर्ण्य' कौन कहेगा?

अब प्रश्न यह आता है कि श्रीकृष्णने गीतामें 'मया सृष्टं' कहा है वह चातुर्वर्ण्य कौनसा? यहां एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि गीताकालमें आर्यधर्म में वर्णव्यवस्था विशिष्ट रूपसे अस्तित्व में थी। पहिलेही अर्जुन को एक जबरदस्त शंका उत्पन्न होती है। कौरवों के साथ युद्ध करने से कौरव और पांडव दोनों कुलों का नाश हुए बिना न रहेगा। कुलके डूबने के साथही सनातन कुलधर्म डूबेंगे, जातिधर्म डूबेगा और वर्णसंकर का संकट उपस्थित होगा। अर्थात् गीताकालमें कुल, जाति और वर्ण बहुत दिनोंसे रूढ हुए थे; यह बात स्पष्ट होती है। जो बात अर्जुन को मालूम थी, वह निःसंदेह श्रीकृष्ण को मालूम होनी चाहिये। यहां ऐसी शंका होसकती है कि श्रीकृष्ण को वह मालूम थी परंतु मान्य न होगी। परंतु अर्जुनने श्रीकृष्ण को जिस वक्त जातिधर्म और कुलधर्म डूबनेका तथा वर्णसंकर होनेका डर बतलाया, उस वक्त उसके निराकरण में इसका इनकार श्रीकृष्ण ने नहीं किया; किंतु अर्जुन को यह कहा कि क्षत्रिय के नातेसे लडाई करना तुम्हारा धर्म है। धर्म से प्राप्त हुए युद्ध के सिवाय क्षत्रियों के लिये कोई दूसरी बात श्रेयस्कर नहीं, ऐसा जतलाकर अर्जुन को युद्ध के लिये प्रवृत्त किया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण यदि परंपरागत धर्म के विरुद्ध होते तो जिस समय उन्होंने देखा कि कौरवों से युद्ध करना अर्जुन पसंद नहीं करता, उस समय यही कहते कि "हे अर्जुन, तुम्हें युद्ध करना पसंद नहीं है तो चलो, अपन दोनों

रणांगण से बाहर चलेजाय।" क्यों कि यदि मनुष्य को सहज ऐसी प्रवृत्तिपर निर्भर रहना है तो श्रीकृष्ण का अर्जुन को युद्ध के लिये आग्रह करना अधर्म्य ठहरता। १८ वें अध्यायके ४७ वें श्लोकमें परधर्म से स्वधर्म किस प्रकार श्रेष्ठ है इसका वर्णन श्रीकृष्ण ने किया है। उनका अर्जुनको आग्रह पूर्वक कहना है कि यद्यपि परकी धर्म आचरण के लिये सुखद हो और स्वतः का धर्म सदोष हो तथापि उसको स्वधर्म छोडना न चाहिये। प्रत्येक वर्ण के पृथक् धर्म उस उस वर्ण के लिये नियुक्त किये न होते तो श्रीकृष्णका यह आश्वासन भी निरर्थक होता कि "जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब धर्मस्थापना के हेतु मैं अवतार लेता हूं।" क्यों कि जहां वर्णके अथवा जातिके विशिष्ट धर्म नहीं वहां धर्मस्थापना कौनसी होगी? ईसाई, मुसलमानी इत्यादि धर्मों में उन उन धर्मसंस्थापकोंने इस प्रकारका आश्वासन अपने अनुयायिओंको नहीं दिया। सारांश यह कि श्रीकृष्णका अभिप्रेत धर्म निःसंदेह वर्णाश्रमधर्म ही है।

इसके उपरान्त यह शंका आवेगी कि यदि श्रीकृष्णको परंपरागत अर्थात् जन्मप्राप्त ऐसा चातुर्वर्ण्य मान्य था, तो स्वभावज कर्मसे उसकी संगति कैसी लगाना चाहिये? कोई मनुष्य किसी विशिष्ट वर्णमें अथवा जातिमें उत्पन्न हुआ है, इससे यह कैसे जानना कि उसकी प्रवृत्ति उस वर्णके जातिके अथवा कुलके विहित कर्मकी ओर होगी ही? इस पर उत्तर ऐसा है कि वर्णव्यवस्था बिलकुल न रहने से उसका रहना ही अधिक कल्याणप्रद है। उससे समाजके कामों का बटवारा होकर विशिष्ट कामके लिये विशिष्ट वर्ण बँधा रहता है। वह काम मुश्किल है, अथवा जोखिम का है अथवा प्राणघातक ह, इस सबबसे वह टालते नहीं बनता। इसी तरह से वह सरल है, अथवा लाभदायक है अथवा सुखकर है इस सबबसे उसका अंगीकार परधर्मीय नहीं कर सकता। इस कारण से स्पर्धा नहीं बढती, कलह नहीं होते और यह अवस्था प्राप्त नहीं होती कि अमुक काम करनेके लिये आदमी नहीं हैं। ब्राह्मण को अपनी गरीबी में ही संतोष रहता है और श्रीमान् वैश्य के संपत्तिका वह अभिलाष नहीं रखता; और एकही वर्ण में विशिष्ट काम परंपरासे चले आते हैं इसलिये उस जातिका नैपुण्य वृद्धिंगत होता है। हिंदु समाज में अन्य किसी भी समाजकी अपेक्षा संतोष और शान्ति अधिक है.इसका श्रेय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को ही देना चाहिये। जातिव्यवस्था चातुर्वर्ण्य की अगली सिढ़ी है। उसके कारण हिंदु समाज को बहुत क्लिष्टता प्राप्त हुई है, तथापि ध्यान रहे कि वह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से अलग नहीं है।

कोई ऐसा प्रश्न करेंगे कि एक विवक्षित मनुष्य विवक्षित जाति में अथवा वर्णमें पैदा हुवा इसलिये उसकी प्रवृत्ति उसी जातिके कर्तव्योंकी ओर किस तरह रहेगी? परंतु यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जो मनुष्य जिस जातिमें अथवा वर्णमें उत्पन्न हुए उनमेंसे बहुतसे लोगोंकी रुचि उस जातिके अथवा वर्णके कर्तव्योंकी ओर स्वभावतः रहती है; इसका अनुभव हमेशा आता है। किसी भी देशमें देखिये परिस्थिति प्रतिकूल न हो तो बापहीका धंदा लडका चलाता हुआ दीख पडता है; और परिस्थितिके कारण वह धंदा चलानेमें लडका यदि असमर्थ हो तो उसे संकट मालूम होता है। इस प्रकार स्वभावज कर्मोंकी वर्णव्यवस्था में विहित कर्मोंकी अच्छी संगति होनेके कारण श्रीकृष्णने उनमें भेद न करके अर्जुनके क्षात्र धर्मका गीतामें समर्थन किया, और कौरवसेनाके साथ लडनेके लिये उसको उद्युक्त किया। इसपर यदि कोई कहे कि इस तरह जन्मसे वर्णका निश्चय करना अन्याय्य है, तो उसका निवारण हो सकता है। एकवार वर्णव्यवस्था निश्चित होनेपर यह कौन, कैसे और कब ठहरावेगा कि विवक्षित वर्णमें पैदा हुवा लडका अथवा लडकी उस वर्णमें रहनेके लायक है या नहीं? क्या उन सबकी परीक्षा लेना चाहिये? यह परीक्षा लेनेके लिये वह व्यक्ति कौनसी उमरमें योग्य समझी जाय? वह परीक्षा लेनेके बाद क्या ब्राह्मण कुलके लडको

को क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कुलोंमें भेजना चाहिये? उनके माबाप उन्हें कैसे भेजेंगे, और उनका स्वीकार अपने कुटुंबमें कौन करेगा? यह बात वैसी सरल नहीं है जैसे शालाओं में लडकोंकी परीक्षा लेकर उन्हें योग्य कक्षाओंमें भेजना है। ऐसी अनंत आपत्तियोंके कारण महाभारतकालमें अर्थात् गीता-कालमें वर्ण अथवा जाति जन्महीसे ठहराना अनिवार्य था। ऐसी अवस्थामें कोई व्यक्ति अपनी जाति में निषिद्ध माने हुए कर्म करने लगे, तो उसको बहिष्कृत करनेका एकही इलाज रहा। सारांश यह कि गीताकालमें भी जाति और वर्ण अस्तित्वमें थे, और ये जन्महीसे माने जाते थे, और श्रीकृष्णके समान तत्ववेत्ताओंको भी ये संमत थें। इस बातका महत्व सदैव ध्यानमें रखना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके योगक्षेमका अर्थ।

(लेखक- श्री० गोविंद नारायण गोळे, सातारा.)

" योगक्षेम " शब्द गीताके ९ वें अध्यायके २२ वें श्लोकमें आया है। वह श्लोक ऐसा है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इसका सरल अर्थ ऐसा है- " एकनिष्ठासे मेरा चिंतन करनेवाले जो लोग मेरी उपासना करते हैं, उन सतत अभियुक्त (ध्यानस्थ) रहनेवालोंका योगक्षेम मैं चलाता हूं " भक्तोंका योगक्षेम परमेश्वर जब निर्वाहित करता है, तब इस श्लोकमें कही हुई चार बातें गृहीत हैं। (१) एकनिष्ठा रहना, (२) चिंतन करना, (३) उपासना करना और (४) ध्यानस्थ रहना। ये चार बातें जिस भक्तमें हों, उसका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है। अन्य भक्तोंका योगक्षेम भी ईश्वरही चलाता है। अन्य लोगों अथवा भक्तोंमें और ऊपरके श्लोकमें जिनका उल्लेख किया है, उन भक्तोंमें विशेष फरक क्या है, ऐसी शंका लेकर आद्य श्रीशंकराचार्यने अपने गीताभाष्यमें उसका विवरण किया है। " सच्चे तत्वज्ञानी और अन्य भक्त इनमें यह विशेष है कि अन्य भक्त स्वतः के लिये स्वयं योगक्षेमकी इच्छा रखते हैं; परंतु अनन्यदर्शी तत्वज्ञानी स्वतः अपने लिये योगक्षेमकी पर्वा नहीं रखते, उन्हें अपने जीवितकी या मरणकी फिकर नहीं रहती। केवल भगवान्की शरण जानेसे भगवान् उनका योगक्षेम चलाता है। " इस तरह आचार्यने स्पष्टीकरण किया है। योगक्षेमका अर्थ उन्होंने ऐसा किया है— "योगः अप्राप्तस्य प्रापणम्, क्षेमः तद्रक्षणं, तदुभयं वहामि प्रापयाम्यहम्। " अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति, और प्राप्त वस्तुका रक्षण ऐसा अर्थ होता है। इससे योगक्षेम शब्दका रूढार्थ संसारका नित्यनिर्वाह ऐसा सांप्रत लोग मानते हैं, और इस श्लोकमें योगक्षेमका ऐसाही अर्थ है, ऐसा माननेकी सबकी प्रवृत्ति हुई है।

" योग " शब्द गीतामें अनेक वार बहुतसे भिन्न अर्थोंमें आया है। " क्षेम " शब्द गीतामें तीन वार आया है। अ० १-४६ में " तन्मे क्षेमतरं भवेत् " यहां अधिक कल्याणकारक इस अर्थमें आया है। अ० २।४५ में और अ० ९।२२ में " योगक्षेम " शब्द आया है। इसके अतिरिक्त गीतामें ' योगक्षेम ' ऐसा संयुक्त शब्द अन्यत्र नहीं आया। अध्याय २.४५ में अर्जुनको ' निर्योगक्षेम ' अर्थात् प्रपंच-

स्वार्थविरहित होनेको कहा है। यहां यह अर्थ संदर्भके अनुकूल है, इसलिये योग्य कह सकते हैं। परंतु अ० ९।२२ के अंतर्गत योगक्षेमका अर्थ क्या अ० २-४५ के अंतर्गत योगक्षेमके अर्थके समान है? अगर अ० २।४५ के योगक्षेमका " प्रपंच स्वार्थ, निर्वाह " ऐसा अर्थ सर्वमान्य होने सरीखा है, तो अ० ९।२२ में वह अर्थ लागू नहीं होता, ऐसा माननेके लिये कोई दूसरा अत्यंत सबल कारण बतलाना चाहिये; और यह बात युक्तिवाद से सुसंगत है।

"योग-क्षेम" इस संयुक्त शब्द का जो अर्थ टीकाकारोंने, भाष्यकारोंने तथा अन्य विद्वानोंने किया है, और जो आज रूढार्थ होना चाहता है, वह योग और क्षेम शब्दोंके पृथक् अर्थ से निराला है। कोष में योग शब्द के लगभग ४० अर्थ दिये हैं, और क्षेम शब्दके अर्थ- सुरक्षितता, कल्याण, हित, सुरक्षित ऐसे संज्ञात्मक और विशेषणात्मक दिये हैं। अर्थात् योग और क्षेम शब्दोंके जो पृथक् अर्थ हैं, वे अर्थ " योगक्षेम " इस संयुक्त शब्द के रूढार्थ से भिन्न हैं। आचार्य ने "अप्राप्तस्य प्रापणम्" और "तद्रक्षणम्" ऐसे जो संस्कृत भाषाके पर्याय शब्द दिये हैं, उनसे क्या इन शब्दोंके (योग-अप्राप्तस्य) प्रपंचसाधन और (क्षेम) उसका संरक्षण ऐसे अर्थ मिलते जुलते हैं? आचार्यने जो अर्थ लिया है वही बहुधा सर्वमान्य हुवा दीख पडता है। अप्राप्त का अर्थ है जो प्राप्त नहीं हुवा, जो मिला नहीं। श्लोकमें कहा है कि जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई उसकी प्राप्ति करा देने और उसका संरक्षण करनेका भार परमेश्वर अपने ऊपर लेता है। परंतु प्रपंचनिर्वाह, उदरभरणसाधन इत्यादि बातों को अप्राप्त कभी न मिलनेवाली समझना क्या सयुक्तिक है ?

नवां अध्याय राजविद्याराजगुह्य ऐसा जो ज्ञान-विज्ञान उसके संबंधमें है। इस अध्याय में श्लोक२२ के पिछले श्लोक १३।१४।१५में भक्तिके अनेक प्रकार बतलाकर श्लोक १६से१९ तक में यह बतलाया है कि मैं सकल विश्व को व्यापकर रहा हूं। श्लोक २०। २१ में कहा है कि यज्ञयाग के द्वारा लोग स्वर्गीय भोग भोगते हैं और क्षीणपुण्य होनेपर फिरसे मृत्युलोक में आते हैं। इसीके आगेके श्लोक २२ में अनन्य भक्तिकी श्रेष्ठता वर्णन की है, और उसके आगेके श्लोकमें यह कथन किया है कि अन्य देवताओंकी भक्ति करनेसे कौनसा फल प्राप्त होता है। कथनका संदर्भ इस प्रकार आया है। अब बीचहीमें योगक्षेम का " संसारकी तात्कालिक गरजें ' ऐसा संकुचित अर्थ करना उन शब्दोंपर यह अर्थ जबरदस्तीसे लादना है। यह बात यदि सत्य है कि अनन्य भक्ति का फल मोक्षके व्यतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, तो यह कहना ईश्वर को लांछन है कि ईश्वर उस अनन्य भक्त को आध सेर आटा और पहननेको वस्त्र देता है, और इतनी बातके लिये हामी भरता है। जो ईश्वर सर्वसंकल्प का दाता है, और भक्त जो बात मनमें लावे उसको पूरी करनेका सामर्थ्य जिस ईश्वर में है, वह सर्वसाक्षी परमेश्वर अपने उत्कृष्ट भक्तसे अनन्य सेवा ग्रहण करके उसके बदले क्षणभंगुर फल देनेके लिये तैयार है,परंतु मोक्षकी बात जन्ममरण से मुक्ति पानेकी बात नहीं बोलता! क्या यह संभवनीय है ?

गीताके योगक्षेम का अर्थ ' प्रापंचिक अडचनों का हटाना " ऐसा संकुचित न लेकर व्यापक (अर्थात् मोक्षार्थ में) अर्थ लेने से वह गीताके प्रस्तुत प्रकरण से और संदर्भ से मिलता जुलता है। ईश्वर भक्तोंका ऐहिक कल्याण करता है, उसी तरह पारमार्थिक कल्याण भी करता है। श्रीधरस्वामीने अपनी टीका में योगक्षेम शब्दका विवरण इस तरह किया है—

योगं धनादिलाभम् क्षेमं च तत्पालनम् मोक्षाख्यं च तैरप्रार्थितमपि अहमेव वहामि ॥

ज्ञानेश्वर महाराजने इस श्लोकपर जो ओवी लिखी हैं उनमें कहा है कि "एकाग्रनिष्ठा से जो मेरा चिंतन करते हैं, उपासना करते हैं, उनकी सुव्यवस्था मैं करता हूं; उनको जो करना चाहिये वह मुझे करना पडता है। उनका प्रतिपालन मुझे करना पडता है। अगर भक्तोंको मोक्षकी रुचि हो अथवा मेरी सेवाही उन्हें रुचती हो, तो मैं उन्हें

मोक्षकी अथवा प्रेमकी देनगी देता हूं।" महाभारत के शान्तिपर्व में जो यह श्लोक है—

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः॥

इसमें योगक्षेम शब्द मोक्षार्थ में आया है। गीतारहस्य में लोकमान्य तिलकने कर्मयोगमार्ग में योगक्षेम का अर्थ "संसार का नित्य निर्वाह" ऐसा दिया है। भक्तिमार्ग में रहनेवाले भक्तोंको पारमार्थिक लाभ अर्थात् मोक्ष मिलता है; और वह सब प्रकरण भक्तिभावयुक्त योगियों का है।

योगक्षेम शब्द का अर्थ संसार का नित्य निर्वाह नहीं है, किंतु पारमार्थिक कल्याण है। श्री० बा० म०जोशीने ऐसाही अर्थ लेकर काठकोपनिषद् का निम्नलिखित श्लोक देकर यह सूचित किया है कि इसका आध्यात्मिक अर्थ लेना योग्य है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते।
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
काठकोपनिषद्

निर्विकार मनसे विचार करनेवाले को श्री० जोशी का यह कहना जँचेगा ऐसा हमें मालूम होता है। अब एक शंका उपस्थित होती है। गीता में योगक्षेम शब्द दो जगह आया है (अ० २।४५ व अ० ९।२२) क्या इन दोनों जगह इस शब्द का अर्थ एकहीसा लिया जाय? (या दोनों जगह ऐहिक कल्याणपर लिया जाय अथवा दोनों जगह अध्यात्मपर अर्थ लिया जाय?) अध्याय २।४५ में आध्यात्मिक अर्थ विसंगत है, वहां 'प्रपंचसाधन' ऐसाही अर्थ युक्त है। परंतु अ० ९।२२ में आध्यात्मिक अर्थ लेनेमें कोई प्रत्यवाय न होना चाहिये; क्योंकि गीतामें "आत्मन्" "योग" इत्यादि शब्द भिन्न भिन्न अर्थों में आए हैं; उसी तरह उपर्युक्त दो जगहों में योगक्षेम के भिन्न अर्थ (१ ऐहिक कल्याण और २ पारमार्थिक कल्याण) लेनेमें कोई बडी आपत्ति मालूम नहीं होती। सिवाय इसके संकुचित अर्थकी अपेक्षा व्यापक उत्तान अर्थ अधिक योग्य है।

योगक्षेम का अर्थ "ऐहिक सुस्थिति" ऐसाही लेकर चलना युक्त कहा जाय, तो परमेश्वरके भक्तों को अकल्पित संकटपरंपरा आती है और यह बात पुराणों से और अर्वाचीन इतिहाससे दृग्गोचर होती है; इससे सर्वेश्वर के वचनको न्यूनता आती हुई दीखती है। परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि दुःख जैसे आते हैं वैसे नष्ट भी होते हैं। आये हुए संकटों को शांततासे सहन करना चाहिये। [अ० ५।२२ व २।१४] इसी तरह कर्मका फल-चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो- भोगना अनिवार्य है, और पुनर्जन्म कर्मफलों का परिपाक है, इत्यादि सिद्धान्त यदि अबाधित और सर्वमान्य हैं, तो श्री० जोशी के कथनानुसार ईश्वरवचन की सत्यता के विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता। अतएव "विचार विलास" में जो शंका उपस्थित की गई है वह अप्रस्तुत है। परंतु उन्होंने योगक्षेम शब्दका जो आध्यात्मिक अर्थ किया है वह अच्छा है, युक्तिपूर्ण और जँचने लायक है। सिवाय इसके भगवद्भक्तोंका 'योगक्षेम' अच्छी तरह चलते जाना कोई महत्त्व का मुख्य फल नहीं है। अनन्यभक्तों की यदि कोई इच्छा रहती है तो वह जन्ममरण से मुक्ति पाने के संबंध में रहती हैं; और यह स्पष्ट है कि उनकी वासना ऐहिक फलप्राप्ति की फिकर में नहीं रहेगी।

न लगे देवा तुझें आम्हांसी वैकुंठ।
सायुज्याचा पट न लगे मज॥ (८९५)
न मिळो खावया न वाढो संतान।
परी हा नारायण कृपा करो॥ + (१९२१)

ऐसा कहनेवाले जो तुकारामसरीखे निःसीम भक्त, जो कि मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते, ऐसे

+ अर्थ- हे ईश्वर, हमें तुम्हारा वैकुंठ नहीं चाहिये, सायुज्यमुक्ति का पट नहीं चाहिये। हमें चाहे खाने को न मिले, संतति न बढे, परंतु हमपर नारायण कृपा करे॥

अनन्य भक्तोंके योगक्षेम की जन्ममरण मुक्तिकी हामी ईश्वर लेताही है।

यह समझने के लिये कोई मार्ग नहीं है कि जिस समय व्यासजीने यह योगक्षेम शब्द गीतामें प्रयुक्त किया, उस वक्त इस संयुक्त शब्दका अर्थ ऐहिक कल्याणपर-जैसा आजकल समझा जाता है, लिया जाता था या नहीं। शंकराचार्यने " अप्राप्तस्य प्रापणं योगः " ऐसा कहा है। अप्राप्त में अनेक वस्तुओंका संग्रह हो सकता है। अप्राप्त का अर्थ अप्राप्य ऐसा लेनेसे उसका पारमार्थिक अर्थ अच्छी तरह जमता ह। इसके एक टीकाकारने योगक्षेम का अर्थ अप्राप्तस्य प्रापणम् ऐसा न करके इस तरह किया है—

अलभ्यस्य लाभो योगः स्यात्।
क्षेमो लब्धस्य पालनम्॥

चरितार्थ का चलना कोई अलभ्य बात नहीं है। जन्ममरणसे मुक्ति अलभ्य वस्तु है। इस अलभ्य वस्तुका लाभही योग है, और ईश्वरी कृपासे जन्ममरण के चक्कर में फिरसे न पडना ही क्षेम है। और दोनों शब्द मिलकर होनेवाला योगक्षेम का यही श्रेष्ठ और प्रशस्त अर्थ संभाव्य मालूम होता है। मांगनेवाला अपनी गरज के अनुसार मांगेगा, और देनेवाला अपनी सामर्थ्य के अनुसार देगा। याचना का तारतम्य और ईश्वरकी दातृत्वशक्ति ये बातें भी विचारकक्षा के बाहर नहीं हैं। योगक्षेम शब्द की व्यवस्था और भी एक दृष्टिसे हो सकती है—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
(गी०२।४६)

इस प्रकार व्यापक अर्थमेंसे संकुचित अर्थ निकलेगा, परंतु संकुचित अर्थमें से व्यापक अर्थ नहीं निकल सकता।

इस श्लोकका अर्थ, भावार्थ अथवा तात्पर्य गीताके जिन तत्सदृश श्लोकोंमें मिलता है, उनको देखनेसे मालूम होगा कि ईश्वर अपने एकनिष्ठ भक्त का पारमार्थिक कल्याण करता है। उदाहरणार्थ १२ वें अध्याय के श्लोक ६ व ७। श्लोकोंकी समानता एकदम ध्यानमें आवे, इस हेतु से तीनों श्लोक नीचे दिये हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥९।२२

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

अ० १२ श्लो० ६-७

अ० ९ श्लो० २२ में जो शब्द हैं, वे सर्व शब्द अ० १२ श्लोक ६ व ७ में आए हैं। फरक इतनाही है कि एक में 'योगक्षेम' शब्द है, दूसरे में उसके बदले " मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता " ऐसे शब्द हैं। इसमें मालूम होता है कि गीता रचना के काल में योगक्षेम का अर्थ आध्यात्मिक होना चाहिये, न कि ऐहिक सुस्थिति। योगक्षेम के श्लोक में जो चार शर्तें चार शब्दों में बतलाई हैं, वेही चार बातें आगे के श्लोक में बतलाई हैं। योगक्षेम के अर्थ भिन्न हो सकते हैं और बदल सकते हैं; " मृत्युसंसारसागरोद्धार " शब्द एकही निश्चित अर्थवाले हैं। गीताभ्यासी तज्ज्ञों को यह निश्चित करना चाहिये कि गीतामें आए हुए योगक्षेम शब्दों का जो अर्थ भाषामें रूढ हो गया है, उसके विषय में संशय उत्पन्न हुआ है, इसलिये उससे भिन्न अर्थ शक्य और युक्त है या नहीं। गीता में जो ४।५ श्लोक जटिल समझे जाते हैं, उन्हीमें से यह एक है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराजका निष्काम कर्मयोग ।

(लेखक—श्री० महादेवशास्त्री दिवेकर, मिरज ।)

तरी जाणां नेणां सकळां । हा कर्मयोग करि
प्रांजळा । जैसी नाव स्त्रियां बाळां । तोयतरणीं ॥
(अ० ५ । १६)

तैसे सारासार पाहिजें । तरि सोहपा हाचि
देखिजे । येणें संन्यास-फळ लाहिजे । अनायासें॥
(अ० ५ । १७)

अर्जुना हा फलत्याग । आवडे कीर असलग ।
परि योगा-माजी योग । धुरेचा हा ॥
(अ० १२ । १३४)
ज्ञानेश्वरी

(भावार्थ—ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि यह कर्मयोग बुद्धिमानों तथा बुद्धिहीनों के लिये सुलभ है, आचरण करनेको कठिन नहीं है । इसके द्वारा संन्यास का फल सहजही मिलता है। यह (फल-त्यागरूपी) कर्मयोग यद्यपि सुलभ मालूम होता है तथापि सब योगोंमें यह योग श्रेष्ठ है।)

कर्मयोगी लोकमान्य तिलक ने जबसे गीताका रहस्य कर्मयोगप्रधान स्थापित किया है, तबसे निः-संदेह इस उदयोन्मुख राष्ट्रके सब समंजस मनुष्यों का लक्ष्य गीताकी ओर आकर्षित हुवा है। अपने समाज के नव विद्वान् पहले गीताको उपेक्षाकी दृष्टि से देखते थे। परंतु गत १० वर्षों में गीताकी ओर उनका दृष्टिकोण बदल गया है। 'गीतारहस्य' प्रसिद्ध होनेपर शांकरसांप्रदायी पक्षने भी अपना पक्ष जनताके सामने रखा है। दोनों पक्षोंमें बहुतसा वादविवाद और चर्चा हुई। परंतु समाज की मनोभूमिका पर दृढ संस्कार कर्मयोगही का हुवा है।

महात्मा गांधीजीने जगद्विख्यात स्वातंत्र्यसंग्राम घोषित करनेके पहले मानों उस युद्धका साधन ऐसा 'अनासक्तियोग' प्रगट किया। गांधीजी सरीखे जगद्वंद्य और विरक्त गीताका सार कर्म-योगपर स्थापित करें, तीसरे अध्यायको गीताकी कुंजी कहें, और यह सिद्धांत रख दें कि गीताशास्त्र अनासक्तियोग का शास्त्र है, यह सब योगायोग अपूर्वही है। जहां लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी जैसी दो विभूतियोंने गीताका सार कर्मयोग-पर प्रस्थापित किया वहां इस उदयोन्मुख राष्ट्र के सब प्रापंचिक, पुरुषार्थी और कर्तृत्ववान् लोग उस सार का ग्रहण करने का प्रयत्न उत्साहपूर्वक करेंगे इसमें संदेह नहीं। यह कहनेमें कोई अति-शयोक्ति न होगी कि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके रूपमें जो उपकार सारे जगत् पर किया है वैसा ही उपकार गीतार्थ को विशद करके इस उदयोमुख राष्ट्रपर इन दो विभूतियोंने किया है।

श्रीमान् शंकराचार्यजी के भाष्यपरसे तज्ञ लोग तर्क करते हैं कि शांकरभाष्य के पूर्व श्रीमद्भगव-द्गीतापर जो टीकाएं हुई हैं, उनमें से अनेक टीकाएं कर्मयोगपर होनी चाहियें। दुर्दैवविलसित यह है कि उनमेंसे एकभी टीका आज दिन उपलब्ध नहीं है। परंतु ऐसा नहीं है कि शांकर भाष्यके पहले और पीछे कर्मयोगपर गीतार्थ प्रतिपादक ग्रंथ हुवा ही नहीं। यद्यपि गीतापर कर्मयोगप्रधान मुख्य ग्रंथ गीतारहस्य हो है; तथापि आचार्यभाष्य और गीतारहस्यके दरम्यान ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञाने-

श्वरीमें इस कर्मयोगका प्रतिपादन किया है। और यही बात इस लेखके द्वारा वाचकोंको बतलाना है।

पंडित सातवळेकर महोदयने गीतापर लेख लिखनेकी आज्ञा की। प्रस्तुत लेखकको इतना अधिकार न होते हुए पंडित महोदयने ऐसा क्यों लिखा यह एक गूढ ही था। हमने वैकुंठवासी विष्णु बुवा जोग महाराजके निकट ज्ञानेश्वरीका अध्ययन (शालि. शक १९३२ से १९३४ तक) किया, महाराजकी शिक्षामें ज्ञानेश्वरके निष्काम कर्मपरही जोर रहता था। उनके अनेक निरूपण कर्म-योगप्रधान हुए हैं। पंडित सातवळेकर जीका पत्र आते ही मनमें ज्ञानेश्वरका कर्मयोग विषय आया। लो० मा० तिलक और महात्मा गांधीके सिद्धान्त उन सुशिक्षित लोगोंको मान्य होंगे जो किसी भी सांप्रदायके कायल नहीं हैं। परंतु वारकरी सांप्रदाय ऐसा बृहत् और कट्टर है कि वह सिवाय ज्ञानेश्वरी माताके सिद्धान्तके किसीका न सुनेगा। महाराष्ट्रके बहुजनसमाज पर इसी सांप्रदायका बहुत भारी प्रभाव है। इस समाजको यदि मालूम हो जाय कि अपनी माता (ज्ञानेश्वरी) हमें कर्मयोगरूपी दूध पीनेको देती है, तब बहुत भारी कार्य सिद्ध होगा। श्री ज्ञानेश्वर महाराजने उपसंहारमें विनयपूर्वक ऐसे वाक्य कहे हैं-

तैसा व्यासाचा मागोवा घेत। भाष्यकारातें वाट पुसत॥ अयोग्यही मी न पवत। कें जाईन॥

अ० १८।१७२३

वाचूनि पढेना वाची। ना सेवाही जाणों स्वामीची। ऐसिया मज ग्रंथाची। योग्यता कें असे॥

अ० १८।१७६५

[अर्थ- ऐसा मैं व्यासजीके पदचिन्होंके अनुरोधसे, भाष्यकारोंसे रास्ता पूछता हुवा जाता हूं, तब यद्यपि मैं अयोग्य हूं तथापि जहां व्यासजी गए हैं उस स्थानको छोडकर अन्यत्र कहां जाऊंगा? मेरा पठन नहीं, वाचन नहीं, मैंने गुरुसेवाभी नहीं की; एवंगुणविशिष्ट मुझे ग्रंथरचनाकी योग्यता कहांसे आवगी?]

इसका यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञानेश्वरने गीताका केवल भाष्यानुसारी ओवी छंदमें भाषांतर किया है। ज्ञानेश्वरको भगवानका भावार्थ महाराष्ट्रके लिये विशद करना था। वह उन्होंने अनेक स्थानोंमें आचार्यभाष्यसे भिन्न, अधिक सरल, स्पष्ट और उठावदार रीतिसे किया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेश्वरी एक स्वतंत्र, प्रासादिक प्रतिभायुक्त और अभिजात ऐसा गीतापर महाराष्ट्रसाहित्यसंपन्न ग्रंथ है!!!

श्री ज्ञानेश्वर महाराजने भगवान्का भावार्थ बतलाते हुए ज्ञानेश्वरीमें कर्मयोगके विषयमें जिन स्थानोंपर विचार प्रगट किये हैं, उनकी संगति पद्धतियुक्त करके रखनेका यहां हम प्रयत्न करने वाले हैं। इसमें जो हिस्सा अच्छा उतरेगा वह ज्ञानेश्वर महाराजका और जो हिस्सा त्याज्य मालूम होगा वह इस लेखकका है, ऐसा निश्चित रूपसे जानना चाहिये।

गीतामहती।

ज्ञानेश्वर महाराजके मतसे गीताका महत्व अतिशय श्रेष्ठ है। गीता वेदका मूल है। क्यों कि वेद ईश्वरके निःश्वास से उत्पन्न हुए हैं, परंतु गीता प्रत्यक्ष भगवान्ने कही है। इसलिये गीता ईश्वरकी वाङ्मयी मूर्ति है अर्थात् वह भगवान् का वाङ्मय स्मारक है।

तरी जयाच्या निश्वासीं। जन्म झाले वेदराशी। तो सत्यप्रतिज्ञ ऐजेसी। बोलला स्वमुखें॥

अ० १८ ओवी १४२८

म्हणोनि वेदां मूळभूत। गीता म्हणों हें होय उचित॥ गीता जाणा हे वाङ्मयी श्रीमूर्ति प्रभूची॥

१८।१६८५

(इसका भावार्थ ऊपर आगया है।)

वेदोंकी अपेक्षा गीता का महत्त्व विशेष है; क्यों कि वेदाधिकार सब मनुष्यों को नहीं है, गीताधिकार मनुष्यमात्र को है।

वेद संपन्न होय ठायीं। परि कृपण ऐसा आन नाहीं।
जें कानीं लागला तिहीं। वर्णाच्याची ॥ १४५७
येरां भवव्यथा ठेलिया। स्त्रीशूद्रादिकां प्राणिया।
अनवसर मांडुनियां। राहिला आहे ॥ १४५८
तरी मज पाहतां तें उणें। फेडावया गीतापणें।
वेद वेठला भलतेणें। सेव्य होआवया॥ १४५९ अ.१८

भावार्थ- वेद संपन्न जरूर है, परंतु उसके समान कृपण दूसरा कोई नहीं; क्योंकि उसने अपना हृद्गत केवल त्रैवर्णिकों के कानमें कहा है; इनके अतिरिक्त जो स्त्रीशूद्रादिक भवव्यथासे पीडित हैं उनका प्रवेश वहां हो नहीं सकता। परंतु यह न्यूनता दूर करनेके लिये मनुष्य मात्रको सेव्य हो इस प्रकारसे गीताके रूपमें यह वेदही प्रगट हुआ ऐसा प्रतीत होता है। तात्पर्य, गीताका महत्व इस प्रकार है अर्थात् गीताका अनुवाद करनेका कामभी महत्त्वपूर्ण और कठीन है।

तथा गीतार्थाची थोरी। स्वयें शंभु विवरी।
जेथ भवानी प्रश्न करी। चमत्कारोनी ॥ ७० ॥
तेथ हर म्हणे नेणिजे। देवी जैसें कां स्वरूप तुझें।
तैसें हें नित्य नूतन देखिजे। गीतातत्त्व ॥ ७१
ऐसें हें अगाध। जेथ वेडावती वेद ॥ ७३ ॥ अ. १

भावार्थ— गीतार्थका महत्व इतना अधिक है कि स्वयं शंकरजी उसका विवरण करते थे उस समय पार्वतीजीने आश्चर्यचकित होकर उन्हें बहुतसे प्रश्न किये तब शंकरजीने कहा "हे देवि! जिस प्रकार नित्यनाविन्य के कारण तुम्हारे इस माया स्वरूपका ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार गीतातत्व नित्यनूतन होनेके कारण उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता"। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि अनेक कल्पतक सत्य बोलनेकी तपश्चर्या करनेसे गीताका भाव मैं कह सकाः-

माझिया सत्यवादाचें तप। वाचा केलें बहुत कल्प ॥ १६ ॥ तया फळाचें हें महादीप। पातली प्रभु ॥ ३२ ॥

गीतामें क्या कहा है?

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि यद्यपि गीताके १८ अध्याय और ७०० श्लोक हैं, तथापि उसमें एक तत्व अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' कहा गया है। वसंत ऋतुमें होनेवाले गोलाकृति बडे बडे मोगरेके फूल चाहे एकत्र ग्रथित किये जाँय अथवा अलग अलग रहने दें, उनके सुगंधमें जैसे कोई फरक नहीं होता, वैसीही स्थिति गीताके प्रत्येक श्लोककी, अथवा श्लोकचरणकी अथवा अध्यायकी है।

सात शतें एक। अध्यायां अठरांचे लेख। परि देव बोलिले एक। जें दुजें नाहीं ॥
अ. १८। ५८ ॥

अन्य शास्त्रों द्वारा चित्तशुद्धि होती है, अविद्याका मल झड जाता है; परंतु यह गीता शास्त्र प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कारका अंतरंगसाधन है। इस गीताहीके कारण अध्यात्मशास्त्रको यथार्थता प्राप्त हुई है। इस शास्त्रेश्वर गीताके कारण सकल शास्त्र सनाथ हुए हैं। क्योंकि-

हें असो येणें शास्त्रेश्वरें। मागा उपाय बहुवें विसारें। सांगितला जैसा करें। घेवो ये आत्मा ॥
अ० १८।१२३६

भावार्थ- इस शास्त्रेश्वरने ऐसे सुलभ उपाय बतलाए हैं कि जिनसे आत्मा हस्तगत हो सकेगा।

मोक्षका स्वरूप, जो दुखकी अत्यंत निवृत्ति और परमानंदकी प्राप्ति, वही यहां बतलाया गया है। ये दोनों अंश साध्य करनेका साधन ज्ञानही है।

एथ अविद्या नाश हे स्थळ। तेणें मोक्षापादन हें फळ। या दोन्ही केवळ। साधन ज्ञान ॥
॥१२५३॥

यह ज्ञान भगवानने गीताके १५ वें अध्यायमें बतलाया और अर्जुनको कृतकृत्य किया है।

करुनि संसार वावो। स्वरूपीं अहंतेचा ठावो।
हो आथवा अध्यायो। पंधरावा हा ॥ ४३ ॥

अर्थ- संसारका वैयर्थ्य प्रस्थापित करके स्वरूप में अहंता स्थिर करनेको प्रवृत्त करनेवाला यह १५ वां अध्याय है।

यह ज्ञान बतलानेपर कहनेके लिये कुछ बाकी नहीं रहता ऐसा १६वें अध्यायके उपक्रममें भगवान् कहते हैं।

पाठीं उत्तम पुरुष। शब्दाचें करूनि मिष।
दाविलें चोख। आत्मतत्व॥ अ० १६।४४॥
आत्मविषयीं आंतुवट। साधन जें आंगवट।
ज्ञान हेंहि स्पष्ट। चावळला॥ ४५॥
म्हणोनि इये अध्यायीं। निरुप्य नुरेचि कांहीं॥
४६॥

अर्थ- इसके पश्चात् शब्द जो आत्मतत्व उसको उत्तम पुरुष शब्दसे स्पष्ट किया और आत्मप्राप्तिका अंतरंग और प्रमुख साधन जो ज्ञान वह भी बतलाया; इसलिये इस अध्यायमें निरूपण करने योग्य अब कुछ बाकी न रहा।

१५ वें अध्यायके अंतिम श्लोकमें बतलाया है कि ज्ञानसे मनुष्य कैसा कृतार्थ होता है।

भरूनि प्रपंचाचा घोट। कीजे देखत देखत
या हष्ट। आनंद साम्राज्यीं पाटु।
बांधे जीवां॥ (अ० १९।५०)
येवढें या लाठेपणाचा उपावो। आनु नाहीं
म्हणे देवो। हा सम्यक ज्ञानाचा रावो।
उपायामाजी॥ ॥५१॥

अर्थ- देखते देखते इस नामरूपात्मक प्रपंचका घूंट निगलकर आनंदरूपी राज्यका पट्टाभिषेक जीव को होता है; इसलिये ज्ञान समस्त उपायोंका राजा है और संसाररोगका शमन करनेवाला इसके समान दूसरा बलवत्तर उपाय नहीं है।

इस प्रकार गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें ज्ञानेश्वर महाराजनें लिखा है।

गीताध्याय संगति।

गीताके अध्यायोंकी परस्पर संगति कैसी है, यह भी गीताके अभ्यासका एक बडा विषय है। बहुतसे टीकाकारोंने कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन कांडोंमें गीताके छः छः अध्याय बांट दिये हैं। बहुत से विद्वानोंका ऐसा मत मालूम होता है कि ज्ञानेश्वर महाराजनें भी इस कांडत्रयीके लिये अध्यायोंका बटवारा उसी तरह किया होगा। दृष्टिस्खलन दोषसे लो. मा. तिलकने भी इसी तरहका विधान रहस्यमें किया है-

" गीताके विषयमें मराठीमें उत्तम ग्रंथ ज्ञानेश्वरी है। इसमें गीताके १८ अध्यायोंमेसे पहिले छः में कर्म, दूसरे षट्कमें भक्ति और तीसरी षडाध्यायीमें ज्ञान प्रतिपाद्य बतलाकर हमनें टीका रची ऐसा कहा है। तथापि गीताका अर्थ अनेक सरस दृष्टान्तोंसे विशद करके बतलानेकी ज्ञानेश्वर महाराजकी शैली अलौकिक है और श्रीशंकराचार्यकी अपेक्षा विशेषतः भक्तिमार्गका और कुछ अंशमें निष्काम कर्मका भी समर्थन उन्होंनें किया है इस लिये गीताविषयपर ज्ञानेश्वरीको एक स्वतंत्र ग्रंथ ही मानना चाहिये।"

(गीतारहस्य पृ० १९, प्रथमावृत्ति)

लोकमान्यने जो कहा है, कि ज्ञानेश्वरीमें अंशतः निष्काम कर्मका समर्थन किया है, वह ठीक है। परंतु अध्यायोंका विभाजन जैसा वे समझते हैं वैसा ज्ञानेश्वरीमें नहीं किया गया। अध्याय १८ के उपसंहारमें वे कहते हैं-

पहिला अध्याय शास्त्र प्रवृत्ति प्रस्तावके लिये है; दूसरेमें सांख्य सद्भाव बतलाया है। सद्भावसे कर्म करना चाहिये ऐसा निर्णय तृतीय अध्यायमें दिया दिया है। चतुर्थाध्यायमें बतलाया है कि कर्म ब्रह्मार्पण कैसे करना। ज्ञानेश्वरके मतसे चौथे अध्यायसे प्रारंभ करके बारहवे अध्यायसे " अद्वेष्टा सर्व भूतानां " इस भक्तलक्षणपर श्लोकतक उपासनाकांडही वर्णित किया गया है।

तें विश्वरूप अकरावा। अध्याय संपे जंव
आघवा। तंव कर्में ईश भजावा।
हे जें बोलिलें॥

अ० १८।०।४ श्लो० १४४४

तो बारावा अध्याय आदी। आणि पंधरावा
अवधी। ज्ञानफळपाकसिद्धि। निरूपणासि।
१४४९

भावार्थ- चौथे अध्यायसे लेकर ग्यारहवे अध्यायकी समाप्तितक यह बतलाया है कि कर्म करके उनको ईश्वरार्पण करके ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। अध्याय १२ से १५ तक ज्ञानकांडका प्रतिपादन किया है।

पंद्रह अध्यायोंकी इस प्रकार संगति बतलाकर

आगेके तीन अध्यायोंका विचार इस तरह किया है—

तयाचेंचि साधन ज्ञानेसी । वैर करी जो प्रतिदिवशीं । तो अज्ञान वर्ग षोडशीं । प्रतिपादिजे ॥ १४५२

तोचि शास्त्राचा बोळावा । घेवोनि वैरी जिपावा । हा निरोप तो सतरावा । अध्याय येथ । १४५३

तया अर्थ जातां अशेषा । केला तात्पर्याचा आवांका । तो हा अठरावा देखा । कलशाध्याय ॥ १४५५

अर्थ— ज्ञानसाधनोंसे हमेशा वैरभाव रखनेवाला जो अज्ञान वर्ग वह १६ वें अध्यायमें बतलाया गया । १७ वें अध्यायमें यह संदेश कहा गया कि इस शत्रुको शास्त्रका सहाय्य लेकर जीतना चाहिये । अंतमें सब अध्यायोंका उपसंहार और सबका तात्पर्य जिस १८ वें अध्यायमें दिया है वह अध्याय गीतारूपी प्रासादका शिखर है ।

ज्ञानेश्वर महाराजकी यह अध्यायसंगति स्वतंत्र और पूर्वपरंपरित रूढिसे भिन्न है । सारांश, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अभीतक सर्वसंमत ऐसी गीताध्याय-संगति कहीं जम गई है । लो. मा. तिलक कर्मयोगके आचार्य हैं और वेदशास्त्रसंपन्न श्री सदाशिवशास्त्री भिडे भी कर्मयोग के पुरस्कर्ता हैं । तथापि इन दोनोंमें एकवाक्यता नहीं है । वे. शा. सं. भिडे शास्त्रीजी की अध्यायसंगति मार्मिक है, तथापि अतिसंक्षेपके कारण वह दुर्बोध है । महात्मा गांधीकी अध्यायसंगति निराली ही है । सारांश, इस विषयमें एकवाक्यता होना कठिन है ।

ज्ञानेश्वर महाराज के मतसे गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है, यह उन्हींके शब्दोंमें स्पष्ट किया गया है । परंतु इसके अतिरिक्त और—

एक विधानका स्पष्टीकरण

अवश्य करना चाहिये । रहस्यकार कहते हैं कि " ज्ञानेश्वर महाराज स्वतः योगी थे इसलिये गीता के छठवें अध्याय में पतंजल योगाभ्यासका विषय जिस श्लोक में आया है उसपर उनकी विस्तृत टीका है और अखीर में (गी० अ० ६।४६) ... उनका यह कहना है कि मोक्षपंथ में भगवान्ने पातंजल योगकोही 'पंथराज' अर्थात् सर्वोत्तम पंथ ठहराया है । "

(गीतारहस्य पृ० १८)

यह सच है कि ज्ञानेश्वर महाराज हठयोगपंथ के थे । १८ वें अध्यायके अंतमें उन्होंने अपनी नाथपरंपरा देकर कहा है कि " गीतार्थ कहनेकी मुझे आज्ञा हुई है । वहां ऐसा नहीं कहा की पतंजलयोग का इस कलिकाल में तुम पुरस्कार करो । " रहस्य में जो " पंथराजु " शब्दप्रयोग बतलाया गया है वह अध्याय ६ श्लोक ४६ की टीकामें नहीं किंतु अ० ६ श्लोक १० की टीकामें आया है। पूर्वापर संबंध से स्पष्ट दिखता है कि जैसे कोई वक्ता अपने विषय का महत्त्व बतलाता हुवा प्रस्तावना करता है वैसी यह प्रस्तावना है

ऐसे विवरोनिया श्रीहरी । म्हणितलें तिये अवसरी । अर्जुना हा अवधारीं । पंथराजु ॥

अ०६ श्लो०१५२॥

(अर्थ- इस प्रकार विवरण करके उस प्रसंगपर भगवान् ने कहा " हे अर्जुन, यह पंथराज हम तुम्हें बतलाते हैं, सुनो । ") ऐसा यह प्रस्ताव है । इससे ज्ञानेश्वर के मतसे और आगेकी २००।३०० आवियों में यही विषय बतलाया गया है परंतु यह बात नहीं कि गीताका वही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । यहां हठयोगको " पंथराज् " कहा है, परंतु आगे चलकर बारहवें अध्याय में कहा है कि कर्मफलत्यागरूपी योगही श्रेष्ठ है ।

अर्जुना हा फलत्याग । आवडे कीर असलग । परी योगामाजी योग । धुरेचा हा ॥

(अध्याय १२ ओवी १३४)

अर्थ- यद्यपि यह फलत्यागयोग सहज मालूम होता है तथापि समस्त योगोंमें यह धुरीण अर्थात् अग्रगण्य है । अस्तु ।

जब कोई प्रतिभासंपन्न ग्रंथकार दूसरेकिसी ग्रंथका टीकाकार होता है तब वह टीकाकार अपना स्वतंत्र मत भी कह सकता है । विशेषतः प्राचीन परंपरा

के अपने बहुतसे विद्वानोंने वेदान्त और धर्मशास्त्र विषयपर जो बडे बडे ग्रंथ लिखे वे सब टीकारूप ही हैं। तथापि उन टीकाओंमें भी उन्होंने मूल ग्रंथ कर्तासे भिन्न अपना मत स्पष्टतया रख दिया है। ज्ञानेश्वर महाराजने भी गीताका भावार्थ कहते हुए अनेक स्थानोंपर आचार्य भाष्यसे भिन्न अर्थ बतलाया है।

रहस्यकारने बतलाया है कि शांकरभाष्य में अर्थकी खींचातानी कई स्थानोंमें की गई है। त्यागी योगी, त्रिगुणातीत, स्थितप्रज्ञ ऐसे अनेक शब्दोंके अर्थ शांकरभाष्यमें " संन्यासी " की दृष्टिसे लगाये गए हैं। कई श्लोकोंके अर्थ भी वादग्रस्त हैं। "जनकादिकोंने कर्महीसे सिद्धि प्राप्त की " के इसके दो अर्थ आचार्यने किये हैं। परंतु गीतामें जहां जहां कर्म, कर्मयोग, निष्कामकर्म-यह विषय आया है वहां ज्ञानेश्वरने अर्थकी खींचातानी नहीं की, उसका संन्यासपर अर्थ नहीं किया, किंतु कर्मयोगपोषक भावार्थ बतलाया है।

महात्मा गांधी तीसरे अध्याय को गीताकी कुंजी कहते हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं " तिजी केवळ कर्म प्रतिष्ठिलें " (तीसरे अध्याय में केवल कर्मकी प्रतिष्ठा बतलाई है।) तीसरे अध्याय का उपक्रमही उन्होंने ऐसा किया है कि वह देखकर आनंद होता है।

अर्जुन कहते हैं-"हे भगवन्! ऐसे संदिग्ध भाषण से मेरी बुद्धि को मोहमें मत डालिये। हम कुछ नहीं समझते, इसलिये हे भगवन्! हम तुम्हारे पास आकर तुमसे पूछते हैं। परंतु तुम हमें धोखा दोगे तो हम कहां जावें ? आंखवाला आदमी यदि अंधे को भलती राह बतलावे अथवा औषध देनेवाला धन्वंतरी यदि औषधिमें प्राणहारक विष डाल दे तो कामही खतम होगया। हे भगवन् ! ऐसा मत करो, रोगको हटानेवाला, स्वादमें मधुर और कम खर्चवाला औषध मुझे दो, जिसमें मेरा भला होगा। "

देखें रोगातें जिणावें। औषध तरी देयावें।
परि तें अतिरूच्य व्हावें। मधुर जैसें॥ अ. ३।१९
तैसें सकळार्थभरित। तत्त्व सांगावें उचित।
परि बोधे माझें चित्त। जयापरी॥ अ. ३।२०

इस प्रकार सकल अर्थ से पूर्ण और उचित ऐसा तत्त्व कहकर मेरे चित्तको बोध करो। ऐसी प्रार्थना अर्जुन ने की और भगवान् ने उसको कर्मयोग बतलाया। और तीसरे चौथे अध्यायोंमें कर्मयोग और कर्मब्रह्मार्पणयोग बतलानेपर पांचवें अध्यायके प्रारंभ में अर्जुन को फिरसे शंका आई। अर्जुन कहते हैं, "हे भगवन्,आप कर्मका संन्यास और कर्म दोनोंका समर्थन करते हैं; परंतु इस द्व्यर्थी भाषण से मेरा चित्त भ्रमण करने लगता है, इसलिये ध्वनित अथवा अस्पष्ट भाषण न करके इन दोनों मेंसे जो श्रेयस्कर मार्ग हो और जो सुलभ हो वह मुझे बतलाइये। "

जैसें निद्रेचें सुख न मोडे। आणि मार्ग तरी बहुसाल सांडे। तैसें सुखासना सांगडें। सोहयें होय ॥ ५॥ ऐसें अर्जुनाचेनि बोलें। देवो मनीं रिझले। मग होईल ऐकें म्हणितलें। संतोषोनियां ॥ ९॥ अ० ५

भावार्थ— निद्राका भंग न हो और बहुतसा मार्ग आक्रमण किया जाय ऐसा सहज और सुखकर वाहन मुझे बतलाइये।

अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर भगवान्को आनंद हुवा और उन्होंने अपना स्पष्ट मत अर्जुनको बतलाया। यह ज्ञानेश्वरीका उतारा इस लेखके शीर्षक में दिया है।

संन्यास और कर्मयोग दोनो मोक्षकर हैं। परंतु इन दोनोंमें संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग सरल है, बुद्धिमान् तथा अबुद्धोंको भवसमुद्र पार करनेके लिये सुलभ है। छोटे बालक और स्त्रियोंको पानी मेंसे पार जानेके लिये सुलभ साधन जैसी नौका, वैसेही यह कर्मयोग भवसिंधु पार करनेके लिये सुलभ साधन है। अस्तु।

कर्म छूटता नहीं।

ज्ञानेश्वर महाराजके मतसे इस जगतमें जन्म लेनेवाले मनुष्यको कर्मत्याग करना बिलकुल असंभाव्य है। क्योंकि यह जगत्, यह त्रिलोक और यह शरीर मायने ही कर्म है।

जे त्रिविध जग आघवें। कर्मफळ हें॥ २३८

देव मनुष्य स्थावर। यया नांव जगडंबर।
आणि हे तंव तीन्ही प्रकार। कर्म फळाचे॥२३९अ.१८

अर्थ- जो सर्व त्रिविध जगत् है, यह यह कर्मफल है। देव, मनुष्य स्थावर इनको जगडंबर कहना चाहिये; ये तीनों प्रकार कर्मफलके हैं।

कोई मनुष्य अगर ऐसा समझता हो कि अपनी इच्छाके अनुसार कर्म उत्पन्न होता है और अपने छोडनेसे वह छूट जाता है, तो यह उसका भ्रम है। क्योंकि पराधीनतासे और प्रकृतिगुणसे कर्म हमेश उत्पन्न होता ही जाता है। रेलगाडीमें बैठा हुआ मनुष्य यद्यपि स्वयं निश्चल है, तथापि परतंत्रतावश जहां रेलगाडी जायगी वहां वहां वह जाता है, झाडसे गिरा हुवा पत्ता जहां हवा लेजाय वहां जाता है; इसी तरह जबतक प्रकृतिसंग अर्थात् देहसंग है तबतक कर्मत्यागकी बातें केवल गप्पाष्टक हैं। जबतक प्रकृतिका अधिष्ठान अर्थात् आश्रय है, तबतक कर्मत्याग और कर्मका ग्रहण यह भाषाही अज्ञानमूलक है। इससे यदि कोई मनुष्य मान लेवे कि मैंने विहित कर्म छोडा, तो उसे ज्ञानेश्वर महाराज पूछते हैं "क्या इससे तुम्हारे इंद्रियोंकी और देहकी शक्ति नष्ट होगई?"

देखें विहित कर्म जेतुलें। तें सगळें जरी ताअविलें। तरी स्वभाव काय निमाले। इंद्रियांचे॥५४
सांगे श्रवणीं ऐकावें ठेलें। कीं नेत्रींचें तेज गेलें॥
हें नासारंध्र बुझाले। परिमळ नेघे॥ ५५
नातरी प्राणापानगति। कीं निर्विकल्प झाली मति।
कीं क्षुधातृषादि आर्ति। खुंटलिया ५६
हे स्वप्नावबोध ठेले। कीं चरण चालों विसरले।
हें असो काय निमाले। जन्म मृत्यू ५७
हें न ठकेची जरी कांहीं। तरी सांडिलें तें कांहीं।
म्हणोनि कर्मत्याग नाहीं। प्रकृतिमंता॥ ५८ अ. ३

अर्थ— [अजी सर्वकर्मत्यागी महाशय!] सब विहित कर्म छोड दिया, परंतु क्या इंद्रियोंके स्वभाव नष्ट हो गए? क्या आपने कानसें सुनना छोड दिया? आंखोंका तेज क्या नष्ट होगया? क्या नाकके रंध्र बंद होकर उन्होंने सूंघना छोड दिया? क्या आपकी क्षुधा तृषा नष्ट होगई? क्या आपने स्वप्न और सुषुप्तिका भी त्याग कर दिया? आपके पैर चलना भूल गए? क्या आपकी श्वासोच्छ्वासकी क्रिया बंद होगई अथवा बुद्धि निर्विकल्प होगई? क्या आपके संबंधमें जन्म और मृत्युने अपने व्यापार छोड दिये? इनमेंसे अगर कोई वस्तु नहीं छूटी, तो आपने कर्म त्याग करनेसे क्या छोडा? तात्पर्य यह कि प्रकृतिमंतोंका कर्मत्याग अशक्य है।

"देहधारी मनुष्यके लिये कर्मत्याग बिलकुल असंभाव्य है" यह सिद्धान्त इससेभी तेजस्वी भाषामें अध्याय १८ में कहा है—

मृत्तिकेचा वीट। घेऊनि काय करील घट।
कडते तंतुपट। सांडील ते॥ २१९
ते वोंचि वन्हित्व आंगीं। आणि उबें उबळणें आगी। कीं तो दीप प्रभेलागीं। द्वेष करील काई॥ २२०
हिंग वासला घाणी। कैचें सुगंधत्व आणी।
द्रव सांडूनि पाणी। कें राहे तें॥ २२१॥
तैसा शरीराचेनि आभासें। नांदत जंव असे।
तंव कर्मत्यागाचें पिसें। काइसें तरी॥ २२२
आपणा लाविले टिळा। म्हणोनि पुसों ये अवलीला। मा घाली फेडी निडळा। कां करूं ये गा॥ २२३
तैसें विहित स्वयें आदरिलें। म्हणोनि त्यजूं ये त्यजिलें। परि कर्मचि देह आतलें। ते कां सांडील गा॥ २२४॥
जे श्वासोच्छ्वास वरी। होत निजे लियाहिवरी।
कांहीं न करणेंचि परी। होती जयाची॥ २२५
या शरीराचेनि मिसकें। कर्मचि लागले आसकें।
जिता मेलया न ठाके। इया रिती॥ २२६

अर्थ- मिट्टीकी घृणा करके घडा कहां जायगा? वस्त्र अपने तंतू कैसे छोड सकता है? क्या अग्नि अपनी उष्णता छोड सकती है? क्या दीप अपनी प्रभाका द्वेष कर सकता है? हींग अपने दर्पयुक्त गंधसे तंग आगया तथापि वह सुगंध कहांसे लावेगा? पानी अपनी द्रवता छोडकर कैसे रह सकता है? इसी तरह जबतक मनुष्य शरीरके आभाससे रहता

है तबतक कर्मत्याग केवल मूर्खता है। हमने चंदनका तिलक टेढा लगाया तो वह पोंछ सकते हैं परंतु अपना ललाट टेढा हो तो वह सीधा कैसे कर सकेंगे? अधिकसे अधिक जिस विहित कर्मका हमने आदर किया हो उसका त्याग हो सकेगा। परंतु जब देह स्वयं मूर्तिमंत कर्मसे विचरता है, तब उसका त्याग अर्थात् कर्मका त्याग करना क्या संभवनीय है? क्योंकि मनुष्य सोता है तब भी श्वासोच्छ्वास रूपसे कर्म होता ही है और यद्यपि वह कहे कि मैं कुछ नहीं करता, तथापि जिस कर्मकी उत्पत्ति होती है वह कर्म इस शरीरके मिषसे अपने पीछे लगा है। अर्थात् जीवितावस्थामें और मरनेपरभी इस दृष्टिसे कर्म छूटता नहीं।

इसलिये-

परिस पाळ्यसाची। मूर्ति लाहोनि या देहाची।
जे कंती करती कर्माची। ते गांवढे गा॥
अ० १८ ओवी २१८

अर्थ-- देहके सदृश मूर्ति मिलनेपर जो कर्म करनेसे हटते हैं, वे गंवार हैं।

इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजका मत स्पष्ट रीतिसे दो जगह आया है।

(इसी तरह पर ओवी अ० ३।१४५ में है।)

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि कर्म छुटता नहीं इसलिये उसे न टालकर और मलता कोई व्यर्थ कर्म न करके स्वभावधर्मके अनुसार स्वकर्म करना यही स्वधर्म है।

यालागीं कर्म आपुलें। जें जातिस्वभावें असे
आलें। तें करी तेणें जिंतिलें। कर्मबंधातें॥
(अ १८। ९३३)

स्वभावें भागा आलें। वरी शास्त्रें खरें केलें।
तें विहित जो आपुलें। आचरेगा॥ अ० १८।८९३
परि आळस सांडुनि। फलकाम दवडुनि।
आंगें जावें मोडुनि। तेथेंचि भरू॥ ८९४

भावार्थ- इसलिये अपने जातिस्वभाव इत्यादि दृष्टिसे जो कर्म प्राप्त हो वह जिसने किया उसका कर्मबंध टूट जाता है। स्वभावके अनुसार जो कर्म योग्य समझा जाय उसकीभी शास्त्रसे कसौटी करके अपना कर्तव्य निश्चित करना और फिर आलस्य छोडकर, फलकामना दूर करके अपनी शक्ति भर उसी कर्तव्यपर भर (जोर) देना चाहिये।

ऐसा नहीं है कि मनुष्य सब कुछ जानता हो। जो बात हम नहीं समझते उसमें इस जगत् में तज्ज्ञोंकी सहायता ली जाती है। इसी तरह अपने आयुष्य का ध्येय, कर्म और कर्तव्य निश्चित करनेमें शास्त्रोंकी मदद लेनी चाहिये और अपने जेठेबडों का अनुभव ध्यानमें लाना चाहिये, इससे पश्चात्ताप का मौका न आवेगा।

स्वभावविहित जो कर्म वही स्वधर्म है। इस स्वधर्मका योग्य आचरण प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। स्वधर्मही नित्य यज्ञ है। ब्रह्मदेवने सृष्टि के प्रारंभही में कहा है कि इस यज्ञ का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्यको अहेतुक चित्तसे सतत करते रहना चाहिये। ज्ञानेश्वर महाराज गीता अ० ३ में कहते हैं—

तैं नित्ययागसहितें। सृजिलीं भूतें समस्तें।
परी नेणतीची तिये यज्ञातें। सूक्ष्म म्हणउनी॥
८६॥
ते वेळीं प्रजीं विनविला ब्रह्मा।
देवा काय आश्रयो येथ आम्हां।
तंव म्हणे तो कमळजन्मा। भूतांप्रती ८७॥
तुम्हां वर्णविशेषवशें। आम्हीं हा स्वधर्म
विहिला असे। यातें उपासा मग आपैसे।
पुरती काम॥ ८८॥
अहेतुकें चित्तें। अनुष्ठा पां यातें।
पतिव्रता पतीतें। जियापरी॥ ९२॥
तैसा स्वधर्मरूप मख। हाचि सेव्य तुम्हां एक।
ऐसें सत्यलोकनायक। बोलता झाला॥ ९३॥
तैसा स्वधर्म जरी लोपला। तरी सर्व सुखाचा
थारा मोडला। जैसा दीपासवें हरपला।
प्रकाश जाय॥ ११०
तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेंच स्वतंत्रतें
वस्ती घडे। आइका प्रजा हो फुडें।
विरंची म्हणें॥ १११॥
म्हणोनि ऐकें पांडवा। हा स्वधर्म करणें न
सांडावा सर्वभावें भजावा। हाचि एक॥१४३॥

हां गा शरीर जरी जाहलें। तरी कर्तव्यबोधें
आलें। मग उचित कां आपलें। वोसंडावें ॥१४४
(अ० ३)

अर्थ- नित्य यज्ञोंके साथ ही ब्रह्मदेव ने सर्व भूत उत्पन्न किये; परंतु सूक्ष्मत्व के कारण नित्ययज्ञ उनकी समझमें न आया। तब ब्रह्मदेव से प्रजाने प्रार्थना की कि "हे देव, इस जगत् में हमें आश्रय कौनसा है ?" इसपर ब्रह्मदेव ने उत्तर दिया "अपने अपने वर्णविशेषके अनुसार स्वभावोचित कर्म अर्थात् स्वधर्म हमने निर्माण किया है उसकी उपासना करो, इससे सब इष्ट वस्तुएं आपही साध्य होंगी। इस (स्वधर्म) का अनुष्ठान अहेतुक चित्तसे करे। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा करती है। इसी तरह यही स्वधर्मरूपी यज्ञ तुम्हें (सेव्य) अनुष्ठान करनें योग्य है। जैसे दीप के बुझने से दीप गया और उसके साथ प्रकाश गया, वैसेही जहां निजवृत्ति अर्थात् स्वधर्म गया वहां स्वतंत्रता वास नहीं करती।" इसलिये हे पांडव, स्वधर्मका आचरण छोडना न चाहिये; किंतु इसी एक (स्वधर्म) का अनुष्ठान सर्वभाव से करना चाहिये। सिवाय इसके यह शरीर कर्तव्य के ओघ से प्राप्त हुवा है; उसका उपयोग उचित कर्म के तरफ क्यों न किया जाय ?

तात्पर्य यह है कि स्वभावविहित कर्म करना यही यज्ञ है।

यह जगत् एक बडा भारी कर्मका पसारा है। यह जगच्चक्र अनेकों के अनेक कर्मों से चला है। जगत् के धारणपोषण के लिये अनेक व्यक्तियों को अनेक कर्म करना है। इस जगत् के विविध कर्म प्रत्येक मनुष्य नहीं कर सकता, इसलिये जिसको जो रुचे, पचे और उत्तम प्रकार करते बने, वही कर्म उसको करना चाहिये।

आणि आपुली माये। कुब्ज जरी आहे।
तरी जियेतें नोहे। स्नेह कुन्हे कीं॥ ९२७॥
येरी जिया पराविया। रंभेहूनि बरविया।
तिया काय कराविया। बाळकें तेणें ॥ ९२८॥
अगा पाणीयाहूनि बहुवें। तुपीं गुण करी आहे।
परी मीना काय होये। असणें तेथ॥ ९२९॥
म्हणोनि जें विहित जया जेणें। फिरे संसाराचें
धरणें। क्रिया कठोर तऱ्ही तेणें। तेचि करावी॥
९३१॥
येरा पराचारा बरविया। ऐसें होईल टेंकलेया।
पायांचें चालणें डोइया। केलें जैसें॥ ९३२॥
यालागीं कर्म आपलें। जें जातिस्वभावें असे
आलें। तें करी तेणें जिंतिलें। कर्मबंधातें॥९३३॥
(अ० १८)

अर्थ- अपनी माता चाहे कुब्जा (वक्र, कुरूप) हो, परंतु उसका प्रेम वक्र नहीं रहता। माताके अतिरिक्त बहुतसी स्त्रियां रंभासे भी सुस्वरूप हों, परंतु बालक के लिये उनका क्या उपयोग ? पानी की अपेक्षा घी में बहुतसे अधिक (मौल्यवान्) गुण हैं, परंतु घी में रहने से मछली को क्या लाभ है ? (किंतु सर्वस्वहानि है।) इसलिये जिसको जो विहित कर्म कहा गया है, जिससे संसार का पाश दूर होता है, चाहे वह कितना भी कष्टमय हो, उस मनुष्य को वही कर्म करना चाहियें। दूसरेका कर्म अच्छा है इसलिये जो उसका स्वीकार (आचरण) करता है वह चलने का काम, जो कि पैरों से करना चाहिये,सिरसे करता है। इसलिये जातिस्वभाव से जो अपने लिये कर्म प्राप्त हुआ है वही कर्म जो करता है वह कर्मका बंधन तोडता है।

इस जगत् में ऐसा चमत्कार है कि जो मनुष्य स्वकर्म में पूर्ण रत नहीं है (भलीभांति स्वकर्म में न रँगा हो) उसको वारंवार परकर्म स्वीकृत करने का मोह उत्पन्न होता है। जहां अपना कर्म बुरा और दूसरे का अच्छा लगने लगता है तब वह बारबार कर्मान्तर करने लगता है। स्वकर्म में कष्ट मालूम होतेही वह परकर्म का स्वीकार करता है, वहां भी कायक्लेश होने लगते हैं तब वह तीसरा कर्म ढूंढने लगता है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं "स्वकर्म में तथा परकर्म में जब श्रम और कष्ट समानही होते हैं, तब स्वकर्मका त्याग क्यों करना और मूर्ख क्यों बनना ?"

अगा उजू वाटा चालावें। तऱ्ही पायचि शिणवावें
ना आडरानें धांवावें। तऱ्ही तेंचि॥ ९३७॥
पैं शिळा कां सिदोरिया। दाटणें एक धनंजया।

परी जैं वाहातां विसावया । मिळिजे तें घेणें९३८
येऱ्हीं कणा आणि भुसा । कांडिताही सोस सरिसा । जेंचि रंधन श्वान मांसा । तेंचि हवी ॥ ९३९॥

दधी जळाचिया घुसळणा । व्यापार सारखेचि विचक्षणा । वाळुवे तिळा घाणा । गाळणें एक ॥ ९४०॥

पैं नित्य होम देयावया । कां सैरा आगीं सुवाघया फुंकितां धूम धनंजया । साहणें तेंचि ॥९४१॥

परी धर्मपत्नी भांगडी । पोसितां जरी एकी वोढी तरी का अपरवडी । आणवी आंगा ॥ ९४२॥

हां गा पाठीं लागला घाई । मरण न चुकेचि पाहीं तरी समोरला काई । आगळें न किजे ॥९४३॥

कुळस्त्री दांडयाचे घाये । परघर रिगाली ही जरी साहे । तरी स्वपतीतें घायें । त्यजिलें कीं ॥ ९४४॥

तेलें आवडतें ही करणें । न निपजे शिणप्याविणें । तरी विहित वारे कोणें । बोलें भारी ॥ ९४५॥ (अ० १८)

अर्थ- सीधी रास्ता चलने में और आडरस्तेसे जानेमें पैरोंको थकावट एकसी होगी; तब मनुष्य आडरस्ते से क्यों जाय ? प्रवास करते समय साथमें उपहार का डिब्बा लेनेसे अथवा एक पत्थर लेनेसे एकहीसा बोझा होगा, तब उपहार का डिब्बा-जिससे भूक शांत होगी, क्यों न लिया जाय ? उखली में धान्य अथवा भुसा कूटनेमें एक ही से श्रम पडते हैं; कुत्तेका मांस पकानेमें और यज्ञके लिये अन्न पकाने में एकहीसी मेहनत पडती है; तब जिसमें दुहरा फायदा है वह क्यों न करना? दही और पानी विलोरने में श्रम समानही होते हैं, कोल्हू में तिल अथवा रेता पीसनेमें भी समान श्रम होते हैं; तब दही विलोरना और तिलका पीसना ही इष्ट है कि नहीं ? नित्य होम करने में और रोज की आग सुलघाने में धुंवांकी तकलीफ एकही सी होगी। विवाह की स्त्री हो अथवा रखेली हो, दोनों के पोषणमें खर्च और सायास समान होंगे, तब अपकीर्ति क्यों लेना ? पीठपर घाव लगेंगे और मृत्यु टलता नहीं, तब क्या यही बेहतर नहीं है कि शत्रुका सामना करके लढते लढते मर जाना ? पति के डरसे कुलस्त्री भागकर दूसरे घरमें घुसी; वहां भी मार खाना पडा तो उसने नाहक अपने पति को छोडा। इसी प्रकार कोई भी कर्म करो, उसमें तकलीफ जरूर होगी, तब विहित कर्म करना बहुत कठिन है ऐसा किस मुंह से कह सकोगे ?

सत्कर्मही तीर्थ है और स्वकर्म ही ईशपूजाका पुष्प है। मनुष्य के अंतःकरण के दो दोष हैं— (१) मल, (२) आवरण। इन्हें नष्ट करने के लिये कर्म, उपासना और ज्ञान साधन हैं। बहुतसे ग्रंथों में चित्तशुद्धि के साधन तीर्थाटन करना, यात्रा करना, व्रत उद्यापन करना इत्यादि बतलाए गए हैं। परंतु ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

तीर्थें बाह्य मळु क्षाळे । कर्में अभ्यंतर उजळे ।
एवं तीर्थें जाण निर्मळें । सत्कर्मेंचि ॥ १६०॥
तृषार्ता मरुप्रदेशीं । झळें अमृतें वोळली जैशी ।
की अंधालागीं डोळयासी । सूर्य आला ॥ १६१॥
बुडतया नदीच धाविन्नली । पडतया पृथ्वीच कळवळली । निमतया मृत्यूनें दिदली । आयुष्यवृद्धि । ॥१६२॥
कर्मेंचि कर्मबद्धकता । मुमुक्षु सोडविले पंडुसुता (अ०१८)

अर्थ- सत्वशुद्धि होनेके लिये सत्कर्मही साधन हैं। तीर्थोंमें शरीर के बाह्य मल का क्षालन होता है, इसलिये चित्तशुद्धि के तीर्थ सत्कर्म हैं। प्यासेको मरुप्रदेश में अमृतका झिरना मिल जाय, अथवा अंधेको आंखो में सूर्यका तेज आजाय, अथवा डूबनेवाले को पृथ्वी झेल लेवे, अथवा मरनेवाले को मृत्यु आयुष्यवृद्धि देवे; इसी तरह मुमुक्षु को कर्मसे होनेवाली बद्धता कर्मही के द्वारा नष्ट होती है।

स्वधर्म का महत्त्व ऐसा है। स्वकर्म कामधेनु है, अमृतवल्ली है; प्रत्येक मनुष्य को उसका आश्रय करना चाहिये। सोना शुद्ध करने के लिये जैसा छेदन, तापन, ताडन करना पडता है, वैसेही कर्म के पाशसे छूटकर शुद्धता प्राप्त करना हो तो खूब जोरोंसे कर्म करना चाहिये।

कोई मनुष्य बडे वेगसे जाता है तब ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि कुछ समय के बाद वह

विश्रांतिके लिये बैठेगा, इसी प्रकार ज्ञानेश्वर के मतसे नैष्कर्म्य के लिये कर्मातिशय उपकारक है।

चालणें वेगावत जाय। तो वेग वैसावयालागीं होय। तैसा कर्मातिशयो होय। नैष्कर्म्यालागीं ॥
(अ. १८। १५४)

प्रत्येक मनुष्य को अपना विहित कर्म, स्वभावज सहज कर्म करना चाहिये। वह योग्य रीतिसे करना यही धर्म यही यज्ञ है। यज्ञ शब्द की बहुतसी व्याख्याएं हैं। दान, पूजन, संगतीकरण ऐसे यज्ञ शब्द के अनेक अर्थ हैं परंतु ज्ञानेश्वर महाराज एक जगह कहते हैं कि स्वकर्मरूपी यज्ञ के द्वारा स्वतः का और दूसरे का उपकार जो करता है वह श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि—

आपुला अथवा पराचा। ठायीं उपकरसी पांडवा। तेणें यज्ञें होई बरवा। याज्ञिक माझा॥ १८।१३५९

[अर्थ— स्वतःपर और दूसरोंपर उपकार करनेका जो यज्ञ है वह करके तुम मेरे याज्ञिक हो।]

'स्वकर्म ही यज्ञ है' ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, उसी तरह वे कहते हैं कि सर्वात्मक की पूजा स्वकर्तव्यसेही होती है।

हें विहित कर्म पांडवा। आपुला अनन्य बोलावा। आणि हेचि परम सेवा। सर्वात्मकाची ॥ ९०६ ॥ अगा जयाचें जें विहित। तेंचि ईश्वराचें मनोगत। म्हणूनि केलिया निभ्रांत। सापडेचि तो ॥ ९११ ॥ म्हणोनि क्रिया केली। नव्हे तयाची खूण पाळली। जयापासूनि कां आली। आकारा भूतें ॥९१४॥ तया सर्वात्मका ईश्वरा। ईश्वरा स्वकर्म कुसुमांची वीरा। पूजा केली होय अपारा। तोषालागीं ॥ ९१७ ॥ (अ. १८)

अर्थ—हे अर्जुन, यह विहित कर्म अपने कल्याण का सर्वस्व है; इसका आचरण करनाही सर्वात्मक ईश्वरकी पूजा है। जिसका जो विहित कर्म हो वही ईश्वर का मनोगत है, ऐसा समझकर उसका निःशंक मनसे अनुष्ठान करनेसे ईश्वर जरूर मिलेगा। इसलिये विहित कर्म करनेपर ऐसा नहीं समझना कि मैंने कर्म किया है; किंतु यह समझना कि जिस सर्वात्मक ईश्वरसे ये पंच महाभूत उत्पन्न हुए उसकी आज्ञाका मैंने पालन किया है और इसी के द्वारा मैंने उसकी पूजा की है, जिससे उसको अपार संतोष होगा।

सर्वात्मक परमेश्वर विहित कर्मसेही संतुष्ट होता है और उसकी पूजा के लिये स्वकर्मरूपी पुष्प ही उत्तम है और वह उसको प्रिय है, ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज का सिद्धान्त है। अपन लोग कहते हैं कि परमेश्वर को अर्पण करनेके लिये फूल सुगंधित हो कुम्हला हुवा नहीं चाहिये। इस दृष्टिसे स्वकर्मरूपी पुष्प के विषयमें यह कहना चाहिये कि वह पुष्प कामना और अहंकारसे मरोडा हुवा अथवा मलीन न हो।

अबतक यह बतलाया गया कि ज्ञानेश्वरी ग्रंथ मध्यकालीन कर्मयोग का प्रतिपादन करनेवाला है और ज्ञानेश्वर महाराज के मतसे गीता का महत्व, गीता के प्रतिपाद्य विषय और गीताध्यायसंगति किस प्रकार है। इसी तरह देहवान् मनुष्य को कर्म छोडना अशक्य है इसलिये स्वभावज कर्म और स्वभावविहित कर्म उसको करना चाहिये; मोहसे परकर्मका स्वीकार नहीं करना, कोई भी कर्म करने में कष्ट एकहीसे हैं ऐसा समझकर मनुष्यको उत्साहपूर्वक, अनहंकारसे निरंतर स्वकर्मही क्यों करते रहना चाहिये इत्यादि बातोंका विवेचनकिया गया। इसके बाद ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में यह बतलाया जाता है कि जो विहित कर्म छूट नहीं सकता और ईश्वर को अत्यंत प्रिय है, वह किस विधिसे बंधक न होगा और मोक्षदायक होगा।

तैसीं एकै हातवटिया। कर्मै कीजती धनंजया। बंधकेंचि सोडवावया। मुखें होती ॥ १६४॥
आतां तेंचि हातवटी। तुज सांगो गोमटी। जया कर्मांतें किरीटी। कर्मचि रुसे ॥ १६५॥
(अ० १८)

अर्थ- युक्तिसे कर्म किये जांय तो, हे अर्जुन! वे बंधक नहीं होते किंतु बंधन छोडने में अर्थात् मुक्तावस्था प्राप्त करने में कारणीभूत होते हैं। अब वही उमदा हतौटी तुम्हें बतलाता हूं कि जिससे कर्मोंका कर्मोंसेही नाश होता है।

यया कर्मातें सांडिती परी। एकीचि ते अवधारीं। जें करितां न जाइजे हारी। फळाशेचिये ॥२७॥

कर्मफल ईश्वरीं अर्पे। तत्प्रसादें बोध उद्दिपे।
तेथ रज्जुज्ञानें लोपे। व्याळशंका ॥२८॥ अ०१८

अर्थ- कर्मत्याग करनेका (कर्म करके उनका बंधकत्व नष्ट करनेका) एक प्रकार यह है कि कर्म करते हुए फलेच्छाके आधीन नहीं होना। कर्म करना और उसका फल ईश्वर को अर्पण करना; उसके प्रसादसे बोधरूपी दीप प्रज्वलित होता है, रज्जुका ज्ञान होनेसे सर्प का भय लुप्त होता है।

कर्म करके फलाशा कैसे छोडना इसके बाबत ज्ञानेश्वर महाराज ने अच्छे मार्मिक, वजनदार और सरस दृष्टान्त दिये हैं। वसंत ऋतु के आतेही सब लताएं फूलती हैं, आम्र आदि वृक्ष पल्लवित होते हैं। परंतु वसंत ऋतु इन पुष्पफलोंका स्पर्श भी नहीं करतो और चली जाती है। इस तरह कर्म करना चाहिये (ज्ञानेश्वरी अ० १८ ओवी १२४)

तुलसी अथवा पीपल के पेड को भाविक मनुष्य धर्मबुद्धिसे पानी देता है; परंतु ऐसा करने में पुष्प की अथवा फलकी अभिलाषा उसके मनमें बिलकुल नहीं रहती। क्यों कि पीपल को अथवा तुलसी को पुष्प अथवा फल आते ही नहीं। ऐसी श्रेष्ठ बुद्धि रखकर कर्म करना चाहिये। स्वकर्म के विषय में ज्ञानेश्वर ने सबसे श्रेष्ठ दृष्टान्त माता का दिया है। स्वकर्म को मातृवत् समझना चाहिये। माता की ओर उपेक्षा से अवज्ञा करो तो भी पाप लगाता है और अपेक्षा से कामना रखें तो नरकप्राप्ति होती है। इसलिये स्वकर्म की न तो अवज्ञा की जाय और न उसकी कामना अर्थात् फल्लेछा रखी जाय। फलाशाको तिलांजलि देकर, तथा ईश्वर इच्छा और प्रेरणा इन्हीं कारणों से कर्म होता जाता है ऐसी भावना रखकर अखंड कर्म करते रहना, ऐसा ज्ञानेश्वर का बतलाया हुवा गीताका भावार्थ है।

पै अवज्ञा आणि कामना। मातेच्या ठायीं अर्जुना
केलीया दोनी पतना। कारण होती ॥ २०२॥
तरी दोनी यें त्यजावीं। मग माताच ते भजावी।
वांचुनि मुखालागीं वाळावी। गायचि सगळी ॥
२०३॥
आवडतियेहि फळीं। असारें झाली आंठोळी।
त्यासाठीं अवगळी। फळातें कोणही ॥ २०४॥
तैसा कर्तृत्वाचा मद। आणि कर्मफळाचा
आस्वाद। या दोहींचें नांव बंध। कर्माचा कीं ॥
२०५॥
तरी या दोहींच्या विखीं। जैसा बाप नातळे
लेकी। तैसा हों न शके दुःखी। विहित क्रिया ॥
२०६॥ (अ० १८)

अर्थ- हे अर्जुन! माताकी अवज्ञा करने से तथा उस विषयमें कामना रखनेसे पतन होता है। तब इन दोनों को छोडकर माताकी सेवा करनी चाहिये गायका मुख अस्वच्छ होनेसे क्या गायको छोड देना चाहिये? हमें आम अच्छा लगता है; परंतु उसका कवच और गोही अच्छी नहीं लगती इसलिये इन्हीं को हम फेंक देते हैं, पूरा आम नहीं फेंकते। इसी प्रकार कर्तृत्व का घमंड और कर्मफलकी इच्छा इन दोनों को बंध कहते हैं। जिस प्रकार कन्यादान करनेके बाद लडकी पर उसका पिता कोई अधिकार नहीं रखता, वैसेही जो मनुष्य विहित कर्म करनेपर कर्तृत्वमद और फलास्वाद छोड देता है; उसको किसी प्रकारका बंधन नहीं होता। इसलिये निरहंकारवृत्तिसे फलेच्छाविरहित कर्म करते रहना चाहिये।

दूसरे के द्रव्य से जो तीर्थयात्रा करता है वह अपने मनमें यह नहीं समझता कि मैंने यात्रा की। कमरमें तुमा बांधकर दूसरे के सहारेसे जो नदीके पूरमें से तैरकर आता है, क्या वह ऐसा घमंड रखता है कि मैं अच्छा तैरनेवाला हूं? बडी होटल का मालिक क्या ऐसा घमंड रखता है कि मैं रोज ब्राह्मणभोजन कराता हूं? पोस्टमैन क्या ऐसा अभिमान रखता है कि मैं रोज सैंकडों रुपयों का दानधर्म करता हूं? कन्याको पिता जन्म देता है, परंतु जैसेही कन्यादान का उदक पिताने छोडा, वैसेही उस कन्याके विषयमें अधिकार और अभिमान कन्याका पाणिग्रहण करनेवाले दामाद को प्राप्त होता है। इसी तरह कर्मको ईश्वरार्पण करते ही उस कर्मका अभिमानी ईश्वर हो जाता है। इसलिये मनुष्य ऐसी बुद्धि रखकर कर्म करता रहे कि इस कर्ममें प्रेरणा ईश्वरकी है, मैं निमित्तमात्र हूं।

श्री ज्ञानेश्वर महाराजने १२ वें अध्यायमें इससे

अधिक स्पष्ट रीतिसे बतलाया है। कर्मके पहिले और अंतमें ईश्वरका स्मरण रखना और उसे यह कर्म अर्पण करना भी एक दृष्टिसे कष्ट ही है। ऐसी संझट न रखकर बर्ताव ऐसा करना चाहिये कि—

खडकीं जैसें वर्षलें। का आगीमाजी पेरिलें।
कर्म मानीं देखिलें। स्वप्न जैसें॥ २३१॥
अगा आत्मजेच्या विषीं। जीव जैसा निरभिलाषी।
तैसा कर्मीं अशेषीं। निष्काम होइ॥ २३२॥
वन्हीची ज्वाला जैसी। वायां जाय आकाशीं।
क्रिया जिरों तें तैसी। शून्यामाजी॥ २३३॥
अर्जुना हा फलत्याग। आवडेकीर असलग।
परी योगांमाजी योग। धुरेचा हा॥२३४॥अ०१२

अर्थ- पत्थरोंपर वर्षा होनेसे अथवा अग्निमें बीज बोनेसे जैसें कोई फायदा नहीं है, इसी तरह कर्म करते समय यह समझो कि हम स्वप्न देख रहे हैं। पिता जैसे अपनी कन्याके विषयमें निरभिलाषी रहता है वैसेही तुम अखिल कर्मोंके विषयमें निष्काम हो। जैसे अग्निकी ज्वाला आकाशमें चढती और नष्ट होती है,इसी तरह तुम्हारी क्रिया (उसके फल-सहित) शून्यमें लुप्त हो। तात्पर्य, हे अर्जुन, यह फलत्यागयुक्त (फलेच्छाविरहित) योग दिखनेमें साधारण मालूम होता है, तथापि वह सब योगोंमें प्रमुख है, ऐसा ज्ञानेश्वरने साफ कहा है।

कर्मका क्या मतलब? उसकी व्याप्ति कितनी है? कर्म करना कि न करना? निष्काम कर्मसे क्या मतलब होता है? फलत्यागसे क्या मतलब होता है? इत्यादि अनेक प्रश्नोंकी चर्चा महाराष्ट्रमें विद्वानोंने सांप्रत की है। इसलिये हमने इनमेसे प्रत्येक प्रश्नके उत्तर श्री०ज्ञानेश्वरके शब्दोंमें नहीं दिया। क्योंकि विषयकी मर्यादा रखनी चाहिये। आजकल गीतामें निष्काम कर्मयोग दिखने लगा है, वह ज्ञानेश्वरको भी भली भांति दीखता था; यह बात उन्हींकी पंक्तियोंके आधारसे दर्शानेका हमारा यत्न है। वाचकोंके नजरमें यह बात जरूर आई होगी कि गीतामें निष्काम कर्मयोग प्रतिपादक निष्कामपर जो श्लोक अध्याय ३।४।५ व १८ में आये हैं उनपर ज्ञानेश्वरका विवेचन खूबीदार और हृदयंगम है। अब ज्ञानोत्तर कर्मके विषयमें ज्ञानेश्वर जो कहते हैं, वह बतलाकर हम विषयको समाप्त करते हैं।

देख पां जनकादिक। कर्मजात अशेख।
ज्ञानेश्वरी अध्याय। ३।
न संडितां, मोक्षसुख। पावते जाहले॥ १५३॥
याकारणें पार्था। होआवी कर्मीं आस्था।
हे आणिकाही एका अर्था। उपकारिल॥ १५३॥
जें आचरतां आपण पयां। देखी लागेल लोका यया। तरी चुकेल हा अपाया। प्रसंगेंचि॥ १५४॥
देखे प्राप्तार्थ जाहले। जे निष्कामता पावले।
तयांही कर्तव्य असे उरलें। लोकांलागी॥ १५५
मार्गी अंधासरिसा। पुढें देखणाही चाले जैसा
अज्ञाना प्रगटावा धर्म तैसा। आचरोनी॥ १५६॥
हें ऐसें असे स्वभावें। म्हणोनि कर्म न सांडावें।
विशेषें आचरावें। लागे संतीं॥ १५९॥
म्हणोनि समर्थ जो एथें। आथिला सर्वज्ञते।
तेणें विशेषें कर्मातें। त्यजावे ना॥ १६८
तेथें सत्क्रियाचि लावावी। तेचि एकी प्रशंसावी
निष्कर्मीं ही दावावी। आचरोनी॥ १७४॥

अर्थ— देखो, जनकादिकनें कर्मका त्याग न करके मोक्ष सुखकी प्राप्ति करली। इसलिये हे पार्थ कर्ममें आस्था रखो, इससे एक और उपकार होगा। हम कर्माचरण करेंगे तब लोग उसका अनुकरण करेंगे; इससे उनके दुःख अनायाससे नष्ट होंगे। देखो, जो कृतार्थ हो गए, जिन्हें निष्कामता प्राप्त हुई, उनके लिये भी कर्तव्य बचा है। किस वास्ते? लोगोंके वास्ते। आंखवाला मनुष्य अंधेके आगे चलता है,इसी प्रकार स्वयं आचरण करके अज्ञोंको धर्ममार्ग बतलाना चाहिये। ज्ञानी पुरुषोंको भी स्वभाव अर्थात् प्रकृति बाध्य करती है, उनको कर्म छोडना न चाहिये किंतु विशेषतया करना चाहिये। जो समर्थ और ज्ञानसंपन्न पुरुष है उसको (लोक-संग्रहार्थ) विशेष रीतिसे कर्माचरण करके सत्कर्म की प्रशंसा करनी चाहिये और स्वतःके उदाहरणसे बतलाना चाहिये कि निष्काम कर्म क्या चीज है।

इस प्रकार ज्ञानोत्तर कर्मके विषयमें ज्ञानेश्वरका बतलाया हुवा सिद्धान्त भी मननीय है। इतना कहकर हम पाठकोंसे बिदा होते हैं।

गीताकी पहली पढाध्यायी।

(ले०—श्री० हरिभक्तिपरायण लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर, नासिक।)

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना की कि "मैं तुम्हारा शिष्य हूं; मुझे योग्य मार्गका उपदेश करो।' अर्जुन ने शिष्यत्व स्वीकृत करके नम्रतापूर्वक जब ऐसा पूछा तब गुरुका कर्तव्य था कि उसे शिक्षा देकर कृतार्थ करें। कृष्णार्जुन के इस संवाद में गीताशास्त्र प्रगट हुआ है।

(१) गीताशास्त्र का सच्चा प्रारंभ "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" (२।११) यहां से हुवा है। दूसरे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को सांख्ययोग बतलाया। "अशोच्यान्..." इस श्लोक से लेकर

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां श्रृणु।
(२।३९)

यहांतक २८ श्लोकों में सांख्ययोग व इसके आगे बुद्धियोग बतलाया है। इस सांख्ययोग में दो बातें हैं, एक आत्मानात्मविचार, अर्थात् अनात्मा (देह) नाशवंत है और आत्मा (देही) अविनाशी है। दूसरी बात "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" स्वधर्मका विचार करके स्वधर्मोचित कर्म करना चाहिये, अर्थात् देहसे आत्मा अलग है; देह विनाशी और आत्मा अविनाशी है ऐसा ज्ञान प्राप्त करके चातुर्वर्ण्यांतर्गत स्वधर्म के अनुसार बर्ताव करना चाहिये। यह सांख्ययोगका मुख्य विचार हुवा। "देह नाशवंत है" इतने में देहका विचार समाप्त हुवा। परंतु भगवान् को आत्मविचार अधिक सविस्तर कहना पडा। आत्मा चर्मचक्षुको नहीं दिखता, परंतु वह सर्वदेहान्तर्गत है। आत्माकी दृष्टिसे (आत्मदृष्टिसे) देखनेसे मालूम होगा कि हम सबही अमर हैं, क्यों कि हम आत्मरूप हैं और आत्मा अमर है। विषयेन्द्रियसंयोग से होनेवाले सुखदुःख देहके हैं (देह से संबंध रखते हैं) ऐसा जानकर जो उन सुखदुःखोंको अपना नहीं समझता (अर्थात् उनकी पर्वा नहीं करता) वह अमृतत्वके मार्ग में है। "सोऽमृतत्वाय कल्पते।" आत्मा सत् से असत् नहीं होता; अर्थात् देह और आत्मा भिन्न हैं, आत्मा देहविलक्षण अर्थात् देहसे निराला है। "येन सर्वमिदं ततम्"- उसने यह समस्त (संसार) व्याप लिया है। आत्माको कोई मारता नहीं और आत्मा मरता नहीं। आत्मा अज है, अव्यय है, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचल, अचिन्त्य, अव्यक्त, अविकार्य, अमर है। वह दृश्य नामरूपमेंसे प्रत्येक वस्तुसे अलग है, इसलिये श्रुतिको भी उसका वर्णन "तन्न तन्न" अथवा "नेति नेति" ऐसे विशेषणोंद्वारा (निषेध मुखसे) करना पडा है। वह अनुभवैकगम्य होनेके कारण उसका वर्णन इससे भिन्न रीतिसे हो नहीं सकता। भगवान् कहते हैं- "हे अर्जुन, सर्वदेहान्तर्यामी आत्मा अमर होनेसे अवध्य है, और सबही देह नाशवंत होनेसे कभी न कभी वे जायंगे यह बात निश्चित है; इसलिये शोक करना व्यर्थ है। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि-' स्वधर्मके विचार सेभी तुम्हें शोक-भयका कोई कारण नहीं। तुम डरके कारण भाग गए ऐसा कहकर लोग तुम्हारी निंदा करेंगे, तुम क्षत्रिय हो इसलिये युद्ध करना तुम्हारा धर्म है; यह धर्म छोडकर यदि तुम युद्धपराङ्मुख होगे तो तुम्हें पाप लगेगा, स्वधर्म और कीर्ति की हानि होगी। युद्ध में तुम्हारा पतन हुवा तो तुम स्वर्गको जाओगे, यदि तुम जीत गए तो तुम्हें पृथ्वीका राज्य मिलेगा। 'तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः।" लाभालाभ, जयाजय और सुखदुःख इनके विषयमें उदासीन रहकर स्व-

धर्म समझकर युद्ध करो। तुम्हें पाप न लगेगा। यहां स्वधर्मका विचार समाप्त हुवा। इस तरह आत्मानात्मविचार और स्वधर्माचार ऐसी दो बातें बतलाकर भगवान्ने सांख्ययोगका विचार समाप्त किया। भगवान् को इतनाही कहना था। परंतु विचारपूर्तता के हेतु इसके आगे श्लोक ३९ से ५३ तक उन्होंने बुद्धियोग बतलाया। यह बुद्धियोग स्वधर्मविचार करते समय सूझा है और आत्मविचार से उसका संबंध जोड दिया है। स्वधर्म के अनुसार युद्ध करो ऐसा कहना अर्थात् यह कहना है कि कर्म करो। केवल युद्ध कर्म कोईभी करेगा। परंतु कर्मको बुद्धियोग का साथ देकर भगवान् ने कर्म की प्रतिष्ठा बढाई है। केवल कर्म नीची श्रेणिका है, बुद्धियोग उससे श्रेष्ठ है। (२४९) बुद्धियोग का आश्रय करके कर्म किया जाय तो कर्मबंधकी बाधा नहीं होती। बुद्धियोग में ऐहिक लाभ का नाश नहीं होता और पारमार्थिक लाभमें अंतर नहीं पडता। स्वल्पही बुद्धियोग संसार-महाभयसे छुटकारा करा देता है। शुद्ध पारमार्थिक बुद्धि व्यवसायात्मक अर्थात् एकनिष्ठ रहती है; बुद्धि यदि केवल ऐहिक विचारसंबंधी हो तो उसे अनेक शाखाएं फूटती हैं। संसारसुखकी इच्छा करनेवाले लोग यज्ञयागादि वैदिक कर्म प्रायः सकाम करते हैं। परंतु मेरा तुमसे कहना है कि तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वंद्व, नित्यसत्वस्थ और आत्मवान् होकर युद्ध करो। चारों तरफसे पानीका पूर आया है ऐसी हालत में कुवों का जितना उपयोग है, उतनाही आत्मनिष्ठको वेदोंसे (वेदांतर्गत कर्मकांडसे) उपयोग है। निष्काम बुद्धिसे और निःसंग होकर अर्थात् संग व फलाशा छोडकर कर्म करनेकी जो बुद्धि की तैयारी उसीको बुद्धियोग कहते हैं। तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करनेका है। मनमें फलका हेतु मत रखो, और परिणाम से डरकर कर्म मत छोडो। संग और फलाशा छोडकर अपनी बुद्धिको अंतर्मुख रखो, इससे समता रहेगी, तुम्हारे मनको विषाद न होगा और तुम्हें पाप न लगेगा। यह बुद्धियोग है। बुद्धियोग की यह बैठक जमाकर स्वधर्म करो। सूझ लागे कर्मफलका त्याग करके बुद्धियोग के बलपर सुख मय शाश्वत पदको पहुंचते हैं। "पदं गच्छन्त्यनामयम्" जब तुम्हारी बुद्धि इस मोहजन्य विषाद मेंसे पार होगी (मोहकलिलं व्यतितरिष्यति) तभी तुम "निर्वेदम्" अर्थात् वैराग्य हासिल करोगे और 'समाधिमें अर्थात् आत्मस्वरूप में तुम्हारी बुद्धि स्थिर होगी। यहां बुद्धियोगकी शिक्षा समाप्त हुई। तथापि 'समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ' अर्थात् बुद्धियोग-द्वारा आत्मस्वरूपमें जो स्थिर हुआ वह किस प्रकार होता है, उसका बोलना, चालना, उठना, बैठना कैसा रहता है इत्यादि उसके लक्षण बतलाने के लिये भगवान् ने इसके आगे स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया है।

बुद्धियोग अर्थात् बुद्धिका आत्मासे युक्त होना, बुद्धिका बोधसे योग होना, बुद्धिका परमात्मासे संलग्न रहना। इस योगको संग व फलाशा मारक होते हैं इसलिये संग और फलाशा छोडकर स्वधर्म-कर्मका आचरण करो और वह करते हुए आत्म-स्थिति को मत छोडो। यह बुद्धियोगांतर्गत कर्मयोग भगवान् ने अर्जुन को गीतामें कहा है। बुद्धियोग से प्रज्ञा आत्मस्वरूप में स्थिर कैसी होती है, यह अब बतलाते हैं। सर्व कामनाओं का त्याग करके "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" इस बुद्धिसे आत्मस्वरूप में रत होना स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण है। दुःखसे जो उद्विग्न नहीं होता, सुखाशासे उछलता नहीं, जो कामक्रोधभयसे रहित होगया, निःसंग होगया, जिसको शुभाशुभका हर्षविषाद नहीं, इंद्रियार्थों से अर्थात् इंद्रियविषयोंसे अपने इंद्रिय जिसने रोक लिये हैं, उसकी वासना भी "परं दृष्ट्वा" आत्म-दर्शन से निवृत्त हुई है। समझदार मनुष्यके इंद्रिय भी प्रबल होकर मनका हरण करते हैं, इसलिये

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

इंद्रियों और मनको विषयों से रोककर जो 'मत्पर' अर्थात् भगवत्परायण हुआ, वही स्थितप्रज्ञ है। विषयों के ध्यानसे भीतर विषयोंका संग, संगसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह, संमोह से स्मृतिनाश, स्मृतिनाश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वस्वनाश (आत्महानि) ऐसा यह अधोगति का क्रम है। तथापि स्थितप्रज्ञ के इंद्रिय और मन

रागद्वेषविवर्जित हो जाते हैं इससे वह चित्त में प्रसन्न रहता है और उसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें स्थिर होती है। जिसको बुद्धियोग प्राप्त नहीं हुवा, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं, उसे भावना अर्थात् स्थैर्य की आस्था नहीं, और जिसको यह नहीं उसको शांति नहीं; और जहां शांति नहीं वहां सुखभी नहीं। विषयों में संचार करनेवाला उसका मन उसकी बुद्धिको हरण करता है, इसलिये जिसके इंद्रिय और मन विषयोंसे रोक लिये गए हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है। सब लोगोंकी जहां रात्रि है वहां यह जागृत आर जहां सब लोग जागृत वहां वह निद्रित रहता है। जगत् में लोग आत्मस्वरूप में निद्रित और विषयों में जागृत रहते हैं। इसके विपरीत यह पुरुष विषयों में निद्रित और आत्मस्वरूप में जागृत रहता है। जिस प्रकार समुद्र में नदियां समा जाती हैं, उसी प्रकार समस्त काम जिसमें समा जाते हैं उसी को शांति का महासुख मिलता है, विषयी जीवों को नहीं मिलता। निर्मम और निरहंकार होकर जो सर्व काम छोडकर निःस्पृह होता है, उसीको शांति मिलती है। यह है ब्राह्मी स्थिति अथवा ब्रह्मस्थिति। यह जिसको प्राप्त हुई वह " न विमुह्यति " मोहवश नहीं होता और मरणावसर पर भी ब्रह्मपद से च्युत नहीं होता।

(२) दूसरा अध्याय गीतारूपी प्रासाद की नींव है और अठारहवां अध्याय उस मंदिर का कलश है। अथवा यों कहिये कि दूसरा अध्याय बीजभूत है और अठारहवां अध्याय फलस्वरूप है। बीज में जो रहता है वही आगे वृक्षाकार होता है और वही फल के रूपसे व्यक्त होता है। इसलिये दूसरे अध्याय का सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर गीता का तात्पर्य क्या है इसका पहिलेही ठीक अंदाज कर सकते हैं। दूसरा अध्याय मानो बीजभूत संक्षिप्त गीता है। इस अध्याय का मुख्यार्थ देखना चाहिये। गीताके प्रास्ताविक भाग में यह बतलाया गया है कि कुरुक्षेत्र की रणभूमिपर युद्धके लिये आई हुई सेनामें अर्जुन ने भीष्म द्रोणादि गुरुजनों तथा अन्य आप्त स्वकीयों को देखा, तब उसे इस बातपर भय हुवा कि इन स्वजनोंको राज्यसुखलोभसे मारकर क्या मैं अपने कुलका, धर्मका व समाजका नाश करनेमें कारणीभूत होकर पापका धनी बन जाऊं? इस प्रकार ' शोकसंविग्नमानस ' (१।४७) होकर ' धर्मसंमूढचेत ' (२।७) होता हुआ वह श्रीकृष्णकी शरण में गया अर्थात् शोकमोह से व्याप्त हुवा। तब अर्जुन का शोकमोह हटाना भगवान् को आवश्यक हुवा और उन्होंने शोकमोह के निराकरण का उपाय अर्जुन को बतलाया। " धीरस्तत्र न मुह्यति " (२।१३) और 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ' (२।५२) इन वाक्योंसे ज्ञात होता है कि दूसरे अध्याय ही में भगवान् ने सोचा कि अर्जुन को मोह हुवा है और उसका मोह दूर करना चाहिये। सिवाय इसके अर्जुन का मोह दूर करनेके हेतु भगवान् ने जिसको बुद्धियोग प्राप्त हुआ ऐसे स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाकर अंतमें —

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
(२।७२)

ऐसा कहा है। अर्थात् दूसरे अध्याय से यह मालूम होता है कि अर्जुन को मोहने व्याप लिया था और केवल उसका मोह निरास करनेका काम भगवान् को करना था। आगे चलकर गीता देखने से भी यही मालूम होता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
(४।३५)

आत्मज्ञान होनेपर तुम अपनेसहित सर्वभूतोंको मुझमें देखोगे। दसवें अध्याय में विभूतिविस्तारयोग बतलानेपर ११ वें अध्याय के प्रारंभही में अर्जुन कहते हैं—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ ११।१

'भगवन्! यह जो अध्यात्मसंज्ञक गुह्य तुमने मुझे बतलाया उससे मेरा मोह दूर हुआ ' ऐसी आधी पूरी कबूली इस अध्याय के बाद ही अर्जुन ने दी। इस से स्पष्ट होता है कि भगवान् ने अध्यात्मविद्या का रहस्य बतलाकर अर्जुनका मोह दूर किया। अठारह वें अध्याय के अंतमें, जब भगवान् जो कुछ कहना चाहते थे कह चुके, अर्जुन से पूछते हैं

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय। १८।७२

हे अर्जुन, अज्ञान से तुम्हें संमोह उत्पन्न हुवा था वह अब नष्ट हुवा न ? इसपर अर्जुन कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
(१८।७३)

हे भगवन्! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुवा और मैं अविनाशी परमात्मा हूं ऐसी मत्स्वरूप के विषयमें जागृति मुझे प्राप्त हुई। ऐसा स्पष्ट शब्दों में कबूली जबाब अर्जुनने दिया। इससे चार बातें स्पष्ट हुईं। (१) अज्ञान (अविद्या) के कारण मोह हुवा। (२) वह मोह भगवान् ने अध्यात्मका रहस्य बतलाकर दूर किया। (३) अर्जुन को स्वरूपकी जागृति हुई (४) और ये सब बातें भगवान् के प्रसाद से हुईं ऐसी कृतज्ञताबुद्धि मोह-नाश और आत्मदर्शन के पश्चात् भी रही। इससे यह सिद्ध हुवा कि गीता अविद्याका नाश करनेवाले अध्यात्मशास्त्रका ग्रंथ है। श्रुति भी कहती है कि मोहनाश का एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।
(मंत्र ७)

अर्थात् अपने में भूतों को तथा भूतोंमें अपनेको इस तरह सर्वत्र आत्मैक्य देखनेवाले को शोक कहां और मोह कहां ? ऐसा ईशावास्योपनिषद् में कहा है। एकत्वदर्शन से अर्थात् आत्मदर्शनसे शोक मोह दूर होते हैं यह बात श्रुति भी कहती है और गीता भी कहती है। इस समय हमें दूसरे अध्याय के संबंध में देखना है। "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इस श्लोक से भगवान् ने सांख्ययोग, उसके पश्चात् बुद्धियोग और अखीर में स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाए हैं; और इनका अन्योन्यसंबंध क्या है, यह पहिले कह चुके हैं। यह भी देखलिया गया है कि अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये अर्थात् अविद्या अथवा अज्ञान का निवारण करने के हेतु सांख्य-योग बतलाया और सांख्ययोग के अंतर्गत आत्म-विचार और स्वधर्मविचार ये दो बातें बतलाईं। आत्मविचार पहिले बतलाया गया और 'स्वधर्म-मपि चावेक्ष्य' यहांसे स्वधर्मविचार बतलाया; इससे आत्मविचार का प्राधान्य प्रतीत होता है। "अपि" शब्द से व्यक्त होता है कि स्वधर्मविचार आत्म-विचार की निम्न श्रेणी है। दूसरे अध्याय के चारों तरफ नजर डालनेसे मालूम होता है कि भगवान् की यह अपेक्षा रही कि सांख्ययोग, बुद्धियोग और स्थितप्रज्ञ का वर्णन करनेसे अर्जुन की दृष्टि आत्म-स्वरूप में रंग जाय। बाह्य पदार्थों से जिसको मोह नहीं होता "सोऽमृतत्वाय कल्पते" ऐसा कहकर यह बतलाया है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

समस्त दृश्य सृष्टि नाशवंत (असत्) है और एक आत्मा (सत्) है। देह और आत्मा बिलकुल भिन्न हैं, ऐसा आत्मानात्मविचार करके आत्मा में एकरूप हो। आत्मा अविनाशी और सर्वव्यापी है, आत्मा नित्य, अव्यय, सर्वभूतांतर्यामी है। वह स्वयं मरता नहीं और किसीको मारता नहीं, उस को जन्ममृत्यु नहीं ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेसे शोक मोहसे छुटकारा होता है। बुद्धियोग का विवेचन करनेके बाद भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन, बुद्धियोग के आसनपर जो स्थित हैं ऐसे पुरुष फलत्यागपूर्वक "पदं गच्छन्त्यनामयम्।" इसी प्रकार जब तुम्हारी बुद्धि 'मोहकलिल' से मुक्त होगी (जैसे सूर्य मेघोंसे मुक्त होता है) तब तुम वैराग्य (निर्वेद) प्राप्त करके (समाधौ) आत्मस्वरूप में निश्चल होगे। (अध्याय २ श्लो० ५१ से ५३) स्थितप्रज्ञ के वर्णन में भी जब समस्त कामना छोडकर मनुष्य 'आत्म-न्येवात्मना तुष्टः' आत्मस्वरूप में रत होता है, तभी उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। विषय, इंद्रिय और मन एकमत होकर मनुष्य विषयाधीन होता हुवा आत्म-स्वरूप को भूल जाता है। इंद्रियजय के हेतु मनुष्य जब अहारोंका त्याग करता है, तब उससे विषय छूट जायगे, परंतु 'रस' (विषयोंकी प्रीति, आसक्ति) नहीं छूटती; तथापि वह रसभी "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (२।५९) आत्मदर्शन होनेपर निवृत्त होता है। समझदार मनुष्य के इंद्रिय विषयाकार होनेसे मनको विषयों के तरफ खेंचते हैं, ऐसे समय स्थितप्रज्ञ "तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः" (२—६१) इंद्रियों को विवेकसे रोककर मत्परायण होता है। कोई कोई

'परदर्शन' का मतलब आत्मदर्शन और 'मत्परता' का मतलब सगुणकी भक्ति समझते हैं। परंतु सगुण निर्गुण एकही परमात्मा है इसलिये परमात्मदर्शनसे और उसकी भक्तिसे इंद्रियजय होता है;ऐसा तात्पर्य है। अंतिम चार श्लोकों का तात्पर्य यह है कि जो पुरुष आत्मस्वरूप में जागृत हुवा वह अपनी व्यापकतासे समस्त कर्मों को हजम करके निर्भय और निरहंकार होता हुआ 'स शांतिमधिगच्छति, आत्मानंदसे परिपूर्ण होता है। इस सब विवरण से निश्चित हुआ कि दूसरे अध्याय में मोहनिरसन के हेतु भगवान् ने आत्मज्ञान (आत्मदर्शन, आत्मानंद) अथवा अद्वैत भक्तिकाही बोध अर्जुन को किया।

(३) दूसरे अध्यायमें बुद्धियोग के अनुषंगसे कर्मका उल्लेख आया था, अब तीसरे अध्यायमें 'कर्मयोग' का स्वतंत्र विवरण किया है। तथापि बुद्धियोग को बाधा पहुंचानेवाले जो बाह्य विषय, इंद्रिय और मन, उन सबको अपने कबजे में रखने को कह कर,संग व फलाशा छोडकर स्वकर्मकाही आचरण करना बतलाया गया है। बुद्धियोगांतर्गत कर्म ही को यहां कर्मयोग कहा है। "ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन" कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है, तो मुझे इस घोर कर्म में प्रवृत्त क्यों करते हो ? ऐसा प्रश्न अर्जुन ने प्रारंभ में किया है। उस पर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा ऐसी दो निष्ठा बतलाकर सांख्यों का ज्ञानयोग और योगियों (बुद्धियोगियों) का कर्मयोग (कर्मयोगेण योगिनाम्) ऐसे दो प्रकार (अधिकारपरत्वसे) हैं ऐसा बतलाया और कर्मयोग का प्रस्ताव किया। कर्मका आरंभ न करनेमें नैष्कर्म्य नहीं होता और कर्मोंका त्याग करने ही से सिद्धि नहीं मिलती। विना कर्मके कोईभी क्षणभर नहीं रह सकता, प्रकृतिगुण प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यापार करनेके लिये मजबूर करते हैं, कर्मेंद्रियों को रोककर मनसे विषयचिंतन करनेवाले ढोंगीकी अपेक्षा मनसे इंद्रियों को संभालकर कर्मेंद्रियोंद्वारा कर्मयोग का आचरण करनेवाला बहुत अच्छा। ऐसा कहकर भगवान् ने अर्जुन से कहा कि "नियतं कुरु कर्मत्वं' तुम अपना नियत कर्म-क्षात्रकर्म-करो। (१ से ८ तक) नियत कर्म ही स्वधर्मरूप यज्ञ है। केवल वेही कर्म, जो इस यज्ञ के हेतु किये जाते हैं, बंधकारक नहीं, बाकी सब कर्म बंधक हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि संग छोडकर स्वधर्मकर्म करो। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' पूर्व कालमें ब्रह्मदेव ने प्राणियों को यज्ञोंके साथ उत्पन्न किया, अर्थात् प्राणियों को उत्पन्न करतेही स्वधर्मनियम उनको दिये और कहा कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने अपने धर्म के अनुसार चलना चाहिये और इतनेही से (चातुर्वर्ण्यधर्म के पालन ही से) देवताओं को हविर्भाग मिलनेपर वे संतुष्ट होंगे और यथाकाल पर्जन्यादि के द्वारा लोगों को सुखसमृद्धि देंगे। देवताओंको और स्वधर्मयज्ञ को अर्पण करनेपर जो अवशिष्ट रहे उस अन्नका सेवन करनेसे कर्ता पापमुक्त होता है। जो पिण्डपोषक केवल इंद्रियोंके अथवा पेटके लिये पाकसिद्धि करते हैं, वे अन्नमिष से पापही भक्षण करते हैं! भगवान् ने जगच्चक्र इस तरह जारी किया है- भूतोंकी उत्पत्ति अन्न से (रक्तरेतद्वारा) होती है, अन्न पर्जन्य से, पर्जन्य यज्ञ से, यज्ञ कर्मसे, कर्म ब्रह्म से (वेदसे), वेद अक्षर ब्रह्मसे अर्थात् परमात्मा से होते हैं। (इस प्रकार यह चराचर ब्रह्म निगडित है।) यह चक्र जो नहीं चलाता अर्थात् स्वधर्मकर्म का आचरण करके देवधर्मको संतुष्ट नहीं करता उस इंद्रियलंपट पुरुष का जीवन व्यर्थ है। (९ से १६ तक)

इसको भी अपवाद है। "यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' जो आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मसंतुष्ट अर्थात् जिसको बाह्यार्थ लाभकी अपेक्षा नहीं, "तस्य कार्यं न विद्यते" ऐसे विगततृष्ण पुरुष के लिये कोई कर्तव्य बाकी नहीं बचता; उसको इस जगत्में कर्म करके अथवा न करके कुछ हासिल करनेको नहीं है। सर्व भूतों के विषय में उसका कोई हेतु लिपटा नहीं रहता (१७। १८) पहिले कह दिया है कि हे अर्जुन तुम्हें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' केवल कर्म करनेका अधिकार है, तुम्हें निरंतर अनासक्त रहकर नियत कर्म करना चाहिये, 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः' आसक्ति छोडकर कर्म करनेवाले को भी कैवल्यपद प्राप्त होता है।

जनकादिकों + को कर्म ही के द्वारा संसिद्धि मिली है। हे अर्जुन, तुम्हें लोकसंग्रह का भी विचार करना चाहिये। समाज में जिनकी श्रेष्ठ पदवी है ऐसे मनुष्यों का आचार देखकर उसके अनुसार अन्य लोग बर्ताव करते हैं और जिस बातको ऐसे श्रेष्ठ पुरुष प्रामाण्य देते हैं उसीके अनुसार लोग आचरण करते हैं। मेरा ही उदाहरण देखो। मेरे लिये इस त्रैलोक्य में कोई कर्तव्य नहीं अथवा मुझे कोई ऐसी चीज प्राप्त नहीं करना जो मुझे प्राप्त न हुई हो। ऐसा होनेपर भी मैं कर्म करता ही रहता हूं। आलस्य से यदि मैं कर्म न करूंगा तो लोक भी वैसा ही करेंगे। यदि मैं कर्म न करूंगा तो लोकस्थिति को आवश्यक जो वर्णाश्रमविहित धर्म उसका अभाव होकर लोगोंका नाश होगा और वर्णसंकर करने का अपवाद मुझे मिलेगा। लोकसंग्रह करनेवाले आत्मविद् पुरुषको—परानुग्रह के अर्थ—कर्मासक्त अज्ञानियों के सदृशही परंतु आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिये। कर्म में आसक्त रहनेवाले अज्ञ जीवोंका बुद्धिभेद समझदार आदमी को करना न चाहिये, किंतु सर्व कर्म बडी तत्परतासे करके उन अज्ञों से कराना चाहिये। (१९ से २६) (यदि तुम पूछोगे कि अज्ञानी मनुष्य क्यों कर्मासक्त रहता है, तो उसका उत्तर सुनो।) प्रकृति का मतलब है गुणों की साम्यावस्था। उसमें क्षोभ होकर सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हुए। प्रकृति के इन गुणों द्वारा—देह व इंद्रियोंके योगसे-होनेवाले लौकिक व शास्त्रीय कर्म जब होते रहते हैं तब अहंकारसे मूढ बना हुवा मनुष्य समझता है कि इन कर्मोंका मैंही कर्ता हूं; तत्त्वज्ञ पुरुष यह जानकर कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (इंद्रियरूप गुण विषयरूप गुणों से आसक्त रहते हैं परंतु मैं उन गुणोंसे अलग हूं।) गुणोंका केवल साक्षी होता है और इसलिये कर्मबंध में नहीं पडता। प्रवृत्तिके गुणोंसे अर्थात् मायाके देहेन्द्रियरूप विकारोंसे मोहित होकर जो मनुष्य प्रकृति के गुणकर्मों को अपना लेता है इस मतिमंद कर्मसंगी पुरुष को विचलित करना आत्मज्ञानी पुरुष को उचित नहीं है। हे अर्जुन कर्मयोगका सार तुम्हें एक श्लोक में बतलाता हूं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ॥३०

(अर्थ- कर्ता और करनेवाला मैं परमात्मा हूं इस विवेकबुद्धिसे सर्व कर्म (कर्मफल) मुझे अर्पण करो, और फलेच्छा व संग छोडकर विगतज्वर होकर बेखटके युद्ध करो(ज्वर=शोक, संताप, भर)

इस मत के अनुसार जो श्रद्धायुक्त और निर्मत्सर बुद्धिसे नित्य आचरण करते हैं वेभी कर्मबंध से मुक्त होते हैं। परंतु अश्रद्धा से द्वेषबुद्धिसे मेरा यह मत जो लोग नहीं मानते और उसके अनुसार बर्ताव नहीं करते उनको मूढ, अविवेकी, इंद्रियों के दास समझना। (२७ से ३२) (यदि तुम पूछोगे कि मेरे मत के अनुसार बर्ताव न करके लोग स्वधर्म छोडकर परधर्मावलम्बन क्यों करते हैं, तो उसका उत्तर यह है कि) ज्ञानवान् मनुष्य भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही बर्ताव करता है; समस्त प्राणी अपनी प्रकृति के प्रवाह के साथ बहते हैं। वहां मेरा निग्रह क्या कर सकता है ? (ऊपर २७ वें श्लोक में 'प्रकृति' का जो अर्थ किया गया है उससे यहां जरा भिन्न अर्थ है। पूर्वजन्मार्जित पापपुण्यादिकों का संस्कार जो वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त होता है उसको यहां प्रकृति कहा है। मनुष्य यदि ऐसा प्रकृतिवश है, तो क्या वह शास्त्रसे अथवा विवेक से सुधर नहीं सकता ? जरूर सुधर

+ यह कहना यथार्थ नहीं कि जनकराजा आमरण कर्मयोगी थे। अन्तमें उन्होंने सर्वसंगपरित्याग किया। जनकने अखीर में संन्यास लिया। " विदेह राज्ये च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै। यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन् मिथिलाधिपः ' (महाभरत शांतिपर्व ३१८-२७) और कृष्णपरमात्मा कार्य के लिये अवतार लेते हैं इस लिये उनका भी उदाहरण लागू नहीं है। क्यों कि उनको " यावदाधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् " इस सूत्र के अनुसार अपना अवतारकृत्य समाप्त किये बिना छुटकारा नहीं।

सकता है। परंतु रागद्वेषोंपर विवेक का ताबा रहना चाहिये।]

इन्द्रियों व उनके विषयोंके रागद्वेष निश्चित हुए हैं, अर्थात् इष्ट विषयोंपर प्रीति और अनिष्ट विषयोंपर द्वेष ये बातें सहज (स्वाभाविक) हैं। परंतु हमें उन रागद्वेषोंके अधीन न होना चाहिये। यही रागद्वेष कल्याण के मार्गपर हत्यारे बनकर बैठे हैं। (रागद्वेष के कारण स्वधर्म और परधर्म के विषय में मनकी समता नहीं रहती, मनुष्य अपनी इच्छा को ही प्रधान समझता है;यह अनुचित है शास्त्र की मर्यादा से चलने में ही कल्याण है।) स्वधर्म के अनुष्ठान में यद्यपि कोई वैगुण्य हो तथापि परधर्मकी अपेक्षा वह अधिक श्रेयस्कर है, चाहे परधर्मका अनुष्ठान कितना भी उत्तम प्रकारसे किया गया हो। स्वधर्म के आचरण से मरण आवे तो भी अच्छा है, परंतु परधर्मका आचरण भयावह है। अर्जुन पूछते हैं "स्वतःकी इच्छा न रहते हुए मनुष्य पाप करनेमें (स्वधर्मत्याग और परधर्मस्वीकार करने में) प्रवृत्त होता है, जैसे किसीने बलात्कार से उसे इस कृत्यमें प्रवृत्त किया हो, वह किसकी प्रेरणासे प्रवृत्त होता है?" भगवान् उत्तर देते हैं "इसके प्रेरक वही रागद्वेष अर्थात् कामक्रोध। रजोगुण से उत्पन्न यह कामक्रोध उसीका स्वरूप है। यह अतिशय खड्ड है अर्थात् इसकी तृप्ति कभी नहीं होती, जीवों को महापाप में डुबानेवाला यह इनका शत्रु है। यह काम सब अनर्थों का मूल है। अग्नि जैसा धूम्र से, आयना जैसा मलसे आच्छादित रहता है अथवा गर्भ जैसा झिल्ली से वेष्टित रहता है उसी प्रकार कामसे यह सब आच्छादित है। कभी तृप्त न होनेवाली यह कामरूप अग्नि ज्ञानी पुरुषोंकी नित्य वैरीन है और इसी कामने ज्ञानको ढांक दिया है। इसका अधिष्ठान इंद्रिय, मन और बुद्धि है। इन्हीं के योगसे ज्ञानको आच्छादित करके यह जीवों को नानाविध मोह में डालता है। इसलिये हे अर्जुन, पहिले तुम इंद्रिय-निग्रह करके ज्ञानविज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी काम का सर्वथैव त्याग कर दो। (ज्ञान का अर्थ शास्त्रसे और गुरु से प्राप्त किया हुआ आत्मज्ञान; विज्ञान का अर्थ आत्मानुभव। इन दोनोंका नाश करनेवाला अर्थात् मोक्षका रास्ता बंद करनेवाला जो नित्य वैरी और पापी काम उसका तुम त्याग करो। कामके चुंगलसे छूटने के लिये काम से अधिक बलवान् पुरुष का आश्रय करना चाहिये। ऐसा कौन है? बाह्य व स्थूल देहके परे ज्ञानेन्द्रिय हैं, ज्ञानेन्द्रियों के परे संकल्पविकल्पात्मक मन है और निश्चयात्मक बुद्धि मन के परे है, और बुद्धिके परे और बुद्धिसे श्रेष्ठ बुद्धिसाक्षी आत्मा है। "यो बुद्धेः परतस्तु सः", इस प्रकार हे महाबाहो अर्जुन! बुद्धिसे भी परे इस परमात्मा को जानकर, अपने को सम्हालकर (मनको रोककर) इस दुर्गम कामरूप शत्रु को जीत लो। (श्लो० ३३ से ४३)

इस तीसरे अध्याय में अर्जुन ने "येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्" (बुद्धियोग अथवा कर्म) जिससे मेरा कल्याण होगा इसका निर्णय मांगा है और कर्मयोगरहस्य बतलाकर भगवान् ने वह निर्णय दिया है। वर्णधर्मपालन से देवोंका संतोष; यज्ञचक्र अर्थात् जगच्चक्र का निरूपण करके यह सब चराचर ब्रह्मबद्ध है-

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

यह उसका तात्पर्य;

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् ...तस्य कार्यं न विद्यते।

आत्मरत पुरुषों को कर्म का बंधन नहीं होता; तथापि जनकादिकोंने किंबहुना साक्षात् भगवान् ने लोकसंग्रहार्थ जगच्चक्र चालू रखा है इसका उदाहरण;

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

ऐसा अर्जुनसदृश मुमुक्षु जीवों के लिये कर्मयोगका सुंदर उपदेश और उसमें किया हुआ कर्म, ज्ञान और भक्तिका सुंदर समावेशन, रागद्वेषों का अथवा कामक्रोधका ज्ञाताओं पर भी असर करनेवाला प्राबल्य और इनको जीतने का उपाय अर्थात् "यो बुद्धेः परतस्तु सः" - बुद्धिसाक्षी जो आत्मा उसका ज्ञान (आत्मज्ञान) सारांश इस कर्मयोगप्रधान संपूर्ण अध्याय में आत्मज्ञानका और

भक्तिका अनुस्यूत प्रवाह बहता है, यह बात ध्यान में रहे।

(४) चौथे अध्याय का नाम "ब्रह्मार्पणयोग" इसमें कर्म ब्रह्मार्पण करनेका उपाय "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इस २४ वें श्लोक में बतलाया है। इसलिये इसको नाम "ब्रह्मार्पणयोग" दिया है। पिछले अध्याय का कर्मयोग का ही विषय आगे चलाते हुए भगवान् कहते हैं "यह योग बहुत पुरातन है। मैंने पूर्व में यह योग विवस्वान् को (सूर्य को) बतलाया। सूर्यने मनूको और मनूने इक्ष्वाकु को बतलाया। इस तरह परंपरा से वह अनेक राजर्षियों को प्राप्त हुवा। हे अर्जुन—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

तुम मेरे सखा और भक्त हो इसलिये यह परम रहस्य आज मैंने तुम्हें बतलाया। अर्जुन कहते हैं "हे भगवन्, विवस्वान् बहुत प्राचीन समयमें हुवा तुमने उसको यह योग कब बतलाया?" भगवान् ने धीरे धीरे अपना स्वरूप प्रगट करते हुए कहा "मेरे और तुम्हारे आजतक अनेक जन्म हुए;उनका स्मरण तुम्हें नहीं है परंतु मुझे है। मैं अज, अव्यय हूं तथापि सर्व भूतों का ईश्वर हूं और अपनी माया के योगसे अपनी ही प्रकृतिका अधिष्ठान करके मैं जन्म लेता हूं अर्थात् मैं जो अव्यक्त अथवा निर्गुण हूं वही मैं साकार होता हूं। जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तबतब अर्थात् प्रत्येक युगमें साधुओं का रक्षण, दुर्जनों का संहार और धर्मसंस्थापना जैसे तीन कार्य करनेके लिये मैं अवतार लेता हूं। (पिछले अध्याय के २२ वें श्लोक में कहा है कि "वर्त एव च कर्मणि" मैं कर्म करता हूं, वे कर्म यही हैं।) मेरे दिव्य जन्मकर्म जो जानता है (अजत्व को बाधा न पहुंचते जन्म लेना और अक्रियत्व को बाधा न पहुंचते कर्म करना यह तत्त्व जो यथार्थ रीतिसे जानता है) वह पुनर्जन्म से मुक्त होता है। रागभयक्रोधसे जिन्हें छुटकारा मिल गया है "मन्मया मामुपागताः" ऐसे अनेक पुण्यवान् लोग आजतक ज्ञानतप के द्वारा 'मद्भावमागताः' मेरे स्वरूप को आकर मिले हैं। (१ से १०)। मुझे जो जैसे भजते हैं, वैसाही मैं उनको भजता हूं (फल देता हूं।) मेरेही मार्ग से लोग जाते हैं। अपने कर्मोंके फल शीघ्र मिलें इस लालच से लोग अनेक देवताओं को भजते हैं (आगे ९ वें अध्याय में भगवान् ने कहा कि यह भी मेरा ही भजन है) और ऐसा करनेमें मेरा एकत्व भूल जाते हैं। ऊपर जो भगवान् का कथन आया है कि अक्रियत्व को बाधा न पहुंचने देते मैं कर्म करता हूं उसीका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि गुणकर्मविभाग के अनुसार मैंने चातुर्वर्ण्य निर्माण किया, परंतु उसका कर्ता व अकर्ता (न करनेवाला) अव्यय मैं ही हूं। मुझे कर्मफल की वांछा नहीं इसलिये 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' और यह जो जानता है वह भी कर्मबंध से मुक्त होता है। यह (अकर्तात्मयोगका) रहस्य जानकर पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने कर्म किया, और तुम भी मुमुक्षु हो इसलिये जैसा उन्होंने किया वैसा तुम भी करो। कर्माकर्म का विचार गहन है। कर्म विकर्म और अकर्म + ये सब बातें भलीभांति समझ लेना चाहिये। जो सब कर्मोंमें अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है वह सर्व कर्म कर्ता और ज्ञानी है। प्रारब्धकर्मानुसार जो प्राप्त हुवा ऐसे

+ शंकराचार्य ने इन तीन पदोंका अर्थ ऐसा किया है- कर्म= विहित कर्म; विकर्म= निषिद्ध कर्म; अकर्म= कर्म न करना। वामन पंडितने ऐसा अर्थ किया है—जो जिसको वेदविहित है वह (उसके लिये) कर्म; वेदोंने जिसका निषेध किया वह करना विकर्म; वेदविहित जो है वह न करना अकर्म, ऐसे कर्म के तीन प्रकार हैं। ज्ञानेश्वरने इन तीन पदोंका अर्थ इस प्रकार किया है—कर्म वह है कि जिससे विश्वको आकार प्राप्त हुवा; विकर्म= विहित कर्म; अकर्म= निषिद्ध कर्म। लो० तिलक के विवरण से अर्थबोध इस प्रकार होता है- निःसंगबुद्धि से किया हुवा जो सात्त्विक कर्म वह अकर्म; मोहसे और अज्ञान से जो तामस कर्म होता है वह विकर्म और राजस कर्म = कर्म।

विहित कर्ममें जो अकर्मत्व देखता है, और अकर्म में कर्म देखता है अर्थात् उदासीन अकर्ता रहकर जो कर्म करता है वह कर्मयोगी है। आत्मामें कर्तृत्व नहीं और कर्मत्व नहीं ऐसा देखना इसीका नाम अकर्म है। काम संकल्प और फलापेक्षा छोडकर जो आत्मतृप्त पुरुष कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। कर्माचरण का इतनाही तात्पर्य है कि कर्म आद्यंत ब्रह्मार्पण करना चाहिये। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना" (२४) अर्पण, हवि, अग्नि, हुत और होता यह सब ब्रह्मभावसे भर हुवा है ऐसा जो अनुभव करता है "ब्रह्मैव तेन गंतव्यम्" वह ब्रह्मरूप हो जाता है। तात्पर्य यज्ञकर्म में सर्वत्र जिसकी आत्मबुद्धि है वह ब्रह्महो है। इस ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त अनेक प्रकारके यज्ञ बतलाये गए हैं। दैवयज्ञ (२५), विषययज्ञ व ज्ञानेंद्रिययज्ञ (२६), इंद्रियकर्मयज्ञ व प्राणकर्मयज्ञ (२७), द्रव्ययज्ञ,तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्यायज्ञानयज्ञ (२८) प्राणयज्ञ, अपानयज्ञ (२९), प्राणयज्ञ (३०) इन सब यज्ञों के करनेवाले 'यज्ञक्षपितकल्मषाः' यज्ञ कर्म के कारण शुद्धचित्त होते हैं। कोईभी यज्ञ करनेसे कर्ता को चित्तशुद्धि का फल मिलता है, और यज्ञशिष्टामृत का सेवन करके वह अंतमें ब्रह्मपदको जाता है। ये सब यज्ञ एक प्रकारसे कर्म ही हैं। जो मनुष्य किसीभी प्रकारका यज्ञ करके और किसी वस्तु का त्याग करके वैराग्य मार्ग नहीं लेते उन्हें इहलोकमें कोई लाभ नहीं होता, परलोक दूरही रहा। द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है क्यों कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" सब प्रकारके समस्त कर्मोंका पर्यवसान आखिर ज्ञानहीमें होता है। ज्ञान की प्राप्ति तत्वदर्शी (आत्मानुभवी) गुरुसे नम्रतापूर्वक प्रणिपात करके, परिप्रश्न अर्थात् शंकासमाधान करनेसे और श्रीगुरुकी सेवा करनेसेही होती है। वह ज्ञान होनेपर (३५) सर्व भूतोंको तुम आत्मामें देखोगे और पश्चात् मुझ में देखोगे। "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (मयि = विश्वरूपे) अपने सहित सर्वभूतों को तुम मेरेमें देखोगे और तुम्हें फिर इस प्रकारका मोह न होगा। सर्व पापियोंसे अधिक पापि (पापकृत्तमः) यद्यपि तुम होगे तभी इस ज्ञाननौकासे सब पापों को तर जाओगे। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होने से सब कर्मोंको जला देता है। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।" (३७) ज्ञानके सदृश पवित्र वस्तु त्रैलोक्य में नहीं है। जो श्रद्धावान् है, तत्पर है, जितेन्द्रिय है उसी को यह ज्ञान मिलता है और ज्ञानके साथ उसे परम शांति प्राप्त होती है। जिसको श्रद्धा नहीं (गुरु और शास्त्रवाक्यपर विश्वास नहीं) और जो संशयात्मा है उसके लिये इहलोक नहीं, परलोक नहीं और सुख है ही नहीं। आत्मज्ञानका योग होनेसे जिसके सर्व कर्म लुप्त हुए और ज्ञानसे सब संशय दूर हुए हैं, ऐसे 'आत्मवंत (आत्मानुभवी) पुरुषको कर्म की बाधा नहीं हो सकती। 'तस्मात्' अज्ञान से जो हृदय में संशय उत्पन्न हुवा उसे ज्ञानरूपी खड्गसे नष्ट करके बुद्धियोगपर आरूढ हो और स्वकर्म के (युद्धके लिये) खडे हो।

पिछले अध्यायका बुद्धियोगपूर्वक कर्म ब्रह्मार्पण करनेका मार्ग अधिक स्पष्ट रीतिसे बतलाया है। इस योग की प्रथम परंपरा बतलाई और अर्जुन 'भक्त व सखा' होनेसे उनको इस परंपरा का रहस्य बतलाया। "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' ऐसा निर्गुण परमात्मा 'संभवामि युगे युगे' धर्मस्थापनाके हेतु सगुण और साकार होता है। भगवानके जन्मकर्मका रहस्य (अजत्वको अबाधित रखकर कर्म करनेका रहस्य) जो जानते हैं वे 'पूता मद्भाव' मागताः' भगवद्रूप होते हैं। यज्ञके अनेक प्रकार हैं उनमें ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। सर्व कर्मोंका पर्यवसान आत्मज्ञमें है और अनुभविक संतोंको श्रीगुरुको शरण जानेसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है। 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' अपने सहित सर्व भूतोंको परमात्मस्वरूपमें देखना, आत्माका अद्वैत भाव जानकर उससे समरस होना यही ज्ञान है। ज्ञान अत्यंत पवित्र है। ज्ञानसे अखिल पापोंका नाश होता है। श्रद्धावंत और जितेन्द्रिय पुरुषकोही ज्ञान होता है। कर्मकी समाप्ति आत्मज्ञानमें होती होती है। आत्मवान् पुरुष कर्म करता रहे तथापि

उनकी बाधा उसे नहीं होती। कर्म ब्रह्मार्पण करनेका उपदेश करते हुए इस अध्यायमें मुख्यतः यह अद्वैत बोध किया है कि अपने सहित सर्व भूतोंमें सगुण निर्गुण परमात्मा भरा हुवा है।

(५) तीसरे और चौथे अध्यायमें बुद्धियोग, पूर्वक कर्म ब्रह्मार्पण करनेको कहा। अब पांचवें अध्यायमें यह बतलाते हैं कि कर्म और संन्यास तत्वतः एकही हैं। सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं तथापि "कर्मयोगो विशिष्यते" ऐसा कहा है इसका कारण यही है कि संन्यास 'दुःखमाप्तुमयोगतः' जीवपरमात्मैक्यके विना साध्य करना कठिन है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय।

इस तरह ज्ञानका (आत्मज्ञानका) सर्वश्रेष्ठत्व पिछले अध्यायमें जब स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है तब भगवान्का यह आशय हो नहीं सकता कि कर्मयोग उसकी (आत्मज्ञानकी) बराबरी करेगा। लोकसंग्रहार्थ कर्मयोगका गौरव उन्होंने इसलिये किया है कि वह चित्तशुद्धिका साधन है और अर्जुनके समान असंख्य जीवोंको कर्मयोगमेंसे गए बिना छुटकारा नहीं है। पिछले अध्यायमें ऐसाही कहा है कर्मयोगियोंके ये यज्ञ चित्तशुद्धिकारक हैं, यज्ञकर्ता 'यज्ञक्षपितकल्मषाः' अर्थात् स्वधर्मरूप यज्ञसे निष्पाप और शुद्ध होते हैं। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' यज्ञ दान तपादि कर्म पावन करनेवाले अर्थात् चित्तशुद्धि करनेवाले हैं ऐसा आगे (१८-५में) कहा है। तात्पर्य, कर्मयोग चित्तशुद्धि करनेवाला है; चित्तशुद्धिके पश्चात् वैराग्य, वैराग्यके पश्चात् ज्ञानप्राप्ति ऐसा यह क्रम है। इस अध्यायमें "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" सांख्य और योग भिन्न भिन्न हैं ऐसा जो कहते हैं वे बाल (अज्ञानी) हैं। दोनों मार्गोंसे एकही ध्येय प्राप्त होता है, जो इन दोनोंको एकही देखता है वही आंखवाला है ऐसा कहकर यह बतलाया है कि सांख्य और योग (ज्ञान व कर्म) इन दोनोंको एकही प्रकारके गुणों की आवश्यकता है और दानोंको (थोडे आगे पीछे) मोक्षपद मिलता है। ज्ञानी हो अथवा कर्मी हो- जो रागद्वेषरहित है, निर्द्वंद्व है, जितेन्द्रिय है, सर्वभूतात्मभूतात्मा है, आसक्ति छोडकर जो ब्रह्मार्पण कर्म करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म बंधनसे मुक्त होता है। "कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि" योगी संग छोडकर 'आत्मशुद्धये' कर्म करते हैं, और आगे चलकर नैष्ठिकी शांतिको प्राप्त करते हैं। सर्व कर्मोंका वे मनसे संन्यास करते हैं और जितेन्द्रिय रहकर सुख पाते हैं; वे कर्म नहीं करते, अपने ऊपर कर्तृत्व नहीं लेते, फलेच्छा नहीं रखते। 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' प्रकृतिस्वभाववशात् कर्म होते रहते हैं। अज्ञानके कारण प्राणी मोहवश होते हैं। ज्ञानसे उनका अज्ञान नष्ट होता है, और उसे परब्रह्म प्रकाशित होता है। ब्रह्म निर्दोष व सम है इसलिये 'येषां साम्ये स्थितं मनः' जिनका मन साम्यमें स्थित है, वे ब्रह्मस्थितिमें ही रहते हैं; ऐसे पुरुष विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मणको, गायको, हत्तीको, श्वानको और श्वपाकको सम दृष्टिसे देखते हैं, "पण्डिताः समदर्शिनः" उनकी निश्चलता हर्षामर्षसे 'प्रिय अप्रियसे भंग नहीं होती। उन्हें अक्षय्य सुख मिलता है। "स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते" (२१) जो विषयोंमें रमता नहीं और प्रपंचमें रहते हुए कामक्रोधोंके वेगोंको सहता है- उनके कारण चलायमान नहीं होता वह अंतःसुख, अंतराराम और अंतर्ज्योति रहता है, ब्रह्म होकर ब्रह्मसुख लेता है 'स युक्तः स सुखी नरः' वह पूर्णतया अन्तर्मुख रहता है, और—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥२९॥

जिसने सर्व कर्मसंन्यास किया है ऐसे पुरुषका वर्णन है। इन लक्षणोंसे कर्मयोगी युक्त होता है तब वह कर्मोंमें रहकर भी संन्यासी है। 'एकं सांख्यं च योगं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'

(६) छठवां अध्याय अभ्यासयोगपर है। पिछला विषय आगे चालू है। कर्मफलकी आशा छोडकर जो स्वकर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। संकल्प छूटतेही जो योगी है वही

संन्यासी हो जाता है। योगारूढ होनेकी इच्छा रखनेवालेको कर्म साधन है; पूर्ण योगारूढ हुए मनुष्यको शम अर्थात् साध्य साधनका ऐक्य साधन है। विषयोंमें और कर्मोंमें जो आसक्त नहीं होता और सर्वसंकल्पका त्याग करता है उसको योगारूढ कहते हैं। मनुष्यको स्वयं अपना उद्धार करना चाहिये। जो अपने इंद्रिय और मनको जीत लेता है वह स्वयं अपना मित्र, और स्वतःको (अपने आत्मस्वरूपको नहीं पहचानता वह स्वयं अपना शत्रु है। जिसने अपने अंतःकरणको जीत लिया, जिसके सफल काम शांत हुए, जो शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमानके विषयमें सम रहता है उससे परमात्मा दूर नहीं; और वही कूटस्थ और ज्ञान व विज्ञान (अनुभव) से तृप्त पुरुष योगी है। शत्रुमित्र, स्वपर, साधु पापी इनके विषयमें समबुद्धि हो तो दूधमें शक्कर 'समबुद्धिर्विशिष्यते' (१-९) इसके आगे योगीको एकांतमें अभ्यास कैसा करना चाहिये वह बतलाते हैं। एकांत, शुचि स्थान, दर्भासन, उसपर वस्त्र, स्थिर आसन,मनकी एकाग्रता, चित्त और इंद्रियोंका निरोध 'समं कायशिरोग्रीवम्' नासिकाग्र दृष्टि, ब्रह्मचर्यव्रत, इतना सब संपादन करके "मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः" मनका संयम करके भगवान् में चित्त रखकर और भगवत्परायण होकर जीव परमात्मसौख्यका उपभोग लेते रहना। ऐसा करनेसे मेरे स्वरूपमें एकरस कर देनेवाली परम शांति प्राप्त होती है। (१०-१५) योगाभ्यासीको क्षुधा, तृष्णा, निद्रा अति न हो और इनका पूर्ण त्याग भी न करना चाहिये। आहार विहार, बोल चाल, निद्रा जागर इत्यादि सब बातोंमें परिमितता रहनी चाहिये। युक्ताहारविहार होना चाहिये। जब बाह्य पदार्थोंसे रोका हुवा मन आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है और अन्य उपभोगकी इच्छा नहीं रहती तभी उसको योगी कहते हैं; वह स्वयं अपनेहीमें संतुष्ट रहता है। जहां दुःखका लेश नहीं ऐसा आत्यंतिक व नित्य सुख पाकर योगी स्वरूपमें निश्चल रहता है। यही योगीकी समाधि है। (१६। २३) यह समाधि यकायक प्राप्त नहीं होती। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सकल कामोंका निःशेष त्याग कर देना और मनको बाह्य पदार्थोंसे रोककर (अन्तर्मुख करके)

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् २५
यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् २६

बुद्धिको सात्विक धैर्यका साथ देकर धीरे धीरे मनको स्थिर व शांत करना, उसको आत्मस्वरूपमें स्थिर करना और कोई भी विचार मनमें आने नहीं देना। यह चंचल मन जहां जहां दौडेगा वहां वहां उसको खींचकर आत्मामें स्थित करना। जैसे जैसे मन शांत होगा वैसे वैसे उसको 'शांतरजसम्' (जिसमें राजस वृत्तियां लुप्त हुई हैं) ऐसे निर्दोष ब्रह्मसुख की प्राप्ति होगी। ऐसा सतत अभ्यास रखने से "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते।" योगी 'विगतकल्मष' (निष्पाप) होकर ब्रह्मसंस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले परमसुखका आनंद से अनुभव लेता है। (समाधि का अथवा आत्मस्थिति का ऐसा अनुभव लेनेसे जो फल मिलता वह देखो।)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

इस प्रकार जिसका आत्मा योगयुक्त हुवा, वह सर्वभूतों में अपने को तथा अपने में सर्वभूतों को देखता है; इसी तरह मैं परमात्मा अपने में तथा सर्वभूतों में अकेला एक हूं ऐसा अनुभव करता है; अर्थात् अपने सहित सर्वभूत और स्वयं मैं इनमें अद्वैतत्व का अनुभव करता है। उसमें और मुझमें भेद नहीं रहता। वह मुझे सर्व भूतों में एकत्वभाव से देखता है इसलिये देहमें और व्यवहार में बर्ताव करता हुवा भी वह मुझमें रहता है। सुखमें व दुःख में आत्मौपम्यसे अपनेही समान सबको जो देखता वह सम्यग्दर्शननिष्ठ परम योगी है। (४। ३२)

यह योगस्थिति का वर्णन सुनकर अर्जुन को क्षणभर सुख हुवा। उसने पूछा "हे भगवन्! यह जो साम्यबुद्धिका योग तुमने बतलाया वह मनकी चंचलता के कारण स्थिर नहीं रह सकता, ऐसा

मुझे मालूम होता है । मन चंचल, बलवान्, हठीला और प्रमाथी है, उसको रोकना उतनाही कठिन है जितना हवा की गठड़ी बांधना कठिन है । भगवान् ने उत्तर दिया " हे अर्जुन ! यह सच है कि मन चंचल और सम्हालने को कठिन है; तथापि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वह वशमें हो सकता है ।"

अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते । (३५)

अपने मनको जिसने बिलकुल स्वैर छोड दिया, जिसको वैराग्य लेशमात्र नहीं उसको यह योग साधना कठिन जरूर है । तथापि अंतःकरणको वश में रखनेसे तथा अभ्यास और वैराग्य के उपाय से इस को साध्य करना अशक्य नहीं है । इसपर अर्जुन की दूसरी शंका है-"योगाभ्यासके मार्गका जिसन श्रद्धासे अवलंब किया और अंतकाल में जिसका मन योगसे चलित हुवा उस यत्नरहित पुरुष को योगसिद्धि न मिलेगी, उसकी क्या गति होगी ? ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में यह मनुष्य विमूढ होनेसे स्थिर नहीं होता; दोनों तरफ से अर्थात् कर्ममार्ग और योगमार्ग से च्युत होता हुवा यह मनुष्य फूटे हुए मेघ के सदृश नष्ट तो नहीं होता?" इसपर भगवान् जबाब देते हैं, " उसका ऐहिक अथवा पारलौकिक विनाश कभी नहीं होगा—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।

पुण्यकर्म करनेवाले किसी मनुष्य को दुर्गति नहीं मिलेगी। पुण्यकर्म करनेवाले जहां जाते हैं ऐसे स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहां दीर्घ काल रहकर (भोग समाप्त होनेपर) यह योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र और ऐश्वर्यवंत कुलमें अथवा (गरीब क्यों न हो परंतु) बुद्धिवान् योगियों के कुलमें जन्म लेता है । इस प्रकार का जन्म होना इस लोकमें अधिक दुष्प्राप्य है । पूर्वाभ्यास का बुद्धिसंस्कार उसे इस जन्ममें प्राप्त होता है और पुनरपि योगसिद्धि के लिये वह आगे प्रयत्न करता है ' उसके पूर्वाभ्यास के कारण, उसकी इच्छा हो या न हो, वह पूर्ण सिद्धिकी ओर आकर्षित होता है । इस प्रकार योग का अभ्यास होते होते अनेकजन्मसंसिद्ध यह योगी परा गतिको पहुंचता है ' याति परां गतिम् । ' तपस्वी, ज्ञानी (शास्त्रपंडित,) कर्मी (कर्मठ) इन सबकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है,इसलिये हे अर्जुन! तुम योगी हो । अंतिम श्लोकमें कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७

अर्थ-अपना अंतःकरण मेरेमें रखकर श्रद्धापूर्वक जो मुझे भजता है, वह समस्त योगियों में अत्यंत श्रेष्ठ ' युक्तम ' है ।

गीताका सुभाषित ।

अपना और शत्रुका बल ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम् ... ...
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम् ... ... (भगवद्गीता १।१०)

" हमारा बल अपूर्ण है ... ... और इनका (शत्रुओंका)बल पूर्ण है । " अपना बल अपूर्ण है ऐसा समझकर उसका प्रत्येक बाजुसे संवर्धन करनेका प्रयत्न विजयेच्छु पुरुषको करना चाहिये। इसी तरह शत्रुका बल यद्यपि थोडाही हो तथापि,ऐसा समझकर कि वह परिपूर्ण है, विजयेच्छु पुरुषको उसका प्रतिकार करनेका निश्चय करना चाहिये, सब तरह से उसका सामना करनेके लिये वैसी तैयारी कर रखना; जिससे विजय मिलेगा ।

जीवन-यज्ञ।

(ले०- श्री. कृष्णाजी धोंडो तलवलकर, टोकवडे; धसई, जि० ठाना।)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८।६१)

इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने इस सृष्टिके प्राणियों और उनके व्यहारोंके वास्तविक स्वरूप का संक्षेपमें परंतु असंदिग्ध वर्णन किया है। सर्वभूतों में परमेश्वर स्वयं व्यापक है, और वही भूतमात्रों को अपनी मायासे मोहित करके उनके द्वारा जगत् के नानाविध व्यवहार चलाता है। वस्तुस्थिती ऐसी रहनेपर भी परमेश्वरी मायासे पागल बना हुवा जीव अपने सब व्यवहारोंका कर्तृत्व अपनेही माथे लेकर उन व्यवहारोंके अच्छे बुरे परिणामोंका धनी होता है। अच्छे परिणामों से उसको सुख मिलता है; और ऐसाही सुख वारंवार मिलता रहे ऐसी आसक्ति रखता हुवा वह जीव हमेशा नये नये उद्योगोंमें मग्न रहता है। बुरे परिणामोंसे उसको दुःख होता है, और स्वभावतः उसके विषयमें उसको तिरस्कार उत्पन्न होता है और उसे टालनेका वह सदैव प्रयत्न करता है। इस प्रकार जिस इंद्रिय के द्वारा उसे सुख का अनुभव होता है, उस उस इंद्रियकी प्रेरणा के अनुसार वह रागद्वेषों से बद्ध होकर सर्वथा इंद्रियों के आधिन होता है। वह स्वयं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर रहते हुए भी इंद्रियों का गुलाम बन जाता है! देह को दुःख होनेसे वह म्लान होता है, और इच्छित सुख न मिलनेसे वह क्रोधवश पागल होता है और आदमियत से हाथ धो बैठता है। यदाकदाचित् उसके मनकी ऐसी सुस्थिति रही की वह इस जगत् के संबंध में विचार कर सके, तो सर्व कर्तृत्व का आरोप वह किसी दूसरे बाह्यवर्ती परमेश्वर पर करता है, परंतु यथार्थ में इस जगत् की निर्माणकर्त्री शक्ति वह स्वतः रहता है। वह अपने को इतना दुर्बल लेखता है कि वह कहता है "वही परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है उसकी प्रेरणा के विना मुझे शुष्क घासका तिनका भी उठानेकी शक्ति नहीं है।" इंद्रियशक्तियां उसे जहां खींचे वहीं जाने लगता है, इससे वे शक्तियां इसके स्वाधीन बिलकुल नहीं रहतीं। उसका मन विषयों के पीछे यहां वहां दौडने लगता है इससे उसकी बुद्धिको भी अनेक शाखाएं फूटती हैं, और वह बुद्धि इस माने हुए बाह्यवर्ती परमेश्वर में भी स्थिर नहीं होने पाती। "जो परमेश्वरप्राप्ति विश्वामित्र के समान महापुरुषों को भी दुःसाध्य हुई, वह मेरे सरीखे पामरों को कैसे साध्य होगी?" ऐसी दलील पेश करके वह इस बात का पीछा छोड देता है। तथापि उसकी इतीनी भावना कायम रही आती है कि परमेश्वर कोई अतिमानुष व्यक्ति है, और संकटकालमें उसे पुकारनेसे हमारा सवाल वह पूरा करता है। जब जरूरत पडे तब इस भावना का वह अवश्य उपयोग करता है। तत्वतः वह धर्म को कुछ नहीं समझता, परंतु यह समझकर, कि धर्माचरण के नामसे एक क्षुल्लक काष्ठ प्रत्येक व्यक्तिके पीछे लगा है और उसकी ओर दुर्लक्ष्य करनेसे काम न चलेगा, वह कवायत के तौरपर जैसा सधे वैसा धर्माचरण करता है। अपने जीवन की घटना वह इस तरह जमाता है, कि समाजनिर्बंध रखकर जो अपना सुख वही धर्म है, वही नीति है, सुखको अर्थात् शारीरिक सुख को वह अपने जन्म का ध्येय समझता है। पूर्वार्जित कर्मफलोंका भोग भोगने में जो विषय प्राप्त होते हैं, उनके संबंध में अपनी रुचिके अनुसार राग अथवा द्वेष अपने मन में दृढ करके वह पहिलेहीसे अगले जन्म की तरतूद बडी उत्सुकता से कर रखता है। इस प्रकार

" पुनरपि जननं पुनरपि मरणं " के चक्र में घूमने वाले का क्या होता है ? इसका विचारही छोड देना पडता है। भगवान् कहते हैं कि—

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥

गीता ९। ११

" मैं सर्व सृष्टिका आदिकर्ता, ऐसा मेरा श्रेष्ठ स्वरूप है; उसका ज्ञान न होनेसे अज्ञानी लोग मेरी, मनुष्यरूप धारण किये हुए मेरी, अवज्ञा करते हैं। अर्थात् मनुष्यदेहमें परमेश्वरही वास करता है,' उसको न पहचानकर, और स्वयं क्षुद्र मनुष्य-सरीखा बर्ताव करके अज्ञ लोग परमेश्वरकी अवज्ञा करते हैं। आजदिनभी यह बात सत्य है। परमेश्वर शक्ति जब देह को अपने कबजे में कर लेती है, तब देहानुषंग से जीवको बलहीन मनुष्यत्व आता है, इसमें आश्चर्यही क्या है ? वह फिर अपनी मर्यादित देहशक्ति के साथ सृष्टिकी खलबलाहट के आंदोलनोंमें गोते खाता रहता है; इसमें दोष किसका है? यद्यपि वह बुद्धि खर्च करके, नानाविध आविष्कार करके अपने सुखके साधन बढावें, तथापि वह मनुष्यका मनुष्यही रहता है। देहबुद्धिका अवलंब कर के वह परमेश्वर नहीं हो सकता। देहबुद्धिके पीछे लगकर शिकंदर, चंगीझखान सरीखे महापुरुष आखिर रोये। सूरज के तरफ पीठ करके अपनी छाया को पकडने के लिये दौडना, और आत्मस्थित शक्ति के विन्मुख होकर इंद्रियों की तृप्ति के लिये प्रयत्न करना, ये दोनों बातें एकसीं भ्रामक और निरर्थक हैं। सूर्य के सन्मुख होजाओ छाया तुम्हारे पीछे आने लगेगी। इंद्रियों के चोचले न करके उन्होंने जो हमारी शक्ति छीन ली है, उसे वापिस लो; बुद्धि को समर्थ करो, जिससे वह आत्मशक्ति में स्थिर होकर तुम्हें परमेश्वरत्व का परिचय करा देगी; ऐसा भगवद्गीताका कहना है। मनुष्यप्राणी अपना ईश्वरत्व भूल गया है, इस वास्ते भगवान् श्रीकृष्ण को दया आई, और उन्हें मनुष्य के अज्ञान की शिकायत करनी पडी; उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण का, साक्षात् परमेश्वर का यह हार्दिक संदेश है।

परमेश्वर होना, ज्ञानी होना, अथवा मोक्षप्राप्ति करना इसका मतलब यह नहीं कि आधुनिक धर्म-मार्तंड बन जाना। (व्याजोक्ति से ' धर्ममार्तंड ' उस कर्मठ ब्राह्मण को कहते हैं जो कि धार्मिक बाह्यविधि पालनेका घमंड रखता है।) लोग मुझे धार्मिक कहें इसी हेतुसे नियत कर्माचरण करनेसे मनुष्य मुक्त नहीं होता। और धर्म का श्रेय केवल इतने ही में नहीं कि पूर्वकालीन लोग करते आये इसलिये आगे भी लोगोंको यही करना (जारी रखना) उचित है। इस संबंध में गीताका आदेश पूर्णतया समर्पक और स्पष्ट है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

गीता १७।२८

केवल तांत्रिक नाटक से कोई लाभ न होगा। मनुष्य को इस जगत् में रहनाही है तो उसे तीन प्रकार के कर्म करनाही चाहिये- (१) स्वतःके योगक्षेमार्थ अथवा आत्मोन्नति के लिये; (२) सामाजिक कर्तव्यकर्म; और (३) मोक्षप्राप्त्यर्थ (ईश्वरके प्रीत्यर्थ)। वेदकालमें इन सब कर्मोंका समावेश " यज्ञ " संस्था में होता था। व्यक्ति का और समाज का स्वास्थ्य यज्ञही से रक्षित होता था और यज्ञकी अधिष्ठात्री देवता प्रत्यक्ष ब्रह्म ही है, इसलिये अमृतत्व भी यज्ञही से मिलता था। " कर्म ब्रह्मोद्भवं " इस वचन के अनुसार इस सृष्टि के समस्त मायारूपी कर्मही यज्ञका स्वरूप होनेसे सब कर्म ब्रह्मार्पण होते थे। यह ब्रह्मार्पण आजकाल-सरीखा दांभिक नहीं, किंतु अटल श्रद्धासे होता था; इसलिये कर्मों को यज्ञस्वरूप दिया जानेसे ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' यह भावना दृढ होती थी, क्यों कि सिवाय ब्रह्मस्वरूप के इस जगत् में कुछ नहीं रहता। यही बात गीता के इस उल्लेख से ज्ञात होगी- " यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् " (गीता ४।३१) परंतु मोक्षार्थ यज्ञ धीरे धीरे पीछे पड गया, और केवल फलप्राप्ति के लिये यज्ञ का प्रचार बढने लगा, तब उपनिषदों द्वारा ज्ञानोपदेश होने लगा। " मनुष्यप्राणी का ध्येय केवल योगक्षेमार्थ अथवा पारलौकिक सुखार्थ यज्ञ करना नहीं है; किंतु इससे अत्यंत उच्च ऐसी तेजोमय

ब्रह्मस्थिति है, उसको प्राप्त करना ही निःश्रेयस है" ऐसा उपदेश बडी आस्था से उपनिषद् करने लगे। तथापि मोक्षार्थ यज्ञ की कल्पना उपनिषत्काल में भी छूटी हुई नजर नहीं आती। यज्ञ और ब्रह्मज्ञान इन दोनों में घुटाला न होने पावे, प्रायः इसी अभिप्राय से योगक्षेमार्थ यज्ञ और अध्यात्मज्ञान इनको दक्षिण व उत्तर अयन मानकर, संवत्सर का रूपक लेकर, प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति व्रतका वर्णन किया गया है। (प्रश्न १।९।१०)। सकाम इष्टापूर्त यजन करने से मनुष्य पितृयाणमार्गसे चंद्रलोकको जाता है, और भोग लेकर वापिस आता है; और आत्मज्ञानी इंद्रियनिग्रह से आत्मा की खोज करके देवयानमार्ग से सूर्यलोक को जाता है, वहांसे वापिस नहीं आता। इस प्रकार ऐहिक व पारमार्थिक श्रेय साधनेवाला दोनों पक्षों के लिये यद्यपि एकही व्रत कहा गया है, तथापि अध्यात्मज्ञानका मार्ग अलग और पारलौकिक सुख का मार्ग अलग बतलाया गया है। मुंडकोपनिषद् में यद्यपि अध्यात्मज्ञानका विशेष बतलाया गया है, तथापि वेदकालीन यज्ञ का मोक्षप्राप्त्यर्थ महत्त्व कायम रखा है। (मुंड० १।२ १।६) उपनिषत्काल में जो अध्यात्मज्ञानपर जोर दिया गया उससे, अथवा उसके बादकी परिस्थिति के कारण औपनिषदिक ज्ञानके साथ संन्यासमार्ग की छाया समाजपर पडी हुई नजर आती है। यह छाया गीताने दूर कर दी; इतनाही नहीं, किंतु जिस यज्ञसंस्था को (वह कर्मठों का मार्ग है इस कारण) एक प्रकारसे हीनत्व आगया था, उसका भगवान् ने, यज्ञ शब्दका अनेक प्रकारों से व्यापक अर्थ करके, पुनरुज्जीवन किया।

गीताने यह उत्तम प्रकार से विशद करके बतलाया है कि, इस सृष्टि के कर्मबंधन का लेप न लगे और अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति हो, इस हेतुसे वेदोंने जिस ईश्वरार्पणकर्मरूपी परब्रह्मस्वरूपी यज्ञकर्मकी स्थापना की, उस यज्ञका मोक्षप्राप्ति से किस प्रकार का संबंध है। (गी० ३।९ से १६; ४।२३ से ३३) गीता के अर्थ के अनुसार मानवी जीवित भी एक जीवन-यज्ञ है; और इस लेख के प्रारंभ में उद्धृत किये श्लोक के अनुसार उस यज्ञकी अधिष्ठात्री देवता ईश्वर है। इस देवता के यजनार्थ जीवितके सर्व कर्म हैं,और ये सब कर्म उस देवताको समर्पण करना हैं; ऐसी भावना प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनक्रम में रखना चाहिये। यदि यह बात सत्य है कि यह अखिल जगत् परमेश्वरी तत्त्वसे व्याप्त है और वही तत्त्व समस्त व्यवहारोंको चलाता है, तो प्रारब्धसे कर्मों के तथा जीवित के प्रबंधसे अपने को जखड लेकर कर्मचक्र के पारतंत्र्य में सडते रहना क्या बुद्धिमानी का काम है ? "यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिस जीवन का उपयोग होना चाहिये, उस जीवनका असत्कर्मोंमें नाश करनेवाले को गीता चेतावनी देती है कि "अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।" शरीरसुखरूपी भ्रामक मृगजलके पीछे न दौडकर अपने अंतर्याम में रहनेवाले परमात्मासे संधान रखकर, व्यवसाय में प्राप्त होनेवाले कर्मफल की आसक्ति छोडकर आचरण करते रहनेसे अवश्यमेव आत्मशक्ति हस्तगत होगी। परमेश्वरी मायाके कारण सत्य मालूम होनेवाले इस जीवन का प्रत्येक कर्म उसका है। उस कर्मफल में आसक्ति न रखकर,वह उसका उसको अर्पण करके भक्तिद्वारा,उपासनाद्वारा उसका ज्ञान कर लेना यही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

योगी श्री बाबू अरविंद घोष कहते हैं।

" गीता एक स्वतंत्र सूक्ष्म विचारों की गंभीर पुस्तक है। उसको देश, काल और जाति की मर्यादा नहीं है। सदैव उपयोगी ऐसा यह सर्वज्ञानका सार है। इसमें सांप्रदायिक संकुचित भाव नहीं हैं। इस का उपदेश हमारे स्वभाव में आर जीवन में अत्यंत गहरा पहुंचा है। "

गीताधर्म अर्थात् विश्वधर्म।

(ले०— श्री० ह. भ. प. रामचंद्र कृष्ण कामत चंदगडकर, श्रीदुर्गादत्त—मंदिर, मार्शेल—गोवा.)

"The ideal of the Devotee of the Geeta is one in whom love is lighted up by knowledge and burst forth into a fierce desire to suffer for mankind."

—Prof. Radhakrishna.

" सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः । "

-श्रीव्यास

भगवद्गीता मनुष्यजीवके हितके लिये गाया हुवा गीत अथवा कहा हुवा धर्म है । इस धर्मका स्वरूप जैसा जिसको दिखता वैसा वह बतलाता है । इसी तरह मैं भी प्रयत्न करता हूं ।

महाभारतको पंचम वेद कहा है । वेदव्यासने भारतमें समस्त शास्त्रोंका समावेश किया है, और गीता उस भारतका सारसर्वस्व है । ऐसा होनेसे उस (गीता) को ' सर्वशास्त्रमयी ' कहनेमें अतिशयोक्ति न होगी ।

गीता एक ' रत्नाकर ' है । परंतु सामान्य रत्नाकरमें (समुद्रमें) गोता लगानेपर यह निश्चित नहीं कि सभी डुबकियां सार्थक होंगी और हाथमें रत्नही आवेंगे परंतु गीतारूपी रत्नाकरमें गोता लगानेसे वैसी निराशा कदापि न होगी। प्रत्येक गोता लगानेपर ' चिद्रत्न ' (जड रत्न नहीं) हाथ आनाही चाहिये ।

(परंतु सच्चा गोता लगना चाहिये; ऊपर ऊपर तैरनेसे वह साध्य न होगा ।)

गीता ' रसा ' (पृथ्वी) है । पृथ्वीके उदरमें अनंत रस है । इसलिये उसको ' रसा' ऐसा अन्वर्थक नाम है । उस पृथ्वीमेंसे भिन्न भिन्न रस खींचनेके लिये भिन्न भिन्न यंत्र रहते हैं; परंतु ये यंत्र मनुष्यकृत नहीं, ईश्वरकृत हैं । ये यंत्र अर्थात् नानाविध वृक्षवल्लियां, वनस्पतियोंके बीज हैं । जमीनके एकही तुकडेमें इमली, आम, गन्ना, आंवला, मिरची इन बीजोंके बीज डालनेसे यही बीज उस जमीनमेंसे भिन्न भिन्न रसोंको आकर्षण करके फलादिकोंके रूपसे व्यक्त दशा लाते हैं । इसी तरह गीतारूपी पृथ्वीमेंसे अनंत संस्कारयुक्त अंतःकरण अनंत रसोंको खींचकर संसारको देते रहते हैं ।

पूर्व कालीन विविध मतोंके भाष्यकार व टीकाकार; तथा गीतापर आधुनिक दृष्टिसे लेख लिखनेवाले उपर्युक्त विधानकी सत्यता सिद्ध करेंगे ।

* * *

ऐसा कहा जाता है और प्रतिपादन किया जाता है कि, जैसे ईसाइयोंका धर्मग्रन्थ ' बाइबल, ' मुसलमानोंका धर्मग्रन्थ 'कुरान' वैसेही हिंदुओंका धर्मग्रन्थ 'भगवद्गीता' है । परंतु मेरी समझमें गीताको केवल हिंदुओंका धर्मग्रन्थ कहनेसे उस ग्रन्थकी योग्यता घटाई जाती है । क्योंकि वह ग्रंथ केवल हिंदुओंका ही नहीं, किंतु अखिल विश्वका है, अथवा यों कह सकते हैं कि हिंदुधर्म जिसको सनातन धर्म कहते हैं- केवल हिंदुओंका नहीं, किंतु अखिल मनुष्य जातिका है। अर्जुनका निमित्त करके जगद्गुरु श्रीकृष्णने अखिल मानवजातिके लिये गीताका उपदेश किया है, और अर्जुनको ' नर ' संज्ञा है! अर्थात् अर्जुनने ८४ लक्ष जीवनयोनिमेंसे अत्यंत श्रेष्ठ ऐसी नरयोनिका प्रतिनिधि होकर, जिस समय उसकी बुद्धि 'धर्मसंमूढचेतस् ' अर्थात् किंकर्तव्यतामूढ हुई थी उस समय, (कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्) जगद्गुरु श्रीकृष्णके मुखसे श्रवण की है । इसलिये सब मनुष्य मात्रोंका

नर अथवा मनुष्य संज्ञाके जो पात्र हैं ऐसे समस्त जीवधारी प्राणियोंका इस पवित्र ग्रन्थपर हक है। "मनुष्य संज्ञाके पात्र" इन शब्दोंसे यह अर्थ लेना चाहिये कि, जो मनुष्य संज्ञाके पात्र नहीं उनको, अर्थात् पाशवी वृत्तिके मनुष्योंको, यह अधिकार नहीं है। यह कहनेमें अतिशयोक्ति न होगी कि ऐसे मनुष्यशरीरधारी जीव, न केवल गीताधर्मके, किंतु पृथ्वीके अन्य किसी भी प्रचलित धर्मके अधिकारी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि हमारा गीताग्रन्थ केवल हिंदुओंका नहीं, किंतु अखिल विश्वके मनुष्य मात्रका धर्म है। अर्थात् यह निर्भीकतासे कहा जा सकता है कि—

गीताधर्म मायने विश्वधर्म।

ऐसा कहनेके लिये पुष्टि, अपने भारतके प्राचीन व अर्वाचीन विद्वानोंकी अपेक्षा अन्य देशोंके और महाद्वीपोंके आधुनिक महान् विद्वानों और तत्त्वज्ञानियोंके मतोंसे मिलती है।

❀ ❀ ❀

अमेरिकाके जगत्प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी संत इमर्सनके गुरु महात्मा थोरो गीताको अपनी 'माता' कहते थे; और यह भी प्रसिद्ध है कि वे नित्य नियमसे संपूर्ण गीताका प्रतिदिन पाठ करते थे। भागवत-शिरोमणि प्रह्लाद जैसे सत्ययुगमें (कृतयुगमें) प्रथम सत्याग्रही पुरुष हुए, वैसेही महात्मा थोरो वर्तमान कालके प्रथम सत्याग्रही पुरुष हैं, और सब कोई जानते हैं कि इस विषयमें महात्मा गांधी उन्हें अपना गुरु मानते हैं। महात्मा थोरोके संबंधमें एक विख्यात घटना है। थोरो एकान्तवासके लिये जंगलमें जाकर बसते थे। उन दिनोंमें उनके शिष्य उपर्युक्त अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता इमर्सन सायंकालके समय उनके पास पौर्वात्य गीतादि अध्यात्म ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको जाते थे। एक दिन वहां पहुंचनेपर उन्हें एक भयंकर दृश्य दिखाई दिया। महात्मा थोरो जिस चार पाईपर सोये थे उसके नीचे दो चार सांप बिच्छू ऐसे बडे जहरीले प्राणी आकर खेल रहे थे। इमर्सन भयसे चकित होकर वहीं स्तब्ध खडे रहे। आगे बढनेकी और गुरुजीकी निद्राका भंग करने की उन्हें हिम्मत न हुई। उन्हें यह डर था कि गडबड करनेसे शायद ये जहरीले प्राणी गुरुजीके जीव को धक्का पहुंचाएंगे। थोडी देरके बाद वे जहरीले प्राणी चले गये और गुरुजी भी जाग गए। तब गुरुजीके निकट जाकर प्रणाम करके इमर्सन बोले, "मुझे एक प्रार्थना करनी है, आज्ञा हो तो कहूं।" थोरोने कहा, "आज इस संकोचका क्या कारण? जो कुछ कहना हो कहो।" इमर्सन ने जो देखा था वह कहा और पूछा कि आज्ञा हो तो यह चारपाई दूसरी जगह रख दूंगा। इसपर महात्मा थोरो अपनी शय्यापर उठ बैठे, और जोरसे हंसकर बोले, "इमर्सन, (हाथ में गीताकी पुस्तक लेकर) यह गीतामैया मेरा रक्षण करनेके लिये जबतक मेरे पास है, तबतक मुझे किसी बात का डर मालूम न होगा!"

म० थोरोके समान मॅक्समूलर, कँट, शोपेनहार इत्यादि पाश्चात्य पंडितों और तत्त्ववेत्ताओंके गीता के संबंधमें ऐसीही मत प्रसिद्ध हैं। लगभग ४५वर्ष के भीतर मिसेस बिजान्ट हिंदुस्थान में आई थीं, तब पूना के हीराबाग में उनके व्याख्यान हुए थे। उस समय एक व्याख्यान में गीताका वर्णन करके उन्होंने कहा, "इंग्लंड के अमुक पुतलीघर में काम करनेवाली १८०० स्त्रियां मेरा गीताका तर्जुमा पढेविना भोजन नहीं करती। मुझे यह देखकर बहुत खेद होता है कि यहां हिंदुस्थान में हिन्दुलोक विशेषतः ब्राह्मणवर्ग—जिनके लिये शास्त्राज्ञा ऐसी है कि संपूर्ण १८ अध्याय गीताका पाठ, कमसे कम १५ वें अध्याय का पाठ किये विना अन्नग्रहण नहीं करना, और अगर बिलकुल फुरसत ही अथवा कोई बडी अपत्तिहो, ता "अहं वैश्ववानरो भूत्वा..." इत्यादि श्लोक कहकर, उस मंत्र से हाथ के आपोशन का उदक अभिमंत्रित करके प्राशन करना, तब भोजन शुरु करना—ऐसा तीव्र निर्बंध जिनके लिये रखा गया है, वे लोग गीताके विषयमें उदासीन रहते हैं। कोई कोई लोग यह भी नहीं जानते कि यह श्लोक (अहं वैश्वानरो भूत्वा...) गीताके १५ वें अध्याय का है! इत्यादि"। यह व्याख्यान सुननेके

बाद बहुतसे नवशिक्षित विद्वानोंने गीताकी ओर देखना शुरु किया, और दूसरे दिन पूनाके बुकसेलरोंकी बहुतसी गीताकी पुस्तकें बिकीं। इस आशयके लेख तत्कालीन 'पूनावैभव' वगैरः अखबारों में प्रसिद्ध हुए थे, उन्हें मैंने पढा था। अस्तु।

* * *

कुछ खेदकी बात है कि,हमारे गीताग्रंथके संबंध में परकीय लोग यहां आकर उपदेश करें तब हमारा मन उस तरफ झुके; वे लोग हमें श्राद्ध का महत्त्व बतलावें तब हमारे विद्वान् लोग श्राद्ध करने लगें। (गीताके व्याख्यान के बाद मिसेस बिझान्ट ने उस समय श्राद्ध के महत्त्व पर व्याख्यान दिया था। पूनाके निवासियों ने धर्मचर्चापर उक्त विदुषी के साथ खासगी संभाषण भी किये थे, उन्हें सुनकर अनेक सुशिक्षित सज्जन धर्म की ओर झुकने लगे और गीता पढने लगे। यह बात उस समय प्रसिद्ध हुई थी।

यह कहने की अपेक्षा कि गीता के संबंध में जितनी श्रद्धा उन (पाश्चात्य) लोगों में है, उतनी हम लोगोंमें नहीं है, मैं यह कहना चाहूंगा कि अपने कतिपय आर्यजीव (Aryan Souls) उस देशमें जन्म पाये हैं, और वहां के अनार्य-म्लेंच्छादि-जीव इस देशमें उत्पन्न हुए हैं; और इसीलिये "पूर्वाभ्यासेन तेनैव ..." इस गीतावचनानुसार उन लोगों को हमारे गीता-उपनिषदादि ग्रंथ अत्यंत आदरणीय मालूम होते हैं, और वे बडे प्रेमसे इन ग्रंथों का अभ्यास करते हैं। और अपने कहलानेवाले लोग उन परमपूज्य ग्रंथोंकी निर्भर्त्सना करते हैं।

राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु।
ब्राह्मणानेव बाधन्ते तत्रापि श्रोत्रियान्कृशान्॥

(यह वचन मेरे उपर्युक्त विधान को पुष्टि देता है।) मेरी समझमें इसके सिवाय उन लोगोंकी गीताभक्ति तथा हमारे लोगोंकी अभक्ति व अनास्था की उपपत्ति नहीं लग सकती। दूसरी यह बात है, कि हमारेमेंसे थोर योग्यतावाले आर्यजीवों ने वहां जन्म लिया है, इस मेरे विधानकी सत्यता के लिये यह भी मान लेनेमें प्रत्यवाय नहीं है कि, ऐसे जीवोंने वहां जन्म लिया है, इसलिये सृष्टि के निसर्गनियम (Law of attraction) के अनुसार, भारत के श्री विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, बाबा प्रेमानंदभारती के सदृश आर्य धर्मवीर गुरुजनोंका वहां आकर्षण हुआ, और उनके मुखसे औपनिषदिक तत्त्वज्ञानका और भगवद्भक्तिका रस वहां के लोगोंको चखने मिला, और वहां उन सत्पुरुषों के हजारों अनुयायी बन गए। यहां इसके विपरीत हो रहा है। आर्योंके उपनिषन्मान्य धर्मको और देवता को छोडकर लोग परधर्म में प्रवेश करते हैं! "इस का सच्चा खुलासा एक भगवान्ही कर सकता है" ऐसा कहकर स्तब्ध रहना हमें प्राप्त है।

कुछ भी हो, हम जिसे हमारी गीता कहते हैं, उसका बोलबाला दुनियां में दूरदूरतक होता है, इसका हमें सानंद अभिमान रहना चाहिये। कुरुक्षेत्रमें जहां भगवान् ने भारतीय युद्ध के समय अर्जुन को गीताका उपदेश किया, वहांपर पतियाला रेस्टोरेशन सोसाइटी के मार्फत "गीताभवन" नामक एक जंगी और खुबसूरत इमारत बनाई गई है। पृथ्वीकी जिन जिन भाषाओंमें और लिपिओंमें जहां कहीं गीताकी पुस्तकें छापी गई हैं, वहांसे एक एक प्रति बुलवाकर उस गीताभवन में संग्रहित की गई है। गोरखपुर के "कल्याण" नामक सुविख्यात हिंदी मासिक के 'गीतांक' में ऐसा प्रकाशित हुआ है कि इन ग्रंथोंकी संख्या १६०० तक गई है। उक्त मासिक के संपादक महाशय ने प्रचंड यत्न करके, गीताकी प्रत्येक पुस्तक किस मुद्रणालय में छपी है, प्रकाशक कौन है, टीका किसकी है, किस भाषामें, किस लिपि में, किस ग्राम में, किस देशमें लिखी गई है, इत्यादि बातोंकी सविस्तर सूचि दी है। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि इस ज्ञात जगत् के सब देशोंमें गीताके संबंध में कितना आदर वास्तव्य करता है और बढता जाता है।

* * *

श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताको प्रभुकी 'वाङ्मयी मूर्ति' कह दिया है। प्रभुकी श्यामसुंदर, चतुर्भुज मूर्ति ने पृथ्वीतलपर अवतार लेकर, दुष्टोंका निग्रह, शिष्टों का परिपालन और धर्मका संस्थापन, ऐसे तीन कार्य किये हैं। किंबहुना इन्हीं तीन कार्यों के

लिये प्रभु निर्गुण में से सगुण में आते हैं। उनकी ऐसी प्रतिज्ञा है कि—

(१) परित्राणाय साधूनाम्।
(२) विनाशाय च दुष्कृताम्।
(३) धर्मसंस्थापनार्थाय।
संभवामि युगे युगे।
(गीता अ० ४ श्लो० ८)

परंतु प्रभुके ये सगुण अवतार विशिष्ट कालके लिये, विशिष्ट कार्य ही के लिये होते हैं; और उन कार्यों के समाप्त होनेपर ये अवतारतनु (लीला-विग्रह) गुप्त होती हैं। तथापि प्रभुकी यह गीतारूप 'वाङ्मयी' तनु वैसी नहीं है, किंतु शाश्वत है; सुकुमार और व्यापक है; एकादशाध्याय के विश्व-रूप के समान वह 'सर्वाश्चर्यमय' और 'दुर्निरीक्ष्य' भी है। अश्रद्धधान, अतपस्क और असूयावान् लोगोंको वह यथार्थ में दुर्निरीक्ष्य है, और ऐसे लोग गीताके अधिकारी हैं ही नहीं। श्रद्धावान् परंतु अज्ञ अर्थात् दुर्बल बुद्धिवाले मनुष्यों को भी वह दुर्निरीक्ष्य अर्थात् दुर्गम है। किंबहुना प्राज्ञ पुरुषों को भी वह भगवत्कृपा के विना सुगम न होगी। भगवान् की लीलातनु (राम-कृष्णादि लीलाविग्रह अर्थात् अवतारदेह) जैसे दैत्योंको और देवोंको भी सुसेव्य नहीं हैं- (कंस शिशुपाला दिकों को उस अवतारतनुका प्रभाव नहीं जान पडा,और इंद्र विरंचि आदिकोंभी वह नहीं समझा। उनको भी मोह हुवा;ब्रह्मदेवने कबूल ही किया है कि 'मुह्यन्ते ह्यस्मदादयः')उसी तरह प्रभुकी यह वाङ्मयी तनु भी सब लोगों को सुसेव्य नहीं है। क्यों कि—

(अ) 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' इस वचनके विरुद्ध 'तेषामहं समुद्धर्ता' यह वचन।

(आ) 'कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इसके विरुद्ध वचन—
(१) 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः'
(२) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'

(इ) 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' और
'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः'
इनके विरुद्ध वचन—
(१) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(२) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् ... ...
इत्यादि।

(ई) 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'इसके विरुद्ध वचन-
'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो। लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः॥'

(उ) 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' इसके विरुद्ध वचन—
'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

(ऊ) 'समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इसके विरुद्ध वचन—
(१) मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः। तानहं द्विषतः क्रूरान्...क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(२) परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
इत्यादि।

इस प्रकार परस्परविरोध अथवा विरोधाभास देखकर अप्रबुद्ध लोग संशय के चक्कर में पड जाते हैं। कतिपय आधुनिक विद्वान् लोग गीताको 'प्रमत्त-प्रलाप' कहके, अंधा जैसे सूर्यकी निंदा व उपहास करके स्वयं अपनी प्रमत्तता जाहीर करते हैं! तात्पर्य यह है कि असंस्कारी और संकुचित बुद्धिको गीताकी थाह लगना असंभव है। इसलिये 'प्राप्य वरान्निबोधत' इस वचन के अनुसार तज्ञ महापुरुषोंद्वारा उसका बोध करा लेना चाहिये। अथवा हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाकर ज्ञान-प्रकाश की प्राप्ति के लिये उससे दयाकी याचना करनी चाहिये। इससे वह दयाघन परमात्मा

" ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

इस अपने वचन के अनुसार, उस अनन्य और 'सततयुक्त' भक्त को यह ज्ञान और बुद्धियोग देगा। अस्तु।

ॐ ॐ ॐ

श्री सिद्धारूढ स्वामी वारंवार कहते थे-"पंडित लोग ग्रंथका अभ्यास करते हैं, और ज्ञानी लोग वृत्तिका अभ्यास करते हैं; ग्रंथ के अभ्यास से यदि

मुक्ति मिलती होती, तो सबही पंडित मुक्त होजाते; परंतु लोकानुभव वैसा नहीं है, इसलिये सच्चे मुमुक्षुओं को और साधकों को वृत्तिका अभ्यास करना चाहिये। " उनका यह वचन निरंतर ध्यान में रखकर स्वार्थेच्छू पुरुष गीताग्रंथ के अभ्यासकी अपेक्षा गीतातत्व के अभ्यासकी ओर अपने मनकी प्रवृत्ति रखें। केवल पांडित्यसे अर्थात् शाब्दिक ज्ञान से कुछ न होगा।

कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव।
कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च।

सत्साधक लोग इन वचनोंकी ओर बिलकुल दुर्लक्ष्य न करें।

❧ ❧ ❧

यहांतक गीताका महत्व, सकल जगत् में होनेवाला उसका बोलबाला, गीताके अधिकारी कौन हैं,इसी तरह गीता ग्रंथके अभ्यासकी अपेक्षा गीतातत्व के अभ्यास की आवश्यकता इत्यादि बातें बतलाई गई। अब गीताधर्म कौनसा है, और वह आचरण में कैसे लाया जाय, इसपर यथामति विचार करें।

वस्तुतः ' गीताधर्म ' विषयपर सांगोपांग रीतिसे लिखने बैठें, तो दिवसानुदिवस अथवा वर्षानुवर्ष काम करनेपर भी पूरा न पडेगा। तथापि कायावाचामनःशुद्धिके हेतु, संतसज्जनोंकी संगति से जो कुछ बुद्धिपर संस्कार हुवा है उसके अनुसार, थोडीसी चर्चा करनेकी इच्छा है। ऐसी चर्चा करनेके पहिले, गीताके क्या मायने है ? वह किसने गाई ? उस गानेवाले का नाम,ठिकाना और स्वरूप क्या है ? गीताका काल कौनसा, प्रसंग कौनसा ? गीताका तत्वज्ञान अर्जुनको युद्धही के समय में क्यों बतलाया गया ? अर्जुन को इसके पहिले ही वह तत्वज्ञान बतलाकर उसे अपनेसरीखा स्थितप्रज्ञानी बना रखनेको शांत फुरसतका समय भगवान् को मिलाही न था ? उस युद्धके घोर अवसरपर थोडीही अवधिमें क्या संपूर्ण गीताका कथन संभवनीय था? इत्यादि प्रश्नोंको उपस्थित करके उनके समर्पक उत्तर देना आवश्य है। परंतु ऐसा करनेके लिये स्थलावकाश और कालावकाश न होनेसे, उस खटपटको छोडकर उस गीतामें कहा क्या है? इसीपर थोडा विचार करना योग्य मालूम होता है।

बहुतसा बतलाया गया है; बह्वर्थ अल्पाक्षरोंसे वह सूचित किया गया है; विद्वानोंको वह सब ज्ञान ही है। तथापि नूतन जिज्ञासु उस गीताके प्रभुके उस वाङ्मय तनुके विषयमें थोडीसी कल्पना कर सकें, रूपरेषा समझ लेवें,बढती हुई जिज्ञासासे वे गीताका अवलोकन करें, और बादमें चित्तके समाधानके लिये बुद्धिसामर्थ्यानुसार, उस पवित्र ग्रन्थका और उसके निगूढ तत्वोंका वे अधिकाधिक प्रेमसे अभ्यास करने लवें, इस हेतुसे संक्षेपमें कुछ बतलानेका प्रयत्न करते हैं।

❧ ❧ ❧

कुलाचार, कुलधर्म पालनेकी आवश्यकता, और उन्हें न पालनेसे होनेवाले परिणाम बतलाये गए हैं। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ इत्यादि पंचमहायज्ञोंका वर्णन दिया और उपयोग बतलाया गया है। कर्म-अकर्म-विकर्म क्या वस्तु है, कर्मयोगका मतलब क्या है, बुद्धियोगका मतलब क्या है ? यह बतलाया गया है। कर्मके द्वारा जीवको होनेवाला बंधन अर्थात् कर्मके अंतर्गत विषय अलग करके,उस कर्मको अमृतरूप (मोक्षरूप) बनाने की युक्ति (बुद्धिको जंचे इस खूबीसे) जैसी गीतामें बतलाई गई है वैसी और उतनी स्पष्ट दूसरे ग्रन्थोंमें मिलना मुश्किल है। गीतामें पुनर्जन्म और अवतारवादका वर्णन स्पष्ट रीतिसे किया गया है। हिंदुधर्ममें जैसे पुनर्जन्म सिद्धान्तका प्रमुखतासे वर्णन स्पष्ट रीतिसे किया है, वैसेही अवतारसिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। रावण, कुंभकर्ण अथवा कंस सरीखे विश्वकंटक पुरुष जन्म लेकर जब संसारको ताप देने लगते हैं,तब वसिष्ठ मिश्वामित्र व्यास वाल्मीक अथवा नारद दुर्वास सरीखे ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ और महान् तपस्वी पुरुषभी उस आसुरी तापदायक शक्तिका निवारण कर नहीं सकते। वे भी इस कार्य के लिये अत्यद्भुत सामर्थ्यवान् ईश्वरी शक्तिकी प्रतीक्षा तथा प्रार्थना करते रहते हैं। जब वसिष्ठ

विश्वामित्रसरीखे ब्रह्मनिष्ठ और प्रतिसृष्टि करनेवाले महापुरुष ऐसे समयपर ईश्वरी अवतारकी-ईश्वरी शक्तिके साहाय्यकी-अपेक्षा करते हैं, तब आधुनिक जगत् की सबही परिस्थितिका सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले (ऋषि अरविंदबाबू, प्रेसिडेन्ट विल्सन सरीखे विश्वकल्याणचिंतक पुरुष) यदि ऐसेही आलाप करें और अपेक्षा करें तो क्या आश्चर्य है? अपनेको विद्वान् कहलानेवाले कतिपय लोग ऐसा आक्षेप लेते हैं, कि अवतारकी अपेक्षा करते रहनेसे समाजमें आलस्य फैलता है; और इस तरह लोगोंको चकराते हैं। परंतु जब रामकृष्ण के सदृश प्रत्यक्ष अवतार हुए, उस समय भी यदि लोग आलससे स्वस्थ बैठे न रहे, किंतु उस काल व परिस्थितिके अनुकूल कर्मही करते रहे, तब इसी समय आलस्यके फैलावका डर माननेका क्या काम है? अवतारकी अर्थात् ईश्वरी शक्तिके साहाय्यकी अपेक्षा करनेवाले अथवा प्रार्थना करनेवाले पुरुष यदि योग्य व्यावहारिक कर्म न करके सुस्तीसे बैठे रहें तो यही कहना होगा कि, उन पुरुषोंका, तथा जो पुरुष केवल अपनेही प्रयत्नसे सब कुछ साध्य करनेकी उमेद रखते हैं उनको अवतारका तत्वही नहीं समझा। अस्तु।

गीतामें कर्म, उपासना, ज्ञान, वैराग्यका उत्तम रीतिसे वर्णन किया है। यहां ध्यान रखना चाहिये कि भक्ति और उपासना भिन्न वस्तु हैं। यह सूक्ष्म भेद क्वचितही लोग जानते हैं। ज्ञानमार्गमें प्रवेश होनेपर शास्त्रसे आश्रमका तथा उपासनाका भी त्याग विहित है। परंतु ज्ञानप्राप्तिके बाद भी भक्ति करनेका उपदेश शास्त्रमें किया है; और ऐसा शिष्टाचारभी प्रसिद्ध है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वंत्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

यह भागवतका श्लोक इसके लिये प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन्मुक्त पुरुषभी भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं। बंगालके श्रीकृष्ण चैतन्य ऊर्फ गौरांग प्रभुके किये हुए इस श्लोकके ८१ अर्थ प्रसिद्ध हैं। श्री गुलाबराव महाराजने भी इस श्लोकपर उत्तम व्याख्यान करके "मुक्तिपरकी भक्ति" (इसीको ज्ञानोत्तर भक्ति कहते हैं) उत्तम प्रकारसे सिद्ध की है।

गीतामें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका वर्णन दिया है 'युंजान' योगी तथा 'युक्त' योगी का वर्णन है; कर्मी, उपासक व योगीके मरणोत्तर मार्गका—गतिका—वर्णन है; योगभ्रष्टोंकी दो जातियां बतलाकर उनके दो प्रकारके जन्मका दिग्दर्शन किया है। महान् दुराचारीभी भक्तिके द्वारा कैसे तर जाते हैं यह बतलाकर भक्तिकी शक्ति का वर्णन किया है। जिनको भगवान्के निर्विशेष चिन्मय व्यापक स्वरूप का आकलन करनेकी शक्ति नहीं ऐसे लोगों को, अर्थात् मंदप्रज्ञ मुमुक्षु लोगोंको वह शक्ति प्राप्त करने के लिये विशिष्ट तेजोसंपन्न विभूतिकी उपासना कही है।

विश्वरूप का वर्णन, उसकी शक्ति, तथा उसके दर्शन की युक्ति अथवा साधन गीतामें बतलाया है। अव्यक्त और व्यक्त स्वरूप की उपासना का तरतम भाव बतलाकर भगवान् को अतीव प्रिय रहनेवाले अथवा होनेवाले भक्तों के लक्षण बतलाए हैं। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि, हमें भगवान् प्रिय है परंतु भगवान् के हम किस तरह प्रिय होंगे, उन को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। प्रकृति-पुरुष का विवेक-देहात्मवैलक्षण्यज्ञान और उसके साधन गीतामें उत्कृष्ट रीतिसे बतलाए हैं। त्रिगुणों का उल्लंघन कैसे करना, गुणातीत के क्या लक्षण हैं, यह अच्छीतरह बतलाया है। क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तम पुरुष, इनके भेद बतलाकर जीव, जगत् और ईश्वर का स्वरूप और परस्पर संबंध बतलाया है। दैवासुरसंपत्ति का वर्णन करके यह बतलाया है कि 'दैवी संपत्ति' अभ्युदय व निःश्रेयस (मोक्ष) का कारण कैसे है; और आसुरी अधःपातका अर्थात् नरक का कारण किस तरह है।

तीन प्रकारका तप, तीन प्रकारकी श्रद्धा, तीन प्रकार के आहार, इसी तरह कायिक, वाचिक और मानसिक तपोंके प्रकार, तीन प्रकारका दान, ब्रह्म

की लक्षाएं (नाम) ॐ, तत् और सत्, इन नामों का विनियोग कैसे करना, सत् व असत् शब्दोंकी योजना कहां करना, यह बतलाया है।

त्यागके भी तीन प्रकार-सात्त्विक, राजस और तामस,-ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के तीन तीन प्रकार; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के स्वाभाविक कर्म इ० इ० बतलाकर भगवान् ने यह विशद किया है कि इन कर्मोंको " संगं त्यक्त्वा फलानि च " कर्मोंका संग (मैं करता हूं ऐसा अभिमान व आसक्ति) छोडकर और फलाशा का त्याग करके ईश्वरार्पित बुद्धिसे करना; इस तरह करनेवाला पुरुष कर्मबंधोंसे छुटकारा पाता है और मेरे प्रसाद से मुक्त होता है।

ॐ ॐ ॐ

" यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

यह श्लोक गीताधर्म का तात्पर्य है। भागवत का यह श्लोक " कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा..." ऊपर के श्लोकका व्याख्यान है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि " यत्करोषि ... " यह श्लोक गीतामृतदुग्ध का मंथन करके निकाला हुवा नवनीत है। और " सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज " यह श्लोक उस नवनीत से बनाया हुवा घृत है। (इस श्लोकका विवरण मैंने " कल्याण " के गीतांकमें " गीताकी शक्ति " शीर्षक लेखमें यथामति किया है। जिज्ञासु उसे यथावकाश देख लेवें। अनेक मित्रोंकी सूचना परसे उसको मराठीमें स्वतंत्र रीतिसे छापने का विचार है।)

ॐ ॐ

उपर्युक्त (यत्करोषि... और कायेन वाचा...) श्लोकोंका, अर्थात् इन श्लोकोंके तत्त्वोंका अभ्यास करते समय पहिले " मदर्पण " और " परस्मै नारायणाय " तत्त्व का शोध लगाना चाहिये, तभी अर्पणक्रिया सार्थ और साध्य होगी, और मनुष्यजन्मकी इतिकर्तव्यता, अर्थात् संसारबंधन से मुक्ति सुलभ होगी। त्रिगुणों के बंधन से जो मुक्ति होती है उसका नाम मोक्ष है;इसी को परम पुरुषार्थ कहते हैं।

तत्त्वदर्शी संतोंके- विद्वानोंके- मुखसे भगवत्तत्त्व का ' यथार्थज्ञान ' कर लेना चाहिये। ज्ञान होनेके बाद ' दर्शन ' और उसके बाद उस स्वरूप में ' प्रवेश ' ऐसा उसका क्रम है।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता अ० ११ श्लो० ५४)

और—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां ' तत्त्वतो ' ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(अ० १८। ५५)

इस श्लोक के ' तत्त्वतः ' शब्द पर ठीक लक्ष्यपूर्वक विचार करना चाहिये। बाद इसके ' प्रवेष्टुं ' और ' विशते ' इन शब्दोंका मनन व निदिध्यासना करना चाहिये; कोरा अंदाज का ज्ञान उपयोगी न होगा। कल्पनाकी देवता और कल्पनाकी भक्ति से भवसागर से उत्तीर्ण होनेकी शक्ति कदापि न मिलेगी। तात्पर्य यह कि भगवत्स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होनेपरही भगवान् का यथार्थ प्रसाद मिलेगा। उस प्रसाद के प्रभाव से समस्त संकटों का नाश होकर सर्वाभीष्ट-प्राप्ति होगी।

ॐ ॐ ॐ

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

धार्मिक अथवा व्यावहारिक, कायिक, वाचिक, और मानसिक, सब कर्मोंको, संग व फलासक्ति छोडकर, कर्तव्य-बुद्धिसे करना चाहिये, और भगवान् को अर्पण करना चाहिये। अर्पण के तीन प्रकार हैं—

(१) मैं अमुक कर्म करता हूं (अमुक देवताप्रीत्यर्थं अथवा अमुक कामनासिद्ध्यर्थं अमुकं कर्म करिष्ये) ऐसा संकल्प करके यथाशक्ति यथावधि सब कर्म करके, अखीर ' यह किया हुवा कर्म इस देवता को मैं अर्पण करता हूं ' ऐसा कहके जल छोडकर अर्पण करना, और ' न मम ' यह मेरा नहीं, ऐसा कहना बिलकूल प्राथमिक (कनिष्ठ प्रतिका) अर्पण है। (कन्या मेरी है इस भावना से उसका पालनपोषण करके जैसे उसे वरके स्वाधीन कर देते हैं; उसी तरह कर्मका कर्ता मैं हूं ऐसी

वृत्तिका पोषण करके, कर्म के अंत में उसे भगवान् को अर्पण करके वह पूर्व वृत्ति छोडनी है।)

(२) दूसरा प्रकार, कर्म करते हुए 'मैं कुछ नहीं करता' (नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्) ऐसी दृढ भावना से कर्म करना; और—

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते ...॥

देखना, श्रवण करना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना, जाना, सोना, सांस लेना-छोडना, बोलना, मलमूत्र विसर्जन करना, किंबहुना आंखोंके पलक मूंदना खोलना, ये सब इंद्रियोंके कर्म इंद्रिय करते हैं ऐसी दृढ धारणा रखकर, जैसे दूसरों के कर्म स्वतः अलग रहकर हम देखते हैं, वैसेही अपने कर्मोंको भी देखते हुए सर्वकाल साक्षिरूप रहना मध्यम प्रतिका अर्पण है। (दृढ और सतत अभ्यास से शुद्धचित्त गुरुपुत्र को यह साध्य होता है।) और तीसरा प्रकार—

(३) "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" इसके अनुसार कर्म को, कर्म कर्ता को, कर्म करने के साधन इत्यादि सब चीजों को ब्रह्मरूप देखना अर्थात् अखण्ड चैतन्यानुसंधान रखना, यह उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ प्रतिका अर्पण है।

देहभावना छोडकर—यह साढे तीन हाथकी देह ही मैं हूं ऐसी संकुचित भावना छोडकर—तथा कर्मपर की आसक्ति छोडकर, जो कर्म किये जाते हैं वे बंधन के कारण नहीं होते। भगवान् कहते हैं कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हंति न निबध्यते॥

ॐ ॐ ॐ

सर्व बंधन का कारण देहाहंभाव अर्थात् देहके विषय में आत्मबुद्धि है। जीवों से जो पातक होते हैं उनका कारण यही देहाहंभाव है। ज्योंही देह को "मैं" ऐसा कहा, त्योंही देहसंबंधियों को 'मेरा' कहना पडता है। तब अपने और अपने संबंधियों के हितके निमित्त मनुष्य पाप भी करने लगता है। इस पापकी निवृत्ति कब होगी? जब देहबुद्धि छूटकर पाप का होना बंद होगा तब अर्थात् देहात्मबुद्धि छोडने के बाद, तबतक नहीं।

इसलिये कालकर्मानुसार प्राप्त ऐसे कौटुंबिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय कर्तव्योंका पालन तभी हो सकेगा जब कि देहलोभ छूटेगा। "कर्तव्य-अकर्तव्य का मोह" देहदृष्टि छोडनेपर ही निकलेगा, तबतक नहीं। ऐसे निर्मोह होकर कर्म किस लिये करना? अर्थात् ईश्वरप्रीत्यर्थ। प्रीत्यर्थ=प्रीतिके हेतु, प्रीतिके लिये। यह ईश्वरकी प्रीति और संतोष किस वास्ते हासिल करना? इसका उत्तर सरकारी नौकरों से पूछना; अन्य नौकरों और कामदारोंकी अपेक्षा लष्कर के सिपाहियों से पूछना। ये लोग सरकारी आज्ञा के कारण, प्रीति व संतोष के लिये नहीं सरकारकी अप्रीति (नाराजी) न हो इस गरज से, अपने परमप्रिय प्राणों की भी आहुति देनेको तयार होते हैं। इसी तरह प्रारब्ध-प्राप्त कर्म करते हुए किसी प्रकारका मोह न रखकर, निष्काम बुद्धिसे कर्म करके उन कर्मोंको व उनके फलोंकी (सरकारी नोकर के समान) सकल जगत् के सरकार को-ईश्वरको-अर्पण करना चाहिये। इस का थोडा अधिक स्पष्टीकरण करें।

इंग्लिश लोगोंने-अमेरिका को ढूंढ निकाला, उसे आक्रान्त किया और उसे आबाद किया। बादमें वहां वसति करनेवाले अंग्रेजों को इंग्लंड की सत्ता असह्य होने लगी। 'हमने पराक्रम किया, अपना खून बहाया, अपना तन, मन, धन खर्च करके यहां की राज्यव्यवस्था हम चला रहे हैं; इतना होनेपर हम इंग्लंडकी हुकूमत अपने सिरपर लदी हुई क्यों रहने दें?' ऐसा कहकर उन्होंने स्वातंत्र्ययुद्ध की घोषणा की, और वे लोग स्वतंत्र हुए। इंग्लंड के हाथ से अमेरिका निकल गई। परंतु अपराध एकका और सजा दूसरे की ऐसी बात हुई, अर्थात् उसका कटु परिणाम हिंदुस्थान को भोगना पडा। ईस्ट इंडिया कंपनीने व्यापारके निमित्तसे हिंदुस्थान में अपना जाल फैलाना शुरू किया और उन्हें यश भी आने लगा। राज्यशकट चलानेके नवीन नियम अत्यंत दूरदर्शितासे बनाये गए। मुख्य नियम ऐसा

हुआ कि हिंदुस्थान में राज्यका कारोबार चलानेवाला वाइसरॉय पांच वर्षसे ज्यादा हिंदुस्थान में न रहे; और वही हाल दूसरे कामदारोंका। इसका कारण यह कि यदि वे कामदार अधिक समय यहां रहनेसे लोकप्रिय होंगे, और उन्हें यदि इस भूमिके लिये अभिमान उत्पन्न होगा, तो अमेरिकाके माफिक हिंदुस्थानभी हाथसे निकल जायगा। इस लिये ऐसे नियम बनाये गए हैं कि चाहे गवर्नर हो, अथवा कलेक्टर हो, वह नियुक्त कालसे अधिक यहां न रहे; उसकी स्त्री गर्भवती होनेपर प्रसूतिके लिये उसे इग्लंडको ही जाना चाहिये, क्योंकि उससे पैदा होनेवाले बालकको यह कल्पनाभी न आवे कि हिंदुस्थान मेरी जन्मभूमि है। इसी तरह इंग्लिश कामगार यहां वसति करके न रहें, यहां जमीन-जुमला न खरीदें, क्योंकि उससे इस जमीनके संबंधमें आत्मीयताका भाव होने लगेगा। उनको इंग्लंड काही कपडा पहनना चाहिये; किंबहुना यहांके धोबियोंसे कपडे धुलाना न चाहिये, किंतु पोस्टका किराया देकर भी मैले कपडे इग्लंडके धोबियोंसेही धुलाना चाहिये। इ० अधिक क्या कहें, ये लोग मख्खन भी वहींसे मंगाते हैं; क्योंकि इन सब कामोंके लिये और वस्तुओंके लिये जो पैसा खर्च होता है वह अपने देशके लोगोंको पहुंचता है और उसी देशके देशमें फिरता रहता है; वह पैसा हिंदुस्थानके लोगोंको देनेसे उतना पैसा अपने हाथसे गया सो गया। ऐसा उनका दूरदर्शी हेतु रहता है। वह पैसा हमें नहीं मिलता, इसलिये बहुत हुवा तो उनपर हम खपा हो लेवें; परंतु उनका देशाभिमान और स्वकीयोंके संबधमें सहानुभूति इन गुणोंके लिये हमें उनका अभिनंदन अवश्य करना चाहिये और उन गुणोंका अनुकरण करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह बात नहीं है कि वे लोग यहांके मजूर वगैरोंको कुछ नहीं देते; जहां अनिवार्य हो वहां देते हैं। दूसरी बात यह कि अंग्रेजी कामदार नियमित अवधितक यहां रहेंगे, उतनेमें उनकी बदली, तथा हिंदी कामदारोंकी बदली, यहांसे वहां करते रहना चाहिये; कारण कि कोई कामगार बहुत दिनोंतक एक स्थलमें अथवा एक विभागमें रहनेसे संभव है कि उसे उस स्थानके लिये और लोगोंके लिये अभिमान उत्पन्न होगा। और यह भी संभव है कि उस स्थानके लोग उसपर फिदा रहेंगे। यह न हो सके।

अमेरिकन लोगोंने जो दगा दिया, तथा हिंदुस्थानके मोगल और पेशवा इत्यादिको उनके सरदारोंने जो दगा दिया, उससे सीख लेकर ब्रिटिश सरकारने सांप्रतकी राज्यपद्धतिके नियम बनाए। विद्वान् लोग कहते हैं कि, प्रजाको निःशस्त्र बनाना, उसको शिक्षण केवल आभासात्मक देना, इत्यादि संबंधी नियमभी उसी दूरदर्शी हेतुसे बनाये गए हैं। यद्यपि हमें उनकी यह राज्यपद्धति बाधक मालूम होती है, तथापि उनसे अपनेको बहुतसा बोध मिलता है, बहुतसे गुण लेने सरीखे हैं। अस्तु।

❀ ❀ ❀

प्रस्तुत विषयके उपयोगी ऐसा उनका गुण यह है कि वे यहां आकर बडे बडे कारोबार करते हैं, बडी उलथ-पुलथकी कार्रवाई करते हैं, परन्तु ये सब कार्य अपने सरकारके, राष्ट्रदेवताके प्रीत्यर्थ करते हैं। उनका प्रत्येक श्वास राष्ट्रदेवताको अर्पण होता है। यहांके लोगोंसे वे कितनेही हिलमिलके रहें, तथापि उनका यह मिलना जुलना दिखावटी रहता है। वे यह कभी नहीं भूलते कि हमें शीघ्रही विलायतको जाना है और हमारे सब कामकाजका हिसाब वहां देना है। इसी प्रकार सच्चे स्वार्थकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि कायावाचा और मनसे होनेवाले प्रारब्ध प्राप्त सब कर्म कर्तव्य दृष्टिसे देहलोभ छोडकर यथासांग करके परमेश्वरको अर्पण करना चाहिये। ऐसे कर्तव्य करते हुए अपने बालबच्चोंका घरगिरस्तीका, किंबहुना अपने जीवितका भी मोह रखना न चाहिये। अपनी विलायतके तरफ, अपने मूलस्थानके तरफ; जहांसे हम आए, जहां हमें जाना है उस तरफ हमेशा हमारी नजर रहनी चाहिये। उनके लिये हिंदुस्थान जैसा परदेश है, वैसाही यह संसार परकीय देश है, हमारे कायमके लिये रहनेका स्थान नहीं है, ऐसा स्मरण अखंड रखना चाहिये।

गीतामें बतलाया हुवा प्रकृति—पुरुष—विवेक जिसको समझ गया, गीताका सांख्ययोग तथा देह व आत्माका भेद जिसने पहचान लिया, जगन्नियामक ईश्वरसत्ताकी पहचान जिसने करली, उस अगाध शक्तिका तत्त्व जानकर उसका साहाय्य अपने कार्यको प्राप्त करनेका रहस्य जिसने पहचाना, वही अपना और राष्ट्रका पपंच उत्तम प्रकारसे चलानेका अधिकारी होगा।

कोई कोई कहते हैं कि गीता रामायण भागवत इत्यादि पुराण ग्रंथ पढनेवाले लोग प्रपंचके लिये नालायक हो जाते हैं; परंतु उनका यह कहना बिलकुल गलत है। यह कहना पडेगा कि ऐसे लोगोंने वे ग्रंथ लक्षपूर्वक पढेही नहीं। कौरव-पांडवोंका आपसका युद्ध और यादवोंका आपसी युद्ध इन दोनोंमें इतना अंतर है जितना अमावस्या और पौर्णिमामें है। क्योंकि कौरव-पांडवोंमें जो युद्ध हुवा वह सत्पक्ष और असत्पक्षमें लडाई थी; और यादवी युद्ध केवल मदिरामदान्धत्वकी मारपीट थी; उसमें कर्तव्यका ज्ञान लुप्त हुवा था, किंतु भारतीय युद्धमें कर्तव्य-अकर्तव्यका जो ज्ञान लुप्त होनेके मार्गमें था, उसे जागृत करके उसका अच्छी तरह उपयोग किया गया था।

दया व क्षमा उत्तम दैवी गुण हैं; परंतु उन गुणोंका उपयोग कहां, कब और कैसे करना, यह बात गीतामें और आगे भारतीय युद्धमें उत्तमप्रकारसे विशद की गई है। बालकोंके क्रमिक पुस्तकोंमें हमें ऐसी नीति पढाई जाती थी कि—

दिधलें दुःख परानें उसनें फेडूं नयेचि सोसावें।

(किसीने हमें दुःख दिया, तो उसका बदला देना न चाहिये, किंतु सहन करना चाहिये।) परंतु यह नीति किसके लिये है? गृहस्थाश्रमी लोग यदि संन्यासधर्मको पालने लगें, अथवा गृहस्थोंके धर्म ब्रह्मचारी पालने लगे तो वह अधर्म ही होगा। कर्मकांड के वचन उपासनाकांडमें प्रमाण नहीं लिए जा सकते, और उपासनाकांडके वचन ज्ञानकांडमें प्रमाण नहीं लिये जा सकते। "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" यह जैसा श्रुतिवचन है, वैसेही "प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" तथा "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" ये भी श्रुतिवचन हैं। परंतु ये भिन्न भिन्न अधिकारियों के लिये हैं। हमारे ग्रंथोंमें जैसा अधिकारतारतम्य के अनुसार धर्मतारतम्य और साधनतारतम्य कहा गया है, वैसा अन्य किसीभी धर्मग्रंथों में न मिलेगा; और इसी लिये हमारा धर्म जैसे व्यावहारिक (Practical) किया जा सकता है वैसे और कोई धर्म नहीं किया जा सकता। अन्य धर्मोंमें बहुधा धर्म और व्यवहार की फारकत की गई है। परंतु हमारे धर्मका यह तत्त्व भी हमें तज्ज्ञों ही से समझ लेना चाहिये। धर्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होनेसे व्यवहार में तथा परमार्थ में भी प्रमाद होते हैं।

महाभारत के शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने धर्मराजको अधिकार, परिस्थिति, अवस्था इत्यादि के तारतम्यानुसार जो धर्म बतलाए हैं, वे अखिल जगत् के लोगोंको विचार करने लायक हैं। धर्मका यथार्थ ज्ञान न होनेसे पृथ्वीराज चहुआन ने इस क्षमादानमें बडी भारी गलती की। (राजधर्मके बदले यतिधर्मका आचरण करनेमें उसने बडप्पन माना।) इसका प्रायश्चित्त उसको मिलना था सो मिला ही, परंतु हम समस्त भारतवासी शतकानुशतक वह प्रायश्चित्त भोग रहे हैं! इसी प्रकारकी भूल करनेकी अर्जुन की प्रवृत्ति हो रही थी; परंतु दयालु भगवान् ने गीताके उपदेशसे वह प्रवृत्ति हटा दी, उसको कर्तव्यपराङ्मुखतासे परावृत्त किया; और अर्जुन के निमित्तसे समस्त नरजाति को 'कर्तव्य-निष्ठा' का पाठ पढाकर प्रपंचव्यवहार करते हुए परमार्थ का साधन कैसे करना, इसका उत्तम बोध किया।

परन्तु आजकल बहुत से लोग ऐसा समझ लेते हैं कि गीता केवल कर्तव्यनिष्ठा के उपदेश के लिये प्रवृत्त हुई है, और इस 'कर्तव्यनिष्ठा' की व्याप्ति सामाजिक और नैतिक कर्तव्योंतकही मानते हैं; यह उनकी भूल है। इस संबंध में महर्षि अरविंद के विचार बहुत गंभीर और विचाराई हैं, उनको यहां उद्धृत करके इस सुदीर्घ लेखको हम समाप्त करेंगे। "Essays on Gita" नामक निबंधमें श्री०

अरविंद घोष कहते हैं- (निम्नलिखित अवतरण 'कल्याण' मासिक से लिया गया है)—

"गीता व्यावहारिक नीतिशास्त्र (Practical politics) नहीं है। गीता अध्यात्मजीवनपर ग्रंथ है। वर्तमान कालमें कर्मवाद अर्थात् समाजसेवा, देशसेवा और मानवजातिकी सेवा, यह यूरोप का आदर्श बनकर रहा है। यूरोपने भगवान् को छोड़कर उसकी जगह मनुष्य को अपनी उपास्य देवता बना लिया है; और मानवजातिको उसकी दृश्य मूर्ति ठहराया है। नीतिपरायणता, कर्मकुशलता, परोपकार, समाजसेवा, मानवजातिका कल्याणसाधन इत्यादि बातोंकोही आधुनिक युरोपने श्रेष्ठ धर्म,श्रेष्ठ आदर्श बना लिया है। ये सब बातें निःसंदेह अच्छी हैं; विशेषतः वर्तमान युगमें इनकी अत्यंत आवश्यकता है; किंबहुना यह भी कह सकते हैं कि यह भगवदिच्छा का विकास है। ऐसा न होता तो मानवसमाज में इनकी इतनी प्रतिष्ठा कैसे होती? परंतु गीता का प्रधान तत्त्व भगवान् व भगवद्भाव अथवा आध्यात्मिकता है।

"वर्तमानकालीन मनुष्य मनुष्यत्व से ऊंचा नहीं जाना चाहता। परंतु गीता चाहती है कि हम लोग भगवत्स्वरूप में वास करें; जगत् का कल्याण करें, परंतु यह जगत् भगवान्में ही है। आधुनिक मनुष्य प्राण, चित्त, मन और बुद्धि इन्हीं में रहना चाहता है; परंतु गीता कहती है कि इसके आगे जाकर आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करो।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करनेमें है, फलपर बिलकुल नहीं- यही आजकल गीताका महावाक्य समझा जाता है। परंतु यह गीताका महावाक्य नहीं है। यह उपदेश आरंभावस्था में ऐसे शिष्य के लिये किया है, जो कि योगमार्गका आरोहण करनेको उद्युक्त (आरुरुक्षु) हुवा है। आगे चलकर गीतामें यह जोरसे प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्य कर्म नहीं करता, प्रकृति ही कर्म करती है। इसलिये "कर्मण्येवाधिकारस्ते" यह उपदेश तभीतक लागू अथवा योग्य है कि जबतक हम लोग अज्ञानवश होकर स्वतःको कर्मका कर्ता समझते हैं। परंतु जब हम यह जानने लगें कि कर्म का कर्ता हम नहीं, तब फलके अधिकार के साथ कर्मका भी अधिकार निकल जायगा। इस वक्त कर्मका अहंकार फल, अथवा कर्मका अधिकार, सब कुछ चला जायगा। वैसेही,'प्रकृतिका कर्तृत्व' ही गीताका अंतिम निर्णय नहीं है। प्रकृति जीवकी कार्यकारिणी शक्ति (Gxecutive force) है। शिष्यको इस शक्तिके- अर्थात् तीनों गुणों के- आगे जाना चाहिये। हमें यह खोजनेकी अथवा प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं कि गीताका श्रेष्ठ उपदेश, अंतिम उपदेश अथवा 'महावाक्य' कौनसा है। क्यों कि वह घोषणा गीतानेही अंतमें कर रखी है। गीताका अंतिम उपदेश यही है, कि 'हे भारत! सब के अंतःकरण में रहनेवाले हृदिस्थित ईश्वर की शरण में जाओ, उसके प्रसाद से तुम्हें परम शान्ति मिलेगी; इस प्रकार तुम्हें गुह्यसे गुह्य ज्ञान बतलाया है। सर्व प्रकार से गोपनीय- गुह्यात् गुह्य- मेरा महावाक्य श्रवण करो—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

भावार्थ—तुम मदेकचित्त होकर मेराही भक्त हो, मेरीही पूजा करो, मुझेही नमस्कार करो; इससे निःसंदेह तुम मुझेही आकर मिलोगे। तुम मुझे प्रिय हो, तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके मैं कहता हूं कि समस्त धर्माधर्म का त्याग करके तुम मेरेही शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूंगा, शोक मत करो।

कर्म को मानवी भूमिका से दैवी भूमिका को ले जानेके लिये गीताने तीन सिढ़ियां अथवा मंजल बताए हैं। पहिला मंजल कर्मयोग है। इसमें स्वार्थशून्य होकर भगवान् के उद्देश से यज्ञरूप कर्म करना है। दूसरा मंजल ज्ञानयोग है। इसमें आत्मा व जगत् संबंधी यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना है। यहां वारंवार भगवान् ने ज्ञानप्राप्ति ही की बात कही है। इस वक्त भी कर्ममार्ग समाप्त नहीं होता; किंतु वह ज्ञानमार्ग में मिलकर एकरूप हो जाता

है। तीसरा अर्थात् आखिरी मंजल भक्तियोग है। इस अवस्था में भगवान् को प्राप्त कर लेने की आकांक्षा जागृत होती है। इसमें वारंवार भगवान् ने भक्तिकी ही बात कही है। परंतु इस अवस्था में भी ज्ञान का स्थान नीचा नहीं माना है; अथवा यज्ञरूप कर्मकी भी समाप्ति नहीं होती, किंतु उसकी उन्नति और चरम परिणति होती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति, ये तीनों मार्ग मिलकर एक हो जाते हैं, तभी यज्ञका फल मिलता है। केवल इसी फल की ओर साधकका ध्यान लगा रहता है। यह फल है भगवान् से मिल जाना, अर्थात् भगवान् की पराकृति से ऐक्य का लाभ।-

गीताकी शिक्षा निःस्वार्थ भावसे केवल लौकिक कर्तव्यपालन नहीं है। मानव जीवन से ऊपर जाकर देवजीवन का अनुसरण करना, सर्वधर्म परित्याग करना, केवल परात्पर ऐसे परमात्मा को संपूर्ण भावसे आत्मसमर्पण करना, यही गीताकी शिक्षा है। यही गीताधर्म है।" इत्यादि

* * *

यह कहनेमे कोई प्रत्यवाय नहीं कि श्री अरविंद महर्षिने यह हमारे भागवतधर्मीय संतों के ज्ञानोत्तर भक्ति का ही अनुवाद अथवा प्रतिध्वनि किया है। यह गीताधर्म किसी विशिष्ट जातिके अथवा देशके लोगोंका नहीं है; किंतु सभी मनुष्यों का है- केवल इस पृथिवी के मनुष्यसदृश प्राणियों का है। श्रीकृष्णावतार इस ब्रह्मांड के भूतलपर पांच हजार वर्षके पहिले हुवा। वह अवतारतनु गुप्त हुई अर्थात् यहां के लोगोंकी दृष्टिसे अलग हुई, तथापि वह सर्वथा नष्ट नहीं हुई। वह अवतार नित्य अवतार है, और उसकी लीला 'नित्यलीला' हैं, इसलिये 'चैतन्यचरितामृत' में ऐसा प्रतिपादन किया है कि इस समय भी वह दूसरे ब्रह्मांड में लीलातनु धारण करके लीला करताही है। श्री कृष्ण नित्य है; उसकी लीला नित्य है, इसी तरह उसकी वाणी भी नित्य है।

ॐ ॐ ॐ

"कर्मों को बदल नहीं सकते, भावनाओंको बदलना।"

"सृष्टिरूप ब्रह्म नहीं देखना; ब्रह्मरूप सृष्टि देखना चाहिये।"

इन वचनों को ध्यान में रखना चाहिये।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥

इस वचनानुसार वैदिक और लौकिक कर्मोंको, वैयक्तिक, कौटुंबिक, सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्यों को मूलपर नजर रखकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे करते रहना, और मजेसे इस भवसागर को पार करना। गीतादेवीकी उपासनासे विश्वके सब मनुष्यप्राणियों को यह सहजही साध्य होगा।

ऐसी इस भगवान् की अवतारतनुका, प्रभुकी वाङ्मय तनुका सर्वकाल समस्त जगत् में जयजयकार हो।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि इस (गीता) के श्रवण करनेसे, पाठ करनेसे, अर्थ करनेसे गीता मोक्षमार्ग में बाधा नहीं आने देती, जैसा कि समर्थ दाता किसी को 'नाहीं' नहीं करता इसलिये समझदार आदमी को एक गीताका सेवन पर्याप्त है, अन्य शास्त्रों की क्या जरूरत है?

ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

गीताका सुभाषित।

निःशस्त्रका वध।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
... हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ भ० गी० १।४६

" रक्तपात न करनेवाला और निःशस्त्र मैं रहूं ऐसी स्थितिमें महाशस्त्रधारी मेरे शत्रु मेरा वध करेंगे. तो उससे मेरा अधिकही कल्याण होगा। " निःशस्त्र, निर्वैर, अहिंसक, शान्त, क्रोधरहित और दूसरेका नाश न करनेवाले मनुष्य का वध यदि शस्त्रधारी, अत्याचारी, क्रूर और स्वार्थी शत्रु करे तो उस से शस्त्रधारी शत्रुकी जगत् में बेअब्रू होती है; सब सज्जन उसकी निंदा करते हैं और इससे उनका बल घट जाता है। इसी तरह इसी कारण से निःशस्त्र मनुष्य की ओर जनताकी सहानुभूति अधिक होती है, और इससे उसका बल बढता है। इसलिये उच्च भूमिकापर अहिंसक का विजय और हिंसक का पराभव होता है।

भगवद्गीताका सन्देश

संपूर्ण विश्वका एक निश्चित 'सत्' स्वरूपी ध्येय है, जो मनुष्य उस ध्येयको अपने सन्मुख रखता है और तदनुसार योग्य कर्तव्य करता है वह निःसंदेह पार हो जाता है। परंतु जो मनुष्य उस ध्येयको भूलकर कुल, जाति, संप्रदाय, देश, ग्राम, ऐश्वर्य, विद्या, भाषा आदिके अभिमानोंमें फंसकर मोहित होता है और अपनेहि अहंकारसे अपने आपको बद्ध करता है, वह अपनेहि अहंकारसे आपको बांध देता है। यह भ्रांत हुआ मनुष्य अपने योगक्षेमकी चिन्तामें सदा डूबता है। यह चिन्ता तब दूर हो सकती है जब यह स्वधर्मानुसार विश्वसेवा करनेको सिद्ध होगा और विश्वसेवाके लिये आत्मार्पण करेगा।

स्वधर्मानुसार आचरण करनेका नाम धर्म है;और अपना वर्ण-धर्म छोडनाही अधर्म है। इसीको धर्मकी ग्लानि कहते हैं। भगवद्गीतामें यही स्वधर्मका ज्ञान दिया है,इस लिये यह मनुष्य मात्रका धर्मग्रन्थ है ऐसा किसीने कहा तो उसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। अतः पाठक इस भगवद्गीता ग्रंथकी ओर मानवी धर्मग्रन्थकी दृष्टिसे देखें और इसके अध्ययनद्वारा अपना स्वधर्म कौनसा है इसका ज्ञान प्राप्त करें।

तथा इस स्वधर्मज्ञानसे विश्वोपासना करनेके लिये कटिबद्ध हों। कोई मनुष्य अपने कर्तव्य कर्मको जाति, कुल और संप्रदाय की मर्यादासे मर्यादित न करे। सबको समदृष्टिसे देखे, समवर्तित्वकी कुकल्पनासे दूर रहे। ' संगच्छध्वं संवदध्वं ' इस वेदाज्ञा का सदा पालन करे। और सब विश्वको आत्माका विश्वरूप अनुभव करके उसी की सेवा द्वारा अपने आपको कृतकृत्य समझे।

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

द्वितीय भाग।

विषयानुक्रमणिका।

स्वाध्याय-मंडल की हिंदी पुस्तकें।

(१) यजुर्वेद। विनाजिल्द मू० १॥) डा०व्य० ॥)
" कागजी जिल्द २) "
" कापडी जिल्द २॥) "
" रेशमी जिल्द ३) "

(३) संस्कृतपाठमाला। एक अंकका मूल्य ।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

(४) वैदिक यज्ञसंस्था। प्रथम भाग १) रु. ।)
द्वितीय भाग १) ।)

(५) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।
१ प्रथम काण्ड २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड २) ॥)
३ तृतीय काण्ड २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड २) ॥)
५ पंचम काण्ड २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड २) ॥)
७ सप्तम काण्ड २) ॥)
८ अष्टम काण्ड २) ॥)
९ नवम काण्ड २) ॥)
१० चतुर्दश कांड १) ।=)
११ १५ से १८ तक ४ काण्ड २) ॥)

(६) छूत और अछूत। प्रथम भाग १) ।)
द्वितीय भाग ॥।) ।)

(७) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से ५ प्रत्येकका मू० ॥) डा०व्य० =)

(८) महाभारत की समालोचना।
भाग १-२-३ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(९) वेदका स्वयंशिक्षक। प्रथम भाग १॥) ।)
२ द्वितीय भाग १॥) ।-)

(१०) योगसाधनमाला। १ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योग के आसन। (सचित्र) २) ।≡)
३ सूर्यभेदन-व्यायाम। " ॥) =)
४ इन्द्रशक्तिका विकास। ॥) =)

(११) यजुर्वेद अ. ३६। शांतिका उपाय ॥=) =)

(१२) ब्राह्मणबोधमाला। शतपथबोधामृत। ।) -)

(१३) देवतापरिचयग्रंथमाला। मू० डा०व्य
१ रुद्रदेवता-परिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ ३३ देवताओंका विचार ≡) -)
४ देवताविचार। ≡) -)
५ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१४) बालकधर्मशिक्षा। १ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१५) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) ।-)
३ वैदिक सभ्यता। ॥।) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा। ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
८ वेदमें चर्खा। ॥) =)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र। ≡) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास। ।-) -)
१६ वैदिक उपदेशमाला। ॥) =)

(१६) उपनिषद्ग्रंथमाला। ईशोपनिषद्। १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१७) अन्य ग्रंथ। १ वैदिक कर्तव्यशास्त्र १।) ।-)
२ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
३ गीता-समीक्षा =) -)
४ श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला। ॥) =)
५ गीताश्लोकार्धसूची ।=) =)
6 Sun Adoration १) ।=)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल औंध, (जि० सातारा.)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)



श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

तृतीय भाग।

संपादक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडळ, औंध (जि० सातारा.)



प्रथमवार

संवत् १९९३, शके १८५८; सन १९३६.

मूल्य आठ आना।

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

तृतीय विभाग।

भगवद्गीता और मध्वाचार्य।

(लेखक-श्री० अलूर व्यंकटराव, धारवाड)

श्री मध्वाचार्य के गीतार्थ के अंगोंका तथा गीता-की ओर देखनेके उनके विशिष्ट दृष्टिकोन का निर्देश करके, उनके और उनके सांप्रदायों के ग्रंथोंका वाचक अभ्यास करें, इस उद्देश से यह लेख लिखा जाता है। इसी हेतुसे प्रस्तुत विषयकी ओर वाचकों का लक्ष्य खींचना है।

मध्वाचार्यके तत्त्वज्ञानको "द्वैत" ऐसा विशिष्ट नाम दिया जाता है। परंतु मालूम होता है कि यह उनके सांप्रदायिक तत्त्वज्ञानका यथार्थ वर्णन नहीं है, किंतु तत्कालीन गैरसमझका यह प्रतीक है। क्योंकि महाराष्ट्रमें केवल द्विधाभाव बतलाने के लिये "द्वैत" शब्दका उपहासात्मक उपयोग किया जाता है। परंतु यथार्थमें भावसे उसका कोई संबंध नहीं है।

जगत् के तत्त्वज्ञोंमें मध्वाचार्यका स्थान निर्विवाद है। महान् महान् तत्त्वज्ञोंमें केवल बुद्ध, शंकराचार्य और मध्वाचार्यहीको सच्चा महत्त्व है। बुद्धने पृथ्वी मेंसे ईश्वरका सदैवके लिये उच्चाटन कर दिया; शंकराचार्यने मायावादका विशिष्ट तत्त्व प्रतिपादन करके समस्त दृश्यादृश्य की परिसमाप्ति अद्वैतमें की है। ठीक इससे विपरीत मध्वाचार्यने निर्भयतासे शाश्वत द्वैतवादका पक्ष उपस्थित किया। प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं कि इन दोनोंमेंसे सत्य क्या है? संभव है कि ये दोनों परस्परविरुद्ध शाखाओंका सदैव अस्तित्व रहे; परंतु इसके साथ यह भी सच है कि तत्त्वज्ञानकी सब शाखाएं इन्हीं तीन कक्षाओंमें आती हैं।

मध्वाचार्य १२ वीं अथवा १३ वीं शताब्दिमें हुए (निश्चित काल वादग्रस्त है), उन्होंने लगभग ३७ ग्रन्थ लिखे हैं। ऋग्भाष्य एक ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्रोंपर ४, गीतापर २, और दश प्रकरणोंमें न्याय, माया, उपाधि इत्यादि विषयोंका अंतर्भाव होता है। इसके अतिरिक्त स्तोत्र, तंत्र, आचार इत्यादि विषयोंपर भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं। यहां केवल गीतासंबंधी दो ग्रन्थोंहीका प्रमुखतासे विचार करना है। उनमेंसे एक गीतापर श्लोकबद्ध भाष्य है। दूसरे ग्रन्थका नाम "गीता-तात्पर्य-निर्णय" है; इसमें समग्र गीताभाष्यपर सामान्य समीक्षण है और बहुतसे वादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया है। मध्वाचार्यने गीताके प्रत्येक श्लोकपर भाष्य नहीं लिखा, उन्होंने उन श्लोकोंका श्रुति, स्मृति, पुराणोंके शब्दोंमें विवेचन किया है, और आवश्यकतानुसार थोडे शब्दोंमें अपने विचार दिये हैं। अंतमें उन श्रुति, स्मृति और पुराणोंका उल्लेख किया है, जिनमेंसे आधार लिये गए हैं। इसीलिये उनका भाष्य विस्तीर्ण नहीं है। वस्तुतः उन्होंने अपना भाष्य ५० या ६० महत्त्वपूर्ण श्लोकोंपर लिखा है। बाकीके श्लोकोंके लिये उनके अनुयायिओंके लेख ढूंढना चाहिये, अथवा उन्हींकी विचारप्रणालीसे पता लगाना चाहिये। "गीता-तात्पर्य-निर्णय" में गीताका सर्वसाधारण सारांश आगया है। जगह जगहपर स्वमतपुष्टिके लिये अन्य ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, और बहुतसे श्लोकों के पर्याय और गूढार्थ दिये हैं। यह बात ध्यानमें रखने लायक है कि मध्वाचार्यने एकही वाक्यमें गीताका समग्र सारभूत रहस्य बतलाया है। उसके

समर्थनके लिये अन्य ग्रन्थोंकी ओर न देखकर सर्वथा गीतामेंसे ही आधार लिये हैं। उसका तात्पर्य ऐसा है-

" तत्र साक्षादिंद्रावतारमुत्तमाधिकारिणामात्मनः प्रियतममर्जुनं क्षत्रियाणां विशेषतोऽपि परमधर्मे नारायणद्विट् तदनुबंधनिग्रहं बंधुस्नेहादधर्मत्वेना-शक्यं ततो निवृत्तप्रायं स्वविहितवृत्या भक्त्या भगवदाराधनमेव परमो धर्मस्तद्विरुद्धः सर्वोऽप्यधर्मो भगवदधीनत्वात् सर्वस्येति बोधयति भगवान्नारायणः। "

इस प्रकारसे केवल एकही वाक्यमें गीताका समस्त सार ला दिया है।

लोकमान्य तिलकका ऐसा आक्षेप है कि मध्व, शंकर और रामानुज इत्यादि लोग केवल सांप्रदायिक आग्रहके वश होगए। लोकमान्यकी आदरणीय बुद्धिके विषयमें वाद नहीं है; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मत सर्वथा योग्य है। उपर्युक्त आचार्योंके सांप्रदायिकोंके विरुद्ध यह आक्षेप एक दृष्टिसे ठीक हो सकेगा; परंतु पुराणमत-खंडन करनेवाले इन नवीन धीरोदात्त विचारप्रवर्तकोंके विरुद्ध अवास्तव आक्षेप लेना ठीक नहीं। इन सबकी ऐसी समझ है कि श्रुतिस्मृति-सूत्रोंमेंसे कुछभी एक विश्वसनीय अर्थ निकलता है और वह अर्थ ढूंढने व उसका समर्थन करनेका प्रयत्न प्रत्येक आचार्य ने किया है। इस मनोवृत्ति को यदि आग्रह कहें तो सचमुचमें ये लोग आग्रही थे, परंतु यह मत ठीक नहीं है। उन्होंने श्रुतिको प्रमाण माना है। श्रुतिको आधारभूत माननेमें उनकी कदाचित् भूल होगी, परंतु यह निश्चित है कि ये लोग परप्रत्ययनेय बुद्धि नहीं थे। पैंगिश्रुति कहती है-

" सर्वे वेदा युक्तयः सप्रमाणा बाह्यज्ञानं परमं त्वेकमेव। प्रकाशयंते न विरोधः कुतश्चिद्वेदेषु सर्वेषु तथेतिहासे ॥ "

गीताकी ओर देखनेकी मध्वाचार्यकी यह दृष्टि बिलकुल स्पष्ट और लोकमान्यके आक्षेपके उत्तर देनेके लिये समर्थ है। मध्वाचार्य के शिष्य और टीकाकार जयतीर्थने (उर्फ टीकाचार्यने) उनकी वृत्तिका स्पष्टीकरण इस तरह किया है-

" बहुभिर्व्याख्यातृभिः भगवद्गीतायाः व्याख्यातत्वाद् व्यर्थमिदं भाष्यमित्याशंकानिरसनं प्रयोजनमस्याः। अन्यैः स्वपक्षनिक्षिप्तदृष्टिभिः स्वाभिप्रायो भगवद्गीतार्थत्वेनारोप्योक्तः अहं तु गीतार्थमेव वक्ष्यामीति सूचनात्। "

इससे अधिक स्वतंत्र वृत्ति कहां मिलेगी ? और यद्यपि यह अर्थकथनपद्धति पूर्वग्रहान्वित हो तथापि अरविन्द बाबूके कहे अनुसार यह मनुष्य स्वभाव को उचित ही है।

गीतामें केवल परब्रह्मके स्वरूपही के विषयमें विचार किया नहीं गया। अर्थात् परब्रह्मका स्वरूप वेद, उपनिषद् इत्यादि अन्य ग्रन्थोंमेंसे ही हमको ढूंढना चाहिये। परब्रह्मके विषयमें आचार्यका मत प्रसिद्ध है। परब्रह्मके स्वरूपसंबंधी श्लोक तत्त्वज्ञानके प्रकाशमें उन्होंने अपनी विवक्षित विचार-प्रणालीसे स्पष्ट किये हैं।

गीतामें ' योग अथवा उपाय ' इस प्रश्नपर प्रत्यक्ष विचार किया है। जैसे शंकराचार्य और रामानुज का वैसेही मध्वाचार्यका भी मत यह है कि कर्म ज्ञानका साधन है; परंतु उन्हें यह ग्राह्य नहीं है कि ज्ञानोत्तर अथवा मुक्तिके बादभी कर्म जारी रहनाही चाहिये। इस सांप्रदायको लो० तिलककी ज्ञानोत्तर कर्मकी कल्पना वस्तुतः अपरिचित नहीं है; क्योंकि एक कदम आगे चलकर ये सांप्रदायिक ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि मुक्त दशामें भी जीवका कर्म जारी रहता है और वह पुरुष अत्युच्च आनंदका अनुभव लेता है।

गीतामें श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए प्रत्यक्ष शब्द नहीं हैं; किंतु भगवान् के विचारोंका सुस्पष्ट प्रतिबिंब है। इसलिये शंकराचार्यके अनुसार गीता को प्रमाण माननेके लिये मध्वाचार्य तैयार नहीं हैं। क्योंकि यह ग्रन्थ भगवान् का लिखा हुवा नहीं है; किंतु व्यासप्रणीत महाभारतका यह एक महत्त्वका

भाग है। इसी लिये भारत प्रमाण ग्रन्थ है ऐसा सिद्ध करनेके लिये उन्होंने प्रारंभमें पुराणके बहुतसे वाक्य उद्धृत किये हैं। अब गीता महाभारतका एक विभाग होनेके कारण वह प्रमाणग्रन्थ होनाही चाहिये। मध्वाचार्य व्यासको अवतार समझते हैं और व्यास तथा श्रीकृष्ण दोनों नारायणके अवतार हैं इस तरह दोनोंमें संबंध जोडते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका मुख्य कार्य बलकार्य हैं; भगवान् व्यासका मुख्य हेतु ज्ञान-कार्य है। आधुनिक लोगोंकी जो यह शंका है कि "ऐसे विषम कालमें ७०० श्लोकयुक्त गीता कैसे लिखी गई ?" इस शंकापर उपर्युक्त विचारसरणी से उत्तर मिलेगा।

मध्वाचार्यके अनुयायिओंने बहुतसी टीकाएं लिखी हैं। उनमेंसे प्रमाणभूत और मुख्य टीकाएं टीकाचार्यने लिखी हैं। टीकाचार्यकी भाषा--पद्धति शंकराचार्यके समान साधी,प्रमाणों और विधानोंसे युक्त और सुंदर है। शंकराचार्य और उनके अनुयायियोंमें कई श्लोकोंके अर्थके विषयमें पूर्ण मतभेद है। परंतु मध्वाचार्य और उनके अनुयायिओंमें मत-भेद रहनेपर भी वे आचार्यहीका अनुसरण करते हैं। बहुधा मध्वभाष्यका अर्थ लगानेमें सबका टीका-चार्यसे ऐकमत्य है। टीकाचार्यने अपनी टीकामें शंकराचार्य,रामानुज और भास्करके विरुद्ध महत्त्व-के आक्षेप किये हैं; और यह ध्यान देनेलायक बात है कि इन आक्षेपोंका निरसन करनेका प्रयत्न व्यवस्थित रीतिसे अभीतक नहीं किया गया। और एक महत्त्वकी बात इस सांप्रदायमें पाई जाती है। वह यह है कि प्रतिपक्षीयोंके आरोपका खंडन करते समय ये टीकाकार कभी भी अविनय प्रकट नहीं करते; किंतु अंतःकरणकी सरलता और उदारता इनकी अटल रहती है। मध्वभाष्यमें तथा टीकाचार्य-की टीकामें शंकराचार्यके अथवा रामानुजाचार्यके नामका उल्लेख भी नहीं है। "अन्यथा प्रतिविनिरा-साय" अथवा ऐसेही अन्य वाक्यों द्वारा आक्षेपोंका उत्तर दिया हुवा है। जो लोग माध्व सांप्रदायको नास्तिक समझते हैं उन्हें, यह बात विलक्षण मालूम होगी; परंतु सच बात यह है कि यद्यपि टीका करनेमें ये टीकाकार कठोर और निश्चयी दिखते हैं, तथापि इनमें औचित्य अथवा विनयका भंग कहीं नजर नहीं आता।

यह कोई भी कबूल करेगा कि मध्वाचार्य की विचारसरणी प्रथम दर्शनमें क्लिष्ट और खींचतान-वाली अथवा दूरान्वयवाली मालूम होगी। तथापि यहां अपनेको दो बातोंका विचार करना चाहिये—

(१) शंकराचार्य और रामानुजाचार्यके पश्चात् मध्वाचार्य हुए, और उन्होंने प्राचीन सब सांप्रदायों का एकत्रीकरण करनेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार के प्रयत्नोंमें बहुधा खींचातानी और क्लिष्टता आही जाती है।

(२) दुसरी यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि मध्वाचार्य केवल शुष्क विधान नहीं करते, किंतु उन विधानोंका बारबार आध्यात्मिक गूढार्थका योग देते हैं।

इस प्रकार इस तात्त्विक सांप्रदायके कुछ अंग बतलाये गए। इतना जरूर है कि अन्य किसी दृष्टिसे मध्वाचार्यके ग्रन्थोंका परिशीलन चाहे न किया जाय, तथापि धैर्य, स्वतंत्र विचारसरणी और व्यक्तित्वकी दृष्टिसे मध्वाचार्यके ग्रन्थोंका परिशीलन विद्वानों द्वारा होना अत्यंत इष्ट है।

" ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति । "

(गीता ५-२९)

(ले०— वेदशास्त्रसंपन्न भास्करशास्त्री परांजपे पेणकर, आचार्यकुल, पूना)

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ अखिल भारतवर्षीयोंके लिये परमपूज्य, भूषणभूत और अमृतनिधान है। आजतक इसपर अनेक भाषाओंमें बहुविध ग्रन्थ हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे भी। और इनमें प्रत्येक लेखक प्रतिपादन करता आया है कि जो उसको योग्य दिखता है— ज्ञान, कर्म, अष्टांगयोग अथवा भक्ति वही मोक्षोपायत्वसे विहित है। वृत्तिकार, आद्य श्री शंकराचार्य इत्यादि महानुभावोंके कालसे लेकर आज दिनतक इस संबंधमें ऐकमत्य नहीं हुवा, और आगे होना असंभव मालूम होता है।

तथापि निःपक्षपात दृष्टिसे और सयुक्तिक तथा सुसंबद्ध रीतिसे विचार करनेपर भगवद्गीतासे क्या निष्कर्ष निकलता है, इसपर अपने विचार इस लेख में प्रगट करना है। योग और भक्तिकी बाजू बहुतही कनिष्ठ दर्जेकी होनेसे ज्ञान और कर्मका ही विचार इस लेखमें किया गया है।

कर्मवादियोंका कहना है कि भगवद्गीताका यही निष्कर्ष है कि केवल कर्महीके द्वारा अथवा कर्मसहित ज्ञानही के द्वारा (समुच्चयसे) परम गतिकी अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। और अपने मतके मंडनके लिये मुख्यतः निम्नलिखित वचनोंका प्रमाण देते हैं, और श्रुतिस्मृतिपुराणोंमेंसे भी कुछ वचन पुष्टिके लिये देते हैं—

(१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशा० २)

(२) यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ॥ (स्मृतिः)

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षो भवति नान्यथा ॥ (योगवासिष्ठं)

(३) अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। (गीता २।३३)

(४) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २।४७)

(५) नियतं कुरु कर्म त्वम्। (गीता ३।८)

(६) कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (गीता ३।२०)

(७) लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि। (गी० ३।२०)

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षु-
र्लोकसंग्रहम्। (गीता ३।२५)

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः
समाचरन्। (गीता ३।२६)

(८) कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्। (गीता ४।१५)

(९) संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो
विशिष्यते ॥ (गीता ५।२)

कर्मवादियोंका कहना है कि इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्यको आमरण कर्म अवश्यमेव करना चाहिये; केवल कर्महीसे जनकादिकोंको सिद्धि प्राप्त हुई; ज्ञानी पुरुषको भी ज्ञानोत्तर लोकसंग्रहके लिये कर्म करना ही चाहिये; संन्यास और कर्म दोनों निःश्रेयस (मोक्ष) कर हैं; किंबहुना संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। उपर्युक्त

वचनोंसे कर्मवादियोंका यह कहना आपाततः सत्य मालूम होता है; परंतु ग्रंथका अगला पिछला विचार करनेसे सूज्ञ वाचकोंकी समझमें शीघ्रही आजावेगा कि यह केवल आभास है। इसलिये प्रथम कर्मवादियोंके उल्लिखित वचनोंका विचार करेंगे; पश्चात् ज्ञानवादियोंका क्या कहना है,वह देखेंगे।

(१) ईशावास्योपनिषदमें पहिले दो मंत्र क्रमशः विद्वान् और अविद्वान् के लिये कहे गए हैं। और आगे इन्हीं दो मंत्रोंका पृथक् रीतिसे सविस्तर विवेचन किया गया है, इसलिये सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर मालूम होगा कि "कुर्वन्नेवेह" इत्यादि मंत्र अविद्वद्विषयक है।

(२) "यथाग्नं" इत्यादि स्मृतिमें तथा "उभाभ्यां" इत्यादि श्लोकमें क्रमशः विद्या और ज्ञान शब्दोंसे उपासनाही विवक्षित है,इस लिये ये वचन अविद्वान् हीके लिये हैं। एकही पुरुषको एकही समयमें ज्ञान और कर्मका सहानुष्ठान कैसे असंभव है, इसका विवेचन आगे सविस्तर आवेगा।

(३) कर्मवादी कहते हैं कि 'गीताश्रवणसे ही अर्जुन युद्धके लिये प्रवृत्त हुए, इसी लिये गीता कर्मपर है'। इसपर ज्ञानवादी कहते हैं कि 'गीताश्रवणके पहिलेही अर्जुन युद्धके लिये प्रवृत्त हुवा था; परंतु रणभूमिपर भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि आप्तजनोंको सामने देखकर उसे स्वधर्मच्युतिरूप ऐसा मोह उत्पन्न हुवा कि "इन आप्तजनोंको कैसे मारना? गुरुप्रभृति लोगोंके वधसे मुझे जरूर पाप लगेगा, ऐसी अवस्थामें युद्ध न करना अच्छा।" (युद्ध करना क्षत्रियका स्मार्त कर्म है; अर्जुन अविद्वान् होनेसे स्वधर्मरूप युद्ध करनेके लिये वह बाध्य था।) उस अज्ञानी अर्जुनका मोह मात्र भगवान् ने गीता सुनाकर दूर किया।' ज्ञानवादियोंका यह कहना सयुक्तिक मालूम होता है।

(४) "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यादि श्लोक अर्जुनके (अविद्वान् के) लिये हैं, और "एव" शब्दसे अर्जुनका ज्ञाननिष्ठाका प्रतिषेध किया है। "तुम अज्ञानी हो, तुम्हारा कर्महीमें अधिकार है, इसलिये तुम्हें कर्मही करना चाहिये, परंतु वह तुम फलाभिसन्धान छोडकर करो, जिससे वह चित्तशुद्धि द्वारा तुम्हें ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता प्राप्त करा देगा।" भगवान् के कहनेका ऐसा मतलब है।

(५) भगवान्ने "न कर्मणामनारंभात्" इ० श्लोक ३।४ से "शरीरयात्रापि च ते" इ० श्लो० ३।८ तक कहा कि अनात्मवेत्ताको ज्ञाननिष्ठकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये कर्म करनाही चाहिये। इसके पश्चात् "यज्ञार्थात्कर्मणो" इ० श्लो० ३।९ से "मोघं पार्थ स जीवति।" श्लो० ३।१६ यहां तक प्रासंगिक विषयसे यह बतलाया कि अज्ञानी पुरुषको कर्म क्यों करना चाहिये; इसके तीन चार कारण देकर वह न करनेसे आनेवाले दोषोंकोभी बतलाया। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी पुरुषके बारेमें भगवान् की यह विवक्षा स्पष्ट दीखती है कि "अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है, और वह अवश्य करना चाहिये।"

(६) "कर्मणैव हि संसिद्धिम्" इत्यादि श्लोक कर्मवादियोंका मूलाधार है। कर्मवादी कहते हैं कि इस श्लोकसे समुच्चय (जनकादि ज्ञानी माने जांय तो) अथवा केवल कर्म (वे अज्ञानी माने जांय तो) मोक्षसाधन सिद्ध होता है। यह स्पष्ट ही है कि "संसिद्धि" शब्दका अर्थ "मोक्ष है। आपाततः यह कहना सत्य भासमान होता है।

इसपर ज्ञानवादियोंका कहना है कि यदि जनकादि ज्ञानी थे ऐसा मान लिया जाय, तो उन्होंने "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" इस बुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करके मोक्षकी प्राप्ति की। यदि ऐसा गृहीत लिया जाय कि वे अज्ञानी थे तो इसका ऐसा अर्थ करना आवश्यक है कि उन्होंने निष्काम बुद्धिसे कर्म करके संसिद्धि (चित्तकी शुद्धि) प्राप्त की। "जनकादिक ज्ञानी थे" ऐसा पक्ष स्वीकृत करने पर भी समुच्चय सिद्ध नहीं होता। शास्त्रमें ऐसा कहीं निर्बंध नहीं है कि ज्ञानी पुरुषको लोकसंग्रह करनाही चाहिये,और भगवान् की भी वैसी विवक्षा नहीं है। अन्यथा "तस्य कार्यं न विद्यते" यह भगवान् का वचन कवडीमोल समझा जायगा; और "ज्ञानी पुरुषको लोकसंग्रह करनाही चाहिये" तथा "ज्ञानी पुरुषको कुछभी कर्तव्य बाकी नहीं रहता" ऐसा उभयविध बोलनेवाले भगवान् पर मिथ्या

भाषितत्व का भी आरोप आवेगा। इसपर कर्मवादी ऐसा प्रश्न करेंगे कि "लोकसंग्रहमेवापि" (३।२०) "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं" (३।२२) "चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्" (३।२५) इन वचनोंकी वास्तलात क्या होगी? ज्ञानवादी इसका जबाब ऐसा देते हैं कि कोई वृद्ध पितामह अपने नातीको कहें "अरे मूर्ख, मैं इतना बुड्ढा (कृतकृत्य) हुआ, तब भी (तुझे अच्छी आदत लगानेके लिये) नियमिततासे रोज ग्रंथ पढता हूं, और तू यहां वहां ऊधम करता फिरता है? तुझे पुस्तक पढानाही पडेगी।" ऐसा कहनेपर यदि पितामहने ग्रन्थवाचन नहीं किया, तब भी उसकी इतिकर्तव्यतामें, वृद्धत्वमें अथवा ज्ञानमें किसी तरह बट्टा नहीं लगता। क्योंकि वह परीक्षा देकर द्रव्यार्जन करके और संसारशकट चलाकर कृतकृत्य हो गया है। इसी प्रकार अर्जुनको तत्काल स्वधर्मपर करनेके हेतु भगवान् ने कहा "हे अर्जुन, मैं भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करता हूं, तुम तो अज्ञानी हो तुमको वह करना ही चाहिये।" और "तस्य कार्यं न विद्यते" ऐसी पुरुषकी सच्ची परिस्थिति बतलाई। इसमें अनुचित ऐसी कौनसी बात कही? अस्तु। अब यदि जनकादिक अज्ञानी थे ऐसा माना जाय, तो "संसिद्धि" शब्दका अर्थ "चित्तशुद्धि" ऐसाही करना पडेगा। उसका अर्थ "मोक्ष" नहीं हो सकता। क्योंकि वैसा अर्थ करनेसे अनेक श्रुतियोंसे तथा "ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" इत्यादि स्ववचनोंसे भी विरोध आता है। दूसरी बात यह है कि "अज्ञानी पुरुषको चित्तशुद्धिके लिये कर्म करनाही चाहिये" ऐसा साक्षात् भगवान् ने ५।११; ६।१२;१८।५ इत्यादि स्थानोंपर खासकर बारबार जतलाकर कहा है,उसको भी विरोध आता है। तीसरी बात यह है कि "सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म" (१८-५०) इस जगह सिद्धिसे ब्रह्मप्राप्तिपूर्वक भिन्न, अंतिम और श्रेष्ठ अवस्था बतलाई है, इसलिये कर्मवादियोंको "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" (१८-४५) "सिद्धिं विन्दति मानवः" (१८-४६) इत्यादि स्थानोंमें संसिद्धि और सिद्धिका अर्थ "चित्तशुद्धि" ऐसाही करना पडता है,तब "कर्मणैव हि संसिद्धि" इस जगहके संसिद्धि शब्दने कौनसा पाप किया है? कुछ समझमें नहीं आता। अथवा संसिद्धि शब्दका अर्थ मोक्षही करना है तो 'चित्तशुद्धिद्वारा' ऐसा अध्याहार लेना आवश्यक है। तात्पर्य,श्रुति (आगे स्वतंत्र दी गई हैं) स्ववचन, और युक्ति इन सबको छप्परपर बिठाकर यह कहना कि "कर्महीसे मोक्ष मिलता है ऐसा गीताका सिद्धांत है" अशास्त्र, अयुक्तिक अथवा असंबद्ध नहीं है। सूक्ष्म अवलोकन करनेपर प्रत्येक विचारवान् पुरुषको यह कबूल करना पडेगा कि ज्ञानवादियोंका यह उत्तर संग्राह्य है।

(७) गीता ३।२०, ३।२५ और ३।२६ इन वचनों पर विवेचन बहुत कुछ ऊपर आगया है। "तस्य कार्यं न विद्यते" (३।१७) इस श्लोकमें भगवान् ने स्पष्ट रीतिसे यह बतला दिया है कि ज्ञानी पुरुषके लिये कोई कार्य करनेकी बाकी नहीं रहता। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीने यही बात "समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा" (ध्यान १०२) इस पंचदशीके वाक्यमें और निम्नलिखित श्लोकोंमें विशद करके बतलाई है-

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥
अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः॥
(तृप्ति २६७।२६८)

ज्ञानी पुरुष लौकिक अथवा शास्त्रीय कर्मोंका आचरण करे अथवा न करे। प्रारब्ध कर्म यदि वैसा होगा तो उसे लोकसंग्रहकी इच्छा उत्पन्न होगी। न होगी तो वह स्वस्थ बैठेगा अथवा गिरिकंदरमें चला जावेगा। अर्थात् लोकसंग्रह प्रारब्ध कर्मपर निर्भर है। भगवान् के लोकसंग्रहपर वचनोंका जो अभिप्राय है वह ऊपर विभाग (६) में बतला दिया है। यह न माना जाय तो ज्ञानवादी ऐसा प्रश्न करते हैं कि यदि कोई ज्ञानी पुरुष ज्ञानोत्तर अणुमात्र लोकसंग्रह न करके अरण्यमें अथवा गिरिकंदरमें वास करे तो क्या उसके ज्ञानका मूल्य लोकसंग्रह करनेवाले ज्ञानीके ज्ञानकी अपेक्षा कम होगा? अथवा क्या यह कह सकते हैं कि वह ज्ञानी नहीं है? इसका उत्तर कर्मवादी नहीं दे सकते। कल्पना करें

कि दो सगे भाई "एम्. ए." की परीक्षा पास हैं। उनमेंसे एकने द्रव्यार्जन करके अपने सब आप्तोंका संगोपन किया, और दूसरेने केवल ग्रंथनिर्माण करके तद्द्वारा और मुखद्वारा ज्ञानोपदेश किया। अगर कोई पूछे कि 'इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है' तो क्या जवाब होगा? आप्तादिकों की दृष्टिसे संगोपन करनेवाला श्रेष्ठ है; परंतु अन्य पदवीधारी अथवा किंचित् कम योग्यतावाले लोग कहेंगे "यह पुरुष एम्. ए. हो गया, परंतु हमको (ज्ञाता लोगोंको) अथवा परीक्षा उत्तीर्ण होनेकी इच्छा रखनेवालोंको उसका क्या उपयोग है? कुछ नहीं। ग्रन्थ निर्माण करनेवाला एम्. ए. ही धन्य है। इसने ग्रन्थद्वारा हम लोगोंपर बहुतही उपकार किये हैं।" इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि ये दोनों पुरुष भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ ठहराये जाते हैं, तथापि इनके ज्ञानमें कोई फरक नहीं, और यह भी नहीं कह सकते कि ये दोनों एम्. ए. नहीं हैं। यही न्याय अपने प्रस्तुत विषयमें लगाया जा सकता है। सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह न भी करे तथापि उसके ज्ञानमें न्यूनता कालत्रयमें भी नहीं आसकती।

ज्ञानी पुरुषके लिये लोकसंग्रहकी शर्त रखी नहीं जा सकती; क्यों कि उसकी इतिकर्तव्यता हो चुकी है। अर्थात् लोकसंग्रहकी इच्छा प्रारब्ध कर्माधीन है, और भगवान् के (३।२०); (३।२५) और (३।२६) के वचनोंकी विवक्षा ऊपर विभाग (६) में कहे अनुसार है।

(८) "कुरु कर्मैव" इ० इस वचनपर विवेचन ऊपर विभाग (७) में आगया है।

(९) "संन्यासः कर्मयोगश्च" इ० इस जगह विचार करना चाहिय कि "संन्यासं कर्मणां कृष्ण" इत्यादि प्रश्न अर्जुनसे होना संभाव्य है? पिछले अध्यायमें (४-१८) "कर्मण्यकर्म" इत्यादि वचनोंसे सर्व कर्मसंन्यास और "छित्वैनं संशयं" (४-५२) इत्यादि वचनोंसे कर्मयोग भी भगवान् ने बतलाया है। तब अर्जुनने विचार किया कि भगवान् ने संन्यास और योग दोनों बतलाए, परंतु इनमें से मैं किसका आचरण करूं? इस बुद्धिसे उसने प्रश्न किया। इसपर कोई कहेंगे कि सर्वकर्मसंन्यास भगवान्ने विद्वान्के लिये बतलाया, अविद्वान्के लिये नहीं। इस लिये अर्जुनको प्रश्न करनेकी कोई आवश्यकता न थी। परंतु विद्वान् के लिये विधि होनेसे वही बात अविद्वान्के लिये प्रतिषेध है ऐसा तात्पर्य नहीं निकलता। "स्वर्गकामो यजेत्" इस विधिवाक्यसे यह प्रतिपादित नहीं होता कि जिसको स्वर्गकी इच्छा नहीं उसको याग करना न चाहिये। इसलिये अर्जुनने स्वतःकी दृष्टिसे प्रश्न किया। अत एव यहां अनात्मवित्कर्तृक (विविदिषा) संन्यास और कर्मयोग ऐसा मतलब लेनाही इष्ट है। अन्यथा अर्जुनका प्रश्न असंभाव्य था; इसलिये भगवान् ने कहा है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों चित्तशुद्धि द्वारा निःश्रेयसकर हैं; और संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग स्वनुष्ठेय रहनेसे उसका वैशिष्ट्य समझना चाहिये। इस तरह गीताके कर्मपर वचनोंका उपरीनिर्दिष्ट रीतिसे वास्तविक अर्थ होता है।

अब ज्ञानवादी क्या कहते हैं, वह भी देखें। ज्ञानवादी कहते हैं कि ज्ञानही परम गति (मोक्षप्राप्ति) का साधन है। केवल कर्म, अथवा कर्मसमुच्चित ज्ञान परम गतिका साधन नहीं है। और यह बात वे मुख्यतः सात कारणोंसे सिद्ध करते हैं—

पहिला कारण यह है कि "योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११) "उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये" (६।१२) "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (१८।५) इत्यादि स्थलोंमें भगवान्ने कहा है कि अज्ञानी पुरुषको चित्तशुद्धिके लिये अवश्यमेव कर्म करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि कर्म चित्तशुद्धिका कारण है, मोक्षका कारण नहीं है।

दूसरा कारण ऐसा है कि "कं घातयति हन्ति कम्" (२।२१) "तस्य कार्यं न विद्यते" (३।१७) "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (३।२८) "कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" (४।२१) "कृत्वापि न निबध्यते" (४।२२) "कुर्वन्नपि न लिप्यते" (५।७) "न करोति न लिप्यते" (१३।३१) "न हन्ति न निबध्यते" (१८।१७) इत्यादि अनेक

वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुषोंको सब कर्मोंका अभाव बतलाया है। प्रारब्ध कर्मानुसार लोकसंग्रहरूपसे लौकिकदृष्ट्या यदि कदाचित् कर्म संभाव्य हो तो उसका यह दृढ निश्चय हुआ रहता है कि मैं अकर्ता व अभोक्ता हूं, शरीरेन्द्रिय रूपसे परिणत हुई प्रकृति ही क्रियामें प्रवृत्त होती है; इसलिये उस प्रकारका कर्म अभ्यास है। एवंच ज्ञानकर्मसमुच्चय संभवनीय नहीं है।

तीसरा कारण ऐसा है कि "न कर्मणामनारंभात्" (३।४) "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" (५।६) इत्यादि वचनोंसे यह बात विशद होती है कि कर्मयोग ज्ञाननिष्ठाका उपाय बतलाया गया है। इसलिये "संन्यासः कर्मयोगश्च" (५।२) "ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्" (३।३) इत्यादि कर्माभास-स्थलोंमें कर्मयोगको ज्ञाननिष्ठा योग्यता द्वारा ही निःश्रेयसकर मानना चाहिये।

चौथा कारण ऐसा है कि "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७।१८) इत्यादि वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुष अविक्रिय ब्रह्मस्वरूप बन जाता है, इसलिये उसके लिये कर्म असंभाव्य है।

पांचवा कारण ऐसा है कि "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्" (३।३) इत्यादि स्थलोंमें यह बात पाई जाती है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग के लिये बिलकुल भिन्न भिन्न अधिकारी बतलाए गए हैं। इसलिये ज्ञान और कर्म दोनों बातें एकही पुरुष के लिये एकही समयमें असंभवनीय हैं। क्योंकि ज्ञानयोगकी और कर्मयोगकी साधनसामुग्री स्थितिगतिवत् भिन्न भिन्न है। कर्मयोगकी बुद्धि ऐसी रहती है कि 'मैं सकल क्रियाओंका कर्ता व भोक्ता हूं; मुझे वर्णाश्रमविहित कर्म करना चाहिये, अन्यथा मैं पतित होऊंगा।' परंतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि ज्ञानमार्गका आचरण करनेवाला मुमुक्षु ऐसी बुद्धि धारण करनेका प्रयत्न करता है कि 'मैं अकर्ता, अभोक्ता हूं। मेरे हाथसे सुखदुःखहेतु कोई भी कर्म होना अशक्य है, और मुझे उनकी गरज नहीं है। तात्पर्य यह है' कि एकही समयमें एकही पुरुषके लिये दोनों मार्गोंका आचरण करना अशक्य होनेसे ज्ञानकर्मसमुच्चय संभाव्य नहीं है। इसपर कर्मयोगी कहते हैं कि 'इस श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोग मोक्षका स्वतंत्र साधन है।' इसका उत्तर ३ रे कारणके विवेचनमें गतार्थ हुवा है। जहां जहां कर्मद्वारा मोक्ष बतलाया हो वहां चित्तशुद्धि, ज्ञाननिष्ठायोग्यता, ज्ञाननिष्ठा और पश्चात् मोक्ष ऐसाही क्रम भगवान्‌को तथा श्रुत्यादिकोंको विवक्षित है।

छठा कारण ऐसा है कि कर्मपक्षमें तीसरे अध्याय के प्रारंभमें "ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते" (३।१) अर्जुनने किया हुआ प्रश्न संभाव्य नहीं है। (१) भगवान्‌को यदि ज्ञानकर्मसमुच्चय अपेक्षित हो तो पिछले अध्यायसे अर्जुन यह न समझता कि कर्म की अपेक्षा ज्ञानका ज्यायस्त्व है। (२) इसी तरह भगवान्‌ने यदि समुच्चय बतलाया है ऐसा माना जाय, तो "तदेकं वद निश्चित्य" (३।२) ऐसी अर्जुन की प्रार्थना उत्पन्न नहीं होती। चित्तकी शांतिके लिये जब कोई वैद्य ऐसा कहता है कि "मधुर और ठंडे पदार्थ खाओ" तब रोगीका यह प्रश्न नहीं हो सकता कि 'मुझे इन दोनोंमेंसे कोई एक पदार्थ खानेको बतलाओ।' (३) सिवाय इसके, श्रुतिमें तथा संपूर्ण गीतामें यदि ज्ञानकर्मसमुच्चय बतलाया हो, तो "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (३।३) इस श्लोकमें भगवान् अपने प्रिय शिष्यको भिन्नपुरुषकर्तृक ज्ञानयोग और कर्मयोग कैसे बतलावेंगे? (४) भगवान्‌का आशय यदि ऐसा माना जाय कि अर्जुन दोनों योगोंको सुनकर दोनोंका आचरण करे; और अन्य लोग एकका आचरण करें तो भगवान्‌के सिरपर रागद्वेषका तथा अप्रमाणभूतत्वका दोष आवेगा; ऐसी अवस्थामें समुच्चयपक्षमें तीसरे अध्यायके आरंभके प्रश्नप्रतिवचनोंकी उपपत्ति नहीं लगती। ज्ञान और कर्ममें स्थितिगतिवत् विरोध रहनेके कारण भगवान्‌ने यदि कहा हो कि इन दोनोंका एकही पुरुषसे अनुष्ठान नहीं हो सकता, तो अर्जुनका "ज्यायसी चेत्" इत्यादि प्रश्न संभाव्य है। मान लें, कि अविवेकसे अर्जुनने ऐसा प्रश्न किया हो तथापि भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वके कारण भगवान्‌का प्रतिवचन उपपन्न नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि समुच्चयपक्ष में अर्जुन का प्रश्न और भगवान् का उत्तर संभाव्य नहीं।

सातवां कारण देखा है कि, समस्त श्रुतियोंका डिण्डिम घोषणा कर रहा है कि ज्ञानही से मोक्ष मिलता है।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ नृ० ६
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति०। केन० २।५
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
श्वे० ६।२०

इत्यादि अनेक श्रुति तथा "ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" (५।९) इत्यादि गीता के वचन यही सिद्ध करते हैं कि "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।"

सारांश यह है कि ज्ञानवादियोंने अपने मतकी पुष्टि के लिये उपर्युक्त जो सात कारण दिये हैं, उनपर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर अधीतशास्त्र, सहृदय और निःपक्षपाती जिज्ञासुओंको यह दृग्गोचर होगा कि ज्ञानवादियोंका ही कहना सशास्त्र, सयुक्तिक और सुसंबद्ध है। अतएव ज्ञानकर्मसमुच्चय से अथवा केवल कर्मसे मोक्ष भगवद्गीता में प्रतिपाद्य नहीं है; किंतु "ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" ऐसी उद्घोषणा करनेवाले भगवान् ने यही सिद्धान्त बतलाया है कि "मेरे स्वरूप का ज्ञान होनेसे परम शान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।"

दुग्धं गीतामृतं महत्।

(ले०— श्री० भास्कर विष्णु गुळवणी, ऐतवडेकर।)

श्रीमद्भगवद्गीता के आरंभ में उसके ध्यानपर कतिपय श्लोक कहे जाते हैं। शिरोभाग में दिया हुआ अवतरण उनमें से एक श्लोक का अंतिम भाग है। पूर्ण श्लोक इस तरह है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसी एक श्लोकपर विचार करनेसे गीतासंबंधी सर्वसाधारण बातें अच्छी तरह मालूम होती हैं; और दस ग्यारह शब्दोंके इस अर्थपूर्ण श्लोक में श्लोककर्ता ने गीताकी अलंकारिक रीतिसे स्तुति करके हमारे लिये इतनी महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई हैं, यह देखकर आश्चर्य और आदर से मन परिप्लुत हो जाता है। इस लेख में उपर्युक्त अर्थप्रचुर श्लोकपर विवरणात्मक चार शब्द लिखनेका विचार है।

यह श्लोक रूपक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। यहां गीताको दूध माना है, और इस कल्पनासे उत्पन्न होनेवाली अन्य आकांक्षाओंको तृप्त करने के लिये, व्यवहार में हमको हमेशा देखने मिलता है ऐसा एक मनोहर दृश्य वाचकों के सामने रखा गया है। यह दृश्य अर्थात् गोदोहनका मधुर प्रसंग है। गोदोहन कहनेसे गायें, दोहनेवाला, बच्चा, दूध और उसके भक्त इत्यादि सब बातें नजरके सामने आती हैं, और इन्हीं बातोंका गीतासे संबद्ध बातोंसे मेल लगाकर, श्लोककर्ताने एक नितांतरम्य रूपक-परंपरा निर्माण की है। उपनिषदों को गीतारूपी दूध देनेवाली गोमाता माना है। भगवान् श्रीकृष्ण को दोहनेवाला माना है, महाधनुर्धारी पार्थ को वत्स कहा है; और ज्ञानी जनोंको भोक्ताओंकी श्रेणीमें बैठाया है। इन कल्पनाओंके पीछे श्लोककर्ता का जो मनोदय है, उसे स्पष्ट करके उन कल्पनाओंकी सार्थकता सिद्ध करने ही से गीतासंबंधी सब बातें विशद होंगी; इसलिये क्रमशः उनपर विचार करें।

श्लोककर्ताने उपनिषदों को गायें मानकर यह सूचित किया है कि उपनिषद् अत्यंत पूज्य व पवित्र हैं; और "परोपकाराय दुहन्ति गावः" इस उक्ति के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी दर्शाई

है। इन ग्रंथराज उपनिषदों ने आजतक असंख्य जिज्ञासुओं को सत्तत्व और सन्मार्ग की प्रतीति करा दी है और उनका जीवन सफल और शिरसा वंद्य किया है।

"सर्वोपनिषदो गावः" यह कल्पना न केवल सार्थ है, किंतु सत्य भी है। तुलनात्मक अभ्यास करनेसे मालूम होगा कि गीताके दूसरे अध्यायका यह श्लोक "आश्चर्यवत्पश्यति..." (२। २९) कठोपनिषद् के "आश्चर्यो वक्ता०" (कठ० २।७) इस श्लोक के सदृश है। "न जायते म्रियते वा कदाचित्..." इत्यादि श्लोक (गी० २।२०) तथा श्लोकार्ध "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" (गी० ८।११) गीता में और कठोपनिषद् में अक्षरशः एकही हैं। (कठ० २।१९ और २।१५) गीताका यह श्लोक — "इंद्रियाणि पराण्याहुः" (गी० ३।४२) कठोपनिषद्का अवतरण है। दूसरे अध्याय में आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादन और तेरहवें अध्याय में "ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि" इत्यादि जो 'ज्ञेय' तत्त्व का वर्णन आया है, ये दोनों उपनिषत्तत्त्वके अनुवाद हैं। ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शन की कल्पना मुंडकोपनिषद् के "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ०" इत्यादि श्लोकपरसे ली गई होगी। इसी तरह "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इस कठोपनिषद् की कल्पना का विस्तार गीता के पंद्रहवें अध्याय के अश्वत्थवृक्षके वर्णन में किया हुआ दीख पडता है। उदाहरण के लिये केवल इतनाही दिग्दर्शन करके प्रस्तुत श्लोकपर आते विचार करें।

"दोग्धा गोपालनंदनः" इसमें श्रीकृष्ण को दूध दुहनेवाला ग्वाल कहा है; परंतु उनका उल्लेख 'गोपालनन्दन' इस सार्थ व सुंदर नामाभिधानसे किया गया है। गायोंका परिचित अहीर उनका दूध अतिशय कुशलतासे और विना आयासके दुह सकता है, तथापि अधिकतर यह देखा जाता है कि गायों का प्रेम अहीर की अपेक्षा अपने छोटे अर्भकों की ओर ज्यादा रहता है। दूध दुहनेकी अहीरकी कुशलता बालकों में कहांसे आयगी? तथापि बालसहज निर्दोष वृत्तिके कारण मनुष्येतर प्राणियों में भी बालकों के विषयमें अधिक ममता उत्पन्न होती है; और इसी कारण केवल कुशलतासे किये हुए कामों से अधिक आश्चर्यकारक बातें बालकों द्वारा हुआ करती हैं। प्रेमी और परिश्रमी अहीर के समान भगवान् श्रीकृष्ण उपनिषद्रूपी गोमाताओंके निःसीम उपासक और सेवक थेही, तथापि केवल इसी भूमिका से उन्होंने गोदोहन किया होता तो "न मे भक्तः प्रणश्यति" "मन्मना भव मद्भक्तः" "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" इत्यादि वात्सल्ययुक्त ग्रास जो हमें गीतामें वारंवार मिलते हैं, वे न मिलते। इस तरह अंतःकरण जिनसे उछलता है, ऐसे उद्गारों का उगम गीता सुनाते समय श्रीकृष्णकी स्वीकृत बालवृत्तिमें ही होना चाहिये। इस प्रकारकी वृत्ति रहनेका प्रमाण महाभारतमें ही देखने मिलता है। भारतीय युद्ध समाप्त होकर युधिष्ठिर को राज्याभिषेक होनेपर श्रीकृष्णने जब द्वारका को जानेकी बात छेडी, तब अर्जुनने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की "हे भगवन्! युद्ध के आरंभमें आपने जो उपदेश मुझे किया था वह मैं भूल गया, वह मुझे फिरसे बतलाइये।" इस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको अनुगीता कही। उसके आरंभमें भगवान् ने कहा है "तुम्हारा दुर्दैव है कि युद्धके आरंभ में योगयुक्त अंतःकरण से मैंने किया हुवा उपदेश तुम भूल गए; वह उपदेश उसी प्रकारसे करना अब मुझे शक्य नहीं है। अंतःकरण की यह योगयुक्त स्थिती बालवृत्ति के समान रहती है। इस स्थिति का वर्णन "बालोन्मत्तपिशाचवत्" ऐसा किया जाता है। इस प्रकारकी मनोभूमिका में से ही अखिल जगत् को सर्वथा और सर्वदा आदरणीय ऐसे त्रिकालाबाधित तत्त्व निर्माण होते हैं। अस्तु।

अर्जुनको जो वत्सकी भूमिका दी है वह भी अर्थपूर्ण है। गायको दोहनेके पहिले उसके बछडेको देते हैं जिसमें उस बछडेको पिलाते पिलाते गायको प्रेमवश बहुतसा दूध आता है। उसके बाद जितना दोहन होता है उसके लिये कारण बछडा होता है, और बछडेकी भी तृप्ति होती है। गीताकथनका पूर्वेतिहास तथा परिणाम देखनेसे अर्जुनके बारेमें यही स्थिति दृग्गोचर होती है। युद्धका प्रारंभ

होनेके पहिले समरभूमिके बीचमें अर्जुनको रथमें बैठे हुए जब सामहने अपने आप्त इष्ट, संबंधी, गुरुजन इत्यादि दीख पडे तब वह वीरश्रेष्ठ अर्जुन गलितधैर्य हो गया। उसको यह प्रतीत हुवा कि भारतीय युद्धका यह प्रचंड रणकुंड केवल स्वार्थके कारण मेरेही हाथसे प्रदीप्त होगा। ऐहिक और पारलौकिक परिणामका भयानक शब्दचित्र उसने भगवान्‌के सामने खींचा, और "युद्धमें कौरवोंको मारनेकी अपेक्षा विना प्रतिकारके ये कौरव मुझे मार डालें, तो अच्छा होगा" ऐसा विचार करके धनुष्य बाणका त्याग करके रथमें वह स्वस्थ बैठ गया; कर्तव्य अकर्तव्यके संबंधमें उसका मन अस्थिर होगया। "शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" ऐसे विनय पूर्ण शब्दोंमें उसने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि मेरे लिये जो श्रेयस्कर हो वह निश्चित रूपसे बतलाओ। आगे जो गीता सुनाई गई वह इसीका परिणाम है।

इसके अतिरिक्त अर्जुनकी उसी तरह तृप्ति हुई है जैसे गोदोहनके पहिले छोडे हुए बछडेकी होती है। क्योंकि उपदेशका परिणाम क्या हुआ यह देखनेके लिए भगवान्‌ने जो प्रश्न किये उनके उत्तरमें अर्जुनने कहा है कि मेरा मोह नष्ट हुआ; अपरंच उसने "करिष्ये वचनं तव" ऐसी प्रतिज्ञा की और वह पूरी तरह निभाई। एवंच उपनिषद्रूपी गोमाताओंका दूध जो गोपालकृष्णने उद्धृत किया उसके लिये अर्जुनही कारण हुवा और वह कृतकृत्य हुआ।

"सुधीर्भोक्ता" इन शब्दोंमें यह बतलाया है कि गीतारूपी दूध प्राशन करनेके लिये अर्थात् गीताका अध्ययन करनेके लिये वही योग्य है जो (सु+धीः) सच्चा ज्ञानी हो। भगवान् ने कहा है कि, अत्यंत गूढ गीताशास्त्र समझनेपर मनुष्य ज्ञानी है। (गी. १५-२०) अध्ययनके बाद आनेवाला जो ज्ञान वह अध्ययनके पहिले होना चाहिये, ऐसी शर्त रखना असंभाव्य है। इसलिये सुधीः का मतलब यहां "सच्चे ज्ञानकी तीव्र उत्कंठा रखनेवाला" ऐसा करना चाहिये, और गीतामें ज्ञानसंपादनके प्रणिपातादि जो तीन उपाय बतलाए हैं उनका आचरण सच्चे जिज्ञासुओं सेही हो सकता है। अस्तु। स्वयं भगवान्‌ने गीताध्ययनको "ज्ञानयज्ञ" कहा है (गी० १८।७०) और गीतामें अनेक स्थलोंमें ज्ञानका और ज्ञानी जनोंका महत्त्व वर्णन किया है। (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। इ०)

"दुग्धं गीतामृतं महत्" इस अंतिम चरण में गीताका स्वरूप बतलाया है। इसका अर्थ यह है कि गीतारूपी जो अमृत वही दोहा हुआ दूध है। मूलभूत रूपक की रचना गीता को दूध मानकर की गई है, और इस चरण में उसको अमृत भी कहा है। गीताका स्वरूप श्लोककर्ता को दूध और अमृत दोनों के समान मालूम होता है। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों के गुणधर्मोंका विचार करनेपर गीताका उनसे साम्य कहांतक है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" इस वचन में धर्म शब्द द्वारा उपलक्षण से यह बतलाने का कविका अभिप्राय है, कि चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति शरीरकी सुस्थितिपर निर्भर है। शरीरसुस्थितिके लिये अन्य बातों के समान सात्विक आहार की भी आवश्यकता रहती है। सात्विक आहार के अग्रस्थान में दूधको रखने में कोई गलती न होगी। इस प्रकार सर्वांगीण ऐहिक उन्नति के लिये परंपरया, तथापि अधिकांश में, दूध ही कारण है, और इसलिये उसको अभ्युदय का द्योतक मानने में कोई बाधा नहीं है।

अमृत का मुख्य धर्म यह माना जाता है कि वह प्राशन करनेवाले को अमर करता है। और 'जन्ममरण के चक्रसे छुटकारा पाना' यही परमार्थ का ध्येय रहनेसे ऐसा स्पष्ट दीखता है कि 'अमृत' शब्द पारमार्थिक ध्येयका अर्थात् निःश्रेयस का वाचक है। इस प्रकार गीता दूध है और अमृत भी है ऐसा समझकर श्लोककर्ता ने उसका द्विविध स्वरूप स्पष्ट किया है। गीताकी शिक्षा से अभ्युदय तथा निःश्रेयसका मार्ग मिलता है; प्रपंच व परमार्थ की संगति इसी शिक्षा के द्वारा प्रतीत होती है। यह बात सप्रमाण सिद्ध हो सकती है, परंतु एकही अल्प लेख में यह शक्य और इष्ट नहीं है, इसलिये एक दो प्रमाण देकर इस विषय को समाप्त करें।

इसमें मतभेद नहीं है कि गीता मोक्षपर है। परंतु निःश्रेयस की ओर दृष्टि रखते हुए उसने अभ्युदय की तरफ दुर्लक्ष्य नहीं किया। किंतु यह सावधानी ली गई है कि अभ्युदय का ध्येय रखकर उसके सावधान निश्रेयस के पोषकही हों। विचार पूर्वक गीता पढनेसे यह बात स्पष्ट रीतिसे नजर में आती है। " मामनुस्मर युद्ध्य च। "

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।"

इत्यादि वचन, तथा १३ वें अध्याय में ज्ञानके लक्षण, १६ वें अध्याय में बतलाये हुए दैवी संपत्ति के २६ तेजस्वी गुण, इत्यादि बातें उक्त विधान की सत्यता सिद्ध करने को पर्याप्त हैं। अध्यायसमाप्ति के संकल्प में गीताको ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र कहकर संकल्पकारने उसको द्विविध स्वरूप स्पष्टतया बतलाया है।

इस प्रकार एक श्लोक में १ गीता का उपनिषदों से संबंध, २ उसका आद्य प्रणेता, ३ उसका तात्कालिक निमित्त, ४ उसके अध्ययन के अधिकारी, और ५ उसका स्वरूप;ऐसे पांच मुद्दोंका श्लोककर्ताने अतिशय संक्षिप्त और सुंदर रीतिसे खुलासा किया है।

अंतमें प्रार्थना यह है कि प्रत्येक मनुष्य इस अमृततुल्य गीतारूपी दुग्धका पान करके उसका पचन करनेका प्रयत्न करें।

श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मविद्या।

(ले०- श्री० गणेश रंगनाथ धडफळे, पूना।)

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति। विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ गी० ८।११

" वेदों को जाननेवाले जिसको ' अक्षर ' नाम से संबोधन करते हैं; विषयपराङ्मुख यति जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं,उस ब्रह्मपदके विषयमें थोडासा मैं कहता हूं।"

" हां हां, मैंने ईश्वर देखा है। जितनी स्पष्ट रीतिसे मैं तुझे देखता हूं उतनी ही स्पष्ट रीतिसे मैंने ईश्वर देखा है।" यह वाक्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानंद को पहिली ही भेट में कहा है। यह उत्तर ब्रह्मदर्शन के संबंध में है। स्वामी रामकृष्णने एकवार अपने शिष्यकी परीक्षा ली और पूछा " अमृत के समुद्र में तुम गोता लगाओगे अथवा ऊपर तैरते रहोगे ? " अज्ञानी शिष्यने जावब दिया " मैं तैरता रहूंगा।" स्वामी रामकृष्ण का यह प्रश्न ब्रह्मही के बारेमें है। When the little bubble (of the self) bursts, it finds itself the whole ocean " (जब बुलबुला फूटता है तब वह अपनेको समुद्रमय पाता है अर्थात् समुद्र में और स्वतः में कोई भेद नहीं पाता।) अथवा " To give rise to a tree, the seed, must perish itsef. " (वृक्ष उत्पन्न होनेके लिये बीज को नष्ट होना पडता है।) इत्यादि स्वामी रामतीर्थके वाक्य भी इस जीवब्रह्मकी एकता को सूचित करते हैं। श्रीमत् शंकराचार्य के समान धर्मसंस्थापक अथवा भिन्नकालीन तुलसीदास, कबीर, ज्ञानेश्वर,तुकाराम,रामदास इत्यादि संतगण ब्रह्मद्रष्टा होते थे-

अस्थींच्या देहीं मांसाचा डोळा। पाहेन म्हणे ब्रह्माचा गोळा। तो ज्ञाता नव्हे आंधळा। केवळ मूर्ख॥ "

" अस्थिमय देहमें चर्ममय चक्षु से ब्रह्मका गोल देखूंगा ऐसा जो करता है वह ज्ञाता नहीं अंधा है, केवल मूर्ख है।" यह ब्रह्मदर्शननिदर्शक अवतरण

है। उसकी प्राप्तिके मार्गका दिग्दर्शन निम्नलिखित श्लोकमें है-

सदा सेवी आरण्य तारुण्यकाळीं।
(तारुणावस्थामें सदैव अरण्यवास करे।)
आम्हीं वैकुंठवासी! आलों याची कारणासी॥

(हम वैकुंठ के रहनेवाले इसी कारणसे यहां आए हैं।) यह तुकाराम महाराज की उक्ति ग्वाही संत लोगोंका निरंतर निवासस्थान ब्रह्मलोक है। भरतखंडमें आजतक इस ब्रह्मविद्यामें और इस ब्रह्म साक्षात्कारमें रुकावट नहीं हुई। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ की यशोदुन्दुभी अपने जयघोषसे इसी बातकी पुष्टि दे रही है। भिन्न भिन्न युगोंमें अवतार लेनेवाले भगवान् इसी अव्यक्त ब्रह्मसे जन्म लेते हैं। "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्" (गी. १४।३) "तद्धाम परमं मम" (गी: १५।६)

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मनकी तैयारी किस प्रकार-की रहनी चाहिये, उसके लिये क्या करना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, क्या खाना चाहिये, कितना खाना चाहिये, संसारमें व्यवहार किस तरह करना चाहिये, ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें व्यवहारका कितना महत्व है "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये" (गी. ५।११) इन बातोंके संबंधमें श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक उल्लेख जगह जगह पर आए हैं। विशेषतः निम्नलिखित अवतरण ध्यानमें रखना चाहिये- "शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः" (गी. १२।१८) "अनिकेतः" (१२।१९) "अनपेक्षः" "उदासीनः" "सर्वारंभपरित्यागी" (१२।१९) "निर्ममो निरहंकारः" (१२।१३) ब्रह्मदर्शनके लिये जो क्रम आचरणमें लाया है, उसीके उलटा क्रम सिद्ध पुरुष संसारमें संचार करता है तब उसके आचरणमें दीख पडता है। उसकी विषयनिवृत्ति किस परा कोटिको पहुंची रहती है, यह देखिये—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥"
गी. २।५९

कर्म संन्यास करके प्रथमतः वह परम कोटिकी नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त कर लेता है (गी. १८।४९) ब्रह्मदर्शन होनेके पहिले कैसी स्थिति प्राप्त रहना चाहिये, उसका सर्वस्व निम्नलिखित श्लोकमें आया है—

"विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
गी. १८।५२

"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्॥
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥"
गी. १८।५४

यह सामर्थ्य जिसने अभ्याससे, जिज्ञासासे, ईश्वरके स्मरणसे अथवा अन्य किसी रीतिसे प्राप्त कर लिया हो, उसको कोई पवित्र स्थान (शुचौ देशे। गी. ६।११) ढूंढ लेना चाहिये। हिमालयका गंगातीर अथवा नर्मदातीरकी कोई दर्शनीय गुफा निश्चित करनी चाहिये। वहां यदि कोई कुटि अथवा मंदिर हो तो अच्छा। वह जगह योगाभ्यासके लिये प्रसिद्ध होनी चाहिये। योगक्षेमके लिये पर्याप्त मधुर फलमूलका निसर्गतः संचय वहां होना चाहिये। आसपास मंद मंद बहनेवाले निर्झर अथवा पवित्र नदीका पात्र चाहिये। वृक्षराजि बहुत निबड न हो। वृक्षोंकी शान्त छाया होनी चाहिये। जगह पूर्ण निर्भय तथा ऐसी हो कि जिससे देहभावको भूलकर मन एकाग्र होसके। वहां हिंस्र श्वापद अथवा जहरीले प्राणी न हों, और मनुष्योंका आनाजाना अधिक न हो। एकान्त स्थल में--जहां पत्थरों की ठंडाई न हो, साफ जगह देखकर सहज आसन लगाकर बैठना, गर्दन सीधी रखकर नासिकाग्रपर भृवों के बीचमें दृष्टि स्थिर करके आत्मचिंतनमें निमग्न रहनेका अभ्यास पहिलेही से हो जाना चाहिये। ऐसे विरक्त संन्यासी योगी के लिये ब्रह्म केवल हस्तगत आंवलेके समान सुलभ होता है। इस ब्रह्मका स्वरूप श्री ज्ञानेश्वर-महाराज इस तरह वर्णन करते हैं—

"यह स्वरूप सहज स्थितिका लावण्य, समाधि-स्थितिका तारुण्य, अनादि और अगम्य ब्रह्मस्वरूप, विश्वका मूल, योगवृक्षका फल और आनंदका

केवल प्राण, आकारका अंत, मोक्षका एकान्त, महाभूतोंका मूलकारण, महातेजका तेज, ऐसा जो ईश्वरका निजस्वरूप वह सद्गुण स्वरूपमें उस समय प्रगट होता है जब कि नास्तिक लोक भक्तों को पीडा देते हैं।"

गीता के "शुचौ देशे" "विविक्तसेवी" "अनिकेतः" इत्यादि शब्दों से उपर्युक्त योग ही का दिग्दर्शित है। योगाभ्यास को योग्य ऐसे स्थान आजदिन भी हिमालय में अनेक हैं। स्वामी रामतीर्थ के संबंध में जिसका उल्लेख किया जाता है, वह ब्रह्मपुरीनामक दर्रा (हृषीकेश के पास) एकवार देखकर योगाभ्यास के स्थान का स्वरूप जिज्ञासु लोक ध्यानमें लावें। स्वामी रामतीर्थ को यहीं साक्षात्कार हुवा है। नर्मदाकिनारेपर ऐसे स्थान विपुल हैं। अन्य जगहोंमें भी ऐसे स्थान होंगे, और उन स्थानोंसे अनेक सज्जनोंका परिचय होगा। भारतभूमि ब्रह्मविद्याकी भूमि है। यहांके सब धार्मिक व्यवहार विशेषतः इसीके अनुकूल चलते हैं। संध्याके लिये घाट, जगह जगहपर रम्य मन्दिर, एकान्तके लिये निवासस्थान और गुफा, योगक्षमके लिये वर्षासन, इनामवतन, सदावर्त, अन्नसत्र, संन्यासी ब्रह्मचारियोंके लिये आदरपूर्वक भिक्षादान, इत्यादि बातें जो आजतक परंपरागत चली आती हैं उनका उद्देश इस ब्रह्मविद्याकी उन्नति करनेका है। इसमें यशःप्राप्ति कहांतक हुई है कौन जाने? परंतु हमारे धर्ममें वह पूर्णतया हस्तगत है। इस ब्रह्मज्ञानमें किसी भी परिस्थितिमें बाधा नहीं हुई। आजभी उसका अभ्यास और ज्ञान प्राप्त करनेमें कोई अडचन नहीं है।

गीताका स्थूल परीक्षण करनेवाले भी उसमें दिया हुआ अव्यक्त और अक्षर ब्रह्मका सर्व श्रेष्ठ स्थान और उसकी प्राप्तिके मार्गके विषयमें जगह जगह आए हुए उल्लेखोंकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष भगवान् विलासी पुरुष समझे जाते हैं। उनके आयुष्यमें भी विरक्तिपूर्वक की हुई तपश्चर्या के दो तीन प्रसंग हैं। सबही अवतारी पुरुषों में यह बात पाई जाती है।

श्रीकृष्णने की हुई तपश्चर्या के तीन प्रसंगों का वर्णन किया गया है। (महाभारत अनु० ४५।४६ (कुंभकोण), पद्मपुराण स्वर्गखंड, २८ और ३६)

तपस्तपस्व तपो ब्रह्मेति।

इति शम्।

भगवते श्रीवासुदेवाय नमः।

गीतापरामर्श।

(लेखक— श्री० अण्णाबुवा अर्जुनवाडकर, बेलगांव।)

विद्वान् लोग ऐसा कहते आए हैं कि गीताशास्त्र समस्त वेदार्थसारसंग्रहभूत है। दस बीस वर्षतक इस शास्त्र का सांगोपांग विचार करने से हमें पूर्ण विश्वास होगया है कि यह वाक्य अक्षरशः सत्य है। अधूडे और पक्षांध लोग कुछभी कहें; हमें उन से कोई सरोकार नहीं। गीतार्थ के विषयमें हमारी जो लालसा थी वह तृप्त होगई और इस विषयमें हमारा पूर्ण समाधान हुआ।

किसी मकानकी अथवा जमीन की कीमत, आसपासकी परिस्थिति का विचार किये विना, निश्चित नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैदिक दृष्ट्या वैदिक वाङ्मयका अभ्यास किये विना गीतार्थ का निश्चय करना अशक्य है। जिस वेदार्थका प्रतिबिंब गीतारूपी दर्पण में पडा है, वह वेदार्थ जिसने जान लिया हो, वही बुद्धिमान् पुरुष गीतार्थका निश्चय कर सकेगा। अन्य लोगोंको यह विषय दुर्बोध है।

यद्यपि गीताशास्त्रकी भाषा सुबोध है, तथापि उसका विषय तथा विषयसंगति दुर्बोध है; शास्त्रसंस्कार-रहित मनुष्य को वह संगति लगाना दुर्घट है। इसलिये इतना निश्चित है कि, गीता इतनी हलकी नहीं है कि चाहे जो मनुष्य उठकर गीतापर व्याख्यान देवे।

गीताग्रंथ में भी गीतार्थ का थोडेमें संग्रह करनेवाला दूसरा अध्याय है। कथनीय अर्थ सबका सब द्वितीय अध्याय में समाप्त हुआ है। अर्जुन का प्रधान हेतु अपनी शोकनिवृत्ति करनेका था। अर्जुन का वह प्रधान हेतु इस श्लोक में स्पष्ट बतलाया है-

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् ० (गीता अ० २ श्लोक ८)

अर्जुन का वह प्रधान हेतु ध्यानमें लाकर भगवान् ने सीधा जवाब दिया है कि—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः।

इस श्लोकार्धका भाव वह है कि पंडित लोग शोक नहीं करते। पंडा का मतलब है आत्मज्ञान; वह जिन्हें प्राप्त हुआ है उन्हें पंडित कहना चाहिये। " तरति शोकमात्मवित् " यह समानार्थक श्रुति यही अर्थ प्रगट करती है। शोकनिवृत्तिका एकान्तिक साधन आत्मज्ञान है! ऐसा यह वैदिक सिद्धान्त है। आत्माके अज्ञानसे प्राप्त हुआ जो शोक है, उसकी निवृत्ति आत्मज्ञानसे होना ही युक्त है। अर्जुनको शोकनिवृत्ति चाहिये थी। आगे भी उपसंहारमें " मा शुचः " ऐसा स्पष्ट कहा है। "न त्वेवाहं जातु नासम्" इत्यादि श्लोकोंसे शोकनिवृत्तिका साधन जो पांडित्य अर्थात् आत्मज्ञान वह सपरिकर बतलाया, और अंतमें वह प्रकरण समाप्त करते हुए—

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।

ऐसा कहकर यह बतलाया कि आत्मज्ञान से शोक का उच्चाटन होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि गीताशास्त्रका परम प्रयोजन शोकनिवृत्ति है और आत्मज्ञान उसका साधन है। यह प्रधान विषय ध्यान में रखकर गीताका अर्थ लगाना चाहिये।

चतुर्थ अध्याय में द्वादश यज्ञों का निरूपण करनेपर सर्व यज्ञों में श्रेष्ठ ऐसे आत्मज्ञान की बहुत प्रशंसा की है-

श्रेयान् ज्ञानयज्ञः॥ सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते। ते ज्ञानिनो ज्ञानमुपदेक्ष्यंति, यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं यास्यसि ॥ सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं (संसारलक्षणं शोकं) संतरिष्यसि। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

ये वाक्य स्पष्टार्थक हैं; इसलिये उनका अर्थ देने का यहां प्रयत्न नहीं करते।

सप्तम अध्याय में —

यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु। ज्ञानं तेऽहं वक्ष्यामि।

शोकनिवृत्तिका साधन जो ज्ञान वह बतलाऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अग्रिम विषय का प्रतिपादन किया है।

नवम अध्याय में—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि ज्ञानं विज्ञानसहितं।

ऐसा उपक्रम करके ' यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ' इस वाक्यसे स्पष्टही बतलाया है कि वह ज्ञान शोकनिवृत्तिका साधन है।

दशम अध्याय के—

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

इस श्लोक में बतलाया है कि भगवान् ज्ञानही के द्वारा भक्तोंपर अनुग्रह करते हैं।

त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र, ज्ञानसाधन और ज्ञेय वस्तु का सविस्तर निरूपण करके ऐसा कहा है कि—

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

'मेरा भक्त ज्ञानसाधनोंके द्वारा ब्रह्मवस्तुका ज्ञान संपादन करके भगवद्भावको-ब्रह्मभावको-प्राप्त होता है।' इसी अध्याय के अंत में " ये विदुर्यान्ति ते परम् " ऐसा कहकर यह बतलाया है कि ज्ञान मोक्षका साधन है।

चतुर्थ अध्याय के आरंभ में—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

ऐसा उपक्रम करके कहा है कि ज्ञानही के द्वारा मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति हुई है। और आगे चलकर " इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः "। इसी ज्ञानके द्वारा मुनिजन मेरे साधर्म्यको अर्थात् भगवद्भावको प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहकर यह स्पष्ट निरूपण किया है कि भगवत्प्राप्तिका साधन ज्ञान है।

पंचदश अध्यायमें " यो मामेवमसंमूढो जानाति स सर्ववित् " इस श्लोकमें " सर्ववित् " पदसे ज्ञानकी स्तुति की है; और " एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत " इस श्लोकार्धमें यह बतलाया है कि कृतकृत्यताका साधन ज्ञान है। अठारहवें अध्यायमें "इति ते ज्ञानमाख्यातम्" ऐसा गीताशास्त्रार्थका उपसंहार किया है। तात्पर्य, गीतार्थ यह है कि आत्मज्ञान शोकनिवृत्तिका कारण है। और अर्जुन शोकनिवृत्तिकी इच्छा रखते थे; इसलिये गीताके दूसरे अध्यायमें प्रथम आत्मज्ञानका प्रतिपादन किया है। आगे चलकर प्रतिपाद्य विषय जो कर्मयोग है, उसका पोषक ऐसा युद्धकर्तव्यता विषयक लौकिक हेतु बतलाकर, " एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु " यहांसे आत्मज्ञानके साधनभूत बुद्धियोगका सविस्तर निरूपण किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षका साधन आत्मज्ञान, और आत्मज्ञानका साधन बुद्धियोग है। फलाशा छोडकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मानुष्ठान करना यही बुद्धियोग है। यहां अर्थात् गीताशास्त्रमें कर्म शब्दका अर्थ शास्त्रीय कर्म लेना चाहिये, न कि लौकिक कर्म। क्यों कि " ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि" ऐसा कटाक्ष है। "कर्म करो" ऐसा जो कहा वह लौकिक कर्म नहीं है। क्योंकि लौकिक कर्म फलेच्छा छोडकर हो नहीं सकता, और वह आत्मज्ञानका साधन नहीं है, किंतु व्यवहारका साधन है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठित शास्त्रीय कर्मही परमार्थका साधन है। इस विषयमें " तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन " ऐसी बृहदारण्यक श्रुति समानार्थक है। गीताके अठारहवें अध्यायमें भी " यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् " इस श्लोकार्धमें यज्ञ, दान और तपकाही निर्देश कर्म शब्दसे किया है। यज्ञ, दान और तपसे भिन्न ऐसा कर्मपदार्थ कोई नहीं है। क्योंकि आगे " यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् " इस श्लोकार्धमें केवल यज्ञ, ज्ञान और तपहीका निर्देश है। यज्ञ, ज्ञान और तप शास्त्रीय कर्म हैं, लौकिक नहीं। शास्त्रीय कर्म यथाशास्त्र होना चाहिये। लौकिक कर्म व्यवहारकी सुविधासे कर सकते हैं। सोलहवें अध्यायके अंतमें " यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति " इस श्लोकमें शास्त्रविधिको छोडकर यथेष्ट व्यवहार करनेवालों की निंदा की है।

अब यह सवाल आता है कि शास्त्र मायने क्या है? व्यवहारमें भूगर्भशास्त्र, आरोग्य शास्त्र, सूप शास्त्र, इत्यादि अनेक शास्त्र दृग्गोचर होते हैं। गीता शास्त्रमें जो शास्त्र शब्द आया है उसका क्या अर्थ है? इसका उत्तर यही है कि यहां शास्त्र शब्दका अर्थ वेद है, और दूसरा कोई अर्थ नहीं। ब्रह्मसूत्रमें " शास्त्रयोनित्वात् " इस वाक्यमें शास्त्र शब्दसे ऋग्वेदादि शास्त्रका ग्रहण करना ऐसा कहा गया है। गीता में जो शास्त्र शब्द आया है, उसके विषय में विचार करते समय इस 'सूत्रपर दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते। क्यों कि दोनों ग्रंथों की योग्यता समान है। गरज यह कि गीतामें जो शास्त्र शब्द आया है उसका अर्थ वेद है। वेद के दो काण्ड प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे प्रथम काण्ड में यज्ञादि कर्मोंका निरूपण किया है और द्वितीय काण्डमें ब्रह्मविचार किया है। गीता में दोनों काण्डोंका विचार किया है, इससे सरल अनुमान होता है कि गीता सकल वेदार्थसारसंग्रहभूत है।

गीतापरामर्श ।

(२)

(लेखक- श्री० अण्णाबुवा अर्जुनवाडकर, बेळगाव)

वेदमें जैसे कर्म शब्दका अर्थ यज्ञादि कर्म है, वैसे गीतामें भी वही अर्थ होना चाहिये। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः" इस ईशावास्य श्रुतिमें जो कर्म निर्दिष्ट हैं वे शास्त्रीय कर्म ही हैं; क्योंकि कर्मकाण्डमें ऐसा वाक्य आया है— "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" कर्मयोगी की मृत्यु होनेपर उसे उसके यज्ञपात्रोंसहित दहन करते हैं। कर्म शब्द का अर्थ लौकिक कर्म लेनेसे सब ही लोग कर्मयोगी समझे जावेंगे; और उनकी मृत्यु होनेपर उनके दहन के समय उनके कर्मसाधनोंको साथ ही जलाना पडेगा। उदाहरणार्थ, कोई दर्जी अपने आयुष्यभर दर्जीका रोजगार करता रहा, इस कारण यदि वह कर्मयोगी हुआ, तो उसकी मृत्यु होनेपर उसके साथ उसके मशीनको भी जलाना होगा। इसलिये गीतामें जो कर्म शब्द आया है, उसका अर्थ करते समय शास्त्रीय दृष्टि जागृत रखनी चाहिये। इसी अभिप्राय से चतुर्थ अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

'कर्म किसे कहते हैं और अकर्म किसे कहते हैं इस विषयपर विचार करनेमें पंडित भी मोह में पड जाते हैं।'

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥

यह श्लोक श्रीमद्भागवतके एकादश स्कंध में निमिजायतेय- संवाद में आया है। इसमें भी कहा है कि "कर्म, अकर्म और विकर्म क्या है?" यह विचार वैदिक है, लौकिक नहीं। "पश्यन् शृण्वन्" (भ. गी. अ. ५) इस श्लोक में यद्यपि लौकिक अथवा शारीरिक, स्वाभाविक कर्मोंका निर्देश है, तथापि वह अनुवादरूप है। कर्म शब्दसे भगवान्का अभिप्राय यदि लौकिक कर्म होता, तो उसके संबंध में "कुरु" ऐसा विधि संभाव्य न होता। "अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः" ऐसा विधिका शास्त्रीय लक्षण है; और लौकिक व्यापारमें वह नहीं है; इस लिये ईश्वरप्रसादार्थ करणीय कर्म का अर्थ लौकिक नहीं है। विधिके सिवाय भी लौकिक कर्म मनुष्य कर सकता है। अत्यंत अज्ञानी पशुभी विधिके सिवाय लौकिक कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" इस १८वे अध्याय के श्लोकमें और "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इस तृतीय अध्यायके श्लोकमें तथा इतरत्र भी जहां जहां कर्मका विधान है वहां कर्म शब्दसे शास्त्रीय वर्णाश्रमका उद्दिष्ट कर्मही समझना चाहिये।

कषायपंक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥

इस श्रुतिमें भी चित्तशुद्ध्यर्थ जो कर्म बतलाये गये हैं वे शास्त्रीय कर्मही हैं। "कर्मणा पापमपनुदति" पापनिवृत्तिका साधन कर्म है ऐसा श्रुति भी कहती है। वैदिक वाङ्मयमें श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रस्थान है। श्रुति एक बात कहे, स्मृति दूसरीही बात कहे, ऐसा गोडगुडंबा वैदिक वाङ्मयमें रहनेकी कल्पना भी करना असंभव है। श्रुत्यर्थ को छोडकर यदि श्रीमद्भगवद्गीता और कुछ प्रतिपादन करती तो उसका वैदिक वाङ्मयमें संग्रह न होता। स्मृतिका श्रुतिसे विरोध होवे तो उस स्मृतिकी उपेक्षा करनी चाहिये। और विरोध न हो उसका स्वीकार करना चाहिये; ऐसा मीमांसकोंका सिद्धान्त है। "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" ऐसा महर्षि जैमिनिका सूत्र है। मनुस्मृतिमें भी ऐसा श्लोक है कि-

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥

मनु० अ० १२

तात्पर्य यह है कि गीताका श्रुतिसे वियोग नहीं कर सकते। "योगस्थः कुरु कर्माणि" इत्यादि

वाक्यसे दूसरे अध्यायमें यह कहा है कि मुमुक्षुको ईश्वरार्पणबुद्धिसे शास्त्रविहित कर्म अनुष्ठेय है; और तृतीय अध्याय में इसी बात का विचार किया है।

कई लोगोंकी ऐसी समझ हुई है कि गीताशास्त्र में लौकिक कर्म ही को कर्तव्य कहा है। इसका कारण यह है कि अर्जुनने युद्ध किया। परंतु ध्यान रहे कि यद्यपि युद्ध देखनेमें लौकिक कर्म मालूम होता है, तथापि वह लौकिक कर्म नहीं है। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्" इस वाक्य में स्वर्गप्राप्तिका साधन इस दृष्टिसे युद्ध मान्य किया गया है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदकौ।
परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

ऐसा महाभारत में एक श्लोक है। इसमें कहा है कि योगयुक्त परिव्राट् और युद्ध में पीछे न हटकर लडनेवाला योद्धा हत होनेपर दोनों सूर्यमण्डलको भेद करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। इस लिये युद्ध क्षत्रियों का स्मार्त कर्म है।

शास्त्रविहित कर्म का ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करना चाहिये, इसके लिये प्रमाण क्या है? ऐसी शंका आनेपर निम्नलिखित श्लोक देखना—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥
गीता अ० ९

यद्यपि इस श्लोकके समानार्थक श्रुति उपलब्ध नहीं है, तथापि श्लोक निःसंदेह प्रमाण है; इसमें द्विमत न होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि दूसरे अध्याय में शोकनिवृत्ति का साधन जो आत्मज्ञान उसका अधिकार प्राप्त होनेके लिये कर्मयोग बतलाया है। परंतु यह प्रश्न बाकी रहा कि कर्मकी अवधि क्या है? कई लोग "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः" इस ईशावास्य श्रुतिके आधारपर ऐसा कहते हैं कि मृत्यु होनेतक कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, और यह प्रतिपादन करते हैं कि गीता को भी यह अर्थ अभिप्रेत है। परंतु गीतार्थका पूर्वापर-संगति से विचार करनेपर मालूम होगा कि ऐसा कहना अयुक्त है। दृढविरागही कर्मयोग की मर्यादा है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ अ. २।५२

'जब तुम्हारी बुद्धि रजस्तमोरूप मोहकलुषताको तर जायगी अर्थात् शुद्धसत्त्वप्रधान होगी तब तुम्हें निर्वेद की प्राप्ति होगी। अर्थात् वैराग्य ही कर्मकी अवधि है, मृत्यु नहीं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
गी० अ० ६।३

ध्यानयोगपर आरोहण करनेकी इच्छा रखनेवाले को प्रथम चित्तशुद्धि के अर्थ करना चाहिए; तदनंतर ध्यानयोगपर आरूढ होनेपर अर्थात् ध्यानयोग का अभ्यास शुरू करनेपर कर्मका त्याग करना चाहिये अष्टादश अध्यायमें जो कहा है कि "यज्ञ दान और तप का त्याग नहीं करना" वह उसको कहा है कि जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में ऐसा कहा है कि "तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।" इसमें भी वैराग्य ही कर्म की मर्यादा बतलाई है। कर्मका कार्य (चित्तशुद्धि) होनेपर ध्यान के लिये अभ्यास और ज्ञान के लिये श्रवणादिकों की असकृत् आवृत्ति अपेक्षित है। आजन्म कर्म ही करते रहनेसे ध्यानयोग अथवा कर्मयोग कैसे सिद्ध होगा? वर्षानुवर्ष जमीन को केवल जोतते रहनेसे क्या निष्पन्न होगा? बोनी कब होगी, और फसल कब हासिल होगी? चित्तशुद्धि होनेपर ध्यानयोग का अभ्यास करनेवाले को कर्मसंन्यास करना चाहिये, यही अर्थ श्री. गीता को अभिप्रेत मालूम होता है; क्यों कि अर्जुन ने प्रश्न किया है— "कच्चिन्नोभय-विभ्रष्टः" उभयविभ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से और ध्यानयोगसे विभ्रष्ट ऐसा अपक्वयोग पुरुष क्या विनष्ट नहीं होता? कर्मों को संम्हालकर यदि उसने योगाभ्यास किया होता, तो उसकी दुर्गति के विषय में शंका करना अशक्य होता; क्योंकि यद्यपि ध्यानयोग का फल उसे प्राप्त न हुआ तथापि कर्मयोगका फल उसे निश्चितरूपसे प्राप्त हो जाता। और ऐसा होता तो वह उभयविभ्रष्ट कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् वह कर्मसंन्यास करके ही ध्यानयोगमें प्रवृत्त

हुआ होगा। आगे १८ वें अध्यायमें "नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति" ऐसा कहा है। यहां नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ ब्रह्मात्मभाव मोक्ष है (यह निश्चित है,) परंतु उसका एकान्तिक साधन आत्मज्ञान ही है। तब केवल कर्मही करते रहनेसे वह आत्मज्ञान प्राप्त कैसे होगा? अर्थात् कर्मसंन्यास करके उसके लिये श्रवणादिकोंकी आवृत्ति करना आवश्यक है। आगे नैष्कर्म्यसिद्धिका साधनक्रम बतलाया है। इसमें कर्मका पता नहीं है। वाचकोंकी सुविधाके लिये उन श्लोकोंको उद्धृत करते हैं—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
गीत १८।५२,५३

इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होता है कि प्रथम कर्मयोग, फिर वैराग्य, तदनंतर कर्मसंन्यास, उसके पश्चात् ध्यानयोग और अंतमें ज्ञानयोग, उसके पश्चात् मोक्ष। ध्यानयोग के बाद ज्ञानयोग आता है, इस बातको समझनेके लिये सप्तमाध्यायका पहिला श्लोक देखिये—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्यानयोग ज्ञानयोग का साधन है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे॥
गी० अ० १३।२४

इस श्लोकमें बतलाया है कि ध्यानयोग और कर्मयोग आत्मदर्शनके साधन हैं। तथापि ध्यानमें रखना चाहिये कि ध्यान और कर्म आत्मज्ञान के साक्षात् नहीं, किंतु बहिरंगसाधन हैं। क्योंकि कर्म का प्रयोजन चित्तका समाधान है; तब आत्मज्ञान का साक्षात् साधन क्या है? इसका उत्तर यह है कि, गुरूपदिष्ट विज्ञातार्थ ऐसा वेदान्तमहावाक्य ही आत्मविज्ञानका सन्निहित कारण अर्थात् असाधारण कारण है! इसपर कोई पूछेगाकि आत्मविज्ञान शाब्दज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं है। इसका उत्तर श्रीभगवान् देते हैं कि "प्रत्यक्षावगमम्।" यह आत्मविज्ञान शाब्द रहे, तथापि प्रत्यक्ष है। ऐसी बात नहीं है कि शाब्दज्ञान का विषय हमेशा परोक्ष ही रहना चाहिये। जहां विषय अपरोक्ष होता है वहां जो शाब्दज्ञान होता, वह प्रत्यक्ष ही होता है। और जहां विषय परोक्ष होता है, वहां शब्दसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष होता है। आत्मा सबको अपरोक्ष रहनेसे उसके विषयमें शब्दसे होनेवाला ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। तात्पर्य, यह है कि कर्मयोग, ध्यानयोग आत्मज्ञान के बहिरंगसाधन हैं, और वेदान्तमहावाक्य ही उनका अतिसंन्निकृष्ट अंतरंगसाधन है। इसी अभिप्राय से चतुर्थ अध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ गीता ४।३४

इस तरह यद्यपि तत्त्ववेत्ताओंने अधिकारी पुरुषको महावाक्यका उपदेश किया; संशय और विपर्यय ऐसे चित्तगत दोषों के कारण तज्जन्य ज्ञान को अगर प्रतिबंध हुआ, तो उन दोषोंके निवारण के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासकी वारवार आवृत्ति करनी चाहिये, ऐसा श्रीभगवान् का संदेश है।

"कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।"
गीता अ० १८।७२

इस श्लोकार्धसे समानार्थक श्रुति ऐसी है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। बृहदारण्यक मैत्रेयीब्राह्मण।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोग के पश्चात् और ज्ञानयोग के पहिले भक्तियोग का विचार किया है। पांचवें अध्याय तक कर्मयोगका विचार करके ६ वें अध्यायमें ध्यानयोगका विचार है। सातवें अध्याय से १२ वें अध्यायतक भक्तियोगका विचार किया है और इसके बाद प्रधानतासे ज्ञानयोगका विचार किया है। इससे यह मालूम होता है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग का जोड जोडन के लिये ध्यानयोग की अथवा भक्तियोग की आवश्यकता है। बुद्धियोग में कर्मविधि का प्राधान्य रहता है और भक्तियोगमें श्रवणकीर्तनको प्राधान्य रहता है। मुमुक्षु विधिका दास होकर कर्मयोग का अनुष्ठान करता है; परंतु

भक्तियोग में वह प्रेमवश होकर श्रवण, कीर्तन, स्मरणकी आवृत्ति करता है।

कर्मयोग बहुंश में शारीर व्यापारात्मक होता है। परंतु भक्तियोग अधिकांश में मनोव्यापारपर निर्भर रहता है। ज्ञानयोग भी मनोव्यापारात्मक है, इस लिये कर्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग ज्ञानयोग को संनिकृष्ट है, और भक्तियोगकी अपेक्षा कर्मयोग ज्ञानयोग को विप्रकृष्ट है। गीतामें ध्यानयोगके प्रतिनिधिके नातेसे भक्तियोग का सविस्तर वर्णन किया है। ध्यानयोग में काठिन्य है, परंतु भक्तियोग में सौकर्य है। इसलिये भक्तियोग का अवलंब करनेवाले चाहे वैश्य हों, स्त्रियां हों अथवा अंत्यज हों, उनका उद्धार होता है। तब ब्राह्मण क्षत्रिय यदि भक्त हों, तो उनके उद्धार के विषयमें शंका ही क्या है? ऐसा भक्तिका उत्कर्ष ९ वें अध्यायमें वर्णित है।

कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

ऐसी घोषणा ९ वें अध्याय में श्रीभगवान् ने की है; वह ध्यान में रखने योग्य है।

६ वें अध्याय के अंत में ऐसा श्लोक है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

मैं जो श्रीभगवान् वासुदेव हूं, उस मुझ में चित्त को स्थिर करके श्रद्धायुक्त होकर जो मुझे भजता है, वह सब योगियों में श्रेष्ठ है। इससे यह ध्वनित होता है कि ध्यानयोग अपेक्षा भी भक्तियोग श्रेष्ठतर है। इस श्लोकके समानार्थक श्लोक श्रीभागवत में इस प्रकार हैं—

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥ भा. तृ. स्कं.

भगवान् श्रीकपिल देवहूती को कहते हैं कि, हे मानवि, मैंने तुम्हें भक्तियोग और ज्ञानयोग ऐसे दोनों योग बतलाए। उनमेंसे किसीभी एक योगसे मुमुक्षु को भगवत्प्राप्ति होती है; अर्थात् ये दोनों योग तुल्यबल हैं। श्रीभागवत के एकादश स्कंध में कहा है कि "मनो निरुंध्यादभयं ततः स्यात्" अर्थात् मनोनिरोध करनेसे भयनिवृत्ति होती है। परंतु आगे ऐसी शंका उपस्थित हुई है कि यह मनोनिरोध दुष्कर है; उसके लिये क्या कोई दूसरा उपाय है? इस शंका के उत्तर में "शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणे" इस श्लोक में मनोनिरोध के लिये भगवद्भक्ति सुकर उपाय है ऐसा निर्देश है। वह भगवद्भक्ति द्वितीय अध्याय में "मत्परः" इस पद से सूचित की है। इसीके पीछे "युक्त आसीत" इस पद से ध्यानयोग सूचित किया है। इस प्रकार प्रथम चित्तशुद्धि, तदनंतर कर्मसंन्यास फिर ध्यान-योग अथवा भक्तियोग, पश्चात् गुरुपसत्ति, तदनंतर ज्ञानयोग इस क्रम से परमार्थमार्ग का आरोहण करके, जिसकी प्रज्ञा आत्मामें स्थिर हुई है ऐसे स्थितप्रज्ञके-अर्थात् जीवन्मुक्तके-लक्षण बतलाकर भगवान् ने यह अध्याय समाप्त किया। शास्त्रार्थ समाप्त होनेसे भगवान् ने विश्राम लिया। तब अर्जुनने पूछा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव?

ऐसा प्रश्न आनेसे तृतीय अध्याय का प्रारंभ हुवा अर्थात् यह तीसरा अध्याय दूसरे अध्यायका परिशिष्ट है। तृतीय अध्याय में शास्त्रार्थ समाप्त हुवा, ऐसा समझकर भगवान् ने चतुर्थाध्यायके प्रारंभ में परंपरा बतलाई—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्॥ इ.

पीछे बतलाए हुए शास्त्रार्थ का निर्देश इस श्लोकमें "योग" शब्दसे किया, और उसकी एकवाक्यता करके बतलाई। चतुर्थाध्याय से लेकर अष्टादशाध्याय तक जो ग्रंथ लिखा है, वह द्वितीयाध्याय का विवरण करनेके लिये है; इसलिये द्वितीयाध्याय बीजाध्याय है, ऐसा विद्वान् लोगों का निश्चित मत है। इसलिये समग्र गीतार्थ की संगति ऐसी रीतिसे लगाना चाहिये कि वह द्वितीयाध्यायार्थ की संगति से मिलती हो।

द्वितीयाध्याय के अंतमें स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाकर अध्याय को समाप्त किया है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ होने में गीतार्थ समाप्त होता है। स्थितप्रज्ञको आगे क्या करना चाहिए ऐसा प्रश्न करना अप्रयोजक है; क्यों कि स्थितप्रज्ञ विधिकिंकर नहीं हो सकता। जैसा प्रारब्ध का ओघ होगा, वैसा उसका देह संघात व्यापार करता रहेगा। स्थितप्रज्ञ प्रवृत्ति

पर होना चाहिये अथवा निवृत्तिपर होना चाहिये. ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता। वह कृतकृत्य है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि अर्जुनने विचिकित्साकर होकर युद्ध कैसे किया? इसका समाधान ऐसा है कि अर्जुन स्थितप्रज्ञ नहीं थे; किंतु साधक थे। इसलिये विचिकित्सकर होकर युद्धमें प्रवृत्त हुए। स्थितप्रज्ञके लक्षण सुननेहीसे कोई स्थितप्रज्ञ नहीं होता। अर्जुनको स्थितप्रज्ञ की पदवी प्राप्त करनेके लिये बहुतसे साधन अनुष्ठेय थे। "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इस कर्मभूमिका के ऊपर ही स्थित होनेसे युद्धाख्य कर्ममें प्रवृत्त हुए, यह युक्तही था। स्थितप्रज्ञ के लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता। उसका अलंकार कृतकृत्यता है। "अलंकारो ह्ययमस्माकं यत् ब्रह्मात्मावगतौ सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति" ऐसा भगवान् श्रीशंकराचार्यका उसके विषयमें अभिप्राय है, और वह युक्त है।

प्रधान गीतार्थ के विषयमें यह सूत्रभूत विचार हुवा। इसके सिवाय गीतामें बहुतसे आनुषंगिक विषय हैं। मनुष्यको कीर्ति संपादन करना चाहिये, दुष्कीर्ति मरणसे भी खराब है, अपना आचरण ऐसा होना चाहिये कि जिसमें बडे लोगों में अपनी निंदा न हो, उद्योग किये विना पेट न भरेगा, आलस्य अच्छा नहीं, इत्यादि।

सांप्रत कालमें शास्त्रीय दृष्टि धीरे धीरे कम होती जाती है, इसलिये गीताग्रंथ दुर्बोध होता जाता है। यह देशका दुर्दैव है! पूर्वोत्तरमीमांसा का परिशीलन करनेवाले को गीताग्रंथ सुगम होगा। जिन लोगों को उस शास्त्रका संस्कार नहीं, ऐसे लोगोंको गीता वैसी ही है जैसे मुरग को मोती मिल गया हो।

पंडित सातवळेकर जी की प्रेरणासे 'गीतापरामर्श' नामक यह छोटासा निबंध लिखा है। गीतार्थ का अभ्यास करनेवाले को इसका उपयोग हो इस बुद्धिसे यह लिखा है, न कि वादविवादकी इच्छासे। इसका स्वीकार अथवा त्याग करना अपनी अपनी बुद्धिपर अवलंबित है। हम इस संबंध में कुछ नहीं लिखना चाहते।

परी गीता ईश्वर भोळा। व्यासोक्तिकुसुममाळा॥
तरी माझिया दुर्वाळा। ना न म्हणे कीं॥ १॥

ज्ञानेश्वरी अ० १८

"गीतारूपी ईश्वर सरलहृदय है; व्यासोक्तिरूपी पुष्पों की माल वह धारण करता है, तथापि मेरे दूर्वादल को वह नाहीं नहीं कहता।"

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

भ० गी० ३। २०

(लेखक- कै० वामन दामोदर तळवलकर, पूना।)

केवल लोकसंग्रह की ओर देखा जाय तब भी कर्म करना ही तुम्हें उचित है।

यह श्लोकार्ध तीसरे अर्थात् 'कर्मयोग' के अध्याय के २० वें श्लोकका द्वितीयार्ध है। इस अध्याय का पहिला श्लोक ऐसा है-

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव? ३।१

इसका अर्थ ऐसा है- "कर्म को अपेक्षा अकर्म (बुद्धि) श्रेष्ठ है ऐसा तुमही कहते हो; और यहां यह- स्वजनहननरूपी- घोर कर्म करनेके लिये मुझे तुम प्रवृत्त करते हो यह क्या चमत्कार है?"

यह एक चिंतनीय प्रश्न है कि अर्जुन की भूमिका कौनसी है। हमारी समझमें "न योत्स्ये" इस शब्दोंसे वह भूमिका भलीभांति वर्णित है। "रथोपस्थे उपाविशत्" इसमें भी वह भूमिका व्यक्त होती है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के पांचवें श्लोक से वह भूमिका "भैक्ष्य" की है, ऐसा कोई कोई समझते हैं। परंतु "भैक्ष्य" केवल उदाहरणार्थ है। "भिक्षा मांगना बेहतर है" ऐसा कहने-

वाला मनुष्य क्या भिक्षाके लिये एकदम प्रवृत्त हुवा समझना चाहिये ? परंतु कोई कोई लोग इस भैक्ष्य शब्दसे संन्यासाश्रमपर कूद जाते हैं, यह देखकर मन चकरा जाता है। संन्यासाश्रमकी कल्पना अर्जुन के स्वप्न में भी न थी, और वह कल्पना उसके गल-में बांधकर उसपर संग्राम मचाते हैं। क्या चम-त्कार है ?

अर्जुन के उद्गारोंका मर्म ऐसा है- घोर (स्वजन-वधरूप पापप्रवण) कर्मकी अपेक्षा अकर्म भला है! प्रथमाध्यायमें उसने स्पष्ट रीतिसे प्रश्न किया है कि "किसी एक (गँवार) ने गाय मारी, तो क्या दूसरे (भले आदमी) को बछडा मारनेसे (वही कृत्य करनेसे) परावृत्त होना न चाहिये? "अस्मा-त्पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्।" (१-३५) कौन कहेगा कि अर्जुनका यह प्रश्न नहीं है? और यदि कोई कहेगा कि इसका उत्तर भगवान्ने नहीं दिया तो वह एक आश्चर्य है।

स्वजनहननरूप घोर कर्म पापकर्म है इस बुद्धिसे यह अर्जुनको मर्मभेद कर रहा था, इसमें कोई शंका नहीं है। और इसीलिये पापकर्म और उसके परिणामोंसे अथवा विशेष (Specific) अर्थात् युद्धविषयक भाषाको छोडकर सामान्य (general) भाषामें कहा जाय तो कर्म, अकर्म, विकर्म (घोर-कर्म अथवा निषिद्धकर्म) के घोर परिणामों से छुटकारा कैसे हो? ऐसा अर्जुनका प्रश्न था, इस-लिये उसका खुलासा श्रीकृष्णने किया है। पहिले यह देखा जाय कि अर्जुनके प्रश्न क्या हैं। कई लोग समझते हैं कि प्रश्नार्थक वाक्यही में प्रश्न होना चाहिये। हम ऐसा नहीं समझते। प्रश्नार्थक वाक्य पहिले अध्यायमें तथा दूसरे अध्यायमें भी हैं (१। ३६; १। ३७; १। ३९; २। ४ देखिये) परंतु इनके अति-रिक्त पहिले अध्यायके उत्तरार्धमें और दूसरे अध्या-यके प्रथमार्धके पहिले ९ श्लोकोंका समग्र विवेचन हमारी समझमें प्रश्नस्वरूपी ही है। "गीतासिंधु-तरंग" कार भी ऐसाही मानते हैं। अस्तु। इन प्रश्नोंका अति संक्षिप्त स्वरूप ऐसा है-

कर्म अच्छा वा अकर्म अच्छा ?

और इसी प्रश्नका विशिष्ट स्वरूप ऐसा है-(स्वजनहननरूप) युद्ध अच्छा या अयुद्ध अच्छा ?

इसमें 'अकर्म' का मतलब INACTION कर्म पराङ्मुखता, और अयुद्धका अर्थ युद्धनिवृत्ति है। गत महायुद्धमें Anti War Leagueके महाशयोंने ऐसा प्रश्न उपस्थित किया था कि Wor or no war? उससे प्रस्तुत प्रश्न थोडा संकुचित है; क्योंकि अर्जुन अयुद्धकी भाषा इस गरजसे बोलते हैं कि Civil War अथवा Family Warखराब है। परंतु भगवान् श्रीकृष्णके उत्तर इस संकुचित स्वरूपके नहीं हैं, इसलिये सकृद्दर्शनमें वे समझमें नहीं आते, इसीसे कई कहते हैं- "अर्जुनके प्रश्न होते तो भगवानने उनके दिये हुए उत्तर जरूर मिलते, परंतु वैसे मिलते नहीं।" (यह अवतरण शब्दशः नहीं; परंतु अर्थशः वैसाही है।) हमारा कहना है कि ये और इतर प्रश्न अर्जुनके हैं, और भगवान्ने उनके उत्तर भी दिये हैं। उस बुद्धिसे देखनेपर गीतामें वे उत्तर जरूर देखने मिलेंगे। अर्जुनने जो कहा है कि "स्थितोऽस्मि गतसंदेहः" (१८।७३) वह अयथार्थ नहीं है। जब अर्जुनके मन में कोई भी किल्मिष न रहा; तभी वह "करिष्ये वचनं तव" ऐसा कहनेको सिद्ध हुवा। हम सम-झते हैं कि अर्जुनने जो जो संदेह प्रदर्शित किये, उन सबके उत्तर यदि गीतामें न मिलते हों, तो यह कहना पडेगा कि गीता पूर्ण नहीं हुई अथवा सम-झमें नहीं आई। भगवान्के उत्तर अर्जुनके प्रश्नों सरीखे संकुचित नहीं हैं। ऐसा देखनेमें आता है कि अर्जुनके संकुचित प्रश्नोंका व्यापक स्वरूप करके भगवान्ने उनके उत्तर दिये हैं।

उदाहरणके लिये युद्धहीका प्रश्न लिया जाय। अर्जुन पूछते हैं कि "स्वजनहननरूप युद्ध" सुख-दायक कैसे होगा ? वह कुलक्षयकारक, कुलधर्म-नाशक, वर्णसंकरकारक, घोर, पापी, अधर्मप्रसारक अतएव नरकप्रापक है। परंतु भगवान् वह केवल कुलक्षयकारकही नहीं किंतु लोकक्षयकारक है ऐसा अर्जुनकी ओरसे गृहीत मानकर, अथवा

उसका व्यापक स्वरूप ध्यानमें लेकर उसका उत्तर देते हैं । क्योंकि ऐसा कोई नहीं कर सकता कि इस युद्धमें केवल एक कुरुका कुलही नष्ट होनेवाला था । अठारह अक्षौहिणी सैन्यमें हिंदुस्थानके सब प्रमुख राष्ट्र और कुल समाविष्ट हुए थे । और उनमें से (पांडवोंको छोडकर) एक भी योद्धा युद्धका वृत्तान्त कहनेको घरको वापिस नहीं गया । तस्मात् ऐसा कौन न कहेगा कि श्रीकृष्ण का दृष्टिकोणही योग्य था । दोनोंकी दृष्टिमें भेद कैसा है वह देखिये ।

(१) अर्जुन स्वजनहननरूप युद्धको घोर और त्याज्य समझते हैं; परंतु भगवान् समझते हैं कि सुजनों(साधुजनों) की हत्या घोरतर और अत्यंत पापरूप है, और अर्जुनको पूछते हैं "स्वजनहननरूप युद्ध और सुजनहननरूप अयुद्ध इन दोनोंमें त्याज्य क्या है?" अर्जुन कहते हैं-

(२) अर्जुन- न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥

इस युद्धमें हमारा कौरवोंपर विजय प्राप्त करना अच्छा, अथवा कौरव हमको जीतें यह अच्छा + ? क्योंकि यद्यपि हम विजयी हों, तथापि इनके मरनेसे हमारा विजय अपजयके बराबर घातकी सिद्ध होगा । परंतु—

भगवान् कहते हैं—ये कौरव और उनके अनुचर जीवित रहनेसे और अधिकारपर आरूढ रहनेसे तुम्हारेसदृश साधुओंका छल होता है और दुष्ट लोग उन्मत्त होते हैं, इसका क्या इलाज है ?

दूसरे पक्षमें —

" परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् "

इस प्रकार जगत्की घटनाका स्वरूप निश्चित है और यह स्वरूप मानवोंके हाथसे सिद्ध नहीं होता। ऐसा जब जब देखा जाता है तब परमेश्वर साक्षात् अवतार लेते हैं । अर्थात् स्वजन और परजन ऐसा भेद निसर्गकी घटनामें नहीं है । परंतु सज्जन और दुर्जन ऐसा भेद ईश्वर अथवा निसर्ग करता है। एवंच सृष्टिमें चुनाव (Selection) गुणोंका होता है, निर्गुणोंका (Absence of merit) नहीं, और दुर्गुणोंका नहीं होता यह निश्चित है । यह चुनाव (Selection) होनेके लिये समय आता है; और वह समय सांप्रत आया है। जिसको ईश्वरी दृष्टिका अंगिकार करना है उसको दुर्गुणी स्वजनोंकी अपेक्षा करना न चाहिये । सज्जनोंका संरक्षण करना क्षत्रियोंकाकर्तव्य है; इस कर्तव्यका पालन क्षत्रियोंको इस समय करनाही चाहिये; आवश्यकता होनेपर यह कर्तव्य उनको निष्ठुरतासे भी करना चाहिये। यदि न किया जाय तो न केवल कुलक्षय होगा किंतु लोकक्षय भी होगा। स्वजन मानकर दुर्जनोंपर दया करना यही घोर कर्म, यही पाप,यही लोक क्षयकारक, अधर्मप्रसारक है । इस समय लोकसंग्रहका काम करना चाहिये । लोकसंग्रह और लोकक्षय प्रतियोगी शब्द हैं। अर्जुन कुलक्षयके कारण युद्धको त्याज्य समझते हैं । परंतु आजकी अपेक्षा अधिक घोर ऐसा भावी लोकक्षय टालनेकी इच्छासे भगवान् कहते हैं कि युद्ध करना ही चाहिये । युद्धसे परावृत्त होनेका मतलब है कि पांडवोंको अपने हक छोडकर कौरवोंको राज्यकी

+कोई कोई कहते हैं कि यह भाषान्तर ठीक नहीं है । उनके मतसे ठीक भाषांतर ऐसा होगा 'कौन कह सकता है कि हम जीतेंगे? विजय हमें प्राप्त होगा या उनको? " क्योंकि युधका परिणाम क्या होगा इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त " हमको जीतना चाहिये अथवा उनको जीतना चाहिये? " ऐसा प्रश्न कोई पागल आदमी करेगा, जिसका मस्तिष्क ठिकानेपर है वह कभी न करेगा। परंतु इन लोगोंको यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐसा कहनेवाला वही पागल आदमी है जिसने निम्न लिखित वाक्य कहे हैं-

" न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च " (१. ३२) " एतान् न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि " (१. ३५) " यदि धार्तराष्ट्रा मां रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत् " (१. ४६)"श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके " (२. ५) वह आदमी वह भी कहेगा कि हमको जीतना चाहिये कि उनको जीतना चाहिये ?

सनद हमेशाके लिये दे देना। परंतु कौरव दुष्ट दुरात्मा हैं।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥
> गी० ३।२१

एक कीचकके पीछे अनुकीचकोंकी पंक्ति उपस्थित होती है। दुष्ट दुर्योधनको तदनुरूप शकुनि प्रभृति मिल जाते हैं। पशुवृत्तिवाले राजाको तद्वृत्तिवाले अनुचर मिलही जाते हैं। रावणी एकतंत्री अत्याचारी राज्यमें सर्वत्र जुलुम जबरदस्ती होनाही चाहिये; जान और माल कभी सुरक्षित नहीं रह सकते। नीमिमत्ता धूलमें मिल जाती है। जहां खुली राजसभामें द्रौपदीको वस्त्रहीन करनेका खुलंखुल्ला प्रयत्न किया जाता है, वहां सर्वत्र उसका अनुकरण क्षम्यही माना जायगा। 'राजा कालस्य कारणम्।' हरएक मनुष्य देसेही दुराचार करेगा, और उन दुराचारोंका न्याय कहीं न मिलेगा। जैसे दुर्योधन, दुःशासन, वैसेही कीचक अनुकीचक; काँक्षवेंटिव प्रधान मंडलके राज्यमें एक गवर्नर दूसरे गवर्नरसे बढकर निकलनेकी चेष्टा करता है। श्रेष्ठ अथवा अधिकारी पुरुषका अनुकरण सर्वत्र हुवा करता है। और होनाही चाहिये! एक आसुरी वृत्ति वाला जरासंध अपने अकेलेके लिये १६००० स्त्रियों को अपने आधीन रखता है। एक अमेरिका सारे जगत्का सुवर्ण अपने कबजेमें रखनेकी आकांक्षा रखता है। उसका अनुकरण फ्रान्स करता है। इंग्लंड भी उसी राहपर दौडता है और हस्तगत हिंदुस्थानको अपना गुलाम बनाता है। इसी भांति अनेक उदाहरण बतला सकते हैं। इस प्रकारकी जुलमी, अन्यायी, अधर्मी प्रभुताको रुकावट डालना आवश्यक है या नहीं? यदि आवश्यक है तो यह काम कौन करे? यदि रोकटोक न की जाय तो क्या परिणाम होगा? जुलमी राज्यसत्ता धारण करनेवाले अपने भाई हैं इस कारण उसको रोकनेका जो प्रयोजनही नहीं करता, उस दुष्ट समाजघातकोंको उसका साथीदार समझना चाहिये। रावणका दुष्कृत्य खुले आंखोंसे देखकर, परंतु वह अपना सगा भाई है इस वास्ते आखिर उसीसे लिपटा रहनेवाला कुंभकर्ण एक तरफ और दूसरी तरफ रावणकी दुष्टता दृग्गोचर होनेपर उसका निवारण करनेके सब उपाय कर चूकनेपर अंतमें उसका पक्ष छोडनेवाला बिभीषण, इन दोनोंमें विस्तृत समाजकी दृष्टिसे बिभीषणही महान् है। एक तरफ विदुर और दूसरे तरफ भीष्म द्रोण, इनमें भीष्म द्रोणको न्यूनही समझेंगे! अन्य रीतिसे भीष्म द्रोण चाहे कितनेभी महान् पूज्य हों, तथापि इस भारतीय युद्धमें उनका असत्पक्षकी ओरसे लडना दुष्ट दुरात्माओंका साथ करना एक अचंभेकी और उनकी श्रेष्ठताके लिये अनुचित बात है। बलरामने जिस प्रकार युद्धमें शामिल होनेसे इनकार किया, उसी तरह भीष्म द्रोणको भी इनकार करना चाहिये था। ये लोग किसके नौकर थे? कमसे कम भीष्म किसीके नौकर नहीं थे। "अर्थस्य दासः" इसका मतलब राजसेवक नहीं है। यदि ये पुरुषार्थके दास कहे जाय, तो भी उन्होंने इस काममें सज्जनोंके छलमें कौनसा पुरुषार्थ देखा? धृतराष्ट्रकी अर्थात् राजसेवा भलेबुरे कैसेभी प्रसंगपर करना, इसीको यदि पुरुषार्थ कहा जाय, तो हम कहेंगे कि वह हलके दर्जेका पुरुषार्थ है। द्रौपदीवस्त्रहरणके समय कमसे कम वे स्तब्ध रहे। परंतु इस (युद्धके) प्रसंगपर प्रमुख और सक्रिय (Active part) उत्साह बतला कर उन्होंने जो दुष्टोंकी सहायता की, उससे उनके राज्यव्यवहारकी अधोगति क्या अधिक होगी? इस प्रसंगपर यदि वे दुष्ट दुर्योधनका साथ करना छोड देते, और नहीं तो स्तब्धही रहते तो क्या बिगड जाता; और व्यक्तिशः उनपर कौनसी धार्मिक अथवा सामाजिक आपत्ति आई होती? जब कोई सज्जन दुष्टोंका साथ करता हुवा नजर आता है, तब वह क्षमाका पात्र उसी हालतमें हो सकता है जब कि उसकी जान जानेकी ही नौबत आई हो। अन्यथा वह उतनाही दंडय होता है जितना मुख्य अपराधी होता है। सामान्य नियम ऐसा है। या तो भीष्म द्रोणकी सहायताके कारण दुर्योधनका पक्ष योग्य और न्याय्य समझना चाहिये, अथवा भीष्म और द्रोण दोषी समझे जांय। हम इस बातपर विचार कर रहे हैं। वह इसलिये नहीं कि भीष्म द्रोणके

दोषोंका आविष्करण हो; किंतु केवल यही बतलाने के लिये कि दुष्टोंके राजकारणमें भी राजनीतिके किसी न किसी उलझनके न्यायसे सज्जन भी दुर्जन बन जाता है अथवा यह बतलानेके लिये कि श्रेष्ठ अधिकारस्थित मनुष्य जिस मार्गको प्रमाण मानता है, उसीको इतरे जनाः प्रमाण मानते हैं और उसी मार्गका अनुसरण करते हैं। यही लोकसंग्रह है। इस प्रकारसे लोकसंग्रह दुष्ट भी कर सकते हैं और सज्जन भी कर सकते हैं। परंतु जब दुष्ट ऐसा संग्रह करते हैं तब वह दुष्टलोकसंग्रह अंतमें लोकक्षयका कारण हो जाता है। सज्जनोंका लोकसंग्रह लोगोंकी वृद्धिका कारण होता है। भगवान् का अभिप्राय ऐसा है कि " पांडव यद्यपि पीछे हट जांय, तथापि दुर्योधन दुष्टजनसंग्रह करही रहा है और आगे भी करेगा, और आज या कल वह जगत्पीडाकारक और सच्चे लोकक्षयका कारण होगा, परंतु यदि तुम (पांडव) लोकसंग्रह करेंगे तो वह सज्जनसंग्रह होगा, और उससे सच्ची लोकवृद्धि होगी। अर्थात् सच्चे लोकसंग्रहकी दृष्टि यही है कि दुष्टनिग्रह करके सज्जनोंका प्रतिपालन करना। तुम पांडव यदि इस समय पीछे हटे तो सृष्टिके क्षयका कारण होनेका पाप-घोरतम पाप-तुम्हें लगेगा सारांश यह कि—

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।

इसमें 'एव' पदसे यह सूचित होता है कि लोकसंग्रहका प्रश्न अर्जुनने उपस्थित किया है, श्रीकृष्णने स्वयं उपस्थित नहीं किया। लोकसंग्रहके अतिरिक्त और भी प्रश्न, अर्थात् पारलौकिक प्रश्न, अर्जुनने उपस्थित किये हैं। उनके उत्तरभी आगे आए हैं, परंतु ऐहिक लोकसंकर और अधर्माभिभव वर्णसंकर इन दो प्रश्नोंमेंसे केवल लोकसंग्रहपर विचार किया जाय तब भी 'कर्म करना' ही तुम्हें उचित है। अकर्मकी भूमिका निःसंशय अयोग्य है। अर्थात् ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा कि 'लोकसंग्रहका प्रश्न अर्जुनने कहां उपस्थित किया है किंबहुना 'लोकसंग्रह' शब्दका उच्चार अर्जुनने किया ही नहीं है, इस सबबसे पहिले पहल आदमी चकराता है। परंतु जब यह ध्यानमें आता है कि लोकसंग्रह शब्द 'लोकक्षय' का प्रतियोगी है, और 'लोकक्षय' कुलक्षयका व्यापक रूप है तब सब झंझट दूर हो जाती है, और यथार्थ बात शीघ्रही समझमें आती है।

अर्जुनकी 'न योत्स्ये' इस अकरणवाचक भूमिकाके कारण भगवान् को "युद्धयस्व" 'कर्तुमर्हसि' ऐसे शब्दोंकी योजना करनी पडी, न कि कर्मयोगकी श्रेष्ठताके कारण। परंतु सांप्रत विषयका यह प्रमुख मुद्दा नहीं है, इस लिये यहां उसका विशेष ऊहापोह करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह यथावकाश होगा।

युद्ध अयुद्ध अथवा कर्म अकर्मका विचार भगवान्ने जागतिक अथवा सामाजिक भूमिकापरसे किया है, और ऊपर कहे अनुसार उसमें उन्होंने स्वजनविरुद्ध साधुजनोंका पुरस्कार किया है, यह उनकी अवतार भूमिकाके अनुरूपही है। उन्होंने सिद्ध किया है कि कुलक्षयकी अपेक्षा सज्जन लोकसंग्रह श्रेष्ठ है। " अधर्माभिभव और वर्णसंकर दुष्ट लोकसंग्रहके फल हैं (सुष्ट लोकसंग्रहके नहीं) और ये बातें तुम्हारी युद्धपरावृत्ति सेही होंगीं। उत्कट युद्धप्रवृत्तिसे उनकी रुकावट होगी। अतएव युद्ध इष्ट है, अयुद्ध अनिष्ट है। " ऐसा भगवान् कहते हैं। सचमुच में पाप तुम्हारे अकर्म (inaction) ही में है, और इसलिये (desisting from action) कर्मपरावृत्ति हीसे और असाधु दुर्योधनादिकों के अधिकारारूढ रहनेही से (अर्थात् न मरनेसे) संसार में दुःख बढेगा और कुलक्षय (पांडवकुलक्षय) होगा। इस प्रकारसे अकर्म (inaction) के परिणाम जब पापकर्म के समान बलवत्तर और पापकारक होते हैं तब अकर्म छोडकर कर्म करना ही इष्ट होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

गी० ४।१८

जो यह समझता है कि कर्महीमें (सच्चा) अकर्म रहता है। (किये न किये के इष्ट परिणाम होते हैं,) और अकर्म में (कर्म न करने में) कर्म करनेही का फल रहता है। (और अर्थात् इसीके अनुसार जो आचरण करता है) वही (सच्चा) बुद्धिमान्; वही (सच्चा) युक्त अथवा योगी; और उसी ने वस्तुतः अखिल कर्म किया (नैष्कर्म्यसिद्धि उसीको प्राप्त हुई।) कार्य कर्म (अपने अपने वर्णके योग्य ऐसा शास्त्रोक्त कर्म) सदैव 'असक्त' अथवा अनहंकार बुद्धिसे करते रहना चाहिये: इससे परमपुरुष की प्राप्ति होती है। (गी० ३-१९) अनहंकारबुद्धि से कर्म करनेसे उसी कर्मको नैष्कर्म्यत्व प्राप्त होता है, और जिसको 'संसिद्धि' कहते हैं वह इसीसे प्राप्त होती है। किसी प्रकारका संकल्प अथवा साध्य नहीं है ऐसी स्थितिमें प्राप्त (वर्ण) कर्म करनेसे उसका दुष्परिणाम कुछ नहीं होता। परंतु वह न करनेसे अन्य जनों के लिये वह उदाहरण होकर लोग स्वकर्मपरावृत्त होते हैं और अंत में उत्सन्न अथवा नष्ट होते हैं। सच्चा लोकक्षय,सच्चा वर्णसंकर स्वकर्मपरावृत्तिसे होता है। इसलिये 'लोकसंग्रह' अर्थात् सुष्ट लोगोंका संग्रह हो और दुष्ट लोगोंका क्षय हो इस हेतुसे—

> समझदार को असक्त अथवा अनहंकार बुद्धिसे स्वकर्म करना चाहिये। कर्मपरावृत्ति से अज्ञोंका बुद्धिभेद करना न चाहिये॥ (३।२५)
>
> अतएव—
>
> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः (अपि) परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
>
> (३।३५)

स्व (वर्ण) कर्म विगुण (मालूम) हो तबभी श्रेयस्कर है। परकर्म सुअनुष्ठित हो (अच्छी तरह कर सकते हों।) तब भी उसकी अपेक्षा स्वकर्म ही श्रेष्ठ है। स्वकर्म सदोष रहे; तबभी उसका त्याग करना न चाहिये। (१८।४८) स्वकर्म में मृत्यु आजाय तो भी अच्छा। (समाजदृष्टिसे) परकर्म भयावह (अनिष्टपरिणामकारक) प्रतीत होता है। कोई पूछे कि गीताका सार क्या है तो इसी श्लोक को बतलाना पडता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस कर्मप्रवृत्ति का उपदेश भगवान् करते हैं वह भी उनके 'जन्मकार्यके (प्रभुके अवतारकार्यके) अनुसार ही है। वह अवतारकार्य गी० अ० ४।७८ में बतलाया गया है; अर्थात्—

परित्राणाय साधूनाम् (न कि स्वजनानाम्) विनाशाय च दुष्कृताम्। (दुष्कृत लोगोंको जीवित रखकर और उनको जगत् के अधिपति रहनेसे नहीं)

और— धर्मसंस्थापनार्थाय (अधर्माभिभव करने में नहीं)

तथा- स्वकर्मत्याग से जो अधर्म का अभ्युत्थान होता है अथवा धर्म की ग्लानि होती है, वह मिटाने के लिये; अर्थात् धर्मकी पुनर्व्यवस्था करनेके लिये; और मानवों के हाथसे जो कार्य होने सरीखा नहीं, वह करनेके लिये परमेश्वर प्रत्यक्ष अवतार धारण करते हैं।

जगत् की धारणा सामान्यतः धर्म के अनुकूल होनी चाहिये। परंतु प्रकृति की घटना ऐसी होहै कि कुछ समय के बाद धर्मका त्याग करके अधर्म की ओर समाज की प्रवृत्ति हो और इस अधर्मसे सारी दुनिया व्याप्त हो। अर्थात् मूल योग कालान्तरसे नष्ट होता है। इस समय सृष्टिकी पुनर्व्यवस्था करनेके लिये, अर्थात् अधर्मका नाश करके (प्रमुख ऐसे अधर्मियों का नाश करके) वह जगत् की घटना सज्जनों के सुपुर्द करनी पडती है। थोडे शब्दों में इसका सारांश यह है कि—

Destruction before reconstruction

नयी व्यवस्था जमाने के लिये अथवा नया विधायक कार्य सिद्ध करने के पहिले विनाशक कार्य करना पडता है।

इस युद्धसे वह साध्य होनेवाला है, इसलिये तुम स्वकर्म करो। इस (दुष्ट) लोकक्षय को डरो मत, अथवा उससे पीछे मत हटो। इसीसे सुष्ट लोकसंग्रह होनेवाला है। यही भगवान् का कहना है, और यही गीताका तात्पर्य है। बात केवल इतनी ही है कि कार्य किसी न किसी के हाथ से करानाही हैं, वह आज अर्जुनके द्वारा करना हैं।

यह युद्ध है। यह कोई नियम नहीं है कि युद्धका परिणाम सदैव वैसा ही होगा जैसा कि होना चाहिये। 'यतो धर्मस्ततो जयः' यह तत्व सृष्टि में हमेशा देखने नहीं मिलता। यह कौन कह सकता है कि इस युद्ध से आगे होनेवाले युद्ध टल जायंगे? "युद्ध करना या नहीं करना" इसका वैदिक उत्तर यह है कि युद्ध यदि 'अविरणाय' होंगे (यदि फिरसे युद्ध होनेकी संभावना न हो) तो करना। अर्थात् इस बात की हामी कौन दे सकेगा कि इस युद्ध का उचितही परिणाम होगा? अर्जुन को यह शंका हुई कि "युद्धमें हमारी मृत्यु हुई तो क्या होगा? युद्धका भावी स्वरूप कैसा है? क्या उस से शाश्वत धर्मरक्षण होगा? अर्थात् क्या इस युद्ध से धर्मकी पुनर्व्यवस्था हो जायगी? इसी बातकी खातरी करनेकी गरज से अर्जुन ने विश्वरूपदर्शन की याचना की, और भगवान् ने वह पूर्ण की।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ११।२
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ११। ३

अर्थात् भूतों का 'भवाप्यय' और तुम्हारा "अव्ययमाहात्म्य" जो तुमने चौथे और आठवें (सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्। ८.९) और १० वें अध्याय में (लोकमहेश्वरत्व और विभूतियोग) बतलाया वह मैंने सुना। 'यश और अयश भी भूतोंके भाव हैं ऐसा तुमने १० वें अध्याय में वर्णन किया। (१०।५) वह भी सुन लिया। परंतु यह कैसे समझेगा कि इस युद्धका भावी परिणाम यशस्कर होगा अथवा अयशस्कर होगा? यह जान लेना अर्जुन को आवश्यक मालूम हुआ। इस विश्वरूपदर्शन में भगवान् ने जो बतलाया उसका यदि पृथक्करण किया जाय, तो यह दिखना है कि भगवान् का हेतु यह बतलानेका था कि—

Destruction before reconstruction.

अर्थात् विधायक कर्म के पहिले विनाशक कर्म की आवश्यकता है। और उस Reconstruction के लिये पांडवों का निश्चित विजय होना चाहिये। उस में अर्जुन ने यह देखा कि-

(१) त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ११।१८

(२) अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः। भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ ११। २६

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ॥ ११।२७

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ ११।२९

इसके बाद इस युद्ध के भावी परिणाम के संबंध में अर्जुन को यह पूछने का प्रसंग आया कि—

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

और उन्हों ने भगवान् से प्रार्थना की कि "विज्ञातुं इच्छामि" तब भगवान् नें अपना हेतु इस तरह बतलाया—

(३) कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥

(४) ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ११।३२

(५) तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥११

द्रोणं तथा भीष्मम् ... ...

मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ११।३४

मैं इस समय लोकक्षय करनेको प्रवृत्त हुआ हूं। तथापि तुम (पांडव) जीवित रहोगे. इस युद्धमें तुम्हें यश मिलनेवाला है। भीष्मद्रोणसहित तुम्हारे सबही सपत्न मरेंगे और तुम ही विजय पाओगे। उन्हें मैं मार रहा हू, तुम डरना नहीं, अथवा व्यथा होने नहीं देना इ० इ०। विश्वरूपदर्शन से अर्जुन का अपयशके बारेमें, अधर्माभिभवके बारेमें, लोकक्षय के बारेमें तथा शाश्वतधर्म के नाश के बारेमें जो भय था, वह सब दूर हुआ (प्रथम अध्याय देखिये।) शाश्वत धर्मनाश अर्थात् सर्वथा नाश कभी नहीं होता; अगर हुवा तो वह शाश्वत कैसा?

❀

उसके बीजांकुर ऐसे भयंकर नाश में भी बाकी रखे जाते हैं। सृष्टिशास्त्रवेत्ता इसीको (Selection) कहते हैं। महान् उत्पत्ति, महान् नाश और उसमेंसे गुणोत्कृष्टों का चुनाव ऐसी जगत्की घटना और नियम अथवा शाश्वत धर्म (Universal Law) है। यह तत्त्व न जानने के कारण अर्जुन के समान थोर व्यक्ति भी चक्कर में पड जाती है। ईश्वर का अथवा सृष्टिका शाश्वत धर्मगोपनका तत्त्व आखिर उसमें दिख जाता है। परंतु पहिले होनेवाला नाश देखकर ईश्वरके हेतु के विषयमें मनुष्य साशंक होता है, और ईश्वरको निर्घृण ठहराता है। अथवा ऐसा प्रतिपादन करने लगता है कि ईश्वर है ही नहीं। कोई ऐसे हैं कि जो कहते हैं कि अर्जुनकी शंकाएं थीं ही नहीं; इसका आश्चर्य मालूम होता है। और उससे भी अधिक आश्चर्य इस बातका होता है कि वे यह संदेह करते हैं कि 'यदि शंकाएं होतीं तो क्या भगवान् उनके उत्तर न देते? अर्जुन की ऐहिक और पारलौकिक शंकाएं नष्ट होनेपर (निःसंदेह होनेपर) ही अर्जुन युद्ध के लिये प्रवृत्त हुए, अथवा भगवान् जैसा कहें वैसा करने को तैयार हुए। "पाप" के बारेमें उसका भय दूर करनेके लिये उसे आत्मज्ञान बतलाया, इतनाही नहीं किंतु उसको ऐसा निःसंदिग्ध आश्वासन भी दिया कि तू मेरा सखा है, मैं तेरा उद्धार करूंगा। अर्जुनकी एक भी शंका बाकी नहीं रहती। यह बात नहीं है कि अर्जुनको ऐहिक शंकाएं न थीं; अथवा ऐसी बात भी नहीं है कि शंका हो तो वह केवल आत्मज्ञानविषयक ही थी। यह कौन कह सकता है कि "अर्जुनं निमित्तीकृत्य" 'शोकमोहादि' संभावना नष्ट करनेके लिये अर्थात् पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थ गीता कही न होगी? इतना निश्चित है कि गीता प्रवृत्ति भी बतलाती है। कोई न कहेगा कि उसमें कर्मयोग नहीं है। परंतु यह कहना धृष्टता है कि गीताका हेतु केवल कर्मयोग ही बतलाना है। गीता में ज्ञानोत्तर कर्मयोग (इसका शास्त्रीय नाम अकर्म है) है और अकर्मयोग भी है। अर्जुन की 'न योत्स्ये' रूप अकर्म (Omission of duty अथवा sin of omission) करनेकी भूमिका नष्ट करके, उसकी अकर्मरूप कर्मप्रवृत्ति करने के लिये (कर्म अकर्मरूप अर्थात् निर्दोष और निष्पाप हो सकता है इस तरह से,) सुष्ठ लोकसंग्रह (seletion of good principles) अथवा गुणोत्कृष्टका चुनाव (selection) करनेके लिये, लोकक्षयकी और युद्धकी आवश्यकता प्रतिपादन करनेके लिये, और आत्मज्ञान के द्वारा अर्जुन को अथवा किसी भी व्यक्ति को (चाहे वह प्रवृत्तिमार्गवाला हो अथवा निवृत्तिमार्गवाला हो) निर्भय, निःशंक और समर्थ बनाने के लिये उद्युक्त हुई है। 'सृष्टिमें दृश्य ऐसे घोर अनर्थ में कभी कभी भावी अर्थका संचय रहता है;' ऐसा भी तात्पर्य आस्तिक तथा नास्तिक 'स्वभाववादी' इसमें से निकाल सकते हैं। अभी इतना बस है।

भगवद्गीता का दिव्य संदेश।

(लेखक—श्री० दत्तात्रेय विष्णु पारखे, एम्. ए. मिरज।)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

गी० अ० २।४७

अपन लोग स्वयं इस जगत् में एक आश्चर्य की बात हैं। इस जगत् में हम क्या हैं, इस निश्चय से हमारा संबंध क्या है? अखिल मानवजाति से अपना क्या संबंध है? कौनसे धर्मके अनुसार बर्ताव करने से इन सब प्रश्नोंका जबाब हमें मिल सकेगा? इस बातको यादतक हम आज भूल गए हैं।

इन मूलभूत मुख्य मुख्य तत्त्वज्ञानविषयक प्रश्नों की हमें विस्मृति होनेका कारण आजकल पाश्चात्य और पौर्वात्य संस्कृतियोंमें जो झगडा चल रहा है, वह है। हिंदुस्थान में अंग्रेजो अमलदारी शुरू होते ही उनके आचार विचार, उनकी रहनसहन, उनकी पोशाख, उनके शस्त्र, उनकी व्यवस्था, उनकी उद्यम-

शीलता, उनकी समाजस्थिति, उनका तत्त्वज्ञान, इन सब बातों को देखनेसे अपन लोग चकित हो गए। और अपनी मनःप्रवृत्तिपर उन बातोंका विलक्षण परिणाम हुआ। चंद्रगोलपर कभी कभी अभ्र आता है, वह निकल जानेपर चंद्र की शुभ्र शीतल चांदनी पृथ्वीतलपर गिरती है। इसी प्रकार पाश्चात्योंकी इन बातोंका हमारी मनःस्थितिपर आया हुवा पटल धीरे धीरे दूर हो रहा है। हिंदु लोगों की संस्कृति और हिंदुओंका धर्म हजारों वर्षोंसे भिन्न भिन्न धर्मों और संस्कृतियों से टक्कर देता आया है। वह हिंदुसंस्कृति और हिंदुधर्म अब पाश्चात्य संस्कृति से टक्कर दे रहे हैं और विजयी होकर अपना उज्ज्वल मुख दुनियाको बतलावेंगे; इसमें संदेह नहीं।

इसका कारण एकही है। अपने धर्ममें और तत्त्व ज्ञान में, आधिभौतिक ज्ञान तथा आधिदैविक व आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका सुंदर मेल है। प्राचीन कालमें आर्यलोग जब हिंदुस्थानमें आए और यहां स्थायी हुए, तब उनमें उत्साह, तेज, साहस उद्यमशीलता इत्यादि आधिभौतिक उन्नतिको कारणीभूत होनेवाले सद्गुण थे;इसी तरह धर्म, नीति तप, अनासक्तता इत्यादि आध्यात्मिक उन्नति को पोषक ऐसे गुण भी उनमें वास करते थे। प्राचीन कालमें जब ये दोनों प्रकारके गुण हिंदुस्थानमें एकत्र वास करते थे, तब अपना यह देश उत्कर्षके उच्च शिखरको पहुंच गया था। परंतु कालचक्रके परिवर्तनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति का आंदोलन एक छोडसे दूसर छोड तक होता रहता है; और वही स्थिति हिंदुस्थान की हुई, इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। वैदिक आर्योंकी वृत्ति आनंदी, शूर और साहसी होनेके कारण वे उपभोग्य वस्तुओंके भोक्ता थे। वे वरुणादि देवताओंकी प्रार्थना करके सुंदर स्त्रियां, वीर पुत्र, गाय, घोडे इत्यादि की याचना उनसे करते थे। ये आर्य लोग प्रथमतः प्रवृत्तिके भोक्ता थे और उनका ध्येय स्वर्ग था। स्वर्गलोक ऐश्वर्य भोगनेका स्थान रहनेसे उसकी प्राप्तिकी इच्छा उन्हें जरूर रहती थी तथापि उनके काव्यमय उद्गारोंमें निवृत्तिके पोषक विचारोंकी छटा दृग्गोचर होती है। आगे चलकर औपनिषत्कालमें निवृत्तिपोषक विचारोंकी परिणति होने लगी, और इसमें मधुर फलोंका प्रादुर्भाव होने लगा। इसका दृश्य चिन्ह यह है कि उन्हें तप, अरण्यवास तथा समाधिकी आवश्यकता मालूम होने लगी। निसर्ग का पसारा एक प्रचंड काव्य है। उसमें जो चंद्र, सूर्य, ग्रहमाला, तारकापुंज, पर्वत, नदियां, महासागर, लता,वृक्ष इत्यादि सृष्ट चमत्कार अपने व्यापार नियमिततासे किसप्रकार कर रहे हैं, इसका विचार उनके कोमल अंतःकरण ने किया। उसका परिणाम यह हुआ कि उनकी केवल आधिभौतिक दृष्टि का रूपान्तर आधिदैविक विचारोंमें हुवा। चंद्र, सूर्य, ग्रह, नदियां, समुद्र आदि के व्यापार अव्याहत सतत जारी रहने के कारण उनका यह दृढ विश्वास हो गया था कि इनमें प्रत्येकशः भिन्न भिन्न देवता हैं, और यही देवता इन पदार्थोंका व्यापार अव्याहत चलाती हैं। इसका प्रत्यय उनकी अनेक ऋचाओंमें देखने मिलता है। आर्यलोग कुशाग्र अतएव सूक्ष्मबुद्धिवाले थे; उन्होंने यह तत्त्वज्ञानविषयक विचार जारी रखा, और आगे चलकर उन्हें मालूम हुआ कि इन सब देवताओंको प्रवृत्त करनेवाली, उनके व्यापार अव्याहत जारी रखनेवाली एक प्रचंड चिच्छक्ति है, और इस चिच्छक्तिका स्वरूप पहचाननेमेंही मानवी जीवितकी इतिकर्तव्यता है। इस तत्त्वकी प्रतीति उन्हें भली भांति हुई। यज्ञयागादि कर्म करनेसे स्वर्गसुख मिलता है; परंतु सर्वसुखका न्यास करके तपादि आचरण करनेसे मोक्ष मिलता है, ऐसा उनका पक्का विश्वास हुवा। केवल स्वर्गसुख की अपेक्षा मोक्षको अधिक महत्त्व है। इस तरह विचारपरिणति का अंतिम स्वरूप उनके आध्यात्मिक विचारोंसे दृश्यमान होता है।

इससे यह अनुमान नहीं करना चाहिये कि आर्य लोगोंका यच्चयावत् समाज अरण्यवासका अंगीकार करके ब्रह्मचिंतन में निमग्न हुवा था। कई लोगोंके यज्ञयाग आदि कर्म काम्य सिद्धिकेहेतु पूर्ववत् चलते ही थे। आश्रमव्यवस्थाका अमल शुरू होगया था। विद्याभ्यास करनेपर गृहस्थाश्रममें काम्य कर्मोंको करना, और आयुष्यके अंतिम कालमें मोक्षप्राप्तिके

लिये अरण्यमें रहकर मोक्षमार्गका अवलंब करना ऐसी प्रथा शुरू हुई थी। वैदिक कालमें वर्णव्यवस्था नहीं थी; उसका उद्भव 'ब्राह्मण' कालमें हुवा, और भारत कालमें यह व्यवस्था जोरोंसे चलती थी। श्रीकृष्णने इस वर्णसंस्थाका संपादन इन शब्दों में किया है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।

गीता ४।१३

इस वर्णाश्रमव्यवस्थाके अनुसार यथाविधि कर्म समाजकी धारणार्थ व पोषणार्थ होते रहनेसे तत्कालीन समाजकी सुव्यवस्था उन्नतिपर थी। परंतु ऋग्वेदकालके अखीरमें यज्ञयागादि कर्म जोरोंसे चलने लगे। द्रव्यका बहुतसा व्यय होकर यज्ञके सदृश बडे बडे समारंभ होने लगे; और वाजपेय, राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञ करनेमें ऐहिक कर्मकी इतिकर्तव्यता समझी गई। ऐसे समयपर उपनिषदोंके प्रगल्भ विचारोंका प्रारंभ हुवा, उससे लोगोंकी यह धारणा हो गई कि ब्रह्मका निदिध्यास करना संसारसुखकी सीमा है, और इसीमें मनुष्यके जन्मकी सफलता है। आगे चलकर प्रवृत्तिके पोषक कर्मविचारोंकी अपेक्षा निवृत्तिके पोषक ब्रह्मचिंतनका विचार समाजमें प्रसृत होनेसे जनताको यह निश्चय होगया कि अरण्यवास करके ब्रह्मचिंतन करना चाहिये। निवृत्तिकी हवा जोरसे बहने लगी थी, इससे संन्यासमार्गरूप सागरमें ज्वार आने लगी थी। इस समय किसी ऐसी विभूतिका उपस्थित होना आवश्यक था जो प्रवृत्ति और निवृत्तिका समन्वय करके अपनी दिव्य शक्तिसे यह प्रकाशित करे कि इन दोनोंका मध्यबिंदु समाजकी सुव्यवस्थाके लिये किस प्रकार पोषक है। यह कार्य भगवान् श्रीकृष्णने अपनी दिव्य वाणीसे करके बतलाया।

भारतकालमें श्रीकृष्णकी भव्य विभूति कार्यक्षेत्रके क्षितिजपर चमकने लगी थी। श्रीकृष्ण जिस मात्रामें राजकारणधुरंधर समझे गए थे उसी मात्रा में किंबहुना किंचित् अधिक मात्रामें तत्त्वज्ञानीके नाते उनकी कीर्ति इस संसारमें फैली हुई थी। इस से लोगोंकी यह भावना थी, कि सर्व विश्वको व्याप रहा हुआ और चराचर सृष्टीमें सगुण रूपसे प्रतीत होनेवाला जो ब्रह्म, वही श्रीकृष्णकी दिव्य विभूति है; और उस विभूतिके मुखसे निकलनेवाले उद्गार प्रत्यक्ष परमेश्वर ही के उद्गार हैं। इस कारण समाजने गीतामृतका आतृप्ति प्राशन किया; और उस दिव्यामृतका संचय भारतकारने हमारे लिये सदैव के लिये कर रखा है। महाभारतमें श्रीकृष्णकी विभूति शूरोंमें शूर, पहलवानोंमें पहलवान, मुत्सद्दियोंमें मुत्सद्दी, व्यवहारज्ञानियोंमें व्यवहारज्ञानी, तत्त्वज्ञानियोंमें तत्त्वज्ञानी, सुंदर स्वरूपवाली और मधुर स्वभावशील ऐसी चमकती है; इसलिये महाभारतमें सदसत् तत्त्वोंके झगडोंको अतिशय मोहक स्वरूप आया है; और पांडवोंके सत्पक्षको ऐसी कर्तृत्ववान् विभूतिका अमोघ साहाय्य मिलनेसे कौरवोंके असत्पक्षका पतन हुआ, और श्रीकृष्णने अपने चारित्र्यसे यह सिद्धान्त सार्थ कर दिखाया कि-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गीता १८।७८

महाभारतमें संचार करनेवाले वायुमण्डलमें श्रीकृष्णके दिव्यवचनरूपी सुमनगुच्छ इतस्ततः लटके हुए हैं; और उन सुमनोंके मधुर सुवाससे संपूर्ण वायुमण्डल भर गया है। ऐसे प्रशान्त व उल्हसित वायुमंडलमें विहार करनेसे सच्चा मानसिक आराम प्राप्त होता है। सृष्टिनियमके अनुसार असत्पक्षका वास्तविक विजय नहीं होता; इसका मुख्य कारण यह है कि उस असत्पक्षको जगत्में चिरंतन विचरण करनेवाली चिच्छक्तिका सहारा नहीं रहता। महाभारतकी शिक्षा समस्त संसारको मान्य और वंद्य है, इस कारण केवल इस देशको ही नहीं, किंतु प्रगतिपर पाश्चात्य राष्ट्रोंको भी यह ग्रंथ पूज्य है। यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है कि महाभारतांतर्गत गीताका स्राव साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे हुवा है, और प्रवृत्तिमार्ग व निवृत्तिमार्गकी विचिकित्सा सांगोपांग करके उसमें कर्मयोगका महत्त्व वर्णन किया गया है। इसका यही अर्थ है कि

भगवान् श्रीकृष्णनें गीताके मुखसे अखिल मानव जातिके लिये कर्मयोगका दिव्य संदेश सदैवके लिये वितरण कर दिया है।

जिस प्रसंगके अनुसार श्रीकृष्णनें गीता कही है, वह प्रसंग न केवल भारतमें किंतु दुनियाके आज तकके इतिहासमें अपूर्व है। यह प्रसंग अपूर्व रहने-परभी गीताके तत्त्वज्ञानके अनुरूपही था। अरण्यमें जाकर संन्यस्त वृत्तिसे इस ग्रंथका अध्ययन करनेकी अपेक्षा रणभूमिपरही उसका पठन और अभ्यास होना आवश्यक है। सदसत् वृत्तियोंका झगडा एक प्रकारका युद्ध है। गीताका यह बतलानेका हेतु है कि वह लढाई किस तरह कौशल्यसे लडना चाहिये। इस हेतुपरसे गीता ग्रंथको 'रणगीत' भी कह सकते हैं।

जिस प्रसंगपरसे श्रीकृष्णनें अर्जुनको गीतोपदेश किया वह प्रसंग ऐसा है। अर्जुन सरीखा अद्वितीय योद्धा, जिसने आजतक अनेक घनघोर युद्ध किये, जिसका गांडीव धनुष्य शत्रुओंका संहार करनेवाला अमोघ अस्त्र, ऐसा वीरवृत्तिवाला अर्जुन धर्माचरण करनेवाला वैसाही नितियुक्त आचरण करनेवाला था। जिन कौरवोंने आजतक पांडवोंके अक्षम्य अपराध किये थे, उन्हें रणभूमिमें सन्मुख खडे देखकर अर्जुनका रक्त उछलना चाहिए था, और उसको बेचैनी इस कदर होनी चाहिये थी, कि इनके अपराधोंका इन्हें योग्य बदला लेकर कब मैं अपना अंतःकरण तृप्त करूं। परंतु उसने क्या किया? दोनों पक्षोंकी सेनाएं कुरुक्षेत्रकी रण-भूमिपर उपस्थित होकर वीर वृत्तिसे शंखनाद कर रही थीं। युद्धके लिये आतुर होकर अपने अपने सेनापतिसे आज्ञा मिलनेको राह देख रही थी। ऐसे समय अर्जुन यह जाननेके लिये कि अपने सन्मुख युद्ध करनेके लिये कौन कौन आए हैं, श्रीकृष्णसे कहते हैं कि योग्य स्थलपर रथको ले चलो। श्रीकृष्ण रथको ले गए और अर्जुन देखता है कि दोनों सैन्योंमें अपने गुरुजन, आप्त, इष्ट एकत्र हुए हैं। इन्हें देखते ही उसे कार्पण्य दोष होता है। एक ही क्षणके लिये, और उसी क्षणमें उसके मनमें यह विचार आया और आतेही उसके हाथसे गांडीव धनुष्य छूट गया, हाथपैरोंमें कंप आया, और वह युद्धसे निवृत्त होनेके लिये श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगा! इसके मुकाबले कोई दूसरा प्रसंग दुनियाके इतिहास में न मिलेगा। यह बात सच है, तथापि मानवी व्यवहारमें मोहमें फँसनेके, विवेकहीनताके प्रसंग अनेक आते हैं। कोई राजकारणी मुत्सद्दी हो अथवा संसारशकट हांकनेवाला मामूली आदमी हो, हरएक मनुष्यकी किसमत में कभी न कभी ऐसी बिकट समस्या उपस्थित होती है, और उस समय वह घबडा जाता है। मोहरूपी अविवेक की चुंगल से छूटकर विवेक के प्रकाशमें अपना मार्ग ढूंढनेसे ही अपना निर्वाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। श्रीकृष्ण के सदृश विभूतिकी विवेकरूपी शक्ति अर्जुन के निकट न होती, तो क्या होता? परंतु श्रीकृष्ण सरीखा विवेकरूपी मित्र समीप रहनेसे उनकी बुद्धिपर जो मोहपटल छा गया था वह दूर हुआ। श्रीकृष्णने अपनी दिव्य शक्तिसे अर्जुनको कर्म अकर्मकी कैंचीसे छुडा लिया;और उसे स्वधर्मका श्रेष्ठ राजमार्ग बतला दिया। यहां ऐसी शंका उपस्थित हो सकती है कि अर्जुन और श्रीकृष्ण नरनारायणके अवतार हैं, ऐसी हम लोगोंकी श्रद्धा है। अर्जुन कोई सामान्य मनुष्य न था; वह इंद्रका पुत्र और धर्मराजका बंधु था, और श्रीकृष्णका जिगरी दोस्त था। कृतांतके समान शत्रुको निर्दालन करनेकी शक्ति जिसमें थी, उस अर्जुनको कार्पण्य दोषकी बाधा कैसे हुई? क्या वह कार्याकार्यव्यवस्थिति का निर्णय करनेमें असमर्थ था? जब हम यह विचार करते हैं कि भगवान् ने अर्जुनको (पहिले जिसे ज्ञान नहीं था उसको) ज्ञान देकर युद्धके लिये प्रवृत्त किया, तब हमें इन मूलभूत बातोंको सिद्धान्तवत् मानना पडता है कि अर्जुन ज्ञानी नहीं था, विवेकशक्त्यनुसार वर्तनक्रम रखनेमें वह प्रवीण नहीं था, उसे स्वधर्मका-क्षत्रियधर्मका—ज्ञान नहीं था। अर्जुन के सदृश धीरोदात्त, शीलवान्, धर्मज्ञ, शूर योद्धाके संबंध में ऐसे आरोप करनेमें मन हिचकता है। उसने समय समय पर श्रीकृष्ण को जो प्रश्न किये हैं, उनसे उसका बुद्धिमांद्य अथवा विवेकशक्तिहीनत्व हमें दृग्गोचर नहीं होता; किंतु

अखिल मानवजातिके हितार्थ उसके मनकी बेचैनी व्यक्त होती है। हमारी समझमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने गुरु और शिष्य की भूमिका लेकर अखिल मानवजातिके लिये गीतारूपी संदेश दे रखा है। थोर व्यक्तियोंका — विभूतियोंका अवतार मानवजातिकी उन्नतिका कारण होना है। बुद्धिहीन अथवा ज्ञानहीन जानकर कर्तव्यपराङ्मुख समाज को श्रेयस् व प्रेयस् की प्राप्ति कैसे करा देना चाहिये, इसका सरल मार्ग बतलानेकेही लिये ऐसी विभूतियां इस पृथ्वीतलपर अवतार लेती हैं। आकाशमें प्रकाशित रहते हुए जैसे तेजोवलय मानवी प्राणियोंके व्यवहार जारी रखते हैं, इसी तरह जहां इन दिव्य विभूतियोंका आगमन हुवा, वहींसे जनमन को उत्साह प्राप्त होता है आर धर्मशील वर्तावमें प्रवृत्ति होती है। श्रीकृष्ण ने अपने अवतारकार्यका स्वरूप इस तरह बतलाया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
गीता ४।७

यही कारण है कि हिंदुओंके तत्त्वज्ञानविषयक ग्रंथोंमें गीताग्रंथ हीरेके सदृश चमक रहा है। उसका जन्म यह शिक्षा देनेके लिये हुवा है कि संसार के संग्राममें स्वधर्मानुसार निर्भयतासे किस प्रकार हम सामना कर सकते हैं। गीताका पसारा अरण्यवासके संसारकी अपेक्षा अधिकतर इस जगत्में संचार करनेवाली दायित्वपूर्ण व्यक्तियोंके लिये ही गीता है। उसके सामने यह बतलानेका ध्येय है कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका मधुर समन्वय कैसे किया जा सकता है।

गीताका इस प्रकार ध्यानपर रख है, इस बातको अच्छी तरह समझनेपर गीता ग्रंथका प्रारंभ और उपसंहार देखना चाहिये। गीताका प्रारंभ इस तरह हुवा कि अर्जुनको मोहरूपी सर्पने दंश किया इस जालिम विषसे उसके सब गात्र विगलित हो गए। अर्जुन उद्विग्न हुवा और उसके हाथसे गांडीव धनुष्य छूटकर गिर पडा; तब उसने श्रीकृष्णसे पूछा कि मेरा श्रेयस् किस बातमें हैं-

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥
गीता० १।३१

यह सत्य है कि धार्तराष्ट्रादि योद्धा आततायी हैं, उनके मन लोभने अपने वशमें कर लिये हैं, और ये लोग स्वकर्तव्यसे च्युत होगये हैं। ऐसी वस्तुस्थिति स्पष्ट दिखती है; कुलक्षय होनेसे सनातन कुलधर्मका क्षय होता है, जहां कुलधर्म नष्ट हुए वहां अधर्मका साम्राज्य होता है, अधर्मसे कुलस्त्रियां बिगडती हैं, उससे वर्णसंकर होता है; परिणाम यह होता है कि कुलघातकोंको तथा समस्त कुलको नरकवास प्राप्त होता है। पिण्डदान, तर्पण आदि क्रियाओंका लोप होनेसे उनके पितरोंका भी पतन होता है। अब इस बातको धार्तराष्ट्र समझते न होंगे! परंतु मेरे समान समझदार मनुष्य ऐसा आचरण क्यों करें? अर्जुनके इन उद्गारोंसे इतना स्पष्ट होता है कि उसकी दृष्टिमें यही एक आपत्ति थी कि युद्ध करनेसे श्रेयःप्राप्ति तो दूरही रही, किंतु अधर्माचरणसे कुलधर्मका क्षय अवश्य होगा। इस प्रश्नके उत्तरकी अपेक्षा वह श्रीकृष्णसे करता था। श्रीकृष्ण ने तत्त्वज्ञानविषयक भिन्न भिन्न निष्ठाओंका सांगोपांग विवरण करके सोपपत्तिक दृष्टिसे उसको यह समझा दिया कि इन सब निष्ठाओंमें कर्मयोगकी निष्ठा श्रेष्ठ है, और अर्जुनने अपनी राजीखुशीसे अपनी पूर्ण मान्यता युद्ध करनेके लिये प्रदर्शित की—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥
गीता १८।७३

इस उपसंहारसे हम देख सकते हैं कि लौकिक दृष्टिसे अज्ञानी अर्जुनको पिण्डब्रह्माण्डका समन्वय बतलाकर, चिच्छक्तिके स्वरूपकी यथार्थ कल्पना देकर उसमें विवेक प्रस्थापित करनेसे, उसे स्पष्ट दीख गया कि अपना श्रेयस् केवल कर्मयोगमार्ग है, सर्व संदेह निवृत्ति होनेपर वह अपनी खुशीसे युद्ध करनेको तैयार हुवा। अब गीता ग्रंथका सारभूत जो कर्मयोगविचार उसकी संगति (उसी गीता ग्रंथसे पूछते हुए) लगानेका हम प्रयत्न करेंगे।

अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश करनेके पहिले श्रीकृष्णने सांख्यनिष्ठात्मक ज्ञान वितरण किया। आत्मा अविनाशी होनेसे वह मरता नहीं; सारे जगत्को व्यापकर वह शेष रहा है, इसलिये उसका नाश कभी नहीं होता। आत्मा कभी टूटता नहीं, भींगता नहीं, जलता नहीं, सूखता नहीं, कर्मेन्द्रियोंको वह गोचर नहीं होता। वह अचिंत्य है, बुद्धिकी कक्षाके बाहर है। यदि तुम ऐसा मानते हो कि शरीरके साथ वह भी जन्म लेता और मरता है, तथापि उसके लिये शोक करना उचित नहीं; क्योंकि जो जन्म लेता है उसीको मृत्यु आती है, और जो मरता है, उसका जन्म लेना भी निश्चित है; तब अपरिहार्य विषयके लिये शोक करना योग्य नहीं। तुम्हारे धर्मकी दृष्टिसे भी विचार किया जाय तब भी तुम्हारे मनका हिचकना वाजिब न होगा। क्षत्रियके लिये धर्म्य युद्धसे अधिक श्रेयस्कर क्या है? सहज रीतिसे स्वर्गद्वार खुला हुवा है, ऐसा यह युद्धरूपी द्वार केवल भाग्यवान् क्षत्रियको प्राप्त होता है। युद्धके लिये प्रवृत्त होनेके पहिलेहीसे क्या तुम जयापजयका प्रश्न उपस्थित करते हो? स्वधर्मसे आचरण करते हुए जो प्राप्त हो उसको सहन करना चाहिये। इस विषयमें ज्ञानेश्वर महाराज ज्ञानेश्वरीमें कहते हैं—

आपण यां उचितां। स्वधर्मे राहटतां।
जें पावें तें निवांता। साहोनि जावें॥
ज्ञानेश्वरी अ. २।६।२८

(अर्थ—) अपने लिये उचित जो यह स्वधर्म है, उसके अनुसार आचरण करते हुए, जो प्राप्त हो, उसको शांततासे सहन करना चाहिये।

युद्धमें तुम प्रवृत्त न होगे, तो स्वधर्म और कीर्ति गमाओगे, और केवल पापके भागी होगे। रणभूमिपर यदि अपना देह त्याग करोगे तो तुम्हें स्वर्गप्राप्ति होगी;और विजय संपादन करोगे तो राज्यका उपभोग लोगे। अब इसके आगे कर्मयोगका मार्ग जो हम तुम्हें बतलानेवाले हैं, वह हमें पूर्ण विचार करनेपर ठीक मालूम हुवा इसलिये बतलाते हैं। प्रथमतः यह ध्यानमें रखो कि जिस कर्मका आरंभ हुवा उसका नाश नहीं होता, और इस कर्मका आचरण महान् भयसे संरक्षण करता है। परंतु इस मार्गमें यह आवश्यक है कि कार्य अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धि एकाग्र हो। मुश्किल यह है कि वासनात्मक बुद्धिको अनेक शाखाएं फूटती हैं, इससे अविवेकी लोगोंकी बुद्धि कभी एक जगह स्थिर नहीं हो सकती। विवेकवान् पुरुषोंकी बुद्धि किस प्रकार स्थिर होती है वह भी सुनो। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

जैसी दीपकलिका धाकुटी, परी बहुतेजाते प्रगटी। तैसी सद्बुद्धि हे थेकुटी। म्हणों नये॥ पार्था बहुती परी। हे अपेक्षिजे विचार शूरी। जे दुर्लभ चराचरी। सद्वासना॥ आणिका सारिखा बहुवस। जैसा न जोडे परिस। कांअमृताचा लेश। दैवगुणें॥ तैसी दुर्लभ सद्बुद्धि। जिये परमात्मचि अवधि। जैसा गंगेसी उदधि। निरंतर॥ तैसे ईश्वरावाचूनि कांही। जिये आणिक लाणी नाहीं॥ ते एकचि बुद्धि पाहीं। अर्जुना जगीं॥

(अर्थ-) जैसे दीपक की ज्योति छोटीसी रहती है,परंतु उसका प्रकाश बहुत दूरतक जाता है,वैसेही सद्बुद्धि को छोटी समझना न चाहिये। हे पार्थ, इस चराचरमें दुर्लभ ऐसी जो सद्वासना, उसीकी अपेक्षा विचार शूर पुरुष करते हैं। पारस पत्थर अन्य वस्तुओं सरीखा विपुल प्रमाण में नहीं मिलता, अमृतका बिंदु सुदैवसेही मिलता है। इसी प्रकार वह सद्बुद्धि बहुत दुर्लभ है, जिसकी परिणति परमात्मामें है, जैसे गंगाकी परिणति समुद्रमें होती है, इसी तरह हे अर्जुन! वही एक सद्बुद्धि प्राप्त करनेकी तुम चेष्टा करो, जिसका प्राप्य सिवाय परमेश्वर के और कुछ नहीं है।

इससे यह अभिप्राय ध्यानमें आता है कि बुद्धिको सर्वकाल ईश्वरमें रखनेसे वह स्थिर हो सकती है।

हे अर्जुन! अब तुम्हें कर्मयोगकी चतुःसूत्री बतलाता हूं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ गी.२।४७

"तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करनेमें है। फलमें तुम्हारा अधिकार कभी न रहेगा। मुझे अमुक फल

५

मिले ऐसा हेतु रखकर कर्म करनेवाले तुम मत हो, और कर्म न करनेका भी आग्रह तुम मत रखो।"

इस प्रकार निर्हेतुक आचरण तुम कर सको, इस हेतु तुम्हें 'कर्मयोग' के 'योग'का ज्ञान बतलाता हूं- "सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।"

कर्म सिद्ध होना अथवा निष्फल होना, इन दोनों अवस्थाओंमें जो समानताकी मनोवृत्ति उसीका नाम योग है। योगसे (समत्वसे) जो युक्त है वह पापसे तथा पुण्यसे अलिप्त रहता है, इसलिये तुम योगका समत्वका—आश्रय करो। 'समत्व' को आत्मसात् करनेका एक और साधन है। वह यह है कि अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरको अर्पण करो; फिर वह कर्म आपही से पूर्ण हो जाता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जेतुलालें कर्म निपजे। तेतुलें आदि पुरुषीं सम-
र्पिजे। तरी परिपूर्ण सहजें। जाहलें जाणें॥

(अर्थ—) जितना कुछ कर्म उद्भूत होता है, वह सब आदिपुरुष को समर्पण करना, इससे वह अनायास से परिपूर्ण हो ही जाता है, ऐसा समझो। यही बात गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
गीता ९-२७।२८

इसलिये जो कुछ कर्म तुम करोगे वह मुझे तुमने जहां अर्पण किया, वहीं से तुम कर्मबंधनोंसे मुक्त होगे। इसलिये पापपुण्यका संसर्ग न लगने पावे इस खूबीसे कर्म करनेकी जो चतुराई (कौशल्य अथवा युक्ति) उसीको कर्मयोग कहते हैं। "योगः कर्मसु कौशलम्"। यहां तुम्हें एक और चेतावनी देना आवश्यक है। वेदवाक्यों में वर्णित फलश्रुति की लालच में पडकर तुम्हें ऐसी इच्छा होने लगेगी कि अमुक लाभ मिलने के लिये कोई विशिष्ट कार्य करना अच्छा होगा; परंतु ऐसी व्यवसायात्मक बुद्धि होनेसे योग्य साध्य नहीं होता। इसलिये मनकी निश्चलता साध्य करनेके लिये फलहेतुक कर्म करनेकी बुद्धि तुम छोड दो। और फलासक्ति-रहित कर्म करनेका उपक्रम करनेपरभी मनकी निश्चलता तुम्हें साध्य होगी, और 'कर्मयोग' का आचरण सुलभ होगा। अब तुम्हें यह शंका आसकती है कि तुम्हें निष्काम कर्म करनेहीका आग्रह मैं क्यों कर रहा हूं? इसका समाधान ऐसा है कि कोई भी प्राणी कुछ न कुछ कर्म किये विना क्षणमात्र नहीं रह सकता।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्।"
गीता ३।५

तुम अपने मनमें कदाचित् यह ठान लोगे कि मैं अखिल कर्मोंका त्याग करूंगा; परंतु वह भी तुम्हें शक्य नहीं है। तुम्हारे कर्मेन्द्रिय स्वभावतः तुम्हें स्वस्थ बैठने न देंगे, और तुम्हारी प्रकृति तुम्हें कर्म करनेके लिये बाध्य करेगी। कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का नियमन करके मानस विषयोंका चिंतन किया जाय, तो वह 'मिथ्याचार' होगा। इसीलिये इंद्रियोंका मनसे आकलन करके कर्मेन्द्रियोंद्वारा अनासक्त बुद्धिसे कर्मयोग का प्रारंभ जो करता है, उसकी योग्यता अधिक है। इस संबंध में ज्ञानेश्वर महाराज निर्णय देते हैं— (ज्ञानेश्वरी ३।७६)

तूं मानसा नियम करी। निश्चल होऊनि अंतरीं।
मग कर्मेन्द्रियें व्यापारीं। वर्त तूं सुखें॥

(अर्थ-) हे अर्जुन, तुम अपने मनका नियमन करो अंतरंग निश्चल हो, फिर खुशीसे तुम कर्मेन्द्रियोंसे व्यापार करो।

दूसरी बात यह है कि स्वधर्मका आचरण करने में पापको अवकाश नहीं मिलता। श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं— (ज्ञानेश्वरी ३-५१)

स्वधर्म जो बापा। तोचि नित्य यज्ञ जाण पां।
म्हणोनि वर्ततां तेथ पापा। संचार नाहीं॥

(अर्थ-) अरे बाबा जो तुम्हारा स्वधर्म है, वही नित्य यज्ञ समझो; इसलिये स्वधर्ममें रहनेसे पापका संचार हो नहीं सकता।

इस जगह स्वधर्म का अर्थ स्वकर्तव्य ऐसा अभिप्रेत है।

जगत् के धारणार्थ यह स्वकर्तव्य का चक्र जो चलाता नहीं, उसका जीवित व्यर्थ है। इसपर तुम

सोचोगे कि जो पुरुष आत्मामें ही रत हुआ, संतुष्ट हुआ, उसके लिये कोई कार्य बाकी नहीं रहता। इस जगत् में यद्यपि उसका स्वतःका कोई कार्य नहीं रहता, तथापि दुनिया के लिये उसका स्वधर्म, उसका स्वकर्तव्य कुछ ना कुछ रहता ही है। वह उस फलासक्ति छोडकर करना चाहिये। इसलिये इसतरह जो अनासक्त बुद्धिसे कार्य करता रहता है, उसे परम पुरुषार्थ का लाभ होता है। कोई कोई टीकाकार "आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।" इसका ऐसा जो करते हैं कि ज्ञानी के लिये कोई नहीं कार्य नहीं रहता। परंतु पिछला संदर्भ देख लेना चाहिये। वह ऐसा है कि, जगत् के धारणार्थ पोषणार्थ मनुष्य को यज्ञचक्र चालू रखना चाहिये, इस विषय में भगवान् कह रहे हैं, और इसीलिये यह आज्ञा कर रहे हैं कि "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। (गीता ३।१९)" आगे चलकर यह बतलाते हैं कि कर्मयोग के आचरणसे जनकादि को संसिद्धि प्राप्त हुई। ऐसा अगले पिछले संदर्भ का विचार करने से इसका निष्कर्ष जो लो० तिलकने 'गीतारहस्य' में बतलाया है कि "आत्मज्ञानी को भी जगत् के लिये कर्मयोगका आचरण करना युक्त है" वही हमें सयुक्तिक मालूम होता है। गीतारहस्यके पृ० ६५३ पर रहस्यकार कहते हैं- "इस जगत् में कर्म किसी को नहीं छूटा; चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो। कर्म टलता नहीं; और ज्ञाताको वह स्वतःके लिये नहीं चाहिये। जब कर्म टलता नहीं, तब उसे करनाही पडेगा; परंतु स्वार्थबुद्धि खलास हो गई इसीलिये अब निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम बुद्धिसे वह (कर्म) करो।"

भगवान् ने कहा है कि जनकादि महानुभावों को कर्मयोग ही से सिद्धि प्राप्त हुई है। कार्यप्रवाह के मार्ग में उनके हिस्से में जो कर्तव्यकर्म आया (वह चाहे उनके स्वतः के लिये न हो, तथापि लोकसंग्रहात्मक दृष्टिसे उनको प्राप्त हुवा) वह उन्होंने करके बतलाया।

लोकसंग्रह करना राष्ट्रका ऋण चुकाने सरीखा है। शांकर भाष्य में 'लोकसंग्रह' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है- "लोकसंग्रहः=लोकस्योन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणम्।" इसका अर्थ है कि अज्ञानके कारण निरंकुश बर्ताव करनेवाले लोगोंको ज्ञान देकर सुस्थितिमें रखना और आत्मोन्नतिके मार्ग में उन्हें आगे बढाना। श्रीकृष्ण तुल्य विभूतिने कर्मयोगका आचरण करके यह राष्ट्र-ऋण प्रत्यक्ष बतलाया है-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

गीता ३।२२

"हे! पार्थ इस त्रिभुवनमें मेरा स्वतः का कोई कर्तव्य बाकी नहीं है; अथवा अप्राप्त ऐसी कोई वस्तु मुझे प्राप्त करनी नहीं है; तथापि मैं कर्म करता ही हूं।" इससे यह स्पष्ट होगा कि गीता को लोकसंग्रहात्मक दृष्टिसे यह अभिप्रेत है कि ज्ञाता को भी निष्काम कर्म करते रहना चाहिये।

वस्तुतः 'कर्मयोग' के इस सोपपत्तिक विवरण से अर्जुन को इस मार्गकी श्रेष्ठता पूर्णतया मान्य होनी चाहिये थी; तथापि उसके मनमें कर्मसंन्यास का किंतु शेष रहाही था। इसका उच्चाटन करने के लिये भगवान्ने साफ कह दिया है कि यद्यपि ये दोनों निःश्रेयसकर मार्ग हैं, तथापि कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगका महत्व अधिक है—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

गीता ५।२

और यही बात पुनरपि गीताके बारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

गीता १२।१२

"क्योंकि अभ्याससे ज्ञान अच्छा, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है, ध्यानसे कर्मफलका त्याग (श्रेष्ठ है) और इस (कर्मफलत्याग) के पश्चात् शीघ्रही शान्ति प्राप्त होती है।"

यह बात जंच गई कि कर्मयोग का आचरण श्रेयस्कर है; परंतु मन चंचल होनेसे यह साम्यबुद्धि प्राप्त कैसे होगी? ऐसी अर्जुनको शंका आनेपर भगवान् आश्वासन देते हैं कि अभ्याससे यह साम्यबुद्धि तुम्हें प्राप्त होगी। इस प्रकार आचरण करने-

वाले की दुर्गति कभी नहीं होती; इतनाही नहीं, किंतु ऐसा पुरुष स्वर्गादि लोक को पहुंचकर वहां बहुत वर्षोंतक वास करके, वही आचरण जारी रखनेके लिये शुचिर्भूत श्रीमान् लोगोंके घर जन्म लेता है, और अनेक जन्मोंके बाद सिद्धि पाकर अंतमें उसको उत्तम गति प्राप्त होती है।

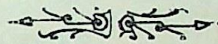
श्रीकृष्णने अर्जुनको ऐसी सूक्ष्म दृष्टिसे और चिकित्सक बुद्धिसे कर्मयोगका महत्व मन्य करा दिया। तथापि उसके मनमें शायद कोई किंतु रह गया हो, उसका उन्मूलन करनेके लिये उसको यह मालूम होना जरूर था कि शत्रुको मारनेवाला अर्जुन कौन होता है? मैं (श्रीकृष्ण) लोगोंका क्षय करनेवाला हूं। इसलिये उसको दिव्य दृष्टि देकर विराट स्वरूप का दर्शन कराया। उस विकराल विराट् स्वरूप में भयानक व्यापारोंकी धूमधाम देखकर बिचारे अर्जुनके होश उड गये। भगवान्ने उसको निश्चय करा दिया कि शत्रुपक्षके ये सब योद्धा निर्जीव पुतलियों के समान हैं, मैंने उनको पहिलेही मार डाला है; केवल इनका शरीर तुम्हारे साम्हने खडा है। तुम केवल निमित्तके लिये यहां रहो। श्रीकृष्णके विराट् स्वरूपका वर्णन काव्यमय और बहारदार हुवा है। उस विकराल स्वरूपका वर्णन पढते हुए आदरयुक्त भीति, परमेश्वरके अगाध सामर्थ्यकी कल्पना, दिव्य प्रतिभाशक्ति, सुंदर दृष्टान्त, ऐसे उत्कृष्ट काव्यके पोषक गुण प्रतीत होते हैं। ऐसा सिद्धान्त है कि जब साम,दाम और भेदका उपयोग नहीं होता, तब दंडही प्रभावी होता है। इस सिद्धान्तका प्रस्थापित तत्त्व मनुष्य सहसा भूलता नहीं; उसका सिक्का मनःपटलपर हमेशाके लिये बना रहता है।

कर्मयोगमार्गका स्वतंत्र बुद्धिसे सूक्ष्म विचार करनेसे उसका महत्व हमें प्रतीत होगा। क्योंकि मानवी प्राणिका सामर्थ्य कितना? और उसकी बुद्धि कहांतक पहुंच सकती है? सृष्टिके अगाध कार्यक्षेत्रकी, पदार्थोंके क्रियाव्यापारोंकी तथा परमेश्वरकी लीलाओंकी कल्पना इन अपर्याप्त साधनोंसे हो नहीं सकती। इस कार्यके लिये श्रीकृष्णके समान दिव्य विभूतिका आना आवश्यक है, और ऐसी विभूतिमें ही अपनी दिव्य वाणीसे इस संसृतिके प्रमेयको विशद करनेका सामर्थ्य रहता है। सर्वसाधारण नियमसे कोई विशिष्ट कर्म करनेके लिये आवश्यक ऐसी संपूर्ण सामग्री होनी चाहिये। सामुग्री मिलनेपरभी "दैव" की अज्ञात शक्ति आडे आती है, वह शक्ति मनुष्यके आधीन नहीं रहती। मनुष्यके हाथमें इतनाही रहता है कि वह कर्म करनेकी पराकाष्ठा करे। दैव उसके हाथका न होनेसे, मुझे अमुकही फल मिलेगा अथवा मिलना चाहिये ऐसा आग्रह करना किस कामका? वह फल उसको मिलेगा अथवा न मिलेगा, इसलिये क्या वह कर्म उसको छोडही देना चाहिये? कर्म छोडना समझदारका काम नहीं है। मानवी व्यवहारकी यही परा कोटि है कि वह ईश्वरमें भाव रखकर फलके विषयमें अनासक्तबुद्धि रखकर कर्म करते रहे। हमारी समझमें निर्हेतुक कर्म करना ही परमेश्वरी शक्तिका आश्रय लेना है। ईश्वरी नियमोंको सत्यका आश्रय रहता है, इसलिये फलेच्छारहित कर्म करनेवालेको उन दैवी नियमोंका सहाय्य प्राप्त होता है। फलकी ओर आसक्ति रखकर कर्म करनेमें गौणता आती है। फलकी ओर दृष्टि निमग्न रहनेसे कर्म करनेवालेकी बुद्धिका तेज फीका होता है; उसके सब प्रयत्न साशंक मनसे होते हैं। शास्त्रकी आज्ञासे अथवा सदसद्बुद्धिकी प्रेरणासे अपना जो कर्तव्य विहित हो उसको फलेच्छा छोड कर, निर्भयवृत्तिसे किसी भी संकटकी पर्वा न करके, परम उत्साहसे करना चाहिये, किंबहुना लोकसंग्रहात्मक दृष्टिसे वह करके बतलाना चाहिये इसीमें मानवी जीवितकी सफलता है। कार्लाइल कहते हैं "Let a man do his work; the fruit of it, is in the care of another than he." उसका कर्म इस भावनासे होना चाहिये कि "कर्म करनेहीका मेरा अधिकार है, फल देना ईश्वरका काम है।"

अहाहा! कितना उदात्त और सुंदर तत्त्वोंसे गुंफित यह उपदेश है! उपदेश नहीं दिव्य संदेश

है। मानवी संसारका मार्ग अंधकारमय है; उसमें अनेक गढ्ढे हैं। इस मार्गका आक्रमण करते समय इस संदेशका दिव्य दीपक लेकर उसके प्रकाशमें चलनेसे श्रेयस् और प्रेयस का लाभ अवश्य होगा; और यह लाभ होनेसे मनुष्यका जीवित रमणीय होगा।

हे भारतवर्ष! एक समय श्रीकृष्णने यह दिव्य संदेश तुम्हारी पवित्र भूमिपर खडे होकर अखिल सृष्टिके लिये वितरण किया था, इसकी तुम्हें याद है? मद, लोभ, मत्सरादि रोगोंसे जर्जरित तुम्हारा शरीर तुमसे देखा जाता है? तुममें अलौकिक बुद्धिमत्ता है; एक समय तुम वैभवगिरिपर आरूढ थे, इस बातको क्या तुम भूल गए? तुम्हारी आजकी सामाजिक, औद्योगिक, धार्मिक और राजकीय परिस्थिति तुम्हारे साम्हने होकर क्या तुम्हें दिखता नहीं? क्या आश्चर्य है! यह तुम्हारी परिस्थिति देखकर मालूम होता है कि तुम्हारी बुद्धिको मांद्य आनेसे उसकी चमक कम हो गई है। तुम्हारे अंगमें शिथिलता रोम रोम भर जानेसे उपर्युक्त रोगोंने तुम्हें विकल कर दिया है। इसीसे तुम्हारी अवस्था इतनी दीन हो गई है। इस दीन अवस्थाको दूर करके, श्रीकृष्णके कर्मयोगरूपी दिव्य संदेशके जोर पर तुम्हारी उज्ज्वल परंपरा कायम रखनेका कार्य तुम्हारे कार्यकर्ता तरुण युवकोंके हाथमें है। तुम्हारे तरुण युवकों व कार्यकर्ताओंको श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य संदेश मान्य होकर, राष्ट्रके उद्धारार्थ उनसे स्वकर्तव्यका आचरण होता रहे और दुनियाके प्रगमनशील राष्ट्रोंमें तुम्हारा मान हो। इतनी याचना उस जगच्चालक प्रभुसे करके यह लेखरूपी पुष्प जनताजनार्दनकी सेवामें अर्पण करता हूं।



"अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्।"

(लेखक—स्वर्गीय श्रीयुत खानसाहेब अब्दुल अझीझ खान, बी. ए., नागपुर)

मायाशक्तिविलासकल्पित भवोद्न्वन्निमग्नान् जनान्। उद्धर्तुं विततान यो हि कृपया श्रीमन्महाभारतम्॥ यद्वाक्यामृतपानतोऽमरगणा नाकेऽपि निर्वेदिनः। योगीन्द्रैरपि पूज्यपादकमलव्यासाय तस्मै नमः॥१॥

यद्भाष्यप्रखरांशुदीधितिवशात् संप्रार्थिता योगिभिः। सम्यग्ध्वस्तकुतर्कगाढतिमिरा निर्वाणपद्या बभौ॥ यत्कीर्तित्रिदशाम्बुना त्रिभुवनं पूतं विधत्तेऽखिलं। तेषां भाष्यकृतां नमामि चरणाम्भोजस्य धूलीकणान्॥ २॥

(१) अथ प्रतिपादनीयार्थः श्लोकः श्रीमद्भगवद्गीतायाः नवमाध्यायान्तर्गतः। आकाशस्य रूपरहितत्वेन चाक्षुषप्रत्यक्षत्वासंभवेऽपि मूर्खा यथा तस्मिन् तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति, तथैव प्रत्यगात्मनि अपि योऽनात्माध्यासः तं वेदान्तिनः अविद्यामाहुः। उक्तं च रामगीतायाम्- "यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः। असर्पभूते हि विभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥" पुनश्च— "अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे निरामये ब्रह्मणि केवले परे" इत्यादि। एतादृशमलिनसत्त्वप्रधानाविद्याक्षिप्तान्तःकरणानां लोकानां तस्याध्यासस्य वस्तुस्वरूपावधारणरूपया विद्यया कैवल्यप्राप्त्यर्थं गीताशास्त्रमारभमाणः भगवान् श्रीकृष्ण अष्टमाध्याये सुषुम्नाख्यनाडीद्वारेण धारणाख्येनाङ्गेन युक्तं "योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः" इति सूत्रकृता पतंजलिना प्रतिपादितं योग "सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम् आस्थितो योगधारणाम्" इति श्लोकेनोक्त्वा, ज्ञानानन्तरमेव, अनेन मार्गेणाऽनिवृत्तिरूपमोक्षप्राप्तिः संभवेत्, इत्यालोच्य "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनायेति" श्रुतिमनुस्मरन्, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेति" अपरोक्षज्ञानस्य साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनत्वं च पश्यन् स एव परम कारुणिको भगवानर्जुनाय ज्ञानोपदेशं विधित्सुः

नवमाध्यायं राजविद्याराजगुह्याभिधेयं प्रणिनाय।

(२) तत्र च विंशैकविंशाभ्यां श्लोकाभ्यां सुरस्त्रीसंभोगादीनि अनेकविधानि देवदेहोपभोग्यानि सुखानि कामयमानाः, ऋग्यजुस्सामलक्षणासु त्रिसृष्वपि विद्यासु निपुणा, इंद्रवस्वादित्यादिरूपिणं माम् अग्निष्टोमादिभिः काम्ययज्ञैरिष्ट्वा, सोमपानेन च निरस्तस्वभोगप्रतिबंधकाः, उषित्वा च स्वर्लोके, स्वपुण्यकर्मजन्यान् चोदनालक्षणार्थधर्मसिद्धान् भोगानुपभुंजानः क्षीणे च पुण्ये निर्वाणैककारणीभूतपरोक्षज्ञानमनधिरूढाः अलब्धस्वातंत्र्याः पुनरपि मर्त्यलोकमाविशन्ति लभन्ते च गमनागमनमिति; "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत' इति " यावत्संपातमुषित्वा " इति च छांदोग्यश्रुत्यभिप्रायम् आविष्कृत्य, कर्मफलमनभिलाषिणां मामेव आराधयतां सर्वाद्वैतदर्शिनां योगः क्षेमश्च कथं स्यातामित्याशंकां परिजिहीर्षुः भगवान् अर्जुनं प्राह अनन्येति—

(३) श्रीधरस्वामिनस्तु "मद्भक्ता मत्प्रसादेन कृतार्था भवन्तीति, " परमार्थप्रपाकाराश्च "एवं क्षुद्रदेवतोपासकानां प्रयासवैयर्थ्यमुक्त्वा स्वोपासकानां सुखोपायप्राप्तिं दर्शयतीति, " प्रयोजनं चास्य श्लोकस्येति प्राहुः। व्याख्यानं चास्य श्लोकस्येत्थम्।

" अनन्याः " न विद्यते अन्यः येभ्यस्ते इतिव्युत्पत्तिबलात् "वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षान्तरात्सजातीयो, विजातीयः शिलादिभिः " इति पंचदशीश्लोके निरुक्तभेदत्रयरहितं ब्रह्माहमस्मीति अपरोक्षज्ञानवन्तः ये सर्वान् कामान् विहाय, निःस्पृहाः निर्द्वन्द्वाः सर्वाद्वैतदर्शिनः संन्यासिनः ते इत्यर्थः। यद्वा "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति ब्रह्मसूत्रात् ये निदिध्यासकाल आत्मा इत्येव ईश्वरे मनः दधति ते अनन्याः इति प्रतीयते। 'परं देवं नारायणम् आत्मत्वेन गताः' इति शंकरभगवत्पूज्यपादाः। नास्ति मद्व्यतिरेकेण अन्यत् काम्यं येषां ते अनन्याः इति श्रीधरस्वामिनः। न विद्यते मत्तः अन्य देवतान्तरं येषां ते अनन्याः इति परमार्थप्रपायाम्। किन्तु नायमर्थोऽस्माकं समीचीनः प्रतिभाति। एवं सति आधुनिकानां शिवद्वेषिणां माध्वमतावलम्बिनां वैष्णवानामपि अनन्यपदेन ग्रहणं स्यात्। भक्तिसूत्रकारशांडिल्यमतावलम्बिनस्तु यां " स्वायत्तीकृत्य सच्चिदानंदस्वरूपे सुषमासुभद्रे श्रीमन्नारायणे संलग्नान्तःकरणाः देहाद्यभिमानवर्जिताः तमेव प्रह्लादवत् जले स्थले पर्वतमस्तके किंबहुना सर्वत्र पश्यन्ति, तां सर्वोपासनादिसारभूतां अनेकजन्मानुष्ठितपुण्यकर्मोपार्जितां सन्तृप्त्याख्यां भक्त्याः द्वादशीं दशां संप्राप्तान् " अनन्या " इति वदन्ति; भगवान् शांडिल्यः " सा परानुरक्तिरीश्वरे " इति सूत्रेण, श्रीकृष्णश्च "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः " इति श्लोकेन इमामेवावस्थां लक्षितवन्तौ इति च वदन्ति। " चिन्तयन्तः " अहमेव सर्वात्मा वासुदेवः, न मत्तः विद्यते किमप्यन्यदिति संबुध्य, तमेवात्मानं प्रत्यञ्चं ध्यायन्तः " ये जनाः " अप्राकृताः " मां पर्युपासते " परितः समंततः अनवच्छिन्नतया मां पश्यन्ति। " दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं ब्रह्मेति " लघुयोगवासिष्ठे। " तेषां नित्यम् " अनवरतम्। " अधुभिक्तानाम् " आदरेण ध्याने व्यापृतानां इति मधुसूदनसरस्वत्यानंदगिरी। प्राणधारणावश्यान्नादिमात्रोपार्जनार्थमपि प्रयत्नमकुर्वाणाः मद्ध्यानैकपरायणा इत्यर्थः। अयमेवार्थः श्रीधरस्वामिनामपि संमतः। परमार्थप्रपायां तु अभितः मद्योगदर्शिनामित्यर्थो दृश्यते। " योगक्षेमं " योगं च क्षेमं च " योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ क्षेमोऽस्त्री लब्धरक्षणे " इति कोशः। अर्थात् एतादृशैर्मद्ध्यानैकतत्परैर्जनैरयाचितोऽपि तेषाम् अप्राप्तस्य प्रापणं प्राप्तस्य रक्षणं च करोमीत्यभिप्रायः, ननु सर्वेषामपि योगक्षेमं वहत्येव भगवान् तर्हि को नाम ज्ञानिष्वेव विशेषः? इत्याशंकायामन्येषां तु प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा तेषां योगक्षेमं निर्वर्तयति। ज्ञानिनां योगक्षेममुद्दिश्य चेष्टामकुर्वतां सर्वत्र निःस्पृहाणां भगवदेकशरणानां तु कंचिदपि प्रयत्नमनुत्पाद्य योगक्षेमं निर्वहतीति सुतरां विशेषः इति ब्रूमः। " योगं धनादिलाभं क्षेमं च तत्पालनं मोक्षं वा " इति श्रीधरस्वामिनः। एवं च परात्मात्मविभेदभेदकं भास्वरं विज्ञानं येषां आत्मन्यवभाति, येषां चात्मसंसृतिहेतुभूता सकारका अविद्या प्रविलीना तेषां संतृप्तिमापन्नानां वा, धनादिलाभं तद्रक्षणं मोक्षं वा तैरप्रार्थितोऽपि अहं निर्वर्तयामि इति फलितोऽर्थः।

(४) अर्थमिमं भक्तमालादिग्रंथेभ्यः ज्ञानिनां भक्तानां च चरित्राणि उदाहरन्तः अनुमानादिप्रमाणैश्च यथामति भवतामुपकण्ठे अधुना प्रतिपादयिष्यामः। आदौ च योगपदस्य धनादिलाभः क्षेमपदस्य तद्रक्षणं इत्यर्थौ परिकल्प्य विषयविवेचनं क्रमः।

(५) आसीत् दाक्षिणात्ये पंढरपुराभिधे ग्रामे परमभागवतोत्तमो मूर्तिमद् वैराग्यमिव राको नाम कश्चित्साधुः। तस्य बांका नाम्नी नारायणैकपरायणा विगतस्पृहा धर्मपत्नी बभूव। तौ दम्पती धनमनिच्छन्तौ काष्ठ-विक्रयेण प्राणधारणां चक्रतुः। एकदा महता कृच्छ्रेण कालं यापयन्तौ तौ दम्पती निरीक्ष्य नामदेवः भगवन्तं प्राह, भूयसा दारिद्र्येण पीड्यमानः भगवद्भक्तोऽपि सपत्नीकः राकः महता कष्टेन कालं यापयति,तद् येनोपायेन अस्य सुखेन दिनानि विरंस्यन्ति स एव चिन्तयितव्यः। धनेष्वस्पृहयोस्तानि चास्वीकुर्वतोरनयो दारिद्र्यनिवारणार्थं न कमप्युपायमुत्पश्यामीत्युक्त्वा, नामदेवाय तयोश्चरितं प्रदर्शयितुं तेनैवानुसृतः भगवान् वनं गत्वा येनायनेनेमौ प्रतिदिनं काष्ठानि संचेतुमागच्छतःतस्मिन्नेव मार्गे एकं सुवर्णमुद्रिकापूर्णं पात्रं न्यधात्। तेनैव वर्त्मना गहनं गच्छन् राकः तद्भाण्डमवलोक्य अनेनैव मार्गेण माम् अनुगच्छन्ती भार्या मम कदाचिद् द्रव्यमिमं निरीक्ष्य लोभाभिभूतहृदया तद् गृह्णीयादिति मनसि समालोच्य तस्योपरि धूलिं निचिक्षेप। अनन्तरं निजप्राणेशाश्वर्णमागता बांका धूलिमवलोकयन्तं भर्तारं प्राह किमन्विष्यते पांशुराशौ भवद्भिः? राकः आदितः सर्वमपि वृत्तान्तं तस्यै निवेदयामास। तमाकर्ण्य सर्वत्र समदर्शिनी प्रहसितवदना तत्पत्नी प्राह "नावलोकयामि कमपि भेदं धूलिधनयोर्नालोच्य किमपि प्रयोजनं धूलेरुपरि धूलिनिक्षेपेण" इति वैराग्यपूर्णां वाणीं श्रुत्वा राकः अतीव संप्रहृष्टहृदयः स्वस्मादपि अधिकवैराग्यां पत्नीं मत्वा, तस्याः 'बाँका' इत्यभिधानमकार्षीत्। तत् सर्वमवलोक्य भगवानपि संप्राप्तसातिशयप्रमोदः 'पश्यैतौ कीदृशौ विरागिणाविति' नामदेवं प्राह। ततो भगवान् तयोरत्यल्पामपि सेवां विधित्सुः, नामदेवेन सह यायिना साकं अरण्यं प्रविश्य, इतस्ततः पतितानां काष्ठानां तयोरर्थे संचयं कृत्वा, निविवेश तत्रैव तम् काष्ठभारम् अभूच्चांतर्हितो हरिः नामदेवेन सह। ततस्तत्र एत्य तौ दम्पती तं काष्ठभारं अन्येन केनचिदपि संचितं मन्यमानौ, तं स्प्रष्टुमपि अनिच्छन्तौ, काष्ठसंचयमकृत्वैव स्वगृहाभिमुखं प्रस्थितौ; मार्गे च व्यचिन्तयतां अहो दैवविडंबना प्रातरेवाद्य सुवर्णमुद्रिकादर्शनेन नालभावहि आवां काष्ठान्यपि, यदि ता अग्रहीष्याव तर्हि न जानीवहे का वा दशा आवयोर्न्यपतिष्यत्।

(६) ततः कारुणिको भगवान् तं भारं तयोर्गृहे प्रापयत्। राकोऽपि तं ईश्वरेण प्रेषित इति ज्ञात्वा स्वीचकार।

नीलारविन्दनवमेघविडंबिरूपं चंचत्प्रभाशतनिभांबरवृद्धभासम्। कस्तूरिकागुरुविलेपनलीनभृङ्गं लोकोत्तरं मनसिजाब्जमनोहरं च ॥ १ ॥ प्रालम्बिकालंकृतकंबुकंठे संदर्श्य पश्चाद् वसनादिभिश्च। संपूज्य तौ पुण्यशतैरलभ्योऽथ न्तर्हितोऽभूद् भगवान् प्रसन्नः ॥ २ ॥

(७) ईश्वरः प्रयत्नमनुत्पाद्यैव योगं वहति भक्तानामिति सिद्धान्तं दृढीकर्तुम् इदानीं काश्चिदन्याश्च कथा अवतार्यन्ते संक्षेपतः; ताः विदग्धमंडली सावधानतः शृणोतु।

(८) आसीत् श्री भट्टहरिव्यासाभ्यां परंपरागते संप्रदाये स्थितः स्वभक्तिज्ञानप्रभावमोचितापरिमितसंसारसागरनिमग्नवन्यजनः राजधानीकृतवास्तव्यः भगवत्प्रसादाधिगत प्राज्यैश्वर्योऽपि तस्मिन्नलिप्तः निरहंकारश्च श्रीपरशुरामाभिधः कश्चिद् भक्तः। एकदा कश्चिन् नरः असूयया तं अवोचत्। हंहो महाशय! किमित्येवं भवता "भक्त भक्त" इति प्रचलितकीर्तिना प्रभूतैश्वर्यसुखाचिते सद्मनि स्थीयते? युक्तः भवतः अरण्ये एव वासः। तदाकर्ण्य विसृष्टनिखिलैश्वर्यसुखः परशुरामः कौपीनं बध्वा गिरिशिखरं अशिश्रयत्। तत्रापि कश्चिद् धनी ईश्वरकृपया समागत्य भगवद्भजनपरायणं परशुराममवलोक्य, विततार तस्मै नरलोकपालोपभोग्यान् विविधान् उपचारान्—

निजपदाम्बुजयुग्मपरायणं परशुराममवेक्ष्य गदाग्रजः। विहितवान् विपिनेऽपि धनागमं करुणया किल पश्यत पश्यत ॥

(९) अपरा च। श्रीगदाधरदासाख्यः कृष्णभक्तिपरायणः विसृष्टनिखिलबांधवगणः कश्चिद्भक्तः राजनपुराभ्यर्णे विद्यमानोद्याने प्रतिवसति स्म। एकदा प्रावृषि तडित्वत्सु सातिशयं जलं वर्षत्सु सत्सु छत्रादिविवर्जितः गदाधरः धारासंपातेन आपादमस्तकं क्लिन्नो बभूव। करुणारसपरिपूर्णहृदयविवरो भगवान् धारासंपातादिनिबंधनदुःखवशं भक्तं वीक्ष्य,आदिदेश तत्रत्यं कंचन धनिनं, सुंदरमेकं मंदिरं निर्माय गदाधरदासाय वितरेति। ततस्तथैवाशेषोपचारम् एकं मंदिरं निर्माय अनिच्छन्तमपि गदाधरं तरसा तत्र स अवासयत्। तत्रैव साधुसेवां कुर्वन् गदाधर आस्ते। एकदा भोजनसामग्री विरहिते गदाधरे बुभुक्षासंपीडिताः शिष्यगणा अतीव व्याकुला बभूवुः। तस्मिन्नेवावसरे केनचिद् धनिना तत्र एत्य, रूपकशतद्वयं गदाधरदासाय वितीर्णम्। गदाधरदासस्तु "रूपकाणि इमानि बुभुक्षया पीडयमानानां असंतोषिणाममीषां मदीयशिष्याणां शिरस्सु क्षिपेति " ईषत् क्रोधेनेव अवोचत्।

त्रिसृष्टभार्यासुतबांधवादेरुद्यानवास्तव्यगदाधरस्य।
यत्नादनुत्पाद्य चकार योगं गदाधरो दीनजनार्तिहर्ता

(१०) आसीदुत्तरदेशे माधवदासाख्यः कान्यकुब्जो ब्राह्मणः। अयं वेदव्यासावतारः इति भक्तमालायां लिखितं वर्तते। भार्यायां पंचत्वमापन्नायां श्रीमाधवदासो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां विश्वेषां अनित्यतां विचारयन्, सर्वेषां अन्नपानादिना परिपोषकः प्रभुरेवेति निश्चित्य, गृहादीन् सर्वान् हित्वा, अहैषीत् जगन्नाथपुरीं ईश्वराराधनेन कालं यापयितुम्। तत्र च अन्नादिवर्जितः भगवंतमेव ध्यायन् उपविवेश समुद्रतीरे। तथाविधं तमवलोक्य भगवान् जगन्नाथः अन्नाहारं विना अचिरेणायं मरिष्यति इति विचार्य, लक्ष्मीहस्तेन मुक्तामोदकरत्नमोदकघेवरादिभिरनेकविधैर्व्यंजनैर्बहुविधैरन्नैश्च परिपूर्णां स्थालिमेकां तत्सन्निकृष्टं प्रापयदिति कथा नामाजीकृतभक्तमालाग्रामनुसंधेया।

एवं प्रभूतभक्तानां योगक्षेमकरो हरिः।
भक्त्या ज्ञानेन चैतेषां निर्लेपोऽपि वशं गतः॥

(११) प्रतीयते च एभ्यः चरितेभ्यः ईश्वर एव ज्ञानिनां भक्तानां च प्रयत्नमनुत्पाद्यैव योगं वहतीति। इदानीं क्षेममपि निर्वहति भगवान् इति सिद्धान्तं दृढीकर्तुं वेदान्तार्णवतरणिकर्णधाराणां विद्वदग्रेसराणां श्रीमतां श्रीधरस्वामिनां कथा प्रस्तूयते भक्तमालातः। यैर्विरचितं श्रीमद्भागवतव्याख्यानं भगवतः बिंदुमाधवस्यापि संमतं बभूव, तैः प्रभूतधनसंपन्नैः श्रीधरस्वामिभिः अल्पमेव द्रव्यं गृहीत्वा आग्रानगरात् कुत्रचिद् गतुं प्रस्थितैरध्वनि मोषकाः ददृशिरे। आपृष्ठा ते श्रीधरस्वामिनं"को वाऽत्रभवतां सहाय" इति। तदाकर्ण्य श्रीमन्नारायणचरणारविंदमिलिंदायमानान्तःकरणः श्रीधरस्वामिनस्तानूचुः "पौलस्त्यकुलकालरात्रिः रघुकुलावतंसो श्रीरामचंद्रो मम भ्राता जीवनाधारश्च मया सह वर्तते" इति। तच्छ्रुत्वा श्रीधरस्वामिन एकाकिन इति मन्यमानाः अतीव प्रहृष्टमानसास्तान् जिघांसवो मनो बबंधुस्तेषां सर्वमपि वित्तमपहर्तुम्।" तरवारीनुद्यम्य तस्य वधे प्रवृत्तेष्वेव तेषु, धनुर्बाणधरः श्रीकौसल्यानंदनः आविर्भूय, तान् सर्वान् शस्त्रैः अभीषयत्। एवमेव अनेकशः तैः पाटच्चरैः श्रीधरस्वामिनां द्रव्यं अपहर्तुं निश्चयः कृतः। किं तु नैकोऽपि तेषां प्रयत्नः सफली बभूव। असकृदेव श्रीरामचंद्रः प्रकटीभूय श्रीधरस्वामिनः तेषां वित्तं च ररक्ष। श्रीधरस्वामिनोऽपि भगवन्तं स्वकृतकष्टमापन्नं मत्वा सदनधनपुत्रकलत्रमित्रादीन् सर्वान् हित्वा, परमार्थैकपरायणा अभवन्।

(१२) भक्त्या ज्ञानेन युक्तो भवति हि मनुजः सर्वदुःखाद्विमुक्तः। भिद्यन्ते यस्य पाशाः निरतिशयदृढाःसंसृतेर्हेतुभूताः॥सत्संपूज्योऽत्रलोके भवति सुरगणैश्चापि लोकेऽमराणाम्। योगक्षेमं वहेन्नो कथममलधियस्तस्य विश्वाधिपालः॥

(१३)एवं बहूनां भक्तानां ज्ञानिनां च उदाहरणानि संति,येषां ईश्वर एव कानपि प्रयत्नाननुत्पाद्य योगक्षेमं उवाह। प्रतीयते च एभ्य ईश्वरो भक्तानां योगक्षेमकर इति। कथं वा ईश्वरेण योगक्षेमं कर्तुं शक्यते इति नैव शंकनीयम्। यो हि ईश्वरः आस्माकीमिमां जगद्बिंबरचनां गुरुतरसंरंभामिव भासमानां कि-

चित् प्रयोजनं मनसि अनभिसंधाय क्रीडादिषु प्रवृत्तो नृपतिरिव लीलयैव सृजति, केवलमपरिमितशक्तित्वात्, तेन भवादृशैः परिमितशक्तिभिरपि साध्यं योगक्षेमं कथं वा कर्तुं नैव शक्यते ? सर्वशक्तित्वं हीश्वरस्य सर्वेषां तत्त्वविदां पाश्चात्यानां पौरस्त्यानां च संमतम् । तथा चैतादृशोऽपीश्वरो भक्तानां ज्ञानिनां योगक्षेमकरणाय नालमिति वादस्तु मूर्खतामभिव्यनक्ति । वादिनां नात्र संदेहो लेशमात्रमपि । शंकरभगवत्पूज्यपादैरपि " केवलमपरिमितशक्तित्वात्परमेश्वरस्येति " शारीरकमीमांसाभाष्ये वदद्भिः स्वीक्रियते तस्य सर्वशक्तित्वमिति स्पष्टमेव । यदि च योगक्षेमकरणायैव नालं परमेश्वरः तर्हि तस्य सर्वतंत्रप्रसिद्धसर्वशक्तिमत्त्वस्य अत एव ईश्वरस्वभावस्यापि लोपः प्रसज्येत । तथा च मादृशैः क्षुद्रजनैरपि कर्तुं सुकरस्य योगक्षेमस्यापि करणाय यो हि नालं, तादृशपुरुषविशेषं को नाम ईश्वरं मन्येत? तस्मात् सर्वशक्तिमान् ईश्वरो योगक्षेमकरणाय सुतरामलं इति निष्कर्षः । ननु अस्तु नाम ईश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वं योगक्षेमकरणसमर्थत्वं च, तथापि प्रवृत्ति प्रतिकृतिसाधनताज्ञानस्यैव इष्टसाधनताज्ञानस्यापि कारणत्वेन योगक्षेमकरणस्य तस्यानिष्टत्वेन न तस्मिन् परमेश्वरस्य प्रवृत्तिः संभवतीत्यपि वक्तुं नैव शक्यम् । यथा कश्चिन्नृपतिः स्वयमेव सदा भजन्तं नरं दुःखवारिधिनिमग्नं अवलोक्य, बहुकालानुष्ठितसेवादिवशीकृतः स्वप्रीतिभाजनत्वेन तं तस्मादुद्धिधीर्षुः यथा तस्याऽकं विलयं एत्य, सुखावाप्तिः संभवेत्तथैव यतते, एवमेव परमेश्वरोऽपि योगक्षेमाभावजनितदुःखानि अनुभवतः जनान् अवलोक्य तेषां भक्त्या ज्ञानेन वा वशीकृतः तद्दुःखप्रयोजनध्वंसे प्रवर्तते, तेषां प्रीतिभाजनत्वेन तदनुभूयमानदुःखकारणसामग्रीध्वंसस्य परमेश्वरस्य इष्टत्वादिति ब्रूमः । " प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः " इति भगवद्गीतायाम् । भवादृशः साधारणः पुरुषः अपरिचितमपि दुःखमापन्नं जनं सुखयितुं यदि यतते, तर्हि निरवधिकरुणः परमेश्वरः स्वीयान् जनान् कष्टसंप्राप्तान् अवलोक्य, कथं वा तूष्णीं तिष्ठेत् ? तथा च अनुमीयते " ज्ञानिनो भक्ता वा प्रयत्नाभावप्रयुक्तेश्वरकर्तृकयोगक्षेमा ईश्वरप्रियत्वात् यन्नैवं तन्नैवं " इति । तस्मात् इष्टत्वेन सुकरत्वेन च परमेश्वरः भक्तानां ज्ञानिनां योगक्षेमं करोत्येवेति सर्वमवदातम् ।

मद्व्यतिरेकेण नास्ति अन्यत्काम्यं येषां ते अनन्याः तेभ्यो मद्भक्तेभ्योऽनिच्छद्भ्योऽपि मोक्षं ददामीति श्रीधरस्वामिव्याख्यानमनुसृत्येदानीं विषयविवेचनं कुर्मः । यो हि निर्गुणज्ञानमार्गः वेदान्तशास्त्रे प्रसिद्धः स तु अतीव कष्टसाध्यः । यदा आश्रमयज्ञादिभिः बहिरंगसाधनभूतैः शमदमादिभिरंतरंगसाधनभूतैश्च नरस्य विद्याप्रतिबंधभूताः सर्वे पापादयः प्रध्वंसं यान्ति, तदैव विद्योत्पत्तिसंभवः । अन्यथा अनुष्ठितेषु अपि श्रवणादिषु प्रतिबंधकसद्भावे विद्याप्राप्तिर्नैव संभवति । " आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति " ब्रह्मसूत्रात् । " श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः " इति श्रुतेश्च बहावृत्त्याऽत्यायाससाध्यं निर्गुणज्ञानमिति प्रतीयते । भगवता वासुदेवेनापि " बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते " इत्युक्तम्, तस्मादीदृशं निर्गुणज्ञानमार्गं हित्वा, ये सगुणोपासकाः मद्भक्तिव्यापृतास्तेभ्योऽचिरेण मोक्षं ददामीति वक्तुं भगवता " अनन्या " इति श्लोक उपन्यस्तः ।

(१५) भगवद्भक्तिस्तु ईदृशानंददायिनी यत् तन्निरताः मोक्षसुखमप्यनिच्छन्तः असकृद् भक्तिमेव काङ्क्षन्ते; तुकारामेणाऽपि एकत्रोक्तं " नलगे मुक्ति धनसंपदा " इति । ईदृशपरमसुखदायिन्यां भक्त्यां निरतानामीश्वरे एव संकल्पविकल्पात्मकं मनः आदधतामचिरेण मोक्षप्राप्तिः संभविष्यति । परमकारुणिको भगवान् तेषां ज्ञानप्रतिबंधभूतान् अशेषान् अघादीन् नाशयित्वा ज्ञानावष्टम्भदानेन द्रागेव तान् कैवल्यं प्रापयति। ये तु भक्तिं विहाय केवलज्ञानमार्गप्रपन्नास्ते बहुविधप्रतिबंधाननुभवन्तः सातिशयकष्टेन बहूनां जन्मनामन्ते लब्धविद्या महता कृच्छ्रेण मोक्षमधिगच्छन्ति । नैवंविधत्वं भक्तानाम् । तेषां नारायणकृपालेशात् अज्ञानध्वंसो भूत्वा अचिरेणैव ज्ञानप्राप्त्यनन्तरं सुकरा मोक्षप्राप्तिः । तथा च श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे ब्रह्मस्तुतौ " ज्ञानप्रयासमुदपास्य नमंत एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये

प्रायशोऽजितजितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ " पुराह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धयः । विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरे ञोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥ "

१६ अयमेव अभिप्रायो भगवता श्रीमद्भगवद्गीताया द्वादशाध्याये प्रतिपादितः। उक्तं च तत्रैव " तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् । " इति । पुनश्चतुर्दशाध्यायेऽपि " मां चऽयो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" अर्थात् मामेव एकान्तेन भक्तियोगेन यः सेवते सः सर्वत्र समदृष्टिः निस्त्रैगुण्यो भूत्वा निर्वाणमाप्नोति । 'मीराबाई' प्रभृतीनां नारीणामपि भक्तियोगेनैव प्राप्तमोक्षाणां बह्वीनां कथाः भक्तमालायां विद्यन्ते, ताः बुद्धिमद्भिरनुसंधेयाः ततश्च सिद्धं नारायणः अनिच्छद्भ्योऽपि भक्तेभ्यो मोक्षं ददातीत्यलं अधिकेन, उपसंह्रियते इदानीं विषयः।

आदावाचरितं श्रीमच्छंकरव्यासदेवयोः ।
नमस्कारात्मकं सम्यक् मंगलं विघ्ननाशनम् ॥१॥
" प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते । "
इति संचिन्त्य मनसा गीताशास्त्रप्रयोजनम् ॥२॥
प्रोक्तं यदभिसंधाय प्रावर्तत हरिः स्वयम् ।
ज्योतिष्टोमादिकान् यागान् अनुष्ठाय विधानतः॥३
तदुद्भवेन पुण्यन देहत्यागादनन्तरम् ।
सकामाः प्राप्य नाकादीन् लोकान् पुण्यक्षयेपुनः४
मर्त्यलोकं समायान्ति ज्ञानाभावान्नरा ध्रुवम् ।
इति शौरेरभिप्रायस्तदनुप्रकटीकृतः ॥५॥
व्याख्यातस्तदनु 'श्लोकस्थानन्या' इति यत्नतः।
भक्त्याः संतृप्तिनाम्नी यैर्दृष्टा प्राप्ताथवा च ये॥६
ज्ञानिनो वा निदिध्यास-रताः कामैर्विनाकृताः।
तेऽनन्या इति बह्वर्थाः पदस्यास्य प्रदर्शिताः ॥७॥
भगवत्पूज्यपादैश्च श्रीधरस्वामिभिस्तथा ।
मधुसूदनभट्टैश्च शांडिल्यस्यानुयायिभिः ॥८॥
प्रपाकारैः पदस्यास्य येऽर्थाः बहुविधा कृताः।
व्याख्याने ते मया सर्व उपन्यस्ताः प्रयत्नतः ॥९॥
भक्तानां ज्ञानिनां वाऽपि योगक्षेमकरो हरिः ।
स्पष्टीकृतोऽयमुल्लेखः श्रीमत्साधुचरित्रतः ॥१०॥
अनुग्रहपरो विष्णुः सर्वशक्तिसमन्वितः ।
योगक्षेमकरो ह्यस्मादित्यपि प्रतिपादितम् ॥११॥
अथेश्वरकृपालेशात् भक्तानामविलम्बतः ।
भवत्यमृतसंप्राप्तिरित्यपि प्रविवेचितम् ॥१२॥
ईश्वरानुग्रहादेव अगात्पूर्ति विवेचनम् ।
श्रीमतां प्रीतये भूयात्तद्दोषैरपि संयुतम् ॥१३॥
दोषावृतो मम वचोनिचयस्तथापि ।
नोऽनादृतो भवतु बुद्धिमतां वरिष्ठैः ॥
श्लाघ्यो न किं भवति नूतनशीतरश्मिः।
क्षीणोऽपि कान्तिरहितोऽपि कलंकितोऽपि ॥१४॥

[इस संस्कृत लेखका भाषानुवाद नीचे दिया जाता है । यह संस्कृत लेख एक विद्वान मुसलमीन महाशयजीका लिखा है । अतः पाठक इस दृष्टीसे इसका आदर करें ।]

मायाशक्तिके विलाससे कल्पित जो भवसागर उसमें निमग्न हुए जनोंका उद्धार करनेके लिये जिसने कृपाकर श्रीमहाभारत ग्रंथ रचा है; जिसके वाक्यामृतके पीनेसे स्वर्गमें भी सुरगण विरक्त होते हैं; जिसके चरणकमल योगीन्द्रोंको भी पूजनीय हैं, उस व्यासको नमस्कार है ॥ १ ॥

जिनके (श्री शंकराचार्यके) भाष्यरूपी प्रखर किरणोंवाले प्रकाशसे योगियोंको (जो इस पदकी अभिलाषा करते थे) निर्वाणपद सुलभ हो गया; कुतर्करूपी निबिड अंधकार एकायक लुप्त होगया जिनकी कीर्तिरूपी गंगाने सारे त्रिभुवनको पवित्र कर दिया, उन भाष्यकारके चरणकमलकी धूलिका हम वंदन करते हैं ॥ २ ॥

(१)आज जिस श्लोकके अर्थका प्रतिपादन करना है,वह श्रीमद्भगवद्गीताके नववें अध्यायका है। आकाशको रूप न होनेसे आंखोंके द्वारा उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, तथापि मूर्ख लोक उसमें तलमलिनता आदिका अध्यास करते हैं; इसी तरह

भीतर आत्मा रहनेपर भी " आत्मा नहीं है " ऐसा जो अध्यास किया जाता है, उसको वेदान्ती लोग अविद्या कहते हैं। रामगीतामें कहा है- " भ्रमके कारण किसी वस्तुमें अन्यवस्तुका जो भास होता है उसको पंडित लोग अध्यास कहते हैं। जैसे सर्प न होनेपर भी रज्जु आदि पदार्थमें (सर्पका) भास होता है, वैसेही ईश्वरमें जगत् का भास होता है ।" और भी कहा है- " सर्वकारण, निरामय, केवल पर ब्रह्म ऐसे आत्मामें (यह) केवल अध्यास है ।" इत्यादि। इस प्रकार जिनका सत्व प्रधान मलिन हुआ है, और अविद्याके कारण जिनका अंतःकरण विक्षिप्त होगया है, ऐसे लोगोंको विद्याके द्वारा जिस विद्यासे उस अध्यासका वस्तुतः क्या स्वरूप है वह समझमें आजाय-कैवल्यप्राप्ति हो इस उद्देश्यसे गीताशास्त्रका प्रचार जिन्होंने किया उन भगवान् श्रीकृष्णने आठवें अध्याय में " सर्वद्वाराणि संयम्य" इत्यादि श्लोकसे उसी योगका प्रतिपादन किया जो कि " योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः" इस सूत्रके रचयिता पातंजलि ने बतलाया है कि सुषुम्ना नामक नाडीद्वारा धारणा नामक अंग से वह (योग) साध्य होता है। भगवान् ने यह निरूपण किया है कि ज्ञान होनेपर ही इस मार्गसे निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। (भगवान्ने) इस श्रुतिवाक्यको ध्यानमें रखकर-कि उसी (ब्रह्म) को जान लेनेसे मनुष्य मृत्युको जीत सकता है, मोक्षका दूसरा कोई मार्ग नहीं है-और " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म " इ० ऐसा अपरोक्ष ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्तिका साधन है, यह देखकर उन्हीं करुणामय भगवान्ने अर्जुनको ज्ञानोपदेश देनेकी इच्छासे राजविद्याराजगुह्य नामक नववां अध्याय प्रणीत किया।

(२) इस अध्यायमें बीसवें और इक्कीसवें श्लोकमें यह बतलाया कि सुरस्त्रीसंभोग आदि अनेक प्रकार के भोग, जो कि देवताओंके शरीरद्वारा उपभोग्य हैं; भोगनेकी इच्छा रखनेवाले, ऋग्वेद यजुर्वेद, और सामवेद इन तीनों विद्याओंमें निपुण ऐसे लोग अग्निष्टोमादि कामयज्ञोंसे मेरी (इंद्र वसु आदित्य आदि रूपी मेरी) पूजा करते हैं। सोमपान करनेसे उनके भोगमें कोई प्रतिबंध नहीं रहता। इस तरह स्वर्गमें वास करके प्रेरणात्मक धर्मसे सिद्ध ऐसे स्वपुण्यकर्मोंसे प्राप्त भोगोंका उपभोग करते हैं। पुण्यकी समाप्ति होनेपर वे फिरसे मृत्युलोकमें आते हैं क्योंकि निर्वाणका एकमात्र कारण जो अपरोक्ष ज्ञान वह उन्हें प्राप्त नहीं है और स्वातंत्र्यका लाभ उन्हें नहीं हुवा; इसीसे वे आवागमनके चक्रमें पडते हैं। यही अभिप्राय छांदोग्य श्रुतिमें प्रगट किया है- " जैसे कर्मवान् लोगोंका कर्म इस जगत्में क्षीण होता है वैसेही अन्य लोकमें पुण्यवान् लोगोंका पुण्य क्षीण होता है। " " संपात तक वास करके" भगवान् आगे कहते हैं कि, कर्मफलकी अभिलाषा न रखकर मेरी ही आराधना जो लोग करते हैं और सर्वत्र अद्वैत देखते हैं, ऐसे लोगोंका योग और क्षेम कैसे चलेगा? इस शंकाका निरसन करनेके हेतु भगवान् अर्जुनको कहते हैं- " अनन्याश्चितयन्तो माम्० "

(३) श्रीधर स्वामी इस श्लोकका प्रयोजन ऐसा बतलाते हैं कि " मेरे भक्त मेरे प्रसादसे कृतार्थ होते हैं। " परमार्थप्रपाकार इस श्लोकका प्रयोजन ऐसा बतलाते हैं कि " इसप्रकार क्षुद्रदेवताओंकी उपासना करनेवालों के प्रयास व्यर्थ हैं, ऐसा बतलाकर (भगवान्) अपने उपासकोंके लिये विना कष्ट के किस उपाय से प्राप्ति होगी वह बतलाते हैं। श्लोक का व्याख्यान ऐसा है— " अनन्याः " अर्थात् जिनको कोई दूसरा नहीं है। पंचदशीमें तीन प्रकारके भेद बतलाए हैं जैसे " वृक्षके भेद - (१) स्वगत भेद अर्थात् स्वयं अपनेही पत्र पुष्प फल आदिसे भिन्न है; (२) सजातीय भेद, अर्थात् एक वृक्ष दूसरे वृक्षोंसे भिन्न है; (३) विजातीय भेद अर्थात् पाषाण इ० से वृक्ष भिन्न है। " इस प्रकारके तीनों भेदोंसे रहित, और ' मैं ब्रह्म हूं ' ऐसा अपरोक्षज्ञान जिन्हें हुवा है, ऐसे जो लोग सब कामनाओंको छोडकर निःस्पृह निर्द्वन्द्व रहनेवाले, सर्वत्र अद्वैत देखनेवाले संन्यासी हैं (उन्हें अनन्य कहना चाहिये।) अथवा ब्रह्मसूत्र में कहा है ' आत्माको पहुंचते हैं और ग्रहण कराते हैं " इसके अनुसार निदिध्यास की अवस्थामें आत्मा ही ईश्वर है ऐसा जानकर ईश्वर में मन को जो स्थिर

❀

करते हैं वे अनन्य हैं ऐसा प्रतीत होता है। परमपूज्य भगवान् शंकराचार्य (अनन्य शब्दका अर्थ करते हैं —) परम देव नारायण को जो आत्मभाव से पहुंचे हैं। श्रीधरस्वमी अर्थ करते हैं-मुझे छोडकर जिन्हें कोई काम्य वस्तु नहीं,वे अनन्य हैं। परमार्थ-प्रपामें ऐसा अर्थ किया है — मेरे सिवाय जिनकी कोई अन्य देवता नहीं है, वे अनन्य हैं। परंतु यह अर्थ हमें ठीक नहीं मालूम होता। यह अर्थ लेनेसे अनन्य शब्दमें आधुनिक शिवद्वेषी माध्वमतावलम्बी वैष्णवोंका भी समावेश होगा। भक्तिसूत्रकार शांडिल्यमतानुयायी अनन्य उनको कहते हैं जिनको 'सन्तृप्त' नामकी भक्तिकी बारहवीं अवस्था प्राप्त हुई है। इस अवस्थाको स्वाधीन करके सच्चिदानंदस्वरूप सर्वमंगल श्रीमन्नारायण में (ये भक्तजन) अपना अंतःकरण संलग्न रखते हैं, देह आदि सकल वस्तुओंका अभिमान छोडकर प्रह्लाद के समान जल में, स्थलमें, पर्वतमस्तकपर किंबहुना सबही जगह उसी को देखते हैं। भक्ति की यह अवस्था समस्त उपासनादि निष्ठाओंका सार है, और अनेक जन्मोंमें किये हुए पुण्य कर्मोंसे यह 'संतृप्त' अवस्था प्राप्त होती है। ऐसा भी कहते हैं कि यह वही अवस्था है जिसका वर्णन भगवान् शांडिल्य करते हैं—" वह (भक्ति) अर्थात् ईश्वरमें अतिशय अनुरक्ति है। " श्रीकृष्ण इसीका वर्णन करते हैं— " वासुदेव ही सर्वस्व है (इस बुद्धिसे ज्ञानी मुझको प्राप्त होता है,) परंतु ऐसा महात्मा दुर्लभ है। " " चिन्तयन्तः " मैं ही सर्वात्मा वासुदेव हूं, मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है ऐसा जानकर उसी आत्माका (जो भीतर विद्यमान है उसका) ध्यान करते हुए " ये जनाः " जो अप्राकृत अर्थात् समझदार लोग " मां पर्युपासते " अपने आसपास अनवच्छिन्न रूपसे मुझे देखते हैं। लघुयोगवासिष्ठ में कहा है " दिशा, काल इत्यादिसे ब्रह्म अविच्छिन्न नहीं है। " तेषां नित्यम् अभियुक्तानाम् " मधुसूदन और आनंदगिरि इसका अर्थ करते हैं-इन लोगोंका जो अविश्रांत आदरपूर्वक ध्यानमें मग्न रहते हैं। इसका अर्थ है—जो लोग अपने प्राणधारणाके लिये आवश्यक ऐसे अन्न आदि वस्तुओंके भी उपार्जन के हेतु प्रयत्न नहीं करते अर्थात् केवल मेरे ध्यान में जो परायण हैं उनका। यही अर्थ श्रीधरस्वामी को भी संमत है। परमार्थप्रपामें इस तरह अर्थ किया है-अपने चारों ओर मेरे योगको जो देखते हैं उनका। " योगक्षेमं " = योग और क्षेम। अमरकोश में इन दो शब्दोंकी परिभाषा ऐसी दी है- योग= अपूर्वार्थ अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति; क्षेम (यह शब्द पुल्लिगमें अथवा नपुंसकलिंग में आता है) = प्राप्त वस्तुका रक्षण। अर्थात् इस प्रकार केवल मेरे ध्यान में तत्पर रहनेवाले लोग यद्यपि मेरे पास याचना नहीं करते तथापि उन्हें अप्राप्त वस्तु मैं प्राप्त करा देता हूं और प्राप्त वस्तुका मैं रक्षण करता हूं। यह अभिप्राय है। इसपर कोई शंका करे कि भगवान् सबही लोगोंका योगक्षेम निबाहते हैं; तब ज्ञानी लोगोंमें विशेष क्या है ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् अन्य लोगोंसे पहिले प्रयत्न कराते हैं, उन प्रयत्नोंके द्वारा उनका योगक्षेम निबाहते हैं। परंतु जो ज्ञानी लोग योगक्षेमके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते, सर्वथा निःस्पृह रहते हैं. भगवान् ही जिनका एकमात्र आश्रय है,ऐसे लोग कोई प्रयत्न नहीं करते. तिसपर भी उनका योगक्षेम भगवान् निबाहते हैं; यह विशेष है। श्रीधरस्वामी कहते हैं— योग = धन आदिका लाभ, क्षेम = उसका पालन अथवा मोक्ष। इस प्रकार जिनके अंतःकरणमें परमात्माके संबंधमें अहंकार हटानेवाला उज्ज्वल विज्ञान प्रकाशित होता है, अथवा आत्मसंसृति की कारणीभूत अविद्या जिनकी लुप्त हुई है उनको, अर्थात् जिन्हें 'संतृप्ति' प्राप्त हुई है ऐसे लोगोंको, विना मांगनेके मैं धन आदिका लाभ करा देता हूं; और उसका रक्षण करता हूं अथवा मोक्ष देता हूं। ऐसा फलितार्थ है।

(४) अब इस अर्थ को यथामति भक्तमालादि ग्रंथोंमेंसे ज्ञानियों और भक्तोंके चरित्रों के उदाहरण देते हुए, अनुमान आदि प्रमाणोंसे आपके सामहने प्रतिपादित करते हैं। प्रथमतः योग शब्दका अर्थ धनादिलाभ और क्षेम प्रपदका अर्थ उसका रक्षण ऐसा मानकर विषयका विवेचन करते हैं।

(५) दक्षिणदेशमें पंढरपुर नामक ग्राम में राक नामका परम भगवद्भक्त और वैराग्य की मानो साक्षात् मूर्ति ऐसा एक साधु रहता था। उसकी बांका नामकी धर्मपत्नी थी; वह निरिच्छ और ईश्वरपरायण थी। यह पतिपत्नी धनकी अभिलाषा न रखकर लकडी बेचकर अपने जीवनका निर्वाह करते थे। यह दाम्पत्य बडे कष्टसे समय व्यतीत कर रहे हैं, ऐसा देखकर एक समय नामदेव ने भगवान् से कहा-" यह राक अतिशय दारिद्र्यसे पीडित है, तथापि भगवान् का भक्त है; वह अपनी पत्नी के साथ अपना समय बडे ही क्लेश के साथ काट रहा है। इसलिये ऐसा उपाय सोचना चाहिये जिससे इसका आयुष्य सुखसे व्यतीत हो। " भगवान् ने कहा " इनका धनकी इच्छा नहीं है और ये द्रव्य का स्वीकार नहीं करते; इनका दारिद्र्य दूर करनेका कोई उपाय नहीं दिखता। " इतना कहकर उन पतिपत्नी का चरित्र नामदेवको बतलाने के लिये भगवान् उसी मार्गसे चलने लगे की जिस राहसे ये पतिपत्नी लकडी इकट्ठी करनेके लिये आते थे; पीछेपीछे नामदेव भी चलते थे। उसी रास्तेमें भगवान्ने सुवर्णमुद्रिकाओंसे भरा हुआ एक बर्तन रख दिया। उस मार्गसे राक जाने लगा, तब उस पात्र को देखकर उसने सोचा, कि इसी राह से मेरी स्त्री आ रही है; कदाचित् इस द्रव्यको देखकर लोभ में आकर वह इसे उठालेगी। ऐसा सोचकर राक ने उस सुवर्ण पात्र को धूलि से मूंद दिया। इसके बाद अपने प्राणनाथ के मार्ग का अनुसरण करती हुई बांका वहांसे निकली; और उसने देखा कि अपने पति धूलिकी तरफ देख रहे हैं। उसने पूछा " आप इस मिट्टी के ढेर में क्या ढूंढ रहे हैं ? " राक ने प्रारंभ से सब वृत्तान्त उसको निवेदन किया। वह सुनकर सर्वत्र समदर्शिनी सुहास्यवदनी पत्नी बोली, " मुझे धूलि और धनमें कोई फरक नहीं दीखता। धूलिपर धूलि डालनेका कोई प्रयोजन नहीं है। " यह वैराग्यपूर्ण वाणी सुनकर राक को अत्यंत हर्ष हुवा। वह मेरी पत्नी मेरी अपेक्षा अधिक वैराग्यशाली है, ऐसा मानकर उसका नाम 'बांका' रखा। यह सब देखकर भगवान् को भी अतिशय हर्ष हुआ, और उन्होंने नामदेव को कहा " देखो ये कैसे विरागी हैं। " तत्पश्चात् भगवान् ने सोचा कि इनकी कुछ भी अल्पस्वल्प सेवा करनी चाहिये; और नामदेवके साथ अरण्य में जाकर, उन पतिपत्नीके वास्ते यहां-वहांसे लडकी बीनकर एक ढेर लगा दिया; और नामदेव के साथ अदृश्य होगए। उस ढेरको जब उस दांपत्य ने देखा तब वह सोचकर कि, यह ढेर किसी दूसरेका लगाया हुवा है, उसको छूनेकी भी इच्छा नहीं की; और लडकी लिये विना वे अपने घरको चले। रास्ते में उन्होंने विचार किया—क्या यह दैवकी विडम्बना है ! आज सुबहसेही सुवर्णमुद्राओंका दर्शन हुवा इसलिये हमें लकडी भी नहीं मिली, यदि उन मुद्राओंको उठालेते तो न मालूम हमारी क्या दशा होती !

(६) तदनन्तर दयामय भगवान् ने वह लकडी का गठ्ठा उनके घर पहुंचाया। राकने भी यह जानकर, कि यह भगवान् ने भेजा है, उसका स्वीकार किया।

नीलकमल और नूतन मेघके सदृश जिनका रूप है, तरल प्रभावान् स्निग्ध वस्त्रसे जिस स्वरूप की शोभा बढाई है, कस्तूरी विलेपन के कारण जहां भ्रमर तल्लीन होते हैं, जो (रूप) लोकोत्तर है और कामदेव का भी मन हरण करनेवाला है ॥ १ ॥ कंबुके सदृश कंठ में हार उसे शोभा दे रहा है, ऐसा अपना स्वरूप भगवान् ने उसको बतलाया, अनेक पुण्यकर्मोंसे भी भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, तथापि ऐसे भगवान् ने वस्त्रादिसे उन पतिपत्नी की संभावना की; और प्रसन्न होकर अंतर्धान पाये ॥ २ ॥

(७) भक्तोंसे प्रयत्न न कराके भगवान् उनका योग निबाहते हैं। इस सिद्धान्तको दृढ करने के हेतु दुसरी कथाएं संक्षेपमें देते हैं। चतुर लोग उन्हें सावधानी से देखें।

(८) भट्ट हरिहर व्यासके परंपरागत संप्रदायमें श्रीपरशुराम नामक एक भक्त थे, जिनने अपनी भक्ति और ज्ञान के प्रभाव से संसारसागरमें डूबे

हुए असंख्य जनोंका उद्धार किया। वे राजधानीमें वास्तव्य करते थे। भगवान् के प्रसादसे उन्हें विपुल ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था, परंतु उस ऐश्वर्यसे वे अलिप्त थे, और उन्हें लेशमात्र अहंकार नहीं था। एक समय किसी मनुष्यने ईर्ष्यासे उनको कहा "क्यों महाशय! आपकी "भक्त भक्त" ऐसी कीर्ति प्रचलित है; आप ऐसे मकानमें रहते हैं जहां बहुत सा ऐश्वर्य और सुख विद्यमान है। यह कैसा? आपको अरण्यही में रहना योग्य है।" परशुरामने यह सुनकर समस्त ऐश्वर्यसुख को छोडकर, लंगोटी लगाकर, गिरिशिखर का आश्रय लिया। ईश्वरकृपासे वहां भी कोई धनवान् मनुष्य पहुंचा, और भगवद्भजनपरायण ऐसे परशुरामको देखकर उनके लिये नाना प्रकारके उपचार वितरण किये जिनका उपभोग राजा महाराजा ही ले सकते हैं—

देखो देखो! अपने चरणकमलमें परायण ऐसे परशुरामको भगवान् ने देखकर अरण्यमें भी करुणा से उसको बहुतसा धन दिया॥

(९) दूसरी कथा। राहानपुरके समीप एक बगीचेमें श्रीगदाधरदास नामक भक्त रहते थे। वे श्रीकृष्णभक्तिपरायण थे और समस्त बांधवगणोंका पाश उन्होंने तोड दिया था। एकसमय बरसात में जोरोंसे बिजली चमकी और जलका बेहद वर्षाव हुआ। उनके आश्रय के लिये पर्णकुटी भी नहीं थी; और जलधाराके मारे से वे सिर से पैरतक भींज गए। जिनका हृदय करुणारससे परिपूर्ण है ऐसे भगवान् ने देखा कि अपना भक्त जलवर्षा आदि आपत्तियोंसे दुःखित है। भगवान्नें वहां के एक धनवान् मनुष्यको आज्ञा दी कि एक सुंदर मंदिर बनाकर गदाधरदासको दो। इस के अनुसार एक मंदिर, जिसमें सब प्रकार के उपचार रखे गए थे, बनाकर, गदाधर की इच्छा न रहनेपरभी उसको शीघ्र वहां निवासित किया। गदाधर वहीं साधुसेवा करते हुए रहने लगे। एक समय गदाधर के पास भोजनसामग्री नहीं थी और भूख के मारे शिष्यगण अतिशय व्याकुल हुए। उसी अवसरपर वहां एक धनवान् मनुष्य आया और उसने गदाधर को दो सौ रुपये नजर किये। परंतु गदाधर ने कुछ गुस्से में आकर कहा "क्षुधा से पीडित और असंतुष्ट ऐसे इन मेरे शिष्योंके सिरपर ये रुपये फेंक दो।"

जिसने अपनी भार्या, पुत्र, बांधवों का त्याग किया है; जिसका वास्तव्य उद्यान में है; ऐसे गदाधर के प्रयत्न न करनेपर भी, उसका योगक्षेम श्रीभगवान् गदाधर ने निवाहा जो दीनजनों के क्लेशोंका हरण करनेवाले हैं।

(१०) उत्तरदेश में माधवदास नामके कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहते थे। भक्तमाला में लिखा है कि ये वेद-व्यास के अवतार थे। श्रीमाधवदास की पत्नी का देहान्त हुआ तब उन्होंने विचार किया कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बतक अखिल विश्व अनित्य हैं, समस्त जीवोंका अन्नपानादि से परिपोषण करनेवाला केवल प्रभु है। ऐसा निश्चय करके,घर द्वार इत्यादि का त्याग करके, उन्होंने जगन्नाथ पुरी को प्रस्थान किया; इच्छा यह थी कि ईश्वरकी आराधना में अपना आयुष्य व्यतीत करें। वहां अन्न आदि उनके पास नहीं था; केवल भगवान् का ध्यान करते हुए समुद्र के किनारे अपना स्थान जमाया। इस दशा में उनको देखकर भगवान् जगन्नाथ ने विचार किया कि अन्नके आहार बिना यह मर जायगा, और लक्ष्मी के द्वारा उनके पास एक थाली पहुंचाई जिसमें मुक्तमोदक, रत्नमोदक, घीवर इत्यादि अनेक प्रकार के व्यंजन तथा बहुत प्रकार के अन्न भरे हुए थे। यह कथा नामाजीकृत भक्तमाला में आई है।

इस प्रकार बहुतसे भक्तोंका योगक्षेम भगवान्ने निवाहा है।

और स्वयं निर्लेप रहनेपर भी भक्ति और ज्ञानके कारण इनके वशमें गये हैं॥

(११) इन चरित्रोंसे मालूम होगा कि ज्ञानी और भक्तों के प्रयत्न न करनेपर भी उनका 'योग' भगवान् ही निवाहते हैं। अब यह सिद्धान्त दृढ करने के लिये, कि भगवान् उनका 'क्षेम' भी निवाहते

हैं, भक्तमाला से इन श्रीधरस्वामी की कथा प्रस्तुत की जाती है, जो वेदान्तरूपी समुद्र में नौका के कर्णधार हैं, तथा विद्वानों में अग्रसर हैं। जिन (श्रीधरस्वामी) का रचा हुआ श्रीमद्भागवत-व्याख्यान भगवान् बिंदुमाधव को भी संमत हुआ, वे श्रीधरस्वामी अल्पसा धन लेकर, आम्रानगर से कहीं प्रवास करने को निकले। रास्ते में उन्होंने चोरों को देखा। श्रीधरस्वामी से चोर पूछते हैं "आपका सहायक कौन है?" श्रीमन्नारायण के चरणारविंदों में भ्रमर के समान जिनका अंतःकरण तल्लीन हुआ था, ऐसे श्रीधरस्वामीने उनको जवाब दिया, "पौलस्त्यकुल को कालरात्रि के समान, और रघुकुल के अलंकार, श्रीरामचंद्र मेरे रक्षक और जीवन के आधार मेरे साथ हैं।" यह सुनकर तस्करों को अतिशय आनंद हुवा; वे समझते थे कि श्रीधरस्वामी अकेले हैं। तस्करोंने मन में विचार किया कि श्रीधरस्वामीका प्राण हरण करके इनका सारा धन हरण कर लें। तरवारों को उठाकर तस्कर स्वामी को मारने के लिये प्रवृत्त हुए, इतने में धनुष्यबाण धारण किये हुए कौसल्यानंदन श्रीरामचंद्र वहां प्रगट हुए, और उन सब चोरों को शस्त्रों से भयभीत किया। इसी तरह उन तस्करों ने श्रीधरस्वामी का द्रव्य हरण करनेका अनेक बार प्रयत्न किया। परन्तु उनका एक भी प्रयत्न सफल न हुआ। बारबार श्रीरामचंद्र ने प्रगट होकर श्रीधरस्वामी का और उनके धन का रक्षण किया। श्रीधरस्वामी भी, यह सोचकर कि मेरे कारण भगवान् को बहुत कष्ट हुए, अपना घरदार, द्रव्य, पुत्र, स्त्री, मित्र इत्यादि सबका त्याग करके, केवल परमार्थपरायण हो गए।

(१२) भक्ति ज्ञानसे युक्त मनुष्य सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है। संसृति के कारणभूत ऐसे अतिशय दृढ उसके पाश टूट जाते हैं। इस लोक में वह सत्पुरुषों से पूज्य और देवलोक में देवगणों से पूज्य होता है। उस निर्मलबुद्धि पुरुषका योगक्षेम भगवान् विश्वपालक कैसे न निबाहेगा?

(१३) इस प्रकार बहुतसे भक्तोंके और ज्ञानियोंके उदाहरण हैं, जिनका योगक्षेम, उनसे कोई प्रयत्न न करके, ईश्वरहीने निबाहा है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि ईश्वर भक्तोंका योगक्षेम करनेवाला है। यह शंका न करनी चाहिये कि ईश्वर योगक्षेम कैसे कर सकता है। हमारे इस जगद्बिंब की रचना, जिसका आडम्बर बहुतही भारी मालूम होता है, जिस ईश्वरने, कोई प्रयोजन मनमें न रखकर, सहज लीलासे की, जैसे कोई राजा खेल खेलता हो; इसका एकमात्र कारण ईश्वरकी अपरिमित शक्ति है; क्या उसके लिये योगक्षेम करना शक्य नहीं है, जो बात कि हमारे समान परिमित शक्तिवालों को भी साध्य है? ईश्वर का सर्वशक्तित्व पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सब तत्त्ववेत्ताओंको संमत है। ऐसा ईश्वरभी भक्तों और ज्ञानियों के योगक्षेम का निर्वाह करनेमें असमर्थ है ऐसा वाद करनेसे वादी लोगोंकी मूर्खता व्यक्त होती है, इसमें लेशमात्र संदेह नहीं। भगवान् पूज्यपाद शंकराचार्य ने भी शारीरक मीमांसाभाष्यमें कहा है "...केवल परमेश्वरकी अपरिमित शक्ति के कारणसे ..." इससे स्पष्ट है कि उनको भी ईश्वरका सर्वशक्तित्व स्वीकृत है। यदि परमेश्वर योगक्षेम करनेमें असमर्थ है, तब तो समस्त तंत्रोंमें प्रसिद्ध ऐसे उसके सर्वशक्तिमत्व का लोप होनेका प्रसंग आता है, अतएव ईश्वरस्वभाव का भी लोप होनेका प्रसंग आता है। इसी तरह यह भी कहना पडेगा कि मेरे समान क्षुद्रजनों को भी जो योगक्षेम सुकर है, उसे करने में जो असमर्थ है, ऐसे पुरुषविशेष को कौन ईश्वर मानेगा? इस लिये यह निष्कर्ष हुआ कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर योगक्षेम करनेमें भलीभांति समर्थ है। यदि यह कहा जाय, कि ईश्वर का सर्व शक्तिमत्व रहे, और योगक्षेमकरणसामर्थ्य भी रहे, तथापि प्रवृत्ति होने के लिये जैसा कृतिसाधनता का ज्ञान कारण होता है, वैसाही इष्टसाधनताका ज्ञान भी कारण होता है; योगक्षेम (भक्त अथवा ज्ञानीके लिये) इष्ट नहीं है, इसलिये उसकी ओर परमेश्वर की प्रवृत्ति संभाव्य नहीं है; तो ऐसा नहीं कह सकते

जैसे कोई राजा, सदैव भजनेवाले मनुष्य को दुःख-सागरमें मग्न देखकर,उसने जो बहुतकालतक सेवा की है उससे वशीभूत हुआ, अपना प्रीतिपात्र जानकर, उसे दुःख से मुक्त करने की इच्छासे, उसका अब नाश होगा ऐसा देखकर, वह प्रयत्न करता है जिससे उसे सुख हो; इसी तरह परमेश्वर भी योग-क्षेम के अभावसे होनेवाले दुःखका अनुभव लोग ले रहे हैं ऐसा देखकर, उनकी भक्ति अथवा ज्ञानसे वशीभूत होकर उनके दुःखका कारण नष्ट करने में प्रवृत्त होता है, ये लोग परमेश्वर के प्रीतिपात्र होते हैं, इसलिये उनको जो दुःख होरहा है उसका कारण समूल नष्ट करना परमेश्वर को इष्ट है, ऐसा हम कहते हैं। भगवद्गीता में कहा है "ज्ञानी लोग मुझे अत्यंत प्रिय हैं, और मैं उन्हें प्रिय हूं।" अपने सदृश साधारण मनुष्य अपरिचित मनुष्य को भी दुःखी देखकर उसको सुख देनेका प्रयत्न करता है, तब निःसीम करुणामय परमेश्वर स्वकीय जनोंको कष्टी देखकर कैसे चुपचाप रहेगा? इसलिये अनुमान किया जाता है कि "ज्ञानी अथवा भक्त जो स्वयं प्रयत्न नहीं करते उनका योगक्षेम ईश्वर निबाहता है क्योंकि वे ईश्वर को प्रिय हैं। जो प्रिय नहीं हैं उनका नहीं।" यह निश्चित है कि भक्तों और ज्ञानियों का योगक्षेम ईश्वर अवश्य निबाहते हैं, क्यों कि यह करना ईश्वर को इष्ट है और सुकर है।

(१४) "मेरे सिवाय जिन्हें कोई काम्य विषय नहीं वे अनन्य हैं। ऐसे मेरे भक्त यद्यपि इच्छा न करें तथापि मैं उनको मोक्ष देता हूं।" ऐसा श्रीधर-स्वामी व्याख्यान करते हैं; उसके अनुसार अब विषयका विवेचन हम करते हैं। वेदान्तशास्त्र में जो निर्गुणज्ञानमार्ग प्रसिद्ध है, वह अतिशय कष्ट-साध्य है। आश्रमयज्ञादि बहिरंग साधनों तथा शम-दमादि अंतरंगसाधनों द्वारा जब विद्या को प्रतिबंध करनेवाले मनुष्य के पाप आदि नष्ट हों, तभी विद्या की उत्पत्ति संभवनीय है। अन्यथा श्रवण आदि करनेपर भी प्रतिबंधकता रह जाय तो विद्याप्राप्ति संभाव्य नहीं है। ब्रह्मसूत्र में कहा है- "अनेक आवागमन के पश्चात् और अनेक उपदेश प्राप्त करनेपर...।" श्रुति में कहा है- "श्रवण करनेपर भी बहुतसे लोगों को जिसका लाभ नहीं होता; श्रवण करनेपर भी जिसको बहुतसे लोग नहीं जानते।" इन वचनों से प्रतीत होता है कि बहुत-से जन्म लेने और अतिशय परिश्रम करनेपर निर्गुण ज्ञान साध्य होता है। भगवान् वासुदेव ने भी कहा है "बहुतसे जन्मों के पश्चात् ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है।" इसलिये ऐसे निर्गुणज्ञानमार्गको छोडकर जो सगुणोपासक मेरी भक्तिमें निमग्न रहते हैं उन्हें मैं शीघ्रही मोक्ष देता हूं, ऐसा कहने के अभिप्राय से भगवान् ने "अनन्याः" इ० श्लोक कहा है।

(१५) भगवद्भक्ति इसप्रकार आनंद देनेवाली है कि उसमें तल्लीन रहनेवाले पुरुष मोक्षसुख की भी अभिलाषा नहीं रखते; किंतु वारंवार भक्तिकी ही आकांक्षा रखते हैं। तुकारामने भी एक जगह कहा है "मुझ मुक्ति, धन, संपत्ति इ० नहीं चाहिये।" ऐसी परमसुख देनेवाली भक्ति में निमग्न और अपना संकल्पविकल्पात्मक मन केवल ईश्वर में स्थिर रखनेवाले लोगोंको शीघ्र मोक्षप्राप्ति हो सकती है! परम कारुणिक भगवान् उन लोगोंके ज्ञान को प्रतिबंध करनेवाले पापोंका नाश करके, ज्ञानका सहारा देकर, शीघ्रही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति कराते हैं। जो लोग भक्ति को छोडकर केवल ज्ञान-मार्ग से जाते हैं, वे नाना प्रकारके प्रतिबंधोंका अनुभव करते हैं, और बडे ही कष्टोंसे अनेक जन्मोंके पश्चात् विद्याका लाभ करते हैं, और बहुत प्रयास-से मोक्ष पाते हैं। भक्तोंकी यह बात नहीं है। नारायण की कृपा के लेशमात्र से उनके अज्ञान का नाश होता है; उन्हें ज्ञानप्राप्ति होनेको अधिक समय नहीं लगता और मोक्षप्राप्ति उनको सुकर होती है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके दशम स्कंधमें ब्रह्मस्तुति के प्रकरण में कहा है—

"जो लोग ज्ञानप्राप्ति का प्रयास न करके, केवल तुम्हारी वार्ता का आलाप करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं; कायावाचामनसे (तुम्हारी कथा) श्रवण करते रहते हैं; हे अजित (भगवन्)! ऐसे लोगोंने

बहुशः तुम्हें त्रैलोक्य में जीत लिया ॥ " " बहुतसे योगी ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने कर्मोंसे प्राप्त किया हुआ संपूर्ण लाभ तुम्हें अर्पण किया है, केवल भक्ति से और तुम्हारी कथा सुनने गाने से जो परमगति को पहुंचे हैं । "

यही अभिप्राय भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्यायमें प्रतिपादन किया है । उसी में कहा है " जो अपना चित्त मुझमें स्थिर करते हैं । उन लोगोंका मृत्युसंसारसागर से मैं शीघ्र उद्धार करता हूं, " पुनः चौदहवें अध्याय में कहा है— " अव्यभिचारी भक्तियोग से जो मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणोंको पार करके ब्रह्मीभूत होता है । " अर्थात् एकान्तिक भक्तिसे जो मेरी ही सेवा करता है वह सर्वत्र समदृष्टि और त्रिगुणोंसे रहित होकर निर्वाण पदको प्राप्त होता है । भक्तियोग ही के द्वारा जिन्हें मोक्षकी प्राप्ति हुई है ऐसी मीराबाई प्रभृति स्त्रियोंकी भी कथाएं भक्तमाला में हैं; बुद्धिमान् लोग उनको देख लें । उनसे भी यह सिद्ध होता है कि भक्तोंकी इच्छा न रहते हुए भी भगवान् नारायण उन्हें मोक्ष देते हैं । इतना विस्तार पर्याप्त है । अब इस विषयका उपसंहार करेंगे ।

प्रथमतः श्रीमच्छंकराचार्य और वेदव्यास को नमस्कार करके उनका मंगल किया गया जिससे विघ्नोंका नाश होता है ॥ १ ॥

"विना प्रयोजन के मूर्ख मनुष्य भी कोई कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होता । " ऐसा मनमें विचार करके गीताशास्त्र का प्रयोजन ॥ २ ॥ कहा गया, जिसकी प्रतिज्ञा करके स्वयं भगवान् प्रवृत्त हुए । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंका विधि अनुष्ठान करनेपर ॥ ३ ॥ उससे प्राप्त होनेवाले पुण्यके बलसे, देहत्यागके पश्चात् सकाम लोगोंको स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं; और जब उनका पुण्य क्षीण होता है तब फिरसे ॥ ४ ॥ वे लोग जरूर मृत्युलोक में आते हैं, क्योंकि उनमें ज्ञान का अभाव है । यह श्रीकृष्ण का अभिप्राय प्रगट किया गया ॥ ५ ॥

तदनंतर " अनन्याः " इ० श्लोकका व्याख्यान यत्नपूर्वक किया । " संतृप्ति " नामक भक्तिकी दशा जिन्हें प्राप्त हुई, अथवा जो ॥ ६ ॥ ज्ञानी अथवा निदिध्यास में रत हैं और कोई कामना नहीं रखते वे 'अनन्य' हैं, ऐसे इस शब्दके अनेक अर्थ बतलाए ॥ ७ ॥

भगवान् पूज्यपाद श्रीधरस्वामी ने, तथा शांडिल्य के अनुयायी मधुसूधन भट्ट ने ॥ ८ ॥ प्रपाकार ने इस शब्द के जो बहुविध अर्थ किये हैं, वे सब अर्थ मैंने प्रयत्नपूर्वक उपस्थित किये हैं ॥ ९ ॥

भगवान् हरि भक्तों और ज्ञानियों का योगक्षेम चलाते हैं । यह बात श्रीमान् साधुओंके चरित्र से स्पष्ट हुई है ॥ १० ॥

अनुग्रह करना सर्वशक्तिमान् विष्णु का शील है इसलिये वे योगक्षेम चलानेवाले हैं, इसका भी प्रतिपादन किया गया ॥ ११ ॥

तदनंतर इस बातका भी विवेचन किया गया कि अमरत्वकी प्राप्ति ईश्वरकृपा के लेशमात्र से भक्तों को शीघ्रही होती है ॥ १२ ॥

केवल ईश्वर के अनुग्रह से यह विवेचन पूर्ण हुवा । वह दोषयुक्त है, तथापि श्रीमानों को वह पसंद हो ॥ १३ ॥

मेरे वचनों का संग्रह दोषयुक्त है तथापि बुद्धिमानों में जो वरिष्ठ हैं वे उसका अनादर न करें ॥ नवीन चंद्रमा क्षीण हो, कान्तिरहित हो, कलंकित भी हो, तथापि क्या वह श्लाघ्य नहीं है ? ॥१४॥

कर्म-फल-त्याग का व्यावहारिक अर्थ।

(संपादकीय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'कर्मफलत्याग का सिद्धान्त' प्रमुखतासे कहा गया है। कर्म-फलका त्याग गीताने हि प्रथम दिखाया हो, सो नहीं। गीता के पूर्वके वैदिक साहित्य में वह त्याग किसी न किसी रूपमें आयाहि था। हाँ यह दीख पडता है कि जैसा महत्त्व इसे गीताने दिया है वैसा पूर्वके ग्रन्थोंमें नहीं है। आज देखना है कि इस कर्म-फल-त्यागका स्वरूप कैसा है। इसके पहले गीता का बताया हुआ कर्मका सिद्धान्त भी देख लेना चाहिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।
(गी० २।४७)

इस वचनमें चार उपदेश हैं—

१. मनुष्य केवल कर्म करनेका ही अधिकारी है।

२. मनुष्यका अधिकार कर्मके फलपर कदापि नहीं है।

३. कर्मके फलोंका हेतु मनुष्य को अपने मनमें बिलकुल न रखना चाहिये।

४. मनुष्यको चाहिये कि अपने मन की प्रवृत्ति कर्म न करनेकी ओर न होने दे।

इन चार उपदेशोंका तात्पर्य देखें तो वह निम्न लिखित के सदृश दिखाई देगा—

१. मनुष्यको कर्म करनाही होगा। क्योंकि कर्म करते रहने का ही उसका अधिकार या स्वभाव है।

२. मनुष्यको आलसमें समय न बिताना चाहिये; क्योंकि आलसमें समय फजूल खर्च करनेका उसका अधिकार या स्वभाव नहीं।

३. उसे यह भी न कहना चाहिये कि 'कर्मका उचित बदला यदि मिलेगा तभी मैं कर्म करूंगा' क्योंकि कर्मका बदला कम मात्रा में मिलता है इसलिये कर्म न कर आलसी बने रहने का उसे अधिकार नहीं। कारण—

४. कर्म से उत्पन्न होनेवाले फलपर कर्ता का अधिकार कभी भी नहीं है। उसका जब कि फल पर अधिकार ही नहीं है, तब उत्तम यही है कि वह कर्म-फल का त्याग करे।

अब इन चार तत्त्वों का अधिक विचार करना होगा। इसमें प्रथम तत्त्व है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' अर्थात् मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है। अब देखें कि मनुष्य को कर्म करनेका जो अधिकार है, वह किस स्वरूप का है।

कर्म का अधिकार।

मनुष्य को जो कर्म करनेका अधिकार प्राप्त है, वह उसके स्वभावही से है। उसका स्वभाव न रहते उसपर यह अधिकार किसीने बाहर से लाद नहीं दिया है। यह दिखाने के लिये कि कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है, निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

प्रकृति-स्वभावसे कर्म होता है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
(गी० अ० ३)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥
(गी० ३।२७)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(गीता ५।१४)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति यथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
(गीता १३।२९)

संजयति रजः कर्मणि भारत।
(गीता १४।९)

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
(गीता १४।१२)

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
(गीता १४।१५)

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः॥
(गीता १८।११)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
(गीता १८।६०)

"इस जगत् में दो प्रकारके लोग हैं। एक स्वभावतः कर्म करनेके लिये प्रवृत्त होनेवाले और दूसरे स्वभावतः ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति रखनेवाले। ये स्वभाव बदले नहीं जा सकते। केवल कार्यका आरम्भ न करने ही से संन्यास सधता हो, सो नहीं। कोई भी प्राणि कर्म कियेविना क्षणभर भी नहीं रह सकता। क्योंकि उसके प्रकृतिस्वभाव के गुणधर्मोंके अनुसार प्रत्येकसे कर्म होता ही रहता है। प्रकृतिगुणोंके अनुसार ही सब कार्य होते हैं। जो अहंकार से मूढ हुआ है वही भर कहता है कि हैं करता हूं। ईश्वर किसी का कर्तृत्व या किसीके कर्म उत्पन्न नहीं करता। यह तो प्रत्येक का प्रकृतिस्वभाव है, जो उससे कर्म कराता है। यथार्थ देखना तो यह देखना है कि प्रकृतिके गुण ही सब कर्म करते हैं। रजोगुणके बढनेसे कर्ममें प्रवृत्ति होती है। रजोगुणके बढनेसे लोभ, प्रवृत्ति, कर्म आरम्भ करनेकी बुद्धि, अशांति और इच्छा उत्पन्न होती हैं। रजोगुण बढनेके बाद मृत्यु आवे तो अगला जन्म सदैव कर्म करनेवालोंमें होता है। जिसके जिसके शरीर है उसे कर्मका सम्पूर्ण त्याग संभव नहीं। अपने देहस्वभावके अनुसार प्रत्येक मनुष्य कर्मसे बंधा है। यदि वह कहेभी कि मैं न करूंगा, तबभी देहस्वभाव के अनुसार उससे कर्म अवश्यही होगा।"

देहका स्वभाव या प्रकृतिस्वभावही मनुष्यसे कर्म करा लेता है। इसी बातका सुन्दर वर्णन इन श्लोकोंमें देखने मिलता है। यह प्रकृतिस्वभाव ऐसा विलक्षण है कि कोई कितना भी क्यों न कहे कि मैं न करूंगा, तबभी यह इन्कार हमेशा उसे कामयाब न होगा। प्रकृति-स्वभाव प्रत्येकको किसी न किसी कर्ममें अवश्य ही डालेगा। कर्म करनेका प्रकृतिस्वभावही होनेके कारण, कर्म करने की बात उसके अधिकार को बात हो गई है। इस कर्म करने के अधिकार को न चाहने से भी वह दूर होना संम्भव नहीं। मैं कर्म नहीं करता कहूँ भी तो शरीर जबतक है तबतक कर्म अवश्यही होगा। अर्थात् यह बात सिद्ध हुई कि यह कर्मका अधिकार अपरिवर्तनीय है। इसीसे कहा है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥
(गी० ३।८)

"इसलिये प्रत्येक अपना नियत कर्म करे। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है। कर्म न करें तो देह-व्यापार भी चलना सम्भव नहीं।"

अतएव यह निश्चित हुआ कि प्रत्येक को कर्म करना ही पडेगा और यह भी समझ गये कि प्रत्येक का कर्म करने का अधिकार किस स्वरूप का है। शरीर के स्वभावधर्म के अनुसारही यदि कर्म होनेवाला है और यदि उसे टालना सम्भव नहीं है, तब तो मनुष्य बिना कर्म किये रहना

असम्भव ही है। अब इसके आगे का सिद्धान्त देखिये—

कर्म न करने की ओर प्रवृत्ति न होनी चाहिये।

(मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। गी० २।४८)

अर्थात् कर्म न करने की ओर प्रवृत्ति न होनी चाहिये। इस बात की सत्यता अब जँची। यदि प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म होते ही रहेंगे और कोई भी प्राणि बिना कर्म के क्षणभर भी रह नहीं सकता, तब कर्म न करनेकी ओर प्रवृत्ति को झुकाना तो अस्वभाविक ही होता है। जो स्वभाव ही नहीं है, उस ओर मन को झुकाना अयोग्य है, वह अनधिकारचेष्टा है। इसीलिये 'आलस' रोग, दोष या विकार कहलाता है। जानबूझकर विकार की ओर मन का झुकाव क्यों होने दें? ऐसा करना किसी के लिये भी योग्य नहीं। अतः कोई भी कर्म न करने की ओर अपनी प्रवृत्ति न होने दे। आलस को अपने पास न आने दे। याने अपने अधिकार के बाहर अपन न जावे, अनधिकार चेष्टा न करे।

कर्म का अर्थ।

सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कर्म करे और आलस में अपना समय व्यर्थ न बितावे। यह कर्म-जिसे करना मनुष्य के लिये अतीव आवश्यक है—है क्या? इसका उत्तर स्वयं भगवान् ही देते हैं—

किं कर्म? (गी० ८।१)
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(गी० ८।३)

"भला, कर्म है क्या? जिससे भूतमात्र के अस्तित्व का विकास होता है, उस व्यापार को 'कर्म' कहते हैं।" भूतभाव का उद्भव कर्म से होता है। 'उद्भव' का अर्थ है 'जन्म लेना, उदय होना, वृद्धि होना, ऊपर जाना, चढना, क्रान्ति करना।" भूत का अर्थ है प्राणिमात्र। इस प्राणिमात्र का जो भाव याने सत्त्व, वही भूत-भाव है। इस प्राणिमात्र के सत्त्व की उत्पत्ति होना, बाढ होना, उसकी उन्नति होना तथा उसके सत्त्व में उत्क्रान्ति होना यह जिससे सम्भव हो जाता है उसी प्रयत्न को कर्म कहना चाहिये।

'उत्' याने ऊपर, उच्चतर या उत्तम। 'भव' याने 'होना'। 'उद्भव' का मतलब है उत्तम बनना, श्रेष्ठ होना, ऊपर जाना, बढना। 'भूत-भाव' के मायने बने हुए पदार्थों का अस्तित्व, जगत् का भाव, प्राणियों की सत्ता, पदार्थ की सत्ता या प्राणिमात्र का अस्तित्व। जिस व्यापार से इस भूतभाव की उन्नति करने का सम्भव उत्पन्न होता है, उस व्यापार को 'कर्म' कहते हैं। भूतभाव का उद्भव न होकर उसका पराभव दुर्भव भी हुआ तब भी रूढि के कारण उस व्यापार को भी कर्म कहने लगे; परन्तु मूलका 'भूतभाव का उद्भव' है भूतभाव की वृद्धि। भूतभाव का उद्भव करनेका व्यापार किस स्वरूप का होना चाहिये, यह बात भी 'वि-सर्ग' शब्द से यहाँ दिखाई गई है। 'वि-सर्ग' का अर्थ है दान अर्थात् 'जिस वस्तु पर अपना अधिकार है वह वस्तु सब की उन्नति के लिये पूर्ण रीतिसे अर्पण करना।' इससे कर्मका स्वरूप स्पष्ट होता है।

भूतभाव का उद्भव करनेवाला कर्म दान के स्वरूप का होना चाहिये। उसकर्म में देनगी, त्याग, दान होना चाहिये। तभी भूतभाव का उद्भव होगा। इससे कर्मशब्द के यथार्थ अर्थ का अंदाज होगा। 'भूतभावोद्भव' का अर्थ इतना संकुचित माना जाता है कि उससे केवल 'जन्म' अर्थ समझ लेते हैं। उस शब्द में यह अर्थ है जरूर, पर उसका अर्थ इससे भी अधिक है। जब यह ध्यान रखेंगे कि 'जन्म' यानें बाढ का आरम्भ है, तब ऊपर लिखे अर्थ से इस अर्थ की संगति लग सकेगी।

कर्मके तीन भेद।

गीतामें कर्मके तीन भेद बतलाये गये हैं अर्थात् कर्म, अकर्म, तथा विकर्म (गी. ४।१७)। 'अकर्म' याने कर्म न करना, आलस या कर्म करनेपर भी जो न करनेके बराबर हो। 'विकर्म' याने

विरुद्ध कर्म, जो न करना चाहिये, जो हानिकर होता है। और 'कर्म' याने बचा हुआ जो उत्कर्ष करानेवाला, संवर्धक होता है वह। संस्कृत भाषामें भी यद्यपि सभी प्रयत्न के लिये 'कर्म' शब्द का उपयोग किया जाता है, तथापि उसका मूल अर्थ है 'उद्भवकर विसर्ग' * अर्थात् उच्च स्थिति करानेवाला उपकार का प्रयत्न। साथ ही यह भी सत्य है कि कर्म शब्द सर्वसाधारण प्रयत्न के अर्थमें बहुत समय पहलेसे रूढ हुआ है।

इस प्रकार कर्म शब्दका अर्थ ध्यानपूर्वक देखनेके पश्चात् उस कर्मके करनेकी रीति का विचार करना क्रमप्राप्त ही है।

कर्म कैसे किया जाय ?

अब तक चार बातोंका विचार किया। यथा कर्म का अर्थ, मनुष्यको कर्म करनेका जो अधिकार है वह उसे जन्मतः स्वाभाविक रीतिसे कैसे प्राप्त हुआ है, आलसमें समय फजूल व्यय करने का उसे अधिकार क्यों नहीं है और कर्म करनेका मूल उद्देश क्या है। तब यह तय हुआ कि मनुष्य को कर्म करना ही चाहिये। अब देखें कि वह कैसे किया जाय—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा।

'योगमें रहकर और फलासक्ति छोडकर कर्म कर।"

इस श्लोकमें स्पष्ट बतलाया है कि कर्म किस प्रकार करने चाहियें। यहाँ का 'कर्माणि' शब्द निसंदेह 'उन्नतिके साधक प्रयत्नों' काही वाचक है; क्योंकि योगके नियमोंके अनुसार रहकर जो प्रत्यन होंगे वे उन्नतिसाधक ही होंगे। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। अस्तु। जो कर्म करने हैं, वे (१) योगके नियमोंके अनुसार करने चाहियें और (२) संग छोडकर करने चाहिये।

अब देखना होगा कि 'योग' क्या है और 'संगत्याग' क्या है। इन दोनों का ज्ञान हो जाने पर हम सरलता से समझ सकेंगे कि कर्म कैसे करने चाहिये। इसलिये पहले देखें कि 'योग' क्या है—

योग का अर्थ।

योग शब्द का प्रचलित अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध करना, आसन प्राणायाम आदि करना। गीतामें भी यह अर्थ तो है ही; परन्तु गीताने और भी व्यापक अर्थ बतलाया है। देखिये—

(१) बुद्धियोगे त्विमां शृणु॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते॥
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन॥
(गी० २।२९—४१)

(२) समत्वं योग उच्यते। २।४८

(३) योगः कर्मसु कौशलम्॥ २।५०

(४) शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ ५।२३

(५) श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि। २।५३

(६) छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत। ४।४२

(७) यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन। ६।२
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः॥ ६।३६

---

* 'उद्भू धातुका अर्थ --(To Spring up, ascend, go up, rise in arms, revolt) ऊगना, चढना, ऊपर जाना, हमला करना, क्रांति करना है। 'उद्भूति' का अर्थ (Elevation, prosperity) उन्नति, अभ्युदय है। 'विसर्ग' का अर्थ (donation) दान, अधिकार छोडना है।

(८) सोऽविकंपेन योगेन युज्यते ॥ १०।७
अनेनैव योगेन० ॥ १२।६
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरां इंद्रिय धारणाम् क० उ० । ६।११
(९) स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म-कृत् । गी० ४।१८
(१०) युक्तो मन्येत तत्ववित् ॥ ५।८
(११) ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म-काञ्चनः । ६।८
(१२) निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा । ६।१८
(१३) यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ ६।१९
(१४) स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्ण-चेतसा । ६।२३
(१५) अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना । ८।८
(१६) अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परि-चक्षते ॥ १७।१७

यदि इतने श्लोकों का विचार कर लें, तो भगवद्गीता की योग की कल्पना समझ सकते हैं। इन श्लोकों का आशय देखें—

(१) योगबुद्धि क्या है सो कहता हूं, सुनो। इस योगबुद्धि से यदि कर्म किये जावें, तो कर्मों का कुच्छ दोष नहीं लगता। इस मार्ग में क्रम का नाश हुआ तब भी कुछ नहीं बिगडता। विघ्नों का भय नहीं। इसका आचरण थोडा भी हो उससे बडा भय दूर होता है। इस योग में एक सदैव करते रहने की बुद्धि भर चाहिये। (२) योग से मतलब है समता का। (३) योग के माने काम करने का कौशल्य है, और (४) योग के माने काम और क्रोध का वेग सहना अर्थात् उस वेग के कारण अपना मार्ग न छूटने देना। (५) सुने हुए भोगों के लिये चंचल हुई बुद्धि जब स्थिर होगी तब योग सधेगा। (६) सब संशय छोडकर योग करो। योग भी संन्यास ही है, क्यों कि संकल्पों का त्याग किये बिना योग होता ही नहीं। असंयमी मनुष्य से योग सध नहीं सकता। (८) योग है अविकंपन, अचांचल्य; योग का अर्थ है अनन्य होना। हाथ में लिये' कर्म के सिवा अन्य कहीं भी चित्त न जाना। योग से मतलब है इन्द्रियों की स्थिरता का। (९) मनुष्यों में जो विशेष बुद्धिमान् होता है, वह योग का आचरण कर सब काम यथास्थित करता है। (१०) तत्वों का ज्ञान जिसे है वह योग कर सकता है। (११) ज्ञानी और विज्ञानी, जितेन्द्रिय, तटस्थ के समान बर्ताव करनेवाला, जिसे मिट्टी और सोना बराबर है ऐसे मनुष्य को योगी कहते हैं। (१२) जो सब भोगों के संबंध में बिलकुल उदासीन है, उसे योगी कहते हैं। (१३) निर्वात स्थान का दीप जैसे हिलता नहीं, वैसे ही संयमी योगी का मन निश्चल रहता है। (१४) योग उस समय किया जा सकता है, जब मन खिन्न न हो। (१५) अभ्यासके समय चित्त चंचल हो कर भलतीही बात की और न भटके। (१६) फल की इच्छा न करनेवाले योगी जिसे करते हैं वही सात्विक तप है।

गीतामे योगके सम्बन्धमे अनेक वचन हैं उनमेंसे ये मुख्य हैं। इन वचनोंमें योगके जो लक्षण बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) योगके मायने समता।
(२) कर्म करनेकी कुशलता।
(३) द्वंद्वोंका वेग सह लेनेमें समर्थता।
(४) बुद्धि की स्थिरता।
(५) संशयनिवृत्ति, निश्चित वृत्ति।
(६) भोगसंकल्पोंका त्याग, संयम, इंद्रिय-दमन, निःस्पृहता, अखिन्नता,
(७) ज्ञान और विज्ञान संपन्नता और
(८) फलकी अनासक्ति।

यह योग है। इस योगसे सब कर्म करने चाहिये, तब वे निर्दोष होंगे। "सबके विषयमें समता धारण कर, उत्तम कुशलतासे, द्वंद्वोंसे न डरकर, बुद्धि स्थिर रखकर, संदेहरहित होकर, भोगोंको बढानेकी इच्छा न रखकर, उत्तम ज्ञान और विज्ञान संपादन करके फलपर आसक्त न होकर कर्म करना चाहिये।" इस प्रकार जो कर्म होते हैं वे योगसे होते हैं। और जो कर्म योगसे होंगे वे बिलकुल निर्दोष और उत्तमसे उत्तम होंगे।

योगसे कर्म करनेके लिये प्रथम ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये, सीखना चाहिये कि हर एक काम कौशल्यसे कैसे करें, सुख-दुःख आदिके कारण विघ्न न होने दें, इंद्रियसंयम करना चाहिये, आपपरके प्रति उदासीनकी तरह समवृत्ति रखनी चाहिये, मनोवृत्ति संशयरहित रखनी चाहिये और कर्मके फलपर आसक्त न होना चाहिये। इसीको गीतामें संक्षेपसे योग कहा है। यहाँ तक योगका अर्थ देखा, अब फलासक्ति छोडनेका अर्थ देखें।

फलासक्ति छोडना।

कर्म करना चाहिये, कर्मके बिना न रहना चाहिये, कौशल्यसे उत्तम रीतिसे कर्म करना चाहिये, किन्तु फलपर आसक्ति न रखना चाहिये, अथवा फलको दान करना चाहिये, फलका त्याग या संन्यास करना चाहिये, ऐसा भी गीतामें कहा गया है। साधारण मनुष्य सोचता है कि फलका आमिष न होगा तो मनुष्यसे कर्म होगा ही नहीं। इसीलिये फलासक्ति छोडने की इस कल्पनापर अधिक विचार करना आवश्यक है। गीताका कथन है कि—

कृपणाः फलहेतवः। (गी० २।२९)

अर्थात् 'फलकी इच्छासे कर्म करनेवाले कृपण है।' इनकी उन्नति होना असम्भव है। यह कृपणताका दोष बडा भारी है। इसके उल्लेख गीतामें इस प्रकार किया गया है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। गी. २।७

"इस कृपणताके दोषके कारण स्वाभाविक गुणोंका लोप हो जाता है और कर्तव्यके विषयमें चित्त भ्रान्त होता है।" यह कृपणता अच्छे मनुष्यको भी मूढ बनाती है। कृपणता एक प्रकार का अज्ञान ही है। इसी लिये कहा है–

यो वा एतदक्षरमविदित्वा प्रैति स कृपणः।

बृ. उ. ३।८।१०

"जो पूर्ण पुरुषका ज्ञान हुए बिनाही मर जाता है वह कृपण है।" इसमें यह बतलाया गया है कि यह कृपणता अज्ञानसे हुई है। अज्ञानके कारण मनुष्य फलकी इच्छा करता है। यदि सत्य ज्ञान प्राप्त हो जावे तो ज्ञानी मनुष्य फलकी इच्छा न करेगा। इसी लिये कहा है–

१ मा फलेषु कदाचन, मा कर्मफलहेतुर्भूः ॥२।४७
कर्म मुक्तसंगः समाचर ॥ ३।९

२ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ ३।१९

३ न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ॥ ४।१४

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४।१९

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ ४।२०

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ ४।२३

४ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥ ५।१०
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५।११

५ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च ॥ ६।१

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ६।४
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९।९
६ कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि॥
१८।६
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥ १८।९
७ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः॥ ३।२५
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु॥ ३।२९
कार्ये सक्तं ...... (कर्म) तामसं। १८।२२
फलं त्यक्त्वा मनीषिणः पदं गच्छंत्यनामयम्॥
५।५१
कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति॥ ५।१२
८ अभिसंधाय तु फलं ... यज्ञं विद्धि राजसम्॥
फलमुद्दिश्य......दानं राजसम्॥ १७।२१
अनभिसंधाय फलं ... दानक्रियाश्च विविधाः।
क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥ १७।२५
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।
१८।१२
९ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय॥
२।४८
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः॥
६।२४
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ १८।२
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
३।३०
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी॥
५।१२
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
१२।६
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
१८।५७

फलासक्तिका त्याग करनेके संबन्धमें गीतामें जो वचन हैं उनमें ये मुख्य हैं। इनपर विचार करनेसे गीताके कर्मफलत्यागके सिद्धान्तको अपन समझ सकते हैं। उपरोक्त वचनका तात्पर्य इस प्रकार है—

(१) फलपर मनुष्यका अधिकार कदापि नहीं है। फलकी इच्छा रखकर कर्म मत कर। फलकी आसक्ति छोडकर कर्म कर।

(२) फलकी आसक्ति छोडकर सतत कर्म कर। फलकी आसक्ति छोड देनेसे मनुष्यको श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

(३) जिसे कर्मके फलकी अभिलाषा नहीं है उसे कर्मका दोषभी नहीं लगता। भोगवासना न रखकर जो सब काम करता है, उसके सब कर्मदोष ज्ञानसे जल जाते हैं। ऐसे मनुष्यको स्याने लोग पण्डित कहते हैं। कर्मके फलका उपभोग मुझे मिले ऐसी इच्छा न करके नित्य संतुष्ट रहकर तथा दूसरेपर अवलंबित न रहकर कर्म करना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका दोष उसे नहीं लगता। भोगेच्छाका त्याग कर, इंद्रियों का संयम कर, भोगसाधनोंको अपने पास इकठ्ठा न कर कर्म करना चाहिये। तब उसे पाप नहीं लगता। फलभोगकी इच्छा न कर ज्ञानी मनुष्य यज्ञके लिये याने सर्व जन-हितके लिये जो कर्म करता है उससे दोषही उत्पन्न नहीं होता।

(४) अपने सब कर्म परमेश्वर को अर्पण करना चाहिये। फल की इच्छा न करने से पाप नहीं लगता। फलभोग की इच्छा छोडकर योगी अपनी पवित्रता के लिये शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हैं। ऐसे कर्मोंसे वे अधिकाधिक पवित्र होते जाते हैं।

(५) वही मनुष्य संन्यासी और वही योगी है जो यह इच्छा नहीं रखता कि किये हुए कर्म का फल मुझे मिलना हि चाहिये, और अपना कर्तव्यकर्म करता रहता है। जब इन्द्रियोंके विषय में और कर्मोंके फलमें मनुष्य मग्न नहीं हो जाता, तब उसे योग की उच्च भूमिका प्राप्त होती है।

उदासीन के समान कर्मफलपर आसक्त न होकर जो कर्म करता है, उसे दोषोंकी बाधा नहीं होती।

(६) इसलिये फल और आसक्ति छोडकर कर्म करने चाहिये। कर्तव्य कर्म करते हुए भी फल का त्याग करना सात्विक त्याग है, इसलिये वह उत्कर्ष करानेवाला है।

(७) अज्ञानी लोग फलभोग की आसक्तिसे कर्म करते हैं। इसलिये वे कर्मके दोषसे दोषी होते हैं। आसक्तिसे किया जानेवाला कर्म तामस है, अतः वह अधोगति को पहुंचावेगा। फल का दान करके नीरोग उच्च पद को मनुष्य पहुंचता है, उसे शान्ति मिलती है।

(८) फल की अभिलाषासे कर्म करना राजस वृत्तिका अर्थात् भोगवृत्ति का लक्षण है। फलकी आसक्ति छोडकर जो मोक्ष की इच्छा करनेवाले अनेक प्रकार के दानकर्म करते हैं, जो फल का त्याग नहीं करते, उन्हें उनके कर्म का इष्ट, अनिष्ट और मिश्र ऐसा तीन प्रकार का फल भुगतना पडता है। परंतु फल का त्याग करनेवालों से इसका कोई संबंध नहीं रहता।

(९) योग के नियमोंके अनुसार फलासक्ति छोडकर कर्म करने चाहिये और सब भोग-संकल्पोंका त्याग करना चाहिये। सब कर्मोंके फलोंका दान करना चाहिये। यह दान श्रेष्ठ है। सब कर्म ईश्वर को अर्पण करने चाहिये, फलाशा न करनी चाहिये, ममत्व छोड देना चाहिये और चिंता छोडकर कर्म करना चाहिये। सब कर्मोंके फलोंका सच्चे दिल से संन्यास करनेसे संयम सधता है और सुख मिलता है। सब कर्म ईश्वर को अर्पण करने चाहिये और स्वयं ईश्वर का कार्य करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

इस प्रकार कर्म के फल का अपना अधिकार त्याग देनेसे ही मनुष्यको पूर्ण सुख मिलना शक्य है यह बात इन गीताके वचनोंने अनेक प्रकारसे समझा दी है। इसका आशय सारांशमें इस प्रकार है—

(१) मनुष्यका अधिकार उसके किये कर्मके फलपर कदापि नहीं है (मा कदाचन)

८

(२) इसलिये फलकी आशासे मनुष्य कभी भी कर्म न करे, तथा कर्मका फल मुझेही मिलना चाहिये, मैं ही उसका उपभोग लूंगा ऐसा क्षुद्र (कृपण) हेतु भी न धारण करे।

(३) अपने कर्मके फलपर आसक्त होना क्षुद्रता-कृपणता है। इसके कारण अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं। इस लिये उत्तम तो यह है कि मनुष्य उदार होकर अपने कर्मके फलका संन्यास वा त्याग करे, या उसका दान कर दे।

(४) अपने सब कर्म और उन कर्मोंके सब फल परमेश्वरको अर्पण करे। उनका संग्रह अपने पास न कर रखे।

(५) अपने कर्मके फल अपने भोगके लिये अपने पास संचित कर रखनाही सब दुखोंका मूल है और उनका त्याग करना ही सुखका घर है।

फलासक्ति छोडनेके जो आदेश गीताके उपरोक्त वचनोंमें हैं, उनका आशय संक्षेपमें बतलाया गया। इन आदेशोंके सिवा उन्ही वचनोंमें संयम, आत्मशुद्धि आदि बहुतसे निर्देश भी हैं। उनका विचार यहीं पर करनेका प्रयोजन नहीं है। अब इतनाही देखना है कि कर्मका फल कर्ता यदि अपने पास रखे तो उसका परिणाम क्या होता है और उस फलका दान कर डालें तो क्या परिणाम होता है? इसे देखते देखते स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीताकी शिक्षाके अनुसार संसारके सब दुःखोंकी जड अपने कर्मके फलका संग्रह अपने भोगके लिये अपने पास कर रखनेमें है। यदि मनुष्य सुख चाहता है तो उसे अपने सब कर्मोंके फलोंका दान करना चाहिये।

अबतकके विवेचनसे सिद्ध हुआ कि गीताके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको सदैव कर्म करनाही चाहिये। आलसमें समय फजूल खर्च न करना चाहिये। जो कर्म करना है वह यथासंभव प्रयत्न करके अत्यन्त पूर्ण एवं निर्दोष करना चाहिये। इतना करनेपर अपने कर्मोंके फलका संचय अपने पास न कर उसका दान करना चाहिये।

यह कर्म कौन करे?

अब देखना है कि यह कर्म किसे करना है। ऐसे कर्म के अधिकारी कौन हैं? यह कर्मयोग है, यह कर्ममार्ग है। कर्ममार्ग तो सारी जनता के लिये है। सांख्य मार्ग संन्यास मार्ग कुछ विशेष श्रेष्ठ लोगों के लिये हैं। वे मार्ग उन श्रेष्ठ लोगों के लिये भले ही रहे आवें। अपने को अभी उनपर विचार करना नहीं है। गीता के उपदेश के अनुसार सम्पूर्ण जनता के दो भाग होते हैं। (१) एक तो सांख्यनिष्ठ और (२) दूसरा कर्मनिष्ठ (गी० ३।३)। ये निष्ठाएं जन्मसिद्ध हैं। इनमें से संख्या में थोडे पर श्रेष्ठ सांख्यनिष्ठ लोगों का अपने को विचार नहीं करना। जो सामान्य जनता है, जो चित्तशुद्धि के लिये कर्म करने के अधिकारी हैं, उनके लिये यह कर्ममार्ग है। यह बात बिलकुल स्पष्ट होने के कारण उसे सिद्ध करने के लिये यहाँ प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

कर्ममार्ग के साथ ही जो फलत्यागरूप योग बतलाया गया, वह बिलकुल नीचे की सीढी के लोगों के लिये है। इसके संबंध में दो एक वचन देखिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
गी० १२।८-११

"(१) ईश्वरमें मन और बुद्धि स्थिर कर, यह न होता हो तो (२) योगाभ्यास कर। यह भी तुझे शक्य न हो तो (३) मेरे लिये कर्म करना आरम्भ कर। यह भी न होता हो तो (४) अपने सब कर्मों के फलों का त्याग कर, जिस से क्रमसे उन्नति होगी। जब अन्य कुछ भी नहीं हो सकता तब 'सर्वकर्मफलत्याग' करने को कहा गया है। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है, यह मार्ग सबसे सरल एवं बिलकुल निम्न श्रेणी के लोगों से बन सकनेवाला है। वह इस गरज से बतलाया गया है कि सर्वसाधारण लोग उसका आचरण करें। सब लोगों से मतलब है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद तथा सब वर्ण की स्त्रियां। इन सब के आचरण के योग्य, सरल एवं सब से बन सकनेवाला यह 'कर्म-फल-त्याग-योग' है।

ब्राह्मण-क्षत्रियों में कुछ लोग ऐसे होंगे जो सांख्ययोग संन्यासयोग, ज्ञानयोग, योगाभ्यास आदि करने में समर्थ हैं, उनका विचार आज करना नहीं है। इनमें से जो उक्त मार्गों से जानेवाले हों, वे अपने लिये जो योग्य मार्ग उनसे जावें। परन्तु जो अत्यन्त सरल मार्ग से जाना चाहते हैं वे इस कर्म-फल-त्याग-योग का आचरण करें।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ गीता ९।३२

"मेरे उपदेश का आश्रय करके पापयोनी चांडाल, स्त्रियें और वैश्य भी उन्नत होते हैं।" तब ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्नत होंगे इसमें संदेह ही क्या? इस प्रकार सब के करने योग्य यह कर्म-फल-त्याग-योग है। चातुर्वर्ण्यों के कर्म गीता अ० १८।४१-४४ में बतलाये गये हैं। इनमें स्त्रियों के तथा चांडालों के कर्म नहीं बतलाये गये यह दोष नहीं है। यहाँ तो सब कुछ संक्षेप से सूचित किया गया है। गीतामें ब्राह्मणों का उपदेश देने का कर्तव्य स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया, इसलिये यह न समझना चाहिये कि वह काम ब्राह्मणों का नहीं है। चार वर्ण, चार वर्णों की स्त्रियां तथा पंचम अवर्गीकृत लोग इनको कौन से कर्म करने चाहिये सो तो अपन अन्य शास्त्रमर्यादा से निश्चित कर सकेंगे और उससे भी निश्चित कर सके तब भी अपन स्वतः की योजना से भी उसे निश्चित कर सकेंगे।

इसमें आपत्काल के धर्म का विचार करें तब तो यह भी बतलाना बडा कठिन हो जावेगा कि किसे कितने कर्म करते बनेंगे अथवा यह भी कह सकेंगे कि सभी लोग सब कर्म कर सकेंगे। पर अपने को अपने विषय की मर्यादा के अनुसार ही कर्म का थोडासा ही विचार करना है। विषय समझने के विचार से ही अपना कर्म का विवरण होगा, इस लिये वचनों का बोझ न बढाकर ऊपर के पांचों जाति के लोग कौन से कर्म कर सकेंगे, उनका संक्षेप में विचार करेंगे —

ब्राह्मण— ब्राह्मण के योग्य काम इस प्रकार हैं- शिक्षा, उपदेशक होना, ग्रंथलेखन, नियतकालिकों को चलाकर ज्ञान का प्रसार करना, स्वयं ज्ञान प्राप्त कर अपने राष्ट्रको सज्ञान बनाकर सब प्रकार से योग्य बनाना। सम्पूर्ण शिक्षा-विभाग, धर्म-विभाग, मुन्सी का काम, मंत्री-मण्डल का कार्य, राष्ट्रीय सभा का कार्य ये सब काम ब्राह्मण करेंगे।

क्षत्रिय— राज्यपालन, राज्यरक्षा, सम्पूर्ण-सेनाविभाग, रक्षा के (पुलिस, सैनिक, वैमानिक, नाविक आदि के) सब काम क्षत्रिय करेंगे।

वैश्य— वैश्य विस्तृत प्रमाण में खेती कर सकेंगे, गायें पाल सकेंगे, देश और परदेश में व्यापार करके बहुत धन प्राप्त कर लावेंगे और इस संबंध के अनेक कार्य वे कर सकेंगे।

शूद्र— इनमें दो भेद हैं।

(१) सच्छूद्र— ये अनेक प्रकार के कारीगरी के तथा कौशल्य के काम करेंगे।

(२) असच्छूद्र — ये ऊपर लिखे लोगों के नोकरों के कार्य करेंगे; मोलमजदूरी के कार्य ये करेंगे, क्यों कि दूसरे कार्य इन लोगों से हो ही नहीं सकते।

चाण्डाल— वन-रक्षा, नदीरक्षा, आदि काम इन लोगों से कराये जा सकेंगे।

स्त्रियां— ये अपने अपने वर्ण के अनुसार अपने बालकों को बचपन में योग्य शिक्षा देकर तैयार करें और अपने घर के कार्य उत्तमता से एवं दक्षता से करें।

थोडा विचार करनेपर विदित होगा कि आज अपन जिन जिन कामों को करते हुए लोगों को पाते हैं वे सब कार्य इन चार वर्ण के लोग कर सकेंगे। अर्थात् यदि आजही यदि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था अमलमें लायी जावे, तब भी किसी भी देशका कोई भी हित-कार्य उससे न रुकेगा। इतना कह देनेसे स्पष्ट होगा कि सब काम हो सकेंगे। अस्तु।

राष्ट्रमें इस प्रकार सब कर्मोंकी उत्तम शिक्षा मिलनेका प्रबंध होना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक को अपना अपना काम कौशल्यसे करते बनना चाहिये (योगस्थः कुरु कर्माणि॥ २।४८। योगः कर्मसु कौशलं॥ २।५०) कौशल्यसे, उत्तमसे उत्तम रीतिसे और जहाँतक सम्भव है परिपूर्ण रीतिसे कर्म करते बनना चाहिये। जिसका काम वह करे, पर वह उत्तमसे उत्तम करे। इसी गरजसे राष्ट्रमें जनताको ऐसी शिक्षा मिलनेका प्रबंध होना चाहिये कि ये सब काम उत्तमसे उत्तम रीतिसे किये जा सकें। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्ममें पूर्ण कुशल बन सके, क्यों कि प्रत्येकको अपने कर्मसे परमेश्वरका पूजन कर सिद्धि प्राप्त करनी है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥
(गीता १८।४६)

ब्राह्मणको उत्तम शिक्षक बनकर, क्षत्रियको उत्तम सैनिक बनकर, वैश्यको उत्तम व्यापार करके, शूद्रको कारीगरी तथा परिचर्यासे, चांडालको वनरक्षा उत्तम प्रकारसे करके और स्त्रियोंको सुवीर संतान निर्माण करके इस पंचमुखी परमेश्वरकी पूजा करके अपना जीवन सार्थ करना है। अपने अपने कर्मका पुष्प और फल परमेश्वरको अर्पण कर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करनी है।

अपना अपना कर्म उत्तम करना और उसका फल स्वयं अपन न लेकर ईश्वरको अर्पण करना, इतना सिद्ध हो जानेपर देखना होगा कि ईश्वरका स्वरूप क्या है।

❀

ईश्वरका स्वरूप।

कोई भी शंका नहीं करता कि ईश्वर निर्गुण, निराकार है। परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि वह निराकार अमूर्त रहते भी अनेक मूर्तियोंके रूपसे साकार होकर अपने संमुख खडा है। गीतामें जो विश्वरूपवर्णन है वह अमूर्त परमेश्वर का है पर मूर्तरूप लोगोंकी समझमें आनेके लिये है। देखिये—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥१४॥
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंत
तरूपमं ॥१६॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिता
स्तथाऽहम् ॥ २३ गी० ११

"यह परमेश्वर का विश्वरूप ऐसा है जिसके अनेक मुह, अनेक आंखें, अनेक बाहू, अनेक उदर, अनेक पैर हैं। इसमें सब ऋषि हैं, सर्प हैं और अन्य प्राणि भी हैं।" सब प्राणियों की समष्टि ही ईश्वर का विश्वरूप है और इस विश्व के रूप में निर्गुण निराकार परमेश्वर सगुण तथा साकार बनकर हमारे सन्मुख वरदहस्त उठाए खडा है। आंख खोलकर देखने से इस ईश्वर का दर्शन हो सकता है। यह ईश्वर विश्वरूप से उपासक के प्रत्यक्ष होनेवाला है। यही वर्णन वेद में देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलं ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। ॥२॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ॥
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत१२
ऋग्वेद १०।९०

"हजारों मस्तक, हजारों आंखें, हजारों पैरोंवाला एक पुरुष जगद्बीज नारायण है। वह इस पृथ्वी पर चारों ओर व्याप्त है। जो हुआ, जो है और होनेवाला है, वह इसी नारायण का रूप है। इस नारायण का मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, जंघा वैश्य है और पैर स्थान में शूद्र है।" अर्थात् इस सहस्रशीर्षा पुरुष का शरीर सब मानवसमाज है। यही नारायण है और यही वासुदेव है।

गीता में भी कहा है "वासुदेवः सर्वं" (गीता ७।१९) अर्थात् यह सब वासुदेव का ही रूप है। अतः मनुष्यसमाज, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि रूपसे यह नारायण अथवा वासुदेव अपने सन्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित है। यही नारायण का विश्वरूप है। अपने अपने कर्तव्यकर्मों से इसी की पूजा करनी है।

ब्राह्मणको ज्ञानप्रसार का कर्म करके, क्षत्रियको प्रजारक्षा का कार्य करके, वैश्यको कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य के द्वारा धन उपार्जन करके, शूद्र को अनेक प्रकारके कारीगिरी के काम करके वा सेवा करके, निषादोंको बनोंकी रक्षा करके और स्त्रियोंको सुवीर-सन्तान उत्पन्न करके इस विश्वरूप नारायणको प्रसन्न करना है। उपासनाका अर्थ है विश्वरूपकी सेवा। यह सेवा इस प्रकार करनी है—

१ प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता बढावे।

२ प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी काम उससे बनता हो, वही काम उत्तमसे उत्तम करे। उसमें टालमटोल या आलस न करे। और

(अ) वह कर्मही इस नारायणको अर्पण करे।
(आ) उस कर्मका संन्यास इसीके चरणोंमें करे।
(इ) उस कर्मका फल उसीके लिये त्याग दे।
या (ई) कर्मका फल उसे दान कर दें।
(उ) कर्मसे कम कर्मका फल अपने पास जमा कर न रखे।
(ऊ) तब वह प्रसन्न होता है और वही सबका योगक्षेम चलाता है।

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट हुआ होगा कि

कर्म उत्तम करना चाहिये, पर उसका फल अपन न लेना चाहिये। यह बतलाते समय-(१) कर्म-फलसमर्पण, (२) कर्मफलसंन्यास, (३) कर्म-फलत्याग, (४) कर्मफलदान, (५) कर्मफल-संगत्याग, इत्यादि शब्दोंका प्रयोग गीतामें अनेक स्थानोंमें किया गया है। इनका अर्थ क्या है सो भी देखना आवश्यक हो जाता है। इसके पूर्व देखना होगा कि कर्मका फल कौनसा है ?

कर्मका फल।

कुछ भी कर्म किया जावे उससे कुछ न कुछ फल अवश्य उत्पन्न होता है। यहाँ तो कौशल्यरूप योगसे ही कर्म करना है, तब उसका फल विशेष उत्तम होगा ही। यह फल ऐहिक और पारलौकिक ऐसा दो प्रकारका होता है। आजके विषयके विचारसे यदि पारलौकिक फलका विचार न करें तबभी चल सकता है। अथवा जैसे ऐहिक फलका त्याग करना है वैसेही पारलौकिक फल का भी त्याग हो सकता है। अतएव पारलौकिक फलका अलग विचार आज करनेकी आवश्यकता नहीं है। आज यही देखना है कि कर्मका फल क्या होता है और उसका त्याग करना याने क्या करना ?

ब्राह्मणने विद्या सिखा दी, क्षत्रियने राष्ट्रकी रक्षा की, वैश्यने खेती, पशुपालन तथा व्यापार किया, शूद्रने कारीगरीके कार्य किये या सेवा की, निषादोंने वन की रक्षा की, इनकी उपजातियोंने इस विभागके अन्यान्य कार्य किये, तो पारलौकिक फल जो कुछ होना हो सो होता रहे, पर इसका यहीं दिखाने वाला ऐहिक फल क्या होता है, सो तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, क्यों कि वह सभी को विदित है। प्रत्येक को किसी न किसी रूप में बदला याने वेतन मिलता है। वह गल्ले के रूप में मिले, धन के रूप में मिले,खेती की जमीन सदा के लिये इनाम मिली हो या मिली हो या अन्य किसी रूप में मिले। जिस किसी रूप में वह मिलता हो वही 'कर्म का फल' है। इसे अपन 'धन' कहेंगे। धन कई प्रकार का हो सकता है, जैसे पैसा, रत्न, गायें, भूमि, धान्य, कपडा इत्यादि। वह किसी भी रूप का रहे, वह है कर्म का फल ही। इस धनरूप ऐहिक दृश्य फल के सिवा कर्म के अन्य कई फल होना सम्भव है। जैसे संमान, पत, मन की शान्ति, पारलौकिक अपूर्व आदि। ये फल भी इस में शामिल हैं। परन्तु विषय की सुविधा के लिये हम इन का 'धन' शब्द में ही अन्तर्भाव करते हैं, क्योंकि जिसके कारण मनुष्य धन्य होता है या धन्य माना जाता है, उसे 'धन' कहते हैं। धनका अर्थ केवल रुपया, आना, पाई ही नहीं है। यही कर्म का फल है। इसका त्याग करना चाहिये। या इसपर कर्ता का कभी भी अधिकार न रहना चाहिये। यही मुख्य तत्त्व है।

संन्यास, त्याग और दान।

प्रत्येक को कर्म करना ही होगा, परन्तु उससे उत्पन्न हुआ फल भर वह न ले। उसका संन्यास या त्याग करे, उसका दान या समर्पण करे, कर्म-फल का संग सदा के लिये छोड दे, फल की आसक्ति जड से त्याग दे। अपने कर्म का फल अपन ही न भोगे। तब फिर उस फल का क्या होना चाहिये? वह फल जावे कहाँ? यदि कर्म का फल कर्ता को नहीं लेना है, तब कर्म करने-वाले का योगक्षेम कैसे चले? इन शंकाओंका विचार करना आवश्यक है।

फल के संग का छोडना, फल की आसक्ति का त्याग करने के मायने है वह फल अपने पास न रखना। वह कहाँ रखा जावे? इस प्रश्न का उत्तर 'ब्रह्मार्पण, मदर्पण' इन शब्दोंद्वारा गीता में दिया है। 'ब्रह्म, परमात्मा, नारायण, वासुदेव और (अहं) मैं' इन शब्दों का गीता में अर्थ है 'विश्वरूप देव'। इस अमूर्त देवका इस पृथ्वीपर जो मूर्त स्वरूप है वही यह 'चातुर्वर्ण्य-देही मानवी समाज है' अर्थात् पृथ्वीपर स्थित मनुष्यसमाज है। इन सबकी उपासना यदि संभव नहीं है, तो मनुष्यकी सामर्थ्यकी सीमामें उपासना

के लिये एक राष्ट्रका मनुष्यसमाज आसकता है। जिसका मुह ज्ञानी, जिसके बाहू शूरवीर, जिसका पेट किसान और जिसके पैर कारीगर लोग हैं, वह राष्ट्रात्मा वासुदेव अपने तथा प्रत्येकके प्रत्यक्ष है। उस राष्ट्रदेही जनताजनार्दन को अपने कर्मका फल अर्पण करना, यह बात संग छोडना या फलासक्ति त्याग देना इस निषेध लक्षणका 'विधि-लक्षण' है। अपने कर्मका जो कुछ फल होगा, वह कर्ताको चाहिये कि अपने पास न रखकर इस राष्ट्रपुरुषको अर्पण करे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये इस महादेवके पांच मुख हैं। नरोंके समूहमें जानेवाला (नार-अयन) नारायण यही है। कर्मयोगमें यही करना पडता है कि इस महादेवको अपना कर्म अर्पण करना, कर्मका फल समर्पण करना। इन्ही पांच मुखोंके द्वारा अर्थात् पंचोंद्वारा जो निर्णय होगा उसी प्रकारसे उस कर्मफलका विनियोग होगा। इस पंचमुखी महादेवको उस कर्मफलका जैसा विनयोग करना हो वैसा वह करे। जिसके कर्मका जो फल होगा उसे वह फल इसको अर्पण भर कर देना चाहिये। इससे अधिक झगडेमें वह न पडे। कर्मसमर्पण, कर्मफल-समर्पण, फलत्याग, फलदान का यही अर्थ हैं।

कर्म या कर्मफलके संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि कर्म न करना, किन्तु कर्मके फलका न्यास करना याने जमाके रूपमें रख देना है। फलत्याग का अर्थ है फल न लेना, फलदानका अर्थ है विशिष्ट हेतुसे देनगी देना। ये फलके भिन्न भिन्न विनयोग हैं। परन्तु इन सबका अर्थ यह स्पष्ट है कि कर्मके फलपर कर्ताका कदापि अधिकार नहीं है।

व्यावहारिक भाषामें अर्थ।

राष्ट्र में अथवा इससे सरलता से समझने के लिये एक गांव में कुछ ज्ञानी, कुछ बहादुर, कुछ किसान, कुछ कारीगर और कुछ पहाडी लोग हैं। ये लोग अपने संघ बनाये हुए हैं। प्रत्येक संघ के प्रतिनिधि नियत कर इन प्रतिनिधियों की एक सभा या ग्रामपंचायत इस गांव का शासन करती है। इस गांव का प्रत्येक बालिग मनुष्य प्रतिदिन प्रायः आठ दस घंटे उत्तम प्रकार से अपना काम करता है। दिन के अन्त में या माह के अन्त में अपने अपने काम का जो कुछ भी बदला चाहे धन के रूप में हो या अन्य किसी भी रूप में हो, उस गांव का कोई भी मनुष्य अपने पास जमा करके नहीं रखता, किन्तु उसे वह उस गांव की ग्रामपंचायत के खजाने में—

(१) न्यास या संन्यास याने जमा के रूप में
(२) दान याने विशिष्ट हेतु से देनगी के रूप में, या
(३) त्याग याने अनामत दान के रूपमें, या
(४) समर्पण याने विनियोग का पूर्ण उत्तर-दायित्व ग्रामपंचायत पर छोडकर,

जमा कर देता है। इस जमा की पद्धति में कुछ विशेषता है—

(१) न्यास या संन्यास = (A deposit; trust) = जमा, योजनासहित सुरक्षित (सं) जमा रखकर (न्यास) सदा के लिये प्रबन्ध करना।

[संन्यास् = धातु का अर्थ जमा के रूप में रखना to deposit); एक ओर निकाल के रखना (to lay aside)

संन्यस्त = जमा की रकम(deposited; laid aside) न्यस्, न्यास, न्यस्त के भी अर्थ इसी प्रकार हैं]

(२) दान = का अर्थ है विशिष्टहेतु से देनगी देना। बालकों की उद्योगशालाके लिये, बालिका-ओं की शिक्षा के लिये, वैद्यक की शाला के लिये इस प्रकार निर्देश करके देनगी देना।

(३) त्याग = यह भी दान ही है। पर इसमें कोई खास उद्देश नहीं रहता। अपने कर्म का जो कुछ बदला याने धन मिलेगा वह सीधे पंचायत के खजाने में दाखिल करना। यह दान देनेवाले की इच्छा से-विशिष्ट उद्देश से-बंधा नहीं रहता। देनेवाला यह भी नहीं कहता कि मैंने दिया।

(४) अर्पण = यह मूल कर्म का ही अर्पण है। इसे समर्पण, नारायणार्पण, ब्रह्मार्पण, कृष्णार्पण आदि कुछ भी कह सकते हैं। इसे अपन अवैतनिक सेवा भी कह सकते हैं।

वैतनिक कर्म करके अपना वेतन पंचायत को देना या अवैतनिक सेवा करके अपना कर्म ही जनता को अर्पण करना दोनोंका अर्थ एकही है। कोई शिक्षक विना वेतन के स्कूल चलावे या कुछ वीर रात्रिके समय मुफ्त ही में पहारा दे कर गांव की रक्षा करें, तो इस अवैतनिक कर्मसे भी राष्ट्रके धन में जो कुछ जमा होना था, वह हो चुका। मुफ्त में पढानेवाले शिक्षक के प्रयत्नों से गांव के कुछ लोग साक्षर हुए और स्वयंसेवक वीरोंके निःशुल्क पहरेसे गांव की रक्षा हुई। इसी को 'अपूर्व' कह सकते हैं। इनकी स्वयंसेवासे यद्यपि नगरसभा के खजानेकी जमा रुपये-आने-पाई के रूप में न बढी हो, तब भी गांव की सुसंस्कृति और सुरक्षितता में फरक अवश्य ही हुआ है।

इस प्रकार सेवा वैतनिक होवे या अवैतनिक होवे, उस सेवासे गांव का लाभ होता ही है। नगरपंचायत के पास इन स्वयंसेवकों के काम दर्ज रहते ही हैं। इस प्रकार इस गांव के पंचजन अपने अपने कार्य उत्तम करते हैं; अपने कार्यसे उत्पन्न हुआ धन कोई भी अपने पास नहीं रखता। वह गांव की पंचायत में जमा होता है।

लोगों का योगक्षेम।

यदि गांव के सब लोक अपने कर्मसे उत्पन्न हुआ धनरूप फल ग्रामपंचायत को अर्पण करें, तो उन सब लोगोंका योगक्षेम कैसे चलेगा? ऐसी शंका हो सकती है। इसका विचार अब करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
गी० ९।२२

'जो अनन्यभावसे मेरी अर्थात् नारायण की-जनता-जनार्दन की उपासना करते हैं, उन मेरे लिये ही नित्य कर्म करनेवालोंका योगक्षेम मैं ही चलाता हूं।" इस स्थानका 'मैं' शब्द जनता-जनार्दनको सूचित करता है। यदि सबके कर्मों का फल ग्रामपंचायतके पास जाता हो तो ग्रामपंचायतको ही सबका योगक्षेम चलाना होगा। यदि ग्रामपंचायत न हो तो नगराध्यक्ष होगा। अपन इसे 'प्रजापति' या 'प्रजापति-संस्था' कुछ भी कह सकते हैं।

इस प्रकार सब अपना अपना कर्म उत्तमसे उत्तम करे, उसका फल कोई भी अपने पास जमा करके न रखे, सब काम और उनका फल जनता-जनार्दन को, वासुदेव को अर्पण कर दें और वह वासुदेव सबका योगक्षेम चलावे, यही कर्मत्यागका अर्थ है। इसके सिवा अन्य किसी भी प्रकारसे कर्मफलत्यागका व्यावहारिक अर्थ नहीं कह सकते।

ईश्वरके लिये कर्म।

जब अपन यह विचार कर लेते हैं कि जो कुछ कर्म हम कर रहे हैं, वह वासुदेव की प्राप्तिके लिये है, तब उस कर्मको उत्तमसे उत्तम करनेका उत्तरदायित्व आता ही है। यदि हम अपने राजाके लिये कर्म करें तो वह कैसी सावधानीसे तथा कैसे अच्छे प्रकारसे करना पडता है? तब जो कर्म प्रत्यक्ष राजाधिराज सर्वाध्यक्ष महादेवके लिये करना है, वह टालमटोल या बेगारके सदृश करनेसे कैसे चलेगा? अतएव सब कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किये जावें तो यह बुद्धि अवश्य ही हो जाती है कि वे कर्म उत्तमसे उत्तम होने ही चाहिये। इस दृष्टिसे कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करनेसे व्यावहारिक लाभ यह है कि वह कर्म उत्तमसे उत्तम होता होता है। यदि कर्म ईश्वरार्पण कर दिया जावे, तब उसका फल अपनेको नहीं लेना है, क्योंकि उसपर अपना अधिकार ही नहीं रहता।

सकाम कर्म।

कर्म-फलका त्याग करनेवाले की योग्यता ऊंची है। सकाम कर्म करनेवाले उससे नीची

श्रेणीके हैं। ये लोग फलके लिये ही कर्म करते हैं, जो कुछ बदला मिले वह अपने पास ही रख लेते हैं, अनंत भोगसाधन एकत्रित करते हैं, उनका भोग स्वतः करते हैं, दूसरेको नहीं देते। परिणामतः वैषम्य और नैर्घृण्य तत्पन्न होता है। किसीको भोग कम मिलते हैं; किसीके पास उनका संग्रह अधिक होता है। इससे आपसमें द्वेष बढता है, चोरी, मारपीट, युद्ध आदि होते हैं। हरएकको भोग्य पदार्थोंके संग्रहके कारण उनकी रक्षाके लिये कष्ट सहना पडता है। धन अधिक हो जानेसे चोरोंका भय बढता है। धनवानोंके कारण बालकोंमें अनेक दुर्गुण बढते हैं। इस प्रकार अनन्त क्लेश इस भोगसंग्रह की वृत्ति के कारण उत्पन्न होते हैं। इन सब क्लेशोंका निवारण करनेके लिये और इस गरजसे कि सबको सुख मिले भगवान्‌ने यह 'कर्म-फल-त्यागका योग' बतलाया है। समाजका प्रबंध उन्होंने इसी नीवपर करना चाहा। परंतु गीता का उपदेश सुनाकर आज पांच हजार वर्ष हो चुके तथापि अभीभी भारतीय आर्योंमें वह प्रबन्ध नहीं दिखाई देता।

पारलौकिक भाव।

अबतक अनेक भाष्यकार और टीकाकार हुए। उन्होंने गीताका सर्व उपदेश परलोकके संबंधकी भावनासे ही देखा। लोकके व्यवहारमें सामूहिक रूपसे गीताका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये इस विषयकी ओर प्रायः सभीने ध्यान नहीं दिया। गीताको अपने राष्ट्रीय जीवनमें किस प्रकार लागू कर सकते हैं? इसका विचार करके प्रत्येक श्लोकका अर्थ देखना चाहिये। गीताका अर्थ व्यक्तिगत संन्यासका पोषक किया जाता है। कुछ लोग उसका अर्थ कर्मसंन्यासका पोषक करते हैं। परन्तु ये लोग अपना कर्म परमेश्वर को अर्पण नहीं करते किन्तु सबका सब कर्मही त्याग देनेकी कोशिशमें रहते हैं। गीताका कर्म-फल-त्याग केवल परलोकके लिये नहीं है। उसका बडा भारी हिस्सा अपने राष्ट्रके दैनंदिन बर्तावमें उतरना आवश्यक है। परन्तु अबतक इस दृष्टिसे किसीने विचार किया हुआ प्रतीत नहीं होता।

हमारा मत है कि गीता का कर्म-फल-त्याग का उपदेश राष्ट्रीय दृष्टिसे सब के आचरण में लाने योग्य है। यदि वह इस प्रकार आचरण में लाया जाय, तो फलसंग्रहके कारण उत्पन्न हुए आज के संसार के प्रायः सभी दुःख नष्ट हो जावेंगे और संपूर्ण मानव-समाज अधिक सुखी होगा।

इस उपदेशके अनुसार राष्ट्रीय दृष्टिसे आचरण करने के लिये जनता को बहुत शिक्षाकी आवश्यकता है। साथ ही लोगों के अन्तःकरणों में दृढ विश्वास हो जाना चाहिये कि सहयोग से अपना बहुत हित होगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह ये सद्गुण अनादि काल से आर्य ग्रन्थों में बतलाये गये हैं। व्यक्तिगत रीतिसे इन गुणों का अनुसरण भी अब तक होता रहा है। परन्तु परम पूजनीय महात्मा गांधीजी ने प्रत्यक्ष कृति से दिखला दिया है कि इन्ही गुणोंका उपयोग राष्ट्रीय दृष्टिसे कैसे करना चाहिये। इसी प्रकार अभी जो व्यक्तिगत कर्म-फल-त्याग चालू है उसे राष्ट्रीय दृष्टिसे सब मिलकर कैसे करना चाहिये सो बतलाने के लिये कोई बडा महात्माही अवतीर्ण होना आवश्यक है। और तभी सकाम कर्म के कारण बिगडी हुई समाज की दशा कर्म-फल-त्याग के पाठ जनता को देकर फिरसे नये सिलसिले से जमाई जावेगी और तभी गीता व्यवहार में आवेगी। आज वह केवल व्याख्यानमें है।

भगवान् श्रीकृष्ण।

भगवान् श्रीकृष्णके गोकुलमें या द्वारकामें करीब करीब ऐसी ही पद्धति थी। वहाँके सब कृष्णभक्त थे। वे अपना सब काम कृष्णके लिये किया करते थे और सब लोगोंका योगक्षेम स्वयं श्रीकृष्ण चलाते थे। सब भक्तिगाथाओंमें स्थित भक्तिरस अलग निकाला जावे, तो इतिहास ऐसाही दिखाई देता है।

चार आश्रम और चार वर्ण।

वर्णाश्रमव्यवस्थामें असंगवृत्तिको बहुत अधिक प्रधानता दी हुई है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास इन तीन आश्रमों में भोग्य पदार्थों के संग्रह की गुंजाइश ही नहीं है। गृहस्थाश्रम के पचीस वर्षों में ही भोग्य पदार्थों का संग्रह कर सकते हैं। पर वह भी वानप्रस्थाश्रम के पूर्व सर्वस्वदान करके त्यागना ही होता है। इससे मालूम होता है कि आश्रमव्यवस्था कर्मफलत्याग के लिये बहुत कुछ अनुकूल थी, उसमें त्याग और भोग का मधुर मीलन था।

वर्णव्यवस्था में भी यह निश्चित कर कि ब्राह्मण धनसंग्रह न करे, अप्रतिग्रह का आदर्श जनता को दिखा दिया था। पर अब तो वर्णव्यवस्था प्रायः नहींके बराबर है। सभी लोग सकाम कर्म करके भोग्य पदार्थोंका संग्रह करने के बिलकुल निकृष्ट मार्ग में लगे हैं और उस संगदोष के कारण अनेक दुःख भोगते हैं। ऐसे समय में लोगों को चाहिये कि इस कर्म-फल-त्याग के मार्ग को अपने आचरणमें लाने को सोचें। सब दुःखों का परिहार करने का यह एक ही मार्ग है।

बिन पैसे का व्यवहार।

'पैसा' बीच में न आते हुए सब व्यवहार होना चाहिये। हर एक बात के आरंभ और अन्त में 'पैसा' आता है। यह पैसा कर्म का रूपान्तर है। श्रम का रूपान्तर पैसे में और पैसे का रूपान्तर श्रम में हो रहा है। यही बात भिन्न शब्दों में कहनी हो तो यों कहेंगे 'कर्म का रूपान्तर फल में और फल का रूपान्तर कर्म में होता है'। यह बीच का पैसा या यह बीच का फल त्यागना चाहिये।

विचार करनेसे दीख पडता है कि बीच में पैसा न आने देकर भी मनुष्य का सब व्यवहार हो सकता है। कर्मफलत्याग की आखीरी सीढी इस अवस्थासे भी आगे की सीढी है। इसमें आपसी झगडे की जड ही नहीं रहती। इसी कारण से सबको अधिक सुख होना संभव है।

इसमें भी कुछ दोष उत्पन्न होना संभव हुआ भी तो उनका निवारण कैसे किया जावे यह तो तभी विदित होगा जब समाज की व्यवस्थाही उस प्रकार की हो जावेगी। इससे उसके संबंध में आज ही कुछ लिखना अनवश्यक है।

अन्त में अपने लोगोंमें "योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ अवतीर्ण होवें और उन्हीं का बतलाया हुआ यह कर्म-फल-त्याग-योग आचरण में लाने का तरीका पुनः प्रत्यक्ष दिखावें" ऐसी उनसे प्रार्थना करते हैं। सब लोग भी इस का इसी दृष्टिसे विचार करें।

चातुर्वर्ण्य और उसका पुनरुज्जीवन ।

(लेखक—श्री० वा० स० दामले)

(१)

काल की गतिपर ध्यान देकर चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध में कुछ विचार सज्जनों के सन्मुख रखता हूं । ये विचार गीताशास्त्र के आधारपर ही रखने की चेष्टा करूंगा ।

चातुर्वर्ण्य ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ ४।१३
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ॥
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥१८।४२
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं तथा विन्दति तच्छृणु ।१८।४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥१८।४६
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६०

ऊपर के मंगलपंचक में चातुर्वर्ण्य के मूलभूत सिद्धान्त का सार गीता के शब्दों में ही दिया है ।

न्हास और उदय ।

वैदिक काल के आर्य ऋषियों का आत्मानुभव आर्यधर्म की नींव है । उसी के अनुसार आचार निश्चित हुए । उस आत्मानुभव की ज्योति प्रत्येक आर्य व्यक्ति के हृदय में सदैव प्रज्वलित रहे अथवा उस ध्येयको सदैव सामने रखकर वह अपना और दूसरे का हित करे और राष्ट्रमें एकता बनी रहे, ऐसे उच्च एवं उदार विचारोंसे उन महर्षियोंने भारत-भू-रूप दीप-पात्रमें स्नेहपूर्ण चातुर्वर्ण्य का तेल डाल कर, योगमार्गानुगामी सदाचार-रूप बत्ती रखकर अध्यात्म-दीप सुसज्जित किया । ऊपरके श्लोक यही बतलाते हैं ।

परन्तु यह प्रबन्ध 'सृष्ट' है, अतएव अन्य सृष्ट वस्तुओंके समान उसकी अवनति-उन्नति होना संभव है । अतएव सृष्टिनियमके अनुसार मति-विभ्रम-रूप मैल चातुर्वण्य-रूप तेल में जमकर बत्तीके न जलने के अवसर पहले अनेकवार आ चुके हैं । अत्यन्त प्राचीन कालमें प्रवेश न कर अपने केवल गीताकाल से इसी तरफ देखेंगे ।

करीब पांच हजार वर्षके पूर्व यह हाल था कि राष्ट्र सांख्य और योग-ज्ञान का समन्वय भूल गया था और उसने इस तेल में वेद-वाद-रतता का मैल जमने दिया था । इस मैलको निकाल कर आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करनेका कार्य भगवद्गीताने किया । उसने उक्त समन्वय स्थापन किया और सलाह दी कि कर्म सर्वथैव त्याज्य नहीं है, अपितु यदि सब कर्म योगयुक्त चित्तसे किया जावे, तो क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र दोनों स्वपराक्रमसे दिव्य प्राप्त कर लेंगे । इस उपदेशने पुनः जीवन उत्पन्न किया तथा शब्द-ज्ञानांधोंको दृष्टि दी । परंतु कुछ काल व्यतीत हो जाने पर ये आंखे भी बिगड गई । " स कालेनेह महता योगो नष्टः " की बात होने ही वाली थी । ज्योति का लोप होने का समय आ गया । लोग कर्म-लोलुप बन गये । वे कर्म-बंध से बचने का उपदेश भूल गये । इसका परिणाम यह हुआ कि गर्व, विषयासक्ति और उन्मत्तता के कारण धर्म-रूप-वृषभ के तपस्या युद्धता आदि चार चरणोंमें से तीन टूट गये । बचे हुए चौथे चरणका उच्छेद भी अंत्य वर्णिकों द्वारा होनेकी नौबत आ गई । पुनः चातुर्वर्ण्य बिगड गया । अर्थात् उस दीपके बुझ जानेकी आपत्ति उपस्थित हुई । इस धर्मग्लानि का यथातथ्य चित्र श्रीमद्भागवत स्कंध १ अध्याय १६ और १७ में दिया गया है । साथ ही इस दशा के सुधारका भी निश्चय

उसमें प्रतीत होता है। इस राष्ट्रीय ग्रंथने श्रीकृष्णजी के गीता के उपदेश का स्मरण राष्ट्रको फिरसे कराया। योगयुक्त भक्तिविशिष्ट ज्ञानमार्ग से ही कर्म करने चाहिये। जिससे स्वानुभवात्मक आत्म-ज्योति बत्ती के अनुसार रहेगी। यह बात उस ग्रंथ से अच्छी तरह समझा दी और चातुर्वर्ण्यको पुनः स्थिर किया। आगे चलकर आध्यात्मिक भक्तिविशेष का लोप हो गया और बौद्धिक शब्द-ज्ञान ने बल पकडा।

'यो बुद्धेः परतस्तु सः' का तत्त्व भगवान् गौतमबुद्ध ने जान लिया था। परन्तु उसके अनुयायी उनके हृद्गत बात को समझने की चेष्टा न कर शून्य-वाद के पीछे लग गये। अनीश्वरवाद का बल हुआ। चातुर्वर्ण्य तो वेदशास्त्रप्रणीत है। इसीसे वह असत्य मालूम होने लगा। पाखंड मत बढ गये। एक ग्रन्थकार ने लिखा है कि ईसा के पूर्व भारतवर्ष में ३०० से अधिक मत प्रचलित थे। कोई कोई वेदपरंपरा को नहीं मानते थे, तो कोई कोई वैदिक कहलानेवाले कर्मकाण्डपर अधिक जोर देकर आत्मज्योति प्रज्वलित रखनेवाला मूल मन्त्र भूल गये।

ऐसे समय आद्य शंकराचार्यने अवतार लिया। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से ऊपर लिखा झगडा मिटाने का प्रयत्न किया। चातुर्वर्ण्य-वृक्ष पर जाति भेदरूप वृद्धि हुई थी, तिसपर भी उस महापुरुषने योग्य प्रबन्ध से कुछ समय आत्मज्ञान की ज्योति प्रज्वलित रखी। आत्मवस्तुके प्रचारार्थ एवं धर्मकी सु-व्यवस्थाके लिये उन्होंने बहुत ग्रन्थरचना भी की। परन्तु चातुवर्ण्यपर जातिनिष्ठा का बकला बढदेने की अनिष्ट आदत के कारण तथा हिन्दू समाज पर बुद्धिवादी तार्किकों के संस्कारों के कारण आचार्य का कार्य पूर्ण सफल न हो पाया। उनकी अल्प आयु के कारण भी चातुर्वर्ण्य के संस्थापन के कार्य की भारी हानि हुई। आगे चलकर जो पंथ निकले और जो मतमतान्तर निर्माण हुए उनमें बुद्धिवाद तथा आत्मवाद का भ्रमोत्पादक मेल हो जाने से आर्य-धर्म खिचडी बन गया। किसी भी प्रकार के वितंडवाद को वेदोपनिषद् तथा पुराणोंमें और धर्मशास्त्र में भी आधार ढुंढकर निकाला जाने लगा। सच्चे धर्मके विषय में समाज को भ्रम हुआ। हर कोई स्वीकृत मतका अभिमान अंधतासे कर के उन्मत्त हो रहा था। मताभिमान और दंभ बढता गया, तथा जातिनिष्ठ बने हुए चातुर्वर्ण्य का स्वरूप दिखावटी हो गया। अर्थात् तेल में मैल की मोटी तह जम गई। समाजस्थिति ऐसी हो गई कि जैसे कभी ज्योति देखी ही न हो।

ऐसी दशा होनेपर ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास, एकनाथ आदि महा साधु महाराष्ट्र में तथा तुलसीदास, कबीर, कनकदास, पुरंदरदास आदि संतों का अन्यान्य प्रान्तों में उदय हुआ। उन्होंने जातिनिष्ठ दंभाचार, कर्मांधता, आचार के तन्त्र का हौआ आदि की कडी समालोचना की। परिणामतः कुछ लोगोंके चित्त में स्पष्ट प्रकाश हुआ। परन्तु अन्त में वह भी व्यक्ति का ही सुधार सिद्ध हुआ। चातुर्वर्ण्य का योग्य प्रबन्ध निश्चित करने में पूरे हिन्दू समाज को योग्य मार्गपर लाने में उसका उपयोग न हुआ। दोष वैसे ही रहे आये। आचारों का मूल उद्देश्य अध्यात्म है। उसकी उपेक्षा होने के कारण दंभाचार बढते गये। आत्मज्ञानप्राप्ति का मार्ग अलग ही रहा आया। ब्राह्मण जाति में वेदशास्त्रों का शाब्दिक परिचय बहुत कुछ कायम रहा। इससे केवल आचार के बल पर नीचे के वर्णोंका गुरुपण उन्हीं के पास रहा आया। कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञानके निकष-पर आचारों को परखकर कौनसा आचार किस लिये और क्यों, सजीव आचार कौन और निर्जीव कौन आदि का ज्ञान बहुत थोडे लोगों को रह गया था।

आज की स्थिति।

आज कल तो यह स्थिति भी नहीं रही। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" की बात जब असत्य हुई, तब सच्चा वर्णाश्रमधर्म जागरूक रहेगा कैसे? इसका कारण यही कि नीचे की जातियों में

घूमने फिरने का कार्य जिन ब्राह्मणों का था उन्हें अध्यात्मज्ञान का पता ही न था । बहुजन-समाज को अधिकारयुक्त वाणी से सच्चा मार्गदर्शन करानेवाला मिलना मुश्किल था। यही नहीं जो लोग अध्यात्मज्ञान के अभाव में असत्य-मार्ग का ही उपदेश करते थे उन्होंने उस समाज की धर्मश्रद्धा को ही उडा दिया । जो लोग अंग्रेजी विद्या पठकर नौकर बन गये थे, और जो स्वतंत्रता से द्रव्य-उपार्जन करते थे, उन्हें अपने धर्म की तथा अपने धर्म-बांधवों की पर्वाह ही नहीं रही।

आज का संकट

आज धर्मपर और चातुर्वर्ण्यपर जो संकट आया है, वह दुहरा है पहले जो संकट आया करते थे वे अकेले आचार के बिगडने से या अकेले विचार के बिगडने से होते थे। आज दिन तो इन दोनों हानियोंने मिलकर हम्ला किया है । ये दो हानियाँ हैं धर्म के संबंध में श्रद्धा का अभाव और आचार का पोलापन या अंधत्व। चातुर्वर्ण्य की ये दोनों आंखें फूट गई हैं। इससे उसकी दशा धृतराष्ट्र के समान असहाय हुई है।

आशा का स्थान

प्रत्येक वस्तु की दो बाजुएं रहती हैं। एक अच्छी और एक बुरी । यहाँ नौजवान पीढी का विचार करना है । अपन अब तक देख चुके कि बुजुर्गोंने बालक-बालिकाओं को धर्मशिक्षा किस प्रकार और कहांतक दी है । ऐसी दशा में धार्मिक माने गये आचार-विचारों का पालन न करने का दोष उनपर रखना उचित नहीं। पाश्चात्यों के आचारविचारों में से त्यागने योग्य तथा आर्य-संस्कृति के विपरीत आचारविचारों का प्रवाह बुजुर्गोंके पीछे पीछे उनकी संततिको वेग से बहाकर ले जा रहा है । वह उसे पश्चिम समुद्र में डुबाना चाहता है। ऐसी दशा में यदि हमारे नव-युवकोंके हृदय में दो बातों का झगडा जारी हो तो आश्चर्य ही क्या ? एक तो पाश्चात्य विद्यासे जागृत हुई विचिकित्साबुद्धि तथा इसी के प्रकाश में सदैव देखने की आदत के कारण उत्पन्न हुई धर्म के प्रति अश्रद्धा और दूसरी ओर यह आशा, जो पाश्चात्य पण्डितों की सिफारिस से उत्पन्न हुई है, कि हमारे धर्म में बहुतसा रहस्य भरा है । ऐसे संधिकाल में उनके चित्तपर सत्य आर्य-धर्म का तथा उसके अतीव उत्कृष्ट चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का प्रकाश डाला जावे, तो वे अवश्य ही योग्य मार्ग जावेंगे ।

धर्म--स्वरूप ।

'धर्म' और 'चातुर्वर्ण्य' शब्दों का उपयोग अबतक अनेक बार किया गया। परन्तु उस प्राचीन धर्म का स्वरूप बिना समझे उसकी रक्षा तथा उसका उत्कर्ष करनेके लिये जो चातुर्वर्ण्य उत्पन्न हुआ है उस चातुर्वर्ण्य की रचना तथा महत्त्व समझ में न आवेगा। धर्मवीरों के भी दो अस्त्र हैं । अतः उनकी दिव्यता का विचार करना आवश्यक है ।

सब से पहली बात नीव है। हमारे हिन्दु-धर्म की नीव है मोक्ष की इच्छा । जीव की स्वाभाविक इच्छा होती है कि मोक्षरूप पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति का अनुभव करें। जीव की यह इच्छा ही आर्य-धर्म की नीव है। इसी के अनुकूल धर्म के मध्यवर्ती-सिद्धान्त हैं। उनमें उत्साह और सूचकता भरी है। मनुष्य को आत्मदृष्टि से तथा समाज के घटक के नाते शीलवान् बनानेवाले सब विचार, हेतु, विधि, नियम तथा प्रवृत्ति इस 'धर्म' में शामिल हैं। सारांश में कह सकते हैं कि अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनों साधने योग्य रहन सहन बतलानेवाला जो है वही 'धर्म' है। इसमें नीति तथा अध्यात्म दोनों आते हैं ।

काम और अर्थ को सन्मार्ग से च्युत न होने देनेवाला धर्म ही है। इसी का अर्थ है कि मनुष्यके तम और रजोगुण योग्य मर्यादामें रखता है । इसी से चित्त सम रहता है और व्यवहार में सुख तथा स्वस्थता मिलती है। धर्माचरणसे अर्थात् न्याय-नीति से बर्ताव करने पर वह सहज ही में मोक्ष-प्राप्ति के लिये योग्य उम्मीदवार बन जाता है।

चातुर्वर्ण्य--स्वरूप।

अब तक के विवेचन से विदित होगा कि हिंदुओंका प्राचीन धर्म क्या है और आचरण हमें क्यों करना चाहिये। इस धर्म का उद्देश्य है सदाचार, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करा देना। ये पुरुषार्थ एक दूसरे के पोषक हैं। चातुर्वर्ण्य इसी लिये उत्पन्न हुआ है कि जिससे ये पुरुषार्थ साध्य हों। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य में न्यूनाधिक मात्रा में सत्त्व, रज, और तम अथवा सदसद्विवेकशक्ति, मनोव्यग्रता, तथा वासना रहती है। गीताने भी कहा है कि स्वर्ग-मृत्यु-पाताल में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो इस त्रिगुण की चुंगुल से बचा हो। ऐसी दशा के कारण गुणों के प्राबल्य से समाज में चार वर्ण अर्थात् चार भाग स्वभावहीसे हो जाते हैं। हमारे धर्मने इसी निसर्ग के नियम से लाभ उठाया।

मनुष्य जातिका अंतिम ध्येय परम स्वतंत्रता है। इसीको दूसरे शब्दोंमें प्रकृतिपर अधिकार चलाने का स्वाभाविक सामर्थ्य कह सकते हैं। आर्यधर्मीयोंका सम्पूर्ण जीवन-क्रम इसी मुख्य बातके अनुसार निश्चित किया गया है। एक परमेश्वर के बालकोंके नाते सभी मनुष्य एकसे हैं। समानता का दूसरा कारण यह है कि सभीका एकमात्र ध्येय ऊपर लिखी पूर्ण स्वतंत्रता है। परन्तु इस ध्येयको साध्य करनेमें जो सामग्रि लगती है वह सभी मनुष्योंके पास एकसी कहाँ है? ऐसा न होनेके कारण गुणोंके बँटवारे की विविधता है। मनुष्यों में अज्ञान और अवगुण भिन्न भिन्न मात्रामें रहते हैं। उन सब को निकाल डालकर जीवित उज्ज्वल तथा प्रेममय बनानेके लिये योग्यताके अनुसार अर्थात् अधिकारके अनुसारही बर्ताव करना पडेगा। उसके लिये दूसरा मार्गही नहीं है। अतएव अधिकारके अनुसार मनुष्योंके वर्ग बनाना पुरुषार्थसाधनके मार्गके लिये आवश्यक हो जाता है। इससे ऊपर चढनेके लिये एक स्वाभाविक सीढीसी बन जाती है। यही वर्ण-व्यवस्था है। आश्रम-धर्मके कारण जीवको अविद्या जैसे अवगुणोंको नष्ट करनेकी शिक्षा मिलती है।

वासना जन्मकी जड है। जैसी वासना हो वैसी ही क्रियाएं होती हैं। इसीसे मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है कि सभी वासनाओंको सद्वासनाओंमें पलट दें। वासना जीवकी एक शक्ति है। शक्तिका उपयोग तरवारके उपयोगके सदृश होता है अर्थात् आत्मरक्षाके लिये अथवा आत्मनाशके लिये। इससे सिद्ध होता है कि गीताके 'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं' श्लोकमें जो कहा है कि उत्क्रान्त होना न होना मनुष्यके हातकी बात है सो सत्य है। परन्तु यह उत्क्रान्ति तबतक नहीं हो सकती जबतब इंद्रियोंकी सुल्तानशाही रोक नहीं दी जाती। यहभी गीताका ही कथन है। अतः आत्मनियमन एकमात्र उपाय है जो द्रव्यार्जन तथा उपभोगका दुरुपयोग रोक सकता है। और वह धर्म-पालनहीसे सिद्ध होता है।

मानस-शास्त्रके उपरोक्त सिद्धान्त देखकर तथा मनुष्योंके स्वभाव-वैचित्र्यको जानकर प्रत्येक व्यक्ति में आत्मभाव पूर्णतया प्रगट होनेकी गरजहीसे वर्णाश्रमधर्मके नियम निश्चित किये गये हैं। वे भी इसलिये कि अपने और दूसरेके स्वभावमें जो सच मुच अंतर है वह समझमें आ जानेसे उस अंतरके दूर करनेका प्रयत्न हो और समता उत्पन्न हो। इससे स्पष्ट होगा कि चातुर्वर्ण्यका ध्येय है सभीको ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण बनाना।

अर्जुनकी ऐहिक तथा सामाजिक शंकाएँ और उनके उत्तर ।

१. युद्ध करने के विरुद्ध अर्जुन की जो मुख्य शंकाएं थीं वे गीता के प्रथम अध्याय में आचुकी हैं। उनका स्वरूप व्यक्तिगत है, वैसेही सामाजिक तथा धार्मिक भी है। व्यक्तिगत स्वरूप-

'न योत्स्ये' (मैं युद्ध न करूंगा) गी. अ. २-९

इन दो शब्दों में बतलाया जा सकता है। इस व्यक्तिगत स्वरूप के भी दो भाग किये जा सकते हैं—एक ऐहिक और दूसरा पारमार्थिक। ऐहिक स्वरूप आगे के श्लोक में दिखाई देता है।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ।१।३२

२. उसके प्रश्नका धार्मिक या पारमार्थिक स्वरूप आगे के श्लोक में स्पष्ट होता है—

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ १-३६
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥ १ । ४५

३. अर्जुन की शंकाओं का ऐहिक और सामाजिक स्वरूप इन श्लोकों में निर्दिष्ट है—

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥
ते इमे अवस्थिताः युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानिच३३
आचार्याः पितरः पुत्राः तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा।३४
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधु मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५
गी० अ० १

३ कुलक्षय होनेवाला है । कुलक्षय पाप है क्योंकि—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं अधर्मोऽभिभवत्युत ॥ १-४०
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५

अर्जुन इन्हीं शंकाओंके कारण युद्धसे डर गया। इनमेंसे श्लोक ४०—४८ की शंकाएं सब ऐहिक हैं— (१) कुलक्षय, (२) सनातन कुलधर्मभ्रंश, (३) कुलमें अधर्माभिभव, (४) कुलस्त्रीदूषण, (५) वर्णसंकर, (६) लुप्तपिंडोदकक्रियता, (७) शाश्वत जाति-धर्म और कुलधर्म का नाश। उसकी शंकाका पारमार्थिक स्वरूप यह है कि मनुष्योंका नरकमें नियत वास अतएव महत्पाप है।

इन चार शंकाओंमेंसे ऐहिक और सामाजिक शंकाओंपर विचार करना तय किया है। इन शंकाओंका परिणाम उसके मनपर कितना हुआ था यह जाननेके लिये निम्न लिखित श्लोक देखिये—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् । २८
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९
गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोमि अवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ३०
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
ते इमे अवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५
यदि मां अप्रतीकारं अशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६

नहि प्रपश्यामि ममानुपद्यात्
यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमौ असपत्नं ऋद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ २।८

सारांश—

गुरूनहत्वाहि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २-५
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः
यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ २।६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतः स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ २।७॥

इसका तात्पर्य भाषा में बतलाना हो तो यो कहेंगे कि—

अर्जुन लडनेसे इन्कार करता है क्योंकि—

(१) इस लडाईसे कुलक्षय होते दीखता है। कुलक्षय में धार्तराष्ट्र और पाण्डव दोनों आये, और उनके संबंधी तथा मित्र भी आये (१-२६ और ३४) युद्ध करके जो राज्य अथवा सुखभोग प्राप्त करना है वह सब इन्हीं के लिये है। वे तो जान देने के लिये तैयार हुए हैं। फिर युद्ध कितने लिये करना ?

(२) धार्तराष्ट्रों को लोभ के कारण कुलक्षय दिखता नहीं, हमें वह दिखाई देता है। तब हम क्यों न उससे अलग रहें ?

(३) कुलक्षयके परिणाम अत्यंत हानिकारक हैं- सनातन कुलधर्मनाश, अधर्माभिभव, कुलस्त्रीदोष, वर्णसंकर, लुप्तपिंडोदकता, सनातन जातिधर्म- कुलधर्मनाश, नियत नरकवास अथवा प्रजनाश।

(४) 'राज्यसुखलोभ या स्वजनहत्या ? ' (१-४५) इनमेंसे कौनसा स्वीकार करें? अर्जुन स्वजनों- की हत्या करनेकी अपेक्षा राज्यलोभ छोड देनेको तैयार हुआ। क्योंकि उसने त्रैलोक्यके समृद्ध राज्य की अपेक्षा स्वजनहत्या अधिक भयप्रद समझी। इसलिये अंतमें वह कहता है—शंका तो यही है कि इस युद्धमें जीत शत्रु की होवे या हमारी होवे? मुझे तो मृत्यु ही पसंद है।

श्री· बापट शास्त्रीका कहना है कि अर्जुनने कोई 'प्रश्न' या 'शंका' की ही नहीं। यह तो 'शोक और मोह' अवस्था दर्शानेवाला वर्णन है। 'ये प्रश्न होते तो उनके उत्तर भी हुए होते'। परंतु 'उत्तर नहीं हैं इसलिये प्रश्न ही नहीं हैं' यह विधान गलत है। हमने आगे चलकर दिखलाया है कि भगवान्ने उत्तर दिये हैं।

इस प्रकारका प्रश्न अर्जुनके सामने है और उसने भी श्रीकृष्णको ऐसा पेचीदा पेच डाला है। हम नामंजूर नहीं करते कि इस पेंचका एक स्वरूप पारलौकिक है। किन्तु उसका ऐहिक तथा सामा- जिक स्वरूप ओटमें कर भी नहीं सकते। इस ऐहिक तथा सामाजिक स्वरूपकी ओर अब तक किसीका ध्यान न था। लोकमान्य तिलकनेही पहले पहल इस ओर कुछ ध्यान दिया। अन्य सब लोगोंकी समझमें भगवान्ने इस प्रश्नकी ओर ध्यान- ही नहीं दिया; उसकी शंकाओंके केवल धार्मिक स्वरूपका विचार कर उस विषयमें अर्जुनका समा- धान किया। अथवा उसे डराकर दबानेका प्रयत्न भी किया। अर्जुन पापपुण्यके तथा मोक्षके विचा- रोंके ऐसे चक्करमें गया कि अपने पहले प्रश्नोंको भूल ही गया। भगवान्के विश्वरूपको देखकर अन्तमें वह घबडा गया। भगवान् कहते हैं—

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ १८-७२

अर्जुन उत्तर देता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥१८।७३

अर्जुन तो यहां कहता है 'मैं निःसंदेह हुआ;' तब प्रथम यही कल्पना करना उचित होगा कि अर्जुन की सब शंकाओंका समाधान भगवान् ने किया था। संभवतः हमारे ध्यानमें यह आ[illegible]

होगा। कहते हैं कि "परोक्षप्रियाः हि देवाः" देव कोई बात प्रत्यक्ष न बतलाकर परोक्ष रीतिसे बतलाते हैं। शायद भगवान्ने अन्य किसी विवेचनमें इन प्रश्नोंका उत्तर दिया हो, परन्तु अपना ध्यान प्रत्यक्ष विवेचनकी ओर आकर्षित रहनेके कारण अप्रत्यक्ष बातोंकी ओर हमारा ध्यान न गया हो। यह भी मालूम होता है कि यदि ये उत्तर आये हैं तो वे प्रथम दस अध्यायोंमें ही आचुके होंगे। क्यों कि ग्यारहवें अध्यायके आरम्भ ही में अर्जुन कहता है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१०।१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥१०।२॥

इससे यह मान सकते हैं कि अर्जुनकी मुख्य मुख्य शंकाओंके उत्तर प्रथम दस अध्यायोंमें आ चुके हैं। इतना तो अवश्य ही है कि ग्यारहवें अध्यायके बाद जो शंका एं पूछी गई हैं उनका संबंध उपरोक्त प्रश्नोंसे नहीं है (देखिये १२-१; १४-२१; १७-१; १८-१)। श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद यद्यपि युद्धभूमिपर ही हुआ था, तथापि श्रीमत् व्यासजी ने (किंवा कुछ लोगोंके मतानुसार) व्यासशिष्योंने वह पीछेसे सिलसिलेसे लिखा। रणक्षेत्रपर किये हुए विवेचनमें श्रीकृष्णार्जुन भले ही भूल गये हों; पर पीछेसे सिलसिलेकी रचनाके समय व्यास या उनके शिष्य कैसे भूल गये? अथवा अर्जुनने इन प्रश्नोंका स्पष्टीकरण युद्धके बाद करा लेना था सो क्यों नहीं किया? व्यासजीको या व्यासशिष्योंको भारतमें या महाभारतमें इन प्रश्नोंका स्पष्टीकरण कहीं तो करना था ना? मेरी समझमें अर्जुन या व्यासजी कोई भी इन प्रश्नोंको नहीं भूले। भूलना संभवही नहीं था। अपनही मोहमें फँस गये हैं। भगवान्ने उत्तर दिया है और अर्जुन संतुष्ट भी हुआ है। श्रीकृष्ण या व्यासजी किसीके भी भूलनेका संभव न था। क्योंकि व्यासजीने ही उन्हें पहले अध्यायमें बहुत महत्त्व दिया। पहला अध्याय और दूसरे अध्यायके ९ श्लोक प्रस्तावके रूपके हैं। वे श्लोक सम्पूर्ण ग्रंथकी पार्श्वभूमि (Back ground) हैं। उसीपर गीताके तत्त्वज्ञानका चित्रपट तैयार किया गया है। वही ग्रंथका आधार (Base) है। भगवान् या ग्रंथकर्ता ये बातें भूल नहीं सकते। यह भी कहना ठीक नहीं कि ग्रंथकारकी या श्रीकृष्णकी दृष्टिमें इस बातका महत्व ही न था। क्योंकि ग्रंथकारने इस बातको बहुत अधिक महत्त्व दिया है। अर्जुनकी सब शंकाएं इकट्ठी की जावें, किंबहुना गीतामें आये हुए अर्जुनके सभी श्लोक इकट्ठे किये जावें, तो इसी अध्यायकी शंकाएं अधिक मिलेंगीं। विश्वरूपके वर्णनके या भगवान्की स्तुतिके उसके श्लोक छोड दें तो अर्जुनके इन श्लोकोंकी संख्या बहुतही अधिक प्रतीत होगी। ग्रंथमें आगे चलकर यदि निर्देश भी नहीं करना होता तो ग्रंथकार इन शंकाओंको इतने विस्तारसे लिखताही क्यों?

महाभारत की कुल कथा का, और नहीं तो युद्ध की कथा का ही विचार करें तो विदित होता है कि इस कुलक्षय के प्रश्न का विचार और ऊहापोह युद्ध के पूर्व चार छः माह या कमसे कम कुछ दिन तो अवश्य ही चलता रहा होगा। दोनों पक्षोंके मुख्य व्यक्तियोंके मन में ये शंकाएं आकर उन्हें बेचैन करती रही होंगीं। इस बेचैनी को उन्होंने प्रकट भी किया था। धृतराष्ट्र की ओर से संजय पांडवोंके पास आया था सो भी इसी बात का विचार करने तथा इसीके बारेमें शिष्टाई करने के लिये। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रके पास गये थे सो भी इसी विचार से। युद्धचिकित्सा खूब हो चुकनेपर भी वेही विचार अर्जुन को बेचैन कर रहे थे। अठारह अक्षौहिणी सेना घेरे हुए है और उसमें खडे हुए आचार्य, आजा, पुत्र, पौत्र, बंधु और सुहृज्जन देखकर उसके मनमें इन्हीं विचारोंका कोलाहल मचा हुआ था। इस प्रकारका चित्र जब अर्जुनने भगवान् सामने खडा किया, तब उसे भगवान्ने उत्तर ही नहीं दिये, या ये प्रश्न उपेक्षणीय थे, या भगवान् लोकक्षय देखना ही चाहते थे, या कलियुगका आरंभ होनेसे सभी लोग जानते थे कि लोकक्षय होगा या अध्यात्मकी दृष्टिसे इस प्रश्न की चर्चा अनवश्यक थी यह नहीं कहा जा सकता।

अनेकोंसे इन प्रश्नोंकी चर्चा करते समय इन प्रश्नोंके संबंधके लोगोंके जो विचार मुझे विदित हुए वे मैंने यहाँ उद्धृत किये हैं। इनमेंसे कोई भी विचार मुझे संमत नहीं है। मैं नहीं समझता कि भगवान् ने उत्तर नहीं दिये या ग्रंथकर्तांने उनका विचार नहीं किया।

(४) युद्ध या अयुद्ध? राज्य या भैक्ष्य? जय या अपजय? ऐसे प्रश्न अर्जुन पूछ रहा है। भगवान् ने इन प्रश्नोंका विचार मुख्यतः स्वधर्म और कर्म या अकर्मका विवेचन करते समय दूसरे, तीसरे, चौथे और अठारहवें अध्यायमें किया है; साथही दैवी और आसुरी संपत्ति तथा जगत्क्षयके विवेचनमें (सोलहवें अध्यायमें) किया है। ग्यारहवें अध्यायके विश्वरूपदर्शनमें इनका स्वरूप दिखाया गया है—

बापटशास्त्री कहते हैं कि प्रथम चरण 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' के बारेमें नहीं है किंतु 'गुरुहत्योत्पन्न राज्य या भैक्ष्य' के बारेमें है। परंतु यह कहना गलत है। क्योंकि श्लोक ५ में अर्जुन शंका नहीं पूछता। वह स्पष्ट कहता है 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' अर्थात् भैक्ष्य भी श्रेयस्कर है। चौथे अध्यायमें प्रश्न है 'कथं भीष्मं द्रोणं च प्रतियोत्स्यामि'। उसीसे अर्जुनको भारी शोक (श्लोक ८) हुआ है। ये दोनों इकट्ठे लेकर भगवान् कहते हैं- 'अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं'। गुरुहत्या या भैक्ष्य' ऐसा तो प्रश्न ही नहीं है। गुरुहत्याकी अपेक्षा भैक्ष्य श्रेयस्कर है, इस अर्थका उसका निःसंदिग्ध कथन है। अर्थात् श्लोक ६ का 'कतरन्नो गरीयान्' की बात 'युद्धे जयेम यदि वा नो जयेयुः' के प्रश्नके संबंध में ही है।

> न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषामः तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥

इस श्लोक के अर्थ का कुछ विचार करना आवश्यक है। क्यों कि इसमें अर्जुन ने अपनी शंका थोडे में बतलाई है। इस श्लोक के प्रथम चरण का संबंध पिछले श्लोक से न लेकर इसी श्लोक के द्वितीय चरण से लेना चाहिये और इसका द्वितीय अर्ध प्रथम अर्ध का (अर्थात् प्रथम अर्धमें निर्दिष्ट शंकाविषय का) कारण समझा जावे। द्वितीय चरण में जो विध्यर्थ है उसका अर्थ भी विध्यर्थ में ही किया जाय, न कि भविष्यकाल का। इसका कारण यही कि इसमें पहले अध्याय की शंका अत्यंत थोडे शब्दोंमें रखी गई है। इस दृष्टिसे इसमें नीचे लिखा अर्थ समाविष्ट है। —

"(इस युद्ध में) हम जीतें या जीते जावें? इसमें अधिक अच्छा क्या है? क्यों कि जिनको मारकर जीवित रहने की हमें इच्छा नहीं, वेही ये (स्वजन) धार्तराष्ट्र सन्मुख (युद्धार्थ) खडे हैं।"

इस अर्थ के विरुद्ध यह कहा जाता है कि कोई भी यह प्रश्न न करेगा कि 'हम जीतें, या जीते जावे?' प्रत्येक को यह लगेगा हम जीतें, हारें नहीं। इसके विरुद्ध यह प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है कि 'हम जीतेंगे या वे जीतेंगे?' क्यों कि युद्ध में हार-जीत अपने वशमें नहीं होते। Success or failure is more or less a matter of chance. अर्थात् हार-जीत तो मौके की बात है। महाभारत में भी ऐसे ही कहा है। व्याकरण की दृष्टि से भविष्यत् काल का अर्थ हो सकता है। इसके विरुद्ध यह कह सकते हैं कि महाभारत में इस युद्ध की जीत हार के स्वरूप की है। ऐसी भी प्रतिप्रश्ति लगाई गई है। (म० भा० उद्योगपर्व। संजयानपर्व) इसके सिवा प्रथम अध्याय के निम्न लिखित वाक्य इस अर्थ के लिये सब प्रकार से अनुकूल हैं। पहले अध्याय की शंकाएं ही इन श्लोकोंमें ग्रथित की गई हैं। अर्थात प्रथम अध्याय का अर्थ जितना बन सके इनमें समाविष्ट करना चाहिये। व्याकरण की दृष्टि से भी अर्थ गलत नहीं कहा जा सकता। पहले अध्यायके श्लोक देखिये—

> न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
> किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥ १।३२
> येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
> त इमे अवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ १।३३

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ १।३५
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥-१-३१
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ १-३७
यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं॥ १-३८
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ १-३९
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ १।४५
यदि मां अप्रतीकारं अशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत्। १।४६

इन श्लोकोंमें जो विचार ग्रथित हैं वे यदि उपरोक्त श्लोकार्थसे मिलाना हैं तो हमनें जैसा अर्थ उस श्लोकका किया है वैसा ही अर्थ अधिक युक्त और उचित होगा। यहां जय-अपजय की प्राप्तिमें संदेह नहीं है, जयापजय की प्राप्ति की युक्तायुक्तताके बारेमें अर्थात् जयके फलके संबंधमें शक है। इतिहासमें भी कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें जयापजयके फलके बारेमें संदेह उत्पन्न हुआ था। वे प्रसंग इस प्रकार हैं—

(१) राघोबाने अहल्याबाईपर चढाई की। उस समय अहल्याबाईने संदेसा भेजा की 'यदि आपकी जीत हुई तो एक स्त्री राणीको जीतनेका श्रेय मिलेगा। इसमें गौरव की बात जराभी नहीं है। परंतु यदि हार हुई, तो आपकी फजीहत बेहद होगी'।

(२) पानीपत की लडाईके पहले ऐसा प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ था। परंतु युद्धके पश्चात् विजय हुई अहमदशाह दुरानी की। तिसपर भी वह उस हारके सदृशही प्रतीत हुई। तदनंतर वह एक कदम भी आगे न बढा। यही नहीं, वह लौट गया और फिर कभी दक्षिण की ओर न आ सका।

(३) पिछले यूरोपीय महायुद्धमें जर्मनी हारा। किन्तु सब राष्ट्र ऐसे थक गये थे कि युद्ध कब बंद होता है ऐसी चिंता सबको हो गई थी। और जल्दी ही उन्हें ऐसा अवकाश देना पडा जिससे जर्मनी फिरसे सचेत हो उठा।

(४) भारतीय युद्धमें पांच पाण्डवोंको छोड सब मर गये। अर्जुनकी पुत्रवधू गरोदर थी इसीसे वंश चला। पाण्डवोंको आगे चलकर लडके बच्चे होना सम्भव न था। युद्धमें किसी भी एक पक्षका पूर्ण नाश हुए बिना जीत हो नहीं सकती थी। युद्धमें यद्यपि जीत पाण्डवोंकी हुई, तथापि जेठे बडोंका (कुंती, धृतराष्ट्र,गांधारीको छोड दूसरोंका) नाश हो जानेसे युधिष्ठिर को मरणप्राय दुःख हुआ और उसे यही लगा कि इस कुलक्षय के लिये मैं ही कारण हूं। युद्धमें यदि पाण्डवोंकी हार हुई होती और वे सब जीवित रहे होते, तब भी उन्हें मरणप्राय दुःख हुआ होता और उनका बहुत भारी नुकसान हुआ होता। यदि हारजीत किसी की न होती और युद्ध बराबरी बंद (Drawn) होता तब भी कुछ लाभ न होता। फिरसे भैक्ष्य, वनवास या किसी राजा की सेवा करनी पडती और लाभ कुछ न होता, उलटे फजीहत ही हुई होती। अर्थात् जय न होता तो असीम अपकीर्ति हुई होती और जय होकर भी कुछ लाभ न हुआ। अर्थात् अर्जुन की शंका वास्तविक थी। अन्तमें वे ही परिणाम भोगने पडे। श्रीकृष्णजीको ये परिणाम दीखते नहीं थे यह भी नहीं कह सकते।

युद्ध या अयुद्ध ?

यह बडा भारी प्रश्न था। अन्य युद्धोंमें यह प्रश्न नहीं रहता। युद्ध तो शत्रु के साथ होता है। यहाँ तो युद्ध कौरव-पाण्डवों के बीच था अर्थात् वह आपसी युद्ध Civil War था। इतनी भयानक लडाई पहले कभी नहीं हुई थी। हिंदुस्थान के चारों कोनों से रणधुरंधर योद्धा, मुत्सद्दी, राजकारबारी, मन्त्री, सभी लोग युद्ध के लिये इकट्ठे हुए थे। इन सभी का नाश हो जानेपर हिन्दुस्थान के बाहर के लोग क्या शांत रहते? नरक नामका कोई अलग लोक हो चाहे न हो। परंतु उस दशा में पारतंत्र्यरूप नरकवास कदापि न चूकता। साथ ही

सभ्यता के नष्ट होने का सवाल था ही। इस युद्ध के क्षय के अथवा थकावट के (Exhaustion) उपरान्त विदेशी लोगोंका प्रवेश हिन्दुस्थान में कम से कम हजार वर्ष तक न हो सका यह भी बडा ही आश्चर्य है। यह तो पाण्डवों की धाक और हिन्दुस्थानियों के सत्त्व का बडा सबूत है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि हिन्दुस्थान के बाहर के लोग कितने हीनसत्व के थे। हिन्दु लोग ५१५० वर्षोंमें पहले के समान सम्हल गये और परीक्षित ने बडा-भारी सर्प-यज्ञ किया। यह बात छोटी न थी। हिन्दुस्थान के बाहर उन दिनों पर्शियन और चीनी राष्ट्र थे। परन्तु वे हिन्दुस्थान का बाल भी बाँका न कर सके। यदि कौरव विजयी हुए होते तो अर्जुन के मत से कोई भी अडचन न हुई होती। परन्तु यदि पाण्डवों की हार हुई होई होती तो? वर्णसंकर का, कुलक्षय का या लोकक्षय का जो वर्णन अर्जुन ने किया वह श्रीकृष्ण को मान्य न था,ऐसा भी नहीं। भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयुः इमे लोकाः ॥
संकरस्य च कर्ता स्यां उपहन्यां इमां प्रजाः ३।३४

श्रीकृष्ण का जबाब यह नहीं है कि वर्णसंकर होवे। एकवर्णी समाज होगा तो अच्छा होगा यह श्रीकृष्ण नहीं कहते। श्रीकृष्ण यह भी नहीं कहते कि लोकक्षय होगा तो अच्छा ही है अथवा कलियुग आया अब कुलक्षय, अधर्माभिभव, स्त्रीभ्रष्टता, वर्णसंकर ये सब अवश्य ही होगा, उसकी चिंता काहे को? संकर न हो, प्रजानाश न हो यही उनका कहना है। तब युद्ध करने के लिये श्रीकृष्णने उत्तेजन दिया सो कैसे? श्रीकृष्ण को यह भरोसा कहाँ से आगया कि पाण्डवों की ही जीत होगी और लोकक्षय न होगा? और यह भरोसा उन्होंने अर्जुन को कैसे दिया? अर्जुन ने युद्ध के तात्कालिक परिणाम और परंपरासे होनेवाले परिणामों का चित्र बहुत विचारसे निकाला है। अर्जुन बिलकूल घबडा गया। सैकडों युद्धोंमें जीतनेवाला अर्जुन, युद्ध में बेफिकर हो डण्ड ठोककर खडा होनेवाला सव्यसाची धनुर्धर अर्जुन, उत्तर-गोग्रहण के समय जिसने विराटपुत्र उत्तर को 'औरतों में शेखी मारनेवाले' कहकर खूब फटकारा और स्वयं धनुष्यबाण लेकर युद्धके लिये अग्रसर हुआ, उसी अर्जुन को श्रीकृष्ण के मुख से यह सुनने का मौका आया कि—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ २।३
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २।२

यह सुनकर भी—

'न योत्स्ये' इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥२।९ नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्। अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।

इस प्रकार अत्यंत शोकाकुल तथा खिन्न हुआ और चुप बैठ गया।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के युद्धसंबंधी विचारों में भारी अंतर रहा होगा। तभी तो श्रीकृष्णने अर्जुन को समझाबुझाकर युद्ध करनेके लिये तैयार कर लिया। अर्जुन का शोक क्या मोक्ष के उपाय से मिटनेवाला था? क्या अर्जुन को मोक्ष की ही चिंता पडी थी? यहां तक तो अर्जुन ने मोक्ष के बारेमें एक शब्द भी नहीं कहा। वह तो कहता था कि—

गुरूनहत्वाहि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २।५ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ २।७

गुरुहत्या की अपेक्षा और तत्प्राप्त भोगों की अपेक्षा भीख मांगना अच्छा! भैक्ष्य शब्दसे संन्यास-आश्रम सूचित होता है, इस के लिये प्रमाण क्या? अर्जुन को-क्षत्रिय को-संन्यासाश्रम लेना क्या धर्मसम्मत है? उसके मन में यह विचार आना ही कैसे सम्भव हो सकता है? उद्योगपर्व में संजय के व्याख्यान में जो 'भैक्ष्य' की कल्पना है अथवा धर्मराज के जवाब में जो 'भैक्ष्य' की कल्पना है, वही

क्यों न मान ली जावे? (संन्यास आश्रम नहीं।) 'कार्पण्य दोषने मुझे पछाडा है, इससे मैं धर्म-मूढ या किंकर्तव्यमूढ बन गया हूं। मेरे लिये इस समय क्या 'अच्छा'—श्रेयस्कर—होगा वह निश्चय से कहो। मैं विनम्र हो गया हूं।'

इस श्लोक के बारे में भी बडा विवाद है। बहुतेरे समझते हैं कि इस श्लोक का 'श्रेयः' शब्द 'परम कल्याण' वाचक या 'मोक्षोपायसूचक' है। परन्तु 'श्रेयस्' शब्द केवल निःश्रेयस् या मोक्ष का ही वाचक नहीं है। श्रेयः शब्द से ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण सूचित है। श्लोक में जो 'निश्चितं' क्रियाविशेषण है, वह इस अर्थ के लिये ऐसा दर्शाया जाता है मानो श्रेयः शब्द का विशेषण ही हो। जिससे वह शब्द 'श्रेयः' न मालूम हो किन्तु 'निःश्रेयः' ही मालूम होवे। और यही भी माना जावे कि श्लोक ३१—३८ का और श्लोक ७ का कोई भी संबंध नहीं है। 'शिष्यस्तेऽहं' वाला चौथा चरण भी इसी लिये उपनिषत्सांप्रदायी निःश्रेयसार्थी विद्यार्थी दर्शाने के लिये जानबूझकर रखा गया बतलाया जाता है। कार्पण्य किंबहुना श्लोक ५ में गुरुहत्या की अपेक्षा भैक्ष्य श्रेयस्कर है यह कहते समय 'श्रेयः' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। हमारी समझमें तो श्रीकृष्णने इस अध्याय के प्रश्नों के उत्तर व्युत्क्रमसे दिये हैं। प्रथम श्लोक ८ के 'शोक' के बारेमें विचार श्लोक ११-३० तक बताया गया है। अनंतर श्लोक ७ के 'धर्म' का विचार श्लोक ३१-३७ तक किया गया है। वह भी 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इन्ही शब्दोंसे किया गया है। 'अपि' शब्दसे अर्जुन का प्रश्न सूचित होता है। श्लोक ३८ से अध्याय के अन्ततक हत्यादोषोत्पन्न पाप का विचार किया गया है। देखिये—

अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ २।११
तथा देहांतरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३
शीतोष्णसुखदुःखदाः अनित्याः तांस्तितिक्षस्व॥१४
यं हि न व्यथयन्ति एते सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५
तस्मात्त्वं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ १५
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७
··· ··· तत्र का परिदेवना॥ २८
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि२९

इन २९ श्लोकों में 'न त्वं शोचितुमर्हसि' या इसी अर्थ के शब्द सात आठ बार आये हैं। ऐसे इतरत्र कहीं भी नहीं आये। ऐसी दशामें समझमें नहीं आता कि यह अर्जुन के २-८ के 'शोक' का उत्तर नहीं, किन्तु केवल सांख्यज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं तो क्यों और कैसे? यह तो कोई भी नहीं कहता कि इसमें 'ज्ञान' नहीं है। यह भी कहने में कोई आपत्ति नहीं कि इस ज्ञान के बतलाने का हेतु ऊपर का 'श्रेय' बतलाने की विनंति है। परन्तु जब कि अर्जुन के विवेचन के- प्रज्ञावाद के कह लीजिये- (१) शोक, (२) धर्म तथा (३) पाप, ऐसे तीन भाग बनाकर उसमें से प्रत्येक को द्वितीय अध्यायमें उत्तर देनेका प्रयत्न स्पष्ट दिखाई दे रहा है, तब भी उसका इन्कार करने का मोह उत्पन्न होता है। इसी के लिये इतना विवरण करने की आवश्यकता हुई।

श्लोक ११ में अर्जुन के विवरण को 'प्रज्ञावाद' कहकर फटकारा है सही। परन्तु 'प्रज्ञावाद' शब्द में इसी बातका दिग्दर्शन है कि अर्जुन ने अपने विचार व्यवस्थित रचना करके रखे हैं। परन्तु Consistancy in thought is no argument विचारोंकी व्यवस्थित रचना अचूकपन का लक्षण नहीं। Major premiss या मूल प्रतिज्ञा गलत हो तो सिद्धान्त गलत ही दिग्दर्शित होता है। अर्जुन के विचारों को चालना देनेवाले धार्तराष्ट्रबन्धु—

तान्समीक्ष्य स कौन्तेय सर्वान् बंधूनवस्थितान्।

या स्वजन या गुरु (२।४) इन्ही के संबंध में श्रीकृष्णने प्रथम प्रश्न किया। अर्जुन का मूल सिद्धांत ही अर्थात्—

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥
(१-३१;२-४)

इसीको गलत सिद्ध करनेका श्रीकृष्णने प्रयत्न किया। यदि वह सिद्ध हो जाय तो अर्जुनका तर्करूप मकान ही बैठ जायगा। श्रीकृष्ण कहते हैं कि

जिन्हें तुम स्वजन कहते हो वे स्वजन क्यों ? और उनकी हत्या कैसे ? उन्होंने पहले तो 'हत्या' 'शोक' और 'श्रेयः' शब्दोंकी ही खूब खबर ली। श्लोक ११-३० का मुख्य विषय यही है कि युद्धमें किसी को भी मारें, हत्या होती ही नहीं। मृत्यु तो शरीर को होती है, आत्माको नहीं। और देह मृत होनेपर भी देहान्तरप्राप्ति निश्चित ही है। इसका विवेचन इस प्रकार है—

प्रथम 'जन' शब्दका पृथक्करण शरीर और आत्मामें किया है। और 'स्वजन' शब्दही गलत सिद्ध किया है। अनंतर यह सिद्ध किया कि शोक का संबंध केवल देहेन्द्रियोंसे ही है। किन्तु वह शरीर क्या है ? कपडेके समान बदलने की चीज।

(१) अपन सब पहले थे, आज हैं और आगे रहेंगे। क्योंकि अभावमेंसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(२) जैसे कौमार, यौवन और जरा ये दशायें हैं, वैसे ही देहान्तरप्राप्ति क्रमप्राप्त और निःसंदेह होनेवाली स्थिति है। वह बिलकुल कपडे बदलने की क्रियाके समान है।

(३) सुख, दुःख अर्थात् शोक तो इंद्रियोंका खेल है।

(४) आत्मा तो अविनाशी है।

(५) इसलिये हत्या और हन्ता यह निरा भ्रम है।

(६) फिर शोक रहा ही कहाँ ?

(७) जन्ममरण तो है ही नहीं। आत्मा तो अविनाशी है। उस आत्माको जब मृत्यु नहीं है,तब मरेगा कौन और मारेगा कौन ?

(८) यदि यह भी मान लिया जाय कि जन्ममृत्यु तो सदा के लिये लगा ही है, तब भी शोकका कारण ही नहीं रहता। क्यों कि मरनेवाला फिर जन्म लेगा ही।

(९) इसलिये किसीको भी शोक न करना चाहिये।

इससे स्पष्ट होगा कि भगवान् ने ज्ञान बतलाया था यह बतलाया कि शोक न करना चाहिये और न शोक करनेका कोई कारण ही है ? साथ ही 'स्वजन' और 'हत्या' ये व्यावहारिक शब्द तत्त्वज्ञानमें बेसिरपैरके हैं। अतएव अर्जुन की मूल प्रतिज्ञा ही गलत है और उसपर खडा किया हुआ तर्कका किला ताशके घरके सदृश उड जाता है। यही बात अर्जुनको समझाई गई है। तात्पर्य यही कि यदि यह ज्ञान है तो वह श्लोक २-८ के शोककी विफलता दर्शानेके लिये है।

श्लोक २-३१ से २-३७ तक अर्जुनने धर्मसंमूढ हो जानेका दिग्दर्शन किया ह। उस धर्मदृष्टिसे विचार करें तब भी क्या दीखता है ? यही बात श्रीकृष्ण-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य।

से सूचित करते हैं। यह तो सूर्यप्रकाशके समान स्पष्ट है। २।७ के 'धर्म' शब्दका अर्थ क्या है सो आगे दिखाई देगा। परंतु इस का 'श्रेयः' शब्द श्रीकृष्णने किस अर्थ का समझा सो देखनेसे पता चलता है कि 'निश्चितं श्रेयः' = निःश्रेयस् इस प्रकार अर्थ हो सकता है या नहीं। हां, यदि यह कहना हो कि अर्जुन का प्रश्न जैसे श्रीकृष्ण समझे थे उससे अधिक अपन समझते हैं, तब बात ही भिन्न है। श्रीकृष्ण के जवाबसे तो यही दीखता है कि—

अथ चेत्त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥२।३३
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
२।३७

इस उत्तरसे करतलामलकवत् सिद्ध होता है कि श्रीकृष्णने दुहरा उत्तर दिया-ऐहिक दृष्टिसे कीर्ति और राज्य तथा पारलौकिक दृष्टिसे स्वधर्म, स्वर्ग या पाप मिलेगा। श्रीकृष्ण यद्यपि दुहरा जवाब दे रहे थे तब भी यह अनुमान किस बुनियादपर करें कि अर्जुनने केवल एकमात्र मोक्ष की दृष्टिसे ही प्रश्न पूछा था ? 'श्रेयः निश्चित रीतिसे बतलाओ' यह अर्जुनका प्रश्न है। निश्चित जो श्रेयः अर्थात् निःश्रेयस् बतलाओ ऐसा अर्जुन का कहना रहते हुए श्रीकृष्ण क्या व्यर्थ ही गलत समझ रहे थे ?

यह तो श्रीकृष्ण या व्यासजीकी अपेक्षा अपन ही अर्जुन का प्रश्न आज अधिक अच्छी तरह समझते हैं ऐसा कहनेके समान भूलका है। अर्जुन ने 'पाप लगेगा' का जो विधान किया है उसकी ओर अभ्यासकोंका इतना ध्यान नहीं गया जितना चाहिये था। अर्जुन जो 'न योत्स्ये' कह रहा है सो भी 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' की दृष्टिसेही। अर्थात् अर्जुन का कथन है कि युद्ध से पाप लगेगा, किन्तु अयुद्ध से नहीं लगेगा। इसके विपरीत श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'युद्ध न करेगा तो पाप लगेगा, इससे युद्ध कर।' अयुद्धसे पाप लगता है इस बातकी अर्जुनको सुध नहीं है। यदि खबर होती तो वह 'न योत्स्ये' का कारण पाप न कह कर और कुछ कहता या ऐसा कहता ही नहीं! श्रीकृष्ण कहते हैं कि युद्ध करते करते जीवित रहेगा और विजयी होगा तो पृथ्वी भोगेगा अर्थात् ऐहिक श्रेष्ठता प्राप्त करेगा, और मर जावेगा तो पारलौकिक स्वर्गसुख प्राप्त करेगा। वे यह नहीं कहते कि मोक्ष प्राप्त करेगा, इसका अर्थ क्या? क्या यह समझा जाय कि अर्जुन का मोक्षके बारेमें प्रश्न है और श्रीकृष्ण इसे टाल रहे हैं? साथही—

धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।

यह कह देते हैं। यहाँ देखिये उन्होंने अर्जुन का ही 'श्रेयः' शब्द कहा है। यह कहनाही न होगा कि कर्मवादियों के समान वे नहीं समझते कि क्षत्रिय के लिये मोक्ष नहीं है।

'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' की अर्जुन की शंका को श्रीकृष्ण क्या उत्तर देते हैं सो भी जानना चाहिये। यदि अर्जुन का यह प्रश्न होता कि 'हम शायद हार जावें' तब तो श्रीकृष्ण 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' जैसा दुहरा जबाब न देते, तब तो वे (१) जीत, (२) मृत्यु और (३) हार जैसा तिहरा उत्तर देते। किन्तु अर्जुन की भी अपेक्षा इसी प्रकार की होती तो वह भी 'अपजय' की दृष्टि से फिर प्रश्न करता। परन्तु उसने वैसा नहीं किया। अर्जुन ने 'भैक्ष्य' की कल्पना अवश्य की है, पर वह अपजय के डर से नहीं है, किन्तु वह गुरुहत्या या कुलक्षय के डरसे है। यह बात अबतक दिखलाई ही गई है। तात्पर्य यह कि अर्जुन के "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो" के कथन का सम्बंध 'गुरुहत्या या भैक्ष्य' अर्थात् संन्यास इस पिछले श्लोक से नहीं ह किन्तु 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' से ही है। अपजय का डर यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया, और श्रेयः शब्द निश्रेयस् के अर्थ में नहीं है, इतना सिद्ध करने का प्रयत्न यहां तक किया है। और अयुद्ध से भी पाप लगेगा यह नई बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सामने रखी, यह भी बतलाया गया है।

स्वजनहत्या या कुलक्षयके स्वरूप दो हैं-- एक ऐहिक और दूसरा पारलौकिक। पहले अध्यायके अन्तमें 'अहो बत महत्पापं' कहकर अर्जुन विषाद सहित शंका पूछता है, वही बात २-४ में समाविष्ट है। २-५ की 'रुधिरप्रदिग्ध भोग अथवा भैक्ष्य ?' की शंका केवल ऐहिक स्वरूप की है; उसका ऐहिक कुलक्षयसे संबंध है। उसके बारेमें आगे विचार करना है। बचे हुए दूसरे अध्यायमें 'पाप' के संबंधमें पारलौकिक भागको निपटारा किया है। उसका विचार २-३८से २-५३ तक आया है। निम्न लिखित वाक्योंसे यह स्पष्ट होगा-

(१) ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि। २।३८

(२) बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि। २।१८

(कर्मबंधः = पुण्य या पाप)

(३) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।२।४०

(भय = पाप)

(४) जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्ति अनामयम्। २।५१

२-३८ में युद्धसे 'नैवं पापम् अवाप्स्यसि' ऐसा निःसंदिग्ध रीतिसे बतलाया है। साथ ही 'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः पापमवाप्स्यसि (२-३३)' ऐसा २-३३ में कहा है। इससे स्पष्ट है कि इस युद्धकी आवश्यकता तथा तथा परिणामके संबंधमें श्रीकृष्णका मत अर्जुनके

मतसे बिलकुल ही भिन्न है। और इससे भी स्पष्ट होता है कि अर्जुनका प्रश्न 'युद्ध या अयुद्ध' (War or no war) ऐसा ही था। श्रीकृष्णने आगे भी दिखलाया है कि अयुद्धसे पाप किस प्रकार है। परंतु अभी इस अध्यायमें 'पाप' के संबंधकी शंकाके उत्तरमें स्पष्ट किया है कि युद्ध या कोई भी दिखनेमें विपरीत कार्य पापात्मक न होनेके लिये क्या करना चाहिये अथवा उसकी विपरीतता क्या करनेसे होती है। वास्तवमें वह पाप रहता है या नहीं यह प्रथम प्रश्न है और दूसरा प्रश्न है यदि वह पाप हो या माना जावे तो उसका निराकरण कैसे करना चाहिये। यहाँ पर विचार करने योग्य बात यह है कि श्रीकृष्ण इस दृष्टि से नहीं देखते कि यह पाप है या नहीं, वे 'पाप किस प्रकार न होगा' इसी दृष्टिसे देखते हैं, सो क्यों? १८ वें अध्याय के चातुर्वर्ण्य के संबंध के विवेचन से स्पष्ट होता है कि पुण्य और पाप के बारे में दो भेद करने पडते हैं- एक व्यक्तिगत और दूसरा सार्वजनिक। यह संभव न था कि अर्जुन को यह लगे कि 'हत्या भर जितनी है पापात्मक है'। जो हररोज युद्ध करता है या मांस खाता है, उसे ऐसी शंका होना सम्भव नहीं। उन दिनों में Civil Wars अर्थात् एक ही देश के भिन्न भिन्न पक्षों में लडाइयां न थीं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि उन दिनों के छोटे छोटे पर अलग अलग राष्ट्र अंतर्गत स्वातंत्र्य की दृष्टिसे बिलकुल स्वतंत्र रहा करते थे। किन्तु भारतीय-युद्ध तो Civil War 'आपसी युद्ध' था। इसीलिये अर्जुन को उस समय 'स्वजनहत्या' पापात्मक मालूम हुई। सम्पूर्ण हिन्दुस्थान को युद्धभूमिपर देखकर भी उसके मन में जनहत्या प्रश्न उपस्थित हुआ हो। परन्तु यह शंका मुख्यतः 'कुलहत्या' या 'कुलक्षय' के रूप में उसके सामने आई हुई मालूम होती है। इस संबंध में यह भी ध्यान रहे कि संजय ने उसे कुलक्षय का ही डर दिखाया था। उसने अपने मन में यही हौवा खडा किया था कि कुलक्षय का परिणाम 'लुप्तपिंडोदकक्रिया में' और तदुत्पन्न पितरों के नरकवास में होता है। यह कह सकना तो असंभव ही था कि कुलक्षय न होगा। तब यदि यह पाप माना जावे तो उस पाप का परिहार कैसे होगा इसी दृष्टिसे श्रीकृष्ण ने यहाँ पर विचार किया है। वास्तव में क्षत्रिय का कर्तव्य ही है और था भी कि जो कोई शत्रु के नाते खडा होगा उससे युद्ध करना। उसमें भी यहाँ तो स्वतः के हकोंपर हमला करनेवाले और उन्हें सहायता करनेवाले थे फिर वे पूजनीय गुरु हों वा अन्य कोई भी हो। उन्हें तो विचार ही न था कि मित्र कौन है और शत्रु कौन है। पाण्डव वास्तव में मित्र थे परन्तु कौरवों ने उन्हें शत्रु समझ लिया था। और यही समझकर वे उनसे युद्ध करनेको तैयार हुए थे। ऐसे समयमें उनसे युद्ध करना आवश्यक ही था। तब उसमें पापका संबंध कहाँसे आ सकता है? यह तो आत्मरक्षा (Self defence) का ही प्रश्न था, उसमें स्वजनहत्याके दोष की जवाबदेही पाण्डवोंपर कैसे पड सकती है? परंतु अर्जुनने प्रथम ही जतला दिया कि—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मात् निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९

वे यदि लोभसे यह कर्म करनेको प्रवृत्त हुए हैं और आततायी हैं, तब भी क्या हम दोषको देखते हुए उसी कार्यको करनेके लिये प्रवृत्त हो जावें? यहाँ व्यक्तिके पापका प्रश्न न था। उसे लगता था कि सामाजिक स्वरूप का पाप है। चातुर्वर्ण्यघटित समाजमें इस प्रकार का 'स्वकर्म' रहते हुए भी 'विगुण' कर्म करनेका मौका आ जावे तो भी 'स्वभाव-नियत कर्म करनेसे दोष नहीं लगता' (१८—४) यही श्रीकृष्णने बतलाया है। इसके सिवा 'साम्य कर्मसे' साम्य पद्धतिसे कर्म करें तो दोष नहीं लगता ऐसा भी उस अध्यायके बचे हुए भागमें और आगे चलकर १८ वें अध्यायमें तथा अन्यत्र भी जतला दिया है। कोई भी कर्म दोषयुक्त रहता है। केवल गुणयुक्त या केवल दोषयुक्त ऐसा कर्म रहता ही नहीं। प्रत्येक कर्मको

गुणदोष अर्थात् पापपुण्य भी लगे ही रहते हैं।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ १८-४८

अर्थात् कर्मकी ओर जिस बुद्धिसे देखो उस बुद्धिके अनुसार प्रत्येक कर्म में गुण-दोष दिखने लगेंगे। और वह कर्म पुण्यात्मक या पापात्मक मालूम होने लगेगा। ऐसे समय पुण्य और पापका निश्चय करते न बैठकर पुण्य और पाप दोनोंका समान दोष माननेसेही सच्चा कार्य होगा या सिद्धि प्राप्त होगी।

'स्वर्मनिरतः सिद्धिं विंदति' या
'स्वकर्मणा सिद्धिं विंदति'

इन श्लोकोंमें वही बात बतलाई गई है। और यह भी जतला दिया है कि—

कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्॥ १८-१८

उसके करनेसे पाप नहीं लगता १८।४५-४६। यही नहीं किंतु यह इस विशिष्ट पद्धतिसे किया जावे, तो—

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां अधिगच्छति॥ १८-४९
और अन्तमें
ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८-५३
मामभिजानाति विशते च तदनंतरम्॥ १८-५५

तात्पर्य यह कि स्वकर्मनिरत रहते हुए पापकी कल्पना करना बिलकुल अनुचित है, कर्म तो गुण-दोषयुक्त रहता है। इसलिये एक दृष्टिसे वह गुण-युक्त और एक दृष्टिसे दोषयुक्त दिखाई देता है। यही कारण है कि स्वकर्म करते समय प्रत्येक को संदेह हो सकता है और वह दुविधामें भी पड सकता है। कर्म व्यक्तिकी दृष्टिसे गुणयुक्त या दोष-युक्त रहते भी समाजदृष्टिसे वह गुणमय रह सकता है मनुष्यको चाहिये कि इस बात की ओर ध्यान देकर उसे करे, पापका भय न रखे।

कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम्॥ १८-१७

यह प्रथमाध्याय के 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्॥' की शंका का उत्तर ही है। और वह मोक्षका साधन भी हो सकता है।

नर से नारायण।

भगवान् ने 'नर' से गीता कही सो इसी लिये कि मनुष्य 'नर से नारायण' बन जावें। उन्नति प्राप्त करने के लिये ही मनुष्य का जन्म है। उस का उप-योग यदि मनुष्य उन्नति के लिये नहीं करता, तो उसका जन्म व्यर्थ होगा। मनुष्य का यही ध्येय गीता में 'ब्रह्मप्राप्ति' शब्दों से अनेक स्थानों में निर्दिष्ट है। देखिये—

गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ ८।२४
ब्रह्म संपद्यते तदा॥ १३।३०
ब्रह्म तदाप्नोति॥ १८।५०

'जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।' इस अर्थ के वचन गीता में अनेक हैं, वे सब यहाँ उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं। यह बात एक वचन से बतलाई गई हो वा अनेक वाक्यों से बत-लाई गई हो, यहाँ यही देखना है कि वह बात सत्य है या नहीं और यदि सत्य है तो किस दृष्टिसे?

'नर करणी करे तो नरका नारायण बन जाता है।' इस विषयमें गीताके उपदेशमें ज़रा भी संदेह नहीं है। गीताका तो यह निश्चित सिद्धान्त है। जो मनुष्य नारायण बन गये हैं, यदि वे कहें कि उस स्थितिमें अमुक होता है, तो पीछेसे आनेवाले लोगोंको उससे उस स्थिति की कुछ कल्पना होगी और आगे बढने में उत्साह रहेगा। अतएव ऐसे लोगोंसे राह पूछते हुए तथा आगेके अनुभवका थाह लेते हुए मार्गक्रमण करना होगा। गीता में इस अनुभवके अनेक निर्देश हैं। इस लेखमालामें उनका विचार क्रमसे किया जावेगा। आज केवल यही देखें कि 'नरसे नारायण' बननेका क्या अर्थ है।

ब्रह्मप्राप्ति, परमात्मप्राप्ति, ईश्वरप्राप्ति, देव प्राप्त होना, आदि शब्द अपन बारबार सुनते हैं । इनका अर्थ क्या है ? यह भी देखना आवश्यक है कि इनसे अपन कौनसा निश्चित बोध लें ।

लोहेमें अग्नि लगनेसे लोहा अग्निके समान हो जाता है । लकडी भी अग्निके पास रहनेसे अग्निके समान हो जाती है । लोहा और लकडी मूलमें अग्निके समान दाहक नहीं है।वह अग्निकी उपासनासे अग्निके समान हो जाता है । उपासनाका अर्थ है पास बैठना, सन्निध रहना । उपासनाका अन्य कोई भी अर्थ वाचक न लें । इस शब्दका सच्चा अर्थ पास जाकर संन्निध रहना, बस इनता ही है। यदि लोहा, जो कभी भी जला नहीं सकता, अग्निके संन्निध रहनेसे अग्निके समान बन जाता है; तो मनुष्य भी यदि ईश्वरके पास रहने लगा तो ईश्वर क्यों न बनेगा ? इस विवेचनसे इतना अवश्य ही मालूम होगा कि बननेका संभव है ।

इस सम्बन्धमें अन्य भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं । कहीं कहीं सामान्य मनुष्योंमेंसे अध्यक्ष, सरपंच या राजाका चुनाव किया जाता है । प्रायः गुणबाहुल्यके बलपर ही यह चुनाव किया जाता है । कहीं कहीं घूसखोरी होती होगी, पर इतना तो सत्य है कि गुण-विशिष्टतासे ही वह चुनाव होना चाहिये । इससे विदित होगा कि विशिष्ट गुण यदि मनुष्यमें बढें तो ' रंकसे राजा ' बन जाता है। जंगली दशासे अत्यन्त सुधरे हुए राज्य तक सभीमें गुणके प्रकर्षसे ही रंकसे राजा बन जाता है। सभाका अध्यक्ष भी ऐसा ही बनता है। गुरुके संनिध रहने से अज्ञानी बालक कुछ कालमें ज्ञानवान् पण्डित बन सकता है । ऐसे अनेक उदाहरण अपन हर रोज देखते हैं । इससे यही लगता है कि देवके गुण यदि अपनाये जावेंगे तो अपन देव क्यों न बनेंगे ? इस संशयित भावके संबंधमें गीताने स्पष्ट ही बतला दिया है कि इस विषयमें शंका करनेका कोई कारण नहीं, मनुष्य निश्चयसे देव बनेगा, केवल वह उस प्रकारका कर्म भर करे " । इस वाक्यको पढकर वाचकोंको बहुत कुछ हिम्मत होगी और वे निराश न होंगे । इतना भी निश्चय उनके मनमें हो जावे तब भी बहुत है ।

ब्रह्म, परमात्मा, नारायण, ईश्वर, देवके बारेमें साधारण लोगोंको निश्चित कल्पना नहीं रहती । जो शब्द बारबार सुनाई देते ह उनका सत्य आशय समझना भी दुरापास्त हो जाता है । यही हाल उक्त शब्दोंके विषयमें हुआ है । यह तो मतलब कदापि नहीं है कि इन शब्दोंके उच्चारणके साथ कुछ भी कल्पना नहीं होती । कहना यही है कि इन शब्दोंसे जो निश्चित कल्पना दर्शित है, उससे बहुत कम लोक परिचित रहते हैं । इसलिये यदि किसीको मालूम होने लगे कि अब इसके बारेमें बीच बीचमें नवीन परिभाषा का उपयोग किया जावे, तो आश्चर्य न करना चाहिये, क्योंकि वे ही शब्द बारबार कानपर आने लगते हैं तब आगे चल कर उनसे जैसा बोध होना चाहिये वैसा नहीं होता । इसके लिये उदाहरण देखिये । जो दृश्य हमेशा खडे होकर देखते हैं उसको ऊपर पैर और नीचे सिर करके देखें, तो वह अधिक चमकदार दिखाई देता है । इसका कारण यही कि देखनेका दृष्टि-कोण बदल जाता है । इसी प्रकार यदि अपन उक्त शब्दोंको नयी दृष्टिसे देखने लगें, तो उन्हींमेंसे अपनेको अधिक स्पष्ट और सच्चा अर्थ दिखाई देना संभव है ।

' नरसे नारायण ' न कहकर 'पुरुषसे पुरुषोत्तम' कहें तो मालूम होता है समझनेमें कुछ सरलता होगी । क्यों कि सभी जानते हैं कि ' पुरुष ' का अर्थ ' मनुष्य' है तथा सभी लोग सरलतासे समझ सकते हैं ' पुरुषोत्तम ' का अर्थ 'श्रेष्ठ पुरुष, अत्यंत श्रेष्ठ पुरुष, या पूर्ण पुरुष' है। ' नरश्रेष्ठ ' शब्द भी यही अर्थ दिखलाता है । तिसपर भी ' पूर्ण पुरुष ' उससे भी योग्य शब्द है और वह सुबोधताकी दृष्टिसे भी अच्छा है ।

' नरसे नारायण ' बनने का अर्थ है ' पुरुषसे पूर्ण पुरुष ' बन जाना । इसका अर्थ ठीक ठीक समझने के लिये हम वाचकोंसे कहेंगे कि वे स्वयंही विचार करें । अपन पूर्ण हैं या अपूर्ण, इसके बारेमें

अपन खुद क्या सोचते हैं ? सम्पूर्ण जगत्से तुलना करनेपर क्या यही मालूम होता है कि मैं अल्पशक्ति" मान् हूं अथवा महाशक्तिशाली ? अपन खुद अपने लिये क्या समझते हैं यह तो जिसका वही मनमें सोच ले। विचार करनेपर प्रत्येकको यही लगेगा कि अभी अपनी शक्ति अल्प है। यही शक्ति की अल्पता का विदित होना ' नर ' की भूमिका है।

'मैं छोटा हूं, मैं मूढ हूं' ऐसा लगते ही यही 'नर' अपने ही (शरीररूप) रथमें बैठनेवाले ' नारायण' (ईश्वर) को अपनी शक्ति बढाने की युक्ति पूछता है। अर्जुनरूप नरने भगवान्रूप नारायण से यही प्रश्न गीताके आरंभमें पूछा है। इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिये गीताका अवतार है। मनुष्य ' पूर्ण पुरुष ' कैसे बनेगा, किस उपायसे मनुष्यकी अपूर्णता जाकर पूर्णता आवेगी, इसीका विचार गीताने किया ह।

उन्नतिका मार्ग सबके लिये खुला है।

पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी रहे, यहांतक कि बिलकुल चांडाल भी रहे वह यदि गीताके उपदेशके अनुसार चलेगा, तो वह पूर्णताको पहुंच सकेगा। यह बात गीता स्पष्ट शब्दोंमें कहती है, देखिये—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥ ३३
(गी. अ. ९)

" चांडाल, स्त्रियां, वैश्य, शूद्र, ये भी इस उपदेशका आश्रय करनेसे पूर्णत्वको पहुंचते हैं; फिर ब्राह्मण और क्षत्रिय पूर्णत्वको पहुंचेंगे इसमें आश्चर्य क्या ?"

गीताके उपदेशका महत्त्व यह है कि गीताने उन्नतिका मार्ग सबके लिये खुला कर दिया है। यहां किसीके लिये भी मनाई नहीं है। सभी लोग इस राजमार्गसे जावें और उन्नति के शिखरपर पहुंचें। किसी भी स्थितिका अपूर्ण मनुष्य क्यों न रहे, वह इस मार्गसे अवश्य ही पूर्ण होगा। यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि पूर्णत्व प्राप्त होनेका काल प्रत्येकके परिश्रमपर अवलंबित रहेगा।

गीताने निम्न श्रेणीसे उच्च श्रेणी तकके सब मनुष्योंकी उन्नतिका मार्ग खुला कर देनेका असाधारण कार्य किया है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष 'उत्तम पुरुष ' बने, 'पूर्ण पुरुष' बने, यही मनुष्यका ध्येय है और इसीको ' नरसे नारायण ' बनना कहते हैं। इसीको ' ब्रह्मप्राप्ति, परमात्मप्राप्ति, ईश्वरप्राप्ति, देव मिलना ' इत्यादि नाम हैं। इस सबका स्पष्ट अर्थ यही है कि ' मनुष्य पूर्ण बने '।

पूर्ण बनना क्या है ?

मनुष्य पूर्ण बने इसका अर्थ क्या है ? वह किस प्रकार और कब पूर्ण बनेगा ? ऐसे प्रश्न विचारी वाचक उपस्थित कर सकते हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर साकल्यसे आगे दिया जावेगा। यहां केवल यही बतलाना है कि सब प्रकारकी अपूर्णता दूर कर देनेसे पूर्णता प्राप्त होगी। परमेश्वर पूर्ण है इसीसे उसे ' पूर्ण पुरुष ' कहते हैं। उसमें अपूर्णता बिलकुल नहीं है। ऐसे पूर्ण पुरुषकी प्राप्ति होना ही स्वयं पूर्ण बनना है। परमेश्वर की प्राप्ति हो जाने से सब न्यूनता और अपूर्णताका लोप हुआ रहता है। इतने विवेचनसे पूर्णताकी कल्पना होना कठिन अवश्य है; किन्तु हम केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि मनुष्यका पूर्ण बनना और पूर्ण पुरुष की प्राप्ति होना दोनों बातें एकही हैं। इससे विदित होगा कि हमारे सब धर्मग्रंथोंका ध्येय 'मनुष्योंकी पूर्णता ' है।

यह पूर्णता स्वाभाविक रीतिसे मिलेगी अथवा अस्वाभाविक रीतिसे मिलेगी ? इस प्रश्नका निश्चय होना आवश्यक है। जैसे अग्निकी चिनगारी सूखे घांस तथा वायुकी अनुकूलता मिलनेसे बडी भारी दँवारके रूपमें परिणत हो जाती है; जैसे झाडका फल योग्य जमीनमें पडनेसे वह उचित समयमें वृक्षका रूप धारण करता है; जैसे लडका उचित वयको प्राप्त करनेपर पिताके समान कर्तृत्व कर दिखाता है, क्या वैसे ही मनुष्यका पूर्ण बनना स्वाभाविक है? जैसे उपरके उदाहरणोंमें तनिक भी

कृतिमता नहीं, क्या वैसे ही मनुष्यके पूर्ण बननेमें कृत्रिमता नहीं है? इस प्रकार पूर्ण बनना क्या मनुष्यका जन्मसिद्ध स्वभाव है? इस प्रकार पूर्ण न बनना क्या अपवाद समझा जावे? इसके विपरीत यदि मनुष्यका पुतला किया जावे, तो वह दूसरे मनुष्यके समान दिखेगा, परंतु मनुष्यके समान कार्य न कर सकेगा। जैसी कृत्रिमता है, जैसी अस्वाभाविकता है, वैसे ही क्या मनुष्यकी पूर्णता भी कृत्रिमतासे होना है? यह पूर्णता ऊपर बतलाए अनुसार स्वाभाविक होनेवाली है अथवा कृत्रिमतासे साधना है? ये ही प्रश्न इस समय अपने सन्मुख हैं। इन्हींपर अब कुछ विचार करेंगे।

अस्वाभाविकतासे और कृत्रिमतासे यदि पूर्णता बननेवाली होगी, तो वह वास्तविक पूर्णता नहीं है; वह बने तब भी अच्छा है। इतनाही नहीं, ऐसी नकली पूर्णता हानिकारक होनाही स्वाभाविक है। उदाहरण देखिये। जो लोहा बिलकुल ठण्डा रहता है वह अग्निके सान्निध्यसे प्रज्वलित अग्निके समान बन जाता है। लकडी भी ऐसे ही ज्वलन्त अग्नि बन जाती है। परंतु यह कृत्रिमता कितनी देर रहेगी? अग्निका सान्निध्य जरा ही कम हुआ, तो लोहा ठण्डा होने लगता है और लकडी भी बूझकर ठण्डी हो जाती है। इसलिये लोहा या लकडी इस प्रकार अग्नि-पनका स्वांग करे तो उससे क्या लाभ? ऐसी नकली पूर्णता मिलनेवाली हो तो वह हमें न चाहिये। यही बात वाचक कहेंगे और अन्य भी कोई ऐसाही कहेगा। नाटकमें घडी दो घडी राजाका भेष लेकर राजा बने रहनेसे क्या? ऐसा राजापन किसीको भी पसंद न होगा। हमारा धर्म जिस 'पूर्णता' की प्राप्तिका ध्येय जनताके सन्मुख रखता है वह ऐसी नकली नहीं है। भगवद्गीताने ऐसी बनावटी बातको अपने उपदेशमें कहीं स्थान ही नहीं दिया। गीताका उपदेश तो यह है कि प्रत्येक मनुष्यमें पूर्ण बननेका अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति कर लेनेका स्वाभाविक अंकुर है। देखिये-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
गी. १५।७

"ईश्वरका ही अंश इस लोक में सनातन जीव बनकर रहा है।" वह ईश्वर का ही अंश होने से, सब विघ्नों की पर्वाह न कर वह पुनः ईश्वररूप में निश्चय से विस्तार पावेगा। इसमें संदेह ही नहीं है। अग्नि की चिनगारी मूलतः अग्नि में से ही आने के कारण और उस में अग्नि के गुण पूर्णतया रहने के कारण, अनुकूल परिस्थिति के मिलते ही वह पुनः अग्निरूप बन ही जाती है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष का सत्त्व होने से अनुकूल परिस्थिति के मिलने से वही बीज वृक्षरूप में विस्तार पाता है, उसी प्रकार जीव ईश्वरका ही अंश होनेके कारण यदि अनुकूल परिस्थिति कायम बनाये रखेगा, तो निःसंदेह परमेश्वरस्वरूप प्राप्त कर लेगा।

मनुष्य के प्रत्येक वीर्यबिन्दु में पिता के शरीर के सब अवयवों का सत्त्व रहता है और रजोबिंदु में माता के शरीरावयवों का सत्त्व रहता है। इसी लिये बालक का देह मातापिता के समान बनता है। इसमें कृत्रिमता बिलकुल नहीं है। यह तो उसका स्वभावही है। ऐसी पूर्णता न हुई तो समझ लो कि उसमें कुछ अडचनें उपस्थित हुई। योग्य परिस्थिति में लडका पिता के समान होता ही है। इसी प्रकार यदि जीव ईश्वर का अंश है, तो वह पूर्ण होकर ईश्वर ही बनेगा इसमें संदेह ही क्या? तात्पर्य, यह कि जीव का पूर्णता को पहुंचना उसका स्वभाव ही है। किसी भी कृत्रिम उपाय से कुछ ही समयतक टिकनेवाली पूर्णता का आभास होना यहां संभव नहीं।

यह जीव क्या सचमुच ही ईश्वर का अंश है? क्या जीव सचमुच शरीर से भिन्न कोई चीज है? ऐसे प्रश्न यहां उपस्थित हो सकते हैं। इन प्रश्नों का विचार स्वतंत्रता से एक अलग लेख में विस्तारसे करना आवश्यक है। इससे उनपर यहाँ विवेचन नहीं किया जाता। यहाँ तो केवल यही बतलाया गया कि गीताने क्या सिद्धान्त सामने रखा। वाचक देखें कि यदि यह सिद्धांत मन में स्थिर किया जावे, तो उतने ही से अपनी मनोभावना में

कितना भारी अन्तर हो जाता है। 'मैं ईश्वर का अंश हूँ। आज यद्यपि मेरी शक्ति अत्यन्त अल्प दिखती है, तथापि मैं पूर्ण बनूंगा और मेरी सब शक्तियां पूर्णतया विकसित होंगी।' यदि यह आत्म-विश्वास मनुष्य के मनमें स्थिर हो जावे, तो कितना भारी कार्य होगा! इस विश्वास से मनुष्य सीधे मार्गपर रहेगा। और इस विचार से वह स्वयं ही अपने आप को सन्मार्ग पर रखेगा। इस विचार से 'स्वयंशासन' का तत्त्व मनुष्य में उत्पन्न होता है। यह भी कुछ छोटा-मोटा लाभ नहीं है।

आत्मपरीक्षा और स्वयंशासन ये दो अत्यंत महत्त्व की बातें हैं। उनका आत्मोन्नति से किस प्रकार का सम्बन्ध है सो अगले लेख में देखेंगे।

गीतार्थ-सेवन।

(ले०- श्रीयुत वा० कृ० सोहनी)

गीताके अर्थकी आज दिन तक इतनी चिकित्सा हुई है कि उसके हर एक श्लोक, हर एक पद और हर एक शब्द का अर्थ कोई भी थोडे अभ्याससे, स्पष्ट रीतिसे बतला सकेगा। अर्थसे मतलब है तर्जुमा या भाषांतर का। परंतु गीताका केवल-अर्थातीत अंतरंग कितने जान सकते होंगे, कौन कह सकता है? 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भाषांतरके लिये अत्यन्त सरल है, परंतु उसका अनुभव करना या उसे हृदयमें पूर्णतया प्रतिबिम्बित करना अत्यधिक कठिन है। बस, इसी तरह गीताका भाषांतर या केवल शब्दार्थ मालूम कर लेना और गीताका अंतरंग जान लेना या जिसे 'गीतार्थ-सेवन' कह सकते हैं करना इन दो बातोंमें जमीन-आस्मानका अंतर है। आज तक गीतापर अनेक टीकाएं और व्याख्याएं लिखी गई। परंतु सच्चे गीतार्थके संबंध में उनका एक मत नहीं है। जो जिस पंथ या उपपंथका रहता है, उसे उसमें अपने ही मतका प्रतिपादन दिखाई देता है। जिस प्रकार आर्त मनुष्य डाक्टरको रोगी दिखता है, ज्योतिषीको ग्रहदशा के चक्करमें फँसा दिखता है, पंचाक्षरीको पिशाच का झपटा हुआ दिखता है; वैसेही यहाँ है। इसी दृष्टिसे देखें तो 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं' की हालत है। क्यों कि आज भी गीता 'कर्मसंन्यास' का उपदेश करती है या 'कर्मयोग' का उपदेश करती है, इस विषयमें जोरके विवाद होते हैं। तो क्या इतने लोग जो अबतब हो गये वे गीताके मथित अर्थको समझे ही नहीं? गीतार्थ-सेवनमें उनसे क्या भूल हुई? इस प्रश्नका उत्तर हाँ या नहीं भी रूपमें न देकर केवल श्री ज्ञानेश्वर महाराजके 'ज्ञानेश्वरी' ग्रंथसे 'गीतार्थ-सेवन' के पद्य उद्धृत करता हूं। ये पद्य अत्यन्त रसभरे तथा तात्त्विक हैं—

जैसे शारदीचियें चंद्रकळे। माजी अमृतकण कोंवळे। ते वेंचिती मनें मवाळें। चकोरतलगे॥ १०५६॥तियांपरी श्रोता। अनुभवावी ही कथा। अति हळुवारपण चित्ता। आणुनीयां॥१०५७॥ जैसे भ्रमर पराग नेती। परी कमळदळें नेणती। तैसी आहे सेविती। इये ग्रंथीं॥१०५८॥ कां आपुला ठाओ न सांडितां। आलिंगिजे चंद्र प्रगटता। हा अनुराग भोगितां। कुमुदिनी जाणें॥ १०६०॥ ऐसेनी गंभीरपणें। स्थिरत्वलेनि अंतःकरणें। आथिला तोचि जाणे। मानूं इयें॥ १०६१

गीतार्थ-सेवनका तरीका काव्यपूर्ण भाषामें इतना हृदयग्राही तथा यथार्थ अन्यत्र शायद ही मिले।

शरद् ऋतुकी निर्मल चंद्रिकाके अत्यंत कोमल अमृत कण जिस प्रकार चकोरके नन्हे बालक अत्यन्त मृदुतासे चुग चुग कर सेवन करते हैं। अर्थात् यह नाजुक काम वे ही कर सकते हैं दूसरे पक्षियोंसे वह कदापि नहीं बन सकता। इन चकोरके बच्चोंके समान श्रोता या वाचक या अभ्यासक गीताका अनुभव करे। वह कैसे सो बताते हैं कि सांप्रदा-

यिक मतका अभिमान या लट्ठपाण्डेपन आदिको पास जरा भी फडकने न देकर सावकाश तथा सावधान हो अच्छी तरह समझ लिया जावे। जिन ज्ञानेश्वर महाराज की उपमा देनेकी अद्वितीय शैली को देखकर अलंकारशास्त्रज्ञ अब पछताते हैं कि 'उपमा कालिदासस्य' फजूल कहा, वे ज्ञानेश्वर महाराज और भी दृष्टान्त देते हैं। 'जैसे भ्रमर पराग नेती' इत्यादि अर्थात् जिस प्रकार भौंरे कमलके गाभेमें घुसकर उस कमलके पराग भी ले जाते हैं, किन्तु 'कमळदळे नेणती' कमलके दलों को पता भी नहीं चलने देते। अथवा कुमुदिनी अपने स्थानमें सरोवरमें ही रहकर ऊगनेवाले चंद्र को जिस प्रकार आलिंगन देती हैं। दूसरोंके नसीब में यह अनुराग या इस प्रेमामृतका स्वाद कैसे हो? 'ऐसेनि गंभीरपणें' अर्थात् गहरा और दूर तकका विचार करके-केवल ऊपर ऊपर विचार करके नहीं-और 'स्थिरावलेनि अंतःकरणें' अर्थात् हृदयमें ऊपर कहे अनुसार स्वमताभिनिवेशादि न रखकर जैसे चकोरके बच्चे, भृङ्ग या कुमुदिनी अमृतकण,कमलपराग और आलिंगनानुराग भोगते समय जैसे चित्त एकाग्र करते हैं वैसे एकाग्र चित्तसे "गीतार्थ-सेवन" किया जाय। 'आथिला तोचि जाणे मानूं इये' अर्थात् जो ऐसा करेगा उसीसे वह सधेगा। गीतार्थ-सेवन की रीति इस प्रकार की है। जैसे किसी उत्तम चित्रकारको यदि कोई अत्युत्तम चित्र बनाना होता है, तब रंग की कलम से भिन्न भिन्न छटा देते समय कितना ही विचार करना पडता है! यदि मन जरा भी अस्थिर हुआ तो बहुत भारी नुकसान होता है, कभी तो सत्यानाश हो जाता है। यहां भी यही हाल है। इसी लिये ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा कि 'ऐसेनि गंभीरपणें। स्थिरावलेनि अंतःकरणें। आथिला तोचि जाणे। मानूं इये॥' अर्थात् गम्भीरता से, स्वमत का अभिमान त्याग कर, एकाग्र चित्तसे जो गीतार्थसेवन करेगा वही सच्चा सेवन कर सकेगा।

इस प्रकार की सेवन-विधिमें विघ्न कौनसे होते हैं? उनपर भी कुछ विचार करें। ये विघ्न हैं सांप्रदायिक वृत्ति, मताभिनिवेश तथा जल्दी करके स्वमत प्रदर्शन की चाव। सांप्रदायिक वृत्ति ही इतना बडा विघ्न है कि उसीने आज दिन इतनी गडबडी मचा दी। सांप्रदायिक वृत्ति चाहे व्यवहार में हो, ईश्वरभक्ति में हो, या साहित्यक्षेत्र में हो, वह अपना परिणाम दिखाए बिना रह नहीं सकती। इसी वृत्ति की हानिकारकता शैव-वैष्णवों के बीच की गत काल की लडाई ही दिखाती है। वैष्णव संप्रदाय के लोग चंदन खडा लगावेंगे, स्त्रियां भी कुंकुम की रेखा खडी ही रखेंगी, कपडे की सीयन भी खडी रखेंगे, एकादशी व्रत को अत्यन्त पवित्र समझेंगे और शिवरात्रि के दिन हठ से भोजन करेंगे! अस्तु।

सांप्रदायिकता ऐसी विचित्र चीज है कि वह अपने पाश में लोगों को फँसाकर भी यह नहीं मालूम होने देती कि हम पाश में फँसे हैं! नशा करनेवाला जैसे नहीं जानता कि नशे में हम कुछ अयोग्य बात कर रहे हैं, उसी प्रकार साम्प्रदायिक नशे चूर होकर मनुष्य अयथार्थ बोलजाता है और अयथार्थ प्रतिपादन करता है। अयथार्थ से मतलब वह जो जहाँ जैसे बतलाया गया हो वैसा न होना। इसीलिये हरएक मनुष्य अपने सांप्रदायिक मत के संबंध में लिखते समय प्रांजल, स्पष्ट, पूर्ण खोज के उपरान्त निश्चित किया हुआ आदि विशेषण लगाता है। बहुतेरे साम्प्रदायिक एकाक्ष हिरन के समान वाग्वन में संचार करते हैं। एकाक्ष हिरन जैसे उसी ओर की चीजें देखता है जिस ओर उसकी आंख हो, और दूसरी ओर का शिकारी नहीं देख पाता। उसी तरह सांप्रदायिक मनुष्य यही समझकर चलता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में अपने ही मत का विस्तार है। उसे पता हो नहीं रहता कि अपन बडी बडी भूलें कर रहे हैं, कुछ स्थानोंमें अपनी सदसद्विवेकबुद्धिके निर्णयको हठसे दूर कर अपने सांप्रदायिक मतकी पुष्टिके लिये आत्मवंचना कर रहे हैं।

यह हो सकता है। किन्तु साम्प्रदायिक मनुष्य

पूरे ग्रंथका अर्थ अपने मतके अनुकूल लगा सकता है। सो क्या कम बात है? तो क्या हम लोग उसके इस एकमात्र गुणसे मोहित हो उसके मतकी समालोचना, व्याख्या आदि अन्य बातें बिलकुल ही न न पढें? अवश्य ही पढें। परंतु उस पठनसे जो विश्वास कर लेते हैं कि मूल ग्रंथका सम्पूर्ण सार हम समझ चुके, सो न होना चाहिये, क्यों कि जब मनुष्य किसी एक मतका निश्चय कर यदि किसी ग्रन्थका परीक्षण करे तो वह अपने मतकी पुष्टि करनेवाले विधान इकट्ठे कर सकता है। विशेषतः गीता जैसे ग्रंथका अंतरंग स्पष्ट तो नहीं होता उलटे विकल्प भर बढते चले जाते हैं। संस्कृत भाषाकी विपुलता तथा अर्थविविधताके कारण ये बातें होती हैं। इस सम्बन्धका विवेकानन्दके व्याख्यान का एक अंश यहां उद्धृत करते हैं—

"संस्कृत भाषाही अर्थविविधतासे ऐसी सजी है और संस्कृत भाषा-शास्त्रही ऐसी पूर्णताको पहुंचा हुआ है कि एकाध शब्दके अर्थका विवेचन युगों तक चल सकता है। यदि किसी पण्डितने चाहा तो वह अपनी विद्वत्तासे व्याकरणशास्त्र तथा ग्रन्थप्रामाण्यके बलपर एक बालिशके प्रलाप को भी बिलकुल शुद्ध संस्कृत (या बिलकुल श्रुति-स्मृतिपुराणोक्त) सिद्ध कर सकता है। ग्रन्थके समझनेमें येही अपने भारी विघ्न हैं।" इसी व्याख्यानमें आगे उन्होंने कहा कि "मुझे महत्भाग्यसे सांप्रदायसे अतीत ऐसे सत्पुरुषके संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

"तब मैंने पहले पहल समझा कि उपनिषद् तथा अन्य धर्मग्रन्थ टीकाकारोंका अंधानुकरण न कर स्वतंत्र रीतिसे और भी अधिक अच्छी तरहसे कैसे समझे जावें।" यह अभ्यासकी रीति स्वामीजी जान गये। इसीको ज्ञानेश्वर महाराज 'ऐसेनि गंभीरपणें। स्थिरावलेनि अंतःकरणें" कहते हैं।

अन्तमें यही विनय है कि वाचक इसी रीतिसे गीतार्थसेवन करें और कृतकार्य हो जावें।

गीताका एक श्लोक।

(लेखक- श्री जयदयालजी गोयन्दका)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २।२२)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे (ही) जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।

इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने पूर्वशरीरको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरके प्राप्तिके सम्बन्धमें वस्त्रोंके बदलनेका दृष्टान्त देकर अर्जुनको आत्माकी नित्यता समझायी है। वस्त्रोंके उदाहरणके विषयमें कई प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं, अतः यहाँ उनका समाधान किया जाता है।

शंका- पुराने सडे-गले गन्दे वस्त्रोंके त्यागमें भी मनुष्यको सुख होता है, और फिर नये धारण करनेमें भी सुख होता है, परन्तु पुराने शरीरके त्यागमें और नयेके ग्रहणमें यानी मरने और जन्मने में सबको क्लेश होता है, अतएव यह उदाहरण समीचीन नहीं है।

समाधान- पुराने शरीरके त्याग और नवीनके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानीको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। ज्ञानी एवं भक्तको दुःख नहीं होता। भगवान् ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २।१३)

अर्थात् जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था (होती है) वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। श्रीरामजीके चरणोंमें दृढ प्रीति करके वालिने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका गिरना न जाने, यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम-चरन दृढ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग॥

पुराने वस्त्रोंको त्यागने और नये धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेको हर्ष नहीं होता। माँ जब उसके पुराने गन्दे कुरतेको उतारती है तब भी वह बालक रोता है और जब नया साफ-सुथरा पहनाती है, तब भी रोता है। तो भी माता उसके रोनेकी परवाह न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रिय जीवरूप बालकके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण सर्वथा समीचीन है।

शंका- भगवान्ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' शब्दका प्रयोग किया है परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर या शरीर पुराना होनेपर ही मनुष्यकी मृत्यु होती हो। हम देखते हैं कि नवीन उम्रके जवान और बच्चे भी मरते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान- यहाँ 'जीर्ण' शब्दसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल, जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है, वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। अतएव यह उदाहरण युक्तिसंगत है।

शंका- यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' ये दोनों ही शब्द बहुवचन हैं। कपडा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ दो-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये ग्रहण कर सकता है। परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोडकर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं है अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग उचित नहीं है।

समाधान- यहाँ एक ही साथ बहुत-से पुराने वस्त्रोंको त्यागकर, बहुत-से नये वस्त्र पहननेकी भाँति, एक ही साथ अनेकों पुराने शरीर छोडकर नये ग्रहण करनेकी बात भगवान् नहीं कह रहे हैं। श्रीभगवान्का तात्पर्य है कि मनुष्य जैसे अपने जीवनमें क्रमसे अनेक बार अनेकों पुराने वस्त्रोंको छोडता और नये वस्त्रोंको पहनता है, इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अनेकों जन्मोंमें अनेकों बार पुराने शरीरोंको छोडता और नये शरीरोंको धारण करता आया है। न मालूम इस से पूर्व जीवात्माने कितने शरीर छोडे हैं और कितने नये धारण किये हैं और भविष्यमें भी जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक अनन्त पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंका धारण करता रहेगा।

यदि कोई कहे कि स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं, इसीलिये भगवान्ने शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग किया है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि देही यानी जीवात्मा इस स्थूल शरीरको त्यागनेपर कारण और सूक्ष्म शरीरको इसमेंसे लेकर ही दूसरे स्थूल शरीरमें जाता है। तीनों शरीरोंका त्याग होनेपर तो जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर इसमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। कारण और सूक्ष्म शरीरके सहित ही गमनागमन कहा जाता है। वास्तवमें तो आत्मा अचल और अक्रिय होनेके कारण इसमें किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं है। सूक्ष्म और स्थूल शरीरके सम्बन्धसे उसमें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। तीनों शरीरोंके त्याग करनेवालेको तो 'देही' ही नहीं कहा जा सकता। देही तो देहाभिमानीको ही

कहा जा सकता है, अतएव यहाँ तीनों शरीरोंका विषय नहीं है।

शंका-इसमें क्रियाका प्रयोग भी ठीक नहीं हुआ है। वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' कहा है और शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। दोनों जगह एक ही 'गृह्णाति' या 'संयाति' क्रियाका होना उचित था। और ऐसा करनेमें छन्दभंगकी भी कोई सम्भावना नहीं थी, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया?

समाधान-यद्यपि फलमें कोई भेद नहीं है,तथापि 'गृह्णाति' क्रियाका मुख्य अर्थ ग्रहण करनेमें है और 'संयाति' का मुख्य अर्थ गमनमें है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी और एक शरीरको छोडकर दूसरेमें जाना प्रतीत होता है इसलिये नवीन शरीरमें जानेके विषयमें 'संयाति' क्रिया दी गयी। अतएव क्रियाभेद होनेपर भी फलमें अभेद होनेके कारण ऐसा करना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

(कल्याण)

अपनी परीक्षा।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अपनी परीक्षा करनेके कई उपाय कहे हैं, वे साधक के लिये निःसन्देह बडे मार्गदर्शक हो सकते हैं। मनुष्य अपने आपकी परीक्षा करके निश्चय कर सकता है कि मैं सत्वगुणी हूं, रजोगुणी हूं या तमोगुणी हूं। यह परीक्षा प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। यह परीक्षा स्वयं अपनी स्वयं ही की जा सकती है।

गीताके १७ वें अध्यायमें कहा कि (१) सात्विक मनुष्य ऐसा अन्न खाता है कि जो रसयुक्त, स्निग्ध, हृदयका आनंद वढानेवाला, सत्व बल और आरोग्य की वृद्धि करनेवाला हो।

(२) राजस मनुष्य ऐसा अन्न खाता है कि जो तीक्ष्ण, रूक्ष, जलनेवाला, तीखा, कडुवा, खट्टा हो और (३) तामस मनुष्य ऐसा अन्न पसंद करता है कि जो सडा हुआ हो, बासा हो, ठंडा हुआ हो, उच्छिष्ट और अपवित्र हो। (भ० गी० १७।८-१०)

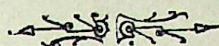
मनुष्यको जो अन्न स्वभावसे प्रिय है, उससे यह परीक्षा की जाती है। मनुष्य को स्वभावसे एक अन्न प्रिय होता है, परंतु समाजमें वह मित्रोंके आग्रहसे दूसरा अन्न भी लेता रहता है। वह बात और है। अपने आपको दिल से कौनसा अन्न प्रिय है, इस का निश्चय जिसका वही स्वयं कर सकता है। यह बात दूसरा जान नहीं सकता। अतः ऊपर कहा कि यह परीक्षा स्वयं अपनी की जाती है। मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रियता देखे और निश्चय करे कि मैं सात्विक हूं, राजस हूं, या तामस हूं। यह परीक्षा मनुष्यको बडा बोध करा सकती है।

यदि मनुष्य रजोगुणी है, तो वह अपने लिये रजोगुण के कार्य स्वीकारे। जैसे युद्ध करना, सेना-विभागमें जाना, आदि कर्म हैं। ये कर्म रजोगुणी मनुष्य ही उत्तम रीतिसे कर सकता है। यदि मनुष्य सात्विक हो, तो वह अध्ययन-अध्यापन के कार्य करे, उपदेशक बने किंवा ऐसेहि सात्विक कर्म करे। यदि कोई मनुष्य तामसी हो तो वह अपने गुण के लिये अनुरूप कर्म करे।

इस गुणनिश्चयसे अपने स्वाभाविक वर्ण को भी बोध हो सकता है और वर्णधर्म के कार्य वह कर सकता है। अपने वर्ण के अनुरूप कर्म करना मनुष्य के लिये लाभदायक है। यद्यपि वर्ण परिवर्तनीय है तथापि वर्ण का परिवर्तन करनेमें जो शक्ति व्यय होती है, वह उसी वर्ण में रहकर वर्णधर्मके कर्म करनेसे बच जाती है। वर्णपरिवर्तन करनेमें जो आयुका क्षय होता है उतनी आयु तो अपने कर्म के लिये बच जाती है। इस लिये अपने स्वभावसे निश्चित वर्णधर्म के अनुसार हरएकको कर्म करना योग्य है। इसी से लाभ है और इसीसे सबकी सुयोग्य संपूर्ण उन्नति हो सकती है।

गीता-सिद्धान्तके विषयमें शंकाएं।

इन शंकाओंके लेखक अर्थात् आक्षेपक श्री. राधाकृष्णजी पेशकार मुरादाबादवाले हैं। सबसे प्रथम आक्षेपकका लेख जैसा आया वैसाही छापा जाता है। पीछेसे उनकी आशंकाओंका उत्तर यथामति दिया जायगा-संपादक "गीता"



हमको यह जायदाद विरसे में मिली है कि मैं सिद्धान्तके निश्चय करनेमें प्रत्येकका प्यारा न बनूं अर्थात् दिमागी गुलाम बनकर किसी की हां में हां न मिलाऊँ। २५-३०वर्ष हुए हमको हमारे गुरु पूज्यपाद श्री ब्र० आनन्दकिशोर जो महाराजने (जो दुनियांभरमें अपने समय के एक ही अग्निहोत्री थे और जिन्होंने यज्ञके फल दिखलाकर कितनों को ही सफल कि था। जो सूर्यनारायण यज्ञदेवके तारबाबू थे। जो श्री स्वामी जी महाराजसे भेंट होने से पहले ही दो हजार सावित्री मंत्र जपते थे और मूर्तिपूजाका खण्डन करते थे, स्वामीजीसे भेंट होने पर स्वामीजी के इस पूछने पर कि ब्रह्मचारी जी क्या करते हो कहा कि दो हजार सावित्री मंत्रका जप करता हूँ। महर्षिने कहाकि ब्रह्मचारीजी ठीक आपहुँचे दोनों समय अग्निहोत्र और किया करो और कासगंजकी पाठशालामें इन्हें पढने को भेज दिया। उस दिनसे ही अग्निहोत्र करना आरम्भ किया। आमके पत्ते की नोकसे घृतकी आहुति दिया करते थे और दोनों समय कभी छोडा नहीं। यज्ञदेवकी कृपासे उनके करकमलों द्वारा सहस्रों रुपयों का यज्ञ हुआ और मनु० अध्याय २।२७ श्लोक भी उन्ही पर छजता देखा।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः॥
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।

ब्रह्मचारीजी नमक नहीं खाते, न मैलेके खादका शाक खाते। एक समय भोजन करते परन्तु रविवार को वह भी नहीं और एक दिन एक मन गौघृत उनके भण्डारमें हमारे सामने आया था। निश्चय करा दिया था कि गीता श्रीकृष्णजी की बनाई हुई नहीं जँचती किन्तु किसी ऐसेकी बनाई हुई है कि जिसने श्रीकृष्णमहाराजको परमेश्वर माना और औरोंको मनवाकर पुजवाना चाहा है और गीतासे ही अवतारवाद चला है और मूर्त्तिपूजाकी जड जमी है, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी महाराजने आपने आपको कहीं ईश्वर नहीं बतलाया। वाल्मिक रामायणके देखनेसे ज्ञात होता है जब कि श्री रामचन्द्रजी के सामने रावण खडा था और श्री रामचन्द्रजी हिरास और हताश हो रहे थे, भगवान् अगस्तिजी देवताओं सहित आये थे, उनकी आज्ञानुसार और श्लोकों के साथ इस श्लोकसे भी-

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कंदः प्रजापतिः।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपां पतिः।

आराधना करते हुये और रावण पर विजय पाते हुये पाते हैं। परन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजी महाराजको यहां तक लिख मारा, "जग पेखन तुम देखन हारे, विधि हरिशम्भु नचावन हारे, तेऊ न जानेऊ मरम तुम्हारा, और तुम्हे को जानन हारा।" और इन्होंने वेदोंका भी कैसा मान्य माना है, यहां तक लिखा कि-

दरस परस और मंजन पाना।
हरें पाप कहें वेद पुराना॥

जो किसी तरहसे ठीक हो ही नहीं सकता, श्रीमान् ब्रह्मचारीजी महाराजने उस समयका जब कि वह कासगंज में श्रीस्वामीजी महाराजकी संस्कृत पाठशालामें व्याकरण पढते थे, एक बात यह कही थी कि जब विद्यार्थी पाठशाला में पढ कर तैयार हुये उस समय भागवतकी कथायें जगह ब जगह हुआ करती थीं और खूब चढावे चढते थे। यह वह समय था जब कि श्रीस्वामीजी महाराज विद्यार्थियोंसे सूर्यनारायण यज्ञदेवके अर्घ दिलवाया करते थे, जब यह विद्यार्थी व्याकरण पढकर भागवतकी कथा खूब सुनाने लगे तो चढावा और भी अधिक चढने लगा, तब श्रीस्वामीजी महाराजके मुँहसे यह शब्द निकले कि 'हमने सापोंको दूध पिला दिया जो

विष बन गया।' श्रीमान् पं. जी २ जुलाई सन् २१ पूज्यपाद ब्रह्मचारीजीके देहान्तके पश्चात् आपके खलियानसे जो मैंने फलियां चुनी हैं, मैं अपने हृदयसे कहता हूँ कि मैं आजन्म आप का गुणानुवाद गाता रहूंगा। और अथर्ववेद के १३ वें काण्डके भाष्यने तो मुझे निहाल ही कर दिया है। परन्तु मेरे लिये यहकोई कसौटी नहीं हो सकती कि गीता बहुत भाषाओंमें अधिक संख्यामें छपी है क्योंकि इंजील जो गीतासे भी अधिक छपी है वह साधारण तर्कों की चोटको भी नहीं सहार सकती, यद्यपि हम सत्यार्थप्रकाशसे 'यदा यदा हि धर्मस्य.' जिसको सातवें समुल्लासमें श्रीस्वामीजीने वेदविरुद्ध कहा है और नवें समुल्लासमें मोक्षसे वापिसीके न माननेके विषयमें १५वें अध्यायके छटा गीताका आधा श्लोक देकर मोक्षसे वापिसी न माननेका खण्डन किया है और वहीं पर छान्दोग्य उ० प्र. २। खं १५ के श्लोकको भी ठीक नहीं माना और दो मंत्र जिनको मैं आगे दूंगा मोक्षसे वापिसीके प्रमाणमें दिये और ग्यारवें समुल्लासमें जीव और ब्रह्मकी एकता जैनियों के मुकाबले के लिये श्री स्वामी शंकराचार्यजीने मानी थी उसको वेदविरुद्ध बतलाया है।

विस्तारभयसे नहीं लिखते श्रीब्रह्मचारीजी महाराज की बात परमर्षिकी मुहर होजानेसे और भी दृढ निश्चय हो गया कि गीतामें सब ज्ञान वेदविहित नहीं है। स्वामीजीके दो स्थानोंके लेख पुनः मैं पाठकों के समक्ष रखता हूँ श्री देवेन्द्रनाथजीके बनाये हुये जीवनचरित्रके पृष्ठ ६०३ पर भगवद्गीताको त्रिदोषका सन्निपात बतलाते थे और कहते थे कि उसमें कहीं तो जीव ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित किया गया है और कहीं उनका पृथकत्व देखनेमें आता है। इसके सिवाय श्री स्वामीजीके गीताके विचारके लिये पं. भूमित्रजी शर्माने लिखा है कि जब लाला केसरीलालजी (कायस्थ) करिन्देने श्री स्वामीजी से यह पूछा कि, गीता कैसा पुस्तक है? तो श्री स्वामीजी ने कहा था कि गीताका ७-९-१०-११-१२ अध्याय तो अधिकतर प्रक्षिप्त ही हैं और दो चार श्लोक तो प्रत्येक अध्यायमें मिलाये हुए हैं।

अतः सर्वजनहितार्थ गीताविषयक मेरे समस्त विचारोंको आपने पत्रमें छाप देनेकी अवश्य कृपा करें, क्योंकि वेदविरुद्धांश जनताके लिये विषसे कम हानिकर नहीं होते।

आपने समस्त गीताको उपनिषदों तथा उपनिषदों को वेदानुकूल कहकर जो फल निकाला है कि अतः गीता वेदानुकूल है और अब तक दोनोंमें हमें कोई विरोध दिखाई नहीं दिया।

इस विषयमें हमारा कथन यह है कि आपने यह टेडा मार्ग क्यों ग्रहण किया है। बीचमें उपनिषदोंको रख देनाका क्या अर्थ? इससे तो यह फल निकला समस्त उपनिषदोंको भी वेदानुकूल सिद्ध करना आपका पहिला कर्तव्य और फिर समस्त गीताको उपनिषदानुकूल सिद्ध करना दूसरा। यदि उपनिषदोंमें कहीं वेदविरोध आ पडा तो भी परम्परा-सम्बन्धसे गीता वेदविरुद्ध हुई। माना कि आपके अन्दर शास्त्रार्थमें दिग्विजय करने की धुन नहीं है परन्तु साथ ही आपके यह भी शब्द हैं कि वेद, उपनिषद गीता आदि ग्रंथ आप मननपूर्वक समझने का यत्न करते हैं, साथ ही साथ आप हमारे कण्डू का शमन कर सकेंगे या नहीं ऐसा आपको विश्वास नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि पूज्य पंडितजीमें नम्रता की मात्रा कहीं अधिक है परंतु उस नम्रता पूर्वक अपने पत्र को मननपूर्वक समझनेका यत्न करते हुये गीतामें वेदविरोध देखने वालोंका यत्न मननसे रहित है, यह निर्णय भी अभी कैसे दिया जा सकता है! यह ठीक है कि पूज्य पंडितजी यह ग्रन्थ पूर्णता से हमारी समझमें आवे ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता परन्तु आपत्ति तो बडी भारी यह है कि कोई कोई बात समझमें नहीं आई हो तब वहां यह लिख देना चाहिये कि अभी यह बात हमारी समझमें नहीं आई है और ऐसा ही आपने वेद-भाष्यमें कई स्थलों पर अपनी महानुभावता के के कारण किया है। पर ऐसे स्थलोंके अतिरिक्त जहां आप कुछ नहीं लिख रहे हैं, जनता तो यही समझ बैठेगी कि यह बात आपकी समझमें आ चुकी है अन्यथा आप इस विषयको अत्यधिक

सुस्पष्ट कर दूं कि मैंने तो अपने विचार दे दिये हैं। यह कहांतक वेदानुकूल है या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। इतना कह देनेपरभी जनता आपके लेखों को वेदानुकूल या वेदप्रतिकूल समझ बैठे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि आप वेदभाष्य कर रहे हैं अतः जनताको वेदानुकूल और वेदप्रतिकूल की परख करनेकी सामग्री देनेके लिये कृपया आप हम जैसोंके लेखोंको भी अविकल रूपमें छाप देनेकी महती अनुकम्पा करें। फिर पता हो जावेगा कि वह हमारी खुजली है ? अथवा सत्यप्रकाशनार्थ वेदभक्ति ?।

२ आपके प्रथम तथा दूसरे उत्तरका सार एकता है कि वेद और गीता अनुकूल हैं और आपके लेखसे परमात्मा और जीवात्माका गीता तथा वेदमें भिन्न प्रतीत हुआ है तो वह आपके लेखनका दोष होगा। हम कहते हैं कि वेद और गीता के सिद्धान्तोंमें एक नहीं अनेक स्थलों पर हमें विरोध दीखा है और आपके लेख या हम पाठकोंका दोष नहीं है परन्तु परमात्मा और आप जीवात्माका जो वैदोक्त वर्णन आपने गीतासे भिन्न किया है वही यथार्थ है और इसी प्रकार मोक्षमें भी गीताका कथन वेदविरुद्ध है। रहें दोनों बातोंके प्रमाण वचन वे अब दिये जावेंगे क्योंकि आपके पांचवें लेकर नवें उत्तरका भी उत्तर हमारे उन्हीं प्रमाण वचनों से सुस्पष्ट होगा और हमारे उन प्रश्नोंका भी स्पष्टीकरण उन्हीं प्रमाणोंसे होगा कि जो गीता पत्रमें मुद्रित दस प्रश्नोंके अतिरिक्त हमने आपसे किये थे, प्रमाणों के देनेसे पूर्व चार दस इन दोनों उत्तरों के विषयमें हमारा यह कथन है कि दसवें उत्तरमें आपने यह क्या लिखा है कि एकता और पृथक्त्व यह देखनेवाले की दृष्टि से दिखाई देता है। हम कब कहते हैं कि अन्धे मनुष्यको किसी वस्तुकी एकता या पृथकत्व दीखती है, रही वर्णयिता की भूमिका देखना, सो यही तो हम कहते हैं कि जब कोई नाटक खेलता है तो अपनेको रामचंद्र दिखा जाता है, उसके अतिरिक्त देखो तो ढोलमें पोल है। दूसरे यह कि हमें कैसे देखना चाहिये, यह दुर्लभ बात है। आप तो देख चुके हैं। आप ही स्पष्ट करें कि कब एकता और कब पृथकत्व ठीक है और कैसे ठीक है ?

❀

श्रीमान पं० जी एक बार पूज्यपाद ब्रह्मचारी जीने श्री स्वामीजीसे पूछा था कि उपनिषद कितने माने? श्री स्वामीजीने कहा कि दस। ब्रह्मचारीजी ने कहा कि क्या ईशोपनिषदको भी ? इसपर स्वामिजी ने कहा कि नहीं, ब्रह्मचारीजी ९ मानों। क्यों कि ईशोपनिषद यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय है। उपनिषत्कारने थोडासा घटाने बढानेके पश्चात् उसका नाम ईशोपनिषद् रख दिया। श्री स्वामिजी महाराजने १४ वें समुल्लास में अल्लोपनिषद के लिये यह लिखा है। जिसमें कि दस श्लोक भी दिये हैं विस्तारभय से नकिल नहीं करते पाठकगण सत्यार्थ० १४ वें समुल्लास के अन्तिम भागमें देखें जो इसमें प्रत्यक्ष मुहम्मद साहेब रसूल लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि मुसलमानों का मत वेदमूलक है।

(उत्तर) यदि तुमने अथर्ववेद न देखा हो तो हमारे पास आओ, आदि से पूर्ति तक देखो अथवा जिस किसी अथर्ववेदीके पास बीस काण्डयुक्त मंत्रसंहिता अथर्ववेदको देख लो, कहीं तुम्हारे पैगम्बर साहबका नाम वा मतका निशान न देखोगे और जो यह अल्लोपनिषद है वह न अथर्ववेद में न उसके गोपथब्राह्मण वा किसी शाखामें है। यह तो अकबर शाहके समयमें अनुमान है कि किसी ने बनाई है। इसका बनानेवाला कुछ अरबी कुछ संस्कृत भी पढा दीखता है। क्योंकि इसमें अरबी और संस्कृत के पद लिखे हुये दीखते हैं। देखो (असमल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते) इत्यादि में जो कि दस अंक में लिखा है। जैसे इसमें (असमल्ला और इल्ले) अरबी और (मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते) यह संस्कृत पद लिखे हैं वैसे ही सर्वत्र देखनेमें आने से किसी संस्कृत और अरबी के पढे हुये ने बनाई है यदि इसका अर्थ देखा जाता है तो यह कृत्रिम अयुक्त वेद और व्याकरण रीतिसे विरुद्ध है। जैसी यह उपनिषद बनाई है वैसी बहुतसी उपनिषदें मतमतान्तरवाले पक्षपातियोंने बना ली हैं जैसी कि स्वरोपनिषद्, नृसिंहतापनी, रामतापनी, गोपालतापनी बहुतसी बना ली हैं।

जब उपनिषद और यहां तक कि ब्राह्मणों ग्रन्थों में भी वेद विरुद्ध सिद्धान्त पाया जाता है।

और हम में और आप में वेद के मंत्रों के विषम में कोई मतभेद नहीं, इसलिये शब्दप्रमाण वेदका और प्रत्यक्ष-प्रमाण पदार्थविद्याका इस लेख में आने चाहियें और इसको आप भी कृपा करके मानेही लीजिये।

परमात्मा और जीवात्मा का वर्णन गीताका किया हुआ बिल्कुल वेदविरुद्ध है। वेद के मंत्र और उसका भाष्य श्री मा. आत्मारामजी राज्यरत्न की आगे दूंगा। इतना सविनय निवेदन करता हूँ कि सन् २४ ई.में वैदिक सिद्धान्तरूपी एक पत्र ९६ वें पृष्ठ फुलिसकेप साइज का छपवा कर पंडितों के सामने डाला था तो उसपर भी स्वा. स्वतन्त्रानन्दजी ने जो प्रश्न उठाये और जो मैंने उत्तर दिये थे वह भी पाठकों के विचार में आजावें ताकि इस गहन विषय के विचारने में आसानी हो।

ता. २४-२-२४ शिमला उत्तर ३०-२-२४मुरादाबाद

महाशयजी नमस्ते

आपने जो पत्र भेजा था मैंने उसे ध्यानपूर्वक पढा है और पढनेके पश्चात् जो मेरी सम्मति है वह इस प्रकार है।

श्रीमान् मान्यवर स्वामीजी सादर नमस्ते

आपका २४-२-२४ का पत्र पढ कर सविनय निवेदन है कि-

[१] आप सूर्य भगवान् को अंग मानते हैं और साथ ही परमात्मा मानते हैं।

[उ०]आपने किस जगह लेखमें यह देखाकि सूर्य स्वयं परमात्मा है। मैं तो सूर्यको परमात्मसत्ताका साक्षात् रूप मान कर सर्य्य+जोड परमात्माको परमेश्वर मानता हूं।

[क] अंग अंगी का अभेद कैसे होता है यह आपने नहीं लिखा।

[उ०] जिस प्रकार मनुष्यादि देहधारियोंके अंग अंगीमें उत्पन्न होनेसे पूर्व और मरण पश्चात् स्पष्ट भेद होता है और जीवनभर अभेद रहता है उसी तरह अंग अंगीका अभेद जानिये। यद्यपि परमात्मा और सूर्य दोनों की सत्ता अलग अलग है तथापि परमात्मा अंगीका सूर्य अंग होनेके कारण चेतनता से कार्य कर रहा है। मैंने कहीं यह नहीं लिखा कि दोनों में ऐसा अभेद है कि सूर्य और परमात्माका की सत्ताही एक होगई हो।

[ख] उदाहरणमें आप जीवको रखते हैं। मैं सहमत हूं परन्तु जीवके अंग भी चेतन नहीं होते और एक बात पर आप ध्यान नहीं देते हैं कि जीव संगी है और ईश्वर असंग है। ईश्वर सर्व में सर्व व्यापकता से व्यापक है और व्यापक होकर भी असंगता के कारण किसी के सुख दुःखको अपने में अनुभव नहीं करता; जीव इस भांतिका नहीं।

[उ०] मैंने अंग को स्वयं चेतन सत्ता नहीं लिखा चूंकि आत्मिक फोर्सके कारण ज्ञानसे काम करता है इस लिये चेतन लिखा-और यह प्रत्यक्ष भी है कि अंग अन्य जड की भांति नहीं। वेदने परमात्मा का जैसा अंग बतलाया है उसके लिये पृष्ठ १५ कालम देखिये फिर परमात्माको उसके अंगसे असंगी कैसे माना जा सकता है ? परन्तु विचारिये जब कि जीवात्मा तकका ऐसा पवित्र अंग मोक्ष में होता है कि जिससे उसे दुःख प्राप्त नहीं होता किन्तु ब्रह्मानन्द ही को लेता रहता है तो फिर वेद का बताया हुआ परमात्माका अंग उसे दुःख देनेवाला क्यों हो ?

[उ०] जो सूर्य को मशीन कहते हैं वह असंगताके कारणसे कहते हैं और जो अंग मानते हैं वह व्यापकता से कहते हैं। इसलिये मेरी सम्मतिमें शब्दभेद होने पर भी भावभेद नहीं हैं।

[ग] सूर्य को जड कहनेवाले उसे परमात्माकी मशीन बतलाते हैं। मैं तो इन्हें चेतन मानता हूं इस लिये परमात्मा के अंग होने का सम्बन्ध जैसा कि वेदनें माना है स्थिर करता हूं दीखिये यह कितना भावभेद हुआ।

[घ] आप जो अंग मानते हैं, परन्तु कौन अंग है यह नहीं लिखते। जहां ईश्वरके अंग अंगी के भाव की कल्पना है वहां आपको ज्ञात होगा कि सूर्य को आंख माना है। प्रार्थनाओं में सूर्य्य और चक्षुका सम्बन्ध है। इन मंत्रोंको भी आपने देखा है यह मेरा निश्चय है। जब सूर्य चक्षु है तो परमात्मा कैसे होगा ?

[ङ] जैसे जीवके अंग हैं जिज्ञासु को समझाने के लिये इस भांति ईश्वर को ब्रह्माण्डमें मान कर-शरीरवत् ब्रह्माण्ड माना है और उसमें सूर्य चन्द्र नेत्र हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, भूमि पाद है इत्यादि कल्पना है। इस कल्पना से कोई यह सिद्ध नहीं होता कि यह सब चेतन बन जाते हैं। यदि यह चेतन हैं तो प्रतिती होनी चाहिये इत्यादि॥

[उ०] मैं सूर्यको परमात्माका शिर (मूर्द्धा) मानता हूँ और इनकी किरणोंको चक्षु हाथ इत्यादि! सूर्यनारायणसे जो चक्षुकि मांगकी गई है इससे सूय को परमात्माका चक्षु मानना ठीक नहीं। मैं फिर लिखता हूं कि सूर्य को परमात्मा अंग मानता हूं न कि परमात्मा। जहां काल्पनिक भावसे ईश्वरके अंग दर्शाये गये हैं वहां सूर्य को कुछ ही माना हो मैंने न तो काल्पनिक भाव ही लिया है और न उस कल्पना से इन्हें चेतन माना है। मैंने तो इन्हें परमात्मा का वास्तविक अंग मान कर चेतन दिखालाया है। अंग से ही सब काम बनते हैं सो सब जंजीरोंका हिलानेवाला और सब दैवी कामोंका करनेवाला यही प्रत्यक्षस्वरूप है। सूर्यनारायण की चेतन होने की इस प्रतीति के अतिरिक्त मैंने तो वेदमंत्रोंसे इनका चेतन होना स्पष्ट शब्दोंमें जतलाया है।

पंडितजी यह ऊपर का लेख मैंने केवल इसलिये दिया है कि नवाँ प्रश्न जो मेरी ओर से छपा है उसमें बडी भूल यह हुई कि मैं परमात्माको अक्षर मानता हूँ न कि अंशी, परमात्मा ने जो तीनों ज्योति सूर्य, विद्युत्, अग्नि धारण की हैं उनको अंशी मानता हूं उसमें से अंश निकल सकते हैं, परमात्मा में से नहीं निकल सकते यह साधारण बुद्धिकी बात है कि अंशी कम वीर्यवाला तो होगा ही परन्तु प्रश्न तो यह था कि अक्षर परमात्माको अंशी कैसे कह दिया और अक्षर परमात्मा को यह क्यों सूझी कि जो अपने में से जीवों को जिनकी मिकदारी हालत बालके अग्रभागसे सौवें हिस्सेके बराबर है निकाल कर आवागमनके चक्करमें यहां तककि पेशाब पाखानोंकी कीडोंकी योनिमें डाल कर अज्ञानी और दुखिया बना दिये और कब से निकलाने शुरु किये और अब भी निकाल रहा है या नहीं? चूंकि परमात्मा अचल सत्ता है। समुद्र और अग्निकी तरहसे चल सत्ता नहीं जो खाली जगहको पुर कर देती है इसलिये मैंने यह प्रश्न उठाया कि परमेश्वर मैंसे यदि जीव निकल जायेंगे तो वह छलनी हो जायगा। असली बात यह है कि अल्पदेशी जीवात्मा चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो जाय, सर्वदेशी परमात्मा और सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता भूमा अवस्था हो जाने के मैं यह मानी समझ रहा हूं जैसे तार का जाननेवाला लन्दन से शिमला और शिमलासे लन्दन की खबरें ले लेता है ऐसे ही वह योगी जो परम पुरुष परमात्मा को जान जाता है उसको परमात्मारुपी तारके जरिये अदीख जगह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है जैसे तारबाबू तार (विद्युत्) नहीं हो जाता। ऐसे ही मनुष्य चाहे कितना ही योगी राज क्यों न हो जाय परमात्मा नहीं हो सकता जैसे कि सर्वदेशी परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ और मोक्षस्वरूप है। ऐसा जीवात्मा नहीं जीवात्माएं अनेक हैं और यह प्रजा हैं उपासक और प्रार्थी हैं और परमात्मा एक है और राजा है और उपास्य है।

२ महाभारत के १०१ कौरवोंसे पांचो पांडवोंसे लडाई हुई या वेदमें जैसे सनातन इतिहास है ऐसा है अति मानुषी और अमानुषी पैदायशको आप ठीक मानते हैं?

३ श्री कृष्ण महाराज रणछोड कौनसी लडाईमें कहलाये?

४ और भीष्मपितामहजीने उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध शस्त्र पकडवा दिया था या नहीं?

५ श्रीकृष्णजीका शरीर रजवीर्य और रसों के मेलसे गर्भमें रहते हुऐ बना था कि नहीं?

६ श्रीकृष्णजी महाराज किस आयुमें,मरे किसने मारे और कैसे मरे?

यह ६ प्रश्न सेवा में उत्तर के लिये भेजता हूं। पहले प्रश्नोंके जो उत्तर आये हैं उनपर वेद और धर्मशास्त्रसे प्रमाण लिख कर निश्चय कराऊंगा कि गीता का यह वेदमत वेदावित है और यह मत वेदविरुद्ध है।

श्रीमान्‌जी मैं सूर्यनारायणका उपासक हूं और यज्ञ के देवताओं को परमात्मसत्ता से जो स्वयं चेतन हैं चैतन्य मानता हूं। उन इन्द्रियों को जो मेरे जीवात्मा से चेतन हैं और यह भी मानता हूं कि और की अंग इन्द्रियें और के लिये चेतनता का काम नहीं देतीं। मानो इरादेसे काम नहीं कर सकतीं यही हालत महेन्द्र परमात्माकी है। उसकी महेन्द्रियां भी उसके इरादेसे काम करती हैं। मैं सूर्यको दृश्यम मानता हूं, मुझे किसी अवतार कच्छ मच्छ वराह नृसिंह परशुराम राम कृष्ण बुद्ध वामन निष्कलंक (जो होनेवाला है)ध्येय बनाने की आवश्यकता नहीं।

गीतावालेकी कृपा गोस्वामी तुलसीदास जी पर भी हुई और उन्होंने भी यह वन्द कह ही डाला कि "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" हमको गीताके भाष्यकारोंसे कोई शिकायत नहीं ना गोस्वामी तुलसीदासजीसे। हमारी शिकायत तो आपसे है क्योंकि आप वेदभाष्यकार हैं। उपरोक्त महानुभावोंको यदि यह नहीं सूझा कि परमात्माको यदि अंशीमान कर जीवात्माओंको अंश दिखलायेंगे तो इसका जवाब हमारे पास क्या होगा कि सुकर्मों के सिवाय जो कुकर्म मनुष्यों से हो रहे हैं वह कैसे करने लगे, क्योंकि कड़ाव भरे दूध में से कितना ही थोड़ा दूध लिया जावे तो उसकी शक्ति में तो अन्तर होगा परन्तु गुणों में नहीं। यह बात तो ऐसी कहनी है कि सूर्यनारायण की किरणों अंधेरा उगलती हैं। हम जीवात्माओंको तो तब अंश मान लेते, जब प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक मनुष्य के विचार जानने की शक्ति पाते। कहां सच्चिदानन्द सर्वदेशी सर्वज्ञ अचल परमात्मा कहां इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानवाला अल्पज्ञ अल्पदेशी चलायमान जीवात्मायें, वेदोंके ईश्वरी ज्ञान होनेकी और युक्तियों के सिवाय सबसे भारी युक्ति ही यह है कि कोई एक मनुष्य भी वह नेचरल शक्ति नहीं रखता कि बिना गुरु से विद्या पढ़े विद्वान् हो गया हो या हो जावे। अर्थात् इन्द्रियज्ञान के सिवाय नैमित्तिक ज्ञान पा गया हो या पा जावे। जब मनुष्यके मस्तिष्क में ही बिना माता पिता या गुरु के पढ़ाये नैमित्तिक ज्ञान आने की सम्भावना नहीं, तो मानना ही पड़ता है और उसको कोई काट नहीं सका चाहे कोई कितनी ही मनगढ़न्त युक्तियां इसके विरुद्ध देवे, कि आदि सृष्टि में सबके परम और आदि गुरु परमात्मा ने ही ऋषियों के द्वारा वेदों का ज्ञान दिया, इंसानी दिमाग ज्ञान का पात्र (बर्तन) जरूर है परंतु ज्ञान की ईजाद शुरू दुनियांमें इन्सानी दिमागोंसे नहीं हो सकती। नेचारियोंको भी मजबूरन यह सिद्धान्त मानना पड़ेगा कि अक्लबुद्धि मिटीरियल है और इल्म (ज्ञान)इम्मटिरियल यानी परमात्मासे आया हुआ। इसी वास्ते मनु भगवान् ने जहां शरीरकी शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्यसे और भूत आत्माकी शुद्धि विद्या और तपसे दिखलाई है। वहां बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे बतलाई है। बन मानुसों का जीता जागता दृष्टान्त सामने है, इसी बात को मिस्र के बादशाह और अकबर बादशाह ने बच्चों को गूंगे घरमें पलवा कर परीक्षा भी कर ली थी कि जब वह बच्चे जवान होकर निकाले गये तो और जानवरों की तरह इन से भी कोई शऊर की बात दिखलाई नहीं पड़ी। यदि यह जीवात्मायें परमात्मा का अंश होतीं तो उनको पढ़ाने की क्या आवश्यकता होती? क्यों कि उनका अंशी परमात्मा तो किसी से पढ़ कर ज्ञानी हुआ ही नहीं है, वह तो स्वाभाविक ही ज्ञानी है, तब परमात्माने अपने अंशोंको बिना अपराध पढ़ाने या तजुबी करके ज्ञान प्राप्त करने की बीमारीमें क्यों फसा दिया? ३५-३६ वर्ष हुए किसी सिद्धान्त के निश्चय करने के लिये एक ऊंचे मस्तिष्क वाले आर्य महाशयजीने यह प्रश्न उठाया था(जब कि मैं आर्यसमाज कासगंज में था) कि परमात्मा सर्वव्यापक है कि नहीं? और यदि आर्यसमाज सर्वव्यापक मानता है उसीको सर्व चेतनाभी मानता है या नहीं? और यदि सर्व चेतन भी मानता है तो प्रत्येक प्राणी मर क्यों जाते हैं? क्यों कि परमात्मा तो प्राणियोंके देहमें से निकल ही नहीं जाता यदि यह कहो कि जीवात्मायें जिन जिन प्राणीयोंकी अधिष्ठातायें हैं उनके निकल जाने पर मर जाना मानते हैं तो परमात्मा के सर्वचेतन और सर्वव्यापक मानने से हमारे जीवन को क्या लाभ हुआ।

ऐसा कोई उदाहरण दीजिये कि कोई द्रव्य या देह परमात्म सत्तासे चेतन दिखाई देता हो । तो क्या जैनियों का मत कि कोई चेतन परमात्मा सृष्टि करता नहीं है ठीक ही मानना पड़ेगा, क्यों कि जब परमात्मा अंशी ही नहीं सिद्ध हुआ तो अंश कहांसे निकलेंगे? मुसल्मान और ईसाई रुहों और मादि को खुदाका बनाया हुआ मान कर यह जबावदेही नहीं कर सकते हैं कि फिर उनका खुदा रोजे अजल से मुन्सिफ (न्यायकारी) रहीम (दयालु) कैसे साबित हो सकता है? वही दोष परमात्मा में से जीवात्मा अंश रूप निकालनेवालों के मत में है । न उनका खुदा या इनका परमात्मा मियादी खालिक राजिक मुन्सिफ या ब्रह्मा विष्णु महेश अर्यमा ठहरेगा। जैनियों के सिद्धान्त में कर्म का फलप्रदाता न मानने से कर्मोंका फल स्वयं मिलने का मसला मानना पडा । और यह विलक्षण सिद्धान्त जैनियोंमें चल पड़े कि जिस दण्डको कोई कुकर्मी भी स्वीकार नहीं कर सकता और जेलखाना स्वयं नहीं जा सकता वह कर्म फलप्रदाता के बिना ही स्वयं कर्मही फल भुगवा देगा ।

श्रीमान् जी मुझे आप के यह शब्द देख कर बडा ही हर्ष हुआ है कि परमात्मा व्यापक है और जीवात्मायें व्याप्य । ऐसा ही हर्ष हमको तब हुआ था जब कि एकविकाशवादी अनीश्वरवादी देवसमाजी नेचरियें कों सूर्य की पैदायश और उसमें लम्बाई चौडाई मुटाई और पृथ्वी से १३ लाख गुना बडा आदि सृष्टिमें सूर्य का होना उन्हींकी किताबों में दिखला दिया । और सूर्यके अग्निमय आकार से भूमिका फट कर निकलना और उस पर २०० दो सौ मील की ऊँचाई पर तक हवा का लपेट होना, भूमिका गोलाकार होकर सूर्यके गिर्द घूमना और पृथ्वी का ठंडा होकर उस पर लाखों बरस के बाद घास तथा वृक्षोंका उगना, उसके पश्चात् पशुओंका फिर मनुष्योंका जो दिमाग और भाषा रखते थे और स्तनपाई पशुओंसे उपरोक्त मनुष्योंका विकसित होना उन्हीं की किताबसे दिखला दिया । इस खुशी के बढाने में श्रीमान् पं. भीमसेनजी इटावे निवासी जिनसे कि वार्तालापमें यह सिद्ध हो चुका था कि कोई पदार्थ जितकी लम्बाई चौडाई मुटाई नापी जा सकती है वह पदार्थ वे बने कभी नहीं हो सकते और उसी समय आपके इस मंत्रका भाष्य वेदामृतका याद आगया ।

हिरण्यगर्भं परमनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥
अथर्व० १०।७।२८

अर्थ– सूर्यको सब लोग अवर्णनीय समझते हैं । उस सूर्य को परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमें ही बना कर संपूर्ण लोकलोकान्तरोंके बीचमें ही रख दिया है, इससे ही विचार हो सकता है कि वह सर्वाधार परमात्मा कितना अवर्णनीय होगा ॥

परमात्मा जो शऊर और मुन्तजिम शक्ति है कि वह अपनी प्रत्येक बनावटमें प्रयोजन क्रम (तरतीब) दिखलाती है । परमात्मा को उनके सामने हमने सिद्ध कर दिया । विस्तारभयसे पूरी वार्त्तालाप इस स्थान पर नहीं लिखते, व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध आपका मानना ही हम जिन्स और अंश अंशी को मेटता है क्योंकि व्यापक अपने व्याप्य पदार्थोंसे सूक्ष्म होता है ।

व्याप्य	व्यापक
बिजुली	परमात्मा
लोहा	अग्नि
संसार	परमेश्वर

न इनमें अंश अंशी भाव है और न हमजिन्सियत हैं बल्कि प्रत्येक व्याप्यसे उसका व्यापक सूक्ष्म दिखाई देता है, यही विचार जीवात्माएं व्याप्य और परमात्मा व्यापकपर दौडाना चाहिये ।

मूर्तिपूजक तो ऐसा अनमिल बेजोड उत्तर दे देते हैं कि जब परमात्मा सर्वव्यापक है तो क्या मूर्तिमें व्यापक नहीं? फिर मूर्तिपूजा क्यों न की जावे? और यह नहीं सोचते कि वैदिक धर्मी व्यापक परमात्मा की पूजाका खण्डन नहीं करते किन्तु व्याप्य जो जड मूर्ति है उसकी पूजा का खण्डन करते हैं । संसार व्याप्य है और परमेश्वर व्यापक संसार की पूजा से हटाकर एक सच्चिदानन्द परमेश्वरकी पूजा का हम वैदिकधर्मी मार्ग दिखलाते हैं । निष्कर्ष यह निकला कि असंख्यात जीवात्मायें

जो वे बनी हैं और सत् चित् और व्याप्य हैं ध्यान करना बतलाते हैं जिसकी आज्ञा पालन करने और जानने से मोक्ष मिलती है, उस मार्ग को दिखलाते हैं। मूर्तिपूजकोंके सिवाय बडे बडे विद्वानों के लेखों में यह भी लिखा देखा है कि सूर्य को प्रतीकी में रख कर परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। हमारा इन से भी मतभेद है हमने परमात्माका परोक्ष और प्रत्यक्ष इस तरह से जाना है—

१ शुद्धब्रह्म — शबल ब्रह्म

(जो सर्वदेशी और सर्वव्यापक है)

अर्थात् सूर्य विद्युत् अग्नि स्वरूप मय यज्ञ के तेतीस देवताओं के जो ११ पृथ्वीपर, ११ अन्तरिक्ष में ११ द्युलोक में हैं, जो सर्वव्यापक है।

२ निराकार — साकार

अर्थात् जिस रूपसे सृष्टिको बनाता और पालन पोषण करता और धारण करता है।

३ परोक्ष	प्रत्यक्ष
४ इन्द्रियों से ग्रहण न करने योग्य	-इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य
५ स्वयं	स्वयंभू
६ ब्रह्म	ब्रह्मा
७ ज्ञान	ज्ञान अंगक्रियासहित
८ खुद	खुदा

इसके परे अवशिष्ट और उच्छिष्ट जो परमात्मा को वेदोंने दर्शाया है और जहां व्याप्य पदार्थ कोई नहीं, जहां सूरजों की ज्योति भी समाप्त हो जाती हैं जहां मोक्षगामी पुरुषोंकी भी गति (पहुंच) नहीं होती, तो वापिसीका जिक्र ही क्या है?

इस सूक्तमेंसे केवल यही एक मंत्र हैं। दिग्दर्शन मात्र देते हैं।

(देखो वेदामृत पृष्ठ ४३२)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥
अ० ११। ७॥ (९) १

"(उच्छिष्टे) अवशिष्ट अर्थात् परमात्मामें नाम और रूपवाला जगत् रहा है, उसीमें (लोक आहितः) लोकलोकान्तर रखा है। उसी में इन्द्र और अग्नि तथा (अंतः) बीचमें (विश्वं) सम्पूर्ण विश्व (समाहितं) रहा हुआ है।"

परमात्मा जगत्में व्याप्त हुवा है और बहुतसा अवशिष्ट है। इस प्रकार के विशाल परमेश्वर में यह सब संसार रहा है।

आपने अपनी टीकाका नाम पुरुषार्थबोधनी टीका रखा है। मेरा मन इस पुरुषार्थ बोधिनीके शब्दोंसे बडा ही हर्षित है। क्यों ही अच्छा होता जो आप वेदोंसे मंत्र और धर्मशास्त्रके श्लोक लेकर पुरुषार्थ के ऊपर एक पुस्तक लिखते। श्रीमानजी! ऐतिहासिक पुरुषार्थ के लेखोंमें जैसे कि गीता में लिखा है और वेदशास्त्र से प्रमाण लेकर लेख लिखने में बडा अन्तर हो जाता है। सम्भव है कि इतिहास में किसी के पुरुषार्थ के अधिक बढाकरके यहां तक लिख दिया हो कि जो उस मनुष्यसे नहीं हो सकता। जैसा कि हम ७-९-१०-११-१२—अध्याय गीता पर पहुँचा कर लिखेंगे।

अब हम पुरुषार्थ की महिमा में मनु अ० ७ के यह श्लोक देते हैं। देखो टीका स्वामी तुलसीरामजी पृष्ठ २७६ व २७९ श० २०५

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया॥२०५॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण कर्म दैव तथा मनुष्यके अधीन हैं। परन्तु उन दोनों में दैव अचिन्त्य है (उसकी चिन्ता व्यर्थ है) इस लिये मनुष्यके अधीन अंश में कार्य किया जाता है॥

दैवेन विधिनाऽयुक्तं मनुष्यं यत्प्रवर्तते।
परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम्॥१॥
संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम्।
विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति॥२॥
चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च।
इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः॥३॥

"जब कभी दैव की विमुखता में पुरुषार्थ किया जाता है, तब भी अधिक कष्ट उठाने से काम बन ही जाता है॥१॥ और दैव की अनुकूलता में पुरुषार्थ न किया जाय तो वैसे बोया हुआही बीज खेती से मिलता है। (वैसे पूर्व पुरुषार्थ का ही फल होता है)॥२॥

चन्द्र सूर्य आदि ग्रह वायु और अग्नि तथा बादल सब संसारमें यत्नपूर्वक ईश्वरीय पुरुषार्थसेही सध रहे हैं ॥ ३॥) २०५ ॥ श्रीमानजी ! शुभाशुभ फलोंके कर्म जो मनुने मन वाणी शरीरसे होने बतलाकर एक श्लोक यह दिया है देखो मा० स्वा० तुलसीरामजी पृष्ठ४७० अध्याय १२वाँ। वह निश्चय कराता है कि परमात्मा और भूत आत्मायें अलग अलग जिन्सियतके हैं और परमात्मा एक है। भूत आत्मायें अनेक असंख्यात और आपभी सोच सकते हैं कि मनुष्योंके कर्म तो कुकर्म और सुकर्मके नामसे पुकारे जा सकते हैं। क्या कहीं परमात्माके कर्ममें भी कुकर्म और सुकर्म कहा जा सकता है? स्वामी तुलसीरामजीके नोट सहित लिखता हूं॥

नोट (१४ वें से आगे एक श्लोक तीन पुस्तकोंमें मिलता है और वह इसी प्रकरणमें गीतामें भी आया है। गीतासे मनु प्राचीन है इसलिये कदाचित् मनुसे गीतामें गया हो। यहां अन्तःकरण शरीर और जीवात्माका वर्णन किया तो साथ में प्रसंगोपयोगी १४ वें श्लोक, तम, पदवाक्य परमात्माके वर्णनकी आवश्यकता भी थी। अनुमान है कि यह श्लोक वास्तवमें हो पीछे जाता रहा हो वा अद्वैतियोंने निकाल दिया हो।

[उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ उत्तम पुरुष तो अन्य है जो परमात्मा कहाता है और जो तीन लोकोंमें प्रविष्ट समर्थ और अविनाशी होनेसे इनका धारण पोषण करता है।

मेरा पक्ष यही है और मुझपर बोझा भी यही है कि मैं परमात्मा (ब्रह्म) को अक्षर सिद्ध करूं और अंश अंशी सिद्धान्तोंके माननेवालोंकी भूल सिद्ध करूं। अक्षर कभी अंशी नहीं होता क्षर अंशी होता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ६ ॥
ऋ. मं. १। सू० १५४। मं० ३९॥

अर्थ- हे संन्यासी लोगो। (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मामें (ऋचा) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थिर हुये और होते हैं (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्माको (न वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढनेसे (किं करिष्यति) क्या सुख व लाभ कर लेगा ?

मनु भगवान्‌ने पहले अध्यायके ५ वें श्लोकमें उपादान कारणको शरीर कहकर इस प्रकार श्लोक दिया है।

सो ऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अत एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ २ ॥ अब १२ वें अध्यायका १५ वाँ श्लोक विचारिये॥

असंख्यान्मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः।

अर्थ- उस (परमात्मा) के शरीरतुल्य पञ्चभूतसमुदायसे असंख्य शरीर निकलते हैं, जो कि उत्कृष्ट निकृष्ट प्राणियोंको निरन्तर कर्म कराते हैं॥ १५॥

हमारी समझमें हमको सफलता प्राप्त हुई कि अक्षर अविनाशी होता है और अंशी नहीं होता और क्षर पदार्थ नाशवान् होता है, उसमेंसे अंश निकल सकते हैं। हमने जैसे अभी परमात्मा और ईश्वरकी महिमा स्वामी तुलसीरामजीके नोट सहित मनुके श्लोकसे दिखलाई वैसेही सृष्टिविज्ञानसे (राज्यरत्न मा० आत्मारामजीका) ईश्वर और ब्रह्मके विषयमें लेख देते हैं। देखो पृष्ठ २३२

योगदर्शन जो उपासनाका शास्त्र है ईश्वरका लक्षण यह कहा गया है कि 'क्लेशकर्मविपाकाशयपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।'

अर्थात्, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, मृत्यु, भय इन पाँच क्लेशोंसे रहित तथा शुभाशुभ कर्मोंसे उनके सुख दुःखादि कर्मफलोंसे आशय (वासना) से जो रहित है वह पुरुषविशेष ईश्वर है। वेदके पुरुषसूक में इसी पुरुषविशेष का वर्णन अनेक

मंत्रोंमें आता है, चाहे उसके अनन्त शिर माने जावें पर वह मृत्युभयसे मुक्त नहीं हो सकता और योग-दर्शनके बुद्धिपूर्वक किये हुये प्राचीन लक्षणसे विरुद्ध अर्थ हो जावेंगे। हम सबकी बुद्धि भी इस अर्थको स्वीकार नहीं कर सकती। वेदान्तदर्शनमें तो ब्रह्मका लक्षण [जन्माद्यस्य यतः] कह कर किया गया है। इसका अर्थ यह है ब्रह्म वह है जिससे सब विश्वका जन्म होता है। विश्वको जन्म देने-वाली शक्ति निराकार और सर्व व्यापक ही हो सकती है।

श्रीमान्‌जी अथर्ववेद काण्ड १९॥६॥४॥ में भी ईश्वर (स्वामी) की महिमा इन शब्दोंमें आई है॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह ॥ ४ ॥

श्रीमानजी! गीता बनाकर गीता बनानेवाले तो मर गये॥

गीताको वेदवित् सिद्ध करनेका बोझा आपने अपने ऊपर ले लिया, हमारे और आपके बीचमें वेदकी कसौटी है। चाहे कोई श्रीकृष्ण महाराजको परम पुरुष, उत्तम पुरुष, महान्त पुरुष या उससे भी बढिया अपने लेखमें दिखला दें। जब तक इस बातकी साक्षी वेद और प्रत्यक्षसे न दिख-ला दे इस डींग को कौन मान लेगा कि मैं परम पुरुष हूं उत्तम पुरुष हूं महान्तम पुरुष हूं। उस पुरुषके काममें सब से विलक्षण यह है सूर्य चन्द्रमा को छोड दीजिये, उस महान्त पुरुषके छोटेसे ही काम को ले लीजिये। जमीन के रसों-मेंसे आकर्षण भेदन करके अनाज, घास आदिमें रसोंको स्थापन करके और चन्द्रकिरणोंके द्वारा रस पहुंचाकर गूदा भर दे। यदि दुनियाके सब इन्सान मिल जायें तो क्या वह उस महान्तम पुरुष के इस छोटेसे छोटे काम और च्यूंटि तकके बनानेके कामको कर सकते हैं? इन किरणोंवाले सूर्य नारायणके सिवाय किसी विकारी कायावाले मनुष्यके पास ऐसी बारीक इन्द्रियाँ औजार या दूर-बीन कि जिसमें परमाणुओंका जोडना तोडना खैंचना फैंकना का काम हो जाय असम्भव है। हमें यह भय अवश्य है कि आप वेदज्ञ पंडित है और हम संस्कृत-से अनभिज्ञ हैं, परंतु यह सिद्धांतका मामला है मैं इसमें राजिनामा दाखिल नहीं कर सकता। कोई हिसाबका मुन्तहो मुझसे इस राजीनामे पर दस्तखत करावे कि हम तो पांच पंजे पच्चीस कहते हो, हमारे कहनेसे पाच पंजे पौने पच्चीस कहने लगो तो मैं यह नाप कर दूंगा, क्योंकि सच्चाई एक होती है और झुटाई अनेक।

हमने शास्त्रार्थके समय विपक्षियोंकी बडी बडी डींगें सुनी हैं। राधास्वामीमतवालेसे जब हमारा शास्त्रार्थ हुआ तो उन्होंने कहा कि महाशयजी! हमारी बाबत यह किसीने गलत मशहूर कर दिया है कि हमलोग हिंदुओंके दई देवता और ब्रह्मको नहीं मानते। हम सबको मानते हैं परन्तु श्री राधा-स्वामीको ब्रह्मसे भी ७ नंबर ऊपर मानते हैं। इसपर मैंने भी यह गप्प मार दी कि अगर मैं यह कह दूं कि श्री स्वामी दयानंदजी श्री राधा स्वामीसे भी १५ नं. ऊपर है तो हमारी गप्प बढिया रही कि घटिया?

परमात्माको अंशी जतला देना और उसमेंसे अंशरूप जीवात्माओंको निकाल कर सर्वसाधा-रणको यह उपदेश देना हमारी समझमें एक सार्व-भौम जहरबाद की बीमारी फैलाना है, इसके हटाने के लिये हम भर सक प्रयत्न करेंगे।

हमारे दिल पर चोट लग रही है और हमारी मस्तिष्कमें यह बस गई है कि अगर कोई सभाका (आंखोंवाला) अन्धोंको अपने सामने उस कुएमें जिसमें झाड झंकार भरे हों और जहरीले सॉंप बिच्छू उसमें रहते हों, गिर जाने दे। तो सभाकेने दैवसे ज्योतीली आंखे पाकर क्या लाभ उठाया? किन्तु बजाय पुण्यके पापही कमाया। अभी हमको अवसर नहीं मिला है कि हम असंख्यात जीवोंको जो अकट अमिट सत्ता है उस सनातन परमात्मा महाराजाकी प्रजा वेदमंत्रोंसे सिद्ध करें। और इस सनातन प्रजाके लिये वेदरूपी सनातन

कानूनका ऐलान करना हर सृष्टिके आदिमें ही सिद्ध कर दें । जो उसके हुक्म को तोडे उसको आवागमनके चक्करमें पडना पडे और जो उसकी आज्ञा पालन और भक्ति करे उसको मोक्षरूपी जागीर मिले । और फिर मिले और फिर मिले ॥

श्रीमानजी ! चाहे कोई वेदभाष्यकार जीवात्माओंको अज दिखलाकर उसका अर्थ अजन्मा कर दे तो हम जैसे आपसे शास्त्रार्थ कर रहे हैं वैसेही उस भाष्यकार से भी शास्त्रार्थ करनेको तैयार हैं क्योंकी गर्भमें आना और जन्म लेकर प्रकट होना अर्थात जन्म मरणके चक्करमें आना सिवाय जीवात्माओंके परमात्मा या प्रकृतिको नहीं हो सकता लेकिन महर्षि दयानंदजीकी बाबत हमारा यह निश्चय है कि उन्होंने अजन्माके यानी वहां अजन्माके नहीं लिये किन्तु जो पैदा नहीं होता और जिनकी हस्ती (स्तत्व) सदासे है ऐसा अर्थ किया होगा क्योंकी महर्षिने ही ब्रह्म, जीव, प्रकृति तीनों पदार्थोंको अनादि कालसे कायम विज्जात दिखलाकर एक को दूसरी और तीसरी सत्तासे और दूसरीको पहली और तीसरी सत्तासे और तीसरी सत्ताको पहली और दूसरीसे अलग अलग जिन्सियतके जतलाकर इस अकट और अटल वैदिक सिद्धान्त को दुनियाँके उचे मस्तिष्कवालों साइसदाओंके सामने विचारनेको रख दिया बावजूद सरतोड कोशिशके कोई साईसदां इन तीनों हस्तियोंको और उसके आपतके सम्बन्धको अपनी जगहसे बालभर न हिला सका । अगर गीताकी तरह श्री स्वामीजी महाराज गीताके इस अ. १५-७ श्लोक की तरह।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः
मनः षष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
॥ १५ ॥ ७ ॥

अर्थ- मेरा ही जीवलोकमें जीवस्वरूप सनातन है, जो प्रकृतिमें स्थित पांचों इन्द्रियों और छटे मन को भोग भोगनेके लिये खींचता है ।

ईश्वरका अंश या श्रीकृष्णका जीवोंको मान कर साइसदांओंके सामने डाल देते और उधर श्रीकृष्णके अनेकों जन्म धारण करनेको दिखलाते तो वैदिक धर्मकी ऐसी हंसी उडती जो कि वैदिक धर्मियोंसे नहीं सहारी जाती, श्रीमानजी ! इन तीनों हस्तियोंके अनादि कालसे होनेमें बहु पक्ष जो हम दिखलाते हैं वह विचारने योग्य है । ब्रह्म-परमात्मा ईसाई मुसाई मुसल्मान वैदिक धर्मी सभी ब्रह्मको अनादि और अजली और वे बनी सत्ता अर्थात् तरकीब उसमें नहीं है और अकेला कर्म फलप्रदाता राजा मानते हैं ।

जीवात्मायें कहें= जैनी बौद्ध और वैदिक धर्मी इनको वेबनी सत्ता अनादि कालसे कर्म करनेवाली और कर्मफल भोगनेवाली मानते हैं। हां यह अवश्य है कि वैदिकधर्मी कि जीवात्माओंको परमात्म राजाकी प्रजा मानते हैं, जैनी प्रजा नहीं मानते ।

प्रकृति- वैदिक धर्मी जैन बौद्ध और योरूपके जितने साइंसदां हैं अनादि कालसे वेबनी सत्ता मानते हैं, यह भी मानते हैं कि संसार इसी प्रकृति (उपादान कारण) से बना है ॥

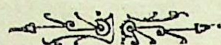
अकट सिद्धांत इन तीनों पदार्थोंके अनादि काल से होनेमें यह रक्खा है कि भावसे भाव होता है, अभावसे भाव नहीं होता,यदि आप यह कहें कि हम तो परमात्मा अंशोंसे जो भाव ही हैं अंश बतलाते हैं तो आपके पास इसका क्या उत्तर है कि जबतक परमात्माने अपनेमेंसे अपने अंशोंको नहीं निकाला तब तक परमात्मा वन्ध्या (बाँझ) और बेकार क्यों बैठा रहा? जबसे बाकार हुआ तबसे हम जीवों पर यह गजब ठाना क्यों शुरू किया ?

प्रश्न— श्री कृष्णजी परमात्माके अंश थे या वह स्वयं अंशी थे ?

सनातन जीवोंको भी गीतामें श्रीकृष्ण महाराजने अपना अंश बतलाया है । जब जीवात्मा और परमात्मा अकट और अमिट है तो यह अंश किसने निकाले ?

गीताविषयक शंकाओंका समाधान !

(संपादकीय)



श्री. राधाकृष्णजी ऐश्कार के गीताविषयक प्रश्न इससे पूर्व मुद्रित किये हैं। इनका उत्तर देना चाहिये। वह यथामति देनेका यत्न करता हूं। यहां पहलेहि कहना चाहिये कि मुझे अध्यात्मज्ञानका पूर्ण पता नहीं है और वेद-उपनिषद्-गीता आदि शास्त्रोंका परिपूर्ण ज्ञान भी मेरे पास नहीं है। इसलिये इस समाधानको मैं परिपूर्ण कह नहीं सकता। जो कुछ इस समय मेरे पास है उसके अनुसार यह उत्तर होंगे।

१ लेखक महोदयजीने लेखके पहिलेहि कह दिया है कि वे सिद्धान्तके निश्चय करनेमें किसीकी गुलामी मानना नहीं चाहते। सिद्धान्तके निश्चयमें वे स्वतंत्र रहना चाहते हैं।

यह बात बहुत ही अच्छी है। गुलामी तो भारतवर्षसे ही हटनी चाहिये और भूमंडलसे भी। सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करनेके लिये हरएकको सदा उद्यत रहना चाहिये। परंतु यह कठीन है।

२ इसके आगे लेखक महोदय श्री० ब्र० नन्दकिशोरजीका पवित्र जीवनवृत्त देते हैं। और कहते हैं कि वे अग्निहोत्र करते थे और सूर्यनारायण यज्ञदेव के तारबाबू थे।

गीताविषयक आशंकाओंसे इनका क्या संबंध है, यह बात हमारे समझमें नहीं आयी। तथा एकवार किसीकी गुलामी नहीं करनी है ऐसा निश्चित होनेपर कोई बडा हो कोई छोटा हो, उसके मतसे क्या लाभ होनेवाला है? यदि उसका मत मान लिया तो उसकी गुलामी होगी। इसलिये किसीकी गुलामी न माननेका निश्चय करनेवालेको उचित है कि वह किसी मनुष्यके मत न लिखे। चाहे वह सूर्यनारायणके तारबाबू हों अथवा प्रत्यक्ष परमात्माके प्रेषित हों! श्री० ब्र० नन्दकिशोरजी ब्रह्मचारी थे, प्रतिदिन अग्निहोत्र किया करते थे, बडे सात्त्विक वृत्तिके थे इस लिये हमारे लिये वे पूज्य हैं। क्यों कि हम ("गीता" के संपादक) सब श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुगामी हैं। परंतु शंकाकर्ता महाशय किसीके गुलाम बनना नहीं चाहते, इसलिये वे शंका करनेके समय किसी मनुष्यके वचनको प्रमाण न मानें अन्यथा प्रतिज्ञाभंग होगा॥

३ आशंकालेखक आगे कहते हैं कि, गीता श्रीकृष्णजी महाराजकी बनाई हुई नहीं जंचती। इसमें क्या प्रमाण है? प्रमाणके विना जो स्थापना है उसका उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि यह कथन किसी दूसरेका है तो गुलामीसे माना हुआ है। यदि स्वयं स्वीकृत है तो उसके लिये प्रमाण चाहिये। हम समझते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णजीने युद्धभूमिपर अर्जुनको गीताका उपदेश किया और वह व्यासदेवने महाभारतमें संग्रहित किया। इसके लिये महाभारत ही प्रमाण है।

४ गीतासे अवतारवाद चला है, यह कथन आशंकाकर्ताका आगे है। परंतु यह अशुद्ध है। अवतारवाद तो वेद और उपनिषदोंमें भी है। मनुष्यका शरीर 'कर्मभूमी' है और इस कर्मभूमिमें सब देवोंने अपने अपने अंश भेजकर अवतार लिया है। इसीका नाम 'अंशावतार' है। यह विषय ऐतरेय उपनिषद् में २।४ में विस्तारसे है। पाठक वहां देखें। उदाहरणके लिये एक वचन देखिये —

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। ऐ०उ०२।४

"सूर्य आंखका रूप धारण करके आंखके स्थानमें प्रविष्ट हो कर" निवास करता है। यह जो सूर्य आंखमें आकर रहा है वह सूर्यका अंश ही है।

संपूर्ण सूर्य तो भूमिके लाखों गुणा बडा है, इसलिये संपूर्ण सूर्य मानवोंके छोटेसे आंखमें रह नहीं सकता। सूर्यका अल्प अंश ही रह सकता है। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके अंश मनुष्य शरीरमें आकर निवास करने लगे, यह वर्णन इसी उपनिषद में इस खंडमें है। पाठक देखें और समझें कि देवताओंका 'अंशावतार' इस तरह इस कर्मभूमिमें हुआ है।

यहां समझनेवाली बात यह है कि जैसे पृथ्वी, जल, सूर्य, वायु आदि देवताओंके अंश नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा आदि स्थानोंमें आकर रहे हैं, उसी प्रकार परब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरका अंश आकर हृदयमें रहा है। केवल अन्य देवताओंके हि अंश आगये और ईश्वरका अंश नहीं आया ऐसा नहीं है। जैसे अन्य देवोंके अंश आगये वैसा ही ईश्वरका भी अंश आगया है। उपनिषदोंमें यह बात 'मधुकर राजा' (मधुमक्खियोंके राजा) का दृष्टान्त देकर समझायी है—

तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते। प्र. २।४

"जैसा मधुमक्खियोंका राजा उडने लगा तो सब मधुमक्खियां उसके साथ उडती हैं और वह जहां बैठता है वहा सब बैठती हैं" उसी प्रकार अन्य देवताएं मधुमक्खियां हैं और मुख्य आत्मा (प्राण) मधुकरराजा है। जहां यह जाता है वहां अन्य देवताएं जाकर रहती हैं और जहांसे यह चल जाता है, वहांसे अन्य देवताएं भी चली जाती है। इसीको जन्म और मृत्यु कहा जाता है।

शरीर बननेके समय यह मुख्य आत्माका अंश शरीरमें आने लगता है और उसके साथ साथ अन्यान्य देवताओंके अंश भी आते हैं। इस तरह यह शरीर देवतांशोंका अंशावतार होता है। यह बात वेदमें भी कही है—

देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १४ ॥
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत्। ॥ ३० ॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे॥ ३१ ॥
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ ३२ ॥
अथर्ववेद ११।८

"देवताएं पुरुषमें प्रविष्ट होगयी हैं। शरीररूपी मर्त्य घर बनाकर देवताएं पुरुषमें प्रविष्ट हो गयी हैं। रेतकी आहुति देकर देवताएं पुरुषमें प्रविष्ट हुई हैं। आप्, अन्य सब देवताएं, विराट् और ब्रह्म ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण बना है। इस तरह सब देवताएं, गौवें गो-शालामें रहनेके समान, यहां रहती है।"

जैसी गौवें गोशालामें रहती हैं वैसी देवताएं, इस शरीरमें रहती हैं। यदि अन्य देवताएं गौवें हैं तो मुख्य आत्मा वृषभ है, यदि अन्य देवताएं मधुमक्खिया हैं तो मुख्य आत्मा मधुकर राजा है, यदि अन्य देवताएं देवताएं है तो मुख्य आत्मा आत्माही है, यदि अन्य देवताएं देविया हैं तो मुख्य आत्मा देव है। इस तरह यह अंशावतारकी कल्पना है।

यदि देवताओंके अंश शरीरमें आये हैं तो उसी नियमके अनुसार आत्माका अंशभी शरीरमें आगया है। पूर्वोक्त मंत्रमें—

ब्रह्मणा सह विराट् आपः देवताः शरीरं प्राविशन् ऐसा कहा है। 'ब्रह्मके साथ विराट् जल तथा अन्य देवताएं शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं।' यहां अंशरूप से शरीरमें प्रवेश है यह बात स्पष्ट है। यह मंत्र अथर्ववेदका अर्थात् ब्रह्मवेदका है। ऐतरेय उपनिषद् में भी यही बात है। गीतामें भी यही कहा है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
गी. १५।७

"मेरा (ब्रह्मका, ईश्वरका) अंश जीवलोकमें जीव बना है।" इसकी उपनिषद् और वेदके साथ संगति देखें। यह अंशावतार केवल मनुष्यके शरीरमें हि हुआ है और अन्य शरीरमें नहीं, ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक प्राणीके शरीरमें इन संपूर्ण देवताओंका अंशावतार हुआ है। पूर्वोक्त मंत्रमें 'विराट्' इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, ऐसा

कहा है। विराट् क्या है? यह सब ब्रह्माण्ड ही विराट् है। विराट् वह है कि जिसमें-

विविधानि राजन्ते वस्तूनि यत्र।

अनेक सूर्यचन्द्रादि पदार्थ चमक रहे हैं। वह संपूर्ण विराट् अपने अंशरूपसे इस देहमें प्रविष्ट हुआ है। पिण्डमें ब्रह्मांड है अर्थात् ब्रह्मांड अंशरूपसे पिंडमें है। यह जैसा मानवी देहमें है वैसा ही मत्स्य कूर्म आदि सभी प्राणियोंके देहमें अंशावतार हुआ है। वास्तवमें प्रत्येक प्राणी अंशावतार ही है। परंतु जिसमें अवतारका प्रभाव दीखता है उसको 'अवतार' कहते हैं, जैसे रामचंद्र, श्रीकृष्ण इ० और जिनमें अवतारका प्रभाव नहीं दीखता उस को कोई अवतार नहीं कहता। गीतामें विभूति-योगमें यही बात कही है-

रामः शस्त्रभृतामहम्। गी. १०।३१
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। १०।३७

"शस्त्रधारियोंमें रामचन्द्रजी और वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव ईश्वर का अंशावतार हैं।" यह कथन प्रभावदर्शक ही है। क्यों कि ईश्वरका अंशावतार सर्वत्र है तथा अन्य देवताओंका भी है। जहां अधिक प्रकट होता है उसका वर्णन किया जाता है। इसलिये आक्षेपक महाशयने जो कहा है कि अवतार वाद गीतामें हि है वह अशुद्ध कथन है, यह अंशावतारवाद जैसा गीतामें है वैसा ही उपनिषदोंमें और वैसाहि वेदमें भी है। हां वेदमें संक्षेपसे कहा है, उससे अधिक उपनिषदोंमें और उससे अधिक विस्तार गीतामें किया गया है।

५ 'गीता मूर्तिपूजाकी जड है' ऐसा आगे लिखते हैं। यह आक्षेपकका कथन गलत है। यहां 'मूर्तिपूजा' और 'प्रतिमापूजा' में जो भेद है वह ध्यानमें धारण करना चाहिये।

न तस्य प्रतिमास्ति। यजुर्वेद ३२।२

ईश्वरकी कोई प्रतिमा नहीं है। प्रतिमाका अर्थ सदृश प्रतिलिपी है। परमेश्वरके सदृश प्रतिलिपी कोई नहीं है। इसलिये वेदने प्रतिमापूजाका निषेध किया है। परंतु प्रतिमापूजा और मूर्तिपूजा समान अर्थवाले शब्द नहीं है। परमेश्वरकी प्रतिमा नहीं है ऐसा कहनेसे परमेश्वरकी मूर्ति नहीं है ऐसा मानना गलत है। पाठक और आक्षेपक प्रतिमा और मूर्तिका भेद ध्यानमें रखें। ये समान अर्थवाले शब्द नहीं हैं यह बात ठीक रीतिसे समझें। यदि ब्रह्म विराट् और अन्य देवताओंका सर्वत्र अंशावतार हुआ है तो सभी उसकी मूर्तियां हैं। परंतु मूर्तियां सब होनेपर भी इनमें से एक भी उसकी प्रतिमा नहीं है। जहां रूप है वहां मूर्ति है। ईश्वरका वर्णन वेदमें—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥ ऋग्वेद ६।४७।१८

'प्रत्येक रूपमें प्रतिरूप हुआ है' इस तरह किया है। यदि प्रत्येक रूपके लिये वह प्रतिरूप है तो उस की मूर्ति नहीं है ऐसा कैसा कह सकते हैं? वैसी तो जीवात्माकी भी मूर्ति कहां हैं? वह अशरीरी होनेसे उसकी भी मूर्ति कहां है? परंतु यह शरीर उसकी मूर्ति कही जाती है, उसी प्रकार यह सब 'विश्वरूप' उसकीहि मूर्तियां हैं। सभी उसकी मूर्तियां है। अतः वेदमें इंद्रादि देवोंका वर्णन मूर्तिमान होनेके समान किया है। तथा उपनिषद् कहता है-

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च॥ बृ.उ. २।३।१
शथपथ

"ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्तिमान् और दूसरा निराकार" इसमें ब्रह्मके मूर्तिमान् रूपका वर्णन है। इसीका वर्णन वेदके सूक्तोंमें साकार जैसा किया है। सभी सूक्त इसके साक्षी हैं। ब्रह्मका दूसरा रूप निराकार भी है, इसका इन्कार कोई नहीं करता, परंतु ब्रह्मका रूप साकार भी है। इसका भी इन्कार आक्षेपकको करना नहीं चाहिये। इस तरह ब्रह्म के सभी रूप हैं, इसलिये मूर्तिपूजा वेदमें है, परंतु प्रतिमापूजा किसी स्थानपर नहीं है। प्रतिमापूजक दोषी हैं। प्रतिमापूजक वे हैं कि जो ईश्वरके स्थान पर समान योग्यता प्रतिमाकी मानकर उसको पूजते हैं। मूर्तिपूजक वे हैं कि जो जगत्की विविध वस्तुओं और मूर्तियोंमें परमेश्वरका आविर्भाव अनुभव करते हैं और उसकी वहां महत्ता देखकर पूजा करते हैं। इस दृष्टिसे सभी जगत् और जगत्के सभी पदार्थ ईश्वरकी मूर्तियां हैं। यही परमात्माका विश्वरूप है।

इस विश्वके रूपमें परमात्माको देखना वेदमें अनेक स्थानमें कहा है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा सूर्य चंद्र ग्रह नक्षत्र आदि सब उसी नारायणका विश्वरूप है ऐसा कहा है। इसकी उपासना परमात्मोपासना ही है। यहां मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजा भिन्न है। मूर्तिपूजा वेदविहित है और प्रतिमापूजा वेदनिंदित है। इसलिये आक्षेपक महोदयने जो कहा कि गीता ही मूर्तिपूजाकी जड है सो गलत है, क्यों कि मूर्तिपूजा की जड वेद है। यहां आक्षेपक महाशयने मूर्ति और प्रतिमा का अर्थ समझा नहीं; इसलिये गलती की है।

६ आगे चलकर रामचंद्रजी महाराजने सूर्योपासना की इस ऐतिहासिक कथाको कहा है। उन्होंने उपासना निःसंदेह की होगी। सूर्योपासना तो वैदिक धर्मकी महा उपासना है। सभी आर्योंको सूर्योपासना करनी चाहिये। गायत्रीमंत्रमें सूर्योपासना कही है। और वेदमें सैकडों मंत्र ऐसे हैं कि जहां यह उपासना कही है। अतः इसमें कोई विशेषता नहीं।

संभवतः आक्षेपक महोदय इसमें यह कहना चाहते हैं कि यदि रामचंद्रजी परमेश्वरके अवतार हैं तो उनको उपासनाकी आवश्यकता क्या है? यदि यही शंका है तब तो वेदका अंशावतार आक्षेपकके ध्यानमें नहीं आया। जिस तरह रामचंद्रजी महाराज परमेश्वरके अंशावतार थे उसी तरह आक्षेपक म. राधाकृष्णजीभी हैं। दोनोंमें भेद इतनाही है कि एकमें परमात्मभाव अधिक प्रकट अर्थात् आविर्भावित हुआ इसलिए जगत् में पूज्य बने और दूसरे में वैसा प्रकट नहीं हुआ इसलिये वैसे पूज्य नहीं बने अथवा इस समय उनका सत्कार जितना होता है उतनाहि उनमें दैवी भाव प्रकट हुआ है। ध्यान आत्माकी शक्तिका हि किया जाता है। किसी समय आंतरिक शक्तिके प्रकट होनेके लिए आन्तरिक शक्तिका ध्यान करना पडता है और किसी समय बाहरकी शक्तिसे विशेष कार्य लेना होगा तो उस समय बाह्य शक्तिका भी ध्यान करना आवश्यक होता है। अतः भगवान् रामचंद्रजीने और शक्तिसे कार्य लेनेके लिए ध्यान किया तो उसमें कोई क्षति नहीं है। सब मनुष्य जैसे पढने के समय अपने आंखका ध्यान और उपयोग अथवा उपासना करते हैं वैसा ही रामचंद्रजीने अपनीही और शक्तिसे कार्य लेनेके लिये सूर्यनारायणका ध्यान किया था। यदि आक्षेपक शांतिसे ऐतरेय उपनिषद के पूर्वोक्त भागका मननपूर्वक अभ्यास करेंगे और सूर्यसे अंश आकर नेत्र कैसा बना है और नेत्रके अंशका विस्तार होकर सूर्य कैसा बनता है, यह पूर्वोक्त उपनिषद्में कथित उपदेश ध्यान में लायेंगे तो उनको इस विषयमें कोई कठिनता नहीं होगी।

७ इसके नंतर आक्षेपक महोदयने भागवतकी कथा और सूर्यनारायण को अर्घ्यदान का वर्णन किया है। परंतु गीतासिद्धान्तकी शंकाओंमें यह विषयान्तर क्यों हुआ? ऐसे जगत् में बहुत ही विषय हैं कि जो लिखने आवश्यक हैं परंतु यहां हम गीताका ही विचार करेंगे, दूसरे विषयोंका नहीं। आक्षेपक महाशय इसका स्मरण रखें और विषयान्तर होने न दें।

८ गीता जगत्के ६५ से अधिक भाषाओंमें भाषान्तरित हुई है, यह गीताकी विशेषता सब विचारक मानते हैं। परंतु म० राधाकृष्णजी कहते हैं कि इंजील उससेभी अधिक भाषाओंमें मुद्रित हुई है, इसलिए यह कोई गीताकी विशेषता नहीं है। यह आक्षेप पढकर हमें आश्चर्य हुआ॥ क्यों कि इंजील तो इंजीलवालों ने अनेक भाषाओंमें अपने व्ययसे मुद्रित किया। वैसी बात गीताकी नहीं है। गीतावाले आर्य अन्य भाषाओंमें गीताको मुद्रित करनेमें उदास हि रहे, परंतु अन्य देशके तत्त्वज्ञानी लोगोंने देखा कि यह अपूर्व पुस्तक है और अपनी भाषामें इसका तर्जुमा होना चाहिये। ऐसी इच्छासे विधर्मियोंने हि गीताका रूपान्तर अपने व्यय और परिश्रम से किया। अतः इंजीलका मुद्रण और गीताका मुद्रण होनेमें बडा भेद है। यह स्पष्ट भेद होते हुए भी उसे न माननेका दुराग्रह किसीमें है तो उसको दूर करनेमें कोई समर्थ नहीं होगा।

९ मोक्षसे वापिस आनेके विषयमें और वृक्षोंमें जीव होने के विषयमें आगे कुछ कहा है। परंतु आक्षेपकने एक भी प्रमाण नहीं दिया इसलिये इस

विषयमें हम कुछ भी लिखना नहीं चाहते। आक्षेपक का मत क्या है और उनके प्रमाण कौनसे हैं इनका ज्ञान होनेके पश्चात् इस विषयमें हम लिखेंगे।

१० आगे ब्रह्मचारीजी की बात, महर्षिजी की मुहर और पं. भूमित्रजीका प्रश्न आया है और इनके मतसे ७ से १२ अध्याय गीतामें प्रक्षिप्त हैं। हम पूर्वोक्त सत्पुरुषोंके विषयमें कुछ भी नहीं लिखेंगे। तथापि इतना ही कहेंगे कि आक्षेपक कृपया किसी के गुलाम न बनें। वे अपनी शंकाएं लिखें। अन्यों के मत उद्धृत न करें। वे तो अपना मत सिद्ध करनेके लिये इस लोकमें रहे भी नहीं हैं। गीताका ऐसा कोई पुस्तक चाहिये कि जिसमें ७ से १२ तक के अध्याय न हों, तब तो प्रक्षिप्तता सिद्ध हो सकती है। हमारे मतसे तो गीताके येही अध्याय अत्यंत महत्त्व के हैं। यदि ये अध्याय हटाये जायगे तो गीता निःसार होगी। यह बात हम अपने गीताकी 'पुरुषार्थबोधिनी टीका'में इन अध्यायोंकी टीका करनेके प्रसंग में बता देंगे। आक्षेपक महोदय उस टीका को देखें और पश्चात् शंका करें।

११ वेदविरुद्ध और वेदानुकूल कहनेवालों को संपूर्ण वेदका यथार्थ ज्ञान होना चहिये। इसलिये आक्षेपक महाशय जिसको वेदानुकूल और वेदप्रतिकूल कहते हैं वह प्रत्यक्ष ज्ञानसे कहते हैं या अप्रत्यक्ष से इसका निर्णय पहिले होना चाहिये। क्यों कि जो तो उन्होंने इस समयतक वेदविरुद्ध बातें करके कहीं वे सब वेदानुकूल सिद्ध हो चुकी हैं। ऐसी अवस्थामें वेदानुकूल या वेदप्रतिकूल कहनेका साहस क्यों किया जाता है?

१२ आगे उपनिषदोंके विषयमें आक्षेपकने कुछ लिखा है। अल्लोपनिषद् भी बीचमें लाया है। हम नहीं समझते की यह परिश्रम क्यों किया गया है। हम तो दस ही उपनिषदोंको प्रमाण मानते हैं, शेष उपनिषदों का झगडा ही क्यों लाया जाता है?

१३ एकत्व और पृथक्त्व दृष्टिभेदसेहि होते हैं। आक्षेपक महाशय इस विषयमें संदेह कर रहे हैं। देखिये पतलून, पाजामा, धोती, उत्तरीय, कुरता, कोट, जाकीट, साफा, चादर, पगडी, गदेला आदि पदार्थ भिन्न भिन्न हैं परंतु यह भिन्नता तैयार पदार्थोंकी दृष्टिसे है, सूत्र या कपास की दृष्टिसे इनमें एकता ही है। दूसरा उदाहरण सोनेके जेवर बनाये कुछ कर्णभूषण, कुछ वलय, अंगुठियां, कुछ कंठभूषण बनाये। सब आभूषण विभिन्न हैं परंतु यह भिन्नता आभूषण की दृष्टिसे और पहननेकी दिष्टीसे है। सुवर्ण की दृष्टिसे सब एकता है। इसी तरह मिट्टी के, बर्तन घडे, कटोरियां, ईंटे आदि बनीं, इन विभिन्न पदार्थोंमें मिट्टीकी भावनासे ऐक्य है। पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि प्रांतीय भिन्नता है, यह भेद सत्य है परंतु 'हिंदी' भावसे सबकी एकता भी उतनी हि सत्य है। शरीर में हाथ, पांव आंख नाक सिर आदि भेद स्पष्ट हैं, परंतु रक्तमांसरुधिरके होनेमें एकता है, पांचभौतिक होने में एकता है, एक मानवसत्ता के होने में एकता है। मनुष्य का पेट और पीठ अलग भिन्न है, परंतु मनुष्य कहने से दोनों वहां मिल जाते है। हमारे व्यवहार में भी इस भिन्नता में एकता और इस एकता में भिन्नता देखते हैं और उन दोनों दृष्टियोंसे लाभ उठाते हैं। बाल्य तारुण्य वार्धक्य ये भिन्न हैं, परंतु जीवन की एकता उनमें है। इतने उदाहरणोंसे यह भिन्नताकी दृष्टी और अभिन्नताकी दृष्टी कैसी होती है, इसका ज्ञान हो सकता है। और जिस समय यह दिष्ट ठीक प्रकार ज्ञात होगी उस समय कोई शंका नही रहेगी। वेद उपनिषद् और गीतामें जो समष्टिव्यष्टिवाद कहा है, तथा पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद कहा है वह इसी दृष्टीका उदय करनेवाला है। परंतु शान्तिसे और मननपूर्वक उसका अभ्यास होना चाहिए।

१४ आगे जाकर आक्षेपक महाशय उपनिषदोंमें और ब्राह्मण ग्रंथोंमें भी वेदविरुद्ध बातें हैं ऐसा लिखते हैं। इस विषयमें एक भी प्रमाण नहीं दिया है इसलिये हम कुछ लिख नहीं सकते। परंतु हम इतना अवश्य कहेंगे कि जिसको सभी ग्रंथोंमें प्रक्षिप्त दोष दिखता होगा, उसकेहि विचारमें प्रक्षिप्तता है ऐसा जानना उचित है। हम तो उपनिषद तथा ब्राह्मण ग्रंथोंके आश्रयसे हि वेदका अन्वेषण करते हैं। यदि आक्षेपकको कोई एकभी ग्रंथ प्रक्षेपके विना नहीं दीखता है तो वे वैसा ही मानें और

और सर्वत्र ही प्रक्षेप देखें। कौन इसको ठीक कर सकता है?

१५ आक्षेपका आगे कथन यह है कि परमात्मा और जीवात्माका गीताका वर्णन वेदविरुद्ध है। प्रमाण कोई दिया नहीं है और इतनाही कहा है कि राजरत्न मा० आत्मारामजीका प्रमाण आगे देंगे। यहां कहना इतनाही है कि यदि गीताको वेदविरुद्ध ठहरानेमें मा० आत्मारामजी की ही शरण लेनी है तो वे प्रमाण देनेका कष्ट न करें। प्रमाणोंकी पहुंच कहांतक है इसका पता लगा, इस लिये यह वाद-विवाद आगे चलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आक्षेपक महाशय मा० आत्मारामजी की शरण जाकर उनके वचन उद्धृत करेंगे और गीताको वेद-विरुद्ध सिद्ध करेंगे। धन्य हैं। जो मा० आत्माराम-जीके लेखको स्वतः प्रमाण मानते होंगे वेहि इसका विचार करेंगे, हमें फुरसत नहीं है।

१६ आगे अपने और श्री० स्वा० स्वतंत्रानंदजी के प्रश्नोत्तर दिये हैं। गीताके आशंकाओंमें इन प्रश्नोत्तरोंका क्या संबंध है? ऐसाही लेख बढानेकी इच्छा होगी तो उसकी समाप्ति प्रलयकालतक नहीं होगी। अतः इस प्रश्नोत्तरका प्रस्तुत विषयसे कोई संबंध नहीं है इस लिये हम इसका विचार भी नहीं करते। आगे आक्षेपकजीसे प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसे असंबद्ध लेख न लिखें। इससे सबका समय व्यर्थ जाता है।

१७ आगे पूछते हैं कि 'परमात्माको यह क्यों सूझी कि जो अपनेमेंसे जीवोंको निकाले?' यह प्रश्न परमात्मासे पूछना चाहिये। हम इसके उत्तरदाता नहीं। अग्निसे चिनगारियां क्यों निकलती हैं? नरसे वीर्यबिंदुका प्रत्येक अणु जीवनवाला क्यों निकलता है? सूर्यसे पृथिव्यादि लोकलोकान्तर क्यों निकलते हैं? मकडीसे धागा निकलनेके समान परमात्मासे यह जगत् क्यों निकलता है? ये और ऐसे सब प्रश्न आक्षेपक महाशय ध्यान लगाकर स्वयं परमात्मासेहि पूछें। इससे उनकी शंका दूर होगी।

१८ आगे आशंका उठाते हैं कि यदि परमात्मासे जीवात्मा बाहर निकले तो परमात्माकी छलनी होगी! धन्य है प्रश्न पूछनेकी रीतिकी। परमात्मा एकरस है। रसमय समुद्र है, उसमेंसे पानी भरनेसे सुराख नहीं होते, अग्निसे चिनगारियां निकलनेसे अग्निमें सुराख नहीं होते, प्राणिशरीरसे वीर्य, वृक्षसे बीज आविर्भूत होनेसे वहां सुराख नहीं होते फिर भला परमात्माकी छलनी क्यों बनेगी? इस प्रश्नसेहि पता लगता है कि आक्षेपक का विचार क्या है।

१९ आगे कौरवपांडवोंकी अतिमानुषी उत्पत्ति, श्रीकृष्णको रणशूर नामकी प्राप्ति, भीष्मकी प्रतिज्ञा, श्रीकृष्णका शरीर रजवीर्यसे उत्पन्न होना, श्रीकृष्ण की मृत्यु आदिके विषयमें छः प्रश्न किये हैं। इनका गीताके साथ कोई संबंध नहीं है, इसलिये इनको हम छोड देते हैं। अप्रस्तुत प्रश्नोंको बीचमें क्यों लाते हैं? क्या इनको सुसंबद्ध और असंबद्धका पताही नहीं है?

२० 'मैं सूर्य नारायणका उपासक हूं' ऐसा आगे कहा है। श्री. म. राधाकृष्णजी सूर्यनारायणके उपासक हैं यह बडी अच्छी बात है। आर्यत्वकी यह निशाणी है। गायत्री मंत्रकी यही उपासना है। यह जो कुछ हो, परंतु इसका कोई संबंध प्रकृत विषयसे नहीं है। यदि सूर्यनारायण परमात्मसत्तासे चेतन हैं और यदि सूर्यसेहि सूर्यमाला अर्थात् पृथ्वी मंगल बुध गुरु शनि आदि ग्रहमाला बनी है और यदि पृथ्वीसेहि सब शरीर बने हैं, तो निः-सन्देह सूर्यकेही अंश हम सब हैं और सूर्यके अंश होनेसे परमात्मासहित सूर्यकेहि हम सब अंश हैं।

२१ परमात्माका अंश जीवलोकमें जीव होकर रहा है, इस पर आशंका करते हुए आप कहते हैं कि सूर्यकिरणें अंधेरा उगलती हैं ऐसा कहनेके समान यह कथन है। सूर्यकिरणोंसे जैसा प्रकाश होता है वैसाही अंधेरा भी होता है। यह कल्पना वेदमें है।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च। ऋ०

"एक अंधेरेवाला दिन है और दूसरा प्रकाश-वाला दिन है।" ऐसाही वर्णन करके वेदने बताया है कि एक ही सूर्य प्रकाश और अंधेरा ये दोनों

उत्पन्न करता है। फिर तो कोई शंका रही नहीं।

२२ आगे जाकर आप कहते हैं कि जब प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्यके विचार जानेगा तब हम कह सकेंगे कि परमात्माका अंश जीव है। अच्छा ऐसा ही होगा, आप योगका अनुष्ठान करिये और निर्बीज समाधितक की अवस्था प्राप्त करिये। जब आपका जाग्रतिमें कार्य करनेवाला मन बिलकुल स्तब्ध हो जायगा तब आपका व्यापक मन जाग उठेगा, इस अवस्थामें आपके लिये स्थान और काल का भेद दूर होगा, मानो इस समय आपका अनुभव कालातीत होगा और स्थानातीत होगा। इस अवस्थामें देशान्तरके मनुष्यके विचार जानना संभव होगा। ऐसेहि सिद्ध पुरुषोंने इसका अनुभव लिया है और वेही कहते हैं कि 'नेह नानास्ति किंचन।' यहां अनेक पदार्थ नहीं हैं। सबकी एकता येही लोग अनुभवसे जान सकते हैं।

हम तो इनके कथनको ही माननेवाले हैं। हम स्वयं अनुभवी नहीं हैं। परंतु हमारा विश्वास है कि उपनिषदोंके लेखक धोखा देनेवाले नहीं हैं। जब तक यह अवस्था नहीं आती तबतक द्वैतका ही अनुभव रहेगा। सिद्ध होनेके पूर्व संपूर्ण अद्वैतकी बातें कल्पनागम्य ही होंगी। जो कल्पना नहीं दौड सकता, अथवा जिसका विश्वास उपनिषद्वचनोंपर नहीं है वह द्वैतही माने और साधना तथा स्वाध्याय करे, विचारे और सोचे। तब तक चाहे एकत्व माननेवालोंको मूढ भी कहे। वैसा कहनेका इसको अधिकार है। यह प्रवास कोई एक ही जन्ममें समाप्त होनेवाला नहीं है। ईशोपनिषदमें भी (यजुर्वेद अ० ४० में भी) 'एकत्वमनुपश्यतः' कहा ही है। यहां जो 'अनुदर्शन' है वह गुरुपर श्रद्धा रखनेसे प्राप्त होनेवाली दृष्टिसे हि हो सकता है। अनुदर्शन का अर्थ दूसरेकी दृष्टिके अनुसारी दृष्टि करके देखनेका अभ्यास करना है। यदि किसी पर विश्वास रखना ही नहीं होगा तो फिर उसका मार्ग जब कटेगा तब कटेगा। उसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

२३ आगे आक्षेपक आश्चर्य करते हैं और कहते हैं कि कहां सच्चिदानंद सर्वदेशी परमात्मा और कहां इच्छा द्वेष प्रयत्न करनेवाला एकदेशी जीवात्मा! इसमें महदन्तर है इसमें कोई संदेह नहीं है। हम भी इस अन्तरको ऐसाही मानते हैं। परंतु साथ साथ यह भी मानते हैं कि एक अवस्था आती है कि जिसमें यह सब अन्तर मिट जाता है। वेदमें इन दोनों अवस्थाओंके अनुभव दर्शानेवाले मंत्र हैं। इसी लिये द्वैतश्रुति भी हैं और अद्वैतश्रुति भी हैं ईश उपनिषदमें भी इन दोनों प्रकारकी श्रुतियां हैं। देखनेवाला देख सकता है। न देखनेवाले के सामने संपूर्ण वेद खडा होनेपर भी क्या होगा?

२४ आगे अपने नैमित्तिक ज्ञानका महत्त्व गाया है। यह सत्य है कि नैमित्तिक ज्ञानकी आवश्यकता इस जगत्में है। परंतु वह अन्दरका ज्ञान आविष्कृत करनेके लिये ही है। कोई बाहरसे किसीको ज्ञानी नहीं बना सकता जबतक उसके परदे दूर होकर उसका अन्दरका ज्ञान आविष्कृत नहीं होता। इसीमें मिश्रके बादशाह और अकबर बादशाहके प्रयोगोंकी समीक्षा हो चुकी है।

२५ आगे आपने प्रश्न उठाया है कि परमात्मा सर्वव्यापक होनेसे यदि उसकी सत्तासे सब चेतन हों तो कोई मरेगा कैसा? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि परमात्माका नाम 'मृत्यु' भी है। मृत्युका जो चमत्कार इस जगत्में हो रहा है वह भी उसका प्रभाव है जैसा जन्म उसका प्रभाव है। परमात्माको इसी कारण 'प्रभव और प्रलय' अर्थात् 'जन्म और मृत्यु' कहते हैं। परमात्मा सर्वचेतन होता हुआ भी सर्वमृत्युभी है। यह कैसा है ऐसा कोई पूछेगा तो उत्तरमें निवेदन है कि वेदही ऐसा कहता है और उपनिषद भी।

२६ आगे इसाई मुसलमान जैन तथा देवसमाजियोंके सिद्धान्तोंपर आक्षेप किये हैं। इन सवालों का गीताके साथ कोई संबंध नहीं है, इसलिये इनका यहां विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

२७ आगे आपका कथन है कि व्याप्य-व्यापक संबंध होनेसे परमात्मा और जीवात्मा पृथक् हैं, परंतु यह कोई युक्ति ठीक नहीं है। हम सामने मिश्री लेते हैं। मिश्रीमें मिठास व्याप्त है। मिठास

व्यापक है और मिश्रीका टुकडा व्याप्य है, परंतु ये दोनों मिलकर एकही पदार्थ होता है। गीताके ७ वें अध्यायमें यही बताया है, (गीता अ. ७।८-१२ देखो) " जल में रस, चन्द्र सूर्य में प्रभा, वेदोंमे ओंकार, आकाशमें शब्द, मनुष्यमें पौरुष, पृथ्वीमें गंध- अग्निमें तेज, प्राणियोंमें जीवन, तपस्वियों में तप, सब भूतोंमें सनातन बीज, बुद्धिवानोंकी बुद्धि, तेज, स्वियोंकी तेजस्विता, बलवानोंका बल, प्राणियोंमें काम, तथा सब पदार्थोंमें सात्विक राजस और तामस भाव ये ईश्वरके भाव हैं।" जलमें जैसा रस व्यापक है वहां जल व्याप्य और रस व्यापक है, परंतु दोनों मिलकर एक ही सत्त्व होता है। व्याप्य व्यापक होनेसेंहि दोनोंका अपृथकत्व सिद्ध होता है और उनका पार्थक्य कल्पनागम्य होता है।

आगे आपने शुद्ध ब्रह्म और शबल ब्रह्म, निराकार और साकार आदि भेद दर्शाये हैं। ये भेद कल्पना- गम्य हैं। जैसा जलमें रस की भिन्नता है, ढेलेसे मिश्रीकी मीठास भिन्न है। यह भिन्नता कल्पनागम्य है, वस्तुतः एकताही है। एकत्व और अनेकत्व यह कल्पना है। एक विशिष्ट दृष्टिसे इनका अनुमान होता है परंतु इनमें अर्थात् जल और रस सनातन भेद नहीं है। इसी तरह व्याप्य और व्यापकसे भी समझ- नेका यत्न कीजिये।

आगे 'पुरुषार्थ' शब्दकी व्याख्या की है, उसका गीताकी शंकाओंके साथ कोई संबंध नहीं है। दैव और पौरुष का भेद और अभेद जो आपने बतलाया है और जो मनुस्मृतिके प्रमाण देकर सिद्ध किया है वह अच्छा है। मनुष्यके पीछे दैव भी है और पुरु- षार्थ भी है। भूतकालके पुरुषार्थ का दैव बनता है और दैव से पुरुषार्थ भी होता है। परंतु इसका विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है।

२८ आक्षेपक आगे पूछते हैं कि क्या कभी पर- मात्माके कर्ममें भी कभी कुकर्म और सुकर्म कहा जा सकता है? उत्तरमें कहते हैं कि परमात्माके कर्म में कुकर्म और सुकर्म यह भेद नहीं है। शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाले सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माके कर्म सदा शुद्ध ही रहते हैं। इस विषयमें किसीका मत- भेद नहीं है।

२९ आगे आक्षेपक गीताका श्लोक देकर उत्तम पुरुष अन्य है ऐसा कहते हैं। वे श्लोक ये हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥
भ. गी. अ. १५

" क्षर और अक्षर ऐसे दो पुरुष इस लोकमें हैं। सब भूत यह क्षर पुरुष है, कूटस्थको अक्षर पुरुष कहते हैं। उत्तम पुरुष इससे भिन्न है जिसको पर- मात्मा कहते हैं, जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकोंमें घुस- कर सबका धारण करता है। क्यों कि वह उत्तम पुरुष क्षरसे श्रेष्ठ और अक्षरसे उत्तम है, इसलिये लोकमें और वेदमें इसे पुरुषोत्तम कहते हैं।"

यहां विवेक यह है कि ये परस्परभिन्न हैं अथवा इनकी कल्पनाही भिन्न है? यही विवादका विषय है। इस विषयमें भगवद्गीतानेहि यह विषय इस तरह समझा दिया है। देखो—

रसोऽहमप्सु। बुद्धिर्बुद्धिमतास्मि।
बलंबलवतामस्मि। भ. गी. ७।८, १०, ११

" जलमें रस, बुद्धिमानों की बुद्धि, बलवानोंका बल ईश्वर है।" यहां जलसे रस भिन्न नहीं हैं, बुद्धिवानोंसे बुद्धि भिन्न नहीं है, बलवानोंसे बल भिन्न नहीं है। इसी तरह क्षर और अक्षर भी भिन्न नहीं है। जैसा जलमें रस है वैसाहि क्षरमें अक्षर है। जैसा बलवानों में बल है वैसा ही क्षरमें अक्षर है। यही अन्य रीतिसे कहना हो तो जैसा बल बलवानोंसे पृथक् नहीं हो सकता वैसाहि अक्षर क्षरसे पृथक् नहीं है। जैसा रस जलसे पृथक् नहीं है वैसा ही अक्षर क्षरसे पृथक् नहीं है।

यद्यपि क्षर कल्पना और अक्षर कल्पना भिन्न है तथापि क्षर और अक्षर एकदूसरेसे पृथक् नहीं। इसका उदाहरण यह है कि मिश्रीका ढेला सामने रखिये, इसमें आकारवाला भाग नाशवान् होनेसे क्षर है, उसमें मीठास अक्षर है, क्योंकि वह नष्ट

नहीं होती। मिश्रीके आकार का नाश करनेपर भी मीठासका नाश नहीं होता। यह बात अनुभवसे सिद्ध है। परंतु मिश्रीका ढेला और मीठास कोई पृथक् होनेवाली दो वस्तुएं नहीं है। वे एक दूसरेसे संलग्न हैं। अतः एक स्थानपर केवल मीठास रहित ढेला और दुसरे स्थानपर आकाररहित मीठास रख नहीं सकते। ये दोनों क्षर और अक्षर एक दुसरे से पृथक् नहीं हैं, वे एकही वस्तुके दो पहलू हैं।

जैसा ब्राह्मण और उपनिषदों में मूर्त ब्रह्म और अमूर्त ब्रह्म कहा है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है उसकी एक बाजू मूर्त है और दुसरी बाजू अमूर्त है। एक ओर वह साकार है और दुसरी ओर निराकार है। ये कल्पनाएं भिन्न हैं परंतु दोनों मिलकर वस्तु एकहि है। यदि यह भिन्नतामें एकता और एकतामें भिन्नता पाठक समझ सकते हैं तोहि क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कल्पनामें भिन्न परंतु वस्तुमें अभिन्न कैसे हैं इसका ज्ञान उनको हो सकता है।

अब और एक कल्पना यहां है। एक क्षर कल्पना है, दुसरी अक्षर कल्पना है। इनको जड और चैतन्यभी कहते हैं। ये भी दो कल्पनाएं हैं, परंतु दोनों मिलकर वस्तु एकहि है। जैसा बल और बलवान् ये दो कल्पनाएं भिन्न हैं परंतु वस्तु एकही है वैसे हि यहां समझना उचित है। 'बल' और 'बलवान्' मिलकर एक 'मल्ल' नामक वस्तु होती है। यह मल्ल बलसेभी अधिक होता है और बलवान्से भी अधिक होता है। इसलिये यही पुरुषोत्तम है।

यहां पाठक देखें कि क्या 'मल्ल' से बल और बलवान् भिन्न हैं? नहीं। मल्लमें बलभी है और बलवान् पुरुषभी है, परंतु वह दोनोंसे पृथक् और श्रेष्ठ है।

इस विचार से पाठक समझ गये होंगे कि क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम ये कल्पनाएं तीन हैं तथापि एकही वस्तुके स्थानमें येही तीन कल्पताएं हैं। यहां पाठकों के ध्यानमें आनेके लिये ये तीनों कल्पनाएं हम लिखते हैं।

मिश्रीका ढेला	मिठास	मिश्री
क्षर पुरुष	अक्षर पुरुष	पुरुषोत्तम
जड	चेतन	परमात्मा
प्रकृत्यात्मा	चेतनात्मा	परमात्मा
प्रकृति	पुरुष	ईश्वर
मनुष्य	बल	मल्ल बलवान्
मनुष्य	बुद्धि	ज्ञानी बुद्धिवान्

इस तरह विचार करनेसे पता लग जायगा कि वस्तु एक ही है परंतु क्षर अक्षर ये उसके दो भिन्न पहलू हैं और ये दोनों पहलू मिलकर यह एक सत्य वस्तु बनती है। अतः क्षर अक्षर विवेक जो कहा है वह कल्पनामें भिन्न और वस्तुमें अभिन्न है। अतः उपनिषदोंमें और वेदमें द्वैत और अद्वैत वर्णन एकही सूक्तमें आता है। वह इस दृष्टिसे है। इससे स्पष्ट होगा कि कल्पनागत द्वैत सत्य है, तथा वस्तुगत अद्वैत भी सत्य है। मंत्रमें जो दृष्टि रखी जाती है, उस दृष्टिसे वर्णन होता है। पाठक तत्त्व जाननेवाले होंगे तो उनको उस दृष्टिकोनका पता लगता है। तत्त्वज्ञानी न होंगे तो वे कहते हैं कि यह वर्णन परस्परविरुद्ध है, इसलिये प्रक्षिप्त है। द्वैती अद्वैत वर्णनको प्रक्षिप्त समझते हैं और अद्वैती द्वैत वर्णन को प्रक्षिप्त मानते हैं। परंतु दोनों मिलकर एक सद्वस्तु होती है ऐसा समझनेवाले थोडे होते हैं। इस कारण व्यर्थ झगडे बढते रहते हैं क्यों कि इसमें भला झगडनेकी और विवादकी बात ही कौनसी है? इस तरह क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम यह कल्पना भिन्न है, परंतु ये तीनों कल्पना मिलकर पुरुषोत्तम हुआ है, अतः वह केवल क्षर से भी श्रेष्ठ है और केवल अक्षरसेभी उत्तम है।

३० आगे 'ऋचो अक्षरे परमे०' यह मंत्र दिया है। यह मंत्र बताता है कि (यः तत् न वेद) जो इस परमात्मतत्त्वको नहीं जानता वह अज्ञानी मनुष्य (ऋचा किं करिष्यति) वेदमंत्र लेकर क्या करेगा? अर्थात् परमात्माका यथावत् स्वरूप जो नहीं जानता उसको वेदमंत्रोंसे कुछभी लाभ होनेवाला नाहीं है। यह प्रत्यक्ष दीखही रहा है। वेदमंत्र मुखसे बोलनेवाले विद्वान् क्षर अक्षर के विवेक को यथावत् जानते नहीं, इसलिये वेदमंत्रोंके भारको उठाते हुए भी वे क्षर और अक्षर के कल्पनागत भेदको और

वस्तुगत अभेद को यथावत् जानते नहीं और ढेला और मीठास कल्पनागत भिन्न न मानते हुए वस्तुतः हि भिन्न मानते हैं। यही भ्रम है। और ऐसेहि लोगोंको वेदके मंत्रोंसे कोई लाभ नहीं होता है ऐसा इस मंत्रमें कहा है। इसका विचार आपेक्षकर्ता महाशय करें।

३१ आगे जाकर आक्षेपक महाशय मनुस्मृतिके दो श्लोक देते हैं। उन श्लोकोंमें—

शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।

तथा—

असंख्याता मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः॥

(मनु)

"अपने ही शरीरसे विविध प्रजा वह उत्पन्न करता है, उस परमेश्वरके शरीरसे असंख्यात मूर्तियां निकल आती हैं।" यही मनुमहाराजका वचन मननपूर्वक देखनेसे पता लग सकता है कि परमेश्वरके शरीरसेहि ये अनंत वस्तुमात्र उत्पन्न होते हैं जैसे अग्निसे स्फुलिंग। यही दृष्टांत उपनिषदोंमें निम्न लिखित प्रकार कहा है—

यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्। एवमेवैतस्मादात्मतः प्राणा...विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः॥

कौ० उ० ३।३;४।२०

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति॥ बृ० उ० २।१।२०

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

मुंडक उ० २।१।१

"जैसे प्रदीप्त अग्निसे चारों दिशाओंमें अनेक चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार इस परमात्मासे प्राण और प्राणोंसे देव और देवोंसे लोक उत्पन्न होते हैं। अग्निसे जैसी चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार परमात्मासे सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं। जैसे अति प्रदीप्त अग्निसे हजारों समानरूपवाले स्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर परमेश्वरसे ये विविध भाव अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे सब उसीमें फिर लीन भी होते हैं।"

ये उपनिषद्वचन हैं। इन में अग्निका ही दृष्टान्त दिया है और अग्नि से चिनगारियां निकलने के समान परमात्मासे यह विश्वके लोकलोकान्तर निकलते हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। परमात्मासे विश्वप्राण होता है, उससे सूर्यादि देवताएं होती हैं और उनसे स्थिरचर की उत्पत्ति है।

अग्निसे जो चिनगारी निकलती है (सरूपाः) वह अग्निके ही रूपवाली होती है, अर्थात् वह चिनगारीके रूपमें भी अग्निरूप है और उसका विकास होकर उसका दावानल बननेपर भी वह सरूप हि रहती है। चिनगारीका रूप छोटा हो अथवा दावानल का रूप विशाल हो, उस रूपके आकारविस्तार का विचार छोडकर उसके गुणधर्मों का विचार हि केवल किया जाय तो अग्नि और चिनगारीके गुणधर्म समान ही होते हैं, वैसेहि परमात्मा की विशालता और जीवात्मा की अल्पताका विचार छोड दिया जाय तो दोनोंके गुणधर्म समान ही हैं। यह समानता, यह सरूपता उक्त वचनों में उत्तम रीतिसे दर्शायी है। परमात्मासे यह सब वैसा ही निकलता है जैसी चिनगारियां अग्निसे निकलती हैं। यह उदाहरण पूर्ण है।

जितना इसका अधिक विचार किया जाय उतनीहि समानताही दीख पडती है। इस भावको ध्यानमें धारण करके मनुमहाराजके श्लोक देखिये—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः॥ असंख्याता मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः॥

"उस परमात्माके शरीरसे असंख्य मूर्त पदार्थ निकलते हैं" जिनका यह विश्व बना है। इस तरह उपनिषद्वचन और स्मृतिवचन की संगति है। भगवद्गीतामें तो अध्याय सातमें परमेश्वरकी नवधा प्रकृति कही है और उससे सब संसार बननेका वर्णन किया है। यहां परमेश्वरकी नवधा प्रकृति (अपरा अष्टधा और परा एकधा मिलकर नवधा प्रकृति होती है) परमेश्वरका शरीर हि है। इससे

सब संसार होता है। यही वर्णन गीता, उपनिषद्, स्मृति आदि में समान है। वेदमें भी ऐसाही वर्णन है। ऋग्वेदमें कहा है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥
पादोऽस्य विश्वा भूतानि ॥
पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ऋ. १०।९०

" पुरुष अर्थात् परमात्मा (एव) हि (इदं सर्वं) यह सब है, जा कुछ हुआ था, जो हुआ है और जो होगा वह सब परमात्मा ही है। इसका (पादः) एक अंश सब भूत हैं। इसका एक अंश (पादः) (इह) इस संसारमें (पुनः अभवत्) पुनःपुनः होता है।" उक्त मंत्र का यह स्पष्ट शब्दार्थ है। खींचातानीका अर्थ जो मर्जी चाहे हो सकता है। वैसा खींचातानी करके अर्थ करनेवाले और द्वैत तथा अद्वैत सिद्ध करनेवाले सैंकडो होंगे। वैसे अर्थोंसे हम तंग आगये हैं। वे करनेवाले करें और माननेवाले मानें।

आक्षेपक महाशय पं. तुलसीरामजी और राजरत्नजी की ओर वारंवार दौड रहे हैं। उनको उचित है कि वे स्वयं मंत्र देखें और मंत्रोंको समझनेका यत्न करें किसीके गुलाम न बनें। शब्दार्थका विपर्यास न करते हुए मंत्र का जो अर्थ होता है वही सत्य अर्थ है। तथापि कोई दूसरा अर्थ लेना चाहे और अपना पक्ष वेदसे सिद्ध होता है ऐसा मानना चाहें तो वह वैसा माने। उनको अन्य रीतिसे मनवाना हमारे अधिकारमें नहीं है। केवल द्वैत और केवल अद्वैतके मत आज हजारों वर्षोंसे चले आते हैं कोई उनको मिटानेमें समर्थ नहीं हुआ। इसलिये ही हम इस झगडेमें पडना नाहीं चाहते। वेद उपनिषद् और गीता आदि ग्रंथोंका उपदेश एकही है और उसमें द्वैतमें अद्वैत और अद्वैतमें द्वैत है। इसीसे हि ये सब झगडे मिट सकते हैं। नहीं तो झगडे अनंत कालतक चलते रहेंगे।

आक्षेपकने राजरत्न मा. आत्मारामजीका ईश्वर और ब्रह्मके विषय में पृ. २३२ परका लेख देखनेके लिये हमें कहा है। इस संबंधमें हमारा कथन इतनाही है कि वह लेख देखा है। और उसमें लिखी संपूर्ण बातें संशोधनके योग्य हैं।

३२ आगे ' क्लेशकर्मरहित ईश्वर ' का वर्णन योगदर्शनमें है ऐसा ये महाशय कहते हैं। यह लक्षण ठीक है। वेदके पुरुषसूक्तमें सहस्रमुखबाहुवाला पुरुष कहा है, वही नारायण-परमात्मा है। इस नारायण के सहस्र आंख हैं, सहस्र बाहु उदर और पांव हैं। वेदका वर्णन भ्रांतिसे रहित है। अतः वह जैसा है वैसाहि मानना पडेगा। ये हजार मुख बाहु पेट जंघा और पांव कहां हैं? यह दृश्य मूर्तिकाही वर्णन है। इसी सूक्तमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये इस परमात्माके सिर बाहु उदर और पांव हैं ऐसा भी कहा है।

वेदके मंत्रोंमें कोई संदेहकी बात नहीं है। फिर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंका मिलकर जो देह हुआ वही परमात्माका देह निःसंदेह है। यदि कोई दूसरा अर्थ होना संभव हो सकता है तो वह बतावें। इस विषयमें किसी मा. आत्मारामजीने अथवा म. राधाकृष्णजीने या किसी दूसरेने कुछ गलती की होगी तो उसकी पर्वाह वेदको क्या है? आक्षेपक म. राधाकृष्णजी कहते हैं कि 'मंत्रके हजार सिरवाले अर्थको हम सबकी बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती' यह बात ही अच्छी है। वेदने जो–

' सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपात् '

ही कहा है, उसका कोई दूसरा अर्थ करके आप बतावें, नहीं तो यही अर्थ मानें। अथवा दुराग्रह करके वेदका मर्जी माने अर्थ कर दें तब फैसला होजायगा।

३३ परमेश्वरके अनन्त सिर मानें तो वह मृत्युके भयसे मुक्त नहीं होसकता, यह शंका म. आक्षेपक की है। वेदही परमेश्वरका वैसा वर्णन कर रहा है, इसलिये वैदिक धर्मियोंको वैसाही मानना उचित है। वेद हि परमेश्वरको ' मृत्यु ' नामसे पुकार रहा है, तथा ' क्षराक्षर ' रूप परमेश्वर है ऐसा कहता है। उत्पत्तिस्थितिलय करना परमेश्वरका स्वभाव है यह भी वेदका सिद्धान्त है, इसका अर्थ ऐसा है कि एक स्थानके वस्तुका लय हुआ तो दुसरे स्थान में उत्पत्ति होगी। उदाहरणार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये परमेश्वरके चार शरीरावयव हैं, इनमें कई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र प्रतिदिन मरते हैं इसलिये परमेश्वर नहीं मरता, क्यों कि कई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र उत्पन्न भी होते हैं। इसलिये उसको मृत्यु-

का भय नहीं है। इस विषयका उदाहरण देखिये—

मनुष्यका आत्मा निराकार है और उसका शरीर साकार है। शरीर में सिर बाहू उदर और पांव ये चार विभाग हैं। प्रत्येक विभागके सैंकडों सूक्ष्म अणु जीव प्रतिक्षण मरतें हैं और वहां प्रतिक्षण नवीन सूक्ष्म अणु जीव जन्म लेकर आते हैं। हमारे अन्नका परिपाक होकर यही बन रहा है। क्या ये हमारे शरीर के अणु मरनेंसे हमारे आत्मामें कोई मृत्युका संबंध आ रहा है? नहीं कदापि नहीं। शरीर आत्माका है, शरीरके सूक्ष्म अणु प्रतिक्षण मर रहें हैं तथापि हमारा जीवन अखंड है। इसी तरह ब्रह्माण्डदेहधारी परमात्माका यह विशाल देह है, उसमें प्रतिक्षण प्रलय होता है और नयी सृष्टिभी होती है। यह सब उसीके ब्रह्माण्डदेह में होनेपरभी वह सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त अखण्डानन्दस्वभाव रहता है। जो न्याय हमारे छोटे देहमें है वही उसके ब्रह्माण्ड-देहमें है। पिण्डब्रह्माण्डकी एकता देखिये। यह देखनेपर भी आपकी बुद्धि इस विषयको नहीं स्वीकार करती तो रहने दें, इस विषयकी कोई शीघ्रता नहीं है, आज ही संपूर्ण जगत् नष्ट नहीं होगा।

३४ आगे 'जन्माद्यस्य च यतः' यह सूत्र देकर आक्षेपक महाशयजीने कहा है-ब्रह्म वह है कि जिससे सब विश्वका जन्म होता है। यह ठीक हि है। ब्रह्म वह है कि जिससे विश्वमें सर्वत्र जन्म स्थिति और लय होते हैं। परमेश्वरके ये तीन स्वभाव हैं और इस कारण संपूर्ण जगत् में ये तीनों स्वभाव कार्य कर रहे हैं। क्या हमारे शरीरमें सूक्ष्म अणुकी उत्पत्ति, स्थिति और उनका लय प्रतिक्षण नहीं हो रहा है? वह होते हुए भी हमारे जीवनमें कौनसी न्यूनता आती है? प्रवाहसे सृष्टि अनादि होनेसे उत्पत्ति स्थिति लय चलते रहनेपर भी कोई क्षति नहीं होती।

३५ आगे पूछते हैं कि गीता बनानेवाले तो मर गये! यह आश्चर्य है। इस प्रश्नसे तो हमें बडा ही दुःख होता है क्यों कि गीता बनानेवाले शरीररूपसे मर गये तो क्या वे आत्मारूपसे भी मर गये? शरीर तो क्षर ही है, परंतु क्षर और अक्षर मिलकर परमात्मा है। उसमें क्षर बदलताही रहेगा, परंतु वह बदलने परभी अक्षर कायम रहेगा। हमारे शरीर के सूक्ष्म अणु ७॥ वर्षोंमें पूर्णतया बदलते हैं और सबके सब नये आते हैं। क्या इससे हमारे क्षराक्षर रूपमें कोई क्षति होती है? सदा क्षर और अक्षर मिले जुले हैं किसी समय क्षर एक रूपमें प्रकट हुआ दूसरे समय दूसरे रूपमें प्रकट हुआ। तो उस में कौनसी हानि है? क्षर रूप में गीता बनानेवाले नष्ट होनेपर भी वे किसी न किसी स्थानपर वैसेहि क्षराक्षर रूपमें होंगेहि। उनका विनाश होना असंभव है।

३६ 'जबतक वेद और प्रत्यक्षसे न दिखला दे इस डींग को कौन मानेगा कि मैं परम पुरुष हूं।' यह आशंका आगे उठाई गई है। आशंकाकर्ताको वह परमपुरुष क्यों यह सब बातें दिखला देवे, और वह आकर इस महाशयका समाधान क्यों करे? क्या उसको जरूरत पडी है? इनको न दिखला दिया तो उसका कौनसा नुकसान होनेवाला है? इन्होंने उसका परमात्मभाव न माना तो उसका क्या नुकसान होनेवाला है? इस लिये आशंकाकर्ताकी यह अपेक्षा अस्थानमें है। जिसकी योग्यता अर्जुन जैसी होगी उसीकी आशंकाओंका समाधान कोई विभूति आकर कर सकती है। परंतु हरएक आशंका कर्ताने यह इच्छा करना अयोग्य है। तथापि कुछ विचार प्रकट कर सकते हैं-

आज कोई एक आर्य जो इस समयमें भारतवर्षमें रहता हो वह अपने कौटुंबिक भावसे कह सकता है कि मैं इसका पिता, इसका पुत्र, इसका पति इसका भाई आदि हूं। जातिय भावसे वही मनुष्य कह सकता है कि मैं फलानी जातीका हूं। वर्णभावसे कह सकता है कि मैं फलाना वर्णका हूं और मेरे वर्णने समूहरूपसे यह कार्य किया है। जब वह आर्यभाव से बोलता है और कहता है, मैं वह आर्यवंश हूं कि जिसने भूतकालमें रावण को पराभूत किया था, मध्य समयमें राणा प्रतापने मोगलोंसे ये पराक्रम किये थे और भविष्यमें यही आर्य जगत्का एक आर्य राज्य बनावेंगे। मानवसमष्टिके भावसे वही मनुष्य कह सकता है मैं मानव हूं जो संपूर्ण प्राणियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है। राष्ट्रीय भावसे वही

कह सकता है मैं भारतराष्ट्रका अंश हूं और राष्ट्र-भावसे अन्य राष्ट्रवालोंसे धर्मभावमें अग्रेसर हूं। यदि यही मनुष्य आध्यात्मिक दृष्ट्या अपने आपको ऊंचा बनाकर अपने अन्दर जागतिक भाव धारण कर सके तो वह कह सकता है कि मैं सूर्यमें हूं अथवा चन्द्रमें हूं। इत्यादि। राष्ट्रीय भाव तक हमें यह पूर्वोक्त भाषा परिचित है इसके आगे परिचित नहीं है। हमें परिचित न हो, परंतु वह किसीको भी परिचित नहीं होगी ऐसी बात नहीं है। महात्मा लोग जागतिक भावको अपने अंदर अनुभव करते हैं इस लिये उनकी भाषा हमारी भाषासे विलक्षण होती है।

ऋग्वेदमें भी 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' आदि सूक्त हैं जिनमें सर्वात्मभाव का वर्णन किया है। वह सर्वात्मभाव जिसमें उदित होगा वह ऐसाही कह सकेगा। श्रीकृष्ण योगीश्वर थे। और उनमें सर्वात्मभाव प्रकट था, इसलिये सर्वात्मभावकी भूमिकापर रह कर वे ऐसे विचार बोल रहे हैं।

मनुष्य में परमात्मभाव प्रकट होता है, इसका प्रमाण प्रथम थोडा और सिद्धिके समय अधिक ऐसा होना संभव है। जिस समय पूर्ण परमात्म भाव इसमें प्रकट होगा उसी समय के ये वाक्य हैं। मनुष्य में क्रमोन्नति होनेपर क्रमशः ये आठ भाव प्रकट होते हैं-

पारमात्मिक भाव
सर्वात्म भाव
जागतिक भाव
राष्ट्र भाव
वर्ण भाव
जातीय भाव
कुटुंब भाव
व्यक्ति भाव

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

मनुष्य अपने आपको इन आठ अंशोंसे युक्त मान सकता है, अतः इस मनुष्यमें आठ अंशियोंका भाव आना संभव है। ये भाव इसमें इसकी उन्नति और अवनतिके अनुसार आसकते हैं और कार्य कर सकते हैं। अंश भी सर्वभावसे युक्त हो सकता है। एकन्नी स्वयं एकन्नी होती हुईभी जब रुपयेमें रहती है तब उसमें रुपयेका भाव प्रकट होता है और वह मैं रुपया हूं ऐसा कहती है। हाथ अथवा पांव यद्यपि शरीरके अवयव हैं तथापि उनमेंसे एक एक अपने आपमें शरीरभाव धारण कर सकता है।

मनुष्य भी हाथपर मारनेसे मुझे क्यों मारा? ऐसा कहता है। इस तरह अंश भी संपूर्णका भाव धारण कर सकता है। अंशी का भाव अंश में इसी रीतिसे आसकता है। अंशका दुःख और सुख अंशीपर और अंशीका सुख दुःख अंशपर इसी तरह आता है। किसी राष्ट्रके एक मनुष्यका शत्रु-राष्ट्रमें अपमान होनेसे संपूर्ण राष्ट्रको अपना अपमान हुआ ऐसा प्रतीत होता है। इससे भी अंश अंशीका भाव अपने ऊपर ले सकता है और यह बात हरएक के ध्यानमें आसकती है। इस ढंग से विचार करनेपर पता लग जायगा कि भगवान् श्रीकृष्णजीने जो 'मैं वह हूं' इत्यादि कहा वह इस सर्वात्मभाव को अपने अंदर अनुभव करके हि कहा होगा।

३७ 'सूर्यकिरणों का विलक्षण धर्म है, जो कार्य सूर्यकिरणों से हो सकता है वह कोई मनुष्य नहीं कर सकता' इत्यादि बातें आक्षेपक महाशयजीने आगे कहीं हैं। यह ठीक है, एकका कार्य दुसरा करहि नहीं सकता। यह तो नियमहि है। आंखका कार्य कान कैसे करें, और जलका कार्य सूर्य किस तरह करेगा? इसलिये कोई सिद्ध पुरुष सूर्यकिरणों का कार्य नहीं कर सकता, यह यथार्थही है। इसमें भला सिद्ध पुरुषमें कौनसी न्यूनता आसकती है?

३८ अक्षेपकर्ता महाशयजीने 'राधा स्वामी' मतके विषयमें कहा है, परंतु वह गीता के साथ संबंध रखनेवाला नहीं है, इस लिये अप्रस्तुत है, अतः उसका हम विचार करना भी छोड देते हैं।

३९ आगे आक्षेपक महाशयजीने कहा है कि 'परमात्माको अंशी जतला देना और उसमेंसे अंशरूप जीवात्माओंको निकाल कर सर्वसाधरण को यह उपदेश देना जहरवादकी बीमारी फैलाना है। ' यह बीमारी है या आरोग्य है, इसका हमें पता नहीं। परंतु हम इतनाही समझते हैं कि वेद और उपनिषदोंका यही सिद्धान्त है और इसीसे सारे झगडे मिट सकते हैं। इस संबंधके वचन इसके पूर्व दिये हैं जिनमें परमात्माको अग्नि और जीवात्माओंको उससे निकली हुई चिनगारियां बताया है। इतने वचन बतानेके पश्चात् इस सिद्धान्तके संबंध में हमें और कुछभी बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

४० आगे "प्रकृति, जीव और परमात्मा की सत्ताएं अलग अलग हैं" ऐसा हम सिद्ध करेंगे ऐसी आशा आक्षेपकजीने दिखला दी है। जड और चेतन को आप अलग अलग बोतलोंमें भर कर हमें बताना चाहते हैं। यह प्रदर्शनी अच्छी होगी। इस संबंधके विषयमें हमने तो बताया है कि जड और चेतन ये एकही वस्तुके दो पहलू हैं, अतः वे कभी अलग अलग रह नहीं सकते। संपूर्ण जगत् क्षराक्षरमय है। हम देखेंगे कि इनको ये अलग अलग बोतलोंमें भरकर कैसी प्रदर्शनी कर सकते हैं। यह असंभव है।

४१ आगे जाकर आक्षेपक कहते हैं कि 'ईश्वरका अंश जीव माननेसे इस सिद्धान्तकी जगत्में हंसी होगी। ' हमें हंसी होगी या खुषी होगी, इसका यहां विचार करना नहीं है। हमें यहि देखना है कि वेद, उपनिषद् और गीताका सिद्धान्त क्या है। इससे अधिक हमारा कोई कार्य नहीं है। उपनिषदों के वचन हमारे पास हैं, जो यहां रखे हैं। उनका दूसरा कोई अर्थ होगा तो करिये अथवा यह अर्थ मानिये भला यह कहनेसे क्या होगा कि जगत् के लोग हंसेंगे। लोग तो किसकी हंसी नहीं उडाते? हमें देखना इतनाही है कि अपने धर्मग्रंथ क्या कहते हैं, ऋषि मुनि क्या कहते हैं। जगत्में तो हरएक चीजकी हंसी होती है और मिथ्या भ्रमजालकेभी पंथ चल पडते हैं। अतः जगत् के लोक क्या कहेंगे इसका विचार हमें करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें स्वाध्याय करना है और वेदका सिद्धान्त देखना है।

इस तरह श्री राधाकृष्णजी पेशकारने जो ४१ आक्षेप लिये उनका विचार किया गया है। आगे जितना गीता, उपनिषद और वेदके विषयमें वे प्रश्न पूछेंगे उनका उचित उत्तर दिया जायगा। और अन्यान्य विषय जो बीचमें घुसेड देंगे उनका उत्तर हम नहीं देंगे।

चातुर्वर्ण्य और उसका पुनरुज्जीवन।

धर्मने मूलतः धार्मिक और सामाजिक हित साधने के उद्देश्य से लोगों का स्वाभाविक अन्तर देखकर चार वर्ण उत्पन्न किये। वे भी इस प्रकार कि जिनमें विचारशक्ति और मननशक्ति स्वभावही से अधिक है वे ब्राह्मण; जिनमें शौर्य, वीर्य, देशप्रेम आदि अधिक हैं वे क्षत्रिय; जो व्यवहार में प्रवीण हैं वे वैश्य और जिनमें तीनों प्रकार की विशेषताएँ सुप्त अवस्था में होने के कारण उन्हें प्राप्त करने के लिये जो सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इसमें उद्देश्य यह कि ये सब आपस में सहयोग कर परमेश्वर की सृष्टि की सेवा अपनी अपनी शक्ति के अनुसार करें। अर्थात् ब्राह्मण अध्यात्मज्ञान से, क्षत्रिय शौर्यसे, वैश्य व्यवहार की चतुराईसे और शूद्र सेवा-तत्पर रहकर यह ईश्वरसेवा करें। सभी को

आवश्यकता है कि अपनी अपनी जाति के हित की अपेक्षा सब की भलाई की बातों में अधिक ध्यान दें। अभिमान और महत्त्व की अभिलाषा को सत्-असत्-विवेक तथा न्यायके अधीन रखें। धर्मने जो नियम बनाये हैं वे इस प्रकार सर्व-संग्राहक हैं। विष्णुपुराण में तथा भगवद्गीता में भी कहा है कि 'समदर्शित्व' ही परमेश्वर की सेवा है।

मनुस्मृति में सभी वर्णों के लिये एकसा नियमाचरण बताया गया है। और वह है अहिंसा सत्य अस्तेय शुद्धता और संयम का पालन। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण-विभाग मनुष्यों की धार्मिक बातों की कमी पूरी करनेके लिये ही है। अतएव एक वर्णीयको दूसरे वर्णीय के प्रति तिरस्कार रखने की कोई अवश्यकता नहीं।

गीतामें बतलाया गया है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में प्रत्येक अपने अपने वर्ण का कर्तव्य करे और इसीसे सिद्धि मिलती है। इन कर्तव्यों का दिग्दर्शन अ. १२ श्लोक ४२ से ४४ तक किया गया है। अपने स्वाभाविक गुणों की ओर न देखकर- आजकलके समान- जिसका जो चाहे वह उठे और मन चाहे वर्णके कर्तव्य करने लगे यह मनोभूमि चातुर्वर्ण्य में नहीं है। हेतु यह है कि हर कोई अपने अपने स्वभावज कर्तव्य में निपुणता प्राप्त करे। प्रत्येक वर्णीय को धार्मिक शिक्षा मिला करती थी कि दूसरे के विषयमें प्रेम और स्व-कर्तव्य-जागृति रखे, कारण उससे अधिकार का दुष्ट-उपयोग होने की आशंका नहीं हुआ करती थी। उस के सिवा राजा को धर्म के अनुसार कानून बनाने पडते थे। उसे धर्म-नियमों में हस्तक्षेप करनेका अधिकार न था। यदि धर्म नियमों में बदल करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, तो वह बदल दूरदर्शी, निःस्पृह और दारिद्र्यका स्वयमेव स्वीकार कर अध्यात्मविचारमें मग्न रहनेवाले ब्राह्मण करते थे। अर्थात् उनपर सबका विश्वास रहा करता था।

संक्षेपतः चातुर्वर्ण्यकी रचना इस प्रकार है। यदि शास्त्र और युक्तिसे सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक है तो चातुर्वर्णीयका भाव यह रहता है कि वह सब समबका परिचय करके या परिचय करनेके लिये जो जो करता है वह उस परमात्माकी सामर्थ्यको लेकरही करता है। ऐसे व्यक्तिसमूहसे समाजमें प्रचण्ड शक्ति निर्माण हो सकती है। इसका कारण सभी लोगोंका ध्येय एकमात्र होना और वह भी आत्मानुभवकी प्राप्ति। समाजकी स्थिरताके लिये तथा उसके ऐहिक तथा पारमार्थिक सुख-संतोषके लिये और किस बातकी आवश्यकता है?

चातुर्वर्ण्यकी अध्यात्मभूमिसे दूसरा लाभ है निर्भयता। अध्यात्मताका पहला लक्ष्य रहता है देहात्मता-निरास। उससे देहमोहनाशका फल जो निर्भयता उसका लाभ होता है। निर्भयता अध्यात्मशास्त्रमें तथा व्यवहारमें एकसा फल देती है। और वह फल है स्वतन्त्रताकी लालसा। उसी की प्राप्तिके लिये भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया कि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' यही तो चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानुगम का फल है।

आरम्भमें गीताका जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें इन सब बातोंका सारांश है। गुणकर्मविभागात्मक अनेकत्वमें से कौटुम्बिक एकताके सदृश राष्ट्रकी एकता धार्मिक नीवपर खडी करनाही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। स्वभावज प्रवाहसे तथा शास्त्रीय झुकाव लेते लेते एकध्येयत्वके कारण संगमकी उत्सुकता हो जानेकी रीतिसे सभी वर्णोंका मधुर मीलन होता है। बस यही तो राष्ट्रीय एकता है। ऊपर दिये हुए श्लोक ३ और ४ में यही बात अध्यात्म-ध्येयकी एकता बतलाकर सिद्ध की है। अ. १८ श्लोक ४२ से ४४ में स्पष्ट किया है कि श्लोक २ में कहे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके कर्मोंके उन्हींके स्वभावजन्य गुणोंके विचारसे किस प्रकार भाग होते हैं। आजकलकी बिगडी दशामें प्रत्येक वर्णीयको यही आवश्यक है कि अस्वाभाविक बर्तावके कारण गुणोंपर जो मलकी तहें जम गई हैं उन्हें निश्चयसे और अभ्याससे धो निकालना तथा स्वाभाविक गुणोंको उज्वल बनाना। इससे स्वभाव

सहज कर्मही किये जावेंगे। और चातुर्वर्ण्यमें वे एक दूसरेके पोषक होते हैं तथा इनकी प्रवृत्तिका उद्गम स्वयं परमेश्वर ही है। इससे वे कर्म अर्पणके द्वारा उसीको पहुंचेंगे और इस प्रकार नैष्कर्म्यसिद्धिकी प्राप्ति करा देंगे। परन्तु यदि कोई स्वभावज कर्म को टालेगा तब भी उसे आगे चलकर उसे करनाही पडेगा। गीता अन्तिम श्लोकमें जताती है कि समय चूकने पर उस कर्मको करनेसे पछतानेकी ही नौबत आवेगी।

गीता अ. १८ श्लोक ४२ से ४४ में कहती है कि गुणोंके अनुसार कर्मोंका बँटवारा स्वाभाविक ही हुआ है। इसीसे वह सचेत कर देती है दूसरेका कर्म करना और अपना त्याग देना दोनों बातें अस्वाभाविक अतएव दोषभरी हैं (अ. ३-१५, अ. १८-४८) उनके कारण चातुर्वर्ण्यमें विघातक असूया और काम-टालू-पन बढा है। काम जैसा चाहिये वैसे नहीं होता, कामटालूपनसे फलप्राप्ति नहीं होती और फूट फैलती है। अतएव प्रत्येकको चाहिये कि अपने अपने वर्णक्षेत्रमें रहकर उन्नत होनेकी अभिलाषा रखे, भगवान्‌की सेवा अपने कर्म से ही करे। ऐसे कल्याणकारी बर्तावका फल दीर्घ कालसे क्यों न हो, पर अवश्यही मिलता है। कर्मफलका सिद्धान्त है कि इस जन्ममें फल न मिला तो अगले जन्ममें पूर्वजन्मकी संपादित बुद्धिका संयोग ऊँचे कुलमें जन्म मिलकर होता है और प्रयत्न करनेसे वह जीव अन्तमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है। (अ. ६ श्लो. ३७से ४४) इससे आर्यधर्मका वह सिद्धान्त प्रतीत होता है कि गुण केवल जन्मान्तरमें बदलते हैं और वहीं तत्सदृश कर्मोंका लाभ स्वाभाविक रीतिसे होता है। इस जन्ममें वह नहीं होता, अतएव एक वर्णका दूसरे वर्णके काम करनेको तैयार हो जाना या अपने कर्मोंको त्याग देना चातुर्वर्ण्य को, समाज को तथा राष्ट्र को हानिकर है।

सारांश यदि 'चातुर्वर्ण्य क्या है?' प्रश्न का उत्तर थोडे शब्दोंमें और गीताके अनुकूल देना है तो वह नीचे लिखे अनुसार होगा।

चातुर्वर्ण्य असलमें जन्मजात गुणोंके अनुसार स्वाभाविक रीतिसे इस संसारमें कर्म करनेकी एक उच्च ध्येयविशिष्ट प्राचीन आर्योंकी समाजव्यवस्था है। देहस्वभावगुणोंके न्यूनाधिक जन्मजात मिश्रण से उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे चार विभाग धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नतिके लिये हैं। उस व्यवस्थाका धार्मिक ध्येय है परमात्मतत्त्व प्राप्त करना तथा ऐहिक ध्येय है एकराष्ट्रीयता का संपादन कर सुखवृद्धि करना। उसका आचारशास्त्र इसी ध्येयके अनुकूल निश्चित किया गया है। तथा उनका अन्योन्यसंबंध कायम रखनेपरही चातुर्वर्ण्यकी सजीवता निर्भर है। राष्ट्रीय एकताके लिये त्रिगुणोंकी आवश्यकता होनेसे उसमें उच्चता नीचता तथा ऐंठके लिये गुंजाइशही नहीं है। इतना अवश्य है कि उच्च गुणोंके लिये आदर तथा प्रेम, और कनिष्ठ गुणोंके लिये दया और प्रेम खूब भरा है। क्योंकि अनिष्ट खींचातानी तथा कामटालूपन घातक है और स्वकर्मकी ही अधिक सरस अनुष्ठान करके सिद्धिके संपादन में यथार्थ एवं शास्त्रोक्त मार्ग की शिक्षा उसकी व्यक्ति की नसनसमें भर दी जाती है। इस प्रकारकी मत्सरहीन, एक तत्त्वध्यायी तथा एकजीवी एवं एक विचारी व्यवस्था ही चातुर्वर्ण्य है।

चातुर्वर्ण्य आनुवंशिक क्यों ?

इस व्यवस्था को शुद्ध रूप में चालू करनेके मार्ग में जो आक्षेप हैं उन में से एक मुख्य आक्षेप का विचार करना आवश्यक है। वह आक्षेप है गुणोत्कर्ष सिद्धान्तपर पुनः रचना। आक्षेपकों का कहना है कि आजकल की आनुवंशिक पद्धति गीताके सिद्धान्त के विपरीत है। वह स्वार्थ के लिये घुसेड दी गई है। गुणोत्कर्ष की बात तर्क की दृष्टिसे सत्य है, परन्तु वह अव्यवहार्य है इसलिये त्यागने योग्य है। गीतामृत को दुहनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण जी की तथा उसे प्राशन करनेवाले पार्थ की आनुवंशिक क्षत्रियता यही सूचित करती है। कौन व्यक्ति किस गुणकर्म-विभाग में आती है यह बात समय

समय पर कौन और किस प्रकार निश्चित करे तथा वह अमल में कैसे लावें यह तो व्यवहार की दृष्टिसे दुर्लंघनीय अडचन है। जो दिगंतकीर्ति हुआ वह सभी के लिये अपने आप पूजनीय होता है; परन्तु बिकट प्रश्न तो यह है कि सामान्य श्रेणि के बहुसंख्य लोगों की योग्यायोग्यता का निर्णय कौन और किसी प्रकार करे? अतएव उत्तम मार्ग का अवलम्बन दोयम मार्ग से करना आवश्यक हुआ होगा। वह दोयम मार्ग ही आनुवंशिकता का है। वर्ण का निश्चय करने के लिये मनुने तीन लक्षण बतलाये हैं— (१) तप, (२) सुश्रुतम्=संकृति में बढना और (३) योनि=परंपरा। इन में से पहला संदिग्ध तथा व्यक्तिगत होनेसे उपयोग में लाना सरल नहीं है। दूसरा मुख्यतः तीसरेपर अवलंबित है। तीसरा स्पष्ट और व्यवहार्य है। एक ग्रन्थकार का कथन है कि वह आर्योंके पुनर्जन्म तथा कर्मविपाक की कल्पना के अनूकूल है। यह बात दूसरे प्रकार से भी सिद्ध की जा सकती है। स्वभावज कर्म करना चातुर्वर्ण्य का साधन है और दृढ आदत से स्वाभाविकता आती है यह अनुभवसिद्ध है। यदि स्वभावज कर्म वर्षानुवर्ष शास्त्रनिर्दिष्ट पद्धति से करते जावें तो ऐसी आदत पड जाती है कि उन कर्मों के लिये बिना चैन नहीं पडती। और उन्हें जन्मजात बुद्धि का रूप प्राप्त हो जाता है। अंग्रेजी में एक कहावात है कि 'आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव ही है'। उसका भी बीज यही है। वर्णव्यवस्था के आचार्योंने, इस नियम का सूक्ष्म निरीक्षण करके ही तथा यह भी देखकर कि जनमन की प्रवृत्ति आनुवंशिकता के अनुकूल ही हुआ करती है, चातुर्वर्ण्य की रचना आनुवंशिकता की टिकाऊ नीव पर की होगी। यही कहना होगा कि एक बार गुणकर्मविभागात्मक चातुर्वर्ण्य की चार चाकों की गाडी धर्मशक्ति से चालू करने के बाद वह परंपरा की लकीर से अव्याहत चालू हुई। अपन ऊपर देख चुके कि कर्म स्वभावगुणके अनुसार होते हैं और जन्मजात गुणके अनुसार आहार प्रिय होते हैं (अ. १७ श्लो. ७-१०) यह तो प्रसिद्ध ही है और आहार के गुणदोष खूनमें उतरते हैं और उसके द्वारा वे संततिमें दिखाई देते हैं। आहारके समानही मनके धर्मोंका हाल है। उनके भी भलेबुरे परिणाम खून पर होते हैं। और इसी कारणसे सात्त्विक वृत्तिसे रहनेवालेकी प्रजा प्रायः सात्त्विक वृत्तिकी ही होती है। ये सब नैसर्गिक नियम देखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण आनुवंशिक रीतिसे निश्चित किये जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। जो फरक अब दिखाई देता है वह अ-स्वाभाविक बर्तावका फल है। परन्तु जब तक पूर्वजोंके गुण रक्तमें विद्यमान हैं, तभी तक बिगडा हुआ सिलसिला सुधरने की उम्मीद है। हर्बर्ट स्पेन्सर नामके अंग्रेज विद्वानका कथन है कि यदि सभ्यताका बिगडना लगातार तीन पीढियों तक जारी रहेगा, तो वह सभ्यता चाहे कितनीही प्राचीन क्यों न हो अवश्यही नष्ट हो जावेगी। इसलिये आवश्यकता है कि आजकलकी अवनत दशा सुधारकर चातुर्वर्ण्य को मूल स्थिति में लाने की यथासंभव जल्दी की जावे।

रोटी-बेटी-व्यवहार।

ऊपर कहा गया है कि आनुवंशिकता व्यवहार्य होनेसे स्वीकृत हुई। परन्तु वह इसलिये नहीं कि उसमें अधोगामित्वके दोष नहीं थे। तब आजकलकी जातिनिष्ठता आदि दोष मूल-संस्थापकोंके माथे नहीं मढे जा सकते। उन्होंने तो प्रथम ही अनुमान किया था कि अनिष्ट परिणामोंके कारण चातुर्वर्ण्य बिगडेगा। इसी लिये उन्होंने प्रबन्ध किया कि धर्मचैतन्य चारों वर्णोंमें कायम रहे और उससे चातुर्वर्ण्य सजीव एवं सतेज रहे। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से यही दिखाई देता है। चारों वर्णोंमें आपसमें रोटी और बेटी व्यवहारके ऐसे नियम बना दिये हैं जिनसे स्वभावज गुणकर्मकी परंपरामें बाधा न आवे और उन्नतिका मार्ग न रुके [बेटी-व्यवहार मनुस्मृति ३-१३ से ४४; ४—२४४, २४५; बेटीव्यवहार ४—२०५। २१०—२३]। परिणाम यह हुआ कि प्रगाढ स्नेहभाव की वृद्धि हुई और एक समय आर्य

लोग सभी प्रकारसे उन्नति के शिखरपर पहुंचें। सेवामें तत्पर रहनेवाले शूद्र भी जब त्रैवर्णिकोंकी सत्संगति से उनकी अच्छी रीतियां और रस्में उठा लेते तथा स्वच्छतासे रहना सीख लेते, तब इस प्रकार उन्नत हुए सच्छूद्र कहलाते तथा त्रैवर्णिकों के और विशेषतः ब्राह्मणों के घर पाक-सिद्धि और अन्य पवित्र माने गये कामों में प्रवेश पाते। और उनके घर भी ब्राह्मण अपूपपायस आदि अन्न का स्वीकार करते। मनुस्मृति में कहा है—

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥१॥
(४—२५३)

"अपने खेत को जोतनेवाला, कुलपरंपरागत मित्र, अपना ग्वाल, दास, नाई और जो 'मैं आप ही का हूं' कहकर अपने पास रहता हो, ये छः शूद्र 'भोज्यान्न' हैं अर्थात् अन्न खाने योग्य हैं"।

वे प्रश्न जिन्हें हल करना

धर्माभिमानियों को आवश्यक है।

आर्य धर्म का अभिमान रखनेवालों के सम्मुख ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन्हें धर्म और राष्ट्र की दृष्टिसे हल करना आवश्यक है। ये प्रश्न आंखें बंद कर लेने से टल नहीं सकते। लापरवाही से वे धर्म को नष्ट कर देंगे। ऐसे प्रश्नों में पहला प्रश्न है अछूतउद्धार का, दूसरा है शुद्धि किये हुए लोगों का और तीसरा है शुद्धिद्वारा या अन्य रीतिसे आर्य धर्म में आने वालों का। "कलियुग में ब्राह्मण और शूद्र ऐसे दो ही वर्ण रहे हैं तथा क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नष्ट हो चुके हैं"। इस समझ को मानने के लिये अब कोई भी तैयार नहीं है। वैसे ब्राह्मण भी अब कहाँ रहे हैं? यह प्रश्न भी स्पष्ट रीतिसे पूछा जाता है। महात्मा गांधीजीने हाल ही में कहा है कि अब तो केवल शूद्र वर्ण ही बचता है। इस कथन का उत्तान अर्थ लेकर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि "इसी लिये हम सब गोलंकार करके एक होना चाहते हैं।" यह धर्म की सजीवता का लक्षण नहीं है। जब धर्म जीवित था तब उसने पतितों का उद्धार अवश्य ही किया है, पर वह 'पतितों को ऊपर लाकर' न कि 'पतितों में नीचे जाकर मिलकर'। इस विषय में प्रो. सर राधाकृष्णन् के विचार उनके 'दि हार्ट आफ् हिन्दुइज़म्' से उद्धृत करना अनुचित न होगा—

"यह कहना कि दलितों की नैतिक और धार्मिक शक्तियों का विकास करने के लिये हिन्दु धर्म ने कुछ न किया, उसके किये सत्कार्यों का प्रगाढ अज्ञान ज़ाहिर करना है। तुलना के लिये बौद्ध और ईसाई धर्म को देखिये। इन्हें उत्पन्न हुए कुछ शताब्दियाँ हो चुकी हैं। तिसपर भी आजकल हम देखते हैं कि जब सुधरे हुए वर्ग पिछडे हुओं से संगत होते हैं, तब पिछडे हुओं की मनोभूमि का यत्किंचित् भी विचार न कर उन्हें बेकाम बनाकर जीतने के मार्ग काम में लाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यदि उन जंगली लोगों को रोने के लिये आंखें देखने दी हों तो वे दिन-रात रोते हुए, कष्टमय दशामें और ईश्वरको गालियां देकर बिताते हैं। वे कहते हैं कि "मरे वह ईश्वर, जिसने इन सुधरे हुए लोगोंको हमारे देशमें आने दिया।" हिन्दु आर्योंका जीते हुए लोगोंके साथ बर्ताव करनेका तरीका इससे बिलकुल ही भिन्न था। उन्होंने जीते हुओं को अपने में शामिल कर लिया, गंदी आदतें, शराबी आदिसे मुक्त होनेमें सहायता की और स्वच्छताकी रहन सहन तथा चैतन्यमय ईश्वरको भजनेकी बुद्धि सिखलाई। जब मूल निवासी सर्पकी पूजा करने वाले दिखाई दिये, तब आर्योंने उन्हें उपदेश किया कि इन सर्पों पर भी एक देव है, जिसे नागेश्वर कहते हैं। ऐसी युक्तिसे तथा उनके मनका झुकाव तथा दर्जा देखकर अपनेमें धीरे धीरे मिला लिया। इस प्रकार वर्णव्यवस्थाके मार्गसे धीरे धीरे सुधार करने की क्रिया इस आर्यभूमिमें मुसलमानोंका प्रवेश होने तक जारी रही।"

उक्त सर साहब अपने कथनकी पुष्टिके लिये इंपीरियल गेजेटियर व्हा. २ चाप्टर ८ से मिस्टर जेम्स केनेडीके लेखका अंश उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है— "मूल निवासी और परकीय लोगोंको हिन्दुत्व देने तथा अपनेमें मिला लेनेका कार्य ईसवी

की ७ वी से ११ वा शताब्दि (यह समय आद्य शंकराचार्यके अवतारका तथा उनके धर्मकार्यके प्रभावके पासका है) तक हिन्दुधर्मने ऐसी युक्तिसे किया कि सब उत्तरी भारतमें रक्तसे, सभ्यतासे तथा धर्मसे हिन्दुधर्ममें सब प्रकारसे मिल गई हुई जनसंख्या ही आजकल नजर आती है। पहलेके समान जंगली दशामें जो लोग अबतक हैं वे उन्ही के बन्धुओंसे तुरंत पहचाने जाते हैं। " इस प्रकार परावर्तनका तथा सुधारका महत्कार्य यदि हिन्दु धर्ममें पहले न किया होता तो आज जितने हैं उनसे पांच गुने अछूत इस पुण्यभूमिमें अवश्य दिखे होते। यह प्रशंसनीय कार्य मुसलमानी धर्मका उदय होते ही हिन्दुधर्म न कर सका। इसलिये हिन्दु समाजने जो कुछ है उसे बनाए रखनेकी ओर अपना ध्यान दिया और बाहर के लोगों को धर्म में लेना बन्द कर दिया। इस बातसे अन्य धर्मके लोगोंने खूब लाभ उठाया।

ऊपर उद्धृत किया हुआ भाग अनेक रीतिसे बोधप्रद है। उतावले सुधारकों को वह ' आस्ते कदम ' कहता है तथा सनातनियोंको जतलाता है कि "तुम समझते हो इतनाही सब है यह नहीं।"

चौथा और अत्यन्त महत्त्व का प्रश्न है आजकल का बिगडा हुआ सिलसिला सुधारना है। उदाहरण के लिये चारों वर्णों में कौन कौन जातियाँ और उपजातियाँ आती हैं या आनी चाहिये इसका निश्चय करना तथा प्रत्येक वर्ण की पहचान जिन शास्त्रविहित सर्वसामान्य तथा स्वभावसहज आचारों से हो सकती है उनके आचरण के लिये, उस वर्ण की अध्यात्मज्ञान की भूमिका प्राप्त करने के लिये, धार्मिक शासन से तथा समाजशासन से निर्बन्ध कर देना और अधिक से अधिक बढने न देना; उपजातियों की संख्या बेटीव्यवहार बढाकर कम करना और जात बाहर करना आदि प्रायश्चित्त उस व्यक्तिभर के लिये तथा अधिक से अधिक उस व्यक्तिके जीवनपर्यंत ही रखना तथा उसका बुरा उपयोग दूसरी जाति बनाने में न करना इत्यादि बातें हैं।

उपाय-योजना।

अन्त में आगे लिखेनुसार यथामति मार्ग दिग्दर्शन किया है-

१ अब असावधानी से नींद लेकर तथा ' यह मेरा काम नहीं ' कहने से काम न होगा।

२ धर्म की व्यवस्था का कार्य सिलसिले से होना है तो धर्मगुरु को छोडकर काम न चलेगा। उनकी महत्ता उचित मार्गों से बढानी होगी।

३ हमारा धर्म उज्ज्वल है और हमारा चातुर्वर्ण्य ध्येयानुगामी, तथा मधुमक्खियों के छतने के समान एकध्येयवाला, एक विचार का और अंतःप्रेमी है। परन्तु उसपर आजकल जो मलिनता का पुर्त चढा है उसे साफ कर देना चाहिये।

४ यह काम धर्म-गुरुओं को करना चाहिये और समाजको उनसे करा लेना चाहिये।

५ चातुर्वर्ण्य के सभी मुख्य धर्मगुरुओं की एक सभा होनी चाहिये और वह वर्षमें दो बार बुलाई जावे।

६ चातुर्वर्ण्य के मूल उद्देश्य के अनुसार पुनः संगठन के लिये सब के लिये सामान्य बातें कौनसी हैं (आचार, रीति, आदि) तथा प्रतिकूल कौनसी हैं इस का विचार वे गुरु विद्वानों की सहायता से निश्चित करें और कार्य आरम्भ करें।

७ धर्म को जीवित रखने के लिये ईसाई लोग जो जो बातें आज दिन करते हैं, उन्ही के समान प्रबन्ध हिन्दुधर्म भी करे।

८ धर्मगुरु की सभा धर्म के उपदेश की नीति निश्चित करे और उनके अनुसार कार्य करनेवाले धर्मोपदेशकों का वर्ग उत्पन्न करे तथा धर्मगुरु स्वयं भी उपदेश तथा प्रवचन दें।

९ अंत्यजों का उद्धार, पतितोद्धार जैसे कार्य धर्मगुरु करें तथा वर्णोंमें उनका स्थान भी वेही निश्चित करें।

१० ईसाई देशोंमें धर्म के लिये जैसे फण्ड इकट्ठे होते हैं, वैसे यहां भी राजा-महाराज, धनवान्,तथा मध्यमवर्ग के लोग और व्यापारियों से इकट्ठे किये जावे।

गीताका स्थितप्रज्ञ ।

अपने ज्ञानसे ग्रीस देशको तत्वज्ञानके शिखर पर पहुंचानेवाले साक्रेटिस (सुकरात), प्लेटो, अरिस्टाटल जैसे विद्वानों के भी पहले लिखी हुई गीतामें जो स्थित-प्रज्ञके लक्षण दिये हैं उन्हें जब अपन पढते हैं, तब अपने पूर्वजोंने इतने प्राचीन कालमें तत्वज्ञानका जो सूक्ष्म विचार किया था वह प्रतीत होता है और उसे देखकर मन अत्यन्त प्रसन्न होता है । इस विचारको सावधानीसे देखनेपर विदित होता है कि गीताका स्थितप्रज्ञ, रामदासस्वामीके दासबोधका उत्तम पुरुष या ग्रीक दार्शनिकोंका पूर्णपुरुष सब एक ही वर्गके हैं।

गीता का स्थितप्रज्ञ समझता है कि मनमें वास करनेवाली प्रत्येक वासना आत्मसुखके रास्तेका बडाभारी विघ्न है और इसके कारण मनुष्य विषय-पंकमें फंस जाता है । इसलिये वह उसका सर्वतः त्याग कर देता है । साथ ही उसका हृदय संतोष-से पूर्ण भरा रहता है, इससे वह सदैव आत्मसुखमें मग्न रहता है । किसी भी प्रकार का दुःख होनेपर भी रंज उसके मन में जरा भी नहीं होता । अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होनेपर भी यह उन में मग्न नहीं होता । वह आत्मानन्द से भरा रहता है इस लिये काम, क्रोध या भय का उसे पता भी नहीं रहता । आसक्ति के संबंध में वह 'मूले कुठारः' देता है इसलिये इन सब बातों में वह स्नेहरहित रहता है । कुछ आनन्द की वस्तु प्राप्त होनेपर वह हर्ष से नाचता नहीं या कुछ बुरी बात होनेपर वह दुःख में विलीन भी नहीं होता । जैसे कछुआ सभी अवयवोंको खींच लेता है, वैसे ही यह अपनी सभी इन्द्रियां विषयोंसे खींच लेता है । इसकी इन्द्रियां पूर्णतया इसके आधीन रहती हैं । संक्षेपमें कहना हो तो यों कह सकते हैं कि जिसकी इंद्रियां सभी ओरसे विषयोंसे खींच ली हुई होती हैं,वही स्थितप्रज्ञ है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात् जो इन्द्रियोंका दास नहीं होता किन्तु इन्द्रियोंको ही अपना सेवक बनाये रखता है, वही स्थितप्रज्ञ है ।

कुछ लोगोंका मत है कि जो मनुष्य इन्द्रियोंको पूर्णतया अधीन रखता है, रसनाको जीत लेता है, भलाबुरा, सुखदुःख आदिसे अलिप्त रहता है तथा आत्मसुखमें निमग्न है वह केवल कल्पना मात्र है । परन्तु यह विचार सत्य नहीं है । आजकल महात्मा गांधी स्थितप्रज्ञ हैं । इनके विषयमें कविवर रवीन्द्रनाथ टागोर क्या कहते हैं, सो देखिये-

" आपका त्याग किसी खास समयके लिये अथवा खास वस्तु भर के लिये नहीं है अपि तु उनकी वृत्ति ही स्थितप्रज्ञ की बन गई है । अपन देखते हैं कि बहुत से नेता अनेक बार स्वार्थत्याग करते हैं, किन्तु उस त्याग के दिखावे में कोई न कोई भोगकी इच्छा छिपी रहती है । उनका त्याग भी किसी हेतु से किया जाता है । यदि कोई प्रत्यक्ष यज्ञ-पुरुष का दर्शन करना चाहे तो वह महात्माजी का दर्शन करे । मैं तो यही सोचता हूं कि यज्ञ को मनुष्यरूप धारण करने की इच्छा हुई और उसने गांधीजी के रूपमें अवतार लिया । वे नाम नहीं चाहते, सामाजिक परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं चाहते । पैसे की तो वे पर्वाह ही नहीं करते और न उन्हें यही इच्छा है कि अपने हाथ में कुछ अधिकार हो । उनका चित्त सदैव यही सोचता रहता है कि अपने पास कौनसी वस्तु ऐसी है जो लोगोंको देने योग्य है । उस चित्त में इसके बदले का तो विचार ही उत्पन्न नहीं होता । अधिक तो क्या परन्तु 'अपने उपकार किया' ऐसे शब्द भी सुननें की उनकी इच्छा नहीं रहती । महात्मा गांधी जीवन्मुक आत्मा है । यदि कोई मुझे कल फांसी

लगावे तो मैं अवश्य ही चिल्ला उठूंगा कि 'दौडो, दौडो, बचाओ।' परन्तु मुझे विश्वास है कि ऐसी हालत में महात्माजी के मुख से दुःख की सांसतक भी नहीं निकलेगी। इसके विपरीत फांसी लगानेवाले की ओर देखकर उन्हें हंसी आवेगी। मरते समय भी वे बिलकुल हंसमुख से प्राण त्यागेंगे। यद्यपि मैं संसार में प्रसिद्ध हूं तथापि मैं महात्माजी की पहिचान संसारको किस प्रकार कराऊं? और वह मुझे सध भी कैसे सकता है? ऐसी पुण्यात्मा का बडप्पन स्वयंभू होता है। उसकी प्रभा आत्मतेज से सर्वत्र फैलती है। हमारी पूर्वीय सभ्यता का अन्तिम ध्येय महात्मा गांधी के रूपमें अवतीर्ण हुआ है।" कौन कहेगा कि ऐसा पुण्यवान् पुरुष स्थितप्रज्ञ नहीं है?

भगवद्गीता।

[योगी श्री. अरविंद घोष]

गीता संसार का श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ है। गीता में जिस ज्ञान का विवरण संक्षेप से किया है वह सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त गुह्य ज्ञान है। गीताकी धर्मनीति अखिल धर्मनीति की माता है और गीता का दिखाया हुआ कर्ममार्ग उद्योन्मुख जगत् का सनातन मार्ग है।

असंख्य रत्नों को उत्पन्न करनेवाला गीता अनन्त और अगाध महासागर है। पूरी आयुभर भी यदि इस समुद्र की थाह लेनेका प्रयत्न करें तब भी उस की गहराई का पता नहीं चलता और उसकी तली नहीं मिलती। सैकडों वर्ष प्रयत्न करनेपर भी इस अनन्त रत्नभंडार का सहस्रांश धन भी हाथ लगना कठिन है। परंतु एक या दो रत्न मिलें तब भी उतने ही से गरीब मनुष्य धनवान् हो जाता है, विचारशील मनुष्य ज्ञानी हो जाता है, नास्तिक मनुष्य प्रेमी बनता है और सामर्थ्यवान् कर्मवीर अपना जीवितहेतुसिद्ध करने के लिये पूर्णतया तैयार हो कार्यक्षेत्रमें आता है।

गीता अक्षय हीरामोतिओं का रत्नाकर है। युगों तक भी यदि इस सागर के रत्नों का संग्रह करें, तब भी आगामी पीढियों के लोग इसी रत्नाकर से मूल्यवान् और नये नये रत्न प्राप्त कर आनन्दित तथा आश्चर्यचकित होंगे।

इस प्रकार गीता गहन तथा गुह्यज्ञानपूर्ण ग्रन्थ है। तिसपर भी उसकी भाषा अत्यन्त सरल, रचना भी सरल और बाहरी अर्थ सहज ही में समझने योग्य है। डुबकी न लगाकर केवल गीतासागरमें पृष्ठभाग पर ही तैरनेका प्रयत्न किया जावे तब भी आनन्द और सामर्थ्य की अचम्भाकारी वृद्धि होती है।

यद्यपि गीता की सैकडों टिप्पणियां लिखी गई हैं, तब भी ऐसा समय कदापि न आवेगा जब कि नवीन भाष्य और टीका की आवश्यकता प्रतीत न हो। सम्भव है कि गीता का ऐसा भाष्य कोई महा पण्डित लिख दे जिससे वाचक कहेंगे कि गीता को पूर्ण रीति से समझ लिया, अब गीतापर टीका लिखना व्यर्थ है। इस प्रबन्धका उद्देश्य यही है कि गीतोक्त सत्य का लेखक का अनुभव, कर्ममार्ग का उसका अभ्यास और उसके अनुसार उसने किया हुआ गीता का अर्थ दूसरों के उपयोगी हो।

वक्ता।

गीता का हेतु और अर्थ समझने के लिये वक्ता, श्रोता तथा परिस्थिति का सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है। वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण, श्रोता कृष्णसखा तथा वीरश्रेष्ठ अर्जुन और कुरुक्षेत्र के भीषण युद्ध के आरम्भ का समय तथा परिस्थिति है।

किसी किसीका मत है कि महाभारत केवल एक रूपकमात्र है, यथा 'श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अर्जुन जीव है, कौरव रिपुसमूह है और पाण्डवों की सेवा मोक्षानुकूल वृत्ति है।' इस प्रकार महाभारतको रूपक समझना काव्य जगत् में उसे हीन स्थान देना कर्मवीरोंके जीवनको स्फूर्तिदायक होनेवाली गीता की उपयोगिता कम करना तथा मानवजातिके उत्कर्षकी शिक्षाको नष्ट कर देना है। कुरुक्षेत्र का युद्ध केवल गीताचित्रकी चौखट नहीं है किन्तु गीतोक्त शिक्षाका वह आद्य कारण तथा गीतोक्त धर्म-सम्पादनका श्रेष्ठ क्षेत्र है। यदि कुरुक्षेत्रयुद्ध काल्पनिक माना जावे तो गीताधर्म वीरोंका धर्म, व्यवहार्य धर्म न होकर संसारके लिये निरुपयोगी ऐसा संन्यासधर्म सिद्ध होगा।

गीतोक्त धर्मका वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण है। शास्त्रोंने 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' कहा है और स्वयं श्रीकृष्णने अपनेको गीतामें 'भगवान्' कहा है। चौथे अध्यायके अवतारवाद और दसवें अध्यायके विभूतिवाद के आधार से यही प्रतिपादन किया गया है कि भगवान् सब प्राणिमात्र के हृदयमें गुप्तरूपसे अधिष्ठित हैं, विशेष जीवोंमें शक्तिविकासके द्वारा कुछ अधिक मात्रामें तथा श्रीकृष्णदेह में संपूर्णतया अवतीर्ण हैं।

श्रीकृष्ण वास्तवमें अवतार ही हैं। यदि हम मानवी देहसे की हुई कृष्णलीलाकी व्यक्त और अव्यक्त शिक्षा साध्य करना चाहते हैं, तो यह समझ लेना आवश्यक है कि इस लीलाका हेतु, अर्थ और प्रणालि क्या है। इस महान् लीलाका मुख्य अंग है 'पूर्णज्ञानप्रवर्तित कर्म।' और इस कर्म एवं लीलाका मूल जो ज्ञान है, वह गीतामें स्पष्ट किया गया है।

महाभारतके श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, साम्राज्यसंस्थापक, राजनीतिज्ञ, योद्धा एवं ब्रह्मज्ञानी क्षत्रिय हैं। उनके जीवनमें महाशक्तिका अतुलनीय विकास और रहस्यमय क्रीडा देखने मिलती है। गीता इस रहस्यकी टीका ही है।

श्रीकृष्ण जगत् के स्वामी और संसारव्यापी वासुदेव हैं सही; परन्तु उन्होंने अपनी महत्ता प्रगट नहीं की अपि तु पिता, पुत्र, बन्धु, पति, सखा, मित्र, शत्रु जैसे सम्बन्ध मानवोंसे जोडकर उन्होंने लीला की है। श्रीकृष्णके चरित्रमें आर्यज्ञानका श्रेष्ठ रहस्य तथा भक्तिमार्गकी उत्तम शिक्षा ग्रथित है और उसके सिद्धान्त भी गी[illegible]की शिक्षामें आये हैं।

श्रीकृष्णका अवतार द्वापर और कलियुग के सन्धिकालमें हुआ। हरएक कल्पमें वैसे ही सन्धिकालमें भगवान् का पूर्ण अवतार होता है। कलियुग चारों युगोंमें जितना निकृष्ट है उतना ही श्रेष्ठ है। कलियुगमें यद्यपि मनुष्यकी अत्यंत अवनति और अधोगति होती है, तथापि संकटोंसे झगडते झगडते सामर्थ्यकी वृद्धि होती है, और 'पुरानेके संहारमें नवीनका निर्माण होता है।' यह अनुभव कलियुगमें ही होता है। संसारकी उत्क्रान्तिमें जिस बुरे भागका नाश होने लगता है, वही कलियुगमें नष्ट होता है और एक प्रकार से उसीमें नवीनताका बीज बोया जाता है और अंकुरित होता है। वही बीज वृक्षरूपसे सत् युग में उत्क्रान्ति होता है। सत् युगके निर्माणका उपयुक्त गुह्यज्ञान और कर्मप्रणालि श्रीकृष्णजीने गीता में प्रगट की है।

इन सब बातोंका विचार करके गीतारूप वाक्य श्रीकृष्ण से पृथक् नहीं कर सकते। गीतामें श्रीकृष्ण का गुप्त रीतिसे वास्तव्य होनेके कारण गीता श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति है।

श्रोता (अधिकारी)

गीतोक्त ज्ञानका श्रोता या अधिकारी पाण्डवश्रेष्ठ महान् वीर, इन्द्रतनय अर्जुन है। जिस प्रकार वक्ताको छोडकर गीताके हेतु और गूढ अर्थका आकलन कठीन है, ठीक वैसे ही श्रोताको छोडनेसे भी अर्थहानि होती है।

अर्जुन श्रीकृष्णका सखा है। एक हो कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए मनुष्यदेहधारी भगवान् श्रीकृष्णसे अपने अधिकार और पूर्वकर्मके भेदके अनुसार जिन्होंने सम्बध जोडा उनमें उद्धवने भक्तका, सात्यकीने अनुयायीका, राजा युधिष्ठिरने आत्मीयका

नाता जोडा; परन्तु अर्जुनके समान श्रीकृष्णसे उत्कट प्रेमका सम्बन्ध कोई न उत्पन्न कर सका। समान वयके पुरुषोंमें जितना मधुर और निकटका सम्बन्ध उत्पन्न होता है, उतनाही श्रीकृष्णार्जुनमें आमरूप ई। इसी सम्बन्धके कारण गीताका उज्ज्वल रहस्य समझ लेनेके लिये अर्जुन योग्य सिद्ध हुआ और यही कारण व्यक्त करनेकी गरज से भगवान् ने चौथे अध्यायमें कहा---

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
गी० अ० ४।३

'तू मेरा भक्त और सखा है इसीसे मैंने तुझे यह पुरातन योग बतलाया।' यह योग क्या है? जगत् का उच्च तथा परम रहस्य ही है। इसी बातकी पुनरुक्ति कर्मयोगका मूलमन्त्र व्यक्त करने में अठारहवें अध्यायमें—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
गी० १८।६४

'तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसीसे यह परम रहस्य तुझे बतलाया है' कहकर की है।

इन दो श्लोकोंका तात्पर्य श्रुति के अनुकूल ही है। कठोपनिषदमें कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥
कठ० १।२।२२

अर्थात् 'यह आत्मा प्रवचनसे, बुद्धिसामर्थ्यसे अथवा विस्तृत शास्त्रज्ञानसे प्राप्त होनेवाला नहीं। भगवान्ने जिसका स्वीकार किया है उसीको वह प्राप्त होता है।' याने जो भगवान्से सख्यादि मधुर सम्बन्ध जोडनेमें समर्थ होता है, वही गीतोक्त ज्ञानका अधिकारी होता है।

ध्यान रहे कि भगवान्ने अर्जुनको भक्त और सखा कहकर स्वीकार किया है। साधारणतः भक्त कहनेसे गुरुशिष्यके सम्बन्धका विचार मनमें आता है। शिष्यकी गुरुभक्तिकी जडमें प्रेम रहता है, परन्तु प्रायः अंधभक्ति, आज्ञाकारिता और सन्मानके लक्षण ही विशेषतः दिखाई देते हैं। जहाँ सख्य-सम्बन्ध है वहां सखा विनोद करता है, रहस्यकी बातें करता है, उपहास करता है, मौका पडने पर उसे गालियाँ भी सुनाता है। स्नेहीकी कपटरहितता, उसकी हितबुद्धि, उसका बुद्धि-सामर्थ्य और अन्य नानाविध गुणोंसे लुब्ध होकर यद्यपि सखा अपने सखाके उपदेशके अनुसार बर्तता है, तथापि वह अंध श्रद्धासे नहीं अपि तु विचारविनिमयके पश्चात् बात जंच जानेपरही। सख्यसम्बन्धकी नींव प्रेम है और इस सख्यरूप त्रिकोणके निर्भयता तथा अकृत्रिमता दो कोण हैं। जगत्को रहस्यमय माधुर्यसम्पन्न प्रेममय तथा आनन्द पूर्ण खेल समझ कर और भगवान्को इस खेलका खिलाडी समझकर जो उससे सख्य जोडता है, वही गीतोक्त ज्ञानका अधिकारी है।

गुरुशिष्यसम्बन्ध यदि सख्यपर अधिष्ठित हो, तो उसे अत्यन्त मधुर स्वरूप प्राप्त होता है। गीता के आरम्भमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे इसी प्रकारका सम्बन्ध जोडा है। 'तू मेरा हितकारी बन्धु है, तुझे छोड मैं अन्य किसकी शरण लूं? मैं कर्तव्याकर्तव्यके बारेमें शंकित एवं भयभीत हूं। अतएव मेरी रक्षा कर और मुझे योग्य मार्ग दीखा। मैंने अपने ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याणका सभी बोझ तुझपर डाल दिया है।' इस प्रकार सख्य-शिष्य-सम्बन्धकी भावनासे व्याकुल हो अर्जुन ज्ञानप्राप्ति के लिये श्रीकृष्णके पास आया। सख्यसम्बन्धमें मातृप्रेमजन्य वत्सलताका भाव भी शामिल है। सख्यसम्बन्धमें मातृप्रेमकी गंभीरता एवं दांपत्य-प्रेमकी तीव्रता तथा उत्कट आनन्दभी उत्पन्न होता है। सखा अपने सखाके सांनिध्यके लिये सदैव उत्सुक रहता है। वह विरहसे व्याकुल होता है, शरीरस्पर्शसे पुलकित होता है और उसके लिये प्राणत्यागके लिये खुशीसे तैयार होता है। इसी सम्बन्धमें दास्यसम्बन्ध भी जुड जावे तो अधिक माधुर्य आता है। तात्पर्य पुरुषोत्तमसे जो मनुष्य जितनाही अधिक मधुर सम्बन्ध जोड सकता है, उतना ही उसका सख्यभाव अधिक विकसित होता है और वह गीताज्ञानके लिये अधिक पात्र

होता है।

कृष्णसखा अर्जुन महा भारतका प्रधान कर्म मार्गी है और कर्मयोगकी शिक्षा ही गीताकी प्रधान शिक्षा है। ज्ञान, भक्ति और कर्मके तीन मार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं। ज्ञानप्रवर्तित कर्ममें भक्तिलब्ध शक्तिका प्रयोग करना तथा भगवान्के उद्देश्य से, भगवान्से युक्त होकर भगवत्प्रेरित कर्म करना ही गीतोक्त शिक्षा है और यही गीताका कर्ममार्ग है। संसारदुःखसे भयभीत हुए, वैराग्यसे पूर्ण तथा भगवान् की लीलामें भाग न लेकर अनन्तके अन्तरंगमें प्रविष्ट होनेको उत्सुक हुए लोगोंका मार्ग स्वतन्त्र है। धनुर्धारी अर्जुनकी ऐसी इच्छा तथा भावना इच्छा कदापि न थी। श्रीकृष्णजीने किसी शान्त संन्यासीके पास या किसी दार्शनिकके पास गीता का रहस्य प्रगट नहीं किया, अथवा किसी अहिंसापरायण ब्राह्मणको गीतोक्त ज्ञानके पात्र नहीं समझा किन्तु महापराक्रमी, तेजस्वी क्षत्रिय योद्धाको इस अतुलनीय ज्ञानप्राप्तिके लिये सत्पात्र समझा। जो संसारसंग्राममें जयापजयसे विचलित नहीं होता, वही गीतोक्त शिक्षाके गूढतम भागमें प्रवेश करनेके लिये समर्थ होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। मुण्डक उप० ३।२।४

मुमुक्षुत्वकी अपेक्षा जिसे भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, उसीको भगवत्सान्निध्यका आस्वाद मिलता है। और स्वतःको नित्यमुक्तस्वभाववान् का अनुभव करने तथा मुमुक्षुत्वको अज्ञानका शेष आश्रय समझ उसे टालनेमें वही समर्थ होता है। इसी प्रकार राजस और तामस अहंकारका त्याग कर सात्विक अहंकारसे भी जो बद्ध होना नहीं चाहता वही गुणातीत बननेके योग्य सिद्ध होता है। क्षत्रियधर्मका पालन कर प्रखर रजोगुणका अर्जुनने यथार्थ उपयोग किया। तथापि सात्विक आदर्शका स्वीकार कर रजःशक्ति सत्वमुखी बनानेके कारण वह गीतोक्त शिक्षाके लिये सत्पात्र सिद्ध हुआ।

यह नहीं कि अर्जुन उस समयके महापुरुषोंमें श्रेष्ठ था। आध्यात्मिक ज्ञानमें व्यास, सब प्रकारके सांसारिक ज्ञानमें, पितामह भीष्म भक्तिज्ञानमें, उद्धव तथा अक्रूर, स्वाभाविक शौर्यपराक्रममें महारथी कर्ण जैसे भिन्नभिन्न क्षेत्रमें श्रेष्ठ महापुरुषोंके रहते अर्जुन का ही भगवान् ने स्वीकार किया। उसीके द्वारा भारतके हजारों विख्यात योद्धाओंका नाश कराया। उसीको गांडीवादी दिव्य अस्त्र दे उसीके गलेमें विजयश्रीकी माला पहिनाई और गीतोक्त ज्ञानके लिये उसीको पात्र सिद्ध किया। अर्जुन ही महाभारतका नायक और प्रधान कर्मी है तथा उसीके उज्वल यशका जयजयकार महाभारतका प्रत्येक भाग करता है। यह व्यासजीका अन्यायी पक्षपात नहीं है। पूर्ण श्रद्धा और आत्मसमर्पणका ही स्वाभाविक फल अर्जुनका परमोत्कर्ष है जो सब प्रकार का द्वन्द्वभार पुरुषोत्तम को अर्पण कर अपने प्रिय कर्ममें आसक्त न होकर भगवद्दत्त गुण और प्रेरणा का उपयोग भगवान्के ही कार्यके लिये करता है, ऐसा श्रद्धावान्, निरहंकारी, कर्मयोगी पुरुषही पुरुषोत्तमका प्रियतम सखा एवं गीतोक्त शिक्षाका सच्चा अधिकारी होता है। जगत्का विशाल कार्य ऐसेही पुरुष श्रेष्ठके द्वारा अच्छी तरह सिद्ध होता है। अर्जुन भी आत्मसमर्पण करनेका प्रयत्न इसी प्रकार अध्यवसाय से करता था। इसी प्रेम के कारण ही वह श्रीकृष्ण के प्रेम के तथा प्रसन्नताके योग्य हुआ। तात्पर्य, जो सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करनेका दृढ प्रयत्न करता है, वही गीतोक्त शिक्षाका सत्पात्र सिद्ध होता है। और श्रीकृष्ण उसके गुरु एवं सखा बनकर इहपरलोक का उसका सभी बोझ ग्रहण करते हैं।

परिस्थिति।

मनुष्यकी प्रत्येक उक्ति और कृतिका हेतु और उसका कारण पूर्णतया समझना हो तो यह समझना आवश्यक है कि वह कृति किस परिस्थितिमें प्रगट हुई। कुरुक्षेत्रके रणमैदानपर महायुद्धके आरम्भमें शस्त्रप्रयोग आरम्भ होनेके समय भगवान्ने गीताका उपदेश किया। यह बात कई लोगों को कविका बुद्धिदोष और असमयज्ञता प्रतीत होती है। परन्तु वास्तवमें गीतोक्त ज्ञान प्रगट करने के लिये वही स्थान, वही काल और वही पात्र सर्वथा योग्य होनेके कारण ही भगवान्ने उस समय

गीताका उपदेश किया।

प्रबलकर्म प्रवाहमें जिन्होंने अपने शौर्यका तथा अपने सामर्थ्यका विकास नहीं किया, वे कदापि गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी नहीं बन सकते। जिन्होंने कोई श्रेष्ठ और दुर्घट कार्य महान् व्रत समझकर शुरू किया है, जिसमें पगपग पर पराजयकी आशंका है एवं संकटोंकी तथा शत्रुओंकी अपरिमित वृद्धि है, ऐसे कार्यको करते समय जब दिव्य सामर्थ्य उत्पन्न होती है, तभी कार्यसिद्धिके लिए ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रद्धा और भक्तिपूर्ण कर्मसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, इस लिये गीतोक्त मार्गसे आनेवालेको दूरके जंगलके किसी शान्तिमय आश्रय में पर्वत पर या निर्जन स्थानमें भगवान्के साक्षात्कारके लिये अपना मार्ग छोडकर जानेकी आवश्यकता नहीं होती। कर्मके कोलाहलमें ही भगवानकी मधुर तथा तेजोमयी वाणी उसे सुनाई देती है।

स्थान युद्धक्षेत्र-शस्त्र संपात होनेवाला उभय सेनाओंका मध्यस्थल। इस मार्गके साधनोंको अत्यन्त महत्त्वका फल प्राप्त होनेके मौकेपर योगसिद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति होती है। उनका ज्ञान कर्मरोधक नहीं होता किन्तु कर्मसम्बद्ध रहता है। ध्यानमें, एकान्तमें ज्ञानोन्मीलन होता है, इसीसे कुछ साधक और मनीषी निर्जन स्थलमें रहना पसंद करते हैं। परन्तु गीतोक्त योगका साधक मन प्राण तथा शरीररूप आधार इस प्रकार विभक्त करता है कि उससे वह जनतामें निर्जनता, कोलाहलमें शान्ति और घोर कर्ममें भी निवृत्तिका अनुभव करता है। अंतःशरीरको बाह्य शरीरसे नियंत्रित न कर बाह्य शरीरको ही अंतर्देहके द्वारा चलाता है। साधारण योगी संसारमें डर कर भागता है और योगप्रवृत्त होता है। किन्तु कर्मयोगी संसारको ही योगाश्रम बनाता है। साधारण योगी बाह्य शान्तिकी इच्छा करता है, इससे शान्तिभंगसे उसका तपोभंग होता है। किन्तु कर्मयोगीकी आन्तरिक शान्ति ऐसी विशाल होती है कि बाह्य गडबडसे उसका तपोभंग नहीं होता किन्तु वह समुद्रके समान स्थिर रहता है। बहुतेरे लोग शंका करते हैं कि रणमैदानपर और वह भी दोनों सेनाओंके बीचमें कृष्णार्जुनका संवाद होना कैसे सम्भव है, किन्तु यह सत्य है कि योगसामर्थ्यसे ये बातें होती हैं। इसी योगबलसे लडाई के बीचमें भी कृष्णार्जुनकी जोडी अंतर्बाह्य पूर्ण शान्त थी तथा युद्धकी गडबडहीका उनपर कुछ भी परिणाम नहीं हुआ।

जगत्, सुखदुःख, पापपुण्य आदि प्रश्नोंको हल न कर सकनेके कारण बहुतोंको संसारनिवृत्ति ही श्रेयस्कर मालूम होती है और वे वैराग्य तथा कर्मत्यागकी ही महत्ता गाते हैं। भगवान् बुद्धने जगत् अनित्य एवं दुःखमय समझ कर निर्वाणप्राप्तिका मार्ग दिखलाया। ईसा मसीह, टालस्टाय आदिकोने मानवजातिकी परम्परा कायम रखनेवाली विवाहपद्धतिका तथा संसारका चिरंतन नियम जो युद्ध उसका निषेध किया। संन्यासी कहते हैं 'कर्मकी उत्पत्ति अज्ञानसे है, इससे कर्म और अज्ञान दोनोंका त्याग कर शान्त और निष्क्रिय बनो।' अद्वैतवादी बतलाते हैं कि 'जगत् मिथ्या है, ब्रह्ममें लीन हो जाओ।' तब जगत् क्यों है और संसार काहेके लिये है? यदि भगवान् है तो उसने अर्वाचीन बालकके समान व्यर्थ झंझट और नीरस निन्दा क्यों शुरु की है! यदि आत्माको ही सत्य अस्तित्व है और जगत् माया है, तब अपने निर्मल अस्तित्व पर आत्मा क्यों कर स्वप्नका आरोप ले सकता है? नास्तिक कहते हैं 'सब झूट है! भगवान् भी नहीं है और न आत्मा ही है। जो कुछ है वह केवल अंध शक्तिकी अंध क्रिया है।' पर वह शक्ति किसकी है? किससे उत्पन्न हुई? और वह अंध या उन्मत्त क्यों है? इन सब प्रश्नोंकी समाधानकारी मीमांसा ईसाई, बौद्ध, अद्वैती, नास्तिक, वैज्ञानिक इनमेंसे कोई भी नहीं कर सकता। इस विषयमें सभी निरुत्तर हैं, प्रश्नको अलग रखकर बहकानेमें वे पूर्ण कुशल दिखाई देते हैं। केवल एक मात्र उपनिषद् और उसके अनुकूल रहनेवाली गीता भर इस प्रकार फंसानेको तैयार नहीं। बस इसीलिये गीता कुरुक्षेत्रके रणमैदान पर प्रगट हुई। एक भयानक सांसारिक कर्म-गुरुहत्या-भ्रातृहत्या-आत्मीयहत्या उस कर्मका उद्देश्य, असंख्य प्राणियों

को मार डालनेवाले युद्धका आरम्भ! ऐसे अवसरपर हतबुद्धि हुआ तथा गांडीव धनुष्यको त्याग किया हुआ अर्जुन कातर स्वरसे पूछता है-

तित्क कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।

अर्थात् 'इस घोर कर्मके करनेमें आप मुझे क्यों प्रवृत्त करते हैं?' उस युद्धके भयानक कोलाहलमें भगवान्के मुखकमलसे वज्रगंभीर स्वरमें आगे लिखा महागीत प्रगट हुआ-

महागीत ।

कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं ।
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलं ॥
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ।
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा ।
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

"अतएव जो कर्म पूर्वजोंने किया वही तूं कर। हे धनंजय! निरासक्त बुद्धिसे योगस्थ होकर कर्म कर! योगस्थबुद्धि पापपुण्यसे अलिप्त होती है। इससे योगका आश्रय कर। योगही श्रेष्ठ कर्मका साधन है। अनासक्त बुद्धिसे कर्म करनेवालेको भगवान्की प्राप्ति निश्चयसे होती है। ज्ञानपूर्ण हृदयसे सब काम मुझे अर्पण करके और कामना तथा अहंकारका त्याग कर निडर हो युद्ध कर। जो मुक्त, निरासक्त, ज्ञानमें स्थिरचित्त हुआ तथा यज्ञार्थ कर्म करनेवाला है, उसका सभी कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता किन्तु मुझमें ही लय हो जाता है। सब प्राणियोंका अन्तर्विहित ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होनेके कारण ही वे मोहवश होते हैं। यह जान लेनेसे कि मैं ही सब लोगोंका महेश्वर, यज्ञ तप आदि कर्मोंका भोक्ता और सब प्राणियोंका सखा हूं; आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त होती है। तेरे शत्रुओंका मैंने ही वध किया है; तू केवल निमित्त (यन्त्र) बनकर उनका संहार कर। दुखी मत हो। जिसे यह भावना नहीं कि 'मैं करता हूं' और जिसकी बुद्धि अलिप्त रहती है, वह यदि इन लोगोंको मारे भी तो वह मारनेका कार्य नहीं होता और वह कर्म उसे बन्धनकारी भी नहीं बनता।'

प्रश्नकी कैसी सुन्दर और सीधी मीमांसा है!। ईश्वर, जगत्, संसार, धर्ममार्ग इन सभी प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर गीतामें है। गीता-शिक्षा संन्यासपर नहीं है, कर्म-शिक्षा ही गीताका उद्दिष्ट है और गीताकी सार्वजनिक उपयुक्तता भी इसीसे है।

गीताकी उपयुक्तता ।

यद्यपि सत्य सनातन है और सभी धर्म-पंथुओं का एकही है, तथापि देशकालपात्रके अनुसार वह भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। इस एकही सत्यसे अनेक सत्य उत्पन्न होते हैं। इससे इन सबका पूर्ण उद्घाटन किसी खास ग्रन्थके द्वारा या खास अवतारी पुरुषके द्वारा होना असंभव है। इसीलिये यह नहीं कह सकते कि मनुष्यको प्राप्त करनेका सब सत्य ज्ञान गीतामें है और गीताके सभी विचार जैसे हैं वैसेही सब देशोंको और सभी काल एकसे सत्य हैं। कोई कोई ऐसा भी कह देते हैं।

किन्तु गीतामें ऐसे विचार बहुत ही कम हैं जो केवल देशकालकी संकीर्ण मर्यादामें ही उपयोगी होते हैं अर्थात् सर्व-काल और सर्वदेशीय उपयोग के नहीं हैं। जो कुछ ऐसे थोडे विचार हैं उन्हें भी अर्थहानि न होने देकर सहज ही में सर्वकालके लिये और सब देशोंके लिये उपयोगी बना सकते हैं। उदाहरणके लिये गीताके तीसरे अध्यायका यज्ञस्वरूपवर्णन लीजिये। प्राचीनकालमें भारतवर्षमें यज्ञपद्धति इसलिये थी कि होमके द्वारा देवों को संतुष्ट करें और देव संतुष्ट होकर पर्जन्यवृष्टि आदि करें, तथा मनुष्योंका पोषण करें। किन्तु अब इस पद्धतिका एक प्रकारसे ह्रास हुआ है। घृत

की आहुतिसे संतुष्ट होकर होकर देव पर्जन्यदान करें यह बात आजके शास्त्रीय जगत् में हास्यास्पद दिखेगी; किन्तु प्राचीन यज्ञपद्धतिके आधारसे गीताने जो सत्य प्रगट किया है, वह सार्वदेशीय है। यह तो वैज्ञानिकोंको भी मानना पड़ेगा कि परस्पर के आदानप्रदानपर केवल मनुष्यसमाज ही नहीं किन्तु अखिल सृष्टि निर्भर है। गीताके तत्त्वज्ञानका अर्थ इसी प्रकार करनेसे गीताकी अर्थहानि भी नहीं होती। गीताके आत्मयज्ञसे सन्तान बढती है; वृक्ष-लता हवा-पानी मिट्टी से आहार लेकर जीवजंतुओं का पोषण करते हैं और जीवजन्तु स्वतःका बलिदान कर लतावृक्षोंको खाद्य देते हैं; सूर्य ग्रहनक्षत्रों को प्रकाश और उष्णता देता है; ग्रहमण्डल परस्पर के स्नेहाकर्षणसे सौरमण्डलको धारण करता है; समुद्रसे मेघ उत्पन्न होते है और मेघसे समुद्र; इस प्रकार जगच्चक्रका प्रवर्तन है। जो व्यक्ति जीव और जगत्के कल्याणके लिये कुछ भी त्याग नहीं करता और केवल स्वार्थरत रहता है, उस इन्द्रिय-परायण और पापी व्यक्तिका जीवित व्यर्थ है।

अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।
गी० ३।१६

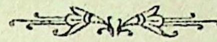
गीताके सोलहवें अध्यायमें कर्तव्य और अकर्तव्यके तत्त्वका निर्णय करनेमें 'शास्त्र ही' प्रमाण मानने को कहा है (तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। गी० १६।२४) यहां शास्त्रका अर्थ गीताकालमें प्रचलित 'श्रुति-स्मृति' लें तो गीताको संकुचित करना होगा। मनुष्य अनेक भलीबुरी इच्छाओंका भण्डार है। इच्छाकी उमंग उठते ही उसके साथ यदि वह भागने लगे, तो उसमें और पशुमें कोई अन्तर न रहेगा। कार्य-अकार्यके निर्णयके लिये मनुष्य विचार जो विधिनिषेधात्मक नियम बनाता है, वही 'शास्त्र' है। ये नियम देशकालभेदके अनुसार बदलते हैं। इन नियमोंपर चलनेसे मनुष्यकी पाशवी प्रवृत्ति क्रमसे नियंत्रित होती है। अर्थात् गीतामें जिस शास्त्रका उल्लेख है उससे केवल प्राचीन हिंदुस्थान में प्रचलित शास्त्र समझनेकी आवश्यकता नहीं। तात्पर्य, गीताका यही कथन है कि स्वैराचारी न बनकर हिन्दु, मुसलमान, ईसाई कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें अपने अपने विधिनिषेधात्मक नियमोंका अर्थात् शास्त्रका अनुकरण करें, तो उन्हें सद्गति मिलती है।

गीतामें चातुर्वर्ण्यका बंटवारा है, इस प्रकारका प्रबन्ध आज संसारमें कहीं भी नहीं दिखाई देता। परन्तु यदि थोडा सूक्ष्म विचार करें तो प्रतीत होगा कि चातुर्वर्ण्यविभाग एक आध्यात्मिक सत्यका ही बाह्य आकार है। देशकालपरिस्थितिके अनुसार इस वर्णव्यवस्थाका स्वरूप बदल गया है। सत्, रज और तम इन तीन गुणोंके विभाजनके अनुसार भिन्न भिन्न स्वभावके मनुष्य होते हैं। प्रत्येक समाजके स्वभावके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिका कर्म और कर्मपद्धति रहती है और उसीके अनुसार व्यक्तिके स्वभावकी विशेषता भी रहती है। इस विशेषताका कर्मसे विकास करना ही व्यक्तिगत एवं समाजकी सार्थकता है। इस विशेषता पर ही प्राचीनकालमें समाज चार भागोंमें बंटा था। अब समाजका कर्म बढ जानेसे स्वभाववैचित्र्य भी बढा, इसलिये प्राचीन वर्णव्यवस्थाका कुछ मतलब ही न रहा। तथापि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी विशेषताका विकास अपने स्वभावनिर्दिष्ट कर्मके द्वारा करें तो परमार्थप्राप्ति होगी। यह गीतोक्त सत्य सर्वकाल तथा सब स्थानोंमें एकसा उपयोगी है।

हमारे पूर्वजोंकी तथा हमारी बुद्धि तथा मनःस्थितिमें बहुत फरक पड गया है। इससे उन्हें सत्य की प्रतीति जिस पद्धतिसे और जितनी हुई उस प्रकार हम लोगोंकी समझमें आना असंभव है। अर्थात् गीता जैसे पुरातन ग्रन्थके अर्थके बारेमें मतभेद हो जाय तो आश्चर्य ही क्या? गीता पर कितने ही भाष्य और टीकाएं हुईं और अबभी होती जाती हैं। इतनेसे ही सिद्ध होता है कि गीताके तत्त्वसमूहका सच्चा अर्थ समझना कठिन है।

गीतोक्त कर्मफलभोग और कर्मफलत्यागके

दो चित्र।



कर्मफलत्याग।

१ प्रत्येक मनुष्य उत्तम कर्म करता है और उस कर्मका फल जनताकी भलाईके लिये समर्पण करता है।

कर्मका फल 'वेतन' है।

यह वेतनरूप कर्मका फल प्रजापतिसंस्थाके (सरकारके) खजानेमें जमा होता है। हरएकको संभालना नहीं पडता।

२ ज्ञानी जन उपदेश करते हैं, शिक्षा प्रसार करते हैं सबका वेतन प्रजापतिसंस्थाके पास जनताकी भलाईके लिये जमा होता है।

३ क्षत्रिय नगर और राष्ट्रकी रक्षा करते हैं। युद्धादि करते हैं और अपना सब वेतन प्रजापति-संस्थाके पास जनताकी भलाईके लिये देते हैं।

४ वैश्य लोग उत्तम व्यापार करते हैं, बहुत कमाते हैं और सब कमाई राष्ट्रके कोशमें राष्ट्रकी भलाईके लिये जमा करते हैं। अपने पास कुछ नहीं रखते।

५ शूद्र कारीगरीके काम करते हैं, जो धन मिलता है वह राष्ट्रके हितके लिये प्रजापतिसंस्था के पास जमा करते हैं।

६ प्रत्येक मनुष्य उत्तमसे उत्तम कुशलतासे अपना काम करता है, कर्तव्य समझ कर करता है, परंतु उसका वेतन अपने पास नहीं रखता।

कर्मफलभोग।

१ प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है, और जो कमाता है वह अपने पास जमा करके रखता है और स्वयं भोग भोगता है।

कर्मका फल 'वेतन' है।

हरएकका वेतन हरएकके पास जमा होता है। हरएकको संभालना पडता है।

२ विद्वान् लोग उपदेश और शिक्षा प्रसार करते हैं। प्रत्येक शिक्षक अधिकसे अधिक वेतन मांगता है और अपने भोग बढाता है।

३ संरक्षकगण राष्ट्ररक्षा करते हैं, वेतन लेते हैं और अपना भोग बढाते हैं। अपने लिये अधिक वेतन लेते हैं और अधिक भोग भोगते हैं।

४ पूंजीपति व्यापार व्यवहार द्वारा अपनी पूंजी बढाते हैं, मजदूरोंको अल्प वेतन देना चाहते हैं। स्वयं बहुत कमाते हैं और भोगभोगनेमें बहुत उडाते हैं।

५ कारीगर कार्य करते हैं, मजदूरी करते हैं। जो कमाते हैं उडा देते हैं और असंतुष्ट होनेपर हडताल करते हैं।

६ प्रत्येक मनुष्य वेतनके लिये काम करता है, इसलिये दूसरेको ठगानेका भाव मनमें रखता है, कम काम करके अधिक प्राप्त करनेके यत्नमें रहता है।

कर्मफलत्याग।

७ प्रजापतिसंस्था द्वारा हरएक मनुष्यका योग-क्षेम चलाया जाता है, क्यों कि हरएक मनुष्य उस संस्थाके लिये हि कार्य करता है। सब प्रजापति-संस्थाका संपूर्ण धन प्रत्येक मनुष्यके पीछे होनेसे इसमें किसीको कोई न्यूनता नहीं होती।

८ किसीके पास धनसंग्रह न होनेसें किसीकी चोरी लूटमार आदि होना असंभव है, क्यों कि कौन किसको लूटेगा? किसीके पास धनही नहीं इसलिये न कोई चोरी होगी, न पुलीसकी आवश्यकता रहेगी और न अदालतोंमें किसीको जाना होगा।

इस कारण अपराध करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी।

सब आवश्यकताओंकी पूर्ति प्रजापतिसंस्था द्वारा होनेके कारण प्रत्येकको अपना कर्तव्य कर्म परिपूर्ण उत्तम रीतिसे करनेके लिये पर्याप्त अवसर मिलेगा।

सर्वत्र संतोष रहेगा।

९ जन्मसे लेकर मृत्युतककी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेका भार प्रजापतिसंस्थापर रहेगा।

१० हरएक अपनी आवश्यकताएं कम करेगा। संयम, दमन, मनोनिग्रह करेगा।

११ सब घर भूमि आदि प्रजापतिसंस्थाका होगा, किसी व्यक्तिका कोई धन या स्थान न होगा। सब धन राष्ट्रका होगा।

मलकियतके झगडे होनेका कारणहि नहीं है।

कर्मफलभोग।

७ प्रत्येक मनुष्य अपने भोग बढानेके लिये धन कमाता है, जितना कमाता है उतना ही उसके लिये मिलता है, इसको धनकी न्यूनतासे कष्ट भोगने पडते हैं। क्यों कि राष्ट्रमें धन होनेपर भी हरएक व्यक्तिका धन मर्यादितहि रहेगा। इसलिये धनवान् देशमें भी भूखे मरनेवाले लोग होंगे।

८ प्रत्येकके पास धन होगा, इसलिये कम धन-वाले बडे धनवालोंके घर लूटते हैं, उनको मारते हैं, उनकी चोरी करते हैं। इसलिये पुलीस आदि की आवश्यकता है। सब अदालतें भी चाहिये।

अपराध करनेकी प्रवृत्ति बढती जायगी।

अपनी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्णताकी चिन्ता हरएकपर रहनेके कारण उसीमें बडा समय जावेगा और उतना कर्तव्य कर्मके लिये कम मिलेगा।

इसलिये चिन्तासे मनुष्य व्यग्र होगा।

९ हरएककी आवश्यकताका भार हरएकपर रहेगा, कोई दूसरा मदत नहीं करेगा।

१० हरएक अपनी आवश्यकताएं बढाता रहेगा। भोगवृत्ति बढाता रहेगा।

११ हरएकका मकान अलग, भूमि अलग, थोडा थोडा भाग अलग अलग व्यक्तिका होगा।

मलकियतके झगडे बढेंगे।

स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें

(१) यजुर्वेद। विनाजिल्द मू. १॥) डा०व्य०॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू.।=) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥=)

३ वै. यज्ञसंस्था भाग १-२ प्रत्येकका मू १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
११ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
१२ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१३ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १३ प्रत्येकका मू०॥) डा०व्य०=)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन। (सचित्र) २) ।=)
३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी। ॥।) ।)

१० यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय ॥=) ।)

११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ ३३ देवताओंका विचार ≡) -)
४ देवताविचार। =) -)
५ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग =) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) -)
३ वैदिक सभ्यता। ॥।) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
५ वैदिक स्वराज्यका महिमा। ॥) =)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
८ वेदमें चर्खा। ॥) =)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥।) =)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। =) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ वैदिक उपदेशमाला। ॥) =)
१७ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) ’

(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
२ गीता-समीक्षा =) -)
३ गीता-लेखमाला ॥) =)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) =)
5 Sun Adoration १) ।=)

मुद्रक और प्रकाशक-श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)



श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

चतुर्थ भाग।

संपादक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडळ, औंध (जि० सातारा.)



प्रथमवार

संवत् १९९३, शके १८५८; सन १९३६.

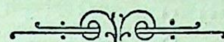
मूल्य १) रु०

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला ।

चतुर्थ भाग ।

कर्म और यज्ञ ।



बुद्धियोग तथा बुद्धियोगकी परिणति अर्थात् ब्राह्मी स्थिति एतद्विषयक विचारोंमेंही गीताके द्वितीय अध्यायकी समाप्ति हुई है। निष्कामकर्म,समता, बाह्य संन्यासत्याग, परमेश्वरभक्ति इत्यादि गीताके समस्त उपदेशोंका प्रारंभ यहीं हुवा है । परंतु यह प्रारंभ अत्यंत अल्प प्रमाणमें हुवा है, और इसके समझनेमें कठिनाई मालूम होती है । सामान्यतः मनुष्य कामनावश होकर कार्य करता है; उसको चाहिये कि उस कामनासे वह अपनी बुद्धिको निवृत्त करे; इंद्रियसुखोंकी खोजमें चित्त और मन चंचल तथा व्याकुल होते हैं; इस चंचलता और व्याकुलतासे मुक्त होकर लक्षावधि वासनाओंके पीछे दौडनेवाली अपनी बुद्धिको और इच्छाको रोककर, निष्काम ऐक्य, निरुद्वेग, शांति-इन गुणों से परिपूर्ण ऐसी ब्राह्मी स्थितिमें अपनी बुद्धिकी संस्थापना करे । अभीतक इसी उपदेशपर गीताने जोर दिया है, परंतु यह उपदेश अर्जुनके लिये बिलकुल नया नहीं था, किंतु यह उपदेश तत्कालीन प्रचलित विचारसमूहका ही रहस्य था। अर्जुन-कालीन तत्त्वविचार मनुष्यको ज्ञानका मार्ग बतलाते हैं, पुरुषार्थप्राप्तिका साधन संसारत्याग और कर्म-त्याग बतलाते हैं और संन्यासकी ओर उसे प्रवृत्त करते हैं । इसमें संदेह नहीं कि इंद्रियसुख, कामना और मानवी कर्मोंका त्याग करके बुद्धिको ईश्वराभिमुख करना ज्ञानका सनातन बीज है । परंतु यहां कर्मको अज्ञानका लक्षण बतलाया है, ज्ञानका पूर्ण विरोधी बतलाया है, उसका बीज कामना और फलबंधन बतलाया है; इसलिये जो उपदेश अभीतक अर्जुनने सुना उसमें कर्मके लिये स्थान नहीं । तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक विचार यही हैं; और ऐसा समझा जाता है कि श्रीकृष्णको भी ये विचार ग्राह्य होंगे, क्यों कि बुद्धियोगकी अपेक्षा वे कर्मको अत्यंत हीन बतलाते हैं। तथापि उन्हींने विशेषतः कर्मको योगका अंग कहा है । इससे ऐसी धारणा होती है कि इस उपदेशमें विलक्षण असंगति है । केवल इतनाही नहीं, क्यों कि कुछ समयतक अत्यंत साधारण कर्म भी निर्दोष पद्धतिसे किया जाता है; परंतु यहां अर्जुनके सामने जो कर्म उपस्थित है, वह आत्माकी अचल शान्तिका और ज्ञानका पूर्णतया विरोधी है । यह कर्म अत्यंत भयानक है, रक्तपात करानेवाला यु[illegible] क्रूर युद्ध एक बडाभारी कतलखाना है । तथा[illegible] आन्तरिक शान्ति, निष्काम समता और ब्राह्मी स्थिति, इन बातोंके उपदेशद्वारा इन भीषण कर्मों का समर्थन करनेका प्रयत्न होता है । इस विरो[illegible] का परिहार अभीतक नहीं किया गया । अर्जु[illegible] आक्षेप ऐसा है कि 'मुझे जो उपदेश किया गया [illegible] अत्यंत विरोधपूर्ण है । मनुष्यको निश्चित [illegible] श्रेयस्कर हो ऐसा यह उपदेश नहीं है। इस [illegible] के उत्तरमें गीताने स्पष्ट रीतीसे सच्ची नीति [illegible] ज्ञा देना शुरू किया है ।

भगवान्ने पहिलेही परमार्थप्राप्तिके दो [illegible] मार्ग बतलाए हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयान[illegible]
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३

इस संसारमें मुक्तिकी प्राप्ति चाहिये हो त[illegible] ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग-इनमेंसे किसी भी ए[illegible] एक मार्गका अवलंबन मनुष्य कर सकता है [illegible] 'ज्ञानमार्गी लोग कर्मको मुक्तिका विघातक [illegible] कर उसका त्याग करते हैं, और कर्ममार्गी

कर्मको मुक्तिका सहायक समझकर उसका स्वीकार करते हैं '- ऐसा सर्वसाधारण लोग समझते हैं। भगवान्ने यहां इन दोनों मार्गोंकी एकता प्रस्थापित करनेका अथवा इन दोनोंका मेल करनेका विशेष प्रयत्न नहीं किया। केवल इतनाही बतलाया है कि सांख्योंका त्याग अथवा 'संन्यास' ही मुक्तिका एकमेव मार्ग नहीं है, और न वह अन्यमार्गोंकी अपेक्षा अच्छा कहा जा सकता है। यह बात सही है कि आत्माको, पुरुषको " नैष्कर्म्य " अथवा " शान्त कर्मशून्यताका भाव " प्राप्त करना आवश्यक है, क्यों कि प्रकृतिही कर्म करती है। आत्मा को उस कर्मस्रोतका उल्लंघन करके, स्वाधीनता और शांतिमें प्रतिष्ठित होकर, प्राकृतिक कार्यपरंपराको अविचलित चित्तसे देखना चाहिये। आत्माका जो नैष्कर्म्य समझा जाता है, वह वस्तुतः यही है। नैष्कर्म्यका मतलब प्रकृतिकी क्रियापरंपराकी समाप्ति नहीं है। इसलिये यह समझना भूल है कि कर्म — किसी तरहका कर्म न करनेसे इस [प्र]कारका नैष्कर्म्य प्राप्त हो जायगा। केवल कर्मत्याग [भी] यथेष्ट नहीं है, किंबहुना मुक्तिलाभका यह योग्य [मा]र्ग नहीं।

[न] कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
[न] च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

[" क]र्मका अनुष्ठान न करनेसे कोई भी नैष्कर्म्य [प्र]ाप्ति नहीं कर सकता और केवल संन्यासही [सि]द्धि नहीं पा सकता। "

तथापि क्या यह मोक्षप्राप्तिका एक आवश्यक [उपा]य नहीं है? क्यों कि प्रकृतिका कर्म यदि जारी [रहा], तो उसमें बद्ध होनेसे आत्मा कैसे बचेगा? [यह] कैसे हो सकता है कि 'मैं युद्ध करूंगा तथापि [मेरा] आत्मा यह न समझेगा कि मैं युद्ध करता हूं, [वि]जयकी इच्छा न करूंगा, पराजय होनेपर [विच]लित न होऊंगा?' क्या यह संभाव्य है? [सां]ख्योंका उपदेश है कि जो व्यक्ति प्रकृतिकी क्रिया[में] नियुक्त होती है उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान [और] कामनासे बद्ध होती है, इस कारण वह कर्म[की] ओर आकृष्ट होती है; परंतु यदि बुद्धि निवृत्त [हुई] तो कामना और अज्ञान लुप्त होगा, इसी के साथ कर्म भी निःशेष होगा। तात्पर्य यह है कि यदि मुक्तिका लाभ चाहिये हो तो अंततक संसार और कर्म इन दोनोंका त्यागही करना चाहिये। तत्कालीन प्रचलित ऐसी यह विचारसरणी अर्जुन के मनमें उत्पन्न हुई थी, अर्जुनने उसे व्यक्त नहीं किया, तथापि उसके प्रश्नसे वह जाहिर होती है। भगवान्ने कहा ...... इस प्रकारका त्याग आवश्यक नहीं, किंतु वह संभाव्य नहीं।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३-५

" कोई भी व्यक्ति कर्म किये विना एक क्षण भी नहीं रह सकती। प्रकृतिनिर्मित सत्त्वादि गुण उसे कर्ममें प्रवृत्त करते हैं और विवश होकर उसे कर्म करना पडता है। "

विश्वसे संलग्न रहनेवाली विश्वशक्तिकी जो विराट् क्रिया चिर काल चल रही है, उसकी तीव्र अनुभूतिही गीताका एक विशेष उल्लेखयोग्य वैशिष्ट्य है। गीतोत्तरकालीन तांत्रिक शाक्तगणोंका इस ओर विशेष झुकाव था। इतनाही नहीं किंतु उन्होंने शक्तिको पुरुषसे भी ऊंचा स्थान दिया। गीतामें यदि इस प्रकारका शक्तिप्रभुत्व प्रगट नहीं हुवा तथापि गीताका ईश्वरवाद भक्तितत्त्वसे संयुक्त होकर उसने प्राचीन वेदान्तकी कर्मत्यागप्रवृत्तिका विशेषतः दमन किया है। प्राकृतिक जगत्में देहधारी मनुष्य एक पलभर भी कर्मको बंद नहीं कर सकता। उसका जीवित रहनाही यहां कर्म है और केवल जीवित रहना उसीकी लीला है।

हमारा शारीरिक जीवन, उसका पालन और रक्षण एक पथयात्राके समान है। विना कर्मके ' शरीरयात्रा ' पूर्ण नहीं हो सकती। तथापि यदि कोई मनुष्य शरीरका संगोपन न करके वृक्षके समान निश्चल खडा रहे, अथवा सदैव पाषाणके समान बैठा रहे, तो भी ऐसी जडताके कारण वह प्रकृतिके हाथोंसे छूट नहीं सकता, प्रकृतिकी क्रियापरंपरासे मुक्त नहीं हो सकता, क्यों कि कर्म शब्द में केवल हमारी शारीरिक क्रियाओंकाही अंतर्भाव नहीं है। हमारा मानसिक जीवन भी एक भव्य,

व्यापक और गूढ कर्म है- विश्रामहीन शक्तिका यही बृहत्तर और सबसे अधिक आवश्यक कर्म है— यह मानसिक क्रिया शारीरिक क्रियाका कारण तथा निर्देशक है। इंद्रियोंके विषय केवल हमारे बंधनके उपलक्ष्य हैं। उनके ग्रहण करनेका वास्तविक कारण मनकी प्रवृत्तिही है। मनुष्य अपने कर्मेंद्रियोंका नियमन कर सकता है, उनकी स्वाभाविक क्रिया बंद कर सकता है; परंतु उसका मन यदि इंद्रियविषयोंका विचार करता रहे तो उससे कोई लाभ न होगा। इस प्रकारका मनुष्य आत्मसंयमकी भ्रामक कल्पनाके वश होकर स्वयं अपनेको धोखा देती है। इसका सच्चा तत्त्व वह नहीं समझता और न वह अपने अंतर्जीवनका मूल रहस्य समझता, इसलिये उसकी आत्मसंयम प्रणाली मिथ्या और व्यर्थ है ×।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गी० ३-६)

केवल शारीरिक कर्म, किंबहुना मानसिक कर्म भी कुछ नहीं है। इसी तरह वह सब प्रकारका बंधन भी नहीं है, अथवा बंधनका प्राथमिक कारण भी नहीं है। प्रकृतिकी महाशक्ति मन, प्राण और शरीररूपी विराट् क्षेत्रमें क्रीडा अवश्य करेगी! उसमें विपत्तिकी वस्तु त्रिगुणोंकी मुग्धकारक शक्ती है। ये तीन गुण बुद्धिको भुलाकर आत्माको आच्छादित कर देते हैं। आगे चलकर देखेंगे कि गीताके कर्म और मुक्ति विषयक विवेचन इसी मुद्देको लिये हुए हैं। त्रिगुणोंकी मोहक क्रियासे मुक्त हो जाओ, उसके बाद भी कर्म रह सकता है, रहनाही चाहिये; इतनाही नही, वरन भव्य और भयानक कर्म भी रह सकता है। उससे कोई हानि न होगी; क्यों कि जहां आत्माको नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हुई वहां पुरुषको अन्य कोई चीज स्पर्श नहीं कर सकती।

परंतु तुलनाके लिये गीता यह महत्त्वकी बात नहीं लेती। जहां मनही यांत्रिक कारण है, कर्मशून्यता असंभव है, वहां शारीरिक और मानसिक क्रियाओंका नियंत्रण करनाही सयुक्तिक और कर्तव्यरूप है। बुद्धिका यंत्ररूपी मन इंद्रियोंको वशमें रखेगा, और उपयुक्त कर्ममें नियुक्त करेगा; परंतु यह कर्म योगरूपसेही करना चाहिये—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ३-७

परंतु इस आत्मसंयमका रहस्य क्या है? योगरूपसे कर्म करनेका — कर्मयोगका— मतलब क्या है? कर्मफलमें तथा इंद्रियविषयोंमें मनको लिप्त न होने देना और कर्म करना चाहिये। इसीका नाम अनासक्ति। संपूर्ण कर्मशून्यता अनासक्ति नहीं है। कर्मशून्यता केवल भ्रम है, मोह है, शुद्ध आत्मवंचना है और वह असंभाव्य है। स्वतंत्रतासे कर्म अच्छी तरह करना चाहिये। इंद्रियोंके तथा विकारोंके आधीन न होते हुए कर्म करना चाहिये; निष्कामबुद्धिसे अनासक्त मनसे कर्म करना चाहिये। सिद्धिलाभका यही प्रथम गूढ रहस्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस तरह आत्मसंयमपूर्वक कर्म करो! [नियतं कुरु कर्म त्वम्।] मैंने यह नहीं कहा कि कर्मकी अपेक्षा कर्मशून्यता श्रेष्ठ है। किंतु मैंने कहा है कि सत्य बात ठीक इसके विरुद्ध है- [कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः] क्यों कि ज्ञानका मतलब कर्मत्याग नहीं है, ज्ञानसे अभिप्रेत है समता, इंद्रियविषय और कामनासंबंधी अनासक्ति। इंद्रियाधीनता प्रकृतिकी कनिष्ठ क्रिया है, उससे मुक्त होकर बुद्धि जब आत्मामें प्रतिष्ठित होती है और आत्मज्ञान के सामर्थ्यसे, शुद्ध विषयशून्य आत्मज्ञानके आनंद से, जब वह मन, इंद्रिय और शरीरके कार्यको

× हमारी रायमें 'मिथ्याचार' शब्दका अर्थ कपटाचारी (Hypocrite) नहीं है। जो मनुष्य इस प्रकारसे सर्वथा कठोरता धारण करके अपनेको वंचित करता है, वह कपटाचारी कैसे होगा? भ्रममें पड जानेसे वह 'विमूढात्मा' है अर्थात् उसका आचार (जिस आत्मसंयमप्रणालीका वह अनुसरण करता है वह) मिथ्या और व्यर्थ है। यहांपर गीताका यही अर्थ है। इसमें संदेह नहीं।



नियंत्रित करती है, [नियतं कर्म ×] बुद्धिकी यही अवस्था ज्ञान है। कर्मयोगसे भक्तियोगकी पूर्तता होती है। आत्ममुक्तिदायक कर्मयोग कामनाशून्य कर्मके द्वारा चरितार्थ होता है। इस प्रकार गीता निष्कामकर्मकी आवश्यकता सिद्ध करती है, और सांख्योंके केवल बाह्य, शारीरिक विधिका त्याग करके उनकी ज्ञानप्रणालीसे योगप्रणालीका मीलन करती है।

तथापि एक मूल प्रश्नका अभीतक समाधान नहीं हुवा। सामान्यतः मनुष्य जो कर्म करता है, वह केवल कामनावश होकर करता है। यदि अंतःकरण कामनासे मुक्त हो तो कर्मकी प्रवृत्ति अथवा आवश्यकताही नहीं रहेगी। शरीररक्षणके लिये हमें कुछ कर्म करना अपरिहार्य है। परंतु यह भी शारीरिक कामनाकी पराधीनता है, और सिद्धिलाभ करना हो इससे भी मुक्त होना हमें उचित है। परंतु यह असंभाव्य है ऐसा मान लेनेपरभी कर्मके विषयमें कोई बाह्य नियम मानना ही पडेगा, अन्य मार्ग नहीं है। वेदोक्त नित्यकर्म, यज्ञानुष्ठान, निर्दिष्ट दैनिक कार्य, सामाजिक कर्तव्य इत्यादि कर्म बाह्य नियमोंद्वारा नियंत्रित हैं, और मुक्तिकी इच्छा रखनेवालोंको ये सब कर्म करना चाहिये। सब कर्म कर्ताकी कामनाके अनुसार अथवा मनके अनुकूल रहनेके कारण नहीं किंतु मोक्षेच्छुको ये कर्म करने की शास्त्राज्ञा है इसलिये करना चाहिये। तथापि अगर मुक्त और ज्ञानी व्यक्तियोंका भी कार्य उनके स्वभावद्वाराही नियंत्रित [स्वभाव-नियतम्] होता है, तो सिवाय कामनाके कर्मके लिये दूसरा आंतरिक नियमही नहीं। यह कामना उच्च अथवा नीच हो सकती है। शारीरिक उपभोगकी कामना होगी, या अंतःकरणके उदात्त भावोंकी कामना होगी। कामना कोई भी हो वह त्रिगुणोंके आधीन रहती है, इसलिये गीताका 'कर्तव्यकर्म' वेदोंका 'नित्यकर्म' "कर्तव्यकर्म" (work that has to be done) समझना चाहिये और गीताके यज्ञार्थ कर्मका मतलब व्यक्तिगत स्वार्थ और कामनासे रहित होकर किया हुवा वेदोक्त यज्ञादिका अनुष्ठान समझना चाहिये। गीताके निष्काम कर्मकी मीमांसा बहुतेरोंने इस प्रकार की है; परंतु हमारी रायमें गीताका उपदेश उर्फ सिखापन अत्यंत उदार, मुक्त, सूक्ष्म और गंभीर है। वह सर्वकालीन और अखिल मनुष्यजातिके फायदेका है। ऐसा नहीं है कि यह किसी विशिष्ट युगके अथवा किसी विशिष्ट देशके फायदेका हो। विशेषतः यह गीताशिक्षण सर्वकालमें बाह्य विधिनिषेधोंका, तथा कृत्रिम नियमोंका और छोटेमोटे अनुष्ठानोंका बंधन तोडकर मूल सत्यकी ओर गया है; उसने हमारे स्वभाव तथा हमारे जीवनके प्रधान बातोंकी ओर पूरा ध्यान दिया है। उद्धार, दार्शनिक सत्य और जीवनोपयोगी आध्यात्मिकता इतनी बातें मिलकर गीताशिक्षण प्रगट हुवा है। उसमें धर्मकी संकीर्णता नहीं; बंधे हुए नियमोंकी, अथवा विशेष मतवादकी मर्यादासे वह बद्ध नहीं है।

प्रश्न ऐसा है कि हमारा स्वभाव इस प्रकारका है, और जहां कामनाही कर्मकी सामान्य नीति हुई वहां सच्चा निष्काम कर्म बने कैसे? क्यों कि साधारणतः जिन सब कर्मोंको निःस्वार्थ कर्म कहते हैं उन्हें सच्चा निष्कामकर्म कहना अयथार्थ है। ये सब कर्म क्षुद्र स्वार्थकी ऐवजमें बृहत्तर स्वार्थके

× 'नियतं कर्म'का सामान्यतः जो अर्थ समझा जाता है, वह हमें ग्राह्य नहीं। सामान्यतः टीकाकार 'नियतं कर्म'का मतलब लेते हैं संध्या, उपासना प्रभृति वेदोक्त नित्यनैमित्तिक कर्म। हमें संदेह नहीं कि पिछले श्लोकके नियम्य शब्दको लेकर इस श्लोकमें 'नियत' शब्दका प्रयोग किया है। प्रथमतः श्रीकृष्णनें एक तथ्य कहा– जो मनुष्य मनके द्वारा नियंत्रिक करके कर्मेंद्रियोंसे कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वही श्रेष्ठ है– 'मनसा नियम्य आरभते कर्मयोगम्' और इसीके आगे इस तत्त्वमेंसे एक उपदेश प्रगट किया, और इस उपदेशका सार लेकर एक नियम बनाया–'नियतं कुरु कर्म त्वम्' तुम नियत कर्म करो। यहां 'नियतं' शब्दमें 'नियम्य' लिया है। गीता जिस कर्मका उपदेश करती है वह बाह्य नियमोंसे निर्दिष्ट किया हुआ नैमित्तिक कर्म नहीं, किंतु मुक्तबुद्धिके द्वारा नियंत्रिक ऐसा कामनाशून्य कर्म है।

लिये, देशके लिये, मानवजातिके कल्याणके लिये होते है; परंतु श्रीकृष्ण वारंवार कहते हैं कि यच्चयावत् सबही कर्म हमारे स्वभावद्वारा, त्रिगुणोंके द्वाराही संपादित होते हैं। मनुष्य जब शास्त्रानुसार कर्म करता है तब भी स्वीय भावनावश होकरही कर्म करता है। सामान्यतः जिन सब कर्मोंके नियम शास्त्रमें हैं वे अप्रत्यक्ष रीतिसे हमारे स्वार्थकेही अनुकूल, हमारे वैयक्तिक, जातीय वा सांप्रदायिक स्वार्थके अथवा अहंकारके अनुकूल हैं। तथापि यदि मान भी लें कि वे ऐसे नहीं हैं- जिनसे हमारे अल्पाधिक किसीभी स्वार्थ का संबंध नहीं ऐसे सब शास्त्रोक्त कर्म लिये जांय-तब भी इन कर्मोंको हम स्वभाववश होकर ही करते हैं। क्योंकि हमारा स्वभाव निराला होता तो इन शास्त्रोक्त कर्मोंको हम कदाचित् करते भी न-कदाचित् हम शास्त्रविधि छोड देते और केवल सुखदायक कर्मही करते, अथवा अपने विचारसे कर्तव्य चुन लेते; अथवा समाजका बंधन तोडकर एकाकी तपस्वी या संन्यासी जीवनका अंगीकार कर लेते। इसलिये कोई भी बाह्य कायदेकानूनोंको मानकर हम कदापि अनहंकारी अथवा स्वार्थशून्य हो नहीं सकते। क्यों कि हम किसी भी उपायसे अपनेसे बाहर नहीं जा सकते। हम स्वार्थके परे केवल उसी हालतमें जा सकते हैं कि हममें जिस श्रेष्ठ सत्ताका वास्तव्य है उसमें हम प्रविष्टहो जाय, सर्वभूतोंमें विद्यमान ऐसा जो आत्मा हमारे हृदय में है उस मुक्त और 'स्वार्थ' शून्य आत्मामें हम जा सकें। जगत्की वस्तुमात्रमें विराजित और हमारे अंतःकरणमें विलसित ऐसा तत्त्व एकही है, इसका ज्ञान जब हमें होगा, तभी हमारे स्वार्थ-परार्थका द्वंद्व नष्ट होगा, तभी वस्तुतः हम व्यक्तित्वशून्य होंगे, क्षुद्र नामरूपके बाहर जा सकेंगे और अहंताशून्य होंगे। विश्वसे अतीत ऐसा जो ईश्वर हममें है, जो अपने विश्वगत अथवा व्यक्तिगत किसी कर्मसे बद्ध नहीं, वहां हमें जाना चाहिये। गीता यही शिक्षा देती है। कामशून्यता उसका उपायमात्र है। जीवितका ध्येय केवल कामनाशून्य होना नहीं है। परंतु यह होगा कैसे? भगवान् कहते हैं कि सर्वतोपरि यज्ञहीको ध्येय मानकर सब कर्म करनेसे यह बन सकता है।

> यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार॥
> (३-९)

"इसलिये हे कौन्तेय! आसक्ति छोडकर यज्ञार्थ कर्म करो।"

प्रत्येक कर्म, चाहे छोटा हो या बडा हो, स्वार्थ के लिये किया जा सकता है, अथवा ईश्वरनिमित्त भी किया जा सकता है। प्रकृतिकी सब चीजें और सब कर्म ईश्वरके लिये हैं। ईश्वरहीसे उन की उत्पत्ति है, ईश्वरद्वाराही उनका प्रचार होता है और ईश्वरही उनका गंतव्यस्थान है। परंतु जबतक हम अहंकारके आधीन हैं तबतक यह सत्य उपलब्ध हो नहीं सकता, तबतक अहंकारवश रहनेसे यज्ञार्थ कर्म करनेकी ऐवजमें हम स्वार्थके लिये कर्म करते हैं। अहंकार ही समस्त बंधनोंकी ग्रंथि है। अहंके संबंधमें किसी तरहका विचार न करके भगवान्‌के उद्देशसे कर्म करें तो इस ग्रंथिको शिथिल करते करते अंतमें हम मुक्तिलाभ कर सकेंगे।

कैसा भी हो, गीताने प्रथमतः यज्ञके वेदोक्त वर्णनकाही स्वीकार करके तत्कालीन प्रचलित भाषामें यज्ञका स्वरूप व्यक्त किया है। यह कहनेकी जरूरत नहीं किउन्होंने यह किसी विशेष उद्देश्यसेही किया है। यह पहिलेही देखा गया है कि संन्यास और कर्ममें विरोध दो प्रकारका है। पहिला सांख्य और योगका विरोध। मूल तत्त्वकी दृष्टिसे इस विरोधका समाधान पहिलेही कर चुके हैं। दूसरा वेदवाद और वेदान्तवादका विरोध। इसका निराकरण करना अभी बाकी है। पहिलेमें यह विरोध सामान्यतः व्यक्त हुवा है और कर्म शब्दका व्यापक अर्थसे उपयोग किया गया है। अक्षर और निष्क्रिय पुरुषका दिव्य भाव लेकर सांख्योंने प्रारंभ किया है। वस्तुतः प्रत्येक आत्माही इस प्रकारसे पुरुष है। पुरुषकी निष्क्रियता और प्रकृतिकी क्रियाशीलतामें भेद करते रहनेसे सांख्यमतानुसार कर्मका त्यागही तर्कशुद्ध परिणति है। ईश्वरवादको लेकर योगका प्रारंभ किया गया है। प्रकृतिकी

कार्यपरंपरका प्रभु ईश्वर है इसलिये वह प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, अर्थात् योगकी परिणति कर्मसंन्यास नहीं। कर्मोंपर आत्माका प्रभुत्व संपादन करना और सब प्रकारके कर्म करते हुए भी बंधनोंसे मुक्त होना यही योगका ध्येय है। वेदवाद और वेदान्तवादमें जो विरोध है उसमें कर्म का अर्थ केवल वैदिक कर्म ही नहीं, किंतु कहीं वैदिक कहीं यज्ञ और अनुष्ठान ही कर्म समझे जाते हैं। अन्य कर्म मुक्तिके सहायक नहीं ऐसा समझकर बहिष्कार करनेके पात्र ठहराये गए हैं। मीमांसकों के वेदवादानुसार ये सब कर्म मुक्तिके साधन हैं, इसलिये करना ही चाहिए। उपनिषदोंपर संस्थापित जो वेदान्तवाद उसके अनुसार अज्ञान अवस्थामें कर्मकी उपयुक्तता प्राथमिक प्रक्रियारूप से है। अंतमें कर्मका त्याग करनाही चाहिये क्योंकि वह मुक्तिका विरोध है। वेदवाद यज्ञोंद्वारा देवताओंकी पूजा करता था और विश्वास रखता था कि ये देवता मोक्षप्राप्तिमें सहायता करेंगे। वेदान्तवादके मतानुसार सब देवता मानसिक और जड जगत् की कर्त्री और मुक्तिकी विरोधक हैं। [उपनिषदोंमें कहा है कि मनुष्य देवताओंका गोधन है। देवता यह इच्छा नहीं करतीं कि हम ज्ञानप्राप्ति करें अथवा मुक्त हो जांय।] वेदान्तवाद के मतसे भगवान् ही अक्षरब्रह्म है। उसकी प्राप्ति यज्ञपूजादि कर्मोंसे न होगी.केवल ज्ञानही से होगी। कर्मके द्वारा ऐहिक फलकी और स्वर्गकी प्राप्ति होती है; इसलिये कर्मका त्याग अवश्य करना चाहिये।

गीताने इस विरोधकी मीमांसा की है। गीता बारबार कहती है कि, सकल यज्ञोंका, उपासनाओंका प्रभु जो एकमेवाद्वितीय परमेश्वर उसीके भिन्न भिन्न रूप ये देवता हैं। देवताओंके उद्देशसे यज्ञ करनेसे ऐहिक सुखकी और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अगर ऐसा है तो यह भी सत्य है कि ईश्वरके उद्देश्यसे यज्ञ किया जाय तो उसके भी आगे बढकर परममुक्ति की प्राप्ति होगी। क्यों कि ईश्वर और अक्षरब्रह्म भिन्न नहीं, एकही हैं। दोनोंमेंसे कोई भी एक ध्येय रख लेनेसे मनुष्य दिव्य जीवनोन्मुखी हो सकता है। समस्त कर्मोंकी पूर्णता और समाप्ति ज्ञान में होती है- [सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते] कर्म ज्ञानप्राप्तिका विघ्न नहीं, उसका मार्ग है। इस प्रकार से यज्ञ शब्दकी उदारमीमांसा करके विरोधका समाधान भी किया है। वस्तुतः यह विरोध सांख्य और योगमें जो बृहत्तर विरोध है उसीका विशिष्ट रूप है। वेदवाद भी एक दृष्टिसे संकुचित और विशिष्ट प्रकारका योग है। सांख्य और वेदान्तका भी मूलतत्त्व एकही है। क्यों कि दोनोंकी रायमें प्रकृतिकी बहुविधतासे, अहंकार- मन- इंद्रियोंसे बुद्धिको निवृत्त करके उस अक्षरतत्त्वमें प्रवृत्त करना ही मोक्षप्राप्तिका साधन है। इस प्रकार मतैक्यसाधनाके उद्देश्य ही से गीतागुरुने प्रथमतः यज्ञका वर्णन किया है। परंतु प्रारंभही से भगवान् का रूख वेदोक्त यज्ञानुष्ठानकी मर्यादामें बद्ध नहीं किंतु उसके व्यापक अर्थपर था।

यज्ञका रहस्य।

गीता जिसको 'यज्ञ' कहती है, उसका विचार दो पृथक् पृथक् स्थानोंमें हुवा है। एक तीसरे अध्यायम और दूसरा चौथे अध्यायमें। तीसरे अध्यायकी याज्ञिक विचारप्रणालीसे वहां यज्ञ का मतलब आनुष्ठानिक (वैदिक) यज्ञ मालूम पडता है। चौथे अध्यायका यज्ञ उदार दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्यका रूपक ही है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतंब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति
(गी० ३।१०-१६)

"सृष्टिके आरंभमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके सहित प्रजाको निर्माण किया, और कहा- "इस यज्ञके द्वारा तुम उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त करो! यह यज्ञही तुम्हारे इच्छित मनोरथ पूर्ण करनेवाला हो! इस यज्ञसे तुम देवोंकी समृद्धि करते जाओ, और वे देव तुम्हारी समृद्धि करें! इस रीतिसे परस्परोंकी संभावना करते हुए दोनों आत्यंतिक कल्याण प्राप्त करोगे। यज्ञोंसे संतुष्ट होकर देव तुम्हें सकल इच्छित भोग प्रदान करेंगे। देवोंके दिये हुए भोग उन्हें वापिस न करके जो केवल स्वयं उनका उपभोग लेता है वह यथार्थमें चोर है। यज्ञ करके अवशिष्ट रहे हुए भागका ग्रहण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त होते हैं;परंतु अपने ही कारण जो भोजन बनाते हैं वे पापी लोग पापही भक्षण करते हैं। अन्नसे शरीर उत्पन्न होता है, अन्नका उद्भव पर्जन्यसे है; पर्जन्य यज्ञसे होता है, और यज्ञका उद्भव कर्मसे होता है। कर्मकी उत्पत्ति ब्रह्मसे है ऐसा जानो, और ब्रह्म अक्षरसे निकला है, इसलिये सर्वगत ब्रह्मही हमेशा यज्ञमें अधिष्ठित रहता है। इस प्रकार जारी किया हुवा यज्ञचक्र जो नहीं चलाता, हे पार्थ! उस पापपरायण व्यक्तिका जीवित व्यर्थ है।" इस जगह यज्ञ का अर्थ वेदसंमत आनुष्ठानिक यज्ञही भासमान होता है। उसका सच्चा मर्म आगे देखेंगे। श्रीकृष्णने यहां यज्ञकी आवश्यकता समझाते हुए आध्यात्मिक जीवनका श्रेष्ठत्व वर्णित किया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(३।१७-१२)

"परंतु जो मनुष्य केवल आत्माहीमें रत, आत्मा ही में संतुष्ट और आत्माहीमें तृप्त हुआ, उसको कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस जगत् में उसका कर्म करके कोई फायदा नहीं और न करके कोई फायदा नहीं। इच्छित वस्तुके लिये उसको किसीपर निर्भर रहना नहीं पडता।" अस्तु। परस्परभिन्न ऐसे दो आदर्शोंका यहां दिग्दर्शन हुवा है। एक आदर्श वैदिक और दूसरा वेदान्तिक। एक ओर कर्मका आदर्श है— इस जगत् में यज्ञके द्वारा भोगसुख, परलोकमें परमार्थ-लाभ और मनुष्य व देवताओंका परस्परावलंबित्व है। दूसरी ओर मुक्त पुरुषका कठोरतर जीवनादर्श है; नरलोक और देवलोक में वह व्यग्र नहीं,कर्मसे और भोगसे उसका संबंध नहीं, आत्मसत्ताकी दृष्टिसे वह पूर्णतया स्वतंत्र है, केवल परमात्माकी शांति में वह वास करता है और ब्रह्म के शांत आनंदही में वह निमग्न रहता है। अगले श्लोकमें इन दो विरोधी आदर्शोंके समन्वयका मार्ग खोल दिया है। उच्चतर सत्यकी ओर झुकतेही कर्मत्याग करनेकी जरूरत नहीं है। सत्यलाभ करनेके पहिले तथा सत्यलाभ करनेपर निष्काम कर्म-साधन एक रहस्य है। मुक्त पुरुषको प्राप्त करनेके लिये कोई चीज बाकी नहीं है; तथापि कर्मसे परावृत्त होनेमें भी उसे कोई लाभ नहीं है। इस तरह किसी भी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये उसे कोई कर्म करना नहीं पडता और न छोडना पडता।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(गी० ३-२०)

"इसलिये जो कर्म [जगत् के लिये 'लोकसंग्रहार्थे'] करना है वह सर्वदा अनासक्त होकर करो। क्यों कि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्य परम गतिको पहुंचता है। जनक प्रभृति

महात्माओंने कर्मके द्वाराही सिद्धि प्राप्त की है। "

कर्म और यज्ञ श्रेयःप्राप्तिका मार्ग जरूर है [श्रेयः परमवाप्स्यथ]; परंतु कर्म तीन प्रकारका है- (१) यज्ञशून्य कर्म, (२) सयज्ञ परंतु सकाम कर्म, और (३) निष्काम कर्म। यज्ञशून्य कर्म केवल वैयक्तिक सुखके लिये किया जाता है। यह निरा स्वार्थ-प्रेरित रहता है, जीवनके मूलतत्त्वसे उसका मेल नहीं रहता, इसलिये वह व्यर्थ है। 'मोघं पार्थ स जीवति।' सयज्ञ और सकाम कर्ममें यज्ञके फल-रूप भोगसुखोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये उस हदतक वह शुद्ध और पवित्र है। निष्काम कर्ममें किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं रहती। इसी कर्मके द्वारा परम गतिका लाभ होता है- "परमाप्नोति पूरुषः।"

यज्ञ, कर्म, ब्रह्म, इन शब्दोंका जैसा अर्थ किया जायगा, उसीपर गीताशिक्षणका रहस्य अवलंबित रहेगा। यज्ञका मतलब यदि हम केवल वेदोक्त आनुष्ठानिक यज्ञ समझेंगे; जिस कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति होती वह यदि वेदोक्त कर्म हो, और जिस ब्रह्मसे सकल कर्मोंका उद्भव है वह यदि हम 'शब्दब्रह्म' समझ लें तो अधिक कुछ न कहकर यह समझ लेना चाहिये कि गीता केवल वेदोक्त नित्यनैमित्तिक कर्मोंका उपदेश करती है। आनुष्ठानिक यज्ञ ही धनपुत्रादि प्राप्तिका सच्चा उपाय है। आनुष्ठानिक यज्ञ ही के द्वारा वृष्टि होती है और उसीसे प्रजाका लालन पालन होता है। जीवन ही मानो मनुष्य और देवोंके बीचमें सकल लेनदेनका व्यवहार है। इसलिये सबही कर्म यज्ञानुष्ठानपूर्वक होना चाहिये। जो कर्म इस प्रकार देवताओंके उद्देश्यसे किये नहीं जाते, वे अभिशप्त हैं और देवतार्पण किये विना जो उपभोग किया जाय वह पाप है। इतनाही केवल नहीं, किंतु परम श्रेय जो मुक्ति वह भी आनुष्ठानिक यज्ञके द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिये। यज्ञका त्याग कभी भी नहीं कर सकते। मोक्षेच्छु व्यक्तियोंको भी अनासक्त होकर आनुष्ठानिक यज्ञ करना चाहिये। इस प्रकारसे आनुष्ठानिक यज्ञ और नित्यनैमित्तिक कर्म आसक्तिरहित करके ही जनकादि महात्माओंको मुक्ति और सिद्धिका लाभ हुवा है।

गीताका अर्थ ऐसा नहीं है यह बात सहजरीतिसे मालूम हो सकती है; क्योंकि यह अर्थ गीताके अन्य भागके बिलकुल विपरीत है। किंबहुना गीताने जो यहां कहा है [अन्य स्थानोंपर की हुई सरल व्याख्या न मानने परभी] उससे यज्ञका उदार अर्थ ही व्यक्त होता है; क्योंकि 'कर्मसे यज्ञका उद्भव, ब्रह्मसे कर्मकी उत्पत्ति और अक्षरसे ब्रह्मकी निर्मिती है इसलिये सर्वगत ब्रह्म सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है ऐसा यहां कहा है। इस जगह 'तस्मात्' और 'ब्रह्म' शब्दोंका जो उपयोग किया गया है वह विशेष चिंतनीय है, क्योंकि उससे स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्मसे कर्मकी उत्पत्ति है। यहां ब्रह्मका मतलब वेद नहीं। ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न है और वह सर्वव्यापी, सर्व प्राणिमात्रमें तथा सकल कर्मोंमें विराजमान है। वेदके मायने भगवान्का- अनंतका ज्ञान आगे एक अध्यायमें भगवान् कहते हैं-

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"

"सकल वेदोंके द्वारा मैंही ज्ञेय विषय हूं।" परंतु वेदोंमें जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान् त्रिगुणावेष्टित है। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः।' प्रकृतिकी क्रियामें अवस्थित ऐसा ब्रह्म अक्षर पुरुषसे उत्पन्न हुवा है। यह पुरुष प्रकृतिके सब गुणोंके परे है। [निस्त्रैगुण्यः] ब्रह्म एक ही है; परंतु उसका व्यक्त स्वरूप दो प्रकारका है। अक्षर पुरुष और क्षर जगत् में सकल प्राणिमात्रोंमें विद्यमान तथा सर्व कर्मोंका स्रष्टा आत्मा। एक आत्मसंस्थ पुरुष और एक प्रकृतिक्रियाशील पुरुष। यह अक्षर और वह क्षर। इन दोनों स्वरूपोंमें भगवान् 'पुरुषोत्तम' अपने आपको जगत् में व्यक्त करते हैं। सर्वगुणातीत अक्षर ही उसकी शांति, और आत्मस्थ रहना ही उसकी साम्यावस्था है। 'समं ब्रह्म' वहीं से प्रकृतिगुणोंद्वारा विश्वलीलामें उसका प्रगटीकरण है। इस सगुण ब्रह्मसे ही विश्वशक्तिके अखिल

कर्मोंकी उत्पत्ति है* और इन्ही कर्मोंसे यज्ञकी तत्त्व-निर्मिति है। इतनाही नहीं किंतु मनुष्य और देवताओंमें द्रव्यादिकका जो लेनदेन होता है वह भी इसी तत्त्वका अनुसरण है। उदाहरणार्थ- जिस वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है वह वृष्टि इसी कर्मपर निर्भर है,और अन्नसे प्राणिमात्रकी शरीर-निर्मिती होती है। क्योंकि वास्तविक दृष्ट्या प्रकृतिकी समस्त क्रियाएं यज्ञ ही हैं; और भगवान् ही सर्व कर्मोंका तथा यज्ञोंका भोक्ता और सकल भूतोंका महेश्वर है। इस 'सर्वगतं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' भगवानको जाननाही सच्चा वैदिक ज्ञान है।

परंतु देवगणद्वारा उसकी जो निम्न श्रेणीकी क्रिया है उसीसे उसको जान सकते हैं। प्रकृतिकी दृष्टिसे देवगण भगवान् ही की शक्ति है। देव और मनुष्य परस्पर आदानप्रदानके कारण संवर्धित होते हैं और इसीके अनुकरणसे मनुष्य क्रमशः श्रेयःप्राप्तिके योग्य ठहरता है और तदनंतर वह समझ सकता है कि, जगत्में जो भगवान्की लीला हो रही है,उसी लीलाका एक भाग अपना जीवन है। उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं, और इसी लीलाके हेतु अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये; दूसरा कोई उद्देश्य नहीं। वह ऐसा नहीं समझता कि जो सकल भोग और इच्छित वस्तु उसे प्राप्त होती हैं, वे अपने प्रयत्नसे होती हैं। उन्हें सर्व यज्ञोंका फल और देवताओंका दान समझकर ही वह उनका ग्रहण करता है। यह भावना उसमें जहांतक वृद्धिगत होती है वहांतक अपनी सब कामनाओंका वह दमन करता है। जीवन और कर्मकी नीतिही यज्ञ है ऐसा समझकर वह उसका स्वीकार करता है, और उसमें संतुष्ट रहता है। यज्ञका जितना अवशेष रहता है उतनेमेंही वह तृप्त रहता है और बाकी सबका संकोचरहित होकर विश्वकल्याणार्थ अर्घ्यप्रदान करता है। जो लोग इस नीतिके विरुद्ध और केवल स्वार्थके हेतु कर्म करते हैं उनका जीवन व्यर्थ है। हमें कहना पडेगा कि जीवन और आत्मोन्नतिका सच्चा अर्थ और हेतु उनकी समझमें नहीं आया। परमश्रेय जिस मार्गसे प्राप्त होता है उस मार्गके ये लोग साधक नहीं हैं। केवल देवताओंके उद्देशसे नहीं किंतु सर्वव्यापी और यज्ञप्रतिष्ठित परमेश्वरके उद्देशसे जब यज्ञ किया जाता है, तभी परमश्रेयकी प्राप्ति होती है। देवगण उस परमेश्वरकी कनिष्ठ शक्ति और रूप हैं। मनुष्य जब कनिष्ठ प्रकृतिकी कामना वासनाका त्याग करता है, "मैं स्वयं यह सब करता हूं" इस अहंकारका त्याग करके प्रकृतिहीको सब कर्मोंकी कर्ता समझता है और अपनेको भोक्ता न समझकर विश्वात्मा परम पुरुषही प्रकृतिके सब कार्योंका भोक्ता है ऐसा जान लेता है, तभी उसको परमश्रेयकी प्राप्ति होती है। तब वह स्वतःके उपभोगके कारण नहीं, किंतु परमात्मामें निवास करनेसे वह परमशांति, तृप्ति और विमल आनंदका उपभोग लेता है।

ऐसी अवस्थामें उसे कर्म या अकर्मसे लाभ हानि नहीं रहती; किसी वस्तुके लिये उसे देवताकी अथवा मनुष्यकी याचना करनी नहीं पडती; आत्मानंदहीमें पूर्ण समाधान होता है इससे उसे किसीकी गरज नहीं रहती। तथापि वह यज्ञरूपी भगवान्के लिये आसक्ति और कामना से रहित होकर कर्म करता है। इस प्रकार समता प्राप्त करके वह प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त होता है, निस्त्रै-

---

* आठवें अध्यायके पूर्वभागसे प्रतीत होता है कि, यह विचारप्रणाली ठीक है। वहां अक्षर (ब्रह्म) स्वभाव, कर्म, क्षर, भाव, पुरुष, अधियज्ञ इन तत्वोंका वर्णन किया है। जो अक्षर है वही ब्रह्म, आत्मा है। (Sprit of self) स्वभावही अध्यात्म है (स्व--ब्रह्म--भाव--उत्पत्ति. ब्रह्महीी अंशतः जीवरूपसे शरीर धारण करके सुखदुःखादिका उपभोग लेता है) यह अक्षर आत्मासे उत्पन्न है। प्राणिमात्रोंकी उत्पत्ति तथा विकासका साधक ऐसा विसर्गही कर्म शब्दसे अभिप्रेत है। अंतरात्माही पुरुष है। इस देहमें वही देवांश है (अधिदैवतम्.) उसके वास्तव्यके कारण अखिल कर्म हृदयस्थ भगवान्के उद्देशसे यज्ञस्वरूप होते हैं। यज्ञका ग्रहण करनेवाली यही गुप्त देवता अधियज्ञ है।

गुण्य होता है। यद्यपि इस समय उसका कर्म अनिश्चित प्रकृतिकी लीलामें ही जारी रहता है, तथापि उसका आत्मा अक्षर ब्रह्मकी शांतिमें विराजमान रहता है। इस प्रकारसे यज्ञही उसके परम श्रेयःप्राप्तिका मार्ग होता है।

गीतामें आगे चलकर जो कहा है, उससे मालूम होगा कि हमने जो यह मीमांसा की है वही ठीक है। आगे कहा है कि कर्मका उद्देश केवल "लोक-संग्रह" है। समस्त कर्मोंको केवल प्रकृति ही करती है; देव पुरुषही सब कार्योंका भर्ता है और उसको अखिल कर्म (कार्यकालही में) अर्पण करना चाहिये [इस प्रकार अंतरतः कर्मोंका अर्पण और बाह्यतः कर्मसंपादन यही यज्ञकी पूर्तता है।] इस तरहसे समतायुक्त और वासनाशून्य होकर यज्ञरूपसे कर्म करनेपर कर्मबंधनोंसे मुक्त हो सकते हैं।

यदृच्छा लाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

गी. ४।२२-२३

जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहनेवाला और कर्मकी सफल निष्फलताके विषयमें समबुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करके भी बद्ध नहीं होता। जब कोई आसक्तिहीन मुक्त पुरुष यज्ञके हेतु कर्म करता है, तब उसके अखिल कर्मोंका लय होता है अर्थात् उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध और समताप्राप्त आत्मापर उन कर्मोंका परिणामस्वरूप बंधन नहीं रहता अथवा उन कर्मोंका धब्बा नहीं पडता। आगे इन सब श्लोकोंपर हम विचार करेंगे। इसीके बाद यज्ञसंबंधमें जो विशद विचार किया है उससे निःसंदेह समझमें आता है कि गीतामें किया हुवा यज्ञविषयक उपदेश केवल बाह्य नहीं, आंतरिक है, और यह समग्र विचार रूपकात्मक भाषामें व्यक्त किया है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सर्वत्र दो प्रकारका अर्थ रहा है। (१) शारीरिक और (२) मानसिक; (१) बाह्य और (२) रूपक; (१) यज्ञोंका बाह्य अनुष्ठान और (२) उसके सब विधानोंका गूढ अर्थ। परंतु प्राचीन वैदिकोंके उस गूढ कवित्वमय रूपक का मर्म बहुत दिनोंसे लोग भूल गए; और उसके बदले उन्होंने गीतामें वेदान्त और योगके शिक्षणानुसार यज्ञकी उदार दार्शनिक व्याख्या की। यज्ञका अग्नि भौतिक अग्नि नहीं, ब्रह्माग्नि है। संयम ही अग्नि है; अथवा शुद्ध इंद्रियक्रिया ही अग्नि है; अथवा प्राणायाम द्वारा नियंत्रित प्राणशक्ति ही अग्नि है; अथवा आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ यज्ञका अग्नि है। भक्षणीय ऐसा जो यज्ञावशेष उसको अमृत कहा है। उसका भोजन करनेसे अमृतत्वको प्राप्ति होती है। यहां प्राचीन वैदिक रूपक का कुछ भाग है। सोमरस अमृतका रूपक है। यज्ञके द्वारा देवगणोंको संतुष्ट करनेसे सोमरस की प्राप्ति होती है और अमृत पान करनेसे स्वर्गके चिरकालीन आनंदका उपभोग मनुष्य ले सकता है। शरीरसे या मनसे मनुष्य जो कुछ कर्म देवताओंके, भगवान्के, मानवजातिके अथवा सर्वभूतस्थ आत्माके उद्देससे करता है, वही यह यज्ञार्पण है।

यज्ञके इस विस्तृत विवेचनकी प्रस्तावनामें कहा है कि यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी सामग्री, यज्ञका कर्ता, गृहीता, यज्ञका उद्देश, ध्येय, सब वही एक ब्रह्म है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

गी०४-२४.

"अर्पण ब्रह्म,उत्सर्गका खाद्य भी ब्रह्म, ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माग्नि में हवन किया, ब्रह्मकर्ममें समाधिद्वारा ब्रह्मही लभ्य है।" इसलिये इसी ज्ञानसे मुक्त पुरुष को यज्ञकर्म करना चाहिये। 'सोऽहम्,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' यह आत्माही ब्रह्म है, इन सब महान् वैदिक वाक्योंमें यही ज्ञान सूचित है। यही पूर्ण एकत्व का ज्ञान है; वह एकही कर्मका कर्ता, कर्म और कर्मका ध्येय इस रूपसे आविर्भूत है; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपसे प्रकाशित है। जिस विश्व-शक्तिको कर्म अर्पण करना है वह शक्ति भी भगवान्, अर्पण कर्म भी भगवान्, जो वस्तु अर्पण करना वह भी भगवान् का कोई विशेष रूप है; जो अर्पण करनेवाला है वह भी हृदयस्थ भगवान् के

अतिरिक्त कोई नहीं; क्रिया, कर्म, यज्ञ ये सभी बातें गतिरूपसे, कर्मरूपसे भगवान् ही हैं। यज्ञके सहारे जिस स्थानको जाना वह भी भगवान्। जो मनुष्य इस ज्ञानका अधिकारी है, इस ज्ञानके अनुसार अपना जीवन बिताता है, कर्म करता है, उसको कर्म बंधनकारक नहीं होता; उसका वैयक्तिक अथवा अहंकृत ऐसा कोई भी कर्म नहीं हो सकता। केवल दैवपुरुष स्वयंसत्तामें दैवी प्रकृति के द्वारा कार्य करता है और आत्मज्ञानसंपन्न विश्वशक्तिरूप अग्निमें सब अर्पण करता है। इन सब ईश्वरमुखी कर्मोंका उद्देश भगवान्का ज्ञान और भगवज्जीवन प्राप्ति ही है। परंतु योगी लोगोंमें भी सबके सब यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ गी. ४-२५

"दूसरे योगी देवताओंके हेतुसे यज्ञानुष्ठान करते हैं; अन्य कोई योगी यज्ञद्वारा यज्ञार्पण करते हैं।" कोई व्यक्ति भगवान् में भिन्न भिन्न रूपोंकी और शक्तिकी कल्पना करते हैं और भिन्न उपायोंसे, अनुष्ठानोंसे और धर्मोंसे उसकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। अन्य कोई व्यक्ति यज्ञका स्वाभाविक रहस्य पहचानकर अखिल कर्म भगवान् को अर्पण करते हैं। यही एकमेव मार्ग और धर्म है।

यज्ञके उपाय जैसे विविध हैं, वैसा उनका अर्पण भी अनेक प्रकारका है। आत्मसंयमरूप जो मानसिक यज्ञ है, उसके द्वारा उच्च आत्मजय और उच्च ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
गी. ४-२६,२७

कोई कोई इंद्रियसंयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इंद्रियोंका हवन करते हैं; अन्य कोई इंद्रियरूपी अग्निमें शब्दादि विषयोंका हवन करते हैं। दूसरे कोई ब्रह्मज्ञानप्रदीप्त आत्मसंयमरूप योगाग्निमें सकल इंद्रियोंका और प्राणकर्मोंका हवन करते हैं।"

अर्थात् एक प्रकारकी साधनामें इंद्रिय विषयोंका ग्रहण करना है; परंतु इंद्रियक्रियाओंसे मन चलित न हो। इंद्रियसमुदाय होमका पवित्र अग्निस्वरूप होता है। दूसरे प्रकारकी साधनामें इंद्रियोंको शांत करना पडता है; इसलिये मनःक्रियाके अंतरालमेंसे शांतस्थिर आत्मा उसकी पवित्रताके कारण प्रगट होता है। और एक प्रकारकी साधना है, इसके द्वारा आत्माकी पहिचान होकर समस्त इंद्रियकर्म और प्राणकर्म उस एकही एक, स्थिर, शांत, आत्मामें स्वीकृत होते हैं। सिद्धिके लिये जो प्रयत्न करते हैं, उनका यज्ञ स्थूल द्रव्यसे भी युक्त रहता है। द्रव्ययज्ञ—जिस समय भक्त नैवेद्यादिकसे पूजा करता है तब वह इस प्रकारका द्रव्ययज्ञ ही करता है। आत्मसंयमकी कठोर साधना तथा किसी उच्च हेतुके सिद्धयर्थ सर्वशक्तियोंका उपयोग करना भी एक प्रकारका यज्ञ है; इसको तपोयज्ञ कहते हैं। राजयोगी अथवा हठयोगीके प्राणायामादि साधनों से योगयज्ञ हो सकता है। ये सब यज्ञ आत्मशुद्धिके सहायक हैं और श्रेष्ठ पदप्राप्तिके मार्ग हैं।

इस प्रकार भिन्नता रहते हुए मूलनीति की दृष्टिसे एक मुख्य बात यह दीख पडती है कि- निकृष्ट दर्जेकी क्रियाओंका दमन करना चाहिये; वासनाका प्रभुत्व नष्ट करके श्रेष्ठ दर्जेकी शक्ति स्थापित करनी चाहिये, और त्याग, आत्मोत्सर्ग, आत्मजय, इन्हींके द्वारा प्रवृत्ति को बहिष्कृत करके, बृहत्तर आदर्श के द्वारा स्वर्गीय आनंद मिलता है उसका अनुसरण करना चाहिये।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

"यज्ञावशिष्ट अमृत का भोजन करके सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति कर लेते हैं।" यज्ञ ही संसारकी नीति है। इस लोकमें प्रभुत्व, परलोकमें स्वर्ग अथवा श्रेष्ठ पद, ये बातें विना यज्ञके प्राप्त नहीं होतीं।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥

कर्मजान् विद्धितान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।
गी ४—३२,३३

"जो यज्ञ नहीं करता, उसको इहलोक भी नहीं, तब परलोक दूरही रहा ! इस लिये ये सब यज्ञ और अन्य बहुविध यज्ञ (वितता ब्रह्मणो मुखे) ब्रह्माग्निमें अर्पित होते हैं । ये अखिल यज्ञ कर्मसे उत्पन्न हुए हैं । ईश्वरकी एक विराट् शक्ति विश्व-व्यापी कर्ममें प्रगट हुई है । इस प्रकारसे जगत् की सब क्रियाएं परमेश्वरके उद्देशसे यज्ञरूप होती हैं । इस यज्ञरूप क्रिया की अंतिम स्थिति मनुष्य की दृष्टिसे आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेपर तुम मुक्त होगे ।"

तथापि इन बहुविध यज्ञोंके भिन्न भिन्न स्तर हैं। सबसे नीचा स्तर द्रव्ययज्ञ और सबसे उच्च स्तर ज्ञानयज्ञ है । समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें–उच्चतम ज्ञानमें, आत्मज्ञानमें, ब्रह्मज्ञानमें–होती है । सृष्टिके मूलतत्त्वका ज्ञान जिनको है, ऐसे (तत्त्व-दर्शिनः) पुरुषोंसे यह ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं । यह ज्ञान प्राप्त होनेपर हम मोहमें न फँसेंगे, और हमें केवल इंद्रियलब्ध ज्ञान, इंद्रियभोग, क्षुद्र वासना, कामना इत्यादिके बंधनोंसे बद्ध होना न पडेगा । जिस ज्ञानमें सब बातोंका पर्यवसान होता है, उस ज्ञानके द्वारा "तुम सर्वभूतोंको आत्मामें, तदनंतर मुझमें देखोगे ।" क्यों कि हमारा ज्ञान जब अहंकारमुक्त होता है, तब वह आत्मा एक अक्षर, सर्वव्यापी, सर्वमय, सद्वस्तु–हमारे मानसिक जीवनके पीछे छिपा हुवा ब्रह्म—विस्तृत होकर आत्मप्राप्त होता है । तब हम सबही को उस एक सत्तामें भिन्न भिन्न भूतोंके रूपमें देख सकते हैं ।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
गी. ४--३४,३६

यह जो आत्मा अथवा अक्षर ब्रह्म है वही हमारे अस्तित्व का मूल है; और जो क्षराक्षर है वही उसका व्यक्त रूप है; वही ईश्वर, देव और पुरुषोत्तम है । यज्ञरूपसे हम उसीको सब कुछ अर्पण करते हैं, और उसीकी सत्तासे हम जीवन धारण करते हैं हमारी प्रकृतिके द्वारा उससे मीलित होकर और उसमें अवस्थित ऐसे सर्वभूतोंसे समरस होकर हम आत्मसत्ता और शक्तिके द्वारा परमेश्वरसे तथा सर्वप्राणि-मात्रसे युक्त होते हैं । वासनाको वर्ज्य करके और उसको यज्ञार्थ नियुक्त करके हम ज्ञानका लाभ करते हैं और आत्मा मूलरूपको पहुंचता है; और इस रीतिसे आत्मज्ञान--ईश्वरज्ञान युक्त कर्म करके ईश्वरी सत्ताके ऐक्य में, शांतता में और आनंदमें हम मुक्तिलाभ करते हैं ।

भगवद्गीताका महत्त्व ।

तब हम गीताका अध्ययन किस लिये करें ? दार्शनिक शिक्षा के लिये अथवा समालोचना के लिये गीता के अध्ययन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है । जो सत्यसमूह केवल बुद्धिगम्य नहीं है योगदृष्टिसे ही जिसका ज्ञान होता है,जिससे मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में सहायता होती है, ऐसा सत्यसंग्रह गीता में है और उसका प्रचार प्रचलित भाषाकी तथा युक्तितर्ककी सहायतासे करना ही गीताध्ययन एवं गीताचर्चा का उद्देश होना उचित है । आध्यात्मिक उन्नति को सहायक होगा, कर्मक्षेत्र में मार्गदर्शक होगा ऐसा जितना सत्य ग्रहण करनेकी हमारी शक्ति है, उतना सब सत्य गीतामें है और यही गीताध्ययन का सार्थक है ।

योगजीवन को सहायक होनेवाले गीताके सार्वजनिक सत्यसमूहका प्रचार करते समय देश-

कालोपयोगी विचारोंका, भाषाका, तथा मतवादोंका सहाय्य लेना आवश्यक होता है। गीता में जहाँ योग और सांख्य दर्शनका उल्लेख है, वहाँ प्राचीनकालमें रूढ हुए योग वा सांख्यदर्शन समझना न चाहिये। गीताने, यह कहकर कि ज्ञान का मार्ग सांख्य और कर्म का मार्ग योग है, वेदान्तिक सत्यप्रतिष्ठाके लिये इन दोनों मार्गोंमेंसे रहस्यात्मक भाग भर लिया है।

गीतामें तत्त्वज्ञान के सर्वपक्षीय विचारोंका सुन्दर समावेश रहते भी वह साम्प्रदायिक नहीं है। गीताने यह तत्व मान लिया कि एक अनादि ब्रह्मसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हुई, इसलिये अद्वैतवाद गीताका मत नहीं है और त्रिगुणमयी मायाका अस्तित्व गीताने स्वीकार किया इससे वह मायावादी भी नहीं है। इसी प्रकार विशिष्टाद्वैत, सांख्य वैष्णव आदि सभी मतोंका परामर्ष गीताने किया, इसलिये गीता उन मतोंका प्रमाण ग्रंथ नहीं सिद्ध होता। गीताग्रन्थ इसलिये नहीं लिखा गया कि दार्शनिक मतवादोंके तर्कयुद्धमें किसी पक्षको अस्त्रके समान उसका उपयोग हो। जिसकी सहायतासे आध्यात्मिक सत्यका संसारमें प्रवेश होगा ऐसा सुन्दर रहस्य गीतामें है और गीताने सभी मतवादोंका अपूर्व समन्वय किया है।

भारतके दार्शनिक इतिहासमें इस प्रकारका समन्वय अन्य समयमें भी हुआ है। आध्यात्मिक तपस्या के कारण बाह्य जगत्के अन्तराकाशमें प्राचीन ऋषियोंको जो देव-जगत्का संधान मिला, वही तत्कालीन भाषाकी तथा विचारोंकी सहायतासे वेदोंमें चित्रित हुआ है। वेदोंके सत्यसंग्रहके आधारपर उपनिषदोंने बृहत्तर समन्वय किया और उपनिषदोंका मन्थन कर भगवद्गीताने कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन शक्तियोंका कुशलतासे समन्वय किया है। आध्यात्मिक जीवनको बाधक मालूम होनेवाली बातें ही पूर्णतर जीवनको किस प्रकार सहायक होंगी इसीका व्यवहार्य मार्ग तन्त्रसे दिखाया है। वैदिक ऋषि जान चुके थे कि मनुष्य पूर्ण देवत्व प्राप्त कर सकता है। इसी सत्यके आधार पर पुनः एकवार अखिल मानव जातिके संगठनके तन्त्रका प्रयत्न निःसन्देह प्रभावी होगा।

जिस युगमें मनुष्य पूर्ण देवत्वके मार्गमें अग्रसर होगा, उस युगका आरम्भ अभी हुआ है। अब अपने लिये आवश्यक नहीं कि वेद अथवा उपनिषद्, गीता या तन्त्रकी चतुःसीमामें ही बिधे रहें। कितने ही नये नये विचारस्रोत तथा केवल भारतीय ही नहीं संसार भर की धर्मनीति हम पर प्रभाव डाल रही है। संशोधकोंके परिश्रमसे निर्माण हुए अभिनव खोजोंकी तथा उनके कारण प्रगट हुए प्राचीन गुप्त रहस्योंकी अवहेलना करके हमारा कार्य न चलेगा। इस सब परिस्थितिसे सिद्ध होता है अपन और एक महान् समन्वयके सन्मुख खडे हैं। प्राचीन कालमें अन्तिम समन्वय की नीवपर बृहत्तर समन्वय खडा हुआ, उसी प्रकार हमें भी अब भविष्यत् का विराट् समन्वय गीता की नीवपर ही खडा करना होगा।

हमें गीता का अध्ययन इसलिये नहीं करना है कि हम पाण्डित्य करें या दार्शनिक गूढ तत्त्वोंका सूक्ष्म समालोचन करें। हमारे गीताध्ययनका उद्देश यह है कि हम गीताके उस चिरंतन एवं सार्वदेशीय सत्यसमूहका अनुसंधान करें जिस सत्यसमूह के कारण मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनमें सहायता होगी और जिससे पूर्णदेवत्वके मार्गपर मनुष्य अग्रसर होगा।

भगवान् गुरु.

संसारके अन्य धर्मग्रन्थ और गीतामें महत्व का फरक है। वेद, उपनिषद्, कुरान या बाइबिल के सदृश गीता स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। वह महाभारत का एक भाग है जो महाभारत एक देशके जीवन का तथा युद्धका काव्यमय इतिहास है। तत्कालीन एक प्रमुख व्यक्तिके सामने जीवनके सर्वश्रेष्ठ किन्तु विकट कर्मका प्रश्न था। यह कर्म अत्यन्त भीषण था और उसमें अपरिमित रक्तपात की संभावना थी। समस्या यह थी कि या तो कर्मसे सर्वथा परावृत्त हो जाओ या निश्चल बुद्धिसे अन्त

तक कर्म करते रहो । इस प्रकारके सन्धिकालमें गीताकी उत्पत्ति हुई ।

टीकाकारोंका मत है कि गीता स्वतन्त्र ग्रन्थ है और वह प्रसिद्धताके हेतु महाभारतमें घुसेड दिया गया है। परन्तु वास्तवमें इस मतके लिये विशेष आधार नहीं है । तथापि इस मतको सत्य मान कर भी प्रत्येक को मानना होगा कि गीताको महाभारतमें उचित स्थानमें समाविष्ट करनेमें तथा जिस समय गीता का उपदेश व्यक्त हुआ उस समयका वारंवार स्मरण दिलानेमें ग्रन्थकर्ताने अतीव कुशलता प्रकट की है । यह नही कि (युध्यस्व) 'तू युद्ध कर' की आज्ञा गीताके आरम्भ और अन्तमें ही कही हो, अपि तु तत्त्व-ज्ञानकी सूक्ष्म और गंभीर चर्चामें भी ग्रन्थकर्ताने अनेक बार इस आज्ञाका स्पष्ट उल्लेख किया है। यदि गीताका रहस्य समझ लेना हो तो जो प्रसंग गुरु-शिष्योंको मन में सदा सर्वकाल जागरूक था, उसका भी विचार करना हमारे लिये आवश्यक है । गीता का कर्म तब तक समझ नहीं सकते जब तक हम यह नहीं समझते कि वे सिद्धान्त कौनसे हैं जिन आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का प्रयोग जीवित की सच्ची समस्याको संतोषजनक रीतिसे हल करने के लिये किया है ? कुरुक्षेत्र के युद्ध का अर्थ क्या है ? और अर्जुन के अन्तर्जीवन पर उसका परिणाम क्या हुआ ?

जीवित के सर्व-सामान्य प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर धर्म-अधर्म की प्रचलित समझ के द्वारा हो सकता है । किन्तु सामान्य व्यवहारमें जीवित के गूढ रहस्यों की समालोचना अच्छे प्रकार से नहीं हो सकती । बहुमुखी तथा अत्यन्त गंभीर ज्ञान का प्रसार करने के लिये ऐसी असाधारण वातों की आवश्यकता होती है । गीता के गुरु और शिष्य तथा जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश किया गया वह परिस्थिति इन तीनों का विशेष गहरा अर्थ है । मनुष्यरूप से अवतीर्ण हुआ भगवान् गीता का गुरु है और अपने गूढ उद्देशकी सिद्धिके लिये भगवान् ने जिस विराट् युद्ध की तैयारी की उसका नायक एवं उस युग की एक प्रमुख व्यक्ति अर्जुन गीताका शिष्य है । रणक्षेत्र में होनेवाली स्वकीयों की भीषण हत्या के कारण अर्जुन के हृदय में विचारों का तुमुल युद्ध जब शुरू हुआ तब मानवी जीवन, मानवी कर्म, जगत्, ईश्वर इन सबका उद्देश और अर्थ क्या है इस प्रकार इन प्रश्नों से अर्जुन घबडा गया । ऐसे सन्धिकाल में गीतोपदेश प्रकट हुआ ।

प्राचीन काल से लगाकर भारतवर्ष ईश्वर के अवतार पर दृढ विश्वास करता आया है। पश्चिमके देशों में अवतार के मर्मका अनुभव अपने जीवन में न मिलने के करण उन देशों में अवतार के लिये श्रध्दा कदापि दृढ नहीं हुई । भारतवर्ष के जीवनपर वेदान्त-सत्य का जो प्रभाव पडा है और इस सत्य का तथा अवतारवाद का जो निकट सम्बन्ध है उसपर ध्यान दें तो आश्चर्य न होगा कि अवतार के सम्बन्ध की भावना भारत की बुध्दि में भिद गई है। संसार में जो कुछ है वह ईश्वर का प्रकाश है । भगवान् ही एकमात्र सद्वस्तु होने से उसको छोड अन्य किसीको भी अस्तित्व नहीं है । तथापि भगवान्‌के प्रकटीकरणको भी क्रम अवश्यही है। सामान्य जीवों में भगवान्‌का अंश मायासे आच्छादित है, अतएव अज्ञानांध जीव अपने देवत्व को उपलब्ध नहीं कर सकता । जहां भगवान् की विशेष शक्ति का उदय हुआ रहता है वही 'विभूति' मानी जाती है । परन्तु संसार की भलाई के लिये परमेश्वर जब अपनी माया को वश में रखकर मायिक देह धारण करता है तथा सर्वशक्तिमान् रहते भी मानवोचित शरीर-मन- बुध्दि के द्वारा कर्म करता है, तब उसे ' अवतार ' कहते हैं ।

मनुष्यमें भगवान्‌का वास्तव्य है । परन्तु जिस दिन मनुष्यको भगवान्‌की उपलब्धि अच्छी प्रकार से होगी, उस दिनसे मनुष्यका वास्तव्य भगवान्‌में होता है । नर तो नारायणका चिरकालका स्नेही है । भगवान् सखारूपसे सदैव हमारे पासही है । और वह सारथीरूपसे हमारे हृदयमें बैठ कर कार्य करता है । हम नहीं समझते कि भगवान्

कितने प्रेमी हैं, कितने निकट सम्बन्धी बन्धु हैं और हमारा हाथ पकडकर वे हमें किस प्रकार चलाते हैं। जिस दिन इस मायाका पटल दूर हो जावेगा, इस अज्ञानका अंधकार नष्ट हो जावेगा और मनुष्य हृदयस्थित हृषी-केशकी वाणी सुन सकेगा और उसकी सामर्थ्यसे कर्म करेगा, तभी वह अपनी मन-बुद्धि भगवान्में पूर्णतया समर्पण करनेमें तथा भगवान्में वास करनेमें समर्थ होगा। गीताके मतके अनुसार 'उत्तम रहस्य' यही है। अन्तर्यामी स्वरूपमें भगवान्का अवतार नित्य है। यही अन्तस्थ भगवान् जब मानव शरीर, मानव मन, मानव बुद्धी ग्रहण कर संसारको शिक्षा देता है, और मार्ग दिखाता है, तभी वह बाह्य जगत्में 'अवतार' रूपसे प्रकट होता है।

अर्थात् अवतारवादकी दो बाजूएं हैं। यदि हृदयस्थ भगवान्को हम अवतार मानते हैं, तो भगवान्का मानवी-शरीर-ग्रहण न मानकरभी गीतार्थ समझनेमें विशेष अडचण न होगी। यूरोपीय पण्डितोंमें जो विवाद चल रहा है कि ईसा मसीह नामका कोई व्यक्ति संसारमें किसी समय था या नही, सो विवाद भारतीय पण्डितोंकी समझमें अर्थ-शून्य प्रतीत होगा। वास्तविक येशू तो अपने हृदयमेंही है। यदि उसका अनुभव हम लें, उसकी शिक्षाके प्रकाशमें यदि हम अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकें, देवत्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-भावसे मुक्त हो सकें, तो येशू नामका कोई मेरीका पुत्र था या नहीं, राजद्रोहके अपराधके लिये उसे क्रूसपर चढाकर मारा या नहीं आदि प्रश्नोंसे अपनेको कुछ मतलबही नही रहता। इसी प्रकार जो कृष्ण चिरंतन अवताररूपसे मनुष्यमात्रके हृदयमें विराजमान है उसीकी आवश्यकता अपनेको है। किसी युगमें कृष्ण नामका कोई नेता या गुरु था या नही इस सम्बन्धके वितंडवादसे अपनेको कुछ मतलब नहीं।

भगवान् गुरु.

कुरुक्षेत्रकी समरभूमिपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनको गीताका उपदेश किया। तथापि गीताप्रचारित शिक्षाका मर्म श्रीकृष्णका केवल आध्यात्मिक अर्थ लेकरही ग्रहण कर सकते हैं। यह तो निःसंदिग्ध बात है कि श्रीकृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति है। छांदोग्य उपनिषदमें कृष्ण नामका प्रथम उल्लेख मिलता है। उससे मालूम होता है कि कृष्ण एक ब्रह्मवेत्ता था, और प्रसिद्ध था। श्रीकृष्ण और उसके छोटे मोटे सभी व्यवहार लोगोंको इतने परिचित थे कि 'देवकीनंदन' कहनेसेभी लोग कृष्णही समझते थे। इसी उपनिषदमें विचित्रवीर्यके पुत्र 'धृतराष्ट्र' का भी उल्लेख है। ये दोनों महाभारतके प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। अर्थात् भारतीय युद्ध सचमुचही हुआ था, महाभारतके मुख्य मुख्य पुरुष ऐतिहासिक पुरुष थे और लोगोंकी दृढ श्रद्धाके अनुसार महाभारतको ऐतिहासिक महाकाव्य मानना योग्य ही है। ईसाकी कालगणनाके पूर्वसेंही कृष्णार्जुनोंको देवता समझकर भारतीय लोग उनकी पूजा करते हुए दिखाई देते हैं। श्रीकृष्ण धर्मप्रचारक थे। उन्होंने जिस धर्मका प्रचार किया उसीमेंसे गीताकारने गीताविषयक सामग्री इकत्रित की होगी यही बात अधिक संभव है। गीताका ज्ञान-भक्ति--कर्मका समन्वय कृष्णके द्वारा प्रचारित धर्मकी नीवपरही खडा किया जाना अधिक संभवनीय है। गीताका वर्तमान स्वरूप कैसा भी क्यों न हो श्रीकृष्ण की शिक्षामेंसे उसकी उत्पत्ति हुई, और अर्जुनको युद्धप्रवृत्त करनेके लियेही श्रीकृष्णने उसके पास स्वीय धर्मकी मीमांसा की यह बात बिलकुल निरर्थक कविकल्पना न होनेका सम्भव अधिक है। महाभारतमें श्रीकृष्णका दो प्रकारका उल्लेख है, एक तो अवतार और दूसरे ऐतिहासिक व्यक्ति। इससे विदित होता है कि महाभारतकी रचनाके कालमें (ईसाके पहले पांचवीं शताब्दिसे प्रथम शताब्दि तक) कृष्णको परमेश्वरका अवतार समझकर उसकी पूजा बहुजन समाजमें प्रचलित थी। श्रीकृष्णके वृन्दावनमें व्यतीत हुए प्राथमिक जीवनकाभी किंचित् आभास महाभारतमें देखने मिलता है। श्रीकृष्णके बाल्यजीवनपर पुराणोंने

गंभीर और आध्यात्मिक रूपक तैयार किये। इनका भारतीयोंके धार्मिक जीवनपर विशेष प्रभाव पडा है हरिवंशमें भी श्रीकृष्णके चरित्रका वर्णन है। परन्तु वह वर्णन अनेक अचरजयुक्त कल्पित बातोंसे भरा है। ये बातेंही पुराणोंका आधार होंगीं।

ऐतिहासिक संशोधनके लिये इन बातोंकी कितनीही महत्ता क्यों न हो, पर हमें इस तर्कवितर्कसे कुछ मतलब नही। गुरुरूप भगवान्‌को गीताने हमारे सामने जिस रूपमें खडा किया है और मानवजीवनको आध्यात्मिक प्रकाशमें उद्भासित करनेकी जो सामर्थ्य उसमें है उतना समझने से हमें मतलब है। गीताने अवतारवाद मान लिया है और भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि मेरा जन्म अनेक बार हुआ है।

यद्यपि भगवान्‌को जन्ममरण नही है, तथापि जगत्‌के कार्यके लिये मायाके आश्रयसे वह अवतीर्ण होता है। मायाका आविर्भावही जन्म है और तिरोभावही मृत्यु है। परन्तु इस अवतारित्वपर गीताका विशेष झुकाव नही है। सर्व भूतोंका ईश्वर जिससे सभी जीवोंकी उत्पत्ति होती है ऐसे अंतर्यामी भगवान्‌ही गीताकी शिक्षाके केन्द्र हैं। इसी अंतर्यामि भगवान्‌को लक्ष्यकर गीताके १७ वें अध्यायमें कहा है कि 'आसुरी बुद्धिके तपस्वी हृदयस्थ जो मैं उसे कष्ट देते हैं' (गी. १७।६)। सोलहवें अध्यायमें जो कहा है कि 'आसुरी बुध्दि के लोग स्वतःके और इतरों के हृदय में रहनेवाले मुझसे द्वेष करते हैं' (१६।१८) सो भी इस अंतर्यामी भगवान् को लक्ष्य करके ही है। 'मैं उनके अन्तःकरण में प्रवेश कर तेजस्वी ज्ञानदीप से उनके मन में अज्ञान के कारण उत्पन्न हुए अंधकार का नाश करता हूं।' (१०।११) इस दसवें अध्याय की गीता की आश्वासवाणी में भी हृदयस्थ परमेश्वर की ओर ही रुख है। यह चिरंतन अवतार और सदैव मनुष्य के अंतरंग में रहनेवाला यह दैवीचैतन्य खुले आम गीता में मानव-आत्मा से संवाद करता है, जीवित और दैवी कर्म का गूढ तत्त्व समझा देता है तथा किंकर्तव्यमूढ मानव को दैवी ज्ञान के प्रकाश में अभय देता है। भगवान् गुरु, सखा और सहायक के रूप में सबके हृदयमें विराजमान है। और यह व्यक्त करने के लिये ही भारतधर्म ने कहीं मन्दिर में भगवान् की मानवमूर्ति स्थापन की है, कहीं अवतार का पूजन किया है और कहीं मानवी गुरु के रूप से भारतधर्म के द्वारा उस जगद्गुरु का अर्चन जारी है। हृदयस्थ भगवान् की वाणी हम सुन सकें, माया का आच्छादन नष्ट करके हमें उस भगवान् का स्वरूप दर्शन हो और भगवान् शक्ति के, भगवत् प्रेम के तथा भगवत् ज्ञान के सन्मुख खडे होने की सामर्थ्य हम में आवे इसी लिये धर्म का सब प्रयत्न है।

महाभारतमें वर्णन किये हुए बृहत्कर्मका गुप्त केन्द्र जो नररूप श्रीकृष्ण, वह अलग रहकर सब कार्योंके सूत्र हिलाता है। इसमें भी गूढआध्यात्मिक अर्थ भरा है। इस बडे कार्यसे संलग्न बहुत से लोगोंमेंसे निष्काम बुद्धिसे कार्य करनेवाले पक्ष के नेता श्रीकृष्ण हैं। इस कर्मके शत्रुओंका वे नाश करते हैं इसलिये श्रीकृष्णको कुटिल, अन्याय प्रवर्तक और धर्मसंहारक जैसे दूषण मिलते हैं। इस कर्मकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको श्रीकृष्ण उपदेशक, सहाय्यक और सखा होते हैं। यह कर्मचक्र जब स्वभावनिर्दिष्ट मार्गसे घूमता रहता है, और नानाविध संकटोंके द्वारा आगामी विजयकी जब तैयारी आरंभ होती है, तब अवतार अदृश्य होता है। कभी कभी सांत्वनाके लिये और सहायताके लिये वह दिखता है। प्रत्येक संधिकाल में ऐसी युक्तिसे और गुप्ततासे वह कर्मका यन्त्र घुमाता है कि प्रत्येकको यही लगता है कि नियोजित कर्मका सभी कर्तृत्व मेरा ही है। स्वतःकी भूमिका भगवान्‌का परम स्नेही और कर्मका एक प्रधान यन्त्रकी रहते भी मैं अपने मित्ररूप भगवान् को न पहिचान सका और मेरी यन्त्रीय भूमिका का ज्ञान मुझे न हुआ यही बात अन्तमें अर्जुनको कबूल करनी पडी। भगवान्‌के उपदेशसे अर्जुनको ज्ञानप्राप्ति हुई, उनकी शक्तिसे सहायता हुई, श्रीकृष्णकी दैवी प्रकृति न समझकर भी अर्जुनने उनकी

सेवा की सब कुछ किया; परन्तु सामान्य जीवके समान अहंकार-वश होकर वह कर्म करने लगा। अज्ञानी मनुष्यको जिस पद्धतिसे उपदेश किया जाता है और अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार उसका ग्रहण करता है ठीक वही हाल अर्जुनका हुआ।

भगवान् मनुष्यसे किस प्रकार व्यवहार करते हैं इस बातका नररूप श्रीकृष्ण उत्तम रूपकात्मक उदाहरण है। मैं ही कर्ता और सब फलका कारण भी मैं ही हूँ ऐसी समझसे अपन अहंकार और अज्ञानके वश होकर कार्य करते हैं। वास्तवमें जो 'सत्य सूत्रधार' है उसे हम पार्थिव ज्ञानका और सामर्थ्यका मूल समझते हैं, ज्योति या तेज समझकर उसे बीचबीचमें देखते हैं, और बिना समझे भी उसकी पूजा करते हैं। परन्तु अन्तमें एक दिन ऐसा आता है कि इस रहस्यके सन्मुख हमें आश्चर्यचकित हो रहना पडता है।

यह नहीं कि भगवान् मनुष्यके अंतर्जीवनमें ही बर्तता है। केवल बुद्धिके बल पर मनुष्य बहुत कम और अस्पष्ट समझ कर पगपगमें संशय उत्पन्न करनेवाला, विशाल और दुर्घट कर्मक्षेत्र व्याप लेता है। इस प्रकार एक कर्म जब विचित्र संधिकालमें उत्पन्न हुआ, तभी गीतोपदेशका या गीताशिक्षाका उदय हुआ और यही तो गीताका वैशिष्ट्य है। जिस कर्मवादका गीताने प्रसार किया उसका उज्ज्वल स्वरूप इस अवसर पर उत्कटतासे प्रकट हुआ है। अन्य किसी भी भारतीय धर्मग्रन्थमें इस प्रकारका उदाहरण या स्वरूप देखने नहीं मिलता। केवल गीतामें ही नहीं अपितु महाभारतमें अनेक स्थानोंमें भगवान् ने कर्मका पुरस्कार जोरसे किया है। तथापि हमारे कर्मके पीछे गुप्त रीतिसे रहनेवाली भगवत् शक्तिका एवं कर्मके गूढ रहस्यका परिचय केवल गीतामें ही नजर आता है।

भारतके तात्त्विक इतिहासमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें कृष्णार्जुनका अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका साहचर्य भिन्न भिन्न रूपोंमें वर्णित है। कहीं इन्द्र और कुत्स एक रथमें बैठकर स्वर्गकी ओर जा रहे हैं, कहीं एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, कहीं नरनारायणकी जोडी ज्ञानप्राप्तिके लिये तपस्या कर रही है। इन सभी उदाहरणोंका एक ही 'ज्ञानप्राप्ति' का उद्देश दिखाई देता है। किन्तु कृष्णार्जुनका-गीताका उद्देश ज्ञान नहीं है, जिस कर्मसे ज्ञानमें प्रवेश होगा, जिस कर्ममें परमज्ञानी परमेश्वरका वास्तव्य है वह कर्म ही है। ज्ञानप्राप्तिके लिये कृष्णार्जुनकी जोडी ध्यान-धारणाके योग्य ऐसे किसी निर्जन शांततामय आश्रममें उपस्थित न होकर, रणक्षेत्रपर सारथी और योद्धाके स्वरूपमें खडी है। इसलिये 'गीता-गुरु भगवान्' मनुष्यके हृदयमें रहकर केवल ज्ञानके जगत् में ही नहीं घूमता, किन्तु अखिल जगत् के सूत्रोंका संचालन वही करता है। भगवान के लिये और भगवान् के कारण ही हम कर्म करते हैं, युद्ध करते हैं और जीवित रहते हैं। सब कर्मों का, सब यज्ञोंका और सब मानवोंका अज्ञात स्वामी, सखा और बन्धु ही भगवान् हैं और उसीकी राह सम्पूर्ण मानव जीवन वेगसे दौड रहा है।

मानव शिष्य।

मनुष्यके हृदयमें बसनेवाला भगवान् जिस प्रकार गीताज्ञानका गुरु है, उसी प्रकार मानव-प्रधान अर्जुन गीताका शिष्य है। इस शिष्यको कुरुक्षेत्रके मैदान पर दीक्षा मिली है। जिन्हें ज्ञान-प्राप्ति नहीं हुई, पर हृदयस्थ भगवान् के साहचर्यसे कर्म करते करते जो लोग ज्ञानप्राप्तिके योग्य हुए हैं और संशयसे पीडित हो सत्यमार्गके लिये उत्कण्ठित एवं व्यग्र हुए हैं ऐसे लोगोंका मूर्तिमान् उदाहरण अर्जुन है। केवल गीताकी ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण महाभारतकी मनुष्यके अन्तर्जीवनके रूपकके स्वरूपमें मीमांसा करनेकी एक पद्धति है। इस मतके अनुसार चलना क्या है? गीताका अर्थ पग पग पर खींचातानी करके लगाना और गीताकी सहजसुन्दर तात्त्विक भाषाको विलक्षण विकृत स्वरूप देना है। वेदकी भाषा और अंशतः पुराणोंकी भाषा स्पष्ट रूपसे रूपका-

त्मक है। किन्तु गीताका उपदेश सहजसुन्दर भाषामें व्यक्त हुआ है और उसने प्रयत्न किया है कि मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें उत्पन्न होनेवाले सभी नैतिक और आध्यात्मिक प्रश्नोंका समाधान होवे। ऐसे प्रासादिक भाषाके अर्थकी खींचातानी अपनी समझके लिये करके उसे रूपकात्मक बनाना अनिष्ट और अनुचित है। गीतोपदेश जिस परिस्थितिके आधारसे प्रकट हुआ है, वह परिस्थिति सचमुच आदर्श है। ऐसी आदर्श स्थिति न होती तो गीताकी शिक्षामें स्वारस्य और मेल न रहा होता। कर्ममार्गमें मनुष्य ऐसे भीषण संकटमें फँसता है कि उस समय जगत्, सुखदुःख, पापपुण्य आदि प्रश्नोंके विचार से वह बिलकुल हतबुद्ध और मूढ हो जाता है। ऐसी ही संकटमय परिस्थितिमें फँसे हुए मनुष्य का अर्जुन अच्छा उदाहरण है।

भगवान् श्रीकृष्ण जिस रथके सारथी हैं उसी रथका योद्धा अर्जुन है। मनुष्य और देवता एक रथमें बैठकर उद्दिष्ट स्थानमें जानेके लिये महायुद्ध कर रहे हैं ऐसा चित्र वेदोंमें भी चित्रित है। परंतु वह केवल रूपक है। आध्यात्मिक जीवनको स्फूर्ति देनेवाले तथा सहायक होनेवाले इन्द्र-कुत्स के सदृश रूपकात्मक कथानक वेदोंमें कई हैं। ज्ञानका प्रकाश जितना और जैसा वृद्धिंगत होता है, मनुष्य भी उतना और वैसा देवतासदृश होता है यही ऐसे रूपकोंका मर्म है। परंतु गीताका आरंभ कर्मसे है और गीताशिष्य अर्जुन कर्मसैनिक है, इसलिये गीताकी बात सर्वथा भिन्न है।

गीताशिष्य अर्जुनके चरित्रकी विशेषता गीताके आरंभमें ही प्रकट हुई है। कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिपर इकत्रित हुए ज्ञातिबांधवोंको देखकर जो अर्जुनकी मनःस्थिति हुई वह सच्चे ज्ञानी की नहीं किन्तु कर्मीकी है। यह तो स्पष्ट दीखता है। व्यवहारके गूढ रहस्योंका गंभीरतासे विचार करनेकी जिन्हें आदत नहीं, किन्तु उच्च ध्येय नजरके सामने रख प्रचलित सामाजिक कानूनोंका उल्लंघन न कर यश-अपयशसे झगडते हुए जो बुद्धिमान्, शीलसम्पन्न तथा श्रद्धावान् लोग निश्चिततासे अपना अपना कर्तव्य करते हैं ऐसे ही कर्मसैनिकोंमेंसे अर्जुन है। मानते आये आदर्शोंके बारेमें तथा विधिनिषेधात्मक नियमोंके संबंधमें संदेह उत्पन्न होकर कर्मजीवनके संबंधमें ऐसे व्यक्ति मोहमूढ होते हैं। यही हाल अर्जुनका हुआ।

गीताकी भाषामें कहना हो तो अर्जुन त्रिगुणाधीन व्यक्ति है। अर्जुनका शील, उसकी कठोर कर्तव्यनिष्ठा, उसका पावित्र्य आदर्शवत् होनेसे उसका 'अर्जुन' नाम अन्वर्थक है। अन्य मनुष्यके समान अर्जुनको भी 'अहंकार' है। परन्तु वह सात्त्विक अहंकार है; इससे अर्जुन स्वार्थपरायण न बनकर परहितके लिये सज्ज तथा शास्त्रोक्त नियमसे समय व्यतीत करते हुए नजर आता है। भारतवर्षमें 'धर्म' नाम उन नियमोंके समूहका है जो नियम मानवी जीवनके कर्तव्य आध्यात्मिक, सामाजिक तथा नैतिक विचारसे निश्चित करते हैं। मनुष्यका विशेषतः उदारहृदय, लोकनायक, युद्धविशारद वीरका धर्म क्या? यही अर्जुनका मुख्य विचार रहता था और उसी विचारके अनुसार जो आचारनियम उचित थे, उन्हींका अवलंबन अर्जुनने किया था। परन्तु अब अर्जुनको ऐसे सर्वभक्षक, भीषण एवं अभूतपूर्व युद्धके नायककी भूमिका लेनी पडी थी जिसके कारण आर्यसभ्यता, और आर्यसमाज नष्ट होकर देशको भूषणभूत क्षत्रियवर्ग नष्ट होनेवाला था। इसीलिये उसके शान्त अंतःकरणमें विचारोंका तूफान उठा था।

अर्जुन ज्ञानी न था किन्तु कर्मी था। इसका एक मुख्य लक्षण यह था कि जब तक सब बातें अपनी दृष्टि नहीं देखीं तबतक उसे ज्ञात नही होता कि वह कैसा दुर्घट कार्य करता है। उसने श्रीकृष्णसे दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खडा करनेके लिये कहा, उस समय उसके मनमें अन्य कोई गंभीर विचार न था। अर्जुनके हृदयमें उस समय यही विचार था कि हजारों लोग अधर्म पक्षमें शामिल हो युद्धके लिये तत्पर हुए हैं और उनमेंसे कुछको हराकर मुझे धर्मस्थापना करनी चाहिये। अर्जुन इसी विचारसे

एवं सगर्व दृष्टिसे सेनाकी ओर देख रहा था। ज्ञानी मनुष्य रणक्षेत्रमें जानेपूर्व ही सम्पूर्ण परिस्थितिका सम्यक् ज्ञान कर लेगा। परन्तु कर्मवीर अर्जुन आंखे फाड कर जब रणमैदानका भयानक दृश्य देखने लगा, तभी भयानक गृहकलहका सत्य मर्म पहले पहल उसने अनुभव किया। उसने देखा कि इस युद्धमें एक देशके, एक जातिके, और एक कुलके ही लोग इकट्ठे नहीं हुए किन्तु एकही परिवारके लोग एकदूसरेकी हत्या करनेको उद्युक्त हुए थे। बन्धु, स्नेही, गुरु, आप्त, स्वकीय सभीका प्रेम तलवारके आघातसे काट डाल कर उन सबसे युद्ध करना था। अर्जुनको इसके पहले इस प्रसंगकी कल्पना अवश्य थी, परन्तु उसकी जवाबदेही वह यथार्थ रीतिसे इसके पहले नहीं समझ सका था। न्यायकी रक्षा, अन्यायका दमन, दुष्टदण्डनका क्षत्रियधर्म, धर्मपक्षका समर्थन इत्यादि अनेक बातोंके विचारमें वह ऐसा मग्न था कि गंभीरतासे युद्धका सच्चा मर्म उसने इसके पूर्व नहीं जाना था। सारथीरूप भगवान्‌ने जब जब उसके सामने युद्धका दृश्य खडा किया, तब अर्जुन युद्धकी कल्पनासे विह्वल हुआ।

इस आघातका प्रथम परिणाम अर्जुनके शरीर और मनको दुर्बल बनानेमें हुआ और युद्ध तथा युद्धजन्य लाभके बारेमें ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जीवितके बारेमें ही वह उदासीन हो गया। सामान्य मनुष्यके जीवितका मुख्य ध्येय जो भोगसुख वह अर्जुनने त्यागही दिया था; पर क्षत्रियको प्रिय होनेवाले राज्य, प्रभुता, जय आदि बातोंसे भी वह ऊब उठा। जिसे अपन न्याय्य युद्ध समझते हैं, वह वस्तुतः क्या स्वार्थके लिये नहीं है? स्वतःके, स्वबांधवोंके, स्वपक्षीय लोगोंके स्वार्थके लिये, आधिपत्यके लिये, क्या यह युद्ध नहीं है? राज्य, भोग, जीवित जिनके कारण स्पृहणीय होता है, वे 'स्वजन' ही युद्धके लिये उपस्थित हुए हैं, ऐसी दशामें पृथ्वीके आधिपत्य की तो बातही क्या; पर त्रैलोक्यके राज्यलोभके लिये स्वकीयोंकी हत्या करनेकी इच्छा किसको होगी?

इसके अनंतर विवेकजागृतिके कारण अर्जुनको यही लगा कि यह सब यौद्धिक व्यापार ही भयंकर पाप है। परस्परकी हत्यामें धर्म, न्याय कुछ भी नहीं है। अंतःकरणके पवित्र विचार नष्ट कर आत्मीयोंका वध करना कदापि धर्म्य नहीं है। कौरवपक्ष यद्यपि धर्म्य नहीं है; कौरवपक्ष यद्यपि दोषी, अत्याचारी है; उनकी स्वार्थपरायणतासे ही तथा उनके लोभके कारण ही यद्यपि यह गृह-युद्ध उपस्थित हुआ है; तथापि ऐसी परिस्थितिमें अन्यायके विरुद्ध शस्त्र उठाना कौरवोंसे भी भयंकर पाप करना है। लोभके कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जानेसे यद्यपि कौरव नहीं समझते कि वे जातिवधका कैसा भयंकर पाप कर रहे हैं, तथापि कौरवोंके मार्गका अवलंबन पांडव करें, यह सर्वथा निंद्य है। कुलधर्म, समाजधर्म, ज्ञातिधर्म इनकी रक्षाके लिये युद्ध करें तो ये सभी धर्म स्वकीयोंकी हत्यासे नष्ट हो जावेंगे। इस नृशंस गृहकलहका परिणाम जाति और जातिधर्म नष्ट करनेमें होगा और इस भयंकर पापकर्मके कर्ताको नरकमें जाना पडेगा। ऐसे विचारोंसे व्याकुल हुआ अर्जुन इस युद्धके लिये देवताओंके दिये गांडीव धनुष्यको त्यागकर रथमें बैठ गया और उसने श्रीकृष्णको जतला दिया कि 'मैं युद्ध न करूंगा'।

अर्जुनके ये विचार और उसकी यह मनःस्थिति तत्त्वजिज्ञासूके लिये अनुरूप नहीं। जगत्‌को मिथ्या समझ कर आत्मानुसंधानके लिये उसने अपना मन अंतर्मुख नहीं किया। अर्जुनने गांडीव धनुष्य का त्याग इसलिये नहीं किया था कि जगत्‌का गूढ रहस्य आकलन नहीं होता इससे सच्चा समाधान हो। कर्तव्य-अकर्तव्यका प्रचलित दण्डक मानकर अबतक उसने निश्चितता से कार्य किया था। परंतु अन्तमें उसे ऐसे एक कर्मसंकटमें फंसना पडा कि वहां उसकी बुद्धि अंधी हुई और वह हतबुद्धि हो गया। धर्म शब्दका धातुगत अर्थ यह है कि 'सब वस्तुओंको धारण करनेवाला तथा जिस नीतिके अनुसार चलनेसे मनुष्य कर्ममार्गमें अग्रसर होता है, वह धर्म है'।

यह देखकर कि आज दिन तक जिन धर्माचारों-का और नीतिनियमोंका अवलंबन कर निश्चितता से सब काम किये, उन सब नियमोंका चकना चूर हो रहा है, अर्जुनके हृदयने, मनने तथा बुद्धिने एकाएक विद्रोह कर दिया। बस यही अर्जुनका इस समयका संकट है। कर्ममार्गीयोंके जीवनमें इससे बढकर दूसरा भारी संकट है ही नहीं।

अर्जुनके अंतःकरणका यह बलवा वास्तवमें स्वाभाविक है। स्नेह, भक्ति, प्रेम जिससे कुचला जावेगा ऐसा आत्मीय-वधका कठोर कर्तव्य करनेको उसका मन तैयार न था। जिस हेतुसे युद्ध करना, वह हेतु युद्धसे साध्य न होगा। इस व्यर्थ शंकाने अर्जुन को विचलित कर दिया। अन्तमें उसे निश्चय हुआ कि मेरी बुद्धि कर्म-अकर्म की तथा धर्म-अधर्मकी बातमें योग्य निर्णय देने में असमर्थ है। तब उसने श्रीकृष्णकी शरण ली और उसके पास शिष्यबुद्धिसे कर्मनीतिका स्पष्ट और सत्य निर्णय मांगा। अर्जुनकी यह इच्छा न थी कि जीवितका- संसारका गूढ रहस्य समझ लेवे। वह केवल ' धर्म ' का भूखा था।

तथापि जिस रहस्यके जाननेकी अर्जुनकी इच्छा न थी वही रहस्य बतलानेकी भगवान् की इच्छा थी। श्रीकृष्णका उद्देश्य यह था कि सब धर्मोंका परित्याग कर ज्ञानपूर्वक भगवान् में वास्तव्य करना और उसी ज्ञानकी प्रेरणासे काम करना। इसी एक मात्र उदार नीतिका अर्जुन स्वीकार करे, अतएव उच्च जीवितकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त आवश्यक जो ज्ञान है वह अपने शिष्यको प्राप्त हो। और इस उद्देश्यके सिद्ध होने की गरजसे उसके योग्य अर्जुनकी मनोभूमि तैयार करनेके लिये श्रीकृष्णने पहले देखा कि कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णय करनेमें साधारणतः लोग जिस नियम से चलते हैं उनका अतिक्रमण अर्जुन कर सकता है या नहीं। अनन्तर आत्मासे सम्बद्ध रहनेवाली सब बातें विस्तारसे बतलाकर समत्व, निष्कामबुद्धि, द्वंद्वसहिष्णुता, ईश्वरभक्ति आदिका प्रतिपादन किया। तथापि अर्जुन जिस की अपेक्षा कर रहा था उस कर्मके बाह्य आचार का कुछ भी हाल न बतला कर योगस्थ होकर कर्म करनेके लिये अर्जुनसे कहा गया। भगवान् के इस उपदेशसे अर्जुनका समाधान न हुआ। योगस्थ होकर कर्म करनेसे यद्यपि मनःस्थितिमें बदल होगा, तथापि बाह्य कर्म पर उसका क्या परिणाम होगा? यह थी अर्जुनकी जिज्ञासा। किन्तु कर्मके सम्बन्धमें कुछ न बोलकर कर्मके पीछे जो आत्मशक्ति है उसका विवेचन श्रीकृष्णने किया। श्रीकृष्णका पूर्ण जोर बुद्धिकी समतापर वासनाशून्यता पर तथा चित्तस्थैर्यपर था और अर्जुन का पूरा जोर कर्मके नियमों पर था। शंका का समाधान न होनेसे अर्जुन को यही लगा कि श्रीकृष्ण कर्मका निषेध ही कर रहा है। और उसने अधीर हो श्रीकृष्ण से पूछा- ' कर्मसे बुद्धि श्रेष्ठ है यही यदि आपका मत है, तो इस हिंसात्मक घोर कार्यके लिये आप मुझे क्यों प्रवृत्त करते हैं ? कभी कर्म की और कभी ज्ञान की प्रशंसा करके दुहरे भाषणसे आप मुझे भ्रममें न डालिये। इन दोनों मेंसे जो श्रेयस्कर होगा वही निश्चित रीतिसे बतलाइये।' (गी. ५-१) अर्जुनकी इस पृच्छासे भी स्पष्ट होता है कि अर्जुन ज्ञानी न था, कर्मी था। संसारमें कर्मकी शिक्षा लिये विना अंतर्जीवन-विषयक प्रश्नकी अथवा आध्यात्मिक विषयकी कुछ भी कीमत नहीं। कर्म करना चाहिये, संसार करना चाहिये, किन्तु संसारसे परे जाना चाहिये, ऐसे दुहरे विचारोंकी गडबडमें श्रीकृष्णका कहना सुननेका तथा समझ लेनेका धैर्य अर्जुन में न रहा।

अर्जुनके शेष सभी प्रश्न उसके कर्मीय स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं। ' बुद्धि सम हो जावे तो कर्मके बाह्य स्वरूपमें बदल होनेकी आवश्यकता नहीं; अनन्तर उसका सर्वदा अपने स्वभावके अनुसार ही कर्म करना इष्ट है। ' पराये धर्मकी अपेक्षा अपना नीजी धर्म सदोष रहे तब भी स्वधर्मके अनुसार चलना ही उत्तम' (गी.१८-४७) इत्यादि कृष्णके विचार सुनकर अर्जुन फिर सोचमें पडा।

स्वभावके अनुसार कर्म करना है सही, पर युद्धकर्मके कारण पाप लगता है इस अर्जुनकी शंकाका क्या विचार? मनुष्यप्रकृति ही उसकी इच्छाके विरुद्ध उसे जबरदस्तीसे पापप्रवृत्त नहीं करती? जब श्रीकृष्णने कहा कि 'प्राचीन कालमें जो विवस्वान् को बतलाया और कालान्तरसे नष्ट हुआ योग आज मैं तुझे कह रहा हूं' (गीता ४।१-२), तब उनका कथन अर्जुनकी व्यावहारिक दृष्टि को जँचा नहीं। इसीके संबंधमें भगवान्के अवतारित्वके बारेमें प्रश्न पूछ कर अर्जुनने उनसे 'यदा यदा हि' (गीता ४-७) के सुप्रसिद्ध वचन कहलाये। श्रीकृष्ण पुनः कर्मयोग और कर्मसंन्यासका मेल बतलाने लगे, पर अर्जुन वह न समझ सका और उसने श्रीकृष्णसे विनय की कि 'इन दोनोंमें मेरे लिये जो श्रेयस्कर होगा वही निश्चित रीतिसे बतलाइये' (गीता ५।१)। अर्जुनको जो योग बतलाया गया उसका सत्य स्वरूप जब उसकी समझमें आया, मनःसंकल्प, प्रेम और वासनाके वशमें होकर कर्म करनेकी जिसे आदत थी उस कर्मीय प्रकृति अर्जुनकी समझमें जब आध्यात्मिक साधनकी महत्ता आई तब सभीत जिज्ञासासे उसने श्रीकृष्णसे पूछा कि 'मंद वैराग्यके कारण इस योगमार्गका साधक जब अकृतकार्य होता है, तब उसका आगे क्या हाल होता है?'

> कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
> अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥
> (गी० ६-३८)

"वह सांसारिक जीवनसे तो हाथ धो ही बैठता है, पर देव-जीवनकी उसे प्राप्ति नहीं होती; इस प्रकार दुहरा नुकसान होकर वह विच्छिन्न मेघके समान नष्ट तो नहीं होता?"

श्रीकृष्णके उत्तरसे जब अर्जुनका संदेह दूर हुआ तब उसकी समझमें आया कि 'भगवान् ही अपना धर्म है।' सब कार्योंका मूल जो भगवान् उसका ज्ञान कैसे होवे? संसारमें दिखनेवाले पदार्थोंमें भगवान्का व्यक्तत्व कहाँ है और वह कैसे समझा जाय? भगवान् की दिव्य विभूतियाँ कौनसी और किस विभूतिके द्वारा भगवान् को जान सकेंगे? मनुष्यदेह धारण कर अर्जुनसे जिसने बातचीत की उसका दैवी विश्वरूप क्या अर्जुन अब भी न देख सके? इस उत्क्रान्त विचारमालिकाने अर्जुनके चित्तमें धर्मप्राप्तिकी जिज्ञासा उत्कटता से जागृत हुई। श्रीकृष्णने कर्मत्यागका उपदेश न कर कर्मफलत्यागका उपदेश किया। किन्तु अर्जुनकी इच्छा है कि कर्मसंन्यास और कर्म-फल-त्याग इन दोनों बातोंका स्पष्ट और सत्य अन्तर समझ ले। वासनाशून्य होकर भगवान्की प्रेरणासे कर्म करनेके लिये पुरुष और प्रकृति तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके वास्तविक भेदका भी ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिये अर्जुनने उसके सम्बन्धके प्रश्न पूछे। उसे त्रिगुणातीत होना आवश्यक था, इसलिये उसने अन्तमें श्रीकृष्णसे तीन गुणोंकी विस्तृत मीमांसा करनेके लिये विनय की।

इस प्रकार गीतागुरु श्रीकृष्णने एक शिष्यको ईश्वरीय ज्ञानकी शिक्षा दी। अहंकारवश होकर काम करते समय जब शिष्य अपने चरित्रविकासकी ऐसी अवस्थामें पहुँचता है, जब सर्व-सामान्य नीतिनियम बेकाम हो जाते हैं, वह किंकर्तव्यमूढ हो जाता है और निम्न जीवनसे उच्च ज्ञान एवं उच्च जीवनके द्वारा उद्धार करनेके लिये भगवान् गुरु-रूपसे शिष्यके पास उपस्थित होते हैं, उस समय शिष्यको जिसकी चाह हो वह भी देना गुरुके लिये आवश्यक है। अर्थात् ऐसा कर्मका नियम बतलाना आवश्यक है, जो सामान्य विधिनिषेधात्मक नियमोंके समान प्रसादपूर्ण न रहते उसका अनुसरण करनेसे आत्मा कर्मबंधनसे तो छूट जावे, किन्तु ईश्वरीय जीवनकी विपुल स्वतन्त्रतामें कर्म करने तथा विजय पानेको वह समर्थ हो। क्योंकि कार्य सम्पूर्ण करना आवश्यक है, संसारका युगपरिवर्तन सुसंपन्न होना चाहिये और जिस कर्मके करनेके लिये मानव-आत्मा अवतीर्ण हुई है उससे अज्ञानके कारण परावृत्त न होवे। गीताकी

शिक्षा इस त्रिविध उद्देशोंकी सिद्धिके विचारसे ही दी गई है ।

गीताका रहस्य ।

'गीता-गुरु' और 'गीता-शिष्य'का परिचय कर चुके । अब देखें वास्तविक शिक्षा अर्थात् 'गीता का रहस्य' क्या है । आध्यात्मिक जीवनके अनेक-विध भावोंका समन्वय गीतामें है । इसलिये भिन्न मतवादियोंको एकदेशीयता और तज्जन्य दुराग्रहके कारण गीताका अर्थ सरलतासे विकृत करके अपने मतोंका मण्डन करना सम्भव हुआ । इसी लिये गीताकी मूल शिक्षा और मुख्य रहस्य समझ लेना आवश्यक है । अपन जिस मतके अभिमानी होते हैं उस मतका अपने मनपर ऐसा प्रभाव रहता है कि अपन सभी जगह अपने मतका समर्थन करनेवाला अर्थ भर देखते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि अनेक विषयोंका सत्य रहस्य हम समझने ही नहीं पाते । मनुष्यकी बुद्धि वस्तुके अंतरंगमें पहुंचनेके लिये तैयार नहीं रहती, इसलिये प्रायः सत्यका अपलाप होता है । अपनी भूल समझनेमें तथा पहिचाननेमें बुद्धि सदैव जाग-रूक रहना संभव नहीं; इसलिये अति सावधान मनुष्य भी इस प्रकारकी भूल टालनेमें समर्थ नहीं होता और गीताके अर्थके संबंधमें ऐसी भूलें सहज ही में हो सकती हैं; क्योंकि सांप्रदायिक लोग अपने मतका मण्डन गीता-शिक्षाकी किसी विशेष बात पर, यही नहीं अन्य सब अध्यायोंका विचार न करके गीताके किसी एकही श्लोकपर, विशेष जोर देकर करते हैं ।

इस प्रकार, अपने अपने संप्रदायवश हो अने-कोंने अनेक प्रकारका गीतारहस्य निकाला है । कोई कहता है, 'कर्म—शिक्षा गीताका रहस्य नहीं है अपि तु संसारका एवं कर्मका त्याग कर-नेका उपाय ही गीताने बतलाया है । और वह उपाय यही कि शास्त्रविहित या कोई भी कर्म यथातथा कर डालना । अन्त तक संसारका और कर्मका त्याग करना ही सच्चा उद्देश्य है ।' गीतासे यहाँ वहाँ के कुछ श्लोक लेकर इस मतका समर्थन सहजहीमें किया जा सकता है । गीताने संन्यासका जो अभिनव अर्थ किया है, उस पर यदि हम लोग ध्यान न दें, तो कर्मत्यागका मतही सच्चा मालूम होगा । किन्तु यदि आग्रह छोडकर गीताका परिशीलन करें तो इस मतका मण्डन करना असम्भव हो जावेगा । क्योंकि गीतामें बारबार कहा गया है कि 'कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है; बुद्धिको सम रखकर वासना-त्याग और सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करना ही श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर है ।'

कोई कोई 'भक्ति' को ही गीताका रहस्य समझते हैं । इस मतका पुरस्कार करनेवालोंको गीताका अद्वैतके सम्बन्धका विचार नहीं दिखाई देता । यह सत्य है कि श्रुतिने जिसे परमात्मा कहकर संबोधन किया, वही क्षराक्षरसे स्वतन्त्र रहनेवाला पुरुषो त्तम, सब लोगोंका ईश्वर, सकलोंका अधिपति, त्रैलोक्यका पालनकर्ता आदि भक्तिमूलक विचार गीताने अत्यवश्यक समझे हैं और भक्तिपर जोर दिया है । तथापि गीताका मत है कि यह ईश्वर केवल भक्तिमय एवं भक्तिगम्य नहीं किन्तु सब ज्ञानका समावेशक, सब यज्ञोंका अधिपति एवं सब कर्मोंका ध्येय है । आवश्यकतानुसार गीताने कहीं कर्मपर, कहीं ज्ञानपर और कहीं भक्तिपर जोर दिया है, तिसपर भी तीनोंका मेल किया है । किसीको भी उच्च स्थान देकर एकदूसरेसे अलग नहीं किया । कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंका जहाँ ऐक्य होता है वही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है । जबसे देश-कालोपयोगिताकी आधुनिक दृष्टिसे गीताका अर्थ किया जाने लगा, तबसे यह समझनेकी प्रथा पड गई कि 'गीता कर्मयोगका ग्रन्थ है'। गीतामें बारबार जो कर्म-सूचना मिलती है उससे लोग ज्ञान-भक्तिकी उपेक्षा करते हैं और यह बतला-नेका प्रयत्न करते हैं कि केवल कर्ममार्ग दिखाने-वाला गीता दीपस्तंभ है । गीता निःसंदेह कर्मवाद का ग्रन्थ है, पर यह न भूलना चाहिये कि उस कर्म की परिसमाप्ति ज्ञानमें और उस कर्मका मूल भगवान्‌की भक्तिमें अर्थात् सम्पूर्ण आत्मसमर्पणमें है । स्वतःके और दूसरेके स्वार्थके लिये किया

हुआ कर्म, संसारके, समाजके, मानवजातिके हित के लिये किया कर्म और चालू युगने प्रशंसनीय बतलाया हुआ आदर्श गीतोक्त कर्मसे तथा आदर्शसे पूर्णतया स्वतन्त्र है। यद्यपि आधुनिक टीकाकार यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि कर्मका आधुनिक आदर्शही गीताने हमारे सन्मुख रखा है और यद्यपि पण्डितोंका कथन है कि संन्यासका निषेध कर निःस्वार्थ बुद्धिसे समाजसेवा करना ही गीताका उपदेश है, तथापि थोडा विचार करनेसे प्रतीत होगा कि गीताकी शिक्षा इस प्रकारकी नहीं है। गीता जैसे प्राचीन ग्रन्थका आधुनिक दृष्टिसे परिशीलन करनेही से इस प्रकार अर्थविपर्यास होता है। गीताने जिस कर्मका उपदेश किया है वह कर्म मानवी नहीं है, दैवी है। सामाजिक कर्तव्योंको पूरा करना गीताकी शिक्षा नहीं है। निरहंकारतासे यन्त्ररूप बनकर भगवान्की इच्छा पूरी करना ही गीताकी शिक्षा है और ईश्वरांकित श्रेष्ठ महापुरुष अहंकारशून्य बनकर जगत्के हितके लिये भगवान्के उद्देश्यसे जो यज्ञस्वरूप कर्म करते हैं, वही कर्म गीताका आदर्श है।

यही आशय दूसरे प्रकारसे यों कह सकते हैं– गीता व्यावहारिक नीतिशास्त्र नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवनका ग्रन्थ है। आधुनिक विचारोंका प्रवर्तक यूरोप है। उसका उपास्य भगवान् नहीं, मनुष्यसमाज है। इसलिये यदि उसने समाजसेवा, देशसेवा, मानवजातिकी सेवा आदिको श्रेष्ठ आदर्श माना, तो आश्चर्यही क्या? वस्तुतः ये सभी आदर्श श्रेष्ठ हैं, इष्ट हैं और वर्तमानकालमें वे आवश्यकभी हैं। ये आदर्श भगवान्की इच्छाका विकासही है। ऐसा न होता तो मानवसमाजमें वे प्रवृत्तही क्यों होते? यह नहीं कि ब्रह्मचैतन्यमें वास्तव्य करनेवाला देवमानव इन सब आदर्शोंका स्वीकार न करेगा। किसी उच्चतर आदर्शका निर्माण होनेतक और जबतक इन्ही आदर्शोंको युगधर्मका महत्त्व है तबतक देवमानवको आवश्यक है कि उसका अवलंबन करे। क्योंकि देवमानव श्रेष्ठ व्यक्ति है और उसका उत्तरदायित्व है कि अपने बर्तावसे दिखा दे कि समाजको कैसे बर्ताव करना चाहिये। भगवान्ने भी तो अर्जुनको तत्कालीन सभ्यताके उपयुक्त श्रेष्ठ आदर्शका अवलम्ब करनेके लिये कहा। उन्होने यही कहा है कि सामान्य मनुष्य जैसे कुछभी न समझते हुए चली आई हुई परंपरा के समान कार्य करता है, ऐसा न करके ज्ञानसे तथा अंतःसत्यका अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर ही कर्म कर।

वस्तुस्थिति यह है कि वर्तमान कालमें कर्तव्य-निर्णयके संबंधमें मनुष्यको परमेश्वर, आध्यात्मिकता आदि बातोंकी आवश्यकताही नहीं दिखती। किन्तु ईश्वर और ईश्वरी स्थिति (आध्यात्मिकता) ये दो गीताके मुख्य तत्त्व हैं। वर्तमान कालका मनुष्य मनुष्यतासे ऊँचे जाना नहीं चाहता; किन्तु गीताकी इच्छा यह है कि हम भगवान्मेंही वास्तव्य करें। जगत्का कल्याण करना हो तबभी वह भगवान्में स्थित रहकरही करना चाहिये। आधुनिक मनुष्य केवल प्राण, चित्त, धन और बुद्धिपरही रहना चाहता है। किन्तु गीता इससे भी आगे चल कर आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्ति कर लेनेको कहती है। आजकल क्षर पुरुषोंमें– (क्षरः सर्वाणि भूतानि। गी. १५.-१६) अर्थात् आधिभौतिकतामें हि बद्ध रहनेके परे मनुष्यकी आकांक्षा नहीं है; परन्तु गीता कहती है कि क्षरसे परेके अक्षर पुरुषमेंभी मनुष्यका वास्तव्य चाहिये। यद्यपि ये सब तत्त्व आधे अधिक और अस्पष्ट रीतिसे लोग समझने लगे हैं, तबभी वे अभीतक उनका सच्चा मूल्य नहीं पहिचानते। मनुष्यके और समाजके व्यवहार के लिये उपयुक्त हो सके इतनीही आध्यात्मिक तत्त्वोंकी समालोचना वे कर सकते हैं। किन्तु ईश्वर और आध्यात्मिकताकी कीमत केवल मनुष्य और समाजके विचारसेही नहीं है, अपि तु उनकी निजकीभी खास कीमत है।

इसलिये हठसे यह समझ लेना भारी भूल है कि आधुनिक दृष्टिसे गीताका अर्थ लगाकर निःस्वार्थ बुद्धिसे कर्म करना यही श्रेष्ठ धर्म है। जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश किया गया उसका गंभीरतासे विचार करनेपर निःसंदेह प्रतीत होगा कि इसप्रकार का गीतार्थ भूलका है। क्यों कि गीताके उपदेशकी

उत्पत्ति उसी क्षणमें हुई है जब भिन्न भिन्न कर्तव्योंमें घोरविरोध उत्पन्न हो जानेके कारण सामान्य नीति-ज्ञानकी सहायतासे कर्तव्यका निर्णय होना असंभव हो गया। और इसीलिये अर्जुनको आवश्यक हुआ कि शिष्यरूपसे श्रीकृष्णकी शरण ले। मनुष्यके जीवनमें भी कर्तव्यविरोधके झगडे अनेक बार हुआ करते हैं। कभी तो सांसारिक कर्तव्य और देशके कर्तव्यमें विरोध उत्पन्न होता है और कभी देशके कर्तव्यमें और मानवजातिके कर्तव्यमें तीव्र विरोध उत्पन्न होता है। कभी कभी उच्च धर्म और नैतिक आदर्शमें झगडा आरंभ होता है; परन्तु अंतःकरणमें परमेश्वरकी आवाज ऐसी सुनाई देती है कि उस समय सब कर्तव्योंका त्याग करके ही बाहर निकलना पडता है। बुद्धदेवकी ऐसी ही परिस्थिति थी। हम नहीं समझते कि ऐसे समय में गीताने यह उपदेश देकर बुद्धकी आन्तरिक पृच्छाका समाधान किया होता कि 'तुम अपने प्रापंचिक कर्तव्य करो और राज्यका उत्तरदायित्व निभाओ'। गीताका यह मत होना कदापि सम्भव नहीं कि रामकृष्ण जैसे महात्मा किसी पाठशालामें अध्यापक बनकर निःस्वार्थ बुद्धिसे छोटे बालकोंको लिखना पढना सिखलावें, या विवेकानन्द जैसे पुरुष संसारमें फँसकर अपने परिवारका संगोपन करें और उसके लिये अपनी अतुल प्रतिभा-सामर्थ्यके बलपर निर्विकार बुद्धिसे वकालत, वैद्यक या अखबारका व्यवसाय करें। गीताकी शिक्षा यह नहीं है कि निःस्वार्थ बुद्धिसे कर्तव्य पालन करना, किन्तु 'देव-जीवन प्राप्त करना और सब धर्मोंका त्याग कर केवल परमेश्वरको पूर्ण रीतिसे आत्म-समर्पण करना' ही गीताकी शिक्षा है। गीताने कर्महीनताकी अपेक्षा कर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया है। तथापि कर्मत्यागको उसने सर्वथा अग्राह्य सिद्ध नहीं किया, किन्तु माना है कि वह भी ईश्वरप्राप्ति का एक मार्ग है। संसारका और कर्मका त्याग किये बिना यदि भगवान्की प्राप्ति होना असंभव हो और कर्मत्यागके लिये भीतरसे प्रबल पुकार आती हो, तो ऐसी दशामें संसारका और कर्मका त्याग करना ही चाहिये। भगवान्की सूचना सर्वश्रेष्ठ एवं नियामक है। अन्य किसी भी युक्तिवाद से इस सूचना की अवहेलना करके न चलेगा।

भगवान्ने अर्जुनको जो कर्म करनेके लिये कहा है, वह अर्जुनकी समझमें एक भयानक पाप है। युद्धकार्य कर्तव्य है सही, किन्तु यदि कर्ताकी दृढ समझ है कि वह महापाप है तब उसे निःस्वार्थ एवं निर्विकार बुद्धिसे करनेको कहनेमें लाभ ही क्या? और इससे संशयकी निवृत्ति कहाँ होती है? अर्जुनका तो यही प्रश्न है कि सबका ध्वंस करनेवाला युद्ध मेरा कर्तव्य कैसे हो सकता है? श्रीकृष्णने युक्तिवाद किया कि तेरा सत्य पक्ष है अर्थात् युद्ध करना धर्म्य है, तेरा कर्तव्य है। परन्तु इससे अर्जुनको संतोष न हुआ। ऐसी दशामें अर्जुन क्या करे? कर्मका परिणाम क्या होगा, पापप्रद होगा या पुण्यप्रद होगा? इसका विचार न कर निर्विकार बुद्धिसे वह केवल सैनिकका कर्तव्य करे, इस प्रकारकी सलाह या शिक्षा कोई वकील या राजनीतिज्ञ दे तो चल सकता है। किन्तु संसारके एवं कर्मके प्रश्नका सर्वांगपरिपूर्ण संतोष करानेके लिये प्रवृत्त हुए गीता जैसे महान् तथा तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रंथकी इस प्रकारकी शिक्षा होना संभव नहीं। यदि उसकी ऐसी शिक्षा हो तो उसे संसारके धर्मग्रन्थों की फेहरिस्त निकालकर राजनैतिक और व्यावहारिक विषयके ग्रन्थोंमें उस-की गिनती करना हमारा कर्तव्य होगा।

उपनिषदोंके समान गीता पापपुण्य, शुभ-अशुभके द्वंद्वके परे जाकर समता प्राप्त करनेको कहती है। किन्तु यह समता केवल ब्रह्मज्ञानका ही एक भाग नहीं है, साधनमार्गमें जो बहुत आगे बढ गये हैं, उन्हीं को वह प्राप्त हो सकती है। यह जानकर कि यदि सामान्य मनुष्य शुभाशुभका, पापपुण्यका विचार न कर कर्म करे, तो बडा अनर्थ होगा; उसके संबंधमें उदासीन रहनेके लिये गीताने उपदेश नहीं दिया। गीताका तो स्पष्ट कथन है कि पापियोंको भगवान्की प्राप्ति न होगी। तब सामान्य धर्मका ही अच्छी प्रकार

पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले अर्जुनको जो कर्म हृदयसे पाप-प्रद जँचा, वह सैनिक दृष्टिसे कर्तव्य सिद्ध होनेपर भी निःस्वार्थ बुद्धिसे करना आवश्यक नहीं है। अर्जुनकी अंतरात्मा, अर्जुनका विवेक जिस कर्मको पापप्रद अतएव गर्ह्य समझती है, उससे- हजारों कर्तव्योंका नाथ होने पर भी- अर्जुनको निवृत्त होना ही चाहिये। हमें ध्यान रखना चाहिये कि कर्तव्यका सिद्धान्त वास्तवमें सामाजिक संबंध पर खडा किया गया है। कर्तव्य शब्द सम्बन्धवाचक है। दूसरोंसे हमारा जो सामाजिक सम्बन्ध रहता है, उसीके द्वारा दूसरोंके विषयमें हमारा कर्तव्य निश्चित होता है। पिताके नाते सन्तानके पालनपोषण का कर्तव्य है, पक्षकार दोषी रहते भी उसके पक्ष का समर्थन करना उसके वकीलका कर्तव्य है, सेनापतिकी आज्ञा होनेपर गोली चलाना सैनिक का कर्तव्य है, चाहे वह मनुष्य सम्बन्धी या देश-बन्धु भलेही हो, अपराधीको जेलमें भेजना तथा खूनी मनुष्यको फांसीकी सजा देना न्यायाधीश का कर्तव्य है। जब तक ये भिन्न भिन्न भूमिकाएं संभालनेकी लोगोंकी इच्छा है, तब तक उनके कर्तव्य भी स्पष्ट हैं। परन्तु अंतःकरणकी वृत्ति में बदल हुआ और वकीलको यह प्रतीत हुआ कि किसी भी हालतमें असत्यका मण्डन करना महत् पाप है, न्यायाधीशको यह लगे कि फांसी की सजा देना पाप है, रणक्षेत्रपर स्थित सैनिक को टॉल्स्टॉयके सदृश यह लगे कि सभी हालतों में नरमांस-भक्षण अनुचित है वैसे ही मनुष्यवध भी निषिद्ध है, तो उस समय वह क्या करे? ऐसे समयमें मनुष्यको कर्तव्यकी अवहेलना करके भी पापसे बचना ही चाहिये और यह बात निः-संदिग्ध है। ऐसी परिस्थितिमें पापपुण्यका विचार किसी भी सामाजिक संबंधपर या कर्तव्य-सिद्धान्त पर अवलंबित नहीं रहता। धर्मज्ञान अंतःकरणमें जागृत होते ही वह विचार अपने ही भीतरसे आपही आप निर्माण होता है।

वास्तवमें इस जगत् में कर्मके दो नियम हैं— एक नियम हमारे बाहरी सम्बन्ध पर मुख्यतः बनाया गया है और दूसरा नियम सर्वतः विवेक और धर्मज्ञानके आधारपरही बनाया गया है। जब मनुष्यके हृदयमें धर्मज्ञान जागृत होता है; तब गीताका कथन यह कदापि नहीं है कि सामाजिक कर्तव्यके सामने धर्मज्ञानका, पापपुण्यके विचारका हम लोग बलिदान कर दें। गीताका उपदेश तो यही है कि सांसारिक कर्तव्यबुद्धि और धर्मज्ञान इन दोनोंका विरोध त्यागकर ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। 'कर्मके लिये बाहरी नियमोंके आधीन न होकर भगवान् की प्रेरणासे कर्म करो' यही गीताका उपदेश है।

गीताका सत्य रहस्य समझना हो, तो उसका परिशीलन सामग्न्यसे करना आवश्यक है। गीता को कर्तव्यशास्त्र सिद्ध कर दिखानेवाले आधुनिक टीकाकारोंमें पहला स्थान विख्यात लेखक बाबू बंकिमचन्द्रका है। बाबू बंकिमचन्द्र तथा उन्हींके विचारोंके अन्य टीकाकारोंका सब जोर गीताके पहले तीन या चार अध्यायोंपर है और उसमें भी जिस स्थानमें फल-अफलका विचार न कर कर्तव्य करनेका उपदेश है, उसीको वे गीता-शिक्षाका केन्द्र समझते हैं।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २।४७) 'कर्म करने भर का तुझे अधि-कार है, कर्मफलका अधिकार तुझे नहीं'। आजकल यही वाक्य गीताके महावाक्यके नाते प्रसिद्ध है। ये टीकाकार विश्वरूपदर्शनको छोड उच्च तत्त्वज्ञानसे भरे गीताके अन्य अध्यायोंका विचार करनेकी भी आवश्यकता नहीं समझते। वर्तमान समयमें मनुष्यको कर्मप्रवृत्त होनेकी ही अधिक चिन्ता है। अपना काम सुकरतासे हो इस प्रकारके नियमोंकी और धर्मकी उन्हें अर्जुनके समान ही आवश्यकता मालूम होती है। इसीलिये बंकिम बाबूके सदृश गीताकी कर्मप्रेरक टीकाका अवतार होना स्वाभाविक है। किन्तु रहस्यकी दृष्टिसे विचार करें तो मालूम होगा कि इन टीका-कारोंका निकाला हुआ गीतारहस्य विपर्यासात्मक

है। गीतोक्त समता निःस्वार्थपर नहीं है। 'उठो शत्रुका नाश करो, सर्वैश्वर्यसंपन्न राज्यका उपभोग कर' इस श्रीकृष्णके आदेशमें केवल निःस्वार्थ परोपकार और निर्विकार वैराग्यकी प्रशंसा नहीं है। यह आंतरिक समता एवं उदारताकी अवस्था है और वही आध्यात्मिक स्वतन्त्रताका पाया है। जो कर्म करना है वह इस प्रकार स्वतंत्रता और समतासे युक्त होना चाहिये। 'कार्यमित्येव यत्कर्म' (गी. १८-९) इस वाक्यका गीताने अत्यन्त व्यापक अर्थ किया है और उसमें मनुष्य जो कुछ भी करता है वे सभी क्रियाएँ शामिल हैं। कर्म कौनसा करना चाहिये,इस बातका निश्चय व्यक्तिके मतके अनुसार करनेसे न चलेगा। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते...' (गी. २-४७) यह भी गीताका महावाक्य है। योगमार्गके शिष्योंकी वह प्राथमिक शिक्षा है। आगे चलकर यह शिक्षा कतई छोड देनी पडती है। क्योंकि गीताने आगे चलकर जोरसे कहा है कि 'मनुष्य कर्म नहीं करता, प्रकृति ही कर्म कराती है।' जब तक अज्ञानसे अपन समझते हैं कि अपनही कर्म करते हैं, तभी तक 'कर्म-मात्रके अधिकार' (कर्मण्येवाधिकारस्ते)के विचारका अस्तित्व और कीमत। जब इस भ्रमका नाश हो जावेगा और अपन समझ लेते हैं कि अपने कर्मके कर्ता अपन नहीं हैं, तब फलके अधिकारके समान कर्मका भी अधिकार नहीं रहता।

तथापि प्रकृतिका कर्तृत्वमात्र हि गीताका अन्तिम विचार नहीं। चित्त, मन और बुद्धिके द्वारा भगवच्चैतन्यमें प्रवेश करना और उसमें वास्तव्य करनेके लिये इच्छाकी समता तथा कर्मफलत्याग एक उपाय है। गीताका कथन है कि जबतक उच्च स्थिति प्राप्त नहीं हुई तभी तक इस उपायसे काम लेना चाहिये (गीता अध्याय १२ श्लोक ८ से ११ देखो)। दूसरे, स्वतः भगवान् कहनेवाला यह श्रीकृष्ण कौन है? यह है पुरुषोत्तम। कर्म करनेवाली प्रकृति और कर्म न करनेवाला पुरुष दोनोंके परे यह पुरुषोत्तम है। जो हमारे जैसे मायाबद्ध जीवोंके हृदयमें रहकर प्रकृतिके कर्मस? हिलाता है और जिसने अखिल संसार प्रकाशित किया है, वही यह पुरुषोत्तम है। कुरुक्षेत्रपर स्थित सेना जीवित रहते भी इसी पुरुषोत्तमके द्वारा मृत हो चुकी है और वह अर्जुनको यन्त्र अथवा निमित्त समझकर उससे रणक्षेत्रपर व्यवहार करता है। प्रकृति इस पुरुषोत्तमकी ही कार्यकारी शक्ति (Executive force) है। शिष्यको इस त्रिगुणात्मक शक्तिके उस पार जाना चाहिये। उसे चाहिये कि सब कर्म प्रकृतिको अर्पण न कर पुरुषोत्तमको अर्पण करे। मन, बुद्धि, चित्त, इच्छा ये सब उससे नियुक्त कर आत्मा, ईश्वर तथा जगतके ज्ञानसे युक्त होकर, पूर्ण समता, पूर्ण भक्ति और आत्मसमर्पणके साथ सब कर्मरूप फूलोंसे उसे इस पुरुषोत्तमकी पूजा करनी चाहिये। सब कर्मोंका और सब यज्ञोंका जो ईश्वर उस पुरुषोत्तमकी इच्छाके साथ और ज्ञानसे अपनी इच्छा और ज्ञान मिलाकर उसीसे अपने कर्तव्यका निर्णय करा लेना चाहिये और कर्मप्रवृत्त होना चाहिये। शिष्यकी सब शंकाओंका निरसन भगवान्ने इस प्रकार किया है।

गीताका रहस्य ढूँढ निकालनेके लिये हमें इतना परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। गीताने ही अपनी गंभीर गर्जनासे वह घोषित किया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी. १८।६५-६६)

"तू मुझमें मन रख कर केवल मेराही भक्त बन; मेरा ही यजन करके मुझको ही वंदन कर, तब मैं सत्यप्रतिज्ञासे कहता हूं कि तू मुझे ही आ मिलेगा। तू मेरा प्यारा भक्त है। सब धर्मोंको छोड तू मुझ अकेलेकी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा। डरो मत्।"

इन दो श्लोकोंमें जो प्रगट हुआ वही गीताका

यह ज्ञान, यही परम पुरुषार्थका साधन और यही गीताका रहस्य है।

मानवीय स्तरमसे ईश्वरीय स्तरमें प्रवेश करनेके लिये गीताने तीन सीढियाँ बतलाई हैं। इन सीढियोंको लांघनेसे मनुष्य कर्मबंधनसे मुक्त हो देवजीवनका स्वातंत्र्य प्राप्त कर सकता है। सब वासनाओंका त्याग कर सब कर्म परमेश्वरके उद्देश्यसे यज्ञस्वरूप समझ कर समतासे करना ही पहली सीढी है। इस अवस्थामें मनुष्य स्वतःको ही कर्मकर्ता समझता है। इसलिये परमेश्वरसे उसका ऐक्य नहीं होता। दूसरी सीढी है कर्मफल के समान ही कर्ममें अपना अधिकार नहीं इस बातकी उपलब्धि होना। सब प्रकारके कर्म प्रकृति ही कराती है, आत्मा स्वतः कुछ नहीं करती,यह बात जिसे ज्ञानचक्षुसे दिखती है, वही इस दूसरी स्थितिमें या दूसरी सीढीपर पहूँच सकता है। अन्तिम सीढी है प्रकृति और पुरुषके परे स्थित पुरुषोत्तमकी पहिचान होना। संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि परमप्राप्तिके लिये कर्मयोग प्रथम, ज्ञानयोग दूसरी और भक्तियोग तीसरी और अन्तिम सीढी है। पहली सीढी पर स्थित शिष्य स्वार्थशून्य बनकर तथा भगवानको कर्मफल अर्पण कर कर्म करे। गीताने जो कर्म करनेके लिये बारबार कहा है वह पहली सीढीपर स्थित शिष्योंके लिये है। दूसरी सीढीपर स्थित शिष्यको अर्थात् ज्ञानयोगके साधकको चाहिये कि आत्मा और जगत् के बारेमें सत्य ज्ञान प्राप्त करे। इस स्थिति के शिष्योंको गीता बारबार ज्ञानका उपदेश ही करती है। परन्तु इस अवस्थामें भी यज्ञरूप कर्म करना चाहिये। यहाँ ज्ञान और कर्म दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। इस अवस्थामें शिष्य भगवान् की भेटके लिये व्याकुल होता है। इस सीढीपर यद्यपि ज्ञान और कर्मका आत्यंतिक विकास होता है, तथापि उसका अन्त नहीं होता। केवल ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन मार्ग एकरूप होते हैं। साधककी चिरवांछित फलकी प्राप्ति इसी सीढी पर होती है। और भगवान् की भेट होकर वह सर्वमुक्त होता है।

❀

कुरुक्षेत्रपर।

यह देखनेके लिये कि गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्ति इस त्रीविध मार्गका उपदेश क्रमशः किस प्रकार किया है, उस परिस्थितिका पुनः परीक्षण करना आवश्यक है,जिस परिस्थितिमें गीतोपदेश प्रगट हुआ था। यद्यपि अर्जुनने केवल स्वतःके कर्तव्य-अकर्तव्यका ही निर्णय भगवान् के पास मांगा था, तथापि उसने वह प्रश्न जिस पद्धतिसे पूछा उसके कारण नीचे लिखे सभी प्रश्नोंकी मीमांसा आवश्यक हुई- मानवी जीवन और कर्मका गूढ रहस्य कौनसा? जगत् क्या है? जगत् में रहकर भी क्या मनुष्य आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्ति कर सकता है? गीतागुरु श्रीकृष्णने अर्जुनको आदेश देनेके पूर्व इन कठिन और गूढ प्रश्नोंका उद्घाटन अच्छी प्रकार किया है।

जो व्यक्ति संसारमें रहकर आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उसे प्रतिबंध किससे होता है? सृष्टिका कौनसा भाग प्रत्यक्ष देखकर अर्जुनको विषाद हुआ? हमें तो ऐसा लगता है कि जगत् का सत्य स्वरूप सामान्यतः पापपुण्यके तथा धर्म-अधर्मके मिथ्या आवरणके नीचे छिपा है।

जब यह आवरण निकल जाता है, तब जगत् का सत्य स्वरूप देखने मिलता है और अपन आश्चर्यचकित होते हैं। अर्जुन भी जगत् का सत्य स्वरूप एकाएक देखकर भयभीत और उद्विग्न हुआ। यद्यपि बाहरसे यह स्वरूप कुरुक्षेत्रपर होनेवाले हत्याकाण्ड और रक्तपातके रूपमें प्रकट हुआ, तथापि आध्यात्मिक दृष्टिसे अर्जुनने वह भगवान् के विश्वरूपमें देखा।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः॥ (गी. ११।३२)

अर्जुनको यही दिखा कि कालरूप भगवान् खुद ही निर्माण किये हुए जीवोंका संहार कर रहे हैं। जीवनका अंतिम ध्येय जो सत्य वह यही है। वह जगत् के व्यापारमें अप्रत्यक्ष रीतिसे व्यक्त होता है और अनंतर उसका प्रत्यक्ष आत्मदर्शनसे

साक्षात् अनुभव होता है। जगत् और मानवी जीवन युद्ध, विरोध, हत्यामेंसे ही मार्ग आक्रमण करता है । वही विश्वका बाह्य-स्वरूप और विश्व-सत्ता, विराट् सृष्टि और विराट् ध्वंस में से स्वयं परिपूर्ण होनेके लिये उपयुक्त होता है । यह है विश्व का अंतःस्वरूप । जीवन एक विशाल युद्धक्षेत्र एवं मृत्युभूमि है और वही कुरुक्षेत्र है। इसी कुरुक्षेत्र पर अर्जुनने भगवान् का भयानक विश्वरूप देखा । ग्रीक दार्शनिक हिराक्लिटस् ने कहा है कि युद्ध ही सब वस्तुओंका जन्मस्थान है। ग्रीक पण्डितोंके अन्य विचारोंके सदृश इस विचारमें भी गंभीर सत्य भरा है । शक्ति और वस्तुसमूहके पारस्परिक आघातप्रत्याघातोंके द्वारा ही जगत्का चक्र चला है । किसीको खबर नहीं रहती कि नवीनताकी निर्मिति और प्राचीनताकी पूर्णाहुति इसीके कारण होती है । इस सबका उद्देश्य क्या? कोई कहते हैं कि उत्पत्तिके बाद विनाश और विनाशके बाद उत्पत्ति इस प्रकार यह निरर्थक चक्रनेमिक्रम अनंत काल शुरू है । और कोई कहते हैं अन्तमें अपने आपही सबका विनाश होगा । जो आशावादी हैं वे कहते हैं कि विपत्ति, विनाश और संग्राम में से ही जगत् क्रमशः उत्क्रान्त होता जाता है और भगवान् की संकल्पसिद्धिमें साहाय्य करता है। वह जो कुछ हो, इतना सत्य है कि जगत्में विनाशके विना किसीकी भी उत्पत्ति हो नहीं सकती और भिन्न शक्तियोंके विरोधके बिना मेल उत्पन्न नहीं हो सकता । यही नहीं दूसरेका संहार किये बिना किसीको भी कभीभी जीवित रहना भी संभव नहीं। शारीरिक जीवन धारण करनेके लिये हमे प्रतिक्षण मरना पडता है और नया जन्म लेना पडता है । किसी शत्रुद्वारा घिरे हुए शहर के सदृश हमारे शरीरकी स्थिति है । इस शरीर-रूप नगरपर एक ओरसे हम्ला हो रहा है और दूसरी बाजू नगरकी रक्षा कर रही है । एक दूसरे-का नाश यही उभय पक्षोंका उद्देश्य और कार्य है । और इसी सिद्धान्तसे सब जगत् बद्ध हुआ है । "चारों ओरकी परिस्थितिसे बिना झगडे तुझे विजयप्राप्ति न होगी; यही नहीं, यदि तुम दूसरेकी हत्या न करोगे तो तुम स्वयं जीवित न रह सकोगे । विनाशके द्वाराही सृष्टिकी रक्षा होती रहे यही जगत् का प्रथम नियम मैंने बनाया।" मालूम होता है यही आदेश सृष्टिकी उत्पत्तिसे चला है ।

जगत्का निरीक्षण कर प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने इसी प्रकारका सिद्धान्त निश्चित किया है । उपनिषदमें भी इसी सत्य सिद्धान्तकी गंभीर गर्जना की है और स्पष्ट जतलाया है कि क्षुधारूप मृत्यु ही जगत्का ईश्वर और वही सृष्टिकर्ता है । जड जीवका खाद्य है और जडका खाद्य जीव है । इस लिये उपनिषदोंने अपनी रूपकात्मक भाषामें यज्ञके घोडेको प्राणिमात्रका और जडको खाद्यका रूप देकर जड जगत्का यह सत्य घोषित किया कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। इसी सत्यका पुनराविष्करण डार्विनके उत्क्रान्ति-वादने किया है ।

विख्यात जर्मन दर्शनिक नित्शेकी समझमें 'युद्ध ही सृष्टिकी नीति और क्षत्रियही मनुष्यका आदर्श है।' प्राथमिक अथवा अन्तिम अवस्थामें मनुष्य कैसा भी क्यों न हो, पूर्णत्वकी प्राप्तिके लिये उसे मध्यजीवनमें क्षत्रिय (योद्धा) होना आवश्यक है। नीत्शेके विचारोंकी अपन चाहे जितनी निंदा करें, पर उन विचारोंकी न्याय्यता माननी ही पडेगी। मनुष्यके कर्तव्य-अकर्तव्यके सम्बन्धमें नीत्शेने जो सिद्धान्त प्रचलित किये हैं वे यद्यपि हम लोगोंको मंजूर नहीं हो सकते, तथापि संसारके जिस संहार-लीलाके परे हम आंखें खोलकर देखना नहीं चाहते, वही उत्कट सत्य बिलकुल स्पष्ट रीतिसे उसने हमारे सन्मुख रखा है। वास्तवमें यह कठोर सत्य अतीव उपकारी है और सर्वप्रथम वह हमारा क्लैब्य एवं दौर्बल्य नष्ट करेगा । जगत्में जो लोग केवल प्रेम, केवल सत्य और केवल सौन्दर्य देखते हैं, किन्तु प्रकृतिके भयानक रूपसे आंखें फेर लेते हैं; जो भगवान्की शिव-मूर्तिका भर पूजन करते हैं किन्तु रुद्र-मूर्तिसे डरते हैं; ऐसे लोगोंमें स्वभावतः दुर्बलता और जडता उत्पन्न होती है । यदि जगत्

का वास्तविक स्वरूप सरलतासे देखनेका सातत्य एवं साहस हममें न हो, तो जगत्के विरोध और उसकी विषमताकी मीमांसा संतोषदायक रीतिसे हम कदापि न कर सकेंगे। जगत् की जो अप्रिय बाजू हम देखना नहीं चाहते उसीमें अन्तिम ऐक्य के लिये अत्यन्त आवश्यक रहस्य छिपा हो सकता है। उस रहस्यकी अवहेलना करके न चलेगा। हमारे लिये जानना आवश्यक है कि भूत और वर्तमान जीवनसे वह किस प्रकार संलग्न है।

केवल जड-जगत्का ही सनातन नियम युद्ध नहीं है अपि तु वह मानसिक एवं धार्मिक जीवन का भी अनुल्लंघ्य नियम है। धर्म, समाज, राजनीति, ज्ञानचर्चा ऐसा कोई भी क्षेत्र क्यों न लें, भिन्न भिन्न शक्तियोंके संघर्षबिना मनुष्य एक पग भी प्रगति नहीं कर सकता। उदाहरणके लिये अहिंसा ही ले लीजिये। इस समय अहिंसा मानवी जीवन-का श्रेष्ठ आदर्श और नीति समझी जाती है। तथापि अब तकके जगत्का और मनुष्यस्वभावका विचार करनेपर यही मालूम होता है कि अहिंसा-सिद्धान्तका उचित और पूर्णतया पालन करके मनुष्य रत्तिभर भी उन्नति नहीं कर सकता। आत्मिक शक्तिका संपूर्ण विकास न होनेके कारण जब तक वह कृतकार्य नहीं होती, तबतक शारीरिक सामर्थ्यका उपयोग करके जगत्की आसुरी शक्तिको यदि रुकवट न डाली जावे, तो अत्याचार का सैतानी साम्राज्य शुरु होकर अहिंसा अत्याचारके बढानेका ही कारण हो जावेगी। आत्मिक शक्ति तलवारों और बन्दूकोंकी अपेक्षा कई गुनी भयानक और संहारक है। आत्मिक शक्तिके प्रयोग का परिणाम कितना भयंकर एवं संहारक होता होता है, सो वे ही दूरदृष्टि लोग जान सकते हैं जो कर्मके और कर्मके सद्यःफलदायित्वके परे देखते हैं। केवल पापका ही निर्दालन नहीं होता, किन्तु उस पापके साथ पापके कारण जो कुछ टिक रहा है, उसका भी निर्दालन होगा। यह निर्दालन अपने हाथोंसे न भी हुआ हो, तब भी संहारकी दृष्टिसे उसका महत्त्व कम नहीं।

जब हम किसीपर आत्मशक्तिका प्रयोग करते हैं, उस समय उसके विरुद्ध खडी हुई क्रुद्ध कर्मशक्तिका नियंत्रण हमारे लिये असंभव रहता है। विश्वामित्रने क्षात्रशक्तिकी सहायतासे वसिष्ठपर हम्ला किया। प्रतिक्रियाके लिये वसिष्ठने विश्वामित्र पर आत्मिक शक्तिका प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि हूण, शक, पल्लवादि सेना विश्वामित्र पर टूट पडी। आध्यात्मिक प्रकृतिका मनुष्य अत्याचारसे जर्जर होकर सब बातें चुपचाप सह लेता है, तब अत्याचारका बदला लेनेके लिये जगत्का भीषण शक्तिसमूह क्षुब्ध होता है। अन्याय, पाप, अत्याचार करनेवालोंका परिमार्जन भौतिक सामर्थ्यसे ही यदि किया जा सकता हो, तो उस प्रकारका व्यवहार उनके लिये सदयताका ही बर्ताव है। वर्ना अत्याचारीकी अत्याचारपरंपराके कारण वह भीषण संहारक प्रसंग स्वतःपर भी आ बीतेगा। मनुष्योंके मनकी वृत्ति बिना अहिंसात्मक बने केवल शस्त्रसंन्याससे युद्ध जगत्से नष्ट नहीं हो सकता। उसी प्रकर स्वतः निष्क्रिय रहकर या अन्याय अत्याचारोंकी उपेक्षा करनेसे युद्ध और हिंसा जगत्से नष्ट नहीं हो सकती। मानव जातिमें विद्यमान रहनेवाली हिंसावृत्ति समूल नष्ट हो जानी चाहिये। अकर्मण्य, तमःप्रवृत्ति, जडता इनसे जगतका जितना अनहित किया है, उतना रजोगुण-ने और युद्धने भी नहीं किया। रजोगुणसे जितना संहार होता है उससे अधिक उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि कोई व्यक्ति युद्धसे, ध्वंससे निवृत्त हो, तो उससे उस व्यक्तिकी नैतिक उन्नति होनेपर भी जगत्से युद्ध मिट जाना संभव नहीं।

संसारपर युद्धनीतिका कैसा प्रचण्ड प्रभाव है, सो मानव जातिका इतिहासही बताता है। तथापि यह भी ध्यान रहे कि युद्ध ही सर्वस्व नहीं है। जैसे एक ओर विरोध और विच्छेद दिखाई देते हैं, वैसे ही दूसरी ओर परस्पर एकता तथा सहकारिता भी दिखाई देती है। हम लोगोंमें जैसे स्वार्थके लिये दूसरेका नाश करनेकी प्रवृत्ति है, वैसेही दूसरेके लिये प्राण देनेकी भी प्रवृति हम

लोगोंमें है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें कि ये सब शक्तियाँ किस प्रकार काम करती हैं, तो हम लोगोंके विचार बिना बदले रह नहीं सकते। मनुष्योंमें जो सहकारिता है वह केवल इसलिये ही नहीं है परस्परकी सहायता करें, किन्तु इसलिये भी है कि शत्रु-नाश हो। अनेक बार सहकारिता युद्ध और अहंकार की सहायक हुई है तथा प्रेम भी संहारका हथियार सिद्ध हुआ है। विशेषतः ईश्वरके प्रेमसे तो जगत्में लडाइयाँ, रक्तपात, और हत्याएँ हुई हैं। आत्मबलिदान निःसंदेह अतीव महत्वका है। परन्तु क्या इस बलिदानसे यह नहीं सिद्ध होता, कि किसी कार्यके लिये अमुक शक्तिको किसी न किसीका बलिदान करना आवश्यक है? और क्या नियम सिद्ध नहीं होता कि मृत्युसे ही जीवन की उत्पत्ति है? अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये आततायी जन्तुका सामना करनेकी पक्षीकी तैयारी, देशकी स्वतन्त्रताके लिये देशभक्तका प्राण विसर्जन, धर्मके लिये तथा विशिष्ट तत्त्वोंके पालनके लिये जो भुगतने पडते हैं वे दारुण दुःख एवं इस प्रकार प्राणिसृष्टिके छोटे बडे तहोंमें दिखाई देनेवाले आत्मबलिदानके असंख्य उदाहरण देख. कर जो सिद्धान्त प्रतीत होता है वह सहजहीमें समझा जा सकता है।

ये सब प्रकार और उनके परिणाम देखें तो यह समझ लेना कठिन है कि जगत् सुखमय है। देशको स्वतंत्र बनाने हेतु एक दिन सैकडों देशभक्त प्राण-दान करते हैं, कुछ दिन उपरान्त उनका अपेक्षित फल मिल जानेपर वह देशही दूसरे देशकी स्वतंत्रताका अपहार करके स्वयं अपनेको बडा समझता है। अपने धर्मके लिये हजारों ईसाइयोंने साम्राज्यशक्तिके विरुद्ध आत्मसामर्थ्यका उपयोग किया। वस्तुतः आत्मिक शक्तिकी जीत हुई, ईसाई धर्मका प्रसार हुआ; परंतु ईसा मसीहकी विजय न हुई। जिस साम्राज्यको नष्टकर ईसाई धर्म प्रतिष्ठित हुआ उस साम्राज्यसे भी अत्याचारी अब ईसई धर्म हुआ है। संसारके धर्मही संगठित होकर जगत् पर प्रभुता जमानेके लिये एक दूसरेसे लड रहे हैं।

इन सब बातोंसे यह अच्छी प्रकार समझमें आ जाता है कि जगत्में 'संग्राम' नामकी जो चीज है, उस चीजपर कैसे विजय प्राप्त करना सो अपन जान नहीं सकते। यदि जागतिक प्रश्नोंकी मीमांसा संतोषदायक रीतिसे करना हो तो अच्छी तरह जानना होगा कि जगत् क्या है। जगत्को देखना ही भगवान्को देखना है। जगत् और जगन्नाथ को पृथक् करनेसे काम न चलेगा। इस रहस्यमय जगत्का एकही कर्ता है, उत्पत्ति-स्थिति-संहार ये त्रिविध कार्य एकही परमेश्वरके हैं, इस प्रकार स्पष्ट और निश्चित बोलनेका साहस भारतधर्मके अनुसार संसारके बिलकुल ही थोडे धर्मोंने किया है। रुधिराक्त कलेवर, ध्वंसवृत्तिपरायण कालि मूर्तिको जगदंबा और जगन्नाथ समझकर उसकी श्रद्धा से पूजा करनेवाला केवल हिन्दूही है। जिस धर्ममें इस प्रकार निश्चित सातत्य और निःसीम साहस है, वही धर्म संसारमें सबसे गंभीर एवं विस्तृत अध्यात्मिकता निर्माण कर सकेगा इसमें आश्चर्य ही क्या? क्योंकि सत्यही सच्ची अध्यात्मिकताकी नींव और साहस प्राण है।

तथापि हम यह नहीं कहते कि युद्धही सृष्टिका मूल है, युद्धसे एकता बडी नहीं है और मृत्युकी अपेक्षा प्रीतिमें ही भगवान्का अधिक प्रकाश नहीं है। इसी तरह यह भी हम नहीं कहते कि पाशवी सामर्थ्यके विरुद्ध आत्मिक सामर्थ्यकी स्थापना करनेका, विरोधके बदले एकता की प्राणप्रतिष्ठा करनेका तथा मृत्युके विरुद्ध अमरप्राप्तिका प्रयत्न न किया जावे। भगवान् जैसे लोकसंहारकर्ता हैं, वैसे लोकबन्धु भी हैं। करालस्वरूपिणी कालीही सर्वमंगलमयी माता है। कुरुक्षेत्रके युद्धका कर्ताही अर्जुनका सखा, सारथी अवतार श्रीकृष्ण है। यह निःसंदेह है कि वह हमे अनेक विरोध, आपत्तियां और झगडों तथा युद्धोंके कंटकमय मार्गमेंसे देवत्वकी ओर लिवा ले जाता है। तथापि अबतक हमने जिस युद्धविरोधका इतना विचार किया उसके परे वह हमे ले जाता है यह निश्चय है। कहाँ, किस प्रकार ले जाता है यह अवश्य ही

जानना जरूर है और इसीकी पहिचानके लिये हमे जगत्का असली स्वरूप मालूम कर लेना आवश्यक है। भगवान्का कर्मज्ञान हमें कर लेना चाहिये, तब हमे अपना मार्ग स्पष्ट दिखेगा। हमे कुरुक्षेत्र-का स्वीकार करनाही होगा। अमरत्व संपादनके पूर्व हमे यह नीति शिरोधार्य माननी होगी कि 'जीवन मृत्युके द्वारपर ही स्थित है'। अर्जुनके समान न डर कर काल-कर्ताके सन्मुख निडर हो हमे खडा होना चाहिये। विश्वसंहारकर्तासे डर कर या उसे टाल कर काम न चलेगा।

मनुष्य और जीवनसंग्राम

गीता की सर्वव्यापी शिक्षा यदि आत्मसात् करना हो, तो जगत्का खुला स्वरूप गीताने जिस प्रकार निर्भयतासे अवलोकन किया उसका ज्ञान हमे कर लेना चाहिये। कुरुक्षेत्रका सारथी श्री-कृष्ण एक दृष्टिसे सब जगत् का ईश्वर, सब लोगों-का बन्धु और सर्वज्ञ गुरु है; तथा दूसरी दृष्टिसे वही लोकसंहारकर्ता भीषण काल है। इस बातमें गीताने सार्वभौम हिन्दुधर्मका अनुकरण कर जगत्-रहस्य का यह भाग छिपाने का प्रयत्न नही किया। जगत्को कोई कोई जड शक्तिकी अंध क्रिया समझते हैं और कोई कोई जगत्को मिथ्या मानते हैं, परन्तु गीता सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान् ईश्वरका अस्तित्व मान्य कर कहती है कि वही जगत्के रूपमें प्रकट हुआ है। परमेश्वर माया, प्रकृति अथवा शक्तिका दास नहीं स्वामी है। इसकी इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता भी नही हिल सकता। तथापि गीताके यह विचार मान्य करके भी जगत्में सर्वत्र दिखाई देनेवाला मृत्युका भय चारों और फैला हुआ नानाविध दुःखोंका साम्राज्य तथा यह सिद्धान्त कि परिवर्तन और मृत्युके बिना किसी भी जीवन का अस्तित्व टिकता नहीं, आदि देखकर इस विचारपर अखंड श्रद्धा रहना कठिन है। इन सभी बातोंमें सर्वव्यापी भगवान्को देखना चाहिये। यह बात ध्यान रखनी होगी कि जगत् के वैचि-त्र्यपूर्ण रहस्यका निश्चयात्मक समाधान है और यहाँ सब प्रकारके विरोध में भी एकता दिखलाने-वाला ज्ञान है। इसी विचार पर दृढ श्रद्धा रखकर हमने कहा है कि 'यद्यपि तू मृत्युरूपसे खडा है तथापि तुझ पर ही मेरा सब निर्धार है'। जगत् के सभी धर्मपंथोंमें इस प्रकारका विश्वास न्यूनाधिक मात्रामें दिखाई होता है।

विरोध और युद्धका मानवी जीवितसे जो छाया-सम्बन्ध है उसे मानना जैसे आवश्यक है, वैसे ही यह भी मानना पडेगा कि इस संबंध का पर्यवसान कुरुक्षेत्रके समान महान् संधिक्षणोंमें होता है। मानव जातिके इतिहासमें जब धर्म, शिक्षा, समाज राजनीति आदि विषयोंमें भयावना उलटफेर होता है, तब बीच बीचमें इस प्रकारका मन्वंतर या ऐसा संधिकाल उत्पन्न होता है। साधारणतः इस प्रकारका युगांतर भीषण युद्ध और भयंकर रक्तपातसे होता है। नैतिक जगत्में पापपुण्यका विरोध तथा सुष्टदुष्टका शारीरिक युद्ध जिस प्रकार गीताको मंजूर है उसी प्रकार गीता मानती है कि जगत् को भीषण युगपरिवर्तनकी भी निर्विवाद आवश्यकता है। गीता-निर्माण-कालमें मानवी जीवनको युद्धकी आजकी अपेक्षा अधिक आव-श्यकता थी और स्वप्नमेंभी कभी कोई सम्भव न समझता था कि जीवन तथा युद्ध किसी समय अलग हो जावेंगे। जब इस बात का विचार करते हैं कि बिना आपस की पूर्ण सहानुभूति के सच्ची और टिकाऊ शांतता कदापि नहीं हो सकती, तब यह स्पष्ट होगा कि सर्वव्यापी शांतताका आदर्श माननेके लिये गीताकालका समाज क्षणभर भी तैयार न था। यही नहीं अब भी-हजारों वर्ष व्यतीत हो चुकने पर भी- एक दूसरेके स्वार्थमें कमज्यादा मेल कर छोटे मोटे युद्ध या झगडे मिटानेके परे हम लोग सच्ची शांतता को दृष्टिसे अधिक कुछ भी न कर सके। आर्थिक अडचन, प्राणहत्या की नापसंदी, युद्धका भयानक स्वरूप आदि बातोंका विचार करके राजकीय प्रबंधसे होनेवाले शांतता-रक्षाके प्रयत्न अधिक कालतक सफल होना और टिकना संभव नहीं दिखता।

मानव जातिकी आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक स्थिति सर्वव्यापि शांतताके लिये योग्य कोई दिन निश्चयसे आवेगा। यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि वैसा होते तक धर्मको ही मानवी कर्तव्यकी तथा युद्धकी मीमांसा करनेका कार्य देना होगा। मानवी जीवनके केवल भविष्यत्के रूपका ही विचार न कर मनुष्यके वर्तमान तथा वास्तविक स्वरूप पर ध्यान दे युद्ध और आध्यात्मिक जीवनका समन्वय कैसे हो सकेगा यही प्रश्न गीताने विचारके लिये लिया है। और इसी लिये गीताका उपदेश एक क्षत्रियको किया है।

युद्ध और देशरक्षा क्षत्रियका धर्म है। अन्य सामाजिक कार्योंके कारण जो अपनी रक्षा नहीं कर सकते ऐसे लोगोंकी अत्याचारोंसे रक्षा करनेके लिये क्षत्रियोंको युद्ध करना पडता है। इसी प्रकार दुर्बलोंके बचावके लिये तथा जगत्में न्याय और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये क्षत्रियको युद्ध करना पडता है। भारतीय क्षत्रिय केवल सैनिक नहीं, किन्तु धर्म और समाजकी रक्षा भी उसका कर्तव्य है। हमारी दृष्टिमें गीताके सार्वजनिक विचार और सिद्धान्तही सबसे अधिक मूल्यके हैं। तथापि जिस खास भारतीय समाजमें तथा सभ्यतामें वे उत्पन्न हुए उसकाभी विचार करना हमारा कर्तव्य है। अपने आजके समाजमें और गीताकालके समाजमें स्वभावतः ही बहुत प्रकारका अन्तर है। किस कार्यके लिये कौनसी व्यक्ति अनुकूल है इस बातका विचार न कर हम चाहते हैं कि प्रत्येक विद्वान् हो, व्यवसायी हो और योद्धा भी हो किन्तु भारतकी प्राचीन सभ्यता प्रत्येक व्यक्तिकी विशेषता पहिचान कर उसके अनुसार उसे समाजमें स्थान देती थी तथा उसका कर्तव्य निश्चित करती थी। सामाजिक कर्तव्योंको पूरा कर आध्यात्मिक उत्कर्ष साधनाही उस समयका श्रेष्ठ आदर्श था। उस समय कर्तव्य चार प्रकारसे विभाजित थे, यथा ध्यान और ज्ञान, युद्ध और देश-शासन, धनोत्पादन और आदान-प्रदान, तथा श्रम और सेवा। जिस कार्यसे आध्यात्मिक उत्कर्ष सरलतासे होगा और जो प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार होगा, ऐसेही कामपर प्रत्येक व्यक्तिकी योजना होती थी।

वर्तमान कालकी व्यवस्थाके अनुसार चातुर्वर्ण्योक्त सब कामोंका उत्तरदायित्व साधारणतः सभी मनुष्योंपर पडता है। इस व्यवस्थाके कारण सामाजिक जीवनमें एकता, पूर्णता तथा दृढता उत्पन्न होती है। इसके विरुद्ध प्राचीन कर्म व्यवस्थाके अनुसार जातियाँ विभाजित होकर असंख्य जातियाँ निर्माण हुई और उसका अपरिहार्य दुष्परिणाम यह हुआ कि सामाजिक जीवन संकुचित एवं एकताहीन हुआ और बहुतोंको स्वभावके विरुद्ध जातिगत व्यवसाय करने पड रहे हैं। प्राचीन व्यवस्थाके समान आधुनिक कर्मव्यवस्थामें भी बहुत दोष और असुविधाएँ हैं। अनेक बार इस पद्धतिके कारण समाजका नुकसान हुआ है। वर्तमान युद्धपद्धतिकी दोषार्हताका विचार करनेसे भी इस पद्धतिके दोषपूर्ण होनेका पूरा विश्वास होगा। युद्धके लिये आवश्यक जो फौजीशिक्षा वह सार्वत्रिक एवं अनिवार्य है। इससे लडाई पर जानेका हुक्म होते ही आजकलकी पद्धतिके अनुसार लोगोंको रणक्षेत्रपर जाना पडता है। अर्थात् पण्डित, कवि, दार्शनिक, पुरोहित धन्धेवाला, कलानिपुण आदि भिन्न भिन्न क्षेत्रके लोगोंको स्वधर्मप्राप्त कर्मका त्यागकर कसाईके समान मनुष्योंको मारनेके लिये लडाई पर जाना पडता है। इसलिये सामाजिक जीवन बिगड जाता है। इस प्रकारके अनिवार्य फौजी हुक्म के कारण मनुष्यको केवल अपने विवेकका तथा स्वधर्मका ही बलिदान नहीं करना पडता किन्तु स्वदेश रक्षा के अत्याग्रहके कारण भिन्न प्रकार की सार्वजनिक आत्महत्याका मार्ग विस्तृत हो जाता है।

इसके विपरीत भारतीय सभ्यताका मुख्य उद्देश यह था कि युद्धसे जहाँतक बन सके कम हानि हो। इसीलिये युद्धका उत्तरदायित्व एक ही वर्गपर था। इस वर्गके लोग जन्म, स्वभाव और वंशगौरव की दृष्टिसे क्षात्रधर्मके लिये सर्वतः योग्य समझे

जाते थे। स्वभावनियत कर्म होनेसे युद्ध कार्यके द्वारा ही उनका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता था। कोई ऊँचा आदर्श नजरके सामने रख जो युद्धका जीवन व्यतीत करते थे, उनमें साहस, सामर्थ्य, आज्ञाकारिता, सहकारिता, शौर्य आदि विविध सद्गुणोंका विकास होकर उन्हे आत्मोन्नतिके लिये काफी मौका मिलता था। सब प्रकारकी आपत्तियोंसे तथा अत्याचारोंसे रक्षा करनेका उत्तरदायित्व एक ही वर्गपर होनेसे अन्यान्य वर्ग अपना कर्म निश्चिततासे करते थे। प्रत्यक्ष युद्धकार्यसे अल्पसंख्य लोगोंका संबंध आनेसे युद्धके कारण सामाजिक हानि कम होती थी। इसी तरह दया, सुजनता आदि गुणोंका नियंत्रण और ऊँचे नैतिक आदर्शोंका अवलंबन होनेके कारण युद्ध मनुष्यको निष्ठुर न बनाकर उदारहृदय तथा उन्नत बनाता था। जब कि जीवन युद्धसे अलग नहीं किया जा सकता, तब अन्य कर्मोंके समान युद्धको भी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नतिका सहायक बनानेके विचारसे ही उसे मर्यादित एवं नियंत्रित करना चाहिये। ध्यान रहे कि गीता इसी प्रकारके युद्धके बारेमें उपदेश करती है। गीता कालमें जीवनका एक मात्र उद्देश नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष ही माना जाता था। इस प्रकार सुनियंत्रित और मर्यादित युद्धके द्वारा व्यक्तिशः मनुष्यका शरीर यद्यपि नष्ट होता था, तथापि उससे उसका आंतरिक जीवन एवं देशका नैतिक जीवन उन्नत होता था। उच्च आदर्शकी स्फूर्ति मिलनेसे प्राचीन समयमें युद्ध शौर्य और सौजन्यके विकासको सहायक होता था। केवल अहिंसावादियोंको छोड किसी भी दूसरे मनुष्यको यह बात माननी पडेगी। युरोपके नाइट, भारतवर्षके क्षत्रिय और जापानके सामुराई ये जातियाँ इस बातके बडे उदाहरण है। संगठनशक्ति और आदर्शसे च्युत हुआ युद्ध केवल कतलमात्र है। इस प्रकारके युद्धका लोप मानवसमाजके विकास होनेपर ही होगा। तथापि हमारी उत्क्रांतिका युक्तियुक्त विचार करना हो तो मानना होगा कि भूतकालमें युद्धसे समाजका

कल्याण ही हुआ।

पूर्णत्वप्राप्तिके लिये मानवजातिको जिन सर्वमान्य गुणोंकी आवश्यकता होती है, उसीका बाहरी स्वरूप क्षत्रियधर्म है। इस लोकमें हमारे आंतरिक और बाह्य जीवनमें जो सर्वत्र युद्ध और विरोधका भाग दिखाई देता है, उसीका प्रकटीकरण शारीरिक युद्ध है। जगत्का नियम है कि शक्तियोंके परस्पर संघर्षसे नित्य नया उत्पादन और संहार होता है और आशा है कि इसी क्रममेंसे एक दिन विरोधोंका परिहार होकर पूर्ण ऐक्य और समन्वयकी स्थापना होगी। परन्तु यह किसी ध्यानमें अबतक स्पष्टतासे न आया कि किस एकतापर विभिन्नताओंका मेल होगा। अंतःशांति और बाह्यतः अहिंसा तो है आत्माकी उच्च आकांक्षा। तब यह तो संदेहरहित बात है कि युद्ध इस आकांक्षाके बिलकुल ही विरुद्ध है। इसी तरह आत्मजय और शांतिपूर्ण आदर्शजीवनके साथ योद्धाका अर्थात् क्षत्रियका द्वंद्वरूप कोलाहलमय जीवन विरुद्ध मालूम पडता है। इस विरोधमें ही एकताका सूत्र कहाँ हिलगा है सो ढूँढ निकालनेकी गीताकी इच्छा है। इसी सूत्रका अवलंबन करनेसे सब द्वंद्वरूप विरोधके परे की एकता स्थापित हो सकेगी। सांख्यमतके अनुसार जगत् त्रिगुणात्मक है-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

"गुणत्रयसे मुक्त वस्तु तीनों लोकोंमें एक भी नहीं है।" यह कहकर गीताभी इस मतकी पुष्टि करती है। मनुष्य-प्रकृतिमें भी जिस गुणका विशेष प्राबल्य होगा उसी गुणके अनुसार इस जीवन संग्राममें मनुष्य झगडता है।

मानवी प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम तीन प्रधान गुण हैं। शांति, ज्ञान और सौख्य, सत्त्वगुणका; तृष्णा, आसक्ति और कर्म, रजोगुणका और अज्ञान तथा आलस, तमोगुणका लक्षण है। तमोगुणप्रधान मनुष्य जगत्की सामर्थ्यके प्रभावमें आकर युद्धनिवृत्त होता है। अन्य गुणोंकी सहायता हो

तो यह मनुष्य कुछ समयतक अपना अस्तित्व जैसे तैसे कायम रखता है; किन्तु जीवनसंग्राममें विजयी होनेकी आवश्यकता ही उसे नहीं मालूम पडती। रजोगुणप्रधान मनुष्य जीवनसंग्राममें उत्साहके साथ झगडता है। वह जगत्की शक्तिका स्वतःकी उन्नतिके लिये साहाय्य लेता है और विजयकी, प्रभुताकी तथा उपभोगकी अभिलाषा रखता है। रजोगुणी मनुष्यको यदि सत्त्वगुणकी सहायता हो तो वह काम, क्रोध आदि अंतःशत्रूपर विजय पानेका प्रयत्न करता है। ऐसी प्रकृतिके लोगोंको जीवनसंग्राममें विशेष आनंद होता है। क्योंकि सामर्थ्यका सुख और कर्मका आनंद भोगनेका मौका उन्हें मिलता है। और इसी लिये स्वभावतः उनके आत्मविकासके लिये मौका मिलता है। सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य जगत्के द्वंद्वमें ही धर्म, नीति, एकता, शांति और सुखकी खोज करता है। सच्चा सात्त्विक मनुष्य बाहरी जगत्के द्वंद्वसे निवृत्त होकर अथवा उनके विषयमें उदासीन रहकर अंतःशांतिका प्रयत्न करता है। सत्वगुणसंपन्न रहते भी जिसमें थोडाबहुत रजोगुणका भी प्रभाव है ऐसा मनुष्य शांतता, प्रेम, एकताकी स्थापना संसारमें करनेकी इच्छा रखता है। इस प्रकार इन त्रिविध गुणोंके तारतम्यके अनुसार जीवनसंग्राममें मनुष्य अपनी अपनी भूमिका लेता है।

कभी न कभी ऐसी भी एक अवस्था उत्पन्न होती है जब कि मनुष्य त्रिगुणोंके खेलोंसे तृप्त नहीं होता। या तो त्रिगुणोंके बाहर जानेकी अर्थात् निर्गुण स्थितिमें रहनेकी उसे इच्छा होती है या त्रिगुणोंके परे जानेकी अर्थात् सब गुणोंका प्रभुत्व संपादन करनेकी तथा कर्मकरके भी कर्मके अधीन न रहनेकी इच्छा होती है। एक निर्गुण-अवस्था और दूसरी त्रिगुणातीत-अवस्था। निर्गुण विषयक विचार संन्यासकी ओर मनको झुकाते हैं और त्रिगुणातीत विषयके विचारसे मनुष्य पाशवी प्रवृत्तिपर विजय पानेकी इच्छा करता है और कामना तथा वासनाका त्याग कर आंतरिक समता प्राप्त कर लेता है। आरंभमें अर्जुनका झुकाव संन्यासकी ओर ही था। उसने प्रथम यह निश्चय किया कि अपने क्षत्रियजीवनका परिणाम जो भीषण युद्ध तथा तज्जन्य भयानक नरसंहार उससे निवृत्त होना। अब तक जिस नैतिक भावनासे उसने कार्य किया था, उस नीतिका अवलंबन न कर कर्मत्याग, संसारत्यागके सिवा उसे दूसरा मार्ग न मिला। परन्तु भगवान्का आदेश हुआ कि बाह्यतः संसारका और कर्मका त्याग करके न चलेगा; जो कुछ करना है वह है आत्मजय और जो प्राप्त करना है वह है अंतःप्रभुत्व।

अर्जुन क्षत्रिय था अर्थात् रजोगुणप्रधान मनुष्य था। सात्विक आदर्शके नियंत्रणमें उसका राजस कर्म होता था। युद्धसे होनेवाले आनंदकी पूर्ण कल्पना आनेपर ही वह अतीव उत्साहसे लडनेको तत्पर हुआ। तथापि अर्जुनके हृदयमें यह उज्ज्वल भाव जागृत था कि मैं धर्म-युद्धकर रहा हूं। अपने शंखकी ध्वनिसे उसने शत्रुओंका हृदय विदीर्ण कर दिया और उसने यह भी देखा कि धर्मके विरुद्ध युद्ध करनेके लिये दुर्योधनकी ओर कौन कौन वीर इकत्रित हुए हैं। परन्तु हृदयका आत्मविश्वास जब नष्ट हुआ और जब उसने सोचा कि मेरा कर्तव्य जो है वह भयानक पापकर्म है; तब तमोगुण जागृत होकर अर्जुनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई और अज्ञानसे वह निष्क्रिय बना। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे क्षत्रियधर्मकी अपेक्षा संन्यासधर्म अच्छा मालूम हुआ और रक्तपात कर रुधिरसे भरे भोग भोगनेकी अपेक्षा 'भिक्षां देहि' करके उदरनिर्वाह करनाही उसे श्रेयस्कर मालूम हुआ।

कर्म और संसारका त्याग, त्रिगुणोंका त्याग ही संन्यास है; तथापि संन्यास अवस्थामें भी त्रिगुणों में से किसी न किसी गुणका आश्रय करना ही पडता है। तमोगुणसे भी मनुष्यमें संन्यास की प्रवृत्ति होती है। तमोगुणी मनुष्य असमर्थताका ज्ञान होकर तथा भयसे ग्रस्त होकर संसार छोड संन्यासके पीछे पडता है। संसारके दुःखोंसे ग्रसित हो, निराशसे पीडित हो और जीवनसे ऊब कर रजोगुणी मनुष्य भी संन्यासकी ओर झुकता है। संसारके

सुखसे बढकर उच्च सुखकी अपेक्षा रहती है इसलिये सत्त्वमुखी रजोगुणी मनुष्य भी संन्यासकी ओर झुकता है। विचारसे संसारका मिथ्यात्व जँचनेके कारण शुद्ध सत्त्वगुणी मनुष्य भी संन्यास की ओर आकर्षित होता है; अथवा कालातीत, अनंत और नामरूपहीन शांतिका अनुभव लेकर भी मनुष्य संसार छोडनेको तैयार होता है। अर्जुनको जो संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ वह सत्त्वमुखी रजोगुणी मनुष्यका तामस वैराग्य था। अपने शिष्यको अंधकारमय मार्गसे निकाल कर पावित्र्य और शांतिपूर्ण तपस्विताके मार्गकी ओर या सात्त्विक संन्यासके उच्च मार्गकी ओर ले जाना भगवानके लिये संभव था। किन्तु उन्होंने ऐसा न किया। तामसिक वैराग्य और संन्यास की ओर होनेवाली अर्जुनकी प्रवृत्तिका निषेध कर भगवानने उसे कर्म करनेमें लगाया है। यही नहीं उसे भीषण युद्ध करनेको विवश किया। भगवान्ने अर्जुनको– अपने शिष्यको– जो मार्ग दिखाया वह है आन्तरिक त्यागका। संसारमें स्वतंत्रतासे और शान्ततासे कर्म करनेका तथा विश्वशक्तिपर आत्माकी प्रभुता स्थापित करनेका यही मार्ग है, बाह्य संन्यास नहीं किन्तु आन्तरिक त्याग अर्थात् कामना, वासना, आसक्तिका त्याग ही गीताकी शिक्षा है। यही गीताका उपदेश है और अर्जुनके प्रश्नकी यही सत्य मीमांसा है।

क्षात्रधर्म

शोक, दुःख और संदेह द्वारा पछाडा गया अर्जुन जब संसारको असार समझ युद्धसे निवृत्त हुआ और पापकर्मकी भयंकर बातें बोलने लगा, तब भगवान्ने उसकी भारी निर्भत्सना की। भगवान् बोले, "अर्जुन! तेरा बर्ताव क्षात्रधर्मके लिये लांछनसा है और पृथापुत्रके लिये तो शोभा नहीं देता। धर्मराजके पक्षका तू नायक है। ऐसे संकटके समय अपने पक्षका त्याग करना, मोहवश होकर गाण्डिव धनुष्य छोड देना और भगवत्कर्तृक कर्मसे भ्रष्ट होना तेरे लिये कदापि उचित नहीं। यह मार्ग आर्यसंमत, कीर्तिप्रद और स्वर्गोन्मुख नहीं है। हृदयकी दुर्बलताको दूरकर लडाईके लिये तैयार हो"। (गी. अ. २।२–३)

भगवान्का यह वक्तव्य क्या एक धर्मोपदेशकको, देवगुरुको उचित है? एक क्षत्रिय वीर दूसरे वीरसे ऐसा कह सकता है; किन्तु क्या हम लोग धर्मगुरुसे संसार त्याग, साधुता, कोमता और आत्मत्यागके उपदेशकी उम्मीद नहीं करते? गीतामें स्पष्ट ही कहा है कि वीरको अनुचित दुर्बलतासे पीडित हो अर्जुन उद्विग्न और कृपावश हुआ। किन्तु कृपा क्या तीव्र तिरस्कार करनेयोग्य विकार या गुण है? क्या वह दैवी गुण नहीं है? जर्मन दार्शनिक नित्शेने वीरत्व और सामर्थ्यका प्रसार किया। हीब्रू और ट्युटॅनिक समझते थे दया-माया वीरोंकी दुर्बलता है। क्या हम लोगोंको गीतासे इसी प्रकारकी युद्धनीतिका तथा कठोर वीरवृत्तिका उपदेश सुनने मिलता है? नहीं। गीतोपदेश भारतीय सभ्यताके पेटसे उत्पन्न हुआ है और भारतवर्ष चिरकालसे समझता आया है कि 'दया' दैवी सम्पत्तिमें एक मुख्य सद्गुण है। इसके सिवा गीतागुरु श्रीकृष्णने निःस्पृहता, तेज आदि दैवी गुणोंका वर्णन करते समय दया, कोमलता, अहिंसा आदि सद्गुणोंका भी गीतामें उल्लेख किया है। धनसंचय, भोग्यवस्तु, शत्रुवध आदि बातोंका आनन्द आसुरी गुण है और ये गुण उन्हीं लोगोंमें दिखाई देते हैं जो जगत्को ईश्वरहीन समझते हैं तथा भोगको ही जीवितका ध्येय मानते हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।'
(गी. २।२)

'इस संकटके समय तुझे यह मोह कहांसे उत्पन्न हुआ?' इस प्रश्नसे ही विदित होगा कि अर्जुन अपनी वीर वृत्तिसे कैसे च्युत हुआ था। दया दैवी गुण है और वह स्वर्गसे हमारे पास आया है। जिसके चरित्रमें यह गुण नहीं वह अपनेको भलेही बहुत बडा समझे या आदर्श मनुष्य

समझे या अतिमानव मानता रहे किन्तु उसकी वह समझ और उसका वह मानना केवल मूर्खता एवं धृष्टता है। जिसके चरित्रमें सबसे अधिक भगवद्गुणोंका प्रकाश दिखाई देवे वही अतिमानव है। दयावान् मनुष्य सामर्थ्य और दुर्बलता, पाप और पुण्य, सुख और दुःख, ज्ञान और अज्ञान, आशा और निराशा आदि सभी द्वंद्वमय व्यापारकी ओर प्रेम, ज्ञान और शान्त दृष्टिसे देखता है और किसी भी स्थितिमें सहायता और सांत्वन करनेको तैयार रहता है। यह दया साधु और परोपकारी पुरुषोंके हृदयोंमें भरपूर प्रेमके तथा औदार्यके रूपमें प्रकट होती है; विद्वान् और वीरोंके हृदयमें वह क्रमसे पथ्यकर ज्ञान और सामर्थ्यके रूपमें व्यक्त होती है। यह देवोचित दया ही आर्य क्षत्रियोंकी शूरताका प्राण है। इस दयासे प्रेरित होकर ही क्षत्रियवीर कोमल लताको भी दुःखानेमें हिचकिचाता है। किन्तु दुर्बलोंको, पतितोंको, व्यथितोंको मदद करनेके लिये अग्रसर होता है। क्रोध या तिरस्कारके वश न होकर दुरात्माओंको नष्ट करनेके लिये और अत्याचारियोंको शासन करनेके लिये यह दया ही उन्हें प्रेरित करती है। भगवान् अपने मनमें पापीके प्रति क्रोध और दुष्टके प्रति तिरस्कार रखते हैं, इस प्रकारकी कल्पनाएँ नरकके दुःखोंके समान ही अर्धशिक्षित धर्मोंने निर्माण की हैं। जिस प्रकार दयाके कारण अत्याचारियोंके अन्यायसे दुर्बलोंकी रक्षा की जाती है और उन पर प्रेम किया जाता है, इसी प्रकार अपने दुष्कृत्योंके बदले अत्याचारीको मृत्युका स्वीकार करना पडा, तब भी उस पर शासनकर्ताका प्रेम ही रहता है। भारतके प्राचीन धर्मने स्पष्ट रीतिसे ऐसा दिखलाया है।

किन्तु अर्जुन जिसके कारण अपने कर्तव्यका त्याग करनेके लिये तैयार हुआ, वह देवोचित दया नहीं है। अपना कर्तव्य करते समय उत्पन्न होनेवाली मानसिक वेदना सहनेके लिये अर्जुन तैयार न था। अर्जुनने स्पष्टही कहा कि "इंद्रियोंको सोख डालनेवाला मेरा शोक दूर करनेवाला मुझे कुछ भी नहीं दिखता" (गी. २।८)। इस प्रकारकी दीनदुर्बल वृत्ति अत्यंत हीन और आर्योंके लिये लांछन समझी जाती थी। साथही अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई दया एक दृष्टिसे स्वार्थीही थी धृतराष्ट्रके पुत्र अर्जुनके बांधव अर्थात् आत्मीय। उनका वध करनेके लिये अर्जुनका मन तैयार न होता था। यह स्वार्थी दया मनकी दुर्बलता है। निम्न स्थिति के लोगोंको यह दया कल्याणप्रद होती है। क्योंकि उन्हें कोमल स्वार्थसे निष्ठुर स्वार्थ दूर करना पडता है और दुर्दमनीय राजस शत्रुओंका दमन करनेके लिये सत्त्वगुणको तमोगुणकी सहायता करनी पडती है। किन्तु अर्जुन था उदात्त आर्यचरित्रका आदर्श पुरुष। उसे दुर्बलताकी सहायतासे उत्कर्षका मार्ग आक्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं। उसपर एक बृहत्कार्यका उत्तरदायित्व है। उस उत्तरदायित्वको निबाहनेके लिये देवताओंने सर्वथा योग्य समझकर अर्जुनको चुना था। प्रत्यक्ष भगवान् अर्जुनके सारथी थे। उसके हाथमें सर्व विजयी गांडीवसदृश दिव्य धनुष्य था। उसके सन्मुख धर्मद्रोहि-देवद्रोही शत्रुसमूह उपस्थित था। ऐसी परिस्थितिमें अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय अपनी लहरके अनुसार करनेका अधिकार अर्जुनको नहीं रह जाता। हजारों व्यक्तियाँ नष्ट होकर अपना जीवन दुःखमय होगा और युद्धके समान भीषण हत्याकाण्डसे स्वयं अपनेको ऐहिक सुखोंकी प्राप्ति बिलकुलही नही होगी। इस प्रकारके स्वार्थी विचारसे कर्मच्युत होनेका अधिकार अर्जुनको नहीं है। इस प्रकारकी मनोवृत्ति तो साफ अधःपतन है। अर्जुनको यही समझ लेना चाहिये कि 'मेरा कर्तव्य क्या है?'। अर्जुनको यही सुनना चाहिये कि अपनी क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा भगवान् क्या आदेश देते हैं। और सम्पूर्ण मानव जातिका भविष्य अर्जुनके कर्मोंपर अवलंबित होनेसे, सब संकटोंको नष्ट कर मानव जातिके उद्धारका मार्ग शुद्ध करनेके लिये भगवानने मुझे भेजा है इस बातका अनुभव अर्जुनको लेना चाहिये।

श्रीकृष्णने जो अर्जुनकी निर्भर्त्सना की वह उसने

मान ली, तथापि उसने श्रीकृष्णका आदेश न माना और वह अधिक विवाद करने लगा। अपनी दुर्बलताका उसे ज्ञान हुआ, किन्तु उसका त्याग करनेकी इच्छा उसे न हुई। विमूढ चित्त होनेके कारण श्रेयस्कर मार्ग दिखानेके लिये अर्जुनने श्रीकृष्णसे विनति की। किन्तु अबतक चले आये हुए कर्तव्य-अकर्तव्यके नियमोंमें बदल हुआ था और नये नियम बने थे इसलिये जो उपदेश जीर्ण जीवनके उपयोगी था, उसे शिरोधार्य करनेको अर्जुन तैयार न था। अर्जुनका हृदय इस विचारसे व्याकुल था कि मेरे कर्मोंका फल स्वजनोंका वध है और उससे मेरा जीवन अति शून्यवत् एवं दुःखमय होगा। उसकी बुद्धिको नहीं जँचा कि जिस भीषण कर्मका भार अपने ऊपर है उसका परिणाम अच्छा भी होना संभव है। अर्जुन यही समझ बैठा कि अंगिकृत कार्यका परिणाम बुराही होगा। और युद्धसे निवृत्त होनाही श्रेयस्कर है उस निश्चित मतका श्रीकृष्णके पास वह समर्थन करने लगा। आज दिनतक जिस उद्देशसे उसने युद्ध किये थे वह उद्देश त्याग देनेका उसने निश्चय किया और अपने लाजवाब विचारोंका खण्डन श्रीकृष्ण किस प्रकार करते हैं, इसकी वह चुप हो बाट जोहने लगा। भगवानने सर्वप्रथम अर्जुनकी अहंता और ममता नष्ट करनेका प्रयत्न किया और सब प्रकारकी अहंता और ममताके परे जिस धर्मका स्थान है उसका विवरण किया।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर भगवानने दो भिन्न मार्गोंसे दिया। पहले दिया हुआ उत्तर संक्षिप्त है और जिस आर्य सभ्यतामें अर्जुन बढा उस आर्य सभ्यताका सर्वोच्च भाव उस उत्तरकी नींव है। दूसरा उत्तर गंभीरतर ज्ञान पर स्थित है। इस उत्तरसे हमारे जीवनकी अनेक गुह्य बातोंपर प्रकाश पडता है। इसी ज्ञानसे गीतोपदेशका या गीताशिक्षाका आरंभ होता है। कर्मके भलेबुरे परिणामके सम्बन्धमें और धर्म-अधर्मके संबंधमें अनेक विचार-वितर्क लडाकर यद्यपि अर्जुन अपनी युद्ध-पराङ्मुखताका समर्थन करनेका प्रयत्न करता था, तथापि यह तो पाण्डित्यके आवरणमें अपना अज्ञान और अशुद्ध चित्तका बलवा ढाँकनेका प्रयत्न था। शरीर और मृत्युके संबंधके विचार उसे सिद्धान्तके समान मालूम हुए। किन्तु आप्तस्वकीयोंकी मृत्युका शोक ज्ञानानुमोदित तो है नहीं, क्योंकि मृत्युकी आत्मिक जीवनकी एक क्षणिक अवस्था होनेसे पण्डित जन्ममृत्युके विषयमें शोक नहीं करते। जिस राजगणकी आसन्न मृत्युके लिये अर्जुन शोक करता था, "उन्होंने पहले कभी न जन्म लिया था या वे आगे चलकर कभीभी जन्म लेवेंगे ही नहीं" यह बात नहीं (गी. २।१२); क्योंकि "एकही जीवको जिस प्रकार बाल्य, तारुण्य और वार्धक्यकी अवस्थाएँ भुगतनी पडती हैं, उसी प्रकार देहान्तर प्राप्तिकी या मृत्युकी बात होनेसे ज्ञानी मनुष्य मृत्युके कारण मोहित नहीं होता" (गी. २।१३)। जो शान्त और ज्ञानी हैं, स्थिर चित्तसे जो जगत्के व्यापारका अवलोकन कर सकते हैं और कामक्रोधादि विकारोंके वेगसे जो चलित नहीं होते, वे जड जगत्के बाह्य दृश्यसे फँसते या मोहवश नहीं होते। वे अपने शरीरके स्नायुओंकी और चित्तकी बगावतसे अपनी बुद्धि और ज्ञान मलिन नहीं होने देते। वे देह, प्राण और इंद्रियोंके परेके जीवनका वास्तविक सत्य देखते हैं और चित्तका आवेग और अज्ञान स्वभावकी शारीरिक वासनाओंका अतिक्रम करके ये ज्ञानी पुरुष मानवी जीवनके सच्चे और एकमात्र उद्देशका अवलंबन करते हैं।

जीवनका वास्तविक सत्य और मानवजीवनका उच्चतम उद्देश अमरत्व प्राप्ति ही है। युगों युगोंमें जन्म-मृत्युमेंसे आगे चलतेचलते ही मनुष्य अमरत्व प्राप्तिके लिये योग्य होता है। अमरत्व प्राप्त करने के लिये सच्चा योग्य कौन है? जो स्वयं अपनेको केवल शरीर और प्राण इतनाही नही समझता, जगत्के सत्य-असत्यका निर्णय जो केवल इंद्रियोंपर निर्भर होकर ही नहीं करता, जो आत्मामेंही

वास्तव्य करनेके लिये सीखता है और जो सभीसे आत्मिक दृष्टिसे व्यवहार करता है, वही अमरत्वकी प्राप्ति करनेके लिये योग्य होता है। अमरत्वका अर्थ मृत्युके बाद भी अस्तित्व रहना नहीं है, क्योंकि जो मन लेकर जन्म ग्रहण करते हैं वे सभी मृत्युके पश्चात भी रहते हैं। सच्चा अमरत्व है मृत्युके परे जाना। मनोमय देह छोडकर मनुष्य जब आत्मरूपसे आत्मामें ही वास करता है तभी उसे सच्ची अमरत्व की प्राप्ति होती है। अनित्य विषय के स्पर्शमें ही जो मग्न हैं; जो सुखदुःखके अधीन और इन्द्रियोंके दास हुए हैं; ऐसे लोग अमरत्व प्राप्तिके लिये कदापि योग्य नहीं होते। जबतक इन सभी द्वंद्वोंपर विजय प्राप्त नहीं कर सके तब तक इन द्वंद्वोंकी मार सहनी ही पडेगी। अन्तमें एक दिन ऐसा आवेगा कि उस समय ये द्वंद्व मुक्त पुरुषको दुःख न दे सकेंगे। हमारे हृदयमें गुप्त रीतिसे विराजनेवाली अनंत, शांत आत्मा जिस प्रकार ज्ञानपूर्वक, समतासे और शांततासे सब घटना ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष भी शांततासे संसारके सुखदुःखोंका ग्रहण करेगा। अर्जुनके समान दुःख-भयसे व्याकुल होना, कर्तव्य भ्रष्ट होना, आवश्यक और अपरिहार्य जो तुच्छ शारीरिक मृत्यु उससे घबडा जाना यह अनार्योचित अज्ञान है। जिस आर्यको शांत सामर्थ्यसे अमरत्वकी ओर जाना है, उसका यह मार्ग नहीं।

मृत्यु नामकी कोई चीज ही नहीं है। जो मरता है वह शरीर है; पर शरीर मनुष्य थोडे ही है। नित्य वस्तु कभी भी नष्ट नहीं होती। हां, वह रूपांतरसे प्रकट होती है। सत् और असत्का अन्तर समझ लेवें तो दिखाई देगा कि आत्माने ही सम्पूर्ण जगत् व्याप लिया है। 'इस अव्यय आत्माका नाश कोई भी नहीं कर सकता' (गी. २।१७)। नाश है देहको; किन्तु जिसका यह देह है जो इस देहका उपयोग करता है, वह आत्मा अनंत, अप्रमेय, नित्य और अविनाशी है। मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रका त्यागकर नया वस्त्र लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराना देह त्याग देती है और नया देह धारण करती है। ऐसी दशामें शोक करनेका, पीछे हटनेका या घबडा जानेका कारण ही क्या? आत्मा अविनाशी होनेसे शरीर नष्ट होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। "इसे शस्त्र तोड नहीं सकता; अग्नि जला नहीं सकती; पानी भिगा नहीं सकता और वायु सुखा नही सकती। आत्मा स्थाणु, अचल, सर्वव्यापी और सनातन है। वह शरीरके समान व्यक्त नहीं; चक्षुरादि इंद्रियोंको गोचर नही, तथापि सभी व्यक्त वस्तुओंसे बडा है (गी. २।२३-२५)। विचारकी सहायतासे यद्यपि इसे हस्तगत नहीं कर सकते, तथापि यह सब मनोंसे बडा है। इन्द्रियोंके समान यद्यपि इसे विकार नहीं होता और परिवर्तन नहीं होता, तथापि जगत्की सभी चराचर वस्तुएं जिसे व्यक्त करनेका प्रयत्न करती हैं, वह एक ही सत्य वस्तु है और वह है 'आत्मा'।

हमारा अस्तित्व काफी व्यापक नहीं है और यद्यपि मान लिया कि ' देहके समान आत्माको भी जन्ममरण है ' (गी. २।२६) तथापि जीवकी मृत्युके लिये शोक करना उचित नहीं। क्यों कि आत्माकी व्यक्तताके लिये जन्ममृत्युकी आवश्यकता ही है। जन्मके पहले भी आत्मा रहती ही है किन्तु वह अव्यक्त रहती है। हमारी जड इंद्रियोंको वह नहीं दिखता। अव्यक्त स्थितिसे आत्माका व्यक्त होना, इन्द्रियगोचर होना ही आत्माका जन्म है। मृत्युके समय आत्मा पुनः उस अव्यक्त अवस्थामें जाती है वापिस जाती है। इस स्थितिमेंसे वह फिर व्यक्त होती है, बाह्य इंद्रियोंको वह गोचर होती है। मृत्यु रोगसे होवे या युद्धसे होवे, मृत्युके लिये हमारे जड इन्द्रिय मनका जो शोक है वह निरा अज्ञान और स्नायविक रोने रोनेके सिवा अन्य कुछ नहीं है। जब हम मृत व्यक्तिके लिये शोक करते हैं, तब जिसके लिये करनेका कारण नहीं उसके लिये अज्ञानवश होकर व्यर्थ शोक करते हैं। क्यों कि मृत्युके बाद उसके अस्तित्वका लोप नहीं हो जाता; उसे कोई भी वेदनामय स्थिति सहनी नहीं पडती, किन्तु वह मृत्युके बाद भी जीवित दशाके समान ही सुखी रहते हैं।

वस्तुतः हमारा अस्तित्व अत्यंत विशाल और

व्यापक है । यही अस्तित्व सर्वत्र आत्मरूपसे भरा है और वही ब्रह्म है । इसी आत्मस्वरूपी ब्रह्मको अथवा ब्रह्मस्वरूपी आत्माको कोई आश्चर्यवत् सूझते हैं; और कोई आश्चर्यवत् देखते हैं और कोई आश्चर्यवत् कहते हैं । क्योंकि आत्मा हमारे ज्ञानके परे है । ज्ञानीके पास तत्त्वनिरूपण सुनकर आजतक किसीभी मानवी मनको आत्माका स्वरूपज्ञान नहीं हुआ (गी. २।२९) यही आत्मा जगद्रूप वस्त्रकी ओटमें छिपा है, वही शरीरका स्वामी और अपना सब जीवन ही आत्माकी छाया है । शारीरिक जन्मग्रहण और मृत्यु आत्माकी स्वाभाविक लीला है यह सब पहिचानकर जब हम अपनी ओर देखें, तब स्वतःको मारनेवाला या मरनेवाला समझनेमें कुछ भी मतलब नहीं रहता । मानवी आत्मा जन्ममृत्युके स्थित्यंतरोंमें से उत्कर्षोन्मुख हो रहा है । बीच बीचमें वह परलोकमें विश्रांति लेता है । और पुनः मृत्युलोकके सुखदुःखादि द्वंद्वोंकी सहायतासे उत्कर्ष करते हुए वह अमरत्वकी ओर गमन करता है । यह उस आत्मरूप परब्रह्मकी ही लीला है और उसीकी उत्क्रांति है । यही सच्चा सत्य है और इसी सत्य का हमें अनुभव लेना है । उसीके प्रकाशमें हमे अपना जीवन-संग्राम खेलना है ।

इसलिये गीतागुरु कहते हैं ' हे भारत ! व्यर्थ शोक और क्लैब्य त्यागकर तू युद्धके लिये खडा हो जा । ' यदि सचमुचमें हम इस उच्च ज्ञानको आत्मगत करें, मनके कठिन संयमसे विषयोंसे चलित न होकर यदि सच्चा आत्मज्ञान प्राप्तकर सकें, तो सचमुचही हम शोकमोहसे निवृत्त हो जावेंगे । तब हमे मालूम होनेवाला मृत्युका भय और मृत मनुष्यके लिये शोक करनेकी प्रवृत्ति दूर होगी । ऐसा हो जानेपर जिसे अपन मृत समझते हैं, वे वास्तवमें मृत नहीं हुए इन्होने केवल इस लोकको छोडा है; अर्थात् स्थानान्तरके कारण हमे शोक करनेका कोई कारण नही, यह बात हम समझेंगे । तब हम देहकी मृत्युको तो तुच्छ समझेंगेही; किन्तु हमे अनुभव होगा कि जीवनकी सब घटनाएँ उस ब्रह्मके साथ एकरूप होनेका उपाय है। यदि यह सब सत्य है, तो खूनकी नदियाँ बहानेवाला भीषण युद्ध करनेके लिये भगवानने अर्जुनको क्यों प्रवृत्त किया ? इसका उत्तर यही कि अर्जुनको जिस मार्गसे जाना आवश्यक है उसका विचार करनेपर उसे युद्ध करनाही अपरिहार्य है । स्वधर्म और सामाजिक कर्तव्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर अर्जुनको युद्ध करना आवश्यकही है । यह संसार जड जगत्में ब्रह्मका व्यक्त रूपही है । वह केवल आन्तरिक उत्क्रांतिका व्यापार नही । यहाँ जीवनकी बाह्य परिस्थितिभी आंतरिक विकास के लिये सहायक माननी होगी और उसके लिये परस्परको सहायता भी करनी चाहिये और एकदूसरेसे लडनाभी चाहिये । जीवनके चक्रव्यूहमें शांततासे सुखसे और निश्चित रीतिसे कोईभी आगे चल नहीं सकता । एक कदम आगे डालना हो तो वीरके समान सज्ज हो अडचनों और संकटोंसे झगडना पडता है । जो अंतर्बाह्य द्वन्द्वसे झगडनेको तैयार होते हैं, यही नहीं बाह्यद्वंद्वका अंतिम स्वरूप जो युद्ध उसे करनेके लिये भी प्रवृत्त होते है वेही क्षत्रिय और वेही वीर हैं । युद्ध, सामर्थ्य, साहस और हृदयकी उदारता क्षत्रियका स्वभाव है और न्यायकी रक्षाके लिये मृत्यु निश्चित रहतेभी युद्धसे परावृत न होनाही उसका कर्तव्य है । इस संसारमें धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, आततांई तथा रक्षणकर्ताका आपसमें अव्याहत युद्ध चला है । इस युद्धको बाह्यतः जब महायुद्धका स्वरूप प्राप्त होता है, तब धर्मपक्षके नेताके नाते धर्मकी ध्वजा फहरानेवालेको कठोर कर्तव्यके सामने कंपित होनेसे काम न चलेगा । रणक्षेत्रपर अपने अनुयायियों और सहकारियोंका त्याग कर और दुर्बलताका प्रदर्शन करके कर्तव्यभ्रष्ट होकर न चलेगा । युद्धत्याग नही, युद्ध करनाही उसका धर्म है । और यही उसका कर्तव्य है । हत्या करनेसे नहीं, हत्या न करनेसेही वह पापी सिद्ध होगा ।

जिसके लिये और जिस उद्देशसे मनुष्य जीवन

धारण करता है, उन सब हेतुओंपर आप्तबांधवों की मृत्युसे पानी फिर जावेगा और अपना जीवन बिलकुल असार हो जावेगा । इसी कल्पनासे अर्जुनको दुःख होता था । इस दुःखको भगवान्ने और भी एक दृष्टिसे उत्तर दिया। क्षात्रजीवनका सच्चा हेतु और सच्चा सुख कौनसा ? स्वतःका वा परिवारका सुख या आप्तबांधवोंके साथ आराममें,शांततामें और स्वच्छंदसे मजेमें समय व्यतीत करना क्षात्रसुख नहीं । "किसी उदात्त कार्यके साधनके लिये अपना जीवित अर्पण करना अथवा युद्धमें विजयी हो वीरोचित गौरवसे कालक्रमण करना ही क्षत्रिय-जीवनका सत्य सुख है"। 'धर्मयुद्धके सिवा क्षत्रियके लिये अन्य श्रेयस्कर बात ही नहीं । यदि तू युद्ध न करेगा, तो तुझे स्वधर्मका, कर्तव्यका और कीर्तिका त्याग करना पडेगा और पापका भागी होना पडेगा । आज तक तेरे शौर्यका जो गौरव करते थे, वे युद्ध-पराङ्मुखताके कारण तेरी निंदा और अवहेलना करेंगे' (गी. २।३१-३२) । क्षात्रजीवनमें इससे दूसरी भयानक दुःखदायी बात क्या है ? इससे तो मृत्यु भी कई गुना श्रेयस्कर है। युद्ध, साहस, सामर्थ्य, प्रभुता, वीरगौरव, युद्धजन्य स्वर्गप्राप्ति ही क्षत्रियोंका आदर्श है। इस आदर्शको कम समझना और वीरजीवन दौर्बल्यसे कलंकित करना क्या है ? अपने ही समान जगत्का भी अकल्याण करना है। 'मरेगा तो स्वर्ग मिलेगा और जिंदा रहेगा तो पृथ्वीका राज्य मिलेगा; अतएव हे कुंति-पुत्र ! उठ और युद्धके लिये खडा हो जा।" (गीता २।३७)

सुखदुःखके संबंधमें समबुद्धि रखनेके विषयमें पीछे जो विवेचन आ चुका है, और आगे चलकर जो गूढ आध्यात्मिक विचार प्रगट हुए हैं, उनका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करें तो भगवान्का यह वक्तव्य बहुतही निकृष्ट प्रतीत होतात है सही, पर ध्यान रहे कि भारतीय धर्मशास्त्रोंने सर्व-कालमें अधिकारभेद माना है । मनुष्यकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भिन्न भिन्न तहोंके लिये भिन्न भिन्न आदर्शोंकी कार्यतः आवश्यकता होती है। ऐसे आदर्शोंकी भगवान्ने यहां केवल सामाजिक बाजू दिखलाई है। उसका गूढ आध्यात्मिक अर्थ आगे दिखाई देगा । भगवान् बोले 'यदि तू सुखदुःखका और कर्मके फल-अफलका हिसाब करके कर्म करेगा, तो तुझे मेरा सर्वसाधारण उत्तर यही है (हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ...... गी. २-३७) । मैंने तुझे दिखा ही दिया है कि आत्मा और जगत्के संबंधका उच्चा ज्ञान कौनसा मार्ग दिखाता है। साथ ही तेरा सामाजिक कर्तव्य और तेरे वर्णका नैतिक आदर्श तुझे कौनसा मार्ग सूचित करता है सो भी दिखलाया (स्वधर्ममपि चापेक्ष्य० । गी. २।३१)। किसी भी दृष्टिसे विचार करो फल एकही है। यदि तेरा समाधान सामाजिक कर्तव्यमें, वर्णाश्रमधर्ममें नहीं होता, उससे यदि तुझे यह लगता है कि तुझसे पापकर्म होता है, तो उससे ऊँचे आदर्शका तूं अवलंबन कर, किन्तु अधःपतित न बन । तू अपने हृदयका अहंकार त्याग दे; सुखदुःख, लाभ-अलाभ आदि द्वंद्व तुच्छ समझकर केवल यही देख कि भगवानके आदेशसे तुझे कौनसा कार्य करना है। तब तुझे पाप न लगेगा।' इस प्रकार आप्तवधपराङ्मुखता, दुःख, कर्मका अशुभ फल, पापबोध आदि अर्जुनके भिन्न भिन्न प्रश्नोंको तत्कालीन आर्य जातिका श्रेष्ठ ज्ञान और नैतिक आदर्शके अनुकूल ही उत्तर दिये गये हैं।

क्षात्रधर्म यही है । वह धर्म कहता है-भगवानको जान ले; अपने आपको पहिचान और मनुष्यको सहायता कर । धर्म और न्यायकी रक्षा कर और भय तथा दुर्बलताका नाश कर धैर्यसे तेरा संसार-का युद्धकर्म पूर्ण कर । अनंत अविनाशी आत्मा तू ही है । अमरत्व प्राप्तिके मार्गसे ही तेरी आत्मा संसारमें आई है । जीवनमृत्यु, दुःख वेदना ये कुछ नहीं हैं। क्यों कि इन सबको जी कर उनके परे जाना चाहिये । तू तेरे निजके सुख और लाभकी ओर न देख, चारों ओर देख। ध्येयके उज्ज्वल शिखरकी ओर तेरी दृष्टि अखंड रहने दे । तेरे

चारों ओर युद्धकी खाई जल रही है। संसार की ओर देखेगा, तो वहां भी तुझे शुभाशुभ उत्कर्ष-अपकर्ष आपसमें अत्यंत कठोरतासे झगडते हुए दिखाई देंगे। मनुष्य तुझे सहायताके लिये पुकार रहे हैं। तू शक्तिमान पुरुष है, इसलिये उन्हे सहायता कर। युद्ध कर। जगत्के उत्कर्षके लिये संहारकार्यकी आवश्यकता हो तो तू संहार कर; किन्तु जिनका संहार करना है उनके प्रति द्वेष मत रख और संहार-कार्यमें जो मृत होंगे उनके लिये शोक मत कर। सर्वत्र एकही सत्य वस्तु है। वह अमर है और वह है आत्मा, यह देह केवल धूलि है। इस बातको पहिचान। शांततासे सामर्थ्यसे और समतासे तू अपना कार्य कर। युद्ध कर! वीरके समान मृत्युसे भेंट कर, या वीरके समान विजय प्राप्त कर।

सांख्य और योग।

इस प्रकार भगवानने अर्जुनके प्रश्नका प्रथम संक्षेपमें उत्तर दे आरंभमें ही सांख्य और योग-का भेद प्रगट किया।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि॥
गी. २-३९

अर्थात् 'सांख्य शास्त्र के अनुसार तुझे ज्ञान बतलाया। अब जिससे तेरा कर्मबंधोंसे छुटकारा होगा, वह योगज्ञान, हे पार्थ, तुझे बतलाता हूँ।'

गीताशास्त्रका वास्तविक प्रतिपाद्य जो परमार्थ-दर्शन उसका मूल सूत्र इस श्लोकके प्रभेद-में है।

वेदान्त-ज्ञान के जो तीन प्रमाणग्रन्थ हैं उन्ही में गीता शामिल है। सत्यकी नीव पर यद्यपि गीताशिक्षा खडी की गई, तथापि वह आप्तवाक्य तो है नहीं। अर्थात् योगदृष्टिसे ऋषियोंको जिस प्रकार सत्य दिखा उस प्रकार वह गीतामें व्यक्त नहीं हुआ। गीतोपदेश या गीता-शिक्षा तर्क, विचार, बुद्धि, युक्ति के द्वारा प्रतिपादित है। तथापि गीतापर लोगों की ऐसी विलक्षण श्रद्धा है कि वह तेरहवां उपनिषद् मानी जाती है। गीता-के वेदांतविचार यद्यपि, विशेषतः सांख्य और योगके विचारोंसे रंजित हैं, तथापि दर्शन-शास्त्रकी दृष्टिसे इस प्रकारका समन्वय गीताकी विशेषता है। वस्तुतः गीतामें योगकी व्यावहारिक पद्धतिकी ही शिक्षा नहीं है; किन्तु इस प्रणालि-को समझनेके लिये ही तात्विक प्रतिपादन किया है। यह नहीं कि गीताने केवल वेदान्त ज्ञानका ही प्रसार किया है। एक दृष्टिसे ज्ञानमें ही सब कर्मोंकी परिसमाप्ति गीताने की है (गी. ४-३३) और दूसरी दृष्टिसे कर्मको ही ज्ञान और भक्ति की नींव सिद्ध किया है (गी. ४-४१। ४२)। इसके सिवा गीताका योग सांख्योंके विश्लेषण-मूलक ज्ञान पर खडा किया गया है। उसके बहुतेरे मत और उसकी पद्धतियाँ सांख्यानुरूप-ही हैं। तथापि गीतोक्त योगने सांख्यका बहुत कुछ अतिक्रमण किया है। सांख्यके कुछ मूल तत्त्व गीताने अमान्य किये हैं और सांख्योंके विश्लेषणमूलक ज्ञानसे उच्च व्यापक सत्यका गीताने समन्वय किया है।

हम अभी ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकाको ही सांख्य और पतंजलिके योगसूत्रोंको योग समझते हैं। परन्तु गीताके सांख्य और योग निःसंदेह उनसे भिन्न हैं। कारिका का सांख्यमत और गीता-के सांख्यविचारों में बहुत कुछ अन्तर है। क्योंकि गीताने कहीं भी भूलकर भी सृष्टिके मूलतत्वरूप बहुपुरुषवादको मान्य नहीं किया। इसके विरुद्ध प्रचलित सांख्यमतके विरुद्ध गीताने जोरदार प्रतिपादन किया है कि आत्मा और पुरुष एक हैं, वही ईश्वर वही पुरुषोत्तम और वही जगत्का आदि कारण है। आधुनिक भाषामें बतलाना हो तो यों कहेंगे कि प्रचलित सांख्य निरीश्वरवादी है और गीतोक्त सांख्यमें ईश्वरवाद (Theism), सर्वेश्वरवाद (Pantheism) और एकत्ववाद (Monism) का सूक्ष्म समन्वय है।

पातंजल योगमें शुद्ध राजयोगकी प्रणालि है।

उसके मर्यादित उपायोंसे क्रमशः चित्त शांत होकर समाधिस्थितिमें जा सकते हैं। उससे ऐहिक और चिरंतन ऐसे दुहरे लाभ होते हैं। जीवमें ज्ञान और सामर्थ्यका विशेष प्रकारका विकास होना ऐहिक लाभ है और भगवानसे एकता होना चिरंतन लाभ है। परन्तु गीतोक्त योग पातंजलयोगसे भिन्न है और वह उदार, बहुमुखी और सर्वसमावेशक है। राजयोग गीतायोगका बिलकुल सामान्य और गौण अंग है। हम कर्म किस प्रकार करें इस विषयमें कुछ सामान्य नियमोंका पालन कर सब आधारोंका रूपान्तर करना, आधारके प्रत्येक अंगको प्राचीन संस्कारोंसे मुक्त अभिनव दिव्य धर्मसे उन्हें युक्त करना और अपरा प्रकृतिका त्याग कर परा प्रकृतिमें प्रतिष्ठित होना यह है गीतोक्त योगका ध्येय। अर्थात् पातंजल योगमें वर्णन की हुई यौगिक स्थितिसे गीतोक्त समाधि स्वतंत्र है। पतंजलिके मतके अनुसार चित्तशुद्धिके लिये और एकाग्रताकी प्राप्तिके लिये प्राथमिक स्थितिमें ही कर्मकी आवश्यकता है। किन्तु गीता कर्मको ही योगका विशेष लक्षण समझती है। पतंजली कहते हैं कि कर्म केवल योगका उपक्रम है और गीताके मतके अनुसार कर्म ही योगकी चिरस्थायी नींव है। राजयोगके अनुसार उद्देश सिद्ध होने पर कर्मका वस्तुतः त्याग ही करना पडता है अथवा होता है। गीताका मत है कि सर्वोच्च स्थितिमें जानेके लिये कर्म ही एकमात्र उपाय है और यह कर्म पूर्ण मुक्तिके बाद भी रहता है।

प्रचलित सांख्य और योगशास्त्रके विचारसे यद्यपि गीता बद्ध नहीं है तथापि इन उभय शास्त्रोंके जो उदार, सार्वजनिक और सार्वदेशीय विचार हैं उनका गीताने स्वीकार किया है। उपनिषदोंके वेदान्तिक समन्वयमें और उसके पश्चात्के पुराणोंमें हमें जो सांख्य विचार दिखाई देते हैं वही गीताका सांख्य है और मुख्यतः आन्तरिक परिवर्तन करके आत्मदर्शन और भगवान्से एकता करनेकी जो साधना है वही गीताका योग है। गीताके इस उदार साधनकी राजयोग केवल एक विशेष पद्धति है। सांख्य और योगका आरंभ और उनकी पद्धति यद्यपि भिन्न है तथापि वे एकदूसरेके विरुद्ध नहीं हैं। गीताने स्पष्ट कहा है कि उनका मूल तत्त्व एवं ध्येय एक ही है। सांख्य भी एक प्रकारका योग है और उसका आरंभ ज्ञानमें है। अर्थात् सांख्यमतके अनुसार सृष्टिके मूल तत्त्वोंका बुद्धिकी सहायतासे आलोचन कर आरंभ करना पडता है। इस प्रकार सत्यदर्शन होकर उद्देशकी सिद्धि होती है। दुसरी दृष्टिसे देखें तो योगका आरंभ कर्मसे होता है। और मूलतः यही कर्मयोग है। तथापि सम्पूर्ण गीताशिक्षाका विचार करने पर तथा कर्म शब्दकी गीताने जो आगे चलकर परिभाषा की है उसका विचार करनेसे प्रतीत होता है कि कर्म शब्दका उपयोग अत्यन्त व्यापक अर्थसे किया गया है। अपने द्वारा जो अंतर्बाह्य क्रियाएँ होती हैं वे सब निःस्वार्थबुद्धिसे यज्ञरूप ईश्वरको अर्पण करना ही वह योग है। ज्ञानसे दृश्य होनेवाले सत्यका साधन करनेका ही नाम योग है। इस ज्ञानके द्वारा जो सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है, उसे ज्ञानजन्य भक्ति अथवा शान्त वा आवेगपूर्ण आत्मसमर्पण ही साधनाकी परिचालक शक्ति है।

सृष्टिके मूल तत्त्वोंकी संख्या निश्चित की इस लिये इस दर्शनको 'सांख्य' नाम है। साधारण रीतिसे जगत् हमें जिस रूपमें दिखाई देता है, वह नानाविध तत्त्वोंके मिश्रणका परिणाम है। इन तत्त्वोंका विश्लेषण करके तथा उन्हें स्वतंत्र रीतिसे देखकर सांख्यने उनकी गणना की है। तत्त्वोंके विश्लेषणका सांख्यने जैसे प्रयत्न किया उस प्रकार उसने उनके समन्वयका बिलकुल प्रयत्न नहीं किया। निष्क्रिय पुरुष और सक्रिय प्रकृतिके संयोगसे ही जगत्की उत्पत्ति हुई। अर्थात् सृष्टिकी जडमें इन दो तत्त्वोंका अस्तित्व सांख्यको मंजूर है। इसलिये मूलतः सांख्य द्वैतवादी है। परन्तु वेदान्तियोंमें जो अपनेको द्वैतवादी मानते हैं, उनके समान विशिष्ट द्वैतवाद भर सांख्यको मंजूर नहीं है। आत्मा पुरुष है। परन्तु सामान्यतः जिसे अपन आत्मा समझते हैं, उस प्रकारका पुरुष नहीं है।

पुरुष है शुद्ध, चैतन्यमय, अचल, अविकारी और स्वयंप्रकाशित प्रकृति है शक्ति और उसकी क्रिया। पुरुष निष्क्रिय है और उसमें शक्ति तथा उसकी क्रियाका केवल प्रतिबिंब पडता है। प्रकृति वस्तुतः अचेतन रहते भी पुरुषमें प्रतिबिंबित होनेसे वह चेतन मालूम होती है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, लय, जन्म, मृत्यु, चैतन्य, अचैतन्य, इंद्रियलब्ध ज्ञान बुद्धिलब्ध ज्ञान और अज्ञान, कर्म और अकर्म, सुख और दुःख आदि सभी व्यापारोंकी उत्पत्ति होती है। और प्रकृतिसामर्थ्यके अधीन पुरुष ये सब व्यवहार अपने ही समझता है। परन्तु इन व्यापारों-से पुरुषका कुछ भी संबंध नहीं रहता। यह सब प्रकृतिका खेल है।

प्रकृति त्रिगुणमयी है। अर्थात् प्रकृति शक्ति स्वभावतः तीन प्रकारकी है। ये तीन प्रकार हैं सत्व, रज और तम।

सत्व है ज्ञान का बीज और उसका कार्य है स्थिति।

रज है कर्म और तेज उसका बीज है और इसका कार्य है उत्पत्ति।

तम अज्ञान और जडताका बीज है और उसका कार्य है लय।

जब प्रकृतिके ये तीनों गुण तुल्यबल होकर साम्य अवस्थामें रहते हैं, तब किसी भी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सकती। सब स्तब्धता रहती है। उस समय अविकारी और ज्योतिर्मय तथा चैतन्यमय आत्मामें प्रतिबिंबित होने योग्य कुछ भी नहीं रहता। परन्तु जब यह साम्य अवस्था नष्ट होती है अर्थात् प्रकृतिके इन तीनों गुणोंमें विषमता उत्पन्न होती है और उनका एक दूसरेसे संग्राम शुरु होता है, तब उत्पत्ति-स्थिति-लय का व्यापार अखण्ड शुरु होता है और जगत्का उत्क्रान्ति चक्र चलने लगता है। इस सब व्यापारमें पुरुषका सनातन स्वरूप ढँक जाता है। जब तक पुरुषकी इच्छा रहति है और वह अपनेको प्रकृतिगुणसम्पन्न समझता है, तभी तक प्रकृतिकी साम्य अवस्था च्युत होती है और सब व्यापार चलते रहते हैं। परन्तु जब पुरुषकी इच्छा नहीं रहती तब त्रिगुण साम्य अवस्थामें रहते हैं और तभी आत्मा अपने सनातन और अचलस्वरूपको प्राप्त होकर मुक्त होता है। इस प्रकार प्रकृतिका खेल प्रतिबिंबित करने तथा उसे संमति देने या न देनेकी सामर्थ्य केवल पुरुषमें ही है। सांख्योंका पुरुष केवल प्रतिबिंब देख सकता है और अनुमति देता है; किन्तु ईश्वररूपसे कर्म नहीं करता। यही अनुमति देना या न देना भी वास्तव में सांख्योक्त पुरुषका कार्य नहीं है। वह प्रकृति ही कराती है। सांख्योक्त पुरुष अंतर्बाह्य कोई भी कार्य नहीं करता। उसमें कार्यकारी इच्छा नहीं और कार्यकारी बुद्धि भी नहीं। इसलिये सांख्योंका केवल पुरुष इस जगत्का एकमात्र कारण हो नहीं सकता। सांख्योक्त जगत्की परिभाषा ऐसी है कि आत्मा और प्रकृति अर्थात् निष्क्रिय चैतन्य और सक्रिय प्रकृति इस जोडीके द्वाराही जगत्की उत्पत्ति होती है।

*

तथापि हम चिंता करते हैं, संकल्प करते हैं, विचार करते हैं, इत्यादि जो कहते हैं उसका मूल कहाँ हैं? अपन समझते हैं कि जीवनका यह मह-त्वका भाग प्रकृतिका नहीं पुरुषका है। सांख्यमत-के अनुसार विचार, बुद्धि, इच्छा, यह आत्माका गुण नहीं वह तो सर्वथा जड प्रकृतिका भाग है। जिन तत्त्वोंसे जगत्की उत्पत्ति सांख्य मानते हैं उनमें 'बुद्धि' एक तत्त्व है। त्रिगुणात्मक प्रकृति ही जगत्का मूल उपादान है। सृष्टिके पूर्व जगत् अव्यक्त अवस्थामें रहता है। उसके पश्चात् सृष्टि-कालमें अव्यक्त प्रकृतिसे क्रमशः जड जगत्का उपादान जो पंच महाभूत उनका आविर्भाव होता है। इन स्थूल पंच महाभूतोंको प्राचीन शास्त्रमें आकाश, वायु, अग्नि, आप और पृथिवी ऐसे नाम हैं। यह ध्यान रहे कि जड विज्ञान जिसे जगत्का उपादान (elements) समझता है, उस प्रकार ये पंच-भूत जगत्का उपादान नहीं हैं। ये पंचभूत जडशक्तिकी पांच सूक्ष्म अवस्थाएं हैं। जगत्के सब पदार्थ इन पांच सूक्ष्म अवस्थाओंके और उपादानके मिश्रणसे उत्पन्न हुए हैं। इन पंच-भूतोंमेंसे प्रत्येक भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गन्ध जो जड शक्तिके सूक्ष्म गुण हैं उनका आधार है। मन इन पांच प्रकारोंसे बाह्य जगत्की सब वस्तुएं ग्रहण करता है। अर्थात् मूल प्रकृतिसे निर्माण हुए इन सगुण पंच महाभूतोंसे ही इस बाह्य जगत्की उत्पत्ति हुई है।

अन्तर्जग बुद्धि अथवा महत्, अहंकार, मन तथा मनके अधीन रहनेवाली पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेंद्रियाँ ऐसे कुल तेरह तत्वोंका बना है। मनका कार्य द्विविध है, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। उसका प्रभाव विलक्षण है। मन प्रत्यक्षके द्वारा बाह्य स्पर्श ग्रहण कर जगतका ज्ञान प्राप्त करता है और बाह्य जगत्की घटनाओंके लिये शरीरयंत्र चलाता है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पंचेंद्रियोंसे क्रमसे शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच विषयोंका ग्रहण कर तथा हाथ, पैर, वाणी, गुदा और जननेंद्रिय इनकी सहायतासे मन क्रमसे प्रत्यक्ष प्राप्त हुए ज्ञानका और अपेक्षित शारीरिक क्रियाओंकी विशेषता व्यक्त करता है। प्रकृतिकी जो शक्ति विचार करती है और भेदाभेदका निर्णय करती है उसीका नाम 'बुद्धि' है। इसीको एक दृष्टिसे बोधशक्ति और इच्छाशक्ति कह सकते हैं। जिस बौद्धिक तत्त्वके द्वारा पुरुष समझता है कि प्रकृति और अपन एक हैं अर्थात् प्रकृतिके कार्य अपने ही हैं, उस तत्त्वका नाम 'अहंकार' है। तथापि ये सब आंतरिक तत्त्व (Subjective Principles) स्वयं जड, अचेतन और बाह्य जगत्के कर्म-व्यापारोंके अनुसार प्राकृतिक शक्तिके अन्तर्गत हैं। यद्यपि यह समझना कठिन है कि विचार, बुद्धि और इच्छा (सांख्योंने इन दोनोंको बुद्धि नाम दिया है) जड अचेतनका कार्य कैसे हो सकता है, तथापि ध्यान रहे कि आधुनिक विज्ञान (Science) भी ऐसे सिद्धान्तको आ पहुँचा है। यही नहीं (Atom) परमाणुकी जडक्रियामें जो शक्ति है वह भी अचेतन इच्छाशक्ति ही है और इस प्रकार प्राकृतिक जगत्के सब व्यापारोंमें यह सर्वव्यापी इच्छा अचेतनतासे ही बुद्धिका कार्य करती है। जड जगत्के सब कार्योंमें जो भेदअभेद निर्णय अचेतनतासे चालू है, वह क्रिया और जिसे अपन मानसिक बुद्धिकी क्रिया कहते हैं वह क्रिया ये दोनों मूलतः एक ही हैं। पाश्चात्य विज्ञान यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है कि सचेतन मन अचेतन जडकी क्रियाका ही परिणाम है। किन्तु पाश्चात्य विज्ञान व्याख्या नहीं कर सकता कि जड अचेतन किस प्रकार चेतनके समान होता है। सांख्योंने यह व्याख्या की है। पुरुषमें प्रकृति प्रतिबिंबित होनेसे ही ऐसा होता है। आत्माका चैतन्य जड प्रकृतिकी क्रियापर आरोपित होता है। इस प्रकार साक्षीस्वरूप पुरुष स्वतःको भूल जाता है और भ्रमसे समझता है कि प्रकृतिकी चिंता, अनुभूति और इच्छा अपनी ही है। वस्तुतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिके द्वारा ही ये सब बातें होती हैं।

जिनका सांख्योंने विचार नहीं किया- कमसे कम सन्तोषदायक विचार नहीं किया- ऐसे अनेक आवश्यक विषय जगत्में हैं। तथापि यदि हम सृष्टितत्वके सम्बन्धमें ऐसी सयुक्तिक विचार मीमांसा चाहते हैं जिससे विश्वप्रकृतिके बन्धनोंसे आत्मा मुक्त हो सके, तब तो सांख्योंने की हुई मीमांसा और दिखाया हुआ मुक्तिका मार्ग अन्योंसे कम योग्यताका नहीं मालूम होता। सांख्योंका जो तत्त्व हमारी समझमें सरलतासे नहीं आता वह है 'बहुपुरुषवाद।' यदि एक पुरुष और एक प्रकृति ये दो तत्त्व मान लें तो सृष्टितत्वकी मीमांसा कर सकेंगे ऐसा लगता है सही; परन्तु सांख्योंने जिस विशिष्ट पद्धतिसे विश्लेषण करके वस्तुका तत्त्व देखा है, उस पद्धतिमें बहुपुरुषवादका स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता था।

प्रथमतः हमें यह दिखाई देता है कि जगत्में अनेक प्रकारके सचेतन जीव हैं और प्रत्येक जीव जगत्की ओर स्वतंत्रतासे देखता है और जगत्में स्वतन्त्रतासे कार्य करता है। पुरुष यदि एकही होता तो जीवोंमें यह स्वतन्त्रता एवं भिन्नता नहीं दिखाई देती। सभी जगत्की ओर एक ही प्रकारसे देखते और अन्तर्बाह्य जगत्का अनुभव भी सभीको एकसा आया होता। अर्थात् एक व्यक्ति सुखी होनेपर सभी जगत् सुखी हुआ होता और एक

दुःखी होनेपर सभी दुःखी हुए होते। यही हाल अन्य बातोंके बारेमें भी होता। बहुपुरुष, बहुसाक्षी, और बहुद्रष्टा न मानें, तो इस भिन्नता एवं विचित्रताकी उपपत्ति नहीं लगा सकते। यह भी कहा जाता है कि जीवका अहंकार ही प्रत्येकको दूसरेसे भिन्न करता है। परन्तु अहङ्कार प्रकृतिका साधारण तत्त्व होनेसे भिन्नताका कारण नहीं हो सकता। अहङ्कार इतनाही कर सकता है कि पुरुषमें यह भ्रम होवे कि मैं प्रकृतिसे भिन्न नहीं हूँ। प्रकृतिमें चाहे कितनाही वैचित्र्य रहे, पुरुष यदि एक है, साक्षी यदि एक ही है तो सब जीवोंकी जगत्की कल्पना एक प्रकारकी ही होगी। जिस प्राचीन वेदांतिक ज्ञानसे सांख्योंकी उत्पत्ति हुई उससे च्युत होनेके कारण बहुपुरुषवाद मान लेना सांख्योंके लिये न्यायतः आवश्यक हुआ। एक पुरुष और एक प्रकृतिके संयोगसे जगत्का उत्पत्ति-स्थिति-लय समझमें आता है। किन्तु उतनेसे जगत्के जीवोंमें दिखाई देनेवाली भिन्नताका स्पष्टीकरण नहीं होता।

बहुपुरुषवाद न माननेसे और भी एक विचित्र अडचन है। अन्य दर्शनोंके समान सांख्य दर्शनका भी उद्देश मुक्ति है। हम पहले कह चुके हैं कि पुरुषके आनन्दके लिये प्रकृति सब क्रियाओंका खेल करती है और इस खेलको जब पुरुषसे अनुमति नहीं मिलती तभी मोक्षप्राप्ति होती है। परन्तु यह केवल विचारकी एक शैली है। क्योंकि निष्क्रिय अनुमति देना वा न देना यह कार्य पुरुषका कदापि नहीं रह सकता। यह निश्चय है कि वह प्रकृतिका ही कार्य है। थोडा विचार करनेपर विदित होगा कि अनुमति देना वा न देना बुद्धिकी क्रिया है। बुद्धि ही प्रकृतिकी क्रियामें भेद-अभेदका विचार करती है और बुद्धि ही अहंकार की सहायतासे द्रष्टाको प्रकृतिके कार्यसे तद्रूप बना देती है। भेदके सम्बन्धमें विचार करते करते बुद्धि ऐसी अवस्थाको पहुँचती है कि उस समय उसे विदित होता है कि प्रकृतिकी एकता निरा भ्रम मात्र है। अन्तमें यह निश्चय कायम होता है कि बुद्धि पुरुष और प्रकृतिको भिन्न समझ कर जगत्के सब व्यापारोंका मूल त्रिगुणोंकी विषमता है। ऐसा होनेपर पुरुष बन्धनमुक्त होता है और जिस जागतिक लीलामें मन रसास्वाद लेता है उसमें पुरुष स्वयं भाग नहीं लेता। इसका परिणाम यह होगा कि पुरुषमें प्रतिबिंबित होनेकी प्रकृतिकी शक्ति नष्ट हो जावेगी क्योंकि अहंकारका कार्य नष्ट होगा, बुद्धि उदासीन रहेगी और प्रकृतिके कार्यमें सहायता न होगी अर्थात् प्रकृतिके त्रिगुणोंको सम अवस्था आना अनिवार्य होगा। जगत्की लीला बन्द होगी और पुरुष अपने अचल शांत स्वरूपको प्राप्त होगा। पुरुष यदि एक ही होगा और स्वतःका भ्रम समझ कर यदि बुद्धि उदासीन रहेगी, तो सब जगत्का लय होगा। परन्तु ऐसी घटना तो दिखाई नहीं देती। करोडों लोगोंमेंसे कुछ लोग ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं या मुक्तिमार्गके यात्री बनते हैं। इतनेसे अवशिष्ट लोगोंमें कुछ भी रुकावट उत्पन्न नहीं होती। विश्वलीलाका संहार होना दूरही रहा, पर उससे लीला करनेमें विश्वप्रकृतिको किसी भी प्रकारकी असुविधा नहीं होती। बहुपुरुषवादको बिना माने इस परिस्थितिकी मीमांसा नहीं कर सकते। वेदान्तके अद्वैत मतके अनुसार इस प्रकारकी तर्कशुद्ध मीमांसा मायावादसे होती है। परन्तु मायावादकी विचारप्रणालिके अनुसार बन्धन, मुक्ति सभी मिथ्या है, सभी मायाका भ्रम है। मायावादके समान जगत् मिथ्या समझनेकी सांख्योंकी इच्छा नहीं। उसे वेदांतकी यह विचारप्रणालि मान्य नहीं, यहां भी यही दिखाई देता है कि सांख्योंको बहुपुरुषवाद माननेके सिवा चारा नहीं।

सांख्योंने सृष्टितत्त्वका जो विश्लेषण किया, उसे लेकर ही गीताका आरम्भ हुआ है। प्रकृति, उसके तीन गुण और चोवीस तत्त्व गीताने मान लिये हैं। सब प्रकारका कार्य प्रकृतिका और पुरुष निष्क्रिय यह भी गीता कबूल करती है। इसी प्रकार गीताको यह भी मंजूर है कि जगत्में अनेक चेतन जीव हैं, अहंकारका नाश और प्रकृतिके

गुणोंके परे जाना ही मुक्तिका उपाय है। अर्जुनको पहलेहीसे जिस योगका अभ्यास करनेको भगवान्‌ने कहा वह है बुद्धियोग। किन्तु सांख्योंकी और गीताकी विचारप्रणालिमें एक महत्त्वपूर्ण बातमें विलक्षण अन्तर है। वह बात है बहुपुरुषवाद। गीताका मत है कि पुरुष एक मात्र ही है। सांख्यों ने बहुपुरुषवाद मान कर जिन प्रश्नोंका समाधान कया है, उन प्रश्नोंका समाधान एक पुरुष मानकर भी गीताने वेदांतिक सांख्य और वेदांतिक योगके मजेदार समन्वयसे किया है।

पुरुषके सम्बन्धकी गीताकी कल्पना ही अभिनव है। प्रकृति पुरुषके सुखके लिये कार्य करती है सही; पर सुख निश्चित कैसे होता है? सांख्योंके मतसे निष्क्रिय साक्षीकी उदासीन अनुमतिसे ही यह सुख निश्चित होता है। साक्षी उदासीन रहकर अहंकार और बुद्धिकी क्रियाको सहायता करता है और उदासीनतासे ही वह बुद्धिको अहंकारसे परावृत्त करता है। सांख्योंका पुरुष देखता है, अनुमति देता है और प्रकृतिका प्रतिबिंबित कर्म करता है अर्थात् वह केवल साक्षी, अनुमन्ता और भर्ता है। इसके सिवा उसमें विशेष कुछ नहीं है। पर गीताका पुरुष प्रकृतिका अधिपति है और परमेश्वर है। बुद्धि और इच्छाशक्ति यद्यपि प्रकृतिकी क्रिया हैं, तथापि इच्छाकी उत्पत्ति और शक्ति चेतन आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं और यही प्रकृतिका स्वामी है। इच्छा और बुद्धिका कार्य प्रकृतिका है तब भी इस बुद्धिका उत्पत्तिस्थान पुरुष ही है। वही बुद्धिका प्रकाश सक्रियतासे प्रसृत करता है। गीतोक्त पुरुष केवल साक्षी ही नहीं वह ज्ञाता और ईश्वर भी है। सांख्य मतके अनुसार प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं। दोनोंके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है। परन्तु गीतोक्त पुरुष अपनी प्रकृतिकी सहायतासे जगत् उत्पन्न करता है। इससे यह भी विदित होता है कि प्राचीन सांख्योंकी संकीर्णतासे गीता कितनी आगे गई है।

गीतोक्त आत्मा अविकार्य, अज, अव्यक्त, ब्रह्म है तथापि वही सर्वव्यापक है। (येन सर्वमिदं ततम्) वह अचल है तथापि सब कर्मका और गतिकाभी कारण तथा अधीश्वर वही है। परन्तु यह ऐसे कैसे होता है? जगत् में जो अनेक जीव हैं उनका क्या हाल? वे तो त्रिगुणके, अहंकारके तथा भ्रमके अधीन होनेसे उन्हे तो ईश्वर कह नहीं सकते। गीताके कथनानुसार सबमें आत्मा यदि एक तो बंधन, भ्रम आदिकी उत्पत्ति कैसे हुई? पुरुषको सर्वतः निष्क्रिय और उदासीन न मानें तब भी इस आक्षेपका निराकरण कैसे हो सकता है? इसके सिवा यह अनेकता कैसे उत्पन्न हुई? एक शरीर-मनमें स्थित आत्मा मुक्तिलाभ करता है और वही दूसरे शरीर-मनमें नहीं कर सकता; किन्तु अपनेको भ्रमसे बद्ध समजता है यह कैसे होता है? इन सब प्रश्नोंका संतोषजनक उत्तर मिलना आवश्यक है।

पुरुष और प्रकृतिके संबंधका विश्लेषण करनेके बाद गीताने इन सब प्रश्नोंका समाधान किया है। गीता तीन पुरुष या पुरुषकी तीन अवस्थाएँ मानती है। सांख्य तत्वका वर्णन करते समय उपनिषदोंने कहीं कहीं दो पुरुषोंका वर्णन किया हुआ दिखाई देता है। उपनिषद्के एक श्लोकमें इस प्रकार वर्णन है कि एक त्रिवर्णी अजा है त्रिगुणमयी स्त्रीधर्मी प्रकृति। यह सब काल उत्पत्तिकार्य करती है। दो अज पुरुष हैं। इनमेंसे एक प्रकृतिके अनुकूल उपभोग लेता है और दूसरा उसका सम्पूर्ण रीतिसे उपभोग लेकर छोड देता है। और भी एक श्लोकमें इसप्रकार वर्णन है; एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं। उनमेंसे एक वृक्षका फल खाता है – प्रकृतिस्थ पुरुष प्राकृतिक लीलाका उपभोग लेता है। दूसरा पक्षी फल नहीं खाता; पर अपने साथीको देखता है; वह मौन और अलिप्त है। पहला दूसरेको देखता है और जब उसकी समझमें आता है कि जो कुछ महत्त्व है वह सब दूसरेका है, तब वह दुःखसे मुक्त होता है। ऊपरके दो श्लोकोंका हेतु यद्यपि भिन्न है तथापि उनमें एक सामान्य अर्थ भरा है। दो पक्षियोंमेंसे एक चिरकाल मौन, मुक्त आत्मा अथवा पुरुष है। यह

खुद ही व्यापे हुए जगत्की ओर देखता है किन्तु उसमें लिप्त नहीं रहता। दूसरा पक्षी है प्रकृति-बद्ध पुरुष। पहले श्लोकसे यह मालूम होता है कि दोनों पुरुष एकही हैं, एकहि चेतन जीवकी बद्ध और मुक्त ऐसी भिन्न भिन्न अवस्थाएं हैं। क्यों कि श्लोकोक्त अज पुरुष प्रकृतिमें अवतीर्ण हो उसका उपभोग लेता है और उसके बाद उसे छोड देता है। दूसरे श्लोक से मालूम होता है कि एक ही आत्मा की उच्च और नीच ऐसी दो अवस्थाएँ हैं, उच्च अवस्थामें वह चिरकाल मुक्त, निष्क्रिय, तथा निर्लिप्त रहता है और नीच अवस्थामें वह प्रकृतिमें अनेक जीवरूपोंसे अवतीर्ण हो और विशिष्ट जीवमें प्रकृतिकी लीलाके संबंधमें विरक्त होकर उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है। इस प्रकार एक ही सनातन आत्माकी दो अवस्थाएँ मान लें, तो संतोषका एक मार्ग मिल जाता है। किन्तु एक अनेक कैसे बन जाता है सो समझमें नहीं आता।

उपनिषदोंके अन्य श्लोकोंका रहस्य जानकर गीताने इन दो पुरुषों पर और एक पुरुषकी कल्पना की है। यह सर्वश्रेष्ठ पुरुष परमेश्वर है। अर्थात् गीता के मतके अनुसार तीन पुरुष हैं। यथा क्षर, अक्षर और उत्तम। आत्माका बहुभूतत्व अर्थात् अनेक रूपसे प्रगट होना ही 'क्षर' है। इस स्थानमें पुरुष भगवान् का बहुरूप है- यह पुरुष प्रकृतिसे भिन्न नहीं, वह प्रकृतिस्थ पुरुष है। अक्षर पुरुष क्षर के समान चल नहीं, वह अचल एवं निष्क्रिय है। यह प्रकृतिका साक्षी है पर प्रकृतिके कार्यसे बद्ध नहीं किन्तु प्रकृतिसे मुक्त है। परमेश्वर, परब्रह्म, परम पुरुष ही उत्तम पुरुष है। क्षर पुरुष का परिणामी बहुरूपत्व और पुरुषका अपरिणामी एकरूपत्व ये दोनों बातें उत्तम पुरुषमें हैं। अपनी प्रकृतिके, अपनी शक्तिके विराट् क्रियाके बलपर अपनी इच्छासे यह उत्तम पुरुष जगत् में प्रकट होता है। और अपनी महान् अचलताके बलपर वह स्वतंत्र और अलिप्त रहता है। तथापि पुरुषोत्तम-स्वरूपमें वह प्रकृतिसे स्वतंत्र और प्रकृतिसे बद्ध इन दोनों दशाओंके परे रहता है। पुरुषोत्तमकी कल्पना प्रायः उपनिषदोंमें सूचित है, तथापि गीता ने ही पहलेपहल इस स्वरूपका वर्णन किया है और उसके बाद ही भारतीय धर्मविचारोंपर इस समझ का विशेष प्रभाव पडा है। अद्वैतवादकी कठिन शृंखला से मुक्त होनेके लिये गाढ प्रयत्न करनेवाले सर्वोत्तम भक्तियोगकी नींव पुरुषोत्तमकी समझ ही हैं। भक्तिरसप्रधान पुराणोंकी जड यह पुरुषोत्तमवाद ही है।

सांख्योंने जो प्रकृतिविश्लेषण किया है, उसमें अहंकारको स्थान है। तबभी बहुपोंको (Multiple) उसमें स्थान नहीं हैं। सांख्योंके बहुपुरुष प्रकृति से स्वतंत्र हैं; प्रकृतिके अंतर्गत नहीं हैं। गीता सांख्यमतके विरुद्ध कहती है कि अपनी प्रकृतिके द्वाराही ईश्वर जीव बना। परन्तु यह होता कैसे है? क्योंकि विश्वप्रकृतिमें कुल तत्त्व चोबीस हैं। भगवान्ने इस संबंधमें जो गीतामें उत्तर दिया है उसका सारांश इस प्रकार है— "सांख्योंने जैसे वर्णन किया है, उसीके अनुसार त्रिगुणात्मक विश्वप्रकृतिका दृश्य कार्य होता है, इसी तरह प्रकृति-पुरुषके विषयमें सांख्योंने जो निर्णय किया है वह ठीक है और बंधनके पार जानेके लिये कार्यतः इस सांख्य ज्ञानका विशेष उपयोग है सो भी सत्य है। किन्तु यह सब लक्षण और कार्य अपरा प्रकृति का है। अपरा प्रकृतिसेभी ऊंची प्रकृति है और वही परा, चेतन या दैवी प्रकृति है। यह परा प्रकृतिही जीव (Individual Soul) बनती है। अपरा प्रकृतिमें प्रत्येक जीव अहंकारप्रधान रहता है और वही परा प्रकृतिमें एक पुरुष रहता है। दूसरी दृष्टिसे कहना हो तो ऐसा कहेंगे कि बहुत्व उस एकही आध्यात्मिक प्रकृतिमें अंतर्भूत है। यह जो जीवात्मा है वह मैंही हूं। सृष्टिमें वह मेरे अंशरूपसे प्रकाशित होता है (ममैवांशो०)। मेरी सब शक्तियाँ इसमें हैं। यही उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्ता और ज्ञाता तथा ईश्वर है। यह अपरा प्रकृति में जन्म लेकर स्वतःको कर्मके द्वारा बद्ध समझता है। और इस प्रकार कनिष्ठ जीवनका अनुभव करता है। इसे सब कर्मोंसे मुक्त होते बनता है,

गुणत्रयके परे जाते बनता है और कर्मबंधनोंसे मुक्त होकर भी मेरे समान कर्म करते बनता है और कर्म रह सकता है। पुरुषोत्तम की भक्ति कर तथा उससे युक्त होकर उसकी दैवी प्रकृतिका भी उपभोग यह ले सकता है।

ऊपर जो गीता का विश्लेषण बताया गया, वह केवल बाह्य विश्वलीलाकी मर्यादामें ही बद्ध नहीं है, उसने विज्ञानमयी प्रगति (Super-conscious Nature) के उत्तम रहस्यमें भी प्रवेश किया है और वेदान्त, सांख्य और योगज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों के समन्वय की नीव डाली है। शुद्ध सांख्यमत के अनुसार कर्म और मोक्ष परस्पर-विरोधी हैं और उनकी एकता असंभव है। शुद्ध अद्वैत मतके अनुसार कर्मयोगका अंग हो ही नहीं सकता। गीताके सांख्यज्ञानने तथा योगप्रणालिने इन सभी संकटोंका अतिक्रमण किया है।

साधारणतः समझ यह है की सांख्योंकी और योगियोंकी प्रणालि भिन्न है; यही नहीं वह परस्पर-विरुद्ध है। बाह्यतः दिखनेवाली इन प्रणालियोंका अथवा निष्ठाओंका समन्वय व्यापक वेदान्तके सांचेमें बैठालना ही गीता की प्रथम षडध्यायी का हेतु है। उस समयके लोकमतके अनुसार इन दो प्राणालियोंमें कार्यतः दिखाई देनेवाले भेद का स्वरूप इस प्रकार है— सांख्योंका मार्ग ज्ञानमार्ग या बुद्धियोगका मार्ग है। योगका मार्ग कर्म-मार्ग अर्थात् कर्मानुगामी बुद्धिका रूपान्तरित मार्ग है। इस भेदमेंसे दूसरा एक भेद सहज ही में निर्माण होता है। सांख्य तो लोगोंको संपूर्ण कर्मत्याग एवं संन्यासकी ओर प्रवृत्त करता है। किन्तु योगके मतानुसार वासना त्याग करना आवश्यक है। कर्म के आंतरिक तत्त्वका संशोधन करना चाहिये अर्थात् कर्मको ईश्वराभिमुख बनाकर देवजीवन और मुक्तिलाभ ही कर्मका हेतु होना चाहिये। तथापि सांख्य हो या योग हो, दोनों प्रणालियोंका उद्देश्य, ध्येय एकही है और वह है पुनर्जन्म और संसारके पार जाकर जीवात्मा और परमात्माका मीलन है।

गीताकालमें सांख्य और योग इन दो निष्ठाओंमें बहुत अधिक अंतर एवं विरोध माना जाता था; इस लिये अर्जुनको यह समझाना कठीण हो गया कि इन दानोंका समन्वय होना संभव है। भगवान् ने कर्म और बुद्धियोगके समन्वय से ही आरंभ किया। वे बोले 'बुद्धियोगकी अपेक्षा निरा कर्म अतीव निकृष्ट है (दूरेण ह्यवरं कर्म)। बुद्धियोग और ज्ञानकी सहायतासे सामान्य मनोभाव और वासनासे मुक्त हो सर्ववासनाशून्य तथा पवित्रता एवं समतासे युक्त जो ब्राह्मी स्थिति उस स्थितिमें जो कर्म मनुष्यको प्रविष्ट करेगा वही ज्ञानशुद्ध कर्म ग्राह्य और मुक्तिसहायक है। अर्जुन उस समयकी शिक्षा-सभ्यतामें बढा हुआ पुरुष था। जब भगवान् इंद्रियजय, अपरा प्रकृतिसे मुक्त हो परा प्रकृतिमें प्रविष्ट होना. आदि विषयोंकी ही विशेष चर्चा कर तथा योगके संबंधमें बहुत थोडे विचार प्रदर्शित कर वेदांतिक सांख्यका ही प्रमुखतासे मंडन करने लगे, तब तो अर्जुन विशेष संशयमूढ हुआ और उसने पूछा—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

गी. ३।१-२

अर्थात् 'हे जनार्दन! यदि आपका मत यह है कि कर्मसे बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो मुझे युद्धके घोर कर्ममें क्यों डालते हैं? कर्मकी और कभी कभी ज्ञानकी प्रशंसा आप करते हैं और अपने दुहरे भाषणसे मेरी बुद्धिको मोहमें डाल रहे हैं। अतएव जिससे मेरा कल्याण होगा, ऐसी एकही बात निश्चित रीतिसे बतलाइये।'

भगवान् ने उत्तर दिया— 'ज्ञान या संन्यास सांख्योंका तथा कर्म योगियोंका मार्ग है'—

लोकेऽस्मिन द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

गी. ३।३

किन्तु कर्मयोगके साधनके विना सच्चा संन्यास

असंभवनीय है। जब तक ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म नहीं करते; लाभ-अलाभ, जय-अपजय, समान मानकर निरासक्त एवं निरपेक्षतासे कर्म नहीं करते और जब तक इस बातकी उपलब्धि नहीं होती कि सब कुछ प्रकृति ही करती है, आत्मा कुछ नहीं करता; तब तक सच्चा संन्यास संभव नहीं। परन्तु भगवान तुरन्त ही आगे बोले-सब कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें ही होनेके कारण ज्ञान यज्ञ ही सर्व श्रेष्ठ है। ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर डालती है अर्थात् जिस व्यक्तिने आत्मज्ञान संपादन किया है उसका कर्म योगके द्वारा संन्यस्त होता है और तब ऐसे आत्मवान् व्यक्तिको कर्म बद्ध नहीं कर सकता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ गी. ४।४२

अर्जुनके सिरमें विचारोंकी धांदली फिर शुरु हुई। वासनाहीन कर्म योगका और कर्मसंन्यास अथवा त्याग सांख्योंका मूल है। विरोधके आवरणमें छिपे हुए इस उभय मार्गकी एकताकी खूबी अर्जुनकी समझमें न आई। यह समझना चाहिये कि बाहरी कर्मशून्यतामें भी कर्म जारी है और आत्मा जब भ्रमसे अपने अपनेको कर्मी समझकर सब कर्म यज्ञेश्वरको अर्पण करता है, तब बाह्य कर्मपरायणतामें ही सच्चा नैष्कर्म्य देखना चाहिये। इस प्रकार भगवान्ने इन दोनों मार्गोंकी एकता की है। परन्तु अर्जुनकी कर्मप्रवण व्यावहारिक बुद्धि यह सूक्ष्म भेद न समझ सकी। इससे उसने फिर पूछा-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेयं एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ गी. ५।१

अर्थात् 'हे श्रीकृष्ण! कभी तो आप कर्मसंन्यासकी और कभी कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं; अतएव इन दोनोंमें जो सचमुचही श्रेयस्कर होगा, वह मुझे निश्चिततासे कहिये।'

अर्जुनके इस प्रश्नको भगवान्ने जो उत्तर दिया, वह महत्त्वपूर्ण है। उसमें दोनों मार्गोंका अन्तर बिलकुल स्पष्ट किया है। भगवान् बोले-

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ ५-२
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सखं बंधात्प्रमुच्यते॥ ५-३
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ५-४
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५-५

कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग मोक्ष प्राप्ति करा देनेवाले हैं। पर इन दोनोंमें कर्मयोगकी योग्यता विशेष है। जो पुरुष किसीका भी द्वेष नहीं करता और किसीकी भी इच्छा नहीं करता, उसे कर्म करनेपर भी नित्यसंन्यासी ही समझो। क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन, जो सुखदुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हुआ, वह सहजही में कर्मके सब बंधोंसे मुक्त होता है। सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग) भिन्न हैं ऐसा तो मूर्ख लोग कहते हैं, ज्ञानी ऐसा नहीं कहता। किसी मार्गका आचरण अच्छी तरह करनेसे दोनोंका फल मिलता है। जिस स्थानमें सांख्य पहुँचते हैं वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगी भी जाते हैं। जिसने यह देख लिया कि सांख्य और योग एक ही हैं, उसीने सच्चा सत्त्व पहचाना। हे महाबाहु, संन्यास भी तो योगके बिना अर्थात् कर्मके बिना प्राप्त होना कठिन है। जो मुनि कर्मयोगयुक्त हुआ, उसे ब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें देर नहीं लगती। उसकी आत्मा सर्वभूतोंकी आत्मा बनती है और ऐसा व्यक्ति कर्म करके भी कर्मबद्ध नहीं होता। वह जानता है कि कर्म अपने नहीं हैं। यद्यपि उसके द्वारा कर्म होता है, तब भी वस्तुतः वह कोई भी कर्म नहीं करता। वह देखता है कि एक ही स्वयंभू तत्त्व सर्वभूत हुआ है और अपन भी उसमेंसे एक हैं।

इतने उद्घाटन भरमें गीताकी सम्पूर्ण शिक्षा नहीं आई। अब तक केवल अक्षर पुरुष- अक्षर ब्रह्म- एवं प्रकृति तथा इन दोनोंसे जगतकी उत्पत्ति बस; इतना ही विषय हुआ है। परन्तु ईश्वरका- पुरुषोत्तमका- विचार स्पष्ट और अच्छी तरह नहीं

हुआ । इसी तरह ज्ञान और कर्मका ही अब तक समन्वय हुआ; किन्तु सामान्य निर्देशसे अधिक भक्तिका विचार नहीं हुआ । भक्ति ही परमतत्त्व है और इसके आगे गीताके प्रकरणोंमें भक्तिने ही विशेष स्थान अधिकृत किया है । एक निष्क्रिय पुरुष और क्षुद्र प्रकृतिका ही जब तक विचार हुआ; किन्तु तीन पुरुष और दो प्रकृतियोंका स्पष्ट भेद नहीं दिखाया गया । ईश्वरका विचार हुआ । किन्तु आत्मा और प्रकृतिके साथ उसका जो संबंध है उसकी स्पष्ट मीमांसा नहीं हुई । इन सब आवश्यक तत्त्वोंका सम्यक् निरूपण न करके भी गीताकी प्रथम षडध्यायीमें यथा संभव समन्वय किया है । यहाँसे आगे इन सब तत्त्वोंकी जब उत्तम मीमांसा होगी, तब गीताकी प्रथम षडध्यायीके सवन्वयको यद्यपि एक ओर न करें तब भी उसमें अनेक सुधार एवं विस्तार करना ही पडेगा ।

सांख्य, योग और वेदान्त।

श्रीकृष्ण बोले–मोक्षपरता या निष्ठा दो प्रकारकी है । ज्ञानयोगसे सांख्योंकी तथा कर्मयोगसे योगियोंकी निष्ठा होती है । वह इस प्रकार द्विविध निष्ठा (मोक्षपरता) है । सांख्यसे ज्ञानयोगका तथा योगसे कर्ममार्गका जो ऐक्यभाव यहाँ दिखाया गया है वह सचमुच अत्यंत रोचक दिखाई देता है । उस समयके प्रचलित तात्त्विक विचारोंमें आजकल बहुत ही परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तनका कारण है वेदान्त मतकी उत्क्रान्ति । गीता रचनाके अनंतर ही इस वेदान्तिक प्रभुताका उपक्रम आरंभ हुआ । और मालूम होता है तभीसे मोक्ष प्राप्तिकी अन्य वैदिक पद्धतियोंका एक प्रकारसे लोप हुआ । गीताकी भाषासे यह मालूम होता है कि गीता कालके ज्ञानमार्गी लोग सामान्यतः सांख्यप्रणालिका ही स्वीकार करते थे। आगे चलकर बौद्धधर्मके बढते प्रसारके साथ बौद्धज्ञानके कारण सांख्योंकी ज्ञानप्रणालिका जोर बिलकुल कम हो गया । सांख्योंके समान विश्वशक्तिकी कार्यपरंपरा अनित्य है, ऐसा यद्यपि अनीश्वरवादी तथा बहुवादी बौद्ध-मत है, तथापि बौद्ध विश्वशक्तिको प्रकृति न कह कर कर्म कहते हैं । क्योंकि वे वेदान्तका ब्रह्म या सांख्योंका निष्क्रिय पुरुष नहीं मानते । बौद्धोंका मत है कि विश्वकी क्रियाकी अनित्यता जब बुद्धिको जँच जाती है, तब मुक्ति प्राप्त होती है । जब बौद्धमतके विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरु हुई, तब पुरातन सांख्यमतकी पुनः स्थापना न हुई, किन्तु उसका स्थान शंकराचार्यके द्वारा प्रसृत किये हुए वेदान्तमतने लिया । इसलिये बौद्धोंके निर्वाणवादके बदले ब्रह्मवाद और अनित्यताके स्थानमें मायावाद शुरू हुआ । इन सब दार्शनिक तत्त्वों (ब्रह्म, माया, मोक्ष) के आधारपर शंकराचार्यने जो साधनपद्धति निर्दिष्ट की है, संसार मिथ्या समझ कर संसारत्यागका जो उपदेश दिया, उसीको अब अपन ज्ञानयोग कहते हैं । गीताकी रचना जिस समय हुई, तब भी वेदान्तदर्शनके मूलतत्त्वके नाते मायावादका अंगीस्वीकार नहीं हुआ और अनंतर भी शंकराचार्यने मायावादको जो स्पष्ट और सुव्यवस्थित स्वरूप दिया है, वैसा स्वरूप गीतारचना कालमें 'माया' शब्दको नहीं आया । क्योंकि गीतामें प्रकृतिके संबंधमें जितना विचार हुआ है, उसके हिसाबसे मायाके सम्बन्धमें बहुत थोडा हुआ है। गीताने माया शब्द अपरा प्रकृतिके लिये काममें लाया है और यह अपरा प्रकृति ही त्रैगुण्यमयी माया है । गीताका मत है कि प्रकृति या माया भ्रमात्मिका नहीं, वही विश्वका निर्माण करती है ।

दार्शनिक तत्त्वोंके संबंधमें वास्तविक भेद हो या न हो, गीताने सांख्य और योगमें जो कार्यतः फरक किया है, वही फरक आजकलके वेदांतिक ज्ञानयोग और वेदांतिक कर्मयोगमें दिखाई देता है। और कार्यतः इस भेदका फल भी एक ही प्रकारका है । वेदान्तिक ज्ञानयोगके समान सांख्य भी बुद्धिकी ही सहायतासे मुक्तिमार्ग चलता है । आत्माका स्वरूपज्ञान और जगत्का मिथ्याज्ञान इस वेदांतिक प्रणालिका आधार जैसे विचार- बुद्धि है, वैसे ही प्रकृति-पुरुष-विवेक और प्रकृति-पुरुष-भेदका सम्यक् ज्ञान इस सांख्य प्रणालिका आधार भी

विचारबुद्धि ही है। आसक्ति और अहंकारके कारण प्रकृतिकी कार्यपरंपरा पुरुषपर आरोपित होती है यह बात विचारबुद्धिसे समझ लेनेकी जैसे सांख्यकी इच्छा रहती है, वैसेही मानसिक भ्रमसे उत्थित हुए अहंकार और आसक्तिके कारण जागतिक आभास ब्रह्मपर आरोपित होता है यह बात बुद्धिकी सहायतासे समझ लेनेकी वेदान्तकी इच्छा रहती है। वेदान्तिक प्रणालिके अनुसार आत्मा जब स्वतःके सत्य, सनातन, एक ब्रह्म-स्वरूपमें लौट आता है, तब मायाकी निवृत्ति हो विश्वलीला लुप्त होती है। सांख्य प्रणालिके अनुसार आत्मा जब निष्क्रिय पुरुषस्वरूप अपनी सत्य सनातन अवस्थामें लौट आता है, सब गुणोंकी क्रिया शांत होकर विश्वकी हलचल बन्द होती है। मायावादियोंके ब्रह्मके समान सांख्योंका पुरुष भी अक्षर एवं निष्क्रिय है और इसीलिये सांख्य और वेदान्त इन दोनोंके मतसे संसार और कर्मका त्याग कर संन्यासी जीवनका स्वीकार किये बिना मोक्षप्राप्तिका अन्य उपाय नहीं है। किन्तु गीताका योग और वेदान्तिक कर्मयोगके अनुसार कर्म केवल मोक्षका सहायक भर है यही नहीं किन्तु कर्मसे ही मोक्षप्राप्ति होती है। गीताने इसी सिद्धान्तका युक्तियुक्त एवं जोरदार समर्थन बारंबार किया है। अभाग्य यही कि बौद्धधर्म ❀ की प्रचंड धाराके सामने यह गीताकी कर्मशिक्षाको भारतवर्षमें स्थान न मिला। आगे चलकर कठोर मायावादकी तीव्रताके कारण और संसारत्यागी संन्यासियोंके भावावेगके कारण यह गीतोक्त कर्मशिक्षा बिलकुल लुप्त ही हो गई। इतने दीर्घकालके बाद अब इस कर्मशिक्षाका सच्चा श्रेयस्कर प्रभाव भारतवासियोंके मनपर जमनेका आरंभ हुआ है। त्याग तो आवश्यक ही है, किन्तु अंतःकरणसे वासना और अहंकार निवृत्त कर देना ही सच्चा त्याग है। अंतस्त्यागके बिना बाह्य कर्मत्याग मिथ्याचार एवं व्यर्थ है। जहाँ अन्तस्त्याग है वहाँ बाह्य त्यागकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। तथापि वह निषिद्ध भी नहीं है। त्यागके समान ही ज्ञानकी भी आवश्यकता है, क्योंकि मुक्तिके लिये ज्ञानके समान महान् बलि शक्ति दूसरी नहीं है। ज्ञानके समान ही कर्मकी भी आवश्यकता है। ज्ञान और कर्मकी सहकारितासे आत्मा केवल कर्मशून्य दशामें ही नहीं, अपि तु भीषण कर्मके कोलाहलमें भी पूर्णरीतिसे ब्राह्मी स्थितिमें रह सकता है। कर्मके समान भक्ति भी सर्वतः आवश्यक है। किन्तु वह कर्मयुक्त होनी चाहिये। ज्ञान, भक्ति और कर्मके मीलनसे आत्मा सर्वोच्च जो ईश्वरीय अवस्था उसमें विराजमान होता है। जो एकही समय अनंत आध्यात्मिक शान्ति और अनंत विश्वव्यापी कर्मका अधीश्वर वही पुरुषोत्तममें वास करता है। यही गीताका समन्वय है।

सांख्यसंमत ज्ञानमार्ग और योगसंमत कर्ममार्ग इनके भेदोंकी एकता जिस प्रकार गीताको करनी पडी, उसी प्रकार वेदान्तमें इस प्रकारका जो और एक विरोध है, उसका भी समालोचन और समाधान आर्य ज्ञानकी उदार मीमांसा करके गीताको करना पडा। यह विरोध कर्मकांड और ज्ञानकांडके विषयमें है। कर्मकाण्डके विचार प्रवाहकी परिणति पूर्व-मीमांसादर्शनमें वेदवादरूपसे हुई है और ज्ञानकाण्डके विचार प्रवाहकी परिणति उत्तर मीमांसादर्शनमें ब्रह्मवादके रूपसे आई है। एक विचारके लोग प्राचीन कालसे प्रचलित वैदिक मन्त्र, वैदिक यज्ञपर ही विशेष जोर देते थे; और दूसरे विचारके लोग उपनिषदसे मिलनेवाले उच्च आध्यात्मिक ज्ञानपर विशेष जोर देकर वैदिक

❀ बौद्धधर्मके महायान पंथपर गीताका बहुत प्रभाव पडा जान पडता है। बौद्धधर्मके ग्रंथोंमें गीताके अनेक श्लोक जैसेके तैसे हैं। पहलेपहल जो बौद्धधर्म ज्ञानी, कर्महीन, शांत, साधु संन्यासी था, वह आगे चलकर ध्यानयुक्त भक्ति, जीवसेवा और दयासे युक्त होकर एशिया महाद्वीप भरमें प्रभावित एवं विस्तारित हुआ। स्पष्ट दिखाई देता है कि यह परिणाम और परिवर्तन गीताके कारण ही हुआ।

*

क्रिया कर्मोंकी उपेक्षा करते थे। सब प्रकारके ऐहिक और पारलौकिक सुखके लिये वैदिक यज्ञयाग और वैदिक यंत्रादि प्रयोग करना ही आर्यधर्म है ऐसा वेदवादी समझते थे। किन्तु ब्रह्मवादी कहते थे कि यह क्रियाकलाप परमार्थ नहीं है। अनिर्वचनीय जो आध्यात्मिक आनन्द उसका विधान सत्य अमरत्व है, उसे प्राप्त करा देनेकी सामर्थ्य केवल एक ब्रह्मज्ञानमें ही है। यह आनन्द सब प्रकारके ऐहिक भोगसुखके तथा स्वर्गसुखके बहुतही ऊपर है। इस ब्रह्मज्ञानकी ओर जब मनुष्य प्रवृत्त होता है, तभी उसके पुरुषार्थ साधनको, जीवितके सच्चे उद्दिष्टके साधनको आरम्भ होता है। वेदका सत्य अर्थ प्राचीन कालमें चाहे कैसा भी हो, कर्म और ज्ञान-काण्डात्मक प्रभेद ही बहुत दिनोंसे चला आया है इसलिये गीताको उसका समालोचन करना पडा।

कर्म और ज्ञानका समन्वय करते समय गीताने प्रथमतः ही वेदवादकी निर्भर्त्सना की है—

यामिमां वाचं पुष्पितां प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
गी० २।४२-४३

'वेदके वाक्योंके भूखे और उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है कहनेवाले मूढ लोग जिन पुष्पित वाक्योंका निर्देश करते हैं, वे जन्म-कर्म-फलप्रद, क्रियाविशेषबाहुल्यविशिष्ट एवं भोगैश्वर्यप्राप्तिके साधनभूत हैं। यद्यपि आजकल कार्यतः वेदोंका त्याग हुआ है, तथापि अब भी भारतवासियोंकी दृढ समझ यही है कि वेद अत्यन्त पवित्र, अनतिक्रम्य, प्रमाणभूत और सब धर्मशास्त्रोंका तथा दर्शनशास्त्रका मूल है। यहाँ तो वेदका भी अतिक्रमण करनेके लिये गीता तयार हुई मालूम पडती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२।४५

"हे अर्जुन! गुणत्रयका कार्य ही वेदोंका विषय है; परन्तु तू त्रिगुणातीत बन।"

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥गी०२।४५

"सब स्थान जलमय हो जानेपर कुआँ, तालाव आदि क्षुद्र जलाशयोंकी जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही परमार्थ तत्त्व जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिको सब वेदोंकी आवश्यकता होती है।" यहाँ 'सर्वेषु वेदेषु' कहनेसे उपनिषद भी शामिल किये मालूम पडते हैं। क्योंकि आगे चलकर व्यापक 'श्रुति' शब्दका उपयोग किया है। जिसे परमार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हुई उसे सब वेद अनवश्यक हैं। यही नहीं वे उसे विनाशक हैं क्योंकि वेदोंके भिन्न भिन्न वाक्योंका विरोध और वेदकी अनेक प्रकारकी विरोधी टीकाएँ तथा उनके भाष्य, बुद्धिको विपर्यस्त एवं भ्रामक बना देते हैं। हृदयमें ज्ञानका प्रकाश न हो, तो बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती और योगमें भी निविष्ट नहीं होती।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
गी० २।५२-५३

"जब तेरी बुद्धि मोहरूप गहन दुर्गोंका त्याग करेगी, तब सुने हुए और सुननेके शास्त्रों के संबंध में तुझे वैराग्य उत्पन्न होगा। श्रुतिश्रवणसे तेरी विक्षिप्त हुई बुद्धि जब परमेश्वर में स्थिर एवं निश्चल होगी, तब तुझे योग प्राप्त होगा"। वेदोंपर किया हुआ यह आक्रमण सामान्य धर्म-समझके इतना विरुद्ध है कि ऊपरके श्लोकोंका विकृत अर्थ करनेका बहुत प्रयत्न हो चुका है। किन्तु उपरोक्त श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है और पहले ही से ज्ञान वेद और उपनिषदोंके अतीत कहा गया है। 'शब्दब्रह्मातिवर्तते'।

वह कुछ भी हो हमे इस विषयको अच्छी तरह समझ लेना होगा। क्यों कि गीताके सदृश सार्वभौमिक और समन्वयकारीशास्त्र आर्यसभ्यताके

इन सब विशिष्ट अंशोंको कदापि पूर्ण रीतिसे अमान्य न कर सकेगा। योगदर्शनके अनुसार कर्ममुक्ति और सांख्यदर्शनके अनुसार ज्ञानमुक्ति इन दोनों मतोंका समन्वय गीताको करना होगा। इसी तरह ज्ञानका भी कर्मसे मिलाप करना होगा। पुरुष-प्रकृतिके विषयमें यद्यपि सांख्य-योगका एकमत है, तथापि वेदान्त उपनिषद्का पुरुष, देव, ईश्वर इन सभी तत्त्वोंको एकही अक्षरब्रह्ममें शामिल कर रहा है। इसका भी समन्वय गीताको करना चाहिये। योगमतानुयायी ईश्वर तत्त्वको भी स्थान देना चाहिये और इन सभी तत्त्वोंसे गीताको चाहिये कि अपने पुरुषोत्तम (तीन पुरुष) से मिलन करा दे। यद्यपि पुरुषोत्तम तत्त्वकी कल्पना उपनिषदमें है, तथापि इस तत्त्वका प्रमाण उपनिषदमें सहजमें नहीं मिलता। श्रुति केवल दोपुरुषोंका स्वीकार कर चुकी है इससे वह पुरुषोत्तम तत्त्वके विरुद्ध जा पडती है। ज्ञान और कर्मका समन्वय करते समय केवल सांख्य और योगका विरोध लेकर काम न चलेगा। वेदांतमें कर्म और ज्ञानका जो विरोध है, वह सांख्य और योगके विराधसे भिन्न है। अर्थात् इस विरोधका भी विचार आवश्यक हो जाता है। वेद और उपनिषदोंका प्रामाण्य स्वीकार करके इतने विरुद्ध दर्शनों की और मतोंकी उत्पत्ति हुई है कि (श्रुतिविप्रतिपन्ना) 'श्रुति मनुष्यकी बुद्धिको भ्रमित करती है' ऐसा ही गीताने कहा इसका आश्चर्य नहीं। शास्त्र वाक्योंके अर्थके कारण अब भी भारतीय पण्डित एवं तत्त्ववेत्ता कितना ही झगडा करते हैं और भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं।

अस्तु। पहले छः अध्यायोंमें कर्म और ज्ञानके समन्वयकी, सांख्य, योग और वेदान्तके समन्वयकी प्रशस्त नीव डाली गई। परन्तु गीताने प्रथम यह दिखाया कि वेदान्तियोंकी भाषामें कर्म शब्दका विशिष्ट अर्थ है। वेदान्तियोंके कर्ममें गृह्यसूत्रोक्त संसारधर्मपालन एवं सब यज्ञानुष्ठानादि कर्म शामिल हैं। किन्तु योगशास्त्रमें कर्म शब्दका अर्थ इससे अधिक व्यापक है। इस व्यापक अर्थ पर ही गीताकी बडी दारोमदार है। धर्मकर्ममें हमें सभी कर्म लेने चाहिये। बौद्धधर्मके सदृश गीताने यज्ञको बिलकुल बहिष्कृत नहीं किया; किन्तु यज्ञकी कल्पना ही अधिक उन्नत एवं प्रशस्त की है। गीताके कथनका सार संक्षेपमें इस प्रकार है—

यज्ञ जीवनका सर्व प्रधानअंग है। यही नहीं, अखिल जीवन ही एक यज्ञ है। अज्ञानी उच्च ज्ञानके विना ही उसे करते हैं और जो विशेष अज्ञानी हैं, वे अयोग्य और अविधिपूर्वक करते हैं। यज्ञके बिना जीवन चल ही नहीं सकता। सृष्टिकर्ताने सृष्टि निर्माण करते समय इस यज्ञको ही अपना नित्य सहकारी बनाया है (सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा)। किन्तु वेदवादियोंका यज्ञ भिन्न है। भोगैश्वर्य ही उनके यज्ञका ध्येय है। इस यज्ञका श्रेष्ठ गति स्वर्गका अधिकाधिक भोग है। और यही उनके मतसे अमृतत्व है। जब कि गीता जोरसे कह रही है कि कामनाका जो आत्माके लिये शत्रुत्वरूप है त्याग करना चाहिये, और इस कामना-त्यागसे ही गीताशिक्षाका आरंभ हुआ है, तो वेदवादियोंकी यज्ञपद्धतिको गीताकी ओरसे पुष्टि मिलना कदापि संभव नहीं। किन्तु गीता यह नहीं कहती कि वैदिक यज्ञप्रणालि निरर्थक है। गीताने मानही लिया है कि इस प्रकारके यज्ञ-अनुष्ठानसे लोग इहपरलोकमें सुख भोगते हैं।

भगवान कहते हैं 'अहं हि सर्व-यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' भिन्नभिन्न देवताओंके लिये लोग जो यज्ञ करते हैं उन सब यज्ञोंका भिन्न भिन्न देवताओंके रूपसे मैं स्वीकार करता हुं। और मैं ही सबको यज्ञोक्त फल देता हूँ। परन्तु सच्चा मार्ग यह नहीं है। स्वर्गसुखभोग मनुष्योंका श्रेष्ठ पुरुषार्थ - मोक्ष - नहीं है। अज्ञ लोग ही देवताओंकी पूजा करते हैं। इन सब देवमूर्तियोंमें अपन किसकी पूजा करते हैं सो अज्ञ लोग नहीं समझते। न समझकर ही क्यों न हो, पर वे एकही ईश्वरकी, एकही देवकी पूजा करते हैं और वही उनको सब पूजा ग्रहण करता है। उसी एक ईश्वरको यज्ञ अर्पण करना चाहिये। जीवनका प्रत्येक कार्य ईश्वरके ही

उद्देशसे लोक-कल्याणके लिये श्रद्धासे और निष्काम बुद्धिसे करना ही सत्य यज्ञ है। इस सत्यको वेदवाद ढाँक देता है और क्रियाविशेषबाहुल्यसे त्रिगुणके कार्यपाशमें मनुष्यको बद्धकर डालता है। इसीलिये वेदवादकी ऐसी तीव्र निन्दा गीताने की है। तथापि उसका मूल तत्त्व नष्ट न कर उसीको अधिक उन्नत एवं परिवर्तित रूप देकर आध्यात्मिक जीवनका उसे एक आवश्यक अंग गीताने बना दिया है। वेदान्तियोंने ज्ञान शब्दका जो अर्थ किया है उसके संबंधमें ऐसा झगडा नहीं है। गीताने आरंभ ही में वेदान्त ज्ञानका पूर्णतया स्वीकार किया है। पहले छः अध्यायोंमें सांख्योंके शान्त, अक्षर किन्तु अनेक पुरुषोंके बदले एकमेवाद्वितीय, विश्वव्यापी शान्त अक्षर जो वेदान्तियोंका ब्रह्म उसकी स्थापना गीताने की। यद्यपि गीता यथार्थतासे कहती है कि निष्काम कर्म ही ज्ञानका मूल उपादान है, तब भी प्रथम छः अध्यायोंमें गीताने मान लिया है कि ब्रह्मज्ञानके बिना मोक्षप्राप्ति असंभवनीय है। गीता कहती है कि अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी अनंत समतामें अहंकारका लोप करना मोक्षके लिये बिलकुल आवश्यक है। कुछ उपनिषदोंमें (विशेषतः श्वेताश्वतर उपनिषद्में) जिस प्रकार सांख्य और वेदान्तका भाषामिश्रण दिखाई देता है, गीतामें भी वही हाल है, तथापि वेदांतमतका दोन मिटाना आवश्यक है। हमारा अनुमान है कि यद्यपि ईश्वरवादका बीज उपनिषदमें है, तथापि वादके वैष्णवयुगके समान तबभी ईश्वर वादका विकास वेदांत नहीं कर सका। यह मान लेसकते हैं कि मूल वेदान्तकी नींव सर्वेश्वरवाद है और उसका अत्युच्च बिंदु अद्वैतवाद था ❀। मूल वेदान्त ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर आदि देव गणोंको भी ब्रह्म समझता था। किन्तु इस समझमें बदल हो गया कि परब्रह्म ही ईश्वर, देव है। मूलके ब्रह्मवादमें ये शब्द ब्रह्म की बिलकुल नीचे की अवस्थामें ही उपयोगमें लाये जाते थे। इन सब शब्दोंकी और अर्थोंकी योग्य स्थानमें केवल पुनः स्थापना करनेकी ही गीताकी इच्छा है यह नहीं, उसके आगे चलकर प्रगति करनेको गीता तैयार हुई है। सांख्यसे वेदान्तका सम्पूर्ण समन्वय करना हो तो कहना पडता है कि परमावस्थामें ब्रह्म ही पुरुष और पुरुषकी अपरा प्रकृति ही ब्रह्मकी माया है। सांख्य और वेदान्तसे योगका सम्पूर्ण समन्वय करना हो तो नीचेकी अवस्थामें नहीं किन्तु कि परम अवस्थामें ब्रह्म ही ईश्वर है किन्तु गीता अक्षर ब्रह्मके भी ऊपर पुरुषोत्तमको, ईश्वरको स्थान देनेके लिये तत्पर हुई है। गीताका मत है कि ब्रह्ममें अहंकारका लय क्या है? पुरुषोत्तमके परम मीलनकी एक मुख्य प्राथमिक प्रक्रिया है। क्यों कि पुरुषोत्तम ही परब्रह्म है इसलिये वेद और उपनिषदोंकी प्रचलित शिक्षाके परे जाकर उसमेंसे स्वयं उद्धरित की हुई शिक्षाका ही गीताने विवेचन किया है। वेदांतियोंके किये हुए वेदोपनिषदकी मीमांसासे सामान्यतः गीताका एकमत न होना संभवनीय है ×। परन्तु यदि गीता शास्त्रवाक्योंकी इस प्रकार स्वतन्त्र और समन्वयकारी मीमांसा न करती, तो उस समयके असंख्य मतवाद और वैदिक प्रणालिमें एकता करना किसी भी प्रकार संभव न था।

आगेके अध्यायोंमें गीताने वेद और उपनिषदोंको अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। वेद और उपनिषद ही भागवतशास्त्र और भगवानकी वाणि है। स्वयं भगवान ही वेदका ज्ञाता और वेदान्तका

❀ जगत्में जो कुछ है वह और ईश्वर एकही है इस मतको सर्वेश्वरवाद (Pantheism) और ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत्मिथ्या है या जगत् ब्रह्मका ही अंश है इस मतको अद्वैतवाद (Monism) कहते हैं।

× पुरुषोत्तमकी कल्पना गीताके पहले ही उपनिषदोंमें प्रगट हुई है। पर वहाँ वह गैर सिलसिले की है। गीताके समान उपनिषदोंने भी पुरुषोत्तम को ही परम ब्रह्म कहा है। परम ब्रह्ममें सगुणताका और निर्गुणताका दोनोंका अंतर्भाव होता है।

प्रणेता है। — वेदविद्, वेदान्तकृत् जो सब वेदान्त वही ज्ञातव्य विषय है — ' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ' इस भाषासे ध्यानमें आता है कि वेद ज्ञानका ग्रंथ है। पुरुषोत्तम क्षर और अक्षरके परे है। और उसने अपनी उच्च अवस्थासे स्वतःको जगत्में और वेदमें व्याप्त किया है। तथापि वेदके शब्दार्थोंके संबंधमें विवादके अनेक झगडे हो रहे हैं। जो शब्दपर ही अधिक निर्भर हैं, उन्हे सच्चे गूढार्थका पत्ता नहीं लगता। ईसाई धर्मप्रचारकने कहा है कि शब्दमें ही सर्वनाश और अर्थमें ही रक्षा है (The letter killeth and it is the spirit that saves)। धर्मशास्त्रकी उपयुक्तताको भी मर्यादा है।

अपने हृदयमें जो परमेश्वर है, वही सब ज्ञानका स्रोत है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानम्॥
गी० १५-१५

" मैं सब प्रणियोंके हृदयम हूँ, मुझसेही स्मृति और ज्ञान होता है। "

शास्त्र क्या है? शास्त्र दूसरा तीसरा कुछ नहीं है वह अंतस्थ वेदका, स्वयंप्रकाशित सत्यका वाङ्मयस्वरूप है। यही शब्दब्रह्म वेदमें कहा है कि हृदयसे, जहाँ सत्यका वास्तव्य है उस गुह्यस्थानसे मंत्रकी उत्पत्ति होती है। (सदनात् ऋतस्य गुह्यम्)। तथापि शब्दसे सनातन सत्य कभी भी बडा हीं है। किसीभी धर्मशास्त्रके वारेमें यह नहीं कह सकते कि वह धर्मशास्त्र भर संपूर्ण एवं संतोषदायक है और उसके बिना दूसरा कोई भी सत्य ग्राह्य न हो सकेगा।

संसारमें जितने धर्मशास्त्र हैं उनका सच्चा उपयोग कर लेना हो तो उनकी ओर इसी दृष्टिसे देखना होगा। संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ थे और अब हैं— बाइबल, कुरान, चीनदेशके ग्रन्थ, वेद, उपनिषद, पुराण, तंत्र, शास्त्र, गीता, ऋषि, पण्डित, और अवतारी पुरुषके वचन तथा उपदेश ये सब एकत्रित करने पर भी यह नहीं कह सकते कि इसके आगे कुछ नहीं है। तुम्हारी बुद्धिको उस स्थानमें सत्यका पता न लगे तो वह संकुचित दृष्टिका परिणाम है। जिनके विचार संकुचित और सांप्रदायिक हैं, उनसे ऐसी भूल होगी; पर जिन्हें भगवत्प्रसाद मिला है उनका मन मुक्त और प्रकाशसंपन्न है, वे सत्यकी खोजमें इस प्रकारकी संकीर्णतासे बद्ध नहीं होते। जो सत्य हृदयकी गहरी अनुभूतिसे प्रगट हुआ है अथवा जो हृदयस्थित सर्व ज्ञानका ईश्वर, जो सनातन वेदविदोंसे सुना है, वह श्रुत हो या अश्रुत हो वही सच्चा सत्य है।

बुद्धियोग।

अब तक दार्शनिक मतमतांतरोंका अन्यान्य दृष्टिसे जो समालोचन किया वह यद्यपि सूक्ष्म और पूर्ण नहीं है, तथापि यह समालोचन गीतापद्धतिकी विशेषता समझनेके लिये किया गया है। गीताने पहले आंशिक सत्यका उद्घाटन किया है और उसका सच्चा गूढतम अर्थ आगे चलकर व्यक्त किया है और अन्तमें उसने अपना श्रेष्ठ रहस्य कथन किया है। इस रहस्य की मीमांसा न कर गीताने उसे अनुभवके लिये छोड दिया है। प्रेम आत्मसमर्पण और उल्हासके महान् तरंगोंमें गीतोत्तर युगके भारतीय साधकोंने इस गीतारहस्यका अपने जीवनमें अनुभव लेनेका प्रयत्न किया।

भगवान् अर्जुनसे बोले, " तुझे ज्ञानयोगके संबंधमें बतलाया। अब कर्मयोगके संबंधमें कहता हूँ सो सुन (२-३९)। तू अपने कर्मके परिणामका विचार कर हिचक रहा है। तू दूसरे प्रकारके फलकी अभिलाषा करता था। और उसके पूर्ण होनेका संभव न देख तू कर्ममार्गका त्याग करनेको तैयार हुआ है। अज्ञानी लोगों की बद्धताका कारण है कर्म और कर्मफलकी आशाके विचारसे सकाम बुद्धिसे कर्म करना और कर्मको केवल वासनातृप्तिका उपाय समझना। ऐसे अज्ञानी लोगोंकी समझमें नहीं आता कि कर्म क्या है, कर्मका सच्चा स्वरूप और कर्मकी श्रेष्ठ उपयुक्तता क्या है तथा कर्मकी सच्ची उत्पत्ति किसमें है। मैं जिस योगके बारेमें

करूंगा उसकी सहायतासे तू आत्माके सभी कर्मबंधनोंसे मुक्त होगा। 'कर्मबंधं प्रहास्यसि'। तू अनेक बातोंसे डरता है। तू पापसे डरता है, दुःखसे रोता है, दण्डसे घबडाता है, नरकसे घृणा करता है, भगवानसे डरता है और इहपरलोकसे भय मानता है। यही नहीं तू खुदसे भी डरता है। तू जातिवान् क्षत्रिय और संसारका एक श्रेष्ठ वीर है, तब इतना डरता काहेके लिये है? जिस भयानक भयसे मनुष्यका मन घबडाता है, वह है पापभय, इहपरलोकके दुःखका भय जिस संसारके सच्चे स्वरूपके विषयमें वह अज्ञ है उस संसारका भय, जिस भगवान् का सत्य स्वरुप उसने देखा नहीं और जिसकी विश्वलीलाका गूढ रहस्य वह नहीं समझता उस भगवान्का भय। पर मैं जो योग तुझे बतलाता हूं, वह तुझे इस महाभयसे बचावेगा और उसका थोडा भी आचरण तुझे मुक्त करेगा (स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। गी॰ ४०।२) एकबार तू इस मार्गसे जाना आरंभ कर दे तो तेरी समझमें आ जावेगा कि एक भी डग व्यर्थ नहीं जाता। इसी प्रकार तू देख लेगा कि तेरी गति कुंठित करनेवाला कोई भी संकट उपस्थित न होगा।" भगवान्ने यह जो भारी प्रतिज्ञा की है, उसपर भयभीत एवं पगपगमें संकटोंका ग्रास बननेवाला मनुष्य एकाएक विश्वास न कर सकेगा। यही नहीं पीछे लिखे गीतापदेशके साथ यदि इस उपदेश-मन्त्रका हम स्मरण न करेंगे की—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८-६६)

"धर्म-अधर्मके और कर्तव्य-अकर्तव्यके सभी विधिनिषेधात्मक नियमों का त्याग कर तु एकेले मेरा ही आश्रय ले। मैं तुझे सब प्रकारके पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक न कर।"

तो भगवान्की इस उच्च प्रतिज्ञाका उदार अर्थ भी हम आकलन न कर सकेंगे।

मानवोंके लिये भगवान्की यह गंभीर एवं मर्मस्पर्शी वाणि प्रथमतः ही प्रगट नहीं हुई। मार्ग दिखनेके लिये जितने प्रकाशकी आवश्यकता है है उतना ही पहले दिया गया। अर्थात् यह प्रकाश आत्मापर नहीं बुद्धिपर डाला गया है। भगवान्ने प्रथम मनुष्यके सखा और बंधुके स्वरूपमें उपदेश नहीं दिया। आत्माके संबंधमें, संसारके सत्य स्वरूपके संबंधमें और कर्मकी उत्पत्तिके संबंधमें मनुष्यका अज्ञान दूर करनेकी गरजसे भगवान्ने गुरु या मार्गदर्शकके स्वरूपमें उपदेश किया। मनुष्य अज्ञानसे, भ्रांत बुद्धिसे और भ्रांत इच्छासे कार्य करता है। इसी लिये मनुष्य अपने कर्मोंसे बद्ध होता है अथवा बद्ध हुआ मालूम होता है। वर्ना मुक्त आत्माको बंधन काहेका? इस भ्रान्तबुद्धिके कारण ही मनुष्यको आशा और भय लगता है; क्रोध, शोक और क्षणिक हर्ष होता है। नहीं तो पूर्ण मुक्तासे और शांततासे कर्म करना मनुष्यके लिये बिलकुल असंभव नहीं। इसीलिये अर्जुनको पहले बुद्धियोगका उपदेश किया। अभ्रांत बुद्धिसे और अनन्य चित्तसे सर्वभूतोंमें एक ही आत्मा जानकर आत्माकी शांत समतासे कार्य करना और कामनावश होकर बुद्धिको स्वैरतासे भटकने न देना ही बुद्धियोग है।

गीताका मत है कि बुद्धि दो प्रकारकी है। पहले प्रकारकी बुद्धि व्यवस्थित, एक और सम होती है और केवल सत्य ही उसका ध्येय रहत है। दूसरे प्रकारकी बुद्धि अनिश्चित रहती है और वह जीवनकी अनेक प्रकारकी कामनाओंसे प्रेरित एवं प्रवृत्त होती है,

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

बुद्धि शब्दका वास्तविक अर्थ है मनकी बोधशक्ति। परन्तु गीतामें उसका अर्थ दार्शनिक दृष्टिसे व्यापक किया है। मनकी जिस क्रियासे हम विचार करते हैं और जिससे हम निश्चय

करते हैं कि हमारे विचार और कर्म अमुक प्रकार के हों उन सब क्रियाओंको गीतामें 'बुद्धि' कहा है। विचार (Thought), बुद्धि (Intelligence), निर्णय (Judgement), निश्चय (Perspective choice), और ध्येयस्थिरता (aim) ये सभी बुद्धि-क्रियामें शामिल हैं। क्योंकि केवल ज्ञानप्राप्तिके संबंधमें मनकी निश्चयात्मिकता ही एकनिष्ठ बुद्धि का लक्षण नहीं है, किन्तु कर्मका निश्चित ध्येय और उस ध्येयको अखंड चिपके रहना-व्यवसाय-यही विशेषतः एकनिष्ठ बुद्धिका लक्षण है। इसके विरुद्ध केवल अव्यवस्थित और विक्षिप्त विचार ही विक्षिप्तबुद्धिका मुख्य लक्षण नहीं, जिनका ध्येय स्थिर नहीं और जो ध्येयहीन हैं ऐसी लाखों वासनाओंके पीछे जो मृगजलके समान भागते हैं, उन्हींकी बुद्धि विक्षिप्त समझनी चाहिये। अर्थात् इच्छा (Will) और ज्ञान (knowledge) दोनों बुद्धिकी ही क्रियाएँ हैं। व्यवसायात्मक एकनिष्ठबुद्धि आत्मिक प्रकाशसे बद्ध है और वह आंतरिक आत्मज्ञानमें केन्द्रीभूत रहती है। इसके विरुद्ध अव्यवसायोंकी अनंत और बहुशाखायुक्त बुद्धि एक मात्र आवश्यक वस्तुको भूलकर चंचल मनके वशमें हो जाती है और बाह्य जीवनके कर्ममें तथा कर्मफलमें लिपटी रहती है। भगवान् कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ २-४

"हे धनंजय! बुद्धियोगसे कर्म तो बिलकुल ही निकृष्ट है, इसलिये तू बुद्धियोगका आश्रय कर। जो कर्मफलका विचार करते हैं, फलके हेतुसे कार्य करते हैं, वे बिलकुल क्षुद्र और हतभागी हैं।"

सांख्योंद्वारा निर्दिष्ट मनस्तत्त्वका पारस्परिक संबंध गीता मानती है। एक ओर पुरुष शांत, आत्मा निष्क्रिय, अक्षर, एक, अपरिणामी; दूसरी ओर प्रकृति सचेतन पुरुषके विना निष्क्रिय(Inert) तथापि सचेतन पुरुषके सान्निध्यसे क्रियाशील, निरवयव (Indeterminate), त्रिगुणमयी और उत्पत्ति-लय-समर्था है। हम जो अंतर्बाह्य अनुभव करते हैं, वह सब प्रकृतिपुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है। जो हमें आंतरिक (Subjective) मालूम होता है, वही प्रथम उत्पन्न हुआ। क्यों कि आत्मचेतना ही प्रथम कारण है, और उसीके आधीन रहनेवाला दूसरा कारण अचेतन प्राकृतिक शक्ति है। ऐसा होते हुए भी हमारे अंतर्जगत्की वृत्तियोंका प्रबंध प्रकृति ही करती है। सृष्टिकी दूसरी अवस्थामें बुद्धि और अहंकारसे मन (Sense-mind) उत्पन्न होता है। जिस शक्तिकी सहायतासे भिन्न भिन्न विषय ग्रहण किये जाते हैं वह मन ही है। सृष्टिकी तीसरी अवस्थामें दस इन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-मनसे उत्पन्न होती हैं। अनंतर प्रत्येक बाह्येन्द्रियकी शब्द, रूप, गंधादि शक्ति और उसे आधारभूत पंच भूत उत्पन्न होते हैं। आकाश, वायु, अग्नि आदि पंचभूतोंके मिश्रणसे इस जगत्का वस्तुसमूह उत्पन्न हुआ।

प्राकृतिक शक्तिका यह सब भिन्न क्रम और शक्तिसमूह पुरुषकी शुद्ध चेतनामें प्रतिबिंबित होकर हमारे अशुद्ध अंतःकरणका उपादान बनता है। अशुद्ध कहनेका कारण यह है कि इस अंतःकरणकी क्रिया बाह्य जगत्के अनुभवपर और उसकी आंतरिक प्रतिक्रियापर अवलंबित रहती है। साधारण बुद्धि, मन और उनका अनुभव, आवेग तथा वासना मिलकर ही हमारा अंतःकरण बनता है। पंचज्ञानेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रियके द्वारा अंतःकरण का बाह्य जगत्से संबंध आता है। शेष पंचतन्मात्र, पंचभूत, इन्द्रियविषय मिलकर बाह्य जगत् होता है।

सृष्टिका वर्णन किया हुआ क्रम बाह्य जगत्में विपरीत अनुभवमें आते दीखता है। परन्तु बुद्धि स्वयं ही अचेतन प्रकृतिकी जड क्रिया है और जड अणुओंमें भी इस प्रकारकी जानकारी और इच्छा-शक्ति होती है (जब कि हम लतावृक्षोंमें सुख, दुःख, बोध, स्मृति, इच्छा आदि देखते हैं। और प्रकृति-की ये सब शक्तियाँ ही मनुष्य तथा मनुष्येतर जीवोंमें न्यूनाधिक मात्रामें हैं)। यदि हम इस पर ध्यान दें, तो दिखाई देगा कि जड जगत्का सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण कर आधुनिक विज्ञानने

जो सिद्धान्त तय किया है उसका सांख्य पद्धतिसे बहुतही मेल है। आत्मा जब प्रकृतिसे पुरुषकी अवस्थामें लौट जाता है, तब प्रकृतिकी व्यक्तताके उलटे क्रमका अवलंबन करना पडता है। उपनिषदमें आत्मशक्तिकी उत्क्रान्तिका क्रम इसी प्रकार दिखलाया है। इस बातमें गीताने भी उपनिषदका ही अनुकरण किया है। यही नहीं, प्रायः औपनिषदिक वाक्योंका ही अवलंबन किया है। —

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
गी० ३-४२

' इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयोंसे श्रेष्ठ हैं, मन इंद्रियोंसे श्रेष्ठ है, बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है, वही चैतन्यमय आत्मा पुरुष है। '' इसीलिये गीता कहती है कि इस पुरुषको, हमारे अंत जीवनके इस श्रेष्ठ कारणको बुद्धिके द्वारा जानना चाहिये और उसीमें हमारी इच्छाएँ अर्पण करनी चाहिये।

एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। गी० ३-४३

इस प्रकार हमारी कनिष्ठ प्रकृतिको श्रेष्ठ चेतन आत्माके द्वारा निश्चल कर हमारी शांतताका और आत्मसंयमका अशांत शत्रु जो काम उसका हम विनाश कर सकते हैं।

बुद्धिका कार्य दो प्रकारका होता है। नीचे त्रैगुण्यमयी प्रकृतिके खेलकी ओर या ऊपर चैतन्यमय शान्त आत्मा की पवित्र और स्थायी शान्तता की ओर बुद्धि जा सकती है। पहली बहिर्मुखी गति। पहले क्षेत्रमें मनुष्य इन्द्रियविषयोंके आधीन रहता है। इस प्रकारका जीवन कामनाका जीवन है। क्यों कि इन्द्रियगण अपने अपने विषयोंके द्वारा उत्तेजित होकर अशान्ति उत्पन्न करते हैं; यही नहीं अनेक बार भयंकर उपद्रव भी देते हैं। इसी प्रकार विषयोंकी प्राप्तिके लिये और उनके उपभोग के लिये इन्द्रियाँ मनुष्यको बहिर्मुख बनाकर उसका मन हरण करतीं हैं (वायुर्नावमिवांभसि)। इन्द्रियगणके इस प्रकारके उपद्रवसे मन जैसे कामवासना, उद्वेग, लोभके आधीन होता है, उसी प्रकार यह कामाधीन मन बुद्धिको हरण कर लेता है। इसका परिणाम यह कि बुद्धि शांत विचारसे संयमसेच्युत होती है। बुद्धिकी ऐसी अधोगतिके कारण आत्मा प्राकृतिक गुणत्रयके आधीन होती है। अज्ञान, असत्य, इन्द्रियपरायणजीवन, सुखदुःखाधीनता, आसक्ति यह सब अधोगामी बुद्धिका परिणाम है। सामान्य, अज्ञानी और असंयमी मनुष्यका दुःखमय जीवन यही है। वेदवादियोंके समान इन्द्रिय-भोग ही जिनके जीवनका लक्ष्य है और जो इन्द्रियतृप्ति ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, वे मनुष्यको गलत मार्ग दिखाते हैं। आंतरिक आत्माराम ही हमारा सच्चा ध्येय और वही शान्तताकी, मुक्तताकी उच्च और उदार अवस्था है।

इसलिये हमें दृढ संकल्पसे, स्थिर निश्चयसे और अध्यवसायसे उस गतिका अवलंबन करना चाहिये जो बुद्धि की ऊर्ध्व एवं अंतर्मुखी गति है। बुद्धि दृढतासे पुरुषके शांत आत्मज्ञान संलग्न करनी चाहिये। सब अशुभों और दुःखोंका मूल जो कामना उसका त्याग करनेका प्रयत्न पहले करना चाहिये। कामना छोडना है अर्थात् कामना के कारणको भी नष्ट करना चाहिये। बाह्य वस्तु प्राप्त करनेकी और उसका उपभोग लेनेकी जो इन्द्रियोंकी कोशिश, उसे बंद करना चाहिये। जिस प्रकार कछुवा अपने पैर पेटके नीचे सिकोड लेता है, उस प्रकार इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना चाहिये, मनमें लीन करना चाहिये। मनको बुद्धिमें, बुद्धिको आत्मामें और आत्मज्ञानमें विलीन करना चाहिये। प्रकृतिका कार्य देखना चाहिये। किन्तु उसके आधीन न होना चाहिये। ऐसी किसी भी वस्तुकी कामना न रखनी चाहिये जो बाह्य जगत् दे सकता है।

भगवान्ने तुरंत ही निर्देश किया कि इस गरजसे कि भूलकी समझ न होवे, बाह्य इन्द्रिय-दमनका उपदेश नहीं किया। उपवास, शरीरदण्ड आदि साधनोंसे कठोर तपस्वी जो तपस्या करते

हैं वह भगवान्‌का उपदेश नहीं है। भगवान्‌ने जो प्रत्याहारका और संयमका उपदेश किया वह आंतरिक प्रत्याहारका अर्थात् कामनात्यागका है। आत्माके शरीरको सर्वसामान्य हलचलके लिये आहारकी आवश्यकता है। आहारका त्याग करनेसे इंद्रियभोग्य वस्तुओंका संबंध दूर होता है सही; परन्तु जिस आंतरिक संबंधके लिये यह संस्पर्श अनिष्टकारी है, वह संबंध नष्ट नहीं होता। निराहारी मनुष्यके विषय छूट जावें, तब भी उसका रस अर्थात् मिठास शेष रहता ही है, रागद्वेष भी रहता है, क्योंकि इन दोनों रसोंको दो दिशाएँ हैं। अपने को तो वह सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिये जो रागद्वेषशून्य होकर विषय ग्रहण करे। इसके अभावमें विषयकी निवृत्ति तो होगी, पर मनकी निवृत्ति नहीं होगी। कामनारहित और रागद्वेषशून्य होकर क्या इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होना संभव है? निर्विवाद संभव है। (परं दृष्ट्वा) आत्मदर्शन कर और बुद्धियोगके द्वारा अनन्य चित्तसे उससे समरस होकर आत्मामें ही (पुरुषमें ही) वास करनेसे यह संभव है।

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ २–५९

'जो इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका स्वीकार करनेको प्रवृत्त नहीं होता, ऐसे देहाभिमानी अज्ञ व्यक्तिकी विषय–निवृत्ति होती है सही, किन्तु विषयोंमें आसक्ति रहती ही है। जिसे परमात्माका दर्शन हुआ है, उसकी अभिलाषा जहाँके तहाँही नष्ट हो जाती है।'' यदि हम एक बार भी उस परम वस्तुका अपनेमें दर्शन लें और अपना मन एवं बुद्धि उसकी ओर लगा सकें तो इन्द्रियभोग्य विषयोंके बारेमें जो रागद्वेष होता है, उसके बदले हम द्वन्द्वशून्य होकर उस आत्मानन्दका लाभ उठावेंगे। यही मुक्तिका सच्चा मार्ग है।

आत्मसंयम या आत्मजय आसान बात नहीं। इन्द्रियका संयम करनेके विषयमें आज जितना उपदेश किया गया है, उतना शायदही किसी अन्य विषयके बारेमें होगा। परन्तु सामान्यतः इस प्रकारका उपदेश बिलकुल अपूर्ण बुद्धिसे दिया जाता है। और वह अपूर्ण एवं संकीर्ण बुद्धिसे पाला जाता है। यही नहीं, जो विवेकी पुरुष संपूर्ण आत्मजयके लिये सच्ची बुद्धिसे प्रयत्न करते हैं, उनका मन इन्द्रियगण बलात्कारसे हर लेते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः॥ २–६०

इसका कारण यही कि मन स्वभावतः इंद्रियगणोंका अनुयायी होता है। मन इन्द्रियोंके विषयोंके रससे लुभाता है और बुद्धिके उत्कट विचारका तथा इच्छाके तीव्र आकर्षणका विषय बना डालता है। इस प्रकार आसक्तिका उदय होता है। आसक्तिसे कामना होती है। कामना तृप्त न होनेसे दुःख होता है। कामनाकी तृप्तिमें अडचनें उत्पन्न होनेपर क्रोध आता है। दुःख और क्रोधसे आत्माको मोह होता है। और तब बुद्धि शांत और साक्षी आत्माको देखना और उसमें प्रविष्ट होना भूल जाती है। आत्माकी स्मृतिका लोप होनेसे बुद्धि मोहग्रस्त होती है। यही नहीं वह नष्ट भी होती है। कुछ काल हमारी आत्मस्मृतिमें बुद्धिका वास्तव्य नहीं रहता। दुःखक्रोधादिकोंके अतिरेकसे वह अदृश्य होती है। ऐसा होनेपर हम आत्मा, बुद्धि और इच्छा बदले क्रोध, शोक, दुःख आदिके द्वारा जर्जर किये जाते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
गी० २।६२–६३

इन्द्रियोंको पूर्ण रीतिसे वश किये बिना प्रज्ञा प्रतिष्ठित नहीं होती। इसलिये मनको इन्द्रियोंका अनुयायी बनानेसे तथा तज्जनित अनर्थपरंपरा निर्माण करनेसे हमारा काम न चलेगा।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।२-६१

केवल बुद्धिके द्वारा मानसिक संयम कर

इन्द्रियोंको पूर्णतया वश करना संभव नहीं। उसके लिये दूसरी किसी शक्तिकी सहायता आवश्यक है। उसकी सहायतासे शांति और आत्मसंयम स्वभावतः उत्पन्न होंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझमें (भगवान्‌में) सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करनेसे यह योग सफल होगा। क्योंकि मुक्तिदाता परमेश्वर हममेंही है। तथापि मन, बुद्धि और इच्छा उसका यंत्र है। अनन्य भावसे जिसकी शरण लेनेको गीताके अंतमें कहा है, वही ईश्वर यह है। अतएव प्रथमतः ईश्वरकोही सब जीवनका उद्दिष्ट बनाना चाहिये। 'युक्त आसीत मत्परः' इसका सत्य अर्थ यही है। परन्तु गीताकी पद्धतिके अनुसार यहाँ केवल इस अर्थका संकेत किया गया है। आगे व्यक्त हुए गीताके सर्वोत्तम रहस्यका सार बीजरूपसे 'युक्त आसीत मत्परः' इन तीन शब्दोंमें रखा है।

ऐसा करनेपर इन्द्रियोंको पूर्णतया अंतरात्माके आधीन कर विषयसमूहमें विहार करते बनेगा। सब विषयोंके और तद्विषयक रागद्वेषके आधीन न होना पडेगा। तब यह अंतरात्मा पुनः परमात्माके आधीन होगी। इस प्रकार विषयोंकी प्रतिक्रियासे मुक्त हुआ इन्द्रियगण रागद्वेषोंके प्रभावसे मुक्त होगा, कामनावासनाके द्वंद्वसे मुक्त होगा और मनुष्य सुखमय शांति और आत्मप्रसादके लाभको प्राप्त करेगा।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ २-६५

आत्मप्रसाद होनेपर आध्यात्मिकादि सब दुःखोंका पूर्णतया नाश होता है। इस आत्मप्रसादको, बुद्धिकी इस शोकशून्य अवस्थाको और आत्मज्ञानकोही गीतामें 'समाधि' नाम दिया है।

बाह्य विषयका ज्ञान लुप्त होना, शरीर और मनकेभी ज्ञानका लोप होना, यही नहीं शरीर दग्ध करनेपरभी उसका ज्ञान न रहना, यह समाधिस्त व्यक्तिका लक्षण नहीं है। समाधि कहनेसे साधारणतः यही स्थिति समझी जाती है। पर यह समाधिका मुख्य लक्षण नहीं, वह केवल एक विशेष प्रकारकी अवस्था भर है। यह नहीं कि समाधि प्राप्त होतेही इस प्रकारकी स्थिति होनी चाहिये, या होगी। सच्ची समाधिका लक्षण तो यही है कि कामनाशून्य अंतःकरण हो और द्वन्द्वसंग्रामी मनसमेत आत्माकी आत्मतृप्ति हो। यद्यपि समाधिस्थ व्यक्ति बाह्यतः कार्य करती हो, तबभी उसका भाव अंतर्मुखी रहता है। बाह्य वस्तुकी ओर जब वह देखता है, तबभी वह आत्मबद्धही रहता है। सामान्य आंखोंको यह समाधिस्थ व्यक्ति जब सांसारिक बाह्य व्यापारोंमें व्यग्र हुआ दिखाई देता है, तबभी उसका सब ध्यान भगवान्‌की ओर रहता है। सामान्य मनुष्यके समानही अर्जुनने इच्छा दर्शाई कि इस महान् समाधिका बाह्य लक्षण समझ ले।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किं॥
गी० २-५४

"हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या? उस व्यक्तिका बोलना, चलना किस प्रकार रहता है?"

पर इस प्रकारका कोईभी लक्षण न कह सकेंगे। और गुरुनेभी वह कहनेकाभी प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। जिस आत्माको मुक्तिलाभ हुआ है, उसका महान् भाव है समता और जिन लक्षणोंसे यह समताकी स्थिति समझमें आवेगी, वह सब है आंतरिक (Subjective)।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २-५६

'दुःखमें जिसके मनमें दुःख नहीं होता, सुखमें जिसकी आसक्ति नहीं, ऐसे रागभयक्रोधशून्य मुनिको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।' स्थितप्रज्ञको आत्मलाभ हो चुका रहता है, इससे उसे प्राप्त करनेके लिये कुछ रहताही नहीं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
गी० २-४५

यदि हम एकबार आत्माको प्राप्त कर लें, तो सब वस्तुएँ हमारे हस्तगत हो जावेंगी।

तथापि स्थितप्रज्ञ कर्मसे निवृत्त नहीं होता। इस प्रकारकी समाधिका वर्णन करनेपर भी, तथा मुक्त आत्माके सम्बन्धमें प्रकृतिकी सामान्य क्रिया-शून्यता दर्शाकरभी गीता कर्मका आदेश देती है। वह कर्मका जोरदार समर्थन करती है । यही गीताकी मौलिकता एवं सामर्थ्य है। जिन सब दर्शनग्रंथोंने और शास्त्रोंने केवल कठोर तपस्या और निर्जन शांतता की प्रशंसा कर लोगोंको कर्महीन बनाया है, उनका दोष गीताने इस प्रकार सुधारा है । अपना यह दोष नष्ट करनेका प्रयत्न सभी दर्शनग्रंथोंद्वारा होता है, यह आज अपनेको दिखाई देता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ २-४७

" कर्म करनेभरका तेरा अधिकार है; फलके संबंधमें नहीं है। कर्मफलके लिये कर्म न कर और कर्मसे निवृत्तभी न हो।"

अर्थात् यहाँ गीताने वेदवादियोंके सकाम कर्मका मण्डन नहीं किया। इसी प्रकार उन कर्ममेंही आनन्द माननेवाले रजोगुणी लोगोंके समान, जो सदासर्वदा कर्म करनेके लियेही अस्थिर एवं आतुर रहते हैं, कर्म करनेका उपदेश गीताने यहां नहीं किया।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
गी० २-४८

" आसक्ति छोडकर और कर्म सिद्ध हो या असिद्ध हो उसकी ओर ध्यान न दे, योगस्थ होकर तू कर्म कर। चित्तकी इस समताको ही योग नाम है "। पाप और पुण्यका विचार जागरूक रहते हुए यह विचार करके कार्य करना कि कौन काम अच्छा और कौन बुरा है, अत्यन्त अडचनका है। यह प्रश्न उत्पन्न होता है। पर जिस मुक्त पुरुषकी बुद्धि और इच्छा भगवान्से एकरूप हो गई है, वह तो इस संसारहीमें पाप और पुण्य दोनोंका त्याग करता है ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । २-५०

क्यों कि आत्मज्ञानकी स्वतंत्रता पर स्थापित हुई पापपुण्यातीत नीतिमें उसका प्रवेश हो चुकता है। विशेष हेतुके बिना किया हुआ कार्य अच्छा न होगा । ऐसे कार्यसे उद्भाविनी शक्तिका भी अच्छा विकास न होगा। यहां शंका कामनाशून्य कर्ममें स्थिर निश्चिति अथवा कायकारिता रह नहीं सकती। परन्तु यह शंका निर्मूल है। योगस्थ हो कर जो कर्म किया जाता है, वह केवल सर्वोच्च ही नहीं, वही सबसे विज्ञानसंगत रहता है। सांसारिक व्यापारमें भी इस प्रकारका सबसे अधिक शक्तिसंपन्न और कार्यकारी होता है। क्यों कि सब कर्मोंका जो अधीश्वर उसीकी इच्छाके और ज्ञानके प्रकाशसे इस प्रकारका कर्म प्रकाशित होता है । 'योगः कर्मसु कौशलम्'। जिस दुःखमय मानवजन्मके बंधनसे मुक्त होना ही योगीका ध्येय समझा जाता है, वहाँ सांसारिक कर्म करना क्या इस उद्देश्यसे च्युत न कर देगा ? नहीं ऐसा न होगा। जो ज्ञानी लोग कर्मफलका त्याग कर तथा भगवान्से युक्त होकर कर्म करते हैं, वे जन्मबन्धनसे मुक्त होते हैं और उस परम पदमें जा मिलते हैं। उस स्थान शोक-दुःख-मय मानवी जीवनकी वेदनाएँ उसे नहीं सहनी पडती।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ २-५१

उन्हें जो पद प्राप्त होता है, वही ब्रह्मनिष्ठ अवस्था और वही ब्राह्मी स्थिति है। संसारबद्ध जीवकी जो स्थिति, जो ज्ञान और जो अनुभव, वह इस स्थितिसे बिलकुल विपरीत है। जो द्वंद्वमय जीवन संसारबद्ध जीवकी जागृतावस्था, उसकी चेतना है-जिस अवस्थाके कारण उन्हें कार्य करनेका, ज्ञान प्राप्त करनेका मौका मिलता है- वह जीवन योगीको रात्रिके समान है। वह जीवन आत्माकी कष्टतर निद्रा अर्थात् अंधकारस्वरूप है। संसारबद्ध जीवकी जो सुषुप्तिबद्ध अवस्था,

जिसके कारण सब ज्ञान और इच्छा बन्द होती है, उससे संयमी जागृत होता है। उसी अवस्थामें उसका सच्चा जीवन रहता है और यही अवस्था उसके ज्ञानका और शक्तिका उज्ज्वल दिन है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
गी० २-६९

"सामान्य व्यक्तिकी दृष्टिसे जो रात्रिस्वरूप है, उस समय जितेंद्रिय योगी जागृत रहता है और जहाँ सामान्य व्यक्ति जागृत रहता है, वहाँ स्थितप्रज्ञकी रात्रि रहती है।" संसारबद्ध अज्ञानी व्यक्ति कीचडसे भरे गंदले जलके समान होते हैं और स्थितप्रज्ञ विशाल समुद्रके समान रहता है। समुद्रमें चारों ओरसे पानी लगातार आता रहता है, तब भी वह जैसे गंभीर, स्थिर और शांत रहता है, उसी प्रकार योगीमें सब सांसारिक कामनाएं प्रवेश करती हैं, परन्तु उससे वह बिंदुमात्र भी चलित नहीं होता किन्तु आत्मशान्तिसे पूर्ण रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ २-७०

"चारों ओरसे भरा जाता है तब भी समुद्रमें जिस प्रकार वर्षाका पानी आ मिलता है, उसी प्रकार शब्दादि सब विषय स्थितप्रज्ञमें प्रवेश करते हैं, पर उसके कारण वह महात्मा कभी भी संतप्त नहीं होता, शांत ही रहता है।" मैं, मेरा, तेराके दुःखदायी ज्ञानसे सामान्य व्यक्ति भ्रमित होती है; पर सर्वत्र विराजनेवाली आत्मासे योगीका अभेद संबंध रहनेके कारण 'मैं और मेरा' की भावना उसमें नहीं रहती। वह दूसरोंके समान ही कार्य करता है। पर बाह्य दृश्य देखकर वह विचलित नहीं होता। वह उस एकमें ही अपने व्यक्तित्वका-आत्मीयताका लय करता है। उसी एकत्वमें वास कर वह मृत्युके समय ब्राह्मी स्थितिमें ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
गी० २-७२

गीताका यह निर्वाण बौद्धमतके समान आत्माका लोप नहीं है। गीताके मतके अनुसार निर्वाणका अर्थ है उस एकमात्र अनन्त, अपौरुषेय सत्ताके विराट् सत्यमें व्यक्तिगत स्वतन्त्र-सत्ता मिला देना।

इस प्रकार सांख्य, योग और वेदान्तका सूक्ष्म और सुंदर मिश्रण कर गीता-शिक्षाकी प्रथम नीव डाली गई है। बिलकुल आवश्यक कार्यतः ज्ञान और कर्मका जो ऐक्य साधन वहीं यहां सिद्ध किया है। आत्माकी परम पूर्णताका तीसरा उपादान जो भगवत्प्रेम और भक्ति उसका अब तक केवल संकेत ही दर्शाया है।

गीता-सुभाषित ।

कुलस्त्रियोंका शील।

अधर्माभिभवात् ... ... प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः । १।४१

"मनुष्यकी प्रवृत्ति जब अधर्मकी ओर बढती है, तब कुलस्त्रियाँ भ्रष्ट होती हैं। कुलस्त्रियोंमें आचार-दोष बढ जानेसे उन कुलोंका नाश होता है। इसलिये समाजमें तथा राष्ट्रमें ऐसा प्रबन्ध हो जिससे स्त्रियोंका और पुरुषोंका शील भ्रष्ट न होने पावे। जहाँ स्त्रियाँ भ्रष्ट होती हैं, वहाँ पुरुष तो भ्रष्ट हुए रहते ही हैं। परन्तु स्त्रियोंकी शीलभ्रष्टतासे आगामी सन्तति निःसत्त्व बनती है। इसीलिये शीलकी रक्षा करना आवश्यक है

कर्मका नियम ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
गी० २।४७

(१) तेरेको कर्म करनेका अधिकार । (२) कर्मके फल पर तेरा अधिकार नहीं । (३) इस हेतुको लक्ष्य कर कर्म न कर कि कर्मका फल अपनेको ही मिले । (४) कर्म न करनेकी ओर तेरे मनका झुकाव न होने दे ।

(१) सब मनुष्य जो कुछ उत्तम कर्म उनसे बनता है, वह जितनी उत्तम रीतिसे उनसे बने करें । उसमें तनिक भी कसूर न करें । अपना कर्तव्य पूर्ण रीतिसे उत्तम करनेकी पराकाष्ठा प्रत्येक करे । (२) यह काम करनेसे बदलेमें जो मिले, वह अपने पास जमा करके न रखे । सबके कल्याण-के लिये जनता जनार्दनके चरणोंमें उसे अर्पण कर दे । (३) ऐसा क्षुद्र हेतु मनमें न रखे कि मेरे कर्मका फल केवल मुझे ही उपभोगके लिये मिले । मनमें यह उच्च हेतु रखा जाय कि अपने कर्म-का उपयोग जनता—जनार्दनको होवे । (४) ऐसा कोई भी न कहे कि "मैं कुछ भी न करूंगा" प्रत्येक प्रतिदिन कुछ न कुछ उत्तम कर्म अवश्य ही करे ।

समदर्शन और समवर्तन ।

प्रश्न– समदर्शन और समवर्तनमें क्या भेद है ?

उत्तर– समदर्शनमें एकता और समवर्तनमें अनंतत्व है । समदर्शन अक्षर आत्माका विवेक है और समवर्तन क्षर-प्रकृतिके गुणों (स्वभाव) की लीलाका विकार है ।

प्रश्न– समवर्तनसे हानिलाभ क्या होता है ?

उत्तर— क्षर-प्रकृतिके गुणोंकी लीलामें चार वर्ण हैं । उनके कर्म पृथक् पृथक् हैं । उनमें समवर्तन हो ही नहीं सकता । "स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा" (गी० अ० १८) समदर्शन हो सकता है । समवर्तन करनेसे ही कुल, जाति, जातिभेद, पंथ, संप्रदाय आदि समदर्शन नष्ट करनेवाले कर्मोंके अनंत प्रकार हुए । वर्णसंकर समदर्शनसे नहीं होता, समवर्तनसे होता है । यही नहीं समवर्तनसे ही उच्च, नीच, स्पर्श-अस्पर्श आदि समदर्शन नष्ट करनेवाले भाव उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न– जातियोंका रोटीबेटी-व्यवहार समवर्तनमें शामिल है या नहीं ?

उत्तर– समवर्तनमें ही रोटीबेटी व्यवहार आता है । समदर्शनमें रोटी-बेटी-व्यवहारका विचारही नहीं है । समदर्शनमें स्वधर्मके अनुसार (गुणके अनुसार) रोटीबेटी ग्रहण कर सकते हैं । इसमें समवर्तनरूप जातिभेद नहीं है ।

प्रश्न— सब एक कर देनेसे मनुष्य जातिका कल्याण होगा या अकल्याण ?

उत्तर— स्वगुणयुक्त, प्रियत्वके अनुसार रोटी-बेटी-व्यवहार कल्याणदायी होता है । अर्थात् समवर्तनमें कल्याणदायी नहीं होता । वास्तवमें समाजबंधन ही समवर्तनका कारण है । जातिके अभिमानसे जो समवर्तन होता है, उसमें "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" का स्वधर्म-स्थितिका कल्याणकारी मार्ग नष्ट होता है ।

गीतार्थ-चर्चा।

(लेखक- श्री० महादेवशास्त्री दिवेकर)

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दुमात्रका एकमेव धर्मग्रन्थ है। इस ग्रन्थका पठन और मनन अखिल भारत-वर्षमें भाविक एवं चिकित्सक दृष्टिसे चला है। कई स्थानोंमें गीताजयंतिका उत्सव मनाया जाता है। इस उत्सवमें व्याख्यान, प्रवचन आदि कार्य होते हैं। गीता जैसे ग्रन्थका अध्ययन एकसा जारी रहना चाहिये। उसकी चर्चाके लिये प्रत्येक स्थानमें मण्डल स्थापित होने चाहिये।

इस लेखमें मैं गीताके अ० ९ श्लो० ४ और ५ की ओर वाचकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्व-भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः॥५॥

अर्थ— "मैंने अपने अव्यक्त स्वरूपसे यह सब जगत् विस्तारित किया है। मुझमें सब भूत हैं। मैं उनमें नहीं हूँ। इसी तरह मुझमें सब भूत भी नहीं हैं। देखो, यह मेरी ईश्वरीय करणी और योग-सामर्थ्य! भूतोंको उत्पन्न करनेवाली मेरी आत्मा भूतोंको धारण करनेपर भी भूतोंमें नहीं है।"

गीताके अभ्यासकोंको इन दोनों श्लोकोंका विरोध नष्ट कर मुख्य सिद्धान्त कहनेमें कितनी सिरपच्ची करनी पडती है और कितना कष्ट उठाना पडता है सो कह नहीं सकते। इन श्लोकोंका अर्थ मेरी समझमें शंकराचार्यके विवर्तवादसे ही अच्छा जमता है। अन्य किसी भी प्रक्रियासे इन श्लोकोंका अर्थ अच्छी तरह नहीं जमता। इन दो श्लोकोंमें स्पष्ट बतलाया है कि परब्रह्म पर जगत् विवर्तरूपसे भासमान होता है। पारमार्थिक सत्तामें ब्रह्म केवलस्वरूप रहता है। इसलिये वहाँ भूत भी नहीं और भौतिक सृष्टि भी नहीं है। उस तत्त्वके आश्रयसे रहनेवाली जो बीजभूत अव्यक्त शक्ति उसका विस्तारही यह जगत् है। सर्वभूतसृष्टि उस शक्तिके आश्रयसे रहती है। और वह शक्ति तत्त्वके आश्रयसे रहती है। इसी अव्यक्त बीजभूत शक्तिको प्रकृति या माया शब्दका प्रयोग गीतामें स्थान स्थानमें किया है। 'मैं मेरी प्रकृतिके आश्रयसे मेरी मायासे ही जन्म लेता हूँ' (अ० ४।६)। मायासे जिनका ज्ञान नष्ट हुआ है और जो असुर-भावको पहुंचे हैं, वे नराधम मेरी शरणमें नहीं आते। जो मेरी शरणमें आते हैं वेही इस मायाको तर जाते हैं (अ० ७ श्लो० १४।१५)। इसी प्रकार अ० ९ श्लोक ७, ८, १० में प्रकृति शब्द बीजभूत शक्तिके अर्थमें आया है। और यह सिद्धान्त बतलाया गया है कि शक्तिके कारण यह चराचर जगत् तत्त्वकी अध्यक्षतामें निर्माण होता है। गीताकी यह प्रकृति और सांख्यशास्त्रकी प्रकृति दोनों एक नहीं हैं।

गीतामें तत्त्वविचार और जगत्प्रक्रियाका विषय अध्याय सातसे पंद्रह तक पांच, छः स्थानोंमें आया है। अध्याय चारमें अवतार-कल्पना है और 'पर्सनल गॉड' की कल्पना है। अध्याय सातमें परा और अपरा प्रकृति बतला कर विशद किया है कि जगत्की उत्पत्ति परब्रह्मसे कैसे होती है। अध्याय १३ और १४ में सांख्य-प्रक्रिया वेदांतकी भाषामें और शास्त्रसुसंगत रीतिसे बतलाई है। पंद्रहवें अध्यायमें वृक्षरूपकके दृष्टांतसे संसारचक्रका चित्र खींचा गया है। अतएव मेरा मत है कि गीतामें वस्तुतत्त्वकथन, वस्तु-स्वरूप और जगत्की उत्पत्तिका विषय मुख्यतः

नध अध्यायमें ही आया है और इस अध्यायके ४ से १० श्लोकोंतक इस विषयका विवेचन संगतियुक्त है। इस विषयके पहले श्लोक अर्थात् श्लोक चार और पांचका अर्थ ठीक लग जावे, तब तो आगेके सब श्लोकोंका अर्थ लगा सकते हैं। पर यदि पहले श्लोकोंके अर्थमें गडबड हुई तो आगेके श्लोकोंका अर्थ नहीं लगता।

गीताशास्त्रके मतानुसार इस जगत्की जड कार्यकारणातीत, नित्य, शुद्ध ऐसा एक ही तत्त्व है। इस तत्त्वका और जगत्का जो संबंध आया है, वह उपरोक्त विवर्तवादसे ही स्पष्ट किया जा सकता है। लोकमान्य तिलकको शंकराचार्यका मायावाद जँचा था, इसीसे उन्होंने इसके संबंधमें कहीं भी विरोध नहीं दिखाया। किंबहुना मायावादका स्वीकार किये विना अद्वैतवाद सिद्ध ही नहीं हो सकता। ज्ञानोत्तर कर्म सम्भव है या असम्भव? यही विवादका मुख्य विषय है और लो० तिलकने इसका उत्तर गीतारहस्यमें दिया है। यह कहना सत्य नहीं कि शंकराचार्यने विवर्तवाद सामने रखा और सिद्ध किया कि रज्जुसर्पवत् भ्रमरूप यह जगत् मिथ्या है। शांकर मतपर उत्तर-वेदांतियोंने जो टीका और भाष्य लिखे उन्हींमेंसे यह वाद उपस्थित हुआ है। शंकराचार्यका प्रकृतिवाद या मायावाद तर्कशास्त्रशुद्ध और युक्तिको जँचनेवाला मालूम पडता है। गीताके 'प्रकृति' और 'माया' ये समानार्थक शब्द और ब्रह्मसूत्र-भाष्यके कुछ सूत्र तथा उनका भाष्य इनपर तुलनात्मक विचार करें तो सिद्ध होगा कि रज्जुसर्पवत् भ्रमरूप मायावाद शंकराचार्यने स्वीकृत नहीं किया; किन्तु गीताकी माया और शंकराचार्यद्वारा स्वीकृत माया दोनों एक ही हैं। शांकर वेदान्तकी कुंजी है आध्यासभाष्य। इस भाष्यमें उन्होंने इतरेतराध्यास माना है। इस अध्याससे ही अद्वैत-सिद्धि होती है। चित् और जड, विषय और विषयी, आत्मा और अनात्मा इनका जो एक दूसरेपर अध्यास चला है और जिस अध्यास जगत् क्रिया दिखता है उस अध्यासको ही पण्डित लोक अविद्या कहते हैं। (वह अविद्या ही माया है) यही आचार्यका कहना है।

ब्रह्मसूत्र १।४।३ 'तदधीनत्वादर्थवत्' सूत्रका शांकर भाष्य देखिये- "अर्थवती हि। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।" इस भाष्यमें अविद्यात्मक- प्राणिकर्म- बीजशक्तिरूप अव्यक्त माया है, उसीको अव्यक्त कहते हैं। इस मायारूप सुषुप्तिमें स्वरूपबोधशून्य जीव गाढ निद्रा लेते हैं। यह शक्ति सार्थ है। इसके विना ईश्वरकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। और परमेश्वरका स्रष्टापन भी इसीके कारण सिद्ध होता है। यह शक्ति सदसद् विलक्षण अनिर्वचनीय है। क्या ये उक्तियाँ सयुक्तिक नहीं हैं? इसी तरह ब्रह्मसूत्र अ० २।१।१४ सूत्र— 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।' इसके भाष्यमें एक स्थानमें उल्लेख है- "सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूते इव अविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपंचबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः।" इस उल्लेखमें कहा है कि सर्वज्ञ ईश्वरकी आत्मभूत संसारके विस्तारको कारणीभूत होनेवाली मायाशक्ति ही प्रकृति है और उससे भिन्न सर्वज्ञस्वरूप ईश्वर है। इससे सिद्ध होता है कि जगदुत्पत्तिका कारण होनेवाली एक शक्ति ही माया है। जिज्ञासु १।३।३० (शारीर भाष्य) का भाष्य देखें। सारांश, ब्रह्मसूत्र, गीता और शांकर भाष्यमें अद्वैत तत्त्व मान लिया गया है और जगत् क्रिया विवर्तवादके अनुसार बतलाई गई है और वह आजके चिकित्सक वर्गको मंजूर होने योग्य है। इससे स्पष्ट होता है कि जगत् रज्जुसर्पवत् भ्रमरूप नहीं, वह भासमान होता है और व्यावहारिक दृष्टिसे उसके

व्यवहार सत्य हैं। ब्रह्मात्मावगति तक सब वैदिक और लौकिक व्यवहार उपपन्न होते हैं और वे आवश्यक हैं। ये सिद्धान्त भी संगतियुक्त हैं। ज्ञानोत्तर कर्मका संभव है या असम्भव? यह विवादग्रस्त है। तथापि अधिकारी पुरुष कर्म कर सकते हैं यह बात भाष्यकारोंने (शां० भा० ३।३।३२) मान ली है। गीताका कथन है कि ज्ञानी ज्ञानोत्तर भी लोकसंग्रहके लिये कर्म करे। तथापि तत्त्वस्वरूप और जगत्-प्रक्रियामें सूत्रकार, गीताकार और भाष्यकारका एकमत है। मेरा मत है कि यह बात अध्याय ९ के श्लोक ४ और ५ का विचार करनेसे दिखाई देती है।

श्रीगीतायोग।

(लेखक श्री० नरहर विष्णु फडके)

खरा मर्द तूं धीर सोडूं नको रे।
सदा श्रेष्ठ धारिष्ट जीवीं धरी रे।
मनीं दुष्ट वीकल्प कामा नये रे।
करी तो अकीर्ती तुझी सर्वदा रे॥ १॥

भावानुवाद- तू सच्चा बहादुर है, अतः धीरज न छोड। हमेशा श्रेष्ठ प्रकारका धीरज तुझे धारण करना चाहिये। मनमें दुष्ट विकल्पोंको न आने दे। ये विकल्प ही तेरी सर्वदा अपकीर्ति करते हैं।

जगीं जन्मतो मृत्यु त्यासी चुकेना।
पुनः संचितें जन्म त्यासी सुटेना।
असें हें सदा होतसे जातसे रे।
सुजाणा तरी दुःख कामा नये रे॥ २॥

इस संसारमें जिसने जन्म लिया, वह कभी न कभी अवश्य ही मरेगा। मरने पर भी उसके संचित कर्मके अनुसार उसे पुनः जन्म लेना ही पडेगा। इसे वह चुका नहीं सकता। इस जगत्में इस प्रकार जन्ममरणका चक्र चलता ही रहता है। तब इसके लिये दुःख करना व्यर्थ है।

स्वकर्मीं बरा मृत्यु आला जरी रे।
दुजा धर्म पाहूं नको तूं कदा रे।
जरी दर्शनीं तो दिसे चांगला रे।
परी शेवटीं घात हा ठेविला रे॥ ३॥

अपना कर्तव्य करनेमें मृत्यु भी आ जावे, तब भी अच्छा है, परन्तु तू परायेके कर्तव्यकी ओर दृष्टि न डाल। देखनेमें दूसरेका कर्तव्य बहुत अच्छा लगेगा, पर उसका स्वीकार करनेसे अंतमें हानि निश्चयसे होगी।

हरी सर्वभूतीं असे राहिलेला।
परी अज्ञ मायेमुळे मोहियेला।
त्यजी मोह हो लीन श्रीरामपायीं।
नको तूं श्रमूं व्यर्थ नाना उपायीं॥४॥

भगवान् भूतमात्रमें उपस्थित हैं, परन्तु अज्ञानी मनुष्य मायाके मोहके कारण उन्हें नहीं पहिचानता। उन्हें जाननेके लिये तू मोह छोड दे, भगवान्की भक्तिमें लीन हो जा और अन्य उपायोंमें व्यर्थ श्रम न कर।

अकर्मत्व तें शक्य नाही कुणासी।
परी सोडि आशा अधाशी फलाची।
फलाशा त्यजूनी स्वकर्मं करीशी।
तरी कर्मदोषत्व नाही जिवासी॥ ५॥

कोई भी मनुष्य विना कर्मके रह नहीं सकता, परंतु फलकी आशा अवश्य छोड देनी चाहिये। यदि फलकी आशा छोड कर अपना कर्तव्य करेगा, तो वह कर्म तुझे बंधनकारक नहीं होता।

जशी भावना ठेविसी रामपायीं।
तशी राम चिंता तुझी सर्व वाही।
अनन्यास रक्षी स्वयें वासुदेव।
तयावीण कोठे रिता नाहि ठाव ॥ ६ ॥

तू भगवान्‌के प्रति जैसी भावना रखेगा, बस उसी प्रकार भगवान् तुझे निभावेंगे। जो भक्त अनन्य भावसे भगवान्‌के भरोसे रहते हैं, उनकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जिसमें भगवान् न हों।

चतुर्वर्ण हे स्पष्ट आचारभेदें।
तुझें कार्य तूं आचरी नित्य मोदें।
स्वधर्मा करीं तूं फलाशा त्यजोनी।
जगच्चालकासी मनीं आठवूनी॥ ७॥

चातुर्वर्ण्य आचारके भेदोंके कारण हुआ है। तू अपना कर्तव्य प्रतिदिन आनंदसे कर। तू अपना कर्तव्य फलकी आशा त्याग कर तथा भगवान्‌का स्मरण करके कर।

जरी ज्ञान तूं इच्छिसी मेळवाया।
तरी सद्गुरू सेवि सोडी न पाया।
मनीं स्थीर होशील सेवा करून।
तदा सद्गुरू ज्ञान बोधील पूर्ण ॥ ८ ॥

यदि तुझे ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा हो, तो तू सद्गुरुकी सेवा कर। इस सेवासे तेरा मन स्थिर होगा, तब तुझे सद्गुरु ज्ञान देवेंगे।

जरी ज्ञान झालें तरी कर्म प्राप्त।
करावें जनीं हेंचि श्रेष्ठासि उक्त।
जरी सोडिती श्रेष्ठ कर्मैं तयांचीं।
तयांमागुनी अज्ञ जातील साचीं ॥ ९ ॥

ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् भी कर्म नहीं छूटता। श्रेष्ठ जनोंको भी ज्ञानप्राप्तिके बाद कर्म करना ही चाहिये। क्यों कि यदि वे अपने कर्म छोड दें, तो अज्ञ लोग भी उन्हींकी नकल करेंगे।

न जाणूनि ते अज्ञ होतील भ्रष्ट।
तदा दोषि होतील ते ज्ञानि श्रेष्ठ।
म्हणोनी कुणी कर्म टाकूं नये रे।
फलासक्ति टाकूनि कर्मैं करीं रे ॥ १० ॥

अज्ञानी बात न जानकर अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जावेंगे, पर इसका दोष जो श्रेष्ठ ज्ञानी हैं उनके मत्थे पडेगा। इसीलिये कर्मका त्याग किसीको भी न करना चाहिये। अपि तु फलकी आसक्तिको छोडकर कर्म करना चाहिये।

कदा भेद बुद्धीसि पाडूं नये रे।
समर्थें सदा कर्मयोगी रहावें।
फलासक्ति सोडावया अज्ञ लोकां।
सदा सांगणें उक्त हें ज्ञानि लोकां ॥ ११ ॥

बुद्धि-भेद कभी भी न करना चाहिये। जो समर्थ है उसे सदैव कर्मयोगी रहना चाहिये। जो ज्ञानी है उसे सदैव अज्ञानी लोगोंको यह उपदेश करना चाहिये कि 'फलकी आसक्ति छोडो'।

अहिंसा जगीं मानिती श्रेष्ठ धर्म।
परी दुष्ट-हिंसा नसे हा अधर्म।
अहिंसा खरी या जगीं गाजवाया।
कधी दुष्टहिंसाहि लागे कराया ॥ १२ ॥

इस जगत्‌में अहिंसाको श्रेष्ठ धर्म माना जाता है। परन्तु दुष्टोंकी हिंसा कुछ अधर्म नहीं होता। इस संसारमें अहिंसाका प्रभाव फैलानेके लिये कभी कभी दुष्टोंकी हिंसा करनी पडती है।

खलें गांजितां लोपते ही अहिंसा।
म्हणोनि असे धर्म्य दुष्टात्महिंसा।
अहिंसार्थ हिंसा नसे हा अधर्म।
परी दीन-हिंसा असे हा अधर्म ॥ १३ ॥

दुष्ट लोग जब अत्याचार करते हैं, तब तो अहिंसाका लोप हो जाता है। इसीलिये दुष्टोंकी हिंसा धर्म-संगत है। अहिंसाको कायम रखनेके लिये जो हिंसा करनी पडती है, वह अधर्म नहीं है। हाँ, परन्तु दीनोंकी हिंसा करना अवश्य ही अधर्म है।

खलें गांजितां नाश त्यांचा कराया।
तयांपासुनी साधु तो सोडवाया।
जगीं स्थापुनी धर्म तो वाढवाया।
सदा श्रीहरी जन्म घेतो जगीं या ॥ १४ ॥

दुष्ट मनुष्य जब पीडा देते हैं, तब उनका नाश करनेके लिये, साधुओंको उनसे बचानेके लिये और इस जगत् धर्मकी स्थापना कर उसकी

वृद्धि करनेके लिये भगवान् इस जगत्में हमेशा जन्म लेते हैं।

करावा हरी-कार्य ही दुष्ट-हिंसा।
असे धर्म्य तैसी नसे अन्य हिंसा।
हरी-कार्य जाणूनि हिंसा करीसी।
तरी कर्मदोषत्व नाहीं जिवासी॥ १५॥

भगवान्का कार्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे यदि दुष्टोंकी हिंसा करनी पडे, तो वह हिंसा धर्म-संगत है। ऐसी अन्य कोई भी हिंसा धर्मसंमत नहीं। भगवान्का कार्य जानकर यदि तू उस कार्यके लिये हिंसा करेगा, तो तुझे कर्म-दोष न लगेगा।

नसे नाश आत्म्यासि देहांतकाला।
तनू नाशितां होई आत्मा निराळा॥
नवें वस्त्र घ्यावें जुनें टाकुनीयां।
तसा देह घेई जुना टाकुनिया॥ १६॥

देहका अंत होता है, पर उस समय आत्माका नाश नहीं होता। शरीरका नाश होनेसे आत्मा अलग हो जाती है। जैसे अपन पुराना कपडा त्याग कर नया कपडा लेते हैं, बस उसी तरह आत्मा पुराना शरीर त्याग कर नया शरीर लेती है।

जशी वासना धावते अंतकाळीं।
तशी प्राप्त काया पुन्हा जन्मकाळीं।
म्हणोनी सदा श्रीहरी ध्यात जावा।
मिळे मोक्ष तेणें नसे जन्म जीवा॥ १७॥

अंतकालके समय जैसी वासना होगी, वैसाही शरीर पुनः जन्म लेते समय मिलता है। इसी लिये सदैव भगवान्का ध्यान करते रहना चाहिये, जिससे अंतकालमें भी भगवान्का स्मरण हो। तब मोक्ष मिलता है और पुनः जन्म नहीं होता।

नको संशयो सोडि संसारभार।
बळें निग्रहीं इंद्रियां दुर्निवार।
तदा ज्ञानशांती मिळे भक्तिभावें।
जळें पाप तें ज्ञान होतां स्वभावें॥१८॥

संसारका भार निःसंदेह होकर छोड दो, और निर्वार इन्द्रियोंको बलसे अपने वश कर लो। ऐसा होनेपर भक्तिका भाव रखनेसे जो ज्ञान होता है, उससे शान्ति मिलती है। ज्ञान प्राप्त होनेसे पाप आपही आप भस्म हो जाता है।

मिताहार घेई करी अल्प निद्रा।
रसा आवरी सोडि वाचालता वा।
मनें आवरी धाव तूं इन्द्रियांची।
तदा प्राप्त तूंतें स्थिती योगियांची॥ १९॥

आहार थोडा कर, नींद कम ले, रसोंको रोक और वाचालता छोड। इस प्रकार जब तू इन्द्रियोंकी दौडको मनसे रोक लेगा, तब तुझे योगियोंकी दशा प्राप्त होगी।

हजारांत ईशा भजे कोणि एक।
तयांमाजि जाणे हरी कोणि एक।
अनादी हरी भूतिं हा राहिलासे।
तयाचें सदा लागुं दे तूज पीसें॥ २०॥

हजारोंमें कोई एकाध मनुष्य सच्चा भक्त रहता है और ऐसे भक्तोंमेंसे एकाध भगवान्को जानता है। यह अनादि भगवान् भूतमात्रमें विद्यमान् है। उसी भगवान्की भक्ति तू हमेशा कर।

त्यजी कामना, तुष्ट जो अंतरींच।
भयक्रोध नाहीं, दिसे पूर्ण शांत।
ममत्वासि टाकी नसे लोभ ठावा।
स्थितप्रज्ञ ऐसा जगीं ओळखावा॥ २१॥

संसारमें स्थितप्रज्ञ उसीको जानो जो कामनाओंका त्याग करता है, संतुष्ट रहता है, जिसे भयक्रोध आदि नहीं रहते, किन्तु जो पूर्णतया शान्त रहता है और जो ममत्वका त्याग करता है, तथा जिसे लोभ तनिक भी नहीं रहता।

चराचरचालकासी मनीं आठवूनी।
करीं सर्व कर्मे फलाशा त्यजोनी।
प्रसादें हरीच्या भवापार जाशी।
तुला व्यर्थ चिंता हवी ती कशासी?॥ २२॥

भगवान्का स्मरण कर तू सब कर्म फलाशा त्यागकर कर। ऐसा करनेसे भगवान्की कृपासे तू भवसागरके पार जावेगा। तब तुझे इस भव-सागरकी व्यर्थ चिंता न करनी चाहिये।

करी पूर्ण भक्ती सदा त्या प्रभूची ।
त्यजी सर्व, हो लीन त्याच्या पदासी ।
सदा नम्र होई जगच्चालकासी ।
तदा पावसी पावसी त्या रुपासी ॥ २३ ॥

तू सदैव भगवान्‌की पूर्ण भक्ति करो, सब कुछ त्याग करो, उसीके चरणोंमें लीन हो, सदैव उस जगच्चालकसे नम्र हो कर रहो, तो उसके रूपमें मिल जाओगे ।

सदा योग हा ईशभक्तांसि द्यावा ।
हरीभक्ति नेई तुला मोक्षगांवा ।
समत्वाप्रती पोचतां योगि होसी ।
' हरी 'लीन होई हरीच्या पदासी ॥ २४ ॥

सदैव ईशभक्तोंकी संगति करो, तो हरिभक्ति तुझे मोक्ष प्राप्त करा देगी । जब तुम समत्वको पहुंचोगे, तब तुम योगी होगे । इसलिये हरीके पदमें लीन होवो ।

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।

(लेखक– श्री० नरहर विष्णु फडके)

" हमही अपने शत्रु हैं और हमही अपने मित्र हैं " । जैसे सुखका वैसेही दुःखकाभी उद्गम अपनेहीमें होता है । व्यर्थका द्वेष–तिरस्कार किसका करें ? क्या यह कहनेकी आवश्यकता है कि ' जो बोवो वही ऊगता है'? यदि अपने मनसरीखा न हो, तो भारी दुःख होता है । यदि मनकी बात न हो तो दुःख होता है और मनको तो कल्पना करते बैठनेकीही बडी आदत । उसे कोई मर्यादा ही नहीं । मनही बंध-मोक्षका कारण है । इसीको जीतकर यदि अच्छे मार्गमें लगावें, तो जो चाहे सो कार्य सहजहीमें होते हैं । यह मन ऐसा धूर्त है कि सुखदुखका उद्गमस्थान अपनेमें रहते हुए भी वह ऐसा भास उत्पन्न करता है कि वह स्थान कोई दूसराही है । इसीलिये मनपर अधिकार प्राप्त करना चाहिये ।

हमारा राज्य जाता रहा । परकीयोंके आडम्बर से हमारा मन चकाचौंध खा गया । और अंधानुकरण आरम्भ हुआ । हमने व्यर्थकी आवश्यकताएँ बढा लीं । परिणाम यह हुआ कि आरामकी चीजोंने हमारे घर भर दिये और हमारा पैसा परदेशमें गया । राज्यलक्ष्मी तो गईही थी, लक्ष्मी भी चली गई । परकीयोंने हमें ' शेरनीका दूध ' पिलाकर शेर बनाया । पर कैसे शेर ? सर्कसके शेर! हमारा वनराज केसरीका स्थान जाता रहा और सर्कसके पिंजरेके शेरका स्थान मिला । मनने चकाचौंध खाई । रहनेके लिये घर सुंदर दिखाई दिया । परन्तु बादमें पता चला कि यह घर वास्तवमें है क्या ! अतएव मनको सद्बुद्धिके नथनेकी आवश्यकता है ।

मनके बंध कसें, अंधानुकरण छोडें, व्यर्थ की आवश्यकताएं कम करें, गौकी सेवा करें, चक्र लेकर सूत कातें और कुष्ठाको काम दें । महायंत्र-निर्माणके पापका प्रायश्चित्त करें । देशी धन्धों–हातकाम–को उत्तेजना दें । मनको रोको । निश्चल रखो । एकही आशा– मोक्षकी, देशके मोक्षकी– रखो । यदि इतनाही हम लोग एकमतसे करें, तो स्वातंत्र्यकी प्राप्तिके लिये ' एक वर्ष ' भी काहेको चाहिये ? स्वातंत्र्य-सूर्यके उदयका समय निकटही जानो । इस कार्यमें विलम्ब हम ही कर रहे हैं । हम ही अपने शत्रु हैं। व्यर्थ दूसरेको शत्रु समझकर द्वेष बढा रहे हैं । चलो आत्मसंशोधन करें ।

गीताका 'यज्ञ' शब्द ।

(लेखक- श्री० रावसाहेब ना० गो० चापेकर, हायकोर्टजज्ज, सं० औंध.)

शब्दोंका इतिहास अत्यंत मनोरंजक और बोधप्रद रहता है । शब्दोंका जनकत्व मनुष्यकी बुद्धि में रहने के कारण मनुष्य की कल्पनाएं जैसी जैसी बदलती हैं, वैसे वैसे शब्दोंके अर्थ बदलते है । प्रथमतः (शब्द की उत्पत्ति के समय) वह शब्द एकही कल्पना व्यक्त करता है । किंबहुना एक कल्पना प्रदर्शित करने के लिये अथवा उसे मूर्त स्वरूप देने के लिये शब्द निर्माण होते हैं । कुछ समय बीतने पर जिस कल्पना के लिये वह शब्द निर्माण होता है वह कल्पना अथवा तज्जन्य आचार का लोप होता है, और पहिले आचार के बदले दूसरा आचार रूढ होता है । परंतु मनुष्य जन्मतः श्रम का मितव्ययी रहने के कारण भिन्न आचार के लिये भिन्न शब्द नहीं बनाता, किंतु पहिले ही शब्दसे यह दूसरा कार्य कराता है; इससे शब्दोंके अर्थोंमें हमेशा बदल होता रहता है । इसलिये शब्दोंका इतिहास मनुष्यों की कल्पनाओंका ही इतिहास है । इस दृष्टि से गीता के 'यज्ञ' शब्द का अर्थ यहां देखें ।

गीतामें यज्ञ शब्द कमसे कम ३४ बार आया है । इसमें से लगभग २१ बार यह शब्द यजनकर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, तथापि यह नहीं कह सकते कि यज्ञ शब्द का गीता में सर्वत्र इसी अर्थमें उपयोग किया गया है । पृथक् चार अर्थोंमें इस शब्द का उपयोग गीतामें किया हुआ नजर आता है । (१) यजनकर्म, (२) विष्णु अथवा परमेश्वर, (३) आत्मा, (४) कर्तव्य अथवा धर्म ।

'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' (गी० ३।१४) इस वचनसे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञ शब्द का मूल अर्थ यजन कर्म अथवा हवनही होना चाहिये । यज्ञसे पर्जन्य की उत्पत्ति होने की कल्पना बहुत पुरानी है और उसका ध्वनि मनुजीके ग्रंथोंमें भी निकला है ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (३-७६)

यज्ञशिष्टाशिनः (३-१३); यज्ञशिष्टामृतभुजः (३-३१); यज्ञदानतपःक्रिया; (१७-२५) यहां यज्ञ शब्दका अर्थ निःसंदेह अग्निमें हवन करनाही है । गीता अध्याय ३।१२, १३,१४; ४।३१; ५।२९; ८।२८; ९।१६, २०; १६।१; १७।५; ७।११,१२, १३,२३, २४, २५, २७, २८; १८।३,५; इन स्थानोंमें यज्ञ शब्द यजन कर्मके अर्थही में प्रयुक्त है । इसी अर्थसे यज्ञ शब्दका उपयोग उपनिषदोंमें भी किया हुआ नजर आता है ।

त्रयो धर्मस्कंधाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।
(छां० २।२३, १)

असुरान्यज्ञे उद्गीथेन अत्ययाम ॥
(बृह० १।३,१)

सामान्यतः चाहे जिस यजनकर्मके लिये हम यज्ञ शब्दका उपयोग करते हैं । परंतु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पूर्व कालमें यज्ञ और क्रतु ये दो शब्द भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते थे, अथवा यद्यपि ये दो शब्द एकही कर्मके द्योतक थे तथापि दो भिन्न समाजोंमें इनका उपयोग किया जाता था । गीताके "अहं क्रतुः, अहं यज्ञः" (९।१६) इस श्लोकके भाष्यमें मधुसूदन और श्रीधरस्वामी कहते हैं- "क्रतुः श्रौतः अग्निष्टोमादि; यज्ञः स्मार्तः वैश्वदेवादि ।" क्रतु शब्द बहुत पुराना है; वेदोंके बाहर वह बहुतसा देखनेमें नहीं आता । वेदोत्तरकालीन वाङ्मयमें जगह जगह पर यज्ञ शब्दही देखनेमें आता है, परंतु एकही जगह यज्ञ और क्रतु

दोनों का प्रयोग करके उनके भिन्न अर्थ जैसे गीता को अभिप्रेत हैं, वैसे उपनिषद्‌कारोंको भी अभिप्रेत हैं—

छंदांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि ॥ श्वेता० ४।९
यज्ञक्रतुनाम् प्रायणम् ॥ महानारायण० २२।१

यद्यपि कई लोगोंने यज्ञका अर्थ स्मार्त कर्म किया है, तथापि यहां इतना निर्देश करना आवश्यक है कि "यज्ञेन यज्ञमयजंत देवाः" इस ऋग्वेदकी ऋचामें यज्ञ शब्द आया है। यहभी ध्यानमें रहे कि ऋग्वेद कालमें श्रौतकर्म और स्मार्तकर्म ऐसा भेद नहीं था। यज्ञ शब्दका प्रयोग असुरोंके यजन कर्ममें तथा देवोंके भी यजन कर्ममें करते थे-"यज्ञो हि देवानां यज्ञेन हि देवा दिवं गताः।" (महानारायण २३।१) सारांश यह है कि यज्ञ और क्रतु ऐसा भेद पीछेसे किया गया होगा।

यज्ञ करना जब बंद हुआ, अथवा इस कर्ममें शिथिलता आई और यज्ञके बदले दूसराही कर्म आया, तब यज्ञ शब्दके अर्थमें विस्तार होना स्वाभाविक था। इसका प्रत्यंतर निम्न वचनोंसे आ सकता है- 'यत् यज्ञं इति आचक्षते ब्रह्मचर्यमेव' (छांदोग्य ८।५।१) अथवा 'यज्ञ क्षत्र ब्रह्म च।' (प्रश्न२।७) प्रत्यक्ष गीतामें भी 'बहुविधा यज्ञाः' (४।३२) ऐसा कहकर यज्ञ शब्द की बढती हुई व्याप्ति ध्वनित की है। ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ तथा पंचमहायज्ञ इत्यादि शब्दप्रयोगोंसे समझ सकते हैं कि यज्ञ शब्दके अर्थ कैसे बदलते गए हैं। यजन कर्मकी जगह जप तप इत्यादि कर्मोंका प्रचार होनेपर सहजही यज्ञका अर्थ कर्तव्य अथवा धर्म होने लगा। इस अर्थमें यज्ञ शब्द गीतामें कमसेकम दो जगह आया है- (३-१० और ४।३)। श्लोक ४।३० में यज्ञ शब्दका अर्थ निःसंदेह धर्म अथवा कर्तव्य (यजन कर्मके अतिरिक्त कोई दूसरा) है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
(गी० ४।३०)

नियत आहार करनेवालोंको और प्राणायाम करनेवालोंको इस श्लोकमें यज्ञविद् कहा है। इसी अध्यायके २८वे श्लोकमें वेदाध्ययन करनेको यज्ञहीकी संज्ञा दी गई है। अर्थात् इन उदाहरणोंसे यज्ञ शब्दका अर्थ स्वधर्म अथवा कर्तव्यही किया गया है और श्लोक ३।१० में मधुसूदन और श्रीधरस्वामीने वैसा स्पष्ट शब्दोंमें दिया है। "अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वम्" का मतलब "स्वाश्रमोचितधर्मेण प्रसविष्यध्वम्" अर्थात् 'आश्रमविहित जो धर्म उस धर्मके योगसे उत्पत्ति करो' ऐसा मधुसूदनका भाष्य है। इसी तरह श्रीधरस्वामीने कहा है "अत्र च यज्ञग्रहणम् आवश्यककर्मोपलक्षणार्थम्" -अर्थात् इस जगह यज्ञ शब्दका अर्थ वर्णाश्रमधर्मानुसार जो आवश्यक कर्म अथवा नियत कर्म वह समझना चाहिये। इसी तरह इन विद्वान् टीकाकारोंने 'सहयज्ञाः' का अर्थ 'विहितकर्मकलापेन वर्तन्ते इति सहयज्ञाः' ऐसा किया है। ज्ञानेश्वर महाराजनेभी ऐसा विवरण किया है- "तुम्हीं स्वधर्मयज्ञीं यजावें अनायासें" 'स्वधर्मही यज्ञ है; उसका तुम यजन करो।'

सबही टीकाकारोंने श्लोक ३।९ के यज्ञ शब्दका अर्थ परमेश्वर अथवा विष्णु ऐसा किया हुआ दिखता है। "यज्ञो वै विष्णुः" इस संहिताके वचनका उल्लेख श्री शंकराचार्यने अपने भाष्यमें कियाही है। और उसीका प्रतिध्वनि वामन, मोरोपंत, मुक्तेश्वर, उद्धव आदि कवियोंने किया है। तुकारामने "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" का भाषांतर देवयज्ञ पितृयज्ञके अतिरिक्त अन्य कर्म ऐसा किया है। "यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः" (मैत्रि० ६।१६) "यज्ञः प्रजापतिः इति" (बृहदारण्यक ३।९।६) "पुरुषो वाव यज्ञः" (छांदोग्य ३।१६।१) इन उपनिषदोंके वचनोंका भी यहां उल्लेख करना आवश्यक है। "यज्ञायाचरतः कर्म" (४।२३) यहांभी 'ज्योतिष्टोम' इस अर्थके साथही मधुसूदन स्वामीने 'विष्णु' ऐसा अर्थभी सूचित किया है। श्रीधर स्वामी 'यज्ञाय परमेश्वरार्थम्' ऐसाही अर्थ करते हैं।

परमेश्वरके अर्थमें प्रयुक्त यज्ञ शब्द केवल दो जगह मिलता है। आत्माके अर्थमें यज्ञ शब्दका प्रयोग केवल एक जगह हुवा है- अ० ४ श्लोक २५ यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें यज्ञका अर्थ आत्मा किया है। "यज्ञशब्दवाच्यः आत्मा आत्मनामसु यज्ञशब्दस्य पाठात्" ऐसा अपने भाष्यमें शंकराचार्य कहते हैं। "यज्ञं अधीयानः" (बृह० ३।७।१) इसमेंभी यज्ञ शब्दका अर्थ आत्मा हो सकता है।

इस प्रकार गीताके यज्ञ शब्दके भिन्न अर्थ हैं। यह समझना ठीक नहीं कि गीतामें एक शब्द एकही अर्थमें नियुक्त है। यज्ञ शब्दके अर्थसे भली भांति समझ सकते हैं कि एक शब्दके अनेक अर्थ कैसे होते हैं।

यज्ञका अधीश्वर।

(लेखक— श्री० योगी अरविंद घोष)

आगे विवेचन करनेके पूर्व जिस विषयका प्रतिपादन अभीतक हुवा उसका मूल तत्त्व एकवार देख लेना आवश्यक है। गीताका सब कर्मवाद यज्ञतत्वपरही अधिष्ठित है। ईश्वर, जगत् और कर्म- इन तीनोंमें जो संबंध है वह गीताके कर्मवादमेंभी है। सामान्यतः मनुष्यका मन जगत्तत्त्वके संबंधमें बहुमुखी सनातन सत्यका अंश ग्रहण करके जीवन, धर्म और नीतिके संबंधमें भिन्न मतवाद उत्पन्न करता है; कभी एक बाजूपर, कभी दूसरी बाजूपर ज्यादा झुकता है; परंतु जब किसी ज्ञानप्रधान युगमें ईश्वर, जगत् आत्माके संबंधमें ज्ञानके समन्वयकी ओर लक्ष्य जाता है, तभी मनुष्य सत्यके संपूर्ण और अखंड स्वरूपके तरफ झुकता है। गीताशिक्षणकी बुनियाद यही है कि जगत्में जो कुछ है, वह सब एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है, और संपूर्ण जगत् ब्रह्मका चक्र- ईश्वरसे उत्पन्न होकर ईश्वरमेंही लीन होनेकी ईश्वरी लीला-यही मूल वेदान्तिक सत्य है।

प्रत्येक वस्तु प्रकृतिहीकी व्यक्त लीला है और प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है। प्रकृति अपने कर्मके मालिककी और संपूर्ण शरीरमें वास्तव्य करनेवाले आत्माकी हीं इच्छा संपादन करती है। केवल आत्माकी तृप्तिके लिये प्रकृति पदार्थके बाह्य लीलामें तथा प्राणके और मनके कर्ममें प्रगट होती है, और फिरसे मन और आत्मज्ञानके द्वारा आत्मप्राप्ति करके वापिस होती है। प्रथमतः आत्मा बद्ध हो जाता है, प्राकृतिक लीलाका विकास होता है, पश्चात् आत्मा पुनरपि स्वस्वरूपमें प्रगट होता है। यदि पुरुष अपनी तीन शाश्वत अवस्थाओंमें एकही समय न रह सकता, तो यह प्रकृतिका चक्र संभाव्य न होता। क्षर रूपसे जब उसे प्रगट होना पडता है, तब हम उसको सान्त बहु, "सर्वभूतानि" इस स्वरूपमें देखते हैं। जगत्में जो असंख्य वैचित्र्ययुक्त जीव हैं, उनका तथा इन जीवोंके पीछे जागतिक क्रियाओंकी जो सब अधिष्ठात्री देवताएं वास्तव्य करती हैं, उनकाभी आत्मा तथा शक्ति इस स्वरूपमें प्रगट होती है; और सकल वस्तु और रूपोंके अंतरंगमें तथा बाहर गुप्त रीतिसे विराजमान जो एक अक्षर, अनंत, अरूप, जगत्का अपरिवर्तनीय अखंड आत्मा-उसमें समग्र बहु' पदार्थ स्वतःको वस्तुतः एकही प्रतीत होते हैं। इसलिये फिरसे एक विश्वव्यापी शांतिके विशालत्व-

में और अक्षर, अनासक्त एकत्वमें जीव समझ सकता है कि मुझे मुक्ति मिल सकेगी। तथापि 'उत्तमं रहस्यम्' जो श्रेष्ठ रहस्य वह 'पुरुषोत्तम' है। पुरुषोत्तमही श्रेष्ठ देव, ईश्वर है। उसमें सान्त और अनन्त, साकार और निराकार, एक आत्मा और सर्वभूत, जागतिक क्रिया और जगत्की ऊर्ध्व शांति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, इनका मीलन हुवा है। अखिल वस्तुओंका गहन गूढ सत्य ईश्वरमेंही भरा है और वहीं सबका पूर्ण ऐक्य हुवा है।

संसारमें जो कुछ घटना होती है, वह और कुछ नहीं, पुरुषके लिये वह प्रकृतिके द्वारा कर्मयज्ञ होता है। प्रकृतिमें चैतन्यके जिस स्तरमें आत्मा रहता है, तदनुरूप यह देवताकी पूजाअर्चा करेगा, आनंदकी खोज करेगा और तदनुरूप यह फलकी अपेक्षासे यज्ञ करेगा। प्रकृतिमें क्षर पुरुष की जो लीला होती है, वह सबही आदान प्रदानात्मक रहती है। क्योंकि जगत् एक और उसके भिन्न भिन्न विभाग परस्परावलंबी हैं। एक दूसरेका अस्तित्व परस्परसहायतापर ही अधिष्ठित है। संसारकी रचना इस आदानप्रदाननीतिकी नींवपर हुई है। जहां इच्छापूर्वक त्याग नहीं, वहां प्रकृति जबरदस्तीसे त्याग कराती और जागतिक नीतिका पालन करती है। जीवितकी नीति केवल दान और प्रतिग्रह है; इसके विना जीवन एक क्षणभी नहीं रह सकता। यह सत्यही संसारमें भगवान्की इच्छाका निदर्शन है। यज्ञको सदासर्वकाल अपना साथीदार रखकर भगवान्ने जो यह सारी प्रजा निर्माण की है, यही उसका प्रमाण है। यज्ञकी इस विश्वव्यापी नीतिसे पता लगता है कि जगत् भगवान्का है और संसार उसीके पूजाका मंदिर है; वह आत्मभोगका और स्वार्थसुखका क्षेत्र नहीं है। जीवितयात्राका प्रारंभ स्वार्थसे होता है; यह सत्य है तथापि इस यात्राका उद्देश्य स्वार्थसिद्धि नहीं है। क्रमशः स्वार्थको विस्तृत स्वरूप देना चाहिये; यज्ञका भी क्रमक्रमसे विस्तार करके पूर्ण ज्ञानके साथ संपूर्ण स्वार्थत्याग, संपूर्ण आत्मदान करना चाहिये। इस प्रकार भगवान्को-अनंतकी-पूजा करके उसकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये। यही जीवितका अंतिम उद्देश्य है।

परंतु मनुष्य अज्ञानका अंगीकार करके ही प्रारंभ करता है और दीर्घ कालतक अज्ञानी रहता है। अहंकारनिविष्ट मनुष्य समझता है कि यह जगत् भगवान्का नहीं मेरा ही है। वह अपनेको अखिल कर्मोंका कर्ता समझता है। वह यह नहीं समझता कि इस जगत्में जो जो घटनाएं होती हैं वे केवल विश्वप्रकृतिकी क्रिया हैं दूसरा कुछ नहीं। वह समझता है कि मैं सर्व कर्मोंका भोक्ता हूं; सब कुछ मेरे लिये लिये है; केवल मुझे तृप्त करना और मेरी वैयक्तिक इच्छाका पालन करना ही प्रकृतिका कार्य है। उसे इतना नहीं समझता कि प्रकृति उस मनुष्यको तृप्त करनेके लिये अथवा उसकी इच्छाके अनुसार बर्ताव करनेके लिये उत्सुक नहीं है, किंतु एक उच्चतर विश्वेच्छाका अनुकरण करती है और उस भगवान्ही को तृप्त करना चाहती है, जो प्रकृतिके परे है, प्रकृतिके कार्यके परे है और सृष्टिके परे है। व्यक्तिका जीवन, इच्छा और तृप्ति ये सब बातें उस व्यक्तिकी नहीं हैं; सब कुछ प्रकृतिका है। प्रत्येक क्षणमें प्रकृति इन सब बातोंको यज्ञरूपसे भगवान्को अर्पण करती है और भगवान्की इच्छा पूरी करनेके लिये इन सब बातोंका उपयोग यंत्ररूपसे करती है। इस संबंधमें जीव अज्ञान है और इस अज्ञानका चिह्न अहंकार है। इसी अज्ञानके वशमें होकर यज्ञकी नीतिको जीव अमान्य करता है और जितना हो सके स्वयं लेता है। अंतर्बाह्य जबरदस्तीसे जितना प्रकृति लेगी उतना ही देता है। वस्तुतः जीवके हिस्सेका अंश, (देवतादत्त भोगके रूपमें) जितना प्रकृति उसे लेने देती है, उससे अधिक जीव ले नहीं सकता। इस यज्ञमय जगत्में जो स्वार्थपर व्यक्ति प्रकृतिमें रहनेवाले देवशक्तिसमूहसे केवल दान ले लेती है और प्रतिदान करना नहीं चाहती, वह चोर लुटारूके समानही है। ऐसी व्यक्तिका

जीवन व्यर्थ है, क्यों कि वह यज्ञके लिये जीवित साधन नहीं करती और कर्मोंके द्वारा आत्मोन्नति नहीं करती।

मनुष्य जिस प्रकार अपनी शक्तिकी तथा अभावों न्यूनोंकी फिकर रखता है, उसी प्रकार दूसरोंकी फिकर जब वह रखने लगता है; स्वीय कर्मोंके पीछे विश्वप्रकृति है ऐसा वह जब उपलब्ध करता है और विश्वदेवसमूहोंके द्वारा उस एकमेवाद्वितीय अनंतकी तलाशमें लग जाता है, तबही वह अहंकारके बंधन का अतिक्रमण करके मुक्तिलाभके मार्गका पांथस्थ होता है; वासना और कामनाके परे जो नीति है उसकी खोजमें बद्धपरिकर होता है और उसको प्रतीति आती है कि कामनाओंको क्रमशः इसी नीतिके स्वाधीन करना चाहिये। उस समय वह वैयक्तिक हक्कोंकी अपेक्षा दूसरोंके हक्कोंपर अधिकसे अधिक ध्यान देता है; स्वार्थ-परायणता और परार्थपरायणतामें जो विरोध है उसको स्वीकार करता है, और अपनी वृत्तिका अनुशीलन करके अपने ज्ञानका और जीवनविकास का मार्ग शुद्ध करता है। वह प्रकृतिकी तथा प्रकृति में अवस्थित देवताओंकी उपलब्धिके लिये प्रवृत्त होता है। तब उसको समझता है कि ये प्रकृतिस्थ देवता भक्ति और पूजाके पात्र हैं; उन्हींके द्वारा मानसिक और जड जगत् नियंत्रित होता है, इस कारण उनके लिये यज्ञ करनाही चाहिये। वह यह भी शिक्षा लेता है कि अपने अंतःकरणमें, बुद्धिमें और जीवनमें यह शक्तिसमूह जितना अधिक प्रगट होगा, उतनीही शक्ति, ज्ञान और धर्मकर्म वृद्धिगत होकर साथही अपना सुख और तृप्ति बढती जायगी। इस तरह जीवनको केवल जडबुद्धिसे न देखकर वह धर्मबुद्धिसे, अध्यात्मदृष्टिसे देखता है और इस रीतिसे वह सान्तके द्वारा अनन्तकी प्राप्ति कर लेने को तैयार होता है। तथापि यह एक मध्यवर्ती अवस्था है, इससे अधिक नहीं। यहांभी कर्मकी नीति उसकी वासनाही है, उसका स्वार्थही केन्द्र है और प्रकृति ही उसके जीवनकर्मको नियंत्रित करती है। तथापि यहां वासना नियंत्रित है, यहां श्रेष्ठ सत्त्व गुणसंपन्न है और यह सब सान्त नामरूपकी सीमाके अंदर है; इतना जरूर है कि यह मर्यादा बहुत विस्तृत रहती है। सच्चा आत्मज्ञान किंबहुना कर्मकी सच्ची नीति इस अवस्थाके परे है; क्यों कि ज्ञानपूर्वक जो यज्ञ किया जाता है, वही श्रेष्ठ यज्ञ है और उसीसे कर्म सर्वांगसुंदर होता है। " अपना हृदयस्थ आत्मा एकही है; यह आत्मा वैयक्तिक ' अहं ' की अपेक्षा महान् है, यह अनंत है, निराकार विश्वव्यापी सत्ता है, और इसीमें अखिल भूतमात्र विराजमान है ", ऐसा अनुभव जब मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तबही यह अवस्था प्राप्त होती है। वह समझता है कि जिन देवताओंके उद्देश्यसे मैं यज्ञ करता हूं वे सब इसी एक ईश्वरके भिन्न भिन्न रूप हैं; ईश्वरसंबंधी सब संकुचित कल्पनाओंका त्याग करके वही एक श्रेष्ठ अनिर्वचनीय परमेश्वर, वही एकदम सान्त और अनन्त, एक और बहु, प्रकृतिके परे रहते हुए भी प्रकृतिमें व्यक्त है, गुणातीत है तथापि अनंत गुणोंके द्वारा वह लीलाविकास करता है। यही पुरुषोत्तम है; किसी अनित्य वैयक्तिक कर्मफलके हेतुसे नहीं किंतु भगवान्‌की प्राप्तिही के लिये उससे मीलित होकर उसमें वास्तव्य करनेके लिये उसीको सकल यज्ञ अर्पण करना चाहिये।

यही बात दूसरे शब्दों में कही जाय, तो अहंभाव सान्तभावका त्याग करना ही मुक्तिका और सिद्धिका मार्ग है। शुद्ध, उच्च ऐसी एक सत्ता सर्व भूतों में सर्व अवस्था में विराजमान है; जितना उसकी तरफ मनुष्य जावेगा स्वीय अहंकारद्वारा मनुष्य जितना कम बद्ध होगा, उतना वह एक विशाल, शांत और पवित्र सुखका भाव उपलब्ध करेगा। यही मनुष्य का चिरकालीन अनुभव है। केवल सान्त के अंतर्गत, 'अहं' के अंतर्गत जो सौख्य, जो आनंद और जो तृप्ति है वह क्षणिक, क्षुद्र और अनिश्चित

है। जो अहंकार में ही पूर्ण वास्तव्य करते हैं और तृप्ति में रत हैं, उनकी दृष्टिसे यह जगत् सर्वदा 'अनित्यं असुखं' अशाश्वत और दुःखमय है। शांत ही जीवन का सर्व सुख और श्रेष्ठ सुख नहीं है, इसलिये सान्त जीवन में चिर दुःख है; वह यह है कि उसमें सदासर्वदा एक निरर्थकता का भाव रहता है; इसी कारण से कर्मवाद का प्रतिपादन करने के प्रारंभ ही में गीताने ब्रह्मज्ञानपर—अहंभावशून्य जीवितपर—इतना जोर दिया है; क्योंकि अनन्त, अचल, अक्षर ब्रह्मही जगत् के समस्त व्यवहारों और कर्मोंकी स्थायी जड है। यदि हम यह समझें तो अहंभाव का त्याग करके हमारी स्वीय सत्ता को नामरूपातीत अनंत ब्रह्ममें परिणत करना चाहिये; और हम समझ सकेंगे कि आध्यात्मिक जीवन को प्रथमतः आवश्यक बात कोई हो तो वह है। इस एक ब्रह्म में 'सर्वभूत' देखना चाहिये। यही ज्ञान मनुष्य के आत्मा को उसके अहंभावके अज्ञानसे तथा उसके कर्मोंसे और फलोंसे उद्धृत करता है। इसमें वास्तव्य करनाही परम शांतिलाभ है और आध्यात्मिक जीवन की दृढ प्रतिष्ठा है।

यह महान् परिवर्तन सिद्ध होनेके दो मार्ग हैं—एक ज्ञानमार्ग और दूसरा कर्ममार्ग। गीताने इन दोनों मार्गोंका दृढ समन्वय किया है। मन और इंद्रियों के बीच में बुद्धिका (Intelligent will) जो अधोमुखी खेल जारी है, उससे बुद्धिको परावृत्त करके ऊर्ध्वमुखी करना चाहिये। यही ज्ञानका मार्ग है; मनकी अनेकमुखी गति को और वासना के बहुमुखी उड्डाण को बंद करके, बुद्धि को ब्रह्म में एकनिष्ठतासे संचार कराना—यही मार्गका लक्ष्य है। केवल इतनाही देखकर मन समझता है कि, संपूर्ण कर्मत्याग, अचल निष्क्रियता और आत्माको प्रकृति से विलग करना ही इस मार्ग का ध्येय है; परंतु वस्तुतः इस प्रकारका संपूर्ण कर्मत्याग, निष्क्रियता और विच्छिन्नता संभाव्य नहीं है। प्रकृति और पुरुष सृष्टिका तत्त्वयुग्म है, इनको विच्छिन्न करना अशक्य है। जबतक हमारा प्रकृति में वास्तव्य है, तबतक हमारा प्राकृतिक कर्म अवश्य जारी रहेगा; फरक इतना ही है कि अज्ञानी लोग जिस बुद्धिसे कर्म करते हैं, उसकी अपेक्षा ज्ञानियों की कर्मबुद्धि स्वतंत्र रहती है। संन्यास करनाही चाहिये; परंतु कर्म से दूर भागना संन्यास नहीं है; अहंकार का और वासना का वध करना ही सच्चा संन्यास है। यह संन्यास किस उपाय से बनेगा? कर्म करते समय कर्मफलासक्ति का त्याग करना चाहिये; यह जानना चाहिये कि प्रकृति ही सब कर्मों को करनेवाली है। प्रकृति ही को उसके कर्म करने के लिये स्वतंत्र छोडना चाहिये; प्रकृति के कर्मों में अथवा कर्मफलों में आसक्त न होकर द्रष्टा और भर्ता के रूपसे आत्मा में वास्तव्य करके प्रकृति के कार्य को देखना चाहिये। यही उसका उपाय है। तब सान्त उद्वेगमय और अहंकृत जीवन शांत होता है, 'अहम्' एक ब्रह्मके चैतन्य में मग्न होता है। दूसरी दृष्टिसे हमारे सामने सर्वभूतोंके द्वारा प्रकृतिका कार्य होता रहता है; ऐसी अवस्था में हम देखते हैं कि ये सब बातें प्रकृतिसे संचालित होकर उसी एक ब्रह्म में वास करती हैं, घूमती फिरती हैं। हमें समझना है कि हमारा समर्याद जीवन भी इनमें से एक है और यह अनुभव होता है कि हमारा अखिल कर्म हमारे सच्चे आत्माका नहीं, प्रकृतिकाही है। यह सच्चा आत्मा सारे विश्व में एक है, हमारा व्यक्तिगत 'अहं' नहीं है। ये सब कर्म अपने हैं ऐसा एक 'अहं' बतलाता है; इसलिये हम भी समझते हैं कि वे हमारे हैं। परंतु जहां अहं का नाश हुवा, वहां वे हमारे नहीं, प्रकृतिके होते हैं। 'अहं' का वध करके ज्ञानके द्वारा हम व्यक्तिगत सीमाके ऊपर उठते हैं, और वासना का त्याग करके हमारे प्राकृतिक कर्मों में भी हम व्यक्तिगत मर्यादा को लांघकर आगे बढते हैं; इस समय हम न केवल कर्मशून्यताके अवधि में किंतु कर्म में भी मुक्त रहते हैं। शारीरिक और मानसिक कर्मत्यागपर हमारा स्वातंत्र्य अवलंबित नहीं रहता और कर्म करने से हम इस स्वातंत्र्य से च्युत भी नहीं होते; किंबहुना प्राकृतिक कर्म के पूर्ण प्रवाह में भी नामरूपातीत आत्मा हममें धीर, स्थिर और मुक्त रहता है।

इस प्रकार सर्वथा नामरूपों के पार जानेसे जो मुक्ति प्राप्त होगी, वही सच्ची और पूर्ण मुक्ति है।

यह हुए विना काम पूरा न होगा। परंतु क्या यही इतिकर्तव्यता है? हम पीछे कह चुके हैं कि, समस्त जीवन, जगत् में जो कुछ है वह सब प्रकृतिके द्वारा पुरुषको यज्ञरूपसे अर्पण किया जाता है; परंतु हमारा अहंकार, हमारी वासना, हमें अधिकाधिक अज्ञानावृत करती रहती है, इसलिये इस व्यवहार का मर्म हमारे अंतःकरण में जमता नहीं। हम अहंकार और वासनामें से उठकर व्यक्तित्व की संकुचित मर्यादा के बाहर जाते हैं तब हमें उस निर्गुण ब्रह्मका पता लगता है। जिस एक आत्मामें अथवा ब्रह्ममें सर्वभूतोंका वास्तव्य है, उस से हम एकत्व का अनुभव लेते हैं। कर्मका यज्ञ चालू रहता है, परंतु उसे हम नहीं चलाते। हमारे मन, इंद्रियां और शरीर के द्वारा यह कार्य प्रकृति ही करती है। परंतु यह सब हमारी अनंत सत्ता के क्षेत्रमें चलता रहता है। तब यह यज्ञ किसको और किस उद्देश्यसे किया जाता है? इस अरूप ब्रह्ममें कोई क्रिया है ही नहीं, वासना नहीं, प्राप्त करनेको कोई वस्तु नहीं, जगत् के किसी प्राणिपर किसी बात के लिये यह अवलंबित नहीं। यह स्वतः के लिये स्वतः के आत्मानंद में मग्न है और स्वतःकी अनंत सत्तामें विराजमान है। इस अवस्थाको पहुंचने के लिये हमें वासनाशून्य कर्म करना चाहिये, परंतु यह उद्देश्य सिद्ध होनेसे कर्म की आवश्यकता पूर्ण होती है और यज्ञ का प्रयोजन नहीं रहता। प्रकृति को क्रिया जारी रहने के कारण तब भी कर्म होता ही रहता है; परंतु उस हालत में कर्म का उद्देश्य ऐसा कोई नहीं रहता। उस समय कर्म करना टल नहीं सकता, इसीलिये कर्म करना पडता है। हमारे समर्याद शरीर और मनके द्वारा प्रकृति जबरदस्तीसे कर्म करा लेती है; परंतु यदि इतनाही है तो जितना कर्म प्रकृति निश्चित रूपसे करावेगी उतनाही करके जहांतक शक्य हो कम कर्म करते रहना। दूसरा कर्म न भी किया जाय- क्योंकि कर्म करनेसे कुछ बिगडता नहीं और कर्म न करना अपना उद्देश्य नहीं-तब भी कर्म किसी प्रकारका हो, कोई नुकसान न होगा। जैसे ही ज्ञानप्राप्ति हुई वैसे अपने पुरातन क्षात्र स्वभाव के अनुसार अर्जुन कुरुक्षेत्रपर युद्ध पूरा कर सकता है, अथवा शांतता की ओर उसकी प्रवृत्ति हो तो युद्ध छोडकर संन्यासी जीवन का स्वीकार कर सकता है। वह इन दोनोंमेंसे कोई भी मार्ग स्वीकृत करे, नफा नुकसान बराबर है। किंतु दूसरा मार्ग अधिक अच्छा; क्योंकि प्रकृति की जिन सारी प्रवृत्तियोंने उसको परिवेष्टित कर रखा है, उनका दमन करनेके लिये यही उत्तम मार्ग है। इस प्रकार जब अर्जुन के शरीर का पतन होगा, तब वह निःसंदेह उस अनंत ब्रह्मको प्रयाण कर सकेगा, उसको इस अनित्य दुःखमय संसार में (अनित्यं असुखं इमं लोकम्) आना न पडेगा।

यदि ऐसा हुवा तो गीता का सबही शिक्षण अर्थशून्य होगा; क्यों कि इससे गीताका जो प्रथम और मूल हेतु है, वही व्यर्थ होता है। ऐसा नहीं है कि प्रकृतिके उद्देश्यहीन आघातसेही कर्म करना चाहिये। गीताने इस संबंधमें समर्पक विचार किया है। 'अहं' को जीतनेपर भी यज्ञ का एक भोक्ता ईश्वर है ही (भोक्तारं यज्ञतपसाम्) और तब भी यज्ञ का एक उद्देश्य-अनंत यज्ञका एक उद्देश्य-रहता ही है। अरूप ब्रह्म ही केवल हमारे जीवनका श्रेष्ठ और अंतिम रहस्य नहीं है। कारण अरूप और सरूप (साकार-निराकार) सान्त और अनन्त ऐसी एकही भगवान् की सीधी उलटी दो बाजू हैं। भगवान् एकही समय सान्त और अनन्त, समर्याद और अमर्याद है। भगवान् जैसा चिरकाल अव्यक्त और अनन्त है, वैसाही वह चिरकाल सान्त के द्वारा स्वतः को व्यक्त करता है। सकल व्यक्ति और सकल रूप जिसका अंशतः प्रकाश है, वही विराट् निराकार पुरुष है। जो मनुष्यमें स्वतः को प्रकट करता है, वह वही भगवान् है और वही मनुष्यका हृदयस्थ ईश्वर है। इस एक अरूप (Impersonal) ब्रह्म में अखिल भूतों को देखना यही ज्ञानका शिक्षण है; क्योंकि इसी बुद्धि के द्वारा हम द्वैतबुद्धि उत्पन्न करनेवाले अहंकारसे मुक्त होते हैं और इस प्रकार से उन सबको भगवान् में देखते हैं (आत्मनि अथो मयि)।

भगवान् सब में है और सबही भगवान् में वास्तव्य करते हैं; परंतु हमारे अहंभाव के कारण हम भगवान् को पहचान नहीं सकते; हम नामरूपों के दास अतः अहंकार के आधीन हैं, इसलिये वस्तुसमूह के समर्याद दृश्यके द्वारा जितना संभवनीय हो, केवल उतनाही हमें भगवान् के आंशिक भावका परिचय होता है। भगवान् की प्राप्ति अत्यंत कनिष्ठ दर्जेके नामरूपोंद्वारा होना असंभाव्य है; वह केवल हमारे उच्च, अमर्याद नामरूपातीत सत्ता के द्वारा हो सकती है और इसके लिये सर्वान्तर्यामी आत्मासे (जिसमें विश्वसंसार विराजमान है) एक हो जाना चाहिये। यह जो अमर्याद, नामरूपातीत और अचल सत्ता है, जिसमें सकल अमर्याद दृश्य, सकल नामरूप और सब सचल क्रियाओंका वास्तव्य है, ऐसे निर्मल आईनेमें ही भगवान्‌की सत्ता प्रकाशित रहती है। इसलिये प्रथमतः हमें नामरूपातीत ऐसे इस आत्माकोही प्राप्त कर लेना चाहिये। केवल विश्वदेवगणोंके द्वारा सान्तकी दृष्टिसे भगवान् का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह केवल एक नामरूपातीत आत्मा की शांत निस्तब्धतामें और अचलतामें भी भगवान् को संपूर्ण रीतिसे देख नहीं सकते। सत्यका दर्शन करना हो तो शान्त आत्मा के द्वारा पुरुषोत्तम को देखना चाहिये। क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोत्तम के भाव हैं; वह अचल अक्षर में प्रतिष्ठित रहता हुआ विश्वप्रकृति की सब गति में और सब क्रियाओंमें स्वतः को प्रकट करता है; मुक्ति होनेपर भी प्रकृति में कर्मका यज्ञ जारी रहता है, उसका उद्देश्य यही है।

केवल अरूप ब्रह्ममें आत्मनिर्वाण ही योगका सच्चा उद्देश्य नहीं है, किंतु भगवान् पुरुषोत्तम से मीलन और वही आत्माकी परिपूर्णता योगका उद्देश्य है। हमारा सारा जीवन भगवत्सत्तारूप होना चाहिये; उसीमें वास्तव्य करना चाहिये (मय्येव निवसिष्यसि); उससे एकमय होना चाहिये; उसके चैतन्यसे हमारा चैतन्य मिलाना चाहिये, हमारी आंशिक प्रकृतिको उसकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिंबस्वरूप करना चाहिये; प्राण से, मनसे हमें सर्वस्वी भागवत ज्ञानके द्वारा प्रेरित होना चाहिये; कर्म के विषय में हमें पूर्ण निर्दोष रीतिसे भागवत इच्छाद्वारा आचरण करना चाहिये; उसके प्रेमानंद में हमें वासना, कामना सब भूल जाना चाहिये। यही मनुष्य का सिद्धिलाभ है; इसीको गीताने 'उत्तम रहस्य' कहा है। यही मानवी जीवन का सच्चा ध्येय है, यही इतिकर्तव्यता और यही हमारे कर्मयज्ञ का सर्वोच्च सोपान है; क्योंकि अंततक वही यज्ञका प्राण और वही यज्ञका अधीश्वर है।

मानवी समाजमें

गीताके प्रति इतना आदर क्यों है ?*

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
—भगवान् व्यास

भगवद्गीताके सिवाय ऐसा कोई भारतीय ग्रंथ नहीं कि जिसकी न केवल भारतवर्ष में किंतु अन्य देशोंमें भी दूरतक इतनी प्रसिद्धि हुई है और जिसको भगवद्गीता अर्थात् भगवान्ने गाई हुई अर्थात् ईश्वरप्रणीत मानकर उसपर इतना प्रेम करते हैं। यह ग्रंथ इतना अनुपम लोकप्रिय होनेका क्या कारण है? काव्यकी दृष्टिसे संस्कृत भाषामें ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जो गीता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, अलंकारशास्त्र के अलंकार की दृष्टिसे अधिक दैदीप्यमान, पढने को अधिक श्रुतिमनोहर हैं और जिनमें छंदोंका अधिक वैचित्र्य है। यही बात गीता के अन्य विषयों के संबंध में कही जा सकती है। गीताके अतिरिक्त ऐसे अनेक धार्मिक ग्रन्थ हैं जिनमें ईश्वरसंबंधी सिद्धांतों का गीतासे अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसी तरह सांख्य, योग, वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाले अध्यात्मविषयक अनेक सिद्धांतग्रंथ हैं। उनमें उन उन विषयों का विवेचन गीताकी अपेक्षा अधिक सुचारु रूपसे और विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें दो मत न होंगे कि क्षत्रिय को अपने क्षात्रधर्म के विषय में जो कुछ जाननेकी इच्छा होगी, वह उसको गीता की अपेक्षा अन्य ग्रंथोंसे अधिक अच्छी तरह समझेगी।

परंतु ऐसे प्रश्न देखने में ही बाह्यात् मालूम होते हैं; क्योंकि वे उपस्थित होते ही उनका उत्तर ध्यान में आ जाता है। उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथोंमें वस्तुतः गीताके प्रतिपाद्य विषयोंका गीता से अधिक विस्तृत और सुंदर विवरण किया है, परंतु उन सबका प्रतिपादन एकदेशीय और एकांगी है; गीता का प्रतिपादन सर्वदेशीय और सर्वांगीण है। गीताके ७०० श्लोकों में बहुत बडे बडे गहन विषयों का अंतर्भाव हुवा है। किंबहुना गीता में कोई कोई ऐसे सिद्धांतों का समन्वय किया गया है कि जो सिद्धान्त विशेषज्ञों की—जिन को एकही विषयका विशेष ज्ञान है ऐसे मनुष्यों की—दृष्टिसे परस्परविरोधी हैं। इस प्रकार के समन्वय की ओर प्रवृत्ति (चाहे वह बौद्धिक युक्तिसे हो अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति से हो) भारतीयों का एक विशेष गुण मालूम होता है। जिनका उदय गीताके कुछ वर्षों बाद हुआ, उन वेदान्तसूत्रोंकी भी यही बात दिखती है। परस्परविरोधी रहनेसे हिंदुधर्मपर उस समय बौद्ध धर्मीयों से जो मार्मिक आक्षेप लिये जाते थे और जिनके कारण हिंदुधर्मकी एकतापर आघात पहुंचने का भय था, उन वेदान्तके भिन्न भिन्न सांप्रदायों का एकीकरण अथवा एकवाक्यता करने का प्रयत्न इन वेदान्तसूत्रों में भी किया गया है। भगवान् बादरायणने अपने सूत्रों में संदिग्ध भाषाका उपयोग किया है और इन सूत्रोंका अध्ययन करनेवालोंको गुरुमुख के विना इन सूत्रोंको आत्मसात् करना मुश्किल है; उसका यह एक कारण जरूर है। श्रीमत् शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य प्रभृतिके लिखे हुए भाष्योंका परिशीलन करनेपर यह भली भांति ध्यानमें आता है कि, सूत्रोंकी रचना ऐसी ही रीतिसे की गई है कि उनमेंसे कोई भी अर्थ निकल सकता है! गीता और वेदान्त-

* [यह प्रश्न जर्मनी की ब्रेसलाऊ युनिवर्सिटी के प्रोफेसर ऑटो स्ट्रौसने पूछा था और उसका उत्तर उन्होंने उसी शीर्षकके एक छोटे लेखमें दिया है। उस लेखका अनुवाद 'गीता' मासिकके वाचकोंके लिये दिया जाता है।]

सूत्रमें ऐसा भारी फरक है; परंतु समन्वयकी दृष्टिसे दोनोंकी प्रवृत्ति समान है। बादमें इसके भी आगे जाकर वेदान्ती लोग गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र इन तीनोंको प्रस्थानत्रयी मानने लगे। इसका एक कारण गीता और ब्रह्मसूत्रोंका यही साम्य है। श्रीमत् शंकराचार्यने भी अपने भाष्य में व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे दोनों प्रकारका निरूपण करके न केवल दो भिन्न सिद्धान्तोंकी एकवाक्यता करनेका प्रयत्न किया है; किंतु इस बातमें उन्हें बहुतसी सफलताभी प्राप्त हुई है।

गीतामें दो द्वंद्वोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है। एक द्वंद्वमें मुक्तिके मार्गका निरूपण किया गया है और दूसरे द्वंद्वमें द्विविध कर्तव्यके परस्परविरोधसंबंधी विचार किया गया है।

यह प्रसिद्ध ही है कि प्राचीन उपनिषदोंने ज्ञानमार्गका पता ले लिया था। ब्रह्मका पता लगनेपर, अर्थात् ब्रह्मस्वरूपका सहज ज्ञान होनेपर, उपनिषत्कर्ता ऋषि ऐसा मार्ग ढूंढने लगे जिससे ब्राह्मणग्रंथोंमें प्रतिपादित कर्ममार्गकी अपेक्षा ब्रह्मप्राप्ति अधिक सौकर्य तथा अधिक सुलभतासे हो सके। श्रवणके द्वारा उसके समीप जानेमें अधिक साहाय्य होता था, तथापि उसके लिये श्रवणजन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं थी। उसको अपेक्षा थी केवल अनिर्वचनीय आध्यात्मिक तत्व के आंतरिक अनुभवकी। पहिली बात यह है कि बहुधा लोगोंको श्रवण ही कठिन मालूम होता है; दूसरे, इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान उससे भी कठिन है। यद्यपि गीताके प्रणेताओंने इस प्राचीन और प्रशस्त मार्ग को बडी आदरयुक्त दृष्टिसे देखा, तथापि उन्हें जानबूझकर दूसरा एक मार्ग बतलाना पडा, और उन्होंने कहा है कि वह दूसरा मार्ग ज्ञानमार्ग की अपेक्षा अधिक सुगम है, किंबहुना बहुजनसमाज की अल्प बुद्धिको वही अनुकूल है। यह दूसरा मार्ग 'भक्तिमार्ग' है। भक्तिमार्ग का मतलब ही है साकार परमेश्वरपर प्रेम। स्वर्गीय डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर के संशोधन से पता लगता है कि खिस्तपूर्व २०० वर्ष पहिले यह मार्ग भारतवर्ष के पश्चिमी प्रदेश म प्रचलित था; परंतु भक्तिमार्ग का जो नया स्वरूप गीता में प्रतिपादन किया गया है, उसका उद्देश्य ज्ञानमार्ग को कम लेखनेका नहीं है। गीताकारोंका उद्देश्य मुक्तिके दोनों मार्गोंका समन्वय करना है।

इस प्रकार मुक्ति के (नया और पुराना) दोनों मार्गोंका समन्वय करने के व्यतिरिक्त एक बडे नैतिक प्रश्न को हल करना भी गीता का एक उद्देश्य था। ज्ञानमार्ग का पता लगनेपर स्वाभाविक रीतिसे कर्ममार्गसंबंधी लोगोंका आदर कम हो गया; परंतु इसके लिये न केवल यज्ञयागादि कर्मकांडके क्रियाओंका त्याग किंतु सबही प्रकार के कर्मोंका त्याग आवश्यक माना गया। सब प्रकारका कर्म ही इस जगत् में बंधनकारक होता है; इसलिये ज्ञानियोंको सकल भांति के कर्मोंसे अलिप्त रहना चाहिये। यही निवृत्तिका प्राचीन आदर्श है। परंतु इस संबंध में धार्मिक लोगोंमें वाद उपस्थित हुवा। प्रत्येक मुमुक्षु विशुद्ध ज्ञानमय तपस्वी जीवनका आचरण नहीं कर सकता। समाज का आग्रह था कि जिस धर्म के अनुसार मातापिता आचरण करते आए, उसी धर्मका पालन मनुष्य को करना चाहिये और स्वभावतः मनुष्यको यह जाननेकी इच्छा हुई कि समाजहीमें रहकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन कैसे किया जा सकता है और वैसा करके अनादि सांसारिक बंधन का दंड कैसे टल सकता है। गीतामें दिव्य सारथी परमात्मा श्रीकृष्णने पांडुपुत्र अर्जुन को उपदेश करते हुए इस प्रश्न का उत्तर ऐसा दिया है—

"केवल कर्म करनेका तुम्हारा अधिकार है; फल (मिलना अथवा न मिलना) कभी भी तुम्हारे अधिकारकी (हाथकी) बात नहीं है; (इसलिये मेरे कर्म का) अमुक फल मिले ऐसा (लोभी) हेतु (मन में) रखकर काम करनेवाले तुम मत् हो और कर्म न करनेका भी आग्रह तुम मत् करो।"

इस प्रकारसे प्रवृत्ति फलासक्तिरहित होती है और जिसके कारण से स्वधर्म की ओर लक्ष्य और भक्तवत्सल प्रभुकी ओर भक्ति लगी रहती है।

उसका दर्जा निवृत्ति के बराबर है और यही अकर्मण्यताका प्राचीन सिद्धान्त है।

यही भगवद्गीता का समन्वय है। इसमें ज्ञान-मार्ग और भक्तिमार्ग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, दोनों का दर्जा समान (बराबर) रखा गया है। जो ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञानके लिये देह धारण करता है उसका, तथा जो मनुष्य संसार में रहकर अपने धर्मानुसार आचरण करता है उसका, स्थान गीतामें समान है। ब्रह्मज्ञान और भगवद्भक्ति का भी अन्योन्य संबंध है; क्योंकि ईश्वरही ब्रह्म है।

उस परमेश्वरकी प्राप्ति के मार्ग में केवल प्रस्थान का ही भेद है।

इन दो बडे समन्वयोंके अतिरिक्त गीतामें अनेक छोटे समन्वय दृग्गोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, उसमें योग का स्वरूप अधिक व्यापक किया गया है। ऐसा नहीं है कि जिस शास्त्र में समाधि और मुक्ति का उपदेश किया है, उसी शास्त्र को केवल योग संज्ञा हो। भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माने स्वधर्म के रूपसे जो कर्म नियत कर दिया है, उसमें प्रयत्न-पूर्वक निमग्न होना-कर्मपरायण होना-यह भी एक योग है। 'सांख्य' केवल एक विशिष्ट दर्शन का नाम नहीं है; किंतु जगत्के पदार्थोंके विषयमें सामान्य अनासक्ति अथवा विमर्शको भी 'सांख्य' नाम दिया है।

इस प्रकार सांख्य और वेदान्तका समन्वय, किसी भी क्लिष्ट कल्पनाके द्वारा नहीं, किंतु सामान्य समानताके आधारपर किया गया है। और यही समानता इन दोनों दर्शनोंके सिद्धान्तोंमें शुरूसे- अर्थात् प्राचीन उपनिषदोंके कालसेही चली आई है।

इस छोटे निबंध के शीर्षक में जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसका उत्तर इस तरह मिलता है। गीता के संबंधमें मानवी समाज में इतना आदर होनेका कारण यही है कि, गीताने बडी बडी आध्यात्मिक विरोधी बातोंका अथवा भारतीय दर्शनशास्त्रोंके परस्परविरोधी सिद्धान्तों का समन्वय किया है; इतनाही नहीं, किंतु उसको अच्छा परिणत स्वरूप ला दिया है। सिवाय इसके कर्मयोगियोंको ऐसा आश्वासन दिया गया है कि, ईश्वरभक्ति व धर्मपालन-कर्तव्याचरणके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो सकेगी; इसके अतिरिक्त गीताने सुबोध और काव्यमय भाषा में इसका विवेचन किया और बुद्धि की अपेक्षा न करके अंतःकरणको इन बातोंकी प्रतीति दिलाने का प्रयत्न किया है।

व्यासजीने गीता का यह श्रेष्ठत्व ध्यानमें रखकर ही इस लेख के शिरोभागमें उद्धृत किया हुआ श्लोक लिखा है; इतना अंतमें कहकर हम पाठकोंसे रुखसत लेते हैं।

अठारहवें अध्यायके तीन श्लोक।

(लेखक– श्री० दा० वै० आठल्ये, पूना)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्त-सेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
(गी० अ० १८)

भगवद्गीता में घुटाला उत्पन्न करनेवाले जो कई-एक भाग हैं, उनमें अठारहवें अध्याय के अंत के उपसंहारात्मक श्लोकोंका अंतर्भाव करनेमें कोई हर्ज नहीं है। यह उपसंहार चाहे ४९ वें श्लोक से शुरू हुवा समझा जाय, अथवा ४५ वें श्लोक से शुरू हुवा समझा जाय; यह कहना मुष्किल होगा कि उसका निश्चित अर्थ निरपवाद सिद्ध हुआ। श्री अरविंद घोष कहते हैं 'ये पंद्रह (४९ से ६३ तक) श्लोक गीताकार के मतसे गीता-विषय के उपसंहारात्मक होने के कारण उनकी भाषा स्पष्ट और निःसंदेह है (Phrases of the most lucid precision and clearness). परंतु खेदकी बात है कि जो यह भाषा स्पष्ट और निःसंदेह समझी गई उस भाषा के अर्थ में बहुतसा मतभेद हुआ है।

इन पंद्रह श्लोकोंमेंसे आज विचारार्थ तीनही श्लोक (५१ से ५३) लेवें। इनके प्रत्येक शब्द का वाच्यार्थ सुगम और सरल दिखता है, तथापि ध्वनि अनिश्चित है। रहस्यकार का सिद्धान्त है कि ये श्लोक कर्मयोगपर ही हैं।

रहस्यकार कहते हैं — "उपर्युक्त सिद्धावस्थाका वर्णन (५० से ५६) कर्मयोगीका है, कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषका नहीं। आरंभहीमें (श्लो० ४५ व ४९) कहा है कि यह वर्णन आसक्तिरहित कर्म करनेवालोंका है और अंत में "अखिल कर्म करते हुए भी" ऐसे शब्द ५६ वें श्लोक में हैं। भक्त के अथवा त्रिगुणातीत के जो वर्णन हैं, उन्हींके सदृश यह वर्णन है; किंबहुना कुछ शब्द भी उन्हीं वर्णनोंमें से लिये हैं। उदाहरणार्थ, ५३ वें श्लोक का परिग्रह शब्द ६ वें अध्याय में (श्लोक ६-१०) योगी के वर्णन में आया है। ५४वें श्लोक के 'न शोचति न कांक्षति' ये शब्द १२वें अध्याय में भक्तिमार्ग के वर्णन में हैं (श्लोक १२-१७) और विविक्त शब्द पहिले (गी० अ० १३- श्लोक १० में) आया है। कर्मयोगी को प्राप्त होनेवाली यह आखिरी स्थिति और कर्म-संन्यासमार्ग से प्राप्त होनेवाली आखिरी स्थिति ये दोनों मानसिक दृष्ट्या एकही रहने के कारण संन्यासमार्गीय टीकाकारोंको यह करनेकी गुंजाइश मिली है कि ये वर्णन हमारे ही मार्ग के हैं; परंतु यह सच्चा अर्थ नहीं है।"

(गीतारहस्य पृ० ५४६-४७)

श्री शंकराचार्यने बतलाया है कि यह उपसंहारात्मक भाग "निष्ठा ज्ञानस्य या परा" इस मध्यबिंदुके चारों तरफ कैसा घुमता है। "असक्तबुद्धिः सर्वत्र... नैष्कर्म्यसिद्धिम्" इत्यादि श्लोकोंका

विवरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

"या च कर्मजा सिद्धिस्का ज्ञाननिष्ठायोग्यता-लक्षणा तस्याः फलभूता नैष्कर्म्यसिद्धिर्ज्ञाननिष्ठा लक्षणा वक्तव्या इति श्लोक आरभ्यते...असक्त बुद्धिरिति" ।

तात्पर्य यह है कि उपसंहारात्मक श्लोकोंमें मिलनेवाले कर्मपर शब्दों की आचार्य को कोई असुविधा मालूम नहीं होती। उनका स्पष्ट अभिप्राय है कि कर्मानुष्ठान से प्राप्त होनेवाली नैष्कर्म्यसिद्धि मनुष्य को 'ज्ञाननिष्ठायोग्य' बना देती है। श्लोक ५१-५२-५३ का उन्होंने कोई विशेष विवरण नहीं किया। केवल ध्यानयोगका अर्थ इस प्रकार दिया है—

"ध्यानमात्मस्वरूपचिंतनं योगः आत्मविषय एवैकाग्रीकरणं तौ ध्यानयोगौ" रहस्यकारने भी ये श्लोक सरल रीतिसे भाषांतरित किये हैं। 'ध्यानयोगपर' का अर्थ वे 'ध्यानयुक्त' ऐसा करते हैं। श्री अरविंद घोषने श्लोक ४९-५६ का अनुलक्ष्य करके ऐसा कहा है—

'And therefore in the first five of these verses, the Gita so phrases its statement that it shall be applicable to both the way of the inner and the way of the outer renunciation.' (Essays on Gita Vol. II, P. 399)

श्री तिलक कहते हैं कि ये श्लोक कर्मयोगपर हैं; आचार्य कहते हैं कि वे ज्ञानयोगपर हैं; श्री. अरविंदबाबू कहते हैं कि वे कर्मयोग तथा कर्म-संन्यास दोनों को लागू हों ऐसी उनकी शब्दरचना है, ऐसा घुटाला होनेसे सामान्य पाठक क्या बोध लेवें? और 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' ऐसी अवस्थामें कौनसा अर्थ स्वीकृत करना चाहिये?

१८ वें अध्याय के उपसंहारात्मक भाग का सूक्ष्म विचार करनेसे मुझे मालूम हुआ कि इन तीन श्लोकोंकी रचना ६ वें अध्याय में पातंजल योग विवरण के शब्दरचना से बहुत कुछ मिलती जुलती है। पाठक इन श्लोकोंकी इस दृष्टि से चिकित्सा करें—

६ वां अध्याय	१८ वां अध्याय
रहसि स्थितः	विविक्तसेवी
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति युक्ताहारविहारस्य	लघ्वाशी
प्रशांतात्मा	शांत
नियतमानसः	यतवाक्कायमानसः
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतम्	शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा	शब्दादीन्विषयां-स्त्यक्त्वा
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य	धृत्यात्मानं नियम्य च
निराशीरपरिग्रहः	कामं...परिग्रहं विमुच्य

इसी तरह ५४ वें श्लोकमें 'समः सर्वेषु भूतेषु' ये शब्द ६ वें अध्यायके 'सर्वत्र समदर्शनः' इन शब्दोंसे मिलते हैं। विद्वान् पाठक विचार करें कि शब्दसाम्यसे क्या ये तीन श्लोक पातंजलयोगपर समझना चाहिये? विशेषतः 'लघ्वाशी' शब्द ऐसा तर्क करनेको मदद करता है कि ये तीन श्लोक ६ वें अध्यायमें किये हुए पातंजलयोगके विवरणसे समानार्थक हैं; क्यों कि आहारके नियमोंपर कटाक्ष गीतामें अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

भगवद्गीताके अर्थकी एक नवीन दिशा ।

(लेखक- श्री० गो० ल० कसबेकर, बुधवार, पूना)

तयां गीतार्थाची थोरी । स्वयें शंभु विवरी । जेथ भवानी प्रश्न करी । चमत्कारोनी ॥१॥
तेथ हर म्हणे नेणिजे । देवि, जैसें कां स्वरूप तुझें । तैसें हें नित्य नूतन देखिजे । गीतातत्त्व ॥२॥
(ज्ञानेश्वरी)

[भावार्थ— जब भवानीने विस्मययुक्त प्रश्न किया, स्वतः शंभु गीतार्थ का विवरण करते हुए बोले, 'हे देवि! जैसा तुम्हारा स्वरूप नित्यनूतन है, वैसाही यह गीतातत्त्व नित्य नूतन है । ']

वस्तुतः भगवद्गीता आध्यात्मिक ग्रंथ है, परंतु उसका अर्थ लगानेमें व्यावहारिक अर्थ लानेकी पद्धति बहुतसे विद्वानोंने डाल दी है। इस लिये हमारी यह अर्थकी दिशा वास्तवमें पुरानी, आद्य और तत्वतः सच्ची होनेपर भी इस शीर्षकमें उसे हमें 'नयी' कहना पडता है । अन्य सब शास्त्रोंकी अपेक्षा अध्यात्मशास्त्र हिंदुधर्मका अत्युत्कृष्ट विशेष है और अध्यात्मविद्याका पुरस्कार करनेवाली भगवद्गीता सनातन धर्मका एक अद्वितीय ग्रंथ है। अर्थात् व्यावहारिक दृष्टिसे उसको देखनेवालोंसे पारमार्थिक दृष्ट्या देखनेवालोंको उसका सच्चा तेज, उसका गूढ तत्त्वज्ञान और अध्यात्मशास्त्र के श्रेष्ठ सिद्धांत उत्तम रीतिसे प्रतीत होंगे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

प्रत्येक अध्याय के अंतमें "इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।" इत्यादि जो पूरक अवतरण है, उससे स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता आध्यात्मिक है। "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इससे जाहिर होता है कि ब्रह्म जानने की विद्यामें अर्थात् अध्यात्मविद्या में श्रीमद्भगवद्गीता समाविष्ट है। उपर्युक्त अवतरणसे अथवा इस ग्रंथ की इतर विचारसरणीसे यह नहीं मालूम होता कि उसका अर्थ भौतिक शास्त्रोंकी दृष्टिसे लगाया जावे । युद्ध के समय आध्यात्मिक ज्ञान सूझना व्यवहार के विरुद्ध मालूम होता है; क्योंकि लडाई के प्रसंग में मनुष्य विकारवश होता है और इसलिये वह आध्यात्मिक अथवा पारमार्थिक विचार करनेके लिये साधारणतः अयोग्य रहता है; ऐसी वस्तुस्थिति रहनेसे यह असंभाव्य है कि लडाई के ऐन मोकेपर यह भगवद्गीता कही गई होगी । यदि यह कहा जाय कि वह लडाई के पहिले कही गई है, तो व्यासजीने वर्णन की हुई परिस्थिति असत्य कहनी होगी। यह विसंगत दीखता है । बुनियाद ही जहां झूठी है वहां पूरी इमारत झूठी ठहराई जाती है । भगवद्गीता की अन्य शिक्षा यदि सत्य मानें, तो यही बात झूठी कैसे मान सकते हैं? "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इत्यादि पूरक से भी यह मालूम नहीं होता कि शस्त्रास्त्रों की लढाई के समय गीता कही गई होगी। ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्रके संबंधमें यह कही गई है। यह योग कौनसा है? इसका विचार आगे करेंगे। अठारहवें अध्याय के जिस श्लोक के आधारपर भगवद्गीताका व्यवहारी अर्थ करनेवाले लेखक अपना समर्थन करते हैं, वह श्लोक यह है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

इसका अर्थ खींचातानी से लगाकर यह कहने की अपेक्षा, कि अर्जुन को युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त किया, यदि इन वाक्योंका सरल शब्दार्थ लिया जाय, तो यह कहना अनिवार्य होगा कि यह लडाई शस्त्रास्त्रों की नहीं और यह योग भी भौतिक साधन का नहीं । उक्त श्लोक का अर्थ ऐसा है—

"हे अच्युत, तुम्हारी कृपासे मेरा अज्ञान नष्ट

*

हुआ, मुझे ज्ञानकी प्राप्ति हुई (स्मरण आया); मेरी अहंता नष्ट हुई (मेरी देहभावना नष्ट हुई); अब तुम जो कहोगे वही मैं करूंगा।" इसके आगे लडाई में अर्जुनकी जो भिन्न भिन्न कृतिका वर्णन किया गया है, उससे भी यही प्रतीत होता है। जिसका अहंकार नष्ट हुआ, उसका विकारवश होना असंभाव्य है और जो विकारवश नहीं होता, वह लडाई करेगा, यह बात भी अशक्य है।

"करिष्ये वचनं तव" इसका जो सरल अर्थ होता है वह लेनेसे अर्जुनके भारतीय युद्धविषयक सब कार्योंका इस तरह समर्थन हो सकता है। इस लडाई में अर्जुनने तीन बडे योद्धोंओंका वध किया। इन तीनोंका वध करनेमें धर्मयुद्ध के शिष्टसंमत नियमों के विरुद्ध अर्जुनने आचरण किया और वह केवल श्रीकृष्ण के आदेशकी पूर्ति करना उचित था, इसी लिये किया। प्रथम भीष्म का इतिहास देखें। शिखंडी को आगे करके उसकी आड लेकर युद्ध करना धर्मयुद्ध नहीं ऐसा जानते हुए अर्जुनने भीष्म का वध शिखंडीकी आडसे किया। दूसरा उदाहरण जयद्रथ का है। जयद्रथ राजा लडाई नहीं करता था और युद्ध में शामिल भी न हुआ था। वह केवल तमाशा देखने आया था। उसका वध अर्जुन ने श्रीकृष्णके कहनेसे किया है। तीसरा उदाहरण कर्णका है। उसका भी वध अर्जुनने ऐसे समय किया जब वह जमीन में घुसा हुआ चक्र बाहर निकाल रहा था; और श्रीकृष्ण के कहनेसे अर्जुन ने जयद्रथ का वध किया। इससे जाहिर होगा कि "करिष्ये वचनं तव" इसका अर्थ यही अभिप्रेत है कि "जितना तुम कहोगे उतना ही करेंगे" हिंदुधर्म आध्यात्मिक नींवपर रचा गया है और इसीलिये वह सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा सब संसार कहता है। लोग मानते हैं कि हिंदुधर्मके सब तत्त्व वेदोंमें गुहे हुए हैं; भगवद्गीताको पांचवां वेद समझते हैं। भगवद्गीता में भी सिवाय अध्यात्मके और कुछ कहा गया हो, यह बात असंभाव्य है। संतशिरोमणि तुकाराम महाराज कहते हैं—

वेद अनंत बोलिला। अर्थ इतुकाचि साधला।
विठोबासी शरण जावें। निज निष्ठें नाम गावें।
अठरा पुराणें सिद्धांत। तुका म्हणे हाचि हेत॥

[भावार्थ—वेदोंमें असंख्य बातें कही हैं; उनका तात्पर्य इतनाही है कि श्री विठ्ठल की शरण में जाना और अपनी निष्ठा से उसके नामका गीत गाना। अठारह पुराणों का सिद्धांत देखो, यही मतलब निकलेगा।]

श्री वेदव्यासने अठारह पुराण लिखे। उनमें भिन्न भिन्न गीताएं कहीं हैं। उदाहरणार्थ शिवगीता, देवी-गीता, कपिलगीता, गणेशगीता इत्यादि गीता भिन्न भिन्न देवताओंके पुराणमें गुही गई हैं। साधारणतः प्रत्येक गीता उस उस पुराण की सार-भूत समझी जाती है। इन सब गीताओंकी एक दूसरी से तुलना करने से मालूम होता है कि इन सबकी शिक्षा एकही है। प्रत्येक गीता में एकही शिक्षण है। ऐसा है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इतनी भिन्न भिन्न गीताएं कहने का हेतु क्या है? इसका कारण यह है कि अपने धर्म में भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना करनेवाले लोग हैं; इसलिये मनुष्य जिस देवता की भक्ति करता है उस देवता-संबंधी पुराण और अन्य ग्रंथ पढनेका उसे शौक रहता है। ऐसे बहुतसे लोग देखनेमें आते हैं कि जो अपनी उपास्य देवताके अतिरिक्त किसी देवता के विषय में खोजविनोद करनेकी कभी फिकर नहीं करते। इन भिन्न भिन्न देवताओंके उपासकों को परमार्थ का ज्ञान सहज प्राप्त हो, इस इच्छा से श्री व्यासजीने भिन्न भिन्न पुराणों में ये भिन्न भिन्न गीताएं कहीं हैं। गीताके विषयके महत्त्वपर श्रीज्ञाने-श्वर कहते हैं—

हें शब्देविण संवादिजे। इंद्रियां नेणतां भोगिजे।
बोला आधी झोंबिजे। प्रमेयासी।

[भावार्थ] यह (गीताका उपदेश) शब्दोंके बिना कहना चाहिये, इसका आनंद इंद्रियोंकी सुध छोडकर भोगना चाहिये और बोलनेके पहिले सिद्धान्तको लिपट जाना चाहिये। श्री ज्ञानेश्वर महाराजके इस श्लोकसे तथा उपरिनिर्दिष्ट अन्य विवेचनपरसे

यह ध्यानमें आवेगा कि श्रीमद्भगवद्गीताका प्रतिपाद्य विषय अध्यात्मही है। जहां इतना प्रस्थापित हुवा, वहां दूसरा प्रश्न सहजही उठता है कि अध्यात्मका कौनसा भाग गीतामें कहा गया है? इस विषय में प्रचलित व्यक्तियों के अथवा टीकाकारों के मतों का हवाला देने की अपेक्षा यह देखना अधिक श्रेयस्कर और विश्वसनीय होगा कि क्या इस प्रश्न का उल्लेख भगवद्गीता में ही किसी जगह किया गया है? भगवद्गीता के श्रोता अर्जुन और संजय और वक्ता भगवान्, इन्हीं के मुखसे इसका खुलासा सुनने मिले, तो अधिक ही उत्तम होगा। इस संबंध में निम्नलिखित तीन श्लोकों का आधार हम ले सकते हैं।

भगवद्गीताका मुख्य श्रोता अर्जुन १० वें अध्याय में भगवान् से प्रार्थना करता है—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१०॥

अर्थ—हे जनार्दन! अपना अविनाशी योग और विभूति मुझे पुनरपि एकवार विस्तारपूर्वक कहिये, एकही वार सुननेसे मेरी तृप्ति नहीं हुई।

इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने पहिले ९ अध्यायोंमें अर्जुनको अपना अविनाशी योग बतलाया है और अगले अध्यायमें भी अर्जुनने वही फिरसे कहने की प्रार्थना की है। स्वतः भगवान् गीता कहते हुए चौथे अध्यायमें कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

अर्थ—यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान् को कहा; उसने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको कहा।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं भगवान् कहते हैं कि हमने गीतामें अविनाशी योग ही कहा है। भगवद्गीता सुननेवाला दूसरा श्रोता संजय १८ वें अध्याय के अंतमें कहता है—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥७५॥

संजय धृतराष्ट्र से कहता है—"व्यासकी कृपासे योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे मैंने यह परम गुह्य योग सुना।" इससे यह सिद्ध होता है कि संजयने श्रीकृष्ण के मुखसे योगही सुना है। अब यह कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं कि भगवान्ने भगवद्गीतामें योग ही कहा है। यह योग कौनसा? व्यवहारमें हम कितने भिन्न भिन्न योग सुनते हैं। क्या भगवद्गीतामें अठारह योग कहे गये हैं? ऐसा भी प्रश्न उठ सकता है; परंतु भगवद्गीताके पाठकोंको तुरंत ही मालूम हो जाता है कि, इन १८ अध्यायोंमें पृथक् पृथक् अठारह योग नहीं कहे गये, किंतु योग नामके एक ही शास्त्रके पृथक् पृथक् विभाग इन अध्यायोंमें कहे गये हैं। सर्वसाधारणतः तीन चार तरहके योग हमेशा अपने सुननेमें आते हैं। भगवद्गीताके टीकाकार ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि इनमेंसे किसी एक योगका प्रमुखतासे विवरण भगवद्गीतामें किया गया है। जो हमेशा सुननेमें आते हैं, ऐसे पांच योग हैं— भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग। भगवद्गीतामें इनमेंसे कौनसा योग प्रमुखतासे कहा गया है? अथवा सबही कहे गये हैं? इनमेंसे प्रत्येक योगका वास्तविक अर्थ क्या है? इत्यादि बातोंकी चर्चा आगे करेंगे, ऐसा आश्वासन देकर इस लेखको यहां समाप्त करते हैं।

भगवद्गीताकी आज्ञाएं।

(लेखक— श्री० डॉ० ल० नी० पुरोहित, बंबई.)

बहुतसे लोगोंके पढनेमें एक आंग्ल पंडितका यह कथन आया होगा कि– यदि ऐसा प्रश्न आजाय कि "शेक्स्पियरको छोडना अथवा हिंदुस्थान का राज गमाना?" तो प्रसंगवशात् हिंदुस्थानका राज्य छोड दिया जायगा, परंतु शेक्स्पियर् को गमाना अशक्य है। आंग्ल लोग शेक्स्पियर् (के ग्रंथों) को जो महत्त्व देते हैं उससे कहीं अधिक महत्त्व हिंदू लोग श्रीमद्भगवद्गीताको देते हैं। वह एक अमूल्य अद्वितीय ग्रंथरत्न भारतकी मिलकियत है। उसके आगे सारा जगत् तुच्छ है। वह एक ज्ञानभांडार है। मेरे सरीखे आदमीने उस ग्रंथकी प्रशंसा करना मानो दीपकसे सूर्यको बतलाना है।

हिंदुधर्मशास्त्रमें दो प्रकारकी आज्ञाएं मिलती हैं। 'विधि,' और 'निषेध' उनकी संज्ञाएं हैं। प्रत्येक ब्राह्मणको प्रतिदिन संध्यावंदन करना चाहिये; सत्य बोलना चाहिये; वेदाध्ययन करना चाहिये; इत्यादि आज्ञाएं पहिले प्रकारकी हैं। "असत्य भाषण नहीं करना," "चोरी नहीं करना" "अभक्ष्य-भक्षण अपेय-पान नहीं करना" इत्यादि दूसरे प्रकारकी आज्ञाएं हैं- निषेधार्थक हैं। प्रस्तुत लेखकको गीता में पहिले प्रकारकी आज्ञाएं मिली हैं, उनमेंसे कुछ आज्ञाएं और उनका खुलासा आज यहां देनेका विचार है। श्री० भ० गीता ग्रंथ सबहीको सब प्रसंगोंपर बोधप्रद तथा संकटमोचक है; हिंदुस्थान इसका अपवाद नहीं है, किंबहुना हिंदुस्थानकी सांप्रत जो हीन दीन स्थिति हुई है, वह पहिलेही अंतर्ज्ञानसे जानकर उसके उद्धारके हेतुसेही क्या वह लिखा गया है,ऐसी शंका अवास्तव नहीं होगी। आर्थिक तथा नैतिक अवनतिकी परमावधि, निरुद्योग, निर्वीर्यता, परवशता, स्वाभिमानशून्यता इत्यादि बातोंका प्रसृत साम्राज्य और आसेतुहिमाचल नैराश्यसे भरा हुआ समग्र देश देखकर, ऐसा तो न होगा कि, भगवान्ने परम कारुणिकतासे ऐसी अवस्थामें हमारा भाग्योदय-उन्नति करनेहीके लिये यह अनर्घ्य रत्न भारतके हवाले कर दिया हो? प्रत्येक भारतीयको चाहिये कि वह रोज इस ग्रंथका श्रवण, पठण,मनन करके तदनुसार आचरण करनेका निश्चय करे। परंतु सर्वभक्षक और विध्वंसक काल के कारण यदि इतना न हो सके, तो इस ग्रंथका कमसे कम एक श्लोक प्रतिदिन सुबहशाम हमारे आंखोंके सामने रहा आवे, इस हेतुसे शायद "अहं वैश्वानरो भूत्वा०" यह श्लोक भोजनके पहिले पठण करनेका प्रघात पड गया हो।

यह निश्चित है कि श्री० भ० गीतासरीखे ग्रंथसंबंधी कुछ लिखना इस लेखक के लिये "अव्यापारेषु व्यापारः" है; यदि इससे विद्वान् सज्जनों का ध्यान इस ओर आकर्षित होकर, इन आज्ञाओंके अनुरूप आचरण करनेका वे निश्चय करें, तो यह लेखक अपने धाष्टर्य को क्षम्य मानेगा और अपने को कृतार्थ समझेगा!"

(१) पहिली आज्ञा।

श्रीकृष्णने भारतको पहिला हुकुम यह दिया कि—क्षुद्र बनानेवाला, आदमियत से पराङ्मुख करनेवाला "हृदय-दौर्बल्य" (मनकी कमजोरी) छोडकर संसार से झगडने के लिये सिद्ध हो! (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ) मैं अच्छी तरह जानता हूं कि क्षुधापीडित रहनेसे (बारह वर्षतक वनवास में रहनेसे कंदमूलफलादि के आहारसे

अपनी गुजर करनेका प्रसंग आया होगा) तुम्हें शरीरदौर्बल्य आ गया हो; परंतु उसकी पर्वाह मत् करो। दुर्बल शरीर की अपेक्षा दुर्बल मनही अधिक घातक है। सर्पके शरीरपर भूलसे पैर गिर गया, तो वह रखनेवाले की शक्तिसे तुलना करके अपनी शक्ति हीन है, अपन दुर्बल हैं, ऐसा विचार न करके पदाघात करनेवाले को दंश करता है। क्या यह तुम्हें विदित नहीं है? क्या यह परिवर्तित पाठ तुमने नहीं पढा कि "दिधलें दुःख पराने उसनें ठेवूं नयेचि फेंडावे" [अपने को कोई दूसरा आदमी दुःख देवे, तो उसका ऋण वापिस देना चाहिये, (दुःखको) उधार रखना न चाहिये (उसका बदला लेना चाहिये)] शारीरिक दौर्बल्य और मानसिक दौर्बल्य-इन दोनोंका संबंध व्यवहार में विशेषरूपसे दिखता नहीं। यह बात असत्य नहीं कि शरीर सुदृढ है, तो मन सुदृढ है। शास्त्र और व्यवहार में फरक देखने में आता है। वही नियम शरीर और मनकी सुदृढताको लागू है। शारीरिक दौर्बल्य की मीमांसा पहिले हो गई है। मानसिक दौर्बल्य (हृदयदौर्बल्य) की मीमांसा होना अभी बाकी है; तथापि वह मीमांसा करनेका यह स्थान नहीं है। शरीर की दुर्बलता नष्ट करनेके लिये कालावधिकी आवश्यकता है, हृदयदौर्बल्य के लिये वह आवश्यक नहीं। मनका निग्रह होते ही वह नष्ट होता है। स्मरण रखो कि उसको 'मन एव कारणम्' रहता है। दौर्बल्य कैसा भी हो, वह कष्टद ही है; उससे हृदयदौर्बल्य अधिकही कष्टतर है। एक ग्रंथकार इसको गुलामी,-जीवितमृतावस्था-प्रत्यक्ष मृत्यु-मानता है। (Weekness is slavery, slavery is misery and misery is death.) श्री समर्थ रामदासने इसीलिये उपदेश किया है "मना श्रेष्ठ धारिष्ट जीवीं धरावें" (अर्थ— हे मन, अपने दिलमें बहुत धैर्य रखना)। यह श्रेष्ठ धारिष्ट अर्थात् हृदयसामर्थ्य Moral Courage है। श्रीकृष्ण भगवान् केवल इतनाही नहीं कहते कि यह मनकी कमजोरी छोड दो, किंतु यह भी कहते हैं कि संसार से झगडने के लिये तैयार हो। खाली बैठे अथवा पडे मत् रहो। बैठनेवाले का दैव बैठता सोनेवाले का सोता और चलनेवाले का आगे आगे चलता रहता है। (चराति चरतो भगः) इसमें सचेत रहो। अपने को क्षुद्र समझकर अपनी अवहेलना मत् करो। प्रयत्न करनेसे क्या न होगा? तुम मेरा-मूर्तिमंत परमात्मा का अंश हो। यह मत भूलना कि "नर करणी करे तो नरका नारायण हो जाय।"

(२) दूसरी आज्ञा।

युद्धको तैयार हो! युद्ध करनेके लिये सदैव तत्पर रहो! दूसरे से झगडा पैदा करके परपीडनार्थ अपनी शक्तिका उपयोग मत् करो। परंतु यदि तुम्हारा कोई अकारण अपमान करे तो "ईश्वर उसको दंड-देगा" ऐसा कहकर चुपचाप अपमान सहन मत् करो! उसके साथ दो हाथ करनेका निश्चय करके उससे मुकाबला करनेके लिये तैयार हो। युद्ध में तुम्हें मृत्यु आवे तो भी हर्जा नहीं; उसकी फिकर मत करो! मरण तो पैदा हुए जीव की प्रकृति है। जगत् में प्रत्येक वस्तु कभी न कभी नष्ट जरूर होगी। मरण अनिवार्य है। परंतु क्या अपमान सहनकर वह मरण अनुभव करना योग्य है? [तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः] दूसरी बात यह है कि यदि तुम मरोगे तो स्वर्गको जाओगे; जीते रहे तो राज्य और सुखविलास का भोग लेओगे। किसीभी तरह नुकसान नहीं और पाप हैही नहीं!! (तस्मात् युद्धाय युज्यस्व) युद्ध करते समय मेरा स्मरण जरूर रखो (मामनुस्मर युद्धय च) घमंडमें आकर व्यर्थ अभिमान से सारासारविचार छोडकर मत् लडो। याद रखो कि घमंडका सिर नीचे ही रहता है। (Pride goeth before destruction) युद्धको जानेके पहिले पूर्ण विचार करके निश्चित कर लो कि अपना सत्पक्ष है, तभी लडनेके लिये तैयार हो। आत्मविश्वासका आसरा न छोडो तो विजय तुम्हारा है। इसमें संदेह नहीं। इतना जरूर चाहिये कि आत्मविश्वास दृढ हो। परमात्मापर अचल निष्ठा रखो। इसी लिये संत तुकाराम कहते हैं "जतन कराश आपुला विश्वास"- अपना

विश्वास सुरक्षित रखना चाहिये। सारांश यह है कि प्रसंग आनेपर भीरुके समान युद्धसे विमुख मत् हो, शत्रुको मार डालो (जहि मा व्यतिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।)

यह सदैव ध्यानमें रखो कि मनुष्य पुतलियां हैं; उन्हें अपने हाथ में लेकर उनके सब कृत्य मैं (परमात्मा) करता हूं। "मैं करता हूं" इस अभिमान को छोड दो। करने-करानेवाला परमात्मा है, ऐसा समझकर उसको सब कर्म अर्पण करो। इसी तरह आशा-ममता छोडकर युद्ध करो; इसमें बुराई माननेका कोई कारण नाहीं। (निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः) देह नश्वर है, आत्मा अमर है। शरीर वस्त्रके समान है। पुराना वस्त्र फट जानेपर तुम नया वस्त्र पहनते हो; तब निरुपयोगी शरीरको छोडकर नया कार्यक्षम देह धारण करनेमें क्या हर्जा है? मरण क्या वस्तु है? काम करनेको नालायक (अक्षम) पुराना शरीर छोडना ही मरण है!! आत्माका कार्य करनेके लिये जब शरीर असमर्थ होता है, तब उसे छोडकर मनुष्य दूसरा धारण करता है। पहिलेही हम कह चुके हैं कि आत्मा 'ममांश' रहनेके कारण अमर है। मरणका देहपर कुछ भी परिणाम नहीं होता! क्या तुमने उसका (देहका) कोई इंद्रिय अथवा अवयव नष्ट हुवा कभी देखा है? देह जैसा है वैसा मरनेके बाद भी रहता है! हां, उसकी चलनवलनशक्ति-चेतना (आत्मा इसीको कहते हैं) जरूर चली जाती है। क्या तुमने कभी विचार किया है कि तुम जो दुःख करते हो, वह देहके लिये अथवा उस चेतनाशक्ति के लिये? थोडा विचार करो! तुम्हें मालूम होगा कि तुम्हारा प्रेम देहपर नहीं, किंतु आत्मा पर (उस चेतनाशक्तिपर) है। क्यों कि मरणमें आत्मा देहको छोडकर चला जाता है; परंतु शरीर जैसाका वैसा कायम रहता है। इसलिये जान लो कि देह नाशवंत और आत्मा नाशरहित है। युद्धमें यदा कदाचित् मरण आ भी जाय, तो शरीर नष्ट होगा, आत्मा नहीं। यह पूरा विश्वास रखकर युद्धके लिये खडे हो (तस्माद् युद्धयस्व भारत) इंद्रियोंमें मन श्रेष्ठ, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ और बुद्धिसे भी आत्मा श्रेष्ठ, ऐसा खूब समझ कर, अपने को काबूमें रखकर शत्रुको मार डालो ("जहि शत्रुं महाबाहो")।

इस विवेचनसे सामान्य पाठकों को भी ज्ञात होगा कि प्रसंग आनेपर भगवान्ने युद्ध करने की ही आज्ञा समय समयपर की है। अर्जुनको यह कभी नहीं कहा कि "अपमानको सहन करो" अथवा "न्याय्य वस्तुकी मांग करके असफल होनेपर गम खाओ और रामका नाम लेते हुए चुपचाप बैठो।" यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अर्जुन की मांगें किस कदर न्याय्य थीं।

श्री० भ० गीताकी शिक्षा इस प्रकार रहते हुए क्या यह कहना आश्चर्यकारक नहीं है, कि गीताके वेदान्तसे लोग आलसी, परोपकारसहिष्णु, निर्वीर्य, निरुत्साही बन गए? जिस अर्जुनने, विषदायुक्त होकर अपना गांडीव फेंक दिया और ऐसा भी कहा कि 'भिक्षां देहि' करूंगा परंतु मैं रुधिरप्रदिग्ध राज्य नहीं चाहता, उसी अर्जुनने कौरवोंसे युद्ध करके उनका समूल उच्छेद किया! ऐसा जिस गीताका प्रभाव है, उसी गीताने उसके पाठकोंको नामर्द किया ऐसा कहा जाय? क्या इससे कोई अधिक आश्चर्यकी बात हो सकती है? पाठकही विचार करें कि बारबार जिसने कहा है कि "शत्रुको मार डालो" उसको अहिंसावादी कहना कितनी शोभा देता है!!!

(३) तीसरी आज्ञा।

"योगी हो!" (योगी भव), गीताका योग देखनेसे लेखक को ब्रह्म शब्दकी याद आती है। ब्रह्मके लिये जैसे प्रतिशब्द ब्रह्म ही है, उसी तरह योगका प्रतिशब्द योग ही देना पडता है। समग्र गीतामें योग-योगी-शब्द लगभग ७०से भी अधिक बार आया है। प्रत्येक स्थलमें इसका अर्थ भिन्न है। एक जगह "योगः कर्मसु कौशलम्" आया है, दूसरी जगह "समत्वं योग उच्यते" ऐसा है।

गीतामें इस योग शब्द की व्याप्ति बहुत बडी है। कौशल्य, समत्व, निरपेक्षता, अनासक्ति, ज्ञान, और व्यवहार- इन बातोंकी संगति रखकर स्वतःकी उन्नति करनेकी शक्ति अथवा पात्रता, ज्ञानसाधन, कर्मानुष्ठान इत्यादि अनेक बातोंका समावेश इसमें किया हुआ है। आज कलकी भाषामें योग शब्दसे जो बोध होता है, वह बिलकुल भिन्न है। 'योगी हो' का मतलब आजकलकी भाषामें ऐसा कुछ निकलता है कि - साधु - संन्यासी-तपस्वी-मुनि-सर्वसंगपरित्यागी हो। हठयोग, राजयोग, भी योग ही हैं। गीतामें बुद्धियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ऐसे शब्द आए हैं। भक्तियोग प्रसिद्ध ही है। ऐसे इस ब्रह्मस्वरूपी योग शब्दका स्पष्टीकरण करना इस लेखककी ताकद के बाहर है।

गीता में योगी होने विषय में जो वाक्य आए हैं उन में से कुछ ये हैं -

(१)योगाय युज्यस्व, (२) योगी भव, (३) योगयुक्तो भव, (४) योगस्थः कुरु कर्माणि, (५) योगमातिष्ठोत्तिष्ठ—इत्यादि।

किसी भी प्रकारके फल की आकांक्षा न रखकर अपना शास्त्रविहित कर्तव्य, केवल कर्तव्य की दृष्टि से, प्रिय अप्रिय की पर्वा न करके जहांतक शक्य हो उत्तम रीतिसे सुखदुःखका लाभालाभका, यशापयशका, निंदास्तुतिका, अच्छे बुरे परिणाम का सोच न करके (चिंता न करके) ज्ञानसाधन के द्वारा कर्मानुष्ठान करना और व्यवहार में सावधान रहकर दक्षतासे आचरण करते हुए अपनी उन्नति करना—इसका नाम योग है।

(४) चौथी आज्ञा

"कर्तव्य करो"। श्री० भ० गीताका सारांश एक शब्द में कहना हो तो "कर्तव्य" शब्द से कह सकते हैं। धुंवां लगनेसे जैसे दृष्टि मंद होकर निकटवर्ती पदार्थ देखने का सामर्थ्य नहीं रहता, उसी तरह जब मनुष्य मोहसे व्याप्त होता है, तब उसको कर्तव्य-अकर्तव्य कर्म अकर्म नहीं समझता। उस समय भी ज्ञानरूपी दीपिका—गीता—उसका भ्रम दूर करके उसको योग्य कर्तव्य की दिशा बतलाती है। अर्जुन को भी अपने मामा, काका, भाई आप्त इष्ट और अन्य संबंधियोंको देखकर ऐसाही मोह हुआ; और उनसे युद्ध करना मोहांधताके कारण उसको अयोग्य मालूम हुआ। वह उसका मोह नष्ट करने होके लिये श्रीकृष्णने गीताका गान किया है। मोह नष्ट होनेका कबूलीजबाब अर्जुन से ठोक-ठोक लेकर वह गीतामें ही समाविष्ट किया है। अस्तु।

सृष्टिका सूक्ष्म अवलोकन किया जाय, तो सिवाय कर्तव्य के कौनसी दूसरी बात कहीं भी नजर आती है? सजीव निर्जीव, सचेतन अचेतन सबही अपना धर्म- कर्तव्य पालते हैं। जल का ठंडा होना पानीका धर्म अर्थात् कर्तव्य है। उसको चाहे उतना ताप(उष्णता) दें, ताप दूर होतेही अपना धर्म रखने की कोशिश वह करता है और ठंडा हो जाता है। पशुओंका राजा-सिंह मांसभक्षक है। प्रसंग विशेष पर उसकी अन्नान्नदशा हुई तो भी "किं जीर्णस्तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी?" क्या वह घास खावेगा? प्रत्येक वस्तु अपना धर्म पालता है अर्थात् कर्तव्य का पालन करता है। ऐसा उस कर्तव्य में क्या रखा है? कि जिसका आचरण करने के लिये—कैसे भी समय में, अच्छे बुरे का ख्याल हटाकर आचरण करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को आज्ञा करते हैं?

इसपर थोडा विचार करें! इसमें मतभेद नहीं कि प्राणिमात्र की प्रवृत्ति सुख की ओर है। सुख शांतिका अपत्य है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते कि "अशांतस्य कुतः सुखम्" और यह बात नित्य के अनुभव की है। मनको शांति न रहते हुए सुख हुआ, ऐसा किसीने कभी देखा या पढा या सुना है? यह बिलकुल असंभाव्य है। सुख चाहो तो शांति

उत्पन्न करनी चाहिये। उसकी प्राप्तिका साधन गीतामें ही बतलाया है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति॥

फलाकांक्षा छोडकर निर्मम-निरहंकार हो आचरण करनेसे शांति मिलती है। निर्मम निरहंकार होकर आसक्तिरहित आचरण करना ही कर्तव्य करना है। सारांश, कर्तव्य सुखोत्पादक है। वस्तुस्थिति ऐसी है इसलिये कर्तव्यपालन के विषयमें इतना आग्रह है। सच्चा सुख विहित कर्तव्य के करनेही से होता है। व्यवहारमें भी यही दिखता है। यदि कोई मनुष्य बीमार हुआ और सब तरह के मानवी उपाय होनेपर भी वह कालवश हुआ तो उसके आप्त इष्ट यही कहकर शांत होते हैं कि "हमने सब तरह के इलाज किये; परमेश्वर का स्मरण रखकर अपना कर्तव्य किया; कोई भी गफलत नहीं की, आयुष्य देना हमारे अथवा किसीके हाथमें नहीं, ईश्वरेच्छा बलीयसी!" परंतु इसके विपरीत प्रकार हुआ हो तो उनकी शांति नष्ट होकर आमरणान्त दिल में शल्य बना रहता है! इसलिये कर्तव्य करो। "कर्मण्येवाधिकारस्ते" कर्तव्य की लंबीचौडी बातें मत् करो। प्रत्यक्ष जो योग्य हो वह व्यवस्थित रीतिसे कृति में लाओ! (कार्यं कर्म समाचर। नियतं कुरु कर्म त्वं) कुछ न करनेसे कोई तो भी काम करते रहना। आलस्य में आयुष्य मत् गमाओ। आलस्य शरीर का एक बडा शत्रु है। शास्त्रविहित कर्ममें कदाचित् त्रुटि होगी, इस डरसे कुछ न करना अयोग्य है। सत्य कहने में गलती होगी, इस डरसे कुछ भी सच न बोलना जैसे बुरा है, उसी तरह कुछ भी न करना बुरा है। "It is better to make a mistake in trying to tell the truth than never to tell the truth for fear of making a mistake" (W. Robinson's 'Critic and Guide.) कर्म करते समय उद्योग करनाही अपना कर्तव्य समझकर जो तुम अच्छा या बुरा कर्म करो, वह सब परमेश्वर को अर्पण करो (तत्कुरुष्व मदर्पणम्)।

कोई काम करनेमें, अपनी बुद्धि के अनुसार जितनी उत्तम रीतिसे कर सको, करो। (योगस्थः कुरु कर्माणि) यह ध्यान में रखो कि Whatever is worth doing is worth doing well। ऐसी सूरत घोडेपर बैठकर क्या लडाई जीतेंगे? कर्तव्य करना सर्वकाल प्रिय नहीं रहता। कभी कभी कटु कर्तव्य भी करना आवश्यक होता है। लडका जब चोरी करे, तब उसको वक्तपर सजा देना मांबाप का कर्तव्य है। ऐसे वक्तपर यद्यपि दंड देना अप्रिय मालूम होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। कमकि पुस्तकों में इस विषय में कहानी प्रसिद्ध है। ऐसे समय शिक्षा न करना निर्घृण माया है (Cruel kindness)। पहिले कह चुके हैं कि सब कर्म अच्छे बुरे मुझे अर्पण करो। इतना जरूर है कि कोई भी कर्म करने के पहिले वह तरहाकी सदसद्विवेक बुद्धि को योग्य जचना चाहिये। (बुद्धौ शरणमन्विच्छ)। इसी तरह वह करनेके पहिले लोकहितके तरफ भी ध्यान रखो।

(५) पांचवी आज्ञा।

परमेश्वर के शरणमें जाओ। एक परमेश्वरपर अचल निष्ठा रखकर सर्वभाव से उसीकी शरण में जाओ। वह तुम्हें सब आपत्तियों से मुक्त करेगा।

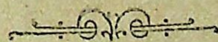
अनादि कालसे जिन दो विषयोंपर वाग्युद्ध होते आए और जिनपर यावच्चंद्र-दिवाकरौ वादविवाद चलेगा वे विषय हैं-(१) ईश्वरका अस्तित्व, (२) उद्योग और दैव। "तुटे वाद संवाद तेथे करावा" (संवाद वहीं करना जहां वाद मिट सकता है)। समर्थ रामदास का यह वचन ध्यान में रखकर ईश्वर के अस्तित्व के विषय में मूक रखना ही इष्ट है। प्रस्तुत लेखक ईश्वरका अस्तित्व मानता है, इसलिये निम्नलिखित विवेचन ईश्वरका अस्तित्व

माननेवालोंके लिये है, इतनी सूचना देकर, ५ वी आज्ञाके संबंधमें थोडा खुलासा करके यह लंबा चौडा पुराण समाप्त करता हूं ।

ईश्वरका अस्तित्व न माननेवालोंको भी मानवी शक्तिसे अधिक प्रभावशाली शक्ति माननी पडती पडती है ! इसका अनुभव वैद्य डॉक्टरोंको बार-बार आता है । कोई रोगी सब आधुनिक उपचार करके, सद्यः प्राप्त सब ज्ञानका उपयोग करनेपर सुधरता हुआ दिखता है और विना किसी कारण के (सब इलाज यथापूर्व चलते रहनेपर भी) काल-वश होता है; कोई रोगी असाध्य मालूम होता है, संसारमें उसकी जीवनयात्रा केवल घडी दो घडी शेष मालूम होती है, परंतु वह बिलकुल अच्छा हो जाता है । ऐसे समय विवश होकर मानना पडता है कि मानवी शक्तिसे बलवत्तर कोई शक्ति है ! इसीका अनुभव वकीलोंको भी आता है। जिसके बारेमें निश्चय रहता है कि वह दोषमुक्त होगा, वह सजा पाता है और जिसके छूटनेकी कल्पना नहीं रहती वह दोषमुक्त होता है !! वास्तवमें इसी शक्ति को ईश्वर, निसर्ग, (Nature) इत्यादि भिन्न भिन्न संज्ञाएं लागू होती हैं । एक परमेश्वरको अनन्य भावसे शरणागत होनेसे वह तुम्हारी सब व्यवस्था करेगा । उसपर सकल भांति निष्ठा, भक्ति, प्रेम, विश्वास अटल रहना चाहिये । "एकै साधै सब साधै, सब साधै सब जात ।" एकही बातपर तनुमन धन सब खर्च करो ! सौ पचास बातोंपर निर्भर मत रहो। श्रद्धा एक अपूर्व अमोलिक चीज है । देव, परमेश्वर कोई दूसरा तीसरा पदार्थ नहीं; तुम्हारा अटल, अचल विश्वास, निष्ठा, भाव ही परमेश्वर है । तुकाराम महाराज भी कहते हैं "भाव तोचि देव" । प्रत्येक मनुष्य को अनुभव हो सकता है कि सामान्य व्यवहार में श्रद्धा का महत्त्व कितना है । गीता में कहा है कि श्रद्धा से क्या क्या हो सकता है । 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' परमेश्वर ज्ञानमय है । गणपति अथर्वशीर्ष में कहा है " त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ।"

अंतमें गीता के ऐसे वाक्यों को यहां उद्धृत करता हूं कि जिनका आशय है केवल मुझे-परमात्माको-एक ईश्वरको सर्वस्वी शरण जाओ—
(१) "भजस्व माम्" । (२) "मन्मना भव" (३) "मय्येव मन आधत्स्व" (४) "मयि बुद्धिं निवेशय" (५) "मत्कर्मपरमो भव" (६) "तमेव शरणं गच्छ" (७) "मामेकं शरणं व्रज"

अंतमें, वह योगेश्वर श्रीकृष्ण भारतीयों को युक्ति, शक्ति, भक्ति और ज्ञान देवे और "सर्वथा दैन्य देशाचें दुर्दशा पावो लया" । (देशके सर्व दैन्य और दुर्दशा का लय करे) ऐसी प्रार्थना करके पाठकों से रुखसत लेते हैं ।



उत्कर्षका राजमार्ग

[गीताके सोलहवें अध्यायका रहस्य]

(लेखक- श्री०तर्कतीर्थ रघुनाथशास्त्री कोकजे, लोनावला.)

सब तरहसे अवनत ऐसी भारतीय जनता को अपने उत्कर्ष का मार्ग जानने की उत्कंठा लगी है। वह शान्त हो इस हेतुसे इस छोटेसे निबंध में गीता के १६ वे अध्याय के विचार पाठकों के लिये यहां उपस्थित करने की मनीषा है।

अभ्यासकी दो पद्धतियाँ।

गीताका अभ्यास करनेकी दो पद्धतियाँ हैं। एक पद्धति है समग्र गीताका साकल्य से विचार करने को और दूसरी पद्धति है प्रत्येक अध्यायका अलग से अभ्यास करने की। कुशल माली बागमें भिन्न भिन्न रंगोंके और ऊंचे नीचे झाड विशिष्ट पद्धति से लगाता है। पूरा बगीचा एकदम देखनेसे मालीका रचनाकौशल्य जरूर दीख पडता है, परंतु प्रत्येक झाडका वैशिष्ट्य ध्यान में नहीं आता। वह ध्यान में आनेके लिये प्रत्येक झाड का निरीक्षण स्वतंत्र रीतिसे करना पड़ता है। गीताके अभ्यासको यही न्याय लागू है। संपूर्ण गीता आंखों के साम्हने एकदम लानेसे जो बात ध्यानमें नहीं आ सकती, वह बात प्रत्येक अध्याय का अथवा उस अध्याय के प्रत्येक विषयका पृथक् पृथक् अभ्यास करनेसे ध्यानमें आ जाती है। इसलिये गीताके अभ्यासकों को उक्त दोनों पद्धतियोंसे अभ्यास करना चाहिये। कभी समग्र गीता का साकल्यसे अवलोकन करना चाहिये, कभी एकही अध्याय का परीक्षण करना चाहिये।

दूसरे प्रकारके अभ्यासका महत्त्व।

" अति सर्वत्र वर्जयेत्। " यह कहनावत अनेक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। बात अच्छी हो या बुरी हो; उसके अतिरेकसे हमेशा दोष उत्पन्न होता है। गुलाब का फूल कितना मोहक और मधुर होता है? परंतु एकजात गुलाबही गुलाब के फूलों की माला क्या आंखोंको आल्हाददायक होती है? साधारण माली भी एकजात फूलों की माला नहीं बनाता; उसमें विजातीय फूल, कमसे कम हरे पत्ते जरूर डालता है; इसका यही कारण है। मनुष्य की आकलनशक्ति इतनी मर्यादित है कि, विशिष्ट मर्यादाके बाहर वह भले का भी ग्रहण नहीं कर सकता। भगवद्गीता के अच्छेपन को भी यही न्याय लागू है। गीतामें जगह जगहपर इतने उमदा रत्न जड दिये हैं कि उनको देखतेही साधारण मनुष्यकी आंखे चकित हो जाती हैं; गीता के सब रत्नोंको एकदम देखकर उनका निरीक्षण वह नहीं कर सकता, ऐसी अवस्थामें उनका प्रत्येक रत्न अलग निकालकर इसपर विचार करनेसे ही गीताका सच्चा आकलन हो सकता है। बच्चे को दूध हजम न होता हो तो उसमें पानी मिलाकर देने को वैद्य कहते हैं; इसका उद्देश्य यही है। गीतारूपी दूध (दुग्धं गीतामृतं महत्) यदि अच्छी तरह हजम करना हो तो पूरा १८ सेर एकदम गटागट पीना न चाहिये; किंतु प्रत्येक अध्याय किंबहुना प्रत्येक श्लोक धीरे धीरे गले उतारना चाहिये। प्रस्तुत लेखक को यही अधिक पसंद है। दुग्धाहारशास्त्रमें कहा है कि दूध का प्रत्येक घूंट मुंहमें अच्छी तरह घोलनेपर ही गले में उतारना चाहिए। इस लेखक का कहना है कि गीतादुग्ध का पान भी इसी नियमके अनुसार होना चाहिये। एक घंटे में समग्र गीताका पारायण करने की

अपेक्षा, वही एक घंटा एक श्लोकपर विचार करने में व्यतीत किया जाय तो अधिक पुण्यलाभ होगा! इसी तत्त्व के अनुसार यहां १६ वे अध्याय का विवेचन करने की इच्छा है। इस विवेचन से इस अध्याय का महत्त्व समझकर उत्कर्षका मार्ग दृग्गोचर होगा। इतनाही नहीं, किंतु गीताके अभ्यास की जो पद्धति इस लेखक को रुचती है, वह भी पाठकों को विदित होगी।

सोलहवें अध्यायका बाह्य वैशिष्ट्य।

गीताके अन्य अध्यायों को छोडकर विवेचन के लिये यही १६ वां अध्याय लेनेका कारण है। अन्य अध्यायोंकी अपेक्षा इस १६ वे अध्यायका वैशिष्ट्य अनेक दृष्टिसे देखनेलायक है। इस अध्याय की श्लोकसंख्या केवल २४ है; अर्थात् इस अध्याय का विवेचन संकुचित है, उसका अवास्तव विस्तार नहीं किया गया। इसमें केवल श्रीकृष्णजीका उपदेश भरा हुआ है। विषयका प्रतिपादन शंका और प्रश्नोत्तर से आकर्षक होता है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उससे वह एक प्रकारसे विस्खलित होता है। शंकाकुशंकाओं की ऊर्मियोंसे व्याख्यानके प्रवाह को एक मजेदार सूरत आती है; तथापि यह कबूल करना होगा कि उससे वह आनंद नहीं मिलता, जो खलबलरहित शान्त प्रवाह से मिलता है। गीताकी भाषामें यह कह सकते हैं कि प्रश्नोत्तरयुक्त व्याख्यान राजस आनंद देता है और अखण्ड व्याख्यान सात्त्विक आनंद देता है। प्रस्तुत अध्याय में प्रश्नोत्तरभाव न रहनेसे इस अध्याय के पढनेमें सात्त्विक सुखका लाभ मिलता है। इस अध्याय में विषयभी बहुतसे नहीं लिये गए। उसमें केवल दो विषय आए हैं- (१) दैवी और आसुरी संपत्ति के गुणों का विवेचन करके आसुरी संपत्तिसे मदान्ध हुए लोगों का वर्णन करना; (२) यह बतलाना कि शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवालों को क्या फल मिलता है और शास्त्रके अनुसार जो आचरण नहीं करते उनको क्या फल भोगना पडता है। तात्पर्य यह है कि श्लोकसंख्या का अल्पत्व; प्रवचन का ओघ और नियमित विषय, इन कारणों से इस अध्यायको अच्छा मनोवेधक स्वरूप प्राप्त हुआ है। परंतु यह सब बाह्य वैशिष्ट्य हुआ। इस अध्यायमें जो विषय आया है, उसपर लक्ष देनेसे उसका अंतरंगपरीक्षण होकर उसका सच्चा महत्त्व समझ में आवेगा, इसलिये अब इस अध्याय का अंतरंग देखें।

इस अध्यायकी सूचि।

अब यह देखा जाय कि इस अध्यायमें कौनसे विषय किस क्रमसे आए हैं-

विषय	श्लोक
१ दैवी संपत्तिके गुण	१ से ३ तक
२ आसुरी संपत्तिके गुण	४
३ दोनों संपत्ति के फल	५
४ आसुरी संपत्तिवाले लोगोंका वर्णन	७ से २० तक
५ नरक का द्वार	२१- २२
६ शास्त्रविधिका महत्त्व	२३- २४

इस प्रकार विषयों का क्रम देखनेपर, इनके विषयोंका विवेचन देखना चाहिये; इसलिये इन सब विषयोंका स्वरूप क्रमवार देखें।

सच्चे भाष्यकी आवश्यकता।

इस अध्याय के विषय कैसे महत्त्वपूर्ण हैं, वैसे ही इस अध्याय में संपूर्ण गीता कैसी समाविष्ट हुई है, यह समझनेके लिये इस अध्यायका अच्छा अभ्यास होना चाहिये। पुराने आचार्योंका ध्यान इस अध्याय की ओर जैसा चाहिये वैसा नहीं गया। प्रत्येक आचार्य किसी विशिष्ट सांप्रदाय के प्रवर्तक रहनेके कारण, अपने सांप्रदायकी दृष्टिसे जो महत्त्वके विषय हों उन्हींपर अधिक जोर देना उनके लिये स्वाभाविक था। गीतामें कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति इत्यादि विवादास्पद विषय अनेक जगह आये हैं, और उन्हींपर टीकाकारों और भाष्यकारों का ध्यान अधिक आकर्षित होता है। इस अध्याय के पिछले अध्यायों में विवाद-विषय समाप्त हो गए; इसलिये सब आचार्योंने

उन्हीं अध्यायोंके विवेचनपर अधिक ध्यान दिया है। इस तरह पिछले अध्यायोंपरही अधिक परिश्रम किये जानेसे इस अध्यायपर जितनी चाहिये उतनी मेहनत नहीं की गई, यह एक कारण और इस अध्याय में वादके लिये अवकाश नहीं, यह दूसरा; इन दोनों कारणोंसे इस अध्याय की व्यवस्थित रीतिसे परिस्फुटता नहीं हुई। इस अध्याय में आये हुए सिद्धान्त सर्वमान्य हैं; इसी सबब से इसकी विवेचन अगत्यपूर्वक किसीने नहीं किया। शामलाती जायदाद की दिलसे फिकर कोई नहीं करता; परंतु समाजहितेच्छु को उस जायदाद की ज्यादा फिकर रखना चाहिए। इसीलिये गीता-की इस शामलाती जायदाद (१६ वे अध्याय)की ज्यादा फिकर रखते हुए हमने उसका विवेचन करने का निश्चय किया है। इस अध्याय की संपत्ति की आजतक उपेक्षा की गई है। उस संपत्ति को उज्ज्वल करके पाठकों के साम्हने उपस्थित करने का विचार है। उसको उपस्थित करनेपर इस अध्याय का सच्चा माहात्म्य समझ में आवेगा।

भाष्यकी पद्धति।

पुराने भाष्यकारोंके समान श्लोकशः भाष्य करने की हमारी मनीषा नहीं है। हम यहां विषयवार भाष्य करने की पद्धति का स्वीकार करेंगे। इस पद्धतिसे प्रत्येक विषय अच्छी तरह दिलमें जमता है। इसलिये पहिले इस अध्याय के श्लोक १-२-३ विचारार्थ लेवें। उनका स्वरूप और परस्पर संबंध देखें।

दैवी संपत्तिके गुण।

१. अभयम्- अर्थात् निर्भयता। मनुष्य ही को नहीं, किंतु प्राणिमात्र को किसी न किसी बात का डर रहता हि है। कमसे कम अंतमें मरण का भय किसी को छूटा नहीं। इन सब प्रकारके भयों का त्याग करके निर्भयता प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

नीलकण्ठने इस शब्द का अर्थ "स्वोच्छेदबुद्ध्य-भावः" ऐसा किया है (आत्माका नाश होता है ऐसी बुद्धि न रखना) अर्थात् यह विश्वास रखना कि आत्मा अविनाशी है। जिसको यह पूर्ण अवगत हुआ है कि शरीर केवल बाह्य वस्त्र के समान है(२-२२)वह नष्ट अथवा जीर्ण हुआ तो भी आंतर-आत्मा को किसी प्रकार बाधा नहीं पहुंचती, वह कभी डरेगा नहीं। तात्पर्य यह कि इस शब्दका अर्थ "आत्मज्ञानपूर्वक प्राप्त होनेवाली निर्भयता" है।

२. सत्वसंशुद्धिः- अर्थात् अंतःकरण की निर्मलता। कामक्रोधादि षड्रिपु के प्रभाव से अंतःकरण मलिन होता है। जबतक ये शत्रु अंतःकरण में खलबली मचाए रहते हैं, तबतक सच्चे आत्मा का ज्ञान हो नहीं सकता और इस ज्ञानके अभाव में निर्भयता प्राप्त हो नहीं सकती, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अंतःकरण की स्वच्छता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

३. ज्ञानयोगव्यवस्थितिः- अर्थात् ज्ञान और योग के विषय में तत्पर रहना। गीताने इन दोनों शब्दों के अर्थ बतला दिये हैं। तेरहवें अध्याय में अमानित्व वगैरेह गुण बतलाकर आखिर कहा है कि "इसको ज्ञान कहते हैं" [१३-११] इसी तरह "योगः कर्मसु कौशलम्" (२-५०) अर्थात् कर्म करना और इस तरह से करना कि उससे बंध प्राप्त न हो- यही योग है-ऐसी योग शब्द की व्याख्या गीता में ही दी है। इससे स्पष्ट है कि अमानित्व आदि गुण और फलाशात्यागपूर्वक कर्म करने की आदत बद्धमूल करना-यही गीता के कथनानुसार 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है।

दैवी संपत्तिका सार।

यह कहना अनुचित न होगा कि इन पहिले तीन गुणोंमेंही सकल दैवी गुणोंका अंतर्भाव होता है, इसलिये ये तीन गुण दैवी संपत्ति के सारभूत हैं। निम्नलिखित वर्गीकरण से मालूम होगा कि ४ थे गुण से २६ वें गुणतक सबही गुण इन तीन गुणों में किस प्रकार समाविष्ट होते हैं-

१ अभयम्	२ सत्वसंशुद्धिः	३ ज्ञानयोगव्यवस्थितिः
२१तेज	५ दम, ७ स्वाध्याय, ८ तप,	४ दान
२२ क्षमा	९ आर्जव (सरलता) १० अहिंसा, ११ सत्य,	६ यज्ञ
२३ धृति	१२ अक्रोध,१४ शांति, १५ अपैशुन (चुगली न करना),	१३ त्याग
	१६ दया, १७अलोलुप्त्व [विषयलोलुपता न रहना],	
	१८ मार्दव, १९-ह्रीः (लज्जा) २० अचापल (चंचलता न रहना),	
	२४ शौचम् (शुद्धता), २५ अद्रोह, २६ नातिमानिता।	

हमारा यह कहना नहीं कि यह वर्गीकरण बिलकुल निरपवाद है। विशेषतः दूसरे वर्ग के गुण तीसरे वर्गमें भी समाविष्ट हो सकते हैं; इसी तरह ११ सत्य, १४ शान्ति इत्यादि कई गुणों का समावेश पहिले वर्ग में भी हो सकता है, क्यों कि अनेक समय मनुष्य भयके कारण असत्य की ओर प्रवृत्त होता है। निर्भयताके विना सच्ची शांति मिल नहीं सकती; इसलिये यह न समझना चाहिये कि यह वर्गीकरण बिलकुल ठीक है। इसी तरह यह वर्गीकरण करने में उन उन गुणों के कार्य और कारण भी उसी वर्ग में समाविष्ट किये हैं।

इस वर्गीकरणपर लक्ष्य करने से मालूम होगा कि समग्र दैवी संपत्तिका तीन गुणों में समावेश होता है। अब यह देखा जाय कि इन तीन गुणों का सार पहिले दो गुणों में किस तरह आ सकता है! तीसरे वर्ग में दान, यज्ञ और त्याग का समावेश है। अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि ज्ञानके लक्षणोंसहित ये तीनों बातें की जाय, तभी उनसे चित्तशुद्धि हो सकती है। इसीतरह गीता में त्याग शब्द का अर्थ कर्मफलत्याग है, उसीके अनुलक्षणसे ये (तीनों) कर्म होना चाहिये। यह 'ज्ञान' और यह 'योग' आत्मसात् करनेपर दान, यज्ञ और त्याग तभी हो सकते हैं जब कि चित्तकी शुद्धि निश्चित रूपसे हुई हो। अन्यथा अलोलुप्त्व न होनेसे विशिष्ट फल की इच्छासे यज्ञ दान का अनुष्ठान होगा और चित्त शुद्ध होनेके बदले अशुद्ध होता जायगा! दूसरे यह कि विषयलोलुप मनुष्य फलकी आशासेही कर्म करेगा, उससे फलाशा का त्याग होना अशक्य है! इसलिये अंतःकरणशुद्धि न हो तो ज्ञान और योग में कर्ता निरत हो नहीं सकता। आखिर ऐसे कर्ता के हाथसे दान, यज्ञ अथवा त्याग होना असंभाव्य रहनेसे चित्तशुद्धिके अभाव में ज्ञानयोगव्यवस्थिति उसके लिये अशक्य बात है। अतः यह कहने में कोई अडचन नहीं कि अभय और सत्त्वसंशुद्धि इन दो गुणों में समस्त दैवी संपत्तिका अंतर्भाव होता है। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि काम क्रोध लोभ इत्यादि अंतःकरण को मलिन करनेवाले दोष अलग करके निर्भय होना, यही दैवी संपत्तिका सार है। अब आसुरी संपत्तिपर विचार करें।

आसुरी संपत्तिके गुण।

इस अध्याय के ४ थे ही श्लोक में आसुरी संपत्तिके छः गुण यों बतलाए हैं- दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोरता) और अज्ञान। उपर्युक्त दैवी संपत्तिमें अक्रोध, ज्ञान और नातिमानिता- ये गुण आही गए हैं। उनके विरोधी गुण क्रोध, अज्ञान और अतिमान- आसुरी में हैंही! बाकी रहे दम्भ, दर्प और पारुष्य; ये तीन गुण आर्जव, दया और मार्दव- इन तीन दैवी गुणोंके विरोधी हैं। इस तरह से मालूम हो सकता है कि आसुरी संपत्ति के गुण दैवी गुणों के विरोधक हैं।

आसुरी संपत्तिवाले लोगोंका वर्णन।

इस आसुरी संपत्ति से आक्रान्त लोग कैसे रहते हैं, इसका वर्णन श्लोक ७ से १८ तकमें आया है। साधरणतः आसुरी प्रवृत्तिके लोगही दुनिया में बहुत रहते हैं। ऐसा जानकर ही यह विस्तृत वर्णन किया गया होगा। इस वर्णन में ग्रथित सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

(१) आसुर प्रवृत्तिके लोग यह नहीं जानते कि कहां प्रवृत्त होना और किससे निवृत्त होना चाहिये [इसपर ठीक विचार नहीं करते।]

(२) उनमें शुद्धि, आचारधर्म और सत्य नहीं रहते। [१६-७]

(३) वे संपूर्ण जगत् को नश्वर मानते हैं; यह नहीं मानते जगत् नष्ट होनेपर उसमें से कुछ शेष रहता है। इसी तरह वे यह नहीं मानते कि जगत् का नियंता कोई ईश्वर है।

(४) वे यह नहीं मानते कि एक पदार्थसे दूसरा, दूसरेसे तिसरा, ऐसी जगत् की उत्पत्ति हुई है। (उनके मत से जगत् में कार्यकारणभाव नहीं है)

(५) वे समझते हैं कि विश्व केवल कामतृप्तिके लिये है। (१६-८)

(६) इस दृष्टिका अवलंब करके वे जगत्का नाश करनेवाले कठोर कर्म करने लगते हैं। (१६-९)

(७) मनसे बुरे निश्चय करके वे कार्य करने को प्रवृत्त होते हैं। (१६-१०)

(८) अनेक प्रकारकी आशा और इच्छाओंमें वे लिपटे रहते हैं और ये इच्छा पूर्ण न हुई तो क्रोधाविष्ट होते हैं। (१६-१२)

(९) 'आज मुझे यह मिला, कल मैं यह प्राप्त करूंगा;' इस तरह उनकी संपत्तिविषयक इच्छा बढती जाती है। (१६-१३)

(१०) 'मैंने इस शत्रुको मारा, अब दूसरे शत्रुओं-को भी मारूंगा।' इस तरह उनके हिंसाविषयक विचारोंका भी अंत नहीं रहता (१६-१४)

(११) 'संपत्ति का और अभिजनों का संग्रह जैसा मेरे पास है, वैसा और किसी के पास नहीं,' यह अभिमान सदैव उनको रहता है। (१६-१५)

(१२) वे यज्ञ अथवा दान करते हैं, परंतु चित्त-शुद्धि के लिये नहीं, किंतु शेखी मारनेके लिये करते हैं, अर्थात् उनके सब धर्मकृत्य शास्त्रोक्त × विधिपूर्वक नहीं होते। (१६-१७)

(१३) स्वतः के तथा दूसरों के देहमें वास्तव्य करनेवाले परमेश्वरका वे द्वेष करते हैं। (१६-१८)

इन तेरह लक्षणों द्वारा आसुरी प्रवृत्ति के लोगों की पहचान सहज हो सकती है। सब धर्माभिमानी मनुष्योंको स्वतः का परीक्षण करते समय यह अवश्य देख लेना चाहिये कि इन तेरह लक्षणोंमें से किसीमें हम लिप्त हैं कि नहीं?

आसुरी संपत्तिका फल।

आसुरी संपत्तिका फल इस अध्याय में चार जगह आया है—

निबन्धायासुरी मता (१६-५)
पतन्ति नरकेऽशुचौ (१६-१६)
तानहं...क्षिपाम्यासुरीष्वेव योनिषु (१६-१९)
आसुरीं योनिमापन्ना...यान्त्यधमां गतिम् १६।२०

इन में से पहिले वाक्य में कहा गया है कि आसुरी संपत्ति बंधनों को बढानेवाली है; और अगले तीन वाक्यों में यह बतलाया है कि उस संपत्ति में लिपटे हुए लोगों की अधोगति दिनोदिन कैसी होती जाती है।

दैवी संपत्तिका फल

"दैवी संपद्विमोक्षाय" इस एकही चरण में दैवी संपत्तिका फल बतलाया गाया है। इसमें कहा है कि दैवी संपत्तिका फल विमोक्ष अर्थात् बंधनराहित्य है। आसुरी संपत्ति के वर्णन में एक विशेषण ऐसा आया है- "सैंकडो आशामय पाशों से जखडे हुए।" इससे मालूम होता है कि आशा

× सत्रहवें अध्याय के श्लोक २४, २५, २६, से विदित होगा कि यह शास्त्रोक्त विधि क्या है। उन श्लोकोंमें ॐ तत् और सत् इन तीनों ब्रह्मवाचक शब्दों का कर्मदृष्ट्या महत्त्व बतलाया गया है, और यह भी वहीं कहा है कि ॐ का उच्चार करके विधानोक्त क्रियाएं प्रारंभ की जाती हैं। ॐ तत् सत् का यह गीतोक्त रहस्य ध्यान में रखकर कर्म करना, यही विधानोक्त अथवा विधिशास्त्रोक्त कर्म करना है।

इच्छा, आकांक्षा- ये ही मनुष्य को जखडनेवाले बंधन हैं। दैवी संपत्ति इन्हीं बंधनों से मनुष्य को विमुक्त करती है, अर्थात् बंधनातीत करती है। यही दैवी संपत्तिका फल है। इससे स्पष्ट होता है कि निर्बंधस्वातंत्र्यप्राप्ति ही दैवी संपत्तिका फल है।

नरकका द्वार ।

यह कहा गया कि आसुरी संपत्तिका अनुसरण करनेसे नरककी प्राप्ति होती है। अब उस संपत्तिके मूलभूत दोष बतलाकर २१ वें श्लोकमें नरकका सच्चा द्वार बतलाया है। उसमें कहा है कि काम, क्रोध और लोभ ये तीन दुर्गुण मूर्तिमंत नरकका द्वार है। अर्थात् आसुरी संपत्तिका त्याग करना हो तो ये तीन दोष समूल छोड देना चाहिये। अपने उन्नतिके अथवा उत्कर्षके लिये मनुष्यको पहिले यह करना चाहिये।

स्वर्गका मार्ग ।

स्वर्गके मार्गका आक्रमण करना हो तो नरकके दरवाजेके तरफ ढूंकना भी न चाहिये। काम-क्रोध-लोभसे विन्मुख होकर श्रेयके-कल्याणके मार्गसे चलना चाहिये। २२ वें श्लोकमें कहा है कि " इन तीन दोषोंसे रहित होनेपर मनुष्य कल्याणके मार्गपर आता है और बादमें श्रेष्ठ गति (मोक्ष)को प्राप्त कर लेता है। " अर्थात् यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि जिस प्रमाणमें मनुष्य काम-क्रोधका त्याग करेगा, उसी प्रमाणमें वह श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करनेको पात्र होगा।

शास्त्रविधिका महत्त्व ।

किसी कर्मको करते समय उसका विधि शास्त्रोक्त पद्धतिसे होना चाहिये। शास्त्रोक्त पद्धतिसे कर्म न करके अपनी इच्छाके अनुसार कर्म करनेसे कर्ताको सिद्धि, सुख अथवा श्रेष्ठ गति नहीं मिलती। अंतिम (२४वें) श्लोकमें कहा है-" इसीलिये कार्य क्या है और अकार्य क्या है,इसका निश्चय होनेपर भी कार्य करते समय शास्त्रका प्रमाण मानना चाहिये। "

इसमें ' शास्त्रविधि ' शब्द आया है । उसका अर्थ सत्रहवें अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें कहा गया है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥२५
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ उच्यते॥२६॥

इन श्लोकोंसे विदित होगा कि कर्म करते समय किन नियमोंका पालन करना चाहिये अथवा मनोवृत्ति कैसी रखना चाहिये। अर्थात् इन श्लोकोंमें कर्मकी विधि अच्छी तरह बतलायी गयी है। इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट होता है कि कोईभी (यज्ञ, दान अथवा तप) कर्म करते समय ॐ तत्सत् कहकर वह करना चाहिये और निम्नलिखित नियमोंका पालन करना चाहिये—

१. कोई कर्म करनेमें ॐकारवाच्य जो परब्रह्म उसका स्मरण करना चाहिये।

२. फलकी अभिलाषा छोडकर वह कर्म करना चाहिये ।

३. वह कर्म प्रशस्त होना चाहिये ।

इन तीन नियमोंमेंसे पहिले दो यह बतलाते हैं कि कर्म कैसे करना चाहिये और तीसरा नियम बतलाता है कि कौनसा कर्म करना चाहिये। अर्थात् सच्चा कर्मविधि पहिले दो श्लोकोंमें ही समाप्त होता है। तब भी तीसरा नियम दिया गया; इसका कारण यह है कि, कई लोगोंको यह भ्रम होता है कि बुद्धि शुद्ध रखी जाय तो कोई भी कर्म करनेमें बाधा नहीं; इस भ्रमको दूर करना आवश्यक है । " सद्वर्तनका सच्चा बीज साम्यबुद्धि है " [गी० र० पृ०३७५*] 'गीता केवल कर्मका विचार कनिष्ठ मानती है, उस कर्मकी प्रेरक बुद्धिका विचार श्रेष्ठ मानती है' [गी० र० पृ० ३७९] इत्यादि विधान 'गीतारहस्यमें' किये गये हैं और अन्य पुस्तकोंमें भी

* इस निबंधमें मराठी गीतारहस्यके पृष्ठांक ४ थे आवृत्तिके अनुसार दिये हैं।

कर्मकी योग्यता अथवा अयोग्यताका निर्णय करते हुए कहा गया है कि गीता कर्ताकी बुद्धि ही को प्राधान्य देती है। यह ठीक नहीं; किंतु इस तीसरे नियमसे यह ध्यानमें आता है कि गीता जैसे बुद्धिको देखती है वैसे कर्मको भी देखती है। सांप्रत इस विषयकी ओर दुर्लक्ष्य करके आगेका विषय देखना चाहिये। भगवान्का कहना है कि उपर्युक्त नियमोंका पालन करके कर्म किया जाय तो वह शास्त्रविधिके अनुसार होता है और इस प्रकार दैवी संपत्तिमें जिन क्रियाओंका समावेश होता है उनका आचरण करनेसे सिद्धि, सुख और श्रेष्ठ गतिकी प्राप्ति होती है। अर्थात् भगवान्के मतानुसार शास्त्रविधिका अनुसरण करके 'दैवी' क्रिया करनाही उत्कर्षका मार्ग प्रतीत होता है।

सोलहवें अध्यायमें क्या है?

पूर्वनिर्दिष्ट सूचिके अनुसार इस अध्यायके विषयोंका विवेचन हो गया। इससे इस बातका खुलासा होगा कि १६वें अध्यायमें क्या है। १६ वें अध्यायपर लक्ष्य करनेसे निम्नलिखित दो प्रश्नोंका जवाब मिलता है—

१. कौनसा कर्म करना चाहिये?

२. कर्म किस तरह करना चाहिये?

इन प्रश्नोंके उत्तर इसतरह मिलते हैं—

१. कर्म वह करना चाहिये जिससे चित्तके काम, क्रोध,लोभ इत्यादि दोष कम हों और चित्त शान्त और निर्भय हो [अर्थात् यज्ञ, दान, तप इत्यादि।]

२.श्रद्धापूर्वक, परमात्माका स्मरण रखकर और कर्मफलकी आशा छोडकर ये कर्म करना चाहिये। इस तरह यह देखा गया कि १६ वें अध्यायमें क्या कहा है। आजकल जो कहा जाता है कि श्रुतिस्मृत्युक्त आज्ञाओंका पालन करनेसे उत्कर्ष होता है; इससे गीताका उपदेश भिन्न है।

सोलहवां अध्याय और प्रचलित धर्मशास्त्र!

अब देखना चाहिये कि इस १६ वें अध्यायका वैशिष्ट्य क्या है! पहिला वैशिष्ट्य यह है कि, ऊपर जो दो प्रश्न उपस्थित किये, उनके जो उत्तर इस अध्यायमें मिलते हैं, वे प्रचलित धर्मशास्त्रके उत्तरोंसे भिन्न हैं! प्रचलित समन्वयपद्धति इन दोनों प्रश्नोंका एकही उत्तर देती है। इन दोनों प्रश्नोंका जवाब प्रचलित धर्मशास्त्रसे यही मिलता है कि, शास्त्रमें,अर्थात् श्रुति, स्मृति, पुराण ग्रंथोंमें जो जैसे करनेके लिये कहा गया है,वह वैसे करना चाहिये। [धर्मस्वरूपनिर्णय पृ० ९ से १६] गीताको यह संमत नहीं कि कार्यप्रयोजन पर लक्ष्य न करके, केवल शब्दप्रमाण है इस लिये कोई कार्य करना।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ १८, २५

इस श्लोकमें कहा है कि कर्मके परिणामपर दुर्लक्ष्य करके अथवा यह विचार न करके कि उस कर्मका आचरण करनेसे क्या किसीका अपकर्ष अथवा हिंसा होगी, केवल मोहके वशमें होकर जो कर्म किया जाता वह तामस कर्म है। इससे यह अनुमान नहीं निकलता कि केवल वचनोंसे कहा हुआ धर्म पालना चाहिये। प्रस्तुत लेखकने अपने "धर्मस्वरूपनिर्णय" ग्रंथमें (पृ० १७५–१७६) विस्तारपूर्वक बतला दिया है कि गीतामें जगह जगहपर वचनप्रधान धर्मनिर्णयपद्धतिका किस प्रकार विरोध किया है। तथापि इस अध्यायका अंतिम श्लोक बहुतसी दिशाभूल करता है, इसलिये उसपर विचार करना अनिवार्य है।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'का मतलब क्या है?

सांप्रत अनेक सभाओंमें रूढिवादी लोग वचनप्रामाण्यका समर्थन करते हैं। ऐसा समर्थन करनेमें यह प्रतिपादन किया जाता है कि "भगवद्गीतामें भी यही कहा है कि 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' और कहा जाता है कि प्रचलित धर्मनिर्णयपद्धतिको गीताकी संमति है। गीतामें यह कहा है कि— 'इसलिये तुमको शास्त्र प्रमाण मानना चाहिये।' इसमें शास्त्र शब्दका अर्थ वेद और स्मृतिके वाक्य ऐसा करके कई महाशय ऐसा भास दिलाते हैं कि श्रुतिप्रामाण्य और स्मृतिप्रामाण्य गीताकोभी मान्य है।

परंतु यह ठीक नहीं। इस श्लोकसे यह प्रतीत नहीं होता कि वेद और स्मृतिको मीमांसक जिस

तरहसे प्रमाण मानते हैं उसी तरहका प्रामाण्य गीताकोभी मान्य है। प्रस्तुत लेखकने 'धर्मस्वरूप-निर्णय'में बतला दिया है कि इन दोनों ग्रंथोंको मीमांसक क्यों प्रमाण मानते हैं? गीताकारका भी यही मत होता तो वे भी पहिले उन्ही प्रमाणोंका विवेचन करते और तब ही कहते कि "इसलिये तुम्हें शास्त्र प्रमाण मानना चाहिए।" स्वतःप्रामाण्य और अपौरुषेयत्व, इन दो सिद्धान्तोंके जोरपर मीमांसक वेदोंका प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। वेद किसीके बनाए हुए नहीं इसलिये उनमें कर्ताके दोष आ नहीं सकते। ग्रंथकर्ता भ्रांत होगा तो संभव है कि उसके दोष ग्रंथमें उतरें; परन्तु वेदोंका कोई कर्ता न होनेसे उसमें दोष कहांसे आवेंगे? अतः वेद दोषरहित होनेके कारण यह बात सिद्ध है कि वे प्रमाण हैं ही- ऐसा मीमांसकोंका कहना है। यहां हमें यह नहीं देखना कि यह मत कहांतक युक्त है? यह जरूर देखना है कि गीताको यह मत पसंद है या नहीं?

मीमांसक जिस प्रकारसे वेदोंको प्रमाण मानते हैं, वही प्रकार यदि गीताको मान्य होता, तो गीता मेंभी वेदोंका स्वतःप्रामाण्य है, इसका विवेचन पहिले आता और बादमें 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' यह वाक्य आया होता! परंतु ऐसा नहीं है। इस श्लोकके पहिले गीतामें कहींभी इस विषयका विवेचन नहीं है। परंतु ऐसा विवेचन पहिले नहीं आया अतएव यह सिद्ध नहीं होता कि यह स्मृतिप्रामाण्य गीताको मान्य है।

उपर्युक्त विवेचन हृदयंगम करनेपर यह निश्चय होगा कि प्रचलित रूढिवादी लोग 'तस्माच्छास्त्रं' इत्यादि वचनोंकी निरर्थक घोषणा करते हैं। इस वाक्यसे शुष्क वचनप्रामाण्यको अथवा समन्वय-पद्धतिको गीता किसी तरह पुष्टि नहीं देती। तब सवाल यह है कि इस वचनका अर्थ क्या है?

शास्त्रके मायने क्या हैं?

"तस्माच्छास्त्रं" इ० श्लोकमें शास्त्र शब्दका अर्थ वेद अथवा स्मृति नहीं- इसका जो कारण ऊपर दिया गया है, उसी कारणसे नीतिशास्त्रप्रवेश-कारका अर्थ (शास्त्र=सत्पुरुषका निर्णय) उतनाही निराधार मालूम होगा [नीतिशास्त्रप्रवेश तृतीयावृत्ति पृ० १३५] श्री०महादेवशास्त्री दिवेकर महाशयने प्रस्तुत लेखक से मतभेद जाहिर करके शास्त्रका अर्थ 'सदाचरणका मार्ग' ऐसा किया है; वही इसी कारणसे अयुक्त है। आगे और पीछे जो विवेचन है, उसमें सत्पुरुषके निर्णयका अथवा सदाचरणके मार्गका कोई संबंध नहीं आता; इस-लिये इस शब्दका कुछ निरालाही अर्थ होना चाहिये। अतएव पूर्वापारसंबंध ध्यानमें रखकर देखना चाहिये कि इस शब्दका क्या अर्थ होता है?

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इसके पिछले श्लोक में कहा है कि "जो शास्त्रविधि छोडकर स्वतःकी कामना के अनुसार वर्ताव करता है, उसको सिद्धि इत्यादि की प्राप्ति नहीं होती।" उसमें बतलाया है कि शास्त्रविधिको छोडनेसे किस तरह नुकसान होता है। इसलिये इस श्लोकमें जो 'शास्त्र' शब्द आया है उसका अर्थ शास्त्रविधि अथवा विधिशास्त्र ऐसाही करना चाहिये। अन्यथा अगले पिछले श्लोकोंकी ठीक संगति नहीं लगती। यह कहना विसंगत दिखता है कि "शास्त्रविधि छोडकर कर्म करने से नुकसान है, इसलिये तुम शास्त्र प्रमाण मानो।" सिवाय इसके इस श्लोकके उत्तरार्ध में भी 'शास्त्रविधान' यही शब्द आया है। इस लिये बीचमें आया हुआ शास्त्र शब्द शास्त्रविधि अथवा विधिशास्त्रका वाचक समझना योग्य होगा!

कर्म कौनसा करना, शास्त्रका (धर्मशास्त्रका अथवा कर्तव्यशास्त्रका) विषय है; और कर्म किस तरह करना, शास्त्रविधिका अथवा विधि-शास्त्रका विषय है! इनमें से कर्माकर्मनिर्णय का शास्त्र (धर्मशास्त्र) इस अध्याय के २२ वे श्लोक तक समाप्त हुआ! उसमें यह सिद्धान्त बतलाया गया कि दैवी संपत्ति बढानेवाले कर्म ही करना चाहिये, क्यों कि उनसे काम-क्रोध-लोभोंके बंधनों से छुटकारा होता है! ये कर्म किस विधिसे करना चाहिये, यह बतलाने के लिये अगले दो श्लोक हैं (२३-२४)। २३ वें श्लोक में कहा है कि शास्त्र-विधि को छोडकर कोई (दैवी संपत्ति बढाने-वाला भी) कर्म किया जाय, तो उससे इष्ट फल

नहीं मिलता; और २४ वें श्लोकमें कहा है कि "इसलिये शास्त्रविधिका अनुसरण करना चाहिये। यह शास्त्रविधि क्या है इसका विवरण १७ वें अध्यायके श्लोक २४ से २८ तक आया है। ये सब बातें ध्यानमें रखकर २४ वें श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ लगाना चाहिए। उस तरहसे अर्थ लगानेसे 'कार्याकार्यव्यवस्थितौ' सति सप्तमी माननी पडती है; और "कार्य क्या है और अकार्य क्या है, यह ठहर जानेपर भी कार्य करते समय वह किस तरह करना, यह बतलानेवाले विधिशास्त्रको प्रमाण मानकर तुम्हें आचरण करना चाहिये।" ऐसा पूर्वार्धका अर्थ होता है और उत्तरार्धमें उसीकी परिस्फुटता की हुई देखनेमें आती है।

हमारा यह विवेचन कई लोगोंको पसंद न होगा और कई लोगोंको इसमें शायद दूरान्वय मालूम होगा; तथापि निम्नलिखित दो सिद्धांत किसीको अमान्य नहीं हो सकते--

१. गीता वचनप्रामाण्यका पुरस्कार नहीं करती किंतु संपत्तिद्वयपर ध्यान रखकर धर्माधर्मनिर्णय करना चाहिये, ऐसा कहती है।

२. सत्रहवें अध्यायमें विधानोक्त क्रियाओंका वर्णन करते समय ॐ तत्सत् का जो विवेचन किया गया है, उसका अनुसरण करके ही धार्मिक क्रिया होनी चाहिये, ऐसा गीताका कटाक्ष है।

विधिशास्त्रका महत्त्व।

अब यह विचार करें कि गीताने विधिशास्त्रको इतना महत्त्व क्यों दिया। इस अध्यायकी दोनों संपतियोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे मालूम होगा कि इनमें कोई कोई बातें समान हैं। दैवी संपत्तिमें दान और यज्ञका समावेश है। 'यक्ष्ये, दास्यामि' इन शब्दोंसे मालूम होता है कि आसुरी संपत्तिके लोगभी यज्ञ और दान करते हैं। केवल यज्ञ अगर उन्नतिका साधन होता, तो उससे आसुरी संपत्ति के लोगोंकी भी उन्नति होनी चाहिये थी। परंतु ऐसा दिखता नहीं; इसका कारण क्या है? इसका उत्तर १७ वें श्लोकके उत्तरार्धमें दिया गया है–

'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम्'

इस श्लोकार्धमें कहा है कि 'आसुरी संपत्तिके लोग दंभसे यज्ञ करते हैं। इससे समझ सकते हैं कि भगवान्‌ने ॐ तत्सत् इस विधिको महत्त्व क्यों दिया है। आगे १७ वें अध्यायमें यज्ञ, तप और दानका जो वर्गीकरण किया है वह इसी दृष्टिसे किया है। इनके राजस और तामस कर्म आसुरी संपत्तिकी श्रेणिमें आते हैं, और केवल सात्विक कर्म दैवी संपत्तिको बढानेवाले हैं; यह बात चाणाक्ष पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है। तात्पर्य यह है कि कामक्रोधसे प्रेरित होकर दम्भसे किए हुए सत्कर्म भी तारक नहीं होते, मारक होते हैं। इस सिद्धांतका महत्त्व अब ध्यानमें आवेगा। इससे मालूम होगा कि गीता विधिशास्त्रको महत्व क्यों देती है।

इस अध्यायका वैशिष्ट्य।

यहां तक इतना देख लिया कि गीताको प्रचलित धर्मशास्त्रकी वचनप्रधान धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य निर्णयपद्धति मान्य नहीं है। अब यह देखें कि इस संबंधमें गीताको कौनसी पद्धति मान्य है। इस पद्धतिका सूत्र इसी अध्यायमें है। गीतामें अनेक विषय वारंवार आए हैं; संपत्तिद्वयकी यह बात नहीं है। पीछे ९ वें अध्यायमें इनका नामनिर्देश अन्य प्रसंगसे आया जरूर है; तथापि यहां उनका विवेचन नहीं है। इससे संभव है कि लोगोंको इस विषयका कोई विशेष महत्त्व मालूम न होगा; परंतु ठीक विचार करनेसे मालूम होगा कि यह ख्याल गलत है! क्यों कि कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयका साधन केवल इसी अध्यायमें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

सब कोई जानते हैं कि गीताके आरंभमें अर्जुन का प्रश्न क्या था। प्रश्न यही था कि 'मैं युद्ध करूं अथवा न करूं?' अर्जुन कहते थे कि–

'जिसमें स्वजनोंकी हत्या होगी वह युद्ध मैं न करूंगा' और श्रीकृष्ण उनको जतलाते थे कि 'तुमको युद्ध करना चाहिये;' परंतु उसका कारण नहीं बतलाया। तीसरे अध्यायके आरंभमें अर्जुनने पूछा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
गी० अ० ३-१

अर्थात् यह स्पष्ट है कि यहांतक अर्जुनको इसका जवाब नहीं मिला था कि घोर कर्म क्यों करना चाहिये। उस अध्यायमें कर्म करनेका आदेश कितने भी जोरसे किया गया हो, परंतु इस बातका निर्णय वहां नहीं है कि कौनसा कर्म करना चाहिये, कर्माकर्म निर्णय कैसे करना चाहिये, इसका उत्तर इस अध्यायमें नहीं, किंबहुना अगले अध्यायमें भी नहीं है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४-४१

चौथे अध्यायके अखीरमें यह श्लोक आया है। इसमें इस प्रश्नका उत्तर है कि 'कर्म करके भी बंधन किसको प्राप्त नहीं होता?' परंतु पाठकोंके ध्यानमें आया ही होगा कि यह उत्तर 'कर्म कौनसा करना' इस प्रश्नको लागू नहीं है। 'कर्म कैसे करना' इसीका यह उत्तर है।

आगे पांचवें अध्यायसे दसवें अध्यायतक संन्यास योग, ज्ञानविज्ञानयोग इत्यादि अनेक योग बतलाये गये हैं। राजगुह्य ऐसी राजविद्या भी कही गई। स्वतःके विभूतियोगका पहाढा भी पढा गया; परंतु मूल प्रश्नको उत्तर देनेका योग नहीं आया। इसके पश्चात् विश्वरूपदर्शन भी दिया गया, परंतु मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मिला। इतने ऊहापोहका परिणाम यही हुआ कि पाचवें अध्यायतक जो प्रश्न ❀ अर्जुनने अपने मनमें किसी तरह स्थित रखा था उसपरसे अर्जुनका ध्यान भी उठ गया; और १२ वें अध्यायके आरंभमें अर्जुन इस प्रश्नकी ओर झुके कि "व्यक्त की और अव्यक्तकी उपासना करनेवालोंमेंसे श्रेष्ठ कौन है?" १३ वें अध्यायसे १५ वें अध्यायतक भगवान् का ही व्याख्यान है। उनमें अर्जुनका एकाध मामूली सवाल आया है, परंतु मूल प्रश्न की सुधभी अर्जुन को रही हुई नहीं मालूम होती। आगे १७ वें और १८ वें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस ऐसा वर्गीकरण है; और उससे कुछ बोध होता है। परंतु इस बात का स्पष्ट बोध नहीं होता कि उनमेंसे सात्विकही ग्राह्य क्यों और बाकी त्याज्य क्यों? इन सब अध्यायोंमें इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि "मनुष्यको कोनसा कर्म करना चाहिये और क्यों करना चाहिये?" वह उत्तर इस १६ वें अध्यायमें मिलता है। अन्य अध्यायोंमें वे युक्तियां बतलाई गई हैं जिनसे कर्म करते हुए कर्मका बंधन प्राप्त नहीं होता। ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जैसे-

नैवं पापमवाप्स्यसि। नैव किंचित्करोति सः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

ऐसे सब वाक्यों का सार इस श्लोकमें मिलता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १८।१७

परंतु इस प्रश्न का उत्तर नहीं आया कि "इन लोगोंको कब मारना और क्यों मारना?" इससे यह कहना प्राप्त है कि गीता में कर्तव्य का निर्णय नहीं है। वह न्यूनता, प्रस्तुत लेखक की रायमें, इस सोलहवें अध्यायसे पूरी की गई है। अर्थात् इस महत्त्व के प्रश्न का उत्तर देना इस अध्याय का महत्त्व और वैशिष्ट्य है।

गीतारहस्यका विवेचन।

गीतारहस्यमें कहा है कि गीता कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयशास्त्र है। "शास्त्रतः प्राप्त हुआ कर्तव्य

❀ पांचवें अध्यायमें यह प्रश्न है कि, "हे श्रीकृष्ण! एकवार तुम कहते हो कि कर्मोंका संन्यास करना चाहिये; फिर कहते हो कि कर्म करना चाहिये; तुम निश्चयसे कहो कि इनमेंसे श्रेयस्कर क्या है!" मार्मिक पाठकोंके यह ध्यानमें आवेगा कि यह प्रश्न उससे भिन्न है जोकि ३रे अध्यायमें किया गया है। तीसरे अध्यायमें प्रश्न यह था कि "युद्धसरीखा घोर कर्म मैं क्यों करूं?" पांचवें अध्यायमें 'कर्म करना या न करना' ऐसा सामान्य स्वरूप का तात्विक प्रश्न है अर्थात् यह कहनेमें कोई बाधा नहीं कि तीसरे अध्यायके अंतहीमें अर्जुनने मुख्य प्रश्न छोड दिया।

निष्काम और आत्मौपम्य बुद्धिसे करना चाहिये, यही गीता के नीतिधर्मका मुख्य सार है"(पृ.४९२) इस तरह के अनेक वाक्योंसे गीतारहस्यकारने अपने मतानुसार गीताका मथितार्थ स्पष्ट किया है। इस मथितार्थ का निष्कर्ष ऐसाही निकलता है कि "गीतामें केवल इतनाही बतलाया है कि कर्म कैसे करना; यह नहीं बतलाया कि कौनसा कर्म करना चाहिये।" गीतारहस्य के उपसंहार का विवेचन देखनेसे यही बात प्रतीत होती है! ऐसा कहना अनुचित न होगा कि "निरहंकार होकर कर्म करना, आत्मौपम्यबुद्धिसे करना, ईश्वरार्पणबुद्धिसे करना-इत्यादि उपदेशही गीताका सार है।" परंतु मार्मिक पाठकों का इससे समाधान नहीं होता। ऊपर कह दिया है कि अर्जुनकी जिज्ञासा यही थी कि "मैं कौनसा कर्म करूं" और १५ वें अध्यायतक श्रीकृष्णने इतनाही कहा है कि कर्म कैसे करना। गीतारहस्य के उपसंहार में ऊपर लिखे सदृश वाक्य जगह जगह पर आये हैं, इससे मालूम होता है कि मूल गीता में अखिरतक इस बात का जबाब नहीं दिया गया कि कौनसा कर्म करना चाहिये। परंतु कर्मजिज्ञासा प्रकरण विचारमें लेनेसे इस प्रश्न का उत्तर जरूर मिले ऐसी अपेक्षा उत्पन्न होती है। उक्त प्रकरणके ४९ वें पृष्ठपर ऐसा वाक्य है-

"ऐसे बिकट समयपर साधारण मनुष्यसे लेकर बडे बडे पंडितोंको भी यह जाननेकी स्वाभाविक इच्छा होती है कि, कार्य अकार्य की व्यवस्था-कर्तव्य-अकर्तव्य धर्मका निर्णय करनेके लिये कोई चिरस्थायी नियम अथवा युक्ति है या नहीं? ... यह बात पाठकों के पूर्ण ध्यानमें आने के हेतुसे उपर्युक्त विवेचन किया गया है।"

इससे ऐसा भास होता है कि रहस्यकार गीता के आधारसे सामान्य वाचकोंके लिये भी कर्माकर्मनिर्णय का साधन बतलानेवाले हैं। रहस्यकारने अपने ग्रंथ का जो उपक्रम किया है, उसका स्वरूप बहुत व्यापक है। परंतु समग्र गीतारहस्य पढनेपर भी. कौनसा कर्म करना चाहिये, इसका स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। ऐसी अवस्थामें, जैसा कि रहस्यकार कहते हैं, गीताका इतनाही तात्पर्य होगा कि "आत्मौपम्यबुद्धिसे कर्म करो," तो मुक्तोंको अथवा बद्धों को गीता का उपयोग कहांतक हो सकेगा इसका हमें संदेह है। आत्मौपम्यबुद्धि प्राप्त करके जो आचरण करने लगेगा, वह स्वाभाविकतया वैसाही बर्ताव करेगा, अर्थात् उसको इस तत्त्वज्ञान की कोई जरूरत नहीं। जो बद्ध है उसको सन्मार्ग का ज्ञान होना आवश्यक है; परंतु अडचन यह है कि प्रत्येक समयपर वह स्थितप्रज्ञ की तलाश कैसे कर सकेगा; और तलाश करनेपर भी स्थितप्रज्ञ केवल निर्विकार बुद्धिके बलपर निर्णय कैसे दे सकेगा! तात्पर्य, क्या बद्धको अथवा क्या मुक्तको, यह मार्ग कहांतक उपयुक्त होगा इसका हमें संदेह है। फोनोग्राफ की प्लेट के समान जिसके पास स्थितप्रज्ञ सदैव हाजिर रहेगा, और वह हाजिरजबाबी रहेगा तबही उसको इस पद्धतिसे कुछ फायदा होनेकी संभावना है! परंतु ऐसी सुविधा रहनेपर भी क्या उससे सब कर्मों का निर्णय करना शक्य है?

गीताका कर्म शब्द कितना व्यापक है, यह रहस्यकारने पृष्ठ ५५ पर बतलाया है। वे सूचित करते हैं कि इस...में सबही क्रियाओंका समावेश होता है। हम नहीं समझते कि इन क्रियाओंमेंसे हंसना, रोना, सुवास लेना इत्यादि क्रियाएं कैसी की जांय यह बतलाने के लिये गीताका अवतार हुवा होगा। यह कहनेमें कोई स्वारस्य नहीं कि ये क्रियाएं कैसी की जांय, किंतु स्वारस्य यह बतलानेमें है कि वे कब और कैसी की जांय। अध्यात्मज्ञानी पुरुष हर्षशोकातीतही रहते हैं। इसलिये उनके विषयमें बोलनेकी आवश्यकता नहीं।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

यह स्थिति जिसको प्राप्त हुई, वह हंसता या रोताही नहीं। उसको यह बतलाना कि कैसे रोना, मानो यह बतलाना है कि खपुष्प कैसे तोडना! अब सामान्य जनताकाही प्रश्न बाकी रहता है। उसको यह सिखलाना आवश्यक नहीं कि हंसना या रोना कैसा चाहिये। ऐसी जनता को यह नहीं समझता कि शोच्य क्या है और अशोच्य

क्या है; और यह भी नहीं समझता कि हर्ष किस बात का मानना और किस बातका न मानना। अब गीता यदि सामान्य जनों को (जिन्हें आत्मौपम्य आत्मसात् नहीं हुवा) उपयुक्त होगी, तो उसमें इन सब बातों का विवेचन होना चाहिये। धनसंपत्तिका नाश होनेसे कोई शोक करे तो, उसको यह कह कर रास्तेपर लाना चाहिये—

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

इसी तरह यदि कोई विषयसुखोंमें रममाण होने लगा तो—

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥

अथवा

विषयाचें सुख येथें वाटे गोड ।
पुढें आहे अवघड यमयातना ॥

[यहां विषयोंका सुख मीठा लगता है; परंतु आगे असह्य यमयातना होती है ।]

इत्यादि तत्त्व समझाकर उसको सचेत करना चाहिये। विषयसुख त्याज्य क्यों और आत्मसुख ग्राह्य क्यों, इसका विवेचन करके उसको समझाना चाहिये। यह सब गीतामें समाविष्ट हो तभी सामान्य जनताको गीताका सच्चा उपयोग होगा! रहस्यकारने मान्य किया हुवा आत्मौपम्य-बुद्धिका पहाडा पढनेसे ऐसी जगह कोई उपयोग होनेका संभव नहीं।

रहस्यकार कहते हैं कि 'भिन्न कर्तव्योंमें विरोध आनेसे कार्याकार्यनिर्णय नहीं होता; वह गीताके तत्त्वोंसे होता है; परंतु ऐसे गहन प्रश्नोंका निर्णय भी आत्मौपम्यबुद्धिसे कैसे होगा? चातुर्वर्ण्यके जो विशेष कतव्य स्मृतिग्रंथोंमें कहे गए हैं, उनका आचरण समाजके धारणपोषणकी दृष्टिसे आवश्यक ठहरता है। ऐसे कर्मोंके विषयमें ही दो कतव्योंका विरोध आनेपर क्या करना चाहिये? इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं। ऐसे प्रश्नोंका निबटारा आत्मौपम्यबुद्धिसे करना मुश्किल है। परंतु संध्या जप, तप, ध्यान इत्यादि वैयक्तिक क्रियाकलापोंके विषयमें ऐसे प्रश्न उपस्थित नहीं होते। क्षणभर ऐसा प्रश्न शायद आ जाय कि संध्याके समय यदि देशपर परचक्र आ जाय तो क्या करना चाहिये? परंतु इसका उत्तर भी सरल है। व्यक्ति समाजकी घटक है, इसलिये समाजकी सुखसमृद्धिमें अंतर्भूत है ही। जो सच्चा विरोध उपस्थित होता है वह व्यष्टिधर्म और समष्टिधर्म, अथवा सामाजिक धर्म और व्यक्तिधर्मकी जोडीमें नहीं; किंतु सामाजिक धर्मोंकी जोडीमेंही होता है! कर्मजिज्ञासाप्रकरणमें रहस्यकारने जो उदाहरण दिये हैं, उनका योग्य विचार करनेसे मालूम होगा कि वे सब इसी श्रेणिमें आते हैं। ये उदाहरण हल करनेके लिये आत्मौपम्यबुद्धि किसतरह उपयोगी होगी? महाभारतमेंसे जो प्रसंग रहस्यकारने उद्धृत किये हैं उनमें आत्मौपम्यबुद्धिसे निर्णय किये जानेका कहीं भी उल्लेख नहीं है और सच पूछो तो वह शक्य भी नहीं है। आत्मौपम्य-बुद्धिसे निर्णय करना हो तो, उन्हींके लिखे अनुसार ' गायका घास मनुष्य को और मनुष्यका अन्न गाय को देनेका ' प्रसंग आवेगा। ऐसे समय भी वे कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष ऐसा न करेगा; परंतु यह कैसे शक्य होगा? बाह्य फलोंका विचार करना यदि अयुक्त है, तो यह शक्य कैसे होगा?

रहस्यकार बाह्य फलोंपर लक्ष देकर कर्माकर्म-निर्णय करना गर्ह्य ठहराते हैं। हमारा मत ऐसा है कि यदि बाह्य फलोंपर लक्ष्य न दिया जाय, तो केवल साम्यबुद्धिसे निर्णय करना अशक्य है. इसी लिये विशिष्ट फलोंका लक्ष्य रखकर कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय करनेकी जो पद्धति इस सोलहवे अध्याय-में बतलाई गई है, वही हमें ग्राह्य मालूम होती है; परंतु वह रहस्यकारको मान्य नहीं। इसलिये यह समझ लेना आवश्यक है कि उनका मत इस पद्धतिके विरुद्ध क्यों है। रहस्यकार कहते हैं—

"सारांश मनुष्य कितनाही बडा ज्ञानी, धर्मवेत्ता और सयाना क्यों न हो किन्तु, यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्रमें सम न हो गई हो, तो यह नहीं कह सकते कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीतिकी दृष्टिसे निर्दोष ही रहेगा। अतएव हमारे शास्त्रकारोंने निश्चित कर दिया है, कि नीतिका विचार करनेमें कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा, कर्ता की

बुद्धिकाही प्रधानतासे विचार करना चाहिये; साम्यबुद्धिही अच्छे बर्ताव का चोखा बीज है।" (गी० र० पृ० ३७८)

इसके सदृश वाक्योंमें रहस्यकार ने समबुद्धिका जो महत्त्व वर्णित किया है, वह हर कोई मान्य करेगा। परंतु कर्माकर्म के निर्णयमें बाह्य फलोंको बहुत नीचा स्थान देनेका जो उनका मनोदय जगह जगहपर व्यक्त हुवा है, वह गीताको कहांतक संमत है, इसका हमें संदेह है।

'कृपणाः फलहेतवः' का क्या मतलब है?

फल की कसौटी से कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय करने की पद्धति को रहस्यकार 'आधिभौतिक' कहते हैं; कर्ताकी समत्वबुद्धि की कसोटी से निर्णय करने की पद्धति को 'आध्यात्मिक' नाम देते हैं (पृ. ३७७)। "गीता निरे कर्म के विचार को कनिष्ठ समझकर उस कर्म की प्रेरक बुद्धिकेही विचार को श्रेष्ठ मानती है।" इस प्रकार के वाक्यों से रहस्यकार जाहिर करते हैं कि, उक्त दो पद्धतिमें से गीताको दूसरी पद्धति ही संमत है। पीछे हम बतला चुके हैं कि साम्यबुद्धि निर्णायक नहीं हो सकती। अब इसका विचार छोडकर यह देखा जाय कि गीताका मत क्या है। रहस्यकार कहते हैं कि गीतामें फलविचार को गौणत्व अथवा हीनत्व दिया गया है, इस बात का सबूत दूसरे अध्याय के ४९ वे श्लोकमें है, "कृपणाः फलहेतवः" इन शब्दोंसे यह बतलाया गया है कि फलकी ओर दृष्टि रखकर कर्म करनेवाले लोग हीन दर्जेके हैं (पृ. ३७९)। रहस्यकारने 'फलहेतवः' का अर्थ यह दिया है- "फलकी ओर दृष्टि रखकर- उससे कितने लोगोंको कितना सुख होगा, इसपर नजर रखकर- कर्म करने वाले लोग"। इसका मतलब जितना चाहिये उतना साफ नहीं है। "फलकी ओर दृष्टि रखकर" का मतलब "फलकी आशासे" ऐसा हो तो वैसा कर्म त्याज्य ही ठहरेगा! और गीताका यही कहना हो, तो हमको वह मान्य है। परंतु "इस कर्म से मुझे लोकसंग्रह इत्यादि फल प्राप्त होंगे या नहीं" ऐसा विचार करके वैसे फलकी ओर दृष्टि रखकर- अर्थात् केवल उसका विचार करके कर्म करना भी त्याज्य ठहराने का जो रहस्यकार का रूख है, वह गीता को मान्य होना कठिन है। यह कोई भी कबूल करेगा, कर्मका नैतिक मूल्य ठहराने में बुद्धिही को प्राधान्य है! परंतु इस प्रकार नीतियुक्त ठहराया हुवा कर्म योग्य नहीं ठहरता; अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के निर्णयमें उसका कोई उपयोग नहीं है। परंतु रहस्यकार कहते हैं कि बुद्धि को शुद्धाशुद्धता की कसौटीसे ही कर्म की योग्या-योग्यता ठहराना चाहिये। "कोई भी कर्म तभी होता है, जब कि पहले उस कर्म के करने की बुद्धि उत्पन्न हो. इसलिये कर्म की योग्यता-अयोग्यता का विचारभी सभी अंशोमें बुद्धि की शुद्धता-अशुद्धता के विचार पर ही अवलंबित रहता है।" (गी. र. पृ. ३७८) ऐसा कहकर अपना मत तर्कशुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; परंतु यह वाक्य बहुत भ्रामक है। इसमें बुद्धि की शुद्धता और कर्म की योग्यता का कार्यकारणभाव सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है; परंतु वह अवास्तव है। यह बात मंजूर है कि कोई कर्म हो, उसको बुद्धि कारण है; परंतु रहस्यकार का यह तर्क बराबर नहीं कि शुद्ध बुद्धि से फलनेवाले कर्म रसाल और सुंदर (योग्य) ही होते हैं। शुद्ध बुद्धिसे शत्रु को आश्रय दिया, और शत्रुने कृतघ्नता का व्यवहार किया, तो क्या यह कृतघ्नताका व्यवहार योग्य समझना चाहिये? अथवा अधिक बारीकी से पूछना हो तो- क्या शत्रुको आश्रय देना योग्य कर्म है? रहस्यकारका विवेचन तर्कशुद्ध माना जाय तो यह कहना भी योग्य होगा कि 'तलवार उठानेके लिये तलवार उठानेवाले हाथ की जरूरत है इसलिये तलवार उठानेकी योग्यता-अयोग्यता का विचार भी सब तरहसे हाथ की शुद्धता अशुद्धता के विचारपरही अवलंबित रहता है।" रहस्यकारका यह कहना ठीक ही है कि "गलतीसे, गलत ख्यालसे अथवा अज्ञानसे भी बुरा कर्म हो सकता है, और नीतिदृष्ट्या उसको बुरा नहीं कह सकते।" परंतु इसका इतनाही मतलब है कि उस कर्म के पापरूपी बरे परिणाम कर्ताको भोगने

नहीं पडते. उन कर्मोंसे कर्ता को पाप नहीं लगता.

अर्थात् इससे इतना सिद्ध होता है कि किसी कर्म के परिणाम कर्ता को भोगना पडेंगे या नहीं, यह ठहराने के लिये बुद्धिकी शरण लेनी चाहिये, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह कर्म योग्य है या अयोग्य है। 'कृपणाः फलहेतवः' और इसके अगले श्लोकका निरक्षण करनेसे उनका उद्देश यही कहने का मालूम होता है कि 'समत्वबुद्धि रखकर कर्म करने वाले श्रेष्ठ हैं और फलाशासे कर्म करने वाले कनिष्ठ हैं।' इसमें फलाशा भी वैयक्तिक ही है। उसमें सर्वभूतहित इत्यादि फलोंका समावेश नहीं है। ऐसी अवस्था में 'कृपणाः फलहेतवः' इस वचन को पुरस्कृत करके कर्म के फलोंका विचार ही करना गर्ह्य है ऐसा कहना योग्य नहीं। और क्या कहें–

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥
गीता। १८-२५

इस श्लोकमें उन कर्मों की निंदाहि की गई जो अनुबंध अर्थात् परिणाम अथवा फलका योग्य विचार किये विना किया जांय। इससे स्पष्ट होता है कि गीताको फलविचारसे कोई ऐतराज नहीं; फलाशासे प्रेरित होकर किये हुए कर्मों से ऐतराज है। इसलिये यहां फिरसे प्रश्न आता है कि यह कर्माकर्मविचार कैसे करना? इस विचार में प्राधान्य बुद्धिको देना कि कर्मफल को देना?

पहिले यह देख चुके हैं कि कर्माकर्मनिर्णय अथवा कर्तव्याकर्तव्य निणय करनेमें समत्वबुद्धिका उपयोग नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि फलसेंही उसकानिर्णय करना पडेगा। दैवी संपत्तीमें इन्हीं फलोंका उल्लेख रहनेके कारण यही संपत्ति कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करनेमें उपयोगी होगी।

स्थितप्रज्ञका कर्तव्य---निर्णय।

रहस्यकारने यह मान्य किया है कि स्थितप्रज्ञ भी इसीतरहसे कर्तव्य निर्णय करता है– "स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है, जिनसे समाजके लोगों की बुद्धि अधिक अधिक शुद्ध होती जावे, और वे लोग अपने समानही अन्तमें आध्यात्मिक पूर्ण अवस्थामें जा पहुंचे।" (गी० र० पृ० ३८०)

इस अवतरणमें स्थितप्रज्ञके वर्तनका ध्येय बतलाया है। यह ध्येय खूब ध्यान देनेलायक है। इस अवतरणमें स्थितप्रज्ञ का जो ध्येय बतलाया गया है वह दैवी संपत्तिसे पूर्णतया मिलता है। इससे मालूम होता है कि, रहस्यकार को भी यह सिद्धान्त संमत है कि दैवी संपत्तिही कर्तव्य-अकर्तव्य की निर्णायक है। केवल इसी जगह नहीं किंतु आगे भी, यह बतलाते हुए कि स्थितप्रज्ञ के निर्णय कैसे रहते हैं, रहस्यकार ने यह विशद किया है कि, सर्वभूतहित आदि ध्येय रखकरही स्थितप्रज्ञ कर्माकर्मनिर्णय करता है (गी. र. पृ. ३९१ देखो.)। इससे कहना पडता है कि, फलके अनुसंधान * से कर्तव्याकतव्य निर्णय करना, यह मत रहस्यकारको भी मान्य था। परंतु जब रहस्यकार गीताका यह सिद्धान्त बतलाते हैं कि कर्म- अकर्म निर्णयार्थ कर्मके बाह्य फलको न देखकर कर्ताकी शुद्ध बुद्धिही को प्राधान्य देना चाहिये। (पृ. ३८०)" तब जरूर मन उलझन में पड जाता है।

कर्माकर्म निर्णयमें समत्व बुद्धि का उपयोग।

रहस्यकार का मत कुछभी हो; परंतु जब यह गृहीत मानलिया कि दैवी संपत्ति निर्णायक है, समत्व बुद्धिकी क्या कीमत रहती है? इसी तरह जो आधिभौतिक पक्ष फलोंकी कसोटीपर निर्णय करता है. उससे हमारा पक्ष भिन्न कैसे? ऐसे प्रश्न उपस्थित होंगे, उनका जबाब अपनी मतिके अनुसार देना आवश्यक है। १६ वे अध्याय की पद्धति से विचार करने का मतलब यह विचार करना है, कि अमुक कर्म करनेसे दैवी संपत्ति बढेगी

* 'फलके अनुसंधान से' इसका मतलब 'फलों की इच्छासे' नहीं; किंतु 'फलोंका विचार करके' इतनाही है। अमुक कर्मका परिणाम क्या होगा, इसका विचार अलग बात है; और वह परिणाम मुझे भोगनेको मिले, यह इच्छा अलग बात है।

अथवा आसुरी संपत्ति बढेगी। अर्थात् यह विचार करना आवश्यक है कि अमुक कर्मका परिणाम दैवी संपत्तिका पोषक होगा या नहीं। यह विचार यथायोग्य होनेके लिए जिस मनसे विचार करना है वह मन शांत और निर्विकार होना चाहिये। अन्यथा पक्षपाती न्यायाधीश के समान रागद्वेषोंसे कलुषित मन विचित्र निर्णय देगा। कर्माकर्मके निर्णयमें साम्यबुद्धिका उतनाही उपयोग है, जैसे किसी वस्तुका वजन तौलनेके पहिले तराजूके दोनों पल्ले साफ करने पडते हैं, इसीतरह कर्तव्य अकर्तव्यके निर्णयमें अंतःकरणकी शुद्धताका उपयोग है। परंतु तराजूके पल्ले चाहे उतने स्वच्छ हों, तोभी वजनोंके अभावमें जैसे पदार्थका वजन मालूम नहीं होता; वैसेही केवल शुद्ध अंतःकरण वृत्ति अथवा समत्वबुद्धि कैसीभी उज्वलित रहे, तो भी जबतक समाजधारणाका तथा पोषणका सच्चा कारण अवगत न हो और कार्यकारणभावके नियमानुसार सामाजिक आचार-विचारोंका पर्यवसान क्या होगा यह जाननेका तारतम्य न हो तो शुद्ध बुद्धि अथवा साम्यबुद्धि रहते हुवे भी कोई फायदा न होगा। गहन विषयोंपर लेख लिखते समय आसपासका हल्ला सहन नहीं होता, उसके लिये शांत जगह चाहिये। विचारनेका की गति को इस एकान्तका जितना उपयोग है, उतनाही कर्तव्यनिर्णयके लिये शुद्ध बुद्धीका उपयोग है। गहन विचारोंके लिये एकांत की जगह अथवा एकान्त जितना कारण है उतना ही कर्तव्यके निर्णयमें शुद्ध बुद्धि कारण मान सकते हैं। दूसरी कक्षाका विद्यार्थी कलम दवात लेकर अपने कमरेमें भीतरसे जंजीर लगाकर चाहे उतनी देरतक बैठे परंतु लेख लिखना उसको जैसे अशक्य है, वैसेही केवल शुद्ध बुद्धिके जोरपर कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना अशक्य है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर शुद्ध बुद्धि अथवा साम्यबुद्धि प्रतिबंधका भाव- विधिसे कारण होनेसे जिन फलोंके अनुसंधानसे कर्माकर्म निर्णय करना है वे फलही प्रमुख कारण ठहरते हैं। गीताकी कर्तव्यनिर्णय पद्धतिसे साम्यबुद्धिका इस प्रकार संबंध है। अब यह विचार करें कि रहस्यकारने आधिभौतिक पद्धतिपर जो आक्षेप लिया है, वह यहां लागू होता है या नहीं।

गीता और आधिभौतिक पद्धति।

आधिभौतिक पद्धतिमें केवल समाजके बाह्य उत्कर्षका और सुखदुःखका विचार किया गया है, इसलिये वह पद्धति रहस्यकारको मान्य नहीं है। परंतु दैवी संपत्तिमें इनका समावेश नहीं होता, इसलिये आधिभौतिक पद्धतिपर जो आक्षेप है, वह इस पक्षपर नहीं लिया जा सकता। पीछे दैवी संपत्तिका विवेचन करतेसमय यह बतला दिया है कि दैवी संपत्तिके सब गुणोंका समावेश पहिले दो गुणों (अभयं और सत्वशुद्धिः) में किसतरह होता है। इन दो आध्यात्मिक गुणोंका परिपोष करनेवाले कर्मही केवल ग्राह्य ठहरते हैं. इसलिये आधिभौतिक पद्धतिसे इस पद्धतिका भेद स्पष्ट है।

"परंतु यह सर्वभूतहित उसका मुख्य ध्येय नहीं है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है,जिन से समाजके लोगोंकी बुद्धि अधिक अधिक शुद्ध होती जावे और वे लोग अपने समानही अन्तमें आध्यात्मिक पूर्ण अवस्थामें जा पहुंचे। मनुष्यके कर्तव्योंमें यही श्रेष्ठ और सात्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुखवृद्धिके प्रयत्नोंको हम गौण अथवा राजस समझते हैं। [गी० र० पृ० ३८०]

रहस्यकारका यह कहना सर्वतोपरि यथार्थ है। इसके अनुसार विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि जिससे आध्यात्मिक पूर्णावस्था प्राप्त होगी वह कर्म योग्य और बाकी अयोग्य- ऐसा स्थितप्रज्ञका भी सिद्धांत है। आध्यात्मिक पूर्णावस्था के मायने अभय ब्रह्मकी प्राप्ति कर लेना है। अब यदि दैवी संपत्ति इस अभय स्थिति को प्राप्त करा देनेवाली है,तो यह कहनेसे क्या बिगडता है कि दैवी संपत्ति ही कर्तव्यके निर्णयका साधन है! इस दृष्टिसे धर्माधर्म निर्णयपद्धतिको देखनेसे मालूम होता है कि वह कर्मफलकी ओर पूर्ण ध्यान देती हुई भी आध्यात्मिक ही है! गीतामें अनेक जगह यह बतलाया है कि कर्म कैसे करना; परंतु इस अध्यायमें यह भी कहा गया है कि कर्म कौनसा करना; और

यही गीताका मूल प्रश्न होनेसे यह विवेचन गीता के विषयको महत्त्वपूर्ण दृष्टि देता है। तज्ञ लोग ही निर्णय करें कि रहस्यकारके ध्यानमें इस अध्याय का यह महत्त्व आया था या नहीं।

कौनसा कर्म करना चाहिये?

सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कर्तव्य निर्णयका मार्ग बतलाकर यह कहा है है कि कौनसा कर्म करना चाहिये! परंतु इतने दूरतक विचार करनेकी इच्छा जिनको न हो उनके लिये स्पष्ट नामनिर्देश पूर्वक १७ वें अध्यायमें विवेचन किया है। १६ वे अध्यायमें दैवी संपत्तिका विवेचन करते हुए कुछ मनोधर्मों और कुछ बाह्य क्रियाओंका वर्णन किया है। उनमेंसे मुद्देके तीन कर्म इस (१७ वे) अध्याय में अलगसे निकालकर बतलाए हैं। एकही श्लोकमें यह बतलाकर कि सत्कर्म क्या वस्तु है भगवान्‌ने यह भी बतलाया है कि कौनसे सत्कर्म है। वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है-

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ १७. २७

इस श्लोकका अभिप्राय यह है कि, यज्ञ तप और दान, तथा इनके हेतु जो अन्य कर्म किए जांय वे भी सत्कर्म ही हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि १६ वें अध्यायमें दैवी संपत्तिके जो कर्म कहे गए, वे ही यहां दिये गए हैं। तात्पर्य ऐसे लोगोंके लिये जो दैवी संपत्तिका विचार नहीं कर सकते, इस श्लोकमें स्पष्ट नामनिर्देशपूर्वक बतलाया है कि कौनसे कर्म करना चाहिये। १६ वे अध्यायमें कहा ही हैं कि ये कर्म क्यों करना चाहिये। इस दृष्टिसे गीताके १६ वे अध्यायको देखनेसे निश्चय होता है कि गीता सर्वोपयोगी और परिपूर्ण है।

गीताके १६वे अध्यायमें कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयके साधन बतलाये गये हैं और इसीसे इस अध्यायका महत्त्व है। इतना देखनेपर सहजही यह प्रश्न आता है कि १६ वे अध्यायके वे साधन क्या हैं? इसका उत्तर भी अब स्पष्ट हो गया है। वे साधन दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति हैं। अर्थात् इस विषयमें गीताका यह निर्णय प्रतीत होता है कि जिस कर्मके करनेसे दैवी संपत्ति बढेगी वह कर्म करना और जिससे आसुरी संपत्ति बढनेकी संभावना हो वह अकर्तव्य समझकर न करना चाहिये।

सोलहवें अध्याय की अन्य महत्त्व की बातें।

इसके अतिरिक्त इसी मुख्य सिद्धांत को पोषक ऐसी निम्नलिखित महत्त्वकी बातें इसी अध्याय में कही गई हैं-

१ दैवी संपत्ति-बंधनातीत-मोक्ष देनेवाली है।
२ आसुरी संपत्ति बंधनों को बढानेवाली है।
३ दैवी संपत्ति को बढाने वाले कर्मों का शास्त्रविधिके अनुसार ही करना चाहिये यह विधि १७ वे अध्याय में ॐ तत्सत् का विवेचन करनेमें कहा गया है।

इन तीनो बातों का महत्त्व भी स्पष्ट है। "अमुक करो" ऐसा आदेश होते ही प्रश्न उपस्थित होता है कि "क्यों" इसी तरह "अमुक मत करो" ऐसा कहते ही वही प्रश्न उठता है। इन दोनो "क्यों" का उत्तर इस एकही श्लोकार्धमें है—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरा मता।

इसी का अनुवाद उपर्युक्त १ ले और २ रे विधानोंमें है। तीसरा विधान इसी अध्याय के २३ व २४ व श्लोकोंमें किया है। इसपर ऐसे प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं कि दैवी संपत्ति बंधनातीत किस कारणसे है? आसुरी संपत्ति बंधनोंको बढाती है, यह बात सच काहेसे मानना? परंतु इनका उत्तरभी स्पष्ट ही है। इन संपत्तिके ऐवजोंका योग्य परीक्षण करनेपर गीता के ये सिद्धान्त उन विद्वानों को भी निश्चयसे शास्त्रशुद्ध मालूम होंगे जिन्होंने मानसशास्त्रका अभ्यास किया है। इस प्रकार भगवान् ने कर्तव्याकर्तव्य निर्णय का महत्त्वपूर्ण शास्त्र इस अध्याय में कहा है; ऐसी अवस्था में यह कौन कहेगा कि यह अध्याय महत्त्व का नहीं है?

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर!

इस १६ वे अध्यायमें संपत्तिद्वय का वर्णन करके श्रीकृष्ण ने सामान्य सदाचार के निर्णय की

रीति बतलाही दी है। परंतु, मानो यही सूचित करने के लिये, कि कठिण प्रसंगोंमें भी इसी तत्त्व (संपत्तिद्वय) के आधार से कर्तव्य का निर्णय कर सकते हैं, इसी अध्याय में अर्जुनके मूल प्रश्नका उत्तर देनेका भगवान्‌ने प्रारंभ किया है। इस अध्यायमें ऐसा श्लोक आया है—

माशुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव।

वस्ततः यह बात बीचहीमें कहने की कोई जरूरत नहीं थी। परंतु केवल हिंसाप्रधान आसुरी संपतिका वर्णन सुनकर अर्जुन को यह संदेह होना स्वाभाविक था कि मैं आसुरी संपत्तिवाला तो नहीं हूं। उस शंकाका निराकरण करने के हेतु पहिले ही अर्जुन को यह जतलाकर, कि तुम आसुरी संपत्तिवाले नहीं हो, भगवान्‌ने आसुरी संपत्तिका वर्णन किया है।

तथापि यह प्रश्न बाकी रहा कि युद्ध ही क्यों करना? उसका उत्तर १८ वे अध्याय में आया है। उस अध्याय के सातवे श्लोकमें प्रथम तामस त्याग का वर्णन देकर, अपना मत अर्जुन को गर्भितार्थ से सुझाकर निम्न दो श्लोकोंमें वह उत्तर भगवान् ने दिया है—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इतिमन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तु नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत्॥६॥१५

इन दो श्लोकोंके बाद दो श्लोक छोडकर 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' यह समाप्ति श्लोक आता है। इससे इस बातको पुष्टि आती है कि 'मैं युद्ध क्यों करूं' इस अर्जुनके प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने इसी श्लोकमें दिया है। इसी अध्यायमें तामस त्याग, तामस ज्ञान और तामस कर्मका जो वर्णन है वह अर्जुनको पूर्वसूचनाके निमित्त है। इस दृष्टिसे अर्थात् गीतामें उपस्थित किये हुवे प्रश्नका उत्तर यहां है इस कारण निःसंदेह १८ वा अध्याय महत्त्व का है। परंतु यह भूलना न चाहिये कि इस उत्तरकी बुनियाद १६ वे अध्यायमें डाली गई है। यदि १६ वें अध्यायमें पहिले यह न कहा होता, कि आसुरी संपत्तिके लोग काम, क्रोध, लोभ और मोहके वशमें आकर स्वतःका घात किसतरह कर लेते हैं, तो अगले अध्यायमें जो सात्विक, राजस, तामस ऐसा वर्गीकरण किया है उसका कोई फायदा न होता! इसलिये यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि १७ वां और १८ वां अध्याय इस १६ वे अध्यायके विस्ताररूप हैं। इस (१६वे) अध्यायमें भगवान्‌ने कर्माकर्म निर्णयका सामान्य तत्त्व बतलाया और अगले अध्यायोंमें उस दृष्टिसे कर्मोंका वर्गीकरण करते हुए, और उसके द्वारा अर्जुनकी बुद्धि, धृति, त्याग इत्यादि सब बातें तामस ठहराते हुए अर्जुनके निश्चयकी भूल स्पष्ट कर दिखाई है। ऐसा इस अध्यायका अगले अध्यायोंसे संबंध है। मार्मिकदृष्ट्या यह कह सकते हैं कि कर्माचरणके मुख्य सिद्धांत इस (१६ वें) अध्यायमें दिये हैं, और अगले अध्यायोंमें केवल उनसे निकलनेवाले उपसिद्धांत दिये हैं।

गीताके पिछले अध्याय भी महत्त्वके हैं। इस अध्यायके अंतमें जो शास्त्रविधि बतलाया है। उसका स्वरूप पहिलेही ३।१ बतला चुका है। वह स्पष्ट करनेके लिये ज्ञान, कर्म, भक्ति, आत्मा इत्यादिका विवेचन आवश्य है, और इस दृष्टिसे उन अध्यायोंकी आवश्यकता सिद्ध होती है। इस संपूर्ण विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह आवेगा कि गीता के पहिले पंद्रह अध्याय 'कर्म कैसे करना' यह कहनेकी पूर्व तयारी करनेके लिये, और अखीरके दो अध्याय 'कर्म कौनसा करना' यह बतलानेके लिये हैं। बीचका यह सोलहवां अध्याय इन दोनों का मेल करनेवाला है।

इस अध्यायके संबंधमें और भी छोटीमोटी बातें कहनेसरीखी हैं; परंतु उनका विशेष महत्त्व न होनेसे अब इस प्रश्नकी ओर देखें, कि क्या प्रचलित धार्मिक हलचलमें तथा उत्कर्षका मार्ग बतलानेमें इस संशोधनका कोई उपयोग है?

सोलहवां अध्याय और धर्मोन्नति।

क्षणक्षणपर हम यह देख रहे हैं कि सांप्रत धर्मका ऱ्हास हो रहा है। धर्मपरीक्षण की रीतिका अभाव ही इस ऱ्हासका कारण प्रतीत होता है! धर्मकी चिंता करनेवाले और उसके

अनुसार आचरण करनेवाले, दोनों रूढिका अनुसरण करते हैं। 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' तथा 'शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी' इन्हीं तत्त्वोंका (?) प्राबल्य सर्वत्र देखनेमें आता है किसीको कुछ पूछा जाय, तो इस प्रकारके जबाब मिलते हैं— 'क्या हमारे बापदादा मूर्ख थे ?" "इतने दिनोंतक जो रूढि चली आई,वह क्या विना शास्त्राधारके हुईहोगी?" वस्तुतः दुःख को बढानेवाले तथालोकनिन्दित धर्म का भी त्याग करनेको शास्त्र कहता है-

धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च

तथापि विद्वान् और अविद्वान् लोग रूढीसे अंध होकर शास्त्र वचनोंकी मनमानी खींचातानी करके प्रचलित समर्थन रूढिका करते हैं। इन रुढिवादियोंको धर्म कैसे समझमें आसकेगा? आजकलका धर्माचरण इस प्रकार अंधविश्वास अथवा अज्ञानपर अधिष्ठित रहनेसे उसकी गणना धर्ममें हो ही नहीं सकती। 'कर्मके परिणाम वगैरः का दुर्लक्ष्य करके केवल अज्ञान से जो कर्म किया जाता है वह तामस है' (गी. १८- २५) गीता के इस वचनपर ध्यान देनेसे आजकलका धार्मिक आचरण तामस ठहरता है, इसलिये उसका आसुरी सपत्तिमें समावेश होता है। यह टालने के लिये धार्मिक आचारोंकी विचिकित्सा होनी चाहिये। ऐसी विचिकित्सा की जाय तो धर्म की उन्नति होना मुश्किल नहीं है। इस दृष्टिसे प्रस्तुत अध्यायका महत्त्व प्रतीत होता है। स्मृतिग्रंथोंमें परस्पर विरुद्धवचन इतने हैं कि उनका समन्वय करते करते निबंधकारों के नाकमें दम आजाती है। (धर्मस्वरूपनिर्णय प्रकरण ९ देखो) प्रस्तुत अध्यायमें बतलाये हुए मार्गसे उन वचनोंकी कसोटो लीजाय, तो यह अडचण दूर हो सकती है। स्मृतिग्रंथोंमें अनेक बनावटी वचन प्रक्षिप्त किये गए हैं (ध. स्व. निः पृ. ८२,९० देखो) उनसे बचनेके लिये साधन इसी उपायसे उपलब्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ सती प्रकरणमें ऐसा एक वचन उपलब्ध होता है-

सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते ।
नान्यो धर्मो हि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित् ॥
॥ अंगिराः ॥

यह वचन कहता है कि "पतिका मृत्यु होनेपर उसके साथ अपने को दग्ध करलेनेके अतिरिक्त स्त्रियोंका दूसरा धर्म ही नहीं है।" परंतु इस वचन में कोई कारण नहीं दिया गया। इसके विपरीत

मृतानुगमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात् ।
इतरेषां तु वर्णानां स्त्रीधर्मोऽयं परः स्मृतः ॥

पैठीनसी के इस वचनमें कहा है कि "ब्राह्मण स्त्रीको सती होना न चाहिये. अन्य स्त्रियों को होना चाहिये" परंतु इसमें भी कारणों का विवेचन नहीं है। ये दो वचन (कमसे कम ब्राह्मण स्त्री के विषय में) परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं इसलिये उनको अगल रखना आवश्यक है।

अनुवर्तेत जीवन्तं न तु यायान्मृतं पतिम्

विराटके इस वचनमें कारण नहीं दिया तथापि वह सूचित है। पति की परिचर्या करना स्त्रियोंका धर्म है! जबतक पति जीवित है तबतक उसकी मर्जी के अनुसार बर्ताव करने से उस धर्म का पालन हो सकता है, पतिके मरनेपर वह शक्य नहीं। इसलिये पतिके मरनेपर उसके पीछे पीछे जानेमें (मरने में) कोई साफल्य न होने से ऐसा निष्फल कर्म स्त्रीको न करना चाहिये, अर्थात् सती न हो जाना चाहिये, ऐसा इस वचन का अभिप्राय दिखता है। यही अभिप्राय अंगिरस के इस वचनमें स्पष्ट किया है-

या स्त्री ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत् ।
सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत् ॥
अंगिराः

इस श्लोक में कहा है कि सती होकर- स्वतः का घात करके स्त्री अपने को अथवा अपने पति को स्वर्ग को नहीं ले जा सकती। यह तत्त्व हर कोई मान्य करेगा कि स्वर्ग अनेक पुण्य कर्म करने से और जिसका उसीको मिलता है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कह सकते हैं कि पत्नी के कृत्य से पति स्वर्गको जाता है? सत्कर्म की गणना दैवी संपत्तिमें है। उसमें दान, दया, दम, शांति त्याग इत्यादि गुणोंका समावेश होता है। पतिके मरनेपर भी पवित्र आचरण करके इन गुणों की

वृद्धि करना शक्य है। तब सहगमन करने के मार्ग को योग्य कौन कहेगा? तात्पर्य यह है कि परस्परविरूद्ध शास्त्रवचनों की सरस- नीरसता इस पद्धति से जांचनेपर- संपत्तिद्वय का उपयोग करनसे अयोग्य वचन अलग हो जांयगे और धर्मशुद्धि त्वरित हो सकेगी!

कइ प्रसंगोंपर ऐसी समस्या आती है कि— "बहुतसे लोग संध्या करना निरर्थक अयोग्य समझते हैं; वचनोको प्रमाण न माननेसे उनको क्या उत्तर दिया जा सकता है?" परंतु यहभी समस्या उसी युक्तिसे हल होती है। प्रथम यह देखना होगा जो सध्या करना निरथक समझता है, वह ऐसा क्यों समझता है? यदि कोइ कहे कि संध्या करनेसे देशकी अवनति होगी, तो वह पागलही समझा जावेगा! आखिर एकही सबब बाकी रह जाता है अर्थात् आलस्य! आलस्यके कारण संध्या करना एक झझट मालूम होती है। परन्तु आलस्य अंतकरण का दोष है, और वह दैवी संपत्तिके सत्त्व संशुद्धि गुणका विरोधी है। इतना ध्यानमें रखनेसे मालूम होगा कि संध्या न करना कर्तव्य अथवा धर्म नहीं हो सकता तात्पय स्मृतिग्रंथोंमें क्रियाकलापोंका जो वर्णन है, उसमें अनेक प्रकारका जो प्रक्षिप्त भाग है, उसकी छानबीन करनेका साधन प्रस्तुत अध्यायमें उपलब्ध होनेसे कोईभी देख लेवे कि धर्मोन्नतिके लिये इस अध्यायका कितना उपयोग हो सकेगा, अगर यह करना है कि, धर्मविचारमें किसी प्रकारके तर्कके लिये स्थानही नहीं, तो हम लाचार हैं।

सूर्य-उपासना।

(ले०-श्री० राधाकृष्णजी पेशकार, मुरादाबाद)

आपने जो जनवरीके गीता मासिक पत्रमें नम्बर ६ पर सूर्यनारायणके विषयमें यह वाक्य दिये हैं।

'सूर्योपासना तो वैदिक धर्मकी महा उपासना है सभी आर्योंको सूर्योपासना करनी चाहिये। गायत्री मंत्रमें सूर्योपासन कही है। और वेदमें सैंकडो मंत्र ऐसे है कि जहां यह उपासना कही है। अतः इससे विशेषता नहीं।' इन वाक्योंने मुझे निहाल कर दिया। इसका आपको हार्दिक धन्यवाद है। दूसरा धन्यवाद इस बातका देता हूं कि आपने मुझे माह अप्रेल पत्रमें व्याकरण और विभक्तियोंकी पकडसे छोडकर मूल सिद्धान्तपर ही शास्त्रार्थ चलाना प्रारम्भ किया है। श्रीमान्जी, इस विषयमें मुझे कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं थी। क्यों कि यह लेख मेरे सिद्धान्त की पुष्टिमें है। जिस सच्चे वैदिक सिद्धान्तके दुनियामें फैल जानेसे यज्ञ और हवनकी वैदिक धार्मियोंमें रुचि बढेगी। यज्ञसे फल मिलनेपर उनकी बढती होती देख अन्यधर्मावलंबियों को भी वैदिक धर्ममें सम्मलित होने की उमंग पैदा होगी।

परंतु आपने जो अन्तमें यह लिखा है कि अतः इसमें कोई विशेषता नहीं; इस लिये लम्बा लेख लिखने की आवश्यकता हुई। क्षमाप्रार्थी हूं।

इसमें विशेषता यह है कि सूर्यनारायणको परमात्माने इतना अपनाया है कि कोई दैवी बनावट और कोई दैवी प्रेरणा ऐसी नहीं कि वह बना हुआ पदार्थ दैवी कहलावे। और उसमें इन हिरण्यपाणि सविताके हाथ न लगे हों। ड्राइवर और सब जर्न्जारोंका दिलानेवाला यहाँ तक कि वायुका चलानेवाला इसी सूर्यस्वरूपसे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। वेदमें इन्हीं सूर्यनारायणको सृष्टिका कर्ता, मेंह का बरसानेवाला, पृथ्वीके रसोंसे आकर्षण विकर्षण और भेदन स्थापन कर कुल वनस्पतियोंका बनानेवाला, और माताके खान पानके रसोंसे गर्भस्थ बालकका शरीर बनानेवाला और लोकलोकान्तरोंको धारणा करनेवाला घुमानेवाला यहाँ तक कि ब्रह्मा विष्णु महेश परमात्माको इसी सूर्यस्वरूपसे माना है। निरुक्तकार महर्षि यास्कने सूर्यको ध्यान करने योग्य (ध्येय) माना है। सूर्यनारायण संसारके पदार्थोंकी भांति जड बने नहीं रहते, परमात्माने इनको इतना अपनाया है कि परमात्मा अंगीका यह अंग है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
मनु अ० ३।७६

अर्थ—अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यको पंहुचती है, सूर्यसे वृष्टि होती है वृष्टिसे अन्न, उस (अन्न से सब प्राणधारी होते हैं।

महीनां पयोऽसि वर्च्चोदा असि वर्च्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि॥
य० अ० ४।३

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्रीवासस्तनुते सिमस्मै॥ य० ३३।३७

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधेह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः।
य० अ० ३३।६३

अर्थ—हे जिज्ञासु जन (यतः जिस जगदीश्वरसे (प्रजापतिः) विश्वका रक्षक सूर्य (जातः) उत्पन्न हुआ है और जो (सुभूः) सुन्दर विद्यमान् (स्वयम्भूः) जो अपने आप प्रसिद्ध उत्पत्तिनाशरहित (प्रथमः) सबसे प्रथम जगदीश्वर (महति) बडे विस्तृत (अर्णवे) जलोंसे सम्बन्ध हुये संसारके (अन्तः) बीच (ऋत्वियम्) समयानुकूल प्राप्त (गर्भम्) बीजको (दधे) धारण करता है (ह) उसीकी सब लोग उपासना करें।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्। य० अ० ३३।४३

जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादिका कर्ता प्रकाशरूप तेजोमय रमणीय स्वरूपके साथ वर्तमान् सब प्राणियोंमें अमृतरूप वृष्टि वा किरणद्वारा अमृत प्रवेश करा और सब मूर्तिमान् द्रव्योंको दिखलाता हुआ सब लोकोंको साथ आकर्षण गुणसे सह वर्तमान अपनी परिधिमें घूमता रहता है।

किसी लोकके चारों ओर नहीं घूमता। वैसेही एक ब्रह्माण्डमें एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोकलोकान्तर प्रकाश्य हैं।

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप। उदस्तभ्नानाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥२॥

(विष्णो+देव) हे दानादि गुणयुक्त सूर्यदेव! (न जायमानः) न विद्यमान ज्ञानी (न+जातः) और न हो चुके हैं। वे ज्ञानी (ते) आपके (महिम्नः) महिमाके (परम्+अन्तम्) पर अन्त को (आप) पाते हैं, आपका कौन महिमा है सो आगे कहते हैं, (ऋष्वम्) दर्शनीय (बृहन्तम्) महान् (नाकम्) द्युलोकको अर्थात् आपके परितःस्थित गृहोंको (उद्+अस्तभ्नाः) आपने ऊपरही रोक रक्खा है जिससे वे न गिर जांय इस प्रकार आप उनको पकडे हुये हैं, यह आपकी महान् महिमा है। और (पृथिव्या) पृथिवी को (प्राचीम् ककुभ) प्राची दिशाकी (दाधर्थ) धारण किये हुये हैं। यह उपलक्षण मात्र है। सम्पूर्ण पृथ्वीको आप पकडे हुये हैं।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। ०।३
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।०॥४॥
सो अग्निः स उ सूर्य स उ एव महायमः ०॥८॥

वह धाता विधाता, और वही (वायुः) वायु है जिसने (नमः उच्छ्रितम्) आकाश ऊँचा बनाया है ॥३॥ वह अर्यमा वरुणा रुद्र और महादेव है ॥४॥ वह अग्नि सूर्य और महायम भी वही है ॥८॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः। अथर्व. का. १७।२२
अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमो ऽस्तमिताय नमः
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः।
ज अ० कां० १७। ३॥
क्या उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सप-देशर्क् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् वि-॥ बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ अ० कां० १७।२४।

(उद्यते नमः) उदित होनेवाले को नमस्कार (उदायते नमः) ऊपर आनेवाले के लिये नमस्कार (उदिताय नमः) उदय को प्राप्त हुये को नमस्कार (विराजे नमः) अपने तेज से चमकनेवाले को नमस्कार, (सम्राजे नमः उत्तम प्रकाशयुक्त को नमस्कार ॥२२॥ (अस्तंयते नमः) अस्त होनेवाले को नमस्कार, (अस्तं एष्यते नमः) अस्त को जानेवाले को नमस्कार, (अस्तमिताय नमः) अस्त हुये को नमस्कार, (विराजे सम्राजे स्वराजे नमः) विशेष तेजस्वी उत्तम प्रकाशमान् और अपने तेजसे प्रकाशनेवाले को नमस्कार ॥२३॥ (अयं आदित्यविश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य सम्पूर्ण तेज के साथ उत्पन्न हुआ है (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरेलिये मेरे शत्रुओंको वश करता है (अहं चद्विषते मा रधं) परंतु मैं कभी शत्रुओंके वशमें न होऊं। (तव यत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव तेरे हि यह सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सब को अनन्त रूपों वाले पशुओंसे परिपूर्ण कर और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाश में विद्यमान अमृत में मुझे धारण कर ॥२४॥ और प्रातःकाल इन्हीं अदिति पुत्र (सूर्य भगवान्) की महिमा जो इन वेदमंत्रों से जानी जाती है बताई है। और इन्हीं दो वेदमंत्रों से सूर्य नारायण का आवाहन करना वेद ने बतलाया है। वह यह है ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषाणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम।। प्रातर्जितं भगमग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाचिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ऋ० ४०।१७॥ ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य स्वाहा। १। ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। २। ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३॥ ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा। ४।

अग्निहोत्र की महिमा में वेद ने यह उपरोक्त मंत्र दिये हैं। हम यह दिखला भी चुके हैं कि अग्नि में दी हुई आहुति सूर्यनारायण को ही जाती है, वही यज्ञदेव है।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम। १। प्रातः प्रातगृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम। २।

(सायं सायं) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देनेवाला है उसी प्रकार उत्तमसे उत्तम वस्तु का देनेवाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देनेवाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिये। तथा इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिये भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। (वयं त्वे०) हे

परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाश करते हुये अपने शरीर को पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करते हुये सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों। (प्रातः प्रातर्गृ ह- पतिर्नो०) इस मंत्र का अर्थ पूर्व मंत्रके तुल्य जानो, परन्तु यह विशेष है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुये हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जांय, जिन वर्षों में अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त(ऋधेम)धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें और पूर्वोक्त प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि न हो ऐसी इच्छा करते हैं।

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश्च प्रति गृह्णंति कामान्संवर्धयन्ति च।
मनु० ११। २४२॥

अर्थ- तप से शुद्ध हुये ब्राह्मणके यज्ञों को देवता स्वीकार करते हैं और उसकी कामनायें पूरी करते हैं। इसी स्वरूप के भर्गमें ३३ वीर्य हैं सूर्योपासना-विषयक लेख जब हमारे लिखे जा रहे थे तो हमने आपके १४ प्रश्नों में से तीसरे इस प्रश्न का उत्तर यह दिया था।

'क्या सूर्य प्रतीक है? क्या सूर्योपासना से परमात्मोपासना हो सकती है? क्या सूर्यो-पासना करने वाले को निराकार परमात्मोपासना कभी हो सकती है? सूर्योपासना आदिम उपासना है वा अन्तिम? पाठकवृन्द? इस विषय में हमारा कथन यह है कि न हम सूर्य को प्रतीक कहते हैं और सूर्योपासना से परमात्मोपासना हो सकती है। यह कहते हैं। किन्तु हमारा कथन तो यह है कि सूर्य परमात्मा के अगांगी सम्बन्ध से चेतन है और अंगी परमात्मा सूर्यसहित पर-मेश्वर है। इसलिये हमारी सूर्योपासना केवल सूर्योपासना नहीं है किन्तु सूर्य+निराकार परमात्मा की उपासना है, इसलिये हमारी सूर्योपासना पर "क्या सूर्योपासना से परमात्मोपासना हो सकती है? क्या सूर्योपासना करनेवाले को निराकार पर-मात्मोपासना कभी हो सकती है?' इन प्रश्नोंका अवकाश ही नहीं है। साथ ही कि हम ध्यान करने में सूर्यमंडलका ध्यान नहीं करते किन्तु इन सविता के उस श्रेष्ठ तेज का कि जिस अप्रकट रूप में स्थित तेज के साथ परमात्मतेज हमारे अन्दर सदा विद्यमान है। जहां धर्मशास्त्र में "उपस्था-य च भास्करम्" से ब्रह्मचारी को सूर्यनारायण के उपस्थान की आज्ञा दी गई है और पूर्व तथा पश्चिम सन्ध्या के समय का सूर्यनारायण के उद-यास्त से सम्बन्ध है तथा पूर्व सन्ध्या खडे हो कर और पश्चिम सन्ध्या बैठ कर करने की आज्ञा है जैसा कि श्री० पं० भीमसेनजीकृत "मानवार्थ" भाष्य (मनुस्मृति) के अतिरिक्त श्री कुलूक भट्टजी ने भी मनु २। १०१। १०२। पूर्वां सन्ध्यां जपंस्ति-ष्ठते... पश्चिमां तु समासीनः॥ "पूर्वां सन्ध्यां जपं-स्तिष्ठन् पश्चिमां तु समासीनः" के इन अर्थों से व्यक्त किया है" प्रथमसन्ध्या सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत् आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरे-कत्र देशे कुर्यात्। पश्चिमा तु सन्ध्या सावित्रीं जपन् समयं नक्षत्रदर्शपर्यन्तं उपविष्टः स्यात्। पूर्वां सन्ध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नश्यति पश्चिमसन्ध्यायां तूपविष्टो जप कुर्वन दिवा-र्जितं पापं निहन्ति। वहां प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शौचादि से निवृत्त हो (सावित्री-मर्कदर्शनात्) सूर्यदर्शन तक सावित्री मंत्र से इन सविता के वरेण्य भर्ग का ध्यान सूर्योदय होने के समय अग्निहोत्र करने तथा सायं सूर्यास्त होते समय अग्निहोत्र करने और पश्चात् 'सम्यार्क्ष-विभावनात्' अच्छी तरह तारे दिखने के समय तक सावित्री द्वारा इन सविता के श्रेष्ठ तेज का ध्यान करने की आज्ञा से स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी क्या प्रातः और क्या सायं दोनों समय सूर्य के न दिखने के समय में ही इन सविता के श्रेष्ठ भर्गको मनसे ध्यान करे। इस प्रकार उपासक ब्रह्म-चारीकी यह वैदिक उपासना का स्वरूप सूरजको आंखसे देखते रहना नहीं है। और न उसका यह भाव ही है कि मैं केवल सूर्यका उपासक हूं किन्तु यह कि अंगी परमात्मा अपने अंग सूर्य सहित जगत्के उत्पादक सविता देवकश्रेष्ठ भर्गका ध्यान करता हूं। वह भर्ग अंगीका तो दीखा नहीं है

किन्तु उसके अंगका है परन्तु उसका अंगी सर्वज्ञ परमात्मा होनेसे उस भर्गका ध्यान करनेसे (परमात्मा + सूर्य) सवितासे उपासकमें यह तेतीस वीर्य आवेंगे। कि जो न अकेले परमात्मासे आ सकते थे। और न अकेले सूर्यसे- (अथर्व १२।५)

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मयशश्च ॥९॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ५ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं च चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥

धर्मशास्त्रके युक्त कथनसे ऐसा भी भान होता है है कि यहभी सूर्यनारायण सृष्टिके आदिसे अन्त तक सदा उदित हैं परन्तु ऊपरी दृष्टिसे उनका प्रातः काल आगमन हो रहा है। इस उनके आनेके समय तक उनका ध्यान करो और आ जानेपर अग्निहोत्र को भेट दो। सायं जाते समय उन्हें भेट देकर विदा करो,चले जानेपर ध्यान करो प्रातः सायं अग्निहोत्र की पीछे और पहिल विधिसे यह स्पष्ट है प्रातः काल अब आते होंगे । इस प्रतीक्षामें स्वागतके लिये खडे हो। सायं जब चले गये तो बैठकर ही उचित है। तो प्रातः काल तारोंके छिपने से सूर्यनारायणके आने की सूचना दी और आ जाने तक ध्यान किया और जब गये तबसे तारोंके अच्छी तरह दीखने तक इसलिये ध्यान किया कि अभी जा रहे हैं इसी कारण उनकी आभाके प्रभावसे अभी तारोंका अच्छी तरह प्रादुर्भाव नहीं हुआ। जब तारे अच्छी तरह दीखने लगे तो समझो कि अब उनका प्रकाश इधरके भागमें न पडनेसे वे चले गये।

प्रातःसायं सूर्य सामने न होनेके समय उनका ध्यान करनेकी आज्ञा इसलिये भी उचित है कि कोई किसीका ध्यान तभी तो करता है जब वह व्यक्ति सामने न हो। आपका प्रेमी जब आपके सामने बैठा है तब आप उसका ध्यान थोडई करते हैं तब तो जो कुछ खिलाना पिलाना है वह क्रिया आप सम्पन्न करेंगे। जो कि यहां अग्निहोत्र रूप है जैसे कि कहा है। " अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते " (मनु० अग्निमें डाली हुई आहुति आदित्यको पहुंचती है । प्रिय पाठकवृन्द! सूर्योपासना आदिम है या अन्तिम यह प्रश्न भी उसी मनुष्यसे किया जायगा जो केवल सूर्यका उपासक हो। अर्थात् उससे पूछा जा सकता है कि तू सूर्यकी उपासना करते करते परमात्माकी उपासना तक पहुंचना चाहता है पर केवल सूर्यकी उपासना ही तेरा अन्तिम उद्देश्य है। परन्तु इस वैदिक सिद्धान्तपर यह प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि यह उपासक तो आरम्भसे ही सूर्य अंग सहित परमात्मा अंगीकी उपासना करता आया है। इस उपासनाको 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' की भांति जो चाहो सो मान लीजिये। इस प्रकार उपासक पर यह प्रश्न उसी प्रकार नहीं उठ सकता कि जैसे किसी परमेश्वरभक्तसे यह प्रश्न नहीं हो सकता कि परमेश्वरोपासना आदिम है वा अन्तिम। इस उपासकने आदिमें छोड क्या रखा था कि जिसे अन्तमें प्राप्त करनेके लिये दूसरी उपासनाविधि ग्रहण करनी पडती। जो 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुः' सावित्री मंत्र द्वारा परमात्मा + सूर्यको ब्रह्मा विष्णु महेश कह कर उसका ध्यान करना यज्ञोपवीत देते समय बताया गया था उस की वह उपासनाविधि अन्त तक चली आती है।

अब मैं यह दिखलाता हूं कि यह परमात्माका अंग कैसा मजबूत और कितने बहुत समय तक ठहरनेवाला है कि जो सब भुवनोंको धारण कर रहा है। देखिये ऋग्० ३।३।१६३

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः।

हेमन्त और शिशिरको एक ऋतु मानकर ५ ऋतुओंका उल्लेख किया है।

अर्थ- (परिवर्तमाने) बार बार भ्रमण करने वाले (पञ्चारे) पाँच ऋतुरूपी आरों से युक्त (तस्मिन् चक्रे) उस रथचक्र के समान घूमने वाले सौरमण्डल में उसके सहारे (विश्वाभुवनानि) सारे पृथ्वी आदि लोक (आतस्थुः) यथास्थान स्थित हैं (तस्य भूरिभारः अक्षः) उस सौरमण्डल

रूप पहिले का अधिक भार धारण करनेवाला धुरा (न तप्यते) नहीं टूटता और (सनात् एव) सनातन- पुराना भी है (सनाभिः) भुवनानां समानः एकरूपः नाभिबन्धनं: यः सः स नाभिः सूर्यः सौर मण्डलमें स्थित उन सब पृथिवी आदि लोकों का समान रूप से बन्धन एक श्रृंखला में रखने वाला सूर्य (न शीर्यते) छिन्न भिन्न नहीं होता, टूटता नहीं अर्थात् जिस प्रकार साधारण लौकिक रथचक्र का धुरा बहुत बोझ से टूट जाता है और धुरे के खाख हो जाने से नाह विगड जाती है,उस प्रकार यह सूर्यरूपी रथचक्र पृथिवी आदि बडे बडे लोकों को धारण किय हुये भी टूटता फूटता नहीं। इस मंत्र में अलंकाररूप से स्पष्टतया उपदेश है कि सूर्य ही अपनी आकर्षण शक्ति से ही पृथिवी आदि सौर मण्डल के ग्रह उपग्रहों को धारण किये हुये हैं। अब आप और मंत्र इसी विषय का देखिये कि सूर्य ही जगत् को धारण कर रहा है।

कालो अश्वो वहति सप्त-रश्मिः सहस्राक्षो
अजरो भूरिरेतः। अ० १९।५३।१।

अर्थ- (भूरिरेतः) बहुत शक्तिशाली अजर असंख्य आंखों से युक्त सात किरण जिसमें हैं ऐसा कालरूपी (अश्व) अर्थात् सूर्य इस विश्व को (वहति) उठाता है। पाठकगण इसमें सूर्य का नाम काल- अश्व आया है कि काल रूपी अश्व। एक मंत्र इस विषय में भी देता हूं कि समय विभाग सूर्यनारायण ही करते हैं नहीं तो आज हो न कल।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यात् न रात्रीः
नाहः स्यान्नव्युच्छेत् कदाचन। अ० ११।४।२१।

अर्थ- (हंस) गतिशील सूर्य (सलिलात्) गत भाव से अस्तगत भावसे या उस दशा से जिसमें उसकी सत्ता तो विद्यमान है परन्तु अस्त हो जाने के कारण उस लोक के मनुष्यों के लीन है (उच्चरन्) उदित होता हुआ (एकपादं) अपने एक पैर को (न उत्खिदति) नहीं उठाता। (अंग) हे मनुष्यो! (यतमः) यदि वह सूर्य (तं उत्खिदेत्) उस एक पैरको उठा ले तो नैव अद्य न श्वः स्यात्) आज हो न कल (न रात्री न अहः स्यात्) न रात्रि हो न दिन (न व्युच्छेत् कदाचन्) व्युच्छनं उषसः प्रादुर्भावः। और न कभी उषःकाल हो। जब मैं सूर्य नारायण को समयविभागकर्ता दिखला कर य० अ० ३२ का २ रा भी इसी स्वरूप पर घटाता हूं।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैन
मूर्ध्वं न तिर्यंचं न मध्य परिजग्रभत्॥
य० अ० ३२।२

अर्थ- (वि-द्युतः) विशेष तेजस्वी और (पुरुषात्) सृष्टि में पूर्ण व्यापक परमेश्वर से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष आदि काल के अवयव (जज्ञिरे) हो गये हैं। कोई भी (एनं) उसका (न ऊर्ध्व) न ऊपर (न तिर्यञ्चं) न तिरछा (न मध्ये) न मध्य भाग में (परि- जग्रभत्) पूर्णता से ग्रहण कर सकता है।

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे।
ऋ० अ० ६।१।६।५

"(यदा) जब (अमुं) इस (शुक्रं ज्योतिः) अनन्त तेजोमय प्रकाश स्वरूप (सूर्य) सूर्य को (दिवि) आकाश में (अधारयः) धारण किया। आदित तत्पश्चात् (विश्वा भुवनानि) पृथ्वी आदि सब लोकों को (येमिरे) नियमपूर्वक अर्थात् सूर्य-आकर्षणशक्ति से अपनी अपनी कक्षा में स्थित किया।

दिशां प्रजानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं
पतयन्तमर्णवे। स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां
यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः॥
अ० कौ० १३ सू. २।२

"(अर्चिषा प्रजानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाश से ज्ञापक दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले (अर्णवे सुपक्षं आशु पतयन्तं) समुद्रमें उत्तम किरणों के साथ चलनेवाले (भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम) त्रिभुवन के रक्षक सूर्य की हम प्रशंसा करते हैं।

(यः रश्मिभिः सर्वाः दिशः आभाति) जो अपने किरणों द्वारा सब दिशाओं को प्रकाशित करता है ॥ मैं यह कब कहा है कि आप सूर्यनारायण को भी स्वयं चेतन सत्ता मान लें। लेकिन सूर्य नारायण को जड कह देना भी तो ठीक नहीं जब कि सब ऐसे शरीर जिनमें जीवात्माएं हैं चेतन कहलाते हैं। मैं तो कहता हूं कि स्वयं चेतन सत्ता नहीं बल्कि परमात्मा से चेतन है लेकिन वह काम कर रहे हैं और वह जडता के नहीं चेतनता के। इसलिये इस स्वयं चेतन परमात्मा स्वयम्भू स्वरूप सूर्यनारायण को कभी जड न कहना चाहिये। अब मैं जिस मंत्र में सूर्यनारायण को नमस्कार आया है और उसके भी श्रीस्वामी जी महाराज ने दो अर्थ किये हैं, आपके सन्मुख धरता हूं

> नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय
> तदृतं सपर्यत् । दूरे दृशे देव जाताय केतवे
> दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत् । य० अ० ४।३५

ईश्वरपरक अर्थ हे मनुष्यो! जैसे हम लोग(यत्) जो (मित्रस्य) सब के सुहृत् (वरुणस्य) श्रेष्ठ(दिवः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (ऋतम्) सत्यस्वरूप है(तत्) उस चेतन की सेवा करते हैं वैसे तुम भी इसका सेवन सदा (सपर्यत्) किया करो । और जैसे उस (महः) बडे (दूरे दृशे) दूरस्थित पदार्थों को दिखाने (चक्षसे) सबको देखते (देवजाताय) दिव्य गुणों से प्रसिद्ध (केतवे) विज्ञानस्वरूप (देवाय) दिव्य गुणयुक्त (पुत्राय) पवित्र करनेवाले (सूर्याय) चराचरात्मा परमेश्वर को (नमः) नमस्कार, करते हैं वैसे तुम भी (प्रशंसत्) उसकी स्तुति किया करो ।१।

सूर्यपरक अर्थ-हे मनुष्यो ! जो (मित्रस्य) प्रकाश (वरुणस्य) श्रेष्ठ (दिवः) प्रकाशस्वरूप सूर्य का (ऋतम्) यथार्थ स्वरूप है। (तत् उस प्रकाशस्वरूप को तुम भी विद्यासे (सपर्यत्) सेवन किया करो । जैसे हम लोग जिस (चक्षसे) सब के दिखाने (देवजाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध (केतवे) ज्ञान कराने अग्नि के (पुत्राय) पुत्र (दूरे दृशे) दूर स्थित हुये पदार्थों को दिखाने (महः) बडे (देवायः) दिव्य गुणवाले (सूर्याय) सूर्य के लिये प्रवृत्त हों वैसे तुम भी प्रवृत्त होओ"

पाठकगण! आप ईश्वरपरक अर्थपर पहले विचार कीजिये कि परमात्मा अपने निज स्वरूप से दूरस्थित पदार्थों को दिखाने वाले कैसे हैं। रात में यदि दीपक की रोशनी न हो तो दूर तो क्या पास पडी हुई चीज परमात्मसत्ता के प्रकाश से नहीं दिखाई देती? अब लीजिये सूर्यपरक अर्थ में नमः शब्द ही उडा दिया कि जिससे सूर्य को चेतन ही न माना जाये। यदि परमात्मा अंग होने से सूर्य को चेतन मान कर अर्थ करते हो तो न तो (नमः) शब्द अलग करना पडता और न दो अर्थ करने पडते। देखिये मित्र शब्द का अर्थ जो सूर्यपरक में सुहृद की जगह प्रकाश का किया है न कि सूर्य चेतन न माना जावे। सो इस निम्न लिखित मंत्र में सूर्य के ही वरुण अग्नि सविता इन्द्र ... नाम आये हैं ॥

> स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति
> प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति
> स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥

अर्थ – सायंकाल वह वरुण अग्नि होता है और प्रातःकाल उदय हुआ मित्र होता है । वह सविता होकर आकाश से चलता है और वह इन्द्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है ।।८।।

> सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य । विपश्येम
> नृचक्षसः ॥८॥

अर्थ-हे (सूर्य) सबके प्रेरक ईश्वर! वयम्) हम लोग (सुसदृशं) अच्छी तरह सब प्राणियों को देखनेवाले (त्वा) तुमको (प्रतिपश्येम) प्रत्यक्ष देखें और आप की कृपा से नृचक्षसः) मनुष्यों से देखने योग्य सब पदार्थों का (विपश्येम विशेषरूप से देखें। पाठकगण! आप विचारिये कि दीखनेवाला ईश्वर कौनसा है। सूर्यनारायण ही ऐसे परमेश्वर हैं जो सबों को देखते, सबको देखने की शक्ति देते और स्वयं सबों को दीखते हैं।

> इरावती धेनुमती हि भूतं सूर्यवसिनि मनुषेदशस्या । व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ
> पृथिवीमभितो मयूखैः ॥३॥

ये द्युलोक और पृथ्वी लोक दोनों (मनुषे) मनुष्य के लिये (इरावती) अन्नादि पदार्थ देने वाले हैं। पुनः (धेनुमती) गौ आदि पशुओं से युक्त हैं (सूर्यवसिनि) शोभन पदार्थ देनेवाले हैं (दशस्या) सर्वदा कुछ न कुछ देने वाले ऐसे जो (हि) निश्चय (भूतम्) होते हैं ये (रोदसी) अवरोधन करनेवाले अपनी ओर आकर्षण वाले दोनों लोक हैं (एते) इनको (विष्णो) हे सूर्य! आप (व्यस्तभ्ना) पकड़े हुये हैं और (पृथिवीम्) पृथ्वी को (अभितः चारों तरफ से (मयूखैः) किरणोंसे अर्थात् आकर्षणशक्ति में (दाधर्थ) आप पकड़े हुये हैं।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ ऋग०।१।१५४।१

अर्थ- (नु कं) शीघ्र विष्णोः) सूर्यके (विर्याणि) पराक्रम-शक्तियों को प्रवोचम् कहता हूँ। अर्थात् सूर्य की शक्तियों को प्रकाशित करता हूं। आगे सूर्य के वीर्य दिखलाते हैं (यः) जिसने (पार्थिवानि) पृथ्वीसम्बन्धी (रजांसि) रज- धूलियें (विममे) निर्माण कीं। और जिसने (उत्तरम्) पृथ्वी की अपेक्षा उत्तम अथवा ऊपर (सधस्थम्) बृहस्पति आदि ग्रहों के रहनेके स्थान को (अस्कभायत्) अपनी आकर्षणशक्तिसे स्तम्भित अर्थात् रोक रखा है। पुनः वह सूर्य कैसा है? त्रेधा तीन स्थानों में अग्नि वायु और सूर्य रूपसे (विचक्रमाणः) भ्रमण करता हुआ पुनः कैसा है? (उरुगायः) बड़े बड़े विद्वानोंसे गीयमान है।

इस पृथ्वीका विशेष कारण सूर्य ही है, सूर्यसेही यह पृथ्वी निकली है। पहले यह अग्निगोलक थी, धीरे धीरे इसकी अग्नि शान्त हो जाती है। अबभी इसके अभ्यन्तरमें अग्नि बहुत विद्यमान है। पुनः यह पृथ्वी कभी कभी जलसे पूर्ण हो जाती है जहाँ पहले समुद्र था वहां अब स्थल है इत्यादि परिवर्तन इसमें होता रहता है। सूर्यके ही कारणसे वायु चलता है, मेघ होता है, वर्षा होती है। वायु आदि के कारण पृथिवीके ऊपरसे अग्नि ठंडी होती गई और उसमें विविध ओषधियें होने लगीं। यथार्थ में इस सबका कारण सूर्य देवही है इसी हेतु वेद मंत्र कहता है कि सूर्यने पृथिवीकी धूली बनाई और सूर्य अपने आकर्षणसे अनेक ग्रहोंको चला रहा है। इस हेतु मंत्र कहता है कि उत्तर = ऊर्ध्व स्थलको पकड रक्खा है इस हेतु इसका यश बहुत है द्युलोकसे पृथ्वी तक किसी न किसी रूपसे वह सूर्य विद्यमान है। अतः 'सूर्य त्रेधा विचक्रमाणः' है। अब आप दूसरा मंत्र विचारिये।

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा।२।

(तत्) वह (विष्णुः) सूर्य (वीर्येण) तेज आदि बलके कारण (प्रस्तवते) अच्छे प्रकार स्तुत्य होता है। अर्थात सूर्यके गुणका वर्णन होता है [मृगः + नः + भीमः। न शब्द वेदमें इव यथा आदि अर्थमें भी आता है, जैसे पशुओंमें सिंह भयंकर और बलिष्ठ होता है वैसे ही ग्रहोंके बीच सूर्य भीम है (कुचरः) पृथ्वी आदि सब लोकमें विचरण करनेवाला है, 'कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रयसंचारी' (गिरिष्ठा) पर्वत्वत् उच्च स्थानमें रहनेवाला और (यस्य) जिसके (त्रिषु) तीन (उरुषु) विस्तीर्ण (विक्रमणेषु) पाद रखनेके स्थानोंमें (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणीमात्र (क्षियन्ति) निवास करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जहां तक सूर्यका किरण विकीर्ण हैं वहाँ तक ही प्राणियोंका निवास है। अनेक सूर्य हैं, उनकी गरमी सदैव प्राप्त होती है। सूर्यकी उष्णता त्रिलोक व्यापनी है इस कारण सूर्य त्रिविक्रम कहलाता है और सूर्यकी व्यापकताका नाम त्रिविक्रमण है।

प्रविष्णवे शूषमेतु मन्मगिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे। य म इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।३।

(विष्णवे) सूर्यको (मन्म) मननीय उत्तम (शूषम) शोषशक्ति (एत) प्राप्त है। वह सूर्य कैसा है? अतः (गिरिक्षिते) गिरिमेघ मेघको क्षय करनेवाला पुनः (उरुगायाय) जिससे यशको बहुत विद्वान् गाते हैं। पुनः (विष्णे) वर्षा देनेवाला (पुनः) (यः) जो सूर्य (एकः

इत) एक ही अकेला (इदम्) इस (दीर्घम्) दीर्घ (प्रयतम्) प्रकीर्ण सर्वत्र विस्तृत (सधस्थम्) अर्थात् तीनों लोकोंको (त्रिभिःपदेभिः तीन पदोंसे अर्थात् अग्निवायु और सूर्यरूपसे (विममे) प्राप्त है।

यस्य त्रिपूर्णा मधुना पदान्य क्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।४।

(अस्य) जिन सर्यके (त्री+पादानि) तीन स्थान (मधुना) मधुसे अर्थात् आनन्दसे (पूर्णा) पूर्ण हैं। पुनः (अक्षीयमाण) जिनका कभी क्षय नहीं होता। पुनः (स्वधयः) अन्नादि सामग्रीसे जो (मदन्ति) स्वाश्रित प्राणियोंको आनन्दित करते हैं ऐसे वे तीनों स्थान हैं (यः उ) जो सूर्य (एकः) अकेला ही (पृथ्वीम्) पृथ्वीको (उत) और (द्याम्) द्युलोकको और (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूतजात अर्थात् प्राणियोंको (त्रिधातु) तीन धातुओंके समान (दाधार) पकडे हुये हैं॥

तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णो पदेषा मे मध्वं उत्सः।५।

अर्थ- (अस्य) इस सूर्यके तत् प्रियम्) उनप्रिय (पाथः)आकाशको (अभि अश्याम्)में प्राप्त हूं। पाथ आकाश यास्कादि आचार्यने ऐसाही अर्थ किया है। यहां अश्याम एकवचन उपलक्षणा मात्र है । सब प्राणी सर्यके प्रिय आकाशमें निवास करते हैं । इसीका आगे वर्णन करते हैं । (यत्र) जिस आकाशमें (देवयवः) दैवी शक्तियुक्त अथवा देव सूयके चाहनेवाले (नरः) नर (मदन्ति) आनन्द प्राप्त करते हैं । (उरुक्रमस्य) सम्पूर्ण जगत्का आक्रमण करनेवाला (विष्णोः) सूर्यके (परमे + पदे) परमपदमें (मध्वः उत्सः) आनन्दका उत्स भरना है (इत्था) इस प्रकार (सः+हि+बन्धु) वही सूर्य सबका बन्धु है । विचारनेसे विद्वानोंको विदित होता है कि सूर्य ही प्राणियोंका जीवन है, किरणही सर्यका पद है ।

वह सब का उपकारी है। इस हेतु वह परम कहाता है और जहाँ जहाँ वह परमपद(सूर्यकिरण) है वहाँ निस्संदेह आनन्द है, इस हतु मन्त्र में (मध्वः+ उत्सः) कहा है।

तावां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृंगा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परमं पदमवभाति भूरि।६।

अर्थ- कहता है कि हे नरनारियों! (वाम्) तुम दोनों के (वास्तूनि) सुखपूर्वक निवासयोग्य स्थान (गमध्यै) गमन के लिये (उश्मसि) हम वहां चाहते हैं (यत्र) जहां (भूरिशृंगा) बहुत सींग वाले (अयासः) सदा गमनागमन वाले(गाव) किरण हैं गावः शब्दाका अर्थ यहां सबोंने किरण ही किया है। अर्थात् मनुष्यों का वास वहां हो जहां सूर्य के किरण आते हों (अत्र + आह) यहाँ ही जहाँ सूर्यके किरण अच्छे प्रकार आते जाते हैं। वहाँ ही (उरुगायस्य) बहुतों से गीयमान (वृष्णः) वर्षा देनेवाले सूर्य का (तत् परमं पदम) वह परमपद किरणस्थान (भूरि) बहुत (अवभाति) शोभित होता है॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सोऽपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवताग्र आयंस्तेन रोहमायन्नुपमेध्यासः। य. अ. १३। ५१

अर्थ-(अग्नेः) अग्नि की (शोकात्) उष्णता से एक (अजः) अजन्मा देव (अजनिष्ट)प्रगट हो गया। (अग्नेः) प्रथमतः (सः) उसने (जनितारं अपश्यत्) जनक का दर्शन किया (तेन) उसीसे सब (देवाः) देव (देवतां) देवत्व को (अग्रे आयन्) प्रथम प्राप्त हो गये (तेन रोहं आयन्) उसी से उच्चता को प्राप्त हुये और(उपमेध्यासः) पवित्र भी बने ।

पाठकगण! इस मंत्रको विचारियें। अग्नि की उष्णता से एक अजन्मा देव प्रगट हो गया, वह देव सूर्यनारायण हैं और उसने प्रथमतः जनक का दर्शन किया-अर्थात् जब तक कोई और बीज नहीं बनी थी। बल्कि सूर्यनायण का जनक परमात्मा ही था। और जब सूर्यस्वरूप तैयार हो गया तब उन सूर्यनारायणसे और दनों को देवत्व प्राप्त हुआ। और उनही से उच्चताको प्राप्त हुये।

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकमख्यत्सविता

वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति॥ य०अ०१२।३
पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारूहमन्तरिक्षाद्दिवमारूहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ य० अ० १७।६७
हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये । सचेत्ता देवतापदम् ॥ य० अ० २२।१०
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ य० अ०३१।१७
यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ य० अ०३१।२० रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ य० अ० ३१।२१
यद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्रते वशे ॥ य०अ० ३३।३५
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचनम् । य० अ० ३३।३६
वण्महाँ २॥ सूर्य बडादित्य महाँ २॥ असि ॥ महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धादेव महाँ २॥ असि । (य० अ० ३३ । ३९) बट सूर्य श्रवसा महाँ २॥ असि सत्रा देव महाँ॥ असि । मह्ना देवानाम सूर्यः पुरोहितो विभूज्योतिरदाभ्यम् । य० अ० ३२-४०
हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावा पृथ्वी अन्तरीयते। अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति । य०अ०३४-२५

अर्थ- हे मनुष्यो! जो (हिरण्यपाणिः) हाथों के तुल्य जलादि के ग्राहक प्रकाशरूप किरणों से युक्त (विचर्षणीः) (विशेष कर सबको दिखाने वाला) (सविता) सब पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला (सूर्यम्) सूर्यलोक जब (उभे) दोनों (द्यावापृथ्वी) आकाश भूमि के (अन्त) बीच (ईयते) उदय हो कर घूमता है, तब (अमीवाम्) व्याधिरूप अन्धकारको (अपबाधते) दूर करता और जब (वेति) अस्त समय को प्राप्त होता तब (कृष्णेन रजसा) काले अन्धकार रूप से (द्याम्) आकाश को (अभि ऋणोति) सब ओरसे व्याप्त होता है, उस सूर्यको तुम लोग जानो।

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः । तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् । अ०का०२।२।१
दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैवस्य । मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवा । अ० कां० ।२।२।२

सन्ध्यामें जो उपस्थानके चार मंत्र दिये हैं वह सब सूर्यनारायणकीही महिमा गा रहे हैं। यदि कोई कहे कि यह केवल परमात्मस्वरूपकी उपासनामें आये हैं और परमात्माके प्रत्यक्ष रूपकी उपासना का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं तो मनु भगवान्के इस श्लोकको देखिये ।

प्रतिगृह्येप्सितं दंडमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणां परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥
मनु०अ० ३।४५।

अर्थ-अभीष्ट दंडको लेकर सूर्यको उपस्थानकर अग्निको प्रदक्षिणा करके यथाविधि भिक्षाचरण करे । मनसापरिक्रमाके जो छः मन्त्र वैदिकधर्मियों की सन्ध्यामें हैं वह भी इसी सूर्यस्वरूपका मनसा परिक्रमाको निश्चय करा रहे हैं । उपरोक्त श्लोकमें जहां भास्कर भगवानका उपस्थान करना बतलाया है वहां अग्निको प्रदक्षिणा भी बतलाई है । हवन कुण्ड जिसमें अग्नि देव प्रज्वलित हो रहे हैं प्रदक्षिणा हो सकती हैं । अगर मनसापरिक्रमा परमात्मास्वरूपकी ही होती तो परमात्माका एक रस पना तो न पूर्वमें जाकर बदले न दक्षिणमें न पश्चिम में न उत्तरमें न बीचे न ऊपर और न किसी समय में न सृष्टिसमयमें न महाप्रलयमें न दिनमें न रात में न प्रातःकालमें न दो पहरमें यह विभिन्नता तो सूर्य ही के प्रकाशदशाओं और समयसे होती है इसीलिये वेद ने पूर्वमें अग्नि, दक्षिणामें इन्द्र, पश्चिम में वरुण, उत्तरमें सोम, नीचे में विष्णु, ऊपरमें बृहस्पति, परमेश्वरके नाम दिये हैं ।

पाठक इससे यह नतीजा न निकाल लें कि हम सूर्य जो भौतिक ज्योति और गरमीका पुंज है इसकी मनसापरिक्रमा और उपस्थानको कह रहे हैं । हम कितने ही दफे लिख चुके हैं कि यह स्वयं

चेतन नहीं हैं अपितु परमात्मासे चेतन है, जो सब सूरजोंके बारपार है।

पूज्यपाद म० नारायणस्वामी जी की लिखी हुई वैदिक-सन्ध्या -रहस्य में छहों मन्त्रोंका नीचे एक चित्र दिया जाता है जिससे समस्त मन्त्रोंका स्पष्ट भाव एक जगह ही पाठकों को मालूम हो जावेगा॥

मं	दिशा	अधिपति	किससे रक्षा करता है	साधन क्या है
१	पूर्व	अग्नि	असीतः-अधिकारसे	सूर्यकिरण
२	दक्षिण	इंद्र	टेढे चलनेवाले सर्प आदिसे	चन्द्रकिरण
३	पश्चिम	वरुण	विषैले जन्तुओंसे	घृत
४	उत्तर	सोम	स्वयं उत्पन्न किए	बिजली
५	नीचे	विष्णु	विषैली ठौससे	वृक्षादि
६	ऊपर	बृहस्पति	रोगोंसे	वर्षाका जल

ओं सहरत्नानि दाषुसे स्वातिः सवितः भगः तं भागं चित्रमीमहे।

ततो युद्धपरिश्रांतं समरे चिंतया स्थितम्। रावणं चाग्रतो दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्॥ (वाल्मीक रा० युद्धकांड। सर्ग १०६ श्लोक १) दैवतैश्च समागम्य द्रष्टुमभ्यागतो रणे॥ उपगम्याब्रवीद्राममगस्त्यो भगवांस्तदा॥२॥ राम राम महाबाहो श्रृणु गुह्यं सनातनं॥ येन सर्वानरीन्वत्स समरे विजयिष्यसि॥३॥ आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्॥ जयावहं जपेन्नित्यमक्षयं परमं शिवम्॥४॥ सर्वमंगलमांगल्यं सर्वपापप्रणाशनम्॥चिंताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम्॥५॥ रश्मिमंतं समुद्यंतं देवासुरनमस्कृतम्॥ पूजयस्व विवस्वंतं भास्करं भुवनेश्वरम्॥६॥ सर्वदेवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मिभावनः॥ एष देवासुरगुणान् लोकान्पाति गभस्तिभिः॥७॥ एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कंदः प्रजापतिः॥ महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः॥८॥ पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः॥ वायुर्वह्निः प्रजाप्राण ऋतुकर्ता प्रभाकरः॥९॥ आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान्॥ सुपर्णस्तपनो भानुः स्वर्णरेता दिवाकरः॥१०॥हरिदश्वः सहस्रार्चिः सप्तसप्तिर्मरीचिमान्॥ तिमिरोन्मथनः शंभुस्त्वष्टा मार्तंडकोंशुमान्॥११॥हिरण्यगर्भः शिशिरस्तपनो भास्करो रविः॥ अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शंखः शिशिरनाशनः॥१२॥व्योमनाथस्तमोभेदी ऋग्यजुस्सामपारगः॥ घनवृष्टिरपां मित्रं विंध्यवीथीप्लवंगमः॥१३॥ आतपी मंडली मृत्युः पिंगलः सर्वतापनः॥कविर्विश्वो महातेजा रक्तः सर्वभवोद्भवः॥१४॥ नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः॥ तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन्नमोऽस्तु ते॥१५॥ नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमायाद्रये नमः॥ ज्योतिर्गणानां पतये दिनाधिपतये नमः॥१६॥ जयाय जयभद्राय हर्यश्वाय नमो नमः॥ नमो नमः सहस्रांशो आदित्याय नमो नमः॥१७॥ नम उग्राय वीराय सारंगाय नमो नमः॥नमः पद्मप्रबोधाय प्रचंडाय नमोऽस्तु ते॥१८॥ ब्रह्मेशानाच्युतेशाय सुरायादित्यवर्चसे॥ भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः॥१९॥ तमोघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने॥ कृतघ्नघ्नाय देवाय ज्योतिषां पतये नमः॥२०॥ तप्तचामीकराभाय हरये विश्वकर्मणे॥ नमोस्तमोभिनिघ्नाय रुचये लोकसाक्षिणे॥२१॥नाशयत्येष वै भूतं तमेव सृजति प्रभुः॥ पायत्येष तपत्येष वर्षत्येष गभस्तिभिः॥२२॥एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः। एष चैवाग्निहोत्रं च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम्॥२३॥ वेदाश्च क्रतवश्चैव क्रतूनां फलमेव च।।यानि कृत्यानि लोकेषु सर्वेषु रमते प्रभुः॥२४॥ एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च॥ कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव॥२५॥ पूजयस्वैनमेकाग्रो देवदेवं जगत्पतिम्। एत् त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि॥२६॥अस्मिन् क्षणे महाबाहो रावणं त्वं जहिष्यसि॥ एवमुक्त्वा ततोऽगस्त्यो जगाम स यथागतम्॥२७॥ एतच्छ्रुत्वा महातेजा नष्टशोकोऽभवत्तदा॥ धारयामास सुप्रीतो राघवः प्रयतात्मवान्॥२८॥ आदित्यं प्रेक्ष्य जप्त्वा त्रिः परं हर्षमवाप्तवान्॥ त्रिराचम्य शुचिर्भूत्वा धनुरादाय वीर्यवान्॥२९॥ रावणं प्रेक्ष्य हृष्टात्मा जयार्थं समुपागतम्॥ सर्वयत्नेन महता वधे तस्य धृतोऽभवत्॥३०॥ अथ रविरवदन्निरीक्ष्य रामं मुदितमनाः परमं प्रहृष्यमाणः॥ निशिचरपतिसंक्षयं विदित्वा सुरगणगतमध्यतो वचस्त्वरेति॥३१॥ वा०रा०सर्ग (१०६।३१)

—०—

गीताके 'अहम्' शब्दका मनन।

लेखक- श्री० पं० वेदनिधिशर्मात्मज ब्र० सच्चिदानन्दजी, राँची (बिहार प्रान्त)

गीता एक अद्भुत ब्रह्म-ज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक है। इसमें वैदिक, औपनिषदिक तथा दार्शनिक प्रमाणों का संक्षेपतया संग्रह किया गया है। इस भूमण्डल में वैदिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त और कोई भी ग्रन्थ 'गीता' का मुकाबला नहीं कर सकता। यदि गीता को उपनिषदोंसे भी अधिक महत्त्व दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। कारण इसमें संक्षेपतया तमाम उपनिषदोंका सार दुहा गया है। हिन्दू लोग 'गीता' को पाँचवाँ वेद मानते हैं; कारण यह जीवन-सङ्गीत गीता स्वयं योगिराज भगवान् श्रीकृष्णके मुखार-विन्दसे उच्चारित हुई है। भगवान्‌के मुखारविन्द से उच्चारित होनेके कारण गीताका ज्ञान वैदिक भावोंसे परिपूर्ण, सारगर्भित एवं मार्मिक प्रतीत होता है। अन्यान्य विषयोंकी अपेक्षा गीताका ब्रह्म-ज्ञान-सम्बन्धी अध्यात्म-विषय कुछ और अधिक महत्त्व रखता है। गीताके अन्दर गुह्यसे गुह्य ज्ञान छिपा हुआ है। इस गुह्य-ज्ञानका प्रकाश केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने कि वेदान्तियोंके- 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'सच्चित्तत्त्वं तत्सोऽहम्' संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' इत्यादि मूल-सिद्धान्तोंको गूढ दृष्टिसे निर्मथन कर लिया है। गीताके अध्यात्म-विषयोंको स्थूल-दृष्टि से देखनेवाले लोग इसकी महिमाको नहीं जान सकते। तथा 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' इस ऋचाके कथनानुसार वे गीताके ज्ञानसे कुछ लाभ भी नहीं उठा सकते। गीताके 'पठन, पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन' इत्यादि कर्मोंका अधिकारी वही है, जिसने कि भलीभाँति आत्म-योग साधनेका प्रयत्न किया है, अस्तु। इस कथनानुसार योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण आत्मयोगी सिद्ध होते हैं। कारण उन्होंने गीतामें सर्वत्र वेदान्तियोंके 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अहमस्मि' 'सोऽहम्' 'हंसः' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति' इत्यादि मौलिक सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए 'अहम्' भावनामयी आत्म-विभूतियोंका अर्जुनको स्पष्टतया दिग्दर्शन करा दिया है। उन्होंने केवल 'अ—हम्' इसी शब्दद्वारा अर्जुनको विराट् स्वरूपकी सिद्धिका मार्ग बता दिया है। नमूनेके लिये निम्नलिखित श्लोकपर विचार कीजिए-

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ ११॥
(गी. २०।११)

इस श्लोकमें 'अहमस्मि' का स्पष्ट उल्लेख है। यह 'अ—हम्' शब्द आत्माका विशेषणवाची है। गीतामें द्वितीय अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्यायकी समाप्ति तक 'अहमस्मि' अथवा 'सोऽहम्' का तत्त्व पाया जाता है। जिन्हें इस तत्त्वको अच्छी तरह समझना हो वे निम्नलिखित गीता, पुराण और वैदिक प्रमाणोंके साम्यवादपर विशेष ध्यान दें-

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा
(गीता ११।५-६)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥
अनन्तं विश्वतोमुखम्...... (गीता ११।१०-११)
सहस्रशीर्षा...... (पुरुषसूक्त ३१।१)
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः... (१०।८१)
अनन्तं विततं पुरुत्रा...... (अ. १०।८।१२)
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः
(शिवपुराण)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्
(गी. १३।१३) (श्वे. उपनिषत् ३।१६)
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
(श्वे. ३।११)

ये समस्त प्रमाण उसी एक अखण्ड 'अ-हम्' तत्त्वके परिपोषक हैं। अर्थात् आत्मा और परमात्मा दोनोंका ही नाम 'अ-हम्' है; क्योंकि वे दोनों ही अविनाशी हैं । जो पदार्थ अविनाशी होता है, वह अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य इत्यादि शब्दोंसे व्यवहृत होता है। एतदर्थ भगवान् श्रीकृष्णने—

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥१॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥"
(गी. २।२४, २३, २५)

इत्यादि श्लोकोंमें 'आत्मा' को 'अ—हम्' अर्थात् अविनाशी, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी इत्यादि कहा है।

यह 'अ-हम्' भावनावान् आत्मा प्रत्येक प्राणियोंके अन्दर रममाण है। "अ+क्षर" "अ+व्यय" "अ+क्षय" अ+जन्मा" "अ+जर" "अ+मर" इत्यादि पर्यायवाचक शब्द "अ+हम्" के ही विशेषण हैं। 'अहम्[१]' शब्दसे व्यवहृत यह निर्लेप आत्मा पाञ्चभौतिक-स्थूल-शरीरके साथ संयुक्त होकर सुखदुःखादिका अनुभव करता है अर्थात् मैं सुखी हूँ अथवा दुःखी इत्यादि बातोंका अनुभव शरीरस्थ आत्मा करता है। वेदान्ती इसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, भगवान्, निरञ्जन, परमात्मा इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं।

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥'

संसार के समस्त दृश्यमान पदार्थ एक दिन विकाररूपमें परिणत हो जाते हैं, परन्तु एक त्रिकालावच्छिन्न आत्मा ही अविकृत रहता है। 'तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ।' वह आत्मा इतना महान् है कि ये समस्त दृश्यमान पदार्थ उसमें मिलकर एकस्वरूपमें परिणत हो जाते हैं। एतदर्थ—

आत्मेत्येवोपासीत, अत्र हि सर्वमेकं भवन्ति।
(श्रुतिः)

सम्पूर्ण विश्वको एकत्वरूपमें परिणत करनेवाले उसी आत्म-देव की ही उपासना करनी चाहिए। वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् है। उसकी सत्ता जगत् के छोटेसे छोटे पदार्थ से लेकर बडेसे बडे पदार्थों तक विद्यमान है। वह निराधार, निरवच्छिन्न और निरवयव है अर्थात् वह निराश्रय एवं हस्त-पादादि अवयवोंसे रहित है। निम्नलिखित प्रमाण उसकी महिमा और विभूतियोंके परिचायक हैं—

'सर्वज्ञः सत्य-सङ्कल्पः सर्वकर्मफलप्रदः ।
अन्तर्यामी सर्वशक्तिसंयुतः परमेश्वरः ॥
— सत्सङ्गिजीवनम्

सर्वत्रैवान्वितः शक्त्या व्यतिरिक्तः स्वतः स्थितः।
नियन्ता कालमायादेः सर्वकारणकारणम् ॥
—सत्सङ्गिजीवनम्

अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः (श्रुतिः)
स आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (श्रुतिः)
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

(१) आत्मा का विशेषण 'अहम्' है, इसका लौकिक दृष्टिसे 'मैं' ऐसा अर्थ किया जाता है । कहनेका आशय यह है कि 'अहम्' आत्माकी संज्ञा है, इस [अहम् शब्द] के साथ 'अस्मि' 'भवामि' 'गच्छामि' इत्यादि वर्तमानादि कालिक क्रियाओंका सम्बन्ध रहता है । तात्पर्य जहाँ जहाँ 'अहम्' शब्दका प्रयोग देखा जाय वहाँ वहाँ 'अस्मि' आदि क्रियाओंका सम्बन्ध जानना चाहिए।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वे० ३।१९)

इमे वै लोकाः पूरयन्नेव पूरुषो, योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः। (शत० ब्रा० १३।६।२।१)

सर्वा दिशः पुरुष आबभूव (श्रुतिः)

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।
(श्रुतिः)

य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते।
(छान्दोग्य ४।११।१)

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा हि परा गतिः।
(कठ उप० १।३।११)

इन उपर्युक्त प्रमाणोंमें आये हुये- 'सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, परमेश्वर, नियन्ता, निष्पाप, अजर, अमर, अशोक, सत्यसङ्कल्प, सत्य-काम, अपाणिपाद, अचक्षु, अकर्ण, पुरुष इत्यादि आत्मबोधक शब्द 'अ-हम्' इसी के उपव्याख्यानरूप हैं।+ यदि गीता के 'अहम्' शब्द को वैदिक-अध्यात्म-विषयक रहस्योंसे परिपूर्ण माना जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

क्योंकि यह (अहम् शब्द) आत्मयोगका गूढ दृष्टिसे निर्मथन करनेवाले योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से उच्चारित हुआ है। यही कारण है आज समस्त जगत् भगवान् श्रीकृष्णको 'हंस-वाहन ब्रह्मा' के समान पूजनीय मानता है। उनके पूर्णज्ञानके विषयमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि- उन्होंने 'हंसः, सोऽहम्, अहं-सः' इन तीनों शब्दों का अध्यात्म-रहस्य गीता के 'अहम्' शब्दमें ही भर दिया है। इसी कारण गीतामें सर्वत्र 'अहम्' शब्द का उल्लेख पाया जाता है। इस (अहम्) के अन्दर विज्ञान की दुरूहता और सर्वव्यापकता आ गई है।

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (गी० १५।१५)
'मत्तः परतरं नान्यत्' (गी० ७।७)
'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'
(गी० ७।७)
'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते (गी० १५।३)
'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गी० ७।८)
'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति०' —(गी० ८।११)
'यत्करोषि यदश्नासि०' (गी० ९।२७)
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
(गी० ९।२४)
'तपाम्यहमहं वर्षम्' (गी० ९।१९)
'पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।'
(गी० ९।१७)
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म० (गी० ८।१३)
अक्षरं ब्रह्म परमम् (गी० ८।३)
'पुरुषश्चाधि दैवतम्' (गी० ८।१४)
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे (गी० ८।४)
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि...। (गी० ७।२६)
नाहं प्रकाशः सर्वस्य (७।२५)
'अहं+स' च मम प्रियः (७।१७)
बलं बलवतां चाहम् (गी० ७।११)
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (गी० ७।६)
यदा यदा हि धर्मस्य (गी० ४।७)
परित्राणाय साधूनाम् (गी० ४।८)
तान्यहं वेद सर्वाणि (गी० ४।५)

ये सब प्रमाण एक स्वर से 'अहम्' शब्दके गूढ, व्यापक, मार्मिक एवं अचिन्त्य अर्थों का सङ्केत कर रहे हैं। इन समस्त प्रमाणोंका मनन करने

+ नञ्पूर्वक "ओहाक् त्यागे' 'ओहाङ् गतौ,' इन दो धातुओंसे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस पाणिनीय सूत्रसे 'क' प्रत्यय करनेपर 'अ-हम्' शब्द सिद्ध होता है। "अह-व्याप्तौ" इस धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर 'अहम्' शब्द सिद्ध होता है। नञ् पूर्वक "हन हिंसागत्योः" इस धातुसे भी "अ-हम्" शब्द सिद्ध होता है।

'अ-हम्' शब्दके धतुज अर्थ-

(१) अ-त्याज्य, (२) अ-ज्ञेय, (३) अगम्य, (४) अदृश्य, (५) अनिर्वचनीय, (६) अ-प्राप्य, (७) अ-विनाशी और (८) सर्वव्यापक।

वाला कोई भी व्यक्ति गीता के अन्दर आधुनिक रूढि अर्थमें प्रचलित अवतारवाद की कल्पना नहीं कर सकता । यों तो वैदिक दृष्टिसे सृष्टि के समस्त पदार्थ ईश्वरके अंशावतारी अथवा प्रतिबिम्बित अवयव कहे जा सकते हैं और राम-कृष्णादि महापुरुषोंका भी इस वैदिक-अवतार-वादमें अन्तर्भाव किया जा सकता है, परन्तु जो वास्तविक 'अर्हतत्व' है, उसको निराधार, निराकार, निरवच्छिन्न एवं अखंड मानना ही पड़ेगा । अन्यथा पुराणादि शास्त्रकर्ताओंके निम्नलिखित वचन खण्डित हो जायेंगे-

'तमादिदेवमजरम्' (बृ. ना. पुराण)

अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि श्रृणोति यः
सर्वं वेत्ति न वेत्ताऽस्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥
(शिवपुराण)

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता ।' (श्वे. उ. ३।१८)
'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।'
'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके,
'न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य,
'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।'
'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः ।'
'अवाङ्मनसगोचरम्' (श्रुतिः)
'ज्ञानं मात्रं परं ब्रह्म परात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥'
(श्रीमद्भागवत)

'निराकारमोङ्कारमूलं तुरीयम्'
(तुलसी कृतरामायण)

'सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् '
(श्रीमद् वल्लभाचार्यः)

प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां ज्ञानिनां न कदाचन
(म. भा.)

इन्हीं उपर्युक्त प्रमाणोंकी पुष्टि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें की है-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(गी. १५।१७)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गी. १८।६१)

उन्होंने गीतामें स्पष्ट रूपसे 'मैं ईश्वरका अवतार हूँ' ऐसा कहीं भी नहीं कहा है । यदि ऐसी शङ्का की जाय कि उन्होंने-

'इमं विवस्वते योगम्' (गी. ४।१)
'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' (गी. १०।३७)
'रामः शस्त्रभृतामहम्' (गी. १०।३१)

इत्यादि श्लोकोंमें अपने आपको ईश्वरका अवतार माना है, तो हम यह पूछना चाहते हैं कि उन्होंने गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें—

' न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
(गी० २ १२)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
(गी० ४।५)

ऐसा क्यों कहा? क्यों कि ईश्वरीय-सत्ता अथवा ईश्वरीय-अंश का तीनों कालोंमें विकार नहीं होता, यद्यपि शरीर और जगत् दोनोंही शास्त्रीय-दृष्टिसे अविनाशी सिद्ध होते हैं, परंतु तौभी इन दोनोंकी परिणामशीलता अर्थात् विकाररूप में परिणत होना सर्वसम्मत है। इस दृष्टिसे राम-कृष्णादि महापुरुषोंके शरीर भी विकारमय सिद्ध होते हैं। अब कृपया अवतारवादी यह बताने की चेष्टा करें कि ब्रह्मको निर्विकार एवं अखण्ड क्यों कहा गया है ? यदि वे इस शङ्काका समुचित रूपसे समाधान कर देंगे तो हम उनके चरण चूमनेके लिये तैयार हो जायेंगे । अस्तु, अब हम इस वितण्डा-

वादको हटाते हुए अपने प्रकृत विषयपर आते हैं–

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बारम्बार "अहम्" शब्दका प्रयोग किया है। इसका जरूर कोई न कोई गूढ-रहस्य है! जो लोग इस रहस्यको नहीं समझते वे ही गीताके 'अहम्' शब्दको देखकर अवतार-वादकी आशङ्का करते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि गीताका 'अहम्' शब्द किन अचिन्त्य अर्थोंका सङ्केत करता है? जिन आर्य-समाजियोंको अपने तत्त्वज्ञानका बडाभारी गर्व था, वे भी आज गीताके 'अहम्' 'अस्मि' 'संभवामि' इत्यादि शब्द-प्रयोगोंको देखकर अवतार-वादकी कल्पना करने लगे हैं। केवल शुष्क-तर्क-वाद द्वारा वितण्डावाद फैलाना ही आज उनके जीवन का मुख्य ध्येय हो गया है। उनकी इस बेढंगी चालसे आज श्री १०८ महर्षि दयानन्द का धवलित यशः-शरीर कलङ्क-कालिमासे दूषित हो गया है। केवल प्लेटफार्मपर खडे होकर बडी बडी वक्तृताएँ झाडने अथवा एम्. ए., बी. ए. की डिग्री प्राप्त करके पश्चिमीय सभ्यता का अनुकरण करनेसे वैदिक-तत्त्व-ज्ञानका पोषण नहिं किया जा सकता। उस तत्त्वज्ञानका वेही पोषण कर सकते हैं, जिन्होंने त्यागमय जीवन व्यतीत करके आत्म-संयम-योगाग्निमें अपने शरीरको दग्ध करनेका प्रयत्न किया है। गीता तो यह आदेश दे रही है कि–

> त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
> (गी. ४।२०)

परन्तु इस आदेश को सुनता कौन है? सब लोग अपनी अपनी मस्तानी चालमें मस्त हो रहे हैं, और शास्त्रीय भेदभावनारूपी पर्दा डालकर जनताको धोखे की टट्टीमें गिरानेका प्रयत्न कर रहे हैं। यदि वे भगवान् श्रीकृष्णके इस आदेशका समुचित रीतिसे पालन करते तो आज भारतवर्षकी अधोगति न होती–

> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
> जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
> (गी. ३।२६)

जो लोग गीताके 'अहम्' शब्दको देखकर 'गीतामें अवतार-वाद है" ऐसा कह कर जनताके धार्मिक-भावनामय-मुकुलित-कमलदलको भेद-भावना रूपी श्वेत-तुषारद्वारा निर्मूल करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; वे निम्नलिखित वेद-मन्त्रके 'अहं' शब्द पर गम्भीर दृष्टि डालें—

> अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः।
> अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
> अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय॥
> (ऋ. ४।२६।१, २)

इस मन्त्रमें एकात्मभावका वर्णन किया गया है। इसी एकात्म-तत्त्वका निरूपण तमाम उपनिषदोंके अन्दर किया गया है। अब इस एकात्मतत्त्वका मिलान गीताके निम्नलिखित प्रमाणोंके साथ कीजिए—

> इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
> विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
> (गी. ४।१)
>
> आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
> (गी० १०।२१)
>
> कवीनामुशना कविः। (गी० १०।३७)
>
> पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
> (गी० १०।३१)
>
> वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
> (गी० १०।३७)
>
> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
> मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
> (गी० ९।१६)
>
> अधियज्ञोऽहमेवात्र (गी० ८।४)

इन श्लोकोंमें आत्मविभूतियों के साथ साथ एकात्मभावका निरूपण किया गया है। हम पहले कह चुके हैं कि यह जगत् परमेश्वरका विश्वरूप है, अतएव यही ब्रह्म, यही विष्णु और यही महेश है, इस दृष्टिसे जगत्के सम्पूर्ण पदार्थों का ब्रह्म में अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिये वेदान्तियोंने 'अहं ब्रह्म' 'सोऽहम्' इत्यादि मूल-सिद्धान्तोंकाही सर्वप्रथम अनुसंधान किया है। इससे वेदान्तियों के ज्ञान की गहराई का अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तु—

वाचकगण! वैदिक ज्ञान की गूढताका अनुभव करनेके लिये गीताके 'अहम्' शब्द का विशेषतया मनन करना उचित है। यह 'अहम्' शब्द इतना गूढ है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्तिके हृदय में एकात्मभाव की जागृति उत्पन्न कर देता है और "पर-भाव" को हटा कर "स्व" भावमें ही समस्त विश्वका अन्तर्भाव कर देता है। अतएव इस 'अहं-तत्त्व' के व्यतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्वका मनन नहीं करना चाहिये।

> क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू—
> संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
> क्वेदृग्विधा अगणिताः परमाणुचर्या,—
> वाताध्वरोमविवरेषु च ते महित्वम्॥
> (श्रीमद् भागवत)

अतएव हि योगीन्द्रः स्त्रीपुंभेदं न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत्पश्यति नारद॥
(ब्र० वै० पुराण अ० १। ब्र० खं०)

भूः पादौ यस्य खं चोदरमसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
कर्णावाशा शिरो द्यौर्मुखमपि दहनो यस्य वास्तव्यमब्धिः॥
अन्तःस्थं यस्य विश्वं सुरनरखगगोभोगिगन्धर्वदैत्यैः।
चित्रं रंरम्यते तं त्रिभुवनवपुषं विष्णुमीशं नमामि॥

मनः कुत्रोद्योगः सपदि वद मे गम्यपदवीम्,
नरे वा नार्यां वा गमनमुभयत्राप्यनुचितम्।
अतस्त्वत्क्लीबत्वं सकृदपि गतो हास्य-पदवीम्,
जनस्तोवे मा गास्त्वमनुसरहि ब्रह्मपदवीम्।
इतो न किंचित्परतो न किंचित्,
यतो यतो यामि ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किंचित्।
स्वात्मावबोधादधिकं न किंचित्।
(योगिराज भर्तृहरिः)

ये सब सूक्तियाँ एक स्वरमें 'अहम्' तत्त्वके मनन करनेका आदेश देरही हैं, अतएव पाठकोंको चाहिए कि वे उसी एक अखण्ड तत्त्वकी अभिसिद्धिमें संलग्न हो जायँ, ताकि उनका इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाय।

॥ ॐ शम् ॥

गीताविषयक नवीन विचार।

(१)

प्रकृति तथा उसके गुणोंका परस्पर संबंध।

(ले०- श्री० हलियारामजी कश्यप, एम. एस्सी.)

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग नामक तेरहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण महाराज उपदेश करते हैं कि इस प्रकार क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति संसार शरीर आदि तथा उस के ज्ञाता जीवात्मा, परमात्मा आदि इन दोनों के पारस्परिक भेद, एक दूसरेसे फरकको, जो वास्तविक तत्त्वज्ञाताकी विज्ञान-दृष्टि (A scientist's point of view) से जानते हैं तथा साथही यह भी जानते हैं कि प्राकृतिक पदार्थों (Material objects) के कारण प्रकृति से आत्माएं या ज्ञाता लोग किस रीतिसे छुटकारा पा सकते हैं जो इस प्रकार का पूरा ज्ञान रखते हैं वे ही परमको प्राप्त होते हैं अर्थात् परमात्मासे मिलाप या मुक्ति उन्हींको मिलती है, दूसरोंको नहीं।

अगले गुणत्रय--विभाग--योग नामक चौदहवें अध्यायमें यही प्रकृति तथा उस के गुणोंका ज्ञान तथा उन से छूटनेका प्रकार दिया है। इस विद्या की स्तुति पहले दो श्लोकोंमें इस प्रकार की है कि हे अर्जुन! मैं आगे तुम्हें वह ज्ञानोंमें से उत्तम ज्ञान विशेष प्रकार से उपदेश करूंगा कि जिसे जानकर सम्पूर्ण विचारशील मुनि इस संसारमें से ही परम सिद्धिको जा प्राप्त हुए और जिस इसका ही सहारा लेकर मेरे समान धर्म को प्राप्त हुए। अब सृष्टिकालमें भी जन्म नहीं लेते और प्रलयकालमें भी कष्ट नहीं पाते अर्थात् जन्म-मरणके चक्कर से ऐसा छूटे हैं कि न सृष्टि न प्रलय। उनपर किसी प्राकृतिक दशा का कोई प्रभाव पडता ही नहीं।

आगे तीसरे श्लोकसे वह ज्ञान प्रारम्भ होता है जिसकी इतनी प्रशंसा स्वयं भगवान्ने उपरोक्त प्रकार की है, वह ज्ञान खण्डोंमें क्रम से उपदेश हुआ है।

तीसरा चौथा श्लोक प्रकृति, परमात्मा, सृष्टि, व्यक्ति, का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णन करते हैं कि यदि मुझको, अर्थात् श्रीकृष्ण महाराज की वास्तविक परम सत्ताको, शरीर कृष्ण के शरीरी जीवात्मा, कृष्ण के भी अन्तर्यामी परमात्मा कृष्णको, सांसारिक पिताओंके समान बीज डालनेवाला, वीर्य सिञ्चन करनेवाला, पिता समझ लिया जावे तो उसी कल्पनाके अनुसार अथवा उसी तत्त्वदृष्टि, वैज्ञानिककी दृष्टि, (Scientist's point of view) के अनुसार, प्रकृति को वह मातृयोनि मानना होगा, जो वीर्यको ग्रहण करती है परन्तु यह इतनी महान् विस्तृत् सर्वव्यापी योनि है और एकही व्यक्ति की नहीं किन्तु संसार के समस्त प्राणि अप्राणि मात्रकी जन्मदात्री है कि इस का समुचित नामही इसी कारण 'महद् ब्रह्म' तथा 'ब्रह्म महद्' पड गया है। भगवान् कहते हैं कि हे कुन्ति पुत्र! ऐसी विस्तृत् जगद्धारका योनिमें जब मैं बीज डालकर गर्भ स्थापित करता हूं तब ही सब प्राणि-अप्राणियोंकी उत्पत्ति संभव होती है, तत्पश्चात् फिर भी सब क्षुद्र योनियों, मानुषीसे लेकर अतीव निकृष्ट अथवा सूक्ष्म तक और मानुषी से यदि कोई उत्कृष्ट हों तो उन तक भी, में जितनी मूर्तियां प्रकट होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण मातृमण्डल सम्पूर्ण जिस प्रकार की जितनी भी प्रजा उत्पन्न करता है उन सबमें भी वास्तविक मातृयोनि यह महद् ब्रह्मही काम कर रही है और वास्तविक वीर्यसिञ्चक पिता मैं ही कार्य कर रहा हूं।

तात्पर्य यह कि प्रकृति जगन्माता, परमात्मा जगत्-पिता, आदिमें हैं और तत्पश्चात्ही अन्य गौण माता-पिताओं के द्वारा भूत उत्पत्ति होती है, परन्तु तब भी

उन गौणमातापिताओंके पीछे यह वास्तविक माता-पिता प्रकृति पुरुषही कार्य कर रहे होते हैं ।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि भूत उत्पत्तिके लिये जो आत्मप्रकृति का संयोग आवश्यक है वह कैसे सिद्ध होता है, कैसे देह देही सम्बन्ध स्थिर होता है क्योंकि इसके बिना तो प्राणीसृष्टि निर्माणही नहीं हो सकती। इसी कारण भगवान् पांचवें श्लोकमें पहिले इसी गूढ समस्या का विवेचन करते हैं। वह कहते हैं कि इस प्रकृतिमें, इस महद् ब्रह्मरूपी मेरी योनिमें, मेरा बीज उसमें छूटनेपर अर्थात् मेरा सम्बन्ध ध्यानद्वारा (सृष्टिकाल आनेपर) उससे होनेपर, इस प्रकृतिमें सब से पहिले सत्त्वरजतम गुण क्रमानुसार एक के पीछे दूसरा प्रकट होते हैं वही हे दीर्घबाहु ! भारे बलवान् अर्जुन! तू तो क्या, नित्य, निरञ्जन, अविनाशी, शुद्ध आत्मसत्ता को भी अपने से बांधकर प्रकृतिको देह और उस आत्मसत्ताको देही सम्बन्धमें बान्ध देते हैं। अर्थात् मेरा सृष्टि करने का विचार होनेके पूर्व प्रकृति तथा आत्मा एक दूसरे से पृथक् होते हैं पर इस विचाररूपी बीज प्रदानसेही महद् ब्रह्म प्रकृति-रूपी योनिमें एक के पीछे दूसरा इस क्रम से सत्त्व रज तम गुण प्रकट होकर आत्मा प्रकृति को परस्पर देही तथा देहरूप सम्बन्धमें बांध देते हैं, तभी आगे सृष्टिक्रम चलता है ।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि भगवान् के बीज-प्रदान से प्रकृतिमें विकाररूप सत्त्वगुण प्रथम प्रकट होता है क्योंकि गुणोंमें प्रथम इसी का नाम है और साथही क्योंकि श्लोक छःमें इसकी उत्पत्ति का अन्य कारण वर्णित नहीं। अतः प्रकृतिमें सत्त्व गुणकी उत्पत्ति तो भगवान्की कृपाहीसे है, इसी लिये गुणोंमें यही सर्वोत्कृष्ट है पर है, यह ही वास्तविक बन्धन-कारण। क्योंकि इसके प्रकट होते ही तमोरूप, अन्धकारमय प्रकृतिमें प्रकाश, निर्मलता, स्वच्छता, मानों नीरोगता प्रकट होने लगती है और यह सुन्दर, रोचक, आकर्षक रूप धारण कर लेती है और यह गुण उस के ज्ञानमें विशेष बाधा नहीं डालता, फिर भी इस गुण से गुणी, सात्त्विक, प्रकृति, विकार का प्रकाश, सौन्दर्य, निर्मल स्वरूप, उसको आकर्षण कर लेता है। क्योंकि कहां अंधकारमय अंधेरखाता और कहां प्रकाशित, उज्ज्वल चमत्कार! जीवात्माएं उसमें उलझ जाती हैं अर्थात् सुख पाती हैं इस लिये जानती बूझती भी फंसती हैं। वास्तविक सृष्टि-आरम्भ यही है। परमात्मदेवको विचार आता है कि सृष्टि रचूं। प्रकृतिमें झट सत्त्वगुण प्रकट होने लग जाता है। तुरन्तही जीवात्माएं प्रकृति से बन्धने लग जाती हैं। करोडों सात्त्विक शरीर एकाएक निर्मित हो जाते हैं। क्योंकि केवल इतनेसेही प्रकृति देह और आत्माएं शरीरी बन जाती हैं यह है गीता का वास्तविक सृष्टि-उत्पत्ति-वर्णन और कितना सच्चा तथा वैज्ञानिक रूपमें वर्णन है यह सब को अपने आप स्फुट हो जायगा।

सत्त्वगुण, इस प्रकार प्रकृतिमें, भगवत्कृपासे प्रकट होकर अथवा भगवदीच्छा होनेसे और जीवात्माओंके प्रकृतिमें पडा होनेसे (कुनके कहनेसे हुई खलकत बपा=कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भगवत्कथन तो केवल उसके ध्यानमें सृष्टि करने का विचार आना मात्र है।) प्रकट होकर उन्हीं जीवात्माओंको तुरन्त बांधता है और इस प्रकार सृष्टि आरम्भ होती है।

छटे श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि उनमें से सत्त्व गुण, निर्मल होनेके कारण, प्रकाश करनेवाला तथा नीरोगता स्थिर रखनेवाला है, परन्तु वह भी सुख और ज्ञानी रूपी बन्धनोंसे जीवात्माको प्रकृति से बांधता है। हे पाप न करनके इच्छुक अर्जुन! वास्तविक बन्ध का मूल का कारण यही है और बांधता है यह सुख तथा ज्ञानके द्वारा' 'अन्य रोग अन्धकार, मल आदि इसमें कुछ नहीं पर फिर भी वास्तविक बंधनकारण यही है।'

एक बार बंधनमें जीव आ गया फिर छुटकारा कहां? फिर तो चक्कर चल पडता है। सत्त्व के पीछे रज, उसके पीछे तम, इत्यादि। सात्त्विक शुद्ध, नीरोग, जाज्ज्वल्यमान, शरीरधारी ज्ञानी, अपने शरीरमें सुख अनुभव करते हैं और आनन्द मनाते हैं। अन्धकार से प्रकाशमें आनेका नया नया चाव

चौगुना होता जाता है। शरीर सुन्दर प्रतीत होता है। प्राकृतिक सङ्ग आनन्ददायक भासित होता है। पर साथ ही यह ज्ञान भी होता है कि मैं आत्मा हूं और मेरा शरीर, यह शुद्ध, निर्मल, निरोग, शरीर प्राकृतिक है। कभी कभी अपना इस पर अधिकार अनुभव करके घमण्ड भी पैदा होता है कि मैं इस को प्रयोगमें ला रहा हूं। इत्यादि यह अहं-भाव, अपना प्रकृतिसे भिन्नत्वका भान, तथा यह घमण्ड, दोनों अहङ्कार कहे गये हैं। इसी अहङ्कार के कारण, अपनेसे भिन्न जो अनेक सात्त्विक शरीरधारी जीव हैं, उनका भी भान होने लगता है। सब के सुन्दर, प्रकाशमान शरीर अपने समान मनोहर लगते हैं। इच्छा परस्पर मिलनेकी उत्पन्न होती है। और साथ ही यह भी इच्छा उत्पन्न होती है कि ऐसा सुन्दर शरीर तथा ऐसे सुन्दर साथी सदा मिले रहें यह बिछुडें नहीं। यह इच्छायें प्रबल होकर तृष्णा का रूप धारण करती है और सुखानुभव के पश्चात् भी वही इच्छा बनी रहकर राग रूप धर लेती है। इन अहङ्कार राग, तृष्णा की उत्पत्ति का प्रभाव प्रकृतिपर यह पड़ता है कि उसमें रजोगुण प्रकट हो आता है। अर्थात् जो शरीर पहिले शुद्ध सात्त्विक था उस के सब ओर की प्रकृति राजस हो गई और जो आत्मा पहिले केवल सुख का ज्ञान अनुभव कर रहा था, अब वह कर्म करनेमें समर्थ हो गया। यह कर्म, अब इस के बांधने के लिये, प्रबलतर बन्धन है जो देहीको प्रकृतिसे जकड़कर बांध देता है।

भगवान्ने सातवें श्लोकमें यही कहा है कि हे कुन्ति-पुत्र अर्जुन! रजोगुण को राग रूप जानो यह तृष्णाके सङ्गसे उत्पन्न होता है यह देही को कर्म के सङ्गसे बांधता है अर्थात् जो सुखानुभव के पीछे, सुखके पुनः अनुभव की, इच्छा होती है, वही राग, रजोगुण, जीवात्मामें उत्कट इच्छा के फल स्वरूप प्रकट होकर, प्रकृतिमें कर्म रूपमें प्रकट होता है, और देही की देहमें, अब केवल सात्त्विक नहीं, वरञ्च राजस गुण भी प्रकट हो गया होता है। अर्थात् पहिले शरीर केवल सात्त्विक परमाणु रूप अथवा अणुरूप था परन्तु अब उसपर राजस परमाणुओं का कोश भी परिवेष्टित हो गया होता है। जहां पहिले जीवात्मा केवल सुखानुभव करते थे अब वह साथी शरीर धारियोंका पास जा सकते हैं और अपने शरीरमें भी गति कर सकते हैं। यह कर्म शक्ति जाग्रत होनेपर, देही अपनेको स्वतन्त्र पाकर, और भी सुखी मानता है, खूब कर्म करता है सुखी होता है, साथियोंको मिलता जुलता है, शरीरके अन्दर फिरता है, इत्यादि प्रकार से शरीरमें उलझ जाता है।

गतिका, कर्म का, स्वाभाविक परिणाम, थकावट होता है, जो कर्म करता है वही थकता है, वह तब थककर सो जाता है। इस क्रम को भगवान् ने अपने सुन्दर शब्दोंमें, आठवें श्लोकमें वर्णित किया है। वह कहते हैं नशा सुस्ती, इन के द्वारा तमोगुण सब देहधारियोंको बांधता है, यह सब को मोह, भुलावेमें डालनेवाला है यह अज्ञानसे उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी, सुखकी इच्छासे, कर्म करता हुआ, तृष्णा के जालमें उलझा हुआ, अब प्रयत्न करता है और अधिकतर उपभोग, इन सबका, करने के लिये, अपने शरीरसे अन्योंका संसर्ग करता है, तो शीघ्रही यह भूल जाता है कि मैं वास्तविक में कौन हूं या था। वह सर्वथा यह स्मर्ण नहीं रखता कि मैं आत्मा हूं और शरीर प्रकृति है। यह अज्ञान है। यही तमोगुण की उत्पत्ति का कारण है। इस अज्ञानके उत्पन्न होतेही प्राणी मानो मोहमें आगया। इसी कारण तमोगुण को ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला और सब को मोह में डालनेवाला कहा है। इस आत्मा प्रकृति विवेकाभावके कारण, सुख तृष्णा, कर्मके चक्कर में पूर्णतया फंसकर, जीव खूब शारीरीक भोगभोगता है, तो पहिले उसपर मद चढता है, तभी अधिकाधिक मात्रामें प्राकृतिक कर्म करता है, फिर थकता है, तो पहले सुस्त हो जाता है, फिर सो जाता है। इस प्रकार

तमोगुणका चक्कर चलता है। आत्मविवेक खोनेपर जीवके शरीरपर, तामस परमाणुओंका कोश छा जाता है अर्थात् तामस शरीरोंमें कम से कम दो कोश, एक राजस परमाणुओंका और उससे बाहर एक तामस परमाणुओंका, होते हैं। दोनोंके अन्दर सात्त्विक परमाणुरूप वा अणुरूप सात्त्विक कोश, जीवात्माका मूल बन्धन होता है।

इस प्रकार ५, ६, ७, ८ श्लोकोंमें भगवानने, प्रकृतिमें गुणोंकी उत्पत्ति तथा उनका जीवात्माओं-पर प्रभाव, बडे रोचक शब्दोंमें, वर्णन किया है। वास्तवमें यह बडा गूढ ज्ञान है क्यूंकि यह सीधा मुक्ति बंधन से संबंध रखता है।

(२)

प्रकृति तथा उसके गुणोंका सम्बन्ध गत लेखमें गीताके चौदहवें अध्यायके पहिले ८ श्लोकोंके आधारपर दरशाया गया था। उसका सारांश यह है कि मुक्तिका नियत समय पूरा होनेपर जीवात्मा परमात्मा की आज्ञानुकूल, प्रकृतिमें फंसता है। उसका क्रम यह है कि परमात्मदेव विचार करते हैं कि सृष्टि रचें। तुरन्त स्वतन्त्र जीवोंके चारों ओरकी प्रकृतिमें सत्त्वगुण व्यक्त हो जाता है। जिसके कारण उन्हें सुख अनुभव होता है और इच्छा पैदा होती है कि यह सङ्ग बना रहे। बस इसी विचारसे सङ्ग दृढ हो जाता है। यही इच्छा अधिक प्रबल होकर तृष्णा कहलाती है और सुखके अनुभवके अनन्तर यही इच्छा राग कहलाती है। वास्तवमें इच्छा ही स्थूल रूपमें कालभेदसे राग तथा मात्राभेदसे तृष्णा कही जाती है। इस इच्छाकी उत्पत्तिसे सात्त्विक परमाणुरूप शरीरपर राजस कोश चढ जाता है, जीव कर्म करने लग जाता है, प्रयत्न करता है थकता है, अपना आप भूल जाता है, आलस्यपूर्वक सो जाता है, तमोगुणका कोश राजस कोशके चहुं ओर फिर चुका होता है। यह प्रकृतिमें गुणोंकी उत्पत्ति ही जीवका बन्धनमें आना है। वास्तवमें सृष्टिका आरम्भ भी यही है।

इन गुणोंका प्रभाव यह है कि जीवको सत्त्व-गुण तो सुखमें लगाता है, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण अज्ञानका परदा ज्ञानपर डालकर सांसारिक भोगोंकी मस्तीमें उसे फंसाता है, पर किसी कालमें कोई गुण प्रबल होता है और किसी दूसरे कालमें कोई दूसरा। जैसे कि कभी तो रज-तम दबे होते हैं और सत्त्वगुण प्रबल होता है परन्तु कभी सत्त्व तम दबकर रजोगुण जोर पकड जाता है और तीसरे कालमें सत्त्व रज दबकर राज्य तमोगुणका हो जाता है। जैसे कि शरीरमें जब सब ज्ञानद्वार पूरे खुले हों आत्माका ज्ञान अवि-च्छिन्न प्रतीत हो अन्धकार अज्ञान जीवको तङ्ग न करते हों उसे जो कुछ ज्ञातव्य हो वह सहजही ज्ञात हो तब सत्त्वगुण प्रबल है ऐसे समझना चाहिये। परन्तु अन्य कालमें मनुष्य लालचमें फँस कर अपनी मानसिक शान्ति त्यागकर कर्म करने की ओर मनको झुकाकर कर्म नये नये आरम्भ करता है, यह रजोगुणवृद्धिके लक्षण हैं। इन दोनों से भिन्न एक तीसरा कालभी होता है जब तमो गुण बढा हुआ होता है। उसका लक्षण यह है कि न कुछ सूझता है, न कुछ करनेको दिल चाहता है, नशासा छा जाता है, भुलावे में जी पडा होता है। इस प्रकार गुणोंके प्रभावसे जीव भिन्न भिन्न दशा-ओंमें रहता है। कभी ज्ञानी, कभी कर्मी, कभी आलसी, पर यह तीनों अवस्थाएं जीवकी प्रकृतिके गुणोंके प्रभावसेही होती हैं अर्थात् यही वास्त-विक बन्धन जीवका है जो इसे मुक्तिसे विमुख रखता है।

इस प्राकृतिक बन्धनमें पडा जीव कभी जन्म लेता है, कभी मृत्युका ग्रास बनता है अर्थात् कभी एक प्रकारका शरीर धारण करता है कभी उसे त्याग अन्य प्रकारका शरीर धारण करता है अर्थात् आवागमनके चक्करमें तब तक फंसा रहता है जबतक कि मुक्तिके साधन साध कर फिर गुणबंधनसे नहीं छूटता। जन्म-मरण, अनेकविध शरीरधारण, किन नियमों के अनुसार होता है सो आगे कहते हैं।

यदि देहधारी की मृत्यु उस समय हो जब कि सत्त्वगुण बढा हुआ हो, तो अगला शरीर उसको

उत्तम निर्मल शुभ्र ज्योतिर्मय मिलता है, यथा सूर्य-लोक निवासियोंका। रजोगुण यदि मरणसमय बढ जाय तो कर्मकाण्डियोंकी न्यायीं लडाके मनुष्यों, मारखोर पशुओं, आदि के शरीरमें जाना पडता है। मृत्युसमय तमोगुणकी वृद्धि वृक्ष वनस्पतियोंकी योनियोंमें आत्माको पहुंचाति है। इस प्रकार आवागमनके चक्कर में फंसे जीवको यह प्रकृतिके गुण खूब घुमाते फिरते हैं। कभी पाताल में फैंकते हैं तो कभी आसमान में चढा देते हैं।

मृत्युसमय किसके शरीरमें कौन गुण किस कारण वृद्धि पाता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जो देहधारी उत्तम कर्म सुन्दर रीतिसे करता रहता है उसको सात्त्विक निर्मल फल मिलता है अर्थात् मृत्युसमय उसीके सत्त्वगुण वृद्धि पाते हैं और इस लिये वही निर्मल ज्योतिमय सूर्यादि लोक निवास योग्य शरीर प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो इच्छा तृष्णा रागके वशीभूत होकर, शान्तिरहित, लोभवश, नये नये, आरम्भ करताही रहता है उसके मृत्यु-समय रजोगुण ही बढता है और उसे मृत्युके पश्चात् दुःखभोगरूप लडाके मनुष्यों, मारखोर जानवरों के शरीरही मिलते हैं। तथा जो दरिद्री ज्ञानकर्म-हीन सोने तथा विषयभोगमें ही समय नष्ट करता है वह मरते समय तामसी अवस्थामें ही होता है और यमराज उसे वृक्षवनस्पतियोंकी योनिमें ही फैंक छोडते हैं। इस प्रकार इसी जन्मके कर्मों के अनुकूल मृत्युसमय गुणवृद्धि होकर अगला जन्म निश्चित होता है और इन्हीं गुणोंसे इस प्रकार आवागमन चक्कर चलाया जाता रहता है।

सुकृतसे सत्त्वगुण बढता है, उससे ज्ञान उत्पन्न होता है, अज्ञान नष्ट होता जाता है, तृष्णा रागसे रजोगुण बढता है, उससे लोभ उत्पन्न होता है। अपने आप को भूलनेसे तम बढता है, उससे नशा, भुलावा, अज्ञान ये सब उपजते हैं। इस प्रकार गुणोंसे उनके प्रभाव प्रकट होते हैं और उन प्रभावोंसेही फिर वे गुण तीव्रतर होते जाते हैं और देही अधिकाधिक बंधता जाता है और जन्मजन्मान्तरोंमें भटकता फिरता है। परंतु मुख्य नियम इस चक्करमें यही है कि सत्त्वगुणमें स्थिति पाये ऊपर ऊपर उठते जाते हैं, उन्नति करते जाते हैं, रजोगुणमें फंसे हुए मध्य दशामें काल व्यतीत करते हैं और निकृष्ट कोटि अर्थात् तामसी वृत्तिवाले तो नीचेही नीचे जाते हैं अर्थात् सात्त्विक सूर्यादि लोक प्राप्त करते हैं, राजस पृथ्वीलोकनिवासी होते हैं, तामस पाताल गमन करते हैं। इस प्रकार आवागमन चक्कर चलया जाता रहता है।

परन्तु जब आत्मा केवल गुणोंकोही कर्ता मानता है और इनसे भिन्न आत्मतत्त्वको सर्वथा कर्ता नहीं मानता, वरञ्च उसको सर्वथा गुणोंसे परे मानकर उसके वास्तविक आत्मस्वरूपको जान जाता है तब वह यथार्थ द्रष्टा हुआ हुआ भगवान् परमपुरुषकी सत्ताको प्राप्त हो जाता है, वह द्रष्टा आत्मा भगवान् का दर्शन पा जाता है, उसकी झांकी ऐसे देखनेहारे आत्माको मिलही जाती है।

यह वास्तवमें सत्य है कि देह में ही उत्पन्न होने-वाले इन तीनों गुणोंको उलांघ कर देही आत्मा नवीनशरीरधारण, प्राचीनशरीरत्याग, तथा शरीरका क्रमशः क्षीण होना रूपी जन्म, मृत्यु, जरा दुःखोंसे सर्वथा छूटा हुआ अमृततत्त्वको प्राप्त कर जाता है। अर्थात् देहमेंसेही गुण उपजते हैं। इन गुणोंसे ऊपर उठो तब मुक्ति मिल जाती है, जन्म-मरण–जराव्याधी सबसे छुटकारा मिल जाता है।

अर्थात् गुणही जन्मादि बंधन का हेतु हैं। इनके पंजेसे छूटना ही मुक्ति है। उसका गुरुमंत्र यही है कि गुणोंको कर्ता समझो, अपनेको उनसे ऊपर सर्वथा अकर्ता समझो, अपने आपको तथा परमात्मा को पहचानो।

(३)

पिछले लेखमें दरशाया गया था कि गुणोंसे ऊपर उठकर ही आत्मा परमात्मा को पाता है, क्यों कि गुणही इसका प्रकृतिके साथ बन्धन है और यह गुण बन्धनही आवागमन का हेतु है।

प्रश्न उठता है कि वह कौनसी निशानियां हैं जिनसे कोई यह पहचाने कि वह गुणोंसे ऊपर उठ

चुका है। अर्जुन भी यह पूछते हैं कि हे भगवन्! इन तीनों गुणोंसे जो परे जा चुका है उसके क्या चिह्न होते हैं? उसके आचार व्यवहार में अन्यों से क्या भेद पाया जाता है? और किस विशेषता के कारण वह इन गुणोंके पञ्जे से छुटकारा पा चुका होता है। किस प्रकारसे वह इनसे छूटा होता है?

भगवान् प्रभुने इसका उत्तर बडा साफ दिया है कि गुणोंके धर्म प्रकाश प्रवृत्ति मोह हैं। इनकी जो परवाह नहीं करता, न तो इससे चिढता है कि यह मेरेमें क्यों हैं और न यह ही विचारता है कि यह मेरेमें क्यों नहीं, किस तरह यह मुझे छोडें, या किस तरह यह मुझको पकडें, इन दोनोंके विषय में जो न चिन्ता न इच्छा न द्वेष करता है, जो इन छुटे हुओंको पकडना नहीं चाहता और यदि इन्होंने पकडा है तो चिढता नहीं, अर्थात् जो सर्वथा इनको तुच्छ समझता है और इन की तनिक भी परवाह किये विना अपना कर्तव्य धर्म ईश्वर पूजा आदि करता रहता है वही गुणातीत है, उसीने गुणोंसे पार पा लिया है।

यह गुणातीत की मोटी पहचान है कि वह ज्ञान-प्रकाश होनेपर प्रसन्न नहीं होता, न होनेपर उसके होनेकी तृष्णा नहीं रखता। प्रवृत्ति कर्म करनेकी यदि हो तो खिन्नता नहीं, यदि न हो तो उसका होना चाहता नहीं। मोह है तो खप खप नहीं मरता कि क्यों है, नहीं है तो मोहित होनेके लिये कामना नहीं रखता।

तात्पर्य यह कि उदासीनसा, लापरवाहसा ही रहता है, गुण उसको डुलाते नहीं, गुणसम्बन्धी इच्छाद्वेषसे वह रहित है। गुण अपना व्यवहार कर रहे हैं, मैं आत्मतत्त्व निर्लेप हूं' इस विचारसे अपनी गुणातीत स्थितिमें दृढ रहता है। तनिक अथवा महान् गुणविक्षेप से भी सर्वथा कम्पायमान नहीं होता। प्रकाश प्रवृत्ति मोह सम्बन्धि उसकी प्राकृतिक परिस्थितिमें अल्प अथवा महान् कितना भी परिवर्तन हो उसका जिस पर प्रभाव सर्वथा नहीं होता,वही गुणातीत महात्मा समझना चाहिये।

ऐसा महात्मा दुःखसुखमें वैसा ही दिखाई पडता है, अपने आत्मतत्त्वके भानमें ही स्थिर रहता है, लोहा पत्थर सोना उसके लिये एकसेही हैं, कोई उसको अपना मित्र जाने कोई शत्रु, कोई उसको प्यारा समझो कोई उससे न प्यार करे, कोई उसका मान करे कोई अपमान, कोई उसकी स्तुति करे कोई निन्दा, वह तो एक समान दशामें ही टिका रहता है, इनमेंसे किसीपर ध्यानही नहीं देता, वह तो धीरगम्भीर सागर है, जिस में उपरोक्त सुखदुःख, निन्दास्तुति, मान अपमान, शत्रुता मित्रता आदि द्वन्द्व, नदियोंके समान गिरकर एक हो जाते हैं, वह तो निस्तरङ्ग पयोधि है जिस में इन नदियोंके पडनेसे आवाज तक भी नहीं उठती, लहरें तो क्या उठनी थीं! ऐसा महात्मा गुणातीत होता है। उस आत्मस्थितको गुण कम्पायमान नहीं कर सकते।

दूसरा प्रश्न कि किस रीतिसे वह इस दशा को पहुंचता है और फिर किस विधिसे इसमें स्थित रहता है? इसका उत्तर स्वयम्भू भगवान् कृष्ण शरीर द्वारा यह देते हैं कि जो केवल मेरी भक्ति करता है, भगवान्के विना और कुछ सर्वथा नहीं चाहता, अव्यभिचारिणी, सर्वथा निष्कलङ्क, पतिव्रता, सती, साध्वी स्त्रीके समान केवल अपना पति मुझे ही मानता है, वही गुणोंको पार कर सकता है और वही ब्राह्मी स्थिति, परमात्मामें टिकाव, ब्रह्मप्राप्ति आदिके योग्य होता है, अन्य नहीं।

यह ब्राह्मी स्थिति कौनसी है? वह उसी दशाका नाम है जिसमें मैं इस गीता उपदेश करते समय स्थित हूं यही ब्रह्मप्रतिष्ठा, यही अमृतावस्था, यही अव्यय स्थिति है, इसी दशामें सत्य सनातन धर्मका वास्तविक ज्ञान होता है और अन्तिम, एक तत्त्वाभ्याससे प्राप्तव्य सुख यही है, जिससे परे कोई अन्य सुख, कोई अन्य धर्म, कोई अन्य अमृत-प्राप्ति, नहीं। यह अविनाशिनी ब्राह्मी स्थिति गुणातीत अवस्था है।

(४)

भगवान् कृष्ण जिस महान् आत्मसत्ता की ओर

सङ्केत करके, उसेही अपना आप अनुभव करके चौदहवें अध्यायके अन्तमें, वेद तथा प्रकृतिरूप अमृत अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा रूपमें वर्णित करते हैं वही परमात्म देव, सत्य विद्या और विद्यासे जो पदार्थ जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल है। उस मूल के मूल का अभाव होनेसे वह भगवान् स्वयं अमूल होता हुआ ही सकल संसारका मूल है। इसी लिये ही संसाररूपी अविनाशी परन्तु सतत परिवर्तनशील अश्वथ का ऊर्ध्वमूल, आदिकारण, सर्वश्रेष्ठ स्रोत है, क्योंकि उस के सृष्टिकरण सङ्कल्प के विना संसार की संसृति ही असम्भव होती है। ऊर्ध्वमूलरूप तमशरीरधारी तत् से उस के तप के फलस्वरूप अधःशाखा प्रवृत्त होती है। यह असत् रूप सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति ब्रह्म है। यह संसाररूपी अश्वत्थ का तना है, सब से प्रथम बृहत् शाखा है। God is the main root and matter the stem, the former is pure and supreme while the latter is the reverse, therefore the former is described as High the latter as low, the former is above, the latter below—This is just the reverse of what exists in the ordinary trees where the root goes down into the earth and the stem goes up into the air. This is the pun in the use of the phrases ऊर्ध्वमूल and अधःशाख! अर्थात् परमात्मा बृहत् मूल है, प्रकृति प्रथम शाखा है, पर मूल ऊपर को है, शाखा नीचेको है। इस के विरुद्ध अश्वत्थ पीपल का टहना ऊपर को होता है और जड नीचेको। इसी कारण संसारवृक्ष की, अन्य वानस्पत्य वृक्षोंसे सर्वथा विपरीत ही स्थिति है। कभी कोई ऐसे वृक्ष की कल्पना ही नहीं कर सकता। ऊर्ध्वमूल अधःशाख शब्द, इसी भेद की सुन्दरता, सर्वथा स्फुट करनेके लिये, इस विचित्र रूपसे प्रयुक्त हुए हैं। आगे और भी तमाशा है। वृक्ष है अविनाशी, अव्यय, पर है अश्वत्थ-एक दिन भी, कलतक भी, आजवाली अवस्था, एकसी अवस्थामें नहीं रहता। सर्वथा सतत परिवर्तनशील है, पर फिर भी अव्यय। सर्वथा नष्ट कदापि नहीं होता, हां रूप लगातार ही बदलता रहता है।

तनेसे, बडी शाखा से पत्ते निकलते हैं, टहनियां निकलती हैं। टहनियों पर फिर पत्ते निकलते हैं, थोडी देरमेंही पत्तों से वृक्ष ढक जाता है, ऊपर से देखनेसे न जड न तना कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, केवल पत्तोंका झुंडही, वृक्ष के स्थानमें, दूर से दिखाई पडता है। यही दशा इस संसार-वृक्षकी है। जब असत्से सृष्टि बन चुकती है तो प्राकृतिक पदार्थ Material objects ही संसारमें चहुं ओर दृष्टिगोचर होते हैं। तना प्रकृति, न जड पर ब्रह्म ही सर्वसाधारण की निगाह चढते हैं, सब ओर सुन्दर वस्तुएं ही दीखती हैं। इसी लिये यह वस्तुएं ही पत्ते हैं, यही छन्द हैं, यह पतनशील हैं, परिवर्तनशील हैं, टूटनेवाली हैं, झडनेवाले हैं। आच्छादनकर्ता हैं, वृक्षको इन्होंने ढांपा हुआ है। अब यह संसारवृक्ष पूरा हुआ अर्थात् जड, तना, पत्ते, इसके वर्णित हो गये। प्रश्न है कि पत्तोंसेही सम्पूर्ण वृक्षको मूल तथा शाखा सहित कौन जाने? केवल भौतिक पदार्थोंसे प्रकृति तथा परब्रह्मको कौन पहचाने? जो जाने जो पहिचाने कह दो कि वह वेदवेत्ता महात्मा कोई परम ज्ञानी योगीराज ही है। क्योंकि पत्तोंसे वृक्षको पूरा पहिचान जाना Botanist वनस्पतिज्ञका कार्य नहीं। उसे तो जो जो अङ्ग वनस्पतिका दे दोगे वह उसका ब्योरा लिख देगा, एकही वृक्षके सभी अङ्गोंके पुष्प पत्र फल डाली जडके नमूने दे दो तब वह संपूर्ण वृक्षका वृत्त लिख देगा पर केवल पत्तोंसे सारा वृक्ष वर्णन कर डालना उसकी शक्ति से बाहर है। वहां संसारवृक्षमें दृष्टिगोचर तो केवल पत्ते होते हैं सांसारिक भौतिक अथवा शाक्तिक पदार्थ ही होते हैं उनके स्रोत Ultimate material cause, matter, force energy प्रकृति तथा निर्माता Divinity परब्रह्म तो इन्द्रियगोचर सर्वथा नहीं, उनका ज्ञान यदि कोई व्यक्ति उन पदार्थोंकी जांच पडतालसे ही

प्राप्त कर लेता है तो वास्तवमें वही परमज्ञान का ज्ञाता है वेदवेत्ता है। क्योंकि वेद इसी ज्ञानकी उपलब्धिके लिये रचे गये हैं कि सृष्टिके पदार्थोंसे मनुष्य सृष्टिके कारण प्रकृति तथा निर्माता परब्रह्मको जान सके।

सत् मूलसे असत् शाखा, उर्ध्वमूलसे अधःशाखा, परमात्मारूपी जडसे सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरूपी तना, पहिले उससे विरुद्ध दशामें फूट निकलता है, फिर इस तनेसे छोटी छोटी शाखाएं जो निकलती हैं वह कोई ऊपरको, परमात्माकी ओरको जाती हैं, कोई नीचे को प्रकृतिविकाररूप स्थूल भावोंकी ओर की जाती हैं अर्थात् अनेक शाखाएं परस्परविरुद्ध दशाओंमें जानेवाली, उस बृहत् शाखासे निकलती हैं यथा सत् महान् रूप ऊर्ध्वशाखा, रज अहङ्काररूप अधोशाखा, व्योमापर मन, ज्ञान इन्द्रियां, कर्म इन्द्रियां आदि अन्य शाखाएं। यह सब सत्व रज तमरूपी प्रकृति गुणोंसेही बढ रही हैं, यही उनकी वृद्धिके लिये मानो sap अथवा सोम रसका काम देते हैं, क्योंकि यही परिणत होकर उनका रूप धारण करते हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध रूपी विषय, इन शाखाओंके अत्यन्त कोमल अग्रभाग रूप कोंपलें हैं, क्योंकि विषय ही वास्तवमें शाखाओंके पूर्व रूप हैं, क्यों कि यही इन्द्रियों द्वारा भोगे जाते हुए इन्द्रियोंको भी प्रबल करते जाते हैं और स्वयं भी स्थूलाकार धारण करते करते आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी रूप स्थूल भूत बन जाते हैं, जो मोटी मोटी टहनियां वैज्ञानिक आसानीसे पहचान लेते हैं। इनमें भी ज्ञान इन्द्रियां तथा मन कुछ ऊर्ध्वगामी शाखाएं है और स्थूलभूत अधोगामी शाखाएं, पर सभी सत्वादि गुणोंद्वारा ही वृद्धि पाती हैं और पूर्व रूप इनके चेतना तथा शब्दादि विषय ही हैं।

इस संसारवृक्षकी ऊर्ध्वमूल तो भगवान् ही है पर इसकी अनेक छोटी छोटी जडें नीचे भी फैली हुई हैं वह हैं, सङ्ग, संस्कार तथा इनके अनेक स्थूलाकार यथा मोह, वृत्तियां, आदि। यही इस मनुष्यलोक में आये अर्थात् मानवदेहधारी प्राणि को बांधती है, क्योंकि इनके आश्रित होकर कर्म करता हुआ प्राणी उस कर्म, कर्मकारण क्लेश, कर्मफलविपाक, तदनुगता वासना, आशा, इन सबके चक्करमें ऐसा फंसता है कि सर्वथा जेलखानेके कैदी की न्यायीं बन्धनबद्ध, कारागारग्रसित हो जाता है और उन कर्मोंके फल भोगने के लिए पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौः आदिमें कहीं न कहीं किसी न किसी योनिमें धक्के खाता फिरता है और ऐसे झमेलेमें फंसता है कि इस उलझन का सिरा उसे मिलता ही नहीं न इधरका न उधरका। समझ ही नहीं पडती कि आदि कहां है अन्त कहां है और गांठ कहा पडी है कि खोले खुलती ही नहीं।

अर्थात् कर्मपाशमें बंधा प्राणी संसारको उपरोक्त वृक्षरूपमें नहीं अनुभव कर पाता। वह इसे वृक्ष जान इसके जड, तना, पत्ते, डालियां, सोमरस, कोंपलें, अधःमूल आदि कुछ नहीं बूझ पाता। उसे तो यह एक बेसिरपैर का आकाशमें ही ठहरा हुआ महान् अजगर प्रतीत होता है, जो उसे खाने को मुंह खोले उसको हडप करने आ रहा है।

ऐसे बद्ध प्राणीके लिये छुटकारेका मार्ग केवल यही है कि कोई उसे यह बोध करवाए कि भाई यह अनादि अनन्त अप्रतिष्ठित महान् भय नहीं है कि तुम ऐसा घबरा जाओ कि अपने होशही गंवा बैठे हो। यह तो एक घने पीपलकी न्यायीं, बहुत पक्की जडवाला परन्तु निरन्तर परिवर्तनशील संसाररूपी वृक्ष है यदि तुम इससे इतने घबरा गये हो कि जीवन ही तुम्हारे लिये दूभर है तो इसको तुम एक पक्के कुल्हाडेसे काट डालो तुरन्त वृक्ष गिर जायगा और जिससे तुम इतने भयभीत हो वह तुम्हारा भय कारण दूर हो जावेगा। वह पक्का कुल्हाडा असङ्ग है विरक्ति है त्याग है, यह कुल्हाडा चलाओ, सङ्ग रूपी अधः मूल तुरन्त कट जायगी साथ ही संस्कार रूपी दृढ मूल पर भी चोट पड जायगी। इस प्रकार असङ्ग कुल्हाडेसे

सङ्ग संस्काररूपी दृढ़ मूलोंको काट कर इस संसार वृक्षको जब तुम अपने लिये काट डालोगे तब उस प्राप्त करने योग्य तत्को ढूंढनेके योग्य होगे जिसको प्राप्ति के मार्गपर एक बार पदार्पण करके फिर लौटनेका नाम नहीं लेते, मैं उसी आदि पुरुषका प्रतिपादन करता हूं जिस से सबसे पहिली प्रेरणा हुई जिसनेही सर्व प्रथम सृष्टिरचन सङ्कल्प करके प्रकृतिमें से ही संसारका पसारा कर डाला।

कारण यह है कि वही स्याने पुरुष उस अविनाशी प्राप्तव्य भगवान् को प्राप्त करते हैं जो उपरोक्त प्रकारसे संसार वृक्षको काट चुके हों क्यूंकि जब एक संसारसे लगाओ है तब तक राग द्वेष रहेंगे तभी तक सुख दुःख रूपी जोडे भी नहीं छूटेंगे, तभी तक जिनसे सुख मिलता है उन से प्रीति तथा उनमें मोह और उन पर मान भी मनुष्य अवश्य करता है एक से ऐसा करता है तो औरों से क्यूं न करेगा जिससे न करेगा वह दुःखी होगा और दुःख देगा। इस प्रकार जिनमें अभिमान है और जो मोह ग्रस्त हैं जिनमें मैं मैं का भाव अभी बना हुआ है और जिनमें अभी यह मेरा है यह भी मेरा है ऐसा भाव भी अभी बाकी है वे संसारीही हैं उनकी कामनाएं इच्छाएं भी अभी निवृत्त नहीं हुई। अभी यह मैं मेरी छोडकर आत्मतत्त्व के अधिकारमें अपने आपको डालने का यत्न करें कुछ काल ऐसा करनेपर नित्य आत्म तत्त्वमें उलझे रहने से उनकी कामनाएं उन को भूलही जायंगी तब वह अध्यात्म नित्य विनिवृत्त काम हो जायंगे तो उनका सङ्ग दोष, मान मोह, सुख दुःख आदि द्वन्द्व सब उन्हें छोड देंगे तो वह स्याने पुरुष उस अविनाशी पदको तब प्राप्त अवश्य कर लेंगे।

उस पदको प्राप्त कर फिर लौटते नहीं वही मेरा परमधाम है मैं भी तो वास्तवमें वहीं रहता हूं वहां प्रकाश करने के लिये सूर्य, चान्द, अग्नि इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं, वह तो सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः है उस लोकमें तो सदाही प्रकाश रहता है वहां अंधेरे का काम ही क्या?

यहां तक भगवान् ने संसारकी उलझनसे छूटने का मार्ग सुन्दर शब्दोंमें यह वर्णन किया है कि संसार को वृक्ष जानो इसे असङ्ग शस्त्रसे काटकर (क्यूंकि वृक्ष का अर्थही कट सकनेवाला और जिस को स्वयं ही वर कर जिस के आश्रयसे कोई विश्राम करे वह है) आदि मूल भगवान् का मार्ग ढूंडो वह मान मोह छोडकर ही मिलता है वहां सूर्य चान्द आदि की आवश्यकता नहीं रहती वहां पहुंच कोई लौटना नहीं चाहता।

(५)

भगवान्ने संसार वृक्षका वर्णन कर, उससे छूटने का उपाय बतला, फिर जिसे प्राप्त करने का मार्ग पकडना चाहिये वह कहा कि उस अविनाशी पद को ढूंडो जो मेरा परमधाम है। वह तो उनका परमधाम है पक्का ठिकाना है अंतिम स्वरूप है निराकार शुद्ध सत्ता है, वह तो बहुत कठिन उपायोंसे मिलता है क्या कोई निचला धाम भी है उस भगवान्का जो उससे आसान हो प्राप्त करना? भगवान् उत्तर देते हैं कि प्राणियोंकी जो जान है वह जीव भी एक मेरी ही विभूति है वह भी मेरा ही एक ईश्वरका धाम है वह भी नित्य सनातन अजरा सत्ता है, इस जीवित संसारमें जीवलोकमें देहधारि प्राणिसमूहमें मेरा आसानीसे दीख जानेवाला अंश यही जीव है। जीव क्या है? यह वही संघात् शक्ति आकर्षक शक्ति चेतन सत्ता है जो प्रकृति विकाररूप नानाप्रकारके अनुभवमें आनेवाले शब्दादि विषयोंमें उलझ कर फंसनेवाली उनमें तल्लीन हो जानेवाली चक्षु आदि दर्शन् शक्ति आदि इन्द्रियोंको वहांसे मनके द्वारा केवल विचार मात्रसे खींचकर अपने वशमें कर लेती है और फिर जिधर इच्छा करती उधरको चलाकर अन्यही विचार तथा विषयमें मन तथा इन्द्रियोंको लगा देती है अथवा कभी कहीं भी नहीं लगाती, केवल अपने स्वायत्तही वशमें रखकर अपनेमें भी उन्हें रमा रखती है यह देह मात्रको एकत्र करनेवाला तत्त्व भी मेरा ही अंश है यह मेरा जीवलोकस्थ धाम है।

यह जीवरूप मेरा अंश प्रकृतिको आकर्षण करता और उससे वियुक्त होता रहता है जब यह आक-

र्षण होता है तो दो प्रकृतिविकारसमूह परस्पर सम्बद्ध हो सर्वथा जुड जाते हैं एक हो जाते हैं तब यह आकर्षण उनमेंसे एकके अन्दर एकत्र होकर दूसरेका कुछ टुकडा उसके साथ ही जुडा हुआ साथ ही तुडवाकर उस दोनोंके सांझ टुकडेमें ही समा जाता है उसी कालमें वह टुकडा Fertilised ovum गर्भ कहलाने लगता है क्योंकि उसमें प्रकृतिके अंशोंने आकर्षण रूप जीवको ग्रहण कर लिया है । इसका दृष्टान्त Electric welding (बीजलीसे जोडने) में हो ठीक प्रकार मिलता है जब लोहे के दो टूटे हुए टुकडोंको फिर जोडना होता है तो दोनों टुकडोंको टूटे स्थानसे सम्बद्ध करके उसके दोनों सिरोंपर बिजलीकी उलटी तारें जोडते हैं और फिर बिजली यन्त्र अर्थात् बैटरीसे उन तारोंके द्वारा उन टुकडोंमेंसे बिजुली गुजारते हैं। जब बिजुली गुजर चुकती है तो टुकडे सर्वथा जुड चुकते हैं अब यदि फिर तोडो तो जहां जोडा था वहांसे नहीं टूटेंगे पर आस पास इधर उधरसे टूटेंगे और जहां जोड लगा है बिजुली तो सब उसी स्थानमें संगृहीत हो चुकी है। बस इसी प्रकार मातापिता रूपी टुकडोंमें जब प्रजापतिका गुण आनन्द रूपी विद्युत् संचरित होता है तब वह माता के वीर्यों के अंशोंमें से जिस जोडमें एकत्र होता है वह जोडा एक होकर जीवित् उत्पादक अणु गर्भ बनकर रचना बदलता बदलता अन्तमें किसी प्राणी के परिपक्व रूपमें प्रकट हो जाता है फिर जब वह रूप क्षीण होने लगता है और होता होता सर्वथा समाप्त होनेको आता है तो अन्तमें वही विद्युतरेखा प्रजापत्यानन्द उसमें से निकल जाता है। यह प्रश्न ऐसा गूढ है कि इस को ज्ञान की आंखवाले देख सकते हैं अन्य विपरीत विषयोंमें फंसे हुए मोह अज्ञानमें उलझे हुए इस भेदको नहीं पा सकते क्यूंकि उन का ध्यान ही इधर नहीं होता। इसी लिये भगवान् कहते हैं कि जब शरीर को प्राप्त करता है और फिर जब वही जीव शरीरको छोडता और जितनी देर एक शरीरमें टिका रहता हुआ योग्य प्रकृति के सत्व रज तम गुणों तथा उनके विकारोंकी सहायतासे भोग भोगता रहता है तो इन तीनों अवस्थाओंमें ही ज्ञानी तो उसे अनुभव करते रहते हैं पर विपरीत मार्गगामी मोहग्रस्त अज्ञानी संसारी जीव उसे कब देख सकते हैं?

यह विद्युत् रेखारूप आनन्दी जीव तत्व चैतन्य सत्ता अपनी शक्ति रूप मन तथा इन्द्रियों को अपनेमें ही समाविष्ट करके शरीर को छोडते समय साथ ही ले जाती है जैसे बागीचेमें से बहती हुई वायु फूलोंकी सुगंध को भी साथही उडा ले जाती है और दूसरे नवीन शरीरको प्राप्त करते समय इन मन तथा इन्द्रियोंको भी अपने साथ ही उसी नवीन शरीरमें प्रवेश करा लेती है। ऐसा प्रतीत् होता है कि वास्तवमें मन तथा इन्द्रियां जीव की शक्तियां मात्र हैं जो विशेष उत्तेजना प्राप्त होनेपर प्रकट हो जाती हैं और वह उत्तेजना दूर होनेपर गुम हो जाती हैं जैसे शब्द रूपी लहरमें पडे परमाणु जब कान के पडदेपर टकराते हैं तो झट जीव का ध्यान उधर जाता है और उसी समय उसकी वास्तविक श्रोत्र इन्द्रिय रूपी शब्द ग्रहण शक्ति इतनी उत्तेजना मात्रसे ही जाग पडती है उसी के आश्रित विचार आता है कि घडी टिक टिक करती है अर्थात् केवल टिक टिक से परमाणु जिस लहर में पडे हुए किसी परमाणु के कान के पडदे से टकराने से जीव की अनेक शक्तियां उत्तेजित हो उठी पहिली श्रोत्र श्रवण शक्ति, दूसरी मन विचार शक्ति तीसरी बुद्धि ज्ञान शक्ति, और चौथी जीवन शक्ति रूप जीव स्वयं भी उसी ओर ध्यानस्थ हो गया। इन सब कारणों से उपासक का ध्यान उपासना से हटकर घडी की टिक टिक सुननेमें लगता है यह अनेक उपासकों के अनुभवमें कभी कभी आया होगा।

भगवान् कहते हैं कि कान, आंख, खाल, जिह्वा, नाक इन स्थूल शरीरावयवों का आश्रय लेकर; इन को जानेवाली भिन्न भिन्न ज्ञान तन्तुओंके द्वारा मस्तिष्कमें पहुंच, जीव को 'श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, रसन, घ्राण, शक्ति को उत्तेजित कर, विषय ज्ञान,

जब मनको प्रभावित करते हैं तब जीव वास्तवमें विषय सेवन करता है अर्थात् इन्द्रियों तथा मन को अपने अधिकारमें उत्तेजित करके ही जीव विषय सेवता है इस प्रकार विषय भोग करते हुए जीव को, शरीरस्थ रूपमें अथवा कभी ऊपर मस्तिष्कमें चढते हुए, कभी नीचे हृदयमें उतरते हुए, कभी कण्ठमें स्थित को ज्ञानी तो पहचानते हैं पर इस पथ से ही विचलित हुए नहीं देख पाते।

इस जीव साक्षात्कार के लिये भगवान् एक और शरत लगाते हैं कि केवल यत्न ही से, कोई अपने शरीरमेंही स्थित इस जीव को नहीं देख सकते अपितु इस के लिये योगी बनना आवश्यक है क्यूंकि जिन्होंने शरीर को वशमें नहीं किया, कृत रूपी सात्विक कर्मोंकाही परिणाम रूप जिनके शरीरावयव नहीं बन चुके, जिनका चैतन्य होश अक्ल विशेष रूपसे प्राप्त नहीं हो चुकी, वह अकृतात्म अचेतस लोग चाहे कितना भी यत्न करें जब तक इन दोषों से मुक्त नहीं होते, तब तक इस जीव को नहीं देख पायंगे।

इस प्रकार भगवान्ने जीव का विषय वर्णन किया कि जीव वही ईश्वरीय अंश है जो शरीर धारण करता है, मन के द्वारा इन्द्रियों को प्रयोग करके विषय भोगता है, और जिसको सभी दशाओं-में योगी यत्न से देख लेते हैं पर अज्ञानी, चित्तको भटकने वाले अपने आपको न जीतनेवाले लाख यत्न करनेपर भी देख नहीं सकते। जीव सनातन तत्व है।

यह जीवरूपी भगवान्की दृश्य विभूति संसारमें बहुत दूर तक व्याप रही है जैसे परमधाम निराकार भगवान्से उतर कर दो मार्ग हैं एक जीवरूपी अंश जिनसे वह बना है अब जीव विभूति वर्णन कर अब प्राकृतिक विभूतियाँ वर्णन करते हैं सबसे प्रथम देखिये कि कैसा प्रचण्ड सूर्य प्रदीप्त हो रहा है सारे संसारको चमका रहा है। इस सूर्यमें जो तेज है Glory है शान है वह सब तेज उसी भगवान्का है, यह भगवान्का है, यह भगवान् की दूसरी विभूति है, इसी प्रकार शान्त सौम्य शीतल चन्द्रमा भगवान् की तीसरी प्रकारकी विभूति है उसका शीतल तेज भी भगवान् की ज्योति की ही अद्भुत् छटा है, अग्नि की ज्वाला भगवान् की चतुर्थ दीप्ति है, यह भगवान् के चार प्रकारके विचित्र रूप हैं पहिला ज्ञान, दूसरा सूर्यका ज्वलन्त प्रकाश, तीसरा चन्द्रमा की शान्त शोभा, चौथा, अग्नि की लपटोंवाली शिखा। विचित्र भगवान्ने कैसे चार एकसे एक भिन्नरूप धार रक्खे हैं और यह क्रम यहीं पर समाप्त नहीं होता। भगवान् अपनी अन्य मनोहारि विभूतियें भी वर्णन करते हैं यथा मैं पृथिवीमें प्रवेश किये हुए हूं और वहां मेरा रूप ओजका है यही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करने वाली शक्ति है पार्थिव पदार्थोंकी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता इसी भूतके तत्वोंको एकत्रित संगठित रखनेवाली शक्तिके आश्रय स्थित है यही पार्थिव ओज, जो पार्थिव जलमें होता हुआ, जड़ों द्वारा वनस्पति चूसती हैं और ऊपर अपने डाली पत्तोंमें पहुंचा कर, जिसके द्वारा पुष्ट होती हैं। उस वनस्पति रसके रूपमें सोम कहलाता है इस प्रकार पृथिवि सम्बन्धी विभूतियोंका वर्णन भगवान्ने किया। अब प्राणियोंमें प्रमुख विभूति तो जीव तत्व है परन्तु दूसरी एक और भी भगवान् की विभूति है वह वैश्वानर अर्थात् जाठराग्नि जो सम्पूर्ण भुक्त पीत रूप अन्नपानको पचा डाली है। चारों प्रकारका अन्न लेह्य चूष्य आदि अर्थात् चटनी आम, रोटी, पानी आदि जो मुखके द्वारा शरीरमें डाला जाता है, उसको यही वैश्वानर प्राण अपान की सहायता से भस्म कर डालती है। श्वास प्रश्वास आते जाते हैं और इस जाठराग्निको उत्तेजित करते रहते हैं और इनके आश्रय संपूर्ण अन्न पान पच जाता है यह वैश्वानर तथा प्राण अपान भी भगवान्की विचित्र विभूतियें हैं जो प्रकृतिमें इतना महत् परिणाम कर डालती हैं जितना कि मोहनभोग तथा पुरीषमें भेद है अथवा दुग्ध तथा मूत्रमें है इतना महत् परिणामक केवल यह वैश्वानर है।

अब फिर दूसरी ओर लौटते हैं प्रकृतिमें सूर्यसे लेकर वैश्वानर तक विभूतियें दर्शाकर अब फिर अपने स्वरूपसे उपसंहार करते हैं कि मैं ही सबके

हृदयोंमें अच्छे प्रकार बैठा हुआ अनेक तत्वोंमें लिपटा हुआ हूं। मुझसे स्मृति ज्ञान तर्क वितर्क सब कुछ होता है अथवा मैं ही विषयादि सम्बन्धी तर्क वितर्क द्वारा ज्ञान करवा कर उसके स्मृति संस्कार करवाता हूं। मैं ही सब वेदोंके द्वारा ज्ञेय हूं। सब वेद मेरा अनुभव करवानेके ही लिये हैं और मैं ही उन्हें जाननेवाला हूं क्यूं कि वास्तवमें तो वेद वेदान्त सब मैं ने ही बनाये है।

संसारमें द्रव्य मात्रमें लोक लोकान्तरमें पहिले तो दोही पूर रहे हैं एक परिणामी है, बदलनेवाला है, क्षर है, एक स्वभावस्थित है, अपरिणामी है, कूटस्थ है अक्षर है, सब बने हुए पदार्थ भूतमात्र प्राणी अप्राणियोंके शरीर क्षर हैं उनकी जान ब्रह्माण्डका प्राण संसार प्राण अक्षर है, वास्तवमें अपरिणामी सत्ता है। इन प्रकृति तथा जीवोंसे परे वह ईश्वर है जो इन दोनोंका अधिष्ठाता है जो त्रिलोकी में प्रवेश कर उसे बना, ढा तथा संहार रहा है उसका विशेष भरण पोषण भी वही कर रहा है वह उत्तम पुरुष है उसे परमात्मा कहा गया है। वह भगवान् परिणाम धर्मा प्रकृति क्षर, अपरिणामी जीव अक्षर दोनोंसे पर है, उत्तम है इसी कारण संसारमें वह स्वरूपसे सर्वोत्तम जगत्पूरक सत्ता है जिससे बाहर कुछ भी नहीं हो सकता।

सर्वथा मोहसे छुटकारा पाया हुआ, अज्ञान भुलावा जिसका बिलकुल हट गया है, ऐसा जो व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम रूपमें पहचानता है वह फिर मेरी उपरोक्त सर्व विभूतियोंकी महिमा समझ मुझे हर प्रकारसे सेवता है, हर प्रीति श्रद्धा प्रेम [illegible]क्ति आदि उत्तम भावसे मुझे वह भजता है क्यों[illegible] वह मेरे सर्व भेदोंको अनुभव कर चुका [illegible]ा है।

[illegible] निष्पाप! यह अत्यन्त गुप्त शास्त्र तुझे सुना [illegible]या इसे बूझ कर स्याना बन और हे भरतवंशाव[illegible] ! अपना कर्तव्य कर चुका है जो वैसा तू शीघ्र ही हो जा। हे प्रियसखा अर्जुन! जो पापरहित हैं उनके लिये तो परम रहस्य वर्णित हो चुके शिक्षा धर्म कर्मकी दी जा चुकी, अब अपनी बुद्धिमें इसे बिठा कर इसके अनुकूल कर्त्तव्य करना न करना उनके अपने आधीन है। मैं ने भेद प्रकट कर दिये हैं॥

(६)

गुप्त परम गुह्य भेद बतलाकर, सूक्ष्म अव्यक्त अवस्थाओंका सुन्दर निरूपण करके अब भगवान् मोटी मोटी बातें बतलाते हैं, अन्तिम् तीनों अध्याय व्यावहारिक ज्ञान जो सर्व साधारण के काम आनेवाला है वह सरल शब्दोंमें देते हैं इस दृष्टि से यह अध्याय अत्यन्तोपयोगी हैं, क्यूंकि इनमें वह बाते बतलायी हैं जो हैं सरल और सुगम परन्तु जिनको Due importance उतनी महत्ता जितनी कि देनी चाहिये लोग नहीं देते और दुःख उठाते हैं, इसी कारण भगवान्ने उन्हें अन्तमें रक्खा है। क्यूंकि अन्त की बातें मस्तिष्कमें अधिक देर ठहरती हैं और पुस्तक समाप्त करनेके चिरकाल पीछे तक भी स्मरण रहती हैं और कोई न कोई उनमें से क्रियामें भी परिणत हो ही जाती हैं, इसी लिये भगवान् ने ये अन्तमें बिना मांगे ही देनी आरम्भ कर दी हैं और अन्ततक यही देते रहे हैं क्यूंकि यह प्रत्येक दशा के लिये कर्तव्य है क्योंकि यहीं से उस मार्ग का वास्तविक आरम्भ होता है जिस पर लोगोंको धकेलने के लिये भगवान्ने गीता रची। अस्तु।

इस सोलहवें अध्यायमें दो भेद जनताके दिखलानेके लिये उनके भिन्न भिन्न गुण स्वभाव आदि वर्णन किये हैं और बतलाया है कि एकवाले नीचे ही नीचे जाते हैं, दूसरेवाले ऊपर ही ऊपर उठते जाते हैं।

पहिले तीन श्लोकोंमें ऊपर उठनेवालोंके लक्षण गिनाये हैं। निर्भयता, अंतःकरणशुद्धि, मनकी पवित्रता, चित्तकी एकाग्रता तथा निरोध बुद्धिमें अहङ्कार की न्यूनता होते जाना, प्रत्येक दशामें रहते हुए ज्ञानाकुल ही चित्तको चलाना, सर्वथा तद्विपरीताचरणसे उसे रोकेही रखना और

उसीके अनुसार मनादि ११ इन्द्रियोंको प्रयुक्त करना, यह तीनों सबसे स्फुट लक्षण दैवी मार्गगामीमें होते हैं। वह कोमल परन्तु तपस्वी, याजक परन्तु आनन्दरूपके ध्यानमें मग्न, सर्वथा चित्त तथा इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला परन्तु दानार्थ धनादि उपार्जन कर्ता तथा दाता भी, होता है। न किसीको सताना, न क्रोध करना, न चुगली करना, न विषयोंमें फंसना परन्तु फिर भी होना मीठा, प्राणियोंपर दया रखना, चञ्चल न होना, प्रपंच शर्माना, और सच्चे शान्त तथा त्यागी होना चाहिये। क्षमा करना परन्तु तेजस्वी रहना, धैर्य रखना, साफ शुद्ध पवित्र रहना, न घमण्ड करना और न किसीसे जलना अथवा बैर करना, यह सभी लक्षण हे भरत की सन्तान! उसमें होते हैं जिसमें दैवी संपत्ति प्रकट हो और जो मनुष्योंके दैवविभागमें से हो॥

इसके विरुद्ध कुमार्गगामी अधोगतिके अधिकारियोंके लक्षण हैं क्रोध, घमण्ड, सख्ती, दिखावा, अहङ्कार, अविद्या। हे कुन्तिपुत्र! जो पाशवी प्रवृत्तिवाले हैं, जिसमें असुरोंके लक्षणोंकी प्राप्ति बहुत बढी हुई है वह इन लक्षणोंसे युक्त होते हैं।

पूर्व तीन श्लोकोंमें दिये गये लक्षणोंवाली दैवी सम्पत्ति विशेष छुटकारा जन्ममरणसे दिलानेवाली है, इससे विरुद्ध चतुर्थ श्लोकमें वर्णित् लक्षणोंवाली आसुरी सम्पत्ति सदाके लिये बांध देनेवाली है। जितना जितना कोई कोई व्यक्ति उसके फंदेमें फंसेगा उतना ही अधिक वह आवागमन चक्करमें उलझेगा। परन्तु हे पाण्डुकी सन्तान! तू शोक न कर, चिन्ता करनेकी तुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि न तो दैवी संपदको ही अभिमुख रखकर प्रकट [हु]आ है, दैवी सम्पत्ति ही तुझमें तो प्रसिद्ध है।

इस प्रकारसे इस संसारमें जो दो प्रकारकी सृष्टि है—दैव तथा आसुर—उनमेंसे गत अध्यायोंमें मैंने विस्तारसे कथन दैवसृष्टिका तो कर दिया है। इस लिये आगे इस अध्यायमें अब तू असुरोंकी सृष्टिका वर्णन सुन ले कि तू कभी उनके झमेलेमें न फंस सके, चाहे वह तुझे कितना भी उलझावें।

❀

सबसे मोटी पहिचान असुर लोगों प्राणपोषक जनोंकी यह होती है कि उनको इतना भी पता नहीं होता कि हमारी मानसिक वृत्तिके विचार किधर को प्रगति कर रहे हैं और किधरसे हट रहे हैं अर्थात् विचार उन्नत हो रहे अथवा अवनत यह जिन को पता नहीं चलता, समझ लो कि वह दैव नहीं आसुर हैं। शुद्धि, शुद्धाचार, सच्ची इनमें भी वह दृढ नहीं होते, वह समझते हैं कि यदि झूठसे काम बनता हो तो क्यों न बनाएं? क्या आवश्यकता है कि स्नान किया जाय, वस्त्र धोये जाय इत्यादि और वह यह भी आवश्यक नहीं समझते कि केवल अपनी ही स्त्रीसे सम्बन्ध उचित है अन्योंसे नहीं। वास्तवमें वह शारीरक सुख प्रमाद विषयलोलुपता आदिमें ऐसे उलझे होते हैं कि उन्हें यह विचार उत्पन्न ही नहीं होते कि सत्य शौच आचार कर्तव्य हैं अथवा नहीं, वे अपने ही छन्दोंमें मस्त रहते हैं, उनमें प्रवृत्ति निवृत्ति, कर्तव्य अकर्तव्य आदिके विचार उठते ही नहीं।

वह समझते हैं कि संसार जोडोंके काम संबन्ध द्वारा एक दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे उत्पन्न हो गया है। कोई इसे बनानेवाला ईश्वर आदि नहीं इसी कारण यह क्षणभङ्गुर है जब भी अचानक इसका अन्त हो जाय। कोई नियम नहीं कि यह अवश्य पूरी अवधि तक बना हो रहेगा, कोई सत्य प्रतिष्ठित ईश्वर इसकी रचनाके पीछे नहीं।

इस (Point of view) दृष्टिकोणको दृढरूपेण पकडकर थोडी बुद्धिवाले, भयङ्कर कर्मोंवाले ये जगत्‌के शत्रु उसे नाश करनेके लिये ही बने होते हैं क्योंकि इनमें आन्तरिक ज्योति आत्मतत्त्व तो प्रायः नष्ट ही हो चुका होता है, जो उन्नति की ओर स्यात् इन्हें कभी प्रवृत्त कर सकता।

यह गन्दे व्यवहारोंवाले, अज्ञानसे झूठे विचारों की दृढतासे पकड कर, कभी तृप्त न हो सकनेवाली कामवासनामें डूबकर, अभिमान तथा पाखंडके नशेमें चूर्ण होकर, अपवित्र अश्लील कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और इन्हींमें आयुकी दिनरात्रियोंको व्यर्थ गंवा जाते हैं।

इनकी असीम चिन्ता इस संसारके रहते रहते तो तो अन्त होनेकी आशा नहीं,प्रलयमें स्यात् रुक जाय, क्योंकि इनका निश्चय है कि विषयभोग ही जीवनका उद्देश्य है और यही सब कुछ है। इस विचारसे वह इसीमें ही उलझे रहते हैं।

सैंकडों आशाओं के बन्धनोंसे सदा ही बन्धे हुए, विषय तथा क्रोध इन दो के ही सदा आश्रित होने के कारण वह धनकोही एकत्र करना चाहते हैं, चाहे अनीति अन्यायसे ही क्यों न हो। क्यों कि उनको विषयभोगके लिये इस द्रव्य की बहुत आवश्यकता सदैव बनी रहती है।

अतः उनको सदा ऐसेही विचार आते रहते हैं कि आज मुझे यह पदार्थ मिल गया, कल मुझे वह मनचाहा भोग प्राप्त होगा। यह धन मेरे पास अब है और वह धन भी मेरा हो जायगा।

वह शत्रु मैं ने मार डाला, दूसरे वैरियोंको भी मार करही दम लूंगा। मैं राजा हूं, भोगसामग्री मेरे जितनी किस के पास है? मेरे कार्य सब सिद्ध ही होते हैं क्योंकि मैं किसकी अपेक्षा निर्बल हूं? इसी कारण तो मेरे बराबर सुखी दूसरा कोई दिखाई ही नहीं पडता।

धन जनसे सम्पन्न, उत्तम कुलोत्पन्न जैसा मैं हूं ऐसा अन्य कौन हो सकता है? मुझे अब सामर्थ्य है कि एक बडा उत्सव रचूं, उसमें अपने साथियोंको खूब खिला पिला कर उन्हें मन चाहे पदार्थ दूं और परस्पर हम खूब मजा उडाएं।

ऐसा अविद्याभरी विचारशृङ्खलामें जकडे हुए, चित्तको अनेक विषयोंमें बहकाये हुए, मोह-मायासे सर्वथा ढके हुए, विषयभोगोंमें अच्छी तरह उलझे हुए, वह गन्दे नरकमें गिरते हैं जहां सुख आनन्द का भाव प्रायः होता ही नहीं।

अपने आपको ही बहुत बडा माननेवाले, ढीठ, धनमान के नशेमें बदमस्त, वे नाममात्र का यज्ञ, विधि की सर्वथा अव हेलना करके, केवल पाखंड रूपही रचते हैं।

यह लोग विषय, क्रोध, पाखण्ड, अभिमान तथा जबरदस्ती, इन सबपर आचरण कर, खूब वैर कमाते हैं और चुगलियां खाते रहते हैं। इस प्रकार वह जब स्वयं दूसरोंके विरुद्ध पाप करते हैं तो अपनेमें व्यापक आत्मतत्त्वको कलुषित करते हैं। साथही उन दूसरोंके अन्दर व्यापक ब्रह्म का भी निरादर करते हैं, इस प्रकार वह वास्तवमें परमात्मद्वेषी ब्रह्मनिन्दक ही हैं।

ऐसे नरनीचोंको जो सख्त स्वभाववाले, दूसरों से जलनेवाले हैं, जिन जैसा अधम संसारमें मिलना कठिन है, उन को मैं निरन्तर गंदी आसुरी जातियोंमेंही जन्म देता हूं।

वे मूर्ख जन्मजन्मान्तरमें इन राक्षसी योनियोंमें ही घूमते घूमते नीचे ही नीचे गिरते जाते हैं,अधमों की गति अधमतर ही होती जाती है। हे कुन्ति पुत्र! उन विचारोंने मुझे क्या प्राप्त होना था?

अपने आपको नष्ट भ्रष्ट करनेका तीन प्रकारका नरकद्वार काम, क्रोध और लोभ रूप है,इस लिये इस त्रिपुटि को आवश्य त्यागे।

हे कुन्तिपुत्र! इन तीनों नरकद्वारोंसे अच्छी प्रकार छूटा हुआ, सर्वथा अन्धकार की वृद्धि को रोक कर, मनुष्य अपनी आत्मा का कल्याण साधन आरम्भ करता है, तब उस मार्गका अवलम्बन कर क्रमशः श्रेष्ठ गति को-परम गतिको पा सकता है।

इस प्रकार उत्तम गति, विधिविधान का आश्रय लेनेसे प्राप्त होती है। इस के विरुद्ध जो शास्त्र-विधि त्याग कर जैसे जीमें आवे वैसे करता है उस की कार्यसिद्धि नहीं होती, अतः उसे सुख भी नहीं मिलता और न ही परम गतिका अधिकारी वह हो सकता है।

इस कारण कर्तव्याऽकर्तव्यविवेक के लिये, एक से दूसरे का पृथक् रूपेण निश्चय करनेके लिये, तुझे शास्त्रही प्रमाण समझना चाहिये और शास्त्र की आज्ञा जानकर ही तदनुकूल कर्म करना चाहिये। इस संसारमें कर्तव्याकर्तव्यनिश्चय शास्त्रद्वारा ही समुचित रीतिसे हो सकता है। शास्त्र जिस

कर्म करनेकी विधि बतलता है वह कर्म उस विधि से करना चाहिये तथा शास्त्र जिस कर्म का निषेध करता है वह त्याग देना चाहिये।

इस प्रकार भगवान्ने मुझ अर्जुनको कर्तव्य सिखानेके मिष से संसार पङ्कमें निमज्जित प्राणियोंके उद्धार के लिये इस सोलहवें अध्यायमें बड सरल परन्तु भाव पूर्ण तथा उत्तेजनायुक्त शब्दों में दोनों मार्गों का चित्र ऐसा साफ खींचा है कि मोटी बुद्धिवाले भी तुरन्त बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह है कि शास्त्रानुकूल, काम क्रोध लोभ के त्यागपूर्वक, जो आत्मा के श्रेय का मार्ग, ज्ञान योग का, पकडता है वह निर्भय अहिंसक सत्यप्रिय शान्त दान्त ब्रह्मचारी क्षमाशील धर्मात्मा होकर परम गति सुख शान्ति सिद्धि समृद्धि को पा जाता है। इस से विरुद्ध कामी क्रोधी लोभी दम्भी पाखण्डी अभिमानी नीचे ही नीचे नरक में जाते हैं कभी भगवान् की प्राप्ति की आशा भी नहीं कर सकते वह असुर हैं, पहिले देव हैं। इस संसारमें इस दोही प्रकार के भूत मार्ग हैं ॥१६॥

बारहवा अध्याय

निरन्तर इस योगमें, लगें जो तेरे भक्त।
सदा उपासें तुझे ही, सर्व स्थान, अनुरक्त ॥१॥

नाशरहित अप्रकटको, जो व्यापक सब स्थान।
अक्षर परम अव्यक्तको, ध्याएं धर कर ध्यान ॥२॥

इन दोनोंमें हैं अधिक योग ज्ञानसम्पन्न।
कौन बताओ कृष्ण जी, सिद्धि श्री सम्पन्न ॥३॥

उत्तम योगी मानता, उन्हें मैं अर्जुन वीर!
नित्य उपासें मुझ जो, श्रद्धा योगसे धीर ॥४॥

मुझमें मन प्रविष्टकर, सभी ओरसे जो।
उत्तम श्रद्धायुक्त हो, मुझे सेवते सो 2 ॥५॥

पर अक्षर अव्यक्त जो, कथन किया न जाय।
सोचा जाने योग्य न, निश्चल ध्रुव कहलाय ॥६॥

इक रस है जिन रूपमें, सदा रहे कूटस्थ।
जाता है सब स्थान पर, सर्वत्रग तटस्थ 3 ॥७॥

इन्द्रियगण की रोक कर, समबुद्धि सब स्थान।
उसे उपासें नर सदा, सब जन हित हो महान् ॥८॥

पावें वे भी मुझे ही, पर उन्हें अधिक कलेश।
चित्त फंसाना अव्यक्तमें, यह गति कठिन विशेष 4 ॥९॥

देहधारीको कठिन है, पाना गति अव्यक्त।
दुःख पडे जो झेलना, मेरे भक्त को व्यर्थ ॥१०॥

मेरे परायण भक्त जो, त्यागें मुक्तमें कर्म।
मेल औरसे त्याग कर, ध्यावें मुझे अनन्य 5 ॥११॥

सर्वकर्म मयि न्याससे, मुझे उपासते जो।
मृत्यु भंवर समुद्रसे, पार उतरते सो 6 ॥१२॥

उन्हें उद्धारू मैं सदा, इस सागरसे आप।
चित्त जिनका मुक्तमें लगा, तुरत बनें निष्पाप ॥१३॥

धर मन मुझमें इस लिये, सभी ओरसे तू।
बुद्धि मुझमें प्रविष्टकर, सद एक रस तू ॥१४॥

मुझमें ही फिर बसेगा अत ऊर्ध्व निश्शङ्क।
पायेगा ऊंची गति, निश्चय है, मतिमन्त! ॥१५॥

यदि मुझमें तू चित्त को, धर नहीं सकता स्थिर।
बारबारके यत्नसे, चाह पाना मुझे फिर ॥१६॥

धन विजयी हे वीरवर अभ्यास योग यह जान।
स्थिर चित्त करनेका यत्न, वीर करे सुमहान् ॥१७॥

शक्ति नहीं अभ्यासकी, सदा करो मम कार्य्य।
मेरे लिये ही कर्म कर, सिद्धि पाओ आर्य्य ॥१८॥

मुझ आश्रित इस योग को, भी न सको यदि पाल।
अपना आप सम्भाल कर सभी कर्म फल त्याग ॥१९॥

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्याससे' चित्त करे स्थिर जो।
ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यावे ईश को सो ॥२०॥

कर्म फलोंको त्यागकर शान्ति मिले तुरन्त।
ध्यानसे उत्तम यह गिना, इसी लिये मतिमन्त ॥२१॥

सभी जनोंसे वैर त्यज, मित्र दयालु प्रिय।
मैं मेरीसे रहित जो, सुख दुःखमें सम हिय ॥२२॥

क्षमावान् सन्तोषयुत्, नित्य निरन्तर योग।
साधे आत्मा जोडकर, स्थिर बुद्धि शुभयोग ॥२३॥

मेरे अर्पण मन किये, बुद्धि धरे मम हिय।
मेरे श्रेष्ठ समुक्त वह, सदा मुझे रहें प्रिय ॥२४॥

जिससे जन नहीं कांपते, जनसे न कांपे जो।
खुशी जलन भय वेगको, त्यागे मम प्रिय सो ॥२५॥

बेपरवाह दुःखरहित जो, चतुर पवित्र सुजान।
स्थिति उच्चमें रहे सदा, उदासीन धृतिमान् ॥२६॥

त्याग दिये आरम्भ सब, संसृति सुखके रूप।
भक्त करे शुभ कर्म मम, सो मम प्रिय अनुरूप ॥२७॥

खुशी पाय नहीं फूलता, नहीं जलन जिस मांह।
इच्छा नहीं न शोक है, सो जन सबकी छांह ॥२८॥

कर्म अशुभ परि त्यागकर, शुभ फल भी कर त्याग।
भक्ति मेरीमें रमें, मम प्रिय सहित अनुराग ॥२९॥

वैरि मित समान है, मान अपमान समान।
गर्मी सर्दी दुःखसुख, में भी रहे इक जान ॥३०॥

रहे अकेला मौजमें, सङ्ग त्याग सब जो।
भक्तिमान् वह शुभमति, सो जन मम प्रिय हो ॥३१॥

सुन बड़याई आपनी, सुन चुगली अपशब्द।
तुल्य रहे जो सर्वथा, कहे कुशब्द न शब्द ॥३२॥

जिस किससे सन्तुष्ट जो, सदा रहित् स्वस्थान।
मिति टिकायें आपनी, प्रियनर भक्तिमान् ॥३३॥

सदा उपासें मुझेही, अमृत धर्म अनुकूल।
इस अविनाशी धर्मके विचरें न प्रतिकूल ॥३४॥

श्रद्धायुत् मत्परम हो, करें यथोक्त विधान।
प्रिय अतीव मुझ सोई जन, परम भक्त मम प्राण ॥३५

तेरहवां अध्याय।

विश्वरूप दर्शन करवा कर अर्जुनको अपनी अनन्य भक्ति का दान देकर भगवान् उसके पूछने पर या बिना पूछे ही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग द्वारा योग सिद्धि प्राप्त करनेका उपाय इस तेरहवें अध्याय में सिखलाते हैं। किन्हीं गीता पुस्तकोंके अनुसार तो अर्जुनने निवेदन किया है कि 'प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, ज्ञान ज्ञेय, इन सबका ज्ञान प्राप्त करना मैं चाहता हूं' और किन्हीं पुस्तकों के अनुसार अर्जुनने यह भी नहीं कहा भगवान् स्वयं ही करने लग गये हैं। वास्तवमें यह सत्य है कि भगवान् की कृपा जब होनी होती है तो चाहे निवेदन करो, चाहे आज्ञा, चाहे प्रेम करो, चाहे विनोद, चाहे व्यङ्गोक्ति, चाहे प्रेमी का हृदयोद्गार, चाहे सर्वथाही शान्त अनिर्वर्णनीय मुमुक्षु की उत्कण्ठा, हृदयंगम् भगवान् सभी ग्रहण करही लेते हैं और कृपा करही डालते हैं, क्योंकि उस समय भगवान्की इच्छा ही ऐसी होती है इस लिये दोनों ही पक्ष हमें ग्राह्य हैं अर्जुन का यह अनुक्त निवेदन ही मनोज्ञ कृष्णने पढ लिया और इष्ट ज्ञान कथन करना आरम्भ कर दिया कि:—

शरीर तथा संसार यह, कहा जाता है क्षेत्र।
क्षेत्रज्ञ कहते उसे, जो जाने वह क्षेत्र, ॥१॥

कुन्ति सुत! जो जानते, इस विद्या का भेद।
मुझे जान क्षेत्रज्ञ तू, मैं जानूं सभी खेत ॥२॥

ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञका ज्ञाता माना मम।
भरत वंश अवतंस तू परम सखा है मम ॥३॥

जो, जितना, वह क्षेत्र है, जैसा कारण जो।
जौन जौन विकार हैं, जिस से हो गया जो ॥४॥

तथा जौन क्षेत्रज्ञ वह, जो उस का प्रभाव।
वहसुन तू संक्षेपसे, मुझ से हे महाभाव ॥५॥

गाया ऋषियोंने विषय, यह अनेक प्रकार।
छन्द बनाये उन्होंने, सुःखद विविध प्रकार ॥६॥

पृथक् पृथक् वर्णन किये, क्षेत्रज्ञ अरु क्षेत्र।
छन्द अनेक प्रकारके, स्व वर्णन किया क्षेत्र ॥७॥

तर्क अनुकूल सुबुद्धि युत्, किये सूत्र निर्माण।
पद चुन चुन रखे वहां, ब्रह्म विषय प्रमाण ॥८॥

वेदान्त शुभ शास्त्र में, तथा उपनिषद् बीच।
कल्प, गृह्य अरु श्रौतमें, ब्राह्मण सूत्र बीच ॥९॥

शब्द स्पर्श अरु रूप रस, गन्ध विषय यह पांच।
जहां विचरतीं इन्द्रियां, श्रोत्रत्वचा अरु घ्राण ॥१०॥

चक्षु रसना मन तथा, पञ्च इन्द्रियां कर्म।
गुदा लिङ्ग अरु हस्त पद, जिह्वा लगी सुकर्म॥११॥

भूमिजल अग्नि पवन, आकाश महाभूत।
महदभिमान् अरु प्रकृति, कहा क्षेत्र सुखरूप ॥१२॥

मेल इन्हीं सबका तथा, रहा चेतना धार।
धृति धर्म वह दुःख सुख, यह सब क्षेत्र विकार॥१३

सूक्ष्म रूप से कर दिया, वर्णन यह सविकार।
क्षेत्र राग अरुद्वेष युत्, जो दो परम विकार ॥१४॥

वर्णन् अब करूं ज्ञानका, त्यजना मान पाखाण्ड।
हिंसा अरु अभिमानको, चूर्ण करना खण्ड ॥१५॥

सेवा करना गुरु की, रहना शुद्ध पवित्र।
क्षमा शील कोमल सदा, धीर वीर सुस्थिर ॥१६॥

विषयोंमें न भटकना, इन्द्रियों के जो।
मन अपने को रोकना, वैराग्य युत् हो ॥१७॥

वृद्धावस्था रोग अरु, दुःख मौत के बीच।
दोष देखकर जन्ममें, रहना आत्मवीर ॥१८॥

नहीं उलझना पुत्रमें, घर अरु स्त्रिमांह।
ममताआसक्ति त्यागना, सदा सकल जग मांह॥१९॥

रखना चित्त इक रस सदा, इष्ट हो चाहे अनिष्ट।
घबराना न कभी भी, हो यदि घोर अनिष्ट ॥२०॥

भक्ति जो नहीं चञ्चला, और जभी से त्याग।
रखनी केवल मुझोमें, जनता सभा वैराग ॥२१॥

रहना देश एकान्तमें, आत्मज्ञान लवलीन।
सदा देखना अर्थको, तत्त्वज्ञान प्रवीण ॥२२॥

ब्रह्म आत्म दर्शन यही, कहा गया है ज्ञान।
इस से जो विपरीत हो, मान उसे अज्ञान ॥२३॥

ज्ञेय जो वह अब कहूंगा, सम्यक् जानने योग्य।
उसका करूं प्रवचन अब, जो सुकीर्तन योग्य ॥२४॥

जिसे जान अमृत् मिले, भोगे मोक्षानन्द।
आदि रहित् जो सर्वथा, परं ब्रह्म आनन्द ॥२५॥

सब से परे महान् जो, उत्तम सर्वाधार।
नहीं असत् जाता कहा, सत् भी न निराकार ॥२६॥

सत्ता परम अव्यक्त है, सो नहीं ब्रह्म, अतः सत्।
ब्रह्म कहा जाता नहीं, है वह, सो न असत् ॥२७॥

उसके मुख शिर आंख अरु, हाथ पांव शुभ कान।
विद्यमान् सब ओर हैं, वह ढांपे सब स्थान ॥२८॥

इन्द्रिय सबसे रहित् वह, विषय भोगे सबका।
सब के चमकें शक्ति गुणां, गुण उसमें सबका॥२९॥

फंसे न वह किसी विषयमें, पाले पोले सब।
अपना गुण कोई नहीं, पर भोगे गुण सब ॥३०॥

अन्दर बाहर प्राणियों, अप्राणियों बीच।
है सुस्थिर अरु तीव्र गति है सब को रहा सींच॥३१

वह जाना जाता नहीं, विशेष रीतिसे सूक्ष्म।
निकट सभी के वर्तता, तथा दूर अति सूक्ष्म ॥३२॥

वही ज्ञेय परमात्मा, दिखे कटा जगमांह।
पर भूतों से नहीं कटा, भूत सकल उस छांह ॥३३॥

अप्राणि अरु प्राणियों, को करता उत्पन्न।
पालन भूतोंका करे, करे नाश स्वच्छन्द ॥३४॥

अन्धकार से परे वह, चमकावे सभी ज्योत्।
कहा, सभी के हृदयमें, स्थित विशेष, विद्योत् ॥३५॥

वही जानने योग्य है, जानावे सर्व।
जानने ही से प्राप्त हो, सके, त्यजो यदि गर्व ॥३६॥

सूक्ष्म रीतिसे कह दिया, ज्ञेय क्षेत्र अरु ज्ञान।
स्पष्टतया इसे जानकर, हो मम भक्त सुजान ॥३७॥

भिन्न भिन्न सब जानकर, पहिचान सुविशेष।
पास पहुंच मम स्थितिके, आनन्द भोगों विशेष॥३८

रचनासे भी पूर्व था, विद्यमान् अव्यक्त॥ (जीव)
पूर रहा अव्यक्तको। जीव ब्रह्म सुव्यक्त

जीव ब्रह्म अव्यक्त को, आदि रहित् तू जान।
दोनों प्रकृति पुरुष जो, कारण मूल पहिचान ॥४०॥

प्रकृति से उत्पन्न हों, इच्छा आदि विकार।
सत्त्व रजः अरु तमोगुण, सकल पदार्थ सार ॥४१॥

कार्य रूप दश भूत जो, इन्द्रिय अन्तःकरण।
इन के रचनेमें कही, जाती प्रकृति कारण ॥४२॥

सुख दुःखके उपभोगमें, कहा यह कारण जीव।
प्रकृति उत्पन्न गुणोंको, तत् स्थित् भोगता जीव॥४३॥

तीन गुणों का सङ्गही, इसे दिलाता जन्म।
अशुभ योनि शुभमें तथा, जीव का सदसत् जन्म॥४४॥

जीव से भिन्न इक दूसरा, और भी देहमें पुरुष।
परमात्मा कहते जिसे, पर उत्तम वही पुरुष ॥४५॥

ईश सभी से बली वह, भोगे उत्तम भोग।
पालन कर्ता साक्षी, करता जीव अनुमोद ॥४६॥

देखे अति समीपसे, दे सम्मति यथार्थ।
धारण कर्ता सभी का, भोक्ता सर्व पदार्थ ॥४७॥

पुरुष महेश्वर परम वह, कहा जाता परमात्म।
इसी देहमें रहे वह, भिन्न उस से जीवात्म ॥४८॥

इस प्रकार जो जानता, पुरुष प्रकृति गुण।
वर्तें जैसे कैसे वह, न फिर नहीं पाता जन्म ॥४९॥

परमात्मा को देखते, आत्मामें धर ध्यान।
शुद्धात्मा से धीर नर, करें जो स्वात्म ध्यान ॥५०॥

ध्यान धरें ऐसे कोई, अन्य पढ़ें शुभ ज्ञान।
कर्म उत्तम करें तीसरे, सबको मिलें भगवान्॥५१॥

ये विधियें नहीं जानते, सुन ही करें उपास।
इन ही से जो दूसरे, सो भी न पावें त्रास ॥५२॥

उतरें मौत के पार वह, भी यदि श्रुति अनुकूल।
वर्तें शब्द के आश्रय, कबहुं न प्रतिकूल ॥५३॥

जो कोइ प्राणि जन्मता, स्थिर चाहे गतिमान्।
संसृति पुरुष के मेलसे, उपजा तू उसे जान ॥५४॥

भरतश्रेष्ठ! सभी भूतमें, ठहर रहे भगवान्।
समरूपमें सर्वथा, यूं देखे गुणवान् ॥५५॥

नाशवान् संसारमें, नाशरहित को देख।
भूतोंमें परमेश्वर, तभी झके तू देख ॥५६॥

इक रस ईश्वर दीखता, ठहरा सर्व स्थान।
उसे देख सम सर्वथा, करे न आतमहान् ॥५७॥

जब नहीं आत्मा मारता, आत्मा से वह पुरुष।
उच्च अवस्था प्राप्त कर, पाता सद्गति पुरुष ॥५८॥

प्रकृति द्वारा किये गये, देखता जब सभी कर्म।
वास्तवमें वही देखता, स्वात्मतत्त्व निष्कर्म ॥५९॥

पृथक्पना सभी भूतका, दिखे टिका इक माह।
उसी से निकले दिखें सब, भूत जभी जग मांह॥६०॥

मिलते तब भगवान् हैं, जीव बने तब ब्रह्म।
आत्मतत्त्व शुभ प्राप्त कर, पावे गति आगम्य ॥६१॥

न प्राकृत् गुण आदिन, परमात्मा का न नाश।
कुन्तिसुत! शरीरमें, टिका न हो वह प्रकाश ॥६२॥

कर्म का कारण रजः गुण, वही करे जन लिप्त।
परमात्मामें वह नहीं, कर्म करे न हो लिप्त ॥६३॥

नहीं लिप्त आकाश हो, बसा सूक्ष्म सब मांह।
आत्मा तथा न लिप्त हो, बसा देह सब मांह ॥६४॥

सकल सौर्य इस जगत्को, ज्यों चमकाता सूर्य।
त्यों चमकता एकही, आत्मा क्षेत्री सूर्य ॥६५॥

देहरूपी इस क्षेत्रको, तथा क्षेत्र संसार।
सम्पूर्ण ही लोकमें, आत्मा रहा पसार ॥६६॥

कारण प्रकृति, भूत अरु, जो उस के हैं कार्य।
उन से मुक्ति पाने का, भेद जो जानें आर्य ॥६७॥

क्षेत्रज्ञ अरु क्षेत्रका, भेद यह भरतश्रेष्ठ!
देख ज्ञानकी आंखसे, पायें ब्रह्म पर श्रेष्ठ ॥६८॥

भगवद्गीताके विषयमें शंकाएँ।

वालीद्वीपकी गीता।

(ले०— श्री० राधाकृष्णजी पेश्कार, मोरादाबाद)

भगवद्गीता के सम्बन्ध में हमने यही तो लिखा है कि गीता के सिद्धान्त सर्वांश में वेद विहित नहीं हैं, दूसरे मौजूदा गीता योगीराज श्री कृष्ण महाराज की बनाई नहीं जचती। नम्बर १ के सबूत में प्रमाण और युक्तियाँ हमारे कुल लेख के समाप्त होने पर अच्छी तरहसे ज्ञात हो जायँगी और निश्चय हो जायगा कि जो सिद्धान्त गीता के हमने वेदविरुद्ध दिखलाये हैं वह हमारा दिखलाना ठीक है या नहीं। दूसरे गीता श्री कृष्णजी की बताई बनाई नहीं, जचती उसका कारण हमने अपनी पहली ही चिट्ठी में जो गीता अक्तूबर मासमें छपी है इन शब्दों में दिया है कि गीता में श्रीकृष्णजी की ओरसे जो ऐसी उक्तियाँ हैं कि जिन में वर्णित कार्यों का कर्ता परमेश्वर हो सकता है, जीवात्मा नहीं उन का समाधान क्या है? क्या श्री कृष्णजी को परमात्मा का अवतार मानना अथवा उस प्रकार जिस तरह कि नाटकमें लोगों पर प्रभाव डालने के लिए एक ऐसा भी पुरुष श्री रामचन्द्रादि की उक्तियोंका कथन कर देता है, कि जिसमें श्री रामचन्द्रादिकों के गुणोंका लेश भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि दस अवतारों में कच्छ मच्छ वराह यह तीन अवतार तो जानवर थे, यह तो अपने आप को परमात्मा का अवतार जताने की सामर्थ्य ही नहीं रख सकते थे। रहिये नरसिंह, परशुराम, राम, बुद्ध, वामन इन पाँचों ने आपने आपको परमात्मा का अवतार बताया नहीं। रहा निष्कलंक वह अभी हुआ नहीं तो हम श्री कृष्ण महाराज के विषय में कैसे निश्चय करलें कि ऐसी अनहोनी बात कि अक्षर परमात्माका अवतार योगीराज श्री कृष्ण महाराज ने अपने मुखारविन्द से अपने आप को कहा हो। हमारे विचार में यह कैसे समझा जाय कि यह अवैदिक और असम्भव कथन योगीराज महाराज श्री कृष्ण महाराज ने अपने सिद्धान्त में रक्खा हो और उन्होंने योगीराजकी पदवी पाई हो। क्योंकि योगीराज वेद और प्रत्यक्षसे मिलान करके मुख से बात निकाला करते हैं।

उपनिषदोंसे यह गीता दुही गयी या व्यासजीने युद्ध के समय गीता के ज्ञानको संग्रहित किया इस कह देनेसे योगीराज श्री कृष्ण महाराजकी छाप ठीक नहीं बैठ सकती। रहा ६५ जबानों में विदेशियों का अपने व्यय से छपवाना। ऐसा होना यों सम्भव है कि यह ६५ जुबानवाले पार्सी, यहुदी, दायूदी, इसाई और मुसलमान आदि मजहब रखनेवाले थे जिनको ब्रह्म जीव प्रकृति तीन अजहसतियोंका जो अनादि काल से हैं पूरा पूरा ज्ञान ही नहीं था और इन तीनों में ब्रह्मको राजा और जीवों को प्रजा और प्रकृति जिससे विश्व बना हुआ है निश्चय नहीं था। हमको तेरह अध्यायवाली गीता पंडित भूमित्र शर्माकी छपी हुई सं० १९२५ ईसवी की मिल गयी है जिसमें ७-९-१०-११-१२ अध्याय बिलकुल नहीं हैं और ७४५ श्लोकों के बजाय जिस में ४४० श्लोक मान कर रखे हैं। दूसरी तेरह अध्याय की श्री पंडित भीमसैन जी इटावे निवासी की श्री पंडित शंकरदत्त जी के छापेखाने में छपने को आयी है। श्रीमानजी आपने लिखा है कि यदि गीता से उपरोक्त पाँच अध्याय निकाल दिया जायें तो गीता निस्सार रह जायेंगी। हम मजबूर हैं कि यह करनी तो पंडित भूमित्र शर्मा और पंडित भीमसैन हमारे और

आपके शास्त्रार्थ से पहले ही कर चुके। इन पाँच अध्यायके सिवा चौथे अध्याय के विवस्वान् को अविनाशी योगके उपदेशसे लेकर अर्जुन के इस प्रश्न को जो श्री कृष्ण महाराज से क्या किया कि उस वक्त आप कँहा थे ? और श्री कृष्ण महाराज का यह उत्तर 'कि अर्जुन ! तुम्हें तो अपने इसी जन्म की याद है और हम को अपने सब जन्मों की। '

इसके अतिरिक्त अवतारवाद जँहासे चला है वह प्रसिद्ध श्लोक 'यदा यदा हि ' श्लोक तक भी गीता में पं० भूमित्र जीने नहीं रक्खा। कोई वैदिक धर्मी जो ऊँचे मस्तिष्क रखता हो ऐसा न होगा जो मरदुमपरस्ती की जड़ उखाड़ने में भरसक प्रयत्न नहीं करे और यह लांछन वेदके सिर मढने देगा कि वेदबन्दों को खुदा अर्थात् उपासक को उपास्य, प्रजा, को राजा भरणियें को भरता, व्याप को व्यापक, प्रार्थीको प्रार्थनिये बतलाता है।

क्या कोई मनुष्य को जो अल्पदेशी और अल्पज्ञ है, जो जन्ममरण के चक्कर में फँस चुका है, सर्वदेशी और सर्वज्ञ अज सिद्ध होने देगा। अनीश्वरवादी देवसमाजके मरदुमपरस्ती को हम जडसे उखाड कर फेंकने का प्रयत्न कर रहे थे, न्यायकारी और दयालु परमेश्वर की बजाय मनुष्यों को चाहें वह कैसे ही महानुभाव क्यों न हों सबसे ऊँचे आदर्श में रख दिया यह आप की वज्र भूल है।

रहे मुसलमान ऐसे शख्सको काफिर और मुशरिक कहते ही नहीं बल्कि मनसूर को इसी जूर्म में दार सूली पर चढाया गया। बडे बडे अवतारों के हाथसे सूर्य चन्द्रमा भूगोल का बनाना तो क्या किसीने घास का पत्ता भी बनाया हो दिखलाया जाय।

हमारे पास श्री स्वामी रामानन्दजी का पत्र हल दुवानीसे इन शब्दों में आया है कि ५० श्लोककी गीता का स्पष्टीकरण कल्याण गोरख पुर का जो मासिक पत्र है उसका उपहाररूप चौथे वर्षका प्रथमांक गीताङ्क नाम है जो पृष्ठ ५०२ वाले सचित्र एक ही पुस्तक है उसके पृष्ठ ४२४ में यह एक बृहत् लेख छपा है इस लेख में ताम्रपत्र में लिखित गीता तथा वाली द्वीप की ५० श्लोकी गीताका परस्पर मीलान भी भले प्रकार छपा हुआ है। उस लेख का शीर्षक यह है श्रीमद्भगवद्गीता की एक अति प्राचीन प्रति।

यह निश्चय आत्मिक भी हो सकता है कि गीता असली यही होगी और युद्ध के समय योगीराज श्री कृष्ण महाराज ने अपने बहुमूल्य समय में से समय निकाल कर अर्जुन को उपदेश दे दिया हो।

श्री मानजी, हमारे और आपके बीच में कोई मुबाहसा नहीं है जिस में हार जीत लक्ष में रहती है। वितण्डावाद और वाक्छल से भी काम लिया जाता है किन्तु शास्त्रार्थ है वेद और वेदाँगों का प्रमाण होना दोनों को स्वीकृत है इस कारण वैदिक सिद्धांत निश्चय होने में कोई कठनाई नहीं हो सकती और इस सुभीतेको ही देखकर मैंने इस शास्त्रार्थ को ठाना है। इस मन्त्र का ऋण हमें चुकाना है।

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः॥

यह ऋण बिना एक सिद्धान्त हुए चुकाया नहीं जा सकता जब घरवाले ही का धर्म का मार्ग और मनके विचार एक न हो तो बाहरवाले हमारे धर्म को क्यों मानेंगे।

श्रीमानजी ! हम दिमागी गुलाम सिद्ध होंगे या दिमागी सरदार यह तो ऊंचे मस्तिष्कवाले विद्वानोंके विचार में हमारे सब लेख आजायेंगे और आपका शास्त्रार्थ समाप्त हो जायगा जब फैसला होगा। पहलेहम वह मतभेद जो हम से और आर्यसमाज से और हमसे और आपके सिद्धान्त से है, विद्वानोंके सामने रखते हैं। आर्यसमाज केवल परमात्मसत्ता को ही जो सर्वदेशी और स्वयं चेतन और सर्वज्ञ और आनन्दस्वरूप है उसकी सत्ता ही तक उपरोक्त गुणों को निर्भर

करता है और सूर्य विद्युत (बिजली) और अग्नि, वायु आदि देवताओं में परमात्मा के उपरोक्त गुणों का विकास नहीं मानता अर्थात् परमात्मा के प्रत्यक्ष रूपसे बिलकुल इंकारी है। हमें इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सूर्यनारायण और यज्ञ के देवताओं का चेतन होना केवल शास्त्रार्थसे नहीं जाना जाता किंवा बहुतेरे अनुभवक्रिया सिद्ध होते हैं। पूज्यपाद ब्रह्मचारी जी महाराज से जब कोई आर्यसमाजी साहब यह प्रश्न किया करते कि आप सूर्य बिजली, वायु, अग्नि देवताओं को जो केवल तत्त्वमात्र जड हैं चेतन मानते हो? तो उसका उत्तर वह यह दिया करते कि तुम भी तो अपने अंग और इन्द्रियों और मन, बुद्धि, चित्त अहंकार को जो मिट्टी पानी आदि पंच भूतों से बने हैं क्यों चेतन मानते हो? चूँकि यह अंग इन्द्रियाँ आदि जीवात्माके इरादे से कार्य करनेपर चेतन माने जाते हैं, वही सम्बन्ध हमको परमात्मसत्ता और यज्ञके उपरोक्त देवताओंमें निश्चय आत्मिक हो गया और इसका अनुभव आपको तब होगा कि जब कम से कम तीन वर्ष तो उदित और अनुदित समय बिना चूक देवयज्ञ = अग्निहोत्र कर लोगे और यज्ञदेव भगवान् = सूर्यनारायण की भेंट करके उनसे यज्ञ कि दक्षिणा पालोगे। बहुतेरे लोग कह दिया करते हैं वि शूद्र इसी जन्म में ब्राह्मण बन जाता है इसका कारण हमको यह ज्ञात होता है कि उनको कोई ब्राह्मण तपस्वी जिन्हों ने दोनों समय घन्टों अग्निहोत्र किया हो। और सावित्री मन्त्र का जाप किया हो और चाँद्रायण आदि व्रत किये हों। देखने ही को नहीं मिले और न यज्ञ की सफलता से यज्ञ देव भगवान् से दक्षिणा पाने का अवसर मिला।

हम तो कायस्थ होते हुए और ३५-३६ वर्ष से दोनों समय अग्निहोत्र करते और केवल वेतनसे सरकारी जीवन बिताने परभी इतनी सामर्थ्य हमको प्राप्त नहीं हुई कि पूज्यपाद ब्रह्मचारीजी महाराज का जैसे तमाम जीवन बीता, वैसे अपने दो दिन बिता दें।

यज्ञ के देवताओंके विषय में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। अब हम लिखना पिष्टपेषणके समान होगा। इस मतभेदकी बजहसे आर्यसमाजियों के भाष में बडा फर्क पड जाता है और उन को अग्नि और सूर्य परक अर्थ में मुझे दीजिये की बजाय मुझे देता है और ईश्वर परक अर्थ में मुझे दीजिये करना पडता है। उनकी समझमें अनाहुत अग्नि और आहुत अग्निका भेद नहीं बैठा है। और जब ही उनको यज्ञ से पूरी पूरी सफलता नहीं मिली।

यजुर्वेद अध्याय ३५।१७ 'आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि। घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥' जो इस आहुत अग्नि की महिमा इन शब्दों में दरशा रहा है कि अग्नि देव बडी उमरवाले हैं। हविषसे बढनेवाले हैं और घृत जिसकी योनि है सो गौघृत को पीकर जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है के बजाय राजा पर घटना पडा।

आर्यसमाजी साहवान ने परमात्मा की निराकारता को यँहा तक खेंचा कि उनके ध्यान में तो ध्येयही न रहा कारण इसका यह होता है कि श्रीस्वामीजी महाराज के उपदेशके प्रारम्भसमय में अवतारोंकी मूर्तिपूजा तो क्या गंगा की मूर्ति की पूजा भी चलरही थी और इधर नवीन वेदान्तियों ने परमात्मसत्ता के जानने में बडे भारी भ्रममें डाल रक्खा था अगर स्वामी जी का जन्म न होता तो यह देश किस रसातल को पहुँचा होता। बडेसे बडे शास्त्रियों के पास ईसाईयों के इस ताने भरे बन्द का उत्तर नहीं था कि देवन में महादेव बडे हैं जटा से निकली गंगा।

परंतु आप के सिद्धान्त से तो हमारा बडाही भारी मतभेद है। आपने तो प्रकृति को जड कहते हुए भी विश्वरूप को परमेश्वर का रूप माना है। हम अथर्ववेदके पहले मन्त्रके नीचे लिखे अर्थसे जो

आपने किया है यह निश्चय कर चुके थे कि विश्व प्रकृति से बना हुआ है और मूर्तिमान् है और परमात्मा और जीवात्मायें आत्मिक द्रव्य हैं और अमूर्तिमान् हैं। क्या परमेश्वर को विश्वरूप और विश्वमूर्ति मानने से वैदिक सिद्धान्त में कोई गडबडी नहीं होगी? आवश्य होगी। रामायण का एक श्लोक जिस में मन्दोदरी ने मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी को विश्वरूप बतलाया है और रावन को समझाया है याद आता है ।

विश्वरूप रघवंशमणि करो वचन विशवास ।
लोक कलिपना वेद कह अंग अंग प्रत जासु ॥

वेदकी छाप अपने मनमाने सिद्धान्त पर लगा कर गोस्वामी तुलसीदास जी का अपने मतकी पुष्टि करने का निरालाही ढंग है।

गीता और रामायणने इसका तनक भी ध्यान नहीं दिया कि हमारा एक कहना बिलकुल वेदविरुद्ध पडता है। मन्त्र मये आपके अर्थके " ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥" व्याख्या– पदार्थ दो प्रकार के हैं एक रूपवाले और दूसरे रूपरहित। आत्मा परमात्मा रूपरहित हैं और संपूर्ण जगत् रूपवाले पदार्थों से भरा है । पदार्थोंके विविध रूप जो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति पाषाण आदि में दिखाई देते हैं, कौन धारण करता है? ये रूप कैसे बनते हैं? इस शंका के उत्तर में वेद कह रहा है कि जगत् के मूल में जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार- हैं ये ही संपूर्ण जगत् में दिखाई देने वाले विविध रूप धारण करते हैं। ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओं में गुजरते हुए जगत् के रूप और आकार धारण करते हैं। (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था। इन तीन अवस्थाओं में पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरने से कुल इक्कीस पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टि का रूप धारण करते हैं।

सृष्टि के हरएक आकारधारी पदार्थ में बडी शक्ति है। हमारा शरीर भी सृष्टि के अंतर्गत होने से एक रूपवान् पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त तीन गुणासात पदार्थ हैं। और इसी कारण शरीर के अन्दर के इन इक्कीस तत्त्वों का संबंध बाह्य जगत् के पूर्वोक्त इक्कीस तत्त्वोंके साथ है। शरीर का स्वास्थ्य या रोगीपन इस संबंध के ठीक होने और न होने परअवलंबित है ।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वों के साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदर से बढाने की सूचना इस मन्त्र द्वारा यहां मिलती है । जैसे बाह्य शुद्ध वायु से अपना प्राण का बल, बाह्य सूर्यप्रकाश से अपने नेत्रका बल इसी प्रकार अन्यान्य बल बढाकर अपनी शक्ति पराकाष्ठा तक बढानी चाहिये। यह अथर्ववेदका मुख्य विषय है ।

जगत् का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके अपना बल बढाने की विद्याका अध्ययन करके उसका अनुष्ठान करना चाहिए। यह उन्नतिका मूल मंत्र इस प्रथम मन्त्र में बताया है। यहां प्रश्न होता है कि यह विद्या कौन दे सकता है? उत्तर में मंत्र ने बताया है कि वाचस्पति ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है। वाचस्पति कौन है? वाक् वाचा वाणी वक्तृत्व उपदेश व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं। वक्तृत्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहां वाचस्पति से अभिप्रेत है। इस अर्थ को लेनेसे इस मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार हुआ-

"मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंसे गुजर कर सब जगत् के संपूर्ण पदार्थों के रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं। इनके बलों को अपने अंदर धारण करने की विद्या व्याख्याता गुरु आज ही मुझे पढावे।"

हम यह लेख लिखा ही रहे थे कि इतनेमें श्रीमान महता जेमिनी जिन्हों ने आर्यसमाज गंज मुरादाबादमें दो व्याख्यान दिये, बालीद्वीपवाली गीता मिली। उसमें ७० श्लोक हैं। उस गीताके विषय

मैं भी कोई वैदिक धर्मी ऊँचे मस्तिष्कवाला यह नहीं कह सकता कि यह ७० श्लोक भी वेदानुकूल हैं, जिसकी नकल भेजता हूँ।

बालीमें सत्तरश्लोकी गीता पाई जाती है जिसमें अध्याय नहीं है। भारत के कुछ विद्वानों का मत है कि वर्तमान गीता वास्तव में असली गीता नहीं है, पण्डितों ने बाद में मिलावट की है। बाली की गीता में ५७ श्लोक तो पूरे हैं। शेष टुकडे टुकडे कई श्लोकों के हैं। सत्यनिर्णायकों के लिये बहुत कुछ अन्वेषण करनेका अवसर है।

यह ७०श्लोकी गीता "दृष्ट्वेमं" श्लोक से आरंभ होती है। इसका पहिला श्लोक यह है-

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥१॥
(भगवद्गीता अ०१ श्लो०१८,३१,३२)

अर्थ-(अर्जुनने कहा) हे कृष्ण! अपने स्वजनों को युद्ध की इच्छासे यहां पर एकत्र हुए देखकर (मैं दुखी हो रहा हूं) क्योंकि इन स्वजनों को मार कर मैं अपना कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण! इस प्रकार के विजय, राज्य और सुख की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मेक्षेमतरं भवेत्॥ २॥
(भगवद्गीता अ० १ श्लोक ४६)

अर्थ-बल्कि अगर ऐसा हो कि मैं स्वयं न तो बदला लेनेवाला बनूं और न शस्त्रोंको हाथमें धारण करूं,इस दशामें मुझको धृतराष्ट्र की सन्तानें (दुर्योधनादि) मार डालें, तो अवश्य मेरा कल्याण हो जाय।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥
(गीता २।३)

अर्थ-(कृष्णजीने उत्तर दिया) हे पार्थ! ऐसा नामर्द मत् बन,तुझे शोभा नहीं देता। अरे, शत्रुओं को ताप देनेवाले! अन्तःकरण को इस क्षुद्र दुर्बलता को छोडकर खडा हो जा।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥४॥
(गी० २।११)

अर्थ-जिनके बारे में शोक नहीं करना चाहिए तू उन्हीं के लिए शोक कर रहा है। तू तो ज्ञानियों की जैसी बातें कर रहा है परंतु पण्डित लोग तो किसी के प्राण जाने न जाने का शोक नहीं किया करते।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ ५॥
(अ० २।१३)

अर्थ-जिस तरह इस देहमें लडकपन, जवानी, बुढापा हुआ करते हैं, इसी प्रकार इस देहवाला (जीवात्मा) इससे निकलने पर दूसरा देह पा जाता है (ऐसा समझ कर) वे धीर लोग किसी के मरने जीने का शोक नहीं किया करते।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥६॥
अ० २।१६

अर्थ-असत् (नेसती) से भाव (हसती या उत्पति) नहीं हुआ करता और सत् का अभाव (हसती से नेसती) नहीं हो सकता, इन दोनों के अन्त को तत्त्वदर्शी फिलासफर लोगोंने देख लिया है।

अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत॥७॥
भ० २।१८)

अर्थ-ये देह अन्त वाली है और शरीरका स्वामी जीवात्मा सदा नित्य कहा गया है। हे भारत! वह (जीवात्मा) तो अविनाशी और अप्रमेय(अचिंत्य) है, इसलिए (तू उसके मरने या मारे जाने की चिन्ता छोडकर) युद्ध में डट जा।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥८॥
(भ० गी० २।१९)

अर्थ-(क्यों कि) जो कोई इस (जीवात्मा) को मारनेवाला मानता है और जो मारा जाने-

वाला मानता है वे दोनों असलियत को नहीं जानते (कारण यह कि) वह न तो मारता है, न मारा जा सकता है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। ९
(गी० २।३१)

अर्थ– अपने धर्मका ख्याल करके भी तुझे (युद्धसे) नहीं डिगना चाहिए (क्योंकि) क्षत्रिय के लिए तो युद्धरूपी धर्म से बढकर श्रेय और दूसरा काम नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥१०॥ (भ० गी० २।३७)

अर्थ– अगर तू युद्ध में मारा जायगा तो स्वर्गको पायेगा और अगर जीत लेगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इसलिए हे कौन्तेय! उठो युद्ध के लिये निश्चय करके खडे हो जाओ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥११॥
(भ० गी० २।४७)

अर्थ– तेरा अधिकार काम करने ही में है, किन्तु फल भोगने में नहीं है। कर्मों के फलों के कारण मत् बनो और तेरा संग अकर्म में न हो (अर्थात् कर्म करना छोड भी मत् देना)।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥१२॥ गी० २।४८–५२

अर्थ– सफलता असफलता में समान रहना चाहिए ऐसी समता ही योग है। वेद-वाक्यों से दुविधा में पडी हुई तेरी बुद्धि जब समाधि-वृत्तिमें स्थिर और निश्चल हो जायगी, तब तू योग को प्राप्त कर लेगा।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥१३॥
(भ० २।५५)

अर्थ– हे पार्थ! जब वह (योगी) सारी कामनाओंको छोड देता है और आत्मासे आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ (अचल बुद्धिवाला) कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥१५॥
(गी० २।५६)

अर्थ – जिसके मनको खेद नहीं होता और न सुख में आसक्ति होती है, जिस ने प्रीति भय और क्रोध को छोड दिया है, वह मुनि स्थित-धी (अचल बुद्धिवाला) कहलाता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥१५॥
(गी० २।५९)

अर्थ – निराहारी मनुष्य के विषयभोग तो छूट जाते है, परन्तु उसकी वासना नहीं छूटती (मनमें उन अप्राप्त विषयों का मनन होता रहता है) परन्तु परब्रह्म परमात्मा को देख लेने पर वासनायें भी निवृत्त हो जाती हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः
॥१६॥ (गी० २।६९)

अर्थ– सर्वसाधारण लोगों की जो रात होती है उसमें वे संयमी (परमात्मा के दर्शन करनेवाले योगी) लोग जागते हैं और जिस अवस्था में वे दुनियादार लोग जागते रहते हैं वह उन योगियों की रात्रि है।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥१७॥
(गी० ३। ११)

अर्थ– देवताओंको (अपने यज्ञकर्मोंसे) प्रसन्न करोगे तो वे खुश हो कर तुम्हारा कल्याण करेंगे। इस प्रकार एकदूसरेको प्रसन्न करते हुये परम कल्याण को प्राप्त कर लोगे।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१८॥
(गी० ३। १३)

अर्थ-यज्ञसे बचे हुए पदार्थों को खानेवाला सन्त सब पापोंसे छूट जाता है। परन्तु जो लोग केवल अपने लिये ही भोजन बनाते हैं वे अपने पापोंको खा रहे हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥१९॥
(गी० ३। ३५)

अर्थ- अपना धर्म खराब प्रतीत होता हो तो भी दूसरेके धर्म को बहुत उत्तम प्रकार पालन करने से भी वह श्रेष्ठ ही है। अपने धर्म में मरना भला है, किन्तु दूसरे का धर्म अपने को भयदायक ही है।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥२०॥
(भ० गी० ४। ५)

अर्थ-हे अर्जुन! मेरे और तेरे भी बहुतेरे जन्म बीत चुके हैं किन्तु मैं उन सब (जन्मों की हालत) को जानता हूँ, परन्तु हे परन्तप! तुम नहीं जानते।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् २१॥
(भ० गी० ४।७,८)

अर्थ- हे भारत! जब जब धर्म की (संसारमें) कमी और अधर्म की ज्यादती हो जाती है, तब तब मैं साधुओं की रक्षा करने और दुष्टों को नाश करने के लिए अपने को सृजता हूं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा
॥२२॥ (भ० गी० ४।९, १४)

अर्थ- मेरा (या मेरे जैसे योगियों का) जन्म और कर्म दिव्य (अद्भुत प्रकार का) है (क्योंकि) न तो कर्म मुझ में (योगी होनेसे) लिपटते हैं, और न मैं (परमज्ञानी होने से) उनमें फंसता हूं। इस बात को जो कोई ठीक ठीक जान लेता है, वह देह त्यागनेपर पुनर्जन्म को नहीं पाता। किन्तु हे अर्जुन! वह मुझ (परमात्मा) को पा जाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्मण्यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
२३॥ (भ० गी० ४। १८)

अर्थ- जो कोई कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी है और कर्मोंको करनेवाला भी वही है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबद्ध्यते॥
२४॥ (भ० गी० ४।२२॥)

अर्थ — दैवयोगसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट हो जानेवाला, द्वन्द्व हर्ष, शोक, सुख, दुःख आदि से मुक्त रहनेवाला कर्मों को करने पर भी पाप पुण्य में नहीं फंसता।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२५॥
(भ० गी० ४।२८)

अर्थ ऐसे यती लोग जो तीक्ष्ण व्रतों को धारण करते हैं, कोई द्रव्य-यज्ञ करते हैं, कोई तपयज्ञ करते हैं और दूसरे कोई लोग स्वाध्याय या ज्ञान यज्ञ में लग जाते हैं।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥२६॥
(गी० ४।३३,३४)

अर्थ- हे पार्थ! सब प्रकार के कर्मों की समाप्ति ज्ञानमें जाकर हो जाती है। उस ज्ञान को पानेके लिए ज्ञानी गुरु लोगोंको प्रणाम करो और सेवा करके प्रसन्न करलो तब प्रश्न करो तो उस ज्ञान को पाओगे।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥
२७॥ (गी० ५।२)

अर्थ- संन्यास और कर्म ये दोनों ही कल्याण देनेवाले हैं। (परन्तु) उन दोनों में कर्मसंन्यास बढ कर है।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥२८॥
(गी० ५।६,७)

अर्थ- योग से युक्त मुनि ब्रह्म को बहुत जल्दि पा जाता है। उसकी दृष्टि ऐसी हो जाती है कि वह सब भूतों (प्राणियों) के आत्मा में उस भूतात्मा को देख रहता है। अतः वह कर्म करनेपर उसमें नहीं फंसता।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥२९॥
(गी० ६।५)

अर्थ- आत्मा से आत्मा को ऊंचा उठावे किन्तु आत्मा को नीचे न गिरने देवे। आत्मा ही अपना मित्र है और वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥३०॥
(गी० ६।१०)

अर्थ- योगी अकेला रहता हुआ, गुप्त स्थानमें निवास करता हुआ, विषयों से बचता हुआ, परिग्रह (दूसरों से सहायता) न लेता हुआ, आत्मा के साथ जुट जावे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ॥३१
(गी० ६।१३,११)

अर्थ- सारा शरीर सिर और गला सीधा रहे, हिलने न पावे, बिल्कुल स्थिर रहे। और अन्य किसी भी दिशा की ओर न देखता हुआ केवल अपने नासिका के अगले भाग को देखता हुआ, वह शरीर को ऐसा अचल रक्खे जैसे दीपक की ज्योति हवा न चलने पर स्थिर रहा करती है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
॥३२॥ (गी० ६।३२)

अर्थ- हे अर्जुन! जो कोई अपने उपमा से सब जगह सब लोगों को समान सुखी देखता है, वह परम योगी माना जाता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ३३॥
(गी० ६।३०)

अर्थ- जो कोई मुझ को सब जगह और सब को मुझ में देखता है उसका न मैं नाश करता हूं और न वह मुझ को नष्ट करता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥३४॥
(गी० ७।४,६)

अर्थ- मेरी (परमात्मा की आठ प्रकार की भिन्न भिन्न) प्रकृतियां हैं उनके नाम सुनो-

१ भूमि २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ मन, ७ बुद्धि, ८ अहंकार मैं ही इस सारे जगत् की रचना और प्रलय करने वाला हूं।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥३५॥
(गी० ७।७)

अर्थ- हे धनञ्जय! मुझसे बढ कर और कोई भी नहीं है (मुझ में ही यह सब सूत में मणियों की भांति पिरोया है।)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय। प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥३६॥
(गी० ७।८)

अर्थ- हे कौन्तेय! मैं पानी में रस (रूपसे मौजूद हूं) चन्द्र सूर्य में प्रभा हूं। सब वेदों में प्रणव (ओ३म्) हूं आकाश में शब्द हूं और मनुष्यों में पुरुषार्थ हूं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥३७॥
(गी० ७।९)

अर्थ- पृथ्वी में मैं उत्तम सुगन्ध हूं, अग्निमें तेज (रूपसे विद्यमान) हूं। सब भूतों में जीवन हूं और तपस्वियों में तप हूं।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ॥३८॥
(भ० गी० ७।१०,११)

अर्थ-बुद्धिवालोंमें बुद्धि, तेजवालों में तेज और बलवालों में काम और रागसे रहित बल मैं ही हूं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥३९॥
(गी० ७। १६, १९)

अर्थ— हे अर्जुन! चार प्रकार के धर्मात्मा लोग मुझको भजते हैं।१ आर्त (दुःखी), २ जिज्ञासु (ब्रह्मको जानने की इच्छावाले) ३ अर्थी और भरतर्षभ चौथा ज्ञानी। फिर उन सब में कौन बढ कर है वह पूर्ण ज्ञानी महात्मा, जो यह समझ लेवे कि सब कुछ वासुदेव ही है॥४९॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्
॥४०॥ (भ० गी० ७। २१)

अर्थ- जो लोग जरा (बुढापा) और मृत्यु से छूट जाने (मुक्ति पाने) के लिये मेरा (परमात्मा का) सहाय लेकर यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को सम्पूर्ण अध्यात्मज्ञान और सब कर्मों को जान लेते हैं। ४०

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः
॥४१॥ (भ०गी० ८।५)

अर्थ-जो कोई अन्तकाल मेरा स्मरण करता हुआ शरीरको छोड जाता है, वह मेरे भाव (मुक्तिधाम) को पा जाता है, इस में कुछ भी संशय नहीं है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥४२॥
(भ० गी० ८।७)

अर्थ-इसी लिये सब काल में मुझ (परमात्मा)में मन और बुद्धि को अर्पित करके मुझको ही स्मरण करता हुआ युद्ध करे तो निःसंदेह मुझको ही पा जायगा (मुक्ति प्राप्त कर लेगा)।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्
॥४३॥ (भ० गी० ८।१२)

अर्थ- सब द्वारों (आँख कान आदि) को संयम करके, मनको हृदयमें रोककर अपने प्राणोंको मूर्धा (शिर) में चढाकर योगाभ्यासमें लग जाय।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात॥
॥४४॥ (भ० गी० ९।१)

अर्थ- हे निष्पाप अर्जुन! तुझको हम अब इससे भी और उत्कृष्ट ज्ञान जो विज्ञानके सहित है सुनाते हैं जिसको जान करके तू अशुभ बातोंसे छूट जायगा॥ ४४॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
॥४५॥ (भ० गी० ९।१६,१७)

अर्थ-मैं यज्ञ हूं, मैं ही अग्नि हूं और मैं ही क्रतु हूं, मैं ही स्वधा हूं, मैं ही औषधि हूं, मैं ही मन्त्र हूं, मैं ही आज्य हूं और यज्ञमें आहुत हुआ सामान मैं ही हूं। मैं ही जानने योग्य पवित्र ओङ्कार हूं और मैं ही ऋक् साम यजुर्वेद भी हूं। ४५॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥४६॥
(भ० गी० ९।२९)

अर्थ- हे कौन्तेय जो कार्य्य तू करे, जो कुछ खाय, जो कुछ होम करे और जो कुछ तपस्या करे वह सब मुझको अर्पण करदे।

ज्योतिषामहमंशुमान्, नक्षत्राणामहं शशी॥४७॥
भ० गी० १०।२१

अर्थ- ज्योतिवालोंमें मैं किरणोंवाला हूं, नक्षत्रों में चन्द्रमा हूं।४७॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
महर्षीणां भृगुरहं, मेरुः शिखरिणामहम्) ४८॥
(भ० गी० १०।२३,२५)

अर्थ- रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूं, यक्षराक्षसोंमें मैं कुबेर हूं। महर्षियोंमें मैं भृगु हूं और शिखरवालों में मेरु पर्वत हूं॥४८॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
उच्चैःश्रवसमश्वानां सिद्धानां कपिलो मुनिः ४९॥
(भ० गी० १०।२३ २७)

अर्थ- सब वृक्षोंमें मैं पीपल हूं, देवऋषियोंमें मैं

नारद हूं। घोडोंमें मैं उच्चैःश्रवा घोडा हूं। सिद्ध लोगोंमें मैं कपिल मुनि हूं।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।
आयुधानामहं वज्रं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥५०॥
(भ० गी० १०।२७, २८)

अर्थ- हाथियोंमें मैं ऐरावत हूं। मनुष्योंमें मैं राजा हूं, आयुधोंमें मैं वज्र हूं और सर्पोंमें मैं वासुकी हूं॥

वरुणो यादसामहं यमः संयमतामहम्।
प्रह्लादः सर्वदैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥५१॥
(भ० गी० १०।२९, ३०)

अर्थ- पानीके जीवोंमें मैं वरुण हूं, न्याय करनेवालोंमें मैं यम हूं। सब दैत्योंमें मैं प्रह्लाद हूं,गणना करनेवालोंमें मैं काल हूं।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।
अक्षराणामकारोऽस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥५२॥
(भ० गी० १०।३०,३१,३३,३५)

अर्थ- वन पशुओंमें मैं सिंह हूं। पक्षियोंमें मैं गरुड हूं। अक्षरोंमें मैं अ हूं। शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूं, महीनोंमें मैं मार्गशीर्ष हूं (अग्रहन) तथा ऋतुओंमें मैं वसन्त हूं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥५३॥
(भ० गी० १०।३७)

अर्थ- वृष्णीवंशवालोंमें मैं वासुदेव हूं। पाण्डवोंमें मैं अर्जुन हूं, मुनियोंमें मैं व्यास हूं और कवियोंमें मैं कवि हूं।

औषधिनाम्
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप॥५४
(भ० गी० १०।४०)

अर्थ- हे बडे तपस्वी अर्जुन! (निदान कहां तक गिनायें, वस्तुतः तो मेरी इन दिव्य विभूतियोंका अन्तही नहीं है।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५५
(भ० गी० ११।५)

अर्थ- हे अर्जुन! (मेरी विभूतियोंको समझ लेने पर अब) तू मेरे (परमात्माके) अनेक प्रकारके अनेक प्रकार रंगों और आकारोंवाले सैंकडों हजारों दिव्य रूपोंको देख॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥५६
(भ० गी० ११।८)

अर्थ- परन्तु मुझ (परमात्मा) को तू इन आंखों से तो नहीं देख सकता। तुझको मैं दिव्य-चक्षु देता हूं। अब मेरे योगके ऐश्वर्यको देख।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥५७॥
(भ० गी० ११।१०)

अर्थ- अनेकों मुखों और आंखों वाला है और अनेकों प्रकारका दीखता है। अनेकों उसके दिव्य भूषण वस्त्र हैं। और अनेकों आयुधों (शस्त्रों) से वह सुसज्जित है॥५७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः, समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोकवीराः
विशन्ति वक्त्राण्यभि विज्वलन्ति ॥५८॥
(भ० गी० ११।२८)

अर्थ- जिस प्रकार नदियोंका जलप्रवाह बडे वेगके साथ समुद्रकी ओर दौडा चला जाता है उसी प्रकार ये मनुष्य लोग-शूर-वीर आदि आपके मुखोंमें प्रवेश करते चले जा रहे हैं!

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा, विशन्ति
नाशाय समृद्धवेगाः। तथैव नाशाय विशन्ति
लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥५९॥
(भ० गी० ११।२९)

अर्थ- जैसे जलते हुए दीपककी ओर मच्छर आदि नाश होनेके लिए बडे वेगसे दौडे चले जाते हैं, उसी प्रकार ये लोगभी नाश होनेके लिए आपके मुखमें बडे वेगसे घुसते चले जा रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो लोकान्समार्तुमिह प्रवृत्तः। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते ॥६०॥
(भ० गी० ११।३१,३२,३९,४०)

अर्थ- आप ऐसे उग्र रूपवाले कौन हैं? यहांपर आप इन सब लोगोंको समेट लेनेके लिए प्रवृत्त हो रहे हैं। आपको नमः हो, नमः हो, हजार बार नमः हो, आपको आगेसे नमः हो और पीछेसे भी नमः होवे ॥६०॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥६१॥
भ० गी० ११।५३

अर्थ- हे अर्जुन! मेरे जिस अद्भुत रूपको तूने अभी देखा है, वह ऐसा है कि उसे कोई न तो वेदोंको पढनेसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञ करने ही से देख सकता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥६२॥
(भ० गी० ११।५५)

अर्थ- हे पाण्डव! जो कोई मेरे लिए कर्म करता है, मेरा भक्त बन जाता है, सब भूतोंसे निर्वैर और संगरहित बन जाता है, वही मुझको पाता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥६३
(भ० १३।३२)

अर्थ- वह आत्मा सर्वत्र देहमें ठहरा हुआ है, इससे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार आकाश सब जगह रहने पर भी सूक्ष्म होनेसे लिप्त नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥६४॥
(भ० गी० १३।३३)

अर्थ- जिस प्रकार अकेला एक सूर्य सब लोकोंको प्रकाशित करता है, हे भारत! उसी प्रकार वह क्षेत्री इस सारे क्षेत्रको प्रकाशित कर रहा है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥६५॥
(भ० गी० १४।९)

अर्थ- हे भारत! सत्वगुण जब बढ जाता है तो सुखमें लगता है। रजोगुण कर्ममें लगता है। और तमोगुण ज्ञानको छिपा करके प्रमाद (आलस्य) में लगा देता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥६६॥
(भ० १४।१८)

अर्थ- सत्व गुण वाले ऊपरको जाते हैं, रजो गुण वाले मध्यमें रहते हैं और खराब वृत्तियों वाले तमोगुण लोग नीचेको जाते हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ६७॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥६८॥
(भ० १४।२४,२५)

अर्थ-गुणातीत वह कहलायगा जो सुखदुःखको बराबर समझ ले, जो स्वस्थ, अपने अन्दर रमण करने वाला हो, जो ढेला, पत्थर, सोना, चांदीको समान मानता हो, जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता हो, धीर हो, जो अपनी निन्दा और स्तुतिको बराबर मानता हो, जो मान और अपमानको तुल्य जानता हो, जो मित्र और शत्रुके पक्षको तुल्य रखता हो और जो सब कार्योंको त्याग कर चुका हो।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥६९॥
(भ० १४।२६)

अर्थ- जो कोई अव्यभिचारी भक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है, वह इन गुणोंको पार करके मुक्तिको पा जाता है ॥६९॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः७०
(भ० गी० १८।३३)

अर्थ- सब धर्मोंको छोडकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुमको सब पापोंसे छूडा दूंगा शोक मत् कर ॥७०॥

शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

केनोपनिषत्।

(१)

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

भेजा हुआ, किस देवका, मन दौडता, प्रति इष्टके।
किस देवका, किया युक्त वायु, जाता गति, प्रकृष्टसे ॥१॥
से प्रेरणा, किस देवकी, यह इष्ट वाणी बोलते।
शुभ नेत्र अरु शुभ श्रोत्र भी, हैं कौन देव, ही जोडते ॥२॥
मन पतित होता, प्राण पहिला, युक्त हो, करता गति।
शुभ श्रोत्र, वाणी नेत्र, करते प्रयुक्त, स्वयंवर प्रजापति॥३॥
मनके परम, मन हैं वही, जो कानके, भी कान हैं।
जो वाक् की, वाणी स्वयं, वही प्राणके, शुभ प्राण हैं ॥४॥
वह आंख की, भी आंख पर, जो त्यागकर, अत्यन्त, उन्हें।
बुद्धिमें रमे, इह लोक त्यज, मिले शान्त, अमृत तत्त्व उन्हें५
वाणी वहां नहीं पंहुचती, नहीं आंख, जाती हैं वहां।
जाना नहीं, नहीं जानते, मन जा नहीं, सकता वहां ॥६॥
दे शिक्षा इन, की कैसे फिर, ऊपर हैं सारे, जगसे वे।
हैं भिन्नही, जाने हुएसे, और अनजाने से वे ॥७॥
ऐसा सुना है, पूर्वजोंसे, हमने गुरुओंसे तथा।
उस तत्त्वका, हैं जो बताते, भेद हम पर, कर कृपा ॥८॥
वाणी से होता, नहीं प्रकट, वाणी नहीं, जिसे बोलती।
है प्रकट होती, वाक् स्वयं, जिसके बिना, नहीं बोलती॥९॥
वही ब्रह्म है, यह जान तू, नहीं वाक् ब्रह्म, पहिचान तू।
जिसको उपासती वाक् यह, वह शब्द ब्रह्म, न जान तू१०
मनसे जिसे, न विचारता, नहीं सोच सकता मन जिसे।
सोचा गया है, जिससे मन, कहे ज्ञानी मन का मन जिसे११
वही ब्रह्म है, यह जान तू, मन ब्रह्म न, पहिचान तू।
जिसको उपासे सदा मन, वह विचार, ब्रह्म न जान तू॥१२॥
नहीं आंखसे, जिसे देखता, जिससे हैं आंखें देखतीं।
वह ब्रह्म अचक्षू, जान तू, नहीं चक्षु जिसको उपासतीं १३
नहीं कानसे जाता सुना, सुनता स्वयम् है जिससे कान।
वही ब्रह्म जान तू श्रोत्र न, नहीं शब्द उपासता जिसको कान ॥१४॥
जाता नहीं जो प्राणसे, है प्राण जीवित करता जो।
नही ब्रह्म जान, तू प्राणन, नहीं श्वास, उपासता प्राण जो१५

द्वितीय खण्ड

तू यदि माने जानता, ब्रह्मरूप मैं पूर्ण।
ब्रह्मका है तू जानता, निश्चयरूप वह ऊन ॥१६॥
मैं मानूं तू जानता, वही ब्रह्मका भाग।
जिसे विचारें मनुज सब, तथा देव महाभाग ॥१७॥
नहीं मानूं मैं ब्रह्म वह, सुगमतया हो ज्ञात्।
मानूं इसे अज्ञेय न, है ज्ञेय परम विख्यात् ॥१८॥
मैं इस को हूं जानता, हममें से कहे जो।
नहीं जानता मनुज वह, ज्ञानी कबहुं न सो ॥१९॥
कहे जो मैं नहीं जानता, वही जानता ब्रह्म।
ज्ञानी उसे जग मानता, जाने वही शुद्ध ब्रह्म ॥२०॥
सका विचार न मैं उसे, यही विचारे जो।
ब्रह्म विचारा उसीने, आत्मज्ञानी सो ॥२१॥
चुका विचार मैं ब्रह्मको, माने ऐसा जो।
नहीं ब्रह्मको जानता, मिथ्याज्ञानी सो ॥२२॥
जान लिया सम्पूर्ण है, हमने ब्रह्म सुविशेष।
ऐसा जो जन समझते, न जानें लवलेश ॥२३॥
नहीं जान सके ईशको, सर्वथा ही हम हीन।
कहे ऐसा जो भक्तियुत्, सो नर ब्रह्म प्रवीण ॥२४॥
विषयरहित् विज्ञानसे, बार बार सुविचार।
अमरपना वह प्राप्त कर, पाये ब्रह्म शुभ सार ॥२५॥
आत्मासे मिले वीर्य अरु, विद्यासे अमरत्व।
आत्मज्ञान शुभ प्राप्त कर, खिले सुबुद्धिसत्त्व ॥२६॥
पहिचाना यदि ब्रह्मको, इसी जन्ममें सत्य।
जन्म सुकार्थ लग गया, मिला शुभ अमृत तत्त्व ॥२७॥
नहीं जाना इस जन्ममें, हुआ महान् विनाश।
वही ब्रह्म अब सत्य है, था, होगा, नहीं नाश ॥२८॥
विविध चिति सभी भूत विषय, कर प्रयुक्त मतिमन्त।
कर प्रयाण इस लोकसे, अमृत बनें सुसन्त ॥२९॥
बुद्धिमें रम भूत प्रति, कर विवेचना सूक्ष्म।
धीर विचारक देह त्यज, अमर पायं गति सूक्ष्म ॥३०॥

देख रचन प्रति भूतमें, धीर पहिचाने ब्रह्म ।
जब जावें इस लोकसे, हो अमृत सुब्रह्म ॥३१॥
॥ इति द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तीसरा खण्ड

देवोंके लिये ब्रह्मने, विजय प्राप्त जब की ।
महिमा देवोंकी बढी, जीत हुई ब्रह्मकी ॥१॥
तब यह विचारा देवोंने, जीत सके जो हम ।
महिमा हमारी है बडी, जीत गये हैं हम ॥२॥
ब्रह्म उनके इस भावको, जान हो गया प्रकट ।
सम्मुख उनके सर्वथा, आवर्णरहित सुव्यक्त ॥३॥
पूजनीय आकृति यह कौन यक्ष सुमहान् ।
जान सके नहीं देवगण, नहीं सके पहिचान ॥४॥
बोले वे तब अग्नि से जातवेद ! इसे जान ।
कौन यक्ष यह पूज्यतम, यदि रुको पहिचान ॥५॥
जो आज्ञा, कह दौडकर, यक्ष पास गया अग्न ।
उसने पूछा कौन तू ? कहा जातवेद मैं अग्न ॥६॥
वह बोला तेरी शक्ति क्या ? सभी जला दूं मैं ।
जो सब यह है भूमिपर, कहो दिखादूं मैं ॥७॥
तिनका रख उसके लिये, कहा जला इसे डाल ।
पूर्ण वेगसे दौड वह, गया वहां तत्काल ॥८॥
जब न सका जला उसे, गया लौट तुरन्त ।
नहीं जान सका कौन यह, यक्ष महा मतिमन्त ॥९॥
तब देवोंने वायुसे कहा वायो बलवान् !
पता लगा आ यक्षका, कौन यह है सुमहान् ॥१०॥
जो आज्ञा कह दौडकर, यक्ष पास गया वायु ।
वह बोला तू कौन है ? मातरिश्व मैं वायु ॥११॥
उस तुझमें बल कौनसा, कहा उडा दूं सब ।
जो कुछ है इस भूमि पर, कहो दिखा दूं अब ॥१२॥
उसके लिये इक तिनका रख, कहा तू इसको उडा ।
पूर्ण वेगसे तत् प्रति, धाव, न सका उडा ॥१३॥
लौट गया वह वहींसे, नहीं सका मै जान ।
कौन यह व्यक्ति पूज्यतम, यक्ष कौन सुमहान् ॥१४॥
इन्द्रसे बोले देव तब, पहिचानो महाराज !
मघवन् ! कौन है यक्ष यह, सम्मुख रहा विराज ॥१५॥
तथा अस्तु, कह इन्द्र जब, गया दौड उन पास ।
ओटमें हो गये ब्रह्म तब, किया न स्वप्रकाश ॥१६॥
उनके ही शुभ स्थानमें, शुभ स्त्रि गई वहां आ ।
स्वर्णमयी बहुशोभिता, लक्ष्मीः श्रीः कहला ॥१७॥
इन्द्रने पूछा बताइये, देवि ! कौन यह यक्ष ?—

चौथा खण्ड

वह बोली है ब्रह्म यह मघवन् ! सुनो सुदक्ष ! ॥१८॥
इसी ब्रह्मकी जीतसे, महिमा पाई आप ।
तभीसे जाना ब्रह्म यह, इन्द्र हुए निष्पाप ॥१९॥
अग्नि वायु अरु इन्द्र हैं, अन्य देवोंसे श्रेष्ठ ।
छुआ इन्होंने ब्रह्म था, अति समीपसे श्रेष्ठ ॥२०॥
पहिले जाना इन्होंने, ब्रह्म सभीसे पूर्व ।
तभीसे देवोंमें गये, हो यह तीन अपूर्व ॥२१॥
इन्द्र स्वयं इस लिये ही, अन्य देवोंसे ज्येष्ठ ।
जाना पहिले ब्रह्मको, छू पाया नेदिष्ठ ॥२२॥
ब्रह्म उसका उपदेश यह, जो विद्युत् विद्योत् ।
"अ" रेखा आकार जो, यह चमके नभ श्योत् ॥२३॥
आंख झपकनेके समय, 'आ' रेखा रही पूर ।
नेत्र पटल दोऊ भिन्नकर, ज्योती रही भरपूर ॥२४॥
नेत्र निमेषोन्मेषमें, परमात्मप्रकाश ।
विद्युत् द्योताऽद्योतमें, ईश करें सुप्रकाश ॥२५॥
ब्रह्मपाठ जो यहां से, पढे सुबुद्धियुक्त ।
दर्श पाय जगदीशका, होवे जीवन्मुक्त ॥२६॥
देवताओंके विषयमें, यही, ब्रह्म आदेश ।
अधिदैवत कहते इसे, देव ब्रह्म संदेश ॥२७॥
आत्माके विषय ब्रह्मका, करूं वर्णन आदेश ।
आध्यात्म जाता कहा, जो आत्मिक् सन्देश ॥२८॥
मन चलते की न्यायीं है, प्रति क्षण करें सङ्कल्प ।
इससे ब्रह्मका उपस्मरण, कहा जो शिवसङ्कल्प ॥२९॥
रखना ब्रह्म समीप मन, करना ब्रह्म विचार ।
सदा सिमरना ईशको, अध्यात्म शुभसार ॥३०॥
वन नाम जगदीश जो, वननीय कमनीय ।
वन समान सुविशाल है, रमणीय अतिप्रिय ॥३१॥
भगवद्वनमें विचरना, भूल नागारिक कर्म ।
वनवास यह राममें, है उपासनाधर्म ॥३२॥
सुखनिवास वनवास यह, जो जाने तद् भेद ।
सब प्राणि इस भक्तकी, करनी चाहें सुसेव ॥३३॥

श्रीः गुरो ! कहिये उपनिषद् ! कहा उपनिषत् ज्ञान।
सभी तुझे प्रिय शिष्य मैं, ब्रह्म भेद गुणखानि ॥३४॥
त्याग शिथिलता देहकी, इन्द्रिय मन शुभ कार।
तप दम कर्म सुयुक्त हो, ब्रह्म उपनिषद् धार ॥३५॥
सत्यनिष्ठ और वेदवित्, हो रहे शिष्य सुजान।
वेद षडङ्ग है उपनिषद्, दमप्रतिष्ठ सत्स्थान् ॥३६॥
जो ऐसे इस भेदको, जाने खोवे पाप।
पाये प्रतिष्ठा स्वर्गमें, अनन्त ज्येष्ठ रहा व्याप ॥३७॥
स्वेच्छासे विचरे सदा, सुखी रहे सुप्रतिष्ठ।
पुराय श्रेष्ठ दिव्य लोकमें, अन्त रहित् वसिष्ठ ॥३८॥

॥ इति केनोपनिषत् समाप्त ॥

अथ शान्ति।

अङ्ग मेरे सभी तृप्त हों, सुप्रसन्न बलवान्।
इन्द्रिय शक्तिसम्पन्न हों, आंख नाक मुख कान ॥१॥
स्थिति पावें सब ब्रह्ममें, वहीं रहें सब काल।
ब्रह्मस्थिति को सर्वथा, भोग रहे तत्काल ॥२॥
मैं आदर करूं ब्रह्मका, ब्रह्म रखे मेरा मान।
नहीं निरादर कभी हो, स्वप्नमें भी अपमान ॥३॥
सादर अरु सप्रेम ही, करूं आवाहन ईश।
अनिराकरण सदैव हो, हों प्रसन्न जगदीश ॥४॥
ब्रह्म निरादर न करे, करूं न मैं अपमान।
अनिराकरण हो ब्रह्मका, रह जावे मेरा मान ॥५॥
उस आत्मामें उलझकर, भक्तमें हों गुण प्रकट।
ब्राह्मि स्थिति पाये हुए, मैं हों जो सुव्यक्त ॥६॥
वही धर्म मुझमें बसें, कृपा करो भगवान्।
निरत् हो आत्मोपनिषत् में, सदा हूं तद्गत् प्राण॥७॥
ओ३म् शान्तिः शुभशान्तिः, सर्वशान्तिः हो आप।
कृपा यही मुझ पर करो, करो शान्त त्रयताप ॥८॥

गीतोक्त साम्यवाद।

(लेखक— श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है। सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं, जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय। परन्तु विचार कर देखनेसे पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है। न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर और स्वभाव आदिमें ही समता है। ऐसी अवस्थामें देश, काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्व समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता और न कभी हो सकता है।

यथार्थ साम्यवादका विकास भारतीय ऋषियोंकी प्रज्ञासे हुआ था, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें खूब मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो श्रीभगवान्ने जीवन्मुक्तका प्रधान लक्षण 'समता' ही प्रतिपादन किया है। यह 'समता' ही सर्वोच्च साम्यवाद है, यही सच्ची एकता है, यही परमेश्वरका स्वरूप है। यह धर्ममय है, इसमें अमर्यादित उच्छृङ्खल जीवनको आवकाश नहीं है, यह परम आस्तिक है, रसमय रहस्यमय है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये नाश करनेवाला है, मुक्ति देनेवाला है अथवा साक्षात् मुक्तिरूप ही है; इसमें स्थित होनेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जो पुरुष इस साम्यवादमें स्थित है वही स्थितप्रज्ञ है, वही गुणातीत है, वही ज्ञानी है, वही भक्त है और जीवन्मुक्त है। यह साम्यवाद केवल कल्पना नहीं है; आचरणके योग्य है, और इसका आचरण सभी कोई कर सकते हैं, यह समता ही परमात्मा है। जिसने सर्वत्र ऐसी समता प्राप्त कर ली, उसने मानो समस्त संसारको जीतकर परमात्माको ही प्राप्त कर लिया। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जहाँ यह समता है, वहीं सर्वोच्च न्याय है; न्याय ही सत्य है और सत्य परमात्माका स्वरूप है; जहाँ परमात्मा है, वहाँ नास्तिकता, अधर्म-भावना, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, कपट, हिंसा आदिके लिये गुञ्जाइश ही नहीं है। अतएव जहाँ यह समता है, वहाँ सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्त अभाव होकर सम्पूर्ण सद्गुणोंका विकास आप ही हो जाता है। क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही सब दोषों और दुराचारोंकी उत्पत्ति होती है और समतामें इनका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वहाँ किसी प्रकारके दोष और दुराचारके लिये स्थान नहीं है।

समता साक्षात् अमृत है, विषमता ही विष है। यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों, सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें जिनकी समता है, वे ही सच्चे महापुरुष हैं। इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ (६।९)

'(जो पुरुष) सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५।१८)

'ज्ञानी जन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी (सबमें सम देखता है) वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ (१२।१८)

'(जो पुरुष) शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है, सर्दी-गर्मी और सुखदुःखादिमें सम है और (सब संसारमें) आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मानअपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (१४।२४)

'(जो) निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है, (तथा) मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है, (तथा) जो प्रिय और अप्रियको तुल्य समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय 'सर्ववाचक' हैं और निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है, वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

इस समताका सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावोंसे है; इसमें सर्वत्र समदर्शन है, समवर्तन नहीं

है। यह समत्व बाहरी व्यवहारोंमें सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाहरी तो दाम्भिक और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले भी ऐसा कर सकते हैं। इस समताका रहस्य इतना गूढ है कि क्रिया और व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी इसमें वस्तुतः कोई बाधा नहीं आती। बल्कि देश, काल, जाति और पदार्थोंकी विभिन्नताके कारण कहीं-कहीं तो बाहरी व्यवहारमें विषमता न्यायसंगत और आवश्यक समझी जाती है। परन्तु वह विषमता न तो दूषित है और न उससे असली समतामें कोई अड़चन ही आती है।

एक विपद्ग्रस्त देश है और दूसरा सम्पन्न है, इन दोनों देशोंमें व्यवहारमें विषमता रहेगी ही; विपद्ग्रस्त देशकी सेवा करना आवश्यक होगा, सम्पन्न देशकी नहीं। व्यवहारकी इस विषमताकी आवश्यकताको कौन दूषित बतला सकता है? हाँ, इस विपत्तिग्रस्त देशमें यदि ममता और स्वार्थके भावसे दुखी लोगोंकी सेवामें भेद किया जाय तो वह विषमता अवश्य दूषित है। मान लीजिये, एक जगह बाढ आ गयी; लोग डूब रहे हैं। यहाँ यदि यह भाव हो कि अमुक यूरोपियन है, हम भारतीय हैं, इससे भारतीयको ही बचावेंगे, यूरोपनको नहीं; अथवा अमुक मुसलमान है, हम हिन्दू हैं, हम अपनी जातिवालेकी रक्षा करेंगे, विजातीयकी नहीं। इस प्रकारकी देश और जातिगत आन्तरिक भेदबुद्धिजनित विषमता अवश्य दूषित है। आपत्तिकालमें देश, काल, जाति और कुटुम्बका अभिमान त्यागकर सबकी समभावसे सेवा करनी चाहिये। ममता, स्वार्थ और आसक्तिवश जो देश, काल, पदार्थ, जाति आदिमें विषमताका व्यवहार किया जाता है वास्तवमें वही विषमता है। ऐसी विषमता महापुरुषोंमें नहीं होती।

इसी प्रकार काल-भेदसे भी व्यवहारमें विषमता रहती है; हम रातको सोते हैं, दिनमें व्यवहार करते हैं, प्रातः-सायं सन्ध्या-वन्दनादि ईश्वरोपासना करते हैं; यह विषमता आवश्यक है। ऐसे ही जिस समय दुर्भिक्ष पड़ता है, उसी समय अन्नदान दिया जाता है। जलदान ग्रीष्ममें आवश्यक है, सर्दीमें उतना नहीं। वस्त्रदान शीतमें आवश्यक है, गर्मीमें इतना नहीं। अग्नि जलाकर जाड़ेमें तापा जाता है, गर्मीमें नहीं। छाता वर्षाकालमें लगाया जाता है, जाड़ेमें नहीं लगाया जाता। परन्तु यह विषमताका व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं, आवश्यक माना जाता है।

खान-पान और व्यवहारमें गौ, कुत्ते, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें विषमता सर्वथा युक्तियुक्त है। गौ और हाथीका खाद्य घास-पात है, मनुष्यका नहीं। कुत्ता मांस भी खाता है, परन्तु वह गौ तथा हाथीके लिये उपयोगी नहीं; मनुष्यके लिये तो अत्यन्त ही अनुपयोगी है। इन सबका परस्पर एक दूसरेके साथ खान-पान कभी सम्भव नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, तीनों पशुओंमें भी व्यवहारमें बड़ी विषमता है। हाथीकी जगह कुत्तेपर सवारी कोई नहीं कर सकता, गौकी जगह कुतियाका दूध नहीं पिया जा सकता। जो लोग समदर्शनको समवर्तन सिद्धकर व्यवहारमें अभेद लाना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म ही नहीं समझते। इनका भेद तो प्रकृतिगत है जो किसी तरह भी मिटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, इन ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ और कुत्ते आदि किसी भी प्राणीको दुःखकी प्राप्ति होनेपर उसके दुःखको निवारण करके उसको सुख पहुँचानेके लिये वैसा ही समान व्यवहार करना चाहिये जैसा हम अपने हाथ, पैर, मस्तक आदिका दुःख निवारण करके सुख पहुंचानेके लिये करते हैं। इसी प्रकार 'आत्मत्व' भी सबमें ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसा हमारा अपनी देहमें है। इसी समताका नाम समता है।

इसी प्रकार मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें भी व्यावहारिक भेद आवश्यक है। मिट्टीके ढेलेको सँभालकर रखनेकी जरूरत नहीं, परन्तु सोना

सुरक्षित रखना पड़ता है। सोनेके बदले मिट्टी या पत्थरका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इनके संग्रह-ग्रहण, आदान-प्रदान, व्यवहार और मूल्य आदिमें विषमता रहती ही है; परन्तु हाँ, आन्तरिक भावमें इनमें भेद नहीं होना चाहिये। अपना सङ्कट निवारण करनेके लिये जैसे धनको मिट्टीकी तरह समझकर खर्च किया जाता है, उसी प्रकार न्याय प्राप्त होनेपर दूसरे प्राणीके हितके लिये भी धनको धूलके समान समझकर व्यवहार करना चाहिये। लोभवश धनका संग्रह करने और न्यायसङ्गत आवश्यकता आनेपर खर्च न करनेमें विषमता है। जहाँ यह विषमता होगी, वहाँ न्यायान्यायका विचार छोड़कर धनका संग्रह होगा और न्यायसङ्गत खर्चमें हिचकिचाहट होगी। अतएव अन्यायसे उपार्जन करनेके समय और न्याययुक्त खर्चके समय धनको धूलके समान समझकर वैसे उपार्जनसे हट जाना और खर्च करनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिये। यही 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' है। एकके कुछ भी धन नहीं है, दूसरा धन और भोग-पदार्थोंका संग्रह करता है; परन्तु यदि वह अपने और कुटुम्बके लिये या भोगसुखके लिये न करके सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितके लिये ही करता है तो इस संग्रहमें विषमता होनेपर यह दूषित नहीं है वरं आवश्यक है।

पदार्थोंकी विषमता लीजिये- अग्नि और जलमें विषमता है, विष और अमृतमें विषमता है, मीठे और कटुमें विषमता है, पथ्य और कुपथ्यमें विषमता है। व्यवहारमें पुरुष और स्त्री-जातिमें विषमता है; पुरुषपुरुषमें भी पिता और पुत्रमें भेद आवश्यक है, स्त्रीस्त्रीमें भी माता और स्त्रीमें भेद रखना धर्म है। अपने ही शरीरमें दाहिने और बायें हाथमें व्यवहारका भेद युक्तिसङ्गत है। संसारमें जहाँ विशेष समताका उदाहरण दिया जाता है वहाँ कहा जाता है कि 'ये दोनों हमारे दायें-बायें हाथके समान एकसे हैं।' परन्तु देखा जाता है कि दाहिने-बायें हाथके व्यवहारमें परस्पर बड़ा अन्तर है। खान, पान, दान, सम्मान आदि उत्तम व्यवहार और प्रधान-प्रधान क्रियाएँ अधिकांशमें दाहिने हाथसे की जाती हैं और शौचादि अपवित्र व्यवहार बायेंसे होते हैं। इसी प्रकारका व्यवहारका भेद अपने अङ्गोंमें भी है। पैर, हाथ, मस्तक आदि एक ही शरीरके अङ्ग हैं, परन्तु चरणसे शूद्रका, हाथोंसे क्षत्रियका और मस्तकसे ब्राह्मणका-सा व्यवहार होता है। किसीका सत्कार करते समय सिर झुकाया जाता है न कि पैर सामने किया जाता है सिरपर लाठी आती हो तो हाथोंकी आड़से उसे बचाते हैं न कि पैरोंकी आड़ की जाती है। पैरोंपर लाठी लगनेकी सम्भावना होनेपर उन्हें सिकोड़कर बैठ जाते हैं और पैरोंको बचाकर हाथोंपर और पीठपर चोट सह लेते हैं। किसी दूसरे मनुष्यके चरणका स्पर्श हो जानेपर मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर क्षमाप्रार्थना करते हैं। अङ्ग सभी हमारे हैं, फिर पैर लगा तो क्या और हाथ छू गया तो क्या। परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं माना जाता! मस्तकके हात स्पर्शकरनेसे हाथको पवित्र मानते हैं और उपस्थ-गुदादि इन्द्रियोंसे छू जानेपर हाथ धोते हैं। जब अपने एक ही शरीरमें व्यवहारका इतना भेद आवश्यक और युक्तियुक्त समझा जाता है, तब देश, काल, जाति और पदार्थोंमें रहनेवाले अनिवार्य भेदको दूषित मानना तो सर्वथा अयुक्त और न्यायविरुद्ध है। इतना भेद होनेपर भी आत्मदृष्टिमें कोई भेद नहीं है। किसी भी अङ्गके चोट लगनेपर उसे बचानेकी चेष्टा समान ही होती है और दुःख-दर्द भी समान ही होता है। प्रसूति और रजस्वला-अवस्थामें हम अपनी पूजनीया माताके साथ भी अस्पृश्यताका व्यवहार करते हैं, किन्तु वही माता यदि बीमार हो तो हम उसी अवस्थामें आदरपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और तदनन्तर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी या मनुष्य आदिमें जो अस्पृश्य माने जाते हैं, उनके साथ अन्य समय व्यवहारमें भेद होनेपर भी उनकी दुःखकी स्थितिमें प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये। सेवा

करनेके बाद स्नान करनेपर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इसप्रकार शास्त्रानुमोदित व्यवहारकी विषमता आवश्यक और उचित है। इसको अनुचित मानना अनुचित है। अवश्य ही आत्मामें इससे कोई भेद नहीं आता और न भेद मानना ही चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (६।२९)

'हे अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अंतर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है।'

श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईश० ६-७)

'जो विद्वान् सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करता। तत्त्ववेत्ता पुरुषके लिये जिस कालमें सम्पूर्ण भूतप्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् वह सबको आत्मा ही समझ लेता है, उस एकत्वको देखनेवालेको कहाँ शोक और कहाँ मोह है?'

इसप्रकार व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार लोकसंग्रहके लिये ममता और स्वार्थसे रहित होकर, न्याययुक्त विषमताका व्यवहार करते हुए भी, सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखना और रागद्वेषरूपी विकारोंसे रहित होकर मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंमें सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है। इसी साम्यवादसे परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थ-मूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खानपान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही नहीं; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेष-रहित व्यवहार-मात्र है।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषोंको इस गीतोक्त साम्यवादका ही आदर करना चाहिये।

(कल्याण)

ब्रह्मकी साधना।

(ले०- पं. कालीचरण दुबे वैद्यशास्त्री, नागपुर)

गीता-शास्त्रके विषयमें कुछ कहना सूर्यको दीपकसे देखना है। गीताके शुद्ध आलोकसे भारत का कोना कोना उज्ज्वल हो रहा है। द्वैतवादी, अद्वैतवादी, ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी सभी गीता के एकसे श्रद्धालु पाठक हैं। कोई मत नहीं, कोई वाद नहीं, कोई काण्ड नहीं, कोई मार्ग नहीं और कोई धर्म नहीं, जिसका थोडा पर पक्का विवरण गीतामें न मिलता हो। ज्ञान, कर्म, और भक्तिके रहस्योंके साथ और अनेक उज्ज्वल रत्नभी महर्षि वेदव्यासने कोई सात सौ श्लोकोंमें ही गूंथ दिये हैं, फिर उन सात सौ श्लोकोंमें भी करीब दो सौ श्लोकोंके कथा-भाग हैं। शेष पांच सौ श्लोकोंमें ही महर्षिने अनेक ऐहिक और पारमार्थिक विषयों का ज्ञान कूट कूट कर भरा है। संसार की अनेक भाषाओंमें गीता शास्त्र पर न मालूम कितने ग्रंथ लिखे गये और लिखे जा रहे हैं— ठीक नहीं। भगवद्गीता हिन्दुओंका ही क्यों सभ्य संसारके अधिकांश चिन्ताशील जनोंका प्यारा ग्रंथ है।

गीता बडा ही अपूर्व ग्रंथ है। संसारके साहित्य में ऐसा उपादेय और उत्कृष्ट दुसरा ग्रंथ नहीं है। गीता बहुत बडा ग्रंथ नहीं है, परन्तु उसमें सब धर्मोंका सार है, सब शास्त्रोंके सारका भी सार है। जिस प्रकार समुद्रको मथकर अमृत निकाला गया है, उसी प्रकार शास्त्ररूप समुद्रको मथकर गीतामृत निकाला गया है। इसी लिये विद्वज्जन कहा करते हैं-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

गीताको ही खूब अध्ययन करना चाहिये। और बहुतसे शास्त्रों से क्या मतलब है? गीता भी ब्रह्म की साधना का अच्छा सीधा मार्ग बतलाती है। वेदांतदर्शनने भी साधना का उपाय बतलाया है, परन्तु गीता का बतलाया मार्ग कुछ और ही है। वेदान्तदर्शनपर जितने प्रकार की व्याख्याएं मिलती है उन सब में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मत की ही प्रधानता है। अद्वैत मतके प्रधान आचार्य श्री शंकराचार्य हैं और विशिष्टाद्वैत मतके प्रधान आचार्य श्री रामानुजाचार्य हैं। ये लोग प्रधान ही हैं- प्रवर्तक नहीं हैं। श्री शंकराचार्य सम्भवतः ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए हैं किन्तु इससे बहुत पहिले अद्वैत मत खूब प्रचलित था। श्री शंकराचार्य के गुरु के गुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर एक कारिका लिखी है। उसमें अद्वैत मत हम को परिणत अवस्था में मिलता है। श्री शंकराचार्य ने इस कारिका पर भी भाष्य लिखा है। उन्होंने अपने शारीरक भाष्यमें अपने मतकी पुष्टिके लिये भगवान् उपवर्ष को बतौर प्रमाण के उद्धृत किया है। उपवर्ष से भी पुराने योगवाशिष्ठ और सूत संहिता में अद्वैत मत का साफ साफ वर्णन मिलता है।

अद्वैतमत में दो प्रकार की उपासना बताई गई है, सगुण और निर्गुण। इन दोनों उपासनाओं के फलमें भी फर्क है। सगुण साधक उत्तर मार्गसे देवयानद्वारा सूर्यमंडल में पहुंचते हैं और वहांसे क्रमपूर्वक ब्रह्मलोक में पहुंचकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं। और महाप्रलय में जब कि ब्रह्माके दिनका अवसान होता है तब ब्रह्माके साथ वे भी परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इसको क्रम-मुक्ति कहते हैं। परन्तु जो निर्गुण ब्रह्मके उपासक हैं, वे प्राण छोडते ही इधर उधर न घूमकर इस शरीर का त्याग करते ही अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाते हैं। इस का नाम विदेह मुक्ति है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी उपासनाके ये दो प्रकार और उनके फलों का तारतम्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि सगुण ब्रह्म ही की उपासना हो सकती है और उसका एक ही तरह का फल होता है। इस मतभेद में गीता का उपदेश क्या है?

हमने देखा कि ब्रह्म के दो विभाग हैं एक सगुण और दूसरा निर्गुण। सगुण और निर्गुण भिन्नतत्व नहीं हैं, केवल भावका भेद है। इस लिये गीता के मतमें निर्गुण साधना और सगुण साधना के फल में कोई भेद नहीं होना चाहिये। किन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना बहुत मुश्किल है, क्यों कि वह अचिन्त्य है और अव्यक्त है, वह समस्त विशेषणों से रहित है, सब उपाधियोंसे हीन है। परन्तु फल एक ही है। क्यों कि जो सगुण है वही निर्गुण है।

गीता के दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहते हुए निर्गुण साधना का कुछ जिक्र किया गया है कि 'प्रजहाति यदा कामान्नित्यादि।' हे पार्थ! जो समस्त मनोरथों को त्याग करके अपने ही में प्रसन्न रहता है उसको स्थित-प्रज्ञ अर्थात् दृढ बुद्धिवाला कहते हैं। जो न दुःख से दुःखी होता है, न सुख चाहता है, जिसे न राग है, न भय है, न क्रोध है, उसीको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। जिसे किसी से प्रेम नहीं है, जो न शुभसे प्रसन्न होता है न अशुभ से दुःखी, वही स्थितप्रज्ञ है। जो पुरुष सब कामनाओं को त्याग कर इच्छा-रहित हो जाता है; जिस में 'मैं' और 'मेरा' भाव नहीं है उसी को शान्ति मिलती है। हे पार्थ! यही ब्रह्मनिष्ठा है। इसे पाकर फिर मोह नहीं होता। अन्तकालमें भी यदि इस की प्राप्ति हो जाय तो मोक्ष मिल जाता है। गीता के पांचवें अध्याय में निर्गुण साधना का प्रसंग आया है, जैसे कि—

> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
> गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
> (गी० ५।१७)

उस [परब्रह्म] में जिन की बुद्धि लग जाती है, जो उसी को अपनी आत्मा समझते हैं, एक मात्र उसीमें जिन की श्रद्धा है और उसी को जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, उन के सब पाप आत्मज्ञानसे धुल जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते। ज्ञानी समदर्शी होते हैं, वे विद्याविनय से युक्त ब्राह्मण को, बैल को, हाथी को, कुत्ते को, और चाण्डाल को भी एक ही दृष्टि से देखते हैं। जिसने ब्रह्मको जाना और ब्रह्ममय हो गया, वह प्रिय के मिलने से आनन्दित भी नहीं होता और अप्रिय प्राप्त होने से दुःख भी नहीं मानता। बाहरी चीजोंमें मन आसक्त न करके जो भीतरी सुख का अनुभव करता है, वह ब्रह्ममें अन्तःकरण को मिलाकर अक्षय सुख लाभ करता है। जिस को भीतरी सुख, भीतरी आनन्द और भीतरी प्रकाश प्राप्त हुआ है वह योगी ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिन को सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जिनका मन अपने आधीन हुआ है, जीव मात्र का हित ही जिनका व्रत है वे ब्रह्म में मिल जाते हैं।

दूसरी जगह गीता में सगुण साधना का जिक्र भी आया है, जैसे कि—

> भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
> सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
> (गी० ५-२९)

'मैं यज्ञ और तपस्या का भोक्ता हूं, सब जगत् का परमेश्वर हूं। यह जो जानता है, वही शान्ति पाता है।'

पुण्यकर्मों से जिन के पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्य सुखदुःखादि के मोहसे छुटकारा पाकर निश्चयपूर्वक मेरी आराधना करते हैं। 'अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।' इत्यादिमें भगवान् ने कहा है कि हे पार्थ! जो मनुष्य अपने चित्त को सब ओरसे हटाकर अभ्याससे उसे एकाग्र कर परम प्रकाशवाले पुरुषका चिन्तन करता है, वह उसमें मिल जाता है।

जो अनन्यगति होकर सर्वदा मेरा ही स्मरण करता है,उस सदा संतोषयुक्त योगीको सहजमें मेरी प्राप्ति हो जाती है। जिनका मन शुद्ध है, वे दैवी प्रकृतिका आश्रय ग्रहण करते हैं। मुझे सब भूतोंका मूल और अविनाशी जान कर अनन्यभावसे मेरी पूजा करते हैं। वे मुझमें चित्त लगा कर, मुझको अपना कर, एक दूसरेको मेरे संबंधमें समझाते हुए, मेरा भजन करते हुए, सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं

और आनन्दसे समय बिताते हैं। चित्तका समाधान कर वे प्रेमसे मेरा भजन करते हैं। मैं उनको ऐसी बुद्धि देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार गीतामें सगुण और निर्गुण दोनों तरह की साधनाओंका प्रसंग और उपदेश दिखाई पडता है और दोनों साधनाओंके फलसे साधक भगवान्को प्राप्त कर लेता है- यह भी प्रकट होता है। अब देखना यह है कि गीता किस प्रणालीको अधिक अच्छा समझती है। गीताके बारहवें अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्णसे यही प्रश्न करते हैं कि इस प्रकारके तुम्हारे सगुण रूपमें चित्त स्थिर कर जो तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना करते हैं, इन दोनों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है?

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि जो मुझमें चित्त स्थिर रखकर बडी श्रद्धासे मेरा भजन करते हैं, उन्हीको मैं श्रेष्ठ योगी समझता हूं। परंतु जो इंद्रियोंका संयम कर सर्वत्र समदृष्टि रखकर प्राणिमात्रके हितमें लगे रहते हैं और अविनाशी ब्रह्म जिसके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है, जो अव्यक्त है, सर्वत्र व्याप्त है, अचिन्त्य है, नित्य है, अचल है, स्थिर है की उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। किन्तु जिनका मन अव्यक्तमें लगा है उनको कष्ट अधिक होता है। क्यों कि देहवाले प्राणीके लिये अव्यक्त गतिका ज्ञान कर लेना बडेही कष्टका काम है।

इससे मालूम हुआ कि गीताकारके मतमें, उपासनाके लिये निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म या महेश्वर ही अधिक प्रशस्त हैं।

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद।

जिस कर्मयोगको भगवान्ने, 'कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' (गीता ५।२) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसके आचरण करनेवालोंके लिये 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' (गीता २।५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परमपदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है? आजकल जगत्के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे पागल हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती, या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी, अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये कर्ममें लग रहे हैं। एक मिनिटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है, उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं, या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसी लिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्मप्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी' की पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेकों प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है, कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दीनोंका दुःख दूर कर सबको सुखी बना सकता है,अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्‌का सारा दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समानरूपसे भोगपदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य बल विद्या कला विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे अलस्य छोडकर दुःख-कष्टकी परवा न कर, सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविध स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है, केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है। रेल, जहाज, तार, टेलीफोन, बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक चीजें, जिनसे संसारमें सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सुभीता हो गया है, विज्ञानका ही फल है; इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारकी चीजें विज्ञानने आविष्कार की हैं, जिनसे हम अपनी रक्षा और विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी, विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बडा भाग भूखों मरने लगा, अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्र-सभ्यताका नाशकर ग्राम्य-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बडी आवश्यकता है, इस लिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमंगल समझकर अधिकाधिक कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं। तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं।

इसप्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मोंकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परन्तु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको नहीं है। कहीं अत्यन्त क्षीणरूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी पडती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही; वरं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त लोगोंमें तो अधिकांश प्रायः यही मानते हैं कि ईश्वर और धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण है। इन पुराने विश्वासों-वहमों को सर्वथा नष्ट कर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओं-पर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है, एवं इसी क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग,' और दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है। यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है।

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना।

अब गीताके कर्मयोगपर कुछ विचार कीजिये-अवश्य ही, गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध

नहीं किया है, वरं स्वधर्म-पालन और सर्वभूत-हितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है। परन्तु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका इतना महत्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धीका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोकदृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है। श्रीभगवान्ने (गीता १८ ४६ में) कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्वब्रह्माण्ड व्याप्त है अर्थात् जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर) की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। यह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत् भरमें व्याप्त हैं, और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है, समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये हैं। कर्म कौनसे? केवल जप, तप, पाठ, पूजा ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य हो, उन्हीसे भगवान्की पूजा होगी। अर्जुन क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य है, वहाँ रणाङ्गणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही कालरूपसे प्रसिद्ध भगवान्की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रयविक्रयरूप व्यापारसे भगवान्की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान् को पूजता है, याज्ञवल्क्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनकने राज्यपालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान् की पूजा करें। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो, आवश्यकता है, पुजारीके हृदयके भावकी। यदि वह भगवान्के स्वरूपको समझकर, भगवानकी पूजाके लिये-किसी फलके लिये नहीं-किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं, केवल यज्ञार्थ-भगवदर्थ-किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोग है। यह याद रखना चाहिये ऐसे कर्म करनेवाले कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितसे विपरीत कर्म या पापकर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो !

इसी कर्मयोगकी व्याख्या भगवान्ने दूसरे अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते४८

हे अर्जुन ! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न कर, (परन्तु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा। आसक्तिको त्याग कर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्के चिन्तनमें चित्त लगाये हुए ही) कर्म कर। (फल श्रीभगवान्के हाथमें है, उनकी इच्छासे जो कुछ भी फल होगा, बस, वही होना चाहिये, मुझे तो उनके चिन्तनमें चित्त लगाये हुए उनकी इच्छानुसार कर्म करना चाहिये) यह समत्व ही योग कहा जाता है।

असलमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त करलूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज डाल सकता है। परन्तु उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, चूहे, टिड्डी, पाला आदिसे पकी-पकायी फसल भी नष्ट हो सकती है। तथापि उसे खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये, क्यों कि यह उसके हाथकी बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय ? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होना होगा सो हो ही

जायगा।' इसीलिये भगवान्‌ने पहलेसे सावधानकर दिया कि 'कर्म-त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये' क्योंकि कर्ममें मनुष्यका अधिकार है। यद्यपि जगत्‌में सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है। उन लीलामयकी ही सारी लीला है, परन्तु वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं-इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्‌ने पहलेसे ही मार रक्खा था, विराट् स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया, अर्जुन निमित्त न बनते तब भी उनका संहार होता ही, परन्तु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्‌ने उनका संहार करवाया। अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये परन्तु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता, इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो, दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्म-की सफलताकी ओर दृष्टि है, परन्तु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले, जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है। क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा नहीं है, उसके कर्म-प्रेरक भगवान् हैं, वह भग-वान्‌की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्‌के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्‌के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भग-वान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्‌ने आरम्भमें ही कहा है—

> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
> (गीता २।३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो, ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।'

ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है, क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानु-सन्धानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्व-रका ध्यान छूट जाता है। जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्य होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरीभावके साम्रा-ज्यमें पहुँचकर असुरवत् कार्य करता हुआ नरक-का भागी होता है।

भगवान्‌ने आसुरीभावका वर्णन करते हुए कहा-आसुरी भाववाले लोग कहते हैं कि-'जगत् आश्रयरहित है, इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, ईश्वर भी नहीं है, परस्परके काम-सम्बन्धसे ही सृष्टि हुई है, (प्रकृतिसे ही सब आप ही बन गया है) इसप्रकारकी नास्तिक दृष्टिको आधार बनाकर वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अत्याचारी मनुष्य जगत्‌का ध्वंस करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। उनकी कामना किसी प्रकारसे पूरी नहीं होती। वे दम्भ, मान और मदसे पूर्ण हुए मोहवश असत् सिद्धान्तों-का ग्रहणकर हीन, अपवित्र निश्चयों और कार्योंको लेकर ही जगत्‌में बुरे आदर्शोंका प्रचार करते हुए विचरते हैं। उनकी भोग-चिन्ताओंका कोई पार नहीं, अशेष विषयचिन्ताओंमें डूबे हुए ही वे मरते हैं। कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, यही यही उनका निश्चित मत है। वे सैकड़ों आशा-रूपी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोध-परायण, केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये अन्यायपूर्वक भोग-पदार्थोंके सञ्चय करनेमें लगे रहते हैं। आज यह मिला, अब वह मिलेगा; अभी मेरे पास इतना धन है, आगे और भी धन होगा; आज इस शत्रुको मारा है, अब उन शत्रुओंका

काम तमाम करूँगा; मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा। इसप्रकारके अज्ञानविमोहित, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे सदा भ्रमित चित्तवाले, मोह-जालमें फँसे और कामोपभोगमें आसक्त मनुष्य महान् क्लेशमय अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।

आजके कर्मवादके पीछे पागल-जगत्‌के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्म-चेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपका द्वेष-लोभ-पूर्ण गत भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका वर्तमान उद्योगपर्व, अन्दरसे द्वेष परवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्रसंन्यासकी पाखण्डभरी चेष्टा, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण क्रिया, प्राकृतिक अमिट भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी चेष्टा, पुरातन सर्वथा मिटाकर नवीन शृंखलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गालियाँ देना और नीचा दिखानेकी कोशिश करना, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण करना आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोग-पदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित, और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है। गीताका कर्मयोग इससे बिलकुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्‌ने (गी० ३।३० में) स्पष्ट आज्ञा दी है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'हे अर्जुन! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर!'

युद्ध करनेकी आज्ञा है, परन्तु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित सन्तापसे चित्त जले। चित्त भगवान्‌में लगा है और उन्हींकी आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है। इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है?

यह सत्य है कि गीता जिस प्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारको, और सांसारिक कर्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जातिसेवा, देशसेवा, आर्तसेवा, मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारीका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किञ्चित् भी विरोध नहीं करती, प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्मपालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बली चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, 'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभावको मनमें रखकर, भगवान्‌को समझकर, भगवान्‌के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो। रणक्षेत्रमें वीरगतिको प्राप्त करो, या वीरकी तरह विजय-लाभ करो, परन्तु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रक्खो।' कर्तव्यकर्मके लिये मर-मिटनेका कितना ऊँचा

मार्मिक उपदेश है ! आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है !

जगत् त्रिगुणात्मक है, इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं । इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है । यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है । सत्त्वगुणसे भी यदि ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी चेष्टा न होगी तो सत्त्व, रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा । सत्त्व और रज दब कर तम विकसित हो उठेगा । अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्‌की ओर दृष्टि और भगवान्‌का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजप्रधान हो जाता है । रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन लक्षणोंका उदय होता है? श्रीभगवान् कहते हैं-

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
(गीता १४।१२)

'हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चञ्चलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा–ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ।' इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं —

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
(गीता १८।२७)

वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है ।

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण, पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं । अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परन्तु यह आदर्श नहीं है । रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा । किसी समय भारतवर्षमें भी जन्मकर्मफलप्रद भोगैश्वर्यगतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी, यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकता पूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी । भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है । इसीलिये भगवान्‌ने घोषणा की थी कि भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परन्तु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते। वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं ।

भगवान्‌ने उनके विषयभोगकी व्याख्या करते हुए कहा है-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २।६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें रागद्वेष नहीं है, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है । उस (विमल) प्रसादसे

समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दुःखकी क्षणभंगुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्तिशून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी जाती है। भगवान् कहते हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २।६०-६१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५।२२)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५।११-१२)

'हे अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये जो सब भोग हैं, वे (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः) निःसन्देह दुःखके ही कारण हैं और सदा एक-सा नहीं रहकर-कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता। इसलिये (ममत्व-बुद्धिरहित) निष्कामकर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, इसीसे वे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्-प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होते हैं। विषय चिन्तनमें लगा हुआ सकामी मनुष्य फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना भगवत्-भाव नहीं होता। भगवत्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्प्रेरित कर्म नहीं हो सकते। इसलिये कर्मयोगी पहले भगवत् भावकी प्राप्तिके लिये और भगवत्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्की प्रेरणावश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर—अर्जुनकी भाँति गुरुवध, स्वजनवध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर-केवल भगवान्की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना बर्तन करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। श्रद्धापूर्वक भगवान्का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्तःकरणमें जो शुद्ध स्फुरण हो, और जिससे इन्द्रियभोग-लालसा और कामनाका क्रमशः दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो,

*

पहले-पहले ऐसे शुभ कर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे । साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी । इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परन्तु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीत के उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा । इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः इन्द्रियसंयमी, तपस्वी, भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी, साधारणतः सभीके लिये है । अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है ।

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवन्मुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगमुखी है, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है । भोगमुखी होनेके कारण ही इसमें राग, द्वेष, घृणा, काम, क्रोध और पाप-ताप आदिका प्राबल्य है और इसीलिये कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है ? बिना राग-द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों ? भोगमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है । परन्तु जिनमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्ममुखी है-वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं । मजा यह की फलकी आसक्ति या राग-द्वेषपूर्वक होनेवाले कर्ममें कर्म करते समय कामना, आशंका, भय, उद्वेग, चञ्चलता आदिके कारण मार्गच्युत होनेका जो डर रहता है और फलके अनुकूल, न होनेपर जो विषाद होता है, वह गीतोक्त कर्मयोगीको नहीं होता । वह तो अनुकूल, प्रतिकूल फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर, यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकता ही नहीं । क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उसे अनवरत शक्तिदान करते रहते हैं, वह चलता ही प्रभुकी शक्तिसे है, अपना अहंकार उसे कभी नहीं होता । वह कभी मार्ग नहीं भूलता, क्योंकि उसे निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है । प्रभुके नित्य-चिन्तनसे उसके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है । वह कभी मनमानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होता, क्योंकि कोई नयी वस्तु पानेके लिये उसके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती । वह तो प्रभुका सेवक है, व्यापारी नहीं ! भगवान्‌की शक्तिसे उसकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उसका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उसका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उसकी बुद्धि, सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है । अतएव वह कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, अमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ भगवान्‌के लिये सदा उल्लासरहित कर्म किया करता है । वह कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करता है, इसीसे उसके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता-तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना और राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये सम्भव नहीं है । सात्त्विक कर्त्ताका लक्षण भगवान् बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
(गी० १८।२६)

आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है ।

गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है । क्योंकि सतोगुण भी जीवको

बाँधता है। (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है।) इसीसे भगवान्‌ने कहा है- 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा। गीताके कर्मयोगीके द्वारा गुणातीत होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं। इस बातको भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरंतर निष्काम-भावसे भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है। एवं अन्तमें उस निष्काम कर्मसे ही शाश्वतपदकी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(गी० १८।५६-५७)

'मेरा आश्रयी होकर निष्काम कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है, अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो समत्व बुद्धिरूप कर्मयोगका अवलम्बन करके (हे अर्जुन!) तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका-स्वधर्म का आचरण करें। भगवान्‌ने गैरंटी देते हुए कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८।७)

अर्जुन! इसलिये सब समय (निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर। इस प्रकार युद्धमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्‌ने सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गी० ६।४७)

समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है।

गीताके इस निष्काम कर्मयोगसे, आधुनिक राग और कामनामय कर्मवादमें कितना महान् अन्तर है; ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठक इसको समझ गये होंगे। (कल्याण)

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

उत्कर्ष का राजमार्ग

(श्री० पं० तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजे लोणावला)

तर्कबुद्धिका प्रवेश करनेसे क्या धर्मकी अवनति होगी ?

आज कल कई लोग कहते हैं कि धर्म विषयमें तर्कबुद्धिका प्रवेश किया जाय, तो धर्मकी समाप्ति हो जायगी। ऐसे लोगोंको भी प्रस्तुत अध्यायमें जवाब मिल सकता है। उच्छृंखल तर्क ही बाधक होगा! अमुक काम करनेमें क्या हर्जा है? दो स्त्रीपुरुषमें एकमत हो तो तीसरेको बीचमें पडकर व्यत्यय लानेका क्या अधिकार है? बुजुर्ग हों तो क्या हुवा? वे भी आखिर आदमी ही हैं; तब 'उनकी आज्ञा पालना चाहिये' 'उनको पूज्य मानना चाहिये' 'उनका सन्मान रखना चाहिये' इस तरहका बालकोंको उपदेश करना क्या अन्याय नहीं है? ऐसे प्रश्न करना मुंहजोरी है। भोजनमें कोई अत्यंत चिकित्सिक आदमी "भात खानेसे वात बढता है" "रोटी पचनके लिये जड है" "ज्वारकी रोटी रुक्ष है" इत्यादि दूषणोंसे अन्नकी चाहे कितनी भी निंदा करे, तब भी जैसे लोगोंके भोजन व्यवहार बन्द नहीं होते, वैसेही इस तरहके प्रश्नोंसे सच्चे धर्माचरणको बाधा नहीं पहुंचती। आज देशभक्ति अथवा चन्दोंके घुटालेके विरुद्ध क्या कम आक्षेप होते हैं? परन्तु क्या इन आक्षेपोंके कारण राष्ट्रीय हलचल अथवा चन्दा जमा करनेवाली संस्थाएं बन्द पड गईं? यदि अन्य प्रान्तोंमें मुंहचोरीसे कोई बुरा नतीजा नहीं हुआ, तो इसी प्रान्तमें उसका भय क्यों हो? ऊपर जिस तरहके प्रश्न दिये हैं, वैसे प्रश्न उपस्थित करके विधायक सूचनाओंको गिरा देनेवालोंके संवादोंका नाम वादशास्त्रमें "वितण्डा" है। इस पद्धतिका यही मार्ग है कि अपनी बाजू कुछ न रखकर केवल दूसरोंका खण्डन करना। किसी भी शास्त्रमें एसे स्वपक्षहीन और परपक्षखण्डप्रधान विवेचनके लिय अवकाश नहीं रहता; तब यह डर क्यों मानना, कि धर्मशास्त्रहीमें इन मुंहजोरोंके उपद्व्यापसे भूकम्प हो जायगा? इस भीतिसे तर्कशास्त्रका रास्ता रोक दिया गया और इससे बहुत नुकसान हुआ है। आज चिकित्साप्रधान ग्रथोंके अभावमें धर्मशास्त्रकी और उसीके साथ धर्मकी जो दुर्दशा हुई है, उसका ठीक निदान तर्कशास्त्रकी उपेक्षाही है! धर्ममें तर्कशुद्ध शास्त्रीय दृष्टिका प्रवेश बन्द कर दिया गया, इसी कारण आजकल धर्ममें अनेक झगडे पैदा हुए हैं। इन झगडोंको दूर करनेके लिये शास्त्रशुद्ध बुद्धिकी चलनी जरूर चाहिये।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥

(मनु)

इस श्लोकमें मनुजीने बतलाया है कि धर्मकी शुद्धिके लिये कितने शास्त्रोंका उपयोग करना चाहिये! इन शास्त्रोंके आधारसे लोक निरीक्षण करके, उनके आचारोंसे कौनसी संपत्ति बढेगी, यह जांचकर धर्माधर्मनिर्णय किया जाय, तो अव्यवस्था होनेका कोई कारण न रहेगा। तात्पर्य, निरर्गल तर्ककी अपेक्षा इस अध्यायके मूल तत्त्वोंका आश्रय लेकर धर्मपरीक्षण किया जाय, तो अवनति होगी ही नहीं, परन्तु इस कालमें धर्मकी उन्नति ही होगी! प्राचीन कालसे इस धर्ममें तर्कबुद्धिको कैसा मान दिया गया है, यह देखना हो तो प्रस्तुत लेखकके धर्मस्वरूपनिर्णय ग्रंथका तेरहवां प्रकरण देखनेकी अवश्य कृपा करें।

नास्तिकोंको इशारा।

नये विचारोंके पाठकोंको यहांतक किया हुआ विवेचन जरूरही पसन्द होगा। परन्तु एक बात

इस अध्यायमें है जो उन्हें भी पसन्द न होगी। वह है- नास्तिकतापर किया हुआ कटाक्ष ! आजकल ऐसा कोई नहीं समझता कि ईश्वरको न माननेसे किसी तरहका नुकसान है। किंबहुना 'हम नास्तिक हैं' ऐसा कहनेमें कई लोग भूषण मानते हैं। कई लोग इसमें भूषण न मानें तो दूषण भी नहीं मानते। जिसप्रकार सिरपर पगडी रखना, या टोपी रखना या साफा बांधना अपने अपने मर्जीकी या सहूलियतकी बात है, उसमें भूषणास्पद या दूषणास्पद कुछ नहीं; उसी प्रकार वे समझते हैं कि ईश्वरको मानने या न माननेकी बात है, उसमें भूषण अथवा दूषण माननेका प्रश्न नहीं है। इसके लिये कारण हैं। ईश्वरभक्त लोगोंमें भी अनीतिमान् देखनेमें आते हैं; इसीतरह ईश्वरको न माननेवाले लोगोंमें भी नीतिमान् होते हैं। इसलिये कई लोग यह सवाल करते हैं कि जिस ईश्वरका सदाचरणसे किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है, उसको न माननेसे क्या नुकसान है?

कई लोग कहते हैं कि ईसामसीह, मुहंमद, तुकाराम इत्यादि संतोंको दिये हुए अमानुष क्लेश जिसने खुले आंखोंसे देखे, सामर्थ्य रहकर जिसने दुष्टोंका प्रतिकार नहीं किया, उसको ईश्वर मानना उसकी बदनामी है! इससे उसको न माननाही उसका सन्मान है। ऐसा कहकर ईश्वरको न माननेमें- नास्तिकतामें- प्रौढी समझते हैं!!

ईश्वरके विरुद्ध इन सब आक्षेपोंका खण्डन करनेका यह स्थल नहीं है! किंबहुना प्रस्तुत लेखकका तर्कशास्त्रपर कितना भी विश्वास हो, परन्तु उसकी समझसे ईश्वरसम्बन्धी प्रश्न तर्कशास्त्रकी मददसे हल नहीं हो सकते। अर्थात् ऐसा न समझा जाय, कि इन नास्तिकोंसे वादविवाद करके उनको जीतनेकी महत्त्वाकांक्षासे यह प्रश्न उपस्थित किया गया है! ईश्वरपर जिनका भरोसा नहीं, उनमें वह उत्पन्न करनेका सामर्थ्य प्रस्तुत लेखकमें नहीं है। इस सम्बन्धमें उसका इतनाही कहना है कि गीताने ऐसे नास्तिकोंकी गणना आसुरी सम्पत्तिके लोगोंमेंही की है। वे कितने भी सदाचारी रहें, गीता उनको दैवी सम्पत्ति बहाल नहीं कर सकती। शायद यह अन्याय होगा! जो कोई ऐसा कहे कि 'हम सब बातें पालते हैं, केवल ईश्वरको नहीं मानते इसलिये हमें जो तुम दोष देते हो वह बराबर नहीं।' उसके विषयमें प्रस्तुत लेखकको सहानुभूति है। यह उसी तरहका अन्याय है कि पासमें टिकट न होनेसे उत्तम लेखकको साहित्य सम्मेलनका सभासदत्व न मिले। तथापि भगवान्‌का १६ वें अध्यायका कायदा यदि प्रमाण मानें तो नास्तिकको दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति होना असम्भाव्य है।

मीमांसक और १६ वा अध्याय।

सांप्रत धर्मक्षेत्रमें जिन मीमांसकोंका बोलबाला है, उनका भी समावेश आसुरी सम्पत्तिमें (इस १६ वे अध्यायके अनुसार) होता है; क्यों कि वे भी ईश्वरको नहीं मानते [श्लोक वार्तिकमें सर्वज्ञ खण्डन देखो!] हमारी प्राचीन पद्धतिके अनुसार मीमांसकोंके शास्त्रोंका छः आस्तिक दर्शनोंमें समावेश हुआ जरूर है; परन्तु वहां आस्तिक शब्दका अर्थ निराला है! वेदोंकी जो निंदा करे वह नास्तिक [नास्तिको वेदनिंदकः] ऐसी नास्तिकोंकी व्याख्या है; और वेदोंकी निंदा नहीं करते इसलिये आस्तिक, इसी अर्थसे प्राचीन पद्धतिमें मीमांसकोंको आस्तिक कहा है, न कि वे ईश्वरको मानते हैं इसलिये। इस दृष्टिसे देखनेसे मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते इस कारण वे आसुरी सम्पत्तिकेही ठहरते हैं। अर्वाचीन मीमांसक इस दोषसे विमुक्त हैं, क्यों कि वे ईश्वरको मानते हैं। तथापि "रस्सी जलगई, उसकी ऐंठ नहीं जली" इस कहावतके अनुसार उनके मूल स्वभावमें फरक नहीं हुआ। धर्मपीठोंपर आरूढ होकर जब ये लोग शास्त्रके आधारपर कहने लगते हैं कि "यद्यपि ब्राह्मण कर्मभ्रष्ट हुआ, तथापि वह तीनो लोकोंमें श्रेष्ठ है," तब वे लोग दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य- इस आसुरी सम्पत्तिमें लिपटे हुए नजर आते हैं। "शूद्र यदि वेद श्रवण

करे, तो उसके कानमें तप्तलोहेका रस डालना चाहिये. वेदका उच्चारण करे तो जीभ काटना चाहिये, पठन करे तो शरीर नष्ट करना चाहिये; " इस तरहके वाक्योंको अप्रमाण न ठहराकर वे वैसा वर्ताव करना धर्म समझते हैं. तबतक, प्रस्तुत लेखककी रायमें, उनका समावेश दैवी सम्पत्तिमें, हो नहीं सकता।

आस्तिकताका स्वारस्य।

प्रस्तुत लेखकके लिये यह बतलाना यद्यपि शक्य न हो कि ईश्वरका आस्तित्व कैसे सिद्ध होता है तथापि ईश्वर माननेके इस शर्तपर गीताने इतना जोर क्यों दिया है, इसका एक कारण बतलाया जा सकता है। वह कारण पाठकोंके लिये यहां दिया जाता है। इतना स्पष्ट है कि प्रामाणिकता, सहानुभूति, औदार्य इत्यादि गुणोंकी अभिवृद्धि किये विना कोई व्यवहार ठीक न चल सकेगा। ये गुण समाजमें सुखसमृद्धि करनेवाले हैं, इसलिये इनको दैवी कहनेमें प्रत्यवाय नहीं। इन दैवी गुणोंकी अभिवृद्धि कैसे होगी? मानवी प्रवृत्तिको देखते हुए केवल कर्तव्यके लिये कर्तव्य करनेवाले बहुतही थोडे लोग नजर आते हैं। व्यावहारिक बाह्य दृष्टिसेही फल ठहराये जाय, और यह माना जाय कि दृश्यमान सृष्टिके सिवाय कुछ है ही नहीं, तो इन गुणोंका कर्ताको क्या फल मिल सकता है? एक साधारण कम्पनी भी आपनी इज्जतको डरती है। उसके इस भयमें परलोकका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इज्जतकी पर्वा करनेका कारण यही है कि जहां इज्जत गई, वहां अपनी कंपनीसे कोई भी विश्वासपूर्वक किसी तरहका व्यवहार न करेगा और अपनी कम्पनीको ठोकर मिलेगी। ऐसा नुकसान जहां नहीं दिखता, वहां सामान्य मनुष्य जागरूक भी नहीं रहता। इस दृष्टान्तसे एक बात स्पष्ट होती है; वह यह है कि मनुष्यका जिस बातमें स्वार्थ नहीं है, उस बातमें उसके प्रयत्न कसके नहीं होते। यह बात नहीं कि हरएक बातमें केवल पैसाही अपना ध्येय समझकर मनुष्य बर्ताव करता है। परन्तु कभी मान, कभी लोकलज्जा, ऐसे अन्य ध्येय भी उसके साम्हने रहते हैं। ऐसा कोई ध्येय न रहा, तो यह भरोसा नहीं कि वह जवाबदारीसे वर्ताव करेगाही। ऐसी अवस्थामें सामान्य मनुष्यकी श्रेष्ठ कर्मकी ओर प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? अपनी अपनी समझके अनुसार ईश्वरकी भक्ति करके जिन लोगोंने एश्वर्यकी प्राप्ति कर ली, वे भी "गरज परे कछु और है, गरज सरे कछु और" इस न्यायसे बादमें ईश्वरको भूल जाते हैं। तब इसमें क्या आश्चर्य है, कि जो लोग यह समझते हैं कि हमने अपने बलहीसे अपनी उन्नति की है, वे ईश्वरको भूल जांय? इससे स्पष्ट है कि जहां कर्मका अच्छा या बुरा फल भोगनेका प्रसंग मनुष्यपर न आसकेगा, वहां यह सम्भाव्य नहीं कि कर्ता उत्साहपूर्वक कर्तव्य करनेको तैयार हो। मनुष्यको जब मालूम हो जाय, कि सृष्टिमें कार्यकारणभाव है और सृष्टिके व्यापारोंपर किसी चेतन शक्तिका जागृत पहारा है, तब जरूर दुर्वर्तनको रुकावट होने लगेगी! इस दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा कि गीताका नास्तिकतापर इतना कटाक्ष क्यों है! गीताका यह अभिप्राय दीखता है कि दान, दम, यज्ञ, तप, आर्जव इत्यादि बातें तभी आत्मसात् हो सकेंगी, जब कि ऐहिकके आगे कुछ है, ऐसी प्रचीति मनुष्यको हो।

कोई भी कर्म करनेके लिये मनमें उत्साह होना चाहिये। यह उत्साह प्राप्त करनेके दो प्रकार हैं। एक इस कल्पनासे कि इस कर्मके सुखदुःख मुझे भोगने पडेंगे; दूसरे इस कल्पनासे कि इस कर्मके द्वारा मेरे प्यारेका आराधन होगा। पहिले प्रकारकी कल्पनावाले लोग लोभसे या भीतिसे प्रवृत्त होते हैं; दूसरे प्रकारके लोग भक्तिसे प्रवृत्त होते हैं। भक्त लोग ऐहिक लाभ-हानिकी कुछ भी कीमत नहीं समझते; परमेश्वरकी आज्ञाका पालन करके उसके अधिकाधिक निकट जाना, यही उनका ध्येय रहता है। मास्टरकी मर्जी जिसपर हो, वह लडका क्लासमें किसतरह घमंडसे रहता है? साहबकी मर्जी जिसपर हो, वह मुंशी कैसे आनंदमें रहता है? तब परमेश्वरसरीखा अनन्त सामर्थ्यका पुतला

जिसको रखवाला मिल गया, वह कितने उत्साहसे काम करेगा?

आम्ही वैकुंठवासी आलों याचि काजासाठीं।
झाडूं संतांचे मारग आडरानीं शिरलें जग ॥

अर्थः—तुकाराम महाराज कहते हैं- "हम वैकुंठके निवासी यहां इसी कार्यके लिये आये हैं। संतोंका मार्ग झाडेंगे। संसार जंगलमें घुसता है।" इस झाड-बहारीके काममें उन्होंने कसर नहीं रखी। 'तुका म्हणे ऐसे संत। जिते घालावे मातींत।' (तुकाराम कहते हैं "ऐसे संतोंको मिट्टीमें जीवित ही पूर देना चाहिये।") "नाठाळाच्या काठी देऊं माथां" (बदमाषके सिरमें लट्ठ मारेंगे) ऐसे उत्साहयुक्त उद्गार पढनेसे कल्पना कर सकते हैं कि यह काम कैसे उत्साहसे किया है। उन्होंने यह काम नरकके भयसे अथवा स्वर्गकी आशासे नहीं किया; किंतु भगवान् पर असीम प्रेम होनेके कारण किया। इससे सिद्ध होता है कि परमेश्वर पर विश्वास अथवा आस्तिकताका उत्साहपूर्वक कर्म करनेमें अच्छा उपयोग होता है। वह न हो तो वैसा कर्म न होगा। प्रस्तुत लेखकके पास भक्तिमार्गके अनुकूल एक भी गुण नहीं। तथापि उसे पूर्ण विश्वास है कि सच्चा भक्तिमार्गी पूर्ण उत्साहसे कार्य कर सकेगा, तो 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य,' वह सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत लेखक यह नहीं कर सकता कि ज्ञानमार्गी सिद्ध पुरुष कर्म करनेको प्रवृत्त होगा या नहीं; परंतु इसमें संदेह नहीं कि यदि वह प्रवृत्त हुवा तो वह पूर्ण उत्साहसे कर्म करेगा; क्यों कि यद्यपि वह ईश्वरका आराधन करके उसके प्रेमसे प्रवृत्त न हो, तथापि उसका आत्मिक सामर्थ्य बडा रहता है। जैसे लखपति साहुकारको दो पैसे गिर जानेका दुःख नहीं होता, इसीतरह जिसने ब्रह्मानंदका आस्वाद लिया है, उसपर बाह्य सुख-दुःखोंका कोई परिणाम नहीं होता। सामान्य मनुष्यको कार्यमें सिद्धि मिलनेसे हर्षातिरेक होता है; अथवा अपयश मिलनेसे दुःख होता है। इन दोनों प्रसंगोंमें उसके मनकी समता बिगड जाती है। कार्यसिद्धि होनेसे थोडे समय तक उसका उत्साह बढा हुआ मालूम होता है, तथापि साथही हर्षातिरेकके कारण उसका विवेक मलिन हुए विना नहीं रहता; और आखिर गलतियां होकर मुख्य ध्येय एकतरफ रह जाता है और मनकी समता कायम नहीं रहती। अपयश मिलनेपर पूछनाही क्या है दुःखका दाव पडनेसे चलती हुई कर्तव्यकी गाडी रूक जाती है। ज्ञानी पुरुषकी यह अवस्था नहीं होती। उसके अंतःकरणमें आनंदका जल इतना अमर्याद रहता है कि कार्यकी सिद्धिसे अथवा असिद्धिसे उसमें खलबल हो नहीं सकती।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
गी० ६।१८

यह श्लोक बहुतही मार्मिक है। केवल बुद्धिग्राह्य जो आत्यन्तिक सुख है, उसका अनुभव जहां मिल गया, वहां बाह्य विषयोंका महत्त्व कम होता है और उनके लाभ या अलाभसे सुख या दुःख-हर्ष विषाद-कुछ नहीं होता; इससे ज्ञानमार्गी सिद्ध पुरुषका कर्तव्यप्रवाह अप्रतिबंध चलता रहता है।

भक्तिमार्गी तथा ज्ञानमार्गी सिद्धोंकी जो स्थिति है, वही स्थिति उन मार्गोंके साधकोंकी भी है। वेभी अपनी अपनी शक्तिके अनुसार कर्म करते हैं, और उनका वह कर्म भी 'धृत्युत्साह-समन्वित' होता है। इस तरह यह देख लिया कि भक्तिमार्गियों तथा ज्ञानमार्गियोंकी स्थिति कैसी रहती है। यह भी देख लिया कि उनसे उत्साहयुक्त कर्म हो सकते हैं। अब इस बातका खुलासा हो जाता है कि गीताने आस्तिकतापर जोर क्यों दिया। जगत्का कोई नियन्ता नहीं अथवा दृश्यमान जगत्के बाहर कोई चैतन्यमय तत्त्व नहीं, ऐसा माननेवाला मनुष्य भी अच्छे कर्म कर सकेगा-यह भगवान्की धारणा न होगी। इसलिये उन्होंने

नास्तिकोंकी गणना आसुरी लोगोंमें की होगी।

नास्तिक मनुष्योंका सत्कर्म क्या है ?

कई नास्तिक लोग सत्कर्मी देखनेमें आते हैं, उनकी क्या राह है ? ऐसा कोई प्रश्न करेगा। उसको उत्तर देनेकी कोई बडी आवश्यकता नहीं है; क्यों कि इस समय प्रस्तुत लेखक अपने पास का कोई विधान नहीं करता, किंतु गीताका अभिप्राय व्यक्त करता है। तथापि इसका भी उत्तर देना अयोग्य न होगा; इसलिये इस प्रश्नका उत्तर देखें। गीताका यह मत बतला दिया गया है कि बाह्य फलोंसे कर्तव्य अकर्तव्यका निर्णय करना चाहिये। यह भी बतला दिया गया कि बाह्य फलके मायने अधिभौतिक ऐश्वर्य नहीं, किंतु आध्यात्मिक संपत्ति ही है। साक्षात् आत्मा यद्यपि अव्यक्त है, तथापि—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

यह सुखदुःखकी व्याख्या प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

यद्यत् परवशं दुःखं यद्यदात्मवशं सुखम्।

इस वचनका भी अनुभव प्रत्यक्ष ले सकते हैं। आत्माको छोड किसी दूसरे विषयसे जो सुख होता है, उससे सच्चा समाधान नहीं होता इस लिये मनुष्यको उनसे समाधान मिलना असंभाव्य है। अंतःकरण शुद्ध होनेसेही समाधान मिलता है। यह अंतःकरणशुद्धि भी जिसकी वही पहचान सकता है। हमने जो ऊपर कहा है कि बाह्य फलोंका विचार करके कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करना चाहिये, उसका भी मतलब इतनाही है कि आध्यात्मिक उन्नतिके लिये अति आवश्यक अंतःकरण शुद्धिरूपी बाह्य फलका विचार करना चाहिये। नास्तिक मनुष्यको इस अध्यात्मिक शुद्धिकी कोई कीमत नहीं है, तब वह सत्कर्म और असत्कर्मका निर्णय कैसे करेगा ? जिसको दृश्य जगत्के बाहर देखनेकी इच्छा नहीं, उसको वैषयिक आनंदके सिवाय दूसरे किसी आनंद की कल्पना आ नहीं सकती। ऐसी अवस्थामें उसकी दृष्टिसे, वैषयिक आनंद जिससे मिले वह अच्छा; और बाकी बुरा ठहरता है, और उसीके अनुसार वह आचरण करेगा! परोपकार, दया, तप, दम इत्यादिका महत्त्व उसको प्रतीत हो नहीं सकता। जिसको केवल अपने इंद्रियोंकाही महत्त्व है, वह कर्मोंका सदसत्त्व अपने वैयक्तिक सुखदुःखोंही परसे ठहरावेगा। उसमें दान, दया इत्यादिका अंतर्भाव कैसे होगा, और वह सत्कर्मी कैसे होगा ? इस अडचनपर ख्याल करनेसे मालूम होगा कि सच्चा नास्तिक सत्कर्मी हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध होता है, कि मनुष्यकी सच्ची उन्नतिको नास्तिकता इस तरहसे बाधक होनेके कारणही भगवान्ने नास्तिकोंकी गणना मानवी संस्कृतिका घात करनेवाली आसुरी संस्कृतिके लोगोंमें की होगी। नास्तिकता इस प्रकार सत्कर्मकी विरोधक है, परंतु कई नास्तिक लोग सत्कर्मी नजर आते हैं, उनकी क्या राह है ?

इसका उत्तर यही है कि वह सच्चा नास्तिक नहीं है! अनेक लोगोंको यह उत्तर नहीं जंचेगा। जहां मनुष्य साफ कह रहा है, कि मैं ईश्वर वगैरः कुछ नहीं मानता, वहां यह कहना कि वह नास्तिक नहीं है, केवल धृष्टता मालूम होती है। परंतु थोडा विचार करनेसे हमारा कहना ही योग्य ठहराया जायगा। खूब विचार करें कि जो लोग अपनेको आस्तिक कहलाते हैं, क्या वे सचमुचमें आस्तिक होते हैं ? जिसको यह बात जंच गई है कि सर्वव्यापी सर्वद्रष्टा ईश्वर जगत्का आधार है, क्या संभव है कि वह एकांतमेंभी पाप करेगा ? ऐसा है तो आस्तिकता की डींग मारनेवाले अनेक महाशय क्यों पापके कीचडमें पडे हुए नजर आते हैं ? कारण यही है कि वे सच्चे आस्तिक नहीं किंतु आस्तिकताका ढोंग करनेवाले दांभिक हैं। अपने अपराधोंको छिपानेके लिये आस्तिकताका आवरण लिये रहते हैं। परंतु इस आवरणसे उनका सच्चा रूप नहीं पलटता। इस प्रकार जैसे आस्तिक नामधारी आस्तिक रहते हैं, वैसेही नास्तिकोंमें

भी नामधारी नास्तिकोंकी बहुतसी भरती रहती है। वे अपनेको नास्तिक जरूर कहलाते हैं, परन्तु अंतरंगमें सच्चे सच्चे नास्तिक नहीं हैं।

नास्तिक किसको कहना चाहिये ?

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' ऐसा जिनका मत है, वेही नास्तिक हैं। जिनके मतसे जगत् असत्य है, उसका आधार कोई सत्य वस्तु नहीं है और जगत्का सत्ताधारी कोई परमेश्वर नहीं है, वेही लोग सचमुचमें नास्तिक हैं। यह बात संभाव्य नहीं कि ऐसा असल नास्तिक दूसरेका दुःख देखकर पिघल जाय। वस्तुतः नास्तिक वही रहता है, कि जिसकी दृष्टि देहात्मवादके बाहर नहीं गई, और यह बात अशक्य है, कि ऐसा जातिवन्त नास्तिक अपने शरीरको कष्ट देकर दूसरेकी उन्नतिके हेतु स्वार्थत्याग करे।

ऐसा है तो जगत्की उन्नतिके लिये परिश्रम करनेवाले महानुभाव अपनेको नास्तिक क्यों कहलाते है? प्रस्तुत लेखक नहीं समझता, कि इस प्रश्नका थोडेमें उत्तर दिया जा सकेगा। 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' ऐसा जो उपनिषदमें कहा है, वही ईश्वरके ज्ञानको भी लागू होता है। परोपकारार्थ परिश्रम करनेवाले नामधारी नास्तिकोंको ईश्वरी तेजका अल्प अंश दृग्गोचर हुवाही रहता है; परंतु इसका ज्ञान उनको इतना अस्पष्ट रहता है कि, स्वतःकी तार्किक बुद्धिसे उसका स्पष्टीकरण वे करही नहीं सकते! इस प्रकार यद्यपि उनके अबोधात्मक (Sub-Conscious mind) मनको परमेश्वरका दर्शन प्राप्त हुवा रहता है, तथापि बोधात्मक मनका उससे संबंध न रहनेके कारण उनको यह भास होता है कि हम नास्तिक हैं; परंतु वस्तुतः उनकी वैसी स्थिति नहीं रहती। प्रस्तुत लेखकको यह धारणा है कि ईश्वरी तेजका अल्पभी अनुभव उनके हृदयमें यदि संचित न रहा, तो लोगोंका अपवाद और विरोध सहन करके जनता के लिये उपयोगी कार्य कर ही न सकेंगे। इस मुद्देका अधिक विस्तार किये विना इस लेखकका कहना पूरा ध्यानमें न आवेगा। परंतु विस्तारभयसे इतने ही पर इस मुद्देकी समाप्ति करनी पडती है।

समाजसत्तावाद और १६ वां अध्याय।

कृष्णका नाम लेतेही कंस जितना उछलता था, उतनाही किंबहुना उससे भी अधिक धर्मपर उखडनेवाला एक वर्ग है। उसकी दृष्टिसे सबही धर्म और धर्मग्रंथ त्याज्य ठहराये गए हैं। प्रस्तुत लेखकको इस मतका संपूर्ण आकलन नहीं है, इसलिये आज इस मतपर जवाब दिया नहीं जा सकता। तथापि उस मतको ग्राह्य होनेवाली शिक्षणपद्धतिमें यह तत्त्व सिखलाना आवश्यक होगा कि "वैय्यक्तिक सुखकी अपेक्षा सामुदायिक सुख श्रेष्ठ होनेसे सामुदायिक सुखकी अभिवृद्धिके लिये वैयक्तिक कामक्रोधलोभोंका त्याग करना चाहिये।" और यदि यह तत्त्व चर्चात्मक पद्धतिसे साबित करना हो, तो ऐसे प्रश्न उठेंगे कि मानव की पूर्णावस्था कौनसी, और समाजकी कौनसी? और अंतमें गीतोक्त स्थितप्रज्ञावस्था ही व्यक्तिका ध्येय निःसंदेह ठहराया जायगा और उसका मार्ग दैवी संपत्ति ही ठहराई जायगी। इसलिये समाजसत्तावादके अनुसारभी सोलहवां अध्याय ही उत्कर्षमार्गप्रदीप ठहरेगा!

उत्कर्षका गीतोक्त राजमार्ग।

इस प्रकार चाहे जितना विचार कीजिये, अंतमें गीताका १६ वां अध्याय ही सन्मार्गप्रदीप ठहरता है। सांप्रत यह कहा जाता है कि अच्छे शिक्षणसे तरुण पीढीका सुधार होगा। परंतु विशिष्ट ध्येय स्थिर न हुवा हो, तो यह निर्णय कैसे होगा कि अच्छा शिक्षण कौनसा और बुरा कौनसा? तात्पर्य, किसी दृष्टिसे देखा जाय, आखिर दैवी संपत्तिका अनुसरण करना ही उत्कर्षका राजमार्ग सिद्ध होता है। ऐसे राजमार्गका अनुसरण करनेकी किसकी इच्छा न होगी? ईश्वरकी कृपासे इस श्रेष्ठ राजमार्गका परिशीलन अधिकाधिक होकर संसारको सुख और शांतिका लाभ हो, ऐसी इच्छा प्रदर्शित करके पाठकोंकी रूखसत लेते हैं।

भागवत कर्म की नीति ।

गीतोक्त यज्ञका सच्चा अर्थ वही है जो हमने पिछले प्रकरणमें बतलाया है। इसका पूर्ण अर्थ समझनेके लिये पुरुषोत्तम तत्त्वका ज्ञान आवश्यक है। अभीतक गीतामें यह तत्त्व समझाया नहीं गया। गीताके बाकी सब अध्ययोंके बादही यह तत्त्व स्पष्ट करके समझाया गया है; और इसीलिये गीतामें क्रमशः प्रगट होनेवाले शिक्षणनीतिके विरुद्ध चलकर अब हमें उस मुख्य तत्त्वका उपक्रम करना पडता है। उपस्थित गीता गुरूने पुरुषोत्तम संबंधी केवल संकेत करके अचल ब्रह्मसे उसका जो संबंध है वह अस्पष्ट रीतिसे निर्दिष्ट किया है। हमारा पहिला कार्य उस ब्रह्ममें संपूर्ण शांति और समता की स्थिति प्राप्त करना, अर्थात् ब्राह्मी स्थिति संपादन करना है। अभीतक गीतागुरूने मैं, कृष्ण, नारायण, अवतार इत्यादि शब्दोंसे स्वतःका परिचय कराया है; स्पष्ट भाषामें पुरुषोत्तमका उल्लेख नहीं किया। गीतामें कहा है कि व्यक्तित्वका प्रकाश केवल निर्विकार ब्रह्महीमें है, उसको उपलब्ध करके व्यष्टिगत व्यक्तित्वका अतिक्रमण करना चाहिये; और इस उपायसे—जो निराकार, शांत, ब्रह्मरूपसे प्रकृतिके अतीत है, और असंख्य भूतोंके रूपसे प्रकृतिमें विराजमान और कर्मशील है-उस नामरूपातीत महापुरुषको प्राप्त कर लेना चाहिये। यह समझमें आनेके लिये गीतागुरूने 'आत्मन्यथो मयि' ऐसा भाषाप्रयोग किया है।

"येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि"

"जिस तत्त्वज्ञानके द्वारा संपूर्ण भूतोंको आत्मामें और तदनंतर मुझमें तुम देखोगे"

हमें अपने सर्व कनिष्ठ ऐसे स्वतंत्र व्यक्तित्वका उस निराकार ब्रह्ममें लय करना चाहिये; इससे अंतमें- जो स्वतंत्र व्यक्ति नहीं, तथापि जिसने सकल व्यक्तिका रूप धारण किया है- उस उत्तम पुरुषसे हम संयुक्त होवें।

त्रिगुणोंके अधीन रहनेवाली अपरा प्रकृतिका अतिक्रमण करके और त्रिगुणातीत निष्क्रिय पुरुषमें आत्मा विशिष्ट करके हम अखीरमें अनादि अनंत भगवान्की परा प्रकृतिमें स्थित हो सकते हैं। उस समय प्रकृतिके द्वारा कार्य किया गया तो भी त्रिगुणोंके द्वारा बद्ध होना नहीं पडता। तब अक्षर पुरुषका नैष्कर्म्य [Inner activeless-ness] प्राप्त होता है; और प्रकृतिको उसका कर्म करनेके लिये छोडकर, जिस स्थितिमें कर्म करके भी किसी कर्मसे बद्ध होना नहीं पडता, ऐसे उस परमोच्च ईश्वरीय प्रभुत्वको हम प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये यहां नारायणरूपसे, कृष्णरूपसे अवतीर्ण-पुरुषोत्तमकी धारणा ही मूल वस्तु है। इस धारणा के विना अपरा प्रकृतिसे छूटकर ब्राह्मी स्थिति-संपादन करनेसे जो मुक्ति मिलती है उससे कर्म-त्याग और सांसारिक औदासीन्य अपरिहार्य हैं। परन्तु पुरुषोत्तमकी धारणासे इस प्रकार अपरा प्रकृतिसे मुक्त होनेका फल यह है कि दिव्य जीवन-के स्वातंत्र्यमें रहकर संपूर्ण कर्म कर सकते हैं। निष्क्रिय और शांत ब्रह्मका आदर्श रखनेसे संसार का और सब कर्मोंका त्याग करना जरूर है। यदि तुम भगवान्को, ईश्वरको, पुरुषोत्तमको आदर्श मानोगे, यदि तुम उसीको अंतर्बाह्य कर्मोंका आ-ध्यात्मिक कारण और हेतु समझोगे, तो तुम संसार तथा सांसारिक कर्मोंपर विजय प्राप्त करोगे और वे उच्च भगवद्भक्तिसे परिपूर्ण होंगे। [संसार कारागृह नहीं, किंतु समृद्धिशाली राज्य-(राज्यम् समृद्धम्)-होता है। दुर्दमनीय 'अहं' का बंधन नष्ट करके, समस्त प्रतिबद्धक कामनाओंको

जीतकर, हमारे वैयक्तिक भोगैश्वर्यका कारागृह भग्न करके आध्यात्मिक जीवनके लिये हम यह समृद्ध राज्य जीत लेंगे। तब मुक्त विश्वगत आत्मा स्वराट्, सम्राट् होगा।

इस प्रकार संपूर्णतया स्वार्थ और आसक्तिका त्याग करके, कामनाशून्य होकर, जयापजय और लाभालाभ समान मानकर और यज्ञरूपसे कर्म करके जनकादि कर्मयोगीयोंने प्राचीन कालमें सिद्धि प्राप्त की है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

इसी प्रकारसे, अर्थात् कामनाशून्य बुद्धिसेही मुक्ति और सिद्धिकी प्राप्ति होनेपर भी कर्म किया जाता है और करना चाहिये- उस स्थितिमें उदार भगवद्भावनासे आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी शांत, उच्च प्रकृतिसे कर्म करना चाहिये।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गी० ३-२०-२२)

"और नहीं तो लोकसंग्रहके लिये कर्मका अनुष्ठान करना तुम्हारा कर्तव्य है। श्रेष्ठ व्यक्ति जिस प्रकार कर्मानुष्ठान करते हैं वैसेही सर्व सामान्य व्यक्ति करते हैं। श्रेष्ठ लोग कर्मका जो आदर्श निर्माण करते हैं, उसीका अनुकरण सर्वसाधारण लोगोंमें किया जाता है। हे पार्थ त्रैलोक्यमें मुझे कोई कर्तव्य नहीं अथवा यह भी नहीं कि कुछ प्राप्त करना है जो मुझे प्राप्त न हुवा हो; तथापि मैं कर्तव्य करताही हूं। 'वर्त एव च कर्मणि' यहां 'एव' शब्दसे मालूम होगा कि, जैसा संन्यासी समझते हैं, कर्मत्याग आवश्यक नहीं, किंतु कर्म करना ही भगवान् योग्य समझते हैं और वैसा करते रहते हैं। क्यों कि—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

(गी० ३।२३ से २६)

"यदि मैं आलस्य छोडकर कर्मप्रवृत्त न होऊंगा, तो मनुष्यगण सर्वतोपरि मेरे ही मार्गका अनुकरण करेंगे। मैं यदि कर्म न करूं, तो सब लोग नष्ट होंगे और मैं उच्छृंखलता का निर्माता और प्रजाका संहारकर्ता होऊंगा। अज्ञ व्यक्ति जैसे आसक्तिपूर्वक कर्म करते हैं वैसेही ज्ञानी व्यक्तियोंका कर्तव्य है कि वे अनासक्त होकर लोकसंग्रहार्थ कर्म करें। ज्ञानियोंको चाहिये कि वे कर्ममें आसक्त रहनेवाले अज्ञ व्यक्तियोंका बुद्धिभेद न करें। उनको चाहिये कि वे ज्ञानपूर्वक और योगस्थ होकर स्वतः सब कर्म करें और अज्ञ लोगोंसे कर्म करावें।" इन सात श्लोकोंके समान बहुमोल श्लोक गीतामें बहुतही थोडे हैं।

तथापि हमें स्पष्ट रीतिसे यह समझ लेना जरूर है, कि इन श्लोकोंका अर्थ आधुनिक कर्मप्रवण नीतिके अनुसार करनेसे काम न होगा। यह नीति उच्च आध्यात्मिक ध्येय की अपेक्षा वर्तमान जागतिक कार्यावलिमें ही अधिक मग्न है। समाज सेवा, देशसेवा, मानवजातिका कल्याण इत्यादि जो सैंकडों आदर्श और स्वप्न आधुनिक मनको आकर्षित करते हैं, उन सब आदर्शोंकी ये श्लोक दार्शनिक और आध्यात्मिक नींव है, ऐसा समझ लेनेसे काम न होगा। इस जगह परोपकारका कोई सयुक्तिक नैतिक नियम नहीं बतलाया; किंतु जो जागतिक जीवसमूह भगवान्में वास्तव्य करता है, और भगवान् जिसमें वास्तव्य करते हैं, उससे आध्यात्मिक ऐक्य यहां बतलाया गया है। व्यक्ति-को समाजके अथवा मानवजातिके आधीन करनेका-समष्टिगत मानवकी वेदीपर वैयक्तिक स्वार्थका बलिदान करनेका-उपदेश यहां नहीं किया गया, किंतु भगवान्में व्यक्तित्वका सार्थक

करनेका—सर्वगत भगवान्‌की सत्य वेदीपर 'अहं' का बलिदान करनेका-उपदेश किया है। आधुनिक मानव जिन अनुभवों तथा कल्पनाओंमें लिपटा हुआ है, उनसे गीताका शिक्षण उच्च श्रेणीका है। सांप्रत मनुष्य स्वार्थकी शृंखला तोडनेका प्रयत्न करता है, तथापि सांसारिक बुद्धि और नीतिकी ओर जितनी उसकी दृष्टि रहती है, उतनी आध्यात्मिकता की ओर नहीं। इसमें बिलकुल संदेह नहीं कि देशप्रेम, विश्वप्रेम, समाज सेवा, समष्टिकी उपासना, मानवजाति सेवारूपी धर्म-ये सब आदर्श हमें वैयक्तिक, सांसारिक, सामाजिक जातीय स्वार्थसे निवृत्त करते हैं, और परजीवनसे स्वीय जीवनकी एकात्मता का अनुभव लेनेके लिये उक्त आदर्श उत्तम उपाय हैं; तथापि यह एकत्वानुभूति सर्वांगसुंदर और संपूर्ण नहीं हो सकती। स्वार्थपरताके बाद यह दूसरी सिढ़ी है। परंतु इससे भी उच्च ऐसी एक तीसरी अवस्थाकी बात गीता कहती है। द्वितीयावस्था केवल उस उच्च अवस्थामें आरूढ होनेका अंशतः उपाय है।

भारतवर्षमें समाजनीति व्यक्तिको समाजके आधीन करना चाहती है। परंतु व्यक्तिको श्रेष्ठ बनाना सर्वकाल भारतीय धर्मविचारका उच्च आदर्श रहा है। आध्यात्मिक अर्थसे व्यक्तिको द्रष्टा और राजा बनाकर मानवजातिकी उन्नति करना प्राचीन ऋषिगणोंका ध्येय तथा आदर्श था। संघबद्ध मानव समाजमें व्यक्तित्वका लोप न होने देना, और स्वतःको उच्च, महान्, विस्तृत करके भगवच्चैतन्य की प्राप्ति करना-यही उनका आदर्श था। गीता इस जगह अतिमानव, श्रेष्ठ मानव, दिव्य मानवके संबंधमें जो कहती है, उससे नीत्शेकी प्रतिपादित अतिमानव की कल्पना भिन्न है। नीत्शेका अतिमानवत्व किसी विशिष्ट गुणका, विशिष्ट शक्तिका आत्यंतिक विकास है। गीताका अतिमानव कोई असुर अथवा दानव नहीं है। सर्वातीत और सार्वभौमिक भागवत सत्तामें अखिल व्यक्तित्वका लय करके, अर्थात् क्षुद्र 'अहं' का लोप करके, बृहत्तर 'अहं' के लोभसे जो भागवत अवस्था प्राप्त होती है, उस अवस्थाको पहुंचे हुए मनुष्यको गीता 'अतिमानव' कहती है। और इसी अवस्थाकी प्राप्तिके नियम गीतामें बतलाये गए हैं।

त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिसे स्वतःको मुक्त करके भगवान्‌से सायुज्य, सालोक्य और सादृश्य (अथवा साधर्म्य) का लाभ-मद्भावमागतः-यही योगका उद्देश्य है। तथापि अर्जुनका प्रश्न यह है कि, जब यह उद्देश सिद्ध हो जाता है, मनुष्य जब ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करके जगत्‌को झूठे अहंकारकी दृष्टिसे न देखकर सर्वभूतोंको आत्मामें, भगवानमें, और आत्माको, भगवान्‌को सर्वभूतोंमें देखते हुए जो कर्म होता है, उसका स्वरूप क्या है और वह किस उद्देशसे किया जाता है?

"स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसी बोलती है, कैसी रहती है, कैसी चलती है?" इस प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने दिया जरूर; परंतु जिस दृष्टिसे अर्जुनने प्रश्न किया उस दृष्टिके अनुकूल उत्तर भगवान्‌से नहीं मिला। मानसिक बुद्धि, आवेग और नीतिके स्तरमें जो वैयक्तिक कामना अथवा वासना रहती है, वह कभी भी इस प्रकार कर्मकी प्रवर्तक नहीं हो सकती; क्यों कि वह वासना परित्यक्त हुई है, किंबहुना परोपकार प्रभृति नैतिक वासनाएं भी परित्यक्त होंगी; कारण यह कि जो मुक्त है वह पापपुण्योंके भेदका अतिक्रमण करता है और पापपुण्यके परे रहनेवाली दिव्य पवित्रतामें वास्तव्य करता है।

इस अवस्थामें आत्मविकास संपूर्ण और सिद्ध रहनेसे, पूर्ण आत्मविकासके लिये निःस्वार्थबुद्धिसे कर्म करनेकी जो आध्यात्मिक पुकार होती है उसके वशमें आकर भी इस अवस्थामें कर्म न होगा। कर्म जो हो सकेगा वह केवल लोकसंग्रहके लिये। भागवत आदर्शके रुखसे मानव समुदायने जो यात्रा शुरू की है, वह अक्षुण्ण रहनी चाहिये। बुद्धिके संशयसे और घुटालोंसे सबका रक्षण करना चाहिये। अज्ञानांधकारमें मनुष्य यहां वहां टटोलता हुआ चलता है। उसके साम्हने श्रेष्ठ

व्यक्तिओंके आचरणका आदर्श न हो तो सहज ही वह नष्ट होगा। श्रेष्ठ अर्थात् सामान्य मनुष्योंसे-अग्रगामी स्वभावतः मनुष्यके नेतृस्थानीय होते हैं; क्यों कि यही नेता यह बतला सकेंगे कि मानव जातिको किस आदर्शका अनुकरण करना चाहिये और किस मार्गसे जाना चाहिये।

अपना कहना इससे भी अधिक असंदिग्ध और पूर्ण रीतिसे व्यक्त करनेके हेतु भगवान्ने स्वतःका उदाहरण स्वतःका आदर्श अर्जुनके सन्मुख रखा है। भगवान् कहते हैं "मैं जिस मार्गमें हूं उसीका सब लोग अनुकरण करते हैं। तमको भी कर्म करना ही चाहिये। जैसे मैं करता हूं वैसे तुमको भी वह करना ही चाहिये। मैं कर्मकी आवश्यकताके परे हूं; क्यों कि कर्म करके मुझे कुछ हासिल नहीं करना। मैं भगवान् हूं, जगतकी सकल वस्तु, संपूर्ण जीव मेरेही हैं; मैं जगत्में भी हूं और जगत्के बाहर भी हूं। इस त्रिभुवनमें किसी वस्तुके लिये और किसीपर मैं अवलंबित नहीं हूं; तथापि मैं कर्म करता हूं। इसी भावनासे और यही आदर्श साम्हने रखकर तुम्हें भी कर्म करना चाहिये। मैं ही मार्ग, मैं ही नियम, मैंही आदर्श और मैंही प्राप्तव्य स्थान। मनुष्य जिस मार्गसे जानेको प्रवृत्त होता है, वह मैंही तयार करता हूं। ये सब कर्म मैं विशाल और उदार भावनासे करता हूं (अंशतः दृश्यतासे और अंशतः अदृश्यतासे करता हूं।) वस्तुतः मेरी कर्म परंपरा मनुष्यकी समझमें नहीं आती। जब तुम्हें यह सब समझेगा, जब तुम दिव्य मानव हो जाओगे, तब वैयक्तिक दृष्ट्या तुम भागवत शक्ति होगे, और अवताररूपसे जैसा मैं हूं वैसे तुम मनुष्य होते हुए भी भगवान्का उदाहरण होगे! बहुजनसमाज अज्ञानी और भगवद्द्रष्टा ज्ञानी रहता है; परन्तु इस ज्ञानीको उचित नहीं कि वह विपत्तिजनक उदाहरण बतलाकार वह लोगोंको संशयित करे। स्वयं ऊर्ध्वस्थित हैं इसलिये संसारके कर्मोंका उसे त्याग न करना चाहिये। क्रमविकासकी जो सीढियां और स्तर मैंने निश्चित किये हैं, उसमें उसको घुटाल न करना चाहिये। अपरा प्रकृतिसे मनुष्य परा प्रकृतिमें किस प्रकार उत्थित होगा, अर्थात् उसको भगवत्प्राप्ति किस रीतिसे होगी, इसका हिसाब करकेही मैंने सब मानवी कर्मकी व्यवस्था की है। भगवत्ज्ञानीको सब मानवीय कर्ममेंही रहना चाहिये। ज्ञानीका वैयक्तिक तथा सामाजिक कार्य रहेगा, परन्तु वह स्वतःके लिये नहीं किंतु भगवान्के लिये होगा। उसको यह उद्देश्य रखकर सब कर्म करना चाहिये कि "मैंने जिसतरह अपनेमें भगवान्की उपलब्धि करली उसीतरह वह सबको प्राप्त हो।" बाह्यतः उसके और अन्योंके कार्योंमें विशेष अंतर न रहेगा। शिक्षादान ज्ञानचर्चा, युद्ध, राजशासन इत्यादि काम जैसे मनुष्य करता है, वैसे ज्ञानी भी करता है; परन्तु अन्योंकी अपेक्षा उसकी मनोवृत्ति निराली रहती है और रहनी चाहिये। इस मनोभावहीमें इस प्रकारकी शक्ति है कि जिससे सब लोग आकर्षित होकर क्रमशः आत्मोन्नतिके मार्गमें अग्रसर होते हैं।"

भगवान्ने यहां जो स्वतःका उदाहरण दिया है, उसका अर्थ अत्यन्त गहन है। गीताके दिव्य कर्मका मूलतत्त्व इस उदाहरणके द्वारा प्रगट हुआ है। स्वतःको उन्नत करके जिसने दिव्य प्रकृतिका लाभ किया, वही मुक्त है। ऐसे मुक्तात्माका कर्म दिव्य प्रकृतिके अनुसारही होगा! परन्तु दिव्य प्रकृति कौनसी? क्योंकि दिव्य प्रकृति केवल अचल, अक्षर, निष्क्रिय आत्माकी प्रकृति नहीं, अगर वैसी हो तो मुक्त मानवको अचल, निष्क्रिय होना पडेगा। दूसरे पक्षमें क्षर, बहु, नामरूपात्मक प्रकृतिके आधीन रहनेवाली प्रकृतिभी दिव्य प्रकृतिका स्वरूप नहीं, क्योंकि केवल इस प्रकारकी प्रकृति मनुष्यको नामरूपाधीन त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृतिके स्वाधीन करेगी– पुरुषोत्तमकी प्रकृतिमें ये दोनों बातें हैं, और वही दिव्य प्रकृति है। उसी श्रेष्ठ भागवत सत्तामें दो भिन्न प्रकृतियोंका समन्वय हुआ है और वही 'उत्तम रहस्य' है। प्रकृतिसे बद्ध हम लोग जैसे व्यक्तिशः कर्म करते हैं, वैसे वह नहीं करता। क्योंकि भगवान् अपनी

शक्ति, माया, प्रकृतिके द्वारा कार्य करते हैं तथापि इस प्रकृतिसे बद्ध न रहनेके कारण इन सबके परे हैं। यह प्रकृति कर्मका नियम और संस्कार उत्पन्न करती है, उसके बाहर स्वतः जानेको वे असमर्थ नहीं रहते। प्राण, मन और शरीर कर्मसे अपनेको अलग रखनेमें हम जैसे असमर्थ रहते हैं, वैसे भगवान् अक्षम नहीं रहते; भगवान् कर्ता रहते हुए कर्म नहीं करते।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४-१४
न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
४-१४

"मैं इसका (चातुर्वर्ण्यका) कर्ता हूं, तथापि मुझे अव्यय, अकर्ता समझो! कर्मफलकी मुझे इच्छा नहीं और कर्म मुझे आसक्त नहीं कर सकते" ऐसा है तोभी भगवान् निष्क्रिय साक्षी नहीं हैं; क्योंकि वे अपनी शक्तिके द्वारा कर्म करते हैं। संसारमें प्रत्येक अणुरेणु उसीकी सत्तासे, उसके चैतन्यसे भरा हुवा है, और उसीके ज्ञानसे निर्माण हुवा है और उसीकी इच्छासे चलता है।

सिवाय इसके गुणशून्य होकरभी सब गुणोंका अधिकारी (निर्गुणोगुणी) ऐसी जो श्रेष्ठ सत्ता है, वह वही है। प्रकृतिके किसीभी गुणों या कर्मों के द्वारा वह बद्ध नहीं है। हमारे व्यक्तित्वके समान वह केवल गुणसमूहोंकी समष्टि ही नहीं है। देह, प्राण, मन और चित्तके स्वरूपानुसार होनेवाली क्रियाओंसे वह बद्ध नहीं है; परंतु सर्व गुणकर्मोंका मूल वही है और अपनी इच्छानुसार विकास करनेको समर्थ है। उससे समस्त भूतमात्रकी उत्पत्ति हुई है और वह अनंत, अपरिमित और अनिर्वचनीय है। इन सबके द्वारा वह विश्वकी सीमामें और बंधनोंमें प्रगट हुआ है- ऐसा प्रतीत होता है। तथापि वह श्रेष्ठ पुरुष, एकमात्र, आदि, चैतन्यमय, सत् और पूर्ण व्यक्ति है। सब प्रकारके वैयक्तिक और निकट मानवी संबंध भी उसमें संभवनीय हैं। वह बंधु, सखा, प्रणयी, खिलाडी मार्गदर्शक गुरू, ज्ञानदाता प्रभु इत्यादि सब रहनेपर भी मुक्त और स्वतंत्र है। भगवत्प्रकृतिकी प्राप्तिमें मनुष्य जितना समर्थ होता है, उतना वह भी इस प्रकारसे होता है। व्यक्ति रहनेपर भी व्यक्तित्वके पार जा सकता है, मनुष्यसे निकट संबंध रखते हुए गुणकर्मोंके द्वारा बद्ध नहीं होता, किसी धर्मका अनुयायी दिखता, परंतु वस्तुतः किसी भी धर्मके द्वारा वह बद्ध नहीं रहता। कर्मप्रवण मनुष्यका कर्मचांचल्य अथवा शांत साधुकी कर्महीनता, कर्मकर्ताका प्रबल व्यक्तित्व अथवा दार्शनिक पंडितकी उदासीन व्यक्तित्वहीन सत्ता— इनमेंसे संपूर्ण भागवत आदर्श कोइ भी नहीं है। संसारी मनुष्यका तथा संसारत्यागी संन्यासीका ऐसे ये दो विरोधी आदर्श हैं। एक क्षर कर्ममें मग्न और एक अक्षर शांतिमें पूर्णतया वास्तव्य करनेके लिये परिश्रम करनेवाला। परंतु पुरुषोत्तमकी प्रकृतिने इस विरोधके परे संपूर्ण भागवत संभावनाका समन्वय किया है और इसी समन्वयसे निर्माण हुवा जो आदर्श वह पूर्ण भागवत है।

सर्वसामान्य कर्मशील मनुष्योंको त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी क्रीडापर, चित्तमनादि देहकी मानवी क्रीडापर जो संस्थापित नहीं, ऐसे आदर्शसे संतोष नहीं होता। वे कहते हैं कि प्रकृतिकी अंतिम परिणतिमेंही हमारे मानवत्वका पूर्ण विकास है। हमारी बुद्धिको हमारे चित्तको हमारे नैतिक ज्ञान को तृप्त करनेवाला और हमारी मानवी प्रकृतिको कर्मप्रवृत्त करनेवाला जो आदर्श हो, केवल उसीसे मनुष्य संतुष्ट रहता है। खोज विनोद करनेपर देह मन प्राणोंके कर्मोंमें मनुष्यको जो मिलता, उसीकी वह इच्छा करता है, क्योंकि वही उसकी प्रकृति और वही उसका धर्म है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिसे बद्ध है और उसीमें उसको पूर्णता ढूंढनी चाहिये। हमारी मानवी प्रकृतिके अनुरूपही हमारी मानवीय पूर्णता चाहिये और उसके लिये अपनी व्यक्तित्वके अनुसार, स्वधर्मानुसार प्रयत्न करना चाहिये। परंतु यह प्रयत्न जीवन और कर्मके बाहर न हो। इसपर गीता कहती है, हां। इस विचारमें

थोडा सत्य है जरूर। इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य-में भगवान् का स्फुरण, जीवनमें भागवतलीला, यह आदर्श पूर्णताका ही भाग है। परंतु यदि तुम केवल बाह्य जीवनमें, कर्मनीतिमें पूर्णता ढूंढना चाहो, तो वह कभी न मिलेगी। तुम चिरकाल त्रिगुणात्मक प्रकृतिके-रागद्वेष, सुखदुःखादि द्वंद्वों के आधीन हो। सर्वग्रासी काम तुम्हारे सांसारिक कर्मको घेर लेगा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

३।३७ से ३९

जैसे अग्निको धुंआँ, आयनेको मैल और गर्भ को झिल्ली आच्छादित करती है, उसी तरह ज्ञानको, विवेक को काम आच्छादित करता है। तुम्हें यदि आत्मा के शांत निर्मल उज्ज्वल सत्यमें वास्तव्य करना हो, तो इस काम का वध करना अवश्य है। इंद्रिय, मन और बुद्धि उस काम की अधिष्ठान भूमि है जो सिद्धिका कायम शत्रु है। ऐसी इस अपरा प्रकृति के खेलमें सिद्धि फँस जायगी; यह प्रयत्न व्यर्थ है। कर्मप्रवण प्रकृतिको प्रथमतः शांति प्राप्त करनी चाहिये; परा प्रकृतिमें प्रविष्ट होना चाहिये। जब तुम्हें आत्माकी शांति प्राप्त होगी, तभी तुम स्वतंत्र भागवत कर्म के अधिकारी होगे।

परंतु शांततेच्छु संन्यासी सिद्धावस्थामें संसार के लिये और कर्म के लिये कोई स्थान ही नहीं पा सकते। संसारकर्म क्या बंधनका और असिद्धि का कारण नहीं है? धुंएँ से आच्छादित अग्नि के समान क्या सब ही कर्म सदोष नहीं है? कर्मनीति क्या राजसी नहीं है? इस रजोगुणसेही कामकी उत्पत्ति है; कामही ज्ञानको ढांक देता है, और जय पराजय, सुखदुःख, पापपुण्य आदि द्वंद्वही मनुष्य-को अस्थिर करते हैं। संसारमें रहनेवाला भगवान् त्याग का भगवान् है, वह हमारे कर्मोंका स्वामी अथवा कारण नहीं है। वासना अथवा कामही हमारे कर्मका प्रभु, और अज्ञान ही हमारे कर्म का कारण है। क्षर को, जगत् को यदि भगवान् का प्रकाश अथवा लीला कहें, तो वह प्रकृतिही की अज्ञान से अपूर्ण लीला है। यह लीला भगवान्को प्रकाशित करनेके बदले आच्छादित करती है। जगत् के रूपकी ओर एकवार दृष्टिक्षेप करें तो भी यह निःसंदेह समझमें आवेगा, और जगत् से पूर्ण परिचित होकर क्या यही अनुभव हमें नहीं आता? जबतक कामना और कर्म की प्रवृत्ति भोग के द्वारा क्षीण अथवा नष्ट न होगी, तब तक क्या यह अज्ञान-चक्र आत्माको संसारमें बार बार जन्मग्रहण न करावेगा? न केवल काम, किंतु कर्म भी जब वर्ज्य किया जाय, तब जीव शांत आत्मामें प्रतिष्ठित होकर, गतिहीन, कर्महीन, अचल और संबंधहीन ऐसे ब्रह्ममें प्रविष्ट होगा। शांततेच्छु संन्यासी की इस शंका को गीताने जैसा यत्न पूर्वक उत्तर दिया है, वैसा संसारी कर्मप्रवण व्यक्ति की शंका को उत्तर देनेका यत्न गीताने नहीं किया। क्यों कि संन्यास वर्गकी शंकामें उच्च और शक्तिशाली सत्य समाविष्ट हुआ है, तथापि यह पूर्ण अथवा श्रेष्ठ सत्य नहीं है। इस सत्य के प्रसार से मानवजाति की उत्क्रान्ति को जो विघ्न उत्पन्न होगा और उससे जितना अनिष्ट होगा उतना किसी भ्रांत संसारी मनुष्यके आदर्श के प्रसारसे न होगा। किसी तीव्र सत्यांश का पूर्ण सत्यके नामसे जब प्रचार किया जाता है; तब जिस तरह तीव्र प्रकाश की उत्पत्ति होती है, उसीतरह घोर अंधकारकी भी निर्मिति होती है। क्यों कि उसमें रहनेवाला सत्य इतना सामर्थ्यवान् होता है, कि वह मिथ्यत्व को अथवा भ्रांतता को तीव्रतम कर डालता है। सांसारिक कर्मप्रवण मनुष्यके आदर्श में जो गलती रहती है, उससे केवल अज्ञान की वृद्धि होगी, और जहां सिद्धि मिलना अशक्य है वहां उसकी तलाश में जो

प्रयत्न किया जाता है उससे ज्यादासे ज्यादा मानवी उन्नति में रुकावट होगी, परन्तु संन्यासी के निष्कर्म आदर्श की गलती में संसार संहार का बीज निविष्ट हुआ है। श्रीकृष्ण कहते हैं- मैं यदि इस आदर्श के अनुसार कर्म त्याग करूंगा, तो ये सारे लोग नष्ट होंगे और जहां तहां अनिर्बंधता उत्पन्न होगी। यद्यपि कोई विशेष मनुष्य (उसे श्रेष्ठ भागवत जीवनकी प्राप्ति भी हुई हो) अपनी गलतीसे सारा देश नष्ट न कर सके, तथापि उससे विस्तृत प्रमाण में अव्यवस्था हो सकती है, जोकि मानवी जीवनकी मूलनीतिको संहारक होगी और उससे उत्क्रान्ति का निर्दिष्ट मार्ग विपर्यस्त होता है।

इसलिये कर्मशून्य शांति की ओर मनुष्य की जो प्रवृत्ति है उसकी अपूर्णता ध्यानमें रखकर यह कबूल करना चाहिये कि इस प्रवृत्तिमें जैसा सत्य है वैसा कर्मप्रवणता में भी है। भगवान् का वास्तव्य केवल शांतिमें ही नहीं, किंतु मानवजाति के सब कर्मोंमें है। और यह कबूल करनाही चाहिये, कि मनुष्यही में भगवान् की सार्थकता है। प्रकृतिके प्रभावसे मुक्त रहनेवाले निष्क्रिय जीवकी जो शांतिप्रवणता, और प्रकृतिके द्वारा संचालित होनेवाली जीवकी जिस कर्मप्रवणता से जगद्यज्ञ पूर्ण होता है- ये दोनों परस्परविरोधी सत्य नहीं हैं। एक सत्य और दूसरा असत्य, इसप्रकार इनमें चिरविरोध नहीं, यह भी नहीं कि एक उच्च और दूसरा कनिष्ठ है, यह भी संभावना नहीं कि एकके द्वारा दूसरेका नाश हो सके। ये दोनों भागवत लीलाकी दो बाजू हैं। केवल अक्षर ही एकमेव श्रेष्ठ रहस्य नहीं है। यहां कृष्णरूपसे उपस्थित जो पुरुषोत्तम, उसमें दोनोंका विकास और समन्वय हुवा है। कृष्ण एकही समय श्रेष्ठ, जगत्समूहका अधीश्वर और अवतार है। भागवतभावसंपन्न मनुष्य के समानही भगवान् ने कर्म किया है। उन्होंने नैष्कर्म्य का अंगिकार नहीं किया। मनुष्यके अज्ञानमें जैसा भगवान् कार्य करता है, वैसा ज्ञानमें भी वह कार्य करता है। उसको जाननाही सिद्धिप्राप्तिका उपाय है और उसीमें आत्माका श्रेष्ठ कल्याण है। अनंत, अज ऐसे भगवान् का रहस्य जैसे जानना चाहिये, वैसेही उसके दिव्य जन्म कर्मका भी रहस्य अवगत कर लेना चाहिये। (जन्मकर्म च मे दिव्यं) इस ज्ञानसे जो कर्म निर्माण होता वह सब बंधनोंसे मुक्त रहता है। भगवान् कहते हैं कि 'जो इसप्रकार मुझे जानता है, वह कर्मसे बद्ध नहीं होता।' यदि कर्मके बंधनसे, वासनासे और जन्मचक्रान्त से मुक्त होनाही हमारा ध्येय और हमारा आदर्श हो, तो मुक्तिका सच्चा और प्रशस्त उपाय जानकर ज्ञानका ही अवलंबन करना जरूर है; क्यों कि गीतामें कहा है-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४-९

'हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्मको जो इसप्रकार यथार्थ रीतिसे जानता है, उसको देहत्यागके पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता, वह मुझे आकर मिलता है।' अज, अव्यय और सर्वभूतांतरस्थ जो आत्मा, उसकी प्राप्ति दिव्यजन्म ज्ञानसे हो सकती है। दिव्य कर्मके ज्ञानसे और साधनसे सर्व भूतेश्वरको प्राप्त कर सकते हैं। तब उस सर्वेश्वरका कर्म उसीका कर्म होगा।

विश्वरूपदर्शन ।

'वंदे मातरम्' शीर्षकमें लिखे हुए अपने एक प्रबंधमें हमारे पूज्य बंधु बिपिनचंद्र पालने अर्जुन के विश्वरूपदर्शनका उल्लेख करके ऐसा कहा है, कि गीता के ग्यारहवे अध्यायमें किया हुआ विश्वरूपदर्शन का वर्णन सर्वस्वी असत्य है; वह केवल कविकल्पना है। हमें इस विधान का निषेध करना आवश्यक है। विश्वरूप गीता का अत्यावश्यक अंग है। जिस संशयने अर्जुनको घेर लिया था, उस संशय का निरसन यद्यपि श्रीकृष्णने युक्ति से और ज्ञानगर्भविचार से किया, तथापि युक्ति के अथवा उपदेश के द्वारा होनेवाली ज्ञानप्राप्ति अशाश्वत; और ज्ञानदर्शनसे और ज्ञानानुभवसे होनेवाला ज्ञानलाभ शाश्वत है। यह विचार किया जाय तो अर्जुन के दिलमें अंतर्यामी प्रेरणा से जो विश्वरूपदर्शन की आकांक्षा उत्पन्न हुई वह बिलकुल स्वाभाविक और आवश्यक प्रतीत होती है। विश्वरूप दर्शन से अर्जुन का संदेह सदैव के लिये नष्ट हुआ और बुद्धि पवित्र और विशुद्ध होकर गीता के परम रहस्य को ग्रहण करने के योग्य हुई। विश्वरूपदर्शन के पहिले जो ज्ञान कहा गया, वह साधकोपयोगी ज्ञानका बहिरंग है; रूपदर्शन के अनंतर जो ज्ञान कहा गया, वही गूढ सत्य, परम रहस्य और सनातन शिक्षण है। इस विश्वरूपदर्शन के वर्णन को कविकल्पना कहना, गीताका गांभीर्य, सत्यत्व और गूढत्व नष्ट करना है और योगलब्ध ज्ञानकी साधारण दार्शनिक मतसे अधिक कुछ भी कीमत न करना है। विश्वरूपदर्शन कविकल्पना अथवा उपमा नहीं, किंतु वह सत्य है। वह बिलकुल प्राकृत सत्य नहीं है, क्योंकि विश्वप्रकृतिके अंतर्गत विश्वरूप अति-प्राकृत हो नहीं सकता। विश्वरूप कारण जगत्का सत्य है, और कारणजगत् का रूप दिव्यचक्षुसे दिखता है, इसीलिये दिव्यचक्षु प्राप्त करनेपर अर्जुनने वह देखा।

*

साकार और निराकार।

निर्गुण और निराकार ब्रह्मके उपासक सगुण और साकारताको उपमा अथवा रूपक समझकर उडाही देते हैं। और जो सगुण और निराकार ब्रह्मके उपासक हैं, वे शास्त्रवचनोंका मनमाना अर्थ करके निर्गुणत्व अमान्य करते हैं और साकारताको रूपक अथवा उपमा समझकर उडा देते हैं। सगुण साकार ब्रह्मवादी इन दोनोंपर खड्गहस्त रहते हैं। हमारे मतसे ये तीनों मत संकीर्ण और अपूर्ण ज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं। क्यों कि साकार और निराकार ऐसे दोनों ब्रह्मकी उपलब्धि जिन्हें हुई है, वे एक सत्य और दूसरा असत्य समझकर ज्ञानका अंतिम प्रमाण नष्ट कैसे करेंगे, और अनंत ब्रह्मको मर्यादाबद्ध कैसे करेंगे? ब्रह्मका निर्गुणत्व और निराकारत्व अमान्य किया जाय, तथापि यह असत्य नहीं है कि हम भगवान्से खेल खेलते हैं। भगवान् रूपका कर्ता, स्रष्टा, अधीश्वर है, अर्थात् वह किसी भी रूपसे बद्ध नहीं है। तथापि जैसा वह साकारतासे बद्ध नहीं वैसा निराकारता से भी बद्ध नहीं। स्थूल प्रकृतिके नियमोंके जालमें, अथवा देशकालके नियमरूपी जालमें भगवान्को पकडनेके मिषसे यदि हम कहें कि "तुम अनंत हो इसलिये हम तुम्हें सान्त होने न देंगे" तो इसके मुकाबले कोई दूसरा भयंकर अज्ञान और घोर अहंकार नहीं। भगवान् बंधनरहित हैं, वह साकार हैं और निराकार भी हैं। साधकको वह साकार होकर दर्शन देता है; परंतु उसी समय वह संपूर्ण ब्रह्माण्डको व्यापकर रहता है; क्यों कि भगवान् देशकालातीत अतर्क्यगम्य हैं। देश और काल उसका क्रीडासाहित्य है और देशकालरूपी जाल फैलाकर उसमें सर्वभूतोंको पकडकर उनसे खेल खेलता है। परंतु उस जालमें हम भगवान्को पकड नहीं

सकते। तार्किक बुद्धिका और मार्मिक युक्तिका प्रयोग करके जैसे जैसे हम भगवान्को पकडनेका असाध्य प्रयत्न करते हैं, वैसेही दूर जालको सरकाकर वह हमारे आगे, पीछे, पासही थोडे अंतरपर, चारों तरफ मृदु हास्य करता हुआ स्थित होकर विश्वरूप और विश्वातीरूप का प्रसार करता हुआ बुद्धिको पराजित करता है। जो यह समझते हैं, कि मैंने भगवानको पहचाना, उसे कुछ भी पहचान नहीं होती। जो कहता है कि मैं जानता हूं लेकिन नहीं जानता, वही सच्चा ज्ञानी है।

विश्वरूप।

जो शक्तिका उपासक है, कर्मयोगी है, भगवन्निर्दिष्ट कार्य करनेका जिसको आदेश हुआ है, उसकी दृष्टिसे विश्वरूपदर्शन अत्यंत आवश्यक है। विश्वरूपदर्शनके पहिले भी उसको आदेशकी प्राप्ति हो सकती है, तथापि यह आदेश दर्शनप्राप्तितक योग्य प्रकारसे मंजूर नहीं होता। दर्शनप्राप्तितक कर्मयोगका काल उसके कर्म शिक्षणका और तैयार होनेका काल है। विश्वरूपदर्शन होनेपर सच्चे कर्मका प्रारंभ होता है। साधकके स्वभाव और साधनाके अनुसार विश्वरूपदर्शन अनेक प्रकारका हो सकता है। कालीके विश्वरूप दर्शनसे साधकको संसारभरमें अपरूप ऐसा स्त्रीस्वरूप दिखता है। एक, परंतु असंख्य देहयुक्त और घनकृष्ण कुंतल राशि सर्वत्र आकाशभर व्याप्त है और तांडवनृत्य करती हुई विश्वब्रह्मांडका चक्काचूर कर रही है, इस प्रकार उसको कालीमय जगत् दिखता है। ये सब बातें कविकल्पना नहीं हैं, अथवा अपूर्ण मानवी भाषामें, अतिप्राकृत उपलब्धिका वर्णन करनेका वह विफल प्रयत्न नहीं है। दिव्यचक्षुको दिखनेवाला वह सच्चा सरल वर्णन है। अर्जुनने कालीका विश्वरूप नहीं देखा, किंतु कालरूपी श्रीकृष्ण का संहारक विश्वरूप देखा। यह विश्वरूप अर्जुनने बाह्यज्ञानहीन समाधिस्थितिमें नहीं देखा, यह दिव्यचक्षुसे देखा और व्यासदेवने उसीका याथातथ्य वर्णन किया। यह स्वप्न नहीं अथवा कल्पना नहीं है। खासा जीवित और जाग्रत सत्य है।

कारणजगत् का स्वरूप।

भगवान्ने जो तीन अवस्थाएं अधिष्ठित की हैं, उनका विचार शास्त्रोंमें दृग्गोचर होता है। वे तीन अवस्थाएं ये हैं (१) प्राज्ञाधिष्ठित सुषुप्ति, (२) तैजस अथवा हिरण्यगर्भाधिष्ठित स्वप्न और (३) विराडधिष्ठित जाग्रती। सुषुप्तिमें कारण जगत्, स्वप्नमें सूक्ष्मजगत् और जाग्रतीमें स्थूल जगत् रहता है। कारण जगत्में जो निर्णीत और हमारे देशकालके अतीत है, वह सूक्ष्मजगत्में प्रतिबिंबित होता है, और स्थूलजगत् के नियमानुसार वह अंशतः स्थूल जगत्में प्रगट होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा है कि कौरवोंका पहिलेही वध किया गया है, परंतु इस समय कौरव अर्जुनके साम्हने युद्धक्षेत्रपर खडे थे। भगवान् का कहना असत्य नहीं। वह उपमा भी नहीं है। कारण जगत्में भगवान्ने कौरवों का वध किया था। ऐसा न होता तो इहलोकमें उनका वध असंभाव्य था। हमारा सच्चा जीवन कारणजगत्में है। स्थूल जगत्में उसकी केवल छाया पडती है। परन्तु कारण जगत्के नियम, देश, काल, रूप, नाम स्वतंत्र है। विश्वरूप कारणजगत् का रूप है, और वह स्थूल जगत्में दिव्यचक्षु मिलनेसे प्रकट होता है।

दिव्यचक्षु।

दिव्यचक्षु कोई कविकी उपमा नहीं है, अथवा काल्पनिक चक्षु नहीं है। सूक्ष्मदृष्टि, विज्ञानचक्षु और दिव्यचक्षु-ऐसी यह तीन प्रकार की योगलब्ध दृष्टि है। सूक्ष्मदृष्टिसे हम स्वप्नमें अथवा जाग्रत अवस्थामें मानसिक मूर्ति देखते हैं। विज्ञानचक्षुसे हम समाधिस्थ होकर सूक्ष्म और कारण जगत् के अंतर्गत नामरूपकी नकल अथवा उसका सांकेतिक रूप चित्ताकाशमें देखते हैं और स्थूल चक्षुके सामने भी देखते हैं। स्थूलेन्द्रिय को जो अगोचर है वह यदि इंद्रियगोचर हुआ तो वह दिव्यचक्षुका प्रभाव समझना चाहिये। दिव्यचक्षुके इस सामर्थ्य से जाग्रतावस्थामें भी भगवान् का कारणांतर्गत विश्वरूप देखकर अर्जुन संदेहमुक्त हुआ।

भगवद्गीताका यज्ञचक्र ।

(जर्मनी की कील युनिवर्सिटीके प्रो० एफ् ऑटो श्राडर पी. एच्. डी, विद्यासागर के लेखका अनुवाद—)

पर्जन्य और उससे उत्पन्न होनेवाले अन्न वगैरः भौतिक पदार्थ- किंबहुना जिनके न होनेसे अखिल जगत् की गति कुंठित होती है वे पदार्थ-देवताओं से प्राप्त करनेके लिये जिस 'अपूर्व' की अपेक्षा रहती है—

'दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥'
(मनु० ३-७५)

उसको मीमांसा शास्त्रमें 'यज्ञ' की संज्ञा दी गई है, और भगवद्गीता के तीसरे अध्यायके आठवे श्लोकसे सोलहवें श्लोकतक इस यज्ञकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। इस संबंधमें जो प्राचीन सिद्धान्त है उसमें और भगवद्गीताके सिद्धान्तमें इतनाही अंतर है कि भगवद्गीताके अनुसार यज्ञरूप कर्म स्वार्थबुद्धि से नहीं किंतु केवल ईश्वरी नियमका पालन करनेही के लिये करना चाहिये। यज्ञ की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये गीताने इस कार्य कारणको ऐसे एक चक्रका अंग बतलाया है, कि उस चक्रका प्रत्येक अंग पूर्ववर्ती अंग का कार्य होता है, और परवर्ती अथवा उत्तरवर्ती अंग का कारण होता है; और इनमेसे किसी एक अंगका न्यूनत्व रहनेसे पूरा चक्र नष्ट हो जाता है।— 'हे पार्थ! इस प्रकारसे (जगत् के धारणार्थ) शुरू किया हुआ चक्र (अर्थात् कर्म का अथवा यज्ञ का चक्र) इस जगत् में जो आगे नहीं चलाता, उसका आयुष्य पापरूप है, और इस इन्द्रियलंपटका (अर्थात् देवताओंको न देकर स्वतः उपभोग लेनेवाले का) जीवित व्यर्थ है।' यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि इस संबंधमें जिन जिन तत्वोंका गीतामें समावेश किया गया है, उनमेंसे कितने और कौन कौनसे तत्व इस यज्ञचक्रके अंग हैं?

यदि १५ वां श्लोक न होता, तो सब बातें बिलकुल स्पष्ट थीं। क्यों कि १४ वें श्लोकमें जिस कारण-परंपराका उल्लेख किया गया है- (जैसे कर्मसे यज्ञ का उद्भव होता है; यज्ञसे पर्जन्यकी, पर्जन्यसे अन्न की और अन्नसे भूतोंकी-प्राणिमात्र की उत्पत्ति होती है) वे सारे अंग एकत्र करनेसे एक पूरा चक्र बनता है; कारण यह कि प्राणिमात्रोंका पुनरपि कर्म से कारणरूपी संबंध आता है। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी अंग की आवश्यकता नहीं दिखती।

इसलिये बहुत दिनोंसे मेरी यह धारणा रही है कि १५ वां श्लोक भगवद्गीता की मूल पुस्तकमें न था, परंतु किसी प्राचीन मतके दुराग्रही विद्वान् ब्राह्मणद्वारा वह पीछेसे समाविष्ट किया गया है; परंतु वह उतनी सफाईसे अथवा कुशलतासे प्रक्षिप्त करते बना नहीं। मालूम होता है कि कोई कोई लोग इस बातको डरते थे कि इस चक्रका अर्थ कहीं बौद्धोंके प्रतीत्यसमुत्पाद (अथवा एक प्रकारके स्वभाववाद) सरीखा न समझा जावे, अर्थात् कहीं यह न समझा जावे कि यह चक्र किसी जगत्कर्ता अथा जगन्नियंता परमेश्वरके विना ही आपसे आप चल रहा है। इस डरसे बहुधा यह श्लोक पीछेसे समाविष्ट करनेका काम किया गया होगा।

अब प्रश्न बाकी रहता है क्षेपकोंका। परंतु इस विषयमें स्वर्गीय प्रो० गर्बेके समान साशंक होनेकी आवश्यकता बिलकुल नहीं है। उक्त प्रोफेसरने भगवद्गीताके अधिक नहीं तो कमसे कम १७० श्लोक प्रक्षिप्त हैं- ऐसा कहा है, (इन १७० में तीसरे अध्यायके श्लोक ९ से १८ तक का अंतर्भाव हुआ है) ऐसा होनेपर भी, जैसा भारतवर्षके लोग प्रायः क्षेपकोंके संबंधमें कहते हैं, कि यह बालकी

खाल निकालना है, हमें यह बात हँसी मजाकमें उडाना न चाहिये। कमसे कम एक श्लोक मुझे भी मालूम है कि जो अर्जुनका कहा हुआ है-

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

यह श्लोक कुछ हस्तलिखित तथा कुछ छपी हुई पोथियोंमें अथवा पुस्तकोंमें १३ वें अध्यायके प्रारंभमें दिया गया है। इतनाही नहीं, किंतु बहुतेक टीकाकारोंने उसपर टीका नहीं की। इसलिये इसमें कोई शंका बाकी नहीं रहती कि वह श्लोक प्रक्षिप्त होना चाहिये। परंतु इसके साथ यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि उदाहरणार्थ काश्मिरमें उपलब्ध गीतामें प्राचीनतम दो टीकाओंमें दूसरे अध्यायके श्लोक ६६ व ६७ पर टीका नहीं दी और इन श्लोकों का उल्लेख भी नहीं है। किंबहुना गुप्त सरीखे आधुनिक महाविद्वानने कहा है कि १४ वें अध्यायके श्लोक १६, १७ और १८ भी कल्पित अथवा+ प्रक्षिप्त हैं।

तथापि मैं अभी नहीं कहना चाहता कि १९ वां श्लोक प्रक्षिप्त है। अभी इतनाही कहकर, कि उक्त श्लोक प्रक्षिप्त होनेका संभव है, और यह भी गृहीत लेकर कि वह श्लोक मूल गीता में था, मैं अब उसके संबंध में चर्चा करनेका प्रयत्न करता हूं, क्यों कि मेरा यह पूर्वापार सिद्धान्त हो रहा है, कि पक्की गांठ छुटानेका भरसक प्रयत्न जबतक न किया जाय, तबतक उसे काटना न चाहिये।

यज्ञचक्र की कल्पना भगवद्गीताके पूर्वही से है (बृहदारण्यक ६-२-९-१३ तथा छांदोग्य ५.४.९) इन दो प्राचीनतम उपनिषदोंमें थोडे अन्य प्रकारसे इस चक्र का आदर्श देखनेमें आता है। उनमें मृत देहों के अग्निसंस्कार को और इस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के बाद पुनर्जन्मतक जीवको जो जो अवस्थाएं प्राप्त होती हैं उन सब अवस्थाओं को 'यज्ञ' की संज्ञा दी गई है। इस संबंधमें इन उपनिषदोंमें लिखा है, कि शवदहन के समय परलोक (असौ लोकः) अग्निरूप रहता है और उसमें देवता मृतात्मा के श्रद्धाकी (अर्थात् बहुधा उसके कर्म की) आहुति देते हैं और इससे उसको चांद्रमस देह (सोमो राजा) प्राप्त होता है। तदनंतर वह वृष्टिकारूप धारण करता है; उसके बाद अन्न का, इसके बाद वीर्य (रेतस्) का और उसके बाद गर्भ का (छान्दो० उ०) और पुरुष का (बृह. उ०) रूप धारण करता है। यही 'पंचाग्नि विद्या' है। मृत्यु से लेकर जन्मतक मनुष्य को (असौ लोकः इत्यादि) पांच प्रकार के अग्निमें से बाहर होना पडता है। इसी कारण उसको 'पंचाग्निविद्या' कहते हैं।

गीताकी कुछ टीकाओंमें मानवधर्म शास्त्रका (३-७६) निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया हुआ नजर आता है-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

इस श्लोकमें यज्ञचक्र के जिस प्राचीन और सामान्य तत्त्व का निरूपण किया गया है, वही तत्त्व उपनिषदोंमें अधिक विस्तारपूर्वक कहा गया है। ठीक इससे मिलने वाली कल्पना याज्ञवल्क्य स्मृतिमें देखने मिलती है (३।१२१-१२४) वहां ऐसा लिखा है कि जिस समय यज्ञ के सार से (रस से) देवता गण तृप्त होता है, उस वक्त वायु उसको चंद्रमा (सोम) के पास पहुंचता है और वहां से सूर्यकिरण उसको सूर्य के पास ले जाते हैं। तब भगवान् सूर्यनारायण उसको वृष्टि (अमृत) के रूपसे पृथ्वीपर वापिस भेजता है। वृष्टि के कारण अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से सर्व जीव (भूत) अथवा प्राणिमात्र उत्पन्न होते

+ इन सब विषयोंपर तथा उन स्थलोंके विषयपर जहां प्रचलित गीतामें धागा टूटासा अथवा अशुद्ध पाठ दिखता है, मैंने संशोधित की हुई प्राचीन काश्मीरी संस्करणवाली भगवद्गीताकी प्रस्तावनामें सांगोपांग विचार किया है। (यह पुस्तक आज छपनेके लिये तैयार है)

हैं। उस अन्न से फिर यज्ञ (होता है) फिर से अन्न और फिरसे यज्ञ-इस प्रकार यह चक्र अनादि कालसे अनन्त काल तक चालू रहता है।

तस्माद्यज्ञात् पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः।
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते॥

इस समग्र अवतरणमें इस चक्र के जो चार पांच अंग बतलाये गए हैं, उन्हीं का वस्तुतः उल्लेख भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के १४ वें श्लोकमें किया गया है। क्योंकि जहां 'यज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है वहां वह शब्द हम 'कर्म' के अर्थ में ले सकते हैं और 'कर्म' शब्द 'यज्ञ' के अर्थ में ले सकते हैं।

परंतु जो बात १४ वें श्लोकमें कही गई है वह वहीं समाप्त नहीं होती। उस श्लोकके अंतिम चरण 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' का संबंध उसके अगले (१५वें) श्लोकसे है- वह श्लोक ऐसा है-

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

इससे मालूम होगा कि इस चक्रमें 'ब्रह्म' और 'अक्षर' इन दो अंगोंका समावेश किया गया है।

इसलिये गीताके भारतीय तथा पाश्चात्य टीकाकारोंने और मीमांसकोंने इस प्रश्नको जिस जिस रीतिसे हल करनेका प्रयत्न किया है, उन सबका समीक्षण करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।*

इस प्रश्नपर विचार करनेवालोंके मुख्यतः तीन वर्ग हैं-

(१) जो यह मानते हैं कि १५ वें श्लोकमें उल्लेख किया गया है, उन दोनों ('ब्रह्म' और 'अक्षर') तत्त्वोंका इस चक्रमें अंतर्भाव हुआ है। (२) जो यह नहीं मानते कि इन तत्त्वोंका उसमें अंतर्भाव हुआ है। (३) जो यह मानते हैं कि ये तत्त्व कुछ अंशमें अंतर्भूत नहीं हुए। इनमें से पहिले वर्गमें रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और अद्वैत वादियोंमें से व्यंकटनाथ प्रभृति हैं। दूसरे वर्गमें शंकराचार्य और उनके अनुयायी हैं और तीसरेमें नीलकंठ हैं। अब मैं इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करता हूं; परंतु सुविधा की दृष्टि से ऊपर के क्रम (१-२-३) को छोडकर २-३-१ इस क्रमसे करता हूं; और वह भी १५ वें श्लोक का पूर्वार्धही नजर के सामने रखकर करता हूं;

(२) शंकराचार्यने 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद लिया है और 'अक्षर' का अर्थ 'अक्षरब्रह्म' अर्थात् परमात्मा माना है। इसमेंसे 'अक्षर' अवश्यमेव चक्र के बाहर है; क्योंकि वह भूतमात्रोंका कार्य हो ही नहीं सकता। इतनाही नहीं किंतु यह कहना चाहिये कि उसके कार्य अथवा फलस्वरूप के विषय में कल्पनाही नहीं हो सकती। शंकराचार्य स्पष्ट रीतिसे नहीं बतलाते कि वेद भी चक्र के बाहर है या नहीं; परंतु ऐसा मालूम होता है कि नित्यत्व के कारण उन्होंने वेदोंको भी चक्र के बाहर ही माना है। इस प्रसंगमें श्री मधुसूदन सरस्वतीने 'ब्रह्मोद्भवम्' पदमें 'उद्भव' शब्द को प्रमाणवाचक मानकर उसका अर्थ 'वेदोंको प्रमाणभूत मानकर किया हुआ' ऐसा किया है, और उसके आगे यह संक्षेपक वाक्य लिखा है- (सृष्टि के) आरंभमें परमेश्वर से सर्वार्थ प्रकाशक नित्य और निर्भ्रान्त वेदकी अभिव्यक्ति होती है; वेदोंसे कर्तव्य (कर्म) का ज्ञान होता है; उस ज्ञान के योगसे कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा पुण्य होता है, पुण्य के कारण वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, अन्न से भूतमात्र (अर्थात् भूतोंकी अथवा प्राणिमात्रोंकी उत्पत्ति) और फिरसे ठीक इसी प्रकार से प्राणिमात्रों के द्वारा कर्म का अनुष्ठान, इस प्रकार

*मैं यह घमंड नहीं रखता कि गीतापर जितने भाष्य अथवा टीकाएं हैं, मुझे सब अवगत हैं। मेरे पास जो टीकाएं उपलब्ध थीं उन्हीका उपयोग इस विवेचनके लिये मैं कर सका हूं। उनमेंसे भी जिनके विवेचेन में कुछ नवीनता नहीं थी, ऐसी कुछ टीकाएं मैंने बिलकुल छोड दी हैं। (उदाहरणार्थ-जिन्होंने कर्मका अर्थ क्रियाशक्ति किया है)। अथवा (गीताके कालका विचार न करके) जिनमें कालके संबंधमें कुछ गलतियां हैं ऐसी टीकाएं।

यह चक्र चालू रहता है।

शंकरानन्दने भी इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है- 'ईश्वरः श्रुतिमुखेन यज्ञसंततिं विधाय ...... स्वयमेव चक्रं प्रवर्तितवान्।' चक्र चलानेके लिये वेद भगवान् के उपकरण हैं, इसलिये जैसे चाबी घडी के बाहर रहती है उसी तरह वे चक्रके बाहर हैं।

(३) नीलकंठ भी 'ब्रह्म' और 'अक्षर' का वही अर्थ लेते हैं जो शंकराचार्यने लिया है। साथही उनका यह दृढ सिद्धान्त है कि प्राणिमात्र किसी प्रकार वेद का कारण नहीं हो सकते। तथापि वे नीचे लिखे अनुसार वेदको उस चक्र का एक अंग मानते हैं—

'प्रथम प्राणिमात्र के द्वारा वेदोंका अध्ययन होता है; फिर उनके द्वारा (वेद विहित) कर्म का अनुष्ठान होता है, इस से देवताओंकी तृप्ति होती है, देवताओंकी तृप्ति के कारण वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है और उनके द्वारा वेदोंका अध्ययन होता है।

१ (क) व्यंकटनाथ का यह निश्चित सिद्धान्त है कि 'ब्रह्म' और 'अक्षर' दोनों इस चक्रमें अंतर्भूत हुए हैं और इसके लिये उसके इतर अंगोंमें जो अन्योन्य-कार्य कारण-भाव है वह इन दोनोंमें पूर्णतया विद्यमान है। शंकराचार्यने जहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ 'अक्षर ब्रह्म' किया है; वहां उन्होंने उसका अर्थ प्रणव अथवा 'ओम्' माना है, और भगवद्गीता के १७ वें अध्याय के २३ वें श्लोकमें उसीको (ॐ तत्सदिति निर्देशः इत्यादि) वेद का कारण बतलाया है। परंतु भूतोंसे पुनरपि प्रणव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तरमें वे कहते हैं कि भूतों के अथवा प्राणिमात्र के उच्चारण ही से प्रणव की अभिव्यक्ति होती है और इस तरह हम उसको प्रणव का कारण कह सकते हैं।

१ (ख) मध्वाचार्य भी, जो व्यंकटनाथ के कुछ शताब्दि पहिले हो गए, 'अक्षर' का यही अर्थ लेते हैं, परंतु 'ब्रह्म' का कुछ निराला अर्थ लेते हैं। उनका कहना है, कि 'अक्षर' शब्द से यहां उसका सुप्रसिद्ध अर्थ-वर्ण समाम्नाय (अक्षराणि अथवा वेद (जिनमें प्रणव भी समाविष्ट हुआ है))- लेना चाहिये। इन अक्षरों की अभिव्यक्ति भूतमात्र के ही द्वारा होती है (अक्षराणि प्रसिद्धानि; तेभ्यो ह्यभिव्यज्यन्ते परं ब्रह्म...तानि चाक्षराणि भूताभिव्यङ्ग्यानि इति चक्रम्) इसका कारण मध्वाचार्य ऐसा देते हैं कि 'उत्पत्ति वाचक शब्दोंका अर्थ अभिव्यंजन होता है।' (उत्पत्ति वचनान्यभिव्यक्त्यर्थानि)

१ (ग) मध्वाचार्य के समान आचार्य रामानुज के स्पष्टीकरण को भी यही आधार है। इस चक्र के परस्पर अंगों का जो अन्योन्य कार्यकारणभाव है (जो अभिव्यक्त करने के लिये मूलमें 'भवति' 'भवन्ति' 'संभवः' 'समुद्भवः' इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है) उसका अन्य आचार्यों सरीखा प्रचलित अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लिया है; क्यों कि उनके प्रमुख निवृत्तिकार (श्री वेदान्तदेशिक) कहते हैं कि- 'यह मानना गलत है कि चक्र की कल्पना का उत्पत्ति से कोई आवश्यक अथवा अपरिहार्य संबंध है। (न ह्यवश्यमुत्पत्तावेवापेक्षा चक्रत्वहेतुः) तथापि रामानुजार्य मध्वाचार्यके भी आगे जाते हैं। वे कहते हैं-

(क) ब्रह्मका मूल अर्थ प्रकृति है (उदाहरणार्थ-भगवद्गीताके 'मम योनिर्महद् ब्रह्म...' इत्यादि श्लोकमें (१४-३) तथा मुंडकोपनिषद् (१,१,९) में इस शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग किया है।) और इसतरह इसका अर्थ प्रकृतिका एक विकार अर्थात् शरीर-ही हो सकता है [प्रकृति-परिणाम-रूपं शरीरम्) और इस श्लोकमें वह इसी अर्थसे लिया गया है।

(ख) अक्षरका अर्थ जीवात्मा है। अन्यत्र भी इस शब्दका इस अर्थसे प्रयोग किया गया है। भगवद्गीताका 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते (१५।१६) और श्वेताश्वतरोपनिषद् १, १० देखिये)

(ग) 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' का अर्थ 'शरीरकी उत्पत्ति आत्मासे होती है' ऐसा नहीं, किंतु यह अर्थ है कि आत्माका (द्रष्टाके रूपसे) संबंध होनेपर ही शरीरकर्मका साधन होता है।

(घ) न केवल शरीर, किंतु सजीव शरीरकी स्थिति भी अन्नही पर अवलंबित है- अन्नाद् भवन्ति भूतानि (श्लोक. १४) और इसलिये-

(ङ) १५ वें श्लोकमें दो नये तत्त्वोंका समावेश किया नहीं गया, परंतु जिन भूतोंका (प्राणिमात्रोंका) १४ वें श्लोकमें उल्लेख किया गया है, उसकी फिर एकवार द्विरूपताकी दृष्टिसे (शरीर और जीवके रूपसे) द्विरुक्ति हुई है।

अब १५ वें श्लोकका दूसरा चरण लेवें। यहां अडचन केवल दो वचनोंमें आ गिरती है— 'सर्वगतं ब्रह्म' और 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'

प्रायः सब टीकाकारोंने 'सर्वगतं ब्रह्म' का संधान 'ब्रह्म' पदके बराबर किया है, और पहिले श्लोकार्धमें उसका दो जगह प्रयोग किया है। किसी भी संदिग्धार्थ पदका अर्थ वह लेना चाहिये जो अन्य प्रसंगोंपर इतरत्र, वह शब्द असंदिग्धतासे उपयोजित रहनेके कारण स्पष्टार्थ समझकर लिया जाता है। मीमांसकों के नियमके (वेदों वा प्रायदर्शनात्। मी. सू. ३, २, ३ जो धनपतिने श्रीधरके मतका खंडन करनेके लिये उधृत किया है) अनुकूलही यह मत है। वेद सर्वगत कैसे हो सकेंगे? इसका उत्तर यह है कि उसको सर्वार्थ प्रकाशक कहा है; और इस प्रसंगपर रामानुजाचार्यको जो बहुत भारी अडचन आ गिरती है, वह निर्भयतापूर्वक यह कहकर वे दूर करते, हैं कि १५ वें श्लोकके उत्तरार्ध में जो 'सर्वगतं ब्रह्म' शब्द है उसका अर्थ 'जो (यज्ञका) अधिकारी है (सर्वाधिकारिगतं शरीरम्) ऐसे प्रत्येक पुरुषका शरीर" है।

श्रीधरका मत और बातोंमें शंकराचार्यसे मिलता है। तथापि यहां उनका कहना है कि 'सर्वगतं ब्रह्म' शब्दोंका निर्देश पूर्वार्धके 'अक्षर' शब्दके लिये हो सकता है, अथवा, जैसा कि शंकराचार्य कहते हैं, ब्रह्म अर्थात् वेदके लिये भी हो सकता है।

काश्मीरके दार्शनिक अथवा तत्त्ववेत्ता रमाकान्त ईसवी सनकी दसवीं शताब्दिमें हुए। उनका कहना है, कि पूर्वार्धके ब्रह्म शब्दका अर्थ अपर ब्रह्म है, और शास्त्ररूप शब्द ब्रह्म और 'अक्षर' एवंच उत्तरार्धके 'सर्वगतं ब्रह्म' का अर्थ परब्रह्म है।

शंकराचार्य के और उनके अनुयायिओंके मतानुसार 'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' का अर्थ यह है, कि इसमें (वेदमें) मुख्यतः यज्ञका तथा उसके अनुष्ठानके विधिका निरूपण है। यह एक ऐसी बात है, कि जिसके विषयमें किसीको शंका नहीं आ सकती। रामानुजाचार्यके मतसे इसका अर्थ यह है कि इसका (इस शरीरका) मूल यज्ञ है, (यज्ञ मूलम्) अर्थात् यज्ञ ही से इसकी उत्पत्ति होती है। श्रीधरस्वामीके मतानुसार इसका अर्थ यह है, कि इस (परब्रह्म) की 'प्राप्ति' यज्ञके मार्गसे होती है। मध्वाचार्यने भी ठीक यही अर्थ लिया है, कि यज्ञ ही के द्वारा हमें उसकी अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रश्नकी चर्चा करनेमें पाश्चात्य विद्वानोंमेंसे प्रायः किसी की सहायता नहीं हुई। मुझे जहांतक मालूम है, इनमेंसे किसीने भी इस चक्रका स्पष्टीकरण करनेका प्रयत्न नहीं किया। श्लीगल (Schlegel) ने 'ब्रह्म' और 'अक्षर' का अर्थ व्यक्त ईश्वर किया है, और इस प्रकार उनका स्पष्टीकरण रमाकान्त और श्रीधरके स्पष्टीकरणसे मिलता जुलता है। 'जेकोबी' (Jacobi) और गर्बे (Garbe) ने रामानुजकी कल्पनाका ही अनुकरण किया है और 'ब्रह्म' का अर्थ 'महद् ब्रह्म' अथवा प्रकृति लिया है, और यही अर्थ भग० गी० १४।३ में लिया गया है। डाइसन (Deussen) ने अन्य बातोंके सदृश इस बातमें भी शंकराचार्यके मत ही का अनुवाद किया है।

अब जिनके संबंधमें मुझे कुछ मालूम है ऐसे भिन्न भिन्न टीकाकारोंके मतोंका समीक्षण करना चाहिये। मैं समझता हूं कि प्रारंभमें आचार्य रामानुजके संबंधमें प्रशंसापर दो शब्द लिखना इष्ट होगा। क्यों कि गीताके इस श्लोकका स्पष्टीकरण उन्होंने गीताके अनुसार तथा जिन जिन उपनिष-

दोंका उसमें उल्लेख किया गया है उनके अनुसार करनेका प्रयत्न किया है। इस आधारपर गीताके संबंधमें संशोधन शुरू करना आवश्यक है, इसलिये कि उतनी ही आवश्यकता हो तो इसके भी आगे जाकर महाभारत, धर्मशास्त्र और पुराणोंके अधिक विस्तृत क्षेत्रमें प्रवेश करते बनेगा। परंतु मेरी समझमें रामानुजके पारम्भमें यज्ञःप्राप्ति लिखी न थी।

'ब्रह्म' और 'अक्षर' का जो विवरण उन्होंने किया है, वह इतने बडे साहसका कार्य था, कि वह युक्तियुक्त कसोटीमें अच्छी तरह उतरने लायक न था। मैं एसा भी नहीं समझता कि १५ वां श्लोक वस्तुतः चक्रकी पूर्तताके लिये है। मैं यह भी नहीं मानता, कि मध्व अथवा व्यंकटनाथ इन बातोंको सिद्धकर सके हैं. अथवा नीलकंठने ब्रह्मका उसीमें जो अंतर्भाव किया है वह योग्य है। यह बात बिलकुल मानी नहीं जाती, कि जिस चक्रका धर्मशास्त्रमें वर्णन है, और जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है, उससे भिन्न किसी चक्रका वर्णन गीतामें होगा। परंतु मेरी समझ(बुद्धि)के अनुसार इस विषयमें शंकराचार्य सत्यके निकट पहुंचे हैं।

मेरी समझमें रमाकांत और श्रीधर (रमाकान्तसे श्रीधर अर्वाचीन है) इन दोनोंको गीताके प्रणेताके सिद्धान्त भली भांति अवगत हुए हैं। परंतु यद्यपि मैं जानता हूं कि वेद, मनु और पुराणके कुछ वाक्यों में 'ब्रह्म' शब्दका वेदके अर्थमें उपयोग किया गया है, तथापि प्रस्तुत श्लोकमें 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ केवल वेद नहीं, किंतु वेदके लिये लिया हुवा 'ब्रह्मदेव' ही उसका अर्थ मानने सिवाय मुझे रहाई नहीं आती। पंद्रहवें श्लोकके उद्देश्यके बारेमें मधुसूदन प्रभृति विद्वानों से मेरा ऐकमत्य है; कारण, उन्होंने यह माना है, कि यज्ञचक्र के उदात्त मूल की ओर पुनरपि एकवार ध्यान दिलानेके लिये प्रसंगविशेषोंमें बाहर रहते हुए भी उसका सन्निवेश किया गया है।

अवतार का प्रयोजन!

(१)

(ले०- श्री० योगी अरविंद घोष)

जिस योगमें कर्म और ज्ञान एक होते हैं; ज्ञानयुक्त कर्मको यज्ञरूपसे अर्पण करना पडता है; जिसमें सब कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है और मानवरूपसे अवतीर्ण, सब कर्मोंका अधीश्वर, और सर्व भूतोंके हृदयमें वास्तव्य करनेवाले पुरुषोत्तमके उद्देशसे जिसमें ज्ञान कर्मकी जोडी अर्पण करना पडती है, उस योगके संबंधमें बोलते बोलते श्रीकृष्णने कहा--

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ ४।१

यह आद्य प्राचीन योग मैंने सूर्य को बतलाया; सूर्यने मानवपिता (मनु) को, और मनेनु सूर्यवंशके आदिराजा इक्ष्वाकु को यह योग बतलाया-

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(४।२. ३)

" इस प्रकार परंपरासे प्राप्त यह योग राजर्षियोंने समझ लिया। हे परंतप! कालप्रवाहमें जो यह नष्ट हुआ था, वह पुरातन ज्ञानयोग, तुम मेरे भक्त और सखा हो इसलिये, आज तुमको बतलाया; क्यों कि यही उत्तम रहस्य है।

इतर प्रकारके योगोंसे यह योग श्रेष्ठ है, इसलिये इसको उत्तम रहस्य कहा है। क्यों कि अन्य प्रकारका योग निराकार ब्रह्मकी ओर अथवा साकार

देवताकी ओर ले जाता है; उससे कर्मशून्य ज्ञानके कारण अथवा भक्तिमग्नताके कारण मुक्ति प्राप्त होती है।

परंतु यहां जो योग कहा गया है, उससे श्रेष्ठ और समग्र गुह्य प्राप्त होता है। इस योगके द्वारा हमें भागवत शांतिकी और कर्मकी प्राप्ति होकर पूर्ण स्वतंत्रतामें हम भागवतज्ञान, भागवत कर्म और भागवत आनंदके अधिकारी होते हैं। जिस तरह भगवान्की श्रेष्ठ सत्तामें उसके भिन्न प्रकाशका समन्वय हुआ है, उसीतरह इस योग में अन्य सब योग मार्गोंका संमेलन हुवा है; इस लिये गीताका यह योग कर्मयोग है। यद्यपि कोई कर्मयोगको निकृष्ट अथवा त्रिविध मार्गोंमेंसे एक मार्ग कहें, तथापि वस्तुतः कर्मयोग ही श्रेष्ठ योग है। वह पूर्ण है, उसमें सब मार्गोंका समन्वय हुवा है और उसीके द्वारा हमारी सब शक्तियोंको हम भगवदुन्मुखी कर सकते हैं।

भगवान् ने परंपराप्राप्त योगशिक्षादान का जो उल्लेख किया, उसका अर्जुन ने सामान्यतः स्थूल अर्थ ही लेकर [उस का अन्य रीतिसे भी अर्थ किया जा सकता है] भगवान् को प्रश्न किया–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥
गी० ४।४

"तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और सूर्य का जन्म पहिलेही हो गया है, ऐसी हालत में यह कैसे समझा जाय, कि यह योग तुमने सूर्य को बतलाया ?"

श्रीकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर ऐसा देसकते थे, कि संपूर्ण ज्ञान का उगमस्थान मैं हूं; मेरे लिये (भगवान् के लिये) अशक्य बात कोई नहीं है। परंतु भगवान् ने वैसा नहीं किया, किंतु यह योग्य संधि देखकर भगवान् ने अर्जुन को उसके गुप्त ईश्वरत्व की बात बतलाई है; और इसके लिये इसके पहिले- जिस समय यह उल्लेख किया, कि संपूर्ण बंधनों से मुक्त ऐसे कर्मयोगियोंके हम भागवत आदर्श हैं, तब -भगवान् ने अर्जुन को तैयार किया। परंतु उस समय इस बात का केवल निर्देश ही हुआ है। इस समय भगवान् ने स्पष्ट रीतिसे कहा है कि हम अवतार के रूप से अवतीर्ण हुए हैं।

गीतागुरू के संबंध में विचार करते हुए हमने संक्षेपतः अवतारवादके बारेमें उल्लेख किया ही है। वेदान्तशिक्षण के प्रकाश में अवतारवाद जैसा समझमें आता है, वैसाही (हम संक्षेपतः कह चुके हैं कि) गीताने वह हमारे सामने उपस्थित किया है; तथापि अब हमें अवतारवादपर इससे भी अधिक गंभीरतासे विचार करना चाहिये; और जिस दिव्यजन्मका वह बाह्यस्वरूप है, उसका सच्चा अर्थ हृदयंगम कर लेना चाहिये। क्योंकि मूल शिक्षण से उसका अंगांगीसंबंध है। प्रथमतः स्वयं गीतागुरू जिसभाषा में अवतार का स्वरूप और आवश्यकता बतलाते हैं, उसका उल्लेख करें, और इस संबंध में इतरत्र जो विवरण या संकेत है, उसका भी स्मरण करें। भगवान् ने कहा–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
गी० ४। ५ से ११

हे परंतप अर्जुन। मेरे और तुम्हारे बहुतसे जन्म हो गए हैं। उन सब को मैं जानता हूं, परंतु तुम नहीं जानते। मैं अविनाशी, अजन्मा और सर्व प्राणिमात्रों का ईश्वर हूं; तथापि मैं योगमाया

से प्रगट होता हूं। हे भारत! जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का प्राबल्य होता है, तब मैं स्वतः को उत्पन्न करता हूं। साधुओं के रक्षणार्थ, दुष्टों का परित्य करने के लिये, और धर्मसंस्थापना के हेतु, मैं युग युग में प्रगट होता हूं। हे अर्जुन! मेरा इस प्रकार का जन्म और कर्म जो यथार्थ रीतिसे जानता है, उसको देहत्याग के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता, और वह मुझे ही आकर मिलता है। आसक्ति, भीति और क्रोध से रहित होकर, मत्परायण ऐसे अनेक महात्मा पुरुषोत्तमभाव को प्राप्त हुए हैं। जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, उन्हें मैं भी उसी प्रकार भजता हूं। हे पार्थ! मनुष्य समुदाय सबभांति मेरे ही मार्गका अनुकरण करते हैं।"

परंतु बहुतांश लोग इंद्रादि देवताओं का भजन पूजन करके ही कर्म की सिद्धि प्राप्त करते हैं; क्योंकि ज्ञानविरहित कर्म का फल मनुष्यलोक में बहुत जल्द मिलता है। वस्तुतः वह फल इसी लोकतक रहता है; परंतु परमेश्वर के उद्देशसे किये हुए ज्ञानयुक्त यज्ञ के द्वारा मनुष्य में जो भागवत जीवन की स्फूर्ति उत्पन्न होती है, वह इससे अत्यंत कठिण है। इसका फल भी ऊंचे दर्जेका है, वह सहज में आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इसलिये गुणकर्मविभागानुसार जो चातुर्वर्ण्यव्यवस्था की गई है, उसका अनुकरण मनुष्य को करना पडता है, और इस सांसारिक कर्म के स्तर ही में उसको भगवान् का खोजविनोद करना पडता है। परंतु श्रीकृष्ण कहते हैं कि, यद्यपि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का जन्मदाता मैं हूं, और उसी व्यवस्था के अनुसार मैं कर्म करता हूं, तथापि तुम मुझे अव्यय, अक्षर और अकर्ता ही समझो। कर्म मुझे आसक्त नहीं कर सकते और कर्मफल की ओर मेरी इच्छा नहीं।

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

क्योंकि भगवान् अक्षररूप से इस अहंकार के और द्वंद्वों के परे है, और पुरुषोत्तमरूप से वह कर्म में भी पूर्णतया स्वतंत्र है; इसलिये भागवत कर्म करनेवाले को चाहिये कि वह चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानुसार कर्म करते समय भी अहंकार की मर्यादा के बाहर परमेश्वरी सत्ता में वास्तव्य करे।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(४।१४)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
(४।१५)

इस प्रकार मुझे जो जानता है, वह अपने कर्म से बद्ध नहीं होता, ऐसा जानकर प्राचीन (जनकादि) मुमुक्षुओं ने कर्म किया; इसलिये तुम भी कर्म ही करो जो कि साधुओंने किया है।

यह बात जो गीताने उपस्थित की है, वही दिव्यकर्म है। यह भागवतकर्मस्वरूप का परिचायक है। इसका विचार पीछे किया ही गया है। उसके पहिलेही गीताके जिन श्लोकोंका हमने अनुवाद किया है, उसमें दिव्यजन्म का, अवतारस्वरूप का वर्णन आ गया है। परंतु हम स्पष्ट रीतिसे यह कहना चाहते हैं कि, केवल इस जगत् में धर्मसंरक्षण, धर्म संस्थापना, इतनाही अवतार का एकमेव उद्देश नहीं है। भगवान् के जन्म की दो बाजू हैं; एक अवतरण और दूसरी आरोहण। अवतरणमें भगवान् का मानवरूपसे जन्म होता है; मानव शरीरमें तथा स्वभाव में भगवान् का प्रकाश पडता है। आरोहण का अर्थ है, भागवत भावसे मनुष्य-जन्म होना, भगवत्प्रकृति और चैतन्य में मनुष्य का उत्थित होना (मद्भावमागताः); यही आत्मा का पुनर्जन्म अथवा नवजन्मप्राप्ति है। इस नवजन्म साधना के ही लिये अवतार और धर्मसंस्थापना है। गीता के अवतारवाद की ये दो दिशा सामान्य वाचकों के आंखों को दिखती नहीं; क्योंकि सामान्य वाचक गीता के अंदर तली तक जाकर अर्थ देखने का प्रयत्न नहीं करते। ऊपर ऊपर देखकर विनाप्रयास के जो अर्थ मालूम हो, उसीमें संतुष्ट रहते हैं। यहीबात सांप्रदायिक टीका

कारों की है। क्योंकि अपने विशिष्ट सांप्रदाय की संकीर्णता के कारण वे वास्तविक अर्थ को विकृत करके देखते हैं। तथापि अवतारवाद की सार्थकता के लिये ये दोनों बाजू आवश्यक हैं। अन्यथा इस अवतारवाद का मतलब केवल एक सांप्रदायिक मत, एक सामान्य कुसंस्कार अथवा किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महापुरुष का कल्पना के जोरपर भगवान् कहकर वर्णन करना होगा। परंतु गीता का शिक्षण इस तरहका नहीं है। गीता के समग्र शिक्षण के अनुसार यह अवतारवाद भी गंभीर आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वपर संस्थापित हुआ है और वही उत्तम रहस्य है।

इस प्रकार भागवत जीवन में मनुष्य प्रविष्ट हो सके इसलिये उसको साहाय्य करने ही के हेतु भगवान् का मनुष्यरूपसे अवतार होता है; अन्यथा केवल धर्मसंस्थापना के लिये भगवान् के अवतार की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि धर्म, न्याय इत्यादि की संस्थापना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सर्वदा सामान्य उपायोंके द्वारा कर सकता है। महापुरुष अथवा (प्रचंड हलचलके द्वारा) धर्मोपदेशक, साधु, राजा- इत्यादिके जीवनकर्मोंद्वारा ये सब बातें पार पड सकती हैं। इसके लिये वस्तुतः स्वयं भगवान् के अवतीर्ण होने की आवश्यकता नहीं।

मानवी प्रकृति में भागवत प्रकृति का प्रगटीकरण ही अवतार है और इसी प्रकार खिस्त, बुद्ध और कृष्ण के अवतार हुए हैं। खिस्तत्व, बुद्धत्व और कृष्णत्व का अनुकरण करके मानवीय नीतिविचार भाव, कर्म का अनुशीलन होवे, और इसतरह मानव प्रकृति भागवत प्रकृति में परिवर्तित हो- यही इन अवतारों का उद्देश्य रहता है। अवतार जिस धर्मनीति की संस्थापना करता है, उसका मुख्य हेतु यही है। खिस्त, कृष्ण और बुद्ध केन्द्र-स्थान में द्वार के समान खडे रहते हैं। वे अपने द्वारा मनुष्य को उत्क्रान्त होने के लिये मार्ग देते हैं। इसके लिये प्रत्येक अवतार मनुष्य के सामने स्वीय जीवन का आदर्श ही रखता है और वही आत्मविकास का प्रवेशद्वार प्रसृत करता है। ये ऐसा भी जाहिर करते हैं कि वे और भगवान् वस्तुतः एकही हैं। श्रीकृष्णने कहा है कि मानव-शरीर से अवतीर्ण हुवा जो श्रीकृष्ण (मानुषीं तनुमाश्रितम्) और सकल भूतों का सुहृद, महेश्वर एकही भगवान् पुरुषोत्तम का प्रकाश है। इसी तरह ईसा मसीह ने और बुद्धने कहा है।

केवल इसी भाग का अवलोकन करने से मालूम होगा, कि अवतार का यह जो द्वितीय और सच्चा उद्देश है, वही गीताशिक्षण का रहस्य है, तथापि इस भाग के साथ अन्य विभगोंका विवेचन किया जाय, तो यह सार अधिक स्पष्ट रीतिसे प्रतीत होगा। किसी विशिष्ट श्लोक का अथवा विशिष्ट विभाग का स्वतंत्र अर्थ करने से गीता का सच्चा अर्थ ध्यानमें नहीं आसकता। गीतार्थ समझ लेनेकी दृष्टी से अन्य श्लोक अथवा विभाग विचार में लेना ही इष्ट है। "ईश्वर सर्व भूतोंके हृदय में है," "एकही आत्मा सकल भूतोंमें विराजमान है।" गीता के इन उद्गारों का हमें यहां स्मरण करना चाहिये। इसी तरह ईश्वर और सृष्टिके पारस्परिक संबंध की विचारसरणी भी ध्यान में लेना चाहिये। जैसे जोरदार शब्दोंमें गीता ने विभूति का विवरण किया है, और गीतागुरुने जिस भाषा में स्वतः के निःस्वार्थी कर्मका उदाहरण दिग्दर्शित किया है, वहां भी लक्ष्य देना चाहिये। यह वर्णन मानवरूपी श्रीकृष्ण और जगत् का ईश्वर-इन दोनों दृष्टि में एकहीसा लागू होता है। इसी तरह ९ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक सरीखे श्लोकों का भी मर्मग्रहण इसी रीति से करना चाहिये-

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ९। ११

"मानव देहधारी मुझे भ्रान्त मनुष्य तुच्छ समझते हैं, क्योंकि सर्व भूतों का महान् ईश्वररूपी मेरा परम तत्त्व वे नहीं जानते।" अवतार का मर्म समझ लेना हो तो इन सब तथ्यों के प्रकाश में हमें गीता की यह गंभीर गर्जना समझ लेना जरूर है-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ ४-१०-११

"हे अर्जुन ! इस प्रकार जो मेरा जन्म-कर्म यथार्थ रीतिसे जानता है, उसको देहत्याग के बाद पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता, और वह मुझेही आकर मिलता है। आसक्ति, भीति और क्रोधसे रहित होकर, अनन्यभावसे मेरा आश्रय करके, ज्ञानरूपी तप से जो पवित्र हुए हैं ऐसे अनेक महात्मा मेरे स्वरूप को आकर मिले हैं।"

इस प्रकार आलोचना करनेसे हम भगवान् के जन्मका सच्चा स्वरूप और हेतु समझ सकेंगे; और यह भी देख सकेंगे, कि अवतार अथवा दिव्य-जन्म कोई अलौकिक बात नहीं, किंतु जागतिक विकासरूपी समग्र व्यापारमें अवतार का भी निर्दिष्टस्थान है। अन्यथा हमें अवतार का दिव्य-रहस्य समझेगा नहीं। कदाचित हम अवतारतत्व को बिलकुल उडा देंगे, अथवा विना कुछ समझे-बुझे अंधबुद्धिसे उसको शिरोधार्य मानेंगे और हम वही गलतिया करेंगे, जो कि आजकल गहरा विचार न करके सामान्यतः मनुष्य अवतारतत्त्वके अज्ञान के कारण कर बैठता है।

प्राच्य देशोंसे पाश्चात्य देशोंमें जो कुछ भाव निर्यात हुए हैं, उनमें यह अवतारतत्त्व समझना पाश्चात्यों की वैज्ञानिक बुद्धिके लिये बिलकुल दुर्घट है। वैज्ञानिक लोग को अंधविश्वास, लोक-भ्रम अथवा रूपक समझते हैं। वैज्ञानिकों की यह धारणा रहती है कि जिस मनुष्यमें विशेष सामर्थ्य, प्रतिभा अथवा कर्तृत्व रहता है, वही मनुष्य सामान्य लोगों की दृष्टिसे अवतार है। ईश्वर का अस्तित्व अमान्य करनेवाले जडवादी अवतारवाद को ठहरने ही नहीं देते। जो लोग ईश्वरको जगत् से पूर्णतया निराला देखते हैं, वे इस कल्पना की दिल्लगी उडाते हैं, कि ईश्वर मनुष्यरूप से अवतीर्ण होता है। उनके मतानुसार भगवान् यदि होगा, तो वह विश्वके ऊपर अथवा बाहर है और वह जगद्व्यापार में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करता जागतिक कार्यपरंपरा बंधे हुए नियमोंसे चलती रहती है। परमेश्वर वस्तुतः एक दूरवर्ती राजा के सदृश है, क्रियाशील प्रकृति के बाहर वह निष्क्रिय स्थिति में है। वही आत्मा है। उसके बारे में शरीर धारण संभाव्य नहीं। वह अनंत है, अर्थात् उसको मनुष्यसरीखा सांत होना शक्य नहीं है। वह अज और सृष्टिकर्ता और सर्वशक्तिमान् है। तथापि उसको मनुष्यरूप से अवतीर्ण होना शक्य नहीं। भगवान् का कारण स्वरूप और व्यवहार मनुष्य से सर्वस्वी भिन्न और स्वतंत्र रहने के कारण पूर्ण परमेश्वरमें मनुष्य की अपूर्णता असंभाव्य है। सकल जगत् का जो नियंता है वह प्रकृति के आधीन मानवी कर्ममें कभी बद्ध नहीं हो सकता... सुनने से द्वैतवादियों की ये शंकाएं महत्व की मालूम होती हैं। गीतागुरू के मन में भी ये शंकाएं थीं; यह बात निम्नलिखित श्लोकों से भली भांति देख सकते हैं-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥४।६
अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ९।११
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
४ । १३

"मैं अजन्मा, अविनाशी और सर्व भूतों का ईश्वर हूं, तथापि मैं योगमार्ग से प्रगट होता हूं।"

"मूढ लोक मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते कि जो सब भूतों का महान् ईश्वर है। वे मुझे मान-वतनुधारी समझकर मेरी अवहेलना करते हैं।"

"मैने गुणकर्मों के विभागानुसार चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया है। मुझे उसका कर्ता भी समझो और अव्यय, अकर्ता भी समझो।"

भागवत चैतन्यके कर्ममें वह चातुर्वर्ण्यका निर्माता और सर्व सांसारिक कर्मोंका कर्ता है।

भागवत चैतन्यकी निष्क्रीयतामें अपने प्रकृति कर्म का वह द्रष्टा है; क्योंकि सदासर्वदा वह कर्म और नैष्कर्म्यके परे रहनेवाला श्रेष्ठ पुरुषोत्तम है। जगत् और ईश्वरके विषयमें गीता वेदान्तमतका स्वीकार करनेमें अग्रसर हुई है, इसलिये इन सब शंकाओं का इसने खंडन करके अखिल विरोध की मीमांसा की है।

क्योंकि वेदान्त मतसे इन सब शंका विरोधोंको कोई आधार नहीं है। वेदान्त मतके अनुसार यद्यपि अवतार आवश्यक नहीं, तथापि वेदान्तके संपूर्त सयुक्तिक मतवादमें वह बिलकुल स्वाभाविक रीत्या प्रविष्ट हुआ है, क्यों कि इस मतके अनुसार सबही भगवान्, आत्मा स्वयंभू, ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयम्- इनके सिवाय और कुछ नहीं, कुछ रहना शक्य नहीं; सबही जीव भगवान्की आत्मिक और शारीरिक मूर्तियां हैं। वे भागवत चैतन्यसेही उत्पन्न हुई हैं और उसीमें उनका वास्तव्य है। संपूर्ण विश्वको व्यापकर वह रहा है, इसलिये उस अनंतको सान्तभाव ग्रहण करना तो असंभव है ही नहीं। हम किसी दृष्टिसे देखें, तथापि जिस जगत्में हमारा वास्तव्य है, वहां कहीं भी सिवाय भगवान्से दूसरा कुछ नहीं है। आत्माके विषयमें आकार धारण करना अथवा देह-मनसे संलग्न रहना असंभव है ही नहीं, किंतु इस प्रकारके संबंध ही के कारण जगत् कायम रहा है। यह जगत् चैतन्यशून्य अंध नियमोंका केवल खेल नहीं है। चैतन्य अथवा आत्मा जगतके बाहर केवल उदासीन होकर साक्षी रूपसे बैठा नहीं है। अखिल जगत् और उसका प्रत्येक अणुरेणु सिवाय भागवत शक्तिकी क्रियाके और कुछ नहीं है, और वही शक्ति जगत्की प्रत्येक गतिको और कार्यको संचालित करती है. जगतके शरीरमें वास्तव्य करती है और प्रत्येक शरीर-मनको अधिकृत करती है। सकल चराचर वस्तु भगवान्में स्थित हैं और उसीमें अपना जीवन व्यतीत करती हैं। भगवान् भी सर्वत्र विराजमान हैं और सबही के द्वारा कर्म करते हैं और स्वतःका रूप प्रगट करते हैं। प्रत्येक जीवही छद्मवेशी नारायण है।

जिसको जन्म ही नहीं, उस भगवान्के विषयमें जन्मग्रहण असंभव होना दूरही रहा। सकल जीवमात्र व्यक्तिशः अज आत्मा, सनातन अनाद्यंत हैं। भगवान्की गूढ सत्तामें सबही एकमेव आत्मा है, उसके विषयमें जन्म और मृत्यु केवल बाह्य आकार ग्रहणका और परिवर्तनका लक्षण है। जो पूर्ण है वह अपूर्णता किस तरह धारण करता है? यही विश्वप्रपंचका रहस्यमय व्यापार है। परन्तु जो मन और शरीर धारण किया जाता है, उसके आकारमें और कर्ममें ही अपूर्णताका दोष विराजमान है। यह जो धारण करता है, उसमें किसी तरहकी अपूर्णता नहीं है। जैसे सूर्य प्रकाशमें दोष नहीं, परंतु जिसकी उसकी दृष्टीके अनुसार प्रकाश दिखता है; अर्थात् अपूर्णता अथवा दोष प्रकाशमें नहीं, किंतु व्यक्ति की दृष्टिमें रहता है। उसी तरह देहधारण करनेवालेमें दोष नहीं, किंतु देहमें है। ऐसा नहीं है कि भगवान् दूर कहीं स्वर्गमें बैठकर जगत्के सूत्र फिराता है; किंतु सर्वत्र विराजमान होकर वह जगत्का कारोबार चलाता है। शक्तिकी सब प्रकारकी जो सान्त क्रिया दिखती है; वह किसी समर्याद और स्वतंत्र शक्तिकी क्रिया नहीं, वह एकमेवाद्वितीय अनंत शक्तिकी क्रिया है। इच्छा की और ज्ञानकी प्रत्येक सान्त क्रिया ही में अनंतकी सब इच्छा व ज्ञानकी क्रिया दिखाई देती है। यह बात नहीं कि भगवान् किसी दूर देशमें जगत्के बाहर रहकर जगत्के सूत्र चलाता है। वह सर्वातीत है और सबका परिचालन करता है; परंतु परमात्मरूपसे वह सब क्रियाकर्मोंमें है, इसी कारण सबका संचालन करता है। इसलिये अवतारकी संभाव्यताके विरुद्ध हमारी बुद्धिको जो जो संशय उत्पन्न होते हैं, वे सब निराधार हैं; क्योंकि हमारी बुद्धि सान्त और अनन्तमें, पूर्ण और अपूर्णमें जो मिथ्या विभाग करती है, वह जगत्की प्रत्येक घटनाके, प्रत्येक सत्यके विरुद्ध है।

यद्यपि अवतारकी संभाव्यता की बात अलग

रख दी जाय तब भी प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि वस्तुतः इस प्रकार घटना होती हैं या नहीं? भागवत चैतन्य अपना आच्छादन दूर करके क्या सचमुच बाह्य जगतमें, मानसिक जगत्में और सान्ततामें प्रत्यक्ष रीतिसे कार्य करता है? वस्तुतः सांत अथवा समर्यादके मायने हैं स्वतःके भिन्न चैतन्यके साम्हने अनंतका आत्मप्रकाश। कार्यतः सान्तत्वकी प्रचीति किसी भी प्रकारसे आवे, वस्तुतः प्रत्येक सान्त वस्तु स्वीय सत्तामें अनंतही है। इसी दृष्टिसे हम मनुष्यको देखें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्य कोई निर्मल और पूर्णतया निराली व्यक्ति नहीं है, किंतु विशिष्ट शरीर-मनके अंदर भरा हुआ वह मानवजातिका प्रकाश है। इसी तरह मानवजाति कोई पूर्ण व स्वतंत्र जाति नहीं है, किंतु वह विश्वसत्ताका, विश्वेश्वरका, मानव जातिके रूपसे व्यक्त होनेवाला आत्मप्रकाश है। इस जगह यह विश्वसत्ता स्वतःको विकसित करती है और वही आत्मा है।

क्योंकि आत्माका मतलब हम जो कुछ समझते हैं, उससे या तो हमारी यह धारणा होती है, कि अपने अस्तित्वके लिये आत्मा दूसरे किसीपर अवलंबित नहीं है; उसकी सत्तामें अनंत चैतन्यशक्ति भरी हुई है और वह निजानंदमें रममाण है;अथवा यह मान लेते हैं कि यह कुछ भी नहीं है; और नहीं तो इतना निश्चित मानते हैं, कि मनुष्य और जगत् का परस्पर कोई संबंध नहीं। चैतन्यसत्ता की शक्ति संचित होकर उसीसे शरीर, जड उत्पन्न हुआ है-वस्तुतः जड भी चैतन्य हीन नहीं है। आधुनिक विज्ञान ही स्पष्टतया यह कहनेको तैयार हुआ है,कि प्रत्येक अणुमें और प्रत्येक कोषमें इच्छाशक्ति, बुद्धि कार्य करती है। परंतु यह शक्ति स्वतंत्र शक्ति नहीं है, किंतु वह अंतर्गत आत्माकी, भगवान् ही की इच्छाशक्ति और बुद्धि है। सर्वत्र व्यापकर रहनेवाली यह विश्वव्यापी इच्छाशक्ति बोधशक्ति पृथक् पृथक् आधारसे और भिन्न भिन्न पद्धतिसे विकास करती है। और नहीं तो पृथ्वीतलपर मनुष्यके विषयमें उसने श्रेष्ठ विकास किया है और इसी कारण मनुष्यने सबसे पूर्ण, भगवानसे अधिक सायुज्यताका लाभ किया है, और स्वीय भागवत सत्ताकी अस्पष्ट उपलब्धि प्रथमतः मनुष्यने ही की है। परंतु यहां भी अडचने हैं। जिसके कारण निकृष्ट स्तरके आधारपर भगवान्से ऐक्य का अनुभव नहीं ले सकते, ऐसी अपूर्णता यहां भी विकासके मार्गमें है, क्योंकि प्रत्येक सांतसत्तामें उसके बाह्य कर्ममें जैसी अपूर्णता है, वैसी बाह्य चैतन्यमें भी अपूर्णता है और इसीके कारण जीव का स्वरूप निरूपित होता है और इसी प्रकारसे जीवमें जीवभिन्नत्व उत्पन्न होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥
१८।६१

"ईश्वर सर्व प्राणिमात्रोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायाके सामर्थ्यसे प्राणिमात्रको ऐसे घुमा रहा है, मानो सभी किसी यंत्रपर चढाये गये हों"। प्राणियोंके हृदयमें गुप्त रीतिसे रहकर भगवान् प्राकृत चैतन्यके द्वारा कर्म करता है। तथापि यह अहंकारावृत प्राकृत चैतन्य कुछ नहीं समझ सकता। भगवानका जीवसे सार्वत्रिक ही व्यवहार है। ऐसी अवस्थामें हम क्यों गृहीत समझें कि वह किसी विशिष्ट आधारके द्वारा अवतीर्ण होताहै?मनुष्य और भगवान्में जो व्यवधान है, जो कि अपूर्ण और बद्ध मनुष्य दूर नहीं कर सकता, उसको दूर करना ही इसका उद्देश्य है। इतनी बात इससे स्पष्ट होती है।

गीता कहती है, कि जीव प्रकृतिकी प्रक्रियाके वश होता है और माया उसके ज्ञानको ढांक देती है, इस कारण सामान्यतः जीवके द्वारा अपूर्ण कर्म होता है। प्रकृति और माया भगवान्की एकही कार्यकारी शक्तिके दो भाव हैं। मूलतः माया भ्रम नहीं है। (माया भ्रमकी उत्पत्ति त्रिगुणमयी अपरा प्रकृतिके अज्ञानसेही होती है। भागवत चैतन्य स्वतःको स्वतः के सामने निराले ही प्रकारसे प्रगट करता है, वही माया है, और इस सारे भिन्न प्रगटीकरणको स्वभाव और

स्वधर्मानुसार कार्य में परिणत करना जिसका कार्य है। वही भागवत चैतन्य की कार्यकारी शक्ति प्रकृति है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।९।८

"मैं अपनी प्रकृति को हाथ में लेकर, भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूं, कि जो उस प्रकृति के काबू में रहनेसे अवश अर्थात् परतंत्र है।" मानव शरीरमें अवस्थित भगवान् को जो लोग जानते नहीं, उनके अज्ञान का यही कारण है, कि वे प्रकृति- क्रियाके सर्वस्वी वश होकर, वासना और अहंकार के द्वारा आसुरी स्वभाव उनकी बुद्धि को भ्रान्त करता है (मोहिनीं प्रकृतिम् आश्रिताः) क्योंकि हृदयस्थ पुरुषोत्तम को सहजरीतिसे कोई भी नहीं देख सकता। वह अपने को घने अंधकारवाले मेघोंके अंतराल में छिपा लेता है, योगमाया के द्वारा स्वतः को पूर्णतया आच्छादित करता है। गीता में कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
गी. अ. ७ श्लो. १३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते ॥
श्लो. १४

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
श्लोक १५

"इन तीन गुणात्मक भावोंसे मोहित होकर यह सारा संसार इन से परे के मुझ अव्यय को नहीं जानता; क्योंकि मेरी यह त्रिगुणमयी माया बहुत दुस्तर है। इस माया को वे पार कर जाते हैं, जो मेरी ही शरण में आते हैं। मायाने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पडकर मेरी शरण में नहीं आते।" अर्थात् भगवान् का वास्तव्य सभी में रहनेसे यद्यपि भागवत ज्ञान सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ है, तथापि भगवान् का वास्तव्य माया के द्वारा आच्छादित रहनेसे, प्रकृति की क्रियासे, माया की क्रिया से इस मूल आत्मज्ञान को अहंकार के भ्रम का स्वरूप प्राप्त होता है। तथापि प्रकृति की क्रिया से स्वतः को मुक्त करके मनुष्य ज्यों ही प्रकृति के प्रभु की ओर झुकता, त्योंही भगवान् को वह जान सकता है।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि गीताने साधारण जीव का जन्म जिस भाषा में वर्णन किया है, उसीमें (अत्यावश्यक) थोडा बदल करके भगवान् के भी अवतार का वर्णन किया है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९-८

और यहां कहते हैं-

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

"स्वीय प्रकृतिमें अधिष्ठान करके अपनी माया के द्वारा मैं अवतीर्ण होता हूं।" (आत्मानं सृजामि) मैं स्वतः को निर्माण करता हूं। 'अवष्टभ्य' शब्द से ऐसा-अर्थ निष्पन्न होता है- "ऊपरसे नीचेके तरफ इतने जोरसे दवाव डालना कि उससे नीचे की वस्तु ऊपर की वस्तु के चुंगल में आजाय (अवशम् वशात्।) इस प्रक्रिया के कारण प्रकृति यंत्रके समान काम करती है और इससे स्वीय प्रभुत्व के अभाव में प्राणिमात्र इस यंत्रसामर्थ्यसे अवश होकर कार्य करते हैं। "अधिष्ठाय" शब्द का अर्थ सर्वस्वी भिन्न है। इस शब्द का मर्मार्थ ऐसा है कि प्रकृति में वास्तव्य करना, परंतु प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवता- इस रूपसे प्रकृति के कार्य की परिचालना भी करना। यहां पुरुष प्रकृतिके आधीन नहीं रहता, किंतु प्रकृति ही पुरुषके ज्ञानसे और इच्छासे पूर्ण होती है। इसलिये साधारण जन्मसे जो कुछ निर्माण होता है वह "भूतग्रामम्" सर्व प्राणिमात्र है, और दिव्यजन्म से जो उत्पन्न होता है वह 'आत्मानम्' है। आत्मा और भूतमात्र इन दोनों में जैसा वेदान्त ने फरक किया है, वैसाही

फरक पाश्चात्य दर्शनने भी किया है। उभय क्षेत्र में जन्म का कारण माया ही है; परंतु दिव्य जन्म आत्म मायासे और साधारण जन्म अविद्यामायासे होता है।

गीता की भाषासे मालूम होता है कि दिव्य जन्म का मतलब भगवान् का मानवरूपसे ज्ञानपूर्वक जन्म ग्रहण है- अर्थात् इस जन्मग्रहण का प्रकार सामान्य जन्म से विपरीत है। यह जन्मग्रहण कोई शारीरिक व्यापार नहीं, किंतु आत्माका जन्म है। जो सर्वत्र गुप्तरीतिसे विराजमान है और गोपनस्थान से सब सूत्रोंका चालन करता है, वह आत्मा दिव्य जन्म में सामने आकर भगवद्भावसे मानव मूर्ति को अधिकृत करता है, और साधारण जन्म में यह आत्मा अंतरंग में ईश्वररूपसे रहता है और बाह्य- चैतन्य प्रकृतिके अंकित रहता है; अर्थात जीव आत्मज्ञानहीन और कर्मसे बद्ध रहने के कारण, मानवत्व के अंदर परमात्मा श्रीकृष्ण के द्वारा भगवद्भाव का जो प्रकाश वही अवतार* है। मानवत्व के श्रेष्ठ निदर्शन, विभूति गुरु अर्जुन को इसी भागवत अवस्थामें प्रवेश करने का आदेश करते हैं। सामान्य मानवोचित क्षुद्रत्व का और अज्ञान का अतिक्रमण किये विना यह अवस्था प्राप्त होना असंभवनीय है। हमको निम्न स्थिति से जिसका विकास करना है, उसका प्रकाश ऊपर से होना- यही अवतार है। मानव के जिस दिव्य जन्म में हमारे सदृश मर्त्यजगतके जीवों को प्रविष्ट होना चाहिये, उसमें भगवान् का अवतरण- अवतार है। सर्वांग सुंदर मानवत्व में प्रगट हुआ ऐसा यह मनोहर दिव्य आदर्श भगवान्ने मनुष्य के सामने रखा है।

अवतार की प्रणाली

(२)

मनुष्य का जन्म एक गूढ और रहस्यमय व्यापार है। भगवान् का मानवरूपसे प्रगट होना इसी रहस्य की एक बाजू है- यह गीता का मत हमने देखही लिया है। अवतार में भगवान् मनुष्यरूप लेते हैं, परंतु मनुष्यजन्मभी मूलतः भगवान् का मानवावतार है. और कुछ नहीं। प्रत्येक मनुष्य का सनातन और सर्वगत आत्मा भगवान् है; केवल इतनाही नहीं, किंतु मनुष्य का व्यष्टिगत व्यक्तिगत आत्मा, जीवात्मा भी भगवान् का अंश है (ममैवांशः)। अर्थात् यह अंश भगवान् का खंडांश अथवा भग्नांश नहीं है, क्यों कि भगवान् का खंड नहीं हो सकता, किंतु उस एक पूर्ण चैतन्य का आंशिक चैतन्य, उसी एक शक्ति की आंशिक शक्ति, उस एक विराट् आनंदका विश्वलीला के हेतु उस अनंत अमर्याद सत्ताकी मर्यादा में अवतीर्ण होना- यही जीवात्मा है। इस असीमताका चिन्ह है अज्ञान, अविद्या। इस अज्ञान के आधीन होनेसे मनुष्य यह भूलता है कि मैं भगवान् से ही आया हूं; किंबहुना उसके हृदय में गुप्त रीतिसे विराजित भगवान् ही मानव चैतन्य

* अवतार शब्द का अर्थ है उतरकर आना। जो रेषा भागवत स्तर को मानवी स्तरसे पृथक् करती है, उस रेषा के नीचे उतरना अवतार है।

के मंदिरमें ढंके हुए अग्नि के समान रहता है, इस बात की भी उसको सुध नहीं रहती।

जिस माया के द्वारा अनंत सत्तामेंसे मनुष्य प्रगट हुआ उस प्रकृति की अथवा माया की छाप मनुष्य की सब इंद्रियों पर पडनेसे अंतरात्मा की दृष्टिसे मनुष्य अज्ञान है। भागवत सत्तारूपी मूल्यवान् धातु से माया मनुष्य को सिक्के के समान खरोंचती है। तथापि बाह्यगुणरूपी ऊंचा-नीचा आच्छादन (कठिण आच्छादन) उसपर डालती है; अर्थात् अपनी छाप उसपर मारकर उसको पाशविक मनुष्यत्व का चिन्ह चिपका देती है। ऐसी परिस्थिति होनेसे यद्यपि भगवान् का चिन्ह मनुष्य में गुप्तता से रहता है, तथापि पहिले पहिले वह समझ में नहीं आता; अनेक कष्ट करके वह समझ लेना पडता है। दीक्षालाभ किये बिना हमारे जीवन का गूढ रहस्य हमारी समझ में नहीं आ सकता। अवतार में- अर्थात् जहां भगवान् मनुष्यरूप से जन्म लेता है वहां— सच्ची धातु आवरणके रहते हुए भी स्पष्टतया प्रकाशित होती है। ऐसी जगह प्रकृति की छाप केवल नाममात्र रहती है। वहां ज्ञान और शक्ति अंतरस्थ भगवान् की रहती है, वह प्रकृतिका आच्छादन फाडकर प्रगट होती है। वहां भगवान् का चिन्ह (बाह्य अर्थात् शरीरचिन्ह नहीं, किंतु आध्यात्मिक चिन्ह) बहुतही स्पष्ट रहता है। जिन्हें देखने की इच्छा है और जो देख सकते हैं उन्हीं को वह दिखता है। आसुरी प्रकृति के लोग इस समूचे व्यापार में अंधे हैं; वे शरीर को देखते हैं, आत्माको नहीं देखते; बाह्यसत्ता पर लक्ष्य देते हैं, अंतःसत्ता पर लक्ष्य नहीं देते; वे केवल चेहरा देखते हैं, परंतु उस चेहरे के अंतर्गत मुख-का अवलोकन नहीं करते। सामान्य मनुष्यजन्म में भगवान् का प्रकृतिभाव ही प्रबल रहता है, और अवतारी मनुष्य जन्म में भागवत भावही उत्कट रहता है। एकमें भगवान् के अंश पर मानवीय प्रकृतिका प्रभुत्व रहता है (अर्थात् भगवान् करने देते हैं इसी लिये प्रकृति करती है) दूसरे स्वयं भगवान् अपने अंश को अधिकृत करके भागवत भाव से उसका परिचालन करते हैं। मनुष्य यदि क्रमशः अपना विकास करते करते भागवत भाव की प्राप्ति करले, तो गीता के मतानुसार वह अवतार नहीं है, किंतु स्वयं भगवान् जब मानवता में अवतीर्ण होकर मानवी आकार धारण करता है, तभी वह अवतार ठहराया जाता है। तथापि गीताने यह बात स्पष्ट कर दी है, कि मनुष्य के इस क्रमविकासको, ऊर्ध्वगति को साहाय्य करने ही के लिये भगवान् अवतार के रूप से अवतीर्ण होते हैं। अवतार का हेतु यही रहता है, कि भागवत सत्ता किस प्रकारकी है यह देखकर उसकी प्राप्ति अपने जीवन में कर लेनेका विश्वास मनुष्य में उत्पन्न हो, और मनुष्य के अंदर भागवत सत्ताका प्रकाश प्रगट होने की संभाव्यता हमें दिख जाय। अवतार का और भी यह हेतु रहता है कि पार्थिव प्रकृति को उर्ध्वगामी होने में सहायता मिले और भगवान् के ऐसे आविर्भाव का प्रभाव कायम रहे। देवप्रकृतिका मनुष्य कैसा रहता है, उसका एक आध्यात्मिक सांचा उपस्थित करना अवतार का उद्देश्य है। जिसके द्वारा देवप्राप्ति की दिशासे मनुष्य की प्रगति होगी और उसको अंतर्बाह्य जीवनचर्याकी प्रणाली समझे— इस प्रकार का कोई धर्म (मतवाद नहीं) पुरस्कृत करना अवतार का उद्देश है। मनुष्य की यह ऊर्ध्वगति- देवजन्मकी प्राप्ति- कोई विच्छिन्न और व्यष्टिगत व्यापार नहीं है, किंतु जगत् में भगवान् के अन्यकार्यों सरीखा यह एक समष्टिगत व्यापार है, और उसका ध्येय मानवजातिका कल्याण है। अर्थात् मानव जाति को अधोगति के तरफ खींचनेवाली शक्ति जब अत्यंत प्रबल होती है, तब उसका उच्छेद करना; भगवत्प्रवृत्त होनेका मानवप्रकृति में जो धर्म है उसका संरक्षण तथा संवर्धन करना; देशकालानुसार यथाशक्ति जगत् में स्वर्गराज्य स्थापन करनेका मार्ग शुद्ध करना; जिन्हें प्रकाशक की और सिद्धिकी अपेक्षा है उन्हें

उस विषय में विजयी करना; जो अंधकार और पापका साम्राज्य कायम रखने के लिये युद्ध करते हैं, उनका पराजय करना और मानवजाति की उत्क्रान्ति को साहाय्य करना- ये भी अवतार के उद्देश देखने में आते हैं। अवतार के आगमन के ये उद्देश लोकविदित हैं। अवतार का कार्य दिखने पर ही सामान्य लोगोंमें उसकी पहचान होती है और उसकी पूजा होती है। जो केवल आध्यात्मिक प्रकृति के लोग हैं, उन्हींको मानवदेहधारी अवतार अंतस्थ और अनंत भगवान् का चिन्ह मालूम होता है। ईसामसीह, श्रीकृष्ण और बुद्ध का जो मानवरूप से आविर्भाव हुआ, और हम में भगवान्के चिरंतन अवतार का जो आविर्भाव होता है, इन दोनों की जड में एकही गूढ सत्य है। पृथ्वीपर बाह्य मानवजीवन में जो हो रहा है, वही सब मनुष्यों के अंतर्जीवन में फिर हो सकता है।

अवतार का उद्देश्य यही है; परंतु अवतार की प्रणाली क्या है? सर्वसामान्य बुद्धिपर निर्भर हो कर अवतारके संबंध में जो क्षुद्र कल्पना की जाती है, उसीका पहिले विचार करें। इस कल्पना के अथवा मत के अनुसार जिस किसी मनुष्य में देवोचित चरित्र, बुद्धि और असाधारण शक्ति नजर आती है वही अवतार है। इस समझ में थोडा सत्य है। जो अवतार है, वह विभूति मालूम होती है। श्रीकृष्ण अपनी अभ्यंतर भागवत सत्तामें मानवरूपी भगवान हैं, और बाह्य मानवी सत्तामें उस युगके नेता और वृष्णिवंशके महापुरुष हैं। अर्थात् यह आत्मदृष्टिसे नहीं, किंतु प्रकृतिकी दृष्टिसे है। स्वीय प्रकृतिके अनंत गुणों द्वारा भगवान स्वतःको प्रकाशित करते हैं, इसलिये इन सब गुणोंकी शक्ति और कार्यको देखनेसे ही भगवानके प्रकाशका तारतम्य समझमें आता है। इस कारण विभूति कहनेसे कोई व्यक्ति ध्यानमें नहीं आती, किंतु शक्तिका ही बोध होता है। जब किसी व्यक्ति को हम विभूति समझते हैं, तब उसका इतनाही अर्थ होता है, कि उस व्यक्तिके प्राण-मन-आदिके आधारसे भगवान की शक्ति प्रगट होती है और इस प्रकार महत्कार्य संपादन करते रहनेही के कारण उस व्यक्तिको विभूतिमत्व आता है।

इस प्रकार अंतरंगमें असाधारण भागवतशक्ति और बहिरंगमें उसका महान कार्य-यही विभूतिका लक्षण है। भगवत्कार्य संपादन करने के बारेमें जो मानवजातिका नेता है, वही मानव विभूति और वही मानव रूपसे अवतीर्ण ऐसी भगवान्की शक्ति है। पाश्चात्य पंडित कार्लाइल के मतानुसार वही वीर (Hero) है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

> वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
> मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
> गीः १०. ३७

" यादवोंमें वासुदेव, पांडवोंमें धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य मैं हूं। " प्रत्येक श्रेणिमें प्रथम, प्रत्येक पक्षमें सर्वश्रेष्ठ और प्रत्येक श्रेणिमें विशिष्ट गुणकर्मका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि मैं हूं। इस प्रकार शक्तिका उत्कर्ष साधन भागवत प्रकाशकके मार्गमें नितांत आवश्यक है। जो कोई महापुरुष शक्तिके जोरपर सामान्य मानवताके पार जाता है, वह इसी शक्तिके द्वारा मनुष्य समाजको उन्नत करता है। यह महापुरुष हमारे अंतःकरणमें विद्यमान ऐसी भगवप्राप्ति की आशाकी जीतीजागती मूर्ति है, भगवज्ज्योतिका एक कण है, और भागवत शक्तिका एक कण है।

इसीलिये महान् और वीर पुरुषोंको देवता समझनेकी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्योंमें है। भारतवासियोंके मनमें इस प्रकारकी धारणा संस्कारगत और स्वाभाविक है। वे सहज वृत्तिसे साधुसंतों को, गुरुजनोंको, धर्म प्रचारकोंको भगवान्का अंशावतार समझते हैं। दक्षिणके वैष्णवों में यह भावना अधिकही प्रबल रहती है। वैष्णवों की यह दृढ श्रद्धा है कि कोई कोई साधु और महापुरुष विष्णुके विशिष्ट शस्त्रास्त्रों के अवतार हैं। सारे महापुरुष मानव जातिको भगवान्की ओर अग्रसर करानेवाले यंत्र और शक्तियां हैं।

इसलिये वैष्णवोंकी इस विश्वासपूर्ण धारणामें गंभीर मर्मार्थ है। "भागवत सत्ता और प्रकृति तथा मानवीय सत्ता और प्रकृति-इन दोनोंमें ऐसा अंतर नहीं है; कि जो लांघना अशक्य है," इस प्रकारके जिनके आध्यात्मिक मत हैं, उनकी वैसी धारणा रहना स्वाभाविक है। तथापि विभूति और अवतार एकही बात नहीं है। अन्यथा अर्जुन, व्यास, शुक्राचार्य इत्यादि सबही श्रीकृष्णके सदृश अवतार होते। केवल भागवत गुण और शक्ति रहनेसे काम पूरा नहीं होता, किंतु अंतःकरणमें यह ज्ञान जागृत रहना आवश्यकता है,कि भगवान् स्वतः वर्तमान रहकर प्रकृतिके सूत्रोंको चालना दे रहे हैं! सामान्य मानवी जीवनमें भी ऊर्ध्वमुखी शक्तिका विकास दिख पडता है; परंतु अवतारमें भगवान्का विशेष आविर्भाव दृग्गोचर होता है, दिव्य जन्म होता है, सनातन और सर्वगत भगवान् किसी विशिष्ट रूपमें अवतीर्ण होते हैं और उस समय न केवल भगवान्के अस्तित्वकी प्रतीति अंतरंगमें रहती है, किंतु बाह्य प्रकृति भी उस ज्ञानसे मंडित रहती है।

मानव चैतन्य विकसित और रूपांतरित होते होते भागवत चैतन्य में जब परिणत होता है तभी मनुष्यमें दिव्यजन्मका उदय होता है, और यही मनुष्यकी उर्ध्वगति है। इस उर्ध्वगतिकी पूर्णावस्था में भागवत चैतन्यके अंदर स्वतंत्र 'अहंता' का लोप होता है। आत्मा स्वतःका व्यक्तित्व एक अनंत विश्वव्यापी सत्तामें डुबा देता है, अथवा इसके भी आगे जाकर एक उच्च प्रपंचातीत सत्ता में स्वतःको मिला देता है। अर्थात परमात्मासे ब्रह्मसे, भगवानसे आत्मा एकमय हो जाता है, अथवा, जैसा कोई कहते हैं,आत्मा ब्रह्महो भगवान् हो जाता है। "आत्मा ही ब्रह्म होता है (ब्रह्म-भूतः) और इस प्रकार वह परमात्मा में श्रीकृष्णमें वास्तव्य करता है" ऐसा गीता कहती जरूर है, परंतु वह यह कहीं नहीं कहती कि आत्मा भगवान् होता है अथवा पुरुषोत्तम होता है। यह बात सही है, कि प्रत्येक जीव दिव्यजन्मका लाभ कर ले सकता है, परंतु वह भगवान्का अवतरण नहीं है। अधिकसे अधिक इस स्थितिको 'वर्तमान जागतिक व्यक्तित्वसे निवृत्त होकर आत्मा का एक अनंत और पर चैतन्यमें जागृत होना' अथवा बौद्ध मतानुसार 'बुद्धत्व-प्राप्ति' कह सकते हैं। अवतारमें जैसा होता है, वैसा यहां यह निश्चित नहीं कि अंतर्बाह्य ज्ञानकर्ष रहेगा ही।

गीता कहती है कि हृदयमें- हृद्देशमें+- ईश्वरका वास्तव्य है, परंतु यह वास्तव्य पडदेकी आडमें अर्थात् योगमायासमावृत है, परंतु इसके भी परे एक स्थान है जो हमहीमें हैं, परंतु वह हमारी सामान्य समझके बाहर है। इसी स्थानको प्राचीन लोग स्वर्ग कहते थे। ऐसा कहा गया है कि वहां ईश्वर और जीव मूलतः एकही सत्तारूपसे प्रकाशित हैं। रूपात्मक भाषामें इन्हीं को पिता-पुत्र कह है। ईश्वर पिता है और उससे दिव्य मानव जन्म लेता है, अर्थात भगवानकी भागवत (परा) प्रकृति परा मायामेंसे निम्न (मानवी) प्रकृतिमें जन्म लेती है। मालूम होता कि क्रिश्चन अवतारवादका अंतर्गत तत्त्व यही होगा। ईसाइयोंके त्रिसत्तावादमें पिता अंतर्गत स्वर्गवासी है। पुत्र अथवा परा प्रकृति गीतोक्त मतानुसार जीव होकर पृथ्वीतल पर दिव्य मानवरूपसे अवतीर्ण होती है। यह शुद्ध आत्मा, ब्रह्मचैतन्य है। इस आत्माके अर्थात् चैतन्यके द्वारा पिता और पुत्र, ईश्वर और जीव एक होते हैं; क्योंकि हमने सुना है, कि स्वर्गदूत ईसामसीहमें अवतीर्ण हुवा, और इस अवतरणके कारण ईसाके शिष्य समुदायमें भी ऊर्ध्वचैतन्यकी संपूर्ण क्षमता प्रगट हुई।

+ हृद्देश का अर्थ सूक्ष्म देहका हृदय समझना चाहिये। वह सब चिंतावेग, अनुभूति और मानसिक चैतन्यका ग्रंथिस्थान है। वहां जीवनपुरुषभी विराजमान रहता है।

परंतु इससे भी श्रेष्ठ जो पुरुषोत्तमका दिव्य-चैतन्य है, वह भी मनुष्यमें अवतीर्ण हो सकता है, और वहां जीवका लय हो सकता है। तत्कालीन लोग कहते थे, कि इस प्रकारका रूपान्तर श्री गौरांग चैतन्यका होता था। सामान्य जीवनमें वे केवल ईश्वरके एक प्रेमी भक्त थे। उन्हें कोई ईश्वर कहता था, तब उन्हें वह मान्य नहीं होता था। परंतु बीच बीचमें जब उनका दिव्यभावांतर होता था, तब वे स्वतः भगवान् होते थे, भगवान् सरीखीं बातें कहते थे, कर्म करते थे; उस समय चैतन्य देवमें भागवत ज्योति, भगवत्प्रेम और भगवत् शक्तिकी विलक्षण बाढ आती थी। किसी मनुष्यकी ऐसी सामान्य अवस्था हो, मानवी आधार यदि केवल भगवान्का आविर्भाव हो और चैतन्यका आधार शाश्वत हो, तो इस मध्यम मतानुसार इस अवस्थाको अवतार कह सकते हैं। मनुष्यको यह अनुभव हो कि भगवान्की और अपनी सत्ता एक है, उसको यह निश्चय हो कि मैं स्वयं भगवान्के चैतन्यका, ज्योतिका, शक्तिका और प्रेमका आधार हूं, यदि वह स्वतःकी इच्छा और व्यक्तित्व भगवान्की इच्छामें और सत्तामें डुबा सके और इस प्रकारसे मनुष्य यदि अपनी प्रकृतिको इतना उन्नत करे, तो मनुष्यको दृढ विश्वास होगा कि ऐसा अवतार संभवनीय है। तब उसको यह बात असंभाव्य न मालूम होगी, कि वह भागवत इच्छा, सत्ता, शक्ति, प्रेम, ज्योति, चैतन्य मानवी प्राणीके अखिल व्यक्तित्वपर अधिकार चलावे।

गीता इससे कही अधिक दूर गई है। गीता स्पष्ट कहती है, कि भगवान् स्वतः जन्म लेते है। श्रीकृष्णने स्वतःके अनेक जन्म संबंधी जो विधान किये हैं, उससे मालूम होगा, कि ये विचार केवल भगवान् को धारण करने योग्य ऐसे आधार-संपन्न मानवजन्मके नहीं, किंतु ये विचार स्वयं भगवान्के बहुजन्मके हैं; क्योंकि यहां भगवान्ने ठीक सृष्टिकर्ताकेही भाषाका प्रयोग किया है और आगे जगत्सृष्टिके संबंधमें विचार करते समय वही नमूना देखनेमें आता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ४।६

"मैं जन्मविरहित, अविनाशस्वरूप और सर्व भूतोंका मालिक हूं, तथापि स्वीय प्रकृतिका कार्य अध्यक्षरूपसे परिचालित करके स्वतः की माया के द्वारा स्वतःको उत्पन्न करता हूं।" यहां ईश्वर और मनुष्य, स्वर्गीय पिता और उसका पुत्र तथा दिव्यमानव-इनमेंसे किसीकेसंबंधमें विचार नहीं है; विचार केवल ईश्वर और उसकी प्रकृति के बारेमें है। भगवान् अपनी प्रकृति के द्वारा मानव रूपसे जन्म लेते हैं, मानवीशरीर मन लेकर अवतीर्ण होते हैं और इस देह मन को भागवत चैतन्य से और शक्ति से भर देत हैं। भगवान् अंतरात्मारूपसे अधिष्ठित होकर इन शरीर मन के सब सूत्र चलाते हैं।

मनुष्य की साधारण बुद्धि को इस प्रकार के मत पर विश्वास रखना मुश्किल पडता है; इसका कारण भी जाहिर है, क्योंकि अवतार की मानवीयता, अवतार जो मनुष्य वह स्पष्टरीतिसे लोगों की आंखों को दिखता है। अवतार सर्वकाल भागवत भाव और मनुष्यभाव, इन दोनों भावोंसे युक्त रहता है। जब मानवरूप से भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तब वे मानवप्रकृति की सारी बाह्य अपूर्णता तथा अक्षमता का भी ग्रहण करते हैं, और उसी को भागवत शक्ति का यंत्र बनाकर दिव्यजन्मका और दिव्यकर्म का आधार ठहराते हैं। यही होना आवश्यक है, अन्यथा अवतार का हेतु सिद्ध होना संभाव्य नहीं है; क्योंकि मानवजन्म सबतरहसे कितनाभी अपूर्ण हो तथापि वह दिव्यजन्मकर्म का साहाय्यक होता है- यही बात इस हेतु से भलीभांति विदित होती है। भागवत चैतन्य प्रगट करने की दृष्टीसे मानव चैतन्य मूलतः विरोधी नहीं है। मानव चैतन्य के सांचे का रूप बदलकर, उसको ज्ञान, प्रेम, शक्ति के उत्कर्ष का साधन बना

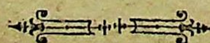
कर, भागवत चैतन्य के सदृश कर सकते हैं। यह बात करने का तरीका बतलाना भी अवतारका उद्देश्य है। यदि अवतार केवल असाधारण रीति से कार्य करेगा, तो अवतार का हेतु सिद्ध ही न होगा। केवल असाधारण अथवा अप्राकृत अवतार एक अर्थहीन और विलक्षण व्यापार है। ऐसा नहीं है, कि अवतार में किसी प्रकारकी कोई असाधारण क्रिया न रहेगी (ऐसा कहते हैं कि ईसामसीह में रोग नष्ट करनेकी इस प्रकार अद्भुत क्षमता थी); क्योंकि ऐसी असाधारण शक्ति मनुष्य में भी संभवनीय है, वह केवल अवतार-निदर्शक नहीं है। दूसरे यह, कि केवल अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करके अवतार का कार्य न होगा। नजरबंदी के अजब खेल दिखानेवाले जादूगर सरीखे अवतार नहीं आते। मानवजाति का नेतृत्व करने, दिव्य मानव का आदर्श लोगों के सामने रखने के हेतुसे अवतार अवतीर्ण होते हैं। किंबहुना मानवोचित दुःख और शारीरिक वेदना भी ग्रहण करके उनको यह भी बतलाना चाहिये (जैसा ईसामसीह ने किया) कि मुक्ति के लिये इन दुःखवेदनाओं को भी अपने सहाय्यक कैसे बना सकते हैं; और (जैसा बुद्ध ने किया) यह बतलाना चाहिये कि मानवी प्रकृतिमें ये दुःखवेदना मान्य करके भी भागवतसत्ता वहीं उनपर विजय प्राप्त करती है। जो कुतर्कवादी लोग ईसामसीह को कहते थे " यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो, तो क्रूसपर से नीचे उतरो, " अथवा जो पंडितमन्य लोग कहते हैं " कुत्तों बिल्लियों सरीखा अवतार को भी मरण आता है" - वह भी कभी कभी रोगका प्रादुर्भाव होकर- अत एव अवतार कदापि भगवान् नहीं हो सकता-हमें कहना पडेगा कि वे लोग अवतार के मूल उद्देश को बिलकुल नहीं समझे। दिव्य आनंद का अवतार होने के पहिले दुःखवेदनाओंका अवतार होना ही चाहिये। यह बतलाना जरूर है, कि मनुष्य की अपूर्णता ग्रहण करके ही उसका अतिक्रमण कैसे करना। यह अतिक्रमण किस हद्दतक होना चाहिये, किन उपायोंसे होना चाहिये, केवल आंतरिक होना चाहिये अथवा बाह्यतः भी होना चाहिये-यह सब मानवजाति की उत्क्रान्तिपर अवलंबित है। अमानुष अथवा अद्भुत घटना के द्वारा वह संपादन करनेसे काम न होगा।

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि भगवान् मानव शरीर और मन किसतरह ग्रहण करते हैं? यह प्रश्न ही वस्तुतःकठिण है और मनुष्य की मर्यादित बुद्धि उसके किनारेतक नहीं जा सकती। क्योंकि देह और मन सहसा पूर्णतया निर्माण नहीं हुआ; वह शारीरिक, मानसिक अथवा उभयविध विवर्तन के द्वारा निर्माण हुआ है। इतना जरूर है कि अवतार का आविर्भाव मूलतः एक आध्यात्मिक व्यापार है। गीताकी भाषा से भी मालूम होगा कि यह आत्माका जन्म है (आत्मानं सृजामि) तथापि उसके साथ यहां शारीरिक जन्म भी है;तब अवतार का यह मानवी शरीर-मन कैसे उत्पन्न होता है? अचेतन प्रकृति और उसमें अनुस्यूत जो प्राणशक्ति उसके द्वारा शरीर निर्माण होता है जो कि वंशपरंपरागत विवर्तन का फल है। यदि हम मानलें कि जीवात्मा उसमें कुछ नहीं करता, तो काम बिलकुल सहज होगा। भगवान् के अवतार के योग्य शारीरिक और मानसिक देह किसी उच्च अथवा पवित्र वंश में उत्पन्न होता है और अवतरण काल में भगवान् वही देह अधिकृत करते हैं। परंतु जहां गीता अवतार के संबंध में बोलती है (अः ४ श्लोः ५- ८) वहां अवतार के और जन्मांतर के बारे में अकुंठित रीतिसे बोलती है, (४ । ५) साधारण जन्मांतर वादके अनुसार आत्मा जन्मांतर ग्रहणकाल में अपने अतीत आध्यात्मिक और मानसिक विवर्तन के द्वारा स्वतः का शरीर और मन तयार करता है। सर्वथा आत्मा का संपर्क छोडकर उसका देह तैयार किया नहीं जाता। तब क्या हम यह समझें, कि एक अनंत अवतार स्वतः क्रमविवर्तनद्वारा बारबार अपने उपयोगी मानसिक और शारीरिक देहका विकास करता है? यह देह किस युगमें किस प्रकारका

रहना चाहिये,इसका निर्णय उस युग की मानवजाति उत्क्रांतस्थित्यनुसार तथा आवश्यकतानुसार करता है,और इसतरह युग युग में अवतीर्ण होता है?कोई कोई महाशय विष्णु के दशावतार की मीमांसा इसी विचार की दिशा से करते हैं- प्रथमतः नाना प्रकार की पशुमूर्तियां, तदनंतर नरसिंहमूर्ति, आगे चलकर वामनमूर्ति, तत्पश्चात् आसुरी मानव परशुराम, तदनंतर देवमानव महत्तर राम, उसके बाद ज्ञानसंपन्न आध्यात्मिक मानव बुद्ध। काल की दृष्टि से बुद्धके पहिले परंतु योग्यता की दृष्टिसे सर्वोच्च अवतार पूर्ण देवभावसंपन्न मानव श्रीकृष्ण । कल्कि कृष्णावतार हैं, तथापि उन्हों ने जो कार्य शुरू किया है, वह अभी उनके द्वारा पूर्ण होना है। सांप्रत युग की मनोभावनाका विचार करें, तो इस अवतारविषयक विचारपर विश्वास आना दुर्घट जरूर है, परंतु गीतोक्त भाषा उसी विचार की द्योतक मालूम होती है। तथापि गीताने स्पष्ट रीतिसे यदि अवतार-प्रश्न का समाधान नहीं किया, तो हमें अपने मनसरीखा यथामति समाधान करना आवश्यक है। हम कहते हैं कि जीवात्माही शरीर तैयार करता है; परंतु जन्म ही से भगवान यह शरीर-ग्रहण करते हैं, अथवा गीता में जिन चार मनुओं का (चत्वारः मनवः) उल्लेख किया है (इनमेंसे प्रत्येक मनु मानवी शरीरमन का आध्यात्मिक पिता है) उनमेंसे एकही अवतारयोग्य शरीर तैयार करता है। परंतु ये सब बातें आध्यात्मिक रहस्य की हैं। सांप्रत शास्त्रीय युगके लोग उन्हें सुनना भी नहीं चाहते। परंतु हमने जब अवतारवाद मान्य कर लिया है, तब आध्यात्मिक जगत्के व्यापारको हम अबाधित मानते हैं और यह होनेसे निश्चयके साथ उसका समालोचन करना ही श्रेयस्कर है।

अवतार के संबंध में गीताका मत बतला दिया। अवतार की संभाव्यता के विषय में जैसा हमने विस्तृत विचार किया है, वैसा अवतार-प्रणाली के विषयमें भी किया है; क्यों कि इस संबंध में मानवी बुद्धि को जो शंकाएं और अडचनें उपस्थित होती हैं उनपर विचार करके उनका जवाब देना आवश्यक है। यह जरूर है कि गीता में बाह्य अवतारके लिये विशेष स्थान नहीं हैं। बाह्य अवतार को गृहीत न भी मानें, तब भी गीतोक्त शिक्षण का अर्थ समझने में कोई बाधा नहीं आती। तथापि गीताशिक्षणकी क्रमपरंपरा में बाह्य अवतारवाद के लिये एक विशिष्ट स्थान है। मानवी अंतःकरण में अवतीर्ण होना ही अवतारविषयक मुख्य व्यापार है। परंतु जिस प्रकार आंतरिक जीवनविकास के लिये बाह्यजीवन का साहाय्य अधिक आवश्यक है, उसी प्रकार भगवान् के आंतरिक और महान् प्रकाश के लिये बाह्य अवतार किसी तरह कम आवश्यक नहीं है। मानसिक और शारीरिक रूपकी पूर्ण स्फूर्ति से और अनुशीलन से अंतस्थ सत्य वस्तुके विकास को साहाय होता है। आगे चलकर यह आंतरिक वस्तु अधिकाधिक उत्कृष्टता से बाह्य जीवनके द्वारा प्रगट होती है। इस प्रकार बाह्य मन और शरीर आध्यात्मिक सत्तापर कार्य करते हैं और आध्यात्मिक सत्ता बाह्य शरीर-मन-पर क्रिया करती है। इन दोनों की अविरत और पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा मनुष्य में भगवान् के प्रगटीकरण की लीला प्रत्येक युग में जारी रहती है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता ४।८)



श्रीमद्भगवद्गीता।

सतरहवां अध्याय।

(कवि०- श्री० रुलिया रामजी कश्यप एम. एससी.)

रीति छोड जो शास्त्र की, सूत्रग्रंथ अरु वेद।
सत्य धारका भावना, से करें यज्ञ सुसेव ॥ १ ॥

कृष्णा! अवस्था कौन सी, है उन की बतला।
सतोगुणी या राजसी, तामसी या जितला ॥ २ ॥

हे शुभवंशज भरतके!, सुन मुझसे यह भेद।
जीवोंकी वह भावना, त्रय प्रकार सत्यमेव ॥ ३ ॥

प्रकृति के अनुसार ही, उनकी दीखे वह।
रजोगुणी कहीं तमोगुणी, श्रद्धा सात्त्विक् कह ॥ ४ ॥

पर होती वह सभी की, अन्तःकरण अनुकूल।
देहव्यापी जो आत्मा, वह श्रद्धा भरपूर ॥ ५ ॥

जैसी यह जिसकी भावना, वैसी ही वह जान।
सत्य सनातन पुरुषको, श्रद्धामय पहिचान ॥ ६ ॥

सतोगुणी नर पूजते, परमात्मा सह देव।
राक्षस यक्ष कुबेर अरु, लें राजस की सेव ॥ ७ ॥

इनसे भिन्न जो तामसी, अधम कोटिके लोग।
सेवें भूत प्रेत वह, पायें शोक दुःख रोग ॥ ८ ॥

फंसकर दुर्जय विषयमें, पाखण्डी जो लोग।
चूर्ण हुए घमण्डमें, तपें विविध तप घोर ॥ ९ ॥

नहीं कहे जो शास्त्रमें, असुर उन्हें तू जान।
बुद्धि उनकी भ्रष्ट है, निश्चय यह पहिचान ॥ १० ॥

देह अन्दर मुझ टिके को, तत्त्व समूह को अरु।
अज्ञानी निर्बल करे, दुर्बल कृष निज तनुः ॥ ११ ॥

भोजन प्यारा सभीका, है वह तीन प्रकार।
यज्ञ दान तप भेद यह, सुन सबका विस्तार ॥ १२ ॥

सुख नीरोगता प्रेम अरु, बुद्धि, बल, आयुष्य।
पाईये यह सब जिन्हींसे, वे प्रिय उत्तम भक्ष्य ॥ १३ ॥

सतोगुणी चाहते यही, मन चाहा प्रिय भोज।
अन्दर टिक दे हृदयबल, मधुर रसीला योग ॥ १४ ॥

घृत दुग्ध से पूर्ण हो, स्निग्ध सुस्वादु भोग।
निर्बलता करे दूर सब, हरे शोक दुःख रोग ॥ १५ ॥

दुःखदे शोक अरु रोग दे, जलन करे विशेष।
कडुवा खट्टा सलूना, तीखा गरम विशेष ॥ १६ ॥

रूखा भोजन चाहते, सदा रजोगुणी लोक।
अत्युष्ण दुःखदायी जो, मिर्चमसाला योग ॥ १७ ॥

तमोगुणी को प्रिय है, जूठा बासी अन्न।
गन्दा, रस बिगडा, सडा, अरु देवे दुर्गन्ध ॥ १८ ॥

जिसे पके गयी बीत हैं, रात्रि एक, अनेक।
कच्चा, पक्का, जल गया, उन्हें न देता खेद ॥ १९ ॥

करना ही है उचित् यह, इस विचार से यज्ञ।
मन कर स्थिर एकाग्र अरु, किया विधि से यज्ञ ॥ २० ॥

इच्छा फल की नहीं रख, शास्त्र रीति अनुकूल।
सतोगुणी करें यज्ञ यह, सात्विक् सब सुख मूल ॥ २१ ॥

आडम्बर दिखलावे से, युक्त राजसी यज्ञ।
फल की इच्छा से किया, हे भारत! सुप्रज्ञ! ॥ २२ ॥

यज्ञ जान राजस उसे, अब सुन तामस भेद।
श्रद्धा जिस में होय न, जनता पावे खेद ॥ २३ ॥

अन्न नहीं उस में बना, गये पढे नहीं वे।
पण्डित् को मिली दक्षिणा, नहीं शास्त्र की टेक ॥ २४ ॥

कहते तामस उसे ही, विधि विहीन् जो यज्ञ।
श्रद्धा दक्षिणा रहित् जो, अन्न मन्त्र से यज्ञ ॥ २५ ॥

परमात्मादि देव अरु, ब्राह्मण आदि द्विज।
माता पिता सुबुद्धियुत्, पूजना गुरुवर द्विज ॥ २६ ॥

रखना शुद्ध शरीर को, कोमल सरल स्वभाव।
रक्षा करनी वीर्य की, करना न कभी घात ॥ २७ ॥

दुःख देना न किसी को, करना परस्त्रि न गमन।
शारीरिक तप यह कहा, जाता पहिला धर्म ॥ २८ ॥

प्रभुके अर्पण देह को, श्रद्धा भक्ति साथ।
करना नित् उठ सर्वदा और निवाना माथ ॥ २९ ॥

ब्रह्मचर्य उत्तम यही, तप शारीरिक् यह।
सकल सुखों की खान है, पुष्ट करे सुदेह ॥ ३० ॥

सच्चा मीठा वचनही, हो हितकारी परम् ।
जिस से घबरावें नहीं, मनुज, शान्त हो परम् ॥३१॥

तप वाणी का यह कहा, स्वाध्याय अभ्यास ।
आत्मा ही निजध्यावना, सदा समझ सुख रास ॥ ३२ ॥

पढना वेद उपनिषत् अरु, जो सुख सम्पत् मूल ।
ध्याना योगाभ्याससे, परमात्मा सुख मूल ॥ ३३ ॥

रहना सदा प्रसन्न मन, लगना सबको प्रिय ।
चुप रह करना विचार शुभ, शुद्ध रखना निज हिय ॥३४॥

मन अपनेको रोकना, भावना रखनी शुद्ध ।
तप मानस जाता कहा, आत्मा करे प्रबुद्ध ॥ ३५ ॥

फल की रक्खें चाह न, योगी नेता लोग ।
पर तपते यही त्रिविधतप, परश्रद्धा सहयोग ॥ ३६ ॥

सात्त्विक् तप जाता कहा, यह सुख सम्पद् मूल ।
इसके तपनेमें कबहुं, योगी करें न भूल ॥ ३७ ॥

मेरी पूजा मान हो, और होवे सत्कार ।
आडम्बर दिखलावे से, तपे जो बारम्बार ॥ ३८ ॥

स्थिर उसका फल होत न, हो कुछकालमें नष्ट ।
राजस तप कहा वह यहां, करे योगसे भ्रष्ट ॥ ३९ ॥

तप तामस कहा जात वह, मूर्ख हठ से जो ।
पीडा देवे आपको, अन्य नष्ट यदि हो ॥ ४० ॥

देना ही है योग्य यह, इसी भावना साथ ।
आशा न जिससे लाभ की, दिया उसे जो जात ॥ ४१ ॥

अधिकारीको समयपर, दिया जो उचित् स्थान ।
स्मृतिकारोंने दान वह, सात्त्विक् किया बखान ॥ ४२ ॥

फल इसका मुझको मिले, हो मेरा उपकार ।
यह विचार दुःख मानकर, दान दिया, पडा भार ॥ ४३ ॥

राजस स्मृतियोंने कहा, इस प्रकार का दान ।
दुःखी को जाता दिया, दातासे, दुःखमान ॥ ४४ ॥

अधिकारी नहीं दान का मांगे अनुचित् काल ।
देश दान के योग्य नहीं, फिर भी लूटता माल ॥ ४५ ॥

मान नहीं करता कोई, करते सभी अपमान ।
फिर भी लेता दान जो, उसको तामस मान ॥ ४६ ॥

स्मृतिकारोंने दान यह, तामस किया बखान।
ओ३म् तत्सत् नाम यह, ब्रह्म का पात्रे मान ॥४७॥

जिसने बनाये यज्ञ हैं, पहिले ब्राह्मण वेद।
त्रिविध नाम उस ब्रह्मका, तत्सतोऽम् स्मृत एव ॥४८॥

तभी ओ३म् उच्चार कर, यज्ञ दान तप कर्म।
आरम्भ होते भक्त के, शास्त्ररीति कर ग्रहण ॥४९॥

फल की आशा त्याग कर, यज्ञ क्रिया तप दान।
तत्शब्द उच्चार कर, मुक्ति चाह सुजान ॥५०॥

भिन्न भिन्न करें क्रिया सब, कहें जिन्हें सत्कर्म।
उत्तम कर्म, शुभ भावना नित्य भावना, धर्म ॥५१॥

यज्ञ-दान-तप-संस्थिति, कर्म तदर्थ सत्कर्म।
इस शुभ अर्थमें शब्द सत्, हो प्रयुक्त, यह मर्म ॥५२॥

श्रद्धासे नहीं दिया गया, तपा नहीं न किया।
हवन किया भी नहीं गया, वृथा खपाया हिया ॥५३॥

पृथापुत्र! कहा असत् वह, यज्ञ कर्म तप दान।
फल उसका यहां न मिले, नहीं परलोकमें मान ॥५४॥

श्रद्धा भक्ति सहित ही, शास्त्रविधान अनुकूल।
योगी नेता भक्त वर, कर्म करे सुखमूल ॥५५॥

सात्त्विक ही सब सर्वथा, त्यजे राजसी भोग।
तमोगुणी भी सर्वथा, और घटावे रोग ॥५६॥

ओ३म् तत्सत् उच्चार कर, भक्त करे सत्कर्म।
ब्रह्मवादी चाह मोक्ष की, करे, यही सद्धर्म ॥५७॥

गीत लिखा रहा कृष्ण का, हिन्दीमें भक्त कबीर।
भगवद्पूजा हो रही, कर रहा कश्यप धीर ॥५८॥

सूक्त लिखा रहे वेदके, तथा उपनिषत्सार।
भगवान् और भक्तको, नमो अनेकों बार ॥५९॥



गीताविषयक नवीन विचार

(ले० श्री० रुलिया रामजी कश्यप एस. एस सी.)

षोडश अध्यायमें संसारके समस्त प्राणियोंको दो विभागोंमें विभक्त कर तथा उनका परस्पर भेद स्फुटतया दर्शाकर उपसंहार उस अध्यायका यह करते हैं कि हे "प्रिय! अन्धकार की ओर ले जाने-वाले इच्छा, गुस्सा और लालच इन तीनोंसे छुट-कारा पावे तो अपना हितकर कार्य मनुष्य करने लगता है तब उसकी अवस्था उन्नत होनी आरम्भ होती है। इसके विरुद्ध जो अपनी मनमानीही करता रहता है, शास्त्र, आप्तग्रन्थ, का दर्शाया कार्य कारण-प्रकार प्रयोग में नहीं लाता, उसको उस कार्यमें सफलता नहीं होती; वह कार्य करनेमें उसको आनन्द भी नहीं आता, सुख भी उसको नहीं होता और उस कार्यके सदृश कार्य करनेवाले अन्य उसके हमजोलियों, साथी विद्यार्थियों आदिमें सब-से प्रथम नम्बर पर वह पास भी नहीं होता।"

इसका बडा सरल दृष्टान्त देता हूं। आज बीसवीं शताब्दिमें कार्य करनेमे दक्षता सीमातक पहुंच चुकी. प्रतीत होती है प्रत्येक कार्यप्रकार निश्चित हो चुका है। अपने हाथसे दाढी मूंडनेसे लेकर राज्य चलाने तक, कच्ची पहिलीकी पढानेसे डाक्टरेट दिलवाने तक, साधारण मैस्मेरिज्मसे आत्माएँ बुलाने अपने पर दिव्यदृष्टि प्रयोग करने तक, साधारण चक्कीसे वाईरलेस रेडियो टैलीविजन तक, प्रत्येक दिशामें अतीव उन्नति हो चुकी है और तद्विषयक् कर्तव्य निश्चत हो चुके हैं अनुसन्धान कर्ताओंके सबसे अन्तके आधुनिक लेखोंमें वर्णित हो चुके हैं। वही उन विषयोंके शास्त्र हैं और तद्व-र्णित कार्य-करण-प्रकार ही तत्सम्बन्धि शास्त्र विधि है प्रत्यक्ष स्वयं करके सब कोई इसका अनु-भव स्वयं ले सकते हैं। प्राचीन कालकी तत्कालीन कर्तव्योंकी सत्य यथार्थ विधियां देश कालानुकूल गृह्यादि सूत्रोंमें वर्णन की हुई थीं और वेद भगवान् उन सबके आदि स्रोत माने जाते थे और यही सब शास्त्र कहलाते थे क्योंकि मनुष्य मात्रको शिक्षा सत्य यथार्थ आचरणकी इन ही से मिलती थी। अतः जैसे आजकल प्रचलित् दाढी मूंडने-रूपी नित्यकर्ममें गर्म जलसे, ब्रुशद्वारा साबुन लगा उसकी खूब झाग बना, ऊपरसे उत्तम प्रकारके ब्लेडवाले सेफटी रेजरसे क्षौरकर, पीछे फटकरी लगा, तब सुगन्धित तथा क्रिमिनाशक पाऊडर मल अर्थात् सत्य यथार्थ विधिसे क्षौर करनेवाला विद्वान व्यक्ति न केवल अति शीघ्र ही यह कर्म कर चुकता है वरञ्च ऐसा करनेमें उसे आनन्द भी अनुभव होता है वह इसे Enjoy करता है इसी प्रकार पुरातन कालमें प्रातः ब्रह्ममुहूर्त्तमें उठ कर बाहर भ्रमणके लिये जा खेत आदिमें कहीं मल विसर्जन कर उस पर मिट्टी डालते अपनी गुदा साफ कर फिर हाथ मिट्टीसे खूब कई बार मल मल कर धो फिर कुल्ला दान्तुन कर तत्पश्चात् अङ्ग-स्पर्श मार्जन, आदियुक्त स्नान सम्पादन कर, फिर गायत्री मन्त्रसे शिखा बान्ध फिर आसन लगा प्राण बाहर फैंक ओ३म् कह तुरन्त ध्यानस्थ हो ब्रह्मके दर्शन पा, न केवल अतिशीघ्र दैहिक कर्तव्य ही पूर्णकर लेते थे, वरञ्च उनको ब्रह्मा-नन्द भी तुरन्त मिलता था और अवस्था उन्नत, गति उच्च परम उनकी होनेमें देर ही कब लग सकती थी।

इसी कारण भगवान्ने भक्तको सोलहवें अध्याय के अन्तमें यही कहा कि वत्स! जब इतना महान् अन्तर केवल कार्य करण प्रकारसे ही पड जाता है तो तुझे उचित यही है कि कर्तव्य अकर्तव्य निश्चयके लिये तू अपनी मनोभावना Imagination को एक ओर रख जो शास्त्र आप्त ग्रन्थ बतलाता है।

उसीको सत्य, ऋषिसंमत्, यथार्थ जाने और ऐसा जानकर आप्तोंकी वर्णन् की हुई कार्यकरण विधि का ज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल ही कर्म करे।

अब सतरहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन फिर एक अन्य रीतिसे प्रश्न करता है कि जिससे यथार्थ बात समझमें आजावे और सर्वथा उसके मनमें संशय अथवा भ्रम न रह जावे। वह कहता है कि महाराज 'कृष्ण! (मैं आपकी बात तो समझ गया कि शास्त्र विधि अनुकूल ही आचरण करे परन्तु कल्पना करो कि कोई मनुष्य जो आप्त प्रदर्शित रीतिको (तो) त्याग कर (ही) करते हैं। (परन्तु) करते हैं श्रेष्ठ कर्म (और वह भी बडी) श्रद्धा सच्ची धारणासे। उनकी अवस्था कौन सी है कहिये! (उन्हें आप) सत्व स्थित (कहेंगे अथवा) रजोगुणी या (वह) तमोगुणी (ही हैं)।'' प्रश्न अर्जुनका यह है कि शास्त्रविधि नहीं पकडता परन्तु कर्म करता है शुभ और वह भी श्रद्धा भक्तिसे। उसे क्या कहा जायगा? सात्विक, राजस अथवा तामस। अब देखें निष्पक्ष वैज्ञानिक सत्य अनुसन्धान प्रिय कृष्ण क्या उत्तर इस प्रश्नका देते हैं। आजकल भी वैज्ञानिक अनुसन्धानमें पहिला कर्तव्य यही होता है कि सत्य घटनाओंका सर्वथा यथार्थ वर्णन उल्लेख। इसमें अपनी कल्पना सर्वथा वर्जित है मनुष्य इच्छा क्रोध लोभ आदिमें उलझ यदि सत्यमें मिश्रण कर अपनी कल्पना भी लिखता है 'यथा पशुरेवं सः देवानां' वैज्ञानिकोंमें वहमान नहीं पाता उसके लेख रद्दी की टोकरीमें फैंक दिये जाते हैं। यही शिक्षा कृष्ण भगवान्ने अर्जुन को ऊपर दी है कि शास्त्रविधि पकडनेमें अपने मनसे इच्छा क्रोध, लोभ विकार सब पहिले दूरकर देने चाहियें। तब शान्त मनसे शास्त्र विचार कार्य विधि पहिचान, तदनुकूल आचरण करनेसे स्वकल्याण साधना होते होते उच्च परम गति प्राप्त हो जाती है अन्यथा न कार्य ही बनता है न कार्य करनेमें आनन्द ही आता है और उन्नति भी ऐसी दशामें कैसे सम्भव हो सकती है।

अब महा उच्चकोटिके वास्तविक वैज्ञानिक भगवान् भक्तको उत्तर देते हैं कि प्यारे! 'श्रद्धा भी तो सात्विकी, राजसी, तामसी तीनोंही प्रकार की होती है, शरीरधारियोंमें उनकी विविध प्रकृतियों के अनुकूल वह जैसे होती है उसका विवरण अब सुन। हे भरतवंशावतंस! अंतःकरणकी सात्विक आदि अवस्थाओंके अनुकूलही देहधारीमें सात्विक आदि श्रद्धा होती है और शरीरव्यापी आत्मतत्व क्या है श्रद्धा आकार ही तो है। जिस की जैसी श्रद्धा वैसा ही वह आप। (जैसे) शुद्ध सतोगुणी प्राणि देवताओंको पूजते हैं, देवयज्ञ आदि करते हैं। रजोगुणी यक्ष, राक्षस आदिको और अन्य तामस लोग भूत प्रेत आदिको पूजते हैं।'' इस प्रकार याजकोंकी सात्विक, राजस, तामस स्थिति उनकी सात्विक आदि श्रद्धापर अवलम्बित है और फिर वह श्रद्धा अन्तःकरणकी सात्विक आदि रचनाके आश्रित है। अतः शास्त्र विधिके प्रश्नको बीचमें न लाते हुए भी याजक होना, श्रद्धालु होना इन दो बातोंके पूरा करनेमें भी तीनों प्रकारकी निष्ठा सिद्ध हो ही जाती है। अतः बतलाया गया है कि शास्त्र विधिके ध्यानमें रक्खे बिना भी श्रद्धासे निष्ठा पहिचान ली जा सकती है। और वह श्रद्धा पूजा प्रकारसे। यथाः-

परमात्मा रूपी महादेवसे आरम्भ कर आदित्य, वायु, अग्नि, आदि देवताओंके उपासकोंकी श्रद्धा सात्विक् होती है। अतः उनकी निष्ठा भी सात्विक्। काम बहुल यक्ष, क्रोध बहुल राक्षस, शक्तिशाली कल्पित अथवा वास्तविक दुर्गा, काली, चामुण्डा आदि भयङ्कर तत्वोंकी पूजा तथा परिओं आदि कामिनियों की पूजा, राजस अवस्था याजकों की, दर्शाती है तथा भूत प्रेत चुडेल आदिमें विश्वास कर उनको तृप्त करनेका यत्न तामसी लोग करते हैं।

[नोटः- हमने प्रचलित रीतिसे अनुवाद किया है भगवान् कृष्णके कालमें ऐसी ऐसी अन्य कल्पनाएं प्रचलित् होंगी जो दैव आर्ष न होनेसे कालचक्रने इन पांच सवा पांच सहस्त्रवर्षोंमें नष्ट भ्रष्टकर डालीं, परंतु राजसी, तामसी, तत्व शान्त कब रह

सकते हैं उनके स्थानमें वाममार्गिक् चामुण्डा आदि कल्पनाएं अब प्रचलित हैं कालान्तरमें यह भी नष्ट हो जायंगी और कौन जाने अन्य कौनसी कल्पनाएं इनका स्थान लेंगी, परन्तु गीताके श्लोक इसी रूपमें सर्वथा सत्य उतरते रहेंगे केवल सामयिक रूढियोंके अनुसार दृष्टान्त बदलते जायंगे यद्यपि श्लोकका अर्थ वही रहेगा]

इनमेंसे आप्त ग्रन्थोंमें देवपूजा तो स्थान-स्थानपर वर्णित है, अन्य प्रकार की पूजा-ओंका उल्लेख मनुष्यकृत कपोल कल्पित सम्भ्रान्त मतकी पुस्तकोंमें है, शास्त्रमें सर्वथा नाहीं। अतः सात्विक श्रद्धावाले याजक तो करते ही शास्त्र विधि अनुकूल हैं चाहे सीधे शास्त्रमें देख अथवा गुरू पिता माता आदिसे सीख। उनकी निष्ठा इस प्रकार सात्विक ही है चाहे वह समझते हों कि हमने तो शास्त्र विधि देखी नहीं। परन्तु अन जाने भी वह शास्त्रानुकूलही चल रहे हैं और सात्विक हैं। परन्तु पीछे अब रहीं तामस, राजस श्रद्धाएं। यह शास्त्रमें वर्णित नहीं अतः इनका आश्रय ले जो आधीरातके समय विकट वनमें जा कूप उत्तर उलटा लटक, चामुण्डा भैरव आदि तृप्ति निमित्त मन्त्र जाप आदिमें अत्यन्त कष्ट भोगना आदि घोर भयङ्कर कठोर तप करते हैं उनका विश्वास सर्वथा अशुद्ध मलिन दुष्ट है वे असुर हैं अपने शरीर की रचनामें प्रविष्ट हुए पांचों तत्वोंको और छटी शरीरके अन्दर टिकी चेतनारूप परमात्म-शक्तिको भी वह अविवेकी सर्वथा दुर्बल करते जाते हैं शरीर भी रोगी दुर्बल उनका हो जाता है आत्मा भी कायर, आलसी निकम्मी हो जाती है। वह ऐसे कठिन व्रत आत्मोन्नतिके लिये नहीं करते वरञ्च स्वच्छन्द कामवृत्तिकी उच्छृंखलता को भोगद्वारा तृप्त करनेके लिये, वे बडे बडे आडम्बर दिखावे जाअलफरेब रच,मठधारी महन्त गुरू आदि बन ऐश्वर्यशालि मूर्खोंको उनकी स्त्रीसमेत अपने शिष्य बना उनकी स्त्रि उनके धन आदि से स्वयं आनंद भोगनेमें विघ्न सर्वथा कोई न कर सके उन का ऐसा डर प्रभाव अन्यों पर हो ऐसे ऐसे दुष्ट विचारों के आश्रय हो वह चामुण्डा आदि भयंकर शक्तियोंका आवाहन उनसे वर प्राप्ति आदि करते हैं। वास्तवमें इन्होंने शास्त्रविधि त्यागी है परन्तु अपनी मलिन बुद्धिके अनुसार यह करते पूजा ही हैं और वह भी श्रद्धा भक्तिसे। इनकी निष्ठा तामसी राजसी है यह असुर निश्चयवाले हैं हे अर्जुन! इनकी पहिचान भले प्रकार समझलें।

सारांश यह कि श्रद्धासे यज्ञ करनेवालोंकी निष्ठा सात्विक, राजस, तामस पहिचाननेकी यह कसौटी है कि शास्त्रविहित देवपूजा करनेवालों की श्रद्धा सात्विक, निष्ठा सात्विक, तथा निश्चय दैव होते हैं यह उन्नतिपथपर पदार्पण किये हुए हैं और कालान्तरमें परमगति पाजावेंगे। इनसे विरुद्ध शास्त्रसे विरुद्ध यक्ष राक्षस पुजारी राजस श्रद्धा, राजस निष्ठा, तथा आसुर निश्चय लोग हैं और भूतप्रेतपूजक तामसी श्रद्धा, तामस निष्ठा-वाले लोग होते हैं इनका भी निश्चय आसुर ही है।

इसीको निमित्त बनाकर अब भगवान् कुछ मोटी मोटी बातोंके विषयमें सत्त्व, रज तम भेद वर्णन करते हैं। जैसे सर्व प्रथम तो भोजन ही के विषयमें बतलाते हैं फिर यज्ञके तपके और तत्पश्चात् दानके विषयमें यही भेद वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि सभी को तीनोंमेंसे ही एक न एक प्रकारका भोजन स्वभाव ही से पसन्द आता है इसी प्रकार हर कोई तीनोंमेंसे एक न एक प्रकारका ही यज्ञ तप अथवा दान करता है इनका भेद अब तू इस प्रकार सुन। सतोगुणी प्राणि ऐसा भोजन प्रिय समझते हैं जो रसवाला, घीवाला, अन्दर ठहरनेवाला, मन चाहा हो तथा जिससे आयुष्य, बुद्धि, शरीरबल, नीरोगता, प्रसन्नता तथा स्नेह, प्रेम आदिकी वृद्धि होवे। ऐसा आहार करनेवाले श्रद्धासे देवोंका पूजन शास्त्रविधि अनुकूल करते हुए सात्विक् लोग उन्नति ही करते जाते हैं। रजो-गुणी की इच्छा कडुवे, खट्टे, नमकीन, बहुत गर्म, तीखे, रूखे और अन्दर जलन करनेवाले भोजनों की होती है। ऐसे भोजन तो खाते समय दुःख देते

हैं पच कर रोगी बनाते हैं और कालान्तरमें बच्चों का नाश आदि करवाकर शोकयुक्त भी करते हैं तो भी इनका ऐसा दुष्ट प्रभाव जानते और अनुभव करते हुए भी रजोगुणी जन इन्हें ही खाना दिलसे चाहते हैं और खाते जाते हैं तथा दुःख रोग शोक भोगते भोगते ही आयुके अनमोल वर्षरूपी रत्न नष्ट करते जाते हैं। तमोगुणी विचारोंका तो क्या ही कहना है इनकी बुद्धि पर तो ऐसा पर्दा पडा हुआ होता है कि जानते बूझते कुमार्ग गमन करते हैं प्रति दिन बासी रोटी खाते हैं फिर सारा दिन पडे खुर्राटे मारते मारते समय व्यर्थ गंवाते हैं सायंकाल शोक करते हैं कि हाय सारा दिन ही व्यर्थ गंवा बैठे परन्तु फिर अगले दिन वही बासी रोटी और वही वह, अपनी दिन भर की नींद तथा सायंके पश्चात्तापसे दुःखी। ऐसा प्रतिदिन होता है फिर भी उनका तमोगुणी दिल गन्दे भोजनसे ही प्यार करता है पुत्रका भी जूठा, भाईका भी, पिताकाभी निस्सङ्कोचतया छक जाते हैं फर्षपर गिरा भी उठाकर खा जाते हैं जरासी मिट्टी लग गयी तो अन्न थोडे ही फैंक देना है इत्यादि, रातका पडा हो, कल का उन्हें और भी अधिक स्वाद लगता है तमोगुणी जो ठहरे। कांजी जिससे गंध आने लग गई बडे आनन्दसे उडाते हैं आचार बननेसे मीठे आम स्वाद बिगड कर खट्टे होगये हैं दूधका स्वाद बिगड दही बन गया अब उन्हें यह अधिक रुचिकर प्रतीत होता है तात्पर्य यह है कि उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें बिगडे हुए स्वादवाला, विकृत गन्धवाला, बहुत बासी, रात दो रात का पडा, जूठा और गन्दा भोजन ही प्यारा लगता है उनका दिल चाहता ही ऐसी वस्तुओंको है। यह आहार भेद वर्णन हुआ। सात्त्विक, स्वच्छ, उन्नतिकारक भोज्य खाते हैं राजस दुःखदायी जलन करनेवाला, और तामस लोग गला सडा जूठा बासी गन्दा। इसीसे तामस भूत प्रेत विचारमें उलझते हैं राजस यक्ष राक्षसोंमें और सात्त्विक देवपूजन कर आनन्द मनाते हैं।

अब तीन प्रकार का यज्ञ वर्णन किया जाता है। सात्विक यज्ञ वह होता जो शान्त एकाग्रमनसे इस विचारसे किया जाता है कि यह यज्ञ तो करना ही योग्य है ऐसा यज्ञ शास्त्रोक्त आप्त प्रदर्शित विधिके अनुकूल ही किया जाता है और केवल कर्तव्य होनेके कारण ही याजक इसका अनुष्ठान करता है और अपनी किसी ऐहिक अथवा पारलौकिक इच्छा कामना की पूर्ति निमित्त, याजक, इसका अनुष्ठान नहीं करता और न ही इसकी सिद्धिसे अपने लिये किसी फलकी प्राप्ति आशा यजमान रखता है, शान्त मनसे विधि अनुकूल कर्तव्य समझ, फलकी इच्छा त्याग किया हुआ शुभ कर्म ही सात्विक यज्ञ है। इसके विरुद्ध जो विशेष स्वर्गप्राप्ति आदि फलकी आशा रख तथा संसार मुझे बडा समझे इस विचारसे बडे दिखावे आडम्बर के साथ पाखण्ड जाल फैलाने के निमित्त जग्ग रचा जाता है हे भरतकी श्रेष्ठ सन्तान! उसे तू राजस यज्ञ जान। इस से भी निकृष्ट वह यज्ञ होता है जिसे यजमान फंसा हुआ ही करता है सर्वथा उसका दिल उसके करनेको नहीं चाहता, मन्त्र बोले ही नहीं जाते दक्षिणा किसी विद्वान् परोपकारी पुरोहित को दी ही नहीं जाती, शास्त्र विधि कुछ और ही है इस यज्ञमें कुछ और ही तरीका बर्ता जाता है। यहां तक कि किसी सुपात्र को अन्न तक भी नहीं खिलाया जाता, ऐसा निकृष्ट कोटिका नाम मात्रका यज्ञ सर्वथा तामस ही कहा जाता है।

अब भगवान् तपका वर्णन करते हैं। शरीर सम्बधी तप तो यह है कि परमात्मा आदि देवता, ब्राह्मण आदि द्विज विद्वान्, मातापिता गुरू आदि शिक्षक, बुद्धिमान् ऐसे उत्तम पूज्योंकी पूजा सत्कार सेवा शुश्रूषारूपी महायज्ञोंका अनुष्ठान, शरीरशुद्धि, सरल सीधा स्वभाव, वीर्य रक्षा, शरीर को परमात्मा की सेवाका साधन जान इससे किसीको दुःख पीडा आदि न पहुंचाना और दुष्टोंका ताडन श्रेष्ठोंका संरक्षण आदि सुकर्म करना, शारीरिक तप कहा जाता है। वाणीका तप वह कहाता है जो सुखवर्धक पुस्तकोंका पाठ नित्य प्रति करते ही रहनेकी आदत डाल लेना है और वचन सदैव

सच्चा प्यारा हितकारी ही बोलना है और वह भी ऐसे शान्त सुमधुर प्रकारसे कि सुननेवालोंको सर्वथा घबराहट दुःख क्रोध न हो, वरञ्च अमृतसे सींचे जाने समान वह वचन उसे शान्त प्रसन्नकर दें ऐसा वचन तथा वेदोपनिषद् तथा आधुनिक उच्चतम वैज्ञानिक पाठ वाङ्मय तप कहाता है। अर्थात् वाणी सम्बन्धि तप। मानस तप वह कहाता है जो विचार तथा भावना की पवित्रता है। किसी का बुरा दिलसे लगाकर न सोचना, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण सबको वशमें रखना, चुप रहकर विचार करना, सौम्य प्यारा बनना और मन प्रसन्न रखना, आनन्दमें भर सबका भला सोचना, मानस-तप, विचार सम्बन्धि तपस्या है। सबका भला कहना वचन सम्बन्धि तपस्या है और सबका भला करना शरीर सम्बन्धि तपस्या है।

यही तीनों प्रकार का तप जब योगी नेता लोग तपते हैं तो इसमें उनका अपना स्वार्थ सर्वथा नहीं होता, अपने लिये कोई फल वह नहीं चाहा करते। परन्तु वह तपते हैं उसे पूरी पूरी श्रद्धाके साथ। सर्वथा हि चकचाहट उन्हें इस कार्यमें नहीं होती आलस्य उनके पास नहीं फटकता, पूरा दिल देके पूर्णविधिसे इस कार्यको वह कर्तव्य समझ पूर्णतया सिद्धिसम्पन्न करते हैं ऐसा उनका यह तप, सात्विक तप, मुनिजन वर्णन करते हैं। उपरोक्त तीनों प्रकारके तपमेंसे जो भी अंश अपनी यशप्राप्तिके लिये किया जाय कि जनता मेरा मान, सत्कार, पूजा, आदर आदि करे। दिखावा, पाखण्ड, आडम्बर भी इसी निमित्त रचा जावे उसका फल स्थायी नहीं होता वरञ्च चलायमान होता है, कुछ काल पीछे नष्ट हो चुकता है, उसे इस संसारमें राजस कहा गया है ऐसा तप मान प्रतिष्ठा आदिके लिये किया जाता है। एक तप इन दोनोंके विरुद्ध ऐसा भी है जो दूसरेके उखाडने के लिये, उसको हानि पहुंचानेके लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है। मनुष्य ऐसा करनेमें अपने आपको भी पर्याप्त कष्ट दे लेते हैं, परन्तु मूर्खोंवाले हठ दुराग्रह को चाहे अपना कितना नुकसान हो जावे फिर भी तब तक नहीं त्यागते, जब तक या तो शत्रुको उखेड न डालें अथवा स्वयं ही उखड न जाय यह भी लोक परिभाषामें तप कहा जाता है बस इसे ही तामस तप समझ लो। उत्तम विचार वचन कर्म और वह भी योगी निष्काम परोपकारी की न्यायीं करना सात्विक तप, मान पूजाके लिये दिखावा आदि करते हुए परोपकार आदि राजस तप और अन्योंका अपकार अपनी हानि करके भी बडे हठसे ढीठ होकर करना तामस तप जानना चाहिये।

अब दान प्रकार, भगवान् वर्णन करते हैं यथाः—देना ही चाहिये इस भावनासे ऐसे योग्य अधिकारीको ठीक उस समय जब कि उस थोडेसे दानसे ही लेनेवालेका महान् उपकार होता हो और ऐसे स्थानमें जहां वह मानों निरवलम्ब निस्सहायसा ही हो ऐसे क्षुधार्त को अन्न, तृषार्तको जल, भिखारी विद्यार्थिको उत्तम विज्ञान आदि दान यथा समय, उचित स्थानमें, ऐसे व्यक्तिको देना जिससे इसके बदलेमें कोई अपना उपकार होने की संभावना नहीं ऐसा दान, सात्विक, स्मृतिकारोंने वर्णन किया है। फंसे हुए, जो न चाहते हुए भी, मनमें कुछ क्लेशसा अनुभवकर, इस विचारसे दान किया जाता है कि मुझे अमुक कार्य सिद्धि इस दानके फलसे हो जायगी और दिया भी उसीको जाता है जिससे इसके बदलेमें कुछ अपना उपकार होता दिखाई पडता हो यह भी एक प्रकारका दान ही है इसे स्मृतिकारोंने राजस दान कहा है। तमोगुणी दान उसे कहते हैं जो लेनेवाले का अपमान करके, उसका मान ग करके, कुसमय, अनुचित स्थानमें, अनधिकारीको दिया जाता है। अर्थात न तो लेनेवालोंको वास्तविक् आवश्यकता है जैसे तीसरे पहरके समय पेट भरे हुए भिखारी को, तन्दूरवालेका अपमान करते हुए को, कोई और ही, दो चार झाड फटकार डालकर एक पैसा रोटीके लिये दे डाले ऐसा दान तामसिक कहा गया है। इस प्रकार अधिकारीको उचित स्थानमें यथा समय अपना कर्तव्यज्ञान

विना उससे उपकार लेनेके लिये कुछ देना तो सात्विक दान है और उसके विरुद्ध अनधिकारीको कुसमय अनुचित स्थानमें उसे झाड पटकार कर देना तामस है तथा फलकी आशासे अपना उपकार करने वालेको भी दिलमें दुःख मानते हुए देना राजस दान कहाता है।

भक्त, वेद, शुभकर्म विधान, पहिलेसेही, जिस सर्वाधार परब्रह्मने पहिलेसे ही रच डाले हैं उस ब्रह्मका शुभनाम ओ३म् तत्सत् है यह उसका त्रिविध वर्णन ही है। इसी कारण परमात्मचर्चा करनेवाले ब्रह्मवादि लोग, सदा ही ओ३म् नाम पहिले उच्चारण करके ही शास्त्रमें लिखे अनुसार ठीक विधिसे ही यज्ञ, दान, तप, विषयक कर्म आरम्भ करते हैं अर्थात परमात्म भक्तोंके यज्ञ दान तप आदि ओ३म् उच्चारण से ही प्रवृत्त होते हैं। मुक्ति के इच्छुकोंके द्वारा अनेक प्रकारकी यज्ञ दान तप सम्बन्धि क्रियाएं, फलका विचार छोड, जो केवल उसके निमित्त की जाती हैं वह उनकी ब्राह्मक्रियायें, तत् शब्द उच्चारण करके ही आरम्भ की जाती हैं।

सत् शब्दका प्रयोग नित्यता तथा कल्याणदायक भावों में होता है और उत्तम कर्मके अर्थमें भी हे कुन्तीपुत्र! इस शब्दका प्रयोग, उस कर्म के नामके पूर्व जोडकर, कर देते हैं यथा गति और सद्गति। यज्ञ दान तपमें पक्का हो जाना संस्थिति कहलाती है और उस स्थितिमें टिके रहनेके लिये किया गया कर्म अनुष्ठान सत्कर्म कहा जाता है। हे कुन्तिसुत! जो यज्ञ दान तप किया दिया तपा जाता है परन्तु दिल उसमें नहीं होता यजमान दाता तपस्वि को अपने कार्यमें श्रद्धा सर्वथा नहीं होती वह उनकी यज्ञ दान तप क्रिया सभी असत् कही जाती है वह सर्वथा निष्फल जाती है न उसका फल उन्हें इस संसारमें मिलेगा न परलोकमें। न वह इस जीवन में उससे कोई लाभ उठा सकते हैं और न ही मरने पर अगले जन्म में।

इस प्रकार संपूर्ण सतरहवें अध्यायमें भगवान्ने यही भेद वर्णन किया है कि श्रद्धा जो सत्य ज्ञान उत्पन्न करा उसमें स्थिति रखती है वह सत्य धारका भावना श्रद्धा विश्वास ही उन्नति का मूल है उसके साथ शास्त्रविधि अनुकूल शान्त प्रसन्नमन से स्वकर्तव्य मात्र समझ, फल इच्छासे सर्वथा रहित हो शुभ विचार वचन कर्म अनुष्ठान, यज्ञ, दान, तप, करनाही सात्विक मार्ग मोक्ष परमगति ब्रह्मधाम प्राप्तिका है यही सन्मार्ग है ओ३म् तत्सत् वाक्य पढते सदा ऐसे मार्गपर ही पदार्पण करते रहना ही सभीके लिये श्रेयस्कर है। यही मनुष्य को ब्राह्मण नेता योगी पदवी प्राप्त करवा देता है और अन्तमें परमगति, मोक्ष, ब्रह्म प्राप्ति की सिद्धि उसे करवा देता है।

सतरहवां अध्याय समाप्त।

गीता-माता

(मराठीमें 'गीताई' नामका ग्रंथ है; उसका परिचय वर्धा (सत्याग्रहाश्रम) के श्रीः शिवाजी भावे महोदयने औंध मुकामपर एक व्याख्यानमें दिलाया; उस व्याख्यान का सारांश।)

बंधुगण ! महाराष्ट्रके इस विभागमें इसके पहिले मैं कभी नहीं आया; इसलिये यहां मुझे बहुतसी नई चीजें देखने मिली हैं। मुख्यतः यहांका सृष्टि-सौंदर्य नये आदमी को सहजही मुग्ध कर देता है। मुझे बहुत हर्ष होता यदि इस सृष्टिसौंदर्यके साथही साथ महाराष्ट्रका मनःसौंदर्य भी अप्रतिम होता। परंतु मुझे अफसोस है, कि यह वस्तुस्थिति आज नहीं है। महाराष्ट्रकी आजकी स्थिति पहिले नहीं थी। महाराष्ट्रके मनःसौन्दर्यकी, धैर्यशौर्यकी, तत्त्व-निष्ठाकी, औदार्यकी प्रतिभा इतिहासमें स्फुरत प्रभासे झलकती है ! तब प्रश्न यह उठता है, कि ऐसी हीन मनःस्थिति आजही होनेका कारण क्या है ?

इसका कारण जडवाद है। अंग्रेजी अमलदारी शुरू होनेके वक्तसे यह जडवाद सारे भारतवर्षमें विशेष रीतिसे फैलगया। इस जडवादकी ऊर्मिको लौटानेका प्रयत्न अनेक लोगोंने किया; परंतु महाराष्ट्रके सुशिक्षित लोगोंपर इस जडवादकी ऐसी बेमालूम छाप पड गई है, कि महाराष्ट्र आज दिन उसके प्रभावसे सर्वथा आक्रान्त मालूम पडता है। विवेकानंदने आसेतुहिमाचल पर्यटन करके अपने देहको अत्यंत कष्ट दिये, परंतु भारतवर्षको उनकी पारख न हुई। हमारी आंखें तब खुलीं, जब कि उनके गुरुके तत्त्वोंका अमेरिकामें जयजकार हुआ ! तब कहीं हम अमेरिकन आंखें धारण करके कोलंबोमें उनके स्वागतकी चेष्टा करने लगे। यह परप्रत्ययनेय बुद्धि भी जडवाद ही का परिणाम है !

❀

इस जडवादका मुख्य लक्षण यह है, कि केवल पाशवी व्यवहारमें नफानुकसान पर लक्ष्य देकर जीवन व्यतीत करना। उह उच्च ध्येय ही नहीं है। हमने व्यवहारमेंसे तत्त्व नामकी चीज ही अलग करदी है। इसके परिणाममें जीवनका स्वरूप इतना गंदला होगया, कि इससे मरना अच्छा। हम मरते नहीं इसलिये जीते हैं, और जीते नहीं इसलिये मरते हैं। हमारे जीवनमेंसे प्राण नष्ट हुआ; हम मनुष्यत्वको भूल गए !

डार्विनने विकासवादका पुरस्कार किया। उसका कहना ऐसा है, कि अमीबासे परिणत होते होते अखीरमें मनुष्य हुवा है। अमुक परिस्थितिमें पड जानेसे जीवनार्थ कलह हुआ; इस कलहके कारण शरीरकी पेशीमें बदल होने लगा; शरीरकी पेशीमें बदल होते होते मनुष्य हुआ। परंतु उसकी समझमें यह बात नहीं आई, कि मनुष्य और पशुके बीचमें जमीन अस्मान का फरक है। पशु की चाहे कितनी भी परिणति हो, ज्यादासे ज्यादा वह एक बडा पशु होगा; परन्तु उसमें मनुष्यता कैसे आवेगी ?

मेरा स्पष्ट मत यह है, कि पशु में विद्यमान जो मनुष्यता है, उसका विकास होते होते मनुष्य हुआ है। कडुवे करेलाके बीजसे गन्नेमें परिणति हो नहीं सकती। जीवनकलह के पाशवीतत्त्वमेंसे मनुष्यत्व का उद्भव नहीं हुआ; किंतु जीवनमें जो प्रेमका, अहिंसाका, अद्वैत का तत्त्व है,उस तत्त्वसे मनुष्यकी परिणति हुई है। जीवनकलहका यह तत्त्व मनुष्यत्व के बारे में बिलकुल गलत है।

इस मनुष्यत्व को दिव्यकोटितक पहुंचानेके लिये आजतक जितने कुछ उच्च विचार किये गए, उनका सार गीता है। अनेक तरह से छानछान कर बनाया हुआ यह रसशेखर है; इसलिये गीता केवल हिंदुधर्मका ग्रंथ नहीं, किंतु मानवधर्म का ग्रंथ है। भगवान् स्वतः कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

"यह अव्यय योग मैंने सूर्य को बतलाया, सूर्यने मनुको बतलाया, मनुने इक्ष्वाकु को बत लाया" इ० इ० इ०। परमात्माके द्वारा मनुको अर्थात आद्य मानवको यह योग, यह धर्म-सार विदित हुआ, और उसने इस धर्मसारका ज्ञान अखिल मानवोंको कराया। यह केवल हिंदुओं-का धर्म ग्रंथ नहीं है। शाश्वत, सनातन तत्त्व सबही के लिये होते हैं। मानवधर्म की दृष्टिसे गीता को अद्वितीयता अन्य ग्रंथोंमें देखने न मिलेगी।

सिवाय इसके गीताकी रसमयता का वर्णन कहां-तक किया जाय! दुनिया का कोई भी महाकाव्य गीताका जोडीदार नहीं हो सकता। लोगों की महा-काव्यके बारेमें यह कल्पना रहती है, कि जिसमें सर्गोपसर्गकी रचना की है; चंद्रोदय, सूर्योदय इत्यादिका वर्णन किया है; वर्षावसंतादि ऋतुओंके विकारमय वर्णन हैं; उपमारूपकादि अलंकारोंका वैपुल्य है; युद्धके खनखनाहटका जिसमें दर्शन कराया जाता है, वह महाकाव्य है। इन स्थूल और विकारमय बातोंसे महाकाव्य नहीं बनता। मानवहृदयको यथावत संप्रकाशित करना महा-काव्यका हेतु समझा जाता है। परंतु मानवहृदयका अर्थ क्या है? स्वभावचित्रण क्या वस्तु है? ऐसा समझा जाता है कि शेक्सपियरने स्वभावचित्र अच्छीतरह रंगाए हैं। परंतु स्वभाव क्या चीज है? जबतक यह सिद्धांत गले नहीं उतरा, कि 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते', तबतक काव्य व्यर्थ है। ज्ञानेश्वर महाराजको गीताके इस महाकाव्य की प्रतीति हुई थी, इसीलिये उन्होंने यह प्रतिज्ञा करके कि 'शांत शृंगाराच्या माथां पाय ठेवी', (शांतरस शृंगारसके सिरपर पैर रखता है,) मराठी की नगरीमें ब्रह्मविद्याकी समृद्धि कर दी, और गीता-काव्यका विकास किया।

उनकी इस उक्तिसे लोग डोलने लगे कि- 'माझा मऱ्हाटाचि बोल कौतुकें अमृतातें हि पैजा जिंके' (मेरे मराठीके वचन सहजमें अमृतको भी हरा देंगे।) तुलना नहीं करना, परन्तु गीता की इस काव्यमाधुरी के मुकाबले शेक्सपियर क्या चीज है? कोटथ्थकीटायते! ज्ञानेश्वरको यह गीताकाव्य प्रतीत हुआ। तब उन्होंने सृष्टिकी ओर दृष्टिक्षेप किया। एक क्षणमें स्वच्छ प्रकाश पडगया। सृष्टि का स्वरूप बिलकुल पलट गया। जहां वहां गीता-तत्त्वके स्मारक दिखने लगे, और उपमा दृष्टान्त सहजही योगसिद्धिके सदृश हाथ जोडकर आगे खडे हुए।

मग तये सिद्ध प्रज्ञेचेनि लाभें। मनचि सारस्वत दुभे। सकळ शास्त्रें स्वयंभे। निघती मुखें॥

[तब उस सिद्धप्रज्ञाका लाभ होनेसे (गाय को दुहनेसे जैसे दूध निकलता है वैसे) मनसे वाङ्मय निकलने लगा। मुखके द्वारा सकल शास्त्र आपही आप निकले।]

संपूर्ण शास्त्र गीताशास्त्रके कारण सहज हुए! इस दृष्टिसे देखनेपर काव्य के सारे तत्त्व गीताके रोमरोममें सहजसिद्ध दिखते हैं। काव्यका हेतु परमेश्वरी यशको चित्तपर प्रतिबिंबित करना है; सत्यके जयको तथा असत्यके नाश को स्पष्ट करना है। यत्र योगेश्वरः कृष्णः- इत्यादि वाक्यमें यही बात स्पष्ट बतलाई गई है। काव्यके द्वारा जीवनका अर्थ समझमें आता है, जीवन सार्थ होने लगता है। सत्वरजस्तमादि वृत्तियोंके विषयमें विवेक कैसे करना, आहारनिद्रादि का विवेक क्या है, जन्म-मृत्युकी समस्या कैसे हल करना? ये बातें गीता इतनी मधुरतासे बतलाती है, कि उसके आगे मातृ-प्रेममय दिव्यबोधकी प्रभा फीकी पड जाती है। काव्यके द्वारा व्यावहारिक कर्तव्योंका ज्ञान मनुष्य को होता है, कर्म-अकर्म-विवेक होता है, और अंतमें मनुष्यकी पूर्ण आत्मशुद्धि होती है। "काव्यं

यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये " इसका अर्थ गीतामें सुचारू रीतिसे प्रतीत होता है। सत्पुरुषोंसे मुझे यह अर्थ अवगत हुवा है। गीता एक अप्रतिम महाकाव्य है, वह धर्मकाव्य है।

इसीलिये उस ग्रंथमें से नित्य नये अर्थ प्राप्त होते हैं, नित्य नूतन स्फुरण मिलता जाता है। यह कहने को अवकाश नहीं कि अमुक अर्थ गलत है। वस्तु का पूरा अर्थ कभी अवगत नहीं होता; वह केवल अनुभूतिका ही विषय है। किसी वस्तुका पूर्ण चित्र खींचना क्या कभी हो सकता है? भिन्न भिन्न कोनों से, आगेसे, पीछेसे, नीचेसे, ऊपरसे, ऐसे अनेक प्रकारोंसे अनंत भूमिकाओंसे खींचे हुए अनंत चित्र एकही वस्तुके हो सकते हैं। इसी तरह यह भी है। यह गीतावैभव है। इतना वैभव अभीतक किसी ग्रंथको प्राप्त नही हुआ। जिस प्रकार सृष्टि नित्य नूतन नयी है; दिन, रात, ऋतु, महीने इत्यादि क्रीडा करते हुए जल प्रवाहके तरंगोंके समान उसका नित्य नयारूप बतलाते हैं; उसी प्रकार यह गीतागंगा श्रीविष्णुके चरणोंसे नहीं-साक्षात् मुखकमलसे-निकलकर एकसी अखंड बह रही है।

'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनिःसृता।' Men may come and men may go, but I go on for ever' अकुंठित ऐसी अनंतभावार्थके गीत गाती हुई वह मानवसमाजको नवजीवन दे रही है! नमूनेके लिये शास्त्रदृष्टिसे ऐसे नये नये अर्थ बतलाए जा सकते हैं।

काव्यके समान गीता एक अत्यंत सुबद्ध शास्त्र है। प्रत्येक अध्यायमेंसे दूसरा अध्याय निकला है। यह शास्त्रबद्ध रचना अभी किसीके ध्यानमें वैसी नहीं आई जैसी कि आनी चाहिये। उदाहरणके लिये यह श्लोक लीजिये-

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥'

इस श्लोकमें अकर्म शब्दका अर्थ आलस्य किया जाता है। परंतु अर्जुन गुडाकेश थे; इन्हें यह कहनेकी आवश्यकता न थी, कि 'तुम आलस्य मत करो।' सिवाय इसके गीता तत्त्वज्ञानका ग्रंथ है, साधारण सुभाषित ग्रंथ नहीं है। सुभाषित-ग्रंथोंमें बालकोंके लिये 'आलस्य करना न चाहिये' इत्यादि भाषा लिखी जाती है। वहीं वह शोभा देती है। दूसरी बात यह है, कि कर्मफलत्यागका श्रेष्ठतत्त्व बतलानेपर यह कहनेका क्या प्रयोजन है, कि तुम आलस्य मत करो? तात्पर्य यह है, कि यह अर्थ शास्त्रीय पद्धतिका नहीं है। अकर्म शब्दका अर्थ मोक्ष है। जहां कर्मस्थिति समाप्त होती है, जगतावस्था अस्तंगत होती है, वह अकर्म है। कर्मयोगमें मन इतना तल्लीन हो जाना चाहिये, कि कर्मफलत्यागके द्वारा अखीरमें जो अकर्मरूपी-मोक्षरूपी फल मिलनेवाला है, उसको आसक्तिका भी संग न होना चाहिये। कर्मयोगांतर्गत निष्कामता की कतरनी मोक्षके विषयमेंभी चलाकर अनासक्तिका वैभव बतला दिया! इस प्रकार गीताके प्रत्येक शब्दमें वहुत गहरा अर्थ तथा गूढ शास्त्र ठोसकर भरा हुआ है। दीर्घ मनन, विषयवैराग्य और ईश्वरी कृपाके अतिरिक्त इस शास्त्रका आकलन होगा नहीं।

गीतामें काव्य है, गीतामें शास्त्र है, मानवी पूर्व-विचारोंका सार है। अगले विचारोंको स्फुरण देनेवाला चैतन्य गीतामें है। गीतामें क्या नहीं? यह प्रभुकी वाङ्मयी मूर्ति है। भक्तिरस यहीं पूर्णतया फलित हुआ है। यहां यह ज्ञान हुआ, कि सदसद्-वृत्तियोंके झगडेमें जय कैसे प्राप्त करना। इस ग्रंथकी मोहनी पाश्चात्य समाजपर भी पडी है। जिनकी तर्ककर्कशबुद्धि प्रत्येक तत्त्वज्ञानके व्यंग ढूंढनेके लिये कमर बांधकर तैयार हुई; ऐसे शौपेनहौएर सदृश विद्वानोंको भी यह ग्रंथ अव्यंग मालूम हुवा। समाधिमें जिस प्रकार संपूर्ण गुणमय अवस्थाएं केन्द्रित होती हैं, उसी प्रकार इस छोटीसी ७०० श्लोकवाली गीतामें सकल सद्वस्तुओंका मीलन हुआ है। काव्यकी विकृत कल्पना रखते हुए कोई लोग इसको काव्य नहीं समझते, और शास्त्रकी यथायोग्य कल्पना न रहनेसे कई लोग समझते हैं, कि इसमें शास्त्र नहीं है, किंतु संवादात्मक

पद्धतिसे लिखा हुआ यह ग्रंथ है; इसमें शास्त्रसरणी नहीं है। परन्तु यह निरा भ्रम है।

शास्त्र क्या है? "यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवंति शास्त्रणि।" यहां श्रीकृष्ण साक्षात् योगेश्वर हैं। युद्धसमाप्तिके पश्चात् एकवार अर्जुन ने गीता सुननेकी इच्छा प्रगट की; तब भगवान् ने कहा 'उस समय अत्यंत योगयुक्त चित्तसे जो गीता कही गई, थी; आज ठीक उसी प्रकार कहना, मुझे भी अशक्य है।" ऐसी योगयुक चित्तसे जो गीता कही गई उसको यह कहा जाय, कि यह संवादात्मक होनेसे शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार नहीं है! यह कल्पना स्वयं अशास्त्रीय है। उषःकाल एक अर्थ से रात्रि है और एक अर्थसे दिन है, और भी एक अर्थसे न रात है न दिन है। समाधि एक अर्थसे निद्रा है, एक अर्थसे जागृति है, और एक अर्थसे इन दोनोंसे भिन्न है। निद्रा मेंसे विश्रांति का गुण और जागृतिमे से ज्ञान गुण मिलकर समाधि होती है। इसीके उलटा निद्रामेंसे अज्ञानका दोष और जागृतिमेंसे श्रमका दोष मिलकर स्वप्न होता है। गीता इसी तरह मध्यस्थ भूमिका पर स्थापित की गई है। यदि देखना चाहे तो उसमें महाकाव्य है, वैसेही उसमें महाशास्त्र है, अथवा वह इन दोनोंके परे है। अथवा यों कहिये, कि काव्यशास्त्र दोनों अभेदावस्था से गीतामें विराजमान हैं। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' यह अलिप्तता की भूमिका गीतामें स्थानस्थानपर विद्यमान है। चकार और नकारकी अवस्था गीतामें जगह जगहपर बतलाई है। इस गूढ भूमिका का स्पष्टीकरण किन शब्दोंमें करें? गीतामें कर्मयोग है कि संन्यास है? यहां भी यही मध्यस्थ भूमिका है। गीताका यह सिद्धान्त है कि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।" गीतामें ऐसा भेद ही नहीं है। संन्यासमें कर्मयोग है और कर्मयोगमें संन्यास है। "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत।"

इस तरहका यह दिव्य ग्रंथ संस्कृतमें है, अत्यंत सुगम संस्कृत भाषामें है। परंतु आज हजारों वर्षोंसे संस्कृत भाषा साधारण लोगोंको दुर्बोध हुई है; इस कारण लोगोंमें उसका जैसा प्रचार होना चाहिये वैसा नहीं होता। इस उद्देशसे, कि लोगोंमें उसका प्रचार हो, ज्ञानेश्वरने परम कारुणिक बुद्धिसे 'ज्ञानेश्वरी' लिखी, उसको 'आई' (माता) कहते हैं। परंतु जिस मूल गीता के आधार पर ज्ञानेश्वरी लिखी गई, उस गीता का लोगों को परिचय ही नहीं है। वह परिचय लोगों को कराने के हेतु से 'गीताई' (गीता-माता) नामक मराठी ग्रंथकी रचना अब हुई है। सात सौ श्लोकोंका यह सुगमसे सुगम मराठी ग्रंथ है। यह देशी गहना है। राजासाहबने मुझे कहा है, कि 'यहां की सब शालाओं में इसका प्रचार करेंगे।' परंतु बंधुजन! इसका सर्वत्र प्रसार होनेकी आवश्यकता है। आप इसपर विचार कीजिये। नमूनेके लिये मैं एक श्लोक कहता हूं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

माझ्या कर्मांत जो मग्न भक्तीने भरला असे।
जगीं निसंग निर्वैर मिळे तो मज मत्पर॥

अर्थः- मेरे कर्म में जो मग्न (है), भक्ति से भरा हुआ है, जगत्में निःसंग, निर्वैर ऐसा मत्परायण (मनुष्य) मुझे आकर मिलता है।)

ऐसे रसमय सहजसुंदर श्लोक जिसमें हैं, ऐसे इस ग्रंथका लोगों को परिचय कराने की गरज से मैने यह भाषण किया। इसमें जो कुछ दोष हुए होंगे, उनके लिये क्षमा की याचना करके मैं अपना भाषण समाप्त करता हूं।



स्वामी विवेकानन्दजी के

गीतासंबंधमें विचार

सन १८९७ ई: में स्वामीजी कलकत्ता में थे; और उनका निवास बहुधा 'रामकृष्ण मिशन' संस्थाके मुख्य मठही में रहता था। उस समय वह मठ अलमबाजारमें था। पहिले बहुत दिनों तक साधन करनेवाले अनेक तरुणोंने स्वामीजी की भेंट ली, और ब्रह्मचर्य की तथा संन्यास की दीक्षा ली। पश्चात स्वामीजीने आगे शिक्षण देनेका प्रारंभ किया। उनके लिये स्वामीजी वेदान्त और गीता का शिक्षण देते थे, और ध्यानधारणादि योगों का ज्ञान भी वितरण करते थे। एक समय उन्होंने अपने शिष्यों के सामने गीता के विषयपर बंगाली में प्रवचन किया। मठ की डायरी में उस प्रवचन का जो सारांश दिया है, उसका यह अनुवाद है:—

'गीता' नामसे जो ग्रंथ प्रसिद्ध है, वह महाभारत का एक विभाग है। कोई कोई महत्व की बातें ऐसी हैं कि जिनका ज्ञान हुए विना गीता का आकलन अच्छीतरह हो नहीं सकता। इनमे से एक बात यह है, कि गीता क्या मूल महाभारत ही का अंश है? अर्थात मूलतः उसका कर्तृत्व वेदव्यास को जो दिया जाता है, वह यथार्थ है या नहीं? अथवा क्या वह उस महाकाव्यमें पीछेसे किसीने प्रक्षिप्त कर दी है? दूसरी बात यह है, कि क्या कृष्णनाम के कोई ऐतिहासिक पुरुष थे? तीसरी बात यह है, कि कुरुक्षेत्र का महायुद्ध क्या सचमुचमें हुआ था, जैसा कि गीतामें उल्लेख किया गया है? चौथी बात, क्या अर्जुनप्रभृति मनुष्य कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे?

पहिली बात का पता लगाने के लिये देखना चाहिये कि कौन से आधार मिलते हैं? अपन सब जानते हैं, कि वेदव्यास नाम के अनेक पुरुष हो गए हैं। उनमेसे गीताका कर्ता कौन है? बादरायण व्यास किंवा द्वैपायन व्यास? 'व्यास' केवल उपपद है। जहां किसीने नवीन पुराण की रचना की, वहां उसकी 'व्यास' नामसे प्रसिद्ध होती थी। जिस प्रकार 'विक्रमादित्य' एक सामान्य नाम है, उसी प्रकार 'व्यास' एक सामान्य नाम है। और एक बात ऐसी है, कि प्रथमतः सामान्य लोगोंमें गीतामें गीताकी कोई अधिक प्रसिद्धि नहीं थी।

बादमें श्रीशंकराचार्यने उसपर भाष्यरचना की, इस कारणसे उसकी प्रसिद्धि हुई। बहुतसे लोगोंका कहना है, कि इसके पहिले बहुत काल तक गीतापर बौद्धायन का भाष्य प्रचलित था। लोगों का यह कहना यदि प्रमाणों से सिद्ध हुआ, तो इसमें संदेश नहीं, कि गीता का प्राचीनत्व और व्यास का (गीता) कर्तृत्व स्थापित होने के लिये बहुतसा साधन मिल जायगा। परंतु वेदान्त सूत्रोंपर किये हुए जिस बौधायनभाष्य का उल्लेख श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें किया है और जिसमेसे कई अवतरण उन्होंने जगह जगह लिये हैं, जिसके आधारपर रामानुजने अपना श्रीभाष्य रचा है, जिसकी विशेषचर्चा स्वामी दयानंदने की है, उस बौधायनभाष्य की एक भी प्रति मेरे संपूर्ण भारत-प्रवासमे मुझे देखने नहीं मिली। ऐसा कहा जाता है, कि दीमकने खाई हुई बौद्धायनभाष्य की एक हस्तलिखित पोथी सहज योगसे स्वामी रामानुज के हाथ आगई; और उसीपर से उन्होंने अपने भाष्य-की रचना की। अत्यंत प्रसिद्ध ऐसा वेदान्तसूत्रों का बोधायनभाष्य भी जहां गहरे अंधकारमें लुप्त हो बैठा है, वह गीता के बोद्धायन भाष्य का अस्तित्व

सिद्ध करने का प्रयत्न करना केवल मूर्खता है। कोई कोई लोगों का ऐसा भी अनुमान है; कि स्वतः शंकराचार्यने गीता की रचना की, और बादमें उन्होंने वह महाभारत में प्रक्षिप्त कर दी।

अपने प्रश्नोंमें से अब-दूसरे प्रश्न पर विचार करें। 'कृष्ण' नामक व्यक्ति के बारेमें बहुतही घुटाला है। छांदोग्य उपनिषत् में कृष्ण का उल्लेख है; उसके अनुसार वह देवकी का पुत्र था, और 'घोरनामा' इस नाम के योगी से उसने अध्यात्मिक ज्ञान संपादन किया था। महाभारत का कृष्ण द्वारकाधीश था। बहुत प्राचीन समयमें अपने देश में 'मेदनोत्सव' नामक एक उत्सव प्रचलित था। आगे चलकर उसीको दोलोत्सव का रूप आया और यही दोलोत्सव श्रीकृष्ण से संलग्न हो गया। कौन कह सकता है, कि रासलीला इत्यादि श्रीकृष्ण के संबंधमें जो बातें आज प्रचलित हैं, वे इसी तरह किसीने श्रीकृष्ण के पीछे न चिपका दी हों? इतिहास का संशोधन करके सत्यान्वेषण करनेकी प्रवृत्ति प्राचीन कालमें अपने देशमें बिलकुल नहीं थी; इसलिये परिस्थिति ऐसी रही, कि कोई भी सज्जन, बिना किसी आधार या प्रमाणके, जो चाहे सो कह दे। दूसरे, प्राचीन कालमें कीर्ति अथवा नाम हासिल करनेकी उत्सुकता किसी को न थी; और कोई ग्रंथकर्ता अपने ग्रंथको अपने गुरू के अथवा अन्य किसी के नाम से प्रसिद्ध करते थे। ऐसी स्थिति होनेके कारण, ऐतिहासिक संशोधन करनेवाले को सत्य का निर्णय करना एक बडी कठिन और धोखेकी बात हो गई है। प्राचीन काल में भूगोल का ज्ञान बिलकुल नहीं था। सब कुछ कल्पना की सृष्टि थी। इसके परिणाममें हमें क्षीर-सागर, मधुसागर, दधिसागर, घृतसागर ऐसे कल्पना के विलक्षण संतान देखने मिलते हैं। अमुक व्यक्ति की आयु एक हजार वर्ष थी; अमुक मनुष्य एक लाख वर्षतक जीवित रहा; इस तरह के विधान पुराणोंमें देखने मिलते हैं। परंतु वेद कहते हैं 'शतायुर्वै पुरुषः।' अब हम किसका कहना सत्य मानें? इसका निष्कर्ष यह हुआ, कि कृष्ण के संबंधमें निश्चितरूप से निर्णय करना प्रायः असंभाव्य है।

श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो गुण रहते हैं, उनको मनःकल्पित दिव्य अथवा अतिमानुष लक्षणों का रंग देकर अधिक आकर्षक बनानेकी ओर लोगों की सहज प्रवृत्ति रहती है। यह मनुष्यस्वभाव ही है। कृष्ण के संबंधमें ऐसाही हुआ रहना चाहिये; परंतु यह बात पूर्ण संभाव्य है, कि वह राजा था। पूर्ण संभाव्य कहनेका कारण यह है, कि प्राचीन कालमें अपने देशमें ब्रह्मज्ञान के प्रसारार्थ विशेषतः राजा लोगही अविश्रांत परिश्रमयुक्त उद्योग करते थे। एक और बात ध्यानमें रखनेलायक यह है, कि गीता का कर्ता कोई हो, परंतु हम देखते हैं कि गीता जो सिखलाती है, वही शिक्षा समग्र महाभारत में है। इससे हम देखके यह अनुमान कर सकते हैं, कि महाभारत के समयमें कोई एक महात्मा उत्पन्न हुआ, और उसने तत्कालीन समाजको इस अभिनव मिष से ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया होगा। दूसरी एक बात प्रमुखता से देखने मिलती वह यह है, कि प्राचीन कालमें एक एक नया पंथ जैसे निकलता, वैसे ही उस उस पंथ का एक एक नया प्रमाणग्रंथ तयार होकर उस पंथके लोगोंमें प्रचलित होता था। कभी कभी ऐसा भी होता था, कि कोई एक पंथ और उसका मतग्रंथ दोनों काल के उदर-में लुप्त होते थे; अथवा पंथ नामशेष होता था, परंतु उसका मतग्रंथ बाकी रहता था। इससे यह भी संभाव्य मालूम होता है, कि गीता ऐसे ही किसी पंथ का धर्मग्रंथ होगा, और उस पवित्र ग्रंथमें उस पंथ के सब उदार और उच्च तत्त्व ग्रथित किये हों।

अब तीसरा प्रश्न कुरुक्षेत्र के युद्ध के बारेमें है। इस युद्ध के सत्यत्व का कोई विशेष प्रमाण देने लायक नहीं है। परंतु इसमें शंका नहीं, कि कौरव और पांचाल ऐसे दो पक्षोंमें युद्ध हुवा। विचार करनेकी एक और बात यह है, कि समरभूमिपर दोनों पक्षों के सैन्य युद्धकी पूरी तयारी से खडे हैं,

ऐसे प्रसंगमें ज्ञान, भक्ति और योग की इतनी सविस्तर चर्चा कैसे हो सकती है? और युद्ध की ऐसी गडबडीमें कृष्ण और अर्जुनमें जो संवाद हुआ, उस संवाद का प्रत्येक शब्द किसने और किस तरह टांच लिया? क्या वहां कोई लघुलिपिलेखक उपस्थित था? कोई लोग कहते हैं, कि कुरुक्षेत्र का युद्ध केवल एक रूपक है, और विचार करनेपर इस बातका मर्म इसतरह ध्यानमें आता है, कि मनुष्य के मनमें सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति के दरम्यान जो निरंतर झगडा चलता रहता है, उसीका वर्णन इस रूपकके द्वारा किया गया है। यह अर्थ भी अयुक्तिक नहीं है।

अब चौथे प्रश्नपर विचार करें। अर्जुन आदि व्यक्तियों के ऐतिहासिक होनेके संबंधमें शंका लेने के लिये बहुत जगह है। वह इस प्रकार है। शतपथब्राह्मण बहुत पुरातन ग्रंथ है। जिन पुरुषोंने अश्वमेध यज्ञ किया,उन सब के नाम इस ग्रंथमें कहीं न कहीं दिये गए हैं। अर्जुन का पौत्र-परीक्षित का पुत्र-जनमेजय पुराणप्रसिद्ध है; इस जनमेजय का नाम शतपथ ब्राह्मणमें आया है, परंतु उसमें अर्जुनादि पुरुषोंका प्रत्यक्ष उल्लेख है ही नहीं, किंतु अस्पष्ट उल्लेख तक नहीं है। तथापि महाभारत में तथा अन्य ग्रंथोंमें कहा है, कि युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पुरुषोंने अश्वमेध यज्ञ किया।

इस संबंधमें यह विशेष बात ध्यान में रखनी चाहिये,कि धर्मसाधनार्थ ज्ञान संपादन करना अपना मूल हेतु है। इस हेतुका ऐतिहासिक संशोधनसे कोई संबंध नहीं है। यदाकदाचित् ऐतिहासिक दृष्टया यहांसे वहां तक सब बातें निराधार और झूठी साबित हुईं, तबभी उससे हमारी यत्किंचित् हानि न होगी। यदि ऐसा है, तो "इस ऐतिहासिक संशोधन की झंझाट करनेकी हमें क्या जरूरत है?" ऐसा प्रश्न सहजही आपने सामने खडा होगा। उसका संशोधनका-उपयोग है; क्यों कि अपने को सत्यशोधन करना है। अज्ञानमूलक झूठी कल्पनाओं अथवा ख्यालोंको हमेशा पास रखनेमें हमारा सच्चा हित न होगा। ऐसे उद्योगोंका-ऐसे संशोधनोंका- महत्व अपने देशके लोगोंको बिलकुल नहीं समझता। बहुतेरे (धर्म) पंथोंकी यह धारणा है, कि लोकहितकी बातोंका प्रचार अथवा उपदेश करनेमें, झूठ बोलनेसे उस प्रचारको विशेष साहाय्य पहुंचता हो, तो झूठ बोलना कोई पातक नहीं है। वे समझते हैं, कि हेतु शुद्ध रहनेसे साधनकी भी शुद्धि होती है। यही कारण है, कि "महादेवजीने पार्वतीसे कहा" इसतरह प्रायः सब तंत्रोंका आरंभ हुआ हम देखते हैं। परन्तु हमारा काम है, कि सत्यताके विषयमें हम पूरा खोजविनोद कर अपना निश्चय कर लें, जो बात सत्य हो, केवल उसीपर हम विश्वास रखें। भोली समझका जोर ऐसा विलक्षण रहता है, सत्य असत्य का निर्णय किये विना परंपरागत दंतकथाओंपर श्रद्धा रखनेका ग्रह ऐसा जबरदस्त होता है, कि उस ग्रहसे मनुष्य बंध जाता है। पूर्वग्रह किसीतरह हटते नहीं, दंथकथाओंपर श्रद्धा अमिट हो जाती है। सामान्य लोगोंकी क्या कहें; जीजस, मुहंमद तथा वैसे अन्य बहुतसे महात्माओंका भी भोली बातोंपर विश्वास था; ये महात्मासी ऐसी भोली धारणाको न हटा सके। तुह्मारी दृष्टि सदैव सत्य ही पर स्थिर रहनी चाहिये। भोलेपनकी धारणाओं से हमेशा चार हाथ दूरही रहना चाहिये।

अब हमें यह देखना है, कि गीतामें क्या है? उपनिषदोंका अध्ययन करनेमें अपनी वैसी ही अवस्था होती है, जैसे किसी विस्तीर्ण और घने जंगलमें फिरते फिरते बीचहीमें कहीं कहीं अत्यंत मनोहर गुलाब दिख पडे, परन्तु उसके पत्ते, शाखाएं, कांटे, फूल, जड, ये सब खूब उलझे हों। अनेक निरर्थक अथवा असंबद्ध विषयोंके चक्रव्यूह में घूमते रहना, तब कहीं एकाध सुंदर तत्वके प्रतिपादन का उपक्रम किया हुआ देखने मिलता है। उस हिसाबसे देखा जाय, तो गीता का डौल कुछ और ही नजर आता है। उसमें ये समूचे सुंदर तत्व योग्य स्थानोंमें पूर्ण व्यवस्थासे रखे हुए हैं, मानो यह चुने हुए फूलोंका एक सुंदर हार अथवा

गुच्छ ही है! उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें श्रद्धाका माहात्म्य बतलाया है; परन्तु उनमें भक्तिका नाम तक नहीं है। यहां गीतामें देखिये, भक्ति का विवरण बारंवार किया है, किंबहुना भक्तिका हृदयस्पर्शी पूर्णस्वरूप इसमें प्रगट हुआ है।

गीतामें प्रमुखतः जिन तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है, उनमेंसे कुछ तत्त्वोंका अब विचार करें। गीताके पहिले रचेहुए जो धर्मग्रंथ है, उनमें और गीतामें क्या भेद है? उनकी अपेक्षा गीतामें विशेष क्या है? गीताकी अभिनवता इस बातमें है, कि उसका अवतार होनेके पहिले, (कर्म) योग, ज्ञान, भक्ति इत्यादि मार्गोंमेंसे प्रत्येक मार्गके कट्टर अनुयायी विद्यमान थे, इन भिन्न मार्गवालोंका एक दूसरेसे झगडा था। हरएक पंथ यह समझता था, कि अपनाही पंथ अव्वल दर्जेका है। इन सब पंथों का समन्वय करने का प्रयत्न पहिले किसीने नहीं किया था, वह प्रयत्न पहिले पहल गीताकारने किया। उस समय जितने पंथ प्रचलित थे, उन सबमेंसे उमदा उमदा तत्त्व चुनकर गीतासूत्रमें गुह दिये। परन्तु इन सब विरोधी पंथोंका पूर्ण समन्वय करनेमें जो यश श्रीकृष्ण को प्राप्त नहीं हुवा, वह इस उन्नीसवीं शताब्दिमें रामकृष्ण परमहंस को पूर्णतया प्राप्त हुआ।

गीता का दूसरा विशेष निष्काम कर्म है। आजकल इसका अर्थ अनेक प्रकारोंसे किया जाता है। कोई लोगोंका कहना है, कि निष्काम होनेका अथवा अनासक्त होनेका अर्थ निर्हेतुक होना है। यह अगर सच्चा अर्थ हो, तो सारे पशु, जिनको कलेजा रहता ही नहीं, किंबहुना दीवालें भी निष्कामकर्म करनेवालोंके अच्छे प्रतिनिधि ठहराए जांयगे। दूसरे बहुतसे लोग जनक का नाम बतलाकर निष्काम कर्माचरण के विषयमें उसकी श्रेणिमें बैठने की अभिलाषा रखते हैं। जनकने जो नाम कमाया, वह केवल प्रजोत्पत्ति करके नहीं कमाया। परन्तु इन लोगोंको केवल लडके लडकियों की झुंड पैदा करके 'जनक' बनाना है। नहीं नहीं! ऐसी बात नहीं है। सच्चा निष्कामकर्मी पशुओंके समान अथवा जडवस्तुओं के समान बिनकलेजेका नहीं रहता। वह तामसी नहीं रहता; वह केवल सत्त्वकी मूर्ति रहता है। उसका अन्तःकरण प्रभुके और दया के रसमें इतना डूबा रहता है, कि संपूर्ण विश्व उसमें नहा लेगा। उसके सर्वव्यापी प्रेमके और दयाके स्वरूप का आकलन करनेमें सामान्य जगत् असमर्थ है।

एवंच गीताके दो विशेष यही हैं— (१) भिन्न भिन्न धर्मपंथोंका समन्वय (२) निष्काम कर्मका पुरस्कार।

अब दूसरे अध्यायके कुछ श्लोक पढें।

संजय उवाच।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

संजयने कहाः

(१) इस प्रकार करूणासे व्याप्त, आंखोंमें जिनके अश्रु भरे हैं, और विषादयुक्त अर्जुनसे मधुसूदन बोले- श्रीभगवान्ने कहा- (२) हे अर्जुन! संकटके इस प्रसंगपर तुम्हारे मनमें यह दालमें काला (कश्मल) कहांसे आया, जो कि आर्योंको सुहाता नहीं, किंतु अधोगतिको पहुंचानेवाला और दुष्कीर्ति करनेवाला है? (३) हे पार्थ ऐसे नामर्द मत हो! यह तुम्हें शोभा नहीं देता। शत्रुको संताप देनेवाले हे अर्जुन! अंतःकरणकी इस दुर्बलताको छोडकर (युद्धके लिये) उठो!

जिस श्लोकका आरंभ 'तं तथा कृपयाविष्टम्, इन शब्दोंसे हुआ है, उसमें अर्जुनकी सच्ची दशा का जो चित्र रंगा है, वह कितना सुंदर, कितना काव्यमय है! श्रीकृष्ण इसके आगे अर्जुनको उपदेश करते हैं। 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ,' इत्यादि

शब्दोंसे अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? इसका यह कारण है, कि अर्जुनको युद्धके विषयमें जो घृणा उत्पन्न हुई थी, वह इसलिये नहीं, कि अर्जुनमें शुद्ध सत्वगुणका जोर हुआ था; वह युद्धपराङ्मुखता केवल तमोमूलक थी। सत्वगुणी मनुष्यका मुख्य लक्षण यह है, कि संसारमें अच्छा या बुरा कैसा भी प्रसंग आवे, तथापि उसकी शांतवृत्ति जरा भी विचलित नहीं होती; उसको संपत्काल और विपत्काल दोनो एकहीसे मालूम होते हैं। परंतु अर्जुनकी यह अवस्था नहीं थी। उसको भयने घेर लिया था, करूणाने व्याप्त कर लिया था! समरभूमिपर वह केवल युद्ध करनेके हेतुसे आया था, वहां आनेका दूसरा कोई उद्देश नहीं था; इसी एक बातसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है, कि उसको युद्धकी स्फूर्ति हुई थी, युद्ध करनेका उसका संकेत था। संसारके व्यवहारमें कई प्रसंगोंपर ऐसे प्रकार देखनेमें आते हैं। बहुतसे लोग अपनेको सात्विक वृत्तिके समझते हैं; परंतु यथार्थ रीतिसे देखनेपर मालूम होता है, कि वे केवल तमोगुणसे व्याप्त हैं। अमंगल रीतिसे रहनेवाले कई लोग अपनेको परमहंस मानते हैं! क्यों कि शास्त्रोंमें लिखा है, कि परमहंसकी रहन सहन पागल सरीखी, उन्मत्तसरीखी, जड अथवा गंदले आदमी सरीखी रहती है। परमहंसोंको बालकोंकी उपमा दी जाती है; परंतु हमें यह भूलना न चाहिये, कि उपमाएं हमेशा एकांगी रहती हैं। परमहंस और बालक एक नहीं हैं, अभेद नहीं हैं। ऐसा केवल भास हाता है कि ये दोनो एकसे हैं, मानो एक लकडी का एक एक छोड पकडे हुए ये बैठे हों। एक ज्ञानातीत अवस्थाप्रत पहुंचा हुआ रहता है, दूसरे को ज्ञान का गंध तक नहीं रहता। प्रकाश परमाणु के अत्यंत द्रुत गतिसे तथा अत्यंत मंद गति से जो कंपन होते हैं, वे दोनो अपनी आंखों को अगोचर रहते हैं; परंतु द्रुतगतिवाले कंपनमें उष्णताकी परमावधि रहती है, मंदगतिवाले कंपनमें उष्णता न होने के बराबर रहती है। सत्व और तमोगुण की भी यही हालत है। इसमें संदेह नहीं, कि कोई कोई बातोंमें वे एकसे दिखते हैं; परंतु उनमें जमीनअस्मान का फरक है। सत्वगुण का पोशाक पहनकर भला बननेकी तमोगुण को बडी अच्छा रहती है। यहां श्रेष्ठ वीर अर्जुन के मनमें वह (तमोगुण) दया का स्वरूप धारण करके आया है।

अर्जुन के मनमें जो यह मोह अथवा भ्रम उत्पन्न हुआ, उसका निरसन करने के लिये भगवान्ने क्या कहा? तुम लोगोंसे हमेशा मेरा यह कहना रहता है, कि किसी भी मनुष्य को 'पापी' कहकर दूषण देनेके बदले, उसके अंतरंगमें वास करनेवाली जो दिव्य शक्ति है, उसका ज्ञान उसको करा देना चाहिये। ठीक इसी तरह भगवान् अर्जुनको कहते हैं। 'नैतत्त्वय्युपपद्यते' तुम्हें यह उचित नहीं। शाश्वत, अविनाशी, अव्यय, सर्व दुःखातीत जो आत्मा, वही तुम हो। तुम्हें अपने सत्यस्वरूप का विस्मरण हुआ है। 'मैं पापी हूं, आधिव्याधि से ग्रसित हूं, ऐसी कल्पना निरंतर मनमें रखनेसे तुम वैसेही बन गए हो— तुम्हें यह उचित नहीं; यह तुम्हें शोभा नहीं देता। इसलिये भगवान् कहते हैं 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।' कातरता को अवकाश मत दो। जगतमें पाप नहीं, विपत्ति नहीं, रोग नहीं, पीडा नहीं। अगर कोई ऐसा वस्तु इस संसार में हो, कि जिसको 'पाप' कह सकते हैं, तो वह 'भय' है। तुममें जो सुप्त सामर्थ्य है, उसको जागृत करनेवाला जो कर्म, वह पुण्य है; और तुम्हारे शरीर को, मन को दुर्बल करनेवाला जो कुछ भी होगा, वह सब 'पाप' है। इसको खूब ध्यानमें रखना। यह सारी दुर्बलता, यह कातरता, यह मोह अलग हटा दो। 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।' तुम वीर हो; 'तुम्हें यह शोभा नहीं देता।'

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

मेरे प्यारे शिष्यगण! इस मंत्र की घोषणा यदि तुम सारे संसारमें करोगे, जो समस्त आधिव्याधि सारी पीडा, सारे दुःख, सारे पाप इस दुनियामें से निकलकर तीन दिनमें कहां के कहां भाग

जावेंगे। ये दुर्बलताके, ये नामर्दपन के विचार अपना मुंह काला करेंगे, उनका नामतक रहने न पावेगा। सांप्रत भय का प्रवाह अखंड बह रहा है। जहां जाओ, वहां वह मौजूद है। इसी प्रवाह को उलटा दो, उसका स्वरूप बिलकुल पलट दो, विरुद्ध विचारप्रवाह को जारी करो, और देखो क्या चमत्कार होता है। जादू सरीखी एकदम जहां तहां क्रांति हो जायगी। तुम सर्वशक्तिमान सर्वसमर्थ हो; – जाओ जाओ, तोप के मुंहपर जाकर खडे हो; डरो मत! कोई महापापी होगा; नीच से नीच होगा, उसका भी तिरस्कार मत करो, उसके बाह्यांग को मत देखो, उसके अंतरंगमें नजर पहुंचाओ, वहां परमात्मा की अखंड वसति है। नगाडे की आवाज से सारे संसार को यह मंत्र जाहिर करो। 'तुममें पापका लेश भी नहीं है, तुममें दुःखका नाम भी नहीं है, सर्वसमर्थ शक्ति के तुम केवल भांडार हो। उठो, जागृत हो, और हृदयस्थ जनार्दन को प्रगट करो।'

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

यह एकही श्लोक दिलसे कोई पढे, तो संपूर्ण गीता पढनेका पुण्य उसको प्राप्त होगा; क्योंकि यह श्लोक समग्र गीता का बीज है। संपूर्ण गीता का सार इस एक श्लोकमें भरा हुआ है।

माण्डूक्योपनिषत् ।

(कविता)

(कवि– श्री० हलिया रामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

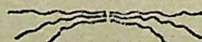
"ओ३म" यह अक्षर मात्र है, व्याख्या कुल संसार ।
हुआ, हो रहा, होगा जो, कुल व्याख्या ओ३म्कार ॥१॥
सभी दिखाई दे रहा, दीखे भी नहीं जो ।
तीनों कालोंसे परे, ओ३म्कार ही सो ॥२॥
यह तो सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म ।
चतुष्पाद यह आत्मा, वही आत्मा ब्रह्म ॥३॥
जाग्रत् प्राणी की तरह, बुद्धि बाहर हो ।
स्थूल तत्त्वके भोगमें, लगी स्थूल भुग सो ॥४॥
सूर्य चान्द आंखें कहीं, कहीं, दिशाएं श्रोत्र ।
भूमिको पांओ किया, चहुं वेदोंको स्तोत्र ॥५॥
अन्तरिक्ष तो उदर है, द्यौः है मूर्धास्थान ।
वायु प्राणाऽपान है, सप्ताङ्ग यही जान ॥६॥
महदव्यक्ताहङ्कृति, चौथा जी वसुजान ।
पञ्च प्राण दश भूत मिल, मुख उन्नीस पहिचान ॥७॥
मुख एकोनविंशति, सप्ताङ्ग शुभपाद ।
इनमें प्रज्ञा विचरती, वैश्वानर यह पाद ॥८॥
पहिले अनुभव यह करो, पहिला ब्रह्म उपदेश ।
तत्त्वज्ञान कक्षा प्रथम, ब्रह्म ऋषि सन्देश ॥९॥
पाद प्रथम वर्णन किया, वैश्वानर स्वरूप ।
नेता सारे विश्वका, इसी लिये तद्रूप ॥१०॥
सूक्ष्म नियन्ता स्थूलका, अन्तः प्रज्ञ सुजान ।
बुद्धि भीतर विचरती, भोग सूक्ष्म पहिचान ॥११॥
प्रज्ञा भीतर विचरती, स्वप्न अवस्था मांह ।
ऐसे तैजस विश्वके, मानों अन्दर छांह ॥१२॥
जैसे प्राणि स्वप्नमें, भोगे केवल विचार ।
ऐसे तैजस दशामें, ब्रह्म करें सुविचार ॥१३॥
तैजस आश्रित तेजके, जो उदान और अग्न ।
जीवेश्वर सम्बन्धमें, जानों मित्र सुप्रज्ञ ॥१४॥
भीतर शक्ति ज्ञानकी, करे विचार एकान्त ।
निरा अकेला ब्रह्म वह, बाहरसे शुभ शान्त ॥१५॥
जीव यथा स्वप्नस्थ हो, भुक् प्रविविक्त कहाय ।
ब्रह्मात्मा तेजस्थ जब, पदवी वैसी पाय ॥१६॥
मुख उन्नीस प्रयुक्त कर, स्वप्न भोगता जीव ।
सातों अङ्गोंपर पडा, पर प्रभाव रहा दीख ॥१७॥
एवं सातों अङ्ग अरु, मुख उन्नीसयुक्त ।
अन्तःप्रज्ञ वह ब्रह्म भी, दीख रहा सुव्यक्त ॥१८॥
मुख उन्नीस वही यहां, अङ्ग विश्वके सात ।
जिनसे भोगे भोग वह, सूक्ष्म विचार द्विपात् ॥१९॥
नहीं करता कोई कामना, नहीं देखता स्वप्न ।
सोया ऐसी दशामें, कहा जात सुस्वप्न ॥२०॥
सुषुप्ति कहते इसे, इसी अवस्था मांह ।
प्राज्ञ ब्रह्म वह ज्ञेय है, तैजस जिसकी छांह ॥२१॥
प्रज्ञा मेघ उस प्राज्ञसे, वर्षे प्रज्ञाधार ।
तभी कहा प्रज्ञानघन, सर्वज्ञ सब सार ॥२२॥
एक हुआ आनन्दमय, भोगे सुख एकान्त ।
मुखके बल इक चेतना, आनन्द भुक् सुशान्त ॥२३॥
ईश सभीका है यही, ज्ञाता कुल ब्रह्मांड ।
भीतरसे नियमन करे, इसी रचा हैमाण्ड ॥२४॥
कारण सबका है यही, यही सुजन्मस्थान ।
अप्राणीका उदय यह, अस्त, प्राणिका, ज्ञान ॥२५॥
बुद्धि बाहर नहीं गई, भीतर विचरेन ।
दिवास्वप्न भी नही हो, उभय प्रज्ञ तब न ॥२६॥
बुद्धि मेघ नहीं उगडता, बुद्धिमान नहीं हीन ।
आत्मानुभव मात्र ही एक प्रपञ्च विहीन ॥२७॥
पञ्चीकरण सब शान्त हैं, उस अवस्था मांह ।
कल्याणमय शिव प्रभु आत्मामें द्वित नांह ॥२८॥

चौथा पाद यही कहा, विज्ञेयात्मा रूप ।
विशेष जानता इसे जो, हुआ वही ब्रह्मरूप ॥२९॥
नहीं आता व्यवहारमें, दृष्टि गोचर न ।
पकडा जाय न हाथसे, चिह्नभी कोई न ॥३०॥
सोचा मनसे जाय न, कथन किया नहीं जाय ।
मन वाणीसे परे हो, हृदयमें रहा समाय ॥३१॥
चहुं पाद वर्णन हुए, कहे जो मुनि माण्डूक्य ।
ब्रह्मवेत्ताकी कृपासे, दर्शन होवे शुभैक्य ॥३२॥
ऐसा यही वह आत्मा, ओ३म अक्षर आधीन ।
मात्राऽधीन ओ३मूकार है, मात्रा पाद आधीन ॥३३॥
पाद मात्रा आधीन हैं, अ, उ, म, अमात्र ।
इन पद मात्रामें रमें, रहें सदा जगमित्र ॥३४॥
"अ" मात्रा जो प्रथम है, सो वैश्वानर पाद ।
जीता जागता ब्रह्म वह, नेता कुलसंसार ॥३५॥
प्राप्त करे सभी कामना, भक्ति करे आरम्भ ।
जो ध्यावे इस पादको, अ-मात्रा सानन्द ॥३६॥
आप्ति आदि अर्थसे, मात्रा चुनी अकार ।
वाचक जो शुभ विश्वकी, बनी भाग ओ३मूकार ॥३७॥
मात्रा "उ" द्वितीय जो, वाचक तैजस पाद ।
विश्वज्ञान शक्ति स्वप्न, लें जब ब्रह्म द्विपाद ॥३८॥
विस्तृत उंचा वह करे, उत्तम ज्ञान विचार ।
सम होवे सदा सर्वथा, मात्रा जाने उकार ॥३९॥
कुलमें इसके होवे न, जो जाने नहीं ब्रह्म ।
जो ध्यावे यह पाद शुभ "उ" मात्रा सम्पन्न ॥४०॥
उत्कर्षोभय अर्थसे, मात्रा चुनी उकार ।
वाचक तैजस ब्रह्मकी, बनी भाग ओ३मूकार ॥४१॥

"म" मात्रा शुभ तीसरी, वाचक प्राज्ञ सुशान्त ।
प्रज्ञाघन आनन्दमें सो रहे तैजस कान्त ॥४२॥
मिन डाले संसार सब, सबका बन आधार ।
आप्यय उद्भव सभीका, मात्रा ध्यावे मकार ॥४३॥
मिति अपीति अर्थसे, ली है मात्रा मकार ।
वाचक सानन्द प्राज्ञ हो, बनी भाग ओ३मूकार ॥४४॥
ध्यावे मात्रा प्रेमसे, प्राज्ञमें ले आनन्द ।
ब्रह्मभक्त लगा ध्यानमें, लूटे ब्रह्मानन्द ॥४५॥
नहीं आता व्यवहारमें, चौथा पाद सुशान्त ।
ओ३म् में मात्रा है नहीं, यही तत्त्व वेदान्त ॥४६॥
द्वित्व रहित यह सर्वथा, कल्याणमयशिव ।
पञ्चीकरणविहीन जो, उपशान्त सुस्थिर ॥४७॥
आत्मा यूं ओ३मूकार ही, है जो जाने भेद ।
आत्मा में प्रवेश कर, आत्मासे हरे खेद ॥४८॥

अथ शान्तिः।

कानोंसे ओ३मूकार शुभ, सुख कल्याणमय भद्र ।
सुनें, देखें हम नेत्रसे, शुभ ओ३मूकार सुभद्र ॥१॥
यजनशील विद्वान् हम, देवोंकी करें सेव ।
परमदेव ओ३मूकारकी, श्रद्धा प्रेम सुसेव ॥२॥
गाते स्तुति ओ३मूकार की, स्थिर कर सारे अङ्ग ।
देहसे भोगें आयु शुभ, देव नियत सह उमङ्ग ॥३॥
पूषा जाने विश्व जो, इन्द्र बढा जिस यश ।
ने दुःखदायी धुरा जो, विश्वकर्म शुभ यश ॥४॥
बडोंका रक्षक वाणीका, भी जो पति सुमहान ।
बृहस्पति महाराज वह, देवें हमें कल्याण ॥५॥
अधिदैविक अधिआत्मिक, अधिभौतिक हे कान्त ।
त्रिविध ताप अरु घोर दुःख, कृपया कीजिये शान्त ॥६॥



श्रीमद्भगवद्गीताकी अभिचारिणी विद्या।

(२)

(लेखक- श्री. आनंदघनराम, तासगांव.)

अथ हृदयादिन्यासः।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः॥

इति हृदयाय नमः॥

योजनार्थः- पहिले अंगुष्ठाभ्यां नमः कहते समय जो अर्थ भावना ध्यानमें रखनेको कहा गया, वह भावना, अब अपने हृदयको दाहन हाथकी उंगलियोंका स्पर्श करके अपने हृदयमें करना, और कहना (मैं शस्त्रसे विच्छिन्न नहीं होता अथवा अग्नि मुझे जला नहीं सकता।

इति हृदयाय नमः।)

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इति शिरसे स्वाहा

योजनार्थः- मुझे पानी भिंगा नहीं सकता या डुबा नहीं सकता, और मुझे वायु शुष्क नहीं कर सकता, ऐसा मैं अपने मस्तकमें तालुस्थानमें दशम द्वारमें (पाइनल बॉडी- दि सीट ऑफ दि सोल) हूं ऐसी भावना करके कल्पनासे उस स्थानमें अपना तेजोमय छोटा स्वरूप (साकार सावयव आइनेमें अपने प्रतिबिंब सरीखा) देखते हुए, तालुको दाहिने हाथके उंगलियोंका स्पर्श करते हुए, उपर्युक्त वाक्य कहकर उस अपने मानसिक तेजोमय देहमें इस स्थूल देहको, ' स्वाहा ' कहते हुए मनसे एकरूप करना।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं अक्लेद्योऽशोष्य एव च॥

इति शिखायै वषट्॥

योजनार्थः- मैं टूटनेवाला नहीं, मैं जलनेवाला नहीं, मैं डूबनेवाला नहीं, मैं शुष्क होनेवाला नहीं ऐसा जो मैं बद्ध हृदयस्थ हूं, वह मैं अपने सामर्थ्य से इस मेरी चोटी को स्पर्श करके (बायां हाथ छाती के आगे सीधा रखकर, दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा उंगलियों को जोडकर, शेष तीन उंगलियां मिलाकर दोनों उंगलियोंका स्पर्श करके) उक्त गीतावाक्य कहकर वषट् शब्द के उच्चार के साथ शांति निर्माण करता हूं; ऐसी भावना करके दाहिने हाथ की उंगलियां नीचे लाते हुए, बांए हाथ (सीधे) पर उनका आघात करके (शट् ऐसा) आवाज निकालना।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

इति कवचाय हुम्॥

योजनार्थः- मैं सर्वत्र एकसा भराहुवा, कभी न हिलनेवाला, हमेशा जैसा का वैसा पूर्वकाल से (सर्वव्यापक) शाश्वत हूं। (इसप्रकार सर्वव्यापक-स्वरूप की भावना करते हुए उपर्युक्त शब्दों का उच्चार करते करते इस ध्यान से और इस शब्दोच्चार से दोनों हाथों के तले सिरके तरफ करके उलटे पीछे पीठके तरफ उंगलियां करके, सिरपर हाथ दो अंगुल ऊंचे उलटे रखकर, मस्तक मे से मानो कुछ तेज डाल रहे हैं, इस तरह उंगलियों का अग्रभाग नीचे झुकाकर, वे दोनों हाथ सिर, कपाल, आंखें, नाक और मुंह पर से दो अंगुल के अंतर से नीचे छातीतक लाकर) " कवचाय-हुंम् " कहकर (इस उच्चार के साथ) सूक्ष्म मानसिक लिंगदेहके साथ ही इस स्थूल देहपर भी संरक्षण ऐसा सूक्ष्म तेजोमय कवच धारण करता हूं, ऐसी भावना करना।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥
इति नेत्रत्रयाय वौषट् ॥

योजनार्थः- हे पार्थ ! (पृथा- बुद्धि- के उदर से उत्पन्न हे जीवस्वरूप) ये दिखनेवाले मेरे- आत्माके -सैंकडों हजारों स्वरूप देखो । इनमें से कुछ स्वरूप, जो आंखोंके सामने होंगे, इन स्थूल आंखों को दिखेंगे; इनमेंसे कुछ स्वरूप, जो आंखों के सामने न होंगे, परंतु पहिले देखे होंगे, भीतर के आंखों (मानस चक्षु) के सामने खडे होंगे; और जो इन आंखों के सामने नहीं परंतु इस जगत् में, स्पष्ट और अदृष्ट तेजोमय जगत् में, रहनेसे अव्यक्त होंगे उन्हें देखने का सामर्थ्य मस्तिष्क की तली में भ्रूमध्यस्थानांतर्गत तृतीय नेत्र में है, उस नेत्र से वे दिखेंगे । इस प्रकार इन तीनों आंखों के सामने आनेवाला स्थूल व सूक्ष्म सारा जगत् मेरे मानस संस्कार से मैं ही बन गया हूं, इसलिये इसमें से मुझे जो चाहिये न हो, उसका उस उस स्थान से मैं (बांया हाथ छाती के आगे रखकर दाहिने हाथ की तर्जनी झुकाकर, आंखके दाहिने गोलक के सामने उसका अग्र करके, बीचे की उंगली झुकाकर भ्रूमध्य के किंचित् ऊपर और अनामिका को झुकाकर बायें आंख के सामने करके दोनो आंखों और कपाल को इन तीनों उंगलियों के अग्रसे स्पर्श करके वहां से वे तीनों उंगलिया जोडकर सीधी रखके वैसीही नीचे लाकर 'वौषट्' शब्द के साथ हाथ पर आघात करके आवाज करना) इस शब्द के उच्चार के साथ उच्चाटन करके अलग कर दूंगा ऐसा मुझे सामर्थ्य है, ऐसी भावना करना ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।
इति अस्त्राय फट् ॥

योजनार्थः- ये मेरी तीनों आंखोंसे दिखनेवाले नाना तरह के दिव्य और अनेक वर्णके और प्रकृतीके मेरे ही स्वरूप हैं। इनमें से मुझे जो स्वरूप न चाहिये हो वह मैं (बांया हाथ छाती के आगे रखकर दाहिना हाथ गर्दन की दाहिनी बाजूसे सिरके पिछली तरफ से सीधा सिरके बाजू से आसपास घुमाकर कपाल के सामने से नीचे लाकर "इति अस्त्राय फट्" ऐसा उच्चार करके उच्चारके साथ चारों उंगलियां बांयं हाथ(सीधे)पर आघात करके तालीसरीखा आवाज करना ।) इस उच्चार के साथ और इस आवाज के साथ नष्ट कर दूंगा ऐसा मुझे सामर्थ्य है, ऐसी भावना करना ।

इस प्रकार मुझ में जो सुप्त सामर्थ्य है वह जागृत करनेही के हेतु मैं नित्य श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ करता हूं । उसमें जो सामर्थ्य और वर्म है, वह इसतरह है ।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः ॥

विनियोगार्थ :— मैं सामर्थ्यसंपन्न श्रीकृष्ण-स्वरूप हो जाऊं और इच्छित कार्य करूं इस हेतु से इस गीतापाठका विनियोग करता हूं । ऐसा नित्य पाठोच्चार है । परंतु इस पाठका अभिचारीणीमें उपयोग करते समय १ शांतिकरण, २ वशीकरण, ३ स्तंभन, ४ विद्वेषण, ५ उच्चाटण और ६ मारण- 'इन षट्क्रियाओंमें से जिस क्रिया में उपयोग करना हो, उस क्रिया के नामका उच्चार करके उसके आगे (अमुक) प्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः ऐसा कहते समय उस क्रिया के नामके पूर्व उस अपने परिणाम होनेवाले विकृतस्वरूप का नामाभिधान लेकर उस परिणाम फल का ध्यान करके जल छोडना पडता है । साधारण पाठ के समय श्रीमद्भगवद्गीता का सरल पाठ जैसा होसके क्रमशः करते हैं; परंतु इस अभिचरणी कार्य के समय केवल उस कार्य कार्य के अनुकूल श्लोक, मंत्र कहकर उसमें विशिष्ट स्थानपर, विशिष्ट नामोच्चार का प्रयोग करके, उस श्लोकमंत्र का पाठ करना पडता है और उस कार्य के अनुसार हृदयन्यास के उच्चार में उस कार्य के न्यासप्रसंगपर अमुक का अमुक परिणामकार्य ऐसा कहकर वैसा ध्यान करना पडता है; इसलिये उस दृष्टि से उस न्यासांतर्गत विशिष्ट शब्दार्थ के विनियोग का ज्ञान कर-लिया हो, तबही योग्य क्रिया के लिये योग्य न्यास का विनियोग कर सकते हैं ।

अभिचारिणी विद्यामें ऊपर जो छः मुख्य क्रिया बतलाई उन्हींके अंदर और छः क्रियाओं का समावेश होता है। १ संरक्षण, २ जारण, ३ आकर्षण, ४ मोहन, ५ जृंभण और ६ क्लेशन- इनमें से एक एक अनुक्रमसे उपर्युक्त क्रियाओं के अंतर्गत हैं।

इनमेंसे प्रत्येक क्रिया के व्यावहारिक अर्थ देखें- (१) शांतिकरण अर्थात् संपूर्ण दुःखों से, संकटों से छूटना, मुक्त होना। सबतरह की संपत्ति से भरपूर होकर सुखी होना। इसी में १ (अ) संरक्षण अर्थात् दूसरे मंत्रादि प्रयोगों से अपाय न हो, अदृष्ट अथवा दृष्ट शक्ति के परिणाम न हों, ऐसा अपना सूक्ष्म शरीर तेजोवरणयुक्त हो -ऐसा भी अर्थ है।

(२) वशी करण का अर्थ है, दृष्टव्यक्ति अथवा अदृष्टशक्ति अपने विरुद्ध न जाय, किंतु अपने सहाय्य को आवे, ऐसी उनकी मनोभूमिका तैयार करना। २ (अ) जारण का अर्थ केवल यह है कि दृष्टव्यक्ति- स्त्रियोंको पुरुष और पुरुषोंको स्त्रियां- अनुकूल होकर रतिसुख देवें ऐसे उनको सिद्ध करना।

(३) स्तंभन-दृष्टव्यक्ति अथवा अदृष्टव्यक्ति अथवा शक्ति अपने अथवा दूसरे के नाश के लिये अथवा अवनति करनेके लिये आते हों, अथवा आवेंगे, तो वे किसीप्रकार हलचल न कर सकें इसतरह उस कृत्य के विषय में उनको बद्ध करना, इसको स्तंभन कहते हैं। (३ अ) आकर्षण का अर्थ है, दूर की व्यक्ति, स्थिति अथवा शक्ति को अपने सुख के लिये अपने पास खींच लेना।

(४) विद्वेषण - अपना इष्ट कार्य सिद्ध होने में जो दो व्यक्ति अथवा स्थिति बाधा डालती हो, उनका परस्पर प्रेम नष्ट होकर उनमें वितुष्ट अथवा शत्रुत्व उत्पन्न करनेका जो प्रयोग, उनको विद्वेषण कहते हैं। (४ अ) मोहन का अर्थ है, अपने विरुद्ध प्रयत्न करनेवाले की बुद्धि को भ्रम होकर उसको कुछ नहीं सूझता ऐसी उसकी स्थिति करने का प्रयोग।

(५) उच्चाटण- अपने को क्लेश देनेवाली व्यक्ति, स्थिति अथवा अदृष्ट शक्ति को दूर हटाकर वह फिर अपने पास न आसके, ऐसा जो प्रयोग, उसको उच्चाटण कहते हैं। (५ अ) जृंभण का मतलब है, व्यक्ति, स्थिति अथवा शक्ति अपनी तरफ न आसके, किसी दूसरी तरफ उसको तानकर वहीं वह फिरती रहे, ऐसा प्रयोग करना।

(६) मारण- व्यक्ति, स्थिति अथवा शक्ति जो अपने को क्लेश देती हो, उसको उसके स्वरूपमें से नष्ट करना मारण प्रयोग है। (६ अ) उनको न मारकर, केवल रोग, दुःख, अथवा यातना से उनको व्याप्त करके गिरा देना, इसको क्लेशन प्रयोग कहते हैं।

ऐसे इन बारह शब्दों के तंत्रशास्त्रानुसार अर्थ हैं।

तंत्रशास्त्र के अनुसार अदृष्टशक्तिस्वरूप मंत्र-सामर्थ्य से जो ये बारा कृत्य करने पडते हैं, उनमें से प्रत्येक के विषय में उसके मुख्य क्रिया का सामर्थ्य जागृत होकर कार्यपूर्ति होने के लिये, वह कार्य सामर्थ्यपूर्ण करनेवाले न्यासशब्दोच्चार का विशिष्ट ज्ञान होना आवश्यक है, तबही उस न्यास-शब्दोच्चार के पूर्व उस कृत्यका परिणाम जिसपर होना चाहिये उसके नाम का उच्चार कर सकते हैं। सैंकडों स्तोत्रों का पाठ करनेवालों को यह न्यासज्ञान बिलकुल नहीं रहता। वे लोग उन ग्रंथों के सर्वसामान्य न्यास का पठण करते समय उनकी न्यास-कृति भी करते हैं। परंतु उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि उद्दिष्ट कार्यकर शब्दार्थ से कौनसी न्यासक्रिया का संबंध जोडकर उसका उच्चार करना चाहिये। बहुतेरों के नित्यपाठ इसी-तरह चलते हैं। आर्यों के सब ग्रंथ मंत्रमयस्वरूप के रहने से, पूर्वकाल में अपनी किसी दृष्टकार्यकर सामर्थ्य की सहायता के लिये मंत्रों का अदृष्ट सामर्थ्य- उपयोगी सामर्थ्य- का सहारा लेते थे। उस सामर्थ्यकार्यपूर्तिकर विद्या को अस्त्रविद्या कहते थे, और अदृष्ट मारक हथियार अस्त्र कहते थे। उस अस्त्र प्रयोग का संपूर्ण रहस्य इस न्यास-ज्ञान में है। इन न्यासों के तथा मंत्रोच्चार के कार्य

पूर्तिकर शब्दों का संबंध इसतरह शब्दोच्चारों से बांध लिया गया है-

१ स्तंभनकार्यकर नमः, २ आकर्षक स्वाहा, ३ शांतिकर वषट्कार,४ वशीकर हुंकार, ५ उच्चाटणकर वौषट् कार, ६ मारणकर फट् कार। (प्रतिबंधक अथवा सरंक्षक ७ चुट्कार संध्या में दिग्बंधन प्रयोगके अंतमें इति दिग्बंधः कहते समय जो चुटकी बजाकी साथ की क्रिया करते हैं वह) इसतरह न्यास शब्दोच्चार और कार शब्द से उसके साथ की क्रिया इकत्र करने की आवश्यकता बतलाई है।

इस प्रकार यह तंत्रशास्त्रांतर्गत ज्ञान है। इस ज्ञान के अनुसार प्रारंभ की पहिली न्यासक्रिया में अपने स्वरूपभावना के तथा सामर्थ्यभावना के ध्यानकार्यसे अपने अंतर्गत सुप्त सामर्थ्य की जागृति करके, हृदयन्यास द्वारा उस शक्तिगमन का मार्ग तथा पर्यवसानफल ठीक बतलाकर, उस कार्यकर मंत्रका जप करके, वही कार्यकर सामर्थ्य-संचय होने के लिये उसी विशिष्टकार्य घटनास्थल का तथा कार्य का नामोच्चारयुक्त जप पूर्ण करना पडता है। तब इष्ट सिद्धि प्राप्त होने को पर्याप्त संस्कार होनेपर वह इष्टसिद्धि प्राप्त होती है। यह संचित शक्ति न्यासक्रिया के द्वारा उद्दिष्ट कार्य को उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचाकर कार्यपूर्ति करती है। इसलिये इस संचित शक्ति का प्रेरणाकार्य न्यास ही है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने ध्येयकी पूर्ति लिये १ सद्गुण, २ हितकर आदतें, ३ आरोग्य, ४ संपत्ति, ५ मित्र, ६ धर्म, ७ ज्ञान, ८ शुद्धता, ९ शरीर की तथा मन की अंतःशुद्धि अथवा पवित्रता, १० उन्नति, ११ शारीरिक सुख और १२ मानसिक सुख - इतनी बातों के आकर्षण की जैसी आवश्यकता है, उसी तरह १ दुर्गुण, २ व्यसन, ३ रोग, ४ तापदायक वस्तु, ५ शत्रु, ६ अधर्म, ७ अज्ञान ८ अशुद्धता, ९ शारीरिक तथा मानसिक अपवित्रता, १० अवनति, ११ शारीरिक दुःख और १२ मानसिक दुःख – इतनी बातों के प्रतिकारण की भी अवश्यकता है। इसलिये पहिले का प्रेम और दूसरे का द्वेष स्वाभाविक ही हैं, और प्रथम श्रेणि में हरएक की प्राप्ता के लिये और द्वितीय श्रेणि में हरएक का त्याग और उन्मूलन करनेके लिये उक्त छः छः क्रिया ओंकी आवश्यकता है; अतः उनका न्याय्यमार्ग से उपयोग कर लेनेका अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वारा इस नैसर्गिक हक्क का उपयोग किसतरह कर लेना चाहिये, वह अदृष्ट शक्तिसामर्थ्य का उपयोग करनेका ज्ञान यह अभिचारिणी विद्या देती है। इतना ध्यान में रखकर इस विद्या का उपयोग करना चाहिये।

(अपूर्ण)

सांख्य-कारिकाओंका भाषान्तर।

(प्रस्तावना)

भरतखंड सब प्रकारके ज्ञानका आदिपीठ है। जैसे यह प्रतिपादन करनेवाले लोग यहां निर्माण हुए, कि ईश्वर का अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ में है और उसकी सत्ताके विना झाडका पत्ता भी नहीं हिलता, वैसेही ऐसे भी महापुरुष यहीं हो गए, कि जो ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानते और जो मानवी मनका पूर्णतया स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार निरीश्वरवादका पुरस्कार करने में जिनका नाम अत्यंत प्रसिद्ध है, वे 'कपिल महामुनि' खिस्तपूर्व सातवीं शताब्दि के भी पहिले हो गए। सांख्यशास्त्रके आदिप्रवर्तक ये ही माने जाते हैं। यद्यपि सांख्यशास्त्रप्रवर्तकों की परंपरा कपिल महर्षि से शुरू होती है, तथापि इस आदि-पुरुष के सांख्यशास्त्रसंबंधी सिद्धान्त उन्हींके शब्दों में आज हमें अवगत नहीं हैं। गीतावाक्यसे [सिद्धानां कपिलो मुनिः] इतना स्पष्टही है, कि ये मुनि सिद्धोंमें मुख्य थे। सिद्ध लोगोंकी सिद्धियों मेंसे एक सिद्धि ऐसी थी, कि उससे चित्त और कायाका आश्चर्यकारक एकीकरण होता था और इस कायचित्तैक्यसिद्धि द्वारा वे चाहे जब और चाहे वहां प्रगट हो सकते थे, व्यासआचार्यका मत है, कि इसी प्रकार प्रगट होकर कपिल महामुनिने यह विद्या आसुरिको बतलाई होगी। योगसूत्रके अपने भाष्यमें ये कहते हैं—

> "आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय
> कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये
> जिज्ञासमानाय तंत्रं प्रोवाच ॥"

इसमें 'निर्माणचित्तम्' पदसे मालूम होता है, कि यद्यपि भगवान् कपिल महामुनि बुद्धके पहिले हो गए हैं, तथापि आसुरि बहुत अर्वाचीन होगा!

सांख्यशास्त्रप्रवर्तकों में से दूसरा प्रसिद्ध पुरुष आसुरि है। परंतु इस पुरुषका भी रचा हुआ ग्रंथ आज हमें उपलब्ध नहीं है।

> "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिंबोदय इव स्वच्छे चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

यह श्लोक आसुरिप्रणीत माना जाता है; परंतु यह कहना मुश्किल है, कि यह बात कहांतक सच है। 'कपिल और आसुरिके दरम्यान बहुतसा काल बीत गया है और इस कालमें पिछडे हुए सांख्य-शास्त्रको आसुरिने पुनरुज्जीवित किया।' ऐसा अनुमान भागवत ग्रंथसे भी निकलता है। भागवत-कार कहते हैं—

> पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
> प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥

इस शास्त्रका 'सांख्य' नाम क्यों पडा, इसका भी कारण इसी श्लोकमें दिया है। तत्त्वग्रामका मतलब है, तत्त्वोंका समुदाय; इस तत्त्वग्रामका विशेष रीतिसे निर्णय करके 'संख्यान' पूर्वक इतनेही तत्त्व हैं, ऐसा बतलानेवाला शास्त्र 'सांख्य' शास्त्र है।

आसुरिसे यह ज्ञान पंचशिख नामक आचार्यको प्राप्त हुआ। पंचशिखने इस शास्त्रपर बहुत बडा ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ का नाम 'षष्टितंत्र' है; यह ग्रंथ भी आज उपलब्ध नहीं है। परंतु इसके नामसे मालूम होता है, कि इसमें साठ बातें बतलाई होंगीं। उनमेंसे—

५ प्रकारके विपर्यय
२८ प्रकार की अशक्ति
९ प्रकारकी तुष्टि और
८ प्रकारकी सिद्धियां

ऐसी ५० बातें सांख्यसप्ततिमें भी दी गई हैं। इनके अतिरिक्त दूसरी १० बातें—

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृभावः। योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥

इस श्लोकमें दी गई हैं। इस ग्रंथमें इन साठ मुद्दोंपर विवरण होना चाहिये। सांख्यशास्त्रके कुछ प्राचीन ग्रंथोंके भाषान्तर चिनी भाषामें हुए हैं। उनसे पता लगता है, कि यह षष्टितंत्र ग्रंथ ६०००० श्लोकोंका था। अहिर्बुध्न्यसंहिता नामक ग्रंथमें कहा है, कि षष्टितंत्र ग्रन्थ ६० अध्यायोंका था। कदाचित् षष्टि शब्दसे ये कल्पनाएं निकली होंगी; अथवा इन सबका समन्वय करना हो, तो षष्टितंत्रके एक एक विषयपर एक एक अध्याय ऐसे ६० विषयोंपर ६० अध्याय होंगे। कुछ भी हो, इतना कहनेमें कोई प्रत्यवाय होना न चाहिये, कि यह ग्रंथ बहुत बडा था। परंतु इतने प्रचंड ग्रंथमेंसे आज उपलब्ध ऐसा केवल एकही श्लोक है, वह यह है-

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायावस्तु तुच्छकम्॥

पंचशिखसे शिष्यपरंपरागत यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। परंतु यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता, कि इस शिष्यपरंपरामें किन किन आचार्योंका समावेश होता है। सांख्यसप्तति पर जयमंगला टीका लिखनेवाला शंकराचार्य इस परंपरामें दो नाम बतलाता है— गर्ग और गौतम। माठरवृत्तिकारने भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल ऐसे नाम दिये हैं। चिनी भाषाकी सांख्यकारिकामें गार्ग्य और उलूक ऐसे दो नाम मिलते हैं; महाभारतमें उल्लेख कि जनक पंचशिख का शिष्य था। महाभारत में और एक असित देवलका उल्लेख है; इसकी सिखावन सांख्यशास्त्रके सदृश है, परंतु इसका निर्देश स्पष्टतया सांख्यशास्त्री कहकर नहीं किया गया। इन सब भिन्न भिन्न नामोंसे इस बातका अच्छा ज्ञान होता है, कि उस समय यह परंपरा कितनी फैली हुई थी। इस परंपरासे प्राप्त ज्ञानको ईश्वरकृष्णने, सिद्धांतोंको अच्छीतरह समझकर, आख्यायिका और वादपक्ष छोडकर, अत्यंत संक्षेपसे सत्तर आर्याओंमें ग्रथित किया है। यही ग्रंथ सांख्यसप्तति है।

'सांख्यसप्तति' नामहीसे स्पष्ट है, कि मूलमें ७० आर्या होनी चाहिये; परंतु सांप्रत जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं, उन सबमें मूल विषयसंबंधी केवल ६९ ही कारिका मिलती हैं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलकसरीखे सूक्ष्मबुद्धि विद्वान् की दृष्टिसे यह बात छूटने न पाई और टीका ग्रंथोंपरसे उन्होंने मूलकी यह ७० वी कारिका ढूंढ ली—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते, कालं परे, स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो, व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

बहुतसे ग्रंथोंमें इस आर्याके विरहित ६९ आर्याएं तथा उपसंहारात्मक दो, ऐसी ७१ आर्याएं मिलती हैं, परंतु शंकराचार्यकृत जयमंगला टीकामें निम्नलिखित एक और आर्या मिलती है-

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितंत्रस्य।
आख्यायिका विरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥

इस प्रकार यह सांख्यसप्तति ग्रंथ विषयप्रतिपादनपर ७० और उपसंहारात्मक ३ ऐसे ७३ कारिकाओंका है।

ईश्वरकृष्णके- इस सांख्यसप्ततिकारके- कालके संबंधमें बहुतसा मतभेद है। (Dr. Takakusu) डॉ० ताकाकुसु नामक विद्वान पंडितके मतसे ईश्वरकृष्ण ईसवी सन की ५ वीं शताब्दि में हो गया होगा। (Dr. Keith) डॉ० कीथके मतसे ईश्वरकृष्णका काल ईसवी सनकी तीसरी या चौथी

शताब्दि होगा। काशीविश्वविद्यालयके प्रिन्सिपल प्रो० ध्रुवका ऐसा मत है, कि ये सांख्यकारिकाएं चिनी भाषामें 'सुवर्ण सप्तति' नामसे प्रसिद्ध थीं। जैनोंके अनुयोगद्वारसूत्र नामक ग्रंथमें ब्राह्मणधर्मीय लोगोंने रचे हुए ग्रंथोंकी एकसूचि है। इस सूचिमें 'कनग-सत्तरि' कनक सप्तति नामक एक ग्रंथ दिया है। मालूम होता है, कि यह ग्रंथ और चिनी भाषाका सुवर्णसप्तति ग्रंथ एकही होंगे। यदि ऐसा हो, तो ईश्वरकृष्ण ईसवी सन की पहिली शताब्दि में अथवा इसके भी कुछ पहिले हुवा होगा। क्यों कि अनुयोगद्वारसूत्र ग्रन्थही का काल ईसवी सन १०० के लगभग है। इस तरह जैसे कालिदास का काल ईसवी सन के प्रारंभसे लेकर पांचवीं शताब्दितक खींचा जाता है, वैसेही ईश्वरकृष्णके भी कालके संबंधमें विद्वान् लोगोंमें मतभेद है।

इतना जरूर है, कि यह सांख्यसप्तति ग्रन्थ बहुत पुराना, संक्षिप्त और सारगर्भित है। ऊपर बतलाई हुई ७३ कारिकाओंमें लो० तिलकने ढूंढी हुई एक मिलाकर और शंकराचार्यने दी हुई छोडकर बाकी ७२ आर्याओंका भाषान्तर मराठी वाचकोंके लिये श्री० डांगे महाशयने आर्यावृत्तमें ही किया है। इस तरहका प्रयत्न करनेवालेही समझ सकते है, कि ऐसे सूत्रात्मक ग्रंथका उसीवृत्तमें भाषांतर करना कितना कठिन है। यहां इतनाही करना पर्याप्त होगा कि सांख्यसप्तति की मूल कारिका पढनेवाले संस्कृतज्ञको सांख्यशास्त्रका जितना ज्ञान होगा उतना ज्ञान इस समवृत्त भाषांतर के पढनेवाले मराठी वाचकोंको सहज होगा। श्रीयुत के० ना० डांगे महाशयने मराठीमें यह ग्रन्थ लिखा है, इससे मराठी के प्राचीन शास्त्रविषयक साहित्यमें वाढ होगी और यह कहनेमें अतिशयोक्ति न होगी, की हालमें या बादमें सांख्यशास्त्रपर एकाध स्वतंत्र ग्रंथ लिखनेकी बुद्धि किसी न किसी मराठी विद्वान् लेखक को होगी।

द० रा० दिवेकर



उपोद्घात

नामाभिधान

प्रस्तुत पुस्तकका नाम "सांख्यकारिकाओंका समवृत्त भाषांतर" है; परंतु सूक्ष्मदृष्ट्या वह सम और समवृत्त भाषांतर नहीं है और न वह अक्षरशः भाषांतर ही है। अशक्यता के कारण नहीं, किंतु अर्थको अधिक स्पष्ट करनेके हेतु कहीं कहीं एक आर्या का भाषांतर दो या तीन आर्याओंमें किया है यह भी संस्कृत आर्याका उलथा मराठी 'आर्या'* में किया है। भाषांतरमें मूलका स्वारस्य उतरना मुश्किल है और इसपर भी यमकों का बंधन है; इससे कहीं कहीं भाषांतरके बदले रूपांतर हुआसा दिखेगा। तथापि अन्य अंगोंसे भाषान्तरमें भरती करके मूलका माधुर्य कायम रखनेका प्रयत्न किया है। पाठकोंके ध्यानमें यह बात जरूर आवेगी। दार्शनिक ग्रंथोंका भाषान्तर करनेमें अनेक कवियोंने निरंकुशत्व बतलाया है- वहां मेरे समान दीन मनुष्यको बात ही क्या है?

गीतारहस्य

कई वर्षोंके पहिले, लोकमान्य तिलक के गीता रहस्यमें "कापिल सांख्यशास्त्र" प्रकरणमें पढता था, तब इतस्ततः दिये हुए सांख्यकारिकाओंके सारांशकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ और

* संस्कृतके छंदःशास्त्रमें जिसको 'गीति' कहते हैं, उसी वृत्तको प्रचलित मराठीमें आर्या कहते हैं।

उससे मूल सांख्यकारिका पढनेका मुझे कुतूहल उत्पन्न हुआ। जब मैं वह पढने लगा, तब मुझे अखीरका (प्रकृति पुरुषसंबंधका) १५-२० आर्याओंका विभाग बहुत काव्यमय और बहारदार मालूम हुआ। मुझे ऐसी उत्कंठा हुई, कि उसका भाषांतर अपनी काव्य की नोटबुक में कर रखूं।

जिज्ञासुओंकी सुविधा

बाद इसके मुझे ऐसा विचार सूझ पडा कि किसी एक टीकाके अनुरोधसे मैं समग्र सांख्यकारिकाओंका भाषान्तर कर सकूं, तो वह अधिक महत्वका होगा, उससे मराठीमें एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ की भरती होगी और शक्य हो, तो संस्कृत न जाननेवाले जिज्ञासु लोगोंके लिये कुछ सुविधा होगी। इसी उच्च हेतुसे प्रेरित होकर, अनधिकार की पर्वा न करके, यह भाषांतर मैंने विद्याविलासी और तत्वाभ्यासी सज्जनोंकी सेवामें उपस्थित किया है।

ब्रह्मघुटाला

षड्दर्शनोंमें एक दूसरेका जो मिश्रण हुआ है और लोगोंमें अध्यात्मके विकासके इतिहाससंबंधी जो अज्ञान है, इसका परिणाम यह हुआ है, कि जहां चार मुमुक्षु जमा हुए, वहां प्रकृति, पुरुष, मोक्ष,मन बुद्धि, भूत, देह इत्यादि के संबंधमें कुछ ऐसे जटिल और संदिग्ध विचार प्रगट किये जाते हैं, जो न तो गलत हैं और न ठीक हैं। सुननेवालेको कुछ नहीं जान पडता, कि यह क्या घुटाला है और उन्हें यह सब आडंबर मालूम होता है।

दर्शनोंका परिचय

जिनकी यह इच्छा है, कि अपने तत्वज्ञानके विषयमें इसप्रकार जो भ्रम उत्पन्न हुए हैं उनका निरास हो, वादविवादमें तथा इतरत्र समर्पकता, निःसंदिग्धता और प्रमाणभूतता आवे, उनको दार्शनिक ग्रंथोंसे अपना परिचय बढाना चाहिये। यह भाषान्तर पढकर यदि मूलके विषयमें प्रेम और दिग्दर्शित विषयोंकी ओर प्रवृत्ति पाठकोंमें जागृत हो, तब भी मैं समझूंगा, कि मेरी सेवा उन्हें स्वीकृत हुई। इन कारिकाओंको पढनेके पहिले यदि गीतारहस्यका "कापिल सांख्यशास्त्र" प्रकरण पढ लिया जाय, तो इनका समझना सुलभ होगा।

आभार

यह भाषान्तर वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्व कौमुदी नामक टीकाके अनुरोधसे किया गया है। प्रयाग विश्वविद्यालयके कुलपति पंडित गंगानाथ झा, एम्. ए., एफ्., टी. एस्. की संपादित इस टीकासे (तत्वविवेचक प्रेस १८९६) मुझे बहुत उपयोग हुआ है। व्यक्तिशः परिचय न रहनेपर भी डॉ० हरि रामचंद्र दिवेकर महोदयने समय निकालकर इस पुस्तकको प्रस्तावना लिख दी; इसके लिये लेखक उनका अनुगृहीत है॥

मन्दोसर
(ग्वालियर सं०)

के० ना० डांगे

सांख्यदर्शनकी विशेषता।

संख्या।

इस पुस्तकको पढनेमें ऐसा भास होगा, कि कोई अंकशास्त्रज्ञ अथवा गणितज्ञ अथवा पैमाइश करनेवाला मनुष्य, दो, तीन, चार, पांच, दस, ग्यारह, तेरह, पचास, ऐसे अंकोंसे कोई वृत्तान्त निवेदन कर रहा है इस प्रकारकी व्यवस्थित रचनाके अनुसार प्राचीन लोगोंने इस गणितमय दर्शनको 'सांख्य' नाम दिया है।

दो मूलतत्त्व।

इस दर्शनका तत्त्वज्ञान भी, निरे अद्वैत की अपेक्षा अधिक व्यवहार्य लिया गया है। 'जड सो जड और चेतन सो चेतन' ऐसे दो मूलतः भिन्न तत्त्वोंको गृहीत लेकर बादमें विश्वके पसारेका वर्णन किया है। अध्यात्मका उदय होनेके पहिले, इसी कारणसे सांख्यमतको महत्व आया था और आजभी अध्यात्मके बाद जिस विचारसरणीका सबसे अधिक परिणाम हिंदु मनपर हुआ है, वह सांख्यमत है।

प्रकृतिका खेल।

हमारे तत्त्वज्ञान का 'ज्ञानान्मोक्षः' सिद्धान्त सांख्योंको मान्य है। 'प्रकृतिका नृत्य और वह देखनेवाला मैं" इनका अंतर ध्यानमें आते ही समझ लेना, कि पुरुष केवलमुक्त हो गया। इतना भी कह सकते हैं, कि मोक्षको इस दर्शनमें 'कैवल्य' कहते हैं।

विकासवाद।

इस दर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जगत् सत्य है और वह सब पुरुषको बतलानेका खेल है। एक प्रकृतिसे भिन्न प्रकारकी सृष्टि हुई इसमें बतलाई है, इससे विकासवादकी याद आवेगी। जैसे किसी जड भौतिक शास्त्रमें अथवा पाश्चात्य और पौर्वात्य तर्कशास्त्रमें प्रतिपादन किया है, वैसे सांख्योंने कार्यकारणवादमें 'सत्कार्यवाद' ग्रहण किया है। श्रीमच्छंकराचार्यने उसका खंडन अपने भाष्यमें करके 'विवर्तवाद' का पुनरुज्जीवन किया है।

'सांख्यमत' और 'अध्यात्म' भिन्न कहे गए हैं। परंतु जैसे जमीनके बाहर निकलते ही वृक्षकी जडमेंसे दो शाखाएं निकलें, उनकी, उपशाखाओं तथा पल्लवोंका उलझन होकर एक ही मनोहर वृक्ष दिखे, वैसेही कुछ अंशमें इस आर्यतत्त्वज्ञानकी बात हुई है। सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणोंको स्कूलके छोटे बच्चे भी जानते हैं। पंचमहाभूत, विश्वकी रचना और संहार, ये बातें अपने यहां सर्वमान्य हुए हैं। विकासवादकी शिक्षा देते समय सांख्योंने तत्कालीन समझके अनुसार व्यवहारचातुर्य बतलाया है, सृष्टिकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया और स्वतंत्र विचार करते हुए जगह जगह पर धैर्य बतलाया, इसीलिये सांख्योंकी परिभाषाका प्रसार हुआ और उपनिषद् ग्रंथोंमें तथा महाभारतमें उसे मान्यता प्राप्त हुई।

अद्वैत।

अध्यात्मने और एक मंजिल चढा दिया। प्रकृति पुरुषके आधारस्तंभपर रचे हुए प्रासादके ऊपर अद्वैत का शिखर चढा दिया और सारे प्रासादपर मायाका जादू डाल दिया। तथापि अध्यात्मशास्त्र की दृष्टिसे भी यह देखना आवश्यक है, कि इस प्रासादमें सांख्योंकी चीपें कहां कहां और कैसे कैसे

जमाई गई हैं। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' ऐसा कहनेमें भगवान् श्रीकृष्णने इस दर्शनके प्रवर्तकके विषयमें जो आदर व्यक्त किया है, वही आदर अपनेको इस दर्शनका परिचय करके व्यक्त करना है।

बौद्धोंका विचार।

जैसे सांख्य आज दिन अद्वैत की पूरणिका बन गया है, वैसेही पूर्वकालमें उसने जगत्के एक बडे धर्मका मानो उपोद्घात लिख दिया है। स्वतंत्र विचारसरणी, वेदनिरपेक्ष तर्कपद्धति, कर्मकाण्ड और सेश्वरताके विषयमें न केवल उपेक्षा किंतु विरोधबुद्धि, ऐसी विशिष्टताके कारण बौद्धमतको बहुत कुछ अवसर मिला। कपिल मुनिकृत (?) कपिलवस्तुका सांख्यमत गौतमबुद्धके पहिले ही प्रसृत हुआ था और उसके आचार्योंकी एक परंपरा स्थापित हुई थी। इसी परंपरामें ईश्वरकृष्ण हो गया। उसका रचा हुआ यह सांख्यकारिका ग्रंथ ईसवी सन पांचवीं शताब्दिके पहिलेका है। सांख्यसूत्र ग्रंथ दिखनेमें पुराना है, परंतु वस्तुतः बहुत अर्वाचीन है।

मनोविश्लेषण।

सांख्यकारिकामें तथा इतरत्र दिया हुआ मनोविश्लेषण आजभी मननीय है। अद्वैत के मतसे सब कुछ मिथ्या है, तब मनही मनके लड्डुओंपर कौन ध्यान देगा? परंतु कालमानानुरूप सांख्य इस विषयमें बहुत अग्रसर हुए हैं। हमारे यहां के मनोविश्लेषणशास्त्रकी प्रगतिका इतिहास लिखनेका जब योग आवेगा, तब सांख्यदर्शनके मनोविश्लेषणका विशेष उल्लेख करना पडेगा।

प्रकृति पुरुष।

प्रकृति-पुरुषका रूपक बहुतही सुरस और काव्यमय है। पुरुष की उदासीनता परसे कर्मयोगियोंकी उपपत्ति लग सकती है। सांख्यदार्शनिक बौद्धभिक्षु, नवचैतन्योत्पादक संन्यासी और लोकसंग्रही कर्मयोगी, इनकी मनोभूमिकाके मूलमें मेरी समझमें पुरुषका वही कैवल्य, माध्यस्थ्य और साक्षित्व है। उस ज्ञानज्योतिके प्रकाशको आज खुला मार्ग रखा जाय, तो सांख्यदर्शनकी विशेषता और हमारे तत्त्वज्ञानमें उसका महत्त्वका स्थान अधिकाधिक प्रतीत होता जायगा।

[संपादकीय सूचना— यह सांख्य-सप्तति-कारिकाओंका भाषान्तर मराठी भाषामें श्री० के० ना० डांगे, मंदोसर ने आर्यावृत्तमें किया था, जो मराठी के वाचकोंको बडा उपयोगी सिद्ध हुआ, यह जानकर हमने उसका रूपान्तर हिंदी भाषामें किया है। यदि कोई हिंदी कवि इसका रूपान्तर हिंदी कवितामें करेगा, तो उसका प्रकाशन इसी लेखमालामें किया जायगा। —संपादक]

सांख्य-कारिकाओंका भाषान्तर।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

मनुष्यको तीन + प्रकारके दुःख सताते हैं; उनका निराकरण करनेका जिन्हें कुतूहल हो, उनको यही उचित है, कि जो शास्त्रग्रन्थमें उपदिष्ट है, उसका अनुसरण करें। यद्यपि जगत्में इसके लिये बहुविध उपाय हैं, तथापि उनसे दुःखका विनाश निश्चित नहीं है; उनसे दुःखकी परिपाटी विराम नहीं पाती।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥२

श्रुतियोंमें कथित जो कर्मकाण्ड है, वह भी सांत है, अशुद्धि है और उसमें न्यूनाधिकता है; व्यक्ताव्यक्तज्ञ*के (सांख्यज्ञानके) आगे वह गुणमें ठहरता नहीं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयःसप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।

मूलप्रकृति अविकृत है और वहांसे महत् आदि सात प्रकृतिविकृति होती हैं; अथवा मूलस्वरूप रहकर अनुक्रमसे विकृतियुक्त होती हैं। विकार सोलह हैं, पुरुष उनके परे है, वह अलग तटस्थ है। वह न प्रकृति है और न विकृति है। बाकी सब विकास इसीमें होता है।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥३।

प्रमाण त्रिविध (तीन प्रकारका है।) पहिला प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमान, तीसरा आप्तवचन अथवा शाब्द×। प्रमाणके द्वारा प्रमेय सिद्ध होता है, ध्यानमें जंचता है।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनु-
मानमाख्यातम्। तल्लिंगलिंगिपूर्वकमाप्त-
श्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

प्रतिविषयमें व्यवसायित, बुद्धीन्द्रियसंनिकर्षवत् जो ज्ञान है, उसको 'प्रत्यक्ष अथवा 'दृष्ट' कहते हैं; इसमें यह संज्ञा नहीं रहती, कि 'इस तरह का, यह वह' इ०। अनुमान त्रिविध है, वह लिंगलिंगि✠ संबंध बतलाता है। अज्ञको सुयोग्य पुरुषने जो बतलाया, वह आप्तवचन है।

सामान्यतस्तु☙ दृष्टात्, अतीन्द्रियाणां
प्रतीतिरनुमानात्। तस्मादपि चासिद्धं
परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

प्रकृतिपुरुष अतीन्द्रिय हैं, ऐसा सामान्यतः दृष्ट बतलाता है। इसके भी परे जो असिद्ध है, वह आप्तवचन सिद्ध करता है।

\+ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

* प्रकृति और पुरुषके संबंध का जो ज्ञान उस सांख्यज्ञानके।

× सांख्यशास्त्रमें केवल तीन प्रमाण माने गए हैं:- (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शाब्द।

✠ लिंग = व्याप्य, जैसे धूम्र'; और लिंगी = व्यापक, जैसे 'अग्नि' इनका संबंध।

☙ 'सामान्यतो दृष्ट' एक अनुमान है।

अतिदूरात् सामीप्यात्, इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद्व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः। महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

अतिदूर रहनेसे अथवा निकट रहनेसे, इंद्रिय अवश रहनेसे, मनके न लगनेसे, दृष्टिपथके बाहर रहनेसे, सूक्ष्म रहनेसे, पराभव होनेसे, मिश्रण होनेसे, यदि वस्तु न दिखे, तो क्या वह है ही नहीं? कार्यसे कारण को जानना अनुमानकी रीति है। बुद्धि, अहंकार आदिको कार्य जानो। प्रकृति कारण है। कार्य सदृश और असदृश भी है; जैसे बीज और वृक्ष।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

जो नहीं है, वह उत्पन्न नहीं होता; कार्यको उपादान चाहिये; भलते ही कारणसे भलता कार्य नहीं होता; जो शक्त कार्य कारण है, वही कार्य करता है, दूसरा नहीं। घडा बनानेके लिये तंतुका, अथवा वस्त्र बनानेके लिये मिट्टीका उपयोग नहीं किया जाता। यह कार्य कारणात्मक है, तंतुका त्याग करनेसे वस्त्र नहीं रहता। इस प्रकार सांख्योंका 'सत्कार्यवाद' है, इससे कार्यभाव जंचता है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्। सावयवं परतंत्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इंद्रिय, भूत— ये स्पष्टतया व्यक्त हैं; परंतु प्रकृतिका आकलन कष्टसे होता है; व्यक्तको कारण रहता है; वह अनित्य, अव्यापि, अनेक, सावयव और प्रकृतिके आगे परतंत्र है। यह व्यक्त कारणाश्रित है; अंतमें इसका कारणमें लय होगा। इसके विपरीत गुणवाली प्रकृति अव्यक्त है।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

व्यक्त त्रिगुणात्मक है, जड है, वस्तु है, विवेकचतन्यशून्य है, सामान्य है, प्रसवशील है। वैसी ही प्रकृति है। पुरुष इसके विपरीत है * और समान भी है। व्यक्तके समान पुरुष अनेक हैं, प्रकृती के समान वह त्रिगुणात्मक नहीं है ' यह अहेतु है, परंतु मुनि इसको सचेत मानते आए।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

सत्व, रज और तम, † क्रमशः सुख, दुःख और मोह वृत्तियां उत्पन्न करती हैं, तथा ज्ञानादिक कार्य नियमन करती हैं। यह रीति वेदान्तमान्य है। ये गुण परस्परके पराभवसे, जननसे, सहकार्यसे परस्पर कार्य + करते हैं।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टंभकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः,प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥१३

सत्वगुण प्रकाश करनेवाला और सौम्य है; रजोगुण उत्तेजक तथा चंचल है; तमोगुण जड है;

---

* पुरुषमें व्यक्तका और अव्यक्तका कुछ साधर्म्य और कुछ वैधर्म्य है।

† यह क्रमशः समझना चाहिये। जैसा सत्वका संबंध सुखसे, रजका दुःखसे, इ०।

+ सत्व, रज और तम, ये गुण परस्पर मिलकर अथवा एक दूसरोंका पराभव करके, अथवा उनकी जोडियां मिलाकर, अथवा एक दुसरोंका उत्पन्न करके कार्योंको बना लाते हैं।

वह मोहका आवरण डालता है और विरुद्ध हो तथापि उससे पुरुषार्थ पूरा होता है। जिस प्रकार तेल और वत्ती, अग्निके साथ कार्य करके दीप को प्रज्वलित करती हैं, उसी प्रकार त्रिगुण विरोधी हैं, तथापि पुरुषके लिये कार्यकी सिद्धि करते हैं।

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्। कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

अविवेक्य आदि (गुण) त्रिगुणोंसे सिद्ध हैं, यह कारण पुरुषमें नहीं है। ऋषि कहते हैं कि इसी तरह अव्यक्तमें भी ये गुण सिद्ध हैं, क्यों कि कारणमें कार्यगुणारंभ है।

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, कार्यतः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

कारणमस्त्यव्यक्तं,प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

अव्यक्त कारण मालूम पडता है, क्यों कि महदादि (उसका) कार्य परिमित है, वह सब एकजिन्स है, निकलकर कारणमें प्रवृत्त होता है, विभक्त रहता है। अव्यक्त (ही) यह कार्य करनेमें समर्थ है। जिस कार्यके लिये जो शक्तिमान् हो, वही प्रवृत्त होता है। जैसे तेल बनानेमें तिल समर्थ हैं; क्या यह काम वालु कर सकती है? इस तरह (अव्यक्त) कारण है। वह तीन गुणोंका मिलाप करके विविधरूपसे नटता है, विविधरूपमें विकृत होता है, जैसे जल।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

पुरुष है। कारण कि (उसने) यह जगत् रचा है, (लोगोंकी) मुक्तिके हेतु वह प्रवृत्त होता है, त्रिगुणोंसे वह भिन्नगुण है, अधिष्ठान करता है, समस्त सुखदुःखोंको भोगता है।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

पुरुष बहुत हैं, यह बात इससे सिद्ध है, कि लोगोंका जनन, मरण और कर्म, ये बातें पृथक् पृथक् हैं। यह न होता, तो सब एकही दीखता।

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

वह (पुरुष) त्रिगुणोंसे विपरीत है, नानाविध है, साक्षी है, समस्त देखता है, त्रिगुणोंके परे है, केवल है, समदुःखसुख है और कुछ नहीं करता।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥२०॥

इस पुरुषके योगसे बुद्धि आदि समस्त जड वस्तु सचेत दीखती हैं, गुण वर्तते हैं इससे वह कर्तासा दीखता है, परंतु जगत्में वह उदासीन है।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पंग्वंधवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

उस पुरुषका दर्शन करानेके लिये, कैवल्य-प्राप्ति के लिये, बंधनसे मुक्ति होनेके लिए, प्रकृति और पुरुष एकत्रित होकर सृष्टि निर्माण करते हैं। इसमें पुरुष (मानो) पंगु है और प्रकृति (मानो) अंधी है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि॥२२॥

प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार और अहंकार से सोलह गण होते हैं। इन १६ मेंसे पांचसे पंच-

भूत होते हैं। यही सृष्टि है+।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

बुद्धि (इसीको महान् भी कहते हैं) व्यवसायि है, अर्थात् निश्चयात्मक है; प्रकृतिमें उसका चित्संग होकर ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य होते हैं, यह उसका सात्विक अंग है। इसके विपरीत उसका तामस अंग है, जिससे अज्ञान इ० होते हैं।

अभिमानोऽहंकारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पंचकश्चैव २४

अभिमान 'अहंकार' है। उससे दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है— (१) पांच 'तन्मात्रा' जो सूक्ष्मभूत हैं और (२) ग्यारह गण (इंद्रिय)। सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम्॥२५॥

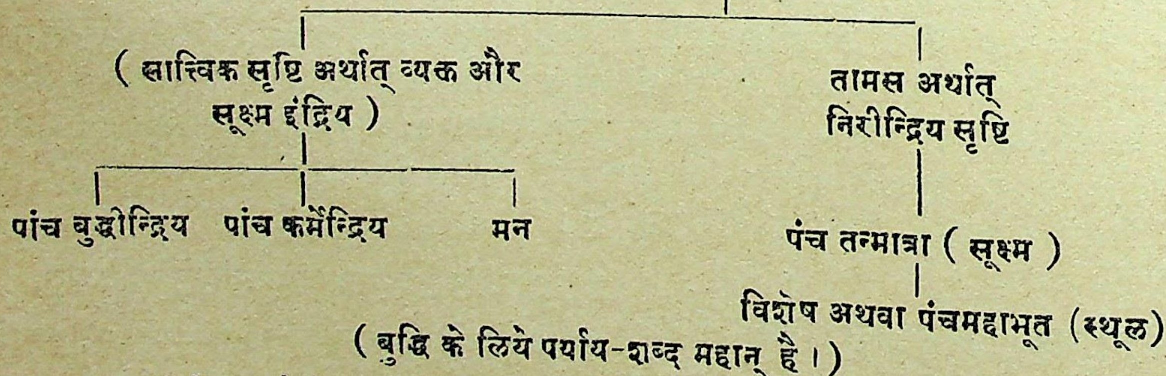
विकृत अहंकारसे सत्त्वगुणी (ग्यारह) इंद्रियोंका उद्भव होता है। और तामस (अहंकारसे) तन्मात्रागण उद्भूत होता है। रजोगुणी अहंकारसे ये दोनों (११ इंद्रिय और ५ तन्मात्रा) उद्भूत होते हैं+।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥२६॥

ज्ञानेंद्रिय पांच हैं-श्रवण (कान), रसन (जिह्वा), नयन (आंखें), घ्राण (नाक) और त्वचा। कर्मेंद्रिय ये (पांच) हैं— वाणीन्द्रिय,* हाथ, पैर, पायु (गुदद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)।

+ २२ वीं, २३ वीं और २४ वी कारिका समझनेके लिये गीतारहस्यसे उद्धृत निम्न कोष्टक देखिये–

ब्रह्माण्डका वंशवृक्ष



(बुद्धि के लिये पर्याय-शब्द महान् है।)

* रजोगुणका विशेष यह है, कि उससे सत्त्वगुणमें और तमोगुणमें कार्यप्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

+ जिह्वेन्द्रिय अथवा कंठ, तालु इ० बोलनेमें मदद करनेवाले इंद्रिय।

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिंद्रियं च साधर्म्यात्। गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

मन हमें द्विविध दिखता है- ☙ (१) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप (२) संकल्पक। गुणोंके बर्तनेसे वह भिन्न दिखता और विविध होता है।

शब्दादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः। वचनादानविहरणोत्सर्गानंदाश्च पंचानाम् ॥२८॥

ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति इतनी ही है, कि उन्हें 'कुछ तो भी' संवेदना मात्र होती है। वे निर्विकल्प हैं। कर्मेन्द्रियोंकी वृत्ति क्रमशः है- बोलना, आदान करना, विहरण करना, उत्सर्ग करना और आनंद।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या। सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच ॥२९॥

'बुद्धि' व्यवसाय करती है, 'मन' मनन करता है, 'अहंकार' कहता है- 'मैं'। प्रत्येकका यह लक्षण है; परंतु वायुके विना वह सब निराधार है।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा। दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अंतःकरणत्रय- अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार- तथा इंद्रिय या तो एकदम खटपट करते हैं ☙ या क्रमशः आसपास जो दिखता है उसपर विचार करके प्रवृत्त होते हैं। अंतःकरणत्रय भी इस तरह परोक्ष विषयमें बर्तता है। अप्रत्यक्षके पहिले प्रत्यक्षका आधार आवश्यक है। +

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्। पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनाचित्कार्यते कार्यम् ॥ ३१ ॥

बुद्धि अहंकार सहित १३ 'करण' ☙ एक दुसरोंसे प्रेरित होकर पुरुषके अर्थ प्रवृत्त होते हैं। ऐसा न हो तो सब जैसा का वैसा रह जाय।

करणं त्रयोदशविधं, तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। कार्यं च तस्य दशधा, हार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

कर्मेंद्रिय ग्रहण करते हैं; बुद्धि, मन, अहंकार, वायुके साथ धारण करते हैं; बुद्धींद्रिय (ज्ञानेंद्रिय) हमें यह चमत्कार बतलाते हैं— प्रगट करते हैं। पांच दिव्य और पांच अदिव्य, ऐसे दशधा कार्य हैं। सन्मतिवान् आर्य इनको क्रमशः हार्य, धार्य और प्रकाश्य कहते हैं।

अन्तःकरणं त्रिविधं, दशधा बाह्यं, त्रयस्य विषयाख्यम्। सांप्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

तीन प्रकारके अंतःकरणका विषय दस बाह्य इंद्रिय समझो। अंतःकरण सर्वकाल, और ये दस इंद्रिय वर्तमान कालमें, बाह्य पदार्थोंको अपना विषय करते हैं।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि। वाग्भवति शब्दविषया, शेषाणि तु पंच विषयाणि ॥ ३४ ॥

☙ मनका समावेश दोनोंमें हैं; क्योंकि मनहीसे ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय कार्य करते हैं।

☙ जैसे अंधेरेमें शेरको देखकर मनुष्य एकदम भाग जाता है, अथवा शांततापूर्वक समझ बूझकर काम करता है, वैसे।

+ कोई वस्तु सामने न हो, तो भी उसका अनुमान, स्मरण आदि हम करते हैं। इस अनुमान स्मरणका आधार उस वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन ही है।

☙ मनसहित ग्यारह इंद्रिय, बुद्धि और अहंकार।

इन दस बाह्य इंद्रियोंमेंसे जो ज्ञानेन्द्रिय हैं, उनको पांचों स्थूल तथा सूक्ष्म विषयोंका आकलन होता है। वाणीन्द्रियको केवल शब्दका आकलन होता है; बाकीके इंद्रियोंको* पांचों विषयोंका आकलन होता है।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

अंतःकरणसहित बुद्धिको सबही विषय गम्य हैं, वह प्रमुख है। उस बुद्धिको मनको और अहंकारको अपन द्वारपाल समझें और शेष इन्द्रियोंको द्वार समझें।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥३६

जिस प्रकार तेल, बत्ती और अग्नि भिन्न हैं, तथापि दीपक रास्ता बतलाता हैं; उसी प्रकार ये-अर्थात् बाह्येन्द्रिय, मन और अहंकार- भिन्न गुण हैं, तथापि पुरुषके लिये वे बुद्धिको सब बातें प्रकाशित करते हैं (जैसे प्रजाजन राजाको करभार अर्पण करते हैं)।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

पुरुषके भोगका सब साधन वही बुद्धि तयार कर देती है और यह ज्ञान भी करा देती है, कि वह (पुरुष) प्रकृतिसे भिन्न है। इसीके अनुसार दोनोंमें सूक्ष्म विच्छेद होता है।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥३८

तन्मात्रा** सूक्ष्म हैं। उन पांच तन्मात्राओंसे जगत्में पांच स्थूल भूत होते हैं, जो कि कभी सुखदायक, कभी दुःखदायक और कभी मोहदायक होते हैं।

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः। सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

सूक्ष्म, स्ववंशज और महाभौतिक, ऐसे तीन प्रकारसे वस्तु 'विशेष' कहलाती है। इनमेंसे (मातृपितृज) मज्जामांसादिक विनाशि हैं, सूक्ष्म नित्य हैं।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्॥४०

बुद्धिसे लेकर सूक्ष्मतक यह 'लिंगशरीर' पहिले ही निर्माण हुआ है; प्रलयतक इसका अंत न होगा। यह सूक्ष्म है; पाषाणमें भी प्रवेश कर सकता है; धर्म-अधर्मादि अष्टभावके बल से वह संचारचक्रमें पडता है; देह इसको लिपटता है, परंतु यह स्वतः भोगसे अलिप्त है।

चित्रं यथाश्रममृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया। तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम् ॥४१॥

जैसे चित्रको आश्रय की और छायाको वस्तुकी आवश्यकता है; कांच जैसे बिंबको धारण करता है; इसी तरह सूक्ष्मको 'विशेषों' का आधार चाहिये। विना इस आधारके लिंगशरीर + क्या करेगा?

---

* करचरणादिक को पांचों विषयोंका आकलन होता है।

** शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।

\+ लिंगशरीरमें बुद्धि, अहंकार, ग्यारह इंद्रिय और पंचतन्मात्रा, इन्हीं का समावेश होता है। यह लिंगशरीर अतिसूक्ष्म है और स्थूल शरीरसे भिन्न है। उदाहरणार्थ सत्यवान् का अंगुष्ठमात्र देह।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम् ॥ ४२ ॥

प्रकृतिके प्रभावसे, कर्मोंके निमित्त फलोंको भोगता हुवा, यह लिंगशरीर पुरुषके अर्थ प्रवृत्त होता है। जैसे जैसे पुरुष गाता जाता है, वैसे वैसे यह लिंगशरीर नटके समान नाचता है।

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः। दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

प्राकृतिक 'भाव' सहज (सहजात) हैं; परंतु जो कुछ हमसे विकृत होता है, उसके साधन 'करण' हैं। उससे जनन, जीवन आदि कार्य होता है।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बंधः ॥४४॥

धर्मसे ऊर्ध्व गति मिलती है, अधर्मसे अधोगमन होता है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, अज्ञानसे बंध बढते हैं।

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्। ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

वैराग्यसे प्रकृतिका पसारा नष्ट होता है; रजोगुण संसारमें ढकेलता है। ऐश्वर्यसे आशा की पूर्ति होती है, ऐश्वर्य न हो तो कोई नहीं पूछता।

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धाख्यः। गुणवैषम्यविमर्दात्, तस्य च भेदास्तु पंचाशत् ॥४६॥

यही बुद्धि है। इसके चार भेद हैं अज्ञान, अशक्ति, तुष्टि और 'सिद्धि' गुणोंके न्यूनाधिकता से इस बुद्धि के ५० प्रकार होते हैं। ✍

पंच विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्। अष्टाविंशति भेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

अज्ञानके पांच प्रकार हैं। इंद्रियोंके विकल होनेसे अशक्ति आती है, जिसके कि अट्ठाईस प्रकार हैं। तुष्टि नौ प्रकारकी और सिद्धि आठ प्रकार की है।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः। तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

तमके आठ भेद हैं और मोहके भी आठ भेद हैं। घोर महामोहके दस भेद हैं। तामिस्र अठारह और अन्धतामिस्रके भी अठारह प्रकार हैं; ये सदा भयप्रद हैं।

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा। सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धिनाम् ॥४९॥

मनसहित इंद्रियोंके ग्यारह विधान हैं। अशक्ति अवघट है। बुद्धिके सत्रह 'वध' हैं; इनसे तुष्टि नहीं रहती और सिद्धि भी नहीं होती।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

✍ बुद्धिके चार मुख्य विकार हैं– अज्ञान, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि। इनके भी सत्त्वरजस्तमोंके न्यूनाधिक प्रमाणसे ५० प्रकार होते हैं। इन ५० के नाम और उदाहरण यहां विस्तारभयसे दिये नहीं जाते, इनको मूल ही में देखना चाहिये। इससें यह पता लगता है, कि सांख्योंने मानसशास्त्रकी ओर कितना अधिक ध्यान दिया था।

आध्यात्मिक तुष्टि के ४ प्रकार हैं— प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य। विषयोंका उपरम होने से बाह्य तुष्टि के ५ प्रकार हैं। इस तरह ९ तुष्टिभेद हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः। दानं च सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

'ऊह'+' शब्द'× 'अध्ययन,' तीन दुःखों के विनाश अर्थात्— 'दुःखविनाशत्रयी,' 'सुहृत्प्राप्ति' और 'दान' ऐसी आठ सिद्धियां हैं; मगर शर्त यह है, कि 'अंकुशत्रयी'* न हो।

न विना भावैर्लिंगं, न विना लिंगेन भावनिर्वृत्तिः। लिंगाख्यो भावाख्यस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

भाव के विना लिंग नहीं और लिंगके विना भाव क्या करेगा? (१) लिंगसंज्ञक और (२) भावसंज्ञक ऐसी दो प्रकारकी सृष्टि है।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पंचधा भवति। मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥५३॥

देवों की सृष्टि आठ प्रकारकी है, पशु आदि तिर्यक् योनि की सृष्टि ५ प्रकार की है, मनुष्य की सृष्टि एकही प्रकार की है। संक्षेप में यह समग्र जीवसृष्टि है॥।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्वः। मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४

ऊपर सात्त्विक, नीचे तामस और बीचमें रजोगुणी रचना है। 'ब्रह्मसे लेकर तृणतक' यह रचना प्रसिद्ध है।

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

जबतक लिंगशरीरसे छुटकारा नहीं मिला, तब तक पुरुष कष्ट को पाता है; उसको जरा और मरण आते हैं। इसलिये स्पष्ट है, कि जगत् में दुःख स्वाभाविक है।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरंभः ॥ ५६ ॥

महदादिक यह सब प्रकृतिकी परहितार्थ कृति है, जिससे प्रत्येक पुरुष मुक्त हो। इसमें किसीको स्वार्थ दिखे, ✍ परंतु वह बात नहीं है। वस्तुतः यह कृति परार्थ है।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७

जिस प्रकार मतिहीन दुग्धकी प्रवृत्ति बछडेके पोषण के लिये होती है (न कि माताके पोषणके लिये) इसी तरह प्रकृति हमेशा पुरुष की विमुक्ति के हेतु यत्न करती है। अकेला क्या करता?

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्वते लोकः। पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

अपने मनमें इच्छा होती, तब उसको तृप्त करने के लिये हम प्रयत्न करते हैं; इसी तरह पुरुष को मुक्त करनेकी गरजसे प्रकृति यत्न करती है।

\+ ऊह = तर्क

× शाब्दिक उपदेश

* अज्ञान, आसक्ति और तुष्टि, ऐसे तीन विघ्न न हों, तो सिद्धि प्राप्त होती है।

॥ जीवसृष्टि में दैवी भेद ये हैं- ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पितर, यक्ष, राक्षस, पिशाच्च; तिर्यक् सृष्टि यह है- पशु, मृग, पक्षी, रांगनेवाले प्राणी, स्थावर (वृक्ष इ०); मनुष्यसृष्टि केवल मनुष्य ही है।

✍ महत्, अहंकार, तन्मात्रा, पंचभूत इत्यादि सृष्टिको प्रकृति उत्पन्न करती है, वह स्वतःके लिये नहीं, किंतु पुरुषके हितार्थ।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार अपना नृत्य बतलाकर, प्रेक्षक जनोंको खुश करके, नाचनेवाली वापिस जाती है, उसी प्रकार प्रकृति अपना पसारा बतलाकर वापिस जाती है और पुरुष वह सब देखता है।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः। गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥६०

स्वार्थ काहेका? वह सती उस (पुरुष) पर सर्वथा उपकार करती है; वह गुणवती※ सदैव यत्न करती है वह (पुरुष) कुछ नहीं करता और न उसमें कोई गुण हैं।

प्रकृतेः सुकुमारतरन्न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

यह प्रकृती अतिशय विनयवती है, इसके समान कोई भी (उषा तक) नहीं। एकवार यह दिख पडे, तो फिर यह पर पुरुषको कभी नहीं दिखती।

(कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥)

× कोई लोग अगुण ईश्वरको सृष्टिका कारण बतलाते हैं; कोई कालको और कोई स्वभावको सृष्टिकारण बतलाते हैं। परंतु जो निर्गुण है, वह भूतोंको कैसे उत्पन्न कर सकता है? काल व्यक्त है, स्वभाव भी व्यक्त है।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

इसलिये उस पुरुषको न कोई बंधन है, न विमोचन है और न जनन या मरण है। ये सब बातें प्रकृतिके मत्थे हैं। मालूम होता है, कि वह अविवेकसे पाशमें गिरता है।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥६३॥

धर्म, अधर्म, अज्ञान, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य और अविराग- ऐसे सात रूपोंसे प्रकृति अपनेको बद्ध करती है और वही फिर रूपसे अर्थात् ज्ञानसे मुक्त कर लेती है।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त सांख्य-तत्त्वज्ञानके परिशीलनसे यह ज्ञान-केवल, विशुद्ध (सत्यको बतलानेवाला) और अत्रुटित निःसंशय ज्ञान-उत्पन्न होता है, कि 'मेरा अस्तित्व है ही नहीं, मेरा कुछ नहीं और न मैं कोई चीज हूं।' सब भार उतर जाता है।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्। प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

यह केवल ज्ञान होनेपर पुरुष प्रशांत रीतिसे प्रेक्षक सरीखा उस प्रकृतिको देखता है। वह

※ यहां 'गुण' शब्दपर श्लेष है। ६१ वीं कारिकामें 'परपुरुष' शब्दपर भी श्लेष समझना।

× यह कारिका लोकमान्य तिलकने ढूंढ निकाली है। सृष्टिका कारण न ईश्वर है, न काल है और न स्वभाव है। क्यों कि ईश्वर निर्गुण और सृष्टि सगुण है। स्वभाव और काल व्यक्त हैं।

(प्रकृति) फिर प्रसवशील नहीं रहती और उसका धर्म आदि सप्तरूप* लुप्त होता है।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

वह कहता है, 'मैंने इसको (प्रकृतिको) देखा,' वह कहती है, 'मुझे इसने (पुरुषने) देखा।' दोनोंका संग छूटता है और यद्यपि संग रहा, तो भी उत्पादन का काम बाकी नहीं रहता।

सम्यग्ज्ञानाभिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः६७

पूरा ज्ञान होनेपर धर्म आदि (प्रकृति के उपर्युक्त ७ रूप) दग्ध हो जाते हैं, तब कर्मबीज ही कहां रहा? तथा संस्कारवशात् देह छूटता नहीं, किंतु कुम्हार के ** चक्र सरीखा चलता रहता है।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
एकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

देह छूटनेपर प्रकृति वापिस जाती है, उसका काम समाप्त होता है। तब निश्चयसे पुरुष को नित्य कैवल्य-धाम प्राप्त होता है।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

पुरुषार्थके इस गहन ज्ञानको कपिल मुनिने कथन किया है। जिसमें कि जीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके ज्ञानका सार रखा है।

* * *

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकंपया प्रददौ ।
आसुरिरपि पंचशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तंत्रम् ॥ ७० ॥

दयालु मुनिने यह पावन, परमोच्च तंत्र आसुरिको पढाया। आसुरिने पंचशिखाको पढाया। इस से इस ग्रंथ का बहुविध विस्तार हुवा।

शिष्यपरंपरयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥ ***

यह तत्त्वज्ञान शिष्योंकी परंपरासे आया; वह भली भांति समझकर ईश्वरकृष्णने आर्या छंदमें साररूप से ग्रथित किया और सुविख्यात किया।

—समाप्त—



* ६३ वीं कारिकामें बतलाया हुआ—धर्म अधर्म ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, वैराग्य अवैराग्य और अज्ञान—ऐसा सप्तविध। अब बाकी रहता है केवल ज्ञान।

** जैसे कुम्हारका चक्र, काम खतम होनेपर भी, फिरता रहता है वैसेही पूर्व गतिके कारण, गति समाप्त होते तक, शरीर बर्तता है।

*** इसके आगे एक और कारिका जयमंगल की टीका में है; वह प्रस्तावना में देखिये।

क्या भगवद्गीता महाभारतमें प्रक्षिप्त है ?

(लेखक- प्रो० शं० ल० गोखले. उपलेखक- सौ० उमाबाई गोखले, अमरिका.)

' शास्त्र ' की दृष्टि से भगवद्गीता ग्रंथ की बहुत भारी योग्यता है। हिंदुधर्म के सब लोगोंको यह प्रमाण ग्रंथ है ही। परंतु अन्यधर्मीय पाश्चात्य लोगोंमें भी इस ग्रंथ के विषयमें अतीव आदर है। इस ग्रंथके अनेक भाषान्तर, तथा इस ग्रंथ के अनेक क्लिष्ट और दुर्बोध भागों को सुबोध करने के लिये अनेक भाष्य, अनेक ग्रंथकारोंने तयार किये हैं। इसी तरह इस ग्रंथके अथवा ग्रंथसंबंधी वादग्रस्त विषयोंका ऊहापोह करने के लिये अनेक निबंध लिखे गए हैं। इतना होनेपरभी समयसमयपर नये नये प्रश्न उपस्थित होते हैं और इसलिये इस विषयपर चर्चा फिरसे करनी पडती है। प्रस्तुत निबंध लिखने के लिये इसी प्रकार कई वादग्रस्त प्रश्न कारणीभूत हुए हैं।

उदाहरणार्थ— भगवद्गीता ग्रंथ महाभारत के भीष्मपर्वमें सांप्रत मिलता जरूर है। परंतु अनेक विद्वानोंने ऐसा एक प्रश्न उपस्थित किया है, कि जब महाभारत की रचना हुई, तभी उसमें भगवद्गीता थी, अथवा बादमें उसका प्रक्षेप हुवा है? इस प्रश्नके संबंध में आजतक बहुतसी चर्चा हुई जरूर है, परंतु वह पद्धतिवार, तर्कशुद्ध और जैसी चाहिये वैसी नहीं हुई। इसलिये यथाशक्ति प्रयत्न करने की बुद्धि से मैं इस कार्य में हस्तक्षेप करता हूं। मेरा यह आग्रह नहीं है, कि मेरे मत सब को मान्य होने चाहियें। मुझे इतनाही चाहिये, की जिस दिशामें यह विचार मैं कर रहा हूं, उस दिशा में भी विचार करना इष्ट समझा जाय।

❀

गीता को प्रक्षिप्त कहनेवाले पक्ष का मुख्य आक्षेप यह है, कि ' युद्ध प्रसंगमें श्रीकृष्ण और अर्जुन इसप्रकार वेदान्तविषयक वाद करते होंगे, यह बात सर्वथा असंभवनीय है। " परंतु यह आक्षेप बराबर नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है ही नहीं, कि अर्जुन को युद्ध के प्रसंग में श्रीकृष्ण ने गीता बतलाई था नहीं; किंतु प्रस्तुत वादमें प्रश्न यह है, कि जब महाभारत की रचना हुई। तब उसमें गीता का अंतर्भाव था या नहीं? संभव है, कि युद्धप्रसंग में गीता न बतलाई गई हो, तथापि भारतकर्तानें वह केवल अपनी कल्पना से लिखी होगी; अथवा यह भी संभव है, कि युद्धप्रसंग में गीता कही गई हो, परंतु ग्रंथरचना करते समय उसका अंतर्भाव न किया होगा। इसलिये जब विचार इस प्रश्नपर हो रहा है, कि मूलभारत में गीता का अंतर्भाव था या नहीं, यह प्रश्न असंबद्ध है, कि युद्ध के प्रसंग में गीता का कहना संभाव्य है या नहीं!

एक आक्षेप यह भी है,कि गीतामें कई विभागोंका अथवा वचनों का एक दूसरे से विरोध है। गीता के प्रक्षिप्त रहने के प्रश्नपर विचार करते समय विरोधके प्रश्नको बीच ही में उपस्थित करने का वस्तुतः कोई कारण नहीं है। आक्षेपकों की यह धारणा मालूम होती है, कि गीता के प्रक्षिप्त हुए विना, उसमें ऐसे विरोध ही नहीं सकते। परंतु यह विचारसरणी अशुद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है, कि भारत में अनेक जगह विरोध देखने में आते हैं; परंतु क्या इससे संपूर्ण भारत प्रक्षिप्त समझना चाहिये?

'क्या भगवद्गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है? इसका विचार केवल एकही दिशा से करना न्याय्य होगा। 'महाभारत में गीता थी या नहीं' इसपर प्रकाश डालनेवाले वचन उस ग्रंथ में मिलते हैं या नहीं? इसदृष्टिसे इस प्रश्नपर विचार करने के लिये महाभारत का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिये।

यहां थोडा विषयान्तर करना आवश्यक है। साधारणतः 'भारत' और 'महाभारत' शब्द समानार्थक समझे जाते हैं और अभीतक ये शब्द मैंने एकही अर्थ में प्रयुक्त किये हैं। परंतु उनके अर्थों में थोडा सूक्ष्म भेद है और अब उसकी ओर ध्यान देना होगा। भारत का अध्ययन करनेवाले आधुनिक विद्वानों का एक ऐसा सिद्धान्त है, कि मूलतः भारतनामक २४००० श्लोकों का ग्रंथ श्रीमद्व्यासशिष्य वैशंपायन ने रचा। इस के बाद प्रसिद्ध पौराणिक सौतीने उस ग्रंथ में अनेक आख्यानों उपाख्यानों की भरती करके एक लाख श्लोकोंतक उसको बढाया। इस बढे हुए ग्रंथ को महाभारत की संज्ञा है। हिंदुस्तान में इस सिद्धांत का प्रतिपादन पहिले पहल 'वंदे मातरम्' राष्ट्रमंत्र के द्रष्टा बंकिमचंद्र चतरजीने किया। तब से अधिकांश आधुनिक विद्वानों को यह सिद्धान्त मान्य हुआ है। रावबहादुर चिं० वि० वैद्यने इसी सिद्धान्तपर एक ग्रंथ लिखा है। उनका सिद्धान्त यह है महाभारतकी रचना ऐसी हुई है कि—

एक स्तरपर दूसरा स्तर।

१ श्रीमद्व्यासजीने एक छोटासा ग्रंथ लिखा, उसका नाम जय। इस ग्रंथकी श्लोकसंख्या कितनी थी, यह जाननेके लिये साधन नहीं है। जय ग्रंथ के रचनाका काल खिस्ती सनके ३००० वर्ष पहिले अर्थात् भारतीय युद्धके समकालीन था।

२ व्यासकृत जय ग्रंथके आधारपर व्यासशिष्य वैशंपायनने भारतनामक २४००० श्लोकोंका ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथका रचनाकाल खिस्ती सनके पहिले लगभग २००० वर्ष था। सातसौ श्लोकोंका भगवद्गीता नामक भारतांतर्गत "निबंध" वैशंपायनने ही लिखा। यह बात केवल आदरार्थी समझना चाहिये, कि, 'वह निबंध व्यासजीने रचा।' (भगवान् वेदव्यासः श्लोकभिः सप्तशतैरुपनिबबंध।)

३ वैशंपायन कृत भारतमें सौतीने बहुतसा नया भाग मिलाकर वह ग्रंथ एक लाख (?) श्लोकोंतक बढाया। सौतीकृत इस बढाये हुए ग्रंथका नाम "महाभारत" है। एक लक्ष शब्द भी आदरार्थी समझना चाहिये। वास्तविक महाभारत ग्रंथ लगभग पौन लाख श्लोकोंका है। महाभारतके रचना का काल खिस्ती सनके पहिले लगभग १५० वर्ष समझना।

४ सौतीकृत महाभारतमें भी कुछ हिस्सा पीछेसे डाला गया है। इस बातका तर्क करनेके लिये साधन नहीं, कि यह चौथा स्तर किसके हाथका है। इस चौथे स्तरका एक उत्तम उदाहरण शान्ति पर्वान्तर्गत नारायणीय उपाख्यान है।

कुछ दिनोंतक श्री० वैद्यका यह सिद्धान्त मुझे मान्य था; क्यों कि सकृत् दर्शनमें उनकी विचार प्रणाली निर्दोष मालूम होती है। परंतु अधिक वाचन करनेपर यह सिद्धान्त छोड देना मुझे अनिवार्य हुवा। सांप्रत मेरा मत ऐसा हुवा है कि मूल भारतग्रंथ बहुधा गद्यात्मक होगा और वह कदाचित् व्यासजीनें लिखा होगा। अब वह प्रायः नामशेष हो गया है; उसके मूल नामका पता नहीं लगता। उसके पश्चात् मुख्यतः उस गद्यग्रंथके आधारपर चार स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। ये चार ग्रंथ व्यासके चार शिष्योंने सुमंतु, जैमिनी, पैल और वैशंपायनने लिखे होंगे। बादमें इन चार ग्रंथोंके आधारपर एक पांचवां ग्रंथ रचा गया। इस पांचवें ग्रंथका नाम महाभारत है। संकलनका यह काम सौतीनें पूर्ण किया होगा, परंतु उसका प्रारंभ पहिलेही हुवा नजर आता है। पहिले चार ग्रंथोंमेसे एकका नाम 'भारत' और दूसरेका 'जय' होगा; बाकी दो ग्रंथोंका नाम उपलब्ध नहीं है। सौती कृत महाभारत में कई अनेक प्रकरण पीछेसे जोडे

गए। "सांप्रत महाभारत" से मतलब है, सौती-का महाभारत साथ उन प्रकरणोंके जो पीछेसे जोडे गए। क्या महाभारतमें गीता प्रक्षिप्त हुई है? इस प्रश्नका मतलब है, सौती की महाभारत की रचना होनेके बाद क्या उसमें भगवद्गीता पीछेसे जोड दी गई है? अर्थात् सौतीकृत महाभारतमें गीता थी या नहीं थी? यह बादका प्रश्न है? प्रश्न यह नहीं है, कि व्यासकृत गद्यग्रंथ में गीता थी या नहीं थी?

प्रसंगवशात् यहां थोडा विषयान्तर करना आवश्यक है। कई लोगोंकी यह धारणा रहती है कि गीताको 'प्रक्षिप्त' कहना गीताके विषयमें अपना अनादर व्यक्त करना है और दूसरोंका आदर नष्ट करनेका एक मार्ग है। उनका कहना है, कि जिन लोगोंकी दृष्टि अंग्रेजी शिक्षणसे अथवा इसी भांति किसी अन्य कारणसे कलुषित हुई है, उनकी उस दृष्टिको गीता त्याज्य मालूम होती है; परंतु लोगोंकी श्रद्धा देखनेसे उनको जाहिर रीति से गीताकी निंदा करनेका धैर्य नहीं होता। इस लिये उसको प्रक्षिप्त ठहराना, अपने स्वतःका अनादर व्यक्त करनेकी उनकी तरकीब है।

वस्तुतः इस आक्षेपमें कोई सार नहीं है। श्री मधुसूदनसरस्वती भगवद्गीतापर अपने भाष्यके उपोद्घातमें कहते हैं. "श्रीकृष्णने युद्धके पहिले अर्जुनको यह उपदेश किया, ऐसी जो आख्यायिका है, वह केवल विद्यास्तुत्यर्थ समझनी चाहिये।" श्रीमधुसूदनसरस्वती की बुद्धि अंग्रेजीके संसर्ग-से कलुषित नहीं हुई थी, वे गीता को त्याज्य नहीं समझते थे; तथापि गीतोपदेश का ऐतिहा-सिकत्व उन्हें मान्य नहीं है। अब यह बात भी सोचने लायक है, कि अखिल भारतीयों की समझ में यह आख्यायिका ऐतिहासिक है, कि युधिष्ठिर को असत्य भाषण करने का उपदेश स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने किया था; परंतु इससे यह सिद्धान्त नहीं निकलता, कि स्वार्थ के लिये असत्य भाषण करना आयोग्य नहीं है। भगवद्गीता की योग्यता गीता के सिद्धान्तोंपर अवलंबित है: प्रक्षिप्त होने या न होने से उसका कोई संबंध नहीं। "गीता महाभारत में पहिलेसे थी, या आगे चलकर उसका प्रक्षेप हुवा?" इस प्रश्नको केवल ऐतिहासिक समझकर उसी दृष्टि से उसकी चर्चा होनी चाहिये।

भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं, ऐसा कहनेवाले पक्ष की ओर से दो प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। पहिला प्रमाण यह है, कि भगवद्गीता का उल्लेख आजकल के उपलब्ध महाभारत में अनेक स्थानों-पर स्पष्ट शब्दों में किया हुवा देखने मिलता है। दूसरा प्रमाण यह है, कि गीता के अनेक सिद्धान्त महाभारत में कई जगह देखने मिलते हैं; केवल इतना ही नहीं, किंतु कई जगहोंमें गीता के श्लोक अथवा श्लोकार्ध शब्दशः देखने मिलते हैं।

दूसरा प्रमाण संदिग्ध है; उससे कोई सुनिश्चित सिद्धान्त निकालना मुश्किल है। गीता के श्लोक, श्लोकार्ध अथवा सिद्धान्त जैसे महाभारत में लेना संभवनीय है, वैसेही किंबहुना उससे भी अधिक संभाव्य बात यह है, कि भारत के श्लोक, श्लोकार्ध और सिद्धान्तों की बुनियाद पर गीता की रचना की गई हो। यदि गीता की और महाभारत की रचना करनेवाला एकही ग्रंथकार होगा, तो यह बात (शक्य हो तो भी) संभनीय नहीं, कि एकवार उसका रचा हुवा श्लोक वह जैसा का वैसा फिरसे लिखे। परंतु यदि ऐसा गृहीत लिया जाय, कि गीता की रचना महाभारत के पश्चात् किसी अन्य ग्रंथकारने की है, तो यह संभव है, कि गीताकार ने गीता की रचना के लिये भारत मे से कुछ श्लोक ले लिये होंगे। भारत में प्रक्षेप करने के हेतु से यदि गीता की रचना बुद्धि पुरःसर की होती, तो उसका प्रक्षिप्त स्वरूप पाठकों के ध्यान में न आजाय, इस हेतु से द्विरुक्ति को टालने में प्रक्षेपक सावधान रहता। परंतु गीता को एक स्वतंत्र तात्त्विक निबंधरूप में लिखनेका यदि लेखकका मूल हेतु होगा तो यह संभव

बहुत ही बलवान् है, कि भारतके श्लोक, श्लोकार्ध अथवा सिद्धान्त गीता में लिये गए हों। तात्पर्य यह है, कि इस प्रमाण से सिद्धान्त निकालना कठिन होगा, कि गीता प्रक्षिप्त नहीं है।

पहिला प्रमाण विशेष महत्वका है। यदि गीता का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थलोंपर किया गया हो, तो गीता मूलभारत में थी या न थी, इस विषय में संदेहके लिये कोई जगह बचनी न चाहिये। परंतु यहां दूसरी अडचन उपस्थित होती है:- ये भिन्न भिन्न उल्लेख सौतीकृत मूल महाभारत में थे, या ये उल्लेख भी सौती के बाद में प्रक्षिप्त किये गए हैं? वे उल्लेख यदि स्वयं प्रक्षिप्त हों, तो यह सिद्ध करने के लिये, कि भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है, उनके प्रमाण का क्या उपयोग है? इसलिये प्रथम यह विचार करना चाहिये, कि ये भिन्न भिन्न उल्लेख क्या प्रक्षिप्त हैं?

महाभारतमें मुझे अभीतक भगवद्गीताके दस उल्लेख मिले हैं-

१ यदाश्रौषम् कश्मलेनाभिपन्ने...आदि.	१:१७९;
२ पूर्वोक्तं भगवद्गीतापर्व भीष्मवधस्तथा।	आदि. २:६९;
३ कश्मलं यत्र पार्थस्य	आदि. २:२४७;
४ कथितो हरिगीतासु	शान्ति. ३४६:११;
५ समुपोढेष्वनीकेषु	शान्ति. ३४८:८;
६ कथितो हरिगीतासु	,, ३४८:५३;
७ विदितं ते महाबाहो	आश्व: १६:५;
८ तथापि हि रथस्थस्त्वम्	,, १९:५५
९ पूर्वमप्येतदेवोक्तम्	,, ५१:४९
१० ततः स तस्मै प्रीतात्मा	,, ५५:४

(अध्यायों की तथा श्लोकों की संख्या महाराष्ट्रिय पाठ, गोपाल नारायण कंपनीमुद्रित महाभारत के अनुसार हैं)

इन सब उल्लेखों की चर्चा साधकबाधक प्रमाणोंसहित करना जरूर है।

आदिपर्व के पहिले और दूसरे आध्यायों में मिलकर तीन भिन्न भिन्न सूचि हैं। उपपर्वकी सूचि में ऐसा उल्लेख है-

" पूर्वोक्तं भगवद्गीतापर्व भीष्मवधस्ततः "
म. भा. आदि. २-६९

इसी अध्याय में आगे चलकर ऐसा उल्लेख है-

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः॥
म. भा. आदि. २-२४७

पहिले अध्याय में कथानक- स्वरूपी एक सूचि है, उसमें ऐसा उल्लेख है-

यदाश्रौषम् कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे
सीदमानेऽर्जुनेवै। कृष्णे लोकान् दर्शयाने
शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय॥
म. भा. आदि. १-१७९

यह बात सुप्रसिद्ध है, कि किसी भी ग्रंथ की जो सूचि बनाई जाती है, वह ग्रंथ संपूर्ण होनेपर ही बनाई जाती है। मुख्य वादका प्रश्न यह है, कि महाभारत की ये तीन सूचियां सौतीकृत महाभारत के पश्चात् कितना अवधि बीतनेपर रची गई? बहुतसे विद्वानों को यह बात अब मंजूर हुई है, कि भारत के कई आख्यान बहुत पीछेसे प्रक्षिप्त किये गए हैं। उदाहरणार्थ- श्री० वैद्य का यह सिद्धान्त है, कि आरुणेय आख्यान प्रक्षिप्त है। आरुणेय आख्यान का उल्लेख तीनों सूचियों में है। इसीतरह दूसरे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि ये सूचियां महाभारत-रचना के बहुत काल पीछे, अर्थात् महाभारत में अनेक आख्यानों का प्रक्षेप होनेके बाद तैयार की गई हैं। इसलिये " क्या भगवद्गीता प्रक्षिप्त है? " इस प्रश्नका निर्णय करने में इन तीन सूचियों से मदद नहीं मिलती।

अनुक्रमणिका (सूचि) के तीन उल्लेख छोड देनेपर भी महाभारत में सात भिन्न भिन्न उल्लेख आए हैं। जबतक यह सिद्ध नहीं होता, कि ये सबही उल्लेख प्रक्षित्प हैं, तबतक यह ग्राह्य मानना होगा, कि भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है। इसलिये पहिले यह विचार करना चाहिये, कि क्या ये उल्लेख स्वयंप्रक्षिप्त हैं?

भगवद्गीताके सदृश अनुगीता नामक एक ग्रंथ अश्वमेध पर्वमें आया है । इस ग्रंथमें तीन स्थानोंमें भगद्गीताका स्पष्ट उल्लेख है । ❀ अनेक विद्वानोंके मतानुसार इन उल्लेखोंसे सिद्ध होता है, कि भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है । परंतु इस विषयमें मेरा उनसे मतभेद है । यह बात सबको मान्य है, कि अनुगीता स्वयं प्रक्षिप्त है; तब अनुगीताके उल्लेख परसे यह निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हैं, कि भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है ? भारत रचनाके बाद शीघ्र ही यदि अनुगीताका प्रक्षेप हुआ हो, तो यह कहनेके लिये उसका उपयोग हो सकेगा, कि भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है । परंतु अनुगीता यदि बहुतही पीछे प्रक्षिप्त हुई होगी, तो उसके प्रमाणसे कुछ भी सिद्ध न होगा । इसलिये पहिले अनुगीताके कालका निर्णय करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है ।

भारतीय युद्ध समाप्त होनेपर पांडव, हस्तिनापुरको गए । राज्याभिषेकके बाद कृष्ण और अर्जुन इंद्रप्रस्थको गए । वहां एक दिन बातें चल रहीं थीं तब अर्जुनने श्रीकृष्णको कहा, "युद्धके प्रसंगमें जो आपने मुझे उपदेश किया था, उसका मुझे विस्मरण हुवा है; इसलिये वह उपदेश मुझे फिरसे कीजिये ।" श्रीकृष्ण बोले, "पहिले मैंने जो उपदेश किया, उसकी अब याद आना अशक्य है । तुम अपनी अश्रद्धाके कारण वह उपदेश भूल गए, यह तुमने गलती की । मुझे अब वह उपदेश करते न बनेगा; तथापि उसी अर्थका उपदेश पूर्वमें एक ब्राह्मणके मुखसे मैंने सुना है, वह मैं अब तुम्हें बतलाता हूं ।" ऐसा कहकर श्रीकृष्णने आख्यानरूपसे मोक्षधर्मका उपदेश किया । इसी आख्यान का नाम अनुगीता है । किसी समय एक ब्राह्मणके मुखसे सुने हुए उपदेश का स्मरण श्रीकृष्ण को अच्छीतरह आता है, परंतु केवल तीन महिने पहिले स्वयं किये हुए उपदेशका स्मरण उन्हें नहीं आता, यह भी एक शंकास्थान है। परंतु इस विवादमें पडनेका कोई कारण न रहेगा ।

"अनुगीता" इस नामके संबंधमें कुछ घुटाला है । पूरा अनुगीता ग्रंथ ३६ अध्यायोंका है । इस ग्रंथके तीन विभाग होते हैं; पहिला विभाग चार अध्यायोंका है और उसका नाम अनुगीता है; दूसरा १५ अध्यायोंका है और उसका नाम ब्राह्मणगीता है । तीसरा विभाग २७ अध्यायोंकाहै और उसका नाम गुरू-शिष्य-संवाद है । अनुगीता शब्द द्व्यर्थी है । कभी यह शब्द पहिले चार अध्यायोंके लिये प्रयुक्त होता है, और कभी संपूर्ण ३६ अध्यायोंको अनुगीता कहते हैं । विवेचनकी सहूलियतके हेतु मैंने पहिले चार अध्यायोंको लघु अनुगीता और संपूर्ण ग्रंथको बृहत् अनुगीता कहा है । लघु-अनुगीताके एक प्रारंभमें तथा एक अंतमें ऐसे भगवद्गीताके दो स्पष्ट उल्लेख हैं । बृहत अनुगीताके अंतमें फिरसे तीसरा उल्लेख आया है ।

यह सिद्धान्त सबहीको मान्य है, कि अनुगीता प्रक्षिप्त है । परंतु अभीतक यह विचार किसीने किया हुवा नहीं दिखता, कि यह प्रक्षेप कब हुवा होगा । इस प्रश्नपर सब लोग स्वतंत्र रीतिसे विचार कर सकें, इस हेतुसे अनुगीताके दोनों उल्लेखोंके मूल श्लोक यहां देता हूं ।

❀ यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत ॥
प्रश्नान्कांश्चिद्विब्रुवाणं च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥
आदिपर्व १-१६८

आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनंतरम् ॥ आदिपर्व २-५७
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात्सुतम् ॥ आदिपर्व २-२०२

१ लघु-अनुगीता।

उपोद्घात—

विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥५॥
यत्तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥६॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गंता न चिरादिव माधव ॥७॥
एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥८॥
श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्चशाश्वतान् ॥९॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साऽद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति॥१०॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पांडव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥११॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥१२॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥१३॥
यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि।
श्रुणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥१४॥
आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित्स्वर्गलोकादरिंदम।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽ
भवत् ॥१५॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ।
दिव्येन विधिना पार्थ तत्श्रुणुष्वाविचारयन्॥१६॥
मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः।
भूतानामनुकंपार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥१७॥
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन।
श्रुणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥१८॥
कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः।
आससाद द्विजं कंचिद्धर्माणामागतागमम् ॥१९॥

आश्वमेधिक पर्व १६।५-१९

२ लघु-अनुगीता।

उपसंहार—

कच्चिदेतत्त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ॥

आश्व, १९।५५

३ बृहद् गीता।

उपसंहार--

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते ॥

आश्व० ५१।४९

लघु अनुगीता और उसका उपोद्घात इन दोनों की तुलना करनेसे मालूम होता है, कि मूल ग्रंथ और उसका उपोद्घात दोनो एकही ग्रंथकारके लिखे हुए नहीं हैं। लघु-अनुगीता पहिलेही किसी ग्रंथकारने लिखी थी, और यह स्पष्ट मालूम होता है, कि प्रक्षेपकने उसमें प्रस्तावना जोडकर वह भारतमें मिला दी है। 'अनुगीता' नाम भी प्रक्षेपक ही ने दिया होगा। भगवद्गीतामें और लघु अनुगीतामें कोई भी साम्य नहीं है, तब भी यह कहना कि "वही भावार्थ फिरसे कहता हूं" बिलकुल गलत है। भगवद्गीतामें और लघु अनुगीतामें कोई साम्य नहीं है। भगवद्गीतामें जो नहीं हैं, ऐसे कई प्रश्नोंका विवेचन अनुगीतामें किया गया है; परंतु भगवद्गीतामें अत्यंत महत्त्वका विषय जो अनासक्त कर्मका तत्त्व, उसका अनुगीतामें ध्वनितक नही है। जिसने लघु-अनुगीता रची है, वही उसका उपोद्घात लिखता, तो वह ऐसा कभी न कहता, कि "यही भावार्थ पूर्वमें तुमने रथमें सुना था।"

कई लोगोंका ऐसा मत है, कि अनुगीता भगवद्गीताकी एक हलके दर्जेकी नकल है। इस मतके अनुसार कई विद्वान् लोग ऐसा सिद्धान्त निकालते हैं, कि अनुगीताके रचयिताने पहिले भगवद्गीता पढी होगी, अत एव भगवद्गीता मूलतः महाभारतमें होनी चाहिये। परंतु यह सिद्धान्त गलत है। अनुगीता किसी भी तरह भगवद्गीताकी नकल नहीं है। उसमें और भगवद्गीतामें बिलकुल साम्य

नहीं है। यह ग्रंथ किसी व्यक्तिने अपने मतोंको प्रकाशित करनेकी गरजसे स्वतंत्र रीतिसे लिखा है। फिर किसी दूसरे महाशयने इसको महाभारत में शामिल करते समय एक कल्पित प्रस्तावना जोड दी और इसका और भगवद्गीताका संबंध जमा दिया। लघु अनुगीताका कर्ता और उसके उपोद्घातका कर्ता भिन्न लेखक हैं।

यह बात सहजही ध्यानमें आ जाती है, कि लघु अनुगीता ग्रंथसे उसका उपोद्घात बहुतही अर्वाचीन है। लघु- अनुगीतामें क्रियाएं जहां वहां स्वाभाविक रीतिसे आई हुई दिखती हैं। परंतु उसके उपोद्घातमें क्रियाएं बहुत थोडी आई हैं और आधुनिक संस्कृत विद्यार्थीके समान 'गतम् कृतम्' इस प्रकारके कृदंतोंसे अनेकवार काम चलाया गया है (उपोद्घात श्लो० ५. १२) इससे यह स्पष्ट होता है, कि लघु-अनुगीता उस समय लिखी गई है, जब कि संस्कृत भाषा प्रचारमें थी; किंतु जब उपोद्घात लिखा गया, तब संस्कृत भाषाका प्रचार न रहा था। लघु अनुगीतामें संबोधन बहुत थोडे हैं; परंतु उपोद्घातमें संबोधनों की विपुलता है। पंद्रह श्लोकोंमें पंद्रह संबोधन आए हैं। इससे सिद्ध होता है, कि अनुगीता प्रक्षिप्त है और यह प्रक्षेप बहुत अर्वाचीन है। इस उपोद्घातके दो विभाग पडते हैं। पहिला विभाग (५-१२) बहुतही अर्वाचीन है और दूसरा विभाग सापेक्षतः प्राचीन दिखता है। भगवद्गीताका उल्लेख प्रथम (अर्वाचीन) विभागही में है।

महाभारत की सूची परसे इस अनुमतको पुष्टि मिलती है। आदिपर्वके दूसरे अध्यायमें अश्वमेध-पर्वकी सूचि इस प्रकार है-

ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व चोक्तं चतुर्दशम्।
तत्संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम्॥

* * *

सुवर्णकोशसंप्राप्तिः जन्म चोक्तं परिक्षितः।
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात्संजीवनं पुनः॥
चर्यायां हवमुत्सृष्टं पांडवस्यानुगच्छतः।
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः॥
चित्रांगदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः।
संग्रामे बभ्रुवाहेन संशयश्चात्र दर्शितः॥
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च।
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम्॥

आदिपर्व २. ३३८. ३४२

इन पांच श्लोकोंमें अश्वमेधपर्वकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म बात लेकर सब बातोंका निर्देश किया गया है। श्री० वैद्यजीके मतानुसार प्रक्षिप्त ऐसे नकुलाख्यानका भी उसमें उल्लेख है; परंतु इतनी बडी अनुगीताका नाम तक उसमें नहीं है। ऊपर * * यह निशान है, वहां अनुगीताका उल्लेख होना चाहिये था। अश्वमेधपर्वके अंतमें सूचिके स्वरूपमें एक छोटीसी पूरणिका जोड दी गई है, वह इसतरह है-

अस्मिन्पर्वण्यगीतवृत्तान्तः, व्यासवाक्यम्, संवर्तमरुत्तीयम्, अनुगीता, (लघु अनुगीता) वासुदेवागमनं,ब्राह्मणगीता, गुरुशिष्यसंवादः, उत्तंकोपाख्यानम्, द्वारकाप्रवेशः पांडवप्रयाणम्, निधिलाभः, परिक्षिज्जन्म, स्त्रीविलापः, बालसंजीवनम्, सुवर्णानयनम्, अश्वपरीक्षा, हयरक्षणम्, बभ्रुवाहनविजयः, अश्वमेधयज्ञः, नकुलोपाख्यानम्।

इस पूरणिका में अनुगीता का, अर्थात् लघु और बृहत् ऐसे दोनों अर्थों में अनुगीता का उल्लेख है। भारत के अधिकतर पर्वों को ऐसी पूरणिका जोडी नहीं गई; इससे मालूम होता है, कि प्रक्षिप्त आख्यानों का संग्रह करने की गरज से यह नवीन सूचि किसी ने पीछेसे जोड दी है। इस पूरणिका से इस सिद्धान्त को पुष्टि मिलती है, कि अनुगीता बहुतही अर्वाचीन है।

अनुगीता के बाद उत्तंकोपाख्यान नामक एक आख्यान है। इस आख्यान में भगवद्गीता का उल्लेख है, वह इसतरह है—

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यत् धनंजयः॥

अश्व. ५५: ४

कृष्णने प्रसन्न होकर युद्धारंभमें अर्जुन को जो दिव्य स्वरूप बतलाया था, वही दिव्य स्वरूप

उत्तंक को बतलाया। सब विद्वानों को यह बात मान्य है, कि उत्तंकोपाख्यान प्रक्षिप्त है; परंतु इस बातको स्पष्टतया सिद्ध करनेके लिये अभीतक किसीने प्रमाण नहीं दिये। इसलिये इस मुद्देपर कुछ गहन विचार करना आवश्यक है। श्री० वैद्यजीका मत है, कि उत्तंकोपाख्यान की यहां पुनरुक्ति हुई है, इससे वह आख्यान प्रक्षिप्त है। केवल इस बात से, कि यहां पुनरुक्ति हुई है, वास्तविक कोई सिद्धान्त नहीं निकल सकता। उत्तंकोपाख्यान महाभारतमें तीन जगह आया है। आदिपर्व-अध्याय ३, वनपर्व-अध्याय २०१ और अश्वमेधपर्व-अध्याय ५५। पहिले दो आख्यान स्वतंत्र हैं; उनका एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है। आदिपर्व का उत्तंक और वनपर्व का उत्तंक दो भिन्न पुरुष हैं। अश्वमेधपर्वका उत्तंकोपाख्यान पहिले दो आख्यानों के मिश्रण की मानो खिचडी है। वनपर्वके उत्तंक को परमेश्वर का दर्शन भारतीय युद्ध के पूर्व बहुत प्राचीन काल में हुवा है। आदिपर्व का उत्तंक जनमेजय का समकालीन अतः भारतीय युद्ध के पीछेका है। प्रक्षेपकाल के पूर्व के दो उत्तंक एकही हैं, ऐसा भ्रम उत्पन्न होनेके लिये वह प्रक्षेपक बहुत अर्वाचीन होना चाहिये। केवल इस मुद्देका विशेष महत्व नहीं है, कि 'उत्तंकोपाख्यान प्रक्षिप्त है।' इस वाद में मुद्दा यह है, कि वह आख्यान प्रक्षिप्त है ही, किंतु अर्वाचीन भी है। उत्तंकोपाख्यान अर्वाचीन है, इसका एक और प्रमाण है। आदिपर्व की सूचि में उत्तंकोपाख्यान का नाम नहीं है, परंतु आश्वमेधिक पर्व की पूरणिका में उस आख्यान का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है, कि यह आख्यान उतना अर्वाचीन है, जितनी अनुगीता अर्वाचीन है। एवंच केवल इस बात से, कि उत्तंकोपाख्यान में गीता का उल्लेख है, कुछ भी अनुमान नहीं निकल सकता।

शान्तिपर्व में नारायणी नामक एक आख्यान है। इस आख्यान में भगवद्गीता का उल्लेख तीन जगह आया है-

१. एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नरोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥
शां० प० ३४६: ११

२. समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥
शां० प० ३४८-८

३. यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥
शां० प० ३४८-५३

वस्तुतः ये तीनों उल्लेख एक ही समझने चाहियें, क्यों कि वे एकही आख्यान में एकही लेखक के हाथ के मालूम होते हैं। इस उल्लेख से भगवद्गीता के संबंध में कुछ अनुमान करने के पहिले यह विचार करना चाहिये, कि ये श्लोक स्वतः कहां-तक प्राचीन हैं। यह ऊपर ही दिखता है, कि शान्तिपर्व प्रक्षिप्त है। भीष्म शरशैयापर पडे थे तब उन्होंने धर्म का उपदेश किया और इस उपदेश से शान्तिपर्व के लगभग ४५० अध्याय और अनुशासनपर्व ऐसे दो पर्व भरे हैं। शान्तिपर्व के ४७ वें अध्याय में भीष्मस्तवराज नामक स्तोत्र है। इस अध्याय में भीष्म के शरीरत्याग का स्पष्ट उल्लेख है। वह श्लोक ऐसा है-

यं योगिनः प्राणवियोगकाले यत्नेन चित्ते
विनिवेशयंति। साक्षात्पुरस्तादनुवीक्ष्यमाणं
प्राणान् जहौ प्राप्तकाले हि भीष्मः॥
भीष्मस्तवराज श्लोक १११

यह श्लोक महाभारत में नहीं मिलता। "ते स्तुवंतश्च विप्राग्र्याः" (शान्तिपर्व अः ४७-१०३) इस श्लोक के बाद "यं योगिनः" इ० श्लोक का स्थान है।

४७ वें अध्याय में भीष्म का मृत्यु होने के पश्चात् ४८ वें अध्याय में उनकी भेंट के लिये धर्म जाते हैं। और इसके बाद ४५० अध्यायों में भीष्म का उपदेश है।

साधारणतः कोई भी शंका करेगा, कि प्रक्षेपक से ऐसी भारी भूल कैसे हुई होगी? अपना काम बेमालूम करने की प्रक्षेपकने थोडी सावधानी की थी। ऊपर दिया हुवा 'यं योगिनः' श्लोक भारतमें नहीं मिलता। उतना श्लोक अलग करके प्रक्षेपकने अपनी समझमें अच्छा बंदोबस्त कर रखा था; परंतु इसके पहिलेही यह श्लोक अनेक श्रद्धालु लोगोंने याद कर रखा था, इसलिये प्रक्षेपक की योजना निष्फल हुई और इस बात का प्रमाण स्थिर हुआ, कि शान्तिपर्वमें भीष्म का समूचा उपदेश प्रक्षिप्त है। शान्तिपर्व के प्रक्षिप्त होनेका यही केवल एक प्रमाण नहीं है। इस सिद्धान्त को पुष्टि देनेवाले दूसरे कई प्रमाण हैं; परंतु विस्तार-भयसे उन्हें यहां देने की मैं चेष्टा नहीं करता और प्रस्तुत निबंधमें ऐसा करने का कोई कारण भी नहीं है।

नारायणीय आख्यानमें भगवद्गीतासंबंधी उल्लेख क्या अर्वाचीन है? इस प्रश्न का विचार करनेमें पूरे शांतिपर्व को प्रक्षिप्त सिद्ध करने की वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं है। यहां इतनाही विचार करना है, कि नारायणीय आख्यान प्राचीन है या अर्वाचीन है? इस आख्यानमें महाभारत का उल्लेख अर्वाचीन 'महाभारत' के नामसे है।* इससे स्पष्ट होता है, कि महाभारत की 'महाभारत' के नाम से प्रसिद्धि होने के बाद यह आख्यान उसमें डाल दिया गया है। अतः इस आख्यान के प्रमाण से भगवद्गीता के संबंधमें वस्तुतः कोई निर्णय नहीं हो सकता।

यहांतक इस प्रश्न का विचार केवल विघातक दृष्टि से हुआ। परंतु उससे विधायक ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं निकला। भगवद्गीता प्रक्षिप्त नहीं है, ऐसा कहनेवाले पक्षके मुद्दोंका खंडन हो गया; परंतु इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता, कि वह प्रक्षिप्त है। अत एव इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये अधिक सूक्ष्मता से खोज करना अवश्यक है।

इस प्रश्नपर विचार करने की गरज नहीं, कि भगवद्गीता सचमुचमें युद्धके समय कही गई अथवा ग्रंथकारने अपनी कल्पना से एक कल्पित प्रसंग रचकर उस निमित्तसे अपने स्वतः के मतों को श्रीकृष्ण के नामसे प्रगट किया है। प्रस्तुत प्रश्न केवल इतनाही है, कि भारतकारने गीता भारतमें स्वतः लिखी या नहीं? अगर लिखी हो, तो वैसी भावना भारतकार के अंतःकरणमें अवश्य रहती और उसके चिन्ह हमें हरजगह देखने मिलते। परंतु संपूर्ण महाभारतमें गीताका स्मरण आनेके अनेक प्रसंग होनेपर भी ग्रंथकार को उसका स्मरण कभी नहीं होता। इसका क्या कारण है?

उदाहरण– युद्ध समाप्त होनेपर धर्म को शोक हुवा और उसकी सांत्वना करने के लिये अर्जुन, कृष्ण और व्यासने तरह तरह से उपदेश किया। इस सारे वादविवादमें गीता की याद किसी को नहीं आती? यह कैसा? कई जगह गीता के सिद्धान्त का अनुवाद किया हुवा दिखता है; परंतु वहां भी गीता का उल्लेख नहीं है। उदाहरणार्थ अर्जुन कहता है–

> यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
> एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते॥
> देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान्संप्रतिपद्यते।
> एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः॥
>
> शांतिपर्व १५।५७:५८

इस श्लोक को पढते हुए भगवद्गीता का स्मरण आता है।

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि
> गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय
> जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
>
> भगवद्गीता २:२२

---

* कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि। को ह्यन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृत् भवेत्॥ (शांतिपर्व, ३४६;१२)

परंतु स्वतः अर्जुन को गीता का स्मरण नहीं आता।

विवेचन के प्रवाहमें अर्जुन आगे और कहता है-

पूर्वमें जनक को उसकी पत्नीने + उपदेश किया, वह ऐसा कि—

" प्राणी कर्म के अधीन रहने के कारण परतंत्र हैं। तुम कर्मशून्य बनकर संन्यास क्यों करते हो? संन्यासी न होकर तुम जितेन्द्रिय हो और सद्गति संपादन करो इ० "

" आसक्तिशून्य पुरुष विषयासक्त पुरुष सरीखा बर्तता हो, तथापि जो किसी बातमें लिप्त नहीं, सारे बंधनों से मुक्त, शत्रु और मित्रपर समान दृष्टि रखनेवाला है, वही पुरुष सच्चा मुक्त है" इत्यादि।

यह बात हरकिसी के ध्यानमें सहज आवेगी, कि अर्जुन के इस उपदेशमें और भगवद्गीता के कृष्ण के उपदेशमें विलक्षण साम्य है, और कई श्लोकोंमें भाषाका भी साम्य है ×। इससे कई लोग ऐसा भी सिद्धान्त निकालते हैं; कि भगवद्गीता मूलतः भारतान्तर्गत ही है और यहां उसकी इस प्रकार पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक है। परंतु यह विचारसरणी गलत है। उपदेश को प्रारंभ करने के पहिले अर्जुन यदि ऐसा कहता, कि " श्रीकृष्ण के मुख से मैंने ऐसा उपदेश सुना है, तो उस से इस सिद्धान्त के साबित होनेमें मदद मिलती, कि गीता मूलतः भारतमें समाविष्ट है। परंतु अर्जुन को इस अवसरपर कृष्णकी याद नहीं आती, किन्तु वह कहता है, कि यह उपदेश जनक की पत्नीने किया है। इससे यही सिद्धान्त निकलता है, कि उसको भगवद्गीता की कल्पना तक नहीं थी।

इस अनुमान को अगले अध्याय से पुष्टि मिलती है। अर्जुन के भाषणपर धर्म का प्रत्युत्तर यह है—

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च।
उभयं वेद वचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥१॥
आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिंतितानि च।
निश्चयश्चैव यो मंत्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥२॥
त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गंतुं न समर्थः कथंचन ॥३॥
युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
संक्षिप्तविस्तारविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥८॥

शांतिपर्व १९।१,२,३,८.

" अरे बाबा! मैंने पर और अपर ऐसे दो प्रकार के शास्त्रोंका अध्ययन किया है। " कर्म करना " और " कर्म छोडना " ऐसे दोनों वचन मुझे मालूम हैं। शास्त्र के वचन जटिल जरूर हैं, परंतु मैंने उनका सकारण विचार किया है; उसी तरह मैं वेदाज्ञा भी समझता हूं। तुम केवल सिपाही योद्धा हो, क्षात्रव्रत पालन करनेमें विशारद हो। तुम्हें एक युद्धशास्त्र समझता है, परंतु अन्य शास्त्रों के अर्थ का आकलन करने का तुम्हें सामर्थ्य नहीं है, क्यों कि तुमने वृद्धों की सेवा नहीं की; इसलिये " संक्षेप- विस्तार " युक्त शास्त्राध्ययन के सिद्धान्त तुम्हें अवगत नहीं... "

धर्मराज को यह मालूम नहीं, अर्जुन को प्रत्यक्ष कृष्णस्वरूपी नारायणने धर्मराज के साम्हने धर्म का तत्त्व सिखलाया था! केवल इतनाही नहीं, किंतु अर्जुन को यह भी नहीं सूझता, कि कृष्णने अपन को यह ज्ञान सिखलाया है, ऐसा बतलाकर धर्म की शंका का निरसन कर दें! इन सब प्रमाणों से यही सिद्धान्त उत्पन्न होता है, कि जिस समय शान्तिपर्व का यह भाग लिखा गया, उससमय भगवद्गीता का उदय न हुवा था।

+ कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः। विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ शांतिपर्व १८-२

× कृपणाः फलहेतुकाः ॥ (शांतिपर्व १८-१३) परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ (शांतिपर्व १८-१६) असक्तः सक्तवद्गच्छ निःसंगो मुक्तबंधनः। समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥ (शांतिपर्व १८-३१) जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥ (शांतिपर्व १८-३५)

ऊपरके उदाहरणमें ऐसा दिखता है, कि भगवद्गीता के सिद्धान्त का अनुवाद हुवा है; परंतु इसका कारण दूसरा ही है। इस अनुवाद का सच्चा कारण यही मालूम होता है, कि भारतमें जगह जगह फैले हुए अनेक सिद्धान्तों को संकलित करके उनको एकत्र भगवद्गीताके स्वरूप-में किसीने ग्रंथित कर दिया होगा। शान्तिपर्व के भीष्मकृत उपदेशमें यही बात बार बार देखने मिलती है। भीष्मके उपदेशमें गीताके श्लोक अथवा श्लोकार्ध जैसे के वैसे अनेक प्रसंगोंपर लिये हुए दिखते हैं, परंतु भीष्मको गीताकी याद आई हुई कहीं नहीं दिखती; अर्थात् नारायणीय आख्यानको छोडकर अन्यत्र कहीं भी गीताका स्मरण आया हुआ दिखता नहीं। अतएव यह कहनेकी अपेक्षा, कि गीताके सिद्धान्तका अनुवाद शान्तिपर्वमें है, यह कहना अधिक सयुक्तिक दिखता है, कि शान्तिपर्वके सिद्धान्त पीछेसे गीता के रूपमें संकलित किये हैं।

युद्धके पंद्रहवें दिन धृतराष्ट्रको संजयने द्रोणके मृत्युकी वार्ता सुनाई। यह अशुभ वार्ता सुनकर धृतराष्ट्रका मन बहुत उद्विग्न हुआ। उसने चित्तको स्थिरता लानेके हेतु कृष्णचरित्रका स्मरण करना प्रारंभ किया। इस स्मरणमें कृष्णके संबंधमें सुनी हुई अनेक प्रमुख बातोंका उल्लेख धृतराष्ट्रने किया है। उद्योगपर्वमें वर्णन किये हुए विश्वस्वरूप-दर्शनका उल्लेख इस स्मरणमे है, परंतु भगवद्गीता की याद धृतराष्ट्रको बिलकुल नहीं आती। चित्त को स्थिर करना यदि धृतराष्ट्रका हेतु है,तो उसको गीतामृतका उल्लेख अवश्य करना चाहिये था; क्योंकि बुद्धिको स्थिर करनेके लिये भगवद्गीता सरीखा उपदेश संपूर्ण भारतमें अन्यत्र एकत्रित मिलना अशक्य है। उसी दिन अर्थात् १५ वें दिन अर्जुनने व्यासमुनि को प्रश्न किया-

संग्रामे न्यहनं शत्रून् शरौघैर्विमलैरहम् ।
अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम् ॥४॥
ज्वलंतं शूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते ।
तस्यां दिशि विदीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने ॥५॥
तेन भग्नानरीन्सर्वान्मद्भग्नान्मन्यते जनः ।
तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुव्रजाम्यहम् ॥६॥
भगवंस्तन्ममाचक्ष्व को वै स पुरुषोत्तमः ।
शूलपाणिर्मया दृष्टस्तेजसा सूर्यसन्निभः ॥७॥
न पद्भ्यां स्पृशते भूमिं न च शूलं विमुंचति ।
शूलाच्छूल सहस्राणि निष्पेतुस्तस्य तेजसा ॥८॥

" हे भगवन्! मैं समरभूमिपर उज्वल बाणोंसे शत्रुओंका संकार करता था, तब मेरे साम्हने अग्निके समान तेजःपुंज एक पुरुष तेजस्वी शूल उठाकर चलता हुवा सदैव मुझे दिखता था। हे महामुने! वह जिस जिस दिशामें जाता था, वहां वहां मेरे शत्रु विदीर्ण होते थे। जिन शत्रुओंको वस्तुतः उसने परास्त किया था, लोग समझते हैं, कि उनको मैंने ही परास्त किया है। परंतु सच बात यह है, कि सेनाका संहार वही करता था और मैं केवल उसके पीछे पीछे जाता था। भगवन्! मुझे बतलाइये, कि यह जो सूर्यके समान तेजस्वी, प्रखर और शूलपाणि पुरुषोत्तम मैंने देखा वह कौन है? वह पैरोंसे भूमिको स्पर्श नहीं करता था और उसने एकवार भी अपना शूल नहीं चलाया; तथापि उसके विलक्षण प्रतापसे एक शूलमेंसे हजारों शूल बाहर पडते थे! "

द्रोणपर्व अध्याय २०२ श्लोक ४. ५. ६. ७. ८.
व्यासजीने उत्तर दिया-

ईशानं वरदं पार्थ दृष्टवानसि शंकरम् ॥१०॥
विश्वात्मानं विश्वसृजं विश्वमूर्तिं यशस्विनम्॥१३
द्रोणपर्व अध्याय २०२ श्लोक १०-१३

" तुमने जो देखा वह साक्षात् शंकरही है। वह विश्वका आत्मा है।

अर्जुनका प्रश्न और उसका उत्तर देखनेपर भगवद्गीताके ग्यारहवें अध्यायको याद अवश्यमेव आती है। परंतु आश्चर्यकी बात है, कि अर्जुनको उस प्रसंगका स्मरण नहीं होता। स्वतः कालस्वरूप परमेश्वरने जब कहा है, कि " कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो " और " मयैवैते निहताः पूर्वमेव" और जब अर्जुनने देख लिया है, कि शत्रुओं

के मस्तक उस काल पुरुषकी दाढोंमें चूर्ण हो गए, तब अर्जुनको इस विषयमें यत्किंचित् शंका न रहनी चाहिये, कि यह दिव्य पुरुष कौन होगा। परंतु जब अर्जुनको शंका उत्पन्न होती है और प्रश्न पूछनेकी आवश्यकता होती है, तब यही सिद्धान्त निकालना पडता है, कि भगवद्गीताके विश्वरूपदर्शनका अर्जुनको पता भी नहीं थाः अर्थात् यह कथा किसीने पीछेसे अपनी कल्पनासे रची हुई है।

इसी प्रकारके अनेक स्थल भारतमें हैं; परंतु विस्तार भयसे उन सबका उल्लेख न करके अन्य मार्गसे खोज करें, कि इस संबंधमें कोई दूसरे प्रकारके प्रमाण मिलते हैं या नहीं।

भगवद्गीता यदि प्रक्षिप्त न होगी, तो उसका पिछले अध्यायोंसे संबंध योग्य रीतिसे मिलना चाहिये। इस दृष्टिसे भीष्मपर्वका २४ वां अध्याय पढने लायक है–

धृतराष्ट्र उवाच–
केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ॥१॥
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकंपने।
मामकाः पांडवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥२॥
कस्य सेना समुद्रेऽयं गंधमाल्यसमुद्भवः।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ॥३॥
संजय उवाच–
उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा।
स्रजः समाः सुगंधानामुभयत्र समुद्भवः ॥४॥
संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ।
संसर्गात्समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ॥५॥
वादित्रशब्दस्तुमुलः शंखभेरीविमिश्रितः ॥
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम्।
उभयोः सेनयो राजन्महान्व्यतिकरोऽभवत् ॥६॥
अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ।
कुंजराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ॥७॥
म० भा० भी० प० अध्याय २४ पूर्ण

धृतराष्ट्रने पूछा--

हे संजय! हृदयको कंप देनेवाले उस युद्धमें मेरे तथा पांडवपक्षीयोंमेंसे कौनसे योद्धा बडे उल्हाससे प्रथम आगे होकर लडने लगे? किस पक्षके योद्धा उमेद रखते थे और दीन, उदास कौन थे? यह भी बतलाओ, कि प्रथम प्रहार किसने किया? किसके सेना समुद्रमें सुगंध फैल रहा था और पुष्प उत्फुल्ल दिखते थे? और किस पक्षके गर्जनेवाले वीरोंके मुखसे शुभ वाणी निकलती थी?

संजयने कहा--

हे राजन्! उस जगहमें दोनो पक्षोंके योद्धा आनंदित थे। पुष्पोंकी प्रफुल्लता दोनों जगह एकसी थी और दोनों ओर सुगंध फैल रहे थे। हे भरतश्रेष्ठ व्यूहाकृति रचनावाले दोनो सैन्य जब निकट आकर एक दूसरेसे भिड गए,तब उनका धूमधडाका बहुतही भयानक हुवा। वाद्योंके निनादमें शंख और नौबतोंका योग हुवा, तब वह ध्वनि बहुतही तुमुल हुवा; एक दूसरेको देखकर गर्जना करनेवाले रणशूर वीरोंके शब्दोंका भी उसमें संमेलन हुवा। हे राजन् परस्परको तीखी निगाहसे देखनेवाले योद्धा गरजनेवाले हाथी और आनंदसे फूलनेवाले सैन्य, इन सबका संगम लोकोत्तर ही हुवा!

अध्याय २४ संपूर्ण।

"के वा दीना विचेतसः" इन स्पष्ट शब्दोंमें धृतराष्ट्रने प्रश्न किया है और संजयके जवाबमें कोई भी दीन और विचेतस नहीं बतलाया गया, किंतु दोनों पक्ष उल्हसित बतलाए गए हैं। इसका क्या मतलब है? यथार्थमें अर्जुन दीन लीन हुवा, उसके हाथपैर लटपटाने लगे,मुँह सूख गया। उसमें वीरश्री जागृत करनेका स्वतः श्रीकृष्णने प्रयत्न किया, परंतु उनको भी पहिले पहल,इस प्रयत्नमें सफलता नहीं मिली और इसी निमित्तसे उन्हें अठारह अध्याय गीता का उपदेश करना पडा और संसारमें अति उत्कृष्ट ऐसा एक धर्मग्रंथ निर्माण हुवा–संजय इन सब बातोंको भूल गए और इस संबंधमें एक अक्षरभी उन्होंने नहीं कहा। यह कैसी बात है? धृतराष्ट्रने पांच चार प्रश्न पूछे; उनमेंसे बहुतसे

प्रश्नोंके जवाब संजयने दिये। जबाबके लिये सिर्फ यही सवाल बाकी रहा, कि "पहिले प्रहार किसने किया?" इसका उत्तर देनेको संजयने प्रारंभ किया था, इतनेमें संजयके भाषण पर लक्ष्य न देकर धृतराष्ट्रने बीचहीमें यह प्रश्न किया कि 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे... किमकुर्वत संजय' इसका क्या हेतु है! और इस प्रश्नमें विशेष क्या था? क्योंकि धृतराष्ट्र के पूर्वके प्रश्नोंमें यह ध्वनित है ही, कि कौरवोंने और पांडवोंने क्या किया? संजय अपना वृत्तान्त बतला रहा था, उसमें विघ्न डालकर कुछ भी बालिश प्रश्न पूछना, इसकी कोई योग्य संगति नहीं लगती। तात्पर्य, यही मानना अनिवार्य है, कि 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इ० प्रश्न और उसके उत्तरमें संजय द्वारा जो बतलाई गई वह अठारह अध्याय वाली भगवद्गीता मूलतः महाभारतमें नहीं थी; पीछेसे किसीने उनका प्रक्षेप किया है।

गीता प्रक्षिप्त है, इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह त्याज्य है, वह पठन करने अथवा पढनेके लायक नहीं है, अथवा उसके विषयमें जो लोगोंकी श्रद्धा अथवा आदर बुद्धि है, वह निर्मूल है। प्रक्षिप्त का अर्थ केवल इतना ही है, कि वह मूलतः भारतमें नहीं थी और पीछेसे किसीने उसमें मिला दी है। वह किसने कब और क्यों लिखी? ये सब प्रश्न स्वतंत्र हैं। उनका विवेचन अगले लेखांकोंमें यथाक्रम आवेगा।

भगवद्गीता--संबंधी श्रेष्ठोंके वचन।

"भगवद्गीता के समान आकारमें छोटा परंतु ज्ञान से परिपूर्ण और विशाल, ऐसा दिव्य ग्रंथ दुनियां के पडदेपरदुसरा नहीं है। अद्भुत ग्रंथ म इतना उच्च, गंभीर और सात्विक उपदेश है, कि जिसके परिपालनसे मनुष्य देवता की पदवी प्राप्त कर सकता है।" - पं० मदनमोहन मालवीय.

"तराजू के एक पल्ले में एक टन आचारशून्य गीताध्ययन रखा जाय और दुसरेमें एक औंस गीतामय जीवन रखा जाय, तो पहिले की अपेक्षा दूसरा पल्ला बहुत ज्यादा भारी होगा।" -- महात्मा गांधी.

"प्राचीन काल की सकल संस्मरणीय वस्तुओं-में भगवद्गीता के बराबर दूसरी कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। भगवद्गीता में इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है, कि यद्यपि उसके लिखनेवाले देवता को हुए, अगणित वर्ष हो गए, तथापि उसके मुकाबले अभी-तक एक भी ग्रंथ नहीं लिखा गया। ...... गीता के साथ तुलना करनेपर दुनियां का सारा आधुनिक ज्ञान मुझे तुच्छ मालूम पडता है ...... मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय को और बुद्धि को गीतारुपी पवित्र जल में स्नान करता हूं।" महात्मा थोरो.

"श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन की अमूल्य संपत्ती है। केवल इतनाही नहीं, किन्तु भावी विश्वधर्मका वह सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रंथ है।"— एफ्. टी. ब्रुकूस

"किसी भी देश को उन्नति के शिखरपर चढने के लिये गीतोपदेश केवल अद्वितीय है।"— वॉरन हेस्टिंग्ज.

"गीताको धर्मका सर्वोत्तम ग्रंथ समझने का कारण यह है, की उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति इस योगत्रयी की सयुक्तिक मीमांसा है ...... गीताका उदार और उत्तम भक्तिवाद जैसे दुनियां में कहीं नहीं मिलता, वैसेही मैं नहीं समजता, कि गीता की अद्भुत धर्मव्याख्या किसी भी देशमें और किसी भी काल में किसीने भी की हो।"— बंकिमचंद्र चतर्जी

"अर्जुन को जिस संशयने ग्रसित किया, वह एक मामूली बात है। इस प्रकार के संशय अहो-रात्र मनुष्य को आक्रान्त करते हैं और इनकी शिकार बने हुओं की संख्या भी किसीतरह कम नहीं है। ये संशय देश की अथवा वर्ण की अपेक्षा

नहीं रखते। जब जब यह संशय-राक्षस अपने को भयभीत करके मार्गच्युत करने चाहता है, तब तब साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण अपने निकट रहें यह बात मुश्किल है। यही गरज पुरी करने के हेतु, भगवान्ने अपनी सर्वकालोपयोगी अनंतसंदेशमयी गीता प्रगट की है।" —

लाला लजपतराय

"गीता, उपनिषदोंमेंसे चुने हुए आध्यात्मिक सत्य के सुंदर पुष्पों का एक गुच्छ है।."—

स्वामी विवेकानन्द.

"केवल मानसिक विकास के लिये गीता का अध्ययन करके रह जाना इष्ट नहीं है; किंतु कुछ मर्यादातक उसके सिद्धान्तों को कार्य में परिणत करना आवश्यक है। गीता कोई सामान्य संगीत अथवा ग्रंथ नहीं है। भगवान् ने आत्मा की अत्यंत प्रबुद्धावस्था में गीता का उपदेश किया था।" —

डॉ० बेसेन्ट.

"उत्कृष्टता, ज्ञान, लय, संगीत, मनोभावना, इस दृष्टि से दुनयां का कोई भी धर्मग्रंथ गीता के १६ वें अध्याय से स्पर्धा नहीं कर सकता।" —

के. कृष्ण. आयंगर.

"गत बारह शताब्दियों में ऐसा कोई महापुरुष नहीं हुवा, कि जिसने गीता का समालोचन न किया हो। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है, कि भारतवर्ष के धार्मिक जीवनपर गीता का प्रभाव कितना है।" —

मोहिनी मोहन चतर्जी

"गीता के सदृश भारतवर्ष के लोकप्रिय और काव्यमय तत्त्वज्ञानात्मक ग्रंथ का अनुवाद करनेका मैंने जो इतना साहस किया उसका कारण यह है, कि उसके विना अंग्रेजी साहित्य निःसंदेह अपूर्ण रहेगा। — सर एडविन आर्नोल्ड.

"गीता, हमारे ज्ञानमंदिर में अनंत कालतक प्रकाशित होनेवाला बिना तेल का दीपक है। प्राश्चात्य दार्शनिक ग्रंथ चाहे कैसेभी चमकें, परंतु हमारा यह आकार में छोटा और विस्तार में महान् उज्ज्वल दीपक उन्हें ग्रस्त कर डालेगा।—

महर्षि द्विजेन्द्रनाथ टागोर.

"जो सदा सर्वदा आर्यजाति का जीवनप्राण रहा है, उस दिव्यसंदेश का इतिहास गीता है। यह ग्रंथ प्रमुखता से आर्यों के ही लिये निर्माण हुवा है और अखिल जगत् के कल्याण के हेतु आर्यों ने अनेक शताब्दितक संरक्षण किया है।"

—डॉ० सुब्रह्मण्यम् ऐयर.

"गृहस्थवर्ग के कर्तव्यों का गीता एक पूर्ण शास्त्र है इसलिये गीता हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन का सर्वोत्तम सार है इसलिये, गीता सर्वश्रेष्ठ अवतार की दिव्यवाणी है इसलिये, और गीता दुनियां के सब धर्मों का सर्वोत्कृष्टतत्त्व है इसलिये, मैं प्रतिदिन गीता का पठण करता हूं।" — टी. बी. शेषगिरि अय्यर.

"भारतीय साहित्य में गीता सर्वोत्कृष्ट रत्न है।"

— जस्टिस सर जॉन वुडरॉफ.

"जिस भगवान् ने गीतोपदेश किया, उसकी पूजा हमें भारत की मुक्ति के हेतु भक्तिमय फुलों से और सुंदर कर्मरूपी आरती से करनी चाहिये।"

- देवी सरोजिनी नायडू.

"जो सर्वतोपरी निर्भय और व्यापक है; वर्णका, ज्ञातिका, देश का अथवा अन्य किसी प्रकार का भेद न रखकर, सब के लिये जो एकही सी सद्गति देनेवाला है; और जो अन्यधर्मों के प्रति योग्य सहिष्णुता प्रदर्शित करनेवाला है; ऐसा कोई धर्म अगर हो तो वह गीताधर्म है। यह ज्ञानभक्तियुक्त धर्म सनातन वैदिक धर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर और अमृत फल है-" लोकमान्य तिलक.

"केवल कर्मयोग से अथवा संन्यास से मनुष्य को परमपद नहीं मिलता; किंतु वह निःस्वार्थ और अलिप्त बुद्धि रखकर कर्म करने ही से मिलता है। इस सत्य का निर्णय सिवाय गीता के किसी भी ग्रंथने नहीं किया।" लॉर्ड रोनाल्डशे.

भगवद्गीता का चौदहवां अध्याय।

(काव्यकार श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

नये सिरेसे फिर तुम्हें, कहूं मैं उत्तम ज्ञान।
विद्या सभीमें श्रेष्ठ जो, प्रेमसे करूं बखान ॥ १ ॥

जान जिसे मुनिवर सभी, यहीं से हो गये सिद्ध।
सकल विविध पा सिद्धियां, हो चुके परम प्रसिद्ध॥२॥

सुसमीपसे आश्रय, इसी ज्ञानका ले।
मेरे गुण सादृश्यको, आ प्राप्त हुए वे ॥ ३ ॥

आने सृष्टिकालपर भी न जन्मते वे।
कष्ट भोगते कभी न, प्रलय कालमें भी वे ॥ ४ ॥

बडी धारका जगत्की, महद् ब्रह्म कही जो।
आदि कारण प्रकृति, गर्भस्थान मेरी सो ॥ ५ ॥

धारण मैं उसमें करूं, जगत् सकलका बीज।
सभी पदारथ प्राणि अरु, हों उत्पन्न सबीज ॥६॥

तभी मूर्तियां बनें सब, हे भरतसन्तान।
हे कुन्तिसुत वीरवर, अर्जुन प्रिय बलवान ॥ ७ ॥

जो आकृतियां रच रहीं, विविध शरीरी मात्।
सभी जन्ममें प्रजाकी, सबकी सांझी मात् ॥ ८ ॥

वही महद्ब्रह्म प्रकृति, अरु सांझा पिता मैं।
डालनेवाला सभीके, बीजको उसमें मैं ॥ ९ ॥

तब होते उत्पन्न हैं, प्रकृतिमें गुण तीन।
उत्तम सत्त्व अरु मध्य रज, तम निकृष्ट अरु हीन॥१०

इस अविनाशी आत्मको, बांधें देहमें गुण।
पकड जकडकर त्रय यही, महाबाहो अर्जुन ॥ ११ ॥

उनमेंसे जो सत्त्वगुण, बान्धे सुखसे वह।
अरु ज्ञानसे सर्वदा, प्रबल आसक्ति वह ॥ १२ ॥

मैल नहीं न रोग है, है उत्तम सुप्रकाश।
पाप रहित हे! सत्त्व दे, सुख अरु ज्ञानप्रकाश ॥१३॥

सुखकी इच्छा तीव्र हो, भोगसे अरु बढ जाय।
फिर साधन नहीं भोगका, मिले, वह राग कहाय ॥१४

राग रूप यूं रजोगुण, हे कुन्तिसुत! जान।
उत्कट इच्छा सङ्गसे, समुत्पन्न पहिचान ॥ १५ ॥

जकड बान्धता जीवको, कर्म पाशसे सो।
हे कुन्तिसुत रजः ही, कर्मरूप धर सो ॥ १६ ॥

हे भरत सन्तान तू, तमको जान उत्पन्न।
ज्ञान अभावसे सर्वदा, करे यह मोह उत्पन्न ॥ १७ ॥

सभी शरीरि मात्रको, जकड बांध कर यह।
सुस्त करे कुच्येष्टकर, मोहसे सुलावे यह ॥ १८ ॥

सुखमें लगाता सत्त्व अरु, रजस करावे कर्म।
उलझाता मदमस्त कर, ढांप ज्ञानको तम ॥ १९ ॥

भरतवंश अवतंस हे! जब रज तम दब जाय।
सत्त्व प्रकट होवे तभी, सात्त्विक जीव कहाय ॥२०॥

जीत सत्त्व और तमः को, गुण हो रज सुव्यक्त।
ऐसे ही बढ जाय तम, जब सत रज अव्यक्त ॥२१॥

इस देहमें दशद्वार जो, सबमें उपजे ज्ञान।
उजियाला तब जान लो, बढा सत्त्व सुमहान् ॥२२॥

भरतश्रेष्ठ! जब रज बढे, यह हों तब उत्पन्न।
अभिरुचि, लालच, लालसा, चञ्चलकर्मारम्भ॥२३॥

कुरुकुलके हे हर्षकर! बहुत बढे जब तम।
तब ये सब उत्पन्न हों, अरु बढ जावे भ्रम ॥ २४ ॥

न उजियाला ज्ञान न, अभिरुचि भी तब न।
व्यर्थ कुचेष्टा भुलावा, सत्यकर्म तब न ॥ २५ ॥

बहुत बढे जब सत्त्वमें, देही त्यजे यह लोक।
उत्तमोंद्वारा प्राप्त तब, पा जाय निर्मल लोक ॥ २६ ॥

ऐसे ही रज बढे तब, करे जो जीव प्रयाण।
अथवा तम अति वृद्धिमें, फंसा हुआ अनजान ॥२७॥

पहिला जा पशुपक्षिमें, फंसे कर्ममें नीच।
पौदोंमें जाय दूसरा, मन्दमति अतिनीच ॥ २८ ॥

उत्तम किये सुकर्मका, सात्त्विक निर्मल फल ।
कहते रजका दुःख फल, अज्ञान तमफल ॥ २९ ॥

सत्त्वसे पैदा ज्ञान हो, और हो रजसे लोभ ।
तमसे तो अज्ञान हो, मोह, मद, आलस्य, क्षोभ ॥३०

आश्रय ले गुण सत्त्वका, ऊपर ऊपर जाय ।
नीच गुणी व्यवहार कर, तामस नीचे जाय ॥ ३१ ॥

रहें वीचमें ही राजसी, ऊपर नीचे न हो ।
साधारण जीवन बिता, यथा कालही खो ॥ ३२ ॥

गुण बिनकर्त्ता दूसरा, जब देखे नहीं जीव ।
और गुणोंसे परे जो, उसे पहिचाने जीव ॥ ३३ ॥

तब पावे मेरे भावको, वह मेरी सत्ता पाय ।
अङ्ग बना मम प्रिय वह, निष्कलङ्क हो जाय ॥३४॥

तीन यही गुण देहसे, जो होते उत्पन्न ।
जीव पार कर, दुःखसे, छूट, अमृत सम्पन्न ॥ ३५ ॥

जन्म बुढापा मौतसे, छूटा सर्वथा जीव ।
मुक्ति सुखको भोगता, आ-नन्द ले जीव ॥ ३६ ॥

इन तीनों ही गुणोंको, इसने किया है पार ।
किन चिह्नोंसे जान लें, यह हम हे महाराज ॥ ३७ ॥

कैसा करे व्यवहार वह, अन्य साथियों साथ ।
इन तीनों ही गुणोंको, कैसे तरा इक साथ ॥ ३८ ॥

उजियाला, रुचि, मोहसे, हे पाण्डुसुत वीर !
हुओंसे जो चिढता नहीं, हटोंको चाहे न धीर ॥ ३९ ॥

उदासीन सा जो रहे, गुण नहीं सकें डिगा ।
जिसे, न कांपे, टिक रहे, गुणातीत कहला ॥ ४० ॥

माने गुण ही वर्तते, हैं, नाही मम दोष ।
पुराय लगे भी मुझे न, मैं निर्मल निर्दोष ॥ ४१ ॥

लोहे पत्थर स्वर्णमें, दुःख और सुखमें ।
वर्ते एक समान ही, टीका निजात्मामें ॥ ४२ ॥

बेप्यारे अरु प्रियमें, स्तुति निन्दा निजमें ।
बुद्धिमान रमें एक सा, मैल न ला मनमें ॥ ४३ ॥

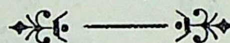
यश अपयशमें एकसा, सुहृद दुर्हृदमें समान ।
बैरी मितके पक्षको, भी समझे इकजान ॥ ४४ ॥

आडम्बर सब छोडकर, नये स्वार्थ सब त्याग ।
वर्ते जो वह कहा गया, गुणातीत सविराग ॥ ४५ ॥

एक ही से जो प्राप्य सुख, धर्म सनातन नित्य ।
अविनाशी ब्रह्म अमर जो, मैं सबकी स्थिति नित्य॥४६

अत: जो मुझको सेवते, भक्तियोगको धार ।
नहीं ध्यान करें अन्यका, कर जायसे गुण वे पार ॥४७॥

ब्रह्मानुभव समर्थ हों, ब्राह्मी स्थिति समर्थ ।
इन त्रय गुणको पार कर, बन जाय ब्रह्म यथार्थ ॥४८॥



आकाशवाणी

(लेखक— श्री० रुलियारामजी कश्यप एम् एस्सी०)

बृहदारण्यक उपनिषद्के पंचमाध्यायके द्वितीय ब्राह्मणमें एक आख्यायिका आती है जिस को संक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि प्रजापति के तीन स्वभाववाली सन्तति उत्पन्न हुई उन सब ने हि प्रजापतिके समीप ही ब्रह्मचारीरूप से निवास किया। उनके नाम क्रमशः देवाः, मनुष्याः और असुराः हुए। समावर्तन समय आया जान देव बोले 'महाराज हमें उपदेश दीजिए' प्रजापतिने उत्तर दिया 'द' और कहा कि इस अक्षर को समझ लो। कुछ विचार कर देव बोले 'महाराज हम समझ गये, आपने हमें कहा है कि दम अर्थात मन तथा इन्द्रियोंको सब तमोगुणादि तथा रजोगुणादि कर्मों से सर्वथा रोक कर शुद्ध सात्त्विक कार्योंमें लगाकर फिर उन्हें सात्त्विक से भि रोक कर शुद्ध पवित्र ब्रह्ममें स्थिर करो' प्रजापतिने इस पर 'ओ३म्' के उच्चारण द्वारा इस की सत्यता को स्वीकार करते हुए कहा 'मुझे निश्चय हो गया कि तुम मेरे कथन को यथार्थतया समझ गये हो'।

देवों के पश्चात् प्रजापति महाराज से मनुष्यों ने प्रार्थना की 'भगवन् अब हमें बतलायें' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर कहा और साथ ही पहिले की न्यायीं इस अक्षर को विशेष प्रकार से समझने को

कहा। मनुष्योंने विचार कर पिता को उत्तर दिया 'समझ गये, महाराज! आपने हमें देश, काल और पात्र को विचार कर अन्नादि पदार्थ दान करने का उपदेश करते हुए आज्ञा की है कि अन्त में अपने अन्तःकरणयुक्त आत्मा का दान परमात्मा को कर दो अर्थात् परमात्मामें अपने आप को भूल जाओ" प्रजापति ने 'ओ३म्' के उच्चारण द्वारा इसकी सत्यता दर्शाते हुए उत्तर दिया 'निश्चय हो गया कि तुम मेरा अभिप्राय जान गये'।

अन्तमें असुर भी गुरु के समीप आये और बोले 'भगवन्! उपदेश कीजिए' प्रजापति ने यथा पूर्वम् उनको भी 'द' अक्षर का विशेष अभिप्राय जानने को कहा। असुरोंने विचारा और कहा कि 'भगवन्! हम ने यह समझा है कि आपने हमें श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड आदि द्वारा नियम में रखना रूप सब प्राणियोंपर दया करने का आदेश किया है कि जिससे सर्व हित साधनद्वारा अन्तःकरण को पवित्र कर के इस के द्वारा अपनी आत्मा को परम देव परमात्मा के अर्पण करके मुक्ति प्राप्त करें' प्रजापति भगवान् ने तृतीय बार फिर ओ३म् का उच्चारण कर उनके कथन को सत्य जतलाते हुए कहा 'निश्चय हो गया कि तुम मेरा भाव जान गये।'

इस संसारमें जो कुछ भी इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जाता है उस सबका नाम प्रजा है क्योंकि वह सब प्रकृति में विकाररूपसे पैदा वा उत्पन्न हुआ है अर्थात् प्रादुर्भूत हुआ है और इस सब प्रजा का रक्षक तथा कर्ता, धर्ता, परमदेव परमात्माके बिना अन्य कोई नहीं। अतः मुख्यतया प्रजापति शब्दका अर्थ जगत् रक्षक परमात्मा ही है।

इस संसारके अन्दर केवल एक जड पदार्थ है जो ऐसी ध्वनि करता है जिसको सत्यको त्यागे बिना भी शब्द संज्ञा दी जा सकती है वह पदार्थ एका एक प्रकाश करता हुआ 'द, द, द,' पुकारता है। वह पदार्थ स्तनयित्नु 'बादलों वाली बिजुली' आदि नामों से सम्बोधित होता है। इसके शब्द को सुनकर सम्पूर्ण चेतन प्रजा भयभीत होकर कम्पायमान होती है और उनमें से उभय योनिको प्राप्त प्राणि जोकि मनुष्य कहे जाते हैं उस समय विचारते हैं कि 'यदि कुछ दान पुण्य किया होता तो इस बलासे बचते अच्छा अब बच जाय तो खूब दान देंगे कि फिर तो इस स्तनयित्नु के शब्द से भय को न प्राप्त हो'। मनुष्यों में जो महा विद्वान् होते हैं जिन को देव कहा जाता है विचारते हैं 'यह मन इस स्तनयित्नु से भी अधिक चंचल है इस को दमन किये बिना इस स्तनयित्नु के 'द' शब्द द्वारा उपदेश करनेवाले परमदेव के दर्शन कदापि नहीं हो सकते। अच्छा और सब कार्य छोड अब इसीका ही दमन करेंगे।' वह मनुष्य जो हिंसामें लगे रहते हैं और दूसरे अनाथ पशुओं को मारकर अपने पेट कबरस्थान बनाकर अपने भौतिक प्राणोंको ही पुष्ट करनेमें लगे रहते हैं और हिंसा करते हुए तनिक भी भय आदि नहीं करते इस स्तनयित्नुके 'द' शब्द को सुनकर थरथर कापते हैं और विचारते हैं 'अब यह बिजुली हमारे ऊपर ही गिरेगी और हम भस्म हो जायेंगे या खुदा अब के बख्श दे आगे को तेरी प्रजाके कभी कष्ट नहीं देंगे आगे को अवश्य दया किया करेंगे अब तू भी हम पर दया कर।'

इस प्रकार संसार में एक ही जड दिव्य पदार्थ स्तनयित्नु का शब्द सुनकर देव, मनुष्य, असुर विविध विचार करते हैं जिन पर यदि वह तुरन्त दृढ हो जाये तो अवश्य उन्हें 'ओ३म्' वाच्य परमात्मा प्राप्त हो जाय। अतः यही स्तनयित्नु का शब्द परमात्मा की वाणी है यही दैवी वाक् है जो कि स्तनयित्नु 'द, द, द' पुकारती है, बुद्धिमान् इस से 'दाम्यत' 'दत्त' 'दयध्वम्' अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो, यह तीनों बात जान लेवे और अपने शिष्यों को सदैव इन तीनोंका ही अर्थात् दम, दान, दयाका ही उपदेश देवे क्योंकि यही प्रजापति परमात्मा का उपदेश है यही स्तनयित्नु कहती है और जिस कारण यह स्तनयित्नु आकाशमें रहती है और परमात्मा भी अन्य भूमि आदि की अपेक्षा आकाशमें अधिक निवास करते हैं इस कारण यही 'ददद' रूप स्तनयित्नुका शब्द 'आकाशवाणी' है।

पुत्र-प्रजनन ।

(लेखकः- श्री० रुलियारामजी कश्यप एम्. एस्सी.)

संसारमें प्राणीमात्रको पुत्रकी कामना अपने यौवनमें अतीव बलवति होती है । विशेष कर सर्व साधारण मनुष्य समाजमें तो यह कामना बहुत ही बढी हुई होती है, पुत्ररत्नके विना गृह श्मशान समान सूना समझा जाता है, पुत्र रहित प्राणी अपनेको बहुत दुःखी मानता है अतः यहां पर पुत्रप्राप्तिका ही उपाय लिखते हैं यथाः-

जिस स्त्रीको मासिक धर्म कुछ विकृत रूपमें आता हो उसे रजोदर्शनके दिनोंमें प्रातः तथा सायंकाल पिप्पलामूल का चूर्ण गर्म जलके साथ लेना चाहिये तीन दिन ऐसे करनेसे रजविकार दूर होकर ऋतुस्नाता स्त्री शुद्ध होकर गर्भ धारण करने योग्य हो जावेगी। यदि ऐसा न हो तो प्रतिमास इन दिनोंमें यही प्रयोग करे जब तक वह सर्वथा नीरोग न हो जावे।

तत्पश्चात् 'स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रवीत सर्वमायुरीयादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै' जो दम्पति चाहें कि हमारे गोरे रङ्गवाला, वेदका उपदेष्टा.पूरी आयु भोगनेवाला, पुत्ररत्न उत्पन्न होवे वह दूध+चावल=खीर पकाकर घी डालकर खावें तो ऐसा पुत्र जननमें समर्थ होवें। इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार खीर पकाकर घी डालकर दोनों स्त्रि पुरुष खावें।

इस प्रकार भोजन करते हुए रजोदर्शन होनेके दिनको प्रथम मान चौथी, छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं, अथवा सोलहवीं रात्रिको परस्पर समागम करें परन्तु इनमेंसे किसी एक ही रात्रिमें समागम करें, दो वा,अधिक्में न करे अर्थात् एक मासमें केवल एक ही बार समागम करें, दूसरी बार कदापि न करें। हां यदि गर्भ उस मास न ठहरे तो अगले रजोदर्शनके पश्चात् फिर उसी प्रकार करें।

समागमके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि स्त्री वाम पार्श्वमें और पुरुष दक्षिण पार्श्वमें तो हो ही परन्तु दोनोंका मुख एक दूसरेकी ओर न हो वरञ्च स्त्रीका मुख अपने वाम पार्श्व की ओर हो और पुरुषका मुख भी अपने तथा स्त्री दोनोंके वाम पार्श्वमें ही हो अर्थात् पुरुष का मुख स्त्रीकी पीठकी ओर हो। इस अवस्था में प्रसन्न चित्त हो सम्भोग करें।

समागम से पूर्व यदि मिल जाय तो लक्ष्मणा= सफेद फूलोंवाली छमक निमोली की जड को पानी में पीस कर स्त्री अपनी दक्षिण नासिका में नसवार रुपमें लेवे और उसको छींक मार कर बाहर ही न फैंक देवे। यदि लक्ष्मणा न मिले तो बट की टहनी की सिरे की डोडी वटशृंग को पानीमें पीसकर उस की नसवार लेवे।

समागम के पश्चात् पृथक् पृथक् शय्या पर सोवें द्वितीय बार समागम कदापि न करे ।

एक महीना पश्चात् रजोदर्शन न होने से जब गर्भ होने का निश्चय हो जावे तो फिर द्वितीय मासमें पुष्य नक्षत्र के दिन बटशृंग को गौके दूधमें घिसाकर स्त्री नसवार लेवे, इस से गर्भस्थशरीर पुरुष शरीर बन जाता है और कन्या नहीं होती।

तत्पश्चात् अष्टम मासमें गर्भ की विशेष रक्षा रखनी चाहिये, इसी कारण शास्त्रकारों ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्काररूप पुत्रेष्टि-यज्ञका विज्ञान किया था, जिससे पुत्र रहित दम्पति पुत्रवान तथा पुत्रवतीं हों, नरक से बचें । यही पुत्रेष्टि यज्ञ महाराज दशरथ ने किया था जिससे भगवान् रामचन्द्र आदिका जन्म हुआ ॥

आजकल संसार के दुर्भाग्य से आर्य समाजी लोग भी संस्कारों के इस अंश से अपरिचित हैं इसी कारण

उनके संस्कार सफल तथा प्रचलित नहीं होते। यह माना कि संस्कारोंमें हवन, ईश्वर स्तुति, प्रार्थनोपासना करना आवश्यक है तथा सम्बन्धियों और अन्य सज्जनों को बुलाना भी आवश्यक है, तथा उनका आदर सत्कार करना और मिष्टान्न से सब का सत्कार तथा यज्ञ करवानेवालों को दक्षिणा देना और दान पुण्य करना भी आवश्यक है, परन्तु यह सब करते हुए भी यदि यज्ञविशेष की विशेष विधिसे वह यज्ञ हीन होवे तो वह सार्थक कदापि नहीं हो सकता। इसी कारण आज कल संस्कार सफल नहीं होते और जनतामें उनका प्रचार नहीं होता। इसी विचारको सम्मुख रख कर हमने झूठी लज्जाको एक ओर रख कर उपरोक्त अत्युपयोगी विषय दुखी जनताके कल्याणार्थ संक्षेपसे लिख दिया है विस्तार इसका फिर लिखेंगे जब दुखी जनता इसमें रुचि प्रदर्शित करेगी।

वेदोंमें भी यह विषय बहुत स्थानपर प्रतिपदित है यथा:–

'शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनम कृतम।
तत् पुत्रस्य वेदनम् तत् स्त्रीष्वामरामसि॥'

अर्थात् जण्डी के वृक्षपर पीपल उगा हुआ हो उस पीपल को पुत्रोत्पत्ति का साधन बनाया गया है। वह पुत्र को प्राप्त करानेवाला है वह स्त्रीको दिया जाता है। इस वेद वचन की व्याख्या में ऋषियों ने ध्यान लगाया तो पता चला कि पीपल जो दीवारों वृक्षों आदि पर उगता है वह यदी जंडी वृक्षपर उगा हो तो उस पीपल की दाढी को बारीक पीस कर बछडेवाली गौ के दूध के साथ पाने से पुत्र रत्न की प्राप्ति शान्ति शीला स्त्रीको अपने अत्यन्त उद्योगी पति के द्वारा होती है।

मौतकी दवाई।

(लेखक— श्री० रुलियारामजी कश्यप एम्. एस्सी.)

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत' देवताओं ने ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा मौतको समीप पाकर उसे मार डाला। वेद ने इन पांच शब्दोंमें मौत को मारने का नुसखा बतला दिया। इस नुसखेमें तीन बूटियां प्रयोग करने का विधान है पहली ब्रह्मचर्य, दूसरी तप और तीसरी देवपन। प्राचीन कालमें बूटियों की पहिचान उन के नामों के अर्थमें ही भर दी जाती थी, आजकल की न्यायी Flora Indica फ्लोरा इन्डीका आदि बडे बडे पोथे इस विषय पर नहीं रचे जाते थे जैसे गिलोय की पहिचान लिखने के स्थानमें उसके सोमलता अमृतवल्लरी, ज्वरघ्नी, आदि भिन्न भिन्न नाम ही रख दिये जाते थे तात्पर्य यह है कि नाम सार्थक होते थे और उन्हीं से पूरा ज्ञान उन बूटियों का हो जाता था यही शैली पुरानी थी और इसी पर सब ऋषि चलते थे क्योंकि यही ईश्वर प्रतिपादित वैदिक शैली थी इसी कारण ब्रह्मचर्यरूपी औषध का पूरा ज्ञान इस शब्द से ही हो जाना चाहिए अतः ब्रह्मचर्य का स्वरूप इस शब्द में भरा होगा अतः हम इस शब्द के वास्तविक अर्थ यहां दरशानेका यत्न करते हैं।

यह शब्द ब्रह्म और चर्य जो चर का ही एकरूप है इन दोनों के मेल से बना है अतः ब्रह्म के सम्बधमें चर क्रिया करने का नाम ब्रह्मचर्य है अतः हमें ब्रह्म तथा चर दों के अर्थ विचारने चाहियें। ब्रह्म शब्दका अर्थ बडा, बनाने वाला धारण करने अर्थात पालन पोषण द्वारा सुरक्षित रखनेवाला आदि है और चर के अर्थ गति और भक्षण हैं जिनमें गति के फिर तीन अर्थ हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। परन्तु ब्रह्म शब्द के जैसे सुन्दर अर्थ तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगु वल्लीमें किये हैं वैसे

अन्य स्थान पर मिलने कठिन हैं अतः हम वहीं की अति सुन्दर आख्यायिका के वर्णन द्वारा ब्रह्मचर्य शब्द का व्याख्यान करेंगे। आख्यायिका यह है कि—

भृगुजी के पूज्य पिताका नाम वरुण था उनकी सेवा में उपस्थित हो भृगु बोले 'महाराज! मैं आप से ब्रह्म पढूंगा।' उत्तरमें पिताने आदेश किया कि वत्स! अन्न, प्राण, आंख, कान, मन और वाणी इन सब की ही ब्रह्म संज्ञा हो सकती है परन्तु जिस एक लक्षण में सबका समावेश हो जाता है वह ब्रह्मका निश्चित लक्षण यह है कि जिससे सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए हुए जिसके द्वारा जीवित रहते हैं और तदुपरान्त मृत्युको प्राप्त होकर जिसमें फिर अन्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं वही ब्रह्म है। हे प्रिय पुत्र तू उसीको जानने की इच्छा कर और उसे ही ढूंड। यह आज्ञा पाकर भृगुने तप तपा और तप तप कर उसने जाना कि अन्न ब्रह्म है क्योंकि अन्न से बने वीर्यसे ही इन सब प्राणियोंकी उत्पत्ति है अन्न से ही ये सब जीवित रहते हैं और मरकर खादरूप, वायुरूप, अग्निरूप, होकर फिर अन्न ही बन जाते हैं अर्थात् अन्न में मर कर प्रवेश कर जाते हैं।

यह बात जानकर फिर भृगु अपने पूज्य पिता वरुण के पास पहुंचे और प्रार्थना करने लगे कि महाराज अन्न ब्रह्म तो जान लिया आगे ब्रह्म अध्याय आपसे पढना चाहता हूं। पिताने उत्तर दिया वत्स! अन्न तो ब्रह्म है ही फिर तप के द्वारा ब्रह्म के जानने का यत्न करो क्योंकि तप की महिमा महान् है। इस ज्ञानमय तप अर्थात् ध्यानपूर्वक विचार से अवश्य ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस लिये हे पुत्र तू और भी अधिक तप कर।

अब विचारना चाहिये कि जब ब्रह्म का अर्थ अन्न है और चर का अर्थ ज्ञान, गमन प्राप्ति और भक्षण तो ब्रह्मचर्य शब्द का क्या अर्थ होगा। दोनों को मिलाकर अन्न सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना, धर्मपूर्वक पुरुषार्थ कर अन्न प्राप्त करना तथा उस सात्त्विक, शुद्ध, पवित्र, तम रज गुणों से सर्वथा रहित अन्न को भूख लगनेपर उचित मात्रामेंही खाना यह अर्थ इस शब्द का निकलता है यह सब से स्थूल रूप का ब्रह्मचर्य है यही आहार योग है।

पिता के आदेशानुसार भृगुने फिर तप तपा और तप तप कर उसने जाना कि प्राण ब्रह्म है क्योंकि निश्चय है कि प्राण [के आने] से ही यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं प्राण [के रहने] से ही उत्पन्न हुए हुए जीवित रहते हैं और प्राण [के निकल जाने] सेही यह मरकर प्राण द्वाराही प्राण अर्थात् वायुमें मिल जाते हैं अर्थात् प्राणमें ही मरकर प्रविष्ट हो जाते हैं।

यह बात जान कर फिर भृगु अपने पूज्य पिता वरुण के दर्शन करने गये और विनय की कि महाराज! प्राण, ब्रह्म तो जानलिया आगे ब्रह्म विषय पढाईये। पिताने उत्तर दिया वत्स! सत्य है प्राण भी ब्रह्म है तप के द्वारा ही आगे भी ब्रह्म विषय बोध का यत्न करो क्योंकि तप बडी चीज है इस के द्वारा ब्रह्म अवश्य मिल जाता है। अतः फिर तप कर।

अब इस सम्बन्धमें ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ कहते हैं अर्थात् प्राण का ज्ञान प्राप्त करना तदनुकूल आचरण करना अर्थात् प्राण को नियम से गमन कराना फिर प्राण का भक्षण करना अर्थात् कुम्भक द्वारा इसे अपने वशमें कर लेना अर्थात् प्राणायाम करना ब्रह्मचर्य है पर यह प्राणयोग आहारयोगसे पर नाम सूक्ष्म, दुष्कर तथा उत्तम है परन्तु आहार योगद्वारा जिसने अपने शरीरके निर्माता तथा धर्ता सब धातुओंमें महान् वीर्यका निरोध किया हो वही निकृष्ट कोटि का ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला इस का पालन कर सकता है।

पिता के आदेशानुसार भृगुने फिर तप तपा और तप तप कर उसने जाना कि मन ब्रह्म है क्योंकि निश्चय है कि मन [के संसर्ग होने] से ही सब के सब प्राणी उत्पन्न होते हैं मन [के रहने] से ही उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं और मन [के निकल जाने] से ही यह मर जाते हैं और मन रूपमें ही विचरते हैं अतः मरकर अथवा मरता हुआ जीव मनमें ही

प्रवेश कर जाता है अतः मनसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति उसी के द्वारा स्थिति और उसीमें ही अन्त होने के कारण मनकी भी अवश्य ब्रह्म संज्ञा हो सकती है अतः मन भी अवश्य ब्रह्म है।

यह ज्ञान प्राप्त कर फिर पुत्र तथा शिष्य, पिता वरुण के समीप पहुंच ब्रह्म का प्रार्थी हुआ पिताने पूर्ववत् फिर उसे और भी अधिक तप करने की आज्ञा जब दी तो साथ ही उस के मन ब्रह्मकथन की सत्यता को भी स्वीकार किया जिस से उस की तपमें श्रद्धा बढ गयी और वह अधिक तप करने को तत्पर हो गया।

परन्तु हमें मनब्रह्म के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य का अर्थ व्याख्यान करने अभी बाकी हैं इस सम्बन्ध में मनका ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञानानुकूल गमन नाम आचरण कर मन की प्राप्ती नाम साक्षात्कार कर उस मन को भक्षण करना नाम मार डालना अर्थात् सर्व था अपने वशमें कर लेना ब्रह्मचर्य कहाता है इस मनोयोग का अधिकारी वही ब्रह्मचारी है जो अन्न और प्राण सम्बन्धि ब्रह्मचर्य का पालन करता हो क्योंकि मनोयोग प्राणायाम से भी सूक्ष्म है अतः जिस किसी विचारशील मुनिको यह स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त हो जाता है उस को प्राणयोग तथा अन्नयोग स्वतः सिद्ध हो जाते हैं जो विचारशील मुनि नहीं वह इस का अधिकारी बिना प्राण तथा अन्न के योग के कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार यह मनोयोग तृतीय प्रकारका ब्रह्मचर्य है। अन्नयोग और प्राणयोग तो पितृयान के पथिकोंको भी आवश्यक हैं परन्तु मनोयोग जिसने आरम्भ कर दिया उसने उसी समयसे देवयानमें पदार्पण कर लिया क्योंकि प्राण तो असुर है परन्तु मन देवता है।

पिता के आदेशानुसार भृगुने फिर तप तपा और तप तप कर उसने जाना कि विज्ञान ब्रह्म है क्योंकि अपने ज्ञानरूपी गुण बुद्धि विज्ञान के द्वारा जीव भिन्न भिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर प्राणिरूपमें जन्म लेते हैं इसी के द्वारा जन्म के पश्चात् जीवित रहते हैं और इसी के द्वारा मृत्यु के पश्चात् भिन्न भिन्न स्थानोंमें विचरते हुए इसी से सम्बद्ध रहते हैं और जीवों का शरीरग्रहण, धारण, और त्याग, इस बुद्धि रूपी कारण से ही होता है अतः बुद्धि, विवेक, ज्ञान, आत्मा, विज्ञान आदि तथा इनके अनेक प्रकार सब ब्रह्म हैं।

यह जान भृगुजीने फिर अपने पिता वरुण के समीप पहुंच निवेदन किया, 'भगवन्! ब्रह्म पढाईये' पिता बोले तप ही फिर करो उसी द्वारा ब्रह्मज्ञान की इच्छा करो और ब्रह्मको ढूंडो क्यूंकि तप, ब्रह्म का ज्ञान करवाने में समर्थ है और यही मुख्य साधन है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि बुद्धि तत्त्व को जान कर बुद्धी के अनुकूल ही चलना और बुद्धिके स्वरूप को याथातथ्य अनुभव कर फिर उस पर आत्मा का प्रभाव सदैव डाले रखना अर्थात् बुद्धि को पहिचान कर उसे आत्मा के वशमें ही रख उसे विपरीत चेष्टा से सदैव रोके रखना चौथी प्रकार का ब्रह्मचर्य है जिसे सिद्ध करना तभी हो सकता है जब मन वश में हो गया हो अन्यथा मन बुद्धि को विपरीत चेष्टामें प्रवृत्त करा देता है।

पिताके आदेशानुसार भृगुने फिर एक बार तप तपा और इस बार तप तप कर उसने जान लिया कि आनन्द ब्रह्म है क्योंकि जब स्त्रीपुरुष परस्पर आनन्दमें मस्त होते हैं तभी आनन्दस्वरूप परमात्मा-की कृपासे उनके यहां प्राणि अर्थात् पुत्र पुत्रिका जन्म होता है जब तक वह प्राणि आनन्दमें रहता है तभी तक आनन्दस्वरूप परमात्माकी कृपासे वह जीवित रहता है जब उस पर उदासी छा जाती है उसका आनन्द छूट जाता है तो वह क्रमशः रुग्ण दुर्बल होता होता फिर मरकर उस आनंदस्वरूप पर-मात्मामें ही जाता है जो सब आनन्द का स्रोत् है अतः आनन्दरूप परमात्मासे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति प्रलय होती हैं अतः आनन्द ब्रह्म है।

इस आनन्दस्वरूप परमात्माको ब्रह्म जान भृगु-जी कृतकृत्य हो गये। इस ब्रह्म विद्याका नाम भार्गवी-वारुणी-विद्या है क्योंकि यह भृगुने वरुणसे

सीखी थी यह परमव्योम नामक सर्वव्यापक आकाशमें शब्दरूपेण और महान् विस्तृत वेदमें भी शब्द रूपेण ही और अतीव विस्तृत सर्वव्यापक परमात्मामें शब्दार्थ रूपेण प्रतिष्ठित् नाम स्थित है जो इसे जान कर इसे प्राप्त करता है वह प्रतिष्ठा या प्रतिष्ठित् होता है। बहुत प्रकारके उत्तमोत्तम अन्नोंसे उसका घर भरा रह कर वह अन्नवान् होता है और सात्विक् अन्नका उचित मात्रामें उचित समय पर ही खानेवाला होनेसे वह अन्नका वास्तविक अत्ता अर्थात् सच्चा वा आदर्श भोजन करनेवाला नाम अन्नाद् बनता है वह महान् नाम बडा बन जाता है पुत्र, पुत्रि, पौत्र, दौहित्र आदिके बहुत होने, पशुओंके बहुत होनेसे, ब्रह्मतेजसे तेजस्वि होनेसे और यश कीर्तिसे अर्थात् इन सबको पाकर वह महान् ही हो जाता है।

इस आनन्द ब्रह्मके सम्बन्धमें ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ सच्चे आनन्दको जान उसकी प्राप्तिके उपायोंका अवलम्बन कर उसे सदैव प्राप्त रहना अर्थात् एक बार प्राप्तकर फिर उससे वञ्चित् न हो जाना, है। यह सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका अर्थ यह है कि भूख लगने पर उचित मात्रामें सात्त्विक अन्न खाते हुए उसके पूर्णतया पच जानेपर आसन लगा प्राणको एक स्थानमें रोक वहीं पर मनको रोक कर तथा बुद्धिको सर्वथा आत्मानुकूल रख, आत्माको आनन्द स्वरूप परमात्मा में लगाकर तन्मय हो आनन्दको नित्यप्रति लूटना। यह ब्रह्मचर्य शब्दका वास्तविक अर्थ हुआ जो इस प्रकारके ब्रह्मचारी हैं उनका वीर्य कभी स्वप्नमें भी स्खलित् नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्यके इन अर्थोंका प्रचार करनेसे ही लोग ब्रह्मचारी बन सकेंगे अन्यथा वीर्य निरोधरूप ब्रह्मचर्यके प्रचारके लिये लाख यत्न करो सब निष्फल जायंगे इन अर्थोंके प्रचारसे सहजमें ही लोग ब्रह्मचारी बन सकेंगे।

यही ब्रह्मचर्य वास्तविक तप है क्योंकि इसीसे 'प' नाम रक्षाका 'त' नाम विस्तार होता है क्योंकि इसमें अन्न सम्बन्धि ब्रह्मचर्यके सेवनसे शरीर निरोग हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ हो शत्रुओंके प्रहारको सहार उन्हें ताडना भी कर सकेगा। प्राण सम्बन्धि ब्रह्मचर्य के सेवन से प्राण वशमें होंगे इच्छा मृत्यु प्राप्त होगी। मन सम्बन्धि ब्रह्मचर्य सेवन से देव पदवी प्राप्त होगी, विज्ञान सम्बन्धि ब्रह्मचर्य के सेवन से विवेक प्राप्त हो, समाधि प्राप्त हो, सत्त्व तथा पुरुष की भिन्नता का बोध हो, अहङ्कार नष्ट होगा और आनन्द सम्बन्धि ब्रह्मचर्य के सेवनसे परमानंद परमात्माकी प्राप्ति अर्थात् जीवनमुक्ति और तदुपरान्त इच्छानुसार मृत्यु होनेसे मुक्ति प्राप्त होगी।

अतः आध्यात्मिक, अधिभौतिक, अधिदैविक दुःखों के विरुद्ध इस उपरोक्त ब्रह्मचर्य से रक्षा का विस्तार होनेसे यही तप है।

देव मार्ग यही है अतः इसी से मनुष्य देवता भी रास्तेमें ही बन जायगा और जैसे ऊपर दिखलाया गया है इसी से मौत को मारना अर्थात् इच्छामृत्यु, जीवन मुक्ति, तथा मुक्ति भी प्राप्त होती है।

अतः वेदके मन्त्रके ऊपर दिये भागमें ब्रह्मचर्य का उपरोक्त अर्थ ही गृहीत होता है और सब भाग का यह अर्थ बनता है कि:-

'ब्रह्मचर्यरूपी तप से ही मनुष्य, देवता बन मौत को मार, मुक्त हो जाते हैं'

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समाप्त करनेके निमित्त हम यहां ब्रह्म शब्द के जीव, प्रकृति और वेद यह बाकी रहे तीन अर्थ भी यहां ले लेते हैं। सब प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रकृतिरूप प्राण तथा जीव के द्वारा होती है, इन्हीं दोनों से ही इसी प्रकार यह जीवित रहते हैं और मरकर भी इन्हींमें प्रविष्ट हो जाते हैं और वेदोक्त नियमोंसे ही सब की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होती है। अतः यह तीनों ब्रह्म हैं और वेद ज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करना, प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति वशित्व सिद्धि को प्राप्त करना, अपने आप अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप जान साक्षात् कर उस कदापि न भूलना, यह ब्रह्मचर्य है। परम देव परमात्मा इस ब्रह्मचर्य से सब को युक्त करें।

स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि॰ सतारा) की हिंदी पुस्तकें

(१) यजुर्वेद। विना जिल्द मू. १॥) डा० व्य० ॥)
कागजी जिल्द २) ,,
कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू. ।≈) -)
१२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
२४ अंकोंका मूल्य ६॥ ॥।≈)

३ वै. यज्ञसंस्था भाग १-२ प्रत्येकका मू १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
१ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
१० द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
११ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।≈)
१२ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
१३ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
१-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
अध्याय १ से १३ प्रत्येकका मू० ॥) डा० व्य० ≈)

(७) महाभारतकी समालोचना।
भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) ≈)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२
प्रत्येकका मू. १॥) ।≈)

(९) योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
५ योगसाधनकी तैयारी। ॥।) ।)

१० यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय॥≈) ।)

११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) ≈)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥≈) ≈)
३ ३३ देवताओंका विचार ≡) -)
४ देवताविचार। ≡) -)
५ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
१ प्रथम भाग -) -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग ≈) -)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ≡) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
२ मानवी आयुष्य। ।) -)
३ वैदिक सभ्यता। ।॥) ≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।≈) -)
५ वैदिक स्वराज्यका महिमा। ॥) ≈)
६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) ≈)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) ≈)
८ वेदमें चर्खा। ॥) ≈)
९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ।॥) ≈)
१० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) ≈)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।) -)
१२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
१३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
१४ वैदिक जलविद्या। ≈) -)
१५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
१६ वैदिक उपदेशमाला। ॥) ≈)
१७ ब्रह्मचर्यका विघ्न ≈) -

(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
२ केन उपनिषद्। १।) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
१ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) ≈)
२ गीता-समीक्षा ≈) -)
३ गीता-लेखमाला ॥) ≈)
४ गीताश्लोकार्धसूची ।≈) ≈)
5 Sun Adoration १) ।≈)

मुद्रक और प्रकाशक-श्री॰ दा॰ सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि॰ सातारा.)



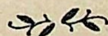
श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

पञ्चम भाग।

संपादक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडळ, औंध (जि० सातारा.)



प्रथमवार

संवत् १९९३, शके १८५८; सन १९३६.

मूल्य १) रु०

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

पंचम भाग।

छान्दोग्य उपनिषद्में ब्रह्मचर्यरहस्य।

(ले०- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

ब्रह्मचर्यके कतिपय नाम॥

छान्दोग्य उपनिषद्में अष्टमाध्यायके ५ वें खण्डमें इस प्रकार लिखा है कि-

१. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'यज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष, ज्ञाता को प्राप्त होवे और क्योंकि जो जानता है उस ज्ञाता परमात्मा को मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिए यज्ञ ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

२. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'इष्ट' कहा जाता है। क्योंकि इष्ट वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष, इष्टदेवता, सर्वसूक्ष्म परमात्मा तथा जीवात्मा को प्राप्त होवे, अनुभव करे और क्योंकि सब के इष्ट वांछित कमनीय परमात्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अनुभव कर सकता है, इस लिये इष्ट ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

३. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'सत्रायण' कहा जाता है, क्योंकि सत्रायण ही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष अपने आत्मा के बचानेवाले रक्षक नित्य सत् स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो सके और क्योंकि आत्मा के बचानेवाले रक्षक आत्मनः त्राण नित्य सत् परमात्मा को मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये सत्रायण ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

४. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'मौन' कहा जाता है। क्योंकि मौन वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष आत्माको जानकर उसका स्वरूप देखता हुआ उसपर मनन नाम विचार कर सके और क्योंकि आत्मा परमात्मा को जान, उन्हें साक्षात् कर उनके स्वरूप का मनन नाम विचार मनुष्य ब्रह्मचर्य के ही द्वारा कर सकता है, इसलिये 'मौन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

५. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'अनाशकायन' कहा जाता है, क्योंकि अनाशकायन वही होता है जिस के द्वारा मनुष्य नाश न होनेवाले आत्मा परमात्माको प्राप्त होता है, उनका अनुभव करता है और क्योंकि नाश न होनेवाले आत्मा परमात्माका अनुभव मनुष्य ब्रह्मचर्यके ही द्वारा कर सकता है, इसलिये 'अनाशकायन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

६. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'अरण्यायन' कहा जाता है, क्योंकि अरण्यायन वही होता है जिसके द्वारा अर और ण्य इन दोनों को मनुष्य अनुभव करता है और क्योंकि इन दोनों का अनुभव मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कर सकता है, इसलिये 'अरण्यायन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

अर और ण्य यह ब्रह्मलोकमें दो अर्णव हैं। जो ब्रह्मचर्य के द्वारा इन दोनों ब्रह्मलोक के अर्णवों को अनुभव करते हैं साक्षात् करते हैं उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है अर्थात् वही इस ब्रह्मलोक के निवासी हैं, अन्य कोई इस के अधिकारी नहीं। इन दोनों अर्णवों के अनुभवकर्ताओंकी सब ही लोकलोकान्तरोंमें यथेष्ट गति कामचार नाम इच्छानुकूल सैर होती है।

ब्रह्मलोक का अर्थ यहां से तीसरे अर्थात् द्यौलोक से है (यहां से तीसरे अर्थात् एक तो दृश्यमान स्थूल जगत्, दूसरा सूक्ष्म जगत् और तीसरा अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा, आत्मा, प्रकृतिरूपी जगत्। यह तीसरा अत्यन्त सूक्ष्म द्यौलोक ब्रह्मलोक है, जो इसे साक्षात् कर लेते हैं वे सब लोकों में यथेष्ट गमन करते हैं।)

अर्णव का अर्थ उणादिकोष के भाष्यमें पूज्य

स्वामि दयानन्दजी यह करते हैं कि जो जाता है वह अर्ण और वह जिसमें हो वही अर्णवः। अतः जितने उत्पन्न पदार्थ हैं वह क्योंकि आयु भोगते जाते हैं अतः वे सब गतिशील होने से अर्ण नामवाले हो सकते हैं और क्योंकि वह सब प्रकृति और जीवमें ही समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे अर्ण जलों का आधार समुद्र है इसी प्रकार उन अर्ण उत्पन्न पदार्थों के आधार प्रकृति और जीव हैं अतः वे प्रकृति और जीव ही उपरोक्त ब्रह्मलोक के दो अर्णव हैं।

इनमें से प्रकृतिमें आनन्ददायक गुण का सर्वथा अभाव है, अतः वह इसमें रमणीय, सेवनीय, कमनीय अंश कोई भी नहीं, इसी कारण यह 'अर' नाम अरमणीय नाम न रमणीय नाम न रमण के योग्य अर्थात् सेवन करने के सर्वथा अयोग्य है, अतः ब्रह्मलोकका 'अर' अर्णव यह प्रकृति ही है।

और सब प्रकृति से बने शरीरोंका नेता, संचालक, धारक उन की जान जीवात्मा ही है, अतः नेता होनेसे वही 'ण्य' है अतः ब्रह्मलोकका 'ण्य' अर्णव यह जीवात्मा ही है।

यह दोनों जिस में रहते हैं वह आनन्दस्वरूप सब का कर्ता सर्वाधार परमात्मा ही ब्रह्मलोक है क्योंकि उसी को निरन्तर देखते हुए ऐसे ही आनन्दित रहना यही ब्रह्मलोकप्राप्ति है। अतः जो ब्रह्मलोकसम्बन्धि अर और ण्य अर्णवोंको साक्षात् करते हैं वेही ब्रह्मलोक को प्राप्त हो सब लोकों में इच्छानुसार विचरते हैं।

इन प्रकृति, जीव, परमात्मा का जो परस्पर संयोग होनेसे हिरण्यगर्भ सत् महान् उत्पन्न होता है वह भी द्यौः लोक कहाता है। इसको यहां 'ऐरम्मदीयं सरः, अश्वत्थः, सोमसदनः, अपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्ययम्' कहा है जिसका अर्थ यह है—

इरा नाम पृथिवी उस का मद नाम नशा चढाने आनन्द करवानेवाला, इरंमद नाम पार्थिव अग्नि अर्थात् पृथिवि के भीतर रहनेवाली अग्नि अर्थात् बिजुली उसका सर नाम तालाब अर्थात् जैसे तालाब में पानी इकट्ठा होता है, उसी प्रकार जहां बिजुली एकत्र होती है, वही एरंमदीय सर है, अतः वह हिरण्यगर्भ ही है।

यही अश्वत्थ अर्थात् कलभी इसी रूपमें न रहनेवाला अर्थात् अस्थायी सोम नाम Positive Electricity का सदन नाम निवास स्थान है। अतः Positive Electricity का नश्वर निवास स्थान ही अश्वत्थ सोमसदन है जो भी उपरोक्त हिरण्यगर्भ ही है क्योंकि जहां उस में अग्नि Nagative Electricity एकत्र होती है वहां उसीमें उस के उलटे सोम Positive Electricity का भी केन्द्र ही है।

इन दोनों विपरीत पदार्थोंका एक ही केन्द्र होनेसे यह हिरण्यगर्भ ही अपराजिता नाम इन दोनों से न जीती गई हिरण्यनाम ज्योतिः है जो पूर्वब्रह्म नाम प्रथम सर्वाधार परमात्मा जीव प्रकृति के संघातरूप प्रभुसे विशेषरूप अत्यन्त तेजस्वी बनाई गई है। अतः यह प्रथम ज्योतिः हिरण्यगर्भ महान् सत् भी द्यौः ब्रह्मलोक है जिसे पाकर मनुष्य सब लोकों में कामचार प्राप्त करता है। इति ॥

इस प्रकार हमने ब्रह्मचर्य के छः नाम और उनके निरुक्तपूर्वक अर्थ दिये। इसी से यह भी साफ हो गया कि उपरोक्त छः कठिन शब्दों का अर्थ ब्रह्मचर्य है। इति ॥

उपनिषदोंके कतिपय रहस्यपूर्ण शब्द ।

औपनिषदिक निरुक्तिपूर्वक अर्थ ।

(लेखक- श्री० प्रो० रुलियारामजी कश्यप, एम. एस्सी.)

[लेखकने इस लेखमें कतिपय शब्दों के गूढ अर्थों पर मौलिक विचार किया है, जो कि प्रथम वार ही इतनी स्पष्टता से रक्खा गया है। लेखक की खोज बहुत सराहनीय है। —सम्पादक]

'सुकृत'-(तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।) उस (सत्) ने अपने आपको स्वयं ही किया (अनेक रूपों में अविभक्त इव प्रसिद्ध किया) इसी से उसे ही सुकृत कहा जाता है। इस प्रकार जो स्वयमेव अपने आप को बनावे वही सुकृत होता है और वही सत् हिरण्यगर्भ महान् महत्तत्त्वान्तर्गत ब्रह्म-परमात्मा प्रजापतिही है॥

(तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द० ७)

'आङ्गिरस-' (एवाङ्गिरसं मन्यतेऽङ्गानां यद्रसः।) अङ्गोंका जो रस (रूप मुख्य प्राण) है, उसे ही आङ्गिरस माना जाता है। इस लिये आङ्गिरसका अर्थ अङ्गोंका रस है, मुख्य प्राण है॥

'बृहस्पति-' (एतम् एव बृहस्पतिं मन्यते वाग्वि बृहती तस्या एष पतिः।) वाणी ही बृहती है और उसका यह पति रक्षक है, अतः इसी मुख्य प्राणको ही बृहस्पति मानता है। इस लिये बृहस्पति का अर्थ बृहती का पति, वाणी का पति, मुख्य प्राण ही है।

'अयास्य-' (एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यायदयते।) आस्य नाम मुख से जो अयते नाम जाता है (उस) इस (मुख्य प्राण) को ही उन (देवताओं) ने अयास्य माना। इस लिये अयास्य का अर्थ मुख से निकलने वा प्रवेश करनेवाला मुख्य प्राण ही है।

(छान्दो० उप० अध्य १ खं० २)

'उद्गीथ-' [(क) ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्] = 'ओ३म्' अक्षर उद्गीथ है। इसी की उपासना करे, इसी को (भक्त) उच्च स्वर से गान करता है, इसी का व्याख्यान यहां फिर किया जाता है। अतः एकाक्षर ओ३म् ही उद्गीथ है॥

[एषा भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानाम् रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः] = सब उत्पन्न पदार्थोंका सार पृथिवी ठोस मादा है, क्योंकि पृथिवी से उत्पन्न हो वह पृथिवीमें ही अन्तमें मिल जाते हैं। इसी प्रकार पृथिवी का सार जल, वहनेवाला मादा है। जलका सार इसी प्रकार औषधियां, गोधूम, यव, व्रीहि आदि हैं। ओषधियोंका सार इसी प्रकार पुरुष-शरीर है जिसका वैसा ही सार वाणी है, जिसका सार ऋचाएं हैं, जिनका सार सामगीतियां हैं, जिनका भी सार उद्गीथ ओ३म् है। इस प्रकार यह सब रसोंका परम रस सबसे अन्तिम सार आठवां सत परार्ध्य नाम पर+ अर्ध अर्थात् परम सूक्ष्म आधा जगत् जो जीव और प्रकृति रूप है, उसमें रहनेवाला अविनाशी उच्च प्रकारसे गायनीय ओ३म् है॥

उद्गीथ- [(ख) उद्गीथ इति प्राणं एवत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने

हीदं सर्वं स्थितम्]-उद्गीथमें प्राणका वाचक उत् है क्योंकि प्राणके द्वारा ही उत् नाम ऊपर, ऊंचा, उत्कृष्ट, उत्तम होकर ठहरता है। वाणीका वाचक गीः है क्योंकि वाणियोंको हि गिर (गीर, गीः) कहते हैं। और अन्नका वाचक थं है, क्योंकि अन्नमें ही यह सब स्थित है अर्थात् अन्नसे ही सब प्राणी अप्राणी अपनी सत्ताको स्थिर रखते हैं। इस प्रकार प्राण, वाणी और अन्न इन तीनोंका एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ- [(ग) द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थम्]-द्यौः का वाचक उत्, अन्तरिक्षका वाचक गीः, पृथिवीका वाचक थं है अर्थात् द्यौः अन्तरिक्ष पृथिवी तीनोंका एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ- [(घ) आदित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थं]- आदित्यका वाचक उत्, वायु का गीः और अग्निका थं है। इस प्रकार आदित्य वायु अग्निका सामूहिक एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ-[(ङ) सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं-] सामवेदका का वाचक उत् यजुर्वेदका गीः और ऋग्वेदका थं है। इस प्रकार सामवेद, यजुर्वेद, ऋग्वेदका सामूहिक नाम उद्गीथ है।

(छान्दो० उप० अध्य० १ खण्ड ३)

'हृदयम्'-[एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वम् तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति हृइत्येकमक्षरमभिह- रन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद]- यह प्रजापति ही है जो हृदय है। यही ब्रह्म है, यही सर्व है, अर्थात् ब्रह्म सर्व प्रजापति परमात्मा का ही नाम हृदय है उस हृदय शब्दमें तीन अक्षर हैं। हृ एक अक्षर है। हृदय शब्दमें हृ इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापतिको जानता है उसके लिये अपने बेगाने सभी (उत्तमोत्तम पदार्थ भेंटरूप) लाते हैं। द एक अक्षर है, हृदयं शब्दमें द इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापति को जानता है उसको अपने बेगाने सभी (भक्ति प्रेम आदर रत्न आदि उत्तमोत्तम पदार्थ भेंट रूपमें) देते हैं। यम् एक अक्षर है। हृदयं शब्द में यम् इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापतिको जानता है, वह स्वर्गलोक में जाता है। वह स्वर्गलोक जिसमें सुखपूर्वक आनन्द से जहां जाता है, सैर करता फिरता है, उस मुक्ति सुखरूप स्वर्गको प्राप्त होता है। इस प्रकार हृदयम् उसका नाम है जिसके जाननेवाले के लिये अपने बेगाने सभी लालाकर उत्तमोत्तम पदार्थ दान करते जायें और जिसका जाननेवाला स्वर्गप्राप्ति कर सके, इसी लिये हृदयम् प्रजापति है।

'विद्युत्'- [विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्वियत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युदेव ब्रह्म।] कहते हैं कि विद्युत् नाम ब्रह्मका है लुडानेके कारण। क्योंकि जो यह जानता है कि विद्युत् ब्रह्म है उसे यह विद्युत् ब्रह्म पापसे छुडा देता है। इस लिये विद्युत् ही ब्रह्म है, अर्थात् विद्युत् ब्रह्म का ही दूसरा नाम है॥ इति॥

कठोपनिषद (काव्य)

(ले०— श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

वाज अन्नसे श्रवः यश, फैला जिसका दूर ।
ऋषि तत्सुत वाजश्रवस, सर्वस्व दाता शूर ॥ १ ॥
कहा यही इतिहास में, मुक्ति इच्छाधार ।
डाला दे सर्वस्वही, धन उसने तत्काल ॥ २ ॥
नचिकेता सुत उसी का, था श्रद्धा भरपूर ।
दक्षिणा देती जात में, उसने विचारा दूर ॥ ३ ॥
अभी बाल्य ही काल में, श्रद्धा हुई प्रवेश ।
नचिकेता के हृदय में, धर्म किया सुप्रवेश ॥ ४ ॥
टूटें फूटे अङ्ग सब, दूध भी चुकीं दे ।
और घास नहीं खा सकें, जल पीवें नहीं वे ॥ ५ ॥
ऐसी गौएं दानकर, दाता पावे लोक ।
सुख आनन्द जहां नहीं, सदा रहे जहां शोक ॥ ६ ॥
तब बोला वह पितासे, देंगे मुझे किसे आप ।
फिर फिर पूछा प्रश्न यह, दूसरी तीसरी बार ॥ ७ ॥
बोला पिता दूंगा तुझे, मृत्यु यम को दान ।
सोचा तब नचिकेत ने, पिता का कहना मान ॥ ८ ॥
मध्यम हूं मैं बहुत में, आगे अन्यों से ।
कौन काज यम का सरे, आज करे वह मुझ से ॥ ९ ॥
प्रण पाले पूर्वजोंने, ज्यों, विचार उसे देख ।
सत्कर्मी इस काल के, करें, उसे भी देख ॥ १० ॥
मानव-देह पक जात है, कट फिर हो उत्पन्न ।
खेतीबाडी की तरह, फिर फिर मनुज उत्पन्न ॥ ११ ॥
यह विचार, मत शोक कर, हे पिता मुक्तिकाम ।
प्रण पूर्ण अपना करो, यही धर्म शुभ काम ॥ १२ ॥
तब नचिकेता चल पडा, यमराज की ओर ।
मृत्यु के घर पहुंचकर, व्रतधारा सुकठोर ॥ १३ ॥
हुई चिन्ता यमराज को, मैं गृही यद्यपि यम ।
अतिथि ब्राह्मण बाल यह, बोला वह सभ्रम ॥ १४ ॥
सूरज सुत ला जल अभी, कर शीतल यह आग ।
जो अभ्यागत घर तेरे, आया ब्राह्मण बाल ॥ १५ ॥
परमात्माका भक्त यह, नेता कुल संसार ।
अभ्यागत घर गृहीके, करे प्रवेश ज्यों काल ॥ १६ ॥
न्यूनबुद्धि जिस मनुजके, घरमें रहे बिनखाय ।
परमात्माका भक्तवर, जड उसकी कट जाय ॥१७॥
पुत्र मरें पशु नष्ट हों, अरु मन चाहे भोग ।
मिले तथा अभी नहीं मिले, सभी नष्ट, हो शोक॥१८
जो आस कल्याणकी, अरु उन्नतिकी उडीक ।
संगति सज्जन की तथा, मित्र वाणी भरी प्रीत ॥१९॥
यह सब कुछ ही नष्ट हों, अल्पबुद्धि नरके ।
अभ्यागत भूखा बसे, घरमें गृहस्थीके ॥ २० ॥
तीन रात भूखा बसा, तू जो मेरे घरमांह ।
नमस्कारके योग्य तू, अभ्यागत ब्रह्मछांह ॥ २१ ॥
जिससे मेरा कल्याण ही, करूं तुझे नमस्कार ।
हे भक्त भगवान्के, वर मांगो त्रयवार ॥ २२ ॥
तीनोंमें पहिला यही, वर मांगूं यमराज !
तुझसे भेजे मुझीसे, करे प्रसन्न आलाप ॥ २३ ॥
गौतम-क्रोध हो दूर सब, मन उसका हो शान्त ।
मेरे लिये सङ्कल्प शुभ, करे वह नाना भान्त ॥२४॥
मुखसे छूटे मौतके, भेजे मेरे तुझको !
उद्दालक-सुत, अरुण-सुत, तृप्त सुप्रसन्न हो ॥ २५ ॥
अपना क्रोध उतार कर, सोवे चैनसे रात ।
इच्छुक देखनेका तुझे, ज्यों पहिले हुआ तात् ॥ २६ ॥
वैसेही होगा पुनः, वर मेरेसे वह ।
सुखी देखकर तुझे फिर, सुप्रसन्न अति वह ॥ २७ ॥
वर दूजा यह मांगता, हे मृत्यु यमराज !
स्वर्गलोक की अग्न जो, कहिए वह ऋषिराज ! ॥२८॥
अधिकारसें आपके, श्रद्धा मेरी उस मांह ।
जानते हैं उसे आप ही, स्वर्ग उसी की छांह ॥ २९ ॥
डर कुछ भी नहीं स्वर्गमें, नहीं बुढापा मौत ।
तर कर भूक प्यास अरु, शोक, बने सुखस्रोत ॥३०॥
आनन्द भोगें स्वर्गमें, नहीं आपका भय ।
स्वर्गके वासी जीवोंको, सदा युवा रहें वह ॥ ३१ ॥
प्यास भूख उन्हें न लगे, शोक कबहुं नहीं हो ।
भय बुढापे से नहीं, सदा उन्हें सुख हो ॥ ३२ ॥
सेवें अमृत सुख वही, बसें स्वर्ग में जो लोक ।
बतलाइये मुझे यज्ञ वह, स्वर्गका साधक योग ॥ ३३ ॥
तब बोले ऋषिराज यम, सुन नचिकेता सोम्य ।
साधक अग्नि स्वर्ग की, जो जानूं मैं सोम्य ॥ ३४ ॥

तुझे बताता हूं वही, मुझ से अब वही जान ।
हृदय-गुफा में छिप रही, इस को तू पहिचान ॥ ३५ ॥
अन्तरहित जो लोक हैं, उन में वह रही व्याप ।
धार थाम रही जगत् को, स्वर्गाग्नि निष्पाप ॥ ३६ ॥
लोकारम्भक ज्योति जो, तत् प्रदर्शक कर्म ।
जैसे जितने चाहियें, कहे इष्टका धर्म ॥ ३७ ॥
साधक हैं उस इष्ट के, यम किये वर्णन सब ।
जैसे सुने दोहरा दिये, नचिकेता ने भी तब ॥ ३८ ॥
हो प्रसन्न नचिकेत से, तब फिर बोले यम ।
प्रेम भरे सुमहात्मन्, उसे प्रेम से यम ॥ ३९ ॥
इक वर इस सम्बन्ध में, दूं आज तुझे और ।
नाम से अग्नि तेरे ही, विख्यात सब ठौर ॥ ४० ॥
होगी यह, कई रंग की, यह शुभ माला ले ।
रूप रंग से जो सजी, चित्रित माला ले ॥ ४१ ॥
नचिकेता शुभ यज्ञ हो, जिसने किया त्रय साथ ।
ब्रह्मदेव और अग्नि से, किया मेल त्रय बार ॥ ४२ ॥
तीन कर्म जिस ने किये, ब्रह्मदेव ऋषि यज्ञ ।
अग्निः आशीर्वाद से, तरे वह मृत्यु जन्म ॥ ४३ ॥
ब्रह्म से उत्पन्न वेद जो, तद् ज्ञेय भगवान् ।
स्तोतव्य उस देव को, जो जाने विद्वान् ॥ ४४ ॥
निश्चय करे उस अग्निका, नचिकेता ऋषि जो ।
परा शान्तिः प्राप्त कर, स्वर्ग मनावे सो ॥ ४५ ॥
आनन्द भोगे स्वर्ग में, दूर हुए सब शोक ।
मौत की फांसी पूर्व कट, हुआ तभी वह अशोक ॥४६
सत्त्व रजः अरु तमोगुण, ब्रह्मदेव अरु भूत ।
इन तीनों का यज्ञ शुभ, शुभ नचिकेतस् रूप ॥ ४७ ॥
तिक्कडियें सब जानकर, करे तीन के यज्ञ ।
वही तोड यम फांस को, जाय स्वर्ग सुप्रज्ञ ॥ ४८ ॥
वर दूजेसे जो वरी, स्वर्गकी साधक अग्न ।
हे नचिकेता तुझे यह, वही बताया यज्ञ ॥ ४९ ॥
लोग नाम देंगे तेरा, ही इस अग्निको ।
वर नचिकेता मांग अब, तीजा चाहो जो ॥ ५० ॥
वरोंमें तीजा वर यही, मांगूं मैं यमराज !
भेद बतावो आपना, कृपा करो महाराज! ॥ ५१ ॥
मर जानेपर मनुजके, संशय हो जो यह ।
"है यह" कहते कोई हैं, अन्य कहें "नहीं यह" ॥५२॥
शिक्षा पा फिर तुझीसे, मैं जानूं यह भेद ।
वर पाऊं यह तीसरा, अपना हरूं सब खेद ॥ ५३ ॥

तब उचरे यमराज यह, यह अतिसूक्ष्म बात ।
सुगमतया पूर्णतया, नहीं जानी यह जात ॥ ५४ ॥
देवोंको भी पूर्वसे, इसमें रहा संदेह ।
नचिकेता कोई और वर, इसके बदले ले ॥ ५५ ॥
मत कर मुझको विवश तू, छोड इसे यहीं तू ।
रहने दे इस भेदको, मुझमें ही छिपा तू ॥ ५६ ॥
सत्य, देव सन्देहमें, इसी विषयमें भी ।
कहते सुविज्ञेय न, यम ! आप जिसे भी ॥ ५७ ॥
वर दूजा नहीं तुल्य है, इसके अतः कोई और ।
तद् उपदेष्टा अन्य न, तव सदृश मिले और ॥ ५८ ॥
बेटे पोते सौ वर्ष, जीनेवाले मांग ।
बहुत, पशु, गज, अश्व अरु, स्वर्ण भूमि सुमहान्॥५९॥
मांग सुविस्तृत भूमिपर, बडा भारी यदि राज्य ।
जितनी चाहे सरदियां, जी आप अहो भाग्य ॥६०॥
मानों यदि वर तुल्य तत्, मांग जीविका स्थिर ।
धन, राज्य, बडी भूमिपर, कर प्राप्त सुस्थिर ॥६१॥
इच्छा तेरी सभी पूर्ण हों, कामभाज् बन तू ।
प्राप्त हुआ इस भूमिको, नचिकेता बढ तू ॥ ६२ ॥
मरणधर्म इस लोकमें, जो इच्छित दुष्प्राप्य ।
स्वेच्छापूर्वक मांग तू, मुझसे सभी वह प्राप्य ॥ ६३ ॥
बाजे गाजे साज युत, ये सुन्दरियां नार ।
बैठी उत्तम रथोंमें, तू इनसे कर प्यार ॥ ६४ ॥
मैंने दे दीं ये तुझे, इनसे विचर स्वच्छन्द ।
इन सदृश नहीं मनुजको, मिलें नार सुखकन्द ॥६५॥
पर मरनेकी बात न, हे नचिकेता वीर !
पूछ तू मुझसे प्रियवर, हठ छोड, धृतिधीर ! ॥ ६६ ॥
कल तक भी स्थिर रहें, न जो मानवी भोग ।
मनुज की इन्द्रिय-शक्तियां, क्षीण करें, करें रोग ॥६७
सब इन्द्रिय का तेज यह, उसे करे वह जीर्ण ।
अतः न्यून ही है सदा, सारा जीवन शीर्ण ॥ ६८ ॥
अन्त करे यम सभीका, अतः नाच और गान ।
तेरे ही रहें अश्वरथ, हाथी, सब सामान ॥ ६९ ॥
धन से तृप्त न हो मनुज, तुझे देख मिले स्वर्ण ।
आज्ञा तेरी में जीयेंगे, जब तक हो न मरण ॥ ७० ॥
जब तक राज है आपका, इच्छा आप की है ।
अतः मांग ने योग्य तो, वर मेरा वही है ॥ ७१ ॥
बुड्ढा होगा मरेगा, धराशायी यह मनुज ।
निन्दित नीच कुकर्मवश, कामपाश फंसा मनुज ॥७२॥

रंग रूप की प्रीति में, हास-विलास-प्रवीण ।
नीचे नीचे जायगा, प्राप्त करे गति हीन ॥ ७३ ॥
पूरी तरह विचार यह, जान सभी का अन्त ।
बहुत ही लम्बी आयुको, चाहे कौन मतिमन्त ॥७४॥
वह भी पहुंच जब हो गया, अमर अजर के समीप ।
साक्षात् यमराज के, मृत्यु जरा आधीश ॥ ७५ ॥
परमैश्वर्य महान् जिस, इस में करे सन्देह ।
उसी परात्पर तत्त्व शुभ, का उपदेश तू दे ॥ ७६ ॥
हे मृत्यु ! यह छिपा जो, सब में फिर प्रविष्ट ।
जीव में भी विद्यमान् जो, वरणीय सुविशिष्ट ॥ ७७॥
इस नचिकेता बाल को, वही बताइये यम ।
वर इस से भिन्न दूसरा, वरे नहीं वह यम ॥ ७८ ॥
तब बोले ऋषिराज यम, मधुर मनोहर बैन ।
समझाया नचिकेत् को, प्रिय शिष्यको सैन ॥ ७९ ॥

दूसरी वल्ली

एक मार्ग कल्याणका, एक प्यारका मार्ग ।
प्रति विषय सम्बन्धमें, बान्धते दोनों मार्ग ॥ ८० ॥
पुरुष जीव शुभ आत्माको, ग्रहण करे कल्याण ।
जो, उसका होवे भला, अन्य की होवे हानि ॥८१॥
उसकी, जो स्वीकार करे, प्यारका रोचक पन्थ ।
उद्देशसे हीन वह, पकडे कुव्यसनी पन्थ ॥ ८२ ॥
घेरते दोनों मनुजको, प्यार मार्ग कल्याण ।
बुद्धिमान् कोई धृतियुत्, इनकी करे पहिचान ॥ ८३ ॥
सम्यक्तया विचार कर, सभी ओरसे यह ।
धीर वरे कल्याणको, पकडे प्यार न नेह ॥ ८४ ॥
चाह प्राप्ति अप्राप्तकी, प्राप्तकी रक्षा वह ।
सुस्त बुद्धिवाला वरे, प्यारका मार्ग वह ॥ ८५ ॥
प्रियदर्शन मनमोहिनी, इच्छित दीं सब त्याग ।
उस तुझने प्रिय शिष्यवर, नचिकेता सविराग ॥ ८६॥
सब प्रकार सुविचार कर, दूर से त्यागी सब ।
नहीं फंसा धनरूप इस, जंजाल में तू अब ॥ ८७ ॥
डूब जाते बहु मनुज हैं, जिस धनसागरमें ।
इच्छित भोग अनेक भी, लुभा तुझे न सकें ॥ ८८ ॥
ज्ञानरहित सज्ञान अरु, जाने गये विपरीत ।
जाते भिन्न दशाओंमें, दूर जो यह विपरीत ॥ ८९ ॥
मन चाहा उन दोऊ में, नचिकेता को ज्ञान ।
मैं मानूं कल्याणका, मार्ग यही विज्ञान ॥ ९० ॥
वर्त्त रहे अज्ञानमें, अपने को कहें धीर ।
बुद्धिमान् अरु धृतियुत्, विद्वान् वर वीर ॥ ९१ ॥
इक अन्धा ले जाय ज्यों, अन्धों को अनुकूल ।
त्यों भटकें यह मूर्ख जन, विद्या से प्रतिकूल ॥ ९२ ॥
जन्म-मरण के चक्रमें, फिर फिर गोते खायं ।
पण्डित समझें आपको, पथ सच्चा नहीं पायं ॥ ९३॥
धन के मद से मत्त जो, विषयी विलासी लोग ।
'यही लोक है' मानते, 'नहीं अन्य' कोई लोक॥९४
मुक्ति अच्छी लगे न, बाल बुद्धि इन को ।
बार बार मेरे वश पडें, अज्ञानी जन सो ॥ ९५ ॥
सुनने को भी न मिले, बहुतों को यह ज्ञान ।
सुनकर भी जिसे बहुतसे, नहीं सके कबहुं जान ॥९६॥
जिसे मिला यह, चतुर सो, जिसे सिखावे वह ।
जाने वही विचित्र नर, उपदेशक ही वह ॥ ९७ ॥
उस के हों उपदेश से, आश्चर्यान्वित अन्य ।
सभी विस्मयाविष्ट हो, ज्ञान उस का कहें धन्य ॥ ९८॥
अणु के भी परिमाण से, सूक्ष्मतर जीवात्म ।
अतः तर्क में आये न, निश्चय वह परमात्म ॥ ९९ ॥
अपने से भिन्न गुरु के, बिन कहे यहां न पहुंच ।
निचली कोटि के ज्ञानीके कहे भी वहां न पहुंच ॥१००
बहु प्रकार से सोचिये, विविधरूप पहिचान ।
सुगमतया से पाइये, तब यह आत्मज्ञान ॥ १०१ ॥
निचले ज्ञानी के कहे, से भी न पाया जाय ।
बहुविध सोचा गया भी, नहीं जाना यह जाय । १०२॥
गुरबिन यह नहीं पाइये, नहीं तर्क का काम ।
सूक्ष्मतर है अणु से, भी जीवात्म वाम ॥ १०३ ॥
हे प्रियतम ! शुभ ज्ञान के, लिये कहा किसी ने ।
सम्मति उस की न काटिये, तर्क कुल्हाडा ले ॥ १०४ ॥
भक्त कही शुभ सम्मति, यह न निवारे प्रिय !
धारणा सच्ची जिसी को, हुआ प्राप्त तू प्रिय ॥१०५॥
हे नचिकेता ! शिष्यवर, पूछनेवाला अन्य ।
तव सदृश हमको मिले, फिर भी भक्त अनन्य ॥१०६
धनकोष स्थिर न रहे, वह आत्मा है नित्य ।
चंचलसे कबहूं न मिले, अचल तत्त्व वह नित्य ॥१०७॥
ब्राह्म अग्निकी चयन मैं, यही जान नचिकेत ।
अस्थिर भोगोंसे अतः, प्राप्त की मैं शुद्धचेत ॥१०८॥
पूर्ति इच्छित भोगकी, जगमें लगनी जड ।
फल विस्तृत शुभ यज्ञका, निर्भयता स्थिर दृढ ॥१०९॥
बहुविध गायन योग्य जो, बृहत्-स्तुतिसमूह ।

मान प्रतिष्ठा देख सब, त्यागा भोग समूह ॥ ११० ॥
नचिकेता ! तू धृति से, बुद्धिमान् धृतिधीर।
दूर से ही दिया त्याग सब, हे धुरन्धर वीर ! ॥१११॥
कठिनतासे दिख सके वह, जीवमें फिर रहा छिप।
बुद्धिगुफामें स्थित सदा, हृत्कोठरमें स्थित ॥११२॥
प्राचीन उस दिव्य वर, को मान सह मान।
स्वात्मध्यानसे मिले जो, आत्मयोग सुध्यान ॥११३॥
दिव्य सत्य परमात्मका, कर विचार धृति धीर।
त्याग खुशी अफसोस को, बने वीर गम्भीर ॥११४॥
यह ज्ञान सुन कर मनुज, सम्यक् कर इसे ग्रहण।
सब प्रकार विचार यह, पृथक् आत्म कर ग्रहण॥११५
सर्वाधार इस सूक्ष्मको, आनन्द लेने योग्य।
कर प्राप्त आनन्द है, लेता वह सुप्राप्य ॥ ११६ ॥
खुले द्वार काहूं मानता, नचिकेता हृद्धाम।
इस मन्दिरमें आत्मिक, ज्योति शुभ अभिराम ॥ ११७
जो दीखे तुझे भिन्न ही, अगले पिछलेसे।
कारण-कार्यसे भिन्न ही, निर्गुण अरु गुणसे ॥ ११८ ॥
कह वह शुभ प्राप्तव्य तू, जिसे बखानें वेद।
सभी, जिसे बतला रहे, सभी तपस्या भेद ॥ ११९ ॥
जती रहें चाह जिसे ही, चाहें दिसे सती नार।
प्राप्तव्य वर्णन करूं, सूक्ष्म वही ओ३म्कार ॥ १२०॥
जग निर्माता धारता, अविनाशी परमातम्।
यही ओ३म् है अक्षर, यही सुब्रह्म सनातन।
यही जान परमक्षर, जो चाहे सो पावे।
जिसकी इच्छा होवे, वही तुरत मिलजावे ॥ १२१ ॥
यही सहारा उत्तम, कल्याण कर यह ही।
आश्रय जान इसेही, कर साक्षात् इसे ही।
दर्शना ईशका पावे, महिमायुत हो जावे।
ब्रह्मलोक शुभ पाकर, अति महान् हो जावे ॥१२२॥
नहीं जन्मता मरता, नहीं हुआ यह कहींसे।
व्यक्ति नहीं यह कोई, नहीं श्रेष्ठ कोई इससे।
सदा एक रस है यह, जन्मरहित सुसनातन।
रहे सदा ही ऐसा, नष्ट न होवे कदाचन् ॥ १२३ ॥
जो कहे मैं यह मारा, या कहे गया मैं मारा।
अज्ञानी वह दोनों, मारने मरनेवाला।
नहीं किसीको मारे, नहीं स्वयं यह मरता।
देह चाहें मरजावे, नहीं कभी यह मरता ॥ १२४ ॥
परमाणुसे सक्ष्म, आकाशसे विस्तृत्।
हृत कोठरमें देहकी, छिपा आत्मा विस्तृत्।
कृपासे जग धारककी, यज्ञसे ऊपर उठ कर।
शोक कर्म फल त्यजकर, दिखे आत्मा उच्चतर ॥१२५
अनुभव महिमा तब करे, आत्मतत्त्व शुभ की।
कर्म शोक उत्तापसे, उठे उच्च जबही ॥ १२६ ॥
बैठा बैठा दूर जा, सोया पहुंच सब स्थान।
अज्ञानमें मस्त न, जो देव सुमहान् ॥ १२७ ॥
उस आत्मिक शुभ स्थितिको, मुझ बिन जाने कौन।
प्रकृति मदसे अमद जो, देव पहिचाने कौन ॥१२८॥
देहोंमें देहरहितको, व्यापक आत्मा महान्।
जो स्थिर है संसारमें, उसे निजात्म पहिचान ॥ १२९॥
बुद्धिमान् धृतिधीर नर, करता नहीं फिर शोक।
जिसने विचारा आत्मा जीत लिये सभी लोक ॥१३०॥
सुननेसे बहु वेदके, अर्थ पढानेसे।
बुद्धि, निरुक्ति मात्रसे, यह आत्मा न मिले ॥१३१॥
वरे जिसे यह स्वयंही, मिले उसे ही आत्म।
निजवत् उसकी देहको, वर लेता परमात्म ॥ १३२ ॥
विविध रीतिसे खोलता, अपने भेद तदग्र।
रूप अपना प्रकाशता, स्वयमेव सुभद्र ॥ १३३ ॥
त्यागी रति दुराचारमें, जिसने नहीं सुविशेष।
चित्त टिकाया है नहीं, नहीं शान्त निःशेष ॥ १३४ ॥
इन्द्रिय मन किया शान्त न, नहीं बुद्धि सुस्थिर।
यह आत्मा नहीं पासके, ज्ञान मात्रसे फिर ॥ १३५॥
ज्ञान मात्र शुभशक्ति अरु, ब्राह्मण क्षत्री वीर।
दोनों भात समान हैं, जिस के लिये वह ईश ॥ १३६॥
मौत परोसे भात पर, है घृतवत् जिसको।
जैसा वह अरु जहां है, कौन जाने इस को ॥ १३७॥

तीसरी वल्ली।

दृश्यमान् यह देह जो, शुभ कर्म संस्थान :
इस का परला भाग जो, उत्तम हृदयस्थान ॥ १३८ ॥
कर प्रवेश उस गुफा में पीते यथार्थ आप।
उजियाले प्रकाशवत्, जीव हरि दिखें आप ॥ १३९ ॥
जो जाने त्रय तत्त्व अरु, पञ्च शुभाग्नि यज्ञ।
परमात्मा को जानते, कहते यही दो यज्ञ ॥ १४० ॥
जीवात्मा परमात्मा, यही पूजने योग्य।
लोक निवासी स्वर्ग के, भोगते भोगने योग्य ॥ १४१ ॥
जो करते शुभ यज्ञ हैं, तरा चाहे भव पार।
उत्तम पुल उनके लिये, ईश का परला पार॥ १४२ ॥

नचिकेता सके जान वह, हम भी सकें पहिचान।
निर्भय उत्तम ब्रह्म को, अविनाशी अभिराम ॥१४३॥
रथ मालक तो आत्मा, रथ शरीर तू जान।
जान ज्ञान को सारथि, मन लगाम पहिचान ॥ १४४ ॥
घोडे कहीं गई इन्द्रियां, अर्थ उनके गति मार्ग।
इन्द्रिय मन युत आत्मा, भोक्ता कहा सुमार्ग ॥१४५॥
बुद्धिमान् ऋषिजनोंने, मन की भी जानें जो।
मन वश कर जिनने लिया, कहे मनीषि जो ॥ १४६ ॥
विज्ञान बलरहित हो, स्थिर कबहुं नहीं मन।
वश उसके नहीं इन्द्रियां, दुःखप्रद ज्यों वाहन ॥१४७॥
सारथि के वश नहीं हों। पर विज्ञाता जो,
उत्तम घोडे सारथि, के वश में ज्यों हों, ॥ १४८ ॥
त्यों वश हों उस इन्द्रियां, यदि मन होवे स्थिर।
पर विज्ञाता जो नहीं, मन जिस का नहीं स्थिर, ॥१४९
कबहुं पवित्र रहे नहीं, नहीं पावे प्राप्तव्य, ।
लौटे फिर फिर जगतमें, ब्रह्म न पावे अगम्य ॥ १५० ॥
पर पावे नहीं जन्म फिर, जहां पहुंच यह जीव।
उस शुभ पद परमात्मको, प्राप्त हो वही सुधीर ॥१५१॥
जो रहे सदा पवित्र ही, विज्ञान अनुकूल।
मन वश कराके आपना, विचार प्राप्त अनुकूल ॥१५२॥
रख लगाम मन सारथि बुद्धि स्वयं सवार।
संसार यह मार्ग जो, इस के होवे पार ॥ १५३ ॥
उस व्यापक भगवान् का, प्राप्तव्य उत्कृष्ट।
नर नारायणका भजे. विष्णु पद सुविशिष्ट ॥ १५४ ॥
इन्द्रियगणसे विषय हैं, निश्चय ही बलवान।
विषयों से मन प्रबल है, मन से ज्ञान बलवान ।१५५।
चित्त प्रबलतर बुद्धि से, कहा यह आत्मा महान्।
इस से प्रबल है प्रकृति, उस से पुरुष बलवान ॥१५६॥
परे नहीं कुछ पुरुष से, वही है अन्तिम सत्य।
पराकाष्ठा परमगति, वही प्रबलतर तत्त्व ॥ १५७ ॥
सभी पदार्थोंमें छिपा, यह आत्मा न हो व्यक्त।
नहीं प्रकाश हो सुगमता, से आत्मा अव्यक्त ॥१५८॥
सूक्ष्मतत्त्व जो देखते, उन्हीं से देखा जाय।
बुद्धि सूक्ष्म सुतीक्ष्ण से, अन्य इसे नहीं पाय ॥१५९॥
मन वाणी को रोक दे, रोके वचन विचार।
बुद्धिमान विज्ञान से, दूर भगावे विकार ॥ १६० ॥
विज्ञानको चित्तसे, करे वह फिर सुस्थिर।
सब चिन्तन भी त्याग दे, शान्त तत्त्वमें फिर ॥१६१॥

उट्ठो, जागो, बूझलो, प्राप्त हुए वरणीय।
उत्तम सज्जन भक्त जन, आत्मतत्त्व रमणीय ॥१६२॥
तेज छुरे की धार ज्यों, कठिन ही लांघी जाय।
कवि कहें त्यों मार्ग वह, कठिन ही लांघा जाय ॥१६३॥
स्पर्श रूप रस गन्ध अरु, शब्द से न्यारा जो।
घटे बढे जो कभी न, सदा एक रस सो ॥ १६४ ॥
आदि नहीं न अन्त है, है महान् से सूक्ष्म।
बलवान पर चित्त से, सुस्थिर अटल सुसूक्ष्म ॥ १६५ ॥
जान उसे, पहिचान कर व्यतिरेक से धीर।
मौत के मुख से छूटता है सर्वथा वीर ॥ १६६ ॥
नचिकेताका यम कहा, कहे सुने इतिहास।
मेधा बुद्धि युक्त जो, सत्य सनातन शास ॥ ॥ १६७॥
भगवद्दर्शन प्राप्त कर, ब्रह्मलोकमें जा।
महिमा पावे महान् वह, भक्तराज कहला ॥ १६८ ॥
ब्राह्म सभामें भेद यह, गोपनीय उत्कृष्ट।
भक्त सुनावे जो प्रेमसे, खोले रहस्य विशिष्ट ॥१६९॥
श्रद्धामय शुभ यज्ञके, समय सयत्न विशेष।
पावे तब वह अनन्त सुख मुक्ति योग्य निश्शेष ॥१७०॥

दूसरा अध्याय

चौथी वल्ली

स्वतः सिद्ध जिस देवने, रची इन्द्रिय सब।
जाय बाहर विषयमें, उस रची ऐसी सब ॥ १ ॥
साधारण जन देखते, नहीं निजन्तर आत्म।
बाहर दूर ही देखते, कारण वही परमात्मा ॥ २ ॥
कर इच्छा कोई मोक्षकी, धीर बन्द कर आंख।
देखे निरन्तर आत्मा, बन्द बाहरी आंख ॥ ३ ॥
जाते पीछे विषय कहीं, के अज्ञानी बाल।
में फंस जायं मौतके. वे विस्तृत जंजाल ॥ ४ ॥
अटल अमर को जान कर, पर धृतिधीर गंभीर।
नश्वर भोग इस जगत् के नहीं मांगते वीर ॥ ५ ॥
गिडगिडाते नहीं प्राप्ति, भोगोंकी वे अर्थ।
चञ्चलोंमें कभी न मिले, वह अविनाशी तत्त्व ॥६॥
काम भोग सुख स्पर्श अरु, शब्द गन्ध रसरूप।
जिस इसही जानता कौन यह शिष्टस्वरूप ॥ ७ ॥
यहां जो पीछे बच रहा, विज्ञान विषय भिन्न।
यही वह आत्म तत्त्व है, परमात्म, जग भिन्न ॥ ८ ॥
पीछे स्वप्नके स्वप्नको, देखता जिससे मनुज।

बीत चुकीं घटनाएं जो, जाग्रत देखता मनुज ॥ ९ ॥
स्वप्नावस्था जागरित, जिस से देखे दो।
दोनों भिन्न सुषुप्त अरु अनुभव भीकरे सो ॥ १० ॥
वह व्यापक सुमहान अरु, सूक्ष्म स्वात्म तत्त्व।
द्रष्टा तीनों कालमें, सर्व दशा सुविरक्त ॥ ११ ॥
धीर उसे जो विचार ले; फिर नहीं करता शोक।
बुद्धिमान् सुमहात्मा, देख आत्म आलोक ॥ १२ ॥
भूत भविष्यत् पर करे, राज्य शुभात्मा जो।
मधु अमृत स्वस्वरूप को, खावे भोगे सो ॥ १३ ॥
अति समीप से जीव उस, आत्मा को पहिचान।
निन्दा फिर कबहुं न करे आत्म तत्त्व को जान ॥१४॥
यही वह आत्मा जीव है जो लेता है स्वप्न।
जाग्रत् के व्यवहार कर, फिर सोए निःस्वप्न ॥ १५ ॥
अग्नि जल से हुआ जो, पूर्व स्वयंसु प्रकट।
पीछे ठहरा गुफा में, हृत् प्रविष्ट अव्यक्त ॥ १६ ॥
अपने को जो देखता, सभी पदार्थ भिन्न।
स्पष्टरूपसे सर्वथा, वही यह आत्मा अच्छिन्न ॥१७॥
दैवी शक्ति अखण्डिता, परमात्मोत्पन्न।
हृत् प्रविष्ट रही ठहर जो, सर्व भूतसे भिन्न ॥ १८ ॥
हुई सुप्रकट विभिन्न ही सभी की जीवन जान।
वही शुभात्म तत्त्व तू जीवात्मा पहिचान ॥ १९ ॥
समिधा में छिपी आग ज्यों गर्भवती का गर्भ।
ज्यों किया धारणा गुप्त ही, त्यों आत्मा भूगर्भ॥२०॥
जिसकी स्तुति प्रति दिन करें, हवन में जाग्रत मनुज।
सर्वज्ञान शुभ शक्ति युत्, वही यह अग्नि सुयज्ञ॥२१॥
उस ही अग्नि आत्ममें है अर्पित सभी देव।
सूर्य वही उदयास्त हो, उसकी करे सुसेव ॥ २२ ॥
उसे उलांघे कोई न, कभी देवता मनुज।
वही सुअमृत तत्त्व यह, वह सर्वतः प्रज्ञ ॥ २३ ॥
जो ही इस संसारमें, वही टिका परलोक।
दिव्यधाम उसमें टिका, वही पुनः इह लोक ॥२४॥
भेद जो देखे तत्त्व इस, भें पावे वह मौत।
जन्म मरणके चक्रमें फिर फिर पावे मौत ॥ २५ ॥
चाहिये पाना विचारसे, यह अभेदका तत्त्व।
मतभेद इस विषयमें, न कुछ भी, है यह सत्य ॥२६॥
फिर भी जो देखे भेद इस, विषयमें, उसकी मौत।
हो जाती है जन्मके, पीछे फिर फिर मौत ॥ २७ ॥

इस शरीरके मध्यमें, पुरुष अङ्गूठा मात्र।
धुएं रहित प्रकाशवत्, पुरुष अङ्गूठा मात्र ॥ २८ ॥
टिका वही हृद्धाममें, भूत भविष्यत् ईश।
वही आज, था कल वही, वही त्रिकालाऽधीश ॥२९॥
वही शुभात्म तत्त्व है, परमात्मा वास।
जान उसे पहिचान फिर, निन्दासे क्या काम ॥ ३०॥
दुर्गम ऊंची शिखरपर, भी वर्षा यदि हो।
दौडे पर्वत मध्य ही, जल जो बरसा हो ॥३१॥
भिन्न भिन्न ही मार्गसे, त्यों दौडे वह बाल।
लक्षण देखे भिन्न जो, उन पीछे सब काल ॥ ३२ ॥
सींचा गया शुद्ध क्षेत्रमें, जैसे जल सुपवित्र।
हो जाता तदाकार ही, क्षेत्र रूप सुपवित्र ॥ ३३ ॥
जगदीशको पाय त्यों, सर्वग हों जाय आत्म।
विज्ञानी उस मुनिका, देखा जिस परमात्मा ॥३४॥

पांचवी वल्ली।

नहीं कुटिलता चित्तमें, जन्म न लेगा और।
उसके नगरके द्वार हैं, ग्यारह, ग्यारहवां सौर ॥ ३५ ॥
ग्यारह-वां शुभ द्वार जो, सुषुम्ना शुभनाम।
उस में ठहरा जीव जब, पाय वह सु-विश्राम ॥ ३६ ॥
शोक न पावे वह कभी, हुआ विषयसे मुक्त।
योगारूढ सुस्थिति में, कहां सुजीवन मुक्त ॥ ३७ ॥
यही वह आत्म तत्त्व है, हंस कहा मुनिराज।
स्थित सुशुद्ध स्थान में, गुफा में रहा विराज ॥ ३८ ॥
आकाश में हृदय के, वसे अतः यह वसु।
होता बैठा मूर्द्धा वेदि में करे क्रतुः ॥ ३९ ॥
गृह में मन यजमान के, बैठा अतिथि जीव।
बैठा नेता प्राण अरु मन श्रेष्ठमें जीव ॥ ४० ॥
ऋत प्रकृति में बैठकर, व्योमाकाश में स्थित।
जल भूमि नदि पर्वतों में प्रसिद्ध सुस्थित ॥ ४१ ॥
ऐसा सत्य महान वह, ज्ञानी बडा यथार्थ।
हुआ प्राप्त परमात्म को, जीव हंस चरितार्थ ॥ ४२ ॥
ऊपर प्राण ले जाय जो, फैंके नीचे अपना।
लगातार यूं कर रहा मध्य में बैठा वाम ॥ ४३ ॥
ज्यों वामन अवतार हो, सर्वशक्ति का वह।
त्यों अति सूक्ष्म जीव है, प्राण के पीछे वह ॥ ४४ ॥
सभी दिव्य गुण शक्तियां, ज्ञान इन्द्रियां कर्म।
विश्व देव अंतःकरण, उसे उपासे सुशर्म ॥ ४५ ॥

टिके शरीर में जीव का, बन्धन ढीला हो ।
फिसल रहा वह देहि जब, त्याग रहा देह को ॥४६॥
निकल रहे यूं ढलकते, के पीछे बचा कौन ।
शुभ परमात्मा तत्त्व वह, ही यह रहा बच जौन ॥४७॥
निकल गया जो फिसल कर, देहसे अपने आप ।
वही यह आत्मा जीव है, हुआ जो अब निष्पाप ॥४८॥
प्राणसे जीता मनुज न, जिये अपानसे कौन ?
जीते हैं उस अन्यसे, दोनोंका आश्रय जौन ॥४९॥
अत्यन्त गतिशील ज्यों, हो मरे पीछे आत्म ।
तुझे बताऊं प्रिय मैं; धारक देहका आत्म ॥ ५० ॥
नित्य सनातन छिपा जो ज्ञान कर्म अनुसार ।
पा जाय स्थिर शुभ ब्रह्मको, कोई सुमरण अनुसार ॥५१॥
अन्य देहधारी जीव जो, लेने नया शरीर ।
जायं भिन्न भिन्न योनि में, जन्में फिर सशरीर ॥५२॥
सोये हुओं में जागता, जो यह पुरुष शुभ काम ।
निर्माण कर कामना, विषय विचार सुकाम ॥ ५३ ॥
उसीके आश्रय लोक सब, उसे उलांघे न को ।
सोये जगाता है वही, स्वप्न दिखावे सो ॥ ५४ ॥
वही यह अमृत तत्त्व, है कहा शुक्र अरु ब्रह्म ।
देह धारक, करे शीघ्रही, आत्मा अमर अजन्म ॥५५॥
वही आत्मा सब भूतका, अन्दर रहा विराज ।
बाहर भी वही एक ही, विविध रच रहा साज ॥५६॥
घर में ज्योति प्रविष्ट ज्यों, भिन्न रूप रही धार ।
एक ही त्यों वह आत्मा, भूतरूप रहा धार ॥ ५७ ॥
अग्नि वायु तो वही हैं, जिन किया घर में प्रवेश ।
प्रति वस्तु में व्यापकर, धारे रूप अनेक ॥ ५८ ॥
ऐसे ही वही आत्मा, अन्दर से जो टोक ।
रहा है वस्तुमात्र को, बाहर से भी रोक ॥ ५९ ॥
धारता रूप अनेक है, भूतों के ही समान ।
अग्नि वायु इक रूप ज्यों, धारें वस्तु समान ॥ ६० ॥
सभी भुवन दिखला रहा, सभी की आंख को सूर्य ।
बाहरी आंख के दोष से, नहीं दुष्ट हो सूर्य ॥ ६१ ॥
यद्यपि रश्मि द्वार से, कर रहा उन में प्रवेश ।
सूर्य आंख सभी मनुज की, लिप्त न हो लवलेश ॥६२॥
जन दुःख से नहीं दुखित् हो, त्यों सर्वान्तर आत्म ।
एक ही उन में प्रविष्ट भी, पृथक् बाह्य यतः आत्म ॥६३
अन्दर ही से भूत सब, को करे एक ही वश ।
आत्मा एक ही रूप को, कर रहा विविध विवश ॥६४॥
अपने में ही स्थित् उसे, पुनः जो देखें धीर ।
नित्य निरन्तर सुख वही, पावें, न अन्य अधीर ॥६५॥
जड अस्थिर देह भूत में, चेतन नित्य वह आत्म ।
चेतन जीवों में परम, सर्वज्ञ परमात्म ॥ ६६ ॥
सफल करे बहु कामना, बहुतों की वही एक ।
धीर जो देखें आप में, टिका वही फिर एक ॥ ६७ ॥
नित्य सनातन शान्तिः, उन्हें मिले शुभ शान्त ।
अन्य को कब हूं न मिले, रहें अधीर अशान्त ॥६८॥
'वह यह है' यही मानते, अकथनीय पर सुख ।
'वह' कैसे हम जान लें, नहीं पाया जब सुख ॥ ६९॥
वहां है क्या कुछ चमकता, या करता सुप्रकाश ? ।
ज्योति छटा वहां अग्नि की, या विद्युत् प्रकाश ॥७०॥
कहां से चमके अग्नि यह, विद्युत् ये न प्रकाश ।
तारे चान्द अरु सूर्य भी, वहां न करें प्रकाश ॥७१॥
पहिले चमकता वह स्वयं, फिर चमके संसार ।
उसी एक की द्योत् से, यह सारा शुभसार ॥ ७२ ॥

छठी वल्ली

कल तक भी जो न रहे, इसी आज के रूप ।
ऐसा यह संसार है, अश्वत्थ शुभ रूप ॥ ७३ ॥
कारण इस का नित्य है, अतः सनातन यह ।
परमात्माऽश्रित प्रकृति, मूल उत्तद् शुभ यह ॥ ७४ ॥
महत् चित्त आकाश अरु, अन्य सृष्टि के रूप ।
सभी यह निचली शाख हैं, उस अश्वत्थ के रूप ॥७५॥
पर जिस ब्रह्म के आश्रित्, सभी लोकी अरु लोक ।
जो शुक्र न उलांघते, कोई लोकी वा लोक ॥ ७६ ॥
कहलाता अमृत वही, यही वह आत्मतत्त्व ।
जिस से निकला सभी कुछ, जग का जीवन-तत्त्व ॥७७॥
कंपाता संसार को, खडी हुई तलवार ।
ज्यों उपस्थित् महा भय, महाकाल यमराज ॥ ७८ ॥
इस रीति से जानते, यह परमात्मतत्त्व ।
अमर जायं हो तभी वे, जान यह निश्चित् सत्य ॥७९॥
उस के ही डर से तपें, विद्युत् सूरज आग ।
वायु विद्युत् पांचवीं, मौत दौडते साथ ॥ ८० ॥

देह से फिसलने पूर्व ही, यहीं सका यदि जान ।
उस पर-ब्रह्म समर्थ को, यदि सका पहिचान ॥ ८१ ॥
सब भुवनों अरु सृष्टियों, में स्वतन्त्र ही फिर ।
धार सकेगा शरीर वह, जब चाहे जहां फिर ॥ ८२ ॥
दर्पण में प्रतिबिम्बवत्, आत्मा में दिखे सब ।
सहज समाधि में भक्त को, जगत ब्रह्म अन्य सब॥८३॥
स्वप्न में देखी मूर्तियां, त्यों पितरों का लोक ।
जाग्रत् स्वप्न में देखता, भक्त हरे निज शोक ॥ ८४॥
घिरे हुए सभी ओरसे, अनुभव हो जल बीच ।
घेर रहा सभी ओरसे, गन्धर्व रहा दीख ॥ ८५ ॥
उजियाले प्रकाशवत्, परमात्मा जीवात्म ।
साक्षात् ब्रह्मलोक में, हो जाते दोऊ आत्म ॥ ८६ ॥
जीवात्मा से पृथक हैं, देह इन्द्रियां सब ।
उत्पन्न हो कर पुनः, मर जायं यह सब ॥ ८७ ॥
हों उत्पन्न रहें पृथक्, जीवात्मा से यह ।
यूं विचार धृति धीर नर, शोक करे न नेह ॥ ८८ ॥
उत्तम है मन परे ही, इन्द्रिय गण से सूक्ष्म ।
बुद्धि मन से परे है, चित्त बुद्धि से सूक्ष्म ॥ ८९ ॥
महत् चित्त से सूक्ष्म है, प्रकृति जो अव्यक्त ।
उस से उत्तम पुरुष है, वही परम अव्यक्त ॥ ९० ॥
व्याप रहा सुख दे रहा, बिना चिन्ह ही पुरुष ।
पहिचाना जाता नहीं, इसी लिये वह पुरुष ॥ ९१ ॥
पर प्राणी जो जान ले, इसे देह से छूट ।
अमर जाय हो तुरत ही, देह का पिंजरा टूट ॥ ९२ ॥
नहीं निगाह में ठहरता, इसी पुरुष का रूप ।
देख इसे कोई न सके, आंखसे, है वह अरूप ॥९३॥
मन, बुद्धि अरु भावना, से समर्थ अव्यक्त ।
जो जानें इन से इसे, प्राप्त करें अमरत्व ॥ ९४ ॥
पांचों साधन ज्ञान के, टिक जायं जब मन साथ ।
बुद्धि उलटी न चले, वही परम गति साध ॥ ९५ ॥
कहें, योग मानें उसे, हों साधन सब स्थिर ।
धार लिये जब जीव ने, अपने वश में स्थिर ॥ ९६ ॥

हो मद नहीं अज्ञान का, तब यह स्थिरता योग ।
अभिव्यक्ति परमात्म की, प्रकृति का लययोग ॥९७॥
वाणी, मन अरु आंखसे, नहीं हो सके प्राप्त ।
'है' कहते से भिन्न यह, हो कैसे सके प्राप्त ॥९८॥
वास्तव दोनों आत्म का, प्राप्त करे 'है' भाव ।
'है' भाव हुए प्राप्तका, आनन्दित् निज भाव ॥९९॥
आश्रित् हैं जो हृदय के, इसकी इच्छा काम ।
जब सब छूटें सर्वथा, मनुज होय निष्काम ॥ १०० ॥
नाशवान् प्राणी तभी, फिर हो जाय अमर ।
परमात्मानन्द भोगता, यहीं सुब्रह्म अमर ॥ १०१ ॥
कट जायं अच्छी तरह इस, के हृदयकी जब गांठ ।
मनुज अमर हो जाय तब, यह शिक्षा वेदान्त ॥१०२॥
हृत् सम्बन्धि नाडियां, हैं अनन्त सह एक ।
माथे को उनसे निकल, चली गयी है एक ॥ १०३ ॥
विविध योनि साधन बनें, मरण समय वे अनन्त ।
एक से ऊपर चढे जो, अमर हो जाय सुसन्त॥१०४॥
मनुज-मात्रके हृदय में, बैठा अन्दर आत्म ।
अन्गूठे जितना पुरुष, उसे निकाले शुभात्म ॥१०५॥
देह अपनी से तीर-वत्, मंज में से सह धैर्य ।
शुक्रामृत जानें उसे, धारे उसे सह धैर्य ॥ १०६ ॥
पूरी रीति योगकी, यह शुभ उत्तम ज्ञान ।
तब नचिकेता प्राप्त कर, यम का कहा विज्ञान॥१०७॥
तर गया पाप अरु मौतको, प्राप्त कर गया ब्रह्म ।
और भी पावे फल यही, जो यूं जानें ब्रह्म ॥१०८॥
यह अध्यात्मज्ञान अर, तद् ज्ञेय भगवान् ।
रक्षा करें हम दोऊ की, शक्ति-शालि भगवान्॥१०९॥
हमें भुगावें भोग शुभ, शक्ति बढावें हम ।
इक दूजे की सदा ही, द्वेष करें न हम ॥११०॥
पढा पढाया उपनिषत्, हम दोनों ही का ।
प्र-काशित् हो सदा ही, तेज बढे दोऊका ॥१११॥
शान्तिः शान्तिः पुनः शान्तिः हों शान्त त्रय ताप ।
भगवन् आप की कृपा से, आप सदा निष्पाप ॥११२॥

मृत्युसे कुमारको मिले तीन वर !

[ले० – श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.]

अन्नदान से महान् यश उपलब्ध किये एक ऋषी का पुत्र वाजश्रवस हुआ है। इतिहासकार कहता है कि जब उस को मुक्तिकी प्रवल कामना हुई तो अपनी सम्पूर्ण धन, सम्पत्ति आदि उसने दान कर डाली यहां तक कि बुढ्ढी दुर्वल गौएं भी दे ही डालीं।

उस के एक नचिकेता नामी पुत्र था जो यद्यपि अभी था तो कुमार ही परन्तु विविध यज्ञ, यागमें उत्तमोत्तम गौओं को दक्षिणामें दी जीती हुई पूर्व समयोंमें जो वह देखता रहा था इस कारण सत्यका ज्ञानधारण करानेवाला शुभ विश्वास, श्रद्धा, धर्म उस के हृदयमें पूर्णतया घर कर चुका था अतः अब पिता द्वारा निकम्मी औओं का दान देख कर उसकी श्रद्धाने उसे प्रेरा, और वह विचारने लगा कि, निकम्मी गौएं जो दूध दे चुकीं, घास खा चुकीं, पानी पी चुकीं, इन्द्रियां अङ्ग जिन के दुर्वल रुग्ण हो रहे हैं और अब जो खाने पीनेमें भी असमर्थ हैं तो दुध तो क्या देंगी ऐसी गौओं का जो दान करता है वह तो ऐसे ही लोक इस दानके फलस्वरूप प्राप्त करेगा, जिनमें सुख, प्रसन्नता, आनन्द का नाम तक नहीं। इस हृदय-क्षोभसे उसे साथ ही विचार आया कि यदि तो मेरा पिता मुजे भी इन गौओं की न्यायीं ही दान कर डाले तब तो उसे गौदान पाप भी न लगेगा फिरतो उसका वास्तविक सर्वस्व दान हो जायगा और वह मुक्तिका अधीकारी भी हो सकेगा परन्तु यदि बुढ्ढी निकम्मी गौएं तो दान कर दे और पुत्र अपना ही बनाए रक्खे तो सर्वस्व दान कैसे होगा? फिर तो गौदान भी पाप ही होकर लगेगा–

इस विचार शृङ्खलामें जकडे हुए उसने अपने पितासे पूछा कि आप मुझे किस को दान रूपमें दे डालेंगे। पीता चुप रहे। उसने फीर दूसरी बार पूछा वह फीर भी चुप ही रहे। पर वह कुमार तो व्यग्र हो रहा था वह वीना उत्तर लिये कैसे संतुष्ट हो सकता था? तीसरी बार फिर भी वह पूछ ही बैठा। तो पिता घाबरा कर अचानक जल्दीमें कह बैठा "तुझे दूंगा मौतको।" बात सच्ची भी है मानव देह का दान तो कालाग्नि ही लेती है नचिकेता स्यात इस उत्तर के लिये तयार नहीं था। वह फिर नवीन विचार परम्परामें उलझ गया कि मैं बिलकुल निकम्मा तो हूं ही नहीं कि पिता मुझे मौत को दे वरञ्च मैं बहुत से अपनी ही वायु के बालोंसे उत्तम हूं और बहुतसों जैसा हूं पर हीन न्यून तो मैं किसीसे हूं नहीं फिर पिता मेरी मृत्यु क्यों चाहता है। साथ ही एक बात और भी ही वह यह कि यमका भी ऐसा कौनसा कार्य अधूरा पडा है जो आज केवल मेरे द्वारा ही पूरा उतर सकता है। इस विचार से वह कुछ अपने आपमें समझ न सका कि सत्यवादी पिता का इस कथन से तात्पर्य क्या हो सकता है?

उधर पिता भी तनिक शान्त हुआ तो अपने मनमें व्याकुल हुआ कि यदि वास्तवमें यमराज मेरे प्रिय वत्स को ले गये तो मैं तो जीता ही मर गया इससे वह खूब सटपटाने लगे! तडपने व्याकुल होने लगे कि हाय मैं क्या बक बैठा।

नचिकेताने उन्हें धीरज दिलाने परन्तु सत्य पर दृढ रखने के लिये कहा 'कि पूज्य पिता! पूर्व कालीन सत्यवक्ताओंने जिस प्रकार सत्यपालन किया उस को ध्यान से अब देखो आज कल का सत्यवक्ता जिस प्रकार वचन पूरा करते हैं उस को भी विचारो। फिर यह भी सोचो कि मनुष्य देह कोई सदा रहनेवाली तो है ही नहीं वरञ्च खेती की न्यायीं पक कर काट डाली जाती है और फिर नये सिरेसे उत्पन्न करा दी जाती है ऐसी क्षण–

भङ्गुर देहके निमित्त क्यों मनुष्य वचन से फिरे।''

इससे पीता को धैर्य हुआ प्रसन्नता हुई कि वास्तवमें पुत्र सच कह रहा है और उसने पुत्र-को यमके पास जानेकी आज्ञा दे दी नचिकेता भी चल पडा। आगे यम के घर पहुंचा तो तीन रात तक तो यमराज से भेट ही नहीं हो सकी, तब तक नचिकेता अन्नजल किये बिना ही वहीं यम के घर टिका रहा स्यात् यम कहीं बाहर गये हुए होंगे घर आये तो या तो उनकी रानीने उनसे कहा या उन्हें स्वयं ही विचार आया कि भक्त ब्राह्मण घूमता घूमता जो अचानक किसी गृहस्थीके घर प्रवेश कर बैठता है तो वह संसार को सीधे रास्ते पर ले जानेवाला उस गृहस्थीके लिये साक्षात् आग होता है क्योंकि यदि अप्रसन्न हो जावे तो कालाग्नि बन जाता है इस कारण गृहस्थी जन ऐसे भक्त को शान्त, तृप्त, सुप्रसन्न, करते हैं इस लिये हे विवस्वान् के पुत्र यम! आप भी इस के लिये अर्घ्य, पाद्य, आचमन, आदि निमित्त जल लाओ और आसन अन्न आदि से इनका सत्कार करो। इसे तृप्त करो कि यह ब्रह्माग्नि आप गृहस्थी को भस्म न कर डाले क्योंकि अभ्यागत भक्त ब्राह्मण जिस न्यून बुद्धिवाले गृहस्थी के घरमें भूखा रहता है उस की सभी जडों को काट डालता है। पुत्र पशु उस के मरते हैं अभ्युदय निःश्रेयस निमित्त किये गये उसके शुभ कर्मों का फल नष्ट हो जाता है सत्सङ्गति उसे प्राप्त नहीं होती, मीठी, प्यारी, हितकारी, वाणीसे वह दूर जा पडता है आशाएं उसको उन्नति आदि की रहती नहीं प्रीयजनों आदिके मिलन की प्रतीक्षासे भी वह वञ्चित् हो जाता है। तात्पर्य यह कि गृहस्थि के द्वार पर आया ब्राह्मण यदि भूखा वहां पडा रहे तो कालाग्नि समान उसे भस्म कर डालता है।

इसपर यमराज नचिकेता से बोले कि—

हे नचिकेता! तू अभ्यागत भक्त बाल मेरे घर-में तीन रात भूखा बसा है अतः हे ब्राह्मण! आप नमस्कार किये जाने योग्य हैं अतः आप को मेरा नमस्कार हो ताकि मेरा कल्याण हो इस लिये प्रतिरात्रि एक एक वर मान कर आप तीन वर मुझसे मांग लीजिये कि मैं ब्रह्मशापमें जकडा न जाऊं।

नचिकेताने इस आज्ञा को शिरोधार्य कर प्रथम वर यह मांगा कि:—

'हे मृत्यु! वाजश्रवा का पुत्र मेरा पिता गौतम प्रसन्नमन हो जावे। सङ्कल्प विकल्प शान्त हो कर उसका मन टिक जावे। क्रोध सर्वथा उसको अब न आया करे। आप यदि मुझे उसके पास लौटा भेजे तो वह फिर घबरावे न, वरञ्च तृप्त शान्त प्रसन्न हो कर मेरा सत्कार मान कर मुझ-से प्रेमालाप करे। आगे की तरह मेरी बात से घबरा न जावे। तीनोंमें से पहिला वर तो आपसे मैं यही मांगता हूं।

यमराज बोले 'कि हे नचिकेता! मैं तुम्हें यह वर देता हूं कि जब मेरा भेजा हुआ तू वापिस पिता के पास जायगा वह अरुण, उद्दालक आदिका वंशज तुझ मौतके मुखसे सर्वथा छूटे हुए को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक होगा। क्रोध तो उसका कभीका उतर चुका होगा। रात्रिमें तुम्हें पा चुकनेके कारण सुखकी नींद सो-एगा और जैसा आगे इस घटनासे पूर्व तुमसे तृप्त सुप्रसन्न रहा करता था अब फिर वैसा ही तृप्त सुप्रसन्न रहा करेगा।

यह वर प्राप्त कर नचिकेता दूसरे वरकी याचना यमराजसे इस प्रकार करने लगा कि हे यमराज! हे मृत्यु भगवान्! स्वर्गलोकमें भय कुछ भी नहीं होता न तो वहां आप होते हैं और नहीं वहां कोई बुढापेसे डरता है। भूक प्यास दोनों ही को तैरकर शोकसे सर्वथा पार जा चुका हुआ व्यक्ति स्वर्गलोकमें आनन्द मनाता है हां यह बात है कि स्वर्गकी प्राप्ति जिस यज्ञसे होती है उस यज्ञके विषयमें आप ही जानते हैं मुझे इस विषयमें बडी श्रद्धा है कृपया यही मुझे समझाकर पढाइये क्योंकि स्वर्गलोकी अमृतभोग सेवते हैं वह कभी मरते नहीं। अतः यही स्वर्ग साधिका अग्नि दूसरे

वरके रूपमें आपसे मैं वरता हूं मुझे इसका ज्ञान करवाइये।' महाराज यमने उत्तर दिया 'कि हे नचिकेता! मैं तुझे वही अच्छी प्रकार बतलाता हूं मुझसे तू वह भली प्रकार समझ ले। मैं इस स्वर्ग साधक यज्ञका पूरा ज्ञान रखता हुआ तुझे वही ज्ञान देता हूं तू इसे ग्रहण कर। जिस अग्निमें यह यज्ञ किया जाता है वह हृदय की गुफामें रक्खी हुई वही गुप्त छिपी पडी है तू इसे जान और इसे ही सम्पूर्ण लोक लोकान्तर का आश्रय आधार समझ। अनन्त योनियां तथा उनके निवासस्थान लोक लोकान्तर सभी इसीसे सम्बद्ध हैं यही सब में व्याप्त है और इसीमें सब ओत प्रोत हैं।

तब यमराजने नचिकेताको उस अग्निका वृत्तान्त सुनाया। जिस कारण रूपसे सभी लोक कार्यरूप बनते हैं जो सभी लोकोंका आरम्भ है जो इस इष्ट अग्निके ज्ञान करवानेके साधन हैं वह इष्टका धर्म क्या, कितने और कैसे हैं वह सभी बतलाए। जैसे यमराजने वर्णन किया वैसे ही नचिकेताने सारा उसे सुना दिया। तब मृत्यु देव प्रसन्न होकर फिर इस नचिकेतासे प्रेमसे बोले।

महात्मा यम पुलकित हो कहने लगे "सोम्य! वत्स! प्रिय नचिकेता! आज तुम्हें फिर एक और वर देता हूं यह अग्नि इस संसारमें तेरे नाम पर ही प्रसिद्ध जो जायगी नाचिकेताग्नि ही यह अबसे लेकर कही जाया करेगी। मैं तुझे यह सुसज्जित माला भी देता हूं देख इस में कितने सुन्दर विविध रूप रङ्ग भर रहे हैं। इसे भी तुम निःशङ्क होकर ग्रहण करो"

परमात्मासे उत्पन्न वेद द्वारा जाना जाने योग्य जो महादेव स्तुति किये जाने योग्य हैं, उस प्रजा पति अग्निको जानकर इसके विषयमें दृढनिश्चय कर तत्त्व व्यतिरेकसे उसे सर्वथा पृथक् रूपेण अनुभव कर भक्त परा, शान्तिको प्राप्त करता है, जन्म मृत्युके पार तैर जाता है, क्यों कि उसने मनुष्य, पितर, देव तीनोंसे तद्विषयक अतिथि, पितृ, तथा देव यज्ञ द्वारा मेल प्राप्त कर लिया है इन तीन शुभकर्मों द्वारा उसने इन तीनोंकी सहानुभूति प्राप्त कर ली है इसीने नचिकेत यज्ञ तीनोंके सम्बन्धमें पूरा उतार लिया है वही स्वर्ग प्राप्त करता है।

तीनोंके सम्बन्धमें नचिकेत यज्ञ करके इन तीनों के यथार्थ वास्तव तत्त्व स्वरूपको जान कर फिर भी जो विद्वान् इसी प्रकार नचिकेत यज्ञ करता ही जाता है वह पहिले तो मौतके बन्धनसे सर्वथा छुटकारा पा लेता है फिर शोकसे सर्वथा रहित हो जाता है और स्वर्गलोकमें आनन्द मनाता है।

हे नचिकेता! यही वह स्वर्ग साधिका अग्नि है जो तूने दूसरे वरके रूपमें मांगी है इस अग्निको जनता तेरी ही कहा करेगी अब तीसरा वर भी मांग ले।

नचिकेता यह आज्ञा पाकर बोला "महाराज! मैं वरोंमेंसे तीसरा वर तो अब यही मागता हूं कि आपसे पढाया गया मैं यह रहस्य जान जाऊं कि मरनेपर मनुष्यका क्या बनता है। इस विषयमें उपस्थित वर्ग घबराते हैं कोई कहता है कि अब भी यह है और कोई कहता है कि अब यह नहीं है जनतामें सभी इन दोनोंमेंसे एक मतका प्रदर्शन करते हैं पर वास्तव ज्ञान इस विषयमें किसीको भी नहीं सभी सन्देह ग्रस्तही हैं इसीलिये आपसे यही ज्ञान तीसरे वर रूपमें मांगता हूं।

एक बालकको ऐसी परलोककी बात बतलानेमें यम हि चकवाने लगे और यह यत्न करने लगे कि किसी प्रकार यह स्वयं ही कोई अन्य वर इसके स्थानमें मांग ले जिससे कि मेरा प्रण पूरा हो जाय और यह रहस्य भी छिपा ही रह जावे। वह कहने लगे-

'वत्स! यह भेद सूक्ष्म है,यह सुगमतया ही पूरा पूरा जाना नहीं जा सकता। देवते भी आरम्भसे ही इस विषयमें संदिग्ध ज्ञान ही रखते रहे हैं तू तो मनुष्य और वह भी एक बाल ठहरा। तू कोई और वर मांगले नचिसेता! हठ न कर, मुझे विवश न कर' इस विचारको छोड दे। परे पीछे क्या होता है तुझ बालकको इस चिन्तामें पडने की क्या आवश्यकता है?

नचिकेता था तो बालक पर बुद्धि, अनुभवी, युवा अथवा वृद्धोंसे भी उसकी अधिक उन्नत थी। झट बोल उठा-

'सच है कि देव इस विषयमें पहिले से ही सन्देह करते चले आये हैं आप साक्षात् मृत्यु भी इस "मृत्यु पीछे क्या होता है" प्रश्नको बडा कठिन बतलाते हुए कहते हैं कि "यह सुगमतया समझमें आनेवाला नहीं यह प्रश्न बडा जटिल है" परंतु मुझे तो अभी यह विचार आरहा है कि इन्हीं कारणों से तो आप जैसा दूसरा आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला मिल भी नहीं सकता। आप साक्षात् मृत्यु ठहरे आप के समझाने परभी यदि 'मृत्यु-प्रश्न' में समझ न पाऊं तो और से क्या मुझे प्राप्त हो सकेगा। अतः मेरी दृष्टिमें तो अन्य कोई भी वर इस के बराबर नहीं है।'

यमराज अब उसके वैराग्य की परीक्षा लेते हैं कि आया यह इस प्रश्न के उत्तर प्राप्त करने का अधिकारी भी है या नहीं। वह इस आशय से उसे लालचमें फंसाने की चेष्टा करते हुए बोले-

'इस वरके तुल्य यदि तू समझे तो मैं तुझे ऐसा कर सकता हूं कि जो भी तेरी इच्छा हो वह सभी पूरी हो। सौ वर्ष की आयु भोगनेवाले बेटे पोते, बहुत उत्तमोत्तम हाथी, घोडे, गौ आदि पशु, बहुत धन दौलत, आयु भरके लिये पर्याप्त धन आदि जीवन निर्वाह सामग्रि, जितने सैंकडे वर्षों की चाहे उतनी लंबी आयु, विस्तृत विशाल भूमि क्षेत्र, सम्पूर्ण भूमण्डल पर राज्य, और इनसे भी अधिक कठिनता से प्राप्त होने योग्य जो भी अन्य योग्य पदार्थ तू चाहे वह निःशङ्क होकर मुझ से मांगले मैं सभी कुछ तुम्हें दे सकता हूं! यह रमणियां साज सजी रथारूढ मैं तुम्हें साज रथ समेत देता हूं इस नाशवान् संसारमें मानवों को ऐसी कब मिल सकती हैं परन्तु मैं स्वयं तुम्हें यह सभी देता हूं तू इन से स्वच्छन्द आनन्द मना, पर हे वत्स! प्रिय! सोम्य! कुमार नचिकेता! मरने की बात न पूछ। तुझ बाल के मुख से यह प्रश्न शोभा नहीं देता। छोड दे यह झगडा। हठ न कर। मेरी बात मेरे पास ही रहने दे।'

नचिकेता भला कब इस भुलावेमें आनेवाला था। जो सर्वस्व दानी की भी न्यूनता भांप सका था वह ऐसे उत्तम अवसर पर कब चूक सकता था तुरन्त बोल उठा -

'भगवन्! यह जो विविध पदार्थ आपने गिनाए हैं यह सभी दिन दिनमें बदलनेवाले हैं क्षणभङ्गुर, अस्थायी, अनित्य, नश्वर, तो स्वयं हैं ही पर साथ ही हे सृष्टि का अन्त करनेवाले यमराज! इस मरणधर्मी मनुष्य की इद्रियों की शक्ति ज्योति तेज इन विषयों के भोगनेपर क्षीण, मन्द हो जाती है और शनैः शनैः जब अनेक इन्द्रियां मद्धम पड जाती हैं तो मनुष्य बुढ्ढा कहा जाने लगता है अतः मेरी रुचि इनमें नहीं और जो आपने आयु की बात कही सो जब वह सीमित् है फिर चाहे कितनी भी लम्बी क्यों न हो फिर भी थोडी ही है और जब भी समाप्त होगी तभी बुरा लगेगा। अतः रथ, नाच,गान,साज,सजी,रमणियां अपनी अपने पासही रक्खें मुझे इनकी आवश्यकता नहीं। आयु की न्यायीं ही धन भी है इससे भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती सन्तोष नहीं आता चाहे कितना भी अधिक धन मिल जावे। साथ ही यहभी बात है कि यदि आप का स्वरूप जान लिया तो धन मिल ही गया इस से बडा धन और कौनसा हो सकता है कि आप के दर्शन हो जाएं! जब आप की कृपा-दृष्टि होगी तो धन अपने आप मिल ही जायगा। इसी प्रकार जब तक आपका शासन है तब तक जीते तो रहेंगे ही। इस कारण आप से मांगने योग्य वर तो मेरे समीप वही एक है। 'वह,' अज्ञात् मृत्यु के पीछे भी जो रह जाता है वही मैं आपसे वरणीय समझता हूं। महाराज! जरा मृत्यु रहित आप जैसों के पास यदि कोई मुझ सदृश मरणधर्मी पहुंच पाया हो जो कालान्तरमें बुढ्ढा भी होगा और मरेगा भी। दुःखदायी पृथ्वीलोक में निवास का आप के लोकमें निवास से अन्तर अनुभव करता हुआ कौन लम्बी आयु को सुख

समझे केवल इतनेसे लालच से कि सुन्दर रंग-रूपवाली युवतियोंसे आनन्द, विहार, मोद, प्रमोद का अवसर पृथ्वी पर मिलता है । यह ध्यान से देख कर कि यह आनन्द निन्दनीय है नीच कोटि का है और आपसे प्राप्तव्य आनन्द और ही प्रकार का सच्चा आनन्द है यह जानता हुआ लम्बी आयु कौन मांगे ? हे मृत्यु ! जिस महान् उत्तम परमधाम के विषयमें देव, मनुष्य सभी भ्रमग्रस्त हैं वही हमें बतलाइये यह जो सम्पूर्ण संसार-में अणु परमाणु में भी प्रविष्ट छुपा पडा है वही यह सूक्ष्म रहस्य मेरे वर्ण करने योग्य है यही मेरे अङ्ग, प्रत्यङ्ग, इन्द्रिय, तेज आदि गूढसे गूढ अन्तरङ्गोंमें भी व्याप रहा है इससे भिन्न नचिकेता अन्य कुछ नहीं मांग सकता ।

दूसरी वल्ली ।

इस प्रकार नचिकेता की परीक्षा करके यमराजने निश्चय कर लिया कि वास्तवमें नचिकेता अधिकारी है और वह अब उसे उस का मांगा ज्ञान यूं देने लगः—

भिन्न भिन्न पदार्थों के सम्बन्धमें मनुष्य को दो ही दृष्टिकोन बांधे रखते हैं वह किसी को लिये कल्याणकारी समझता है और किसी को प्यारा जानता है यही दो मार्ग हैं जिन पर सभी चलते हैं कोई उन पदार्थोंका उपभोग करता है जिन्हें वह प्रिय समझता है और कोई उनका संग्रह करता है, जिन्हें वह अपने लिये कल्याणकारी अनुभव करता है । इनमेंसे कल्याणकारी मार्ग पकडनेवाले का कल्याण हो जाता है परन्तु जो प्रिय मार्ग पकडता है उसकी हानि हो जाती है जीवन निरर्थक नष्ट गवा जाता है अपने उद्देशसे गिर जाता है, अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त नहीं कर पाता । सदा मनुष्यके सामने यही श्रेय और प्रेय मार्ग उपस्थित रहते हैं उनसे घिरा हुआ बुद्धिमान् तो उन्हें भिन्न भिन्न पहिचान लेता है और सभी बातोंपर अच्छी प्रकार विचार कर उनको सर्वथा पृथक् अनुभव करता है और प्रेय की ओर जाती वृत्ति का दबाकर धैर्यपूर्वक श्रेय मार्गका अवलम्बन करता है प्रेय छोड श्रेयको स्वीकार करता है परन्तु न्यून बुद्धिवाला तो प्रेयको ही वरता है क्यों कि उसे इसमें यह लालच होता है कि मुझे अनेक प्रिय पदार्थ मिलेंगे और मेरे पास वह रहेंगे भी । प्रिय, मनके अनुकूल, इष्ट, भोगोंको प्राप्त और संग्रहके लोभमें फंस कर मन्दबुद्धि प्रेय मार्गकाही अवलम्बन करता है ।

'परन्तु हे नचिकेता! उस तुझने तो प्यारी और प्यारा दिखनेवाली कामनाओंको पुरा करनेवाली सभी वस्तुओंको जानबूझकर त्यागा है पूरा ध्यान लगाकर उनको लेनेसे ही इन्कार कर दिया है उनका वर्णन सुनकर ही दूरसेही उन्हें तिलाञ्जलि दे बैठा है। इस धन, धारा, सुतरूपी दल्दल में जिसमें बहुत मनुष्य डूब मरते हैं तूं इसे प्राप्त ही नहीं कर पाया इसके सङ्गसे पहिले ही इससे कोसों दूर भाग निकला है । इस पाप पङ्कसे तू सर्वथा बच निकला है। क्योंकि इतनी कामनाएं भी तुम्हें लालचमें फंसा नहीं सकी, बहुत लालच मैंने तुम्हें दिखाये पर तू सर्वथा विषयलोलूप नहीं हुआ अतः मैं नचिकेता विद्याका इच्छुक मानता हूं, मुझे निश्चय हो गया कि नचिकेताको सबसे अधिक आकांक्षा सत्य ज्ञानकी ही है क्यूंकि विद्या अविद्या तो सर्वथा एक दूसरेका उलट ही सभी जानते हैं और सर्वथा विपरीत दिशाओंमें दोनों दूर दूर ले जा फैंकती हैं । अविद्या यही जानी गयी है कि जो मनुष्योंमें विषयवासना, भोग्य पदार्थोंकी आकांक्षा उत्पन्न कराती है और विद्या इससे भिन्न निवृत्तिकी ओर ले जाती है। जब तुम्हें इतने उत्तम उत्तम भोग मैंने देने चाहे और तूने सर्वथा नहीं कर दी तो मैं क्यों न निश्चय करूं कि वास्तवमें तुम विद्या मुमुक्षु हो ।

जो अविद्यामें वर्त रहे होते हैं वह तो अपने आपको ही बुद्धिमान, धृतिशाली, विद्वान् मान बैठते हैं और किसीसे कुछ भी नयी बात सीखना अपना अपमान समझते हैं, अतः जैसे अन्धोंके पीछे अन्धे चक्कर काटते, इधर उधर भटकते फिरते हैं और सीधा

रास्ता इन्हें नहीं मिलता है उसी प्रकार यह अविद्वान् तथा इनकी शिष्यमण्डली और ऐसे ही इनके अविद्वान् गुरु सभी जन्म मरणके ही चक्कर में घूमते, भटकते, फिरते हैं। उन्नतिका, मुक्तिका मार्ग इन्हें मिलता ही नहीं क्योंकि इन बालबुद्धियों को उच्च,परलोक,मुक्ति आदि अच्छी नहीं लगती उसका दिग्दर्शन ही कभी उनकी बुद्धिमें नहीं भासता कारण कि वह धनके नशेमें ही चूर हो रहे होते हैं और सदा विषय, विलास, आलस्य प्रमादमें ही समय बिताते हैं। विचार ही उनका तो यह होता है कि दुनियां ही एक यही है और कौनसी होनी थी क्या कभी किसीने परलोक देखा है जो उसके पीछे मारा मारा फिरा जाय इत्यादि विचारमें पडे वह परलोकको न मानते हुए इसी संसारकी सामग्रिसे आनन्द लेते रहते हैं। ऐसे विचार रखनेवाले बार बार मेरे ही वश पडते हैं बार बार मरते जन्मते ही रहते हैं। इनमेंसे बहुतोंको तो सत्य विद्या सुननेको भी नसीब नहीं होती और अनेक भाग्यहीन उस विषयकी वार्ता सुनते हुए भी उसका तत्त्व समझ नहीं पाते। यह बात सर्वथा सत्य है कि इस विषयका जाननेवाला संसारसे निराला ही होता है अतः जनता उसके रंग ढंग,रहनसहनसे चकित हो जाती है कि आश्चर्य ही है कि यह इस सभ्यता की शताब्दिमें कैसे यह आचार, व्यवहार रखता है। इसी प्रकार ऐसे ज्ञाता का उपदेश भी जनता को विचित्र ही प्रतीत होता है वह उपदेश से भी चकित ही होती है कि इस युगमें यह कैसी शताब्दि पुरानी बात हमें सुना रहा है जिसकी आज सुननेकी भी किसीको सर्वथा आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कोई सुयोग्य गुरु ही अध्यात्म रहस्य खोल सकता है और कोई तीक्ष्ण बुद्धि शिष्य ही उस भेदको समझ सकता है इस आत्मतत्त्व को गुरुके अनुभव करानेपर अनुभव कर सकता, प्राप्त कर सकता है। सर्व सद्विद्याको साक्षात् करनेवाले किसी अनुभवी योगीसे शिक्षा पाकर ही सुयोग्य शिष्य इसको ऐसा स्पष्ट जान जाता है और फिर इसका उत्तम उपदेश करने लग जाता है कि सभी विस्मित रह जाते हैं कि इसको आत्मदर्शन किसकी कृपा से हो गया। वास्तवमें आत्मज्ञाता गुरुशिष्य संसारको आश्चर्यान्वित कर देते हैं और वास्तवमें वही योग्य, पण्डित्, कुशल व्यक्ति होते हैं। यह विषय ऐसा सूक्ष्म है कि उक्त कुशल गुरुसे भिन्नके उपदेश द्वारा इसमें किसी की पहुंच ही नहीं हो पाती, यहां तर्क तो जाती ही नहीं उससे तो दूर परे सूक्ष्म हैं और यदी उपरोक्त कुशल गुरु न मिले तो अन्य अनुभव रहित पण्डित चाहे लाख उपदेश करें और चाहे स्वयं भी कितना सोच सोच थके पर यह भेद नहीं जाना जाता; विशेष, उत्तम, सुखदायी, ज्ञान इस तत्त्वका भी होता है जब कुशल योगी कोई हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कराये। अन्यथा बहुत प्रकारसे नयी नयी रीतिसे भी विचार करने से यह तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

हे परम प्रिय नचिकेता! जब कोई भक्तवत्सल भगवान् उत्तम ज्ञान शिष्य को करवाने के लिये ही इस तत्त्वका रहस्य अपने प्रिय शिष्यके सम्मुख खोले तो शिष्यको चाहिये कि वह विचारका तर्कसे खण्डन करनेका यत्न न करे, वरञ्च जिस श्रद्धा धारणा को तू प्राप्त कर पाया है उसीसे उसके विचार ग्रहण करे। प्यारे! सच्चा धैर्य तो वास्तवमें तू प्राप्त कर पाया है तू ऐआ उत्तम सुयोग्य शिष्य है कि परमात्मा हम जैसे सभी गुरुओंको तुम जैसा ही प्रश्न कर्ता सदा देता रहा, सदैव हमें तुझ जैसे ही पूछनेवाले मिलते रहें। मैं जानता हूं कि धनका बडेसे बडा कोष भी स्थायी नहीं समाप्त होनेवाला है और वह मृत्यु के पीछे रहनेवाला अमरतत्त्व नित्य एक रस है अतः धन, स्त्री, पुत्र, आदि अनित्य नश्वर पदार्थों द्वारा वह प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि दोनों एक दूसरेके उलट हैं। यह विचार करके मैंने नाचिकेत यज्ञ किया आदि अग्निको आराधा और अनित्य

पदार्थोंसे मैं ऊपर उठकर नित्य तत्त्वको प्राप्त हो गया हूं और तूने भी हे नचिकेता! बड़े धैर्यपूर्वक-धीर, योगी, त्यागी, की न्यायी सम्पूर्ण प्रलोभनोंको दूरसे ही सर्वथा त्याग दिया है। विषयभोगके पदार्थों की पूर्णता को, संसारमें अपना वंश चला जानेको अनन्त यज्ञ याग करनेको अश्वमेध द्वारा चक्रवर्ति राज आदि करनेको स्वराज्यरूपी परम निर्भयता को, बड़ी स्तुतिको बहुतसे गाये जाने योग्य मान प्रतिष्ठाको, सामने प्राप्त होते हुए कहने-मात्रसे सभी कुछ मिलते हुए, देखकर भी नचिकेता धीरने उनको दूरसे ही नमस्कार कर दिया है और सर्वथा उनके लोभमें नहीं फंसा।

अतः नचिकेता वास्तवमें उस पदका अधिकारी है जिसे मानकर धीर पुरुष शोक और अति प्रसन्नता दोनों को त्याग देता है, जो देवता अपने आप को वशमें करने रूप आध्यात्मयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जो सनातन प्राचीन तत्त्व हृदय कंदिरामें स्थित बुद्धिके प्रेरक रूपमें वर्तमान, बाहर के अन्दर के सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग अणु परमाणमें व्याप्त होता हुआ भी ऐसा सूक्ष्म प्रच्छन्न गुप्त छीपा पड़ा है कि देखना बहुत ही कठीन है। उसी देव के अस्तित्व को मानकर कोई व्यक्ति शोक नहीं करता और नहीं प्रसन्नता में अपने आये से बाहर होता है। इस विषयका श्रवण कर अपने अन्दर आत्माका शब्द सुनकर, उसे सम्पूर्णता सब प्रकार से ग्रहण कर अपने आचरणमें उसे घटा कर मरण धर्मा उन्नति करता करता बहुत उच्च हो जाता है और इस धर्मसे प्राप्य, धर्म धारियों के प्रवर्तक, सूक्ष्म देवाधिदेव को पाकर वह भक्त आनन्द के स्रोत् जिस से आनन्द लिया जा सकता है उस आनन्दप्रद, आनन्दमय को पाकर आनन्द ही मनता है। हे वत्स नचिकेता! मैं आप के हृदय मंदिर को इस देव के प्रवेश के लिये किवाड खोले हुए ही समझता हूं, मैं मानता हूं कि तुम्हारे हृदय में संशय, मल, विक्षेप, आवरण सर्वथा नहीं हैं परमात्मा की ज्योति इस में जगाई जा सकती है।

❀

अतः अब तू यह बता कि इस धर्म, अधर्म, कृत, अकृत, भूत, भविष्य, वर्तमान से सर्वथा निराला क्या तुझे कुछ भी भासता है यदि कुछ दीखता अनुभव होता है तो कह। (इस समय गुरु शिष्य की परस्पर आकर्षण शक्ति से नचिकताका आत्मा यमराज स्वयं जगाते हैं) बस जो यह त्रिकालातीत, कार्य कारण में एक रस, क्रियानिष्क्रियत्वमें एकाकार, पुण्य पाप, धर्म, धर्मी आदि में समान गम्भीर एक तार एक रस भर रहा तुझे प्रतीत होता है वही वर्णन करने का यत्न करो (यहां यमराज नचिकेता को आत्मदर्शन करा उस को उस दशा का वर्णन करना सिखलाते हैं)

मैं तुझे उसका संक्षिप्त वर्णन करता हूं वह पद "ओ३म्" है यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है इसी की अभिलाषा रखते हुए कोई तो आयु भर ब्रह्मचारि ही रह जाते हैं कोई अनेक प्रकार के सभी तप तपते हैं और कोई सम्पूर्ण वेद वेदाङ्गों के स्वाध्याय में ही आयु बिता जाते हैं वास्तवमें यह सच भी है कि सभी वेदों के वचन प्रवचन का उद्देश तो उस ओ३म् से भेंट करा देना ही है सम्पूर्ण कठिन तपों का आशय मुक्त कण्ठसे इसका ही वर्णन प्रति क्षण करवाना ही है प्रणव जाप ही श्वास प्रश्वास के साथ करना सब तपों में परम तप है ब्रह्मचर्य साधनका उद्देश भी इसी की प्राप्ति है भगवद्प्रित् हो जाना ही सबसे बडा ब्रह्मचर्य है पर वेद, तप, सदाचार का आशय ओ३म् अनुभव कराना मात्र है। वही पद अविनाशी सर्वाधार है वही परम व्यापक सत्ता है उसी सभी संसारको भोगनेवाले तत्त्व को जान कर मनुष्य जो चाहता है सो पाता है। ओ३म् अक्षर ब्रह्म परम पद पहिचाना तो सभी कुछ पा लिया। फिर यह हो ही नहीं सकता कि कोई इच्छा उठे और पूरी न हो। अतः यह ओ३म् पद ही उत्तम श्रेष्ठ सबसे बलवान सहारा आश्रय है और इसी आश्रय का यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर भक्त महिमा पाता है, जनतामें मान पाता है भगवान् के दर्शन करता उनका प्रेमपात्र बन जाता है, सभी कहते हैं कि यह ब्रह्मलोकी है। परमात्म देव स्वयं उसका

सदा ध्यान रखते हैं कि यह मेरा भक्त कष्ट न पावे। सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ भगवान् न कभी जन्म लेते हैं न मृत्यु पाते हैं न तो किसी अन्य कारणसे बने कार्यरूप यह हैं और नहीं कभी कारणरूप यह किसी अन्य कार्यके रूपमें ही परिणत होते हैं, कभी भगवान् कोई नहीं बनते और नहीं कभी कहींसे होते हैं, सदैव स्थान तथा व्यक्तित्व उपाधियोंसे रहित ही रहते हैं वह अजन्मा, अमर, सनातन, प्राचीन एक रस सदैव हैं। शरीर चाहे कितने भी बनते और मरते जायं पर यह वास्तव अमृत तत्त्व कभी मारा नहीं जाता, न नया घडा ही जाता है। इसी कारण प्रत्येक शरीरसे संबंध अमृततत्त्व होनेके कारण यह परिणाम निकलता है, कि एक शरीरधारी यदि यह समझता है कि मैं मार रहा हूं और दूसरा शरीरधारी यह मान रहा है कि मैं मारा जा रहा हूं तो न तो मारनेवाला ही जानता है और नहीं मारे जानेवाला यथार्थ जानता है. दोनों ही अज्ञानी हैं क्योंकि वास्तवमें उनके शरीरमात्र इस व्यवहारमें उलझे हुए हैं और उनके अमर भाग तो न मारते हैं न मरते हैं अतः जब एक भाग मारता मरता नहीं तो संपूर्णका, अपनेको मारने, मरनेवाला समझना कोरा अज्ञान ही है।

वह अमर भाग तो परमाणुसे भी सूक्ष्म और आकाशसे भी विस्तृत है इस प्राणिकी हृदय गुफा में यह इसका आत्मा अमर भाग छुपा रक्खा है उसी जगत्धारककी कृपासेंही उस आत्माकी महिमाको वही योगद्वारा निष्क्रिय हुए मन प्राणवाला देख पाता है जो शोक करना कभी का त्याग चुका हो। कर्म तथा शोकका कारण रजोगुण भी जिसने पूर्णतया अपने वशमें कर लिया हो, तमोगुणका तो कहना ही क्या; ऋतुः बुद्धि जिसकी स्थिर हो चुकी हो. ऋतः यज्ञयाग से जो ऊपर उठ चुका हो, उनसे प्राप्तव्य फल जो प्राप्तकर चुका होनेसे जिसे अब उनकी इच्छा न रही हो, ऐसा व्यक्ति स्वभावतः शोक-रहित ही होता है वही महिमायुत आत्माका दर्शन भगवान्की हि कृपासे पाता है। उस आत्माकी ऐसी अद्भुत शक्ति है कि बैठा बैठा ही दूर दूर तक चला जाता है। सोया सोया सब स्थानपर पहुंच जाता है। काम क्रोध आदिका नशा उसको कभी उन्मत्त नहीं कर पाता ऐसी विचित्र देवता को मेरे विना और कौन जान सकता है? वास्तवमें मृत्यु यम ही जो संपूर्ण शरीरधारियोंको शरीरसे पृथक् करवाता रहता है। जो अमर आत्माका अनुभव उसको है वैसे शरीरमें शरीर संबंधी विचारोंमें, उलझे शरीरधारियोंको कब होना संभव है। हम समझते हैं कि यह यहां पडा सो रहा है पर यम जानता है कि मैं इस बुतको यहां सोया छोड इसके प्राणिको दूर लेजाकर फिर लौटा लाया हूं हम समझते हैं कि यह बैठा संध्याकर रहा है। यम जानता है कि वह उसके मनोमयको दूर दूर तक घुमा फिराकर फिर वहीं छोड गया है वास्तवमें स्थूल देह विचारक उस देवके विषयमें क्या अनुमान लगा सकेंगे? वह तो शरीरधारियोंका अदृश्य अशरीर भाग है चलते फिरते शरीरोंका वह निश्चल अडोल भाग है वह एक ही व्यापक महान सूक्ष्म सबमें समान सत्ता है। उसको अपना आप माना धैर्यपूर्वक इस भावनाका आश्रय पकडा फिर शोक कैसा फिर तो आनंद ही आनंद है।

ऐसा शुभात्मतत्त्व बहुत वेद सुननेसे प्राप्त नहीं होता, न वेदकी व्याख्या सुनानेसे ही मिलता है, न बहुत विचार मस्तिष्क में धारण करनेसेही इसे उपलब्ध किया जा सकता है। यह तो उसे ही मिलता है जिसे यह स्वयं ही इस योग्य समझ कर अपने निवास योग्य पहिचान, रहनेके लिये स्थान रूपमें वर ले, उसके शरीरको यह अपने शरीरके रूपमें विशेषरूपसे स्वीकार कर लेता है और उसीके शरीरद्वारा अपना कार्य करवाने लग जाता है। अपना सारा भेद उस प्राणीपर स्वयं खोल देता है। दुराचार जिसने सर्वथा त्याग नहीं डाला अपना आप जिसने वश नहीं किया मन

निश्चल नहीं किया, अपने आपको शान्त नहीं किया, वह उत्तमसे उत्तम ज्ञान सुनकर भी इस आत्मतत्त्वको साक्षात् नहीं कर पाता, प्रयोगमें तो इसको क्या ला सकता था। वेद तथा सर्वशक्ति, महाज्ञानी ब्राह्मण और चक्रवर्ती राजा ये भी दोनों जिसका वैसा ही भोजन हैं, जैसा हमारे लिये दाल भात, मृत्युभी जिसका भोज्य पदार्थ ही है जैसा हमारा भात पर परोसा घी, उस अत्ता भगवान्को कौन जान सकता है कि यह यहां है और यहां नहीं और कि यह ऐसा है और ऐसा नहीं? तात्पर्य यह कि महाज्ञानी और महाशक्तिशाली भी कीट पतंग समान जिसके सम्मुख क्षणभरमें नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, मौत भी जिससे थर थर कांपती है, उसे वही जान सकता है, कि वह ऐसा है और यहां है जो शान्त सदाचारी पवित्र मनवाला उत्तम ज्ञानी है। जिसकी स्मृति, धृति, सूक्ष्म विचार, वेदमें श्रद्धा, वेदव्याख्यानमें रुचि आदिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे स्वयंही वर लिया हो और उसके शरीरद्वारा ही अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया हो, उसके ही आगे भगवान् अपने सब भेद प्रगट कर देता है और उसे प्रियरूपमें सेवता है।

तीसरी वल्ली।

अपने ही शुभ कर्मके फलस्वरूप प्राप्त हुई इस दर्शनीय देहके उत्कृष्ट भाग श्रेष्ठ-हृदय-कंदिरामें दाखिल हुवा जीव और उसमें भी दाखिल हुवा ब्रह्म छाया और प्रकाश की न्यायीं परस्परविभिन्न अपने अपने निज यथार्थ स्वरूपके अनुकूल ज्ञान तथा अमृतका पान करते हुए विराज रहे हैं। परमात्माको जाननेवाले ऐसा बतलाते हैं जिन्होंने सूर्यसे अग्निपर्यंत पंचाग्नि विद्या जान ली है, वह भी यही कहते हैं और जिन्होंने तीन गुण आदि का तत्त्व पहिचान नाचिकेत यज्ञ किया है वह भी यही कहते हैं।

नचिकेता जिस परब्रह्मको जानना चाहता है, परमात्मा करे कि हम भी उसे जान पहिचान कर नचिकेताको जना पहिचनवा सकें। वह अभय पद है, दुःखशोक तरना चाहते हुओंके लिये परला किनारा है, यज्ञ करनेवालोंके भवसागर पार करनेका पुल है। वही अविनाशी, व्यापक, सर्वाधार, सर्वकर्ता, निर्भय, निरंजन ओ३कार है।

हे नचिकेता! सबसे आसान मार्ग उसकी प्राप्तिका अब तू मुझसे सुन। वह यह है—

इस मानव-देहको एक घोडा गाडी समझो। इंद्रियां जो ज्ञान और कर्मकी १० हैं, वह तो दश घोडे इसको जुते हुए हैं मनरूपी लगाम उनको खींचनेके लिये है, बुद्धिरूपी सारथिने वह लगाम थामी हुई है, गाडीमें आत्मारूपी सवार गाडीका मालिक रथी बैठा हुवा है, उसकी आज्ञासे ही बुद्धि सारथि गाडीको विषयोंके मार्गसे चलाता है। अतः इसी मार्गपर पदार्पण करते हुए इंद्रियरूपी घोडे बराबर चले जा रहे हैं। मनको भी जो जानते हैं उन विचारकोंने कहा है कि सुख-दुःखभोग, विषयभोगरूप जो गाडीद्वारा सफर करना है, उसका पथिक, विषयभोगकर्ता, आत्मा बुद्धि तथा इंद्रिय समेत ही है, अकेला नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस शरीरधारी की बुद्धि एक ओर जाती है, मन दूसरी ओर और सदा यही गडबड मन-बुद्धिमें पडी रहती है उसकी इंद्रियां सर्वथा उसके वश नहीं रहेंगी। जैसे सरकश घोडे साईसके वशमें नहीं रहते और संभव है रथ कहीं खाई खड्डेमें जा पडे और रथी, सारथी, घोडे, रथ सभी मर खप टूट फूट जाएं, नष्ट भ्रष्ट हो जाएं।

विरुद्ध इसके मन बुद्धि सदा उस मालिक आत्मा की आज्ञा में ही रहते हैं। उसकी इंद्रियां तो वशमें रहनी ही ठहरीं, जैसे उत्तम घोडे बिग्रडते नहीं सारथिके वशमें रहते हैं। ऐसा रथी जिधर चाहे रथको चलाये, स्वेच्छापूर्वक उद्यानमें भ्रमण करे, सर्वथा रथसे वह सुख ही पाएगा।

इसी लिये तो यह परिणाम दोनों दशाओंमें सर्वथा भिन्न भिन्न इस प्रकार निकलता है कि जो तो बुद्धि विज्ञान अनुकूल मनको रख कर, सदा पवित्र रहता हुआ, मन-बुद्धिको अपनी

आज्ञा अनुकूल चलाता है, वह तो उस ब्रह्मलोक परमपदको पा जाता है, जिससे फिर उसे जन्म मरणके चक्करमें नहीं जाना पडता। कारण कि इंद्रियां उसने वशमें रक्खीं तो सर्वथा उसको वे कुमार्गमें न ले जा सकीं और सीधे रास्तेसे चलकर वह पहुंचने योग्य स्थानपर शीघ्र ही जा पहुंचा। विपरीत इसके जो बुद्धिहीन, मनके वश स्वयं हुआ हुआ, इंद्रियोंके पीछे मारा मारा फिरता गंदे आहार व्यवहार आचारोंमें आयु व्यर्थ गंवा जाता है, वह तो पुनः पुनः संसारमें घूमता है, जन्म-मरण-में ही घूमता रहता है। उसने परम पद, उच्च गति, ब्रह्मलोक क्या पा सकना था? वह तो यहीं धक्के खाता फिरता रहता हैं।

अर्थात् वास्तवमें जिसने बुद्धिको शरीर रथ हाक-नेवाला सारथि बना रक्खा है और मन लगाम-से इंद्रिय घोडों को जिधर चाहता है, उधर ही चलानेके लिये सारथिको आज्ञा दे, उससे उन्हें चलवाता है ऐसा शरीर गाडीका नेता, मालक आत्मा संसार-मार्गके पार जा पहुंचता है। उस स्थानपर जो विष्णु का परमपद कहलाता है अदृश्य, परोक्ष, सर्वव्यापक, परम प्रापणीय भग-वान् ओंकारके दर्शन पा लेता है। कारण यह कि यद्यपि विषय इंद्रियोंसे बलवान् होनेके कारण उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं तो भी मन विषयोंसे भी बलवान् होनेसे इंद्रियोंको विषयों से हटाकर अपने वशमें कर सकता है। अतः जिस आत्माने मन लगामको संभाला है. इंद्रियां उसको विवश नहीं कर सकतीं। वरंच उसके आधीन ही रहती हैं। बुद्धि मनसे भी बलवती है, अतः मन लगाम को बुद्धि सारथि पूरी तान सकती है और बुद्धिसे आत्मा तो बहुत ही अधिक शक्ति-शाली है। इसीलिये सारथिको रथीकी आज्ञाके विरुद्ध चल सकना सर्वथा असंभव है। इस प्रकार देही बुद्धिद्वारा मन वश कर इंद्रियोंको अपने इष्ट विषयोंमें ही चलाता हुआ मार्ग पार पहुंच सकता है। परंतु अव्यक्त जो प्रकृति है, वह जीवात्माके लिये दुष्पार आकर्षण है, बहुत शक्तिशाली माया है, जिससे प्रबल तो पुरुष परमात्मा ही है। अतः यदि भगवान् परम पुरुष स्वयं ही किसी जीवात्माको वरे तभी वह प्रकृति अव्यक्तके बंधनसे छुटकारा पा सकती है। बिना ऐसा हुए जीवात्मा अपनेसे प्रबल अव्यक्त में ही उलझा रहता है। परम पुरुष भगवान् तो सीमा है, परम गति है, पराकाष्ठा है। उससे परे और क्या होना था? अतः जो उसका आश्रित हो गया है, उसके वशमें सभी हो गया, प्रकृति उसको फिर बांध नहीं सकती। पुरुषपरमात्मासे बलवान् कुछ नहीं, उससे सूक्ष्म, उससे महान् कुछ नहीं, वही सीमा है, हद है, यह आत्मा पुरुष परब्रह्म है, सभी भूतमात्रमें, पर छुपा हुवा होनेसे प्रकट नहीं होता। दीखता है पर बारीक निगाह वालोंको, वह भी जब बारीक निगाहसे देखते हैं उसी समय; अन्य समय उनकी निगाह से भी ओझल ही रहता है। मोटी बुद्धि सदा संसार के धंदोंमें उलझी से यह कब और कैसे दिखे? अतः स्याने व्यक्तिको चाहिये कि पहिले तो सभी वाग् आदि ज्ञान-कर्म इंद्रियोंको रोके, फिर मनको भी रोके अर्थात् पहिले संपूर्ण इंद्रियचेष्टाएं रोके फिर इंद्रियद्वारा विषय प्रत्यक्ष करनेसे भी हटे, फिर विषय विचार भी बंद करे। अतः बुद्धिमें हि सब ज्ञान-साधनोंको लय करवाके फिर बुद्धिको आत्मामें जोड देवे, फिर इस महती आत्मशक्तिको शांत तत्त्व पर ब्रह्ममें स्थिर करे, आनंदमें मग्न हो जावे, भगवद्रसाऽऽस्वादन करे। ऐसी अवस्था यदि भाग्यसे कभी प्राप्त हो जावे तो तुरंत पुरुषको हुशियार हो जाना चाहिये। प्रापणीय वरणीय भगवान्का तुरंत अनुभव ले लेना चाहिये। जैसे कोई पूरा, जीता, जागता, तैयार बर तैयार खड घोड सवार अपने महाराजाकी प्रतीक्षामें होता है और जब महाराजा पाससे गुजरता है, तुरंत उसे प्रणाम करता है, ऐसी ही बडी फुरती चालाकी हुशियारी से उस शुभ अवसरसे उपयोग लेना चाहिये। नहीं तो यदि उस समय ऊंघने सोने लग गये, आलस्य

प्रमादमें ही अवसर हाथसे खो दिया तो स्मरण रखो, फिर वह अवसर नहीं प्राप्त कर पाओगे। जैसे तीखे छुरेकी धारपर चलना अतीव दुष्कर है, वैसे ही प्रकृतिके चङ्गुलसे छूटनेका मार्ग अतीव दुष्प्राप्य है। विद्वान्, ज्ञानी, योगी, यही स्वानुभव बतलाते हैं कि हम अमुक समय चूक गये आजतक पछता रहे हैं फिर आजतक वह अवसर दोबारा हाथ नहीं आया, नहीं आया।

हे वत्स! प्रिय नचिकेता! शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं अर्थात् इंद्रियगोचर कोई विषय वह ब्रह्म नहीं। न इनमेंसे किसी गुणसे भी वह गुणी है। वह नाशरहित सदा रहनेवाला है, आदि अंत उसका कोई नहीं, महान् आकाश आत्मा सभीसे परे है, अचल अडोल एकरस है, उसको पृथक् निश्चय कर देख कर मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है। यही वह मृत्युके पीछे बचनेवाला तत्त्व है, जो तूने तीसरे वरके रूपमें मांगा है।

यमराजकी कही नचिकेता की इस पुरानी कहानीको विचारशील बुद्धिमान् योगी सुनकर और भक्तोंमें वर्णन कर परमात्माका दर्शन पा बहुत बडा हो जाता है और सभी उसको भगवान् कहने लग जाता है।

इस अत्यंत गुप्त रहस्यको जो परमात्मा के भक्तों की सभामें सुनाएगा, सर्वथा इसमें लवलीन होकर पूरा, श्रद्धासे, तब उस पूरे प्रयत्न ध्यानसे वर्णन करते हुए को श्रद्धालु भक्त सुनें, तब दोनों सुनने-सुनानेवालोंमें अनंत शक्ति भगवद्भक्ति जागरित हो जावेगी। अनंत सामर्थ्यवाली उस समय यह आख्यायिका हो जावेगी॥

चौथी वल्ली।

स्वतः सिद्ध भगवान्ने इंद्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली बनाया है। इसीलिये हर कोई बाहर को देखता है, अपने अंदर नहीं। परंतु कोई एक बुद्धि, धृति, आदि शुभ गुणोंमें आनंद मनानेवाला लगातार आत्माकोही देखता है आंख मींचकर, मुक्ति चाहता हुआ। ब्रह्मा प्रजापतिने जो संपूर्ण प्राणियोंकी आंख आदि इंद्रियां बाहरके विषयों से आकृष्ट होनेवाली बनाई हैं और वही हृद् कोठरमें बैठा उन्हें चला रहा है तो फिर तो उन्होंने बाहरको ही जाना ठहरा। अतः प्रत्येक प्राणी बाह्य विषय भोगता है, पर कोई जो निराकारमें बुद्धिको आनंद दिलाता है, वही अंदर देखने लग जाता है। क्योंकि उस मुक्तिके इच्छुकका ध्यान अंदर लग जाता है। अतः उसकी इंद्रियां बाह्य विषयोंमें वर्तना छोड देती हैं। साधारण प्रकृति अनुसारी बालबुद्धि लोग, बाहरकी विषयकामनाओंके पीछे ही भटकते हैं वे मौतके फैलाये विस्तृत जाल में फंसते हैं। इसके विरुद्ध धैर्यवाले विद्वान् अमर धामकी झांकी पाये हुये हुए नित्य भगवान्की झलक देखे हुए इस संसारके क्षणभङ्गुर भोगोंकी खातर, दर दर मांगते नहीं फिरते उन शांत गंभीरोंके पास संसारके भोग्य पदार्थ भागे भागे आते हैं और वह उन्हें ठकुरा देते हैं।

जिस इस एकके द्वारा ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, स्त्रीभोग इन सभी संबंधि सुःखदुःखोंको अनुभव करता है, तो वह एक क्या तत्त्व यहां रस आदि भिन्न पृथक् प्रतीत होता है। सोम्य! यही शरीरके मरनेपर भी अमर सत्ताके रूपमें सर्वथा मृत्युसे अप्रभावित रह जाता है। यही तेरे प्रश्नका उत्तर है, यही वह आत्मा अमृत है।

स्वप्नका अंत जागरित तथा जागरितका अंत स्वप्न अथवा सुषुप्ति इन संपूर्ण अवस्थाओंको जिस एकके ही द्वारा वह अवस्था निकल चुकने के पीछे स्मृति मात्रसे साक्षात् प्रत्यक्षके समान देख लेता है, वही सभी अवस्थाओंका साक्षी उन सभी के समय व्यापक अद्भुत शक्ति आत्मतत्त्व, है। एकबार उसे विचार लिया, धैर्यपूर्वक उसका अनुभव अपनेमें स्थिर कर लिया, फिर उसे शोक कैसा? फिर तो वह आनंदित हो जाता है। उस अमर तत्त्वके भानरूपी उत्तम मधु, सुस्वादु मिठाई को चखनेवाले जीवात्माको जो हो चुके, हो रहे, आगे होनेवाले सभीको इस दशामें अपनी इच्छा अनुकूल प्रवर्तित कर सकनेके कारण उस-

का ईश्वर है। उसको जो अनुभव कर गया कि मैं जीवात्मा ऐसा हूं फिर उसने आत्माकी निंदा क्या करनी थी? यही उत्तम मधुभक्षक जीव वह मौतके पीछे भी बचा रहनेवाला तत्त्व है, जिसके विषयमें तूने तीसरा वर मांगा है।

भगवान्ने प्रकृतिसे सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये जब ज्ञानमय तप किया, उस तपसे पहिले भी जो प्रकृतिमें छिपे पडी थी और तपके परिणामस्वरूप जो आपः की उत्पत्ति हुई। उस आपःसे पहिले भी विद्यमान थी जो प्रकृतिसे उत्पन्न भूतमात्रके द्वारा जो विशेष प्रकारसे संपूर्ण पदार्थ मात्रको देखती है, वही प्राकृतिक इंद्रियाधिष्ठानोंके आश्रय ज्ञान प्राप्त करनेवाली प्रकृति दशामें भी उसमें छिपी रहनेवाली तप तथा जलसे पूर्वभी विद्यमान, अमर, आत्मसत्ता है। शरीरके मरने पर यही वह अमर आत्मा शेष बच रहती है।

जो दिव्य अखण्ड शक्ति जगज्जीवन भगवान्से उत्पन्न होकर हृदय-गुफामें छिपी पडी रही है और भूतमात्रसे सर्वथा भिन्न पृथक् प्रसिद्ध है, यही वह अमर आत्मा है।

समिधाओंमें अग्नि उनके प्रकट प्रत्येक अणुमें विद्यमान छिपी पडी है, पर दिखाई नहीं देती। गर्भवती स्त्रियां अपने गर्भको सर्वथा छुपाए रखती हैं और साथ ही पूरी रक्षा उसका भरण पोषण उत्तम रीतिसे करती हैं, पर गर्भगत बालक भी वहां छुपा हो पडा रहता है बाहरसे दिखाई नहीं पडता। इसी प्रकार जागते हवन करते मनुष्योंके द्वारा प्रतिदिन स्तुति किये जाने योग्य एक सर्वशक्ति-ज्ञान-प्रकाश-भण्डार एक तीसरी अग्नि भी है जो भूत मात्रमें विद्यमान उनसे सर्वथा पृथक् है, पर बाहरसे नहीं दीखती यही वह अमर आत्मसत्ता है।

सभी देवता इसीके सहारे हैं। सूर्य भी इसीसे उदय होकर इसीमें अस्त होता है। किसी भी सूर्य आदि देवताकी मजाल नहीं जो इसे उलांघ सके, इसके शासनके विरुद्ध चल सके। यही सबसे बलवान् सबका नियंता वह अमर तत्त्व है।

जो अमर तत्त्व इस देहको थाम रहा है वही इस भूमिको, वही उस सूर्य, वही संपूर्ण संसार-चक्रको और जो संसारको चला रहा है वही, सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु तथा जीवित अतीव सूक्ष्म बैक्टीरिया आदिको भी गति दे रहा है। उस अदृश्य लोक इस दृश्यमान संसार दोनोंको एक ही अमर सत्ता प्रभावित कर रही है, जो उसको खण्डित, यहां और वहां और मानता है वह तो मरता ही मरता रहता है, बार बार जन्ममरणचक्कर में ही घूमता रहता है। मनके द्वारा ही इस आत्माका अनुभव प्राप्त करना चाहिये। इसकी अखण्डैक-रसता भांपनी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें इसमें कुछभी ऐसा नहीं जिससे इसमें नानापनकी सिद्धि की जा सके। अतः जो इसे नानावत् देखता है वह मरता ही मरता जाता है। जन्ममरणके बंधन से उस अनात्मदर्शीने क्या छूट सकना था?

मानव-देहमें इसके मध्य हृदयमें अंगूठे जितना प्राणोंसे घिरा मनोमय कोश है। वह अंगूठे जितना अंदरका पुरुष धूएंसे सर्वथा रहित आग प्रकाश की ज्वालाकी न्यायीं प्रकाशित है। यह मनोमय इस स्थूल देहसे कहीं अधिक शक्तिशाली है। क्योंकि जो कर्मज्ञान पुरुष अनुभव कर चुका वह सब इसमें विद्यमान है। अतः वह जब चाहे उनको व्यक्त कर दे। अतः वह भूतको वर्तमान रूपमें दिखा सकने-वाला भूतका स्वामी है। भविष्यत्में भी वही ज्ञान कर्म घटनाएं घटेंगी, जिनकी शक्ति इस समय इसमें विद्यमान है। अतःवह जब चाहे उसे भी व्यक्त कर दे। अतः वह भविष्यत्को भी वर्तमान रूपमें दिखा सकनेवाला भविष्यत् का भी स्वामी है। इस प्रकार अंगुष्ठ पुरुष भूत भव्यका ईश्वर है। और उसका प्रकाश आजकल प्रतिदिन हो रहा है, ऐसे प्रभुको जानकर कौन उसकी निंदा करनेका साहस कर सकता है? यही वह मौत पीछे बचनेवाला आत्मा है।

जिस प्रकार ऊंची पहाडकी चोटियोंपर, जहां पहुंचना बहुत कठिन है, बरसा हुआ जल नीचे पहाडियोंमें दौडता हुआ विविध मार्ग पकड लेता है, इसी प्रकार संसारमें नाना भावोंके अनुभव कर्ताका मन उन भावोंके धर्मोंके पीछे दौडता भिन्न भिन्न विचार-मार्गोंमें ही जाता रहता है। सर्वथा अंतर्दृष्टि एकाग्रनिरुद्ध नहीं हो पाता। इसके

विरुद्ध शुद्ध बरतनमें ग्रहण किया वर्षाका शुद्ध जल बर्तनकी आकृति धारण कर लेता है। इसी प्रकार विज्ञानवान् मनस्वि योगी भक्तका आत्मा परमात्माके ध्यानमें लग परमात्मा रूप ही हो जाता है। अतः उस समय वह सर्व-लोक-गमन समर्थ, इच्छाविहारी गौतम सत्यकाम सत्यसंकल्प ही हो जाता है।

पांचवी वल्ली।

जिसके चित्तमें कपट नहीं रहा सर्वथा टेढापन दूर हो गया है: जो बिल्कुल सरल स्वभाव है ऐसे योगीकी देहरूपी नगरीमें ११ वां सूर्यद्वार भी खुल जाता है। अतः जब स्वेच्छासे तद् द्वारा अन्तिम बहिः प्रयाण करता है तब फिर दोबारा जन्म उसका नहीं होता। वह मुक्त हो जाता है। ऐसा सूर्यद्वारा सिद्ध करनेवाला अन्तिम मृत्युयोगका अनुष्ठान करके फिर मरनेको शोकप्रद नहीं मानता। वरञ्च आनन्दद्वार समझता है और सर्वथा सब असन्तोष आदिसे ऊपर हुआ ब्रह्म-प्राप्ति-रूप आत्मा मुक्ति प्राप्त कर जाता है। विशेष प्रकारसे छुटकारा वह जन्ममृत्युसे सदाके लिये पा जाता है। ऐसा सर्वलोकचारी मुक्त हंस कहाता है। पवित्रमें बैठनेवाला ब्रह्मलोकी, अन्तरिक्षमें बैठा हुआ वसु कहलाता है। दो लोकोंके मध्यके पोलमें से गुजरता हुआ वसुसंज्ञा पाता है, किसी भक्तके बुलानेपर जब आकर उसकी यज्ञ-वेदीमें बठता है तो होता कहलाता है, जब जप करनेवाले गृहस्थियोंको सुपथपर ले जानेके लिये उनके घर आता है तो अतिथि कहा जाता है। इसी प्रकार नेताओंको प्रेर रहा, श्रेष्ठ सज्जनोंको प्रेर रहा, समाधिस्थ जीवको वास्तविक ज्ञान दे रहा, यह अपना मुक्ति समय बिताता है। कभी आकाशमें आनन्द मनाता है कभी जलमें। कभी इन्द्रिय निर्माणकर आनन्द भोगता है। कभी पर्वत शिखरपर सैर करता है, कभी यथार्थ स्वस्वरूपमें आनन्द लूटता है। यह वास्तवमें बहुत बडा होता है। इसकी शक्ति अनन्तसी होती है। मुक्त आत्मा तो स्वच्छन्द विचरता है। प्रकृति तथा उसके कार्य सब उसके दास होते हैं।

देहके मध्य हृदयमें बैठे बौनेको सभी देवते पूजते हैं। वह अंगूठे जितना बौना बैठा लट्टू उछालता जाता है, जिससे पवित्र जीवनदायक तत्त्व तो ऊपर मस्तिष्ककी ओर उन्नत भागोंकी ओर ले जाया जाता है। और अपवित्र विश्वरूप नीचेको छोडा जाता है। प्राण उदान जीवन शक्तियां इससे छूट ऊपरको दौड रही हैं। अपान बाहरको मलोंको धकेलनेवाली शक्तियां नीचेको धंसी जारही हैं। लगातार यह बौना यही करता जा रहा है। इसीसे सभी इसीके चरण चूमते हैं क्योंकि जीवनाधार तो यही है।

शरीरमें बैठा यह शरीरी जब अपने स्थानसे फिसलने लगता है और सदाके लिये इस देहको सर्वथा छोडने लगता है तब पीछे क्या बच रहता है? देह तो तुरंत गलने सडने लग जाती है। अमरतत्त्व तो यही था जो बच निकला यही वह मरने पीछे बचनेवाला आत्मा अमृत सत्य है जिसकी बाबत तूने तीसरा वर मांगा हुआ है।

कोई मरणधर्मा अन्दर शक्ति भरने तथा बाहर विष फैंकनेवाली प्राण अपानरूप जीवन शक्तियों द्वारा ही नहीं जीता परन्तु एक और ही से जीता है। जिसके आश्रय यह दोनों शक्तियां वहां कार्य कर रही हैं वह वही उपरोक्त बौना है।

प्यारे! तुझे यह गुप्तभेद पुरानी बात वेद-शास्त्रका निचोड बतलाता हूं कि यह अत्यन्त गतिशील हुआ आत्मा मौत हो जानेपर किस अवस्थामें होता है।

कोई शरीरी तो नया शरीर लेनेके लिये जन्म पानेके लिये किन्हीं माताओंको प्राप्त हो जाते हैं और मनुष्य, पशु आदि किसी नयी योनिमें जन्म पा लेते हैं परन्तु कोई नित्य सनातन ब्रह्मको प्राप्त

कर जाते हैं। यह दो भेद उनके अपने किये कर्मों तथा प्राप्त किये ज्ञानके अनुकूल ही होते हैं। परम योगी निष्काम सात्त्विक कर्म सञ्चयवाले तत्त्वज्ञानी भगवद्भक्त ब्रह्मको पा जाते हैं। अन्य सब किसी न किसी योनिमें ही नया जन्म धारण कर लेते हैं। फिर फिर मरते जन्मते हैं, पहिले जन्म नहीं लेते।

शरीरके सभी अंग प्रत्यंगोंके सो जानेपर जो यह मनोमय पुरुष जागता रहता है और विविध इच्छाओंके अनुकूल चित्रविचित्र स्वप्नसंसार रच लेता है, इसी कारण यह शीघ्रकारी निर्माता अमृत "वह" कहा जाता है। तत शुक्र अमृत ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि वह अदृश्यपर अतीव शीघ्र सृष्टि रच लेता है। जब बाकी देह मरे समान होती है यह अमृत इतना कार्य कर रहा होता है। इसीसे पता चलता है कि वास्तवमें जाग्रतके लोक लोकान्तर भी सभी इसी मनोमय आत्माके आश्रित होंगे और वास्तवमें इसका नियम कोई उलांघ नहीं सकता। यही वह आत्मतत्त्व है जो संसार को निर्माण करता लोकोंको आश्रय देता तथा उनको नियममें रखता, परोक्ष शुक्र ब्रह्म अमृत है।

यह सम्पूर्ण भूतमात्र, प्राणि अप्राणिके अन्दर व्यापनेवाला सूक्ष्म सांझा तत्त्व है जो प्रत्येक भूतमें भूताकार हो रहा है और उसके बाहर भी है। ठीक जैसे एक ही विद्युत् अग्नि घरमें पहुंचकर कहीं पंखा चलानेवालेका रूप धार रहा है और कहीं लैम्प जला रहा है तथा कहीं नार्योंकी न्यार्यों उस का ब्रुश चला रहा है। या दान्तोंके डॉक्टरका ब्रुश चलाकर उसके दन्तरोगियोंके दन्त साफ कर रहा है। ऐसे ही आग कहीं चूल्हेमें लाल लाट दिखा रही है, कहीं लकडीमें छिपी पडी है और कहीं सूर्यकी धूपके रूपमें श्वेत, गर्म, चादर, बिछी प्रतीत हो रही है।

वायु भी घरमें आकर खिडकी, द्वार, रोशनदान आदिमें से गुजरते समय तदाकार हो जाती है। ऐसे ही एक ही सब भूतोंका अन्तर्यामि आत्मा प्रति भूत तदाकार हो रहा है और बाहर भी है। सभी भूतोंके अन्दर बाहर एक ही अन्तर्यामि सांझा आत्मा उसी प्रकार तद्रूप दीख रहा है। जिस प्रकार प्रति भूतमें प्रविष्ट अग्नि वायु तद्रूप दीख रहे हैं।

सम्पूर्ण संसारका प्रकाशक सूर्य सभी लोगोंकी आंख जैसे अपनी रश्मियोंको सबकी भौतिक चर्म चक्षुओंमें प्रविष्ट कराता हुआ। भी उन स्थूल आंखोंके स्थूल भौतिक दोषों, लाली, पानी बहना आदिसे दूषित नहीं होता। इसी प्रकार सुखीदुःखी सभी सांसारिक प्राणियोंके अन्दर सांझा व्याप रहा अन्तर्यामि आत्मा उनके सांसारिक दुःखसे दुःखी नहीं होता। वह दुःख उसके लिये सर्वथा बाह्य है उसके अपने आपमें नहीं केवल उन भूतोंमें है जो मानो उसके बाहर एक वस्त्रवत् लिपटे हुए हैं।

सभी भूतमात्रका अन्तर्यामि आत्मा ही एक ही अव्यक्त प्रकृति रूपको भिन्नभिन्न भूतोंका आकार देकर, अनेक रूप कर देता है और फिर उन सभी को अपने वशमें भी रखता है। जो अपने अन्दर उसे देखते हैं अनुभव करते हैं, वह बुद्धि, धृतिसम्पन्न योगी निरन्तर सनातन सुख प्राप्त करते हैं। अन्योंको वह सुख कैसे मिल सकता है?

नश्वर शरीरधारी अल्पज्ञ चेतन आत्माओंमें वह सर्वज्ञ नित्य सनातन भगवान् विद्यमान है, वह अकेला ही बहुत प्राणियोंके लिये इष्ट भोग रच देता है। उस भगवान्को अपने अन्दर स्थित जो साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाली शान्ति मिलती है अन्योंको नहीं।

यहांपर नचिकेता प्रश्न करता है कि 'महाराज! परम सुख तो अवर्णनीय माना जाता है और उसे तो "वह यह" इन दोनों शब्दोंद्वारा ही वर्णनीय मानते हैं। फिर हम जिज्ञासु उसे कैसे जान पाएं कि वह चमकता है चमकाता है इत्यादि।"

इस पर यम महाराजने बडा सुन्दर उत्तर दिया है। वह यह है- प्यारे ! उसके समक्ष न तो सूर्य चमकता है न चान्द तारे; नही ये विजुलियें उस के सम्मुख अपनी चमक दिखा सकती हैं फिर साधारण आगने तो वहां क्या प्रकाश कर सकना था ? सत्य बात यह है कि पहिले वह स्वयं महान् हिरण्यगर्भ प्रकाशता है। फिर उस के प्रकाश से ही पीछेसे सभी सूर्य,चान्द, तारे, विद्युत्, अग्नि सम्पूर्ण प्रकाशमय संसार उससे ही चमक लेकर उसके पीछे ही प्रकाशित हो रहा है। वह भगवान् तो स्वतः प्रकाशस्वरूप हैं । अन्य सब उसके आश्रय हैं।

छठी वल्ली।

मनरूपी घोडेपर सवार जीवात्मतत्त्व नित्य है पुराना है। इस की परमात्मारूपी उत्तम मूल है जिससे सम्बद्ध हो यह उर्ध्व गतिकर जाता है और इंद्रियां प्राण अन्नमय कोश इसकी नीचेकी शाखाएं हैं। यही मनोमय शरीरधारी आशुकारी सृष्टि-निर्माता अमर तत्त्व होने से और स्थूल दृष्टिवालों को अप्रत्यक्ष होनेसे तत् शुक्र, ब्रह्म, अमृत कहा जाता है। सभी लोक लोकान्तर इसीके आश्रय हैं। कोई इसकी आज्ञा उलांघ नहीं सकता, यही वह मौतके पीछे बचा रहनेवाला है। जो इस जग-नियंता को अतीव शक्तिशाली बहुत भयानक बडा वज्र समझकर इसकी आज्ञा नहीं उलांघते, वह मुक्ति-पथपर पदार्पण करते हैं और शीघ्र मुक्ति पालेते हैं। क्योंकि यही जीवनशक्ति सम्पूर्ण जगत को गति दे रही है। जो कुछ भी इस प्रकृति अव्यक्तसे विकाररूप निकलता है। वह सभी बना हुआ पदार्थ इसी जीवनशक्तिमें ओतप्रोत ही गतिसमर्थ हो रहा है।

इसी आत्मा के भयसे अग्नि गरमी फैला रही है। सूर्य गरमी प्रकाश दे रहा है। बिजुली चमक दमक दिखला रही है। पवनवेगसे भागती फिरती है और पांचवां प्रबल कार्यकर्ता मृत्यु भी पूर्ण वेगसे दौड धूप कर रहा है। कोई अपने कार्यमें तनिक भी सुस्ती नहीं कर सकता।

❀

यदि शरीरमेंसे जीवके ढलकनेसे पहिले इसी जीवनमें शरीर जर्जर होनेसे पूर्व ही इस आत्मा को जान सके। तब तो कुशल है और फिर चाहे जिस सृष्टिमें जिस लोकमें चाहे वहीं शरीर धारण कर सकेगा। स्वेच्छासे नवीन शरीर निर्माण समर्थ हो जायगा अन्यथा सदा के लिये आवागमन चक्करमें ही परवश घुमाया जाता रहेगा।

जैसे शीशेमें मुंह दीखता है वैसे ही इस अङ्गूठे जितनेमें परमात्मा संसार आदि सभी कुछ दिखाई पड जाता है। जैसे स्वप्न दीखता है वैसे ही पितृलोकी मूर्तियां दिखाई पडती हैं। जैसे जल से सब ओर घिरा अपने को स्नान करनेवाला अनुभव करता है। वैसे गन्धर्व सम्बद्ध व्यक्ति अपने को गन्धर्व की प्राणमय कायामें फंसा अनुभव करता है और जैसे धूपमें चलते फिरते पुरुषों की छाया पडती है। इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें अपना आप मनुष्य को परमात्मारूपी धूपपर छायारूप प्रतीत होता है।

सोये हुए की स्थूल इन्द्रियां सो जाती हैं पर उसका अपना आप स्वप्नमें इन्द्रियों के सभी व्यापार करता है। अतः यह बढने घटने उन्नत अव-नत होनेवाली स्थूल इन्द्रियां उस आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं पृथक् हैं। यही उत्पन्न होती हैं, नाश हो जाती हैं, वह अपना आप तो सर्वथा इनसे पृथक स्वतंत्र अपने में पूर्ण है। यह विचार जिस बुद्धि-मानने धैर्यपूर्वक दृढतासे पकड लिया अपनेमें स्थिर कर लिया फिर उसे आंख फूटने, नाक कटने, भूजा टूटने, आदि पर भी शोक नहीं होता, विना क्लोरोफार्म करण ही वह आप्रेशन करवा सकता है। सिक्ख शहीदों की तरह बन्द बन्द कटवा सकता है।

इंद्रियों से मन बलवान है। अतः मन प्रबल हो तो दुर्बल इन्द्रियों से भी बलवानों का काम ले सकता है। इन्द्रियां उस को विवश नहीं कर सकतीं मन से प्रबल बुद्धि है। अतः विज्ञानवेत्ता अपनी विचारधारा को अपनी रुचि अनुकूल ही

चलाता है विचार धारा उस को विवश नहीं कर सकती। बुद्धिसे जीव आत्मचेतनतत्त्व बहुत प्रबल है। अतः चेतन अपने ज्ञानसाधन से जिस विषय का चाहता है ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान चेतन सत्ता को विवश नहीं कर सकता। प्रकृति जीवात्मासे प्रबल है। उसको आकृष्ट कर उसे सत्य पथसे पृथक्कर डालती है। प्रकृतिसे बलवान तो वह चिह्नरहित सर्वव्यापक परमात्माही है। जो सकल संसाररूपी नगरी में आनन्द से सो रहा है। जिसे जान कर ही प्राणी जन्ममृत्यु बन्धन से छूट जाता है और अमर हो जाता है क्यूंकि चाहे इंद्रिय मन बुद्धी सभी पर केवल अपने आप ही आत्मा आधिपत्य प्राप्त कर सकता है। पर प्रकृति वशित्वपर तो तभी उसे प्राप्त हो सकता है जब वह प्रकृति से बलवान परम पुरुष का आश्रय ले।

इस भगवान्का रूप निगाहमें नहीं चढता। कोई उसको इस आंखसे नहीं देख पाता। मनकी शक्ति प्रबुद्ध करके मनस्वी बनकर फिर मनको भी जाननेवाली बुद्धिसे और बुद्धिकी भी प्रेरक चेतन हार्दिक भावनासे जो उस भगवान्को साक्षात् अनुभव करते हैं, वही भगवद्वेत्ता अमर हो जाते हैं अन्य नहीं।

सबसे उच्च अवस्था जीवकी परमगति यही है कि पांचों ज्ञान इन्द्रियां तो दब जायं। मन भी उनके ही समान सुन्न हो जाय। बुद्धि भी सांसारिक व्यापार सर्वथा बन्द किये हो और केवल परमात्मनिरीक्षणके विना अन्य किसी तद्विपरीत कार्यमें नहीं लगी हो। उस निरुद्धयोग अवस्थाको परमगति कहते हैं क्योंकि सर्वश्रेष्ठ परम पुरुष भगवान्के पास जीवकी पहुंच उस समय हो चुकी होती है।

उस इन्द्रियोंके पक्का टिका होनेको ही योग मुनिजन मानते हैं। उस समय जीवका प्राकृतिक नशा बिल्कुल उतरा हुआ होता है। वह योग इन्द्रियोंका लय और भगवद्चेतनाका उदय मात्र होता है। आत्मा परमात्मामें अपने आपको भूल चुका होता है और अपनेको ब्रह्म ही मान आनन्द मना रहा होता है। अपना प्राकृतिक जीवन सर्वथा भूल चुका होता है। यही प्राकृतिक विचारोंका अस्त होना ब्राह्म भावनाका उदय होना योग है।

यह वाणिसे रसकी न्यायीं चखा नहीं जा सकता। आंखसे रूपकी न्यायीं देखा नहीं जा सकता। मनसे विचारकी न्यायीं सोचा भी नहीं जा सकता। तात्पर्य यह कि मन तथा इन्द्रियोंकी पहुंचसे यह परे है। जो इसे अनुभव करते हैं वह केवल यह "है" इतना मात्र कहते हैं। जो इससे अधिक बोलते हैं उनसे यह कैसे अनुभव किया जा सकता है? यह "है" कह सकने की ही वास्तविक योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। क्यों कि यह "है" कह सकनेके योग्य होनेपर ही स्वात्मा शान्ति पा सकता। आत्मा परमात्मानुभव पाकर ही सन्तुष्ट हो सकता है। अतः यह आत्मा है, यह परमात्मा है। इस आत्मसाक्षात्कार अवस्थाको अवश्य प्रयत्नसे प्राप्त ही कर लेना चाहिये।

जो भी इच्छायें मनुष्यके हृदयमें उठती हैं और हृदयके आश्रय रहती हैं, वह जब सब ही सर्वथा छूट जाती हैं। अर्थात् जब दिलसे लगाकर मनुष्य सिवाए भगवान्के और कुछ नहीं चाहता, तब वह मरणधर्मा नहीं रहता। वरञ्च अमर हो जाता है। यहीं इसी जीवनमें इसी मानवदेहमें वह परमात्माके साथ आनन्द भोगता है। इसी प्रकार जो गांठें दिलमें किसीके विरुद्ध और किसीके लाभके लिये, जब वह सर्वथा खुल चुकती हैं या टूट चुकती हैं, तब इसी जीवन में अपना मरणधर्म त्याग कर मनुष्य अमर हो जाता है। बस यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोपनिषत्सार है। अन्त में हे नचिकेता ! प्रिय ! तुम्हें मतलब की बात फिर बतला देता हूं उस को पक्काकर ले; वह यह है—

हृदयसम्बधि तो सैंकडो रुधिर शिराऐं शरीर को व्याप रही हैं। पर एक ऊन में से विचित्र है जो निकल कर माथेको चली गई है। बस जब जीव मरते समय उर्ध्वगमन करता है तो इसी में ऊपर जा चढता है और सूर्यद्वारसे बाहर छलांग लगा अमृतत्व प्राप्त कर जाता है। जो बाकी सैंकडों हैं उन में से किसी के रास्ते कोई जीव निकल किसी योनि में चला जाता है और किसी दूसरी के रास्ते कोई दूसरा जीव किसी अन्य योनि में। इसी प्रकार उन सैंकडों के रास्ते विविध कर्म ज्ञानवाले जीव सैंकडों ही भिन्न भिन्न योनियों में जा जन्म पा लेते हैं।

अङ्गूठे जितना शरीरी पुरुष स्थूल शरीर के अन्दर बैठा आत्मा सदा ही मनुष्योंके हृदयमें बैठा सम्यक् प्रकार वहां टिका रहता है। उसको अपने स्थूल शरीर में से दृढतापूर्वक यूं निकाले जैसे सरकंडेकी मुञ्ज में से अन्दर का शर (काना) खींच कर लडके निकाल लिया करते हैं। उस अन्दर वाले को अमर पवित्र शीघ्रकारि परोक्ष सूक्ष्म आत्मा मानें जानें अनुभव करें पहिचानें कि मरे पीछे यह बच जाता है।

मृत्यु भगवान् यमराज की कही यह मृत्युविद्या और सम्पूर्ण योगविधि प्राप्त करके तदनुकूल आचरण कर नचिकेता परमात्माको पा गया, मल रहित हो गया, रजोगुण सर्वथा वश में कर गया मौत जीत अमर हो गया। यही सब सिद्धियां अन्य जिज्ञासु इस उपनिषत् के ध्यान कर्ता प्राप्त करेंगे जो इस आत्मसम्बन्धि सम्पूर्ण ज्ञान को जान कर इस में कहे योग से परमात्मा को ध्यायेंगे।

अवश्य वह शक्तिशाली भगवान् इस विद्याके देने लेने वालों की रक्षा करें। अवश्य उनकी सहायतासे यह दोनों अमृतभोग भोगें। अवश्य उन के बल से यह दोनों अपना ब्राह्म वीर्य उन्नत करें। हे भगवन्! आप की सहायता कृपादया से हम लेखक पाठकों का लिखा पढा तेजस्वि हो संसार में प्रकाशित हो। हम परस्पर द्वेष सर्वथा न करते हुए एक दूसरे को सहायक हों।

आपकी कृपासे त्रिविधताप हम सभीके नष्ट हों॥

इति कठोपनिषत्समाप्ता॥

षड्ज गीता।

[ले०- श्री०प०स० देसाई, संपादक 'रामकृष्ण-निकेतन']

श्रीमन्महाभारतरूपी सागरमें अनेक बहुमोल रत्न मिलते हैं। उन्हीं में से एक रत्न षड्ज गीता है। आज यहां इसी साहित्यरत्नकी मीमांसा करेंगे-

ज्ञानगर्भ प्रबंधके लिये 'गीता' ऐसा सन्मान्य नाम दिया जाता है। परंतु आजकल अपन लोग गीता के मायने श्रीकृष्णार्जुनसंवादात्मक सात सौ श्लोकोंका ज्ञानमय प्रबंध ही समझते हैं। और हम भी कबूल करते हैं, कि इस प्रकार के प्रबंधों में गीता-ग्रंथ श्रेष्ठ है। परंतु अन्य ज्ञानमय प्रबंधों का विचार किये विना सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। उन प्रबंधों को भी गीता ही कहते हैं। जिस तरह पिंगलगीता, शम्पाकगीता, मंकिगीता, हरितगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता, हंसगीता इत्यादि। कूर्मपुराणके कुछ विभागोंको ईश्वरगीता का अभिधानहै। वैसेही रामगीता, पांडवगीता, अष्टावक्रगीता, प्रभृति सब गीता ही हैं। ये सब प्रबंध ज्ञानगर्भ होने के कारण यही कहना पडता है, कि इनको जो गीता का श्रेष्ठ नाम दिया है, वह सार्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में केवल श्रीकृष्ण और अर्जुन का संभाषण दिया है। उसी तरह इस षड्जगीता में विदुर और पंचपांडवों का संभाषण है। इन छः व्यक्तियों का यह भाषण होने के कारण ही से इस प्रबंध को षड्ज गीता नाम दिया गया है। महाभारत के अंतर्गत शांतिपर्व के आपद्धर्मपर्व में १६७ वें अध्याय में यह मनोरम गीता कही गई है।

प्रतिज्ञाप्रख्यात भीष्मपितामह शरशय्यापर पडे थे; और वे युधिष्ठिर को राजधर्म, ब्राह्मणधर्म, तथा प्रसंगक्रम से अर्थ और काम के संबंध में उपदेश देते थे। श्रोतृजनों में विदुर और पंच पांडव मुख्य थे। जब विश्रांतिके लिये भीष्म पितामह स्तब्ध रहते,थे तब विदुर के साथ पंच पांडव अपने शिबिर में जाते थे। इस प्रकार एक दिन वे शिबिरमें गए तब युधिष्ठिरने पूछा, "धर्म,अर्थ और काम इन तीनोंमें श्रेष्ठ कौनसा, मध्यम कौनसा और कनिष्ठ कौनसा है? इसी तरह काम, क्रोध और लोभपर विजय प्राप्त करने का समाधानकारक उपाय क्या है?"

युधिष्ठिर का यह प्रश्न बहुत महत्त्व का था। आजकल इस प्रश्न के संबंध में सब जगह बडे बडे विद्वान् लोग वाद-विवाद कर रहे हैं और नाना प्रकारके तर्क कुतर्क भिडाकर अपनी उज्ज्वल प्रतिभा प्रस्थापित कर रहे हैं। इन्हीं वैवादिक प्रश्नोंकी चर्चा चार पांच हजार वर्ष पहिले इस प्रकार की गई थी। युधिष्ठर का पहिला प्रश्न है— धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों में श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ कौन है? आज अपना समाज इसी प्रश्नपर शूर वीर के समान अपनी कलम चला रहा है और शब्दपांडित्य की गर्जना कर रहा है। सारे समाज में इसी एक प्रश्नने बडी खलबली मचा दी है। 'साहित्य में धर्म का प्रयोजन क्या है?' इसी एक प्रश्नपर आज जोरों से वाग्युद्ध हो रहा है। धर्म हो, तो रहा आवे; परंतु न हो, तो नुकसान क्या है? जहां वाचकों की भोगलालसा तृप्त हुई और ग्रंथकार को पैसा मिला वहां काम हो चुका! राजकारण के क्षेत्र में भी इसी बात-पर खडाजंगी उड रही है। 'धर्म धर्म' रटते रटते देश नष्ट हो गया! धर्मप्राधान्य घातक है। राजकारण में धर्म की कोई गरज ही नहीं है।' इसी विचारसरणी के कारण समाज में अर्थ को प्राधान्य मिल गया है और धर्म को क्षीणता आ रही है; उसकी उपेक्षा की जा रही है; उसको

हीनत्व लानेके हेतु बडे बडे लोग प्रयत्न कर रहे हैं। आज भी इस प्रश्न का उद्देश्य यही है, कि " श्रेष्ठत्व किसका है ? " मनोरथपूर्ति के लिये - काम्य वस्तु की प्राप्ति के लिये- धर्म का और अर्थ का भी विसर्जन करने में आज समाज बिलकुल नहीं हिचकिचाता और उच्छृंखलता को सत्कार्य का श्रेष्ठ नाम देकर उसका गौरव किया जाता है। अनेक गहन और गूढ प्रश्न समाज में उपस्थित होते हैं और जड विज्ञान के प्रमेयोंद्वारा उन्हें हल करने की चेष्टा हो रही है। अर्थात् हमें यह देखना आवश्यक है, कि हमारे पूर्वजोंने इस संबंध में क्या निर्णय दिया, और इसीलिये षड्ज गीताका विवेचन है।

टीकाकार नीलकंठ कहते हैं—'इस आख्यायिका के आरंभ में आचार्य व्यासदेवने कहा है, कि एकही गुरुके पास से अनेक शिष्य एकही उपदेश सुनते हैं; परंतु वे उस उपदेश का अर्थ अपनी अपनी भावना के अनुसार करते हैं। षड्ज गीता का विवेचन इसी तत्त्वपर किया हुआ नजर आता है।' अस्तु। युधिष्ठिर के प्रश्न को उत्तर देते हुए महान् भगवद्भक्त विदुर बोले,"भिन्न भिन्न शास्त्रोंका अध्ययन, तपश्चर्या अर्थात् स्वधर्माचरण, दान, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि - इंद्रियनिग्रह, यही धर्म है और यही मूल है। मैं इनमें भेद नहीं मानता; क्यों कि अर्थ धर्म ही में प्रतिष्ठित है। धर्म को छोडकर अर्थ नहीं और अर्थ को छोडकर धर्म नहीं है। " विदुर के इस कथन का यही अर्थ होता है, कि धर्म श्रेष्ठ है, अर्थ मध्यम है और काम कनिष्ठ है।

इसके बाद अर्जुनने कहा, " पृथ्वी कर्मभूमि है, इसलिये यहां प्रवृत्तिविधायक कर्महीको प्राधान्य देना चाहिये। कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, विविध शिल्पकार्य इन सबमें बदल नहीं हुआ; ये कर्म व्यवस्थित रीतिसे चले तो अर्थप्राप्ति होती ही है। अर्थके विना-द्रव्य के विना धर्म और काम रह नहीं सकते। अर्थसिद्धि न हो, तो धर्म और काम निवृत्त होंगे। सब लोग द्रव्यवान् पुरुषकी ही सेवा करते हैं। नैतिक ब्रह्मचारियोंको भी द्रव्य की अभिलाषा करनी पडती है। संन्यासी भी अर्थार्थी रहते हैं। बहुतसे लोग स्वर्ग-लोक-साधनके हेतु धर्मानुष्ठान करते हैं। आस्तिक तथा नास्तिक दोनों वर्ग यही मानते हैं, कि द्रव्यके विना कुछ न होगा। "

इसपर नकुल-सहदेव बोले, " अर्थोपार्जनके लिये सभीको निरंतर प्रयत्न करना आवश्यक है। सब कोई यह जानते हैं, कि प्राप्त द्रव्यहीसे इच्छित वस्तुएं प्राप्त होती हैं। हमारे मतसे यदि धर्मके साथ अर्थ हो और अर्थके साथ धर्म हो, तभी वह मनुष्यको अमृततुल्य हो सकेगा। निर्धन मनुष्य इच्छित वस्तुका उपभोग ले नहीं सकता, इसी तरह धर्महीन मनुष्यको द्रव्य कहांसे प्राप्त होगा? इसलिये जो मनुष्य धर्म और अर्थको नहीं मानता, इन दोनोंने जिसको बहिष्कृत किया है। उसका सब लोग उपहास करते हैं। वे उससे दूर रहते हैं। इसलिये असंयमी मनुष्यको चाहिये कि वह धर्मको प्राधान्य देकर अर्थसंचय करे।"

इससे विद्वान् लोग जान सकते हैं, कि महात्मा विदुरके मतसे नकुलसहदेवका विशेष मतभेद नहीं हैं।

अब देखिये, भीमसेन क्या करते हैं। इन चारों का भाषण सुन लेनेपर भीमसेनने कहा, "कामना-शून्य पुरुष द्रव्यकी बिलकुल इच्छा नहीं करता; कामनाहीन व्यक्तिको धर्मकी अभिलाषा नहीं रहती और जिन्हें कामना है ही नहीं, वे लोग कभी कोई इच्छा ही नहीं रखते। इसलिये काम ही श्रेष्ठ है। ऋषि और मुनिभी कामनावश होकर ही फलमूल पत्र आदिका भक्षण करते हैं, वायुसेवन करते हैं और पराकाष्ठाके संयमसे तपश्चर्या करने लगते हैं। दूसरे कोई लोग स्वाध्याय-परायण होकर कामना ही से वेदवेदांत प्रभृति शास्त्रोंका अनुशीलन करने

में तल्लीन होते हैं। कोई कोई श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करके कामनाहीसे दान प्रतिग्रह देते लेते हैं। वैश्य, किसान, ढोर रखनेवाले, कला-कौशल्यके काम करनेवाले और जो देवकर्म करते हैं, वे सब कामनाहीके अनुसार हेतुपूर्वक—उन उन कामोंमें निमग्न रहते हैं। कई लोग कामनायुक्त होकर समुद्रकी थाह लेते हैं; उसके पेटमें घुसकर अपने मनोरथ सिद्ध करते हैं। अतः कामही अनेक रूपों से पदार्थमात्रमें व्यापकर रहा है। महाराज! काम-से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं, न कभी थी और न कभी होगी। मुख्य तत्त्व कामना ही है। धर्म और अर्थ उसीमें हैं। जिस प्रकार दहीसे मख्खन, तिलसे तेल, छाछमेंसे घी, झाडमेंसे फल फूल और फूल-मेंसे मधु निकलता है और वही उसका श्रेष्ठ स्वरूप माना जाता है; उसी प्रकार धर्म और अर्थकी अपेक्षा काम श्रेष्ठ है। कामही धर्म और अर्थका कारण है। इसी तरह धर्म और अर्थका स्वरूप कामही है। कामना न हो, तो ब्राह्मण लोग ब्राह्मणोंको सुवर्ण इत्यादि न देंगे। जनताके तरह तरहके प्रयत्न सिद्ध न होंगे। इसलिये धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में काम श्रेष्ठ है।"

इस प्रकार विदुरका तथा चार पांडवोंका भाषण समाप्त होनेपर युधिष्ठिरके मतप्रकाशका समय आया। उसका मत देनेके पहिले पूर्वसंधान देखनेकी हम वाचकोंसे प्रार्थना करते हैं। क्यों कि युधिष्ठिरके दो प्रश्न थे। पहिला प्रश्न था कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंमें श्रेष्ठ क्या है? दूसरा प्रश्न यह था, कि क्रोध और लोभपर विजय संपादन करनेका समाधानकारक उपाय कौनसा है? विदुरने और चार पांडवोंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार पहिले प्रश्नका उत्तर दिया।

युधिष्ठिरको भी ये उत्तर यथायोग्य मालुम हुवे। उन्होंने कहा, "तुम सबने धर्मशास्त्रके अनुसार ही उत्तर दिये हैं। तुम्हारा निर्णय सप्रमाण होनेके कारण सर्वमान्यही होगा, इसमें कोई शक नहीं। इस निश्चित उत्तरसे मेराभी समाधान हुआ है।"

इसके पश्चात् स्वतःका मत देते हुए युधिष्ठिर बोले, "जो मनुष्य पाप, पुण्य, धर्म, अर्थ और काममें आसक्त नहीं होता, उसके बर्तावमें कोई भी दोष नहीं रहता; वह समलोष्टाश्मकांचन रहता है। वह सुख, दुःख और अर्थप्राप्तिसे हमेशा मुक्त ही रहता है। जातिस्मर और जराविकारग्रस्त मनुष्यप्राणी वारंवार सुख दुःखादि चक्रोंमें पड जानेके कारण मोक्षकी प्रशंसा करता है। परंतु हमें मोक्षके संबंधमें कुछ नहीं समझता। भगवान् स्वतः कहते हैं कि, रागद्वेषादि विशिष्ट स्नेहयुक्त मानवप्राणी मोक्षको नहीं पहुंचता। ममत्व-ज्ञानरहित पंडितों ही को मोक्ष मिलता है; वे ही निर्वाणपरायण होते हैं। वे प्रिय अथवा अप्रिय ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते। मोक्षका उत्कृष्ट उपाय यही प्रार्थना करना है, कि "हे ईश्वर! यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।" मनुष्यमात्र को विधाता सब विषयों में मग्न रखता है। इस-लिये विधियोजना ही बलवान् है, यह बात सब लोगों को जान लेना चाहिये। यह जानना आवश्यक है, कि आप्रप्य वैभव कर्मद्वारा मिलने का कोई निश्चय नहीं है। इसी तरह यह भी भूलना न चाहिये, कि धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्ग से मुक्त मनुष्य को भी पैसा मिलता है।"

वैशंपायन कहते हैं, "युधिष्ठिरके इस विवेचन से पांडव तो संतुष्ट होही गए, किंतु सुननेवाले अन्य राजाओं को भी समाधान हुवा।"

षड्ज गीता यहीं समाप्त हुई। इसमें विविध मतप्रदर्शन हैं; परंतु मीमांसा करने का बिलकुल प्रयत्न नहीं किया गया। अब यह बतलाकर, कि भगवद्गीता इस विषय में क्या कहती है? यह लेख समाप्त किया जाय। धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों का कर्मसे अत्यन्त निकट संबंध है। ये तीनों प्रकार कर्मसंश्लिष्ट हैं। विहित-अविहित कर्म का निर्णय करना बहुत कठिन है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(अ. १६ श्लोक २३-२४)

इसका भावार्थ यही है कि कर्म यदि शास्त्रविधि-संमत हो, तो उसमें सिद्धि मिलती है और उसी तरहसे वह करना चाहिये। क्यों कि प्रत्येक कार्य की कोई न कोई पद्धति रहती है। उस पद्धति को अथवा उस मार्ग को छोडकर कुछभी करते नहीं बनता, और वैसे किया जाय, तो यह निश्चित है, कि वह सिद्ध कर्म न होगा अर्थात् उपयुक्त न होगा।

शास्त्र जैसे अनेक हैं, वैसे विधि भी अनेक हैं। धर्मशास्त्र कोई एकही शास्त्र नहीं है। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, युद्धशास्त्र, कृषिशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, इत्यादि असंख्य शास्त्र हैं। अर्थात् जहां कृतकार्य की सिद्धी नहीं होती और वह जनता को अपायकारक होता है, वहां यह समझ लेना, कि वह कार्य शास्त्र के अनुसार नहीं हुआ। काम, क्रोध और लोभ-पर विजय प्राप्त करके इन्हें अपने काबूमें रखनेका यदि कोई योग्य उपाय हो, तो वह यही है, कि यथाशास्त्र विधिवत् कर्तव्य करना चाहिये, उसमें त्रुटि न हो।

आजकल धर्मशास्त्रकी और नीतिशास्त्रकी उपेक्षा होती है। इसका परिणाम यह होता है, कि हमें किसी भी विषयमें अभ्युदयकी ओर जाते नहीं बनता। यही कारण है, कि हमारी किसी भी विषयमें प्रगति नहीं होती। चार कदम आगे, तो पांच कदम पीछे जाते हैं। जैसा कि अर्जुनने कहा है, दरिद्री मनुष्यके योग्य ऐसी बुरी स्थिति हमारी हो रही है। हम अर्थहीन व्यक्तिके समान दुर्दशासे ग्रस्त हो रहे हैं। ऐसी हालतमें, जैसा कि नकुल-सहदेवने कहा है, अर्थ और कामका संबंध जोडकर ही हमें कार्य करना चाहिये। नाहक एक ही को प्राधान्य देना न चाहिये। विद्वान् लोगोंके विचार करनेके लायक यही स्थल है।

सांप्रतमें अनेक स्त्रीपुरुषोंकी यह धारणा होने-लगी है, कि हम साहसयुक्त हैं, हमारी निर्भय वृत्ति और स्वतंत्र विचार हैं। परंतु जब विचार किया जाय, कि यह कितना वास्तव है, तब यही सिद्ध होता है, कि ये केवल वल्गनाएं हैं। व्यवहारशून्यता, पूजा जपजाप्यका उपहास, सवि-कार लेखन, अदूरदर्शी भाषण, श्रेष्ठोंका उपमर्द, अदूरदर्शी वाङ्मयकी प्रसिद्धिका पुरस्कार, नीतिकी बेलगामी कल्पनाएं, इत्यादि बातोंको देखकर प्रश्न यही आता है, कि उक्त समीकरण किस तरह किया जाय? विद्वान्, समंजस, दूरदर्शी विद्वानोंको इसके बारेमें अवश्य विचार करना चाहिये। शास्त्रके मायने सिद्धान्त। ये सिद्धान्त अनेक अनुभवोंसे सिद्ध ठहरे हैं। अर्थात् ठहरे हुए विधान और तदनुरूप होनेवाले आचार ही परिणाममें सुखप्रद होते हैं। केवल अदूरदर्शी और अव्यवहार्य विचारोंका तूफान कोई उन्नति का मार्ग नहीं है। शांत मनसे कोई भी इसपर विचार करे, तो धर्म, अर्थ और कामका समन्वय सुगम रीतीसे हो सकता है। इसके लिये वाम मार्ग का अवलंब करके स्वतंत्र विचारका भारी नाम देनेमें कोई सार न निकलेगा। षड्ज गीताका इस दृष्टिसे विचार किया जाय, तो आधुनिक लोगोंको भी अभ्युदयका मार्ग निःसंदेह मिलेगा।

गीताविषयक नवीन विचार।

(ले०- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

बारहवां अध्याय

ग्यारहवें अध्यायमें कृष्ण महाराजने अपना विराट-स्वरूप जब अर्जुनको दिखलाया तो वहां कालहरि भगवान्के भयङ्कर रूपसे वह कांप उठा। भगवान्ने तब अपना वास्तविक रूप उसे फिर दिखला कर शान्त किया। इस घबराहट तथा किञ्चित् शान्तिके अनन्तर अर्जुनके लिये यह पूछना स्वाभाविक ही है कि महाराज उपासना तेरी करें कि निराकारकी? तेरे उपासक योगज्ञान अधिक जानते हैं कि अविनाशी सर्वव्यापक निराकारके? जो अनन्य भक्तिसे तेरा ही कर्म करते हैं तेरे ही ऊपर डोरी छोड देते हैं, तेरे ही भक्त बनते हैं। सारे जीवजन्तुओंसे ही वैर करना सर्वथा छोड देते हैं। यहां तक कि दूसरे किसी पदार्थ या व्यक्तिके भी साथ होनेकी इच्छा नहीं रखते ऐसे निरन्तर तेरे भक्त जो मानों सदा ही तुझसे जुडे हुए तेरेमें ही घिरे रहते हैं और इनके विरुद्ध जो अविनाशी, सर्वव्यापक, निराकार, शुद्ध आत्मसत्ताकी उपासना करते हैं। इन दोनोंमेंसे आप बताईये कि योगका ज्ञान अधिक किसको है? प्रश्न सर्वथा स्फुट है वैसा ही स्फुट निश्शङ्क उत्तर महाराज कृष्णने दिया है उसको तोड मरोडकर उससे अन्य भाव निकालना हम पाप समझते हैं। गीता भगवान् की गाई हुई है। अतः जो अर्थ भगवान् जिन शब्दोंसे लेना चाहते थे हमें उसमें हस्ताक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं। गीता कृष्णकी है और कृष्णके ही अर्थ को उससे व्याख्यात करना धर्म अन्यथा करना अधर्म है। अतः हम स्फुट उत्तर ज्यों का त्यों लिखते हैं वह यह है-

(१) मुझमें ही अपने मनको सभी ओरसे प्रविष्ट करवा कर जो सदा ही मुझसे जुडे हुए मेरे समीप बैठते हैं और अत्यन्त श्रद्धासे इस प्रकार मेरे समीप आये हैं मैं तो उन्हें ही श्रेष्ठ योगी मानता हूं।

(२) परन्तु जो अनिर्वचनीय, निराकार, सर्व-व्यापक, अविनाशी, एकरस, अचल, अडोल, चित्तसे सोचा जानेके अयोग्य, की सब ओरसे उपासना करते हैं। सभी पदार्थों, प्राणियों आदिमें एकसा ही आत्मसत्ताका अनुभव करते हैं और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका बाह्य विषयोंसे रोक कर और सभी प्राणिमात्र, पदार्थमात्र तथा शक्तिमात्रके हित तथा उन्नतिमें ही लगे रहते हैं। वे भी मुझे ही अन्तमें जा प्राप्त होते हैं पर मार्ग की कठिनाई इन को अधिक झेलनी पडती है। क्योंकि इन का चित्त निराकारमें उलझा होता है और देहधारी, मनसे सम्बद्ध जीव को यह अव्यक्त, निराकार, अनुभव बडी कडी अन्तः समालोचना से ही, बहुत तंग होने पर ही हो जाय तो हो जाय, अन्यथा साधारण क्रिया कलाप से नहीं प्राप्त होता। मेरा भक्त तो पहिले मुझे अपने जैसा मानव समझकर मेरे कर्मोंकी प्रतिकृति उतारता उतारता जब मेरी उच्च अवस्थाकी प्रतिकृति उतारने लगता है तो क्रमानुसार वह सरलतया ही सिद्धि पा जाता है। परन्तु सीधा निराकार को ढूंढनेवाले को बडी कठिनाई यह होती है, कि लाख पढले सुनले आसानी से उत्पन्न ही नहीं होता कि निराकारपना क्या है? शब्दोंकी हेराफेरी वक्ता, उपदेशक, लेखक चाहे कितना ही करें पर निराकार का अनुभव उनमें से किसी को भी नहीं होता। क्योंकि देहधारी देह की क्रियाओं, इन्द्रियोंके ज्ञानकर्म्मों, मनचित्तके सङ्कल्प चिन्ताओं आदिसे एक क्षणके लिये भी सर्वथा मुक्त कब हो सकता है कि उसे निराकार शुद्धात्मसत्ता का अनुभव हो।

इस के विरुद्ध जो सभी कार्यों को मेरे अर्पण करके मेरे ही आश्रित हो रहते हैं, और अन्य सभी से अपना ध्यान हटाकर केवल मेरा ही ध्यान करते हुए उपासना की रीति से मुझे प्राप्त होते हैं : उनका मैं स्वयं ही उद्धार करता हूं। देर नहीं लगता तुरन्त ही इस मृत्युवशवर्ती संसाररूपी समुद्र से अच्छी प्रकार उन्हें मैं निकाल देता हूं जिन्होंने अपना चित्त मुझमें स्थिर कर दिया है। मैं उन्हें आवागमन भंवर से तुरन्त निकाल डालता हूं।

इसलिये हे विस्तृत यशवाली कुन्तिमाता के पुत्र! तू अपना मन मुझमें ही सब ओर से धारण करा दे। मुझमें ही अपनी बुद्धि को भी नितान्त प्रविष्ट करा दे तत्पश्चात् तू निस्संदेह मुझमें ही निवास करता रहेगा। तेरा जीवन ही तत्पश्चात् कृष्णमय ही हो जायगा।

यदि मुझमें अपने मन, बुद्धि, चित्तको तू सदैव टिका नहीं रख सकता तो हे संग्रामविजय आदि द्वारा धन प्राप्त करनेवाले अर्जुन! तू मुझे योगाभ्यास से प्राप्त करने की चाह रख। बार बार यत्न करके अपने चित्तको टिकाना सीख, पुनः समाधि लगानेका यत्न कर।

यदि इस अभ्यास योग करनेकी भी तुझमें सामर्थ्य नहीं तो तू मेरे कर्म करनेमें लग जा क्योंकि केवल मेरे ही निमित्त कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि पा जायगा।

यदि यह भी तू नहीं कर सकता और मेरे आश्रित होकर मेरे ही लिये कर्म करना रूप योग भी नही साध सकता तो, अपने आपको वशमें रखता हुआ सर्वथा स्वतन्त्र होकर सभी कर्मोंके फलकी आशा त्याग दे। यह भी ठीक रहेगा कि सर्वथा किसी आशासे कोई कर्म न कर, सर्वथा स्वतन्त्र निष्काम भावसे जो शुद्धाचरण तुझे जंचे वही करता जा, फिर भी कालान्तरमें सिद्धि पा ही जायगा। क्योंकि ऐसे त्यागसे आत्मिक शान्ति प्राप्त करनेमें देर नहीं लगती तुरन्त Selfsatisfaction हो जाती है। इस प्रकार बार बारके यत्नसे तो ज्ञान ही अधिक कल्याणकारी है क्योंकि किसी किसी व्यक्तिका चित्त ज्ञानके एक विचार मात्रसे ही स्थिर हो जाता है। परंतु ध्यान ज्ञानसे बढकर है क्योंकि उस एक विचारका भी अभाव हो जाना, ध्यान लग जाना कहलाता है। ऐसे ध्यानीको विना विचार किये ही अत्यधिक शान्ति मिलती है परन्तु कर्मके फलकी आशाको त्यागना ध्यानसे भी उत्तम है क्योंकि जो कर्म करता हुआ उसके फल की, सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ, सुखदुःख की आशा उससे सर्वथा नहीं रखता। कर्म करते हुएका जिसका आत्मा अडोल है वह तो वास्तवमें ध्यानाश्रित ही सब कार्य कर रहा होता है। केवल ध्यानीका ध्यान जब वह कर्म करने लगता है तो टूट जाया करता है, कर्ममें मन उलझ जाता है। अतः मन ध्यान छोड देता है पर कर्मफलत्यागीका कर्म मनसे नहीं होता, वरञ्च मन तो ध्यानस्थ ही रहता है। कर्म स्वाभाविक रीतिसे (Naturally) ही होता जाता है। इसका भेद उन्हींको ज्ञात है। जो इस दशामें पहुंचे हुए हैं वह कहते हैं कि उस अवस्थामें हर काम करते हुए भी अखण्डैकरस भगवद् नाम जाप होता रहता है। परन्तु लेखकको इसका (Practical experience, Personal Knowledge,) क्रियात्मिक परिचय,अपने आचरणमें आया ज्ञान, नहीं है। इसलिये समझमें उसकी यह बात नहीं आयी कि मानसिक कर्म विना मन लगे कैसे हो सकते हैं? हां हाथकी क्रियाएं तो बाजा बजानेमें उंगलियां चलनेकी न्यायीं हो सकते हैं। कर्मफल-त्याग इसलिये भी सर्वोत्तम है कि इससे तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है। जब उसको अच्छे फलसे खुशी, बुरे परिणामसे शोक होता ही नहीं तो फिर तो उस का मन टिक ही गया वह घबरायगा ही नहीं। उस को तो सदा के लिये शान्ति मिल ही गयी।

अतः मेरा प्यारा वही है जो मेरा भक्त है, जिस ने अपनी मन बुद्धि मेरे ही अर्पण कर रक्खी है, जो अपने आप को वश किये हुए सदा मुझ से ही जुडा हुआ इसी धर्म में पक्का निश्चय रक्खे हुए सदा ही सन्तुष्ट तृप्त रहता है। किसी से वैर नहीं रखता। सभी प्राणियोंपर मित्रके समान स्नेहपूर्ण कृपादृष्टि सदैव रखता है। मैं मेरी का झगडा ही नहीं पडने देता और दुःख हो चाहे सुख, दोनों से ही प्रभावित न

होता हुआ सदैव एक रस रहता है। क्षमा करना जिस की प्रकृतिमें ही प्रविष्ट हो चुका है, यथाशक्ति जो क्षमा ही करता जाता है और द्वन्द्वों को सदा ही विना शिकायत सहारता ही रहता है।

संसार के प्राणि जिस से घबराते नहीं और जो संसार के किसी भी प्राणि से घबरता नहीं, खुशी हसद डरके जोश से जो छूट चुका है अर्थात् दिल को प्रसन्न करनेवाले पदार्थों से जो इतना खुश नहीं होता कि उसका चित्त बल्लियों उछलने लगे इसी प्रकार पराई उन्नति देख जिसे ईर्षा के कारण घबराहट नहीं होती। तथा अपनी हानि हो जाने की आशङ्का से जिसे भय प्राप्त नहीं होता। ऐसा सर्वावस्थाओंमें सम रहनेवाला प्राणि ही मुझे प्रिय है वही कृष्णका प्यारा है।

परवाह न रखनेवाला, पवित्र, चतुर, उलझने न वाला, घबराने न वाला, स्वार्थ के लिये नये नये बडे उद्योग से साध्य आडम्बर न रचनेवाला, जो मेरा भक्त है वही मुझे प्रिय है। सांसारिक सुखनिमित्त नित्य बडे बडे काम आरम्भ करनेवाला, स्वार्थी, अश्रद्धालु, घबरानेवाला, उलझनेवाला, बात बात पर अडचन डालनेवाला, अपवित्र और (Unpractical) अक्रियात्मिक व्यक्ति अपने आप को कृष्णप्रिय कहलाने का अधिकारी सर्वथा नहीं।

जो इष्ट को प्राप्त कर प्रसन्न नहीं होता, शत्रुको देख द्वेषाग्निमें नहीं जलता, दुःखी हो शोक नहीं करता, सुख की इच्छा से व्याकुल नहीं होता, अशुभ कार्य विचार आदि का सर्वथा परित्याग करनेवाला तथा शुभ कार्य के फल की आशाका भी सदा ही त्याग करनेवाला श्रद्धालु भक्त ही भगवान् का प्यारा होता है।

शत्रुहो चाहे मित्र, अपमान करे कोई चाहे मान, गर्मी लगे चाहे सर्दी, दुःख मिले चाहे सुख, कोई निन्दा करे चाहे स्तुति, जो इन सभी परस्पर विरुद्ध द्वन्द्वोंसे सर्वथा अप्रभावित रहता है। इनसे विचलित तनिक भी नहीं होता एक रस, सम, तुल्य रहता है, बुद्धि मति ठिकाने ही रखता है। चुपचाप सब कुछ सहार जाता है, जो कुछ धार्मिक प्रयत्नसे प्राप्त हो जाय उसीसे सन्तुष्ट रहता है। अपनी जायदाद मकान आदि पक्की कर जानेकी चिन्तामें जो फंसा नहीं हुआ और जो भक्तिसे भरपूर है ऐसा मनुष्य ही मेरा प्यारा भक्त है। मैं तो उसे ही अपना प्रिय समझता हूं।

सबका सार यह है कि जो इस हमारे धर्मयुक्त, मृत्युसे छुडा सकनेवाले संवादमें वर्णित हुए आचार को सर्वतः सम्पादन करेंगे और करते हैं। श्रद्धापूर्वक मेरा ही आश्रय लिये हुए, भक्त सज्जन, वही मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। सर्वतो प्रिय तो मुझे वही हैं जिन्होंने श्रद्धाभक्तिपूर्वक मेरे पर डोरी डाल रक्खी है और मेरे परम श्रद्धालु भक्त होकर इस मेरे अमृत-रूप गीतोक्त धर्मके ही अनुकूल सर्वथा विचरते और सदा मेरी उपासना करते रहते हैं।'

तेरहवां अध्याय

अब अर्जुन पूछता है कि 'हे महाराज! अमृत धर्म सम्बन्धि कुछ और उपदेश दीजिये। प्रकृति-पुरुष क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेय इन्हीं सभीके लक्षण बतलाईये और इनका तत्त्वोपदेश कीजिये।' भगवान् बोले 'हे कुन्तिसुत! इसी देहीकी देह को तो क्षेत्र कह दिया जाता है और जो देही अपनी देहके व्यापारोंको जानता है उसी देहीको इस विद्याके पण्डित क्षेत्रज्ञ कहते हैं (क्षेत्र = देह, उसका ज्ञ = जाननेवाला, देही जीव) परन्तु जितने भी प्राणि अप्राणि देह हैं उन सभी क्षेत्रोंको मैं परमात्मा तो जानता ही हूं, इसलिये मुझे तो हे भरतसन्तान! तू सभी क्षेत्रोंका क्षेत्रज्ञ समझ, छोड सभी देहोंकी सांझी एक आत्मा। और जो इन दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है वही मेरा ऐश्वरीय ज्ञान समझा जाता है। मुझ क्षेत्रज्ञ परमात्मा विषयक क्षेत्र सब संसारका प्राकृतिक कारण महद्-ब्रह्म ही है। जिससे ही समस्त प्राणि अप्राणिके देह-रूपी गौण क्षेत्र बनते बिगडते हैं। वह क्षेत्र देह जो जैसा और जितना है, जो उसका कारण है और जो उसमें विकार उत्पन्न होते हैं और वह क्षेत्रज्ञ जौनसा है और उस का जो प्रभाव पडता है, वह संक्षेप से मुझ से सुन। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय ऋषियोंने अनेक

प्रकार से विविध छन्दोंवाले पृथक् पृथक् उपनिषदों आदिके मन्त्रोंके रूपमें, काव्यरूपमें वर्णन किया है और ब्रह्म का वर्णन करनेवाले सूत्रोंके पक्की तरह निश्चित तथा पूर्ण युक्तियुक्त प्रामाणिक पदों को चुन चुन कर रख कर सूत्ररूपमें जोड कर किया है। वहीं से मैं वर्णन करता हूं सुन।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशरूपी पांच महाभूत, अहंकार महान प्रकृति ५ ज्ञान, ५ कर्म, ग्यारहवीं अन्दर की इन्द्रिय, मन, और ५ ज्ञानेन्द्रियोंके विचरने के मार्गरूप शब्द, स्पर्श, रूपरस, गन्ध, विषय, इच्छा, कामना, द्वेष, जलन, सुख, दुःख, मिलाफ, संगठन, चैतन्य, धैर्य, इन के ही अन्तर्गत विकार समेत क्षेत्र वर्णित हो गया। पिछले सात इच्छादि गुण विकार हैं। क्योंकि यह पहिले पदार्थ समूहरूप क्षेत्रमें जीवके प्रविष्ट होनेपर प्रकट होने लगते हैं। पांच महाभूत, अहंकार, महान प्रकृति, ११ इन्द्रियां क्षेत्र कहलाते हैं और ५ विषय तो पांच भूतोंके गुण मात्र हैं। अतः यह न क्षेत्र हैं न विकार परन्तु क्योंकि क्षेत्रज्ञ इन मार्गोमें इन्द्रियोंको चलाकर, शरीरमें भावनारूपी विकार उत्पन्न कराता है। इसलिये इनको भी क्षेत्र और उस के विकारों के साथ ही गिन डाला गया, क्योंकि यह दोनों को सम्बद्ध करते हैं।

अब ज्ञानका वर्णन करते हैं। न अभिमान, न दिखावा, न दूसरे को सताना, क्षमा, सरलता, आचार्य के पास रहना, पवित्रता, टिकाव, अपने आपको वशमें रखना, घृणा आदि इन्द्रियोंके गन्ध आदि विषयोंके स्वाद लेनेमें न फंस जाना, मैं मैं ही सदा न करते फिरना, उत्तम जन्म, योगादि द्वारा इच्छामृत्यु, सुखसम्पन्न पुत्र पौत्रसे घिरी वृद्धावस्था, रोगसमय, अत्युत्तम सेवा शुश्रूषाकी प्राप्ति, में भी दुःखरूप दोष ही पुनः पुनः अनुभव करना, बेलगावपना, स्त्रि, पुत्र, घर आदिमें भी मैं मेरीकी भान न होना, और स्त्रि, पुत्र आदिके स्पर्श सुखमें भी न उलझना, चाहे वञ्छित पदार्थ प्राप्त हो जाय। चाहे जो बुरे लगते हैं वही पास आ पटकें दोनों दशाओंमें ही सदा चित्त एक समान ही रहना, मुझ भगवानमें अविचालिनी, अपरिणामिनी भक्ति और भगवान्के विना अन्य किसीमें भी वैसी श्रद्धा न होना, एकान्त स्थानमें निवास, जन समाजमें प्रवेश करनेको दिल न चाहना, सदा आत्मतत्त्वके ज्ञानमें यत्न करते रहना, वास्तविक सत्य ज्ञानसे जो पदार्थ जैसा प्रतीत होना चाहिये वैसा ही हर एक पदार्थको अनुभव करना, यही संपूर्ण भावनाएं ज्ञान कही गई हैं। इससे जो अन्य प्रकार है, जो इन भावनाओंके विपरीत भावनाएं हैं वह सभी अज्ञान कही गई समझनी चाहियें।

अब जो ज्ञेय जानने योग्य है उसके विषयमें प्रवचन करता हूं। जिसको जानकर मनुष्य अमरपनेका आनन्द भोगता है। आरम्भ रहित सर्वोत्तम जगत्कर्ता तथा जगतधर्ता, जिसे न है कहा जा सकता है न नहीं है कहा जाता है ऐसा वह परब्रह्म ज्ञेय तत्त्व है। उसके साथ पैर, आंख, सिर, मुंह, कान सभी ओर सभीस्थान पर हैं। क्योंकि संसारमें जितने प्राणि हैं उन सबके यह अङ्ग भगवानके असङ्ख्य वही अङ्ग हैं जिससे कि इनमेंसे जिसको जब वह चाहें अपने अङ्गके रूपमें प्रयोगमें ला सकते हैं। अतः वास्तवमें ज्ञेय भगवान् संसारमें संसारके सभी प्राणि अप्राणियोंको सब ओरसे ढांप कर ठहर रहा है। सब को वशमें कर स्थित हो रहा है। सभी इन्द्रिय से वह अपनी शुद्धसत्तामें सर्वथा रहित है, परंतु सभी इंद्रियशक्तियोंसे युक्त है। क्योंकि उसकी सर्वज्ञता ऐसी है कि उसमें सभी इन्द्रियोंसे प्राप्तव्य ज्ञान स्वतः ही भास रहा है। किसी वस्तुमें वह उलझ नहीं रहा परन्तु फिर भी सभीका पालन, पोषण, धारण कर रहा है स्वयं शुद्ध, निराकार, निर्विकार, सर्वथा निर्गुण है परन्तु सम्पूर्ण गुणमात्रको प्रकट तथा गुप्त कर डालनेवाला है (He is like a catalytic agent in modern chemistry) आधुनिक रसायन शास्त्रमें वर्णित कैटेलिटिक वस्तुकी न्यायीं ही भगवान् सन्निधि मात्रसे उपकारी और उस उपकार कारणमें स्वयं तनिक भी परिणमित न होनेवाले हैं। प्राणि, अप्राणि मात्रके वह बाहर भी और अन्दर भी एक तार अखण्डरूपसे ओतप्रोत है। इस प्रकार अचल, अडोल होता हुआ भी वह अत्यन्त चलायमान की न्यायीं सर्वत्र पहिले

ही पहुंचा हुआ है। अतीव सूक्ष्म होनेके कारण वह सम्पूर्णतया जाना ही नहीं जा सकता। यद्यपि वह दूर से भी दूरतक विद्यमान है तथापि वह समीपसे भी समीप भी है। इसलिये होना तो चाहिए सुगमतया ज्ञेय परन्तु अतीव सूक्ष्म होने के कारण वह सम्पूर्णतया जाना ही नहीं जा सकता। वह वास्तवमें तो अविच्छिन्न है परन्तु पृथक् पृथक् प्राणि अप्राणि में पृथक् पृथक् सा प्रतीत होता है। सभी उत्पन्न पदार्थोंको उत्पन्न उसीने किया है, पालन वही करता है और अन्तमें खा भी उन्हें वही जाता है। उसीको ज्ञेय, तथा पिता, धाता, संहर्ता रूपमें अनुभव करना चाहिए। अन्धकारा का परला किनारा स भी प्रकाशकारियोंका आदि प्रकाशक उसे ही कहा जाता है, जानने योग्य वही है। ज्ञानसे प्राप्तव्य, ज्ञान का उद्देश्य वही है, चैतन्य, सत्यानुभव, वास्तवज्ञान भी वही है, सम्पूर्ण व्यक्तियों के दिलमें दिमाग में हृत्कमल में वह विशेष अनुभवनीय स्वरूपमें स्थित है। मानव जगत् उसे सुगमतया तो वही अनुभव कर सकता है। प्रत्येक पदार्थ के उत्तम भागमें भगवद् रूप सर्वथा सुप्रकट होता है।

इस प्रकार संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय का तत्त्व वर्णित कर दिया गया। मेरा भक्त इसे विशेष रीतिसे समझकर मेरी सत्ता, वास्तविक स्वरूप का अनुभव, अत्यन्त समीपस्थितकी न्यायीं प्राप्त कर लेता है। मेरी स्थिति के समीप पहुंच जाता है। मेरे जैसे भाव उस के कुछ कुछ होने लग जाते हैं। मेरी न्यायीं स्वसत्ता अनुभव कुछ कुछ वह भी करने लग जाता है। उसकी बुद्धि इधर को चलने लग जाती है। भावना उस की ऐसी हो जाती है। वह इस पथ पर पदार्पण कर चुका होता है। मेरी सत्ता समीप पहुंचने योग्य हो जाता है।

अब प्रकृति-पुरुष विषय वर्णन करते हैं। हे अर्जुन प्रकृति-पुरुष दोनोंको ही अनादि जान, न आत्म तत्त्वका आरम्भ है न प्रकृति का। हां जो इच्छा आदि विकार और ज्ञान आदि गुण हैं वह सब उत्पत्तिवाले हैं और उन का प्रादुर्भाव प्रकृतिमें ही होता है। आत्मतत्त्व सुखदुःख का भोक्ता है। अर्थात् सुख दुःख भोग में आत्मा निमित्त कारण है। परन्तु कर्ता तो प्रकृति ही है। इन्द्रियरूपी साधनों से कारण से कार्य बना डालनेरूपी कर्मका कर्तारूपी निमित्त कारण, प्रकृति स्वयं ही है आत्मा नहीं। अर्थात् कर्ता तो प्रकृति ही है परन्तु भोक्ता पुरुष ही है। कर्ता प्रकृति इसलिये है कि विना प्राकृतिक संसर्ग के जीव सर्वथा अकर्ता ही है। कोई कर्म नहीं कर सकता। भोक्ता पुरुष इसलिये है कि विना आत्मिक सहचार के प्रकृति भोक्ता सर्वथा नहीं किसी प्रकार का भी सुखदुःखादि भोग नहीं अनुभव कर सकती। अतः अनादि क्रिया शक्ति ही प्रकृति है और अनादि भोक्ता चेतन ही पुरुष है। (Man is the eternal seer and material cause his eternal working tool.अर्थात्) आत्मा नित्य द्रष्टा है और प्राकृतिक सृष्टिकारण उस का सदा का कर्म करनेका साधन। प्रकृति का कार्य तो करते जाना है और पुरुष का कार्य सुख, दुःख, आनन्द, विषाद, भोगते जाना ठीक। जिस प्रकार धर्म पत्निका कार्य सारा दिन यहि है कि ऐसे ऐसे कार्य करती जावे जिससे पति प्रसन्न हो और पतिका कार्य उससे प्रसन्न रहना कभी भी, किसी अवस्थामें भी अप्रसन्न न होना है। और वास्तवमें आदर्श गृहस्थियोंमें यही व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, इसी कारण प्रकृति माता कही जायगी और पुरुष पिता। प्रकृति पुरुष की स्त्री, पत्नि, शक्ति, माया आदि ही कही जाती है। इस नियम को न समझकर अनेक गृहस्थ आनन्द से वञ्चित ही रहते हैं। पुरुष वास्तव में प्रकृतिमें टिक कर ही प्रकृतिमें उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज, तम आदि अनेक गुणोंका स्वाद लेता है। विना प्राकृतिक आधारके तो वह अपनी शुद्ध सत्तामें ही टिका रहता है। ठीक उसी प्रकार जैसे ब्रह्मचारी तो स्वरूपमें ही आनन्द मनाता है। पर गृहस्थिका आनन्द स्त्रीसे संबद्ध होनेपर स्त्रीमें आनन्द आदि शुभ गुण उत्पन्न होनेपर ही पराकाष्ठा को पहुंचता है। ब्रह्मचारी की न्यायीं एकाकीपने का आनन्द उस को क्या आवे। इसी प्रकार शुद्ध आत्मसत्ता प्रकृतिस्थ हुए विना तो निराकार, निर्विकार, कूटस्थ एकरस ही रहती है। पर जब प्रकृतिसे सम्बद्ध

होती है तो प्रकृतिमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञान, सुख आदि गुणों को सस्वाद भोगती है। इस गुणोंमें आसक्ति ही के कारण फिर इस प्रकृति- पुरुष जोडे को अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेना पडता है। ठीक जैसें ब्रह्मचारी तो अमर हो सकता है पर गृहस्थी जोडों को तो कहीं न कहीं चाहे। सत् हिरण्यगर्भके रूपमें ही हो और चाहे असद्, गन्दी, कृमि, कीट, आदि योनियोंमें ही हो कहीं न कहीं अवश्य जन्म लेना ही पडेगा क्योंकि जैसे शुद्धात्म सत्ता प्रकृति से सम्बद्ध हो उसमें गुण उत्पन्न करा उनमें रमण करने लग जाती जाती है तो जन्म जन्मान्तरोंमें बंधती चली जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी विवाह कर स्त्रीयुक्त हो उसमें सुशीलता आदि गुण उत्पन्न करा, उनसे आनन्दित हो उस स्त्रीमें तथा उसके गुणोंमें उलझता ही चला जाता है और पुत्र, पौत्र उत्पन्न होनेका कारण बनता हुआ। उन सभीके कर्मो का उत्तरदायी होता होता अपने अगले जन्मजन्मान्तरों की नींव पक्की तरह डाल देता है। और पितृयानका पथिक हो आवागमनके चक्करमें घूमता रहता है। ऐसे ही शुद्धात्मसत्ता प्रकृतिके संसर्गसे जैसे ब्रह्मचारी पत्निको प्राप्त कर।

परन्तु जैसे बाल ब्रह्मचारी, संन्यासी, योगी, देवयानके पथिक, गृहस्थियोंकी सहायता करते फिरते हैं। उसी प्रकार एक कृपालु महाराजाधिराज साधारण आत्माओंसे अत्यन्त उत्कृष्ट, उच्च, परमात्म तत्त्व भी है। जो भी इसी देहमें एक दूसरी आत्माकी न्यायीं स्थित वर्णन किया गया है। वह दयालु भगवान् अत्यन्त समीप होकर, जैसे संन्यासी दुःखी गृहस्थीके घरमें ही प्रवेश करके, अच्छी प्रकार प्रत्येक बद्ध प्राणिकी वास्तविक स्थितिका निरीक्षण सदैव करता है। और उसको उचित समय पर उचित सम्मति भी देता रहता है। और इस रीतिसे उसको दुःखों कष्टोंसे बचा बचाकर, उसको पाल पोसकर, सिखा, पढाकर, बडा करता जाता है। और जिसको इस बातका अनुभव हो जाता है, कि हां यह उत्तम तत्त्व मेरे अन्दर साक्षी मेरा सहायक परमात्मा है। वह फिर मुक्त-कण्ठसे उसके गीत गाता है तो भगवान् उस गीतका स्वाद लेते हैं। इस प्रकार परमात्मा भोक्ता भी कभी न कभी हो जाता है।

इस प्रकार जो प्रकृति, पुरुष तथा प्रकृति गुण और उनके प्रभावोंकी याथातथ्य समझ लेता है और सबके परस्पर संसर्ग तथा उसके परिणामोंको अच्छे प्रकार अनुभवमें ले आता है। फिर चाहे वह कैसे वर्ते कोई कार्य करता अपना जीवन निर्वाह करे। उसने फिर जन्म मरणके चक्करमें क्या पडना था उसके तो फिर सम्पूर्ण कर्म तत्त्ववेत्ता की दृष्टिसे केवल आवश्यक, प्राकृतिक, नियमपूर्त्यर्थ, जनता कल्याणार्थ, इत्यादि प्रकारसे ही होते हैं। वह तो जीवन मुक्त ही है और मर कर मुक्ति ही पायगा। पुनर्जन्म उसका नहीं होता क्योंकि जन्मबन्धका कारण अज्ञान उसका उड चुका है। "सर्व प्रकार वर्तता हुआ भी" की आगे कृष्ण भगवान् स्वयं ही व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि-

कोई तो अपने अन्दर ही ध्यान लगाकर वहीं पर अपने आपकी सहायतासे ही आत्मपरमात्म दर्शन पा जाते हैं। ध्यान टिकाया अपना आप अनुभव किया झट दूसरा साक्षी भी प्रतीत हो गया। भास गया कि यह तो मैं हूं और यह वह साक्षी भगवान् है। दूसरे ज्ञानसे तत्त्व विवेचना करते करते जैसे पहिले Biology प्राणिविज्ञान Geology Mineralogy भूगर्भ विज्ञान फिर Chemistry रसायनशास्त्र Physics भौतिकी फिर Metachemistry and Mataphysics भौतिकी रसायनके परे की उन की आधार शिला विद्यायें तब Psychology Theology मनोविज्ञान, आत्मविज्ञान, परमात्मविद्या आदिके क्रमशः अनुसन्धान से सृष्टि प्रलय के सम्पूर्ण तत्त्वों का विवेचनात्मिक पार्थक्य सिद्ध करते कराते अन्तमें आत्मतत्त्व की अनन्तता- अथाह विस्तार का अनुभव पा जाते हैं। यह सांख्ययोगी ज्ञानी Philosophers Metaphysicians हैं। तीसरी प्रकारके भक्त निष्कामजन सेवा आदि लोकोन्नति के कार्य अत्यन्त दक्षता के साथ करते हुए। अत्यधिक हित जनताका साधते साधते आयु बिताते हैं। उनका हृदय जन दुःखसे दुःखी होते होते ऐसा कोमल हो जाता है कि अहिंसा

सिद्धि हो जाती है। बस "एकै साधे सब सधे फिर सत्यादि सभी सध जाते हैं और आत्म-परमात्म-दर्शन तक इनको भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार तीनों को अन्तमें द्रष्टा-दृश्य-भेद अनुभव होकर ही अपना स्वरूप पता चलकर सिद्धि प्राप्त होती है और आत्मदर्शन मिलता है। फिर चाहे कुछ करो सर्वथा ही स्वतन्त्रता है फिर तो महाराजाके युवराज हम ही होते हैं। फिर पिताने पुत्र को क्यों ताडना करनी थी फिर तो मैं और मेरा बन्ना ही होते हैं फिर तो सब झगडे ही समाप्त हो चुके होते हैं। इस प्रकार ध्यानी,ज्ञानी, परोपकारी योगियोंके सिवा एक और भी होती हैं जो इन तीनोंमें कोई भी नहीं होते, कोई विधि नहीं जानते। परन्तु अन्य विधिज्ञोंसे कोई टोटका सुनकर ही उसीका ऐसे दत्तचित्त होकर सेवन करते हैं कि एकाग्रता सिद्धि हो जाती है, चित्त रुकने लग जाता है। बस फिर आनन्द ही आनन्द है वे भी मौतको उलांघ ही जाते हैं। जन्म मरणसे छूट ही जाते हैं क्योंकि किसी योगीने उनको आशीर्वाद दिया "जा तू केवल ओ३म् ओ३म् जप सिद्ध हो जायगा" बस यह सुन उसपर ऐसे मस्त हुए कि लगे दिनरात ओ३म् ओ३म् जपने, देश दुनियां सब भूल गये, भला अब ऐसोंपर मौतका या ब्रह्माका क्या जोर चल सकना था?

इस प्रकार यह सभी योगी हैं और भगवानको प्राप्त कर जाते हैं।

चर, अचर, प्राणिमात्र जो जन्म लेते हैं वह सभी प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञाता दोनोंके मिलापसे ही जन्म लेते हैं। यह मोटा गुर, हे भरत श्रेष्ठ! तू भली प्रकार समझ रख। परन्तु इससे भी आगे इन सभी प्राणि तथा अप्राणियोंमें भी जो महाराजाधिराज एक समान ही सर्वत्र स्थित है और इन जन्म, वृद्धि, मृत्यु आदिको प्राप्त करते हुए नश्वर पदार्थोंमें जो सर्वथा नाशरहित, अपरिणामि रूपसे स्थित है उस परमात्म-तत्त्वको जो साक्षात करता है। वास्तवमें आंखें तो उसीकी खुली हैं और जो उसे नहीं देखते वे तो आंखें रखते हुए भी अन्धे ही हैं।

जब परमात्माको भक्त सभी स्थान पर एक समान ही व्यापक, सम्यक् तया विद्यमान अनुभव करता है, उससे रिक्त कोई स्थान नहीं पाता तब फिर सदैव अपनी आत्मिक ध्वनिके अनुकूल ही आचरण करता है। कभी उसकी अवहेलना, अनादररूप, आत्महनन नहीं करता। इस प्रकार आत्मिक ध्वनिको पहिचानता तदनुकूल आचरण करता हुआ उसे बलवति बनाता हुआ, मनुष्य शनैः शनैः परम गतिकी ओर पग बढाता, चला जाता है। और अन्तमें उच्चतम अवस्थाको प्राप्त हो जाता है।

तथाच जो सम्पूर्ण कर्म मात्रको सर्वथा प्रकृतिके द्वारा ही किये जा रहे, अनुभव करता है और आत्म-तत्त्वको सर्वथा निष्क्रिय केवल भोक्ता मात्र अनुभव करता है। वही वास्तवमें यथार्थ तत्त्वदर्शी है।

जब सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ मात्रके पार्थक्यको अन्तमें एक ही आदि कारणसे निकल कर अब भी वास्तवमें उसी ऐक्यावस्थामें ही स्थित अनुभव करता है और उसी एकमेंसे ही अनेकताका विस्तार हो रहा साक्षात देखता है, तब सम्यकतया ब्रह्मकी प्राप्ति हो चुकी होती है। अपने अन्दर बाहर रोम रोममें परमाणु परमाणुमें ब्रह्म ही ब्रह्म अनुभव होता है। अपना देह, मन, इन्द्रिय, विचार, जीवन, अनुभव आदि सब ब्रह्ममय ही भासता है।

अविनाशी परमात्मा देहमें टिका अवश्य है परन्तु है अनादि निर्गुण। इसलिये इसमें रजोगुण न होने से यह कुछ भी कर्म नहीं करता और कर्म न करने के कारण उस के फल बन्धन आदि में भी नहीं फसता लिप्त सर्वथा नहीं होता। यदि इसका भी आदि अन्त होता तो इसमें गुण प्रकट भी होते फिर छिप भी जाते। अत: फिर यह कर्म भी करता और उनके फल में भी उलझता।

आकाश है सब स्थानपर, परन्तु इतना सूक्ष्म है कि सब वस्तुमें सार पार ओतप्रोत है। क्योंकि सब वस्तु इससे स्थूल हैं। इस कारण किसी वस्तुसे यह प्रभावित नहीं होता, उस में लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण देहमें सर्वत्र टिका होता हुआ भी देह से प्रभावित नहीं होता

उससे लिप्त नहीं होता देहके सार पार, ओत प्रोत है क्योंकि देह उससे अत्यन्त स्थूल है ।

जिस प्रकार एक ही यह सूरज, सम्पूर्ण सौर्य लोक लोकान्तर को प्रकाशित कर देता है । इसी प्रकार अत्यन्त गूढ छिपा पडा एक ही क्षेत्रपति आत्मा अपनी जीवन शक्तिकी किरणें अन्दर से ही सम्पूर्ण देह मात्रमें से गुजार कर सम्पूर्ण देह को जीवन ज्योतिसे जगमगा देता है हे भरत सन्तान !

इस प्रकार ज्ञानमयी आंख से क्षेत्र, शरीर तथा प्रकृति और क्षेत्रज्ञ जीव तथा परमात्मा का भेद जो भली प्रकार अनुभव कर लेते हैं और उत्पन्न पदार्थ मात्र की कारणभूत प्रकृतिसे छूटनेके उपाय जो जान लेते हैं, वे अत्युत्तम परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं ॥

भगवद्गीता (हिन्दी काव्य) !

पन्द्रहवां अध्याय

ऊपर जड नीचे तना, परमात्मा–अव्यक्त ।
उस अविनाशी वृक्षका, कहा विचित्र सुव्यक्त ॥१॥

कल तक रहे न आजसा, सुवृक्ष संसार ।
उसकी नश्वर वस्तु सब, ढक रहीं रूप अपार ॥२॥

छन्द पर्ण इस ही लिये, कही गई वे सब ।
पतनशील पत्ते बनीं, छन्द आवरक सब ॥ ३ ॥

ऐसे जो उस वृक्षको, जाने, जाने वेद ।
कहलावे वेदज्ञ वह, सो जाने जग भेद ॥ ४ ॥

ऊपर नीचे फैलतीं, उसकी टहनी अनन्त ।
वस्तुबीज जो बढ रहीं, त्रय गुण जलसे अनन्त ॥५॥

शब्दादि इन्द्रिय विषय, कोपल सूक्ष्म पहिचान ।
मानव जन्मके कर्मको, जड निचलीं तू जान ॥ ६ ॥

नीचे नीचे फैलतीं, बन रहीं बन्धन दृढ ।
मूल जन्म अरु मृत्युका, कारण बनीं सुदृढ ॥७॥

इस प्रकार यह रूप उस, का नहीं होता प्राप्त ।
इस मानुषी लोकमें, रहे अदृश्य अप्राप्त ॥८॥

आरम्भ मिलता नहीं, स्थिति मिले न अन्त ।
कारण कार्य न मिल सके, जो सम्बन्ध अनन्त ॥९॥

इस परिणामी वृक्षकी, पक्की दृढ जो मूल ।
मैं मेरीकी वासना, उनसे ही यह समूल ॥ १० ॥

कुल-हाडे पक्के अति, से काट यह वृक्ष ।
वैराग्य सङ्गरहितता, से छेद सुवृक्ष ॥११॥

ढूंढिये तब प्राप्तव्य वह, गहिये मार्ग गभीर ।
चल जिसपर नहीं लौटते पुनः धीर गम्भीर ॥१२॥

जिससें आदि प्रेरणा, कर पाई विस्तार ।
उसी प्रथम मैं पुरुषको, प्राप्त हूं सब प्रकार ॥१३॥

उस पद को करें प्राप्त वह, मोहरहित मतिमान ।
नाशरहित परमात्म को, धीर विज्ञ गुणवान ॥१४॥

छोडें जो अभिमान को, सङ्ग दोष लें जीत ।
कामवासना त्याग सब, वैराग्य से प्रीत ॥१५॥

सुख दुःख आदि नाम के, जोडे त्यागें जब ।
आत्माश्रित हो सर्वदा, पाएं ईशजन तब ॥१६॥

सूर्य चान्द अरु आग जिस, को न सकें चमका ।
पहुंच जहां नहीं लौटते, धाम वही मेरा ॥१७॥

परम स्थान मम ईश ही, सुब्रह्म परमात्म ।
शुद्धात्मसत्ता विमल, वही मेरी निज आत्म ॥१८॥

जैवि सृष्टिमें नित्य जो, जीवरूप विद्यमान ।
मेरा ही इक अंश है, टुकडा मेरा पहिचान ॥१९॥

प्रकृति कार्य संसार में, इन्द्रिय जो रहीं टिक ।
मन है छः वां जिन्हीं में, जीव उन में रहा टिक ॥२०॥
रहा खींच उन सभी को, ज्यों वायु शुभगन्ध ।
पुष्प आदिसे खींचती, साथ ले जाती सुगन्ध ॥२१॥
मन इन्द्रिय को साथ यूं, ले कर जाता जीव ।
जब शरीर को छोडता, नव शरीर पा जीव ॥२२॥
देह का राजा जीव यह, कर मन पर अधिकार ।
कान आंख त्वक् नाक अरु, जिव्हा का वशीकार ॥२३॥
विषय सभी के सेवता, अति समीप से वह ।
इन्द्रिय मन से भोग शुभ, अशुभ भोगता वह ॥२४॥
निकल रहे अरु टिक रहे, विषय कर रहे भोग ।
को नहीं मूर्ख पहिचानते, देखते ज्ञानी लोग ॥२५॥
प्रकृति गुण सम्बद्ध इसे, देख सकें नहीं मूढ ।
खोल ज्ञान की आंख शुभ, देखते योगाऽरूढ ॥२६॥
अपने में ही देखते, टिका हुआ यह जीव ।
योगाभ्यासी यत्न से, ध्यानी ज्ञानी जीव ॥२७॥
यत्न से भी सकें देख न, इसे अयोगी अजान ।
चित्त आत्मा जिन का टिका, नहीं, सुकृत न ज्ञान॥२८॥
जग सारा चमका रहा, सूरज का शुभ तेज ।
जान चन्द्रमा अग्न का, भी सारा मेरा तेज ॥२९॥
ओज अपने से धारता, कर भूमि प्रवेश ।
प्राणि अप्राणि सभी को, भूत मात्र निश्शेष ॥३०॥
ओषधिरसमय सोम बन, पुष्ट करूं मैं सब ।
वनराजि सुवनस्पति, स्वयं उन्नत करूं सब ॥३१॥
जीवित प्राणि शरीर के, आश्रित जो जठराग्न ।
मैं उसका ही रूपधर, भस्म करूं सभी अन्न ॥३२॥
जुडा श्वास प्रश्वाससे, चहुं विध अन्न पका ।
जो खाते जो चूसते, पीते, लेते चबा ॥ ३३ ॥
सुप्रविष्ट हूं हृदयमें, सब के ही मैं शरण ।
मुझी से होता स्मरण है, ज्ञान तर्क निराकरण ॥३४॥
वेदोंद्वारा ज्ञेय मैं, सभी वेद का सार ।
ज्ञाता भी मैं ही वेद का, वेदतत्त्व कर्तार ॥३५॥
पूर रहे संसार को, दोनों ही यह पुरुष ।
नाश रहित है एक तो, नश्वर दूजा पुरुष ॥३६॥
नश्वर पुरुष आकार हैं, प्राणि अप्राणि देह ।
अविनाशी वह ही कहा, इक रस अचल विदेह ॥३७॥
उत्तम पुरुष तो और ही, कहा गया परमात्म ।
तीन लोक प्रविष्ट हो, धार उस रहा आतम ॥ ३८ ॥
अविनाशी जगदीश्वर, क्षर अक्षर के पार ।
उन से उत्तम परे जो, पुरुषोत्तम शुभसार ॥३९॥
इसी लिये संसारमें वेदमें, भी सुप्रसिद्ध ।
पुरुषोत्तम ही नाम से, सब जगमें मैं सिद्ध ॥४०॥
जो यूं मुझको जानता, पुरुषोत्तम सुखरूप ।
माया मोह सभी त्याग कर, भरतश्रेष्ठ हे भूप! ॥४१॥
श्रद्धा भक्ति सर्वथा, ही मुझ में वह धार ।
मुझे सदा ही सेवता, वह सर्वज्ञ, सुसार ॥४२॥
हे निष्पाप ! कहा तुझे, मैं यह शास्त्र सुगूढ ।
इसे जान ज्ञानी बने, सुकृतकर्मा अमूढ ॥४३॥
भरत-वंश-अवतंस हे !, परम गुप्त यह ज्ञान ।
प्राप्त करो कर्त्तव्य, अब, पालन अपना सुजान ॥४४॥

सोलहवां अध्याय ।

निर्भयता, अतिशुद्ध मन, योगमें टिकना, ज्ञान ।
यज्ञ, दान, मन रोकना, करना स्वात्मध्यान ॥ १ ॥
इन्द्रिय गणको रोकना, सभी कर्म फल त्याग ।
भोग चपलता क्रोध अरु, चुगली सताना त्याग ॥२॥
शान्ति सरलता परिश्रम, प्राणिदया अरु सत्य ।
कोमलता, लज्जा क्षमा, शुद्धि, तेज अरु धैर्य ॥३॥
वैर किसीसे कबहुं न, मान न करना घमण्ड ।
दैवि संग्रह चिह्न हों, भरतश्रेष्ठ प्रचण्ड ॥४॥
जब संपत्ति आसुरी, कुन्तिसुत ! हो व्यक्त ।
उत्पन्न अज्ञान तब, कटुता क्रोध सुव्यक्त ॥५॥
अहङ्कार पाखण्ड अरु, सखती अती घमण्ड ।
मानी इस लिये आसुरी, सम्पत् कारण बन्ध ॥६॥

मुक्ति कारण दिव्य जो, सम्पत्ति सुपवित्र।
पाण्डुसुत ! मत शोक कर, तुझमें वही पवित्र ॥७॥

प्राणि सृष्टि जगतमें, यहां है दो प्रकार।
असुर सरीखे एक हैं, दूजे देव आकार ॥८॥

दिव्य कहे विस्तारसे, अब तक मैं हे मित्र।
सुन मुझसे अब असुरकी, पार्थ कथा सुविचित्र ॥९॥

सच्चाई न पवित्रता, सदाचार भी न।
फंसना हटना जानते, असुर वृत्ति जन न ॥१०॥

ईश्वर जगका कोई न, अस्थिर है यह अनित्य।
विषयमें जोडे जब मिलें, तभी हुआ यह कृत्य ॥११॥

कहें वे जग यूंही बना, केवल भोगके हेत।
कारण कौनसा और हो, जिस लिये बना यह खेत ॥१२॥

तुच्छ बुद्धि हीन आत्मा, दृष्टिकोन यह धार।
जग शत्रु उत्पन्न हों, घोर कर्मको धार ॥१३॥

जगके नाश निमित्त ही, हों प्रवृत्त अपवित्र।
झूठे हठको पकड कर, अज्ञानी कुचरित्र ॥ १४ ॥

नशे घमण्ड पाखण्डसे, युत भोग परवीण।
वासना जो नहीं तृप्त हो, उसके आश्रित, दीन ॥१५॥

प्रलयमें ही जो अन्त हो, ऐसी चिन्ता अनन्त।
फंसे उसी में सर्वदा, भोग विलास अनन्त ॥१६॥

इसी को सब कुछ समझकर, सदा इसी में डूब।
विषय भोग सर्वस्व जो, जायं पाप में डूब ॥१७॥

आस की फाहियों सैंकडो, में जकडे दिन रैन।
विषय भोग अरु क्रोधमें, उलझ रहे दिन रैन ॥१८॥

चाहते धन एकत्र हो, हो चाहे अन्याय।
तृप्त हमारी वासना, भोग की तब हो जाय ॥१९॥

मनोकामना सिद्ध मैं, यह कर ली है आज।
अन्य करूंगा सिद्ध फिर, यह है मेरा धन आज ॥२०॥

फिर यह धन हो जायगा, कभी मेरा सब और ?
शत्रु लिया वह मार मैं, मारूंगा सभी और ॥२१॥

बल, धन, जन, से युक्त मैं, मुझ जैसा कोऊ और।
मैं राज्य सुख भोगता, सिद्धि सकल मम ठौर ॥२२॥

है मेरे सम और कोऊ, यज्ञ करूंगा दान।
आ-नन्द तब पाऊंगा, सदा यही रहे ध्यान ॥२३॥

इस अज्ञान से मूढ जन, डोल रहा जिस चित्त।
घिरे हुए मोह पाश से, विखर गया जिस चित्त ॥२४॥

उलझे भोग विलासमें, विषयभोगमें लीन।
गिरते गन्दे नरकमें, दीन हो रहे हीन ॥२५॥

अपने को ही मानते, सदा बडा जी ढीठ।
नशे में यश धन धान्य के, उनका मुख न दीठ ॥२६॥

नाम मात्र के यज्ञ वे, करते विधि विहीन।
दिखलावे के लिये ही, पाखण्डि मतिहीन ॥२७॥

ले आश्रय अहङ्कारका, बल घमण्ड अरु भोग।
निन्दक क्रोधी वैर कर, मुझसे पावें रोग ॥२८॥

औरों की अरु इन्हीं की, देहों में रहा व्याप।
अन्तर्यामि ईश जो, करें यह उससे पाप ॥२९॥

नर नीच यह जगतमें, करें भयङ्कर कर्म।
सदा जलें जो अन्यसे, पावें कहां वह शर्म ॥३०॥

मैं उनको हूं फैंकता, अशुभ जन्मके बीच।
असुरों की ही जूनमें, बार बार पडें नीच ॥३१॥

जन्मान्तर अरु जन्ममें, असुर जून ही पा।
नीचे नीचे जायं तब, नहीं सकें मुझे पा ॥३२॥

हे कुन्तिसुत ! नाशका, त्रय प्रकार यह द्वार।
आत्माके लिये नरकका, त्याग इसे सौबार ॥३३॥

भोग क्रोध लालच कही, त्याज्य तिक्कडी रूप।
अतः सदा त्यागे इसे, यही त्याग सुखरूप ॥३४॥

अज्ञानके द्वार इन, तीनोंसे नर छूट।
आत्माका कल्याण कर, पायें सुगति सुखरूप ॥३५॥

शास्त्र रीतिको छोड जो, वर्ते स्वेच्छाचार।
परम गति सुख पाय न, यत्न करे सौबार ॥३६॥

सिद्ध न होवे वह कभी, अतः शास्त्रको मान।
निर्णय कर्म अकर्ममें, सदा ही तू परमाण ॥३७॥

शास्त्र वेदकी रीति जो, कही उसे पहिचान।
कर्म तुझे ही चाहियें, करने जो परमाण ॥३८॥

विश्वरूपपर शंका।

(लेः- श्री० राधाकृष्णजी पेश्कार, मोरादाबाद)

श्रीमानजी सूर्यनारायण से हम प्रार्थी रहते हैं और आशा भी बन्धती जाती है कि यह हमारी प्रार्थना सूर्य भगवान् सफल करेंगे, उनके सब कुछ वश में है।

प्रार्थना - असतो मा सद् गमय तमसो मा
ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति॥

अर्थ = हे परमगुरु परमात्मन् आप हमको असत् मार्गसे पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिए! अविद्यान्धकारको छुडवाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिए। और मृत्यु रोगसे पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिए।

समाधान श्रीमानजी, यह समाधान आपने बडे लम्बे चौडे दिये हैं। प्रश्न यह था कि परमात्मा का जीवात्मा अंशावतार है या नहीं और परमात्मा स्वयं मूर्तिमान् है या नहीं? हम ने गीता अ० ४ श्लोक १ पर यह प्रश्न उठाया है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थ- जब जब धर्म की हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब तब हे भारत! मैं अपने आपको रचता हूं।

हम संस्कारचन्द्रिका से एक मन्त्र और योरुपियन डाक्टरों के मत से उसकी पुष्टि करके यह दिखला चुके हैं कि वीर्यसजीव = मये जीवात्मा गर्भ में जाता है तो जो जीवात्मा दाखिल होनेवाला और निकलनेवाला तत्त्व है वह सूक्ष्म तो अवश्य है पर चलायमान सत्ता है, परन्तु परमात्मसत्ता का अंश नहीं। क्यों कि वह परमात्मा उस से भी सूक्ष्म तम और अचल और सर्वदेशी है और जिस को गीता ८।११ में अक्षर कहा है, कैसे अंश हो सकता है?

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

अर्थ= वेद के जाननेवाले जिसको अक्षर कहते हैं, दूर हुए रागवाले यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिस की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं वह पद तुझे संक्षेप से कहूँगा। देवताओं का अंशावतार मानना यों ठीक नहीं कि वायु और गर्मी आदि देवता तो मृतक देह वा घातकी कानों पहाड की चटानों आदि में भी आते जाते रहते हैं परन्तु जिन्दा या चेतन नहीं कर देते।

देवता ही क्या मृतक देह से तो परमात्मसत्ता भी नहीं निकल जाती, परन्तु वह मृतक देह परमात्म सत्ता से पुनर्जीवित नहीं हो जाता। मैं क्या सिद्ध कर रहा हूँ कि यदि जीवात्मा परमात्मा का अंश होता तो अंश के निकल जानेपर तो यह प्राणी मर जाय और अंशी परमात्मा के रहनेपर भी पुनर्जीवित न हो। कैसा आश्चर्यजनक सिद्धान्त बैठेगा जब कि कितना ही बडा अंश क्यों न हो अपने अंशी से तो जरुर ही अल्पदेशी और अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला होगा इससे निश्चय हुआ, कि जो जीवात्मा जिस प्राणी का अधिष्ठाता है वह परमात्मा से अलग स्वयं चेतन सत्ता है और स्वयं चेतन सत्ता होने के कारण ही वह स्वतन्त्र और अपने कर्मों का फल और दँड मिलने का भागी ठहराया जा सकता है और प्रत्यक्ष में भी यही दिखाई दे रहा है कि जब तक देह में जीवात्मा रहता है तभी तक मनुष्य का अन्तःकरण और

ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कार्य करते हैं और दुख सुख और इच्छा ज्ञान का अनुभव होता है और हम प्रयत्न कर सकते हैं जीवात्मा के निकल जानेपर बिलकुल चौपट शरीर जड पदार्थों की तरह पडा रह जाता है।

ब्रह्म के साथ विराट् जल तथा अन्य देवताएं शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं परन्तु ब्रह्म (परमात्मा) किसी में प्रविष्ट नहीं होता, वह तो अनादि कालसे हर जगहमें मौजूद ही है। न कभी वह प्रविष्ट ही होगा और न कभी निकलेगा।

परमात्मा प्रत्यक्ष रूपसे अर्थात् सूर्य बिजली वायु अग्नि रूपसे तो पदार्थोंमें प्रवेश करता है और निकलता भी रहता है। परन्तु परोक्ष परमात्मा नहीं वह तो इन देवताओंका अंगी = अधिष्ठाता = जान है। यदि आपके विचार में यह बात आ जाय तो इस मन्त्रके अर्थमें ब्रह्मका अर्थ जीवात्माका करनेसे ही यह वाक्य इस तरहसे बोला जा सकता है - ब्रह्म = जीवात्माके साथ विराट् जल तथा अन्य देवताएं शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं। जीवात्माओंको उनके कर्मानुसार यथायोग्य शरीरमें यमराज जो विवस्वान्के पुत्र हैं अर्थात् सूर्यनारायनकी किरनें ले जाती हैं।

यदि जगदम्बा जीवात्माओं पर तरस न खाकर वायु और गर्मी और ज्योति आदि अपने देवताओंसे प्राणियोंके अंग और इन्द्रियाँ और अन्तःकरण-चतुष्टयका बाहर और भीतरसे पालन पोषण न करे तो कौन करे?

नींद कुकर्मीको भी आती है और सुकर्मीको भी। दानीके दरबारमें सुकर्मी भिकारी भी जाता है और कुकर्मी भी। परन्तु कुकर्मी शरमाता हुआ जाता है और सुकर्मी हँसता हुआ। वायु ज्योति गर्मी विना मोल कुकर्मी सुकर्मी सब कोई मिल रहे हैं जिस पर जीवन निर्भर है।

देवताओंपर अंशावतार का शब्द लगाना पानीमें खोज देना है और भोले आदमियोंको भ्रमाना है। देवताओंके अंशावतार पर हमारा और आपका शास्त्रार्थ नहीं। हमारा शास्त्रार्थ यह है कि अक्षर-ब्रह्मका अंशावतार नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म अविनाशी है न कि अंशी।

अब आप गीता ४-७ को बिचार कर बतलादें कि हमारे यह शब्द कि गीतासे अवतारवाद चला है शुद्ध हैं या अशुद्ध। आप सोच लें कि काष्ठ पाषाण आदिकी मूर्तियाँ जो श्रीकृष्ण महाराज की पूज रही है वह उनके जन्मके पश्चात् ही पूज सकती हैं। क्या कोई ऊँचे मस्तिष्कवाला यह मान लेगा कि श्रीकृष्ण महाराजके जन्मसे पहले भी उनकी मूर्ति पूज रही थी?

क्या वाल्मीकी रामायण और मनुस्मृति और वेदोंमें श्रीकृष्ण महाराजके अवतारवादका वर्णन हो सकता है जैसा कि गीताने माना है? और होता भी क्यों? मनुभगवान्ने जीति जागती ज्योति भास्कर भगवानके उपस्थान (ध्यान) और जाज्वल्यमान अग्नि देवकी प्रदक्षिणाके लिए ब्रह्मचारीको यह आज्ञा दी है-

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्ष्यं यथाविधि॥

अर्थ - अभीष्ट दण्डको लेकर सूर्यको उपस्थान कर अग्निकी प्रदक्षिणा करके यथाविधि भिक्षाचरण करे। यदि आपने मेरे लेखको अशुद्ध कहने का ही विचार स्थिर कर लिया है तो मैं मजबूर हूं। आप जो चाहें सो कहें। इस मूर्तिपूजाने कैसी फूट फैलाई कि गोस्वामी तुलसीदासजीके नामसे यह अनहोनी कहावत प्रसिद्ध कर दी कि-

कहा कहूं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवे, धनुषबाण लोओ हाथ॥

यह हम जानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी मूर्तिपूजक थे, परन्तु यह पक्षपात कि श्रीकृष्ण महाराजकी मूर्तिके सामने मस्तक जब झुकावें कि जब वह मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी सूरतमें आकर धनुषबाण हाथमें ले लें। जो किसी प्रकार भी

सम्भव नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी मूर्तिपूजक होते हुए ऐसे पक्षपाती प्रतीत नहीं होते, यद्यपि वह अपनी रामायणमें वैदिक गणेशको छोडते हुए पौरानिक गणेश (कर वर बदन) के नामसे ही सिद्धि माँगते हैं। परन्तु उनकी रामायणमें यह दोहा भी पाया जाता है।

बिनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरत मुसकानी॥

मूर्तिपूजानेही मतभेद कराकर शिखा सूत्रधारियोंको लडा मारा। मथुरामें सैंकडों रुपयेका भोग पंडे लोग खा रहे हैं। हम पहले एक श्लोक दे चुके हैं कि ब्रह्मचारी अपने अपने वर्णके दंड धारण करके और भास्कर भगवान्का उपस्थान करके और अग्निकी प्रदक्षिणा करके भिक्षा माँगने को चले। श्रीमानजी! क्या अबभी सूर्यस्वरूप और अग्निस्वरूप प्रत्यक्ष ईश्वरको छोडकर पाषाण आदि मूर्तिपूजाकी आवश्यकता होगी? लाखों मन सामग्री और लाखों मन गौघृतको भस्म करके सूर्यमण्डलमें पहुँचाना यही अग्निदेवका काम है।

यजुर्वेद २५-१२ के अर्थमें श्रीस्वामीजी महाराज ने सूर्यमण्डलको होम करने योग्य पदार्थसे सेवन का विधान माना है और हमने सूर्यनारायणकी प्रसन्नताके लिए हवनको उनकी भेंट माना है।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

अर्थ- हे मनुष्यो! (यस्य) जिस सूर्यके (महित्वा) बडेपनसे (इमे) ये (हिमवन्तः) हिमालय आदि पर्वत आकर्षित और प्रकाशित हैं, (यस्य) जिसके (रसया) स्नेहके (सह) साथ (समुद्रम्) अच्छे प्रकार जिसमें जल ठहरते हैं उस अन्तरिक्षके (आहुः) कहते हैं तथा (यस्य) जिसकी (इमाः) इन दिशा और (यस्य) जिस की (प्रदिशः) विदिशाओंको (बाहू) भुजाओंके समान वर्तमान कहते हैं, उस (कस्मै) सुखरूप (देवाय) मनोहर सूर्यमण्डलके लिए (हविषा) होम करने योग्य पदार्थसे हम लोग (विधेम) सेवनका विधान करें, ऐसे तुमभी विधान करो।

भावार्थ- हे मनुष्यो! जो सबसे बडा सबका प्रकाश करने और सब पदार्थोंसे रसका लेनेहारा, जिसके प्रतापसे दिशा और विदिशाओंका विभाग होता है, वह सूर्यलोक युक्तिके साथ सेवन करने योग्य है। और यही अग्निदेव दूत बनकर विश्वके देवताओंको यजमानोंके यज्ञमें जो वह पृथ्वीपर अलग अलग स्थलोंपर कर रहे हैं लाकर बैठालते हैं।

श्रीमानजी! कृपया बतलाइए कि पाषाण आदिकी मूर्तिपूजा और उसका भोग लगाना वैदिक है या अवैदिक? पूजा जड पदार्थकी नहीं होती है। पूजा उसीकी होती है जो अपने पूजक की हार्दिक इच्छाओं और आवश्यकताओंको जानता हो और केवल इच्छाओंके जान लेनेसे भी पूजकका क्या काम निकलेगा? जब तक कि पूज्यके वशमें पूजकके मनोवाँछित फल देनेकी सामग्री न हो और पूज्य उदारचित्त न हो। यदि पूज्य कंजूस हो तो हमें उसके पास क्यों जावेंगे? हिन्दी कहावत है कि-

बीस गाँवका चौधरी और साठ गाँव का राव।
अपने काममें न आवे तो ऐसी तैसीमें जाओ।

आपने लिखा है कि मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजा भिन्न है। मूर्तिपूजा वेदविहित है और प्रतिमापूजा वेदनिंदित। इसलिए आक्षेपक महोदयने जो कहा है कि गीता ही मूर्तिपूजा की जड है, सो गलत है। क्योंकि मूर्तिपूजा की जड वेद है। आक्षेपक महोदयने मूर्ति और प्रतिमा का अर्थ समझा नहीं, इसलिए गलती की है।

इस लेख में अपने हमको नासमझ ठहराकर गलती का मुलजिम गरदाना है, इसकी हमें बडी शिकायत है। हम बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) जिस का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं और कबर ताजिया परस्ती जो इन्सान बनाते हैं और यहाँ तक कि पृथ्वी का गोला, पहाड, दरिया, समुद्र, हीरा,

लाल, मोती, सोना, चाँदी, लोहा, शालिग्राम आदि पदार्थों की जो देवी हैं उनकी पूजा के विरोध में भी डंके की चोट आवाज उठा रहे हैं। जो कोई दमखम रखते हों वह हमसे शास्त्रार्थ कर लें। इस विषय में विस्तारपूर्वक तो हम जब लिखेंगे कि जब हम जड और चेतन की प्रदर्शनी खोलेंगे। इस समय तो हमारे इस प्रश्न का उत्तर दे दें कि आप के पास उन जड पदार्थों के चेतन कहने के लिए कौन कौन युक्तियाँ हैं और कौन कौन वेदमन्त्रके प्रमाण जिससे हमको प्रतीति हो जाय कि उपरोक्त जड पदार्थ भी चेतन (जीशऊर,) हैं ?

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजुर्वेद ३१-१५)

इस मन्त्रमें निश्चय कराया है कि पुरुष के जाने बिना अन्य कोई पन्थ मुक्ति में जाने का नहीं। श्रीमानजी! जिस दलदलसे महर्षि स्वामी दयानन्द जी अपने निराले भुजबलसे निकालकर हजारों वर्ष बाद आर्य बनाकर हमारे सर पर यह ऋषि-ऋण (वेद का पढना पढाना और सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है) डाला था। क्या आप की मूर्तिपूजाविषयक लेख को पढकर हिन्दु लोग उस दलदल में फिर न फँस जावेंगे ?।

आगम सोचकर लेख लिखने के लिए हमार आपसे प्रार्थना हो सकती है और नहीं तो आप के लेख में हमारा दखल क्या ? थोडे से संकेत मात्र से बुद्धिमान् कठिन से कठिन बात तक समझ जाते हैं।

सोमनाथ के मन्दिरकी इतिहासिक घटना और पूजारियों का मूर्तियों से अनहोनी आशा पूर्ण होने के विचार बाँध लेना कैसी दुर्घटना और दुःखदाई परिणाम देश के लिए हुआ जो अबतक देश-हितैषी विद्वानों को हृदयविदारक आवले महाकष्ट पहुँचाते हैं। क्या कहीं वेद में यह उपदेश आया है कि मनुष्योंका काम मनुष्य तो न करें और दैव उनका काम कर दे ?

हम पुरुषार्थवादी हैं न कि भोगवादी। मनुष्यों के कामको मनुष्यों को ही करना चाहिए और दैव से सहायता माँगनी चाहिए।

शबलरूप वा प्रत्यक्षरूप परमात्मा का अर्थात् जो सूर्य, वायु, बिजुली अग्निरूप हैं उसको हम पृष्ठ ३०३ गीता मासिक जनवरी १९३४ पर थोडासा दिखला चुके हैं, परन्तु उससे परमात्मा विश्वरूप सिद्ध नहीं होता, कुम्हार का जीवात्मा और उसका अन्तःकरण और उसकी ज्ञान-इन्द्रियाँ वा कर्मेंद्रयाँ वा देहसहित तो कुम्हार कहलाता है, परन्तु कोई ऊँचे मस्तिष्कवाले वेदज्ञ मिट्टी के गुन्दे हुए गोंदे को जिस से कुम्हार को घडे आदि वर्तन बनाने हैं और दंड और चाक को कुम्हार नहीं कहेंगे।

शबल ब्रह्म जैसा वेद उपनिषद् में माना है विचारने को रखते हैं। इसके विचारने के पश्चात् यह विचार कोई नहीं रखेगा कि मल (विष्ठा) जिस पर मक्खी भिनभिनाती है और दुर्गन्ध के मारे आँख नाक जाने से रुक जाती है या गौहत्यारा मद्यपान करनेवाला, गुरुपत्नी से गमन करनेवाला, ब्राह्मणका मारनेवाला या कोढी कलंकी इन सब में परमात्मा विश्वरूप ही है।

शबल रूप की व्याख्या—

संभूतिञ्च विनाशं च यस्त द्वदोभयंऽसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

श० (सम्भूतिं च विनाशं च,) सम्भूति को और असम्भूति को भी (यः, तत् वेद, उभयं, सह,) जो इसको जानता है, जोडे को साथी (विनाशेन, मृत्युं, तीर्त्वा,) असम्भूति से मृत्यु को तैरकर (सम्भूत्या, अमृ, अतश्नुते) सम्भूति से अमृत को प्राप्त होगा।

भावार्थ- जब एक बार शबल से आगे बढकर शुद्धके दर्शन कर लेता है, तब शुद्ध से शबल और शबलसे शुद्ध की ओर जाने में उसकी स्वतन्त्रता हो जाती है। वह अपने आत्मा के अन्दर आत्मासे

आत्माके आत्माको देखता है और आत्मासे बाहर उसको मनसे देखता है। जब जैसे चाहता है वैसे दर्शन पाता है। इसी अवस्थामें पहुँचे हुए ऋषिने कहा है, 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये'-मैं शुद्धसे शबलको प्राप्त होता हूं और शबलसे शुद्धको प्राप्त होता हूं (छां० ८।१।१३) यहाँ इस जोडेको साथी बनाना है। जो इसको साथी बना लेता है, वह अमर होकर परम आनन्दको भोगता है। यही मुक्ति है।

सा०-परमात्माका स्वरूप, उसके दर्शनके साधन और दर्शनका फल कहकर अब तत्त्वदर्शीका मृत्यु-समय दिखलाते हैं। मरनेके निकट वह सत्य ब्रह्मके दर्शनकी अभिलाषा इस प्रकार प्रकट करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ-(हिरण्मयेन, पात्रेण) सुनहरी पात्रसे (सत्यस्य, अपिहितं मुखं) सत्यका ढका हुआ है, मुख (तत्, त्वं, पूषन् अपावृणु) उसको तू हे सूर्य! खोल दे (सत्यधर्माय, दृष्टये) सत्यके स्वरूपके दर्शनके लिए।

अर्थ- सुनहरी पात्रसे सत्यका मुख ढपा हुआ है। हे पूषन्! तू उसे खोल दे जिससे कि मैं सत्यके स्वरूपका दर्शन करूं।

भा०-सुनहरी पात्र सूर्य है, उसके अधिष्ठाता पुरुषको सत्य ब्रह्म कहा है (देखो बृ० ५।४।२) इसीको हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहा है। उपासक जन शरीर छोडकर इसके लोकमें पहुँचते हैं। अतएव मरनेके समय उसके दर्शन की प्रार्थना है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

श० (पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य) हे पूषन् हे एक देखनेवाले हे यम, हे सूर्य, हे प्रजापत्य (व्यूह, रश्मीन् समूह) फैला रश्मियोंका इकठ्ठा कर (तेजः, यत्, ते, रूपं, कल्याणतमं) तेज जो तेरा रूप कल्याणतम है (तत् ते पश्यामि) उसको तेरे देखता हूं (यः असौ, असौ, पुरुषः) जो वह वह पुरुष (सः, अहं, अस्मि) वह मैं हूं।

अर्थ- हे पूषन् एक देखनेवाले यम, सूर्य! प्राजापत्य रश्मियोंको फैला और इकट्ठा कर। वह तेज जो तेरा कल्याणतम रूप है। मैं तेरे उस (रूप) को देखता हूं, जो वह वह पुरुष (सत्यब्रह्म) है वह मैं हूं।

यह खूब निश्चय जानिये कि न तो कभी विश्वका रूप ब्रह्मका स्वरूप होता है और न कभी ब्रह्म विश्वका रूप हो जाता है। ब्रह्म केवल आनन्दस्वरूप है और उसका उपादानकारण सतोगुणी, रजोगुणी तमोगुणी प्रकृति नहीं और विश्वका जो रूप परमेश्वरने बनाया है, उसका उपादानकारण उपरोक्त तीन गुणात्मक प्रकृति है। परमात्मा और जीवात्मा ये तो ऐसे सूक्ष्म तत्त्व हैं जो सदा कारणरूपमें ही रहते हैं। उनको कोई कार्यरूप कभी नहीं बन सकता, क्योंकि यह दोनों सत्तायें न काटे कटें न जलाये जलें न भीगें न सूखें।

यदि परमात्मा विश्वरूप हो जाता तो वेदमें यह मन्त्र न आते। इस सूक्ष्म विषयपर हम जब लिखेंगे कि जब हम जड और चैतन्यकी प्रदर्शनी खोलेंगे परन्तु संकेत मात्र दो मन्त्र यँहा भी रखे देते हैं-

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम ॥ (ऋ० १।२।७।२०)
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥
(अथर्व० १०।८।२५)

आपने गीता मासिक जनवरी १९३४ में लिखा है कि विश्वरूपमें परमात्माको देखना वेदमें अनेक स्थानमें कहा है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सब उसी नारायणका विश्वरूप है ऐसा कहा है। इसकी उपासना परमात्मोपासना ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके स्वरूपको आपका विश्वरूप कहनेकी समालोचना हम जब करेंगे कि जब

हमारे प्रश्नोंका उत्तर हमारे पास आजावेगा। विश्वरूपसे जिज्ञासुको परमात्माके निश्चय करानेके यह मानी नहीं हैं कि परमात्मा स्वयं विश्वरूप हो गया है।

सनअत (कारीगरी) अर्थात् = विश्वको दिखलाकर साने (कारीगर) अर्थात् विश्वकर्माका पता देनेका नियम ठीक है। जैसा कि घडी, फोनुग्राफ, हारमोनियम आदि कारीगरीकी वस्तुओंको दिखलाकर इनके आविष्कारकोंकी बुद्धि और बल और क्रिया की महिमा दर्शाई जाती है, परन्तु घडी आदि वस्तुएं, घडीसाज आदि कर्ता नहीं हो जाते। बनी हुई वस्तु ज्ञानी (जीशऊर) नहीं होतीं।

परन्तु बनानेवालेको अवश्य ज्ञानी मानना पडेगा। हमको श्रीमान् पं० भीमसेनजीके मनुभाष्यसे पता लगा कि ब्रह्म नपुंसकलिङ्ग है और ब्रह्मा पुलिङ्ग। ब्रह्म और ब्रह्मामें क्या भेद हो जाता है जिससे इनके लिङ्गमें भेद पड जाता है? नीचे लिखे हुए श्लोकोंके विचारनेसे यह निश्चय हो जाता है कि शुद्ध ब्रह्म जब शबल रूप ब्रह्माके स्वरूपमें तैयारी करता है तब वह ब्रह्मा कहलाता है।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।
(मनु १।९)

भावार्थ - वह प्रकृतिरूप बीज सुवर्णसदृश तथा सूर्यके समान चमकवाला और अण्डेके सदृश गोलाकार हो गया। पुनः उस अण्डेसे सब लोकोंका उत्पादक ब्रह्मा प्रगट हुआ।

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥
(मनु १२।५०)

अर्थ — ब्रह्मा, विश्वके रचनेवाले, धर्म महान्, अव्यक्त, इसको बुद्धिमान् सत्त्वगुणी उत्तम गति कहते हैं।

नीचेके वेदमन्त्रोंसे आपको यह निश्चय होगा कि सूर्यनारायण विश्वके रूपोंको प्रसिद्ध करनेवाले और विश्वके पदार्थोंको रूप देनेवाले और विश्वको प्रकाशित करनेवाले और अग्निस्वरूपसे हरएकके अन्तःकरणमें उपदेश करनेवाले तो अवश्य हैं। परन्तु वह भी विश्वरूप नहीं हो जाते जब परमात्माका शबल (प्रत्यक्ष रूप) ही विश्वरूप न हुआ तो परमात्माका शुद्ध और नीखर रूप कैसे विश्वरूप बन जायगा? परमात्माके विश्वरूप बन जानेका सिद्धान्त वेदानुकूल नहीं है।

परमात्माको तमसे परे निश्चय आस्तिक करानेके लिए एक बडी युक्ति यह है कि, शबलरूपमें भी विकार नहीं है और अन्धकार नहीं है और शबलरूप वजनदारभी नहीं है और यही स्वरूप हिलता जुलता और रसोंको खेंचता, फेंकता, जोडता, तोडता और स्थापन करता। और इसी स्वरूपसे विश्वकी सारी जंजीरोंको हिलाता और लोकलोकान्तरोंको घुमाता और विश्वके स्थावर और जंगम जगत्का विचारसहित हित करनेवाला और विचारसहित मृत्यु और लय करनेवाला है।

अंग- अंगीका सम्बन्ध देवशक्तियों (भौतिक ज्योतियों) और परमात्मामें वेदने निश्चय कराकर अपने इस प्रत्यक्ष रूपका अनुभव यज्ञ करनेवालोंको कराया है।

श्रीमानजी! आप परमात्माको विश्वरूप कहते हैं, क्या विश्वमें तम = अन्धेरा और अज्ञान नहीं है? क्या विश्वके रूपमेंसे गन्दगी निकालकर उसको बिलकुल पवित्र दिखला सकते हैं? जड पदार्थ क्या विश्वसे बाहर हैं? महान् प्रलयका महानन्धकार यह विश्वके महाप्रलय होनेपर ही छाता है। परमात्मा तो उस समय भी लय नहीं होता। विश्वमें तो दुःखसुख सभी दीखते हैं और परमेश्वर केवल सच्चिदानन्द स्वरूप हैं।

इस स्थलपर यह सिद्धान्त निश्चित करना भी बडा ही आवश्यक है कि परमात्मा की चेतनताका

प्रभाव चारों सत्ताओंपर ही क्यों पडता है? पृथ्वीके वाले समुद्र,पहाड,दरया,मेज, कुर्सी और प्राणियोंके शरीरपर चैतन्यता क्यों नहीं लाता? इसका समाधान प्रत्यक्षमें ही है हमारे जीवात्मासे हमारी अंग इन्द्रियाँ तो चेतन हो जाती हैं। परन्तु हमारे अंग और इन्द्रियोंसे छुवे हुए कुर्त्ता, धोती आदि चेतन नहीं हो जाते। अंग इन्द्रियाँ वह होती हैं जो आत्मिक इरादेसे काम कर सकती हैं।

हम पहले दो मन्त्र देते हैं। जिससे यह साबित होगा कि विश्वरूप जिसकी हद सान्त देश (महदूद जगह है) तक है, अनन्त देशी (सर्वदेशी) परमात्माका रूप नहीं हो सकता।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः। चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ (ऋग्वेद १।४।१)

अर्थ— हे परमैश्वर्यवन् परात्मन्! आकाशलोकके पारमें तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बलसे विराजमान होके दुष्टोंके मनको धर्षण तिरस्कार करते हुए, सब जगत् तथा विशेष हम लोगोंके(अवसे) सम्यक् रक्षणके लिए (त्वम्)आप सावधान हो रहे हो। इससे हम निर्भय होके आनन्दकर रहे हैं। किञ्च (दिवम्) परमाकाश- (भूमिम्)भूमि तथा (स्वः)सुख विशेष मध्यस्थ लोक इन सबोंको अपने सामर्थ्यसे ही रचके यथावत् धारण कर रहे हो, (परिभूः एषि) सब पर वर्तमान और सबको प्राप्त हो रहे हो (आदिवम्)द्योतनात्मक सूर्यादि लोक (आपः) अन्तरिक्षलोक और जल इन सबके प्रतिमान (परिमाण) कर्ता आप ही हो तथा आप अपरिमेय हो, कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टिका विज्ञान दीजिए ॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥
(अ० ११।७।१)

अर्थ – (उच्छिष्टे) अवशिष्ट अर्थात् परमात्मामें नाम और रूपवाला जगत् रहा है, उसीमें (लोकः आहितः) लोकलोकांतर रखा है। उसमें इन्द्र और अग्नि तथा (अंतः) बीचमें (विश्वं) संपूर्ण विश्व (समाहितं) रहा हुआ है।

परमात्मा जगत्में व्याप्त हुआ है और बहुतसा बाहिर अवशिष्ट है। इस प्रकारके विशाल परमेश्वरमें यह सब संसार रहा है।

(उत्+शिष्ट = उच्छिष्ट) (उत) ऊर्ध्व भागमें जो (शिष्ट) अवशिष्ट है वह उच्छिष्ट है। अर्थात् इस स्थूल जगत् से परे जो है और जिसके सामर्थ्य से यह सब विश्व है उसका यह नाम है।

उपरोक्त दोनों मन्त्रोंसे निश्चय आत्मिक हो गया कि परमात्मसत्ता विश्वके बोझल लोक पृथ्वी आदिसे तो क्या विजलीके अन्दर और उस के बाहर भी जो ऊर्ध्व देश है उस भागमें भी है। इन मन्त्रों से ही हमें यही निश्चय हुआ है कि यद्यपि इतना बडा विश्व है पर थाहवाला है, परन्तु परमात्मा अथाह है। इसलिए परमात्मा को विश्व घेर नहीं सकता। क्योंकि परमात्मा विश्वके परे भी है। यही कारण है कि परमात्माको विश्वरूप कहना हम अवैदिक मानते हैं।

इन मन्त्रोंको भी विचारिये परमात्माको विश्वरूप माननेसे हम को यह आशा कैसे बँधे कि विश्वरूप हो जानेसे वह विश्वकर्मापनेके काम कर सकेगा और यह कार्यरूप विश्व जो प्रत्यक्षमें ध्येय दिखाई दे रहा है, वह धाता भी हो जायगा? और यह विश्वरूप ब्रह्मा विष्णुपनेका काम कर सकेगा?

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ॥ (यजु० १७।२६)

अर्थ– हे मनुष्यो! (विश्वकर्मा) जिसका समस्त जगत् का बनाना क्रियमाण काम और जो (विमनाः) अनेक प्रकारके विज्ञान से युक्त (विहायाः) विविध प्रकारके पदार्थोंमें व्याप्त (धाता) सब का धारण पोषण करने (विधाता) और रचनेवाला

(संदृक्) अच्छे प्रकार सबको देखता (परः) और सबसे उत्तम है । तथा जिसको (एकम्) अद्वितीय (आहुः) कहते अर्थात् जिसमें दूसरा कहनेमें नहीं आता (आत्) और (यत्र) जिसमें (सप्त ऋषीन्) पांच प्राण सूत्रात्मा और धनञ्जय इन सातको प्राप्त होकर (इषा) इच्छासे जीव (सं मदन्ति) अच्छे प्रकार आनन्दको प्राप्त होते (उत) और जो (तेषाम्) उन जीवोंके (परमा) उत्तम (इष्टानि) सुख सिद्ध करनेवाले कामों को सिद्ध करता है, उस परमेश्वरकी तुम लोग उपासना करो ।

भावार्थ—मनुष्योंको चाहिए कि सब जगत् का बनाने धारण, पालन और नाश करनेहारा एक अर्थात् जिसका दूसरा कोई सहायक नहीं हो सकता उसी परमेश्वर की उपासना अपने चाहे हुए काम के सिद्ध करनेके लिए करना चाहिए ।

> यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या (यजु० ॥२७॥)

अर्थ— हे मनुष्यो! (यः) जो (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) सब पदार्थोंका उत्पादन करनेहारा तथा (यः) जो (विधाता) कर्मों के अनुसार फल देने तथा जगत् का निर्माण करनेवाला (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों और (धामानि) जन्म-स्थान वा नाम का (वेद) जानता (यः) जो (देवानाम्) विद्वानों वा पृथ्वी आदि पदार्थों का (नामधाः) अपनी विद्यासे नाम धरनेवाला (एकः) एक अर्थात् असहाय (एव) ही है । जिसको (अन्या) और (भुवना) लोकस्थ पदार्थ (यन्ति) प्राप्त होते जाते हैं (संप्रश्नम्) जिसके निमित्त अच्छे प्रकार पूछना हो (तम्) उसको तुम लोग जानो ॥२७॥

भावार्थ- जो पिताके तुल्य समस्त विश्वका पालने और सब को जाननेहारा एक परमेश्वर है । उसके और उसकी सृष्टिके विज्ञानसे ही सब मनुष्य परस्पर मिलके प्रश्न और उत्तर करें ॥२७॥

हमारी समझमें विश्वरूप सूर्यको प्रकाशमान नहीं बना सकता—

> वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजाहिकं भुवनानामभिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ (गुट० पृष्ठ ५९)

अर्थ— हे मनुष्यो! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा, सब भुवनोंका स्वामी, कम सब का सुखदाता और (अभि श्रीः) सब का निधि (शोभाकारक) है । (वैश्वानरो यतते, सूर्येण संसारस्य) सब नरों का नेता (नायक) और सूर्यके साथ वही प्रकाशक है । अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं। (इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे) इसी ईश्वरके सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ अर्थात् उसने रचा है (वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम,) वे अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट) ज्ञानमें हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञानवाले हों । हे महाराजाधिराजेश्वर ! आप इस हमारी आशा को कृपासे पूरी करो ।

> न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः । स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥३२॥

अर्थ–हे अनन्त बल (न यस्य) जिस परमात्माके और उसके बलादि सामर्थ्य का (देवाः) इन्द्रिय (देवताः) विद्वान् सूर्यादि बुध्यादि (न मर्त्ताः) साधारण मनुष्य (आपश्चन)आप प्राण वायु समुद्र इत्यादि सब अन्त (पार) कभी नहीं पा सकते । किन्तु (प्ररिक्वा) प्रकृष्टतासे इनमें व्यापक होके अतिरिक्त (इनसे विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है (सः मरुत्वान्) अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा (त्वक्षसा) शत्रुओंके बलका छेदक बलसे (क्ष्मः) पृथ्वीको (दिवश्च) स्वर्गको धारण करता है। (इन्द्रः) परमात्मा (ऊती) हमारी रक्षके लिए (भवतु) तत्पर हो ॥३२॥

यदि विश्वरूप परमेश्वर होता तो विश्व के हन्ता के लिए वेदमें नष्ट कर देनेके लिए प्रार्थना आयी है । तो क्या परमेश्वर आप भी हनने (मारने) के

चक्करमें आजायगा और इस चक्करमें आजाने के पश्चात् भी परमेश्वर ही रह जायगा। जैसे पृथ्वी कुदालों (कस्सी) से खोदी जाती है और कुवे, नहर बनाये जाते हैं तो क्या परमेश्वरकी भी यही दशा हो सकती है?

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च। विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः॥ (ऋ० १०।३७।२)

अर्थ- हे सर्वाभिरक्षकेश्वर! (सा मा सत्योक्तिः) आपकी सत्य आज्ञा जिसका हमने अनुष्ठान किया वह (विश्वतः परि पातु नः) हमको सब संसारसे सर्वथा पालन और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रक्खे कि कभी हमको अधर्म करनेकी इच्छा भी न हो। (द्यावाच) और दिव्य सुखसे सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे। (यत्र) जिस दिव्य सृष्टिमें (अहानि) सूर्यादिकोंको दिवस आदिके होनेके निमित्त (ततनन्) आपने ही विस्तारे हैं। वहाँ भी हमारा सब उपद्रवोंसे। रक्षण करो (विश्व-मन्य०) आपसे अन्य (भिन्न) विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्यसे (प्रलयमें) (निविशते) प्रवेश करता है (कार्य सब कारणात्मक होता है) उस समयमें भी आप हमारी रक्षा करो। (यदेजति) जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्यसे चलित होके उत्पन्न होता है उस समय भी सब पीडाओंसे आप हमारी रक्षा करें। (विश्वाहापो विश्वाहा) जो जो विश्वका हन्ता (दुःख देनेवाले) उसको नष्ट कर देओ। क्योंकि आपके सामर्थ्यसे सब जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

आपके सामने कोई राक्षस (दुष्ट जन) क्या कर सकता है? क्योंकि आप सब जगत्‌में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो। (सूर्यवत्) हमारे हृदयमें कृपा करके प्रकाशित होओ, जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो।

क्या विश्वस्वरूप माननेसे परमेश्वर सब मनुष्योंके हृदयमें पापसे बचनेका उपदेश कर सकता है? हमारी समझमें अग्निस्वरूपसे तो उपदेश करता है। जैसे कि नीचेके मन्त्रमें आया है—

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥ (ऋ० १।९७।६)

हे अग्ने परमात्मन्! (त्वं हि) तू ही (विश्वतः परिभूरसि) सब जगत् सब ठिकानोंमें व्याप्त हो अतएव आप विश्वतो मुख हो। सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वशक्तिसे सब जीवोंके हृदयमें सत्यो-पदेश नित्य ही कर रहे हो। वही आपका मुख है। हे कृपालो (अप,नः शोशुचदघम्) आपकी इच्छासे हमारा पाप सब नष्ट हो जाय। जिससे हम लोग निष्पाप होके आपकी भक्ति और आज्ञापालनमें नित्य तत्पर रहें॥

श्रीमानजी! हम विश्वके रूपको परमात्माका रूप कैसे मान लें? क्योंकि वह न तो हमको पापसे बचा सकता है और न वह हमारा भीरुपना मिटा सकता है जैसेकि सूर्यनारायण पापोंसे बचाते हैं और भीरुपनेको मिटाते हैं।

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह। स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद् वरुण पाह्यस्मान्॥ (ऋ० २।२८।१०)

अर्थ— हे वरुण राजन्! हे देव! जो मेरा मित्र-साथी-चोर-हिंस्र पशु आदि स्वप्नमें आकर (भीरवे मह्यं) मुझ भीरुको डराता है, उससे मुझे बचाओ।

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयं। सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वस्मान्मुंचत्वं-हसः॥ (यजु० २०।१६)

अर्थ— यदि हम जाग्रतिमें अथवा स्वप्नमें पाप करेंगे तो उससे हम सबको (सूर्यः) देव बचावे।

हम जहां अग्नि, विद्युत् और महादेव सूर्य-नारायणको परमात्मसत्ता से (जो स्वयम् चेतन है) चैतन्य मानते हैं, वहाँ वायु देवताकोभी; इसी लिये आर्याभिविनयसे वायुदेवताके भेंट जो यज्ञकी सामग्री और घृतसे होती है, दिखलाते हैं।

सूर्यनारायण का राज्य कभी नष्ट नहीं होता। यदि कोई कहें कि महाप्रलयमें तो सूर्य भी लय हो जाते हैं तो, महाप्रलयके समयमें परमात्माका ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अर्यमा (यमराज पने) का काम भी तो जारी नहीं रहता और सब जीवात्मा सुषुप्ति की दशामें पहुँच जाते हैं।

यही कारण है कि भगवान् मनुने महाप्रलयको ब्रह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्माका सोना और सृष्टि रचते समय ब्रह्मादिन अर्थात् ब्रह्माका जागना दर्शाया है।

नं० १ आर्याभिविनयसे- ॐ वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः तेषां पाहि श्रुधी हवम्।

(श्री स्वामीजी महाराजका दिया हुआ अर्थ) हे अनन्त बल परेश वायो दर्शनीय! आप अपनी कृपासे ही हमको प्राप्त हो। हम लोगोंने अपनी अल्प शक्तिसे सोम (सोम वल्यादि) ओषधियोंका उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिये "अरङ्कृता" अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीतिसे हमने बनाये हैं, और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं, उनको आप स्वीकार करो (सर्वात्मासे पान करो)। हम दोनोंकी दीनता सुनकर जैसे पिताको पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है वैसे आप हमपर होवो।

वेदामृतसे लिया गया मन्त्र-

नं० २-तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनं॥ श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।

नं० ३- अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम् न मिनन्ति स्वराज्यम्।

अर्थ-(सवितुः देवस्य) सूर्य देवके (तत् भोजनं) उस पोषणको (वृणीमहे) हम सब स्वीकार करते हैं, तथा (भगस्य) भगवानके श्रेष्ठ तथा (सर्व-धातमम्) सबका धारण करनेवाली (तुरं) विजयी शक्तिको हम सब (धीमहि) धारण करते हैं। (हि) क्योंकि (अस्य सवितुः) इस सूर्य देव के (स्व-यशः-तरं) अपने यशसे फैले हुए (प्रियम्) प्रीति करने योग्य (स्वराज्यं) स्वराज्य का (कच्चन न) कोई भी नहीं (मिनन्ति = विनाशयन्ति) नाश कर सकते हैं।

सूर्यनारायणकी आश्चर्यजनक शक्तियोंको निश्चयात्मिक करनेके लिये अथर्ववेदके इन मन्त्रोंको ध्यानावस्थित होकर विचारिये।

(अथर्व १।२।२।१) दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः।

इस मन्त्रमें सूर्य नारायणका पृथ्वी आदिका धारण करनेवाला और नमनका योग्य और द्युलोकमें इनका स्थान माना है।

(अथर्व२।२।२।२) दिवि स्पृष्टो यजतः त्वगवयाता।

इस मन्त्रमें सूर्यको परमात्माकी त्वचा माना है अर्थात् सूर्यको व्याप्य और परमात्माको व्यापक माना है और इसी सूर्य स्वरूपसे दैवी आपत्तिको दूर करनेवाला माना है।

(अथर्व३।७।४२।१) अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः-

इस मन्त्रमें सूर्यस्वरूपको ही अन्तिम अवस्था का समझनेवाला, मनुष्योंको यथावत् जाननेवाला, रेतीले देशोंके ऊपर भी अत्यन्त जलवृष्टि करनेवाला और सब निम्न भागके लोकोंके प्रति अपने मित्र इन्द्र (बिजुली) के साथ कल्याणरूप होकर सबका पार करनेवाला माना है।

(अथर्व ४।७।४१।२) श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपात्॥

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको सबका निरीक्षक, द्युलोकमें रहनेवाला, जिनके उत्तम किरण हैं, सहस्र पावोंसे सर्वत्र संचार करनेवाला, सैकडों प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त अन्नका देनेवाला माना है।

(अथर्व५.१०।४।२८)हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा॥

इस मन्त्रमें सूर्यनारायण=हिरण्यगर्भको ही सर्वोत्कृष्ट और जिसकी महिमा वर्णनमें न आवे, बताया है, जिसको आधारस्तंभ परमात्माने ही सब लोकोंके बीचमें सबसे पहिले बनाकर रखा।

परमात्माने सबसे पहिले (जो स्वयम् चेतन है और जो सबका आदि मूल निमित्त कारण है) निजाम शम्शी (Solar System) को स्थापित किया है ।

कैसी सच्ची पदार्थविद्या वेदोंमें आयी है कि जिसको कोई साईन्सदाँ काट ही नहीं सकता। सप्त दिशो नाना सूर्यवाला मन्त्र निश्चय करा रहा है कि सूर्य अनेकों हैं। अर्वाचीन साइन्सदाँ यहां तक लिख चुके हैं कि एक सूर्यसे दूसरे सूर्य तक संखो मीलका फासला है और अब तो सूर्यहीसे बिजुली लेकर यन्त्रोंको चलानेमें लग रहे हैं। हिरण्यगर्भको प्रसञ्चन करनेके भी यही अर्थ हैं कि, परमात्माने बिजुलीके उपादानकारणसे सूर्य-रूपी कार्यको तैयार किया है।

(अथर्व०६।१३।१।७)रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वस्तभितं तेन नाकः। तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥

इस मन्त्रमें निश्चय कराया है कि सूर्य देवनेही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको सुदृढ बनाया है, उसीसे सब देवोंको अमृतत्व प्राप्त हुआ है और उसीने स्वर्ग नामक सुखपूर्ण लोक ऊपर थाम रक्खा है।

(अथर्व० ७।१३।१।११) ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि।

इस मन्त्रमें सूर्यदेवको तरुण और ज्ञानी= सब देखनेवाला, सब जगत्के रूपको प्रकाशित करता हुआ, सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा है। यह अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है। यह तीसरे अन्तरिक्ष-लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है।

(अथर्व० ८।१३।१।१२) सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः। मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहाति गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि।

इस मन्त्रमें सूर्य नारायणको सब बने हुए पदार्थोंका जाननेवाला और सहस्रों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला है और घृत वा सोमकी आहुतियां स्वीकार करनेवाला माना है और यह उपदेश भी आया है कि यह मेरा कभी त्याग न करे और मैं उसका कभी त्याग न करूँ। इससे हमारी गोवें तथा सन्तानें हृष्टपुष्ट हों।

(अथर्व० ८।१३।२।२६) यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः। सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको सब प्राणियोंको रूप देनेवाला और उनका मुख, भुजायें और हाथोंको सर्वत्र माना है और यह भी दर्शाया है कि वह अपने हाथों द्वारा सबका पोषण करता है। यह एक ही देव पृथ्वीसे द्युलोक तकके सब पदार्थ मात्रको उत्पन्न करता है।

विस्तारभयसे अथर्ववेदके संकेत मात्र मन्त्र देकर, अब यजुर्वेदके कुछ थोडेसे मन्त्र विचारने को आगे धरते हैं।

(यजु० २।२६) स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिः वर्चोदाऽअसि...॥ इस मन्त्रमें सूर्यस्वरूपको स्वयंभू माना है, विश्वरूप स्वयंभू नहीं हो सकता और मनु भगवान्ने भी १।६ में और १।७ में प्रकट होना माना है।

(यजु० ३।१७) तनूपाऽग्नेसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेस्यायुर्मेऽदेहि ।

इस मन्त्रमें अग्निस्वरूपको शरीरका रक्षक और आयु, वर्चके देनेवाले और बुद्धि, बल, शौर्यके देनेवाला माना है और अग्निस्वरूपसे ही शरीरकी रक्षा और आयु और वर्च माँगा है और जो जो न्यूनता आगई हैं उनको पूरा करनेके लिये प्रार्थना करना बताया है।

(यजु० ३।५२) सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ॥

इस मन्त्रमें सूर्यस्वरूपको अच्छे प्रकारसे पदार्थोंका दिखानेवाला और सब जगत्को बांधनेवाला माना है।

(यजु० ४।४।३) महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि॥ इस मन्त्रमें सूर्य स्वरूपकोही पृथ्वीके लिये जलका देनेवाला और दीप्तिका देनेवाला

और चक्षुदा कह कर चक्षु की माँग कराई ।

(यजु० ४।३५) नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत ।

इस मंत्रमें सूर्य स्वरूपको नमस्कार और सबका सुहृत् और सबसे श्रेष्ठ और दूरस्थित पदार्थोंका दिखानेवाला और सबका देखनेवाला माना है ।

(यजु० १२।३) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ।

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको ग्रहण करने योग्य जिसकी दृष्टि वा बुद्धि सर्वत्र है, सब संसारका उत्पादक और प्रातःकालका समय प्राप्त करानेको प्रकाशित होनेवाला और विश्वके रूपोंको प्रसिद्ध करनेवाला और मनुष्य तथा गौ आदि प्राणियोंके लिये सेवने योग्य सुखको प्रकाशित करनेवाला और स्वयम् सब दुःखोंसे पृथक् माना है ।

(यजु० १५।२०) अग्निमूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।

इस मन्त्रमें सूर्यको शिरके तुल्य माना है ।

(यजु० १७।६७) पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।

इस मन्त्रमें सूर्यकी समीपतामें अत्यन्त ज्ञान और सुखकी प्राप्ती मानी है ।

(यजु० २०।२१) उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ।

इस मन्त्रमें सूर्य स्वरूपको सब अन्धकारसे परे प्रकाशमान माना है ।

(यजु० २३।१०) सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।

इस वेद मन्त्रमें सूर्यको विना सहाय अपनी कक्षामें घूमनेवाला तथा इन्हीके प्रकाशसे चन्द्रलोक प्रकाश करनेवाला माना है ।

(यजु० २३।४८) ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः ।

इस मन्त्रमें सूर्यकी ज्योतिके समान ब्रह्मको भी ज्योतिमान् माना है । अर्थात् यही एक ऐसी भौतिक ज्योति रखनेवाले हैं कि जिनकी ज्योतिके साथही ब्रह्मकी ज्योतिकि समानता दर्शाई है ।

(यजु० २३।६३) सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

इस मन्त्रमें सूर्यको प्रजापति अर्थात् विश्वका रक्षक माना है ।

(यजु० २५।१२) यस्येमे हिमवन्तो महित्वा ।

इस मन्त्रमें सूर्य नारायणको हिमालय आदि पर्वत को आकर्षित और प्रकाशित करनेवाला और अन्तरिक्षमें जल ठहरानेवाला और दिशाओं और उपदिशाओंको इनकी भुजाके समान और सुखरूप मनोहर सूर्यमण्डलके लिये होम करने योग्य पदार्थसे सेवनका विधान बताया है ।

(यजु० ३१।१७) अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः ।

इस मन्त्रमें सूर्यको (विश्वकर्मणा) अर्थात् सब कर्म जिसके आश्रयसे होते (तस्यै तुष्टा) =सूक्ष्म करनेवाला बताया है ।

(यजु० ३१।१८) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं ।

इस मन्त्रमें (पुरुष)=परमात्माको (आदित्यवर्णम्) =सूर्यके तुल्य प्रकाश स्वरूप बताया है। यदि विश्वरूप को परमात्माका रूपमाना जाय तो विश्वमें तो (तम) = अन्धेरा और अज्ञान भी है ।

(यजु० ३१।२०) यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानाम् पुरोहितः ।

इस मन्त्रमें सूर्यको ब्रह्मका पुत्र (ब्राह्म) कहकर वेदने इनको नमस्कार करना बताया है ।

(यजु० ३२।४) एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः ।

इस मन्त्रमें हिरणगर्भ = सूर्य स्वरूपमें परमात्मा का प्रकट होना पूर्व कल्पके समान बतलाया है और यह सूर्यस्वरूपही ब्रह्मा सर्वतोमुख प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है ।

(यजु० ३३।३१) उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको उत्पन्न हुए पदार्थोंमें विद्यमान चिलचिलाते हुए सूर्यमण्डलको संसारको देखनेके लिये किरणों ऊपरको आश्चर्यरूप प्राप्त करातीं हैं।

(यजु० ३३।३७) तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततꣳ सं जभार।

इस मन्त्रमें सूर्यस्वरूपसे ही महाप्रलय = ब्रह्मरात्रिका होना और इसी स्वरूपसे समाधिस्थ होना बतलाया है। मनु भगवान्ने भी महाप्रलयमें ब्रह्मोंका सोना और सृष्टिकी उत्पत्तिमें ब्रह्माका जागना बतलाया है। सूर्य ही ब्रह्मा और ब्राह्म है।

(यजु० ३३।४०) बट् सूर्य श्रवसा महाँऽसि सत्रा देव महाँऽसि मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्।

इस मन्त्रमें सूर्य नारायणको यश और धनवाला और देवताओंका पुरोहित और व्यापक माना है।

(यजु० ३३।४३) आ कृष्णेन रजसा।

इस मन्त्रमें सूर्य नारायणको सब लोकोंका आकर्षण करनेवाला और सब लोकोंका प्रकाशक और सब लोकोंको प्रकाश्य और सब भुवनोंका देखनेवाला और अमृत = जलका बरसानेवाला माना है। इसी मन्त्रके भावार्थमें श्री स्वामीजी महाराजके यह शब्द हैं (हे मनुष्यों जैसे इन भूगोलादि लोकोंके साथ सूर्यका आकर्षण है, जो वृष्टिद्वारा अमृतरूप जलको वर्षाता और जो मूर्त द्रव्योंको दिखानेवाला है, वैसे ही सूर्य आदि लोक भी ईश्वरके आकर्षणसे धारण किये हुए हैं।) ऐसा जानना चाहिये। यह भावार्थ ही हमें इस लक्ष पर पहुंचाता है कि परमात्माका सम्बन्ध सूर्यसे सीधा है और और लोकोंसे Indirect अर्थात् सूर्य समीत हैं अर्थात् और लोकोंके प्रमाणु सूर्यकी ज्योतिको touch = छूते हैं और इसी कारणसे वह जड बने रहते हैं क्योंकि सूर्य स्वयं चेतन नहीं है, वरन परमात्मासे चेतन हुआ है और सूर्यकी ज्योति परमात्माकी ज्योतिसे touch = छूती है। परमात्मा और सूर्यकी ज्योतिमें फासला डालनेवाली कोई भौतिक पदार्थ यहां तक कि कोई भौतिक ज्योत भी नहीं है और इसीलिये परमात्माकी ज्योतिसे स्वयम् चेतन है। सूर्यकी ज्योति चेतन हो जाती है। जैसे कि हमारे जीवात्मासे हमारे अंग, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण चेतन हो जाते हैं और हमारे संकल्प मात्रसे काम करने लगते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि और किसीकी अंग इन्द्रियाँ दूसरे जीवात्माके संकल्पसे काम नहीं करतीं, यह भी कारण, असंख्यात जीवात्माओंकी अलग सत्ता होनेका निश्चय कराता है और जीवात्मा परमात्माका अंश नहीं है इस सिद्धान्तकी पुष्टि करता है।

(यजु० ३३।६९) अदब्धेभिः सवितः...हिरण्यजिह्वः।

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणकी (जिह्वः) हिरण्य बताई है।

(यजु० ३४।२४) अष्टौ व्यख्यत्ककुभः। हिरण्याक्षः।

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको (हिरण्यक्षः) माना है।

(यजु० ३४।२५) हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे।

इस मन्त्रमें सूर्यनारायणको (हिरण्यपाणि) विशेष कर सबको दिखानेवाला सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाला और पृथ्वी और आकाशके अन्धेरे = तमको दूर करनेवाला माना है।

(यजु० ३४।२६) हिरण्यहस्तोऽअसुरः सुनीथः।

इस मन्त्रमें सूर्यको हिरण्यहस्त कह कर जलादिको फेंकनेवाला और सुन्दर सुखकारी और अन्यायसे दूसरोंके पदार्थोंके हरण करनेवाले डाकू, चोर आदिको निवृत्त करनेवाला माना है।

(यजु० ३६।३) भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो।

यह सावित्री मन्त्र है। दोनों सन्ध्याओंमें इसका जाप करना द्विजाति मात्रका धर्म है। इसके जापसे दशों धर्मोंपर चलनेवाले द्विजातिको मोक्ष मिलना अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति मनु भगवान्ने बताई है। और दोनों सन्ध्याओंकी वेलाओंमें जाप न करनेसे शूद्रवत्

हो जाना बताया है। यदि कोई द्विजाति वेद न पढा हो तो, केवल सावित्री मन्त्रके जपनेसे द्विजाति बना रहता है। इस मन्त्रमें सूर्यनारायणके (वरेण्यम् भर्ग)को ध्येय बतलाकर उसका ध्यान करना बताया है और बुद्धिकी शुभ कामोंमें प्रेरणा करनेकी मांग बतलाई है और परमात्माका यही प्रत्यक्षरूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहलाया है और इसी सूर्य स्वरूपकी जान और अधिष्ठाता परमात्माको बतलाया है। सूर्यको स्वयं चेतन नहीं बतलाया है। किन्तु परमात्म सत्तासे चेतन वेदने माना है।

(यजु० ३६।२१) नमस्तेऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।

इस मन्त्रमें विद्युत् (बिजुली) स्वरूप परमेश्वर को जिसकी गर्जना प्रसिद्ध है, नमस्कार करना दर्शाया है और अनन्त ऐश्वर्ययुक्त भगवान् बताया है।

(यजु० ४०।१७) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

यह वेदान्तका मन्त्र कहलाता है। यजुर्वेद इस मन्त्र पर समाप्त होता है। परमात्म सत्ताकी परमात्मिक ज्योतिको सूर्य नारायणकी भौतिक ज्योतिसे ढका हुआ। वेदने निश्चय कराया है और योगियोंको इस शबल स्वरूपमें शुद्ध स्वरूप, आनन्द स्वरूपका दर्शन करनेके लिये ललचाया है और अनुभव (येनुल्नयकीन) कराया है। भगवान् जिनको यह अभिष्ट फल कृपया दे उन बडे भागियोंके क्या कहने।

इस मन्त्रमें परमात्माको जो पुरुष नामसे निश्चय कराया है, उस पुरुषकी पुरी ध्यानावस्थित होकर विचारने योग्य है। ब्रह्मका पुत्र ब्राह्म और अदितिका पुत्र आदित्यके शब्दोंके विचारनेसे हम इस पतेपर पहुंचते हैं कि सूर्य परमात्मासे चेतन होकर विश्व-भरके काम चला रहा है और उस परम पुरुष परमात्माके लिये यह आदित्य मण्डल मये उसकी ज्योतिके जो विश्व भरके कण कणपर छारही है और विश्वके मूर्तिमान द्रवोंको रूप दे रही है। उसीके लिये

उपरोक्त मन्त्र आया है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः।
(अथर्व० १०।२।२९)

अर्थ– जो अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मकी पुरीको जानता है उसके लिये ब्रह्म और (ब्राह्माः) अर्थात् देवता (चक्षुः) प्राण और प्रजाको देते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधं ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥ (भ० गी० अ० १५)

"मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंकी देहोंमें रहता हूं और मैं ही वहाँ प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूं ॥१४॥"

"मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रहा हूं। मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है। सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूं, मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूं और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं ॥१५॥"

श्रीमानजी अभी तक इस प्रश्नका कि अतः इसमें कोई विशेषता नहीं की प्रतिज्ञा है परन्तु यहाँ दूसरा प्रश्न उठता है कि यह प्रतिकोपासना साधारण अज्ञ बाल बुद्धि जनोंकी मनःस्थिरताके लिए उपयोगी है। यह हाशिया जो अपने चढाया है वह क्या इन वेदमन्त्रोंमें है? परमात्मा जो बिलकुल दिखाई नहीं देता उसके गुणानुवाद गाने तो आप बतलायें और सूर्य जो आपको भी दिनमें तो दिखाई देते हैं। उनके गुणानुवाद गानेवालोंको अज्ञ बाल बुद्धि जतलायें खूब मजाक किया है।

इसी सूर्य स्वरूपके विस्तारको छब्बीससो संख मील नाना सूर्य हम पहले ही दिखा चुके हैं इसी लिए।

दोषो गाय बृहद्गायद्युमद्धेहि।
आथर्वणस्तुहि देवं सवितारम्।
तमुष्टुहि यो अन्तः सिन्धोसुतः।
सत्यस्य युवानमद्रोघं वाचं सुशेवम।

अर्थ- (१) हे अथर्वाके अनुयायी सवितादेवकी तुति कर रात्रिके समय गा। बहुत भजन कर तेज ुक्तकी धारणा कर ॥ २ ॥ जो भव समुद्रके बीचमें स्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा युवा उत्तम सुख देने- ाला और द्रोहहीन वाणीसे युक्त है उसीका गुण र्णन कर।

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरी। उभे- सुष्टुती सुगातवे ॥

अर्थ- (सः घ सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उभे सुष्टुती सुगातवे,) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गोंपरसे हम जांय, इसके लिए (नः भूरि अमृतानि साविषत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है।

भावार्थ- वही सबको प्रेरणा देनेवाला एक देव, हम दोनों प्रकारके प्रशंसनीय मार्गोंपरसे प्रगति करें, इसलिए हमें अनंत सुख सदा देता रहता है।

श्रीमानजी अ० काण्ड ६ के पहले ही तीन मन्त्र आपके भावसे हमने दिये हैं, आपका यह लिखना कि यह प्रतिकोपासना साधारण अज्ञ बाल बुद्धि जनोंकी मनः स्थिरताके लिए उपयोगी है। हमारे सूर्य उपासना पर आक्रमण नहीं कर सकता। हम सूर्यको अलग कोई स्वयं चैतन्य देवता नहीं मानते किन्तु सर्व देशी परमात्म सत्तासे जो स्वयं चैतन्य है चैतन्य मानते हैं। इसी लिए आपके इन शब्दोंका (यदि दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्यकी ही उपासना, इस सूक्तमें होती तो रात्रिके समय उसके गुण गान कर ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्यकी उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रिके समय नहीं, इस सूक्तमें तो रात्रिके एकान्त समयमें उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है।) उत्तर देनेका बोझा हमारे ऊपर नहीं पडता। क्योंकि कोई साँइ सदाँ और वेदज्य यह सिद्ध ही नहीं कर सकता कि सूर्य दिन हीमें रहते हैं और रात्रिको नहीं रहते।

जलते हुए चिरागके सामने जब हम अपनी आखोंके ऊपर हाथकी ओलट कर लेते हैं, तो उस वक्तमें क्या कोई बुद्धिमान यह कह सकता है कि चिराग नहीं जल रहा है? एसेही सूर्यनारायणके सामने पृथ्वीके भागकी ओलट हो जानेसे रात्रि हो जाती है अगर रात्रिके समय सूर्यनारायणका न होना माना जाय तो (सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्य) इस मन्त्रके क्या मानी होंगे?

मनु भगवान्‌ने सावित्रि मन्त्रका जाप (पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्)

अध्याय २ श्लोक १०१ अर्थात् पिछली संध्यामें भली भान्ति तारोंके स्पष्ट दीखने तक बैठकर (जप करे) सब तारे और चन्द्रमा इन सूर्यकी ज्योतिसे ज्योति पाकर हम पृथ्वीके रहनेवालोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित कर रहे हैं।

मनुभगवान्‌ने अध्याय १२ में श्लोक १२२ इन शब्दोंमें दिया है।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥

अर्थ- सबका शासन करनेवाला, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सोनेकी आभावाला और स्वप्नकीसे (एकाग्र) बुद्धिसे गम्यको परमपुरुष जानना चाहिए। पहले मन्त्रमें तेजयुक्त की धारणा कर और इस श्लोकमें परमपुरुषको सोनेकीसी आभावाला कहकर योगियों का ध्येय बतलाया है।

[संपादकीय वक्तव्य- यह लेख परमेश्वरका विश्वरूप नहीं हो सकता, इसकी सिद्धता करनेके लिये लिखा है। इस लेखके लेखक यजुर्वेदका रुद्राध्याय तथा पुरुषसूक्तका 'पुरुष एवेदं सर्वं' यह मंत्र अच्छी तरह समझनेका यत्न करें और पश्चात् लेख लिखें। लेख विना समझे लिखा होनेके कारण इसका उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है।]

योगके प्रमुख अंग

(ले०- श्री० ना० कृ० आगटे)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया, इसलिये उसको भगवद्गीता कहते हैं। स्वयं भगवान् ही कहते हैं, कि भगवद्गीतामें 'योग' सिखलाया है और अध्यायसमाप्तिके श्लोकमें जो शब्द 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' आते हैं, उन शब्दोंसे यह बात सब लोगोंको मान्य है। गीता के (अ० ३ श्लो० ३०।३१।३२) से यह सिद्ध होता है, कि इस गीतामें श्रीकृष्णने अपना मत अपने स्पष्ट शब्दोंमें रखा है और वह अन्वय व्यतिरेक से निःसंदिग्ध रीतिसे बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है, कि गीताका प्रतिपाद्य विषय योग है और उसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें स्वयं भगवान्ने संपूर्ण किया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
(गी० ३।३०)

इस श्लोककी अच्छीतरह छानबीन की जाय, तो इस योगके भिन्नभिन्न अंग हमारी समझमें आ जावेंगे। हमें यह भी देखने मिलेगा, कि रहस्यकार ने जो गीताका सार कर्मयोग ठहराया है, उसके अंग इस श्लोकमें किस प्रमाणमें मिलते हैं ?

अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य।
निराशीः निर्ममो भूत्वा विगतज्वरः युध्यस्व ॥

प्रथमतः अध्यात्मचित्त हो । अध्यात्मचित्त होनेपर चुपचाप मत बैठो, किन्तु अखिल कर्मोंका मुझमें समर्पण करते जाओ। इस रीतिसे बर्ताव करोगे, तो तुम निरिच्छ, निःस्पृह, निष्काम होओगे; तुम्हारा कर्तृत्वाभिमान तक नष्ट होगा और तुम निर्मम होंगे; तुम्हारे अंतःकरणमें किसी तरहका डर जरा भी न रह पावेगा। ऐसी हालत में तुम्हारे हिस्सेमें आया हुआ क्षत्रियका युद्धकर्म तुम करो।

इससे यह निश्चित होता है, कि भगवान्ने केवल निष्क्रिय ज्ञानयोग नहीं सिखलाया, अहंकारमूलक कर्मयोग भी नहीं सिखलाया; 'मयि' शब्दपर जोर रहने से यह भी निश्चित है, कि इसमें भक्तियोग सिखलाया है। रहस्यकार के शब्दोंमें श्रीकृष्ण के इस मत का यथार्थ वर्णन है—

'अद्वैतमूलक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग।'

जिस प्रकार शंकराचार्य के संन्यास-आग्रह का उदाहरण यों दिया जाता है, कि जहां देखो वहां लोग समाजमेंसे उठकर संन्यासी बनने लगा, उसी प्रकार लोकमान्य के कर्मयोग-आग्रह का उदाहरण है, उनकी उपदिष्ट प्रतियोगी सहकारिताका अशुद्ध अर्थ। यह संभाव्य नहीं, कि लोकमान्य सारी जनता को यह सिखलाते हों, कि "तूने मुझे गाली दी, इसलिये मैं भी तुझे गाली देता हूं।" क्यों कि इस कृतिमें कर्मयोगके बहुतसे अंगोंका उच्चाटन किया हुआ नजर आता है। गाली सुनकर क्रोध से भरा हुवा वीर जब प्रतिपक्षको गाली देने को तैयार हुवा दिखता है, तब निःसंदेह वह अध्यात्म-चित्त निराशीः, निर्मम, विगतज्वर और ईश्वरार्पणबुद्धिसे गाली देनेवाला नहीं रहता; किंबहुना वह यह भी नहीं जानता, कि ऐसा बर्ताव करना अपना कर्तव्य है; और जानता भी हो, तो उस

क्षण में वह बिलकुल भूल जाता है। बडोंके उपदेश का ऐसा विपरीत अर्थ न होने पावे, इसलिये उनके उपदिष्ट योगशास्त्रके भिन्नभिन्न अंगोंको पूर्णतया समझकर उसके अनुसार सारे व्यवहार करना प्रत्येक मनुष्य को सीख लेना चाहिये।

इस योगका पहिला अंग है, अध्यात्मचित्त रहना। अध्यात्मचेतसा का अर्थ है, 'भृत्यवत् कर्म करोमि इति भावनया' - ऐसा श्रीमच्छंकराचार्यने गीता भाष्य में लिखा है। इसी का मानो स्पष्टीकरण श्री० अरविंद घोष अपनी पुस्तक- Essays on the Gita के The Divine Worker नामक अध्याय में कहते हैं-- The Divine is the Lord of his works, he is only their channel through the instrumentality of his nature conseions of and Subject to her Lord. By the flaming intensity and purity of this knowledge all his works are burnt up as in a fire and his mind remains without any stain or disfiguring mark on them, calm, silent unpertubed, white, clean and pure. To do all this liberating knowledge without the person as egoism of the doer is the first Sign of the Divine Worker.

जबतक ज्ञानयोग केअभ्यास से 'मैं' 'तू' की भावना नष्ट नहीं हुई, जबतक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, तबतक जिसका उपदेश भगवान् ने किया है, और लोकमान्य ने जिसको साररूप कहा है, वह निष्काम कर्मयोग साध्य होता ही नहीं। इसलिये उस आत्मानात्मविवेकमूलक ध्यानयोग की बहुत आवश्यकता है, जिसको कुछ प्रमाणमें 'नेति नेति' स्वरूप ज्ञानयोग भी कह सकते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को इस ध्यानयोग का अभ्यास प्रतिदिन नियमसे करना आवश्यक है।

सकल वस्तुओं में परमेश्वर देखने का अभ्यास करना, इसी ध्यानयोग का एक भाग है। साधक का पहिला कर्तव्य है, सब आदमियों में, सब प्राणियोंमें, सब वस्तुओंमें, सब कर्मों में, सब तरह की उलथ पुलथमें, छोटे, बडे, बुरे, भले, सब प्रसंगों में, सब प्रकार के सुखदुःखात्मक अनुभवों में परमेश्वरको देखनेका अभ्यास करना, 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' सदासर्वकाल परमेश्वर का स्मरण करने को सीखना। इसी अर्थ के अनेक वचन गीता में जगह जगह देखने मिलते हैं। नमूने के लिये निम्न अवतरण पर्याप्त होंगे-

वासुदेवः सर्वम्।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

"ईशावास्यमिदं सर्वम्। सर्वं खलु इदं ब्रह्म।" उपनिषद् के ये वचन यही बात सिखलाते हैं। योगशास्त्रका पहिला अंग इस प्रकार का ज्ञानयोग अथवा ध्यानयोग है।

योगशास्त्र का दूसरा अंग है- मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य। ईश्वर में सब कर्मोंका संन्यास करने के दो विभाग हैं। एक यह मानना, कि कर्म का कर्तृत्व ईश्वर का है; दूसरा विभाग कर्मका निदान फल परमेश्वर को अर्पण करना। प्रथमतः पहिले विभाग का विचार करें।

मनुष्य समझता है, कि अपने सब व्यवहार, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सब क्रियाओं को हम ही अपनी बुद्धि से, स्वतः की हिंमतपर जबाबदारीपर करते हैं। परंतु भगवान् कहते हैं, यह उसकी नितान्त भूल है। कर्मों का कर्तृत्व, कर्म करने की जबाबदारी व्यक्तिकी नहीं, परमेश्वर की है। परमेश्वर ही सच्चा कर्ता और करानेवाला है। मनुष्य व्यर्थ उस अधिकार को, उस योग्यता को, उस जबाबदारीको अपने ऊपर खींच लेनेकी झंझट में न पडे। यह उसकी मूर्खता होगी और फायदा जरा भी न हो। सच बात तो यह है, कि परमेश्वर ही सर्वत्र अव्यक्त रूपसे रहकर अपनी प्रकृतिके द्वारा जगत्के सब कर्म करता और कराता रहता है। जगत्में अनंत प्रकारके यंत्र बनाकर उन यंत्रोंके द्वारा इष्ट कार्यों की घटना परमेश्वर ही कराता है। ऊपर ऊपर देखनेवालेको यद्यपि ऐसा मालूम होता है, कि

इन कामोंको यह यंत्र करता है, तथापि सच्चा यंत्रचालक निराला ही रहता है। मानवी तथा अन्य सब यंत्रोंको बुद्धि, शक्ति, गति देनेवाला परमेश्वर ही है। प्रयत्नवाद, दैववाद परमेश्वरके ही आधीन हैं। भिन्नभिन्न योग्यतावाले मनुष्योंसे भिन्नभिन्न काम कराने पडते हैं; इसलिये उन्हें भिन्नभिन्न बुद्धि देना आवश्यक है। इसलिये जब कोई प्रयत्नवादकी और कोई दैववादकी प्रशंसा करता है, तब उसको प्रेरणा परमेश्वर ही करता है। इंद्रियोंको प्रत्यक्ष यह बात खुली तौरसे नहीं दिखती, कि इस जगत्के, संसारके, यच्चयावत् सब व्यवहारोंका और कर्मोंका कर्तृत्व ईश्वरका है तथापि वस्तुतः सूक्ष्म विचारसे वह हमें प्रतीत हो सकता है। इसके आधारभूत निम्नवचन हैं-

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मयया॥
(गी० अ० १८ श्लो० ५९-६१)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥
(गी० अ० ३)

योगशास्त्रका तीसरा अंग है, समग्र कर्मफल ईश्वरको समर्पण करते जाना। जबतक इस तत्त्व की प्रचीति नहीं आती, कि सब कर्मोंका कर्ता परमेश्वर है, तबतक कर्मफल ईश्वरार्पण करनेका यह तीसरा अंग अत्यंत महत्त्वका रहता है। मनुष्य जो बद्ध होता है, दुःखी होता है, वह कर्म करनेसे बद्ध नहीं होता।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

कर्मका बंधकत्व मानसिक आसक्तिके कारण रहता है। जबतक मनका, बुद्धिका वैसा निश्चय नहीं हुआ, तबतक कमसे कम सब कर्मोंके फल परमेश्वरको अर्पण करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। यह अत्यंत व्यावहारिक उपदेश है। मनुष्यपर सुखदुःखके प्रसंग आते हैं; उन सबका कारण यही है, कि मनुष्यप्राणी फलकी आशामें बंधा रहता है। जहां मनुष्यने फलकी आशा, फलोंपर दृष्टि रखकर कर्म करनेकी प्रवृत्ति छोड दी, वहीं से उसपर दुःख करनेके प्रसंग न आवेंगे। फलकी आशा ही से मनुष्य बद्ध होता है। वरना दुनियाके सब कर्म करता हुवा भी मनुष्य मुक्त रह सकता है।

इसीलिये भगवान्का सर्वत्र उपदेश चलता रहता है, कि फलाशा छोड दो। कर्मफलका त्याग करना सीखो। इसका यह अर्थ नहीं है, कि फल मिले तो उसे नष्ट कर दो, अथवा पहिलेही से यह तजवीज कर रखो, कि फल मिल ही न सके। केवल इतना ही करो, कि फलके विषयमें स्वतःकी आशा, आसक्ति, इच्छा, वासनाको बिधाकर मत रखो। कर्मकी योग्यताके अनुसार अच्छा या बुरा फल अवश्य आवेगा, परंतु उसके बारेमें कर्ताको उदासीन वृत्ति रखनी चाहिये।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

फल ईश्वरको अर्पण करना; वह अपना है ही नहीं, अर्थात् उससे अच्छा या बुरा लगनेका कोई कारण नहीं। अपन केवल परमेश्वरके कारिंदा (निमित्तमात्र) के नाते काम करते हैं, 'कार्यमित्येव कर्म क्रियते।' फलसे अपना कोई संबंध नहीं। उससे हमें घबडानेका अथवा उत्फुल होनेका कोई कारण नहीं। अपना वह प्रश्न ही नहीं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु।

जो कुछ कर्म करना, वह फलकी ओर दृष्टि रखकर, हमको उसका इष्ट फल मिलता हो, तो करना, वरना, वह करना ही नहीं- ऐसी व्यापारी दृष्टि रखकर हमें कर्म करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होना; किंतु वह कर्तव्य है, प्रवाहपतित है, परमेश्वरी

योजना है, परमेश्वरका पूजन है, परमेश्वर चरणोंमें यज्ञ है, यह धारणा रखकर अपने हिस्से के सब छोटे बडे, अच्छे बुरे, सुष्ट दुष्ट कर्म हमें करना है। इस दृष्टिसे जब मनुष्य कर्म करता है, तभी वह परमेश्वरसे 'युक्त' रहता है। अर्थात् इस वृत्तिमें उसके हाथसे जो कर्म होंगे, उनके फल मनुष्यसे लिप्त नहीं होते; किंतु ईश्वरी कार्य के ही लिये ईश्वरी योजनाके अनुसार ईश्वरी कार्य को पोषक होंगे। ईश्वरकी करणी अर्थात् लीला अगाध है। हमें जो अनिष्ट फल दिखता है, उसीसे परमेश्वरका महत्त्वपूर्ण इष्ट कार्य घटित होता है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्रपर अथवा राष्ट्रपर जो आपत्ति अथवा संकटपरंपरा आती है, वह अनिष्ट नहीं, इष्ट फलदायी ही रहती है। किसी की प्रिय पत्नीका देहान्त हो, तो प्रसंगविशेषमें उसी कारणसे उसकी समाजसेवाका, ईश्वर सेवा का मार्ग खुला हो जाता है; अन्यथा वह कदाचित् ही स्वार्थ में मग्न रहता। प्रभु रामचंद्रको तथा पांडवोंको वनवास के लिये भेजनेवाली कैकयीको और कौरवों को सकृद्दर्शन में हमे चाहे दुष्ट कहें; तथापि वे ईश्वरी योजना के अनुसार आवश्यक हस्तक ही थे। उसी कारण से अगामी घटना सुघटीत हुई। अन्यथा रामायण और महाभारत ग्रंथ निर्माण ही न होते।

व्यवहार में भी देखा जाय, तो क्या अपने अच्छे कर्मों का अच्छा फल अपन को तुरंत मिल जाता है? यद्यपि कर्म और कर्म का फल, यह न्याय है, तथापि 'काल' एक मध्यगत चीज रहती ही है। ऐसा नहीं होता, कि आज दूध पी लिया और आजही मोटे हो गए। यह भी नहीं होता, कि अभी बीज बोया और अभी उसकी पैदावारी घर में रख ली। आम का पेड लगानेवाला मर जाता है, उसके लडकों, नातियों को उस के फल खाने को मिलते हैं। शिवाजी महाराज ने शरीरको नितान्त कष्ट दिये और अगली पीढियों को अनायास सिंहासनपर बैठने मिला। इन सब उदाहरणों में यह बात नहीं, कि कार्यकारणभाव का संबंध बिलकुल न हो; परंतु हम यह जरूर देखते हैं, कि फल एकदम नहीं मिला। ज्ञानी पुरुष कार्यकारणसंबंध ही को प्राक्तनवाद कहते हैं और वह देखते हुए आचरण करते हैं; अपनी दृष्टि फल की ओर, शीघ्रप्राप्य फल की ओर भले बुरे परिणाम की ओर नहीं रखते। किंतु 'सत्य संकल्प का दाता भगवान् है' इस वचनपर श्रद्धापूर्ण विश्वास रखकर निष्काम बुद्धि से बर्ताव करते हैं। एक दो पीढी का वैराग्य, अतुल स्वार्थत्याग तथा आत्मबलिदान करने से कुछ काल के पश्चात् अगली पीढियों को अच्छे दिन आते हैं। प्रत्येक मनुष्य यदि अपने सत्कृत्यों का फल आज का आजही मांगने लगे, तो उसके हाथसे कोई भी महत् कार्य न होगा। बीज जमीन में घुसता है, फूट जाता है, उसका पूर्वस्वरूप बिलकुल नष्ट हो जाता है, तब ही भावी वृक्ष और फल की उत्पत्तिका मार्ग खुलता है। ऐसे प्रसंग में स्वार्थ, फलाशा, फलासक्ति इत्यादि सब बातें विघातक होती हैं। निष्काम कर्मयोग से यही तत्त्व सीखने मिलता है। फल की प्राप्ति होने के लिये पांच कारण लगते हैं; वे सब एकही व्यक्ति के, एक ही कर्ता के हाथ में नहीं रहते। इससे यही सिद्ध होता है, कि मनुष्य को फलाशा रखकर कर्म करने की आदत छोड देनी चाहिये।

(गीता अ० १५ श्लोक १३-१४)

इसलिये समस्त कर्मफलों का त्याग कर दो; मन से उनका त्याग करना सीखो। उनके बारे में इच्छा, वासना, आसक्ति, छोड दो। फलोंसे कोई सरोकार मत रखो; फलों की स्पृहा मत रखो, क्यों कि फल तुम्हारा नहीं है, परमेश्वर का है। फलाशा, फलासक्ति तुम्हें बद्ध करके नाहक तुम्हें झंझट में डाल देती है; इससे तुम्हारे हाथ में केवल मोह, विषाद और दुःख आते हैं। इसलिये कर्म करते समय पहिले ही से अनासक्त और निस्पृह रहो।

इसके आधारभूत गीता के वचन—

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः॥

२. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च॥

३. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

४. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

५. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

४. निर्ममो निरहंकारः।

सब प्रकार से निर्मम और निरहंकार होना, इस योग का ४ था अंग है। यह साध्य हुए विना पहिले तीन अंग सधते नहीं। जिस प्रमाण में यह चौथा अंग साध्य होगा, उसी प्रमाणमें पहिले तीन अंग सधेंगे। मनुष्य को फल की आसक्ति क्यों होती है? मनुष्य स्वतःको कर्म का कर्ता क्यों समझता है? इन प्रश्नों का यही उत्तर है, कि वह स्वतःको कोई पृथक् स्वतंत्र व्यक्ति समझता है। जबतक यह अलगपन का ख्याल रहेगा, मनुष्य की बुद्धि में, अंतःकरण में यह धारणा रहेगी, तबतक ये झगडे चलते ही जायगे। जिस घडीमें यह भेदबुद्धि, अहंभावना नष्ट होगी, उसी घडीमें मनुष्य आत्मतत्त्व से समरस होगा और आत्मा के सहज गुण- सत्, चित्, आनंद- उसमें उदित हुए स्पष्टतया व्यक्त होंगे। उस समय 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।' (ईश० उप०) इस श्रुतिवचनके अनुसार संसार का सारा प्रश्न हल हो जाता है। इसीलिये सब प्रकार से अहंकारका, अहंभावना का 'मैं और तुम' भिन्न माननेका त्याग करो। सांप्रत की व्यक्तिगत, देह-विषयक संकुचित दृष्टि को छोडकर विश्वव्यापक, सर्वव्यापी ईश्वरदृष्टि स्वीकृत करनेका प्रयत्न करना चाहिये। 'अज्ञान' और कोई चीज नहीं है; मर्यादित व्यक्तिगत दृष्टि स्वीकृत करना ही अज्ञान है। इसलिये भगवान् सर्वकाल यह उपदेश करते हैं, कि- "सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर" और प्राणिमात्रको 'निर्मम, निरहंकार' होनेका आदेश देते हैं।

५. निमित्तमात्रं भव।

जहां अहंकार भेदबुद्धि नष्ट हुई, सर्वत्र परमेश्वर ही का दर्शन होने लगा, वहांसे लेकर शरीरपात होते तक यह शरीर और तत् संबंधमें प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और जीव जो कुछ व्यवहार करते रहेंगे, वे इसी वृत्तिसे करते जायेंगे, कि ये सब परमेश्वरके हस्तक, केवल निमित्त, पुतलियां हैं। परमेश्वर जैसे नचावे, वैसेही शरीर, मन, बुद्धि नाचती रहेंगी; उसके बारेमें अभिमान या जबाबदारी जीवके तरफ किसी प्रकार न रहेगी। बारहवें अध्यायके धर्म्यामृत प्रकरणमें जो विशेषण दिये गए हैं, वे इस प्रकारके जीवन्मुक्तके, पूर्ण योगीके हैं और वे सब इस योगीपर घटित होते हैं। ऐसा मनुष्य निर्द्वंद्व द्वंद्वातीत, समबुद्धि, समदृष्टि बनता है। योगीका एक विशेष स्वरूप समत्व है, और इस योगीमें वह पूर्ण रीतिसे प्रतिबिंबित हुआ नजर आता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये, कि वह सुखदुःखादि द्वंद्वोंके पार जाकर, अर्थात् निर्द्वंद्व, द्वंद्वातीत होकर सर्वकाल शांत चित्तसे बर्ताव करना सीखे। जो कुछ होता, वह सब ईश्वरी योजनाके अनुसार ही होता है। अपने हिस्सेमें जो कुछ आया हो, उसको ईश्वरी प्रसाद समझकर स्वीकृत करना और उसीमें आनंद मानने का अभ्यास करना। कामक्रोधादि के आघातों को, अपना मन दृढ करके, सहन करनेका अभ्यास करना। ये सब परमेश्वर ही के भिन्नभिन्न स्वरूप हैं, ऐसा समझकर, शांतवृत्तिको अचल रखकर, उनकी ओर देखनेका अभ्यास करना चाहिये। किसी प्रकार घबडाना नहीं, उन्मत्त या बेहोष नहीं होना। १ तितिक्षा, २ उदासीन वृत्ति, ३ ईश्वरी देनगीका आनंदसे और प्रेमसे स्वीकार,

इन वृत्तियोंको आत्मसात करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इसके आधारभूत वाक्य जो भगवान्‌ने कहे हैं–

१. शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

२. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्‌ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

३. न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्‌ब्रह्मणि स्थितः॥

४. समत्वं योग उच्यते॥

५. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

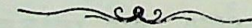
६. तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी।

निम्न श्लोकमें योगकी श्रेष्ठ सिद्धि, इतिकर्तव्यता, योगनिष्ठाका वर्णन है—

७. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥

यह संसार भगवान्‌की लीला है। लीलामय प्रभु स्वतः अनन्त जीवरूपसे अवतीर्ण होकर संसाररूपी नाटकका प्रयोग करनेमें और देखनेमें आनंद मानता है। वस्तुतः दुःखदायक ऐसी कोई चीज इस दुनियांमें है ही नहीं। परंतु यह शक्य और सत्य तब मालूम पडेगी, जब कि उस तरह की दिव्यदृष्टि से हम इस दुनियां की ओर देखें। यह दिव्यदृष्टि छोडकर अपन अपनी वैयक्तिक एकांगीण दृष्टिका स्वीकार करके दुनियांमें बर्तने लगें, तो हमारे हाथ सिवाय दुःख, मोह, शोकके कुछ न आवेगा। हमारे अज्ञानके कारण हमें जो कई प्राणी सुखी मालूम होते हैं, वे वस्तुतः वैसे नहीं हैं। अपनी अपनी तरहसे प्रत्येक प्राणी दुःखी ही है। केवल वह आदमी, जो इस लीलाको पहचानकर उसकी ओर दिव्यदृष्टिसे देखेगा और अपने हिस्सेका भला बुरा काम ईश्वरार्थ करनेका भरसक प्रयत्न करेगा, ईश्वरके खेलमें सच्चा खिलाडी होगा और उसपर जरा भी दुःखका अनुभव करनेका मौका न आवेगा। बाकी लोगोंके प्राक्तनमें सिवाय दुःख, शोक, मोहके कुछ लिखा नहीं रहता, अर्थात् निश्चय है, कि ये ही बातें उस के हिस्सेमें पडेंगीं।

ॐ तत्सद्‌ब्रह्मार्पणमस्तु।



'उपनिषत्-कथामाला'

[लेखक- श्री० ना० वा० गुणाजी, बेलगाव.]

(१) एकाक्षरी मंत्र,--द, द, द।

प्रजापति के तीन अपत्य,— देव, मनुष्य और असुर, अपने पिता के पास विद्याभ्यास करने को रहे थे; और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए उसकी सेवा करने लगे। इस तरह कुछ समयतक ब्रह्मचर्य व्रत से रहकर पहिले देवों ने प्रजापति से प्रार्थना की– "महाराज, हमें उपदेश करो।" इसपर प्रजापति ने 'द' इस एकाक्षरी मंत्रका उपदेश उन्हें किया और पूछा– 'इस मंत्र का अर्थ तुम्हारे ध्यानमें आया न? विलासी देवोंने विचार करके उत्तर दिया– "जी हां; द (दाम्यत) अर्थात् दमन (इंद्रियनिग्रह) करो। यही उपदेश आपने हमको किया।" तब प्रजापति बोले "हां, तुम इसका अर्थ ठीक समझ गए। अब चलो, इस व्रत को, इस अर्थ को, आचरण में लाओ।"

इसके पश्चात् मनु ने प्रजापति से प्रार्थना की– "महाराज, हमें कुछ उपदेश कीजिये।" प्रजापति ने उनको भी 'द' इस एकाक्षरी मंत्र का उपदेश किया, और पूछा 'इस मंत्र का अर्थ तुम समझ गए न?' लोभी मनुष्यों ने विचार करके उत्तर दिया,– 'आपने हमको यह आदेश किया, कि 'द' (दत्त) अर्थात् दान करो।' तब प्रजापति बोले, 'हां, इसका अर्थ तुम ठीक समझे हो, इसके अनुसार तुम सदैव बर्ताव करो।'

कुछ समय क बाद असुर भी प्रजापति के पास जाकर प्रार्थना करने लगे, 'महाराज हमें कुछ उपदेश दीजिये।' प्रजापति ने उनको भी 'द' इस एकाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया, और पूछा 'इसका अर्थ तुम्हारे ध्यान में आया न?' तब हिंसक राक्षसों ने विचार करके उत्तर दिया, 'आप ने हमको यह उपदेश किया, कि 'द' (दयध्वम्) अर्थात् दया करो।' इसपर प्रजापति बोले, 'हां, बिलकुल ठीक है। तुम्हें इसका अर्थ समझ गया। अब तुम इसके अनुसार आचरण करो।'

अब भी प्रतिवर्ष 'द द द' ऐसी गर्जना के द्वारा, मेघरूपी आकाशवाणी प्रजापतिके प्राचीन और सनातन उपदेश का जोरसे ऐसा अनुवाद करती है, कि–'हे देव, हे मानव,हे असुर–सात्विक, राजस और तामस जीवगण, दमन करो,दान करो और दया करो। दमन, दान और दया इन तीन सद्गुणों का अभ्यास करो, अपने आचरण में ये गुण लाओ; इससे तुम्हारा अपरिमित कल्याण होगा,–' (बृहदारण्यकोपनिषद्. अ० ५।२)

(२) किमिदं यक्षम् ?

प्राचीन काल में, जब देव और दानवों में युद्ध हो रहा था, ब्रह्म ने जगत्–शत्रु असुरों का पराभव करके देवों को विजय प्राप्त कर दिया। इससे देवों की महिमा बढ गई और लोग उनकी पूजा· कर लगे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उनका अभिमान बढने लगा, और वे समझने लगे कि हमने ही विजय संपादन किया है, यह हमारा ही महिमा है। सब के अंतर्याम में निवास करने·

वाले ब्रह्म को इसका शीघ्र पता लग गया । ब्रह्म ने विचार किया, कि दानवों के समान देव भी मिथ्याभिमान के वश में आवेंगे, तो उनका नाश होगा; विजय प्राप्त होने से नम्रता और विनय आना चाहिये । यह सोचकर ब्रह्म ने देवों का अभिमान दूर करने के हेतु एक अद्भूत और आश्चर्यकारक ऐसा (यक्ष का) रूप धारण किया और देवोंके सम्मुख वह प्रगट हुआ । देव बुद्धिमान होकर भी यह न पहचान सके, कि यह बिभूति कौन है । देवोंने अग्निको कहा 'हे जातवेद, तुम पहचानकर बतलाओ, कि यह यक्ष क्या है ।' अग्नि ने कहा 'ठीक है, मैं वह करता हूं ।' ऐसा कहकर यक्ष के पास अग्नि गया । यक्ष ने पूछा 'आप कौन हैं ?'

अग्नि ने कहा 'मै अग्नि हूं । मुझे जातवेदस् भी कहते हैं ।'

यक्ष- यह ठीक है,परंतु तुममें क्या पराक्रम है?

अग्नि- इस पृथ्वीपर जो कुछ है, वह सब जलाकर मैं भस्म कर देता हूं ।

यह सुनकर यक्ष ने एक घासका तिनका उसके सामने रखा और कहा- 'इसको जलाओ, देखें ।' बडे वेगसे अग्नि उस तिनके के पास दौडा, परंतु उसको जला न सका, उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए । तब वह लज्जित होकर वापिस गया, और देवों से कहा, 'मैं नहीं जान सकता यह यक्ष क्या बात है ।' इसके बाद देवों ने इस कामपर वायु-की योजना की । वायु ने इस काम का स्वीकार किया और वह यक्ष के पास आया ।

यक्ष- आप कौन हैं ?

वायु- मैं वायु हूं । मुझे मातरिश्वन् भी कहते हैं ।

यक्ष- ठीक; ऐसे तुम में क्या बल है ?

वायु- इस पृथ्वी में जो कुछ है, मैं वह सब उडा सकता हूं ।

यह सुनकर वही घास का तिनका यक्ष ने उस के आगे रखा और कहा-

'इस तिनके को उडा दो, देखें।' बडे वेगसे वायु उस तिनके के पास दौड कर गया, परंतु उसको उडा न सका । तब वह भी लज्जित होकर वापिस गया और उसने देवों से कहा 'मैं नहीं जान सकता वह यक्ष क्या बात है ।'

इसके बाद देवों ने इंद्रकी योजना की और कहा, 'हे मघवन्, आप पहचानिये, कि यह यक्ष कौन है ।' इंद्रने यह कबूल किया, और शीघ्र ही वह यक्ष के तरफ जानेको निकला । इंद्र वहांतक पहुंचता न पहुंचता इतने में वह यक्ष अदृश्य हो गया । परंतु इंद्र ने हिंमत नहीं छोडी । जैसा कि अग्नि ने और वायु ने किया था; इंद्र वापिस नहीं लौटा । जिस जगह यक्ष अंतर्धान पाया था, उस जगह इंद्र ध्यानस्थ होकर विचार करने लगा । उस जगह एक हैमवती (सुवर्णालंकृत) और बहुत शोभिवन्त स्त्री- उमा (ब्रह्मविद्या) प्रगट हुई । उसको देखकर इंद्र ने पूछा 'यक्ष कौन है?' उमाने कहा, 'यक्ष सुप्रसिद्ध ब्रह्म है- इसी ब्रह्मने असुरों का पराजय करके देवों को विजय प्राप्त कराया, और इसीसे देवोंका महिमा बढ गया ।' इसीतरह इंद्रको ज्ञान हुआ कि यक्ष ब्रह्म है; और यही ज्ञान उसने अग्नि, वायु आदि देवों को बतलाया । इसी कारण अग्नि, वायु, और इंद्र ब्रह्मके समीप आये और प्रथमतः अब ब्रह्म को जान सके और इसीलिये वे सब देवों में श्रेष्ठ हुए । सबसे पहिले इंद्रने ब्रह्म को पहिचाना, इसलिये सब देवों में वह श्रेष्ठ ठहरा ।

उपनिषद् का उपदेश करने की प्रार्थना तुमने की इसलिये, हमने तुम्हें ब्राह्मी उपनिषद्- ब्रह्म-विद्या बतलाई । इसका आधार तप, दम और कर्म है । वेद उसके अंग हैं, और सत्य उसका आयतन अर्थात् स्थान है । [केन उप० ३-४]

(मनन)

इस कथा के विषय में अब हम अध्यात्मदृष्ट्या थोडा विचार करें । बाह्य सृष्टि में जो अग्नि है, वह हमारे शरीर में वाणी - वाक् शक्ति है । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐतरेय उपनिषद् १-४)

अर्थात् अग्निने वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया। यही सूचना देने के हेतु अग्नि का दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'जातवेदा' यहां दिया गया है। जिसके योगसे वेद हुए, शब्द सृष्टि हुई, वह वाग्देवी है। अग्निदेव ब्रह्म को नहीं जान सके, उन्हें अपनी शक्तिसे तृण को भी जलाने का सामर्थ्य न था, इसलिये अग्निदेव ब्रह्मशक्ति के आगे पराभूत हो कर वापिस लौटे। इसी तरह हमारे शरीरान्तर्गत आग्नेय वाणी भी आत्माका वर्णन नहीं कर सकती और उसको जान नहीं सकती। वह आत्मसंमुख होते ही कुंठित होकर वापिस लौटती है। इसलिये इसी केन उपनिषद् के तीसरे मंत्र में कहा है, कि 'न तत्र वाग् गच्छति' वहां वाणी नहीं जाती, और ४ थे मंत्र में कहा है, कि 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते'— वाणी से जो प्रकाशित नहीं होता, परंतु जिसके कारण से वाणी प्रकाशित होती है, इत्यादि। इस प्रकार वाग्देवी (तथा-शब्द-रूप वेद अथवा श्रुति) ब्रह्म का अथवा आत्मा का यथार्थ और पूर्ण रीति से वर्णन कर नहीं सकती।

इसी तरह बाह्य सृष्टिमें जो वायु है, वह हमारे शरीर में प्राण होकर रहा है। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्-' (ऐतरेय उप०१-४) वायु प्राण होकर हमारे नासिकामें प्रविष्ट हुआ। बाह्य जगत्में जैसे वायुदेव को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ, वैसे ही हमारे शरीरमें प्राणको भी आत्माका ज्ञान नहीं होता 'यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते' (मंत्र७)- जो प्राण से जीवित नहीं रहता, किंतु जिसके योग से प्राण चल सकता है, वह ब्रह्म है। और इसी उपनिषद्में कहा है, कि यह ब्रह्म 'प्राणस्य प्राणः (मंत्र २)- प्राण का भी प्राण है। इस-लिये वायु में अथवा प्राण में बहुत शक्ति रहे, तथापि ब्रह्म के आगे अथवा आत्मा के आगे उनका कुछ नहीं चलता, और उन्हें ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।

अब इंद्र के संबंध में विचार करें। बाह्य सृष्टिमें जैसे अग्नि, वायु आदि देवोंका अधिपति इंद्र है, वैसे ही हमारे शरीर में प्राण इत्यादि का अध्यक्ष मन है। जैसे इंद्र को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ, वैसे ही 'न तत्र नो मनो गच्छति' (मंत्र २)- मन भी वहां नहीं जा सकता, अर्थात् मनको आत्माका ज्ञान नहीं होता, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (मंत्र ५)- अर्थात् ब्रह्म ऐसा है, कि जो मनसे मनन नहीं करता, किंतु जिसके योगसे मन मनन करता है- ऐसा इसी उपनिषद्में बतलाया है। सकल देवोंमें जैसा इंद्र श्रेष्ठ है, वैसा सकल इंद्रियोंमें मन श्रेष्ठ है। अन्य देवों की अपेक्षा इंद्र को जैसे ब्रह्म का ज्ञान पहिले पहल और अधिक हुआ, वैसे ही अन्य इंद्रियों की अपेक्षा मन को भी आत्मा का ज्ञान अधिक होगा; परंतु जैसे इंद्र उमा की शरण में गया, वैसे मन को भी उमा की शरण में जाना चाहिये। यह उमा कौन है? बाह्य सृष्टि में उमा का अर्थ है, हिमवान् पर्वत की (हैमवती) पुत्री पार्वती। हमारे शरीर में पर्वत है पृष्ठवंश अथवा मेरुदंड। इसके मूल में रहनेवाली कुंडलिनी शक्ति आत्मप्राप्ति के हेतु उसी प्रकार तप करती है, जैसे कि शिव की प्राप्तिके लिये पार्वतीने तप किया। इन्द्रको जैसे उमाकी शरणमें जाना पडा, उसी तरह आत्म-प्राप्ति के लिये मनको कुंडलिनी शक्तिकी शरणमें जाना चाहिये, और उसकी सहायता लेनी चाहिये, तब हमें आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी-

इस संपूर्ण कथाका और बोधका सार अथवा तात्पर्य तुकारामने एक अभंगमें दिया है, वह इस तरह है-

चालें हें शरीर कोणाचिये सत्ते।
कोण बोलवितें हरीविण॥
देखवी ऐकवी एक नारायण।
तयांचें भजन चुको नका॥
मानसाची देव चालवी अहंता।
मीचि एक कर्ता म्हणूनिया॥
वृक्षाचें ही पान हाले त्याची सत्ता।
राहिली अहंता मग कोठे॥
तुका म्हणे विठो भरला सबाह्य।
उणें काय आहे चराचरी॥

❀

भावार्थ- यह शरीर किसकी सत्तासे चलता है? सिवाय हरिके कौन बुलाता है? एक नारायण हमसे देखनेका तथा सुननेका कार्य कराता है, चाहे उसका भजन न किया जाय। मैं ही एक कर्ता हूं, ऐसी मनकी अहंता ईश्वर चलाता है! वृक्षका पत्ता भी उसीकी सत्तासे हिलता है, तब अहंता रही कहां? तुकाराम कहते हैं, ईश्वर अंतर्बाह्य भरा है, इस चराचरमें ऐसा क्या है जिसमें वह नहीं?

(३) सत्यकाम जाबाल।

जबाला नामक एक स्त्री थी। उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक दिन वह अपनी मातासे कहने लगा "हे माता! गुरुगृहमें जाकर ब्रह्मचर्यव्रतसे रहकर मैं वेदाभ्यास-विद्याभ्यास-करना चाहता हूं, मेरा गोत्र क्या है?" जबालाने उत्तर किया "बेटा! मुझे तुम्हारा गोत्र मालूम नहीं। मैं युवावस्थामें अनेक जगह दासीका काम करती फिरती थी; उस समय तुम मुझे प्राप्त हुए। मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती। मेरा नाम जबाला और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। तुम अपनेको सत्यकाम जाबाल बतलाओ।"

इसके बाद वह हारिद्रुमत गौतमके पास गया और कहने लगा, "हे भगवन्! ब्रह्मचर्य व्रतसे रहकर आपके पास अध्ययन करनेकी इच्छासे मैं आपके पास आया हूं।" गौतमने पूछा "बेटा! तुम्हारा गोत्र क्या है?" उसने उत्तर दिया "मुझे मालूम नहीं, कि मेरा गोत्र क्या है। मैंने इस विषयमें अपनी मातासे पूछा था, उसने कहा "मुझे तुम्हारा गोत्र मालूम नहीं। मैं युवावस्थामें जब दासी थी, तब कामके लिये अनेक जगह फिरती हुई मुझे तुम्हारा लाभ हुआ; मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र कौनसा है। मेरा नाम जबाला और तुम्हारा नाम सत्यकाम।" इसलिये मेरा नाम सत्यकाम जाबाल है।"

सत्यकाम का यह सत्य और सरल भाषण सुनकर गौतमने कहा, "ब्राह्मणके अतिरिक्त ऐसा कोई न बोलेगा; तुम सत्यसे च्युत नहीं हुए, इस लिये तुम ब्राह्मण ही हो। उठो बेटा! समिधा लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करता हूं।"

उसका उपनयन करके (और उससे अध्ययन कराके) गोशालामें से चार सौ कृश अशक्त गाएं लाकर गौतमने कहा, "बेटा! इन गौओंको तुम वनमें लेजाओ!" उनको वनमें लेजाने के समय सत्यकाम बोला "जबतक इन गौओंकी संख्या एक हजार न होगी, तबतक मैं वापिस न आऊंगा।" इसके बाद उन गौओंकी संख्या एक हजार होने तक वह जंगलमें गौओंके साथ कुछ वर्षतक रहा।

गायोंके उस समुदायमें मुख्य (जिसमें वायुदेवताने संचार किया था वह) ऋषभ (बैल) बोला, "हे सत्यकाम! हम अब सहस्र हो गए। हमें अब आचार्यके घर ले चलो।" ऐसा कहकर उसने उसको ब्रह्मके एक पादका-चतुर्थांशका-प्रकाशवान् पादका, उपदेश किया। मार्गमें अग्निने दूसरे चतुर्थांश का, अनन्तवान् नामक पादका उपदेश किया; हंसने तीसरे चतुर्थांश का, ज्योतिष्मान् नामक पादका, उपदेश किया, और मद्गूने चौथे चतुर्थांशका, आयतन नामक पादका उपदेश किया। इस प्रकार मार्गमें ज्ञान संपादन करते करते सत्यकाम आचार्यके घर आ पहुंचा। उस समय उसका मुख ब्रह्मवेत्ताके समान तेजस्वी, मधुर, चिंतारहित और निर्भय दिखता था। वह देखकर गुरुजीने बडे प्रेमसे उसको पूछा, "हे बालक सत्यकाम! तुम ब्रह्मवेत्ताके सदृश दिखते हो, मुझे बतलाओ, कि तुमको किसने उपदेश किया?" सत्यकामने कहा "भगवन्! मनुष्योंसे

भिन्न ऐसे देवतादिकने मुझे उपदेश किया; परंतु मेरी इच्छा है, कि आपही मुझे उपदेश कर के मुझे ज्ञान दें। क्यों कि 'आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या कल्याणकारक होती है और इच्छित फल देती है" ऐसा मैंने आपके समान श्रेष्ठ पुरुषों से सुना है।" शिष्यका यह विनययुक्त भाषण सुनकर गुरुजी प्रसन्न हुए और बोले, "तुमने जो (षोडशकलात्मक ब्रह्मका) ज्ञान प्राप्त किया है, उससे अधिक ज्ञान कुछ बाकी नहीं रहा। तुमने पूर्ण ब्रह्मज्ञान जान लिया, तुम्हारा कल्याण होवे।

(छां० उ० ४।४।१)

(४) उपकोसल कामलायन।

उपकोसल कामलायन नामक एक शिष्य सत्यकाम जाबालके घरमें ब्रह्मचर्यव्रत से रहकर अध्ययन करता था। उसने बारह वर्षतक अपने गुरूके गृहमें अग्निकी सेवा की। इसके बाद सत्यकामने बाकी सब ब्रह्मचारियोंका समावर्तन विधि करके उन्हें अपने अपने घरको बिदा किया, परंतु उपकोसल को नहीं भेजा। यह देखकर आचार्यपत्नि ने अपने पतिसे कहा, कि इस ब्रह्मचारी विद्यार्थीने अच्छा तप करके हमारे अग्निकी सेवा अच्छी तरह की है। आप इसका भी समावर्तन कीजिये, अन्यथा अग्नि आपकी निंदा करेंगे। इसलिये इसको ब्रह्मज्ञान का अच्छा उपदेश करके बिदा कीजिये। इसका कोई जबाब न देकर सत्यकाम ग्रामांतर को चला गया।

उपकोसल को बहुत मानसिक दुःख हुआ; वह अन्नत्याग करने लगा। यह देखकर आचार्यपत्निने उसको कहा 'हे ब्रह्मचारिन्! तुम कुछ अन्नका सेवन करो। तुम उपवास क्यों करते हो?' उसने कहा, मुझे अनेक कामनाओंने तथा व्याधियोंने व्याप्त कर ग्रसित करलिया है, इसलिये मैं कुछ खाता नहीं।' उसका यह निग्रह देखकर अग्निदेवताओंने आपस में विचार किया, कि इसने हमारी सेवा बहुत अच्छी तरह की है; इसलिये हम इसको विद्याप्रदान करें। इस प्रकार निर्णय करके वे अग्निदेव उसके सामने प्रगट हुए, और उन्होंने यह उपदेश किया-'प्राण ब्रह्म है, कं (सुख) ब्रह्म है, खं (आकाश) ब्रह्म है।' तदनंतर गार्हपत्य अग्निने उसको कहा 'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य मेरी तनु हैं; यह जो आदित्य में पुरुष दिखता है, वह मैं हूं।' अन्वाहार्यपचन अग्निने कहा 'आप, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा मेरी तनु हैं; चंद्र में जो यह पुरुष दिखता है, वह मैं हूं।' आहवनीय अग्निने कहा 'प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् मेरी तनु हैं; विद्युत् में जो पुरुष है, वह मैं हूं।' इस प्रकार त्रिविध उपासना करनेवालों को पापों का नाश, अग्निलोकप्राप्ति, पूर्ण आयुष्य, उज्ज्वल जीवन, वंशक्षय न होना (कुलरक्षण), इहपरलोकमें अग्निद्वारा संरक्षण, इत्यादि फल प्राप्त होते हैं। ऐसा कहकर अग्नि बोले 'हमने यह अपनी विद्या- आत्मविद्या- तुमको बतला दी। इसके आगे गति अर्थात् मार्ग तुम्हें आचार्य बतलाएंगे।'

कुछ समयके पश्चात् सत्यकाम घरको वापिस आये, और उपकोसल को देखकर बोले "बेटा! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ताके मुखसरीखा दिखता है। तुमको किसने ज्ञान बतलाया?' उपकोसल ने डरते डरते जवाब दिया— 'अग्निने।' सत्यकामने पूछा 'क्या उपदेश दिया?' तब उपकोसलने वह ज्ञान निवेदन किया जो अग्निने बतलाया था। सत्यकाम बोले 'उन्होंने तुमको लोकोंका ज्ञान बतलाया; संपूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं बतलाया, वह मैं तुम्हें बतलाता हूं।' ऐसा कहकर सत्यकामने उसको उपदेश किया, कि यह जो तुम्हें नेत्रमें पुरुष दिखता है, वह आत्मा है। वही आत्मतत्व अमृत, अभय ब्रह्म है। इसीको 'संयद्वाम' कहते

हैं, क्यों कि इसमें समस्त शोभन वस्तु एकत्र होती हैं। यही 'वामनी' अर्थात् सकल पुण्य-कर्मोंके फल देनेवाला है, और 'भामनी' अर्थात् संपूर्ण लोकोंमें भासमान होनेवाला, प्रकाश करनेवाला है। जो यह जानता है, वह सकल लोकोंमें प्रकाशमान होता है, और क्रमक्रमसे देवपथ को ब्रह्मपथ को, पहुंचता है और पुनर्जन्म से मुक्त होता है।' इत्यादि- (छां० उ० ४।१०-१५)

इस प्रकार उपकोसल को उपदेश करके और उसका समावर्तनविधि करके उसको अपने घर भेजा।

(५) उषस्तिश्चाक्रायणः।

एक समय कुरुदेश में ओलों की वृष्टिके कारण फसल का बहुत नुकसान हुआ; और अकाल पडने के कारण चक्रका पुत्र(चाक्रायण) उषस्ति अपनी तरुण पत्नी के साथ अन्नकी तलाशमें घूमता हुआ एक वडे ग्राम में आ पहुंचा। वहां एक सुखी मनुष्य यवादि धान्य खा रहा था, उससे चाक्रायण ने धान्य की भिक्षा मांगी। उस मनुष्यने कहा " अव मेरे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है; जो कुछ था, वह सब अपने पात्र में मैंने ले लिया है। " चाक्रायण उषस्ति ने कहा " इसी में से मुझे कुछ दे दो। " उस मनुष्यने उसमें से कुछ धान्य दिया और कहा "यदि तुम यह धान्य खाते हो, तो मेरे वर्तन में से कुछ पानी भी पीने को ले लो।" उषस्ति बोला, " मैं वह पानी लेलूं, तो मैं उच्छिष्ट पानी पीनेवाला होऊंगा।" इसपर वह मनुष्य बोला, " ऐसा है, तो क्या यह धान्य उच्छिष्ट नहीं है ? " उषस्तिने कहा 'मैं यह धान्य न खाता, तो मैं जीवित नहीं रहता। पानीकी बात वैसी नहीं है। वह चाहे उतना मिलता है।'

उषस्ति ने उसमेंसे कुछ धान्य खाकर कुछ अपनी पत्निको लाकर दिया। परंतु पत्निको पहिलेही अच्छी सी भिक्षा मिलगई थी;उसने पतिसे वह भाग लेकर वैसाही रख दिया। दूसरे दिन सुवह उषस्तिने,अपनी पत्निसे कहा,"हमें थोडासा अन्न मिल जाय, तो कुछ धन भी मिलनेका मौका है। क्यों कि इस देश का राजा एक यज्ञ कर रहा है। मैं वहां जाऊंगा, तो मुझे उस यज्ञके ऋत्विज का काम मिलेगा।" पत्नि ने कहा " यदि ऐसा है, तो कल जो धान्य आप लाये थे, वह वैसा ही रखा है, आप वह खाइये। " वह धान्य खाकर उषस्ति यज्ञके स्थानपर गया, और वहांके प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता इत्यादि ऋत्विजों से कहने लगा " प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार विषयक देवताओं को विना जाने यदि तुम स्तवन करोगे, तो तुम्हारे मस्तक गिर पडेंगे। " यह सुनकर वे सब ठहर गये, उन्होंने सब कार्य स्थगित कर दिया। तब यजमान (राजा) ने कहा " मैं जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं। " उषस्तिने अपना नाम वतलाया। राजाने कहा- "इस यज्ञ के संपूर्ण कर्मके लिये मैंने आपही की योजना की थी; परंतु आप का पता न लगनेसे मुझे इन लोगों की योजना करनी पडी। अस्तु। अब आप आ गए हैं; आपकी देखरेख में अब यज्ञ का काम चलाया जावे।' उषस्तिने वह कबूल किया, और यज्ञ का काम आगे चलाने को ऋत्विजोंसे कहा। राजा से उसने कहा, कि इन लोगों को तुम जितना धन देओगे, उतना मुझेभी देना। राजाने वह कबूल किया। यह व्यवस्था प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता को भी पसंद हुई। उन्होंने शिष्यभाव रखकर उषस्ति से अपने अपने देवता, प्राण, आदित्य और मनके विषयमें ज्ञान संपादन किया, और यज्ञ का काम यथासांग पूरा किया। (छां० १।१०)

(६) प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

वास्तव में प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।

ज्येष्ठ को तथा श्रेष्ठ को जो जानता है, वह स्वयं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो वसिष्ठ (धनवान्) को जानता है, वह स्वजातीयों में वसिष्ठ होता है। वाणी ही वसिष्ठ है। जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह इह पर लोक में प्रतिष्ठा पाता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। जो संपत्ति को जानता है, उसको दैवी तथा मानुषी समस्त कामों की प्राप्ति होती है। श्रोत्र ही संपत्ति है। जो आयतन (आश्रयस्थान) को जानता है, वह स्वजनों का आश्रयस्थान होता है। मन ही आयतन है।

एक समय वाक् इत्यादि प्राण-इंद्रियां आपस में लडने लगीं, यह कहकर कि 'मैं ही श्रेष्ठ हूं, मैं हि श्रेष्ठ हूं।" वे सब अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहने लगीं "हे भगवन्! हम में श्रेष्ठ कौन है? आप बतलाइये।" प्रजापती ने जवाब दिया, कि "तुम में वही श्रेष्ठ है, कि जिसके जानेसे यह शरीर अत्यंत पापिष्ठ अर्थात् शवके समान अमंगल दिखेगा।" प्रथमतः वाणी निकल गई, और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आई। वह अन्य इंद्रियों से कहने लगी "मेरे विना तुम कैसे जीवित रह सकीं?" उन्होंने जवाब दिया, "जैसे गूंगा आदमी बोलता नहीं है, परंतु वह प्राण से श्वास लेता है, चक्षुओं से देखता है, कानों से सुनता है और मनसे ध्यान करता है; इसी तरह हम भी रही आई" इतना सुननेपर वाणी के गर्व का परिहार हुआ और वह शरीर में वापिस गई। इसके उपरांत चक्षु निकल गए, और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आए और कहने लगे- "मेरे विना तुम कैसे रहीं?" अन्य इंद्रियों नें जवाब दिया- "अंधे आदमी को दिखता नहीं; तथापि वह प्राणसे श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, कानोंसे सुनता है और मनसे ध्यान करता है। इसी तरह हम भी रही आई।" इतना सुननेपर चक्षुओं के गर्व का परिहार हुआ और वे शरीर में वापिस आए। तदनंतर (श्रोत्र) कर्णेन्द्रियां निकल गई; और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आई और पूछने लगीं "मेरे विना तुम कैसे जीवित रह सकीं?" अन्य इंद्रियोंने जवाब दिया "बहिरा आदमी सुन नहीं सकता; तथापि वह प्राण से श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, चक्षुओं से देखता है और मन से ध्यान करता है, इसी तरह हमभी रही आई।" यह सुननेपर श्रोत्रों के गर्व का परिहार हुआ, और उन्होंने फिरसे शरीर में प्रवेश किया। तदनंतर मन निकल गया और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आया और पूछने लगा 'मेरे विना तुम किस प्रकार जीवित रहीं?' उन्होंने जवाब दिया 'बालक के मनकी बाढ नहीं होती, तथापि वह प्राणसे श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, चक्षुओंसे देखता है और कानोंसे सुनता है; इसी तरह हम भी रही आई।' यह सुननेपर मनके गर्वका परिहार हुआ और वह फिरसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इसके उपरान्त प्राण निकलने लगे, त्यों ही अन्य इंद्रियोंकी वही अवस्था हुई जैसे कि उमदा घोडा अपने पाद-बंधनोंकी मेखें उखाडता तब होती है। तब उन सब इन्द्रियोंने प्रार्थना की 'हे भगवन्! तुमही हमारे स्वामी हो; हममें तुम ही श्रेष्ठ हो, तुम बाहर मत जावो। वाणी बोली 'मैं जो वसिष्ठ (धनवान्) हूं, वह वसिष्ठ तुम ही हो।' चक्षु बोले 'हम जो प्रतिष्ठा हैं, वह प्रतिष्ठा तुम ही हो।' श्रोत्र बोले हम जो संपद् हैं, वह संपद्

तुम ही हो।' मन बोला 'मैं जो आयतन हूं, वह आयतन तुम ही हो।' संपूर्ण इंद्रियोंको वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन कोई नहीं कहता; किंतु इन सबको प्राण ही कहते हैं।

उन इंद्रियोंसे प्राणने पूछा 'मेरा अन्न कौनसा है?' उन्होंने कहा 'कुत्ते, पक्षियोंसहित सब प्राणियोंका जो अन्न है, वही अनका अर्थात् प्राण का अन्न है। अन प्राणका प्रत्यक्ष अन्न है। इस तरह प्राणकी उपासना करनेवालेको सब अन्न मिलेगा।' प्राणने फिर पूछा, 'मेरा वस्त्र कौनसा?" उन्होंने जवाब दिया 'उदक।' इसलिये भोजनके पहिले और पश्चात् उदकसे प्राणका परिधान करते हैं। जो यह जानता है, वह वस्त्रोंसे परिपूर्ण होता है। (वह कभी वस्त्रहीन नहीं रहता।) यह प्राण-दर्शन (प्राणका ज्ञान) सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गोश्रुतिको बतलाया और कहा 'यह ज्ञान यद्यपि किसी शुष्क (सूखे हुए) खंभेको बतलाया जाय, तो उसको भी शाखाएं फूटेंगी और वह पल्लवित होगा।' (छां० उ० ५।१-२)

(मनन)

यह कथा छांदाग्योपनिषद् खंड ५ अध्याय १।२ में वर्णित है। यही कथा थोडेबहुत फरकसे प्रश्नोपनिषद्में तथा कौषीतकि उपनिषद्में आई है। ये थोडेसे फरक भी महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिये उनके विषयमें कुछ कहना इष्ट है। प्रश्नोपनिषद्की कथामें प्राणसे अन्य इंद्रियोंका जो कलह हुआ था, उसमें अन्य इंद्रियोंके साथ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, इन पंचमहाभूतोंने भी भाग लिया था, और अभिमानपूर्वक उन सबने यह भी कहा है, कि 'हम बाण (शरीर) का संयोजन करते हैं और धारण करते हैं।' प्राण शरीरसे बाहर जाने लगा, तब अन्य इंद्रियां जलदीसे बाहर होने लगीं; इस बातको मधुमक्षिकाओंके राजा (रानी) की उपमा देकर विशद किया है। मधुमख्खियां, ज्यों ही अपना राजा (रानी) बाहर जाने लगता है, त्योंही उसके पीछे पीछे सब उसके साथ बाहर जाती हैं; जहां वह ठहर गया वहीं वे सब ठहर जाती हैं; वैसा ही यह प्रकार है-ऐसा वर्णन किया है,और वह पूर्ण समर्पक है। इसी तरह छांदोग्योपनिषद् की कथाके अनुसार, अंतमें प्राण की स्तुति करते समय ऐसी प्रार्थना की है, कि "हे प्राण! तू अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, रुद्र, इत्यादि है। तू दश के बाहर मत जा।"

कौषीतकि उपनिषद् में प्राण की महती इससे भी विशेष रीति से वर्णित है। "आयुः प्राणः। प्राणो वा आयुः। प्राण एवामृतम्। "आयुष्य ही प्राण है, प्राण ही आयुष्य है, प्राणही अमृतत्त्व है [क्योंकि जबतक प्राण इस शरीर में रहता है तभीतक आयुष्य रहता है] (३-२) इसके आगे यह वर्णन है, कि "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वै प्रज्ञा स वै प्राणः।" [जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है, वही प्राण है] और अंत में इस उपनिषत्कार ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है; कि "स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात्।" वही मेरा आत्मा ऐसा जानना चाहिये।"

[७] सयुग्वा (गाडेवाला) रैक्क।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ (तैः उः २।१-१)

अर्थ- ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनंत है; और वह परम (सूक्ष्म) आकाशमें-बुद्धिरूपी गुहा में प्रतिष्ठित है। ऐसा जो जानता है, वह सर्वज्ञस्वरूप ब्रह्म के साथ (ब्रह्मरूप होकर) सकल कामनाओंका एकसाथ उपभोग लेता है।

पूर्वकाल में जानश्रुति पौत्रायण [जनश्रुति के पुत्र का नाती] नामक एक राजा था। वह श्रद्धा-पूर्वक बहुतसा दान देता था, और उसके घरमें अतिथियों के लिये बहुतसा अन्न रोज बनाया

जाता था। इसके अतिरिक्त उस राजाने गांव गांव में अनेक अन्नसत्र बनवाकर जारी रखे थे, हेतु यह कि लोग अपना अन्न भक्षण करें।

राजा के इन सत्कृत्यों से संतुष्ट होकर, कतिपय ऋषि और देवता हंस का रूप धारण करके उडते हुए राजा के निकट गए। राजा अपने प्रासाद शिखर के महल में विश्रांति लेता हुआ लेटा था। तब पिछला हंस अगले हंस को कहता है "हे भल्लाक्ष (अन्धे)! क्या तुझे यह नहीं दिखता, कि इस जानश्रुति राजा का तेज सूर्य के समान फैला हुआ है? उस तेज के निकट मत जाना, उसका स्पर्श तुझे होते ही तू जलकर खाक हो जायगा!" यह सुनकर अगला हंस पिछले हंससे कहता है "हे कंवर (पागल)! गाडेवाले रैक्व को सुहानेवाला यह भाषण तुम किससे करते हो?" पिछले हंसने पूछा "यह गाडेवाला रैक्व कौन है?" अगला हंस बोला "जैसे द्यूतक्रीडा में 'कृत' नामक फांसेसे बाजी जीतने से बाकी के फांसे उसमें अंतर्भूत होते हैं, उसीतरह संसार में मनुष्य जो कुछ सत्कर्म करते हैं वह सब सयुग्वा रैक्व को प्राप्त होता है। रैक्व जो जानता है, वह जो कोई जानेगा, उसको समस्त प्राणि मात्र के शुभ कर्मका फल मिलेगा। ऐसी उस रैक्व की कथा है। क्या यह जानश्रुति राजा उस प्रकार का है?" इस तरह संभाषण करते हुए वे हंस चले गए।

यह संभाषण जानश्रुति राजाने सुना। रातभर उनको नींद नहीं आई; उसके सिरमें केवल रैक्व विषयक विचार चल रहा था। प्रातःकाल में जब बंदिजन और सारथी ने स्तुतिपाठ किया, तब राजाने कहा "तुम सयुग्वा रैक्व के सदश मेरी स्तुती क्यों करते हो?" उन्होंने पूछा, "यह रैक्व कौन है?" राजाने हंसके मुखसे सुना हुवा वचन कहा, और उसकी तलाश करने का हुकुम दिया। उन्होंने अनेक शहरोंमें, ग्रामोंमें, खेडोंमें, इत्यादि बहुत जगह रैक्वकी तलाश की, परंतु उसका पता नहीं लगा। आखिर राजाने अरण्योंमें, आश्रमोंमें, जहां ब्रह्मनिष्ठ, तपस्वी रहते हैं, रैक्व का तलाश करने की सूचना दी। शहरसे दूर ऐसे एक निर्जन प्रदेशमें एक गाडेके नीचे खुजली खुजाता हुवा एक परम तेजस्वी ब्राह्मण सारथी को दिख पडा। यह समझकर कि वह रैक्व होगा सारथिने पूछा "हे भगवन्! सयुग्वा रैक्व क्या आपही हैं?" उसने जवाब दिया "हां" शीघ्रही सारथिने राजाको खबर दी, कि रैक्व का पता लग गया। राजा छः सौ गाएं, सोनेका कंठा, और एक खच्चरों का रथ लेकर रैक्वके पास आया। ये सब चीजें अर्पण करके राजाने कहा "यह सब मैं आपकी सेवा में लाया हूं। इसका स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत कीजिये, और आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उस देवता का उपदेश मुझे कीजिये।" यह सुनकर रैक्व ने कहा- "हे शूद्र! [शुचा=शोकसे, दुद्राव=दौडा; इसलिये शूद्र।] हंसका वचन सुनकर इसको शोक हुआ, और उस शोकावेगसे यह अपने पास दौड आया; यह सूचित करने के लिये इस संबोधनकी योजना बहुधा की गयी होगी; क्योंकि राजा क्षत्रिय था, शूद्र नहीं] तुह्मारा वह हार, वे गायें, वह रथ, ये सब चीजें तुह्मारीं तुह्मींको शुभदायक हों; उनसे मेरा कोई कर्तव्य नहीं।" राजा को शंका आई, कि यह धन कदाचित् कम होगा। राजा अपने ग्राम को वापिस गया, और अबकी बार एक हजार गायं, कंठा, खच्चरों का रथ और अपनी सुस्वरूप और सुशील कन्याको लेकर रैक्व के पास आकर बोला "हे भगवन्! यह सारा धन और जिस ग्राम में आप रहते हैं वह ग्राम, इन सब का स्वीकार कीजिये और मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे उपदेश दीजिये"॥

राजाका यह भाषण सुनकर, राजकन्या के मुखपर स्नेहसे हाथ फिराता हुवा रैक्व बोला "हे शूद्र! फिरसे तुम यह सब ले आए! इस ठाटबाटसे और ऐश्वर्यसे क्या तुम ब्रह्मज्ञान संपादन करने की आशा रखते हो? यह सब तुमही रखो!"

सयुग्वा रैक्वका यह उत्तर सुनते ही राजाके सिरमें अच्छा प्रकाश पड गया। उसने अपने धन और ऐश्वर्य का अभिमान तथा गर्व छोड दिया; रैक्वके चरण पकड लिये और शिष्यभावसे उसकी सेवा करना प्रारंभ किया। योग्य समय बीतने पर रैक्वने उसपर अनुग्रह किया; उसको 'संवर्ग-विद्या' बतलाई और ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया, और इस प्रकार उसको कृतार्थ किया। रैक्व जिस जगह रहता था, उसके आजूबाजूके प्रदेश को 'रैक्वपर्ण' नाम प्राप्त हुवा। (छां० उ० ४।१-३)

(८) अश्वपति कैकेय।

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुपका पुत्र सत्य-यज्ञ, भल्लवी का पुत्र इंद्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बडिल, ये पांच महाशय श्रुतिसंपन्न ब्राह्मण एक जगह मिले और यह विचार करने लगे, कि 'हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्मका मतलब क्या है?' उन सब ने यह ठहराया, कि 'सांप्रत कालमें अरुण पुत्र उद्दालक वैश्वानर-आत्मा को भली भांति जानता है। सर्वानुमति हो, तो अपन उसके पास जाकर इसके विषय में पृच्छा करें" आखिर निश्चय करके वे उसके पास गए।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आगमन का प्रयोजन जान लिया, और मन में विचार किया, कि 'ये विद्वान् महाशय मुझे कुछ प्रश्न पूछेंगे, उनके समाधानकारक उत्तर मैं न दे सकूंगा, इसलिये उनको किसी दूसरेका नाम सूचित करना ठीक होगा।' ऐसा विचार करके उसने उन महाशयों से कहा 'हे महाशय! सांप्रत काल में केकय पुत्र अश्वपति वैश्वानर - आत्माको भली-भांति जानता है। अपन सब मिलकर उसके पास जावें।' इसके अनुसार वे सब अश्वपति के पास गए।

अश्वपति राजाने उन सबका योग्यताके अनुसार पृथक् पृथक् स्वागत किया। दूसरे दिन प्रातः काल में राजाने बहुतसा धन उनके साम्हने रखा और उसका स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। ये महाशय धनकी आशासे नहीं गए थे, उन्होंने उस धन की ओर देखा भी नहीं। राजाने सोचा-'क्या ये सज्जन मुझे अन्य राजाओं के समान अधार्मिक और दुराचारी समझकर मेरे धन का स्वीकार नहीं करते?" ऐसा सोचकर राजाने कहा—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थ- मेरे राज्यमें चोर नहीं [क्यों कि] कंजूस मनुष्य (धन विपुल रहकर दान न देनेवाला) नहीं है। कोई भी मद्यपी नहीं, अग्नि की उपासना न करनेवाला कोई भी नहीं, अविद्वान् कोई भी नहीं, व्यभिचारी पुरुषही नहीं, तब व्यभिचारिणी कहांसे होंगीं?'

[हमें संदेह है कि इस श्लोक की कसौटीमें रामराज्य भी उतरेगा या नहीं। प्रत्येक राजाको अथवा राजमंडलको चाहिये, इस श्लोक में वर्णित आदर्श को साम्हने रखकर वह अपने राज्यका करोबार चलावे, इससे उसका और प्रजा का असीम कल्याण होगा।]

"हे महाशय! मैं एक यज्ञकरनेवाला हूं। उसमें एक एक ऋत्विज को जितना धन दूंगा, उतना आपमेंसे हर एकको दूंगा। इसलिये आप सब महाशय यहां रहें और मेरे यज्ञ की साङ्गता होनेपर आप वापिस जावें।"

राजा का भाषण सुनकर उन्होंने कहा 'हे राजन्! मनुष्य जिस कार्यके उद्देशसे दूसरेके पास जाता है, वही उसका कार्य पूरा करना चाहिये। तुम वैश्वानर आत्मा को भलीभांति जानते हो; हमें उसका उपदेश करो; तुम्हारे धन से हमें कोई सरोकार नहीं।'

परंतु केवल मुंह से मांगने से कोई किसी को आत्मज्ञान देता अथवा बतलाता नहीं। आत्मज्ञान सचमुच में चाहिये हो, तो देहाभिमान का सर्वस्वी त्याग करके सद्गुरु की शरण में जाना और उसके चरणोंपर अपना मस्तक नम्र करना चाहिये। राजाने कहा, "मैं इसका विचार करके कल सुबह बतलाऊंगा।" राजाका अभिप्राय वे तुरंत समझ गए। दूसरे दिन प्रातःकाल में अपने अभिमान और गर्व को तिलांजलि देकर अपने हाथ में समिधा लेकर वे छः महाशय राजाकी शरण में जाने को निकले। (समित्पाणिः का अर्थ है, हाथ में समिधा लेकर आना। इससे सूचित होता है, कि वह सद्गुरु की सेवा करने को सिद्ध है; इसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि में अपने व्यक्तित्व का देहाभिमान का समिधा के समान हवन करने को तैयार है और ज्ञानस्वरूप बनने के लिये तत्पर है।) सच्चा सद्गुरु मान अपमान की पर्वा नहीं करता, वह भाव का भूखा रहता है। राजाने उनका उपनयन किये विना, उनसे प्रणाम लिये विना, उनको आत्मविद्या का उपदेश किया।

राजाने उनमें से हरएक को प्रश्न किया, कि "तुम कौनसे आत्मा की उपासना करते हो?" और उनकी एकदेशीय उपासना सुनलेकर, उनके गुणदोषों का यथार्थ वर्णन करके अन्त में इन सब उपासनाओं का समन्वय किया। राजाने उनको समस्त (समिष्ट) वैश्वानर की उपासना समझा दी, और उसके संबंध में हवनविधि भी यथासांग बतलाया। (यह सविस्तर कथा छांदोग्योपनिषद्, अध्याय ५, खंड ११-२४ में देखिये।)

(९) गर्विष्ट श्वेतकेतु।

(तत्त्वमसि श्वेतकेतो)

उद्दालक आरुणि का एक पुत्र श्वेतकेतु नामक था। उसको पिताने कहा "बेटा, अध्ययनके लिये गुरुगृह में ब्रह्मचर्यव्रतसे रहो, क्यों कि हमारे कुलमें अध्ययन किये विना कोई नामधारी ब्राह्मण (ब्रह्म-बंधु) नहीं होता।" पिताका यह वचन सुनकर श्वेत-केतु अध्ययन करनेके हेतु गुरुगृहको गया। उस समय उसकी अवस्था बारह वर्ष की थी। वहां बारह वर्ष रहकर संपूर्ण वेदोंका अध्ययन करके वह घर लौट आया; तब उसे यह गर्व हुआ, कि मैं श्रेष्ठ हूं, बहुश्रुत हूं। विद्याका प्रमुख लक्षण जो विनय, वह उसमें दिखता न था। यह देखकर उसके पिताने कहा "बेटा! क्या तुमने अपने गुरु से वह आदेश, उपदेश अथवा तत्त्व पूछा है, कि जिसके द्वारा अश्रुत बातें श्रुत होती हैं, अतर्कित बातें समझ में आती हैं, और अज्ञात बातें ज्ञात होती हैं?"

श्वेतकेतु— भगवन्! ऐसा कौनसा आदेश है?

आरुणि- एक मृत्पिण्डका सुवर्णका अथवा लोहेका यथावत् (पूर्ण) ज्ञान होनेसे मिट्टीके बर्तनोंका, सुवर्णके आभूषणोंका, छुरी चाकू इत्यादि लोहेके पदार्थोंका ज्ञान होता है; क्योंकि विकार (अर्थात् मिट्टी के सोनेके अथवा लोहेके पदार्थ) केवल नाममात्र- शब्दमात्र -होते हैं; किंतु यथार्थ मृत्तिका सुवर्ण और लोहा ही सत्य है। इस प्रका[र] वह आदेश है।

श्वेतकेतु- मेरे आचार्य को बहुधा यह आदेश अवगत न होगा। यदि उन्हें वह मालूम होता, तो वे मुझे अवश्य बतलाते। अब आपही कृपा कर मुझे बतलाइये।

अपने पुत्रका गर्व उतरा हुआ देखकर आरुणि-ने इस विषयका विवेचन करना शुरू किया। वे बोले "बेटा, सृष्टिकी उत्पत्तिके पहिले सत् एक ही था। कोई कहते हैं कि असत् था और असत् से सत् हुआ। परंतु असत् से सत्- कैसे होगा? पहिले केवल एक सत् एक तथा अद्वितीय ऐसा था। उसने मनमें सोचा (विचार किया) कि 'मैं बहुत होऊं।' ऐसा विचार करके उसने पहिले तेज उत्पन्न किया, पश्चात् उदक और तदनंतर

अन्न उत्पन्न किया। बाद में इन तीन मूलतत्त्वोंसे समस्त प्राणी और पदार्थ उत्पन्न हुए। उस सत् नामक देवता ने तेज, आप और अन्न, इन तीन तत्त्वोंमें प्रवेश करके उनको सजीव और नामरूपों से व्यक्त किया। इस जगत्में सकल पदार्थ तेज, आप, अन्न, इन तीन तत्त्वोंके मिश्रण से बने हुए हैं, और प्रत्येक पदार्थमें ये तत्त्व न्यूनाधिक प्रमाण-में मिलते हैं। जहां प्रकाश अथवा उष्णता हो, वहां 'तेज' तत्त्व है, ऐसा समझना चाहिये। द्रव अथवा प्रवाही भाग हो, वहां 'आप' तत्त्व, और घना भाग हो, वहां अन्न तत्त्व समझना चाहिये। अग्निका जो लाल, शुक्ल और कृष्ण रूप है, वह क्रमशः तेज, आप और अन्न का ही रूप है। इसी तरह सूर्य, चंद्र, विद्युत् और पदार्थ इनके रूपोंसे इस त्रिवृत्तत्त्वका निश्चय होता है। खाया हुआ अन्न भी तीन प्रकारसे विभक्त होता है; उसके स्थूल भागकी विष्ठा होती है,मध्यम भाग का मांस होता है और सूक्ष्म भागका मन होता है। पानीके स्थूल अंश का मूत्र होता है, मध्यम अंशका रक्त होता है और सूक्ष्म अंश प्राण होता है। तैल, घृत आदि तेजके स्थूल धातुकी हड्डी बनती है, मध्यम धातुकी मज्जा बनती है और सूक्ष्म धातु वाक् होती है। मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमयी है।

श्वेतकेतु ने कहा "भगवन्! मुझे यह फिरसे स्पष्टतया बतलाइये।" आरुणिने कहा "बेटा! दहीका मंथन करनेसे उसका सूक्ष्म सारभूत अंश ऊपर आता है, वही मख्खन अथवा घी है; इसी तरह खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म सारभूत अंश उद्भूत होता है, वह मन है, पिये हुए पानीका जो सूक्ष्म सारभूत अंश है वह प्राण है, और तेजका जो सारभूत अंश है वह वाक् है। इसलिये मन अन्नमय, प्राण आपोमय और वाक् तेजोमयी है। इसकी प्रचीति लेनेके लिये तुम पंद्रह दिनतक कुछ खाओ मत; पानी चाहे उतना पियो।" श्वेत-केतु ने वैसाही किया और सोलहवें दिन वह अपने पिताके पास गया। पिताने उसको वेदका पठन करने को कहा। श्वेतकेतु बोला 'मुझे अब कुछ याद नहीं आती।' आरुणि ने तब कहा, कि 'तुम भोजन करके आओ।' श्वेतकेतु भोजन कर आया, तब उसको संपूर्ण वेदोंको स्मरण आया। तब आरुणि बोले, "प्रज्वलित अग्निमेंसे एक छोटी सी खद्योतके समान चिनगारी जैसे रह जाय, वैसे तुम्हारी षोडष कलाओंमेंसे एक कला अव-शिष्ट रही थी। चिनगारीपर घास रखकर उसको प्रज्वलित करनेसे पुनरपि अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे तुम्हारी अवशिष्ट कला अन्तसे बढ गई है, इसलिये तुम्हें संपूर्ण वेदोंका अब स्मरण आता है। अतएव मन अन्नमय, प्राण आपोमय और वाक् तेजोमयी है।"

आरुणि- पुरुष जब सोता है (स्वपिति) तब वह सद्रूप को पहुंचता है, स्व को- आत्माको प्राप्त होता है, इस लिये 'स्वपिति' कहते हैं। पक्षीको पैरमें डोरा बांधकर छोड दिया जाय, तो वह थोडासा उडता जरूर है, परंतु वह आखिर शिकारी के हाथपर ही आकर बैठता है, इसी तरह जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओंमें अनेक व्यापार करके जीव अंतमें सद्रूप प्राणका आश्रय लेता है। इसलिये प्राण मनका (जीवका) बंधन है।

"अन्नादि कार्य-कारण परंपरासे भी यही जगत् का मूल ठहरता है। अशनाया = क्षुधा, पिपासा= प्यास। खाये हुए अन्नको आप(पानी) ही आगे ले जाता है (आपः एव अशितं नयन्ते) अर्थात् हजम करता है। इसलिये पानी अन्नको रसभावको पहुंचाता है, उस अन्नके द्वारा क्षुधा पिपासाके योगसे शरीररूप कार्य होता है। विना कारणके कोई भी कार्य संभाव्य नहीं। इस शरीरका कारण अन्न,अन्नका मूल (कारण) आप, आपका मूल तेज और तेजका मूल सत् है। इसलिये हे श्वेतकेतो! इन सब प्रजाओंका मूल सत् है; आश्रयस्थान और अधिष्ठान भी वही है। हे पुत्र। मरणोन्मुख

पुरुषकी वाक् मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेज में और तेज सत् नामक परा देवता में लीन होता है। यह जो सूक्ष्म सद्रूप –सत्य है, वह तुमही हो।

आरुणि- बेटा, एक वटवृक्षका फल लाओ और उसको फोडो। उसमें क्या दिखता है?

श्वेतकेतु-- अत्यंत सूक्ष्म दाने अर्थात् बीजे दिखते हैं।

आरुणि- उनमेंसे एक बीजा फोडकर देखो, और कहो उसमें क्या दिखता है।

श्वेतकेतु- उसमें कुछ नहीं दिखता।

आरुणि- वटवृक्षका बीजा फोडकर देखनेसे उसमें न दिखनेवाले सूक्ष्म तत्त्वसे यह बडा वटवृक्ष होता है, इसीप्रकार उस अति सूक्ष्म सत्से यह स्थूल जगत् हुआ है। वह सत् सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वही तुम हो।

आरुणिने नमक की एक डली पानी में डालकर सुबह लानेको श्वेतकेतु को कहा। श्वतकेतुने वैसा किया।

आरुणि- बेटा, कल तुमने इसमें जो नमक डाला वह बाहर निकालो देखें।

श्वेतकेतुने हाथ डालकर देखा, परंतु वह डली उसके हाथ नहीं लगी। तब आरुणि बोले "वह नमक उसमें घुल गया है; उस पानीका कोई भी हिस्सा, नीचेका, बीचका अथवा ऊपरका मुंह में डालकर बतलाओ कैसा लगता है।

श्वेतकेतु- मैंने सब तरफ का पानी पीकर देखा वह एकही सा खारा है।

आरुणि- जिस प्रकार नमक पानी में रहकर भी तुम्हें दिखता नहीं, तथापि वह पानी में सर्वत्र विद्यमान है। यह बात तुम्हें आचमन लेने से ज्ञात हुई। इसी तरह इस शरीर में विद्यमान सूक्ष्म सत्तत्त्व तुम्हें दिखता नहीं, तथापि विचारके द्वारा तुम्हें प्रतीति होगी, कि वह शरीर में है। वही तुम हो। किसी पुरुष की आंखें बांधकर गांधार देश से उठाकर किसी निर्जन अरण्य में छोड दिया, तो वह चारों तरफ मुंह करके आक्रोश करता है कि "मेरी आंखें बांधकर मुझे यहां लाकर छोड दिया, मुझे बतलाओ कि गांधार देश कहां है।" तब कोई आदमी उसका बंधन छोडकर उसे बतलावे, कि अमुक दिशा से तुम जाओ, तुम गांधार देशको पहुंच जाओगे। तब वह समझदार पुरुष उस दिशा से जाने लगता है, एक ग्राम से दूसरे ग्रामको पूछते पूछते आखिर गांधार देश को पहुंचता है। इसीतरह इस जीवको पापपुण्यादि चोरोंने इस संसारमें लाकर छोड दिया है; वह अनेक आधिव्याधियों से व्याकुल होकर आक्रोश करने लगता है। तब किसी कृपालु आचार्य के अथवा गुरुके उपदेश से वह अपने स्थान को, सन्मार्ग को पहुंचता है, और उसका अविद्यापटल नष्ट होकर वह अंत में सत्संपन्न अथवा सद्रूप होता है। हे श्वेतकेतो! वही सत् तुम हो।"

पिताके इस उपदेश से श्वेतकेतु को सत्स्वरूप का ज्ञान हुआ और अपने नामके अनुसार [श्वेत-शुभ्र, सत्य; केतु = ध्वज] चमकने लगा। (छां०उ०६)

(१०) अन्तेवासि नारद।

(तरति शोकमात्मवित्)

'हे भगवन्! मुझे ज्ञान बतलाओ" ऐसा कहते कहते नारद शिष्यभावसे सनत्कुमारकी (स्कंदकी) शरण में गये। सनकुमार ने कहा–

"जो कुछ तुम जानते हो, वह पहिले मुझे बतलाओ, तब उसके आगे मैं तुम्हें बतलाऊंगा।"

इसपर नारदने कहा 'भगवन्! मैं चार वेद, छः शास्त्र, इतिहास, पुराण, चौदह विद्या, ६४ कला इत्यादि सब जानता हूं। परंतु मैं केवल मंत्रवेत्ता हूं, आत्मवेत्ता नहीं। आपसरीखे श्रेष्ठ पुरुषों से मैंने सुना है, कि आत्मवेत्ता शोक को लांघकर पार जाता है और मैं आत्मवेत्ता न होनेके कारण मुझे ताप होता है। आप मुझे छुडाइये और शोक

के उसपार ले जाइये।

सनत्कुमार- तुमने जो यह वेदादिक का अध्ययन किया है, वह सब नाम है। तुम ऐसी उपासना करो, कि 'नाम ब्रह्म है;' इससे नामके विषयमें तुम्हारा यथेष्ट संचार होगा।

नारद- भगवन्! नामसे अधिक क्या कोई वस्तु है?

सनत्कुमार-वाक् नामसे अधिक (श्रेष्ठ) है, क्यों कि वेदादि समस्त विद्याओं का ज्ञान वही करा देती है।, इसलिये ऐसी उपासना करो' कि 'वाक् ब्रह्म है। इसीतरह वाक्से मन अधिक है, क्योंकि वाक् और नाम इन दोनों का मन में अंतर्भाव होता है। इसलिये ऐसी उपासना करो, कि, 'मन ब्रह्म है।' मनसे संकल्प अधिक है। संकल्प ही से मन आदि सब का व्यवहार होता है। संकल्प सबका आधार है, इसलिये ऐसी उपासना करो, कि 'संकल्प ब्रह्म है।' संकल्पसे चित्त अधिक चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से आप (पानी), आप से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मर (स्मृति), स्मर से आशा और आशा से प्राण अधिकतर, ऐसी साधनपरंपरा अथवा साधनसोपान है। प्राण ही सर्वाधार है, प्राण ही माता, पिता, भ्राता इत्यादि है। वही सर्वाधार है। इसलिये ऐसी उपासना करो, कि प्राण ब्रह्म है।

जब यह ज्ञान होता है, कि 'प्राण ब्रह्म है' यही सत्य है, तभी मनुष्य सत्य बोलता है, अन्यथा नहीं। इसलिये ज्ञान जानना चाहिये। जब मनुष्य मनन करता है, तब उसे ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं, इसलिये मनन जानना चाहिये। जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तब वह मनन करता है। श्रद्धा हो तो मनन होता है, अन्यथा नहीं होता। इसलिये श्रद्धा को जानना चाहिये। जब मनुष्य निष्ठा रखता है, तब श्रद्धा उत्पन्न होती है। जहां निष्ठा नहीं, वहां श्रद्धा नहीं। इसलिये निष्ठाको जानना चाहिये। कृति से निष्ठा होती है, इसलिये कृतिको जानना चाहिये। जब सुख होता है, तब मनुष्य कृति करता है। सुख न होता हो, तो वह कृति नहीं करता, इसलिये सुख का ज्ञान कर लेना चाहिये। जो भूमा निरतिशय महत्तत्त्व है, वही सुख है। अल्प अर्थात् परिच्छिन्न वस्तु में सुख नहीं है। जब जिस अवस्था में दूसरा कुछ नहीं दिखता, सुन नहीं पडता और जाना नहीं जाता, तब उस अवस्थाका नाम भूमा। दूसरा कुछ देख सकते, सुन सकते, जान सकते हैं, उसका नाम अल्प। भूमा ही अमृत है, अल्प मर्त्य है। वह भूमा स्वतः के माहात्म्य में स्थिर है। वस्तुतः वह स्वमाहात्म्य में भी स्थित नहीं है। गाएं, अश्व, हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, कृषि, घर इत्यादि को महिमा समझते हैं; परंतु मैं ऐसा नहीं कहता, भूमा एक ही अद्वितीय है। वही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, सब बाजू में है, वही यह सब कुछ है। वह भूमा मैं हूं, इसलिये (अहंकारादेश) मैं ही नीचे, ऊपर, आगे पीछे, सब बाजूमें हूं। वह आत्मा है, इसलिये (आत्मादेश) आत्मा ही नीचे ऊपर, आगे पीछे, सब बाजूमें है, इस प्रकार सर्वत्र यह आत्मा ही है ऐसा देखनेवाला, मनन करनेवाला और जाननेवाला मनुष्य आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मानंद (आत्मामें रममाण होनेवाला, क्रीडा करनेवाला, आनंद पानेवाला) होता है। वह स्वराट्-स्वतंत्र होता है और सब लोगों में यथेष्ट संचार करता है। ऐसा विद्वान्, मृत्यु, रोग और दुःखका अनुभव नहीं लेता। वह सब कुछ देखता है। वह एकधा, त्रिधा, पंचधा,-शतसहस्रधा होता है, उसको सब कुछ सब तरह से प्राप्त होता है। आहार (शरीर से और मन से जो कुछ लिया जाता है) शुद्ध रहने से सत्त्व (अंतःकरण) शुद्ध होता है, सत्त्व शुद्ध रहनेसे स्मृति (बुद्धि) निश्चित होती है और बुद्धि स्थिर होनेसे समस्त (संशय अहंकार ममत्व आदि) ग्रंथियों का नाश होता है। इसप्रकार रागद्वेषशून्य-निष्पाप नारद को भगवान् सनत्कुमार ने- स्कंदने तम का- अविद्याका अंत बतलाया और शोकके पार पहुंचाया। (छां०उ०७)

(११) इंद्र विरोचन का आत्मशोध।

"पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प ऐसे आत्मा की खोज करनी चाहिये। जो इस आत्माकी खोज करके उसको जानता है, उसको समस्त लोक प्राप्त होते हैं और उसकी सकल कामना पूर्ण होती हैं।" प्रजापतिने प्रतिपादन किया हुवा यह तत्त्व देवता और असुर इन दोनोंने सुन लिया, और वह सीख लेनेके हेतु उन्होंने अपने अपने प्रतिनिधी- इंद्र और विरोचन- को प्रजापति के पास भेजा। वे दोनों बत्तीस वर्षतक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यव्रत से रहे। प्रजापति के यह पूछने पर, कि तुम यहां क्यों रहे, उन दोनों ने अपना हेतु प्रगट किया। तब प्रजापतिने कहा "नेत्र में यह जो पुरुष दिखता है, वह आत्मा है। वह मृत्युरहित और भयरहित है। वही ब्रह्म है।" नेत्र में जो शरीर की प्रतिमा अथवा छाया दिखती है, वही आत्मा है, ऐसा समझकर उन दोनों ने पूछा, कि "भगवन्! उदक में और दर्पण में जो (प्रतिबिंबरूपसे) दिखता है, वह कौन है?" प्रजापति ने कहा "तुम नख, केश इत्यादि निकाल डालो, उत्तम वस्त्र परिधान करके अच्छी तरह अलंकृत होकर दर्पण में देखो और बतलाओ क्या दिखता है।" उन्हों ने वैसा किया और कहा- "लोम नखसे उत्तम रीति से अलंकृत किया हुआ हमारा ही प्रतिरूप हमें दिखता है।" तब प्रजापति बोले "यही आत्मा है। यह मृत्युरहित और भयरहित है। यही ब्रह्म है।" प्रजापतिका यह विधान गलत नहीं है; क्यों कि आत्मा सब कुछ है ही। परंतु प्रजापति जानते थे, कि यह विधान शिष्योंको भ्रममें पाडनेवाला है। तथापि प्रजापति इस तत्त्वको भी भलीभांति जानते थे, कि अति उच्च तत्त्व शिष्यों को एकदम नहीं सिखाना, किंतु क्रमक्रम से धीरे धीरे सिखाना चाहिये। उनकी यह सदिच्छा थी, कि अपने विधानपर ये शिष्य स्वयं विचार करें, अपनी शंकाएं उपस्थित करके उनका निरसन करालेवें और ज्ञान की प्राप्ती कर लेवें। परंतु इन्द्र तथा विरोचन विचार किये विना संतुष्ट होकर वहांसे चले गए। उनको इसतरह जाते हुए देखकर प्रजापतिने अपने मनमें कहा, कि आत्मज्ञान प्राप्त किये विना ये दोनों वापिस जा रहे हैं। केवल इतने ही ज्ञानसे जो तृप्त होंगे-चाहे वे देव हों या असुर हों-उनका पराभव (नाश) होगा। प्रजापतिका यह भविष्य विरोचन और उसके भाई असुरोंके संबंध में सच निकला। विरोचनके बतलानेसे सारे असुरोंको यह निश्चय हुआ, कि देह की फिकर करना, उसको शृंगार आदिसे सजाना और उस को सुखमें- चैनमें और ऐष आराममें- रखना ही ब्रह्म (आयुष्य का इतिकर्तव्य) है। अदाता, अश्रद्ध और दुराचारी मनुष्य को भी 'असुर' कहते हैं। ऐसे आसुरी मतके लोग मुरदे को भी वस्त्र पुष्प अलंकार आदि से सजाते हैं। वे समझते हैं, कि ऐसे संस्कारोंसे परलोक की प्राप्ति होती है।

परंतु इंद्र लौट रहे थे, देवताओं के पास नहीं पहुंचे। मार्ग ही में उनके मनमें शंका हुई, कि यदि शरीर का प्रतिबिंब (छाया) ही ब्रह्म हो, तो जैसा शरीर होगा, वैसा प्रतिबिंब होगा। देह यदि लंगडा, लूला, अंधा, अथवा नकटा होगा, तो उसका प्रतिबिंब वैसाही दिखेगा। इसीतरह शरीरका नाश होते ही उसका भी नाश होगा। अत एव इस आत्मज्ञानमें मुझे कोई सार नहीं दिखता। ऐसा विचार करके इंद्र प्रजापति के पास फिर गए और अपनी शंका उनके सामने रखी। प्रजापति ने वह शंका सुनली और फिरसे बत्तीस वर्ष तक अपने पास ब्रह्मचर्य व्रत से रहने को कहा। इंद्रने वैसा ही किया, तब प्रजापतिने उन्हें आत्मज्ञान की दूसरी सिढ्ढी बतलाई। वह इसतरह कि "स्वप्न में सुख से जो नानाविध भोग भोगता है, वही आत्मा है। वही मृत्युरहित और भय-

रहित है। वही ब्रह्म है। इस शिक्षा से इंद्र का तात्कालिक समाधान हुआ और वे देवोंके पास जाने को निकले। परंतु मार्ग में फिरसे उन्हें शंका उत्पन्न हुई। उन्हों ने सोचा, कि स्वप्न का पुरुष अंधत्वादि दोषोंसे युक्त नहीं होता, यह बात सच है; परंतु स्वप्नमें उसको भय मालूम होता है और कभी वह स्वप्नमें शोक और रुदन भी करता है। अतएव इस आत्मज्ञान में भी कोई सार नहीं। ऐसा विचार मनमें आतेही वे लौट पडे और फिरसे उन्होंने अपनी शंका प्रजापति के सम्मुख रखी। प्रजापतिने यह शंका भी सुनली और फिरसे बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रत से रहने को कहा। इंद्रने वैसाहि किया, तब प्रजापतिने उन्हें आगेकी सिढ़ी (आत्मज्ञानकी) बतलाई। वह इसतरह कि "जब इस जीव की संपूर्ण इंद्रियवृत्तियां अस्तंगत होकर, वह प्रसन्न होता है और विना स्वप्न के सुखसमाधान से निद्रा लेता है, वह आत्मा है। वह मृत्यु-रहित और भयरहित है। यही ब्रह्म है।" यह सुनकर इंद्रका तात्कालिक समाधान हुआ और वे स्वर्लोक को जाने के लिये निकले। परंतु मार्गमें उन्हें फिरसे शंका हुई, कि यह सुप्त पुरुष स्वतः को या किसी दूसरे को ऐसा नहीं जानता, कि 'यह मैं हूं' किंतु विनाशी ही दिखता है। इंद्र फिरसे प्रजापति के पास गए और उन्हें अपनी शंका बतलाई। प्रजापति ने कहा कि शंका योग्य है, और अबकी बार केवल पांच वर्षतक ब्रह्मचर्य व्रत से रहने को कहा। सब मिलाकर एकसौ एक वर्षतक इंद्रने ब्रह्मचर्यव्रत से रहकर तपश्चर्या की, तब वे पूर्ण ज्ञानाधिकारी हुए। उन्हें कृतार्थ करनेके हेतु प्रजापतिने ऐसा उपदेश किया-

"हे मघवन् (इंद्र)! यह शरीर मर्त्य है, मृत्युसे ग्रसित है। वह इस अमृत और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है। जब यह आत्मा शरीर से युक्त होता है (अर्थात् जब ऐसा कहता या समझता है कि वह शरीर ही मैं हूं) तब वह प्रिय और अप्रिय सुख-दुःख से युक्त (ग्रस्त) होता है। जबतक वह देहाभिमानी है, तबतक प्रिय अप्रिय का-सुखदुःखोंका नाश नहीं होता। यह जरूर है, कि देहाभिमान छूटनेपर प्रिय और अप्रिय उसको स्पर्श नहीं करते। आयु, अभ्र, विद्युत्, मेघ, ये सब अशरीर हैं, तथापि वे आकाश से उत्पन्न होकर श्रेष्ठ ऐसी (सूर्यकी) ज्योतिको प्राप्त होते हैं और अपने अपने रूपसे व्यक्त होकर अपने अपने कार्य करते हैं। इसी तरह विद्वान् पुरुष देहाभिमान को छोडकर परमज्योति को प्राप्त होता है और अपने स्वाभाविक रूपसे व्यक्त होता है। इस प्रकारका जो उत्तम पुरुष होता है, वह खाता पीता है, क्रीडा करता है, स्त्रियोंसे, वाहनोंसे, आप्तोंसे तथा अन्य वस्तुओंसे प्रमाण होता है। परंतु इन सबसे समीप रहने वाले शरीर का स्मरण नहीं करता। रथसे अथवा गाडी से जुते हुए घोडेका अथवा बैलका उस रथसे अथवा गाडीसे केवल तात्कालिक संबंध रहता है: उसीतरह इस पुरुष के प्राण का शरीर से संबंध रहता है। (जागृदवस्था-में) चक्षुगत आकाश में स्थित जो आत्मा, वह चाक्षुष पुरुष है। उसको देखने के लिये चक्षु है। "मैं इसका गंध लेता हूं" ऐसा जो जानता वह आत्मा है; गंध लेनेके लिए उसको घ्राण (नाक) है। "मैं बोलता हूं" ऐसा जो जानता, वह आत्मा है; उच्चार करनेके लिये उसको वाणी है। "मैं सुनता हूं" ऐसा जो जानता वह आत्मा है; श्रवण करनेके लिये उसको श्रोत्र (कान) है। "मैं यह मनन करता हूं" ऐसा जो जानता वह आत्मा है; मनन करने के लिये उसको मन है। मन उसका दिव्यचक्षु (ज्ञानसाधन) है। अपने इस दिव्य चक्षु से वह ब्रह्मलोक के काम— इष्ट पदार्थों को देखता हुआ रममाण होता है। ऐसे इस आत्मा की देवता उपासना करते हैं; इसलिये संपूर्ण काम उन्हें प्राप्त होते हैं। जो इस आत्मा का पूर्ण ज्ञान अवगत करके उसको अच्छीतरह जानता हैं उसको भी समस्त लोक तथा संपूर्ण काम प्राप्त होते हैं।" (छां० उ० ८)

स्थितप्रज्ञ !

गीता स्थितप्रज्ञ किसको कहती है ?

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ?

कौरवपाण्डवोंके युद्धके आरंभमें कृष्णके साथ अर्जुन कुरुक्षेत्रपर आ खडे हुए। वहां अपने विरुद्ध लडनेके लिये अपने शिक्षक, काका, मामा, भाई, मित्र इत्यादि सगे संबंधियोंको देखकर अर्जुनकी हिम्मत छूट गई। उनको ऐसा मालूम पडने लगा, कि 'मैं क्या अपने आप्तइष्टोंको मारकर उनके रक्तसे कलंकित हुए राज्यका उपभोग करूं ? इसकी अपेक्षा वनवास क्या बुरा है ?'' ऐसा सोचकर उन्होंने अपने शास्त्रस्त्र नीचे रख दिये। उनके मनकी यह चंचलता और दुर्बलता देखकर कृष्णने उनसे पूछा " कर्णजी ! यह ऐसा क्यों हुआ ? तुम्हें यह कश्मलरूपी आफत कहांसे सूझी ? नपुंसकसरीखे ऐसा क्या करते हो ? उठो, युद्धके लिये खडे हो !" हतधैर्य अर्जुन इसपर बोले "मैं किसलिये युद्ध करूं ? युद्ध करके आखिर मुझे अपने गुरुजनों कोही मारना है न ? इससे भिक्षा मांगना क्या बुरा है ? जिनको मारकर मैं एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहता, वे ही कौरव मेरे सम्मुख लडाईके लिये खडे हैं ! और उनके मरणसे जो मुझे शोक होगा, उसका परिमार्जन करनेका सामर्थ्य न केवल पृथ्वीके निष्कंटक राज्यमें नहीं है, किंतु स्वर्गके उपभोगमें भी नहीं है। इसलिये मैं लडाई नहीं करता ।" अर्जुनका यह निश्चय देखकर श्रीकृष्णको हंसी आई। वे बोले "पागल ! जिनका शोक करना न चाहिये, उनके लिये तुम आंसू बहा रहे हो, और बातें बडीं लंबी चौडी कर रहे हो ! ज्ञानी पुरुष प्राण जाने अथवा रहनेपर कोई हर्षविषाद नहीं मानते। क्यों कि देह और देही

(आत्मा) भिन्न भिन्न हैं। शरीर मर्त्य है, परंतु आत्मा अमर है। शीत, उष्ण, सुख, दुःख जो मात्रास्पर्श हैं, वे विनाशी हैं। जिसने यह सब कुछ निर्माण किया, वही एक अविनाशी है। शरीरस्थ आत्मा मरता नहीं। वह अज और नित्य है। किंतु जन्म लेनेवाला यह शरीर ही नाशवंत है; और जो नाशवंत है, उसकी फिरसे उत्पत्ति है ही। ऐसी अवस्थामें उसके विषयमें इतना दुःख क्यों करना ? और भी यह देखो, कि तुम यदि युद्धमेंसे भाग गए, तो तुम्हारी कितनी अपकीर्ति होगी ! अपकीर्ति की अपेक्षा सम्भावितको मरणका ही आश्रय लेना अच्छा मालूम होता है। इसलिये उठो ! युद्धके लिये तैयार हो ! और यह भी ध्यानमें रखो, कि तुम्हारे स्वाधीन केवल कर्तव्य करना है; उसके परिणामकी ओर दुर्लक्ष्य करना श्रेयस्कर है। (समत्व) बुद्धि-योगकी अपेक्षा बाह्य कर्म हर तरहसे निकृष्ट ही है; इसलिये-

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।"

तुम्हारे मनके ऊपर जो मोहपटल है, वह जब दूर होगा, तब तुम 'श्रुत' तथा 'श्रोतव्यके' पार चले जावोगे। तब

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।

जहां तुम्हारी बुद्धि स्थिर हुई, वहां (साम्यबुद्धिरूप) योगका मर्म तुम्हें समझ जायगा।" यह सुनकर अर्जुन बोले-"यदि ऐसा है, तो स्थितप्रज्ञ (जिसकी बुद्धि स्थिर हुई वह) किसको कहते हैं ?

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

स्थितप्रज्ञका वर्णन।

'स्थितप्रज्ञ किसको कहते हैं? उसके लक्षण क्या हैं, वह क्या खाता है, कैसा बोलता है, बैठता कहां है, जाता कहां है? यह सब मुझे बतलाओ।" अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्णने उनकी इच्छा तृप्त की। अब श्रीकृष्णने गीतामें जगह जगहपर स्थितप्रज्ञके विषयमें जो कुछ कहा है, वह एकत्र रखकर देखेंगे; और फिर ठहरावेंगे कि इन बातोंसे गीताके स्थितप्रज्ञके विषयमें क्या सिद्धान्त निकलता है; अर्थात् प्रथम वर्णन, पश्चात् व्याख्या करें-

स्थितप्रज्ञ एक अस्थिचर्मका बना हुआ प्राणी है; वह केवल कल्पनाका विलास नहीं है। उसकी मूर्ति मनोमय नहीं है; किंतु इस जगत्में दृश्यमान हो सकती है। मेरा यह विधान कदाचित् कुछ चमत्कारिक दिखेगा; परंतु धीरे धीरे उसका खुलासा होगा। अभी हम इतनाही गृहीत लेवें, कि वह एक जीवित मानव है। वह अत्यंत विरल होगा। गीतामेंही यह निदान किया है, कि वह कितना विरल है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

हजारों लोगोंमें कहीं एकाध मनुष्य स्थितप्रज्ञ होनेकी तैयारी करने लगता है, और ऐसे हजारों लोगोंमें कहीं एकाध मनुष्य मुझे पूर्णतया जानता है, अर्थात् स्थितप्रज्ञ होता है। वह भी क्या एकही जन्ममें स्थितप्रज्ञ हो जाता है? नहीं; उसको भी अनेक जन्मोंतक अविश्रान्त श्रम करने पडते हैं; इतना वह दुर्लभ है। परंतु दुर्लभ है, इससे यह नहीं पाया जाता, कि वह मूलतः है ही नहीं। कोहिनूर हीरा हमारे लिये दुर्लभ है, इसलिये हम उसके अस्तित्वका इनकार नहीं करते। अतएव हम ऐसा गृहीत ले लेवें, कि तुम्हारे हमारे समान स्थितप्रज्ञ भी एक मनुष्य हि है।

इस मानव-स्थितप्रज्ञके मुंहपर सदैव शांतता विलसित रहती है। वह हमेशा प्रसन्न रहता है। उसको देखतेही अपने हृदयमें कंप नहीं होता। अपन उसका तिरस्कार नहीं करते (यस्मान्नोद्विजते लोकः) और न वह अपना तिरस्कार करता है (लोकान्नोद्विजते च यः)। इसपर कोई कहेगा, कि बगुला भी इसी तरह शान्त रहता है। वह मछलियोंका तिरस्कार नहीं करता, और मछलियांभी उसका तिरस्कार नहीं करती, और उसके आसपास जमा होती हैं। तब स्थितप्रज्ञमें और बगुलेमें क्या फरक है? बगुलेको भक्ष्य प्राप्त करनेके लिये जैसा ढोंग करना पडता है, वैसा स्थितप्रज्ञको नहीं करना पडता। इसका योगक्षेम प्रत्यक्ष ईश्वरही चलाता है। (योगक्षेमं वहाम्यहम्।)

चेहरेपर जो विकार दिखता है, वह मनके किसी न किसी विकार का परिणाम रहता है। क्यों कि चेहरा आइने सरीखा है। इस नियमके अनुसार देखा जाय तो स्थितप्रज्ञ के मुंहपर जो शांतता विलास करती है, वह किसका परिणाम है? तुम और हम फोटो के समय क्या अपने चेहरेपर प्रसन्नता नहीं लाते? क्या उसी प्रकारकी यह शान्तता है? नहीं! फोटो के समय की शान्तता कृत्रिम और क्षणभंगुर रहती है, परन्तु यह शान्तता अकृत्रिम और अविनाशी रहती है। तब इस शान्तता का कारण क्या है? यदि हम अन्य दृष्टिसे इसपर विचार करें, तो इसका कारण हमें तुरंत मालूम होगा। अपने मुखपर यदि शान्तता हो, तो वह किस कारण से बिगडती है? अनेक कारण मिल सकेंगे। अपनी मर्जी के विरुद्ध कोई बात हुई; किसी तरह का आनंद हुआ अथवा परेशानी हुई- सारांश, मनःक्षोभ उत्पन्न करनेवाला कोईभी प्रसंग आनेसे अपने मुखपर की शान्तता तत्काल विचलित होती है। स्थितप्रज्ञ के मनमें किसी प्रकार का मनःक्षोभ उत्पन्न नहीं होता; क्यों कि उसका मन 'उन्मन' बना रहता है। इसलिये उसके मन को सुखदुःख इत्यादि विकार स्पर्श नहीं कर सकते। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

पैं ऋतुत्रय आकाशें। धरूनियांहि जैसें।
नेदिजेचि येवो वसे। वेगळेपणा॥

(जैसे आकाश को तीनों ऋतु स्पर्श करते हैं, परंतु उसमें भिन्नत्व नहीं ला सकते) उसीतरह स्थितप्रज्ञ के मन को सुखदुःखादि विकार विचलित नहीं कर सकते। वह 'समदुःखसुखः' है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दुःखसे वह उद्विग्न नहीं होता, सुखसे वह सुखी नहीं होता। क्रोध, लोभ, भीति, इत्यादि विकार उसपर कोई परिणाम नहीं कर सकते। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

ऐसा हरिख शोकरहित। जो आत्मबोधें भरित।
जाणता पां प्रज्ञायुक्त। धनुर्धरा॥

(हे धनुर्धर! इसप्रकार हर्षशोकरहित जो पुरुष आत्मबोध से भरा हुआ है, उसको प्रज्ञायुक्त (स्थितप्रज्ञ) समझो।) इस तरह से यह सुख दुःखातीत है। इसीतरह यह ज्ञाता 'अनभिस्नेह' भी है। अर्थात् किसी भी वस्तुपर उसका स्नेह (प्रेम, अपनापन) नहीं रहता।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

वह न किसीका स्नेह करता और न किसीका द्वेष करता है। उसकी स्थिति वैसी ही रहती है, जैसा कि स्वामी रामदास कहते हैं-

जेथ नाही द्वंद्वभेद। आपला आपण अभेद॥

[अर्थ- जहां द्वंद्वभेद नहीं है, स्वयं अभेद है] ऐसी जिसकी स्थिति है, उसके मुखपर शान्तता और प्रसन्नता का निर्वेध साम्राज्य क्यों न रहेगा?

मैंने ऊपर कहा है कि स्थितप्रज्ञ सुखदुःखातीत है। परंतु क्या इसके लिये कोई आधार है? हां, है। देखिये कि गर्मीके मौसम में मनुष्य ठंडे पेय पदार्थ चाहता है, जाडेमें गरम पानी से नहाना चाहता है, उमदा गवैये का गाना सुनना चाहता है, सुगंधी अत्तरों के फाये कान में रखना चाहता है, उत्कृष्ट नाटक देखना चाहता है, इसका क्या कारण हो सकता है? कारण यही है, कि उन उन इंद्रियोंद्वारा उसको सुख की अपेक्षा रहती है। इसीतरह वह यह फिकर रखता है, कि अपने शरीर को किसी पदार्थ से इजा न पहुंचे; शरीर को पुष्टि देनेके हेतु वह स्वादिष्ट अन्न खाता और व्यायाम करता है। अपने को खबसूरत बनाने के लिये वह केशभूषा करता है। कहने की गरज यह है, कि उसका अपने शरीरपर प्रेम रहता है, किंबहुना अभिमान भी रहता है, और इसीलिये किसी प्रकार के शारीरिक सुखदुःखसे उसको आनंद अथवा विषाद होता है। सामान्य मनुष्यकी यह स्थिति रहती है। परंतु स्थितप्रज्ञको देहाभिमान बिलकुल नहीं रहता। 'चाहे देह रहे या छूट जावे;' उसकी किसीतरह उसको पर्वा नहीं रहती। स्वामी रामदास कहते हैं-

देहाभिमान गळे। विषयीं वैराग्य प्रबळे॥

अर्थ- देहाभिमान छूट जाता है; विषयोंकी ओर वैराग्य दृढ होता है।

अब कहिये कि देहाभिमान जब बाकी न रहा, तब शरीरपर प्रेम कहांसे होगा? और जहां शरीरपर प्रेम नहीं, वहां शरीरके सुखदुःखोंकी फिकर कौन करेगा? इसलिये इस देहाभिमानके अभावके ही आधारपर मैंने ऊपर कहा है, कि स्थितप्रज्ञ सुख और दुःखोंसे अतीत रहता है।

जिसका देहाभिमान बिल्कुल छूट गया, वह इंद्रियोंका निग्रह भली भांति कर सकता है, क्यों कि देहाभिमान ही इंद्रियविषयोंका आधार है। इसलिये जैसे वृक्षकी जड ही कटजानेसे उसके शाखापल्लव नहीं बचते, उसीतरह देहाभिमान नष्ट होनेपर इंद्रियोंके विषय बाकी नहीं बचते। इसी अनुरोधसे ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि "तो नित्यरूप पार्था। वोळखावा सर्वथा। जो इंद्रियार्थी नागवेचि। (हे पार्थ! वह मनुष्य नित्यरूप जानना चाहिये, कि जो इन्द्रियोंके विषयोंको ढूंढनेसे मिलता नहीं।) गीता कहती है-

"वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"

इन्द्रियोंपर तावा रखना, स्थितप्रज्ञका एक लक्षण गीता बतलाती है। यही बात एक दृष्टान्तके द्वारा गीताने देखो कैसी सजावटसे विशद की है-

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

गीताने कछुवेका दृष्टान्त बहुत सुंदर दिया है। कछुवा अपने इन्द्रियों (हाथ, पैर गर्दन) को चाहे जब सकोड सकता और चाहे जब फैला सकता है। उसके अवयवोंपर उसका पूर्ण अधिकार रहता है। इसीतरह स्थितप्रज्ञका अपने इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार रहता है। वह चाहे जब अपने इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे दूर कर सकता है। इसीका अर्थ यह है, कि स्थितप्रज्ञ भलीभांति इन्द्रियनिग्रह कर सकता है।

इस विधानपर ऐसा आक्षेप हो सकता है, कि "इसमें क्या मुश्किल है? उपवास (निराहार) करने से इन्द्रिय आपही आप क्षीण होते हैं और उनकी अपने अपने विषयोंसे सहजही निवृत्ति होती है; और जहां निवृत्ति हुई, वहां इन्द्रियनिग्रह कोई मुष्किल बात नहीं है। तब उस स्थितप्रज्ञका इतना बोलबाला क्यों हो?" इस आक्षेप का निराकरण ऐसा है, कि यद्यपि उपवास करनेवाले के इन्द्रिय विषयभोगों से निवृत्त हुएसे दिखते हैं, तथापि उसका उच्छृंखल मन मौजूद है! उस मनहीसे वह दिवाली मनाता है। शिवाय इसके, यह निवृत्ति क्षणिक है। जहां उस व्यक्ति का उपवास टूटा, वहां उसके इन्द्रिय अपने अपने विषयोंके पीछे बुभुक्षितके समान दौडने लगते हैं। इसीलिये साधारण मनुष्यको इन्द्रियनिग्रह करना अत्यंत कष्टदायक होता है। परंतु स्थितप्रज्ञकी वह बात नहीं है। गीता कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

परंतु स्थितप्रज्ञका विषय-विषयक रस (इच्छा, लालसा) भी 'नीरस' होता है।

(रसवर्जं) रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

इसी बातको अन्य शब्दोंमें यों कह सकते हैं, कि उसकी विषयलालसा गतप्राण होती है और उसके रोमरोममें विषयवैराग्य भर जाता है। ऐसा है, तो इस विषयवैराग्य की कुंजी क्या है? वह कुंजी है-देहाभिमानका निरास अथवा अहंकार का लोप। स्थितप्रज्ञका "मैं-और-मेरापन" नष्ट हो जाता है। अरविंद घोष कहते हैं-

'There is the absence of Egoism I-ness and my-ness......He has a universal heart which has broken down the narrow walls of Egoism.'

'मैं' कोई निराला प्राणि है- यह उसकी भावना ही विलीन हुई रहती है; इसीलिये उसको 'अन्तर्बाह्य समाधान' रहता है।

परंतु यह उसकी 'मैं' पन की भावना किस पदार्थ में विलीन होती है? वह विश्वमें विलीन होती है। जैसे नमक को समुद्रमें छोड देनेसे उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बचता वह समुद्रमय हो जाता है; उसी तरह उसका "मैं" पन विश्वमय हो जाता है। अथवा जैसे शक्कर और उसकी मिठास, फूल और उसकी खुशबू, ये अलग अलग बतलाए नहीं जा सकते; उसीतरह स्थितप्रज्ञ और जगत् दो अलग अलग पदार्थ बतलाए नहीं जा सकते। ऐसी एक-रूपता होनेके कारण स्वभावतः उसके लिये स्वतःका घर नहीं रहता। वह 'अनिकेतः' होता है, और इसीसे 'निराश्रय' भी होता है; और इस वृत्तिसे रहता है, कि ['हें विश्वचि माझें घर'] यह विश्व ही मेरा घर है। उसका प्रपंच केवल दसपांच आदमियों में संकुचित नहीं, किंतु इतना विस्तृत रहता है, कि 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' जगत् में हरएक मनुष्यसे वह कौटुम्बिक प्रेमभावही से बर्ताव करता है। संपूर्ण जगत् के सुखदुःख की उसको चिंता रहती है।

साधारण कुटुंबका कर्ता पुरुष जैसे किसीभी कुटुंबीको अन्याय नहीं होने देता, हरएकको उसकी श्रेणीके

अनुसार राखता है; उसी प्रकार यह विश्वकुटुंब-नायक कहीं भी न्यायकी विटंबना होने नहीं देता, और सर्वकाल यही देखनेमें तत्पर रहता है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने दर्जेके अनुसार सुखसे कैसे रहेगा। उसको यह बरदाश्त न होगा, कि कोई एक देश दूसरे देशपर आक्रमण करता है। उसके लिये वह झगडेगा और जरूरत हो तो प्राणभी देगा। जगत्में समता राखनेके लिये वह अविश्रान्त श्रम करता रहता है। (जगाच्या कल्याणा संतांच्या विभूति। देह कष्टवीती उपकारें ॥)

अर्थ- जगत्के कल्याणके हेतु संतोंकी विभूतियां उपकारद्वारा अपने देहको कष्ट देती हैं।) विश्व-मांगल्यके हेतु वह चंदनके समान पिसता रहता है। सूर्यके सदृश वह 'जगन्मित्र' है। अरविंद कहते हैं-

"He will have friendship and pity for all beings and hatred for none.' स्वामी रामदास कहते हैं- "अवघें ब्रह्माण्ड त्याचें घर' (सारा ब्रह्माण्ड उसका घर है।) तात्पर्य यह है, कि उसके रोमरोममें विश्वबंधुत्व भरा रहता है और इसीलिये वह "मैं" पनको भूल जाता है।

इस विश्वबंधुत्वका उगमस्थान 'आत्मौपम्य' दृष्टिमें है। 'आत्मौपम्य दृष्टि' का सहल और सरल अर्थ है, अपनेपरसे दुनियांको जानना। गीताने इसका अर्थ 'सर्वत्रमात्मानं पश्यति' ऐसा किया है। यह स्थितप्रज्ञ सब जगेह निजरूप ही देखता है। इस-लिये जैसा वह स्वतःसे बर्ताव करता है, वैसा इतरे-जनोंसे भी करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं वह 'सर्व-भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' देखता है इस-लिये वह 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' रहता है; किंवहुना वह 'मैत्र' भी रहता है। तात्पर्य यह कि वह सबका सगा और स्वीय रहता है। तब क्या आश्चर्य है, कि ऐसा सत्पुरुष निर्मम और निरहंकार हो?

मैंने स्थितप्रज्ञके विषयमें ऊपर जो दो मुद्दे रखे हैं- एक, कि वह देहकी ममता छोडकर उदार बन जाता है, और दूसरा, कि वह आंतर्राष्ट्रीय (विश्वकी) हलचलमें सदैव मग्न रहता है- उनपर ऐसा आक्षेप होगा, कि क्या तुम उन पुरुषोंको स्थितप्रज्ञ कहोगे, कि जिनके पास केवल येही दो गुण हैं? उदाहरणके लिये अभी साल डेढ सालके पहिले एक प्रसिद्ध युरोपियन जासूसकी मृत्यु हुई। उसने अपना सिर अपने हाथमें लेकर आंतर्राष्ट्रीय हलचलहीमें अपना जीवन व्यतीत किया। उसको स्थितप्रज्ञ क्यों न कहा जाय? इसका उत्तर यह है, कि स्थितप्रज्ञत्वका मतलब केवल येही दो गुण नहीं हैं। किंतु कुछ गुणोंके समुच्चय तथा उनके मधुरमीलन ही से स्थित-प्रज्ञत्व बनता है। उनमेंसे कोई एक या दो गुण अलगसे लेकर यह प्रश्न करना अजानताका लक्षण है, कि 'ये गुण जिसमें प्रभावी हैं, उस पुरुषको स्थितप्रज्ञ क्यों न कहा जाय?' देखिये कि पानी दो द्रव्योंसे होता है; एक प्राणवायु और दूसरा हैड्रोजन। केवल प्राणवायु लेनेसे उसमें पानीके गुणधर्म नहीं आसकते, अथवा केवल हैड्रोजनके मायने पानी नहीं है। इतनाही नहीं; किंतु इन दो द्रव्योंका $H2O$ से भिन्न प्रमाणमें मिश्रण किया जाय, तो भी पानी न बनेगा। यही बात स्थितप्रज्ञके गुणोंकी है। उन गुणोंका योग्य संमिश्रण होना ही चाहिये।

ऊपर जो उदाहरण के लिये जासूस बतलाया गया है, उसके जीवनक्रम पर दृष्टिक्षेप करनेसे मालूम होगा, कि उसके ऐन तारुण्य में उसका प्रणयभंग हुआ था। इससे वह चिड गया था और मानवजातिका संहार करनेकी उसने प्रतिज्ञा कर ली थी; अथवा यों कहा जाय, कि प्रेमभंग के कारण उसके अंतःकरणमें गहरी जखमें हो गई थीं; इसलिये उसका अंतःकरण अशुद्ध और दूषित हो गया था। परंतु गीताका स्थितप्रज्ञ, जैसा कि अरविंद कहते हैं. अव्रण रहता है, उसका अंतःकरण शुद्ध रहता है और वह (अंतरींचा निर्मळ) अंतरंगमें निर्मल रहता है। मानवजातिका संहार करने के लिये जो बद्धपरिकर है, वह क्या अन्तरंगमें निर्मल हो सकता है? किंतु इस स्थितप्रज्ञकी वासना शुद्ध रहती है और यह नित्यतृप्त रहता है। सारांश यह कि स्थितप्रज्ञ हृदयमें निर्मल रहेगा, नित्यतृप्त रहेगा, उसकी वासना शुद्ध रहेगी और गीताके शब्दोंमें 'संतुष्टः सततं योगी' ऐसा अवश्य रहेगा। जो सदा संतुष्ट है, उसकी बुद्धि भी स्थिर रहेगी ही।

'स्थिर'का मतलब भद्द अथवा मंद नहीं! किंतु गंगाप्रवाहके सदृश गहरी और प्रशांत रहती है। ज्ञानेश्वर महाराजने इस स्थिरबुद्धिका वर्णन उपमाके द्वारा बहुत सुंदर किया है-

जैसा निर्वातीचा दिपु। सर्वथा नेणें कंपु।
तैसा स्थिरबुद्धि स्वस्वरूपूं। योगयुक्त।

अर्थ- जैसे वायुरहित स्थानमें रखा हुआ दीप कांपना बिलकुल नहीं जानता (निश्चल रहता है) वैसेही स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) स्वस्वरूपमें योगयुक्त रहता है।) यही अभिप्राय गीताने एकही 'स्थिर-मति' शब्दमें व्यक्त किया है।

अब यह देखा जाय, कि यह स्थिरमतित्व किसका द्योतक है? हमें यह प्रतीत होगा, कि वह संशयनिवृत्तिका द्योतक है। जबतक मनमें संशय है, तबतक बुद्धिका स्थिर होना संभाव्य ही नहीं। पथरीले जमीनमेंसे जो प्रवाह बहता है, वह क्या कभी मंदगति हो सकता है? संशयी मनुष्यके विषय में गीता कहती है- 'संशयात्मा विनश्यति' और उसके लिये 'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः' इहपर लोक कुछ नहीं है। ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी रसयुक्त वाणीसे उपमाद्वारा संशयी मनुष्य का बडा हृदयंगम वर्णनकिया है- ["जया काळज्वर अंगीं बाणे। तो शीतोष्णें जैसी नेणे। आगी आणि चांदणें। सरिसेंचि मानी॥ तैसें साच आणि लटिकें। विरुद्ध आणि निकें। संशयी तो नोळखे। हिताहित॥"]

अर्थ- काळज्वर से पीडित मनुष्य जैसे शीत और उष्ण में कोई फरक नहीं पहचान सकता, धूप और चांदनीको एकहीसा समझता है; उसी तरह संशयी मनुष्य यही नहीं पहचान सकता, कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है. विरुद्ध क्या है और अनुकूल क्या है, हित क्या है और अहित क्या है?

इसप्रकार चिरकालीन संशय घातक होता है। इसी लिये स्थिरमतित्व आनेके लिये संशय निरास की अत्यंत आवश्यकता है। परंतु इससे यह अनुमान करना न चाहिये, कि 'संशय जितना है, वह सब खराब है, उसको महारोगीसरीखा दूर ही रखना चाहिये।' यद्यपि चिरकालीन संशय घातक है, तथापि अल्प-कालीन संशय घातक नहीं, बल्कि कभी कभी उपकारक होता है। किंबहुना मैं यहांतक कहूंगा, कि जिसको ज्ञानसंग्रह करना है अथवा जिसको मोक्षप्राप्ति करनी है, उसको संशय जरूर चाहिये। प्रिन्सिपल गोळे महाशयने अपनी पुस्तक 'ब्राह्मण और उनकी विद्या'में बुद्धिके तीन विभाग किये हैं। उन्होंने बाल्य, तारुण्य और वृद्धत्व के लक्षण क्रमशः संकलन, संशय और स्थैर्य बतलाए हैं। [गोळे महाशयने 'स्थैर्य'का अर्थ 'मांद्य' किया है, गीताने स्थैर्य का अर्थ पक्वता किया है।] अस्तु। इससे यह मालूम होगा, कि संशय बुद्धिके तारुण्यका गमक है। इसीलिये ज्ञानसंग्रह करनेके लिये संशयकी आवश्यकता है। इसीतरह मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न करनेवाले मुमुक्षु को जो सिढियां चढनी पढती हैं उनमें संशय एक सिढी जरूर है और वह मोक्षावस्थाके इसी तरफ है। उस समय मुमुक्षु करीब करीब पूरा मार्ग आक्रमण किया हुआ रहता है, और एकही टप्पा लांघनेपर मोक्षपद आता है। ऐसे समय उसकी स्थिति वैसी ही रहती है, जैसा कि ताम्बे कवि कहते हैं-

('पुढे जाऊं वळूं मागे, करूं मीं कायरे देवा')
'हे ईश्वर! मैं आगे जाऊं या पिछे फिरूं, क्या करूं?'

तात्पर्य यह कि संशय जरूर चाहिये। परन्तु यह संशय साधनरूप है, साध्य नहीं। इष्ट स्थलको पहुंचने की राहपर एक टप्पा है। वह इष्टस्थल नहीं है। वाचक इतना ध्यान में रखें, तो मेरा यह विधान विप-रीत न समझेंगे कि "चिरकालीन संशय घातक है, तथापि अल्पकालीन संशय उपकारक ही होता है। इसी लिये छिन्नसंशयत्व स्थितप्रज्ञका लक्षण है। स्वामी रामदास कहते हैं—

('साधकासी संदेहवृत्ति। पुढे होतसे निवृत्ति।
या कारणें निःसंदेह श्रोतीं। साधू वोळखावा॥)

अर्थ- साधकको संदेहवृत्ति रहती है, आगे चल-कर उसकी निवृत्ति होती है। इसीलिये श्रोतागण साधु उसीको पहचाने, कि जो निःसंदेह हो गया हो।

स्थितप्रज्ञ का और एक लक्षण है 'निराशा।' यह निराशा शब्द सुनते ही आप लोग मुझपर गजब कर देंगे और कहेंगे, "क्या तुम्हारा स्थितप्रज्ञ निराश रहता है? हम संसारी लोग निराश मनुष्य की एक कौडी भी कीमत नहीं समझते। इससे वह कौडीमोल का है।" नहीं; वह कौडीमोल नहीं और पृथ्वीमोल भी नहीं; किंतु वह अमोल है। निराशा का मतलब है, आशाका अभाव। अरविंद उसको Desirelessness कहते हैं। स्थितप्रज्ञको संसारमें किसी भी चीज की आशा नहीं रहती; किंबहुना वह संसारमें उदासीन रहता है। इस संसारी आशा को ज्ञानेश्वर महाराज दुराशा कहते हैं-

(आशा धरितां परमार्थाची। दुराशा तुटली स्वार्थाची। म्हणोनि नैराशता साधूची वोळखण॥)

अर्थ- परमार्थकी आशा रखनेपर स्वार्थकी दुराशा टूट जाती है। इसलिये साधुकी पहिचान नैराश्य है। इसी अर्थसे यह सुभाषित प्रसिद्ध है—

"आशायां परमं दुःखं निराशायां परं सुखम्।

गीता वही लक्षण बतलाती है-

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः॥

इसपर यह आक्षेप होगा, कि, विश्वकार्यमें निमग्न मनुष्य निराश अथवा उदासीन होही नहीं सकता, क्यों कि औदासीन्य और विश्वकार्यरतित्व इन दोनोंका नाता अहिनकुलवत् है। यदि ऐसा समझा जाय, कि ये दो गुण एक जगह रह सकते हैं तो यह कहनेमें क्या अडचन है, कि अग्नि और जल, प्रकाश और छाया एकत्र रह सकते हैं? यह आक्षेप निराधार है; क्यों कि विश्वकार्यमें रममाण होनेवाला स्थितप्रज्ञ स्वतःके विषयमें उदासीन रहता है, विश्वके विषयमें उदासीन नहीं रहता। 'दुराशा तुटली स्वार्थाची' यह चरण महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् औदासिन्यका प्रांत अलग है और विश्वकार्यका प्रांत अलग है। ऐसे दो भिन्न प्रान्तोंमें रखे जानेके कारण ये दोनों एक जगह लाये जा सकते हैं। एक पिंजरेके भिन्न भिन्न खंडोंमें रखे हुए शेर और बकरी एकही पिंजरेमें रहनेवाले कहलाते हैं या नहीं? केवल "योजकस्तत्र दुर्लभः।

अब स्थितप्रज्ञका अंतिम लक्षण- परंतु अत्यंत महत्त्वका लक्षण- बतलाया जाता है। अभीतक जितने लक्षण बतलाये गए, उनमें यह लक्षण मेरुमणिके सदृश शोभायमान दिखेगा। यह लक्षण हो, तभी अन्य लक्षणोंकी कदर है। सूर्य है, इसीलिये तारिका, नक्षत्र और चंद्रकी कदर है और तेज है। वह लक्षण 'आत्मसंतोष' है। यह सुनकर आप मुझे पागलोंमें शुमार करेंगे और कहेंगे- 'क्या आत्मसंतोष? और यह सब लक्षणोंका मेरुमणि! आपहीने अभी कहा है ना, कि 'मैं' और 'मैं-पन' छोडना चाहिये? वह Iness और My ness किसी कामका नहीं? और अब कहते हैं, आत्मसंतोष? क्या यह वदतो व्याघात नहीं है? अच्छा, वह भी रहने दीजिये। इतनी देरतक आपने 'विश्वबंधुत्व' 'यह विश्वही मेरा घर है" इत्यादि लंबी चौडी बातें बतलाईं, वे क्या सब निरर्थक हैं? वाचकगण! धीर सो गंभीर! ऐसे अधीर होनेसे क्या फायदा? 'आत्मसंतोष' में दो शब्द हैं- आत्म, संतोष = आत्माका संतोष। यहां आत्माका हमारा मतलब 'मैं' इतना संकुचित नहीं है, किंतु आत्माका अर्थ इतना विस्तृत है कि "लोको वै अयं आत्मा।' अब हम फिरसे कहते हैं, कि आत्मसंतोष स्थिप्रज्ञका मुख्य लक्षण है। अब आपको बात जंच गई? ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

(जयाचें आत्मतोषीं मन राहे। तोचि स्थितप्रज्ञ होये।)

जिसका मन आत्मसंतोषमें रममाण रहता है, वही स्थितप्रज्ञ है। गीता कहती है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

तुकारामका भी यही अभिप्राय है। ('आत्मानंदीं लागली टाळी। कोण देहातें सांभाळी॥)

आत्मानंदमें जहां धुन लग गई, वहां देहको कौन सम्हाले? यह आत्मानंद कब होता है? जब

आत्मस्वरूप पहचाना जाता है तब। 'अहं कोऽहं' जिसने पहचान लिया, जिसको आत्मबोध हो गया, जिसके मनमें यह बात दृढमूल हुई, कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' किंबहुना जिसको स्वस्वरूपकी पहचान हुई, वही स्थितप्रज्ञ है। परंतु यह स्वस्वरूप क्या है? यदि कोई पूछे कि यह क्या गडबड मामला है? तो उसका वर्णन शब्दोंमें नहीं हो सकता। वह ऐसा है, कि "यतो वाचो विनिवर्तन्ते।" यद्यपि वह शब्दातीत है, तथापि अनुभवगम्य जरूर है। उसकी प्रचीति मनहीको होती है; परंतु वाणीसे व्यक्त करना असंभाव्य है। रामदास स्वामी कहते हैं–

(सिद्ध म्हणजे स्वरूप जाण। तेथे पाहतां वेगळेपण। मुळीच नाही॥ स्वस्वरूप होऊनि राहिजे॥ सकळ धर्मांमध्ये धर्म। स्वरूपीं राहणें हा धर्म। हेंचि जाणिजे मुख्य वर्म। साधुलक्षणाचें॥)

अर्थ– सिद्धका अर्थ स्वरूप समझो; वहां न्यारापन बिलकुल नहीं है। स्वस्वरूप होकर रहना चाहिये। सकल धर्मोंमें धर्म यह है, कि स्वरूपमें रहना। साधुलक्षणका यही मुख्य गूढ रहस्य जानना चाहिये। गीता कहती है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

ऐसे प्रसन्न और शान्त स्थितप्रज्ञको कभी भी देखो, वह आत्मानंदमें डुलता हुआ ही मिलेगा। ऐसा रहनेपर भी वह ईश्वरको भूलता नहीं। मदोन्मत्त हाथी भी अपने ही आनंदमें डुलता रहता है; परंतु इसलिये वह स्थितप्रज्ञ नहीं होता। इस आत्मानंदमें डुलनेवाले और जगन्नियंता को न भूलनेवाले स्थितप्रज्ञके बारेमें गीता कहती है–

मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

ज्ञानेश्वर महाराजके मतसे स्थितप्रज्ञ वह है, कि ('जो मातें हृदया आतूं विसंबेना।') जो मुझे अपने हृदयसे जराभी दूर होने नहीं देता।

स्थितप्रज्ञकी व्याख्या।

प्रथमतः ऊपर दिये हुए लक्षणोंको एक जगह रखकर देखें— प्रसन्नत्व, स्वस्वरूपज्ञान, आत्मसंतोष, द्वंद्वाभाव, सुखदुःखातीतता, स्थिरमतित्व, अनभिस्नेहत्व, देहाभिमान-नाश, इन्द्रियनियंत्रण, अंतःशुद्धि, शुद्धवासना, जगन्मित्रत्व, निःसंदेहता और नैराश्य। ये लक्षण एकदम बहुत दिखते हैं; परंतु थोडा विचार करनेपर मालूम होगा, कि इनमेंसे कोई कोई लक्षण दूसरेमें समा सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्वरूपज्ञान होनेसे प्रसन्नता आती है और प्रसन्नत्व आत्मसंतोषका बाह्य चिन्ह है। पानसुपारीकी डब्बियां तश्तरीमें रखनेसे अनेक दिखती हैं; परंतु एक डब्बी दूसरीमें ये दोनों तीसरीमें, इस तरह रखनेसे एकही डब्बी दिखती है। वही बात इन लक्षणोंकी है। अतएव एकमें एक लक्षण समाते समाते मेरे ख्याल से पांच लक्षण रह जाते हैं। वे इसतरह-शुद्ध वासना, इन्द्रियनियंत्रण, द्वंद्वाभाव, स्थिरमतित्व और आत्मसंतोष। मेरी समझ में इन लक्षणोंसे युक्त ऐसे मानव को गीता स्थितप्रज्ञ कहती है।

काल्पनिक नहीं, किंतु प्रत्यक्ष।

स्थितप्रज्ञ का वर्णन करते हुए मैंने प्रारंभ में यह कहा था, कि स्थितप्रज्ञ एक अस्थिचर्मयुक्त ऐसा प्रत्यक्ष मनुष्य है, काल्पनिक नहीं। मैं अब बतलाता हूं, कि मैंने ऐसा क्यों कहा। ऊपर बतलाए हुए स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको ध्यानमें रखिये। एक वर्ग है, जो यह मानता है, कि ऐसी व्यक्तिका होना असंभाव्य है। इस वर्गके धुरीण जर्मन तत्त्वज्ञ कॅंाट हैं। इनका कहना है, कि ग्रीक पंडितोंने जो (Superman) स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया है, वह प्रत्यक्ष में देखने नहीं मिलता। संपूर्ण परमोच्च तत्त्वोंकी जननी जो शुद्ध वासना है, उसको ग्रीक पंडितोंने मानव के सांचेमें ढालकर लोगोंके सामने रख दी है; इसीलिये सुपरमॅन कोई प्रत्यक्ष नहीं किंतु ध्येयका एक काल्पनिक ध्रुवनक्षत्र है। परन्तु–

'नर करनी करे तो नरका नारायण हो जाय।'

इस तत्त्वको सत्य माननेवाले हमारे शास्त्रकारोंका मत ऐसा है, कि स्थितप्रज्ञ कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं, प्रत्यक्ष है। कोई एकाध मनोनिग्रही और 'यतात्मा दृढनिश्चयः' ऐसा पुरुष, अनेक जन्मोंके पश्चात् क्यों नहो, स्थितप्रज्ञ अवश्य ही होता है। जनक, बुद्ध, तुकाराम, एकनाथ इत्यादि महात्मा स्थितप्रज्ञ ही थे। गीता उनका अस्तित्व मुक्तकंठ होकर बतलाती है। ऐसे उदाहरण, विरल क्यों न हों, मिलते हैं; इससे मुझे यह कहनेमें कोई बाधा नहीं मालूम होती, कि स्थितप्रज्ञ कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं, किंतु प्रत्यक्ष है।

अलौकिक पुरुष।

अर्थशास्त्रका यह सिद्धान्त है, कि उपयुक्त वस्तु जितनी दुर्लभ हो, उतनी ही उसकी कीमत ज्यादा होती है। अन्य धातुओंकी अपेक्षा सुवर्ण अधिक दुर्लभ है, इसलिये उसकी कीमत भी अधिक है। उससे भी ज्यादा रेडियमका मोल है। यही तत्त्व स्थितप्रज्ञको भी लागू कर सकते हैं। स्थितप्रज्ञत्व अत्यंत दुर्लभ है; उसके लिये अनेक जन्मोंतक आत्मयज्ञ करना पडता है। वह इतना दुरापास्त है, कि पिछले वर्णनके अनुसार, करोडों मनुष्योंमें क्वचित् एकाध ही स्थितप्रज्ञ होता है। इसीलिये वह अलौकिक है। ऐसे अलौकिक पुरुषका बर्ताव भी अलौकिक ही रहेगा। रामदास स्वामी कहते हैं- "जनीं असोनि जनावेगळा।" (लोगोंमें रहता हुआ लोगोंसे अलग) सूर्य आकाशमें है, मेघोंमें है और तारिकाओंमें है; परंतु वह न आकाश है, न मेघ है और न तारिका है। इसी तरह स्थितप्रज्ञ लोगोंमें रहता हुआ भी लोकविलक्षण है। गीता कहती है-

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'

लोगोंकी जो रात है, वह इन हजरतका दिन है! लोग जब अज्ञानांधःकारमें डूबे रहते हैं, तब ये ज्ञानसूर्यके प्रकाशमें विचरण करते हैं, इसीलिये लोगोंसे अलग है। सामान्य लोगों सरीखा वह लौकिक कर्तव्योंको करता ही है, परन्तु उन लौकिक कर्तव्यों का अच्छा या बुरा परिणाम उसपर कुछ नहीं होता। रामदास स्वामीका वचन देखिये—

"सकळ करून अकर्ता। सकळ भोगून
अभोक्ता। सकळामध्ये अलिप्तता॥"

(अर्थ- सब कुछ करके भी वह अकर्ता है, सब उपभोग लेकर भी वह अभोक्ता है; प्रत्येक वस्तुमें अलिप्तता है।) गीताका सिद्धान्त ऐसा है, कि "पुरुष जिन जिन कर्मोंको ईश्वरार्पण बुद्धि से (मय्यावेश्य मनः) करता है, उन उन कर्मोंकी उसे बाधा नहीं होती।" स्थितप्रज्ञ के विषय में सब ही कर्मोंका कर्तापन और भोक्तापन ईश्वरको सौंप दिया रहता है; और उसकी यह धारणा रहती है; कि यह लौकिक कर्म 'शारीरं केवलं कर्म' है, इन्द्रियां विषयोंका सेवन करती हैं (न कि मैं;) इसलिये सब कुछ करके भी वह अकर्ता है। इसी उच्च भावनासे श्रीकृष्णके पूर्ववृत्त को ओर देखनेपर यह प्रतीत होगा, कि सब कुछ उपभोग करके भी वे अभोक्ता कैसे थे। इसी प्रकार आसक्ति न होनेसे स्थितप्रज्ञ को 'सकल वस्तुओं में अलिप्तता' सहज ही मिलती है।

'ते कर्मी तरी वर्तती। परी कर्मफळा नातळती।'

ये कर्म जरूर करते हैं, परन्तु कर्मफल को स्पर्श तक नहीं करते। गीता कहती है—

'त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा...कुर्वन्नपि न लिप्यते।"

इस प्रकार स्थितप्रज्ञ कर्म करके कर्म न करनेवाला अलौकिक पुरुष है।

द्वेष नहीं प्रेम।

जहां यह जंच गया, कि स्थितप्रज्ञ अलौकिक पुरुष है, वहां अगला विवेचन सहज ही मान्य होगा। अपन सामान्य लोग व्यवहारमें 'जैसे को वैसा' बर्ताव करते हैं। रामदास स्वामी के शब्दोंमें ऐसा कहेंगे कि—

'घटासी आणावा घट। उद्धटासी पाहिजे उद्धट।
खटनटासी खटनट। अगत्य करी॥'

ऐसा अपना बर्ताव रहता है। (उद्दंडके लिये उद्दंडकी योजना करनी चाहिये, उजड्डुके लिये उजड्डुकी और नटखटके लिये नटखटकी योजना आवश्यक है।) परंतु इस अलौकिक पुरुषकी सबही बातें अलौकिक हैं। वह द्वेषका बदला द्वेषसे नहीं, बल्कि प्रेमसे देता है। यहां एक बारीक मुद्दा ध्यानमें रखना चाहिये। संसारमें कितने आदमी अपन देखते हैं, कि जो अपनी असमर्थताको किसी एक भारी गुणके आवरणसे ढांकते हैं। उदाहरणके लिये मानलो कि किसी शक्तिमान् पहलवानने अपने मुंहपर एक चपत जमा दी। हममें प्रतिकार करनेकी ताकत न होगी, तो हम सहज कह देंगे, कि "जाओ, हमने तुम्हें क्षमा की।' यहां क्षमा करनेको वस्तुतः अपनी नियत नहीं रहती; अपन अपने मनमें जले भुने रहते हैं, परंतु प्रतिकारकी क्षमता न होनेके कारण अपनी अपात्रताका दोष गुणके आवरणसे ढांकते हैं। यह कातरताकी वृत्ति स्थितप्रज्ञमें नहीं रहती। वह यथार्थमें 'समर्थ' रहता है। परंतु क्षमा उसका शील रहता है, इसी-लिये द्वेषका बदला वह प्रेमसे देता है। उदाहरणार्थ, रामने अपने कट्टर शत्रुको मोक्षपद दिया और उसके कलेवरको यह कहकर अग्निसंस्कार दिया, कि 'मरणान्तानि वैराणि'। वसिष्ठ मुनिकी कामधेनु को राजा विश्वामित्र भगाले जाता था; और वसिष्ठको सामर्थ्य रहनेपर भी उसने अपनी क्षमाशील वृत्ति नहीं छोडी। परंतु कामधेनुको जरूर वापिस ले लिया, और विश्वामित्रमें ऐसा आमूलतः फरक कर दिया, कि विश्वामित्र राजाका विश्वामित्र ऋषि बन गया। इसमें संदेह नहीं, कि यह फरक 'डण्डेबाजी,' से नहीं हुआ। वसिष्ठने द्वेषका प्रतिकार प्रेमसेही किया। यह बात प्रसिद्ध ही है, कि एकनाथने किसतरह अपने शत्रुओंका पराभव क्षमासे, शान्तिसे और प्रेमसे किया। अपनी पीठपर निर्दयतासे आघात करनेवाले मंबाजीका शरीर तुकारामने प्रेमसे मींज दिया। ऐसे अनेक दृष्टान्त दे सकते हैं। महाभारतकार भी इसी तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं-

'न पापे प्रतिपापः स्यात्। साधुरेव सदा भवेत्॥

Love thy Enemy. महात्मा गांधीके सत्याग्रहमें भी यही तत्त्व अनुस्यूत है। इसलिये अब देखें, कि द्वेषका बदला प्रेमसे देनेका आदेश क्यों दिया जाता है। द्वेषका प्रतिकार द्वेषहीसे किया जाय, तो, क्या द्वेषी शत्रुका द्वेष चला जायगा? कभी नहीं! अपन यदि शत्रुसे प्रबल होंगे, तो उसका द्वेष थोडा मंद होगा। परंतु योग्य समय आतेही उस द्वेषको चालना मिलगी। अच्छा, ऐसा न करके द्वेषका प्रतिकार प्रेमसे किया जाय, तो शत्रुकी द्वेष भावनाही समूल नष्ट होगी और वह प्रेम करने लगगा; कमसे कम द्वेषरहित जरूर होगा। नित्यके व्यवहारमें भी यही देखा जाता है। क्लासमें मास्टरका अकारण द्वेष करनेवाले विद्यार्थी रहते हैं। मास्टर ऐसे विद्यार्थियोंके साथ प्रेमसे बर्ताव करता जाय, तो वर्षके अंतमें उसको ऐसा अनुभव आता है, कि वेही विद्यार्थी उससे प्रेमसे बर्ताव करते हैं। यह मार्ग रूक्ष और बिकट जरूर है; परंतु निश्चित है। इसलिये मैं कहता हूं, कि स्थितप्रज्ञके आचरणकी प्रणाली द्वेष नहीं, प्रेम है।

स्थितप्रज्ञ और नीतिनियम।

अत्यंत कष्टसाध्य ऐसी स्थितप्रज्ञकी पदवी जिसने प्राप्त की है, ऐसे मनुष्यको नीतिनियमोंकी कसौटी लगाना केवल मूर्खता है। वाङ्मयका 'नोबेल प्राइज' जिन्होंने हासिल किया, उन डॉ० टागोरको बी. ए. की इंग्लिश परीक्षामें बैठनेको कहना जितनी मूर्खता होगी, उतनी मूर्खता का उपर्युक्त विधान है। बी. ए. की परीक्षामें डॉक्टर टागोर 'परीक्ष्य' के नातेसे नहीं, किंतु 'परीक्षक' के नातेसे आवेंगे। बी० ए० की परीक्षा सामान्य जनोंके लिये है। इसीतरह नीतिनियम हमारे तुम्हारे लिये हैं, स्थितप्रज्ञ के लिये नहीं हैं। स्थितप्रज्ञ

नीतिनियमोंका जनक है, गुलाम नहीं। राजा जो नियम करता है, वे नियम प्रजाके लिये रहते हैं, उसके स्वतःके लिये नहीं।

नीतिनियमों की ओर देखनेका दृष्टिकोण स्थितप्रज्ञका अलग रहता और सामान्य जनोंका अलग रहता है। ऐसा नहीं है, कि जिस कृत्यको हम और तुम पाप समझेंगे, उस कृत्यको स्थितप्रज्ञ पाप समझेगा ही। किसी अंत्यज के जिस घरमड धूलमें लिपटे हुए, और माताकी तलाश में रोनेवाले बालक को देखकर हम चार हाथ दूर जावेंगे, उसी बालक को एकनाथ सरीखा दयालु महात्मा अपने कंधेपर ले जाकर उसकी माताके पास पहुंचावेगा। पृथ्वीपर संचार करनेवाले मनुष्य को जहां उंचा, नीचा, गड्ढे इत्यादि दिखेंगे, वहां आकाशमें विहार करनेवालेको समभूमि दिखेगी। इसलिये स्थलचरों और गगनचरोंके नियम जैसे भिन्न होंगे, और एकके नियम दूसरेको जिसतरह गैरलागू होंगे, उसीतरह स्थितप्रज्ञ और सामान्य लोगोंके नियम हैं। स्थितप्रज्ञके नीतिनियम अलग ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये, कि नीतिनियमोंके मूलमें क्या बात है? केवल शुद्ध वासना। और यह शुद्ध वासना स्थितप्रज्ञ का प्रतीक ही है। ऐसी स्थितिमें नीतिनियम स्थितप्रज्ञको लागू करना वैसाही होगा जैसे एक शुद्ध वासना दूसरी शुद्ध वासना की परीक्षा लेवे!! एक पारिस दूसरे पारिस की परीक्षा लेवे, ऐसाही यह कृत्य है। यथार्थ में देखा जाय, तो स्थितप्रज्ञ नीतिनियमोंके परे रहता है। लोकमान्य तिलक कहते हैं "ये सत्पुरुष विधिनियमोंके जनक होते हैं, गुलाम कभी नहीं होते। वैदिक, बौद्ध और ईसाई धर्ममें यही सिद्धान्त पाया जाता है। कॉटन यह सोपपत्तिक रीतिसे सिद्ध किया है।" दूसरी बात यह है, कि स्थितप्रज्ञ की बुद्धि ब्रह्मज्ञानसे स्थिर हो जाती है, इसलिये उसके हाथसे पाप होता ही नहीं। क्योंकि अरविंद कहते हैं 'He initiates no action. His action is physical.' जहां वासना का क्षय हुआ, वहां पाप का उद्भव कहांसे होगा? जहां बीजका ही अभाव है, वहां वृक्षकी संभावना कैसे होगी? शंकराचार्य कहते हैं, "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?" गीता वही बात कहती है–

हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।

बाइबल भी इसी बातको पुष्टि देती है। "देवके जो पुत्र हुए, उनके हाथसे पाप होना ही असंभाव्य है।" कौषीतकि उपनिषद् भी इसी विधान को अनुमति देता है।" मातृहत्या, पितृहत्या, इत्यादि पातक उसको नहीं लगते।" यह विवेचन अच्छी तरह ध्यानमें आनेपर हम तुरंत समझ जाते हैं, कि परशुरामको मातृहत्या का, अॅब्राहाम को पुत्रहत्याका और बुद्धको श्वशुरहत्या का दोष क्यों नहीं लगा।

इसका कारण यही है, कि स्थितप्रज्ञ की नीतिमत्ताका निर्णय बाह्य फलसे नहीं, किंतु उसकी बुद्धी की ओर ध्यान देकर ही ठहरना पडता है। अस्तु।

यहांतक यथामति यह बतलाया गया, कि गीता स्थितप्रज्ञ किसको कहती है।

उपनिषत्कथा ।

[लेखक- श्री० ना० बा० गुणाजी, बेलगांव.]

(१२) ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ।

विदेह देशके जनक राजाने एक बडा यज्ञ किया और उसमें बहुतसी दक्षिणा दी। कुरु और पांचाल देशके बहुतसे ब्राह्मण उस यज्ञमें आये थे। जनक को यह जाननेकी इच्छा हुई, कि इन सबमें ब्रह्मिष्ठ (अतिशय विद्वान्, वेदपारंगत) कौन है। उन्होंने एक हजार गाएं एक जगह बंधवाई; हर एक गायके सींगमें दस दस पादोंका (लगभग १७६ ग्रेन ट्राय) सुवर्ण बांध दिया और यह जाहीर किया, कि हे पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जो ब्रह्मिष्ठ होगा, वह इन गायोंको खुशीसे ले जावे। परंतु उन गायोंको लेजाने का किसीको धैर्य न हुवा। तब याज्ञवल्क्यने अपने एक शिष्य को कहा 'बेटा सामश्रव! इन गायोंको ले जाओ। उस शिष्य ने वैसा ही किया। यह देखकर बाकी के ब्राह्मणों को क्रोध आया। वे आपसमें कहने लगे, क्या यह स्वतःको ब्रह्मिष्ठ समझने की शान रखता है? जनक राजाका अश्वल नामक पुरोहित था। उसने पूछा " हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुमही अकेले ब्रह्मिष्ठ हो ? " याज्ञवल्क्यने कहा, कि 'हम ब्रह्मिष्ठको नमन करते हैं, परंतु हमें गाएं अवश्य चाहिए।' तब अश्वलको प्रश्न करनेका धैर्य हुआ।

(१) अश्वलने ऐसा प्रश्न किया, कि यह सब मृत्यु, अहोरात्र, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से व्याप्त और वशीकृत है। यजमान इनसे किसप्रकार मुक्त होंगे? दूसरी बात, अंतरिक्ष आधाररहित है. ऐसी हालतमें यजमान इस अंतरिक्षमेंसे स्वर्गलोक को किस सिढीसे जांयगे ?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, कि यह विधिपूर्वक यज्ञ करनेहीसे साध्य होगा। अश्वलने यज्ञ की और बातोंके विषयमें प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यने उनके उत्तर दिए। अश्वल पुरोहित था; यज्ञकी प्रशंसा पर दिए हुए उत्तरोंसे उसका समाधान हुवा और वह चुप होगया।

(२) इसके बाद जारत्कारव आर्तभाग ने ग्रह, अतिग्रह, मृत्यु तथा अन्य कोई कोइ विषयों के संबंध में प्रश्न इस तरह किये —

आर्तभाग- यह जो कुछ है, वह सब मृत्यु का अन्न है; परंतु मृत्यु किस देवता का अन्न है ?

याज्ञवल्क्य- अग्नि मृत्यु है। वह जलका अन्न है।

आर्तभाग- जब (ज्ञानी) पुरुषका मृत्यु होता है, कब क्या उसके प्राण उसमेंसे निकल जाते हैं या नहीं ?

याज्ञवल्क्य- नहीं। वे यहीं (इस शरीरमें) लीन होते हैं। उसका देह फूलता है। अन्योंके सरीखा उसका लिंग शरीर बाहर नहीं जाता, किंतु यहीं नाश पाता है।

आर्तभाग- जब यह पुरुष मरता है, तब उसको कौनसा पदार्थ नहीं छोडता?

याज्ञवल्क्य- नाम। नाम अनंत है। विश्वेदेव अनंत हैं। उसको अनंत लोक प्राप्त होते हैं।

आर्तभाग- जब मरे हुए पुरुषकी वाणी अग्निमें जाती है, प्राण वायुमें, चक्षु आदित्य में, मन चंद्र में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वीमें, हृदय आकाश में, लोम औषधि में, केश वनस्पतिमें, रक्त और रेत उदकमें लीन होते हैं, तब यह पुरुष कहां रहता है ?

याज्ञवल्क्य- बेटा आर्तभाग! तुम अपना हाथ मेरे हाथमें दो। केवल अपन दोनों इसपर विचार करें। इसके बाद दोनों एकतरफ गए और दोनोंने एकांत में विचार किया। जो कुछ उन्होंने कहा, सब कर्मही कहा। उन्होंने कर्मही की प्रशंसा की। पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्म से पापी होता है। इसके बाद आर्तभाग चुप हो गया।

(३) लाह्यायनि भुज्यू ने पूछा, कि हम मद्रदेशमें प्रवास करते हुए कपि गोत्री पतंजलके घरको गए। उसकी लडकी के देह में आंगिरस सुधन्वा नामक गंधर्व आता था। उससे हमने प्रश्न किया, कि परिक्षित कहां गए? वही प्रश्न हम आपसे पूछते हैं।

याज्ञवल्क्य- उस गंधर्व ने कहा, कि अश्वमेध करनेवाले जहां जाते हैं वहां गए। अश्वमेधयाजी जिस लोकोंको जाते हैं उनका सविस्तर वर्णन याज्ञवल्क्यने किया।

(४) चाक्रायण उषस्त ने पूछा, कि जैसे घोडा अथवा बैल बतलाया जाता है, उसी तरह साक्षात् और प्रत्यक्ष ब्रह्म ऐसा जो सर्वव्यापी आत्मा-उसका स्वरूप मुझे बतलाइये।

याज्ञवल्क्य-तुम्हाराही आत्मा सर्वव्यापी है। वह प्राणादि वायुओंसे शरीरके सब कर्म करता है। वही तुम्हारा सर्वांतर अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा है। परंतु इस दृष्टि के द्रष्टाको, श्रुति के श्रोता को, मति के मन्ताको तुम जान नहीं सकते। यह तुम्हारा आत्मा सर्वव्यापि (दृष्टिका द्रष्टा इत्यादि) है। उस के अतिरिक्त सब विनाशी है। इसपर उषस्त चुप हो गए।

(५) कौषीतकेय कहोलने प्रश्न किया, कि इस सर्वव्यापी आत्माका साक्षात्कार कैसे लेना?

याज्ञवल्क्य- सच्चे ब्राम्हण क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्युके परे जो आत्मा, उसको जानते हैं; और पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचरण करते हैं। जो पुत्रैषणा वही वित्तैषणा और जो वित्तैषणा वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणा ही हैं, अर्थात् इच्छा- कामना ही है। इसलिये साधकको आत्मज्ञान अच्छीतरह संपादन करके- आत्मबलसे युक्त होकर मननशील होना चाहिये। मौन (मैं ब्रह्म हूं, मेरे सिवाय कुछ नहीं, ऐसा मनसे अनुसंधान) और अमौन (युक्तिपूर्वक आत्मदृष्टि) निःशेष करनेसे वह सच्चा ब्राह्मण ब्रह्मज्ञ (कृतकृत्य) होता है। इसके अतिरिक्त सब (एषणा) विनाशी हैं। यह सुनकर कहोल चुप हो गए।

(६) इसके बाद वाचक्नवि गार्गी प्रश्न पूछने लगी।

गार्गी- यह सब (पार्थिक जगत्) उदकमें ओत (आडा) प्रोत (खडा) बना हुआ (भरा हुआ) है: परंतु वह उदक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-उदक वायुमें ओतप्रोत है।

गार्गी- वायु किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०- वायु अंतरिक्षलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी अंतरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-गंधर्व लोकमें।

गार्गी- और गंधर्वलोक?

याज्ञ०-आदित्य लोक में।

इसके पश्चात् गार्गीके प्रश्नोंके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा, कि आदित्यलोक चंद्रलोकमें, चंद्रलोक नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोक में, देवलोक इंद्रलोक में इंद्रलोक प्रजापतिलोक में, प्रजापति लोक ब्रह्म लोकमें ओतप्रोत है। इसपर जब गार्गीने फिरभी प्रश्न किया कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है? तब याज्ञवल्क्य बोले- बस करो अब तुम्हारे प्रश्नों की बकबक। तुम अतिप्रश्न कर रही हो (जिसके विषयमें प्रश्न करना न चाहिये, उस विषयमें तुम पूछ रही हो।) अतिप्रश्न मत करो और तुम्हारा मस्तक टूटकर गिरने मत दो। यह सुनकर गार्गी चुप हो गई (अ० ३० ब्रा० ६)

इसके कुछ समयके बाद गार्गी फिरसे खडी हुई और बोली- 'हे ब्राम्हणगण;! मैं अब इन्हें फिर से दो प्रश्न पूछती हूं। यदि उनके यथार्थ उत्तर ये देवें, तो समझलेना कि तुममेंसे कोई भी इनको ब्रह्मज्ञान में जीत न सकेंगे। ब्राम्हण बोले, 'पूछो गार्गी।'

गार्गी- हे याज्ञवल्क्य! जैसे काशी अथवा विदेह निवासी शूर पुत्र प्रत्यंचा उतरे हुए धनुष्यको प्रत्यंचा चढाकर तीक्ष्ण और पीडाकारक दो बाण हाथ में लेकर सामने खडा रहे, उसी तरह मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे आगे खडी हूं। उनके उत्तर दो।

याज्ञ०- गार्गी! पूछो।

गार्गी- हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक के ऊपर है, जो पृथ्वी के नीचे है, जो इस द्यावापृथिवीके मध्य में है, , जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह किसमें ओतप्रोत है? (अर्थात् इस दृश्य विश्वका आधार क्या है?)

याज्ञ०- जो द्युलोक के ऊपर, पृथिवी के नीचे, उसके मध्यमें है,जिसको भूत,वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह (विश्व) आकाश में ओतप्रोत है।

गार्गी- आकाश किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-इसका उत्तर ब्राह्मण ऐसा बतलाते हैं, कि वह अक्षर में (क्षयरहित ब्रह्म में) ओतप्रोत है।

वह अक्षर, अस्थूल, अनणु, अन्हस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय (छायारहित), अतम (तमोरहित, वायुरहित आकाशरहित, संग रहित, रस, गंध चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन; तेज, प्राण, मुख, मात्रा (नाप), अंतर, बाह्यता, इनसे रहित है। वह कुछ खाता नहीं, न वह किसीका भक्ष्य है— सारांश यह कि वह सर्व विशेषणरहित है। इसी अक्षर ब्रह्मके नियंत्रण से (हुकुमसे) सूर्यचंद्र अपनेअपने स्थानमें धारण किये जाते हैं और अपने अपने कार्य करते हैं। इसी अक्षर ब्रह्मके हुकुमसे द्यावा पृथिवी अपने अपने स्थान में स्थिर रहते हैं। इसी अक्षर ब्रह्मके हुकुम से निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर इत्यादि काल के अवयव अलग रहकर कालमान बतलाते हैं। इसी अक्षरब्रह्म के हुकुमसे श्वेत (हिमालय) पर्वतसे कोई पूर्वगामी, कोई पश्चिमगामी और अन्य नदियां उन उन दिशाओं में बहती हैं। इसी तरह इस अक्षर ब्रह्म के हुकुम से मनुष्य दाताओंकी, देव यजमानोंकी और पितर दर्वी होमोंकी प्रशंसा करते हैं। जो इस अक्षर ब्रह्म को विना जाने हवन करता है, यज्ञ करता है, सहस्रवर्षतक तपाचरण करता है, वह उसका समूचा कर्म अंतवत् होता है। जो इस अक्षर को जानेविना इसलोक में मरण पाता है, वह कृपण (दीन) है। परंतु जो इसको जानकर मृत्यु पाता है, वह सच्चा ब्राह्मण है। वह यह अक्षर अदृष्ट परंतु द्रष्टृ (देखनेवाला) अश्रुत परंतु श्रोतृ (श्रवण करनेवाला) अमत परंतु मंतृ (मनन करनेवाला) अविज्ञात परंतु विज्ञातृ (जाननेवाला) है। इसके सिवाय दूसरा कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है। हे गार्गी! ऐसे इस अक्षरब्रह्म में आकाश ओतप्रोत है।

यह सब सुनकर गार्गी बोली- हे ब्राह्मणगण! इस याज्ञवल्क्यको प्रणाम करके तुम मुक्त हुवे, तो उतनाही बहुत समझो। तुममें से इसको ब्रह्मज्ञानमें जीतने के लिये कोई समर्थ नहीं। ऐसा कहकर वाचक्नवि गार्गी चुप हो गई।

(७) इसके बाद अरुण उद्दालक ने पूछा, कि हे याज्ञवल्क्य! हम मद्र देशमें पंतचल के घरमें यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए रहते थे। उस पंतचल की भार्या के शरीरमें अथर्वपुत्र कबंध नामका गंधर्व आता था। उनके पंतचल को और हम याज्ञिकोंको कहा, "क्या तुम उस सूत्रको जानते हो, जिसमें कि यह लोक, परलोक तथा समस्त प्राणिमात्र गुंथे हुए हैं?" पंतचलने कहा कि हम नहीं जानते। उस गंधर्व ने फिरसे पूछा, "क्या तुम उस अंतर्यामी को जानते हो, कि जो इस लोक, परलोक तथा सारे प्राणिमात्र में रहकर इन सब का नियमन करता है?" पंतचलने कहा; कि हम उसको भी नहीं जानते। इसपर वह गंधर्व बोला- उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को जो जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता,देववेत्ता,भूतवेत्ता,आत्मवेत्ता सर्ववेत्ता होता है। यह ज्ञान मैं जानता हूं। हे याज्ञवल्क्य!

उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को विना जाने तुम यदि ब्रह्मज्ञानी की ये गाएं ले जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक टूट पडेगा।

याज्ञ०-उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को मैं जानता हूं।

उद्दालक- ऐसा कोई भी मुंहसे कह देगा, कि मैं जानता हूं, मैं जानता हूं; तुम बतलाओ क्या जानते हो।

याज्ञ०- हे गौतम! वह सूत्र वायु है। यह लोक, परलोक तथा सकल भूतमात्र इस वायुरूपी सूत्र में गुंथे हुए हैं। इसलिए मरे हुए आदमी के बारे में कहते हैं, कि इसके गात्र शिथिल होगए हैं (टूटे हुए हैं), क्यों कि ये गात्र वायुरूपी सूत्रमें गुंथे रहते हैं।

उद्दालक- ठीक है अब बतलाओ, कि अंतर्यामी कौन है।

याज्ञ०- जो पृथ्वी में रहता है, परंतु जो पृथ्वी से निराला है, जिसको पृथ्वी जानती नहीं, जिसका शरीर पृथ्वी है जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। इसीतरह जो उदक, अग्नि, अंतरिक्ष वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चंद्र, तारिका, आकाश, तम, तेज (इत्यादि अधिदेवतों में) संपूर्ण भूतोंमें (अधिभूतोंमें), प्राण, वाचा, चक्षु, मन, त्वचा, विज्ञान, रेत (अध्यात्म में) रहता है, परंतु जो इन सबसे निराला है, जो इन सबके अंदर रहकर सबका नियमन करता है, ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। यह अदृष्ट होकर द्रष्टा है, अश्रुत होकर श्रोता है, अमत होकर मन्ता है, अज्ञात होकर ज्ञाता है। सिवाय इसके कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता विज्ञाता नहीं है। ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। इसके अतिरिक्त सब कुछ विनाशी है।

इसपर अरुण पुत्र उद्दालक चुप हो गया।

(इसके बाद विदग्ध शाकल्य ने देवता विषय प्रश्न पूछे।

विदग्ध- हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं?

याज्ञ०- तीनसौ तीन, अथवा तीन हजार तीन

विदग्ध- देव कितने हैं?

याज्ञ०-तेहतीस, छः, तीन, दो, डेढ, एक।

विदग्ध- इसका खुलासा कीजिये।

याज्ञवल्क्य- ३०३, ३००३ देवकी विभूति हैं। देव ३३ हैं-आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारा आदित्य, इन्द्र और प्रजापति, ऐसे ३३ हैं। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चंद्रमा और नक्षत्र- ऐसे आठ वसु हैं। इनमें यह सब (जगत्) स्थापित है। इसलिए इनको वस्तु कहते हैं। दस प्राण (पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय) और आत्मा अर्थात् मन ऐसे ग्यारह रुद्र हैं। ये जब (मरण कालमें) मर्त्य शरीरमें से ऊपर जाते हैं, तब रुलाते हैं, इसलिये ये रुद्र हैं। संवत्सरके बारह महीने द्वादश आदित्य हैं। ये सब (प्राणियों के आयुष्य) ले जाते हैं, इसलिये ये आदित्य हैं। मेघ (गर्जना करनेवाला) इंद्र है और यज्ञ प्रजापति है।

अग्नि, वायु, पृथ्वी, अंतरिक्ष, आदित्य और द्यौ मिलकर छः देव हैं। ये छः ही सब कुछ हैं।

ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हीं में ये सब देव है।

अन्न और प्राण ऐसे दो देव हैं।

वायु डेढ देव है; क्यों कि इसमें यह सब कुछ वृद्धि पाता है (अधि आर्ध्नोत् ऋद्धिं प्राप्नोति इत्यध्यर्धम्) इसलिए डेढ।

प्राण एक देव है। वही ब्रह्म है। उसको त्यत् (वह) ऐसा परोक्ष रीतिसे कहते हैं। यही पृथ्वी, आकाश, तम, तेज, आप, इत्यादि सबको व्यापकर सबका अंतर्यामी है।

अच्छा होता, यदि इतने ही प्रश्नोत्तर होकर समाप्ति हो जाती। परंतु विदग्धने फिरसे प्रश्नमालिका शुरू कर दी। उसके उन निरर्थक सात आठ प्रश्नोंके उत्तर याज्ञवल्क्यने दिए। आखिर क्रोधमें आकर उन्होंने विदग्धसे कहा, कि उपनिषदों में जिसका वर्णन है, उस अक्षर पुरुषको तुम न जानते

हो; तो तुम्हारा मस्तक टूट पडा। विदग्ध शाकल्य को उसका ज्ञान नहीं था, इसलिये उसका मस्तक टूक पडा। इस तरह यह परिषद् शोक पर्यवसायी हुई। अंतमें याज्ञवल्क्य ने कहा- हे ब्राह्मणगण! तुममेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझे प्रश्न करे अथवा सब मिलकर पूछें; अथवा तुम मेंसे जिसकी इच्छा हो, उसको अथवा तुम सबको मैं पूछता हूं। परंतु इसपर प्रत्युत्तर करनेका किसी भी ब्राह्मणको धैर्य न हुआ। तब उन सब के साम्हने खडे होकर याज्ञवल्क्य ने यह कूटप्रश्न रखा -पुरुष यथार्थ में वनस्पति अथवा वृक्ष सरीखा है लोम उसके पत्ते और त्वचा उसकी छाल है। पुरुष की त्वचासे खून बहता है और वृक्ष की छालसे गोंद निकसती है। मांस इस वृक्षके स्तर हैं और स्नायु अंतर्भाग हैं। अस्थि भीतरके काष्ठ हैं और मज्जा मज्जाही हैं। वृक्षको काटनेपर वह फिरभी जडसे फूट कर निकलता है; वैसे मृत्युने काटा हुआ मनुष्य किस मूलीसे पुनरपि उत्पन्न होता है? रेतसे मत कहो, क्योंकि वह जीवित मनुष्यसे उत्पन्न होता है। वृक्ष मरनेपर बीजसे दूसरा उत्पन्न होता है। मूली और बीज दोनों नष्ट किए जांय; तो वृक्ष फिरसे उत्पन्न नहीं होता। परंतु मृत्युने मारा हुआ मनुष्य फिर किस मूली से उत्पन्न होता है? तुम कहोगे; कि वह जन्मा हुआही है; परंतु यह बात नहीं है। वह मरनेपर भी फिरसे उत्पन्न होता है इसके मरने के बाद इसको फिरसे कौन जन्म देता है। इसका उत्तर कोई न दे सका। इसलिए सबसे याज्ञवल्क्य का श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ।

(१३) याज्ञवल्क्य की तात्विक चर्चा।

विदेह देशके राजा जनक अपने सिंहासनपर बैठे थे, उनके पास याज्ञवल्क्य गए। उनको देखकर जनक बोले- हे याज्ञवल्क्य! यहां कैसे आये? क्या गायों की इच्छा रखकर अथवा सूक्ष्म प्रश्नोत्तर करने आए हैं?

याज्ञवल्क्य- मैं दोनों कामोंके लिये आया हूं। तुम्हें जो कोई उपदेश किया गया हो, वह मुझे पहिले सुनने दो।

जनक- जित्वा शैलिनी ने मुझे बतलाया है, कि (१) वाक् ही ब्रह्म है। उदंक शौल्बायन ने बतलाया, कि (२) प्राण ही ब्रह्म है। बर्कु वर्ष्णि ने बतलाया, कि (३)चक्षु ही ब्रह्म है। गर्दभी विपीतने बतलाया, कि(४)श्रोतृ ही ब्रह्म है। सत्यकाम जाबालने बतलाया, कि (५) मन ही ब्रह्म है। विदग्ध शाकल्याने बतलाया, कि (६) हृदय ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य- राजा! इस प्रत्येक आचार्य ने तुम्हें केवल ब्रह्मका एकही पाद (चतुर्थांश) बतलाया है। बाकी तीन पाद बतलाए या नहीं?

जनक- नहीं। वे आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य- राजा, सुनो! (१) 'वाक् ही ब्रह्म है;' इसमें वाक् अथवा वाणी आयतन (शरीर) है, आकाश प्रतिष्ठा (आश्रय) है, प्रज्ञारूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए। वाणी ही प्रज्ञा है। (२) 'प्राण ही ब्रह्म है; इसमें प्राण आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, प्रियरूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। प्राण ही प्रियता है। (३) "चक्षु ही ब्रह्म है;" इसमें चक्षु आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, सत्यरूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। चक्षुही सत्यता है। (४) 'श्रोत्र ही ब्रह्म है;' इसमें श्रोत्र आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, अनन्त रूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। दिशा ही अनन्तता है। (५) 'मन ही ब्रम्ह है; इसमें मन आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, आनंद रूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। मन ही आनंदता है। (६) 'हृदय ही ब्रह्म है;' इसमें हृदय आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, स्थितिरूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। हृदय ही स्थिरता है।

इस प्रकार प्रत्येक आचार्यके ब्रह्मोपदेशके विषय में और उनके पादोंके विषयमें याज्ञवल्क्य चर्चा कर रहे थे, तब राजा जनक प्रसन्न होकर कहने लगे, "मैं तुम्हें एक हजार गौएं देता हूं; जिनमें हाथी सरीखा एक बैल (सांड) है।" परंतु याज्ञवल्क्य बोले, "मेरे पिता का ऐसा अभिप्राय था (और मेरा भी है,) कि शिष्य को ज्ञान देकर कृतार्थ किये बिना उससे कुछ लेना नहीं।"

जनक राजा अपने कूर्चासन से उठे। याज्ञवल्क्यके समीप आए, (अभिमान छोडकर) उनको नमस्कार किया और बोले, 'हे याज्ञवल्क्य! मुझे उपदेश कीजिये!

याज्ञ०- राजा! दूर की सफरको जानेवाला मनुष्य रथ या नाव लेता है, इसी तरह तुम उपनिषदोंसे- उसमें जो ज्ञान है उससे- युक्त हुए हो। सिवाय इसके तुम पूज्य तथा संपन्न हो। क्या तुम्हें मालूम है, कि ऐसे तुम देहपात होनेपर कहां जाओगे?

जनक- मुझे नहीं मालूम कि मैं कहां जाऊंगा। आप बतलाइये।

याज्ञ०- दाहिने नेत्र में जो पुरुष है, उसका नाम इंध है। यह दीप्तिमान् होनेके कारण इसको अप्रत्यक्षता से इन्द्र कहते हैं। बांयें नेत्रमें जो पुरुषरूप विराट् है, वह उसकी पत्नी है। हृदय के अन्तर्भाग में जो आकाश है, वह इनका एकत्र होनेका स्थान है; हृदय में जो रक्तपिंड है, वह उन दोनोंका अन्न है। हृदयकी नाडियोंका जो छिद्रोंका जाल है, वह उनका ओढना है। हृदयसे ऊपर जानेवाली जो नाडी है, वह इनके संचारका मार्ग है। हृदयमें एक बाल के सहस्रांश बराबर सूक्ष्म ऐसी हिता नामक नाडियां रहती हैं। उनमेंसे यह (रक्त अथवा अन्न) घूमता रहता है। इसलिए इस (जड) शरीरकी अपेक्षा, अत्यंत सूक्ष्म आहार करनेवाला यह लिंगशरीर अतिशय सूक्ष्म रहता है। पूर्व दिशा उनके पूर्वतरफ के प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण तरफके; पश्चिम दिशा पश्चिम तरफके उत्तर दिशा उत्तर तरफके; ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व और अधर दिशा अधर प्राण हैं; सकल दिशा प्राण हैं। आत्मा 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) ऐसा है। वह अग्राह्य है, उसका ग्रहण करते नहीं बनता; वह अशीर्य है, उसका नाश कर नहीं सकते; वह असंग है, वह आसक्त नहीं होता; वह असित है, वह व्यथा अथवा विनाश नहीं पाता। हे जनक! यह जानकर तुम अभय हुए हो।

जनक- आप जो मुझे अभयका (ब्रह्मका) ज्ञान करा देते हैं, इससे मालूम होता है कि आप भी अभय ही हैं। आपको मेरा नमस्कार है। यह मैं और यह विदेह देश आपही के हैं।

किं ज्योतिरयं पुरुषः?

[पुरुष का प्रकाश कौनसा है?]

एक समय याज्ञवल्क्य जनक के यहां गए थे। उनकी कोई संभाषण करने की इच्छा न थी, केवल मुलाकात करनेका उनका इरादा था। परंतु पहिले एक अग्निहोत्र के प्रसंग में जनक को चाहे वह प्रश्न पूछने का याज्ञवल्क्यने वर दिया था; इसलिये जनकने याज्ञवल्क्य को ऐसा प्रश्न किया, कि इस पुरुषका (व्यवहारका साधन हो ऐसा) प्रकाश कौनसा है?

याज्ञ०- हे सम्राट्! आदित्य उसका प्रकाश है। आदित्य के योगसे पुरुष बैठता है, काम करता है, वापिस आता है।

जनक- हे याज्ञवल्क्य! ठीक है। परंतु आदित्य का अस्त होनेपर इस पुरुष का प्रकाश कौनसा?

याज्ञ०- चंद्र। चंद्रके प्रकाशसे पुरुष बैठता है, उठता है, अपने काम करता है, वापिस आता है इत्यादि।

जनक- ठीक है; परंतु आदित्य का और चंद्र का भी अस्त हो, तब इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है?

याज्ञ०- अग्नि। अग्नि (दीपक) के प्रकाश से पुरुष अपने सब काम करता है।

जनक- ठीक है। परंतु सुर्यचंद्रके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर (बुझ जानेपर) इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है?

याज्ञ०- वाक्! वाणीके योगसे (ध्वनि के संधान से) पुरुष अपने काम करता है।

जनक- ठीक है; परंतु सूर्यचंद्रके अस्त होनेपर तथा अग्नि और वाणी के शान्त होनेपर इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है ?

याज्ञवल्क्य- आत्मा। आत्माके प्रकाशसे यह अपने काम करता है।

जनक- वह आत्मा कौनसा ?

याज्ञ०-यह जो प्राणमें(इंद्रियोंमें)विज्ञानमय और हृदयमें(बुद्धिमें)अन्तर्ज्योति अथवा स्वप्रकाशी और पूर्ण(सर्वव्यापी)है;वह यह समान है और मानो(ध्यायतीव लेलायतीव) ध्यान करता हुआ और क्रीडा करता हुआ दोनों लोकमें संचार करता रहता है। यहीं पुरुष शरीरभाव पाकर जन्म लेता है और पापपुण्यरूपी गुणोंसे युक्त होता है। इसकी दो अवस्था (१)सुषुप्तावस्था (२)जागृतावस्था हैं। इन दोनोंके बीचमें ३ स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्थामें वस्तुतः रथ अश्व मार्ग, आनंद हर्ष अथवा प्रहर्ष, कुंवां तलाव नदियां इत्यादि कुछ नहीं रहता, परंतु यह सब अपने तेजसे वह निर्माण करता और देखता है। जिस तरह बडा मत्स्य नदीके दोनों किनारों के बीच में रहनेवाले पानी में संचार करता है, उसी तरह यह आत्मा सुषुप्ति और जागर के मध्य में रहनेवाली स्वप्नावस्था में विहार करता है। जैसे पक्षी आकाश में खूब उडकर थक जाता, तब पंख सकोडकर अपने घोंसलेकी ही ओर आता है, वैसेही यह पुरुष व्यवहार करके थक जाता, तब अपने आखिरी (सुषुप्त) स्थानको विश्रांति के लिये जाता है।

बहुत भारी सामान से भरी हुई गाडी आवाज करती हुई चलती है, वैसे यह आत्मा मरणसमय में आवाज करता हुआ देह से निकल जाता है। जैसे आम अथवा पीपल का वृक्ष अपनी रसयुक्त जडसे टूट पडता है,वैसा यह पिण्ड जरासे अथवा ज्वरादिकसे कृश होनेपर प्राण से छटकर दूसरा प्राण धारण करने के लिये निकल जाता है। जैसे राजा आ रहा है यह देखकर उसके लिये कोटवार, सिपाही, गाडेवाले, मालगुजार, मुकद्दम इत्यादि लोग व्यवस्था करते हैं, वैसेही 'यह ब्रह्म आ रहा है' ऐसा देखकर सारी इंद्रियां अपने कर्म के भोक्ता की-आत्माकी मार्गप्रतीक्षा और व्यवस्था करती हैं। अंतकाल में हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है और उसमेंसे आत्मा बाहेर पडकर चक्षु, मस्तक अथवा अन्य किसी अवयवमेंसे निकल जाता है। इसके बाद प्राण और बाकीकी इंद्रियां निकल जाती हैं। विशिष्ट ज्ञानके साथ वह जाता है। ज्ञान, कर्म और पूर्व में अनुभव की हुई वासना उसके साथ जाती है। जैसे तृणके ऊपर बैठी हुई गोंच पहिले तृणको छोडकर दूसरे तृण का आश्रय करती है; अथवा जैसे सुनार सुवर्ण का टुकडा लेकर उससे कुछ दूसरा नया सुंदर रूप तैयार करता है; उसी तरह यह आत्मा पूर्व के शरीरका त्याग करके पितर, गंधर्व अथवा देवता की योनि में रूप का आश्रय करता है।

वह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय तेजोमय, अतेजोमय, काममय,अकाममय,क्रोधमय अक्रोधमय धर्ममय अधर्ममय, सर्वमय, प्रत्यक्षमय,परोक्षमय है। वह जो पाप अथवा पुण्यकर्म करेगा वैसाही होता है। पुण्यकर्म करनेवाला पुण्यवान् होता है, पापकर्म करनेवाला पापी होता है. इसलिए यह पुरुष 'काममय' कहलाता है। उसको जैसी इच्छा होती, वैसा क्रतु (निश्चय) वह करता है, जैसा निश्चय करता, वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता वैसा फल पाता है। जिसको इच्छा नहीं, जिसकी इच्छा नष्ट हुई अथवा पूर्ण हुइ है, अथवा आत्मा में विलीन है, ऐसे पुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं पाते, वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म ही को जाता है। यह सबका स्वामी सबका अधिपति है। पुण्यकर्मों से यह वृद्धि नहीं पाता और पापकर्मों से क्षीण नहीं होता। यह सर्वेश्वर, भूताधिपति और भूतपाल है। ब्रह्मलोक आदि लोकोंको स्थिर रखनेवाला यह सेतु है। ब्राह्मण इसको वेदाध्ययन से, यज्ञसे, दान से, तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं। जो इसको जानता, वह मुनि होता है। इसको जानने की

इच्छा से संन्यासी संन्यास लेते हैं। यह आत्माही हमारा लोक है। ऐसे हम लोगों को प्रजा(संतति) से क्या मतलब है? ऐसा विचार करके वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाका त्याग करके भिक्षाचरण करते हैं। यह आत्मा अगृह्य, अशीर्य, असंग, अविनाशी है। इसको जाननेवाला शांत, दांत, उपरत, तितिक्षु, समाधानयुक्त होता है और अपने ही में आत्मस्वरूप देखता है। ऐसे को कोई पाप ताप नहीं देता। सकल पापोंको यह भस्म कर देता है। पापरहित, इच्छारहित और संशयरहित ऐसा यह ब्रह्मज्ञ होता है। यही ब्रह्मलोक है। हे राजन्! तुम इस लोक में आप हो।'

यह सब सुनकर जनक ने कहा, 'हे भगवन्! मैं आपको समग्र विदेह देश देता हूं और स्वयं मैं आपका दास होता हूं।'

(१५) मैत्रिय-आदेश।

याज्ञवल्क्य को कात्यायनी और मैत्रेयी ऐसी दो भार्याएं थीं। कात्यायनी सर्वसाधारण आर्य स्त्रियों-सरीखी गृहकृत्यों में दक्ष थी और मैत्रेयी ब्रह्म-वादिनी थी। याज्ञवल्क्य को ऐसी इच्छा हुई, कि मैत्रेयी गृहस्थाश्रम छोडकर वानप्रस्थ आश्रम का स्वीकार करे। उन्होंने मैत्रेयी से कहा 'हे मैत्रेयी! मैं यह आश्रम छोडकर जानेवाला हूं, इसलिए मैं अपनी संपत्ति का बटवारा कात्यायनी और तुम में कर देता हूं।' मैत्रेयी बोली- 'हे भगवन्! वित्त से भरी हुई सारी पृथ्वी मुझे मिल जाय तो क्या मैं उससे अमर हो जाउंगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा- 'नहीं नहीं! संपत्ति के योग से तुम्हारा जीवित किसी सर्वसाधनसंपन्न श्रीमान् धनिकके सदृश होगा; परंतु वित्तके द्वारा अमरत्व- मोक्ष मिलने की आशा नहीं।' तब मैत्रेयी बोली, 'वित्तसे यदि अमरत्व-मोक्ष नहीं मिलता, तो उसको लेकर मुझे क्या करना है? अमरत्व का कुछ साधन आपको मालूम हो, तो मुझे वह बतलाइए।' याज्ञवल्क्य ने कहा- 'तुम मुझे प्रिय हो; परंतु तुम्हारे इस भाषण से तुम मुझे अधिकही प्रिय मालूम होती हो। आओ, मेरे पास बैठो और मैं जो कुछ कहता हूं उसे ध्यानपूर्वक सुनो और उसपर भली भांति मनन करो।' [ऐसे प्रश्नोत्तर अथवा संभाषण कितने पतिपत्नी में होते होंगे?]

याज्ञवल्क्यने कहा- 'हे मैत्रेयी! पतिके काम के लिये भार्याको पति प्रिय नहीं, किंतु स्वतःके लिए पति प्रिय लगता है। भार्या के कामके लिये भार्या पतिको प्रिय नहीं मालूम होती, किंतु स्वतःके ही लिये वह प्रिय मालूम होती है। पुत्रोंके लिये पुत्र प्रिय नहीं लगते, किंतु स्वतःकेही लिये प्रिय लगते हैं। इसी तरह वित्त, ब्रह्म (ब्राह्मण वर्ग), क्षत्र (क्षत्रिय वर्ग), लोक, देव, भूतगण और सर्व यह सब कुछ उस उसके लिये नहीं, किंतु स्वतः केही लिये- अर्थात् आत्मा के लिये प्रिय मालूम होते हैं। ऐसा वह आत्मा, हे मैत्रेयी! देखना चाहिये; उसका श्रवण, मनन, निदिध्यास करना चाहिये। आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन, और निदिध्यास करनेसे यह सब विज्ञात होता है।

पतिनिमित्त प्रिय है पति तुझको, भाषण यह अयथार्थ। छोडि अहंता जान अपनको, है प्रिय सबही स्वार्थ॥

[वामन पंडितकी प्रियसुधा देखो-
पतिनिमित्त पती तुजला प्रिये। प्रिय असे म्हणतां सहसा नये॥ परम आवड आपुलि आपणा। वळख तूं तुज टाकुनि मीपणा॥ इत्यादि]

जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे अर्थात् आत्मासे ब्राह्मण निराले हैं, उसको ब्राह्मण दूर करते हैं। जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे अर्थात् आत्मासे क्षत्रिय अलग हैं, उसको क्षत्रिय अलग करते हैं। इसी तरह जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे लोक, देव, वेद, भूत सर्व भिन्न हैं उसको लोक, देव, वेद, भूत, सर्व दूर करते हैं। ये ब्राह्मण, ये क्षत्रिय, ये लोक, ये देव, ये भूत, ये सर्व आत्माही हैं। दुंदुभि, शंख, वीणा

बजाये जांय, तो उनमेंसे निकलनेवाले ध्वनि का ग्रहण करते नहीं बनता। परंतु उन वाद्योंका अथवा उनके बजानेवालोंका ग्रहण करनेसे उस ध्वनिका ग्रहण होता है। इसी तरह एक आत्मा का ज्ञान होनेसे बाकी सब कुछ ज्ञात होता है। गीले इंधन से सिलगाए हुए अग्नि से धूम्र जैसे सर्वत्र फैलता है, उसी तरह चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, मंत्रसूत्र, विवरण, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित (क्षुधा, तृष्णा, निवारण करने का पुण्य), इहलोक, परलोक और समस्त भूतगण इस महान् भूतके (परमात्मा के) निःश्वास हैं। जिस प्रकार समस्त उदकों का एकायन (निवासस्थान) समुद्र है, सकल स्पर्शोंका एकायन त्वचा है, सकल गंधोंका एकायन नासिका है, सकल रसोंका एकायन जिह्वा है, सकल रूपों का एकायन चक्षु है, सकल शब्दोंका एकायन श्रोत्र है, समस्त संकल्पोंका एकायन मन है समस्त विद्याओंका एकायन हृदय है, समस्त कर्मोंका एकायन हस्त है, सारे मार्गोंका एकायन पैर है, सारे आनंदोंका एकायन उपस्थ है, सारे विसर्गों का एकायन पायु (गुदद्वार) है और संपूर्ण वेदों का एकायन वाक् है, उसी प्रकार यह आत्मा सबका, सकल विश्वोंका एकायन है। निमक की डली पानी में डालने से घुल जाती और सब पानीको व्यापती है, उसी तरह हे मैत्रेयी! यह महद्भूत, आत्मा, अनंत, अपार, विज्ञान, घन और सर्वव्यापी है। निमककी डली पानी में घुल जानेपर पानी से अलग नहीं रहती; इसी तरह मनुष्य मृत्यु के पश्चात् जब आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है, तब उसकी अमुक ऐसी संज्ञा नहीं रहती।

मैत्रेयी– आपका यह भाषण-शरीरपात होनेपर संज्ञा नहीं रहती इत्यादि-सुनकर मैं मोहमें पड गयी।

याज्ञ०–मोहमें पाडनेवाला वचन मैं नहीं बोलता; किंतु मेरा कहना आत्मज्ञान की प्राप्ति करा देनेवाला है। यदि (मनमें) द्वैत होगा, तो एक दूसरेको देखेगा, दूसरेका गंध लेगा, दूसरे से बोलेगा, दूसरे का सुनेगा, दूसरेके विषयमें मनन करेगा, दूसरे को स्पर्श करेगा और दूसरे को जानेगा। परंतु जिसको यह सब आत्मा ही हो गया, वहां कौन किसको देखेगा, किसका सुगंध लेगा, किससे बोलेगा, किसका सुनेगा, किसको स्पर्श करेगा, किसको जानेगा? जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसको (श्रवण, मनन, निदिध्यास से) कैसे जान सकते हैं?

इस प्रकारसे अपनी पत्नीको उपदेश करके, उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति कराके याज्ञवल्क्यने वानप्रस्थाश्रम लेनेके हेतु घरसे प्रयाण किया।

(१६) इंद्र-प्रतर्दन-संवाद

(प्रज्ञात्मन्)

दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्धसे और पराक्रम से इंद्र के प्रियधाम को अर्थात् स्वर्ग को गया। इंद्रने उसको कहा 'हे प्रतर्दन! मैं तुम्हें एक वर देता हूं। तम्हें जो चाहिये वह मांग लो।' प्रतर्दन बोला, 'मनुष्यके लिये अत्यंत हितकर जो वर तुम समझते हो, वही मुझे दे दो।' इंद्रने कहा, 'दूसरेके लिये कोई वर पसंद नहीं करता, तुम अपना पसंद करलो और मांग लो।' प्रतर्दन बोला, 'ऐसा है, तो मुझे वर देकर न दिये के बराबर होगा।' इंद्र सत्यसे अपनी प्रतिज्ञा से च्युत नहीं हुवा; क्यों कि वह सत्य ही (सत्यरूप) है। इन्द्रने कहा, 'तुम मुझे ही (आत्माको) जानो, मुझे जानना ही मानव के लिए अत्यंत हितकर है, ऐसा मैं समझता हूं। त्वष्टा के तीन सिरवाले पुत्रको मैंने मारा। वेदाध्ययन रहित अरुन्मुखोंका मैंने वृकोंका भक्ष्य बनाया। बहुतसे सुलहनामोंको तोडकर स्वर्गमें प्रल्हाद के अनुयायियोंको, अन्तरिक्ष में पुलोमके अनुयायिओंको और पृथ्वीपर कालखंजों को मैंने मारा।

परंतु मेरा एक बालभी टेढा न हुवा। जो मुझे जानता है, उसका लोक (कर्मफल) नष्ट नहीं होता। मातृवध, पितृवध, चौर्य, भ्रूणहत्या इत्यादि पापोंसे भी उसका कर्मफल नष्ट नहीं होता। उसके मुख का तेज किसीभी पापसे नष्ट नहीं होता।'

इंद्रने कहा- 'मैं प्राण हूं; मैं प्रज्ञात्मा हूं। उस मेरी आयुष्य और अमरत्व समझकर उपासना करो। आयुष्य ही प्राण है, प्राण ही आयुष्य है, प्राण ही अमरत्व है। क्यों कि जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक आयुष्य रहता है। प्राणसेही परलोक में अमरत्व की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा से सत्यज्ञान होता है।'

प्रतर्दन- प्राण (इंद्रियां-इंद्रियशक्ति) एकत्र होकर काम करते हैं; क्यों कि एकही समय में वाचासे नाम, चक्षु से रूप, कान से शब्द समझाते नहीं बनते, अथवा मनसे विचार नहीं किया जा सकता। एकत्र होकर प्राण इनमें से एक एक कार्य करते हैं। यह बात सच है ना कि वाचा के बोलते हुए चक्षु के देखते, हुए कानोंके सुनते हुए, मनके विचार करते हुए, प्राण (सकल इंद्रियशक्ति) उन उन इन्द्रियोंके साथ काम करते हैं?

इंद्र- हां! परंतु सब इंद्रियों में प्राण श्रेष्ठ हैं। ऐसे मनुष्य जीवित रह सकते हैं, कि जिनको वाचा नहीं अथवा दृष्टि नहीं अथवा जिनको कान नहीं अथवा जिनको मन नहीं, अथवा जिनको हाथ या पैर नहीं हैं। क्योंकि हम गूंगे अंधे बहिरे, पागल, लूले, लंगडे आदमी देखते हैं। इसलिये प्राण ही प्रज्ञात्मा है; वही इस शरीरको उत्थित करता है। इसलिये इसको 'उक्थ' समझकर इसकी उपासना करनी चाहिये। जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वही प्राण है। ये दोनों इस शरीरमें साथ ही रहते हैं और शरीरमेंसे साथही निकल जाते हैं; क्यों कि गाढ निद्रामें मनुष्य प्राणोंसे ऐक्य पाता है। इसी तरह वह प्राणमें लीन होनेपर, वाणी समस्त नामोंके साथ, चक्षु सब रूपोंके साथ, श्रोत्र समूचे शब्दोंके साथ, मन संपूर्ण विचारोंके साथ प्राणों में जाते हैं। जब वह नींदसे जाग उठता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे स्फुलिंग उडते हैं वैसे आत्मासे उठकर प्राण (सूक्ष्म इंद्रिय) अपने अपने स्थानको जाते हैं। सूक्ष्म इंद्रियोंसे इंद्रियशक्ति और उसके लोक (विषय) का उद्भव होता है। मनुष्य जिस समय आसन्नमरण अथवा मूर्च्छित होता है, तब वाचा, दृष्टि, श्रोत्र आदि इंद्रियां प्राणमें लीन होती हैं, और जब प्राण शरीर छोडकर जाता है, तब वह इन सबके साथ निकल जाता है। इस तरह प्राणमें सर्वाप्ति होती है। जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। ये दोनों शरीरमें साथ साथ रहते और निकल जाते हैं।

उस प्रज्ञाका एक अंग वाक् है, जिसने कि प्रज्ञा का एक अंश स्वाधीन करके 'नाम' ऐसी बाह्य भूतमात्रा (विषय) को निर्माण किया। इसी तरह चक्षु, जिह्वा, नाक, श्रोत्र इत्यादि इंद्रियोंने प्रज्ञाका एक एक अंश स्वाधीन करकेरूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि भूतमात्रा (विषय) को निर्माण किया। इस प्रकार प्रज्ञाका द्विधा विभाग हुआ है। परंतु प्रज्ञाके सिवाय केवल इंद्रियोंको अपने अपने विषयका ग्रहण करते नहीं बनता। प्रज्ञा जब इंद्रियोंपर आरोहण करती है, तब इंद्रियां अपने अपने विषय जान सकती हैं। प्रज्ञासे वियुक्त (रहित) इंद्रियां अपने काम नहीं कर सकती। मनुष्य कहता है, कि 'मेरा मन दूसरी तरफ था, इस लिये मैंने रूप, रस, गंध आदि विषयोंको जाना नहीं।' प्रज्ञा जब हाजिर रहती है, तब मनुष्य वाचासे नामका, आंखोंसे रूपका, कानोंसे शब्दका, मनसे विचारोंका ग्रहण कर सकता है।

वाचाको जानने की इच्छा न करके वक्ता को जानना चाहिये। गंधको न जानकर घ्राताको, रूप न जानकर द्रष्टाको, शब्द न जानकर श्रोताको, कर्म न जानकर कर्ता को जानना चाहिये। वस्तुतः

ये दस भूतमात्रा (पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय) प्रज्ञामें स्थित हैं. और दस प्रज्ञामात्रा (पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय भूतमें स्थित हैं; अर्थात् ये परस्पर सापेक्ष हैं। भूतमात्रा न हों, तो प्रज्ञामात्रा न रहेंगी और प्रज्ञामात्रा न हों, तो भूतमात्रा न रहेंगी; क्योंकि इन दोनोंमेंसे केवल एकसे कोई रूप सिद्ध नहीं होता। परंतु इन दोनोंमें भिन्नत्व नहीं है । जैसे रथचक्र की नेमि अरोंमें रहती है, अरा नाभी में रहती है, वैसेही ये भूतमात्रा प्रज्ञामात्राओंमें स्थित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राणमें स्थित हैं। वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है। वह आनंद अजर और, अमर है। वह शुभ कर्मसे वृद्धि नहीं पाता अथवा अशुभ कर्मसे क्षय नहीं पाता। जिसको इस लोक मेंसे ऊपर ले जानेकी उसकी इच्छा हो, उससे वह अच्छे कर्म कराता है, और जिसको नीचे लानेकी उसकी इच्छा हो, उससे वह बुरे कर्म कराता है। वही लोकों का पालन कर्ता, लोकों का अधिपति, वही सबका स्वामी, वही मेरा आत्मा है- ऐसा जानना।

(१७) घमंडी बालाकि।

उशीनर देशका निवासी गार्ग्यगोत्री बालाकि नामक एक गर्विष्ठ तरुणने वेदाध्ययन करके ख्याति पाई थी। मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह इत्यादि देशोंमें घूमते घूमते वह काशी के राजा अजातशत्रुके यहां आया और उसने राजा को कहा, "मैं तुम्हें ब्रह्म (ज्ञान) बतलाता हूं" अजातशत्रु बोला, "तुम्हारे इस भाषण पर मैं एक हजार गौवें तुम्हें देता हूं; क्योंकि सब लोग जनक का नाम लेकर उसीके पास दौडते हैं।"

बालाकिने कहा "यह, जो आदित्यमें पुरुष है, उसको ब्रह्म जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं।" यह सुनकर अजातशत्रुने कहा, "इस संबंधमें तुम मुझे ज्यादा कहो (सिखाओ) मत; क्यों कि यह मुझे मालूम है। वह समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ, बडा, शुभ्रवस्त्रयुक्त, सकल भूतोंका अधिपति है, ऐसा जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं: और जो इस प्रकार उसकी उपासना करता है, वह सर्वश्रेष्ठ सर्वभूताधिपति होता है।"

इसके बाद बालकिने कहा, कि 'चंद्र विद्युत्, मेघ, वायु, आकाश, अग्नि, उदक इत्यादि अधिदैवत (देवताविषयक) पदार्थोंमें तथा आदर्श, प्रतिध्वनि, शब्द, छाया, शरीर,प्रज्ञा, दाहिनी और बांयीं, आंख इत्यादि अध्यात्म (आत्मविषयक) पदार्थोंमें जो पुरुष है, उसको ब्रह्म जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं।" परंतु प्रत्येक बार जब अजातशत्रुने बतलाया, कि बालाकि की ब्रह्मकी कल्पना संकुचित है, और यह जतलाया, कि मैं इन उपासनाओं को जानता हूं, और यह भी बतलाया कि किस तरह करता हूं और उनका फल कैसे मिलता है, तब बालाकि की आंखें खुल गई और उसके घमंडका पारा नीचे उतरा। उसको स्तब्ध देखकर अजातशत्रुने कहा "हे बालाकि! क्या इतनाही तुम्हारा (ब्रह्म) ज्ञान है?'

बालाकिने कहा, "हां इतना ही है।"

अजातशत्रु-तब तुमने झूठी ही गप्प मार दी कि "मैं ब्रह्मज्ञान बतलाता हूं"। हे बालाकि! तुमने बतलाए हुए इन पुरुषोंका जो कर्ता, जिसने यह सब कुछ उत्पन्न किया है, उसीका ज्ञान कर लेना चाहिये।

इसपर बालाकि हाथमें समिधा लेकर अजातशत्रु की शरणमें गया और बोला, "हे भगवन्! मैं शिष्यभावसे आपके पास आया हूं, मुझे दीक्षा (ज्ञान) दीजिये।" अजातशत्रुने कहा, 'यह विपरीत होगा, कि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य बनाकर

उपदेश करे। परंतु वह रहने दो। चलो, मैं तुम्हें ज्ञान बतलाता हूं।'' ऐसा कहकर अजातशत्रुने उस का हाथ पकडा और दोनों एक निद्रित पुरुषके पास आए। अजातशत्रुने उस पुरुषको पुकारा, 'हे बृहन् पांडरवास सोम राजन्! उठो!' परंतु वह पुरुष वैसाही स्तब्ध निद्रित रहा। तब अजातशत्रुने उसको लकडीसे (कौषीतक्युपनिषद् अ० ४), हाथसे (बृहदारण्यकोपनिषद् अ०२) हिलाया। तुरंत ही वह उठकर खडा हुआ। अजातशत्रुने बालाकिसे कहा, 'हे बालाकि! यह पुरुष (आत्मा) कहां सोया था, कहां गया था, और कहांसे आया?' बालाकि यह कुछ न जानता था। अजातशत्रुने कहा, "एक बालके सहस्रांशके बराबर सूक्ष्म, पिंगल, शुक्ल, कृष्ण, पीली, लाल रंगकी 'हिता' नामकी नाडियां हृदयसे निकलकर 'पुरीतत्' नामके हृदयवेष्टनतक फैली रहती हैं। पुरुष जब गाढ निद्रामें रहता है, तब वह इन नाडियोंमें रहता है और प्राणसे एकरूप होता है। उस समय सकल नामोंके साथ साथ वाचा, सकल रूपोंके साथ चक्षु, सकल शब्दोंके साथ श्रोत्र, संपूर्ण विचारोंसहित मन उसमें लीन होता है। जब वह जागता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निसे सब दिशाओंमें स्फुलिंग उडते हैं वैसे इस आत्मासे प्राण- इंद्रिय अपने अपने स्थानोंमें जाते हैं। इंद्रियोंसे इंद्रियशक्ति और उससे विषय (शब्दादि) निकलते हैं। जैसे क्षुर (छुरा) अपने ढक्कनमें, अथवा अग्नि अग्निकुंडमें व्यापकर रहता है; जैसे घरमालिककी राहसे घरमें सब लोग चलते हैं, वैसे सारी इंद्रियां इस आत्माकी राहसे बर्ताव करती हैं।

घरका मालिक अपने आश्रितोंके साथ भोजन करता है और ये आश्रित लोग उसीका अन्न खाते हैं, इसी तरह यह आत्मा इंद्रियोंसहित भोग भोगता है और वे इन्द्रियां आत्माके आश्रय से भोग भोगते हैं। इन्द्रको जबतक यह ज्ञान नहीं था, तबतक असुरोंने उसका पराजय किया; परंतु जब इसको यह ज्ञान प्राप्त हुवा तब उसने असुरोंको जीतकर सकल देवोंमें श्रेष्ठत्व, निरंकुशत्व और स्वामित्व संपादन किया। इसी तरह जो कोई यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा, उसके सारे पाप नष्ट होंगे और वह सकल भूतोंमें श्रेष्ठ, निरंकुश और अधिपति होगा।

(१८) श्रद्धावान् नचिकेता।

वाजश्रव नामके एक धनिकने 'विश्वजित्' नामक यज्ञ किया, जिसमें कि सर्वस्वका दान दिया जाता है। नचिकेता नामक उसका एक पुत्र था। वाजश्रव धूर्त होनेके कारण उसने दान देनेके लिये गाएं हिकमतसे चुनकर निकालीं। ये गाएं बूढी, पुरानी, सूखी हुई, बेकाम, निरुपयोगी थीं। इन गौओंका दान हो गया और उन्हें लेकर ब्राह्मण जब घर जाने लगे, तब यह बात कुमार नचिकेताको पसंद न हुई। उसके मनमें श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने सोचा, कि ऐसा कपट करनेसे, अर्थात् निरुपयोगी गौओंका दान देनेसे बुरा ही फल मिलेगा अर्थात् इससे आनंदरहित लोक प्राप्त होंगे। ऐसा विचार करके वह अपने पितासे बोला, "हे तात! तुम मेरा दान किसको देओगे?" पिताने कोई जवाब न दिया, तब उसने यही प्रश्न दो तीन बार फिरसे किया। इससे चिडकर पिताने कहा "मैं तुझे मृत्युको दे डालता हूं।" क्रोधके आवेशमें पिताके मुंहसे ये शब्द जरूर निकल गए; परंतु शीघ्रही उसको पश्चात्ताप हुआ। तथापि नचिकेता सच्चा था। उसने आग्रह किया, कि अपने वचनके अनुसार पिता मुझे मृत्युके स्वाधीन कर दे। उसने पिताको मना लिया और उसकी संमतिसे नचिकेता यमके घरको गया। उस समय यमराज घर में न थे। तीन दिनतक (अहोरात्र) नचिकेता यमके घरमें भूखा रहा। वापिस आनेपर यमको घरके लोगोंने कहा, कि एक ब्राह्मणकुमार अतिथि अपने घर आया है, वह तीन दिनसे भूखा है;

उसको अर्घ्यदान और अन्न देकर उसका समाधान करना चाहिये, अन्यथा वह शाप देकर नुकसान करेगा। यमने उस अतिथिका योग्य रीतिसे स्वागत किया और तीन दिनका उपवास होनेसे तीन वर मांगनेका उसको आदेश दिया। नचिकेताने पहिला वर इस तरह मांगा, कि 'मेरे पिताका क्रोध चला जाय, मैं वापिस जाऊं तब मुझे वह पहिचाने और पहिले सरीखा हमारा सुलह हो- सारांश यह कि, मेरा पिता संतुष्ट हो" यमने तुरंत यह वर दे दिया। दूसरे वरसे उसने स्वर्गसाधनभूत ऐसा अग्निज्ञान मांगा। वह भी यमने तुरंत दे दिया। उस ज्ञानका शीघ्र ग्रहण नचिकेताने किया देखकर यम संतुष्ट हुआ और बोला, 'यह अग्नि तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा, अर्थात् इस नचिकेताअग्नि कहेंगे।' इसके बाद यमने कहा, कि अब तीसरा वर मांगो। नचिकेता ने कहा- 'मेरा तीसरा वर यह है,कि मनुष्य मरने पर कोई कहते हैं कि वह है और कोई कहते हैं कि वह नहीं (नष्ट होता है); इसके विषयमें बोध करके इसका निर्णय तुम मुझे बतलाओ।"

यम- इस प्रश्नके विषयमें पूर्वकालसे देवताओं को भी संशय है। यह प्रश्न बहुत सूक्ष्म है, समझने लायक नहीं है। इसको छोडकर तुम कोई दूसरा वर मांगो।

नचिकेता- यह बात सच है, कि पूर्वकालसे देवताओंको इस विषयमें संशय था, और इसका समझना बहुत कठिन है; परंतु इस विषयका समझानेवाला तुम्हारे सरीखा दूसरा कोई न मिलेगा, और मैं नहीं समझता कि इसके समान कोई भी दूसरा वर है।

यम- तुम चाहे तो शतायु पुत्रपौत्र मांगो, पशु, हाथी, अश्व, सुवर्ण मांग लो; पृथ्वीका बृहत् मंडल मांग लो और जी चाहे उतने वर्षतक जियो,संपत्ति मांगो, दीर्घायुष्य मांगो, राज्य मांगो। तुम्हारी सब कामना मैं पूर्ण करता हूं। इस मृत्युलोकमें दुर्लभ ऐसे कामभोग तुम्हारे मांगते ही तुम्हें मिलेंगे। रथ और वाद्योंके साथ अप्सरा मांगो; मनुष्योंको ये नहीं मिलती। तुम्हारी इच्छा हो तो उनसे मैं तुम्हारी सेवा कराता हूं; परंतु मरणके विषयमें प्रश्न मत् करो।

नचिकेता- हे अन्तक! ये संपूर्ण भोग आज हैं, कल नहीं, अर्थात् क्षणिक हैं। सिवाय इसके वे सारे इंद्रियोंका तेज क्षीण करते हैं। सबका (किंबहुना ब्रह्मदेवका भी) आयुष्य अल्प है; इसलिए वाहन और नृत्यगीत तुम्हारे तुम्हीं को रहें। धनसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। तुम्हारे दर्शन से और प्रसादसे चाहे उतना धन और आयुष्य मुझे मिलेगा। परंतु ये मुझे नहीं चाहिये, मुझे वह मेरा वरही चाहिये। यह जानने पर, कि गानवाद्यरतिसे होनेवाला आनंद नश्वर है, और यह ज्ञान होनेपर, कि अजर अमर देवोंके पास जाकर उनसे इन बातोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट प्राप्तव्य (प्रयोजन) साध्य होनेसरीखा है, ऐसा कौनसा जरामरणयुक्त और नीचे पृथ्वीपर रहनेवाला प्राणी अतिदीर्घ जीवितमें रममाण होगा? इसलिये हे मृत्यो! आत्माके महत्त्वपूर्ण ऐसे परलोकसंबंधका निर्णायक ज्ञान मुझे बतलाओ। यद्यपि यह गहन है, तथापि इसके सिवाय मैं दूसरा वर न मांगूगा।

यमने जब देखा,कि अपने मोहजालमें नचिकेता नहीं फंसता और अपने प्रलोभनकी पर्वा नहीं करता, तब उसको बहुत संतोष हुवा, और इसके लिये इसकी प्रशंसा करके यमने उसको उपदेश देना प्रारंभ किया।

यम- श्रेय (श्रेयस्कर अथवा कल्याणकारक) और प्रेय (प्रियकर अथवा सुखदायक) ऐसे दो भिन्न मार्ग अथवा बातें हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इनकी योग्य परीक्षा करके इनमेंसे श्रेय पसंद करता है और मंदबुद्धिवाला प्रेय पसंद करता है। तुमने प्रेय का मार्ग छोडकर श्रेयका मार्ग स्वीकृत किया, यह ठीक हुआ। अब मैं आत्माके अमरत्व और अविनाशित्व के विषयमें कहता हूं, वह सुनो। प्रमादशील तथा वित्तमोहसे मूढ और विवेकहीन लोगों को परलोक नहीं दिखता। जो वह समझते हैं,

कि जो कुछ है यही लोक है; दूसरा है ही नहीं, वे बारबार मेरे कबजे में आते हैं। यह आत्मा जन्म नहीं लेता और न मरता है। यह किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हुवा। वह जन्मरहित, नित्य, क्षयरहित और वृद्धिरहित है। शरीर का वध हुआ तो भी इसका वध नहीं होता। इसको न कोई मार सकता और न यह मरता है। परंतु जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ ऐसे लोगोंमेंसे कोई कोई शरीर धारणाके लिये योनीमें प्रवेश करते हैं और कोई वृक्षादि स्थावर भाव को पाते हैं। जैसा कर्म किया हो और जैसा ज्ञान संपादन किया हो वैसी अवस्था उन्हें प्राप्त होती है। एक सौ एक नाडियां हृदयसे निकलती हैं,उनमें एक नाडी है जो मस्तकको भेदकर जाती है। उसके द्वारा ऊपर जानेवाला (प्राणत्याग करनेवाला) अमर होता है। बाकी की नाडियों से प्राणत्याग करनेवाले पुनर्जन्म पाते हैं, मनुष्यके हृदय में जो कामनाएं हैं,वे सब नष्ट होनेपर मनुष्य अमर होता और इसी देहमें ब्रह्मरूप होता है।

आत्मा रथी (रथका मालिक) है। शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इंद्रियां अश्व हैं और विषय उनके मार्ग हैं। जिसका मन काबू में नहीं रहता और जिसका बुद्धिरूपी सारथी अकुशल रहता है, उसकी इंद्रियां अडियल टट्टू सरीखी वश में नहीं रहती। परंतु जिसका मन काबू में रहता है और बुद्धिरूपी सारथी कुशल रहता है, उसकी इंद्रियां अच्छे घोडेसरीखी सारथीके वशमें रहती हैं। जिसका मन काबूमें नहीं रहता, जो बुद्धिरहित है, जो सदा अपवित्र रहता है, उसको परम पदकी प्राप्ति नहीं होती; उसको बार बार संसारमें आना पडता है। परंतु जिसका मन काबूमें रहता है, जो बुद्धिसे युक्त है, सर्वदा पवित्र रहता है, उसको परम पद की प्राप्ति होती है और फिर उसका जन्म (अत एव मरणभी) नहीं होता।

इंद्रियोंकी अपेक्षा इंद्रियों के अर्थ (विषय) श्रेष्ठ हैं। इंद्रियोंके अर्थों से मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है। उससे भी अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुषसे श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं हैं। यही अंतिम और श्रेष्ठ गति है! यह पुरुष- आत्मा समस्त भूतमात्रों में गूढ रहता है, प्रगट नहीं रहता। केवल एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा इसका दर्शन (ज्ञान) होता है। सूज्ञ मनुष्यको चाहिए कि वह वाणी का (समस्त इंद्रियों का) मन में लय करे; मनका ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा का महानात्मा में और महानात्मा का शान्तात्मा में लय करे; इसलिए हे जीवगण ! उठो, जागो, श्रेष्ठ आचार्यके पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लो। छुरी की तीक्ष्ण धारपर चलने सरीखा यह मार्ग आक्रमण करनेको कठिन जरूर हैं परंतु हमें वह आक्रमण करना चाहिए। इसका (आत्मज्ञानका) श्रवण करनेवाले थोडे रहते हैं; श्रवण करके समझनेवाले इससे भी थोडे, और पूर्ण ज्ञाता से उपदिष्ट ऐसा क्वचित् ही एकाध मिलता है। समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समूचे तप जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी इच्छा रखकर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण किया जाता है, वह ॐ(प्रणव) है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है। इसका ध्यान करना, इसको जानना ही ब्रह्मप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। यह आत्मा श्रवण से प्राप्त नहीं होता, बुद्धिसे अथवा पांडित्यसे प्राप्त नहीं होता। यह आत्मा जिसको पसंद करता है, उसीको वह अपना ज्ञान देता है और स्वरूप बतलाता है। पापकर्मसे जो परावृत्त नहीं हुआ, भोग से जो उपरत नहीं हुआ, जो एकाग्रचित्त नहीं अथवा जो अशांत है, ऐसे पुरुषको ज्ञानके भी योग से आत्मप्राप्ति नहीं होती। यह पुरुष (आत्मा) अंगुष्ठप्रमाण है और भूतभविष्यपर स्वामित्व रखता हुआ शरीर में रहता है। यह धूमरहित प्रकाशस्वरूप है। यह नित्य है; यही ब्रह्म है। मुंज नामक घासमेंसे उसकी शलाका जैसे अलग निकालते हैं, वैसेही आत्माको धैर्यपूर्वक शरीरसे पृथक् करना चाहिये (शरीरसे भिन्न है, ऐसा जानना चाहिए।) इस लोकमें देहपात के पहिलेही आत्मा को जानले तभी मनुष्य जन्म मृत्यु से रहित होता है। अन्यथा

वह संसारके चक्करमें पड जाता है। शब्द स्पर्श रूप रस गंध रहित, अनादि, अनंत, अव्यक्त, नित्य महत्तत्व से श्रेष्ठ और शाश्वत ऐसा जो तत्व अर्थात् ब्रह्म है, वह जाननेसे मनुष्य जन्ममरणसे मुक्त होता है।

इस प्रकार यमने नचिकेता को बतलाया हुवा यह सनातन उपाख्यान (दूसरोंको) बतलाने से अथवा श्रवण करने से बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोकमें श्रेष्ठत्व पाता है, जो कोई यह अत्यंत गुह्य आख्यान शुचिर्भूत होकर ब्राह्मण सभाको अथवा श्राद्धसमय में सुनावेगा; उसको अनंत फलकी प्राप्ति होगी।

समता।

मुक्त आत्मा के लक्षण हैं- ज्ञान, निष्कामता, अव्यक्तित्व, समता, आंतरिक शांति अथवा आनंद और त्रिगुणातीतत्व। इसलिये उसके अखिल कर्मों में ये सब गुण रहने ही चाहिये। दुनिया के सब आघातों में, सब द्वंद्वों में, सब उथलपुथल में इस प्रकार का आत्मा जिस निश्चल शांतभाव का रक्षण करता है, उसके लिये उक्त गुणों की नितांत आवश्यकता है। सब तरह के परिवर्तनों में भी ब्रह्म का जागृत ऐसा जो सम अक्षर भाव है, उसी की परछांय मुक्तात्मा का यह शांत भाव है। बहुरूपी विश्व में जो अखंड एकत्व चिरकाल अनुस्यूत है, उसीका यह शांत भाव है। क्यों कि जगत् के असंख्य भेदों में और विषमता में यही एक ब्रह्म समता का रक्षण करता है और ब्रह्म की समताही एकमेव सच्ची समता है। क्यों कि जगत् के अन्य विषयों में केवल सादृश्य अथवा मेल रह सकता है; परन्तु जगत् में सबसे अधिक सदृश वस्तुसमूह में भी हमें असमता अथवा भेद दिख पडता है; तथा विषमवस्तुसमूह में भी परस्परों से सुसंबद्धता देखकर ही जगत् में मेल उत्पन्न किया जा सकता है।

यही कारण है, कि कर्मयोग के लक्षणों में समता पर इतना अधिक जोर गीताने दिया है। दुनियासे मुक्तात्मा जिस स्वतंत्रतासे संलग्न होता है, उसका संधिस्थल यही समता है। जबतक मुक्त पुरुष आत्मज्ञान, निष्कामता, अव्यक्तित्व, आनंद, त्रिगुणातीतत्व के साथ संसार से परावृत्त होकर केवल आत्मानंद में संतुष्ट रहता है, तबतक समता की आवश्यकता रहती ही नहीं; क्यों कि समता और विषमता का द्वंद्व जिस वस्तुमात्र में रहता है, उन सब वस्तुओं से वह दूर ही रहता है। परंतु जिस क्षण में आत्मा का प्रकृति के बाहुल्य से, व्यक्तिगत भेदवैषम्य से संबंध आता है, तभी मुक्त स्थिति के अन्य गुणों को समता के द्वारा कार्यकारी करना पडता है। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति ही ज्ञान है। संसार की अनेक भिन्न वस्तुओंके संसर्ग में रहकर इस ज्ञान का सत्यत्व जान लेना हो, तो सब से समान एकत्व का अनुभव करना चाहिये। एक अक्षर आत्मा का नामरूप अनेकविध है; आत्मा की सत्ता सर्वनामरूपातीत है और यही उसका अव्यक्तित्व है। संसार के भिन्न नामरूपोंसे आत्मा का जो अव्यक्तित्व व्यवहारमें प्रकट होता है, वह सबसे सम तथा निरपेक्ष व्यवहार करके प्रकट होता है। परंतु यह बात नहीं है, कि सबसे एकही प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। जैसा जिससे संबंध हो, वैसा उससे व्यवहार करना चाहिये। अवस्था और संबंधके भेदानुसार व्यवहारके भी अनेक प्रकार जरूर होते हैं; परंतु सब व्यवहारोंमें अंतःकरणको सम और निरपेक्ष रखकर आचरण करना चाहिये। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ ९।२९

"मुझे कोई भी न प्रिय है और न अप्रिय है। सबके विषयमें मुझमें समभाव है; तथापि जो मेरे भक्त हैं, उनपर मेरी विशेष दया है।' क्यों कि इस प्रकारके व्यक्ति भगवान्से जो संबंध जोडते हैं, वह निराला ही रहता है। सबका प्रभु और एकही एक पक्षपातशून्य भगवान् है। जो जिस भावसे उसकी ओर जाता है, उसको वह उसी भावसे

ग्रहण करता है। संसारका भिन्न भिन्न काम्यवस्तु-समूह आत्माको बद्ध करना चाहता है। असीम आत्मा बंधनातीत रहता है और यही उसकी निष्कामता है। जब आत्माको इस सब वस्तुओंके सान्निध्यमें आना पडता है, तब सब वस्तुओंसे एकसी उदासीनता रखकर और सब वस्तुओंपर समान और निरपेक्ष प्रेम रखकर उसे अपनी निष्कामता प्रकट करनी चाहिये। आत्माका आनंद स्वप्रतिष्ठित है, वह किसी बाह्य वस्तुके लाभ-अलाभपर निर्भर नहीं रहता। वह स्वरूपतः अचल और अक्षय है। संसारकी संगतिमें रहकर भी जीवको यह आनंद प्राप्त करना हो, तो इसी समताके मार्गसे आत्मा उसका मुक्त स्वरूप प्रकट कर सकता है।

आत्मा स्वभावतः प्रकृतिके नित्य चंचल और विषम गुणसमूहोंकी क्रियाके परे है; और यही आत्माका त्रिगुणातीतत्व है। इस आत्माको यदि प्रकृतिके विषम और द्वंद्वपूर्ण कार्यसे संलग्न होना हो, आत्मा यदि स्वतःके स्वभावको किसी प्रकार का कर्म करने देगा, तो समस्त कर्मोंपर, समूचे फलोंपर, सारी घटनाओंपर निरपेक्ष समभाव ही के द्वारा आत्माका त्रिगुणातीतत्व प्रकट होगा।

समता जैसे दिव्यकर्मीका एक लक्षण है, उसी तरह इस मार्गमें अग्रसर होनेवालोंकी वह परीक्षा भी है। आत्मामें यदि विषमताका भाव होगा, तो वासनाका खेल, व्यक्तिगत इच्छा, अनुभूति और कर्मका खेल, सामान्य सुख-दुःख अथवा चांचल्य और अतृप्त ऐसा सामान्य आनंदका खेल-यह सब प्रकृतिका विषम खेल कुछ न कुछ दिखता है। जहां आत्माकी असमता है, वहां ज्ञानच्युति है; सर्वव्यापी सर्वसमन्वयकारी ब्रह्मसे एकत्वानुभूतिके विषयमें दृढता और पूर्णताका अभाव है। इसी समताके द्वारा कर्मयोगी अपने कर्ममें भी यह अनुभव लेता है, कि मैं मुक्त हूं।

गीताने जो समताका विधान दिया है, उसका स्वरूप बहुतही उच्च और व्यापक है। यही समताका आध्यात्मिक स्वरूप इस विषयमें गीताकी शिक्षाका विशेषत्व है। क्योंकि हृदयकी, मनकी, चित्तकी समता अत्यंत वांछनीय है, ऐसा सभी लोग मान्य करते हैं। ऐसा नहीं है कि यह उपदेश केवल गीताही में हो। इस समताकी अवस्थामें हम मनुष्यको स्वाभाविक दुर्बलताके परे रहते हैं। समताकी सर्वदा यह प्रशंसा हुई है, कि वह ज्ञानीजनोचित स्वभावका और सुखी जीवनका आदर्श है। गीताने इस आदर्शका ग्रहण किया है, और भी उसको अधिक श्रेष्ठ स्वरूप और उच्च स्थान दिया है। इंद्रियाकर्षणके भंवरमेंसे, वासनाकी क्षुब्धतासे निवृत्त होकर आनंदलाभ करना हो, तो आत्माको जिस अवस्थामेंसे जाना पडता है, उसकी पहिली अथवा दूसरी सिढ़ी है— कृच्छ्र अथवा स्तोईक समता *(Stoic Poise) अथवा दार्शनिक या विचारलब्ध समता (Philosophic Poise)। कृच्छ्रसाधन अथवा कठोर सहिष्णुताके द्वारा

* सुखदुःखबोध और कुछ नहीं है, केवल अंतःकरण की दुर्बलता है। इस दुर्बलता का नाश करके मनोबलसे सुखदुःखोंको जीतना चाहिये, ऐसा इस ग्रीक स्तोइक संप्रदायका मत है। यह भाव मानो उद्दाम राक्षसोंकी तपस्या है। इसको महत्व भी है और मानवी उत्कर्ष साधनमें इसकी आवश्यकता भी है; परंतु यह दुःखोंपर विजय-प्राप्तिका सच्चा उपाय नहीं है। इस प्रकारके दुःखनिग्रहसे मनुष्यका अंतःकरण शुष्क, कठोर और प्रेमशून्य हो जाता है। ऐसे कृच्छ्रसाधनोंमें उन्नतिको स्थायिकता नहीं है। तपस्यामें शक्ति जरूर है; परंतु इस जन्ममें जो हम दबाकर रखते हैं, वह दूसरे जन्ममें दुगने वेगसे उछलकर बाहर आता है। गीता कहती है, "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।' गीता जिस समताकी शिक्षा देती है, वह समता स्तोइक समतासे बहुत ऊंची है। गीताकी समतामें अंतःकरण शुष्क नहीं होता; उसमें भोगके लिये जगह है। गीतोक्त साधनामें समतावाद तथा शांत अथवा शुद्ध भोग एकही मार्गमें हैं; तथापि गीतोक्त समतालाभकी साधनामें स्तोइक समताके द्वारा प्रथमावस्थामें कदाचित् थोडा बहुत सहाय्य हो सकता है। ग्रंथमें भी यह विषय विशद किया है।

आत्मविजय प्राप्त होता है- यह स्तोइक समता की बुनियाद है। इसकी अपेक्षा दार्शनिक समता शान्तिमय और सुखप्रद है। ज्ञानलब्ध आत्मजय ही दार्शनिक समताकी बुनियाद है। हमारे प्राकृतिक विपर्ययसमूहके बारेमें उदासीन रहकर मानसिक विचारके द्वारा (उदासीनवदासीनः) यही समता प्राप्त की जा सकती है। सदासर्वकाल भगवान्‌की इच्छा शिरोधार्य माननेका भाव भी एक प्रकार समता ही है। इस समताको भाव-समता अथवा क्रिश्चन् समता कह सकते हैं। दिव्य शान्ति प्राप्त कर लेनेके ये तीन उपाय हैं अथवा सिढ़ियां हैं- (१) वीरोचित वृत्तिसे सारे कष्टोंको सहन करना, (२) ज्ञानके द्वारा उदासीन वृत्तिका अवलंबन करना, (३) भक्तिवश होकर भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना- 'तितिक्षा' 'उदासीनता' 'नम्रता (नति)'। गीताने अपनी उदार समन्वय-रीतिके अनुसार इन तीनों अवस्थाओंका ग्रहण किया है और आत्मोन्नतिके उपायोंमें उन्हें योग्य स्थान दिया है। किंतु उनका स्वरूप अधिकाधिक उच्च और व्यापक किया है; क्यों कि गीताने इन तीनों अवस्थाओंको आत्मशक्तिका ही आधार दिया है और यह आध्यात्मिक सत्ताका सामर्थ्य केवल चरित्रबलकी अपेक्षा महत्तर, मनोबुद्धिसे भी श्रेष्ठतर और अंतःकरणके आवेगसे भी विशाल है।

सामान्य मानवात्मा अपने प्राकृत जीवनके अभ्यस्त कोलाहलमें सुख पाता है। यह सुख उसे मिलता है, इसलिये और यह सुख मिलनेसे वह अधःप्रकृतिके इस अशान्त खेलका साथ देता है इस लिये यह खेल चिरकाल तक चलता है। क्यों कि प्रकृति अपने प्रणयी पुरुषके अनुमतिके सिवाय कोई कर्म नहीं करती। हम यह सत्य नहीं मान सकते; क्योंकि वस्तुतः जब विपत्ति हमपर आ गिरती है, तब शोक, यातना, अस्वस्थता, दुर्भाग्य, पराजय, निंदा, अपमान इत्यादिके द्वारा जर्जर होकर उस आघातसे मन पीछे हटता है। इसके विपरीत जब सुखमय संपत्ति हमसे लिपटती है, तब संतोष, सौभाग्य, आनंद, जय, गौरव इत्यादिको आलिंगन देनेके लिये मन जोरसे उछलता है। परंतु इससे उस आनंदमें कोई न्यूनाधिक नहीं होता, जो कि संसारलीलामें आत्माको होता है। योद्धा अपनी जखमोंकी वेदनामें शारीरिक सुखका अनुभव नहीं करता; पराजयसेभी उसको मानसिक संतोष नहीं होता। परंतु युद्धमें उसको पूर्ण आनंद आता है; युद्धमें विजयकी जो आशा रहती है, उसके लिये पराजयकी संभाव्यता स्वीकृत करनेको वह तैयार होता है और जिसमें आशाआकांक्षका मिश्रण है, ऐसे युद्धके लिये उसका प्राण आनंदसे डुलने लगता है। इतना ही नहीं, किंतु अपनी जखमोंकी वेदनाओंका स्मरण करके भी वह सुख और वैभवका अनुभव लेता है- जखम जब नहीं रहती, तब यह सुखानुभूति पूर्ण रहती है; परंतु जखमोंके वेदनाकालमें भी अनेक समयों-पर सुखकी अनुभूति रहती है और यह सुख वेदनाबोधहीके द्वारा पुष्ट होता है। पराजयमें भी इसमें इस सुखका, गौरवका ज्ञान रहता है; और ऐसे प्रसंगपर वह बलाढ्य शत्रुसे भी सामना करने को हिचकिचाता नहीं। यदि वह क्षुद्र प्रकृतिवाला होगा, तो पराजयके कारण उसमें जो द्वेष और बदला लेनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, उसमें भी वह एक प्रकार निष्ठुर आनंदका उपभोग लेगा। इसी प्रकारसे जगत्‌के सामान्य खेलोंमें आत्मा आनंदका ग्रहण करता है।

व्यथा अथवा यातनाओंके भयसे मनुष्य विपत्ति अथवा उत्पातोंसे दूर होनेकी इच्छा करता है। आत्मरक्षणकी नीति (जुगुप्सा) कार्यकारी करनेके लिये यही प्रकृतिका कौशल्य है। व्यथा अथवा यातनाके विषयमें यह जो मन में तिरस्कार रहता है, उसीके कारण मनुष्य रक्तमांसके इस भग्नप्रवण देहको विनाकारण ध्वंसप्रवृत्त नहीं करता और इसीलिये वह आत्म-हत्यासे बचा रहता है। जीवनके बारेमें उपकारी स्पर्शसमूहसे मनुष्य सुख पाता है और यह राजसी सुखका लोभ बतलाकर ही प्रकृति मनुष्यको जडतासे

तामसिकतासे खींचकर कर्मप्रवृत्त करती है और मनुष्यके जय-पराजय, द्वंद्व, वासना, कामना के द्वारा स्वतः का हेतु सिद्ध करती है। हमारा अंतरात्मा इस द्वंद्वमें भी सुख पाता है; किंबहुना वह विपत्तिमें वेदनामें भी एक प्रकार सुखका अनुभव लेता है। भूतकालीन स्मृतिमें यह सुख बहुत कुछ पूर्ण रह सकता है। परंतु वर्तमानकालीन विपत्ति-यातनाओं में भी वह सुखबोध रहता है और अनेक समयोंपर वह विलक्षण रीतिसे प्रकट होकर विपद्ग्रस्त मनुष्यकी वेदनामें धैर्य उत्पन्न करता है। परंतु जगत्के इस सुखदुःखमिश्रित खेलको हम जीवन कहते हैं। उन्हीं सबके द्वारा वस्तुतः आत्मा आकृष्ट होता है। वास्तविक देखा जाय, तो जीवनकी सब वासनाएं, राग, द्वेष, आशा, आकांक्षा, जीवन का सर्वविध वैचित्र्य ही आत्माको आकर्षित करता है। हमारे राजसिक वासनामय आत्माको एकही प्रकारका सुख अच्छा नहीं लगता; युद्धके विना जिसमें विजय है, जिस सुखमें विच्छेद नहीं, दुःखकी छाया नहीं; ऐसे सब सुखोंमें राजस आत्मा बहुत दिनोंतक संतुष्ट नहीं रहता; उनसे शीघ्र ही वह ऊब जाता है। पीछे अंधकारकी छाया न हो, तो प्रकाशका पूर्ण रीतिसे आस्वाद लेना इस प्रकारके आत्माको संभवनीय नहीं; क्योंकि इस आत्माको जिस सुखोपभोगकी इच्छा रहती है, वह सुखभोग विपरीत दुःखभोग ही पर अवलंबित रहता है। विपरीत दुःखका आस्वाद लिये विना उसको सुख का आस्वाद नहीं मिलता। ऐसे आत्माके सुखोपभोगका स्वरूप ही ऐसा सापेक्ष है। हमारा मन जिस जीवनलीलामें सुख पाता है, उसका गूढ रहस्य ही ऐसा है, कि हमारा आत्मा द्वंद्वके खेलमें एक प्रकार आनंदका अनुभव लेता है।

मनको यदि कहा जाय, कि इन सब द्वंद्वोंको छोडकर शुद्ध आनंदमय आत्माके अमिश्र सुखमें प्रविष्ट होना चाहिये, उसके सब द्वंद्वोंमें यह आत्मा ही उसको शक्ति देता है, उसका अस्तित्व स्थिर रखता है; तो यकायक उस पुकारसे मन निवृत्त होगा। वह इस प्रकारके शुद्ध आत्माके अस्तित्व पर विश्वास ही न रखेगा; और यदाकदाचित् विश्वास रखे, तो उस प्रकारकी उच्च अवस्थामें जीवन नहीं है; संसारके वैचित्र्यमय खेलमें जो मजा है, वह मजा इस अवस्थामें नहीं है, ऐसा वह समझेगा; अथवा उसको यह अनुभव आवेगा, कि इस उच्च अवस्थामें प्रविष्ट होनेके लिये जिन कठिण प्रयत्नोंकी आवश्यकता है, वे प्रयत्न अपने काबूके बाहर हैं; और फिर ऐसे प्रयत्नोंसे वह परावृत्त होगा। वस्तुतः वासनामय आत्मा आशा के जो स्वप्न देखता है, उन्हें सफल करनेकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक उन्नतिका साधन कुछ कठिन नहीं है, अथवा इस प्रकारका आत्मा अपनी वासनाओं की तृप्तिके लिये चंचल वस्तुके पीछे उन्मत्त होकर लग जाता है; और जो विलक्षण प्रयत्न और श्रम करता है, उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उसे वस्तुतः कोई विशेष परिश्रम अथवा कष्ट नहीं करने पडते। उसकी अनिच्छाका कारण यही है, कि वह जिस अवस्था में है, उसको छोडकर जिस एक उच्च और शुद्धतर अवस्थामें जाना है, उस अवस्थाके आनंद का स्वरूप उसके ध्यानमें नहीं आता; किंबहुना, इस आनंदस्थितिकी सत्यतापर उसका अधिक विश्वास नहीं रहता। क्षुद्र दर्जेका अशुद्ध प्रकृतिका जो आनंद है, उसीसे वह परिचित रहता है और वही उसके ध्यानमें अच्छी तरह आता है। यह बात नहीं है, कि यह निम्न स्थितिका आनंद एकदम सदोष अथवा अप्रासङ्ग हो; हमारी प्राकृत सत्ता (Material Being) तामस अज्ञान अथवा जडताके सर्वस्वी आधीन है। इस अवस्थासे ऊंची रहनेवाली हमारी मानवी प्रकृतिका विकास करना चाहिए। इसके लिये द्वंद्वमय राजस जीवनमेंसे, वासनामय जीवनमेंसे जाना पडता है। मनुष्यको जिस प्रकार स्तरस्तरसे क्रमशः मार्गक्रमण करके ज्ञान शक्ति और आनंद प्राप्त करना है, उसी ऊर्ध्वगमनके मार्गमें यह राजस स्तर है। इसी स्तर को गीता में 'मध्यमा गतिः' कहा है। परंतु यदि हम चिरकाल

इसी स्तरमें पडे रहेंगे, तो हमारा ऊर्ध्वगमन, आत्माका पूर्ण विकास अपूर्ण ही रहेगा। सात्विक सत्ता अथवा स्वभावके द्वारा त्रिगुणातीत स्थिति में जाना हो आत्माके पूर्ण विकासका मार्ग है।

क्षुद्र प्रकृतिके द्वंद्वमय खेलके परे जाना हो, तो हमें समताकी बाजूसे ही जाना होगा। मनकी समता, चित्तकी समता, आत्माकी समता-इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। तथापि हमें यह जरूर ध्यानमें रखना चाहिये, कि यद्यपि हमें आखिरतक क्षुद्र प्रकृतिके तीन गुणोंके परे जाना चाहिये, तब भी पहिले पहिले इन तीन गुणोंमेंसे एक ना एकका आश्रय करही के हमें आगे जाना पड़ेगा। समताका आरंभ सात्विक, राजस अथवा तामस भी हो सकता है; क्योंकि मानवी चरित्र में तामसिक समता भी है। सुखदुःखके आघातों से चैतन्यहीन होना, प्रकृतिगत जडताके कारण जीवनके आनंदोपभोगसंबंधी निरिच्छा, शुद्ध तामस समताका लक्षण है। वासनोपभोगके संचित क्लांतिसे भी समता आ सकती है। अथवा संसारयुद्धमें निराश अथवा पराभूत होकर संसारदुःखके विषयमें वैराग्य उत्पन्न होता है, सांसारिक व्यापारके बारेमें भीति और भ्रांति भी उत्पन्न होती है। इस प्रकारकी वृत्ति संमिश्र, रजोतामस है। तामस प्रकृतिमें सात्विक वृत्तिकी ओर झुकाव रह सकता है। विचार करनेसे बुद्धिको मालूम होता है, कि जीवनके वासनाओंकी तृप्ति कभी न होगी, संसारपर मात करनेकी आत्मामें कोई ताकत नहीं है; यह सब जीवन ही दुःखमय और अनित्य है। यहां कोई सत्य नहीं है, प्रकाश नहीं अथवा सौख्य नहीं है। इस प्रकारकी वृत्तिको सत्वतामस समता कह सकते हैं। परंतु वस्तुतः यह सच्ची समता नहीं, एक प्रकारकी उदासीनता है। तथापि इस वृत्तिसे सच्ची समता आ सकती है। तामस समता प्रकृतिकी आत्मरक्षक नीतिसे उत्पन्न हुई है। सामान्यतः इसी नीतिके वश होकर लोग विशेष दुःखदायक व्यापारसे स्वभावतः परावृत्त होना चाहते हैं; परंतु इसी प्रवृत्तिके वश होकर लोग जब सारे प्राकृतिक जीवन ही को दुःखमय समझते और उससे निवृत्त होना चाहते हैं; आत्माको जिस आनंदकी अपेक्षा है, वह आनंद इस संसारमें, दुनियामें नहीं है, उसके एवजमें दुःखशोकका ही साम्राज्य है-इस प्रकारकी मनोवृत्तिसे जो समता उत्पन्न होती है, वही तामस समता है।

यह बात जरूर है, कि सच्ची मुक्ति तामस समतामें नहीं है; परंतु अक्षर आत्माकी महत्तर सत्ता, सत्यतर शक्ति और उच्चतर आनंदकी उपलब्धि करके इस तामस समताको यदि सात्विक समतामें परिणत कर सकें, तो प्रारंभ की दृष्टिसे इस प्रकारकी समताका सामर्थ्य बहुत है। भारतका वैराग्यधर्म (Indian ascetism) इसी मार्ग का अवलंबन करता है; किंतु इस वृत्तिका स्वाभाविक झुकाव संन्यासकी ओर, संसार अथवा कर्मके त्यागकी ओर है। संसारमें रहकर भी वासनाका त्याग करके निष्काम कर्म करनेका जो गीताने उपदेश किया है, उस तरफ इसका झुकाव नहीं है; तथापि तामस समताको भी गीताने स्थान दिया है। सांसरिक दोष, जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि- दुःख इत्यादिका समालोचन करके ऊर्ध्वगामी होनेकी अनुमति गीतामें है।

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' (१३-८)

इस मार्गकी बुद्धिकी साधना इतिहासप्रसिद्ध है। जरामरणसे मुक्त होनेके हेतु जो लोग आत्मसंयमनका अभ्यास करना चाहते हैं, उनके भी मार्गका गीताने त्याग नहीं किया-'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये' (७-२९) तथापि इस मार्गसे कोई सच्चा फल प्राप्त करना हो, तो इसीके साथ किसी एक उच्चतर अवस्थाकी सात्विक उपलब्धि चाहिए और भगवान्का आश्रय लेना चाहिये (माम् आश्रित्य) तब इस वैराग्य के द्वारा आत्मा एक उच्चतर स्थितिमें प्रविष्ट होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ (१४।२०)

त्रिगुणोंका अतिक्रमण करके और जन्म-मृत्यु-जरादुःखोंसे मुक्त होकर आत्मा स्वतः की अमृत सत्ताका उपभोग लेता है। संसारके दुःख-कष्टों को पसंद करनेमें उत्पन्न होनेवाली अनिच्छा मनुष्यको अधोगामी अथवा दुर्बल ही करती है। यच्चयावत् जनोंको संन्यासका अथवा संसार-वैराग्यका शिक्षण देना विपज्जनक है; क्योंकि इस प्रकारके शिक्षणसे निरुपयोगी आत्मामें तामसिक दौर्बल्य अथवा तामस-वैराग्यका उदय होता है, बुद्धिभेद उत्पन्न होता है (बुद्धिभेदं न जनयेत्)। उच्चतर अवस्थाका अनुभव लेनेका सामर्थ्य आत्मामें न आया हो, तो इस प्रकारका शिक्षण देनेसे यह परिणाम होगा, कि परिस्थितिको अपने अधिकारमें लानेके लिये, आत्माके कल्याणके लिये जिन राजस प्रयत्नोंकी आवश्यकता है,वे शिथिल हो जायंगे जीवितसंबंधी प्रीति,धृति और उत्साह नष्ट करके आत्माका अनिष्ट किया जायगा। परंतु जो आत्मा उपयुक्त हुए हैं, उन्हें यह तामस वैराग्य जरूर उपकारक हो सकता है;क्योंकि सात्विक उच्च जीवनप्राप्तिकी मारक ऐसी जो राजस वासना उनमें रहती है, वह इस तामसवैराग्यके द्वारा नष्ट हो जाती है। इस प्रकारके वैराग्यसे वे अपने जीवन में जो शून्यता उत्पन्न करते हैं, उस शून्यावस्था में वे भगवान्की पुकार सुनते हैं।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

'इस दुःखमय संसारमें कौन रहता है? मुझमें आओ और आनंदका उपभोग लूटो!'

यह समता और कुछ नहीं, केवल इस जगत्की यच्चयावत् सब वस्तुओंके विषयमें वैराग्य है। इस प्रकार जगत्से, संसारसे निवृत्त होकर उदासीन रह सकते हैं; परंतु इस वैराग्यमें वह सामर्थ्य नहीं है, कि जिससे इस दुनियाके समग्र सुखदुःखोंका स्पर्श एक ही सी अनावृत्तिसे और निर्विकारसे ग्रहण कर सकें। गीतोक्त साधनका यह आवश्यक अंग है, कि इस प्रकार अनासक्त और निर्विकार चित्तसे दुनियांके सब सुखदुःखोंका ग्रहण करना। इसलिये हमें तामस वैराग्यहीसे प्रारंभ करना हो, तो वह केवल हमें उच्चतर साधनामें पहिले पहिले प्रवृत्त करनेके लिये किया जाय, न कि सदासर्वकाल विषादमग्न रहनेके लिये। सिवाय इसके यह ध्यानमें रखना जरूर है, कि उच्च साधनाका प्रारंभ करनेमें हमको तामस वैराग्यका अवलंबन करना अनिवार्य नहीं है। प्रथमतः हम सब वस्तुओंसे छुट्टी पानेकी इच्छा करते हैं; जब इन सब वस्तुओंको जीतकर उनपर प्रभुत्व स्थापन करनेका प्रयत्न करेंगे तबही सच्चे साधनका प्रारंभ होगा। यही जगह है, कि जहां एक प्रकार राजस समताका संभव है। चित्त-विक्षोभको अथवा दुर्बलताको दूर करनेमें, आत्म-संयम करनेमें शक्तिशाली लोग जो गर्वभरित होते हैं, वह इस राजस समताकी कनिष्ठतम अवस्था है। इस मनोवृत्तिसे प्रारंभ करके और इसीको मूलसूत्र लेकर अधःप्रकृतिके सर्वांगीण दास्यमेंसे स्वतःको पूर्णतया मुक्त करनेकी जो साधना है, वही स्तोइक आदर्श (Stoic Ideal) है। जिस तरह तामस वैराग्य प्रकृतिकी आत्म-रक्षणनीतिका परिणाम है, उसी तरह ऊर्ध्वमुखी राजस साधना भी प्रकृतियुद्ध, प्रभुत्व अथवा विजयकी ओर मनुष्यकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, उसका परिणाम है। परंतु जिस क्षेत्रमें संपूर्ण विजय होनेका संशय है, उसी क्षेत्रमें यह युद्ध शुरू करना पडता है। साधारण प्रयत्नके द्वारा हम एक या दो विषयोंमें यथाकाल जयका लाभ कर सकते हैं; परंतु जबतक हम अपनी अंतःप्रकृतिको न जीत सकें, तब तक हमारा कोई भी विजय निश्चित और पूर्ण नहीं रहता। इसीलिये साधक नानाविध बाह्य हेतु सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करता, किंतु आध्यात्मिक साधना अर्थात् आंतर्जयके द्वारा वह एकदम प्रकृतिको और जगत्को जीतनेकी इच्छा करता है। तामस वैराग्य संसारके सुखदुःखोंसे दूर भागनेकी इच्छा करता है; राजस साधना उसके सामने खडी होकर उसको सहन करनेके लिये अथवा विजयी होनेके

लिये उत्क्रांत करनेकी इच्छा करती है। जिस तरह वृद्ध धृतराष्ट्रने आलिंगनके पाशमें बिधाकर लोहरूपी भीमसेनका चकनाचूर कर दिया; उसी तरह स्तोइक साधना पहलवानके सदृश वासनाको अथवा रिपुगणोंको आलिंगनकी कैंचीमें पकडकर उन्हें नेस्तनाबूद कर देती है। सुखदुःखकी जो जो वस्तु शरीर-मनके चांचल्य को कारणीभूत होती है, उन सबके आघातोंको स्तोइक साधक एकहीसा बरदाश्त करता है। जब आत्मा किसी बातसे क्लिष्ट अथवा आकृष्ट नहीं होता, किसी प्रकार उत्तेजित अथवा व्यथित नहीं होता; सब तरहके बाह्य स्पर्शोंको सहन करता है, तभी यह साधना संपूर्ण होती है।

अर्जुनके क्षात्र स्वभावका ध्यान रखकर ही इस वीरोचित साधनाकी बात प्रथमतः गीताने कही है, दुष्ट वासनारूपी शत्रुपर हमला करके उसका वध करनेके लिये प्रवृत्त किया है। गीताने यह जो समताका प्राथमिक वर्णन किया है, वही स्तोइक आदर्शकी समता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २-५६
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२-५७

'दुःखमें जिसका मन विचलित नहीं होता और सुखके संबंधमें स्पृहाशून्य रहता है; आसक्ति, भीति और क्रोध जिससे दूर हट गये हैं, ऐसे ही मुनिको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। जो सकल विषयोंके संबंधमें स्नेहशून्य है, शुभ अशुभ वस्तुकी प्राप्ति होनेसे जो न प्रसन्न होता और न द्वेष ही करता, उसकी बुद्धि ज्ञानप्रतिष्ठ हुई, ऐसा कहना चाहिये।' एक स्थूल दृष्टान्त देकर गीता कहती है, कि यद्यपि कोई मनुष्य आहारसे निवृत्त हो, तो आहार्य वस्तुसे इंद्रियस्पर्श नहीं होता, तथापि वस्तुमें रहनेवाली इंद्रियकी लालसा (रस) जरूर रहती है। जब वस्तुके सान्निध्यमें आनेपर भी बाह्य भोगके लिये इंद्रिय व्याकुल नहीं होता, आस्वादसुखकी इच्छा छोड देता है, केवल तभी आत्माको उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। तब इस अवस्थामें शोकदुःखके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥२-६४
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते॥ २-६५

जिस प्रकार नदीका पानी समुद्रमें प्रवेश करता है, तब भी समुद्र क्षुब्ध नहीं होता, उसी प्रकार वासनासमूह आत्मामें प्रविष्ट होगा, तथापि उससे आत्मा क्षुब्ध न होगा। इसी रीतिसे अंतमें सब वासनाएं वर्ज्य की जा सकती हैं। क्रोध, प्रेम, द्वेष, भीति इत्यादिसे मुक्त होना मुक्तावस्थाके लिये अत्यंत आवश्यक है। गीताने इसपर बार बार जोर दिया है, विशेष जोर दिया है; इसीलिये इन सबके आवेगको सहन करना हमें सीखना चाहिये। परंतु इनके कारणोंके हम सामने भी न खडे हों और विषयसे डरके भागते रहें, तो यह कभी संभाव्य न होगा।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥५-२३

'इस संसारमें, इसी देहमें जो मनुष्य काम-क्रोधके वेगको सहन करता है, वही योगी और वही सुखी है।' इसका उपाय है, 'तितिक्षा' सहन करनेका संकल्प अथवा शक्ति।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २-१४
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २-१५

बाह्य वस्तुओंसे इंद्रियोंका संस्पर्श ही शीतोष्णके सुखदुःखका कारण है। इन सब स्पर्शोंको आने दो, वे अनित्य हैं, उन्हें बरदाश्त करना सीखो! क्योंकि जो व्यक्ति इन सब बाह्य वस्तुओंके संसर्गसे व्यथित नहीं होती, जो धीर अथवा ज्ञानी व्यक्ति सुखदुःखमें समान है, वही अमृतत्वके

लाभकी अधिकारी है। " जिसका आत्मा समता-संपन्न (Equal Souled) है, वह दुःखको सहन करता है, परंतु द्वेष नहीं करता; वह सुखका ग्रहण करता है, परंतु उल्हसित नहीं होता। केवल इतना ही नहीं, किंतु सहिष्णुतासे शारीरिक यातनाओंको भी जीतना चाहिये और यही स्तोइक (Stoic) साधनाका अंग है। जन्म, मृत्यु, दुःख, यातनाओंको डरके भागनेसे काम न चलेगा; उनका अंगीकार करना चाहिये और उनको तुच्छ समझकर उन्हें जीतना चाहिये। प्रकृतिके क्षुद्र खेलसे डरके जो भागता नहीं, किंतु उसपर विजय प्राप्त करता है, वही तेजस्वी पुरुषसिंह (पुरुषर्षभ) का सच्चा स्वभाव है। इस प्रकार विवश होनेके कारण प्रकृति अपनी मायाका आवरण दूर करती है और पुरुष मुक्त आत्मा है-ऐसा उसका सच्चा स्वरूप उसे बतलाती है। तब वह समझ सकता है, कि मैं प्रकृतिका दास नहीं, प्रकृतिका अधीश्वर, सम्राट् हूं।

परंतु जिस शर्तपर गीताने तामस वैराग्यका स्वीकार किया है, उसी शर्तपर इस स्तोइक साधनाका, इस वीरोचित आदर्शका स्वीकार किया है। इस पर ज्ञानकी सात्विक दृष्टि जरूर चाहिये, इसके मूलमें ज्ञान अवश्य चाहिये; आत्मस्वरूपलाभ का हेतु और इसकी गति दिव्य-जीवनप्राप्तिके मार्गमें उत्क्रान्त होती रहे। जो स्तोइक साधना केवल मानवी अंतःकरणकी कोमल वृत्तिको नष्ट कर देती है, वह तामस क्लांतिकी अपेक्षा, निष्फल विषादकी अपेक्षा और वंध्या जडता की अपेक्षा कम अनिष्टकारक जरूर है; परंतु वह शुद्ध कल्याणकारी नहीं है। क्यों कि उससे आध्यात्मिक मुक्ति नहीं होती; केवल हृदय-हीनता और निष्ठुर उदासीनता उत्पन्न होती है। स्तोइक समतासे आत्मा की अक्षरावस्था का संबंध होता है, मुक्तात्माका स्वरूप समझनेमें सहाय्य होता है और आत्मज्ञान में स्थितिलाभ करने के लिये मदद मिलती है; इसीलिये गीतोक्त साधनमें स्तोइक समताका समर्थन किया है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ३-४३

'बुद्धिके सहाय्यसे, बुद्धिके भी परे रहनेवाले परमात्माके संबंध में सचेतन होकर, आत्मा को आत्मशक्तिके प्रयोग ही से धीर अथवा निश्चल करो और दुर्निवार आत्मशत्रु का नाश करो।' सात्विकता के द्वारा आत्मज्ञान का लाभ ही जब उद्दिष्ट रहता है, तभी उनके सहायक के नाते से तामस वैराग्य की अथवा राजस जय की सार्थकता है; अन्यथा उसका समर्थन नहीं हो सकता।

यह बात नहीं है, कि दार्शनिक, मनीषी, ज्ञानी व्यक्ति केवल अंत में सत्त्वगुण का अवलंबन करती हो, शुरू से ही वह अपने सात्विक प्रकृति के सहाय्य से आत्मजय की साधना करती है। सात्विक समता से ही उसकी साधना का प्रारंभ होता है। बाह्य जगत् अनित्य है; उससे वासनाकी तृप्ति नहीं होती अथवा सच्चे आनंद का लाभ नहीं होता। यह जानते हुए भी ऐसे साधक के चित्त में शोक, भीति अथवा निराशा उत्पन्न नहीं होती। वह शांत विचारदृष्टि से देखता है और द्वेष के अथवा मोह के वश न होकर स्वतः का अभीष्ट निर्णीत करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ ५-२२

'वस्तुके संसर्ग से जो सब भोगसुख उत्पन्न होता है, वह परिणाममें दुःखका कारणीभूत है, उसको आदि और अंत है; इसलिये जो ज्ञानी है, जिसकी बुद्धि जागृत हुई है, वह इस भोगसे आनंदित नहीं होता।' 'उसका आत्मा बाह्य वस्तु के स्पर्श में आसक्त नहीं होता; वह अपने ही में अपने आनंद का सुख पाता है।'

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्॥ ५-२१

वह समझता है, कि अपन ही अपने शत्रु हैं और अपन ही अपने मित्र हैं (आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः); इसलिये वह स्वतःके प्रभुत्वको

भूलकर वह कामक्रोधादिके चुंगलमें नहीं फँसता (नात्मानमवसादयेत्) किंतु आत्मशक्तिकी मददसे कामक्रोधादिके पाशोंसे अपना स्वतःका उद्धार कर लेता है (उद्धरेदात्मनात्मनम्)। क्योंकि जिसने स्वतः में अविद्याका खेल, क्षुद्र और अशुद्ध आत्माका खेल जीत लिया है, वही देख सकता है कि अपने शुद्ध आत्मा के समान अपना परम बंधु अथवा सहाय्यक दूसरा कोई नहीं (बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥ ६-६) वही ज्ञान से परितृप्त, जितेंद्रिय और सात्विक समता से योगी होता है (क्यों कि समता ही योग है-समत्वं योग उच्यते ॥ २-४८) वह सुवर्ण और मिट्टी, शीत और उष्ण, सुख और दुःख, मान और अपमान के संबंध में समवृत्तिवाला रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ६-८

शत्रु, मित्र तथा उदासीन, इन सबसे वह समता ही से व्यवहार करता है; क्यों कि ये सब संबंध अनित्य हैं, और वह यह भी देखता है, कि इन सब संबंधों की उत्पत्ति जीवन की चिरपरिवर्तनशील अवस्था ही से है। इतनाही नहीं, किंतु ज्ञान के, शुद्धता के और धर्म के नामपर मनुष्य जो छोटे बडे, उच्चनीच विचार करता है, उन विचारोंमें भी ज्ञानी पुरुष भ्रांत नहीं होता। साधु असाधु पुण्यवान्, विद्वान्, उत्कृष्ट ब्राह्मण और पतित चांडाल इत्यादि सबके विषयमें उसकी एक ही प्रकार की समबुद्धि रहती है। सात्विक समताका वर्णन गीताने इस तरह किया है। ज्ञानी व्यक्ति की जिस शांत समतासे दुनियां परिचित है, उसका सुंदर सार गीता के इस सात्विक समता के वर्णन में भरा है।

तब इस समतामें और गीताने बतलाई हुई बृहत्तर समता में फरक कहां है? विचार वितर्क के द्वारा प्राप्त होनेवाले बुद्धिग्राह्य ज्ञान में और आध्यात्मिक वेदान्तिक ज्ञानमें जो फरक है, वही इस उभयविध समता में है। इसी उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान में, इसी वेदान्तिक ऐक्यज्ञान में गीता के उपदेश की, गीता के शिक्षण की बुनियाद है। दार्शनिक पंडित साधारण मनबुद्धि के द्वारा विचार वितर्क करके अंतःकरण में समभाव रख सकते हैं; परंतु समता का केवल इस प्रकारका आधार मजबूत नहीं है। क्योंकि यद्यपि तत्त्वज्ञ पुरुष सदैव जागृत दृष्टि रखकर अथवा स्वतःके मानसिक अभ्याससे स्वतःको काबूमें रख सकता है; तथापि वस्तुतः वह स्वतः की अधःप्रकृति से मुक्त नहीं है। नाना प्रकारों से और अनेक बाजू से वह अधःप्रकृति ऐसे मनुष्यपर अपना अधिकार जमाती है और मौका मिलते ही अपना दमन करनेवाले इस मनुष्यका बुरी तरहसे बदला लेती है। क्यों कि अधःप्रकृति का खेल हमेशा सत्व-रज-तमका त्रिविध खेल है और सात्विक मनुष्योंको निगलनेके लिये रज और तमकी हमेशा कोशिश हुवा करती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥२.६०

'सिद्धिलाभके लिये यत्न करनेवाले ज्ञानी व्यक्तिके मनको भी प्रबल क्षोभकारक इंद्रिय ग्रसित कर डालते हैं।' पूर्ण रीतिसे संकटहीन होना चाहो, तो सत्त्वगुणके परे, बुद्धिके परे (बुद्धेः परं) विराजमान ऐसे आत्मपुरुषका आश्रय लेनेके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है।-यह आत्मपुरुष दार्शनिकोंका मनोमय पुरुष नहीं, किंतु दिव्य ऋषियोंका विज्ञानमय पुरुष है। यह त्रिगुणोंके अतीत है। आध्यात्मिक प्रकृतिमें दिव्य जन्मका लाभ करके समस्त साधनोंका उद्यापन करना चाहिये।

दार्शनिक ज्ञानकी जो समता है, वह स्तोइक साधककी समताके अथवा संसारत्यागी संन्यासी की समताके सदृश मनुष्यसे दूर रहनेवाली निर्जन समता है। परंतु जिसने दिव्य जन्म प्राप्त कर लिया है, उसको न केवल स्वतःमें किंतु सबहीमें भगवान्को देखना चाहिये। वह स्वतःसे सबका ऐक्य अनुभव करता है, इसलिये उसकी समता,

सहानुभूति अथवा ऐक्य परिपूर्ण रहता है। वह सबको अभेदबुद्धिसे देखता है और वह सर्वस्वी अकेलेकी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता; वह स्वतः सुखदुःखसे विचलित न हो, परंतु अन्योंके सुखदुःखोंका बोझा अपने सिरपर लेता है। गीताने अनेकवार कहा है, कि सिद्ध ऋषिगण हमेशा उदार समतासे सकल जनोंके हितसाधनमें निमग्न रहते हैं; और इस प्रकारके हितसाधनोंमें ही वे आनंदी रहते हैं (सर्वभूतहिते रताः)। परम सिद्ध योगी केवल उच्च आध्यात्मिक भूमिमें वास करते हुए आत्मध्यानमें निमग्न नहीं रहते, किंतु "युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्" जगत्के कल्याणार्थ जगद्रूपसे नटनेवाले भगवान्के लिये सर्वकर्मकारी, सर्वतोमुखी कर्मी होते हैं; क्योंकि वे जैसे एक ऋषि, योगी होते हैं, वैसे एक भक्त, भगवत्प्रेमी और भगवत्सेवक भी होते हैं। वे भगवान्को सभी जगह देखते हैं; भगवान्को जहां देखते, वहां प्रेम करते हैं और जिसपर प्रेम करते हैं उसकी सेवा करनेको भी तैयार रहते हैं। उनका कर्म उन्हें मीलनसौख्यसे भी वंचित नहीं करता; क्योंकि उनके सब कर्म उनके हृदयस्थ भगवान् ही से उत्थित होते हैं और समस्त भूतोंमें विद्यमान ऐसे एकमेव भगवान्के उद्देश्यसे हुआ करते हैं। गीताकी समता इस तरह उच्च, उदार और अभेदमंडित है।

गीता-धर्म।

(१) हमारा धर्म।

हमारा धर्म सनातन है। वह त्रिविध, त्रिमार्गगामी एवं त्रिकर्मरत है। अंतरात्मा, मानसिक जगत् और दृश्यमान ब्रह्माण्डगोलके त्रिभुवनमें विराजमान भगवान्से समरस होनेका प्रयत्न ही सनातन धर्मका त्रिविधत्व ज्ञान, भक्ति और कर्म इन स्वतंत्र या संमिश्र मार्गोंसे समरसता या युक्तावस्था मनुष्यको साध्य है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्की भेंट करना ही सनातन धर्मका त्रिमार्गगामित्व है। मनुष्यकी प्रधान मनोवृत्तियोंमें सत्य, प्रेम और शक्ति ये तीन ही वृत्तियां ऊर्ध्वगामिनी और ईश्वरप्राप्तिकी सामर्थ्य देनेवाली हैं। इन तीन वृत्तियोंके विकासपर ही मानव-जातिकी उत्क्रांति सिद्ध हुई है। ऐसी उत्क्रांतिपोषक त्रिविध वृत्तियोंकी सहायतासे ज्ञान, भक्ति और कर्मके मार्गमें अगुआपन प्राप्त करना सनातन धर्मका त्रिकर्म है।

सब प्रकारका धर्मकर्म स्वभावसृष्ट है। इस सनातन धर्मकी प्रचंड और शीतल छायामें अनेक छोटे बडे धर्म अपने अपने कार्य करते हैं। सनातन धर्म संसारके सनातन स्वभावकी नींव पर स्थित है। और अन्य नानाविध धर्मोंकी उत्पत्ति जनताके स्वभाववैचित्र्यका फल है। धर्म कई प्रकारके हैं- यथा व्यक्तिगत धर्म, जातिधर्म, युगधर्म आदि। तथापि उन्हें अनित्य कहकर उनकी अवहेलना करनेसे काम न चलेगा। इन अनित्य और परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा ही सनातन धर्मका विकास और वृद्धि होती है। यदि व्यक्तिधर्म, जातिधर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म आदिका त्याग करें तो सनातन धर्मकी अवनति होती है और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है। तथा

सनातन परंपराका उच्छेद होकर अपक्रांतिकी अग्नि पाप और अत्याचारसे वसुंधराको जब दग्ध करने लगती है तब वह दारुण परिस्थिति निर्माण होती है जिसे भगवद्गीताने 'संकर' कहा है। इसी पापके एवं अत्याचारके अतिरेकसे मनुष्यके नैसर्गिक हकोंको भी पैरतले कुचलनेवाली उद्दाम तथा धर्मद्रोही आसुरी शक्ति बलवान् होती है। वही स्वार्थ, क्रौर्य और अहंकारके त्रिदोषसे दशदिशा व्याप्त कर देती है। वही दांभिकतासे ईश्वर की सत्ता चलाने लगती है। तभी भाराक्रांत पृथ्वीका दुःख दूर करनेके लिए ईश्वरीय अवतार या विभूति मानवदेहमें प्रगट होकर धर्ममार्ग निष्कंटक करती है।

सनातन धर्मका यथार्थ पालन करनेके लिए अत्यन्त इष्ट एवं आवश्यक है कि व्यक्तिधर्म, जातिधर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्मका आचरण किया जाय। इन नानाविध धर्मोंका द्विविध रूप है- एक क्षुद्र और दूसरा महान्। महान् धर्मसे क्षुद्र धर्मका मीलन और संशोधन करके ही अनुष्ठान करना श्रेयस्कर है। जातिधर्मके आश्रयसे यदि व्यक्तिधर्मका आचरण न हुआ तो जातिका उच्छेद होगा। ज्ञातिधर्म नष्ट होनेसे व्यक्तिधर्मका क्षेत्र नष्ट हो जाता है। जिस धर्मसंकरके प्रभावसे ज्ञाति और संकरकर्ता दोनों को निरय गति प्राप्त होती है, वह धर्मसंकर यही है। इसलिए व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नतिके लिए पहले जातिकी रक्षा आवश्यक है। इसी प्रकार यदि वर्णाश्रित धर्म युगधर्मके सांचेमें न डाला जावे, तो विशाल युगधर्मका प्रचण्ड झञ्झावात वर्णाश्रित धर्मका और उसके साथ ही समाजका भी चकनाचूर कर देगा। क्षुद्रको सदैव महत्‌के अंशभूत या सहायभूत रहना चाहिए। इस संबंधका उल्लंघन होते ही धर्मसंकरोत्पन्न संकटकी परंपरा उत्पन्न होती है। इसलिये यदि क्षुद्र धर्म और महान् धर्ममें विरोध उत्पन्न हो तो क्षुद्र धर्मका परित्याग करके महान् धर्मका ही अनुष्ठान करना इष्ट एवं मंगलप्रद है।

हमारा उद्देश्य है कि सनातन धर्मका प्रचार करें और सनातन धर्मके आश्रयसे रहनेवाले जातिधर्म और युगधर्मका अनुष्ठान करें। हम भारतवासी आर्यजातिके वंशज हैं अर्थात् आर्यशिक्षा और आर्यनीति हमारा जन्मसिद्ध हक है। इस लिए यह आर्यभाव ही हमारा कुलधर्म और ज्ञातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्यशिक्षाका मूल है। उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय आर्यचरित्रका लक्षण है। आर्यजातिके जीवनका उद्देश्य है मानवजातिको ज्ञानदान करना, अखिल जगत्‌में उन्नत एवं उदारचरित्रका निष्कलंक आदर्श बनना, दुर्बलोंकी रक्षा करना तथा प्रबल अत्याचारियोंको दण्ड देना। यह उद्देश्य साध्य करनेमें ही आर्यधर्मकी श्रेष्ठता एवं सार्थकता है। आज हम धर्मसंकरके कारण उत्पन्न हुए तामस मोहसे पछाडे गये हैं और धर्मच्युत हो गये हैं तथा इसीलिए आर्यशिक्षा और आर्यनीतिके पराङ्मुख हो गये हैं। आर्यजातिके होनेपर भी शूद्रधर्मरूप परदासताका अंगीकार करनेके कारण आज हम दुनियाके बाजारमें तिरस्करणीय, दुःखी, जर्जर एवं बलवानोंके अंकित होकर पडे हैं। ऐसी लांच्छनास्पद तथा अपमानास्पद दशामेंसे यदि हम स्वाभिमानपूर्वक जीवित रहना चाहते हैं, अनंत नरकोंसे मुक्त होनेकी आकांक्षा यदि हममें अंशतः भी जागृत है, तो जातिकी रक्षा करना ही हमारा प्रथम कर्तव्य है। जातिरक्षाका उपाय ही आर्यचरित्रका पुनरुद्धार है, जिससे देशमाताकी भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानवप्रेमी, भ्रातृभावप्रधान, साहसी, सामर्थ्ययुक्त और विनयी होगी। उस प्रकारकी शिक्षा सब जातिको और विशेषतः आजकलकी जवान पीढिको आर्यध्येयके अनुकूल उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोद्दीपक कर्मप्रणाली देना हमारा प्रथम उद्देश्य है। जबतक यह कार्य सिद्ध नहीं होता, तबतक सनातन धर्मप्रचार शुष्क, व्यर्थ एवं विफल सिद्ध होगा।

वर्तमान युग सामर्थ्य और प्रेमका युग है। युगधर्मकी सेवा जातिधर्मके अनुष्ठानसे सहज ही साध्य होती है। जब कलियुगका आरंभ हुआ तब ज्ञान और कर्म तथा सत्य और शक्ति क्रमसे भक्ति और प्रेमके आधीन होकर मानवजातिका विकास करनेमें प्रवृत्त हुए। बौद्धधर्मकी मित्रता और दया, ईसाई धर्मकी प्रेमशिक्षा, मुस्लिम धर्मकी समानता और भ्रातृभाव तथा पौराणिक धर्मकी भक्ति और प्रेमभाव इसी प्रवृत्तियां प्रयत्नका फल है। हमारा सनातन धर्म कलियुगमें मित्रता, कर्म, भक्ति, प्रेम, समानता और भ्रातृभावकी सहायतासे मानव-जातिका कल्याण साधता है। ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोगसे मंडित आर्यधर्ममें यह उर्ध्व वृत्तियोंका सामर्थ्यसमूह प्रविष्ट और विकसित होकर अपनी अपनी प्रवृत्तियोंका पूर्तिमार्ग खोजता है। उच्चाकांक्षा, कठिन तपस्या और महत्कर्म शक्तिस्फुरणका लक्षण है। जब अपनी आर्यजाति तपस्वी, उच्चाकांक्षी, एवं महत्कर्मसाधक होगी, तब निश्चयसे जानो कि धर्मविरोधी आसुरी शक्तिका संकोच, दैवी सामर्थ्यका पुनरुत्थान और जगत् की उन्नतिके दिन बिलकुल नजदीक हैं। इसी लिये आजकल इस प्रकारकी शिक्षाकी आवश्यकता है।

युगधर्म और जातिधर्म साध्य होनेसे जगन्मय सनातन धर्म अबाधित रीतिसे प्रचारित एवं आचरणीय होगा। इस विषयमें कोई संदेह नहीं। आर्यदेशमें उत्पन्न हुए ब्रह्मज्ञानी पुरुषके पास विद्यार्थी बन ज्ञान-धर्मकी शिक्षा लेनेके लिये संपूर्ण जगत् हाथजोड नम्रभावसे आवेगा और भारतवर्षको पवित्र तीर्थ समझ अवनत मस्तकसे उसका प्रभुत्व स्वीकार करेगा। हमारे प्राचीन शास्त्रविदोंकी यह भविष्यवाणी कभी भी अन्यथा न होगी। इसी दिनका उदय होनेके लिए आवश्यक है कि भारतवर्ष जागृत हो और आर्यगुणोंका पुनरुत्थान हो।

(२) गीता-धर्म।

जिन्होंने गीताका परिशीलन सावधानीसे किया है उन्हें विदित ही है कि भगवान्ने गीतामें 'योग' शब्दका उपयोग बारबार किया है और युक्तावस्थाका वर्णन किया है। गीता के 'योग' शब्दका अर्थ वैसा नहीं है जैसा कि साधारण लोग समझा करते हैं। भगवद्गीतामें यद्यपि भगवान्ने स्थान स्थानमें संन्यासकी महत्ता बतलाई है, यह कहा है कि अनिर्देश्य परब्रह्मोपासनासेही सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है, तब भी इन्हीं तत्त्वोंको अति संक्षेप रूपमें कहना हो तो यही कहेंगे कि त्यागकी महत्ता और आत्मसमर्पण ही गीताका श्रेष्ठ भाग है और भगवान्ने वही नाना उपायोंसे अर्जुनको समझाया है। यद्यपि छटवें अध्यायमें राजयोगका संक्षिप्त वर्णन है। तथापि गीता राजयोगप्रतिपादक ग्रंथ नहीं है, समता, अनासक्ति, कर्मफलत्याग, भगवान्के प्रति संपूर्ण आत्मसमर्पण, निष्कामकर्म, गुणातीतता और स्वधर्मसेवा ही गीताका मूलतत्त्व है। श्रीकृष्ण जिसे गुह्यज्ञान और परम रहस्य कहते हैं, वह तत्त्व ज्ञान यही है। जगत्के आगामी धर्मका सर्वजनसम्मत शास्त्र होनेलायक यदि कोई अद्वितीय ग्रंथ है तो वह भगवद्गीता है। हमारी श्रद्धा अवश्य ही ऐसी है। परंतु दुःख यही है कि गीताका वास्तविक अर्थ अबतक सब लोग वैसा नहीं समझे जैसा समझना चाहिये था। बडे बडे धुरंधर पण्डित और तीक्ष्ण बुद्धिके प्रतिभाशाली लेखक भी गीताका गूढार्थ समझनेमें असमर्थ हैं। एक ओर मोक्षपरायण टीकाकार गीता की सहायतासे अद्वैतवाद और संन्यासधर्मकी श्रेष्ठता स्थापित करते हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य तत्त्वविचारोंसे प्रभावित लोग गीताका यही रहस्य निकालते हैं कि वीरवृत्तिसे कर्तव्यपालन करना, तथा जवानोंके अन्तःकरण कर्तव्यप्रवृत्त करते हैं। वास्तव में संन्यास-धर्मही उत्कृष्ट धर्म है, इसमें संदेह नहीं। किंतु इस धर्मका पालन अति अल्प संख्याके लोग ही कर सकते हैं। सर्व-जन-सम्मत धर्म में इस प्रकारका आदर्श और तत्त्वविचार रहना आवश्यक है कि उसकी प्राप्ति अपने जीवनमें

और कर्मक्षेत्रमें सामान्य लाग भी कर सके तथा अल्पसंख्यावालोंको मिलनेवाला परम गतिका श्रेष्ठ फल उन्हें सुलभतासे मिल जाय।

वीरवृत्तिसे कर्म करना भी उत्तम धर्म है सही, तथापि इसमें भी कर्तव्यके गूढ और उलझनके प्रश्न मनको भ्रममें डाल देते हैं। भगवान् कहते हैं 'गहना कर्मणो गतिः' कर्तव्य कौनसा है? अकर्तव्य क्या है? कर्म-अकर्म-विकर्म किसे कहते हैं? इन प्रश्नोंका निर्णय करना ज्ञानी लोगोंके लिए भी कठिन होता है, तथापि मैं तुझे ऐसा ज्ञान देता हूं जिससे वह तुझे पगपगमें मार्गदर्शक होगा और उसके आचरणसे तुम्हारे कर्मजीवनका इष्ट ध्येय सिद्ध होगा। हमारी श्रद्धा है कि गीताके अंतिम अध्यायमें जहाँ भगवान्ने अपना गुह्यतम रहस्य अर्जुनके पास प्रगट किया है, उसी स्थानमें इस परम ज्ञानका दुर्लभ एवं अमूल्य वस्तुका पता लगेगा। यह राजगुह्यज्ञान गीताके दो मंत्र हैं यथा–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन श्लोकोंका अर्थ एक शब्दमें बतलाना हो तो वह 'आत्मसमर्पण' शब्दसे बिलकुल ठीक बतलाया जा सकता है। जो मनुष्य जितनी मात्रामें श्रीकृष्णको आत्मसमर्पण करेगा उतनी ही मात्रामें उसका शरीर दैवी सामर्थ्यसे भर जावेगा और मंगलमय भगवान्की कृपासे वह पापमुक्त होकर देवजीवनकी प्राप्ति कर सकेगा। प्रथम श्लोकमें इसी आत्मसमर्पणका वर्णन है। इस आत्मसमर्पण-योगको सिद्ध करनेके लिये 'तन्मना, तद्भक्त और तद्याजी' बनना पडता है। 'तन्मना' का अर्थ है सब प्राणियोंमें ईश्वरका दर्शन करना, सर्वकाल उसका स्मरण करना और सब घटनाओं में परमेश्वरके सामर्थ्यकी, ज्ञानकी और प्रेमकी क्रीडाको पहिचान परमानन्दमें विलीन होना। 'तद्भक्त' का अर्थ है ईश्वरपर निश्चल श्रद्धा और अखण्ड प्रेम रखकर उससे संयुक्त होना। और 'तद्याजी' से मतलब है छोटे बडे सभी कर्म श्रीकृष्णको यज्ञरूपसे अर्पण करना और स्वार्थ तथा कर्मफलकी आसक्ति छोडकर केवल ईश्वरके लिए कर्तव्यकर्म करनेके लिए प्रवृत्त होना। यह तो सत्य है कि मनुष्यके लिये पूर्णतया आत्मसमर्पण करना कठिन है। परंतु थोडा भी प्रयत्न करे, तब भी स्वयं भगवान् आत्मसमर्पणयोगके साधकोंके गुरु, रक्षक और सुहृद् बन उन लोगोंको योगमार्गमें प्रवीण बना देते हैं। क्योंकि योगमार्गमें अभयदान देनेवाले प्रभुका ही यह अमृतवचन है कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' इस धर्मका आचरण करना सहज एवं सुखप्रद है। इस आत्मसमर्पण-योगके सम्पूर्ण आचरणसे अनिर्वचनीय आनंद, शुद्धि और सामर्थ्य प्राप्त होता है। 'मामेवैष्यसि' अर्थात् 'मुझमें आ मिलेगा' इस एक बातमें सलोकता, समीपता एवं स्वरूपता इन त्रिविध फलों की प्राप्ति समाविष्ट है। जो गुणातीत है उसीको ईश्वरका सादृश्य-ईश्वरीय स्वरूपता-प्राप्त होती है। गुणातीत पुरुषको किसी भी प्रकारकी आसक्ति नहीं रहती। तथापि वह कर्म करता है, पापमुक्त होकर महाशक्तिका आधार होता है और उसी शक्तिके सूत्रधारित्वसे चले हुए सब कार्यमें आनंदित होता है। 'सलोकता' का अर्थ केवल देहपातके पश्चात् प्राप्त होनेवाली ब्रह्मलोकगति ही नहीं, वह इस शरीरमें भी प्राप्त होती है। देहयुक्त जीव जब अपने अन्तःकरणमें परमेश्वरसे क्रीडा करता है, ईश्वरदत्त ज्ञानसे मन जब पुलकित होता है, हृदय जब उसके प्रेमस्पर्शसे हर्षयुक्त होता है, बुद्धि जब बारबार ईश्वरकी अमर वाणी श्रवण करती है और अपने प्रत्येक विचारमें दैवी प्रेरणाकी अनुभूति होती है, वही मानवी शरीरमें भगवान्से सलोकता है। सलोकता और स्वरूपता के समान ही 'समीपता' भी इस शरीरमें सिद्ध होती है। जब इन्द्रियसमूह केवल ईश्वरका ही दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, आघ्राण और आस्वाद करता है, तथा जीव सदैव अंशरूपसे उसीमें

रहता है, तब इस स्थूल शरीरमें ही सायुज्य-मुक्ति की प्राप्ति होती है। 'सायुज्यमुक्ति' सबमें श्रेष्ठ और महत्त्वकी गति है। इस धर्मके अल्प-स्वल्प आचरणसे भी महान् सामर्थ्य, विमल आनंद और विशुद्ध सौख्यकी प्राप्ति होती है।

यह गीताधर्म विशिष्टगुणवाले थोडे अल्प-संख्य लोगोंके लिये नहीं, किन्तु जैसा कि भगवान् ने कहा है-इस धर्मके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री वेहीं नहीं महापातकी जीव भी ईश्वरप्राप्ति कर ले सकते हैं। ईश्वरकी शरण लेनेवाले भयंकर पातकी मनुष्यको थोडे ही दिनोंमें विशुद्ध करनेवाला यह धर्म सबके लिए आचरणीय है। जगन्नाथके मन्दिरमें जातिभेदको स्थान नहीं। अर्थात् इस धर्मसे प्राप्त होनेवाली परम गति किसी भी धर्मनिर्दिष्ट परम-अवस्थासे कम दर्जेकी नहीं है।

(३) माया।

हमारे प्राचीन तत्त्वविद् जब जगत्के मूलतत्त्व का अनुसंधान करने लगे, तब इस जगत्-प्रपंचके मूलमें एक अविनाशी और व्यापक वस्तुका उन्हें पता लगा। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको निश्चयात्मक मालूम होने लगा कि बाह्य जगत्में भी कोई सर्वव्यापी तत्त्व है और उन्होंने आकाशको ही जगत्का मूलतत्त्व निश्चित किया इस तत्त्वका पता हमारे तत्त्ववेत्ताओंने हजारों वर्षपूर्व लगाया था। परंतु इसीको अन्तिम सिद्धान्त समझकर वे चुप न रहे। योगबलसे सूक्ष्म जगत्में प्रवेश करनेपर उन्हें विदित हुआ कि इस स्थूल जगत्के पीछे एक सूक्ष्म जगत् है और इस जगत्का मूलभौतिक तत्त्व आकाश है। तथापि उन्हें यह भी विदित हुआ कि आकाश अन्तिम तत्त्व नहीं है। प्रकृति अर्थात् जगन्मयी क्रियाशक्ति अपने सर्वव्यापी स्पंदनसे यह सृष्टि उत्पन्न करती है, उससे करोडों अणु उत्पन्न होते हैं और इन अणुओंसे सूक्ष्म भूतोंकी निर्मिति होती है। पुरुष और प्रकृति जिसका स्वरूप और क्रिया है, वह अनिर्वचनीय परब्रह्म ही जगत्का मूल सत्य है। प्रकृति प्रपंच-निर्मितिका खेल खुदके लिये नहीं खेलती किंतु शक्तिदाताके संतोषके लिये खेलती है और इस खेलमें आत्मा साक्षी और अध्यक्षके नाते रहता है। यह बात अवश्य ही जाननी चाहिये। मुख्य मुख्य उपनिषदोंमें आर्य ऋषियोंके अनु-संधानसे जो तत्त्व प्रगट हुए उन्हींके आधार पर ब्रह्मवाद और प्रकृतिपुरुषवाद स्थित है। इसी मूलसत्यसे अनेक तत्त्वविचारोंकी प्रजा निर्माण हुई। ब्रह्मवादियोंने वेदान्तदर्शनका, प्रकृतिवादियोंने सांख्यदर्शनका और परमाणु-वादियोंने वैशेषिकादि दर्शनोंका प्रचार किया। इस प्रकार अनेक तत्त्वविचार प्रसृत हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने इन सब विचारोंका सुन्दर समन्वय गीतामें करके उपनिषद्के सत्यका व्यासदेवके मुखसे पुनरुद्धार कराया। इसके पश्चात् व्यासरचित पुराणको आधार समझकर सर्वसाधारण लोगोंके हितके लिये पुराणकर्ताओं ने कथा और रूपकके स्वरूपमें उपनिषद्के ज्ञानका सुलभ निरूपण किया। परंतु इतनेसे विद्वानोंकी शांति नहीं हुई। उन्होंने अपने अपने मत तर्कशास्त्रके प्रखर प्रकाशमें जोरशोरसे प्रचलित करना आरंभ किया। षड्दर्शनोंका आधुनिक स्वरूप इसी विचारसंग्रामका फल है। अन्तमें शंकराचार्यने देशभरमें वेदान्त-प्रचारका स्थायी प्रबंध करके बहुजनसमाजपर वेदान्तकी प्रभुता जमा दी। न्याय, वैशेषिक, पातंजल, सांख्य, मीमांसा ये पांच दर्शन अल्पसंख्य विद्वानों के गुट्टमें ही रही आये; किंतु उनका प्रभाव विचार-जगत्से प्रायः नष्ट ही हो गया। इसके आगे सर्व-संमत वेदान्तदर्शनमें भी मतभेद उत्पन्न हुए और उसकी तीन मुख्य शाखाएँ तथा अनेक उपशाखाएँ हुई। हिंदुधर्ममें अबतक भी ज्ञानप्रधान अद्वैतवाद, भक्तिप्रधान विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवादका विरोध प्रतीत होता है। भक्तकी भावप्रवणताको तथा उद्दाम

प्रेम को पागलपन समझ ज्ञानमार्गी भक्त का उपहास करते हैं और ज्ञानमार्गवालों की तत्त्व-ज्ञान-लालसा केवल शुष्क तर्क की तुच्छ कटकट समझ भक्तिमार्गी उसका तिरस्कार करते हैं। वास्तव में ये दोनों मत भ्रमपूर्ण एवं संकीर्ण हैं। भक्तिपूर्ण तत्त्वज्ञानसे अहंकार की वृद्धि होकर जिस प्रकार मुक्तिमार्ग बंद होता है, उसी प्रकार ज्ञानशून्य भक्तिसे अन्धविश्वास और तामसिकता उत्पन्न होती है। उपनिषद् के बतलाये हुए सच्चे धर्ममार्गमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों की एकता और परस्परपोषकता उत्तम रीति से रखी गई है।

सर्वव्यापी और सर्वजनसंमत आर्यधर्म का प्रचार करना हो तो वह सत्य-आर्यज्ञानपर स्थित होना आवश्यक है। दर्शनशास्त्र एक-पक्षसमर्थक अर्थात् असम्पूर्ण है। सम्पूर्ण जगत् को ऐसे संकुचित मत से यदि अपन मर्यादित करें तो सत्यकी एक बाजूका तो विस्तार होगा परंतु दुसरी बाजू का अपलाप होगा। इस प्रकार के अपलाप का स्पष्ट उदाहरण अद्वैतवादियों का मायावाद है। मायावादियों का मूल मंत्र है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस प्रकार का मन्त्र देश की विचारप्रणाली का मुख्य सिद्धान्त निश्चित हो जाय, तो ज्ञानलिप्सा, वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति बढती है। रजःशक्ति का लोप होकर सत्त्व-तम की प्रबलता आरंभ होती है। इस परिस्थिति का स्वाभाविक परिणाम यही दिखाई देता है कि एक ओर ज्ञानी संन्यासी, संसारपराङ्मुख प्रेमी भक्त और शांतताप्रिय वैरागियों की संख्या-वृद्धि और दूसरी ओर तमोगुण में डूबे हुए अकर्मण्य लोगों की दुर्दशा। मायावाद के प्रचार से भारतवर्ष में यही हुआ है। जगत् झूटा सिद्ध हो जानेपर ज्ञानप्राप्ति के विना अन्य सब प्रयत्न निरर्थक एवं अनिष्ट मालूम हों तो आश्चर्य ही क्या? मनुष्य के जीवन में ज्ञानतृष्णा के सिवा अनेक उपयोगी और उत्कृष्ट वृत्तियाँ जागरूक हैं। इन सब की उपेक्षा करके कोई भी देश जीवित रहना असंभव है। इस तत्त्व को नजर के सामने रखकर अनर्थ को टालने के लिये लिये शंकराचार्य ने ज्ञान के दो प्रकार किये-एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक। तथा अधिकारभेद के अनु-सार ज्ञानकर्म का प्रबन्ध किया। तथापि आचार्य ने जो तत्कालीन कर्म-मार्ग का तीव्र निषेध किया उसका परिणाम विपरीत हुआ है। शंकरा-चार्य के अलौकिक सामर्थ्य से तत्कालीन कर्ममार्ग लुप्त हुआ, वैदिक क्रियाकलाप नष्ट हुआ; किंतु जगत् झूट है, कर्म मुक्ति को घातक है, अदृष्ट सुखदुःख का कारण है, इत्यादि तमःप्रवर्तक विचार सामान्य लोगों के मन में ऐसे दृढ जम गये कि रजःशक्ति का अभ्युत्थान होना असंभव हो गया। इसके पश्चात् लोगों को कर्मप्रवृत्त किया पुराण और तन्त्रग्रन्थोंने। पुराणों ने आर्यधर्म के नानाविध अंगों की रक्षा की और तन्त्रोंने भुक्ति-मुक्ति के द्विविध फल दिखाकर लोगों को कर्म-प्रवृत्त किया। अबतक जिन्होंने देशरक्षा के लिये युद्ध किया वे प्रतापसिंह, शिवाजी, प्रतापादित्य, चांदराय आदि प्रायः शक्त्युपासक अर्थात् तांत्रिक योगियों के शिष्य थे। तमःप्रसूत अनर्थ का निषेध करने के लिये गीता में श्रीकृष्णने कर्मसंन्यास के विरुद्ध उपदेश किया।

मायावाद सत्व की नींवपर स्थित है। ईश्वर परम मायावी है और उसकी मायाके द्वारा ही दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार का वर्णन जैसे उपनिषद् में है वैसे ही गीता में भी भगवान् ने भी कहा है कि त्रिगुणमयी मायाने ही सब जग व्याप दिया है। यदि एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ही सनातन और सत्य है, तो भेद की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे होती है, यह एक प्रश्न ही है। उपनिषदों ने उत्तर दिया है कि ब्रह्म ही जब सत्य है तब भेदों की और अनेकता की उत्पत्ति भी ब्रह्म में से ही होती है। इसी शक्ति को कहीं मायावादियों की माया, पुरुषाधिष्ठित प्रकृति और कहीं विद्या-अविद्यामयी इच्छाशक्ति कहा है। किन्तु इस उत्तरसे तार्किकोंका संतोष नहीं हो सकता।

अन्त में यह विचार सामने आया कि अभेद से भेद की उत्पत्ति नहीं हो सकती, भेद केवल भ्रम है। आत्मा ही सत्य एवं सनातन है और स्वप्न के समान वह भासमान होता है। परंतु यह प्रश्न तो गूढ ही रहा कि माया कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई? शंकराचार्य कहते हैं यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि माया क्या है; तथापि वह अनिर्वचनीय और सनातन है। किन्तु आचार्य के इस उत्तरसे ब्रह्मकी एकता सुरक्षित नहीं रह सकती।

आचार्यकी युक्तिकी अपेक्षा उपनिषदोंकी युक्ति अच्छी है। भगवान्की प्रकृति ही जगत्का मूल है, यही शक्ति-सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्दमयी शक्ति- आत्माकी दृष्टिसे भगवान्, परमात्मा है और जगत्की दृष्टिसे वही परमेश्वर है। परमेश्वरकी इच्छा शक्तिमयी है। और इसी इच्छासे एकके अनेक और अभेद में भेद उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ब्रह्ममें प्रपंचयुक्त देशकाल अवस्थित है, तथापि ब्रह्म देशकाल से बद्ध नहीं है। जिस प्रकार मनुष्यमें सत्य की उपलब्धिके सिवा कल्पनासे अदृश्य वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति है उसी प्रकार ब्रह्ममें भी विद्या, अविद्या, सत्य, अनृत आदि है। तथापि यह अनृत देशकाल की सृष्टि है। मनुष्यकी कल्पना देशकालके अनुसार जैसे सत्यका आकार धारण करती है, उसी प्रकार जिसे अपन अनृत कहते हैं वह सर्वथा मिथ्या नहीं किंतु सत्यकी एक अननुभूत दिशा है। वास्तवमें सभी सत्य है। देशकालातीत अवस्थामें जगत् अवश्य ही मिथ्या है; किन्तु चूं कि हम लोग देशकालातीत नहीं है अतः इस जगत्को मिथ्या कहनेका अधिकार हमें नहीं हैं। देशकालातीत बनकर ब्रह्ममें विलीन होनेकी शक्ति और समय जब उत्पन्न होगा, तभी हम जगत्को मिथ्या कहेंगे। अनधिकार से जगत् को मिथ्या कहनेका परिणाम मिथ्याचार और अधर्म होता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहनेकी अपेक्षा 'ब्रह्म सत्य और जगत् ब्रह्म' कहना ही हमारे लिये अधिक उचित है। यही विचार उपनिषदोंके ओजस्वी शब्दोंमें प्रगट करना हो तो यही कहना होगा कि आर्यधर्मकी संस्थापना 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ही सनातन सत्यपर हुई है।

(५) अहंकार।

हमारी भाषामें अहंकार शब्दका अर्थ इतना विकृत हुआ है कि उसके कारण आर्यधर्मके मुख्य मुख्य सिद्धान्त समझनेमें भारी अडचन होती है। सामान्यतः अहंकारका अर्थ घमंड समझा जाता है। परंतु राजस अहंकारका एक विशेष परिणाम घमंड है। वास्तवमें अहंज्ञान ही अहंकार है। मनुष्यकी विज्ञानमय आत्मामें अहंबुद्धिका उदय होता है और प्रकृतिके त्रिविध गुणोंके कारण सात्विक, राजस और तामस ऐसी तीन प्रकार की अहंकारवृत्तियाँ निर्माण होती हैं। सात्विक अहंकार ज्ञानप्रधान और सुखप्रधान है। साधकका, भक्तका, ज्ञानीका, निष्कामकर्म करनेवालेका अहं सत्वप्रधान है। मैं बलवान्, मैं सिद्ध, मैं सुखी, मैं दुःखी ये सब मनोभाव रजःप्रधान, कर्मप्रधान तथा प्रवृत्तिजनक हैं। तामस अहंकार अज्ञता तथा निष्क्रियता का आगर ही है। मैं अधम, मैं असमर्थ, मैं हीन जैसे दुर्बल विचार तमःप्रवृत्तिके निदर्शक हैं। तामस अहंकारसे युक्त लोगोंमें घमंड न हो तो भी अहंकार भरा रहता है। अर्थात् यह अहंकार अधोगामी एवं विनाशक रहता है। जैसे घमंडका अहंकार रहता है वैसेही विनयका भी अहंकार रहता है और बलके समान ही दुर्बलका भी अहंकार रहता है। तामस नम्रता, क्षमा और सहिष्णुताकी तनिक भी कीमत नहीं है। उससे जरा भी लाभ नहीं। सर्व भूतोंमें भगवान्का दर्शन लेकर जो सबके साथ नम्र एवं सहनशील बना, उसका बर्ताव अवश्य ही पुण्यप्रद है। अहंकारवृत्तिका नाश कर जिसने मायाका अतिक्रमण किया उसे घमण्डभी नहीं और नम्रता भी नहीं। भगवान्की जगन्मयी शक्ति उसके मन-

प्राणरूप आधारमें जिन भावोंको भर देगी उन्हींमें वह संतुष्ट होता है। तामस अहंकार सर्वथा निंद्य है। सात्त्विक ज्ञानकी सहायतासे तामस अहंकार नष्ट कर राजस ज्ञान जागृत करना उन्नतिकी पहली सीढी है। राजस अहंकारसे मुक्त होनेका उपाय है ज्ञान और भक्तिका विकास! पूर्णतया अहंकारजयी व्यक्ति वही है जो गुणातीत है। वह जानता है कि जीव साक्षी और भोक्ता है, परमेश्वर अनुमन्ता है और प्रकृति कर्त्री है। उस ज्ञानमें 'अहं'का अभाव रहता है। गुणातीत मनुष्य जानता है कि एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मकी विद्या अविद्यामयी शक्तिकी यह सब लीला है, गुणातीत रहते भी जीव और पुरुषोत्तमका स्वतंत्र अस्तित्व रख कर तथा स्वयं अपनेको प्रकृतिविशिष्ट भगवत् अंश समझकर वह लीलाकार्य पूरा करता है। इस मनोभावको अहंकार नहीं कह सकते। यह भाव परमेश्वरमेंभी रहता है। उसमें अज्ञान अथवा लिप्तता नहीं, जगन्मुखी आनन्दमय अवस्था रहती हैं। इस प्रकारका मनोभावसम्पन्न पुरुषही जीवनमुक्त है। लयरूप मुक्ति देहपातके पश्चात् प्राप्त होती है। और जीवन्मुक्त स्थिति इस देहमें अनुभव की जा सकती है।

(६) निवृत्ति।

हमारे तत्त्ववेत्ताओं ने धर्म की संकीर्ण परिभाषा को कभी भी मंजूर नहीं किया। हिन्दुओं के संपूर्ण ज्ञान की तथा शिक्षा की जड में यही गंभीर एवं उदात्त तत्त्व था कि संपूर्ण जीवन ही धर्मक्षेत्र है। पाश्चिमात्य शिक्षाके संसर्गदोष से हमारे ज्ञान की तथा शिक्षा की स्थिति अत्यंत विकृत और अस्वाभाविक हो गई है। हम लोग इस प्रकार भ्रमपूर्ण समझ बैठे हैं कि संन्यास, भक्ति और सात्विक भाव के सिवा धर्म का दूसरा कोई अंग ही नहीं है। जीवित के सब कार्यों के धर्म और अधर्म नाम के दो भाग हिंदु करते हैं, और पाश्चिमात्य उनके तीन भाग करते हैं। यथा, धर्म अधर्म तथा धर्मातीत। ईश्वर की प्रार्थना, संकीर्तन, मंदिर का उपदेश, श्रवण आदि कर्मों को धर्म (अथवा 'रिलिजन') नाम है। (मोरॅलिटी या) सत्कार्य धर्म का अंग नहीं है वह स्वतंत्र है। किंतु बहुतेरे विचारी लोग कबूल करने लगे हैं कि 'धर्म और सत्कर्म' धर्म का गौण अंग है। मन्दिरमें न जाना, नास्तिक मतका पुरस्कार करना और 'धर्म' की निन्दा करना या उसके सम्बन्धमें उदासीन रहना अधर्म है। तथापि पाश्चिमात्य लोग मानते हैं कि बहुतेरे कर्म और वृत्तियाँ धर्माधर्मातीत हैं और धर्म तथा जीवित बिलकुल स्वतंत्र है। धर्म शब्दका इस प्रकार विकृत अर्थ हमारे देशके भी बहुतसे लोग करने लगे हैं। साधु, संत, ईश्वर, देवदेवी और संसारत्याग जैसे विषय भर धर्म हैं और इसके सिवा दूसरे विषय प्रापंचिक अर्थात् धर्मबाह्य हैं। हमारे धार्मिक विचारोंमें इस प्रकारके विदेशी भाव भर जाने के कारण हमारी उदार, सनातन आर्यशिक्षासे हम भ्रष्ट हो गए हैं। केवल भक्तिभाव और आध्यात्मिक ज्ञानालोचनही धर्म नहीं है; किंतु जीवनके धर्मक्षेत्रमें संसारभी धर्मही है। हमारे संपूर्ण साहित्यमें इसी सनातन शिक्षाके विचार फैले हैं (एषो धर्मः सनातनः)।

बहुतेरोंकी समझ है कि यद्यपि कर्म धर्मका अंग है, तथापि सभी कर्म धर्म्य नहीं हैं। सात्त्विक और निवृत्तिके लिये अनुकूल कर्मही धर्मरूप है किंतु यह समझ बिलकुल भ्रमपूर्ण है। जैसे सात्त्विक कर्म धर्म्य हैं वैसेही राजस कर्मभी धर्म्य हैं। प्राणियों पर दया करना जैसे धर्म्य है वैसेही धर्मयुद्धमें शत्रुको मार डालनाभी धर्म्य ही है। परोपकारके लिए अपने सुखका तथा तनमनधनका बलिदान करना जैसे धर्म्य है वैसे ही धर्मका साधन जो शरीर उसकाभी उत्तम प्रकारसे पोषण करनाभी धर्म्य है। राजकाज धर्म, काव्यरचना धर्म, चित्रलेखन धर्म और गीतगायनभी धर्म ही है। कर्म छोटा हो या बडा यदि उसमें स्वार्थ नहीं है तो वह धर्म

ही है। भगवान्‌के पास छोटे-बडेका भेद नहीं है। भगवान्‌का ध्यान इस बात की ओर होता है कि मनुष्य अपना स्वभावोचित कर्म किस भावना से करता है। प्रत्येक कर्म भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण करना, प्रत्येक कर्म यज्ञ समझकर करना ही उच्च धर्म और यही श्रेष्ठ कर्म है। निरिच्छ बन कर और आसक्ति छोडकर सब कर्म करनाही श्रेष्ठ धर्म और सच्ची निवृत्ति है। निवृत्तिका स्थान बुद्धि और प्रवृत्तिका क्षेत्र प्राण तथा इन्द्रियाँ हैं।

भगवद्गीताका पहला उपनिषद्।

जैसे जैसे भगवद्गीताका, उससे समकालीन तथा उसके पूर्वके ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं वैसे वैसे प्रतीत होता है कि अन्यान्य ग्रंथोंमें जहाँ जहाँ 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' मिला उसको गीता-लेखन ने गीतामें शामिल किया। इस प्रकार शामिल करते समय गीतापूर्व साहित्यसे गीतामें कौन कौन साहित्यसे कौन कौन साहित्य लिया और उसे लेते समय कितना कैसा बदल किया या सारांश रूपसे लिया इसे देखना आनन्ददायक है। साथ ही इस प्रकारकी जाँच अध्ययन में ऐतिहासिक सूक्ष्मता लानेवाली है। जब इस प्रकारके अवलोकनका आरम्भ करते हैं तब सर्वप्रथम ध्यानमें आनेवाला उपनिषद 'कठ' मालूम होता है।

गीताका वर्णन करते समय कहा गया है 'सर्वोपनिषदो गावः'। ये उपनिषद् एक सौ आठ हैं। उस संख्याकी पूर्ति क्या अल्लोपनिषद् जैसे किसी आधुनिक उपनिषद्‌को मिलाकर करनी है? और इस प्रकार अल्लोपनिषद्‌को मिलाकर संख्या पूर्ण की जाय तो क्या यह कहा जाय कि गीता कुरानके आधारपर लिखी गई? यदि यह नहीं कहना है तो देखना आवश्यक हो जाता है कि गीता में किन किन उपनिषदों का किस मात्रामें उपयोग किया गया है।

भारतीय युद्धके आरंभमें जब कि भगवान् श्रीकृष्ण सारथी बने थे उस समय कौरवों से लडनेको तत्पर हुआ अर्जुन बोला –

> दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
> सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परि शुष्यति।
> वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
> गांडीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
> न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
> निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
> न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजन माहवे॥३१॥

अर्जुनके इस कथन का सारांश यह कि 'मैं इन दोनों दलों के गोत्रजों का तथा सैनिकोंका वधकर्ता हूँ। उनको मारकर ही यदि राज्य प्राप्ति होना हो तो वह, राज्य मुझे नहीं चाहिए। अर्जुनके कथनके 'हत्वा' शब्दमें दुहरा अर्थ है। एक तो यह कि वह स्वयं मारक है और दूसरा यह कि शेष सब मरनेवाले हैं। भगवान् भी तो कारण ही ढूंढ रहे थे। वह कारण ढूंढते ढूंढते उन्हें 'हत्वा' शब्दमें मिला। सम्पूर्ण गीताका आरंभ यदि कहीं हुआ है, तो वह

'हत्वा' शब्दमें है। यह बात सूक्ष्मबुद्धि वाचककी नजर में आया ही होगा।

इस 'हत्वा' शब्दसे जो भ्रम है उसे अर्जुनके मनसे दूर करनेके लिये भगवान्ने गीता बतला आरम्भ किया और उसमें भी यह समझाना चाहा कि आत्मा अमर है. उसे कोई भी अपाय नहीं कर सकता।

वह आत्मा-

> न जायते म्रियते वा कदाचित्।
> नायं भूत्वा भविता वा न भूयः॥
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गी० २।२०)

यही नहीं किन्तु-

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः॥
> (गी० २।२३)

इस प्रकार आत्माका अविनाशित्व बतलाया। ऐसी दशामें 'मैं उन्हें मारनेवाला हूँ' कहकर शोक करना तुझे सुहाता नहीं। तू कौन है? देह या आत्मा? यदि तेरा कहना है कि 'मैं देह हूँ,' तब देह तो नाशवान् है। विनाश और उत्पत्ति एक दूसरेमें गुथी होनेके कारण-

> जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥
> (गी०२।२७)

जगत्में विनाशी देहपर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता और आत्मा तो अमर है। तू जो कहता है कि 'मैं गोत्रजोंका वध करता हूँ' सो असत्य है। इस प्रकार कहनेको भगवान् विवश हुए।

आत्मा अमर है कहकर भगवान्ने गीताका आरम्भ किया। 'क्लैब्यं मा स्म गमः' भी भगवान्ने कह दिया। और पहला महत्त्वका सिद्धान्त स्थापित करते समय भगवान्को कहना पडा कि देह नाशवन्त है। गीताका आरम्भ आत्माके अमरत्वसे हुआ और हत्वा शब्दने गीता-रूप अमर वृक्षको खाद्यपानी दिया। ऐसा करते समय पहलेके उपनिषद्के नाते 'कठ' उपनिषद् का उपयोग किया गया है।

कठोपनिषद् का सारांश।

वाजश्रवस् नामके एक मनुष्यका पुत्र था नचिकेत। नचिकेतने अपने पितासे पूछा, "पिताजी! आपने सम्पूर्ण सम्पत्ति बाँट दी और अब आप स्वर्गकाम हैं। तब आप मुझे किसके पास भेजेंगे?' वाजश्रवसने उत्तर दिया, 'मृत्युके पास।' नचिकेतने सोचा कि 'मेरा स्वीकार करके मृत्यु क्या करेगा?' और यह सोचकर वह यमराजके घर गया। नचिकेत वहां तीन दिन रहा। यमराजको मालूम हुआ कि नचिकेतकी पूछताछ किसीने न की। तब उन्होंने नचिकेतसे इसलिये विनय की कि जिससे वह इस पूछताछके अभावसे अप्रसन्न न हो जावे। साथ ही यमराजने तीन वर देना भी कबूल किया। तब नचिकेतने वर मांगे। पहला वर था 'मेरे पिता गौतम मेरा स्वीकार करें।' दूसरा वर था 'जरामरणरहित सच्चिदानंदमय स्वर्ग कैसे प्राप्त होता है सो बतलाइये।' यह स्वर्गमार्ग बतला देनेपर यमराजने कहा, 'तीसरा वर मांगो।' तब नचिकेतने पूछा-

मृत्युके पश्चात् मनुष्यका क्या होता है?

यमराजने कहा, 'प्रश्न बहुत गहन है। तुम और कुछ मांगो। राज्य मांगो। दीर्घ आयु मांगो। विनाशमय जगत्की ऐसी कोई भी चीज मांगो जो श्रमके लिये असाध्य हो। उसे मैं दूंगा। 'मृत्यु क्या है?' इसे छोड अन्य जो कुछ तुम चाहो मांग लो।'

तब नचिकेत बोला, 'अन्य सब बातें रहने दीजिये। आप मेरे सन्मुख रहते मैं और कुछ मांगूं? यह कदापि नहीं हो सकता। मुझे दूसरी कोई भी चीज नहीं चाहिये। मुझे केवल यही बतलाइये कि मृत्युके पश्चात् मनुष्यका क्या होता है।"

कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायमें इतनी बात है और आगेके पांच अध्यायोंमें केवल मृत्युके विषय में चर्चा है। आगेके अध्यायोंके कुछ श्लोक थोडा फरक करके गीतामें लिये गये हैं। वे नीचे दिये गये हैं-

(१)

न जायते म्रियते वा विपश्चित्।
नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(कठ० अ० २।१८)

न जायते म्रियते वा कदाचित्।
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गी० अ० २।२०)

(२)

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
(कठ० २।१९)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
(गी० २।१९)

(३)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः।
एषोऽश्वत्थः सनातनः॥ (कठ० ६।१)

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्॥
(गी० १५।१)

(४)

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा।
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः॥
(कठ० ६।१७)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः॥
(गी० १५।१६)

जब ऊपरके श्लोक देखते हैं तब मालूम होता है कि गीताके लिये जिस उपनिषद्का सर्वप्रथम उपयोग किया गया वह कठोपनिषद् ही है। इसे सिद्ध करनेके लिये बहुत परिश्रम की आवश्यकता नहीं। गीताका आरम्भ ही आत्माके अमरत्व से हुआ है और वही भाग कठोपनिषद्में है। इसलिये कोई भी सहज ही में कहेगा कि गीतामें जितने उपनिषदोंका उपयोग किया गया है उनमें पहला कठोपनिषद् ही है।

न बुद्धिभेदं जनयेत्।

न बुद्धिभेदं जनयेत् ...। यह श्लोक गीताके तीसरे अध्यायमें आया है और उसका क्रमांक २६ वां है। तीसरे अध्यायको नाम दिया गया है 'कर्मयोग।' उस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनका प्रश्न है। इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने कर्मयोगकी श्रेष्ठताका वर्णन चौथे श्लोकसे आरम्भ किया है। इस वर्णनका अन्त स्वतःका उदाहरण दिखाकर २४ वें श्लोकमें किया है। आगेके दो श्लोकोंमें उन्होंने मानो उसकी फलश्रुति बतलाई है अर्थात् लोग इससे क्या बोध लें और अपने बर्ताव कैसा बनावें। उसमें भी २५ वें श्लोकमें यह बतलाया है कि क्या किया जाय और २६ वें श्लोकमें बतलाया है कि क्या न किया जाय।

इस विचारप्रणालीको समझनेके लिये आवश्यक है कि उसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलाई हुई उस समयके समाजकी ज्ञानस्थितिपर ध्यान

दिया जाय। इसीका अल्प दिग्दर्शन यहां करना है-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये॥ (२।३९)
लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा॥ (३।३)
संन्यासः कर्मयोगश्च॥ (५।२)
काम्यानां कर्मणां न्यासं॥ (१८।२)

ऐसे अनेक वचनोंसे विदित होता है कि श्रीकृष्णके समयमें दो निष्ठाएं प्रचलित थीं; एक ज्ञानयोग और दूसरा कर्मयोग। उन दोनोंमें ज्ञान-निष्ठा पुरानी थी, अतएव वृद्धोंको मंजूर थी। दूसरी कर्मनिष्ठा नयी, तेजस्वी और कर्तृत्वके लिये अवकाश देनेवाली थी, अतएव नवजवानोंको आकर्षक मालूम होती थी। ऊपर दिये हुए और तत्सम अनेक श्लोकोंसे विदित होता है कि श्रीकृष्णका संकेत था कि दूसरी निष्ठा की प्रथा बढाना, परन्तु पहली निष्ठाका आदर रखकर।

इस युक्तिवादपर ध्यान दे यदि 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' श्लोकका अर्थ किया जावे तो बिलकुल सरल, शब्दशः एवं संदर्भके अनुकूल आगे लिखे अनुसार होगा।-

बुद्धिभेदं न जनयेत्= जो दो बुद्धियां अर्थात् निष्ठाएं हैं उनमेंसे एककी ओर जिसका झुकाव है उसे उस पन्थ फोडकर अपने पक्षकी ओर न ले जाना चाहिए। इस प्रकारका प्रयत्न अच्छा नहीं है। किस पक्षके लोगोंको भिन्न पक्षमें न ले जाना चाहिए? उत्तर-अज्ञानां कर्म-संगिनाम् (बुद्धेः भेदं न जनयेत्।) जो अज्ञ हैं, ज्ञाननिष्ठा के अनुकूल नहीं हैं; किंतु जो कर्मसंगी हैं, कर्मनिष्ठा का संग जिन्होंने स्वीकृत किया है, उनकी बुद्धि का (निष्ठाका) भेद न करना चाहिए। यही नहीं किंतु सामान्य जनोंके सुखोत्पादनमें सहज रहनेवाली कर्ममार्गकी श्रेष्ठतापर ध्यान दे विद्+वान् लोग- ज्ञाननिष्ठ लोग-भी युक्त होकर (समत्वं योग उच्यते)-समत्व धारण कर, आप-पर-भाव प्रतिद्वंद्विता त्याग कर सामान्य जनोंके कल्याणका मार्ग प्राप्त करनेके लिए स्वतः (सम) सम्यक् उत्तम प्रकारसे (आ-चरन्) आचरण मार्ग-कर्मनिष्ठाका स्वीकार कर (जोषयेत्) उससे (साधारण जनोंको) आनंद प्राप्त करा दें।

ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों निष्ठाओं के बीच उस समय झगडा था इतना प्रतीत हो जावे तो श्लोकोंका अर्थ उपर लिखे अनुसार दिखाई देगा। यह भी दिखाई देगा कि उसके पहलेका श्लोकभी उस प्रकार का और इसी विचारका है। उसमेंभी कहा है कि (अ-विद्-वांसः) ज्ञान पक्ष में न रहनेवाले लोग (यथा कुर्वन्ति) जैसा कर्माचरण करते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी (कुर्यात्) कर्ममार्गका आचरण करें। ज्ञानवान् होनेसे वह असक्त रह सकेगा और सामान्य लोग जो 'कर्मणि सक्त' रहते हैं, जो कर्ममार्गमें कर्मके फलके लिये आसक्ति रखते हैं उनकी उन्नति करते बनेगी- लोकसंग्रह कर सकेंगे। भगवानने उसके पीछेके श्लोकमें बतलाया है कि इसीलिये मैं भी निष्ठा को प्रोत्साहन देता हूं। इस प्रकार 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' श्लोक का अर्थ है-

कर्मनिष्ठासे संलग्न जवान संसारी लोगोंको अपनी निष्ठा विश्वास दिलाकर इस पक्षसे इस पक्षमें खींचनेके बजाय ज्ञाननिष्ठासे मनको सम रख उन लोगोंके सम्मुख कर्मनिष्ठाका आदर्श ज्ञाननिष्ठापारंग रखे और ऐसा करें, जिससे उस मार्ग में ही उन्हें आनन्द प्राप्त हो।

---:०:---

अहिंसा-धर्म।

(लेखक— श्री० न० वि० फडके, यवत, जि० पूना)

स्वराज्यकी जैसी चतुःसूत्री है, उसी तरह भगवान् के अवतारकार्यकी चतुःसूत्री है— (१) धर्मप्रसार, (२) अधर्मका उच्चाटन, (३) साधुओंकी रक्षा, और (४) दुष्टोंका नाश ऐसा चतुर्विध कार्य है। पहिला और तीसरा कार्य विधायक स्वरूपका है, और दूसरा और चौथा क्रमशः उनका पोषक है। किंबहुना ऐसा भी कह सकते हैं कि पहिलेकी पूर्तता दूसरेके विना, और तीसरेकी पूर्तता चौथेके विना हो ही नहीं सकती। ये सब कार्य 'अवतार-कार्य' अर्थात् 'हरिकार्य' हैं। सर्व सूतोंमें ईश्वर है, तथापि ये सब कार्य- यह 'हरिकार्य' अच्छी तरहसे जो पूरा करता है वही ईश्वरका 'विशेष' अवतार माना जाता है। इसी कारणसे श्री शिवाजी महाराज अवतारी पुरुष समझे गये। धर्मवृद्धिके लिये अधर्मवृत्तिका उच्छेद और सज्जनोंकी रक्षाके लिये दुर्जनोंका संहार आवश्यक ही है।

इसमें दुष्टहत्या-कर्म-दोष क्या जीवको बंधनकारक है ?

शारीरिक तपमें 'अहिंसा' एक लक्षण है। जगत में यह एक श्रेष्ठ धर्म माना जाता है। अतः इस धर्मका प्रसार, हिंसावृत्तिका उच्चाटन, यह धर्म पालनेवालोंकी रक्षा तथा न पालनेवालोंका नाश—यह सब 'हरिकार्य' है। किसी भी धर्मका केवल व्यक्तिशः आचरण करनेसे धर्मप्रसार नहीं होता; उसका प्रचार करना आवश्यक है। इसी तरह इस धर्मका भी प्रचार करना चाहिए। इसके विरोधी जो दुष्ट, क्रूर, हिंसावादी लोग होंगे, उनकी मनःप्रवृत्ति प्रथमतः अपने आचरणसे तथा साम, दाम, भेद इत्यादि युक्तियोंसे बदलना चाहिये। परंतु यदि यह न हुवा तो दंड-प्रसंगोपात्त देहदंड- दुष्टनाश भी अमलमें लाना चाहिये, दुष्टोंको देहशासन करके अहिंसाधर्मकी वृद्धि करनी चाहिये-यही धर्म है। अहिंसाके हेतु हिंसा करना अधर्म नहीं होता। मनुस्मृतिमें आततायी, दुष्ट, क्रूर, जुलमी, लोगोंका वध करनेके बाबत स्पष्ट आज्ञा है-

> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
> नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

दुष्टोंका नाश एक 'हरिकार्य' है. ऐसा स्पष्ट उल्लेख भगवान्‌के अवतारकार्यमीमांसामें किया है। इस लिये अहिंसार्थ (धर्मप्रसारार्थ) किया हुवा दुष्ट-हिंसा-कर्मदोष बंधनकारक नहीं है। यह शास्त्रविरुद्ध नहीं, शास्त्रसंमत है।

भारतीय युद्धके समय अर्जुन के मनमें यह मोहमय विकल्प उत्पन्न हुवा कि- 'मैं स्वजनोंकी हत्या कैसे करूं?' श्रीकृष्ण को यदि 'दुष्टनाश' करनेका कर्तव्य न होता और यदि यह अधर्म होता, तो इस विकल्प के कारण वे अर्जुन की प्रशंसा करते, और यहीं कदाचित् युद्ध की समाप्ति हो जाती, परंतु श्रीकृष्णने देखा कि ऐसा करनेसें जिसके लिये अवतार धारण किया वह कार्य सिद्ध न होगा, और अर्जुन सच्चे क्षात्रधर्मसे च्युत हो रहा है। उन्होंने अर्जुन के विचारों का उपहास किया, उसके विकल्प का खंडन किया, सच्चे धर्म का उसको परिचय कराया, उसको कर्मयोगी वीर बनाया, उससे युद्ध कराया, दुष्टनाश का अपना अंतिम कार्य सिद्ध किया। यह भारतीय युद्ध और यह गीतोपदेश ही श्रीकृष्णके चरित्रका प्रमुख भाग है। गीतोपदेशके द्वारा श्रीकृष्णने यह स्पष्ट रीतिसे बतलाया है कि अहिंसा कैसे करनी चाहिए।

गीता-चर्चा।



मिरज में गीताचर्चामंडलकी स्थापना हुए एक वर्ष हो गया। प्रत्येक रविवारको दससे पंधरातक महाशय इकत्र होकर व्यवस्थित रीतिसे चर्चा करते हैं। इनमें सुशिक्षित, पदवीधर, शास्त्री तथा बहुश्रुत महाशय हैं। अनेक समयपर चर्चा बहुत अच्छी होती है। पहिले छः महिनोंमें १२वें और ९वें अध्यायपर सुसंगत चर्चा हुई। सांप्रतमें प्रारंभसे चर्चा हो रही है। शांकरभाष्य, गीतारहस्य, ज्ञानेश्वरी तथा अन्य सब प्रसिद्ध टीकाकारोंके ग्रंथों की सहायता ली जाती है। "गीता" मासिक में यह चर्चा त्रोटक रूपसे देनें का विचार है। प्रथमतः पहिले अध्याय की चर्चा देते है।

प्रश्न—गीता और महाभारत केवल रूपक है कि सत्य कथा है?

उत्तर- महाभारत ग्रन्थ, के तीन संस्करण हुए हैं। उसमें बहुतसे प्रक्षेप भी हैं। मूल जय नामक ग्रंथ, इसके आगे भारत, पश्चात् महाभारत, ऐसा क्रम है। भारतीय युद्धप्रसंग ऐतिहासिक है, काल्पनिक नहीं। युद्ध में दो पक्ष रहते हैं; इसपर देव-असुर, विकार-विचार ऐसी कोटि की जा सकती है। वेदभाष्यकारोंने इंद्रवृत्रासुरयुद्धको भी रूपककी पंक्तिमें डाल दिया है। भारतीय युद्धप्रसंग सत्यकथा है, परंतु कृष्णार्जुनसंवाद श्लोकबद्ध नहीं हुवा। वह रणभूमिपर आधे पौन घण्टेतक संवादात्मक हुवा है; और उसका श्लोकबद्ध रूपान्तर भगवान् व्यासने किया है। व्यासकी रचनाके कारण कृष्णार्जुनसंवादका महत्त्व बढ गया है; इस बातको भूलना न चाहिये!

प्रश्न- कौरव आततायी कैसे? और अर्जुनको जब पहिलेहीसे मालूम था कि वे आततायी हैं; तब ऐन युद्धके मौकेपरही वह क्यौं कहता है कि इनको मारनेसे मुझे पाप लगेगा?

उत्तर- केवल पांडवोंकी ही दृष्टिसे नहीं, किंतु धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे भी कौरव आततायी थे। उन्होंने आग लगाई, विष दिया, द्रव्य राज्य स्त्रीका हरण किया; इन कारणोंसे वे आततायी थे। ऐसे आततायी जब हमला करें तब उनका घात करना ही योग्य है! यही जवाब आगे श्रीकृष्णने दिया। कौरवोंका आततायी बर्ताव पहिलेसे मालूम होते हुए भी अर्जुनको युद्धके ऐन मौकेपर स्वजनहत्याके विषयमें करुणा प्राप्त हुई। अभीतक जितनी बातें हुई थीं वे सब उसके ध्यानमें थीं; परंतु प्रत्यक्ष रणभूमिपर आते ही, मृत्युकी भीषण कल्पनासे उसके हृदयमें मनुष्यसुलभ ऐसा करुणा आगई; और संपूर्ण पहिले अध्यायमें जो विचार अर्जुनके मुखसे प्रगट कराये गए हैं, उनका प्रत्यंतर तभी आता है जब कि उस स्थितिसे हमारा पूर्ण तादात्म्य हो। किसी बातपर पूर्ण विचार किया जाय, तब भी ऐसा नहीं है कि फिर दूसरा विचार न सूझे अथवा सूझनेपर उसका ख्याल न करें।

प्रश्न- कौरव और पांडव परस्पर वैरी थे; परंतु इसका क्या प्रमाण है कि दुर्योधनका राज्य प्रजाकी दृष्टिसे बुरा था? दुर्योधन पांडवोंका शत्रु था, परंतु क्या वही उत्तम राजा न था?

उत्तर- द्यूतप्रसंगके बाद राज्यापहार हुवा। उसके पहिले राजसूय यज्ञ होतेतक लोगोंको धर्मके राज्यका उत्तम अनुभव आ गया था; और इसका चित्र भारतके कश्चित् प्रश्नोंमें उतरा हुवा है। सभापर्वमें यह विषय देखनेसे मालूम होगा कि धर्मका राज्य अत्युत्तम था, और ऐसे राज्यकी आकांक्षा

सर्वसाधारण लोग और ऋषि करते थे। भारतमें इसके लिये प्रमाण हैं। तात्पर्य यह कि दुर्योधनके शासनसे धर्मका राज्य लोगोंको अधिक स्पृहणीय था और दुर्योधनके असत्पक्षकी लोग घृणा करते थे।

प्रश्न- कौरवोंका पांडवोंके विषयमें इतना द्वेष बढनेका कारण क्या पांडवोंका हीन कुल था? दुर्योधनने द्रौपदीको वृषली कहा है और अन्य प्रसंगोंपर भी तुच्छता प्रगट की है।

उत्तर- वंशशुद्धिकी दृष्टिसे कौरव और पांडव एकहीसे हैं, क्योंकि यह पूरा वंश मूलतः नियोगजन्य था। पंडु पांडुरोगी और तृतीय-प्रकृती था, इसलिये उसके स्त्रियोंने पृथक् पृथक् देवताओंसे नियोग किया। अपत्यके लिये नियोग करना उस समयमें शिष्टमान्य समझा जाता था। देव, ऋषि, पूज्य ब्राह्मण अथवा देवरके द्वारा प्रजोत्पत्ति कर लेनेकी अनुज्ञा वसिष्ठ-धर्मसूत्रमें है। नियोगकी ओर आजकी नीतिविषयक कल्पनाकी दृष्टिसे नहीं देखना। उस कालमें नियोग सर्वमान्य था। दुर्योधनका जन्म विचित्रवीर्यके नियोग-जन्य वंशहीमें हुआ था, इसलिये हीन कुलका प्रश्न नहीं आता। द्रौपदीको पणमें जीत लिया था, इसलिये दुर्योधनने उसको दासीके अर्थमें वृषली कहा होगा।

प्रश्न— पांडवोंका सत्पक्ष था। परंतु कौरवोंका असत्पक्ष होते हुए भीष्मादिकोंने उस पक्षका स्वीकार क्यों किया?

उत्तर— इसका उत्तर उनके चरित्रमें तथा उनके उद्गारोंमें है। भीष्मने स्वयं अविवाहित रहकर यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उस वंशको चलाऊंगा। इस प्रतिज्ञासे वे बद्ध थे। 'अर्थस्य पुरुषो दासः' इस भीष्मोक्तिमें अर्थ शब्दका मतलब प्रतिज्ञा है। द्रोणाचार्य महाविद्वान् और अत्यंत दरिद्री ब्राह्मण थे। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और दुर्योधनमें स्नेह था। द्रुपदने जो उनकी बुराई की थी, उसका बदला लेनेके लिये वे आश्रय ढूंढते थे। अर्थात् वे एक ध्येयके दास होकर दुर्योधनसे मिले थे। द्रुपदको अंजलिबद्ध कर लाना और आश्रयदाताका कल्याण करना, इस अपने ध्येयके द्रोणाचार्य दास थे। कर्ण भी हीनकुलत्व के अपमानसे जला हुआ था। बडेका आश्रय लेकर हीनकुलत्व नष्ट करनेके अर्थका- उद्देश्यका- वह दास था। शल्य साक्षात् अर्थदास था। तात्पर्य यह कि बडे लोग भी किसी हेतुसे असत्पक्षसे कैसे निगडित हो जाते हैं, यह इससे स्पष्ट होता है। सिवाय इसके भीष्मने सत्यवतीको वचन दिया था कि, स्वयं राजा न होकर मैं सत्यवतीके वंशके नामसे राज्य चलाऊंगा। सत्यवती जब अरण्यको गई तब उसने धृतराष्ट्रको भीष्मके हवाले किया था और भीष्मने वचन दिया था कि मैं धृतराष्ट्रका संरक्षण करूंगा।

प्रश्न- वस्त्रहरणके प्रसंगपर भीष्मने द्रौपदीको गोलमोल जवाब क्यों दिया?

उत्तर- वह प्रसंग बहुत गंभीर था! हिस्सेरसीके हिसाबसे यद्यपि उस समय द्रौपदी धर्मकी स्त्री नहीं थी, तथापि धर्मकार्यप्रसंगमें वह बारों महीने धर्मराजकी ही धर्मपत्नी थी। उस दृष्टिसे धर्मका उसपर हक था और उसने उसे पणमें लगाया। युद्धका तथा द्यूतका आह्वान स्वीकारना क्षत्रियका अनिवार्य कर्तव्य था, और इसी चक्करमें धर्म आ गया। 'जिता' कहनेसे भी मुष्किल पडती, 'अजिता' कहनेमें भी अडचन थी! क्योंकि वैसा कहा जाता तो उसने एकदम भस्म कर दिया होता। तात्पर्य यह है कि प्रसंगको देखते हुए भीष्मका उत्तर योग्य ही मालूम पडता है।

प्रश्न- क्या कृष्ण और पांडव वंशके और जन्मके भोक्ता थे?

उत्तर- उस कालमें जन्म, वंश और परंपराको महत्त्व देनेवाला एक वर्ग था। यह अभिजात वर्ग कहता था कि हम पुराणपरंपराका तथा वैदिक कर्ममार्गका रक्षण करते हैं। परंतु कृष्ण और पांडव वंश को महत्त्व न देते थे, किंतु गुणको, प्रयत्नको और चारित्र्यको देते थे।

प्रश्न- क्या भारतकालीन समाज नीतिदृष्ट्या पतित था?

उत्तर- उस समयमें भारतीय राष्ट्र बहुत उन्नत हुवा था और उच्च पदवीको प्राप्त हुवा था। अनेक नीतिप्रकरणोंके कथन करनेका कारण समाज का अधःपात नहीं किंतु उसका सर्वांगीण विकास था।

प्रश्न- क्या वह कल्पना यथार्थ है कि पांडव अच्छे और कौरव बुरे थे?

उत्तर- कोई भी कल्पना सापेक्ष रहती है। हिंदुस्थान में आनेवाले अंग्रेज अधिकारी यहांका राज्ययंत्र चलाते हैं। परंतु यह चलानेमें यह सुष्ठुता और दुष्टता स्वभावानुसार दरसाना अच्छेबुरेपनका दर्शक ही है! यथार्थमें कौरवपांडवकी तुलना की जाय, तो संस्कृति, दानत, शील और चारित्र्यकी दृष्टिसे पांडवोंकी अपेक्षा कौरव हीन ही थे।

प्रश्न- बारह तेरह वर्षतक अर्जुनके मनमें कौरवके निःपातकी कल्पना संचार करती थी, तब युद्धके समय ही उसने अवसानघातकी वृत्ति बतलाकर, पाप, कुलनाश, अधोगति इत्यादि कल्पनाएं क्यों पेश कीं?

उत्तर- इसका एक कारण अर्जुनकी अवास्तव नीतिनिष्ठा है। एक वर्षतक अज्ञातवासके क्लीबत्व-का भी यह परिणाम होगा। इसके अतिरिक्त यह असंभाव्य नहीं कि जिनके साथ युद्ध करना वे अधिकारी आत्मीय हैं इस भावनासे करुणाका प्रादुर्भाव हो!

प्रश्न- गीतामें क्या कहा है, यह समझनेके लिये क्या पहिले अध्यायका कोई उपयोग है?

उत्तर- है। यह अध्याय मुख्य है। पहिला अध्याय और दूसरे अध्यायके दस श्लोक-इतनेमें जो प्रश्न अर्जुनने उपस्थित किये हैं, उनका उत्तर गीतामें आगे क्रमशः कैसे दिया गया है, इसका शोधक बुद्धि से निरीक्षण करना बहुत ही मनोरंजक है। इसके लिये केवल गीताका परिशीलन स्वतंत्रासे होना चाहिए।

प्रश्न- पहिले अध्यायके अंतमें अर्जुनने जो कहा कि मैं अप्रतिकारवृत्तिसे अशस्त्र होकर चुपचाप बैठता हूं-इसका बीज क्या है?

उत्तर- इसमें बडा गहन संन्यासधर्मका बीज है! कपिलसांख्यके कालसे और उसके भी पहिले, यह संन्यासधर्म रूढ था; उसका उल्लेख अर्जुनने किया है। और उसका खंडन समग्र गीतामें है।

[गीताजयन्तीनिमित्त 'केसरी' में जो गीताचर्चा होती थी, उसीके परिशिष्टमें थोडासा विषय मैं भी उपस्थित करता हूं।]

(१) श्री० ग० वि० केतकर महाशयने 'सर्व-धर्मान् परित्यज्य…' और इसके आगेके श्लोकपर जो लिखा वह युक्त है। 'मेरे शरणमें आओ' इसका अर्थ यह नहीं कि 'केवल मेरा नाम जपते हुए बैठे रहो;' उसका अर्थ है कि 'मेरे बतलाये हुए मार्गका आचरण करो।' ऐसा अर्थ न किया जाय तो गीतोक्त कर्मयोगपर सफेदी करनेके बराबर है।

(२) 'अर्जुनविषादो नाम' अथवा 'अर्जुन-विषादयोगो नाम' इस प्रश्नकी चर्चा दो तीन लेखकों-ने की है। यदि गीता योगशास्त्र है तो प्रत्येक अध्यायके अंतमें 'विषादयोग, संन्यासयोग, ऐसे शब्द आनेसे कोई हानि नहीं पहुंचती। क्योंकि योग शब्द के अनेक अर्थ हैं; जहां युक्त हो वहां अनेक अर्थ किये जावें। परंतु यदि यह कहा जाय कि पहिले अध्यायके अंतमें योगशब्द नहीं होना और दसवें अध्यायके अंतमें 'विभूतिवर्णनं नाम' इतना ही होना; तो यह कहना पडेगा कि गीतामें जो वर्णना-त्मक अध्याय हैं, उन सबहीके अन्तमें योग शब्दका कोई प्रयोजन नहीं। उदाहरणार्थ- विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोध्यायः, गुणत्रयविभागो नाम चतुर्दशो-ध्यायः, दैवासुरसंपद्विभागो नाम षोडशोध्यायः, ऐसा कहना पडेगा। क्योंकि ११ वां १४ वां और १६ वां ये अध्याय वर्णनात्मक ही हैं। तात्पर्य यह है कि योग शब्द सर्वत्र रहना चाहिये।

(३) तर्कतीर्थ कोकजे शास्त्री महोदयने कहा है कि धर्मनिर्णयका साधन दैवी और आसुरी संपत्ति

है। परंतु धर्माधर्मनिर्णयकी यह निश्चित कसौटी नहीं है, ऐसा मेरा मत है। इसी तरह 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' इस वाक्यमें शास्त्र शब्दका अर्थ जो उन्होंने किया वह मुझे जंचता नहीं। वहां शास्त्रका अर्थ वेद नहीं, परंतु उसका अर्थ सदाचरणका मार्ग हो सकता है। वहां यह अभिप्रेत है कि दुर्गतिसे बचना हो तो सदाचारकी रीतिसे बर्ताव करो और दुर्गति चाहिये हो तो सदाचारके विरुद्ध बर्ताव करो। अर्थात् यह कहना योग्य होगा कि सदाचारके मायने दैवी संपत्ति प्राप्त करनेका मार्ग। जहां यह कहा जाय कि धर्माधर्मनिर्णयका साधन सदाचार अथवा दैवी संपत्ति है, वहां 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' यही न्याय आता है।

(४) श्री० ताडपत्रीकर महोदयके व्याख्यानमें गीताके प्रक्षेपके विषयमें विवेचन आया है; और वे कहते हैं कि इसका उत्तर लोकमान्य तिलकने दिया है। यह बात सर्वमान्य है कि मूल जय ग्रंथ, बादमें भारत और अखीरमें महाभारत हुआ! यह भी सच है कि कृष्णार्जुनका भाषण श्लोकबद्ध नहीं हुआ! तब यदि यह ठहर गया कि गीतामें मुख्य कर्मयोगही प्रतिपाद्य है, तो क्या वस्तुतः गीता पांच अध्यायोंके अंतहीमें समाप्त नहीं होती? मुख्य विषय पहिले पांच अध्यायोंमें ही आया और अर्जुनको उत्तर भी मिल गया। अगले अध्याय इन पांच अध्यायोंके विषयके पोषक और उनकी न्यूनता पूरी करनेकी दृष्टिसे रचे गए और गीता-ग्रंथ सर्वांगसुंदर हुआ- ऐसा कहनेसे गीताग्रंथका महत्त्व कम नहीं होता।

(५) प्रोफेसर वाडेकर महोदयके व्याख्यानमें कहा है कि गीताके टीकाकार गीतार्थकी अपेक्षा अपने मतके प्रतिपादनपर अधिक जोर देते हैं; और यह बात सच है। गीताके आधारसे प्रत्येक टीकाकार सचमुचमें अपने मतका टट्टू आगे दौडाता है। उक्त महाशयको शांकरतत्त्वज्ञानमें सुसंगतता दिखती है और उसके सत्ताशास्त्र और धर्मशास्त्र भी परस्पर सुसंगत मालूम पडते हैं। उनका आक्षेप यह है कि लोकमान्यके तत्त्वज्ञानमें उस प्रकारकी सुसंगति नहीं है। श्री० वाडेकरका जो आक्षेप है कि 'आत्माको निर्गुण, निराकार, अक्रिय माननेपर संन्यासधर्महीको स्वीकृत करना अनिवार्य है,' उस-पर दिया हुआ श्री० करंदीकर महाशयका उत्तर कुछ गोलमोल दिखता है। श्री० वाडेकर महाशयने लोक-मान्यके तत्त्वज्ञानपर दोषारोप किया, परन्तु उन्होंने स्वतंत्र और ऐतिहासिक बुद्धिसे अध्ययन करके जो सिद्धान्त रख दिये, उनमें उनका सत्ताशास्त्र कौनसा, इसका विवेचन नहीं है। गीतामें वेद और उपनिषदों-के सिद्धान्तोंका समन्वय है और मनुष्यके आध्या-त्मिक जीवनकी जो तीन बाजू हैं- बुद्धि, भावना और प्रेरणा- उनकी उन्नतिको महत्त्व दिया है। यह ठीक है, तथापि उपनिषद्का आत्मा अक्रिय, असंग, तथा निर्गुण, निराकार ही है। आत्मस्वरूपमें अर्थात् सत्ताशास्त्रमें यदि फरक नहीं, तो हमारे ख्यालसे लोकमान्यको जो दोष दिया गया, वह प्रो० वाडेकरपर भी लागू होता है।

(६) केसरीके विद्वान् संपादक श्री० ज० स० करंदीकर महोदयने अपने उपसंहारात्मक भाषणमें सब आक्षेपोंके जबाब दिये हैं। तथापि मेरी समझमें दो तीन बातें संशयग्रस्त ही हैं। वेद और उपनिषदोंसे जो गीताका वैशिष्ट्य है, उसको उन्होंने पहिले चार कलमोंमें और आगे नौ कलमोंमें बतलाया है। उनमेंसे पहिलेका तीसरा और दूसरेका चौथा और पांचवा कलम मेरे मतसे चर्चास्पद हैं।

(अ) गीतामें कहा है कि शाश्वत सुखके हेतु अशाश्वत सुखका त्याग करना चाहिये। परार्थके हेतु स्वार्थका त्याग करनेके विषयमें कोई स्पष्टार्थक और विधायक वाक्य गीतामें नहीं है। लक्षणासे अर्थ करना हो या खींचतानके अर्थ लगाना हो, तो हमारा कुछ आग्रह नहीं है। इतना जरूर है कि समष्टि-धर्मके हेतु व्यष्टिधर्म छोडनेका उपदेश है।

(आ) 'ब्रह्मके सत्यत्वकी सापेक्षतासे जगन्मि-थ्यात्व मान्य है, परंतु जगत् निर्माण ही नहीं हुआ

और जगत् केवल भ्रम है' इस प्रकारका मायावाद गीतामें नहीं, ऐसा कहके उन्होंने जो मायाका विवरण किया है, वह मेरी रायमें सदोष है। लोकमान्य तिलकने शंकराचार्यका अद्वैत-तत्त्वज्ञान मान्य किया; और यह बात भी छिपी नहीं रह सकती कि आचार्य का मायावाद भी लोकमान्यने जैसा का वैसा स्वीकृत किया है। श्री० करंदीकरने 'आत्यन्तिक मायावाद' इस नवीन शब्दकी योजना की है। वे कहते हैं कि 'यह मायावाद जरूर कर्मयोगसे विसंगत है।' प्रश्न यह है कि जगत्प्रक्रियाके विषयमें लोकमान्यने कौनसा वाद स्वीकृत किया है? न तो आरंभवाद और न परिणामवाद; अर्थात् यदि विवर्तवाद ही स्वीकृत किया, तो यह कहनेमें क्या स्वारस्य है कि लोकमान्यने मायावादका स्वीकार नहीं किया? गीतारहस्यके अध्यात्म प्रकरणमें पृष्ठ २३४ से २४० के अंततक जो विवेचन किया गया है वह आचार्य-पुरस्कृत मायावादका ही है। इसलिये तिलक और आचार्यका मायावाद एक ही है। हमें यह नम्र सूचना करनी है कि श्री० करंदीकरने आचार्यके मायावाद का जो चित्र खींचा है वह यथार्थ नहीं है। आचार्यने तीन सत्ता मानी हैं-पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक सत्तामें जगत् नहीं, अर्थात् ब्रह्मकी सापेक्षतासे वह मिथ्या सिद्ध होता है। पारमार्थिक सत्तामें जगत् नहीं, ईश्वर नहीं, क्रिया नहीं, कुछ भी नहीं। परंतु, ब्रह्मज्ञान होते तक जगत् है, व्यवहार है, वेद है और शास्त्र हैं-यह बात आचार्यने अनेक स्थानोंमें बतलाई है।

"सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मता विज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राग्बोधात्।... तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मता प्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः।" (२-१-१४)

"पारमार्थिकस्तु नाम संध्याश्रयस्सर्गो वियदादिसर्गवत् इत्येतावत् प्रतिपाद्यते। न च वियदादि सर्वस्यापि आत्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति।" (३-२-४)

'प्राक् तु ब्रह्मदर्शनात् वियदादिप्रपंचो व्यवस्थितरूपो भवति। (३-२-४)

"सूत्रकारोपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वं इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्यात् लोकवत्'" (२-१-१४)

"परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। व्यवहारावस्थायां तु उक्तः श्रुतावपि ईश्वरादिव्यवहारः।" (२-१-१४)

इन विविध वाक्योंसे यह कबूल करना पडता है कि व्यावहारिक सत्ता आचार्य को मान्य थी। आचार्यने जोर देकर कहा है की ज्ञानप्राप्ति होनेके पूर्व जगत् सत्य है और दुनियांके सब व्यवहार करना चाहिये। इतना ही नहीं, किंतु जगत् अनादि है और उसका कारण ईश्वर है। इस अनादि संसारसे छुटकारा पानेका साधन है ज्ञान। यह कैसे हो सकता है कि ऐसा कहनेवालोंको व्यावहारिक सत्तामें जगत् दिखता नहीं था? यह सच है कि बुद्धका खंडन करनेमें-अर्थात् प्रतिपक्षको पराजित करनेमें, उन्होंने रज्जुसर्प और मृगजलके दृष्टान्त लिये हैं। परंतु उसका अर्थ यही होगा कि ब्रह्मसापेक्ष जगत् मिथ्या है। ऐसा न हो तो, जगत् नहीं, वेद नहीं, वर्ण नहीं, आश्रम नहीं, ऐसी आपत्ति आवेगी। उत्तर-वेदान्तियोंने ऐसे अतिरिक्त विधान किये हैं, तथापि श्रीमत् शंकराचार्यने वैदिक कर्मकी उपपत्ति ज्ञानदृष्ट्या भली भांति की है! तात्पर्य, व्यावहारिक सत्तामें जगत् है। इस लिये संसारके सर्व कर्म करने चाहिये और विधिनिषेधोंका पालन करना चाहिये। ज्ञानपूर्व कर्मके संबंधमें आचार्यका विरोध नहीं; ज्ञानोत्तर कर्मके विषयमें विरोध जरूर है। परंतु गीतामें ज्ञानोत्तर कर्म है और उसीका पुरस्कार रहस्यकारने किया है।

"मायाका अर्थ है ब्रह्मकी अचिंत्य शक्ति। उसीके कारण सृष्टि उत्पन्न होती है" इत्यादि विधान आचार्यके ही हैं। मायाके मायने भ्रम अथवा आभास ऐसा एकांगी अर्थ आचार्यने नहीं किया। माया शब्दके भिन्न भिन्न अर्थ ब्रह्मसूत्रके निर्देशसहित संक्षेपमें दिये जाते हैं-

(१.४.९) माया परमेश्वरी देवात्मशक्ति है और जगत् विधायक है। (१-४-३) अविद्यात्मक यह बीज-

शक्ति जगत्की प्रागवस्था रहती है। वह परमेश्वराधीन, परमेश्वराश्रित, मायामयी, महासुषुप्ति-स्वरूपक है।

(२-१-१४) सर्वज्ञ ईश्वरकी अनिर्वचीय, संसारके बीजभूत रहनेवाली जो मायाशक्ति, उसीको प्रकृति कहते हैं। (१-४-९) समस्त जगत्-विधायक ऐसी यह परमेश्वरी दैवी शक्ति है। (१-४-३) सा चावश्यमभ्युपगंतव्या अर्थवती हि सा न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

यह मायाशक्ति अवश्य स्वीकृत करनी चाहिये। क्यों कि वह अर्थयुक्त है, उसके बिना परमेश्वरका जगत्स्रष्टृत्व संभाव्य नहीं होता। क्यों कि शक्ति-रहित ऐसे परमेश्वरकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो नहीं सकती।

इससे अधिक स्पष्टतर विधानकी आवश्यकता नहीं है। मायाशक्तिविषयक तथा जगत्के अस्तित्व-विषयक श्रीमत् आचार्यके उपरोक्त मतोंको ध्यानमें लेनेपर यह खुलासा हो जायगा कि लोकमान्यने मायावादका स्वीकार क्यों किया और उसपर अल्प भी टीका क्यों नहीं की। लोकमान्य तिलक और शंकराचार्यमें मतभेद केवल ज्ञानोत्तर कर्मके संबंधमें है।

श्रीमद्भगवद्गीता-कंद।

(लेखक—श्री आनंदघनराम, तासगाव)

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रंथ का विस्तार ७०० श्लोकोंका है और ये ७०० श्लोक १८ अध्यायों में बँटे हैं। इस प्रकारसे गीतावृक्ष का यह विस्तार १८ शाखाओंमें बढता हुवा, सात सौ गुच्छोंसे विस्तार पाकर, सारी दुनियांको परिपूर्ण उन्नति का ज्ञान देनेके हेतु अपने अर्थविस्तारसे कैसा अनंत रूप धारण करता हुआ, पृथ्वीपर भिन्न भिन्न भाषाओंमें फूल रहा है, इसीका दिग्दर्शन करनेके लिये औंध नगरीमें 'गीता' मासिक का अवतार हुआ है।

कोई भी अवतार अपना उद्दिष्ट कार्य धीरे धीरे क्रमशः करता है। इस प्रारंभिक स्थितिमें उसके कार्यकी रूपरेषा छोटे स्वरूपमें परंतु विस्तृत ज्ञान देनेवाली ऐसी रखनी पडती है। अन्यथा वह ज्ञान शीघ्र आकलन करनेमें कठिनाई पडती है। इसलिये चालकोंने वैसी ही रूपरेषा रखी है। यह जानकर, अखिल जगद्व्यापी गीतावृक्षका सुंदर, मोहक साग्र स्वरूप जैसाका वैसा आगे रखनेके पहिले, संपूर्ण स्वरूप की उत्पत्ति और परस्परसंबंध स्पष्ट रीतिसे अपने आंखोंके सामने प्रगट करनेवाला मूल उत्पत्ति-कंद पाठकों के स्वाधीन करके, गीताग्रंथके कौनसे अध्यायका उत्पत्तिमूल कहां और कैसे निर्माण हुआ है और उसका पर्यवसान-फल कैसे प्राप्त करना चाहिए, यह मैं अपनी समझके अनुसार इस लेखके द्वारा उपस्थित करके जनताजनार्दन की सेवाका प्रारंभ करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीगोपालकृष्ण का उपदेश अर्जुन के निमित्तसे सर्व जनोंको इस प्रकार है—

+ जाति-वर्ण-आश्रमप्राप्त कर्मोंका आचरण पूर्वप्रारब्धानुसार प्रकृति अवश्य करावेगी। उसपर अधिकार चलाकर उसीसे कर्मोंको बदलाने की शक्ति

+ जाति = जन्म वंश; वर्ण = शारीरिक पात्रता और मनकी स्वभावबुद्धियोग्यता; आश्रम = प्राप्त समय व परिस्थिति-पात्रता।

जबतक न आजाय, तबतक उन कर्मोंमें फेरबदल हो नहीं सकता। ऐसी हालतमें आरंभहीसे पूर्वकर्मके बलसे जिनकी यह परिस्थिति प्राप्त हुई है कि इस ज्ञानका आकलन कर सकें, उन्हींके लिये यह ज्ञान बतलाया जाता है। यह ज्ञान कर्मको नहीं बदलता; परंतु प्रकृति-स्वभावसे जो कर्म अवश्यही होगा, उस कर्ममेंसे केवल आत्मविषयक तथा परविषयक भावनाको बदलकर, वह समूचा कर्म ही जिस उपायसे निष्कर्मस्वरूप हो जाय, ऐसी बुद्धि मैं बतलाता हूं। यही बुद्धियोग अथवा निष्कर्मयोग है।

हे पंडुपुत्र अर्जुन! तुम्हारे पूर्वकर्मके बलसे मेरी संगति होकर, शिष्यभावसे विनम्र होकर मुझे पृच्छा करनेकी बुद्धि तुम्हें हुई, और मैं जो कुछ कहूं वह सुनकर अपने सामर्थ्यानुसार आचरण करनेकी श्रद्धा रखकर तुम तत्पर हुए हो; अतएव वह गुह्य-ज्ञान और रहस्य सुनो, जिसके द्वारा यह कर्मबंध नष्ट होकर तुम मुक्त हो जाओगे।

तुम बुद्धियोगयुक्त होकर उपासनाके सामर्थ्यसे मद्रूप हो सको, इस हेतुसे यह ज्ञान मैं तुम्हें बतलाता हूं। पांच गुणोंका आश्रय करके सात तरहसे मेरी उपासना तुम्हें करना चाहिये; अर्थात् बुद्धियोगयुक्त होनेको आवश्यक ऐसे पांच गुणोंका आश्रय करके, सर्व विश्वमें व्यापक ऐसा मेरा परमेश्वरस्वरूप सात तरहसे अवगत करके- सात पद्धतिसे जानकर- प्राप्त कर्म करते हुए, कर्मबंधसे प्राप्त होनेवाले जन्म-मृत्युरूप दुःखदायक चक्रसे छूटकर मुक्त हो और परिपूर्णताके सुखका उपभोग करो।

ये पांच गुण सुनो-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
(गी० अ० २-४५)

भावार्थ- वेद तुम्हें सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंसे युक्त कर्मज्ञान बतलाते हैं, वह कर्मज्ञान छोडकर तुम (१) निस्त्रैगुण्य (२) निर्द्वन्द्व (३) नित्यसत्वस्थ (४) निर्योगक्षेम और (५) आत्मवान् हो।

इस प्रकार श्रीभगवान्का उपदेश है।

इन पांच गुणोंका स्पष्टीकरण करनेहीके लिये भगवान्को अध्याय ३ से ७ तक कहना पडे हैं। निर्द्वंद्व स्पष्टीकरणके लिये अध्याय ३, निस्त्रैगुण्यके लिये अध्याय ४, नित्यसत्त्वस्थ गुणके लिये अध्याय ५, निर्योगक्षेमके लिये अध्याय ६, और आत्मवान् गुणके लिये अध्याय ७, ऐसा इन अध्यायोंका उगम है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर 'गीतावृक्ष-दर्शन'में आनेवाला है।

गुणस्पष्टीकरण।

(१) निस्त्रैगुण्य- कर्म करते समय ऐहिक बुद्धि, अपनी कामनासे करनेकी बुद्धि, स्वर्गकामनासे करनेकी बुद्धि अथवा भावनाको छोडकर केवल कर्तव्य-भावनासे कर्म करना। (अ० ४ श्लोक १९ से २३- निस्त्रैगुण्याधिकरण)

(२) निर्द्वन्द्व- सुखदुःख, रागद्वेष, प्रीतिक्रोध, अच्छा बुरा, पापपुण्य, ऐसी परस्परविरोधी भावनाओंका परिणाम अपने मनपर होने न देना। (अ० ४ श्लोक ३४ से ४१- निर्द्वन्द्वाधिकरण)

(३) नित्यसत्त्वस्थ- भीति, शंका, संशय, विकल्प इत्यादिसे रहित होकर सदैव अभय, धृति, उत्साह और समत्व की भावना अटल रखना (अ. ५ श्लोक १८ से २५ नित्यसत्त्वाधिकरण)

(४) निर्योगक्षेम- प्राप्त करते समय प्राप्त करने की और प्राप्त वस्तु का संरक्षण करनेमें वह कायम रखनेकी, ऐसी दोनों तरह की उत्कंठा मनमें न रहने देना। (अ० ६ श्लोक ४० से ४४ निर्योगक्षेमाधि-करण)

(५) आत्मवान्- आत्मज्ञानयुक्त होकर सर्वज्ञान-संपूर्ण सत्ता, सर्वसमर्थता, शाश्वतता और आनंद-पूर्णता की मोक्षमय स्थितिमें सदैव मुक्त रहना। (अ० ७ श्लोक १ से ३० ज्ञानविज्ञानाधिकरण)

इन पांच गुणों की प्राप्ति के लिये सात तरहसे उपासना बननी चाहिये; तभी वह प्राप्त होकर मोक्ष मिलता है, ऐसा अ० ७ श्लोक २९-३० में स्पष्ट

कहा है और अ० ८ के आरंभके श्लोक १-२ में अर्जुनने जो प्रश्न किये हैं उनका उत्तर भगवान्ने श्लोक ३-४ में दिया है।

> अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ८-३॥
> अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
> अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ गी० ८-४

भावार्थ- १ ब्रह्म = परम अक्षर, २ अध्यात्म = स्वभाव, ३ कर्म = भूतमात्रों की उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग, ४ अधिभूत = क्षरभावयुक्त सकल वस्तु, ५ अधिदैव = पुरुष और ६ अधियज्ञ = मैं (ईश्वर यहां ब्रह्मांडमें और देहमें यज्ञाधिपति है।)

प्रयाणकालमें ईश्वरको जानना ही सकल ज्ञानका ध्येय है; इसी के लिये सारे अभ्यासकी आवश्यकता है। अर्जुनका प्रश्न यह है कि—

'मनोनिग्रही पुरुष अंतकालमें तुम्हें कैसे जानें?' इसके उत्तरमें आठवें अध्यायके ५ वें और ६ वें श्लोकमें जड व चैतन्य सृष्टिके स्वरूपधारण का अबाधित सृष्ट सिद्धान्त बतलाया और अंतकालमें ईश्वरको जानने का मार्ग अर्जुन को बतलाया और भिन्न भिन्न अभ्यासकों के लिये संपूर्ण अभ्यासका विवरण आठवें अध्यायमें दिया है।

अर्जुनके प्रश्नका उत्तर अधिक स्पष्ट करनेके लिये भगवान्को अध्याय ८ से १५ तक विवेचन करना पडा। पहिले प्रश्न का स्पष्टीकरण १५ वें अध्यायमें और ७ वें प्रश्नका स्पष्टीकरण ९ वें अध्यायमें, ऐसी व्युत्क्रमरीतिका अवलंबन करना आवश्यक मालूम हुआ; इसीलिये ८ वें अध्यायमें बतलाया है कि प्रयाणकालमें कैसे जानना, ९ वें में- अधियज्ञस्वरूपसे उपासना कैसी की जावे; १० वें में-अधिदैवत-स्वरूपसे; ११ वें में अधिभूतस्वरूपसे; १२ वें में कर्मस्वरूपसे व्यक्ताव्यक्त उपासना; १३ वेंमें- अध्यात्मस्वरूपसे, १४ वें में यह बतलाकर, कि त्रिगुणबद्धता अध्यात्म उपासनाको कैसी बाधक होती है, १५ वेंमें उपासना ज्ञान बतलाया है।

उपासनास्वरूप-स्पष्टीकरण।

(७) अंतकालमें इस सर्व ज्ञानकी जागरूकता रखकर देह विसर्जन करना। (अ० ८ श्लोक ७-१४ ईशस्मरणाधिकरण)

(६) अधियज्ञ- आगे आनेवाले ब्रह्मांडांतर्गत ६ स्वरूपोंमें तथा पिंडांतर्गत अपने स्वरूपमें ज्ञान रखनेवाले आत्मतत्वका जो स्वानुभवप्रचीति लेनेवाला है वह सर्वदा सर्वत्र एकस्वरूपी है। यही स्वरूप अधियज्ञ है। (अ० ९ श्लोक १५ से २४ अधियज्ञाधिकरण)

(५) अधिदैवत- सब ज्ञानेन्द्रियोंके सामने और मनके सामने आनेवाले भास आभास स्वरूपमें भी जो सत्यस्वरूप अधिष्ठित है, वह चैतन्यस्वरूप ही जानना अधिदैवत है। (अ० १० श्लोक ३ से ७ अधिदैवाधिकरण)

(४) अधिभूत- शाश्वतता कायम और अभंग रखकर, अशाश्वत रूपके भासमें भी उसका शाश्वत स्वरूप देखनेकी स्वरूपदृष्टि रखना- अधिभूतस्वरूप उपासना है (अ० ११ श्लोक ७ से ५२ अधिभूताधिकरण)

(३) कर्म-मूलतः अक्षरब्रह्मरूप और अध्यात्मरूप रहते हुए क्रिया करने का भास उत्पन्न करनेवाला विसर्गरूप व्यापार जारी रहते, अकर्मरूपत्वका भान न भूलकर कर्महीमें अकर्म देखते हुए उपासना करना- इसको कहते हैं कर्मस्वरूपसे ईश्वरको जानना। (अ० १३ श्लोक २ से १८ क्षेत्रक्षेत्रज्ञाधिकरण विशेष १३।१०-११)

(१) ब्रह्म-पिंडब्रह्मांडव्यापकमें परम जो अक्षर स्वरूप वह जानकर जो ईश्वरोपासना है उसको ब्रह्मस्वरूप जानकर उपासना करना। (अ० १५ श्लोक ४ से ६ ब्रह्मपदाधिकरण और श्लोक १७ से १९ मूढरपष्टाधिकरण)

इस तरह १५ अध्यायोंमें श्रीभगवद्गीता संपूर्ण हुई; १६ वा अध्याय (सातवें और ९ वें अध्यायमें सूचित) दैवासुरसंपत्तिका स्पष्टीकरण करनेके लिये, १७ वा अध्याय श्रद्धा और कर्मके साथ ज्ञानके स्पष्टीकरणार्थ,

और १८ वाँ अध्याय संपूर्ण गीताके उपसंहारार्थ तथा पिछले बातोंके स्पष्टीकरणार्थ कहने पडे हैं। अर्थात् सर्व गीताके उगमका मूलकंद अध्याय २ का ४५ वा श्लोक तथा अ० ८ के ३-४-५ श्लोक इतने ही हैं। उनका विस्तार होते होते १५ अध्याय गीता हुई। इस १५ वें अध्यायमें भी अ० २ श्लो० ४५ और अ० १५ श्लो० १२ (८।३-४-५) इन दोनोंका ऐक्य सुचारु रूपसे ५ वें श्लोकमें किया है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा।
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः॥

द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै।
र्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ अ० १५-५॥

'जो लोग विषयसंगके दोषोंको जीतकर मान और मोहसे रहित हुए, (निर्मानमोहा जितसंगदोषाः = निस्त्रैगुण्याः) जो अध्यात्मज्ञानमें शाश्वत रहे, अध्यात्मनित्याः= नित्यसत्वथाः) जो कामनासे निवृत्त हुए, विनिवृत्तकामाः=निर्योगक्षेमाः) जो सुखदुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हुए, (द्वंद्वैर्विमुक्ताः = निर्द्वन्द्वाः) ऐसे ज्ञानी पुरुष (असूढाः = आत्मवान्) उस अविनाशी (पदमव्ययं तत् = पुरुषोत्तम) पदको पहुंचते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण भगवद्गीताका रहस्यसार १५ वां अध्याय है, और उसका भी सार ५ वें श्लोकमें समाविष्ट हुवा है। ऐसा यह मूल कंद आज आप पाठकोंके सामने रखकर उपहार सेवा की है। इसके बाद इसीकी वृद्धि होकर आनेवाले वृक्षफलोंके विविध पक्वान्नोंद्वारा पारणा करके सेवाकी पूर्ति करनेकी अभिलाषा है।

कन्द विस्तार

श्रीमद्भगवद्गीताका स्वरूप अधिक विशद करके आपके सन्मुख रखता हूं। उसको उस दृष्टिसे देखकर अब आप उससे बोध लेंगे। पहिलेसे उसकी तरफ देखनेसे मालूम होगा कि परस्पर श्लोकसंगति-संघटनके १८ विभाग किये गए हैं।

अ० १ अर्जुनविषादयोग श्लो० १ से ४७, अ० २ सांख्ययोग श्लो० १ से ७२, अ० ३ कर्मयोग श्लो० १ से ४३; अ० ४ ज्ञानयोग श्लो० १ से ४२; अ० ५ कर्मसंन्यासयोग श्लो० १ से २९; अ० ६ अभ्यासयोग श्लो० १ से ४७; अ० ७ ज्ञानविज्ञानयोग श्लो० १ से ३०; अ० ८ अक्षरब्रह्मयोग श्लो० १ से २८; अ० ९ राजविद्याराजगुह्ययोग श्लो० १ से ३४; अ० १० विभूतियोग श्लो० १ से ४२; अ० ११ विश्वरूपदर्शनयोग श्लो० १ से ५५; अ० १२ भक्तियोग श्लो० १ से २०; अ० १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग श्लो० १ से ३४; अ० १४ गुणत्रयविभागयोग श्लो० १ से २७; अ० १५ पुरुषोत्तमयोग श्लो० १ से २०; अ० १६ दैवासुरसंपद्विभागयोग श्लो० १से २४; अ० १७ श्रद्धात्रयविभागयोग श्लोक १ से २८; अ०१८ मोक्षसंन्यासयोग श्लो० १ से ७८.

इस तरह प्रत्येक अध्यायके अंतमें कहा है। रहस्यकारने अ० ४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोग; अ० ५ संन्यासयोग; अ० ६ ध्यानयोग और अ० १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभागयोग-इतना फरक किया है। बेलगावके नागेश वासुदेव गुणाजी वकीलने अपनी गीतामें अ० ४ कर्मब्रह्मार्पणयोग और अ० ६ आत्मसंयमयोग, इतना ही फरक किया है।

इस प्रकारसे प्रत्येक अध्यायके अंतमें उस अध्याय का सार लिखा है और किसी किसीने अध्यायके प्रारंभमें भी लिखा है। श्री० गजानन विश्वनाथ केतकर (उपसंपादक केसरी और चिटनीस गीता-धर्ममंडल, पूना) ने 'गीताबीज' नामक पुस्तक लिखी है, उसमें मुख्य सार ऐसे ६१ श्लोक चुनकर निकाले हैं। लोकमान्यने गीतारहस्यके विषयप्रवेश-प्रकरणमें ऐसे प्रयत्नोंको निरुपयोगी माना है, और कहा है कि इस तरह श्लोक चुननेमें पूर्वकार्यकर्ताओंने जो रुचिनिष्ठ प्रयत्न किये हैं वे केवल उन्हीं व्यक्तियोंके लिये थे। परंतु श्री० तिलककी पद्धतिमें भी ऐसी पद्धति चुनने की आवश्यकता होती है कि जो युक्तिवादसे सबहीको मान्य हो। उन्होंने अपने सार श्लोकोंका औचित्य सिद्ध करनेके लिये श्री० शंकराचार्यका आधार लिया है;वह इस तरह कि श्रीआचार्यने गीताके द्वितीय अध्यायके श्लोक ११ से ३२ तक

गीताका मुख्य भाग माना है। इसीके स्पष्टीकरणमें कहा है कि गीता वृद्धिंगत होती हुई १८ अध्यायतक बढ़ी है। इस प्रकार गीताका मूलबीज और गीताकी वृद्धि, इनका संबंध ढूंढनेका प्रयत्न प्रत्येक गीतातत्त्व जिज्ञासुने अपने अपने ज्ञानके अनुसार किया है, और आगे भी ऐसा प्रयत्न होता रहेगा।

इसीके सदृश यह एक प्रयत्न है। जिनकी तर्कबुद्धिको यह ग्राह्य होगा वे महाशय इसका अंगीकार करेंगे ही। इसलिये मैंने पूर्व कंदसे प्रादुर्भूत १८ अध्यायोंकी १८ शाखाओंमें केवल उपशाखा बतलाई हैं। अब गीताका पूर्णस्वरूप आपके सामने उपस्थित करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अध्याय १ में श्लोक १ से २८ तक पूर्वसंगति और श्लो० २९ से ४७ तक अर्जुनकी मनःस्थिति बतलाई है।

अध्याय २- श्लो० १ से १० अर्जुनका विचारज्ञान, श्लो० ११ से १५ तक उपक्रमाधिकरण, १६ से १८ तक आत्मज्ञानाधिकरण,१८ से ४४ तक कर्मयोगचर्चा और ४५ से ७१ तक बुद्धियोगाधिकरण बतलाया है।

अध्याय ३- यह निर्द्वन्द्वगुण बतलानेके लिये है। श्लो० ८ से २० तक कर्मयोगाधिकरण और ३४ से ४१ तक निर्द्वंद्वाधिकरण ज्ञानके लिये है।

अध्याय ४- यह निःस्त्रैगुण्य विवेचनके लिये है। श्लो० ९ से १५ तक उपासनाधिकरण, १२ से २३ तक निस्त्रैगुण्याधिकरण और ३३ से ४१ तक ज्ञानयज्ञाधिकरण ज्ञानके लिये कहे गए हैं।

अध्याय ५- यह नित्यसत्वस्थ-गुण-विवेचनके लिये है। श्लोक २ से ५ कर्मविशेषाधिकरण और१८ से २५ तक नित्यसत्वस्थाधिकरण बतलाया है।

अध्याय ६-यह निर्योगक्षेम गुणके लिये कहा गया है। श्लोक १ से ९ तक कर्मयोगविशेषानुवाद, १० से २३ तक अभ्यासयोगप्रकरण, २४ से २८ तक साम्ययोग, २९ से ३२ तक सिद्धव्यवहार, ३३ से ३६ तक साम्ययोगसुलभता और ४० से ४४ तक निर्योगक्षेमाधिकरण बतलाया है।

अध्याय ७- यह आत्मवान् गुणपोषणके लिये कहा गया है। श्लोक २ से ३० तक ज्ञानविज्ञानाधिकरण (अधिभूत परमेश्वरका स्वरूप कैसे है यह) बतलाया है। इसमें श्लो० ६ से १२ तक उत्पत्तिलयाधिकरण, १३ से २६ तक मायाधिकरण, २९-३० सात तरहकी उपासना-नामनिर्देश-बतलाई है।

अध्याय ८- यह प्रयाणकालीन ईशस्मरण ज्ञानके लिये है। श्लोक ७ से १४ तक ईशस्मरणाधिकरण और १५ से २१ तक अनावृत्त्यधिकरण बतलाया है।

अध्याय ९- यह अधियज्ञस्वरूप ज्ञानके लिये है। श्लोक ४ से १० तक जगत्कारणाधिकरण, १९ से २४ तक अधियज्ञाधिकरण, २५ से ३४ तक ईश्वरार्पणाधिकरण बतलाया है।

अध्याय १०- यह आधिदैवाधिकरणके लिये कहा गया है इसमें श्लोक ३ से ७ तक आधिदैवाधिकरण कहा गया है।

अध्याय १२- यह कर्मस्वरूपी ईश्वरी ज्ञानके लिये कहा गया है। श्लोक २ से ७ तक व्यक्तोपासनाविशेषाधिकरण (अधिभूत अ० ११, आधिदैवत अ०१०और अधियज्ञ अ०९-इनकी उपासनामें जो क्रियाकारी सूक्ष्मतत्त्व है वही कर्मज्ञानस्वरूप व्यक्त उपासना है) श्लो० १३ से २० तक व्यक्ताव्यक्त उपासनाका श्रेष्ठत्व बतलाया है।

अध्याय १३- यह अध्यात्मस्वरूपी ईश्वरज्ञानके लिये कहा गया है। श्लो० २ से १८ तक क्षेत्रक्षेत्रज्ञाधिकरण और श्लोक १९ से २६ तक विसर्गाधिकरण बतलाया है (इसमें कहा है कि ब्रह्मज्ञानके लिये कर्मज्ञाता प्रकृति पुरुष, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, इन स्वरूपोंसे भी श्रेष्ठस्वरूपका ज्ञान करे, यही आत्मज्ञानका जानना है।

अध्याय १४- इसमें कर्मबद्धकता और मुक्तताका गुणसंबंध बतलाया है। श्लोक ५ से १९ तक स्वभावाधिकरण ज्ञान बतलाते हैं।

अध्याय १५- इसमें ब्रह्मस्वरूपसे उपासना करनेके

लियें ईश्वरी ज्ञान है। श्लो० ४ से ६ ब्रह्मपदाधिकरण ७ से ११ तक जीवब्रम्हैक्याधिकरण और १७-१८ पुरुषोत्तमाधिकरण बतलाते हैं।

अध्याय १६—यह दैवासुरसंपत्तिका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये है। श्लो० १ से ३ तक दैवी संपत्ति और ७ से २० तक आसुरी संपत्तिज्ञान बतलाते हैं।

अध्याय १७- यह सर्वकर्मनिष्कर्मका रहस्य बतलानेके लिये है। श्लोक २ से १२ तकमें श्रद्धात्रय प्रकरण और २३ से २७ तकमें ब्रह्मनिर्देशका विवेचन किया है।

अध्याय १८-यह उपसंहारात्मक है। श्लोक २ से १० तक त्यागप्रकरण, ११ से ४९ तक कर्मविवेचन और ५० से ७८ तक उपसंहार है।

इस प्रकार स्थूल मानसे गीता वृक्षकी बाढ मूलकंदसे निकली हुई पंचगुण प्राप्ति और सप्तउपासनाज्ञान- इन दो मुख्य शाखाओंमें हुई; और मोक्षप्राप्तिके साधक, तथा चारों पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) साधकर कृतकृत्य होनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवानने कही हुई गीता कैसी बढती गई है- इसका यथामति विवेचन मैंने पाठकोंके सन्मुख उपस्थित किया है।

इसका भी अधिक विचार कैसे हुआ है, इसका ज्ञान गीताजिज्ञासु पाठकोंके सन्मुख मैं रखनेवाला हूं। मेरी समझमें गीताकी अनुक्रमणिकाकी दृष्टिसे वह ज्ञान प्रत्येक पाठकको स्वतंत्र विचार करनेके लिये प्रवृत्त करेगा।

इस तरह गीताके स्वरूपको विविध दृष्टिसे देखते हुए हम सब गीताभक्त उसमें रममाण होवें।

ममत्व और अहंकार।

(लेखिका— श्री० कुमारी लीला बालकृष्ण प्रभु, बंबई.)

झालिया तत्त्वांचें निरसन। निर्गुण आत्मचि आपण। कां दाखवावें मीपण। तत्त्वनिरसना उपरि। तत्त्वांमध्ये मीपण गेलें॥ तरी निर्गुण सहजचि उरलें। सोहंभावें प्रत्यया आलें। आत्मनिवेदन॥ (दासबोध)

अर्थ- 'तत्त्वोंका बोध होनेपर, जो निर्गुण आत्मा वही हम हैं। तत्त्वका निरसन होनेपर, अहंकार क्यों करना? तत्त्वोंके अंदर अहंकारका लोप हुवा, तब शेष निर्गुण ही रहा; सोहंभावसे आत्मविवेदनकी प्रचीति हुई।'

चाहे कितने भी उच्चतम कर्म किये जाय, तथापि उनको निष्फल बनानेवाले और मनुष्यको जहां तहां लज्जित करनेवाले यदि कोई दो अवगुण होंगे, तो वे हैं (१) ममत्वबुद्धि और (२) उसीका सगा भाई अहंकार! इस ममत्वबुद्धिके चक्करमें कोई पडजाय तो उससे उलझना बहुत कठिन है। इस ममत्वबुद्धिको छोटे बच्चेसे लेकर बडों तक सबहीके शरीरमें प्रवेश करनेकी मुभा है। इसकी पकडमें न आँय इस गरज से मनुष्यमात्रको जन्मतः अध्यात्मशास्त्रका ज्ञान दिया गया है; परंतु जहां संसारका ज्ञान होने लगा, वहां मनुष्य इसके आधीन हो ही जाता है। जन्म होते ही प्रत्येक बालक रोता हुवा 'कोऽहम्' 'सोऽहम्' ऐसा उच्चार करता है। अर्थात् पहिले पूछता है कि-

'मैं कोन हूं?' और शीघ्र ही विवेकसे जवाब देता है 'मैं वह हूं'। इसका मतलब है कि पहिले

ममत्वबुद्धिका विरोधी उपस्थित है; 'मैं वह हूं' का अर्थ है 'मैं परब्रह्म हूं' और मनुष्यका आत्मा परब्रह्म ही का अंश है- 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५।७) इसीलिये 'आत्मा अकर्ता है और अखिल कर्म प्रकृतिके गुण करते हैं' ऐसा वेदोंका तत्त्व है। यह समझमें आने पर अहंता रहती ही नहीं। ये दो उच्चार केवल रोतेसमय बालक करता है। परंतु आगे चलकर वह इस तत्त्वको बिलकुल भूल जाता है, केवल ममत्वबुद्धिका अपने अंतःकरणमें संचय करता है, और बाद ही 'यह मेरा है, मैं यह लूंगा, मैं अपनी चीज तुम्हें न दूंगा' ऐसे वाक्य अपने मुंहसे निकालता है।

'वह मैं ही था जो वह काम कर सका' इस तरह का अहंकार बतलाना अज्ञानका लक्षण है। आत्मा प्रेरणा देनेवाला है और सत्व, रज, तम, इन प्रकृति-गुणोंके गुणोंको उदासीन होकर देखनेवाला है। वह प्रेरक है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह कर्ता है. किसीने अपने नौकरको बर्तन धोनेकी प्रेरणा की; इससे प्रेरणा करनेवाला क्या नौकर हो जायगा? अथवा किसीने एक लेखकको लेख लिखनेकी प्रेरणा की; इससे वह प्रेरणा करनेवाला उस लेखका लेखक नहीं होगा। ज्ञान हुआ तब भी वह सत्वका लक्षण है, लोभ आदि रजके लक्षण हैं, प्रमाद मोह इत्यादि तमसे होते हैं (गीता ४-७)। ये तीनों गुण निर्विकार आत्माको बद्ध करते हैं। भगवान्ने वर्णन किया है- 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।' यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा ही कर्ता है; प्रकृति (अपराप्रकृति = क्षेत्र) नहीं; तो मनुष्यका एक इंद्रिय काट डालनेसे वह पराव-लंबी क्यों बन जाता है? मनुष्यका श्रवणेन्द्रिय बिगड जानेसे वह सुन नहीं सकता, वाचा बंद होनेसे बोल सकता। मनुष्य जब पंगु होता है, तब यह घमंड नहीं कर सकता कि मैं यह पर्वत लांघ जाऊंगा। इसीसे सिद्ध होता है कि संपूर्ण कर्मोंको प्रकृति करती है (इंद्रियां उसीके विकार हैं।) परंतु यह समझता बूझता हुवा मनुष्य मैं मैं करता है। क्या यह आपमतलबीपन नहीं है? कोई मनुष्य अपनी स्त्रीपर रूठकर कह जाता है कि 'मैं संन्यास धारण करूंगा'। परंतु क्या यह कर्म उसके वश है? बाह्य विधिसे वह संन्यास लेलेवे; परंतु (प्रकृतिके विकारोंमेंसे मन एक है, उस) मनके ऊपर जबतक वैराग्यके पूर्ण संस्कार न हो जांय, तबतक वह संसारका ही चिंतन करता रहेगा; ऐसे संन्याससे क्या लाभ है? इससे व्यवहार ही में निर्ममवृत्तिसे वह रहेगा, तो आपही आप उसकी प्रकृति योग्य समयपर उसे वैराग्यकी ओर खींचेगी, तात्पर्य, जबतक मनकी तय्यारी नहीं हुई तबतक अहंकारसे संन्यास लेना वैसा ही होगा जैसे हाथसे लूला आदमी मूर्खतासे कहे कि "मैं अपने बाहुबलसे समुद्र तैर जाऊंगा।" इसलिये अहंकार किसीका भी न चलेगा। श्रीकृष्णने कहा है—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

यहां ऐसी शंका हो सकती है कि यदि सब कर्मोंकी करनेवाली प्रकृति है, तो मनुष्यको कुकर्मोंका पाप नहीं मानना चाहिये। परंतु यह ध्यानमें रहे कि यद्यपि प्रकृति कर्मकर्त्री है, तथापि अनुमंता (गीता ४।२२) अर्थात् अनुकूल प्रवृत्ति देनेवाला आत्मा है। क्योंकि आत्मा भी परब्रह्मका ही अंश होनेसे वह भी स्वतंत्र है- परंतु देहें-द्रियोंसे जखडा हुआ है इसलिये उन्हींके द्वारा कर्म करना पडता है। प्रकृतिका काम केवल कर्म करना, परंतु प्रेरणा आत्मासे मिलती है। इसलिये ममत्व छोडकर भगवान्ने बतलाये हुए गुणातीतके लक्षणोंका मनुष्य स्वीकार करे, तो उसे ये तीन गुण (सत्व, रज, तम) विचलित न करेंगे। गुणातीत होनेका मतलब है आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करना; क्योंकि जिसका ममत्व गया उसको कौन छेड सकता है? वधू जब चिडनेवाली होती है, तब सहेलियां उसका बेहद चिडाती हैं; परंतु

यदि वह अपनी वृत्ति शांत रखे, तो उसको कोई चिडाता नहीं। आत्मस्वातंत्र्य यकायक प्राप्त नहीं कर सकते। समस्त इंद्रियां अपने स्वाधीन करनी पडती हैं। अध्यात्मज्ञान होनेपर मनुष्य 'मैं ही कर्ता हूं' ऐसी ममत्वयुक्त भावना छोडकर प्रकृतिके सब कर्म फलाशा छोडकर देखता रहता है। क्यों कि प्रकृतिके आगे मनुष्यका किसी भी हालतमें कुछ नहीं चलता।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
भ० गी० ३-३३

ऐसा है तो ममत्व क्यों न छोडना चाहिये? क्यों कि ऐसा करनेसे आत्मस्वातंत्र्यका लाभ होगा; और आत्मस्वातंत्र्य मिलनेपर मनुष्य जिस बातकी इच्छा करेगा वह प्रकृतिके द्वारा पूरी कर लेगा।

इस ममत्व बुद्धिमें मग्न होकर 'मैं मैं' कहनेका नाम अहंकार है- अर्थात् अपने विषयमें प्रौढी बतलाना। 'यदि कोई ज्ञानी होगा तो वह मैं हूं' ऐसी भावना रखना, उच्चस्थिति प्राप्त होनेपर कनिष्ठ स्थितिके मनुष्योंको तुच्छताकी दृष्टिसे देखना, इत्यादि अहंकारके लक्षण हैं। अहंकार आनेपर मनुष्य की जो दशा होती है वह बतलानेकी जरूरत नहीं। यह सर्वत्र विदित है कि प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान् शिष्टाई करने गए, तबभी जिस दुर्योधनने घमंडसे जवाब दिया कि 'सूईके अग्रके बराबर जमीन भी न दूंगा,' किंबहुना श्रीकृष्णको कैद करनेका निश्चय किया था, उस दुर्योधनका अंतमें कैसा समूल नाश हो गया। मनुष्य दुनियामें अहंकार चलाकर दिखावेगा; एक घडीभर सही, परंतु अपनेको बडा चढा दिखावेगा; तथापि क्या उसका अहंकार मृत्युके आगे चल सकेगा? कालके सामने उसे मस्तक नीचा करना ही पडता है। अपनी तलवारसे दूसरोंको यमपुरीमें भेजनेवाले वीरपुरुष भी जब उनका काल आता है, चुपचाप अपने शस्त्र नीचे रखकर उसी यमपुरीकी राह लेते हैं। पाश्चात्य कवि शार्लेने कहा है-

Some men with swords may reap field
And plant fresh laurels where they kill:
But their strong nerves at last may yield
They tame but one another still,

Early or late
They stoop to fate,
And must give up their murmuring breath
When they, pale captives, creep to death.

कोई भी बात करना अकेले मनुष्यपर निर्भर नहीं है; कारण की—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

गीताके अनुसार इतनी बातें मनुष्यका कर्म सिद्ध होनेके लिए आवश्यक हैं। मनुष्य किसी अच्छी जगहपर झाड लगाकर उसके लिए खात, पानी वगैराकी व्यवस्था करेगा। परंतु झाडको फल आना दैवके आधीन है। उक्त पांच बातोंमेंसे एककी भी कमी हो तो वही दशा होगी कि 'चने हैं परंतु दांत नहीं'। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि फल नहीं इसलिये कर्म भी छोड देना; क्योंकि कर्ममार्गका एक तत्त्व यह है कि 'कर्म छोडना चाहें तो भी छूटते नहीं।' समय प्राप्त होनेपर इंद्रियां आप ही कर्म करने लगती हैं। इसलिये ईश्वर ही कर्ता है, करानेवाला है, इस निरहंकार वृत्तिसे मनुष्यको सत्कर्म करते रहना चाहिये; आज न हो कल अवश्य फल मिलेगा। अर्जुनको जब यह अहंकार हुआ कि 'मैं कौरवोंको मारूंगा' तब श्रीकृष्णने स्पष्ट रीतिसे कहा—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
तथा- ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
आध्यात्मिक दृष्ट्या यह चर्पटपंजरी बस है।

परंतु अब यह देखना चाहिये कि व्यावहारिक दृष्टया किसका कितना ममत्व तथा अहंकार चलता है। कुटुंबके मालिकका अथवा पृथ्वीपतिका उदाहरण लिया जाय, तो भी यह देखनेमें आता है कि व्यवहारमें जो रहेगा उसको ये दोनों बातें एक बाजू रखनी पडती हैं। कुटुंबशील मनुष्यको व्यवहारके कुटुंबोपयोगी सब कर्म करने पडते हैं; परंत वह यदि अहंकारसे अलग बैठे तो उसपर कर्तव्यपराङ्मुखता का दोष लागू होगा। इससे कुछ दिनों तक कुटुंबमें अस्वस्थता मचेगी; परंतु कुटुंबका काम अटकेगा नहीं। क्योंकि जो विश्वकी व्यवस्था देखता है--

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।'

-वह उस कुटुंब की व्यवस्था देखेगा ही। मालन यदि रुठ जाय तो फूलों के लिए ग्राहकोंको थोडी दूरतक जाना पडेगा; परंतु उन्हें फूल अवश्य मिलेंगे, और मालनके फूल सूख जायंगे। वही गति कुटुंबशील अहंकारी मनुष्यकी है। इसीतरह राजा अपनी राजनीतिके नियमोंका पालन न करके अहंकारवश स्वेच्छासे बर्ताव करने लगा, तो थोडेही समयमें उसको पदच्युत होना पडेगा, और सारी प्रजा त्रसित होनेपर राजाको भी अपनी गद्दी समालते न बनेगी।

व्यवहारमें 'मैं' 'तुम' इन सर्वनामोंका उपयोग करना पडता है। परंतु उनका उच्चारण करते समय अहंकारको अलग कर देना चाहिए। यह भावना गलत है कि अपने सिवाय दूसरेका काम अड जायगा। निर्मम और निरहंकार वृत्तिका पहिला चिन्ह यह है कि, कैसी भी परिस्थिति हो, चित्त विचलित न होने देना। वही मनुष्य विश्वबंधुत्व संपादन करता है और वही ईश्वरका प्यारा भक्त है! ऐसी वृत्ति रखनेसे मनुष्यको मोक्षका मार्ग इस तरह सरल हो जावेगा कि मानो आंखोंमें अंजन डाल दिया हो ।

कर्मयोग।

(लेखक— श्री० प० स० देसाई, संपादक ' रामकृष्ण-निकेतन, ' मलकापूर- कोल्हापूर.)

(१)

अर्जुनने कहा ' युद्ध न करूंगा। ' उसका अंतःकरण विषादयुक्त था। भावना दुर्बल हुई थी, और मायाके कारण वह अंध बन गया था। मोह में लिपटनेके कारण उसका सारासार विचार लुप्त हुआ था। धनुष्यको चढाई हुई प्रत्यंचा उतारकर उसने दीर्घ निःश्वास किया।

धनुर्धर पार्थका यह कृत्य देखकर और उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्ने चकित मुद्रासे, चारों घोडोंके लगाम खींचकर पूछा ' क्यों ? '

अर्जुन उदास मुद्रासे, अश्रुयुक्त आकाशकी ओर देखकर, सहज स्वरसे बोले ' कोइ भी कार्य करो, उसमें दोष रखा हुआ है। दरवाजा खोला कि सहस्र अपराध; आगे पैर रखा कि गिरनेका भय! अब जाने दो। '

श्रीकृष्ण भगवान् तटस्थ होकर अर्जुनके मुंहको ताकतेही रह गए। उन्हें अत्यंत आश्चर्य मालूम हुआ। ऐन मौकेपर अवसानघात! यह लक्षण कुछ ठीक नहीं दिखता। आखिर उन्होंने पूछा ' ऐन लडाईके मौकेपर यह तुम क्या बोलते हो? इसका

मतलब तुम खुद ही समझे हो कि नहीं?'

कुछ वैतागसे अर्जुन बोले 'युद्ध करनेसे कोई लोगोंका कल्याण और कोई लोगोंका अकल्याण होता है। सबहीका कल्याण नहीं होता। यही मेरे कहनेका मतलब है।'

(२)

श्रीकृष्ण भगवान् थोडी देर स्तब्ध रहे; फिर कहने लगे 'थोडी देर तक मैं मान लेता हूं कि यह तुम्हारा कहना सच है, परंतु युद्ध न करनेपर भी यही आक्षेप कायम रहता है। क्योंकि युद्ध न करना भी एक कर्म है। तुम कदाचित् कहोगे कि यह निवृत्तिवाद है। होगा; परंतु यह भी निर्दोष नहीं है। युद्ध करनेसे जैसा सबहीका कल्याण नहीं होता, इसी तरह युद्ध न करनेसे सबका कल्याण होगा ऐसी बात नहीं है। फरक इतनाही है कि युद्ध करनेसे जिनका कल्याण होता, युद्ध न करनेसे उनहीका अहित होगा। अर्थात् किसी न किसीका अकल्याण होगा ही। इसलिये यदि तुम स्वार्थका विचार करते होगे, तो तुम्हें यह देखना चाहिये कि स्वतःका और स्वपक्षीय लोगोंका कल्याण किस प्रकारसे होगा; और यदि तुम परार्थका ही विचार करते होगे, तो तुम्हें यह देखना चाहिये कि दूसरेका और दूसरेके पक्षका कल्याण कैसे होगा। अपने अंतःकरणमें तुम दोनों बातोंका विचार करो, इससे तुम खुदही समझ लेओगे कि युद्ध करना चाहिये अथवा नहीं। दूसरी बात यह है कि युद्ध करनेसे लोगोंका हित न होगा, जीवनाश होगा; परंतु क्या तुम यह कबूल करते हो कि युद्ध न करनेसे लोगोंका कल्याण होगा? इसी तरह युद्धके लिये जब खडे होते हैं तब यह विचार नहीं किया जाता कि फलानेका नाश होगा। किसी एक पक्षका हित और एक पक्षका अहित जरूर होगा। परंतु यह हिताहितके न्यायका तराजू तुम्हारे हाथ किसने और कब दिया? यदि दिया हो तो तुम्हारी आज्ञा सबको माननी ही चाहिये। युद्धके लिये सज्ज होकर आई हुई यह बडी सेना देखकर क्या तुम यह कह सकते हो कि तुम्हारी आज्ञा सब ही लोग मानेंगे? तुम ही अकेले 'शांतिपाठ' गाते बैठोगे, तो तुम्हारा सुनेगा कौन? सब लोग तुमहीको नामर्द ठहरावेंगे, और तुम्हें अलग करके युद्ध शुरू करेंगे। ऐसे समय केवल 'शांतिपाठ' गानेमें क्या फायदा है? तुमसरीखे शूरके मनमें ऐसे विचार आते ही कैसे हैं? भय लगनेका कारण क्या है?'

(३)

श्रीकृष्ण भगवान्के इस भाषणपर अर्जुनने थोडी देर विचार किया, परंतु उसका योग्य खंडन करनेवाला उत्तर अर्जुनको सूझा नहीं; तथापि हार माननेको भी वह तैयार न था। तब कुछ भी कहना चाहिये इस गरजसे उसने पूछा- 'तुम्हारे कहनेका क्या यही सार निकला कि युद्ध करनेसे जो होगा वही युद्ध न करनेसे भी होगा? जो नाश होनेवाला है वह टलता नहीं। यही ना?'

श्रीकृष्णने किंचित् हास्य करके तिरछी नजरसे संभ्रमित भक्तकी ओर देखा; और उसकी बुद्धिमें खलबल मची हुई देखकर बोले 'अलबत्! यही मतलब है। और भीरूके समान युद्ध छोडकर बैठे रहनेमें क्या स्वारस्य है? शूरवीरको यह बात शोभा नहीं देती। दूसरे, कोई कर्म सदोष होगा तो भी उसको टालनेसे, उसकी लापर्वाई करनेसे काम नहीं चलता; यह तुम जानते हो ना? कर्म न करना भी कर्म करनेका एक प्रकार है!

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कर्मके दो प्रकार हैं- एक प्रवृत्तिपर और दूसरा निवृत्तिपर। परंतु दोनों कायदा हैं। युद्ध करो या न करो; तुम कर्मसे परावृत्त नहीं हो सकते। अर्थात् कर्मपरित्याग करनेसे कर्म छूटता नहीं, वह करना ही पडेगा। प्रवृत्ति न हो तो निवृत्ति! शरीरपरसे कंबल फेंकना जरूर है; परंतु वह कंबल ही शरीरसे दूर नहीं होता,

इसका क्या इलाज है? इसी तरह जो छोड नहीं सकते वह ले भी नहीं सकते अर्थात् कार्य स्वतंत्र है। वह तुम्हारे हाथमें नहीं, किंतु तुम ही पुतलीके समान उसके हाथमें नचते हो, कर्म तुम्हें नचाता है। तब वह छोडना या लेना तुम्हारे हाथमें कैसे रहेगा। ? तुम्हारा यह अभिमान व्यर्थ है कि मैं कर्म करता हूं। कर्म ही तुमको बाध्य करता है।

'तुम यदि कर्मके कर्ता होते तो तुम उसे चाहे जब छोड सकते; परंतु ऐसा तुम नहीं कर सकते। अर्थात् कर्मके कर्ता तुम नहीं हो। तब अहंकारसे यह कहकर, कि यह कार्य सदोष है और यह निर्दोष है, उसका त्याग अथवा स्वीकार करना क्या तुम्हें शक्य है? नहीं; कभी नहीं। तुम्हारा वह भ्रम है; और इस प्रकार भ्रमिष्ट होनेसे तुम यह भी निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक कर्म अच्छा और अमुक बुरा है; तुम्हें यह अधिकार ही नहीं। सिवाय इसके तुम भ्रमिष्ट हुए होगे तो भी सच्चा कर्ता पुरुष भ्रमिष्ट हो नहीं सकता। तुम अकर्ता हो, करनेवाले नहीं, यह समझनेपर कर्मके शुभाशुभका विचार करनेका अधिकार तुम्हें नहीं है। और ऐसा विचार तुम्हें करते न बनेगा। तुम अपनी क्षुद्रातिक्षुद्र बुद्धिसे कर्म की योग्यायोग्यताके विषयमें जो विचार प्रगट करोगे, उनसे बिलकुल निराले और स्वतंत्र विचार उसके रहते हैं जो सच्चा कर्मकर्ता है। अर्थात् यह निश्चित है कि तुम्हारा किया हुआ कर्मका भविष्य- अच्छा या बुरा, इसका निर्णय योग्य न होगा। इसलिये प्रथम तुम इंद्रियोंका नियमन करो—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य

क्योंकि इन्होंने तुम्हारी विचारशक्ति लुप्त कर दी है। उसको पहिले जागृत करो; तब तुम स्वतंत्र स्वयंप्रकाशी आत्माको पहचान सकोगे, आत्मज्ञान से तुम्हारी बुद्धि स्थिर होगी, और विमूढ होकर, तुम जो वाह्यात बकते हो कि 'मैं युद्ध न करूंगा,' यह तुम्हारी बकबक बंद होगी। तुम हमें ऐसे प्रश्न फिर न पूछोगे कि 'स्वतःकी इच्छा न होते हुए मनुष्य पापाचरण क्यों करता है'। हे महाबाहो, पहिले दुर्दमनीय शत्रुका संहार करो। इसके विना तुम्हें सच्चे कर्मयोगका ज्ञान होगा ही नहीं।'

गीताका विषयानुसार रचनांतर।

(१) प्रार्थना-१०।१२; ११।३९; ४०, ४३; ४४ (५)

(२) गीतामहात्म्य— ४।१-३, १४।१;२, ७।', २; ३।३१, ३२; ९।१-३; १५।२०; १८।६७-७१; १२।२०; (१९)

(३) विषाद- १।२-४७, २।१-६, ९-११, ३०-३७; (६३)

(४) तरणोपाय- २।७,८,७१,७२, ३८; ३।१-३; ५।४, ५;२।५२, ५३, ३९, ४०; १३।२४, २५; २।४९-५१(१९)

(५) कर्ममार्ग- ५।१,२; ३।५, ८, १६, १९, ३५; ४।१३; १८।४१-४४; १३-१५; ५।१४; १३।३१; ३।२७; १८।५९; ६०; ३।३३; १८।१६, १४।१९; १८।१८, २३-२८; १४।१६; १६।२३, २४; ४।१६-१८: ६।१, २; १८।५, ६; ३।२०, ५।११; ४।१४, १५; २।४७; ४।२०-२२; १८।१७ ; २।४८; १८।४५-४८; ३।९, ३०; ५।१० ५।२३, ९।२७, २८; ३।२२ २४ ,२१, २५; ५।२५; ३।२६; ४।१२; ५।१२, २२; ३।१०।१५; ७।२०-२३; ९।२३-२५; २।४२-४४; ९।२०, २१; ८।१६. (८९)

(६) दैवासुरस्वभावलक्षण- १६।१-३, ५, ६, ४, ७-२०; ७।१५ (२१)

(७) ज्ञानमार्ग- १२।५; ७।३; १०।३; ९।१७; १३।९.२९,३०; ५।२२; २।१४, १५, ५४, ५५; ५।८, ९; २।६१, ५।१८; ६।९; २।५८; ५।२३; ४।३४; ५।२६; २।५६; ३।१७,१८;७।२९ ५।२८; १८।२०-२२; १३।८-११ ५।७; ६।८, २२, ३०,३२; ५।२०; १३।२८; २।६९, ४६; ४।१९, ३८, ३३, ३५, ३६, ४०, ४२; ५।१५, १६; ४।३७, ४१, ३९; १५।५; ८।२८; ५।२१; ६।२८; ५।२४, १७, २९; ४।१०; ६।३१; १५।१-४; १८।५०-५८; ९।१३-१५; १८।६१-६३ (८३)

(८) भक्तिमार्ग-१२।१, २; १३।१४, २२; ९।२२, २६, २९; ६।३७-४०; ९।३०-३३; १७।१-४; १२।१३-२०; ७।२७, २८; १२-६-११, ९.३४. (३६)

(९) यज्ञ- ४।२४-३२; १७।२, १२, १३. (१२)

(१०) तप- १७।१४-१९, ५, ६ (८)

(११) दान- १७।२०-२२; १८।५,६; ८।२८ (६)

(१२) ॐ तत्सत्- १७।२३-२८; ८।१२, १३ (८)

(१३) संन्यास- १८।१-१२; ६।१, २; ५।६; ३।४; १८।४९; २।४७; ५।३; ६।४; ५।१३; ६।३; १२।१२. (२३)

(१४) ध्यानयोग- ६।१०-१३; ५।२७; ६।१४; ५।२८; ६।२०-२३, १६, १७, ४६, ४७, १८, १९, १५. (१८)

(१५) मन- ६।३३-३६, २४-२६, ५-७; २।४१; ३।६ ७; २।६६, ६७, ५६; ५।१९; ६।२७; (१८)

(१६) काम- ३।३६-४३; २।७०; १६।१०-१२, १६, २१, २२; ७।२७; ५।२६; ४।२१; २।७१. (१९)

(१७) इंद्रियां- ३।३४; २।६२-६५, ५९-६१, ५८, ६८; ६।४; ५।२२; २।१४, १५ (१४)

(१८) गुणत्रय- १४।५; १३।२१, ७।१२-१४; १८।४०; ३।२७-२९; २।४५; १४।१९-२७; १४।६-१३, १७, १८; १८।२९-३५; १७।४; १८।१९-२५; १४।१६; १८।२६-२८; १७।७-१३, १७-१९, २०-२२; १८।७-९ ३६-३९; १४।१४,१५. (८०)

(१९) मृत्युकाल- ८।५-१०, १२, १३; ७।३०; १४।१४, १५; ८।२३-२७. (१६)

(२०)पुनर्जन्म- ४।५; ८।२५; १४।१४,१५; १३।२१ १६।७, १८-२०; ९।२०, २१; ८।१६; ९।३, ६।३७, ४०-४५; १३।६, ७. (२२)

(२१) सृष्टि- ७।४-६; १४।३, ४; ९।७,८,१०, ९; १०।६;८।१७, १८ २०; २।२८; १३।२६. (१५)

(२२) क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- १३।१-६, १९-२३, २६, ३३, ३४, १८. (१५)

(२३) जीव- १५।७-९; १३।२१; २।३०, १७,२०, १२,१३,२२,१८,१९,२३,२४,२१; ३।७; ५।१३; २।२६, २७,१६,२९; १५।१०,११; १४।५,२०. (२५)

(२४)ईश्वर-१०।१,२, ९।४-६;१३।१२-१७; १५।१५; १३।२७,३१,३२,२२; ८।१-४; १५।१६-१८,१९; ७।७; १०।३,८-११,४,५; ४।११; ९।२४; ५।२९. (३५)

(२५)अवतार- ४।४-९,११,१२; ७।२४-२६- (११)

(२६) विभूति- १०।१२-३८; ७।८-११; ९।१८, १९; १५।१२-१५; १०।३९-४२; १०।७. (४२)

(२७) विश्वरूप- ११।१-५४. (५४)

(२८) मोक्ष- ७।७; १५।१५; ७।३, १६-१९; ८।१५; १२।३,४; ८।११,२१; १४।२७; १५।६; १८।६४-६६; ११।५५. (१८)

(२९) उपसंहार- १८।७२,७३-७८ (७)

भगवद्गीता और दासबोध ।

(लेखक- श्री० सदाशिव खंडो अळतेकर.)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
(भगवद्गीता अ० श्लो० ४७)

निष्काम बुद्धीचिया भजना। त्रैलोक्यीं नाहीं तुळणा॥
(दासबोध द० १०-१९)

'गीता' मासिक में यह लेख लिखने का हमारा उद्देश्य यह है, कि हम भारतवर्ष के सुशिक्षित लोगों की नजर में यह बात ला देवें, कि भगवद्गीता का और दासबोध का ध्येय एक ही है। गीता में श्रीकृष्णने अर्जुन को जो उपदेश किया है, उसको स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में 'ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग' कहा है। श्रीसमर्थ स्वामी रामदासने दासबोध में (तथा अन्य समर्थ-वाङ्मय में) छत्रपति शिवाजी महाराज को और तत्कालीन महाराष्ट्र-जनता को उपदेश किया है, हमारी राय में हम उसको 'धर्ममूलक विवेक-वैराग्य-प्रधान प्रयत्नवाद' कह सकते हैं। दासबोध को (तथा अन्य समर्थ-वाङ्मय को) सूक्ष्म रीतिसे पढने से मालूम होता है, कि समर्थ स्वामीजीने दासबोध यही हेतु रखकर लिखा है, कि तत्कालीन महाराष्ट्रीय जनता के दिल में विवेक का महत्त्व और प्रयत्न का महत्त्व जम जाय और उसे कर्तव्यदक्ष बना दें। केवल विवेक से इष्ट हेतु साध्य नहीं होता, उसके साथ वैराग्य चाहिये। मनुष्य जबतक विवेकी- ज्ञानी- लोकनायक वैराग्ययुक्त- विरक्त न हो, तबतक बहुजनसमाज के दिलपर उसके उपदेश का इष्ट परिणाम नहीं होता; इसीलिये समर्थजीने दासबोध में 'विवेक-वैराग्य' नामक एक स्वतंत्र समास लिखा है (१२-४)। इस समासके अंत में वे कहते हैं-

म्हणोन विवेक आणि वैराग्य। तेंचि जाणिजे महद्भाग्य। रामदास म्हणे योग्य। साधु जाणती॥ (१२-४-२०)

अर्थ- इसलिये विवेक और वैराग्य होना ही महद्भाग्य है। साधु लोग यह जानते हैं और रामदास कहते हैं, कि यही योग्य है।

परंतु प्रयत्नसे और विवेकयुक्त वैराग्यसे भी इष्ट हेतु जल्दी सिद्ध न होगा, इसलिये समर्थजी कहते हैं-

सामर्थ्य आहे चळवळीचें। जो जो करील तयाचें। परंतु येथे भगवंताचें अधिष्ठान पाहिजे॥ (दासबोध २०-४-२६)

(अर्थ- सामर्थ्य हलचलमें है; जो करे उसका है। परंतु यहां भगवान्‌का अधिष्ठान जरूर चाहिये।) वैराग्ययुक्त विवेक से प्रयत्न किया भी जाय, तब भी धर्म का जबतक उसमें योग नहीं, तबतक यशःप्राप्ति न होगी। इसलिये श्रीसमर्थ महाराज अपनी अधिकारयुक्त वाणीसे महाराष्ट्रके बहुजनसमाज को दासबोध के द्वारा कहते हैं, कि परमेश्वर में अचल निष्ठा रखकर वैराग्ययुक्त प्रयत्न करो, अर्थात् धर्ममूलक- विवेक- वैराग्य- प्रधान- प्रयत्नवाद का अहोरात्र आचरण करो। इससे तुमको तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हारा व्यावहारिक ध्येय अर्थात् स्वराज्य अथवा पारमार्थिक ध्येय अर्थात् सायुज्यमुक्ति सुगम रीतिसे प्राप्त होगी। भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवद्गीता के द्वारा अपनी अधिकारयुक्त वाणीसे सकल विश्व को कहते हैं, कि 'ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग' का अहोरात्र आचरण करनेसे व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक ध्येय सुलभ रीतिसे सिद्ध होगा।

सांप्रत में हिंदुस्थानमें सब ही लोगों का- सुशिक्षित अशिक्षितों का, श्रीमान्-गरीबों का, वृद्धतरुणोंका, स्त्रीपुरुषों का ध्यान इस विषय की ओर लगा है, कि हिंदुस्थान को पूर्ण स्वराज्य कब प्राप्त होगा। पूर्ण स्वराज्य कोई ऐसी बात नहीं है, कि जो फुरसत के वक्त थोडासा काम करनेसे हासिल हो जाय। जबतक देश में सब धर्मोंके, सब जातियोंके, सब पक्षोंके लोग धर्मभेदों, जातिभेदों और पक्षभेदों को भूलकर एकदिलसे अहोरात्र निष्काम कर्म-योगका आचरण नहीं करते, तबतक स्वराज्यकी प्राप्ति होना असंभाव्य है। ऐसा निष्काम कर्मयोग भगवद्गीता में तथा दासबोधमें कहा गया है। इसलिये भारत की साक्षर जनता को चाहिये, कि वह न केवल इन दोनों ग्रंथों का अध्ययन ही करे, किंतु अध्ययन करके उनमें प्रतिपादित तत्त्वों का आचरण नित्य व्यवहार में करके स्वराज्यप्राप्ति का मार्ग सुगम करे। इसलिये भगवद्गीता और दासबोध का तुलनात्मक रीतिसे विवेचन करने का हमने विचार किया है।

भगवद्गीता और दासबोध- दोनों ग्रंथ संवादात्मक हैं। तत्त्वज्ञानविषयक ग्रंथ लिखनेके दो प्रकार हैं। एक निबंधात्मक और दूसरा संवादात्मक। निबंधात्मक ग्रंथकी अपेक्षा संवादात्मक ग्रंथके समझनेमें प्रायः कठिनाई कम पडती है। संवादात्मक ग्रंथमें शिष्य प्रश्न पूछता अथवा शंका प्रगट करता है और गुरु उन प्रश्नोंका उत्तर देता और शंकाओंका निरसन करता है। निबंधात्मक ग्रंथमें विषयका विवेचन एकसा सोपपत्तिक रीतिसे किया रहता है। संवादात्मक ग्रंथमें जब शिष्य बीचहीमें कोई शंका पूछता है, तब प्रचलित विषयका विवेचन स्थगित करके उस शंकाका निरसन करना आवश्यक होता है। निबंधात्मक ग्रंथमें ऐसा मौका नहीं आता। निबंधात्मक ग्रंथमें विवेचन शास्त्रीय पद्धतिसे किया हुवा रहता है।

भगवद्गीता तथा दासबोध- दोनों ग्रंथ संवादात्मक हैं; परंतु दोनोंकी संवादात्मक पद्धतिमें फरक है। भगवद्गीतामें यह ठीक बतलाया जा सकता है, कि शिष्य के कितने प्रश्न हैं, अथवा प्रश्नमें कितने श्लोक हैं और उस प्रश्नके उत्तरमें गुरुके कितने श्लोक हैं। दासबोधमें यह नहीं बतलाया जा सकता। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण गुरु हैं और अर्जुन शिष्य है। अर्जुनने श्रीकृष्ण से गुरूपदेश लिया, ऐसा उल्लेख भगवद्गीतामें नहीं है और न महाभारतमें है, परंतु दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन कहता है-

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

इस श्लोकमें कर्तव्यमूढ अर्जुन श्रीकृष्णको खुले शब्दोंमें कहता है-

"मैं तुम्हारा शिष्य हूं, मुझे बोध करो।" अर्थात् अर्जुनके ही मुखसे यह सिद्ध होता है, कि भगवद्गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुनका नाता गुरुशिष्यका है।

ग्रंथके आरंभहीमें स्वयं समर्थजी कहते हैं, कि दासबोध ग्रन्थ गुरुशिष्यसंवादात्मक है-

> ग्रंथा नाम दासबोध। गुरुशिष्यांचा संवाद।
> येथ बोलिला विशद। भक्तिमार्ग ॥ (१।१।२)

(अर्थ- इस ग्रन्थका नाम दासबोध है, यह गुरुशिष्य का संवाद है; यहां विशद रीतिसे भक्तिमार्गका कथन किया गया है।)

इसलिये यह मानना अनिवार्य है, कि दासबोधके विषय प्रतिपादनमें गुरुशिष्योंका संवाद है। भगवद्गीतामें यह बतला सकते हैं, कि गुरुके श्लोक कितने और शिष्यके कितने; दासबोधमें यह नहीं बतला सकते। भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण और अर्जुनके सिवाय धृतराष्ट्र और संजयका भी संवादात्मक श्लोकोंसे थोडा संबंध आता है। भगवद्गीताके अठारह अध्यायोंमें कुल ७०० श्लोक हैं। इनमें प्रत्येक के नामपर श्लोकसंख्या इस तरह आती है-

नाम	श्लोकसंख्या
१ धृतराष्ट्र ..	१
२ संजय...	३९॥
३ अर्जुन...	८४॥
४ श्रीकृष्ण...	५७५
कुल श्लोक	७००

दासबोधमें २० दशक हैं। प्रत्येक दशकमें १० समास हैं, ऐसे कुल २०० समास हैं और इन सब समासोंमें

मिलकर ७७५३ ओवी हैं। परंतु भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंका जिस तरह ४ जनोंमें बटवारा किया, वैसा दासबोधमें करना अशक्य है। भगवद्गीतामें गुरु और शिष्य– श्रीकृष्ण और अर्जुनके अतिरिक्त धृतराष्ट्र और संजयका संबंध आता है। दासबोधमें सिवाय गुरु और शिष्यके तीसरे किसीका संबंध नहीं आता। दासबोधमें शिष्यका नाम-निर्देश नहीं है। गिरिधरस्वामीने अपने समर्थ–चरित्ररूपी 'समर्थ–प्रताप' नामक उत्कृष्ट ग्रंथमें समर्थजीके अनेक सुप्रसिद्ध शिष्योंके नाम दिये हैं; उदाहरणार्थ– समर्थजीके प्रथम शिष्य उद्धवस्वामी, शिष्यराज कल्याणस्वामी, विद्वान् शिष्य दिनकरस्वामी अथवा वासुदेव (पंडित) स्वामी, तथा भीमस्वामी, दत्तात्रयस्वामी, इत्यादि। परंतु उनमेंसे एक भी शिष्यका उल्लेख समर्थजीने दासबोधमें नहीं किया। कौरवपांडवयुद्धके समय रणक्षेत्रपर दोनों बाजूके सैन्य युद्ध के लिये सुसज्ज हुए थे, तब श्रीकृष्णने अर्जुनको भगवद्गीता एक ही दिन थोडे ही समयमें कह दी। वह बात दासबोध की नहीं है। इस विषयपर मतभेद है, कि दासबोधके लिखनेमें कितना समय व्यतीत हुआ। सुप्रसिद्ध समर्थभक्त तथा समर्थवाङ्मयसंशोधक श्री० शंकर श्रीकृष्ण देव, बी. ए., एल्एल्. बी. कहते हैं– 'पूरा दासबोध ग्रंथ शालिवाहन शक १५८१ में अर्थात् एक ही वर्षके भीतर लिखा गया –आजतक जो कुछ प्रमाणसिद्ध हुआ है, उससे यह अनुमान अपन बेखटके कर सकते हैं' (दासबोध प्रस्तावना पृ. ४८)। सुप्रसिद्ध इतिहासाचार्य स्वर्गीय वि० का० राजवाडे, बी. ए., कहते हैं– 'शालिवाहन शक १५६६में समर्थजी का वयोमान ३६ वर्ष था। प्रायः इसी समय दासबोधका प्रारंभ हुवा और उसकी समाप्ति शकाब्दि १५८१ में हुई। इस ग्रंथकी रचना १५ वर्षतक चली थी, (रामदास निबन्ध पृष्ठ८)। सुप्रसिद्ध संतवाङ्मयभक्त तथा संतचरित्रकार श्रीयुत लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर, बी.ए. कहते हैं– 'शकाब्दि १५८२ में सात दशकोंवाला दासबोध तयार हुवा होगा; आगे चलकर उसमें ८ वां दशक जोड दिया होगा। अखीर अखीरमें अन्य स्फुट समासोंका उसमें समावेश करके बीस दशकोंका दासबोध समर्थजीके प्रयाणके पहिले अर्थात् शकाब्दि १६०२ या १६०३में तैयार हुवा होगा।' [सार्थ दासबोध–प्रस्तावना पृष्ठ ९]

शकाब्दि १५६६में समर्थजी तीर्थयात्रासे लौटकर सातारा जिलेमें कृष्णतटाकपर आए। श० १५६७ से १५७० तक ग्यारह मारुतिकी उन्होंने स्थापना की और शक १५७० में चाफल मुकामपर रामनवमीका उत्सव शुरू किया। उस समय शिष्यसमुदाय अच्छा बढ गया था। उस वक्त दासबोधकी रचना शुरू हुई और वह शक १५८१ में समाप्त हुई। शक १६०३ की माघ कृष्ण (+ फाल्गुन कृष्ण) नवमीको समर्थजीने समाधि ली; उसके पहिले मार्गशीर्ष महीनेमें कल्याणस्वामी डोमगांवसे समर्थजीके दर्शनार्थ आए थे। हमारी रायमें उसी समय समूचे समासोंको व्यवस्थित रीतिसे जमाकर, 'ग्रन्थारम्भ-लक्षण' नामक पहिले दशकका पहिला समास लिखकर दासबोधकी समाप्ति की होगी।

बादके लिये यद्यपि श्री० देव महाशयका कहना सच माना जाय, तथापि दासबोधके लेखनको कमसे कम एक वर्ष जरूर लग गया होगा। समर्थजी हमेशा फिरते रहते थे; एक जगहमें अधिक दिन ठहरते न थे। इसलिये स्वाभाविक है, कि भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न शिष्य रहे। ऐसा हो, तब भी यह समझमें नहीं आता, कि भिन्न भिन्न समासोंके अवसरपर जिन्होंने प्रश्न और शंकाएं पूछी, उन शिष्योंका नामनिर्देश उन उन समासोंमें क्यों नहीं किया गया? अनेक समर्थचरित्रोंसे यह सिद्ध होता है, कि कल्याणस्वामी, सब ही मुकामोंपर नहीं तो, बहुतसे मुकामोंपर समर्थजीके साथ उनके प्रचार-कालमें थे। परंतु एक भी समासमें प्रश्न करनेवाले शिष्यों में अथवा श्रोताओंमें कल्याणस्वामीके नामका उल्लेख न होना बडे आश्चर्यकी बात है।

यह बात, कि दासबोध ग्रन्थ गुरुशिष्यसंवादात्मक है, समर्थजीने केवल आरंभमें पहिले दशकके पहिले समास में ही नहीं, किंतु आगे चलकर ८ वें दशकके पहिले समास में दुहराकर कही है—

श्रोतीं व्हावें सावध। विमल ज्ञान बालबोध॥

+ दक्षिणमें चांद्रमास अमावस्याको पूर्ण होता है; उत्तरमें पौर्णिमाको महिना पूरा होता है।

गुरुशिष्याचा संवाद। अति सुगम परियेसा॥
(८।१।१०)

[अर्थ- श्रोतागण सावध हों। यह विमल बालबोध ज्ञान, जो गुरुशिष्यके संवादमें है और अति सुगम है, सुनिये।] इस तरह समर्थजी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं, कि दासबोध ग्रंथ गुरुशिष्य-संवादात्मक है; तब भी दासबोधमें यह बात नहीं दिखती, कि शिष्य कोई प्रश्न पूछता है और समर्थजी उसका उत्तर देते हैं। ऐसा होते हुए भी दासबोध पढनेवालोंके यह बात सहज ध्यानमें आवेगी, कि दासबोधकी रचना ऐसी कल्पना करके की गई है, कि मानो शिष्य अथवा श्रोता लोग सामने बैठे हैं।

श्रोतीं व्हावें सावधान। आता सांगतों उत्तम गुण॥ (२।२।४) सावध होऊनि श्रोतेजन। ऐका नवविधा भजन॥ (४।१।१) श्रोते पुसती ऐसें। माया, ब्रह्म तें कैसें। श्रोत्यावक्त्याच्या मिसें। निरूपण ऐका॥ (६।५।१) एक शिष्या सावधान। ढगतां भविष्य मी सांगेन। सदा पुरुषास जें ध्यान। तयास तेंचि प्राप्त॥ (५।६।६३) तुम्ही सर्वज्ञ गोसावी। माझी शंका फेडावी। ऐसा श्रोता विनवी। वक्त्यासी। (६।६।२)

(अर्थ-श्रोता सावधान हों, अब मैं उत्तम गुण बतलाता हूं। २।२।४॥ श्रोतृजन सावधान होकर नवविध भक्ति सुनें। ४।१।१॥ श्रोता पूछते हैं, कि माया और ब्रह्म कैसे हैं? श्रोता और वक्ता के मिस से निरूपण सुनो। ६।५।१॥ हे शिष्य! सावधान होकर सुनो। अब मैं भविष्य बतलाता हूं। सदा पुरुषको जिसका ध्यान रहता है, वही उसको प्राप्त होता है। ५।६।६३॥ वक्ता से श्रोता प्रार्थना करता है, कि आप सर्वज्ञ हैं, गोस्वामी हैं, मेरी शंका का निरास कीजिये। ६।६।२॥)

इनमें से आखिरी दो प्रसंगों में मालूम पडता है, कि शिष्य अथवा श्रोता एक ही होगा। परंतु अधिकतर स्थानों में यही दिखता है, कि श्रोता अनेक थे। यहां श्रोता का अर्थ समर्थजीका शिष्यसमुदाय समझना चाहिये। दासबोध में अनेक जगह वक्ता और क्वचित् जगह गोसावी ऐसे शब्दप्रयोग आए हैं; वहां वक्ता और गोसावी शब्द सद्गुरु समर्थ के ही अर्थ में नियुक्त हैं। श्रोताके मायने शिष्य और वक्ताके मायने गुरु माने जाय, तो इसका अर्थ कैसा करना चाहिये-

" ग्रंथा नाम दासबोध। गुरुशिष्यांचा संवाद ॥१ "

ऊपर लिखे अनुसार अर्थ लिया जाय, तो यह मानना होगा, कि समर्थजीने अनेक समयोंपर अनेक श्रोताओंके सामने अनेक प्रवचन किये हैं। हमारी राय में समर्थजी जब कृष्णातटाक पर आए, तब पहिले पहल एक ही दो शिष्य थे। तब यह बात शक्य और स्वाभाविक थी, कि एक ही शिष्य प्रश्न पूछता और तुरंत ही उसका उत्तर दिया जाता। परंतु आगे चलकर जब ग्यारह मारुति की स्थापना हुई और रामनवमीका उत्सव शुरू हुवा, शिष्य-समुदाय बढने लगा, तब समर्थजी के प्रवचन के बाद अथवा कदाचित् प्रवचनके समय भी अनेक शिष्योंने उन्हें अनेक प्रश्न पूछे होंगे। उन सब के प्रश्नोंको तत्काल उत्तर न देकर, बादमें विश्रांति के समय ऐसी कल्पना करके, कि समूचे शिष्य श्रोता हैं, भिन्न भिन्न विषयोंपर भिन्न भिन्न समास लिखे होंगे। क्वचित् प्रसंगपर जहां प्रश्न समाप्त हुवा, वहां दूसरी ही ओवी में उसका उत्तर दिया है-

निराकार म्हणजे काय। निराधार म्हणजे काय। निर्विकल्प म्हणजे काय। मज निवेदावें॥
(९।१।१)

(अर्थ- मुझे बतलाइये, कि निराकार, निराधार और निर्विकल्प का मतलब क्या है?) इसका उत्तर इसीके बाद की ओवी में है।

निराकार म्हणजे आकार नाहीं। निराधार म्हणजे आधार नाहीं। निर्विकल्प म्हणजे कल्पना नाहीं। परब्रह्मासी॥ (९।१।२)

(अर्थ- निराकारके मायने जिसको आकार नहीं, निराधारके मायने जिसको आधार नहीं, निर्विकल्पके मायने जिसकी कल्पना नहीं हो सकती, वह परब्रह्म।) यह पूरा समास इस प्रकार प्रश्नोत्तररूप है। परंतु संपूर्ण दासबोध में यह एक ही समास ऐसा प्रश्नोत्तररूपी है। बाकी सब समासोंमें एक अथवा अनेक शिष्योंने पूछे हुए प्रश्नोंको अथवा शंकाओंको संग्रहीत करके बादमें प्रश्नोंके उत्तर दिये हैं और शंकाओंका निरसन किया है। कोई कोई समासोंमें शिष्योंको आज्ञार्थमें अथवा विध्यर्थमें उपदेश किया है-

आधी प्रपंच करावा नेटका। मग घ्यावें परमार्थविवेका। येथें आळस करूं नका। विवेकी हो ॥ (१२।१।१) बहुत जन्मांचा शेवट। नरदेह सापडे अवचट। येथे वर्तावें चोखट। नीतिन्यायें॥ (११।३।१) कर्म केलेंचि करावें। ध्यान धरिलेंचि धरावें। विवरिलेंचि विवरावें। पुन्हां निरूपण ॥ (११।५।१) हरिकथा निरूपण। नेमस्तपणें राजकारण। वर्तायाचें लक्षण। तेंहि असावें॥ (११।६।३)

(अर्थ- पहिले अच्छी तरह प्रपंच करना चाहिये; बाद में परमार्थ का विवेक करना चाहिये। हे विवेकी जन! यहां आलस्य मत करो। (१२।१।१) बहुत जन्मोंके अंत में अकस्मात् यह नरदेह मिलता है; इस नरदेह में अच्छी-तरह नीतिन्यायसे रहना चाहिये। (११।३।१) जो कर्म किया है वही कर्म करना; जो ध्यान किया है, वही ध्यान करना; जो विवरण कर चुके हैं, वही विवरण, निरूपण फिरसे करना। (११।५।१) हरिकथाका निरूपण करना चाहिये। नियमित रूपसे राजकारण करना चाहिये। आचरण का योग्य मार्ग वही होना चाहिये। (११।६।३)

इतने विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें आवेगा, कि दासबोध में "गुरुशिष्योंका संवाद" इसका अर्थ शास्त्रीय अथवा व्यावहारिक अथवा संकुचित नहीं, किंतु व्यापक रीतीसे लेना चाहिये।

भगवद्गीता ग्रंथ महाभारतके भीष्मपर्वांतर्गत है। दासबोध स्वतंत्र ग्रन्थ है। भगवद्गीता ग्रंथ बहुत प्राचीन है। महाभारतके निश्चित कालके विषयमें यद्यपि तज्ज्ञ लोगोंमें मतभेद है, तथापि इस बातमें मतभेद नहीं, कि मूल महाभारत ग्रन्थ अर्थात् व्यासकृत 'जय-इतिहास' ईसवी सनके पूर्व कमसे कम १६०० वर्ष पहिले लिखा गया। कई पंडितोंके मतसे महाभारतका युद्धकाल ख्रिस्तपूर्व ३००० वर्ष पहिले है। भारतीय युद्धका इतिहास प्रथमतः व्यासजीने भारतयुद्धके कालमें अथवा शीघ्र ही उसके पश्चात् लिखा। वह 'जय' नामसे प्रसिद्ध है। बादमें वही इतिहास व्यासशिष्य वैशंपायनने जयमेजय राजाको बतलाया; वह 'भारत' नामसे प्रसिद्ध है। अन्तमें वही इतिहास सौतिने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियोंको बतलाया; वह 'महाभारत' नामसे प्रसिद्ध है और उसकी श्लोकसंख्या शतसहस्र अर्थात् एक लाख है। वैशंपायनके २४००० श्लोकवाले भारतमें अनेक उपाख्यानोंको शामिल करके सौतिने शत सहस्र महाभारत ग्रन्थ तैयार किया है। सौतिके महाभारतका काल ख्रिस्तपूर्व ३५० वर्ष है, ऐसा अर्वाचीन पंडितोंका मत है। व्यास, वैशंपायन और सौतिने 'जय' 'भारत' और 'महाभारत' ऐसे भिन्न नामसे भारतीय युद्धका वर्णन लिखा है। जय ग्रन्थसे भारत ग्रंथ बडा है और भारतसे महाभारत बडा है। परंतु भीष्म-पर्वांतर्गत 'भगवद्गीता' इन तीनों ग्रंथोंमें है। अर्थात् वह उन उपाख्यानोंमेंसे नहीं है, जो कि वैशंपायनने अथवा सौतिने पीछेसे रचे हैं। वह भारतयुद्धके समय अथवा शीघ्र ही उसके बाद लिखी गई है। इसपरसे यह सिद्ध है, कि भगवद्गीताका काल कमसे कम ख्रिस्तपूर्व १६०० वर्ष है। दासबोधका काल ईसवी सन १६०० के बाद है [शकाब्दि १५८१+७८-इ० सन १६५९]

भगवद्गीतामें आधारभूत ग्रन्थोंका उल्लेख नहीं है। दासबोधमें पहिले दशकके पहिले ही समासमें आधारभूत ग्रन्थोंके नाम दिये हैं और मुख्यतः आत्मप्रचीतिपर जोर दिया है। आरम्भ ही में समर्थजी कहते हैं-

नाना ग्रंथांच्या संमती। उपनिषदें वेदान्त श्रुति। आणि मुख्य आत्मप्रचीति। शास्त्रेंसहित ॥ (१।१।१५) शिवगीता रामगीता। गुरुगीता गर्भगीता। उत्तरगीता अवधूतगीता वेद आणि वेदान्त॥१८॥ भगवद्गीता ब्रह्मगीता। हंसगीता पांडवगीता। गणेशगीता यमगीता। उपनिषदें भागवत ॥१९॥ इत्यादिक नाना ग्रंथ। संमतीस बोलिले येथ। भगवद्वाक्यें यथार्थ। निश्चयेंसी ॥२०॥ भगवद्वचनीं अविश्वासे। ऐसे कोण पतित असे। भगवद्वाक्य-विरहित नसे। बोलणें येथींचें ॥२१॥

[अर्थ-(इस दासबोधमें) नाना ग्रंथोंकी संमति ली है, तथा उपनिषदों और वेदान्त, श्रुतिकी और मुख्य बात है, आत्मप्रचीति शास्त्रोंके सहित। शिवगीता रामगीता, गुरुगीता, गर्भगीता, उत्तरगीता, अवधूतगीता, वेद, वेदांत, भगवद्गीता, ब्रह्मगीता, हंसगीता, पांडवगीता, गणेशगीता, यमगीता, उपनिषद्, भागवत, इत्यादि नाना ग्रन्थोंकी संमति इसमें ली है, जिनमें कि भगवान्के

वाक्य निश्चित रूपसे आए हैं। ऐसा कौन पतित है, कि जो भगवान्‌के वाक्यपर अविश्वास करे, यहां भगवद्वाक्य के विरहित बोलना नहीं है।]

दासबोधको जो ग्रन्थ आधारभूत लिए गये हैं;उनमें वेद, उपनिषद् और भगवद्गीताके अतिरिक्त ग्यारह गीताओंका उल्लेख है, परंतु अनेक स्थानोंमें केवल भगवद्गीता और भगवद्वाक्योंका ही प्रधानतासे उल्लेख दासबोधमें आया है। कई जगह भगवद्गीताके श्लोक या श्लोकार्ध उद्धृत किये हैं-

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(दशक २ समास१) **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥** (दशक ५ समास४) **अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्** ॥(दशक ७ समास १) **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन। बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्** ॥ (दशक ७ समास २)

इससे पाठकगण देख सकते हैं, कि दासबोधकी शिक्षामें भगवद्गीताके तत्त्वज्ञानकी छाया अनेक जगह पडी है। हमारी समझमें भगवद्गीताका और दासबोध का ध्येय एक ही रहनेका यह एक प्रधान कारण है।

भगवद्गीताकी फलश्रुति अठारहवें अध्यायके अंतमें दी गई है। गीताका तत्त्वज्ञान कह देनेके बाद श्रीकृष्ण अर्जुनको पूछते हैं —

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥१८।७२

भावार्थ- हे अर्जुन! मैंने कहा हुवा तत्त्वज्ञान तुमने एकाग्र चित्तसे सुन लिया? क्या तुम्हारा अज्ञानजन्य भ्रम नष्ट हुवा? इसपर अर्जुन उत्तर देता है-

नष्टो मोहः स्थितिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥१८-७३

भावार्थ- हे कृष्ण! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह गया मैं होश में आगया; मेरे संशय की निवृत्ति हुई। तुम्हारे कहे अनुसार अब मैं करने को तैयार हूं।

अंतिम श्लोकमें व्यासजी भगवद्गीताकी फलश्रुति कहते हैं-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ १८-७८

अर्थ- मेरा यह मत है, कि जहां योगेश्वर कृष्ण है और जहां धनुर्धारी अर्जुन है, वहां लक्ष्मी, विजय, वैभव और अचल नीति हैं।

दासबोधकी फलश्रुति पहिले दशकके पहिले ही समासके अंतमें दी है, क्योंकि पहिली ही ओवीमें श्रोता कहते हैं-

श्रोते पुसती कोण ग्रंथ। काय बोलिलें जी येथ॥ श्रवण केलियानें प्राप्त। काय आहे?॥(दशक १-१-१०)

(**अर्थ-** श्रोता पूछते हैं, कि यह कौनसा ग्रंथ है? इसमें क्या कहा है? इसका श्रवण करनेसे क्या प्राप्ति होगी?)

तब पहिले ग्रन्थ का नाम और उसका प्रतिपाद्य विषय बतलाकर बाद में ग्रंथ की फलश्रुति बतलाते हैं-

आतां श्रवण केलियाचें फळ। क्रिया पालटे तत्काळ। तुटे संशयाचें मूळ एकसरा (दशक १-१-२५) **मार्ग सापडे सुगम। न लगे साधन दुर्गम। सायुज्य मुक्तीचें वर्म। ठायीं पडे॥२९॥ नासे अज्ञान दुःख भ्रांति। शीघ्रचि येथें ज्ञानप्राप्ति। ऐसी आहे फलश्रुति। इये ग्रंथीं॥३०॥ आळशी तेचि साक्षेपी होती। पापी तेचि पस्तावती। निंदक तेचि शिंदू लागती। भक्तिमार्गासी ॥३३॥**

(**अर्थ-** अब श्रवण करने का फल सुनो। इससे क्रिया तत्काल बदल जाती है, यकायक संशय का मूल टूट जाता है (१-१-२८)। सुगम मार्ग मिल जाता है, दुर्गम साधन नहीं लगता, सायुज्य मुक्तिका मर्म ध्यानमें आता है। (२९) अज्ञान और दुःखभ्रांति का नाश होता है, यहां शीघ्र ही ज्ञानप्राप्ति होती है, ऐसी इस ग्रंथ की फलश्रुति है। (३०) आलसी लोग उद्योगी बनते हैं, पापी लोग पछताते हैं। निंदक लोग भक्तिमार्गकी सराहना करने लगते हैं (३३)।)

दासबोध ग्रंथ अध्यात्मप्रधान है, अर्थात् निवृत्तिमार्ग-प्रधान है। परंतु उसमें प्रवृत्तिमार्ग का भी उपदेश है; यह बात 'आलसी लोग उद्योगी बनते हैं' इस फलश्रुतिद्वारा समर्थजीने ध्वनित किया है। जैसे अर्जुन कर्तव्य-मूढ हो गया था, उसी तरह समर्थजीके काल में महाराष्ट्र कर्तव्यमूढ हो गया था। तत्कालीन परिस्थितिके अनुसार, इस गरज से कि प्रवृत्ति मार्ग की गोली मीठी मालूम हो, समर्थजी को प्रथम निवृत्तिमार्ग की मीठी गोली देनी पडी। इस प्रकार भगवद्गीता की और दासबोध की फलश्रुति समान ही है। (अपूर्ण)

समग्र ज्ञानेश्वरीका विहंगम-समालोचन ।

[लेखक- श्री० श्रीराम गोसावी, नाशिक]

प्रस्तावना ।

इस लेखमें समग्र ज्ञानेश्वरीको आगे रखकर मैं सात प्रश्नोंपर साकल्य से तथा संकलित स्वरूपमें विचार करनेवाला हूं- (१) ज्ञानेश्वरी का ध्येय, (२) ज्ञानेश्वरी निवृत्तिपर है या प्रवृत्तिपर ? (३) ज्ञानेश्वरीका तत्त्वज्ञान, (४) ज्ञानेश्वरीका योगसाधन, (५) ज्ञानेश्वरीमें कर्मयोगका स्वरूप, (६) ज्ञानेश्वरीका उदात्त भक्तियोग, (७) ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी की दिव्यता । ज्ञानेश्वरी के समालोचनके लिए ये सात प्रश्न अत्यन्त आवश्यक हैं और इनपर विचार किए विना, मेरी अल्प मतिके अनुसार, ज्ञानेश्वरीका पूर्ण समालोचन हो नहीं सकता । इन सातमेंसे कोई भी एक प्रश्न स्वतंत्र विचारका विषय हो सकेगा, परंतु मैंने इस लेख में उन सबका विहंगम पद्धतिसे समालोचन करनेका विचार किया है। हेतु यह है, कि इस समालोचनको पढनेसे संपूर्ण ज्ञानेश्वरी का स्वरूप साकल्यसे पाठकों को मालूम हो । इसके लिए प्रत्येक विभागमें प्रथमतः दिग्दर्शनार्थ उन उन प्रश्नोंके संबंधमें अपने चर्चात्मक अल्प विचार उपस्थित करूंगा, इसके बाद मैं प्रमाणके लिये ज्ञानेश्वरीके अंतर्भाग ज्ञानदेवकी वाणी (जहांतक हो, ओवी न देकर) विस्तार से उद्धृत करूंगा । इस पद्धतिसे वाचकों का और एक फायदा होगा । वह इस तरह कि यदा कदाचित् मेरे विचारके विषयमें उनके दिलमें मतभेद उत्पन्न हुवा, तोभी इतना जरूर होगा, जब मैं उन उन प्रश्नोंपर ज्ञानेश्वरीमेंसे ज्ञानदेवकी वाणी संकलत करूंगा, तब उन्हें अपना स्वतंत्र मत बनानेके लिए साहित्य भी मिलेगा और स्वातंत्र्यभी रहेगा ।

(१) ज्ञानेश्वरीका ध्येय ।

ज्ञानेश्वरी ग्रंथ सामने आतेही यह प्रश्न सहज ही आगे आता है, कि वह ग्रन्थ लिखते समय ज्ञानदेव ने कौनसा ध्येय आगे रखा था ? जो लोग ज्ञान देवका चरित्र थोडा बहुत जानते हैं और ज्ञानेश्वरीसे अल्पस्वल्प परिचय रखते हैं, उन्हें भी इस प्रश्नका एकही उत्तर सूझेगा, कि ज्ञानदेव सरीखे महानुभावने ज्ञानेश्वरीकी ग्रन्थरचना इसी एक उदात्त हेतु से प्रेरित होकर की होगी, कि सर्वसाधारण लोगोंको परमार्थका ज्ञान और परमार्थप्राप्ति का मार्ग सुलभ और सुगम हो । केवल इतना ही नहीं, वरन ज्ञानेश्वरीसे यहभी बतलाया जा सकता है, कि ज्ञानदेव के मतसे यही ध्येय भगवद्गीताका भी है ।

संसारके चौहारेपर सुंदर मोक्षसुखका अन्नसत्र भगवान्ने खोल दिया है। गीताके रूपमें कैवल्यका दान भगवान्ने अखिल जगत्को दे दिया । गीताको प्रकाशित करके भगवान्ने दुनिया परसे संसार सरीखा भारी बोझा हटा दिया। गीताके योगसे सब लोगोंको स्वानंदसाम्राज्य के चक्रवर्तित्वका पद सुलभ हो गया । अविद्यारूपी अंधकार का नाश करनेमें गीताके श्लोक सूर्यकिरणोंपर भी मात कर देनेवाले हैं । संसार के मार्गपर थके हुए महाधामके मुसाफरोंके लिए गीतारूपी द्राक्षलताका मंडप विश्रामार्थ श्रीहरीने बना दिया है । गीता ज्ञानामृतकी जान्हवी है, आनन्दचंद्रकी सत्रहवी कला है । गीता सचमुचमें केवल बातोंका शास्त्र नहीं, किंतु संसारको जीतनेवाला शस्त्र है । आत्माको अवतरानेवाले गीता श्लोक प्रत्यक्ष मन्त्र हैं ।'

"जैसे यह देखने की जरूरत नहीं, कि कामधेनु छोटी है या बडी नहीं कह सकते, अमृतसिंधु गहरा हो या उथला हो एक बराबर है, अथवा पारिजातके फूल ताजे हैं या बासे हैं; उसी तरह यह कहना व्यर्थ है, कि गीताका अमुक अध्याय ऐसा है और अमुक वैसा है; क्योंकि इस इस गीताशास्त्रमें श्रीकृष्णभगवान् हो वाचा और वाचक हैं। इस गीताका विषय भी परमात्मा है और बोलनेवाला भी परमात्मा है। आत्माके सदृश रत्नको प्राप्त करनेवाला और अखिल वाङ्मयका मंथन करके निकाला हुवा यह (गीता) नवनीत है ।'

'गंगा और यमुनाके उदक प्रवाह रूपसे भिन्न दिखते हों, तथापि जलत्वके नाते वे जैसे एकही हैं; नारीनरके दो आकार भिन्न हों तथापि अर्ध नारी-नटेश्वर का शरीर जैसे एकही है, अथवा चंद्रकी बहुतसी कलाएं गिनी जांय, तथापि चंद्रबिंबके ऊपर उन कलाओंके पुट नहीं रहते; उसी तरह यद्यपि गीता में अनेक अध्याय और अनेक श्लोक रहें, तथापि नाना रत्नमणियोंमेंसे एकही डोरा चल जाता है, वैसेही संपूर्ण गीतामें एकही परमात्माका प्रमेय प्रोत है। फूल बहुतसे हों और मालाओंके अनेक हार किए हों, परंतु उनका सुगंध जैसे एकही रहता है, उसी तरह संपूर्ण गीता के अनेक अध्यायों और श्लोकोंमें एक परमात्मा का तत्व भरा हुवा है। सात सौ श्लोकों में और अठारह अध्यायोंमें भगवान्ने एकही बात कही है। उसमें द्वैत नहीं है।'

'इस अद्वैत बातकी ग्रन्थी यहां भगवान् न खोलते, तो अपनी और परमार्थकी (प्रेम-) ग्रन्थी कैसे बांधी जाती? अज्ञानके अंधकारमें और जन्ममरणके चक्करमें पडे हुये लोगोंको आत्मप्रकाशका मन्दिर कौन बतलाता? श्रीहरि की उन्मेषलताका जो कोई सेवन करेगा, वह सकल मोहपाशोंसे मुक्त होगा। इस अमर सरीता का जल जो कोई चखेगा, वह निःसंदेह अमरणधर्मी होगा।'

इस प्रकार ज्ञानदेवके अनेक वचनों के आधार पर यह कहना गलत न होगा, कि परमात्मप्राप्ति की एकही दृष्टि रखकर ज्ञानदेवने ज्ञानेश्वरी लिखी है। ज्ञानेश्वरीकी यह मुख्य दृष्टी होनेसे, गीतामें आई हुई अन्य सब बातें ज्ञानदेवने ऐसी ही रीतिसे रखी हैं, कि वे परमात्मप्राप्ति के लिए साधनीभूत हों। गीतामें आया हुवा कर्मयोग उन्हों ने परमात्माके लाभही के हेतु उपदिष्ट किया है। गीतामें आई हुई उदात्त नीति समाजस्थितिकी अपेक्षा श्रीहरिकी ओर त्वरित ले जानेवाली है, इसीलिए उसका विस्तृत प्रपंच उन्होंने ज्ञानेश्वरीमें किया है। गीताके अंतर्भूत तत्वज्ञानका प्रतिपादन विश्वके (साकल्य से होनेवाले) ज्ञानके लिए उन्होंने नहीं किया, किंतु ज्ञानेश्वरीमें उसका कथन इसलिए किया है कि वह विश्वनियन्ता परमेश्वरका वास्तव रूप प्रगट करनेवाला है।

ज्ञानेश्वरीके इस ध्येयमें और एक वैशिष्ट्य है। ज्ञानदेवने परमात्माके विषयमें सगुण निर्गुण का भेदभाव नहीं माना; किंबहुना निर्गुण परब्रह्मके लाभकी अपेक्षा ज्ञानेश्वरी में जगह सगुण परमात्माके प्राप्तिकी स्पृहा व्यक्त हुई है। निर्गुण परब्रह्मकी अपेक्षा ज्ञानदेव सगुण परमात्माके भजनको गौण अथवा उसके साधनीभूत नहीं समझते।

परी माझें आराधन। ब्रह्मत्वीं होय सोपान।
तेथ मीं होय साधन। गमेल हो ॥
तरी झणें झणें ऐसें। तुझ्या चित्ती पैसे।
पैं ब्रह्मज्ञान आन नसे। मींवांचोनी ॥'

[अर्थ- परंतु मेरा आराधन ब्रह्मपदके लिए सोपान (जीना) है। तुम्हें मालूम होगा, कि वहां साधन मैं ही हूं। तुम्हारे ध्यानमें कदाचित् यह आवेगा, परंतु मेरे सिवाय ब्रह्म और कुछ नहीं है।]

ऐसे दो ओवी श्रीकृष्णके मुखसे उन्होंने १४ वें अध्यायके अंतमें कहलाई हैं। और इसके

आगे इस उदाहरण से अपना मत स्पष्ट किया है।

पै मंडल आणि चंद्रमा। दोनी नव्हती सुवर्मा।
तैसा मज आणि ब्रह्मा। भेद नाही॥

[अर्थ- हे मर्मज्ञ! जैसे मंडल और चंद्र दो नहीं, (एकही हैं; वैसे मैं और ब्रह्म एकही हैं, इनमें भेद नहीं है।]

ज्ञानेश्वरीका यही वैशिष्ट्य दर्शानेवाली ओवियां ग्यारहवें अध्याय में अर्जुनके मुखसे इस अर्थमें कहलाई हैं-

'जैसे विनोदके हेतुसे चराचर देखने हम बाहर जांय, परन्तु विश्रामके लिए अपने घर वापिस आते हैं, इसी तरह निर्मल परब्रह्मका स्वरूपवर्णन हम कानसे सुने, उसका विराट् दृश्य हम आंखोंसे देखें, परंतु हे श्रीहरि! तुम्हारा चतुर्भुज स्वरूप हमारे विश्रामका एकही स्थान रहे। हम सब योगोंका अभ्यास करें, परंत अन्तमें इसी निश्चयपर दृढ रहें, कि तुम्हारी श्याममूर्ति हमारा एकही सुखनिधान है। शास्त्रों का हम आलोडन करें, परंतु केवल तुम अकेले को सिद्ध करनेके लिए। सब तरहके यजन हम करें, परंतु केवल तुम्हें संतुष्ट करनेके लिए। सब तीर्थोंका पर्यटन हम करें, परंतु केवल तुम्हारे लाभके हेतु!! सारांश यह कि हमारे दान, पुण्य, ज्ञान, ये सब बातें इसी हेतु से हों, कि हे श्रीकृष्ण! उन सबके फलरूपमें तुम्हारा चतुर्भुज रूप हमें प्रत्येक जन्ममें मिलेगा।'

सगुण परमात्माके भक्तिसाध्य लाभ की इसी ध्येयदृष्टि के कारण भाविक वारकरी सांप्रदायमें ज्ञानदेवका ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ, न केवल माताके समान परंतु, प्रत्यक्ष माता समझा जाता है। ज्ञानेश्वरीका सब माधुर्य उसकी इस सगुण रूपकी भाविकता में और श्रद्धामें है। शुद्ध ब्रह्मज्ञानके पश्चात् भी ज्ञानदेवने भक्तिका उपदेश स्पष्ट शब्दोंमें किया है। जिसकी प्रज्ञा परब्रह्म में स्थित हुई, अखिल विश्वही जिसको अपना घर होगया, किंबहुना इस चराचर से जो एकरूप होगया, ऐसा ज्ञानी पुरुष भी यदि श्रीकृष्णजीके भजनके विषयमें आस्था बतलावे, तो भगवान्‌के साथही साथ ज्ञानदेव स्वयं अपना मत बतलाते हैं, कि 'तयातें मीं माथां मुकुट करीं।' [उसको मैं अपने सिरका मुकुट बनाऊंगा।] ज्ञानेश्वरीका यह ज्ञानयुक्त भक्तियोग है। ज्ञानेश्वरीका अभ्यास करनेमें ज्ञानदेव की यही ध्येयदृष्टि रखकर उसके विषयमें बोलना चाहिए। हमको भी आगेवाले सब विभागोंमें इस ध्येयदृष्टिका 'ध्रुवतारा' नजरके सामने रखकर चलना चाहिये।

(२) ज्ञानेश्वरी निवृत्तिपर है या प्रवृत्तिपर?

ज्ञानेश्वरीका प्राप्तव्य परमात्मलाभ है; इसी लिए ज्ञानेश्वरीमें संसारसे निवृत्त होनेका उपदेश है। परंतु शंकराचार्य के समान बाह्य संन्यासपर तथा कर्मनिषेधपर ज्ञानेश्वरीमें कटाक्ष नहीं दिखता। आचार्यका यह आग्रह, कि मोक्षके लिए अथवा परमात्मलाभ के लिए बाह्य सर्वकर्मसंन्यासकी आवश्यकता है, ज्ञानेश्वरीमें नहीं दिखता। तथापि यह बात नहीं है, कि संसारका स्तोम अथवा ऐहिक वैभवका स्तवन ज्ञानेश्वरीमें कहीं मिल जाय; क्योंकि बाह्य संन्यास न हो, तोभी संसार का आन्तर संन्यास ज्ञानदेवको पूर्ण संमत जरूर है, किंबहुना संसारवैराग्यके पुरस्कारमें ज्ञानदेव और ज्ञानेश्वरी किसीसे हार नहीं मानेंगे। इन सब कारणोंसे यह कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं दिखता कि ज्ञानेश्वरी निःसंदेह निवृत्तिपर है।

'समूचे ऐहिक विषय मृगजलके समान क्षणभंगुर हैं और इस संसारकी दशा स्वप्नकी भद्रजाति सरीखी है। सर्पसे खेल क्यों करना? व्याघ्रके संसर्गमें निश्चिंतता कैसे रखी जाय? हालाहल विषको क्यों चखकर देखना? संसार की सारी लीलाएं सर्पसेभी अधिक भयप्रद और उसके विषसे अधिक मारक हैं। व्याघ्रसंसर्ग की अपेक्षा उनका संसर्ग परिणाममें बहुत विषम है।'

'दूसरी बात यह है, कि मरणाधीन शरीरको नाना प्रकारकी भोगरचना प्राप्त करके अन्तमें क्या लाभ

है? पंचमहाभूतोंका यह पिंड आखिर जब पंचत्व को जायगा तब आयुष्यमें इसके लिए किये हुए आयासोंको कहाँ देखना? सचमुच में देहमरण की बुद्धि रखनेके बराबर स्वतःकी वंचना और कोई नहीं है। अकलवान्को अपना अन्तःकरण यहाँ रखना न चाहिए। विषयभोगोंसे किंचित् काल संतोष जरूर प्राप्त होगा, परन्तु वह संतोष साव चोरके सरीखा अन्तमें प्राणहारक ठहरेगा। विषकी प्रथम माधुरी के विषयमें कोई अपने दिलमें चाह उत्पन्न न करे; क्योंकि उसका अंतिम परिणाम बडा ही कश्मल है।"

"विषयोंका सुख मांसका टुकडा है, जो मछली मारने के लिये बंसी में लगाया जाता है। यह चखने में मीठा है, परंतु पीछेसे गला काटेगा। विषयसुख की और लुब्धक के जाल की एकही जाति है। पीछे बडा गोता है, इसलिये मुमुक्षु उस का कभी संग न करे। मनमें वास करनेवाले काम क्रोध प्रत्यक्ष कृतांत हैं। ज्ञानके निधिपर बैठे हुए ये भुजंग हैं। विषयरूपी गुफामें बैठे हुए ये प्राणि-भक्षक व्याघ्र हैं। भजनमार्गपर बैठकर पवित्र साधकको छूकर भ्रष्ट करनेवाले ये अत्यंज हैं। इनके एक कौरको विश्व भी नहीं पूजता। जीव को फँसानेके लिये अहर्निश उनका प्रयत्न जारी है।"

"इन्हीं कामक्रोधने सती शांतिको लूट लिया। माया ढेडनीका श्रृंगार इन्हींने रचा। सत्यकी उदर-कोथली इन्हींने बाहर निकाली। विवेकका आसन येही भग्न करते हैं। वैराग्यकी खाल ये ही निकालते हैं। उपशमकी गर्दन इन्हींने मरोडी। संतोषका उपवन इन्हींने उखाड डाला। धैर्यके दुर्ग इन्हींने उध्वस्त किये। बोधकी घडी इन्हींने उकस डाली और जीवके पीछ सारे तापत्रयकी आग इन्हींने लगा दी। जबतक इनका समूल नाश न हो, तबतक सुख नहीं, ज्ञान नहीं और ईश्वर का लाभ भी नहीं हो सकता।"

"मूलतः यह कहना ही भ्रमात्मक है, कि विषयोंमें सुख है। जैसे विषकंद खानेमें मीठा लगता है इसलिये यह कहना कि वह मधुर है, पापग्रहको मंगल कहकर संबोधन करना अथवा आभासको जल लेखना; उसी तरह यह भाषा है, कि विषय सुखदायक हैं। यह कैसे कहा जाय, कि सर्पके फनकी छाया चूहेको सुखद शीतल है? पंडुरोगकी पुष्टि सच कैसे लेखे?"

"परंतु विषयकर्दममें रहनेवाले दर्दुरोंको यह समझेगा कैसे? भोगजलके मत्स्य उस जलका त्याग कैसे करेंगे? और आज सब ही लोग संसार का त्याग कर दें, तो दुःखयोनिकी सार्थकता कौन बतलावेगा? गर्भवासके संकटों और जन्म-मरणके कष्टोंको कौन भोगेगा?

म्हणोनि अविद्याजात नाथिलें। तें तिहींच साच दाविलें। जिहीं सुखबुद्धि घेतलें। विषयदुःख॥"

भावार्थ-इसीलिये भगवान्ने अविद्याको निर्माण किया, जिससे मनुष्य सुखकी गरजसे वास्तविक विषयरूपी दुःख लेता है।

"यह बात सरल है, कि सकल भोग्य वस्तु इस देहके लिये हैं, किंतु यह देह है कालके मुख में दिया हुवा ग्रास। इस संसाररूप बाजारमें दुःखके गट्ठे पडे हैं। मृत्युके गट्ठे छोडे जा रहे हैं। ऐसी इस जगहमें सुखकी ग्राहकी कैसे होय? चिरागका गुल फूंककर दिया कैसे लगाओगे? विषकंदके रससे अमर कौन हो सकता है? यह सब प्रकार वैसा ही है, जैसे पांवके क्षतको सिर काटकर लगाया जाय।"

"चंद्र जहांपर क्षयसे ग्रासित है, सूर्यके उदय जहाँ अस्त ही के लिये हुवा करते हैं, जहांके सब मंगल कार्योंमें अमंगलका क्रमि बिलानागा पडता है और माताके उदरमें गर्भके पीछ पीछे मृत्युकी खोज लगी है, जिस इहलोकमें यह पता भी नहीं लगता, कि कौन, कितने और कहाँ गए और लाखोंकी यह अज्ञेय दशा जहां नित्य होती है, मरे हुवोंकी कथा जहांके पुराण हैं, ऐसे इस क्षणभंगुर जगत्के लोगोंकी निश्चिंतता देखनेसे और उनका

विषयोंपर विश्वास देखनेसे बडा कौतुक मालूम होता है। मेंडकको निगलनेके लिये सर्प बैठा है और वह मेंडक मछलीको खानेके लिये लालायित हो रहा है, वैसे किस भंगुर लाभके लिये ये प्राणी अपनी विषयतृष्णाको बढा रहे हैं? हर हर! यहां यह सब ही काम बुरा और उलटा दिख रहा है।"

संसारका यह निषेध ज्ञानेश्वरीमें जगह जगह दीखता है। नयी वृत्तिके लोग इससे यह समझेंगे कि ज्ञानेश्वरी दुःखवादी है। परंतु ऐसा कहनेवालों को यह सोचना चाहिये कि, ज्ञानेश्वरीका ध्येय आनन्दमय परमात्मा है; इसलिये जिनका उद्दिष्ट उस परमात्माका लाभ है, जो संपूर्ण सुख की सीमा और शांतिका निधान है; तथा जिन का यह निश्चित मत है कि यह उद्दिष्ट प्राप्त कर लेना सर्वथा संभाव्य है उनका दुःखवादी कहना योग्य न होगा।

संसारका स्वरूप यदि तत्वतः दुःखमय और असार होगा, तो हमारी समझमें यह नहीं आता, कि उसका स्वरूप वैसा दर्शानेमें दुःखवाद किस तरह होता है? क्योंकि संसारकी दुःखमयिता अथवा असारता का जो कथन ज्ञानेश्वरसरीखे साधुने किया है, वह परमेश्वरके आनन्ददायित्व की अपेक्षा ही से किया है। सच्चे दुःखवादी बुद्ध हैं, जो अंतिम ध्येय शून्य बतलाते हैं और यह सब 'दुःखं दुःखं' कहते हैं।

फायलो, प्लेटो, कांट, शोपेनहार, इत्यादि सरीखे महान् चिकित्सक तत्त्वज्ञानियोंने भी अपने ग्रन्थोंमें इस संसारका दुःखमयत्व और मिथ्यात्व नमूद कर रखा है। ऐसी हालत में यह कहना, कि दुःखमय और मिथ्या बातोंसे निवृत्त हो और आनंदधाम परमात्माकी प्राप्ति करके शाश्वत सुखका लाभ लूटो, दुःखवाद नहीं कहा जा सकता; किंबहुना इस तरह का निवृत्तिवाद उसके सचाई के कारण स्पृहणीय ही है।

(३) ज्ञानेश्वरीका तत्त्वज्ञान क्या है?

अभीतक गीतापर जो जो भाष्य और टीकाएं हुई हैं उन सबके भाष्यकार तथा टीकाकार किसी न किसी संप्रदायमें अंतर्भूत होतेही हैं; क्योंकि मूल गीता ही तत्त्वज्ञानपर प्रतिष्ठित है। अब अपने विचारके लिये यह प्रश्न आता है, कि गीतापर 'भावार्थदीपिका' लिखते समय ज्ञानदेव ने कौनसे पुराने तत्त्वज्ञानका अंगीकार किया? या कि उन्होंने अपनी किसी नयी तत्त्वरचना का प्रतिपादन किया?

स्वतः ज्ञानदेवने इसका एक उत्तर इस तरह दिया है- 'भाष्यकारांतें वाट पुसत...' अर्थात् भाष्यकारों से मार्ग पूछता हुआ मैं गया हूं। ज्ञानेश्वरजीने ये शब्द नहीं कहे, कि 'तत्त्वज्ञान के बारे में...' परन्तु यह बिलकुल सच है, कि तत्त्वज्ञानके बारेमें 'भाष्यकारोंसे राह पूछते हुए' ज्ञानदेवने ज्ञानेश्वरी लिखी। ज्ञानदेवने ज्ञानेश्वरीमें अपना तत्त्वसंप्रदाय रूढ नहीं किया परन्तु शंकराचार्यके अद्वैती तत्त्वज्ञानका पूर्णतया स्वीकार किया है और यह ठीक ही है।

दुनियांके बडे बडे सब तत्त्वज्ञानी इकट्ठे किये जांय, तो अधिक संख्या उन्हींकी होगी, जिनका विचारप्रवाह किसी न किसी प्रकारसे अद्वैततत्त्वपर आकर गिरा है। पुराने तत्त्वज्ञानी झेनोफनिस, अरिस्टाटल, प्लेटोसे लेकर स्पिनोझा, कॉंट, शेलिंग फिक्टी और हेगेल तकके ग्रन्थ देखे जांय, तो हमें यह प्रतीत होगा, कि ये तत्त्वज्ञानी बहुंशमें शांकर अद्वैतकी ओर झुकते हैं। इन तत्त्वज्ञानियों के ग्रंथोंमें अद्वैत परब्रह्मके न्यूनाधिक स्वरूपमें दूसरे नाम हमें देखने मिलते हैं। स्पिनोझाका Universal Substance, शेलिंग फिक्टीका Absolute Being अथवा Idea, हेगेल का Universal and Pure Being, शोपेनहार की Universal Will और हार्टमनका Unconscious इत्यादि सबही परब्रह्मके द्योतक नाम हैं। यह जरूर है, कि तफशील में जानेसे शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान में और उपर्युक्त विद्वानों के तत्त्वज्ञान में बहुतसा फरक दिखेगा, परन्तु मेरा हेतु केवल इतनाही बतलानेका है, कि विश्वके मूलभूत तत्वके

स्वरूपविषय में उनके मत बहुधा सदृश अथवा निकटवर्ती हैं। अतः यह योग्य ही हुवा, कि ज्ञानदेवने गीताकी अपनी टीकामें उसी अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया, जो कि दुनियां के उत्कृष्ट बुद्धिवानोंको मान्य था।

शंकराचार्यके अद्वैत तत्त्वज्ञान के तीन प्रमुख सिद्धांत ऐसे हैं-

(१) ब्रह्म सत्य अद्वितीय है, (२) जगत् मिथ्या है, और (३) जीव परब्रह्मस्वरूप ही है। इन्हीं सिद्धांतोंके साथ और दो उपसिद्धांत कहे जा सकते हैं- (१) सृष्टिका उपादानकारण तथा निमित्तकारण ब्रह्महो है और (२) जीव और ब्रह्ममें जो अविद्यामूलक भेद है वह उस अविद्याके नाशही से अर्थात् ज्ञानही से दूर होगा। ज्ञानेश्वरीमें इन पांचों सिद्धांतोंका पूर्ण स्वीकार ज्ञानदेवने किया है।

'परब्रह्म अनादि, नित्यसिद्ध, निरुपाधि और विशुद्ध है। वह नित्य, अचल, शाश्वत और सदा परिपूर्ण है। परब्रह्ममें यह सब जगदाकार माया के वशसे स्वप्नके सदृश भासमान होता है और उसकी वैसी ही अवस्था है, जैसे वायुवशात् समुद्रपर तरंग निर्माण होते हैं। आकाशमें जैसे अभ्रपटल इकट्ठा होता है, उसी तरह यह सब मूर्त जगत् मायाकारित है। दर्पणके आधारसे एकहीका दूसरा दिखता है, परन्तु वस्तुविचारसे वहां दूसरा है ही नहीं, उसी तरह प्रकृतिके संगसे यह विश्वमय विविधता भासमान होती है; परन्तु मूलतः उसे शाश्वत स्वरूप नहीं है। यह अज्ञान का बुद्धिभेद है और अज्ञान ही के कारण एकको अनेकता प्राप्त हुई है। परन्तु जैसे मृगजल का रूप देखने जाँय और सूर्य के किरण हाथ लगें; उसी तरह मायाके संगवशात् भासमान होनेवाली सृष्टिका मूल परब्रह्मही में मिलेगा। सुवर्णके मणि बनाना और सुवर्णही के धागेमें गुहना, वैसेही सबाह्य अभ्यन्तरमें एकही परमात्माने इस जगत् को धारण किया है। इस समस्त विश्वका मूल और रूप एक परमात्मा ही है, तथापि वह परमात्मा स्वतः अविकृत ही है।'

'जैसे बीजसे काष्ठ होता है परन्तु उस काष्ठ में बीज नहीं रहता; गगनमें अभ्र-पटल निर्माण होता है, परन्तु अभ्रपटल जैसे गगन नहीं है; अभ्रमें पानी रहता है, परंतु पानीमें जैसे अभ्रपटल नहीं रहता, उसी तरह यद्यपि यह सारा विकारका पसारा परब्रह्मसे हुआ है; परन्तु वह परब्रह्मका स्वरूप नहीं है। जिस तरह पानीपर उत्पन्न होनेवाले पत्ते उसी पानी को ढांक देते हैं, अथवा आंखोंपर आया हुवा पडदा आंखोंकी दृष्टिको लुप्त कर देता है; उसी तरह ये सब प्राणिगण परब्रह्मपर विलसित हैं, तथापि अहंमत भ्रांतिसे उन्हें मूल परब्रह्म अपरिचित हो गया है; परब्रह्मसे ही बने हुए हैं, परन्तु परब्रह्मको नहीं पहचानते ऐसी दारुण विषयांधता उनमें आ गयी है। पवित्र और मधुर दुग्ध केवल एक पतली त्वचाकी आडमें रहता है, परन्तु किलनी गायके स्तनपर बैठकर गंदला खून पीता है; कमलके कंद और मेंडक कीचडमें पास पास रहते हैं, परन्तु भ्रमर कमलपरागोंको खाता है और मेंडक कीचडको चाटता हुआ बैठता है, उसी प्रकार अज्ञानियोंके सब व्यवहार हैं।'

'सकल सुखोंका आराम जो परमात्मा वह हृदय में वास करता है; परन्तु भ्रांत लोगोंका मन कामविषयकी ओर दौडता है- यह कैसा दुर्विलास है! जैसे मृगजल को देखकर मुंहका अमृत थूंक दिया जाय, सीपीके लोभसे गलेमें बंधा हुआ पारस फेंक दिया जाय, वैसेही शाश्वत सुख के निधान ऐसे परमात्माको छोडकर अहंममता की खटपट में, जन्ममरण के दोनों तटोंके बीच, गोते खाते रहना अत्यन्त दुर्बुद्धिका लक्षण है!'

'सचमुच में परमात्मा दुर्लभ नहीं है। जमा हुवा दूधही दही है, अथवा जैसे बढा हुआ बीजही झाड है; उसी प्रकार एक परब्रह्मका विस्तार ही विश्व है। परन्तु जैसे पानीके पृष्ठभागपर जो फसूकर आता है, उसमें पानी नहीं दिखता, वैसेही यह जगत् परमात्मा से हुआ है, परंतु

इस जगत्में वह परमात्मा दिखता नहीं। तथापि रज्जुपर सर्पका जो आरोप किया अथवा भ्रम हुवा, वह सर्पत्व की कल्पना जहां दूर हुई, वहीं से रज्जूका रूप अखंड हो जाता है, उसी तरह जहां एक अविद्याका नाश हुवा, वहींसे परमात्मा का रूप सुलभप्राप्त है।'

'क्योंकि 'विश्वका भर्ता अथवा भर्ता परमात्मा है,' इत्यादि वचन संकल्पसन्निपातके हैं। यह सब भूतमात्रका आभास वैसाहि है, जैसे सूर्य के किरणोंपर मृगजलका आभास होता है। इसके अस्तित्व अनास्तित्व की कथाएं कल्पनाकी बुनियादपर की गई हैं। जहां मूल कल्पनाही चली गई, वहां उसके साथ अस्ति-नास्ति की बातें भी चली जायगीं। इस प्रकारकी प्रतीति के बोध-सागर में प्रत्येक मनुष्य स्वतःको कल्लोलरूप समझे; इससे चराचर में मैं-तू की द्वैत बातों के लिए अवकाशही न रहेगा।'

'क्योंकि अनादित्व के कारण परब्रह्म नित्य-सिद्ध है। उसके निर्गुणत्वके कारण उसका सफल अथवा निष्फल नहीं कह सकते, अक्रिय अथवा क्रियाशील नहीं कह सकते, कृश अथवा स्थूल नहीं कह सकते। उसके अरूपत्वके कारण उसको साभास अथवा निराभास नहीं मान सकते, सप्रकाश अथवा अप्रकाश नहीं मान सकते, अल्प अथवा बहुत नहीं मान सकते। उसके शून्यत्व के कारण रीता अथवा भरा हुआ, रहित अथवा सहित, मूर्त अथवा अमूर्त, इत्यादि विशेषणोंका उपचार उसके विषय में हो नहीं सकता। उसके एकात्मत्व के कारण वह सानन्द अथवा निरानन्द नहीं माना जा सकता, एक अथवा विविध नहीं माना जा सकता, मुक्त अथवा बद्ध नहीं माना जा सकता। सृष्टिके होनेसे वह होता नहीं, संहारसे जाता नहीं; क्यों कि, 'है, और नहीं' इन दोनों बातोंका वह पंचत्व है।'

'आकाश कहां नहीं रहता? और कौनसी वस्तु है जिसमें वह प्रवेश नहीं करता? परन्तु वह जैसे किसी भी चीजसे मलीन नहीं होता, उसी तरह सर्वत्र सकल देहोंमें आत्मा निवास करता है, तथापि किसीके संगदोष से वह दूषित नहीं होता। यह निर्मल ज्ञान जिसको हुवा वह इस सारे अद्वैत स्वप्नसे मुक्त हुआ। रज्जुको हाथ में लेकर जैसे सर्पत्व का संशय दूर कर सकते हैं, उसी तरह एक परमात्माके बोध से यह सब किल्मिष दूर करना चाहिए। जहां यह हुआ, वहां प्रत्येक मनुष्यका स्वतःसिद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप उसी के पास है। गगन जैसे गगनसे मिले, अथवा क्षीरसागर जैसे क्षीरसागर की दावत करे, अथवा अमृत होकर अमृतसे मिल जाय, उसी तरह परमात्मा के ज्ञानही से परमात्मरूप हो जाना चाहिये।'

इस प्रकार अद्वैत ज्ञानपर संपूर्ण ज्ञानेश्वरी अधिष्ठित है। शंकराचार्य के बुद्धिमय और तर्क-कर्कश तत्त्वज्ञान को ज्ञानदेवने अपनी उदात्त भावनामयता से और दिव्य काव्यशक्ति से भरदार और मोहक स्वरूप दिया है। ज्ञानदेव के शब्दोंमें कहना हो, तो ब्रह्मवाक्यके ये फल नानार्थरस से रसमय हुए हैं, भावके परिमल से सुगंधित हुए हैं। इन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है, कि मानो ये प्रमेयों के मांजे हुए हैं, या ब्रह्मरसके समुद्रमें डुबोये गए हैं, या प्रत्यक्ष परमानंद में घोले गये हैं।'

जैसे गगन को छान दिया जाय, अथवा अमृत को छील दिया जाय, उसी तरह ज्ञानेश्वरीमें ज्ञानदेव ने यह अत्यन्त निर्मल और अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान बडी कुशलता से निवेदन किया है। निरालंब महदाकाश में उन्होंने मानो अनुभवी शब्दों का मण्डपही खडा कर दिया है। ऐसा तत्त्वानुभव और सकल तत्त्वोंका समन्वय तत्त्वज्ञानके अन्य किसीभी ग्रंथमें न मिलेगा। जिस प्रकार पत्नीके एकनिष्ठ पातिव्रत्यके कारण पत्नीकी महती पतिसेभी अधिक मालूम होती है, उसी तरह यद्यपि श्री शंकराचार्य अद्वैत तत्त्वज्ञान के प्रणेता हैं, तथापि अपनी अतुलनीय समन्वय-बुद्धि से तथा एकात्मभाव से ज्ञानदेवने शंकरा-

चार्यको भी इस विषयमें परास्त कर दिया।

आचार्यके तत्त्वज्ञान-ग्रंथोंमें तर्ककर्कशता बहुत है और वादविवाद का भारी अट्टहास है, परंतु ये दोनों बातें छोडकर, आचार्यसे राह पूछते हुए, ज्ञानदेवने उनका तत्त्वज्ञान बहुतही समर्पक रीतिसे ज्ञानेश्वरीमें उपस्थित किया है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञ दृश्य सृष्टिके आगे नहीं गये, जन्ममरण और कर्मविपाक के सच्चे स्वरूप का उन्हें आकलन नहीं हुआ, उनके समूचे तत्त्वज्ञानमें बंध मोक्षका पताभी नहीं है, अतः यह कहना अनावश्यक है, कि वे ज्ञानदेवके पासंग में भी नहीं आते।

गीतामें सांख्य तत्त्वज्ञानका जितना संबंध आया है वहाँतक उसका ज्ञानेश्वरीमें विवरण ज्ञानदेव ने किया है। परंतु उस द्वैती तत्त्वज्ञानपर अद्वैतकी टोपी जैसे मूल गीतामें रख दी है, वैसेही ज्ञानदेवने उसको कायम रखा है। ज्ञानेश्वरीमें प्रतिपादित तत्त्वज्ञानका स्वरूप ऐसा है, जैसा कि ऊपर दिग्दर्शित किया है।

(४) ज्ञानेश्वरीका योगसाधन।

ज्ञानेश्वरीका प्रत्यक्ष अध्ययन किए विना अपना मत प्रस्थापित करनेवालोंमेंसे कई लोगोंकी यह धारणा रहती है, कि ज्ञानेश्वरी योगपर ग्रंथ है; परंतु ऐसे अभ्यासकों के मतोंकी कोई कीमत नहीं रहती। तथापि लोकमान्य तिलक सरीखे अभ्यासक जब यह कहते हैं, कि ज्ञानदेव के मत से ' मोक्षपंथमें पातंजल योगही को भगवान्ने पंथराज अर्थात् सर्वोत्तम पंथ ठहराया है, तब इस विधानके बारेमें विचार करना आवश्यक होता है।

यह बात सच है कि ६ वें अध्यायमें योगमार्ग के विषयमें लिखते हुए ज्ञानेश्वरने 'पंथराज' शब्द का प्रयोग योगके गौरवार्थ किया है। परंतु उस एक शब्दके आधारपर लोकमान्य तिलक जो कहते हैं, कि 'ज्ञानेश्वर पातंजल योगही को सर्वोत्तम पंथ ठहराते हैं,' वह यथार्थ नहीं, क्यों कि इससे ऐसा समझनेको अवसर मिलता है, कि पातंजल योग ही परमार्थ का प्रमुख साधन है और कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि साधन गौण हैं, अर्थात् उस दर्जेको नहीं पहुंचते। परंतु ज्ञानेश्वर महाराजके विषयमें ऐसी समझ होनेको अवसर देना बडी भूल है। यदि कोई ऐसा विधान करे, कि ज्ञानेश्वरीमें 'भक्तिपंथ' सर्वश्रेष्ठ है, तो वह इतना गलत न होगा, जितना कि लोकमान्य तिलकका उपर्युक्त विधान है।

अब यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है, कि ज्ञानेश्वर महाराज ने योगमार्ग को उद्देश्य करके जो ' योगराज ' शब्दका प्रयोग किया है, उसका महत्त्व क्या है ? इसका उत्तर थोडेमें इस तरह दिया जा सकता है-

गीताके ९ वें अध्यायमें जिस मोक्षकर ज्ञानको और भक्तिसाधनको उद्देश्य करके भगवान्ने 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' कहा है वह ज्ञान और भक्तिसाधन समस्त मोक्षपंथों में श्रेष्ठ है और वही गीताका सर्वोत्तम रहस्य है- ऐसा अतिव्याप्त विधान यदि कोई करता, तो स्वतः लोकमान्य तिलक उसपर आक्रमण करते। क्यों कि उनके प्रिय निष्काम कर्मयोगका उक्त अध्यायमें विशेष संबंध नहीं है, किंतु उसमें भगवान् ने अनन्य भक्तिसाधन का ही बहुतसा गौरव किया है।

इसी योगप्रकरण में श्री० लक्ष्मणराव पांगारकरने अपने नये ग्रन्थमें कुछ अंश में लोकमान्य तिलकके विपरीत प्रकार किया है। पांगारकर महाशय लोकमान्य तिलकके विरुद्ध यह सिद्ध करने गए, कि ज्ञानदेव योगही को सर्वोत्तम योगपंथ नहीं समझते। यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हुए उक्त महाशयने केवल ऐसे स्थानोंके श्लोक (ओवी) उद्धृत किए हैं, जहां ज्ञानदेवने प्रसंगोपात्त योगका महत्त्व कम बतलाया है और योगको जितना महत्त्व ज्ञानदेव देते हैं उससे वह कम करनेका प्रयत्न उक्त महाशयके हाथ से जान बूझकर या अज्ञानता से हुवा है।

स्वतः ज्ञानदेव योगेश्वर थे, उनके गुरु

श्रीनिवृत्तिनाथ योगविद्यापारंगत थे और उनका नाथपंथ सारे हिंदुस्थानमें योगके बारे में सुप्रसिद्ध है, इत्यादि सब बातें जिस तरह श्रीलक्ष्मण-राव को मान्य हैं उसी तरह हम आशा करते हैं कि उन्हें यह बात भी मान्य होगी, कि जिस ६ वें अध्यायमें ज्ञानदेवका विस्तृत योगवर्णन आया है, वह ६ वां अध्याय योगसाधनसे संबद्ध है। परंतु श्री० पांगारकर के इस विधानका आकलन होना कठिन है, कि निवृत्तिदेव सरीखे योगमार्ग-के ग्राहीक श्रोता देखकर उन्होंने (ज्ञानदेवने) यथार्थ की घडी कुछ विस्तारसे अनावृत करके बतलाई; इसमें 'उन्होंने (ज्ञानदेवने) विषयांतर किया ऐसा कबूल किया है।' हमारी समझमें यह नहीं आता, कि किसी एक विषयका विस्तार करने में विषयांतर कैसे होता है। स्वयं श्री० पांगार-कर ऐसा नहीं कहेंगे, कि जहां जहां ज्ञानदेवने विषयविस्तार किया है, वहां वहां उन्होंने विष-यांतर किया है, क्यों कि संपूर्ण १८ वें अध्यायमें विषयविस्तार बहुत है, परन्तु इससे कोई यह कैसे कहेगा, कि वह विषयको छोडकर लिखा गया है ?

तेणें काय काज आपण पथा' [इस पंथसे हमें क्या मतलब ?] यह श्लोकका हिस्सा जो श्री० पांगारकरने दिया है, वह योगसे मिलनेवाली सिद्धि के विषयमें है, योगमार्ग के विषयमें नहीं है। दूसरी बात यह है कि योग की विकटता और कष्टकारिता के विषयमें उन्होंने जैसे ज्ञाने-श्वरीके अवतरण दिये हैं, वैसे अपने ग्रन्थमें वे श्लोक नहीं दिये, जिनमें योगकी सुलभता और सुखदायित्वके बारेमें विवेचन है। इसका परिणाम यह होता है, कि पाठकोंके दिलपर योगके विषय में पांगारकर महाशयकी अरुचिकी छाप विना-कारण पड जाती है। परंतु यह ठीक नहीं है। योग की सुलभता के विषयमें स्वतः ज्ञानदेव श्रीकृष्ण-मुखसे अर्जुनको प्रश्न करते हैं-

तूं प्राप्तीची चाड वाहसी । परी अभ्यासीं दक्ष न होसी। ते सांग पां काय विहसी । दुनाडपणा ॥ तरी पार्था हें झणें। सायास घेशी हो मनें। वाया बागुल इये दुजानें। इंद्रियें करिती ॥ पाहें पां आयुष्यातें अढळ करी। जें सरतें जीवितवारी। तया औष-धातें वैरी। काय जिह्वा न म्हणे ॥ ऐसें हिताचि जें जें निकें। ते सदाचि या इंद्रियां दुखे। एऱ्हवी सोपें योगासारिखें। काय आहे ॥

[अर्थ- तुम प्राप्तिकी इच्छा रखते हो, परंतु अभ्यास में दक्षता नहीं रखते, तो क्या तुम इसको दुर्घट समझकर डरते हो ? हे पार्थ ! इसके विषय में तुम्हें दहशत न रखनी चाहिये; ये दुष्ट इंद्रिय नाहक इसको हौवा बनाते हैं। देखो, जो औषधि आयुष्य को मजबूत करती है, समाप्त होनवाले आयुष्य को वापिस लाती है, उस औषधिको क्या जिह्वा अपना शत्रु नहीं मानती ? इसी तरह हमारे हितकी दृष्टि से जो जो चीज अच्छी हैं, वह सदैव इन इंद्रियों को कष्टदायक मालूम होती है; परंतु इस योगसरीखी सुलभ वस्तु और कौनसी है ?]

और एक जगह ज्ञानदेव कहते हैं-

पाठीं महर्षी येणें आले। साधकाचे सिद्ध झाले।
आत्मविद् थोरावले। येणेंचि पंथें ॥
हा मार्ग जैं देखिजे। तैं तहान-भूक विसरिजे।
रात्र दिवस नणिजे। वाटें इयें ॥
चालतां पाऊल जेथें पडे। तेथें अपवर्गाची खाणी उघडे ॥ अव्हांटलीया तरी जोडे। स्वर्गसुख ॥
निगिजे पूर्वीलिया मोहरा। आणि येइजे पश्चिमेच्या घरा। निश्चळपणें धनुर्धरा। चालणें येथिंचे ॥

[अर्थ-इसके पीछे अनेक महर्षि आये; इसी पंथ-के द्वारा साधक के सिद्ध हो गए, इसी पंथके कारण आत्मविदों को श्रेष्ठता प्राप्त हुई। जहां यह मार्ग दिख पडा, वहां भूख और प्यास भूल जाते हैं; इस राहके चलनेमें रात और दिन की सुध नहीं रहती। चलते चलते जहां पैर पडे, वहां अपवर्ग (स्वर्ग) की खदान खुल जाती है; उस (खदान) की

की और दुर्लक्ष्य भी किया जाय, तब भी स्वर्गसुख की प्राप्ति होती ही है। पूर्व दिशाकी ओर मुंह करके निकल और पहुंचे पश्चिमके घरको! हे धनुर्धर! इस मार्गका निश्चलतासे अवलंबन करना चाहिये।]

योगका वर्णन सुननेपर अर्जुन इस तरह कबूली जबाब देते हैं-

तो'च योगु कैसा कंवी जाणों। आम्ही येतुले दिवस याची मातु ही नेणों। म्हणुनी मनातें जी म्हणों। अनावर॥

[अर्थ- हम किस तरह जानें, कि वह योग कैसा है? इतने दिनोंतक हमें उसकी वार्ता भी मालूम न थी। इसी लिये मन को हम अजिंक्य कहते हैं।]

ये सब अवतरण देकर मुझे इतनाही बतलाना है कि परमार्थ के साधनों में यह योगमार्ग ज्ञानदेव को बहुतही इष्ट मालूम होता था। तथापि मैं यह कबूल करने को तैयार हूं, कि भक्तिहीन योगमार्ग ज्ञानदेव को कभी पसंद न होता।

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म।

जैसे अवतारके जन्मके, उसी तरह अवतारके कर्मके भी दो अर्थ और दो प्रकार हैं। उत्कर्ष और अपकर्षक चक्रनेमिक्रमसे जाना ही निसर्गका नियम है। उस नियमके आधीन होकर मानवजाति कभी उन्नति की ओर, तो कभी अवनति की ओर झुकती है। निसर्गका ऐसा नियम होते हुए, जो धर्म मानवजातिकी अवनतिको रोककर मनुष्यको क्रमशः देवत्व की ओर ले जाता है, उस धर्मकी ग्लानि दूर करके उसका संरक्षण करना ही अवतार का कर्म है। भागवत शक्ति बाह्य जगत्पर क्रिया करके यह कर्म संपादन करती है। यही अवतारी कर्म का बहिरंग है।

भगवान्के चैतन्यकी दिव्य शक्ति व्यक्तिगत अथवा जातिगत आत्मापर क्रिया करती है और इस प्रकारसे मनुष्यमें भगवान्का नव नव प्रकाश प्रकाशित होता है और उससे मनुष्यके ऊर्ध्वमुखी आत्मविकासको विशेष सुविधा और सहाय्य होता है। अवतारी कर्मका यह अंतरंग है। साधारण कर्मप्रवण मनुष्यकी यह धारणा रहती है, कि केवल बाह्य जगत्में एक महत्कार्य करनेके ही लिए अवतारका उदय होता है। परंतु वस्तुतः यह धारणा यथार्थ नहीं है। बाह्य कर्म और बाह्य घटनाको स्वतःकी कोई भी कीमत नहीं है। उनकी जो कीमत है, वह उनके पीछे रहनेवाली शक्ति और भावहीके कारण है!

जिस संधिकालमें अवतारका उदय होता है, वह काल जड जगत्में और बाह्य परिस्थितिमें बाह्य दृष्टिको महान् क्रांतिकारक अवश्य मालूम होता है; परंतु जब वस्तुतः मानवी चैतन्यका महान् परिवर्तन करना होता है और कुछ अभिनव विकास करना होता है; चैतन्य जगत्के उसी संधिकालमें अवतार का आविर्भाव होता है। यह परिवर्तन साधनेके लिये एक दिव्य शक्तिकी आवश्यकता होती है। इस शक्तिमें चैतन्यका प्रकाश जितना अधिक हो, उतना उसका कार्य भी बृहत् होता है। इसीलिये मानवी मन और आत्मामें भागवत चैतन्यका आविर्भाव आवश्यक होता है। किंतु जब प्रमुखतः केवल मानसिक और व्यावहारिक जगत्का परिवर्तन चाहिये हो, तब अवतारको उसमें हाथ डालनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। उस समय चैतन्यकी खूब उन्नति होती है, शक्तिके महाप्रकाशमें उस कालके लिये मनुष्य अपने साधारण स्तरमेंसे उत्थित हुआ रहता है और चैतन्यशक्ति का यह अभ्युदय कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंमें उत्कर्षको

पहुंचा रहता है। इन्हीं व्यक्तियोंको विभूति कहते हैं और केवल इन्होंके नेतृत्वसे उक्त परिवर्तन हो जाता है।

युरोपका रिफार्मेशन (Reformation) और फ्रेंच राज्यक्रांति (French Revolution) इसी प्रकारके परिवर्तन हैं। इस परिवर्तनको आध्यात्मिक घटना नहीं कह सकते। वह केवल बौद्धिक और कर्मजगत्का परिवर्तन है। उक्त दोमेंसे एक प्रचलित धार्मिक कल्पना वगैरका परिवर्तन है और दूसरा सामाजिक और आर्थिक आदर्शका तथा धारणाका परिवर्तन है। इसके परिणाममें चैतन्यजगत्में जो परिवर्तन हुआ, वह आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं किंतु मानसिक और व्यावहारिक परिवर्तन है। परंतु जब नवयुग निर्माण करनेके हेतुसे आध्यात्मिक परिवर्तन करना पड़ता है, तब नवयुगनिर्माताके मानवी मन और आत्मामें ईश्वरी चैतन्यका पूर्णतः अथवा अंशतः आविर्भाव होता है। वही अवतार है।

गीतामें अवतारका बाह्य उद्देश धर्मसंस्थापना बतलाया गया है। युग युगमें जब धर्मको मालिन्य आता है, धर्म जब अवसन्न और हीनबल होता है और अधर्म प्रबल तथा अत्याचारी होता है, तब अवतार प्रकट होता है और वह धर्मको सबल और सुसंपन्न करता है। धर्माधर्म जिस समय मनुष्यहीके द्वारा मूर्ति ग्रहण करता है, उस समय अधर्मकी पीडासे त्रस्त साधुओंका संरक्षण करना और अधर्मको सहाय करनेवाले दुष्टोंको दंड करना अवतारका लौकिक तथा बाह्य उद्देश ठहरता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥४-७
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ४-८॥

परंतु यहां गीताके जिस भाषाका उपयोग किया है, उस भाषामेंसे लोग ऐसा संकुचित अर्थ निकालते हैं, कि जिससे अवतारत्वका गंभीर आध्यात्मिक अर्थ बिलकुल नष्ट हो जाता है। धर्म शब्दको जैसा नैतिक अर्थ है, वैसा तात्त्विक और आध्यात्मिक भी अर्थ है। इनमेंसे कोई भी अर्थ लेकर और अन्य अर्थोंको अमान्य करके धर्म शब्दका उपयोग कर सकते हैं। केवल नैतिक (Ethical), केवल तात्त्विक (Philosophical) अथवा केवल आध्यात्मिक (Religious) अर्थसे भी धर्म शब्दका उपयोग किया जा सकता है। धर्म शब्दका नैतिक अर्थ है,सत्कर्मकी नीति, न्याय्य आचारके नियम; अथवा इससे भी व्यावहारिक अर्थ लेवें, तो सामाजिक और राजकीय न्यायके नियम-ऐसा अर्थ होता है। इससे भी संक्षिप्त रीतिसे कहना हो, तो धर्म शब्दका नैतिक अर्थ समाजका अनुशासन पालना है। धर्मका यह अर्थ मान्य किया जाय, तो हमको यह समझना चाहिये, कि जब अन्याय,अविचार और अत्याचारका प्रादुर्भाव होता है, तब सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये, दुर्जनोंका विनाश करनेके लिये, अन्यायों और अत्याचारोंका निर्दालन करके मानवसमाजमें न्यायकी तथा सुविचारकी संस्थापना करनेके लिये अवतारका आविर्भाव होता है।

इसतरह कृष्णावतारकी आवश्यकताका पुराणोंमें वर्णन किया गया है। कौरवोंके दुष्कर्मोंका भार पृथ्वीको इतना असह्य हुआ, कि वह हलका करनेकी गरजसे अवतार लेनेके लिये उसने भगवान्से प्रार्थना की; और इसलिये भगवान् विष्णु कृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए। विष्णुके पिछले अवतारोंकी भी आवश्यकता इसी प्रकार वर्णित है। रावणके अत्याचारका नाश करनेके लिये राम अवतीर्ण हुए, क्षत्रियोंकी अन्याय्य उच्छृंखलताका निर्मूलन करनेके लिये परशुराम प्रकट हुए और दैत्य बलिका प्रभाव नष्ट करनेके लिये वामनका अवतार हुआ। परंतु इस प्रकार केवल नैतिक, सामाजिक अथवा राजकीय हेतुकी पूर्ति करना ही अवतारका हेतु है, ऐसा जो वर्णन पुराण आदिमें किया गया है, उससे अवतारका वास्तविक परिचय नहीं होता। इस वर्णनमें अवतार

की आध्यात्मिक आवश्यकता गृहित नहीं ली है। इस प्रकारकी बाह्य आवश्यकता ही में यदि अवतार की इतिकर्तव्यता होती हो, तो क्रिस्त और बुद्धको अवतारके पर्यायमेंसे अलग करना पडेगा; क्योंकि इन महापुरुषोंका ध्येय सज्जनोंका रक्षण और दुर्जनोंका निर्दालन नहीं था। ये महापुरुष अपने उदयके साथ जो लाए, वह है मानवजातिके लिये एक आध्यात्मिक नूतन वाणी, दिव्यजीवनप्राप्तिका एक अभिनव धर्म।

परंतु यदि हम धर्म शब्दका आध्यात्मिक अर्थ लेवें, धर्मके मायने केवल धर्म और अध्यात्मजीवन को नीति समझें, तो यद्यपि हम अवतारव्यापारका मूल सत्य अवगत कर लें, तथापि उससे अवतारी कर्मका एक विशेष और आवश्यक पहलू निकल जाता है। भगवान्के अवतारी इतिहासमें दो प्रकारके कर्म हमें सर्वकाल देखने मिलते हैं और ऐसा होना ही योग्य है; क्योंकि अवतार इस जगत्में भगवान्के कार्य ही का विस्तार करना है। दुनियामें जैसे भगवान्की इच्छा और ज्ञान कार्य करते हैं, उसीतरह अवतार भी कर्म करता है। अवतारके इस कार्यकी हमेशा दो बाजू रहती हैं। अंतर्जगत्में आत्माकी उन्नति साध्य करना, एक बाजू है; मानव-समाजका, मानव-जीवनका बाह्य परिवर्तन साध्य करना, दूसरी बाजू है।

किसी महान् आध्यात्मिक गुरुके अथवा रक्षण-कर्ताके रूपसे क्रिस्त अथवा बुद्धका अवतार आविर्भूत हो सकता है; परंतु उनका सांसारिक प्रकाशकाल समाप्त होनेपर उनके कर्मोंका परिणाम न केवल मानवजातिके नैतिक जीवनपर, किंतु सामाजिक और राजकीय जीवनपर तथा आदर्शोंपर भी क्रांतिकारक होता है। दूसरी दृष्टिसे, दिव्य-व्यक्तित्व अथवा शक्तिको साथ लेकर वह दिव्य-जीवन राम अथवा श्रीकृष्णके सदृश बाह्यतः सामाजिक अथवा राजकीय क्षेत्रमें गंभीर परिवर्तन करनेके लिये अवतीर्ण होते हैं।

इस प्रकारके अवतारका परिणाम मानवजातिका अंतर्जीवन तयार करनेके काममें और दिव्य जन्म लाभके कामके शाश्वत रूपसे साहाय्यक होता है। बौद्ध और क्रिस्त धर्मका जो स्थायी और व्यापक परिणाम हुवा, वह सामाजिक और राजकीय क्षेत्रमें हुआ। किंबहुना हमभी देखते हैं, कि जिस कालने और जिस देशने उक्त दोनों धर्मोंकी साधनाको, अनुष्ठानको और तत्वज्ञानको वर्ज्य किया है, वे भी इस धर्मके सामाजिक और नैतिक आदर्शके प्रभावसे मुक्त न हो सके। यह एक अत्यंत रहस्यमय बात है। ब्राह्मण हिंदुधर्मने यद्यपि बुद्ध, बुद्धधर्म, बुद्धसंघ इन सबका बहिष्कार किया, तथापि हिंदुजीवनपर, हिंदुकी ध्यानधारणापर, बौद्धधर्मके सामाजिक तथा नैतिक आदर्शकी जो प्रभावी छाप पड गई है, वह कभी मिट नहीं सकती।

आधुनिक युरोप यद्यपि नामधारी क्रिस्ती है, तथापि वर्तमान युरोपका नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक आदर्शसमूह क्रिस्ती धर्मके समस्त आध्यात्मिक तत्वोंहीसे निर्माण हुआ है। साम्य, मैत्री, स्वातंत्र्य, ये जो युरोपके आदर्श हैं, वे क्रिस्तने प्रसृत किए हुए आध्यात्मिक सत्यही के सामाजिक और राजकीय स्वरूप हैं।

यहां राम और श्रीकृष्ण युगका कोई इतिहास नहीं है। उनके कार्योंका ज्ञान हमें काव्य और पुराणों ही के द्वारा मिलता है और इन सबको हम केवल काल्पनिक समझते हैं। परंतु रामकृष्णका जीवन चाहे काल्पनिक समझो या ऐतिहासिक सत्य समझो; उससे कोई हानि नहीं होती। क्योंकि व्यक्तिके और जातिके आंतरिक आध्यात्मिक जीवनपर उनके दिव्य आदर्शका प्रभाव वज्रलेप हुआ है। अवतारके मायने दिव्यजीवनका और चैतन्यका व्यापार। किसी बाह्य कर्मका संपादन करके भी अवतारका उद्देश सिद्ध हो सकता है; तथापि उस कर्मकी समाप्ति होनेपर भी आध्यात्मिक जीवनपर उसका प्रभाव अवश्य पडेगा। अथवा आध्यात्मिक साधनाका प्रचार करके, अथवा किसी नूतन धर्मशिक्षणके द्वारा भी अवतारका उद्देश

पूर्ण हो सकता है। परंतु इस नवशिक्षणकी अथवा साधनाकी उपयुक्तता जब समाप्त होगी, तब भी मानवजातिके विचारपर, स्वभावपर तथा बाह्य जीवनपर उसका चिरस्थायी परिणाम हुएविना कदापि न रहेगा।

इसलिए अवतारके संबंधमें गीताका मत समझ लेना हो, तो धर्म शब्दका सबसे पूर्ण, गंभीर और व्यापक अर्थ लेना चाहिये। जिस अंतर्बाह्य नियमों द्वारा भगवान् मानवजातिका आध्यात्मिक विकास करते हैं, वही धर्म समझना चाहिये धर्मके मायने केवल सत् असत् कर्मकी नीति, न्याय अन्यायके नियम अथवा केवल नैतिक अनुशासन समझना न चाहिए। अंतर्बाह्य जगत्में नाना रूपोंके और नाना संबंधोंके द्वारा भगवान्‌की इच्छा सिद्ध और विकसित होती है; और इसलिये जिन नियमों द्वारा मनुष्यसे भगवान् का, जगत्का और अन्य जीवोंका सब तरहका संबंध परिचालित होता है, उन सब अनुशासनोंको धर्म कहना पडता है।

हम जिसको पकडते हैं और जो हमारी अंतर्बाह्य कार्यावलिको पकडता है- ये दोनों धर्म ही हैं *। धर्म शब्दका प्राकृतिक अर्थ है, हमारी प्रकृतिकी मूल नीति। हमारे अनजान यह नीति हमारे सब कर्मको नियंत्रित करता है। इस अर्थसे प्रत्येक वस्तुका, श्रेणीका, जातिका व्यक्तिका अथवा संघका एक स्वतःका धर्म है। हम में भागवत प्रकृतिका विकास करना चाहिये। जिन सब आंतरिक क्रियाओंद्वारा वह भागवत प्रकृति हमारी सत्तामें विकसित होगी, उन सब क्रियानीतियोंको भी धर्म कह सकते हैं। यह धर्म शब्दका दूसरा अर्थ है। जिन नियमोंद्वारा हमको और समग्र मानवजातिको भागवत आदर्शकी ओर सुलभतासे उत्क्रान्त होनेके लिये हमारे बहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक संबंध नियंत्रित होते हैं, उनको भी धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका तीसरा अर्थ है।

धर्मको साधारणतः सनातन और अपरिवर्तनीय कहते हैं। यह बात सच है, कि धर्मकी मूलनीति तथा आदर्श सनातन हैं। तथापि धर्मका आकार-परिवर्तन और विकास सर्वकालमें हो ही रहे हैं; क्यों कि अभीतक मनुष्य उस सनातन अक्षर आदर्शको पहुंच नहीं सका, अथवा अभीतक उसमें वास्तव्य कर नहीं सका। यह जरूर है, कि उस आदर्शकी ओर लक्ष्य रखकर ही वह चल रहा है; और उसको पहचाननेके लिये और जीवनमें उसका साधन करनेके लिये वह क्रमशः तयार होने लगा है। इस मार्गमें दिव्य पावित्र्य, उदारता, ज्ञान, स्वाधीनता, तेज, शक्ति, आनंद, प्रेम, मांगल्य, ऐक्य और सौंदर्यकी वृद्धि करनेके लिये जो कुछ हमें साहायक होता है, वह सब धर्म है और इसके विरुद्ध जो कुछ हो, वह अधर्म है। यह अधर्म हममें अपवित्रता, संकीर्णता, बंधन, अज्ञान, दुर्बलता, नीचता, द्वंद्व, दुःख, अनेकता, इत्यादिकी वृद्धि करता है।

उन्नतिगामी मनुष्यको इन सबका त्याग करना चाहिये। यह अधर्म धर्मका शत्रु बनकर उसको पराजित करनेका इच्छा रखता है, हमको अधोगामी करता है और अशुभ, अज्ञान और अहंकारकी ओर लजाता है। धर्म और अधर्ममें अनवरत द्वंद्व और संग्राम जारी है। कभी धर्मशक्तिका जय होता है। और कभी अधर्मशक्तिका जय होता है वेदोंमें यही झगडा देवासुरसंग्रामके रूपके द्वारा वर्णित है। झोरोस्ट्रियन धर्ममें (Zoroastrianism) इसी झगडका वर्णन आहूरमाज्दा और अहिमानके संग्रामरूपसे आया है; और इसी धर्माधर्मयुद्धका विवेचन आगे ईश्वर और सैतान ऊर्फ इब्लिसके संग्रामरूपसे किया गया है।

अवतारका कर्म इन्हीं सब द्वारोंसे निर्णीत होता है। बौद्धधर्मके नियमानुसार साधक मुक्तिविरोधी व्यापारोंसे स्वतःका रक्षण करनेके लिये धर्म, संघ और बुद्ध ऐसा तीन शक्तियोंका आश्रय लेता है। इसीतरह क्रिस्तधर्मके विधानमें भी धर्म,

* धृ धातुसे धर्म शब्दकी उत्पत्ति है। धृ का अर्थ 'पकडना' है।

चर्च (church) और क्रिस्त ऐसी क्रिस्तानुयायी जीवितक्रमणकी तीन शक्तियां देखने मिलती हैं। ये तीन प्रकरण सब अवतारोंके कर्मके आवश्यक अंग हैं।

अवतार एक धर्म बतला देता है और उसके सहारेसे क्षुद्र जीवनमेंसे उच्च जीवनका लाभ कर सकते हैं। कर्मसंबंधी विधि तथा अन्य मनुष्योंसे और प्राणियोंसे हमारा संबंधनियंत्रण, इस धर्मकाही अंग है। अष्टांग मार्गकी साधना, अथवा उसपर श्रद्धा, प्रेम और पावित्र्यनीति अथवा इसप्रकार अन्य किसी भी उपायसे जीवनमें भागवत धर्मका प्रकाश-यह भी धर्मकाही अंग है।

इसके पश्चात् वह (अवतार) संघकी स्थापना करता है; अवतारका केन्द्ररूपसे आश्रय करके और उसके शिक्षणसे उद्बोधित होकर जो लोग एकत्रित होते हैं, उनमें सख्य और ऐक्यकी स्थापना करता है। क्यों कि मनुष्यके सब प्रयत्नोंमें जैसी व्यष्टिकी एक बाजू है, वैसी समष्टिकी भी एक बाजू है; और जो लोग एकही मार्गका अनुसरण करते हैं, वे स्वभावतः परस्पर आध्यात्मिक साहचार्यसे और एकतासे बद्ध होते हैं। वैष्णवधर्ममें भी भागवत, भक्त और भगवान् ऐसी तीन बातें हैं ही। वैष्णवमतानुसार भक्ति और प्रेमका धर्म भागवत है। जिनमें यह धर्म प्रकट हुआ है ऐसे लोगोंका संघही भक्त है और जिसमें इस भागवत प्रेमकी प्रतिष्ठा और पूर्ण परिणति हुई है वह परम प्रेमास्पद ही भगवान् है। अवतार इन तीनोंका प्रतिनिधि है। संघका और धर्मकाभी प्राण ऐसा वह दिव्य पुरुषही अवतार है। वह स्वतःके प्रभावसे और प्रकाशसे संघको और धर्मको प्रकाशित करता है, जीवित रखता है और मनुष्यको आनंद और मुक्तिकी ओर ले जाता है।

गीताने इन तीनोंका इससे भी अधिक उदार और व्यापक अर्थ लिया है; क्यों कि गीतामें जिस ऐक्यका विचार किया है, वह वेदान्तमतानुयायी सर्वगत ऐक्य है। उसके द्वारा आत्मा स्वतःको समस्त भूतोंमें और स्वतःहीमें समस्त भूतोंको देखता है और सबसे स्वतःका ऐक्य करता है।

इसलिये मनुष्यकी सब प्रकारकी भावनाओंको भागवतआकार देना इसीको यहां धर्म कहा है। यह धर्म ब्रह्मज्ञानके द्वारा प्रकाशित करके मनुष्यको ऊर्ध्वगामी करता है। इस धर्मकी नीति ऐक्य,साम्य, ईश्वरप्रणोदित मुक्त निष्काम कर्म, दिव्य आत्मज्ञान, भागवत ज्ञान और सकल ज्ञानकर्मकी अंतिम परिणति जो भागवतप्रेम वह है। प्रेम और भक्तिके द्वारा भगवत्प्राप्तिके साधन संबंधमें जहां गीताने विचार किया है, वहीं भगवद्भक्तोंकी सख्यता का और भगवत्प्राप्तिके विषयमें परस्पर सहायकामी दिग्दर्शन किया है; और यही संघकी बुनियाद है। परंतु गीताके उपदेशानुसार सच्चा संघ मानवजाति है। सारा संसार इस धर्मकी ओर उत्क्रान्त हो रहा है और प्रत्येक मनुष्य अपने अपने सामर्थ्यके अनुसार चलरहा है।

'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।'

साधक सबका स्वतःसे ऐक्य अनुभव करता हुआ और तद्रूप होता हुआ साधना करता है। जो मुक्त पुरुष सर्व भूतोंसे स्वतःका ऐक्य अनुभव करता है, वह सर्व मानवजातिके कल्याणके ही लिये कर्म करता है, सर्व भूतोंमें रहनेवाले ईश्वरकी सेवा करता है;लोकसंग्रहके लिये, सबको स्वधर्ममें और भागवत धर्ममें प्रतिष्ठित करनेके लिये, सबको क्रमशः भगवान्की ओर लेजानेके लिये कर्म करता है।

गीतामें श्रीकृष्णही अवतार हैं; परंतु इस अवतारपर उनका पूरा जोर नहीं है, किन्तु यह अवतार जिसका प्रतिनिधि है, उस पुरुषोत्तम ही पर उन्होंने जोर दिया है। समूचे अवतार इसी पुरुषोत्तमके नवजन्म हैं। जिन समस्त नामरूपोंकी मनुष्य पूजा करता है, वे सब नामरूप इसी पुरुषोत्तमकी प्रतिमा हैं। गीतामें श्रीकृष्णने जिस मार्गका

वर्णन किया है, उसीके द्वारा मनुष्य सच्चे ज्ञानको और मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहा है जरूर। तथापि यह मार्ग अन्य सब मार्गोंसे स्वतंत्र नहीं, बल्कि अन्य सब मार्गही इसके अंतर्गत हैं। भगवान् अपनी अनंत सत्ताहीमें सब अवतारोंको, संपूर्ण शिक्षणको और समूचे धर्मोंको धारण करते हैं।

यह जगत् एक विराट् युद्धक्षेत्र है।

यह युद्ध आंतर और बाह्य ऐसा द्विविध है। इस द्विविध युद्धहीपर गीताका कटाक्ष है। अंतर्गत युद्धमें मनुष्यको, व्यक्तिको अंतःशत्रुसे युद्ध करना पडता है और वासनाका, अज्ञानका, अहंकारका वध करते ही इस युद्धमें मनुष्य विजयी होता है। परंतु मानवी समाजमें बाह्य युद्ध भी है। यह युद्ध अर्थात् धर्मपक्ष और अधर्मपक्षका संग्राम है। मनुष्यमें जो भगवद्भाव, भगवत्प्रकृति है और जो मनुष्य इस प्रकृतिके अधिकारी अथवा साधक हैं, वे इस धर्मपक्षके सहायक होत हैं; और उद्दाम, अहंकारपूर्ण और आसुरी अथवा राक्षसी प्रकृति के मनुष्य अधर्मपक्षको मदद देते हैं। इसी संग्रामके रूपकमें देवासुरों की युद्ध कथासे भारतका प्राचीन साहित्य भरा हुआ है। जिस भारतीय युद्धमें श्रीकृष्ण केन्द्रस्वरूप हैं वह युद्ध भी धर्माधर्मकी ही संग्रामछवि है, ऐसा प्रायः वर्णन किया गया है। पांडव देवसंतान हैं– नररूपी देवशक्ति हैं–वे धर्मराज्यस्थापनाके हेतु युद्ध करते हैं और उनके प्रतिस्पर्धी दानवी शक्तिके आसुरी अवतार हैं। इस बाह्य युद्धमें भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरीतिसे सहायता करनेके लिये, दुष्ट असुरोंका प्रभुत्व नष्ट करके, अधर्मशक्ति खंडित करके, दुर्दशाग्रस्त धर्मकी संस्थापना करनेके लिये अवतार आविर्भूत होता है। व्यक्तिगत मानवात्मामें स्वर्गराज्यकी प्राणप्रतिष्ठा जैसी कर्तव्य है, वैसेही बाह्य जगत्में धर्मराज्यकी संस्थापना करनेके लिये, समग्र मानवजातिको स्वर्गराज्यकी ओर उत्क्रान्त करनेके लिये, अवतार अवतीर्ण होता है।

जो लोग इसपरसे दिव्यजन्म और दिव्यकर्मका सच्चा रहस्य समझ लेते हैं, जिनका चित्त भगवान्के विचार ही से भरा हुआ रहता है, जो लोग सर्वतोपरि उसीका आश्रय ग्रहण करते हैं (मन्मया-मामुपाश्रिताः), ज्ञानसे शुद्ध होकर तथा अधःप्रकृतिसे मुक्त होकर जो दिव्यसत्ताका और दिव्यप्रकृतिका लाभ करते हैं (मद्भावमागताः) उन्हींको अवतारके आगमनका फल प्राप्त होता है।

मनुष्यकी इस अधःप्रकृतिके ऊपर रहनेवाली दिव्यप्रकृति मनुष्य ही में है। अवतार प्रगट होकर यही बतलाता है, कि दिव्यकर्मका स्वरूप किस तरह भागवतज्ञानसे, शक्तिसे, और प्रेमसे परिपूर्ण है। वह दिव्यपुरुषरूपसे अवतीर्ण होता है; उसके दिव्य चरित्रसे मनुष्यका चित्त परिप्लुत होता है और उसका संकुचित अहंकार दूर होता है। इस प्रकार वह क्षुद्र अहंकारसे मुक्त होता है और अनंत और विराट् सत्तामें विराजमान होता है, मृत्युसंसारसे छुटकारा पाकर अमृतत्वमें प्रविष्ट होता है। वह भागवत शक्तिसे और प्रेमरूपसे अवतीर्ण होता है। यह मूर्तिमंत शक्ति और प्रेम मनुष्यको स्वतःकी ओर आकर्षित करते हैं और इसप्रकार मनुष्यको दिव्य शक्तिका और प्रेमका आश्रय मिलनके कारण, वह क्षुद्र शक्ति, वासना, तथा कामक्रोधादि द्वंद्वमें बद्ध नहीं रहता, किंतु वह संपूर्ण दुःखोंसे और अशांततासे मुक्त होकर दिव्यशक्तिमें और दिव्य आनंदमें वास्तव्य करता है*। भगवान् कौनसा नामरूप लेकर, कौनसी भगवद्बुद्धिपर दारमदार रखकर अवतीर्ण होते हैं; इसपर कोई बात विशेषतया अवलंबित नहीं है। क्योंकि मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार भगवत्कर्तृक निर्दिष्ट मार्ग ही का

---

* जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४–९.
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४–१०.

अनुसरण करता है और अंतिम समयमें वही मार्ग उसको भगवान्‌की ओर ले जाता है। मनुष्यको मार्ग बतलानेके लिये अवतार जब अवतीर्ण होता है, तब उसकी दृष्टिसे यही उत्तम है, कि वह अपने स्वभावके ही अनुरूप उसके भावका अनुकरण करे। जिस भावनासे मनुष्य भगवान्‌का ग्रहण करता है, उसपर प्रेम करता है, उसका उपभोग लेता है, उसी भावनासे भगवान् भी मनुष्यका ग्रहण करते हैं, उसपर प्रेम करते हैं और उसका उपभोग लेते हैं, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

स्वधर्म और स्वकर्म।

शास्त्री महोदयने पूछा की, 'सरकार क्या कर रहे हैं? किसी जरूरी काममें उनकी भेट लेना आवश्यक है।' उन्हें मालूम हुआ, कि उस समय सरकार स्नानसंध्यामें और पूजामें निमग्न थे। वह सब हो जानेके बाद श्रीमान् माधवराव पेशवाने न्यायाधिकारी रामशास्त्री प्रभुणेसे मुलाकात ली। तब शास्त्रीजीने सरकारको इस तरह चेतावनी दी-

'स्नानसंध्या करनेमें समय व्यतीत करना आपका धर्म नहीं है। देशकालपरिस्थितीके अनुसार आपने क्षात्रधर्मका स्वीकार किया है, तब आपका यही धर्म है, कि उस क्षात्रधर्मके अनुसार अपना सारा समय प्रजाका संरक्षण करने ही में आप व्यतीत करें; स्नानसंध्या करनी हो, तो आपको शनिवारवाडा छोडकर गोदावरी तटाकपर हो जाना चाहिये।' इसके बाद माधवरावने अपना सारा समय राज्यव्यवस्थामें ही व्यतीत किया।

श्रीमद्भगवद्गीताके कालमें चातुर्वर्ण्यविहित समाजव्यवस्था रही होगी, इसलिये गीताने उसका उदाहरण लिया होगा। सांप्रतकी परिस्थितिमें यह वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था शिथिल हो गई है; इसलिये समाज धारण पोषण आदिके जो कर्म हमें प्राप्त हुए हों, या हमने स्वीकृत किये हों, उन्हींको करना अपना कर्तव्य है। गीताने जो उदाहरण लिया, वह सर्व कालके लिये लागू नहीं है। वह केवल उदाहरण है, गीताका उपदेश नहीं है। जो कर्म हमें प्राप्त हुआ हो या जिसका हमने स्वीकार किया हो, वही अपना स्वकर्म होता है, इसमें भी यदि उसका हमने अपनी पसंदगीसे, मनसे, धर्मसे स्वीकार किया हो, तो वही कर्म स्वधर्म भी होगा। परंतु यदि परिस्थितिके कारण वह कर्म करना हमें अनिवार्य हुआ होगा और मनोधर्मकी इच्छा उससे भिन्न होगी, तो वह स्वधर्म न होगा। ऐसे समय 'स्वधर्म' प्राप्त हो, इसलिये प्रयत्न करना और ईश्वरकी शरण लेना हमें योग्य होगा। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति जातिका ब्राह्मण है, उसका पेशा शिक्षकका है। (पढाना ब्राह्मण का ही धर्म है) परंतु उसकी वृत्ति क्षात्रप्रधान है। ऐसा मनुष्य आज यदि प्राप्तपरिस्थितिके अनुसार कर्म करता हो, तो वे उसके स्वकर्म होंगे, न कि स्वधर्म। जबतक स्वधर्म और स्वकर्म इन दोनोंका मेल न हो, तबतक प्राप्त कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये और उन्हें

स्वकर्महीके नाते करना चाहिये । उनको करनाही कर्तव्य है । परिस्थितिके कारण अर्जुनको नृत्यकाम सिखलानेका और भीमको रसोई बनानेका कर्म करना पडा । परंतु ये उस समय उनके स्वकर्म हुए । उनका स्वधर्म अलगही था; और मौका मिलतेही उन्होंने प्राप्त कर्म छोडकर स्वधर्म और स्वकर्मका मेल कर दिया । इससे मालूम होता है, कि परिस्थितिके कारण अंगीकृत ऐसे कर्मको तभी छोडना चाहिये, जब कि 'स्वधर्म' प्राप्त होता हो। दूसरे किसी भी सबबसे स्वकर्मको टालना न चाहिये, बल्कि निष्कामबुद्धिसे करते रहना चाहिये । परिस्थितिके कारण जिन्हें एकही कर्मपर निर्भर रहना अशक्य हो उन्हें विवशतासे दूसरा कर्म स्वीकृत करना आवश्यक है अब प्रश्न यह रह गया, कि वह स्वकर्म कौनसा है, जिसके पीछे मरण भी आजाय, तो वह स्वधर्मोचित होगा ? मनुस्मृतिमें कहा है-

आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि ।

क्योंकि ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण साधनेके लिये शरीर ही उपयोगी है । केवल आत्मा कोई कार्य नहीं कर सकता । इसलिये कहा गया, कि सबके पहिले स्वतःका रक्षण करना चाहिये । परंतु देहत्याग तभी श्रेष्ठ ठहरेगा, जब कि इस दुर्लभ मानव देहका व्यय करके इससे भी अधिक शाश्वत ऐसी कोई वस्तु प्राप्त करनी हो । उदाहरणार्थ, देशके प्रीत्यर्थ, आबरू रखनेकी गरजसे, अथवा यशःसंपादनके हेतु यदि देहत्याग करना पडे, तबभी स्वकर्म छोडना न चाहिये । दधीचि ऋषिने सबके कल्याणार्थ देवोंको अपनी अस्थि दे दीं । यह देहत्याग श्रेष्ठ है । परंतु अर्जुन, भीम इत्यादिने यदि कहा होता कि, "स्वधर्म छोडकर केवल प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण ये अज्ञातवासके कार्य हम न करेंगे; इसके परिणाममें मृत्यु भी आजाय, तो हमें मंजूर है," तो यह कहना योग्य न होता । लडाईके लिये समय आया न था; अपनी तरफसे प्रतिज्ञाका भंग करके चढाई करना पांडवोंके हकमें धर्मके विरुद्ध होता । इससे यह स्पष्ट होता है, कि अपने जड शरीरकी अपेक्षा अधिक शाश्वत कोई वस्तु प्राप्त करनेमें देहपात हुवा, तो वह देहत्यागके लिये उचित स्वकर्म होगा ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें नवमतनिर्देश

(लेखक- श्री० भारद्वाज)

दुनिया के साहित्यमें श्रीमद्भगवद्गीताका स्थान बहुतही उच्च और असामान्य है । परंतु मजेकी बात यह है कि इस असामान्यत्वकी घटनामें गीताके नाना अर्थान्तरोंके लिये भी जगह है । गीताके अनेक श्लोकोंके अर्थ की सांप्रदायिक खींचतान की जाती है;यह शिकायत जितनी पुरानी है उतनी अब भी वह नये नये ढंगसे अजमाने मिलती है । यहांतक कहा जा सकता है, कि गीताके संबंधमें लिखनेवाला लेखक थोडेबहुत श्लोकोंके अर्थकी स्वमतपोषक खींचतान किये विना लिखही नहीं सकता । कदाचित् ऐसा भी होगा, कि स्वतःका नवमत स्वतःके नामसे प्रचलित करनेकी हिम्मत तो है नहीं; परंतु इस तरहका सारा बोझा उठानेमें शक्तिशाली ऐसी इस गीतापर वह भार डालनेकी नियतसे अपनी जरूरतके माफिक कुछ श्लोक लेकर उनके अर्थकी खींचतान की जाती हो । स्वमतपुष्ट्यर्थ इस प्रकार गीता-श्लोकार्थकी खींचतानका आक्षेप प्रस्तुत

लेखकपरभी 'श्रीमद्भगवद्गीताका रचनान्तर' शीर्षक लेखके संबंधमें आसकता है। ऐसी हालतमें, तथा प्रस्तुत मुद्देके बारेमें प्रस्तुत लेखकका कौनसा दृष्टिकोन है, यह भी स्पष्ट करनेका मौका मिलना जरूर है, इसलिये इस लेखका अवलंब किया जाता है।

प्रथमतः यह बात स्पष्ट कह देना जरूर है कि गीताके कुछ श्लोकोंका और विशेषतः पूरी गीताका अर्थ असंदिग्ध न हो— यह उसका गुण नहीं, किंतु दोष ही है। यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय न होगा, कि क्रमशास्त्रके उच्च श्रेणीमें शोभनेवाले ग्रंथका निःसंदिग्धता ही गुण है और उसका अभाव दोषही है। सातसौ श्लोकोंकी गीतामें अनेक छोटेबडे सिद्धान्त और इस ग्रंथकी प्रमुख शिक्षा सांप्रदायिक मतभेदसे अतीत होने चाहिये थी। और यह भी स्पष्ट है. कि वह इस प्रकार मतभेदातीत होती, तो इस ग्रंथकी उच्चता और असामान्यता जैसी चाहिये वैसी रहती।

गीतामें इस प्रकारकी संदिग्धता रहनेका एक प्रमुख कारण यहां तज्ज्ञोंके सन्मुख रखना है।

गीताके सूक्ष्म अभ्यासकोंकी नजरमें एक बात लाई जा सकती है; वह यह है, कि गीतामें स्वतः गीताका कुछ विकास अथवा इतिहास है। गीता-कथनक्रमकी अल्पावधिमें, अर्जुन और श्रीकृष्ण देखतेही देखते कितने वयस्क हुए दिखते हैं! युद्धके लिये धर्मराजकी समति प्राप्त करके युद्ध कब शुरू होता है, और युद्धमें अपना क्षात्रतेज प्रगट करके हम अपने हक कब हासिल करते हैं, ऐसी उतावली रखनेवाला अर्जुन जब प्रत्यक्ष रणभूमीपर दोनोंतरफ अपने आप्तइष्टोंको देखता है. तब व्यामोहित होता है, अपने आर्थिक और राजकीय हक्कोंकी बात भूल जाता है और उच्चतर नीतिमत्ताका आश्रय करता हुआ शत्रुओंके शस्त्रोंसे कटजानेको भी तैयार हो जाता है, लेकिन युद्ध करनेका पाप नहीं करना चाहता। यह कोई साधारण प्रगति नहीं है। थोडेही दिनोंमें यहां अर्जुन अच्छा वयस्क और अकलवान हुआ दिख पडता है। यह गीताके प्रारंभकी स्थिति हुई। इसके बाद जब भगवान् गीताका उपदेश कर चुके, तब अर्जुन इससे कितना आगे बढ गया और ज्ञानपूर्वक भक्तियुक्त कर्मनिष्ठ बन गया। सर्दीके मोसममें झाडका अग्रभाग जो स्थिररूप मालूम होता है. वही वसंतऋतुमें देखतेही देखते कैसा पल्लव पुष्पोंसे स्फुरित होता दिखता है! यही प्रकार अर्जुनके बारेमें यहां देखने मिलता है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन समवयस्क हैं, परंतु अर्जुनके समान श्रीकृष्ण कालसे परिणत हुए नहीं दिखते। तथापि उनके बारेमें एक दो बातें नमूद करने लायक हैं। पहिली बात यह है, कि अर्जुन जातिसे क्षत्रिय होनेके कारण युद्धारंभ होनेपर उसकी क्षात्रवृत्ति उसे चुपचाप बैठने न देगी और उससे युद्ध अवश्यही करावेगी.

'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे मिथ्यैष ......स्वभावजेन निबद्धः करिष्यस्यवशोऽपि तत्' ऐसा विश्वास होनेपरभी, तथा 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' ऐसा निश्चय रहने पर भी, उन्होंने अत्यंत योगयुक्त अंतःकरणसे अर्जुनको गीतोपदेश करनेका जो अट्टहास किया. वह ध्यानमें रखने पर इस बातकी अच्छी प्रचीति होती है, कि प्राकृतिक जगत् पर, किंबहुना भगवान् श्रीकृष्णकी प्राकृतिक घटनापर भी ईश्वरी नियंत्रण कितना अनुल्लंघनीय है, और ईश्वरी सत्ताके अनुरूप व्यवहार इस जगत् में घटित करनेके लिये वह सत्ता कितनी दक्षतासे जागरूक रहती है। दूसरी और इससेभी महत्वकी बात यह है. कि अर्जुनके इस व्यामोहका प्रसंग आते ही उसका निरास करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो गीतोपदेश किया, उस उपदेशके द्वारा उन्होंने तात्कालीन अनेक प्रचलित नैतिक कल्पनाओंमें बडी जोरदार प्रचंड क्रांति कर दी। श्रीकृष्ण भगवान्‌भी प्रसंग आतेही तात्त्विक नवसिद्धांत निर्माण कर सके। उस कालकी प्रचलित नैतिक कल्पनाओंके रूपोंमें भी क्रांति (Change in the Ethical values of ideas) उन्होंने कर दी। अर्थात् ये बातें होनेके

लिये भगवान् श्रीकृष्णके सदृश महापुरुषोंही की जरूरत होती है; और उन्हींसे ऐसी बातें हो सकती हैं। अस्तु। परंतु जरूर है, कि भगवान् श्रीकृष्णने तात्त्विक, नैतिक और धार्मिक आचारविचारोंमें यह प्रचंड क्रांति कर दी। अर्जुन जिस कर्मको डरता था, वह जिसको पाप मानता था, उसी कर्मको श्रीकृष्णने जो बिलकुल विपरीत स्वरूप दिया और अर्जुनकी जो यह खातरजमा कर दी, कि कर्म न करनाही पाप है, 'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं......पापमवाप्स्यसि।' वह करनेमें भगवान्ने कालको कितनी फुर्तीसे आगे खींचा है! एवंच गीताका स्वरूप यथार्थरीतिसे ध्यानमें आनेके लिये कालके वेगपर अथवा कालसाध्य विकासके वेगपर ध्यान रखना बहुत जरूरी है।

गीतामें जो यह विकास दृग्गोचर होता है, उसपर योग्य विचार करें, तो सुलभ रीतिसे हम यह देख सकेंगे, कि तत्कालीन मतोंकी नाना श्रेणियोंको लांघकर गीता बहुतही आगे दौडनेवाली और यथाशक्य त्रिकालाबाधित सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेवाली है। इनसिद्धांतोंमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धांतोंका अत्यल्प प्रमाणोंसहित निर्देश तज्ज्ञोंके विचारोत्तेजनार्थ इस लेखमें किया जाता है।

(१) गीताकी तात्त्विक विचारसरणी (Metaphysics) जगत् मिथ्यामय, मायोपाधिक, निर्गुण, निर्विकार और केवल स्थाणुरूप (Static) जड ब्रह्मवादकी ꙮ नहीं है; किंतु वह जगद्ब्रह्ममय, अविकृत, परिणामजनित, मायासाधनात्मक, निर्गुण-सगुण स्वेच्छाविकारक्षम स्थिरचररूप (Statico-dynamic) पुरुष ब्रह्मवादकी ॐ है। इस प्रकारकी तात्त्विक विचारसरणीका उद्घाटन गीताके १३ वें अध्यायमें 'अनादिमत् परं ब्रह्म...' इस १२ वें श्लोकसे लगाकर १७ वें श्लोकके अंततक किया गया है। पुरुषब्रह्मके इस वर्णनमें 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च' यह पदसमुच्चय बहुत विचार करनेलायक है। इसको आध्यात्मिक स्थिरचरकल्पनावाद कह सकते हैं।

(२) इसीसे मिलती हुई गीताकी जीवदृष्टया विचारसरणी समष्टिप्रधान व्यक्तिवादकी ꙮ है। इस समष्टिप्रधान विचारसरणीसे गीतोपदेश जितना निर्विवाद हस्तगत होता है, उतना और किसी वादकी कुंजीसे नहीं होता। (समष्टिप्रमुख व्यक्तिवाद)

(३) इस अतिवैयक्तिक विचारसरणीसे मिलनेवाला अन्य एक सिद्धान्त-जिसका अनेकशः प्रतिपादन गीतामें हुआ है- वैयक्तिक कर्मफलभोगसिद्धांतके पुराणमत का परिगमन (Circumvention) और उसके बदले कर्मका स्थलकालसिद्ध ऐसा सामुदायिक कर्मफलभोगसिद्धान्तका सूत्रण है। गीतामें 'कर्मबंधं प्रहास्यसि' (२-३९) और इसी नमूनेके वाक्य श्रीकृष्णके उपदेशमें इतने विपुल मिलते हैं, कि उनका साकल्यसे गहन विचार करनेवालेको यही प्रतीत होगा, कि वैयक्तिक कर्मफलभोगका सिद्धांत भगवान्को मान्य नहीं है। (स्थलकालसिद्ध सामुदायिक कर्मफलभोगवाद)

(४) उपरिनिर्दिष्ट इस सामुदायिक कर्मफलभोगसिद्धांतके अनुरूप ऐसा जो जीवनक्रम भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है, वह यथाशक्य निर्मम-निरहंकारयुक्त और भावनाशून्य स्वरूपका है। इस प्रकारके जीवनक्रमका प्रत्यंतर दूसरे, पांचवें, छठे, बारहवें, चौदहवें और अठारहवें अध्यायमें भरपूर मिलता है। (भावनाशून्य जीवनक्रमवाद+)

(५) भगवद्गीतामें ईश्वरभक्तिकी भावनाके लिये बहुत ही जगह है। परंतु एक बात यह है, कि भगवद्-

---

ꙮ श्रीमच्छंकराचार्यमत.

ॐ (किंचित् भेदसे) श्रीवल्लभाचार्यमत.

ꙮ भगवद्गीतामें व्यक्तिवाद विरुद्ध समष्टिवाद (भारद्वाज) बृहन्महाराष्ट्र १९३४

\+ देखो 'भगवद्गीताका और भावना' (भारद्वाज) बृह० महाराष्ट्र जनवरी फरवरी १९३५

तुल्य:- Whole before the part

गीताका भक्तिमार्ग पश्चाद्विचारका परिणाम मालूम होता है। दूसरी बात यह है, कि भगवद्गीताका ईश्वर व्यक्तिबाह्य नहीं, किंतु वह केवल व्यक्त्यतिगामी है; और इस प्रकारकी भक्तिकी भावना द्वैती भक्तिके दास्यके नमूनेकी नहीं, किंतु वह केवल स्वविकासकी भावना और इसीलिये अत्यंत इष्ट प्रकारकी भावना है। (व्यक्त्यंतर्गत और व्यक्त्यतिगामी ईश्वरभक्तिवाद)

(६) स्वविकासरूप ईश्वरभक्तिकी इस भावनाके साथही साथ गीतामें स्वतःके ईश्वरसे ऐक्यके ज्ञानकी इष्टता और स्वेतरोंसे गुणकर्मविभागशः कर्तव्यकर्मकी इष्टताका भरपूर प्रतिपादन किया गया है; और अर्जुनको गीताका उपदेश ज्ञानभक्तिकर्मसमुच्चयके+ स्वरूपका है; और यह उपदेश पूर्वोक्त नाना सिद्धांतोंसे समन्वयक्षम है। (ज्ञानभक्तिकर्मसमन्वयवाद)

(७) इन सब सिद्धांतोंसे समन्वयक्षम ऐसा वैयक्तिक ध्येयदृष्टिका गीताका सिद्धांत—जीवन्मुक्तिध्येयसिद्धांत है। जीवन्मुक्त अथवा स्थितप्रज्ञ होना ही गीताकी दृष्टिसे सगुण ब्राह्मी- स्थितिको प्राप्त करना है अथवा सगुण ब्रह्म बनजाना है। स्वर्गके आवागमनकी तो गीतामें हंसी उडाई गई है ✍ और यद्यपि मोक्षका निर्देश ध्येयकी दृष्टिसे गीतामें है, तथापि वह या तो द्वैती भक्तिकी सामान्य ध्येयदृष्टिसे है, अथवा केवल अर्थवादकी दृष्टिसे है। परंतु इसमें संदेह नहीं, कि गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञका जो सुदेसूद विस्तृत और सर्वमान्य वर्णन है, वही गीताके वैयक्तिक जीवितकी ध्येयदृष्टिका परमोच्च विकास कहा जा सकता है। (स्थितप्रज्ञावस्थाध्येयवाद)

ऊपर दिये हुए सब सिद्धांतोंका भरपूर समर्थन भगवद्गीताके आधारसे किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सिद्धांतोंका समर्थन करनेमें गीताके अर्थकी सांप्रदायिक खींचतान होना नितांत अपरिहार्य है। इसका अनुभव सबहीको है; इसलिये इसके बारेमें अधिक विचार करनेकी जरूरत नहीं।

उपसंहार—अंतमें यह कहना आवश्यक है, कि भगवद्गीताके समग्र स्वरूपका विचार किया जाय, तो हमें यह दिखता है, कि उसमें एकसे एक सुंदर विचारोंकी नाना उच्चोच्च श्रेणियां हैं, और कदचित् यही कारण होगा, कि बहुवंशमें गीताकी यह विचार-सरणी ऐसी उच्चप्रतिकी होनेपर भी उसमें पुनश्च सापेक्ष तारतम्य प्रतीत होता हो। इसी बातको उपमा या दृष्टांतसे सिद्ध करना हो, तो यह कह सकते हैं, कि हिमालय पर्वत दुनियांके सब पर्वतोंमें निःसंदेह ऊंचा है और उसीके शिखरोंमें से दार्जीलिंग, टाइगर पॉइन्ट, कांचनगंगा, ये शिखर गौरीशंकर शिखरकी अपेक्षा कम ऊंचे हैं; और इसतरह यद्यपि हिमालय पर्वत सर्वोच्च है, तथापि उसमें कतिपय सामान्य उंचाईवाले शिखरोंका समावेश होता है। किंतु हिमालयका विशेष यही है, कि उसके दो शिखर, उनमें भी एक शिखरकी उंचाई इतनी है कि उच्चतामें वह दुनियांमें पहिला नंबर अवश्य पाता है। गीताका असामान्यत्व इस बातपर अवलंबित है, कि तत्त्व, नीति, धर्म, व्यवहार इत्यादिका सर्वोच्च स्वरूप उसमें स्पष्ट रीतिसे ग्रथित हो। इनके साथ इनसे दोयम दर्जेके मुद्दे गीताकी क्रमवर्धिष्णु विचारश्रेणीमें होंगे। परंतु ये अन्य सिद्धांत गीताके सर्वोच्च सिद्धांतोंके विरोधी अथवा प्रतिस्पर्धी न समझे जाय अथवा सांप्रदायिक अर्थांतरकी नानाप्रमाण उच्चताको परमावधि की उच्चता मानना न चाहिए, किंतु प्रत्येक चिकित्सक गीताभक्तका अत्यंत फलदायी कर्तव्य यही है, कि वह गीताके समन्वयशील और सर्वोच्च सिद्धांतोंकी योग्य पहिचान करके अन्य सिद्धांतोंको उनके तारतम्यके अनुरूप मुख्य सिद्धांतोंकी प्रभावलिमें योग्य स्थान देवे और उस संयुक्त दृश्यकी शोभाका आनंद लूटता जावे।

+ (ज्ञानभक्तिकर्मसमुच्चयोपदेशवाद)

✍ (गतागतं कामकामा लभन्ते) (९. २१)

दिव्यदृष्टि।

(लेखक- स्व० श्री भ० मायानन्द चैतन्य, औपधर्म-प्रकाशक, विज्ञानशाला, ओंकार-मान्धाता, नेमाड)

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

हे परोक्षज्ञानी जन हो! यह सद्गुरुका लक्ष्य है। कानमें मंत्र फूंकनेवाला (नाममंत्र कथन करनेवाला) श्रीगुरुका अधिष्ठान नहीं हो सकता। क्योंकि नाम-मन्त्र वाचिक कर्म है. उस वाचिक कर्म-बंधनमें जो मुमुक्षुओंको फांस देता है; वह सद्गुरु नहीं, केवल दुश्मन हैं। कर्मबंधनात्मक कल्पनाका लय करके जो 'तत्पद दर्शित करता है, वही श्रीगुरु (सद्गुरु) है।

बाणे तिहींची खूण। तोचि गुरु सुलक्षण।
तेथेचि रिघावें शरण। अत्यादरें मुमुक्षुने॥ १॥
फोडोनि शब्दांचें अंतर। वस्तू दाखवि निजसार।
तोचि सद्गुरु माहेर। अनाथांचें॥ २॥

। अर्थः— जो तीनोंका चिन्ह रखता है, वही सुलक्षण गुरु है; मुमुक्षुको अति आदरके साथ उसीके शरण में जाना चाहिये॥१॥ शब्दोंका अंतर फोडकर जो निजसार वस्तु बतलाता है, वही सद्गुरु है; वह अनाथोंका नैहर है॥ २॥

इस छोटेसे लेखमें तत्पद दर्शित किया है। इस तत्पदको अथवा अनुभवको निश्चयमें लानेके लिये बतासा या मिश्री प्रत्यक्ष अपने सामने गुरुके स्थानमें स्थापित करके उसकी ओर विचारके द्वारा विवेकसे देखना चाहिए। जो लोग इस कहे अनुसार प्रत्यक्ष अनुभवकी क्रिया न करेंगे, उन्हें इसका प्रत्यक्ष रहस्य नहीं समझेगा। इसी योगके नाम हैं- दिव्यदृष्टि, औपधर्म, योगैश्वर्य, साक्षात्कार, अनुभव, प्रत्यक्ष-दर्शन, अघोर (चिंतारहित) शांकरी विद्या, ईश्वरी योग, वारुणी विद्या, सर्वांगयोग, विश्वरूपदर्शनयोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग, विज्ञाननेत्र इत्यादि। यही 'दिव्यचक्षु' श्रीकृष्णने अर्जुनको दिये और तत्काल उसका निश्चय होकर उसनें यही विश्व देखा, जो सबको प्रत्यक्ष दिखता है जैसा कि पुरुषसूक्तमें कहा है-

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्। इत्यादि

इस ईश्वरी योगका जो श्रद्धावान् पुरुष विचार करेंगे उन्हें भी [अर्जुनके सदृश] सदैव परमात्मस्वरूप गोचर होता रहेगा। इस दिव्यामृतका पान करनेका जन्मसिद्ध अधिकार (हक) सब पंथोंके सब जातियोंके श्रद्धावान् स्त्रीपुरुष 'मुमुक्षुओं' को है-

'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'

यह पुण्य यदि किसीके संग्रहमें होगा, तो उसको तत्त्वका ग्रहण करके 'गोप्य' अर्थात् रक्षण करना चाहिये। बीजका रक्षण बोनी करनेसे ही होता है, केवल अपने पास रखनेसे नहीं होता- इतना ध्यानमें रखना चाहिये।

ऊपर निर्दिष्ट किया हुआ, केवल सात्विक श्रद्धासे प्राप्त होनेवाला, यह अत्यंत गुह्य तत्त्वज्ञान (श्रीकृष्णने अर्जुनको दिये हुए दिव्य चक्षु) अब नष्ट हुआ है; इसलिये 'परित्राणाय साधूनाम्' इस ईश्वरी इच्छाके सनातन नियमानुसार सांप्रत साधु-बुद्धिका परित्राण (कल्याण) होनेके लिए यह प्रगट किया है। अखंड कल्याणकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुष इसका सूक्ष्म विचार [मनन] करें।

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यत् त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥

इस परंपराप्राप्त मनुवाक्यपर ध्यान देकर,

श्रीकृष्णने द्वापरयुगमें जो अर्जुनको समझाया, वही सत युग-प्रारंभके लिए यहां समझाता हूं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१५-१६
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५-१७

(अभंग)

साखरेचें रूप भासतें तो क्षर।
गोडी ही अक्षर आंत राही ॥ १ ॥
दोहींचें जें नाम तोचि पुरुषोत्तम।
जाणतील मर्म तत्त्वविद् ॥ २ ॥
गोडीला गोडीचा स्वाद कल्पांतींही।
दिसणार नाही ध्यानीं आणा॥ ३॥

(शक्करका जो रूप दिखता, वह क्षर है; भीतर जो मिठास है, वह अक्षर है ॥ १ ॥ इन दोनोका जो (एक) नाम है, वही पुरुषोत्तम है; इसका मर्म तत्त्ववेत्ता जानते हैं॥ २ ॥ मिठासको मिठासका स्वाद कल्पांतमें भी प्रतीत न होगा; यह ध्यानमें लाओ॥ ३ ॥)

(आर्या)

पुरुषोत्तमामधे हो क्षराक्षरीं विश्वरूप पार्थ बघे।
त्याच दृष्टिला घेतां, बघतिल धीमान् मंद बुद्धि न घे॥

(अर्थः— क्षराक्षर पुरुषोत्तममें पार्थने विश्वरूप देखा। उसी दृष्टिको धारण करनेसे धीमान् वह देख सकेंगे; मंदबुद्धिवाले नहीं देख सकते।)

इन अनुभवी वाक्योंका अनुभव (लक्ष्य, दर्शन) होनेके लिये 'सत वस्तु' (अपने सामने सद्गुरुरूप मिशरी) की ओर देखते हुए शान्त चित्तसे विचार करना चाहिए। जगत्की अखिल वस्तुमात्रसहित भासमान होनेवाली मिशरीका दृश्य स्वरूपही 'क्षर पुरुष' है। इसको नेत्रोंसे देखो, रूप दिखेगा; कानसे शब्द, हाथसे स्पर्श, जीभसे स्वाद (रस), नाकसे गंध, इसतरह पांच ज्ञानेन्द्रियोंके ये पांचों गुण विश्वमात्रकी वस्तुओंमें देखनेसे भासमान होंगे। शब्द गुण आकाशका है, स्पर्शगुण वायुका, रूपगुण अग्निका, रसगुण जलका और गंध पृथ्वीका, ऐसे पांच तत्त्वोंके ये पांच दृश्य गुण [और उनका पंचीकरण] हैं; और शब्दातीत होनेके कारण केवल मनसे जानने योग्य तीन गुणोंका भी इसमें अनुभव होगा। देखो, यह वस्तु घी में मिलानेसे शांतता 'सत्वगुण' प्राप्त होगा; पानीमें मिलानेसे 'रजोगुण' खांसी वगैरः विकार होंगे; खाली लेनेसे 'तमोगुण' उत्पन्न होगा। थोडासा विचार करनेसे यह सहज ध्यानमें आवेगा, कि यही तीन गुण विश्वके वस्तुमात्रमें हैं। अन्नके रूपमें इसी वस्तुका ग्रहण करनेसे वह स्थूलरूप पाकर कफ, वात, पित्तके रूपमें शरीरमें प्रकट होती है। इसतरह इस दृश्य स्वरूप पर पांच तत्त्व और तीन गुण ऐसे आठ अल्पनाओंका भास होगा। भासमान होनेवाली इस गतियुक्त अष्टविध कल्पना को अखंडमंडलाकार चराचर विश्वचक्र ऐसी संज्ञा है। यह अष्टविध अपरा (क्षर) प्रकृति नित्य रूपान्तर अथवा विकार पाती रहती है। विशेष कालतक मिशरी वहीं रखी जाय' तो उसके अष्ट-विध दृश्य स्वरूपका रूपान्तर होगा; अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, और त्रिगुणमें फरक दिखेगा। परंतु अंतस्थ मिठास वैसीही रहेगी, उसमें बदल न होगा। इसी तरह संपूर्ण विश्वमात्रको देखना चाहिए। इस अष्टधा प्रकृतिको इंद्रिय और बुद्धिको गोचर होनेवाला परमात्माका क्षर (सगुण) स्वरूप कहा है। यही सगुण ब्रह्म है।

इस आठ प्रकारकी कल्पनाके मूलमें एक रस भरी हुई, अर्थात् अस्तित्व भातित्व और प्रियत्वके रूपसे प्रतीत होनेवाली (लक्ष्यभूत होनेवाली) जो माधुरी (स्वाद नहीं,) जिसमें त्रिगुणों और पांच तत्त्वोंका आभास है, अर्थात् जिस निराकार और माधुर्यके अधिष्ठानपर क्षररूप (सगुण ब्रह्म) आभासमान (विवर्त अथवा अध्यस्त) होता है, उस अस्ति-भाति- प्रियरूप दृश्य सापेक्ष कल्पनाको 'कूटस्थ' 'ॐ' अथवा 'अक्षर ब्रह्म' संज्ञा है। यह 'अक्षर पुरुष' अथवा परमात्माका निर्गुणरूप है। परा-प्रकृतिका (अक्षरका) जो स्वभाव है, वही अपरा (क्षर) प्रकृति है। इसतरह एकही वस्तुमें साकार

(क्षर) और निराकार (अक्षर) अथवा सगुण और निर्गुण ऐसी दो कल्पना भासमान होने लगीं। यदि वस्तुस्वरूप बुद्बुद अथवा रवा, डल्ली अथवा बतासा कहे, कि मेरे अंतर्गत माधुरी मुझे मेरे नेत्रोंसे दिख जाय, तो यह कैसे होगा? माधुरी दिखती नहीं; वह विचार ही के द्वारा देखी जा सकती है। अर्थात् माधुरी केवल बुद्धिग्राह्य है और उसका निश्चय करना है। 'मेरा रूप मुझे दिखे' ऐसी कल्पना आनेपर वही कल्पना अनेकविध होकर आठ प्रकारोंसे भासमान होती है-

खडा, खाळी साखर। झाला नामाचाची फेर।
न दिसे अंतर। गोडीठायीं निवडितां ॥ १ ॥
तुम्ही आम्ही पांडुरंगा। भिन्न ऐसें काय सांगा।
चालविलें जगा। भी हें माझें यासाठी ॥ २ ॥
(तुकाराम)

अर्थ- डल्ली, रवा, शक्कर, (सब एकही वस्तु हैं) केवल नामका फरक है। (इनकी) माधुरीमें कोई फरक नहीं है ॥ १ ॥ पांडुरंग, तुम और हम- इनमें भिन्न क्या है? तुमने जगत् चलाया है, इसलिये मैं हूं और मेरा है।

मुझमें जो वस्तु है, वह मुझे स्वतःसे भिन्न दिखे- इसी वृत्तिके नाम है- अविद्या अज्ञान, जीवदशा इत्यादि। जगत्प्रसिद्ध 'सगुणवाद' के मायने केवल आकार (अष्टधा प्रकृति) देखना; और 'निर्गुण- वाद' के मायने केवल अस्ति-भाति-प्रियरूप जो निराकार माधुरी (शुद्धबुद्ध निर्गुण ब्रह्म) उसीको सर्वस्व जानना; अर्थात् जगत् मिथ्या है, निराकार, निर्गुण ब्रह्मही अकेला सत्य है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) ऐसा समझना। यहीं इन दो वादोंका उगम होता है। अर्थात् ये दोनों वाद एकदेशीय हैं। स्वप्नकालमें दोनों सच्चे और प्रबोधकालमें दोनों झूठे! क्यों कि मूल वस्तुका स्वरूप क्षर भी नहीं और केवल अक्षर भी नहीं है। वस्तुका नाम वस्तुतः 'शक्कर' है। यही पुरुषोत्तम' (उत्तम पुरुष अथवा परमात्मा) भाव है। 'शर्करा' (अथवा 'परमात्मा') के मूलरूप नाममें साकार दृश्य स्वरूप (शब्द, स्पर्श इत्यादि अष्टविध प्रकार और तज्जन्य अनेक विकार) और निराकार माधुरी (निर्गुणब्रह्म) ऐसी दोनों कल्पना एकरूप होतीं हैं। साकारमें अनेकत्व दिखता और भासमान होता है; निराकारमें एकत्व की प्रतीति होती है। केवल दृश्य (अष्टविध- स्वरूप) शक्कर नहा है; अथवा केवल भास- विवर्जित माधुरी भी शक्कर नहीं है। शर्करामें दोनों भाव स्थित हैं; क्यों कि 'शक्कर' कहते ही नाम, रूप और गुण ऐसे तीनो भाव प्रकट होते हैं। ये तीनों कल्पना एकही समय उदय पाती हैं। इसलिये बताशेको यदि कूटस्थ एकरस भरी हुई माधुरी स्थूल दृष्टिसे देखने की इच्छा होगी, तो जरूर उसको निर्गुणसहित सगुण स्वरूप ही दिखेगा। माधुरी माधुरीको स्वतः देखे, ऐसी बात शक्यही नहीं है। आत्मरूप ध्यान विषयभूत करने- वाले को श्रुतिमें 'जीव' संज्ञा है। अस्तु।

अब ये तीन कल्पना अर्थात् त्रिपुटी (नाम, रूप और गुण ऐसे कल्पित त्रिविध पुट) जिस वस्तुपर कल्पित अथवा भासमान होते हैं, वह अधिष्ठान 'निजवस्तु' (परब्रह्म) है; और क्षर (सगुण ब्रह्म), अक्षर (निर्गुण ब्रह्म) और पुरुषोत्तम (परमात्मा) यह त्रिविध कल्पना एक युक्ति (औपधर्म = समीप- धर्म) है, जो कि गुरुने मूल स्वयंरूप निज वस्तुकी एकता अनिर्वाच्य सिद्ध करनेके लिये, अथवा स्वानुभव लक्ष्यभूत होनेके लिये सोची है। वस्तुतः सगुणनिर्गुणातीत सब एकही रूप है, सगुण भी नहीं अथवा केवल निर्गुण भी नहीं।

ऐसा निश्चय करके बताशेकी (अथवा कण की) जगह बैठकर ऐसा देखना, कि अपनको दिखनेवाला सारा दृश्य अर्थात् जो प्रत्यक्ष सामने दिखता है, वह (तत्) जगत् पुरुषोत्तमका ही स्वरूप है। ऐसा करनेसे यह निश्चय होगा, कि 'आब्रह्मभुवनाल्लोक' संपूर्ण यच्चयावत् चराचर दृश्य, जिसको 'जगत्' अथवा 'विश्व' (अनंत ब्रह्माण्ड) संज्ञा है, उसीका अर्जुनने विश्वरूपदर्शनसे विचार किया; और वही अपने अनुभवमें आवेगा। इसके प्रमाणमें निम्न वर्णनपर सिद्धांतभूत वाक्य हैं-

'विश्वं विष्णुः'

'अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रम्'

'सर्वतः पाणिपादं तत्'

'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि

अपन हमेशा जो हजारों मुख, हजारों पेट, हजारों हाथ, पैर, नेत्र सर्वत्र प्रत्यक्ष देख रहे हैं, यही 'विश्वरूप' है। इसमें वस्तुतः न माया है, न बंध है, न मोक्ष है! यह ऐसाही अखंड स्वयंभूरूप 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है। तस्मात् अनन्यभाव से 'यो मां पश्यति सर्वत्र' इस अनुभवानुसार विश्वरूपकी सेवाके लिये निर्मित जो ईश्वरनियत चातुर्वर्ण्यधर्म है, उसका

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' (गीता १८ ४५-४६)

इस तत्त्वके अनुसार जो पालन करेगा, उसीको सच्चा आनंद होगा।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता अ० १४ श्लोक २६)

त्रिपुटी

(स्वरूप)	(माधुरी)	(नाम)
क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
विराट्	हिरण्यगर्भ	अव्याकृत
प्रकृति	पुरुष	परम पुरुष
अधिभूत	अधिदैव	अधियज्ञ
शक्ति	शिव	केवल शिव
क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ	परम-आत्मा
तत्	त्वम्	असि

इस प्रकारकी सब त्रिपुटी उपर्युक्त अनुभवको सामने रखकर सब ग्रंथोंमें घटाकर देखना।

इस तरह त्रिपुटीमय संपूर्ण विश्वको चिद्विलसित परमात्मारूप प्रत्यक्ष जानकर, अद्वैतमें द्वैत और द्वैतमें अद्वैतरूप देखकर, स्वकर्म (वर्णकर्म, गुणकर्म) का आचरण करके अपने रूपकी (विश्वरूप की) सेवा करनाही सच्चा भजन (अनन्य भक्ति) है। पुरुषोत्तमरूप (सर्वभूतात्मभूतात्मा) रहना ही मानव-प्राणीका उच्चतम ध्येय और परम कर्तव्य है। वह गीतामें इस श्लोकसे दर्शित किया है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

संपादकीय

इस लेखमें संक्षेपतः इस बातका विवरण है, कि 'दिव्यदृष्टि' प्राप्त करके मनुष्य परमेश्वरका किसतरह विश्वरूप देख सकेगा। अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने दिव्यदृष्टि (गीता ११-८) दी, मायने क्या दिया? और उसनें विश्वरूप देखा, वह कैसे देखा? इसका ब्यौरा इस लेखमें पाठक देख लेवें। तथापि यह सोचकर, कि इस लेखका थोडेमें फिरसे खुलासा किया जाय, तो वह अस्थानमें न होगा, स्पष्टीकरणार्थ निम्न पंक्तियां लिखी हैं—

विश्वरूपकी समस्या हल करनेके लिये मिश्रीकी एक डल्ली लेकर उसपर विचार करें। इस डल्लीमें प्रथम दो बातें दिखती हैं- (१) जिसको लंबाई चौडाई, उंचाई है ऐसी एक 'डल्ली' और (२) उसके प्रत्येक कणमें व्यापकर रहनेवाला माधुर्य। डल्लीको हम तोड सकते, कुचल सकते और पीस सकते हैं; इसलिए उसको 'क्षर' नाशवंत कहेंगे। माधुर्यको तोडते, कुचलते या पीसते नहीं बनता। मिश्रीको फोडकर चार टुकडे बनावें, तो भी माधुर्यके टुकडे न हुए; ऐसी यह अखंड एकरस मिठास उस डल्लीके अणुरेणुमें एकसी भरी रहनेसे उसको 'अक्षर' अर्थात् अविनाशी ऐसा शास्त्रीय नाम दिया जा सकता है। मिश्रीके बाबत यह क्षर और अक्षरका विचार हुआ।

अब सवाल यह आता है, कि 'डल्ली और मिठास' ये दोनों एक जगह हैं, इन दो को अलग नहीं कर सकते; शक्करकी मिठासको शक्करसे अलग

करके बोतल में भर नहीं सकते, वह शक्करके कणोंमें ही रहती है; इसलिये 'डल्ली और मिठास' इन दोनोंका एकत्र वा तव्य रहनेके कारण क्या इन दोनोंको मिलकर कोई एक नाम दिया जा सकता है या नहीं? इसका जवाब यह है की ईन दोनोंका बोधक ऐसा नाम 'शक्कर' है। 'शक्कर' कहतेही 'डल्लीका और 'मिठास' का एकही समय बोध होता है।

इस उदाहरणसे तीन चीजोंका ज्ञान हमें हुआ- 'डल्ली मिठास और शक्कर'। यहां शक्करके विषयमें जो विचार किया गया, वही और उसी तरहका विचार सारे जगत् के विषयमें हम कर सकें, तो सारे जगत्का क्षराक्षर विचार हम कर सकेंगे। ऊपरके उदाहरणानुसार हम दुनियांमें देखें-

(१) संपूर्ण जगत्में लंबाई-चौडाई-उंचाईसे समझमें आनेवाला कालके अथवा हवाके सबबसे बदलनेवाला और उत्पन्न होकर नाश पानेवाला जो पदार्थ-समूह है, उसको अपन 'डल्ली' कहें। इसीका शास्त्रीय नाम 'क्षर' है; यह नाशवान् है।

(२) इस प्रत्येक पदार्थमात्रमें जो अविनाशी 'सत्त्व' है, उसका नाम 'अक्षर' है।

(३) यहां प्रश्न होगा, कि क्षर और अक्षरको मिलकर क्या नाम है? जवाब यह है, कि इन दोनोंको मिलकर 'पुरुषोत्तम' नाम है।

इससे हम समझ सकेंगे, कि पहिले मिश्रीके उदाहरणसे हमने जो बात देखी, वही और वैसीही बात जगत्में देखी। इससे यह उदाहरण ऐसा हल होगा-

डल्ली + माधुर्य = शक्कर
जगत् + आत्मा = जगदात्मा, नारायण, परमात्मा
क्षर + अक्षर = पुरुषोत्तम
प्रकृति + पुरुष = परम पुरुष, उत्तम पुरुष
वसु + (वसु-) देव = वासुदेव

ऊपर जो उदाहरण दिया गया, वह इसी गरजसे, कि विचार करनेवालेको मुख्य विषयकी कल्पना आजाय। पाठक इस बातको ध्यानमें रखें और वहीं तक इस उदाहरणका उपयोग करें।

अब अपने शरीरकी ओर देखिये-सब लोग जानते हैं, कि यह स्थूल शरीर नाशवन्त है। इसलिये इस स्थूल शरीरको 'क्षर' कहते हैं। इस नाशवन्त स्थूल शरीरमें जो सत्त्वरूप अविनाशी आत्मा है वह शरीरका नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता, इसलिये उसको 'अक्षर' कहते हैं। शरीरके ये 'क्षर और अक्षर' अथवा 'देह और आत्मा' मिलकर क्या होता है? इन दोनोंको मिलकर एक नाम है- 'मनुष्य अथवा पुरुष'। अपने संबंधमें यह अपना नित्यका अनुभव होनेके कारण इसके विषयमें किसीको किसी प्रकार संदेह नहीं हो सकता।

जो पिंडमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। पिंड एक नाशवान् पदार्थ है, ब्रह्माण्डमें अनंत नाशवान् पदार्थ हैं। प्रत्येक पिंडमें उस पिंडका अधिष्ठाता सत्त्वात्मा भिन्न भिन्न रहनेसे यह जरूर है, कि ब्रह्माण्डमें भिन्न भिन्न दृष्टिसे अनंत सत्त्वात्मा हैं। तथापि ऐसा नहीं है, कि ये अनंत नाशवन्त पदार्थ और उनके अंतर्गत सत्त्वात्मा अलग हों या किसीका किसीसे कोई संबंध न हों। ये अनेकविध नहीं हैं; किंतु सब मिलकर एकही परमात्मा है। इसीलिये इसको गीतामें कहा है-

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
गीता २-२४

'नित्य सर्वव्यापक ऐसा सनातन एकही आत्मा है।' यह सर्वगत-सर्वव्यापक होनेके कारण, इतनी बात स्पष्ट है, कि सबका एकही आत्मा है; इसीलिये कहा है, कि इस सर्वव्यापक परमात्माके ये 'सकलरूप' हैं, अर्थात् वह 'सर्वरूप' 'विश्वरूप' है।

जिसप्रकार शरीरांतर्गत जीवात्मापर शरीरका रूप अवलंबित है, उसीतरह इस सर्वगत परमात्मापर विश्वका विश्वरूप अवलंबित है। इसीलिये जगत्में दिखनेवाले अनंत रूप उस विश्वात्माके नारायणके, ही रूप हैं। इन अनंत रूपोंमें वह विश्वात्मा नारायण एकसा भरा हुआ है। ये रूप अलग नहीं, परस्पर

भिन्न नहीं, किंतु उस एक नारायण ही के अनंत रूप हैं- ऐसा दिखना, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना, इन सादी आंखोंसे नहीं हो सकता; वह बात ज्ञानके दिव्यचक्षुओं ही से साध्य होगी। इसलिये भगवान्ने कहा है-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
(गीता ११-८)

"तुम मुझे- विश्वात्मा नारायणको- सादी आंखोंसे न देख सकोगे, इसलिये तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूं। इन 'दिव्यचक्षुओंसे मेरा-विश्वात्मानारायणका- ऐश्वर्य देखो।" यहां अर्जुनको भगवान्ने समझाया है कि दिव्यज्ञानदृष्टिसे कैसे देखना; और वह ज्ञान उसको होनेके बाद उसको दिख गया, कि यह संपूर्ण विश्व ही नारायण का स्वरूप है।

यथार्थमें इस ग्यारहवें अध्यायमें यह भी बतला देना चाहिये था, कि यह जो 'दिव्यचक्षु नामक ज्ञान भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया वह किस-तरह समझाया। परंतु भगवद्गीतामें यहां अथवा कहीं भी वह स्पष्टतया नहीं समझाया। तथापि भगवानने समझाया जरूर होगा; अन्यथा अर्जुनको विश्वरूप न दिखता। किंबहुना जो दिव्यचक्षु नामक ज्ञान भगवानने अर्जुनको दिया, वह संजयको भी सुन पडा था और सुननेसे कोई उसको भी अवगत हुआ था; क्योंकि गीताके ११ वें अध्यायमें वर्णित विश्व-रूप जैसे अर्जुनको दिखा, वैसे संजयको भी दिखा है। (गीताके अ० ११ श्लो० ९ से १३ तक में स्वतः संजय वर्णन करता है, कि उसको वह विश्वरूप कैसा दिखा; और अ० १५ श्लो० ७७ में वह कहता है, कि 'हरिका अद्भुत रूप देखकर मुझे विस्मय हुआ'।) श्रीकृष्णने स्वतः संजयको दिव्यचक्षु नहीं दिये; इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण जब अर्जुनको समझाते थे, तब संजय सुनता था; इसीलिये उसको दिव्यचक्षु प्राप्त हुए होंगे। सुनने से यह अगर संजय की समझमें आगया, तो बहुत संभव है, कि दूसरे लोग भी वैसाही सुनकर या पढकर समझ सकेंगे।

जगत्को सादे नेत्रोंसे देखनेमें और दिव्यचक्षुसे देखनेमें अन्तर है। किसी पदार्थको उनको इन दो दृष्टियोंसे देखनेमें निराला ही अनुभव आ सकता है। सादे नेत्रोंसे जगत्को देखनेसे प्रत्येक पदार्थ की भिन्नता का अनुभव होता है, दिव्य चक्षुसे अथवा ज्ञानदृष्टि से जगत्को देखें, तो यह भिन्नभाव नष्ट होकर ऐसा अद्भुत अनुभव आता है कि एक ही का यह सारा 'विश्वरूप' है। साधुसंतोंने अनेक जगह जो कहा है, कि 'ईश्वर विश्वरूपसे विराजित है,' वह इन्हीं दिव्यचक्षुओंसे देखकर कहा है।

यहां एक आक्षेप ऐसा हो सकता है कि इन दिव्य चक्षुओंका महत्त्व इतना भारी है और श्रीकृष्ण ने कहा भी, कि 'मैं दिव्यचक्षु देता हूं;' तब ११ वें अध्यायमें इनका स्पष्ट शब्दोंमें विवरण श्रीकृष्णने क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह हो सकता है, कि ११ वें अध्यायके ८ वें श्लोकके आगे यह बात कहने का मौका आया और वह कही नहीं; तथापि ऐसा नहीं है, कि गीतामें इसके पहिले यह बात कभी न कही गई हो। इसलिये पिछले अध्यायोंको थोडा ध्यानपूर्वक देखना आवश्यक है।

गीताके दूसरे अध्यायमें (श्लो० २४) कहा है, कि एकही सनातन आत्मा सर्वगत- सर्वव्यापक है। इतना ही समझमें अच्छी तरह आ जाय, तो विचार करनेवालेको सहज प्रतीत होगा, कि उसी आत्मापर यह विश्वरूप दिखता है।

गीताके तीसरे अध्यायमें (श्लो० १५) जो कहा है, कि 'सर्वगतं ब्रह्म' (सर्वव्यापक एकही ब्रह्म है) उससे भी, विचार करनेपर, यह ध्यानमें आ सकता है कि इस एकही ब्रह्मपर यह विश्वरूप भासमान होता है

गीताके चतुर्थ अध्यायमें (श्लो० २४) कहा है, कि 'अर्पण, हवि, अग्नि, हवन, हवनकर्ता इत्यादि सब है। इससे ध्वनित किया है, कि इसी दृष्टिको विस्तृत करके जगत् की ओर लगानेसे विश्वके संपूर्ण पदार्थ विश्वरूप दिखेंगे। यही ब्रह्मका विश्वरूप दर्शन है।

पांचवें अध्यायमें (श्लोक ७) बतलाया है, कि

'सर्वभूतात्मभूतात्मा' कैसा रहता है। समस्त भूतोंका एकही आत्मा रहनेके कारण यह निःसंदेह ध्वनित होता है, कि इस एक विश्वात्माका विश्वरूप यह जगत् है। इसीतरह इस अध्याय के श्लोक १८ में कहा है, कि पंडित लोग 'समदर्शी' होते हैं, अर्थात् 'जगत्के समस्त विषम पदार्थोंमें समानतासे रहनेवाले ब्रह्मको देखनेवाले' होते हैं। इससे साफ जाहिर होता है, कि विश्वरूपमें दिखनेवाले अनंत विषम पदार्थोंमें एकही ब्रह्म समप्रमाणमें रहता है। इस तरहसे यह ध्वनित होता है, कि इन अध्यायोंमें आया हुवा विश्वरूप उसी ब्रह्मका रूप है।

६ वें अध्यामें ऐसी समदृष्टिका उपदेश किया है-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६-२९
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति॥ ६-३०
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः॥ ६-३१

'समस्त भूतमात्रोंमें एक ईश्वर और एक ईश्वरमें समस्त भूत हैं, ऐसा देखना; समस्त भूतोंमें एक आत्मा समानता से रहता है, ऐसा देखना'। इससे ध्वनित होता है, कि विश्वके अंतर्गत अनेक रूप एकही ईश्वरके हैं।

उपर्युक्त इन वचनोंमें जो बात अस्पष्ट अथवा ध्वनित होती थी, वह बात सातवें अध्यायमें बिलकुल स्पष्ट रीतिसे बतलाई है, कि जिसमें किसी को कोई शंका न आ सके। सातवें अध्यायके ये वचन महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिये यहां उनपर थोडा अधिक विचार करना चाहिये-

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ ७.१९

'(वासुदेवः सर्वम्- वासुदेवः सर्वं विश्वम्) वासुदेव ही सर्व विश्व है, ऐसा अनुभवसे जो देखे, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।' अर्थात् जाननेकी अंतिम वस्तु यही है। यदि ऐसा ज्ञान हो गया, कि नारायण अथवा परमेश्वर ही 'सब कुछ है', तो नारायणका का रूप दिख जायगा; अर्थात् यह दिखेगा, कि यह (सब कुछ) विश्वका रूप है, विश्वरूप है। परंतु ऐसा अनुभवसे जाननेवाले महात्मा (सु-दु-र्लभ) अत्यंत दुर्लभ हैं। लोग इस बातको शब्दसे जानेंगे; परंतु अनुभवसे यह प्रतीत होना, कि सचमुचमें संपूर्ण विश्व नारायणरूप है, बहुत कठिन है। यहां दिव्य ज्ञान (दिव्य चक्षु) स्पष्ट रीतिसे दिये हैं और इसी अध्यायमें इसका स्पष्टीकरण है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ७-४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ७-५॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ७-६॥

'पंच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार- यह मेरी अष्टधा प्रकृति है, अर्थात् यह मेरा शरीर है। इसका नाम अपरा प्रकृति है। जिसको जीव कहते हैं, वह मेरी अपरा प्रकृति है। इस जीव नामक पराप्रकृतिसे इस जगत्का धारण होता है और मैं (ईश्वर) ही इस जगत्का उत्पत्तिस्थितिलयकर्ता हूं।'

इसमें परमेश्वरके शरीरका वर्णन है। स्थूल नाशवंत सृष्टि उसका स्थूल शरीर है; अनंत जीव उसका सूक्ष्म शरीर है और इन सबमें व्यापकर रहनेवाला वह एक ईश्वर सबका आत्मा है। इससे स्पष्ट होता है, कि यह जगत् ही उसका रूप है; इसीलिये उसका विश्वरूप है। इस प्रकारसे विश्वरूपको देखनेकी दिव्य दृष्टि स्पष्ट शब्दोंमें यहां बतलाई है; परंतु यह नहीं कहा, कि यह दिव्य दृष्टि है।

इसी सातवें अध्यायमें 'पानीमें रस मैं हूं, बलिष्ठोंका बल हूं...' ऐसी ईश्वरकी विभूति (श्लोक ८ से १२ तक) बतलाई है। इसीतरह यह भी कहा है-

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि मामसृतोद्भवम्॥
(गी० ७-१०)

'ईश्वर सर्वभूतोंका सनातन बीज है।' यह सब जगत् यदि ईश्वररूपी बीजका ही वृक्ष है, तो क्या उसी बीजसे बढा हुआ जगत्रूपी झाड उसीका विश्वरूप नहीं है? तब यह कैसा कह सकते हैं, कि विश्वरूप केवल ११ वें ही अध्यायमें बतलाया है, उसके पहिले उसके संबंधमें कुछ दिव्य ज्ञान नहीं दिया? ईश्वररूपी बीजका सृष्टि वृक्ष है। इसलिये वृक्ष जैसे बीजका रूप है, वैसे ही संपूर्ण विश्व परमेश्वरका

रूप है। इसीलिये 'वासुदेवः सर्वः' यह भी संक्षेपमें विश्वरूपकाही वर्णन है। यही ज्ञान (दिव्य चक्षु) है। परंतु यह चष्मा आंखोंको लगानेकी हिकमत चाहिये और वह आंखोंको लगाना चाहिये। मुश्किलकी बात यही है।

आठवें अध्यायमें (श्लो० २२) कहा है, कि 'उस ईश्वरने यह सब विस्तार किया है और यह सब भूतमात्र उसीमें है।' अर्थात् वह इस समग्र विश्वका मूल रहनेके कारण और यह उसकी शक्तिका, विस्तार होनेके कारण, यही ध्वनित होता है, कि यह विश्वरूप उसीका है।

९ वें अध्यायमें भी (श्लो० ४.५) यही विषय आया है। 'अव्यक्त ईश्वरने इस सारे विश्वका विस्तार किया है। उसके आधारसे ये सब भूतमात्र हैं, परंतु उसको इनका आधार नहीं है।' वह अपने आधारसे ही रहा है। 'सकल भूतमात्र परमेश्वरकी प्रकृति है' (श्लो० ७) इत्यादि वर्णनसे यही सूचित होता है, कि विश्वका रूप परमेश्वरहीका रूप है। दसवें अध्यायमें परमेश्वरकी विभूतियां बतलाई हैं। ये विभूतियां ऐसी हैं- जलाशयोंमें समुद्र, पर्वतोंमें हिमालय, सर्पोंमें वासुकि, नागोंमें अनंत, दैत्योंमें प्रल्हाद, शस्त्रधारियोंमें राम, नदियोंमें गंगा, पक्षियोंमें गरुड- यह ईश्वरकी विभूति है। यह विभूति कबूल करनेपर प्रश्न यह आता है, कि नदियोंमें यदि गंगा ईश्वरकी विभूति है, तो अन्य नदियां किसकी विभूतियां हैं? हिमालय यदि ईश्वरकी विभूति है, तो अन्य पर्वत किसकी विभूतियां हैं? राम यदि ईश्वरकी विभूति है, तो अन्य शस्त्रधारी किसकी विभूतियां हैं? इस प्रकार हरजगह प्रश्नमालिका उपस्थित होती है। इसका उत्तर इसी अध्याय में दिया गया है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

गी० १०-३९

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

गी० १०-४२

'सकल भूतोंमें बीज ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त जो रह सके, ऐसा चराचर भूतोंमें कुछ भी नहीं है। अथवा अधिक बोलनेसे क्या मतलब है? ईश्वर अपने एक अंशसे इस संपूर्ण जगत्को व्यापकर रहा है।' इतना ध्यानमें रखनेसे काम हो जायगा।

इससे मालूम होगा, कि यद्यपि दसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन है, कि 'पर्वतोंमें हिमालय ही ईश्वरकी विभूति है,' तथापि उस अध्यायका भावार्थ यह है, कि 'इस सृष्टिमें प्रत्येक पदार्थ परमेश्वरकी ही विभूति है।' यह बात एकदम समझमें नहीं आ सकती, इसलिये विशेष महत्त्वयुक्त विभूतियोंका नामनिर्देश किया है।

इससे यह स्पष्ट होगा, कि दसवें अध्यायमें भी परमेश्वरका 'विश्वरूप' ही बतलाया है; परंतु वह कुछ अन्य तरहसे कहा है, इसलिये यदि वह बारीक नजरसे न देखा जाय, तो वह सहज ध्यानमें आने सरीखा नहीं है।

इतनी तैयारी कर लेनेपर भगवान्ने अर्जुनको गीताके ११ वें अध्यायमें विश्वरूपदर्शन कराया है। दूसरे अध्यायसे लेकर बहुधा प्रत्येक अध्यायमें यह बात भिन्न भिन्न रीतिसे बतलाई है, कि 'परमेश्वर बीज है और विश्व उस बीजका विस्तार है।' इन सब अध्यायोंके मुख्य वचन ऊपर दियेही हैं। विस्तार बीज ही का बाह्य रूप रहता है; इसलिये भगवद्गीताकी विचारसरणीसे यह बात स्पष्ट होती है, कि इस विश्वमें दिखनेवाला यह 'सर्वरूप' अथवा 'विश्वरूप' उस बीजस्थानमें रहनेवाले ईश्वरका ही है।

इतना देख लेनेपर यह मालूम होगा कि, ११ वें अध्यायके ८ वें श्लोकमें यद्यपि यह कहा है, कि मैं 'दिव्यचक्षु' देता हूं और यद्यपि वहां यह दिव्य ज्ञान नहीं दिया, तथापि वह ज्ञान इसके पहिले अनेकवार अलग अलग रीतिसे दिया है। वह ज्ञान जो लोग समझ बूझ सकें, उन्हें प्रतीत होगा, कि अर्जुनने जो विश्वरूप देखा, वही यह प्रत्यक्ष दिखनेवाला जगत् है। इस विश्वरूपको यदि कोई देखे, तो उसको क्या दिखेगा?

'यहां सूर्य, चंद्र; नक्षत्र और विद्युत्का प्रकाश है, यहां अग्निका प्रचंड सामर्थ्य प्रकाशित होता है, वायु बहता है, वृष्टि होती है, वनस्पतियां ऊगती हैं और उनका नाश होता है। इसी विश्वके रूपमें अनेक प्राणियोंके हाथ, पैर, पेट जंघा, सिर, नेत्र, कान, मुंह इत्यादि असंख्य अनंत अवयव हैं। मनुष्योंमेंसे कोई सिरका काम करनेवाले, कोई बाहुके काम करनेवाले और कोई पैरोंके काम करनेवाले हैं। कोई जातियां बलवान् होती जाती हैं; समय पाकर वे जातियां अपनी ताकतके जोरपर अशक्त लोगोंपर अत्याचार करने लगती हैं और बादमें वे भी कालकी विकराल डाढमें पिस जाती हैं। इसी अवसरमें नई कल्पनाओंका प्रसार करनेवाले दूसरे संघ निर्माण होते हैं। कालके भयानक स्वेच्छासंचारमें कोई मरते हैं, कोई पैदा होते हैं; परंतु इन बातोंका उस मूलबीजसे कोई संपर्क नहीं होता। ऐसा इस विश्वरूपका यह अखंड प्रवाह जारी है।'

यही विश्वरूप अर्जुनने देखा। अपन भी विश्वका यही रूप देखते हैं; परंतु वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वात्मैक्य दृष्टिसे नहीं देखते; इसलिये जो अपनको दिखता है, वह वैसा 'विश्व-रूप' नहीं रहता, जैसा कि अर्जुनने देखा था! अर्जुनको सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वात्मैक्य की ज्ञानदृष्टि प्राप्त हुई थी। यही 'दिव्य दृष्टि' है। अपनी दृष्टि एकदेशीय, एककालीन और भेदभावपूर्ण रहती है। इसलिये वह दिव्य-दृष्टिका कार्य नहीं कर सकती। सर्वभूतोंका हित करनेमें जो रत है, वह 'दिव्य-दृष्टि' है और जो अपने हितके लिये दूसरोंको आहुति लेती है, वह सामान्य दृष्टि है। सर्वभूतहित, द्वन्द्वातीत, सर्वात्मभाव, इत्यादिके संबंधमें जब अर्जुनको यथार्थ कल्पना आगई, तभी उसको 'विश्वरूप' दिखा। सामान्य लोग स्वतःके हितको देखते हैं; दूसरोंके बारेमें कहते हैं, कि 'मुझे इनसे क्या मतलब है?' द्वंद्वहीमें व्यवहार करते हैं और उन्हें सर्वात्मभावकी कल्पना तक नहीं रहती; यही विश्वका रूप देखनेपर भी उन्हें वैसा विश्वरूप नहीं दिखता, जैसा अर्जुन को दिखा था!

सर्वात्मभावका अनुभव लेकर, विश्वरूप प्रत्यक्ष देखनेपर भी मनुष्यके हाथसे युद्ध होगा; परंतु यह युद्ध जगत्के लिये अर्थात् सर्वभूतोंके हितार्थ होगा; इस उद्देशसे नहीं, कि मुझे अकेलेको या मेरी जाति को चैनकी बंसी बजाते बने। जागतिक धर्मकी योग्य व्यवस्था होनेके लिये जो कुछ होना हो, वह होगा।

तात्पर्य यह है, कि जिसप्रकार एक मानवशरीरमें पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, ऐसे पंचमहाभूत रहते हैं, उसमें सत्त्व, रज, तमके भेद रहते हैं और उनसे बना हुवा यह शरीर जैसे उस मनुष्यका रूप समझा जाता है, उसी प्रकार विश्वात्माके विश्वदेह में वही पंचमहाभूत और वेही तीन गुण अतिविस्तृत प्रमाणमें रहते हैं। जैसे यह छोटा देह मानवका है, वैसेही यह विराट् विश्वदेह विश्वात्मा नारायण का है। इसलिये यह विश्वरूप उसी एक वासुदेवका है। अर्जुनने इसी दृष्टिसे यह विश्वका रूप देखा।

कतिपय लोगोंकी यह धारणा है, कि श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनके नेत्रों पर हाथ फिराके, अर्जुनपर (मस्मेरिजम् हिप्नॉटिजम् सरीखा) मानसशक्तिका कुछ प्रयोग करके अथवा उसके संमुख अपना ही देह बढाकर उसको विश्वरूप कहकर कुछ निरालाही चलच्चित्रपट सरीखा चलच्चित्र बतलाया। परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि 'वासुदेवः सर्व (विश्वम्)' (गी० ७-१९) यह वचन विश्वरूपके वर्णनका मूल है और यह कल्पना केवल गीताहीमें नहीं, प्रत्युत आर्योंके वेदशास्त्रोंमें सर्वत्र है देखिये-

वासुदेवः सर्वम्। (गीता ७।१९)
विश्वं विष्णुः। (विष्णुसहस्रनाम)
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वं... त्रिकालातीतं...
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म॥ (मांडू० १)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छां० उ० ३. १४. १)
स एवेदं सर्वम्॥ (छां० ७. २५. १)

आत्मैवेदं सर्वम् । (छां० ७.२५.१)
नारायण एवेदं सर्वम् ॥ (नारा० उ० २)

इस तरह उपनिषदादि ग्रंथोंमें एक मतसे कहा है, कि ' परमात्माही संपूर्ण विश्व है । उपनिषद्का यह भी कथन है, कि-

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपः । (श्वे० उ० १-९)
' आत्मा अनंत है और विश्व उसका रूप है । '

वेदोंमें भी-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
(ऋ० १०-९०-२)

'भूत, भविष्य, वर्तमान कालका यह सारा विश्व वही जगद्बीज नारायण पुरुष है ।' इसप्रकार यह विश्वरूपका दर्शन वेदमंत्रोंमें भी ऐसा ही है । यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें रुद्रदेवताके विश्वरूपका वर्णन है और वेदके अनेक सूक्तोंमें अनेक देवताओंके विश्वरूपका वर्णन है । देवताओंके भिन्न नामोंसे (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋ. १.१६४ इस न्यायसे) एकही सत्य आत्मतत्त्वका बोध होता है; इसलिये यह प्रश्न उत्पन्नही नहीं होता, कि अनेक देवताओंके अनेक रूप कैसे ? इससे मालूम होगा, कि विश्वरूपके वर्णनकी कल्पना गीतामें नयी नहीं है, वह वेदोंसे गीतामें उद्धृत की है । फरक इतनाही है, कि जो वैदिक देवताओंके वर्णनसे वेदमंत्रोंमें थी, वही वासुदेवके वर्णनसे गीतामें अधिक रसभरित वर्णन करके बतलाई है । अपने गणपति अथर्वशीर्षमें भी यह गणपतिका विश्वरूपवर्णन ही है—

त्वमेव सर्वम् ।
सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति ।
त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः ।
त्वं अग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमाः ।
(गणपति अथर्वशीर्ष)

'यह सब कुछ जो है, वह गणपति ही है; संपूर्ण जगत् गणपतिके आश्रयसे अनुभवमें आता है । गणपति ही पंचभूत अर्थात् पंचभौतिक विश्व है । वही अग्नि, वायु सूर्य, चन्द्र है ।'

अर्थात् विश्वरूपकी जो कल्पना ऊपर बतलाई है, वह अपने समग्र आर्यवाङ्मयमें अनादि कालसे एकसी है ।

दिव्यदृष्टि और विश्वरूपके संबंधमें इतना विवेचन अभी पर्याप्त है । यह बात सच है, कि इतना विवेचन होनेपर भी विश्वरूप संबंधी सब शंकाओंका निरास न होगा । इसलिये इस संबंधमें कोई अधिक शंकाएं उपस्थित करें, तो उनका विचार आगेके लेखमें किया जायगा ।

श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत

भगवच्छरणागति–योग

(लेखक– श्री० जानकीवल्लभदास)

Fill thy mind with Me, be My devotee, sacrifice unto Me, bow down to Me. Thus having made thy heart steadfast in Me, taking Me as the Supreme Goal, thou shalt come to Me (Gita IX-34.)

He who with supreme devotion to Me will teach this deeply profound philosophy to My devotees, shall doubtless come to Me alone (Gita XVIII-64.)

श्रीमद्भगवद्गीताका साध्य जीव–शिवका ऐक्य है। यही बात निम्न वचनोंसे गीताके भिन्न भिन्न अध्यायोंमें भिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित है–

मद्भावं सोऽधिगच्छति। (गीता १४-९)
ब्रह्मभूयाय कल्पते। (गीता १८–५३)
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। [गीता १८–६२]
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने ॥ (गीता १८–६५)

कर्म, भक्ति, ज्ञान अथवा योग इनमेंसे किसीभी मार्गसे जानेवाला मुमुक्षु हो, अनन्य भावसे भगवान्की शरणमें गये विना, अपना भार भगवान्पर रखकर उसका कृपाप्रसाद प्राप्त किये विना, चिरंतन शांति प्राप्त नहीं हो सकती॥ इसलिये इस योगके महत्त्वका प्रतिपादन गीताके आधारसे करना इस लेखका उद्दिष्ट है।

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' और 'धर्मसंमूढचेताः' (गी० २. ७) ऐसा पार्थ
'भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं, सुराणां चाधिपत्यम्' (गी० २-८)

प्राप्त होनेपर भी इंद्रियोंका दाह और मनकी असमाधानवृत्ति (गी० २–८) दूर न हो सकेगी, ऐसा जानकर, चिरंतन शांतिप्रीत्यर्थ भगवान्से प्रार्थना करता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

मुमुक्षुओंको यह स्थिति प्राप्त करनेके लिये जिस मनःस्थितिकी जरूरत है, उसकी कल्पना श्रीसमर्थने दासबोधमें इसतरह दिग्दर्शित की है—

महाराजे चक्रवर्ती। जाले आहेत पुढे होती।
परंतु कोणी सायुज्यमुक्ति। देणार नाही ॥

[अर्थ– (बहुतसे) महाराजा चक्रवर्ती हो गए, अभी हैं और आगे होंगे। परंतु सायुज्यमुक्ति देनेवाला कोई नहीं है।] भगान्की शरणमें जानेके पहिले यह प्रश्न आता है, कि भगान्का स्वरूप कैसा है और उसकी शरणमें कैसे जाना? इसका उत्तर मूलग्रंथमें विस्तृत रीतिसे दिया गया है; मुमुक्षुओंको यह उत्तर मूलग्रंथहीमें देखना श्रेयस्कर है। सिवाय इसके, भगवान्का सत्यस्वरूप वर्णनातीत है; उसका यथार्थ वर्णन करना असंभाव्य है। तथापि साधारण दृष्टिसे देखा जाय, तो भगवद्गीतामें–

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप॥ गी. ११-३८
तथा- मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि...' गी० ९-४
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानाम्''' ॥ गी० ५-२९

इन श्लोकोंमें पार्थने और स्वतः भगवान्ने जो वर्णन किया है, वह उसका स्वरूप ध्यानमें लाकर, सर्वभावसे उसकी शरणमें जाकर निरंतर शान्ति प्राप्त कर लेना- यही मुमुक्षुका परम कर्तव्य है।

अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें जाकर, उसको अपना बनाकर और यह दृढ भावना रखकर, कि जो उसकी इच्छा वही अपनी इच्छा, जिन साधुसंतोंने-

सगुण निर्गुण, जयाचीं हीं अंगें।
तोचि आम्हांसंगें, क्रीडा करी॥

(अर्थ- सगुण और निर्गुण जिसके अंग हैं, वही हमारे साथ क्रीडा करता है) ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया, उस अधिकारसंपन्न संतमालिकामें 'भगवच्छरणागतियोगविरहित' कोई हो ही नहीं सकता, चाहे वह कर्ममार्गी हो, या भक्तिमार्गी, या राजमार्गी, या ज्ञानमार्गी। इतना इस योगका महत्त्व है।

भगवद्गीताके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध ऐसा नौ नौ अध्यायोंके दो विभाग मान लिये जाँय, तो ९ वें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें व्यासजीने इसी योगका महत्त्व बतलाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

इस योगका महत्त्व पुनश्च एकबार उत्तरार्धके अखीरमें १८ वें अध्यायके ६५ वें श्लोकमें इन्हीं शब्दोंमें ग्रथित किया है और यह दरसाया है, कि भगवान् का प्रियतम भक्त इस योगसे निःसंदेह भगवत्पद प्राप्तकर सकता है। पूर्वार्धके अंतमें (९ वें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें) यही वर्म बतलाया; उत्तरार्धमें फिरसे (अ० १८ श्लो० ६५) एकबार वह वर्म बतलाकर, भगवान्के मुखसे यह वचन दिलाया है, कि यही परम गुह्य जो कोई 'मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा' वह मेरेही स्वरूपको पहुंचता है। यह बात खूब ध्यानमें रखी जाय। अतः भगवानके मुखसे निकले हुए ये तीन श्लोक भगवच्छरणागति योगपर हैं और इस योगका मार्मिक वर्णन निम्न श्लोकोंमें किया है-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥
(गी० १८-६१)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गी० १८-६२)

और व्यासजीने बतलाया है, कि यही गुह्याद्गुह्यतर रहस्य है। इसलिये सर्व गीतासार जिस भगवच्छरणागतियोगपर श्लोकमें भगवान्के मुखसे कहलाया है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८-६६)

ऐसे पापनिवारक और चिंताविमोचक श्लोक पर पाठक बार बार विचार करें, ऐसी प्रार्थना करके यह लेख मैं जनताजनार्दनकी सेवामें पुरस्कृत करता हूं।

इंद्रियनिग्रह और मनोनिग्रहके आग्रहदर्शक

गीता के स्थल

(संग्राहक- श्री० रामचंद्र कृष्ण कामत, माशेल-गोवा.)

श्लोक — अध्याय २

४३ 'कामात्मानः स्वर्गपरा०'
४४ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्०
५५ प्रजहाति यदा कामान्
५८ यदा संहरते० इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यः०
६० इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः
६१ ध्यायतो विषयान् पुंसः०
६४ रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन्
६६ नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
६७ इंद्रियाणां हि चरतां०
६८ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानी सर्वशः ।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यः०
७१ विहाय कामान्०

अध्याय ३

६ कर्मेंद्रियाणि संयम्य० इंद्रियार्थान्विमूढात्मा०
७ यस्त्विंद्रियाणि मनसा०
३३ सदृशं चेष्टते स्वस्याः०
३४ इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत०
३७ काम एष क्रोध एष०
३८ तेनेदमावृतम्
३९ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
४० इंद्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते ।
ज्ञानमावृत्य०
४१ तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य०
४३ जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्

श्लोक — अध्याय ४

२६ श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति
२७ सर्वाणींद्रियकर्माणि० आत्मसंयमयोगाग्नौ
जुह्वति०

अध्याय ५

७ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः
२१ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा०
२२ ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते
२३ शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगम्०
२६ कामक्रोधवियुक्तानाम्०
२७ स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्०
२८ यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिः०

अध्याय ६

३ योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।
४ यदा हि नेंद्रियार्थेषु०-योगारूढस्तदोच्यते ॥
७ जितात्मनः प्रशांतस्य
८ कूटस्थो विजितेंद्रियः । युक्त इति०
१० यतचित्तात्मा०
१२ यतचित्तेन्द्रियक्रियः
१४ प्रशांतात्मा, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः मनः संयम्य०
१७ युक्ताहारविहारस्य०
१८ यदा विनियतं चित्तं० निस्पृहः सर्वकामेभ्यो०

श्लोक
१९ योगिनो यतचित्तस्य०
२० यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
२४ संकल्पप्रभवान् कामान्० मनसैवेंद्रिय-
ग्रामं विनियम्य०
२५ धृतिगृहीतया बुद्धया०
२६ प्रशान्तमनसं० शान्तरजसम्०
२८ युंजन्नेवं० विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्०
३३ चंचलत्वात्०
३४ चंचलं हि मनः कृष्ण०
३५ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।
३६ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्यः०

अध्याय ७

२० कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः ०

अध्याय ८

८ चेतसा नान्यगामिना०
११ यतयो वीतरागाः। यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति०
१२ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च

अध्याय ९

३४ मन्मना भव मद्भक्तो०

अध्याय १०

१० तेषां सततयुक्तानाम्०

अध्याय १२

२ मय्यावेश्य मनः०
४ सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्०
८ मय्येव मन आधत्स्व०
१४ यतात्मा दृढनिश्चयः मय्यर्पितमनोबुद्धिः०

अध्याय १३

७ आत्मविनिग्रहः
८ इंद्रियार्थेषु वैराग्यम्
२४ अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु

श्लोक

अध्याय १४

२४ समदुःखसुखः समलोष्टाश्मकांचनः तुल्यप्रिया-
प्रियः

अध्याय १५

३ असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा
५ निर्मानमोहाः जितसंगदोषः, विनिवृत्तकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः
११ यतंतो योगिनः—यतंतोऽपि अकृतात्मानः

अध्याय १६

१ सत्त्वसंशुद्धिः, दमः तपः
२ अक्रोधः
४ क्रोधः
८ किमन्यत्कामहैतुकम्
१० काममाश्रित्य
११ कामोपभोगपरमाः
१२ कामक्रोधपरायणाः– कामभोगार्थम्०
१६ प्रसक्ताः कामभोगेषु
१८ कामं क्रोधं च संश्रिताः
२१ कामः क्रोधस्तथा लोभः
२२ एतैर्विमुक्तः
२३ शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति०

अध्याय १७

५ कामरागबलान्विताः
१४ ब्रह्मचर्यमहिंसा च०
१६ आत्मविनिग्रहः

अध्याय १८

२७ रागी कर्मफलप्रेप्सुः
३३ धारयते मनः प्राणेंद्रियक्रियाः
३५ विषयेंद्रियसंयोगात्
३९ निद्रालस्य प्रमादोत्थम्

४२ शमो दमः

४९ जितात्मा विगतस्पृहः

५१ धृत्यात्मानं नियम्य च – शब्दादीन् विषयां-स्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य०

५२ विविक्तसेवी लघ्वाशी – यतवाक्कायमानसः। वैराग्यं समुपाश्रितः

५३ कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य०

इन वचनोंपर प्रत्येक टीकाकार की टीका देखने से यही मालूम होगा, कि यदि अतीन्द्रिय सौख्य की प्राप्ति चाहिये हो, तो जितेन्द्रिय रहनाही चाहिये। इसी अतीन्द्रिय सौख्यके नाम हैं,–महासुख, चित्सुख, चिदानंद, स्वानंद, ब्रह्मानंद, आत्मानंद। विषयानंद पशुपक्षियोंमें– कृमिकीटयोनिमें है ही। मनुष्य यदि उसी विषयानंदको प्राप्तिके लिये अपना सर्वस्व खर्च करे, विषयानंद ही को अपना ध्येय अथवा प्राप्तव्य मानने लगे, तो उसमें और पशु-पक्षियोंमें क्या अंतर रह गया? विषयानंदकी प्राप्ति के लिये विषय चाहिये, उन विषयोंके ग्राहक इंद्रिय चाहिये और साथही मन चाहिये। परंतु ब्रह्मानंद की प्राप्तिके लिये ये तीनों अनावश्यक है, किंबहुना ये प्रतिबंधक होते हैं। इसलिये उनका निग्रह करनाही चाहिये। विषयानंद अति अल्प है, कृत्रिम है और पराधीन भी है। ब्रह्मानंद बृहत् (महत्) है; अकृत्रिम (सहज) है और स्वतंत्र है। वह अतीन्द्रिय हुवा, तो भी बुद्धिग्राह्य है। परंतु यह बुद्धि स्थूल नहीं, किंतु सूक्ष्मातिसूक्ष्म हुई रहनी चाहिये। श्रवण–मनन–निदिध्यासके संस्कार से बुद्धिको ऐसी सूक्ष्मता प्राप्त होती है। इस तरह की अतीव शुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे ब्रह्मानंदका अनुभव आता है। जबतक ऐसा अनुभव अर्थात् ब्रह्मानंद-साक्षात्कार नहीं हुआ, तबतक जन्ममरणकी परंपरासे जीवका छुटकारा नहीं हो सकता। यह ब्रह्मानंदसाक्षात्कारही ब्रह्मज्ञान है। घटज्ञानके मायने घटसाक्षात्कार; इसीतरह ब्रह्मज्ञानके मायने हैं ब्रह्मानंदसाक्षात्कार; और यही मनुष्यजन्मका अंतिम ध्येय है।

इसके आगे प्रश्न यह है, कि क्या ऐसा ब्रह्मज्ञानी व्यवहार कर सकता है? या नहीं कर सकता? इसका विचार पंचदशीके ध्यानदीप प्रकरणमें सुचारुरूपसे किया गया है। ज्ञानको और व्यवहारको किसी बातका विरोध नहीं है। उसमें यह प्रतिपादन किया है, कि ज्ञानी ही उत्तम रीतिसे व्यवहार कर सकता है। वसिष्ठने श्रीरामको उपदेश करके समाधिमें स्थित रहनेको नहीं कहा। इसीतरह श्रीकृष्णने अर्जुनको ज्ञानोपदेश करके कर्मपरावृत्त नहीं किया।

अर्जुना देऊनि समाधि। सवेंचि घातला महायुद्धीं।
परी कृष्ण कृपानिधि। तटस्थ त्रिशुद्धी न करी च॥

(अर्जुनको समाधि देकर श्रीकृष्णकृपानिधिने उसको युद्धमें प्रवृत्त किया; केवल तटस्थ रहनेकी समाधि नहीं दी।) [एकनाथी भागवत, अध्याय १३ के ३७ वें श्लोकपर पूरी टीका पढी जाय।]

परंतु ऐसा ब्रह्मज्ञान होनेके लिये साधकको चाहिये, कि वह कुछ समयतक व्यवहारसे अलिप्त रहकर, कामक्रोधको जीतनेके लिये जितेन्द्रिय और जितमनस्क हो। जो ऐसा होवे, वही ब्रह्मज्ञानका (शब्दज्ञानका नहीं) अधिकारी होता है।

जो रसनेंद्रियांचा अंकिला। कां निद्रेसि जीवें विकला तो येथ नाही म्हणितला अधिकारिया॥

यांचा पहिला कुरुठा इंद्रियें। पधूनि प्रवृत्ति कर्मातें विये। आधी निर्दाळूनि घाली तिये। सर्वथैव॥

मग मनाची धाव पारुषेल। आणि बुद्धीची सोडवण होईल। इतुकेन थारा मोडेल। या पापियांचा॥

तैसें चित्त लया जाय। आणि चैतन्यचि आघवें होय। ऐसी प्राप्ति सुखोपायें। आहे येणें॥

तें (मन) सुखाचेनि सांगातें। आलें परब्रह्म आंतौतें तेथ लवण जैसें जळातें। सांडूं नेणें॥

तैसे होय तिये मेळीं। मग सामरस्याचिये राउळीं 'महासुखाची' दिवाळी। जगेंसि दिसे॥
परतोनि पाठमोरें ठाके। आणि आपणियातें आपण देखे। देखतखेवों वोळखे। म्हणे तत्त्व हें मीचि तिये ओळखीचि सरिसें। सुखाचिये साम्राज्यीं वैसे। मग आपणपां समरसें। विरोनि जाय॥

(ज्ञानेश्वरी अ० ६)

[जो मनुष्य जिह्वाके स्वाधीन हुवा, अथवा निद्राका गुलाम हो गया, वह इस बातका अधिकारी नहीं कहलाता॥ इन (कामक्रोधादि दुष्ट विकारों) का मूलस्थान ये इंद्रिय हैं; इन्हीं दरवाजोंसे कर्म-प्रवृत्ति निकलती है। इनको सर्वथा बंद करो। तब मनकी दौड रुक जायगी और बुद्धिकी मुक्तता होगी। इससे इन पापियों (विकारों) का आश्रय टूट जायगा॥...इसीतरह चित्तका लय हो जाता है और जहां वहां सब कुछ चैतन्य (ब्रह्मरूप) हो जाता है। ऐसी प्राप्ति इस सुखकर उपायसे होती है॥...वह (मन) सुखके साथ परब्रह्मके अंदर आता है; और वहां उसको छोडना नहीं जानता, जैसे (पानीके अंदर जानेसे और तन्मय होनेसे) नमक पानीको छोड नहीं सकता॥ उसकी संगतिमें वह वैसाही (तद्रूप) हो जाता है; तब समरसता (ब्रह्मानंद) के मंदिरमें जहां वहां (दुनियांके सहित) महासुखकी दिवाली (उत्साह) नजर आती है॥ लौटकर पीछे देखें, तो अपनेको अपनही दिखते हैं और देखते ही पहचान लेते हैं, और कहते हैं, कि यह तत्त्व मै ही हूं॥ यह पहचान होते ही अपन सुखके साम्राज्यपर आरूढ होते हैं और स्वयं एकता (समरस) में घुल जाते हैं॥]

यह 'स्वानंदसाम्राज्य' हासिल करनाही मनुष्य-जन्मका अंतिम ध्येय है; ऐसा ध्यानमें रखकर उस अनुरोधसे साधक अपना व्यवहार अथवा साधन क्रम जारी रखे। केवल विषयानंदमें बुद्धिको निमग्न रखकर अल्पतृप्त अथवा अल्पमहत्वाकांक्षी नहीं रहना। ज्ञानी लोग अल्पतृप्तको गरीब अथवा पामर कहते हैं और उसपर खेद (Pity) करते हैं! हमको अभिमान रखना चाहिये, कि ऐसे विशेषणके हम पात्र न हों, किंतु 'धीर' पदवीके पात्र होनेकी हम महत्वाकांक्षा रखें। सच्चा पुरुष वही है, कि जो इंद्रियोंका गुलाम बनकर नहीं रहता।

'स पुरुषः यो खिद्यते नेन्द्रियैः'

इति शम्

हृद्गत

(लेखक- श्री० सदाशिव गोविंद लेले.)

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥

यह श्लोक सचमुचमें गीताका हृद्गत है। आजके क्रांतियुगमें वह अवश्य विचार करने-लायक है। दैवी तथा आसुरी संपत्तिके लक्षण और कर्म भगवान्ने अर्जुनको बतलाए और शीघ्रही उनके मुखसे ऐसे केवल आश्वासनपर उद्गार क्यों निकलने चाहिये, जिनका आगेपीछे-वाले विषय-विवरणसे कोई संबंध नहीं ?

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥

पिछले अध्यायोंकी संगति देखनेसे इस शंकाका निरसन होगा।

दोनों पक्षोंके सैन्य, न्यायसिद्ध्यर्थ परस्परोंका संहार करनेको उद्युक्त होकर आमने सामने खडे हैं, ऐसे समय श्रेयस्प्रेयस्का विचार अर्जुनके मनमें आया और ऐन मौकेपर उसको व्यामोह उत्पन्न हुवा। इस व्यामोहके निवारणार्थ गीताकी उत्पत्ति हुई। उसमें भी जहांतक शक्य था, थोडे समयमें और थोडे शब्दोंमें भगवान्ने अर्जुनका समाधान करनेका प्रयत्न किया। अर्थात् आगे आनेवाले षोडशाध्यायी गीतामें जिन दो मार्गोंका विस्तरशः विवेचन प्रमुखतासे किया है, उनका वह विवेचन एकही अध्यायमें संक्षेपतः कर दिया। कमसे कम

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु ।'

इस श्लोकार्धसे श्रीकृष्णका वह उद्देश ध्वनित होता ह। परंतु अर्जुन इतना दिङ्मूढ हो गया था, कि इतनेसे उसका समाधान नहीं हुआ, किंतु उसका मन भ्रममें पड गया! तब तीसरे तथा पांचवें अध्यायके प्रारंभमें अर्जुनने इस आशयके प्रश्न किये हैं, कि "मुझे निश्चितरूपसे बतलाओ, कि सांख्य श्रेयस्कर है अथवा योग श्रेयस्कर है ?' उनके अंग-उपांगोंका विचार किया गया और अर्जुनने कबूल किया, कि-

'यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।'

तथापि विश्वरूप देखनेकी इच्छा प्रकट की। वह रूप देखनेके बाद मूल वचनके अधिक स्पष्टी-करणार्थ अन्य आनुषंगिक विषयोंका विचार होने लगा। उनमेंसे दैवासुरसंपद्विभाग एक है। अर्जुनकी क्षात्रवृत्ति होनेके कारण गीतामें यद्यपि सभी वर्णाश्रमधर्मोंका समावेश हुवा है, तथापि अर्जुनके तत्कालिन प्राप्त कर्तव्यकर्मके अनुलक्ष्यसे गीता कही गई है; इसलिये स्वभावतः उसमें क्षात्र-धर्महीका विशेष उल्लेख है। ऐसी परिस्थिति होनेसे दैवीसंपद्के बतलाए हुए लक्षणोंमें और प्रतिपादित क्षात्रधर्मलक्षणोंमें बाह्यतःविसदृशता दिखती है और अर्जुनको यह शंका आ सकती है, कि मैं आसुरीसंपत्तिवाला तो नहीं हूं? अभीतक भगवान्ने बारबार जिस क्षात्रधर्मका प्रभाव डाला है, उसके लक्षणोंसे क्या यह आसुरिवृत्ति नहीं ठहरती ? और हालही जिसका चित्त स्थिर किया गया है, उस अर्जुनके दिलमें ऐसी शंका

उत्पन्न हुई होती, तो यहांतक भगवान्‌ने जितने प्रयत्न किये, वे सब निष्फल होते; और सब घुटाला हो जाता और फिर पहिलेसे प्रारंभ करना पडता।

इन सब अडचनोंको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने एकदम कह डाला, कि 'हे अर्जुन, तुम शोक मत करो (ऐसे अधीर मत हो;) तुम दैवी-संपत्तिवान् मनुष्य हो।' किंबहुना इसकी शब्दयोजनासे यह कह सकते हैं, कि अर्जुनकी मुखचर्यासे मालूम होता था, कि उसके मनमें कुछ खलबल मच रही थी; इसीलिये भगवान्‌के मुखसे उद्गार निकले। अस्तु; अपनको देखना यही है, कि गीतोक्त क्षात्रधर्ममें और उसी गीतामें बतलाए हुए दैवीसंपल्लक्षणोंमें बाह्यतः विरोध दिखता है। कदाचित् अर्जुन स्वतः प्रश्न करता, तो इस विरोधका निराकरण भगवान्‌केही मुखसे हो जाता। परंतु दुर्दैवसे हो, या सुदैवसे हो, वह निराकरण अपनेहीको कर लेना पडता है। वह करनेके पहिले यह खूब ध्यानमें रखना चाहिये, कि यह बाह्य-विरोध भ्रामक रहता है।

धर्मप्रवर्तक वचनोंमें ऐसा परस्पर विरोध थोडा भी रह जाय, तो उनका सर्वप्रामाण्य नष्ट होता है। क्या इन दैवीसंपल्लक्षणोंसे अविरोधी क्षात्रधर्मकी संगति लगाकर तदनुसार आचरण करनेका प्रयत्न अत्याचारी क्रान्तिकारक करेंगे? केवल बदला लेनेकी बुद्धिसे प्रेरित होकर द्वेषयुक्त अत्याचारमें प्रवृत्त होनेका क्षात्रधर्म गीताविहित नहीं; इसमें संदेह नहीं है। क्रान्तिकारक अत्याचारी बंधुओंको हमेशा यह ख्याल रखना चाहिये, कि ऐसी हीन प्रवृत्तियोंको गीताने तमोगुणी कहा है और उनका तिरस्कार किया है। ईश्वरकृपासे ये लोग सत्कर्तव्यकी पहचान कर लेवेंगे।

---

१ धर्मयुद्ध क्षत्रियका सहजसिद्ध कर्तव्य है।

२ अत्याचार करना तमोगुणी कर्म है, अतः वह हानिकारक है।

ज्ञानेश्वरी पूर्व

निवृत्तिराज की गीताटीका

(लेखक- श्री० कल्याण रामचंद्र आंबेवाडी, १६९३ रामगल्ली, बेळगांव.)

मराठी प्राचीन कवियोंका और उनके काव्योंका ज्यों ज्यों संशोधन होने लगा है, त्यों त्यों अनेक कवियोंपर नया नया प्रकाश पड रहा है। विशेषतः ज्ञानदेव, नामदेव, वामन, तुकाराम, विठ्ठल इत्यादि के काव्योंमें जो घुटाले हो गए हैं, उन्हें दूर करनेका समय जरूर आगया है।

आजतक लोगोंकी यह धारणा थी, कि मराठी का आद्यग्रंथ श्रीज्ञानेश्वरी है। परंतु गत पच्चीस वर्षमें जिनका पता लगा है ऐसे महानुभावी वाङ्मयसे मालूम हुआ है, कि ज्ञानेश्वरपूर्व मराठी वाङ्मय अस्तित्वमें था। ऐसे वाङ्मयमें से कुछ वाङ्मय स्वर्गीय श्री०भावे महाशयने प्रसिद्ध किया है। आज अपन यह देखें, कि महानुभावी वाङ्मयमेंसे किसी का वाङ्मय ज्ञानेश्वरी के पूर्व था या नहीं था।

श्रीज्ञानदेवने जिस समय मराठी भाषामें भावार्थ-दीपिका लिखी, उस समय मालूम होता है, उन्हें यह संशय हुआ होगा, कि महाराष्ट्रमें मराठी भाषामें ग्रंथ लिखे जाँय, तो क्या वे प्रचलित होंगे? या न होंगे? इसके पहिले, दसवीं शताब्दि के स्त्री-गीतोंसे, ऐसा दिखता है, कि घर घर में स्त्रीगीत मराठी में गाये जाते थे। यह जरूर है, कि महानुभावों के ग्रंथ भी बारहवीं शताब्दि के बादही के मिलते हैं; तथापि उस कालमें भी संस्कृत भाषाका भयप्रद वर्चस्व मराठी भाषापर और मराठी लोगोंपर था। ज्ञानेश्वर के पश्चात् एकनाथ, दासोपंत का वाङ्मय देखें; तो वे भी कहते हैं कि—

> संस्कृत भाषा देवें केली।
> मराठी काय चोरांची बोली?

(पाठभेदः- प्राकृत तरी चोरापासूनी झाली?)

एकनाथ.

[अर्थः- संस्कृत भाषा देवोंने की। तो क्या मराठी चोरों की बोली है?

(पाठभेद-तो क्या प्राकृत भाषा चोरोंसे हुई?)]*

समर्थ रामदासस्वामी भी ऐसे इन संस्कृतवालों की कुचेष्टा करते हुए कहते हैं—

> प्राकृत न बोलतां साचारें।
> तरी पुराणिकांचें पोट न भरे।

(अर्थः- प्राकृत न बोलें, तो पुराणिकोंका पेट न भरेगा।)

ऐसी स्थिति यदि पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दि में थी, तो वाचक कल्पना ही करें, कि बारहवें, तेरहवें शतकमें मराठी के बारेमें कितना अनादर रहा होगा।

यद्यपि मराठी के विषयमें ऐसी अनादर-वृत्ति थी, तथापि महानुभावोंने धैर्य के साथ मराठीमें ग्रंथरचना की बुनियाद डाल दी थी। उनको इस धैर्यवृत्तिका फायदा इन भक्तिपंथी अथवा भागवत-धर्मी लोगोंने लिया। बहुजनसमाज गँवार होता जाता था। परकीयों के आक्रमण जारी थे। शासनकर्ता क्षत्रिय लोग लूलेलंगडे होते जाते थे।

---

* हातीं देतां नवरत्नें। मराठे न बोले ने घेणें। संस्कृत बोलेल सेवणें। तेंचि मांडावें प्राकृतवचनें॥ दासोपंत.

इस समय ज्ञानमार्ग अथवा कर्ममार्ग समाज को रुचनेसरीखा नहीं था। कर्ममार्ग तो शिखरपर पहुंच गया था। जातिव्यवस्थाने परस्परों के विषय में सहानुभूति गमा दी थी। इस समय भागवत-धर्मियोंने, ब्राह्मणों की देवपूजामें जो देव था, उसको बहुजनसमाज के लिये खुला कर दिया, जनेऊ के बदले माला दे दी। जातिव्यवस्था को छुट्टी देकर वर्णव्यवस्था को फिरसे अमलमें लानेका उपक्रम किया। इस समय रामानंद का भक्तिमार्ग, शंकराचार्य का संन्यासधर्म और नाथसंप्रदाय का हठयोग, इन तीनों का मिश्रण करके यह भागवत-धर्म संतोंने शुरू कर दिया।

इस भागवत धर्म के प्रवर्तक निवृत्तिनाथ थे। निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाई इन चार भाईबहिनोंको सनातनी लोगोंने बहिष्कृत किया था। इन चारोंमें शक्ति थी, उन्हें महत्त्वाकांक्षा थी। उनके पिता विठ्ठलचैतन्य से उन्हें अद्वैत संप्रदाय की शिक्षा मिली थी। लोकभाषामें से संस्कृत का उच्चाटन होता जाता था। इस मौके का फायदा लेकर श्रीज्ञानेश्वर महाराज के गुरु (और बंधु) श्रीनिवृत्तिनाथने ग्रंथरचना की होगी। परंतु वह आज उपलब्ध नहीं है। तथापि श्रीज्ञानदेव अपनी भावार्थदीपिकाके ग्यारहवें अध्यायमें कहते हैं—

एथ श्रवणाचेनि द्वारें। तीर्थी रिघतां सोपारें।
ज्ञानदेव म्हणे दातारें। माझेनि केलें ॥८॥
तीरें संस्कृताचीं गहनें। तोडोनि मराठी शब्द-सोपानें।
रचिलीं धर्मनिधानें। श्रीनिवृत्तिदेवें ॥९॥+

इससे यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं, कि निवृत्तिराज की कुछ ग्रंथरचना थी। पूना के स्वर्गीय तात्यासाहेब मेहेंदळे को मैंने इस ओवी का अर्थ पूछा था। उस समय उन्होंने इस ओवीका अध्यात्मपर अर्थ करके बतलाया था। कई लौकिक व्यवहारोंको अध्यात्म का अर्थ लगा देनेकी कुछ संप्रदायी प्रथा अभीतक जोरमें है। मैंने उनसे कहा, 'इस ओवी का स्पष्ट अर्थ यह होता है, कि निवृत्तिदेवने एक गीताटीका लिखी।' परंतु उस समय उन्होंने मेरा अर्थ मंजूर नहीं किया।

जैसे ज्ञानदेव दो हो गए, वैसे निवृत्तिदेव भी तीन हो गए, ऐसा दिखता है। श्रीमद्भगवद्गीतापर मेरी सोलह भोगोंमें मराठी टीका प्रसिद्ध होनेवाली है; उस ग्रंथमें एक निवृत्तिदेवी भी है, जो कि तंजावर ग्रंथसंग्रहालयमें विद्यमान है। निवृत्तिदेवी की दूसरी एक प्रति यवतमाल के श्री० य० खु० देशपांडे महोदय के शारदाश्रममें है। वह निवृत्तिदेव महानुभाव है। निवृत्तिदेव की एक तीसरी टीका ठाना के संशोधक श्री० रा० म० आठवले महोदय के संग्रहमें है। उसको वे प्रसिद्ध करनेवाले थे, परंतु अभीतक वह प्रसिद्ध नहीं हुई। परंतु उनका कहना है, कि मुकेश्वरी और निवृत्तिदेवी एकही टीका है। श्री० आठवलेही जानें, कि सच बात क्या है। इसी तरह की एक निवृत्तिराज की गीताटीका नांदेड के सुप्रसिद्ध इतिहाससंशोधक श्री० विश्वेश्वर अंबादास कानोले महोदय के संग्रहमें है। मालूम होता होता है, कि यह निवृत्तिराज की टीका और वह निवृत्तिदेवी जो कि ठाना के श्री० आठवले महोदय के संग्रहमें है, दोनों एक होंगी। नांदेडकी इस प्रतिमें आठरवें अध्याय के अंतमें एक ७९ वां श्लोक इस तरह है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत सततं पुमान्।
विष्णो रूपं अवाप्नोति भयमंकं विवर्जितम्॥७९

और उसके आगे यह ओवी है—

जो श्रद्धापूर्वक पठण करी।
तो नर तरला या संसारीं।
निजपदीं ठाव देईल श्रीहरी।
म्हणे निवृत्तिराज ॥ ७९ ॥

+अर्थ- ज्ञानदेव कहते हैं, मेरे दाताने यहां श्रवण के द्वारा तीर्थयात्रा करना सुगम कर दिया ॥८॥ संस्कृत के गहन तीरों को मराठी के शब्दसोपानद्वारा तोडकर श्रीनिवृत्तिदेवने धर्मनिधान (ग्रंथ) रचे हैं ॥९॥

इसके आगे छः ओवी हैं और अंतमें ऐसा है— 'हरिः ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागो नाम निवृत्तिटीकायां अष्टादशोऽध्यायः।' इसमें दोबार निवृत्तिराज का उल्लेख आया है। यह प्रति शके १८०३में श्री० केशव गोविंद कुलकर्णी, कुर्डूकरने की है। अर्थात् शके १८०३ (ईसवी सन १८८१ तक यह टीका) निवृत्तिनाथ की समझी जाती थी।

ऐसी एक समझ लोगोंमें प्रचलित है, कि निवृत्तिनाथ के बंधु सोपानदेव ने एक गीताटीका लिखी है। प्रकाशक कहते हैं, कि यह सोपानदेवी सासवड (जिला पूना) में सोपानदेव के मठमें मिली। यह सोपानदेवी ई० स० १९२० में प्रसिद्ध हुई। इसमें भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं, कि सोपानदेवी सोपानदेवने लिखी।

इस सोपानदेवीमें और नांदेडकी निवृत्तिटीकामें सोलह आने साम्य है। क्वचित् कहीं एकाध जगह फरक है। सोपानदेवीका और निवृत्तिटीका का कोई भी श्लोक लेवें, यह साम्य जरूर दिखता है।

सोपानदेवी	निवृत्तिटीका
अध्याय पहिला	
काशिराज धनुर्धरू।	काशिराज धनुर्धरू।
शिखंडिया महारथी वीरु।	शिखंडिया महारथी वीरु।
धृष्टद्युम्न विराट थोरु।	धृष्टद्युम्न विराट थोरु
सात्यकिया तो अपराजितु ॥ १७ ॥	सात्यकिया तो अपराजित ॥ १७ ॥
द्रुपद आणि द्रौपदीचे सुत।	द्रुपद आणि द्रौपदीचे सुत।
सुभद्रेचा पुत्र महाबाहो विख्यात।	सुभद्रेचा पुत्र महाबाहू विख्यात।
अगा राया हे मिळोन समस्त।	अगा राया हे मिळोनि समस्त।
शंख वेगळे वाजविते जाले ॥ १८ ॥	शंख वेगळाले वाजविते जाले ॥ १८ ॥
तथा नादाचेनि गजरें।	तया नादाचेनि गजरें।
दुमदुमलीं मेरुशिखरें।	दुमदुमिलीं मेरुमांदारें।
दुर्योधना दुःख झालें भरें।	दुर्योधनासि दुःख झालें भरें।
हृदय त्याचें विदारितसे ॥ १९ ॥	हृदय त्याचें विदारित असे ॥ १९ ॥

[अर्थ- (दोनोंका एकही है) काशिराज धनुर्धर, महारथी शिखंडी वीर, धृष्टद्युम्न, श्रेष्ठ विराट, वह अपराजित सात्यकि (१७), द्रुपद और द्रौपदीके पुत्र, सुभद्राका विख्यात महाबाहु पुत्र, इन सबने मिलकर, हे राजन्, अलग अलग शंख बजाए (१८)। उस नादके गजरसे मेरुके शिखर गूंज उठे; दुर्योधनको बडा दुःख हुवा, उसका हृदय फटता था। (१९)॥]

इसतरह समग्र टीकाभरमें साम्य मिलते हैं। इससे मालूम होता है, कि सोपानदेवने निवृत्तिदेवी गीताटीकाकी नकल कर रखी होगी। इसीका यह मतलब है, कि सोपानदेवी सोपानदेवने नहीं लिखी।

मुक्तेश्वरी

सोपानदेवी और निवृत्तिदेवीमें साम्य ऊपर बतलाया। यही साम्य मुक्तेश्वरीमें भी मिलता है—

काशिराज धनुर्धर।
शिखंडी महारथी वीर।
धृष्टद्युम्न विराट थोर।
सात्यकि अपराजित ॥ १७ ॥
द्रुपद आणि द्रौपदीसुत।
सुभद्रापुत्र विख्यात।

हेही मिळोनि समस्त।
वेगळाले शंख वाजविले॥ १८॥
तया नादाचेनि गजरें।
दुमदुमिलीं पाताळ शिखरें।
दुर्योधनासि दुःखानल भरे।
हृदय फुटे खेदानें॥ १९॥

[अर्थ- श्लो० १७ और १८ ठीक ऊपर लिखे अनुसार।

श्लो० १९- उस नादके गजरसे पाताल और शिखर गूंज उठे; दुर्योधनको दुःखानल भर गया, खदसे उसका हृदय फूटता था।]

मुकेश्वरीमें और निवृत्तिदेवीमें जितना साम्य, उतनाही फरक मिलता है। इससे इतनाही मालूम होता है, कि एकनाथने ज्ञानेश्वरी शुद्ध की; और उन्हींके पौत्रने निवृत्तिटीका शुद्ध की। मुक्तेश्वरकी गीताटीका है ही नहीं। सोपानदेवी अथवा निवृत्तिटीकाकी अपेक्षा मुक्तेश्वरका वृत्तरचनाकी ओर तथा अर्थगांभीर्यकी ओर अधिक ध्यान दिखता है।

हमने अपने श्रीमद्भगवद्गीता ग्रंथमें ज्ञानेश्वरके पूर्व यह निवृत्तिटीका देकर वहीं सोपानदेवी और मुक्तेश्वरी देनेका विचार किया है। पहिला भाग प्रसिद्ध हो गया और बादमें यह शोध लगा है। इसलिये दूसरे भागसे इस शुद्धिको अमलमें लावेंगे।

आशा है, कि पाठकगण भी संशोधन करनेकी जिज्ञासासे इस लेखकी ओर देखेंगे।

इति शम्

गीताका योगमार्ग

(लेखक- श्री० श्री० स० महाजन, वाङ्मयविशारद, नेरूर.)

['योग' शब्दके अर्थ गीतारहस्यमें अनेक बतलाये हैं। परंतु यहां इस लेखमें योग शब्दका अर्थ है, परब्रह्मसे संयोग पाना, एकरूप होना- अर्थात् परमेश्वरप्राप्ति।]

इसमें संदेह नहीं, कि श्रीमद्भगवद्गीताग्रंथ न केवल हिंदुस्थानके सब तरहके वाङ्मयमें, प्रत्युत दुनियांके वाङ्मयमें भी अद्वितीय है। ऐसा नहीं है, कि यह मत केवल हिंदी लोगोंका हो; किंतु पाश्चात्योंमेंसे कई बडे बडे तत्त्वज्ञानियोंने भी यह बात समय समयपर कही है। थोरो नामक अमेरिकन तत्त्वज्ञानी इस ग्रंथका नित्यपाठ करता था। अपने महाभारतमें भी कहा है, कि

'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'।

ऐसे इस गीताग्रंथका विशेष क्या है? यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है।

किसी मनुष्यको जब श्रेष्ठत्व आता है, तब उसके प्रत्येक शब्दको, प्रत्येक वाक्यको अतिशय महत्त्व आता है। उसके पश्चात् होनेवाले ग्रंथकार अथवा कार्यकर्ता उसके शब्दका, वाक्यका अथवा मतका आधार देते हैं; स्वतःके प्रत्येक मतका, कृत्यका अथवा आचरणका समर्थन करनेमें उसका आश्रय लेते हैं। हम लोग ऐसा साधारण नियम समझते हैं, कि उस व्यक्तिका अथवा ग्रंथका आधार लेनेवाले जितने अधिक लोग, या पंथ अथवा पक्ष होंगे उसी हिसाबसे वह श्रेष्ठ है।

यह नियम गीताको लागू कर सकते हैं।

हिंदुस्थानमें गीताका आधार जितने पंथों या पक्षों-द्वारा लिया जाता है उतना दूसरे किसी ग्रंथका नहीं लिया जाता। परंतु 'जया अंगीं मोठेपण, तया यातना कठीण,' (जिसको श्रेष्ठता है, उसको कठिण यातना भोगनी पडती हैं) इस तुकारामोक्तिके अनुसार गीताको यद्यपि शारीरिक यातना भोगने नहीं पडीं, तथापि ऐसा क्वचित् ही हुआ होगा, कि जहां उसके अर्थकी खींचतान नवमत-प्रस्थापकने अथवा कार्यकर्ताने न की हो।

कोई कहते हैं, कि गीतामें प्रमुखतासे निष्काम-कर्मयोग ही कहा है।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यदर्शने॥

लोकमान्य तिलक कहते हैं, कि यह कसौटी लगानेसे यह निर्णय होता है, कि गीतामें निष्काम कर्मयोगही श्रेष्ठ कहा गया है। इसके विपरीत शंकराचार्यका कहना है, कि भगवान्ने अर्जुनको यद्यपि कर्मयोगका आचरण करनेको कहा, तथापि वह केवल चित्तशुद्धिके लिये कहा है। ज्ञानी मनुष्यके लिये उन्होंने शान्तिका ही उपदेश किया है।'' तीसरे कोई कहते हैं (ज्ञानेश्वर भी सामान्यतः यही कहते हैं), कि गीतामें प्रधानतः भक्तिमार्गही बतलाया गया है। डॉक्टर कुर्तकोटि कहते हैं, कि गीतामें चारोंयोग बतलाये गए हैं–कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और पातंजलयोग-अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार मनुष्य इनमेंसे किसीका अवलंब कर सकता है।

महात्मा गांधी कहते हैं, कि गीतामें प्रमुखतासे 'अनासक्तियोग' बतलाया गया है। उपर्युक्त सबही लोग तथा अन्य लोग भी- जिन्होंने गीताका अर्थ अथवा गीताका रहस्य खोजनेका प्रयत्न किया है- बुद्धिमान्, शीलवान्, धार्मिक अतएव अधिकारसंपन्न हैं। अर्थात् यह कहना साहसका काम होगा, कि इनमेंसे अमुक एकका कहना ठीक है और अमुक एकका कहना गलत है। तथापि जहांतक हो सके, अपनी बुद्धि शुद्ध करके अपना स्वतःका मत निश्चित करना आवश्यक है; और यही उद्देश रखकर यह लेख लिखनेका साहस मैंने किया है।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

गीताका रहस्य

यदि पूछा जाय, कि गीतामें क्या बतलाया है? तो यह कहना होगा, कि अपने जीवितसे संबंध रखनेवाली बहुतसी बातोंका तात्त्विक विचार गीतामें किया गया है। अथवा उलटा प्रश्न यह पूछना होगा, कि धार्मिक जीवनके विषयमें ऐसी कौनसी बात है, जो गीतामें कही नहीं गई? इसपर भी सवाल होगा, कि यह सब बतलानेके लिये क्या गीताकी जरूरत थी? क्या अन्य ग्रंथोंमें ये बातें नहीं बतलाईं? तब गीताका जन्म क्यों हुआ? उस समयके ग्रंथकारोंको यहां-वहांसे कुछ विचार चुराकर एकाध ग्रंथ लिखनेकी और नाम कमानेकी इच्छा नहीं थी। तब गीतामें विशेष क्या बतलाया है, जो अन्य ग्रंथोंमें नहीं बतलाया? कतिपय लोगोंका मत ऐसा है, कि 'महाभारतमें जो अनेक आख्यान देकर नाना प्रकारके उच्च तत्त्व सिखलानेका प्रयत्न हुवा है, उन सब तत्त्वोंका संगतिवार एकत्रित और तर्कशास्त्र-शुद्ध ऐसा समासतः विवेचन होना आवश्यक था; इसलिये गीताका जन्म हुआ'। कोई कहते हैं, कि 'अर्जुन जब युद्धसे पराङ्मुख हो रहा था, तब उसे कर्तव्याभिमुख करनेके हेतु भगवान्ने जो थोडेसे तत्त्व बतलाये, उन्हींको श्लोकोंमें ग्रथित करके व्यासने यह प्रस्तुत गीता रची है। (क्यों कि ऐन युद्धके प्रारंभमें इतना बडा श्लोकबद्ध ग्रंथ कहनेको समय कहां था?)''

अब यह देखें, कि गीतामें सचमुचमें अपूर्व ऐसा क्या कहा है? गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग और पातंजलयोग, ऐसे चारों योग बतलाए हैं। परंतु इनमें गीताका विशेष कुछ नहीं दिखता; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक योगका पृथक् विवेचन और ईश्वर-प्राप्तिका महत्त्व वर्णन पूर्वके ऋषियोंने किया ही है।

तथापि गीताका विशेष यह है, कि 'इनमेंसे कोई एक योग पूर्ण नहीं है, किंतु सबका सुंदर मिलाफ करनेसे परमेश्वरयोग साध्य होता है। गीताने स्पष्ट रीतिसे यह प्रतीति दुनियांको करा दी, कि ईश्वरप्राप्तिके काममें इनमेंसे अकेला कोई भी योग समर्थ नहीं है। उपनिषद्का ऐसा वचन है, कि 'ज्ञानान्मोक्षः' ईश्वरका प्रत्यक्ष-अपरोक्ष-ज्ञान हुए विना मोक्षप्राप्ति हो नहीं सकती। परंतु परमेश्वरका यह अपरोक्ष ज्ञान हो कैसे? ईश्वर सब प्राणिमात्रोंमें वास करता है, अपने हृदयमें भी वही वास करता है, किंबहुना इस विश्वमें सिवाय ईश्वरके कुछ है ही नहीं। यह शाब्दिक ज्ञान होते ही क्या ईश्वरका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है? अर्थात् नहीं। तब अपरोक्षानुभूति हो कैसे? और मोक्षकी प्राप्ति हो कैसे? लोकमान्य तिलक कहते हैं-

"ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मनिर्गुण है, ऐसा कोरा ज्ञान होनेसे काम नहीं चलता। दीर्घ अभ्याससे और हमेशाकी आदतसे यह ज्ञान हृदयमें और देहेन्द्रियोंमें भिन जाना चाहिये और आचरणद्वारा ब्रह्मात्मैक्यबुद्धि देहस्वभाव बन जाना चाहिये। यह होनेका एकही मार्ग यह है, कि परमेश्वर स्वरूपका प्रेमसे आकलन करके मनको तदाकार करना। यह मार्ग अथवा साधन अपने यहां प्राचीन कालसे चला आता है और इसीको उपासना अथवा भक्ति कहते हैं।"

सार यह निकला, कि यद्यपि ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, तथापि उसके साथ भक्तिका संयोग होना चाहिये। इसपर कोई भक्त कहेंगे, कि 'हम ज्ञानकी परवा क्यों करें? ईश्वरकी अनन्य भक्ति करके हम ईश्वरकी प्राप्ति कर लेवेंगे। हमें ज्ञान से क्या मतलब?' इन लोगोंके लिये यह जबाब है, कि 'अकेली भक्ति पंगु है; क्योंकि भक्तिके प्रारंभमें यद्यपि ईश्वरके सगुण साकार स्वरूपकाही उपयोग किया जाता है; तथापि यह सगुणसाकार रूप (मूर्ति) अथवा केवल सगुणरूप सच्चा नहीं हैं; वह एक परब्रह्मका प्रतीक है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

यह बात भक्तको हमेशा याद रखनी चाहिये। अर्थात् सच्चा परब्रह्म निर्गुण और निराकार है और इस प्रतीकरूपी परमेश्वरके परे है, वह संपूर्ण प्राणिमात्रोंमें एकत्वसे वास करता है; ऐसा बौद्धिक ज्ञान न हो, तो उस भक्तकी दृष्टि उस मूर्तिके आगे अथवा उसके कल्पित ईश्वरके आगे नहीं जायगी। इसी कारण से धर्मों धर्मोंमें झगडे होते हैं। इनके उदाहरण देखनेके लिये दूर जानेकी जरूरत नहीं। अपने यहां शैवों और वैष्णवोंका इतिहास देखनेसे इस विधानकी सत्यता प्रतीत होगी। सिवाय इसका हिंदु और मुसलमान धर्मोंके कलह जगत्प्रसिद्धही हैं। एकही क्रिस्ती धर्मके दो पंथोंमें झगडे और वैरभाव वैसेही मशहूर हैं। इसतरह अपने सगुण साकार देव अथवा केवल सगुण देव एकही परमेश्वरके प्रतीक हैं; ऐसा बौद्धिक ज्ञान न हो, तो कोई भी सोच सकता है, कि कैसे अनर्थ होते हैं।

दूसरी बात यह है कि भक्तिका परिणाम ज्ञान ही में होता है। लोकमान्य तिलक कहते हैं 'भक्तिमार्ग में भी जहां भक्त अपने को परमेश्वरके हवाले कर देता है, वहां भगवान् ही उसकी निष्ठाको बढाते बढाते अपने स्वरूपका पूर्ण ज्ञान करा देते हैं, और उस ज्ञानसे (कोरे अंधश्रद्धासे नहीं) भगवद्भक्तको आखिर पूर्ण सिद्धि मिलती है- ऐसा गीताधर्मका सिद्धान्त है।'

तात्पर्य यह है कि भक्तिको बुनियाद तथा शिखर ज्ञानही है। ज्ञानके विना मोक्ष मिलही नहीं सकता। लोकमान्य तिलकने गीताके आधार से केवल दोही निष्ठा बतलाई हैं। भक्ति निष्ठा नहीं हो सकती। इससे मालूम होगा, कि भक्ति और ज्ञानमें कैसा निकट संबंध है; ज्ञानके अतिरिक्त भक्ति किस तरह पंगु है।

इसपर कोई ज्ञानी कहेंगे, कि आखिर ज्ञानहीसे मोक्ष मिलेगा, तो हम सगुण भक्तिकी झंझट क्यों

करें ? एकदम निर्गुण-ब्रह्महीकी उपासना शुरू कर दें। सगुण ईश्वरकी उपासना करनेकी हमें कोई जरूरत नहीं है। परंतु भगवान् स्वयं कहते हैं-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

कोई एकाध अपवादको छोडकर,बाकी लोगोंको एकदम निर्गुण निराकार पर ब्रह्मकी उपासना करना असंभाव्य है। और इस अपवादभूत व्यक्तिका विकास जो आज हमें दिखता है. निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेकी उस व्यक्तिकी जो शक्ति आज हमें दिखती है. उस प्रारंभ कभी न कभी पूर्वजन्ममें उस व्यक्तिने सगुणकी उपासनाहीसे किया होगा।

एवंच यह सिद्ध हुवा, कि ज्ञानहीसे- अपरोक्ष ज्ञानहीसे मोक्ष मिलता है और वह ज्ञानभक्तिके और बौद्धिक ज्ञानके परस्पर सहकार्यसे मिलता है। तथापि इतना होनेसेही यह ईश्वरयोग पूरा नहीं होता। भगवान् कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

कोई तत्त्वज्ञानी, सांख्यमतवादियोंका कहना है, कि कर्मका त्याग करना किसीको शक्य नहीं है एक क्षणमात्र भी प्राणी कर्म किये विना रह नहीं सकता। खाना, पीना, उठना, बैठना, नींद लेना, जागना, चलना,दौडना अथवा श्वासोच्छ्वास करना-ये सब कर्मही हैं; और इनका भी परिणाम कुछ प्राणियोंका बलि लेनेमें हुवा ही करता है। सिवाय इसके कर्म-त्याग करनेका अपन कितना भी प्रयत्न करें, तथापि अपने उदरनिर्वाहके लिये, वस्त्रप्रावरणके लिये फिकर करनी ही पडती है। इसके लिये कर्म करनेकी जरूरत है ही। नहीं तो लाचार होकर दूसरोंके पास भिक्षा-देही करनी चाहिये। इसलिये भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

और अनासक्तिपूर्व कर्म करनेसे वह बंधनकारक नहीं किंतु मोक्षदायक होता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥

सिवाय इसके कर्मकी आवश्यकता स्वतःके लिये न मालूम होती हो, तथापि-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

इसीलिये भगवान् कहते हैं-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।

प्रत्यक्ष परमेश्वर कर्म करता है, इसीसे संसार चलता है; किंबहुना कर्महीसे सृष्टिकी उत्पत्ति है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

तब परमेश्वरसे जो कर्म नहीं छूटा, वह मनुष्यसे कैसे छूट सकता है। परंतु वह अनासक्तिपूर्वक करना चाहिये; तब वह बंधनकारक न होगा। दूसरी बात यह है, कि धर्मकी व्याख्या इसतरह की है-

प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मः।'

इसलिये यदि प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य न करे, तो अभ्युदय किसतरह साध्य होगा? अव्यक्त उपासकोंके वर्णनमें भगवानने कहा है।

ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

भक्तिके लिये भी कर्मकी आवश्यकता है। यदि ईश्वरकी भक्ति करना है, तो जिन प्राणिमात्रोंके रूपसे वह परमेश्वर विराजित है, उनकी भक्ति (सेवा) करना ही परमेश्वरकी सेवा (भक्ति) करना है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः।

'स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्म करनेमें सर्वभूतान्तर्गत विराट्स्वरूपी परमेश्वरकी एक तरहसे भक्ति, पूजा अथवा उपासना ही होती है। कर्मोंको गौण समझकर छोड देकर केवल नवविधा भक्तिहीमें निमग्न होना योग्य नहीं है; किंतु अपने लिये शास्त्रतः जो कर्म प्राप्त हुए हों, उन्हें करनाही चाहिये। उन्हें स्वतःके कर्म समझकर नहीं, किंतु इस निर्मम बुद्धिसे करना चाहिये, कि परमेश्वरने निर्माण किये हुए जगत्के संग्रहार्थ ये उसीके कर्म हैं। इससे कर्मलोप न होकर उन्हीं कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी सेवा, भक्ति अथवा उपासना हो जायगी; उनका पापपुण्य अपनको न लगेगा और अंतमें पूर्ण सद्गति मिलेगी।' ऐसा गीताका कहना है।

'ईश्वरभक्तिके मायने प्राणिमात्रोंपर प्रेमही है;' इस सत्यको बतलानेवाली एक सुंदर कविता पर्शियन वाङ्मयमें है। उसका यह आशय है-

अबूबीन आदम नामक एक मनुष्य एक समय रातको नींदमेंसे उठा और उससे देखा, कि कमरेमें एक देदीप्यमान देवदूत सुवर्णके पुस्तकमें कुछ लिख रहा है। अबूने पूछा, 'तुम क्या लिखते हो? उसने कहा, ईश्वरपर प्रेम करनेवालोंके नाम लिख रहा हूं।' अबूने पूछा, 'क्या इनमें मेरा भी नाम है?' देवदूत बोला, 'नहीं।' तब अबूने अपनी गर्दन नीचे की और उससे कहा, 'कमसे कम मेरा नाम इसलिये लिखो, कि मैं समस्त बांधवोंपर प्रेम करनेवाला हूं।' दूसरी रातको वही देवदूत कमरेमें आया। अबू जाग उठा और पूछने लगा, 'तुम क्या लिखते हो?' देवदूत बोला, ईश्वरपर प्रेम करनेवालोंके नाम।' अबूने पूछा, 'क्या इनमें मेरा भी नाम है?' देवदूतने वह पुस्तक अबूको बतलाई और क्या आश्चर्यकी बात है! अबूका नाम सबके अग्रभागमें था। इस कथामें यह तत्त्व सुचारु रीतिसे ग्रथित किया है, कि प्राणिमात्रोंपर प्रेम करना ही ईश्वरपर प्रेम करना है; अर्थात् जनसेवा अथवा प्राणिमात्रकी सेवाही सच्ची ईश्वरसेवा है। क्योंकि बगैर सेवाके प्रेम अकेला प्रेम किस कामका? देशकी सेवा जो न करे, उसको देशभक्त कौन कहेगा।

ज्ञानमार्गका अवलंबन करनेवाले संन्यासीको भी, जबतक ज्ञानप्राप्ति नहीं हुई तबतक, चित्तशुद्धिके लिये निष्काम-कर्महीका आचरण विहित है। भूतमात्रोंकी निरपेक्ष और प्रेमपूर्वक, आत्मौपम्यबुद्धिसे मनुष्य सेवा करे, तो वह उनसे और उनके द्वारा परमेश्वरसे एकरूप हो सकता है। एवंच भक्तिमार्गको तथा ज्ञानमार्गको भी कर्मकी आवश्यकता है। परंतु यदि कोई कर्मयोगी कहे, कि 'निष्काम-कर्मसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसा स्वयं भगवान् कहते हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

तब हमें भक्तिके अथवा ज्ञानके पीछे लगनेकी जरूरत क्या है? इसका जवाब यह है, कि वेदान्त का यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानके सिवाय मोक्ष मिल नहीं सकता। और गीतामें भी कहा है, कि-

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

निष्काम-कर्मसे भी आखिर अपरोक्ष ज्ञानही मिलता है; और बाद इसके 'ज्ञानादेव तु मोक्षः।' लोकमान्य तिलक कहते हैं- 'अज्ञानसे परंतु श्रद्धापूर्वक यज्ञयागादि करनेवालोंके संबंधमें जो सिद्धान्त है, वही सद्यःस्थितिमें उन लोगोंको भी लागू होता है, जो कि विना ज्ञानके परंतु श्रद्धासे चातुर्वर्ण्यादि कर्म करते हैं... परंतु शास्त्रहीका यह सिद्धान्त है, कि विना ज्ञानके मोक्ष मिलताही नहीं; इसलिये इन कर्मठ लोगोंको स्वर्गप्राप्तिसे अधिक महत्त्वका कोई फल नहीं मिल सकता।''

इसी तरह निष्काम कर्म कोई सहज बात नहीं है। मनुष्यके मनमें स्वार्थबुद्धि बलवान् रहती है, मनोविकारोंका द्वंद्व हमेशा चलता रहता है; ऐसी हालतमें पूर्ण निर्विकारबुद्धिसे निष्काम कर्म हो कैसे? इसलिये भक्तिकी अथवा श्रद्धा की आवश्यकता है। ईश्वरभक्तिसे मनुष्यकी चित्तवृत्ति स्थिर तथा शांत होनेमें मदद मिलती है।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्यने कोई विकट काम कर्तव्यबुद्धिसे हाथमें लिया। परंतु आगे चलकर अनेक आपत्तियां आने लगीं, किसीका सहाय्य नहीं मिलता, बल्कि जिनके हितके लिये वह काम करता है, उन्हींका तीव्र विरोध होने लगा, दारिद्र्य, रोग, अपमान, कारागृहवास इत्यादि आपत्तियां भोगने पड़ी; ऐसी हालतमें विरलाही मनुष्य होगा, जो अपना कर्तव्य अविरत चलावे। इस तरहकी विकट परिस्थितिमें अपना कर्तव्य वही जारी रखेगा, जो उस कर्तव्यको इस श्रद्धासे हाथमें लेवेगा, कि यह काम मेरे लिये परमेश्वरने नियत किया है, इसके यश-अपयशका धनी वही है, मैं केवल निमित्तमात्र हूं। इसीतरह अपन यह देख चुके हैं, कि विना ज्ञानके कर्म पंगु है और यह सिद्ध कर दिया गया है, कि ज्ञानको भक्तिकी जरूरत है।

एवंच यह बात कोई भी देख सकता है, कि ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग, ये तीनों परस्पर-पोषक किंबहुना परस्परावलंबी हैं। अब रहा पातंजलयोग। चित्तकी एकाग्रताके लिये उसकी आवश्यकता है ही। और आगे 'इंद्रियनिग्रहरूप योग कैसे साध्य करना' इसका पातंजल योगदृष्टया वर्णन ६ वें अध्यायमें प्रमुखतासे आया है। तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि साधनोंसे इंद्रियोंका निग्रह किया, तो भी इतनेसे काम पूरा नहीं होता। आगे उस पुरुषकी वृत्ति-

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।'
अथवा 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'

इस प्रकार सर्वभूतोंमें सम होनी चाहिये। ६ वें अध्यायमें इसतरहकी आत्मैक्य ज्ञानकी आवश्यकता बतलाई गई है।

लोकमान्य तिलक कहते हैं, कि गीतामें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग, इन सबका वर्णन आया है; और ये सब उपयुक्त और महत्वके बतलाये गये हैं, तथापि कर्मयोगका विशेष महत्त्व बतलाया गया है। इसके लिए वे पांचवें अध्यायके निम्न श्लोकका आधार बतलाते हैं-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

इन श्लोकोंसे कर्मयोग श्रेष्ठ ठहरता हो, तो निम्न श्लोकोंसे भक्तियोग श्रेष्ठ ठहरता है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

पहिले श्लोकमें भगवान् अखीरकी बात कहते हैं, कि अन्य सब कुछ छोडकर मेरी शरणमें आओ। अर्थात् भक्तियोगका अवलंब करो। दूसरे श्लोकमें भगवान् कहते हैं, गुणातीत स्थिति प्राप्त करनेके लिये भक्तियोग का अवलंबन करना चाहिये। ज्ञानके संबंधमें तो यह सिद्धान्तही है, कि विना ज्ञानके मोक्ष नहीं।

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'
अथवा, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'
अथवा, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।'

अथवा इनके सदृश वचनोंसे (तथा मूलतः भी) ज्ञानका श्रेष्ठत्व सिद्ध है।

लोकमान्य तिलकने अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्धान्त निकाला है, कि कर्मयोग ही श्रेष्ठ है और गीतामें वही मुख्यतः प्रतिपाद्य है। परंतु उनको भी उत्तर देना अशक्य नहीं है। लो० तिलकका कहना है, कि उपक्रम और उपसंहारको देखनेसे मालूम होगा, कि गीतामें कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है। परंतु अर्जुनका अधिकार देखकर भगवान्ने वैसा उसको आदेश दिया, इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि सबहीके लिये वह बात लागू हो। अर्जुन क्षत्रिय था। एक प्रकारसे अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे वह अज्ञानी था। इसलिये उससे जो कराया, वह सबहीको लागू नहीं हो सकता। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचनसे यह पूरीतरह ध्यानमें आवेगा, कि गीतामें चारों योगोंका वर्णन बार-बार, बीचबीचमें एकका कथन करते हुए उसीमें दूसरेका निरूपण, इस तरह क्यों आया है। इन चारोंकी आवश्यकता है। तथापि पातंजलयोगको केवल सहायक समझकर गौण मानें, तो भी बाकीके तीन मोक्षप्राप्तिके लिये अपरिहार्य हैं। इनमेंसे यदि एकका भी अभाव हुवा, तो मोक्षप्राप्तिके कार्यमें अथवा मार्गमें बाधा आयेबिना न रहेगी।

अब यह निर्णय कौन करेगा, और कैसे करेगा, कि इन तीन योगोंमेंसे श्रेष्ठ कौनसा है और कनिष्ठ कौनसा है ? अपनी अपनी परिस्थितिके अनुसार, रुचिके अनुसार, प्रवृत्तिके अनुसार, सत्त्वके अनुसार मनुष्य इनमेंसे किसी एकका अवलंब करेगा। तथापि बाकीके दो योगोंका भी उसके साथ उसे अवलंब करना चाहिये। जैसे किसीकी प्रवृत्ति अथवा स्वाभाविक रुचि भक्तिकी ओर है, वह ज्ञानपूर्वक भक्ति करता हुआ कर्म भी करता रहेगा। वह अपनेको भक्त कहलावेगा; तो भी ज्ञानयोग और कर्मयोगका त्याग नहीं करेगा; अथवा सच कहा जाय, तो इनका त्याग करना उसको हितकर न होगा; वैसा करनेसे उसकी प्रगति न होगी। कर्मयोगकी ओर जिसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है, वह ईश्वरप्राप्तिके मार्गका उपक्रम कर्मयोगसे करेगा, प्रमुखतासे कर्मही करता रहेगा; परंतु अपने कर्मयोगको ज्ञानयोग और भक्तियोगकी साथ देगा। वह अपनेको कर्मयोगी कहलावेगा, परंतु भक्ति और ज्ञानका त्याग न करेगा। इसी तरह ज्ञानयोगी भी भक्ति और कर्मकी सहायतासे ज्ञानयोगका आचरण करेगा।

तात्पर्य यह है, कि यह आग्रह करना अनुचित होगा, कि गीतामें कर्मयोगही श्रेष्ठ ठहराया गया है, अथवा ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग श्रेष्ठ बतलाया गया है। गीताने तीनोंकी योग्यता और कार्यक्षमता एकहीसी बतलाई है और तीनोंके सहाय्यसे ईश्वरयोगकी प्राप्ति करनी है। अपने अपने सत्त्वके अनुसार, प्रवृत्तिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिये यह अथवा वह योग श्रेष्ठ ठहरा लेवें; उसको कोई रोकता नहीं। परंतु यह कहना योग्य नहीं है, कि गीताने अमुक एकही योग श्रेष्ठ ठहराया है।

एवंच गीताका विषय यही है, कि उसने इन तीनों योगोंका सुंदर मिलाफ करके उससे ईश्वर-प्राप्तिका अच्छा, सहज और ठीक रास्ता दुनियांको बतला दिया है। इससे अभ्युदयकी तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है और सच्चे धर्मका आचरण साध्य होता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थकी एक नई दिशा।

"राजयोग"

(लेखक— श्री० गो० ल० कसवेकर)

"The aphorisms of Patanjali are the highest authority and text-book in Raja Yoga."

—Swami Vivekanand.

पिछले लेखमें यह निश्चित रूपसे बतलानेपर, कि श्रीमद्भगवद्गीतामें योगही कहा गया है, यह भी बतला दिया है, कि हमेशा सुननेमें आनेवाले प्रमुख योग पांच हैं। जब यह विचार करना है, कि इन पांचमेंसे कौनसा योग गीताने बतलाया है, अथवा क्या ये पांचों योग गीतामें बतलाए गए हैं? तब पहिले इन सब योगोंके लक्षण देखना आवश्यक है। इस लेखमें हम राजयोगके लक्षण बतलावेंगे।

आजकल इस सुधारके युगमें परमार्थ विषयपर इतने विविध मत हुए हैं, कि उनमेंसे सच्चा कौनसा और मिथ्या कौनसा, इसके निर्णय करनेका प्रयत्न कोई मनुष्य करना चाहे, तो जरूर उसका यह अल्प आयुष्य अपर्याप्त होगा। इसपर भी आज सारी दुनियां आधिभौतिक सुधारके पीछे लग रही है, तब परमार्थपर दिल लगाते समय टीकाकारोंको आवश्यक है, कि वे विचारपूर्वक मन लगावें। जिस विषयका कोई भी ज्ञाता नहीं, ऐसा विषय धर्म है। ऐसी हालतमें सत्यदर्शनके लिये परमार्थमार्गका प्रत्यक्ष अभ्यास करके अनुभव लेनेका एकही मार्ग बचता है, परंतु आजके युगमें अभ्यास करनेमें सभी को कष्ट होते हैं! राजयोगके वास्तविक और व्यावहारिक अर्थोंमें जो फरक हो गया है, उसका कारण यही अभ्यास की अनिच्छा। सामान्यतः राजयोगका अर्थ लोग यही समझते हैं, कि राजाके समान सकल विषयोंका उपभोग लेना, चैनके प्रत्येक पदार्थका सेवन करना और कुछ भी न करके अपने पास जो शाब्दिक ज्ञान है, उसके जोरपर अपनेको परमार्थ मार्गी कहला लेना। ऐसा नहीं, कि यह स्थिति आजही आई हो। श्रीज्ञानेश्वर तुकारामके समय से लेकर आजतक यही प्रकार अव्याहत चल रहा है। "टिळाटोपी उंच दावी। जगीं मी एक गोसावी। अवघा वरपंग सारा। पोटीं विषयांचा थारा।" (चंदन टोपी ऊंची लगाकर यह दिखाता है, कि दुनियांमें अकेला मैंही गोस्वामी हूं। यह सब ऊपरी ढोंग है। पेटमें विषयोंका घर है।) इस तरहके तुकारामके अभंग उपर्युक्त राजयोगियोंका वर्णन देनेके लिये लिखे गए हैं। "महंतबाजी" शब्द जो हाल ही में प्रचलित हुआ सुनाई पडता है, वह राजयोगके इसी सरल अर्थ के कारण है। यह बात नहीं है, कि राजयोगके अर्थके बारेमें केवल भोंदू साधुओंने समाजकी इस तरह वंचना की हो; परंतु इस तरहका दिशाभूल करानेमें स्वतःको सुशिक्षित समझनेवाले अनेक परमार्थ पुस्तकोंके अभ्यासी लोग भी शामिल हुए हैं। इन अभ्यासकोंको हमने जानबूझकर परमार्थ पुस्तकोंके अभ्यासी कहा है; क्यों कि जो मार्गका अभ्यासी है, वह अभ्यास करनेवाला अवश्य होता है; इसलिये उससे ऐसी

दिशाभूल करनेके कार्यमें मदत हो ही नहीं सकती। भोंदू लोग पैसा अथवा नाम कमानेके लिये समाजमें राजयोगका विपरीत अर्थ प्रसृत करते हैं; और उपरिनिर्दिष्ट सुशिक्षित लोग यह धारणा रखकर, कि स्वतःके पांडित्यहीमें सारा परमार्थ है, अभ्यास टालनेके लिये राजयोगका विपरीत अर्थ करते हैं। सच्चे अभ्यासी इन दोनों की खींचतानमें कभी नहीं पडते; इसलिये परमार्थ, ब्रह्मज्ञान, राजयोग इत्यादि शब्दोंसे यद्यपि सारा जगत् गूंज उठता हो, तथापि सिवाय कर्णभेदी शब्दावडबरके सामान्य जनताको इससे कोई अधिक बोध नहीं होता। अपनी साधकावस्थामें तुकाराम महाराजने भी इस स्थितिसे त्रसित होकर यह अभंग रचा है—

घरोघरीं झालें अवघें ब्रह्मज्ञान।
परी मेळवण बहुमाजीं॥
निरें कोणापाशीं असे एक रज।
तरी द्यारे मज दुर्बळासी॥

(घर घरमें जहां-तहां ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान हो गया है; परंतु उसमें (निरर्थक चीजोंका) बहुत ज्यादा मिश्रण हुवा है। किसीके पास खालिश एक कण भी हो, तो मुझ दुर्बलको दे दो भाई!]

अस्तु। आजके लेखमें हम राजयोगका अर्थ धर्मग्रंथके आधार ही पर देते हैं। निम्न श्लोकसे वह स्पष्ट होगा। हठयोगप्रदीपिकामें राजयोगका अर्थ इस तरह दिया है।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥१॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालंबं निरंजनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकः॥२॥

अर्थ— राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्त्व, शून्याशून्य, परंपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या— इन सबका अर्थ एकही है। अर्थात् ये सब समाधि शब्दके ही पर्यायवाचक शब्द हैं।

राजयोग और हठयोगके टीकाकार अनेक वार कहते हैं, कि राजयोगके लिये हठयोगकी आवश्यकता नहीं है; और ऐसी टीका करते समय वे 'हटयोग' शब्दका प्रयोग नहीं करते; किंतु 'हठयोग' शब्दकाही प्रयोग करते हैं। परंतु योग्य शब्द हटयोग नहीं, हठयोग है। हठयोग का अर्थ है, ह + ठ अर्थात् इडा और पिंगला, इन दो नाडियों के सहाय्यसे करनेका योग। यह अर्थ ध्यान में लानेपर उसके विरुद्ध विशेष शंका लेनेका किसीको कोई कारण नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में हठयोग और राजयोग का निकट परस्पर-संबंध निम्न श्लोक में बतलाया है—

हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥

(हठयोग के विना राजयोग की अथवा राजयोगके सिवाय हठयोग की सिद्धि हो नहीं सकती। इसलिये दोनों की प्राप्ति होतेतक हठयोग और राजयोग-इन दोनों का अभ्यास करना चाहिये।)

ऊपरके श्लोक में राजयोग के जो समान अर्थ के शब्द सूचित किये हैं, संभव है कि उनमें से कई शब्द वाचकों ने सुने भी न होंगे। इनमें "समाधि" शब्द ऐसा है, कि जो यच्चयावत् सब लोगोंको परिचित है। समाधि शब्द का अर्थ विशद करनेसे राजयोग का अर्थ समझमें आजायगा; इसलिये समाधि शब्दका अर्थ नीचे दिया है—

सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥१॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥२॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रणष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥३॥

(अर्थ-जैसे पानी और नमक एकत्र होनेसे एकरूप होते हैं, वैसेही मन और आत्माका संयोग होकर जब एकतानता होती है, तब उसको समाधि कहते हैं॥१॥

प्राण क्षीण होते हैं, मन का लय होता है और

इस तरह दोनोंकी जो समरसता होती है, उसीको समाधि कहते हैं ॥ २ ॥

जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होनेसे समस्त संकल्पोंका नाश होता है, उसको समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

इस रीति से समाधिस्थिति प्राप्त होना; यही राजयोग कहा गया है। यहां यह भी प्रश्न होगा, कि यह समाधि किस तरह प्राप्त होती है? इसका उत्तर यही है, कि मनोनिग्रह करने से। क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।" बंधका तथा मोक्षका कारण मन ही है। प्रदीपिकाकार कहते हैं—

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्।
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्॥
प्राणो मनो द्वयमिदं न विलयं नयेद्यो।
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः॥ १॥

(अर्थ- जबतक मन है, तबतक ज्ञानप्राप्ति न होगी; प्राण है और मन है तबतक ज्ञान नहीं। प्राण को और मन को जिसने नेस्तनाबूद किया, उसी पुरुष को मोक्षप्राप्ति हो सकेगी, अन्यों को नहीं।)

इसी दृष्टि से भगवान् पतंजलि ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" ऐसी योग की व्याख्या की है। चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मनके संकल्पविकल्पादि व्यापारोंको बंद करना है। इन व्यापारोंको बंद करनेके लिये वैसाही जबर साधन चाहिये। प्रदीपिकाकारने समाधि अथवा राजयोग का साधन निम्न श्लोक में इस प्रकार बतलाया है—

कुंभकः प्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत्॥ १॥

कुंभक करके प्राणों का अवरोध करनेसे मन निराश्रय होता है (मनके संकल्पविकल्पादि व्यापार बंद हो जाते हैं।) इस प्रकारसे योगका अभ्यास किया जाय, तो राजयोगपद की प्राप्ति होती है। इससे यह ध्यान में आवेगा, कि मन को काबू में लाने के लिये वायुको काबू में लाना एक साधन है। इसलिये हठयोगप्रदीपिका में निम्न श्लोक मिलते हैं—

पवनो बद्ध्यते येन मनस्तेनैव बद्ध्यते।
मनश्च बद्ध्यते येन पवनस्तेन बद्ध्यते॥

अथवा-

मनो विलीयते यत्र पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥

वायु और मन का निकट संबंध सबसे स्पष्ट इस श्लोक में किया है—

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥

अर्थ- चित्तके दो हेतु हैं — वासना और वायु। इनमें से एकका नाश होने से दोनों नष्ट होते हैं। अस्तु। राजयोग क्या है और वह किस मार्गसे साध्य होता है, इसका अत्यल्प विवेचन इस लेख में किया है। राजयोग का सांगोपांग विवेचन करना हो, तो उसके लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखना पडेगा। अर्थात् ऊपर किया हुआ विवेचन वाचकों को यदि अतिशय अल्प मालूम हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। तथापि जो महाशय इस विषयमें अधिक जानना चाहें, उन्हें हम पत्रद्वारा अथवा समक्ष पूछनेपर बतलाने के लिये हमेशा तैयार हैं। अगले लेख में भक्तियोग के बारे में विवेचन करनेका आश्वासन देकर यह लेख समाप्त करते हैं।

'अनन्य भाव' अर्थात् 'सात्त्विकी श्रद्धा'

(लेखक- श्री० जानकीवल्लभदास)

यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ (गीता १७-३)

(१) हे जगन्माता! तेरा अखंड स्मरण करते हुए मुझे यदि मरण आवेगा, तो हे पापघ्नि! इस तेरे अर्भकको अंतकालमें तू अपने चरणकमलमें शाश्वत स्थान कैसे न देगी, मैं देखूंगा।

(गी० अ० ८-५, ६,७)

(२) कदाचित् मैंने ब्रह्महत्या अथवा गोहत्या की होगी, गर्भहत्याका पातक भी किया होगा; सुरापान किया होगा, किंबहुना स्त्रीहत्या भी की होगी।

परंतु ऐसे भयानक पातककी मैं पर्वा नहीं करता। ऐसी स्थितिमें भी भगवन्नामके आश्रयसे ब्रह्मपद प्राप्त कर लेनेका सामर्थ्य मुझमें हैं।

(गीता अ० ९-३०,३१)

हां, बंगाली संत-कवि रामप्रसादका यह विधान (वचन) तर्कशास्त्रको अथवा बुद्धिवादको जँचे या न जँचे, वह स्वानुभवका है और वह स्वानुभवी पुरुषको ही जँचेगा। समर्थ रामदास स्वामीके शब्दोंमें यों कह सकते हैं, कि

'स्वानुभवी तो या बोला। सुखावेल गा॥'

(अर्थ- जो स्वानुभवी होगा, उसीका इस भाषणसे समाधान होगा) यही सत्य है। 'अनन्य-योगसे मेरा अखंड स्मरण करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं उद्धार करता हूं' ऐसा जो श्रीकृष्णका वचन है (गीता अ० १२-६,७), वह यही बात जाहिर करता है। इस उपासनाके द्वारा अत्यंत निंद्य ऐसे दुर्गुणोंका जडसे नाश किया जा सकता है। बालकके सदृश परमेश्वरमें दृढ श्रद्धाही आत्मोन्नतिके मूलमें है।

यह श्रद्धा प्रत्येक मनुष्यके अंतःकरणमें रहती ही है (श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।) परंतु इसकी परिणति सात्त्विकतामें करना आवश्यक है। ज्ञान, दम, निष्कामकर्मरूपी यज्ञ इत्यादि साधनों द्वारा यह सात्त्विक वृत्ति ला सकते हैं। इसी सात्त्विकतामें आत्मानंद प्राप्त होता है; इसलिये भगवान्पर अटल श्रद्धा- सात्त्विक श्रद्धा- (यजन्ते सात्त्विका देवान्।) जीवित-नौकाका यही कर्णधार है।

गीता-प्रतिपादित
शाश्वत धर्म

(लेखक- श्री० डॉ० रा० वि० म्हसकर, अमळनेर.)

आजकल धर्मके विषयपर लडाइयां हो रही हैं। पुराने शास्त्री कहते हैं, कि धर्म अव्यय है, आधुनिक कहते हैं कि समयानुसार धर्ममें परिवर्तन न किया जाय तो वह हास्यास्पद होता है। ऐसी धूमधामके समयमें, जब कि युद्धभूमिपर वादविवादकी धूल उड रही है, दोनों पक्षोंमेंसे किसीको इस बातकी सुध न रही, कि सच्चा धर्म कौनसा है। इसलिये सच्चा शाश्वत धर्म क्या है, इसका गीताके आधारसे इस लेखके द्वारा विवरण करनेका इरादा है।

पुराने लोगोंका यह कहना बुद्धिको जँचता है, कि धर्म अव्यय और शाश्वत है। परंतु ऐसा धर्म

बतलानेके लिये आह्वान किया जाता, तब ऐसा धर्म बतलाया जाता है, जो कि (नवीन मतके अनुसार) परिवर्तनशील हैं, अर्थात् व्यय है। गीतामें इस व्यय-धर्मका ऐसा विवरण है कि वह गौण सुखोत्पादक ज्ञानकी पूर्वतैयारी है (दैवी संपत्ति सत्वगुणका उत्कर्ष करके सुख देती है), परंतु यह गीताका मुख्य सिद्धान्त नहीं है। मुख्य उद्देश शाश्वत-धर्म-प्रतिपादन ही है। शाश्वतके आगे अशाश्वतको क्या कीमत है? इसलिये गीता-पर लेख लिखनेवालोंसे प्रार्थना है, कि वे इस बातपर ध्यान रखें, कि बहुतसे दूधकी मौजूदगीमें आटेको पानीमें सानकर पिलाने लगें, तो छोटासा बच्चाभी धोकेमें न आवेगा।

गीतामें अर्जुन धर्मसंमूढ हुआ था। (पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः) वह कर्मसंमूढ नहीं था, इसके सबूतमें अर्जुनका पूर्वपक्ष संक्षेपतः दिया जाता है-

१. आप्तोंको मारनेमें पाप है। (अ० १-३६)
२. कुलक्षयका पाप लगेगा। (अ० १-३८,३९)
३. कुलक्षय होनेसे सनातन कुलधर्म डूब जायगे। (अ० १-४०)
४. धर्म (कुलधर्म) नष्ट हुआ, तो अधर्म घेर लेगा। (अ० १-४०)
५. अधर्म होनेसे कुलस्त्रियां दूषित होंगी। (अ० १-४१)
६. कुलस्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर होगा। (अ० १-४१)
७. संकर होनेसे नरककी प्राप्ति होती है और कुलधर्म नष्ट होनेसे पिण्ड न मिलेंगे और मातादितरोंका पतन होगा। (अ० १-४२)
८. इन कुलघ्नोंके वर्णसंकरकारक दोषोंसे शाश्वत जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होंगे (अ० १-४३)
९. जिसके कुलधर्म नष्ट हुए, उसको नरककी प्राप्ति होती है। (अ० १-४४)

पाठकही अब निर्णय करें, कि ये शंकाएं धर्म-संबंधी हैं या कर्मसंबंधी हैं।

अर्जुनका यह पूर्वपक्ष कट्टर सनातनी मीमांसक को शोभनेलायक है। इसपर श्रीकृष्णका जो उत्तर है, वह वक्तृत्वबाजीके आदि किसी वकीलको शोभा देनेवाला है। मुकदमा चलानेके लिए कोई न्यायाधीश होता, तो वह क्षण-क्षणपर श्रीकृष्णके कान खींचता, क्यों कि मुद्देके बाहर वह बात करता था। श्रीकृष्ण वस्तुतः होशियारी, चाणाक्षता और सावधानता की विभूति होकर उनके हाथ से यह कैसे हुआ? इसका एकही उत्तर सूझता है। वह यह है कि संजयने यह भाषण युद्धभूमिपर पहिले सुनलिया, बादमें जैसी जैसी याद आती गई वैसे वैसे धृतराष्ट्रको बतलाया; यहीं पहिली विकृति होगी। दूसरे, सार उपनिषदोंका साररूप ग्रंथ निर्माण करनेके आकांक्षासे व्यासने उसमें बदल किया होगा। अस्तु। इतना जरूर है कि श्रीकृष्णका उत्तर मुद्देसूद नहीं था। परंतु अ० १८-७३ में अर्जुनने 'नष्टो मोहः' कहकर अपने शंकाओंके उत्तर मिलने की रसीद दे दी। इससे यह सिद्ध होता है, कि गीताके अठारवों अध्यायों में इन प्रश्नोंके उत्तर हैं, परंतु प्रयत्नपूर्वक उनको खोजना चाहिए। इसी खोजमें गीताप्रतिपाद्य धर्मपर अच्छा प्रकाश पडेगा, इसलिये यह खोज जरूर होनी चाहिये। अस्तु।

यथार्थमें श्रीकृष्णके उत्तर इस प्रकार होना चाहिये थे।

(१) कुलधर्म और जातिधर्म कोई शाश्वत धर्म हैं ही नहीं।

(२) कुलधर्मका उच्छेदन और वर्णसंकर इनमें परस्परसंबंध नहीं है। वर्णसंकरका अर्थ कुछ है और तुम कुछ भलता ही अर्थ कर रहे हो। पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक इत्यादि केवल तुम्हारी कल्पना है; वस्तुतः इनके लिये कोई आधार नहीं है। मनुष्यको इन कल्पनाओंके अतीत याने पार ले जानेमें ही सच्चा धर्म है।

अस्तु। वर्णसंकर शब्दका वास्तविक अर्थ देखना हो, तो प्रथम गीताप्रतिपादित चातुर्वर्ण्यको भली भांति समझ लेना चाहिये। पहिले अध्यायके

बाद एकही श्लोक ऐसा है जिसमें 'संकर' शब्द आता है। वह यह है—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्याम्...इ०॥

मैं यदि मेरा वर्ण-कर्म न करूं, तो वर्णसंकरके दोषका पात्र होऊंगा। इससे श्रीकृष्णका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि अपने वर्णके कर्मोंको छोडकर अन्य वर्णके कर्म करनेसे 'वर्णसंकर' होता है। युद्धमें आदमियोंके मरनेसे उनकी स्त्रियां दूषित हों, तो वह जातिसंकर, योनिसंकर इत्यादि होगा। ये दो बातें उतनी भयप्रद नहीं हैं। परंतु अपने वर्णका कर्म छोडकर तुम जो ब्राह्मणवर्णके कर्मका अंगीकार करना चाहते हो, यह बात वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाली अतएव भयावह है। ऐसा श्रीकृष्णका सिखापन है। इसका आधार निम्नलिखित श्लोक हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
(अ० २-३३)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(अ० ३-३५)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(१८—४५)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(१८—४७)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥
(१८—४८)

कुलधर्म शाश्वत नहीं, ऐसा अलगसे प्रतिपादन न करके, संपूर्ण गीतामें इसका विवरण किया गया है, कि शाश्वत धर्म क्या है। इसके अतिरिक्त जो अशाश्वत कुलधर्म है, वे गीताके मनसे गौण हैं।

इसके आगे आनेवाला श्लोक शाश्वत धर्मका फल बतलाया है और यह श्लोक बादही में दिया जानेके कारण इन दो फलोंमें जो आत्यंतिक विरोध है, वह अधिकही स्पष्ट करता है। वह श्लोक ऐसा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अस्तु। पुरुषोत्तमका रूप जो 'अक्षर' है, उसके संबंधी जो शास्त्र है, वह अध्यात्मशास्त्र है। 'अक्षर' कभी बदल नहीं सकता, इसलिये अध्यात्म-शास्त्रके सिद्धान्त त्रिकालाबाधित रहते हैं; परंतु शाश्वत धर्म पुरुषोत्तम पर अधिष्ठित होनेसे वह सबमें श्रेष्ठ है।

अब देखा जाय, कि शाश्वतधर्म, योग और भक्तिमें क्या संबंध है। अ० २-४० में 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य' इस वाक्यमें जो 'अस्य' शब्द आता है, उसके अनुरोधसे यह उमेद की जाती है, कि यहां आसपास कहीं धर्मविवरण होगा। परंतु योगका विवरण हाथ आता है। इसी प्रकार 'ये तु धर्म्या-मृतमिदम्' इत्यादि वाक्यसे भगवान्ने १२ वें अध्यायमें कहा है, कि इस धर्म्य अमृतका जो लोग (इस अध्यायके वर्णनानुसार 'यथोक्तम्') सेवन करते हैं, वे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। इस अध्यायके प्रारंभमें प्रश्न किया गया है, कि भक्तोंके दो वर्गोंमें से तुम्हारे प्रिय कौन हैं? इसका उत्तर 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयो-पेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥' तथा उपर्युक्त अंतिम श्लोक है। इस प्रकार इस अध्यायमें भक्तियोग बतलाया है,यह बात सबही को संमत है। इन दो श्लोकों में भक्तियोग और धर्म शब्दकी उलझन है; और अब यह देखना है, कि इसको किसतरह सुलझा सकते हैं। भक्ति शब्द भज् धातुसे निकला है जिसका अर्थ सेवा करना है। भक्तके मायने सेवक। गुसाई तुलसीदास कहते हैं—

'मैं सेवक सचराचर मालिक रूपराशि भगवंत'

यही अर्थ अ०१२ श्लोक २ में 'उपासते' क्रियापद से बतलाया गया है। भगवान कहते हैं, कि 'युक्त-तम (परमयोगी) उनको कहना चाहिये, कि जो मुझमें मनको स्थिर करके मुझसे अखंड योग पाकर मेरी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं।' इसमें प्रत्येक शब्द बहुतही महत्त्वपूर्ण है। योग शब्द युज् धातुसे निकला

है, जिसका अर्थ है जोडना, मिल जाना। नित्ययुक्त का अर्थ है, वे लोग जो मुझमें मिलगए हैं अर्थात् जिनको अखंड विश्वरूपही दिखता है, व्यष्टिरूप जीवभाव दिखता ही नहीं। ऐसेही लोगोंके इस तरह वर्णन किये गए हैं कि 'हें विश्वची माझें घर ऐशी जयाची वृत्ति थोर।' (यह विश्वही मेरा घर है, ऐसी जिसकी वृत्ति श्रेष्ठ है।) ऐसे लोग नित्य सहज समाधिमें रहते हैं। उन्हें विचारपूर्वक परमेश्वरको याद करनेकी जरूरत नहीं, और ऐसा भी नहीं, कि वे कभी परमेश्वरको भूलते हों। ऐसे नित्ययुक्त यदि श्रद्धासे मेरी सेवा करते हों, तो वे युक्ततम हैं। पुरुषोत्तमको (मुझे) पहचानकर, उसके स्वभावांतर्गत चातुर्वर्ण्यमेंसे अपना वर्ण पहचानकर, उस वर्णकर्मके निष्काम आचरण-द्वारा परमेश्वरार्पण बुद्धिसे (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य) परमेश्वरकी सेवा अथवा उपासना करना- यही भक्ति है। पुरुषोत्तमको पहचानकर ऐसी भक्ति करनेसे वह अनन्य भक्त कहलाता है। क्योंकि पुरुषोत्तमको अन्य (मैं व्यष्टिरूप अहंकार) रहता ही नहीं। इसीको तुकाराम महाराजने कहा है 'आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोळां' (मैंने अपना मरण अपने आंखोंसे देखा।) ऐसे अनन्य भक्तोंका योगक्षेम (घी शक्कर वगैरः चैनबाजी नहीं) चलानेका जिम्मा भगवान् पुरुषोत्तम लेते हैं। 'अनन्याः चिन्तयन्तो माम्' इ० ऐसी वृत्ति अखंड रहनेसे भक्त परमेश्वरमें मिल जाता है, अर्थात् नित्ययुक्त होता है। ऐसा होनेपर भी पुरुषोत्तमका स्वभाव अखंड मंडलाकार गतिसे कार्य करता रहता है, इसलिये वह भी अपने स्वभावके अनुरूप कर्म करता रहता है; अखंड मंडलाकार गतिमें मिलकर उसके स्वभावानुरूप उसके हाथसे कर्म होते रहते हैं, और १२ वें अध्यायमें कहा है, कि ऐसाही योगी श्रेष्ठ है। लोगोंका जैसा ख्याल है, कि योगी जडवत् अथवा बलोन्मत्त- पिशाच्चवत् रहता है, उसके लिये गीतामें कहीं भी आधार नहीं है। किन्तु 'सक्ताः कर्मणि' इ० (अ० ३-२१) श्लोकके अनुसार उसके कर्म उत्तम होते हैं। दासबोधमें जहां यह वर्णन है, कि महंत कैसा होना चाहिये, वहां ऐसा कहीं नहीं कहा कि वह विक्षिप्त हो; किंतु ऐसा कहा गया है, कि वह दक्ष, होशियार, सबको पहचाननेवाला और सबका विश्वकार्यमें उपयोग करनेवाला हो। अस्तु। इस प्रकार शाश्वतधर्म, भक्ति और योगकी संगति यथामति जमाई है।

शाश्वत धर्मकी खोज।

इसके पूर्वमें यह सिद्ध किया ही है, कि अर्जुन की शंकाएं धर्मविषयक थीं, इसलिये गीता धर्मप्रतिपादक ग्रंथ है- यह बात अ० १८-७०

'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।'

इस श्लोकसे सिद्ध होती है। शाश्वत धर्म सर्वव्यापक है, क्यों कि इसका आधार जो पुरुषोत्तम है, वह सर्वव्यापक है। इसलिये महाभारतमें जहां यह समस्या आगई है; कि क्या करना और क्या न करना? वहांपर, चाहे वह प्रश्न सामाजिक, आर्थिक, राजकीय, कैसा भी हो,- मोहग्रस्त प्रश्न करनेवालोंने ऐसे ही प्रश्न किये हैं, कि इस प्रसंगमें मेरा धर्म क्या है। गीतामें प्रतिपादित धर्मको शाश्वत-धर्म नाम दिया है। इसको आधार-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥
(अ० १४-२७)

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं
पुरुषो मतो मे॥
(अ० ११-१८)

यह नाम 'सनातन धर्म' नामकी अपेक्षा अधिक योग्य है; क्यों कि सभी शाश्वत बातें सनातन रहती ही हैं, परंतु सभी सनातन बातें शाश्वत नहीं रहतीं। अस्तु। अब यह पता लगानेके लिये, कि यह धर्म गीतामें कहां दिया गया है, कुछ सर्वनामोंका बहुत उपयोग है। उदाहरणार्थ-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
(अ० २-४०)

यहां 'अस्य' सर्वनामसे यह सिद्ध होता है, कि आसपास कहीं धर्मका निर्देश है। क्यों कि जबतक पीछे संज्ञा न हो, आगे सर्वनामका प्रयोग नहीं हो सकता। इसी तरह और भी उदाहरण है-

इति गुह्यतमं शास्त्रम्। (अ० १५-२०)
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
(अ० ९-३)
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
(अ० १२-२०)
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
(अ० १८-६३)
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
(अ० १८-७०)

अब इन वचनोंका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करें। ९ वें अध्यायमें आरंभ ऐसा हुवा है,

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञान सहितं०"
और आगे तीसरे श्लोकमें कहा है
'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।'

इससे यह स्पष्ट होता है, कि 'गुह्यतम ज्ञान-विज्ञान' और 'धर्म' एकही अर्थमें प्रयुक्त हैं। दूसरी जोडी १८ वें अध्यायकी है। इसमें 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्...' के बाद

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।

ऐसा कहा गया है। इससे भी उपर्युक्त विधानको पुष्टि मिलती है।

और एक बात ध्यान देनेलायक यह है, कि 'गुह्यतम' शब्द ९ वें अध्यायमें ज्ञानविज्ञानके लिये और १५ वें अध्यायमें शास्त्र शब्द लगाया है। यही गुह्य अथवा गुह्यतम शब्द गीतामें और भी जगहोंपर आया है-

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया। १८-६३
सर्वगुह्यतमं भूयः० इत्यादि। (१८-६४)
य इदं परमं गुह्यम्। (१८-६८)

इस समग्र विवेचनसे निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित कर सकते हैं-

(१) गीतामें 'ज्ञानविज्ञान-शास्त्र' 'गुह्यतम-शास्त्र' और 'शास्त्र' ये शब्द शाश्वत धर्मके अर्थमेंही प्रयुक्त किये गए हैं।

(२) पंद्रहवें अध्यायमें गुह्यतम शास्त्रका अर्थ जो शाश्वत धर्म अभिप्रेत है, वही अर्थ अध्याय १६ में 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' और 'शास्त्रविधि-मुत्सृज्य' तथा १७ वें अध्यायमें जहां जहां शास्त्र शब्द आया है, वहां वहां अभिप्रेत है।

(३) सांप्रत कालमें धर्म शब्दसे जो विधिनिषेध का भाव तथा आचारप्रधानताका भाव एकदम मनमें आता है, वह गीताको अभिप्रेत नहीं है।

(४) पुरुषोत्तमका स्वभाव विश्व और इसके जो नियम हैं वे ही शाश्वतधर्मके नियम हैं। अब देखा जाय, कि शाश्वत धर्म, योग और भक्तिका संबंध क्या है? पुरुषोत्तमका जो समग्र असंशय ज्ञानविज्ञान, वही शाश्वत धर्म है। पुरुषोत्तम शाश्वत है, इसलिए यह धर्म शाश्वत है। शाश्वतसे शाश्वत निष्पन्न होता है और अशाश्वतसे अशाश्वत धर्म उत्पन्न होता है। (यहां 'अशाश्वत' शब्द परिवर्तन-शीलके अर्थमें नियुक्त है, न कि मिथ्याके अर्थमें।) पुरुषोत्तमका रूप 'अक्षर' और स्वरूप 'क्षर' (बदलनेवाला) है। नये और पुराने शास्त्री इसी क्षर पर जो अधिष्ठित धर्म है, उसका अंगीकार सच्चे धर्मके ख्यालसे कर रहे हैं (तर्कतीर्थ काणेशास्त्रीका लेख 'उत्कर्षका राजमार्ग' देखो।) परंतु गीता इस धर्मका वर्णन इसतरह करती है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते। ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोकमश्नंति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ (९—२०)
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये

मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ (९-२१)

शाश्वतधर्मस्वरूप।

पीछे यह सिद्ध कियाही गया है, कि अध्याय ९, १२, ५, १८ में शाश्वत-धर्मका विवरण है। इसका स्वरूप ठीक तरह से ध्यानमें आजाय, इस गरजसे इन अध्यायोंका थोडा सारांश देता हूं।

(अ० ९) मैंने इस जगत्का विस्तार किया है। भूतमात्र मुझमें हैं मैं भूतोंमें नहीं हूं। मेरी आज्ञासे प्रकृति सब चीजें उत्पन्न करती है, इसलिये जगत् का कार्य एकसूत्र से चला है। जो कुछ तुम करो, वह मुझे अर्पण करो, इससे तुम कर्मबंधसे मुक्त होगे। मैं सबको सम हूं। जो मुझे भजते हैं, उनको मैं प्राप्त होता हूं। अन्य देवताओंको जो भजते हैं, उनको मैं उनके रूपसे उनके वांछित फल देता हूं। सारांश, मैं जैसेको वैसा हूं। पापी होनेपर भी जिसको मेरी अनन्य भक्तिका लाभ हुआ, वह तात्काल धर्मात्मा होता है। अंतमें मुझमें अपने मन को रखो, मेरा भक्त हो, मेरा भजन करो; इस प्रकार योग करनेसे तुम मुझमें मिल जाओगे।

(अ० १२) जो लोग सारे कर्मोंको मुझे अर्पण करके अनन्ययोगयुक्त मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, उन्हें मैं मृत्युसंसारसागरसे उद्धृत करता हूं। मन और बुद्धिको मुझमें दृढ रखो, इससे तुम मुझमेंही वास करोगे। (इसी अध्यायमें जो अनन्य भक्त परमेश्वरका प्यारा रहता है, उसका वर्णन श्लोक १३ से १९तक सब लोग ध्यानपूर्वक पढें।)

(अ० १५) सूर्यमें, चंद्रमें, अग्निमें जो तेज है, वह मेराही है। मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके उसका धारण करता हूं और चंद्र होकर संपूर्ण औषधियोंका पोषण करता हूं। इस लोकमें दो पुरुष हैं; 'क्षर' और 'अक्षर'। समस्त भूत क्षर हैं और आत्मा अक्षर है। जिसको परमात्मा कहते हैं वह उत्तम पुरुष इन दोनोंसे निराला है। मैं क्षरोंसे श्रेष्ठ हूं और अक्षरोंसे भी श्रेष्ठ हूं (क्यों कि क्षर भी मैं हूं और अक्षर भी मैं ही हूं) इसलिये मुझे उत्तम पुरुष कहते हैं।

अस्तु। यह सब पुरुषोत्तमका भिन्न भिन्न दृष्टिकोनके अनुसार वर्णन है। इससे अपने साम्हने पुरुषोत्तमके नामसे कोई वस्तु आवे, तो अपन पहचान लेंगे कि वह असल है या नकल है। इतनी पहचान दिलानेका कारण यह है, कि गीताको अंधश्रद्धा नहीं चाहिये। गीताकी यह अपेक्षा है, कि सब लोग स्वयं अपने अनुभवकी कसौटीपर सब बातें सुलाखकर लेवें। गीताको श्रद्धा ऐसीही चाहिये है। इस बातको अधिक विशद करें। क्यों कि आजकल महंतबाजीके कालमें श्रद्धाका भलता ही अर्थ होने लगा है। भगवान् कहते हैं 'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा' इससे मालूम होगा, कि जैसे वर्ण स्वभावज हैं, वैसी श्रद्धा भी मनुष्यके लिये स्वभावज है। इस जगत्के सारे व्यवहार श्रद्धापर चले हुए हैं; सिवाय श्रद्धाके एक क्षणभी व्यवहार न चल सकेगा। बडी बडी बँकोंके व्यवहार, व्यापारव्यापारोंमें आपसके व्यवहार, राष्ट्रोंराष्ट्रोंमें व्यवहार श्रद्धापर चलते हैं। जहां यह श्रद्धा कम हुई, वहां आर्थिक आपत्तियां पड जाती हैं। अस्तु। एक परिचित उदाहरण लेकर आंख वाली श्रद्धा और अंधश्रद्धामें फरक देखा जाय। बर्तनमें भात पकानेके लिये चावल डालनेपर कुछ देरके बाद उमदा रसोइयां उसमेंसे एक चावल मींजकर देखता है। वह यदि चुर गया हो, तो बर्तन चाहे उतना बडा हो, वह जान लेता है, कि पूरा भात पक्व हो गया और बर्तनको आगीपरसे उतार लेता है। उसको पूरा भरोसा रहता है और वह ऐसी कुशंका करते नहीं बैठता, कि एक चावल चुर गया, परंतु इसका क्या सबूत है कि बाकी सब चावल चुर गए हैं? वह बर्तनमेंसे एक एक चावल निकालकर मींजता हुवा नहीं बैठता। उसको अनुभवसे मालूम रहता है, कि जहां एक चावल चुर गया वहां पूरा भात चुरगया।

यह हुई आंखवाली श्रद्धा। अंधश्रद्धा वह है, कि इसी तरह एक चावल मींजकर देखना; परंतु अपनी बुद्धि अथवा अनुभवके जोरसे नहीं, किंतु अपनी समझमें कोई जानकार आदमी हो उसके केवल शब्दोंपर भरोसा रखते हुए, उस बर्तनको आगीपरसे उतार देना। सांप्रत महंतबाजीके कालमें अच्छा यह होगा कि इसतरह श्रद्धाका मतलब भली भांति समझ लेना। दूसरा उदाहरण यों लेवें, कि मान लो किसी मनुष्यको शस्त्रक्रिया सीखनी है। शास्त्र सीखनेकी यह परंपरा है, कि शस्त्रवैद्य के पास जाना, उसकी शस्त्रक्रियाका निरीक्षण करना और उसकी विद्या लेकर उसमें अपनी अकल का योग देना। जिससे शास्त्र सीखते हैं, वह गुरु है। गुरुके हाथसे पूर्वमें अनेक त्रुटियां हुई रहती हैं, इससे उसको पूरा अनुभव रहता है। उसका यह अनुभव लेकर आगे जाना श्रेयस्कर है। यदि प्रत्येक विद्यार्थी अपने गुरुके अनुभवका फायदा न लेकर यह कहने लगे, कि 'मैं स्वयं गलतियां करूंगा और सीखूंगा,' तो इस दुनियां पर आपत्ति आवेगी और जनता उसपर कानूनका बंधन डालेगी। अस्तु।

इसतरह सबही शास्त्रोंके लिये गुरुकी आवश्यकता है। वैसे ही इस धर्मशास्त्रके लिये गुरुकी आवश्यकता है। जैसे शस्त्रक्रिया सीखना हो, तो ऑपरेशन करनेवालेके यहां जाकर रोज ऑपरेशन देखना, शंकाएं पूछना, वॉर्डमें काम करना, बादमें स्वतः (पहिले छोटे छोटे और फिर बडे) ऑपरेशन करना (परिप्रश्नेन सेवया,) इस तरह शस्त्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त होता है। शस्त्रक्रियापर व्याख्यान सुनकर शस्त्रक्रिया सीखलेना असंभाव्य है; इसी तरह सद्गुरुसे केवल बातें सुनकर ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती। तुम्हें पहिले इस बातकी परीक्षा करनी होगी, कि वह साक्षात्कारी है या नहीं; और उसके पास रहकर यह देखना होगा, कि वह उस ज्ञानको आचरणमें किसतरह लाता है और उसके कदमपर कदम रखकर चलना होगा। इससे आपको विदित होगा, कि सत्संगका महत्त्व क्या है और क्यों है। सच्चा संत वही है, जो शिष्यको अपने समान बनाता है। (आजकलके समयमें भी नामधारी संत अपने शिष्यको अपने ही समान-अथवा कभी कभी लबाड़-बदमाश करते हैं!) अर्थात् विज्ञानी बनाता है। संतोंके सहवासमें वर्षानवर्ष रहकर ज्ञान, विज्ञान, अनन्य भक्ति और योग आत्मसात् न हो, तो निश्चय जानना कि वह संत झूठा है। कुंवा में होगा, तो बागरमें अवश्य आवेगा। इसलिए सद्गुरु करते समय पूर्ण विचार करना चाहिये। जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन दिला नहीं सकता, वह सद्गुरु नहीं है। अस्तु। विषयांतरके लिए पाठकोंकी क्षमा मांगकर फिरसे अपने विषयपर आता हूं।

९ वें अध्याय में जो ज्ञानविज्ञान ऊर्फ राजविद्या-राजगुह्य बतलाया गया है, वह आगे चलकर 'प्रत्यक्षावगम' कहा गया है। अब इस शब्दका महत्त्व देखें। इस धर्मकी बुनियाद जो पुरुषोत्तम है, वह प्रत्यक्षावगम है। यदि ऐसा न होता, बुनियादही काल्पनिक होती, तो ऊपरकी इमारत भी काल्पनिकही रहती। दूसरी बात यह है, कि कल्पनामें पंथ, संप्रदाय, मतमतांतर आते हैं; किंतु प्रत्यक्षमें सब एक हो जाते हैं। 'मैं आंखोंसे देखता हूं' यह बात सब लोग एक मतसे कबूल करेंगे। इसमें मतमतांतर का प्रश्नही नहीं आता। तत्त्वतः शाश्वत धर्म प्रत्यक्षावगम होनेके कारण इसमें मतमतांतरके लिए स्थानही नहीं है। संपूर्ण जगत् इस बातको भूल गया, कि पुरुषोत्तम दिव्यदृष्टि द्वारा प्रत्यक्षावगम है। इसका परिणाम यह हुआ कि गीताका वास्तविक अर्थ एकही रहनेपर उसके परस्परविरोधी अनेक अर्थ हो गए और वाद-विवादकी धूमधाम उडती रही। सच्चे शाश्वत धर्ममें अजातवाद, मायावाद इत्यादि मतोंके लिए अथवा कर्मयोगी, ज्ञानयोगी इत्यादि पंथोंके लिए रामदासी, वारकरी इत्यादि संप्रदायोंके लिये बिलकुल जगह नहीं मिल सकती। वह प्रत्यक्षावगम होनेके कारण उसमें दो मत हो नहीं सकते। इसी तरह अ० ९-२ में 'कर्तुं सुसुखम्' इन शब्दोंसे बतलाया है, कि वह आचरण करनेको भी सुलभ है।

धर्मकी यह व्याख्या प्रसिद्ध है-

'धारणात् धर्ममित्याहुः ।'

उपर्युक्त विवरणके अनुसार इसका ऐसा अर्थ किया जा सकता है- पुरुषोत्तमने जो स्वभाव धारण किया, वह धारण किये जानेसे (धारणात्) धर्मसंज्ञाके पात्र हुआ ।

अ० ९ में श्रीकृष्णने जो ज्ञानविज्ञान बतलाया, उसके उद्देश ये हैं-

(१) अर्जुनको मेरा यथार्थ ज्ञान होवे ।

(२) उसको इस बातका पूरा परिचय हो, कि पुरुषोत्तमका स्वभाव क्या है और उसके अनुरोधसे अर्जुन चले ।

(३) इस प्रकार वर्तनेका अभ्यास पूर्ण होनेपर, अर्थात् जो पुरुषोत्तमका स्वभाव है, वही उसका स्वभाव होनेपर, वह सहजही तद्रूप होगा ।

अब देखना चाहिये, कि ये उद्देश सफल हुए या नहीं ।

मान लीजिये, कि आपको किसी ग्राममें मेरे मित्र को मेरा एक पत्र देना है । आपने उसको पहिले कभी नहीं देखा । उसका वर्णन कितना भी बारीकीसे किया जाय, तो भी यह निश्चय नहीं है, कि आप उसका पता लगा ही लेवेंगे । एक परिमित अल्पगुणी मनुष्यका केवल वर्णनसे पता लगाना अगर मुश्किल है, तो अनंतगुणी अनंतरूपी परमेश्वरको यथार्थरीतिसे जानना प्रायः अशक्य ही है । इस मित्रको पहिले एकबार बतला दिया होता, तो लाखों आदमियोंमेंसे आप उसको थोडीही देरमें पहचान लेते । अर्जुनकी यही स्थिति हुई । ९ वें अध्यायमें पुरुषोत्तमका इतना सुंदर वर्णन सुननेपर भी अर्जुनने फिरसे सवाल किया, कि

'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।'

बस । सब पानी औंधे घडेपर गिरा ! यह देखकर श्रीकृष्णने दिव्यदृष्टिद्वारा उसको अनुभव दिया । उसको क्या दिखा ?

'पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपं ।'

श्रीकृष्णने क्या बतलाया ?

'तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यम् ।'

इससे यह सिद्ध हुआ, कि अर्जुनको जो ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन अथवा साक्षात्कार हुवा, वह विश्वका हुआ । अब इस विषयको अगले लेखके लिये छोडकर आगे चलें ।

हम यह देख सकते हैं, कि अध्याय १४ में आया हुवा गुणातीतका वर्णन, दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञका वर्णन और १२ वें अध्यायमें अनन्य भक्तका वर्णन, ये सब एकही हैं । १४ वें अध्यायका आरंभ

'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्'

ऐसा है और अंत

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

'शाश्वतस्य च धर्मस्य' ऐसा है । इससे मेरे इस विधानको पुष्टि मिलती है, कि ज्ञान, विज्ञान और शाश्वत धर्म एकही वस्तु है । यह सब सुननेपर एक बडी शंका बाकी रह जाती है, कि हमको करना क्या चाहिये ? तुमने धर्म बतलाया, वह हम समझ गए; परंतु वह आचरणमें कैसे लाया जाय ? इसका विधि अध्याय १६ अथवा १७ में नहीं मिलता, किंतु अध्याय १८ में मिलता है । अध्याय १६ और १७ में व्यय-धर्मका विधि है, जिसका वर्णन

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः ।'

ऐसा किया है । शाश्वत धर्मका विधि १८ वें अध्यायमें दिया है, वह ऐसा है —

भगवान्ने कहा है, कि यज्ञ, दान और तप करना चाहिये, परंतु संग और फलाशा छोडकर करना चाहिये (१८-६) । तथापि यह गौण मार्ग हुआ । उत्तम मार्ग है,

'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते' ।

इससे भगवान्का कटाक्ष दीख पडता है, कि नियत कर्म करना ही चाहिये । नियत कर्मोंसे

मतलब है वर्णकर्म। इसीको भगवान्ने कहा है 'स्वभावनियतं कर्म' (अ० १८-४७)। इसीके दूसरे नाम हैं सहजकर्म, स्वकर्म, स्वभाव-कर्म, अकर्म और स्वधर्म। इन कर्मोंका निर्देश—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
(१८-४१)

इसके बादके तीन श्लोकोंमें किया गया है। उनका विधि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

इससे 'ईश्वरकी पूजा वर्णकर्म करके करनी चाहिये' ऐसा गीताका विधि स्पष्ट है। इन कर्मोंको ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करना अनन्य-भक्ति है। अब १७ वें अध्यायमें वह वाक्य है, कि

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

इसका अर्थ यदि १५ वें अध्यायके अंतिम श्लोक 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' में आये हुए 'शास्त्र' शब्दके अनुसार करना है, तो पुरुषोत्तमका ज्ञानविज्ञान शास्त्र, (शाश्वत धर्म) उसका विधि, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' ऐसा है। शास्त्रविधिको छोडकर परंतु श्रद्धासे जो लोग अन्य मार्गोंके अनुसार कर्म करें, उनकी कौनसी गति है? इस प्रश्नका उत्तर १७ वें अध्यायमें दिया है।

अस्तु। अब शाश्वत धर्मकी असल बुनियाद जो चातुर्वर्ण्य है, उसका विवरण करके और इस लेखमें जो कुछ सिद्ध किया गया, उसका सिंहावलोकन करके यह लेख समाप्त करता हूं।

गुणकर्मानुरूप मेरे स्वभावमें जिस रजकोटिमें चार वर्ण पडते हैं; उन्हींको चातुर्वर्ण्य संज्ञा है। विश्व अतिशय नियमबद्ध है। इस अनंत विश्वमें कुछ साधर्म्य ध्यानमें लेकर चार वर्ग बनाए जा सकते हैं। वनस्पति अनंत हैं, तब भी शास्त्रने उनके ऐसे वर्ग बनाए हैं। इसी तरह पूर्व ऋषियोंने गुण-कर्मोंके अनुलक्ष्यसे मनुष्य जातिके और उनके अनुरूप कर्मोंके चार वर्ग बनाए हैं। इन्हींको चातुर्वर्ण्य संज्ञा है। गुण तीन हैं, तब वर्ण चार कैसे? इसका उत्तर ऐसा है- रजोगुणका स्वभाव लंबकके समान इधरसे उधर हिलनेका है। यह लंबक एक बाजूमें सत्त्व और दूसरी बाजूमें तम ऐसे दो स्थिर बिंदुओंके बीचमें हिलता रहता है। जब रज सत्त्वकी कक्षामें जाता है, तब क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न होता है और तमकी कक्षामें जाता, तब वैश्य वर्ण उत्पन्न होता है। यह चातुर्वर्ण्य गुणपर अवलंबित है। कर्म अनंत हैं। उनमेंसे अपनको कौनसे सहज साध्य होंगे? इसका उत्तर यह है, कि अपने जन्मजात (सहज) गुणानुरूप कर्म उत्तम होंगे। उनमें स्वभावतः प्रेम और रुचि रहेगी और

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

इस सिद्धान्तके अनुसार सिद्धि आपसे आप आवेगी।

हिंदुस्थानमें जात्यभिमान, कुलाभिमान, अंधानुकरण, उच्चनीच भावना, इन कारणोंसे इस चातुर्वर्ण्यके प्रवाहको प्रतिबंध लाए गए हैं। ऐसे प्रतिबंध पाश्चात्योंमें नहीं हैं, इसलिये वे लोग चातुर्वर्ण्यका योग्य पालन सहजमें करते हैं (उन्हें यह खबर नहीं कि ऐसा पालन कर रहे हैं.) और हम लोग, जिनके पूर्वजोंने इस चातुर्वर्ण्यका प्रचार किया, उससे दूर जाकर वर्णसंकरी होकर अधोगतिको पहूंचे हैं। अब भी बालकोंकी प्रवृत्ति देखकर उनके शिक्षक तथा पालक उन्हें तदनुरूप व्यवसायोंकी शिक्षा देंगे, तो उन धंधोंमें वे प्रवीण होकर अनेक आविष्कार करेंगे और देशकी उन्नति होगी।

यहां कोई प्रश्न करेगा, कि क्या वर्ण बदलना संभाव्य है? एक कहावत है, कि 'जाको जोन स्वभाव जाय ना जी से।' इससे यह मालूम होगा, कि यह बात अत्यंत कष्टप्रद है। अच्छा, यह भी किया जाय, तो फल क्या होगा? कुछ नहीं। वह कैसा, यह अब देखें।

इस चातुर्वर्ण्य संस्थाकी यह खूबी है, कि ब्राह्मण ब्राह्मणोंके कर्म, क्षत्रिय क्षत्रियोंके कर्म, वैश्य वैश्योंके कर्म और शूद्र शूद्रोंके कर्म उत्तम रीतिसे करें, तो सबहीको फल एकहीसा मिलता है। तब यह कहनेकी जरूरत नहीं, कि वर्णको छोडकर दूसरे वर्णमें जानेका उद्योग व्यर्थ है। तात्पर्य यह है, कि इस शास्त्रोक्त चातुर्वर्ण्यके अनुसार आत्म-निरीक्षण करके, अपने गुणानुरूप इस अनंत विश्वमें अपने कर्मोंको चुनकर, तद्द्वारा विश्वसेवा करनेकी चेष्टा हिंदुस्थान करेगा, तो शीघ्रही उसको ऊर्जित अवस्था प्राप्त होगी। जिनको यह निश्चय हुआ, कि पुरुषोत्तम एक (अनन्य) है, उनकी बुद्धि 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेके ह कुरुनंदन' इस वचनके अनुसार एकही निर्णय देती है। उनके विचाररूपी तलावमें एकही कंकर गिरा है, इस-लिये उसमें समान्तर छोटबडे वर्तुल उत्पन्न होते हैं, परंतु कहीं विरोध उत्पन्न नहीं होता। परंतु जिनके विचाररूपी तलावमें पक्षाभिमान, जात्य-भिमान, कुलाभिमान ऐसे अनेक कंकर गिरनेसे अनेक लहरें (वलय) उत्पन्न होतीं और आपसमें टक्करें खाती हैं. उनकी बुद्धि यहांसे वहां हिलोरें खाती है और उसका निश्चय नहीं होने पाता। ऐसे लोगोंको संसिद्धि मिलना अशक्य है। संसिद्धि प्राप्त करनेके लिये एकही दिशामें अविरत प्रयत्न करने पडते हैं। अस्तु। यशकी और उत्कर्ष की यह कुंजा हाथमें लेकर हिंदुस्थान फिरसे अपनी करतूतसे सारे संसारको आदर्शभूत होगा, ऐसी आशा रखकर, ऊपर लिखे किये हुए सिद्धान्तोंको व्यवस्थित रीतिसे रखता हूं-

(१) गीतामें 'ज्ञान' 'विज्ञान' 'शास्त्र' और 'शाश्वत धर्म' इन शब्दोंकी योजना एकही अर्थमें की गई है।

(२) शाश्वत धर्मकी नींव- पुरुषोत्तम एक, अव्यय और शाश्वत होनेके कारण, उसका स्वभाव जो शाश्वत धर्म है, वह भी उसी तरह अव्यय और शाश्वत है।

(३) इस बातका पूर्ण आकलन होनेके लिये दिव्यदृष्टिद्वारा पुरुषोत्तमका अनुभव लेना आव-श्यक है और पुरुषोत्तमके स्वभावका सब तरहसे निरीक्षण करना आवश्यक है।

(४) यह जानकर, कि स्वभावमें चातुर्वर्ण्य है, आत्मनिरीक्षण करके अपना वर्ण निश्चित करना चाहिये।

(५) स्वभावमें श्रद्धा है। उससे युक्त होकर वर्णानुरूप कर्मद्वारा विश्वरूपकी निरपेक्ष सेवा करनी चाहिये।

(६) अंतमें पूर्णरीतिसे विश्वरूपमें मिल-जाना। इस प्रकार गीतामें अनन्य भक्त, अथवा गुणातीत अथवा स्थितप्रज्ञका वर्णन है। इसके अनुसार अपनी सहज समाधि साध्य होनेपर अपन जो बोलें या करें या चलें, वह सब परमेश्वरकी प्रेरणासे होता है, क्योंकि 'अपन' ऐसी कोई वस्तु रहती नहीं। इस अवस्थामें कर्म उत्तम रीतिसे होते हैं। त्रुटियां होनेकी संभावना ही नहीं रहती। यही सच्चा कर्मयोग है।

आजकल सभी लोगोंको यह नहीं सूझता, हम क्या करें। अर्जुनके समान अपन धर्मसंमूढचेत हो गए हैं। ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्णका बतलाया हुआ इलाज हम करेंगे, तो निःसंदेह हम सब लोग इस आफत से बच जायंगे। इसी विचारमें यह लेख लिखा है।

भगवद्गीता और भावना

(लेखक- श्री० भारद्वाज)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ भ०गी० २-६७

१. उपोद्घात ।

मानवी स्वभावकी घटनामें और मानवी जीवन-क्रममें भावनाओंको+ एक महत्त्वका स्थान है; यह बात सब लोगोंने सुनी होगी । भावनाका मतलब है, मनकी विशिष्ट अवस्था, वृत्ति, रूप अथवा सच कहा जाय, तो विकार है। मनोधर्मभी भावनाका नामान्तर है। कामक्रोध आदि भावनाएं पशुपक्षादिकमें भी रहती हैं। मनुष्यप्राणी उसकी उत्क्रांतिके तथा संस्कृतिके प्रमाणमें इन भावनाओंके भेद और तदनुसार उनकी संख्या बढ गई है। भावनाओंकी गणनामें निम्न धर्मोंका समावेश होता है—

(१) प्रेम,× (२) काम, (३) क्रोध, (४) भय, (५) द्वेष, (६) दुःख, (७) लज्जा, (८) गर्व, (९) आश्चर्य, (१०) कुतूहल, (११) एकाकित्व, (१२) कर्तृत्व, (१३) संपन्नता और (१४) आनंद । अर्थात् यह हम नहीं कहते, कि यह जंत्री निःशेष मानी जाय । परंतु यह मुद्दा गौण होनेसे छोड देने में कोई हर्ज नहीं । इन मनोधर्मोंका श्रीमद्भगवद्गीतामें क्या स्थान है ? यह महत्त्वका प्रश्न है । क्योंकि उससे यह मालूम होनेका संभव है, कि गीता मानवी स्वभावको किस प्रकारके सांचेमें ढालना चाहती है और उस सांचेका स्वारस्य क्या है? इसलिए यह प्रश्न चर्चाके लिये हम लेते हैं । कदाचित् इस प्रश्नकी पूर्ण शास्त्रीय चर्चा करना प्रस्तुत लेखककी शक्तिके बाहर होगा । परंतु यह विषय ऐसा महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी इसकी चर्चा अत्यंत विरल हुई है । इस लेखके द्वारा तज्ज्ञोंका ध्यान इस विषयकी ओर आकर्षित हुवा, तो भी इस लेखका हेतु सफल होगा । इस आशासे प्रस्तुत लेखकने यह प्रश्न विवेचनार्थ लिया है ।

२. भावनाओंका गीतामें स्थान ।

प्रारंभही में यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए, कि 'भावना' के प्रचलित अर्थमें और अंग्रेजी Emotion के अर्थमें यह संज्ञा गीतामें कहीं प्रयुक्त की हुई नजर नहीं आती । 'न चायुक्तस्य भावना' (२-६६) इस संदर्भमें 'भावना' संज्ञा का अर्थ भिन्न भिन्न टीकाकारों ने भिन्न भिन्न रीतिसे किया है-(१)Concentration (Dr. Beasant), (२) दृढ-बुद्धिरूप निष्ठा (लोकमान्य तिलक), (३) आत्मज्ञानका संस्कार (गीतावाचस्पति भिडेशास्त्री) । इस संज्ञाके दो और अर्थपर्याय देखनेमें आते हैं- (१) Knowledge (Edwin Arnold) और (२) आत्मज्ञानाभिनिवेश (श्रीमच्छंकराचार्य) । इन भिन्न भिन्न अर्थोंसे उद्दिष्ट इस 'भावना' रूपी गीताकी मूल संज्ञाके

+प्रस्तुत निबंधमें 'भावना' शब्द अंग्रेजी Emotion के समनार्थक है ।

×Mac Dougal ने भावनाओंकी गणना ऐसी की है । (1) Tender Emotion, (2) Lust, (3) Anger, (4) Fear (5) Disgudt, (6) distress, (7) Negative self feeling, (8) Positive self feeling, (9) Wonder, (10) Gusto, (11) Feeling of loneliness, (12) Feeling of Creativeness, (13) Feeling of ownership and (14) Amusement.

मायने अंग्रेजीकी 'Emotion'के अर्थकी भावना नहीं। दूसरी मजेकी बात यह है, कि विदुषी डॉक्टर बेझेंट, जिनका अंग्रेजीके Emotion+ संज्ञासे पूर्ण परिचय रहा है। उन्होंने अपने गीताके भाषांतर में Emotion संज्ञाका प्रयोग केवल एकबार किया है। ' इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:' (१०-८) इसमें उन्होंने 'भावसमन्विता: ' का भाषांतर 'Rapt in Emotions ऐसा किया है। श्रीमान् आचार्यने भी यहां 'भाव' शब्दके लिये 'भावना' प्रतिशब्द दिया है। लोकमान्य तिलकने 'भाव'संज्ञा ही कायम रखी है। और भिडेशास्त्री महोदयने यहां 'भाव' शब्दका अर्थ 'भक्ति' किया है। सारांश यह कि 'भावना' (Emotion) संज्ञा गीता संहितामें और गीतार्थमें बहुत विरल है।

परंतु गीतामें 'भावना' यह संज्ञा न रहनेसे हम यह नहीं कह सकते, कि गीतामें भावना है ही नहीं। किंतु गीतामें नाना भावनाओं का निर्देश नाना प्रसंगोंपर हेतुपुर:सर किया है। गीता के प्रधान अंगकी दृष्टिसे गीतामें भावनाओंका विलास पहिले और ग्यारहवें अध्यायमें बहुत देखने मिलता है। भक्ति और भावनामें जो अर्थसाम्य है, उस दृष्टि से देखें, तो प्रथमाध्यायके बाहर भी गीतामें भक्ति-मार्गके जो २-६६ श्लोक हैं उनमें भावना भरपूर× है। तथापि गीतामें भावनाओंका निर्देश गीतोपदेशके एक प्रधान अंगकी दृष्टि से अ० २ से १८ तक सबही अध्यायोंमें थोडा बहुत दिखता है। एवंच गीतामें भावनाओंका विचार भरपूर है।

३. गीतामें भावनाओंके मूल्यके संबंधमें सिद्धान्तकल्प (Hypothesis)।

परंतु यह बात ध्यानमें रखनेलायक है, कि गीतामें बहुधा जहां जहां भावनाओं का निर्देश है, वहां वह इस दृष्टिसे है, कि मुमुक्षुको वे भावनाएं दृढप्रयत्नसे निर्मूल करने योग्य हैं- अर्थात् वे त्याज्य हैं। सिवाय एक भगवत् प्रेमकी ☞ भावनाके और तज्जन्य सात्त्विक आनंदके और उसी प्रकारके कुछ आध्यात्मिक आनंदकी भवनाके, अन्य किसी भावनाको गीतामें ग्राह्यता अथवा मान्यता नहीं है। प्रस्तुत निबंधमें यही बात गीतांतर्गत प्रमाणसे सिद्ध करनी है और सद्य:कालीन मानसशास्त्रकी दृष्टिसे यथाशक्य गीतोपदेशका स्वारस्य प्रतीत कराना है।

४. प्रमाण।

(अ) भगवद्गीताके प्रथम अध्यायमें भावनाका उद्रेक भरपूर दिखता है। जिनके दरम्यान युद्ध होने-वाला है, वे स्वपरक्षीय आप्तजन तथा भीष्म द्रोण आदि गुरुजन युद्धके हेतु रणभूमिपर खडे हैं, ऐसा देखकर, युद्धमें उनके संभाव्य नाशकी कल्पना आते ही, अर्जुनका हृदय, जो कि इस समयतक युद्धा-भिलाषी अतएव कठिन था, यकायक कुसुमके समान कोमल बन गया। गात्रविगलन, वेपथु, त्वग्दाह, मुखपरिशोष, रोमहर्ष, मनोभ्रमण, अनिष्टदर्शन इत्यादि दु:खभावनाओंके आनुषंगिक सब लक्षण उसमें प्रकट हुए। युद्धके लिए सज्ज किया हुवा गांडीव धनुष्य हाथसे गिरपडा; वह खडाभी नहीं रह सका और युद्धोद्यत वीरका रथमें मुख्य स्थान छोडकर वह रथोपस्थ पर जा बैठा। स्वजनोंका शोक उसको क्लेश दे ही रहा है, किंतु यश और राज्यका संपादन करनेपर उसका सुखोपभोग जिनको देना है, उसका कौतुक जो लोग करेंगे ऐसे आप्त-गुरुजनादि इस युद्धके बाद कोई न बचेंगे- कौतुका-नंदके अभावकी यह भावना उसको बहुत सताने लगी। इन दो भावनाओंके साथ स्वकृत स्वजननाश,

---

+Arnold के भाषांतरमें Emotion संज्ञा एकबारभी देखनेमें नहीं आई। Passion संज्ञा,-जो कि विशेषत: रजोगुण राग-भावनासे समानार्थक ऐसी प्रयुक्त की है- वही अनेक बार आई है; वह Emotion से मिलती है।

×भावनासे संबद्ध जो श्रद्धा उसका भी विचार गीतामें है ही। और इस दृष्टिसे श्रद्धाके विचारोंसे युक्त गीताके श्लोक भावनासंबंधी कहे जा सकते हैं।

☞ ध्यान रहे, कि गीतामें ईश्वर व्यक्तिव्यतिरिक्त नहीं है; वह केवल व्यक्त्यतिगामी है।

स्वकुलनाश, स्वधर्मनाश इत्यादि पापोंकी भावना, तथा तत्परिणामरूप नरककी भीतिकी नैतिक और धार्मिक भावनाभी है और इस भावनासमुदायके भारसे अर्जुन बिलकुल दब जाता है। इस प्रकार भावनाओंसे तादात्म्य पाकर अंतमें इन भावनाओंका चक्काचूर उडानेवाले युद्धको कारणीभूत होनेके ऐवज में शत्रुके हाथोंसे निष्प्रतिकाररीत्या मरनेको भी अर्जुन तैयार हो गया। इसतरह अर्जुनकी मनःस्थिति जिस अध्यायमें वर्णित है, उसका अर्जुन-विषाद (The chapter of the distress of Arjuna) नाम सार्थ है।

अब इस मानसिक आघातसे जो शक्तिपात हुआ, उसके इलाजमें जननिंदाका भय, ऐहिक अथवा पारलौकिक सुखकी आशा, इत्यादि विरुद्ध प्रकारकी तथा कार्योद्यत ऐसी कुछ भावनाओंका उद्दीपन द्वितीयाध्यायके प्रारंभमें श्रीभगवान् करना चाहते हैं। परंतु उसका अर्जुनपर इष्ट परिणाम न हुआ देखकर, तथा यह देखकर, कि अर्जुन सदुपदेशके लिए, सन्मार्ग बतलानेके लिए मुझे प्रार्थना कर रहा है, श्रीकृष्णने द्वितीयाध्यायमें भावनासे गहन ऐसे अध्यात्म-क्षेत्रमें तत्त्वोपदेश किया है। सामान्यतः यह कह सकते हैं कि द्वितीयाध्यायमें श्रीकृष्णकृत तत्त्वोपदेश सिद्धांतिक और प्रात्यक्षिक ऐसे दो नमूनेका है। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्०, इस श्लोकसे प्रारंभ करके 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०' यहांतक ४३ श्लोकोंका विवेचन सिद्धांतिक स्वरूपका है और 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इस प्रश्नके उत्तरमें कहे हुए 'प्रजहाति यदा कामान्०' से लगाकर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ०' यहांतक १८ श्लोकोंका विवेचन प्रात्यक्षिक स्वरूपका है। द्वितीयाध्यायके इस श्रीकृष्णोक्त तत्त्वज्ञानका स्थूल निरीक्षण भी जिन्होंने किया है, उनकी नजरमें यह एक बात आएबिना नहीं रह सकती, कि अर्जुनके हृदय में जो भावनाओंका उद्रेक हुआ, उस ज्वालामुखीपर भगवान्ने मानो भावनोपशमनका हिमालयही इस उपदेशके द्वारा छोड दिया है। 'तुम शोक मत करो'+ 'तुम शोक करनेके पात्र नहीं' अथवा किंचित् शब्द-भेदसे इन्हींके सदृश उपदेशका ध्रुवपद भगवान्ने कमसे कम सात बार गाया है। कदाचित् अकारण शोक करनेवालेको कोई कहे, 'कि तुम शोक मत करो' तो उपदेशकके नाते यह बात क्रमप्राप्तही मालूम होगी। परंतु यह कहना, कि शीत उष्ण आदि नाना प्रकारके सुखदुःखकारक मात्रास्पर्श क्षणभंगुर हैं; इसलिए इन्हें तुम बरदाश्त करो;⁂ इसी तरह यह कहना, कि लाभ-अलाभ, जयाजय, सिद्धि-असिद्धि इन ✍ द्वंद्वोंको सममूल्य समझकर केवल समाजमें जो तुम्हारे करनेके लायक है, वह तुम्हारा कर्तव्यकर्म तुम अविरत करते रहो; और वह करनेमें तुम यह ख्याल भी न करो कि वह कर्तव्यकर्म फलदायी होता है या नहीं×। फलाशा कभी मत रखो, विशिष्ट फलोदय तुम्हारे कर्मका हेतु कदापि न रहे, और विशिष्ट फलोदयके संभाव्याभावमें भी कर्तव्यकर्मका त्याग मत करो; केवल कर्मफलासक्तिका जहां तुमने त्याग किया, वहां तुम्हारे लिए कृतकर्मका बंधन उत्पन्न ही न होगा * इत्यादि बातोंसे यही उपदेश यही बतलाता है, कि तुम पूर्ण भावनाशून्य बनकर स्व-कर्तव्य करते रहो। इसके बाद जो विवेचन किया है, उसमेंभी भगवान्ने कहा है, कि 1 विषयका ध्यान न रहना चाहिये, विषयासक्ति न हो, कामक्रोध न हों; क्यों कि इनसे स्मृतिभ्रंश और अंतमें बुद्धिनाशद्वारा हानि होती है। इंद्रियनिग्रह 2 रहना चाहिये, कामत्याग 3 करनाही चाहिये, निरहंकारत्व और निर्ममत्व 4 होना चाहिए, शुभाशुभके बारेमें 5 औदासीन्य रहना चाहिए, अर्थात् शुभके बारेमें प्रीति और अशुभके बारेमें द्वेष

+न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २-११,१३,२५,२६,२७,२८,३० ⁂मात्रास्पर्शास्तु० २-१४

✍ सुखदुःखे० २-३८,४८ × कर्मण्येवाधिकारस्ते० २-४७ ⁂ योगस्थ कुरु० २-४८

* बुद्ध्या युक्तो यया० २-३९ 1 ध्यायतो विषयान्० २-६२ 2 यदा संहरते० २-५८

3 प्रजहाति यदा० २-५५ 4 निर्ममो निरहंकारः २-७१ 5 सर्वत्रानभि० २-५७

न हो; राग, भय, क्रोधका 1 त्याग करना चाहिये; सुखके बारेमें इच्छा और दुःखके बारेमें उद्विग्नता न हो 2; राग और द्वेषको छोडकर इंद्रियोंका योग्य नियमन करके इंद्रियविषयोंका शांततासे ग्रहण करना चाहिए; इन्द्रिय अपने अपने विषयोंसे जो खेल खेलते हैं, उस खेल में घुसकर अपनको उसमें लिप्त न होना चाहिए, क्योंकि उससे आखिर नाश होता है 3। सामान्य लोग सुखी होनेकी गरज से सुखके पीछे लगनेका जो प्रयत्न करते हैं, उसके बिलकुल विपरीत चलकर 4 अर्थात् सुखका पीछा छोडकर ही सुखी होना चाहिए। नदियोंकी बाढके पानीसे समुद्रको भरती नहीं आती, अथवा सूर्यकिरणोंसे पानीका बाष्पीभवन होते हुए भी समुद्र को उतार नहीं आता; उसी तरह ऐंद्रिय विषयोंके संयोगवियोगसे मन की वृत्तियां न उल्लसित हों और न विकल हों 5। संतुष्टता, शांति, सुख, आनन्द इत्यादि की जो अपेक्षा करनी है, वह इन्द्रियोंकी उत्तान घटनाओं में नहीं, किंतु आत्मासरीखे गंभीर और नित्य तत्त्वोंके विषयमें करनी चाहिए 6। इस प्रकार पुनश्च भावनाशून्य बननेका उपदेश स्थित-प्रज्ञके प्रत्यक्ष वर्णनसे श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको किया है।

(आ) द्वितीयाध्यायके बाद तीसरे, चौथे और पांचवें 7 अध्यायमें अर्जुनके किसी न किसी प्रश्नके बहानेसे पुनश्च- कर्मत्यागका नहीं किंतु- भावना-शून्यरीतिसे कर्माचरणका उपदेश श्रीकृष्णने किया है। इसी तरह ६ वें अध्यायमें 8 योगीके वर्णन में, बारहवें अध्यायके 9 भक्तके वर्णनमें, तेरहवें अध्यायमें, 10 ज्ञानीके वर्णनमें, चौदहवें अध्याय में गुणातीतके 11 वर्णनमें, सोलहवें अध्यायके 12 दैवीसंपत्तिवान्‌के वर्णनमें, और अठारहवें अध्यायमें ब्रह्मनिष्ठ के 13 वर्णनमें भी यही भावनाशून्य बननेका उपदेश (अन्य इष्ट लक्षण-संग्रहके उपदेशके साथ) प्रमुखतासे और आग्रह से किया हुवा नजर आता है।

(इ) एक अपवाद—परंतु समृद्ध प्रमाणमें उपदिष्ट गीतामें भावना एक जगह है- द्वादशाध्याय में ईश्वरभक्ति। गीताका ईश्वर व्यक्तिबाह्य अथवा व्यक्तिविरहित नहीं है, किंतु व्यक्त्यन्तर्गत और व्यक्त्यतिगामी है और इसलिए व्यक्तिगत आत्म-तत्त्वका ईश्वरभावमें केवल योग्य विकास है; इस लिये भावनाके इष्ट विलास को भरपूर अवकाश है। सिवाय इसके ईश्वरभक्ति का स्वरूप परमा-वधि स्वविकालका ही रहता है।

इसलिए अतिरेकी अवस्थामें भी भावनाका दुरुप-योग हो नहीं सकता। विश्वरूपदर्शनके ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनको (स्वतःका) विश्वरूप देखकर जो आनंद हुआ, उसका यही कारण है। परंतु अर्जुनके मनकी जयशंका 14 दूर करनेहीके लिए कविने इस विश्वरूपदर्शनका उपयोग करना निश्चित किया है; इसलिए अर्जुनका व्यक्तिभाव वहां समष्टिमें समाविष्ट हुआ दरसाया नहीं है। वहां अर्जुन उस विश्वरूपके सामने अभीतक व्यक्तिरूपसे खडा रहता है और फिर 'अथ वै द्वितीयाद्भयं भवति' इस श्रुतिवचनके अनुसार वह विश्वरूप देखकर वह भयभीत होता है। उसका धैर्य और शांति छूट जाती है और पहिले अध्यायमें जैसी उसकी असहाय अवस्था होती है, उसीके सदृश ११ वें अध्यायके विश्वरूपदर्शनसे उत्पन्न हुई भीतिके कारण उसकी अवस्था हो जाती है। 15 आखिर

---

1 वीतरागभय० २-५६ 2 रागद्वेषवियुक्तैः० २-६४ 3 बुद्धिनाशात्प्रणश्यति०२-६३ 4 या निशा सर्व० २-६९ 5 आपूर्यमाणं० २-७० 6 आत्मन्येवात्मना तुष्टः० २-५५

7-इन तीन अध्यायोंमें से प्रत्येकमें अनेक श्लोक इस नमूनेके हैं। 8-यह अध्याय भावनाशून्यत्वकी परमावधि कर देता है। 9-अ० १२ श्लोक १३ से २०। 10-अ० १३ श्लोक ८ से १२। 11-अ० १४ श्लोक २२ से २५,८। 12-अ० १६ श्लोक २ -३। 13-अ० १८ श्लोक ५१ से ५६। 14-मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन॥ ११-३३। मया हतांस्त्वं जहिमा व्यतिष्ठा युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥११.३४। 15-भयेन च प्रव्यथितं ॥ ११-४४॥

जब उसको भगवान् परिचित रूपमें दिखते हैं, तब उसका मन पूर्ववत् अविकृत बनता है और वह सचेत✍ होता है। जिसके जरियेसे युद्धकी अपेक्षा है, उस अर्जुनके लिये यही भावनाशून्य स्थिति योग्य है। इस कविकृतिसे पुनश्च देख सकते हैं कि गीतामें भावनाओंका महत्त्व कितना कम है। परंतु यद्यपि इसप्रकार भावनाशून्यत्वकी तथा अनासक्तिकी परमावधि साध्य करनेका उपदेश गीतामें किया गया है, तथापि बारहवें अध्यायमें उपदिष्ट जो ईश्वरविषयक आसक्ति है, वह गीताको इष्ट ही है। और वह इष्टता ईश्वरके व्यक्त्यन्तर्गतत्वके कारण और व्यक्त्यतिगामित्व के ही कारण समर्थनीय है। 'या भक्तिः सा परानुरक्तिरीश्वरे' यह भक्ति की व्याख्या गीतोपदेशकी विरोधी नहीं, किंतु अनुसारी ही हो सकती है।

(ई) बारहवें अध्यायके बाद भावनाओंकी खलबली सोलहवें अध्यायमें दिखती है। परंतु इस अध्यायकी भावना परमावधिके अनिष्ट प्रकारकी है और वह आसुरी संपत्तिके अनुषंगसे वर्णित है। इस अनिष्ट भावना का केन्द्र निरतिशय अहंता है और उसके आसपास इस भावना की प्रभावलि की अन्य छोटी-बडी भावनाओंको योजना हुई है। 'इदमद्य मया लब्धं०' (१६-१३) यहां से तीन श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट दिखती है; और 'ईश्वरोऽहमहं भोगी०' (१६. १४) यह वाक्य उसका कलशस्थान है। अर्थात् यह क्रमप्राप्त ही है कि ऐसी भावनाओंका परिणाम उन व्यक्तियोंके अधःपातमें होगा, जो इनके चुंगलमें आगे हों।

(उ) सोलहवें अध्यायके बाद १८ वां अध्याय तत्पूर्व सारे अध्यायोंकी विचारसरणी की पूर्तता करता है। 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र०' (१८—४९) इस श्लोकसे लेकर 'सर्वकर्माण्यपि सदा०' (१८-५६) इस श्लोकके अंततक, सब कर्म करते हुए परमावधि भावनाशून्य जीवनक्रमका उपदेश करनेके बाद, भगवान् अर्जुन को एकही बार नहीं, बल्कि दोबार व्यक्त्यंतर्गत और व्यक्त्यतिगामी ईश्वरकी पुनश्च याद दिलाते हैं; और यह कहते हुए उसको यह शुष्क आज्ञा अथवा अनुज्ञा देते हैं, कि 'जो मुझे तुमको बतलाना था, वह अत्यंत गूढ ज्ञान मैंने बतलाया; अब इसपर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।' यह कोई न सोचेगा, कि भगवान् अर्जुनसे युद्धकर्म करा की इच्छा रखते हुए आखिर सब बात उसकी खुशीपर छोड देंगे। परंतु वह मतौदार्य और मतस्वातंत्र्य गीता में देखने मिलता है। इस स्वेच्छाचारकी अनुज्ञासे आसपास ऐसे वाक्य जरूर हैं— 'यदि तुम मेरा कहना न सुनोगे, तो विनाश पाओगे' ✤; 'अब भी तुम्हारा अज्ञानसंमोह नष्ट हुवा या नहीं?' + परंतु इन वाक्योंसे 'अब तुम जो चाहो वह करो' इस विचारस्वातंत्र्यकी और मतौदार्यकी योग्यता कम नहीं होती। परिणाममें अर्जुन एकही श्लोकमें— 'मोह नष्ट हुवा, (कर्तव्य) स्मृति हो गइ, संशय भी गया; इसलिये अब तुम्हारी आज्ञाके अनुसार मैं युद्धकर्म करता हूं- ✤' इसतरह पूर्ण निर्भावचित्तसे और किसी सौदागरकी भाषामें (In a business-like manner) कहकर इस ग्रंथकी समाप्ति कर सकता है ✱। कहां पहिले अध्यायका अर्जुनका विषाद और कहां उसकी १८ वें

✍ सचेतः प्रकृतिं गतः (११-५६) ✤ न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि। १८-५८ + कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टः। १८-७२

✤ नष्टो मोहः। १८-७३

✱ भगवद्गीतामें भावनाओंका विचार इसप्रकार होते हुए, हिंदी तत्त्वज्ञानका यह दुर्दैव है, कि गीतामें भक्तिमार्ग पश्चाद्विचारसे गुहा गया है। उसका इतना विस्तार हो और पृथक् जीवात्मभावका भ्रम लेकर बैठनेवाले श्रीमाध्व-रामानुज वल्लभाचार्य, 'रसो वै सः तेन ह्यानंदी भवति' इसी श्रुतिवाक्यको सिरपर रखकर नाचते रहें, और द्वैती भक्तिमार्गकी प्रतिष्ठा यहांतक बढायें, कि जिससे धार्मिक व्यवहारमें केवल रासक्रीडाको भक्तिसर्वस्व मानें!!!'

अध्यायकी शान्तता! गीताका अवतार भावनोपशमके लिये होता है और उपसंहार भावनासंहारमें होता है। श्रीकृष्णके गीतोपदेशसदृश दिव्य अमूल्य उपदेशके लिये अर्जुनने धन्यवाद भी न दिये होंगे। गीतोपदेशके बाद अर्जुन और श्रीकृष्णके परस्परसंबंध केवल रथी और सारथीके ✽ रणभूमिपर व्यावहारिक संबंध रह जाते हैं और भगवद्गीता अंतर्धान पाती है।

५. संभाव्य आक्षेप और उत्तर।

परंतु इस विवेचनपर ऐसा एक आक्षेप आ सकता है, कि इस विवेचनके अनुरूप गीताका उपदिष्ट जीवनक्रम अत्यंत अव्यवहार्य, नीरस और निरानंद दिखता है और सचमुचमें यदि गीतामें उसतरह उदिष्ट होगा, तो उच्च जीवनक्रमकी दृष्टिसे वह अग्राह्य होता है और उसका उपदेश करनेवाली गीता त्यज्य ठहरेगी। यह आक्षेप जितना विचारार्ह है, उतनाही भरपूर उसका उत्तर अथवा समाधान गीतामें मिलता है। गीताकी भूमिका इस दृष्टिसे जांचकर देखी जाय, तो हमें ज्ञात होगा, कि गीता निरानंद है ही नहीं, बल्कि वह एकसे एक उच्चोच्च ऐसी अनेक आनंदश्रेणीका निधान है। एक बात पहिलेही नमूद कर देनी चाहिये, कि गीतामें इंद्रियविषयजन्य सुखका बहिष्कार कहीं नहीं किया गया; किंतु ऐसा स्पष्ट कहा गया है, कि विशिष्ट मर्यादामें इंद्रियोंको स्वविषयोपभोग लेने देना चाहिये 1। गीतामें यद्यपि पातंजलयोग-मार्गवाले योगीको निराहारका 2 उपदेश है, तथापि उसके साथ ही साथ युक्ताहारविहारका उपदेश है 3। रागद्वेषवियुक्तरीत्या इंद्रिय अपने अपने विषयमें रममाण होते हों, तो जबतक वे काबूके बाहर नहीं गए, तबतक पूर्ण औदासीन्यवृत्तिसे इंद्रियविषयसेवन करनेकी गीतामें मुभा है। दुनियांमें परस्परोंसे बर्तनेकी उच्च रीतिके लिये वही न्याय गीतामें प्रतिपादित है। स्वकर्तव्य करते हुए अहंभाव 4 यदि न हो, तो न केवल भीष्मद्रोणादि गुरुजनोंका, किंतु (शक्य और इष्ट हो तो) सारे जगत्का संहार करनेकी भी गीतामें मुभा है। एवंच गीतोपदेशके अनुसार जागतिक व्यवहार रुकनेका कोई कारण नहीं है। जो लोग गीताके जीवनक्रमपर नीरसताका आक्षेप करते हैं, उन्हें यह अच्छीतरह ठहराना चाहिये, कि व्यक्तिको रसका अनुभव कहां अथवा किस वस्तुमें लेना इष्ट है। गीताके मतसे इंद्रियविषयोंमें रस लेना मनुष्यको सुहाता नहीं; और तत्त्ववेत्ताको इनमें रसास्वाद दिखताही नहीं 5। इंद्रियविषय उसकी निगाहमें शुष्क रस मालूम होते हैं। अर्थात् इसकी अपेक्षा उच्च-प्रतिका रसास्वाद उसके लिये शक्य, साध्य और सिद्ध रहता है। इस रसके अथवा आनंदके उच्चोच्च पर्याय गीतामें अनेक देखने मिलते हैं। गीतोपदेशके अनुसार चलनेवाले पूर्णवर्तनयुक्त योगीको- उसको नहीं, जिसने केवल गीता पढ ली है- आत्यंतिक शरीरव्याधिके दुःखका अथवा क्लेशका अनुभव होना 6 आवश्यक नहीं है। उसके मनको शान्ति 7 सहजमें प्राप्त हो सकती है। वह सुखके और दुःखके अतीत ऐसी अवस्थाको 8 पहुंचा रहता है।

✽ मद्रासके शुद्ध धर्ममंडलने प्रचलित की हुई रचनांतरित गीतामें पूर्वके १० वें और ११ वें अध्यायके कतिपय श्लोक 'ब्रह्मस्तुति' के नामसे 'नष्टो मोहः' इस अर्जुनके वाक्यके पहिले जोड दिये हैं; वे इस दृष्टिसे बिलकुल कलाहीन मालूम होते हैं। 'तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः' (१४-२४) इस तरह जहां गुणातीतके लक्षण हैं, वहां 'ब्रह्मस्तुति' इस शब्दसमुच्चयको क्या अर्थ रह जाता है?

1 रागद्वेषवियुक्तैः २-६४; सदृशं चेष्टते स्वस्याः ३-३३। 2 विषया विनिवर्तन्ते० २-५९। 3 युक्ताहारविहारस्य० ६-१७। 4 यस्य नाहं कृतो भावो १८-१७। 5 ये हि संस्पर्शजा भोगाः ५-२२। 6 यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणा० ६-२२। 7 स शान्तिमाप्नोति न कामकामी २-७०। 8 समदुःखसुखः स्वस्थः १४-२४।

वह संतुष्ट 1 रहता है। स्वतःका जो वरिष्ठ ईश्वररूप है उसपर चित्तकी एकाग्रता करके, उसीको अपना प्राण समझकर दूसरोंको उस स्वरूपकी पहचान करानेकी क्रियामें वह रममाण 2 रहता है। अन्य शब्दोंमें कहना हो, तो वह स्वतःमें रममाण 3 रहता है; स्वतःके उच्च रूपहीमें उसको तृप्ति और समाधान मालूम होता है 4। उस अवस्थामें वह अत्यंत उत्तम और अक्षय सुखका 5 अनुभव ले सकता है। इसी स्थितिके लिए अन्य पर्याय नाम हैं, परमगति प्राप्त होना 6, परमसिद्धि प्राप्त होना 7, ब्रह्मप्राप्ति 8 होना, ब्रह्मानुभव 9 होना इत्यादि। एवंच गीतोपदिष्ट जीवनक्रम में यद्यपि भावनाओं के क्षेत्रका अत्यंत संकोच किया हुआ दिखता है, तथापि इसमें कोई शक नहीं, कि उसमें आनंदका क्षेत्र व्यस्त प्रमाणमें परिपूर्ण विकसित है।

६. सिद्धान्त।

यहांतक जो विवेचन हुआ, उसका सारांश सिद्धान्तरूपसे संक्षेपमें इस तरह रख सकते हैं-

(१) गीतामें शुद्ध वैयक्तिक भावनाओंको अत्यंत त्याज्य माना है।

(२) समष्टिकी दिशामें व्यक्तिका विकास करानेवाली भक्तिभावनाको गीतामें बहुतसा अवसर है।

(३) व्यक्तिकी समष्टिसे एकता करानेवाली अध्यात्मभावनाको गीतामें सार्वत्रिक स्थान है। 10

७. अभ्यास।

इन तीन सिद्धान्तोंमें से पहिले सिद्धान्तकी ओर वाचकोंका ध्यान प्रमुखतासे आकर्षित करना आवश्यक है; क्योंकि जीवितके अनुषंगसे भावनाओं का विचार करनेमें सामान्यतः उन्हें व्यक्तिदृष्ट्या मूल्य दिया जाता है। विशेषतः पाश्चिमात्य मानसशास्त्र और तत्वज्ञानसे जिनका परिचय है, ऐसे बहुतेरे विचारकोंकी यह धारणा रहती है, कि भावनाओंका परिपोष होनेके लिये पूर्ण अवसर न हो, तो वैयक्तिक जीवितको पूर्णत्व नहीं आता; किंबहुना भावनाओंके आविर्भावको उचित अवकाश न मिले, तो भावनाओंका जो नियमन होगा, उससे शरीरमें विकृति भी उत्पन्न होगी। इस दृष्टिसे ऊपर दिये हुए गीताके तीन सिद्धान्तोंमें से पहिला सिद्धान्त असमर्थनीय मालूम होगा। इसलिये इस बारेमें गीताकी भूमिका फिरसे स्पष्टतया रखकर बाद में उस भूमिकाके बचानेका प्रयत्न करना इष्ट होगा।

यह बात फिरसे विदित करनेमें कोई हर्ज न होगा, कि गीताके नाना अध्यायोंमें भावनाओंके विकासकी कोई योजना नहीं है, किंतु उनके उपशम की आवश्यकता सर्वत्र प्रतिपादित है। गीता के इस भावनाशून्यत्वके प्रधान अंग हैं—

(१) सामान्य रीत्या— (अ) निर्ममत्व 11 (आ) निरहंकारत्व 11 (इ) सर्वत्र समता 12

---

1 संतुष्टः सततं योगी १२-१४; संतुष्टो येन केनचित् १२-१९। 2 कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च। १०-९॥ 3 यस्त्वात्मरतिरेव० ३-१७। 4 योन्तःसुखोऽन्तराराम: ५-२४। 5 प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनम् ६-२७; ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ५-२१। 6 स याति परमां गतिम् ८-१३। 7 संसिद्धिं परमां गताः ८-१५। 8 लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ५-२५। 9 ब्रह्मभूयाय कल्पते १८-५३ 10 पाठकगण स्वतःके अनुभवके प्रसंगोंको, अथवा जरूरत हो तो कपोलकल्पित वाङ्मयनाट्यके भावनोद्दीपक प्रसंगोंको पुनश्च अपने मनश्चक्षुके सामने लाकर गौरसे देखें। परहित साधनेके हेतु स्वतःका बलिदान करनेकी कृतिसे मनपर जितना गहरा परिणाम होता है, उतना किसीभी अन्य कृतिसे नहीं होता। 11 निर्ममो निरहंकारः २-७१, १२-१३, १८-५३। १२ समःसिद्धावसिद्धौ ४-२२, समःसर्वेषु भूतेषु १८-५४; समलोष्टाश्मकांचनः ६-८; शीतोष्णसुखदुःखेषु समः १२-१८; समचित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु १३-९; तुल्यो मित्रारिपक्षयोः १४, २४, २५; समः शत्रौच मित्रेच १२-१५।

(६) द्वंद्वौदासीन्य 1, निःसंगत्व अथवा अनासक्ति 2 और

(२) विशेषरीत्या- काम 3, क्रोध 3, लोभ 3, भय 4, द्वेष 5, मान 6, मोह 6, उद्वेग 7, हर्ष 7, आमर्ष 7 और दुःख 8 का त्याग; इसी तरह अहिंसा 9, तृप्ति 9, मैत्री 9, क्षमा, और करुणा 10 का आश्रय 11।

यहां थोडी द्विरुक्ति होगी, परंतु उपर्युक्त गीता-भूमिका का संक्षेप में विकास कर देना अनुचित न होगा। भगवद्गीता में यद्यपि जीवनक्रम जड-शरीरद्वारा प्राकृतिक शरीरघटनानुसार पूर्णतया कर्तव्यपरायण बतलाया गया है, इंद्रियोंको स्वैर न छोडकर उन्हें अपने अपने विषयों का उपभोग लेनेकी सहूलियत यद्यपि गीतामें है, तथापि गीताका इस बातपर कटाक्ष है, कि इंद्रियोंसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि घटनाएं हैं, वे अपना स्थैर्य बिगडने न देवें; और जड इंद्रियोंसे तादात्म्य पाकर उन्हें मिलनेवाले सुखदुःखका भोग स्वयं न लेवें। शक्यता रहनेपर मनुष्य चाहे, तो वह रोज सुग्रास मिष्टान्न खावे, उसमें गीताको आक्षेप नहीं है; परंतु गीताको यह बात बिलकुल संमत नहीं है, कि वह आहारक्रिया जारी रहते वह ऐसी आसुरी भावना आने दे, कि 'मैं कैसा पराक्रमी अथवा भाग्यवान् हूं, कि और लोगोंको कठिन परिश्रम करनेपर भी चटनी रोटी पेटभर खानेको नहीं मिलती; और मैं देखो अनायास ऐसी स्वादिष्ट चीजें खाता और चैन करता हूं। आंग्ल विचार-प्रणालीके अनुसार इसी बातको यों कह सकते हैं- You may eat a sumptuous dinner but you should not enjoy it in the Sense of Enjoying 12. गीता हमें सचेत करती है, कि सुग्रास मिष्टान्नसे इंद्रियोंका लालन और तद्द्वारा शरीरका पोषण हो, परंतु उसका प्रभाव, उसकी गुंगी हमारे मनको कक्षातक पहुंचने न पावे।

८. कारण-मीमांसा।

परन्तु इस प्रकार देखने में विचित्र ऐसी विचार-सरणी जो गीताने प्रचलित की है, उसके लिये कारण जरूर हैं। मिष्टान्नादि तन्मात्राके स्पर्श अनित्य हैं। जब उनकी लत लगती है, तब वे चीजें हमेशा मिलती रहें तो ठीक है; अन्यथा उनके अभावका एक नया दुःख पैदा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न प्रमाणमें, किंतु समस्त व्यक्तियोंमें निरपवाद रीतिसे विद्यमान ऐसा दुःखरूप आंदोलन अग्रांतर है। ऐसी हालतमें प्रसंगवशात् सुग्रास मिष्टान्नके बदले चटनी-रोटी आजाय, और मिष्टान्नके भक्षणसे उत्पन्न होनेवाली आनन्दोर्मि मनकी कक्षामें विहार कर सके इतना यदि मन उथला हो, तो चटनीरोटीके झटकेसे पैदा होनेवाली दुःखोर्मि उस कक्षातक पहुंचकर मनको अवश्यमेव विकृत करेगी; और तज्जन्य दुःखावेग को सहन करनेका प्रसंग जरूर आवेगा। परंतु दुःख

---

1 निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ५-३, द्वंद्वातीतो विमत्सरः ४-२२। 2 त्यक्त्वा कर्मफलासंगं ४-२०, गतसंगस्य ४-२३, समःसंगविवर्जितः १२-१८। 3 कामः क्रोधः तथा लोभः १६-२१।

4 वीतरागभयक्रोधः २-५६, 5 इच्छाद्वेषसमुत्थेन ७-२७। 6 निर्मानमोहा १५—५। 7 हर्षामर्षभयोद्वेगैः १२-१५। 8 दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः २-५६। 9 अहिंसा समता तुष्टिः १०५। 10 अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च १२-१३।

11 विभूतियोगके दसवें अध्यायमें स्मृति, मेधा, धृति और क्षमाके साथ भी भावनाओंका भगवद्विभूति में निर्देश नहीं है; जिज्ञासाका अथवा ज्ञानका निर्देश है; और क्रिया का अथवा व्यवसायका निर्देश है; परंतु भावनाका निर्देश नहीं है। कहनेके लिये थोडासा अपवाद है- सातवें अध्यायमें धर्मके अविरुद्ध ऐसी कामभावनाका निर्देश है।

12 साक्रेटीस की ऐसी एक आख्यायिका है, कि वह अपने सहाध्यायिओं से भी अधिक शराब पीता था, परंतु वह गाफिल कभी न होता था।

कोई नहीं चाहता। अर्थात् निष्कर्म यही है, कि मिष्टान्नका सुख त्याग दें तभी संभाव्य घटनीरोटी का दुःख टलेगा! इसलिये बहुत हुवा तो जो जिस-समय प्राप्त हो, उसीका उस समय केवल देहद्वारा उपभोग लेकर उन सबसे मन आदि घटनाओंको अलिप्त रखना और द्वंद्वातीत सूक्ष्म आत्मस्थितिमें सुखका साधन ढूंढना; यही गीताकी विचारसरणी के अनुसार उत्तम मार्ग है।

शंका और निरसन।

अर्थात् यह बात बहुत बिकट है और यहां कमसे कम दो शंकाएं सहज उत्पन्न होंगी—(१) क्या इंद्रियोंकी मनसे इसकदर फारकत करना संभाव्य है, कि इंद्रियोंको सुखदुःख होते हुए मन शान्त रह जाय? और (२) मान भी लें, कि इसतरह फारकत हो सकती है, तब भी क्या दुःखकी संभाव्य संवेदनाओं को डरकर उन्हें टालनेके लिये सुखसंवेदनाओं का भी त्याग करना इष्ट है? पहिली शंका का समाधान गीतोपदेशके अनुकूल इस तरह किया जा सकता है। सुखदुःखके कारण-रूप मात्रास्पर्श अतीव क्षुल्लक रहते हुए भी छोटे बच्चे तज्जन्य सुखदुःखका बडा आविर्भाव लाते हैं। जरासी बातपर खूब जोरसे हंसना और छोटीसी बातपर प्रचंड आक्रोश करना, ये बालस्वभावकी आनुषंगिक बातें बहुधा लोगोंकी परिचित हैं। मकडीको देखकर डरनेवाले वीरशिरोमणि तथा अस्तनीमें बिच्छूके डंकके आघातोंकी पर्वा न करने-वाले वीरकी कथाएं इतिहासज्ञों को परिचित हैं। अमेरिकाके एक प्रसिद्ध डॉक्टरने बारीक नजरसे अजमाई हुई एक विद्यमान व्यक्तिकी हालत Modern Review में इस तरह प्रकाशित हुई है। इस मनुष्यके शरीरको जलनेसे, काटनेसे, मोच लगनेसे, टोंचनेसे किसी प्रकारकी दुःखसंवेदना नहीं होती और दुःखका किसी तरह आविर्भाव न करके यह मनुष्य अपने शरीरमें अलपीने टोंच लेने का प्रत्यक्ष प्रयोग सार्वजनिक रीति से बतलाता है। जनक राजाके बारेमें वर्णन है, कि उसका एक पांव अग्निदग्ध हो रहा है और दूसरे पांव को मृदंगी ललना अपने कोमल करोंसे मक्खनसे मलती हैं; परंतु तज्जन्य सुख या दुःखका कोई परिणाम उत्पन्न न होता था। यह कथा केवल कपोलकल्पित न होगी। सारांश यह कि 'तद्यथा महामत्स्यः उभे कूले संचरति पूर्वं च अपरं च' इस श्रुतिवचनके अनुसार आत्मतत्त्व जडाधिष्ठित भी किया जा सकता है और वहांसे लौटाकर सूक्ष्मस्थानाधिष्ठित भी किया जा सकता है; और आत्मतत्त्व को विशिष्ट स्थानापन्न करनेकी प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति को अभ्यासके द्वारा साध्य हो सकती है। कौन कह सकता है कि भविष्य-कालमें ऐसी व्यक्ति न होगी, कि जिनपर केवल दुःखसंवेदनाओंका कोई परिणाम न होगा? यदि भविष्यके उदरमें ऐसी व्यक्तियां होंगी, तो यह भी अशक्य नहीं है, कि न केवल पांचही ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा, किन्तु संभाव्य ऐसे अधिक ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा केवल सुखसंवेदनाओंका भरपूर अनुभव लिया जाय। इस तरह कदाचित् भविष्य-कालमें उपर्युक्त द्वितीय शंका भी निर्मूल हो सकेगी। परंतु जबतक वस्तुस्थिति वैसी नहीं है, और जबतक सार्वत्रिक समझ यही है, कि दुनियामें सुखानुभवकी अपेक्षा दुःखानुभव अधिक है 'सुखाद्बहुतरं दुःखं जीवितेनात्र संशयः' (म० भा०) तबतक सुखदुःखके संबंध में औदासीन्यकाही मार्ग श्रेयस्कर है।

१० उपशंका और निरसन।

कदाचित् इसपर एक आक्षेप ऐसा हो सकेगा, कि यदि इसतरह मनोनिग्रहसे सुखदुःखसंवेदनाओं का निवारण करना इष्ट हो, तो उससे केवल सुख-संवेदना-ग्रहणक्षम और दुःखसंवेदना-त्यागक्षम ऐसी एकांगीण शरीरघटनाकी उत्क्रान्ति (Natural Selection की) पद्धतिसे कैसे होगी? परंतु इस शंकाका भी यह उत्तर है, कि नैसर्गिक चुनाव (Natural Selection) उत्क्रान्तिका दोयम दर्जेका घटक है, किंतु उत्क्रान्तिका आद्य महत्त्वका घटक है- Natural Selection को आवश्यक

ऐसे वैचित्र्य (Variation) की पूर्ति करनेवाली आध्यात्मिक प्रेरणा। स्वतःकी आनंदमय स्थिति का रक्षण और वर्धन करनेके हेतुसे वह आत्म-तत्त्व यदि इष्ट ऐसी जड घटनाओंकी उत्क्रान्ति करता रहे, तो केवल सुखसंवेदनाग्रहणक्षम घटनाओंका वैपुल्य पृथ्वीपर रहना, Natural Selection पद्धतिसे, सहज है।

११. सारांश।

तात्पर्य यह है कि भगवद्गीताकी विचारसरणी भावनाशून्य जीवनक्रमके अनुकूल है; सामान्य विचार करनेपर वह समर्थनीय ठहरती है। प्रस्तुत निबंधमें विचार करनेका दूसरा मुद्दा यह है, कि आधुनिक पाश्चिमात्य मानसशास्त्रदृष्ट्या क्या वह विचारसरणी युक्त है? इस मुद्देका भी विचार बहुत तपसीलवार करना इष्ट है; और प्रस्तुत लेखका विस्तार मर्यादासे कुछ अधिक हो गया है; इसलिए यह विचार उत्तरार्धरूप दूसरे लेखमें करना आवश्यक है।

उत्तरार्ध।

१. पूर्वापर्य।

इस उत्तरार्धमें आधुनिक पाश्चिमात्य मानस-शास्त्रदृष्ट्या भावनाओंके स्वरूपका विचार करना है; और उसकी सहायतासे यह भी देखना है, कि भगवद्गीतामें भावनाओंको देखनेका जो दृष्टिकोण पूर्वार्धमें बतलाया है, वह कहांतक समर्थनीय है।

२. व्युत्पत्त्यर्थ।

'भावना' संज्ञा अंग्रेजी 'Emotion' की प्रतिसंज्ञा है ऐसा मानकर पहिले यह देखना अनुचित न होगा, कि व्युत्पत्तिदृष्ट्या इन दोनों (अंग्रेजी और संस्कृत) संज्ञाओंका अर्थ क्या होता है। 'Emotion की व्युत्पत्ति इसतरह की जा सकती है- E-out and Moveo to move; अर्थात् (मनकी) स्वस्थिति से च्युत ऐसी स्थिति। इसी तरह 'भावना' संस्कृत संज्ञा 'भू' (होना) धातुका स्त्रीलिंगी कारक नाम है और उसका अर्थ है, (सुप्त) मनका (जागृती) करण। इस दृष्टिसे देखा जाय, तो इन दोनों अर्थों में बहुतही थोडा फरक है। इस अर्थकी दृष्टिसे भावनाएं मनकी ऊर्मि अथवा विकार हैं। भावनाओंके द्वारा मनकी समतोल, स्वस्थ अथवा सुस्थित अवस्था दरसाई नहीं जाती, बल्कि मनकी विचलित, बिगडी हुई अथवा विकृत अवस्था दरसाई जाती है। मनका भावनावश होकर आचरण करना; इसका मतलब होता है विकृत अथवा विकारवश ऐसी स्थितिमें आचरण करना। और ऐसी स्थितिमें जो आचरण होता है, वह 'भावना' संज्ञाके व्युत्पत्त्यर्थसे विचारपूर्ण होनेका संभव नहीं दिखता।

३. भावनाओंका मानसशास्त्र।

भावनाओंका मानसशास्त्रीय विचार जैसा मनोरंजक है, वैसाही बिकट है। मूलकी एकरूप और साम्यावस्थावाली प्रकृतिमें अनेकरूपत्व उत्पन्न होनेपर उस अनेकरूपत्वके अनुषंगसे स्वपरभेद अथवा व्यक्ति-परिस्थिति-भेद उत्पन्न हुए। इसके बाद, व्यक्तिके स्वैच्छिक (Voluntary) अथवा परप्रेरित (Compulsory) भ्रमणक्रममें अन्य वस्तु अथवा अन्य व्यक्ति संनिध आनेसे उसके साथ कैसे बर्ताव करना, उसके पास जाकर उससे मीलन पाकर उसको आत्मसात् करना चाहिए अथवा उससे दूर भागना चाहिए; यह बात उत्क्रांतिके आद्यकालमें प्रत्येक वस्तुकी अथवा व्यक्तिके अंतर्गत हेतु (Volition) अथवा इच्छा की मददसे निश्चित होती थी। इस प्रकारका हेतु अथवा इच्छा ओताणु-प्रोताणुतकमें संभवनीय है; यह बात आधुनिक भौतिक शास्त्रज्ञोंको अच्छी तरह जंच गई है।

उत्क्रांतिकी अगली अवस्थाओंमें इस परमीलन की इच्छाको और अनिच्छाको क्रमशः रासायनिक आकर्षण और उत्सारणका नियमबद्ध रूप निसर्ग-द्वारा प्राप्त हुआ और हरवक्त इच्छाका उपयोग करनेकी व्यक्तिकी झंझट कम हुई। इसके बाद जिस समय सेन्द्रिय घटनाएं उत्पन्न हुई, उस समय इन्हीं रासायनिक आकर्षण-उत्सारणोंको उन भावनाओं का स्वरूप प्राप्त हुआ जिनको मानसशास्त्रमें

राग और द्वेष कहते हैं। इस दृष्टिसे देखें तो राग और द्वेष अत्यंत मौलिक भावनाएं हैं; और आकर्षण उत्सारण उनका तदनंतर वास्तवशास्त्रीय दृश्य है।

४. भावना और अधिकारविभाजनका तत्त्व।

बाह्य प्रेरकपर व्यक्तिकी प्रतिक्रियाको जब आकर्षण और उत्सारणका रासायनिक स्वरूप आगया, तब इस गरजसे कि इन प्रतिक्रियाओंसे व्यक्तिका फायदा ही हो, यह अनुभव इकट्ठा किया जाने लगा, कि विशिष्ट बाह्य प्रेरकपर विशिष्ट प्रतिक्रिया का क्या परिणाम होता है अथवा उससे क्या सुखदुःख होता है; और पुनश्च इसी प्रकारका बाह्य प्रेरक आनेपर कौनसी प्रतिक्रिया करनी चाहिए, यह निश्चित करनेमें इस पूर्वग्रथित अनुभव का उपयोग करनेकी पद्धति शुरू होते होते मज्जातंतु और मस्तिष्कका उद्भव हुआ। अर्थात् ज्यौं ज्यौं मनको इन साधनोंकी मदद मिलने लगी, त्यौं त्यौं मनके व्यापार अधिकाधिक प्रकृष्टतासे होने लगे। परंतु इन सब प्रकारोंमें मुख्य मुद्देकी बात यह है जिसको अधिकाधिक अधिकार-विभाजन (Devolution of Powers) कह सकते हैं। उत्क्रांतिक्रममें इंद्रियोंकी संख्या बढ गई है और उनके व्यापार अधिकाधिक जटिल हुए हैं; परंतु उपर्युक्त अधिकार-विभाजन के तत्त्वानुसार मनने उन सबकी व्यवस्था इतनी अच्छी तरह कर दी है, कि मनके तरफ केवल उन नाना इंद्रियोंके नाना व्यापारोंपर देखरेख करने ही का काम रह गया है। उदाहरणार्थ, शरीरके हृदय, श्वासयंत्र इत्यादि अवयवोंकी क्रियाएं इतनी सहज (Involuntary) होती हैं, कि जरूरत पडनेपर उन क्रियाओंको काबूमें लानेके लिये मनको प्रयत्न करना पडेगा। यह बात अलाहिदा है, कि प्रयत्न करनेपर मनको यह ताबा फिरसे मिल जायगा। दूसरा उदाहरण परावर्तन क्रिया (Reflection Actions) का दिया जा सकता है। इन क्रियाओंको हलचल मनतक पहुंचनेकी जरूरत नहीं। पैरको जब कोई मच्छर अथवा खटमल काटता है, तब मन चाहे अन्यत्र विचारमें मग्न अथवा सुप्त रहे, तथापि इसको जागृत किये विना हाथ उस मच्छर या खटमलको निवारण करनेका काम बालाबाला कर देता है। इसी तरह मेंडकका शिरच्छेद करनेपर उसका एक पैर दूसरे पैरको मदद दे सकता है। जिसका वरिष्ठ मस्तिष्क (Cerebrum) काट दिया है, ऐसे कबूतर में व्यक्तिभाव, या भावना, या सहजक्रिया का लेश भी नहीं रहता; परंतु वह कबूतर दुनियाके भरे बाजारमें संन्यासीसरीखा व्यवहार करता है (The Creature knows neither friends nor enemies. In the thickest company it lives like a hermit.*) इसी विचारसरणीको थोडा आगे बढाकर ऐसा कह सकते हैं, कि इंद्रियव्यापारोंका आघात मनतक जितना कम पहुंचे, उतना मनको इष्ट है। वायु के स्रोतसे जहाज हिल जायगी और पहाडके वृक्ष शायद गिरेंगे भी। परंतु जैसे उस वायुसे पहाडका हिलना असंभाव्य है, उसी तरह इंद्रियोंकी हलचल से मन हिल न सके ऐसा मनको हम ज्यौं ज्यौं दृढ बनावेंगे, त्यौं त्यौं जीवितको अधिक स्थिरता आवेगी; यही कारण है, कि भगवद्गीतामें अभ्यास से मनको दृढ करनेका उपदेश किया गया है।

५. शरीरान्तर्गत अधिकार-विभाजनका सूत्र, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष।

शरीर और मनके परस्पर इष्टसंबंधके बारेमें भगवद्गीताको तथा मानसशास्त्रकी सहज विचारसरणीसे एक बात ध्यानमें रखनेलायक मालूम होती है- सृष्टि में स्थानिक महत्त्वके बारेमें स्थानिक कार्यकर्ताओंका बहुंश और प्रत्यक्ष स्वामित्व, और सार्वत्रिक महत्त्वके बारेमें सर्वसत्ताधीशका संपूर्ण परंतु परोक्ष स्वामित्व; इस प्रकार चर और स्थिर

*Psychology-William James, P.97.

ऐसी उभयविधस्वरूपकी कार्यपद्धति। इंद्रियोंपर मनका पूर्ण नियमन रहना आवश्यक है। परंतु इन्द्रियमनको तकलीफ न दें, अर्थात् इन्द्रियव्यापारसे मनमें भावनाओंका उद्भव न हो।

६. भावनाओंकी उत्क्रांति।

उत्क्रांतिमें कालांतरसे राग और द्वेष इन दो मौलिक भावनाओंके भी सूक्ष्म उपभेद होने लगे। रागके उपभेद हैं, (१) आहार (Alimentation) और (२) विहार (Amation)। उत्क्रांतिकी पहिली एकरूपावस्था में से जिस समय स्वपरभेद अथवा व्यक्तिपरिस्थितिभेद उत्पन्न हुए, तभीसे मानो यह दरसाने के लिए, पृथक्त्वकी स्थिति हमेशाके लिए नहीं है, उसकी जडमें एकत्वकी स्थितिका सातत्य अवश्य है, अपने आसपास परिस्थित्यंतर्गत व्यक्तिसे और वस्तुसे मीलन पाने की जो प्रवृत्ति है, वही इस आहारविहारकी भावनाका मूलरूप है।

इसी आहारविहारकी भावनासे व्यक्तिका संरक्षण और स्वजातिसंरक्षण होता है। फ्राइड, युंग और इन्हींसे सहमत ऐसे कतिपय मानसशास्त्रज्ञ आहारविहारकी भावनाओंमें से विहार (Amation) अर्थात् स्वजातिसंरक्षणकी भावनाको अधिक प्राधान्य देते हैं; और दूसरे कोई मानसशास्त्रज्ञ आहार अर्थात् स्वसंरक्षणकी भावनाको अधिक प्राधान्य देते हैं। कदाचित् ऐसा होगा कि प्राधान्य किसको देना, यह बात व्यक्तिदृष्ट्या वैयक्तिक जीवितकी बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य इत्यादि अवस्थाओंपर निर्भर होगी और अवस्थाभेदसे दोनों पक्षोंका मत समर्थनीय होगा। परंतु जातिजीवित की दृष्टिसे देखें तो व्यक्ति, जातिजीवितका केवल एक व्यापार होनेके कारण आखिर फ्राइडके मतही को अधिक मान मिलनेका संभव है।

७. भावना और सहजक्रिया।

मानसशास्त्रमें अभीतक इस बातका ठीक निर्णय नहीं हुआ, कि आहारविहारोंकी भावनाओंका और आकर्षणउत्सारणकी क्रियाओंका उत्क्रांतिक्रममें कालानुक्रम कैसे निश्चित करना चाहिए।

इस बात में मतभेद नहीं है, कि आकर्षण उत्सारण की क्रियाओं को, पशुपक्षीआदि के जीवितमें जिसको सहजक्रिया (Instinct) कहते हैं, वह स्वरूप आया। परंतु यह प्रश्न सरल नहीं है, कि भावना (Emotions) और सहजक्रिया (Instinct) के परस्परसंबंध क्या है; और पाश्चिमात्य मानसशास्त्रज्ञोंमें इस प्रश्नके बारे में बहुत कुछ मतभेद है।

जेम्स और लँग शास्त्रज्ञ महाशयों ने इस विषय में ऐसा सिद्धांत प्रतिपादित किया है, कि व्यक्तिके ज्ञानेन्द्रियोंपर व्यक्तिमय अथवा वस्तुमय प्रेरकोंसे आघात होनेपर उस आघातपर जो अभ्याससिद्ध सहजप्रतिक्रिया (Instinctive Reaction) उस व्यक्तिके द्वारा होती है, उस सहजक्रियाके आघात मनतक गहरे जा पहुंचते हैं; और उससे मनके जो कंपयुक्त अथवा आंदोलनमय नाना रूप बनते हैं, वे ही भावना हैं। इसतरह विशिष्ट शरीरक्रियाओंसे विशिष्ट भावना उद्दीपित होनेका इन दो शास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त देखनेमें कुछ विचित्रसा मालूम होता है। आजतक ऐसा माना जाता था, कि भावनाओं के कारणसे क्रियाएं होती हैं; परन्तु इन नवसिद्धान्तोंके अनुसार क्रियाओंके कारणसे भावनाएं उत्पन्न होती हैं। मनुष्य डरके कारण भागता नहीं, किंतु भागनेके कारण डरता है, अथवा शोकमग्न होनेके कारण रोता नहीं, किंतु रोनेके कारण शोकमग्न होता है; इसतरह प्रतिपादन किया जाता है। मॅकडूगल× नामक मानसशास्त्रज्ञके मतानुसार

× मॅकडूगलने सहजक्रियाओंके चौदह प्रकार बतलाए हैं, और उन चौदह प्रकारों के मूल चौदह प्रकारकी भावनाएं हैं। इस प्रकार उसकी रचना है।

भावना क्रियाओंकी प्रेरक हैं; और यदि भावना-शून्य पशुओंमें भावना क्रियाकी प्रेरक न हो, तो भी मनुष्यमें भावना क्रियाके आरंभस्थानमें रहनी चाहिये और रहती है। परंतु मॅक्डूगलका यह सिद्धान्त उतना समर्थनीय नहीं मालूम होता। यह कहनेमें गलती न होगी, कि पशुकी अपेक्षा मनुष्यमें मनकी तरलता बढी होगी; और पशुके लिए एक नियम और मनुष्यके लिये उसके विरुद्ध दूसरा नियम, ऐसी निसर्गकी रचना न होगी। उसमेंभी जेम्स प्रभृतिका अन्य विधान ऐसा है। —सहज-क्रिया और भावना उत्पन्न होनेके लिए बाह्य आघातोंके मूर्तरूपसे प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं है, किंतु उसके स्मृतिचित्रभी प्रसंगविशेषमें प्रत्यक्ष आघातकी अपेक्षा क्रियाओं और भावनाओं के उद्भवको कारणीभूत हो सकते हैं। दूसरी बात यह है, कि इस वस्तुस्थितिकी ओर दुर्लक्ष्य होनेसे, तथा क्रिया और भावनाके उद्भवोंमें बीचका समय अत्यल्प होनेसे, यह संदेह होता है, कि इनमें से अग्रेसरत्व किसको देना चाहिये। इसके अति-रिक्त जेम्सप्रभृति मानसशास्त्रज्ञोंके विधानके लिए एक और सबूत यह है, कि अभ्याससे जिन्होंने अभिनयमें नैपुण्य संपादन किया है, ऐसे नट अपने मन और इन्द्रियोंका पृथक्त्व यहांतक संपादन कर सकते हैं, कि उनके भावनापूर्ण आविर्भावोंसे प्रेक्षकगण आनंदशोकादि भावनासमुद्रमें पूर्णतया मग्न हो जाते हैं, किंतु वे नट उन भावनाओंमें बिलकुल लिप्त नहीं होते, और केवल पेशेकी दृष्टिसे अपने अपने काम शांततासे करते हैं। जो लोग इस प्रकार शरीर और मनका पृथक्त्व संपादन नहीं कर सकते, वे व्यावसायिक भावनाओंके शिकार बन जाते हैं अथवा आवश्यक अभिनयसे भी गहरेमें जाकर भावनाओंके जोशमें अत्याचार, अनाचार इत्यादि अनिष्ट बातें भी कर सकते हैं। पर्यंच सहजक्रियाओं (Instincts) की चुंगलमें न आकर, तथा भावनावश न होकर, सहजक्रियाओंपर योग्य नियंत्रण रखते हुए शांतता से बर्ताव करना- यही मार्ग योग्य दिखता है और यही भगवद्गीतामें प्रतिपादित है। भगवद्गीतामें जो अनेक जगह इंद्रियनिग्रहपर जोर दिया गया है और ६ वें अध्यायमें शरीरपर योग्य नियमन प्राप्त करनेकी जो प्रक्रिया बतलाई गई है, उसका रहस्य भावनाओं का नियमन- क्रियाओं द्वारा करनेकी शक्यतामें ढूंढ सकते हैं।

८. एक दुर्बल समर्थन।

तथापि भावनाओंके पक्ष में जो एक विवाद उपस्थित किया जाता है, उसकी आलोचना थोडेमें की जाय। यह विवाद उन लोगोंका है जो भावना को ही क्रियाका उद्भवस्थान मानते हैं और उनका कहना है, कि विशिष्ट भावनाओंसे उत्पन्न होने-वाली क्रियाओंके लिये × इंद्रियद्वारायुक्त मार्ग न हो, तो उन निरुद्ध क्रियाओंके अंतस्थ आघात शरीरके नाना अवयवोंपर होते हैं और इससे शरीरमें विकृति होनेका संभव है; इसलिए भावनाओं का प्रदर्शन होनेको मुक्तमार्ग रहना चाहिये। 'She must either weep or She will die.' यह अंग्रेजी कविता इस विवादका मूर्तरूप है। अथवा सामान्य अनुभवका उदाहरण यह होगा, कि किसी व्यक्तिका मुंह बांधकर हंसनेको गुंजाइश न रखी जाय और उसको गुदगुदी की जाय अथवा हास्यो-त्पादक चेष्टा उसके सामने की जाय, तो इस चेष्टाके जो अनिष्ट परिणाम उसपर होंगे, वे परिणाम भी इसी नमूनेके हैं। इस विवादका उत्तर संक्षेपमें यह है, कि पहिले दृष्टान्तका विधान सत्यसृष्टिका नहीं है। Grief does not kill, यह कल्पना सबको परिचित होगी। दूसरे उदाहरणमें भावनाओं और क्रियाओंका संबंध नहीं है। गुदगुदी करनेसे

× भावनाओंके कुछ गौण आविर्भाव रहते हैं, परंतु उनका और भावनाकी कारणीभूत क्रियाओंका मिश्रणही देखने मिलता है। ये गौण आविर्भाव इतने मंद रहते हैं कि शुद्धरूपमें वे ध्यानमें नहीं आ सकते।

आनंद नहीं होता, किंतु उस क्रियाकी आनुषंगिक हंसनेकी क्रिया मात्र होती है। मुंह बांधकर गुदगुदी करनेमें होता यह है, कि परस्परसंबद्ध क्रियाओंमेंसे एक क्रियाको प्रोत्साहन दिया जाता है और दूसरीका निरोध किया जाता है। ऐसी हालतमें क्रियाविरोधका परिणाम शरीरपर अनिष्ट होना असंभाव्य नहीं। परंतु इसमें क्रिया और भावनाके परस्परसंबंधका कोई प्रश्न नहीं है। इसलिये भावनापक्षका यह विवाद विचारार्ह नहीं है।

९. भावनाओंका वर्गीकरण।

इसके बाद दूसरा मुद्दा भावनाओंके वर्गीकरणका है। सहज क्रियाओंसे जो मनपर आघात होते हैं और तज्जन्य भावनोद्रेकसे उद्भूत ऐसे कंप, आराव, पलायन इत्यादि शारीरक्रियाओंके स्थूलसूक्ष्मत्वके द्दश्यानुसार भावनाओंके स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद किये गए हैं। बौद्धिक नैतिक और सौन्दर्यमूलक भावना सूक्ष्म भावना हैं और पूर्वोक्त सूचिमेंसे तदितर अन्य भावना स्थूल भावना हैं। सूक्ष्म भावना आनंददायी होती हैं और वे व्यक्तित्वका शोधन और विकास भी करती हैं। इनके उद्भवको बाह्यप्रेरित क्रियाओंकी हमेशा जरूरत नहीं रहती; उदाहरणार्थ- सत्कार्यानंद, साभारता, समाधान इत्यादि। आनंदी भावना स्थूल और सूक्ष्म ऐसी कुछ उभयविध है। स्थूल भावनाओंमेंसे कुछ व्यक्तित्वका विकास और कुछ संकोच करती हैं। प्रस्तुत लेखमें इस वर्गीकरणका हेतु केवल सूक्ष्म भावनाओंका इष्टत्व बतलाना है; इसलिये भावनाओंके वर्गीकरणका यह परिच्छेद यहीं समाप्त करना अनुचित न होगा।

१० भावनाओंका वैयक्तिक जीवनमें मूल्य।

इसके बाद महत्त्वका मुद्दा है, भावनाओंका वैयक्तिक मूल्य। इस दृष्टिसे विचार करनेमें एक बात जो सहज ध्यानमें आती है, वह यह है, कि भावनाएं मनके विकार हैं, और मन वैयक्तिक बात है; इसलिये भावनाओंसे व्यक्तिभाव दृढ होनेमें भरपूर मदद मिलती है। जिसप्रकार शरीरावयवोंके विशिष्ट आकार और आकृतिसे, तथा प्रत्येक व्यक्तिमें विशिष्ट भांतिके व्यापार रहनेसे व्यक्तिपार्थक्यका भाव दृढ होनेमें मदद होती है; उसी प्रकार विशिष्ट प्रकारके भावनासमुच्चयसे भी व्यक्तिपार्थक्य दृढ होनेमें मदद होती है। सिवाय इसके भावनाएं सहजक्रियाओंके अनुषंगसे उद्भूत होनेवाली हैं; इसलिये सहज क्रियाओंके समान, किंबहुना अधिक परिणामकारी उस व्यक्तिभावका सातत्य * वे रख सकती हैं। किंबहुना यह भी कह सकते हैं, कि व्यक्तित्वको सुरक्षित रखना ही भावनाओंका हेतु है। परंतु मानवी जीवितको यह तत्त्व अच्छी तरह मालूम होने लगा है, कि केवल वैयक्तिक सुरक्षितता ही वैयक्तिक जीवितकी इतिकर्तव्यता नहीं है। व्यक्तिको व्यक्तिदृष्ट्या कोई विशेष मूल्य नहीं रहा; किंतु व्यक्तिका सच्चा मूल्य उसके सामष्टिक जीवितके महत्त्वपर अथवा उपयुक्ततापर अवलंबित है; और इस स्थूल, व्यक्त्यतिगामी, सामष्टिक दृष्टिसे देखा जाय, तो स्वविकासक्षम सूक्ष्म भावनाओंको छोडकर अन्य भावनाओंको कोई विशेष वैयक्तिक मूल्य नहीं रहा।

११ भावनाओंका सामाजिक जीवितमें मूल्य।

सामाजिक दृष्ट्या भावनाओंको थोडा बहुत मूल्य है। भावनाओंमें संघक्षमता और कार्यप्रवणता है। समान भावनाओंके व्यक्तियोंका संघ बन सकता है और वैयक्तिक प्रयत्नके द्वारा जितना शक्य है उससे अधिक कार्य संघ कर सकता है। परंतु देहघटनाओंके जैसे भिन्न भिन्न नमूने हैं, वैसे भावनाओंके भी नमूने हैं और

* शत्रुसे त्वेषसे लडनेमें शरीरका रक्त अंतःस्रावक ग्रंथियोंके स्रावसे यकायक रुक जानेके लिये त्वेषकी भावना कारणीभूत होती है; और लडाईमें जखमोंसे होनेवाला रक्तस्राव बहुत मर्यादित होता है; और लडनेवालेकी जान बचनेका संभव रहता है। भावनाओंके द्वारा प्राणधारणा शक्य होनेके अन्य मार्ग भी हैं।

उनके जो भिन्न संघ बनते हैं, उनका रूप सर्वदा इकही नहीं रहता। इसके बारेमें एक बात यह है, कि सांघिक भावनाएं वैयक्तिक भावनाओंकी अपेक्षा कमउमर अर्थात् अधिक बालिश, अधिक दुर्दमनीय और अधिक अपायकारक होती हैं। जनसमुदायको अविचारसे कार्यप्रवण करनेके लिए उनके भावनोद्दीपन सरीखा प्रबल शस्त्र दूसरा कोई नहीं है। यह बात सार्वजनिक भाषण तथा हलचल करनेवालोंको अच्छी तरह मालूम रहती है और वे इसका अच्छा उपयोग करते हैं। जो बातें व्यक्तिशः करनेमें कोई भी शरमायगा, वे बातें बालभावप्राप्त इस बालिश भावना-प्रधान संघके द्वारा हो जाती हैं। परंतु सांघिक भावनाओंका एक दूसरा बडा दुरुपयोग है- अर्थात् भिन्नहित-संबंधसे प्रेरित संघोंका संघर्ष अथवा युद्ध। पाठकों को यह विशद करके बतलाने की जरूरत नहीं है, कि सांघिक रीत्या होनेवाले इस संघर्ष से दुनियांका कितना नुकसान हो चुका है, अभी हो रहा है और आगे भी होगा। सारांश, भावनाओंमें जो संग्रक्षमता है, वह बहुंशमें दूसरेके विरुद्ध स्वसंरक्षणके प्रकारका है; और इसलिए सांघिक संघर्षसे जो हानि होती है। वह वैयक्तिक संघर्षसे होनेवाली हानिकी अपेक्षा बहुतही भयानक होती है। इसी लिए भावनाओंके सामाजिक मूल्यके हिसाबमें फायदेकी अथवा जमा की बाजू थोडी है और टोटेकी अथवा खर्चकी बाजू बहुत बडी है; और भावनाओंका सामाजिक मूल्य वैयक्तिक महत्वसे कम है। यही कारण है, कि कामक्रोधादि भावनाओं को षड्रिपु मानने तक नौबद आगई होगी।

१२. भावनाओंका सामष्टिक मूल्य ।

भावनाओंका सामष्टिक मूल्य कुछ नहीं है। जहां आपपरभाव नहीं, वहां भावनाओं के लिए जगह नहीं; और यही कारण है, कि समष्टिसे जो समरूप हो गया, ऐसे स्थितप्रज्ञका जीवनक्रम गीताने पूर्णतया भावनाशून्य बतलाया है।

१३. भावनाओंके दोष ।

अब भावनाओंके कुछ प्रकृष्ट दोष विचारार्थ लेवें।

(अ) इनमें भावनाओंका पहिला दोष- अथवा भावनाओंके दोषरूपत्वके कारण उनका गुण कहिये- यह है, कि उनका मज्जातंतुओंपर होनेवाला धडाका मज्ज तंतुओंको दीर्घकाल सहन न होना स्वभावतः शक्य न होनेके कारण, भावनाओं पर कालमर्यादाका नियंत्रण बहुत शीघ्र हो जाता है। गर्मीके मौसममें वर्षा होनेसे उथली नदीको बाढ आती है, परंतु जल्द ही वह निकल जाती है; उसी तरह भावनाओं को बाढ शीघ्रही उतर जाती है। तथापि उससे होनेवाले उत्पातके परिणाम बाढ उतरनेपर बहुत देरतक शरीरपर दिखते रहते हैं और इससे भावनाओंके अनिष्टत्वका प्रमाण पीछे रह जाता है। परंतु मनुष्यजातिके सदैवसे भावनाओं का यह कालावधि वैयक्तिक जीवनमें जीवित मध्यके लगभग समाप्त हो जाता है और वृद्धावस्था में ज्यों ज्यों शरीरकी नाडियां शिथिल होती जाती है, त्यों त्यों भावनाओंका वह प्रभाव भी कम होता जाता है।

(आ) भावनाओंका दूसरा दोष है, उनके अंतर्भूत अतिरेक भावनाओंके आंदोलनका प्रारंभ होनेपर उनका तरंगायाम बहुत देरतक बढताही जाता है और वह यहांतक बढ सकता है, कि ये आंदोलन जिस व्यक्तिके तार पर होंगी उसका तार इतना तन जाता है, कि वह तार आखिर टूट भी जाता है और उस तारके आधारभूत व्यक्तिका उच्छेद भी हो जाता है। सुख हो या दुःख हो; कुछ थोडे प्रमाणमें उनके आंदोलनका आवेग व्यक्तिद्रव्य ठीक होगा; परंतु उनका अतिरेक अंतमें एकहीसा अनिष्ट है। यह बात संभवनीय है, कि हर्षातिरेकसे कोई व्यक्ति बेलगाम होकर आखिर हर्षवायुसे वह मर जाय। दुःखके आघातका भी इसी तरह परिणाम हो सकता है। पाठकोंको विदित होगा, कि कादंबरीमें कामभावना के अतिरेकसे अधीर प्रकृति चंद्रापीडकी और इससे भी अधिक दुर्बलमनस्क वैशंपायन की क्या हालत हुई।

(इ) भावनाओंका तीसरा दोष यह है, कि वे सांसर्गिक होती हैं। हर्षसे हर्ष, दुःखसे दुःख, क्रोधसे

क्रोध, लोभसे लोभ, इसतरह भावनाओंकी लहरें एक व्यक्तिसे जब निकलने लगती हैं, तब अल्पाधिक प्रमाणमें वे आसपासकी अनेक व्यक्तियोंको संभावनात्मक रीत्या (Co-feelingly) हिलाने लगती हैं। सद्भावनाओंके बारेमें यह प्रकार अर्थात् इष्ट ही है। परंतु भावनाओंके व्यक्तिबद्धत्वके कारण असद्भावनाओंकी संख्या भरपूर है और इसलिए आखिर भावनाओंका यह सांसर्गिक रोग अनेक आपत्तियोंका कारण हो जाता है।

(ई) अन्तमें बतलानेका भावनाओंका दोष यह है कि वे एक ओर न केवल मन ही को, किंतु मनसभी श्रेष्ठ ऐसी बुद्धि, अहंकार इत्यादि वरिष्ठ घटनाओंको भी गायब कर देती हैं (भावना जैसी बलवान् हो उस हिसाबसे)। भावनाओं की खलबल जहां शुरु हुई, वहां बुद्धिको अपना डेरा उठाकर छिप रहनेकी नौबत आती है। सिवाय इसके अन्य दिशामें भावनाविकृत मनके ताबेमें रहना इंद्रियोंको भी पसंद नहीं होता। वे अपना अपना व्यापार विकृत रीतिसे करने लगते हैं और सारे शरीरमें एक तरहकी अनवस्था शुरु होती है। इसीके कारण यह माना गया है कि भावनाप्रधान वाङ्मय वाचकोंको निर्बुद्ध बनाता है और उनसे अविचारमूलक क्रिया कराने का वह उत्तम साधन है।

१४. अपवाद।

भगद्गीतामें स्वविकासक्षम भावनाओंका जो स्थान है, उसका स्वरुप और महत्व निःसंदेह विचारार्ह है। इनमें पहिली भावना धर्मके अविरुद्ध कामकी है। यह भावना अर्थात् व्यक्तिका वंश में विकास करनेवाली है, इसलिए इस शर्तपर, कि धर्मविरोध न हो, इस भावनाको मान्यता देना युक्त ही है। दूसरी भावना आनंद की है। अन्य भावनाओंके समान आनंद भी संसर्गजन्य रहे, तथापि उसकी संसर्गजन्य वृद्धि इष्ट होनेके कारण वह भावना आदरणीय है, यह बात भी इष्ट है। परंतु यह आनंद भी सात्विक उद्भवसे तथा परदुःखरहित होना चाहिए।

१५. उपसंहार।

इन गौण अपवादोंको छोडनेपर प्रायः अन्य सब भावनाओंको जावितसे बहिष्कृत करनेसही वैयक्तिक और सामाष्टिक जीवित सुखमय होनेका जो संभव मानसशास्त्रीय विचारसे दिखता है, उसीका पूर्वोच्चार भगवद्गीतामें किया गया है। इतना अंतमें कहकर यह लेख समाप्त किया जाता है।

ब्रह्म, महद्ब्रह्म और परब्रह्म।

(लेखक- श्री० गोविंद नारायण गोळे, सातारा.)

ब्रह्म शब्दका अर्थ (गी० ३-१५ में) ज्ञान किया है और रहस्यकारने इस श्लोकमें ब्रह्म शब्दका अर्थ प्रकृति लिया है। रहस्यकार कहते हैं, कि इस श्लोकमें ब्रह्मके मायने प्रकृति है और यह अर्थ सुसंगत है; इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं हो सकता। इस विधानके संबंधमें निम्न विवेचन किया जाता है।

मूल श्लोक ऐसा है-

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
(गी० ३-१५)

इस श्लोकमें ब्रह्म शब्द तीन बार आया है। प्राचीन टीकाकारोंमें इस बातपर भी मतभेद है, कि इन तीनों जगह क्या ब्रह्म शब्दका एकही अर्थ

लेना चाहिये। भगवद्गीता-मासिककारने पहिले दो 'ब्रह्म' शब्दके अर्थ ज्ञान, वेदोंका ज्ञान किया है और तीसरे 'ब्रह्म'का अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। रहस्यकारने पहिले दो 'ब्रह्म'का अर्थ प्रकृति किया है और तीसरे 'ब्रह्म'का अर्थ परमेश्वर किया है।

रहस्यकारने पहिले दो 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति करनेमें भ० गी० अध्याय १४ श्लो० ३ का आधार लिया ऐसा मालूम होता है। इस १४ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें महद्ब्रह्म शब्द आया है-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥

यहां अकेला 'ब्रह्म' शब्द नहीं है। इसी तरह अ० १४ श्लो० ४ में भी अकेला 'ब्रह्म' शब्द नहीं, महद्ब्रह्म शब्दका प्रयोग किया है। दोनों जगह (श्लो० ३ व ४ में) ब्रह्मका विशेषण महत् है और यह महत् शब्द हेतुपुरःसर मालूम होता है। एक श्लोकमें महत् शब्द ब्रह्म शब्दके पहिले है और दूसरे श्लोकमें बादमें है और दोनों जगह महत् शब्द ब्रह्मही को लगाया है। ४ थे श्लोकका पूर्वार्ध ऐसा है—

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता।

गीताके ३ रे अध्यायके १५ वें श्लोकमें 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' इसका अर्थ करते हुए अ० १४ श्लो० ३ में महद् ब्रह्म शब्दके ऐवजमें ब्रह्म शब्द लेकर उसका अर्थ प्रकृति बतलाया है। परंतु अकेले ब्रह्म शब्दका अर्थ प्रकृति ऐसा गीतामें किया हुवा और कहीं नहीं दिखता। तीसरे अध्यायमें ब्रह्म शब्द है और चौदहवें अध्यायमें महद् ब्रह्म शब्द है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥
अ० १४-३

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
अ० १४-४

इससे यह निष्पन्न नहीं होता, कि ब्रह्मके मायने प्रकृति, अथवा ये दोनों एकही हैं। ब्रह्म और प्रकृति दो भिन्न राशि हैं। ब्रह्मसे-परब्रह्मसे-प्रकृति निराली है। प्रकृति स्त्रीलिंगी है; ब्रह्म नपुंसकलिंगी है। भ० गी० मासिककारने १४ वें अध्यायमें महत् शब्द को योनिका विशेषण माना है। रहस्यकारसहित सब भाष्यकारों और टीकाकारोंने महत्को ब्रह्मही का विशेषण माना है; बडी योनि अथवा बडी प्रकृति- ऐसा सूचित नहीं किया; और बडी प्रकृति का कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

भगवद्गीतामें ब्रह्म शब्द अनेक जगह आया है; परंतु किसीभी जगह अकेला ब्रह्म प्रकृतिवाचक नहीं है। जहां प्रकृतिका बोध है, वहां 'महद्ब्रह्म' ऐसा संयुक्त शब्द है; और वह भी केवल १४ वें अध्यायके श्लो० ३ व ४ में है। १४ वें अध्यायमें महद्ब्रह्म प्रकृतिवाचक लिया जाय और उस जगह महद्ब्रह्म शब्दका अर्थ यद्यपि प्रकृति हो; तथापि तीसरे अध्यायके 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर-समुद्भवम्।' इस श्लोकमें 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ प्रकृति-वाचक लेनेका कोई कारण नहीं है। सबकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई इसलिए कर्मभी प्रकृतिसे हुआ ऐसा अर्थ करनेमें, किंबहुना कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ ऐसा ३ रे अध्यायमें बतलानेमें सौष्ठव भी नहीं है। यहां कर्म, यज्ञ, वेद इत्यादि काही प्रकरण है। प्रकृतिको बीचहीमें घसडकर, प्रकृतिसे कर्म निकला ऐसा बतलानेका यहां उद्देश्य नहीं है; और प्रकृति से कर्म निकला, ऐसा बतलाना यहां सुसंगत भी नहीं है।

अन्नसे भूत, पर्जन्यसे अन्न, यज्ञसे पर्जन्य, और यज्ञसे कर्म [अ० ३-१४] और कर्म ब्रह्मसे, ब्रह्म अक्षरसे, अर्थात् कर्म वेदसे और वेद अक्षर परमात्मा से और यह सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमें स्थित है, ऐसा ३-१५ वे श्लोकमें बतलाया है।

ब्रह्म शब्द गीतामें लगभग ४०-४५ जगह आया है और वह भिन्न भिन्न अर्थोंमें आया है। ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्म-निर्वाण, सनातन ब्रह्म, ब्रह्मभूय, ब्रह्म-चर्य, ब्रह्मभूत, शब्दब्रह्म, अक्षरब्रह्म, ओंकारब्रह्म, ऐसे संयुक्त शब्दोंसे मालूम होता है, कि ब्रह्म शब्द

किसका वाचक है । इसी तरह ब्रह्म शब्द ब्रह्मदेव, परमस्थान, मोक्षस्थान, ब्रह्मप्राप्तिमार्ग इत्यादि अर्थोंका द्योतक भी निरुक्त हुआ देखने मिलता है। सातवें अध्यायके ४ थे श्लोकमें अष्टधा प्रकृति परा और अपरा बतलाई है । यहां ब्रह्मके मायने प्रकृति कहीं नहीं है । इसी तरह श्लो० ८ से १५ तकमें, उदकमें रस, चंद्र-सूर्यकी कांति, आकाशका शब्द, तपस्वियोंका तेज, बुद्धिवानोंकी बुद्धि, सात्त्विक भाव, गुणमयी दैवी माया, इत्यादि सबही में ईश्वरांश है, ऐसा कहा है ।

इसी तरह आठवें अध्यायमें अक्षरब्रह्मका निरूपण करते हुए, ९ वें अध्यायमें 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' यहां से आगे, अथवा १० वें अध्यायमें विभूतियोग बतलाते हुए ब्रह्मके मायने प्रकृति ऐसा ध्वनित नहीं किया। ब्रह्म सर्वभूतों का बीज है, परंतु योनि अथवा प्रकृति नहीं है । ब्रह्मसे प्रकृति भिन्न है। सिवाय इसके अ० १३ श्लो० १९ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' यहां स्पष्ट है, कि दोनों अनादि और स्वतंत्र हैं । प्रकृति प्रसवशील है। ब्रह्मके अध्यक्षत्वमें प्रकृतिका उत्पत्ति-व्यापारक्रम चलता है । यह बात 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (९-१०) इससे साफ जाहिर है।

अकेले 'महत्' शब्दका अर्थ 'हिरण्यगर्भ' है। 'महतः परमव्यक्तम्...।' अ० १४ श्लो० ३, ४ में संभवतः 'महद्‌ब्रह्म' का अर्थ योनि कारण, प्रकृति, माया इत्यादि हो सकता है; अर्थात् ब्रह्मको महत् शब्दकी साथ रहे बिना ब्रह्मका अर्थ प्रकृति मानना कठिन है । रामानुजभाष्यके अनुसार यह अर्थ रहस्यमें किया है । रामानुजभाष्यको छोडकर जो२० टीका और भाष्य संकृत्तमें प्रसिद्ध हुए हैं, उनमें ३-१५ के 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' का अर्थ वेदसे कर्म ऐसाही किया है; ऐसा अर्थ नहीं किया, कि ब्रह्मके मायने प्रकृति और प्रकृतिसे कर्मोत्पत्ति है । गीतामें योग, आत्मन्, सांख्य, समाधि बुद्धि, कर्म, ब्रह्म इत्यादिके प्रयोग भिन्न अर्थसे किए हैं; और अमुक जगहपर अमुक अर्थ विवक्षित है, यह ठहरानेमें बहुत मतभेद हुए हैं । 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि०' इस श्लोकका अर्थ करनेमें कर्म, अक्षर, तस्मात्, सर्वगत, इत्यादिके अर्थोंसे भी 'ब्रह्म' शब्दपर प्रकाश पडता है। परंतु इन शब्दोंके बालकी खाल निकालनेकी झंझटमें न पडकर अपन यह देखें कि 'अक्षर समुद्भवं' का अर्थ क्या है। 'अक्षरं ब्रह्म परमं०' (८-३) इस श्लोकमें भगवान् ने अक्षर शब्दकी व्याख्या ही दे दी है। अक्षर = परब्रह्म। गी० अ० १५ श्लोक १६में 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' यहां अक्षरका अर्थ है, सर्व भूतोंके मूलमें कूटमें रहनेवाला प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व। यह अर्थ रहस्यकारने दिया है और आचार्यनेभी कहा है, 'भगवतो मायाशक्तिः क्षरादन्यस्य पुरुषस्य उत्पत्तिबीज अक्षरः पुरुषः उच्यते'। क्षर एक पुरुष, अक्षर दूसरा पुरुष और पुरुषोत्तम तीसरा पुरुष ऐसे तीन हुए। (अ० १५ श्लोक १६,१७) तीसरे अध्यायमें 'ब्रह्माक्षरसमुद्भव' इसमें अक्षर शब्दका अर्थ प्रकृति नहीं लिया जा सकता। रहस्यकारके मतानुसार यहां (३-१५ में) ब्रह्मके मायने प्रकृति समझा जाय, तो अक्षरका अर्थ प्रकृति नहीं लिया जा सकता; क्योंकि उसका अर्थ प्रकृतिसे प्रकृति ऐसा होगा, और इसमेंसे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता ।

इसी तरह 'ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्' से ऐसा भी अर्थ लिया नहीं जा सकता, कि प्रकृति परब्रह्मसे-अक्षरब्रह्मसे- हुई; क्योंकि 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादि उभावपि' प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं; अर्थात् उनकी उत्पत्ति अज्ञात है। प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न हैं, दो भिन्न शक्तियां हैं और ऐसा नहीं हैं, कि प्रकृति पुरुषसे हुई । इसलिये अ० ३ श्लो० १५ में 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्' यहां दोनों 'ब्रह्म' का अर्थ प्रकृति नहीं होता; किंतु ऐसा अर्थ होता है, कि कर्म ब्रह्मसे अर्थात् वेदसे हुआ और वेद अक्षरब्रह्मसे अर्थात् परब्रह्मसे हुवा। ब्रह्म शब्दके जो अनेक अर्थ हैं उनमें एक अर्थ वेद है और वेद परब्रह्मके श्वास हैं; ऐसा कहा गया है ।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्।
यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ॥

गीतामें १७ वें अध्यायके श्लो० २३में कहा ही है कि 'ॐतत्सत्' इस ब्रह्मके निर्देशसे वेद हुए। अक्षर शब्द निम्न स्थानोंमें परब्रह्मके अर्थमें नियुक्त है—

अक्षरं ब्रह्म परमम् (८-३) अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः (८-२१), त्वमक्षरं सदसत्तत्परं च (११-३७) ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते (१२-३) और अक्षरादपि चोत्तमः (गी० १५-१८) में अक्षरका अर्थ प्रकृति मायाशक्ति भी बतलाया गया है। तथापि अध्याय ३-१५ में ब्रह्मका अर्थ प्रकृति नहीं ले सकते। अक्षर शब्द कई बार प्रकृति के और कई बार परब्रह्म पुरुषोत्तमके अर्थमें लगाया है; इससे इस बातका बोध उपर्युक्त विवरणसे हो सकेगा, कि 'ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं' में ब्रह्म और अक्षर शब्दोंके अर्थ क्या लिए जाँय।

तीसरे अध्यायके इस १५ वें श्लोकमें ब्रह्म शब्द तीन बार आया है और यह देखना आवश्यक है, कि इन तीनों जगह ब्रह्म शब्दका एकही अर्थ है, या कि पहिले दो ब्रह्मका एक अर्थ है और तीसरे ब्रह्म का अर्थ कुछ निराला है। 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' यहां दोनों ब्रह्मका अर्थ वेद लेनेसे सुगम होता है। प्रकृति अर्थ लेनेसे अनेक अडचनें आती हैं। यहां ब्रह्मका अर्थ जब कोई लोग प्रकृति लेते हैं, तब उनका ध्यान गी० अ०१४ श्लोक ३, ४ के 'महत्' ब्रह्म की ओर जाता है और 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (अ० ३-५) और 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' (अ० १८-११) इन श्लोकोंकी ओर भी जाता है। परंतु गीतामें विवक्षित कर्म कौनसा है,इस बातका यहां विस्तृत ऊहापोह करने के लिये अवकाश नहीं है और उसकी यहां आवश्यकता भी नहीं है। अध्याय ३ के श्लोक ९ से १४ तक का भावार्थ ऐसा है- यज्ञके विना अन्य कर्मोंसे यह लोक बंधा है। यज्ञकर्म भी आसक्ति और फलाशा रखकर करो। प्रजा और यज्ञ साथ ही हुए। यज्ञसे मनोरथ पूर्ण होंगे। यज्ञसे जब देव संतप्त होते हैं, तब याजक की इच्छा भी देव तृप्त करते हैं। यज्ञका अवशेष भक्षण करना चाहिए। अन्नसे भूत, पर्जन्यसे अन्न, यज्ञसे पर्जन्य और यज्ञ कर्मसे है। अर्थात् यह परंपरा आगे बतलाने के लिये यह कहना आवश्यक था कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥' इस प्रकार यह यज्ञका चक्र इस तरह जारी रहता है, और यज्ञसातत्यको अथवा कर्मचक्रको वेदोंका सहाय्य आवश्यक है; किंबहुना यह यज्ञचक्र अखंडित जारी रहे, इसके लिए वदकी ओर दृष्टिक्षेप करना आवश्यक है। अतः ब्रह्मके मायने वेद अर्थात् वेदज्ञान- यह अर्थ सयुक्तिक मालूम होता है।

ऊपर यह बतलाया गया है, कि ब्रह्म और महद्ब्रह्म दोनों यदि एकही माने जाँय; और अ० १४ श्लो० ३, ४ में महद्ब्रह्म का मतलब प्रकृति अथवा योनि है तो यही मतलब अकेले ब्रह्म शब्द का 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (३-१५)में किया जाय, तो क्या आपत्ति आती है। अब एक आक्षेप ऐसा होनेका संभव है, कि ब्रह्म और महद्ब्रह्म दोनों शब्द एकही अर्थ के वाचक समझे जांय, तो नुकसान क्या है? अ० १४ श्लो० ३,४ में दो जगह जो महत् शब्द प्रयुक्त किया है, वह सहेतुक है, वह केवल पादपूरणार्थक नहीं है।

'मम योनिर्महत् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।'
और 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदःपिता॥'

इन दोनों जगहोंमें महत् शब्द ब्रह्मका विशेषण है, योनिका नहीं और इन दोनोंका अर्थ यह है, कि महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, और पशुपक्षी आदि जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी महद्ब्रह्म योनि है, प्रकृति-कारण है। इसका अर्थ यह है, कि स्थावरजंगम सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण प्रकृति है और ब्रह्मका काम बीजप्रदानका है; प्रकृति होनेका अथवा योनि बननेका कारण नहीं। वह

काम प्रकृतिका है अर्थात् प्रकृति गर्भधान करनेका स्थान है कारण है। सिवाय इसके 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' इसमें ब्रह्मका अर्थ प्रकृति किसतरह निकल सकता है? स्त्रीपुरुष भिन्न हैं, प्रकृति और ब्रह्मपुरुष अलग हैं। महत्ब्रह्म जो मेरी माया है, वह समस्त प्राणियोंका उत्पत्तिकारण है और उस महद्ब्रह्ममें मैं गर्भबीज स्थापन करता हूं और वहांसे संपूर्ण वस्तुजातकी उत्पत्ति है। त्रिगुणात्मक माया जो प्रकृति, वह सर्वभूतोंकी कारण है। यह वह महद्ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्मके मायने प्रकृति नहीं है। ब्रह्मसे प्रकृति निराली है; दोनों एक नहीं हैं। अब संक्षेपमें यह देखें, कि शब्दके पीछे महत् विशेषण रहनेसे क्या कुछ अर्थभिन्नत्व आता है। अक्षर शब्द प्रकृतिको भी लगाया है और ब्रह्मको भी लगाया है। अक्षर प्रकृतिकूटस्थ है; कूट, माया, वंचना, जिह्मता, कुटिलता, स्त्रीधर्मिणी, प्रसवशालिनी माया इत्यादि गुणोंसे युक्त है। ब्रह्म इस प्रकारका है-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा॥ कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः। साक्षीचेता: केवलो निर्गुणश्च॥

और ब्रह्म- नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतः नित्यतृप्तः नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावो विज्ञानं आनंदं ब्रह्म'। तब ब्रह्म प्रकृति कैसे हो सकता है?

महत् विशेषण है। इस विशेषणसे युक्त जब किसी नामका व्यक्तिका उल्लेख आता है, तब उसका अर्थ संकुचित निश्चित होता है। मूल शब्दका द्वैधीभाव लुप्त होता है। इसका खुलासा उदाहरणके लिए कुछ शब्द लेकर करें।

१	२	३
भूत	महाभूत	परमेश्वर
देव	महादेव	कैलासनिवासी
देवी	महादेवी	पार्वती
विष्णु	महाविष्णु	वैकुंठवासी
लक्ष्मी	महालक्ष्मी	विष्णुपत्नी
माया	महामाया	कूटस्थप्रकृति
राष्ट्र	महाराष्ट्र	(अर्थ स्पष्ट है)

१	२	३
ब्रह्म	महद्ब्रह्म	अव्यक्त प्रकृति
भय	महद्भय (गी०२-४०)	जन्ममरणका भय
नदी	महानदी	(गुजरात की)
भारत	महाभारत	(प्रसिद्ध है)
रुद्र	महारुद्र	(सांब)
पर्व	महापर्व	(बडी पर्वणी)

ब्रह्म स्वतः नपुंसकलिंगी है। उसका महद्ब्रह्म बनते ही वह ब्रह्म स्त्रीरूप हुवा। ऐसे इस महद्ब्रह्मका, प्रकृतिका पसारा और इतना बढ गया, कि इस प्रसवधर्मिणी प्रकृतिको पुरुषका नामाभिधान प्राप्त हुआ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

अबला प्रबला होती हैं। मूलका बिचारा ब्रह्म सर्वव्यापी जरूर है, परंतु इस प्रकृतिके दिमाखके आगे उसका मानो लोपटी हो गया है, वह अव्यक्त बन गया है। सारा खेल प्रकृति खेलती है। सारा सूत्र उसके स्वाधीन हुआ है। सब गुणोंके मिश्रणद्वारा यह त्रिगुणात्मक माया प्रकृति संपूर्ण जगत् को उत्पन्न करके मोहित करती है। प्रकृतिसे भी ब्रह्म व्यापक और परे है, तथापि जगत् के सामने प्रमुखतः प्रकृति ही आती है; इसलिए जगत्की दृष्टिमें प्रकृति ही को महद्ब्रह्मका नामाभिधान प्राप्त हुवा। ऊपर दिये हुए शब्दोंसे मालूम होगा, कि महत् का विशेषण पीछे लगनेसे कौनसा अर्थ कैसा निश्चित विवक्षित सूचित होता है। सांप्रतभी विशेषणोंसे विशेषनाम ठहराये जाते हैं। महात्माके मायने महात्मा गांधी, लोकमान्यके मायने लोकमान्य तिलक इ०इ०। 'तस्मात्' शब्द भी गीतामें अनेक बार आया है और अर्थको निश्चित करनेमें उसकाभी उपयोग बहुत होता है। उदाहरणार्थ-

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि। (२-२५)
तस्मादपरिहार्येऽर्थे... । (२-२७)
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म। (३-१५, ३-४१)
कुरु कर्मैव तस्मात् (४-१५)
तस्मादज्ञानसंभूतं संशयं छित्वा। (४-४२,५-१९)

तस्मात् (इसलिए) ऐसा शब्द जब आता है, तब उसके पहिले कुछ बातें बतलाकर, उनमेंसे जो सिद्धान्त निकालकर रखना हो जो उपदेश करना हो, जो मत स्थापित करना हो, जो अर्थ कहनेका हो, उनका बोध अगले वाक्यसे अथवा शब्दसे होता है। अतः प्रस्तुत प्रकरणमें विषयका प्रवाह जैसा चल रहा है, उस अनुरोधसे अ० ३-१५ के तस्मात् शब्दके जरिये यह ठहरानेको साधन उपलब्ध हो जाता है, कि महर्षि व्यासने ब्रह्म शब्द किसका द्योतक समझकर प्रयुक्त किया है। अब यह देखें कि 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'। इसमें 'सर्वगतं ब्रह्म' का मतलब क्या वेद अथवा प्रकृति है, जैसा पहिले दो ब्रह्मके अर्थमें देखा। इस ब्रह्मके पीछे सर्वगत रहनेके कारण रहस्यकारने सर्वगत ब्रह्मका अर्थ देनेमें संशय प्रगट किया है और भाषांतर ऐसा किया है- 'इसलिये ऐसा समझो, कि सर्वगत ब्रह्मही हमेशा यज्ञमें अधिष्ठित रहता है'। इस पंक्तिका सरल अर्थ ऐसा है- 'सर्वव्यापी ब्रह्म नित्य यज्ञमें स्थित है (यज्ञ से उसकी प्राप्ति है)। इस ३-१५ में तीसरे सर्वगत ब्रह्मका अर्थ सर्वार्थप्रकाशत्वात् वेद किया है और सर्वगत-ब्रह्म ऐसा संयुक्त शब्द होनेसे कोई कोईने 'सर्वत्र व्यापकर रहनेवाला ब्रह्म' ऐसा किया है। आचार्य मधुसूदनसरस्वती, नीलकंठ श्रीधरस्वामी इत्यादि बहुधा सब टीकाकार 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इसमें दोनों ब्रह्मका अर्थ वेद करते हैं और अक्षरका अर्थ अक्षरब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा, ऐसा करते हैं। यहां सबही भाष्यकार अक्षर शब्द परब्रह्मवाचक लेते हैं। श्रीधरस्वामी, पैशाच भाष्य और राघवेंद्र भी तीनों ब्रह्मका अर्थ वेदही लेते हैं। १ ब्रह्म=वेद, २ ब्रह्म=प्रकृति, सर्वगत ब्रह्म = वेद, ४ सर्वगत ब्रह्म = संपूर्ण चराचर जगत्को व्यापकर जो दशांगुल बच रहा वह परब्रह्म, ऐसे चार मत भिन्न भिन्न हैं। मतमतांतर का यह घुटाला छोडकर मुक्तेश्वरने इन तीनों ब्रह्मका अर्थ, ब्रह्मदेव = हिरण्यगर्भ = महत् इत्यादि किया है। यह अर्थ इतरत्र कहीं किसीने नहीं माना। मुक्तेश्वर की ओवी इस तरह है-

कर्म ब्रह्मापासुनी। ब्रह्मा अक्षरापासुनी। याकारणें
ब्रह्मा अजुनी। नित्य कर्म करी॥ (३.१५)

(अर्थः- कर्म ब्रह्मासे और ब्रह्मा अक्षर से है; इसलिए ब्रह्मा अभीतक नित्य कर्म करता है।)

मुक्तेश्वरके सदृश डेविस साहब भी तीनों जगह ब्रह्मका अर्थ करते हैं (भानुकृत गीता पृ० ३७० देखिये)। परंतु यह अर्थ सर्वमान्य होनेसरीखा नहीं है। भ० गी० मासिककार लिखते हैं- "ब्रह्म शब्दका अर्थ प्रकृति लेना योग्य है; परंतु हमारी रायमें 'कर्मविधिका ज्ञान' ऐसा अर्थ है और वाचक इसपर अधिक मनन करें। 'इससे मालूम होता है, कि ब्रह्मका अर्थ प्रकृति लेना उन्हें भी संशयास्पद मालूम होता होगा। उन्होंने जो लिखा है, कि वाचक अधिक मनन करें, इससे प्रस्तुत लेखकने अपनी मतिके अनुसार तीनों ब्रह्मका विवेचन किया। उन्होंने यह भी खुलासा किया है, कि ब्रह्मका अर्थ वेद ऐसा मोघम न लेकर वेदोंका ज्ञान ऐसा अर्थ लेना। परंतु यह गृहीत लेनेका कोई कारण नहीं, कि सर्व कर्मको ज्ञानकी वेदज्ञान की जरूरत है। परंतु कर्म शब्दका अमुक एक अर्थ गीतामें विवक्षित है, ऐसा जबतक वे स्पष्ट नहीं कहते, तबतक उनके इस कथनका, कि 'कर्मके विधिका ज्ञान = ब्रह्म,' अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है। परंतु एक प्रश्न संशयग्रस्त रह गया है, कि ब्रह्म शब्दका अर्थ वेद न लेकर वेदोंका ज्ञानही क्यों लेना? अतः हमारी रायमें प्रस्तुत श्लोकान्तर्गत पहिले दो ब्रह्मका अर्थ वेद और तीसरे ब्रह्मका अर्थ 'व्यापक ब्रह्म' लेनेसे सब सुसंगत होता है। तज्ज्ञ लोग इसपर अधिक विचारें करें।

स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सतारा) की हिंदी पुस्तकें

(१) यजुर्वेद। विना जिल्द मू. १॥) डा०व्य०॥)
- कागजी जिल्द २) ,,
- कापडी जिल्द २॥) ,,

(२) संस्कृतपाठमाला। १ अंकका मू.।=) -)
- १२ अंकोंका मूल्य ४) ॥)
- २४ अंकोंका मूल्य ६॥) ॥।=)

३ वै. यज्ञसंस्था भाग १-२ प्रत्येकका मू १) ।)

(४) अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।
- १ प्रथम काण्ड सजिल्द २) ॥)
- २ द्वितीय काण्ड ,, २) ॥)
- ३ तृतीय काण्ड ,, २) ॥)
- ४ चतुर्थ काण्ड ,, २) ॥)
- ५ पंचम काण्ड ,, २) ॥)
- ६ षष्ठ काण्ड ,, २) ॥)
- ७ सप्तम काण्ड ,, २) ॥)
- ८ अष्टम काण्ड ,, २) ॥)
- ९ नवम काण्ड ,, २) ॥)
- १० द्वादश काण्ड ,, २) ॥)
- ११ त्रयोदश काण्ड ,, १) ।=)
- १२ चतुर्दश कांड ,, १) ।)
- १३ १५ से १८ तक ४ काण्ड २॥) ॥)

(५) छूत और अछूत।
- १-२ भाग दोनोंका मू० १॥।) ॥)

(६) भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)
- अध्याय १ से १३ प्रत्येकका मू०॥) डा०व्य०=)

(७) महाभारतकी समालोचना।
- भाग १-२ प्रत्येकका मू. ॥) =)

(८) वेदका स्वयंशिक्षक। भाग १-२
- प्रत्येकका मू. १॥) ।=)

(९) योगसाधनमाला।
- १ संध्योपासना। १॥) ।-)
- २ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
- ३ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
- ४ सूर्यभेदन-व्यायाम। ,, ॥) ॥)
- ५ योगसाधनकी तैयारी। ॥।) ।)

१० यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय॥=) ।)

११) शतपथबोधामृत। ।) -)

(१२) देवतापरिचय-ग्रंथमाला
- १ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
- २ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
- ३ ३३ देवताओंका विचार ≡) -)
- ४ देवताविचार। ≡) -)
- ५ अग्निविद्या। १॥) ।-)

(१३) बालकधर्मशिक्षा।
- १ प्रथम भाग -) -)
- २ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीय भाग =) -)
- ३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक =) -)

(१४) आगमनिबंधमाला।
- १ वैदिक राज्यपद्धति। ।-) -)
- २ मानवी आयुष्य। ।) -)
- ३ वैदिक सभ्यता। ।॥) ≡)
- ४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ।=) -)
- ५ वैदिक स्वराज्यका महिमा। ॥) =)
- ६ वैदिक सर्पविद्या। ॥) =)
- ७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ॥) =)
- ८ वेदमें चर्खा। ॥) =)
- ९ वैदिक धर्मकी विशेषता। ॥।) =)
- १० तर्कसे वेदका अर्थ। ॥) =)
- ११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।) -)
- १२ वेदमें लोहेके कारखाने। ।-) -)
- १३ वेदमें कृषिविद्या। ≡) -)
- १४ वैदिक जलविद्या। =) -)
- १५ आत्मशक्तिका विकास ।-) -)
- १६ वैदिक उपदेशमाला। ॥) =)
- १७ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -

(१५) उपनिषद्माला। १ ईशोपनिषद् १) ।-)
- २ केन उपनिषद्। १) ।-)

(१६) अन्य ग्रंथ।
- १ वैदिक अध्यात्मविद्या ॥) =)
- २ गीता-समीक्षा =) -)
- ३ गीता-लेखमाला ॥) =)
- ४ गीताश्लोकार्धसूची ।=) =)
- 5 Sun Adoration १) ।=)

मुद्रक और प्रकाशक-श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)

... यश पुत्र आदि प्राप्त होंगे
...गामस्वरूप ' ये पदार्थ नष्ट होंगे।

१०यजु.अ.३द

११) शतपथबोध

मुद्रक

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

षष्ठ भाग।

गीताविषयक नवीन विचार।

अठारहवां अध्याय।

(ले०— श्री० हलियारामजी कश्यप, एम. एस्सी.)

श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान के सात्त्विक, राजस, तामस भेद वर्णन करके 'ओ३म् तत्सत्' का माहात्म्य सतरहवें अध्यायके अन्त में वर्णन किया गया था और कहा गया था कि श्रद्धा से ही किये गये तप दान यज्ञ कर्म और इनमें ही स्थित होना सन् कहलाता है और इस से विपरीत अर्थात् श्रद्धाविरहित यही सब असत् कहलाते हैं और न इस जन्म न ही अगले जन्मों में कोई प्रयोजन उन से कर्ता का सिद्ध होता है।

अतः जब कृष्ण महाराज न कर्मत्याग को श्रेष्ठ मानते हैं और न ही श्रद्धारहित कर्मको तो फिर स्वतः प्रश्न उठता है कि जिस त्याग संन्यास की इतनी महिमा गीतामें बार बार गाई गई है उससे क्या अभिप्रेत है ? अर्जुन यही प्रश्न पूछता है कि "हे केशि राक्षस को फूंक डालनेवाले ! हे इन्द्रिय-जित् ! हे दीर्घभुज ! भगवन् कृष्ण ! मैं संन्यास 'तथा त्यागका वास्तविक जुदा जुदा सत्य यथार्थरूप जानना चाहता हूं।' श्रीभगवान् प्रेमसे बोले कि 'सकाम कर्म छोड देना हो विद्वान् काव्यकार संन्यास समझते हैं और प्रवीण बुद्धिमान् जन सभी कर्मोंके फल का विचार छोड देनेको ही त्याग वर्णन करते हैं।" आगे भगवान् इसी मिषसे बडा सुन्दर उपदेश प्रायः इस अध्यायके अन्त तक ही करते जाते हैं जो, सर्वोपयोगी होनेसे यहां हम सविस्तर वर्णन करते हैं।

भगवान् कहते हैं— कोई मन की गति जानने वाले, मन वश करनेका यत्न करनेवाले लोग तो यहां तक कह जाते हैं कि सम्पूर्ण कर्म मात्र ही छोड देना चाहिये क्योंकि कोई भी कर्म सर्वथा दोषरहित नहीं हो सकता है प्रकृतिका ही धर्म होनेसे, अवश्य आत्माके लिये कर्म मात्र ही त्याज्य है। परन्तु अन्य मनीषी लोगोंका मत ऐसा है कि यज्ञ-दान-तप-रूप कर्मों का त्याग करना नहीं चाहिये, इनसे भिन्न कर्म सर्वथा त्यागने ही चाहिये।

अतः इसी त्याग के ही विषय में हे भरतश्रेष्ठ ! मैं अपना मत जो मेरा अपना निश्चय है वही बतलाता हूं। ध्यान देकर सुन। हे नरसिंह ! त्याग भी तीन प्रकार ही वर्णन किया हुआ शास्त्रोंमें पाया जाता है। यज्ञ-दान-तप-रूपी कर्म तो करने चाहियें ही। उनका त्याग तो कभी करना ही न चाहिये। क्योंकि यह यज्ञ-दान-तप तो उनको भी पवित्र कर देते हैं जो मन वश कर चुके हैं और जो अन्योंके मन की भी सूझ सकते हैं ऐसे योगी भी यज्ञ दान तप करनेसे सुपवित्र ही बनेंगे अपवित्र नहीं। परन्तु इस से अधिक मेरा विचार यहां तक है कि यह कर्म करते हुए भी इन में उलझना नहीं चाहिये। इनके करने से लाभ होगा कि हानि इस कर्मफल के झमेलेमें नहीं पडना चाहिये। करने तो यह कर्म अवश्य चाहियें परन्तु फलकामना तथा आसक्ति सर्वथा त्यागकर। मेरा सर्वोत्तम निश्चित तात्त्विक अन्तिम निर्णय त्याग-संन्यास विषय यही है कि यज्ञ तप-दान, आदि उत्तमोत्तम कर्म करो पर यदि धर्म आपको इन्हें बीचमें ही छोडनेपर विवश कर दे तो सर्वथा, आपको दुःखशोक अनुभव न हो। करना न करना एकसाही जान समय काटनेके लिये उत्तम कर्म करते ही जाना चाहिये जबतक, मृत्युका समय न आ जाय। पर कभी यह चिंता मनमें न हो कि इस कार्य से मुझे धन यश पुत्र आदि प्राप्त होंगे अथवा इसके परिणामस्वरूप 'ये पदार्थ नष्ट होंगे।

निश्चित होकर अपना कर्तव्य समझ यज्ञ-दान-तप करते करते ही आयु सारी बिता देनी चाहिये मरने जीने की परवाह कदापि न करते हुए।

कर्तव्यकर्म को छोडना योग्य नहीं। भुलावे में पड अज्ञानवश उसका करना छोड देना तो तामस त्याग ही कहा गया है।

देह को दुःख होगा इस डर से कि किस निमित्त देह को पीडा दी जाए जो कर्तव्यकर्म को छोड देता है वह राजस त्याग करता है. अतः उसको त्याग का शुभ फल क्या मिलना था? उसने तो वास्तव में त्याग कियाही नहीं।

सात्त्विक त्याग तो वही माना गया है कि जो कर्तव्य समझकर ही अपना स्वाभाविक प्राकृतिक निज स्वधर्म पालन करते जाना परन्तु न तो उसमें उलझना और न उसके परिणामकी चितामें पडना।

ऐसा सात्त्विक त्यागी सुगम कर्म में तो आसक्त नहीं हो जाता और कठिन कर्म दुष्कर धर्म सामने उपस्थित होनेपर चिढता नहीं, संशयग्रस्त कभी नहीं होता. विचारधारणसमर्थ बुद्धिमान् होता है, अन्तःकरणमें स्थित शुद्ध सतोगुणोंमेंही मानों प्रविष्ट हुआ समय विताता जाता है। कठिन सुगम कार्यको कर्तव्य समझ एकरस रहकर आत्मजित् की न्यायीं करता रहता है।

बात वास्तव में यह है कि देहधारी जीव कर्म करना सर्वथा तो त्याग ही नहीं सकते अतः सच्चा त्यागी वही कहा जाता है जो कर्म फलेच्छा तथा आसक्ति त्याग दे। जो कर्तव्य जान निश्चिन्त रह बिना उलझे और बिना हानिलाभरूपी फल में शोकातुर तथा प्रसन्न हुए ही कर्म करता ही जाता है. वही त्यागी कहलानेका अधिकारी है।

जो संसारी जन हैं उनको उनके किये कर्मोंका फल तीन प्रकारका मिलता है-मनोवाञ्छित्, मन को न अच्छा लगनेवाला और मिला जुला : परंतु जो उपरोक्त प्रकारके सात्त्विक त्यागी हैं, सच्चे संन्यासी हैं उनको कभी भी ऐसे कर्मफल प्राप्त नहीं होते। मरनेके उपरान्त त्यागी संन्यासी के संपूर्ण कर्म क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। अतः सात्त्विक, तामस, राजस योनियों में उन्हें जन्म लेना नहीं पडता। परन्तु जो संसारी जन हैं इस त्यागसंन्यास से अपरिचित हैं उनको उनके इस जन्म में किये अच्छे, बुरे, मिलेजुले कर्मोंके अनुसार देवादि, पशु वनस्पति आदि तथा, मनुष्यादि इष्ट-अनिष्ट, मिश्र योनियोंमें जाना रूप तीन प्रकार का कर्मफल भोगनाही पडेगा।

हे लंबी भुजाओंवाले! सम्पूर्ण कर्म मात्र पाञ्च कारणोंके मेल से ही पूरा उतरता है। यही पाञ्च सांख्य-कारिकाओंके अन्त में वर्णित हैं, तत्त्व-गणनावाले शास्त्रों में गिनाए हुए हैं। एक तो आधार अर्थात् देह वा शरीर, दूसरा करनेवाला अर्थात् जीवात्मा, तीसरा भिन्न भिन्न प्रकार की पृथक् पृथक् इन्द्रियां जो कर्म करनेके साधन जीवके पास हैं। चौथा भिन्न भिन्न प्रकारकी क्रियाएं चेष्टाएं जो साधारण बोलचाल में कर्म कही जाती हैं। इस गणना में पांचवां कारण भाग्य को ही गिना जाता है, जिसे दैव भी कहते हैं जो इस तथा पूर्व जन्म-जन्मान्तरोंके कर्मोंके पुराने संस्कार जमे पड़े हुए इस समय फल लानेको कटिबद्ध हो गये हैं और जिन पर भी हमारे इस समय के उद्योगों की सफलता बहुत सारी निर्भर है। यह पाञ्च ही कारण सभी कर्म करवाते हैं चाहे वाणी से बोलना चलना आदि हो, चाहे मन से विचार संकल्प आदि हो और चाहे शरीर से पकडना चलना मारना बचाना आदि ही हो। अर्थात् किसी भी प्रकार का कर्म मनुष्य आरंभ करे चाहे न्यायानुकूल हो चाहे अन्यायपूर्ण, चाहे सीधा चाहे उलटा यही पांच ही सदा उस के हेतु होते हैं। इन पांच के बिना सर्वथा नहीं हो सकता।

जब वास्तविक बात ऐसी है तो जो केवल अपने आपको ही किसी शुभ-अशुभका कर्ता मान बैठता है, वास्तव में दुष्ट विचारवाला वह कुछ देखही नहीं रहा, उसकी बुद्धि संस्कृत ही नहीं हुई समझ ही में उस के सत्य बात अभीतक नहीं आई। पांच कारणों के होते हुए केवल अपने ही जीवात्मा को किसी शुभ अशुभ कार्य का कर्ता कौन बुद्धिमान्

मान सकता है ?

अतः जो मैं मैं करना तथा ऐसे करने का विचार तथा उस विचार का संस्कार, उसकी भावना तक भी अपने मन से सर्वथा दूर कर देता है और किसी कार्य में भी उस का ज्ञान उसे मैं मैं करने नहीं देता अर्थात जिसके मन बुद्धि पर किसी कर्म करते समय भी अहंकार का आक्रमण नहीं होता वह इन जनों को मारकर भी नहीं मारता और इन से मारा हुआ भी नहीं मारा जाता। सभी लोक-निवासी यदि वह मार डाले तो भी उसे उस कर्मका फल सर्वथा अगले जन्म में नहीं मिलता, यहीं कर्मक्षय होता रहता है। मरने मारनेका प्रभाव उस आत्मतत्त्व पर सर्वथा नहीं पडता।

कर्म की प्रेरणा तो जाननेवाले आत्माको, जाननेयोग्य परमात्मा के जानने की इच्छा से ही उत्पन्न होती है। अतः कर्म में प्रेरणा इन्हीं तीन प्रकारसे होती है अर्थात् ज्ञाता को ज्ञेय के ज्ञान के लिये। तुरन्त ज्ञाता इन्द्रियों की चेष्टाएं करवाकर कर्म करने लगता है और कर्ता बन जाता है। अतः कर्मसंघट्ट यही तीन प्रकारका है अर्थात् करणों द्वारा कर्ता कर्म करता है। कर्मसंबंध इसी त्रिपुटि से सदा स्थिर रहता है जैसे कि कर्मप्रेरणा ज्ञाता को ज्ञेय के ज्ञानके लिये होता है।

अतः ज्ञान कर्म कर्ताके भी सात्विक, राजस, तामस प्राकृतिक गुणसम्बन्धी भेद तीन तीन प्रकार के अब वर्णन करता हूं वह भी सुन। गुण गणना-वाले शास्त्रमें यह ठीक ठीक वर्णन किये हुए हैं।

सात्विक ज्ञान तो उसे जान, जिसके द्वारा सभी प्राणि-अप्राणिवर्गमें मनुष्य एक ही अविनाशी आत्मसत्ताका दर्शन पाता है। उस अखण्डैकरस आत्मभावको सभी पृथक् पृथक् बन्टे हुए प्राणि अप्राणियोंमें ही साक्षात् देखता है इस शुद्ध सात्विक ज्ञानको ही यथार्थ ज्ञान कहना उचित है।

इसके विरुद्ध जो साधारण संसारी जनोंका ज्ञान होता है, उसे राजस ज्ञान जान। उसके द्वारा मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकारके विविध जुदा जुदा प्राणि अप्राणियोंको सभीको जुदा जुदा भिन्न भिन्न ही वास्तवमें जानता है।

तामस ज्ञानको साधारण बोलचालमें अज्ञान ही आजकल कहा जाता है। थोडासा ज्ञान, वास्तविक स्वरूप किसी वस्तुका भी न जानना, कारण तक पहुंच ही न सकना, ऊपर ऊपर ही दृष्टि डालना, नीचे तहतक न जाना, किसी कार्यके हेतु को नहीं पहिचान सकना, एक ही बनावटी रूपाकार नाम-वाले कृत्रिम पदार्थमें ऐसा उलझना कि उसके अन्दरके तथा बाहरके भी सूक्ष्मावयवोंका विचार-तक भी न आना, उसी कृत्रिम मिथ्या बनावटी ऊपरी, कार्यके इन चर्मचक्षुओंसे ही दिखनेयोग्य रूपरचनाको देख उसे ही प्राकृतिक, सत्य, वास्तविक, यथार्थ, भीतरीय कारणरूप, परमसार, सारांश, सम्पूर्ण सत्यस्वरूप जानते रहना, यही तामस ज्ञान कहा गया है।

अविद्वान् जन इसी मिथ्या ज्ञान तामस ज्ञानके आश्रय दिन बिताते हैं, पढे लिखे विद्वान् जन राजस ज्ञानके सहारे और योगीराज महात्मा दुर्लभ सात्विक ज्ञान प्राप्त कर चुके होते हैं।

सात्विक कर्म वह कहा जाता है जो फलकी इच्छाको मनमें धारण किये बिना ही किया जाता है, जिसके करनेमें न तो दिल दुःखे, नहीं उसे करनेकी बहुत उत्कण्ठा कर्ताको हो, कर्ता जिसको करते समय उसमें ही उलझ न जावे, तथा जो कार्य भगवान्ने उसी कर्ताके लिये ही कर्तव्यरूपसे नियत किया हो।

राजस कर्म वह कहा गया है जो बडे परिश्रम तथा उद्योगसे किया जाता है किसी विशेष कामना-की पूर्तिके निमित्त जिसका आडम्बर रचा जाता है तथा जिसे करनेमें कर्ता बडा अभिमान घमण्ड अनुभव करता है। ऐसा जो बडी तैयारीसे बडे अहङ्कारपूर्वक अपनी मानप्रतिष्ठाका उचित विचार करके किसी बडी मनोकामनाको पूर्तिके निमित्त कर्म किया जाता है, वही राजस कर्म वर्णित हुआ है।

तामस उस कर्मको कहा जाता है, जो अज्ञान-वश, मोहवश आरम्भ किया जाता है; जिसको आरम्भ करते समय मनुष्य अपनी शक्तिका विचार नहीं करता, कर्मका परिणाम क्या होगा यह भी नहीं विचारता, अपने नाशकी भी चिन्ता नहीं करता, दूसरोंके जीवन तथा धनके नाश वा हानिकी तो क्या चिन्ता उसको होनी थी। इस प्रकार सर्वथा दूसरेके नुकसान, अपनी हानि, अपनी पुरुषत्वशक्ति, तथा कर्मके अच्छे बुरे परिणामपर सर्वथा ध्यान दिये बिना जो मूर्खोंकी न्यायीं सर्वथा अनजान बनकर किसी कार्यमें उलझ जाना, उसमें कूद पडना, उसे करना आरम्भ कर देना है वही कर्म इन्हीं कारणोंसे तामस कर्म कहा जाता है।

सतोगुणी कर्म करनेवाला वह कहा जाता है जो धीरज और हौसलेवाला हो, मैं मैं न बोलता फिरे, कर्ममें उलझे न और चाहे कर्ममें सफलता हो चाहे निष्फलता उसको उससे न प्रसन्नता हो न शोक। जिसके चित्तपर कर्मों के परिणामका प्रभाव ही नहीं पडता, जिसके चित्तमें क्षोभ ही नहीं होता, जो Unruffled, undisturbed ही रहता है, वही सात्त्विक कर्ता कहला सकता है।

अपवित्र आचरणवाला, दूसरेको तंग करनेके स्वभाववाला, लोभी, कर्मके फलकी प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठावाला, कर्ममें उलझ जानेवाला, कर्मकी सफलतासे खुशीसे फूल जानेवाला और अ-सफलतामें दुःखसे शोकसे व्याकुल हो जानेवाला, ऐसा कर्ता राजस कहा गया है। जो कर्ममें तथा कर्मफलमें पूर्णतया आसक्त रहे और उस समय अपनी तथा अन्य की हानिकी परवाह ही न करे, गन्दे चालचलनसे भी संकोच न माने, उतार चढाव जिसके चित्तमें होते ही रहते हों।

तमोगुणी कर्ता वह कहा जाता है जो आलसी, शोकातुर (Melancholic), ढीठ, घमण्डी, दूसरे की हानिमें तत्पर, जांगली अशिक्षित, न टिके हुए चित्तवाला, तथा कार्योंको लटकाते रहनेवाला हो। ऐसे सुस्त हठी अशिक्षित दुराग्रही चंचल घमण्डी ढीठकी क्या कायसिद्धि हो सकती है जो सदा अन्योंकी हानि करनेपर रहता हो? ऐसा ही कर्ता तामस कहा जाता है।

सात्त्विक राजस, तामस, गुणोंके भेदके कारण बुद्धि और धैर्य भी तीन तीन प्रकारके ही होते हैं। हे संग्रामों द्वारा धन जीतनेवाले वीर अर्जुन! मैं जुदा जुदा उनका सम्पूर्ण निःशेष कथन अब तुम्हारे सम्मुख करता हूं। मुझ वर्णन करते हुएसे तू वह ध्यानसे सुन।

हे विस्तृत यशवाली कुन्तिमाताके पुत्र! सात्त्विकी बुद्धि वह होती है जो कर्तव्य तथा निर्भयतामें लगाती और अकार्य तथा भयकारणोंसे परे हटाती हुई जो मनुष्यको पल पल बन्ध-मोक्षके कारणोंसे सचेत रखती हुई उसे बन्ध कारणोंसे निवृत्त और मोक्षकारणोंमें प्रवृत्त कराती रहती है।

पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकार्य, इन चहोंके यथा-तथ्य स्वरूपको नहीं जान पाता, ऐसे कर्ता ज्ञाताकी बुद्धि राजसी होती है वह ठीक ठीक नहीं समझ पाता कि मेरा कर्तव्य स्वधर्म कौनसा है और मेरे लिये कौनसा कर्म करना पाप है? कौन कार्य मुझे करना सर्वथा नहीं चाहिये, वह करना मेरे लिये अधर्म है और इसके विरुद्ध कौनसा मुझे अवश्य करना ही पडेगा? क्योंकि मेरा वही धर्म है। इस सत्यको जो बुद्धि ठीक ठीक नहीं समझने देती वही बुद्धि राजस है।

तामसी बुद्धि वह होती है, जो सभी बातें उलटी ही दर्शावे, धर्मको अधर्म, अकार्यको कर्तव्यरूपसे ही सुझावे। कारण कि वह अज्ञान, मोह, अन्धकारसे ही सर्वथा ढकी होती है।

हे पृथाके सुयोग्य पुत्र! सात्त्विक धैर्य वह होता है जिसके बलसे योगाभ्यासी अपने प्राणको, मनको और इन्द्रियोंको एक बारगी रोककर फिर चिरकाल तक निष्क्रियरूपमें ही स्थिर रख लेता है, जो धृति ऐसे समयपर भी धोखा नहीं देती, आत्माका अभ्यासकालमें साथ न छोडकर उसकी योग-क्रिया निर्विघ्न रूपसे उसकी इच्छानुसार समाप्त होने देती है, वही पतिव्रता स्त्री ज्यों पतिको

प्रिय होती है, उस प्रकार अभ्यासीको प्यारी सर्वथा अडोल अचंचल धृति सतोगुणी सर्वोत्तमा धृति होती है।

हे पृथापुत्र! जिस धैर्यसे धार्मिक पुरुषार्थी पुरुष धर्म करता ही जाता है, धन कमाता ही जाता है, अपने मनोरथ सिद्ध ही करता जाता है और ऐसे उद्योगोंको विघ्नादि पडनेपर बीचहीमें नहीं छोड बैठता, उसका वह धीरज राजस धृति है। ऐसा पुरुष फलकी इच्छा अवश्य रखा करता है और कर्म तथा फल दोनोंमें सर्वथा उलझा रहा करता है। वह बडे धैर्यसे सत्य-व्यापार आदि कर धन ऐश्वर्य प्राप्तकर सुन्दर महिषीपरिणय आदि कामनासिद्धि करताही जाता है, घबराकर बीचमें ही कभी डोल नहीं जाता।

अधिक दुष्ट विचार धारणवाले दुष्टबुद्धि जन सुपनेमें डर लगनेको भी स्मरण ही करके दुःखी होते रहते हैं। लाख समझाओ कि सुपना सच्चा नहीं होता, घबरानेकी आवश्यकता नहीं, उनकी समझमेंही नहीं आता, वह शोकातुरही रहते हैं। अपनी अज्ञानताका नशा उतारते ही नहीं, भय शोक व्याकुलता दुःख-रंज-उन्मत्तता स्वप्न निद्रा तन्द्रा आलस्य आदि सर्वथा छोडते ही नहीं। ऐसे जनोंकी धृति तमोगुणी होती है।

हे भरतश्रेष्ठ! अब मुझसे सुखके तीन प्रकार भी सुन ले। यत्नसे चित्तवृत्तिको रोककर जो आनन्द अनुभव होता है और अभ्याससे बार बार करनेसे जो इतना अधिक आने लग जाता है कि मनुष्य दुःखका पार ही पा जाता है, सर्वथा सुखी हो जाता है, जो सुख अन्तमें अमृतकी न्यायीं सदा रहनेवाला सुस्वाद बन जाता है। परन्तु अभ्यासकालमें आरम्भमें जब बद्धपद्मासन लगा कुम्भक कर शिरको पाओंमें रख कुण्डलिनीका मुख खोलते समय विषपानकी न्यायीं कठिन दुष्कर प्रतीत होता था और जब अभ्यास समाप्तकर उठते थे तो टांगें इतनी देरसे सो चुकी होतीं थीं कि उनको जगाना मानों उन मरीं हुओंमें फिरसे जीवन डालना पडता था। उस समय जो प्रतिदिन टांगोंको पहिले मृत फिर जीवित करना पडता था वह वास्तवमें प्रतिदिन अभ्यासरूपी विषपान ही था। फिर कुण्डलिनीका मुख खुला तो आनन्दका स्रोत खुल पडा यही अमृतवत् आनन्दप्राप्ति थी, ऐसा यत्नसे दुःखके पार जाकर प्राप्त किया गया सुख वास्तविक सात्त्विक सुख योगानन्द होता है, जिससे अधिक आनन्द और इस लोक-निवासियोंको क्या मिल सकता था? कारण कि यह सुख आत्मा तथा अन्तःकरणमें सर्वथा आनन्द-प्रसन्नता परिपूर्ण हो जानेसे अनुभव हुआ करता है। इसीको सात्त्विक सुख, आत्मानन्द, निरन्तर शान्तिः, शाश्वत सुख आदि शब्दोंद्वारा वर्णन किया गया है।

इससे उलटा सुख प्रायः सभी संसारी जन अनुभव करते हैं, वह राजस कहा गया है। विषय-सुख इसेही, स्मृतिकार रति भी कहते हैं। किसी भी इन्द्रियका उसके विषयके साथ सम्बन्ध होनेसे तुरन्त क्षणिक सुख अनुभव होता है। सस्वाद पदार्थ खाना, सुन्दर पदार्थ देखना, सुगन्ध सूंघना, मनोहार राग सुनना, स्त्रीसंग करना, यह सभी विषय-सुख राजस सुख है। भोगकालमें तो अतीव प्रिय लगते हैं, सर्वथा प्राणी उनमें तन्मय हो जाता है। उस समय तो अमृत जान पडते हैं। परन्तु जो शक्ति उपभोगसे क्षीण हुई, जब उसके कारण दमागी नसें दुर्बलता थकावट अनुभव करती हैं। फिर वही क्षणिक सुख विष प्रतीत होता है। कांटेकी तरह चुभता है कि क्यों अन्धे होकर इतनी शक्ति व्यर्थ ही गंवाई जिससे न जाने कितना अधिक ब्रह्मानन्द अनुभव करते। ऐसा आरम्भमें अतीव प्रिय, अन्तमें विषसमान प्रतीत होनेवाला विषय-सुख राजस सुख-रति कहा गया है।

इन दोनोंसे भिन्न नींद सुस्ती ऊंघ नशासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस कहा गया है। वह तो आत्माके ज्ञानरूपी दीपकपर मोह, अज्ञानका परदा, आवरण पहिले डाल देता है। भुलावे में आत्माको

पहिले लेता है फिर अनुभव अपना तामस सुख का उसे करवाता है। फिर आप हटता है पर उसके भी कहीं पीछेसे इसका डाला अज्ञानका परदा हटता है। इस प्रकार तामस सुख आरम्भसे अन्ततक आत्माको भुलावेमें ही डाल रखता है। तमोगुणी छुट्टिका दिन सोकर ही अधिकतर काटा करते हैं, उठकर कहते हैं बडा सोये भई अब भी और सोना चाहते थे पर न जाने किसने जगा दिये। और वह इसमें आनन्द अभिमानका कारण पाते हैं। उनका मोह उन्हें यह-बूझने ही नहीं देता कि इतना समय तो व्यर्थ गंवा चुके अब उस विषय पछतावा ही करो कि अब तो सुस्ती उतार कोई सात्विक कर्म करो। बस ऐसोंका सुख तामस समझो।

इस पृथिवीलोक, उस द्यौः लोक, जमीन आसमानमें कोई ऐसा अप्राणी, प्राणी, देव, मनुष्य तिर्यक्, वनस्पति, पाषाण आदि भूत नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंसे सर्वथा मुक्त हो। कोई भी सत्त्व अर्थात् अन्तःकरणधारी जीव इस गुणत्रिपुटिसे सर्वथा मुक्त नहीं।

ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंके भी कर्म इन प्राकृतिक गुणोंसे ही पृथक् पृथक् सिद्ध हो गये हैं। हे परम तपस्वी शत्रुसन्तापक? आत्मा जब प्रकृति से सम्बद्ध होता है तभी इन गुणोंकी सत्त्व, रज, तम क्रमसे उत्पत्ति हो जाती है। आत्माके अधीन ही कोई गुण अन्य दोसे प्रबल हो जाता है। सत्त्वप्रबलतासे स्वभावसिद्ध ब्राह्मण, रजप्रबलतासे जन्मसिद्ध क्षत्रिय, रज तम प्रबल होनेसे वैश्य, तम प्रबल होनेसे शूद्र वर्णमें जन्म मिलता है। इसी जन्मसिद्ध गुणभेदसे वर्णभेदसे कर्म भी सबके जुदा जुदा बंटे हैं। सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न पृथक् पृथक् हैं।

ब्राह्मणके स्वभावसिद्ध कर्म शान्तिः, इन्द्रियनिग्रह तपस्या, पवित्रता, क्षमा, कोमलता, मृदुता, ज्ञान, विज्ञान, विद्या, सत्य विद्या, परमात्मपरायणता हैं। स्वभावसे ही ब्राह्मण परमात्मभक्त, शान्त, सत्यज्ञानी, पवित्र होता है।

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, चतुराई, निपुणता, युद्धमें जाकर वहांसे हार कर कभी न दौड भागना, दान, ऐश्वर्य, राज्यकरण आदि हैं। क्षत्रिय उत्पन्न ही राज्य करने और दुःखी दुर्बलोंको बचानेके लिये होता है।

खेती-बाडी, गौरक्षा, वणिज् व्यापार, वैश्यजनोंके स्वाभाविक कर्म हैं और सेवारूप कर्म शूद्रका भी जन्मसिद्ध अधिकार ही है।

प्रत्येक मनुष्य अपने अपने ही कर्ममें सर्वथा लगा होकर उत्तम रीतिसे सफलता प्राप्त करता है। अपने ही स्वाभाविक कर्ममें निरन्तर लगकर मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर जाता है वह भी सुन।

जिस भगवान् से प्राणि अप्राणि सभी उत्पन्न हो कर अपने अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और जिसने यह सब संसाररूपी जाल फैलाया है, उसीकी पूजा अपने कर्म करने रूप उसकी आज्ञापालनद्वारा करके मनुष्य सफलता प्राप्त कर जाता है।

अपने स्वाभाविक जन्मसिद्ध कर्म ही अच्छे हैं। चाहे अपेक्षासे निचली कोटि के हो प्रतीत हों, परन्तु अपनेसे भिन्न वर्णके जो अपनेसे ऊंचा भी हों, कर्म हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकते, चाहे हम वह कितनी भी उत्तम रीतिसे कर पाये हों। क्योंकि मनुष्य अपना जन्मसिद्ध कर्म करता हुआ कष्ट नहीं उठाता, पापका भागी नहीं होता अनजानपनेकी अशुद्धियां त्रुटियां नहीं कर बैठता।

इसलिये हे कुन्तिपुत्र! स्वभावसिद्ध कर्म छोडना नहीं चाहिये। चाहे उसमें कुछ कुछ दोष भी दृष्टिगोचर होता हो। क्योंकि इस दृष्टिकोणसे देखे जाने पर तो सभी कर्मों में कुछ दोष दिखाई दे ही जायगा, जैसे अग्नि जहां कहीं भी प्रज्वलित हो वहीं कुछ धुंआ भाप गैस आदि साथ में बनता ही है और ज्वाला को घेरे रहता है।

स्वाभाविक कर्म करते समय मनुष्य को उस में अत्यंत मग्न नहीं होना पडता। Naturally प्रतिदिन

अभ्यासवश, आदत पड जानेसे भी, पिता-पितामहसे प्राप्त संस्कारवश भी, उसका बडा भाग अपने आपही होता चला जाता, थोडी सी शक्ति व्यय करने थोडासा ध्यान देनेसेही कार्यसिद्धि होती चली ही जाती है। अतः स्वाभाविक कर्म करते मनुष्यका ध्यान साथ ही साथ ईश्वरकी ओर भी लगा रह सकता है अर्थात् मनुष्य उस कर्मपाशमें सर्वथा बद्ध नहीं हो जाता। जीविकोपार्जन तथा ईश्वरभक्ति दोनों साथही साथ होते चले जाते हैं। बुद्धि बिना उलझाए, मन वशमें ही रहते हुए, बिना तीव्र उत्कंठाके भी, सभी स्वाभाविक कर्म, सिद्ध हो सकते हैं। परिणामस्वरूप निष्काम कर्मसंन्यासी की न्यायीं ही वह मनुष्य करता रह सकता है। अतः इसी स्वभावके बल परमसिद्ध हो जाता है। कर्म करता हुआ भी संन्यासी ही रह सकता है।

सिद्धि पाकर जैसे ब्रह्मको पा जाता है, वह भी मुझसे तू मुझ ले संक्षेपसे। हे कुन्तिपुत्र! वही ज्ञानकी परम स्थिति है। कर्म करते हुए भी निष्कर्म बने रहने की सिद्धि पाकर फिर मनुष्य सृष्टिकर्ता भगवान् को जैसे पा जाता है, वह अब मुझसे सुन। ज्ञान का अन्तिम सार यही है।

कार्यसिद्धिवाले की बुद्धि तथा आत्मा शुद्ध प्रसन्न हो जाते हैं, फिर उस शुद्ध बुद्धिको प्राप्त कर चित्तको टिका कर धैर्यसे अपने आपको रोक कर जलन और प्यारकी जडको काटकर शब्दादि विषयोंमें इन्द्रियों को सर्वथा न ले जाकर वाणी आदि इन्द्रियोंको रोक, कर्मेन्द्रियोंको भी रोक, देह की प्राणादि क्रियाओंको भी वश में रख मनको एकाग्र अथवा निरुद्ध ही कर डाल ध्यानसे अपने अन्दरवाले ब्रह्मके साथ मिलनेका अभ्यास प्रतिदिन करता रहे, एकान्तमें रहे, केवल जीवननिर्वाह मात्र ही बहुत थोडासा भोजन किया करे, किसीसे भी कामादि सम्बन्धसे लगाव सर्वथा न रक्खे, सदा ही वैराग्यअभ्यासका आश्रय लिये रहे और अच्छी तरह इन दोनोंको अत्यन्त समीपसे सदा पकडे रक्खे।

तब उसका पीछा घमण्ड, कामवासना गुस्सा, लालच, हठ, अभिमान आदि सब शनैः शनैः छोड देंगे और वह न किसी व्यक्ति न पदार्थमें ही उलझता है, वरञ्च मैं मेरीका विचार छूटता छूटता वह शान्त होता जाता है और ब्राह्मी स्थिति पानेके लिये समर्थ होता जाता है। सर्वथा निज शान्त स्वरूपमें स्थित होता होता ब्रह्म बनता जाता है, जीव बनानेवाला अज्ञानावरण हटता जाता है।

यहां तक कि जब सर्वथा ब्रह्म बन जाता है तो अपने आपमें सुप्रसन्न होकर सर्वथा ही इच्छा-शोक द्वन्द्वसे छूट जाता है, ब्रह्म बनकर न फिर उसका दिल किसी व्यक्ति पदार्थवस्तुको चाहता है और न किसीकी अप्राप्तिसे वह शोकसे व्याकुल होता है। सभी प्राणि-अप्राणि उसके लिये एक समान होते हैं। क्योंकि न तो उसका किसीसे प्यार है न वैर। न किसीकी उसको आवश्यकता है, न किसीकी उपस्थिति उसके लिये बोझ है। मेरी ही परम भक्ति उसको प्राप्त हो चुकी होनेसे उसको संसारकी आवश्यकता नहीं रहती, न संसार उसके लिये कोई त्याज्य वस्तु रह जाता है। उसको संसारकी अपेक्षा ही नहीं होती। उसे भगवान्की सेवासे सरोकार रह जाता है।

उस पराभक्ति केवल भगवान्के ध्यानमात्रसे उसको यह सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है कि मैं अखण्डैकरस आत्मा कृष्ण कौन हूं कितना हूं, मेरा यथार्थ वास्तविक स्वरूप कौनसा है। तब मुझे वास्तवमें यथार्थतया ठीक ठीक जानकर फिर तुरंत ही मुझमें प्रवेश कर जाता है।

इस अविनाशी सनातन पद आत्मरूपको मनुष्य केवल मुझ आत्मरूपकी प्रसन्नतामात्रसे प्राप्त करता है। यदि वह सभी कर्म सदा ही मेरे आश्रय होकर ही मेरे परायण होकर ही मुझपर ही डोरी रखकर ही करता रहता हो। अपनी चतुराई न छांट केवल भगवन्निमित्त ही सर्व जीवन अपना बिता रहा हो तो।

अपने दिलसे तो सभी कर्म मेरे ही अर्पण कर

देता है, निमित्तमात्र स्वयं बना रहता है। मेरे लिये समझो वह कर्म करता रहता है। मैं ही मानों उस का सर्वस्व बना रहता हूं। इस दृष्टिकानको बदल लेने रूपी बुद्धियोगका आश्रय लेकर सदा ही मुझमें दिये चित्तवाला हो रह। सभी कर्म-केवल मेरे निमित्त ही करता जा। यही कर्मसंन्यास, बुद्धियोग, मत्परायणता, मच्चित्तता ही सर्वोत्तम साधन मुझे प्राप्त करनेका है। इसीका तू आश्रय ले।

यदि अपना चित्त मुझे दे देगा तो मेरी कृपासे सभी कठिनताओंके पार चला जायगा। मुश्किलसे पहुंचने योग्य स्थितिपर सुगमतासे ही पहुंच जायगा और यदि अपनेहीको बहुत बडा समझकर मेरी बात न सुनेगा, तो नष्ट हो जायगा, पराजय अपयश, मृत्यु, राज्यहानि आदिका भागी बनेगा।

जो अपने ही अज्ञानवश यह उपस्थित जन मेरे हैं इनको क्यों मारूं, इस अहंकारका आश्रय ले तू यह मानता है कि मैं युद्धमें भाग नहीं लूंगा। यह इस समय तो तुम्हें दृढ निश्चय प्रतीत होनेवाला विचार है। परन्तु वास्तवमें यह सर्वथा झूठा तुम्हारा भ्रममात्र है। क्योंकि सत्य बात यह है कि तेरा स्वभाव तुझे विवश करके युद्धमें घसीट ले जायगा और अबका तेरा निश्चय तब तुम्हारा साथ सर्वथा नहीं देगा। उदाहरणके लिये कल्पना करो कि युद्धमें कोई युधिष्ठिर महाराजपर आक्रमण कर दे तो क्या उस समय तुम तुरन्त प्रतिकारके लिये युद्ध नहीं करोगे? अवश्य तुम्हारा क्षात्रस्वभाव तुम्हें तुरन्त युद्धमें घसीट ले जायगा। जब वास्तव बात ऐसी है तो फिर क्यों नहीं सीधी प्रकारही महाराज युधिष्ठिरके सच्चे सेवक गाण्डीवधारी युद्ध विजेताको न्यायीं ही युद्ध करते जिससे यश, विजय, राज्य तथा धर्म सभी इकट्ठे ही एकही युद्ध-निमित्तसे तुम्हें प्राप्त हो जायं?

हे कुन्तिपुत्र! अपने प्राकृतिक धर्म, शरीर-रचनासे सिद्ध होनेवाले कर्मसे सदा ही बन्धा हुआ सभी प्राणियोंकी न्यायीं तू भी विवश हो कर युद्ध समयमें वही कार्य फंसा हुआ अवश्यमेव करेगा जिसको इस समय भाईयोंके मोहसे हुए अज्ञानके कारण तू करना नहीं चाहता। अतः क्यों न अभी सीधे रास्ते पड जाय और क्षात्रधर्मरूप धर्मयुद्धको पूरा निभावे?

हे अर्जुन! यह कुछ तेरे या अन्य किसीके वश की बात नहीं है। बरंच ईश्वरमहाराज स्वयमेव सभी प्राणियोंके हृदयस्थानमें ठहरकर उन सभी देहधारियोंको अपनी शक्तिसे इस प्रकार घुमा रहे कार्योंमें प्रवृत्त करा रहे हैं, जैसे मैशीन अपनेपर चढाए हुए लट्टुओंको घुमाया करती है।

उसी सर्वशक्तिस्रोतकी तू शरणमें जा। हे भरत-सन्तान! संपूर्णतया हृदयकी भावना उसीके आधीन कर दे, उसीकी प्रसन्नतासे ही पर ली शान्ति और सनातन धामको पा जायगा, आत्मपद प्राप्त कर लेगा।

यह गुप्त ही नहीं, बरंच अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे समक्ष सम्पूर्णतया कह डाला है। इसको सारेके सारेको ही निःशेषको सम्पूर्णतया ही विचार कर जैसे फिर तेरा दिल चाहे वैसे तुम करना।

इससे भी परे सबसे अधिक परम गोपनीय अपना परम उपदेश फिर तुम्हें देता हूं, वह भी सुन। तू मेरा पक्का मनचाहा सखा है। इस लिये तेरे भलेकी बात सम्पूर्ण गीताका सार एक ही श्लोकमें तुझे अब फिर फिर कहे देता हूं। सुन।

मेरे अपण किये हुए मनवाला हो जा, मेरा भक्त बन जा, मेरे ही निमित्त यज्ञ कर, मुझे ही नमस्कार कर। ऐसा करनेपर तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा। तेरे साथ मैं यह सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं। तू मेरा प्यारा है।

सभी धर्मझंझटोंका झगडा सर्वथा छोड एक मेरी ही शरणमें चला आ, मैं आप ही तुझे सभी पाप-तापोंसे सम्पूर्णतया छुडा लूंगा, तुझे शोक-करनेकी सर्वथा आवश्यकता नहीं है।

जो मेरी निन्दामें तत्पर है, जो मेरा गीत सुनना नहीं चाहता, जो भक्त नहीं, जो तपस्वि नहीं, उसको तूने यह ज्ञान कभी मत कहना।

निस्सन्देह वह परम भक्त मुझे ही प्राप्त करेगा जो पूरी भक्तिमें सना जा कर इस मेरे परम गोपनीय गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंकी सभामें प्रेमपूर्वक सुनाएगा।

उससे बढ़कर तो मुझे प्रिय कर्म करनेवाला भूमिपर ही सकल मनुष्यमात्रमें दूसरा कोई नहीं और न उससे अधिक मुझे प्यार कोई और आगे होगा।

और हम दोनोंके इस संवादको जिसमें धर्म सर्वथा परिपूर्ण हो रहा है, जो पढेंगे मेरी सम्मति है कि मुझे ज्ञानरूप मेरी प्राप्तिके साधनद्वारा मुझे अपना इष्ट बनायेंगे।

और निन्दाको सर्वथा छोड़ श्रद्धालु होकर जो मनुष्य इसे सुन भी लेगा वह भी भवबन्धनसे छूट कर सुकर्मी जनोंसे प्राप्तव्य स्वर्ग आदि शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेगा।

हे यशस्विनी कुन्ति जननीके लाल! हे संग्रामविजयी वीरवर! क्या तूने यह मेरा गीत एकचित्त होकर सुन लिया? क्या भाइयोंके मोहके उदय हो जानेसे उत्पन्न अज्ञान अन्धकार भुलावा तेरा अब सर्वथा जाता रहा?

अर्जुनपर पूरा प्रभाव योगीराजके योगका पड़ चुका है, अतः बोला "हां, कभी अज्ञानवश न होनेवाले भगवान्! अपनी आत्मस्थितिसे नीचे न डिगनेवाले अच्युत! आपकी कृपासे मैंने अपना वास्तविक रूप पुनः स्मरण कर लिया, क्षणिक भुलावा हट गया, सब संशय दूर हो गये, उपस्थित हूं आपकी सेवामें, आज्ञा कीजिये, दास आपका वचन सिर आंखोंपर धारण करेगा।"

संजय धृतराष्ट्रको अपना ज्ञान देने लगे कि हे राजन्! उच्च आत्मा अर्जुन और सभी देवोंमें निवास करनेवाले वसुदेवसुत भगवान् कृष्णका यह रोमांचकारी विचित्र संवाद मैंने सुना है।

महर्षि वेदव्यासकी कृपासे यह परम गुप्त वार्ता अपने ही कानोंसे सुन पा सका हूं, उस समय जब इस योगविषयका वर्णन साक्षात् योगीराज कृष्ण स्वयं अपने श्रीमुखसे उच्चार कर कर रहे थे।

इस भगवान् केशव और योद्धा अर्जुनके अद्भुत् पवित्र संवादको बार बार स्मरण करके मैं पुनः पुनः प्रसन्न होता हूँ।

और महायोगेश्वर हरि का वह विराट् अद्भुत रूप अतीव विचित्र स्वरूप बारध्यानमें आनेसे मैं बराबर प्रसन्न हो रहा हूं और भयंकर कालाकृतिसे मुझे बहुत ही हैरानी हो रही है।

महाराज! मानिये न मानिये आपका पूर्ण अधिकार है परन्तु मुझे तो निश्चय है, कि विजय उन्हीं की होगी जिधर योगीराज कृष्ण और गाण्डीवधारी अर्जुन हैं। ऐश्वर्य, लक्ष्मी, शोभा, विभूति, अटल विजयिनी राजनीति भी उसी ओर रहेगी और स्वाभाविकतया ही इस आपके हितैषिकी भी सम्मति यही है कि युद्ध छोड़ उनसे मेल ही कर लीजिये।

॥ इत्योऽम् शान्तिः ॥



भगवद्गीता अठारहवां अध्याय।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

केशिराक्षस नाश-कर! इन्द्रिय-गणके ईश!
महा योगेश्वर हे हरि!, त्यागी राजन् ईश! ॥१॥

कृष्ण सिखाईये मुझे भी, यही त्याग संन्यास।
पा जाऊं मैं भेद यह, हो मम संशय विनाश ॥२॥

जुदा जुदा हे दीर्घभुज! चाहूं जानना सत्य।
संन्यास अरु त्यागका समझाये शुभ सत्य ॥३॥

सुन अर्जुनके वचन यह, बोले श्री भगवान्।
सभी कर्म फल त्यागको, त्याग कहें गुणवान् ॥४॥

इच्छा कामना से किये, जानेवाले कर्म।
करना देना छोड सब, संन्यास यही धर्म ॥५॥

जानें ऐसा ज्ञानीवर, काव्य करें निर्माण।
जो उत्तम प्रभु भक्ति का, मेधायुत, धृतिमान् ॥६॥

मन की गति जो जानते, उनमें से कोई एक।
कहें कर्म में दोष हैं, त्याज्य अतः सभी एक ॥७॥

अन्य कहें छोडो नहीं, यज्ञ कर्म तप दान।
त्याज्य नहीं शुभ कर्म यह, आत्मा करें बलवान् ॥८॥

वहां त्यागके विषयमें, सुन हे भारतश्रेष्ठ।
निश्चय मेरा है वीरवर! सिंह पुरुष सुज्येष्ठ! ॥९॥

स्तुति की-गई है त्याग की, निश्चय तीन प्रकार।
सात्विक राजस तामसिक, यही त्याग प्रकार ॥१०॥

यज्ञ दान तप कर्म जो, नहीं छोडिये तीन।
करिये ही तीनों सदा, रहते हुए अदीन ॥११॥

मन भी जिन ने वश किया, वह भी बनें सुपवित्र।
यज्ञ दान तप कर्म से, छोड इन्हें नहीं मित्र ॥१२॥

पर फल की नहीं चाह रख, इनमें भी न हो लिप्त।
कर्म यही कर्तव्य हैं, मान, तू कर, सुतृप्त ॥१३॥

उत्तम माना मैं यही, निश्चय बुद्धि योग।
हे कुन्तिसुत वीरवर! साध यही तू योग ॥१४॥

अपने निज कर्तव्यका, उचित नहीं है त्याग।
अज्ञानवश छोडना, उसे है तामस त्याग ॥१५॥

कहा गया राजस वही, त्याग जो फल नहीं लाये।
कष्ट मान जो छोड दे, कर्म, न देहको हिलाये ॥१६॥

देह मेरी दुःख पायगी, इस भयसे दुःख मान।
जो त्यागे किसी कर्मको, त्याग वह राजस जान॥१७॥

माना गया वही त्याग है, सात्विक उत्तम धर्म।
जब कर्ता बिना लिप्त हो, फल त्याग करे कर्म ॥१८॥

उत्तम स कर्तव्यही, जो ईश्वर आदेश।
करना चाहिये ही इसे, मान ब्रह्म उपदेश ॥१९॥

नियत कर्म इस भावसे, किया जो अर्जुन वीर।
वही त्याग सात्विक समझ, फलमें उलझ न धीर॥२०॥

संशय जिसके कट चुके, बुद्धिमान् धृतिमान्।
अपने सात्विक चित्तमें, स्थिर प्रज्ञमतिमान् ॥२१॥

उत्साहसम्पन्न जो, सच्चा त्यागी वीर।
घबराता नहीं कठिन भी, कर्मसे कबहुं धीर ॥२२॥

फंस जाता नहीं प्रिय ही, कर्ममें ज्यों अनजान।
बुद्धि सदा रहती टिकी, त्यागी उसे ही मान ॥२३॥

देहधारी त्यज न सकें, कभी कर्म निश्शेष।
अतः जो त्यागे कर्मफल, त्यागी वही विशेष ॥२४॥

जाता कहा सदा सर्वथा, संन्यासी वही जान।
कभी न भोगे कर्मफल, त्यागी वही सुजान ॥२५॥

मन-चाहा, लगे जो बुरा, मिला जुला फल पा।
त्रय प्रकार यह कर्मफल, अत्यागी उलझा ॥२६॥

यहां तथा परलोकमें, संसारी जन मूढ।
दुःख सुख पाते कर्मवश, कबहुं न त्यागी अमूढ॥२७॥

कारण कर्मके पांच जो, मुझसे महाभुज! सीख।
इनके बिना सभी कर्म ही सिद्ध न हों, रुकें बीच॥२८॥

सांख्यकारने गिन दिये. शास्त्र अन्तमें सर्व।
सांख्यकारिका अन्तमें, कह ही डाले सर्व ॥२९॥

भिन्न पृथक् इन्द्रिय सभी. कर्ता अरु आधार।
जुदि जुदि बहुविध सब क्रिया पंचम गत संस्कार ॥३०॥

देह. इन्द्रिय जीवात्मा, दैव अरु क्रिया विभिन्न।
पांच यही कारण सभी, कर्मके सदा अछिन्न ॥३१॥

मनुज करे आरम्भ जो, मन वाणी देह कर्म।
उलटा. न्याय अनुकूल वा, यही पांच तत्करण ॥३२॥

ऐसा होते हुए भी आत्मको कर्ता मान।
कर ही देखे यही जो, नहीं उसे हो भान ॥३३॥

सत्य अर्थका कभी भी, कुमति बुद्धिहीन।
शुद्ध नहीं बुद्धि हुई, ज्ञाननेत्रसे हीन ॥३४॥

मैं मैं करता जो नहीं, बुद्धि जस निर्लेप।
इस जनताको मार कर. भी वह सदा निर्लेप ॥३५॥

न मारा उसने कोई. बंध भी गया नहीं वह।
मारा भी नहीं वह गया. पाप फंसा नहीं वह ॥३६॥

जानने योग्य अरु जानना, जाननेवाला शुभात्म।
प्रेरक तीनों कर्मके, जान यही है महात्म! ॥३७॥

कर्म इन्द्रिय करना अरु, करनेवाला तृतीय।
कर्म सामग्रि त्रिविध यह, जानों भिन्न सुप्रिय ॥३८॥

कर्मप्रेरणा सदाही, ज्ञानसे ज्ञाता पाय।
कर्म सदा ही कारणसे, कर्ता करता जाय ॥३९॥

ज्ञेय जानना धर्म है. तन्निमित्त जो कर्म।
ज्ञाताको तत्प्रेरणा, यह मीमांसिक धर्म ॥४०॥

इन्द्रिय, साधन विविध अरु कर्ता कर प्रयोग।
साधे उत्तम कर्म शुभ, संग्रह करे सुयोग ॥४१॥

ज्ञान. कर्म, कर्ता तथा गुण से त्रय प्रकार।
गुण गणना में सांख्य में, कहा वह सुन विस्तार ॥४२॥

अविनाशी सत्ता दिखे, सभी भूत में एक।
पृथक् विभक्त में एक रस, वह अखण्ड ब्रह्म एक ॥४३॥

जिस ज्ञानसे जान वह, तू सात्त्विक सुज्ञान।
ईश दिखावे जगत् में, और बढावे मान ॥४४॥

अरु जिससे दीखे पृथक्. जग के सभी पदार्थ।
भिन्न भिन्न ही सर्वथा, विविधाकार पदार्थ ॥४५॥

जान ज्ञान राजस उसे, भिन्न विविध सभी भाव।
अप्राणी प्राणी सभी, के दरशाता स्वभाव ॥४६॥

ज्ञान कहा तामस वही, जो देखे न यथार्थ।
हो थोडा अरु तत्त्व को, न दिखलावे यथार्थ ॥४७॥

कारण कार्य विपरीत ही, करवावे चरितार्थ।
उलझा कर ही कार्यमें, मान उसे परमार्थ ॥४८॥

अंश को ही अंशी समझ, एक भागकोही पूर्ण।
उलझा देवे उसी में, कर आत्माको अपूर्ण ॥४९॥

सात्त्विक कर्म कहा वही, फल इच्छा जो त्याग।
मोह जलन दोनों बिना, किया सहित वैराग ॥५०॥

नियत कर्म ही जान कर, कर्तव्य पहिचान।
उस में भी फंस कर नहीं, किया कर्म, सज्ञान ॥५१॥

राजस कर्म कहो उसे, फल कामना साथ।
बडे परिश्रम से किया, अति घमंड के साथ ॥५२॥

अपना बल जांचा नहीं, फल पर दिया न ध्यान।
अन्यके भी दुःख दर्द का किया न कुछ भी ध्यान ॥५३॥

अपने नाश की सोचन, परिणाम न विचार।
पुरुषार्थ पहिचान न, कर अति तुच्छ विचार ॥५४॥

अज्ञानसे कर्म जो, कर डाला आरंभ।
वही कहा गया तामसी, नाश हानि आरंभ ॥५५॥

आसक्ति त्यागे हुए, मैं मैं बोले न।
धैर्य पराक्रम धारकर, घबरावे कबहुं न ॥५६॥

निष्फलता अरु सफलता, में भी एक समान।
स्थिर बुद्धि रहता सदा, कर्ता सात्त्विक मान ॥५७॥

राजस कर्ता वह कहा. कभी प्रसन्न कभी दीन।
कामी, लोभी. नाश-कर, चाहे कर्म फल, हीन ॥५८॥

अपवित्र, पर-दुःख-प्रद, कर्म, फलेच्छाचार।
शोकातुर कभी हर्षयुत. राजस उसे विचार ॥५९॥

तमोगुणी कर्ता कहा, धूर्त आलसी ढीठ।
नाशक अन्यके लाभका, सोगी जांगल जीव ॥६०॥

कल पर रक्खे आजका. कार्य सदाही वह।
चित्त एकाग्र न हो कभी, तामस कर्ता कह ॥६१॥

सङ्ग्राम धन जीतने वाले अर्जुन वीर।
जुदा जुदा संपूर्णही, तुम्हें बता रहा धीर ॥६२॥

सुन बुद्धि अरु धृतिके, त्रय प्रकारके भेद।
गुण तीनोंसे होय जो, सुन कर हर निज खेद ॥६३॥

निर्भयता कर्त्व्यतकी, और लगावे जो।
भय अकार्यसे पृथक् ही, सदा रहावे जो ॥६४॥
जिससे जीव सुबद्ध हो, उससे सदा हटा।
बन्धन जिससे जायं कट, उसमें सदा लगा ॥६५॥
जिससे जान सके सदा, बन्ध मोक्ष विद्वान्।
सतोगुणी बुद्धि वही, हे कुंतसुत! जान ॥६६॥
कर्तव्य अरु धर्मको, तथा अकार्य अधर्म।
याथातथ्य न जानती, न समझे सद्धर्म ॥६७॥
रजोगुणी बुद्धि वही, तमोगुणी अब बूझ।
उलटा ही दिखलाये जो, कुछ भी सके न बूझ ॥६८॥
धर्म ही माने अधर्मको, उलटे सभी पदार्थ।
अज्ञानसे ढकी जो, बुद्धि तामस पार्थ! ॥६९॥
सात्त्विक धैर्यसे थामता, इन्द्रिय मनकी चाल।
प्राण रोकती योगसे, अचल धृति सुविशाल ॥७०॥
फल इच्छुक आसक्त हो, धारे जिस धृतिसे।
संसारकी वस्तु सब, पावे राजसीसे ॥७१॥
धर्मकामना द्रव्य सब, दिलवावे जो यथार्थ।
हे अर्जुन! धृति राजसी, वही धरावे पदार्थ ॥७२॥
बुद्धि जिसकी दुष्ट है, धारे दुष्ट विचार।
तामसी उसका धैर्य है, बूझे न सार असार ॥७३॥
नहीं वह छोडता शिघ्रहीं, दुःख स्वप्न भय शोक।
सुपनेके भी क्लेशको, भोगे मूढ सशोक ॥७४॥
सपनेसे डरता रहे, दुःखी रहे हिय मांह।
मोह काम के वश हुआ, सदा रहे नशे मांह ॥७५॥
सुख भी तीन प्रकार का, सुन अब भरतश्रेष्ठ।
मुझ ही से हे मित्रवर! अर्जुन सखा सुश्रेष्ठ ॥७६॥
बार बार के यत्न से, प्राप्त जो हो आनन्द।
दुःख सकल का अन्त हो, पाकर ब्रह्मानन्द ॥७७॥
विषयन के सुत्यागसे, ही पाईये सुस्वर्ग।
विषवत् तो आरम्भ में दीखे मार्ग अपवर्ग ॥७८॥
पर अमृतवत् अन्त म वैराग का मार्ग।
अपवर्ग सुस्वर्ग में, पहुंचाता यह सुमार्ग ॥७९॥
आत्मा चित्त प्रसन्न हों, ज्ञान हो निर्मल स्वच्छ।
जो सुख तब उत्पन्न हो सात्विक कहा सुस्वच्छ ॥८०॥
इस की प्राप्ति ही मनुज, का है परम पुरुषार्थ।
प्राप्त इसे यदि कर लिया जीवन लगा सुकार्थ ॥८१॥

अमृतवत् जो आदि में अन्त में विषके समान।
सुख जो होवे वह कहा, राजस मुणि गुणवान ॥८२॥
त्वक् आदि इन्द्रियों का, स्पर्श, आदि विषय साथ।
होनेसे सम्बन्धके, राजस सुख विख्यात् ॥८३॥
जो अज्ञान में डाल दे, आत्मा मोह में डाल।
आदि में अरु अन्त में, सुख तामस सुविशाल ॥८४॥
सुस्ती ऊंघ अरु नींद को, तामस सुख पहिचान।
नशे सुरादि के सभी, सुखों को तामस मान ॥८५॥
प्र-काशित् अन्धकारमय, द्यौः पृथिवि जो लोक।
उन में देव मनुष्य अरु, प्राणी अप्राणी लोक ॥८६॥
जो बसें उन में कोई न, तीन गुणों से मुक्त।
प्रकृति में उत्पन्न इन, से कोई जन्तु मुक्त ॥८७॥
निज सत्ता सह उपजते, गुण आत्मा सङ्ग तीन।
बंटे हुए सुविभिन्न ही, कर्म कराते तीन ॥८८॥
परम तपस्वी! सभी वे, शूद्र वैश्य जो लोग।
क्षत्रिय ब्राह्मण वीर अरु, ब्रह्मज्ञानी लोग ॥८९॥
प्रकृति से उत्पन्न वह, सबके करूं बखान।
भिन्न भिन्न गुण कर्म अब, मित्र तू सुन धर ध्यान ॥९०॥
परमात्मा को मानना, जानना ज्ञान विज्ञान।
कोमलता सुपवित्रता, क्षमा तपस्या ध्यान ॥९१॥
इन्द्रिय अरु मन रोकना, शुद्धाचार व्यवहार।
ब्राह्मण के यही प्राकृतिक, स्वकर्तव्य विचार ॥९२॥
युद्ध से कबहुं न भागना, चतुराई धृति दान।
शूरवीरता तज अरु, ऐश्वर्य सुमहान् ॥९३॥
यह क्षत्रियके कर्म हैं, निज प्रकृति अनुकूल।
जन्मसिद्ध, निज आत्मको, प्रिय, उन्नति सुखमूल ॥९४॥
वैश्य कर्म जो प्राकृतिक, गौरक्षा व्यापार।
खेतीबाडीको सदा, जानना सुव्यवहार ॥९५॥
सेवारूपी कर्म भी, स्वाभाविक ही जान।
शूद्र सुधर्मी के लिये, हे प्रिय मित्र सुजान ॥९६॥
अपने अपने कर्ममें, मन बुद्धि उलझा।
मानव सिद्धि पाय ज्यों, वह दूं मैं समझा ॥९७॥
सुन प्रिय मित्र सुसिद्ध हो, अपने कर्म प्रवीण।
जाते ज्यों हैं मनुज सब, बनते सदा अदीन ॥९८॥
जिससे निकले भूत सब, जिसने रचा यह जाल।
सभी, उसे ही पूज कर, सत्कर्मी शुभ चाल ॥९९॥

मानव सिद्धि पा सकें, अपने कर्मसे पूज।
उसी विभु: परब्रह्मको, जा सम और न दूज ॥१००॥
उत्तम रीतिसे किये, अस्वाभाविक धर्म।
से श्रेष्ठ गुणरहित भी, होवे सदा स्वधर्म ॥१०१॥
यत: लगे नहीं पाप उसे, करे जो अपना कर्म।
स्वाभाविक ही सर्वदा, ईश नियत जो धर्म ॥१०२॥
साथ उत्पन्न जो कर्म हो, दो युक्त यदि हो।
तो भी उसे नहीं छोडिये, कुन्तिसुत! शुभ सो॥१०३॥
आग ढकी धुएंसे रहे, त्यों दोषसे कर्म।
सभी मिले जुले ही रहें, अत:न त्याग स्वधर्म॥१०४॥
बुद्धि जिसकी नहीं फंसी, मन जिसने लिया जीत।
इच्छा जिसकी हट गयी, सभी लिया उस जीत॥१०५॥
निष्काम इस कर्मसे, सिद्धि पावे परम।
संन्यास सुत्याग इस से सिद्ध हो परम ॥१०६॥
सिद्ध ज्यों पावे ब्रह्मको, वह अब मुझसे सीख।
परम स्थिति: जो ज्ञानकी, संक्षेप से सीख ॥१०७॥
कुन्तिसुत! वह बुद्धिको, पाकर निर्मल शुद्ध।
मन धीरजसे रोककर, आत्मा करें प्रबुद्ध ॥१०८॥
मोह जलन की काट जड, छोड विषय जञ्जाल।
शब्दादिका सर्वथा, काट सकल भ्रमजाल ॥१०९॥
एकान्त सेवी मनुज, वाणी देह मन रोक।
थोडा भोजन कर रहा, सदा कामको रोक ॥११०॥
तत्पर योगाभ्यासमें, सदा लगाता ध्यान।
विषयक मन से रहित, वैरागी सुमहान् ॥१११॥
मैं मैं करना, घमण्ड, बल, लालच गुस्सा, काम।
संग्रह करना द्रव्यका, छोड, सदा निष्काम ॥११२॥
मैं मेरीको त्यागकर, शान्त एकरस धीर।
ब्राह्मी स्थिति समर्थ हो, बने ब्रह्म वह वीर ॥११३॥
बना ब्रह्म इच्छा नहीं करता न करता शोक।
सदा स्वयं आनन्दमें, पावे कबहुं न शोक ॥११४॥
प्राणि-अप्राणि सभीमें, अपना आप पहिचान।
उत्तम भक्ति प्राप्त वह, इकरस, करे, सुजान॥ ११५॥
उस भक्ति मेरीसे सके, जान वह जितना हूं मैं।
वास्तवमें मेरा रूप जो, अरु जैसा हू मैं ॥११६॥
सत्य तथ्य वह जान ले, फिर प्रविष्ट उस बीच।
हो जावे ही तुरन्त ही, घिरा मेरे ही बीच ॥११७॥
यदि मेरे आश्रित हुआ, सदा करे सभी कर्म।
मेरी ही सुप्रसन्नता, से वह पाय सुशर्म ॥११८॥
अविनाशी अरु नित्य जो, प्राप्तव्य सुस्थान।
उस पदके लिये सुगम ही, हो उसका प्रस्थान॥११९॥
अत: दे मुझमें चित्त तू, मेरे परायण हो।
सभी कर्म अर्पण मेरे, चित्तसे मेरा हो ॥१२०॥
दृष्टि-कोण यह धारण कर, आश्रय ले मम योग।
बुद्धियोग: सदा ही, हो, कर शुभ उद्योग ॥१२१॥
चित्त मेरे अर्पण करो, कृपा मेरी लो पा।
दुःख कष्ट अरु कठिन पथ, पार सकोगे जा ॥१२२॥
सभीके, पर यदि सुनोगे, नहीं मेरे यह वाक्य।
फंस घमण्डमें सर्वथा, होगे नष्ट अवश्य ॥१२३॥
ले आश्रय अभिमानका, 'नहीं लडूंगा मैं।'
है ऐसा जो मानता, झूठी है यह मैं ॥१२४॥
यह निश्चय तेरा सत्य न, बलपूर्वक ही स्वभाव।
तेरा वर्साटेगा युद्धमें, हो नहीं सके बचाव ॥१२५॥
स्वाभाविक निज कर्मसे, बन्धा हुआ हे वीर!
कुन्तिपुत हो विवश तू, करेगा तू हो अधीर ॥१२६॥
वही जो अब चाहता नहीं, करना वश अज्ञान।
करना ही वह पडेगा, फिर न हो क्यों सज्ञान?॥१२७॥
सभी प्राणिके हृदयके, देशमें व्यापा ईश।
उन्हें घुमा रहा ठहरता, स्वमायासे ईश ॥१२८॥
पुतली ज्यों चढी काठपर, उसे घुमावे चक्र।
त्यों ईश्वर सभी भूतका, घुमा रहा निज चक्र॥१२९॥
भरतवंश अवतंस हे! शरण उसी की जा।
कर अर्पण सभी भावना, उसीका ध्यान लगा॥१३०॥
नित्य धाम शान्ति परा, उसकी कृपासे पा।
सदा रहे निश्चिन्त तू, शान्त धाममें आ ॥१३१॥
गुप्त सुगूढ यह ज्ञान मैं, ने कहा तेरे समक्ष।
निःशेष हो विचार यह, करो मुकम्मल सहर्ष ॥१३२॥
जैसी इच्छा हो तेरी, कर उसके अनुकूल।
पर समग्र ही विचार, यह ज्ञान जो है सुखमूल॥१३३॥
फिर भी मेरा वचन यह, परमोत्तम शुभसार।
गुप्त सुगूढसे गुह्यतम, सुन, दे ध्यान, विचार॥१३४॥
कहूंगा तेरा भद्र मैं, कारण, तू मम इष्ट।
पक्का प्यारा सखा है, अत: कहूं तव इष्ट ॥१३५॥
मन अपना कर दे मेरा, भक्ति मेरी चित्त ला।
यज्ञ भी कर प्रिय भक्तिको, झुक सम्मुख मम आ॥१३६॥

नमस्कार कर मुझे ही, मुझे करेगा प्राप्त ।
सत्य प्रतिज्ञा यह मेरी, प्रिय तू है मोहे पार्थ! ॥१३७॥
त्याग सभी मत, धर्म सब, शरण मेरी ही आ ।
सभी पापसे मैं तुझे, छुडवाऊं स्वयमा ॥१३८॥
शोक न कर करूं मुक्त मैं, सर्वथा ही तुझे पार्थ ।
सत्य सनातन धर्म कर, पहुचाऊंगा यथार्थ ॥१३९॥
जो निन्दा मेरी करे, चाहसे सुने न गीत ।
मेरा यह, मत कह उसे, जो अभक्त न मीत ॥१४०॥
तप जिसने कबहुं न किया, भक्तिविमुख भी जो ।
कभी उसे गीता नहीं, कहिये न चाहे जो ॥१४१॥
परम गुप्त यह गीत जो, परम भक्तिको धार ।
भक्तसभामें गाय सो, पाये मुझे सुखसार ॥१४२॥
संशय इसमें कर नहीं, यही सर्वथा सत्य ।
मुझे करेगा प्राप्त वह, भक्तसखा सदा सत्य ॥१४३॥
मनुजोंमें उससे अधिक, प्रियकारि मम अन्य ।
विद्यमान है कोई भी, होगा भी नहीं अन्य ॥१४४॥
पृथिवीपर मोहे प्रिय अधिक, उससे कोई न और ।
जो भक्तोंमें गीत यह, फिरे सुनाता मुठौर ॥१४५॥
हम दोनोंके शुभ वचन, धर्मयुक्त संवाद ।
पढेंगे जो यह भक्त जन, वह करेंगे शुभवाद ॥१४६॥
ज्ञान बढाएंगे सभी का, ज्ञानयज्ञ से पूज ।
मुझी इष्टको सर्वथा, यह सम्मति मेरी बूझ ॥१४७॥
श्रद्धाभावनायुक्त जो, निन्दारहित सुभक्त ।
सुनेगा भी इस गीतको, वह सज्जनवर भक्त ॥१४८॥
या मुक्ति सुस्वर्ग अरु, अपवर्ग भी पा ।
पुराय सुकर्मा जनोंके, धाममें पहुचे जा ॥१४९॥
कुन्तिसुत ! क्या सुन लिया, एक चित्तसे आप ।
यह गीत, हुआ नष्ट फिर, अज्ञान संताप ॥१५०॥
मोह नष्ट हुआ आपका, संग्रामजित् वीर ।
हे अर्जुन ! अब सर्वथा, बतलाओ धृतिधीर ॥१५१॥
अर्जुन बोले वीर तब, संशय मिटे मम सर्व ।
आज्ञा मानूं आपकी, हूं स्थित समुख शर्व ! ॥१५२॥
नित्य सनातन स्थितिसे, डिगने न वाले सुब्रह्म ।
हे अच्युत भगवानजी, कृष्ण महात्मा ब्रह्म ॥१५३॥
मैंने कृपासे आपकी, कर लिया ज्ञान सुस्मरण ।
अज्ञानमोह दूर हो, की प्राप्त भव शरण ॥१५४॥
संजय बोला मैं सुना, निज कानों संवाद ।
यह विचित्र अरु हर्षकर, रोमाञ्चकर बार ॥१५५॥
वसुदेवसुत कृष्ण जो, भक्तसखा भगवान् ।
अरु कुन्तिसुत वीरवर, अर्जुन आत्मा महान् ॥१५६॥
व्याससऋषिकी कृपासे, परम गुप्त यह रहस्य ।
मैं सुन पाया स्वयं ही, श्रोत्रसे अपने सहर्ष ॥१५७॥
योगीराज श्रीकृष्ण जब, स्वयं रहे उच्चार ।
उन श्रीमुखसाक्षात्से, योग सुना शुभसार ॥१५८॥
धृतराष्ट्र महाराज हे ! पुनः पुनः कर स्मरण ।
सुविचित्र संवाद वह, हर्षमें होऊं मग्न ॥१५९॥
केशव अर्जुन कृष्ण अरु, सखाका शुभ संवाद ।
पुण्यरूप सुन कर हुआ, मन मम रहित् विषाद ॥१६०॥
दुःखनाशक भगवान् जो, हरिः कृष्ण ओंकार ।
उनका अद्भुत रूप वह, निराकार साकार ॥१६१॥
पुनः पुनः मैं कर स्मरण, हर्षित् विस्मित् हो ।
मैं पाता सुप्रसन्नता, चित्रस्थवत् हो ॥१६२॥
हे राजन् ! विस्मय बडा, हैरानी बडी हो ।
कैसे रूप दिखा दिया, भगवान्ने सो ॥१६३॥
होतो अति प्रसन्नता, होवे खुशी बेअन्त ।
भगवान् का रूप लख, सर्वथा ही वह अनन्त ॥१६४॥
क्यों देखा न आपने, वह भगवान् का रूप ।
जन्म जीत लेत तभी, सम्पद् सब पा भूप ! ॥१६५॥
योगिराज जहां कृष्ण हों, अर्जुन धनुषप्रवीण ।
नीति अटल,अरु लक्ष्मी,जीत भी हो हे कुलीन॥१६६॥
वहां ही हो ऐश्वर्य सब, मेरा यह मत जान ।
युद्धत्याग ले चैन हे, राजन्! सुन महाभाग! ॥१६७॥

नमस्कार भगवान् श्रीकृष्णको बारम्बार ।
अर्जुन संजय व्यासको, नमः अनेकों बार ॥१६८॥
भक्त मुझे भी जान लें, करें कृपा भगवान् ।
भक्त कबीर की कृपासे, मैं पाऊं भगवान् ॥१६९॥
धन्यवाद उन भक्तजी, को जो लिखाते गीत ।
भगवान्का मुर्तिसे, करके गहरी प्रीत ॥१७०॥
॥ इति श्री ओंकार कृष्णहरिः भगवदर्पणं भूयात् ॥

नक्षत्राणामहं शशी।

(गी: १०·२१)

(लेखक-स्वर्गीय बा० दा० तळवळकर, पूना.)

श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग में "नक्षत्राणामहं शशी" ऐसी एक विभूति बतलाई है. लोकमान्य तिलकने अपने "आर्क्टिक होम इन दि वेदाज् (वेदों में आर्टिक मूलगृह) पुस्तक में दर्साया है कि इस दसवें अध्याय की विभूतियोंका ऐतिहासिक महत्व बहुत है । तथापि लोकमान्य ने जिसका उपयोग किया है-

मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतूनां कुसुमाकरः ॥

इस एक श्लोकार्ध के सिवाय अन्य किसीभी विभूति के संबंधमें आजतक किसीने विचार नहीं किया दिखता।

२. शिरोभाग में अवतरित चरण के बारे में सहज ही मुझे ऐसी शंका आई. कि "नक्षत्राणामहं सूर्यः" कहनेके बदले भगवान् ' नक्षत्राणामहं शशी" क्यों कहते हैं ? 'सूर्यः' शब्द से छंदोभंग होता है. तो वहां दूसरा शब्द प्रयुक्त किया जा सकता था। अर्थात् 'शशी' कहनेमें कछ दूसरी बात होगी। इस प्रश्न का संभवनीय उत्तर ऐसा हो सकता है की नक्षत्रों के संबंध में आज जो अपनी कल्पना है, उससे भिन्न कल्पना श्रीकृष्णकाल में होनी चाहिये यह कल्पना क्या होगी ?

३. मेरी समझ में तीन चार कल्पना संभाव्य हैं

(१) नक्षत्र रातको ऊगे हुए दिखते हैं। चंद्र कभी दिनको भी ऊगा हुवा दिखता है, तथापि उसकी प्रभा रातही को दिखती है, और ऐसी दिखती है, कुछ दिनोंतक चंद्रप्रभाके कारण रातको भी नक्षत्र दिखते नहीं हैं। वैदिक कालमें भी यह कल्पना थी. कि नक्षत्र न दिखे, तो उससे यह नहीं पाया जाता, कि उनका अस्तित्वही नहीं है।

यह ऋचा देखिये।

अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा
नक्तं ददृश्रे, कुह चिद्दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि,
विचाकशच्चंद्रमा नक्तमेति ऋ:१ २४-१०

अर्थ— ये जो नक्षत्र (आकाश में उच्च स्थान में स्थापित किये हुए दिखते हैं. वे (केवल) रात्रि में देखने मिलते हैं । वे दिनको कहां जाते हैं? वरुण के (सृष्टि, नियमों को (तो) कोई बदल नहीं सकता वे आश्चर्यकारक हैं। चंद्रमा रातको विशष प्रकाशमान होता है । (वह दिनको तथा रातको दिखता है; परंतु रात को प्रकाशमान दिखता है ।)

इसके विपरीत सूर्य दिन को दिखता है. परंतु रात को नहीं दिखता । वह रातको कहां जाता है ? ऐसी एक शंका उन्हें आई है । सूर्य रात को नीचे जाता है। उसका एक शक्ल रूप और एक कृष्ण स्वरूप है। (एक तरफ प्रकाश और दूसरी तरफ अंधेरा पडता है।) उस कृष्ण स्वरूप के कारण अंतरिक्ष में अंधेरा पडता है; और सूर्य नीचे जानेपर अपना तेज चंद्रपर और नक्षत्रोंपर डालता है अथवा उसमें स्थापित करता है, इससे वे प्रकाशमान होते हैं। अर्थात् चंद्र और नक्षत्र दोनों परप्रकाशी हैं। इनमेंसे चंद्र बडा है और आल्हादकारक है, इसलिये " मैं नक्षत्रों में चंद्र हूं।" क्षत्र=तेज ; नक्षत्र = न+क्षत्र।

नक्षत्र 'न+क्षत्र' अर्थात् जिनमें स्वतः का तेज (क्षत्र)नहीं । इस तरहसे ऊपर दिया हुवा अर्थ सिद्ध होता है। यास्काचार्य ने ब्राह्मण में से अवतरण दिया है-'न इमानि नक्षत्राणि इति च ब्राह्मणम्'। इसपर दुर्गाचार्य कहते हैं " सूर्यरश्म्यनुवेधात्, दीप्यमानानि संति' सूर्यरश्मीके कारण वे ऐसे प्रका-

समान दिखते हैं। इसीतरह चंद्रमा 'विचाकशच्चंद्रमाः नक्षमेति तदपि अस्य एव भगवतः सूर्यस्य कर्म। अयमेव हि चंद्रमसि दीप्तिमादधान इव अस्तं याति।'

सूर्य अपना तेज इस चंद्रमें (और नक्षत्रोंमें,) रखकर अस्तको जाता है और प्रातःकालमें अपना वह तेज निकाल लेता और उदित होता है। ऐसा यह कर्म वरुण के उन नियमोंसे सिद्ध होता है, जो कभी बदलते नहीं और जिन्हें कोई कभी बदल नहीं सकता। अर्थात् नक्षत्र शब्द से परप्रकाशी चंद्र तथा नक्षत्रोंका (दोनोंका) बोध होता है। ये दोनों समानधर्मी हैं, उनमें जो श्रेष्ठ वह मैं चंद्र हूं। ऐसा अभिप्राय स्पष्ट ही हुआ। इससे जाहिर होगा, कि नक्षत्रोंके विषय में अपनी और प्राचीनों की कल्पना भिन्न है।

(२) दूसरी एक कल्पना ऐसी है - नक्षति= जो चलता है वह। चंद्र सूर्य, नक्षत्र, ये सब चलते हैं। उनमें आल्हादकारक और श्रेष्ठ मैं हूं।

(३) एक तिसरी भी कल्पना है। सूर्य चलता नहीं किंतु चंद्र और नक्षत्र चलते हैं। अर्थात् नक्षत्र और सूर्य में साधर्म्य नहीं किंतु नक्षत्र और चंद्र में साधर्म्य है।

ऋतेन देवः सविता शमायते॥ (ऋ ८।७५।१)

ऋत के मायने 'सृष्टिनियमों की स्थिरता। वरुण के नियम सत्य हैं, अर्थात् शाश्वत, निश्चल हैं। ऐसे इन निश्चित नियमों के ही कारण यह सविता देव निश्चल है। सूर्य निश्चल है, किंतु चंद्र और नक्षत्र चल हैं। सूर्य स्वयंप्रकाशी है, किंतु चंद्र और नक्षत्र परप्रकाशी हैं। इस दृष्टि से साधर्म्य रखनेवालों में, किंबहुना चंद्र भी (चलता है इसलिये) नक्षत्र ही है, इन नक्षत्रों में, मैं अधिक आल्हादक होने से शशी हूं।

(४) चौथी कल्पना इसी ऊपरकी कल्पनासे उद्भूत हुई है। तथापि उसकी श्रेणी भिन्न है। उसमें एक स्वरूप है। यह कल्पना यजुर्वेदमें स्पष्टतया बतलाई है।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चंद्रमा गंधर्वः तस्य नक्षत्राणि अप्सरसः भेकुरयो नाम। स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु॥
(यजुर्वेद- वाजसनेयी संहिता)

अर्थ- सुषुम्ण नामक सूर्यकिरण (चंद्रमा और गंधर्व को प्रकाश देता है) इनमें चंद्रमा गंधर्व है और नक्षत्र उसकी अप्सराएं हैं। इन नक्षत्रों का नाम भेकुरि है। वह सूर्यरश्मि हमारे इन ब्रह्मक्षत्रों को पावन करे।

इस रूपक की योजना चंद्र नक्षत्रों में पतिपत्नीभाव दरसानेके लिये है और चंद्रका वर्णन 'नक्षत्रोंका पति' ऐसा किया है। अर्थात् भगवान् का यह भाव स्वाभाविक है, कि नक्षत्रों का पति अथवा मुख्य ऐसा मैं हूं। यहां नक्षत्रों का मतलब केवल क्रान्ति वृत्त के २७ नक्षत्र लेना, अथवा संपूर्ण नक्षत्रसमूह लेना? एक पौराणिक कथा ऐसी है, की २७नक्षत्र दक्षकन्या हैं और वे चंद्रको दी गई। यहां का प्रश्न रातके संपूर्ण नक्षत्रसमूह का है

नक्षत्र सूर्यस्वरूपी हैं अर्थात् एक प्रकार अत्यंत दूरस्थ सूर्यग्रहमाला हैं। तब भगवान् उन्हें इस तरह हलके क्यों समझते हैं? इसका उत्तर यह है, कि तत्कालीन लोगों की समझ के बाहर भगवान् दाखला नहीं दे सकते। अर्थात् उन्हें अधिक ज्ञान हो, तोभी उसको बतलानेका कोई उपयोग नहीं होता। यह ज्ञान उसी एक विषय को लेकर स्वतंत्र रीति से विवरण किया जा सकता है। परंतु विषय स्वतंत्र रीतिसे लिया नहीं, और दूसरे किसी विषय में इस ज्ञान का उपयोग करना चाहें, तो वह लोगों की समझ में न आवेगा। उपमा और उत्प्रेक्षा के सदृश विभूतियोग के कथन में भी लोगों की सदृश विभूतियोग के कथन में भी लोगों की समझ का ख्याल अवश्य रखना चाहिये।

ऐसी ये चार कल्पनाएं वैदिक वाङ्मय के आधारसे दे सकते हैं। वस्तुतः सबके मूल में एकही कल्पना है।

नक्षत्र ।

(२)

[लेखक- स्वर्गीय वा० दा० तळवलकर, पूना]

नक्षत्र शब्दके बारेमें मॅक्डोनल और कीथ (Mac Donell & Keith) अपनी वैदिक सूचिमें कहते हैं (१९१२ प्रति पृ. ४०९)-

"Nakshatra is a word of obscure origin and derivation. The Indian interpreters already show a divergence of opinion. The S. B. resolves it into नक्षत्र (no power) explaining it by a legend. The निरुक्त refers it to the root नक्ष् to obtain following तै० ब्रा० Aufrecht and Weber derived it from नक्त-त्र guardian of night and more recently the derivetion नक्त-क्षत्र having rule over night seems to be gaining acceptance. The general meaning of the word therefore seems to be star."

इससे साफ जाहिर होता है कि 'नक्षत्र'शब्द की व्युत्पत्तिके संबंधमें प्राचीन कालसे बहुतसा मतभेद है। इस शब्दके अर्थके संबंधमें शंका आने लायक है । यह शब्द बहुत प्राचीन है । वैदिक वाङ्मयमें इस शब्दके लिए प्रतिशब्द ऐसे मिलते हैं- ऋक्ष्, स्तृ, नक्षस्, रोचना और तारका× परंतु निघंटु में केवल ऋक्ष और स्तृ ऐसे दो ही शब्द मिलते हैं । आश्चर्य की बात है, कि ऋग्वेद में केवल एकही रूप 'स्तृ' शब्दकी तृतीया बहुवचन 'स्तृभिः, मिलता है। पाश्चात्य भाषाओं में से बहुतोंमें इस 'स्तृ' शब्दके अथवा उस धातुके भू० भू० धातुसाधित 'स्तीर्ण' शब्दके रूप+ ताराके अर्थमें मिलते हैं । इससे इस 'स्तृ' शब्दका अत्यंत प्राचीनत्व प्रतीत होता है। असिरियन और इजिप्शियन भाषाओं में इसको प्रति शब्द क्या है ?

ऋग्वेदमें नक्षत्र शब्द पुल्लिंगी तथा नपुंसकलिंगी मिलता है। अर्वाचीन संस्कृतमें पुल्लिंगी प्रयोग नहीं मिलता।

ऋग्वेदमें यह शब्द पांचवार 'नक्षत्रम्' इस रूप में और एकएक बार नक्षत्रः, नक्षत्रा, नक्षत्रैः, नक्षत्रेभिः, और नक्षत्राणां, इन रूपोंमें मिलता है। इनमें नक्षत्रः रूप अवश्य पुल्लिंगी है । बाकीके

× तै० ब्रा०में इस शब्दकी व्युत्पत्ति ऐसी है-

सलिलं वा इदमंतरासीत् । यद तत् तत्तारकाणां तारकत्वम् ।

+ वेब्स्टरके कोशमें निम्न शब्द दिए हैं—

प्राचीन इंग्लिश	Steorra	डच	Ster
सॅक्सन	Sterro	डच	Sterre, Sterne
फ्रिझॉस	Stera	एच्. जर्मन	Sterro, Sterno
एम्. एच्. जर्मन	Stern	लॅटिन	Stella for a Sterna or Sterba
पर्शियन	Stare	ग्रीक	
I Cel.	Stearna	Armor & Corn	Steren
स्वीडन	Stjerna	W.	Seren
डॅनिश	Stierna	Baque	Izarra
गॉथ्	Stairno		

३

पुल्लिंगी अथवा नपुंसकलिंगी दोनों हो सकते हैं। नक्षत्रम् रूपभी दोनों लिंगोंमें जरूर हो सकता है, परंतु अधिकांश ऋचाओं में वह नपुंसकलिंगी है।

'नक्षत्रः' रूप ऋचा ६-६७-६ में आया है और उसके साथ 'विश्वदेवः' शब्द आया है। ऋचा मित्रावरुणको उद्देश्य करके कही है।

(१) ता हि क्षत्रं धारयेथे अनु द्यून् दृंहेथे सानुमुपमादिव द्योः। दृळ्हो नक्षत्र उत विश्वदेवो भूमिमातान्द्यां धासिनायोः॥ (६-६७-६)

मित्रावरुणने द्युका सानु मजबूत पकड कर रखा (जैसा कि सारथि रश्मीसे घोडेको पकड रखता है)। उससे नक्षत्र और विश्वदेवने, मानवोंके अन्नसे पुष्ट होकर, भूमि और द्यु को व्याप लिया।

इस ऋचा में, नक्षत्र और विश्वदेव, भूमि और द्युको व्याप सके, इसका कारण यह बतलाया है, कि मित्रावरुण ने द्युसानु अथवा द्युशिखरको स्थाणुसरीखा पकड रखा। यहां ऐसा कहा है, कि नक्षत्र और विश्वदेव मानवोंके अन्नसे पुष्ट हुये; मानो यदि वे पकड न रखते, तो सब नीचे खिसल पडता! विश्वदेव और नक्षत्र के मायने बहुधा सूर्य (दिनको) और चंद्र (रातको) अथवा नक्षत्रसमूह होगा। ऋषियोंकी धारणा ऐसी मालूम होती है, कि द्युमंडल ही में सूर्य और चंद्र दोनों थे। चंद्रके संबंधमें आज अपनी कल्पना अलग है। नक्षत्रका अर्थ चंद्र न लेकर नक्षत्रसमूह लेनेसे कमसे कम इस ऋचा के बारे में कुछ घुटाला नहीं रहता। यह कैसे मालूम हो कि उस समय सामान्य लोगों की समझमें नक्षत्र मानो द्युमंडलरूपी छतपर जडे हुए रत्न हैं, या कि वह कवियोंका अलंकारिक वर्णन है? सायण ने विश्वदेवका अर्थ सूर्य और नक्षत्रका अर्थ मेघ अथवा सूर्य किया है।

उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचां उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्। तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि॥ (ऋ० ७-८१-२)

ऊगनेवाला प्रकाशयुक्त जो नक्षत्र (सूर्य) है, वह सब गायोंको एकदम मुक्त कर देता है। हे उषा! तुम और सूर्य उदय होनेपर (हमारा) विभक्त धन हमें प्राप्त करा दो (ऐसा करो, कि जिससे हम उस धन से युक्त हों) [प्रिन्सिपल राजवाडे] सायण ऐसा, अर्थ करते हैं- 'सूर्यने नक्षत्रको प्रकाशित किया।' और यह आधार देते हैं-

सौरेण तेजसा हि नक्तं चंद्रप्रभृतीनि नक्षत्राणि भासंते। सुषुम्नः सूर्यरश्मिः चंद्रमा गंधर्व इति निगमः॥

परंतु यह कहा है, कि सूर्यने उषासहित उदय होनेपर नक्षत्र प्रकाशित हुवा। उन्होंने दिये हुए आधारमें यह कहा गया है, कि यह क्रिया रात्रि को सूर्य के बाद होता है। इसलिये सायण के अर्थ के बारे में संशय उत्पन्न होता है। श्रतिबोध ने भाषान्तर ऐसा किया है, 'सूर्यः नक्षत्रं अजिघत्' सूर्य के द्वारा नक्षत्र (चंद्र) प्रकाशमान होता है; परंतु यह अर्थ चिन्त्य है।

तथापि उपर्युक्त आधार बहुत महत्त्व का है, इस दृष्टिसे कि सुषुम्न नामक सूर्यरश्मी चंद्रादि नक्षत्रों को प्रकाशित करता है, चंद्र और रातको प्रकाशमान होनेवाले नक्षत्र स्वयंप्रकाशी नहीं हैं - ऐसी यह उनकी समझ उसमें उल्लिखित है। अपनी दृष्टिसे उनका भूल हो, कि चंद्रके साथ उन्होंने नक्षत्रोंको भी परप्रकाशी ठहराया है; परंतु पहिलेको अपन को यह देखना है, कि प्राचीन कालकी समझ क्या रही।

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि
वि यस्तस्तंभ रोदसी चिदुर्वी।
प्रनाकमृष्वं नुनुदे बृहंतं
द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम॥ (७-८६-१)

अर्थ- उसके (वरुण के) कृत्य (पराक्रम) बहुत बडे (महत्त्व के) हैं।

(१) उसने यह द्यावापृथिवी, जो कि विस्तृत है, स्थिर की। (२) नाक अर्थात् स्वर्गलोक को उसने ऊंचा उठाया और वहां का यह बडा नक्षत्र भी ऊंचा किया (मूलमें शब्द पुल्लिंगी

है) और भूमि को फैलाया। (प्रिं० राजवाडे)

यह ऋचा भी वरुण को उद्दिष्ट है । ऊपर की ६-६७-६ ऋचा के सदृश इस ऋचा में कहा है, कि वरुणने 'उर्वी रोदसी वितस्तंभ,' अर्थात् इस महान् द्यावापृथिवी को स्थिर किया, और बाद में कहा है, कि बृहन्तं प्रनाकं ऋष्वं नुनुदे द्विता नक्षत्रम्'। ऊपर की ऋचा में कहा है, कि (विश्वदेव) 'सूर्य और नक्षत्र' ने 'भूमिं द्यां आततान' और इस ऋचा में कहा है, द्विता नक्षत्रं ऋष्वं नुनुदे' सायण कहते हैं यश्च(वरुणः। बृहन्तं महान्तं नाकं आदित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्वैधं प्रनुनुदे प्रेरयति स्म। अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विप्रकारः।' इससे सायणमतानुसार दोनों ऋचाओं में एकही मतलब यह दिखता है, कि दिन में सूर्य को और रात में नक्षत्रों (चंद्र अथवा ताराओं) को भेजकर उनके प्रकाश से वह इस भूमिका विस्तार करता है। इस ऋचासे अनुमान हो सकता है,कि ऊपर की ऋचामें विश्वदेव सूर्य हा है।

(४) वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णुं यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम् ॥ (ऋ० १०-८८-१३)

अद्भुत कर्म करनेवाले(कवियों)देवों ने वैश्वानर अग्नि को उत्पन्न किया। (कभी नष्ट न होनेवाले Never decaying) सूर्य न महान् पुरातन कालके किसी को कष्ट न देनेवाले, चलनेवाले यक्षाध्यक्ष, धनाध्यक्ष और श्रेष्ठ वही देव, धन का बडा अध्यक्ष उत्पन्न किया।

इस ऋचा की देवता अग्नि है। तथापि इसमें ऐसा वर्णन है,कि देवाः वैश्वानरं अग्निं अजनयन्' देवों ने विश्वनरहित सूर्यात्मक अग्नि उत्पन्न किया और उसने 'प्रत्नं चरिष्णुं नक्षत्रं अमिनत्।' प्राचीन चरिष्णु नक्षत्र का लोप किया। दूसरे चरण के नक्षत्र को इतने विशेषण जोडे गए हैं- प्रत्न, चरिष्णु, यक्षाध्यक्ष+,तविष और बृहन्त। तथापि आज अपन को स्पष्ट अर्थ नहीं समझता। पहिली पंक्ति में सायण के अनुसार अग्नि को सूर्य समझें, तो दूसरी पंक्ति में चरिष्णु नक्षत्र को चंद्र समझना सयुक्तिक दिखता है। सायणभा०के अनुसार इस नक्षत्रका अर्थ कृत्तिकादि नक्षत्र हैं। परंतु'यक्षाध्यक्ष' और 'चरिष्णु' विशेषणोंसे मालूम होता है, कि यह शब्द नक्षत्रसमूहवाचक न होगा,किंतु एक व्यक्तिका बोधक होगा और वह व्यक्ति चंद्रवाचक अथवा सूर्यवाचक ही रहना चाहिये। जब ऐसा कहा गया है कि एकने दूसरे का तेजोभंग किया अथवा दूसरे को द्युतिहीन किया, तब एक को सूर्य और दूसरे को द्युतिहीन किया, तब एक को सूर्य और दूसरेको चंद्र मानना ही युक्त होगा। यक्षाध्यक्ष शब्दका निश्चितार्थ मालूम हो, तभी इसका निर्णय होगा. अन्यथा नहीं। सूर्यप्रकाशमें चंद्र उदित हो, तो वह निस्तेज ही दिखता है; इसलिये यह नक्षत्र चंद्रही होना चाहिये।

(५) सचन्तयदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवे रामविन्दन्। आ यन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो न किरद्धा नु वेद ॥ (ऋ० १०-१११-७)

इस ऋचामें दो आश्चर्योंका वर्णन है-(१) उषा और सूर्यके सम्मीलनसे सूर्यरश्मीमें कुछ अपूर्व तेज चमकने लगा; परंतु (२) इसके साथ, यहभी सच है, कि नक्षत्रका लोप हुवा और वह अदृश्य हुवा। सूर्यरश्मीने वस्तुतः उषाको खा लिया और चंद्रको निस्तेज किया। तथापि कविने इस स्वभावोक्तिका विरोधाभासालंकार से बहुत खूबी से वर्णन किया है। यहां 'नक्षत्र'का अर्थ चाहे चंद्र लेवें और चाहे नक्षत्रसमूह लेवें, दोनों चल सकते हैं; क्योंकि इस ऋचाके विधान दोनोंके विषयमें सत्यही ठहरेंगे। परंतु यहांतक की ऋचाओंपरसे एक-

+ लिडविग भाष्यकार के आधारसे यक्षका अर्थ A feat or a holy practice ऐसा बतलाते हैं। राजवाडे यक्ष का अर्थ यज्ञ करते हैं। ऐसा कह सकते हैं, कि नक्तंचर ऐसे जो यक्ष राक्षस हैं, उनका यह अध्यक्ष अथवा मुख्य अथवा यक्ष नक्षत्र ऐसा ही अर्थ होगा। वैसा हो, तो यह कह सकेंगे, कि यक्षाध्यक्ष शब्द से यहां नक्षत्रः चंद्र ऐसा शब्द निश्चयात्मक अर्थ है

वचनी नक्षत्रका अर्थ चंद्रही युक्त है।

(६) अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः॥ (ऋ० १०-१५६-४)

इस ऋचामें 'नक्षत्र' और 'सूर्य' ऐसे दो शब्द हैं। परंतु प्रश्न यह है, कि ये दोनों भिन्न समझना चाहिये, कि एक दूसरेका विशेषण समझना चाहिये। अर्थ यह होगा कि अग्निने सूर्यको तथा चंद्रको (नक्षत्र) अथवा कृत्तिकादि नक्षत्रोंको जनप्रकाशार्थ आकाश में स्थापित किया। सायण का कहना है, कि नक्षत्रको सूर्यका विशेषण बनावें, तो उसका अर्थ 'सतत चलनेवाला' ऐसा करना चाहिये। परंतु पहिली ऋचाके सदृश यहां दोनों भिन्न अर्थमें लेना योग्य है। पहिली ऋचा में 'उत' अव्यय रहनेसे, यह संदेह नहीं रहता, कि वहां दो उद्दिष्ट हैं, यहां अव्ययाभावसे संदेह रहता है।

इन छःही ऋचाओंका एकत्र विचार करें, तो नक्षत्र=चंद्र ऐसा अर्थ प्रायः सबही जगह लिया जा सकता है। (केवल एक जगह संशयास्पद है) नक्षत्र=कृत्तिकादि नक्षत्रसमूह ऐसा अर्थ करनेसे बाधा न होगी। एकाध जगह नक्षत्रका अर्थ सूर्य लेनेसे चल सकता है; परंतु बहुंशमें नक्षत्रका अर्थ चंद्र लेना योग्य है। वैदिक इंडेक्समें कहा है, कि अधिकांश जगहोंमें 'तारा' ऐसा अर्थ जम सकता है। परंतु यह चिंत्य है। यहां कृत्तिकादिसे मैं केवल २५ नहीं, किंतु समूचे नक्षत्र, ऐसा अर्थ लेता हूं।

(७) अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ (ऋ० १-५०-२;
अथर्व० १३।२।१७; २०।४७।१४)

इस ऋचामें नक्षत्राः नक्षत्राणि अथवा नक्षत्राः ऐसे दोनों रूप ले सकते हैं। सूर्य ऊपर आनेसे नक्षत्र लुप्त होते हैं; इसका बहारदार वर्णन इस तरह किया है, कि चोरके समान नक्षत्र रात्रिके साथ भाग जाते हैं।

इस ऋचामें सूर्यको विश्वचक्षस्, ऊपरकी ऋचामें जनेभ्यः ज्योतिः, और पहिली ऋचामें विश्वदेव कहा है; यह एकही अर्थसे मालूम होता है।

(५) सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
(अथर्ववेद १४-१-२)
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥
(ऋ० १०-८५-२; अथर्व० १४-१-२)

सोम= चंद्र नक्षत्रोंकी गोदमें रखा है (द्युलोकमें) ऐसा इस ऋचाका अर्थ है। यही मतलब उस पहेलीमें है, जो लडकियां कहा करती हैं—

"सूपाभर लाईमें एक रुपया"। परंतु सायण कहते हैं, "नक्षत्राणां उपस्थे द्युलोके तृतीयस्यां इतो दिवि सोम आसीत्। ततः गायत्र्याहृत् इत्यादि श्रुतेः।" सोमको नक्षत्र समझते थे, वह अत्यंत ऊंचीपर है, यह बात 'द्युलोके' इस शब्दसे स्पष्ट होती है (ऋचा ६-६०-६ परसे यही तत्कालीन लोगोंकी धारणा मालूम होती है)। यहां ऐसा आशय दिखता है, कि आदित्यसे भी सोम= चंद्र वरिष्ठ है; क्योंकि यह सोमकी स्तुति है।

वेदोंमें दो प्रकारके उल्लेख मिलते हैं-(१) चंद्र आदित्यके ऊपर है, (२) वह नीचे अंतरिक्षमें है। देखिये—

(१) 'यथाग्निः पृथिव्याः समनमदेवं मह्यं भद्राः सन्नतयः सन्नमंतु वायवे समनमदंतरिक्षाय समनमद् यथा वायुरंतरिक्षेण सूर्याय समनमद् दिवे समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यः समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमत्।

इसमें वर्णन है, कि अग्नि पृथ्वीसे वायु और अंतरिक्षमें नत हुआ, वायु अन्तरिक्षसे सूर्यको और द्युको तथा सूर्य द्युसे चन्द्र और नक्षत्रोंको तथा चन्द्र नक्षत्रोंसे वरुणको नत हुआ। (भा० ज्यो० इ० पृ० १७) सूर्य द्युलोकमें आक्रमण करता है और चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डलमें संचार करता है। सूर्यसे चन्द्र ऊंचा समझा जाता था।

(२) (तै० ब्रा० ३-११-१) द्यौरसि वौश्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। ... आदित्योसि दिविश्रितः चन्द्रमसः प्रतिष्ठा। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। संघातस्य प्रतिष्ठा युष्मासु।

इन दो जगह ऐसी लोगोंकी समझ दिखती है, कि चन्द्र सूर्यके ऊपर है। परंतु वेदोंमें यह भी कल्पना है, कि चन्द्र सूर्यके नीचे अपने पास है।

सुपर्ण एत आसते मध्य आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यहतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ (१-१०५-११)

टीकाकारोंमें इस बातपर मतभेद है, कि इस ऋचामें सुपर्ण कौन है और वृक कौन है। सायण इस तरह अर्थ लेते हैं—

सुपर्णः रश्मि (सुपर्णाः रश्मिनाम एतत् शोभनपतना एते सूर्यरश्मयः आरोधने सर्वस्यावरके प्राप्ते दिवाऽन्तरिक्षमध्य आसीत् वतन्ते। सूर्यरश्मयः पथो मार्गात् वृकं अरण्यश्वानं सेधन्ति। निषेधन्ति निवारयन्ति।)

(२) यास्क-'आप इति अन्तरिक्षनाम। यव्हतीरापः महदन्तरिक्षम्। पथः पथा द्वादशरश्म्यात्मना मार्गेण तरन्तं वृकं चन्द्रमसं सूर्यरश्मयः निषेधन्ति। अहनि हि सूर्यरश्मिभिः निरुद्धश्चन्द्रमा निष्प्रभो दृश्यते, अतः निष्प्रभं कुर्वन्ति इत्यर्थः॥'

(३) पंडितः- 'द्युलोकके अन्तर्भागमें भागनेवाले सुपर्ण हैं; विस्तीर्ण उदकपर तैरनेवाला जो भेडिया है, उसको वे रास्तेमेंसे हटा देते हैं- ऐसा अर्थ करते हैं परन्तु यह भी कहते हैं, कि सुपर्ण कौनसा, यह स्पष्ट मालूम नहीं होता और कहते हैं कि वृकः का अर्थ मेघरूपी वृत्र ऐसा लेना चाहिये।

स्वर्गीय दीक्षित महोदयको यास्कमतका अर्थ ठीक जँचता था और मुझे भी वह यहां ठीक मालूम होता है; किंतु सूर्यको तथा चन्द्रको सुपर्ण शब्द (अन्तरिक्षमें फिरनेवाले पक्षी) लागू होता है; किंबहुना मेरे ख्यालसे अन्य ग्रहोंका भी सुपर्णमें अन्तर्भाव होगा।

(९) अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ (१०-६८-११)

"काले घोडेको जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे सुशोभित करते हैं, वैसे पितरोंने आकाशको नक्षत्रोंसे सुशोभित किया।" इस तरह यहां कल्पना की है। नक्षत्रोंको सुवर्णालंकारोंकी उपमा दी है।

(१०) देवानां दूतः पुरुधः प्रसूतोऽनागान्नो वोचतु सर्वताता। शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम्॥ (३-५४-१९)

"अग्नि हमें सर्वतः निष्पाप ठहरावे और यह बात तीनों लोक और अहोरात्र सुनें (time and space)।" इस तरह इसमें अग्निकी प्रार्थना है। यहां स्पष्ट मालूम होता है, कि 'नक्षत्रैः' शब्दसे रात्र समझना चाहिये।

इन ऋचाओंसे बहुंशमें यह समझ पडता है, कि नक्षत्रोंके विषयमें प्राचीन ऋषियोंकी क्या धारणा थी। 'स्तृभिः' शब्दयुक्त ऋचाओंसे और भी थोडा अधिक ज्ञान होगा, इसलिये वे ऋचाएं भी यहां उद्धृत करते हैं।

(११) नाकं स्तृभिः पिपेश।
पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्य अस्य शासं तुरासः। वि राय और्णोद्दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिः दमूनाः॥

इसमें अग्निका एक चमत्कार वर्णन किया है और यह दरसाया है, कि ऐसे समर्थ अग्निका कर्म उत्साहसे करें, तो वह अपने ऊपर भी वैसी ही कृपा करेगा। प्रसन्न अग्निने स्वर्गको तारागणोंसे अलंकृत कर दिया है। वह अपना घर भी उसी तरह सुशोभित करेगा। संपत्तिके द्वार उसने खुले कर दिये हैं। परन्तु अग्निकर्म उसी तरह करना चाहिये जैसे पिताकी आज्ञाको पुत्र उत्सुकतासे मानता है। [दुर— door शब्द ध्यानमें रखने लायक है।]

(१२) प्रत्वक्षसः प्रतवसो विरप्शिनोऽनानता अविथुरा ऋजीषिणः। जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानज्रे केचिदुस्रा इव स्तृभिः॥ (ऋ० १-८७-१)

इस ऋचामें नक्षत्रोंकी उपमा अलंकारोंको दी गई है । इसमें अधिक कुछ बतलाया नहीं दिखता। अन्य सब मरुतोंके विशेषण हैं ।

(१३) महान्तो मह्ना विभ्वो विभूतयो दूरेदृशो ये दिव्या इव स्तृभिः। मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितारः आसभिः संमिश्ला इंद्रे मरुतः परिष्टुभः ॥ (ऋ० १-१६६-११)

इसमें भी मरुतोंका वर्णन है । नक्षत्रोंसे द्युप्रदेश तथा मरुत् दूरेदृशः रहते हैं। जैसे आकाशके उच्चतम प्रदेश अत्यंत दूरतक प्रकाशित होते हैं, वैसे मरुत् इ० ।

(१४) स होता विश्वं परिभूत्वध्वरं तमुहव्यै-र्मनुष ऋञ्जते गिराः। हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद्यौर्न स्तृभिश्चितयद्रोदसी अनु ।
(ऋ० २-२-५)

'नक्षत्रोंसे आकाश चमकीला दिखता है, उसी तरह वह अग्नि द्यावापृथिवीको चमकीला करता है। नक्षत्रोंसे आकाश दिखता है, वैसेही अग्निकी ज्वालाओंसे द्यावापृथिवी दिखते हैं ।

(१५) द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः। रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥
(ऋ० २-३४-२)

यहां भी ऊपरकी उपमा आई है। जिस तरह द्युलोक नक्षत्रोंसे ज्ञात होता अथवा शोभा देता है, उसी तरह मरुत् अपने अलंकारोंसे ज्ञात हुए अथवा शोभायमान हुए। '

(१६)ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तः द्यामिव स्तृभिः। विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमे दमे ॥
(ऋ० ४-७-३)

'सत्यवान् और महाप्रज्ञ अग्निने उसको तारकाओंसे (अलंकृत) द्युसरीखा देखकर उसको सब यज्ञोंका प्रवर्धक समझकर घरघरमें (उसका ग्रहण किया ।)

तारकाओंसे अलंकृत जैसे आकाश वैसे अग्नि. इसका क्या मतलब ? नक्षत्रैः पृथ्वीं (चित्ररूपां वेदिं वा करोति) - निरुक्त ।

(१७) अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिरन्या पिपिशे सूरो अन्या । मिथस्तुरा विचरन्ती पावके मन्म श्रुतं नक्षत ऋच्यमाने ॥
(ऋ० ६-४९-३)

'अरुणकी (घोडा-सूर्य) दो कन्याएं हैं। परंतु बिलकुल भिन्न रूपकी हैं (एक काली एक गोरी) एक तारेके साथ युक्त हुई और एक सूर्यके साथ (आलिंगन दिया)। दोनोंका एक दूसरीसे बनता नहीं । एक दूसरीका दर्शन नहीं चाहती (जहां एक आई, वहां दूसरी अवश्य ही चली जायगी)। दोनों हमेशा घूमनेवाली हैं......

(१८) प्रवीराय प्रतवसे तुरायाजा यूथेव पशुरक्षिरस्तम्। स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः॥ (६-४९-१२)

'जैसे गोपाल गायोंको (संध्या समय वे अपने अपने घर आवें इसलिये हांकता है) उसी तरह उस बलशाली वीरके लिये (स्तोत्र कहो)। जैसे तारिका (स्वर्गको गांठें) स्वर्गको पहुंचें, उसी तरह विद्वान् स्तोताकी अंगुलीरूप स्तोत्र (विपः) वह अपनी तनुमें लटका लेवे । '

इसके अतिरिक्त नक्षत्रके प्रतिशब्द 'ऋक्ष' 'रोचना' और 'नभ' (उदाः द्यौरिवस्थयमानो नभोभिः।) हैं। परंतु जैसे स्तृभिः शब्दसे, वैसेही इन शब्दोंकी ऋचाओंसे, अपने ज्ञानमें कोई बाढ नहीं दिखती ।

सायणभाष्यमें व्युत्पत्ति इत्यादि ऐसी मिलती है—

(१) नक्षत्रैः नक्ष गतौ ।
(२) अमिनक्षि यजि-वन्धिपतिभ्योऽत्र नित्य-त्रन्प्रत्ययक्षः। सततं गतारं (१०-१ १५६,४)

(३) 'न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम् (उणादि सूत्र Apte कोश) क्षीयतेः क्षरतेर्वा ।

नक्षत्रमिति निपात्यत इति (सायण १-१५०-२)
(४)नभ्राण्नपादिति नञ् प्रकृतिभावः नञ् स्वरः।

(५) नक्षत्र शवसां- देवान्प्रति गच्छन् स्तोत्रबलानां विशाम् इ०

(६) नक्षं त्रायन्ते इति नक्षत्रा ग्रहचमसादयः तेषां एषा उपस्था उपस्थाने सोमो रसात्मकः आहितः ।

(७) यद्वा प्रसिद्धानामेव नक्षत्राणां उपस्थे उपस्थाने द्युलोके सोम आहितः तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् तं गायत्र्याहरत् इत्यादि श्रुतेः । (१०-८५-२)

(८) नक्षत्रा नक्षत्राणि देवगृहरूपाणि देवगृहाः वा नक्षत्राणि । इति श्रुत्यन्तरात् ।

(९) यद्वा इहलोके कर्मानुष्ठाय ये स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ते नक्षत्ररूपेण दृश्यन्ते । तथा च श्रूयते । यो वा इह यजतेऽमुं लोकं नक्षते तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।

(१०) यद्वा तेषां सुकृतिनां ज्योतींषि नक्षत्राणि उच्यंते एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि इति आम्नायात् । (१-५०-२)

(११) नक्षति सततं गच्छति इति नक्षत्रः नाक्षि गतौ । अमिनक्षि इत्यादिना त्रन् प्रत्ययः सततं गन्तारः ॥ (१०-१९६-४)

(१२) सौरेण तेजसा हि नक्तं चंद्रप्रभृतीनि नक्षत्राणि भासन्ते। सुषुम्नः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा गंधर्व इति निगमः ।(७-८१-२)

तै० ब्रा० तृतीयाष्टक प्रपाठक अनुवाक २ में नक्षत्र उनकी देवता और नक्षत्र के संबंध में चमत्कृतिजन्य कथाएं दी हैं और तै० भा०२।१।८। में निम्नलिखित उत्पत्तियां आई हैं।

१ प्रजापतिर्वा अग्रे क्षत्राण्यासेपुः । तेषामिन्द्रः क्षत्राण्यभवन्नति तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।

२ सलिलं वा इदमंतरासीत् यदतरत् तत्तारकाणां तारकत्वम् ।

३ यो वा इह यजते स अमुं लोकं नक्षते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ।

४ देवगृहाणि नक्षत्राणि । य एवं वेद । गृह्येव भवति ।

५ यानि इमानि पृथिव्याश्चित्राणि तानि नक्षत्राणि ।

(तै० ब्रा० १।५।२)

(१४) निघण्टु में ये बातें मिलती हैं—

ऋक्षाः स्तृभिः इति नक्षत्राणाम् ।

१ नक्षत्राणि - नक्षतेर्गतिकर्मणः ।

नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्

ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते ।

स्तृभिः तीर्णानीव ख्यायन्ते ।

इन संग्रहों में दो व्युत्पत्तियां हैं, परंतु अर्थ तीन चार हैं । अब इनका पौर्वापर्य देखें –

(१) नक्षति सततं गच्छति नक्षतेर्गतिकर्मणः ॥

और न क्षरति इति ये दो व्युत्पत्तियां परस्पर बिलकुल भिन्न हैं । इससे नक्षत्रों के संबंधमें ऋ० १-२४-१० में जो उद्गार हैं—

अमी ये ऋक्षा निहितास उच्चा, नक्त ददृक्षे, कुहचिद्दिवेयुः । अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चंद्रमा नक्तमेति॥ (१-२४-१०)

"ये नक्षत्र (अथवा ग्रह चन्द्रमा) रातको दिखते हैं दिनको कहीं चले जाते हैं ।"

नभोभिः नक्षत्रैः स्मयमानः प्रकाशमानः द्यौः ॥ (१०-२४-६)

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्धधे रोचना दिवि ॥ (१-८१-१)

अस्य चरतः भुवस्य विश्वा दिवो रोचना पप्रिवांसम् (गृणीषे)॥ (१-१४६-१)

इससे मालूम होता है, कि नक्षत्रोंका स्थान द्युलोक है ।

इस तरहकी कल्पना प्रथमतः उत्पन्न हुई । [ऋक्षा शब्दका अर्थ सामान्यतः नक्षत्र ही लेना चाहिये, केवल सप्तर्षि ऐसा संकुचित नहीं लेना । यास्काचार्य भी यही अर्थ लेते हैं और वही योग्य है। [स्वर्गीय श्री०पण्डित इसका अर्थ सप्तर्षि लेते हैं, परंतु वैसा न होगा । सायण सप्तर्षि अथवा (सामान्य) नक्षत्र ऐसा अर्थ लेते हैं । वाजसेनी सप्तर्षि लेते हैं (सायणभाष्यमें देखिये)] अथवा

यह कल्पना आनेपर 'नक्षति' धातुसे नक्षत्र शब्दकी व्युत्पत्ति स्वीकृत हुई। आगे यह ज्ञान होनेपर, कि नक्षत्रोंमेंसे सूर्य, चन्द्र और ग्रह घूमते हैं, यह कल्पना उत्पन्न हुई, कि नक्षत्र स्थिर हैं और बादमें यह व्युत्पत्ति की गई, कि 'नक्षरतीति नक्षत्रम्।

भद्रा अश्वाः हरितः सूर्यस्य।
परिद्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।

(सद्यः एकेन अह्नः) सूर्यके भद्र और हरित अश्व एक दिनमें द्युलोक और पृथ्वीके आसपास प्रदक्षिणा करते हैं। (१-११५-३)। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र सबही हमेशा (पृथ्वीकी दैनंदिन गति के कारण) घूमते हैं इसलिये सबको नक्षत्र मानते थे। नक्षत्रः और नक्षत्रं इस एकवचनी प्रयोगमें प्रायः सब ऋचाओंमें चन्द्रको 'नक्षत्र' शब्दसे निर्दिष्ट किया हुआ ऊपर देखा है। इस ऋचामें भी (१-२४-१०) ऋक्षके साथ जो चन्द्रका उल्लेख आया है, वह इसी कारणसे है।

'नक्षत्रं प्रत्नमिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्।' (१०-८८-१३)

इसमें स्पष्ट कहा है, कि नक्षत्र चरिष्णु चर है। फरक इतना ही है, कि यहां नक्षत्र शब्द एकवचनी है और इस दृष्टिसे उसको चन्द्रके अर्थमें लेना इष्ट होगा। तथापि वह समुदायवाचक नाम लिया जाय, तो उसका अर्थ नक्षत्रसमूह ले सकते हैं।

तीसरी बात इसी ऋचा १-२४-१० से यह मालूम होती है कि इस ऋचाका जन्मस्थान निःसशय हिंदुस्थानहीमें है। क्योंकि उत्तरध्रुवपर यह विधान नहीं किया जा सकता, कि ये नक्षत्र रातको कहीं चले जाते हैं और चन्द्रमाका प्रकाश देदीप्यमान है; यह वर्णन यहां हिंदुस्थानमें ही हो सकेगा। तथापि इस बातका यहां महत्त्व नहीं है। इस ऋचासे हम देख सकते हैं, कि चन्द्र और ताराओंको जो नक्षत्र— हमेशा घूमनेवाले कहा है, वह उनकी रोजकी गतिके कारण कहा है। इस ऋचासे यह स्पष्ट मालूम होता है, कि 'नक्ष' गतिमान् और सातत्य बतलानेवाला 'त्र' प्रत्यय इनके योगसे नक्षत्र शब्दकी प्रथम उत्पत्ति हुई। बाकी व्युत्पत्तियां बादमें हुई। इस दृष्टिसे नक्षत्र शब्द सूर्यको भी लागू हो सकता है, क्योंकि सूर्य स्थिर है, ऐसी कल्पना ऋग्वेदमें है (१-१६६-१); परंतु वह पीछेसे उत्पन्न हुई, यही स्वाभाविक है। उपर्युक्त एकवचनी ऋचाओंमें एकाध जगह नक्षत्र= सूर्य ऐसा विकल्पसे अर्थ सायणाचार्य सूचित करते हैं, वह इस दृष्टिसे बराबर है।

'नक्ष' ऐसा अकारान्त शब्द ऋग्वेदमें संज्ञाके अर्थमें नहीं मिलता। नक्ष् धातु आना, पहुंचना, तेजोभंग करना, लुप्त करना- इन अर्थोंमें अनेकवार आता है। ऋ० १०-९२-२ की टीकामें सायण नक्ष शब्द संज्ञाके रूपमें देते हैं और 'नक्षं त्रायन्ते इति नक्षत्राः' ऐसी व्युत्पत्ति देते हैं, अर्थात् नक्षत्र के मायने ग्रहचमसादि पात्र और आकाशके नक्षत्र ऐसा अर्थ देते हैं। यह शब्दकोशमें नहीं मिलता। वे कहते हैं, कि ग्रहचमसादि सोमपात्र हैं, यही नक्षत्र हैं। इससे उनका आशय ऐसा दिखता है, कि नक्ष= गतिमान्= बहनेवाला जो सोम, ऐसा अर्थ लेना चाहिये। इसी तरह उनका यह अभिप्राय दिखता है, कि नक्षत्रोंके अंकपर रहनेवाले इस आकाशस्थ सोमका नक्षत्र सम्हालते हैं, इसलिये उन्हें नक्षत्र कहते हैं। ऊपर जो कहा कि 'त्र' सातत्य बतलाता है, उससे यह अर्थ भिन्न है। यहां 'त्र' संरक्षक ऐसा अर्थ है (cf. गायत्री, गायंतं त्रायसे यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता।) नक्ष=नक्त=रात्रि, ऐसा अर्थ कोई नहीं देता ऐसा अर्थ नक्ष धातुसे निकल सकता है परंतु ऊपर जैसे नक्षत्रके मायने सूर्य अथवा चंद्र अथवा तारका ऐसा अर्थ निष्पन्न हुवा, उसी तरह नक्ष=दिन अथवा रात ऐसा द्व्यर्थी अर्थ निष्पन्न हो सकेगा और नक्षत्रके मायने दिनका अथवा रातका पालक ऐसा अर्थ किया जा सकता है। लॅटिन भाषामें नक्ष= Nox=Noctis =Night रात्रि ऐसा अर्थ है और वह Equi-nox शब्दमें दिख पडता है। यहां भी Equi-nox = Equal night ऐसा अर्थ माना जाता है, इसके

बदले Equal night and day ऐसा अर्थ बाजवी है. वही ठीक है। फरक इतनाही है कि नक्तके उच्चारके बदले जैसे लॅटिन लोगोंने नॉक्टिस् उच्चार किया. अथवा अंग्रेजोंने निक्त (Night) उच्चार किया उसी तरह नक्षके बदले लॅटिन लोगोंने नाक्ष उच्चार किया। शब्द वही है; अर्थ में किंचित् फेर हुआ। मूल अर्थ था. दिन या रात; उसके बदले लॅटिन लोगोंने केवल रात्रिका अर्थ ग्रहण किया. ऐसा दिखता है। पाश्चिमात्य भाषाओंमें नक्त शब्दके प्रतिशब्द देखें, तो मालूम होगा, कि वे सब नक्त अथवा नक्ष शब्दके अपभ्रंश हैं।

अँग्लोसॅक्सन्	Neaht, Niht
गॉथ्	Nahts
आइस्लंड	Nott for Natt
स्विस्	Natt
डॅनिश	Nat
लॅटिन्	Nox, Noctis
ग्रीक	... ...
लिथूनियन्	Nakhs नक्तिः
ओल्ड स्लाव्	Nashti
ओल्ड सॅक्सन्	Naht
ओ एच् जर्मन	,,
ओल्ड फ्रीज	,,
डी व एन् एच्.	,,
जर्मन	Nacht नक्त
रशियन	Natsh
आयरिश	Nacht
वेल्श	Nos

इनमेंसे लिथूनियन, एन्. एच. जर्मन और आयरिश शब्द 'नक्त' ही हैं। बाकीके शब्दोंमेंसे 'क' का उच्चार लुप्त हुआ है और लॅटिनमें नक्ष रूप रह गया है। ध्वनिदृष्ट्या रशियन और वेल्श रूप नक्ष शब्दहीसे निकले दिखते हैं। पाश्चिमात्य विद्वान् लोगोंने नक्षत्रमें मूल शब्द नक्त+त्र अथवा नक्+क्षत्र ऐसी कल्पना की है। इसका कारण यही होगा, कि उन्हें नक्ष शब्द कोशमें नहीं मिला। परन्तु सायणाचार्यने नक्ष शब्द दिया है और उसका अर्थ 'सोमरस' भी हो सकेगा. चन्द्र तथा दिन और रात भी हो सकेगा। इसलिये अब पाश्चात्योंकी व्युत्पत्ति लेनेकी कोई गरज नहीं। नक्ष+त्र ऐसा शब्द लेकर उसका अर्थ Guardian of day or night ऐसा भी ले सकते हैं। नक्ष शब्दसे उन्हें रात ऐसा संकुचित अर्थ नहीं मिला, इसलिये उन्होंने नक्तत्र अथवा नक्क्षत्र-नक्क्षत्र ऐसी व्युत्पत्ति लडा दी। सायणके 'नक्षं त्रायन्ते' इस निर्वचनसे यह अडचन दूर हुई सी दिखती है; परंतु वे नक्ष शब्दका अर्थ सोम = चंद्र ऐसा अलंकारिक लेते हैं। अर्थात् नक्षत्र = चन्द्रका जो संरक्षण करते हैं, अर्थात् चन्द्रके अतिरिक्त जो नक्षत्र हैं, जिनके अंकपर चन्द्र है। यह बात सहज ध्यानमें आवेगी, कि चन्द्र नक्षत्रपति है, यह अर्थ और नक्षत्र= चन्द्रके अतिरिक्त जो हैं, यह अर्थ, ये परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। लॅटिन Nox, Noctis ऐसे जो दो रूप माने गए, इसका कारण क्या यह ही, कि Nox का मतलब ध्यानमें नहीं आया ?

(२) अब नक्षत्र शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति देखें। इस व्युत्पत्तिमें दो भाग पडते हैं– न+क्षत्र और यह नञ्तत्पुरुष समास करते हैं। नक्ष+त्र इसमें नक्ष् धातु वैदिक है और उस अर्थका बोध करनेवाली ऋचा भी देखनेमें आ गई। परंतु न+क्षत्र यह व्युत्पत्ति ब्राह्मणमें मिलती है और तदर्थक ऋचा भी मिलती है, वे अब देखी जांय।

'नेमानि क्षत्राणि इति च ब्राह्मणम्'– (निघण्टु) नक्ष= तेज, बल, धन; इनको स्वतःका तेज अथवा बल न होनेके कारण इन्हें "नक्षत्राणि" कहते हैं। यह व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मणमें मिलती है। (२,१-२-१८-१९)। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (२-७-८-३)

प्रवाहुग्वा अग्रे क्षत्राण्या तेपुः। तेषामिंद्रः क्षत्राण्या भवन् तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्।

ऐसा वचन मिलता है (भारतीय ज्योतिः-शास्त्रका इतिहास, पृ० ५६)। तै० ब्रा० तृतीयाष्टक प्रपाठक १ अनुवाक् २ में नक्षत्र, उनकी देवता

और नक्षत्रोंके संबंधमें चमत्कारिक कथाएं दी हैं। सायणने कहा ही है, कि—

सौरेण तेजसा हि नक्तं चन्द्रप्रभृतीनि नक्षत्राणि भासन्ते । सुषुम्नः सूर्यरश्मिः चंद्रमा गंधर्व इति हि निगमः । सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गंधर्वः ॥ (तै० सं० ३।४।७)

सायण का स्पष्ट वचन है, कि चंद्र तथा रातको प्रकाश करनेवाले तारे सूर्यके तेजसे प्रकाशित होते हैं, सुषुम्न नामक सूर्यकिरण उनको प्रकाशित करता है । सायण की समझमें यह कल्पना तै० संहितामें (७-८१-२) 'उद्यन् नक्षत्र अर्चिषत्' इस ऋचामें है।

सूर्यके अस्त होनेही पर अग्नि, चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रकाश उज्ज्वल मालूम होता है। इससे यह कल्पना हुई, सूर्यने अस्तके पश्चात् अपना तेज इनमें स्थापित किया।

तथा च श्रूयते। अग्नि वा आदित्यः सायं प्रविशति । तस्मादग्निः दूरान्नक्तं ददृश इति । (सायण १-१०९)

उपर्युक्त टीकामें वस्तुतः यह कल्पना चंद्रके विषय में यथार्थ है। क्योंकि नक्षत्र स्वयंप्रकाशी हैं और चन्द्र परप्रकाशी है। परंतु 'नेमानि नक्षत्राणि' इस व्युत्पत्तिसे स्पष्ट है, कि बहुत दिनोंतक यह कल्पना सर्वमान्य थी, चन्द्रके समान नक्षत्र भी परप्रकाशी हैं। आगे चलकर जब चंद्रसूर्यकी नक्षत्रोंमें से गतिका ज्ञान हुआ, तब बहुधा किसी खग्रास सूर्यग्रहण के बाद यह कल्पना बदल गई होगी, कि नक्षत्र भी परप्रकाशी हैं।

सूर्य स्थिर है, यह कल्पना ऋग्वेदमें भी मिलती है। अर्थात् वह पीछेसे आई होगी। अथवा यदि यह मानना हो, कि वह शास्त्रशुद्ध कल्पना मूलसे ही थी, तो गतिमान् नक्षत्र और सूर्यको कविकल्पना समझना चाहिये। ऐ० ब्रा० (१४६) में कहा है, कि सूर्यका अस्तोदय नहीं है; सूर्य स्थिर है। १-१४६-१ देखिये—

स वा एव न कदाचिन्नास्तमेति नोदेति ।

'न क्षीयते' यह कल्पना चंद्र और नक्षत्रमें फरक बतलाने ही के लिये उत्पन्न हुई है। यह कल्पना 'न क्षरति' की कल्पना आनेके बाद उद्भूत हुई होगी। दोनों कल्पनाएं केवल ज्योतिषियोंके ध्यानमें आई होंगी। व्याकरणकार भी नक्षत्रको नञ्तत्पुरुष समास बतलाते हैं।

नभ्राण्नपादिति नञ् प्रकृतिभावः ।

इस पाणिनीय सूत्रमें 'अ' के बदले 'न' कार जिन शब्दोंमें कायम रहता है, ऐसे शब्दोंमें 'नक्षत्र' शब्दकी गणना की गई है। इससे पाणिनीको यह मान्य न होगा, कि यह शब्द नक्ष् धातुसे निकला है; अथवा न+क्षत्र यह व्युत्पत्ति पाणिनीय कालके पहिलेकी होगी, उसको सार्थ करनेके लिये उसने इस सूत्रमें नक्षत्र शब्दका समावेश किया। इस सूक्तसे यह निश्चित अनुमान नहीं हो सकता, कि पाणिनीय कालमें नक्षत्रोंको परप्रकाशी मानते थे या स्वयंप्रकाशी मानते थे। व्याकरणकार उणादि सूत्रमें ये दोनों व्युत्पत्ति देते हैं।

यहांतक नक्षत्र और चंद्रमें साम्य तथा वैषम्य बतलाया गया। नक्षत्रोंका स्वयंप्रकाशित्व, स्थिरत्व और दूरत्व, तथा चन्द्रका उपग्रहत्व, इन बातोंसे आजकल अपने सरीखे लोगोंको नक्षत्र और चंद्रमें साम्य रहनेकी कल्पना नहीं हो सकती और गीतामें 'नक्षत्राणामहं शशी' ऐसा वाक्य पढनेपर यह अनिवार्य शंका होती है कि भगवान् इस तरहकी विभूति कैसे कहते हैं ? नक्षत्र और चंद्रका संबंध क्या है ? कहां नक्षत्र और कहां चंद्र ! चंद्र और नक्षत्र केवल रात्रिके समय प्रकाशित दिखते हैं इस एकही साम्यके आधारपर भगवान् यह विभूति कैसे बतला गए ? इस संबंधमें हरिवंश के ४ थे अध्यायमें पौराणिक बातें कहीं हैं; परन्तु उपर्युक्त शंकाका निरसन नहीं हो सकता।

तथापि वैदिक ऋषि नक्षत्रोंको और चंद्रको

(१) चर, (२) परप्रकाशी* और (३) एकही द्युलोकमें रहनेवाले समझते थे, इसी कारण चंद्रको ऋषि नक्षत्रही कहते थे और इसीलिये इन दोनोंकी तुलना करनेमें उन्हें कोई शंका नहीं मालूम हुई। उक्त तीनों गुणोंमें उनका ऐक्य अथवा साम्य है; केवल आकारमें उन्हें फरक दिखता था. इसलिये रातको प्रकाश देनेवाले नक्षत्रोंमें सबसे बडा जो चंद्र, वह नक्षत्रमें हूं, ऐसा भगवान् ने कहा।

आदित्यानां अहं विष्णुः ज्योतिषां× रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणां अहं शशी ॥
(भ० गी० १०-२१)

इसमें सब ज्योतिषशास्त्रकी बाते कहीं हैं। इसमें ज्योति और नक्षत्रका फरक सहज ध्यानमें आनेसरीखा है। इससे भगवान् इस तरह फरक करते हैं कि नक्षत्र=परप्रकाशी और ज्योतिः=स्वयंप्रकाशी। ज्योतियोंमें 'अंशुमान्' रवि अर्थात् 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' मार्गशीर्ष महिनेका 'रवि' मैं हूं और नक्षत्रोंमें चन्द्र मैं हूं, ऐसा अर्थ करते हैं। इस दृष्टिसे विभूतिकी ओर किसीका ध्यान गया हुवा मालूम नहीं पडता। हम नहीं कह सकते, कि प्रत्येक श्लोकके पादोंको ऐसा कुछ विशेष अर्थ है या नहीं। तथापि यहां उपर्युक्त अर्थ ठीक जमता है और निश्चय होता है, कि यह अर्थ साभिप्राय है।

आजकल हम लोगोंकी समझसे 'नक्षत्राणामहं शशी' का ठीकसा अर्थ नहीं लगता, इस ख्यालसे इसका मतलब ढूंढनेके इरादेसे मैंने अभ्यास करना प्रारम्भ किया और यह विश्वास होनेसे आनंद होता है, कि वह अर्थ लग गया। विद्वज्जनोंको वह पसंद हो, तो मेरा आनंद द्विगुणित होगा; और उसमें कोई शंका उपस्थित हो, तो यह विचार किया जायगा, कि उस शंकाका समाधान हो सकता है या नहीं। अथवा यदि आगे चलकर यह भी मलूम हो, कि यह अर्थ गलत है, तब भी एक प्रकारसे समाधान होगा। अंशुमान् को नाम समझनेके बदले विशेषण मानें, तो भी उसका स्वयंप्रकाशी अर्थ होगा; परंतु यह न बतला सकेंगे, कि ज्योति और अंशुमान्में फरक क्या है। इसलिये ज्योतियोंमें 'अंशुमान्' नामक रवि मैं हूं, ऐसा अर्थ करना श्रेयस्कर मालूम होता है। कोई भी अर्थ लेवे, तो भी नक्षत्र शब्दका अर्थ, जैसा कि ऊपर बतलाया है, परप्रकाशी लिये बिना गत्यन्तर नहीं है। नक्षत्र = न क्षरतीति इस सामान्य धात्वर्थसे जिसका नाश नहीं होता, अथवा जो चल नहीं, ऐसा था। इस दृष्टिसे अथवा न क्षीयते इस अर्थसे भी चन्द्रको नक्षत्रांतर्गत नहीं कह सकते। तथापि प्राचीन लोगोंकी समझका विचार करनेपर दूसरा एक अर्थ लिया जा सकता है।

---

* नक्षत्रोंसे चंद्र प्रकाशमान् होता है, ऐसी यह कल्पना सायणभाष्यमें है और यास्कमें है। [निघण्टु ४१४, सायणभाष्य १·१०५·१८। (२) सोमसूक्तमें कहा है कि सूर्यको सोमसे प्रकाश मिला है। (९-९७-५ और ९-८-५-९ देखिये)]

अति त्री सोम रोचना रोहन्नभ्राजसे दिवं इष्णन् सूर्यं न चोदयः।

इस ऋचामें नः ऐसा अर्थ है। (३) अंतरिक्षमें सूर्यको और द्युलोकमें चंद्र को उत्पन्न किया। (९-४२-१)

× ज्योतिः शब्दका दूसरा एक अर्थ मिलता है। ज्योतिः=ग्रह, जो सूर्यके आसपास घूमते हैं। यह कल्पना वैदिक है, यहां उसका लेना अशक्य नहीं है ...... अर्थात् रातको दिखनेवाले नक्षत्रोंमें दो विभाग करना। (१) ग्रह इनमें मैं रवि हूं जिसके आसपास वे घूमते हैं। (२) बाकी नक्षत्रोंमें चंद्र मैं हूं। यहां चंद्रभी नक्षत्रोंमें गिनना पडता है। जिस समय यह ज्ञान हुआ होगा कि ग्रह सूर्यके आसपास घूमते हैं, उस समय या उसके बहुत पूर्व कालतक यह ज्ञान हुआ होगा, कि चंद्र उपग्रह है। तब चंद्र को नक्षत्र कोई नहीं कह सकता; इसलिये यह अर्थ सर्वस्व से पसंद नहीं हो सकता।

चंद्रको 'नक्षत्राधिप' कहते हैं। पौराणिक लोगोंकी दृष्टिसे देखा जाय, तो इसका कारण ऐसा मालूम होता है, कि चंद्र जिन २७ नक्षत्रोंमें से चलता है, वे दक्षकी कन्याएं तथा चंद्र की स्त्रियां हैं. ऐसी वैदिक ऋषियों की समझ थी। (काठक संहिता २, ३१५,१-३;३,४,७,१,१८,१४। वाजसनेयी संहिता१३, ४०। शतपथब्राह्मण ९,४,१९। षड्विंश ब्राह्मण ३,१२। cf. निरुक्त ५-२१)। तब रातको प्रकाशनेवाली सब तारकाओंमें न हो, तो इन २७ नक्षत्रोंमें उनका पति जो चंद्र, वह मैं हू; ऐसा अर्थ लिया जा सकता है; अथवा रातको प्रकाशनेवाले सबको नक्षत्र समझ कर उनमें सबसे बड जो चंद्र वह मैं हूं. ऐसा भी समझ सकते हैं। परन्तु एक बात यह है कि नक्षत्र= रातको प्रकाशनेवाला, ऐसा अर्थ किसी भी कोश से अथवा पौराणिक कथा से अथवा वेदोंसे लिया नहीं जा सकता' परंच जब ऊपर यह कहा है, कि 'ज्योतिषां अहं रविः' तब फिरसे यह कहने की जरूरत भी नहीं रहती। इतना कबूल करना चाहिये. कि पुराणों में चंद्र को नक्षत्राधिप कहा गया, इसलिये यह अर्थ अशक्य नहीं है। यह कोई सर्वसामान्य नियम नहीं है. कि विभूति जिन वस्तुओंमें से बतलाई गई उन्हीं वस्तुओंमेंसे होनी चाहिए। इसलिये यह अर्थ अशक्य नहीं है। (उदा० भूतानामस्मि चेतना, वरुणो यादसामहम्)। तथापि वस्तु और विभूति एकवर्गीय होने चाहिये, ऐसा नियम मानकर अर्थ जमनेसरीखा हो, तो वह ज्यादा अच्छा। वैसा अर्थ यहां निकलता है, ऐसा समझकर वह विद्वज्जनों के सम्मुख विचारार्थ रखा है।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, कि पूर्वकालीन लोगोंने नक्षत्र शब्द की जो व्युत्पत्तियां दीं वे अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार दीं। शब्दोंके अर्थ जो तत्तत्कालमें ज्ञात रहते हैं, उन्हीं अर्थोंपरसे व्युत्पत्ति लगानेका प्रयत्न हरकोई करता है। आज जैसा भाषाओंका तुलनात्मक शास्त्र तयार है. वैसा उस समय नहीं था; अथवा आज जितनी भाषाओं की तुलना करनेके लिये साधन हैं, उतनी भाषाओं की तुलना करनेके लिये उन दिनों मार्ग ही न था। आकाशस्थ सूर्यचन्द्रादि नक्षत्र क्या हैं? उनकी स्थिति क्या होगी? ऐसा प्रश्न उनके सामने आया और अपनी अपनी परिस्थितिके अनुसार उन्होंने कल्पना की। उनकी धारणा वैसी ही थी. जैसी आजकल नास्तिकों को छोडकर सभी की है. कि देव कहीं आकाशमें ऊपर रहते हैं, वे सर्वसमर्थ हैं; उन्होंने जगत् को निर्माण किया और वे इस जगत् के व्यवहारमें सत्पुरुषोंको सहाय्य करते हैं। इन देवोंका स्थान कहां है? आकाशमें। परन्तु आकाशमें कहां? ऐसे विचारोंमें गोते खाते खाते उनकी यह कल्पना हुई, कि ये जो नक्षत्र दिखते हैं येही देवोंके गृह हैं। यह कल्पना कवियोंने लोगोंके सामने रखी। लोगोंने उस कविप्रतिभा की प्रशंसा की और लोगोंमें वह कल्पना रूढ हुई। इन नक्षत्रोंका ज्ञान- उनके सामर्थ्य का ज्ञान- आज भी हमें नहीं है और उस कालमें रहना अशक्य है। उनमेंसे कई लोगोंकी यह कल्पना हुई, कि देव अज्ञेय है; तथापि ये विलक्षण रीतिसे चमकनेवाले 'दिव्य' नक्षत्र देवगृह हैं, ऐसी कल्पना दृढतर होती गई और उनके विरुद्ध 'अज्ञेयवादी' लोग आए, तो भी वे किसीको यह विश्वास न दिला सके, कि ये देवगृह नहीं हैं। अब कोई कोई तारे गिरते हुए दिखते हैं। देवगृह कैसे गिर सकते हैं? इसलिये ये देवगृह नहीं हैं- ऐसा जब कोई कहने लगा, तब उन्होंने इन देवगृहों में और अन्य देवगृहों में फरक ढूंढ निकाला। इसके पहिले बहुधा लोग यह मानते होंगे, कि पुण्यवान् मनुष्य स्वर्गलोकमें सूर्यरश्मियोंके साथ देवयान-मार्ग से जाते हैं—

> इमे ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥ (ऋ० १-१०९-७)

उन्हें सदाके लिये स्वर्गलोक मिलता है. ऐसा इसके पहिले लोग मानते होंगे। तब यह दलील निकली, कि पुण्य के संचय को भी कुछ मर्यादा है। यह बात नहीं है, कि पापपुण्यका हिसाब करनेपर, उनका औसद दर्जे एकही फल मिलता है। कर्म का फल मिलना ही चाहिये और पुण्यसंचय भी कभी न कभी समाप्त होना ही चाहिये।

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ गी० ६-४१

पुण्यसंचय खतम होनेपर फिर क्या ? बाकी बचे हुए कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये अथवा वासनाओंके क्षयार्थ उन्हें फिरसे इस लोकमें आनाही चाहिये । इस प्रकार आनेवाले 'उल्काः' तारारूपसे नीचे गिरते हैं, अथवा पुण्यवानोंके पुण्यकी ही ये ज्योतियां बनती हैं और पुण्यका क्षय होते ही वे ज्योतिरूप नीचे आते हैं । गिरनेवाली उल्का देवगृह नहीं हैं । जो कभी नहीं गिरते, अक्षय्य रहते हैं, ऐसे नक्षत्र ही देवगृह हैं । अर्थात् इस विचारसरणीमें नक्षत्रोंकी, ताराओंकी अथवा उल्काओंका भौतिक स्थितिका ज्ञान ही नहीं था । ये देवगृह अथवा उनमें निवास करनेवाले देव, सूर्यलोकके भी परे, द्युलोकमें- अर्थात् आकाशके अत्युच्च प्रदेशमें-रहते हैं । इसी तरह यज्ञादि पुण्यकर्म करके स्वर्गको जानेवाले लोग भी इन सूर्यकिरणोंके साथ एकरूप होकर, सूर्यके देवयान-मार्गसे द्युलोकको जाते हैं- ऐसी यह कल्पना बहुत प्राचीन है । देखिये-

इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् । (१-१०९-८)

सायण कहते हैं-

येभिः (सूर्यात्मनः इंद्रस्य) रश्मिभिः यैः अर्चिभिः नः अस्माकं पितरः पूर्वपुरुषाः सपित्वं सह प्राप्तव्यं स्थानमासन् ब्रह्मलोकमगच्छन् ।

ऐसे ये पितर-

अर्चिषमभिसंभवन्ति अर्चिषोऽहरिति ।

ब्रह्मलोकको जाकर सलोकप्राप्ति कर लेते हैं । पुण्यका क्षय होतेतक वे 'शाश्वतीः समाः' वहां अर्थात् 'पुण्यकृत लोकमें' जाकर रहते हैं और पुण्यक्षय होनेपर वे-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । (गी०८-१६)
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् । (९-२०)
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । (९-२१)

फिरसे मर्त्यलोकमें आते हैं । सारांश यह कि ताराताराओंमें-देवों और मानवोंमें-इस तरह फरक किया गया और जो 'न क्षीयन्त' वे नक्षत्र ठहराये गये । जिनका क्षय होता है वे तारे- गिरनेवाली उल्का- न गिरनेवाले वे नक्षत्र । पूर्वमें जो अर्थ दिया गया (चंद्रके सदृश जिनका क्षय नहीं, वे नक्षत्र) उससे 'न क्षीयन्ते' अर्थ भिन्न है । अंतरिक्षमें होनेवाली प्रत्येक घटनाका इस तरह कुछ न कुछ स्पष्टीकरण हो सकता है । इन नक्षत्रोंके बारेमें जितनी शंकाएं अथवा कुशंकाएं कहिये, उपस्थित हुई, उनका निरास हो सका; इसलिये उन कविकल्पनाओंको धार्मिक कथाओंका स्वरूप आया और लोकसमाजमें उन्हें कायमका स्थान मिल गया । इस तरह सायणभाष्यसे उद्धृत प्रत्येक व्युत्पत्तिका और कथाका मूल स्वरूप और स्वरूपान्तर अपने समझमें आया और एक प्रकार कौतुक मालूम हुवा । यहांतक जो विवेचन किया, उसका इस दृष्टिसे निम्न रीतिसे रूपान्तर कर सकते हैं-

नक्षत्र ।

[१] नक्ष-त्र (१)सांतत्यार्थे त्रप्रत्ययः = सततं गंतारः । नक्षतेर्गतिकर्मणः = सूर्य, चंद्र, नक्षत्र । (२) नक्षत्राः नक्षत्राणि देवगृहरूपाणि (३) यो वा इहलोके यजते अमुं लोकं नक्षते । इहलोके कर्मानुष्ठाय ये स्वर्गलोकं प्राप्नुवन्ति ते नक्षत्ररूपेण दृश्यन्ते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् (मानवी देव) (४) यद्वा तेषां सुकृतीनां ज्योतींषि नक्षत्राणि उच्यन्ते । एतानि ज्योतिषि यन्नक्षत्राणि ।

नक्षत्र ।

न+क्षत्रः नेमानि क्षत्राणि च । सौरेण तेजसा हि नक्तं चन्द्रप्रभृतीनि भासन्ते । सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गंधर्वः । न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम् ।।

जिनका नाश नहीं होता, जिनका तेज कायम

रहता है वे नक्षत्र हैं। जिसका तेज कम ज्यादा होता है और क्वचित् सर्वस्वी क्षय होता है वह चंद्र है, अथवा जो स्थिर नक्षत्रोंमेंसे चलता है वह।

[२] नक्षं त्रायन्ते इति। संरक्षणार्थे त्रप्रत्ययः।

(१) नक्षत्राणां उपस्थे द्युलोके सोम आहितः। (Guardian of the Moon.)

[३] नक्षं त्रायन्ते इति। नक्षः दिन अथवा रात। नक्षत्रः = सूर्य, चंद्र अथवा नक्षत्र। Guardian of the day or night.

[४] क्रान्तिवृत्तके नक्षत्र। इनमेंसे सूर्य, चंद्र और ग्रह चलते हैं। परंतु मुख्यतः चंद्र। उसकी इन नक्षत्रोंमेंसे गति पहिले मालूम हुई, इसलिये उनको नक्षत्र कहा और इसको उनका पति बतलाया। नक्षत्र स्त्रियां हुईं।

अन्तमें एक और बातका थोडेमें उल्लेख करके मैं इस निबंध की समाप्ति करूंगा—

(१) नक्षत्र परप्रकाशी हैं, चन्द्र भी परप्रकाशी है, इसलिये नक्षत्रोंमें चन्द्र मैं हूं। (गी० १०-२१)

(२) नक्षत्र चल हैं; चन्द्र भी चल (पक्षी) है इसलिये मैं नक्षत्रोंमें चन्द्र हू।

(३) इनके अतिरिक्त एक और साम्य, जो आज नहीं है, तथापि पूर्व में किसी समय होगा। पुराणोंमें और भारतमें (शल्यपर्व अ० ३५ भाषांतर पृ० १९४) ऐसा कहा है, कि पूर्व कालमें किसी समय चन्द्र को कला नहीं थीं ×। बादमें दक्षके शापसे कला उत्पन्न हुईं। कदाचित् यह वस्तुस्थिति न होगी, केवल कल्पना होगी। यह सत्य-असत्यता का प्रश्न ज्योतिषियों का है। ज्यादासे ज्यादा हम यह कह सकेंगे, कि पृथ्वी के तथा सूर्य के भी अनेक स्थित्यंतर हुए हैं; उनमेंसे एक स्थित्यंतर इस तरह का भी हुआ होगा। यदि हुवा होगा, तो वह कब हुआ, उस समय पृथ्वीपर मनुष्य था या नहीं, इसका हमें पता नहीं है। उस समय मनुष्य न होगा, तो लोगोंको इसका पता कैसे लग गया? इसका उत्तर यह हो सकेगा, कि जैसे आज हमें मालूम हुवा वैसे उन्हें मालूम हुवा होगा। स्वर्गीय केरूनाना छत्रे ने ऐसा शोध लगाया था और प्रयोग भी करके दिखलाया था, कि पूर्व में किसी समय पृथ्वी छोटी थी और चन्द्र उससे बडा था। बादमें पृथ्वी और चन्द्रका एक दूसरेपर आघात हुआ और दोनोंके आकारोंमें फरक हुआ। इसी तरह पृथ्वीपर भूमि और जल के प्रमाणों में भी व्युत्क्रम हुआ। जिस समय पृथ्वी छोटी थी और चन्द्र बडा था, उस समय क्या पृथ्वी चन्द्र के आसपास घूमती थी, या आजके सदृश चंद्र पृथ्वीके आसपास घूमता था? मेरे ख्यालसे इस बातमें भी भिन्नता होगी; चंद्रके ऐवजमें पृथ्वी ही चंद्रके आसपास घूमती होगी और उस समय चंद्रको कला न होंगी। ऐसी परिस्थितिमें चंद्र और नक्षत्रोंके दरम्यान इस विषयमें साम्यही होगा। पूर्वकालमें चद्रलोकको सूर्यमंडलसे ऊंचा मानते थे और नीचा भी मानते थे। इस विषयमें स्वर्गीय दीक्षितने अपने 'ज्योतिःशास्त्रका इतिहास' नामक ग्रंथमें वैदिक वाङ्मयमेंसे दोनों तरहके अवतरण दिये हैं। ये ऊपर दिये गए हैं। रातको चद्र नक्षत्रोंमेंसे जल्दी जल्दी फिरता हुआ दिखता है। सूर्यके तेजसे नक्षत्र लुप्त होते थे, इसलिये पहिले पहल यह जानना कठिन था, कि सूर्य भी क्या इसी तरह नक्षत्रोंमेंसे घूमता है या नहीं। सूर्यकी गति भी चंद्रकी अपेक्षा सूक्ष्म है। इन कारणोंसे चंद्र इन नक्षत्रोंमें पहिला गिना गया। सूर्य प्रतिदिन फिरता है, इसी अर्थसे प्रथमतः वह नक्षत्र कहा गया। तब नक्षत्रमंडल में

× भारतमें इस शल्यपर्वके ३५ वें अध्यायमें उसको विरोचन नाम दिया है। क्या विरोचनका यह अर्थ है, कि रोचनोंमें जो विशेष है (नक्षत्रोंमें जो विशेष है) वह? दक्षके उश्शापसे सांप्रतकालीन क्षयवृद्धि उत्पन्न हुई। उसके पहिले केवल क्षय और उसके पहिले वह अन्य नक्षत्रोंके समान, परंतु उनमें बडा था। उस समय क्या वह हमेशा रोहिणीके निकट था; अर्थात् क्या वह हमेशा वृषभ राशिमें रहता था?

फिरनेवाला, इस कल्पना के आधारपर प्रथमतः यह माना गया होगा. कि वह द्युमंडल में है। तत्पश्चात् सूक्ष्म अवलोकन करनेपर यह पता लगा होगा, कि वह नीचे के मंडल में है। दोनों अनुभव वेदोंमें देखने मिलते हैं। इससे पता चलता है. कि वेदों में ज्योतिर्ज्ञानकी तथा अन्य विज्ञानशास्त्रोंकी कैसी कैसी प्रगति होती गई और इससे कौतुक उत्पन्न होता है। एकही ईश्वरकृत वेदमें परस्परविद्ध बातें कैसे मिलती हैं? इस प्रश्नका उत्तर देनेका यह स्थान नहीं है। पूर्वकालीन लोगोंका यह कहना योग्य दिखता है, कि ये बातें भिन्न भिन्न कालोंमें हुई होंगीं। पृथ्वीके स्वरूपमें पाषाणोंकी रचनासे जिस-तरह हम पृथ्वीका वयोमान ठहराते हैं, उसी तरह ज्योतिःशास्त्रके उल्लेखोंमें जो परस्परविरोध है, उससे उदयोन्मुख ज्योतिःशास्त्रके शोधोंमें पौर्वापर्य निश्चित होनेका मार्ग मिल सकता है और इस तरहका बृहत् सौर संकलित प्रयत्न स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षितने भारतीय ज्योतिःशास्त्रके इतिहासमें ही किया है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्

[लेखक- स्वर्गीय श्री० वामनराव तळवळकर, पू

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
(गी० ४-१३)

"मैंने चातुर्वर्ण्य गुणकर्मशः निर्माण किया (मेरे द्वारा हुआ।) यद्यपि मैं उसका कर्ता हूं, तथापि मैं अव्यय और अकर्ता ही हूं, ऐसा जानो।'

यह एक बिकट समस्या है। एकबार कहना, कि 'मैंने किया' और फिर कहना, कि 'मैं अकर्ता हूं, यह एक चमत्कार है! परन्तु भगवान् हमें भ्रममें नहीं रखते; अगलेही श्लोकमें इस समस्या को हल कर देते हैं–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

"मुझे कर्म लिपटते नहीं; कर्मफलमें मुझे स्पृहा नहीं। और यह जो जानता है, वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता।"

यह विषय उपस्थित होनेका कारण पिछला १२ वां श्लोक है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥
(गी०४।१२)

"कर्मोंकी सिद्धि जो चाहते हैं, वे यहां देवताओं का यजन करते हैं. (क्योंकि) मनुष्यलोकमें सिद्धि कर्मपर अवलंबित है।"

भगवान् में और अन्य लोगोंमें क्या फरक है? यह बतलानेके ही हेतुसे भगवान् चातुर्वर्ण्य का उल्लेख कर रहे हैं और 'मैं जिस पद्धतिसे कार्य करके भी अलिप्त रहता हूं; उसी तरह तुम भी असक्त होकर कर्म करो।' ऐसा अपने कर्म का उदाहरण देकर बतला रहे हैं।

'कर्मणि अकर्म' के मुद्देसे अभी अपना कोई कर्तव्य नहीं है, उसका विचार स्वतंत्र है। हालमें 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्' इतनेही पदसे अपना कर्तव्य है। चातुर्वर्ण्यके संबंध में विचार करनेवाले लोग इसी चरण का आधार लिया करते हैं। इसमें पहिले अर्धका अर्थ एक दृष्टिसे सरल है। केवल विकास-

वादियोंको वह सूझता है, क्योंकि विकासकी दृष्टिसे प्रथम एक, बादमें दो, बादमें तीन और अंत में चार वर्ण विकसित हुए, ऐसा उनका कहना है। भगवान् तो कहते हैं 'मैंने चार वर्ण निर्माण किए।' विकासवादियों को इसमें केवल एक बात यह मिलती है, कि भगवान्ने यहां स्पष्ट रीतिसे यह नहीं बतलाया, कि ये वर्ण एकदम निर्माण किये अथवा एकके बाद एक किये। ऐतिहासिकोंकी दृष्टिसे महाभारत ही में इस बातके प्रमाण मिलते हैं, कि ऊपर कहे अनुसार वर्णव्यवस्था विकसित होती गई। उसका विचार अपन अलगसे करेंगे। परंतु यह प्रश्न सहजही उठता है, कि उपर्युक्त शब्दोंमें यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता, कि एकदम या क्रमशः यह निर्मिति हुई, तथापि भगवान्ने 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' ऐसा जोर दे कर विधान क्यों किया? और अगर किया, तो उसका समर्थन कैसे किया जाय? ऐसा दूसरा प्रश्न आता है; और ऐसा विधान करनेका प्रयोजन क्या है? ऐसा तीसरा प्रश्न आता है।

पहिले और दूसरे प्रश्नका तात्पर्य एकही है; अर्थात् भगवान्के कालमें किसी की यह कल्पना ही न थी, कि 'चातुर्वर्ण्य' कृत्रिम अथवा मानव-कृत है। सिवाय इसके, उनको जितना ज्ञान जगत् था, उसमें चातुर्वर्ण्य प्रत्यक्षही दिखता था और इसी लिये उसको मानवकृत कोई नहीं समझता था। भगवान्का ऐसा अभिप्राय है, कि यह चातुर्वर्ण्य किसी राजासे अथवा कायदेसे स्थापित नहीं है; ऐसा हो नहीं सकता। उस समय ऐसी भावना उत्पन्न हुई थी, कि चातुर्वर्ण्य सृष्टिकी घटना का ही एक विभाग है। उसका आदि किसीको मालूम न था और न यह कल्पना थी कि उसका अन्त हो सकता है। महाभारतमें ऐसी कल्पना है, कि पहिले कृतयुगमें एकही वर्ण था। तब तो यह एक आश्चर्य ही है, कि यहां इस तरह विधान किया जावे। परंतु थोडा विचार करनेपर मालूम होगा, कि उसमें उतना विरोध नहीं है, जितना अपन समझते हैं। पहिले समाजमें यद्यपि एकही वर्ण था, तब भी चार वर्ण होनेकी उस समाजकी पात्रता थी। सृष्टिकी घटना ही ऐसी है कि प्रथमतः एकही वर्ण हो तो भी धीरे धीरे उस एकके चार वर्ण हों। अर्थात् उस एक वर्ण में चार वर्ण लुप्त अथवा सुप्त (Latent) थे और बीजमेंसे जैसे वृक्ष, उसी तरह वे बाहर आवें, विकसित हों, वृद्धिगत हों अथवा स्पष्ट देखनेमें आवें। ऋग्वेदमें ऐसी एक कथा है, कि-

ऋभुने एकके चार चमस किये।

इस कथाका अर्थ अभीतक मेरी समझमें नहीं आया। मेरे ख्यालसे उसका इस चातुर्वर्ण्यसे संबंध होगा। वैसा संबंध हो या न हो; इतना निश्चित है कि समाज में पहिले जो लुप्त (Latent) थे, वे चार वर्ण बादमें उत्तान (Patent) हुए; और इसमें संदेह नहीं कि समाज में यह पात्रता अवश्य थी इसी लिये वह बात हो सकी। दूसरे शब्दोंमें कहना हो, तो भगवान्ही के शब्दोंमें यह कहेंगे कि चार वर्ण 'गुणकर्मविभागशः' हुए।

असलमें मख्खी यहीं है, कि गुणकर्मविभागशः करके यह कहना, कि उन्हें उत्पन्न किया। यहीं झगडा भी पैदा होता है। (१) भगवान् कहते हैं। कि 'चातुर्वर्ण्य नैसर्गिक है' क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा गुणकर्मपर है। इसके विपरीत 'वह कृत्रिम' है ऐसा कहनेवाले लोग भी इसी 'गुणकर्म' पर जोर देते हैं। ऐसा यह चमत्कार है और इसका खुलासा होना ही चाहिए। 'चातुर्वर्ण्य गुणकर्मपर' है अथवा गुणकर्मपर विभाजित है, इसका अर्थ क्या है? गुणकर्मपर प्रतिष्ठित चातुर्वर्ण्य नैसर्गिक है या कृत्रिम? यही वादका विषय कहा जा सकता है। प्रथमतः यह देखें कि इसका पूर्वपक्ष भगवद्गीता के श्लोकोंमें किस तरह रख सकते हैं-

पूर्वपक्ष अथवा भगवान् का पक्ष-

(१) प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादी उभौ अपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
(गीः १३-१९)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥
(गी०१४-५)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं... (गी०१४-१९)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥
(गी०३-२७)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥
(गी०३-२८)

अथवा-

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
(गी०१३-२९)

अथवा-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गी०३-३३)

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
(३-३४)

अन्यत्र-

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥(१३-२०)

अन्यत्र-

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
(१८-६०)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
(१८-४०)

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। ये गुण तीन हैं सत्व, रज और तम। जगत् में जो कुछ क्रिया होती है वह गुणों ही से उत्पन्न होती है। प्रकृतिके गुणों ही से सर्वत्र क्रिया उत्पन्न होती है। मूर्ख मनुष्य अहंकारसे कहता है, कि वह क्रिया मैं करता हूं। इसका तत्त्व जिसको समझ गया, वह जरूर समझता है कि वस्तुतः गुणही गुणोंमें क्रिया उत्पन्न करते हैं और ऐसा समझता हुवा वह उन गुणोंमें और क्रियाओंमें आसक्त नहीं होता। क्योंकि ये क्रियाएं उसकी नहीं हैं-अर्थात् वह यह नहीं मानता, कि 'मैं कर्ता हूं' और मूर्ख नहीं बनता-

अर्थात्-

मूल अनादि प्रकृति, उससे तीन गुण-सत्त्व रज और तम, उन गुणोंहीसे कर्म और किसीसे नहीं।

प्रकृतिजन्य गुण और तज्जन्य कर्म

अथवा संक्षेपमें—केवल प्रकृतिज कर्म

वह कर्म चाहे ज्ञानीका रहे या किसीका रहे, वह उसका नहीं किंतु प्रकृति का है; यही सामान्य नियम है।

(२) इंद्रियोंमें और उनके विषयोंमें राग और द्वेष रखा हुआ है उस रागसे अथवा द्वेषसे क्रिया होती है। इंद्रियोंमें रहनेवाला यह रागद्वेष साहजिक स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है; वह मनुष्यकृत नहीं। अर्थात् कार्यका अथवा कर्मका कारण अथवा मूल, केवल प्रकृति है। प्रकृतिसे उत्पन्नहुए इन कर्मोंसे मनुष्य बद्ध होता है।

सारांश -प्रकृति अर्थात् स्वभाव और तदुत्पन्न जो गुण है, वह इंद्रियद्वारा रागद्वेषके योगसे कर्म उत्पन्न करता है और उस कर्मसे मनुष्य बद्ध होता है।

(३) पृथिवीपर, आकाशमें अथवा देवलोक में ऐसा एक भी सत्त्व नहीं, अथवा प्राणी या पदार्थ नहीं, कि जो प्रकृतिके (तीन) गुणोंसे मुक्त है। अर्थात् प्रकृतिके कर्मसे वह प्राणी अथवा पदार्थ सदैव बद्धहा है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होगा, कि मनुष्य को जो प्रकृति प्राप्त हुई होगी, वह प्रकृति अपने गुणानुरूप कर्म, उसके विरहित, करती रहती है और उस कर्मसे वह बद्ध होता है। वस्तुतः इस कर्मका मालिक प्रकृति है, जीव नहीं। जो यह समझता है, उसीके ध्यानमें यह आ सकता है, कि "कर्ता होकर कर्ता कैसा नहीं।" यह समझने पर वह मुक्त होता है इ०।

इस विवेचनके सहाय्यसे अपन 'गुणकर्मविभागशः' का अर्थ ऐसा लगा सकते हैं-

भिन्नभिन्न प्रकृतिके योगसे मनुष्य भिन्न भिन्न गुणोंसे

युक्त होता है। उन्हीं गुणोंके योगसे उस मनुष्यके द्वारा क्रिया होती है, वह क्रिया नहीं करता। अर्थात् कर्तृत्व गुणोंका अतएव प्रकृतिका है मानव का नहीं। इन गुणोंके योगसे जो क्रियाएं सहजही मनुष्यके हाथसे होती हैं, उन क्रियाओंके विभागसे चातुर्वर्ण्य उत्पन्न हुवा है।

इनमेंसे कोई भी बात सामान्य मनुष्यके हाथकी नहीं है। प्रत्येक बात उसकी शक्तिके बाहर है। इसलिये उस कर्मको ईश्वरजन्य कहनेके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। इसी बातको अ० १८ श्लो० ४१ में भगवान् फिरसे कहते हैं-

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
(गी० १८-४१)

मानसिक कर्म जो उनके प्रकृतिजन्य गुणोंके अनरूप हुआ करते हैं, ऐसे कर्मों के विभाग किये गए हैं और उन विभाजित कर्मोंको 'ब्राह्मण-क्षत्रियविशां शूद्राणां च (परंतप)' ब्राह्मण, क्षत्रिय और विट्-शूद्रोंके कर्म कहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण अथवा और कोई कहे, कि मैं अमुक कर्म करता हूं, तो यह भूल है, मूर्खता है, केवल अहंभावका प्रकार है।

प्रकृतिके द्वारा स्वाभाविक जो कर्म होता है, उससे वह ब्राह्मण कहलाता है अथवा क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र कहलाता है। भगवान् इन स्वभावज कर्मोंके निम्न विभाग करते हैं-

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानं आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गी० १८-४२)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।
(गी०१८-४३)

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(गी० १८-४४)

जिसमें स्वाभाविक शांति, क्षमा, इंद्रियदमन, शारीरकष्ट, शुचिता, ज्ञानविज्ञान-ये गुण हों वह ब्राह्मण है।

जिसमें स्वाभाविक तेज, ईश्वरभाव, शौर्य-धैर्य, युद्धप्रियता और दान- ये गुण और तज्जन्य कर्म होंगे, वह क्षत्रिय है।

जिसमें स्वाभाविक कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य- ये गुण हैं, वह वैश्य है।

जिसमें स्वाभाविक सेवारूप गुणकर्म हों, वह शूद्र है।

इन चारों श्लोकोंमें सारा जोर 'स्वभावज' शब्दपर है। इसमें जबरदस्तीसे लादे हुए अथवा लाए लिये हुए कर्मका बिलकुल समावेश नहीं हो सकता, इसी लिये भगवान् अर्जुनको कहते हैं-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३-३३
यदहंकारमाश्रित्य 'न योत्स्य' इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥१८-५९
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्॥
(१८-६०)

मनुष्य स्वभावका अनुसरण करेंगे- प्रकृतिके अनुसार अवश्य जायंगे- चाहे कोई ज्ञानी हो या और कोई हो। वहां निग्रह क्या कर सकता है? वह निग्रह चाहे स्वतःका हो या किसी राजाका हो। निग्रह-से कार्य नहीं होता, किंतु स्वभाविक प्रकृतिसे होता है। तुम यदि अहंकारसे कहोगे कि 'मैं नहीं लडूंगा' तथापि तुम्हारा वह निश्चय झूठा अर्थात् अशक्य है। तुम्हारी प्रकृति आखिर तुम्हें युद्ध करनेको बाध्य करेगी। स्वभावसे बद्ध होकर, जो नैसर्गिक तुम्हारा कर्म है, उससे अवश होकर तुम वही करोगे। मैं नहीं करता' यह तुम्हारा तात्कालिक मोह है। अखीरमें तुम्हारी प्रकृति जबरदस्तीसे तुमसे कर्म करावेगी।

इन सब श्लोकोंका तात्पर्य यही है, कि मनुष्यके मनमें कभी कभी प्रकृतिके विरुद्ध जाकर कोई क्रिया करनेकी इच्छा होती जरूर है, परंतु वह ठहरती नहीं। क्षणैक विचारके ऊपर आखिर प्रकृतिका अधिकार जमता है और आखिर स्वाभाविक कर्मही उसके हाथसे होता है। स्वभावके

विरुद्ध जानेकी इच्छा हो, तो भी वह ठहरती नहीं। मनुष्यके कर्मके बारेमें-

प्रकृति Dominant (प्रभावी) है (active agent)।
मनुष्य Dominant (प्रभावी) नहीं, Passive है।

यह प्रकृति मनुष्यके हाथमें नहीं है। मनुष्य प्रकृतिके हाथमें है। मनुष्य यदि कर्मकर्ताही नहीं है, तो कर्मपर अवलंबित चातुर्वर्ण्य किसतरह मनुष्यकृत हो सकेगा? जबतक कर्म अपने हाथका अथवा हुकमी न हो, तबतक तज्जन्य चातुर्वर्ण्य मानवकृत हो नहीं सकता। कर्मकी यह कल्पना ठीक न होनेके कारण, केवल अज्ञानसे मनुष्य कहता रहता है, कि मैं अमुक कर्म करूंगा और ब्राह्मण बन जाऊंगा। अतएव-

पूर्वपक्षही सिद्धान्त है।
उत्तरपक्ष उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

उत्तरपक्ष होनेके लिये भगवान्‌की यह Theory और उनका यह पक्षही असिद्ध करना चाहिये। परंतु यह दिखता है, कि भगवान्‌की यह Theory मान्य करके यह पक्ष असिद्ध करना अशक्य है। अब भगवान् का यह पक्ष असिद्ध करने मानने उनकी मूल पहिली Premis असिद्ध करना या न मानना; अर्थात् यह सिद्ध करना, कि कर्तृत्व मनुष्यको है, प्रकृतिको नहीं है। अगर यह सिद्ध किया जा सके कि मनुष्य और प्रकृतिके दरम्यान प्रभावी अथवा Dominant मनुष्य है, प्रकृति नहीं, तभी भगवान् का कहना हम काट सकेंगे, अन्यथा नहीं। सामान्यतः मनुष्य यह जरूर समझता है, कि मनुष्यमें इच्छाशक्ति और कर्तृत्वशक्ति है। परंतु भगवान् का कहना है, कि मनुष्य जो यह समझता है, उसका कारण वह

अहंकार-विमूढ

है। समर्थ रामदासस्वामीके शब्दोंमें कहना हो तो-

अहंकारें कर्तृत्व म्हणे जो आपुलें। तो एक मूर्ख॥
(अर्थ- अहंकारसे जो कहता है, कि कर्तृत्व मेरा है, वह एक मूर्ख है।) स्वतः समर्थ रामदासस्वामी के शब्द चाहिये हों, तो इस प्रकार का वाक्य दे सकते हैं-

देहबुद्धि जयापासी। तो एक पढतमूर्ख॥
(दासबोध २-१०-१९)

(अर्थ- जिसको देहबुद्धि है, वह एक पढतमूर्ख है।) अस्तु।

जो कुछ वाद है, वह यहीं है। यहांतक यह बतलाया गया, कि भगवान् की ही Theory अथवा सिद्धान्त लेकर भगवान् के गले में डालना असंभव्य है। अब यह देखें, कि भगवान् के विरुद्ध सिद्धान्त लेकर किसतरह रख सकते हैं। मनुष्यको ईश्वरने विचार और कर्तृत्वशक्ति दी है। मनुष्यमें मन का जो विकास हुआ है, उस विकास में

विचार- उच्चार- आचार (कर्तृत्वशक्ति)।
कल्पना- इच्छा- क्रिया।

ऐसी त्रिपुटी प्राप्त होती है। अर्थात् क्रियाशक्ति मानवकी अथवा उसको जो मन प्राप्त हुआ है, उस मनकी है, प्रकृति की नहीं। यहां ऐसा प्रश्न आता है कि यह इच्छाशक्ति जिस मनकी है, वह मन मनुष्य के काबू में है या कि प्रकृति के काबूमें? भगवान् की Theory के अनुसार मन प्रकृति का ही अंश है। भगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ गी० ७।४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ गी० ७।५

अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार और जीव, इस सब ही को भगवान् प्रकृति के अंश मानते हैं। वह प्रकृति दो प्रकार की है- अपरा और परा। इनमें मन, बुद्धि, अहंकार अपरा प्रकृति के- जड प्रकृतिके- अंश हैं, ऐसा भगवान् मानते हैं; इसी लिये स्पष्ट कहते हैं-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥ गी० ३।३७
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्त विवृद्धे भरतर्षभ॥ गी० १४।१२

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ गी० ३।३९
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ गी० ३।४०
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ गी० ७।२७

इच्छा अथवा द्वेष = काम अथवा क्रोध, ये द्वंद्व रजोगुणसमुद्भव अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और इसीसे कर्म का आरंभ और अविरत स्पृहा उत्पन्न होती है। इस इच्छाद्वेष (Likes and dislikes) का अधिष्ठान इंद्रिय, मन और बुद्धि हैं; इनसे ज्ञान भी नष्ट होता है और उसपर आवरण पडता है और संमोह उत्पन्न होता है। इसलिये कहते हैं, कि—

कल्पना-संकल्प-क्रिया

यह त्रिपुटी मन का खेल है, परंतु वह मन रजोगुण का अर्थात् प्रकृति का खेल है। ज्ञानेन्द्रिय मन के ज्ञानकर्षण के द्वार हैं. कर्मेन्द्रिय मन के कार्य-प्रवर्तक साधन हैं। ये दोनों मन के स्वाधीन हैं और मन जड-प्रकृति के स्वाधीन हैं, ऐसी भगवान् की प्रक्रिया है। वस्तुतः यहां ऐसी शंका होनी चाहिये, कि भगवान् ऐसा कैसा कहते हैं, कि—

मन जड प्रकृति का अंश है?

मन- विचारी मन- संकल्प और कार्य को उत्पन्न करनेवाला मन जड कैसे कहा जा सकता है? यह बात सब कोई मंजूर करते हैं, कि प्रकृति की अथवा जड शरीर की परिस्थिति के अनुसार मनकी चल-विचल होती है। सबको यह अनुभव है, कि प्रकृति अस्वस्थ हो. तो मन अस्वस्थ होता है। इसमें भी शक नहीं, कि इसके विपरीत A sound mind in a sound body, यह कहावत भी अनुभव की ही द्योतक है। अर्थात् जड शरीरपर तो मनःस्थिति अवलंबित है ही। परंतु इसके भी परे क्या जड निर्जीव पदार्थ में मन का अस्तित्व है? ऐसा एक प्रश्न उत्पन्न होता है। सजीव पदार्थोंमें मन का मुख्य कार्य है, Affliction & avertion स्नेह और विरोध प्रदर्शित करना। मनुष्य प्राणि में मनका और भी बहुतसा कार्य है। तथापि सभी प्राणीमात्रों में समान ऐसा कार्य यही स्नेह और विरोध अथवा काम और क्रोध का प्रदर्शन है। वनस्पतियोंमें यह कार्य दृग्गोचर होता ही है। परंतु निर्जीव पदार्थोंमें मन का कार्य क्या होगा? और उसका प्रत्यय कैसे होगा? इस विषयमें रसायनशास्त्रकी हमें बहुत मदद होती है। उदाहरण —

Silver Nitrate+ Sodium Chloride =
Silver Chloride+ Sodium Nitrate.

इससे हम देख सकते हैं कि पदार्थों के Atoms (परमाणु) एक दूसरेमें विलक्षण आकर्षण अथवा अपसारण करते रहते हैं। आकर्षण और अपसारण को उन शास्त्रोंमें Chemical Affinity राग अथवा काम, और Disaffinity = Enmity द्वेष अथवा क्रोध कहते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है, कि निर्जीव पदार्थों के परमाणुओं में भी काम और क्रोध, राग और द्वेष ये विकार निःसंशय हैं। अर्थात् सजीव तथा निर्जीव दोनों में मन के ये गुण दिखते हैं; इसले यह बात निश्चित है. कि संकल्पविकल्पात्मक मन जड प्रकृति का अंग है।

इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि मन बहुत सूक्ष्म है. और वह शरीर और आत्मा, अथवा प्रकृति और पुरुष के बीच का सांधा है। मन जैसे प्रकृतिका अंश है. वैसेही न मालूम क्या वह आत्मा का भी अंश है?

शरीर प्रकृति] <— मन —> [आत्मा
जगत् <—मन—> । शरीर व्यापार चलाता है, आत्मदृष्टि रखता है।

वह आत्मा का अंश न हो, तो भी कभी कभी जगत् की ओर से दृष्टि खींचकर आत्माकी ओर घुमा सकता है और आत्मा उसको घुमा सकता है। भगवान् मनको अपनी विभूति मानते हैं। इससे शरीर में मन का श्रेष्ठ स्थान जाहिर होता है।

इंद्रियाणां मनश्चास्मि ॥ (१०।२२)

राग और द्वेष यद्यपि मन के रजोगुण के व्यापार हैं, तो भी इन व्यापारोंको वह छोड सकता है ऐसी उनकी धारणा है। क्योंकि अर्जुनने कहा है, कि -

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६।३४

तीसरे अध्यायमें भगवान्ने भी कहा है, कि

प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३ ३०

और इसी संबधमें कहते हैं. कि-

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३-३४

और अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर यह देते हैं, कि-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६-३५

इसी तरह भगवान् ने यह भी कहा है. कि-

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ३-४१
संकल्पप्रभवान्कामां स्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैव इन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ ६-२४
शनैः शनैः उपरमेत् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥६-२५
यतो यतो निश्चरति मनः चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतत् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥६ २६

मनकी यह द्विविध स्थिति है; अथवा यों कहिये, कि कर्मकी यह द्विविध स्थिति है। क्योंकि यदि सभी कर्म प्रकृतिके स्वाधीन हैं और आत्माका कोई भी नियंत्रण नहीं रह सकता. तो 'नियम्य' 'विनियम्य' 'चिंतयेत्' 'वशं नयेत् इस तरहके प्रयोग ही न हो सकते और निम्नलिखित श्लोकका भी प्रयोजन न रह जाता-

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ३-४२

इसमें स्पष्टतया बतलाया है, कि इन्द्रियोंपर मन का, मनपर बुद्धिका और बुद्धिपर उसका अर्थात् आत्माका प्रभाव रहता है। अष्टधा अपरा प्रकृतिमें से सूक्ष्म ऐसे जो तीन जड तत्त्व हैं उनमें एकसे एक बढकर है और

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते ॥ ३-४०

कामक्रोधका अधिष्ठान इंद्रिय, मन और बुद्धि ही में रहनेके कारण, उनसे श्रेष्ठ जो आत्मा. वह इन सबपर अमल चला सकता है। इसलिये भगवान् कहते हैं-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् (यतति सिद्धये) ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ७-३

मन और बुद्धि को जीतकर, उस आत्मा में मन लगाकर मुझे जाननेकी इच्छा रखनेवाला हजारोंमें एकाध (विरलही) मिलता है; और ऐसे विरलोंमें से भी कदाचित् किसी को मेरा ज्ञान होता है। इस प्रकार कर्तृत्व अथवा कर्मस्वातंत्र्य किसी एकाध को होगा, और वह भी कामक्रोध को छोडकर वैराग्यसे अभ्यास से संपादन करने का प्रयत्न किया जाय, तो हो सकता है। सारांश यह, कि सामान्य लोगों के विषयमें कहना हो, तो कर्मस्वातंत्र्य है ही नहीं। प्रकृति ही सामान्यतः प्रभावी है। मनुष्य को जो प्रकृति प्राप्त हुई हो, उस प्रकृति के अनुसार उसका गुणकर्म रहेगा। और उस गुणकर्म के अनुसार उसका कर्तृत्व और वर्ण ठहराया जायगा। ऐसा यह जो प्रकृतिपर अवलंबित रहनेवाला वर्ण है, वह सृष्ट (नैसर्गिक) है, या कृत्रिम ?

ऐसा प्रश्न है। और इसका वही उत्तर देना अनिवार्य है. जैसा भगवान् कहते हैं। सृष्टि अथवा निसर्ग ऐसा नहीं कहता, कि किसी भी मनुष्य को कोई भी कर्म करने को मुक्तद्वार है (कर्तृत्व मनुष्य का है)। समर्थ रामदास स्वामी की भाषामें कहना हो, तो 'तो तुझ्या बापेन मोडवेना' (वह तुम्हारे बापसे भी तोडते न बनेगा)।

भेद।

अब जब यह कहा गया, कि वर्ण गुणकर्मोंपर अर्थात् प्रकृतिपर अवलंबित है, तब आगे यह प्रश्न आवेगा, कि मनुष्य को जो 'प्रकृति' प्राप्त होती है.

वह कहांसे प्राप्त होती है? इस विषयमें वाद हो ही नहीं सकता।

'प्रकृति' हरएक को उसके 'मातापिता से प्राप्त होती है' ऐसा भी कह सकते हैं, कि वह अन्न, काल और स्थलपर अवलंबित है। अर्थात्—

मानव-प्रकृति = उसके (मां×बाप ×परिस्थिति
= (काल×स्थल×अन्न×संस्कार)

इनमेंसे कौनसी बात मनुष्यके हाथके हाथ की है? केवल संस्कार उसकी प्रकृतिमें कुछ अंशमें फेरबदल कर सकेगा। परंतु यहां ऐसा प्रश्न आता है, कि उस संस्कारमेंसे वह ग्रहण कितना करेगा? अर्थात् उसकी प्रकृति जितना ग्रहण कर सकेगी उतना। अपन को सामान्यतः देखना है। अपवाद मायने नियम नहीं। क्षत्रिय के पुत्र को सहज ही क्षत्रिय के संस्कार अधिक होंगे, अर्थात् उसको मिलेंगे और वह ग्रहण करेगा। यह नहीं है, कि उनमें एकाध भीरू न होगा, या ब्राह्मणोंमें एकाध मूर्ख न निकलेगा।

भगवान्ने जो कहा और जोर देकर विधान किया, कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' और इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति में उसे यह कहकर पुष्टि दी, कि 'तस्य कर्तारमपि माम्,' इसका क्या कारण है, और उसका समर्थन कैसे किया जाय, इसका ऊहापोह यहांतक किया। अब इसके आगेका प्रश्न है—

ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है?

अर्जुन के प्रश्नोंसे अथवा शोक-मोह से उस चातुर्वर्ण्यसे क्या संबध है? इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं।

(१) चौथे अध्यायमें जो मुख्य तत्त्व है, 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः'।

वह उस महत्त्वपूर्ण तत्त्व के एक उदाहरण के दाखल दिया गया है। यह बात

'तस्य कर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारं अव्ययम्॥'

इस श्लोकार्ध से स्पष्ट होता है।

(२) चातुर्वर्ण्य की रचना किस तत्त्वपर की गई है, यह बतलानेका भी हेतु है। यह बतलाना है, कि उसमें विभाजन का तत्त्व कौनसा है? और वह सृष्टि के अनुसार कैसा है? वह तत्त्व है,

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

अथवा 'गुणकर्मविभागशः।' 'गुणकर्म' प्रकृति पर अवलंबित होने के कारण और प्रकृति अनादि होने के कारण चातुर्वर्ण्य भी सृष्ट है परंतु अनादि है यह बात सहजही सिद्ध होती है।

यहां ऐसा अर्थ नहीं लेना कि चातुर्वर्ण्य ठीक जगदुत्पत्ति से हुवा; किंतु इतनाही अर्थ लेना है कि वह जगद्विकास की घटनामें मूलतः रहा है। यद्यपि मूलतः एकजिन्स और एकवर्णी समाज रहा, तो भी चतुर्वर्णेवर्ति होनेकी उसमें पात्रता थी। मूलतः चातुर्वर्ण्य उसमें latent अथवा सुप्त था; आगे चलकर वह प्रकट हुआ।

(३) चातुर्वर्ण्य की रचना प्रकृतिमें latent है और भिन्न भिन्न वर्णोंके कर्म उन उन वर्णों के हाथ से जरूर होंगे। क्षत्रिय की प्रकृति राजस है; और क्षात्र-धर्म अथवा, क्षात्रकर्म इस प्रकार है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ १८।४३

तुम क्षत्रिय हो। तुम्हारी क्षात्रप्रकृति होने के कारण तुम्हारे हाथ से आखिर क्षात्रकर्म ही होगा। तुम्हारी बुद्धिकी अपेक्षा तुम्हारा क्षात्रकर्म ही प्रभावी ठहरेगा, वह तुम्हें टलते न बनेगा। तुम्हारी शंकाएं, शोक, मोह, ये सब एकतरफ रह जायंगे। तुम चाहे कितना भी कहो, कि 'न योत्स्ये,' परंतु यह भूमिका तुम्हारी व्यर्थ है। अथवा—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः॥ ३।२७
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः॥ १३।२९

अथवा

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि॥ (३।३३)

अथवा

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
(१८।६०)

अथवा

यदहंकारमाश्रित्य न 'योत्स्य' इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥१८।५९
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ १८।४७

अथवा

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३।३५)

यह तत्त्व अर्जुन के गले उतारना अत्यंत आवश्यक था, इसलिये यहां वर्णसंबंधी प्रश्न लिया गया। अर्जुन का प्रश्न द्विविध था। एक यह था, कि 'मुझे धर्म क्या है वह बतलाओ। दूसरे, कार्पण्यदोष का अमल मेरे ऊपर बैठ गया है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः॥ (२-७)

इसमेंसे मेरा छुटकारा कैसे होगा? अर्जुन कह रहा है 'न योत्स्ये' क्योंकि उसको (१) गुरुहत्या (२) स्वजनहत्या (३) कुलक्षय (४) वर्णसंकर इ० का भय था। स्वजनहत्या अथवा कुलक्षय के ख्याल से उसका हृदय अत्यंत विदीर्ण हुआ था। उसके सामने यह पेंच आ गया था, कि कुलक्षय, या कुलधर्मरक्षण अर्थात् स्वाधिकारप्राप्ति? कुलक्षय का स्वीकार करके, क्या राज्यप्राप्ति के लिये प्रयत्न करना उचित है? और यह प्रयत्न भी अनिश्चित-परिणामी होते हुए? (क्योंकि यह कौन जानता है, कि युद्ध में विजय होगाही?) अथवा अपने हकको छोडकर कुलक्षय टलना उचित है? सामान्य नीति-दृष्टि से कुलक्षय की अपेक्षा स्वतः का राजसंन्यास अधिक प्रशस्त है। क्या स्वधर्म यही है, कि राज्य की आशा रखकर, शत्रुको मारकर, युद्ध करना और स्वराज्य संपादन करना? परंतु कुलक्षय के कारण वह विगुण दिखता है। श्रीकृष्ण की राय में कुलक्षय होनेपर भी कुलधर्म का अनुकरण करना चाहिये।

उसमें (१) अर्जुन को जिसका भय है, वह पातक (कुलक्षयादि) हाथसे नहीं होता। (२) स्वधर्म-प्राप्ति के लिये कदाचित् मरण भी आजाय तो भी बेहतर है (जिसके विषयमें अभी शंका है); परंतु परधर्म के आचरण में उससे भी अधिक भय है (क्योंकि इससे दुष्ट दुर्योधन आदि का अधिकार कायम रहेगा।) इनपर दया की जाय, तो उससे समाज का क्षय होगा। वह कुलक्षय से भी बुरा। इसलिये स्वधर्म-स्वभावनियत कर्म करना ही श्रेयस्कर है। उससे मरण आता हो, नाश होता हो, तो भी वह स्वकर्म करने में पाप नहीं हो सकता; किंतु परधर्म में परकर्म में यश आता हो, अथवा वह अच्छी तरह किया जा सकता हो, तो भी वह व्यर्थ है।

इन दो श्लोकोंमें मिलकर जो पांच बातें बतलाई हैं, उनमेंसे प्रत्येक बात का अर्जुन की शंकाओं से संबंध है और बहुतसा महत्त्व है।

(१) स्वधर्म- विगुण हो तो भी- श्रेयस्कर है।

(२) परधर्मका सु-अनुष्ठान होता हो, तो भी उससे स्वधर्म श्रेयस्कर है।

(३) स्वधर्म में मरण आवे, तो भी श्रेयस्कर है।

(४) परधर्म भयावह होता है- श्रेयस्कर नहीं होता।

(५) स्वभावनियत कर्म करनेमें पाप नहीं लगता।

इन पांच उत्तरोंमें से अंतिम उत्तर प्रथम लेवें। इसमें 'स्वभावनियत कर्म' ऐसा शब्द आया है। यह बात स्पष्ट है, कि यह शब्द ऊपर के चार उत्तरों में जो 'स्वधर्म' शब्द आया, उसके बदले नियुक्त हुआ है। इससे अपन को धर्म शब्द का अर्थ तथा स्व शब्द का अर्थ समझ में आता है।

स्वधर्म = स्वभावनियत कर्म

धर्म शब्द बहुत जगहोंमें कर्म के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है और अर्जुन जब कहता है कि 'धर्मसंमूढचेताः पृच्छामि यच्छ्रेयः स्यात् तन्निश्चितं ब्रूहि'

उस समय वह जरूर कर्मसंमूढ अथवा किंकर्तव्यमूढ हुआ है उसने जो सवाल किया, कि श्रेयः क्या है? उसपर

प्रश्नः- यच्छ्रेयः स्यात् निश्चितं तद् ब्रूहि।
उत्तरः- श्रेयान् स्वधर्मः स्वभावनियत कर्म श्रेयस्करम्।

उसने यह शंका ली, कि

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः।
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

इसका उत्तर दिया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' जय हो या अपजय हो, न केवल अपजय ही, किंबहुना मरण भी श्रेयस्कर बतलाया गया है। अर्जुनने पूछा —

यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।
कार्पण्यदोषो हतस्वभावः पृच्छामि...॥

इसपर यह उत्तर दिया है, कि (कुलक्षय का भय?) स्वकर्म विगुण हो, तो भी करना चाहिये- परकर्म का अनुष्ठान सु-अनुष्ठितात्-क्योंकि क्षात्र ब्राह्मणका लक्षण और कर्म है।

यह उत्तर अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये। विशेषतः जो लोग 'गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं' का यह अर्थ लेते हैं, कि कर्मस्वातंत्र्य के कारण अपने जो कर्म करें, उस कर्म के अनुसार अपना वर्ण ठहराया जायगा, उनको इस उत्तर का मनन अवश्य ही करना चाहिये; क्योंकि कर्मस्वातंत्र्य माननेपर 'परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' अथवा 'स्वधर्मः विगुणः' इसतरह के प्रयोग नहीं हो सकते। जिसको यह कहना हो, कि अपने गुणानुरूप मैं जो करूं वही मेरा कर्म है, उसके लिये 'विगुण' कर्म और 'परकर्म' कहां हैं? इसी अर्थ के शब्द फिरसे आए हैं —

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥
(१८-४८)

इसमें स्वभावनियत कर्म अथवा स्वधर्म- के बदले सहज शब्द दिया है। यह शब्द उपर्युक्त विवेचन के अनुकूल ही है, तथापि उसमें एक विशेष अर्थ है अर्थात् वह कर्म 'जन्मजात' होता है। विगुण के बदले सदोष शब्द रखकर इस विगुण अथवा सदोष शब्दके प्रयोग का कारण बतलाया है।

सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः (१८-४८)

कोई भी कर्म गुणमय नहीं है। उसमें एक दृष्टिकोणसे गुण दिखेगा और दूसरे दृष्टिकोणसे दोष दिखेगा। प्रत्येक कर्म में तज्जन्य कुछ दोष रह सकता है। परंतु वह दोष स्वधर्म की अपेक्षा परधर्म में अधिक रहता है।

इसके कारण यहां नहीं दिये और सांप्रत उसका विशेष विचार करना नहीं है, तथापि उसमें से यह अर्थ निकलता है, कि एक का जन्मजात कर्म दूसरा न करे, वह भयावह है।

इससे यह बात स्पष्ट है, कि कर्मस्वातंत्र्य का यह अर्थ नहीं है, कि कोई भी आदमी चाहे वह कर्म करे। किंबहुना यहां कर्मस्वातंत्र्य के विरुद्ध ही मत का प्रतिपादन किया है। यहां तक के विवेचनमें निम्न बात मालूम हुई-

(१) चातुर्वर्ण्य ईश्वरकृत अथवा सृष्ट अथवा नैसर्गिक है; क्योंकि वह-

(२) कर्मपर अवलंबित है, गुणकर्म प्रकृतिपर अवलंबित हैं और प्रकृति अनादि है। अर्थात् चातुर्वर्ण्य कृत्रिम याने मानवकृत अथवा राजपुरस्कृत अथवा ब्राह्मण का (अपने फायदे के लिये) उत्पन्न किया हुआ नहीं है।

(३) गुणकर्म प्रकृतिपर अवलंबित होने से और मनुष्य प्रकृतिजन्मसिद्ध होने से चातुर्वर्ण्य जन्मसिद्ध है और प्रत्येक मनुष्य का वर्णकर्म भी जन्मसिद्ध है।

(४) चातुर्वर्ण्य में गुण और कर्म नैसर्गिक हैं; इसलिये वही श्रेयस्कर है।

कर्म केवल गुणमय नहीं है, दोषमिश्र है। तथापि उसके दोष की ओर सहजकर्म करनेवाले को

ध्यान न देना चाहिये। उसमें दूसरे की हिंसा हो, तो उसका दोष अथवा पाप कर्म करनेवाले को नहीं है। किंतु वह उस कर्म को न करे, तो दोष उत्पन्न होता है। उस कर्म से कर्ता को मरण आवे, तो भी हर्ज नहीं। मरण से कम परिणाम हो, तो कुछ कहना ही नहीं।

(६) कोई एक मनुष्य दूसरे का काम न करे, वह परकर्म चाहे यह मनुष्य अच्छी तरह कर सकता हो, तो भी न करे; वह भयावह है। अर्थात् कर्मस्वातंत्र्य नहीं है। वर्ण और कर्म में परिवर्तन करना शक्य नहीं और इष्ट नहीं। क्षणैक शक्य मालूम हो, परंतु शाश्वत नहीं।

(७) जन्मसिद्ध वर्णकर्म स्वभावनियत है। कोई कहे कि मैं न करूंगा, तब भी वह उसके हाथसे हुए बिना न रहेगा। वह कार्य वह 'अवश' होकर करेगा। वह कर्म करनेके लिए प्रकृति उसको प्रवृत्त करेगी।

(८) कर्मसे गुण अथवा वर्ण का निश्चय नहीं होता, किंतु वर्णहीसे नियतकर्म निश्चित होता है। अर्थात् 'न योत्स्ये' कहना शक्य और इष्ट नहीं है। अंतिम दृष्टिसे युद्ध हानिकारक न होगा। उसमें मरण आवे, तो भी श्रेयस्कर है; उसमें पाप नहीं। कुलक्षय की बात करने की जरूरत नहीं। युद्ध न करने से कुलक्षय से भी अधिक भयंकर परिणाम होंगे।

प्रयोजन– स्वधर्म अथवा स्वकर्म चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत है। वह चातुर्वर्ण्य प्रकृतिविशिष्ट और नैसर्गिक है। इसलिये स्वकर्म नैसर्गिक है। वह छोडना शक्य नहीं, इष्ट नहीं, पापकारक है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (४·१३)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ (१८·४०)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (१८·४१)

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (१८·४२)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (१८·४३)

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ (१८·४४)

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचये वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः॥
स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु॥ (१८·४५)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥ (१८·४६)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (१८·४७)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (१४·५)
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ (१४·६)
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥ (१४·७)
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ (१४·९)
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजःसत्त्वं तमश्चैव तमःसत्त्वं रजस्तथा॥ (१४·१०)
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ (१४·११)
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (१४·१२)
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ (१४·१३)

श्रीशंकराचार्यः-मानुष एव लोकेषु वर्णाश्रमादि कर्माधिकारः, न अन्येषु लोकेषु, इति नियमः, किं निमित्तं इति अथवा वर्णाश्रमादि प्रविभागोपेता मनुष्या मम वर्त्मानुवर्तन्ते सर्वशः इत्युक्तं.कस्मात्पुनः कारणान्नियमेन तवैव वर्त्मानुवर्तन्ते न अन्यस्य इति उच्यते चातुर्वर्ण्यं इति। चत्वार एव वर्णाः चातुर्वर्ण्यम्, मया ईश्वरेण सृष्टं उत्पादितम्। गुणकर्म-विभागशः, गुणविभागशः, कर्मविभागशश्च गुणाः सत्वरजस्तमांसि। तत्र सत्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य 'शमोदमस्तप' इत्यादीनि कर्माणि। सत्व उपसर्जन (गौण) रजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेज प्रभृतीनि कर्माणि। तम उपसर्जन रजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि। रजउपसर्जन तमः प्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव कर्मेत्येवं गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यम्॥ *

---

*अन्यय=वैषम्य (भिंड);कर्म=धर्म। कर्म =कर्म वा धर्म। आस्तिक्य = ब्राह्मधर्म अथवा कर्म। दान =क्षत्रिककर्म अदंभ आर्जव (ऋजुता) ब्राह्मधर्म। प्रकृति= यह शब्द ऊपर के कर्म शब्दके ऐवजमें प्रयुक्त किया है, वह योग्य मालूम होता है। गुणकर्म = स्वभाव (भिंड) स्वभावप्रभव जो गुण, उनसे विभाजित जो कर्म, उन कर्मोंके विभागानुसार 'चातुर्वर्ण्य' उत्पन्न हुआ है (१८-४१)। यह चातुर्वर्ण्य संपूर्ण जगत् में होना चाहिये। यह कहना गलत मालूम होता है, कि वह केवल हिंदुस्तान ही में है।

सत्वप्रधान ब्राह्मण (रजतमभाव नहीं १४- १० देखो) सत्वसाम्य।

सत्व+ रज= क्षत्रिय (तमाभाव ?) सत्वसाम्य ,रजस्साम्य।

तम+रज= वैश्य (सत्वाभाव ?) रजस्साम्य, तमस्साम्य।

रज+तम= शूद्र (सत्वाभाव ?) तमस्साम्य।

परंतु १८-४५ में वैश्योंमें भी कुछ ब्राह्मगुण दिखते हैं। (उदा० अदंभ, आस्तिक्य) और कुछ क्षात्रधर्म दिखते हैं (दान)। इससे भगवद्गीताके मतानुसार १ ब्राह्मण २ क्षत्रिय ३ वैश्य= स्वतंत्र गुण और ब्राह्मण व क्षत्रियगुण। ४ शूद्र= स्वतंत्र गुण। ऐसा मालूम पडता है। ब्राह्मण सत्वप्रधानके मायने क्या रजस्तमउपसर्जन अथवा रजतमाभाव समझना ?

क्षत्रिय= तमाभाव अथवा रज+ सत्वांश+ तमाल्पांश ?

वैश्य= सत्वाभाव अथवा रज (मुख्य,)+तमाल्प+ सत्वात्यंताल्प ?

शूद्र = सत्वभाव ? अथवा तम मुख्य, सत्वात्यन्ताल्प, रजाल्प ?

१८-४० में जो कहा है, कि त्रिभुवन में ऐसा मनुष्य या पदार्थ मिल नहीं सकता, जो प्रकृति गुणोंसे (सत्व, रज, तमसे) युक्त नहीं है, उससे यही प्रतीत होता है।

इसलिये।

ब्राह्मण= सत्वप्रधान; जिन्होंने रजतमको परास्त किया है (१४·१०)

क्षत्रिय= रजःप्रधान; सत्वमिश्र, तम बहुत कम।

वैश्य= रजःप्रधान; तमोमिश्र सत्व, सत्व बहुत कम।

शूद्र = तमः प्रधान; रजोमिश्र, सत्व प्रायः नहीं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय = (१) सत्वबहुलत्व और (२) सत्वाल्पत्व।

क्षत्रिय, वैश्य = (१) रजोबहुलत्व और (२) रजोऽल्पत्व।

वैश्य, शूद्र = (१) तमोऽल्पत्व और (२) तमोबहुलत्व।

ब्राह्मण = सत्व ▷ रजतम। क्षत्रिय= रजः सत्व ▷ तमः।

वैश्य, = रज ▷ तम सत्व। शूद्र = तम ▷ सत्व, रज।

∴ ब्राह्मण = सत्व, प्रकाश, निर्मल, अनामय, ज्ञान, सुख।

क्षत्रिय = रज, राग, तृष्णा, कर्म, प्रकाशाल्प, लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, कर्मणामशम, स्पृहा।

वैश्य = रज, राग, क्रियाप्रमाद, आलस्य, निद्रा, क्वचित् प्रकाश।

शूद्र = प्रमाद, आलस्य, निद्रा, क्वचित् प्रकाश।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
(१८४८)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्य अवशोऽपि-
तत् ॥ (१८६०)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मा स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(३.३५)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥
(३.२७; ३ २८)

प्रकृतेः गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥
(३.२९)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(३ ३३)

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।
(३ ३४)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति ॥
(१३.२९)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(१४.१९)

दोषरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
(१.४३)

गीतामें चातुर्वर्ण्य और चाण्डाल ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्राचीन और तत्कालीन लोगों के भिन्न भिन्न समाजोंका वर्णन दिखता है। परंतु आश्चर्यकी बात है, कि गीतामें वेदोक्त 'पंचजनों' का उल्लेख बिलकुल नहीं है। ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूप बतलाते हुए भगवान् अर्जुन को कहते हैं-

(१) पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
(११.६)

अर्जुन भी कहता है -

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ ११.१५ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौमरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा ।
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ ११.२२

यद्यपि ये सब लोकसंघ बहुत प्राचीन दिखते हैं, तत्कालीन नहीं दिखते, तथापि यह समझमें नहीं आता, कि उनमें पंचजनोंका उल्लेख क्यों नहीं है। 'पंचजन' शब्द इस समय लोगोंके स्मरण में भी न रहा होगा; और इसी लिये कहना पडता है कि, निरुक्तकारोंमें इस शब्दके अर्थके संबंधमें बहुतसा मतभेद दिखता है। भगवद्गीतामें इन प्राचीन लोगों के अतिरिक्त दसवे अध्यायमें विभूतियोंके वर्णनके समय औरभी कुछ प्राचीन लोगोंका उल्लेख आया है।

आदित्यानां अहं विष्णुः॥ १०.२१॥
मरीचिर्मरुतामस्मि ॥ १०. १ ॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि ॥ १०.२३ ॥
महर्षीणांभृगुरहम् ॥ १०.२५ देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥
(१०.२६)
अनंतश्चास्मि नागानाम् ॥ १०.२९॥
पितृणामर्यमा चास्मि । १०.२९ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
(१०.३७)

अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य, यक्ष, रक्षस्, गंधर्व, नाग, दैत्य, सिद्ध, महर्षि, देवर्षि, पितर, मुनि, कवि, वृष्णि और पांडव- इतने लोगोंका उल्लेख

है। तथापि श्रीकृष्णके कालमें प्रत्यक्ष इनमेंसे केवल वृष्णि और पांडव थे। बाकी सब पौराणिक ही हैं।

(२) लोगोंका दूसरी तरहसे विभाग अ० १६में किया है। देव और असुर ये मूलतः लोकनाम होंगे। परंतु श्रीकृष्णने यहां जो विभाग बतलाया है, वह दैवी संपत् और आसुरी संपत् अथवा दैवी और असुरप्रकृतिविशिष्ट लोगोंका है। वेदोंमें देवकाम शब्द विवाहसूक्तमें (१०।८५) आया है। अथवा महाभारत में

देवकाम और भोगकाम।

ऐसे दो प्रकारके लोगोंका वर्णन है, ये ही इस अध्यायमें दैवासुरसंपद्विशिष्टलोग बतलाये गए हैं। इस विभाजनमें जगत्‌के समस्त लोगोंका समावेश हो सकता है और वह अधिकार शास्त्रशुद्ध मालूम होता है।

(३) इसके अतिरिक्त भगवद्गीतामें 'चातुर्वर्ण्य' विशिष्ट समाजका वर्णन सहजगतिसे अथवा विशिष्ट हेतुसे कहिये, आया है। ४थे अध्यायमें

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥
(४।१३)

और यह तत्त्व बतलाया है, कि

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्। ४।१३

यह तत्त्व बतलाने में सहजगत्या यह वर्णन आ गया है; तथापि इसमें दूसरा एक विशिष्ट हेतु मालूम पडता है। भगवान् के कहनेका यह मतलब है, कि चातुर्वर्ण्य एक संघटित समाज ईश्वरकृत है, उसमें वर्णसंकर अथवा प्रजानाश न हो, ऐसा प्रयत्न ईश्वरकी ओरसे वारंवार हुआ करता है। ईश्वर ऐसा न करें, तो जगत् में वर्ण-संकर और प्रजानाश होनेकी संभावना है।

यदि हि अहं न वर्तेयं जातु कर्मणि अतंद्रितः॥
(३।२३)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(३।२४)

इसी तरह-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
(४।७)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(४।८)

इन श्लोकोंमें वर्णन है, कि उपर्युक्त प्रयत्न कब और क्यों होता है; और इन्हींमें अर्जुनकी प्रथमाध्यायकी कुछ शंकाओंका भी उत्तर आ गया है। फिर ११८वें अध्यायमें विश्वरूपके चलचित्रपट द्वारा यह दरसाया है, कि इस बातका इसी युद्धमें किसतरह प्रत्यय आनेवाला है। भारतीय युद्धके कारण कुलक्षय, अधर्माभिभव, वर्णसंकर इत्यादि भयानक बातें होंगी, इस डरसे अर्जुन चाहता था कि इस अत्यंत घोर पापकारक युद्धसे दूर हो जाँय। परंतु यद्यपि युद्धका स्वरूप सदा लोकक्षयकारक दिखता है, तथापि युद्ध युद्धमें फरक है। कभी कभी देखनेमें युद्ध लोकक्षयकारक दिखते हैं, परंतु वस्तुतः वे लोकसंग्रहकारक होते हैं। Destruction is at times essential to Construction–ऐसा श्रीकृष्णने यहां सूचित किया है।

(आ) इस चातुर्वर्ण्यघटित समाजका स्वरूप कैसा है? इसका वर्णन १८वें अध्यायमें बहुतही अच्छा आया है। उससे दिखता है, कि चातुर्वर्ण्य को भगवान् सृष्ट क्यों कहते हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
(१८।४१)

इस श्लोकका निम्न श्लोकसे निकट संबंध है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥
(४।१३)

किंबहुना गुणकर्मविभागशः का 'गुणैः प्रविभक्तानि कर्माणि येषाम्' ऐसा अर्थ करनेका यहां संकेत किया है; और ऐसा स्पष्ट अभिप्राय है, कि यह विभाग अथवा प्रविभाग करके कारण होता है, वे कर्म

स्वभावप्रभव गुणोंसे होते हैं; इसलिये वह विभाग ही सृष्ट कहना पडता है ।

प्रकृति=स्वभाव-उससे गुण (१३।१९) उनसे कर्म ऐसी परंपरा इतरत्र बतलाई है, किंबहुना 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं' अथवा प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' ऐसा सिद्धान्त होनेसे कर्म-विभाग और चातुर्वर्ण्य 'प्रसृष्ट' ही कहने पडते हैं; यह सिद्धान्त ही है । प्रकृति और कर्मका संबंध इतना निकट, स्पष्ट और (Direct) प्रत्यक्ष है, कि वहां दूसरा कारण संभाव्य नहीं है । (नान्य प्रकृत्यैव) ऐसा भगवान् ने स्पष्ट कहा है । इस कल्पना की पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेकवार की है । देखिये-

सहजं कर्म (१८।४८) स्वभावनियतं कर्म (१८।४७) प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति; स्वभावजेन निबद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यसि अवशोऽपि तत् ॥ १८।६०

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।
(३।५)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ॥ (३।१५)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ॥
(३।२८)

गुणकर्मविभागयोः गुणाः गुणेषु वर्तन्ते ॥
(३।२८)

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(३।३३)

इंद्रियस्य इंद्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
(३।३४)

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
(१८।५९)

इसतरह कर्म सर्वथा प्रकृतिगुणोंपर अवलंबित रहनेसे, तथा यह प्रकृति जन्मप्राप्त अथवा पूर्व-कर्मप्राप्त होनेसे, जन्मके पश्चात् उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता । अर्थात् वर्ण तथा वर्णकर्म जन्म-प्राप्तही हैं। क्या ऐसे वर्ण को (Hereditary) अनुवंशिक कहनेके अतिरिक्त कोई गत्यन्तर है? उसको चाहे पूर्वकर्मप्राप्त अथवा पूर्वजन्मप्राप्त कहें; परंतु ऐसा कहनेसे कोई फरक नहीं हो सकता ! कर्ण "मदायत्तं तु पौरुषम्" कहता है और ऐसा विरोध जरूर बतलाता है, कि दैवायत्तं कुले जन्म' परंतु यह उसका कहना अशास्त्रीय है । इसी तरह "जाति जन्मजात नहीं है, किंतु कर्म (मदायत्त) प्राप्त है" ऐसा कहनेवालोंका कथन भी अशास्त्रीय है, व्यर्थ है कर्ण सूतपुत्र नहीं था, इसलिये उसका 'मदायत्त पौरुष' निःसंशय जन्मजात ही था ।

यहां अपन को इतनाही देखना है, कि भगवद्गीता का क्या कहना है । भगवद्गीताके उपर्युक्त सिद्धान्त जब गलत ठहरेंगे, तभी हम कह सकेंगे, कि चातुर्वर्ण्य सृष्ट नहीं है । परंतु चातुर्वर्ण्य सर्वथागुण कर्मोद्भूत और जन्मप्राप्त होनेसे यह कहनेको गीताका आधार नहीं है, कि चातुर्वर्ण्य जन्मजात नहीं है । गीतामें बतलाया हुवा कर्म यदि स्वभाव-नियत न हो, तो निम्न प्रयोग प्रायः अशक्य ही ठहरेंगे-

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म । प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।
सहजं कर्म सदोषमपि न त्यजेत् ।। (१८४८)
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः ।। (३३५, १८-४७)
परधर्मात् सु-अनुष्ठितात् ॥ (,, ,,)

मैं इतरत्र यह बतलाऊंगा, कि गीताका सिद्धान्त आधुनिक शास्त्रज्ञोंकी दृष्टिसे भी सच्चा है । अभी केवल इतनाही बतलाकर यह प्रकरण समाप्त करूंगा, कि गीताके मतसे जाति जन्मजात है और स्वमतपुष्टिके हेतुसे गुणकर्म-विभागशः का अर्थ मनमाना घुमा नहीं सकते । यह भी देखें कि गीतामें चातुर्वर्ण्यके संबंधमें और कौनसे विचार हैं और क्या गीता पांचवें वर्णका अस्तित्व दरसाती है ?

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (९-३२)
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस्तथा ॥
(९-३३)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥
(५·१८)

इन दो स्थलों में से पहिले में 'पापयोनयः' और 'पुण्याः' ऐसे दो विशेषण आए हैं और दूसरे में श्वपाक का निर्देश पशु अथवा श्वानयोनि के साथ किया गया है। चातर्वर्ण्य में से पहिले स्थल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का उल्लेख है और स्त्रियों का स्वतंत्र उल्लेख किया है। क्षत्रिय के बदले 'राजर्षयः' शब्द आया है। इसमें ऐसा रुख नहीं दिखता, कि क्षत्रियोंमें से केवल राजर्षि ही लिये जाय। प्रत्युत सभी क्षत्रियों के लिये बहुमानार्थी राजर्षि शब्द प्रयुक्त किया ऐसा दिखता है। 'क्षात्रर्षि' शब्द इतरत्र किसी भी ज्ञात पूर्वग्रन्थ में आया हुआ नहीं दिखता। गीतारहस्यमें लो० तिलक कहते हैं कि 'पापयोनयः' शब्दसे चांडालादि अथवा (Criminal tribes) गुनहार जातियों का उल्लेख है (प्रकरण १३ पृ० ४-३७ ४४० तथा इस श्लोक पर लोकमान्यकी टीका देखें।) परंतु श्री० शंकराचार्य कहते हैं, कि यह विशेषण 'स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः' का है।

पापा योनिः येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः।
के ते इत्याह स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्राः।
ब्राह्मणाः पुण्याः पुण्ययोनयः भक्ताः राजर्षयः
तथा राजानश्च ते ऋषयश्च राजर्षयः।

लो० तिलकके मतसे यहां पंचम वर्णका उल्लेख है; किंतु शंकराचार्य के मत से जिस तरह ब्राह्मण पुण्ययोनिमें उत्पन्न हैं, वैसे वैश्य, शूद्र और स्त्रियां पापयोनिमें उत्पन्न हैं। क्षत्रिय किस योनि में उत्पन्न समझे जाते थे? कदाचित् 'पुण्याः' विशेषण राजर्षियों को भी लगा सकते हैं। 'भक्ताः' विशेषण से दिखता है, कि पापयोनि में उनकी गणना नहीं की गई। इसके विरुद्ध यह भी नहीं कह सकते, कि पापयोनि शब्द आर्येतरों के लिये नियुक्त होगा; और न यह कह सकते, कि चातुर्वर्ण्य में अनार्यसहित दुनियां के सभी लोगों का समावेश करते थे। यह समझने के लिये मार्ग नहीं, कि निषाद अथवा चांडालादि लोगों का समावेश उन दिनों किस वर्ण में करते थे। तथापि पुण्ययोनि और पापयोनि ऐसे विभाग किये जाय, तो चांडालों की गणना पापयोनि में ही होती होगी; ऐसा कहने के लिये (५·१८) में आधार मिलता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे, गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च समदर्शिनः ॥

इनमें वरिष्ठ ब्राह्मण और कनिष्ठ श्वपाक, अथवा पुण्ययोनि ब्राह्मण और पापयोनि पशु और श्वपाक ऐसा फरक किया हुआ स्पष्ट दिखता है। अर्थात् यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते, कि ९·३२ में पापयोनि शब्द में श्वपाक अथवा चांडाल का समावेश किया ही नहीं है। इसके विपरीत यह कहने को आधार मिलता है, कि 'चांडाल' शब्द जैसे शूद्र के अर्थ में, वैसे ही चांडाल मिश्र योनि के अर्थ में भी यजुर्वेद से लेकर उपनिषत्काल तक प्रयुक्त किया जाता था (वाजसनेयी संहिता ३०·११)। बृहदारण्यकोपनिषद् में स्तेन, भ्रूणहा, पौल्कस, श्रमण, तापस की श्रेणी में चांडालों का स्थान है। छांदोग्योपनिषद् में रमणीयचरण और कपूयचरण ऐसे लोगों के भेद करके रमणीय योनि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की गणना और कपूया योनि में श्वान, सूकर और चांडाल की गणना की है-

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिं आपद्येरन्। ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशः ह यत्ते कपूयां योनिं आपद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरं योनिं वा चांडाल योनिं वा ॥ (छांदोग्य ५·१०·७)

भगवद्गीताके 'शुनि चैव श्वपाके' और छांदोग्य के 'श्वयोनिं चांडालयोनिं वा' इनमें अत्यंत साम्य दिखता है। फरक इतना ही है, कि छांदोग्य

में वैश्ययोनि का समावेश पुण्ययोनिमें किया है, भगवद्गीता में पापयोनि में किया है। इससे साफ मालूम होता है कि भगवद्गीता के काल में और छांदोग्य के काल में बहुत अंतर होगा। तैत्तरीय संहिताकाल में वैश्य की गणना शूद्र के साथ होने लगी थी; यह बात उक्त संहिता के 'शूद्रार्यौ' समास से सूचित होने लगती है। गीताकाल में स्पष्ट रीतिसे उसको पापयोनि में डाल दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। अर्थात् 'पापयोनि' शब्द में वैश्य और क्षुद्र की गणना की गई होगी। लो० तिलक जैसा कहते हैं, वैसे उस शब्द में केवल पंचम वर्ण ही का समावेश किया है, ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कह सकते' तथापि यह कहना अनिवार्य है, कि जाति का 'चाण्डाल' गीताकाल में पंचम वर्ण का ही मनुष्य माना जाता होगा। तथापि भाव यही मालूम होता है, कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' मानो 'दुनियां में चार ही वर्ण' थे और भगवान् सृष्ट' बतलाते हैं। भगवत्कालमें चातुर्वर्ण्येतर समाजका अस्तित्व सब को विदित था। भगवान् यह जानते हुवे जब कहते हैं, कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' और चांडाल को श्वानयोनि के साथ लेखते हैं, तब तो यह कहना पडता है, कि या तो भगवान् अतिशूद्रों और शूद्रों को एकही मालिका में गुहते हैं, अथवा अतिशूद्र को आर्यसमाज बहिष्कृत मानते हैं। भगवान् की दृष्टि से शूद्र परिचर्यात्मक कर्म का अधिकारी है। भगवान् यह कैसे कहेंगे, कि आर्येतर अथवा बाह्य समाज परिचर्याका अथवा दासकर्मका ही अधिकारी है? और यह भी कैसे कह सकते, कि व्रात्य ऐसे मागधादि समाजोंमें अथवा यवनादि समाजोंमें ब्राह्मणक्षत्रिय इत्यादि विभाजन किया गया था, या उसकी उपेक्षा की गई थी। अर्थात् (१) चातर्वर्ण्यघटित आर्यसमाज, (२) चातुर्वर्ण्य के बाहर का निषादव्रात्यचाण्डालादि अन्तःसमाज और (३) आर्येतर बहिः समाज (हिंदुस्तानके बाहर का) ऐसा त्रिविध विभाजन भगवान् को अपेक्षित था और चातर्वर्ण्यघटित समाज में भी (१) पुण्ययोनि ब्राह्मण क्षत्रिय पुरुष और (२) पापयोनि स्त्रियां, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल स्त्री-पुरुष ऐसी गणना उस काल में करते थे, ऐसा साफ ही दिखता है। ऐसे इस शतधा विभज्य समाज को–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (९-३२)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस्तथा॥ (९-३३)

एक नया भक्तिमार्ग बतलाकर, ऐक्य प्रस्थापित करनेही की यह उपनिषत्कारोंकी तथा श्रीकृष्णकी कल्पना दिखती है।

दिव्य-कर्म।

गीताने कर्मके ऐसे किसी बाह्य लक्षणका निर्देश नहीं किया, कि जिससे केवल बाह्य दृष्टिसेही उसे हम पहचान सकें अथवा उसका रूढ समालोचन-पद्धतिसे विचार कर सकें; इतनाही नहीं, किंतु मनुष्य सामान्य ज्ञानबुद्धिके प्रकाशमें जिन पापपुण्योंका प्रभेद करके कर्तव्यको निश्चित करना चाहता है, उन सब प्रभेदोंका गीताने जानबूझकर त्याग किया है। दिव्य-कर्मोंके जो लक्षण गीताने दिये हैं, वे सभी अतिशय गूढ और आन्तरिक हैं। जिस चिन्हसे दिव्यकर्मको पहचान सकें, वह अदृश्य है, सामान्य पापपुण्यके और भलेबुरेके परे है।

आत्मासे ही सकल दिव्य-कर्मोंका उदय होता है और उनकी पहचान केवल आत्मप्रकाशही

से हो सकती है। 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' कर्म कौनसा अकर्म कौनसा है. इस विषयमें ज्ञानी लोगभी मोहित और भ्रान्त होते हैं। यह बात गीतामें कही गई है; कारण यह है, कि वे (ज्ञानी) इस विषयके मूल तत्त्वोंकी खोज नहीं करते; किन्तु सामान्य धर्म अधर्मका, न्याय-अन्यायका और ज्ञानबुद्धिका तराजू हाथमें लेकर, अर्थात् केवल बहिरंगको और देखकर भेदाभेद करते हैं।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(४-१६ १७)

"जिसका ज्ञान होनेसे तुम संपूर्ण अशुभसे मुक्त होगे, उसी कर्मका तत्त्व मैं तुम्हें बतलाता हूं। यह जान लेना चाहिये, कि कर्म कौनसा है, अन्याय्य कर्म कौनसा है अकर्म अथवा निष्क्रियत्व कौनसा है। कर्म इस जगत् में घनघोर अरण्यके समान गहन है।" प्रचलित भाव, नीति, और आदर्शके प्रकाशमें मनुष्य किसी तरह इस निविड अरण्यमेंसे ठोकरें खाता हुआ चलता है। यह सब नीति और आदर्श, भिन्न भिन्न युगोंके भिन्न भिन्न समाजोंके भावों तथा आदर्शोंके मिश्रण का फल है। यह भी सच है कि लोग इसी सब मिश्रण को अक्षर और सनातन कहते हैं; परंतु वस्तुतः यह मिश्रण अनित्य और देशकालानुगतिक है। नाना प्रकारके प्रयत्न यह बतलानेके लिये किये जाते हैं, कि इस समग्र नीतिकी तथा आदर्श की बुनियाद ज्ञानविज्ञान-संमत है; परंतु वस्तुतः ऐसे प्रयत्न व्यावहारिक और अज्ञानजन्य हैं। इन सब भावों तथा आदर्शों की जो बुनियाद हो, ऐसे किसी सनातन सत्यका और नीतिका अनुसंधान करते करते ज्ञानी पुरुष जब अंतिम प्रश्न का विचार करने लगता है, तब उसको ऐसा मालूम होने लगता है, कि सारा कर्म और संसार मिथ्या है, माया का पाश नहीं है, सब कर्मोंसे निवृत्त होना अकर्म है, फलतः तथा जिसको ज्ञानलाभ हुवा ऐसे मानवात्मा का यह अंतिम स्थान नहीं है। परंतु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस विषय में ज्ञानियों की भी बुद्धि कुंठित, शंकित और मोहित होती है; क्योंकि ज्ञान का और मुक्ति का लाभ निष्क्रियता के द्वारा नहीं होता, कर्म ही के द्वारा होता है।

तब इस प्रश्न का समाधान कैसे होगा? किस प्रकार कर्म करने से हम इस जीवन के संपूर्ण अशुभों से, भ्रमसे और शोक से मुक्त होंगे? उच्च हेतु से प्रेरित होकर किये हुए कार्य के दुष्परिणामसे मुक्त होंगे? और इस प्रकार असंख्य जातिके दुःखोंसे हम कैसे मुक्त होंगे? इसका उत्तर यह है-संसारके लिये आवश्यक ऐसे किसी कर्मको टालनेकी आवश्यकता नहीं है; किंबहुना सभी कर्म करना कर्तव्य है। इतना जरूर हो, कि भगवान् से आत्माको संलग्न करकेही ये सब कर्म किये जांय (युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्)। अकर्म अर्थात् कर्मत्याग कोई मार्ग नहीं है। जिन लोगोंको उच्चतम बुद्धिकी अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई है, उनको यह समझना है, कि ऐसी अकर्मावस्थामें भी वस्तुतः अनवरत कार्य जारी रहता है; क्योंकि यह अवस्था प्रकृतिके और उसकी गुणमालिका के आधीन रहती है। जो मनुष्य मोक्षप्राप्ति के हेतु शारीरिक कर्मोंसे निवृत्त होने चाहता है; उसको भ्रमके कारण ऐसा मालूम पडता है, कि कर्मका कर्तृत्व प्रकृति के तरफ नहीं, किन्तु अपने खुदके तरफ है। ऐसा मनुष्य भूलसे जडताको ही मुक्ति समझता है; उसकी समझमें यह नहीं आता, कि जिस अवस्था को अपन सर्वस्वी निष्क्रिय समझते हैं, जहां इट-पत्थरोंसेभी अधिक जडता है, वहां भी प्रकृतिकी क्रिया अबाधित रीतिसे चल रही है और पूर्ण कर्मप्रवाहमें भी आत्मा सब प्रकारके कर्मोंसे मुक्त है; अर्थात् वह किसी भी कृतकर्मसे बद्ध नहीं है। केवल वही मनुष्य कर्मसे मुक्त होता है, जो की आत्माके स्वातंत्र्यमें वास करता है और प्रकृतिके गुणोंके आधीन नहीं हो सकता।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु ... ... ॥

"मनुष्योंमें सच्चा बुद्धिमान् वही है कि जो कर्ममें कर्मका अभाव देखता और निष्क्रियतामें भी कर्मको जारी रहते हुए देखता है।" गीताके इस श्लोकमें यही विचार स्पष्टतया व्यक्त हुवा है। गीताके इस वाक्यकी रचना सांख्योंने किये हुए प्रकृतिपुरुषभेदपर हुई है। पुरुष मुक्त, निष्क्रिय, आत्मा, कर्ममें भी चिरशान्त, शुद्ध और अविचलित है, किंतु प्रकृति अखंड क्रियाशील है। प्रकृति जिसतरह उसके दृश्यकर्मप्रवाहमें कर्म करती है, उसी तरह अपनको जो जडता अथवा निष्क्रियता दिखती है, उसमें भी वैसी ही कर्म करती है। बुद्धिके अंतिम प्रयत्नसे हम ज्ञान संपादन करते हैं, इसलिये जिसने यह ज्ञान प्राप्त किया है वही सच्चा बुद्धिमान् है (स बुद्धिमान् मनुष्येषु)। जो भ्रान्त मनुष्य अधोबुद्धिके बाह्य अनिश्चित और अस्थायी प्रभेदोंके द्वारा जीवन और कर्मका विचार करना चाहता है, वह सच्चा बुद्धिमान् नहीं है; इसलिये मुक्त पुरुष कर्मको नहीं डरता, तथापि वह सर्वकर्मकारी महाकर्मी होता है (कृत्स्न-कर्मकृत्)। और लोगोंसरीखा वह प्रकृतिके आधीन रहकर कर्म नहीं करता, किंतु आत्माकी अखण्ड शान्तिसे विराजित रहकर भगवान् से संलग्न होनेके कारण शान्ततासे कर्म करता है। उसके सब कर्मोंका ईश्वर भगवान् ही है। बात इतनीही है, कि उसके द्वारा यह सब कर्म होता रहता है। उसकी प्रकृति सज्ञान ईश्वरके आधीन रहकर यंत्रके सदृश सब कर्मोंका संपादन करती है। इस ज्ञानरूपी अग्निकी तीव्र और पुण्य ज्वालाओं-में मानो उसका सारा कर्म जलकर भस्म हो जाता है। उसके मनपर इन कर्मोंका कोई दाग नहीं लगता। सारे कर्मोंमें उसका मन शान्त, अविचलित, निर्मल और पवित्र रहता है। कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर इस मोक्षदायक ज्ञानके प्रकाशमें सारा कर्म करना दिव्य-कर्मीका प्रथम लक्षण है।

दिव्य-कर्मीका दूसरा लक्षण है, वासनामुक्ति। जहां कर्ताका वैयक्तिक अहंकार नहीं, वहां वासना असंभाव्य है। वासनाको वहां कोई खाद्य नहीं मिलता, इससे वह नितान्त दुर्बल होकर लुप्त होती है। मुक्त व्यक्ति भी साधारण लोगों सरीखी सब तरहके कर्म करती हुई दिखती है। परंतु उसके द्वारा वह कर्म भगवान् की महान् इच्छाशक्ति करती है, इसलिये उससे अन्य लोगोंकी अपेक्षा भारी भारी काम विलक्षण सामर्थ्यसे और दिर्घो-द्योगसे सिद्ध होते हैं। मुक्त व्यक्तिके सारे कर्म और आरंभ क्षुद्र वासना और संकल्पसे मुक्त रहते हैं।

(सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः)। कर्म-फलके संबंधमें वह सर्वथैव आसक्तिशून्य रहती है। फलके हेतुसे नहीं किन्तु इस भावनासे, कि भगवान् के हाथका मैं एक अहंकारशून्य यंत्र हूं, जब कोई मनुष्य कर्म करता है, तब वासनाके लिये वहां स्थानही नहीं मिलता। केवल इतना ही नहीं, किन्तु ऐसी व्यक्तिमें भगवान् के कार्यको सफल करनेकी तक वासना नहीं रहती और न यह वासना रहती, कि कर्तव्यपूर्वक कार्य करके भगवान्को हम संतुष्ट करें। ऐसी वासनाका रहना असंभाव्य है, क्योंकि फल भगवान् का है, कर्म-कर्ता भी भगवान् ही है और भगवान् ही ने स्वतः की जिस शक्तिपर कर्मका बोझा डाला है, उसी शक्तिका सारा कर्तृत्व है; क्षुद्र मनुष्यका उसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं। यद्यपि मुक्त मानव स्वभाव-वश कर्मप्रवृत्त होता है तथापि उसका वह कर्म उस चैतन्यमयी प्रकृतिके द्वारा होता है, जिसको परिचालना हृदयस्थ भगवान् से मिलती है; उसका मन अथवा आत्मा कुछ नहीं करता।

इसलिये ऐसा नहीं, कि कर्म कुछ यशस्वितासे नहीं करना, अथवा यह विचार नहीं करना, कि कार्य किस उपायसे सिद्ध होगा; किन्तु योगस्थ होकर शांततापूर्वक कर्म करनेसे वह जैसा उत्तम

प्रकारसे सिद्ध होता है वैसा वह आशानिराशायुक्त कंपित हृदयसे, क्षुद्र और अक्षम-बुद्धिके नाना प्रत्यवायोंसे डरके और अस्थिर इच्छायुक्त चंचलतासे किया हुआ कर्म सिद्ध नहीं होता। गीता और एक जगह कहती है, कि कर्म करनेका सच्चा कौशल्य ही योग है (योगः कर्मसु कौशलम्)। परंतु यह समुचा कर्म वैयक्तिक स्वभावके द्वारा एक विराट्, विश्वव्यापी और नामरूपातीत ज्योति अथवा शक्तिसे संपादित होता है। कर्मयोगी यह जानता है, कि अपनेको जो शक्ति दी गई है वह भगवन्निर्दिष्ट फलप्राप्तिमें उपयोगी और अपनी इच्छा भगवज्ज्ञानहीके द्वारा सूक्ष्मतासे नियंत्रित होगी।

यह इच्छा कर्मीकी वैयक्तिक वासना अथवा कामना नहीं और न उसका उद्देश्य कोई व्यक्तिगत लाभ है। यह इच्छा भगवान्का उद्देश्य साध्य करनेके लिये एक दिव्य विज्ञानमयी शक्तिकी प्रेरणा है। इस प्रकारका कर्म सामान्य दृष्टिको कभी यशस्वी दिखेगा और कभी अयशस्वी भी दिखेगा। परन्तु कर्मयोगी यह जानता है, कि बाह्यतः कुछ भी होवे परन्तु सब कर्मोंके जयापजयमें और लाभहानिमें कर्मफलका नियन्ता जो सर्वज्ञ भगवान्, उसीका हेतु सिद्ध होता है। भगवान् कभी बाह्य जयके द्वारा स्वतःकी इच्छा संपादित करते हैं और कभी बाह्य पराजयके द्वारा अपनी इच्छा अधिकाधिक जोरसे पूरी करते हैं। युद्ध करनेका जो अर्जुनको आदेश मिला, उसमें जयप्राप्ति निश्चित रही। परन्तु मान लें, कि अन्तमें अर्जुनका पराजय होना था, तब भी युद्ध करनाही उसका कर्तव्य था। क्योंकि जिन विराट् प्रयत्नोंके द्वारा भगवान्की इच्छा निश्चितरूपसे सफल होनेवाली है, उसमें युद्धकी जिम्मेदारी अर्जुनहीं पर सौंपी गई है।

मुक्त मानवको व्यक्तिगत कोई आशा अथवा आकांक्षा नहीं रहती। अपना कहकर कोई द्रव्य वह ग्रहण नहीं करता; भगवान्की इच्छा जो कुछ देगी, उसका वह स्वीकार करता है। किसी भी वस्तुमें उसका लोभ नहीं रहता और वह किसीके सम्बन्धमें ईर्ष्या नहीं रखता। किसीके मरनेपर वह शोक नहीं करता। उसको जो कुछ प्राप्त होता है उसका वह रागद्वेषशून्य होकरही ग्रहण करता है। उसका चित्त, आत्मा सर्वस्वी उसके आधीन रहता है, और सब प्रकारकी प्रतिक्रिया और क्षोभसे वह मुक्त रहता है। बाह्य विषयस्पर्शोंसे चलित होकर वह अपने चित्तमें गडबड उत्पन्न होने नहीं देता। उससे जो कर्म होता है, वह वस्तुतः शारीरिक ही होता है (शारीरं केवलं कर्म); क्योंकि बाकी जो कुछ है, वह मानवी स्तरमेंसे उत्पन्न नहीं होता। वह ऊर्ध्वस्तरमेंसे आता है और वह भगवान् पुरुषोत्तमकी इच्छाका, ज्ञानका और आनंदका प्रतिरूप रहता है। इसलिये वह कर्मकी ओर अथवा कर्मफलकी ओर झुककर अपने चित्तमें उन सबकी प्रतिक्रिया होने नहीं देता। अर्थात् अपन जिसको अन्तःशत्रु अथवा पाप कहते हैं, वह उसके हाथसे होता नहीं। क्योंकि बाह्य कर्म कोई पाप है ही नहीं। वस्तुतः कर्मकी जो व्यक्तिगत इच्छा—चित्त मनकी जो अशुद्ध प्रतिक्रिया, इस कर्मका कारण—वही पाप है। जो व्यक्तिगत नहीं है, जो नामरूपातीत आध्यात्मिक सत्ता है, वह सदैव शुद्ध और अपापविद्ध है और उस सत्ताके द्वारा जो कर्म घटित होते हैं, वे सब उसी सत्ताके समान शुद्ध और पवित्र हैं। यह आध्यात्मिक व्यक्तिशून्यता—यह आध्यात्मिक अव्यक्तित्व—Spiritual Impersonality—दिव्य-कर्मीका तीसरा लक्षण है। जिन लोगोंको कुछ महत्त्वकी और उदारताकी प्राप्ति हुई है, उनको यह अनुभव आता है, कि अपनी व्यक्तिगत सत्ताके अतीत एक शक्ति अथवा प्रेम अथवा इच्छा और ज्ञान अपने द्वारा क्रिया करता है। तथापि ये लोग वैयक्तिक अहंकारसे मुक्त नहीं रहते। किंबहुना बीचबीचमें यह अहंकार बहुतही प्रबल होता है। परंतु इस विषयमें मुक्त पुरुषको स्वातंत्र्य प्राप्त रहता है; क्योंकि

उनकी वैयक्तिक सत्ता नामरूपातीत सत्तामें घल जाती है। मुक्त पुरुषको स्वतःका अस्तित्वही नहीं रहता; क्योंकि भगवान् पुरुषोत्तमने उसका स्वीकार किया है। वह सब भारी भारी हलचल उद्‌व्याप करता है, परंतु वह किसी बातसे बद्ध नहीं होता। प्रकृतिके कार्यनिमित्त व्यक्तित्वका जो कुछ थोडा आभास बाकी रहता है, उससे भी यह मुक्त पुरुष बद्ध नहीं होता। इस प्रकारका मुक्त पुरुष अनन्तका मुक्त आधार, पुरुषोत्तमका जीवित प्रतिरूप और उदार नमनीय ऐसी विश्वव्यापी वस्तु है।

इस ज्ञानका, इस वासनाशून्यताका और इस अव्यक्तित्वका फल आत्मा अथवा प्रकृति में पूर्ण समत्व होना है। समता दिव्य-कर्मीका चौथा लक्षण है। गीता कहती है, कि दिव्यकर्मी सब प्रकारके द्वन्द्वोंका अतिक्रमण करता है, अर्थात् वह द्वन्द्वातीत रहता है। वह जयाजय आदि सब द्वन्द्वमय बातोंको समदृष्टिसे देखता है। उसका चित्त किसी बातसे विचलित नहीं होता; किंबहुना सब द्वन्द्वोंके पार जाकर वह उनका समन्वय कर सकता है। संसारकी हलचलके सम्बन्धमें सामान्य मनुष्यकी मनःप्रवृत्ति जिन समूचे भेदाभेदोंके द्वारा निश्चित होती है, उन बाह्य भेदाभेदोंको दिव्यकर्मी कोई बडा महत्त्व नहीं देता। ये भेदाभेद उसको अमान्य न हों, तथापि वह इन सबके परे रहता है। सकाम मनुष्यकी दृष्टिसे शुभाशुभ बातोंमें जो फरक है वह जरूर महत्त्वका फरक है; परन्तु दिव्यप्रकृतिसे मंडित ऐसे निष्काम पुरुषको शुभ और अशुभ दोनों समान हैं; क्योंकि इनके संमिश्रण से, उसीके द्वारा सनातन शुभका उन्नतिशील रूप तैयार होता है। इसी तरह उसको पराजय भी नहीं है; क्योंकि दिव्यात्माकी दृष्टिसे सारी हलचलें इस प्रकृतिके कुरुक्षेत्रके द्वारा दिव्यजयके रुखसे चल रही हैं। यह जो धर्मका विकास कर्मक्षेत्रके द्वारा हो रहा है, (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) यहां का प्रत्येक हलचल उस भगवान् के द्वारा, जो कि इस युद्धका परम स्वामी सकल कर्मोंका ईश्वर और धर्मका नेता है, पहिलेहीसे निश्चित हुई है। दिव्य-कर्मीको मनुष्यकी की हुई निंदास्तुति, मानापमान, विचलित करनेमें असमर्थ है। उसके कर्मकी प्रेरणा किसी तरहके व्यावहारिक पारितोषपर जरा भी निर्भर नहीं है। क्षत्रिय अर्जुन स्वभावही से यश और मानका भोक्ता होनेके कारण उसको अपमानका और दौर्बल्यकी दुष्कीर्तिका, इनको मृत्युसमान लेखकर, त्याग करनाही इष्ट है। क्योंकि मानसन्मानका रक्षण करना और इस संसारमें साहसका आदर्श अभंग रखना उसके धर्मका अंग है। परन्तु मुक्त पुरुष अर्जुनको यह सब माननेका कोई कारण नहीं। उसको यही कर्तव्य जान लेना आवश्यक है, कि भगवान् अपनेसे किस कर्मकी अपेक्षा करते हैं, यह समझ-कर भगवान् को फलाफल अर्पण करके वह कर्म करना। इतनाही केवल नहीं, किंतु सर्वसामान्य मनुष्यकी दृष्टिसे आवश्यक ऐसा जो पापपुण्यका भेद है, उसके भी पार उसको जाना चाहिये। अहंकारके प्रभावको नष्ट करनेका जो लोग प्रयत्न करते हैं, प्रबल शत्रुके चुंगलसे छूटनेका जो अर्थात श्रम करते हैं, उनको पापपुण्य-भेदकी आवश्यकता जरूर है;परंतु मुक्त पुरुष इन सबके ऊपर रहता है और साक्षीभूत तथा प्रबुद्ध आत्माकी पवित्रतामें बिराजित रहता है। पाप उसके आत्मासे छूट पडता है और जिस शिखरपर वह आरूढ रहता है, जिस आसनपर वह विराजमान रहता है, वहां असत्कर्मसे उसका क्षय नहीं होता अथवा सत्कर्म से वृद्धि नहीं होती। उसका वह स्थिति यथार्थमें दिव्य निःस्वार्थ प्रकृतिकी अखण्ड और अक्षय्य पवित्रता है। वहां पापपुण्य बोधके लिये कोई स्थान नहीं और न उपयुक्तता अथवा आवश्यकता भी है।

पहिले अज्ञानवश हुवा अर्जुन, अंतःकरण में न्याय और धर्मकी प्रेरणा का अनुभव करता है और मन में विचार करता है, कि युद्ध से परावृत्त

होना अपनी दृष्टिसे पाप होगा; क्योंकि अत्याचारी शक्तिको बढने देनेसे देशपर, जातिपर जो अन्याय, अविचार, अत्याचार होगा, उस सबका उत्तरदायित्व मुझपर आ पडेगा। किंतु हिंसा और नरहत्याके संबंधमें विचार करते करते उसको मालूम पडता है, कि हरहालतमें रक्तपात पाप है और उसका समर्थन किसीभी तरहसे किया नहीं जा सकता। ये दोनों मनोभाव एकही से न्याय्य और सयुक्तिक हैं। इनमेंसे किस मनोभाव का जय होगा और लोगोंको ग्राह्य कौनसा होगा, यह बात देश-काल-पात्रपर अविलंबित रहेगी। किंतु मुक्त पुरुष की दृष्टि इन सब विरोधी आदर्शों का और नीति का अतिक्रमण करती है। वह केवल इतनाही देखता है, कि धर्मके रक्षणार्थ और विकासार्थ आवश्यक ऐसी कौनसी अपेक्षा भगवान् अपन से करते हैं? उसको स्वतःका कोई हेतु साध्य नहीं करना अथवा रागद्वेषोंका समाधान नहीं करना। इसी तरह उसके कर्म की भी ऐसी कोई चिरनिर्दिष्ट नीति अथवा आदर्श नहीं, जो विकासशील नवसमाज की उत्क्रांतिके साथ न बदले अथवा अनंत की पुकारको भी तुच्छ लेख कर उसके विरुद्ध लडनेको तैयार हो. उसको स्वतः के किसी शत्रुको जीतना नहीं अथवा मारना नहीं। वह यही देखता है, कि जो उसके विरोधी हैं, वे प्रतिकारद्वारा नियतिकी गतिको सहायता करनेके लिये दैवयोगसे नियुक्त हुए हैं। विरोधकोंके विषय में उसको क्रोध अथवा द्वेष हो नहीं सकता; क्यों की दिव्य प्रकृतिमे क्रोध अथवा द्वेषके लिये कोई स्थानही नहीं है। राक्षसोंकी भीषण रक्तपिपासाको और असुरोंकी ध्वंसाकांक्षाको दिव्य प्रकृति की शांति में, सर्वतोमुखी सहानुभूति और ज्ञानमें जगह मिलना सर्वथा असंभवनीय है। मुक्तात्मा किसीका अनिष्ट करना नहीं चाहता किंतु सब ही पर उसकी करुणा और प्रेम रहता है (अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च); परंतु सामान्य मनुष्यों में जो अनुकंपा दिखती है. उससे मुक्तात्मा की देवोचित करुणा निराली है। सकल आत्माओं को अपने में आलिंगन देना देवोचित करुणा है। सिवाय इसके यह बात भी नहीं है, कि मुक्त पुरुष केवल शारीरिक जीवन की ओर ही विस्तृत दृष्टि से देखता हो। वह अपने लक्ष्यको आत्मिक जीवन का केवल एक यंत्र समझता है। वह यकायक हत्या अथवा युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होता। परंतु यदि धर्मके प्रवाहमें युद्ध आ पडे, तो वह पीछे नहीं हटता। उदार समतासे और पूर्ण ज्ञान से वह उस धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होता है और वह जिनका प्रभुत्व नष्ट करना चाहता है, उनके विषय में भी उसमें सहानुभूतिका अभाव नहीं दीख पडता।

इसका कारण यह है, कि वह सर्वत्र दो वस्तु देखता है। वह यह देखता है, कि भगवान् सकल भूतों में समानतासे वास करते हैं। केवल कालचक्रके कारण भगवान् का प्रकाश सर्वत्र एकसा नहीं दिखता। पशु, मनुष्य, कुत्ता, अस्पृश्य, चांडाल, विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण, साधु, पापी, उदासीन, शत्रु, बंधु, शुभकारी तथा अनिष्टकारी- इन सबमें वह स्वतःको, भगवान्को देखता है और इन सबके विषयमें उसके अंतःकरणमें एकही सी दया और प्रेम रहते हैं। दैववशात् वह कदाचित् किसीको बाह्यतः आलिंगन भी देगा और युद्धमें किसीपर आक्रमण भी करेगा; तथापि उसकी सर्वस्थित समदृष्टिमें, उदार अंतःकरणमें और हार्दिक प्रेममें कभी किसी प्रकार प्रत्यवाय नहीं आता। उसके समस्त कर्मोंके मूल में यही नीति रहती है, कि मानवजातिको क्रमक्रमसे देवत्व की ओर ले जानेके हेतुसे भगवान् की इच्छा अपने द्वारा कार्य करती है।

दिव्यकर्मी का और एक लक्षण पूर्ण आनंद (आंतरिक आनंद) और शांति है (दिव्य चैतन्य का भी यह मूलतत्त्व है।) इसकी उत्पत्ति और स्थायिकता दुनियां की किसी भी चीजपर अवलंबित नहीं रहती। यह पूर्ण आनंद और शांति आत्मचैतन्य का मूल उपादान है और यही दिव्य

सत्ताका सच्चा स्वरूप है। सामान्य मनुष्य अपने सुखके लिये बाह्य वस्तुपर अवलबित रहता है और इसी लिये उसमें वासना रहती है। वासना ही के कारण वह क्रोध, सुखदुःख हर्षशोक और उर्सा लिये सदैव और दुर्दैव की तराजूमें वह सब वस्तुओंको तौलता है। दिव्य-आत्माको इनमेंसे कोई विचलित नहीं कर सकता। दिव्यात्मा किसी पर निर्भर नहीं रहता किन्तु सदैव तृप्त रहता है; (नित्यतृप्तो निराशयः) क्योंकि उसकी रति दिव्य आराम, सौख्य, रमणीयज्योति - सब कुछ उसमें अंगभूत रहता है (योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः तथान्तर्ज्योतिरेव यः।) दिव्य पुरुषको बाह्यवस्तुसे जो आनंद मिलता है वह उस वस्तुके कारण नहीं, किंतु इन सब वस्तुओंमें जो सनातन आत्मा है, भगवान् का प्रकाश है, उसीके कारण है। बाह्य वस्तु दिव्यात्माके किसी भी अभावको अथवा आकांक्षाको पूर्ण नहीं कर सकती। जिसका आनंद केवल बाह्य वस्तुओंमें भरा है, उसके आनंद को अंत है, अभाव है' परंतु संपूर्ण बाह्य पदार्थ जिस सनातन सत्य वस्तुका बाह्यरूप है उस सत्य वस्तुहीमें दिव्य पुरुषको आनंद मिलता रहता है और इस आनंदका कभी अभाव नहीं रहता। बाह्य वस्तुके संबंधमें उसकी किसी प्रकार आसक्ति नहीं रहती। स्वतःके आत्मामें उसे जो आनंद मिलता है, वही आनन्द उसको सारी वस्तुओंमें प्राप्त होता है; क्योंकि सब वस्तुओंका आत्मा और उसका आत्मा एक है, सर्वभूतस्थ आत्मासे वह एकात्मा हुआ रहता है। सकल भेदोंमें भी जो एक अभेद ऐसा ब्रह्म विराजमान है, उस ब्रह्मसे उसका मीलन हुआ रहता है। ऐसा यह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (५-२१) सर्वभूतात्मभूतात्मा (५-७) सुखमय वस्तुके संसर्गसे उल्हसित नहीं होता और न दुःखमय वस्तुके स्पर्शसे विह्वल होता। किसी भी वस्तु की व्यथा, किसीने भी उसको दिया हुआ क्लेश, किसी शत्रुने उसपर किया हुआ आघात, इनमेंसे कोई बात मुक्तात्माके मनके स्थैर्यको नष्ट नहीं कर सकती। उपनिषदोंके वाक्यमें कहना हो, तो उसका आत्मा स्वभावतः अव्रण क्षतशून्य अथवा व्यथाशून्य रहता है। सकल वस्तुओंमें उसका एकही अखंड आनंद रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥५-२१॥

यह समता, अव्यक्तित्व, शान्ति, आनंद, मुक्ति इत्यादि गुण (अर्थात् दिव्य-कर्मीके लक्षण) कर्म करने या न करने सरीखे बाह्य व्यापारपर अवलंबित नहीं रहते। बाह्य और आन्तरिक त्यागके भेदसम्बन्धमें गीतामें बारबार जोर दिया है। गीताके मतसे आन्तरिक त्यागके विना बाह्य त्यागकी कोई कीमत नहीं है; पहिलेके अतिरिक्त दूसरा प्रायः असम्भवनीय ही है। जहां आन्तरिक मुक्ति है वहां बाह्य संन्यासका कोई प्रयोजनही नहीं है! वस्तुतः 'त्याग' ही (आंतरिक त्याग) सच्चा और यथार्थ संन्यास है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥५-३॥

'जो द्वेष नहीं करता, आकांक्षा भी नहीं रखता, वह नित्यसंन्यासी समझना चाहिये। इसप्रकार जो द्वन्द्वोंसे मुक्त हुआ है, वह अनायासही सारे बंधनोंसे मुक्त होता है। दुःखदायक दुःखमाप्तुम्) ऐसे बाह्य सन्यासकी कोई आवश्यकताही नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि सकल कर्मोंका और कर्मफलोंका संन्यास करना जरूर है; परन्तु यह संन्यास बाह्य नहीं, आंतरिक प्रकृतिकी तामसता में कर्म समर्पण नहीं करना; किन्तु यज्ञस्वरूपी ईश्वरमें सकल कर्मोंका और कर्मफलोंका समर्पण होना चाहिये, नामरूपातीत विराट् सत्ताकी शान्ति और आनंदमें समर्पण होना चाहिये। यद्यपि इस सत्तासे सकल कर्मोंकी उत्पत्ति होती है, तथापि उससे उसकी शान्ति किंचिन्मात्र विचलित नहीं होती। अखिल कर्मोंको ब्रह्मार्पण करनाही सच्चा कर्मसंन्यास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥५-१०॥

" जो आसक्तिका त्याग करके, अखिल कर्मोंको

ब्रह्मार्पण करके (अथवा ब्रह्मको कर्मका आधार करके) कर्म करता है, वह जलस्थित कमलके समान पापसे अलिप्त रहता है।"

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥५-११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥५-१२॥

"इसलिये योगीलोग प्रथमतः शरीर, मन और बुद्धिके द्वारा, किंबहुना केवल कर्मेंद्रियोंके द्वारा अनासक्त होकर आत्मशुद्धिके हेतु कर्म करते हैं। ब्रह्मसे जो युक्त हुआ, वह कर्मफलकी आसक्ति छोडकर ब्रह्मनिष्ठाकी परम शांतिको प्राप्त करता है। परन्तु जो इसप्रकार ब्रह्मयुक्त नहीं होता, वह कर्मफलमें आसक्त होता है और वासनावश कर्म करके बद्ध होता है।"

यह प्रतिष्ठा, पवित्रता और शुद्धि जहां प्राप्त हुई, वहां देही आत्मा उसकी प्रकृतिको पूर्णतया वश करके और संपूर्ण कर्मोंका मनसे संन्यास करके (बाह्यतः नहीं किंतु आंतरिक) नवद्वारके देहपुरीमें कर्म न कराता हुआ और न करता हुआ स्थित रहता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥५-१३॥

क्योंकि यही आत्मा सबके अंतरंगमें है और वह सब भेदोंके परे है। वह किसी विशेष नामरूपसे बद्ध नहीं होता; वह कर्मकी अथवा कार्यकारण-शृंखलाकी अथवा मनःकर्तृत्वके भावकी भी उत्पत्ति नहीं करता। मनुष्य में जिस प्रकृतिका वास्तव्य है, वह प्रकृति (ऊर्फ स्वभाव) ही सबको निर्माण करती है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥५-१४॥

यह सर्वव्यापी नामरूपातीत सत्ता किसीका भी पाप अथवा पुण्य नहीं लेती। पापपुण्यकी उत्पत्ति जीवके अज्ञानसे, कर्तृत्वके अहंकारसे, स्वीय सत्ताके अभिमानसे, प्रकृतिकी क्रियासे संलग्न होनेके कारण होती है। उसमें जब आत्मज्ञान इस अंधकारमय आवरणसे मुक्त होता है, वह ज्ञान जब सूर्यके सदृश अंतस्थ सत्य आत्माको प्रकाशित करता है तब जीव यह जान सकता है, कि मैं प्रकृतिके यंत्रसमूहके ऊपर रहनेवाला परम आत्मा हूं। स्वतःको शुद्ध, अनंत, अजिंक्य, अक्षर समझकर वह किसी भी कारणसे चलित नहीं होता। वहां ऐसे ख्यालको जगह नहीं रहती, कि प्रकृतिकी क्रियाके कारण अपनेमें कुछ फरक होता है। स्वतःको उस नामरूपातीत विराट् सत्तासे पूर्णतया एकजीव करके प्राकृतिक बंधनकी पुनरावृत्तिसे वह स्वतःको मुक्त करता है।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥५-१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥५-१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥५-१७॥

तथापि इस प्रकारकी मुक्तिके कारण उसको कर्म करनेके लिये कोई अडचन नहीं रहती। उसकी यही धारणा रहती है, कि अपन स्वतः कर्ता नहीं हैं; वस्तुतः प्रकृतिका गुणसमूह ही सारे कर्म करता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
॥५-८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥५-९॥

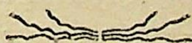
"तत्त्वज्ञानी अंतरंगमें उस निष्क्रिय और नामरूपातीत सत्तामें युक्त रहकर यह समझता है, कि 'मैं कुछ नहीं करता'। जब वह दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, आहार, गमन, निद्रा, श्वास, कथन, त्याग, ग्रहण, नेत्रोंका उन्मीलन और निमीलन करता है, तब उसकी यह समझ रहती है कि केवल इन्द्रियगण ही विषयोंपर क्रिया करते हैं।' वह अक्षर और अपरिणामी आत्मामें विराजित रहनेसे गुणत्रयके पाशोंमेंसे मुक्त अर्थात् त्रिगुणातीत होता है। वह सात्त्विक, राजस अथवा तामस

भी नहीं है। उसके कर्मोंमें प्रकृतिके गुणसमूहोंका जो क्रमशः परिवर्तन चलता रहता है, प्रकाश और सुख, कर्म और शक्ति, विश्रांति और जडता, इनकी जो छंदोबद्ध लीला चलती रहती है उसका निरीक्षण वह निर्मल शान्ततासे करता रहता है। शांत आत्माकी यह ऊर्ध्वस्थिति अर्थात् द्रष्टापनसे स्वतः के कर्मोंका निरीक्षण करना, परंतु उसमें बद्ध न होना, यही त्रिगुणातीतत्व है और दिव्य-कर्मोंका यह एक और महान् लक्षण है। केवल इस भावसे प्रकृतिके अन्धनियमवादकी उत्पत्ति हो सकती है। आत्मा सर्वस्वी स्वतंत्र है प्रकृति स्वयमेव अखिल जागतिक क्रिया संपन्न करती है; इस प्रकारका मतवाद उत्पन्न हो सकता है. परंतु इस प्रकारका मत अपूर्ण विचारोंका फल ह। इस मतका पूर्ण-रीतिसे खण्डन पुरुषोत्तमवादके द्वारा गीताने किया है और सारे प्रश्नोंकी योग्य मीमांसा की है। गीताके इस मतसे यह स्पष्टतया दृग्गोचार होता है. कि प्रकृतिको प्रवृत्त करनेवाली परम पुरुषकी इच्छा ही कारण है। अन्ततक प्रकृति स्वतःका कार्य स्वय अन्धेपनसे नहीं करती। धारणा ऐसी जरूर रखनी पडती है, कि जिसने पहिलेहीसे कौरवोंको निहत कर दिया है, जिसके कर्मका अर्जुन केवल मानवी यंत्र है वह प्रपंचातीत विश्व-व्यापी आत्मा, वही देवता प्रकृतिके कर्मका अधीश्वर है, हमें हमारे वैयक्तिक अहंकारसे मुक्त होनेका उपाय ऐसा नामरूपहीन विराट् ब्रह्म ही सकल कर्मोंका आधार है; हमारा 'मैं' वस्तुतः कर्मका मूल नहीं है; तथापि सबका जो परमेश्वर, सर्व भूतमहेश्वर है उसको अखिल कर्म समर्पण करना अंततक हमारा उद्दिष्ट है और होना चाहिये।

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
>
> (गी० ३-३०)

आत्मज्ञानसंपन्न होकर, तुम्हारे सब कर्मोंका मुझमें संन्यास करके, वैयक्तिक आशा आकांक्षासे मुक्त होकर, 'मैं' और 'मेरा' यह सब विचार छोड-कर विगतज्वर होकर युद्ध करो, कर्म करो, जगत्में मेरी इच्छाका संपादन करो। यह भगवत्-शक्ति प्रकृतिमें भगवान्का कार्य अव्याहत संपादन करती है। जिसको नामरूपातीत ब्रह्मभावकी प्राप्ति हुई है. वह भगवान् की शक्तिका शुद्ध आधार (channel) होता है। इस प्रकारका कर्म केवल मुक्तहीका रहता है; क्योंकि वह कदापि प्रवृत्तिके वशमें आकर कर्म नहीं करता। इस प्रकारका कर्म सिद्ध कर्मयोगीका होता है; इसलिये जैसे समुद्रमें किसी तरह बदल नहीं होता. उसी प्रकार ऐसे कर्म मुक्तात्मासे उत्थित होते हैं और आत्मा-का किसी तरह विचलित न करके अन्तर्धान होते हैं- जैसे समुद्रपर पानीकी ऊर्मि उठती है और नष्ट होती है—

> गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
> यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४-२३)



गीता और क्रिस्ती धर्म।

(लेखक-डॉ० एच्. डबल्यू बी. मोरेनो, एम्. ए., पीएच्. डी., प्रेसिडेंट अँ. इं. ली.)
[अनुवादक— श्री० अ य० देशपांडे, रायगांवकर, आटपाडी.]

अभीतक कुछ लोगोंकी यह धारणा है, कि दुनियांमें जितने धर्म हैं, वे सब एक दूसरे से इतने भिन्न हैं. कि उनका परस्पर जरा भी संबंध नहीं है। मुसलमानोंका धर्म हिंदु मतसे भिन्न है; इसी तरह क्रिस्ती धर्मका हिंदु और मुसलमान धर्मों से कोई (मतोंके संबंधमें) मेल नहीं है। हमें यह कहना अनिवार्य है,कि इस प्रकारकी धारणा केवल कुसंस्कारोंका फल है। इन धर्मोंके लोगोंने किया हुवा प्रचार कार्य ही इन कुसंस्कारोंका मूल अथवा कारण है। इस दुनियां के धर्मों में जो कुछ भेद है, वह मनुष्य का किया हुआ है। प्रत्येक धर्ममें कोई कोई ऐसे उत्कृष्ट तत्व हैं, जो अखिल मानवी समाजमें ऐक्य प्रस्थापित कर सकते हैं। यही तत्व ईश्वरीय हैं। इस पृथ्वीतलपर जितने धर्म हैं, उन धर्मों के मूलतत्वोंका ही यदि समीक्षण किया जाय, तो यह देखकर बहुतही आश्चर्य होगा, कि कितनी बातोंमें एक का दूसरेसे भिन्नत्व है और कितनी बातोंमें साम्य है; क्योंकि ऐसे अनेक तत्व हमें देखने मिलेंगे, जो सब लोगोंको मान्य हैं।

उदाहरणार्थ- अपन सब लोग मानते हैं, कि ईश्वर है। इसी तरह अपन सब लोग इस सिद्धान्त को मान्य करते हैं, कि यच्चयावत् मनुष्यमात्र ईश्वरके बच्चे हैं। इस प्रकार अपन सब ही लोग एक ही ईश्वर के बच्चे रहनेसे अपना परस्परबंधुत्वका नाता हम कबूल करते हैं। इसी तरह हम यह भी श्रद्धा रखते हैं, कि दुनियां में पाप है और हमको चाहिये, कि पाप का त्याग करके पुण्यका संचय करनेका हम सतत प्रयत्न करें। बात केवल इतनी ही है, कि भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुसार पापका त्याग करने के और पुण्यका संचय करने के मार्ग भिन्न हैं। श्रीकृष्ण स्वतः कहते हैं, कि- "मैं आनंद का समुद्र हूं। अनेक नदियां समुद्रमें आकर मिलती हैं, उनमें से कुछ वक्र मार्ग से बहती है परंतु अंतमें समुद्रही में आकर मिलती हैं। इस प्रकार सब लोग मुझे आकर मिलते हैं, क्योंकि मैं आनंदसागर हूं।" दूसरी बात हमें भगवद्गीताके अभ्यास से यह विदित होती है, कि जिन श्रीकृष्ण भगवान् का उपदेश पवित्र भगवद्गीता ग्रंथ में संग्रहीत किया गया है, हम सब लोग जानते हैं, कि उनका जीवनवृत्त प्रभु येशू क्रिस्त के जीवनवृत्त से मिलता जुलता है। बाल्यावस्था में दोनोंको अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पडे, तथा उनके मातापिताओंको भी अनेक प्रकार की यातनाएं भोगनी पडीं। दोनोंके उपदेशोंमें साम्य है. क्योंकि दोनोंने पाप का विनाश और पुण्य का संग्रह करनेको कहा है और दोनोंका प्रतिपादन है, कि अंतमें पुण्य ही का विजय होता है। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, कि-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गी० ४।७,८)

अर्थात् (७) हे भारत! जब जब धर्मकी ग्लानि होकर अधर्म का प्राबल्य होता है, तब (तब) मैं स्वतः जन्म (अवतार) लेता हूं। (८) साधुओं का संरक्षण करने तथा दुष्टोंका नाश करने के लिये प्रत्येक युगमें धर्म-स्थापना के हेतु मैं जन्म लिया करता हूं। ठीक इसी प्रकार येशू क्रिस्त ने अपने शिष्योंको कहा है, कि "मैं और एक बार इस लोकमें आकर अपना अर्थात् धर्मका राज्य प्रस्थापित करूंगा।" श्रीकृष्ण ने कहा है, कि भलाई अथवा सदाचरण जो करना है, वह केवल भलाई के अथवा सदाचरण के ही लिये करना है, दूसरे किसी भी उद्देश से नहीं। यही बात येशू क्रिस्तने भी अन्य

रीतिसे इन शब्दोंमें कही है- " हमको चाहिये, कि हम दुष्टोंके साथ सदाचार ही का व्यवहार करें और अपकारका बदला उपकार ही से देवें। " श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप बतलाया था; येशू क्रिस्तने भी सिनाई पर्वतपर अपने दो शिष्योंको- पीटर और जॉनको- अपना तेजस्वी रूप बतलाया था। ऐसा करनेमें दोनोंका हेतु यह बतलानेका था, कि यद्यपि सर्वसाधारण लोगोंको अपन मनुष्यरूप से दिखते हैं, तथापि वस्तुतः अपन ईश्वरके अवतार हैं। श्रीकृष्णने धर्मकी वेदीपर अपने पांचभौतिक अथवा पार्थिव देहका होम किया; क्योंकि द्वारकामें अचानक रीतिसे एक बाण उनको लगा और उन्होंने अपना अवतारकार्य समाप्त किया। इसी तरह येशु क्रिस्तने अपने धर्मके प्रीत्यर्थ सूली (Cross) पर अपने प्रिय प्राणोंका त्याग किया। ज्यादा क्या कहें, इन दोनों अवतारी महापुरुषोंके नाम भी परस्परसदृश हैं। एकका नाम ' कृष्ण ' है, दूसरे का नाम ' क्राइष्ट ' है! उनके जीवन तथा उपदेशमें भी साम्य है। येशु क्रिस्तका जो धर्म है, वही भगवद्गीता का धर्म है; केवल नाम में भिन्नता है। भारतवर्ष में जहां क्रिस्ती लोगोंका हिंदुओंसे नित्य का संबंध है, वहां इन दोनोंमें ऐक्य प्रस्थापित करना अत्यंत आवश्यक है। परंतु बहुत दुःखकी बात है, कि इन दो समाजों में आज भी अत्यंत तीव्र भेदभाव है। इन दो महान् धर्मों के सिद्धान्तोंका विचारपूर्वक अभ्यास करके जो बात प्रस्तुत लेखमें संक्षेपतः दिग्दर्शित की है, उसको अधिक स्पष्ट कर देना चाहिये। मतलब यह है, कि इन दो धर्मों में जितना मतभेद है, उसकी अपेक्षा उनमें साम्य अधिक है।

अंतमें इतना ही कहना है, कि आत्मोत्सर्ग अथवा अहंबुद्धि का त्याग ही गीता की एकमात्र शिक्षा है। येशू क्रिस्तका भी यही भाव था। उन्होंने कहा है, " यदि कोई मनुष्य मेरा अनुयायी होना चाहता हो, तो उसको यह आवश्यक है, कि वह अहंभाव का त्याग करके, चाहे जो कष्ट आवें उन्हें बरदाश्त करनेको तैयार होकर मेरे पास आवे। "



भगवद्गीता और विल्हेम फॉन् हुम्बोल्ट

(लेखक-प्रो० डॉ० हाइनरिच ल्यूडर्स, जर्मनी, अनुवादक- श्री०अ०य० देशपांडे, रायगांवकर, आटपाडी.)

३० जून सन १८२५ को तथा १५ जून सन १८२६ इ० को विल्हेम फॉन हुम्बोल्टने बर्लिन शहरकी विज्ञान-शाला (Academy of Sciences) में एक निबंध पढा था। उस निबंधका विषय था " महाभारत का एक प्रसंग-भगवद्गीता। " हुम्बोल्ट जैसे महापंडित थे वैसे ही एक बडे राजनीतिज्ञ भी थे। ऑगस्ट विल्हेम फॉन श्लीगलने भगवद्गीता-काव्यमय ग्रंथकी जो संस्कृत आवृत्ति प्रकाशित की थी, वह हुम्बोल्टने पढी थी; और उनपर उसका दृढ परिणाम हुआ था। उन्होंने अपने मित्रको एक पत्र भेजा था, उसमें लिखा था, कि 'इस दुनियांमें जितने ग्रंथ हैं, उनमें इतने सूक्ष्म और उन्नत विचार कहीं नहीं दिखते, जैसे भगवद्गीतामें हैं। जिस समय मैंने उस ग्रंथका पठन किया, उस समय मैंने जगन्नियंता को शतशः धन्यवाद दिए, कि इस प्रकारके ग्रन्थका परिचय कर लेने के लिये परमेश्वरने मुझे जीवित रखा। '

तबसे आजतक सौ वर्षसे अधिक समय बीत गया। उस समय की अपेक्षा आज हमको भारतीय साहित्य और भारतीय तत्त्वज्ञान विषयोंका अधिक ज्ञान हुआ है। ऐसी हालतमें यह सहज ही ध्यानमें आ सकता है, कि आज हुम्बोल्ट के कोई कोई सिद्धान्त पुराने हो गये हैं। तथापि हुम्बोल्ट ने अपने भगवद्गीताविषयक लेखके अखीरमें अध्यात्मसंबंधी काव्यके वैशिष्ट्य के बारेमें जो चमत्कृतिपूर्ण

बातें लिखी हैं, वे आज भी विचारपूर्वक पढनेलायक हैं! हुम्बोल्टका ऐसा मत है, कि आध्यात्मिक काव्यका जो सच्चा आदर्श है, उस आदर्श को भगवद्गीता जहांतक जा पहुंची है, उतना उस विषयपर कोई भी प्राचीन ग्रंथ-अर्थात् आजकल जो उपलब्ध हैं उनमें से- आजतक पहुंच नहीं सका। लोग जिसको आध्यात्मिक अथवा उपदेशात्मक काव्य कहते हैं, उनसे यह ग्रंथ बिलकुल निराला है। हुम्बोल्ट के मतानुसार काव्यकला और आध्यात्मिक शास्त्र का स्वाभाविक संमिश्रण ही प्रकृत आध्यात्मिक काव्य का वैचित्र्यपूर्ण वैशिष्ट्य है। जो काव्य वस्तुतः आध्यात्मिक स्वरूप का नहीं है, उसमें काव्य और अध्यात्मवाद का जो संमिश्रण होता है, वह केवल दिखाऊ और कृत्रिम रहता है। जहां अध्यात्मसंबंधी विचारों का प्रादुर्भाव अंदर की ऊर्मि से होता है, वहीं इस प्रकारका संमिश्रण होता है। अंतःकरण की तलीमें से सत्य को ढूंढकर निकालने के लिये कविवर्की अत्यंत आवश्यकता है। तथापि यह बात उसी समय होती है, जब कि आध्यात्मिक विचार उल्टी गतिसे चलने लगते हैं और विश्लेषणात्मक बुद्धिद्वारा प्रत्येक कार्यका कारण खोजनेका कार्य बंद होता है; और यह बात उसी जगह होती है जहां शुद्ध आत्मसंवेदना के शिखर से सत्य सहज ज्ञान के रूप से स्वयंप्रकाशित होता है। जिसमें केवल प्रकृतिक तत्त्वोंका एकत्रीकरण किया रहता है, तथा कारणों और कार्योंकी केवल योजना की हुई रहती है, उसीको आध्यात्मिक काव्य नहीं कहते। हुम्बोल्ट की दृष्टिसे आध्यात्मिक काव्य आदर्श भगवद्गीता में यथार्थ रीतिसे अनुस्यूत हुआ है। उसमें मुख्य प्रश्न है, सान्त और अनन्त का संयोग। इन दोनों का भेद एक सनातन और निर्विकार तत्त्व है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कि हुम्बोल्ट इस उत्कृष्ट अर्थ में महाकवि ल्यूक्रीस (Lucrece) के "On the Nature of Things" (वस्तुतत्त्व) नामक सुप्रसिद्ध काव्य को भी आध्यात्मिक काव्य नहीं समझता। जिस तत्त्वज्ञान में प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक नियमानुसार बतलाई जाती है और जिसमें प्रकृति के आगे जानेकी भी आवश्यकता नहीं और वह संभाव्य भी नहीं, ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, उस तत्त्वज्ञान का वस्तुतः काव्य से आंतरिक संबंध नहीं रह सकता। इसपर भी उसको काव्यका रूप दिया जाय, तो वह केवल बाह्य रूपसे ही दे सकते हैं।

अंत में हुम्बोल्ट ने इस प्रश्नका विचार किया है, कि क्या इस युग में भी काव्यकला और अध्यात्मशास्त्र का अन्योन्य संमिश्रण होना शक्य है? और आखिर यह सिद्धान्त निकाला है, कि जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने ग्रंथ में यह ध्येय प्राप्त किया है। इस ग्रंथमें शिलरने ऐसे विषयोंका प्रतिपादन किया है, कि जिनका केवल विचारोंद्वारा पूर्ण आकलन नहीं होता, किंतु कवि की कल्पना से ही होता है। इस ध्येयको पहुंचनेमें शिलर को ही सुफलता मिली है।

इस लेखसे पाठक इतना जरूर समझे होंगे, कि जर्मनी के एक श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष हृदय में भगवद्गीता के विषय में कितना भारी आदर है। भगवद्गीता के विषयमें उसके जो विचार थे, उनकी प्रतिध्वनि तूगतक पहुंच रहा है और यही कारण है, कि आजकल जर्मनीमें दुनियाके जिन ग्रंथों का सबसे अधिक अध्ययन अध्यापन हो रहा है, उन में 'भगवद्गीता' ग्रंथ का अंतर्भाव है और इस ग्रंथ के अनेक अनुवादोंसे भी यह बात सिद्ध होती है।

भगवद्गीता और भारतीय मनोवृत्ति

(लेखक– श्री० हेल्मूर फॉन् ग्लाजेनप, 'कोनिग्जबर्ग,' जर्मनी.)
[अनुवादक– श्री० अ० य० देशपांडे, रायगांवकर, आटपाडी.]

युरोपीय विद्वानोंमें कोई लोग ऐसे हैं, जिनका यह दृढ विश्वास है, कि एक सगुण ईश्वर इस जगत् से अलग रहता हुआ इस जगत् पर अधिकार चलाता है। इसी तरह सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता स्पइनोजा (Spinoza) के मतानुसार यह भी माननेवाले और प्रतिपादन करनेवाले कोई लोग हैं. कि वह सगुण ईश्वर इस जगत् से अलग नहीं रहता, किंतु वह प्रकृतिमें ही अनुस्यूत है। परंतु हिंदुओं के मतसे ईश्वर इस जगत् के बाहर भी है और इस जगत् के भीतर भी है; और इसी कारण से उक्त सिद्धान्त युरोपीय विद्वानोंको हमेशा अपरिचित और विस्मयजनक मालूम होता है। तथापि वैसा माननेमें हिंदुओंकी दृष्टिसे विरोधात्मक कुछ नहीं है; उसमें बिलकुल विरोधाभास नहीं है। यह कल्पना करना, कि ईश्वर अलौकिक देह धारण करके अपने शुद्ध और सात्विक रूपसे वैकुंठ में विराजमान है और श्रद्धायुक्त भावसे भक्ति करनेपर उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है; और वह भी कल्पना करना, कि ईश्वर जगत् का मूलतत्त्व है और वह शक्ति इस जगत् के प्रत्येक पदार्थमें ओतप्रोत भरी है; यही हिंदुओंकी ईश्वरविषयक कल्पना का सच्चा भाव है। हिंदुओंका मत है, कि ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद एक दूसरे से इतने भिन्न नहीं हैं, कि इन दो सिद्धान्तोंमें किसी प्रकार का साम्य न हो; किंतु ये दो सिद्धान्त परमात्माके उस दुर्ज्ञेय स्वरूप का भिन्न भिन्न प्रकारों से अवगाहन करने का प्रयत्न करते हैं। परमात्मा का वह दिव्य स्वरूप मानवी बुद्धिको अतर्क्य है। भारतवर्ष में अनेक प्रकार का तत्त्वज्ञान प्रचलित है और उसने ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद का मेल करनेका यत्न किया है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है, कि जो ग्रंथ इन दोनों सिद्धान्तोंका समान रीतिसे प्रतिपादन करता है, उसका आदर लोगोंमें बहुत होता है। उदाहरण के लिये 'भगवद्गीता' ग्रंथ लिया जाय। उसमें हम देखते हैं, कि भगवान् विष्णुके पूर्णावतार जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वे प्रत्यक्ष आगे आकर स्वतः मोक्षके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं। वह भगवान् परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वेश भगवान् है, तथा इस विश्वका शाश्वत नियंता है। इसी लिये उसको जगन्नियंता की संज्ञा है। जो लोग उसपर श्रद्धा रखकर उसकी उपासना करते हैं, उनको वह कृपापूर्वक मुक्तिरूपी फल देता है। अर्जुन के सामने वह सिरपर मुकुट धारण करके, हाथमें गदा और चक्र लेकर, दिव्य-मालांबरोंसे विभूषित, मनमोहक सुगंधों से सुवासित, अनेक नेत्र मुख और तेजोमय दिव्य देह धारण करके प्रकट होता है। अपने भक्तको इस प्रकार साक्षात् दर्शन देनेवाले इस भगवान् परमात्मा का वर्णन अन्यत्र इसतरह किया है–

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
(गीता १३.१६)

अर्थ– उस परमात्मा का रूप (तत्त्वतः) 'अविभक्त' अर्थात् अखंड (रहते हुए भी) सब भूतों में मानो (नानात्व से) विभक्त होकर रहा है और उसीको (सब) भूतोंको धारण करनेवाला, ग्रसित करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी समझना चाहिये।

इसके संबंध में ऐसा कहा जाता है, कि–

"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥"
(गीता ७.७)

अर्थात् जैसे डोरेमें अनेक मणि गुंथे जाते हैं वैसेही मुझमें यह सब कुछ गुंथा हुआ है।

भाषातत्त्ववेत्ताओंने इस विरोध का समाधान करनेके लिये ऐसा मान लिया है, कि भगवद्गीता प्रारंभ में ईश्वरवाद का एक उपदेशात्मक काव्य था और बादमें जहां तहां उसमें ब्रह्मवादके सिद्धान्त ग्रथित किये गए। परंतु हिंदु लोग भगवद्गीता को एक ही विषय का ग्रंथ

मानते हैं और उसके संबंध में उनकी अभीतक यह धारणा है, कि इस ग्रंथ में उनके परमात्मासंबंधी सिद्धान्तों का अत्यंत सुंदर और पूर्ण विवरण व्यक्त हुआ है। पाश्चात्य अथवा पूर्वीय लोगों के धार्मिक सिद्धान्तोंका परीक्षण करने में युरोपीय विद्वानों ने जो गलती की है- और उनके विषयमें यह भूल होना बिलकुल स्वाभाविक है- वह यह है, कि उन्होंने उन सब सिद्धान्तोंकी पाश्चात्य निकषपर कसौटी लगानेका प्रयत्न किया है। पौर्वात्य लोगोंकी मनोवृत्ति कुछ अलगही तरह की है। उनके तत्त्वज्ञानविषयक सिद्धान्तोंकी उत्पत्ति ठीक उनके धर्मसंबंधी अन्तरात्माकी गहराईसे है। उनके अन्तःकरणमें जिस रूपसे जो सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं, उसी रूपमें वे उन सिद्धान्तों को व्यक्त करते हैं। वे केवल बौद्धिक विचारोंके प्रवाहमें बहते नहीं जाते। इसलिए जहां हम लोग शुष्क तर्कके आधारपर केवल एकही सिद्धान्तको मानते हैं और दूसरे सिद्धान्त को भ्रांत समझकर उसकी उपेक्षा करते हैं, वहां हिंदुलोग तर्कदृष्ट्या विरोधी सिद्धान्तोंका भी औचित्य मान्य करते हैं। तत्त्वोंका अथवा तथ्य बातोंका यथार्थ रूपमें स्वीकार करना ही भारतीय मनोवृत्तिको समझने की कुंजी है. और हमलोग अगर युरोपीय विद्वानों की एकदेशीय दृष्टि से ही देखते रहेंगे, तो हिंदुओंकी मनोवृत्ति कदापि हमारे समझमें न आवेगी।

भगवद्गीता और कालिदास।

(ले०- श्री० केशव लक्ष्मण ओगले, बी. ए.)

दिल्लीनिवासी पंडित लक्ष्मीधर कल्ला महोदयने 'कालिदासका स्थान' शीर्षक अपने निबंध में यह बतलानेका प्रयत्न किया है, कि कालिदासके काव्यनाटकोंमें काश्मिरीय शैवमतान्तर्गत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप अनुस्यूत है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मूलतः काश्मीरही में प्रचलित था और आठवीं शताब्दि के बाद उसपर अनेक ग्रंथ हुए और उसका इतरत्र प्रचार हुआ; और कालिदासके ग्रंथोंमें सर्वत्र इस दर्शन के सिद्धान्त गुथे हुए नजर आते हैं. इसलिये उन्होंने यह अनुमान किया है, कि कालिदासका मूलस्थान काश्मीर-ही होना चाहिये। परंतु कालिदास के संबधमें इस तरह का विधान करते समय बहुत होशियारी रखना आवश्यक है। क्योंकि कालिदास जैसा कवि था, वैसा नाटककार भी था और जैसा नाटककार था वैसा कदाचित् उत्तम नट भी होगा! इन सब भूमिकाओंमें रहनेवाला बुद्धिचातुर्य उस में था और उस बुद्धिचातुर्य में गहनता, औचित्य, विविधता और असंदिग्धता आनेके लिये जिस सृष्टि-निरीक्षण की ओर अनेक विद्याकलाभ्यास की आवश्यकता रहती है, वहभी उसने किया था, ऐसा दिखता है। किसी भी भूमिकापरसे वह जब बोलता है, तब वह उस भूमिका से तन्मय हो जाता है। वह जब किसी स्थान का वर्णन करने लगता है,तब ऐसा मालूम होता है. कि उसका उस स्थानसे मानो जन्मही से परिचय है! इसी लिये पंडित लोग अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उसका स्थान अलग अलग बतला सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक मतके लिये कुछ न कुछ आधार उसके ग्रंथमें मिलनेसरीखा रहता ही है। इस-लिये उसके ग्रंथोंमें अंत:प्रमाण से यह निश्चितरूपसे कहना मुश्कील होता है, कि वह किसी खास जगह में था, अथवा उसका मत अमुक ही था। उसके ग्रंथोंके निरीक्षणसे कोई अनुमान करना ही हो तो इतना ही कह सकेंगे कि उन उन बातोंसे उसने दृढ परिचय कर लिया था। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनोंके सिद्धान्त उसने अपने काव्यनाटकोंमें गुथे हैं; इससे यह कह सकते हैं, कि वह दर्शन उसको भलीभांति परिचित था। परंतु हम यह भी देखते हैं. कि उसको जैसे प्रत्यभि-ज्ञा-दर्शन अच्छी तरह अवगत था, उसी तरह उसको

गीता का तत्वज्ञानभी अच्छी तरह अवगत था। भगवद्गीताका नाम वह कहीं नहीं लेता, परंतु गीताके सिद्धान्त वह जगह जगह पर करीब उन्हीं शब्दोंमें कह डालता है। उसने रघुवंशवर्णनात्मक महाकाव्य लिखा है,इसलिये राम, रामायण और वाल्मिकिके उसको नामसे उल्लेख करने पडे हैं; परंतु व्यास और भारतके वह स्पष्ट उल्लेख नहीं करता। उसने रघुवंशमें जैसे सूर्यवंशका परामर्ष लिया है,उसी तरह विक्रमोर्वशीय और शाकुंतल में उसने सोमवंश का अंशतः परामर्ष लिया है; परंतु भगवद्गीता के उपदेष्टाके नाते से श्रीकृष्णका उल्लेख वह कहीं नहीं करता। कालिदासने 'कृष्ण' नामको प्रयोग किया है; परंतु वह कृष्णावतारके संबंधमें नहीं,किंतु वह विष्णुका नाम है, इस अर्थमें। विष्णु के संबंध में उसने कहा है- 'शेष को पृथ्वीका भार सहन करने का सामर्थ्य है, ऐसा देखकर ही कृष्णने शय्याके लिये शेषको योजना की।-

व्यादिश्यते भूधरतामपेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषम्। (कु० सं० ३-१३)

यहां कृष्णावतार की कथाओंका उल्लेख करते हुए उसने 'विष्णु' नाम प्रयुक्त किया है। मालविकाग्निमित्रमें अग्निमित्र की सेनाने विदर्भ राजाका पराभव करके उसकी राजलक्ष्मी का हरण किया; इस कथा को उसने श्रीकृष्ण-कृत रुक्मिणीहरण की उपमा दी है, उसमें ऐसे शब्द हैं- 'परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम्।' (५-१२) और गोकुलके बालकृष्णका उल्लेख करते हुए भी उसने गोपवेष विष्णु' कहा है (मे० १.११)। मेघदूतमें एक जगह जरूर उसने कृष्ण नामपर टीकात्मक कोटी की हुई मालूम होती है।

अंतःशुद्धः त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥

अर्थात्-

'ऊपरसे वर्ण काला है, तथापि तू भी अंदरसे शुद्ध ही होगा।' ऐसे शब्द उसने मेघके लिये प्रयुक्त किये हैं। श्रीकृष्ण जैसा वर्ण में काला, वैसे ही बर्ताव में भी बाह्यतः कपटी, परंतु अंतःकरण में सबका हितकर्ता, ऐसा प्रसिद्ध है; और यह अर्थ कालिदासने 'अंतःशुद्ध' विशेषण की योजना करके ध्वनित किया होगा। मेघदूतमें उसने श्रीकृष्ण के बंधु बलराम का उल्लेख 'लांगली' (१।४९) और 'हलभृत्' (१।६२) अर्थात् हलको धारण करनेवाला- इन नामोंसे किया है।

कालिदासने गाण्डीवधन्वा के नामसे अर्जुनका भी उल्लेख किया है (मे० १।४८); और कौरवपांडवों के महायुद्ध-क्षेत्रका उल्लेख "कौरवं क्षेत्रं" ऐसा किया है (मे० १।३८)। परंतु "गीता" ऐसा ग्रंथनामका निर्देश अथवा श्रीकृष्ण और अर्जुनके दरम्यान जो रणभूमिपर संवाद हुवा उसका स्पष्ट निर्देश उसने कहीं नहीं किया। तथापि प्रस्तुत प्रसिद्ध भगवद्गीतासे कालिदासका अच्छा परिचय था, ऐसा मालूम होता है। उसमें की कई बातें थोडे भिन्न शब्दोंमें उसने ली हैं और कई तत्व करीब करीब गीताके शब्दोंमें उसने कहे हैं। किंबहुना ऐसा भी कह सकते हैं, कि कालिदासने रघुवंशमें गीता के बहुतसे तत्वोंके उदाहरण दिये हैं और इस प्रकार के अनेक प्रसंग लाकर रखे हैं।

यदि गीताका सार यह समझा जाय, कि मनकी दुर्बलता के कारण जो अपना कर्तव्य छोडकर हतबुद्ध हो जाता है, उसको कर्तव्यप्रवण करने के लिये आवश्यक ज्ञानोपदेश करना; तो हम देख सकते हैं, कि कालिदासने रघुवंशमें यही किया है। पत्नीविरहसे शोकग्रस्त होकर अजराजा जब मरनेको सिद्ध हुवा, तब वसिष्ठ गुरुने शिष्यद्वारा उसको ज्ञानसंदेश भेजा और जबतक दशरथ प्रजापालन के योग्य न हुवा, तबतक अजराजाको राज्यकी व्यवस्था करने के लिये बाध्य किया। यह सब प्रसंग (सर्ग ८ वां) गीताके तात्पर्यसे मिलता जुलता है और दोनों जगह शब्दसाम्य भी देखनेमें आता है। अर्जुन अपना धनुष्यबाण छोडकर भिक्षावृत्ति धारण करनेवाला था, तब -

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। (गीता २।३)

इत्यादि वाक्यों से श्रीकृष्णने उसमें चैतन्य उत्पन्न किया और वसिष्ठने अजराजाको इन शब्दों से उत्तेजित करने का यत्न किया-

न पृथाजनवत् शुचो वशं वशिनामुत्तम गंतुमर्हसि।

[हे राजन्! इंद्रियदमन करनेवालोंमें तुम्हारी पदवी श्रेष्ठ है; इसलिये सामान्य मनुष्य के सदृश शोकाधीन होना तुम्हें सुहाता नहीं। (८।९)]

युद्धयस्व विगतज्वरः। (गी० २।३०)
तस्माद् युद्धयस्व भारत। (गी० २।१८)
मामनुस्मर युद्ध्य च। (गी० ८।७)

इत्यादि द्वारा उपदेश श्रीकृष्ण के मुखसे सुन लेने के पश्चात् उसकी आज्ञानुसार अर्जुन ने-

करिष्ये वचनं तव। (गी० १८।७३)

ऐसी मान्यता दी; और यहां अजने-

वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया। (गी० ८।८३)

(इस पृथ्वीका तुझे पालन करना चाहिये।) इस गुरु-आज्ञाका मानकर कहा है 'तथा' (ठीक है, वैसाही करता हूं।) (८।९१) इस प्रकरण में और भी शब्द-साम्य है जो ध्यान देने लायक है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
(गी० २।११)

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप। (२।३)

इन गीतावाक्यों का सार कालिदासने इस श्लोकमें रख दिया है-

उदयेमदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत् त्वया। मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीब-तया प्रकाश्यताम्॥

और इसका भावार्थ है- 'अन्य समयोंपर जो अध्यात्म-ज्ञान तुमने प्रकट किया, वही इस समय भी करो।' गीताका 'प्रज्ञावाद' अर्थात् ज्ञानकी बातें और कालिदास का 'आत्मवत् श्रुत' अर्थात् अध्यात्मज्ञान-दोनों एकही हैं। गीताके 'क्लैब्यम्' शब्द को थोडासा घुमाकर कालिदासने 'क्लीबता' कहा है।

अर्जुनसे आवश्यक कर्तव्य करनेको सिद्ध होनेका वचन लेने के पहिले श्रीकृष्णने उसको अखिल विश्वकी रचना और घटना की कल्पना देकर यह समझा दिया, कि जन्म-मृत्यु क्या चीज है। कालिदासने भी वसिष्ठ गुरुके संदेश में यह बात संक्षेपतः ग्रथित की है; और यद्यपि अजराजा को वह पूर्ण रीतिसे न जंची, तथापि वह भी प्राप्त कर्तव्य करनेको तैयार हुआ। इन्दुमति पूर्वजन्म में अप्सरा थी; वह शापग्रस्त हुई और इस जन्ममें अजकी पत्नी हुई; शापकी समाप्ति होनेपर वह अपने स्थानको वापस गई। गीतामें जैसे कहा है, कि 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (जिनके बारेमें शोक करना न चाहिये, उनके विषयमें तुम शोक कर रहे हो), उसी तरह 'अलं तदपाय चिन्तया' (रघु० ८.८३) (उसके मृत्युका विचार करते हुए दुःखित होनेमें कोई अर्थ नहीं है) इन शब्दों में वही कल्पना रखी है। इस प्रकरण में कालिदासके ये शब्द 'विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता' [जिन्हें जन्म हुवा, उन्हें मरण स्वाभाविक है (रघु० ८।८३)] 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्;' तथा गीताके ये शब्द "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" तुलना करनेलायक हैं। इसी तरह कालिदासका यह वचन "परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।" (रघु० ८।८५) (परलोकको जानेवालों को अपने अपने कर्मानुसार भिन्न भिन्न मार्गोंसे जाना पडता है) गीताके इन शब्दों के सदृश हैं-

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(गीता ९.२५)। इनमेंसे पहिले में जो सूत्ररूप से कहा गया है, वही दूसरेमें विशद करके कहा है। इसी तरह

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा। विरहः किमिवानुतापयेद् वद बाह्यैर्वि-षयैर्विपश्चितम्। (८.८९)'

[यह मालूम होनेपर, कि आत्मा और शरीरका संयोग और वियोग होता है, ज्ञानीको बाह्य विषयोंका विरह क्यों ताप देगा!] यह भाव गीताके इन वाक्योंमें दिख पडता है-

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः

(गीता २.१८) 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु-मर्हसि' (१.२७)। गीताका 'स्थितप्रज्ञ' अथवा 'स्थितधीः' (२.५४) कालिदासका 'स्थिरधीः' है (रघु० ८।२२ और ८८; गीताके काश्मीरी पाठमें 'स्थिरधीः' रूप मिलता है।

रघुवंश के आठवें सर्गमें यति बना हुआ रघु और राज्याधिष्ठित अजके एकत्रित वर्णन में भी गीताकी छाया देखने मिलती है। उसमें रघु के योगसाधन का वर्णन करके यह बतलाया है, कि वह स्थिरधी किसतरह हुआ। यतिभूमिका पर रघुके इस वर्णनमें और गीताके स्थितप्रज्ञ अथवा स्थितधी योगीके वर्णनमें बहुतसा शब्दसाम्य मिलता है। योगी समलोष्टाश्मकांचनरहता है (गीता ६.१४,२४)

स्थिरमति (१२-१९) अथवा स्थितधी (२-५६) रहता है; प्रकृति के जो सत्वरजस्तमस् गुण हैं (१४।५) उनके पार गया हुआ अर्थात् गुणातीत (१४।२५) रहता है; ज्ञानरूपी अग्निसे वह अपने कर्मोंको दग्ध कर डालता है ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः । ४-१९ ; क्योंकि ज्ञानाग्निका वह स्वभाव ही है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।
(४-३२)

कालिदासका योगी रघु भी समलोष्टाश्मकांचन (८-२१) और स्थिरधी (८-२२) था । वह प्रकृति के गुणोंके पार गया था (रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थम् । (८-२१) और उसने ज्ञानमय अग्नि से अपने कर्मोंको जला दिया था । इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ ८-२०) गीतामें कहा है, कि योगी चैलाजिनकुशोत्तर ऐसा आसन रखकर योगसाधन करे (गीता ६-११, १४) इसी के अनुसार रघु ने शहर के बाहर (पुराद् बहिः ८, १४) योगी लोगों की संगति में (रघुरास्तः समियाय योगिभिः ८-१८) कुशपूत आसन (कुशपूतं विष्टरम् । ८-१८) का स्वीकार किया और निष्ठा से योगसाधन करके परमात्माकी प्राप्ति कर ली (८-२२)

सृष्टिका चक्र चलाने के लिए सृष्टिकर्ताने जो योजना की है, उसका एक अंग यज्ञके नामसे गीता ने बतलाया है । यह यज्ञ एक प्रकारकी सहकारिता अथवा संपद्विनिमय है ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(३-१०) ।

इस श्लोकमें यज्ञको कामधुक् (इष्टप्राप्ति करानेवाला) कहा है; और उसका स्वरूप 'देवान् भावयतानेन' से लेकर 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' तक स्पष्ट कर दिखलाया है । किसी भी व्यक्ति को अथवा राष्ट्रको केवल स्वतःके श्रम से प्रत्येक इष्ट वस्तु सिद्ध हो ही जायगी, ऐसा नहीं कह सकते । प्रत्येक का साधनसामग्री थोडी या अधिक भिन्न रहती ही है । इस लिए सकल इष्ट वस्तु प्राप्त करने की योजना में स्वतःके श्रमके साथ सहकार्य का और विनिमय का अंतर्भाव होता है । 'तुम्हारे पास जो हो, वह तुम देवोंको दो और देवोंके पास जो हो, वह तुम्हें वे देंगे। इस तरह एक दूसरे की गरज पूरी करके दोनों अपना कल्याण प्राप्त कर सकेंगे (३-११)' यह गीतोक्त परस्परसहकार्य का मार्ग कालिदास ने अनेक जगह निर्दिष्ट किया है । विक्रमोर्वशीय में नारदका पुरूरवाको उपदेश, रघुवंशमें दिलीप का वर्णन, इत्यादि जगहों में यह देख सकते हैं । नारद पुरूरवा राजाको कहता है, "त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वम् तस्य प्रियमाचरेः" [तुम्हारा कार्य इन्द्र करेगा और तुम उसका प्रिय करो विक्र० ५-२७] । कालिदासके ये वाक्य गीता के इन शब्दोंके अनुवादही हैं- 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः' दिलीपके वर्णनमें कालिदास कहता है, 'वह दिलीप राजा यज्ञके हेतु पृथ्वीका दोहन करता था और इंद्र धान्यके हेतु आकाशका दोहन करता था; इस प्रकार वे दोनों अपनी संपत्तिके विनिमयसे दोनों भुवनोंका धारणपोषण करते थे ।

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवं ।
संपद्विनिमयेनाभौ दधतुर्भुवनद्वयम् । (रघु० १-२६)

यह श्लोक गीता के इस सिद्धान्त का उदाहरण ही है-

'इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥"

यही बात कालिदासने पुनरपि कही है,

'तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञः स्वर्गिणः प्रीणयस्व ॥
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै
र्नयतमु भयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ '

इस संदर्भमें और भी शब्दसाम्य और अर्थसाम्य मिलते हैं । कालिदासने कहा है, 'वसिष्ठगुरु विधिपूर्वक जो हविर्भाग अग्नि में अर्पण करते थे, उसके कारण धान्योत्पत्तिके लिए पर्जन्यवृष्टि होती थी ['हविरावर्जितं होत-

त्वया विधिवदग्निषु। वृष्टिर्भवति सस्यानाम्॥ रघु० १ ६८] इसका संबंध गीताकी इस उक्ति से सहज मालूम हो सकता है- 'पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' (गी० ३-१४)

गीतामें कहा है, कि यज्ञादि काम्य कर्मोंसे स्वर्गप्राप्ति होती है (९-२०)। कालिदासने भी दिलीपकृत यज्ञोंको स्वर्गकी सिढ़ियां कहा है।×

स्वर्गमें जानेका एक और द्वार गीतामें बतलाया है और उस द्वारके उपयोगका भी उदाहरण कालिदासने दिया है। गीतामें कहा है "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् (गी.२-३७)" (युद्धमें यदि तुम्हें मरण आवे, तो स्वर्गप्राप्ति होगी) इस सिद्धान्तका कालिदासने यह उदाहरण दिया है, कि रामके पुत्र कुशका युद्धमें मृत्यु होनेसे उसको स्वर्गप्राप्ति हुई। कालिदास कहता है- 'उस कुशराजाने इन्द्रको युद्धमें सहायता दी और दुर्जय नामक दैत्यका वध किया, परंतु वहभी दुर्जयके हाथसे मारा गया। तब वह स्वर्गमें इंद्रके सिंहासनका आधा हिस्सेदार हुआ।'

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान्।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि॥
तयार्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्।
(रघुः १७-५-७)।

सिवाय इसके कालिदास यहभी कहता है, कि गंगास्नान से भी स्वर्गप्राप्ति होती है। उसने भागिरथी को 'सगरतनया स्वर्गसोपानपंक्तिः' अर्थात् सगरके साठ हजार पुत्रोंके लिये स्वर्गको चढनेमें समर्थ करनेवाली नसेनी कहा है। इसी तरह उसने यह भी कहा है, कि गंगायमुनाके संगमपर स्नान करनेवाले को स्वर्गसेभी श्रेष्ठ ऐसा मोक्ष मिलता है; उसके लिये तत्वज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबंधः॥ (रघु: १३-५८)।

परंतु गीतामें ऐसा कहा हुवा नहीं दिखता।

परंतु गीता कहती है, कि स्वर्गप्राप्तिके इन साधनोंसे स्वर्ग मिला, तो भी वह शाश्वत नहीं है, यज्ञसे प्राप्त किया हुआ पुण्य जहां समाप्त हुआ, वहां फिरसे इस मर्त्यलोक में आना पडता है 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९-२१)। गीताका यह आशयभी कालिदासने उज्जयिनीके वर्णनप्रसंगसे मेघदूत में व्यक्त किया है। उज्जयिनी को वह 'स्वर्गका एक छोटासा तेजस्वी खंड' कहता है। स्वर्गमें गए हुए यज्ञकर्ता जब पुण्यका फल समाप्तप्राय होनेसे पुनश्च पृथ्वीपर आने लगे, तब अवशिष्ट पुण्यके ऐवजमें वे स्वर्गका एक सुंदर टुकडा साथ ले आए और वही उज्जयिनी है

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कांतिमत् खण्डमेकम्।
(मे० १-३०)

काम्य कर्मोंका फल शाश्वत नहीं रहता, इसलिये अनासक्ति रहे बिना सच्चा सुख नहीं मिलता; इस हेतुसे गीता जो कहती है, कि "तस्मात् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर (३।१९)।" (आसक्ति न रखकर नित्य कर्म करो, फलकी पर्वा मत करो और कर्मच्युतभी मत हो,) इसका स्पष्टीकरण कालिदासने इस वर्णनके रूपमें किया है- "असक्तःसुखमन्वभूत्" [दिलीप राजा आसक्ति को छोडकर सुखका उपभोग लेता था (रघुः १-२१)] अथवा "अनाकृष्टस्य विषयैः" (वह विषयोंके आधीन नहीं होता था रघुः १-२३)।

अनासक्त होकर कर्म करते रहनेवालेका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण स्वतः सृष्टिकर्ता है। गीतामें यह भूमिका स्वतः श्रीकृष्णने ली है और अर्जुनको कहा है- "हे अर्जुन! संपूर्ण त्रैलोक्यमें मेरे स्वतःके लिये करनेका कुछ नहीं रहता अथवा

×त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ (गीता ९-२०)
इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये, ततान सोपानपरंपरामिव॥ (रघु० ३-६९)

ऐसा कुछ नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है और प्राप्त करना हो। तथापि मैं कर्म करता ही रहता हूं। " " तुम भी लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रखकर कर्म करते जाओ" +यह निष्काम-कर्मयोग का उपदेश कालिदास ने भी प्रायः गीताके शब्दोंमें दिया है। रघुवंशमें विष्णुकी स्तुति करनेवाले देवोंके मुखसे उसने ये शब्द कहलाये हैं—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥
(रघु० १०-३१)

इसमें 'अनवाप्तमवाप्तव्यं' और लोकानुग्रह'ये जो शब्द हैं, वे गीता से लिये हुए साफ दिखते हैं। कुमारसंभवमें शंकर स्वतःके संबंधमें कहते हैं—

'स्वार्थो न मे काश्चित् प्रवृत्तयः।' (६-२६)

[मेरे हाथसे जो कुछ होता है, वह स्वार्थमूलक कभी नहीं रहता] अर्थात् वह सब जगत् के कल्याणके लिये रहता है। प्रत्यक्ष परमेश्वरकी निष्कामकर्म के संबंधमें यह भूमिका रहने के कारण जो मनुष्यप्राणी उसमें चित्त रखकर अपने सब कर्म उनको अर्पण करेंगे, उन वैराग्यशीलोंको परमेश्वरप्राप्ति सहजमें होगी। यही आशय गीतामें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
(१२-२)
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
(१२-६)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।
(१२-७)'

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्। ८-७'

इत्यादि। यही आशय व्यक्त करनेमें कालिदासने भी इसी तरह के शब्द नियुक्त किये हैं। विष्णुकी स्तुति में देव कहते हैं,

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये।
(रघु० १०-२७)

इसमें वीतराग शब्द भी गीताके इस वचन से लिया है—

'वीतरागभयक्रोधा ... बहवो ... मद्भावमागताः।'
(४-१०)

ध्यानयोग, योग अथवा कर्मयोग सिद्ध करनेमें जो बड़ी भारी अड़चन आती है, वह साधकके चंचल मन मनकी है। परंतु श्रीकृष्णने गीतामें कहा है, कि यद्यपि मन अत्यंत चंचल और उसका निग्रह करना कठिन है, तथापि अभ्याससे और वैराग्यसे उसका निग्रह किया जा सकता है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते॥(६-३५)

इस गीतासिद्धांत का अनुवाद कालिदासने इस श्लोकमें किया है— (विष्णुस्तुति करते हुए देव कहते हैं)

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।
(१०-२३)

(अभ्यासके द्वारा मन का निग्रह करके हृदयमें वास करनेवाले ज्योतिर्मय परमेश्वरको योगीजन मोक्षप्राप्तिके लिये खोजते हैं।)

इसके अतिरिक्त, परमेश्वरने जो चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति की है वह, जन्ममृत्यु से रहित होते हुए परमेश्वरका जन्मधारण, इत्यादि प्रासंगिक विचारोंका भी अनुवाद कालिदासने गीताके शब्दोंमें किया है। गीताकार श्रीकृष्ण स्वतःके संबंधमें कहते हैं—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'
(४-१३)

और विष्णुस्तवन में देव कहते हैं—

+ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। (३-२२)
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि (३-२०)

चातुर्वर्ण्यमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।
(१०-२२)

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।
(४-८)

इस सुप्रसिद्ध गीतावचन का अनुवाद कालिदास इन शब्दोंमें करता है—

'धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः'।
(रघु० १५-४)

श्रीकृष्ण स्वतःके संबंध में कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा संभवाम्यात्ममायया।
(४-६)

(मैं जन्मरहित हूं तथापि अपनी मायासे जन्म लेता हूं।) यह विरोधाभास कालिदासने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अजस्य गृह्णतो जन्म ···याथार्थ्यं वेद कस्तव।
(रघु० १०-२४)

[अज होकर भी तुम जन्म लेतेसे दिखते हो, ··· ··· ···· ···· तो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप कौन जान सकता है!]

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गी० ९-२३)

[कोई किसी भी देवता की भक्ति करनेवाले हों, आखिर वे मेरी ही भक्ति करते हैं,] यह गीता का सिद्धान्त रघुवंशमें कालिदासने इस तरह बतलाया है—

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥
(रघुः १०-२६)

(आगमभेदसे मार्ग चाहे भिन्न हों, तथापि जिस तरह गंगाके सारे प्रवाह आखिर समुद्रहीमें गिरते हैं, उसी तरह समस्त सिद्धिमार्ग तुम्हीं में आकर गिरते हैं।)

अन्तमें शाकुन्तलमेंसे एक वाक्य देकर यह साम्य-प्रदर्शन समाप्त किया जाय। शकुन्तलाके हाथ की उंगलीमेंसे छल्ला पानीमें गिर गया। वह छल्ला मछलीके पेटमें जिस धीवर को मिला वह बाजारमें उसको बेचने के लिये बतला रहाथा और नगररक्षकोंके हाथ आया। नगर-रक्षकोंने उसको चोर ठहराया और पूछा कि यह छल्ला कहां मिला? धीवर बोला, मैं जानका धीमर हूं और मछलियां मारकर अपना निर्वाह करता हूं।' इसपर नगररक्षक उसकी ठिठोली करते हुए बोले, "बहुत! अच्छा रोजगार है"। तब विचारे धीवरको इस गीतावचनकी याद आई—

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(१८-४८)

और उसने स्वसंरक्षणार्थ यह वचन बालसरीखा स्वतः की भाषामें आगे किया—

'सहजं खलु यद्विनिंदितं
न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणो
अनुकंपामृदुरेव श्रोत्रियः'॥ (शाकुंतल ६-१)

(जिसका जो स्वाभाविक कर्म हो, वह उसे करता रहे। उसमें दोषास्पद अथवा निंदास्पद कुछ होभी, तो उस कर्महीको छोड देना उचित नहीं! पशुहत्यासरीखा क्रूर कर्म रहनेके कारण क्या श्रोत्रिय को उचित है, कि वह यज्ञकर्म ही छोड दे? अग्नि कभी कभी धुंएसे लिपटा रहता है; इसलिये क्या वह त्याज्य समझना चाहिये?

इस विवेचनसे अच्छी तरह मालूम होगा, कि कालिदासपर भगवद्गीताका किस तरह असर पडा था।

शाश्वत-धर्म-गोपन।

गीताके अर्थके विषयमें एक नया प्रयत्न।

(लेखक- स्वर्गीय वामन दामोदर तलवलकर, पूना.)

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रंथ जागतिक वाङ्मयमें शुमार है। इस ग्रन्थके भाषान्तर जितनी भाषाओंमें हुए हैं, उतनी भाषाओंमें, एक बाइबल को छोडकर, दूसरे किसी ग्रन्थके न हुए होंगे। किंतु गीता और बाइबल के भाषान्तरों में महत्त्व का फरक यह है, कि बाइबल के भाषान्तर तद्धर्माभिमानी लोगोंके द्वारा जनतापर एक प्रकार लाद दिये जाते हैं और गीताके भाषांतर एक उत्तम ग्रन्थ की दृष्टि से गीताका अभ्यास करनेवालों और बहुधा भक्तोंके द्वारा हुआ करते हैं, अतएव अंतःस्फूर्तीसे होते हैं।

गीतापर भाष्य, टीका, निबंध इत्यादि लेखन भी बहुतसा हुआ है तथापि ग्रन्थका महत्त्व और माधुर्य इतना है कि उसपर अनेक ग्रन्थ आगे भी हो सकेंगे। इसके अनेक कारण हैं। यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है वह तयार होनेके बाद, अर्थात् श्रीमच्छंकराचार्यके कालतक उसपर जो भाष्य इ० हुए, वे आज उपलब्ध नहीं हैं। गीताकी भाषा जितनी सुलभ और काव्यमय है उतनीही वह अनेकार्थबोधक है इसलिये किसी शास्त्रीय ग्रन्थके लायक वह नहीं है वह तार्किक विवेचनपद्धति की अपेक्षा संवादपद्धतिसे लिखी गई है। यही गीता इससे निराली पद्धतिमें लिखी जाय तो यही गीता आधुनिक लोगोंको अधिक मान्य होनेका संभव है। गीताका तात्पर्य क्या है, इसका अपने मनसे निश्चय करके सांप्रदायिक लोगोंने उसपर अपने भाष्य लिखे हैं- ऐसा लोकमान्य तिलक का मुख्य आक्षेप है और सांप्रदायिक पद्धति को छोडकर स्वतंत्र पद्धति से गीताका तात्पर्य निश्चित करके उसपरसे उन्होंने अपना 'रहस्य' लिखा है। तथापि जैसा है, वैसा ही उसका शब्दशः भाषांतर रख देनेसे किसीका काम नहीं पूरा होता। इसलिये यह रहस्य इस गीतापर आखिरी ग्रंथ होनेके बदले स्वतः एक टीकाविषय हो बैठा है। वास्तविक गीताका तात्पर्य एकही होना चाहिये; ऐसा निश्चित होनेपरभी यह मालूम होने लगता है, कि उस ग्रंथमेंसे अनेक भिन्न सिद्धान्त निकल सकते हैं; इतनी उसकी भाषा लचीली है। इसके विपरीत प्रत्येक टीकाकार यह भी सार्थ अभिमान रख सकता है, कि मेरा अर्थ ही सच्चा अर्थ है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि गीता एक तत्त्वज्ञान का ग्रन्थ होनेके कारण, प्रत्येक मनुष्य को स्वानुभव से जो तत्त्वज्ञान जंच गया हो, उसके अनुसंधान से वह गीताका अर्थ लगा सकता है। गीताके कालमें लोगोंके मस्तिष्क में जो विचार घूमते थे, उन सब विचारोंका अथवा उनमेंसे बहुतर 'दर्शनों' का उसमें परामर्श किया गया है और उनमेंसे कई एक से विरोध बतलाया है और कई एकसे समन्वय किया है; तथापि विरोधी दर्शनोंका गौरव भी किया है। इसलिये यह निश्चय करना मुष्किल होता है, कि गीताका एक ध्येय अथवा तत्त्व कोनसा है।

"सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनंदनः।"

यह गीताका स्वरूप होनेके कारण इतना जरूर है, कि उसमें उपनिषदों के विचारों का समन्वय होना चाहिये। उपनिषद् अधिकांशमें निवृत्तिपर हैं। तथापि लोकमान्य कहते हैं, कि गीताका उपदेश प्रवृत्तिपर है; और एक पद्धतिसे विचार करनेपर उनका कहना सयुक्तिक मालूम होता है। परंतु विरुद्ध बाजूसे यह मुद्दा निकल सकता है, कि सामान्यतः

उपनिषद् निवृत्तिपर रहनेके कारण गीताके प्रवृत्तिपर वचन उस समय के अनुरूप अथवा उस व्यक्तिके अधिकार के अनुसार होने चाहिये।

इसी तरह "तुल्यं तु दर्शनम्" इस दृष्टिसे तीसरा पक्ष उपस्थित हो सकता है; अथवा प्रोफेसर वाडेकर सरीखे महाशय यह समझकर, कि सच बात दोनोंके समझमें नहीं आई, चौथाही एक पक्ष प्रस्थापित करना चाहते हैं और एक एक महाशय स्वतःके अनुभवोंसे गीताकी संगति करनेका प्रयत्न करते हैं। अनुभवके अधिकार भी भिन्न भिन्न हैं; इसलिये उतनेही पंथ हो सकते हैं। गीताकी भाषामें काव्य और प्रसाद ऐसा भरा हुआ है, कि प्रत्येक वचनपर कुछ न कुछ 'नवनवोन्मेष' हो सकता है; किसी किसीको यह गीता अनेक कवियोंके अवतरणों का अथवा सुभाषितोंका 'मिश्रण' मालूम होता है (प्रो० तेलंग); कोई कोई समझते हैं, कि यह अनेक विचारों की कंथा अथवा अनेक पदार्थों की खिचडी है (प्रो० पटवर्धन)। कोई महाशय काव्य-अलंकार-व्याकरण आदि शास्त्रोंके नियमोंके जोरपर उसका dissection करके यह स्थापित करते हैं, कि वह एक त्याज्य ग्रंथ है। राजवाडे महाशय आधुनिक सब भौतिक शास्त्रों के विचार गीतामेंसे ढूंढकर निकाल सकते हैं और दूसरे एक महाशय समझते हैं कि यह केवल मानस-शास्त्रका विषय है. इसलिये उस शास्त्रके सभी तत्त्व उसमें गुहे हुए उनको दिखते हैं। मालूम होता है, कि थियासफिस्ट लोग यह सबूत कर सकते हैं, कि ५००० वर्ष पहिले श्रीकृष्ण 'जगद्गुरुके अवतार' थे।

ऐसी हालतमें एक कोई नई कल्पना अथवा विवाद-लहरी इस कोलाहल में डाल दी जाय, तो क्या हर्जा है? ऐसा सोचकर मैं भी यह उद्योग करनेके लिये प्रवृत्त हुआ। मैं कैसे कह सकता हूं, कि मेरे विचार नये ही होंगे? क्यों कि मैंने गीतापर सब ग्रन्थ कहां पढे हैं? तथापि गीताके प्रत्येक पठन के साथ कुछ नया उन्मेष अथवा प्रकाश पड सकता है, ऐसा समझनेवालोंमें से मैं एक अपूर्ण बुद्धिवाला मनुष्य हूं। इसलिये मुझे शंका होती है, कि मेरे इन लेखोंमें कदाचित् कोई नये विचार न हों, तो भी पुराने ही विचार नई भाषामें रखे हुए शायद देखने मिलें। किंबहुना यह भी कौन कहे, कि ये विचार नये नहीं हैं? ऐसा सोचकर 'उद्बाहुरिव वामनः' इस कालिदासोक्ति के अनुसार थोडा साहस भी कर देखता हूं। तथापि उन्हीं कालिदास की यह स्वभावोक्ति मैं कैसे भूल जाऊं, कि-

'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'?

इसलिये उन विद्वानोंके परीक्षणार्थ मैं अपने विचार उनकी सेवा में उपस्थित करता हूं। जहां भूल होगी वहां उसे सुधारने का अधिकार वे अमल में लावें, तो मेरे अभ्यास में कुछ बाढ ही होगी और यदि वे इनका अंगीकार करें तो मुझे यह समाधान होगा, कि मैंने जो कई महीनेतक अभ्यास किया, वह सुफल हुआ और मुझे नयी उमेद आवेगी।

आजके कालानुसार भगवद्गीता निराली पद्धतिसे छापना विद्यार्थियों की दृष्टिसे आवश्यक है; ऐसा समझकर इसके बाद वह प्रयत्न करने का मैंने विचार किया है।×

×टिप्पणी- यह प्रस्तावना गीताविषयक व्याख्यान मालापर है। सब मिलकर आठ व्याख्यानों की योजना की गई- (१) शाश्वत धर्म-गोपन- लोकक्षय अथवा राष्ट्रोद्धार? (२) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् (३) यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि, (४) नक्षत्राणामहं शशी (५) कर्मयोग और संन्यास। 'तुल्यं तु दर्शनम्' (६) विश्वाभिमान (७) भगवद्गीता कैसे पढी जानी चाहिये? (८) इच्छास्वातंत्र्य free will। इसमेंसे आधा हिस्सा लिखा गया और व्याख्याता महाशय परलोक को सिधारे; इसलिये ग्रंथ पूरा न हो सका।

कुलक्षय-लोकक्षय अथवा राष्ट्रोद्धार ?

सना ता त इन्द्र नव्या आगुः सहो नभोऽविरणाय पूर्वीः ॥
भिनत् पुरो न भिदो अदेवीः ननमो वधरदेवस्य पीयोः ॥

(ऋग्वेद १-१७४-८)

"हे इन्द्र ! संग्राम बिलकुल न हों, इस हेतु तुमने बहुतसे घातकोंको जीत लिया। (वे० य०) अथवा, सकल घातकी क्रूरोंका सदैव के लिये निःपात कर डाला (श्रुतिबोध)। तुमने असुरोंके घातक नगरोंको भी विच्छिन्न कर डाला। उन द्वेष्टा असुरोंके शत्रुका भग कर डाला (वे० य०) ईश्वरभक्तिहीन दुष्टों की समग्र जातिका और उनके दुर्ग का उच्छेद कर डाला और ईश्वरनिंदक द्वेष्टाओंके मारक शस्त्रोंके टुकडे टुकडे कर डाले।" (श्रु०)

श्रीमद्भगवद्गीताका सार- गीताका संदेश- क्या है? इस विषयमें अनेक मत प्रचलित हैं और हो सकते हैं। गीताके विषय ही इतने सर्वव्यापी हैं और उनका निवेदन इतनी सूक्ष्म रीतिसे किया गया है, कि उसमें से चाहे उतने धर्मतत्त्व निकल सकेंगे। अपने अपने मतानुसार तथा परिस्थित्यनुसार कोई भी ठहरा सकता है, कि उनमेंसे मुख्य कौनसा है। आजकी परिस्थितिमें लोकमान्य तिलकको लोगोंकी नजर में यही भर देना आवश्यक मालूम हुआ, कि गीताका तत्त्व "संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ" है। हमारे विद्वान् मित्र श्री० वासुदेवराव चिपळूण-करने कहा है, कि "त्रैवर्णिकों के वैदिक धर्मसे निराला सब वर्णोंको मुक्ति देनेवाला एक नया धर्म तत्कालीन जगद्गुरुने भगवद्गीता के द्वारा पुकारा और उसका प्रतिपादन किया।" मैं आपको यह बतलानेवाला हूं, कि गीताका सार 'शाश्वत-धर्म-गोपन' अर्थात् शाश्वत धर्म का रक्षण है। रोमन लोगोंमें ऐसी एक कहावत प्रचलित हुई थी, कि किसी भी रस्ते जाओ, आखिर रोम मिलेगा (All roads lead to Rome) उसी तरह गीता का सार है, "मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति करा देना।" मुक्ति गीता का ध्येय है। गीताको जिस दृष्टि-कोनसे देखें, उसी दृष्टिकोनसे उस ध्येय को पहुंच सकते हैं- इतना ही उसका अर्थ है, ऐसा भी प्रतिपादन हो सकता है। तथापि प्रत्येक दृष्टिकोन के साथ मुक्ति का एक एक मार्ग हमें विज्ञात होता होगा तो अपने रुचिवैचित्र्य के अनुसार उनमेंसे किसी भी एक का अवलंबन कर सकते हैं। भिन्न भिन्न दृष्टिकोनोंसे यह एक फायदा है। द्वैत और अद्वैत ऐसे मुक्ति के दो मार्गोंका प्रतिपादन गीतामें ही किया गया है। कर्म, ज्ञान, उपासना, ध्यान अथवा योग ऐसे अन्य मार्गों-का भी प्रतिपादन किया गया है। इनमें से जो जिसको पसंद हो, उसको वह ले सकता है। ये सब ही मार्ग गीतामें कहे गए हैं, इससे स्पष्ट है, कि उन्हें बतलाने का गीताका आशय अवश्य है।

आखिर में विद्वान् लोग यह ठहरावेंगे, कि उनमें से मुख्य अथवा महत्त्व का कौनसा है। इसलिये मैं यह विषय विद्वज्जनों के संमुख रखता हूं। सब लोगोंको कालिदास की यह उक्ति परिचित है- "आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।" इसलिये वाचकों से प्रार्थना करता हूं, कि वे सावधान चित्तसे ध्यान देवें और अब मुख्य विषय का मैं प्रारंभ करता हूं। मेरे विषयका महत्त्व यह है- प्रश्न ऐसा हो सकता है, कि 'मुक्ति' गीता का मुख्य ध्येय मान भी लें तो भी क्या वह ध्येय व्यक्तिका अथवा राष्ट्रका समझा जाय? प्राचीन भाष्यकारों की प्रवृत्ति वह व्यक्तिगत मानने की ओर रही; परन्तु मेरी कल्पना ऐसी है, कि वह ध्येय राष्ट्रगत है (इसका

प्रतिपादन मैं वाचकों के संमुख करूंगा।) इसी दृष्टि से लोकमान्य तिलक नें विचार किया है; इसी दृष्टि से विद्यावाचस्पति सदाशिवशास्त्री भिडेने किया और मैं भी इसी दृष्टिसे करूंगा। अब मैं पूज्यपाद भगवान् व्यास, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर इत्यादि प्राचीन गुरुजनों को तथा अर्वाचीन गुरुजनोंको भी विनयपूर्व प्रणाम करके विषय का प्रारंभ करता हूं।

किसी ग्रंथके तात्पर्य का निर्णय करने में मीमांसाकारों ने जो गमक बतलाए हैं, जो लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में दिये हैं, वे अर्थात् उपक्रम-उपसंहार आदि बातें यहां भी उपयोगी अवश्य होंगी। तथापि गीतामें भगवान् व्यासने जो वाङ्मयचित्र हमारे सामने चितारनेका प्रयत्न किया है, उसका मानो पार्श्वभाग उन्होंने पहिले अध्याय में खींच दिया है और इसे कोई भी देख सकता है। चित्रका सारा उठाव इस पार्श्वभागपर अवलंबित है। इस पार्श्वभागको केवल ग्रंथ का प्रस्ताव समझकर कोई कोई उसपर कुछ ध्यान नहीं देते। आगे आनेवाले विषय की गहनतापर विचार करें तो इस अध्यायके विचार बिलकुल उपेक्षणीय जरूर मालूम होंगे। परंतु यहां पहिले अध्यायके विषय की बाकी अध्यायोंके विषयोंसे तुलना करनेका उद्देश्य नहीं है, किंतु यह देखना है कि अगले अध्यायोंके विचारोंका उगम कहां है। जबतक हम यह न समझ लेवें कि अर्जुन के मनमें कौन कौनसे विचारों की खलबल मची थी, हम भगवान् के उत्तर की समर्पकता कैसे समझ सकेंगे? इस भारतीय युद्ध के पहिले ऐसा रणकंदन कभी नहीं हुआ और आगे भी चार पांच हजार वर्षतक (हालहीं में जो जगद्व्यापी महायुद्ध हुआ तबतक) ऐसा रणकंदन कभी नहीं हुवा। जिस रणकंदन में सारे हिंदुस्थान के समूचे योद्धा नवयुवकों से लेकर वृद्धोंतक १५ वर्ष की अवस्था से लेकर ९५वर्षकी अवस्थातक-अपने हाथ में अपना सिर लेकर युद्धके लिये सज्ज हुए थे; ऐसे युद्धका कथा दूर से सुनने में चाहे कैसी भी रम्य हो, तथापि प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर योद्धाओंके मनमें क्या खलबल हो रही थी, इसकी यथार्थ कल्पना मुश्किल से हो सकेगी। हम सुनते हैं, कि रणभूमिपर ज्यों ही दुंदुभी का आवाज गूंजने लगता, त्योंही वीरोंके बाहु स्फुरण पाने लगते हैं और कपडोंके बंद टूटने लगते हैं! निडर होकर युद्ध में अपने प्राणोंकी आहुति देनेवाले रणधुरंधर वीरोंके गलेमें माला पहनानेके लिये आकाशमें स्वर्गांगना सज्ज रहती हैं; और अर्जुनकी सिरानी नसोंको उद्दीपित करनेके लिये यह त्रैलोक्य-चिंतामणिकी मात्रा दी है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
(२-३७)

धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(२-३१)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्॥ (२-३२)
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (,,)

" धन्य हैं वे क्षत्रिय जिनको सुदैव से ऐसे युद्ध में भाग लेनेका मौका मिलता है। परमेश्वर ने वीरों के लिये मानो स्वर्गके द्वार खोल दिये हैं। ऐसा अवसर मांगने से न मिलेगा; वह अनायास तुम्हें प्राप्त हुआ है।" इत्यादि बहुतसी बातें बतलाई; परन्तु यह सब व्यर्थ हुआ! सैकडों युद्ध लडने पर जिसकी कभी हार न हुई, उस प्रभावशाली वीरके छक्के छूट गए, छाती धडकने लगी, शरीर कांपने लगा, शस्त्र अस्त्र छूटकर गिर पडे, शरीरका दाह होने लगा, आंखों में अंधेरी आ गई, चक्कर आने लगे क्षणभर खडे रहने का सामर्थ्य न रहा, दुर्गति होनेके चिन्ह दिखने लगे, इतना उद्वेग हुआ, कि न मुझे राज्य चाहिये और न यह जीव चाहिये! यहांतक दिल टूट गया, कि यद्यपि कोई त्रैलोक्य का राज्य मुझे देने कहे, तो भी मैं न लडूंगा, इस क्षुद्र राज्य की बात ही क्या है? उसने साफ कह दिया कि मैं निःशस्त्र रहूं और कोई यहां आकर मेरा प्राण भी लेवे तो बेहत्तर है, परन्तु मैं युद्ध न करूंगा। शस्त्रसंन्यास करके वह एक कोनेमें जा बैठा! सैकडों युद्धोंमें जिसको सिवाय फतह के दूसरी बात मालूम नहीं, ऐसे शतक्रतुपुत्र अर्जुन को ऐसे समय यह क्या सूझा? उसीके शब्दों में देखें, उसके मनमें कौनसे विचार चल रहे थे --

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ १-४५॥

इस श्लोकके उत्तरार्धमें उसने बतलाया है, कि वह महत्पाप क्या है। तथापि इससे भी अधिक विवचन उसने इसतरह किया है-

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव?
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ १-३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

शत्रुंजय धनंजय को आजतक ऐसे विचार क्यों नहीं सूझे? और आजही क्यों सूझे? यह भी एक विचार करनेलायक प्रश्न है।

अर्जुन के इसपर दो उत्तर हैं। पूर्वके युद्धोंमें और इस युद्धों में जमीन आस्मान का फरक था। कैसे?

येषां अर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमे अवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥
(१-३३)

पूर्वके युद्धोंमें सामने आये हुए सब शत्रु रहते थे। आजके युद्धमें जिनसे युद्ध करना और जिनके साथ युद्ध करना है, वे हैं-

आचार्याः पितरः पुत्राः तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ५३ ॥

इस लढाई में सबही लोग युद्धार्थ खडे हैं! जिनके लिये राज्य प्राप्त करनेकी इच्छा है, वे ही युद्ध में मरनेपर उतारू हैं! पुत्रपौत्रोंके लिये युद्ध करना; परंतु वे भी अपने हाथमें अपना सिर लेकर खडे हैं। शत्रुओं को पादाक्रांत करके उन्हें अपना वैभव बतलाना, मित्रोंके साथ, उनको पुरस्कार देकर, उपभोग लेना और इस ऐश्वर्य को देखकर उदासीन लोग चकित होवें! परंतु यहां बुजुर्ग, अचार्य, गुरु, पुत्रपौत्र और मामा इत्यादि निकटसंबंधी सबहीको रणक्षेत्रपर देखकर अर्जुन नेदेखा-

यह प्रज्वलित गर्ता है (युद्ध नहीं)
और इसमें सबही की आहुति पडनेवाली है।

उसके सामने यह सवाल आया, कि इनका परिणाम क्या होगा? युद्ध में विजय होनेपर "पश्चात् बुद्धिर्ब्राह्मणस्य" इस कहावत के अनुसार धर्मराज भी यह कहकर अपनी छाती पीटने लगे कि -

इस कुलक्षयरूपी पापमेंसे मेरी मुक्तता कैसे होगी?

परंतु विचारी मनुष्य को ये सब बातें पहिलेही से दिखती हैं। सबसे पहिले इनका ज्ञान श्रीकृष्ण को हुआ और वे शिष्टाइ के लिये अत्यंत उत्सुक हुए; अर्जुन को इसका ज्ञान युद्ध का प्रारंभ होने के पहिले हुआ और धर्म को युद्ध के बाद मालूम हुआ; अन्य लोगों की दृष्टि यहांतक पंहुची ही नहीं! ऐसा महाभारत से दीख पडता है। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ ऐसे मनुष्य के तीन उदाहरण यहां दिखते हैं।

दूसरे अध्याय के प्रारंभ में श्रीकृष्णने अर्जुन को बतलाया, कि यह कृपा नहीं, क्लैब्य है; यह वीर्य नहीं दैन्य है। तब फिरसे अर्जुनने, कुछ अलग रीतिसे किंतु गंभीरता से श्रीकृष्ण को चार प्रश्न किये। उनमेंसे मुख्य प्रश्न का स्वरूप उसने अधिक तात्त्विक किया है। वह प्रश्न यह है -

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषामः तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ २-६

इन धार्तराष्ट्रोंको मारना, या अपने मरजाना? उन्हे जीतना, या जीतने देना? इनमेंसे श्रेयस्कर क्या है? इसकी मुझे विवंचना है। वाचकों यहां हॅम्लेटकी याद आवेगी। To be or not to be is the question। प्रश्न यह आ गया है कि जीते रहना या मरजाना? अथवा यह गूढ है, जैसा कि महायुद्ध के समय आ गया था— War or no war is the question लडना या गिरना (हार मानना)?

महायुद्ध के समय जो सवाल आया था, वैसा Anti-War League सरीखा यह प्रश्न नहीं था Anti-War League को कहींसे भी युद्ध चाहिय नथा; क्यों कि (१) महायुद्ध को न्याय का अधार न था (२) राष्ट्र तंग आ गया था (६) एक हूल सरीखी वह प्रतिपक्षकी चुनाव की कारवई थी। परंतु अर्जुन का कहना था-

(१) युद्ध का परिणाम बुरा है। विजय हो तो भी वह पराभव के बराबर है। पराभव हुआ, तो एक तौहीन की बात है।

उदाहरणार्थ- (१) महायुद्ध (२) राघोबादादा और अहल्याबाई होलकर का युद्धप्रसंग, (३) सन (१७६१ में) पानिपत का घोर प्रसंग।

विजय हो, तो वह भीष्मद्रोण के मृत्युके बिना होगा नहीं। ऐसी हालत में विजय हो, तो दुनियां में बदनामी हो होगी! पहिली बात यह है, कि युद्ध में उनका निःपात होना दुर्घट है; और निःपात हुवा भी तो बुढ्ढोंको मारा, इसमें पुरुषार्थ क्या है? ऐसा ही हरकोई कहेगा। केवल 'अर्थ के दास' होकर वे लडते हों, तोभी जिनको अपने बारेमें कुछ सहानुभूति है और जिनके विषय में अपने हृदयमें अत्यंत पूज्यबुद्धि है, उन्हे मारने से क्लेशही होंगे। किंबहुना धृतराष्ट्र और दुर्योधनादि चाहे कैसेभी हों, परंतु भीष्म और द्रोण सद्गुणों की केवल जिवित मूर्ति ही है!

'यानेव हत्वा न जिजीविषामः' जिनके ऊपर अपने प्राण भी निछावर कर देना चाहिये, ऐसे गुरूजनों को मारने से कौन विकल न होगा? निदान उनके लिये—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्।
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। (२-५)

अर्थात् धार्तराष्ट्रोंको राज्य का उपभोग लेने देना; गुरुजनोंके रुधिर में लिपटा हुआ राज्य हम नहीं चाहते। सिवाय इसके, कल्पना कीजिये, इन गुरुजनों को मारने के लिये भी अखिर कपट ही का सहारा लेना पडा! ऐसी अवस्था में विजय का मूल्य क्या अपजय की अपेक्षा न्यून नहीं है?

(२) लडके बच्चों का मरना भी सम्भाव्य है। यदि लडकेबच्चे मारे गए और विजय हुआ, तो क्या उस विजय को चाटना है? और अपन जानते हैं, कि वस्तुतः यही स्थिति हुई। घरमें स्त्रियां रोवेंगी और दुनियां में हंसी होगी; ऐसी हालतमें विजय से क्या फायदा है?

(३) यदि अपजय हुआ, तो क्या? बहुधा यह बात अशक्य है, परंतु समय का कौन ठिकाना है? कमसे कम ऐसी शंका क्षणभर आसकती है?

सारांश यह कि (१) अपजय हुवा, तो फजाहत का ठिकाना नहीं; और विजय हुआ, तो भी वह (२) अन्यायमूलक, गुरुहत्यादि दोषान्वित होगा; (३) पुत्रपौत्र और मित्रों के नाश के कारण दुःखान्वित, तथा भरतखंड के सब विभागों से उपस्थित योद्धाओंका नाश होनेसे संपूर्ण राष्ट्र पितृहीन बच्चों से भरा हुआ! (Total destruction) और बिना सायास के परावलंबी होने को तैयार (Prepared for foregin excursions) जिस राष्ट्र को टेढी नजर से देखना परकीयोंको अशक्य था, वह राष्ट्र मानो परदास्य में रहने के लिये जीता रहेगा! मैं समझता हूं, इसीको अर्जुन 'नरके नियतं वासः' (१-४४) की स्थिति कहता है। अर्थात् मरना या जीना? इस

असमंजस में अर्जुन धर्मसंमूढचेता हुआ था और यह कहता हुआ, कि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।' (२-७) अतमें अत्यंत विषण्ण होकर कहता है—

> न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्
> यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
> अवाप्य भूमावसपत्नमद्धं
> राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ (२-८)

इससे हम देख सकते हैं, कि अर्जुन का विचार अस्थानीय नहीं था। जैसे विचार अत्यंत श्रेष्ठ और विचारी पुरुषों को सूझेंगे, ऐसे अति गहन विचारों से उसका चित्त व्यग्र हुआ था और उसको यह कहने की नौबत आई, कि

> अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
> यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ १-४५
> दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
> उत्साद्यन्त जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥१-४३
> उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
> नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ १-४४

अर्जुन कौनसे महत्पाप की चालना करता है, इसका विहंगमदृष्टि से अवलोकन करके आगे बढें।

व्यासजीने जो चित्र रंगाया है, उसके ये पार्श्वभाग हैं। इन विचारोंसे अर्जुन का सिर घूम गया है और वह शस्त्रसंन्यास कर रहा है। अर्जुन के कौनसे विचार ऐसे हैं जो विचारार्ह नहीं हैं? अर्थात् अर्जुन के इन सब प्रश्नोंका उत्तर जरूर चाहिये। जबतक उत्तर न मिले, तबतक वह ऐसा नहीं कह सकता, कि-

> नष्टो मोहः स्थितिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव। १८।७३

हम जानते हैं, कि इन प्रश्नों के सिवाय और भी कई प्रश्न अर्जुन ने पूछे और शंकानिवारण कर लिया। अर्जुन के प्रश्न व्युत्क्रम से रखे जांय, तो ऐसे हैं—

(१) न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्।
यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्। २-७

(२) पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे। २-७

(३) श्लोक २-६

(४) स्वजनहत्यापाप॥ १।४३-४५

इनके उत्तर क्रमशः हमें दूसरे तीसरे और चौथे अध्याय में मिलते हैं। अर्थात् मूल प्रश्नके व्युत्क्रमसे मिलते हैं। वे इस तरह हैं—

प्रश्न (१) गुरु, पुत्र, पौत्रके विषयमें शोक (२-८)
उत्तर-मृतोंका शोक करना अज्ञानजन्य है।
(२।११-३९)

प्रश्न (२) स्वधर्म= स्वकर्म (क्षात्रकर्म)
परधर्मक्षमा= कृपा २-७

उत्तर-श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
(२।३१-३७)

प्रश्न-पापपुण्य।
उत्तर-साम्यबुद्धि होनेपर पापके बारेमें प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। (२।३८-५३)

(४) प्रश्न-लोकक्षय और हत्याका पाप।
उत्तर-लोकक्षय में भी लोकसंग्रह होता है।
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४-१८
(तीसरा और चौथा अध्याय।)

उत्तरोंका सामान्य स्वरूप।

(१) य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
(२-१९)

> जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
> तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
> (२-२७)

> देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
> तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥२-३०

(२) धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

(३) काम्यबुद्धिसे पुण्य पाप; साम्यबुद्धि से दोनों नहीं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २-३८
योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।
सिध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥२-४८

(४) पाप कैसे जायगा? लोकसंग्रह कैसे होगा? लोकक्षय टालने के ही लिये यह युद्ध है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ३-१९
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ३-२०
यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१
उत्सीदेयुः इमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्याम् उपहन्यामिमाः प्रजाः॥३-२४
कर्मणि अकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥४-१८

जो लोग यह कहते हैं, कि गीतामें केवल 'मोक्षधर्म' बतलाया है, अथवा अधिक से अधिक यह कि अर्जुनसरखे क्षात्रधर्मवाले मनुष्य को युद्ध का आदेश दिया है; मालूम पडता है कि उन्हें अर्जुन के प्रश्नों की यथार्थ कल्पना ही नहीं है, अथवा उन्हें यह पता नहीं है, कि अर्जुन के चित्त को कौनसे विचारोंने हैरान कर दिया था। इसके विपरीत कोई लोग अर्जुन के सब प्रश्नों का उत्तर यह बतलावेंगे, कि जिस महत्पाप के बारे में अर्जुन को भय था, उस पापसे छुटकारा करने की स्वयं भगवान्ने जब हामी दी, तब अर्जुनने पिछली सब शंका कुशंकाओं को आपही छोड दिया; और यह कहता हुवा, कि 'करिष्ये वचनं तव' वह उत्सुकता से भगवान् की आज्ञा की राह देखने लगा। कई लोग ऐसा भी कहते हैं, कि अगर सच कहना हो, तो श्रीकृष्णने मनमानी तरमानी तरकीबोंसे अर्जुन की मंजूरी हासिल कर ली है। भगवान् ने-

(१) विश्वरूप बतलाकर अर्जुन को खूबही डरा दिया है;

(२) उसको भविष्य बतलाया, कि मैंने सब को पहिले ही मार डाला है; तुम केवल निमित्तमात्र हो, (निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्); 'चाहे कुछ भी हो, लडाई टलती नहीं, तुम्हारी कोई कीमत नहीं' ऐसा दरसाकर उसका अधिक्षेप किया है;

(३) उसको यह लालच बतलाई है, कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।

(४) उसको यह डर बतलाया है कि—

अथ चेत्त्वं अहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥

(५) इसी तरह यह भी कहकर अधिक्षेप किया है, कि-

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति १८-५९

(६) उसको भुलाने के लिये यह भी कहा है, कि-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ १८-६१

(७) उसको प्रतिज्ञापूर्वक वचन दिया है और कहा है, कि-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥१८-६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥ ६६

इस प्रकार Coersion, Undue influence के जितने प्रकार श्रीकृष्णको सूझे, अथवा वचन, धमकी वगैरः देकर किसी को 'बनाने' के जितने प्रकार हो सकते हैं, उतने करने के बाद फिर भी—

विमृश्य एतदशेषेण 'यथेच्छसि तथा कुरु।' १८-६३

ऐसा कहकर अर्जुन को ऐसा भास उत्पन्न कराया कि उसे पूर्ण इच्छास्वातंत्र्य है। अर्जुनके मुख से ऐसे शब्द निकले हैं, कि-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः॥ (१८-७३)

अर्जुन ने इस तरह संमति दी जरूर है, परंतु ऊपर कहे अनुसार श्रीकृष्णने जो नाना प्रकार से मनाया है, 'भक्तोऽसि प्रियोऽसि' इत्यादि लालच, भीति, अधिक्षेप वगैरे बातोंपर ध्यान दिया जाय,

तो कौन कहेगा कि अर्जुनने यह संमति खुले अंतःकरण से दी है? इतने विविध रीति से विचार करनेपर और समझौता करनेपर भी ये सब बातें करनी ही पडतीं हैं। ऐसी हालत में ७२ वें श्लोक का यह प्रश्न कि 'कोई शंका कुशंका रह तो नहीं गई?' और उसपर ७३ वें श्लोक का उत्तर इन दोनों का सामान्य व्यवहारज्ञ मनुष्य के नाते से विचार करके आप क्या कहेंगे? मेरी समझमें इस युद्ध के व्यवहारमें जरा भी स्वातंत्र्य नहीं है. 'ना' कहने के लिये अवसर दिया ही नहीं है। दुनियां की घटना- (Constitution) में यह मुकर्रर हो गया है, कि मेरे हाथ से यह काम होना ही चाहिये, और ईश्वर यह ठान बैठा है, कि यह काम वह हर हालत में करावेगा; किंबहुना यह प्रतीत होता है, कि 'जी हुकुम' 'आज्ञा प्रमाण' ऐसे शब्द वहीं कहलाता है। तब इस समूचे आत्मानात्मविचार का, क्षराक्षर ज्ञान का उपयोग ही क्या हुआ? ऐसा प्रश्न दिलमें आये विना नहीं रहता; और इस प्रश्न का कुछ जवाब दिये विना समाधान नहीं होता। श्रीशंकराचार्य का संन्यासपक्ष, लोकमान्य तिलक का कर्मयोगपक्ष, माध्वसांप्रदायिओं का अथवा भागवतों का भक्तिमार्ग, अथवा ज्ञानेश्वर का योगमार्ग, इनमेंसे किसी भी मार्ग का विचार करें, तो यह कहना पडता है, कि इनमेंसे किसीने भी अर्जुन की इन शंकाओंपर विचार नहीं किया, अथवा यह नहीं बतलाया कि अर्जुन को इस तरह 'घरमार सती' बनाने में भगवान् का हेतु क्या था? भगवान्का सच्चा हेतु यदि कर्मयोग था, तो स्वतः भगवान्ने इस युद्ध में यह प्रतिज्ञा क्यों की है, कि 'मैं हाथ में शस्त्र न लूंगा?' यह भी कह सकते हैं, कि अर्जुन के मूल प्रश्न का उत्तर अगर कहीं नहीं मिलता तो अर्जुन का समाधान हुआ कैसे? किंबहुना यह भी कहने में कोई हर्जा नहीं, कि कर्मयोग अथवा कर्मसंन्यास, उपासना अथवा योग, इनमेंसे कोई एक मार्ग स्वतः अर्जुन को पापमुक्त करने में समर्थ था, उसको मोक्ष की प्राप्ति करा सकता था, किंबहुना भगवान्ने जो कहा, कि 'प्रियोऽसि मे' इस एक ही शब्द में अर्जुन की यह खातर जमा हो जाती अथवा होने लायक थी, कि अपन को इस विषय में कोई डर नहीं। परंतु कमसे कम प्रारंभ में अर्जुन के सामने अर्जुन का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं था, किंतु सामान्य जनता का प्रश्न था, शाश्वत कुलधर्म का, वर्ण-संकर का, चातुर्वर्ण्य का प्रश्न था।

> दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
> उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ १-४३
> उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
> नरके नियतं वासः भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ १-४४
> अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
> यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ १-४५

किंबहुना अपनी आजकी भाषामें अर्जुन के प्रश्नों का रूपांतर करना हो, तो यह कहेंगे, कि-

हिंदुत्व का नाश होने का चिह्न दिख रहा है।

राज्य करनेको चाहे कौरव हों या पांडव हों, कोई भी करेंगे; परंतु 'क्षात्र-समाज' का और 'क्षात्रधर्म' का नाश होकर यदि किसी एक के हाथ में राज्य आनेवाला हो, तो उससे अच्छा यह होगा, कि राज्य न मिले। बेहतर है, कि पांडव फिरसे जंगल में चले जांय और वहां मर जांय; परंतु क्षात्रधर्म और क्षात्र समाज जीवित रहना चाहिये। ये नष्ट होकर पांडव जीवित रहें, तो उनका क्या उपयोग है? परकीयोंके झुंड के झुंड आवेंगे और क्षात्रधर्मरहित हिंदुधर्म और क्षात्रसमाजरहित हिंदु समाज को हजम कर जायंगे अथवा शाश्वत दास्य में डुबो देंगे। मानो आज १०००-१२०० वर्षतक परकीयों के दास्य में हमारे रहनेसे अर्जुन की इस भविष्यवाणी की सत्यता प्रतीत होती है। आज या कल हिंदुस्थानके हिंदुओंके पितर अर्जुन के शब्दोंमें 'स्वर्ग'में 'लुप्तपिंडोदक' होकर उन्हें 'हाय अफसोस' करनेकी नौबत जरूर आवेगी; किंबहुना आज दिन भी हिंदुस्थानमें हिंदुओंको 'हाय हाय' करते हुए प्राण छोडने का मौका आ गया है। हिंदुधर्म के, हिंदुक्षत्रों के रक्षक कौन हैं? क्रिस्ती और महंमदीय लोग। उनके सुखसमाधानमें दासत्वको पहुंचा हुआ हिंदु अपने परंपरागत आचारों

का पालन करेगा, अथवा जो कुछ रोटी का टुकडा वे देवें उतना खाकर और पानी पीकर मृत्यु के द्वार में बैठेगा। आज दिन यच्चयावत् हिंदु जबतक क्रिस्ती और मुसलमान उनपर दया करेंगे तबतक At their mercy जीते हैं। इस प्रत्यक्ष परिस्थिति में और अर्जुन की भीति में क्या फरक है? अर्जुन का 'नरके नियतं वासः' कदाचित् पारमार्थिक होगा, परंतु 'लुप्त-पिंडोदकक्रिया,' वर्णसंकर, अथवा 'सनातन-कुलधर्मनाश' पारमार्थिक नहीं हैं, केवल ऐहिक बातें हैं। अर्जुन को मोक्ष मिलने से, अथवा ऐसी हालत में, कि लडाई में मरा हुवा प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी स्वर्गांगना ने प्राप्त कर लिया हो और लडाई मे से सही सलामत आया हुआ प्रत्येक मनुष्य 'जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्' इस भगवदुक्ति के अनुसार राज्य करता रहा हो, तब भी ईश्वरी नियमानुसार, भगवान् के भविष्य के अनुसार, ऐसे केवल दसबीस ही मनुष्य रहे। इसलिये अर्जुन ही की बात सच ठहरी। इतने बडे भारतीय युद्ध के विजयी योद्धा आखिर क्षात्रधर्म के अभाव से अ-यशस्वी ठहरे! प्रत्यक्ष रणधुरंधर सव्यसाची अर्जुन! वह भी क्षुद्र आभीरोंकी चुंगल में आया और उसे पैरों गिरने की पाली आगई! और प्रत्यक्ष भगवान् की स्त्रियों को वे आभीर भगा ले गए!!

अब सवाल यह आता है, कि अर्जुन का समाधान हुआ हो, तो वह किस बात से हुआ? व्यासमुनि जो कहते हैं, कि अर्जुन का समाधान हुवा, वह किस कारण से?

शंकराचार्य के अनुयायी कहेंगे, कि अर्जुन ने युद्ध किया इसलिये कि वह उसका स्वधर्म-कर्म था।

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।'

अर्जुन अभीतक कच्चा था। स्वधर्मानुसार स्वकर्मों का आचरण करते करते जब वह तैयार हुआ होगा, तब योग्य कालमें वह कर्म संन्यासी होकर मोक्षपद को पहुंचा होगा।

लोकमान्य तिलक कहेंगे, कि अर्जुन ज्ञानी हुवा, उसने निरपेक्ष और अनासक्त होकर कर्मयोग का आचरण किया और वह अनन्य भक्त इसी जन्ममें मुक्त हुआ।

भिडे शास्त्री कहेंगे, कि अर्जुन क्षात्रधर्म से च्युत होकर पतित होनेहीवाला था, परंतु ठीक समयपर श्रीकृष्णने गोवर्धन के समान अर्जुन को उठा लिया इस से वह बच गया। अर्जुन को वैयक्तिक आश्रम-धर्म के व्यंग मालूम हुए थे, परंतु वह वर्णधर्मच्युत अथवा राष्ट्रधर्मच्युत हो रहा था; उसको कर्मयोग का कथन करके भगवान्ने सम्हाल लिया! परंतु राष्ट्र-धर्मासक्त होनेसे पांडवों को ऐहिक श्रेय का लाभ हुआ और अर्जुन को भी कदाचित् पारमार्थिक श्रेय की प्राप्ति हुई; तथापि कौन कह सकता है कि जनता (उस समय न हो तो शीघ्र ही) डूब गई या क्या हुआ? भगवान्ने अर्जुन का व्यामोह दूर किया और उसको क्षात्रधर्मप्रयुक्त अथवा राष्ट्रधर्मप्रयुक्त करने का काम योग्य रीतिसे किया!

इतनेसे मेरा समाधान नहीं होता और अर्जुन का भी समाधान नहीं हुआ। किंबहुना जिस कर्मयोग का भगवान् ने दूसरे अध्याय में उपक्रम किया उसका विवरण भी उसमें किया है। वह सुन लेने के बाद इतनाही सवाल आया, कि स्थितप्रज्ञ का मतलब क्या है? उसके बाद तीसरे अध्याय की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। अर्जुनने तीसरे अध्याय में ऐसा प्रश्न किया है, कि—

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।

इसमें 'घोरे' शब्द का महत्त्व क्या है? अ० २-४९ में श्रीकृष्णने कहा है—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

श्रीकृष्ण के कहने की गरज यह है, कि बुद्धियोग को छोडकर जो कर्म हो, वह कर्म अयोग्य है। इसके पहिले उन्होंने यह कहा है कि योगस्थः कुरु कर्माणि' (२-४८) योग = योगबुद्धि = कर्मयोग।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि (२-३९)
कर्मण्येवाधिकारस्ते...मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ २-४७

अर्थात् यह कहीं नहीं कहा, कि कर्म बिलकुल मत् करो, या घोर कर्म मत् करो। कर्म कैसा भी हो, सुसाध्य हो या दुसाध्य हो, पुण्यकारक हो या पापकारक हो; वह करना ही चाहिये। अर्जुनका सवाल यह था, कि कर्मका बंध कैसे छूटेगा. उसके अंतर्गत पापका भय कैसे दूर होगा? और उसका निराकरण भगवान्ने कियाही था; तब तीसरे अध्यायमें यह प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह किसीने नहीं बतलाया। लोकमान्य की अथवा भिडेशास्त्रीकी द्वारो द्वार श्लो० १-४९ ही है। मेरी समझमें उस श्लोक मेंसे यह प्रश्न नहीं निकलता किंतु पहिले अध्याय मेंसे निकलता है और अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तर भगवान् व्युत्क्रमसे देते हैं. इसलिए 'घोरे' शब्दका मूल इस श्लोक में है-

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥ १-४५

और उस अध्यायमें निर्दिष्ट किये हुए प्रश्नका उत्तर देनेके लिए और इसलिए. कि वह प्रश्न राष्ट्र के हितका अतएव अनुपेक्षणीय है, भगवान्ने वह प्रश्न अगले दो अध्यायोंमें लिया है। प्रत्यक्ष संन्यासग्रहण की बात अर्जुनने कभी नहीं छेडी। जिस भैक्ष्य शब्दपरसे यह अनुमान निकाला जाता है, वह केवल उदाहरणार्थ लिया गया है। जबतक अरण्य काटे नहीं गए थे, वे किसीके कबजे में नहीं थे और शस्त्रोंकी मनाई न थी तबतक अथवा बहुत हुआ तो पांडवोंको फिरसे बारह वर्ष वनवास का प्रसंग आता इसलिए, अर्जुनको भैक्ष्यवृत्ति की जरूरत न थी। जिस सुरमें वह 'अवाप्य भूमौ असपत्नम्' कहता है, जिस सुरमें वह 'राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्. 'अपि त्रैलोक्य...महीकृत' कहता है, उसी सुरमें वह कहता है कि-

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् ।
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥

किंबहुना यहभी कहता है, कि-

यदि मामप्रतीकारं अशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

इससे मालूम होता है, कि यह भैक्ष्य केवल वास्तविक संन्यासाश्रमापेक्ष नहीं समझना; वह केवल काव्य है।

श्लोक २-४५ में किया हुआ उपदेश अर्जुनको जंच गया, यह कहना सयुक्तिक नहीं है कि तफसील में अथवा व्यवहार में वह उपदेश उसको वैसा नहीं जंचा; क्यों कि नित्यसत्त्वस्थ अथवा धृत्युत्साहसमन्वित ऐसे कर्मयोगमें अर्जुनका अकर्म अनेसरीखा नहीं था। पहिले अध्यायके अखीरमें अर्जुन विषण्ण होकर 'अकर्मपर' बन गया था। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने त्रैगुण्यविषय काम्य कर्मों का और यौगिक साम्य कर्मोंका ऊहापोह किया है। यह वादका विषय है. कि वैदिक काम्य कर्म स्वर्गप्रद हैं या मोक्षप्रद हैं? भगवान् उन्हें स्वर्गप्रद समझते हैं और यौगिक कर्मोंको मोक्षप्रद अतएव श्रेष्ठ समझते हैं। व्यावहारिक क्षात्रधर्म का कर्म स्वर्गप्रद है या मोक्षप्रद है?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥

इससे यही नतीजा निकला, कि मरनेपर वह कर्म ज्यादासे ज्यादा स्वर्गप्रद होगा। परंतु कौन कहे. कि जीवित रहनेपर वह किस श्रेणीमें जायगा? भगवान् कहते हैं, कि वह साम्यबुद्धिसे किया जाय. तो मोक्षप्रद होगा। परंतु वह घोर कर्म हो तो भगवान् कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः। ३-९
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३

वह (१) यज्ञके अतिरिक्त यदि आत्मकारणार्थ हो, तो पापकारक होगा।

(२) यज्ञार्थ हो, तो 'इष्टभोगदायक' होगा। (३-१२।१३)

(३) असक्त हो, तो 'परमात्म' प्रद होगा। (३-१९)

(४) लोकसंग्रहार्थ-असक्त हो, तो कोई हर्ज नहीं। अर्थात् वह भी मोक्षदायक होगा। अथवा ऐसाभी हो, तबभी हर्ज नहीं. कि-

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा... ॥

ऐसा होनेपर वह कर्म (विगुण=) घोर रहे तो भी कोई बाधा नहीं होगी।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।३.३५

इस दृष्टिसे इस अध्यायके पहिले श्लोकका यह उत्तर हो सकता है। यज्ञार्थ हो, या लोकसंग्रहार्थ हो, कर्म यदि असक्त होगा, तो वह मोक्षकारक अर्थात् पापनाशक-कर्मबंधनाशक-हो सकेगा, अन्यथा नहीं। परंतु हर घडी इतना झंझट करनेके ऐवजमें उन्होंने यह आदेश दिया है, कि कोईभी कर्म, वह यज्ञार्थ न भी हो, अथवा वह घोर भी रहे, परंतु—

' मयि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा, निराशीः निर्ममो भूत्वा। '

ऐसा हो, तो किसी पापका डर नहीं है। यह एक कर्म करके संन्यास है। परंतु उसमें यह नहीं देखना पडता कि वह किसलिये है (यज्ञार्थ है या संग्रहार्थ है)। अर्जुनकी शंका है, कि क्या वह पुण्यकारक है या घोर है?

अर्जुनकी कृति 'अकर्म' की अतएव पापकारक थी। घोर हिंसात्मक (पापकर्म) टालनेकी गरजसे वह चुपचाप बैठता था; परंतु भगवान्‌ने कहा है, कि यह अकर्मभी समाजविघातक है, अतएव पापकारक अथवा हिंसात्मक ही है। अर्थात् यहांभी दो हिंसात्मक कर्मोंमेंसे अच्छा कौनसा? ऐसा 'धर्मसंमूढ' हो बैठनेका प्रसंग आ ही गया। यह संमूढता हटाने के उपायमें चौथे अध्यायमें यह उपदेश करने की जरूरत हुई —

कर्मणि अकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ ४ १५

यद्यपि अर्जुनका अकर्म हिंसात्मक कर्म, युद्धभी हिंसात्मक विगुण कर्म है, तथापि वह—

(१) लोकसंग्रहकारक = धर्मसंस्थापक = लोकोपकारक, सर्वभूतहिते रत होकर किया रहनेसे कर्म नहीं-उससे कर्मबंध उत्पन्न न होगा, परंतु वह 'असक्त' रीतिसे अवश्य हो, जैसा तीसरे अध्याय में कहा है।

(२) कर्मयोगसे अथवा 'बुद्धियोग'से 'स्थितप्रज्ञता'से किया जाय, तो भी उसमें पापका भय नहीं रहता। (१५-५७)

(३) मत्पर होकर किया जाय, अर्थात् 'मदर्पणपूर्वक' 'सर्वसंन्यास' करके किया जाय, तो भी कोई हर्जा नहीं। (१८·६५;१८-५६।५९)

इसके विपरीत अकर्म-पापकारक-है. उसको कोई धारणा नहीं है। इसलिये वह सर्वथैव त्याज्य है।

इस तरह भगवान् ने अर्जुन की विवेक से खातरजमा कर दी और 'विश्वरूपदर्शन' द्वारा यह भविष्य प्रत्यक्ष बतलाया है, कि भगवान् की इस कृति का उद्देश्य 'शाश्वत धर्म-गोपन है; तब फिर १८-७३ में उसके मुख से यह कहलाया है कि' नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा ' ' स्थितोऽस्मि गतसंदेहः। अ० १८-१८,५०,६०,६१ में उसको दृढव्रत नहीं बतलाई किंतु इस विश्वरूप दर्शनकी और शाश्वत-धर्म-गोपन की याद दिलाई है, इसीलिये अर्जुन ने कहा है कि ' स्मृतिर्लब्धा। ' ऐसा न हो तो 'स्मृतिर्लब्धा' का मतलब ही नहीं समझता। मोह नष्ट हुआ इसीमें ज्ञान उत्पन्न हुआ-ऐसा तमप्रकाशन्याय से सहज सिद्ध है। तो फिर ' स्मृतिर्लब्धा ' की आवश्यकता क्या है? ग्यारहवें अध्याय के प्रारंभ ही में अर्जुनने यह कबूल किया है, कि—

यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११·१

इसके बाद ' स्मृति ' उपलब्ध करने का कार्य किया गया है और वह ११ वें अध्याय में तथा १८ वें अध्याय में दिख पडता है। बारहवें अध्याय में जो भक्तियोग बतलाया है, वह सर्वकर्मसंन्यास अथवा कर्म मदर्पण करही के (अर्थात् अकर्म नहीं) पापके बारेमें निश्चित होने के लिये कहा है। बाकी अध्याय विश्वघटना समझाने के लिये अर्थात् आत्मज्ञानके विवरणार्थ हैं। इसलिये ' स्मृतिर्लब्धा ' शब्द से उन अध्यायों का उतना संबंध नहीं है, किंतु ११ वें अध्याय से ही है; इसलिये उस अध्याय की अपूर्वता ध्यानमें आती है। वाचकगण सोच सकते हैं, की १ ले अध्याय की पार्श्वभूमि का महत्त्व इस चित्र के कैसा

अनुरूप है। गीतामें तीसरे, चौथे तथा ११ वें अध्याय का महत्त्व. किंबहुना सबही अध्यायोंकी अनुरूपता अपने नजर में आती है।

सूज्ञ वाचकों को १३ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों का ११ वें अध्याय के विश्वरूपसे क्या संबंध है, इसको अलग से बतलाने की जरूरत नहीं है-

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३-१३
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १३-१४
बहिरन्तश्च भूतानां अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तद् विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १३-१५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १३-१६
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥
१३-१७

यह भी पुनरुक्ति से कहने की आवश्यकता नहीं है. कि श्लोक १५ के 'अंतिके च तत्" का, १६ वें श्लोक के 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' का, तथा आगे २२ वें श्लोक के "देहेऽस्मिन् पुरुषः परः" का और—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८-३१

तथा

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति ॥

इन श्लोकों का पूर्वापरसंबंध १ ले और ४ थे अध्याय से अथवा १८ वें अध्याय से और १८ वें अध्याय के 'स्मृतिर्लब्धा' से क्या है। १४ वें अध्याय में केवल-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९॥

इतनीही बात फिरसे कही है, जो पहिले आ चुकी है। इसके सिवाय "शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च" "प्रतिष्ठाहम्" ऐसा कहकर ११ वें अध्याय की स्मृति फिरसे दिलाई है। परंतु उसके परे परमात्मा का जो तीसरा स्वरूप है, वह अ० १३-२८ व ३१ में और १५ वें अध्याय में कहा है। यह कहने में कोई प्रत्यवाय न होगा कि १७-१८ वे श्लोकमें (?) जो कहा है, उससे इस १४।१५ अध्याय में कुछ नया नहीं बतलाया। १६ वें अध्याय में दैवासुरसंपत्तिका वर्णन करके कहा है-

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ १६-५
.. .. नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥

जगत् के असुर लोग-

प्रभवन्ति उग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ १६-९
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १६-१८
.... मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्ति अधमां गतिम् ॥
१६-२०

इस तरह से जगत् के क्षय का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों का संहार न करने से कैसे चलेगा? तुम्हारे सरीखे दैवी संपत्ति से युक्त लोगों का संरक्षण अन्यथा कैसे होगा? यही बतलाने का मतलब है। आसुरी लोग समाज के बंधनों को तोड डालते हैं और इसलिये समाज के क्षय के लिये प्रवृत्त हुए रहते हैं। समाज की सुस्थिति के धर्म जिसमें बतलाए हैं. वही शाश्वत धर्म है और उसीका संरक्षण करना भगवान् का हेतु है। इस शाश्वत धर्म का विवेचन शास्त्रमें रहता है. इसलिये शास्त्र प्रमाणभूत हैं; ऐसा १६-२४ में बतलाकर, शास्त्र के अनुसार चलनेवाले दैवी संपत्तिवान् लोगों का और शास्त्र का अवमान करनेवाले इस जगत् के नाशक आसुरी वृत्तिवाले लोगों का वर्णन १७ वें अध्याय में समाप्त किया है। दोनों की श्रद्धा आहार और यज्ञदानतप भिन्न भिन्न होते हैं, उनको बतलाकर सत्कर्म और असत्कर्म का वर्णन आगे दिया है। पहिले कहा है. कि यज्ञार्थ कर्म सत् है और यज्ञार्थात् अन्यत्र कर्म बंधक है; उसका विवरण इस १७ वें अध्याय में किया है।

१८ वें अध्याय में कर्म के पांच कारण बतलाए हैं- वह कर्म चाहे न्याय्य हो या अन्याय्य हो-इनमें से जो समझता है, कि "मैं अकेला कर्ता हूं" वह "मूर्खः स दुर्मतिः" ऐसा १८-१६ में बतलाया है; जो ऐसा नहीं समझता, वह 'निरहंकारी' है (१८-१६)। इसका वर्णन इसके पहिले ३ रे अध्याय में आही गया है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ ३-२७
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ३-२८

यहां यह बतलाया था कि जो यह कहे कि मैं करता हूं वह एक मूर्ख है और जो कहते हैं कि त्रिलोक में गुण के सिवाय सत्व नहीं (१८-४०) और गुण ही कर्म करते हैं, वे 'असक्त' हैं। एवंच-

निरहंकारी = असक्त ऐसा यह—
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ २-७१
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३-१८
मुक्तसंगः अनहवादी ॥ १८-३६

वस्तुतः यही निर्मम है। परंतु इस शब्द के और भी अर्थ भगवद्गीता की दृष्टि से हो सकेंगे। जिसको—

(१) आत्मौपम्यदृष्टि आगई है अथवा जो सर्वभूतात्मभूतात्मा है अथवा जो—

(२) मय्यर्पितमनोबुद्धिः, चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। (१८-५७)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥ १८-५६

अथवा—

(३) अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते)॥
१७-५३

इनमें से कोई भी रह सकेगा।

परंतु इन सब प्रकारों का वर्णन पूर्वाध्यायों में आ गया है. इसलिये 'स्मृतिर्लब्धा' पद सार्थक हो सकेगा। सारांश —

लोकक्षय अथवा लोकसंग्रह ?
धर्मनाश अथवा शाश्वतधर्मगोपन ?

ऐसा एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न श्रीकृष्ण के सम्मुख रखकर अर्जुन ने यह उत्तर प्राप्त किया कि लोकसंग्रह तथा शाश्वत धर्मगोपन। और इसकी खुद जांच करके बादमें श्रीकृष्ण को कबूल किया है, कि "करिष्ये वचनं तव" और यही भगवद्गीता का सार है।

अब देखा जाय, कि 'शाश्वतधर्म क्या है ?' इसका महाभारत से क्या बोध मिलता है ? बाद में इस लेख को समाप्त किया जाय।

वस्तुतः उद्योगपर्व के भाषणों से पता लगता है कि इस प्रश्न के अर्थात् युद्ध के परिणाम के विषय में जितनी बाजू से विचार होना शक्य था, उतनी बाजू से वह हो गया था। न केवल कुलक्षय का ही विचार प्रत्युत राष्ट्रक्षय का भी विचार पांडवोंने और कौरवोंने अपनी अपनी सभाओं में किया था। शिष्टाई के लिये श्रीकृष्ण जब आए, तब वे धृतराष्ट्र को कहते हैं —

(अध्याय ९६)

(२०८) इस आग का उपशम योग्य समय में न करोगे, तो न केवल तुम्हारे ही पुत्रों की, किंतु सारी दुनियां की इससे धूरधान होगी।

(२१०) यह युद्ध केवल कौरव-पांडवों का ही नहीं है; इस युद्ध में पृथ्वीके अशेष नृपगण एकत्र हुए हैं; और लडाई शुरू होने से जहां वे जिधर सवार हुए, वहां दुनियांकी गरीब प्रजा समेत सब का संहार वे अवश्य करेंगे।

(२१२) तुम पूछोगे, कि "तुम्हें इस उपद्-व्याप से क्या मतलब है ?" लेकिन तुम्हारे कलह-से अलम दुनियां कि होली होगी।

(अध्याय १२४)

(२५०) [दुर्योधन को] तुम भी अधर्म्य अकीर्तिकर ऐसे कर्म से मुक्त होगे... पांडवों से साम करनेमें तुह्मारे सब मित्रों का यच्चयावत् ज्ञातियों का किंबहुना सारी दुनियांका कल्याण है।

(अध्याय १२८)

एक पुरुष के पीछे यदि कुल का नाश होता हो, तो उस एक का त्याग करना चाहिये... अपने स्वतः के लिये सब पृथ्वी का भी त्याग करना।

(अध्याय १२९)

गांधारी (दुर्योधन को-) अगर तुम युद्धके चक्करमें पडे और जहां भीष्म, द्रोण, कर्ण, भीमसेन, धनंजय और धृष्टद्युम्न को त्वेष आया, वहां जान लेना कि, इन सब प्रजाओं का अंत आगया। इस लिये क्रोधातीत होकर कुरुकुल का विध्वंस मत करो। निदान तुम्हारे सबब से इस पृथ्वी का क्षय न हो!

(अध्याय १३८)

भीष्म (दुर्योधन को-) तुम्हारे पीछे यह सारी पृथ्वी मृत्यु की डाढ में चली जायगी; इसको बचाओ।

कुलक्षय- [उद्योगपर्व]

(अध्याय ५)

श्रीकृष्ण- कुरुश्रेष्ठ यदि न्यायबुद्धिसे सख्य करेगा, तो भाईबंदों का हेत रहा आवेगा। और कुलक्षय न होगा।

द्रुपद- (शिष्टाई के लिये अपने पुरोहित को भेजते समय) राज्य के बटवारे के सम्बन्ध में पुराने लोगोंका कुलाचार संजय को इस तरह बतलाना। दुर्योधनादि उसके विरुद्ध जाते हैं; ऐसा मालूम होनेपर उनमें मतभेद होगा।

शल्य (धर्म को-) तुममें लोभमूलक ऐसी कोई बात नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! पुराने राजर्षि के मार्ग ही का तुम अनुसरण करो; दान, तप और सत्य के विषय में स्थिर रहो।

(अध्याय २)

संजय— आप जानते ही हैं, कि शाश्वत राजधर्म क्या है। मैं उसके बारे में नहीं बोलता। (१) बाप की मिलकियतपर दोनों पुत्रोंका- धृतराष्ट्र और पंडु एकही बाप के पुत्र हैं- हक बराबरी का है। धृतराष्ट्र के पुत्रों को पितृधनमेंसे आठ आना हिस्सा नहीं मिल भी गया है। परंतु पंडु के पुत्रों को पितृधनमेंसे आठ आना हिस्सा नहीं मिला; यह कैसे! ...... पांडवोंने अपने पराक्रम से नया राज्य संपादन किया और राज्यविस्तार किया, परंतु धृतराष्ट्र के पुत्रों ने कपट से वह भी उनसे छीन लिया। पांडवों की इच्छा केवल इतनी ही है, कि लोगों का नाश न होकर जो कुछ उनका (पांडवों का) है उतनाही उन्हें मिल जाय।

(अध्याय २१)

भीष्म- वास्तविक धर्म के अनुसार पिता का सब धन उनका है, इसमें संदेह नहीं ... ...।

कर्ण- हमने कौनसा अधर्म किया? दुर्योधन के लिये शकुनी ने धर्मराज को द्यूत में जाहिर रीतिसे जीत लिया और उस समय युधिष्ठिर ने अपनी ही खुशी से करार किया ... अब वह जो पितृधन का हिस्सा मांग रहा है, वह उस करार के अनुसार नहीं है; क्योंकि तेरह वर्ष खतम होने के पहिले वे अज्ञात के ज्ञात हो गए। इस लिये उनका करार पूरा न हुआ और मूर्खोंसरीखे नाहक वे लोग मत्स्य और पांचालों के भरोसेपर अनाफ शनाफ मांग कर रहे हैं। पांडवों के पराक्रमका डर कहो, तो दुर्योधन राज्य का चौथा हिस्सा भी न देगा; आधेकी बात ही दूर रही। धर्मबुद्धि से कहो, तो वह शत्रु को संपूर्ण पृथ्वीतक दे डालेगा! पांडवों की अगर इच्छा हो, कि गमाया हुआ और खानदानी राज्य फिरसे प्राप्त हो, तो उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हें फिरसे उतने वर्षतक वनका आश्रय करना चाहिये; परंतु अधर्म से राज्य वापिस मिलने की इच्छा न रखें ... ...।

समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्यात् यज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु॥ महद्बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः को वै शक्तो हंतुमक्षीयमाणः। सोऽहं जये चैव पराजये च निश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित्॥ २॥

धर्म- (अध्याय २६)

कां नुवाच संजय मे श्रुणोषि युद्धैषिणीं येन युद्धाद्बिभेपि।

अयुद्धं वै तात युद्धाद्गरीयः कस्तं लब्ध्वा जातु युद्धेत सूत॥ १॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय सिद्ध्येत्संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत्।

न कर्म कुर्याद्विदितं ममैतद् अन्यत्र युद्धाद्बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥
कुतो युद्धं जातु नरोवगच्छेत् को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम् ।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पश्यम् ॥ ३ ॥
धर्मोऽयं सुखमाशंसमानाः कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।
सुखं प्रेप्सुः विजिघांसुश्च दुःखं य इंद्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥
संजय- (अध्याय २७)
धर्मं नित्याः पांडव ते विचेष्टा लोके श्रुताः दृश्यते चापि पार्थ ।
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं संपश्य त्वं पांडव मा व्यनीनशः ॥ १ ॥

न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात् प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
भैक्षाचर्यम् अंधकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न च युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥
अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये महास्रावं नित्यदुःखं चलं च । भूयश्च तद्यशसो नानुरूपं तस्मात्तापं पांडव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं महा प्रतापः सवितेव भाति ।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ५ ॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।
निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता और पाश्चात्य पंडित ।

श्रीकृष्ण कौन है?

(लेखक- श्री० एफ्. एच्. मोलन, लंदन.)

' श्रीमद्भगवद्गीता ' की कोई भी टीका पढनेसे यह देखने में आता है कि, जहां तहां भगवान् श्रीकृष्णके संबंध में भूतकालीन प्रयोग किया गया है । यदि ' भगवद्गीता ' को श्रीकृष्णका संदेश मानते हैं, तो जिन लोगों ने उसकी जीवनसरणिको समझकर उसका अच्छा अभ्यास किया है और उस उपदेशके अनुसार जिन्होंने स्वात्मानुभव प्राप्त किया है, उनको यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है, कि यद्यपि श्रीकृष्णने अपने पार्थिव जड देह का त्याग किया है, तथापि यह बात नहीं है, कि श्रीकृष्ण केवल एकही कालमें विद्यमान थे, किंतु आज भी श्रीकृष्ण विद्यमान हैं । उन को इस सत्य बात का अनुभव अथवा आत्मप्रचीति लेनी चाहिये । श्रीकृष्ण कहते हैं, 'देखो, ऐसी बात नहीं है कि मैं (पहिले) कभी न था; किंबहुना यह भी नहीं कि ये राजालोग (पहिले) नहीं थे, अथवा यह कि, अपन सब लोग इसके बाद न रहेंगे । ' (गी० २-१२)

इसलिए श्रीकृष्ण आज भी हैं; तथापि उन्हें क्या पदार्थमात्रोंका वैसा ही ज्ञान है, जैसा अपन लोगों को है ? श्रीकृष्ण कहते हैं—

' हे भारत ? जब जब धर्मकी ग्लानि होती और अधर्म का प्रावल्य होता है, तब तब मैं स्वयं जन्म (अवतार) लेता हूं । ' (गी० ४-७).

इससे स्पष्ट है, कि यदि श्रीकृष्णको सांसारिक व्यापारोंका ज्ञान न होता, तो उन्होंने उपरोक्त

आश्वासन कभी न दिया होता। इससे यह सिद्ध होता है कि, पहिले भी श्रीकृष्णने इसी तरह की परिस्थितिमें अवतार लिया था; किंतु बात इतनी ही है कि, 'श्रीकृष्ण'के नामसे वे उन समयों में प्रसिद्ध नहीं थे। हमको यह भी मानना पडेगा कि, उस समयसे लेकर आजतक उन्होंने कई बार देह धारण किया है और आजकल भी किसी न किसी शरीरके द्वारा वे कार्य कर रहे हैं। केवल इतनाही नहीं, किंतु थोडेही दिनोंमें पुनश्च वे अवतार लेनेवाले हैं। क्योंकि अनेक सुधारकोंके प्रयत्न जारी रहते हुए, इस जगत्में लगातार अशुभ कर्म हो ही रहे हैं और लोग अपने अशुभ कर्मों के फल भोगही रहे हैं। यह बात स्पष्ट है कि, सांप्रतमें लोग जो कुछ दुष्कर्म कर रहे हैं, उनके फल उन्हें आगामी भविष्य कालमें मिलेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं- 'हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे भी अनेक जन्म हो गये हैं; मैं उन सबको जानता हूं; (और) हे परंतप! तुम नहीं जानते (इतना भेद है।)' (गी० ४।५)

गीतामें जो कुछ लिखा है, वह यदि सत्य है, तो संभाव्य है कि, आज इस समय भी इस मृत्युलोकमें श्रीकृष्ण विद्यमान हों। परंतु कल्पना कीजिये कि, जिस किसीको आत्मानुभव अथवा आत्मप्रचीति हुई है, ऐसा कोई मनुष्य कहने लगे कि 'मैं भगवान् श्रीकृष्ण हूं' तो उसकी क्या अवस्था होगी? संभवतः उसका कहना भी सच होगा; परंतु यह बतलाइये कि, उसके कहने के प्रमाण में किन किन बातों की अपेक्षा करनी चाहिए, ऐसी परीक्षा के विषय कौन ठहरावेगा? ऐसा कौन कहेगा कि, ज्ञानेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने को मैं पात्र हूं?

श्रीकृष्ण की हमारे प्रति यह प्रतिज्ञा है कि, 'मैं योग्य समयपर बारंबार अवतार लेता हूं।' क्या हमको श्रीकृष्ण के इस कथनपर विश्वास रखना चाहिए? यदि रखना चाहिये, तो वर्तमानकालीन युगको देखते हुए क्या हम यह मान सकते हैं कि, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण इसी लोक में आज विद्यमान हैं? और यदि मानभी सकते हों तो हम कहां उनकी खोज करें?

श्रीकृष्ण कहते हैं- 'मैं (सकल) भूतोंका धनी और जन्मविरहित हूं। यद्यपि मेरा आत्मस्वरूप कभी व्यय अर्थात् विकार नहीं पाता, तब भी मैं अपनी प्रकृति को अपने आधीन करके अपनी माया से जन्म लेता हूं।' (गी० ४।६)

इस वचनके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण अखिल प्राणीमात्र के स्वामी हैं। सारे जीव उनके हैं। वेही प्रकृतिमें जीवन डालते हैं। उनके अतिरिक्त कोई चीज है ही नहीं। प्राणीमात्रों के स्वामी होनेके कारण, उन्होंने किसी दूसरे ही देशमें कोई दूसरा ही नाम धारण करके जीवमात्रोंको दर्शन दिया होगा और वहां के लोगों ने भी उनको श्रीकृष्णके रूपसे पहचाना न होगा। सुप्रसिद्ध आंग्ल कवि और नाटककार शेक्सपियरने एक जगह कहा है कि, "गुलाबको किसी भी नामसे संबोधन किया जाय, तब भी उसका सुगंध सदैव मधुर ही रहेगा।' इसी तरह परमेश्वरको किसी भी नामसे संबोधन किया जाय, वह किसी भी देशमें रहा हो, तथापि वह जीवनमात्र का ईश्वर ही है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

'मैं अपनी ही माया के द्वारा प्रगट होता हूं।' भगवान् जीवोंके प्रभु रहनेके कारण माताके गर्भमें प्रवेश नहीं करते। वे एक उत्कृष्ट शरीर धारण करते हैं और अपनी ही माया से चाहे वैसी दशा स्वीकार कर लेते हैं। वे चाहें तो राजाका शरीर धारण कर सकते हैं अथवा वैश्यका, ब्राह्मण का, शूद्र का,- कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। राजासे लेकर शूद्रतक सबही लोग उनके जीव हैं। परंतु कोई विशिष्ट शरीर धारण करने के लिए उनको किसी निमित्त की आवश्यकता होती है। ऐसा करनेमें वे केवल यह देखते हैं कि, प्रगट होनेके लिए अमुक शरीर उपयुक्त है या नहीं; क्योंकि श्रीकृष्ण कोई हमारे तुम्हारे सरीखे साधारण मनुष्य नहीं, साक्षात् ईश्वर हैं।

हमलोग उनका भिन्न प्रकार से निरूपण करते हैं, परंतु उनका जो स्वरूप हम कल्पित करते हैं, उस स्वरूप के केवल एक विशिष्ट अंश को हमारे निरूपण व्यक्त करते हैं।

"भगवान् एक प्रदीप्त अग्नि हैं।" भगवान् प्रेमस्वरूप हैं।" "भगवान् सत्यस्वरूप हैं" "भगवान् एक ऐसी ज्योति हैं कि, जो अंधेरे में भी

प्रकाशित होती हैं।" 'भगवान् एक ऐसा तेज हैं कि, जहां अंधकार पहुंचही नहीं सकता।" इत्यादि इत्यादि। ऐसे निरूपण से व्यामोह उत्पन्न होता है और भगवान् की प्राप्ति में इससे कोई सहायता नहीं मिलती। भगवान् कहते हैं—

"मोहवश न होकर जो कोई मुझे इसप्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ होकर, हे भारत! सर्वभाव से मुझे ही भजता है।" (गी० १५।१९) इसलिये जो लोग भगवान् को जानने की इच्छा रखते हैं, उनके लिये यही उपदेश ठीक है।

गीता के १५ वें अध्यायके चौथे श्लोकके अन्तमें एक वाक्य है, जो पुरुषोतम के साथ संबंध स्थापित करने के लिये सर्वोत्तम मंत्र है; परंतु इस मंत्र का प्रयोग केवल उन्हीं लोगों को करना चाहिये, जिन्हें एक मुक्ति ही की बडी आकांक्षा रहती है। गीता कहती है, "तदनंतर...... यह संकल्प करना चाहिये कि- (सृष्टिक्रम की यह) पुरातन प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूं।" (गी० १५-४)

भगवान् ने कहा है कि, "हे अर्जुन! इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना और हे परंतप! तत्त्वत: मुझ में प्रवेश करना, केवल अन्यन्य भक्तिद्वारा शक्य है।" (गी० ११।५४) "हे पांडव! जो मनुष्य अखिल कर्मोंको मेरे (परमेश्वर के) समझकर करता है, मत्परायण, संगविरहित और सकल-भूत-मात्रों से निर्वैर ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे आकर पहुंचता है।" (गी० ११-५५) "मैं (परमेश्वर परमात्मा) सर्वत्र हूं ऐसा जो देखता है और सर्व संसार को मुझमें देखता है, उससे मैं कभी दूर नहीं होता और न वह मुझसे कभी दूर होता।" (गी० ६-३०)

इससे यह सिद्ध हुवा कि, जो यथार्थता से सत्य आत्मा की खोज करता है, वह परमेश्वर को उसके मूल स्वरूप में देख सकता है; किंबहुना वह उसके मूलस्वरूप में प्रवेश कर सकता है, अर्थात् उससे एकरूप हो सकता है। परंतु उसके ऐसा करनेसे पहिले ही भगवान् अपने शिष्य की बाँह पकड लेते हैं; उससे कभी अलग नहीं होते। श्रीभगवान् कहते हैं-

"ध्यानमें रखो कि, प्रणिपात से, परिप्रश्न से और सेवा करने से तत्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।" (गी० ४-३४)

अर्जुन ने कहा, "...मैं तुम्हारा शिष्य हूं। तुम्हारी शरण में आये हुए मुझे बोध करो। निश्चितरूप से जो श्रेयस्कर होगा, वह मुझे बतलाओ।"

जब यह निश्चित हुआ कि, परमेश्वर ही जीव-मात्रों का स्वामी है, तब क्या पाश्चात्य देश के लोगों को गुरु न मिलेंगे? और क्या वे गुरु की सेवा न करेंगे? जब कि अर्जुन ने सच्ची भावना से यह कहकर कि, 'मैं तुम्हारा शिष्य हूं' ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिस ज्ञानप्राप्ति की उसको तीव्र उत्कंठा थी, तब क्या परमेश्वर (वह कहीं भी रहे) अपने भक्त की पुकार न सुनेगा? यदि परमेश्वर का अस्तित्व ही न होगा, तो उसको पुकारनेसे कोई लाभ न होगा; परंतु अस्तित्व होगा, तो जरूर तुम्हारी पुकार का जवाब वह दे सकेगा और अवश्य देगा। तुम उसके हो और वह तुम्हारा प्रभु है। तुम्हारा वर्ण कोई भी हो, तुम्हारी मुखाकृती कैसी भी हो, तुम किसी भी देश में और किसी भी जगह रहो, तुम परमेश्वर के हो और परमेश्वर तुम्हारा है, और इसी कारण वह तुम्हारी पुकार अवश्य सुनेगा।

परंतु तुमको प्रणत होकर उसके पास जाना अत्यंत आवश्यक है। प्रणत होने का यह मतलब नहीं कि, तुम अपना मस्तक उसके पदरजोंसे मलिन करो। इस प्रकार की शरणागति से केवल मनुष्य ही संतुष्ट होते हैं- सुख पाते हैं। तुम अपने जड तथा मदोत्सिक्त अहंकार को परमेश्वर के चरणों में अर्पण कर दो। प्रणत होने के लिये यह अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त एक और बात है कि, तुम उसकी सेवा भी करो- ऊपर कहा ही है- "परिप्रश्नेन सेवया।" जो लोग भगवान् की ज्योति का प्रसार करते हैं, उनके दासों को अन्न, वस्त्र, आश्रय और सन्मान देते हैं, (सन्मान का यहां अर्थ गर्हणीय चापलूसी नहीं, किन्तु वह सच्चा आदर है, जो किसी साध्वी स्त्री के प्रति दिखलाया जाता है,)

उनकी जो तुम सेवा करोगे, वही परमेश्वर की सेवा होगी।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जिस समय कोई मनुष्य परमेश्वर का अर्थात् पुरुषोत्तम का आश्रय लेता है, उस समय वह एकही तत्त्वपर अपना मन एकाग्र करता है, वही उसके जीवित का अन्तिम ध्येय बन जाता है। मनुष्य को अपनी प्रकृति से युद्ध न करना चाहिये। जहां उसने अपना चित्त परमेश्वर के हवाले किया, वहां आपही से उसके स्वभाव में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगेगा। भगवान् ने कहा है- "ज्ञानवान् पुरुष भी अपने प्रकृतिस्वभाव के अनुरूप बर्ताव करता है। अखिल भूतमात्र अर्थात् प्राणिमात्र (अपनी अपनी) प्रकृति का अनुसरण करते हैं; वहां निग्रह क्या करेगा? अर्थात् जबरदस्तीसे कुछ नहीं होता।" (गी० ३-३३) किंतु निग्रहका यह परिणाम होता है कि, उससे मनुष्य के अंतःकरणमें जो कुत्सित भावनाएं अर्थात् कुत्सित वृत्ति रहती है, उसको अवसर मिलता है और वे भावनाएं अथवा वृत्तियां अधिकही प्रबल होती हैं। 'निराहारी पुरुष से विषय दूर हट जाँय, तथापि (उनका) रस (अर्थात् उनपर जो अनुराग रहता है, वह) नहीं छूटता। परंतु परब्रह्म का अनुभव आनेपर (सारे विषय तथा उनका) रस भी छूट जाता है (अर्थात् विषय और उनपर अनुराग दोनों छूटता हैं) (गी० २-५९)

इस लिए जबरदस्ती से निग्रह करना न चाहिये; क्योंकि उसके लिए हमें सामर्थ्य नहीं है। इस समय जिस परमेश्वर की उपासना कर रहे हैं, वही हमको पार लगावेगा।

दूसरा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या भगवान् श्रीकृष्ण आज भी विद्यमान है? इस प्रश्नका उत्तर केवल उन्हींको देते बनेगा कि, जिन्हें आत्मानुभव होगा, अथवा जो श्रीकृष्णकी ओर जिज्ञासा की भावना से देखते होंगे अथवा जिनको इस प्रश्न का उत्तर पहिलेही मिल गया होगा। यदि आप 'ब्रह्मानन्द' की बातपर विश्वास रखते होंगे, तो इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही है कि, 'हां, श्रीकृष्ण आज भी विद्यमान हैं।'

यहां से वहांतक सारी आत्माएं एकही हैं और यदि सच्चे दिलसे और निष्कपट भावनासे अथवा भावसे श्रीकृष्णकी प्रार्थना की जाय, तो वे हमें इस गुह्य बात को स्पष्ट कर बतलावेंगे, यह समस्या हल करेंगे। आप उन्हें वैसे ही प्रिय हैं जैसे उनके अन्य निःसीम भक्त उन्हें प्रिय हैं। पुराणकालीन मतप्रवर्तक पुण्यात्मा हमारे ही समान मनुष्यप्राणी थे। वे न हमसे अच्छे थे और न बुरे भी थे। हमको यह समझना उचित नहीं कि, हम अत्यंत अधम नरक के कीडे हैं। हम बिलकुल अधम नहीं हैं। हम प्रत्यक्ष परमेश्वर के ही स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा हमारे साम्हने अपनी गुह्य बातको स्पष्ट करके रखेंगे और तब परमात्माका संदेश हम दुनियांके सामने रखेंगे। श्रीकृष्ण अपनी दैवी मायासे अपने मुखसे अपना संदेश सुनावेंगे। किंबहुना वे हमारे स्वरूपमें मिलकर एकरूप होंगे। हम और भगवान् श्रीकृष्ण एकरूप अथवा चिद्रूप होंगे।



अखिल विश्वका धर्मग्रंथ।

(लेखक- प्रोफेसर श्री० लौटूसिंहजी 'गौतम,' एम्. ए., एल्. टी.)

जबसे मनुष्य इस पृथ्वीपर आता है, अपनी माता की गोदमें से निकलकर भूमाता की गोद में आता है, तब से लेकर उसका शरीर नष्ट होतेतक उसको प्रपंच में रहना पडता है। 'अघटितघटनापटीयसी' ऐसी जो प्रकृति, माया अथवा अविद्या है, उसकी विचित्र तथा अनिर्वचनीय शक्ति की चुंगल में फँसा हुआ मनुष्य ऐसा कोई आधार ढूंढता रहता है, कि जिससे प्रकृति के प्रपंच से उसको छुटकारा मिले, प्रपंच का नाश होकर उसको शाश्वत शांति मिले और त्रिविध तापों का नाश होकर वह संसारचक्र से मुक्त हो। भिन्न भिन्न मतों के अनुसार इस दशा के भिन्न भिन्न नाम तथा रूप हैं। यही बौद्धों का 'निर्वाण' है, ईसाईयों का 'सातवां स्वर्ग' है, मुसलमानों की 'बिहिश्त' है, सगुण उपासना करनेवालों का 'गोलोक, शिवलोक इ०' है, जैन लोगों का 'कैवल्यज्ञान' है, दार्शनिकों की 'मुक्ति' है और भगवद्गीता का 'ब्रह्मनिर्वाण' है।

भौगोलिक दृष्टि से इस दुनियां के मनुष्यमात्र को टुकडे टुकडे करना (अर्थात् भिन्न भिन्न जाति के समझना) अविद्या का अजब खेल है। भिन्न प्रकार के मनुष्य केवल इस संसाररूपी महासागर के भिन्न भिन्न तरंग हैं; उन में भेदबुद्धि रखना धर्म की हत्या करना है। मानवी हृदय न तो युरोपियन है और न भारतीय है; वह केवल मानवी है। हम देख सकते हैं कि, सारे संसार में वही भय, वही दौर्बल्य, वही निस्सहायता, प्रकृति का वही दास्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का वही खेल व्याप्त है। मनुष्य-मात्र का एक ही प्रश्न है- "प्रपंचानामुपशमः"— इस प्रपंच से शांति (किस तरहसे मिलेगी ?)

धर्मका उदय मनुष्यके निर्बल हृदयपर होता है। जिन को हम जंगली कहते हैं, 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः... पंडितं मन्यमानाः' कहते हैं, उनका भी धर्महृदय ही से उद्भूत होता है, और बडे बडे पुस्तकी विद्वानोंने 'पंडितं मन्यमानाः' जिन जंगली जातियोंको जडवादोपासक इ० संज्ञा दी हैं, वे जंगली जाति के लोग भी, मानवी हृदय को शांति मिलने की इच्छासे, वृक्षादिकों में स्थित आत्मा की पूजा करते हैं। तात्पर्य यही है कि, संसार में जो भिन्न भिन्न मत हैं, उन्होंने मानवी हृदय की निर्बलता का अनुभव लेकर, उसे भिन्न भिन्न मार्ग बतलाए हैं; इनमें से किसी एक मार्ग से जानेपर मनुष्य का अंतिम हेतु परिपूर्ण होता है। ये भिन्न भिन्न मार्ग ही भिन्न भिन्न धर्म अथवा मत अथवा संप्रदाय हैं। सब ही संप्रदायों के प्रवर्तकों ने एकही उद्देश्य रखकर अपने अपने मत का प्रचार किया है; और सब ही का अंतिम ध्येय एकही है, अर्थात् "प्रपंचानामुपशमः।" जंगली मनुष्य से लेकर शांकर-वेदान्ती तक सभी लोग अपनी अपनी बुद्धिविकास के अनुसार इसी मार्ग के चलनेवाले हैं। अतएव जिस धर्म में अथवा मत में मानवी हृदय को शान्ति के लिये जितने अधिक साधन होंगे, उतना ही वह धर्म अधिक ग्राह्य होगा। जो धर्म जितना सस्ता होगा, उतनाही वह असंग्राह्य और क्षणिक होगा। श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने श्रीशिवमहिम्न-स्तोत्र में क्या ही अच्छा कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इससे यह सिद्ध होता है कि, मनुष्यमात्र का ध्येय एकही है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये गीता में जो धर्म बतलाया गया है, वह मनुष्यमात्र के लिये है। हिंदु-संस्कृति में समन्वयबुद्धि ही प्रधान है। वह भेदभाव को अधार्मिक समझती है। ऋग्वेद के ऋषियों से लेकर तुलसीकबीरतक- आर्यसंस्कृति में

पले हुए- सबही नररत्नों ने भेदभाव का निराकरण किया है; तथापि गीता में जैसा समन्वय देखने मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

इस जगत् में प्रपंच से छुटकारा पानेके लिये तीन ही मार्ग हो सकते हैं- कर्म, भक्ति और ज्ञान। गीता में इन तीनोंका समन्वय है; और वह भी इतना अच्छा समन्वय, ऐसा खासा मेल है, कि भिन्न भिन्न ऐसे सबही मतों के अनुयायिओं को अपने अपने मत की पुष्टि के लिये गीता का आश्रय लेना पडता है। पूज्य श्रीशंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, ज्ञानेश्वर, बोधायन, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि सब महापुरुषोंने अपना अपना मुद्दा गीता से निकाला है। इनका तुलनात्मक विचार यहां न हो सकेगा। कहने का उद्देश्य यही है, कि संपूर्ण गीता में यही बतलाया गया है, कि रुचि और विकास की भिन्नता के अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग ग्राह्य होते हैं।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गी० ३-३)

'इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा है, वह मैंने पहिले बतलाई है-

एक ज्ञानके द्वारा सांख्योंकी और दूसरी कर्मके द्वारा योगियोंकी।' चाहे ज्ञानमार्ग हो, अथवा कर्ममार्ग हो, बात एकही है, परंतु यह ध्यान में रखना चाहिए, कि-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गी० ३-१९)

'हे अर्जुन! (अभी तुम ब्रह्मज्ञानी नहीं हुए) इसलिये आसक्ति छोडकर तुम सदैव कर्तव्यकर्म करो। असक्त होकर कार्य करनेसे परमपद की प्राप्ति होगी।' भगवान् श्रीकृष्ण का कर्मयोग कोई साधारण कर्म नहीं है; कर्तव्यबुद्धि से किया हुआ निष्काम कर्म हमेशा फलप्रद होता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गी० २-४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें कर्म यद्यपि अधूरा रह जाय, तथापि उसका नाश नहीं होता। इस धर्मका अल्पसा अंश भी बडी बडी भीतिसे संरक्षण करता है।' यहां इस बातका स्मरण रहे, कि गीतामें निष्काम कर्म का महत्त्व बतलाया है। तथापि सकाम कर्म को भी मान्य किया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गी० ७-१६,१७)

"चार प्रकारके लोग मुझे भजते हैं- (१) दुःखी अथवा रोगी, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी, (४) ज्ञानी। इनमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्ययुक्त रहता है, उनका चित्त सदैव मेरी ओर लगा रहता है और वह केवल मेरी भक्ति करता है। उसको मैं प्रिय हूं और वह मुझे प्रिय है।"

प्रस्तुत लेखकको उनका मत मंजूर नहीं, कि जो यह समझते हैं, कि गीता में केवल निष्काम कर्म बतलाया है। गीतामें यदि केवल 'कर्म' का प्रतिपादन रहता, तो बौद्ध धर्मके 'चत्वारि आर्य सत्यानि' और भगवान् बुद्ध के 'अष्टांगिमार्ग' और 'दशशील' से काम निकल जाता, भगवान् श्रीकृष्णको कुछ उपदेश देनेकी जरूरत न होती। परंतु उन्होंने आत्मविश्वास के साथ गीतामें भगवद्भक्ति की तथा विनय और शीलकी आवश्यकता बतलाई है। हमारे कर्म चाहे कितने भी अच्छे हों; हम चाहे समाजके नेता हों, अथवा संसारके रावण, कंस, अलेकजांडर, सीजर अथवा नेपोलियन हों;तथापि जबतक हमारा 'अहम्' इस क्षुद्र शरीर को छोडकर इस ब्रह्मांडके 'अहम्' में परिणत होकर नष्ट न होगा, तबतक माया का और अविद्या का नाश होना असंभाव्य है. केवल भगवद्भक्ति ही से इस माया का अंत होगा।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गी० ७-१४)

'मेरी अत्यंत दिव्य तथा त्रिगुणात्मक माया अति दुस्तर है; इसके पार वे लोग तर जाते हैं जो मेराही भजन करते हैं!" भगवान् बुद्ध की शिक्षा, जो अधूरी रह गई थी, यहां पूर्ण हुई। भगवान् बुद्ध ने कर्म कांडवालों का दंभ जलाकर भस्म कर डाला था; परंतु मानव-हृदय-रूपी भूमि स्मशानवत् हो गई थी। जीवन एक बोझा मालूम होता था। प्रेम, भाव, दया इत्यादि सब बातें बंधन मालूम होती थीं।

जन्मदुःखं जरादुःखं जायादुःखं पुनः पुनः।
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्॥

ऐसी व्याकुल भावनाओं की अत्युष्ण वायु के कारण हृदय-पुष्प भुन रहा था, वह मानव-हृदय अंधकार की गहरी गर्ता में असहाय पडा था, समग्र भारतवर्ष निःस्तब्ध होकर दुःस्वप्न देख रहा था। मानव-हृदय का ध्येय स्मशान भूमि था। जीवन का त्याग ही जीवन का ध्येय बन गया था। उनकी पशुयज्ञशाला में तर्क के मारे से हायहाय मची थी; दूसरी ओर उपनिषदोंका मंद मंद परन्तु शुष्क ब्रह्मध्वनि निकल रहा था और तीसरी ओर बौद्धसदृश मतों के साररहित कर्मसृष्टि को त्याज्य मानते थे। ऐसे अवसर पर भगवान् के महावाक्य ने बडा भारी काम किया। भगवान् ने अर्जुन के कान में 'गुह्यतम' वाक्य कहा; वह इसलिये कि मानव उस वाक्य को समझ लेवे- सब तरह से समझ बूझकर उसके अनुसार आचरण करे और उसके द्वारा त्रिविधताप से तप्त ऐसे मानव-हृदय को शान्ति मिले। वह महावाक्य है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"अपने मन को मुझ में लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरे लिये आत्मसमर्पण करो, मुझे नमस्कार करो। मैं प्रतिज्ञा करता हूं, कि तुम मुझे ही आकर मिलोगे। अन्य सारे धर्मों को छोडकर मेरी ही शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक मत करो, आनंद से रहो।

यही श्रीकृष्ण भगवान् की भक्ति है। इसमें 'प्रपत्ति' है, परन्तु निर्बलता नहीं है। इस भक्ति में कर्म का त्याग नहीं है, इस में ज्ञानका और कर्म का तिरस्कार नहीं। जिस भक्ति की आनन्दमय अवस्था में 'अहं' का लोप होता और 'वासुदेवः सर्वमिति' का ध्वनि निकलता रहता है, वह भक्ति सगुण तथा निर्गुण ब्रह्मको एकही सी लागू है। भक्तशिरोमणि नारद के शब्दों में कहना हो, तो यौं कह सकते हैं, कि ऐसी भक्ति करनेवाला भक्त संसार की दृष्टि में 'प्रमत्त' मालूम होता है। यह भक्ति स्वार्थ में लिपटी नहीं रहती; यह सस्ते मतों की भक्ति नहीं है। इसमें यह लालच नहीं बतलाई है, कि 'यदि मेरे ऊपर विश्वास रखोगे, तो भीतर आनेके लिये तुम्हें टिकट मिलेगा।' जितेन्द्रिय तथा सच्चरित्रवान् मनुष्य ही यह भक्ति कर सकता है। गुरु नानकजी ने कहा है—

'जे तैनूं प्रेम खेलनदा चाव।
सिर धर तली गली मोरी आव।'

[यदि (सच्चे) प्रेमका खेल खेलने की तुम्हारी इच्छा हो, तो मस्तक नीचे रखकर मेरी राहसे आओ।]

गुरु नानक देव की भक्ति गीता की भक्तिका रूपान्तर है। आत्मसमर्पण करनेवाली भक्ति ज्ञान का सच्चा साधन है। इस भक्तिमें कर्मद्वारा शोधित मन हृदयको विश्वंभर के चरणोंमें समर्पित करता है, उससे सच्चे ब्रह्मज्ञान उदय होता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एवच विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
(गीता १३।२७ से ३०)

अर्थात् परमेश्वर सर्वभूतोंमें समानरूपसे है। भूतों का नाश होनेसे उसका नाश नहीं होता-यह जो जानता है, उसीका ज्ञान सच्चा। वह अपने आत्मा से अपने ही आत्मा का (चाहे वह आत्मा इतरत्र स्थित रहे) नाश नहीं करता। जब यह बुद्धि प्राप्त होती है, तब वह परम गतिको प्राप्त होता है। जो यह समझता है कि, संपूर्ण कार्य प्रकृति ही करती है, वह स्वतःको कर्ता नहीं समझता। वह जब पृथक् भूतोंको एकही ईश्वर में देखने लगता है, तब उसे पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होती है, और तब-

भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

जीवन का अन्तिम लक्ष्य यही है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञान के सहाय्य से वे सत्पुरुष भगवान् का सायुज्यपद प्राप्त कर लेते हैं। फिर वे सृष्टिके आरंभ में उत्पन्न भी नहीं होते और प्रलयकाल में उन्हें कष्ट भी नहीं होते। क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है।

सारांश यह है, कि मानवहृदय की शान्ति के लिये कर्म, भक्ति और ज्ञान के विषय में ग्रंथश्रेष्ठ गीता में जितना उत्तम उपदेश किया गया है, उतना इस संसार के और किसी ग्रंथ में नहीं किया गया। इस बात को न केवल हम ही कहते हैं, किन्तु वस्तुतः सब ही निष्पक्ष विद्वान् कहते हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् William Von Humboldt ने कहा है—

"The Gita is the most beautiful, perhaps the only true philosophical song existing in any known tongue."

अर्थात् भगवद्गीता सर्वोत्कृष्ट गीत है; संसारकी सारी भाषाओं में यह अद्वितीय दार्शनिक गीत है।

गीता में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त का समन्वय करने में कुछ निराला ही दृष्टिकोन है। कदाचित् भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रचलित आधुनिक दर्शनों का समन्वय न किया होगा, परंतु उनके मौलिक सिद्धान्तों का समन्वय बहुतही उत्तम रीतिसे किया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति, तीनों गीता की निजी संपत्ति है। इन तीनों को भगवान् श्रीकृष्ण ने धूलिसे उठाकर उनका सुवर्ण बना दिया यही कारण है कि, बाकी सारे अवतार साधारण माने जाते हैं; परंतु श्रीकृष्ण को पूर्णावतार समझते हैं। सचमुच में ब्रह्म का मार्ग ब्रह्म ही बतला सकता है। गीताकी भक्ति में निर्बलता नहीं, गुलामी नहीं; वह प्रेममय है। गीता के कर्म में अहंता नहीं और ज्ञान में शुष्कता नहीं।

हमारे अन्य मतानुयायी बंधु भी गीताके उपदेशसे लाभ उठा सकते हैं। गीताके सातसौ श्लोकोंका सार है, आत्मश्रद्धा, ईश्वरभक्ति, सदाचार, निष्काम कर्म 'सर्वभूतहिते रताः' बतलानेवाला ज्ञान, व्यक्तिगत स्वतंत्रता 'यथेच्छसि तथा कुरु' और अंत में भगवच्छरणागति। ये उपदेशरत्न असाधारण, अद्वितीय और अत्यंत ग्राह्य हैं। यह उपदेश सब समय के लिये, सब देशोंके लिये, तथा संपूर्ण मानवसमाज के लिये सार्वभौम धर्म है। अतएव प्रत्येक गीताभक्त का यह कर्तव्य है कि, वह उस अंधभक्ति को, जिसने खून की नदियां बहाई है और अभीतक बहा रही है; उसे अभिमानपूर्ण कर्मको जो दया का शत्रु है और जिसने संसार को मरुस्थल बना दिया; तथा उस शुष्क ज्ञान को जो दंभ आदिका मित्र है और जिसके कारण व्यभिचार की मात्रा बढती रही है; इन सब को गीताज्ञान के जोरदार परंतु मधुर ऐसे वायुप्रवाह से दूर हटावे। सच्चे ब्रह्मत्व को प्राप्त करने का मुख्य साधन यही है।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथम अध्याय ।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यपजी, एम्. एस् सी. लाहौर)

धृतराष्ट्र बोले-

धर्मकर्मके स्थानमें, युद्ध की इच्छाधार ।
कुरुक्षेत्र-रणभूमि में, योधा जुटे अपार ॥ १ ॥
पुत्र मेरे अरु पाण्डुके, हे सञ्जय मतिमान् ।
करते भये कर्तव्य जो, उनका करो बखान ॥ २ ॥

सञ्जयने उत्तर दिया—

व्यूहधारे खडी सेन जो, पाण्डुसुतन की विशाल ।
दुर्योधन राजा उसे, देख न सका सम्भाल ॥ ३ ॥
चित्त अपना, वह तुरत ही, गया आचार्य पास ।
बोला बैन सुबैन यह, होकर बहुत उदास ॥ ४ ॥
पाण्डोंके इन सुतन की, बडी फौज यह देख ।
बुद्धिमान् तेरे शिष्य से, व्यूह-बद्ध हुई देख ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्न जो द्रुपद का, महाबली सुत वीर ।
उसी आपके शिष्यने व्यूह-बद्ध किये वीर ॥ ६ ॥
धारीधनुष महान् के, भीम-अर्जुनसम शूर ।
यहां उपस्थित युद्ध में पाण्डुपक्षके शूर ॥ ७ ॥
महारथी ज्यों सात्यकी, राजा द्रुपद विराट् ।
चेकितान बलवान् अरु, धृष्टकेतु विख्यात् ॥ ८ ॥
काशीपति वह महाबली, पुरुजित् कुन्तिभोज ।
शैब्य नरोंमें श्रेष्ठ जो, बलशाली उत्तमोज् ॥ ९ ॥
युधामन्युः सुपराक्रमी, द्रुपदसुता के पुत्र ।
सभी महारथी साथ हों, भगवत्स्वसा-सुपुत्र ॥१०॥
(अभिमन्यु वह वीरवर, सुभद्रा की जान ।
योद्धा परले पारका, उत्तरा-तनका प्राण) ॥ ११ ॥
ये तो पाण्डवपक्षके, योद्धा गिने महान् !
अब अपने भी मुख्य जो, हैं योद्धा उन्हें जान ॥ १२ ॥
हे द्विजश्रेष्ठ आचार्यवर ! आप सकें पहिचान ।
सभी नेताओं को अभी, उनका करूं आख्यान ॥१३॥
मेरी सेनमें मुख्य जो, उनमें प्रथम हैं आप ।
भीष्म पितामह कर्ण फिर, महारथी निष्पाप ॥१४॥
विजयी सब संग्राम में, कृपाचार्य अति वीर ।
अश्वत्थामा, विकर्ण भी, भूरिश्रवा सुधीर ॥ १५ ॥
और बहुतसे वीर भी, जीवन-आशा त्याग ।
मेरे लिए इस युद्धमें, ले रहे अपना भाग ॥१६॥
सभी हैं युद्धप्रवीण वे, अस्त्रसुसज्जित सर्व ।
विविध शस्त्र सुविचित्रही, सभी चलाते सगर्व ॥१७॥
यद्यपि रक्षाकी गई, भीष्म से सभी ओर ।
सेन हमारी अजेय है, सीमा रहित् अति घोर ॥१८॥
अरु इस पाण्डुसुतन की, भीम सुरक्षित सेन ।
है थोडी सीमित पुनः सुगम सुजेय कुसेन ॥ १९ ॥
तथापि नियत परिस्थिति, में टिकही रह सर्व ।
भीष्म की रक्षा कीजिये, आप सभी सह गर्व ॥ २० ॥
सेना भाग अनुकुल ही, स्थान निजी से आप ।
सभी से रक्षा पा सकें, भीष्म सदा निष्पाप ॥ २१ ॥
बूढे कौरव सभी में, पिता प्रतापी भीष्म ।
शेर की न्यायीं गर्जकर, लगे बजाने भीष्म ॥ २२ ॥
भर आवेश में शङ्ख निज, पूर उसे सह रोष ।
दुर्योधन को हर्ष में, भरते बह सक्रोध ॥ २३ ॥
एक साथ तब बज उठे, तुरत अनेकों शङ्ख ।
नरसिंघे अरु ढोल सब, सभी नगारे मृदङ्ग ॥२४॥
शब्द हुआ उन सभी की, भयंकर सुमहान ।
युद्ध-सूचना सभीने, पा, लीं तान कमान ॥ २५ ॥
घोडे जुते सफेद जिस, रथ महान् को खींच ।
रहे, उसी में बैठकर, कृष्ण लगामें खींच ॥२६॥
लक्ष्मीपति भगवान् ही अर्जुन भी उन साथ ।
दिव्य शङ्ख लगे पूरने, स्वयं त्रिलोकी नाथ ॥२७॥

इन्द्रिय-ईश्वर कृष्णने, पांचजन्य शुभ शङ्ख।
धनविजयी नर पार्थने देवदत्त निज शङ्ख ॥ २८ ॥
व्याघ्रसमान था उदर जिस, का वह भयङ्कर भीम।
महा शङ्ख निज पौण्ड्र को, लगा पूरने भीम ॥२९॥
महाराज वह युधिष्ठिर, कुन्ति के सुत श्रेष्ठ।
सूचक विजय अनन्त का, शङ्ख पूरते श्रेष्ठ ॥ ३० ॥
नकुल तथा सहदेव ने, मणिपुष्पक शुभ घोष।
शङ्खोत्तम पूरे तभी, उच्चस्वरीय सरोष ॥ ३१ ॥
काशिराज शुभ धनुर्धर उत्तम रथी शिखण्ड।
परम विजेता सात्यकि, धृष्टद्युम्न स्वच्छन्द ॥ ३२ ॥
द्रुपदसुताके पुत्र सब, अभिमन्यु महावीर।
राजा द्रुपद विराट भी लगे पूरने धीर ॥ ३३ ॥
जुदा जुदा सभी शङ्ख निज, सभी ओर से सर्व।
हे राजन्! लगे पूरने, शङ्ख स्वकीय सगर्व ॥ ३४ ॥
उस महान् रणनादसे, गूंजे धरा आकाश।
धृतराष्ट्रके सुतोंके हृदय फटे सप्रकाश ॥ ३५ ॥
हनुमान के चित्रयुत झण्डेवाला वीर।
धृतराष्ट्रके सुतों को, युद्धसन्नद्ध अरु धीर ॥ ३६ ॥
देख, उठा तब धनुष निज, शस्त्रपतनसे पूर्व।
युद्धारम्भ से प्रथम ही, बोला वचन अपूर्व ॥ ३७ ॥
अर्जुन उन श्रीकृष्णसे, हे राजन्! यह बैन।

अर्जुन बोले—

हे अविनाशी ईश-वर! समझिये मेरी सैन ॥ ३८ ॥
सेना दोके बीच ही, खडा कीजिये आप।
ले जा करके रथ मेरा, हे अच्युत! स्वयम् आप ॥३९॥
निरखूं जिससे मैं इन्हें, युद्ध कामनाधार।
जो सम्मुख मेरे खडे, रणके लिये तय्यार ॥ ४० ॥
किन से करना पडेगा, मुझे युद्ध अतिघोर।
इस महान् सङ्ग्राममें हो कर के सुकठोर ॥ ४१ ॥
दुर्योधन दुःखदायिनी, बुद्धि जो रहा धार।
उसका जो प्रिय चाहते, करना युद्धप्रसार ॥ ४२ ॥
जो आये एकत्र ही, यहीं ये योद्धा लोग।
उनको करते युद्ध मैं, देख सकूं, उद्योग ॥ ४३ ॥

संजय बोले–

निद्रा-पति से यूं कहे, गये जब इन्द्रिय- ईश।
भरत-वंश- उत्पन्न हे! कौरव पृथिवि-ईश ॥४४॥

उत्तम रथ करके खडा, दोऊ सेना के बीच।
भीष्मद्रोण के सामने, सब भूपालन बीच ॥ ४५ ॥
बोले कृष्ण स्वभक्तसे, कुन्ती-सुत इन्हें देख।
कौरव हुए एकत्र जो, देख इनकी कर रेख ॥४६॥
अर्जुन ने देखे खडे, वहां पितामह तात्।
मामे अरु आचार्य भी, सुत, पोते अरु भ्रात ॥३७॥
देखे प्यारे मित्र भी, सखा सुहृद एकत्र।
ससुर जामाता सेन दो, में दिखे अत्र तत्र ॥४८॥
कुन्तिसुत सभी बन्धुओं, को ही खडा निहार।
उनको वह, अतिकृपा में, भर कर सारोपार ॥४९॥
हो उदास अति, वचन तब, बोला अर्जुन वीर।

अर्जुन बोले—

अपने ही सभी जनोंको, देख खडा अति धीर ॥५०॥
इन सब युद्धाकांक्षियों, को, दुखते सम गात।
मुख है मेरा सूखता, कांप रहे हे तात्! ॥५१॥
मेरे सकल शरीरके, अङ्ग और प्रत्यङ्ग।
ढलक रहे सभी गात्र मम, रोम रोम दुःखमङ्ग ॥५२॥
गाण्डीव भी हाथसे, धनुष रही मम छूट।
चमडी जल रही सर्वथा, देह रही ज्यूं टूट ॥५३॥
खड मैं तो सकता नहीं, मन मेरा रहा घूम।
चक्कर सा ज्यों आ रहा, नेत्रके सम्मुख घूम ॥५४॥
केशव! उलटे देखता, कारण शगुन ही सर्व।
कल्याण मुझे दिख न, कर हत्या सह गर्व ॥५५॥
युद्ध में अपने ही जनों, की, कब पाऊं चैन।
कृष्ण! न चाहूं जीत मैं, इक चाहूं अभी चैन ॥५६॥
न सुख चाहता राज्य न, करूं राज पा क्या?
भोग-सामग्रे क्या करूं, जीवन भी करूं क्या? ॥५७॥
हे गोविन्द! जब ये खडे, धन प्राण मोह त्याग।
युद्ध करन को जन वही, बन्धु मम महाभाग ॥५८॥
जिन के ही लिये चाहते, सुख, भोग अरु राज्य।
हम सिद्ध करना सर्वथा, भूमण्डल पर राज्य ॥५९॥
साले मामे ससुर अरु, दादे पोते पुत्र।
चाचे ताये गुरु भी, सगे सम्बन्धि सुमित्र ॥६०॥
चाहूं न इनको मारना, मिले त्रिलोकी राज।
पृथिवि कारण पुनः क्या, चाहे मिले स्वराज्य ॥६१॥
हे मधु-संहारक प्रभो! चाहे ये डालें मार।
मुझ को, तो भी मारूं नहीं, चाहे जाऊं मैं हार ॥६२॥

धृतराष्ट्र के पुत्रगण, को डालें हम मार।
फिर प्रसन्न कब हो सकें? पापी जन-संहार ॥ ६३ ॥
मार इन्हें हे जनार्दन ! लगे हमें ही पाप।
अत्याचारी यही सब, तब जाय बन निष्पाप ॥६४॥
धृतराष्ट्रके सुत सभी, अपने ही प्रिय भ्रात्।
उन को हम अतः मारने, योग्य नहीं हे तात् ॥६५॥
लक्ष्मीपति ! सुख पा सकें, हम कैसे कर नाश।
अपने ही निजी बांधवों, का सर्वस्वी विनाश ॥६६॥
कुलहत्या का दोष अरु, मित्रवैर का पाप।
यद्यपि यह नहीं देखते, नष्टचित्त महापाप ॥६७॥
वशमें हुए अति लोभके; पर हम रहे निहार।
कुलहत्याके दोष को, फिर भी न जानें सार ॥ ६८ ॥
क्यों हम हटने के लिए, इसी पाप से दूर।
दुर्जन-पीडक हे प्रभो! कुलनाश से दूर ॥६९॥
कुलनाश से नष्ट हो, जाते सकल कुलधर्म।
सभी पुराने, तब दबा, देता कुलको अधर्म ॥७०॥
धर्मनाश से सर्व कुल, जब करने लगे पाप।
तब कुल की कई देवियें; हों दूषित् महापाप ॥७१॥
दुष्ट हुईं उन देवियों, से होवें उत्पन्न।
वृष्णिवंशज कृष्ण हे ! गडबड जात्युत्पन्न ॥७२॥
गडवडसे पायें नरकही, कुलघाती कुलसाथ।
पितर् भी नीचे जायं गिर. मिले न जब जलपाथ॥७३॥
अन्न अरु जल संबधिनी, उनकी करे क्रिया कौन। ?
पुत्र ही जब उनका नहीं, पूछे तब उन्हें कौन ? ॥७४॥
कुलघाती इन्हीं दोष से गडबडकारक जौन।
जायं उखड कुलधर्म सत् जातिधर्म छिपे मौन ॥७५॥
गडबड जात उत्पन्न अरु, कुलहत्या करे हीन।
मनुजजातिके धर्म शुभ, वंशधर्म प्राचीन ॥ ७६ ॥
उखड गये कुलधर्म जिन. मनुजों के हे कृष्ण।
रहें नरक में सदा वे, हम यही सुनते कृष्ण ! ॥७७॥
हा ! हा ! ऐसा पाप हम, करने को तय्यार।
हो गये हत्या घोर निज, ही जनकी विस्तार ॥७८॥
जो सुख राजके लोभ में, फंस मारें निजी मित्र।
तत्पर हत्यापर हुए, करने दुःखी कलत्र ॥७९॥
हाथ में ले यदि शस्त्र वे, धृतराष्ट्र के वीर।
मारें निहत्थे मुझी को, दुर्योधन के वीर ॥८०॥
युद्धमें मैं बतला न लूं, पुनः न सम्मुख हूं।
तब मेरा कल्याण हो, मैं अतीव सुखी हूं ॥८१॥
युद्धमें ऐसा वाक्य, रथ के पिछले भाग।
में अर्जुन गया बैठ तब, धनुष तीर सब त्याग ॥८२॥
व्याकुल मन था शोकसे, अर्जुन का अति खिन्न।
उदासीन सङ्ग्राम से, वीर प्रकृतिसे भिन्न ॥ ८३ ॥

गीताविषयक नवीन विचार।

प्रथम अध्याय।

धृतराष्ट्रमहाराज की इच्छा युद्ध देखने की थी। व्यास भगवान्ने कहा कि, मैं आपको दिव्य दृष्टि दें सकता हूं, जिससे आप सब कुछ देख सकोगे, तब उन्होंने सोचा कि अपने ही वंश का नाश मैं अपनी ही आंखों से कैसे देख सकूंगा। अतः परस्पर सलाहसे दिव्य दृष्टि संजय को दिलवायी और उसके बल से युद्ध में जहां जो कुछ होता था सञ्जय उस को देखता था और सारा वृत्तान्त वह देखता हुआ धृतराष्ट्रको सुनाता जाता था। इस प्रकार युद्धसे महाराज धृतराष्ट्र पूरे परिचित् भी रह रहे थे और अपने वंश का नाश उन्हें अपनी आंखों देखना भी न पडा।

इसी कारण गीता के आरंभ के श्लोक में धृतराष्ट्र सञ्जयसे यही पूछते हैं कि, हे बुद्धिमान् ! आप मुझे बताईये कि जब मेरे पुत्र और भाई पाण्डु के पुत्र युद्ध करनेकी इच्छा से पुराय भूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए तो उन्होंने क्या क्या कारनामे किये ?

सञ्जय बोले—

उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह में खडी देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य के समीप जाकर

कहने लगा कि हे गुरु ! चाचा पाण्डु के पुत्रों की इस बडी सेना को देखिये। आप के बुद्धिमान शिष्य, आप के शत्रु द्रुपद के पुत्रने आप के भेदों को जानते हुए इस सेना को इस व्यूह विशेष में खडा किया है।

भीम अर्जुन जैसे बडे बडे धनुर्धारी वीर इस युद्धमें लडने के लिये उन की सेनामें उपस्थित हैं, सात्यकी, विराट् और महारथी द्रुपदभी इन्हीं की ओरसे लडेंगे। धृष्टकेतुः, चेकितन, पराक्रमी तथा साहसी काशीनरेश भी उन्हीं में हैं। पुरुजित्, कुंतिभोज और नरश्रेष्ठ शैव्य भी उसी ओर हैं। विशेष युद्ध-चालोंसे परिचित युधामन्युः, वीर्यबल-सम्पन्न उत्तमौजाः, सुभद्रातनय तथा द्रौपदीके सभी पुत्र ये सभी एक से एक बढकर हमारे कट्टर शत्रु बडे बडे सङ्ग्राम-रथों के साथ उस ओर हैं। और हमारी ओर के जो बडे बडे योद्धा हैं उन को भी जान लीजिये। हे द्विजप्रवर! आप उन के नाम जान जाय इस लिये मैं आप को उन के विषय में बतलाता हूं। मेरी सेना तथा तद्विभागों के सञ्चालक वही सब हैं। सब से प्रथम उन में से आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं और सेनाविजयी कृपाचार्य हैं। अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भी बडे युद्धनिपुण हैं। और भी बहुत से शूरवीर मेरे लिये प्राणतक देने को उद्यत हुए हमारी सेना में विद्यमान हैं वे भिन्न भिन्न अस्त्र-शस्त्र फैंकने तथा चलाने में प्रवीण हैं और वे सभी युद्धविद्या के पूरे पण्डित हैं।

पर एक बात है। यद्यपि भीष्म हमारी सेना की रक्षा कर रहे हैं और सेना भी हमारी विशाल है, असीम है. अजेय है और इस पाण्डवों की हमारी अपेक्षा बहुत थोडी और है भी दुर्बल, क्योंकि इस के रक्षक भीम हमारे रक्षक भीष्म के सामने कुछ भी नहीं, परन्तु फिर भी हमें सावधान रहना ही उचित है। इसलिये आप सब महाभाग भीष्म की रक्षा सभी ओर से पूरे ध्यान से कीजिये, अपने अपने स्थानपर सभी सर्वथा नियत रहते हुए सेना के सम्पूर्ण भाग प्रतिविभागों की रक्षा करते हुए अपने सेनापति भीष्म का बाल भी बांका होने न दीजिये।

इतने में ही दुर्योधनादि के दादा बूढे कौरव भीष्मने शेर की न्याईं चिंघाड मारकर, खूब ऊंचे गर्जकर अपना शङ्ख पूर दिया। उस महाप्रतापी बूढे ब्रह्मचारी की इस गर्ज से दुर्योधन का हृदय हर्ष से एकदम प्रफुल्लित हो उठा। बस फिर क्या था सेना में सभी ओर शङ्ख ढोल नगारे नरसिंघे तुरयां आदि रणवाद्य सभी ओर एकदम ही बज उठे और बडा ही घोर प्रलयकारी नाद हुआ।

तब लक्ष्मीपति भगवान्ने और पाण्डुसुत भक्तने भी अपने अलौकिक शङ्ख बजा ही दिये यद्यपि वे शांतिके सूचक श्वेताश्वयुक्त रथ में बैठे थे। रथ तो अवश्य बडा था, महारथ था, पर था शांतिसूचकही, इस लिए भीष्मके शङ्ख बजने पर ही विवश हुई इन सौम्यमूर्तियों को भी शङ्ख पूरने ही पडे।

इन्द्रियपति कृष्णने तो अपना पांचों प्रकारके मनुष्योंको जीत सकनेवाला शङ्ख पूरा और संग्रामविजयी अर्जुनने देवताओंसे प्राप्त अपना शंख बजाया, भेडियें सदृश पेटवाले भयंकर कर्मकर्ता भीमने अपना पौण्ड्रनामक बडा शङ्ख बजा दिया। कुंतीसुतप्रवर युधिष्ठिरमहाराजने सर्वत्र विजयका सूचक अपना शंख पूर ही दिया। नकुल सहदेवने भी अपने अपने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये। अन्य योद्धागण भी अपने अपने शंख बजाने लगे। धनुर्धारियों में श्रेष्ठ काशीनरेश, महारथी शिखण्डी (जो ओषध आदि द्वारा स्त्रीरूपसे पुरुषाकार बना लिया गया था), धृष्टद्युम्न, विराट् और अजेय सात्यकी। हे क्षितीश! द्रौपदी के पिता तथा पुत्र सभी ने और सुभद्रातनय दीर्घभुज अभिमन्यु बालने भी अपने अपने शंख रोष में आवेश में पूरे जोशमें भरकर ऊंचे स्वरसे खूब गुंजाये।

फिर तो उस घोर नादसे दुर्योधनादि के हृदय फटने लगे। धृतराष्ट्र की दुर्बलसन्तान मौत सामने खडी देख बहुत घबराई, वह शब्द भी कैसा भयंकर था कि धरा-आकाश गूंज उठे और बहुत ही ऊंची तथा भयंकर गूंज त्रिलोकी में व्याप गई।

परंतु उधर तो विचित्र ही घटना घटी। हनुमान के चित्रयुक्त पताकावाला पाण्डुपुत्र धृतराष्ट्र के पुत्रोंको सेनामें खडे देखकर अपना गाण्डीव धनुष उठाकर ठीक जब सभी ओर से शस्त्र चलने ही को थे उसी समय हे राजन्! अर्जुनने यह वचन भगवान् कृष्णसे कहे कि—

हे कभी उच्च स्थितिसे नीचे न उतरनेवाले! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीचमें तनिक ले चलिए कि मैं देख तो लूं कि इस घोर युद्धकी तैय्यारी में किनके साथ मुझे युद्ध करना होगा, कौन कौन से युद्धके इच्छुक यहां मैदान में आकर जुटे हैं। जो ये सब यहां इस इच्छासे एकत्र हुए हैं कि दुःखदायिनी बुद्धिसे युक्त राज दबानेवालेके पुत्रके मनको प्रिय लगनेवाला कार्य हम करेंगे उन सबको युद्ध करके उस की कामना सफल करते, मैं भी तो तनिक निहार सकूं।

संजय बोले कि- हे भरतवंशज। जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा कहा तो, भीष्मद्रोणके सामने, सभी राजाओंके बीचमें, दोनों सेनाओं के ठीक मध्य में, उत्तम रथको ले जाकर खडा करके श्रीकृष्ण बोले कि, 'हे विशालहृदयवाली कुंतीमाता के वीरपुत्र! देख ये कौरव तेरे विरुद्ध कैसे टिड्डीदल की न्यायीं इकट्ठे हुए हैं।'

परंतु अर्जुनको तो वहां दोनोंही सेनाओं में सगे सम्बन्धि ही दिखाई पडे। उसने तो वहां पितातुल्य, पितामह जन, गुरु, मामे, आई, बेटे, पोते, सखा, मित्र, साले, ससुर ही सभी ओर खडे देखे। उन सभी बन्धुओं को ही खडे देख वह कुंतीपुत्र अत्यंत दयार्द्र हो गया और दुःखी होकर बोला कि- " हे कृष्ण! इन अपने ही भाईबंधुओं को लडनेकी इच्छासे यहां डटे देखकर तो मेरा शरीर ही कांप रहा है रोम रोम में बिजली दौड रही है, झरन झरन हो रही है, मुंह सूख रहा है, अंग ढीले पड रहे हैं और थके हुए दुःख रहे हैं, चमडी मेरी जलती सी है, मस्तिष्क घूमसा रहा हैं, गांडीव धनुष हाथसे फिसल रहा है और मैं तो खडा भी नहीं हो सकता। सर्वथा मुझे शगुन उलटे ही दीखते हैं; सब साधन विपरीत ही भास रहे हैं हे अपने ही आनन्द में मस्त सोनेवाले भगवान्! मुझे तो अपने ही बंधुओं को युद्धद्वारा नष्ट करनेमें कोई कल्याण दिखाई नहीं पडता। ऐसी दशामें तो हे कृष्ण! मुझे जीत, राज, सुख, किसी की भी चाह नहीं हैं। हे समग्र पृथिवी को प्राप्त महाराज! हम राज, ऐश्वर्य से क्या करेंगे, हमें जीनेसे भी क्या लाभ होगा जब कि वही बन्धु बांधव जिनके साथ ही सब कुछ भोगा जाता है, राजसुख ऐश्वर्य की कामना जिन्हीं को प्रसन्न करनेके निमित्त धारण की जाती है वही स्वजन यहां युद्ध में आ खडे हैं और अपने जीवन, धन, प्राण मानों सभी कुछ से हाथ धो आए हैं। मामे, ससुर, साले, दादे, पोते, पिता, पुत्र, गुरु और अन्य सभी संबंधि भी। इन को तो मारना मैं सर्वथा नहीं चाहता, भले ही ये मुझे मार दें।

हे मधुदैत्यसंहारक! मैं त्रिलोकी का राज पाने के लिये भी ऐसा करना नहीं चाहता, अकेली पृथिवी के राज्य के लिये तो कहना ही क्या है? साथ ही यह भी बात है कि इन अत्याचारियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा। हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र के कायर पुत्रों को मारकर हमें प्रसन्नता क्या हो सकती है। इस लिये हमें यह शोभा नहीं देता कि हम अपने ही भाई और वह भी धृतराष्ट्रसुतों के समान कायरों को मार मुकावें। हे माधव! हम अपने ही निजी जनों को मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं। इन का ज्ञान तो इस समय राज्यलोभ की आशासे नष्ट हो चुका है, इसलिये इन्हें वह दोष दीख नहीं रहा, जो कुलनाश-कर्ताओं में होता है और न ही वह उस पाप को देखते हैं जो अपने स्नेही जनों से वैर करनेवाले को लगता है। यद्यपि इन की यह अवस्था है पर हमें तो सब कुछ भले प्रकार दीख रहा है। हमें तो कुलनाश होनेसे जो दोष उपजते हैं उन को विचारना चाहिये ताकि हम इस पापसे छूट सकें। आप बताईये कि हम इस ज्ञानको क्यों ध्यान में न रखें और क्यों इस अनर्थ से सभीको न बचावें?

देखिये! यदि कोई कुल नष्ट हो जावे तो साथ

ही उसके, उस वंशके प्राचीन सत्य सनातन शुभ धर्म-कर्म भी उड जाते हैं। इस प्रकार कुलधर्म-कर्म का ह्रास होनेसे सम्पूर्ण कुल अधर्म-तले दब जाता है, अधर्म से कुल के दब जानेपर हे कृष्ण! कुल-देवियें पतिव्रता नहीं रहतीं, विवर्ण कुवर्ण पुरुष के सङ्ग से दूषित हो जाती हैं। हे वृष्णिवंश के वीर! स्त्रियों में व्यभिचार फैलने से गडबड वर्ण उन के जन्मते हैं। बस गडबड वर्ण तो कुलहत्यारों तथा कुल दोनों को नरक में पहुंचाने का ही साधन बनता है। इन गडबडों के कुलहत्यारे पितर उच्च गति नहीं पा सकते, अधोगति ही पाते हैं। क्योंकि औरस पुत्र तो उन के अपने होते ही नहीं उन को अन्न-पानी कौन दे? उन के निमित्त शुभ भावना उत्तम क्रिया कौन करे? उन पितरोंने तो नरक ही भोगना ठहरा (यहां प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पुत्रहीनों को बुढापा नरक बन जाता है फिर उन्हें उच्च गति प्राप्त नहीं होगी, यह कहने में सन्देह ही क्या हो सकता है)।

परिणाम यह निकलता है कि वास्तव में कुल-घातियों के ही इन पापों के कारण, जिन से कि गडबड जात जन्मते हैं, उन्हीं पापों के कारण सनातन वंश-धर्म नाश होते होते अन्त में मनुष्यों की बडी बडी जातियों में से ही सभ्यता जैसा जाति-धर्म उड जाता है और देशों के देश जो कभी सभ्य सुशिक्षित थे निरे जङ्गली असभ्य बन जाते हैं।

"हे जनार्दन! जिन मनुष्यों का वंश-धर्म उखड गया उन का तो फिर अनन्त कालतक नरक में ही वास रहता है ऐसाही हमने तो सुन रक्खा है कि वंशपरम्परा में पापबीज बो हो जाने से सदा को नरकरूप ही वह वंश बन जाता है।

ओहो! कितना बडा महापाप हम करने का तैय्यार हो गये हैं कि राज्यप्राप्ति से मिलनेवाले सुख के लालच में फंस अपने ही लोगों को मारनेपर उतारू हो गये हैं।

बस महाराज! मेरे लिये तो सब से अच्छा यही होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र मुझे सङ्ग्राम में मार डालें, अपने हाथ में तलवारें लेकर मुझे काट डालें और मैं न शस्त्र ही उन के विरुद्ध उठाऊं या चलाऊं और नहीं किसी और प्रकार से उन से बदला लेने का यत्न करूं।"

सञ्जय बोले कि- युद्ध समय ऐसे वचन कह-कर अर्जुन रथ के पिछले भाग में जा बैठा तीरकमान उसने गिरा दिया, मन उस का दुःख-शोक से बहुत व्याकुल अतीव खिन्न, सर्वथा उदास हो गया था।

श्रीमद्भगवद्गीता।

द्वितीय अध्याय।

सञ्जय बोले-

आवेश में अति कृपा, के था अर्जुन वीर।
दृग् व्याकुल थे शोक से, भर रहा उन में नीर॥ १॥

उदासीन उसे देख यूं, तब बोले भगवान्।
गीतामय शुभ वाक्य यह, अमृतरसप्रधान॥ २॥

मधुसूदन कहने लगे, कठिन समय हे वीर।
कैसे आया सामने, करने तुम्हें अधीर॥ ३॥

गन्दा भाव यह सर्वथा, अपयश करे प्रसार।
जिसे अनाडी सेवकर, पायें न स्वर्गद्वार॥ ४॥

पार्थ नपुंसक मत बनो, नहीं तुम्हारे योग्य।
दुर्बलता यह हृदय की, तुच्छपना वैकल्य॥ ५॥

त्याग इसे उठो वीरवर, परम तपस्वी शूर।
तुम हो विजेता रणों के, सङ्ग्रामजित् क्रूर॥ ६॥

अर्जुन बोले- युद्धमें, कैसे करूं संहार।
भीष्म अरु द्रोणाचार्य का, पाते रहे सत्कार॥ ७॥

जो तो मुझ से सदाही, फैंकूं उनपर तीर।
अरु उन का करूं सामना, मैं होकर गम्भीर॥ ८॥

हे पीडक सभी बैरियों के, हे कृष्ण मुरार।
मधुनामक उस दैत्य के, संहारक हर्तार॥ ९॥

इस दुनियांमें श्रेष्ठ है, खाना भिक्षा-अन्न।
महानुभावों गुरुजनों, से जो प्राप्त स्वन्न॥ १०॥

उनकी हत्या किए बिन, कष्ट न उन को दे।
अन्न जो होवे प्राप्त शुभ, सज्जन उसे ही ले॥११॥

रुधिर सने तब भोग मैं, ऐश्वर्य धन रूप।
गुरुओं को मिले मारकर, भोगूं यहां दुःखरूप?॥१२॥

विजय जो मेरी चाहते, कहें पाओ कामार्थ।
ऐसे गुरुओं के लहू, से जो सने पदार्थ॥ १३॥

मैं भोगूंगा नहीं वह, कहां पाऊं विश्राम।
उनके पीकर रुधिर को, मिलेगा क्या आराम॥१४॥

यह भी हम नहीं जानते, जीत है किसकी श्रेष्ठ।
उनकी अथवा हमारी, हार सर्वथा श्रेष्ठ॥१५॥

धृतराष्ट्र के सुत वही, सम्मु खडे हमार।
मार जिन्हें जीना हमें, भी दीखें गुरु भार॥ १६॥

सङ्कोच अरु दीनता, पाप से दबा स्वभाव।
मोहग्रसा चित्त सर्वथा, बूझे धर्म न भाव॥ १७॥

आप से पूछूं शिष्य बन, शिक्षा मोहे प्रदान।
शरण में आया आपकी, करिये मेरा कल्याण॥ १८॥

उत्तम निश्चित् आपका, परम गुप्त जो ज्ञान।
कहिये वही मुझे देववर! ब्रह्मज्ञान दो दान॥ १९॥

मुझे नहीं कुछ दीखता, शत्रुरहित् भी राज्य।
भरा पूरा इस भूमिका, देवों पर भी राज्य॥ २०॥

पाकर जो सके दूरकर, दुःखप्रद वह मम शोक।
सुखा रहा मेरी इन्द्रियों, की शक्ति भी जो शोक॥२१॥

सञ्जय बोले-

यूं कह इन्द्रिय-पतिको, निद्रापति वह वीर।
परम तपस्वी शूरवीर, जो था हुआ अधीर॥ २२॥

फिर कह यूं गोविन्द को, "करूंगा मैं नहीं युद्ध"।
चुप ही इकदम हो गया, करने उसे प्रबुद्ध॥ २३॥

हंसते से तब कृष्णजी, हे भारतसन्तान!।
शोकातुर उस वीरको, वह देने लगे ज्ञान॥ २४॥

दो सेना के मध्य में, बोले उसे भगवान्।
ऐसा उत्तम वचन यह, आनन्दक सुमहान्॥ २५॥

श्रीभगवान् बोले—

शोक न जिनका चाहिए, करे तू उनका शोक ।
पण्डिताई की बात पुनः कहता रोक बे टोक ॥ २६ ॥
क्या तू यह नहीं जानता, पण्डित करें न शोक ।
जीवित् अथवा मृतकके, विषय रहें वे अशोक ॥२७॥
यह राजे तू और मैं, पूर्व न थे यह नांह ।
आगे हम होंगे नहीं, ऐसा भी पुनः नांह ॥ २८ ॥
यहांसे आगे भी सभी, रहेंगे हम विद्यमान् ।
यहांसे पहिले भी तथा, थे जैसे सुमहान् ॥ २९ ॥
देहधारी की देह इस. में बचपन ज्यों आय ।
आय जवानी बुढापा, त्यों ही मृत्यु आय ॥ ३० ॥
तब देह मिल जाय और फिर, मोह में पडे न धीर।
बुद्धिमान् अतः मरेके, शोक में हो न अधीर ॥ ३१ ॥
भौतिक मात्रा सङ्ग से, गरमी सरदी हो ।
हे अर्जुन ! सुखदुःख भी, उत्पन्न इसीसे हो ॥ ३२ ॥
सङ्ग वह जावे जुड कभी, जाय पुनः कभी टूट ।
सदा नहीं वह रह सके, इकरस और अटूट ॥३३॥
अतः सहारिये ही उन्हें, भरतवंश-अवतंस ।
दुःखी जो इनसे हो नहीं, तार जाये निज वंश ॥३४॥
पुरुषश्रेष्ठ ! वही पुरुष जो, दुःख-सुख में इकसार ।
रहे धैर्य से युक्त ही, पाय ब्रह्मसुखसार ॥ ३५॥
वही पा सके मोक्ष शुभ, अमरपनेके योग्य ।
वही सिद्ध हो भी सके, पा सके अमृत भोग्य ॥ ३६ ॥
जो है वह नहीं होगा न, जो नहीं वह नहीं होय ।
वास्तवदर्शी जनों ने, देखा सत्य ही सोय ॥ ३७ ॥
इन दो विषयोंका लिया, उन्होंने तत्त्व-विचार ।
था यथार्थ जो सत्य शुभ, उनने लिया निहार ॥ ३८ ॥
विस्तारा संसार यह, सब, जिसने उसे जान ।
नाशरहित् ही सर्वथा, उसे सदा पहिचान ॥ ३९ ॥
उस अविनाशीका कोई, कर न सके कभी नाश ।
नाशवान् कहे देह यह, देही का नहीं नाश ॥ ४० ॥
जिसकी न उपमा हो सके, आत्मा वही सुनित्य ।
इसलिए अर्जुन युद्ध कर, तू तो नहीं अनित्य ॥ ४१ ॥
हत्यारा जाने इसे, जन वह निपट अनजान ।
माने मारा गया यह, सो कोरा अनजान ॥ ४२ ॥
दोनोंको विज्ञान न, आत्मा-विषय सुसत्य ।
मारा यह जाता नहीं, मारे भी न, है नित्य ॥ ४३ ॥

जन्म न लेता आत्मा, मरता भी कभी न ।
होकर फिर होगा नहीं, आत्मा-विषय यूं न ॥ ४४ ॥
मारे जाते देह में, मारा जाय न यह ।
नित्य सनातन अजन्मा, सबसे पुराना यह ॥ ४५ ॥
नाशरहित् इस सत्यको, अमर अजन्मा जान ।
लेवे पुरुष जो सर्वथा, कैसे लेवे प्राण ॥ ४६ ॥
किसके, मरवावे किसे, कैसे वह अर्जुन वीर ! ।
मरती ही न जब आत्मा, फिर तुम क्यों हो अधीर ॥४७॥
वस्त्र पुराने उतार ज्यों, करे नये नर ग्रहण ।
दूजे, त्यों यही आत्मा, देह करे नव ग्रहण ॥ ४८ ॥
त्यजकर वृद्ध शरीरको, बनकर शिशु नव-जात ।
अन्य नवीन ही रूपको, हो आत्मा सुप्राप्त ॥ ४९ ॥
काट सकें इसे शस्त्र न, इसे जलाये न अग्न ।
और भिगोयें न जल इसे, सुखा सके नहीं पवन ॥५०॥
कटे नहीं यह जले न, सुखे न भीगा हो ।
डिगे नहीं टिक रहे ही, सर्वत्र सम हो ॥ ५१ ॥
शाश्वत व्यापक सर्वतः, रहित् विकार सुसत्य ।
चित्त से सोचा जाय न, अति सूक्ष्म अव्यक्त । ५२ ॥
इन्द्रिय-गणका विषय न, कहा इन्द्रियातीत ।
सदा रहे इक ही दशा, मैं, है अटूट अखूट ॥ ५३ ॥
इस लिए ऐसा जान तू, आत्मा को त्यज शोक ।
नहीं योग्य तेरे लिए, इस विषय करना शोक ॥ ५४ ॥
पर इस विध नहीं मानकर, यदि अनित्य ही मान ।
मरता जन्मता ही सदा, रहा इसे पहिचान ॥ ५५ ॥
तो भी इस विध चाहिए, न करना विरलाप ।
बडी भुजाओंसे युक्त हे, अर्जुन ! तू निष्पाप ॥ ५६ ॥
जन्मा है सो मरेगा, मरा सो पावे जन्म ।
घटना यह अनिवार्य्य ही, अटल मरण अरु जन्म ॥५७॥
अतः शोक तुझे योग्य न, कर तू और विचार ।
प्राणि-जन्म अव्यक्त से, व्यक्तरूप रहे धार ॥५८॥
मध्य में ही, फिर अन्त में, अव्यक्त सुप्रविष्ट ।
हो रहे सारे भूत ही, त्यजकर इष्ट-अनिष्ट ॥ ५९ ॥
वहां करे कोई शोक क्या, सभी का जब यही हाल ।
आगे पीछे अप्रकट सब, मध्य प्रकट जञ्जाल ॥६०॥
विस्मित् हो कोई देखता, आत्मिक दृश्य अनन्त ।
विस्मित् हो वर्णन् करे, आत्मको दूजा सन्त ॥ ६१ ॥

चकित हुआ सुने शिष्यवर, नचिकेता कोई धीर।
सुनकर भी कोई जान न, सके जो शिष्य अधीर ॥६२॥
मारा आत्मा जाय न, सर्व देह गत नित्य।
है यह, वंशज भरतके! आत्म-तत्त्व सत् नित्य ॥६३॥
अतः सभी प्राणी विषय, शोक उचित तो है न।
प्राणी आत्मा सत्य है, देह नित्य कभूं न ॥ ६४॥
पुनः देख निज धर्मको, भी नहीं तेरे योग्य।
घबराना अरु कांपना, युद्ध तो तेरा भोग्य ॥ ६५॥
योद्धा को कल्याणकर, और न ऐसा होय।
धर्मयुद्ध जो धर्मके, पक्षमें लडना होय ॥ ६६ ॥
अपने आप ही हो गया, अर्जुन तुझे यह प्राप्त।
खुला द्वार शुभ स्वर्गका, बडे भाग्य से प्राप्त ॥६७॥
सुख मिलना हो जिन्हीं को, वे पायं ऐसा युद्ध।
योद्धा वीर ही भाग्यसे, करें धर्म का युद्ध ॥ ६८ ॥
पर तू यह नहीं करेगा, यदि धर्मसंग्राम।
खोयगा तब निज धर्म अरु, यश खो पाप-ग्राम ॥६९॥
में ही फिर तो बसेगा, अपयश गावें लोग।
सदाही निंदा कर तेरी, तुझे दुःखावें लोग ॥ ७० ॥
तुझ जैसे सुयशस्विके, लिए दुःखद सुमहान्।
मरनेसे भी अधिक हो, अपयश कष्ट का स्थान ॥७१॥
महारथी मानें तुझे, युद्धसे भागा वीर।
डरकर कायरता विषय, होकर अती अधीर ॥ ७२ ॥
इस विध पहिले तुझे जो, मानें थे बडा वीर।
दृग् उनकी में पाओगे, लुटपन कैसे सुधीर ॥ ७३ ॥
न कहनेके योग्य ही, फैलायें अपवाद।
शत्रु तेरे बहुविध तभी, कहें वचन घृणावाद ॥ ७४ ॥
शत्रु तेरे को निंदते, उससे बडा दुःख कौन।
हो सकता अर्जुन! तुम्हें, दुःखसे होओगे मौन ॥७५॥
पर निश्चय कर युद्धके, लिए उठो यदि वीर।
हे कुंतिसुत वीरवर, हे अर्जुन धृतिधीर ॥ ७६ ॥
तब मर जाओगे यदी, पाओगे स्वर्ग सुसार।
जीत गए तो भूमिको, भोगिये राज्य-प्रसार ॥ ७७ ॥
हानि लाभ दुःख और सुख, जीतहार इक मान।
जुट जा तू अभी युद्धमें, पाप लगे न हो हान ॥ ७८ ॥
सांख्य ज्ञान तुम्हें यूं कहा, योग ज्ञान यह सुन।
युक्त हुआ जिस ज्ञानसे, तोडेगा अर्जुन! ॥ ७९ ॥
पूर्णतया सभी फाहियां, कर्मके कारण जौन।
जकड रहीं हैं मनुज को, फंसा रहीं उसे जौन ॥ ८० ॥
कर्मयोग इस धर्मका, अत्यल्प अनुष्ठान।
भी है बचाता कदाचित्, भयसे भी सुमहान् ॥ ८१ ॥
आरंभ का यहां नाश न, पश्चात्ताप भी न।
चाहे जहां आरंभ कर, पछताओ कभी न ॥ ८२ ॥
कौरववंशप्रसन्नकर! निश्चित् भावना एक।
ही है इस संसार में, कर्म-योग ही एक ॥ ८३ ॥
निश्चय जो कर सकें न, उन के भाव अनेक।
हैं अनन्त बहुविध पुनः, शाखा जिन की अनेक ॥८४॥
जन अज्ञानी बोलते, फूली फली जो यह वाक्।
वेदमंत्र-विषय-वादमें, उलझ रहे सुखभाक् ॥ ८५ ॥
इच्छामय ही हो रहे, स्वर्ग को जानें परम।
कहें न इससे परे कुछ, सम्भव है, अर्जुन! ॥ ८६ ॥
उत्तम भोग-ऐश्वर्य शुभ, की सुप्राप्ति-निमित्त।
यज्ञ श्रेष्ठतमकर्म बहु, करके स्वर्ग-निमित्त ॥ ८७ ॥
पाकर उत्तम फल पुनः, के रूप में जन्म।
दिव्य स्वर्गमय लोक में, जाओगे अर्जुन! ॥ ८८ ॥
इस वाणीने चित्त जिन, का है लिया चुराय।
उलझ रहे ऐश्वर्य में, मन लिया भोग चुराय ॥ ८९ ॥
निश्चय वे कर सकें न, टिका सकें नहीं ज्ञान।
कर्मयोग अतः सकें वे, पाल न वश अज्ञान ॥ ९० ॥
प्रकृतिके गुण तीन के, बने हुए सुपदार्थ।
वेदमंत्रका विषय है, त्यज ये सकल पदार्थ ॥ ९१ ॥
हे अर्जुन! तूं प्राप्ति अरु, रक्षा इन की छोड।
जोडों से जा छूट ही, गुणों से मुखडा मोड ॥ ९२ ॥
टिका सदा रह आत्म में, अन्तःकरण टिकाय।
इकरस ही रह सर्वथा, आत्मा सदा जगाय ॥ ९३ ॥
उछल रहे सभी ओर से, जलाशय जलपूर्ण।
से जितना तात्पर्य है, उतना ज्ञान सुपूर्ण ॥ ९४ ॥
वेद सभी से प्रयोजन, विज्ञानी को हो।
ब्राह्मणवर किसी विप्रको, हो ब्रह्मज्ञानी जो ॥ ९५ ॥
अतः उलझ फल में कभी, न स्वर्गादि जौन।
तेरे वंश में कर्म ही है, फल की कहे कौन ॥ ९६ ॥
कारण फल को बना कभी, कर्म न कर अतः तू।
त्याग भी न कर कर्म का, फंस अकर्म में न तू ॥९७॥
कर्मयोग में टिक सदा, फंसे विनाकर कर्म।

सम रह सिद्धिः असिद्धि में, कहा योग समधर्म ॥९८॥
धनविजयी हे वीरवर !, समता ही कहा योग।
इकरस हानि लाभ में, ही रहना है योग ॥ ९९ ॥
निचला है अति दूर है, बुद्धियोग से कर्म।
कर्मयोग अति श्रेष्ठ है, तुच्छ सकाम हैं कर्म ॥१००॥
अतः शरण गह योग की, कञ्जूस वही लोग।
फल को कारण बना जो, करें कृपण वही लोग ॥१०१॥
योगी तो यहीं छोड दे, सुकर्म अरु दुष्कर्म।
जुट जा इस लिये योग में, योग ही परम सुधर्म ॥१०२
चतुराई ही योग है, कर्म-निपुणता योग।
इकरस रहना योग है, समता ही है योग ॥ १०३ ॥

बुद्धिमान जन मनस्वी, कर्म से उत्पन्न त्याग।
फल अच्छे वा बुरे को, हुए रहित् अनुराग ॥१०४॥
रोगरहित् पद जांय पा, निर्मल अमर पवित्र।
बन्धन से छुटे जन्म के, सर्वथा ही सुपवित्र ॥१०५॥
मोह दलदल जञ्जाल से, बुद्धि तेरी हे वीर !।
जब हो जायगी सर्वथा, पार, हे अर्जुनधीर ! ॥ १०६

तब ही तू पा जायगा, सुने हुए का भेद।
सुनने योग्य का भी पुनः, जाने तत्त्व सभेद ॥ १०७ ॥
तभी तुझे वैराग्य हो, जायगा स्वतः सुप्राप्त।
संसार के सब विषय, से, निष्काम्य सुप्राप्त ॥ १०८ ॥
वेद-मन्त्र और अर्थ से, विचलित् बुद्धि तुम्हार।
सुनी सुनाई बात से, घबराई बहुबार ॥ १०९ ॥

जब निश्चल टिक जायगी, वृत्तिशून्य इक तार !
रुकी हुई सभी ओर से, ब्रह्मलीन शुभसार ॥ ११० ॥
बुद्धि न फिर चले वहां से, तब पायेगा योग।
परमात्मा से मेल का, लेगा आनन्दभोग ॥ १११ ॥

अर्जुन पूछने लगे—

जिस की समाधि लग रही, लक्षण उस के कौन ?।
प्रज्ञा जिस की स्थिर हुई, कृष्ण बताओ वह कौन ?
॥ ११२ ॥
स्थिर धीः कैसे बोलता ? बतलाईये मोहें आप।
कैसे उठता बैठता ? कैसे चले निष्पाप ? ॥ ११३ ॥

श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

मन में उठी सभी कामना, अर्जुन जब दे त्याग।
अपने आप रमा रहे, स्थिरबुद्धिः महाभाग ॥ ११४ ॥

कहा जाय स्थितप्रज्ञ वह, स्थित धीः मुनि गुणवान् !
काम क्रोध डर त्याग जो, रहे सदा धृतिमान् ॥ ११५ ॥
मन व्याकुल नहीं वह करे, दुःख में न होवे अधीर।
सुख की चाह रक्खे नहीं, उलझे न उनमें वीर ॥११६

चिकना हो नहीं कहीं जो, कर शुभ अशुभ प्राप्त।
हो प्रसन्न नहीं रुष्ट हो, बुद्धि उसे स्थिर प्राप्त ॥११७॥
कछुआ ज्यों सभी ओर से, ले सुकेड निज अंग।
इन्द्रिय त्यों जिस हटा लीं, विषयोंसे, वह असंग ॥११८

बुद्धि प्रतिष्ठित् उसी की, उस से विषय जांय छूट।
विषयभोग न जो आत्मा, करे, रहे वह अखूट ॥११९
राग न पहिले छूटता, पर जब दिख जाय ब्रह्म।
वह जाय छूट तुरन्त तब, वैराग पाय ब्रह्म ॥ १२० ॥
बुद्धिमान नर यत्न जब, इस विध करे सुधीर।
बलपूर्वक तभी इन्द्रियां, हर मन करें अधीर ॥१२१॥
मथ डालें उसे सर्वथा, पर उन सब को रोक।
योगी बने मेरे आश्रय, रक्खे इन्द्रिय रोक ॥ १२२ ॥
जो, बुद्धिः उस की टिकी, योगी सोई महान्।
स्थिरबुद्धिः कहा जन वही, स्थितधीः प्रज्ञावान् ॥१२३
इन्द्रियगण के विषय का, पुरुष करे जब ध्यान।
उन में तब फंस जाय वह, संग हो तब बलवान ॥१२४

सङ्ग से काम उत्पन्न हो, काम से फिर हो क्रोध।
क्रोधसे मोह तब उपजकर, स्मृतिमें करे कुबोध ॥१२५॥
बिगडी स्मृति से बुद्धि का, हो ही जावे नाश।
बुद्धिनाश से जाय रुक, आत्मा का सुविकास ॥१२६॥

इच्छा जब हो पूर्ण न, उपजे सबै तब क्रोध।
अज्ञान तब जाय छा, हो जाय भ्रष्ट सुबोध ॥ १२७ ॥
गडबड हो जाय स्मृति में, बुद्धि से हो जाय हीन।
नष्ट हो जावे सर्वथा, हो अति दीन अरु हीन ॥१२८॥

काम क्रोध को छोड जब, इन्द्रिय से विषयभोग।
करे, उन्हें रख आत्मवश, ले प्रसन्नता भोग॥ १२९ ॥
योगी आत्मा प्रसन्न हो, सब दुःखों की हान।
करने में हो समर्थ तब, कष्ट पाप की हान ॥१३०॥

बुद्धिः उस की जाय टिक, अति शीघ्र हे वीर।
जिस का चित्त प्रसन्न है, वही सुप्राज्ञ सुधीर ॥१३१॥
वश में जिस का मन नहीं, जो योगी जन नांह।
बुद्धिमान् वह हो नहीं, श्रद्धा वा भी नांह ॥ १३२ ॥

श्रद्धा जिसमें हो नहीं, कैसे सके हो शांत।
शांतिरहित को सुख कहां, ब्रह्म न पाय अशांत ॥१३३॥
इन्द्रिय जब रही विचर हों, उनके पीछे मन।
जाय लगाया यदि कभी, बुद्धि हरे तभी मन ॥१३४॥
वायु जल में ले जाय ज्यूं, नौकाको सह वेग।
त्योंही बुद्धिः मनुज की, मन हर ले सह वेग ॥१३५॥
बुद्धिः अतः स्थिर उसी की, लीं इन्द्रिय जिस रोक।
विषयनसे ही सर्वथा, बन गया वही अशोक ॥१३६॥
सभी जिसे रात्रिः कहें, योगी रहा वहां जाग।
ऋषि मुनि के लिये रात्रि सो, प्राणी रहे जहां जाग॥१३७
पूर रहे सभी ओर से, निश्चल और अडोल।
महोदधिः में प्रविष्ट ज्यों, हो जल होवें अडोल॥१३८
जिसे सभी त्यों प्राप्त हों, स्वयमेव सुखभोग।
शान्तिः उसे ही प्राप्त हो, मन से जो चाहे न भोग ॥१३९॥
त्याग सभी मनोकामना, हे अर्जुन महावीर!
विचरे पुरुष निरिच्छ जो, कहो उसे धृतिधीर ॥१४०
त्याग घमण्ड अरु मैं मेरी, वैराग्ययुत् हो।
वही महात्मा शान्ति से, सर्वत्रयुत् हो ॥१४१॥
ब्रह्मप्रतिष्ठा यही है, पृथापुत्र हे मित्र!।
पाकर इस को मोह में, फंसे न फिर कोई, मित्र! ॥१४२॥
मरण-समय भी टिक सके, इस में, पाये निर्वाण।
मुक्ति पाये परब्रह्म में, जो अमृत जगप्राण ॥ १४३ ॥

गीता-विषयक नवीन विचार।

(अ० दुसरा। लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, ऐम्. एस्. सी., लाहौर.)

संजय कहने लगे कि-

इसप्रकार दयार्द्र हुए, नयनों में नीर भरे, व्याकुल दृष्टिवाले, उस उदासीन अर्जुन को मधुदैत्यसंहारक भगवान् ने कहा की-

हे अर्जुन! ऐसे कठिन समय में जब कि रणभूमि में अनेक अक्षौहिणी सेनाएं युद्ध करने को कटिबद्ध हो चुकी हैं, ऐसी विकट परिस्थिति में तुझे यह गन्दा फुरना कैसे उठा. ऐसे फुरने तो अनाडी कायरों को उठा करते हैं, आर्यवीरों का तो इन से अपयश ही फैला करता है, ऐसे गन्दे भाववाले स्वर्गमें कब पहुंच पायंगे। अर्जुन नपुंसक न बन, यह भाव सर्वथा तेरे योग्य नहीं है। इस दिलकी कमजोरी और विचारोंकी तुच्छता को त्याग और योद्धारूप धार कर उठ, तू तो प्रचण्ड, घोर तपस्वी, शत्रुओं को तपाने फूंक डालनेवाला उग्र वीर है, तुझे दया कैसी आ गई?

अर्जुन बोला-

हे मधुसदृश शत्रुओं को पका डालनेवाले भगवान्! भीष्म और द्रोण तो मुझसे पूजा-सत्कार पानेके योग्य हैं, मैं युद्ध में उन के विरुद्ध कैसे तीर चलाऊंगा, उनपर बाण बरसा उनसे कैसे लड सकूंगा। मेरे विचार में तो इस संसार में भिक्षाचरण करके प्राप्त किया अन्न खाना अच्छा है। क्यों कि ऐसे करनेके लिये मुझे अपने पूज्य पितामह तथा गुरुसदृश हितकारी प्रेमी महानुभावों को तो मारना नहीं पडेगा। इस के विरुद्ध यदि मैं अपने ही हित चाहनेवाले बडे बूढोंको मार डालूं, इस युद्ध में हमारा ही अर्थ सिद्ध करानेवाले हृदय से हमारी ही विजय चाहनेवाले गुरुजनोंका प्राण हर लूं तब तो मुझे विजय पाने पर इन के रक्त से दूषित ऐश्वर्य ही भोगना पडेगा, उन का लहू मेरे सिर रहेगा ऐसा ऐश्वर्य मेरे किस काम का? हमें तो इतना भी पाता नहीं कि हमारे लिये इन दो में कौनसा श्रेष्ठ है यह कि हम जीत जावें अथवा यह कि हमें वे जीत जावें। धृतराष्ट्र के वे पुत्र हमारे सम्मुख युद्ध के लिये तय्यार खडे हैं, जिन को मारकर तो हम जीवित रहना तक नहीं पसंद कर सकते। दयार्द्र हुआ कायर कृपण सा हुआ मैं इस महान् दोष से अपना वीर-क्षात्र-भाव नष्ट

कर बैठा हूं, मेरा कर्तव्यधर्म कौनसा है, इस विषय में मैं सर्वथा मूढ सा हो रहा हूं, मेरा ज्ञान मुझे इस विषय में इस समय सहायता नहीं कर रहा। अतः जो आपके निश्चय में मेरे लिये कल्याणकारी हो वह आप ही मुझे बताईये, मैं शिष्यभावना से युक्त होकर आप की शरण पकडता हूं, अतः आप गुरु बन मुझे उपदेश दीजिये और सत्य मार्ग पर चलाईये। यदि मुझे देवताओं पर भी राज्य प्राप्त हो जाय तथा समग्र पृथिवी पर भी शत्रुरहित निष्कंटक राज्य मिल जाय, तब भी उस समग्र दैवी तथा मानुषी ऐश्वर्य में मुझे ऐसा कोई पदार्थ दिखाई नहीं पडता जो इन्द्रिय-शक्तियों को क्षीण करनेवाले, स्रोतोंको सुखा देनेवाले, मेरे इस शोक को उदासीनता को जड से उखाड सके।

संजय बोले कि—

हे दूसरों को दुःखानेवाले! इन्द्रियपति भगवान्को निद्रापति परन्तु मुग्ध हो रहा भक्त ऐसे वचन कह कर अन्त में बोला कि, 'मैं तो नहीं लडूंगा' और इतना कहते ही चुप हो गया। इन्द्रियों को सदैव ही निज वश में रखनेवाले ग्वाले भगवान् कृष्ण जो पृथिवी-पति भी हैं, वे उस उदासीन से मुस्करा कर, उन दोनों सेनाओंके बीचमें ही खडे खडे बोले।

श्रीभगवान् बोले कि—

हे भरतवंशज! एक ओर तो तू शोक न करने योग्य बातों के विषय में शोक करता है और दूसरी ओर पण्डिताई सी छांट रहता है। क्या तू नहीं जानता कि प्राज्ञ मेधावी पंडित लोग तो जीते मरे किन्हीं का भी शोक नहीं किया करते।

चाहे किसीके प्राण निकल जांय और चाहे न निकल जांय वह तो जो अपना धर्म समझते हैं, उसे ही पालते हैं, चाहे ऐसा करने में करोडों जन ही संग्राममें मारे क्यों न जावें, यदि धर्म की खातिर पापियों का नाश करना पडे तो बुद्धिमान् ऐसा करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते। कभी कोई समय ऐसा नहीं था जब मैं नहीं था, तू नहीं था, अपना यह राजा लोग नहीं थे, ऐसा भी आगे कोई समय नहीं होगा जब हम सब नहीं होंगे। वास्तवमें हम सभी अब हैं, पहिले थे और आगे भी होंगे ही। मृत्यु तो बचपन जवानी बुढापे की न्यायीं ही देही की एक और चौथी अवस्था है जैसे इस देहमें रहकर जीव पहिली तीन अवस्थाये भोगता वैसे ही उस देह से निकल अर्थात् मृत्यु पाकर जीव नयी वैसी ही और देह पा अर्थात् पुनः जन्म लेकर नया जीवन आरंभ कर देता है। फिर इस मृत्यु से घबराने की क्या अवश्यकता रही? अतः यह जानकर धैर्यवान् बुद्धिमान् पुरुष तो मोह अज्ञान में नहीं उलझता, मरने न मरने की तनिक भी परवाह न करता हुआ स्वकर्तव्यरूप धर्म पालन करता रहता है।

हे कुन्तीपुत्र! सरदी-गरमी सुख-दुःख तो पञ्च भूतों का स्पर्श आत्मा से होने से अथवा इन्द्रियों का सङ्ग-विषयों से जुडने से उत्पन्न होने ही ठहरे। हे भरत की उत्तम सन्तान! उन्हें सहारिये ही, क्योंकि वह सदा थोडेही बैठ रहेंगे वह तो क्षणभङ्गुर हैं, अस्थायी हैं और होने हटनेवाले हैं, उन से मत घबराईये। क्या होगा यदि भीष्मादि के यह भौतिक शरीर छिन्न भिन्न हो जायंगे? इन्हें इन से कहीं उत्तम दिव्य गति प्राप्त हो जायगी क्यों निरर्थक इन के मरनेकी आशा से घबरा रहे हो, आने जानेवाले अनित्य शरीरों के कारण इतने व्यग्र न हूजिए। अमृतप्राप्ति के योग्य तो वही धैर्यवान् व्यक्ति होता है जो दुःख में एकसाही रहे, दुःख में घबरावे नहीं, सुख में फूल न जावे। जिस पुरुष को, हे पुरुष-श्रेष्ठ! ये भौतिक विषय घबराहट में नहीं डालते, दुःखी सुखी नहीं करते, वही मोक्ष का अधिकारी है। वास्तव में सत्-असत्, भाव-अभाव दोनों का निर्णय तत्त्ववेत्ताओं ने इस प्रकार किया है कि,- हम साक्षात् देख चुके हैं कि,- जो है वह कभी "नहीं है," नहीं होता और जो नहीं है वह कभी "है" नहीं होता। जो नहीं वह सदा ही नहीं और जो है वह सदाही है। जिस ने यह सब जग-प्रसार रक्खा है उसे तो तू नाशरहित नित्य सत् भाव "है" ही सदा जान रख। इस अविनाशी का नाश तो कोई भी कभी भी नहीं कर सकता। इसके विरुद्ध इस देही नित्य अव्यय अनुपमेय अज्ञेय के सम्बन्धी जो यह देह

मानवादि शरीर हैं वह असत् हैं, अभाव हैं, नाशवान् हैं, अनित्य हैं, वे तो एक न एक दिन टूटे फूटेंगे ही चाहें तुम उन्हें मारो चाहें छोडो ।

जब ऐसी बात है तो फिर मरणधर्माओं की चिंताओं से घबराकर व्यर्थ ही क्यों अपना नित्य आत्म-धर्म नष्ट कर रहे हो? इसलिए उठो और युद्ध करो । क्योंकि, हे भरतसन्तान! जो इस आत्मा को मरने मारनेवाला समझ रहा है वह तो कोरा अज्ञानी है । भाई यह तो न किसीको मारता है और न कोई इसे ही मार सकता है । जो इसे मारा गया माने वह भी मूर्ख और जो समझे कि इसने अमुकको मार डाला वह भी अविद्वान् । वास्तव में आत्म-तत्त्व कभी जन्म नहीं लेता और मृत्युका ग्रास भी नहीं बनता । ऐसा भी कभी नहीं होता कि यह एकबार होकर फिर 'नहीं है,' हो जावे । यह तो न जाने कितना पुराना प्राचीनतम सदासे ऐसा ही चला आ रहा है, अजन्मा स्थायी सत् नित्य इकरस । शरीर चाहे कितने बनते बिगडते, जन्मते मरते, संयुक्त होते वियुक्त होते चले जावे परन्तु इस आत्म-तत्त्व की मृत्यु सर्वथा नहीं हो सकती, इस का मारा जाना सम्भवही नहीं । इस प्रकार जिस मनुष्यको ऐसा निश्चित ज्ञान एकबार भी प्राप्त हो गया कि वास्तव में यह आत्म-तत्त्व अजन्मा, नाश-रहित, घटती बढती रहित, सदा एकरस रहनेवाला है, हे पृथापुत्र ! फिर वह कैसे किसीको मार मरवा सकता है ?

अपना धर्म वह पालता है चाहे ऐसा करनेमें उसे किसीके प्राण छुडवाने पडें वह उसको फांसी दिलवाता, यह नहीं समझता कि मैंने इसे मार डाला वह यही समझता है कि मैंने इस आत्माको हानि-कारक देहसे छुडा दिया, अब इस आत्माकी सद्गति में बाधा नहीं पडेगी, यह उन्नत हो सकेगा । बातभी सच्ची तो यही है कि मरण जन्म क्या है, केवल पुराने कपडे उतार नये पहिन लेना और इसमें रक्खा ही क्या है जिस कारण तू निरर्थक सिर खपाई कर रहा है भई ! जैसे मनुष्य फटे पुराने कपडे उतार फैंकता है और दूसरे नये वस्त्र पहिनकर सुभूषित हो रहा है ठीक इसी प्रकार देहका मालक आत्मा बुड्ढी पुरानी, व्याधियों से नष्ट-भ्रष्ट काया को त्याग नयी स्वस्थ बालकाया में भली प्रकार जा बसता है, इसमें तो प्रसन्नता होनी चाहिए, न कि चिंता व्याकुलता शोक घबराहट उदासीनता । चिरकालसे लगभग दो सौ वर्षकी पुरानी कायाको भीष्म अभी तक घसीट रहा है, क्या अब इसकी तपास्याओं का फल-स्वरूप नवीन दिव्य शरीर इसको नहीं मिलना चाहिये? कबतक यह विचार अपनी इच्छाके विरुद्ध इन पापी दुर्योधनादि का अन्न विवश हो खाता रहे, अब इसे इस नरक से छुडाना ही तुम्हारे जैसे सुयोग्य पौत्रका कर्तव्य है । अत: ये मर जायेंगे, मैं इन्हें मारूंगा इत्यादि भावनाओं के फेर में न पडो, यह अधर्ममय ही हैं, सत्य ज्ञानके फुरने नहीं । आत्मतत्त्वको हथियार काट मार नहीं सकते, आग जलाती नहीं, जल इसे भिगोते नहीं, वायु भी इसे सुखा नहीं सकती । यह तो किसी अन्य प्रकार से भी सुखाया भिगोया जलाया अथवा काटा नहीं जा सकता । सर्वव्यापक निश्चल एकही स्थानपर टिका हुआ सदासे ही एकरस नित्य सत् रूप विद्यमान् है । अप्रकट होनेसे यह इन्द्रियद्वारा जाना नहीं जा सकता अति सूक्ष्म है, लक्षणों से रहित है, चित्तसे इसे सोचा नहीं जा सकता । क्योंकि यह कोई विचार विशेष नहीं, बिगाड भी इस में कोई नहीं हो सकता, अत: इसे अव्यक्त अचिन्त्य अविकार्य कहा जाता है । अत: जब मैं भी और सब अन्य आप्त पुरुष भी आत्माको ऐसाही वर्णन करते हैं तो तुझे भी इसे ऐसाही निश्चित रूपसे जान लेना चाहिए, ऐसा होनेपर फिर तुझे शोक उदासीनता की सर्वथा आवश्यकता बनी नहीं रह सकेगी ।

अब और प्रकारसे विचार करो । यदि मान लिया जावे कि तुम इसे नित्य एकरस अजर अमर न मानकर इसे सदाही मरने-जन्मनेवाला ही मानते हो, फिर भी तुम्हें, हे दीर्घभुज वीर ! शोक करना अयोग्य ही है । वह इस प्रकार कि जन्मे की तो मृत्यु अटल ही है और मरे हुए का जन्म भी अनिवार्य्य ही है, अवश्य जो जन्मा है वह मरकर ही रहेगा और जो मरा है उसे जन्म लेना ही पडेगा । फिर हे अर्जुन!

जब मृत्यु इन सब शत्रुओं की एक न एक दिन होनी ही है और किसीके रोके नहीं सकेगी फिर तू शोक क्यों करे जब इनका सदा जीवित रहना असम्भव ही है, तब तू इनके मोह में फंस कर क्यों धर्मभ्रष्ट होवे? सर्वथा यह तेरे जैसे वीरके लिए उचित नहीं। हे भरतवंशावतंस! प्राणी-अप्राणी सभी इस मध्यकी अवस्थामें ही प्रकट दृश्य व्यक्त हो रहे हैं अन्यथा यह इस से पहिले भी अदृश्य अवस्था में ही थे और अब से पीछे भी उसी अदृश्य अवस्था को प्राप्त हो जायंगे। शरीर मात्र ही अव्यक्त प्रकृति से बन, व्यक्त शरीररूपसे प्रकट हो, फिर छिन्न भिन्न हो, उसी अदृश्य अव्यक्त में अन्त को जा मिलता है, फिर किसी देह के व्यक्त से अव्यक्त अवस्था में परिणत हो जाने के विषय में चिंता शोक विलाप के लिए कहां स्थान है।

सम्पूर्ण पदार्थ मात्र ही अब दिख रहे हैं, क्योंकि स्थूलावस्था से हैं पहिले यह सूक्ष्म अदृश्य अवस्था में थे और फिर उसी सूक्ष्म अवस्था में अवश्य इन को एक न एक दिन जाना ही पडेगा, फिर शोक कैसा? वास्तव में बात ऐसी है कि यह जन्म-मरणादि देह के होते हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा का विषय तो बडा आश्चर्यकारी है जो एक बार आत्मा की झांकी पालता है, भौंचक्कासा रह जाता है, जब वह इस अनुभव का वर्णन अन्यों के समक्ष करने लगता है तो और भी चकित होता है कि वर्णन करूं तो कैसे, शब्दों में तो वह आता ही नहीं। जो उस के ब्रह्मसाक्षात् के अनुभव के वर्णन को सुनता है वह भी विस्मित होता है कि समझ ही नहीं पडती, कि यह क्या कह रहा है? क्या जिस आत्मा का यह वर्णन करता है वह ऐसा हो सकता है? इत्यादि। और कोई कोई अभागे ऐसे भी हैं जो आत्मद्रष्टा के मुख से आत्मदर्शन-अनुभव-वर्णन सुन कर भी स्वयं आत्मदर्शन योग्य सर्वथाही हो नहीं पाते। यह आत्मा, देह का स्वामी, तो सभी प्राणियों की देह में ही, सदैव बध किया जाने के सर्वथा ही अयोग्य है, किसी प्राणी की आत्मा को भी कभी कोई मार नहीं सकते तो तुम भीष्म आदि की आत्मा मुझ से मार डाली जायगी इस निरर्थक भ्रम में पडकर क्यों उदास हो रहे हैं। कोई किसी आत्मा का कभी भी हनन नहीं कर सकता, अतः तुम्हें सम्पूर्ण प्राणिमात्र में से किसी के विषय में भी शोक-ग्रस्त नहीं होना चाहिये।

अब एक तीसरी प्रकार से भी विचारकर देखो। तुम्हारा अपना धर्म, निज धर्म, मन चाहा आत्मा को प्रिय कर्तव्य क्या है, इस की ओर यदि दृष्टि दौडाओगे तो भी तुम्हें कांपना अनुचित ही भासेगा। क्योंकी जब धर्म की ओर से युद्ध करना पडे तो उससे अधिक कल्याणकारी क्षत्रियके लिये और कुछ हो ही नहीं सकता, फिर ऐसा युद्ध प्राप्त होनेपर किस योद्धा को यह शोभा देगा कि, वह ठीक समय आने पर ही दया आदि वश हो डोल जावे और शस्त्र गिरा बैठे।

भाग्य से ही स्वर्ग का खुला हुआ द्वार अपने आप ही तुम्हारे सामने आन उपस्थित हुआ है, कोई भाग्यशाली सुखाधिकारी योद्धा-गण ही, हे अर्जुन! ऐसा धर्मयुद्ध प्राप्त कर पाते हैं, प्रत्येक क्षत्रिय के ऐसे भाग्य कहां जो उस के जीवन-काल में ऐसा धर्मयुद्ध होवे और कि उसे भी उस में भाग लेना पडे। इसलिये यदि इस धर्मयुद्ध में तू भाग नहीं लेगा, इसे न लडकर एक ओर जा भागेगा तो न केवल अपने कर्तव्यधर्म से मुंह मोडने के कारण तू अपना विस्तृत यश ही गंवा बैठेगा। वरञ्च पाप भी तुझे ही लगेगा, क्योंकि उस दशा में तू अधर्म के समूलोच्छेदन-रूप ईश्वरीय कार्य में सहा-यता न दे रहा होगा। तुम्हारा अपयश भी सभी जन खूब ही विस्तारेंगे और अन्त तक कहते ही चले जायेंगे। तेरे जैसे महायशस्वी के लिये तो अपयश मरण से अधिक दुःखदायी सिद्ध होगा तुम उसे कैसे सहार सकोगे। बडे बडे महारथी तुझे डरकर ही रणसे भाग गया कायर शूद्र मान बैठेंगे जो अबतक तुझे बहुत बडा योद्धा मानकर तुम्हारा बहुत मान करते रहे हैं। उन की दृष्टि में तू बहुत छोटा, हलका, अतीव तुच्छ प्रतीत होने लग जायगा। तेरे शत्रु तेरी शक्ति की निन्दा करते हुए बहुत न कहने योग्य बातें तेरे विषय में कहेंगे इस से अधिक दुःख तुझे क्या होना सम्भव है। इस के विरुद्ध यदि तू दृढ निश्चय कर

ले और युद्ध में पूरा भाग ले तो जीतनेपर तो भूमि का साम्राज्य-ऐश्वर्य भोगेगा और यदि कहीं युद्ध में माराही जावे तो स्वर्ग को प्राप्त कर जायगा, तुम्हारे जैसे निष्पाप की अधोगति तो हो ही नहीं सकती। इसलिये ऊठ हे कुन्तीमाता के लाल! अपनी माता को इतने अगणित दुःखों में इतने वर्ष धकेले रखने-वाले अपने शत्रुओंको मलियामेट कर। निश्चय कर ले कि पूरे क्षात्र तेज से युद्ध कर के उन्हें अवश्य नष्ट कर डालूंगा। इस बात की तुझे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं कि मैं जीतूंगा या हारूंगा, तनिक भी परवाह न कर कि युद्ध से हानि होगी अथवा लाभ, इस में जीत होगी वा हार, इस से अन्तमें सुख मिलेगा या बीच में दुःख भोग कर ही समाप्त हो जावेंगे। युद्ध आन उपस्थित हुआ है, धर्म बचताही नहीं यदि इसे लडा न जाय, इस भाव से लड, ऐसा करने में तुझे पाप का लेश मात्र भी न लग सकेगा और अन्त में चाहे सुख मिले वा दुःख, चाहे हानि हो या लाभ, तथा चाहे जीत हो अथवा हार, तुम सभी दशाओं में समही रह सकोगे, तनिक भी विचलित नहीं हो पाओगे, क्योंकि तुम ने अपना धर्म पालन कर लिया होगा, इस लिये तुम्हें आत्मिक शान्ति प्राप्त हुई हुई होगी।

सांख्य ज्ञान की दृष्टि से तो तुझे उपरोक्त प्रकार समझा दिया गया है, अब कर्मयोग की दृष्टिसे भी अपने प्रश्न का उत्तर सुन लो। इस दृष्टिकोन का आश्रय लेकर, हे अर्जुन! तू कर्मपाश से मुक्त हो सकेगा। यदि यह तुमने यथावत् समझ लिया, कर्म करने की यह विशेष विधि सीख ली, तो फिर तुम्हें कर्म-बन्धन में नहीं डाल सकेंगे, वरञ्च तुम्हारे लिये मोक्ष सिद्धिका ही कारण बनेंगे। इस प्रसंगमें सर्वोत्तम ध्यान देने योग्य बात यह है कि कभी समय पडने पर तो इस कर्मयोगरूपी धर्म का किसी पूर्वसमय में किया हुआ थोडासाभी अनुष्ठान बडे भारी सम्मुख उपस्थित भयकारण से बचाने का साधन बन जाता है। साथ ही इस को जब चाहो आरंभ कर लो और यदि कभी इसे कुछ देर पालन करके फिर छोडना पडे तो भी कोई प्रायश्चित्त आदि इस व्रत के टूट जाने के बदले में करना नहीं पडता।

इस विषय में निश्चयात्मिक दृष्टिकोन तो एक ही है। हे कुरुकुलदीपक! जिन्हों ने इसे यथार्थ समझ नहीं लिया, उन को इसमें निश्चय होता ही नहीं, अतः उनके दृष्टिकोन अनन्त समयोंमें भिन्न भिन्न होनेसे अनन्त ही होते हैं और उन अनन्त में से प्रत्येक की अनेक शाखायें होती हैं। यथा कभी वे धन कमाने के पीछे गए तो उस के अनेक प्रकारों में से कभी एकको पकड दूसरेको छोड, कभी दूसरे को पकड पहिले को छोड, इस प्रकार बहके हुए से मारे मारे फिरते हैं। इसी प्रकार फिर स्त्रीप्राप्तिके पीछे पडकर कभी एक जगह सगाई करवाते हैं, फिर वहां से छोड दूसरी जगह यत्न करते हैं, फिर मतके पीछे पडे कभी शङ्कर को मानते हैं तो दूसरे व्याख्यान में उसका खण्डन और बुद्धका मण्डन करते हैं। इस प्रकार अनिश्चित बुद्धिवालों का कहीं ठौर ठिकान नहीं लगता, उनके अनन्त विचार, अनेक मत और बिखरी हुई बुद्धियां होती हैं, वे कर्मयोग से सर्वथा शून्य होते हैं। कर्मयोगी तो जिस एक धुन में लगा उसी में जीवन जान दे डालेगा और मुक्तितक प्राप्त कर जावेगा।

इच्छामय ही हो चुके कामी अज्ञानी जन स्वर्गको ही परम सुख मानते हैं, वेद-विषयक वादविवाद मात्रमें ही उलझे हुए अपना जीवन व्यर्थ गंवा जाते हैं। वे कहते हैं कि स्वर्ग से परे और कुछ है ही नहीं। हे अर्जुन! वे ऐसी लुभा लेनेवाली वाणी बोलते हैं जैसे कि कोई सुन्दर पुष्पमाला हो और उसद्वारा कहते फिरते हैं कि हमारे यज्ञ-विशेषों से उत्तम ऐश्वर्य और भोग-सामग्री प्राप्त हो सकती है और इन विशेष प्रकार की बहुत सी क्रियाओंको साधने से इन उत्तम कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग लोक में दिव्य जन्म मिलेगा, जहां सदा ही युवावस्था रहनेसे अत्यन्त सुख विविध प्रकारके भोगने को मिलेंगे।

जो लोग यहां भी ऐश्वर्य तथा अन्य भोग-सामग्री में अच्छी प्रकार मदमत्त रहते हैं उनके चित्त स्वर्गसुख दिलानेवाली यज्ञमयी वेदवाणी सर्वथा चुरा लेती है, अपने में उलझाकर निर्वाणपथसे विमुख

कर देती है ऐसे कामी तथा लोभी जनों को आत्म-पदसम्बन्धी कर्मयोग में निश्चय हो ही नहीं सकता, न उन की बुद्धि इस एक तत्त्वपर टिक ही सकती है, अतः योग (समाधि) समाहित चित्त से कर्मतत्पर होना, उन से सिद्ध नहीं हो पाता ।

हे अर्जुन ! वेदों में त्रिगुणमयी प्रकृति के बने स्थूल सूक्ष्म सभी प्रकार के पदार्थोंका वर्णन है वही पदार्थ वेद का विषय हैं। तू इन तीनों गुणों मात्र से भी रहित ही हो जा, अतः तुझे स्वर्ग की आशा मात्र में भी नहीं उलझना चाहिये । तू इस से बहुत ऊंचा उठ जा, सदा आत्मा को जगाए रख, सदा ही बुद्धि तथा चित्त को टिका रख, रागद्वेष आदि जोडों से सदा अप्रभावित रह और अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा में ही सदा मत उलझा रह। वेद तो त्रिगुणों से प्रभावित सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये उपदेशप्रद हैं, वे तो उस जलाशय की न्यायीं हैं जो जल से पूरा भरकर, जल जिस में से उछल भी रहा है । जैसे विज्ञानी ब्राह्मण ऐसे जलाशय में से अपनी तुच्छसी आवश्यकताएं पूर्ण करके चलता बनता है, जलाशयको ही उठा कर साथ ले चलनेका यत्न नहीं करता वैसेही तत्त्ववेत्ता भक्त सभी वेदोंको उठाये नहीं फिरता, वरञ्च उन में से जो भक्ति आदि विधायक स्तोत्र उसे आत्मदर्शन करवा सकते हैं, उन्हें ही अपने अन्दर रमा लेता है, वेदद्वारा भगवद्प्राप्तिरूपी अपनी आवश्यकता पूरी कर लेता है, सारे ही वेदपर भाष्य कर डालने के यत्न में खप खप नहीं मरता ।

कर्मयोग का मूलमन्त्र यह है कि अर्जुन सरीखा वीर भी कर्म तो, स्वतन्त्रसाही अपने आप को समझकर, कर सकता है । परन्तु उस का फल वह अवश्य ही पा लेगा, यह उसके ही वश की बात कदापि नहीं। इसलिये, हे अर्जुन ! तू आलसी निकम्मा भी न बन और फलविशेष मुझ को अवश्य मिल जायगा, इस भावना से भी उस फलको कारण बना कर भी कर्म न कर । सर्वथा पुरुषार्थी तो रह पर इस भाव से कर्म कर कि कर्म करना मेरा धर्म है। इसी कर्मयोग की भावना दृढ करके और फल के विचार में उलझेबिना हे संग्रामविजय वीर ! तू सभी कर्म कर परन्तु चाहे तू उस कर्म को पूरा उतार ले चाहे अनेक अज्ञात कारणों वश तुझे उसे बीचमें ही अधूरा छोडना पडे, तू दोनों अवस्थाओंमें ही इकरस रहना। क्योंकि इकरसता ही योग है। सिद्धि-असिद्धिमें न हर्ष से फूल जाना, न विषाद से शोकातुर हो जाना ही योग कहा जाता है, समता को ही योग कहिये। फलकामी जन जो कर्म करते हैं वह कर्मयोग से बहुत दूर निचले दरजेपर है । हे धनंजय ! तू कर्मयोगदृष्टि-कोणका ही आश्रय ले, क्योंकि फलकामी तो कर्मयोगी की अपेक्षा सर्वथा ही कंगाल होते हैं। कर्मयोगीको तो उन पर अपनी कृपादृष्टि ही रखनी चाहिये। कर्मयोग-दृष्टिकोण धारकर तो योगी अपने पाप पुण्य दोनों यहां छोड जाता है। अतः तू इसी दृष्टिकोण को ग्रहण कर ले ऐसी चतुराई ही योग है जिस के द्वारा किये कर्म यहीं भस्म हो जाते हैं । मरनेपर कर्ता के पीछे पीछे ही चिमटे नहीं फिरते।

इस कर्मयोगरूपी दृष्टिकोण को धारकर ज्ञानी, मननशील विद्वान् कर्म तो करते जाते हैं, पर निर्लेप-बुद्धि से किये जाने के कारण उन कर्मोंका फल उनको भोगना नहीं पडता । कारण कि आत्मातक उन का प्रभाव पहुंचा ही नहीं, अतः कर्मफल को पीछे ही छोडकर वे आगे जन्म की फाही में नहीं फंसते, वरञ्च सर्वथा ही जन्ममरणरूप आवागमन के चक्कर से छूटकर वे उस ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं जहां न रोग है, न शोक, नहीं दुःख। जिस मोह-दल-में तू फंस रहा है जब तेरी बुद्धि उसमें से सर्वथा बाहर तैर आएगी तब तू उस सारे कथन का अभिप्राय जान पायेगा जो कथन मैं तुझे कुछ सुना चुका हूं और कुछ आगे सुनाऊंगा, तब ही तेरी आसक्ति सुने सुनाये कल्पित पापपुण्य के मिथ्या विचारों से हट सकेगी। सुनी सुनाई बातों से बिखर गयी तेरी बुद्धि जब उस ओर से हटकर सर्वथा निश्चल होकर ठहर जायगी और स्थिर रूप से समाहित होकर सर्वथा निरुद्ध हो रहेगी तब तू परमात्मा से मेलरूप-योग को प्राप्त कर लेगा ।

वेद में यज्ञों के लौकिक तथा स्वर्गीय फलवर्णित हैं तथा अनेक सिद्धान्त वेद में भरे पडे हैं उनका प्रभाव जब तेरी बुद्धिसे दूर होकर तू वेद के अन्तिम तत्त्व परमात्मा में अपनी बुद्धिको टिका देगा तब तुझे परमात्मा मिल जावेगा। स्थिर बुद्धि ही योगी बन सकता है।

इसपर अर्जुन पूछने लगे कि—

हे केशव! जिसकी बुद्धि समाहित होकर टिक चुकी है उस की पहिचान क्या है? उस की बोल-चाल कैसी होती है और वह किस प्रकार उठता बैठता है? स्थिरबुद्धिका आचार-विचार मुझे बतलाईये।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया कि-

हे अर्जुन! मन में उठनेवाला विचार, हृदय की इच्छायें, दिल की चाह, मनोवाञ्छित कामनाएं जब कोई व्यक्ति सर्वथा त्याग देता है उन के पीछे एक-दम जाता ही नहीं उलटा अपने आप में ही मस्त रहता है तभी वह स्थितप्रज्ञ कहा जाने लग जाता है, सभी कहते हैं कि यह तो कोई टिका हुआ, संतुष्ट महात्मा है। दुःख पडने पर जिस का दिल घबराने नहीं लग जाता, सुख की कामना जिसे डुलाए नहीं फिरती, आसक्ति, डर तथा गुस्से को जो उलांघ चुका है वही मौनी विचारवान् स्थिरबुद्धि कहा जाता है। जो सभी अवस्थाओंमें अनासक्त ही रहता है और भद्र तथा कल्याणरूप शुभ को प्राप्त कर के खुशी से फूल नहीं जाता और अशुभ, दुरित आदिको पाकर उससे घृणा खाकर चिडने नहीं लग जाता उसी की बुद्धि टिकी हुई है। जैसे कछुआ सभी ओरसे अपने सम्पूर्ण अङ्ग सुकेड लेता है उसी प्रकार जब कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को ही अपने वशमें कर उन्हें उनके विषयोंमें से सर्वथा सुकेड ही लेता है और उन्हें विषय भोगने ही नहीं देता तो जानना चाहिये कि उस की बुद्धि टिक चुकी है।

इस प्रकार विषयों को न भोगनेवाले अल्पाहारी जीव का पीछा विषय छोड देते हैं परन्तु अगले भोगे विषयों के संस्कार तो बने होने के कारण उस के चित्त में कभी कभी विषयभोग की वासना प्रबल हो उठती है। यह वासना का उठना तो तभी बन्द हो सकता है जब परमात्मा की झांकी मिल जावे। हे कुन्तीपुत्र! इस प्रकार विषयोंसे इन्द्रियों को रोक रखने के लिये प्रबल यत्न जो ज्ञानी कर रहा है उस पुरुष के मन को भी इन्द्रियां कभी कभी बलपूर्वक चुरा लेतीं ही हैं, क्योंकि यह बडी प्रबल तथा कुचल डालनेवाली होती हैं। अतः चाहे कितना कोई चैतन्य रहे फिर भी किसी न किसी समय इनका दाब लग जाता है और उस समय मन को यह लुभा ही लेती है।

इस लिये सुगम उपाय यही है कि जब कोई इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा पृथक् करे तो तुरन्त मन को टिकाकर मेरे परायण हो जावे, मन को एक क्षण भी खाली न रक्खे, झट विषयोंसे छुटते ही इसे भगवान् में उलझा देवे यही योग यही स्थिरप्रज्ञता है, तभी इन्द्रियां विवश नहीं कर सकेंगी। क्योंकि यदि मेरे परायण न होवे तो खाली मन किसी न किसी बात को तो सोचने लग ही जायगा क्योंकि निचल्ला तो यह मन-मर्कट कभी रह ही नहीं सकता। वह बात वह विचार जिस इन्द्रिय का विषय होंगे, मनका सूक्ष्म सम्बन्ध तुरन्त उसी इन्द्रिय से जुड जायगा और उस इन्द्रिय से उस विषय को एकबार तो भोग लेने को दिल बहुत चाहने लगेगा। यदि यह कोई दुर्भावना हुई, यदि किसी वेश्या के पास जाने की हुई, तो घरवाली इस में रुकावट डालेगी। तब घरवालीपर बहुत क्रोध उस कामी पुरुषको आयगा, वह आवेश में आया हुआ, घबराया हुआ, सर्वथा मुग्ध पागल सा हो रहेगा, स्मृति उस की गडबड हो जायगी और स्त्रीको-प्राणप्यारीको-शत्रु ही समझेगा। बस, बुद्धि मारी गयी दो चार बार यही घटना घटी तो कहीं का न रहेगा, उसका सर्वनाश ही हो जायगा।

अतः योगी जन को चाहिये कि धर्मपालन-निमित्त अपने आप ही इन्द्रियों को विषयों में योग्य रीति से चलावे, आसक्ति अथवा घृणा में फंसकर नहीं, वरञ्च स्वकर्तव्यधर्मपूर्तीनिमित्त। तब इन्द्रियां उस के वश में रहेंगी, चित्त भी व्याकुल नहीं हुआ करेगा और वह प्रसन्नता भी प्राप्त करेगा। प्रसन्नता

प्राप्ति होनेपर तो इस के सभी दुःखों का नाश अपने आप ही हो जायगा। क्योंकि जिस का चित्त प्रसन्न हो उस की बुद्धि तो बहुत ही जल्दी टिक जाती है और सर्वथा स्थिर भी हो सकती है।

इस के विरुद्ध जिस का चित्त वशमें नहीं, इन्द्रियों से हर लिया गया है, वह अयोगी अयति, बुद्धिमान् नहीं होता, न ही वह भावनावान् श्रद्धालुही होता है, फिर वह शान्त अथवा सुखी कैसे हो सकेगा? क्योंकि चित्त टिके तो बुद्धि ठिकाने हो, तब सत्य-धर्म ईश्वरभक्ति आदि में निष्ठा उत्पन्न हो, तब इन के द्वारा शान्तिः मिले, तब भगवान् की झांकी मिल सके कि आनन्द जब चाहे तभी प्राप्त होना सम्भव हो जावे।

यदि इन्द्रियां विषयों में लगायी तो अपने आप ही गयी हों परन्तु बीच में ही विवश होकर मन उन के पीछे लगाना पड गया हो, फिर तो मन बुद्धि को इस प्रकार चौपट करता है जैसे जल में जल रही नौका को प्रबल आंधी एकदम उलट देती है। अतः इन्द्रियों को इस अपने आप विषय में लगाना ही पर्याप्त नहीं, वरञ्च विषयभोगसमय यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि मनबुद्धि उस में उलझ न जावें। इसलिये हे दीर्घभुजाओंवाले वीर! बुद्धि उसी की टिकी हुई होती है जिसकी इन्द्रियां अपने विषयोंसे सम्पूर्णतया रुक चुकी हों और सर्वथा ही जिसके मन को वह हर न सके।

वास्तव में साधारण जनों में और ऋषिमुनियों में बडा भारी भेद होता है, इन्द्रियविषयभोगकी ओर लोग जागते हैं संयमी उस ओर से सोता है। मन-बुद्धि को टिकाने की ओर से जनता आंखें बन्द किये हुए हैं ऋषिमुनि इस विषय में सर्वथा जागते ही रहते हैं। मायिक जगत् को भोगने में दिन-रैन संसारी जन जागने का यत्न करते हैं। भगवान् के दर्शन पा चुका मौनी दिनरैन भगवान् के दर्शनों के लिये जागने का यत्न करता है। अतः योगी दिन में किवाडें बन्द रखता है, संसारी खुले रखते हैं और रात में संसारी घर के द्वार बन्द कर लेता है, योगी हृदय के कपाट खोल लेता है।

सकाम-कर्मियों को शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो उसे मिलती है जिस के पास काम्य भोग-सामग्री स्वतः आ इकट्ठी हो रही है और वह उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता। ठीक वैसे ही जैसे कि सर्वथा भर रहे समुद्र में नदियां धडाधड गिरती जा रही हैं परन्तु इन के गिरने से उस में क्षोभ होताही नहीं, वह तो वैसा ही निश्चल टिका रहता है, उछलने नहीं लग जाता, उसे नदी उसमें पडने का पता भी नहीं लगता। इसी प्रकार जो सभी मनो-कामनाओंकी चाह छोडकर निरिच्छ ही विचर रहा है, घमण्ड तथा मैं- मेरी से शून्य है वही शान्तिःको प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह तो गम्भीर समुद्र ही होता है, नदियां उस में गिरें अथवा न, उसे क्या पता चलता है।

हे अर्जुन! विशाल-हृदय-कुन्ती-माताके वीरपुत्र! इसी अवस्थाको ब्रह्ममयी स्थिति कहा जाता है जो एक बार इस दशा को प्राप्त हो जावे वह फिर भुलावे में नहीं आ सकता। यदि मरते समय भी इस दशा को कोई पा सके तब भी वह ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष पा ही लेगा। इस दशामें जीव ब्रह्म से सम्बद्ध हो चुका होता है। उस समय यदि उस की देह छूट जावे तो उस के आनन्द का पारावार नहीं रहता, ब्रह्मभावमें वह तुरन्त स्थिर हो जाता है, फिर जन्म उसे परवश होकर लेना सर्वथा नहीं पडता, वह ब्रह्मानन्द ही लूटता है॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अध्याय तीसरा ।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एससी., लाहौर.)

अर्जुनने ज्ञानकर्मकी उलझनमें उलझकर पूछा:-
दृष्टिकोण ही मानते, हो यदि उत्तम आप ।
कर्म से सदा जनार्दन, महाराज ! निष्पाप ॥१॥
केशव फिर क्यों फंस रहे, घोर कर्म में स्वयं ।
मुझ निज सखाको कृष्णजी, हत्या, घातमें स्वयं ॥२॥
मिले जुले से वचनसे, रहे मुझे घबरा ।
सो कर निश्चय एक का, मोहे दो बतला ॥३॥
जिससे पाऊं कल्याण मैं, तब बोले भगवान् ।
पापरहित ! इस विश्वमें, दो विचार प्रधान ॥४॥
कही जो मैं ने पूर्व ही, श्रद्धा दो प्रकार ।
निष्ठा भावना द्विविध ही, दृष्टिकोण वही धार ॥५॥
कर्म से परमात्मा मिले, योगियों को हे वीर! ।
ज्ञानियों को मिले ज्ञान से, वही ब्रह्म हे धीर! ॥६॥
निष्काम नहीं मनुज हो, केवल कर्म ही त्याग ।
सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके, कर संन्यास वैराग ॥७॥
कर्म किये बिना सके न, रह क्षणभर कभी कोय ।
प्रकृति से उत्पन्न गुण, विवश करावें सोय ॥८॥
सभी कर्म यूंही हो रहा, प्रकृति ही प्रधान ।
जीव सङ्ग से क्रियामय, हो करे कर्म प्रधान ॥९॥
कर्मेन्द्रिय अत: रोक यदि, मन से करे कोई स्मरण ।
बैठा उनके विषयका, मोहमुग्ध, दुःख भरण ॥१०॥
झूठा कहते उसे सब, बगुला भक्त कहाय ।
मिथ्याचारी आत्मा, जग में निन्दा पाय ॥११॥
इन्द्रिय रोके सहायता, से मनकी जो धीर ।
कर्मयोग आरम्भ यूं, इन्द्रियों से करे वीर ॥१२॥
वैरागी वही सोहता, त्यागी वही महान ।
बढ जाता वह सभी से, पूज्य वही सुमहान ॥१३॥
क्षात्रकर्म कर तू अत:, नियत स्वधर्म ही पाल ।
कर्म ही करना श्रेष्ठ है, कर्महीन कङ्गाल ॥१४॥
जीवन निर्वाह भी न हो, तू छोडे यदि कर्म ।
देह नहीं चल सके दिन बहुत, छूटे जी देहधर्म ॥१५॥
यज्ञनिमित्त न कर्म जो, मर्त्य लोक में बांध ।
जीव को देता ही सदा, महापाश वह उलांघ ॥१६॥
बन्धा न उस में तू कभी, विचर सदा स्वच्छन्द ।
हे कुन्तिसुत ! यज्ञ के, लिये कर्म सुखकन्द ॥१७॥
मन चाही सभी कामना, सिद्ध उसीसे हों ।
उसी से फूलो फलो सब, इष्ट सफल तब हों ॥१८॥
यूं पहिले ही कह चुके, प्रजापतिः स्वयमेव ।
यज्ञसहित उत्पन्नकर, प्रजा विविध स्वयमेव ॥१९॥
उसी यज्ञ से देव सब, को तुम करो सुतृप्त ।
तुम्हें भी वे ही देव तब, सदा करेंगे तृप्त ॥२०॥
यूं उन्नत इक दूसरे, को कर पाओ कल्याण ।
इक दूजे की वृद्धि कर, बनो सभी सुमहान ॥२१॥
यज्ञ से हो सुप्रसन्न ही, मन चाहे प्रिय भोग ।
देव ही देंगे आप को, ऐश्वर्य-सुख-भोग ॥२२॥
भोग वह अर्पण उन्हीं के, किये बिना जो खाय ।
भोगे सुख यूं दिव्य जो, चोर सोई कहलाय ॥२३॥
पर पहिले जो यज्ञ कर, बचा लगावे भोग ।
पाप सकल से छूट वह, जांय, रहें नीरोग ॥२४॥
अन्न पकावें जौन नर, केवल अपने निमित्त ।
वे पापी खांय पाप ही, अन्न न स्वर्गनिमित्त ॥२५॥
उन के लिये हो कभी भी, जो करते नहीं यज्ञ ।
देव न उन से प्रसन्न हों, जो दें उन्हें न अन्न ॥२६॥
अन्न से ही प्राणी बनें, मेघ से अन्न उत्पन्न ।
होता मेघ है यज्ञ से, कर्म से यज्ञ उत्पन्न ॥२७॥
कर्म उपजें सब ब्रह्म में, जो सब में रहा व्याप ।
अत: प्रतिष्ठित सदा ही, यज्ञ में वह ब्रह्म आप ॥२८॥

नित्य सनातन आत्मा, से ब्रह्मा सुव्यक्त।
अक्षर में विष्णु: स्वयम्, साकार हो व्यक्त ॥२९॥
यज्ञब्रह्ममय चक्र यह, अक्षर दिया चलाय।
जो इस के अनुकूल न, चले वह स्वयं गंवाय ॥३०॥
वृथा ही जीवन पाप में, विषयोंमें फंसा मूढ।
इन्द्रियभोगी, (पार्थ! हे), पापात्मा अति मूढ ॥३१॥
हां! इक उसके लिये न, है इस लोक में कार्य।
जिस की प्रीति आत्म में, आत्म से ही उसे कार्य॥३२॥
अपनेमें ही जो तृप्त है, आत्म में हो सन्तुष्ट।
उस से न कोई प्रसन्न हो, न उस से कोई रुष्ट ॥३३॥
किये तथा नहीं किये से, उसे प्रयोजन कौन?।
सर्व ही प्राणीवर्ग से, उसे प्रयोजन कौन? ॥३४॥
ऐसे आत्माभक्तको, कर्म न जीवों से अर्थ।
पर तू तो ऐसा नहीं, तुझे तो सब से अर्थ ॥३५॥
अत: करो कर्तव्य निज, सदा, न उस में उलझ।
बिना फंसे कर्तव्यकर, ईश में जाय उलझ ॥३६॥
परम पुरुष को नर सदा, तभी प्राप्त हो जाय।
जनक सरीखे सिद्ध भी, यूं गये सिद्धि पाय ॥३७॥
कर्म ही निज करके सदा, परम सिद्ध गये हो।
राजर्षि थे ब्रह्म पा, ब्रह्म स्वयं गये हो ॥३८॥
संसार का भला भी, देखे यदि तू विचार।
कर्तव्य ही योग्य है, करना तुझे सुविचार ॥३९॥
तव सदृश कोई श्रेष्ठ जन, करता जो आचार।
साधारण जन अन्य सब, धारें वही विचार ॥४०॥
उस के पीछे ही चलें, मान उसे प्रमाण।
जिसे प्रमाणिक कहे वह, सत्य सदा उसे मान ॥४१॥
इस कारण ही स्वयं मैं, भी रहा कर्म में वर्त।
यद्यपि नहीं कर्तव्य मम, लोक तीन में सदर्थ ॥४२॥
अप्राप्त प्राप्तव्य भी, मुझे कहीं कुछ नांह।
कर्म मैं फिर भी कर रहा, वर्त रहा उन्हीं मांह ॥४३॥
क्योंकि आलस त्याग यदि, करूं नहीं मैं कर्म।
सदाही तो सभी मनुजही, आलसी करें अधर्म ॥४४॥
मेरे मार्ग में चल सदा, मम अनुगामी हो।
लोक की मर्यादा त्यजें, सभी दरिद्री हो ॥४५॥
उखडे सुखकी मूल तब, सभी लोक हों नष्ट।
गडबड हो जाय सर्वथा, मुझ द्वारा ही हों नष्ट॥४६॥

प्रजा: का घातक मैं बनूं, कर यूं सब का नाश।
कर्म को यदि मैं त्याग दूं, हो जाय सब का नाश॥४७॥
भरत के वंशज! पृथासुत!, अर्जुन! सखा! सुवीर।
इच्छुक जग के भले का, कर्म अत: करे धीर ॥४८॥
विद्वान् बिना फंसेही, ज्यूं फंस विद्याविहीन।
करते साधारण मनुज, कर्मकुशल सुप्रवीण ॥४९॥
कर्मफंसे अज्ञानियों, को मोह में मत डाल।
गडबड उनकी बुद्धिमें, ज्ञानी दे नहीं डाल ॥५०॥
स्वयं कर्म का योगधर, विद्याविनयसम्पन्न।
हो, सेवे सभी कर्म शुभ, श्री अरु सुखसम्पन्न ॥५१॥
कर्म तो क्योंकि हो रहे, सत रज अरु तम से।
मैं मैं में हुआ मुग्ध ही, आत्मा कहे स्व से ॥५२॥
'मैं ही हूं कर्ता कर्मका,' धारे यही विचार।
अहंकारवश मूढ अति, रहित ज्ञान सुविचार ॥५३॥
गुण अरु कर्म के विषय को, जो जाने सुयथार्थ।
वह माने गुणही गुणों, में रहे वर्त यथार्थ ॥५४॥
तब वह न उनमें उलझता, हे दीर्घभुज वीर!
स्व को न कर्ता मानता, आत्मवान् वही धीर ॥५५॥
सत-रज-तम अरु बने उन, से जो विविध पदार्थ।
मोह में उनके फंसें जो, कर्म में फंसें यथार्थ ॥५६॥
वही सर्वथा डूबते, कर्मों में महामूढ।
पूर्ण ज्ञान से सर्वथा, हो वञ्चित मतिमूढ ॥५७॥
पूर्ण ज्ञान जिस पा लिया, वह उनको न डुलाय।
ज्ञानी को यह उचित न, अज्ञानी को खपाय ॥५८॥
अपनी अन्तर आत्मा, से त्याग सभी कर्म।
कर अर्पण मेरे उन्हें, पालो युद्ध स्वधर्म ॥५९॥
आशा-ममता-रहित हो, उद्वेग भी छोड।
घबराहट उदासीनता, त्याग, युद्ध को जोड ॥६०॥
मनुज जो इस मेरी सम्मति, के वर्तें अनुकूल।
श्रद्धालु निन्दारहित, मेरे न प्रतिकूल ॥६१॥
कर्मपाशसे जांय छुट, वे भी सकल नरश्रेष्ठ।
शुद्धात्मा वे भक्तजन, मेरे लिये सुश्रेष्ठ ॥६२॥
जो निन्दा ही सर्वथा, इस मत की करें नीच।
अनुकूल इस के चलें, कबहूं न नरनीच ॥६३॥
नष्ट हुआ उन्हें समझ ले, वह अज्ञानी मूढ।
चित्त न वश में कर सकें, रहें वे शोकारूढ ॥६४॥

ज्ञानी भी करे कर्म सब, निज प्रकृत्यनुकूल।
देहकृप्रति पीछे चलें, कौन उस के प्रतिकूल ॥६५॥
चल, उन को सके रोक भी, लाख करे सूपाय।
प्रकृति पीछे ही चले, सारा जनसमुदाय ॥६६॥
हां! इतना तो चाहिये, फंसे वैर में न प्रेम।
कारण, ये दे शत्रु हैं, तोडें सब के नेम ॥६७॥
प्रति इन्द्रिय के विषय में, ये दोनों विद्यमान्।
राग-अरु-द्वेष के फेरमें, फंसे न बुद्धिमान् ॥६८॥
निज प्रकृति अनुकूल जो, कर्तव्य निज धर्म।
सोई सदा सराहिये, कल्याणकर धर्म ॥६९॥
चाहे उच्च अति होय न, मृत्यु भी समुख होय।
फिर भी उत्तम जानिये, स्वधर्म शुभ सोय ॥७०॥
धर्म पराया भयङ्कर, उत्तम चाहे अनुष्ठान।
श्रेयस्कर निज धर्महीं, चाहे न हो गुणवान् ॥७१॥

अर्जुनने जीवका अकर्तापन सुनकर प्रश्न किया:-

वृष्णिवंशज कृष्णजी! पाप कराता कौन?।
न चाहते भी मनुज से, बलपूर्वकही कौन? ॥७२॥
किस से लगाया पाप यह, करता जाता पुरुष।
प्रेरा सा बलपूर्वक, न चाहता हुआ पुरुष ॥७३॥

श्रीभगवान् ने उत्तर दियाः-

रागद्वेष यही शत्रु है, रज गुण से उत्पन्न।
सर्वभक्षी पापी महां, ज्ञान यहां उत्पन्न ॥७४॥

बच्चा लिपटा जेर में, ढकी धुएं से आग।
शीशा गन्दा धूलसे, त्यों ही यह महाभाग ॥७५॥
ढका जीव का ज्ञान शुभ, काम क्रोध अरि से।
सदा के शत्रु काममय, क्रोधकी ज्वाला से ॥७६॥
आग यह ऐसी है कभी, भी बुझने जो न पाय।
महोदधि यह अगाध है, जो भरने नहीं पाय ॥७७॥
बुद्धिः मन अरु इन्द्रियां, इस का कहीं आधार।
इनके द्वारा ज्ञान ढक, मोहमें देता डार ॥७८॥
पूर्णतया यह जीव को, अतः तू इस को मार।
नाशक ज्ञानविज्ञान के, पापीको संहार ॥७९॥
भरतश्रेष्ठ! इस के लिये, प्रथम तू इन्द्रिय रोक।
फिर मन अरु फिर बुद्धिको, भी तू सर्वथा टोक ॥८०॥
इन्द्रिय बलवती गयी कहीं, सूक्ष्म अरु कहीं श्रेष्ठ।
मन उन से कहीं अधिक है, बुद्धिः मन से श्रेष्ठ॥८१॥
बुद्धिः सूक्ष्म बलवती, मन से भी वह सुतीक्ष्ण।
पर बुद्धिः से भी अति परे, वह जीवात्म सुतीक्ष्ण॥८२॥
उस बुद्धिः से भी सूक्ष्मतम, को जान पहिचान।
वश में अपने ही कर उसे, रोक आत्मा सुमहान् ॥८३॥
वहीं से मारिये शत्रु निज, काम-क्रोध-रज-रूप।
दुर्जय ही जो है कठिनतम, हे वीरवर! भूप! ॥८४॥

भगवद्गीता-विषयक नवीन विचार।

अध्याय तीसरा।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम् एस्सी., लाहौर.)

ज्ञान की प्रशंसा श्रीभगवान् के मुख से सुनकर अर्जुन को यह पूछने का बहाना मिल गया की—

हे दुष्ट जनता को पीडा पहुंचानेवाले जनार्दन! यदि आप कर्म की अपेक्षा दृष्टिकोण को ही अधिक आवश्यक मानते हैं, तो फिर मुझे आप क्यों ऐसे घोर कर्म में, जनतानाश में लगा रहे हैं अपनी न्यायीं मुझे भी सुख से सोने दीजिये हे केशव!।

सच्ची बात तो यह है कि, आप मिली जुली सी बातें कहकर मेरी बुद्धि को घबराहट में डाल रहे हैं, मेरा ज्ञान दबा रहे हैं सो कृपया पक्का निश्चय पहिले अपने आप में कीजिये कि अर्जुन इस से कल्याणप्राप्ति कर सकेगा फिर वही एक निश्चय मुझ से कहिये जिससे मेरा कल्याण हो जाय।

श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया कि—

हे निष्पाप ! मैं पहिले ही बतला चुका हूं कि, इस मनुष्य-संसार में श्रद्धालु भक्तों के दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं एक तो ज्ञानियों का, एक योगियों का। पहिले तो तत्त्व समालोचनाद्वारा अन्वयव्यतिरेक करते करते परमात्म-तत्त्वपर जा पहुंचते हैं, दूसरे कर्म ही ऐसी निर्लेप बुद्धि से करते हैं कि, सांसारिक किसी कर्म का प्रभाव अपने पर होने ही नहीं देते केवल परमात्मा में ही उलझे रहते हैं।

कर्मसे रहित स्थिति का आनन्द वह पुरुष नहीं भोग पाता जो कर्म करना आरंभ ही नहीं करता। केवल छोड देने मात्रसे ही कोई सिद्धि नहीं पा जाता।

क्योंकि वास्तव में कोई भी कभी क्षणभर के लिये भी सर्वथा निकम्मा, निचल्ला रह ही नहीं सकता। कारण कि संपूर्ण कर्ममात्र ही प्रकृतिमें उत्पन्न हुए सत्, रज, तम गुणों के द्वारा बलपूर्वक संपूर्ण भूतमात्र से निरन्तर करवाये जा ही रहे हैं।

इस लिये वास्तव में तो कोई प्राणी एक क्षण भी सर्वथा कर्म नहीं त्याग सकता, परन्तु कोई कोई बगुला भक्त दिखावे के लिये हाथ पैर वाणी आदि कर्मइन्द्रियों को रोककर बैठ जाता है कि, लोग मुझे सन्त महात्मा जानें, परन्तु चतुर संसार तो तुरन्त बूझ लेता है कि, ऐसे दंभी का मन बहुत ही चञ्चल होता है, तुरन्त लोक पहिचान जाते हैं कि, यह मूर्ख तो अपने आप को ही धोखा दे रहा है, यह मन से उन्हीं कर्म-इन्द्रियोंके कर्म कर रहा है जिनको बाहरसे रोके हुए हैं, अतः उसे जनता पाखण्डी, ढोंग रचने-वाला, दम्भी आदि कहने लग जाती है।

इस के विरुद्ध वह त्यागी सब से बढ जाता है, जो मन को रोककर उस की सहायता से इन्द्रियों को वश में करना आरम्भ करता है और इस प्रकार कर्मेन्द्रियों को सच्चे कर्मयोग में जोडता है। वह कर्मेंद्रियों का उचित प्रयोग करता है और उन कर्मों में फंसता है ही नहीं।

इस प्रकार, हे अर्जुन ! तुम भी मन वशकर इन्द्रियोंको अपने कर्तव्यकर्म में ही लगाकर निज धर्म का पालन ही करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना ही अधिक उत्तम है। कर्म न करने से तो तुम्हारा जीवननिर्वाह भी नहीं हो सकता, देह भी तब कितने दिनतक चल सकेगी ?

मैं तुम्हें एक सुगम पहिचान बतलाता हूं। वह यह है कि यज्ञ के लिये ही कर्म कर, परन्तु उस में भी उलझ नहीं हे, कुन्तीपुत्र ! यज्ञ के लिये जो कर्म नहीं किया जाता, वही इस संसार में कर्म करनेवालों को बन्धन में डाल देता है। परन्तु जो कर्म किया ही ब्रह्मार्थ, देवार्थ पितरार्थ अतिथि-अर्थ तथा भूतार्थ है अथवा प्रजार्थ अथवा लोकहितार्थ है, वह परार्थ किया कर्म मात्र यज्ञरूप होने से स्वको उलझा नहीं सकता, फंसा नहीं सकता। इसके विरुद्ध स्वार्थ-साधन-निमित्त कर्म तो मनुष्य को सर्वथा जकड ही देता है, उस में हानि-लाभ होने से तो स्वार्थी कर्ता लोग मरने जीने तक लग जाते हैं।

यज्ञकर्म की आज्ञा तो प्रजापति ने स्वयं ही दे रक्खी है। प्रजा और यज्ञ उस ने एकसाथ ही उत्पन्न किये थे और तभी प्रजाओंको कह भी दिया था कि इस यज्ञ के द्वारा ही तुम सब बढो फलो और फूलो तुम्हारी जितनी कामनाएं होंगी वह सब इसी के द्वारा सिद्ध हुआ करेंगी। मनोवाञ्छित सम्पूर्ण इष्टापूर्त सिद्ध करवानेवाली यही कामधेनु तुम्हें मैं देता हूं।

इस के द्वारा तुम देवताओं की सत्ता स्थिर करो तब तुम्हारी सत्ता स्थिर करें। इस प्रकार एक दूसरे को तृप्त, उन्नत, परिवर्धित, सुप्रसन्न करते हुए परम कल्याण के भागी बनों, देव तुम्हारे से सन्तुष्ट और तुम देवताओं से सुप्रसन्न। दोनों ही इस प्रकार परस्पर कल्याणकारी बने रहो।

जब यज्ञ करके देवताओं को तृप्त करलोगे तो वे मन चाहे भोग्य पदार्थ तुम्हें दान करेंगे तब यदि तुम उन के दिये पदार्थों को पहिले उन के अर्पण किये बिना भोगोगे तो चोर ही बनोगे।

देवयज्ञ में कुछ पदार्थ व्यय हो जायंगे, जो शेष बच रहेंगे उनका भोग लगाना तो सम्पूर्ण पापों से छुडाने वाला है, परन्तु जो पापी केवल अपने ही

लिये पकाते पकाते हैं यज्ञ के लिये नहीं वह अन्न खा रहे वे तो पाप ही भोग रहे हैं ।

प्राणी अन्नसे (वीर्यद्वारा) बनते हैं, अन्न बादलोंसे (वर्षाद्वारा) बनता है, बादल यज्ञसे (होमबाष्पद्वारा) बनता है, यज्ञ कर्मसे सिद्ध होता है !

कर्म प्रकृतिसे(रजो गुणद्वारा)उत्पन्न हुआ जान प्रकृति अविनाशी सर्वव्यापक भगवान्‌से उपजती है। इस प्रकार वास्तव में अक्षर निराकार की विश्वव्यापिनी साकार माया सदा ही यज्ञ में उस के मूलरूप से प्रतिष्ठित हो रही है, इसी लिये ही विष्णु का नाम भी यज्ञ है।

इस प्रकार यज्ञ ब्रह्मवेदमय चक्र अक्षर से ही चलाया गया है। उसी में अपना भाग लेना सबका स्वधर्म है। जो तदनुकूल नहीं विचरता वह तो विषय-लम्पट, पापात्मा, निरर्थक ही जीवन गंवा रहा है, उस का जीना ही उसका मरना है।

हां आत्मभक्त के लिये वास्तव में कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रह गया, उसे तो प्राणीमात्र से ही कोई स्वार्थ-सम्बन्ध शेष नहीं रह गया, अत: चाहे वह कुछ करे चाहे न, कुछ भेद इस से नहीं पडता। परन्तु ऐसा कोई विरला ही होता है जो अपने में ही इतना उलझा हुआ हो अपने आप में ही पूरा मस्त, पूरा तृप्त सुप्रसन्न हो, उसे इस से कोई प्रयोजन नहीं होता कि, उस से कोई कर्म हो रहा है अथवा नहीं हो रहा और न ही उस को किसी प्राणी से कोई प्रयोजन शेष रह चुका होता है।

परन्तु तू तो ऐसा त्यागी नहीं, साधारण गृहस्थी है, इस लिये कर्तव्यकर्म कर परन्तु सदा ही उससे असङ्ग भी बना रह, उस की सफलता-असफलता का प्रभाव अपनेपर पडने न दे। इस प्रकार आसक्ति बिना कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा जाता है।

इसी प्रकार कर्म करके जनक सरीखे महात्मा परम सिद्ध बन गये और उसी स्थिति में सदा के लिये टिक गये हैं।

संसार का भला करना यदि तुम्हारा आदर्श हो तो भी तुम्हें कर्तव्यकर्म ही करना उचित है।

क्योंकि तुम्हारे सरीखा उत्तम नेता जिस प्रकार का आचारविचार धारण करेगा साधारण जनता वैसा ही करेगी जिस का आप सत्य प्रामाणिक ठीक समझकर तदनुकूल चलोगे, जनता भी उसी का अनुकरण करेगी।

इसी न्यायानुसार मैं भी कर्म कर ही रहा हूं यद्यपि त्रिलोकी में मेरे जिम्मे कोई कर्तव्य नहीं है। तथापि मैं करता ही हूं इस लिये नहीं कि कोई वस्तु जो मुझे प्राप्त नहीं वह मुझे प्राप्त हो जाय, वरञ्च संसार को कुमार्ग में न चला दूं इसलिये, क्योंकि प्राप्त तो मुझे सदाही सब कुछ है।

हां यदि मैं आलस्य त्यज निरन्तर कर्म करना कभी त्याग बैठूं तो त्रिलोकी की व्यवस्था डांवाडोल हो जायगी, क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य मेरे मार्ग के ही अनुगामी हैं। अत: यदि मैं ही कर्म न करूं तो कोई भी न करेगा, लोकों का सिलसिला ही उखड जायगा, मेरे ही पाप से प्रजा का नाश हो जायगा, सम्पूर्ण गडबड वर्णसंकर आदि जो तुरन्त फैल जायगा वह सब मेरे कारण से होगा।

इस कारण विद्वानों को चाहिये कि संसार के भले की इच्छा रखते हुए वे भी उसी प्रकार कर्म करते चले जावें जिस प्रकार अविद्वान् जन कर्म में सर्वथा उलझे हुए किया करते हैं। हां! विद्वानों को बिना उलझे वही कर्म करने आवश्यक हैं। हे भरतसन्तान! यही तुम्हारे योग्य भी है।

कर्म में फंसे अविद्वानों के विचारों में गडबड न डाले वरञ्च स्वयं योगी विद्वान् भी सभी कर्मों का सेवन उन की न्यायीं ही करे, परन्तु उन की न्यायीं उन में फंसे नहीं।

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म तो प्रकृति के रज गुण से अन्य गुणों की सहायताद्वारा किये जा रहे हैं, परन्तु जीवात्मा अपने आप को ही कर्ता समझ बैठता है, ऐसा वह केवल अविद्या के कार्य भूत अस्मिता अहङ्कार के कारण ही मोह अज्ञान में उलझा हुआ ही समझ रहा है, वास्तव में वह कर्ता नहीं।

हे लम्बी भुजाओंवाले वीर! जिन लोगों को

प्रकृति के गुण, प्रकृति के कार्य, उन के परस्पर के सम्बन्ध से होनेवाले कर्म के पृथक् पृथक् वास्तविक भेदों का पता है, वह तो इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि गुण एक दूसरे से प्रभावित हो तथा दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं और इसी के परिणाम स्वरूप कर्म प्राणिमात्र कर रहा है; अतः वह जीव को कर्ता नहीं मानते अतः स्वयं भी कर्म के अच्छे-बुरे फलों में नहीं उलझते।

इन के विरुद्ध जो जीवात्मा प्रकृति के गुणों से प्रभावित हो अज्ञान में फंस चुके हैं, प्राकृतिक पदार्थ तथा उन पदार्थों के परस्पर कर्म उन जीवों को सर्वथा उलझा लेते हैं, ऐसे मन्दबुद्धि अज्ञानियों को तत्त्ववेत्ता, इन अधूरे ज्ञानवालों को पूर्ण ज्ञानी भ्रम में न डाले उन्हें अपनी धारणा अनुसार करता जाने देवे।

इस सारे व्याख्यान का सार यह है कि, हे अर्जुन! आप अन्तरात्मा से सम्पूर्ण अपने कर्म मेरे अर्पण कर डालो, न उन के फल की आशा रक्खो, न उन में अपना कर्तृत्व ही विचारो। केवल तुम उदासीनता घबराहट उद्वेग छोड मेरी आज्ञासे लड डालो क्योंकि वास्तव में न तुम कर्ता हो न मैं। प्रकृति ही क्रियमाण हो रही है अतः जो न्याय है, धर्म है, उसको कर ही तो डालो।

जो मनुष्य प्रतिदिन मेरे इस विचार के अनुकूल ही अपनी परिस्थिति बनाये रखते हैं, मेरी निन्दा सर्वथा नहीं करते, श्रद्धा से मेरे परायण होकर ही सब कुछ करते हैं वे भी सम्पूर्ण कर्मों के अच्छे-बुरे प्रभाव से छूटे हुए ही रहते हैं।

परन्तु जो इस की सर्वथा निन्दा करते हैं और मेरे इस विचार के अनुकूल अपनी स्थिति नहीं रखते उन अज्ञानी मूढों जडबुद्धियों को तो नष्ट ही हो चुका जान, वह तो सर्वथा अन्धेरे कूप में गिर चुके हैं, जहां ज्ञानका प्रकाश सर्वथा पहुंच ही नहीं सकता।

तू कर्म इस लिये भी त्याग नहीं सकता कि प्राणिमात्र और उन्हींमें तू भी सभी प्रकृतिस्वभाव के पीछे ही जाते हैं; देहों की प्रकृति में भी रजोगुण बडी मात्रामें विद्यमान् है। अतः कोई भी देहधारी अपनी देह को कर्म से सर्वथा रोक ही नहीं सकता चाहे कितना भी महाज्ञानी हो उसे भी अपने स्वभाव, जितनी रजोगुणकी मात्रा उस की देहमें विद्यमान् है उस के अनुसार चेष्टा, क्रिया, कर्म करनेही होंगे।

अतः वास्तविक विधि कर्मयोग की यही है कि मनुष्य इच्छाद्वेष, कामक्रोध, प्यारवैर के वशीभूत न हो जावे क्योंकि यही दो उसको उलटे मार्गमें चलाने के लिये प्रत्येक इन्द्रियके साथ उस का विषय-भोग होते समय सम्बद्ध हो जाते हैं और वहां टिक कर मनुष्यको ठगते हैं।

इस की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य बहुत जबरदस्ती अपनी देह के साथ करके उस से हार न जावे, वरञ्च जिधर को देह स्वाभाविकतया आत्मा को चलाती है उधर को ही चले; परन्तु राग-द्वेष से उसको कोई कार्य न करवाने दे। ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वधर्म होती है, उस का आचरण अच्छा रहता है चाहे वह प्रवृत्ति बहुत उच्च कोटि की न हो। जिधर अपनी प्रवृत्ति नहीं वह परधर्म है, तदनुकूल आचरण करना असम्भव सा ही होता है, अतः ऐसा करना उचित भी नहीं होता। चाहे मनुष्य समझे कि, मैं इसे बहुत उत्तम रीति से निभा सकता हूं फिर भी उस की अपेक्षा अपनी ही प्रवृत्ति के अनुकूल आचरण करना अच्छा रहता है। अपना निज धर्मपालन करते हुए तो मर जाना भी कल्याण-कर ही होता है, पराया धर्म भयानक ही होता है। अतः तू भी जिधरको तेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति है उस स्वधर्म क्षात्रधर्मरूप युद्ध का ही आचरण कर।

स्वधर्म करते करते मरना इस लिये कल्याणकर होता है कि अगला जन्म भी ऐसी योनि में मिलता है जहां वही जारी रक्खा जा सके।

अर्जुन ने पूछा कि, जब सत्य यही है कि मनुष्य को अपनी प्रवृत्त्यनुकूलही करना चाहिये तो फिर

पाप का कारण क्या बूझा जावे? वह कहता है कि:-

हे वृष्णिवंशावतंस! किस का लगाया हुआ यह पुरुष पाप करता है? यह पाप करना नहीं भी चाहता फिर भी जबरदस्ती इस से कोई पाप करवा ही डालता है वह कौन है?

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया कि, यह वैरी सब कुछ खा डालनेवाला, महापापी काम तथा क्रोध है जो प्रकृति के गुण रज से उत्पन्न होता है, इस को ही यहां अपना सब से बडा वैरी समझ यही सभी से पाप करवाता है।

जिस प्रकार धुंआ आगको ढक लेता है धूलि शीशेको मद्धम कर देती है जेर गर्भ को लिपटी रहती है, उसी प्रकार इस रजोगुणसे सत्त्व का सत् ढका हुआ रहता है।

प्राणियों के सदा के शत्रु इस रजोमूलक कामरूपी अत्यन्त कठिनतासे भरे जानेवाले समुद्र से तथा क्रोधरूपी न बुझनेवाली आगसे देहधारियों का सात्त्विक अन्तःकरण, शुद्ध ज्ञान, निर्मल बुद्धि ढकी हुई है।

बुद्धि ही नहीं वरञ्च मन तथा ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां तक भी इस के प्रभाव से नहीं बची रह सकतीं अतः। उनके आश्रय रहकर यह, देहधारी के ज्ञानको सम्पूर्णतया ढक लेता है, बुद्धि मूलसे इन्द्रिय पत्तियोंतक सारा ज्ञानवृक्ष ही इस व्याधि से ग्रसा जाता है और आत्मा सर्वथाही मूढ बन जाता है।

इसलिये पहिले तो हे भरतश्रेष्ठ! आप इन्द्रियों को इस से छुडाकर रोकिये, अपने वशमें कीजिये, इस प्रकार इन्द्रियोंद्वारा प्राप्य विज्ञान तथा बुद्धिमनद्वारा प्राप्य ज्ञानका नाशक यह पापी अपनी मौत आप ही मर जायगा।

इन्द्रिय अवश्य बलवती कही गयी हैं, परन्तु मन इन्द्रियों से कहीं अधिक बलवान् है, बुद्धि मन से भी परे अतीव बलवती है, परन्तु तेरा अपना आप तो वह है जो बुद्धिः से भी परे महाबलवान् है अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है।

इस प्रकार बुद्धिसे परले अपने आप को जान पहिचान कर और उसकी ही सहायतासे उसे ही रोककर उस पर से इस कामरूपी, रजरूपी दुर्जय शत्रु का प्रभाव सर्वथा हटा दो। इस प्रकार हे, दीर्घ भुजाओंवाले! इस शत्रु को मार। तब इसका प्रभाव तेरी बुद्धि मन इन्द्रियां सभी पर से दूर हो जावेगा और तू सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, सर्वथा रजविकार से रहित हो जावेगा, उस दशामें चाहे कुछ करना फिर तू निर्लेप ही बना रहेगा॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

अध्याय चौथा।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहौर.)

श्रीभगवान् बोले -

मैं ने ही यह कहा था, अविनाशी शुभ योग।
विवस्वान् को आदि में, उस ने सिखाया योग॥ १॥
मनु को, जिससे सीख फिर, इक्ष्वाकु महाराज।
योगीवंश चला गये, सूर्य जो रहा विराज॥ २॥
इस क्रम से हुए प्राप्त इस, को राजर्षि लोग।
जान गये सम्यक् तया, ज्ञानकर्म शुभ योग॥ ३॥
बहुत समय गया बीत तब, योग हो गया नष्ट।
परम तपस्वी धनंजय, इसी लोग से भ्रष्ट॥ ४॥
वही योग तुझे आज फिर, कहा मैं हे निष्पाप!।

उत्तम गुह्य रहस्य यह, भक्त सखा मम आप ॥५॥

अर्जुन बोला-

पीछे हुआ जन्म आप का, विवस्वान् का पूर्व।
कैसे निश्चय हमें हो आप योग कहा पूर्व ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् ने कहा-

बहुत जन्म गये बीत हैं, तेरे मेरे हे वीर!
मैं जानूं उन सभी को, नहीं तुम अर्जुन! धीर ॥ ७॥

अविनाशी हूं मैं आत्मा, जन्मरहित अतिसूक्ष्म।
पञ्च तत्त्व सभी प्राणियों, का ईश्वर हूं सुसूक्ष्म ।८॥

फिर भी धारूं आकार में, माया ही निजसे।
प्रकृति पर आरूढ हो, शक्ति ज्ञान निजसे ॥ ९॥

अपने ही स्वभाव से, प्रकृति में सुविकार।
उत्पन्न कर सकूं ले, जब चाहूं अवतार ॥ १०॥

जब अधर्म अरु पाप जब, अति उन्नत हो जाय।
धर्म की हानि हो बहुत, अधोगतिः हो जाय ॥११॥

हे भारत! तब जन्म मैं, स्वयं ही लेता धार।
पाप-जन का नाश हो, साधुओं का उद्धार ॥ १२ ॥

धर्म यूं फिर हो जाय दृढ, इसी लिये लूं जन्म।
प्रतियुग में हे वीर! मैं, स्वेच्छा से दिव्य जन्म ॥१३॥

इस प्रकार के कर्म अरु, जन्म को ले मेरे जान।
दिव्य ही जो कोई भक्तवर इन को ले पहिचान ॥१४॥

त्यज कर अपनी देह तब, जन्म न फिर वह ले।
मेरे पास ही जाय आ, तत्त्व समझ यदि ले ॥१५॥

ज्ञानरूप तप इसीसे, वैरागी सुपवित्र।
भय अरु क्रोधको त्यज कोई, मेरे भाव सुपवित्र ॥१६॥

को गये पहुंच ही सर्वथा, मेरे परायण हो।
मुझे ही, हो गये प्राप्त वे, मम आश्रित सभी हो ॥१७॥

उन्हें मैं त्यों ही सेवता, जो मुझे हों ज्यूं प्राप्त।
सभी भक्त हे पृथासुत! मार्ग मेरेको हों प्राप्त ॥१८॥

उस परही वे चलें सदा, पर कोई पूजें देव।
इस जगमें रख कर्मकी, सिद्धिकी चाह स्वयमेव ॥ १९ ॥

शीघ्र ही सिद्ध हो जायं वह, कर्म में अपने प्रवीण।
इसी मानुषी जन्म में, सिद्धि देवाधीन ॥ २० ॥

पर सरजा मैं ने स्वयं, कर्म अरु गुणको बांट।
चार जातिका वर्ण शुभ, कर्म मानुषी बांट ॥ २१ ॥

स्रष्टा, हर्ता, विधाता, मुझे ही तू पहिचान।
वर्ण चतुष्टय का सदा, अविनाशीश्वर मान ॥ २२ ॥

इन कर्मों के फलोंकी, भी न मुझे कोई चाह।
मुझे फंसा भी सकें न, यद्यपि कर्म अथाह ॥ २३ ॥

ऐसा जो मुझे समझता, याथातथ्य स्वरूप।
बांध उसे सकें कर्म न, वह निर्लेप स्वरूप ॥ २४ ॥

इसी भेदको जानकर, पूर्वज कर गये कर्म।
रख मुक्ति की चाह शुभ, पाल गये निज धर्म ॥२५॥

पहिले पहिले पूर्वजों, ने भी किया निष्पाप!।
कर्म जो था कर तू वही, इसी लिये हर ताप ॥ २६॥

कर्मविषय अति गूढ है, कवि भी घबरा जायं।
कर्म कौन सा है, नहीं, बूझ न वह यह पायं ॥ २७॥

सो मैं तुझे बताऊंगा, कर्म कौन निष्पाप!।
जान जिसे छुट अशुभसे, तू जाय हो निष्पाप ॥२८॥

तीन विषय यहां ज्ञेय हैं, कर्म अकर्म विकर्म।
गूढ है अति गति कर्मकी, अतः जान त्रय मर्म ॥२९॥

कर्मरहितता में जिसे, पूर रहा ही कर्म।
दिखे, कर्म में अकर्मता, वही जानता मर्म ॥ ३० ॥

कर्म समग्र वह कर चुका, योगी वही महान्।
सारी मनुज-समाज में वही सुबुद्धिमान् ॥ ३१ ॥

इच्छा फुरना त्याग ही, हों समग्र आरंभ।
जिसके सभी सुकर्म शुभ, योग उसका आरंभ ॥३२॥

बुद्धिमान् पण्डित उसे, ही कहें नर सुश्रेष्ठ।
कर्म भस्म किए ज्ञानकी, अग्निमें जिसने श्रेष्ठ ॥३३॥

आसक्ति त्यज कर्मके, फलमें जो हे वीर!
हो आश्रित नहीं किसीके, सदा तृप्त अरु धीर ॥३४॥

हो कर्मों में रहे लगा, फिर भी रहे निर्लेप।
करता रहता सभी कुछ, कुछ न करे निर्लेप ॥ ३५ ॥

फंसना लालच त्यज दिये, जिसने सर्व प्रकार।
आशा न रक्खी कोई भी, आत्मा योग लिया धार ।३६॥

वश में लिया कर चित्त निज देहसे ही कर कर्म।
पाप से हो कभी लिप्त न, लगे उसे न अधर्म ॥३७॥

स्वतः ही मिल जाय उसे जो, उसीसे हो सन्तुष्ट।
निन्दा किसी की न करे, सबसे सदा सन्तुष्ट ॥३८॥

जोड़ों से रहे पृथक ही, हानिलाभ इकसार।
हर्षशोक से रहित जो, कर्म उसके निस्सार ॥३९॥

बांध उसे कभुं न सकें, नष्ट सभी हो जांय।
जो यज्ञ के ही लिये, करे सो मुक्ति पाय ॥४०॥

जिसने ज्ञान सम्भाल कर, टिका लिया निज चित्त।
आसक्ति दी दूर कर, मुक्त हुआ वही नित्य ॥४१॥

ऐसे सज्जन के लिये, जगत ब्रह्ममय हो।
चमचे, आहुति, अग्नि अरु होता भी ब्रह्म हो ॥४२॥

यज्ञ भी उस का ब्रह्ममय, यज्ञप्राप्य वही ब्रह्म।
ब्रह्म में आत्मिक विस्मृतिः कर्म यह उस का ब्रह्म ॥४३॥

ऐसे योगी यज्ञ से, करें यज्ञ का हवन।
यज्ञाग्नि उसी ब्रह्म में, करें निजात्मिक हवन ॥४४॥

इन से निचले उपासक, देव यज्ञ विस्तार।
कुण्ड के बैठे ओर चहुं, देवस्तुतिः उच्चार ॥ ४५ ॥

रहे वेद के मन्त्रके, रूप में देव आराध।
हुए देवसम्बध वे, करें न तद्-अपराध ॥ ४६ ॥

इन्द्रियसंयम तीसरे, कर्णादि का धार।
राजयोग मय यज्ञ शुभ, जग में रहें विस्तार ॥४७॥

चौथे योगी निरिच्छ हो, विषयसेव रहे सर्व।
शब्दादि निज इन्द्रियों, से, पर करें न गर्व ॥४८॥

जिनका ज्ञान प्रचण्ड है, आत्मा को वह संभाल।
प्राण अरु इन्द्रिय क्रिया सब, ध्यानसे रहें संभाल ॥४९॥

आत्मिक संयम योग की, प्रज्ज्वालित कर आग।
सर्व कर्म का हवन यूं, करते वे महाभाग ॥ ५० ॥

यूं यतिजन कर महाव्रत यज्ञ पञ्च विस्तार।
ज्ञान, योग, स्वध्याय अरु, तप, पदार्थ, रहे वार ॥५१॥

उसी महाप्रभु ब्रह्म पर, स्वयं ही जो यज्ञरूप।
पूजार्ह जो सर्वथा, जग समग्र का भूप ॥ ५२ ॥

प्राणायामी भक्तजन, गतियां प्राण की रोक।
आना जाना सर्वथा, मनबुद्धि रहे टोक ॥ ५३ ॥

उन में से एक प्रश्वासको, फैंक अरु बाहर रोक।
अन्दर आना श्वास का, देते सर्वथा टोक ॥५४॥

दूजे उन में श्वास को, खींच अरु अन्दर पूर।
प्रश्वासबहिरागमन, करें सर्वथा दूर ॥५५॥

तीजे तुरत ही रोक दें, बाहर ही प्रश्वास।
अन्दर ही दें रोक वे, उसी समय निज श्वास ॥५६॥

चौथे करें वह कठिनतम, सर्वोत्तम ही योग।
अल्पमिताहारी सदा, प्राणायामी लोग ॥ ५७ ॥

प्रश्वास अरु श्वास दोऊ, सूर्य द्वार में रोक।
सभी पवन वहां हवनकर, बेरोक बेटोक ॥५८॥

साधें आत्मा की गती, पायें सनातन ब्रह्म।
भोग यज्ञशेषाऽमृत, किसे मिले नहीं ब्रह्म ॥ ५९ ॥

सभी ये योगी जानते, तत्त्व यज्ञ का सार।
पाप उन सबके नष्ट हों, जो रहे हवन प्रचार ॥ ६० ॥

पाय न सुख इस लोक में, भी न करे जो यज्ञ।
परलोक में पाय कब, हे अर्जुन सुप्रज्ञ! ॥ ६१ ॥

उच्चगतिः नहीं पा सके, न पाये नरलोक।
यज्ञविमुख मतिहीन नर, सारे गंवावे लोक ॥६२॥

बहु प्रकार के यज्ञ यूं, विविध प्रकार प्रसार।
रहे विष्णु मुख में सदा, विविध अहुतियां डार ॥६३॥

कर्म से ही उत्पन्न उन, सब को ही तू जान।
पाप से ही तू सर्वथा छुटे यह तत्त्व पहिचान ॥६४॥

परम तपस्वी! ज्ञानमय, यज्ञ ही होता श्रेष्ठ।
पदार्थवाले यज्ञ से, भावही माना श्रेष्ठ ॥६५॥

हों समाप्त शुभ ज्ञान अरु, भव में ही सब कर्म।
हे कुन्तिसुत! ज्ञान अरु, भावसंशुद्धिः धर्म ॥ ६६ ॥

सेवा कर गुरुजनों, की प्रश्नोत्तर सुखकार।
कर दण्डवत् उन्हीं को पाओ ज्ञान सुखसार ॥६७॥

परमतत्त्व परमात्म भी, ज्ञानियोंने लिया देख।
वही तुम्हें उपदेश उस ज्ञान का दें शिष्य देख ॥६८॥

जान उसे फिर मोहमें, यूं न पडे तू वीर!।
इक आत्मा में, मुझी में, उस से देखें धीर ॥६९॥

हुए पिरोए सर्वथा, प्राणि सभी निःशेष।
प्राणि सभी ही आत्ममय, ज्ञानी देखे अशेष ॥७०॥

सभी पापियोंसे अधिक, यदि महापापी हो।
तो भी नौका ज्ञानकी, से तू जायगा हो ॥ ७१ ॥

भवसागरके पारही, पावे सकलके पार।
निश्चय ज्ञानसहायता, से हो बेडा पार ॥ ७२ ॥

अग्निः हुई प्रचण्ड ज्यों, ईन्धन सभी जला।
देती है कुछ ही काल में, त्यों ज्ञानाग्नि जला ॥७३॥

सभी कर्म कुछ काल ही, में कर देती राख ।
हे अर्जुन! अतः जगत में ज्ञान ही रखता साख ॥७४॥

इस सम और पवित्र न, विद्यमान् जग मांह ।
ज्ञान सदा ही मानिए, भक्तोंके लिए छांह ॥ ७५ ॥

पर सिद्ध हुआ योग में, जो हो सर्व प्रकार ।
उचित समय पर आत्म में, पाये स्वयं सुखसार ॥७६॥

वही ज्ञान यति पांय जो, इन्द्रियगण को रोक ।
परमात्मा के परायण, श्रद्धालु सभी लोक ॥ ७७ ॥

योगी पा ब्रह्मज्ञान वह, शीघ्र हो जांय सुशान्त ।
ब्राह्मी परमा शान्तिः, करें वह प्राप्त नितान्त ॥ ७८ ॥

अज्ञानी श्रद्धारहित्, संशयग्रस्त, हो नाश ।
दुविधा में जो रहे पडा, पाय न सुख प्रकाश ॥ ७९ ॥

यही लोक नहीं सिद्ध उस, का हो, न हो परलोक ।
मनुज की योनि पाय न, पाय न कोई उच्च लोक ॥८०॥

तत्त्वविवेक से हर लिये जिसने संशय सर्व ।
निष्कामता योग से, नष्टकर्म किये सर्व ॥ ८१ ॥

आत्मा, अन्तःकरण मन, बुद्धिः इन्द्रिय सर्व ।
जिसने युक्त किये सभी, आत्मयोग में सगर्व ॥८२॥

कर्म उसे सकें बान्ध न, कभी हे अर्जुन वीर ! ।
संग्रामजित् ! कुरुसुत !, कौरवश्रेष्ठ ! सुधीर ! ॥८३॥

भरतवंशअवतंस हे !, काट अज्ञान-उत्पन्न ।
संशय मोह यह निजी अब, जिससे हृदयसम्पन्न ॥८४॥

आत्मज्ञान तलवारसे, काट इसे, कर योग ।
उठ हे वीर ! सब युद्ध कर, निष्काम यही योग ॥८५॥

गीता-विषयक नवीन विचार।

चतुर्थ अध्याय ।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहोर.)

श्रीभगवान्ने कहा:—

यही अविनाशी योग मैंने पहिले विवस्वान् को कहा था, विवस्वान्ने मनु को यही कहा और मनुने इक्ष्वाकु महाराज को इसी का उपदेश किया । इक्ष्वाकु महाराजा हुए इसे प्राप्त कर राजर्षि कहलाये । इस प्रकार क्रम से यह राजर्षियोग बन गया और एक से दूसरे राजर्षि ने सीखा और अगले को सिखाया । इस प्रकार यह क्रम चिरकाल चलता रहा, परंतु तत्पश्चात् जनता को यह योग बहुत पुराना होनेके कारण भूल भुला गया।

हे परमतपस्वी ! वही प्राचीन योग मैं यह तुझे आज कह डाला है । यद्यपि यह बडा गूढ गुप्त उत्तम विषय है, परन्तु तू तो मेरा मित्र हैं, भक्त है, तुझसे कैसे यह छिपाये रख सकता था अतः तुम्हें सब समझा दिया।

अर्जुन को संशय हुआ, वह बोला—

भगवन्, आपका जन्म तो विवस्वान् के जन्म के बहुत चिर पीछे हुआ है, फिर हमें यह निश्चय कैसे हो सकता है कि, आपने ही पहिले यह विवस्वान् को सिखाया था ।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—

हे अर्जुन ! मेरे भी तेरे भी जन्म बहुत से इस से पूर्व हो चुके हैं । मैं तो उन सबके विषय में जानता हूं, परन्तु हे परन्तप ! आप नहीं जानते । कारण यह है कि, मैं तो अपनी इच्छा से जन्म स्वयं ही जब चहूं ले लेता हूं, कोई मुझे विवश करके जन्म नहीं दिलाता। जब जब मैं अनुभव करता हूं कि, धर्म की भारी हानि हो चुकी है और अधर्म उन्नतिशिखर पर चढ गया है, तब मैं पापियों को चूर्ण करने के लिये और साधुओं को बचाने के लिये तथा धर्मको

फिर से संसार में उन्नत तथा दृढ करने के लिये मैं प्रत्येक युग में अपने आप को जन्म दिलाता हूं।

यद्यपि मैं अजन्मा हूं, अविनाशी हूं अत्यन्त सूक्ष्म सर्वव्यापी आत्मा होनेके कारण, सम्पूर्ण तत्त्वों तथा प्राणि—अप्राणियों का अधिष्ठाता भी हूं, फिर भी उपरोक्त परोपकार-कार्य के लिये, मैं अपनी ही स्वाभाविकी ज्ञान बल, क्रिया से, प्रकृति को वश में रख, उसे विकृत कर अपने लिये उससे शरीर रच कर प्रगट हो जाता हूं और निज कार्य-सम्पादन कर फिर उसी के उलटे क्रमसे निज माया सम्वर्ण कर लोप हो जाता हूं, यूं निराकार से साकार हो फिर निराकार ही हो जाता हूं।

इस प्रकार मेरा जन्म तथा कर्म तो अलौकिक ही होता है, दिव्य होता है, यह रहस्य जो यथार्थतया जान जाता है। हे अर्जुन ! ऐसा ज्ञानी जब इस संसार से प्रयाण करता है तो मेरे ही पास पहुंच जाता है अर्थात् इस देह को त्याग फिर वह नयी देहग्रहण नहीं करता, मरकर फिर जन्मता नहीं, वह तो भगवद् प्राप्त मुक्त अमर हो जाता है।

इस प्रकार बहुत से वैरागी भय और क्रोध को सर्वथा त्याग कर, ज्ञानरूपी परम तप से सुपवित्र होकर, केवल मेरा ही आश्रय पकड, मेरी स्थिति में ही आ विराजे हैं, सर्वथा कृष्णमय ही हो चुके हैं। जो मेरी ओर जिस भावना से आते हैं, मैं उन का सेवन उसी भावना से करता हूं, शत्रुओं का संहारक, भक्तों का प्रेमपात्र मैं ही हूं। इस प्रकार, हे कुन्तीपुत्र ! सभी मनुष्य मेरे ही निश्चित् किये विविध मार्गोमें, मुझ से ही सम्बद्ध हुए, मेरी ही भावना अनुकूल चलते हैं।

कोई देवताओं के प्यारे बनने के इच्छुक उन के निमित्त यज्ञ करते हैं, वह यह चाहते हैं कि, सांसारिक कार्य उन के सिद्ध हो जावें सो इस मनुष्यलोक में कर्म, देवताओं की सहायता से, बहुत ही शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं, ब्राह्मण देवता पूजते हैं, क्षत्रिय यक्ष राक्षस आदि।

ये सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूपी वर्ण चतुष्टय मैंने ही उन के स्वाभाविक गुणों तथा कर्मों में भेद डालकर उत्पन्न कर दिये हैं। मुझे ही, हे अर्जुन ! उन का कर्ता धर्ता हर्ता सभी कुछ तू समझ रख। सदा से मैं अविनाशी आत्मा ही जग का स्रष्टा तथा हर्ता हो रहा हूं।

परन्तु, क्योंकि मुझे इन कर्मोंके फल की तनिक भी इच्छा नहीं इसी लिये इन कर्मों का प्रभाव भी मेरे ऊपर कुछ नहीं पडता और जो मेरे सम्बन्ध में यह तत्त्व सर्वथा समझ जाता है उस को भी कर्मों के फल की तनिक भी इच्छा नहीं रहती। इसी लिये उस पर भी कर्मों का प्रभाव पडना बन्द हो जाता है, कर्म उसे बिलकुल बान्ध नहीं सकते।

इस भेद को जानकर पूर्वज मुक्ति-इच्छुक सन्तोंने भी जीवन भर कर्म कियेही थे, अतः तू भी हे, वीर ! उन्हीं की न्यायीं यह रहस्य समझ कर कर्म करता ही चला जा। वही निष्काम कर्म जो इक्ष्वाकु जनक आदि पूर्वज राजर्षि भी पहिले कर गये हैं। धर्मयुद्ध वे भी करते रहे तू भी कर, पर फलसे निश्चिन्त हो कर।

बडे बडे ज्ञानी कवि भी इस विषय में चक्कर खा जाते हैं, वह भी निर्णय नहीं कर पाते कि कर्तव्य कौनसा है, अकर्तव्य कौन सा। अतः मैं यही भेद तुझे समझता हूं, जिसे निश्चयपूर्वक बूझकर तू पाप से सर्वथा छूट जायगा। कर्म का विषय ही अब तुझे बतलाता हूं।

तीन प्रसङ्ग जानने योग्य हैं कर्म, विकर्म और अकर्म। ऐसा किये बिना कर्मकी गूढ गति, गुप्त भेद समझ नहीं आते।

जो किसी कर्मयोगी को बडे आडम्बरवाले साम्राज्यादि कर्म निबाहते हुए तो यह अनुभव करता है कि, इसके कर्म तो अपने आप ही होते जा रहे हैं, स्वयं इसे कुछ करना नहीं पडता, न इसे राजा होने का घमण्ड, चिन्ता आदि ही हैं और जो एक बने हुए बगुले भक्त को निष्क्रिय देखकर

समझ लेता है कि, यह धूर्त मन में न जाने कितनी ठगी के उतार चढाव सोच रहा है, वही पुरुषों में बुद्धिमान् समझना चाहिये, वही योगी वही सम्पूर्ण कर्मोंका वास्तविक कर्ता है। क्योंकि कर्मतत्त्व उस की समझ में आ गया है तो वह भी कर्मपाश से बद्ध अब सर्वथा नहीं होगा।

बडे से बडे कार्य आरंभ करते समय भी, जो उन के फल से प्रेरित नहीं होता, सभी जो निरिच्छ हो कर ही करता है, जिसे तनिक भी फुरना मन के मोदक पकाने का नहीं उठता उसे ही ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं, क्योंकि अपनी पण्डा, बुद्धि, ज्ञानाग्नि से उस ने सम्पूर्ण कर्ममात्र का बीज ही फूंक डाला है।

इस प्रकार कर्म के फल में उलझना जिस ने छोड रक्खा है और जो जग में किसी का आश्रय ढूंडता नहीं फिरता, सदा ही सुतृप्त रहता है, वह कर्मों में चाहे कितना जुटा हुआ दिख पडे वास्तव में वह कुछ भी कर नहीं रहा। क्योंकि उस के कर्म तो केवल शरीरमात्र से ही हो रहे होते हैं, आत्मा तो निर्लेप ही रहता है। अतः कर्म करते हुए को भी उसे पाप लगता ही नहीं क्योंकि कर्म करते समय उस ने सब प्रकारका लोभलालच आसक्ति सर्वथा त्याग रक्खी हुई है, आशा कोई रक्खी ही नहीं और चित्त, आत्मा सर्वथा अपने ही वश में रक्खा हुआ है, कर्म के वश में विवश नहीं कर दिया। ऐसे योगी पर कर्म का प्रभाव पडता ही नहीं।

कर्म करके उसके चक्कर में उस ने क्या पिस चुकना था, जो कर्म की सफलता पर हर्ष से प्रफुल्लित और कर्म की निष्फलता पर शोक से उद्विग्न नहीं हो जाता, किसी की निन्दा करता नहीं, किसी से वैर किसी से प्रेम इस झमेले में पडता नहीं, गर्मी सर्दी में घबराता नहीं, और जो कुछ निज कर्म, स्वधर्म, पालते पालते उसे मिल जाय, उसीसे बडे सन्तोष के साथ आनंदित मन से अपना जीवन निर्वाह चलाता जाय। ऐसे आसक्तिरहित, मुक्त, ज्ञानकी सहायता से चित्त को सदा टिकाये रखनेवाले योगी का सम्पूर्ण कर्म अपने आप ही विलीन, लुप्त होता जाता है। क्योंकि अपने लिये तो उस ने कुछ किया ही नहीं। यज्ञ के लिये, परोपकारके लिये, परमात्मा देवता आदि के नाम पर ही किया है, अतः उसे उन कर्मोंका लेशमात्र भी बन्धनमय परिणाम नहीं प्राप्त होता। संसार का भला उस के कर्मोंद्वारा बहुत हो जाता है। उस का जीवन कर्मपाश मुक्त रह जाता है। कर्म उसके लिये सभी मानों हुए ही नहीं।

ऐसा योगिराज संसार को ब्रह्ममय ही अनुभव करता है। चमचे, आहुति, अग्नि, होता, सभी उसे ब्रह्मरूप ही दिखाई पडते हैं। होता जिस देव को प्राप्त होने निमित्त यज्ञ कर रहा है, वह देव भी उसे ब्रह्ममय ही दिखाई पडता है। जिस समाधिद्वारा भक्त भगवान् को मिलना चाहता है, वह आत्मविस्मृति–भगवत्स्मृति रूपी कर्म भी उस योगी को ब्रह्मरूप ही दिखाई पड रहा है।

इस प्रकार सर्वोच्च भक्तजन तो परमात्मरूपी अग्नि में अपने सर्वश्रेष्ठ कर्मरूप यज्ञ की ही आहुति डाल देते हैं अर्थात् यज्ञ भी ब्रह्मार्थ ही करते हैं। पूजा की भावनारूप यज्ञ की सहायता से ही वह ऐसा करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार पूरी श्रद्धा से पूजार्ह भगवान् की प्रसन्नता निमित्त ही श्रेष्ठतम कर्म में आयु बिताना ही ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ का हवन करना है। परमात्मा के ध्यान में अपने आप को भूल जाना भी ब्रह्माग्नि में यज्ञद्वारा यज्ञ का होम करना ही है।

दूसरे योगीजन देवयज्ञ पूरी श्रद्धा तथा ध्यान से करते हैं, देवताओं से सम्बद्ध हो दिव्य शक्ति प्राप्त करते हैं। आग में आहुतियां डाल देवताओं को प्रसन्न करते हैं।

कर्ण आदि इन्द्रियों को हवन संयम की आग में तीसरे योगीजन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को सर्वथा रोकने रूप योग को साधते हैं।

चौथे सन्त शब्द आदि विषयों का हवन इन्द्रिय-रूपी आग में करते हैं अर्थात् इन्द्रियों के आधीन स्वयं न हो कर अपनी स्वेच्छा से इन्द्रियों को विषय

भोग में चलाते हैं, पर उस आसक्त नहीं होते, निष्काम कर्म-अनासक्तियोग-साधते हैं।

समग्र प्राणोंकी गति, कर्म तथा इन्द्रियों का कार्य, मनके फुरने, इन सभी को सर्वथा बन्द कर देना ही इन का आत्मसंयमयोगाग्नि में हवन करना है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता महाज्ञानी ही यह अग्नि प्रज्वलित कर सकते हैं। ऐसे ध्यानी पांचवें योगी हैं।

पदार्थोंका परमात्मा, देवता, परोपकार आदि निमित्त अर्पण, तपों का इन्हींके निमित्त अनुष्ठान, योगाभ्यास में इन्हींके निमित्त लगे रहना, स्वाध्याय भी इसी निमित्त करना, यह पांच यज्ञ, महाव्रतोंके धारी, ब्रह्मचारी, संयमी, मिताहारी योगी, पांचोंही प्रकार के सन्त पृथक् पृथक् एक एक करते हैं।

परंतु छटे प्राणायामी योगाभ्यासी होते हैं, जो आहारयोग साधकर, ब्रह्मचर्य धारण कर, चार प्रकारके प्राणायाम साधते हैं। यथा-

(१) प्रश्वास बाहर फैंक वहीं रोक दिया, चिर तक श्वास अन्दर आने ही न दिया। अर्थात् प्राणका अपानरूपी आग में हवन कर दिया।

(२) श्वास अन्दर खींच लिया, वहीं भर रक्खा, चिरतक प्रश्वास बाहर निकलने ही न दिया। अर्थात् अपान का हवन प्राणरूपी आग में कर दिया।

(३) श्वासप्रश्वासकी गति एकदम ही एक साथ ही तुरन्त जहां की तहां ही रोक दी, न श्वास खींचा, न प्रश्वास छोडा।

(४) सूर्यद्वार में सभी प्राणोंकी गति रोक, आत्मा की बेरोक गति, लोकेषु कामचार प्राप्त करना सम्पूर्ण प्राणों का हवन कहलाता है।

सूर्यद्वारमें प्राण रुकने पर देहाध्यास आत्माको भूल जानेसे देह के दुःखसुख की भान आत्माको सर्वथा नहीं रहती, अतः सम्पूर्ण प्राणक्रिया रुक चुकी होती है, इसके लिए पहिले प्रथम प्राणायाम की धारणा दृढ करनी होती है, फिर दूसरेकी, फिर चौथा करनेमें पहिले के साथ दूसरा मिलाकर दोनों मिलके एक चौथा बनता है। इसमें बाहर प्रश्वास फैंका, रोका, अन्दर श्वास लौटने लगे तो उसे धक्का दे बाहर ही रहने देना। जब यह न हो सके तब अन्दर श्वास खींचना रोकना। फिर बाहर प्रश्वास निकलने लगे तो उसे धक्का देकर अन्दर ही रहने देना। इतना मिलकर एक चौथा प्राणायाम पूरा हुआ। इसमें श्वासप्रश्वास निरंतर लडनेसे प्राण सर्वथा आत्माके वशमें हो जाता है और सुगमतया गतिरहित हो जाता है तब देह मुर्दासा हुआ, आत्मा स्वतन्त्र स्वच्छन्द लोकोंकी सैर यथेष्ट प्रकार करता है। अन्त में मरणसमय देह त्यागते समय प्राणमय कोष भी देहमें ही छोड जाता है। आप तेजोमयरूप में ही जाकर मनमें एक विचार के उठने में जितना काल लगता है, उतने कालमें ही सूर्य में जा पहुंचता है। आगे आगे उसका मार्ग बिलकुल सुगम, सरल होता है। सूर्यप्राप्ति ही कठिन है सो चौथे प्राणायाम से प्राणमय टूटने पर ही होनी सुगम है, अन्यथा बडी कठिन। हां भाग्य से कोई आत्मदर्शी परमात्मदर्शी मिलें तो सब कुछ सरलतया ही प्राप्त हो जाता है। अस्तु !

यज्ञरहस्य के वेत्ता, उपरोक्त सभी यजमान अपने पाप उस यज्ञद्वारा सर्वथा नष्ट कर डालते हैं और यज्ञके लिये जितने भी आवश्यक हैं, उतने द्रव्य, तप, योग, स्वाध्याय, ज्ञान आदि उस में व्यय करके शेष इन्हीं सब का स्वसुखार्थ उपयोग करनेवाले वे यज्ञशेषामृतभोजी सनातन प्रचानतम नवीन भगवान् ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, ब्रह्मलोक में जा विराजते हैं।

परन्तु जो यज्ञ नहीं करते उन्हें इस जन्म में भी सुख नहीं मिलता फिर मनुष्यजन्म भी स्यात् ही मिले। मरने पीछे उत्तम दिव्य लोक तो क्या मिल सकने थे हे कुरु के सर्वोत्तम वंशज ?

इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ विस्तृत हो कर विष्णु भगवान् के मुख में विविध प्रकार की आहुतियां डलवा रहे हैं, वे सब कर्मसे ही उत्पन्न हुए समझ। वेदोक्त भगवद्वाणी के अनुसार किये कर्म ही यज्ञ होते हैं। सब मनुष्य को भगवान् से सम्बद्ध कर सकते हैं। यह यज्ञविषयक ज्ञान होने पर यज्ञ में भावना

दृढ हो जाती है और अयज्ञ कर्म यजमान से स्वतः सर्वथाही छूट जाते हैं, अशुभ से छूट बन्धन से सदा के लिये छुटकारा पा जाता है।

हे परमतपस्वी! पदार्थोंवाले यज्ञों से विचार तथा भावनावाला ज्ञानोक्त कर्मानुष्ठानरूप यज्ञ बहुत अधिक कल्याणकर होता है क्योंकि सम्पूर्ण कर्ममय यज्ञों का अन्तिम शुभ फल तो तत्त्वज्ञान का वास्तविक अनुभव ही है। हे कुन्तीसुत! ज्ञान जिस को हो गया फिर उस के लिये न कोई कर्तव्य रह गया न कोई अकर्तव्य। कर्मों के विषय में उसका उत्तरदायित्व रहता ही नहीं।

वह यज्ञ तो गुरुओं के आगे दण्डवत, उन की सेवाशुश्रूषा, उन से प्रेममय प्रश्नोत्तर करने से ही तू जान लेगा। क्योंकि ऐसी वार्तों से प्रसन्न हुए वे परमात्मदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश कर ही लेंगे, ऐसे ज्ञान का जिसे जान तू इस बार की न्यायीं फिर भुलावे में कभी नहीं आयेगा। औरहे पाण्डुसुत! जिसे प्राप्त कर के तुम्हें निश्शेष प्राणि-अप्राणि मुझ में अथवा स्वयं तुझ में अथवा इकरस सर्वव्यापक परमात्म-तत्त्व में ही पिरोये हुए दीख पडेंगे और सर्वथा द्वैत भावना ही तेरी उड जायगी और तुझे निश्चय हो जायगा कि, वास्तव में एकही तत्त्व विविध रूपों में प्रकट हो रहा है, अतः किस ने किस को मारना मरवाना था।

उसी ब्रह्मज्ञानरूपी नौका से ही तू सम्पूर्ण पाप-सागर को तर जायगा, चाहे सभी पापियों से भी बढकर तू महापाप कर्ता ही क्यों न हो फिर भी तुझे ब्रह्मज्ञान सर्वथा शुद्ध पवित्र कर देगा और पाप सब तुझ से छुट ही सर्वथा जावेंगे।

जिस प्रकार प्रचण्ड आग इन्धनों को जलाकर राख कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! ब्रह्मज्ञान-रूपी अग्निसे सम्पूर्ण कर्म सर्वथा क्षीण, भस्म, प्रभाव-रहित हो जाते हैं, तब ज्ञानी को न कर्मों की इच्छा रहती है, न उन में वह फंसता है और न ही उस पर उन का प्रभाव ही पडता है। उस के लिये कर्म कभी के भस्म हो चुके होते हैं।

ज्ञान जैसा पावन, पापमलनाशक, दूसरा इस जग में कोई विद्यमान् नहीं; परन्तु जो योग में पूर्णतया सिद्ध हो जावे, उसे समय पर अपने ही अन्दर वह ब्रह्मज्ञान विद्यमान् मिलता है, तब उस के पाप-ताप सब नष्ट होकर वह मुक्त हो जाता है।

जो ज्ञानप्राप्ति के साधनों में जुट जावे, इन्द्रियां वश में रख ब्रह्मचारी बना रहे, श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करता हो, वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ही लेता है। ज्ञान-प्राप्ति के पिछे बडी जल्दी पराशान्तिः ब्राह्मी शान्तिः उसे प्राप्त हो जाती है, वह सर्वथा भवपापताप-रहित आनन्दमय, परम शान्त, इकरस, शिव बन जाता है।

परन्तु यह ज्ञान तो जिसे मिले न, न ही उस में इतनी श्रद्धा हो कि वह ज्ञानप्राप्तिके लिये योग्य प्रयत्न कर सके, उसे तो फिर ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, वह बिचारा दुविधा संशय में ही दिनरात उलझा रह कर सर्वथा नष्ट हो जाता है। ऐसे संशयमय हुए हुए को तो सुख नहीं मिल सकता, न उस को इस जन्म में, न अगले जन्म में सिद्धि मिलती है। उसे आगे को मनुष्य जन्म भी मिलना कठीन है, उत्तम लोक तो क्या प्राप्त हो सकने थे।

निष्काम, अनासक्तियुक्त, कर्मसम्पादनरूप योगद्वारा जिस ने सम्पूर्ण कर्मों का प्रभाव अपने पर पडना बन्द कर दिया है, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके जिस ने सब संशय दुविधायें दूर कर डाली हैं, अपना आप जिसने सर्वथा स्वतन्त्र रक्खा हुआ है, जो कभी किसी व्यक्ति, विषय, कर्म, पदार्थ आदि के सर्वथा वश में नहीं होता, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब को जो सदा वश में स्वेच्छा से उन का प्रयोग करता है, ऐसे आत्मवान् योगी, ज्ञानी को, हे सङ्ग्रामविजयी! कोई कर्मभी मुक्तिपथसे भ्रष्ट नहीं कर सकते, बन्धन में डाल नहीं सकते।

इस लिये जो तेरे हृदय में कायर करुणा भरने से यह मोह अज्ञानवश संशय दुविधा घर कर

गई है, उसे अपने अज्ञान संशय को इस ब्रह्मज्ञान-रूपी खड्ग से काट डाल और ज्ञानकर्म संन्यास-योग का आश्रय पकडकर उठ और, हे भरतसन्तान! दृढ चित्त हो, भरत के योग्य अनुयायी की न्यायी धर्मयुद्ध में पाप का बीज नाश कर, यही तेरे योग्य योग है इस पर पक्का हो आरूढ हो जा।

श्रीमद्भगवद्गीता।

पंचम अध्याय।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहौर.)

अर्जुन बोले:—

पहिले त्याग सराहते, फिर बडयाते योग।
कर्मों का हे कृष्णजी! कैसे सधे यह योग ॥१॥
इन दोनोंमें एक ही, कल्याण-कर जो।
उत्तम निश्चित् आप का, मुझ से वही कहो ॥२॥

श्रीभगवान्ने उत्तर दिया:-

सदा दोऊ कल्याण-कर, कर्मयोग अरु त्याग।
कर्मयोग पर दोऊ में मान बडा, मत त्याग ॥३॥
जलन नहीं नहीं, कामना, जोडों का न विचार।
ऐसे को नित् मानिये, सुत्यागी सुखसार ॥४॥
निश्चय ही वह छुटेगा, जन्म फांस से ठीक।
बडी भुजा से युक्त हे, अर्जुन! मान यह ठीक ॥५॥
बालबुद्धि जो लोग हैं, त्यागयोग कहें भिन्न।
पर पण्डित नहीं मानते, इक दूजेसे भिन्न ॥६॥
दोनों ही का पायगा, फल टिककर इक में।
सुदृढ हो सम्यक्तया, लीन हुआ उसी में ॥७॥
ज्ञानी, त्यागी लोग जिस, में पहुंचें कर त्याग।
योगी भी जावें वहीं, यद्यपि करें न त्याग ॥८॥
अतः वही है देखता, जो देखे दोऊ एक।
सांख्य ज्ञान अरु त्याग को, कर्मयोग ही एक ॥९॥
कर्मयोग बिन अति कठिन, है पा सकना त्याग।
योगहीन हे वीरवर! कैसे सके कर त्याग ॥१०॥
जिसने धारा मौन है, अरु जिस साधा योग।
प्राप्त हो जावे ब्रह्मको, बिना देर सह योग ॥११॥
जीत लिया मन सर्वथा, इन्द्रिय भी सब जीत।
निज आत्मा वश कर लिया, जन्म लिया उस जीत ॥१२
योगी ऐसा बन रहा, सभी प्राणि की जान।
प्राणि-अप्राणि सभी का, सब तन का इक प्राण ॥१३॥
कर्म करे चाहे लाख वह, फंसे कभी न हो लिप्त।
ऐसा योगी सर्वथा, जग में रहे अलिप्त ॥१४॥
मैं करता कुछ भी नहीं, योगी रहा यही मान।
सच्चाई जो जानता, ऋत सुयथार्थ ज्ञान ॥१५॥
छूता, सुनता, देखता, जाता, खाता, सूंघ।
रहा सांस ले और सो, रहा जाग वा ऊंघ ॥१६॥
बोल रहा, रहा त्याग वा, अथवा रहा कर ग्रहण।
आंख खोल रहा मींचवा, विषय सर्व रहा ग्रहण॥१७॥
कर, आत्मा मानें सदा, इन्द्रिय सब रहीं भोग।
अपने अपने विषयको, रहीं बर्त सभी भोग ॥१८॥
अर्पण कर भगवान्के, आसक्ति को त्याग।
कर्म करे जो सर्वदा, उसी का उत्तम त्याग ॥१९॥
ज्यों जल में भीगे नहीं, कमल, फूल वा पात।
ऐसा योगी पाप से, नहीं लिपटे, सुख गात ॥२०॥
इन्द्रियोंसे ही, देह से, बुद्धि या मन से।
आसक्ति को छोडकर, योगी कर्म करे ॥२१॥
आत्मा करने पवित्रही, योगयुक्तही कर्म।
करते योगी सर्वदा, मान योगही धर्म ॥२२॥
फल का छोड विचार वे, पाते शान्ति नित्य।
बन्ध जाते फलमें फंसे, रहित योग ही नित्य ॥२३॥
विषयवासना, कर्म की, ही इच्छा करे बद्ध।
नहीं टिके हुए चित्त के, मनुजों को ही सुबद्ध ॥२४॥
त्याग कर्म मन से सभी, योगी आत्मा विराज।
नौ दर वाली पुरी में, सुख से सजाता साज ॥२५॥

कुछ करवाता न तभी, करता भी कुछ न ।
देहधारी का आत्मा, योग धरे चित्त मांह ॥२६॥

परमात्मा रचता नहीं, कर्तापन न ही कर्म ।
कर्म से फल का मेल वा, निजी भाव से धर्म ॥२७॥

होता उदय स्वयमेवही, प्रकृति ही से कर्म ।
ईश्वर जग का रचे न, न ही रचावे कर्म ॥२८॥

व्यापक ईश न ले कभी, पुराय किसी का पाप ।
ज्ञान ढका अज्ञानसे, प्राणि अतः करें पाप ॥२९॥

मोह में फंस कर सर्वथा, अज्ञानवश जीव ।
बिन जानेही सर्वदा, फंसें कर्म में जीव ॥३०॥
विद्याद्वारा नाश जिस, अपनी अविद्या की ।
सूर्यसमान ही ज्ञान उस, के ने ज्योतिः दी ॥३१॥
परमात्मा हुआ स्पष्ट तब, हुआ दिव्य चमकार ।
ज्ञान सूर्य से प्राकृतिक, हुआ दूर अन्धकार ॥३२॥
आश्रित उसी परेश के, उसी में श्रद्धाधार ।
उस में बुद्धि प्रविष्टकर, आत्मा उसे निज धार ॥३३
ज्ञान से धो निज पाप सब, पायें मोक्ष शुभसार ।
जिस से नहीं फिर लौटते, सदा बने सुखसार ॥३४॥
कुत्ते, हाथी, गोः में, चाण्डालमें भी ।
ज्ञानी, नम्र सुभक्तवर, ब्राह्मण में इक ही ॥३५॥
पाते पण्डित आत्मा, देख उसी को सार ।
घृणा प्रेम करते नहीं, रहते हैं इक तार ॥३६॥
मन से समझते सभी को, पण्डित एक समान ।
आदर प्रेम से वर्तते, सभी से एक समान ॥३७॥
समता में मन जस टिका, यहीं उन्हों ने जीत ।
लिया सकल संसार ही, जन्म लिया उन जीत ॥३८॥

परमात्मा इक रूप है, पापरहित सम भाव ।
इसी लिये वे ब्रह्म में, टिके हैं, जो समभाव ॥३९॥
अतः मनुज घबराये न, बेप्यारा कर प्राप्त ।
न प्रसन्न होवे अती, प्यारा हो यदि प्राप्त ॥४०॥
परमात्मा को जानता, रहा ब्रह्म में टिक ।
बुद्धि रखकर ठीक ही, मोहरहित सुस्थिर ॥४१॥
बाहर के न विषयमें, फंस कर आत्मा पा ।
लेता जो सुख आप में, सके कबहुं न बता ॥४२॥
परमात्मा से मेल के, सुख अनन्त से युक्त ।
हुआ वह आनन्द भोगतात्, नाशरहि,ब्रह्मयुक्त॥४३॥

सङ्गस्पर्श से प्राप्त जो, होवें भोगानन्द ।
दुःखका कारण सभी वे, निश्चयरहित् आनन्द ॥४४॥

होते हैं हट जात हैं, हे अर्जुन! नहीं नित्य ।
अतः न ज्ञानी उलझता, कभी वहां, वे अनित्य ॥४५॥

देह छुटने से ही प्रथम, इसी जन्म में जौन ।
गुस्से से अरु विषय से, जोश उत्पन्न हो जौन॥४६॥

सके सहार सदा उसे, सुखी उसेही जान ।
मनुज उसी धर्मात्मा, को तू योगी मान ॥४७॥

अन्दर सुख आनन्द भी, अन्दर ही जो पाय ।
अन्दर ही से ज्ञान भी, जिस को मिलता जाय ॥४८॥

बना ब्रह्म योगी वही, ब्रह्ममुक्त हो जाय ।
अन्दर ही की ज्योत्से, जगमगात हो जाय ॥४९॥

पाप दग्धकर मन्त्रदृक्, वश करके निज आत्म ।
संशय दुविधा काट सब, ब्रह्ममोक्ष परमात्म ॥५०॥

करें प्राप्त सब ऋषिजन, साध सभी का प्रिय ।
लगे प्राणियोंके सदा, हित ही में दे हिय ॥५१॥

छुटे काम अरु क्रोधसे, वश कीना निज चित्त ।
आत्माको लिया जान फिर, योगीजन स्थिर चित्त॥५२॥

रहें सदा ही ब्रह्म में, पाये ब्राह्म सुमोक्ष ।
सभी ओर उन के सदा, व्याप रहा ब्रह्ममोक्ष ॥५३॥

बाहर के विषय त्यागकर, मन से भी उन्हें निकाल ।
चक्षुः दोऊ के मध्यमें, दृष्टि सदा सम्भाल ॥५४॥

इक कर श्वासप्रश्वास को, नासिका चारी जौन ।
रोक दोऊ को सर्वथा, प्राणायामी जौन ॥५५॥

रोक सभी निज इन्द्रियां, मनबुद्धि भी सम्भाल ।
इक मुक्ति का ही आश्रय, मुनि समझे सुविशाल॥५६

डर त्यागे गुस्सा त्यजे, इच्छा दीं सभी त्याग ।
ऐसा मौनी मुक्तही, सभी काल, सविराग ॥५७॥

सरल उपायसे यह स्थिति, पा जाय जैसे भक्त ।
हे अर्जुन! सुन वह अभी, तू मुझ में अनुरक्त ॥५८॥

मुझे जान कर मित्रही, सब प्राणि का ही एक ।
महा प्रभुसंसार का, सदा मुझे ही पेख ॥ ५९ ॥

सेवनकर्ता यज्ञ तप, सभी का मुझ को जान ।
पाता भक्त सुशांतिः आश्रय मुझे पहिचान ॥ ६०॥

❀

गीता-विषयक नवीन विचार।

पंचम अध्याय ।

गीताके पांचवें अध्यायके पहिले श्लोकमें अर्जुन घबराकर पूछता है कि, कृष्णजी! आप कभी कर्मों के छोडने की स्तुति करते हो और कभी कर्मों में जुटे रहने की, सो मेरी तो कुछ समझमें नहीं आता एक बात मुझे बतलाओ, दोनों में से जिसे तुम अच्छा कल्याणकारी मेरे लिए हितकारी समझते हो वही अपना ठीक ठीक निश्चय मुझे बतलाओ, दोनों में जो भी ठीक हो वही सिखाओ, दोनों एक दूसरेके उलट प्रतीत होते हैं इनके चक्कर में मुझे न उलझाओ ।

सकल संसारके आश्रय ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर बडा मधुर शांतिप्रद देते हैं कि-

हे वीर! कर्मोंका छोडना और कर्म्मोंमें जुटना दोनों ही स्थायी कल्याणके देनेवाले हैं, परंतु इन में से भी परस्पर की अपेक्षा से कर्मों में जुटना ही अधिक उत्तम है न कि कर्मोंको छोडना ।

जो न चिढता है न चाहता है, उसे तो सदा ही त्यागी, संन्यासी ही समझना चाहिए क्योंकि जो कामक्रोध, गर्मीसरदी आदि जोडोंसे प्रभावित नहीं होता, वरञ्च एकरस ही बना रहता है। वह बडी सुगम रीतिसे ही जन्ममरण, जराव्याधि आदिकी फाहियों से सर्वथा छुटकारा पा जाता है। अतः कर्म करो पर द्वन्द्वों से अप्रभावित रहते हुए ही ।

अनजान लोक सांख्य-योग को भिन्न भिन्न समझते हैं, परंतु विद्वानों की दृष्टि में तो दोनों एकही हैं, अर्थात् सत्य ज्ञान से शुभाशुभ कर्मों की पहिचान कर अशुभसे संन्यास और शुभसे योग ही सांख्य-योग है, संन्यास त्याग योग है, इसी लिए चाहे कोई सांख्य का आश्रय ले ले और चाहे योगको पकड ले फल उसको दोनोंकाही मिल जाता है और भली प्रकार मिल जाता है; शरत केवल यह है कि उसी एकको पूर्णतया पकड ले ॥

ज्ञानी, त्यागी, संन्यासी जिस उच्च अवस्था को प्राप्त करते हैं, वहीं पर कर्मयोगी भी जा ही पहुंचते हैं; इस लिए वास्तव में दृष्टि खुली उसी की है जो ज्ञान, संन्यास, त्याग, सांख्ययोग, कर्मयोग सभीको एकही बात अनुभव करता है, जिसे इन सबमें परस्पर विरोध दिखाई नहीं पडता ।

हे वीर! एक और बात भी है। वह यह कि कर्मयोगी बने बिना संन्यासी बनना अत्यन्त कठिन है। हां जो कर्मयोगी है और जो साथ ही शान्त, विचारशील मौनी भी है ऐसा संन्यासी अतिशीघ्र भगवान् को प्राप्त कर जाता है।

ऐसा योगी कर्म करता हुआ भी निष्कर्म ही है। कर्मफलने उसे क्या उलझा सकना था वह तो सम्पूर्ण प्राणिमात्र का जीवनप्राण हो रहा है, सर्वथा पवित्रात्मा है, मन तथा इन्द्रिय सर्वथा उसने अपने वश में किए हुए हैं, वह तो सभी को सुखदुःख देते समय अपने ही को सुखदुःख मिलता अनुभव कर रहा है।

ऐसा तत्त्वज्ञानी, योगी सदा यही समझे कि, मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा,इन्द्रियां ही अपने अपने विषयों में वर्त रही हैं, यही भावना सदा दृढ धार रक्खे देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, मलमूत्रादि त्यागते, अन्नपानादि ग्रहण करते, आंख खोलते,मींचते इत्यादि प्रत्येक कार्य करते समय

वह अहम्भावना सर्वथा त्यागेही रक्खे। तब उसके सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार अनायास ही सिद्ध होते रहेंगे, उसे उनमें विशेष ध्यान देना नहीं पडा करेगा। अतः वह ध्यान सदा परमात्मा में लगाये रख सकेगा। यही रहस्य इस उपदेश में है कि, सदा इन्द्रियोंको कर्ता और अपने को सांसारिक सम्पूर्ण कार्यों में अकर्ता ही अनुभव करना योगी को श्रेयस्कर है। इससे उसे महान् ऐश्वरीय कार्य उसके द्वारा सम्पन्न हो जाने पर भी घमण्ड नहीं हुआ करेगा।

एक सरल प्रकार और भी है। उलझो मत परमात्मा के अर्पण कर दो फिर सभी कर्म करो। तब पापसे लिप्त नहीं हो सकोगे। ठीक जैसे कमलफूल की पंखडी पानी पड जाने से भी नहीं भीगती। कर्मयोग तथा संन्यास साधनेका यह आसक्तित्याग तथा ब्रह्मार्पणबुद्धि अति सरल उपाय हैं।

इस प्रकार आसक्तिरहित होकर योगीलोग अपनी आत्माकी पवित्रता सम्पादन करने के लिये कर्म करते हैं कोई देह से ही, कोई विचार मात्र से, कोई जानबूझ कर ज्ञानविस्तार करते कराते और कोई केवल किसी इन्द्रियविशेष से ही। जैसे कोई श्रोत्रइन्द्रिय सुगमतया वश करनेनिमित्त परमात्मभक्ति के गीत सुनते हैं, दूसरे नेत्र वश करने निमित्त पुरुषोत्तमोंकी मूर्त तसबीर पर दृष्टि जमाते हैं।

सदा रहनेवाली शान्तिःको वही प्राप्त करते हैं, जो कर्म के फल विचार में न उलझ कर कर्मयोग साधें; परन्तु जो कर्म के फल के विचार में उलझ हर्षशोक में फंस जाते हैं, वह अस्थिर चित्तवाले अयोगी व्याकुल हो जाते हैं और विचारपरंपरा हानिलाभ में फंस कर जन्ममरण आदिके चक्करमें मारे मारे फिरते हैं क्योंकि विविध प्रकार की भोगवासना उन के हृदयोंमें कर्मोंमें रागद्वेष होनेके फलस्वरूप बडी प्रबल हो चुकी होती है और अवश्य उन्हें पुनर्जन्म दिलाती हैं।

अन्तःकरण को बिना डुलाये मन पर कर्मोंका प्रभाव न होने देता हुआ सुखी रहता है ऐसा जीव इस नौ दरवाजोंवाली नगरी में रहता हुआ मानों कुछ भी नहीं करता करवाता। मनपर कर्ममात्र का प्रभाव होने न देनाही वास्तविक सुखकारण है।

सृष्टि का ईश्वर न कर्तापन बनाता है न ही कर्म, न ही कर्मोंके फलसे सम्बन्ध, प्राणियों का वह भगवान् गांठता है। प्रकृति ही का सब पसारा है 'स्वभाव' में-पने से ही कर्मकर्ता कर्मफलसम्बन्ध सभी भाव प्रवृत्त होते हैं मैं-भाव हटे पीछे एकही परमात्मा है, कर्मबन्ध तुरन्त कटता है, जब तक मैं है तब तक कर्मोंमें लिप्त होता ही रहेगा।

व्यापक भगवान् किसी के पुण्यपाप के भागी कब बनने लगे। प्राणियों के अन्दर बुद्धि है उस पर अहङ्कार का परदा अज्ञानावरण चढ जाता है, उसी कारण प्राणी भुलावे में आ जाते हैं, कर्ता अपने आप को समझने लग जाते हैं, बस तभी कर्मोंसे लिप्त हो पापपुण्य भागी हो जाते हैं।

परन्तु जिन्हों ने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेद्वारा अपने इस अज्ञान को नष्ट कर डाला है सर्वथा मैं मैं करना त्याग दिया है, उनके अन्दर ज्ञान, बुद्धि अत्यन्त जाज्वल्यमान् साफ़शफ़ाफ़ निर्मल स्वच्छ Sparkling bright हो जाती है। सूर्य जैसे संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को दिखलाया करता है वैसे ही यह बढा हुआ ज्ञान अन्दर ही से सब कुछ प्रकाशित कर देता है यहां तक कि परम तत्त्व भगवान् परमात्म देव भी साक्षात् हो जाते हैं। बुद्धि ही सूक्ष्मतम होकर भगवान्से भेट करवा देती है,परमात्म ज्योतिः बुद्धि के प्रभाव से जगमगा उठती है, ज्ञानी को परमात्मदर्शन हो जाता है, परमात्मा के विषयमें वह अन्धेरेमें पडा ही जीवन निष्फल नहीं गंवा जाता।

इस प्रकार उसी सर्वव्यापक तत् भगवान् को अपनी बुद्धि का विषय बनानेवाले, उसीको अपना जीवन-प्राण, अपनी वास्तविक आत्मसत्ता अनुभव करनेवाले, उसीमें अत्यन्त श्रद्धा विश्वास रखनेवाले, उसीको अपना परम आश्रय माननेवाले, भक्त अपने सम्पूर्ण पापमलों को अज्ञान से उत्पन्न आवरणोंको ज्ञान से धो डालनेवाले, महात्मा उस

अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहां से फिर लौट कर जन्ममरण के चक्कर में नहीं आना पडता।

मैं-पना हटनेपर तो देहाध्यासही उड जाता है सम्पूर्ण प्राणी आत्मा ही जान पडते हैं, फिर तो यह भेदभावनाही मिट जाती है कि, अमुक प्राणी विद्वान्, विनयप्रवीण ब्राह्मण है, अमुक गौः, अमुक हाथी, अमुक कुत्ता और अमुक कुत्ते को भी पकाकर भोजन-रूप में प्रयुक्त करनेवाला महानीच चाण्डाल। तब तो संपूर्ण प्राणिमात्रमें एक आत्मज्योतिः ही एक तार विद्यमान् दिखलाई पडती है। ऐसा समदर्शी ही पण्डित है। देह की भिन्नता से प्राणियोंको भिन्न भिन्न अनुभवकर उन से भिन्न भिन्न प्रकार का वर्ताव करके दुःखीसुखी होनेवाले चाहे कितने भी विद्वान् अपने को मानें वास्तव में वे बालबुद्धि ही हैं।

भगवान् ब्रह्ममें रागद्वेषरूपी दोष सर्वथा विद्यमान् नहीं, अतः वह तो एकतार सलिल एकरस सर्वतः समही हैं। इस लिये ब्रह्मस्थ महात्मा वह ही माने जा सकते हैं जिनके मनसे भी दुई सर्वथा दूर हो चुकी है जो सभी को एक समान अपनों ही की न्यायीं समझते हैं, जो रागद्वेष के प्रभाव से प्रभावित न होते हुए सदा एक समान ही डोल मनसे रहते हैं। इस प्रकार जिनका मन उस एकरस आत्मा में उलझा होने से जिन्हें सम्पूर्ण देहधारी उसी आत्मा का रूपान्तर दिखाई देने से जिनका मन सभी से एकसा ही प्रभावित अप्रभावित रहता है, उन्हीं ने जन्म जीत लिया है, इसी जन्म में संसार पर विजय प्राप्त कर ली है, जगको वे जीत गये हैं। इन्हीं कारणों से वास्तवमें ब्रह्ममें वही टिके हुए हैं।

प्यारे को पाकर फूला न समाना वे प्यारेको पाकर घबराना उचित नहीं। मति अपनी दोनों अवस्थाओं में एक सी टिकाये रक्खे सर्वथा प्यार बैर के भुलावे में अपने को न फंसने देवे परमात्मा का अनुभव लेने-वाला तो परमात्मा में ही उलझा रहे ऊपर ऊपर से ही प्यार बेप्यारका पसारा रक्खे मन उन के वश हुआ न डाले।

इस प्रकार बाहर के विषयों से उपराम सा रहने-वाले को जो आत्मा के अनुभव का सुख अपने ही अन्दर से प्राप्त होता है, वह नाश न होनेवाला सुख वही भोगता है जो परमात्मा से मिलाप सदा ही अनुभव करे ऐसा परमात्मप्रेम योगी ही सदा रहने-वाला सुख भोगता है अन्य विषयी लोगों के भाग्यमें यह कहां बदा है।

जो ही बाह्य विषयोंका इन्द्रियोंद्वारा भोग करने सुखसा प्रतीत होता है, वह तो वास्तव में अनन्त दुःख-परम्परा का आरंभ मात्र है, कारण कि वह सुख तो क्षणिक है, तुरंत नाश हो जानेवाला है; परंतु दुःखों का है वह आरम्भ! ऐसे दुःखों के आरंभ कराने और सुखोंके अन्त करानेवाले विषयभोग में कौन बुद्धिमान् उलझना पसन्द करेगा और कौन उसे सुख कहने की धृष्टता करेगा। हे कुंतीमाता के वीर पुत्र! ज्ञानी विषयानन्द भोगानन्दको भुलावा, धोखे की टट्टी, इन्द्रजाल पहिचान उससे कोसों दूर भागता है।

वही मनुष्य सुखी है, वही योगी है जो प्रेम और बैर संबंधी जो आने और गुस्से के चढाव को सहार जाय उस समय अपने आपेसे बाहर न हो जावे मर कर देहत्याग कर तो बलात् सब सम्बन्ध तुडवा ही डाले जाते हैं इन्द्रियां शिथिल होनेसे दुर्बल बुड्ढा विषय-भोग असमर्थ हुआ कामना छोडही बैठता है पर वीर वह है जो जीते जी युवावस्था में ही इस कामक्रोधके चढाव को अपने आधीन रख सकता है, अपने को इन के आधीन विवश नहीं कर देता शरीर छूटने वा जीर्ण होनेसे पूर्व भी जो शान्त यति क्षमाशील ब्रह्मचारी रह सके। वही योगी है सच्चा सुखी भी वही है अन्य चित्त को भटकाते रहनेवाले तो नितान्त दुःखी ही हैं।

परमात्मा अवस्था की प्राप्तिरूपी, साकार स्वतन्त्र ब्रह्मरूपतारूपी, अमरपद उन्हें ही मिलता है जो स्थिरचित्त योगी बनते हुए अपने ही अन्दर सुख-आनन्द-प्रकाश अनुभव करते हुए बहिर्मुखता से सर्वथा उपरामही रहें, जिनको अन्दर प्रकाशज्ञान-

अनुभव हो आनन्द विषयानन्द से प्रबलतर आत्मानन्द अनुभव हो जिसके सम्मुख विषयानन्द अत्यन्त फीका लगने से स्वतः ही उससे उनका चित्त सर्वथा उपराम हो जावे। ऐसे योगी पहिले अपने को विश्वात्मा अनुभव कर लेते हैं फिर मेरी न्यायीं आत्मपुरुष, अमररूप, ब्रह्मरूप हो कर सर्वथा स्वतन्त्र, सर्वथा मुक्त, ब्रह्मनिर्वाणप्राप्त, आनन्द मनाते फिरते हैं। वही योगी, सुखी, समर्थ पुरुष, यदि चाहें तो अपने भक्तों के लिये सहायता रूप हो सकते हैं।।

वेदार्थद्रष्टा ऋषि, पापों को नष्ट करके, इस ब्राह्मी स्थिति, स्वतन्त्र ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर जाते हैं। क्योंकि उन्होंने अपने आपको वश कर लिया होता है संशय दुविधा अज्ञान, मोहादि की गांठें सब खोल डाली होती हैं अथवा काट तोड फोड डाली होती हैं और सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कल्याणसाधन मेंही उलझे रह कर आयु व्यतीत की होती है ॥

कामक्रोध से जो सर्वथा पृथक् हो चुके हैं, जिन ब्रह्मचारी, संन्यासी, योगियोंने चित्त सर्वथा सभी ओर से रोकही लिया है जिन्होंने आत्मतत्त्वको अनुभव कर लिया है, साक्षात् देख लिया है कि, 'यह आत्मा है' ऐसे महात्मा तो सभी समय ब्रह्ममोक्ष में घिरे ही रहते हैं। उन्होंने मुक्ति पाकर अन्य किस अवस्था को प्राप्त करना ठहरा वह तो इस लोक में रहते हुए ही ब्रह्मलोकी हैं, मुक्त हैं, ब्रह्मरूप हैं ॥

बाहरके विषयभोगोंको बाहरसे ही त्याग कर, सर्वथा विषयवासनारहित होकर, नासिकाद्वारा बाहर जाने अन्दर आनेवाले प्रश्वास श्वासको रोककर, एक कर, प्राणापानरूपता उसकी दूर कर, फिर दोनों नेत्रोंके मध्यके सूर्यद्वार त्रिकुटिमें दृष्टि ठहरा कर, ज्ञानकर्मेन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टायें रोक, मन की विचारशृङ्खला को तोड, बुद्धिकी ज्ञानतरंगों को शांत कर, हृदयके भाव काम, क्रोध, भय सभीको निश्चेष्ट शांत सर्वथा दबा हुआ रखकर, मौन व्रतधारी चुप्पी साधे जो महात्मा एक मात्र मुक्ति के आधार से सम्पूर्ण आयु विता डालते हैं वह सदा मुक्त ही हैं ऐसे एक मोक्षको ही निजाश्रय माननेवालोंको इस संसार में कोई बंधन बांध नहीं सकता।

सबसे सुगम उपाय अन्त में फिर तुझ निजी प्रिय सखासे वर्णन करता हूं, प्रेमसे सुन। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका सच्चा मित्र हूं 'सब को सुख मिले' मेरे हृदय में सभीके निमित्त यही भावना विद्यमान् रहती है। मैं ही सम्पूर्ण लोकलोकांतर तथा उनमें निवास करनेवाले प्राणिमात्र पर राज्य करनेवाला महा प्रभु सर्वधिष्ठाता महाराजाधिराज हूं। जितने तप तपस्वी लोग तपते हैं, वे सब मेरी प्राप्ति ही के निमित्त होते हैं, उनका अन्तिम उद्देश्य भगवद्प्राप्ति ही है। अतः वास्तव में सब तपस्वियों के तपोंको मैं ही ग्रहण करता उससे आनन्दित होता हूं। जितने उत्तमोत्तम यज्ञयाजक लोग करते हैं परमात्माकी भक्ति, उस परम देवकी पूजा, भक्तोंका सत्संग, सुपात्रोंको दान, अग्निद्वारा देवताओंको आहुती पहुंचाना आदि वे सभी अन्तमें भगवान् को ही मुझे ही प्राप्त होते हैं, मेरी ही प्रसन्नता निमित्त सब किए जाते हैं, अतः वास्तव में मैं ही सभी याजकों के यज्ञ और तपस्वियोंके तप भोगता हूं। इस प्रकार मुझे जो जानता है, वह शांति प्राप्त कर जाता है। वास्तवमें जब यह अनुभव हो जावे, पक्का निश्चय हो जावे कि महाराजाधिराज तो मेरा सुहृद मित्रसखा है फिर ही निर्भयता निश्चिन्तता क्रोधराहित्य आदि सिद्ध हो सकते हैं तभी परा शांति, सच्ची आत्मिक प्रसन्नता उपलब्ध होती है। मुझे सखा मान यही कर्मसंन्यास योग है।

श्रीमद्भगवद्गीता।

षष्ठ अध्याय।

(कविः- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहौर.)

जो करता कर्तव्य निज, फल की इच्छा त्याग।
संन्यासी योगी वही, अरु ज्ञानी महाभाग ॥१॥
जो करता शुभ कर्म न, करता न अग्नि प्रचण्ड।
नहीं महात्मा सिद्ध वह, जन है निरा उद्दण्ड ॥२॥

योग उसे ही जानिये, कहा जाय संन्यास।
हे पाण्डु के वीर सुत! फल त्याग संन्यास ॥३॥
फुरना मन का त्याग न, करे जो कई अधीर।
योगी कबहुं न हो सके, चाहे सहे लख पीर ॥४॥

चढना चाहे सीढियां, योग की मुनि सुजान।
कर्म ही करे सहायता, गुर मोटा पहिचान ॥५॥
योगविषय जब चुके कर, साधक साधन सर्व।
सिद्ध हुए को शान्त ही, रहना ठीक सगर्व ॥६॥

योग में पूरा उसे ही, कहेंगे तब जन सिद्ध।
जब मन के फुरने सभी, होने दे न प्रबुद्ध ॥७॥
इन्द्रियगण के विषय में, फंसे कर्म में भी न।
तब निश्चय ही महात्मा, सिद्ध अन्यथा न ॥८॥

निज आत्मा करे उच्च ही, आत्मसहायता पाय।
दुःखी न आत्मा को करे, कष्ट चाहे लख आय ॥९॥
कारण यह कि यह आत्मा, ही है वास्तव भ्रात।
यही शत्रु भी परम है, अरु करे आत्मघात ॥१०॥

निज आत्मा वश जिस किया, आत्मा बना तिस भ्रात।
जो नहीं आत्मावान् है, आत्मा करे तिस घात ॥११॥
ज्यों शत्रु रहे ताक में, करने लिये कसु हानि।
अयति का त्यों ही आत्मा, सदा ही करता हानि॥१२॥

अन्तर आत्मा रहे टिका, दुःखसुख में इकसार।
अपमान अरु मान में, गर्म न सर्द इकतार ॥१३॥
उस का ही जिस वश किया, पूर्णतया निज आत्म।
किया सर्वथा शान्त ही, निस्तरङ्ग निजी आत्म॥१४॥

पूर्णतया जिस जीत लीं, हैं इन्द्रिय निज सर्व।
बुद्धि मन सन्तुष्ट हो, गये ज्ञान पा सर्व ॥१५॥
विज्ञान भी प्राप्त कर, हुआ जो स्वात्मप्रविष्ट।
जुडा हुआ परमात्म से, योगी कहा विशिष्ट ॥१६॥

सोना मिट्टी दीखते, पत्थर भी तद्रूप।
आत्मा नहीं तिस डोलता, लखे जो सब इक रूप॥१७
उत्तम वही जो समझता, पापी, साधुसमान।
भ्राता, बैरि, मित्र, प्रिय, द्वेषी को भी समान ॥ १८ ॥

जिसको वैर न प्यार है, पक्ष न किसी का ले।
योगी उससे भी सदा, उसे रीति बर्ते ॥ १९ ॥
लालच त्यज अरु आस त्यज, वश कर मन अरु आत्म।
रहे अकेला एकान्त में, जोड आत्म परमात्म ॥ २० ॥

योगी ऐसा मेल ही, साधे सदा चित्त लाय।
देश पवित्र में वास कर, दृढ आसन ही जमाय॥२१॥
आसन ऊंचा हो नहीं, नीचा भी नहीं होय।
कुशा बिछी मृगछाल पुनः, वस्त्र पुनः शुभ हो ॥२२॥

उस आसन पर बैठ कर, इन्द्रिय चेष्टा रोक।
एक नोक पर मन टिका, चिंताएं सभी रोक ॥२३॥
सुपवित्रता प्राप्त ही, करने निजी निमित्त।
आत्मिक संयम् योग शुभ, साधे ईशनिमित्त ॥२४॥

धड गरदन सिर एकही, रेखा में हो समान।
टिकें रहें सु अडोल ही, हों न चलायमान ॥ २५ ॥
निजी नाक की नोक ही, दिखती रहे इक सार।
इधर उधर कुछ दिखे न, सर्व दिशा हों असार ॥२६॥

ब्रह्मचर्यके नियम में, पक्का रहे सुदृढ।
पूर्णतया भय त्याग दे, मन वश करे सुदृढ ॥ २७ ॥
चिंताएं तब कृष्णकी, हीं उठतीं चित्त मांह।
उस योगीके मानता, जो मुझ को ही छांह ॥ २८ ॥

शांत हुआ जिस आत्मा, पूर्णतया सुखी शांत ।
ऐसी स्थितिमें टिक रहे, जुडा ब्रह्मसे सुशांत ॥२९॥
यूं निज आत्माको सदा, योगी जो रहा जोड ।
मन वशकर निज सर्वथा, जगसे नाता तोड ॥३०॥
मोक्ष ही परम सुशांति, परमात्माश्रित् जौन ।
मुझे प्राप्त कर पाय वह, योगी सदा रहे मौन ॥३१॥
बहुभोजीको योग न, निराहारीको न ।
जो सोवे दिन रैन ही, पाय योग कबहुं न ॥ ३२ ॥
जो इकतार ही जागता, रहे सदा दिन रैन ।
योग न कबहुं पा सके, पाय न अर्जुन! चैन ॥ ३३ ॥
ठीक तरह रहा कर्म कर, ठीक रहा सो जाग ।
ठीक रहा खा अरु विचर, योगी वही बडभाग ॥३४॥
योग करे सभी दुःखही, उस योगी के नाश ।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति में, जिसका योगप्रकाश ॥३५॥
सभी कामना त्याग कर, कर नहीं कबहुं चाह ।
चिंताएं वश कर सभी, आत्माकी ही रख चाह ॥३६॥
जब टिकता चित्त सर्वथा, इस आत्मा में अडोल ।
त्यज कर सारी कामना, अरु उनसे नहीं डोल ॥३७॥
योगयुक्त कहते सभी, ऋषि, योगी वही चित्त ।
दीपशिखा दृष्टांतसे, वरणों योगी चित्त ॥ ३८ ॥
वायुरहित्, यदि स्थानमें, नहीं कांपे ज्यों ज्योति ।
दीपक की, नहीं कांपता, त्यों वही चित्त सुद्योत् ॥ ३९॥
जो आत्माका योग ही, रहा सर्वथा साध ।
चित्त जिसका रुका सर्वथा, योगी वही अगाध ॥४०॥
योग निरंतर सेव कर, रुकने लगे जभी चित्त ।
जब विलीन हो जाय फिर, चिंतारहित् हुआ चित्त ॥४१॥
आत्माद्वारा आत्म ही, करता साक्षात्कार ।
पा रहा सन्तुष्टि परम, आत्मामें ही सुखसार ॥४२॥
जहां, जो परमानन्द है, ज्ञानसे ही जो है प्राप्य ।
निरा ही जो सुखरूप है, इन्द्रियोंसे नहीं प्राप्य ॥४३॥
जिसमें टिक नहीं डोलता, मूल आत्मसे धीर ।
जहां ही अनुभवकर रहा, आत्मानन्द सुधीर ॥ ४४ ॥
प्राप्त जिसे कर लाभ कुछ, उससे बडा न मान ।
सके कभी योगी कोई, परम लाभ पहिचान ॥ ४५ ॥
महां दुख भी यदि पडे, डिगे जहां से न ।
टिका हुआ जिस परम सुख, में योगी गिरे न ॥४६ ॥

उसका नाम ही योग है, जाने मुनि सुजान ।
जिसमें दुःखका लेश न, दुःखवियोग पहिचान ॥४७॥
योग करो दृढ भक्तिसे, बिना चित्त उकताय ।
निश्चय रख दृढ ही सदा, योगी परम सुख पाय ॥४८॥
फुरने उठ इच्छा हुई, जो दिलमें उत्पन्न ।
निःशेष उन सभी को, त्यज, हो सत्त्वसम्पन्न ॥४९॥
सभी ओरसे सर्वथा, इन्द्रियगण को रोक,
मनके द्वारा ही सदा, सब इन्द्रिय को टोक ॥ ५० ॥
फुरनोंसे उपराम हो, जा शनैः शनैः वीर ।
धैर्ययुक्त शुभ बुद्धिसे आत्मवान् ऋषि धीर ॥५१ ॥
मनआत्मामें टिकाय फिर, कुछ भी सोच विचार ।
करे कबहुं नहीं मुनिवर, योगआत्मका धार ॥५२॥
जहां जहांसे निकसता, हो चञ्चल, मन, डोल ।
वहीं से इसको लौटाय पुन, करे आत्मामें अडोल॥५३॥
इस विध मन जब हो गया, पूर्णतिया सुखी शांत ।
रज विकार संकल्प सब, भी हो चुके सुशान्त ॥५४॥
पापरहित् हुआ सर्वथा, योगी बना तब ब्रह्म ।
यह उत्तम अरु परम सुख, भोगे पा परब्रह्म ॥५५॥
उससे हुआ सम्बद्ध तब, करे अनुभव ब्रह्मस्पर्श ।
सुगमतया अत्यंत सुख, भोगे वही सुखस्पर्श ॥५६॥
पापरहित् जो योगीवर, साधे सदाआत्मिक योग ।
उपरोक्त शुभ विधिसे, परमात्मा सह योग ॥५७॥
जिसका आत्मा जुडा यूं, योग आत्मिक् सम्पन्न ।
इकरस ही वह देखता, सभी स्थान प्रच्छन्न ॥५८॥
आत्माको ही देखता, भूतसभीमें वह धीर ।
सभी भूत पुनः देखता, इक आत्मामें ही वीर ॥५९॥
अतः सभीसे ही आत्मसम, करे वह सद् व्यवहार ।
करे कबहुं नहीं शोक वा, चिन्ता कुव्यवहार ॥६०॥
यूं मुझ आत्म को देखता, सभी स्थान में जोय ।
अरु सबको ही देखता, मुझ आत्मा में ही सोय ॥६१॥
नष्ट न हूं मैं कभी भी, उसके लिये हे पार्थ !
मेरे लिये पुनः नष्ट न, हो वह सके कभी पार्थ! ॥६२॥
एकपने में ही यूं टिका, सेवे मुझे सप्रेम ।
जान बसा सभी भूत में, इक रस ही सप्रेम ॥६३॥
वर्त रहा ज्यों त्यों पुनः, कर रहा सब व्यवहार ।
वह योगी रहा मुझी में, वर्त इक रस लगातार ॥६४॥

सब से बडा माना गया, योगी वही सुजान ।
हे अर्जुन ! जो आत्मवत, देखे सब को समान ॥६५॥
सुखीदुःखी ही सभी को, समझे अपने समान ।
त्यूं उत्तम व्यवहार ही, सबसे करे समान ॥ ६६ ॥

अर्जुन पूछते भये—

मधु-दैत्य-संहार-कर ! योगिराज श्रीकृष्ण ! ।
समता का यह योग शुभ, कहा आप जो कृष्ण! ॥६७॥
चञ्चलताको जानता, अस्थिरता मन की ।
नींव नहीं मैं देखता, सुदृढ योग इसकी ॥ ६८ ॥
मन अतिशय बलवान् है, चञ्चल पुनः अतीव ।
सुदृढ तीरसमान वह, मथ डाले सभी जीव ॥६९॥
उसका संशम मानता, मैं दुष्कर ज्यों वेग ।
वायुका ही हो ऐकना, सातिशय कष्ट उद्वेग ॥७०॥

महाराज कृष्ण साक्षात् लक्ष्मीनारायण उत्तर देते भए-

बडी भुजासे युक्त हे! पार्थवीर सुश्रेष्ठ! ।
निश्चय ही अति कठिन है, मन रोकना प्रेष्ठ ॥७१॥
है चञ्चल पर जाय रुक, वासना त्याग से वीर ।
बार बार के यत्न से, हे कुंतिसुत धीर! ॥ ७२ ॥
मिलना योग है कठिन ही, जिस जीता न निजात्म ।
सम्मति मेरी है यही, कहां योग क्व अनात्म ॥७३॥
वैराग्यअभ्याससे, सदुपाय सह यत्न ।
आत्मवशी सके योग पा, कर अनेक सुप्रयत्न॥७४॥

अर्जुनने फिर प्रश्न किया—

आत्मावश नहीं कर सका, पर श्रद्धा भरपूर ।
चञ्चल मन गया डोल जिस, योगमार्गसे दूर ॥७५॥
योगसिद्धि नहीं प्राप्त हो, जिसको सकी यथार्थ ।
कौनसी गति वह पायगा, कृष्ण! यह पूछे पार्थ ॥७६॥
संसार अरु मोक्षके, दोऊ मार्गसे भ्रष्ट ।
क्या वह नहीं हो जायगा, सम्पूर्णतया नष्ट ॥७७॥
कटी टुकडियां मेघ की, त्यों वही योगसे भ्रष्ट ।
परमात्माके मार्गसे, मूढ हुआ पथभ्रष्ट ॥७८॥
टिका सके नहीं चित्तको, सके प्रतिष्ठान पाय ।
परम प्रतापी कृष्ण हे!, संशय दो यह हटाय ॥७९॥
इसे काट सकें आपही, सम्पूर्ण निःशेष ।
योग्य न ऐसा अन्य को, काटे इसे जो अशेष ॥८०॥

श्रीभगवान् अपने मुखारबिन्दसे फिर उचरे—

इस लोक उसे लोक में, भी उसका न हो नाश ।
हे अर्जुन ! शुभकर्मकृत्, कोई न पावे ऱ्हास ॥ ८१ ॥
प्यारे! दुर्गति पाय न, कल्याण-कर कोउ ।
नष्ट कबहुं नहीं हो सके, श्रेयस्कर शुभ जोउ ॥८२॥
पुण्य कर्म कर्त्ताओंके, उत्तम लोक में जा ।
सैंकडों वर्षों तक वहां, बस कर शुभ सुख पाय ॥८३॥
योगभ्रष्ट उत्पन्न हो, धनवान् कुलमध्य ।
सुपवित्र शुभ लक्ष्मि, श्रीशोभा सुखमध्य ॥ ८४ ॥
ऐसे गृह में जन्म ले, अथवा बुद्धिमान् ।
योगिजनों के ही शुद्ध कुल, में जन्मे सुमहान् ॥८५॥
अत्यन्त दुष्प्राप्य यह, संसार में जन्म ।
जो ऐसे ही योगियों, के कुल में शुभ जन्म ॥८६॥
उसी पुराने जन्म की, योगिकि बुद्धि प्राप्त ।
वहां करे पुनः यत्न कर, योगसिद्ध सुप्राप्त ॥८७॥
करे वह योगी अभ्यास अरु, वैराग्य शुभसार ।
कुरु-कुल-सर्व-प्रसन्नकर ! योगसिद्धि पाये सार ॥८८॥
पिछले जन्म के यत्न वश, विवश ले जाया जात ।
योगमार्ग परही पुनः, अभ्यासवश तात! ॥८९॥
जो जिज्ञासु मात्र ही, योग का था गत जन्म ।
में, वह भी यहां जाय तर, ओ३म् शब्द जो ब्रह्म ॥९०॥
जाप उसे स्वतः सिद्ध हो, जावे वह पाय विश्राम ।
पुनः प्रयत्न अभ्यास से, योगी बने सुमहान् ॥९१॥
पापसे सर्वथा शुद्ध हो, कई जन्म में सिद्ध ।
होता होता परम गती, पा बन जाय सुसिद्ध ॥९२॥
तपकर्ताओं से, बडा, योगी कहा सुजान ।
बडा ज्ञानियों से कहा, भी योगी गुणवान् ॥९३॥
कर्म उत्तम करें श्रेष्ठ नर, योगी उन से प्रेष्ठ ।
माना गया अर्जुन! अतः, योगी बनो तुम श्रेष्ठ ॥९४॥
सभी योगियों में पुनः, मैं उसे मानूं परम ।
श्रद्धा से मुझे जो भजे, आत्मा किये मत्परम ॥ ९५ ॥
अन्तःकरण मुझे में लगा, हो अर्पित मनप्राण ।
मेरे ही जो योगी वर, हो, उसे सम प्रिय जान ॥९६॥



गीता-विषयक नवीन विचार।

निज कर्तव्य ही जो सदा पालन करता है और इस बात की आशा नहीं रखता कि, इस का फल उसे किस रूप में मिलेगा, वही कर्तव्यपरायण, धीर, कर्मकाण्डी सच्चा संन्यासी और वास्तविक योगी है। उसे संन्यासी, योगी मत कहो जो निकम्मा आलसी बना बैठा है और परोपकार अग्निहोत्र आदि पवित्र यज्ञ तक भी करने सर्वथा छोड चुका है।

जिसको संन्यास कहते हैं, उसे ही योग जानो। हे पाण्डुके सुयोग्य पुत्र! कोई भी साधक तब तक योगी नहीं बन सकता जब तक कि वह फुरनों से संन्यास न प्राप्त कर लेवे। जब तक किसी के मन में फुरने उठते ही जा रहे हैं, तब तक उस ने योग क्या कर सकना था, अतः संन्यासी बनना ही योगी बनना है, फुरना त्यागना ही भगवान् से मेल प्राप्त करना है।

विचारशील साधक की योगमार्ग में उन्नति का परम कारण यौगिक क्रियाएं ही हैं अतः योग-मार्ग में जो उन्नति करना चाहता है, उस को वे सब शीघ्र सम्पादन कर डालनी चाहियें। परन्तु जब वह योगी हो चुके, सिद्धि पा चुके, योग की सभी सीढियां चढ चुके तब उसके लिये शान्ति ही श्रेयस्कर है फिर उस की सिद्धि उस के पास तभी रह सकती है, यदि वह संसारी लोगों के झंझटों में हस्ताक्षेप करता न फिरे वरञ्च शान्त अपने आप में मस्त बना रहे यदि कोई बहुत ही अनुनय विनय करे तो उस का जो आपसे बने बना दे अन्यथा जिस किसी को भी शाप, आशिर्वात देने के लिये व्याकुल हुआ मारा मारा न फिरे। सिद्ध को शान्ति और साधक को योगविषयक उद्योग ही उत्तम साधन हैं।

जब इन्द्रियों के विषयों में मनुष्य नहीं उलझता, कर्मों के इष्टअनिष्ट फलों के विचार में ही फंसा नहीं रहता और सभी फुरनोंको ऐसा त्याग बैठा है कि, सर्वथा उनका उठना ही बन्द किये है, उस दशा में उसे योगस्थ, सिद्धयोगी, समाधिस्थ कहा जाता है।

मनुष्य को चाहिये कि अपनी आत्मा को डिगने न दे, दुःखी न करे, व्याकुल न होने दे वरञ्च सदा उसे शान्त इकरस ही रख उन्नत ही करता जावे ऊंचा ही उठाए रक्खे क्योंकि गिरा हुआ आत्मा अपनाआप ही शत्रु है और ऊंचा उठा हुआ आत्मा अपना आप ही मित्र तथा भाई है। अतः आत्माको गिरावे नहीं उच्च ही करे।

आत्माको जिसने सदा ही जिता रक्खा है, उसका आत्मा तो सदैव ही अपनाआप ही मित्र तथा भाई है, परन्तु जिसका आत्मा परवश हो चुका है, उसके लिए तो अपनाआप ही सदा शत्रुवत् उससे वर्त रहा है। अतः आत्माकी वाणीको कभी न दबावे जो अन्दरसे आत्मा कहता है, वही करे किसी के भी कहनेसे, प्रेमसे वा भयसे भी, कभी उस आत्मिक वाणीके प्रतिकूल कभी न वर्ते ताकि आत्मा कभी दबे न, न ही अवनत हो। वरञ्च सदा उसकी आज्ञा मानी जानेके कारण वह प्रबल ही अधिका-धिक होता जावे।

आत्मविजेता पूर्णतया शांत पुरुष तो वह है कि, जिसका हृदय सरदीगरमी, सुखदुःख, आदर-अनादर से सम्बद्ध हो कर भी, चलायमान् नहीं होता, वरञ्च प्रत्येक दशा में टिका ही रहता है ऐसे पुरुष में तो आत्मापरमात्मा-अवस्था में ही सुप्रकट हो रहा है अन्यथा वह कैसे इन द्वन्द्वों

से भी चलायमान् नहीं होता और कैसे इकसार ही बना रहता है।

जिसने ज्ञानविज्ञान का अनुशीलन इतना अधिक कर लिया है कि, उस का आत्मा उन से सर्वथा तृप्त हो चुका है, यहां तक कि अब उस में ज्ञानविज्ञान के लिये उमंग ही नहीं उठती, जो वास्तविक तात्त्विक परमात्मास्थिती में स्थित हुआ हुआ है इन्द्रियां जिस ने सर्वथा ही वश में की हुई हैं, ऐसे योगी के विषय में कहा जाता है कि, यह तो परमात्मा से एकतार हो रहा है, सर्वथा उस से इस समय जुडा हुआ है। ऐसे को सोने, पत्थर, मिट्टी से क्या प्रयोजना? उस का तो दिल इन में सर्वथा ही नहीं उलझता। लोभ ने उस के पास क्या फटक सकना था?

उत्तम योगी वही है, जो साधुओं तथा पापियों में, प्यारे मित्र, शत्रु, तथा न शत्रु न मित्र इन तीनों में, तथा भाई, वैरी, तथा लापरवाह इन तीनों में, सर्वथा एक समान अप्रभावित् ही रहे। जो न प्रेम से विह्वल हो जाय न क्रोध से भडक उठे, न उदासीन साही हो वरञ्च सदासर्वदा शत्रुमित्र-उदासीन सभी की वास्तविक हितकामना सदा ही करे किसीसे भी अन्याय करना कभी न चाहे।

इस प्रकार व्यवहार करता हुआ योगी सर्वथा अपनी जीविका चिन्ता से मुक्त रह सकता है क्योंकि ऐसे को जनता स्वयं ही भूखे मरने नहीं दे सकती अतः उस का कर्तव्य यह नहीं कि, अपनी जीविका के लिये मारा मारा फिरे वरञ्च उस का धर्म यही है कि, आशा के फन्दे से सर्वथा छूट, लोभ लालच अर्थ पदार्थसंग्रह सर्वथा त्याग, फुरने चिन्ताएं सभी उठने बन्द कर, निरन्तर आत्मा का ही आनन्द अकेला ही एकान्त गुफा में बैठा रहा कर लेवे, यही योग उत्तम योगी साधे।

पवित्र स्थान में टिक जाय, बहुत नीचे, न बहुत ऊंचे हीं किसी स्थान पर बैठे वरञ्च भूमि से कुछ ऊंचा जहां कीट पतङ्ग न पहुंच सके न सीलाब हो, वहां अपना आसन करे नीचे कुशा बिछाए उस पर मृगछाला उसपर कपडा। उस पर स्वयंविराजे सर्वथा अडोल, बिल्कुल कांपे झुले हिले डुले नहीं।

सब क्रियायें सर्वथा रोक दे, श्वास भी बन्द करे, रक्त की गति भी शनैः शनैः मन्द होती होती अन्त में रुकने लगेगी। हाथ पैर हिलाये नहीं, आंख झपके नहीं, जिव्हासे मानसिक जाप तक भी न करे। फुरने, ज्ञानविचार, चिन्ताएं, भावनाएं सभी हटावे, उठने बन्द करे, मन एक ही आत्मतत्त्व में उलझावे और उसी की सम्पूर्ण शुद्धि सिद्ध करने के लिये यही आत्मिक योगाभ्यास सदा करता जावे। आसन लगाकर ही यह योग उत्तमतया सध सकेगा।

बैठने में धड, गरदन। सिर को सर्वथा सीधा, एक ही रेखा में निश्चल अडोल टिकावे और इधर उधर न देखता हुआ केवल अपने नाक की नोक पर ही दृष्टि एक टक जमाई रक्खे। आंखें खोले उसे देखता रहे जब आंखें बन्द हो जावें तब वृत्ति स्वतः ही उसी दिशामें टिकी रहने से सुषुम्नाद्वार, सूर्यद्वारा में जा टिकेगी, यही उत्तम अवस्था है। इस दशा में शक्ति सीधी मूलाधारचक्र से उठ सम्पूर्ण चक्रों में होती। सूर्यद्वार तक सर्वथा बिना रोक टोक चक्कर लगा सकेगी तब ब्रह्माण्ड के अन्दरबाहर भी संकल्पमात्र से योगी का कामचार सुगमतया ही सम्भव हो जाता है।

अपनेआप में सर्वथा शान्त, भय से सम्पूर्णतया-रहित् ब्रह्मचर्य नियम में बिल्कुल पक्का, मन सर्वथा रोककर विचारधारा बन्द करके, चिंताएँ सर्वथा मेरे विषयमें ही करता हुआ, मेरेही परायण हो कर योग साधे और 'श्रीकृष्णार्पणमेव मम योगोऽस्तु' भावना ही दृढ रक्खे अपनी चतुराई की आवश्यकता ही न समझे।

इस प्रकार जो योगी मनको रोककर निरन्तर आत्मिक योग साधेगा वह ऐसी शांति प्राप्त करेगा जो अन्तमें मोक्ष तक दिलवा देती है। ऐसी शांति

का आधार मैं स्वयं ही हूं जो मेरा आश्रय लेगा, वही उसे पायगा और मुक्त भी होगा।

परन्तु ऐसा योग भूखों मरनेसे नहीं सधता रातें जागने से भी कुछ नहीं बनता और न ही बहुत खाने या बहुत सोनेसे ही कोई योगी कहला सकता है हे अर्जुन!

योग तो सुखका कारण उसिके लिए सिद्ध होगा, जो समय पर सोता जागता है, मिताहार करता है, उचित व्यवहार साधता है तथा सभी क्रियायें शिष्टाचारपद्धतिके अनुकूल ही साधता है। उस के तो सभी दुःख दरिद्र योग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

चित्तको योगयुक्त तभी कहा जाता है जब कि वह सभी इच्छाओं की चाह त्याग दे और सभी ओरसे रुककर केवल आत्मामें ही सर्वथा टिक जावे, अर्थात् जब चिन्तायें सर्वथा न उठें कामनायें भी न जगें तभी चित्त आत्मचिंतन में लगा समझना उचित है उसी समय वह योगसम्पन्न होता है।

जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खे दीपककी लाट सर्वथा कांपा ही नहीं करती उसी प्रकार आत्मिक योग में लगे योगी का टिका हुआ चित्त सर्वथा चलायमान नहीं होता। योगीको दीपक और उसके चित्तको दिए की लाटसे उपमा दी जाती है (आत्मिक योग-साधन-दीपक का निवातस्थान में टिकना समझिए)

इस प्रकार योग साधते साधते अन्तमें चित्त रुकता रुकता सर्वथा ही उपराम हो जाता है (Interfere) करना ही छोड बैठता है, दखल देना ही बन्द कर देता है, योगीके लिए न हुआ साही हो जाता है। तब आत्मा अपनेआप की झांकी पाता है और मस्त हो जाता है। परमानन्द ही अपने में अनुभव करता है।

यह तो सीमापार का परम सुखही है बुद्धि जानने मात्र, से ही आत्मा इसे अनुभव कर पाता है अन्यथा मन आदि इन्द्रियों की पहुंच से तो कहीं दूर परे है, इसे पा मनुष्य मूल आत्मावस्था में टिका ही रहना चाहता है, उससे डोलना, नीचे उतरना, व्यावहारिक सांसारिक दशामें आना, फिर पसन्द ही नहीं करता। वरञ्च आत्मानन्द ही अनुभव करना चाहता रहता है।

इस प्रकारके सुखको पाकर फिर उससे बडे किसीभी सुख की कल्पना मनुष्य नहीं कर सकता। चाहे कितना भी भारी दुःख आन पडे, परन्तु उस आत्मा में स्थित होने के आनन्द से मनुष्यको वह दुःख वञ्चित कभी नहीं कर सकता।

इस सुखतक किसी भी दुःखकी सर्वथा पहुंच नहीं हो सकती। दुःखका उससे संयोग कैसे कभी हो सकता है। बस इसी सम्पूर्ण दुःखरहितता का नाम योग जानें। ऐसी आत्मानन्दप्राप्तिरूपी योग बडे निश्चयपूर्वक योगी साधे। प्रेम से उसमें चित्त जोडे। सर्वथा चित्त को इससे उकताने न देवे। योग ही परम श्रेयस्कर है।

फुरनोंके आश्रय जाग्रत होनेवाली इच्छाओं को सम्पूर्णतया उठने न देकर, मनकी ही सहायतासे सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह को भीतरसे रोक, उस का अनेक दिशाओं में बाहर की ओर जाना सर्वथाही टोक कर,

धैर्ययुक्त ज्ञानसे आहिस्ता आहिस्ता मनुष्य बाहरकी सांसारिक उलझनों से छूटे, अन्तमें मन को ही अपने वशमें कर उसमें के ही विचार उठने बन्द करे, तब फिर चिंताएं भी रुक जावेंगी। फिर वह सर्वथा ही कुछ भी न सोचे,

यदि चञ्चल मन किसी भी चिंताकी सहायता पा, किसी भी विचारमार्गसे बाहिर निकले, तो उसे किसी भी इन्द्रियरूपी नालीमें बह निकलने के पूर्व ही वापिस उसी विचारमार्ग तथा चिंताके द्वारा बुला कर अपने वशमें तुरन्त ही करे अन्यथा यदि और मार्ग से मन रोकना या लौटाना चाहोगे तो वह सकेगा। न लौटेगा कहीं का कहीं आपको ले जा पटकेगा।

पापरहित जिस योगीके मन की गतिका कारण रजोगुण सर्वथा शांत हो गया हो और इस कारण जिस के मनमें विचार उठने बन्द हो कर जिसका

मन सर्वथा शांत रहने लग गया हो, उसको उत्तम सुख प्राप्त होता है, वह तो ब्रह्मही हो चुका होता है। मन में से रजविकार, गति, चञ्चलता, हट जाने पर सत्त्व बढने से प्रकाश, ज्ञान वृद्धि पा जानेसे, मनुष्य ब्रह्मपदवी पा जाता है, यह बडी उच्च स्थिति योगीलोग मानते हैं।

पापरहित योगी इस प्रकार सदा ही अपनी आत्मा को योगसम्पन्न करता हुआ सुगमतया ही वह आन्दर भोगने लग जाता है, जिस से परे और आनन्द क्या होगा। उसे परमात्मा का स्पर्श, अनुभव होता है और खूब ही स्वाद आता है।

इस प्रकार जिसका आत्मा योग सम्पन्न रहता है, उसे तो वही आत्मसत्ता इकतार सभी पदार्थोंमें ओत-प्रोत अनुभव होती है और सभी पदार्थ उसी आत्मा-में उलझे हुए उसीका ही रूपान्तर मात्र प्रतीत होते हैं, उसे तो सभी स्थान पर समता ही भासती है उसी ब्रह्मात्मा की ही प्रतीति सर्वत्र उसे सभी प्राणि अप्राणियों में हुआ करती है।

इस प्रकार जो मुझ कृष्णारूप चराचर की आत्मा को ही सर्वत्र देख रहा है और सकल ब्रह्माण्ड मेरा ही स्थूल रूपान्तर जिसे प्रतीत होता है फिर न मैं उस से ओझल होता हूं, न वह मुझ से ओझल होता है हम दोनों का ऐसा सम्बन्ध जुडता है कि, परस्पर खिंचे ही चले जाते हैं पृथक पृथक हो ही नहीं सकते सदा इकट्ठे ही रहते हैं।

इस प्रकार सभी पदार्थों में टिके मुझ को जो एकात्मा अनुभव करके सेवता है और उसी एकात्म-भावमें टिका रहता है, फिर वह आत्मोपासक एकता-अनुभवी योगी चाहे कैसे बाहरी व्यवहार करता प्रतीत होवे, वह तो हर दशा में मुझमें ही खेल रहा है उसे पापपुण्य कहां?

परम योगी वही माना गया है, जो इस एकात्म्या-नुभव में इतना पक्का हो जावे कि सभी के दुःखसुख में अपना ही दुखःसुख अनुभव करे अतः जो सभीके दुःख दूर करने का यत्न उसी प्रकार करे जिस प्रकार कि अपने दुःख दूर किये हैं और सुख सभी को प्राप्त करवानेका यत्न उसी प्रकार करे जैसे स्वयं सुख पाया है। इस प्रकार हे अर्जुन! जो अपनी ही न्यायीं सभी को देखता हुआ सब स्थान पर सब पदार्थों के सम्बन्ध में वैसा ही सदाचार वर्तता है, वही परम योगी माना गया है।

अर्जुन ने प्रश्न किया कि—

हे मधुदैत्य को दुःखी करनेवाले! आपने जो यह समता का योगवर्णन किया है मुझे तो उस की नींव ही पक्की नहीं प्रतीत होती, मेरा तो मन इतना चञ्चल है और मेरे विचार में सभी का ही मन लगभग ऐसा ही होता है कि, मैं यह समझ ही नहीं पाता कि कोई इस को कभी वश भी कर सकता है फिर योग तो किस से सधना था?

महाराज! मन तो अत्यन्त चञ्चल ही नहीं वरञ्च बहुत प्रबल भी है अपनी धुन का पक्का भी है जबरदस्त है सब को अच्छी प्रकार झंझोड देने वाला, मथ डालनेवाला है मैं तो उसे रोकना इतना ही अत्यन्त कठिनसाध्य मानता हूं, जितना कि वग रही अन्धेरी को रोकने का यत्न करना! जैसे आंधी तूफान वृक्षोंको जड से उखेड मकानों की छतों तक को उडा ले जाती है, वैसे ही एक व्यक्ति के मन का एक फुरना मात्र संसार भर में महायुद्ध तक खडा करवा सकता है, ऐसे मन को भला कब किसने रोक सकना था फिर आप का बताया योग कब सम्भव है?

लक्ष्मीपति विष्णुभगवान् श्रीकृष्णमुख से भक्त को यूं कहने लगे कि—

हे महावीर अर्जुन! मननिश्चय ही चञ्चल है और दुर्बल जन उसे क्या वश में कर सकेंगे पर तुम्हारी भुजाएं तो इतनी लम्बी हैं कि, गाण्डीव-सरीखा भी चला लेती है तुमने तो निरन्तर घूम रही मछली की आंख को भी बींध दिया था तुम्हारे लिये मन वश करना कौनसा कठीन कार्य है तनिक सा अभ्यास और करो इस बार सपूर्ण विचारमात्र से उपराम होने का यत्न करो एक भी विचार अब मन में रखना नहीं होगा, झट मन तुरन्त वश में हो जावेगा। एकाग्र तो तुम्हारा मन

है ही अब तो निरुद्ध करना ही शेष है तुम्हारे लिये यह क्या कठिन काम है।

हां जिन्होंने अभी एकाग्र भी करना नहीं सीखा उच्छृङ्खल ही जो अभी तक हैं, उन को योग वास्तव में प्राप्त अभी नहीं हो सकता यह तो मेरा विचार भी है। परन्तु तुम्हारे जैसे एकाग्र चित्तवाले तो यदि उचित उपाय अर्थात् वैराग्य का आश्रय ले यत्न अर्थात् अभ्यास करें तो अवश्य मेरा निर्दिष्ट समतायोग साध ही सकेंगे।

अर्जुन की घबराहट अभी नहीं हटी अतः फिर दूसरी बार और ढंग से प्रश्न करता है कि—

हे कृष्ण ! हे प्यारे सखा ! सच सच बताओ कि जो संयमी तो न हो परन्तु हो श्रद्धालु, योग से उसका मन उपराम हो गया हो, वह जब योग सिद्ध नहीं कर पाया और बीच में ही उसे छोड बैठा है तो उस की गति कैसी होगी ? उसका क्या हाल होगा ?

क्या वह बादल के फटने पर बनी टुकडियों के आसमान में भटक भटक कर छिन्नभिन्न हो सर्वथा नष्ट हो जाने की न्यायीं दोनों ही ओर से संसारिक दृष्टि और यौगिक दृष्टि दोनों ही प्रकार से सर्वथा नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता क्योंकि वह परमात्मा के मार्ग को पाकर भी अपनी मूर्खता वश उसे त्याग बैठा है और वह मार्ग भूल उस से भटक डोलता ही फिरता रहा है सर्वथा चैन नहीं पा सका।

महाराज कृष्ण ! मेरा यह संशय तो सम्पूर्णतया आप ही निवारण कर सकते हैं आप के सिवाय अन्य कोई भी इस संशय को निवारण कर सकने के योग्य सर्वथा दिखाई नहीं पडता।

श्रीभगवान् करुणाकर आनन्दकन्द मुस्करा कर बोले—

पृथा के सुयोग्य पुत्र ! घबराओ नहीं ! वत्स ! क्या कभी कोई भी कल्याणसाधना करनेवाला सज्जन दुर्गति पा सकता है फिर समतायोगी का नाश क्या हो सकता था ? वह तो न इस संसार से नहीं उस योगमार्ग से कभी भी नष्ट नहीं सकता। उसे किस ने नष्ट कर सकता था ?

हे प्यारे ! वह तो सुकृत उपार्जन करनेवालों के पुण्यमय स्वर्गादि लोकों को प्राप्त कर के, वहां सैंकडों वर्ष आनन्द भोगकर फिर पवित्र, धनाढ्य, लक्ष्मीसम्पन्न व्यक्तियों के घरमें इस संसार में अगला जन्म पा लेता है। जो योगमार्ग पकड उसे दुर्बलतावश छोडनेपर बाधित् गतजन्म में हुआ था ऐसे योगभ्रष्ट की ऐसी सद्गति होती है।

परन्तु जिस ने योगारम्भ किया और काल ने उसे बीच में ही आदबाया और उस का योग अधूरा ही रह गया ऐसा योगभ्रष्ट तो बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में अगला जन्म पायगा। इस संसार में ऐसा जन्म मिलना बहुत ही दुर्लभ है।

उस जन्म में पिछले जन्मवाली योगबुद्धि उसे फिर प्राप्त होती है जिस से कि वह योग की सिद्धियां प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक अग्रसर होता जाता है, हे कुरुकुल को आनन्दित करने वाले वीर !

पिछले जन्म में जिस के मन में योगविषय जानने की सच्ची इच्छा एक बार भी उत्पन्न हुई थी, वह इस जन्म में जाप तो सिद्ध कर ही लेगा प्रणव जो परमात्मा का शब्दमय नाम ओ३म् है उस के उच्चारण की युक्ति तो अवश्य इस जन्म में उसे कोई ठीक ठीक सिखा ही देगा और वह योगमार्ग इस न सही अगले ही सही जन्म में अवश्य योगमार्ग प्राप्त कर सकेगा। पिछले जन्म की योगजिज्ञासा का संस्कार उसे विवश कर देगा कि, वह एक बार तो इस जन्म में योगमार्ग पकडे बस फिर वह परमात्मा के नाम को जपेगा और फल पायगा।

परन्तु यदि इन योगभ्रष्टों में से कोई भी इस जन्म में अभ्यास करना आरंभ कर देवे और परिश्रम से करता ही चला जावे, तो उस का योग शीघ्र ही लगने लग जावेगा, पाप उस के सभी

धुल कर वह सर्वथा शुद्ध हो जावेगा फिर अनेक जन्मों में इसी प्रकार उन्नति करता करता अन्त में पूरा सिद्ध योगिराज योगीश्वर बनता बनता परम गति, मोक्ष तथा परमात्मारूपता प्राप्त कर सकेगा।

योगी ही बडा है तपस्वियों से, ज्ञानियों से भी योगी को ही बडा मान गया है, कर्ममार्ग अवलम्बियों से भी योगी ही बडा है इस लिये हे अर्जुन ! तू भी योगी ही बन। आत्मसंयम तथा ध्यान की अपेक्षा तपज्ञान-कर्म सभी बहुत निचले साधन हैं अतः आत्मसंयमी, ध्यानी बनने का ही यत्न करना चाहिये। क्योंकि तप मन का कर्म है, ज्ञान बुद्धि का और कर्म देह का। अतः ध्यान जो आत्मा का निजी कर्म है, उसी में लगना, योगी बनना, ही सर्वोत्तम है।

सभी योगियों में भी मैं उसे ही परम योगी मनता हूं जो अपनी अन्तरात्मा को मुझ में पहुंचा कर मुझे अत्यन्त श्रद्धाप्रेम से सेवन करता है मेरा ही भजन करता है। मुझ श्रीकृष्ण में ध्यान लगाना, आत्मा से मेरे साथ जुड जाना परम योग है। आत्माको सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहारों, विचारों, चिन्ताओं, भावनाओं से पृथक कर टिका लेना योग है। एकाग्र करना तप है। ब्रह्मज्ञान में उलझाना ज्ञान है। उत्तम कर्मों में लगाना कर्म है।

अतः सुगमयोग, परमयोग श्रीकृष्ण परमात्मा का ध्यान ही है॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

सप्तम अध्याय।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहोर.)

श्री भगवान् बोले-

मुझ में उलझा निजी मन, आश्रित् मम कर योग।
मुझे जान ज्यों जायगा, साध्र सुभक्ति सुयोग ॥१॥
निस्संशय पूरा पुनः, लेगा तू पहिचान।
जैसे, मुझ से सुन वही, अर्जुन वीर महान् ॥२॥
ज्ञान वही विज्ञान के, साथ कहूं निश्शेष।
मैं तुझ को, जिसे जान फिर, ज्ञेय रहे नहीं शेष ॥३॥
यहां और कुछ सर्वथा; सिद्धि के लिये वीर।
विरला ही, कोई सहस्रों मनुजों में से सुधीर ॥४॥
यत्न करे, पुनः यत्न कर, सिद्ध हुओं में से एक।
कोई जान लेता मेरा, सत्य तत्त्व सविवेक् ॥५॥
पृथिवि जल अग्निः पवन, प्रकाश मन ज्ञान।
मैं मैं करना अस्मिता, जो कोरा अज्ञान ॥६॥
विविध मेरा यह स्वाभाव है, आठ प्रकार प्रसिद्ध।
स्थूल रुप है यह मेरा, सकल विश्व प्रसिद्ध ॥७॥
सूक्ष्म मेरा स्वभाव पुनः, इस से दूजा जान।
जंगम धारा विश्व जिस, जीव वही सुमहान् ॥ ८॥
संसार इस सकल की, जीव ही है इकजान।
दीर्घ भुजा से युक्त हे, वीर ! मैं ही जगप्राण ॥ ९॥
निश्चय रख सभी भूत ही, जो जग में उत्पन्न।
इन्हीं प्रकृति दोऊ सम, से ही सदा सम्पन्न ॥१०॥
मैं ही अतः सम्पूर्ण ही, विश्वका आदि स्रोत्।
अन्त भी हूं संसारका, मुझीमें ओतप्रोत ॥ ११॥
परे न मुझे से और कुछ, हे धन-विजयी वीर।
है सब ही यह मुझी में, हुआ पिरोया धीर ॥१२॥
धागे में जयमाल की मणियां ज्यों सुप्रोत।
त्यों ही ईश्वरकृष्ण मुझ, में सब भूत सुप्रोत ॥१३॥
जल में मधुरता शैत्य रस, चन्द्रसूर्य में ज्योत।
पुरुषपना सभी नरों में, मैं ही स्वयं सुधीत् ॥ १४॥
सब वेदों में ओ३म् मैं, आकाश में शब्द।

पृथिवी की हूं सुगन्ध मैं, विद्युत् द मम शब्द ॥१५॥
आग में गर्मी चमक मैं, सकल पदार्थ जान।
सकल तपस्वि जनों का, ही मैं तप सुमहान् ॥१६॥
नित्य सनातन मुझे ही, कारण सब का जान।
हे कुन्तिसुत वीरवर! प्राणियोंका मैं प्राण ॥१७॥
ज्ञानिजनों का ज्ञान हूं, तेजस्वि में तेज।
मैं ही बल बलवान् का, जो सुशान्त शुभ तेज ॥१८॥
कामवासना जहां न, आसक्ति नहीं मोह।
धर्मपूर्वक काम भी, अधिकारियों से मोह ॥१९॥
भरतश्रेष्ठ! सुप्राणियों, सुपिताओं का काम।
कारण सुप्रजाजनन का, हूं मैं ही निष्काम ॥२०॥
सात्विक् राजस तामसिक्, जो जो भाव उत्पन्न।
जान उन सब को मुझी से, तू अर्जुन! उत्पन्न ॥२१॥
मैं उन से सीमित् नहीं, उन में बन्धा न ही वीर।
पर वे हैं मम अंश इक, वे सब मुझमें हैं धीर ॥२२॥
रूपान्तर त्रय गुणोंका, ही हैं ये सब भाव।
जग सारा मोहित् हुआ, इन से ही यह सहभाव ॥२३॥
उत्तेजित् हो जानता, न मुझे हूं मैं कौन।
अविनाशी इन से परे, परमात्मा ही जौन ॥२४॥
गुण, रूपा अरु भावना मम माया आकार।
तरनी है अति कठिन यह, सुविचित्र साकार ॥२५॥
दिव्य सुशोभित, पर इसे, तर वे ही सकें वीर।
माया को, मुझे जो भजें, इसे उलांघें धीर ॥२६॥
पा कर मुझ को फंसें न, फिर माया मम बीच।
उलझा न उन्हें वह सके, डूबें न तिस बीच ॥२७॥
पर पापी मुझे पायं न, मतिविमूढ नर नीच।
माया चुराया ज्ञान जिन, राक्षासुर जन नीच ॥२८॥
प्राण ही पोषक जनों के, जो ही गन्दे भाव।
उन ही के आश्रित हुए, आसुरजन दुर्भाव ॥२९॥
मुझे पा सकें नहीं वे, फंसे रहें इकतार।
माया मेरी ही में सर्वथा, मतिमन्द नरनार ॥३०॥
मुझे तो भजते सर्वदा, सज्जन चार प्रकार।
हे अर्जुन! शुभकर्म कर, करें वे मेरी कार ॥३१॥
धन अदि के अर्थ कोई, दुःखी कोई अधीर।
कोई मुझे चाहे जानना, कोई सुजान सुवीर ॥३२॥
ज्ञानी सर्वोत्तम वही, भक्ति मेरी में जो लीन।
सदा कर रहा योग वह, इक ईश्वर में ही लीन ॥३३॥
ज्ञानी जनों को प्रिय लगूं, निश्चय स्वयं अतीव।
अरु वह भी लगें प्रिय मुझे, भक्ति सने ही अतीव ॥३४॥
हृदय इन सभी का सदा, ही होवे सुविशाल।
ऊचे उठें सब ही अतः, पाय उच्च गतिलाल ॥३५॥
पर ज्ञानी तो समझना, चाहिये मेरा जी जान।
स्वात्मा मुझ से जोड कर, समझे मुझे निज प्राण ॥३६॥
उत्तम पद सुप्राप्य वह, जान सदा पहिचान।
मुझे ही टिक रहे मुझी में, निज गति मुझे ही मान ॥३७॥
ज्ञानी भी मुझे पा सके, बहुत जन्म पश्चात्।
कई जन्म कर तप पुनः, करे मुझे साक्षात् ॥३८॥
वसुदेवसुत कृष्ण ही, जो परमात्मरूप।
वही सर्वमय हो रहा, जगमय ही जगभूप ॥३९॥
संसार में बस रहा, देव वही भुवनेश।
आकर्षक् सभी का परम, कृष्ण स्वयं विश्वेश ॥४०॥
ऐसी भावनायुक्त जो, अति दुर्लभ वही सन्त।
सब से बडा महात्मा, उस सम कौन महन्त? ॥४१॥
सर्वोत्तम अतः भक्तवर, ज्ञानी वही मम प्रीय।
जो जन्म अरु जन्मान्तरों, में रहे ज्ञानी प्रीय ॥४२॥
अन्य इतर जन कामवश, निज खो उत्तम ज्ञान।
लगें पूजने देवता, अथार्थी कर ध्यान ॥४३॥
विवश हुए स्वभाव निज, से उनके नित पाल।
देव नियम ही सर्वदा, चाह धनधान्य कंगाल ॥४४॥
पर श्रद्धा से जौन नर, चाहें पूजना जौन।
भक्त, देवतादिक् कोई, मूर्ति प्रकट वा मौन ॥४५॥
उसी उसी में टिकाता, मैं दृढतर सुप्रेम।
निश्चल ही उस का सदा, श्रद्धामय नितनेम ॥४६॥
उस श्रद्धा से युक्त हो, पूजन का करे यत्न।
तब उस से निजकामना, पावे सफल प्रयत्न ॥४७॥
पर पीछे उस देव के, हूं मैं हि दातार।
निश्चित् ही सब कामना, अरु सब सुखभण्डार ॥४८॥
पर सीमित ही मिले फल, तुच्छ बुद्धियों को।
उन को वह, वे प्राप्त हों, देवताओं ही को ॥४९॥
देवों के लिये यज्ञ कर, पर मेरे अनुरक्त।
पा जाते हैं मुझे ही, मेरे प्रेमी सुभक्त ॥५०॥

निर्बुद्धि जन मानते, मुझे हुआ सुप्रकट।
पर मैं तो अव्यक्त हूं, परम भाव अप्रकट ॥५१॥

अविनाशी उत्तम मेरा, नहीं सकें वे जान।
निज माया से सर्वथा, ढका हुआ मैं महान् ॥५२॥

अपने हि शुभयोग से, हूं सब के लिये गुप्त।
प्रकट नहीं सब के लिये, मैं निज माया गुप्त ॥५३॥

मुझ अविनाशी अजन्मा, को जानें नहीं लोक।
दुर्गम माया मुग्ध हो, देखें न मम आलोक ॥५४॥

होंगे, हैं, हो चुके जो, मैं जानूं सभी भूत।
पर मुझको नहीं जानता, कभीभी कोई भूत ॥५५॥

अर्जुन ! सृष्टिकल्पमें, मोह-मुग्ध हों जीव।
राग वैर उठे भुलावे, में फंस कर सभी जीव ॥५६॥

जोडों से हों मुग्ध सब, पर सत्कर्मी सुजान।
पाप गया जिन नष्ट हो, जन जो महा विद्वान् ॥५७॥

वे छुट कर ही सर्वथा, जोड भुलावे त्याग।
स्थिर चित्तसे भज रहे, मुझे ही वे महाभाग ॥५८॥

पक्के वे सुव्रतों में, कर रहे यत्न महान्।
मौत बुढापा छोडने, के ही लिये, मतिमान् ॥५९॥

लेकर आश्रय इक मेरा, वे लेते ब्रह्म जान।
सम्पूर्ण अध्यात्म अरु, कर्म सकल पहिचान ॥६०॥

अधियज्ञ, अधिभूत अरु, अधिदैव से युक्त।
जो योगी मुझे जानते, जिन चित्तयोग सुयुक्त ॥६१॥

वे ही मरते समय भी, लेंगे मुझे पहिचान।
देह त्यज, पाते उच्च गति, भक्त पायें भगवान् ॥६२॥

गीता-विषयक नवीन विचार।

सप्तम अध्याय।

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी., लाहोर.)

श्रीभगवान् फिर कहने लगे कि, हे कुन्ति-पुत्र ! मन को मुझ में उलझा कर, मेरे ही आश्रित् हो योग करता हुआ, जिस प्रकार तू मुझे सम्पूर्णतया जान जायगा और सब संशय तेरे निवृत्त हो जायंगे, वह भेद अब मुझसे सुन।

मैं तुझे निश्शेष ही वह सब कुछ ज्ञानविज्ञान बतला दूंगा जिसे जान लेनेके पीछे इस संसार में तेरे लिये और कुछ जानने योग्य बात बची न रह जावेगी।

सैंकडों ही नहीं वरंच हजारों पुरुषों में से भी कोई विरलाही सिद्धिसम्पन्न होनेके लिये यत्न करता है। उन यत्न करनेवालों में से जो सिद्ध हो जाते हैं, उन सिद्धों में से भी कोई ही मुझे वास्तव में जानता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, ज्ञान, अस्मिता। (मैं मैं करना) यह सब तो मेरे शरीर का आठ प्रकार का स्थूल भाग है। परन्तु मेरे शरीर का एक सूक्ष्म भाग भी है, उस को तू जीवात्मा पहिचान। हे दीर्घभुजाओंवाले ! जीवितसंसार को यही धार रहा है, इससे रहित् संसार तो सारा स्थावर अचर ही है।

इस प्रकार स्थावर-संसार तो केवल स्थूल अष्ट-विध प्रकृतिका बना है और जंगमसंसार स्थूल प्रकृति तथा सूक्ष्म जीव दोनों का बना है अतः समग्र जीवित अथवा निर्जीव प्राणि तथा तत्त्व सभी इन दोनों कारणों से ही बने कार्य हैं, ऐसा निश्चय कर लो। इस लिये यह भी पहिचान लो कि, मैं ही वास्तव में समग्र संसार की उत्पत्ति, धारण, प्रलय

करनेवाला हूं, क्योंकि अष्टविध प्रकृति तथा नवम जीव सब मेरे ही रूपान्तर मात्र हैं।

हे धन-विजयी वीर! मुझसे परे सूक्ष्म और कुछ सर्वथा है ही नहीं मुझ में ही इस सम्पूर्ण संसार के भूत इस प्रकार पिरोये हुए हैं, जैसे जपमाल के धागे में मणियां।

हे कुन्ति-पुत्र! जल में ठण्डक तथा सुस्वादुपना मेरा ही है, चान्दसूरज की चमक मेरी ही है सभी वेदों को पवित्र बनानेवाला ओ३म् शब्द मेरा ही नाम है आकाश का निज गुण शब्द मेरा ही रूपांतर है और मनुष्यों का मनुष्यपना भी ईश्वर का ऐश्वर्य ही है।

पृथिवि की सुगन्ध, विद्युत् का ददद शब्द, अग्नि की गर्मी वा चमक, समग्र प्राणियों की जान, मुझे ही समझ। तपस्वियों में ईश्वर ही तपरूप हो रहा है। हे अर्जुन! जिस जीव-संयुक्ताप्रकृति से सम्पूर्ण तत्त्व तथा प्राणि उपजते तथा जन्मते हैं, वह सभी का अनादि नित्य कारण मेरा ही रूपान्तर जानो। बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज, ईश्वरीय ही होता है।

बलवानों का बल भी ईश्वरीय ही जानो, परन्तु वही बल जो शान्त अनुत्तेजक, अनासक्ति कर हो ब्रह्मचर्य तथा योग के परिणामस्वरूप उत्पन्न बल तो सर्वथा ईश्वरीय ही होता है। हे भरतश्रेष्ठ! दुराचार से बचानेवाला, सन्तानोत्पत्ति का कारण, सदाचाररक्षक, स्वस्त्रिप्रेम, भी सभी प्राणियों में विद्यमान् एक ईश्वरीय भाव ही मानना आवश्यक है।

सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी उपरोक्त सभी भाव मेरी उन भावयुक्तोंमें विद्यमानताके कारण ही उनमें पाये जाते हैं, मुझसेही होते हैं, ऐसा समझ। हां वे मेरी सीमा नहीं वरञ्च मैं उनकी सीमा हूं मेरी सत्ताके वे कारण नहीं मैं उनकी सत्ताका कारण हूं, वे मेरे ही एक अंशमें विद्यमान् हैं मैं उनसे ही जीवित जाग्रत नहीं।

जो भिन्न भिन्न तत्त्वों तथा प्राणियोंमें निज सत्ता भाव विद्यमान् हैं चाहे वे भूत सात्त्विक हों चाहे राजस चाहे तामस उन्हीं सत्ता भावोंके कारण सम्पूर्ण संसार उन्हें देखकर उनपर लट्टू हो रहा है अतः उनके अन्तर्यामि, उनके निर्माता, उनके परले अविनाशी कारण मुझ ईश्वर कृष्णको वही संसार पहिचानही नहीं पाता। कोई सुन्दर स्त्री, दूसरा सुन्दर बाल, तीसरा सुन्दर पुष्प, इत्यादिपर मोहित् हो रहा है; परंतु उन सभीमें सौंदर्य भरनेवाले मुझको उनकी बाहरी आंख देख नहीं पाती।

कारण इसका यह है कि, जिस माया से मैं अपने आपको घेर रक्खा है, जिसके बाहर समग्र संसार है और अन्दर मैं हूं वह मेरी माया उलांघनी बहुतही कठिन है, क्योंकि वह सत्त्वरजतमगुणरूपा है और मुझ परम देव के द्वारा स्वयं ही रची गयी है इस कारण उसके पार तो वही जा सकते हैं जो मुझको ही पकड जकड डालें केवल मुझमें ही उलझ जावें किसी भी संसारके पदार्थ की कामना न रख केवल मेरे ही प्रेममें उन्मत्त हो रहे हों।

दुःखके कारणभूत पापकर्मोंके करनेवाले, संसार पर मुग्ध होनेवाले, नर नीच मुझे नहीं पा सकते, क्योंकि मेरी मायाने ही उन्हें पामल बना रक्खा है और मायाका प्रथम प्राणही उनको अपने में उलझाये रखता है, अतः प्राण जानेका भय, प्राणपोषण की आवश्यकता इन्हीं दो भावोंके ही आश्रित् वे सदा रहते हैं और असुरों जैसे ही काम करते रहते हैं।

इनके विरुद्ध हे भरतश्रेष्ठ! सुकर्मी पुण्यात्मा मनुष्य भी होते हैं, जो माया से कुछ ऊंचे उठ मेरा भजन करने लग जाते हैं, हे अर्जुन! मुख्यतया वह चार प्रकारके होते हैं कोई तो मायामय संसारसे दुःखी होकर मुझे दुःखभञ्जक् जान, उस मायामय दुःखसे छूटनेके लिए मेरा ध्यान करते हैं, कोई धन, स्त्री, पुत्र, यश आदि की इच्छा रखते हुए मुझे उनका दातार जान मुझे भजते हैं, कोई मुझे एक मात्र अविनाशी ज्ञेय जान मुझे जानना चाहते हुए मुझे इसी निमित्त भजते हैं कि मैं प्रसन्न होकर अपना

यथार्थ स्वरूप उन्हें दिखला दूंगा और चौथे जान बूझकर, मेरा दर्शन पा चुकने पर, मुझ मोहनके मोहमें फंस निरन्तर मेरे ध्यान में ही उलझे रहते हैं दुनियांके अन्य पदार्थ उन्हें सर्वथा भातेही नहीं।

उन चारोंमेंसे केवल इक मुझ परही मुग्ध हुआ, सदाही मुझसे उलझा हुआ, ज्ञानीही सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि उस ज्ञानीको तो मैं अत्यन्त ही प्यारा लगता हूं और वह भी मुझे अतीवही प्यारा लगता है।

हृदय तो विशाल इन सभी का ही होता है, परंतु ज्ञानी तो मेरा जीवनप्राणही समझना चाहिए, वह तो मुझेही सर्वोत्तम प्राप्य समझ मुझमें ही टिका रहता है और सदा अपना आत्मा अन्तःकरण मुझमें ही जोडे रखता है, इसलिए यद्यपि वे शेष तीनों भी उच्च गति ही पाते हैं,

परंतु ज्ञानी तो मुझे ही पा लेता है यद्यपि इस कार्यमें उसके कई जीवन व्यतीत हो जाते हैं; परन्तु फिर भी, बहुत जन्मोंके पीछेही सही, वह ज्ञानी मुझे प्राप्त अवश्य कर ही लेता है, ऐसा महात्मा मिलना बहुत कठिन है पहिचान उसकी यह है कि, उसे संसारके अणुपरमाणु में भी वसुदेवसुत कृष्णके अन्तर्यामी भगवान् परमात्माकी ही झांकी दीखा करती है, सकल संसारमें उसे एकही भगवान् महादेव निवास करता दिखाई दिया करता है, मायावी सांसारिक् पदार्थ उसकी दृष्टिको मन्द नहीं कर सका करते।

अन्य सांसारिक् जन विविध काम्य भोगों की ओर आकृष्ट हुए इस भगवत् ज्ञानसे विहीन होकर उन भोगोंकी शीघ्र प्राप्ति साधने निमित्त उन भोगोंके अधीश्वर कुबेरादि देवताओं की उपासना करते हैं, उस देवोपासनके नियमोंके सर्वथा अनुकूल आचरण करते हैं, उन्हें टूटने नहीं देते। अपने अपने स्वभावके अनुकूल, देव, यक्षराक्षस, आदि पूजन कर, अपना कार्य सफल करनेका यत्न करते हैं।

जो जो व्यक्ति जिस जिस देव आदिका पूजन, सत्कार, श्रद्धा भक्तिपूर्वक करना चाहता है, मैं उस उस भक्तकी उसी उसी देवादि में श्रद्धा, भावना दृढतर अचल बना देता हूं। प्रत्येक की श्रद्धा स्वभावानुकूल ही होती है और वैसाही उसका आहार, आचार, विचार होता है, अतः वही श्रद्धा उसकी प्रतिदिन दृढतर निश्चल होती जाती है।

वह भक्त उस श्रद्धासे भरपूर होकर उस ही कुबेरादि का पूजन करनेका यत्न करता है और उस ही द्वारा काम्य भोग प्राप्त करता है। परंतु वास्तव में उन कुबेरादिके पीछे मैं ही काम्य भोग प्रदाता हुआ करता हूं, परन्तु वे कुबेरादि के ही श्रद्धालु उसे कुबेरादि का दिया हुआ ही समझते हैं और उनमें उलझे हुये मुझे वास्तविक् योग्य प्रदाता समझही नहीं सकते।

इस कारण वह थोडी समझवाले कुबेरादिके पुजारी कुबेरादिके पास ही, मर कर जा पहुंचते हैं नश्वर भोगही उन्हें उनकी पूजा के फलरूप में प्राप्त होते हैं, मुझे वे पुजारी प्राप्त नहीं हो पाते। मुझे तो वही प्राप्त हो सकते हैं, जो केवल मेरे भक्त हों।

अनजान जन समझते हैं कि, मैं वास्तव में वैसाही हूं जैसा दिखाई पडता हूं मेरे आकार को देख कर मेरा निराकार परला भाव वास्तविक स्वरूप, परमोत्तम अविनाशी रूप उन की आंखों से सर्वथा ओझल हो जाता है, वे समझते हैं कि कृष्ण जितना प्रकट है, उतना ही मात्र है उससे परे अप्रकट निराकार भाग उस का कोई सर्वथा है ही नहीं।

वास्तव बात यह है कि, जिस अपनी ही योग-माया से मैंने अपने परमात्मरूपपर प्रकृतिजीवमय आवरण डाला हुआ है, उसके कारण मेरा वास्तविक रूप ओझल हो रहा है लोक उस मायावी आवरण पर ही मोहित हो जाते हैं, अतः मेरे अविनाशी अजन्मा निराकार परमात्मरूप को सब ही न जान पाते हैं न उस की झांकी सभी को मिल ही पाती है।

मैं तो हे अर्जुन! अगले पिछले वर्तमान् सभी तत्त्व तथा प्राणियों को भली प्रकार जानता हूं,

परन्तु मुझे तो कोई भी नहीं जान जानता मैं तो सर्वथा अज्ञेय ही हूं।

हे परम तपस्वि भरतसन्तान ! सृष्टिकाल में सम्पूर्ण तत्त्व तथा प्राणि सर्वथा सुखदुःखादि जोडों से उत्पन्न अज्ञान के द्वारा सर्वथा मूढ हो जाते हैं, उस सुखदुःखादि का कारण कामक्रोध, आसक्ति, वैर आदि ही होते हैं, उन्हीं में उलझ कर सभी लोक सृष्टिकाल में महामूढ हुए रहते हैं।

परन्तु जिन सुकर्मियों, पवित्राचारी सज्जनों का पापकर्म क्षीण हो चुका है, वह इन जोडों के मोह से सर्वथा छूटकर अचल श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करते हैं और उस पूजा के नियम बडी दृढतापूर्वक पालते हैं और उन में कोई त्रुटि आलस्यादि वश होने नहीं देते मुझे सदा सर्व प्रकार भजते हैं।

इस प्रकार मेरा आश्रय लेकर जो बुढापे और मौत से छुटकारा पाने का यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, पूर्ण अध्यात्मको और समग्र कर्म को जान जाते हैं।

जो मुझ को अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ के साथ साथ जान लेते हैं, वे अपने चित्त को मुझ में जोडे हुए मरणसमय भी मुझे जानने मेरा ध्यान दर्शनादि उस समय भी करने में सफल हो जाते हैं ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अष्टम अध्याय ।

(कवि- श्री० रुलियारामजी कश्यप)

अर्जुन ने पूछाः-

कौन ब्रह्म वह है पुनः, अध्यात्म वही कौन ? ।
हे पुरुषोत्तम ! कर्म जिस, को कहते वही कौन ? ॥१॥
कहा गया अधिभूत क्या, कहिये किसे अधिदैव ।
कैसे कौन अधियज्ञ है, इस देह ही में सदैव? ॥२॥
निज आत्मा को रोकते, हे मधुसूदन ! जौन ।
कैसे उन से ज्ञेय हो, मरणसमय हे सुमौन ॥३॥

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—

अविनाशी रहा व्याप जो, सर्वत्र वही ब्रह्म ।
सर्वोत्तम अतिसूक्ष्मतम, सब के ऊपर ब्रह्म ॥४॥
जो निज सत्ताभाव हैं, जीवात्मा कहे जौन ।
अध्यात्म वे ही कहे, जाते, जीवन जौन ॥५॥
शक्ति-विसर्जन ब्रह्म से, हो तबही बनें भूत ।
नाम उसी का कर्म है, उपजें जिससे भूत ॥६॥
करती उत्पन्न तत्त्व अरु, प्राणियों का सद्भाव ।
उसी विसर्जित् शक्ति का, कर्म नाम गति भाव ॥७॥
नाशवान् की भावना, जिस परिणाम हीं भूत ।
अधिभूत उसे जानिये, नाशवान् सभी भूत ॥८॥
देव, सूर्य अरु अग्नि वत्, में जो आत्मा व्याप ।
रही कही वही पुरुष ही, आधिदैवत् सुव्याप ॥ ९ ॥
प्रति देह के सम्बन्ध में, परमात्मा जो कृष्ण ।
वही यहां अधियज्ञ में, परम पूज्य हरिः कृष्ण ॥१०॥
शरीरियों में श्रेष्ठ है, अर्जुन वीर गम्भीर !।
देहगत ही परमात्मा, जान पूज्यतम धीर ! ॥११॥
मरता हुआ जो मुझे ही, स्मर कर त्यागे शरीर ।
जो जावे, मेरे भाव को, प्राप्ति ही होवे सुधीर ॥१२॥
संशय इस में है नहीं। भाव कौन करे स्मरण ।
अन्त समय देह त्यज रहा, मर कर भी वही स्मरण१३
करता, उस के प्रभाव से, हो उस को ही प्राप्त ।
सदा ही प्राणी जायं यूं, जन्म विविध करें प्राप्त ॥१४॥
कुन्तीसुत हे वीरवर ! अतः मेरा कर स्मरण ।
सभी समय, कर युद्ध भी, संशयरहित सुस्मरण ॥१५॥

मनबुद्धि अर्पण मेरे, कर होगा मोहे प्राप्त।
निश्चय रख, मेरा स्मरण कर, होगा मुझे ही प्राप्त ॥१६॥
चित्त न और में जाय जो, उस से सदा करे योग।
परमात्मा से मेल पा, करता रहे वही योग ॥१७॥
बार बार यही यत्न कर, बार बार कर स्मरण।
परम पुरुष मुझ कृष्ण का, ही करता अनुस्मरण ॥१८॥
दिव्य प्रभू परमात्मा, को ही करेगा प्राप्त।
ब्रह्म तथा अधियज्ञ में, होकर वह सुव्याप्त ॥ १९ ॥
हे कुन्तिसुत वीरवर ! बार बार सुस्मरण।
करे जो सर्वाधारके, सूर्यरूप का स्मरण ॥ २० ॥
अन्धकार से सर्वथा, ही जो परे है दूर।
रूप है जिस का सोचने, से भी परे अति दूर ॥२१॥
अणुपरमाणु से सूक्ष्मतम्, सर्वज्ञ प्राचीन।
वेदकाव्यकर कवि महा, जगशासक सुनवीन ॥२२॥
जाते समय मन अचल से, यौगिक बल को धार।
श्रद्धा भक्ति सयुक्त हो, भ्रूमध्य इकतार ॥ २३ ॥
श्वास चढा सम्यकतया, दिव्य पुरुष के ज्ञान।
से पावे उसी श्रेष्ठतम्, प्रभू को कर तिसध्यान ॥२४॥
वेदज्ञान से युक्त जिस, अव्यय का व्याख्यान।
करते सदा श्रोत्रिय मुनि, जिस का ही धर ध्यान ॥२५॥
वैरागी, योगी, सुयति, जिस में करें सुप्रवेश।
चाह जिसकी ही त्यज रहे, क्रोध काम आवेश ॥२६॥
धार रहे ब्रह्मचर्य को, करते ब्रह्म का ध्यान।
संक्षेप से पद उसी, का मैं करूं व्याख्यान ॥ २७ ॥
उत्तम है सुप्राप्य जो, ओ३म् अविनाशी ब्रह्म।
इक अक्षर उच्चार यह, सिमरे पुनः ब्रह्म ॥ २८ ॥
जो जाता हुआ त्याग दे, इस विध ही स्वशरीर।
उच्च परम गति पाय वह, भौतिक त्याग शरीर ॥२९॥
इन्द्रिय सब ही रोककर, मन भी हृदय में रोक।
मस्तिष्क में श्वास निज, चढा और वहीं रोक ॥ ३० ॥
इसविध स्थान विशेष में, मन प्राण ठहरा।
साध ब्रह्म से योग तब, ओ३माक्षर दोहरा ॥ ३१ ॥
परमात्मा का ध्यान धर, त्यागे जो स्वशरीर।
जाय लोक यह छोड, गति, पाय उच्चतम् धीर ॥३२॥
चित्त न दे किसी और को, सिमरे सदा मुझे नित्य।
हे अर्जुन ! योगी कोई, मुझसे जुडे जो नित्य ॥ ३३ ॥

उस को सुगमतया मिलूं मैं, पाय न फिर वही जन्म।
दुःखसुख का घर ही सदा, क्षणभङ्गुर जो जन्म ॥३४॥
परम सिद्ध हुए महात्मा, हों मुझ को सुप्राप्त।
चक्र से लोकों के छुटे, हुए ब्रह्म को प्राप्त ॥३५॥
आना जाना रहे बना, लोकधाम सब मांह।
ब्रह्मलोक तक पुनः पुन, ब्रह्मसे आना नांह ॥ ३६ ॥
हे अर्जुन ! मुझे प्राप्त यूं, ब्रह्मलोक में हो।
हे सुत कुन्ति मात के, जन्म पुनः नहीं हो ॥३७॥
जन ज्ञाता दिनरात के, चतुर्युगी ही हजार।
जानें दिन इक ब्रह्म का, रात भी सोई हजार ॥३८॥
चतुर्युगी की ही कहें, जब दीन पहुंचे आन।
प्रकट भूत उत्पन्न सब, हों अव्यक्त से आन ॥३९॥
वही उसी अव्यक्त में, जब आ जावे रात।
लीन पुनः हों जायं सब, यह विचित्र ही बात ॥४०॥
प्राणिअप्राणि समूह यूं, बार बार उत्पन्न।
हो हो कर वही लीन हों, अव्यक्त सम्पन्न ॥४१॥
रात आने पर विवश ही, हे कुन्तिसुत धीर।
दिन आने पर भी पुनः, लीन उदित् गम्भीर ॥४२॥
भूत सभी के नाश से, भी नहीं होवे जो नष्ट।
नित्य वही अव्यक्त है, परम भाव सुस्पष्ट ॥४३॥
प्रकृति है अस्पष्ट जो, उस से परे अव्यक्त।
यह दूजा है ब्रह्म ही, उच्च यह पद सुव्यक्त ॥४४॥
अविनाशी अक्षर कहा, यही परम मम स्थान।
जिस में पहुंच नहीं लौटते, वही मेरा शुभ धाम ॥४५॥
अन्दर जिस के टिक रहे, प्राणि सभी अरु तत्त्व।
जिस ने विस्तारा जगत, यह समग्र सह तत्त्व ॥४६॥
परम पुरुष मिले भक्ति से, वह अनन्य इकतार।
जो ध्यावे नहीं दूसरे, को ही समझ निस्सार ॥४७॥
भरतश्रेष्ठ ! मैं अब तुझे, बतलाऊं वही काल।
जिस में मरकर लौटते, रह के वहां कुछ काल ॥४८॥
योगी ! तथा उस काल का, भी मैं करूं व्याख्यान।
मर कर जिस में लौटते, नहीं कभी धृतिमान् ॥ ४९ ॥
आग, चमक, दिन, चांदना, पक्ष, मास छः उच्च।
इन में मर, जायं ब्रह्म के, पास ब्रह्मवित् उच्च ॥५०॥
जन ! जोगी है लौटता, चन्द्रज्योति को पाय।
धुयें, रात, अन्धकार के, पक्ष में जो मर जाय ॥५१॥

सूर्य है जिन छः मास में, रहता दक्षिणओर।
उन में मर योगी सदा, लौटे ही इस ओर ॥ ५२॥
उजियाली अन्धयारी पुनः, ये दो गति विख्यात्!।
मानी जग में सभी की, सदा सभीने तात ॥ ५३॥
एक से जाते हैं वहां, लौटे जिससे न कोय।
अन्य से जाकर लौटता, ही अवश्य सब कोय॥५४॥
ये दो मारग जान कर, योगी मुग्ध न होय।
कभी कोई हे वीरवर! घबरावे नहीं सोय ॥५५॥
अर्जुन! योग से रह जुडा, ही तू अतः सब काल।
वेद, यज्ञ, तप, दान सब, योगसम्मुख जञ्जाल ॥५६॥
कहा जो फल शुभ पुण्यमय, उन सब का हे वीर!
उस सारे को उलांघ ही, जाय सर्वथा धीर ॥५७॥
जो जाने इस भेद को, पाय वह परम स्थान।
आदि धाम जो ही मेरा, योगी परम जन स्थान ॥५८॥

गीता-विषयक नवीन विचार।

अष्टम अध्याय।

अर्जुनने पूछा कि–

हे परम पुरुष परमात्मा! वह ब्रह्म क्या है? और कर्म क्या है? अधिभूत किसे आप ने कहा है और अधिदैव क्या कहा जाता है? हे मधुसूदन! यहां इस देह में अधियज्ञ कौन है कैसा है? और जिन आत्मवान् योगियों ने अपना अन्तःकरण वश में कर रक्खा है, वे मरते समय आपका ज्ञान, ध्यान कैसे सम्मुख कर आप का दर्शन किया करते हैं?

श्रीभगवान् नें उत्तर दिया कि—

ब्रह्म तो सर्वव्यापक अविनाशी अक्षरों में से सर्वोत्कृष्ट उस भगवान् परमदेव परमात्मा को ही कहा जाता है; परन्तु जहां मैं-भाव उदय हुआ, तो झट जीव-भाव आ गया बस तब से वही तत्त्व-जीवात्मा, तथा अध्यात्म कहा जाने लग जाता है, इस के उपरान्त इस चेतन का शुद्ध अचेतनसत्ता के साथ सम्बन्ध जोडने के लिये प्रजापति शक्ति छोडते हैं, यही उन का शक्ति विसर्जन वास्तविक कर्म नाम का अधिकारी हैं, क्योंकि विश्व में जितने कर्म हो रहे हैं, सब का मूल यही ब्राह्मप्राजापत्य कर्म ही है।

इस के परिमाणस्वरूप जीवोंसे प्रकृति के भाग-सम्बद्ध हो कर प्राणियों की नश्वर देहें बनती हैं बस वहीं से मरण धर्म, क्षय होने का भाव, क्षरपना आरम्भ होता है, अतः सम्पूर्ण देह ही अधिभूत वाच्य हैं। परन्तु जो सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि देव हैं उन में तो वही ब्रह्म भगवान् स्फुटतया प्रकाशमान् हो रहा होता है, अतः वह देव-देह-गत ब्रह्मात्म तत्त्व, पुरुष ही अधिदैवत है, जैसे भूत-देह-गत ब्रह्मात्म तत्त्व अधिभूत है और जीवात्मगत ब्रह्मात्म तत्त्व अध्यात्म है। उसी प्रकार देहों के भौतिक भाग, इन्द्रिय भाग, अन्तःकरणभाग, जीवात्माभाग आदि सब का अधिष्ठाता भगवान् परम पूज्य परमात्मा जिस का ही ध्यान धर यज्ञादि किये जाते हैं, जिस को पूजने, जिसे सन्तुष्ट सुप्रसन्न करने के लिये ही यज्ञ किये जाते हैं, वही यज्ञाधिष्ठाता सभी देहोंमें मैं स्वयं श्रीकृष्ण परमात्मा आप ही हूं।

मरते समय जो मुझे स्मरण कर देह छोड इस संसार से कूच कर जाता है, निसन्देह वह मेरी अवस्था को ही पा जाता है, परमात्मपद पर ही जा पहुंचता है।

क्योंकि हे कुन्तिपुत्र ! जिस जिस आकृति के ध्यान में मग्न कोई व्यक्ति हुआ हुआ शरीर त्यागता है, सदैव उसी से प्रभावित् हुआ वह उसे ही प्राप्त होता है, इसी कारण मरती स्त्री अपने मृत पति के ध्यान में उलझ पतिलोक में जा पहुंचती है इत्यादि ।

इस लिये सभी समय मेरा ही साक्षात् करता हुआ युद्ध करता जा तब निसन्देह तू मुझे अवश्य प्राप्त ही रहेगा, यदि तूने अपने मनबुद्धि मेरे ही अर्पण कर रक्खे होंगे तो ।

क्योंकि जिस का चित्त और किसी की ओर जाता ही न हो और केवल ज्योतिस्वरूप परमात्मा ब्रह्म का ही चिन्तन सदा करता रहे, वह इस ब्रह्म से मेल के अभ्यासवश सदा हि योगी बन रहा उस दिव्य परम पुरुष के पास ही जा पहुंचता है ।

मरने के समय, निश्चल मन से, श्रद्धा भक्तिपूर्वक, योगबल का आश्रय ले, प्राण को पूरा पूरा भृकुट्टी में चढा कर, जो उस सर्वज्ञ, वेदकाव्यकार, परम प्राचीन, जग उपदेशक तथा विश्वाधीश, सब के पालकपोषक, अणुपरमाणु से भी परम सूक्ष्म अन्धकार से सर्वथा परे, ज्योतिस्स्वरूप आदि पुरुष, अप्रमेय, अज्ञेय का बार बार ध्यान धरे, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त कर ही लेता है, उस के पास जा ही पहुंचता है, जिस अक्षर अविनाशी का वेदवेत्ता वर्णन किया करते हैं, बैरागी, यति, संयमी, व्रति जिस में प्रविष्ट ही हो जाया करते हैं तथा जिस की प्राप्ति की इच्छा से ही ब्रह्मचर्य सा कठोर व्रत भी भक्तलोग धारण कर लिया करते हैं, उसी प्राप्तव्य भगवान् का उपदेश मैं तुम्हें अभी संक्षेप से कर डालता हूं ।

सभी इन्द्रियों को रोक कर, ज्ञानद्वारों को बन्द करके, मन को भी हृदय में ही रोक रख, अपने जीवनप्राण को माथे में चढाकर दोनों भौंहों के मध्य में सूर्यद्वार में टिका कर, योग की इस विशेष धारणा में सुदृढ हो कर, ओ३म् जो एक मात्र विश्वव्यापी सर्वाधार सर्वतो महान् ब्रह्म तत्त्व है, उस मेराही साक्षात् कर प्रणव जपता जपता जो पुरुष, देह को छोड कर इस लोक से चला ही जायगा, वही परमपद प्राप्त करता है उच्चतम गति उस की ही होती है ।

जो प्रतिदिन मेरा ही स्मरण निरंतर करता है और चित्तको अन्य ओर भटकाता ही नहीं, वह तो सदा ही मुझसे सम्बद्ध योगीही है हे अर्जुन! सुगमतया ही मैं उसे मिल जाता हूं ।

मुझे पाकर उच्चात्माजन, परम सिद्ध हो चुके हुए, फिर क्षणभंगुर, दुःखोंके निवासस्थानरूप, जन्ममरणके चक्करमें नहीं पडते, क्योंकि ब्रह्मलोकसे इधरके सभी लोक तो हे अर्जुन! ऐसे हैं जहांसे लौट कर पुनर्जन्मके पचडेमें फंसना ही पडता है, परन्तु जब कोई मुझ ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण को प्राप्तकर लेता है तब हे कुंतिपुत्र! फिर उसका जन्म नहीं होता ।

दिनरातके भेदोंसे परिचित् ज्योतिषविद्याविद् जानते हैं कि, ब्राह्मदिन एक हजार चतुर्युगीयों का होता है और ब्रह्मरात्रि भी एक ही हजार चतुर्युगीकी होती है (एक चतुर्युगी ४३२०००० सौर वर्षोंकी होती है) जब दिन आता है तो सभी भूत तथा प्राणि तथा तत्त्व अव्यक्त प्रकृतिके रूपांतररूप उत्पन्न हो उठते हैं और जब रात होती है तो वे सब मरकर फिर उसी प्रकृतिरूप को धार लेते हैं परम सूक्ष्म अवस्थामें फिर पहुंच जाते हैं । इस प्रकार वही प्राणि तथा तत्त्व समूह पुनरुत्पन्न हो कर मरता रहता है, विवश हुआ ही रात आनेपर छिन्नभिन्न अस्त हो जाता है और दिन आने पर उत्पन्न हो जाता है, इस विध सृष्टि प्रलय भगवान् के वश ही है प्राणियों तथा तत्त्वों के वश नहीं।

पन्तु इस उत्पत्ति विनाशधर्मवाले परिणामी अव्यक्त प्रकृति तत्त्व से परे एक और नित्य अपरिणामी अव्यक्त-तत्त्व भी है जो चाहे सभी प्राणि तथा तत्त्व उत्पन्न हो जायं चाहे मर जायं अर्थात् पुनः कारण अव्यक्त अवस्था में लीन हो जावें दोनों दशाओं में वह परला नित्य एकरस तत्त्व सर्वथा वैसे का वैसाही रहता है नष्ट कदापि

नहीं होता। इस दूसरे अव्यक्त अक्षर को परम पद कहा गया है। यही सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक मेरा श्रेष्ठ स्थान है। यहां पहुंच फिर लौटना नहीं पडता। जन्ममरण में वे नहीं आते, जो प्राणि मेरे पास पहुंच चुके हैं।

हे पृथा के पुत्र! वह परम पुरुष उसी भक्ति से प्राप्त हो सकता है, जो केवल उस पुरुष को ही आधार बनाये। जिस भगवान् में सभी प्राणि तथा तत्त्व टिके हुए हैं और जिसने यह समग्र प्रपञ्च-विस्तार रक्खा है, उस की प्राप्ति का एकमात्र साधन अनन्यभक्ति है।

जिस समय मर कर योगी लोग ऐसे पद पर पहुंचते हैं, जहां से लौटना नहीं पडता अथवा ऐसे पर पहुंचते हैं, जहां से लौटना पडता ही है, उन दोनों समयों के विषय में अब तुम्हें कहता हूं हे भरतश्रेष्ठ!

आग, चमक, दिन, चांदना पक्ष, वह छः महिने जिन में सूर्य उत्तर की ओर ही जाता रहता है, इन सब में यहां से गये हुए ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म में ही जा पहुंचते हैं।

धुआं, रात, अंधियारा पक्ष, वह छः मास जिन में सूर्य दक्षिण की ओर ही जाता रहता है, उन सब में यहां से गये हुए योगाभ्यासी चन्द्रलोक तक पहुंचते हैं। वहां से आगे विद्युत, मानस, ब्रह्मलोकोंमें न जा सके, पीछेही अभ्र, मेघ, वर्षा आदि द्वारा इसी लोकमें पुनः आ कर जन्म धारण कर लेते हैं।

प्रकाशमान तथा अंधियारा यह दो मार्ग इस जगत् के प्राणियों के लिये सदा से ही मानें गए हैं। एक से वहां पहुंचते हैं, जहां से लौटते नहीं और दूसरे से वहां जाते हैं, जहां से पीछे लौटना पडता ही है।

हे पृथासुत अर्जुन! इन दोनों मार्गों से सुपरिचित योगी कभी इस विषय में भ्रमग्रसित नहीं होता, कभी अज्ञान के पञ्जे में नहीं फंसता, अतः तू भी सभी समय योगी बना रहने के लिये इन्हीं देव तथा पितृ यानोंके रहस्य को भली प्रकार समझ कर सदाही स्मरण रख।

क्योंकि केवल इस रहस्य को खोल लेने का ही फ़ल योगी को इतना अधिक मिल जाता है, जितना कि वेद पढने; यज्ञ, तप, दान करने से भी उसे पुण्य नहीं लगता। इन सब के करने का पुण्य जितना लगना कहा गया है, उस से कहीं अधिक फल योगी को इस रहस्य को समझने से मिल जाता है और पहिला आदित्यरूप जो परम ब्रह्म श्रीकृष्ण स्थान है, उस परम धाम को योगी पाही लेता है।

———o———

गीताविर्भावकी तिथि ।

(ले०- श्रीयुत जनार्दन सखाराम करन्दीकर, बी० ए०, एलएल० बी०, पूना ।)

मार्गशीर्ष मासमें भारतीय महायुद्धका आरम्भ हुआ, इसमें प्रायः सभी इतिहासज्ञ एकमत हैं। तिथिके सम्बन्धमें मतभेद है। तिथिनिर्णयका अनुमान करनेके लिये आधारभूत महाभारतके निम्नलिखित वचन हैं —

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥
(उद्योग ३-७-२१)

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवतां ॥
(उद्योग १४३-१८)

आज्ञापयामास राज्ञस्तान् पार्थिवान्नष्टचेतसः ।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ॥
(उद्योग १५०-३)

न कुर्वन्ति वचो मह्यं कुरवः कालचोदिताः ।
निर्गच्छध्वं पांडवेयाः पुष्येण सहिता मया ॥

ततो मन्युपरीतात्मा जगाम यदुनंदनः ।
तीर्थयात्रां हलधरः सरस्वत्यां महायशाः ॥

मैत्रनक्षत्रयोगे स्म सहितः सर्वयादवैः ।
रौहिणेये गते शूरे पुष्येण मधुसूदनः ॥

पाण्डवेयान् पुरस्कृत्य ययावभिमुखः कुरून् ॥
(शल्य ३५-१० से १५)

लोहाभिहारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युध्यस्व सकेशवः ॥
(उद्योग १६०-९४)

मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत ।
दीप्यमानाश्च संपेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥
(भीष्म १७-२)

अर्धरात्रिः समाजज्ञे निद्रान्धानां विशेषतः ।
तमसा चावृते सैन्ये रजसा बहुलेन च ॥

ते यूयं यदि मन्यध्वमुपारमत सैनिकाः ।
निमीलयत चात्रैव रणभूमौ मुहूर्तकम् ॥
(द्रोण १८४-१६ से २७)

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानंदेन चंद्रेण माहेंद्री दिगलंकृता ॥
(द्रोण १८४-४६)

त्रिभागमात्रशेषायां रात्र्यां युद्धमवर्तत ॥
(द्रोण १८६-१)

क्रव्यादाश्च प्रमुदिता घोरा प्राप्ता च शर्वरी ॥
(सौप्तिक १-२७)

तस्या रजन्यास्त्वर्धेन पाण्डवानां महद्बलम् ।
गमयामास राजेंद्र द्रौणिर्यमनिवेशनम् ॥

निशाचराणां सत्त्वानां रात्रिः सा हर्षवर्धिनी ।
आसीन्नरगजाश्वानां रौद्री क्षयकरी भृशम् ॥
(सौ० ८-१३३)

प्रत्यूषकाले शिबिरात्प्रतिगंतुमियेष सः ॥
(सौ० ८-१४३)

चत्वारिंशद्दिनान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै ।
पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः ॥
(शल्य ३४-६)

उषित्वा शार्वरीः श्रीमान् पंचाशन्नगरोत्तमे ।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ।

अष्टपंचाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर ।

त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥
(अनु० १६७-२८)

उक्त वचन अधिकांश परस्परविरोधी हैं, इस कारण तिथिनिर्णय करना कठिन हो गया है । इनकी संगति लगानेमें कुछ वचनोंको प्रक्षिप्त अथवा लेखक-प्रमाद मानना पडेगा, या खींचातानी कर उनका अर्थ करना पडेगा । अतः अधिक हेरफेर या खींचातानी न कर, जो सिद्धान्त निर्णित हो, उसीको ग्राह्य मान लेना उचित होगा । विशेष खटकनेवाला वचन यह है—

चत्वारिंशदिनान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै ।
पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः ॥
(शल्य ३४-६)

इस एक वचनने ही सारी गडबड मचा दी है । इसका किसीसे मेल नहीं बैठता । इसका सही माननेसे बाकीके वचनोंमें फेरफार करना पडेगा या उनका उत्तरार्ध छोड, काल्पनिक अर्थ करना पडेगा । प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर और महाभारताचार्य श्रीयुत चिंतामणि विनायक वैद्यने इसको सही माना है । परन्तु इसको सही मान लेनेसे उन्हें भीष्मनिर्याणके श्लोककी खींचातानी करनी पडी है । 'मघाविषयगः सोमः' यह श्लोक उन्हें खटकता है और उसकी 'पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि' से संगति भी नहीं जमती । 'चत्वारिंशत् दिनान्यद्य' यह श्लोक गदापर्वके 'सरस्वती-तीर्थयात्रा-वर्णन' प्रसङ्गका है । भीम-दुर्योधनके युद्धका वर्णन रोककर बीचमें ही 'तीर्थयात्रा-वर्णन' के अध्याय भर देना अप्रस्तुत जान पडता है । इन अध्यायोंके प्रक्षिप्त होनेकी भी आशंका है । यदि ऐसा हो, तो इस एक श्लोकको प्रक्षिप्त मान लेनेसे अन्य १०-१२ वचनोंकी शृंखला जम जाती है ।

युद्धारम्भ-दिनके सम्बन्धमें अन्याय संशोधकोंने जो अनुमान किये हैं, उनकी छानबीन अब करेंगे ।



श्रीकृष्ण भगवान् कौरव-पांडवोंके बीच सन्धि करानेके लिए जो चले, उसके संबंधमें 'कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे' यह उल्लेख है । इससे यह बात सर्वमान्य है कि, कार्तिक शुक्ल १२ या १३ के दिन श्रीकृष्णने कौरव-सभामें जानेके लिए प्रस्थान किया । हस्तिनापुरमें मध्यस्थताके जारी रहते उसे न मानकर दुर्योधनने अपने पक्षके राजाओंको—

'प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः'

यह कहकर पुष्य नक्षत्रपर कुरुक्षेत्रमें जानेकी आज्ञा दी । यह बात कार्तिक कृष्ण ५ (उत्तर-भारतके पंचांगसे मार्गशीर्ष कृष्ण ५ मी) को हुई होगी; कारण पुष्य नक्षत्र इसी समयके लगभग आता है । इसके पश्चात् दो तीन दिन श्रीकृष्ण वहां रहे । अन्तमें कुंती मातासे मिलकर और कर्णसे कानाफूसी करके वहांसे लौटे । उस दिन 'सप्तमाच्चाद्य दिवसादमावास्या भविष्यति' यह उनका वचन है, जिससे मालूम होता है कि, उस दिन कार्तिक कृष्ण ८ (उत्तरके पंचाङ्गसे मार्गशीर्ष कृ० ८) और नक्षत्र पूर्वा फाल्गुनी रहा होगा । यहांतक सब पक्षोंका एकमत है,परंतु यहींसे आगे मतभेद आरम्भ होता है ।

नागपुरके श्रीकेशवरावजी कहते हैं कि श्रीकृष्णकी सूचनाके अनुसार सातवें दिन अमावास्याको युद्धारंभ हुआ । परन्तु उस दिन चंद्रोदयका जो वर्णन है, उससे तो यह मत अग्राह्य होता ही है; पर अन्य प्रमाणोंसे भी इसकी असंभवनीयता सिद्ध होती है । उपलव्य पहुंचनेके लिए एक दिन और मध्यस्थताका क्या फल हुआ यह बतानेमें एक दिन बीत गया । इसके बाद सात अक्षौहिणी सेना उपलव्यसे प्रस्थान करके कुरुक्षेत्र पहुँची, इसमें भी तीन चार दिन लगे ही होंगे । कारण इस सेनाको रास्तेमें रोकनेके लिये दुर्योधनका पहरी सैन्य प्रस्तुत था और इस सैन्यको मार भगाने और मार्गको निर्भय करनेका काम अर्जुनको सौंपा गया था, यह महाभारतमें ही लिखा हुआ है । कुरुक्षेत्र पहुंचकर वहां छावनी

कायम करके अलग अलग सैन्यविभागोंके अलग अलग स्थान निर्माण किए गए और चौतर्फा परिखा खनकर प्रबन्ध किया गया, रसद जुटायी गयी इत्यादि कर्मोंके लिए और भी कुछ दिन लगे होंगे। कितने दिन लगे यह महाभारतमें प्रत्यक्ष रूपसे कहीं भी नहीं बताया है। तथापि आगे युद्धारंभके दिनका जो विवेचन होगा, उससे निश्चित दिन मालूम हो ही जायंगे। अभी इतना जान लेना पर्याप्त है कि, अमावास्याको युद्धारंभ नहीं हुआ।

दोनों ओरकी छावनियां कायम हुईं और अब यह युद्ध किसीके रोके नहीं रुकता, यह देखकर बलराम श्रीकृष्ण और पांडवोंसे बिदा होकर तीर्थ-यात्रा करने चले गए। इसी दिन, यदि, वहां यह निर्देश होता कि, कौन नक्षत्र था, तो यह गडबड बहुत कुछ कम हो जाती; परन्तु ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। और गदापर्वके ३४ वें अध्यायमें—

'चत्वारिंशद्दिनान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै।
पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः।'

यह वचन है। इसमें भी तमाशा यह है कि, इसी गदापर्वके ३५ वें अध्यायमें बलरामके प्रयाणके सम्बन्धमें 'मैत्रनक्षत्रयोगे' और 'पुष्येण' ये दो परस्परविरोधी उल्लेख हैं। अर्थात् बलराम किस नक्षत्रपर चले और कितने दिन बाद लौटे, यही बडे महत्त्वका, पर उतना ही कूटार्थक प्रश्न है। तथापि यहां हम कालानुक्रमसे विचार कर रहे हैं, इसलिए इस वचनका ऊहापोह यहां करनेकी आवश्यकता नहीं। गदापर्वतक पहुंचनेपर ही उसका विचार किया जायगा और यहां पहले उस भीष्मपर्वका ही विचार करें, जिसमें युद्धारंभका वर्णन है।

युद्ध आरंभ होनेके दो एक दिन पहले महर्षि व्यासजीने धृतराष्ट्रको जो अरिष्टसूचक चिह्न बताये उनमें चन्द्रमाका उल्लेख न होनेसे तिथिनिर्णयमें कुछ प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिलती, पर अप्रत्यक्ष मिलती है। उद्योगपर्वमें युद्धके दो एक दिन पूर्व दुर्योधनका संदेसा लेकर उलूक पांडवोंके पास आया। उसके भाषणमें 'लोहाभिहारः संवृत्तः' 'याने शस्त्रपूजा अभी हो चुकी है' यह महत्त्वका कालनिर्णयसूचक वचन है। प्रायः सभी टीकाकारोंने इस शस्त्रपूजाका शारदीय नवरात्रमें होनेवाली शस्त्रपूजासे संबन्ध लगाया है। परंतु दो मासपूर्व जो शस्त्रपूजा हो चुकी, उसका नाम लेनेका यहां कोई प्रयोजन नहीं दीख पडता। यथार्थमें यह उल्लेख मार्गशीर्ष मासकी शुक्ला षष्ठी चंपाषष्ठीके दिन होनेवाली स्कंदपूजाके संबन्धमें होगा। कारण यह षष्ठी देवसेनापति स्कंदके उत्सवकी तिथि है और क्षत्रियोंमें यह उत्सव बडी श्रद्धाके साथ किया जाता है तथा महाभारतकालमें इस उत्सवका प्रचार था, यह भारतके ही अनेक वचनोंसे सिद्ध होता है। इससे यह अनुमान होता है कि, उलूकके संदेसेके समय इस षष्ठीको बीते दो चार दिन हुए होंगे।

इसके पश्चात् मुख्य प्रमाण संजयका यह वचन है कि, 'मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत'। अब-तकके विवेचनसे यह मालूम होता है कि, मार्गशीर्ष शु० ७ से १५ तक इस बीच किसी समय युद्धारंभ हुआ और इन सात दिनोंमें जिस दिनपर 'मघाविषयगः सोमः' यह वर्णन घटेगा, वही दिन युद्धारंभका दिन है यह स्पष्ट है। इन सात दिनोंमें प्रत्यक्ष 'मघा' नक्षत्रमें चन्द्रमा नहीं आ सकता अर्थात् जिस नक्षत्रका विषय मघा नक्षत्रसे मिल जाय, उस नक्षत्रपर युद्ध आरंभ हुआ यह निश्चित होगा। मघा नक्षत्रके अधिपति पितर हैं। इनका विषय अर्थात् वसतिस्थान यमलोक है। अर्थात् 'मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत' इस वचनसे यही निर्णय होता है कि, भरणी नक्षत्रपर युद्धारंभ हुआ। भारत-सावित्री स्तोत्रमें भी यही वर्णन है कि, युद्धारंभ भरणी नक्षत्रपर हुआ। परन्तु उसमें जो तिथि दी है, वह ठीक नहीं है। कारण मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षमें भरणी नक्षत्र प्रायः एकादशीको आता है। इसलिए मार्गशीर्ष शुक्ल ११ भरणी नक्षत्र इस दिन भारतीय युद्ध आरंभ हुआ, यह निःसंकोच माना जा सकता है। अब यह देखें कि, इससे युद्धारम्भका दिन मान

लेनेपर इसके अनुकूल प्रमाण और कौनसे हैं।

युद्धारंभमें चन्द्रमा 'मघाविषयग' था, यह बतलानेमें व्यासजीका कोई विशेष उद्देश्य होगा। इस युद्धमें प्रायः सभी योद्धाओंका संहार होगा और वे 'यमलोक' को प्राप्त होंगे, यह बात तो सूचित करनी थी ही, पर इतनी ही बात होती तो 'भरणी' नक्षत्रके स्पष्ट उल्लेखसे भी वह काम बन सकता था। पर ऐसा न करके उन्होंने 'मघाविषयग' चन्द्रमाका उल्लेख किया अर्थात् इसमें उनका और भी कोई गूढ अभिप्राय था। संजयने युद्धका हाल जो सुनाना आरम्भ किया, वह भीष्मजीके शरशय्याशायी होनेके बाद। संजय धृतराष्ट्रके पास आकर यह सुना रहा है अर्थात् भीष्मके शरशय्याशायी होने और 'मघा' नक्षत्र इन दोनोंका परस्पर कुछ संबंध अवश्य है; अन्यथा यह बतानेका कोई प्रयोजन नहीं दीख पडता कि, युद्धके पहले दिन भी चन्द्रमा 'मघाविषयग' था। भरणी नक्षत्रपर युद्धारम्भ माननेसे नवें दिन मघा नक्षत्र आता है। वेदाङ्ग-ज्योतिषमें नक्षत्रोंका क्षय नहीं होता था, वृद्धि होती थी। इस प्रकार भरणी और मघाके बीचमें कोई नक्षत्र बढा हुआ हो सकता है और इस प्रकार भीष्मशरशय्याके समय 'मघा' नक्षत्र आ सकता है। अर्थात् भीष्म-शरपतन 'मघा' नक्षत्रपर हुआ. इसी लिए युद्धारम्भके 'भरणी' नक्षत्रका उल्लेख 'मघाविषयगः' इन भावी अरिष्टसूचक पदोंसे किया होगा. यही अनुमान होता है।

युद्धारंभ मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को हुआ, इसके लिए और भी अन्य प्रकारके प्रमाण मिल सकते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी इस ११ को 'मोक्षदा एकादशी' कहते हैं। सहस्र सहस्र भारतीय योद्धाओंने 'रणे चाभिमुखे हतः' इस न्यायसे मोक्षपदकी ओर प्रस्थानका प्रारंभ इसी दिन किया, इसलिए इस एकादशीका यह नाम पडा होगा। भीम निराहार रहनेमें बहुत कष्ट पाते थे; तथापि कृष्णके कहनेसे उन्होंने एकवार एकादशी व्रत किया और तबसे उस एकादशीका नाम भीमसेनी एकादशी पडा। इस प्रकार भारतीय कथाओंके संबंधसे कुछ एकादशियोंके नाम रखे गए हैं, यह अनुमान होता ही है। भगवद्गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षयोग' है। इससे जिस दिन गीतादेवी प्रकट हुईं, उस पवित्र तिथिका 'मोक्षदा' नाम पडना स्वाभाविक ही है। युद्धारंभके समय इस युद्धदिनको लक्ष्य करके 'इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्,' ऐसा भीष्मजीने कहा है। स्वयं गीतामें भी 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्' यही भगवान् श्रीकृष्णने इस अवसरको लक्ष्य करके कहा है। इसीसे इस दिनका 'मोक्षदा' एकादशी नाम आगे चलकर रूढ हुआ होगा। पर हमें उसका पता भी नहीं!

कन्नड और तामिल प्रदेशोंमें इस एकादशीको 'मुक्कोटि' एकादशी कहते हैं। इस दिन सब कचहरियोंमें छुट्टी रहती है, सब कारबार बंद होते हैं और बडा उत्सव होता है। उनकी धारणा है कि उस दिन श्रीकृष्णके मुखसे एक देवी और तेंतीस करोड देवता प्रगट हुए। इन दोनों ही कथाओंका मूल एक ही दिखायी देता है। श्रीकृष्णके मुखसे प्रगट होनेवाली देवी 'भगवद्गीता' ही है और तेंतीस कोटी देवता जो प्रकट हुए वे भी गीताके 'विश्वरूपदर्शन' से ही प्रगट हुए। इन आख्यायिकाओंकी ओर ध्यान देनेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है कि, मार्गशीर्ष शुक्ल ११ ही भारतीय युद्धारम्भका दिन है।

गीतामें धर्म शब्दका अर्थ।

(लेखक- श्री० मदनमोहन विद्याधरजी, लाहौर)

(१)

प्राचीन कालमें धर्म का बहुत अधिक व्यापक प्रभाव होनेसे धर्म शब्दका भी बहुत व्यापक एवं विस्तृत अर्थ हो गया। सम्पूर्ण क्रियाएं धर्मके अंतर्गत मानी जाने लग गईं थीं। धर्मका राजनीतिपरभी प्रभुत्व कायम था। यही कारण है, कि धर्म शब्द सुनते ही एक विशेष प्रकारका विचार सामने आ जाता है। कोई 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' कोई 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः' और मनुके 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं' आदि दशकको धर्मका लक्षण मान लेता है।

मनुष्यका पहले एक धर्म था। पीछे अपनी अपनी मतियोंके अनुसार भिन्न भिन्न धर्मों या महजबों -जिन्हें हम सम्प्रदाय भी कह सकते हैं- का विकास प्रारंभ हो गया। प्रत्येक धर्म अपना सैद्धांतिक शासन चाहता था। परिणाम यह हुआ कि सब धर्म आपसमें लडने लगे। तबसे धर्म लडाई की जड समझा जाने लगा।

इस प्रकार हमारे सामने 'धर्म' शब्द आतेही सहसा दो विचार आ जाते हैं। एकको हम रिलिजन (Religion) यदि कहें तो दूसरेको क्रीड (Creed)। एकके अन्दर शुद्ध धार्मिक विशालता की भावना छिपी है, तथा दूसरेके अन्दर सांप्रदायिकता तथा संकीर्णता की बू है। परन्तु अब धर्म कहते ही मनुष्य नाक भौं सिकोडने लग जाते हैं। आज हमें धर्म शब्दकी विवेचना करके बहुत संक्षेपसे यह बताना है कि धर्म शब्दका गीता में क्या अर्थ है?

(२)

अमेरिकाके प्रसिद्ध मौलिक दार्शनिक जेम्सने 'धार्मिक अनुभवोंकी भिन्नताएँ,' नामक विद्वत्तापूर्ण पुस्तकमें धर्म शब्दपर विचार किया है। उसका कहना है कि धर्म 'मनुष्यका किसी दैवीय शक्तिसे संबंध जो कि उसकी आत्माको सन्तुष्ट करती हो, परन्तु घृणोत्पादक या बनावकी अवस्था उसमें न हो।'

उसने धर्म शब्दका प्रयोग अध्यात्म अर्थोंमें अर्थात् वीतराग पुरुषोंका जीवन जिस धारामें चलता है, इस अर्थमें कर दिया। संसारका प्रत्येक धार्मिक भक्त महात्मा महापुरुष अपने को अकेला पा अपना एक साथी चाहता है। क्योंकि वह स्वयं असहाय है, निर्बल है;इसी लिये ऐसा साथी चाहता है जो कि उसकी रक्षा करे। इसे ही हम किसी दिव्य शक्तिमें विश्वास या उससे अपनेको मिलाना कह सकते हैं। यही धर्म है। इस लक्षणमें भी कोई दोष नहीं। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इसका अर्थ कुछ संकुचित हो गया। क्योंकि उसने महापुरुषोंके आचारको ही धर्म कह दिया और उसको परखने की कोई कसौटी नहीं रक्खी।

(३)

धर्म शब्द का क्या अर्थ है, इस के लिए बहुत सारे भिन्न भिन्न अर्थ विद्वानोंने किए। धर्म शब्द 'धृ' धारणार्थक धातु से बना है। हम क्या धारण हैं, वह जिससे कि हम उन्नत हों। अर्थात् लोक-परलोक के सुखों की सिद्धि के हेतु सार्वजनिक पवित्र गुणों का धारण व सेवन करना धर्म है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि मनुष्यजीवनको उच्च और पवित्र बनानेवाली ज्ञानानुकूल जो शुद्ध सार्वजनिक मर्यादापद्धति या धारा, जिसकी सीमा में जीवन बहता है, वह धर्म है। अर्थात् मर्यादाएं ही धर्म हैं। मनुष्यजीवन जिन मर्यादाओं में रहता हुआ बीतता है। 'मर्यादित जीवनधारा' धर्म है, उच्छृंखल अमर्यादित नहीं। क्योंकि ऐसी धारा में गम्भीरता नहीं रहती। गम्भीरता धर्म के लिए जरूरी है।

मीमांसाकार जैमिनीने इसीको 'चोदना-लक्षणोऽर्थोधर्मः' ऐसा कहा है। अर्थात् लोक परलोकके सुखों की सिद्धिके हेतु गुणों और कर्मोंमें प्रवृत्ति की प्रेरणा धर्म है।

वैदिक साहित्य में वस्तु के स्वभाविक गुण तथा कर्तव्य अर्थ में भी आया है। जैसे ताप और प्रकाश जो कि अग्निके स्वभाविक गुण हैं-को हम ये अग्नि के धर्म हैं, ऐसाभी कह सकते हैं। ये संन्यासी के धर्म हैं अर्थात् उसके कर्तव्य हैं। यहां कर्तव्यार्थ में प्रयुक्त है। प्रजा का पालन तथा रंजन रूप जो राजा के कर्तव्य हैं, वे उसके धर्म हैं।

धार्मिक साहित्य में आध्यात्मिकता, अहिंसा, दया, दान, सन्तोष, प्राणिमात्रसे प्रेम, सहानुभूति, सभ्यता, सुजनता, सरलता, स्वतन्त्रता, परोपकार, आर्जव, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग, वीरता, पुरुषार्थ आदि भी धर्म हैं। यों कह सकते हैं, कि सदाचार ही धर्म है। जैसा कि 'आचारः परमो धर्मः' (मनु० अ० १, श्लोक १०७) में लिखा है।

मनुस्मृति अ० ६, श्लो० ९ में लिखा है कि—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इसमें भी कुछ सदाचार को कायम रखनेवाले गुणों को ही धर्म नाम दिया गया है।

हमें अपने जीवन में इन्हें लाना चाहिये-धारण करना चाहिये। जबतक ये गुण जीवन में धृत या आ नहीं गये तबतक मनुष्य धार्मिक भी नहीं हुआ। इसीलिये-

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

ऐसा महाभारतकारको कहना पडा। क्योंकि जो वस्तु धारण करनी है, वह सत्तावाली होनी चाहिये, सत्स्वरूप या सत्यस्वरूप होनी चाहिए, इसीलिए 'नहि सत्यात् परो धर्मः' ऐसा कथन करना पडा। इससे होगा क्या? मनुष्यजीवनकी उन्नति। इसीलिये

'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः सः धर्मः।'

ऐसा वैशेषिक दर्शनकार कणादने कहा अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकोन्नति) तथा निश्रेयस (मोक्ष) दोनों की प्राप्ति या सिद्धि होती हो, वह धर्म है।

ऋषि दयानन्दने धर्म का निम्न लक्षण किया है।

"पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त जो ईश्वर आज्ञा वेदोंसे अविरुद्ध है, उसको धर्म मानता हूं।"

(सत्यार्थप्रकाश, मन्तव्य ३)

"जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और विपरीत का नाम अधर्म है।"

(स० प्र० समुल्लास ३)

मनुष्यत्व ही धर्म है। जैसा कि निम्न वचनसे ज्ञात होता है।

"इस काम में चाहे कितना ही दारुण दुःख प्राप्त होता हो, चाहे प्राण भी भलेही चले जावें, परन्तु इस 'मनुष्यपन' धर्म से पृथक् कभीभी न होवे।"

(स० प्र० का अन्त)

"सत्य के लिये कारावास जाना कोई लज्जाजनक वार्ता नहीं है। धर्मपथ पर आरूढ होकर मैं ऐसा बातोंसे सर्वथा निर्भय हो गया हूं।" (दयानन्दप्रकाश जागरकाण्ड। चौथा सर्ग पृष्ठ ९४।)

फिर कमिश्नरने पूछा कि आप कैसे धर्म को फैलाना चाहते हैं?

स्वामीजीने कहा कि, मैं केवल यह चाहता हूं कि लोग वेद की पवित्र आज्ञाओं को मानें। एक निराकार परमेश्वर की उपासना करें, दुर्गुणों को छोडकर सद्गुणों को ग्रहण करें।" (द० प्र० संगठन काण्ड, ५ वां सर्ग पृ० ३४४)

इस प्रकार हमने गीता की सम्मति को छोड कर बहुत सारी अन्य सम्मतियां धर्म के विषय में उद्धृत की हैं। इसलिए जो धर्म का पालन नहीं करेगा, वह अपना हनन करेगा।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

इसके साथ ही साथ हमें एक यह बात भी ख्याल रखनी चाहिए, कि वैदिक भारतीय साहित्य में कहीं पर भी बाहरके चिन्होंको या 'सम्प्रदाय' को धर्म नाम नहीं दिया गया। ईसाई, मुसलमान तथा हिन्दू यद्यपि ये मजहब या सम्प्रदाय की दृष्टिसे भिन्न संस्कृतिवाले हैं तो भी 'सत्य, दया, आचार, परोपकार' आदि जो धर्म के लक्षण हैं, ये तीनों सम्प्रदायों में समान हैं। वैदिक साहित्य में तो स्पष्ट लिखा है, कि 'न लिंगं धर्मकारणम्।' कुरान तथा बाइबल में भी बाह्य चिन्हों को धर्म नहीं माना है।

ऊपर किए गये लक्षणस्वरूप-भेदसे तीन प्रकारके हैं। १ स्वरूपात्मक, २ क्रियात्मक तथा ३ फलात्मक। जैसे-

१ जैमिनी का धर्म का लक्षण स्वरूपात्मक है। अग्नि के ताप तथा प्रकाश इन दो गुणों के होने के समान ही दुःख-निवृत्ति तथा सुखप्राप्ति की प्रेरणा करना यह आत्मा का स्वभाव या धर्म है। इसी को अन्तरात्मा की आवाज कहते हैं।

२ मनु या ऋषि दयानन्द का सदाचारसम्बन्धी जो धर्म का लक्षण है, वह क्रियात्मक है। उनके

अनुकूल हमें आचार-विचार बनाना चाहिये । उन्हें जीवन में ढालना चाहिये ।

३ महर्षि कणाद का धर्म का लक्षण फलात्मक है। क्योंकि धर्मानुकूल आचरण करने का फल अभ्युदय और निःश्रेयस बतलाया है ।

यदि हम इस बात को ख्याल में रक्खें तो कभी भी इन लक्षणों में विरोध नजर न आवे ।

(४)

गीता में धर्म शब्द कई स्थानोंपर आया है। उन बहुत सारें वाक्यों में से दो तीन वाक्य लेकर उनसे 'धर्म' शब्द का अर्थ दर्शाने का प्रयत्न करेंगे ।

गीता अध्याय १२ वें का ४७ वां श्लोक निम्न है,

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

प्रत्येक मनुष्य का उन की मति तथा स्वभावानुसार अपना ही विचार तथा कर्तव्य बन जाता है । हमारी सम्मति में धर्म का अर्थ कर्तव्य है । यह मनुष्य का धर्म है, इसका अर्थ यही है, कि यह उसका कर्तव्य है । तो इस श्लोक का क्या अर्थ हुआ ? " अपना विगुण धर्म भी अच्छा है, अच्छे सहज में किये जाने योग्य परधर्म की अपेक्षा । " क्यों ? क्योंकि वह उसी के योग्य है। आगे ही (अ० १८, ४८ श्लोक में) कहा है कि—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

जो मनुष्य का अपना स्वाभाविक कर्तव्य या कर्म या ड्यूटी ही यदि उसमें कुछ दोष भी हो तो मनुष्य को उसे कभी नहीं छोडना चाहिये ।

मनुष्य का धर्म है, कि वह देश का भला करने का प्रयत्न करे । क्योंकि उसका देश के प्रति कोई कर्तव्य होता है । ऋषि ने लिखा है, " कि अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य की अपेक्षा गन्दे से गन्दा भी स्वदेशी शासन अच्छा है। " ऋषि गीता के तात्पर्य को समझते थे । सदोष अपना राज्य निर्दोष विदेशी राज्य से अच्छा है। क्योंकि उसके प्रति हमारा कोई कर्तव्य या धर्म है । हमें उसे पूरा करना है। ऊपरले श्लोक का यही तात्पर्य है ।

दूसरा एक श्लोक जिस में धर्म शब्द आता है, निम्न है-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।
(गी० १२।६६)

ऋषि दयानन्दने 'सर्वधर्मान्' इस शब्द में अधर्म शब्द मान लिया और अर्थ किया कि " सब अधर्मों को छोड मुझमें भक्ति कर । " क्यों कि—

मत्प्रसादादवाप्नोसि शाश्वतं पदमव्ययम् ।

परन्तु हमारा विचार है, कि यहां पर भी धर्म का अर्थ कर्तव्य अर्थ ही करना चाहिये । तब अर्थ यह होगा—

" सब सांसारिक कर्तव्यों को छोड दो और केवल मेरी गोद में आ जाओ । "

कई भाई इसका अर्थ करते हैं " कि सब महजबी झगडों को छोडकर केवल मेरी उपासना कर । " हमें यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता । क्योंकि एक तो उस समय इतने धर्म थे नहीं और दूसरे यदि थे भी तो उनमें साम्प्रदायिक वैमनस्य नहीं था । इस लिये इस श्लोक में धर्म का अर्थ कर्तव्य या duty ही करना चाहिये । इसकी पुष्टि के लिए एक प्रमाण और गीता से ही पेश करते हैं ।

" स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । "

अर्जुनको श्रीकृष्ण प्रत्येक वर्णवालों के अपने अपने धर्म या कर्तव्य समझा रहे हैं । क्षत्रियों का कर्तव्य समझते हुए उसे कहते हैं कि देख, तू क्षत्रिय है । इसलिये तुझे वैरागियों के कर्तव्य शोभा नहीं देते । क्योंकि अपना अपना कर्तव्य करते हुए मर जाना अच्छा है, पर दूसरे के कर्तव्यको करना ठीक नहीं । क्योंकि जो अपना कर्तव्य पूरा नहीं करता वह दूसरों का कर्तव्य क्या पूरा करेगा ।

कई भाइयों का ऐसा विचार है कि अपने धर्मके लिये मर जाना भी ठीक है, पर धर्म परिवर्तन नहीं करना चाहिये । सिवाय इसके कि इसे गपोडा या तुक्का कहा जाए, मुझे समझ में नहीं आया कि हम इसे क्या कहे ?

इस प्रकार संक्षेप से गीता के धर्म शब्द का अर्थ करने का प्रयत्न किया गया । यदि गलत है तो आशा है कि विद्वान् हमें ठीक मार्ग दिखा देंगे ।

अर्जुनने फलत्याग क्यों नहीं किया ?

(लेखक— श्री० नरहर विष्णु फडके, यवत)

श्रीगीताका यह उपदेश है, कि कर्म करना; परंतु वह करनेमें यह आशा नहीं रखना, कि इसका फल मुझे अमुक ही मिले; किन्तु जो कुछ फल मिले, उसका भी दान कर देना चाहिये। प्रश्न यह आता है, कि ऐसा उपदेश रहते हुए अर्जुन ने युद्धके कर्मफल का अर्थात् राज्य का त्याग क्यों नहीं किया ?

यद्यपि गीता का उपदेश भारतीय युद्ध के समय में किया गया, तथापि कौरवपांडवों का (सुष्ट और दुष्ट विचारों का) युद्ध इस धर्मक्षेत्र में (देह में) हमेशा ज़ारी रहने के कारण उसका उपयोग सबको सब समय होता है और इसमें संदेह नहीं, कि उसमें दिया हुवा कर्मफलत्याग का भी उपदेश सब कालमें लागू होगा। परंतु जिस अर्जुन को यह उपदेश दिया गया, उसीने वह नहीं माना। तब क्या वह सारा उपदेश व्यर्थ हुआ ? अर्जुन ने क्या यह मुंहदेखी बात कही, कि 'करिष्ये वचनं तव' ?

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
(१८।७)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

"अपने स्वधर्मनियत कर्मको छोडना योग्य नहीं; मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग होगा। फलाशा छोडकर अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिये और जो फल मिले, उसकाभी त्याग करना चाहिये। यही सात्त्विक त्याग है। क्षात्रधर्म के अनुसार राज्यरक्षण, प्रजासंरक्षण, प्रजापालन तथा दुष्टनाश, यह सब अर्जुन का स्वधर्मनियत कर्मही था। अर्जुन ने यह छोडा होता, तो श्रीकृष्ण का उपदेश व्यर्थ ही होता। यद्यपि अर्जुन को युद्धकर्म के फलरूपमें राज्य मिला, तथापि उसका त्याग अर्जुन ने इसलिये नहीं किया, कि राज्य का पालन करना क्षत्रिय का धर्म है। श्रीशिवाजी ने जब श्रीसमर्थ रामदास की झोली में राज्यदान की सनद डाल दी, तब भी श्रीसमर्थ ने शिवाजी को यही उपदेश किया, कि राज्यरक्षण और प्रजापालन करनेका कार्य तुम्हाराही है; और राज्यपालन प्रभुका ही काम समझकर करनेका आदेश दिया। इसतरह स्वधर्मनियत कर्म अर्थात् राज्यपालन का त्याग अर्जुन कर नहीं सकते थे और उसका त्याग करना उनको उचित नहीं था।

इसी तरह जबतक 'समाजसत्ता' निर्माण नहीं हुई, और जबतक प्रत्येक मनुष्य को अपनी शरीरयात्रा अपने ही प्रयत्न से पूरी करनी पडती है, तबतक यदि कर्मफलत्यागसे शरीरयात्रा को विरोध होता हो, तो कर्मफल का त्याग न हो सकेगा, किंतु शरीरयात्रा के लिये (आवश्यक) कर्मफल का उपभोग लेनाही होगा। सिवाय इसके गीता स्वावलंबन का यहभी पाठ पढाती है, कि किसी दूसरे पर निर्भर न रहकर प्रत्येक मनुष्य को शरीरयात्रा पूरी करनी चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद।

(लेखक-- श्री० भारद्वाज)

श्रीमद्भगवद्गीता अनेक वादोंका रणक्षेत्र है। अभीतक जो वाद हुए हैं, उनमेंसे किसी एक वादकी बासी महेरी को फिरसे उफान लाना, इस लेखका उद्देश्य नहीं है, परंतु एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण नये वादका उपक्रम यहां करना है। यह वाद ऐसा है, कि गीता की विचारप्रणाली व्यक्तिवादानुकूल (Individualistic) है, अथवा समष्टिवादात्मक है?

प्रारंभ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है, कि गीतासदृश तत्त्व-धर्म-नैतिक ग्रंथ में इन परस्पर-विरोधी वादोंका स्वरूप क्या है। इस दृष्टिसे व्यक्तिवाद का मतलब है, प्रत्येक व्यक्ति में जीवात्मसंज्ञक जो घटना रही है, वह पृथक् पृथक् है और इस प्रत्येक घटना को चाहिये, कि जन्ममरणचक्र-परंपराके दुःखसे मुक्त होनेके लिए अपना अपना मार्ग ढूंढ लेवे। अन्य पक्षमें समष्टिवादका मतलब है, कि व्यक्तियोंके देह पृथक् हों, तथापि सबका आत्मा एकही है; और इस देहपार्थक्यका सच्चा रहस्य जान लेकर जिस उपायसे इस एकाकी आत्मा को उसके नानादेहद्वारा होनेवाले दुःखानुभवकी समाप्ति हो, वह उपाय करते हुए समस्त पृथक् देहोंको चाहिए, कि वे सब मिलकर आत्मैक्य की भावना से बर्ताव करें।

गीतासंबंधी लेखन करनेवाले श्रीमत् आद्य शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, उनके पश्चात् एकनाथ, ज्ञानदेव, मुकुन्दराय इत्यादि संतगण, अथवा आधुनिक लोकमान्य तिलक अथवा सांप्रत विद्यमान् प्रोफेसर+ भट, प्रो० वाडेकर × इत्यादि पुरुषोंके लेखनका स्थूल मानसे विचार करें तो मालूम होता है, कि इन सबके मतसे गीता की सरणी व्यक्तिप्रधान है और गीताका प्रयत्न यह बतलाने का है, कि किस प्रकार बर्ताव करनेमें व्यक्तिका हित है। परन्तु गीता का सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे यह सिद्धांत निकल सकता है, कि गीता में व्यक्तिघटना अधिकांश में व्यावहारिक और भासात्मक (Phenomenal) मानी गई है, विचारका केंद्र वह नहीं है, किंतु समष्टिघटना विचारका केंद्र है। इन सब लेखकोंने अपने मनमें दृढमूल जो व्यक्तित्वकी कल्पना है, उसको ऊपरी नजरसे गीतामें देखकर उसी के अनुरोधसे गीताका अर्थ करनेका प्रयत्न किया है। इससे अनेक लेखकोंको इस प्रयत्नमें गोते खाने पडे हैं और अनेक वादोंका केंद्रभूत यह मुद्दा नजर की आड में होते होते तदनुषंगिक अनेक दुय्यम मुद्दोंके बाद की धुमश्चक्री हो रही है।

अब इस सिद्धांतकी सिद्धताका प्रयत्न गीता के आधारपर करना इष्ट होगा। पहिले यह विदित कर देना चाहिए, कि गीतामें व्यक्तिबद्ध विचार-सरणीका बिलकुल अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ और पूर्वपक्षके निर्देशार्थ निम्नलिखित अवतरण देखिये-

अध्याय २-न त्वेवाहं जातु नासं०(१२)। देहिनोऽस्मिन्यथा० (१३)। वासांसि जीर्णानि० (२२) जातस्य हि ध्रुवो०। (२७)।

+ Bhagwad Gita- A Study.
× Bhagwad Gita- A Fresh Study.

अध्याय- (४) बहूनि मे व्यतीतानि० (५) । यदा यदा हि० (७) । परित्राणाय साधूनां० (८) । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म० (९) ।
अध्याय६ - प्राप्य पुण्यकृतां० । (४१।४५)
अध्याय ८- यः प्रयाति त्यजन्देहं०(१३), आब्रह्मभुवनाल्लोकाः० (१६), यत्र काले त्वनावृत्तिम्० (२३।२७) ।
अध्याय १५- ममैवांशो जीवलोके० (७), शरीरं यदवाप्नोति० (८), उत्क्रामन्तं० । (१०)

इतने अवतरणों में पूर्वपक्ष का कहना प्रायः समाप्त हो जाता है और इन अवतरणोंके मुद्दे भी बिनतोड अथवा निरुत्तर करनेवाले नहीं हैं । इनका स्पष्टीकरण-

द्वितीय अध्यायको जो 'सांख्ययोग' नाम दिया गया है, उससे साफ जाहीर होता है, कि उसकी विचारसरणी मुख्यतः सांख्य-मतानुगामी है । सिवाय इसके, यह बहुपुरुषी सांख्यमत स्वयं भगवान्‌को मान्य नहीं है और इसके लिए आधार गीताका ही श्लोक है-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा (त्वं) मन्यसे मृतम्। (२।२६)

इस श्लोकसे मालूम होता है,कि'यद्यपि तुम्हारी संकुचित विचारसरणी मान्य की जाय, तथापि इ० इ० ' ऐसी किंचित् अधिक्षेपयुक्त भाषामें अर्जुनकी विचारसरणीको भगवान् मान्य कर रहे हैं, केवल इसलिये कि, वह उनके कर्मोपदेश को बाधक नहीं है और वहभी केवल विवादके लिये मान्य कर रहे हैं । संभवतः लोग समझेंगे, कि इस श्लोकसे यह निर्विवाद सिद्ध नहीं होता, कि भगवान्‌को सांख्यमत मान्य नहीं है; परन्तु इसी अध्यायमें भगवान्‌को मान्य ऐसे एकपुरुषी वेदान्त मतका निर्देश भगवान्‌की मुख्य विचारसरणीको जितना सबल आधार पहुंचाता है, उतना आधार यह द्वैती विचारसरणी नहीं पहुंचाती । इससे मालूम पडता है, कि भगवान्‌के मतसंबंधी यह अंदाज गलत नहीं है ।

अब चौथे अध्यायके अवतरण लिये जाँय। इस अध्यायमें भगवान् 'मैं ईश्वर' इस नातेसे बोल रहे हैं, और यहभी ध्यान रहे, कि यद्यपि मनु और इक्ष्वाकु भगवान्‌के अवतार न हों, तथापि अर्जुन उन्हीं भगवान्‌के तात्कालिक अवतार हैं- (वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः। १०·३७) । यह बात स्पष्ट है, कि इस प्रकार दो व्यक्तियोंमें भगवान् का जन्म उनके कालांतरसाध्य ऐसे पुनर्जन्म का प्रमाण नहीं है, किंतु केवल उनके सर्वभूताशय-स्थितित्व का प्रमाण है।

६ वें अध्यायमें ' श्रद्धयोपेत अयति की क्या गति होती है?' इस अर्जुनके अवांतर प्रश्नका जो उत्तर भगवान्‌ने दिया है, वह अनेक दृष्टिसे विचार करने योग्य हैं । प्रथमतः इस विषयमें विश्वामित्रसरीखे ऋषियोंसे यह समझ लेना चाहिये, कि योगमार्गसे च्युत होनेका बलवत्तम कारण क्या है? और भगवान् जो कहते हैं, कि 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' और 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्' उससे जीवात्माके नाना जीवकोट्यंतर्गत पुनर्जन्मकी कल्पना पीछे पड जाती है और जिस तरह योगमार्गसे यति के च्युत होनेका कारण प्रजोत्पादन है, उसी तरह यह प्रजोत्पादन अनुवंश-संस्कार-द्वारा पूर्व-पित्र-दैहिक बुद्धिसंयोगका भी कारण दृग्गोचर होता है । यह बात सांप्रतके (Science of Heredity) अनुवंश-संस्कार-शास्त्रको भी मान्य है।

आठवें अध्यायमें कविने भगवान्‌के मुखसे आवृत्ति-अनावृत्तिके कालसंबंधी प्रश्न कहलाया है । परंतु कोई भी टीकाकार निःसंदग्ध रीतिसे यह नहीं समझाता, कि इन अर्चिरादि और धूमादि मार्गोंका रहस्य क्या है, अथवा यह कि महत्त्व योगी की ज्ञानवत्ता को है या मृत्युकाल को है । प्रस्तुत लेखक के मतसे यह व्यक्ति के लोकान्तर-गमन का प्रमाण नहीं है, केवल विशिष्ट कालमें मृत योगियों के जड

देह की मरणोत्तर संभाव्य स्थितिका सामान्य अनुभवसाध्य विवेचन है।

चौथे आध्याय के 'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म०।' और आठवें अध्याय के 'मामुपेत्य तु कौन्तेय०' इत्यादि श्लोकार्धोंमें पृथक् वैयक्तिक पुनर्जन्म का समर्थन है, ऐसा कहनेकी अपेक्षा यह कहना अधिक युक्त होगा, कि इनमें पुनर्जन्म की प्रचलित और दुःखद कल्पना से छुटकारा पानेका उपाय प्रधानता से वर्णित किया गया है।

वैयक्तिक जीवितका और उसके अनुषंगिक पुनर्जन्म का अंतिम निर्देश 'ममैवांशो जीवलोके इ०' तथा इसके आगे तीन श्लोकोंमें दिख पडता है। परंतु सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर इनमें भी ज्यादा मजबूती नहीं मालूम होती। यहां एक सारी संदिग्धता की बात यह है, कि एकवचनी 'जीव' संज्ञा-जातिवाचक अर्थ में ली जाय, अथवा व्यक्तिवाचक अर्थ में ली जाय? यह जरूर है, कि यह 'जीव' संज्ञा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'' इस शब्दरूप में बहुवचनी नहीं है;और यहभी स्पष्ट है,कि वैसे बहुपुरुषी सांख्य अर्थसे वह संज्ञा प्रयुक्त करनी होती, तो अनुष्टुभ सरीखे सुभीते के छंद में वह प्रयुक्त हो सकती थी। तथापि 'अंशाः' 'जीवाः'इत्यादि बहुवचनी प्रयोग न होनेसे यह कह सकते हैं,कि यह संज्ञा व्यक्तिवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं की गई,किन्तु एकवचनी और सामष्टिक अर्थ ही में प्रयुक्त हुई है। अंतमें उसी श्लोक के आगे यह कहा है, कि उत्क्रमण पानेवाली यह शक्ति अथवा यह अंश व्यक्ति विशिष्ट नहीं है,किंतु वह सर्वव्यापी ईश्वररूप है। (यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥ १५-८)

सिवाय इसके "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां०॥'' (७-५) इस गीतावचनका आधार लेवें, तो यह संभाव्य नहीं दिखता, कि सांख्यों की मूल अखंड, अव्यक्त, ॐ अपरा प्रकृति से भी ऊंचे दर्जे की यह भगवान् की जीवभूता परा प्रकृति व्यक्त, खंडयुक्त अथवा पृथक् जीवात्मक होगी।

सारांश, यह बात नहीं है, कि गीता में उस बहुपुरुषवाद का प्रवेश न हुवा हो, जो कि सकृद् दृष्टि में भासमान होनेवाली बातोंको तत्त्वदृष्ट्या वैसीही सच माननेवाले ईश्वरकृष्ण × ने पृथग्भोक्तृत्व के ऊपरी आधार पर रचा था। परंतु यह बहुपुरुषवाद गीत-हिमालयका केवल हरिद्वार था, न कि ज्ञानसूर्यमंडलभेदी गौरीशंकर शिखर। इसके अतिरिक्त, चाहे गीतामें देखें, या उपनिषदों में देखें अनेक पृथक् जीवात्माओं के उद्भव की समाधानकारक उपपत्ति कहीं नहीं मिलती। तत्त्वज्ञानके इस विशिष्ट क्षेत्रमें विचारसरणी उच्च गांभीर्यपूर्ण चाहिये;परंतु वह यहां सर्वत्र गूढकूटात्मक है। यह अर्थात् गीताके व्यक्तिवाद के पक्ष का कहना हुआ और यह देखा गया, कि यह पक्ष सामर्थ्यहीन है। अब इस व्यक्तिवाद के विरुद्ध समष्टिवाद का कहना रखा जाय।

प्रथमतः शब्दप्रामाण्यदृष्टि से देखें। यह बात ध्यान में रखनेयोग्य है, कि गीतामें प्राणी, जीव अथवा जीवात्मा— इन संज्ञाओंका प्रयोग बहुवचनी है ही नहीं, किंतु एकवचन में भी कभी इनका प्रयोग नहीं किया गया। गीता में देहिन्, शरीरिन्, भूत, सत्त्व इत्याहि संज्ञा जो व्यक्तिनिर्देश के हेतु आयीं हैं, वे केवल उत्तम व्यावहारिक अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं, न कि पृथक् पृथक् जीवात्माओं की घटनाओं का निर्देश करने के तात्त्विक हेतुसे।

ॐ "तात्पर्य यह है, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषण कभी सांख्यों की प्रकृति के अर्थ में और कभी इस प्रकृति के परे जो परब्रह्म है, उसके अर्थ में प्रयुक्त हैं। (तिलक-गीतारहस्य पृ० ७१८)

× ईश्वरकृष्ण पक्का निरीश्वरवादी था (गी० र० पृ० १५४)। केवल प्रकृति को मान्यता देने से विश्व की सबही समस्या हल नहीं होती; ऐसा देखकर उसने एकेश्वरी वाद के बदले अनेक- पुरुषवाद का पुरस्कार करके इस अडचन में से अपना बचाव कर लिया। पाठकों को यह बात विदित ही होगी।

इसके पश्चात् वाक्यप्रामाण्य का विचार किया जाय। जैसा कि ऊपर बतला दिया है, गीता में जीवात्मा अथवा जीवका उल्लेख न हो, तथापि एकवचनी आत्मा कमसे कम तीन बार पुनरुक्त है; इसमेंसे एक भी जगह वह बहुवचनी नहीं है और उसका स्वरूप इतना व्यापक दरसाया है, कि उसको व्यक्तिबद्ध रूपमें उतारना हास्यास्पद होगा। यह बात निम्नलिखित विवेचन से मालूम होगी—

विश्वके भूतोंके क्षरभाव के परे जो अक्षरभाव है, वही ब्रह्म है (अक्षरं ब्रह्म परमम्॥ ८।३) और इस ब्रह्म का 'स्व' अथवा अहंकारयुक्त जो भाव है, वही आत्मा है (स्वभावोऽध्यात्म॥ ८।३)। यह आत्मा समूचे देहों में है (सर्वत्रावस्थितो देहे ॥ १३-३२) और यही ईश्वररूपसे सबके अंतर्याम में निवास करता है (अहमात्मा गुडाकेश। १०-२०; ईश्वरः सर्वभूतानां ॥ १८।६१) अन्य शब्दोंमें कह सकते हैं, कि यही आत्मा का आधिदैवी भाव अर्थात् पुरुष है (पुरुषश्चाधिदैवतम्। ८।४) और यही सकल क्षेत्रोंमें अर्थात् अनेक सब देहों में एकही क्षेत्रज्ञ है (क्षेत्रज्ञं चापि माम्० ॥ १३।२) स्थावर, जंगम इत्यादि किसी भी सत्व की उत्पत्तिके लिये केवल एक क्षेत्र की आवश्यकता है, क्योंकि यह एकही क्षेत्रज्ञ सर्वत्र और सर्वव्यापी है ही (यावत् संजायते०। १३।२६)। यह जरूर है, कि यह क्षेत्रज्ञ प्रकट स्वरूपमें नहीं दिखता। यह गहन रीतिसे व्यक्तिघटना की बहुत गहराईमें रहता है। इसलिए इसको कूटस्थ कहते हैं और कूटस्थही अक्षर(ब्रह्म) है (कूटस्थोऽक्षर उच्यते०। १५।१६) यह अक्षर है, अव्यक्त है (अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः८।२१)। इसी तरह इस अव्यक्तसे युगारंभमें व्यक्तियोंका उद्भव होता है और युगके अन्तमें उसीमें व्यक्तियां लीन होतीं हैं (अव्यक्ताद्व्यक्तयः। ८।१८) × मनुष्यके शरीरमें जैसे हस्तपादादि अवयव रहते हैं, अथवा एकही शरीरमें जैसे अनेक अंश रहते हैं, जिनमें प्रत्येक विकास पाता रहता है; उसी तरह इस अव्यक्त कूटस्थ आत्मा को अथवा ईश्वरको सारे शरीरमें अनेक व्यक्तियां रहती हैं, और अर्जुनको ये सारी व्यक्तियां एक महापुरुष विश्वरूपमें प्रत्यक्ष देखने मिलीं (तत्रैकस्थं जगत् ॥ ११।१३, पश्यामि देवान् ॥ ११।१५, अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्। ११।१६, अनेकवक्त्रनयनम्। ११।१०)। जिस प्रकार सूर्य प्रत्येक प्राणीको अलगसे भासमान् होता है, तथापि रहता एकही है, उसी प्रकार यह क्षेत्री अथवा क्षेत्रज्ञ आत्मा प्रत्येक शरीरमें पृथक् भासमान् हो, तथापि है वस्तुतः एकही (यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः। ९-६, यथा प्रकाशयत्येकः ॥ १३-३३) यहां 'कृत्स्नं' क्षेत्रम् का अर्थ कोई भूलकरभी यह न समझे, कि पैरके नाखून से लगाकर सिरके बालोंतक। किंतु क्षेत्र शब्दको जातिवाचक संज्ञा मानकर उसकी व्याप्ति अनेक- नाना-संपूर्ण क्षेत्रसमुदायतक समझी जानी चाहिये। ध्यान रहे, कि इसी कारण उपमाके लिये आकाश, रवि इत्यादि आत्मासे छोटी परन्तु व्यक्तिदृष्टया अनन्त ऐसी बृहद् घटनाओं का उपयोग जान बूझकर किया गया है।

यही ईश्वरघटना देहके अन्तर्गत चैतन्यात्मक (Conscious) भाग है। (भूतानामस्मि चेतना॥ १०।२२)। इसी तरह देहमें उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्ता, भोक्ता ऐसे समस्त मानसिक (Psychological) प्रकार्य करनेवाला यही महेश्वर है (१३।२२)। प्राणी के शरीरमें अन्नपचनादि शारीर (Physiological) कार्य करनेवाला भी यही ईश्वर है (अहं वैश्वानरो०। १५।१४) समस्त भूतों में स्मृति, ज्ञान और उनके नाशका कारण यही

× स्वतः के लिए मोक्ष प्राप्त करनेके लिए पृथक् व्यक्ति अपनी अपनी ओर स चाहे वैसी जलदी करे, तथापि व्यक्तिरूप अथवा व्यक्ति कल्पांततक कायमही रहेगी। उसके लिए कोई कोई व्यक्ति व्यक्तिशः कल्पांत करने जाय, तो काम न होगा।

आत्मा है (मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । १५·१५) प्रत्येक देहके सुखदुःखका भोक्तृत्व इसी एक + पुरुषको है (पुरुषः सुखदुःखानां १३।२०) यही पुरुष प्रकृतिमें स्थित होकर प्रकृति के गुणोंका अनुभव लेता है (पुरुषः प्रकृतिस्थो०। १३।२१) और इन गुणोंका भिन्न भिन्न स्थानोंमें होनेवाला भिन्न भिन्न संग ही उस एक पुरुषका नाना उच्च-नीच जीवकोटिमें समकालीन जन्म है (कारणं गुणसंगोऽस्य । १३।२१) । इसी एक आत्मामें सकल भूतमात्र उस तरह नहीं रहते जैसे अनार के भीतर दाने रहते हैं (न च मत्स्थानि०। ९।१५)। अथवा धानके छिलके के अंदर जैसा चावल रहता है, वैसा आत्मा सकल भूतोंके केवल कलेजे में नहीं रहता (न चाहं तेष्ववस्थितः। ९।४)। किंतु आत्मा भूतोंके अंतर्बाह्यव्यापी है (भूतभृत्०। ९।४, बहिरंतश्च भूतानां० । १३।१५)। वह सकल भूतोंके अन्दरबाहर, दूर नजदीक, भीतरके अत्यन्त छोटे छोटे परमाणुओंके छिद्रसन्धिमें भी भरा हुआ है (हृदि सर्वस्याधिष्ठितम्० १३।१७)। बात इतनी ही है, कि अविभाज्य रहते हुए पृथक् रूप प्राकृतिक घटनाओंके ही द्वारा सामान्यतः प्रतीत होनेके कारण वह पृथक् रूप भासमान होता है। (अविभक्तं च भूतेषु०। १३·१६)।

यह आत्मा सब भूतमात्रोंमें है और एकही है (यदा भूतपृथग्भावमेकस्थं०। १३।३०)। और इसी सर्वभूतात्मैकबुद्धिसे संसारके सब भूतोंके रूपमें परमेश्वरको भजना चाहिए (सर्वभूतस्थितं० । ६।३१) ऐसा करनेसे कर्मका पापपुण्यादि फल भोगना नहीं पडता (सर्वभूतात्मभूतात्मा०। ५-७)

यह आत्मा सब भूतमात्रोंमें समरूपसे है (समं सर्वेषु भूतेषु० । १३।२७, समोऽहं सर्वभूतेषु०। १३। २९)। आत्मा एक रहनेके कारण भिन्न भिन्न शरीरों के भलेबुरे कर्मोंसे वह लिप्त नहीं होता (न करोति न लिप्यते ॥१३।३१, तथात्मा नोपलिप्यते । १३।३२) इसी एक आत्माको जो सब भूतमात्रोंमें देखता है, वही योगी है (यो मां पश्यति० । ६।३०, सर्वभूतस्थितं यो मां०। ६।३१)। इतनाही नहीं, किंतु जो स्वतःको सब भूतमात्रोंमें तथा सब भूतमात्रोंको स्वतःमें देखता है, वही योगयुक्तात्मा है।(सर्वभूतस्थमात्मानं० । ६-२९, येन भूतान्यशेषेण०। ४।३५) और इससेभी श्रेष्ठ अर्थात् जो यह अनुभव लेता है, कि अपने सुखदुःखका भाग सबको मिलता है और सबके सुखदुःखका हिस्सा अपनेको मिलता है, वही श्रेष्ठ दर्जेका योगी है (आत्मौपम्येन सर्वत्र०॥ ६।३२)। अन्तमें यह गीता में साफ बतलाया है, कि नाना भूतोंमें अथवा व्यक्तियोंमें पृथक् भाव देखना केवल व्यावहारिक उपयोगी राजस ज्ञान है (पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं० । १८-२१) और जिस ज्ञानके द्वारा सकल भूतमात्रों में एक ही आत्माका प्रत्यय आता है, वह सात्विक और अतएव तत्त्वज्ञान के दर्जेका ज्ञान है। (सर्वभूतेषु येनैकं० ॥ १८·२०)।

इस वाक्यप्रामाण्य के पश्चात् विवादप्रामाण्य लिया जाय । गीताश्रवण के पहिले अर्जुन व्यक्तिवादी थे। वे मानते थे, कि भीष्मद्रोणादि मरनेवाले और मैं उन्हें मारनेवाला हूं, उनकी हत्या का पाप मुझे लगेगा और नरकादि यातना मुझे भोगनी होगी। दूसरे पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण आमूलान्त समष्टिवादी हैं। उन्हों ने अर्जुन को निरुत्तर किया, कि "कं घातयति ? हन्ति किम्?" और यह आदेश दिया, कि सामष्टिक विराट् देह में आसुरी संपत्ति से युक्त इस विकृत क्षात्र-घटनारूप विभाग को विघटित करने के लिये श्वेत गोलके समान तुम केवल 'निमित्तमात्र हो'।

यह निर्विवाद है, कि श्रीकृष्ण का यह समष्टिवाद अर्जुन को जँच गया। इस दृष्टि से देखनेपर

+ सुखदुःखका भिन्न भोक्तृत्व माननेवाले ईश्वरकृष्ण के शब्दकोशमें सहानुभूति शब्द न हो तो वह उसका दोष नहीं है। उच्च जीवितके व्यतिरिक्त सहानुभूति हो नहीं सकती और तत्वज्ञानकी आवश्यकताभी मालूम नहीं होती।

मालूम होगा, कि गीता का समष्टिवाद केवल काव्यसौन्दर्य के लिये अथवा तत्त्वगांभीर्य के लिये, (अथवा संक्षेपतः कहना हो तो) केवल शुष्क प्रौढी के लिये विद्यमान् नहीं है, किंतु आध्यात्मिक नीतिशास्त्रान्तर्गत कर्मयोगके नवमत-प्रस्थापन का मुख्य साधन इस दृष्टिसे गीतामें उसका महत्त्व है।

इसके अतिरिक्त इसी बातको यह पुष्टि मिलती है, कि भगवद्गीतांतर्गत आध्यात्मिक नीतिशास्त्र में कर्ताके नाते से व्यक्ति की कीमत बहुत थोडी है। कर्म अथवा कार्य केवल प्राकृतिक गुणमर्यादा के अंदर हैं (प्रकृतेः क्रियमाणानि ३-२७, प्रकृत्यैव च कर्माणि। १३-२९, नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं। १४-१९)। कार्यसिद्धि के लिये पंचमदैवयुक्त पांच साधन आवश्यक हैं (शरीरवाङ्० ॥ १८-१५) और व्यक्ति के द्वारा ईश्वर पुतलीके समान कर्म कराता है (ईश्वरः सर्व० ॥ १८-६१)। ऐसी हालत में जो मनुष्य व्यक्तिविशिष्ट नीतिवादी बनकर 'अपने'को कर्ता समझता है, वह अहंकार-विमूढात्मा (३-३७) है। इस असंस्कृत बुद्धिवाले दुर्मति को कुछ नहीं समझता (पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १८-१६), इस बातको गीता डांसकर, जतलाकर और कुछ अधिक्षेप-पूर्वक बतलाती है।

सिवाय इसके यह बात भी नहीं है, कि केवल गीता ही में इस तरहके समष्टिवादी विचार हों, पाठकों को श्रुतिवचन अवगत ही होंगे- 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' 'आयमात्मा ब्रह्म' अध्यात्ममेव प्राणानाम्' योगवासिष्ठमें कहा है, "आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिवः अव्ययः। य आत्मा स कथं राम जायते म्रियतेऽपि वा।" तथा अमृतबिंदु उपनिषद् में कहा है, "घटसंवृत-माकाशं नीयमाने घटे यथा। घटो नीयेत नाकाशा-त्तद्वज्जीवनभोपमः॥" अस्तु।

इस प्रकार यदि गीता प्रतिशत ९९ हिस्से समष्टिवादी है, तब यह सवाल आता है, कि गीतापर लिखनेवाले लेखक आजतक गीताका अर्थ व्यक्तिवाद के अनुरोधसे क्यों करते हैं और ऐसा क्यों प्रतिपादन करते हैं, कि गीताका ध्येय वैयक्तिक निःश्रेयस्-सिद्धि है? और कदाचित् कारण यह होगा, कि गीताके आद्य भाष्यकार श्रीशंकराचार्यने जबसे हिंसामय यज्ञादि कर्ममार्ग का विरोध तथा निषेधदर्शक स्वस्वीकृत संन्यासमार्ग का पुरस्कार करने की दीक्षा ली, और जबसे उन्हें यह दिखने लगा, कि ईश्वरकृष्ण सरीखे अतत्त्वदर्शी सांख्य तत्त्ववेत्ता के बहुपुरुषवादने गीता में प्रवेश किया है, तबसे उनके निर्गुण ब्रह्म को अविद्या अथवा माया का उपसर्ग होने लगा और वह एक ब्रह्म उन्हें अनेक दिखने लगा। (किसको? ब्रह्मको या अल्पज्ञ द्रष्टाओंको?) आखिर यह हुआ, कि जो जीवात्मा वस्तुतः अनेक नहीं, परंतु केवल अल्पज्ञता के कारण अनेकरूप भासमान होता है, उसका सचमुच में ऐसा कुछ प्रपंच फैलने लगा, कि अंत में उनकी झंझट से छूटने के लिये ब्रह्मोद्भव सहज कर्मतक का त्याग करना उन्हें युक्त मालूम हुआ। इस प्रकार जिस व्यक्तिवाद की प्राणप्रतिष्ठा ईश्वरकृष्ण के द्वारा हुई और पूजा श्रीशंकराचार्य के द्वारा हुई, उसीका राग तदुत्तर अनेक आचार्य आलापने लगे हैं।

सांप्रत में यद्यपि लोकमान्य तिलक ने आचार्य के कर्मसंन्यासमतका खंडन कर दिया है, तथापि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ' प्रकरण के अंतमें आत्माका अस्तित्व प्रस्थापित करते करते सिद्धता का असाध्य अवडंबर न करके इस आत्माका पृथक् जीवात्मबद्धत्व मानकर ही काम चला लिया है। प्रोफेसर वाडेकरने गीतासंबंधी अपने (पूर्वोक्त) पुस्तकमें श्रीशंकराचार्यकी तथा लोकमान्य तिलक की भूल सिद्धकी है। परंतु तत्त्वज्ञानके जलमें जहां व्यक्तिवाद का बाजीराव दिखने लगा, वहां उनकी बुद्धिका घोडा पानी पीनेसे हटता है। कदाचित् इस व्यक्तिवादके भ्रम को हूबहूब सचाईका स्वरूप

आनेका मुख्य कारण यह होगा, कि आजकल अनेक बातों में अग्रेसर ऐसे पाश्चिमात्य देशके तत्त्वज्ञानका उसपर वस्त्राच्छादन पड गया है। परंतु तत्त्वज्ञानके बाजारमें पाश्चात्योंका भाव अभी निश्चित होना बाकी है और इस बातको पाश्चिमात्य तत्त्ववेत्ता न भूलें, और उनके मतोंको संस्कार देनेके बदले उनके मतोंका अलंबन करनेवाले पौर्वात्य पंडित भी न भूलें, कि भगवद्गीता उस बाजारकी निकषग्रावा है।

गीता-कैवल्योपनिषद्।

(लेखक- श्री० नरहर विष्णु फडके, यवत, जि० पूना).

१ योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः॥
(गी० ६-१०)
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
(गी० ६-११)
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥
(गी० ६-१२)
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
(गी०-१३)
विविक्तदेशे च सुखासनस्थः।
शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः॥
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि।
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥
(कै० उप० १।४-५)

एकांत स्थलमें, सुखासनमें स्थित होकर, गर्दन, सिर और शरीर एक सरल रेषामें रखकर, सकल इंद्रियोंका निरोध करके और गुरुको प्रणाम करके आत्मशुद्धिके लिये योगाभ्यास करना चाहिए।

२ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गी० ६-२९)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥
(कै० उप० १-१०)

अपनही सब भूतमात्रोंमें है, तथा सब भूतमात्र अपने आत्मामें हैं, ऐसा जो देखता है, वह ब्रह्मको जान सकता है।

सुलभ गीता।

(लेखक- श्री० विठ्ठल कृष्ण नेरूरकर, B. A., सावंतवाडी)

(१)

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
चिदानंदेन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ॥
(वराह पुराण)

(१) मुझे बहुत आश्चर्य होता है, जब हमारे सुशिक्षित विद्वान् लोग यह कहते हैं, कि "अपना धर्म निवृत्तिपर है; वेदान्तने लोगोंको निष्क्रिय और आलसी बना दिया। वेदान्त के विचारोंके कारण हिंदी लोग ऐहिक उन्नतिको प्राप्त करनेमें असमर्थ हुए और इसी कारण हिंदुस्थान को राजकीय तथा सामाजिक अधोगति प्राप्त हुई। औद्योगिक स्वावलंबन जाकर हिंदुस्थान को सर्वस्वी दारिद्र्य में पडे रहनेका जो दुर्भाग्य आया, उसका प्रमुख कारण यही है, कि वेदान्तियों के शुष्क बकवाद का वृथा प्रसार हुआ है!" इस बातका यह उत्कृष्ट निदर्शक है, कि अपनी बौद्धिक परागति की पराकाष्ठा हो चुकी!

(२) संपूर्ण जगत्को स्वकर्तव्य-तत्पर करनेके हेतु, अर्जुनको निमित्तमात्र करके भगवान्ने गीताका उपदेश किया होगा; परंतु सद्यःकालीन हिंदी युवकोंको अपने धर्मग्रंथ कार्यप्रवृत्त नहीं कर सकते। हम आधुनिक लोगोंका धर्मग्रन्थोंपर, पुराणग्रंथोंपर, उनके विचारोंपर और ज्ञानपर, तथा उन ग्रंथोंके प्रणेताओंपर न तो विश्वास है और न श्रद्धा। लंदन अथवा न्यूयॉर्क के छापखानेमें छपा हुआ और वहां की किसी कंपनीने प्रकाशित किया हुआ ग्रंथ, किसी युरोपीय प्रोफेसर ने उसमें प्रदर्शित किये हुये विचार; इतनी बातोंका जहां मेल जम गया, वहां हमारा शीघ्रही विश्वास जम जाता है। हम यह नहीं कह सकते, कि इसका दोष केवल हमारे आधुनिकोंके गतानुगतित्व को है; इसके लिये परिस्थिति भी थोडेबहुत अंशमें कारणीभूत हुई है।

(३) वह परिस्थिति यह है, कि हम आधुनिकों का शिक्षण सर्वथा एकांगी रहता है। देशी भाषा की चौथी क्लास का शिक्षण पूरा होतेही मातृभाषा का और हमारा संबंध बहुंशमें छूट जाता है। अंगरेजी भाषाका अध्ययन शुरू होतेही इतिहास विषयभी अंग्रेजी में और परीक्षाके अन्य विषयभी अंग्रेजी में पढने पडते हैं। प्रवेश-परीक्षामें संस्कृत भाषा ऐच्छिक है। संस्कृतका ग्रंथभांडार अभीतक देशी भाषामें उतारा नहीं गया। आखिरी परीक्षातक विशेष परिचय परदेशी वाङ्मय से और परदेशी ग्रन्थकारोंसे थोडाबहुत होता है। अर्थात् आगे बढनेका काम इसी पूंजीपर निर्भर है, और यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं, कि पाश्चात्य लोग ही हमारे मार्गदर्शक बन जाते हैं। हमारे पुरानी पिढीके जो लोग हैं, उनमें ऐसे बहुत थोडे लोग हैं, कि जो केवल ज्ञानके लिये पुराने संस्कृत वाङ्मयका आलोडन करते हैं। अधिकांशमें इन लोगों का यही काम है, कि अपनी पुरोहित-वृत्ति चलाने के लिए थोडासा अधूडा अध्ययन करना और उसीके बलपर सब नयी बातोंकी निंदा करते रहना! उनका सारा जोर अर्थशून्य कर्मकाण्डपर रहता है! इस तरह ये लोगभी पक्के एकांगी बने रहते हैं। ऐसे सनातनी लोगोंके नमूने आंखोंके

सामने हमेशा रहते हुए, क्या आश्चर्य है, कि अपक्व नवमतवादियोंको जितना कुछ पुराना हो, सब त्याज्य मालूम होता है ?

(४) पुरातन संस्कृति और आधुनिक ज्ञानका योग्य मिलाफ करनेकी ताकद विरलेही मनुष्यको रहती है, इससे अपना बहुत नुकसान हो रहा है। यह बात सच है, कि अपने सनातन धर्मके वृक्षपर बहुतसी वृक्षखादिनी लताएं बढ गई हैं। परन्तु इन लताओंके बढनेसे क्या सारे कल्पवृक्ष को मरने देना अथवा उसको जानबूझकर तोड डालना इष्ट है? आप उन घातक लताओंको तोड डालिए, परन्तु वृक्षको आप जीवित रखेंगे या नहीं ? जिनपर पर्णनिष्पत्ति नहीं होती, ऐसे सूचीपत्रोंके वृक्षोंका अनुभव लेते लेते ही अपने आर्यपूर्वज पश्चिमसे चलते चलते इस भरतखण्डमें स्थायी बने हैं न ? उन्होंने चुनकर पसन्द किया हुआ, यह पवित्र स्थान त्याज्य कैसे होगा?

(५) इसपर कोई कहेगा, कि 'अपनीही बातकी अपनेही मुखसे प्रशंसा करनेमें क्या तारीफ है ? तारीफ इसीमें है, कि दूसरे लोग हमारी कृतिका यश गान करें। दूसरोंके मुखसे अपना गुणगान सुननेसे जो धन्यता मालूम होती है, उसकी रुचि कुछ और ही है!' बात सच है, परन्तु आज हमारी स्थिति वैसी नहीं है। आज हम जो दूसरोंका मुंह ताकते हैं, वह नेतृत्वके लिए, मार्गदर्शकत्वके लिये ताकते हैं; इस गरजसे नहीं, कि वे हमारी प्रशंसा करें। गॅटेने शाकुंतलकी प्रशंसा की, इसीलिए हम गॅटेको अच्छा कहते हैं। मॅक्समूलर ने वेदोंकी प्रशंसा की, तभी हम ऋग्वेदकी पांच पचास ऋचाओंको समझनेकी मुश्कील से कोशिश करते हैं। इससेभी मजेकी बात यह है, कि इन वेदोंकी शिक्षा देनेवाले हमारे विश्वविद्यालयोंके आचार्योंको वेदाध्ययन की पात्रता तभी आती है, जब वे जर्मनीके अथवा अमेरिकाके विश्वविद्यालयोंमें जाकर वेदाध्ययन करके पीएच्. डी. होकर आते हैं। आज परिस्थिति यह है, कि पाश्चिमात्य देशोंमें जाकर हमारे आचार्य आर्यतत्वज्ञान के पाठ लेवें, तत्पश्चात् वे हमें शिक्षा देवें।

सारांश यह कि किसीभी बातके समर्थनार्थ हमें पाश्चिमात्योंके आधारका आश्रय लेनाही पडता है, क्योंकि वही आधार हमें शीघ्र जँचता है। उदाहरणार्थ, यदि हमको ऐसा विधान करना हो, कि हिंदू ब्राह्मण जो त्रिकाल-संध्यावन्दन करते हैं, वह हितावह है, तो यह कहनेकी अपेक्षा, कि 'ऐसा शंकराचार्य का कहना है' अधिक जोर यह कहनेमें आता है, कि 'ऐसा प्रोफेसर टॉम जोन्सका कहना है।' कोई यह कहे, कि वेद, वेदांग अर्थात् उपनिषद्, आरण्यक वगैर सब प्रकारके उच्च विचारोंसे भरे हुए हैं; हमें कहना हो, कि हमारी वेदकालीन भारतीय संस्कृति अत्यंत उज्ज्वल है, हमारे वेदकालीन वाङ्मय-स्वरूप बहुत उदात्त है, वेदवेदांगोंका सच्चा अर्थ समझकर तदनुरूप आचरण करनेसे इहपर कल्याण अवश्यमेव होगा; तो सारे नवशिक्षित पंडित सवाल करेंगे, कि इसके लिए आधार क्या है ? अर्थात् इन लोगोंको पाश्चात्य विद्वानोंका आधार चाहिये। इन विधानोंके लिए पाश्चात्य विद्वानोंके बहुतसे आधार दिये जा सकते हैं। क्या इन आक्षेपकोंको पुराने आधारोंका ज्ञान नहीं है ? जरूर है। तथापि बिलकुल नया ताजा आधार देनेकी मेरी तैयारी है। वह आधार यह है-

(६) " I find India much more instructive to me and interesting. There is some ancient wisdom in India, though one does not find it every day and everywhere. We have to look for it. For we, the people living in modern times may have civilisation but no culture. Scientific philosophy is tending highly towards spiritualism. Mankind has to

recapitulate history to find where the false step had been taken resulting in the present Materialism."

अब तो यह बात हुई न, कि भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता श्रेष्ठ है? और हमारा आर्य तत्त्वज्ञान आजतक क्या कहता आया है? अर्थात् आध्यात्मिकता की श्रेष्ठता। हमारे आचार्योंने यह कभी नहीं कहा, कि संसार मत् करो, या सुधार मत् करो, अथवा ऐहिक उन्नति मत् करो। परंतु केवल भौतिक उन्नति मानवी जीवनका इतिकर्तव्य नहीं है। पारमार्थिकतापर लक्ष्य देना चाहिये। आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन दोनोंका सुन्दर समन्वय करनेका हमारे आचार्यों का विलक्षण आग्रह रहा, परंतु हममें से कई लोग केवल आधिभौतिकतासे लिपटे हैं, ऐहिक उन्नतिकी उच्चतम श्रेणीको पहुंच गए; परन्तु फिर ठोकर खा गए? नहीं! खिसकते हुए नीचे तलेतक आ रहे हैं और आंखें मींजते हुए विचार करते हैं, कि हमने भूल कहां कर दी? इस तरह ठोकरें खाते हुए पाश्चात्य विद्वानोंके उद्गार जो सुनने मिलते हैं, उनका एक नमूना ऊपर बतला दिया है।

(७)आपकी जिह्वापर यह प्रश्न आया होगा, कि उपर्युक्त अवतरण किसके वाक्योंका है? इन वाक्योंके कहनेवाले डॉक्टर कारेल हुजेर हैं। थोडेही दिनोंके पहिले दिसेंबर के माहमें ये महाशय हिंदुस्थानमें आए। वॉन युनिव्हर्सिटीमें ये महाशय ॲस्ट्रॉनॉमीके प्रोफेसर हैं। झेकोस्लाविकियासे गत सप्ताहमें ये महाशय किसी विशिष्ट हेतुसे प्रेरित होकर हिंदुस्थानमें आये। इनका ऐसा मत है, कि अमेरिकामें जो सुधारणाकी परमावधि हुई है, उसका मूल कारण एशियाटिक लोगोंकी संस्कृति है। परन्तु 'एशियाटिक' ऐसा व्यापक नाम यद्यपि उन्होंने लिया है, तथापि एशियाटिक लोगोंको देखनेके लिए वे आये हैं हिंदुस्थानमें। तब यह सवाल आता है, कि ये एशियाटिक कौनसे? दूसरे, जो एशियाटिक आर्य आखिर हिंदुस्थानमें स्थायिक हुए हैं, वे एशिया खंडके अन्य विभागोंमें घूम लिये विना भरतखंड में नहीं आये। तब फिर वे लोग कौन हैं, जिनका कि उल्लेख 'एशियाटिक' इस व्यापक शब्दसे किया गया है? निःसंदेह वे भारतीय एशियाटिक ही हैं। उक्त प्रोफेसर महाशय ज्योतिःशास्त्रका सूक्ष्म संशोधन कर रहे हैं और इस हेतुसे जगत्संचार करनेका उनका विचार है। वे यहां यह जान लेनेकी आस्था रखकर आये हैं, कि पुरातन कालसे अपने भारतियोंके खगोलशास्त्र-विषयक, ज्योतिषशास्त्रविषयक मत क्या हैं और और इस काममें ये निमग्न हैं।

(८) पौर्वात्योंके पुराणकालीन ज्ञानपर उनकी बडी श्रद्धा है। उनका कहना है, कि मानवी प्रगति सचमुच में साध्य करनी हो, तो आधुनिक लोगोंको यह सीखना अत्यंत आवश्यक है, कि पुराणकालीन ज्ञानका उपयोग किस तरह करना चाहिये। अन्तमें यह बतलाना है, कि उक्त प्रोफेसर महाशयने संस्कृतका उत्कृष्ट अभ्यास किया है और इसीसे उनको पुरातन भारतीय वाङ्मयका निरीक्षण करना साध्य होगा। हिंदुस्तानके किनारेका स्पर्श होतेही, बम्बई के बंदरमें पैर रखते ही उनके मुखसे कौनसे उद्गार निकले होंगे? उनके उद्गार ये हैं-

'आजतक जिस एक बातका मुझे ध्यास लगा था- वह मेरे जीवितकी अभिलाषा आज सफल हुई। बाल्यावस्थासे मुझे भरतखंड-विषयक स्वप्न दिखते थे; इसलिए आजका प्रसंग यावज्जीव मेरे स्मरणमें कायम रहेगा।'

आप कल्पना कीजिये, कि कितने प्रेमसे, कितनी आतुरता से, कितनी आस्थासे, कितनी उत्सुकतासे ये उद्गार निकले हैं! और यह आस्था किस लिये? क्या 'शिकंदर के समान मैंने भी

हिंदुस्थान को पादाक्रान्त किया' इस बातकी शेखी मारनेके लिये? क्या नादिरशाह, तैमूरलंग अथवा अहमदशाह अबदाली के समान हिंदुस्थान के वैभव की जहांतहां होली जलाकर यहां से लूट ले जाने के लिये? अथवा फ्रेंच, पोर्च्युगीज, डच्च इत्यादि लोगों के समान व्यापारवृद्धि और बादमें धर्मप्रसार करने के लिये? अथवा रॉबर्ट क्लाइव के समान व्यापार के बहाने से आकर राज्य के कारोबार में हस्तक्षेप करने के लिये? नहीं नहीं, इस हेतुसे नहीं; किंतु केवल भारतीयों की सनातन चिरंतन संस्कृतिपर मोहित होकर उसका अभ्यास करने की गरजसे। महात्मा गांधीके पास बहुतेरे पाश्चात्य स्त्रीपुरुष आते हैं- सद्धेतुपूर्वक आते हैं; परंतु उनकी भी मनोभूमिका भिन्न है। कविवर्य रवीन्द्रनाथ टागोर के पास बहुतेरे पाश्चात्य स्त्रीपुरुष आते हैं और सद्धेतुपूर्वक आते हैं, परंतु उनकी भी मनोभूमिका अलग है और प्रस्तुत उपरोल्लिखित प्रोफेसर साहब की मनोभूमिका अलग है। महात्मा गांधीजी जगद्वंद्य लोकोत्तर विभूति हैं, शान्तिसम्राट् हैं। दुनियां के इतिहास में उनको शान्तिसम्राट् ही कहेंगे पांच पांडवोंमेंसे धर्मराजका स्मरण गांधीजी के दर्शनसे आता है। गांधीजी की व्यक्ति और उनकी शिक्षा राजकीय-शिक्षा-से मोहित होकर पाश्चात्य लोग उनके पास आते हैं। कविवर्य टागोर के ऋषितुल्य आचरण से और उनके काव्यसे मोहित होकर उनकी अभिनव शिक्षापद्धति का अवलोकन करनेके लिये पाश्चात्य लोग उनके पास आते हैं; किसी दूसरे हेतु से नहीं। परंतु उपर्युक्त प्रोफेसरसाहब भारतीय तत्त्वज्ञानपर मोहित होकर आए हैं। भारतीय पुरातन संस्कृतिपर लुब्ध होकर उस भारतभूमिको देखने का उन्हें ध्यास लगा है। भारतीय तत्त्वज्ञान का, भारतीय संस्कृतिका महत्त्व पाश्चात्य लोगोंने पहचान लिया है, मान लिया है और श्रेष्ठ समझा है।

(९) अपन लोगोंकी सारी विद्या वेदान्त है। वस्तुतः वेद एकही है; परंतु प्रयोगभेद के कारण उसके चार विभाग माने गए हैं। ऋग्वेद में तीन सूक्त प्रमुख हैं- (१) वामनसूक्त, (२) पुरुषसूक्त और (३) नासदीयसूक्त। चार वेद, छः शास्त्र अथवा वेदांग, अठारह पुराण, दस प्रमुख उपनिषद्- ऐसा अपना वेदवाङ्मय है। उपनिषदोंसे बना हुवा जो औपनिषदिक वाङ्मय है उसका अभ्यास मॅक्समूलर, शोपेनहार इत्यादि पाश्चात्य पंडितोंने किया है और उसका महत्त्व बतलाया है। शोपेनहार कहते हैं- "संपूर्ण जगत् में उपनिषदोंके अभ्यास के बराबर कल्याणकारी इतिहास दूसरे किसी वाङ्मय का नहीं है। इस अभ्याससे मेरे जीते-जी समाधान हुवा ही है; परंतु मरते समय भी समाधान होगा। उपनिषद् ज्ञानके पूर्णत्व का उगम है। इन उपनिषदोंके अध्यात्मविषयक विचार इतने उच्च कोटी के हैं, कि हमें यह मानना अपरिहार्य है, कि जिन्होंने ये विचार प्रगट किये हैं, वे महात्मा दैवी कोटि के हैं।"

(१०) स्वतःके कृति का कारणपरत्वसे उल्लेख करना अनुचित न हो, तो पाठकोंका ध्यान मैं अपने 'अकबरका वेदसाधन' नामक पुस्तककी ओर जरा खींचना चाहता हूं। अकबर बादशाह सर्वसंग्राहक था। तत्कालीन फारसी वाङ्मयसे मालूम होता है, कि उसको हिंदुओंके तत्त्वज्ञान का चसका गया था। उक्त पुस्तक मैंने अबुल फाजल सरीखे समकालीन दरबारी पंडित की लिखी हुई तवारीख के सहारेसे लिखी है। उस समयके ब्राह्मण थोडेसे द्रव्यकी लालचसे हस्तलिखित पोथियां लोगोंके स्वाधीन करते थे और वे लोग उनका फारसीमें तर्जुमा करते थे। तथापि अकबर बादशाहको अखीर तक ऋग्वेद मिलने न पाया, इसका उसे बहुत खेद हुआ। उस उदारमनस्क बादशाहको ऋग्वेद का भाषांतर पढनेकी तीव्र उत्कंठा थी; परंतु वह उत्कंठा

पूर्ण न हो सकी। उसके बाद मुगल बादशाही खानदानमें विद्वान् राजपुरुष शाहजहान का पुत्र दारा हुवा। उसने स्वयं उपनिषदोंका फारसी में भाषान्तर किया। संस्कृतका अध्ययन करके वेदाभ्यास करनेमें उसे स्वधर्मभ्रष्टता नहीं मालूम हुई। हिंदुओंके धर्मग्रंथोंकी श्रेष्ठता का उसने वर्णन किया। वेद-वेदांगोंका भाषांतर जर्मन, फ्रेंच, इंग्लिश, इटालियन, रशियन इत्यादि पाश्चात्य भाषाओंमें हुवा ही है; तब इसका आश्चर्य मानने की जरूरत नहीं, कि चीन और जापान जैसे पौर्वात्य देशोंकी भाषामें उनका भाषान्तर हुवा है!

(११) इतना ऊहापोह प्रारंभ ही में करने का यह हेतु है, कि गीताका महत्त्व याथातथ्यसे लोगों की समझमें आ जाय। इस लेखके आरंभ में जो श्लोक दिया है, उसके अर्थानुसार श्रीमद्भगवद्गीता समग्र वेद-वेदांगों का सारभूत तत्त्व है। आर्यधर्मके सकल ग्रंथोंका और सकल तत्त्वोंका मंथन करके भगवान् ने अर्जुनको उपदेश करनेके हेतु जो सारांशरूप नवनीत-अर्क निकाला है, वह गीता है। यह केवल धर्मबीज नहीं, किंतु सर्वधर्मबीज है। यह अकेले अर्जुन के लिये नहीं, किंतु सारे हिंदुओंके लिये है। केवल हिंदुधर्मियों के लियेही नहीं, किंतु सब धर्मियोंके लिये है। यह केवल क्षत्रियोंके लिये नहीं, किंतु अखिल वर्णोंके लिये है; केवल समस्त वर्णोंके लिये नहीं, किंतु अखिल मानवजातिके लिये है। यद्यपि भगवान् ने 'हे पार्थ, हे भारत' ऐसे नामोच्चारसे संबोधन किया है, तथापि उनका कथन केवल एक भारतके अथवा भारतीयोंके लिए नहीं, किंतु जगत्के सारे देशोंके लिए उपयोगी अमृत है। यच्चयावत् जो जो प्राणी जन्म लेकर इस कर्मभूमिपर संचार करे, उस प्रत्येक प्राणीके लिए- मानवप्राणी के लिए यह ज्ञानरहस्य निर्माण हुआ है। इस प्रकार यह अत्युत्कृष्ट, अतिरहस्यमय, अतिगूढ, अतिशय महत्वपूर्ण, तथा अतिशय उच्च श्रेणीका रहनेसे शिरोधार्य हुआ है, जिह्वाके अग्रपर नचाने लायक और अंतःकरणके संपुटमें जतनसे रखने लायक हुआ है। वह अतिशय गहन है, अतिशय व्यापक है, अतिशय सूक्ष्म है, अतिशय उच्च है। वह राजविद्या है और राजगुह्य है।

(१२) इसपर आप कहेंगे, कि यदि ऐसा है तो वह केवल बडे बडे पंडितों, भारी विद्वानों तथा योगाभ्यासियोंके जाननेकी कक्षाके अंदर होना चाहिए। अशिक्षित, असंस्कृत ऐसे सामान्य लोगोंको उसका क्या उपयोग है? यदि वह अतिशय उच्च होगा, तो वहांतक सामान्य लोगोंका हाथ कैसे पहुंचेगा? यदि वह बहुत गहन होगा, तो उसकी तलीकी थाह सामान्य लोगोंको कैसे मिल सकेगी? यदि वह अतिशय व्यापक होगा तो वह सर्वसाधारण प्राकृत जनोंके काबूमें कैसे आवेगा? और यदि वह अति सूक्ष्म होगा, तो उस का इंद्रियज्ञान कैसे हो सकेगा? तात्पर्य यह है, कि गीताशास्त्र एक प्रचण्ड गोडगुडंबा है और वह प्रचंड विद्वानोंके लिये ही है; साधारण मनुष्य को तदर्थ प्रयत्न करनेसे कोई लाभ न होगा। परंतु ऐसा समझनेमें हम बडी भूल करते हैं।

(१३) गीताज्ञान जैसा संस्कृतोंके लिए वैसाही प्राकृतोंके लिये भी है; परंतु उसमेंभी वह अधिकतर प्राकृतोंके लिए ही है। वह जैसा सशक्तोंके लिए है, वैसाही अशक्तों के लिए भी है। परन्तु अधिकतर अशक्तोंहीके लिए है। वह जैसा विद्वानों के लिए है, वैसाही अविद्वानोंके लिए भी है, परंतु अधिकतर अविद्वानोंके लिए ही है। वह जैसा शूरोंके लिए है, वैसा कातरोंके लिए भी हैं; परंतु अधिकतर कातरोंकेही लिए है। वह जैसा मोक्षके लिए है, वैसा संसारके लिये भी है, परंतु अधिकतर संसारके लियेही है। वह जैसा निवृत्तिके लिये है, वैसा प्रवृत्तिके लिये भी है, परंतु अधिकतर प्रवृत्तिके लिएही है। वह जैसा संन्यास के लिए है, वैसा योगके लिये अर्थात् कर्मके लिए भी है, परंतु अधिकतर कर्मके लियेही है। वास्तविक

रीतिसे देखा जाय, तो मैंने ये जो परस्परविरुद्ध द्वंद्व ऊपर बतलाये हैं, उनके समन्वयके लिए यह उत्तमोत्तम गीताशास्त्र है। जब दोनों छोड एक किये जांयगे, तभी इस उत्तम ज्ञानका साधन होगा। परंतु किसी एक छोड दूसरेको ले बैठनेसे अवश्य-मेव वंचना होगी, हुई है और हो रही है।

(१४) गीता दैदीप्यमान रत्न है, और उसके अनेक पहलू हैं। गीता युद्धके लिये धनुष्य है, परंतु वह इंद्रधनुष्यसे भी अनेक रंगोंकी छटा दिखलाने-वाला बहुरंगी अतएव अधिक सुंदर धनुष्य है। गीता सूर्यप्रकाश है। परंतु उसके किरण सूर्यके द्वादश किरणोंसे भी अधिक हैं। गीता एक दीप-गृह है; परंतु उसका प्रकाश अनेक बाजूसे दिखता है। तथापि मजा यह है, कि हाथीको स्पर्श करनेवाले अंधोंमेंसे प्रत्येक अंधा हाथी के एकही अवयव को पूरा हाथी मानकर हाथी की भ्रामक व्याख्या करता है, वैसीही स्थिति बहुतेरे लोगों की होती है। जो पहलू दिख पडे, उतने ही को पूरा रत्न समझते हैं; जो रंगछटा नजरमें आजाय, उसीको पूरा धनुष्य समझते हैं; जो एक किरण दिख पडे, उसीको पूरा प्रकाश समझते हैं; दीपगृह की जो एक बाजू नजर के सामने आवे, देखनेवाला उसीको पूरा दीपगृह मानता है और ज्ञानप्राप्ति के बदले अधिक ही मोह में पड जाता है। यह जरूर है, कि भिन्न व्यक्तियों को भासमान होनेवाला गीताज्ञानरूपी वस्तुका अंश उस समग्र वस्तु में रहता है। परंतु अंश आखिर अंश ही है, समग्र नहीं। साकल्य का अनुभव लेना गीताका जानना है। गीताज्ञान पारे के सदृश चंचल भासता है, तथापि वह हीरेसरीखा स्थिर है। गीताज्ञान वायुके सदृश भागनेवाला भासता हो, तथापि वह पर्वत के समान स्थिर है। गीताज्ञान मनके सदृश वेगवान् भासता हो, तथापि आत्मा के सदृश वह स्थितिमान् है। भागनेवाला अपने हाथ लगने सरीखा न हो, परंतु स्थिर वस्तु हाथ लगेगी या नहीं? अवश्य हाथ लगेगी और इसी लिये मैं कहता हूं, कि वह सुलभ है, वह आकलन होनेसरीखा है, वह हमें प्राप्त होनेसरीखा है, अपने काबू में आनेसरीखा है। अभिमान से और अश्रद्धा से उसको चाहे उतनी ऊंचीपरसे देखें, वह उससे भी ऊंचा होगा; परंतु विनय से और श्रद्धासे कितने भी वामन मूर्ति बन जांय, वह उससे भी वामन बनेगा और हाथ लग जायगा। आप उसे अनेक विकारों के सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे देखें; वह अदृश्य हो जायगा। परंतु विचारों के, विवेक के उपनेत्रों से उसको देखिये, वह स्पष्ट दिखने लगेगा।

(१५) यह गीताज्ञान भारत देशमें क्यों निर्माण होना चाहिये ? पाश्चिमात्य लोग ऐसी साभिलाष पृच्छा अपने दिलमें करते हैं और आशापूर्ण दृष्टिसे भारत देश तथा भारतीयों की ओर देखते रहते हैं। परंतु हम लोग कैसी तुच्छता से इस गीता को देखते हैं? यहभी ठीक नहीं है! हमें यहांतक ज्ञान नहीं रहता, कि गीता नामक कोई वस्तु अपने पास है! हमारे बगलमें सारंगी है, परंतु दुसरा कोई उसपर गज फिराकर आवाज निकालेगा, तब हम अपने आसपास घूमते घूमते पता लगाने लगते हैं, कि "ओ! हो! यह इतना मधुर ध्वनि कहांसे आया?" अपने खीसेमें बैटरी है, इसकी खबरही नहीं; परंतु किसी चीजके संघर्षण से बटन दब जाय और खीसेमेंसे प्रकाश आवे, तब हम पूछें, कि 'यह प्रकाश कहांसे आया?' कानमें इत्रका फाया है और हवा चलनेसे उनका सुगंध आनेपर हम पूछें, कि 'यह सुगंध कहांसे आया' और हमारे आसपास रहवानेले खूब हंसते हैं और कहते हैं "कैसा भाग्य-वान् यह मनुष्य है! इसको यह सारंगी, बॅटरी इत्रका फाया, सब मिल गया। परंतु इनका उपभोग और उपयोग वह नहीं जानता। किंबहुना वह यहभी नहीं जानता, कि ये चीजें अपने पास हैं! हे आकाशस्थ परमेश्वर! ऐसे लोगों को भारतीयों को- गीताप्रदान करना वैसा ही है

जैसे दंतहीन आदमी को चने देना! मॅक्समूलर ने अपने मनही मनमें कहा होगा, "हे भगवन्! तुमने जो श्रीकृष्णका अवतार लेकर भारतीयों को गीताका उपदेश किया, वह वैसाही हुवा, जैसे अंधेके सामने पावलोवा सुंदर नृत्य करती हो!' सम्राट् अकबरने और शाहजादा दाराने अपने मनमें कहा होगा कि, 'या अल्ला! इन हिंदुओंको गीताका वितरण करना क्या वैसाही नहीं है, कि जैसे बहिरे मनुष्यको तानसेन के आलाप सुनाना ?" ईरानके पारसीने कहा होगा, कि "हे झरतुष्ट्र! भरतखंड के भारतीयों को गीताज्ञान देना मानो नासिका-रोगी को उमदा सुवासिक बेलेके फूलोंका गुलदस्ता देना है! अथवा रुचि-हीन जिह्वावाले मनुष्य को शराबका प्याला देना है!" हम लोग गीताकी जागीर हासिल किये हुए क्या इतने उदासीन रहें? परमेश्वरी प्रसाद के लिये क्या हम अपात्र ठहराये जांय? क्या इससे परमेश्वर का हमपर रोष न होगा? गीता बिलकुल सादे भोले, तुम्हारे हमारे लोगों के लिये ही है और उसके तत्त्व केवल मनन के लिये नहीं, किंतु आचरण के लिये हैं। गीता दुर्घट नहीं, सरल है। गीता किसी विशिष्ट व्यक्ति, वर्ण, जाति, धर्म अथवा देश के लिये नहीं, किंतु सब दुनियां के लिये है।

(१६) गीता हस्तिनापुरमें कही गई हो, परंतु वह सब शहरोंकी है; हिंदुस्थान में कही गई हो, परंतु सब देशोंकी है। गीता संस्कृत भाषामें कही गई हो, परंतु वह सब भाषाओं में जाने योग्य है। गीता एक हिंदुने दूसरे हिंदुको कही हो, परंतु वह सब धर्मोंकी है। गीता युद्धके प्रसंग में कही गई हो, परंतु वह प्रत्येक व्यवहार में उपयोगी है। गीता एक क्षत्रियने दूसरे क्षत्रियको कही हो, परंतु वह समूचे वर्णोंकी है और सुलभ है। वह यदि प्राप्त है, तो इसका क्या मतलब है, कि वह और भी प्राप्त करने को सुलभ है? मतलब यह है, कि समझने के लिये वह सुलभ है, आचरण के लिये सुलभ है।

गीता के लिये यम, नियम, प्राणायाम आदि बडे भारी बंधन नहीं हैं। गीता को समझने के लिये नख जटाजूट बढाकर गिरिकंदर में बैठने की आवश्यकता नहीं है। गीता समझनेका यह मतलब नहीं, कि एक पैरसे खडे रहना और लोहें के चने खाना। गीता समझनेका मतलब पंचाग्निसाधनादि हठयोग का आचरण नहीं है। गीताको आचरण में लाने के लिये इनमेंसे एकभी भयंकर तापदायक दिव्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानी कहता है, कि मैं ही अकेला गीता को जानता हूं। कर्मी कहता है, कि मैंही अकेला गीताको जानता हूं। योगी कहता है, कि मैंही अकेला गीताको जानता हूं और भक्तभी कहता है, कि मैंही अकेला गीताको जानता हूं। परंतु गीताकी कृपादृष्टि इन चारोंपर समसमान है। अपने आर्यधर्मकी, अपने परम श्रेष्ठ भागवतधर्म की मूलाधाररूप अथवा साररूप ऐसी यह गीता लोकवंद्य क्यों है? उसका लोकवंद्यत्व किस बातमें है? वह इस बात में है, कि उसने उन्नति का मार्ग सबको एकसा खुला रख दिया है, मोक्षका भी मार्ग उसने सबके लिये एकहीसा खुला रखा है। गीताकी उपासना अमुक मनुष्य ही करे, अमुक मनुष्य न करे, ऐसा प्रतिबंध उसने किसी के लिये नहीं रक्खा। गीता ऐसा पक्षपात नहीं करती, कि अमुक वर्ण के लिये, अथवा जातिके लिये, अथवा पंथके लिये अथवा शिष्टके लिये कोई विशिष्ट हक रख छोडे हों, जो किसी दूसरे को हासिल न हो सके। गीता सबको समान लेखती है और इसीमें उसकी श्रेष्ठता है, इसी में गीताकी व्यापकता है, इसी में गीताकी सर्वसंग्राहकता है। इसीमें गीताका औदार्य है। इसीमें गीताके गौरवका बीज समाया है।

(१७) गीता कहांसे कहांतक, किसने किसको कही? गीताका जहां प्रारंभ होता है वहां 'अथ' शब्द चाहिये था। परंतु वह शब्द वहां नहीं है। जिस प्रश्नसे गीता का प्रारंभ होता है, वह प्रश्न ऐसा है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ (गी०२-२)

गीताकी जहां समाप्ति होती है, वहां 'इति' शब्द जरूर आया है। वह इस तरह है—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥
(गी० १८-६३)

यहांतक इस प्रश्नका उत्तर हो गया, कि "गीता कहांसे कहांतक है।" अब प्रश्न रहा, कि वह किसने किसको कही? इसका उत्तर है, कि भगवान् ने अर्जुनको कही। कब कही? भारतीय युद्धके प्रसंगपर। क्यों कही? अर्जुन को व्यामोह हुवा था, उसे दूर करनेकी गरज से कही। क्या वह मोह आखिर दूर हुवा? हां, हुवा और यह बात इतिहास से स्पष्ट ही है। सिवाय इसके अर्जुनने यह कबूल किया है।

(१८) गीता सुनने के पहिले अर्जुन की स्थिति कैसी थी, वह संजयके ही शब्दोंमें सुनिये-

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥१-४७॥
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥२-१॥

और गीता सुन लेनेपर अर्जुन की स्थिति कैसी हुई? उसमें क्या फरक हो गया? इस संबंध में स्वयं अर्जुनने कबूल किया है, कि-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥
(गी० १८-७३॥)

ऐसा कौनसा जादूका मंत्र अर्जुनको मिल गया, कि थोडी ही देर के पहिले अर्भक के समान घबडाये हुए अर्जुन अब युद्धके लिये कटिबद्ध हो खडे हुए? ऐसी कौनसी जादूकी लकडी फेर दी गई, कि वही अर्जुन, अभी काँप रहे थे, पसीने में डूब गए थे, रोनी सूरत नीचे गर्दन किये बैठे थे, अब परचक्रपर आक्रमण करने के लिये एकदम सिद्ध हो गए? वह जादूगार श्रीकृष्ण ही है, वह जादूकी लकडी गीता ही है।

(१९) इसपर यह आक्षेप हो सकेगा, कि अजी महाशय, यह काम असाधारण है। भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है और वह भी अर्जुन सरीखे लोक-विख्यात वीरके लिये! हम तुम सरीखे साधारण मनुष्य का किसी साधारण मनुष्य को दिया हुवा उपदेश नहीं है। इसी लिये, जैसा कि आप कहते हैं, गीता हमारे तुम्हारे सरीखे साधारण मनुष्यों के लिये नहीं है, वह असाधारण है।

कहां अर्जुन! कहां उसकी योग्यता! प्रत्यक्ष नारायणके जोडीको जिसका नाम लिया जाता है, वह पार्थवीर नर कहां! और कहां तुम हम! क्या तुम, हम और नर एकही पंक्तिमें बैठ सकेंगे? अर्जुन श्रीकृष्ण का बहनोई और सखा अर्थात् मित्र है!

(२०) कबूल, त्रिवार कबूल है। परंतु गीतोपदेश के समय श्रीकृष्ण और अर्जुन में समानता का नाता गृहीत मानना ही बडी भूल है। उस समय उनका नाता समानता का नहीं था, किंतु गुरुशिष्य संबंधका था; अथवा आजकलकी भाषामें कहना हो, तो शिक्षक-विद्यार्थीका संबंध था। श्रीकृष्ण ने उस समय क्लास नहीं खोली थी, श्रीकृष्ण शालाशिक्षक नहीं थे; तथापि उस अवधि में श्रीकृष्ण ट्यूटर हुए थे, एकही विद्यार्थी को पढाते थे। कोई प्रश्न करेंगे, कि यह बात सच काहे परसे? इसका सबूत क्या है? तो इसका सबूत गीताही में है। गीतोपदेश के समय श्रीकृष्ण और अर्जुन की भूमिका किस प्रकारकी थी, इसकी अब अच्छी तरह छानवीन करें।

श्रीकृष्ण गीतामें वारवार कहते हैं 'मैं तुम्हें विद्या बतलाता हूं तुम सुनो।' परंतु इतना भी क्यों चाहिये? गीता के प्रारंभ में अर्थात् दूसरे अध्याय के ७ वें श्लोक में अर्जुन क्या कहते हैं?

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः॥
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे॥
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

अपने लिये श्रेष्ठता कोईभी ले लेगा, परंतु वह श्रेष्ठता दूसरेने दी हुई स्पष्ट दिखनी चाहिये। श्रीकृष्णने यदि कहा होता, कि "मैं शिक्षक हूं और तुम्हें विद्या पढाता हूं" तो केवल इतनी बातसे किसी कानूनमें प्रवीण ऐसे वकीलका समाधान न होता। वह कहता, कि An agreement must be made by both the parties; बहुधा इसी कारण अर्जुनके मुखसे शिष्यत्वकी कबूली देकर संजयने प्रारंभही में दोनोंकी भूमिका स्पष्ट कर रखी है। आप चाहे उस कसौटीपर रखिये,वह गीता अधिकही उज्ज्वल प्रतीत होगी। गीताका प्रत्येक शब्द कर्मकी कसौटीपर उम्दाही उतरेगा। इसमें जो ज्ञान बतलाया गया, उसके लिये विद्या शब्दका प्रयोग किया गया; अर्जुनने स्वतःको शिष्य कहा है, और ११ वें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें श्रीकृष्णको स्पष्ट शब्दोंमें 'गुरुर्गरीयान्' कहा है। तब क्या यह सिद्ध नहीं होता, कि श्रीकृष्ण परमात्मा शिक्षक हैं और शिष्यको प्रत्यक्ष विद्याका पाठ दे रहे हैं? मेरी अचल धारणा है, कि गीताका उपदेश एक उत्कृष्ट पौराणिक शैक्षणिक पाठ है।

मैंने पहिले एक विधान किया है, जिसका यह मतलब है, कि भिन्न भिन्न लोग इस गीताकी ओर अलग अलग दृष्टिकोणसे देखते हैं और उनकी कल्पनाके अनुसार गीता उन्हें दृश्यमान होती है। इसपर कोई मुझे कहे, कि तुम्हारीभी शैली तुम्हारे इसी विधानके अनुसार हुई है, तो उसपर मैं कोई उजर न करूंगा। मैं स्वतः शिक्षक हूं। पहिले मैं वर्गशिक्षक था, अब मैं व्यक्तिशिक्षक हूं। मैंने गीताकी ओर अपने दृष्टिकोणसे देखा और मेरी कल्पनाके अनुसार मुझे आज गीता दृश्यमान हुई। परंतु आप सब महाशयोंको यह मानना पडेगा, कि मेरी यह विचारशैली गलत नहीं है। श्रीकृष्णके चरित्रमें अनेक स्थानोंपर आपको इस बातका प्रमाण मिलेगा, कि श्रीकृष्ण उत्कृष्ट श्रेणीके शिक्षक थे। उनके पट्टशिष्य केवल दो थे; एक अर्जुन और दूसरा उद्धव। अर्जुन पांडव थे और उद्धव यादव थे। इन दो शिष्योंको परमगुरुने बहुत हार्दिक उपदेश दिया है।

(२१) आजकलके समयमें उत्तम शिक्षककी क्या कल्पना है? वह यदि उच्च विषय पढानेवाला अंग्रेजी शिक्षक हो तो, वह M. D. T. D. कमसे कम B. T. अथवा S. T. C. अवश्य होना चाहिये। देशी भाषाका शिक्षक हो,तो ट्रेनिंगकी परीक्षा पास होना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् M. D. अथवा T. D अथवा B. T. या S. T. C. नहीं थे; तथापि इन उपाधियोंको धारण करनेवालोंकी अपेक्षा उन्होंने अपने आदर्श पाठका वितरण अत्युत्तम रीतिसे किया है। अध्यापनशास्त्रमेंभी दिनोंदिन इतने सुधार और बदल हो रहे हैं, कि कलकी शिक्षा-पद्धति आज पुरानी ठहरती है। इसलिये हर्बार्टकी पांच सिढ्ढियोंका आज कुछ विशेष महत्त्व नहीं रहा। आज इस बातका महत्त्व मान सकते हैं, कि जिस विषयका पाठ विद्यार्थीको देना हो, उस विषयकी उत्सुकता, जिज्ञासा विद्यार्थीमें उत्पन्न हो। उस विषयकी उपयुक्तता विद्यार्थीको निःसंदिग्ध रीतिसे समझनी चाहिये। उपयुक्तता जंचनेपर आपही आप विद्यार्थी शिक्षकके पास जाता और पूछता है, कि यह कैसा? यह मुझे सिखलाइये। जिज्ञासा उत्पन्न होकर ज्ञानप्राप्तिके लिये जब दिल में बेचैनी होती है, तब जो विषय गुरु समझावेंगे वह बद्धमूल होता है। केवल इतनाही नहीं, किंतु विद्यार्थी उस ज्ञानको शीघ्रही अमलमें लाने लगता है, अर्थात् तदनुसार आचरण करने लगता है। विद्यार्थी विषयको हाथमें लेता है, उसका अभ्यास शुरू करता है, उसमें अडचनें आती हैं; परंतु उस विषयको पूरा करनेकी उसको इतनी उत्सुकता रहती है, कि उन अडचनोंको पार करनेमें वह

अविश्रांत श्रम करता है; तबतक उसको और कोई बात नहीं सुहाती। उस अडचनको पार करनेका रास्ता गुरु बतलाते हैं। उस दिग्दर्शनके अनुसार विद्यार्थी उस अडचनको दूर करके अपना विषय पूरा करता है। इस तरह प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह आधुनिक नूतन शिक्षा-प्रणाली है।

(२२) जिस विषयमें अपने शिष्यका प्रवेश कराना हो, उस विषयके अनुरूप वातावरण पहिलेहीसे निर्माण कर रखना आधुनिक कुशल शिक्षक का प्रमुख कर्तव्य है। ईस्ट इंडिया कंपनी जब हिंदुस्थानमें आई, उस समयका इतिहास यदि विद्यार्थियोंको सिखाना हो, तो कुशल शिक्षक क्या करेगा?

एक स्वतंत्र कमरेमें एक तरफ इलिजाबेथ रानी की तसवीर और दूसरी तरफ जहांगीर बादशाह की रखकर, जरूरत हो तो बीचमें एक पडदा डालेगा। मध्यमें ऐसा बतलावेगा, कि ईस्ट इंडिया कंपनीके कर्मचारी हिंदुस्थानकी राहपर चल रहे हैं। हिंदुस्थानके तराजू छापवाले पैसे, महारानी विक्टोरियाकी छापवाले रुपये रखेगा। इस कमरेमें अपने विद्यार्थियोंको छोड देगा और स्वतः एक तरफ ऐसा रहेगा, मानो इन चीजोंसे उसका कोई सरोकार नहीं! यहां विद्यार्थी उस वातावरणमें विचार करने लगते हैं। वहां का यह सामान देखकर उन्हें शंकाएं उत्पन्न होती हैं, वे गुरुजीसे पूछते हैं, फिर अपने कार्यमें मग्न होते हैं और अंतमें यशस्वी होते हैं। प्रथम Situation और फिर Response, प्रसंग और जवाब, ऐसा ज्ञानसाधन का यह परस्परसंबंध है, और यह शिक्षापद्धति बिलकुल आधुनिक आजकल की है। अव्वल दर्जेके शिक्षक इस पद्धतिसे विद्यार्थियोंको पढाते हैं और मैं कहता हूं, कि श्रीकृष्णने इसी पद्धतिसे अर्जुन को ज्ञानपाठ दिया। यह शिक्षाका पाठ चार दीवालोंके कमरेमें नहीं दिया; यह खुले रणांगणमें खुले जगत्‌में, संसार के लिये दिया है।

श्रीकृष्णजीने वातावरण कैसे निर्माण किया? पाठ देने के लिये स्थान कौनसा पसंद किया? उस स्थानमें कौनकौनसी चीजें इकत्र कीं? विद्यार्थीके हृदयमें कौनकौनसे प्रश्न निर्माण किये? उसको कैसे तैयार किया? और वह जब तैयार हुआ, कार्यप्रवृत्त हुआ, तब उसको कौनसी अडचनें और कौनसी शंकाएं आईं? उसने गुरुजीसे शंकाएं किस तरह पूछीं? उसका शंकानिवारण कैसे हुआ और अंतमें उसने इष्ट कार्यको किस तरह पूरा किया? ये सब बातें गीता पढनेसे मालूम होती हैं। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता पूज्य गरीयान् गुरुने खुले पृथ्वीतलपर खुले मैदानमें अपने पार्थ शिष्यको दिया हुवा उत्कृष्ट विद्यापाठ है, जो सारा संसार सुन लेवे, देखे, और उसका मनन करे। जगत् शालागृहमें अर्जुनशिष्यको कृष्ण गुरुजीने जो अदर्श पाठ दिया, वह देखिये कैसा है—

सुलभ-गीता।

(२)

(२३) बारह वर्षतक वनवास और बाद में एक वर्ष अज्ञातवास भोगनेपर, ठहरावके अनुसार पांडवोंने कौरवोंसे आधा हिस्सा मांगा। कौरवोंने वह देनेसे इनकार किया। शिष्टाई के लिये पांडवोंने श्रीकृष्ण को भेजा। इस प्रसंग से भी श्रीकृष्णकी सर्वमान्यता और गुरु होनेकी योग्यता प्रतीत होती है। श्रीकृष्णकी शिष्टाई व्यर्थ हुई। और युद्धकी नौबत आ गई। सामोपचार हो गए और दामोपचार हो गए। अब बाकी रहे दंडोपचार। दंडके मायने युद्ध। न्याय्य मार्गसे अपने हक्कोंके लिए झगडना शास्त्रपूत राजमार्ग है। वह कर्तव्य है। शांति कितनी चाहिये, तितिक्षा कितनी चाहिए, इसको भी कुछ मर्यादा है। जबरदस्ती से राज्यका अपहार करनेवालोंको यह कहकर, कि 'तुम लेते हो, ले लो; भगवान् तुम्हें देखलेगा,' पांडव निकम्मे होकर चुपचाप नहीं बैठे। चुपचाप बैठनेका मतलब कर्तव्यच्युत होना है। युद्धके लिए तैयार होनाही पांडवोंको आवश्यक था। दोनों पक्षके वीर शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्ज होकर रणभूमिपर उपस्थित हुए और पहिली सलामी हो गई। रणवाद्योंका प्रचण्ड नाद गूंजने लगा। दोनों सैन्योंके बीचमें अर्जुनका रथ आया। स्वपक्ष और परपक्ष का बलाबल जांचनेके हेतु होशियार सेनापतिके समान अर्जुनने उभय पक्षोंका निरीक्षण किया।

यहां तक पाठके लिये कितनी तैयारी हुई ? आप देख सकते हैं, कि आदर्श पाठके लिये वातावरण निर्माण करना, सामान इकट्ठा करना और कार्यका अंगिकार जिसने किया, उस विद्यार्थिको उस जगहमें छोड देना, इतनी बातें सिद्ध हुईं। इतनी बातोंसे आप यह निर्णय कर सकते हैं, कि यह आदर्श पाठ है या नहीं।

इसके आगेकी बात है, शंकाका प्रादुर्भाव। उभय पक्षोंको देखतेही अर्जुन ऐसी शंकामें पड गए, कि जिसको शंका शब्द अपर्याप्त मालूम होता है। अर्जुनको यह एक दुर्घट संकटही प्रतीत हुआ। अर्जुनने कहा—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

अर्जुनकी जो यह स्थिति हुई, 'सशरं चापं विसृज्य' अर्जुन जो 'शोकसंविग्नमानसः' हुए, इसका कारण क्या? उन्हें शोक क्यों हुवा? रोने तक नौबत क्यों आई? क्या वे घबडाए हुए थे ? या डर गये थे ? अथवा कातरता से वे घबडाए थे ? नहीं नहीं; यह बात नहीं है। दैत्योंसे लडाई करनेका मौका आया, तब देवेंद्रने भी जिस से सहाय्यकी याचना की, वह अर्जुन क्या कातर हो सकता है? जगत्-त्रयका संहार करनेवाले कालके कालसे-अर्थात् महादेवजीसे भी दो हाथ करके जिसने महादेवजी को चकित कर दिया और केवल शौर्यकी उपासनासे उनको संतुष्ट करके वर प्राप्त किया, वह सव्यसाची, शब्दवेधी अर्जुन क्या भीरु अथवा भागनेवाला होगा ? खांडव वन देकर जिसने अग्निदेवता को संतुष्ट किया और उससे सख्यत्व हासिल किया, वह धनुर्धर अर्जुन क्या युद्धको डरनेवाला और शत्रुको अपनी पीठ बतलानेवाला हो सकता है? नहीं नहीं। अर्जुनका भय निराला ही था। उसको पूर्ण भरोसा था, कि शत्रुका पराजय करके मैं विजय प्राप्त करूंगा; क्योंकि आगे चलकर उसीने कहा है, कि—

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।

यहां श्रेयस् क्या होना चाहिए ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेके कारण भगवान्‌को 'श्रेयस्' और प्रेयस् इस द्वंद्वपर विचार करना आवश्यक हुवा है। ऐसा नहीं दिखता, कि अर्जुनको लडाई की धूमधामकी अथवा परिणामकी कोई फिकर रही हो। परन्तु उसको यह शंका आई, कि लडाई करना क्या श्रेयस्कर है? अर्जुनकी शंका तात्विक स्वरूपकी थी; वह शंका ऐसी थी, कि श्रेयस् क्या है, और प्रेयस्

क्या है? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? युद्धमें अपना विजय हुआ और हस्तिनापूर का राज्यभी मिल गया, तो क्या यह कर्म योग्य समझा जाय? हस्तिनापूरके राज्य की बात ही क्या है? किंबहुना अखिल भरतखंडके राज्यकी भी बात क्या है? अर्जुनका कहना है, कि 'किं नु महीकृते? अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः एतान् हन्तुं न इच्छामि'

और यह क्यों? अर्जुनने अपनी विचारसरणीभी श्रीकृष्णको समझा कर बतलाई; अपना यह निश्चय बतलाया, कि इस कृत्यका सुपरिणाम होनेके बदले दुष्परिणाम ही होगा। हाथ पैर सिकोडकर अर्जुन स्तब्ध हो बैठ रहा।

इसके बाद श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतोपदेश किया, वह सुनकर अर्जुनने उठकर युद्ध किया और विजयकी प्राप्ति की। इतना हो जानेपर यह आदर्श पाठ समाप्त होता है। अर्जुनको मालूम हो गया, कि अपने सामने आए हुए अनीतिमान् शत्रुओंका संहार करना ही इस समय अपना सच्चा कर्तव्य है। असंख्य लोगोंकी हत्या करना न तो पाप है, और न अपकृत्य है; किंतु वह कर्तव्य होनेके कारण, सारासार विचार करके, तथा 'लाभालाभौ जयाजयौ' की परवा छोडकर किये जाने के कारण, वह सत्कृत्य है। यह बात अर्जुन के दिलमें जंच गई। यहां आदर्श पाठ पूरा हुवा। इस लिये यह सुलभ आदर्श पाठ अपन सबको लेना आवश्यक है।

यह पाठ चल रहा था, इस अवसर में अर्जुन के अंतःकरणमें एक नयी घटना बनाना श्रीकृष्ण को आवश्यक हुवा। अर्जुन को कार्य में प्रवृत्त करना पडा। अर्जुन की समझ ऐसी हो गई थी, कि अंगीकृत कार्य से पापका संचय होगा और अपनेको नरकयातना भोगनी पडेगी। अर्जुन की समझ में यह बात सशास्त्र थी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का इस बात में समाधान किया, कि वह समझ गलत है और युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा समाधान करके उन्होंने अर्जुनको युद्धप्रवृत्त किया।

(२४) यह बात नहीं थी, कि अर्जुन आजही धनुर्विद्या का पाठ ले रहा था, वह जगद्विख्यात धनुर्धर योद्धा था। उसने बहुतसी लडाइयां जीत ली थीं। इसके पहिले किसी भी लडाई के वक्त जो मोह उसे उत्पन्न न हुवा, वह आजही उत्पन्न होने का क्या कारण है? उसके दिलमें जो प्रश्न आज उपस्थित हुए, वही प्रश्न क्या इसके पहिले कभी उपस्थित न हुए होंगे? अगर न हुए होंगे, तो क्यों?

(२५) इसका भी उत्तर मिल जायगा। आजके युद्ध का कुछ और ही विशेष था। आज के युद्ध में १८ अक्षौहिणी सैन्य का संहार होना था। आजके युद्ध में नातेगोते के लोग, श्रेष्ठ, पूज्य, वंद्य पुरुष और जेठे सयाने लोग साम्हने खडे हुए दिखते थे। सिवाय इसके अर्जुन की यह प्रामाणिक धारणा थी, कि आजका युद्ध स्वार्थप्रेरित है। लडाई किस लिये है? स्वतःको राज्यप्राप्ति करनेके लिये! युद्धका हेतु है राज्यसंपादन और पांडवों को राज्यप्राप्ति! क्या इसके लिये पांच करोड लोगोंकी प्राणहानी हो? कितना घोर कर्म? अर्जुन को इसी युद्ध के अवसर पर व्यामोह उत्पन्न होनेके कारण ये हैं। क्या इतने कारण अपन लोगों सरीखे सीधेसीधे विचारवाले मनुष्य की बुद्धि कुंठित करने को पर्याप्त नहीं हैं? आप स्वतःको अर्जुन की जगह में रखकर देखिये। क्या यही शंकाएं, अडचनें, यही प्रश्न आपको कर्तव्यमूढ नहीं करेंगे?

इसी लिये मैं कहता हूं, कि विशेष प्रसंग में अर्जुन नारायणसखा नर धनुर्धर पार्थ नहीं; ज्ञानी अर्जुन, असामान्य विभूति, विजय इत्यादि संज्ञायुक्त नहीं, किंतु हमारे तुम्हारे सरीखा बिलकुल साधारण मनुष्य है। यदि वह नारायणसखा, श्रीकृष्ण की बराबरी का, श्रीकृष्ण की योग्यता रखनेवाला होता, तो यह शंका उसको न आती और गीतोपदेश के लिये कोई कारण भी न होता! इसी लिये गीता पंडितों के लिये नहीं, किंतु साधारण बुद्धि वाले और संसारमें घडी घडी कर्तव्यमूढ होनेवाले सांसारिक लोगोंके लिए कही गई है। इसी लिए उससे घबडानेका कोई कारण नहीं है, वह अत्यंत सुलभ सुगम्य है।

(२६) मेरा यह कहना जिसको न जँचेगा, वह कहेगा, कि आप गीताको सुलभ कहते हैं और आसपासके प्रमाणोंसे उसकी सुलभता सिद्ध करते हैं; परन्तु अनुमान-प्रमाणोंसे बात सिद्ध नहीं होती। यह बात प्रत्यक्ष है, कि गीतामें ऐसे अनेक प्रश्न हैं जो दुर्बोध, दुर्घट और पांडित्यप्रचुर

हैं। ऐसी अवस्थामें आप उसको सुलभ कैसे कह सकते हैं? गीताके एक श्लोकपर ग्रंथके ग्रंथ लिखे जाते हैं, तब भी प्रवचन पूरा नहीं होता; तब गीता सुलभ कैसी?

(२७) गीता केवल श्रीकृष्णकी प्रतिकृति है। श्रीकृष्ण विराट् स्वरूप हैं न? वे सगुण कैसे हुए? संपूर्ण विश्वको स्वाहा करने परभी उनकी क्षुधा शांत नहीं होती न? तब एक भाजी का पत्ता खाकर उन्होंने डकार कैसे दी? भाजीके एक पत्तेमें वे संतुष्ट कैसे हुए? दुनियांके सारे जड पदार्थोंसे उनकी तुला न हो सकी। तब एक तुलसीदलके बराबर वे हलके किस तरह बन गए?

आपको यह मानना पडेगा, कि यज्ञयागादि कर्म असंख्य वर्षोंतक करते रहनेपरभी उनकी तृप्ति नहीं होती। परंतु वे स्वतः गीतामें कहते हैं, कि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' उसकी इस पूजासे मैं संतुष्ट होता हूं। 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' जो विराटस्वरूप इस प्रसंगपर भगवान्‌ने अर्जुनको बतलाया, वही बाल्यावस्थामें उन्होंने यशोदाको छोटे स्वरूपमें बतलाया था। अर्जुनको उन्होंने जो उपदेश किया, उसका छोटासा नमूना उन्होंने यशोदा को बतलाया था। अर्जुनको किया हुआ उपदेश वाचाल था; यशोदाको दिया हुआ ज्ञान मूक था। परन्तु शीघ्रही अपना वह स्वरूप, जिसमें अखिल ब्रह्मांड को उदरमें स्थान दिया गया था, बदलकर भगवान्‌ने यशोदाके लिये आखिर वही सुंदर, मोहक बालस्वरूप धारण किया ही। इसी तरह यद्यपि गीतामें परमेश्वरप्राप्ति के और सदाचरणके अनेक दुर्घट मार्ग बतलाए गए हैं, तथापि उसी गीतामें सर्वसाधारण मनुष्योंको साध्य ऐसा सुलभ मार्ग भी बतलाया गया है। उसका विवरण मैं यथाक्रम करनेवाला हूं।

अर्जुन जब हाथपैर सिकोडकर चुपचाप बैठ गए, तब श्रीकृष्णके दिलमें कैसे विचार आये होंगे?

(२८) आजतक जो अजिंक्य रहा, राज्य छिन जानेसे जिसको संताप हुआ है, विनाकारण तेरह वर्षतक वनवास और अज्ञातवास भोगनेके कारण जो संत्रस्त हो गया है, तथा अस्त्रज्ञान प्राप्त करनेपर उसके लिए योग्य अवसर की जो मार्गप्रतीक्षा कर रहा है, और युद्ध के वातावरण में पहुंच जानेपर शौर्य से जिसको स्फुरण चढ रहा है, वह अर्जुन अवश्यमेव बाणवृष्टि करने के लिये अधीर हो रहा है; ऐसी अपेक्षा करनेवाले श्रीकृष्ण को जब अर्जुन हाथ पैर सिकोडे बैठा हुवा देखने मिला, तब भगवान् को कितना बुरा मालूम हुवा होगा, और कितना त्वेष आया होगा? भरोसे के भैंस को पडा उत्पन्न हुवा देखकर अहीर को जैसा मालूम होगा, वैसाही श्रीकृष्ण को मालूम हुवा होगा। श्रीकृष्ण के आरंभ के उद्गारोंसे उनकी मनःस्थितिपर अच्छा प्रकाश पडता है। श्रीकृष्ण स्वतः कहते हैं—

> क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
> क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

"ऐसे ऐन मौकेपर तुमको यह क्या हो गया? क्या नपुंसक बन गए! ऐ नामर्द! इस नामर्दपन को छोड दो और युद्ध की तैयारी से उठो!"

आश्चर्य और क्रोधके पहिले जोशमें इस तरह अर्जुन की निर्भत्सना भगवान् करते हैं और संपूर्ण गीताभर में यही तान आलाप रहे हैं, कि "मनुष्य उठाओ और युद्धके लिये उठो।" गीताको यदि एक संगीत- एक पद्य, सच्चा एकही गीत माना जाय, तो उस गीतका ध्रुवपद है, "उठो और युद्ध करो।" यदि आपका समाधान न हुवा हो, तो मैं बतलाता हूं, कि यह पद गीतामें कितनी बार और कौनसे शब्दोंमें आया है:—

१. क्लैब्यं मा स्म गमः (पार्थ)। (यहांसे प्रारंभ)
२. तस्माद् युध्यस्व भारत।
३. ततो युद्धाय युज्यस्व।
४. युध्यस्व विगतज्वरः।
५. तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
६. मामनुस्मर युद्धय च।
७. तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।
८. जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
९. युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

अठारह कडियोंवाले गीतारूपी इस गीतमें यह ध्रुवपद नौ बार आया है और इस ध्रुवपद से गीता का हेतु बिलकुल स्पष्ट होता है। श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को बार बार अनेक रीतिसे कह रहे हैं, "उठो, लडाई करो; उठो, युद्ध करो।" अतएव गीता का संदेश यही है,

कि "नीतिमार्ग से चलते हुए तुम्हारी राहमें कोई विघ्न आ जाँय, यदि कुकर्मी शत्रु आडे आवें, तो तुम किसमत को दोष देते हुए चुपचाप मत बैठो; उठो और झगडो।" गीतामें भगवान् अपन सबको कह रहे हैं, कि "उठो और दो हाथ करो।" संपूर्ण गीता का अत्यंत सीधा और समझने के लिये सुलभ ऐसा यह अर्थ है।

अब इस ध्रुवपद की थोडी और छानबीन की जाय। इससे हमें यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा, कि झगडने में हमको किसतरह की दक्षता रखनी चाहिये। युद्धकर्म के लिये कोई कोई विशेषणों अथवा क्रियाविशेषणों का प्रयोग किया गया है। इनमें से एकएक का खोज करके, यह देखें, कि ये हमें किस तरह मार्गदर्शक होते हैं-

(१)- युद्धयस्व विगतज्वरः।
(२)- युद्धाय उत्तिष्ठ कृतनिश्चयः।
(३)- मामनुस्मर युद्ध्य च।
(४)- उत्तिष्ठ यशो लभस्व।
(५)- जित्वा राज्यं भुंक्ष्व।
(६)- युद्धयस्व जेतासि।

इस तरह इस ध्रुवपद के साथ छः सूचनाएं हैं- (१) विगतज्वरः (२) कृतनिश्चयः (३) मामनुस्मर (४) यशो लभस्व (५) राज्यं भुंक्ष्व और (६) जेतासि। इनमें से आखिरी तीन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, परंतु पहिली तीन का जरूर महत्त्व है। इन पहिली तीनका पालन किया गया, तो उनसे क्या फल मिलेगा, इसका दिग्दर्शन आखिरी तीनमें किया गया है। अतः पहिली तीन सूचनाएं विचारणीय हैं।

(१) **विगतज्वरः** का अर्थ है, शोकमोहरहित। ज्वर के मायने बुखार- ताप, अर्थात् मनस्ताप। यदि मनस्ताप न चाहिये हो, तो मनकी शांतता, स्वस्थता होनी चाहिये। यदि ज्वर हो और शांतता न हो, तो योगमें जो समत्व, जो कर्मसु, कौशलम् आवश्यक है, वह कैसे प्राप्त होगा? ध्यान इस बातपर रहे, कि युद्ध करते समय- कर्तव्य करते समय शोक और मोह बिलकुल न हों।

(२) **कृतनिश्चयः**- निश्चय दृढ रखकर लडाई करो।

(३) **मामनुस्मर**- लडाई करते समय, कर्तव्याचरण करते समय मेरा स्मरण करो। मेरे मतानुसार इन तीन आदेशों में यह तीसरे आदेशका महत्त्व बहुत अधिक है। एवंच, इन तीनों आदेशों को नजर के सामने रखकर लडाई की जाय, तो क्या परिणाम होगा?

(४) **यशो लभस्व**- यश की प्राप्ति होगी।
(५) **राज्यं भुंक्ष्व**- राज्य का उपभोग लेनेको मिलेगा।
(६) **जेतासि**- शत्रुपर विजय मिलेगा।

इन तीनों सूचनाओं में बतलाया है, कि परिणाम कितना सुखप्रद होगा। लडाई करनेमें फलप्राप्ति का हेतु मत रखो। परंतु भगवान् ने सूचित किया है, कि फल जरूर अच्छा मिलेगा। गीताको यदि सुलभ करना न होता, तो अर्जुन को भगवान् ने क्या यह कहा होता, जैसा साधारण विद्यार्थियों को कहा जाता है, कि तुम अभ्यास करो; अभ्यास करने से परीक्षा में पास होगे? भगवान् कहते हैं, कि "**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ;**" और ऐसा कहते हुए, उसी समय अर्जुन को फलाशा क्यों दिखलाते हैं? इस से यह प्रतीत होता है, कि गीता किसके लिये है। आधुनिक सुशिक्षितों की बुद्धिको विना फलाशाके कर्म का अस्तित्व ही न जँचेगा। इसी लिये आगे प्राप्त होनेवाले फल की कल्पना रख दी है; परंतु साथही यह कह रखा है, कि उसके लिये पूर्वतयारी किस प्रकार की चाहिये।

विगतज्वरत्व, कृतनिश्चयत्व और परमेश्वरस्मरण, इन तीनोंसे युक्त जो कर्म, वह यशस्वी होगा, वह सफल होगा, यह सुखदायक होगा। भगवान् ने गीता इतनी सुगम करके कही है।

(२९) अब अपन अपने ही तरफ देखें। क्या अपन लोग युद्ध करते रहते हैं? हां। किसके साथ? अपने से कम ताकत-वालोंके साथ। वस्तुतः हमें उसको क्षमा करनी चाहिये।

कोई बलिष्ठ आदमी अपना अपहार करके नुकसान करे, तो क्या न्याय्य वस्तु प्राप्त करने के लिये हम लडते हैं? नहीं। उस समय हम वेदान्त का आश्रय ले लेते हैं। ईश्वर विद्यमान है, वह देख लेगा; इत्यादि कहते हुए और मनमें उसको शाप देते हुए अपन चुपचाप भाग जाते हैं। अपनी सहायता के लिये कोई आवे और कहे, कि अपन मिलजुलकर उस बलिष्ठ के साथ लडें, तो ऐन मोकेपर अपना स्वतःका बचाव करने की

गरज से अपने फूटकर अपने मित्रकी फजीहत करते हैं। हमारे लडनेका यह तरीका है और उसीका फल हम अभी भोग रहे हैं।

पाश्चात्य लोगों को देखिये। वे लडते हैं या नहीं? कौन कहेगा, कि वे नहीं लडते? उनकी लडाई का विस्मरण कभी भी हो सकता है? वे लोग लडते हैं; परंतु कैसे लडते हैं? न केवल न्याय्य वस्तु की प्राप्तिके लिये, किंतु अन्याय्य रीतिसे भी वे लडते हैं। उनकी लडाई में कौनसे गुणदोष दिखते हैं? उनमें कृतनिश्चयत्व भरपूर है, विगतज्वरता कुछ है और परमेश्वर-स्मरण कभी नहीं रहता। अजी महाशय! संसार का हरएक कार्य हम परमेश्वर-स्मरणपूर्वक करने लगें, तो पुलिस का मुहकमा, न्याय का मुहकमा, ऐसे मुहकमों के रखने का कोई कारण न रह जायगा।

अजी महाशय! परमेश्वर-स्मरणपूर्वक यच्चयावत् कृति करनेका मतलब कुछ और है। मकान फोडनेवाला यदि कहे, कि "हे भगवन्! आज रात को मैं फलाने मनुष्य के मकानपर छापा डालता हूं; मेरा कार्य सिद्ध हो। मैंने अनन्य भक्ति से तुम्हें नमस्कार करके इस महत्कृत्य का अंगीकार किया है।" तो क्या यह परमेश्वर-स्मरण होगा? यह परमेश्वरस्मरण नहीं, किंतु परमेश्वरस्मरण की दिल्लगी है!

यह बात हमेशा ध्यानमें रखना चाहिये, कि जो कार्य मैंने हाथमें लिया है, उसको करनेवाले मुझे अखिल जगत् का न्याय देनेवाला परमेश्वर खुली आंखोंसे देख रहा है। यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि वह कार्य यदि अकार्य होगा, तो वह मुझे सजा देगा। अपनी बुद्धि के सामर्थ्य के अनुसार पहिले इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये, कि यह कार्य पवित्र है, अकार्य नहीं है और ऐसी इच्छा रखनी चाहिये, कि यह कार्य कृष्णार्पण हो— अर्थात् इसको परमेश्वर देखें। इस पूर्वतयारी के साथ वह कार्य हाथमें लिया लिया जाय, तो जरूर कह सकते हैं, कि वह परमेश्वरस्मरणपूर्वक हुवा।

इतिहासकार पाश्चात्यों की किस लडाई को कहेंगे, कि यह परमेश्वरस्मरणपूर्वक हुई? ऐसा न कह सकते हों, तो यह सवाल आता है, कि उन्हें ऐहिक ऐश्वर्य का लाभ कैसे हुवा?

(३०) ऐहिक ऐश्वर्य का लाभ हुवा है, परंतु वह शाश्वत नहीं है और न वह शुद्ध सुखमय है, किंतु अंदर पोला है। हॅम्लेट की मां और उसका राज्य छीनकर राज्यसुख भोगनेवाले उसके चचा का जैसा वैभव था, वैसा ही यह ऐश्वर्यसुख है; क्योंकि उसके साथ आत्मिक सुख नहीं है और इसी कारण पाश्चिमात्य लोग भारतीयों के वेदान्तज्ञान की ओर, गीताज्ञान की ओर, परमार्थज्ञान की ओर अतृप्त दृष्टि से तृषित के समान देखते हैं।

'युद्धके लिये तैयार हो' इन शब्दों से मर्यादित क्यों न हो' पाश्चात्य लोग गीताके संदेश, समझकर या विना समझे, अपने आचरण में लाते हैं, पूर्णतया उसके अनुसार आचरण करते हैं; परंतु उनसे "मामनुस्मर युद्धय च" इसका आचरण नहीं होता। और गीताके जागीरदार हम लोग लडाई की बात भी नहीं करते। हमारी गीता है 'असेल माझा हरी, तर देईल खाटल्यावरी' (हमारा परमेश्वर होगा, तो वह हमें हमारे बिस्तरपरभी देगा,) इसमें थोडासा फरक किया जाय, 'ख' के बदले 'क' रखा जाय, तो सचमुच में हम लडाई में काटे जाते हैं।

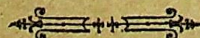
गीताके १८ अध्यायों को १८ नाम दिये गये गए हैं और उस प्रत्येक नामके आगे 'योग' शब्द आया है। यह श्रेष्ठ प्रकारकी विद्या है और समझने में कठिनाई न पडे, इस गरज से आठ अध्याय समाप्त होनेपर भगवान् ने (९ वें अध्याय के २रे श्लोक में) यह स्पष्ट शब्दों में कहकर, कि वह श्रेष्ठ विद्या मैं अत्यंत सुगम करके बतलाता हूं, ९ वां अध्याय कहा; उसमें भक्ति का माहात्म्य वर्णन किया और १२ वें अध्याय में भक्ति के लक्षण बतलाये। इनमें से ९ वें अध्याय के श्लोक १४।२२।२५।२६।२७।२९।३०।३१ और ३४ का भारी महत्त्व है। कोई भी संसारी जीव ९ वें अध्यायके इन ९ श्लोकों को आचरण में ला सकता है। इसी लिये घटपटादि खटपट को छोडकर इस बालबोध सुगम मार्ग से हम लडाई कर सकेंगे, अपना कर्तव्याचरण कर सकेंगे, इहपर अभ्युदय प्राप्त कर सकेंगे।

इसपर भी एक शंका रह जाती है। वह यह है, कि यदि इतने में काम होता है, तो बाकी अध्याय क्या निरर्थक हैं? नहीं। निरर्थक नहीं हैं; किंतु उच्च ध्येय

को जानेकी यह सोपान-परंपरा है और उसकी पहिली सिढ़ी उक्त श्लोक है। अगली सिढ़ीयां चढने की ज्यों ज्यों शक्ति आवेगी, त्यों त्यों प्रत्येक मनुष्य चढता जाय। परंतु गीता का महत्त्व कितना है, यह प्रतीत होनेपर हमें यह मानने का कोई कारण नहीं, कि वह केवल सुनने के लिये है, उसको आचरण में लाना मुश्किल है। गीताधर्म सबको आचरण में लाने ही के लिये है और इसीलिये श्रीकृष्ण परमात्मा ने जानबूझकर उसे सुलभ करने का यशस्वी प्रयत्न किया है। हम सब लोगों को उसका उपयोग कर लेना चाहिये।

गीताके सिद्धान्त-वाक्य।

१ कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
२ स्त्रीषु दुष्टासु जायते वर्णसंकरः।
३ संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
४ न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम्।
५ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
६ विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।
७ अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
८ जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
९ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।
१० विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।
११ इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः।
१२ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
१३ संगात् संजायते कामः।
१४ कामात् क्रोधोऽभिजायते।
१५ क्रोधात् भवति संमोहः।
१६ संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
१७ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः।
१८ बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
१९ अशांतस्य कुतः सुखम्।
२० न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
२१ अन्नाद् भवन्ति भूतानि।
२२ पर्जन्यादन्नसंभवः।
२३ यज्ञाद्भवति पर्जन्यः।
२४ यज्ञः कर्मसमुद्भवः।
२५ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि।
२६ ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
२७ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
२८ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
२९ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
३० श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति।
३१ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
३२ संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
३३ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
३४ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
३५ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
३६ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
३७ चन्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्॥
३८ न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।
३९ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति सदा तद्भावभावितः॥
४० आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः।
४१ मामुपेत्य तु पुनर्जन्म न विद्यते।
४२ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
४३ अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
४४ न मे भक्तः प्रणश्यति।
४५ अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।
४६ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
४७ यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
४८ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।



स्वकर्म और स्वधर्म ।

(लेखक- श्री० भारद्वाज)

भगवद्गीता के मतानुसार चातुर्वर्ण्यविहित कर्म ही ' स्वकर्म ' है और यही ' स्वधर्म ' है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्० ॥ १८-४६ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः० ॥ १८-४५ ॥

स्वकर्म और स्वधर्म में फरक नहीं। भगवद्गीता में ' धर्म ' संज्ञा से हिंदु, मुस्लिम, क्रिश्चन इत्यादि मतपंथ उद्दिष्ट नहीं हैं; किन्तु स्वप्राकृतिक घटना के अनुसार प्रत्येक मनुष्य सहज रीतिसे कर सके, ऐसा जो जिसका कर्म हो वह करनाही उसका स्वधर्मपालन है। भगवद्गीता में ' कर्म ' का मतलब ब्रह्मवस्तु की प्राकृतिक सीमा में व्यापार है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि० ॥ १३-१९ ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि० ॥ ३-२७ ॥

और यह प्राकृतिक घटना सहजात होने के कारण प्रत्येक मनुष्य का धर्म- कर्म उसीके साथ उत्पन्न- सहजात अथवा सहज रहता है और यह सहज कर्म करनाही स्वधर्मपालन है; चाहे वह कर्म अन्यों के कर्म की तुलना से सदोषभी हो।

सहजं कर्म कौन्तेय० ॥ १८-४८ ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः० ॥ १८-४७ ॥

सिवाय इसके यह सहज अथवा स्वभावनियत कर्म इतना अटूट रहता है, कि जिसका उसी से किया जाय, तभी छुटकारा होगा। प्रकृति का बंधन प्रत्येक मनुष्यपर ऐसा जोरदार रहता है, कि—

स्वभावजेन कौन्तेय० ॥ १८-६० ॥

मनुष्य वृथा अहंकार से ऐसी शेखी भर मारता रहता है, कि 'मैं यह करूंगा' 'मैं वह करूंगा'; परन्तु व्यर्थ है।

यदहंकारमाश्रित्य ... प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५॥ (१८-५)

थोडीही देरमें विवर्तन होनेपर वह चुपचाप रस्ते-पर आ जाता है और शेखीके कारण जो घुटाला हो जाता है, उसके फलरूप कष्ट भोगता है। निर-हंकार होकर प्रकृतिका यह नियम (बंधन) पालना-यही 'स्वधर्मपालन' है और स्वप्रकृतिका यह बन्ध तोडकर अन्य प्रकृतिका बंधन अथवा धर्म स्वीकृत करनाही 'परधर्माश्रय' है। अर्थात् वह अस्वाभाविक रहनेके कारण मृत्युसे भी अधिक दुःखदायक होता है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः ॥ ३-३५ ॥

यहांतक जो विवेचन हुआ, वह अर्थात् केवल तात्त्विक और कुछ अंशमें एकमार्गी है। प्रत्यक्ष व्यवहारमें इस धर्मकर्मके अनेक पर्याय नजर आते हैं।

पहिले, यह असंभाव्य नहीं, कि ऐसी अनेक व्यक्तियां कृप-द्रोणके सदृश्य हों, जहां भिन्नवर्णीय कर्मोंका एकत्र सहवास है-'शापादपि शरादपि।'

दूसरे, संकरादि अनेक कारणोंसे प्राकृतिक घटना आजकल क्वचित् ही उस सादे और शुद्धस्वरूपमें देखने मिलती है, जो गीतामें उद्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त शुद्ध प्रजामें जितना परिस्थितिप्रयोग (Adaptability to Environmernts) रहता है, उससे अधिक

संस्कृत प्रजामें रहता है। अर्थात् 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यह नियम संस्कृत प्रजाको उतना लागू नहीं होता, जितना कि शुद्ध प्रजाको लागू होता है। इसी बातको अन्य शब्दोंमें यों कह सकते हैं, कि व्यवसाय और जातिका साहचर्य आजकल उतना प्रतीत नहीं होता, जितना कि वह पूर्वकालमें होता था।

तीसरे, प्राकृतिक घटनाको जो महत्त्व दिया जाता है, करीब उतनाही महत्त्व आजकल (१) परिस्थिति (२) शिक्षण, इन दो प्रायः सममूल्य घटकोंको दिया जाता है और वह योग्यही है।

चौथे, वैयक्तिक जीवितमें जन्मसे लेकर मरणतक प्राकृतिक गुणोंका एकही एक स्वरूप निरपवाद प्रतीत नहीं होता। आज भी अनेक वाल्मीकि इस बातका प्रमाण दे सकेंगे, कि उत्तर-जीवितमें गुणोंका ऱ्हास अथवा नवगुणोंका उद्भव होना पूर्णतया संभवनीय है।

पांचवें, पूर्वकालीन चातुर्वर्ण्यमेंसे प्रत्येक वर्णके व्यवसायमें आजकल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि उपविभाग पड गए हैं। उदाहरणार्थ, शूद्र ब्राह्मण अर्थात् आजकलके परोसनेवाले, पानी ढोनेवाले, चपरासी इत्यादि; ब्राह्मणशूद्र अर्थात् आधुनिक कृषिशास्त्रसंशोधक अथवा आरोग्यशास्त्रसंशोधक (Sanitary Engineer) ऐसे अनेक उपवर्ण तथा उपोपवर्ण आजकल हुए हैं और भविष्यकालके संश्लिष्ट जीवितमें इनका अधिकही प्रसार होनेवाला है। सारांश यह, कि आजकल अमिश्र ऐसे चार वर्ण नहीं हैं; चारके अनेक हो गये हैं और उनकी गिनती करना मुश्किल है।

ऐसी स्थिति में यद्यपि यह कहना बिलकुल सहल न होगा, कि किस व्यक्ति को कौनसा व्यवसाय करने से स्वकर्म करने का और स्वधर्मपालन का श्रेय मिलेगा, तथापि कुछ थोडीसी बातों का यहां निर्देश करना अप्रस्तुत न होगा। इन में सबसे पहिली बात यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको स्वतःके शरीरबल का अंदाज कर लेना चाहिये। इसके बाद जिसको पाश्चात्य देशों में बौद्धिक कसोटी Intelligence Test कहते हैं, उस कसौटीपर अपनी अपनी बुद्धिमत्ता को अजमाना चाहिये। इसके बाद अपनी अभिरुचि का भी अन्दाज लेकर जो जो व्यवसाय उक्त दृष्टिसे अपन कर सकें, उनमें से कमसे कम दो तीन व्यवसायों के लिये अपनी पूरी तैयारी कर लेना चाहिये, बादमें उनमेंसे जो व्यवसाय अथवा जो कर्म करना इष्ट तथा शक्य हो, वह बेखटके करना। व्यवसायान्तर अथवा कर्मांतर करने को कभी डरना न चाहिये। इससे हम कर्मच्युत हो ही जायंगे, यह बात नहीं है। अन्त में यह सूचना देनी है, कि प्रसंगोपात् हमें उच्च-नीच श्रेणि में चढना-उतरना आवश्यक हुवा, तो उसमें कोई कठिनाई न मालूम हो, इतनी मानसिक तथा शारीरिक तैयारी हमेशा रहे। जीवित का आद्य धर्म परिस्थितिप्रतियोग है; वह कभी छूटने न पावे।

अब प्रश्न रह गया नैष्कर्म्यसिद्धि का। इसका उत्तर गीता ही में दिया है, कि कर्म के बारे में अहंकार न रखकर कर्म किया जाय, तो वह अकर्मरूप होता है और कर्ता के लिये वह बंधनकारक नहीं होता—

यस्य नाहंकृतो भावो० ॥ १८-१७ ॥

सिवाय इसके, यह कर्म यज्ञार्थ होना चाहिये, अर्थात् इसका स्वरूप अतिवैयक्तिक होना चाहिये, इससे उस कर्म का बंधन हो नहीं सकता। अन्त में पुनरुक्तिदोष का स्वीकार करके भी मैं यह बतलाना आवश्यक समझता हूं, कि कोई भी कर्म, चाहे वह मोक्षप्राप्त्यर्थ क्यों न किया जाय, केवल वैयक्तिक स्वार्थी हेतुसे कभी न किया जाय। उस तरह के हीन कर्म की अपेक्षा मरना अच्छा है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

यह शिक्षा देते हुए गीताने स्थलकालकी मर्यादाका उल्लंघन करके जो सर्वव्यापित्वका स्वीकार किया है, उसका 'देशकालौ संकीर्त्य' यथेच्छ उपयोग करनेमें कोई बाधा नहीं है।

गीता-मर्म।

(लेखकः- श्री० योगी अरविन्द घोष)

१. गीताका अभ्यास करनेमें यह हेतु न हो कि, हम पंडित बनें, अथवा वादविवादमें कुशल हों, अथवा तत्त्वज्ञानके इतिहासमें गीताका स्थान निश्चित कर सकें। हेतु यह हो, कि अपने विकासके लिए गीताकी ज्ञानज्योति मार्गदर्शक हो जाय।

गीताका संदेश केवल भूतकालके लिए नहीं, किंतु सनातन कालके लिए है।

२. आजकलके दृष्टिकोणसें गीताकी ओर देखना बडी भूल है। गीताके दिव्य संगीतमें केवल 'निःस्वार्थ बुद्धिसे कर्म करने' ही का सूर समझना और उसीको जीवितका उच्चतम नियम, उत्तमोत्तम आदर्श मानना, एक प्रचलित भूल है।

३. गीता केवल निष्कामकर्म करनेको नहीं कहती; किंतु 'दिव्य जीवन' प्रगट करनेको कहती है। सकल मानवधर्मोंका त्याग करके सरल अंतःकरणसे केवल भगवान् की शरणमें जानेके लिये वह आग्रह करती है।

४. गीताके आधुनिक टीकाकार अपनी सारी दार-मदार पहिले चार अध्यायोंपर ही रखते हैं। वे समझते हैं, कि बाकी १४ अध्याय निरुपयोगी होनेके बराबर हैं और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस सूत्रको गीताका 'महावाक्य' मानते हैं।

५. अर्जुन कौन है? जिसको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, परंतु उसकी प्राप्तिके लिए जो अधिकारी हो गया और सत्यके लिये जिसका अन्तःकरण बेचैन हो रहा है, ऐसा जो मानवात्मा, वह अर्जुन है।

६. अर्जुन कैसा है? सत्यकी खोज करनेवाला तत्त्ववेत्ता कहें, तो वैसा वह नहीं है। वह व्यावहारिक बुद्धिवाला कर्मवीर है। वह प्रकृति के त्रिविध गुणोंके आधीन है। अभीतक उसने समाज के प्रचलित नियमों का और शास्त्रीय धर्म का अवलंबन किया है।

७. परंतु कुरुक्षेत्र की रणभूमिपर आकर जहां उसने सैन्योंका निरीक्षण किया, वहां उसके नीति-नियम बेकाम हो गए। उसको अनुभव हुआ, कि मानवकृत नीति-अनीति के नियमोंकी दिशा, समाज के प्रचलित नियम और रिवाज, तथा अर्जुन की बुद्ध्यनुसार सत्य-असत्य का निर्णय सब बेकाम हैं।

८. श्रीकृष्ण कौन है? गीता का उपदेश करनेवाले जगद्गुरु। परन्तु यह जगद्गुरु वह परब्रह्म नहीं है, जो कि शब्द-ब्रह्मस्वरूप में-ज्ञान-स्वरूप में प्रकट होता है। श्रीकृष्ण का मतलब है, मनुष्य में स्थित दिव्य परमात्मा, सारथी के रूप से अखिल जगत् के रथ को गति देनेवाला पुरुषोत्तम। यह जगत् उसीके लिये जगत् है और मानवी जीवन उसी के लिये सब क्रिया करता है। अपने समूचे यज्ञों का और कर्मों का स्वामी तथा मानवात्मा का परम सखा वही श्रीकृष्ण है।

९. कलह, मारपीट, मारकाट, इन कारणोंसे गतिशील होनेवाला विश्वजीवन और मानवी जीवन ही कुरुक्षेत्र है। कौरवपांडवों के युद्ध का क्षेत्र इस कुरुक्षेत्र का बाह्य स्वरूप है।

१०. 'जीवन को कायम रखने का मतलब है, "अन्य जीवन का भक्षण करना" यह महत्त्व का नियम ध्यान में रखो।

११. स्वतःकी परिस्थिति और प्रतिस्पर्धी, इन के युद्ध में जो टिकेगा, उसी के जीवन में विजय होता है। जीवनसंग्राम करने का जिसको ज्ञान है, वही इस जगत् में जीवित रह सकता है।

शरीर "जीवित है" के मायने, वह अनेक जंतुओं तथा व्यधियों से झगड रहा है। मनुष्य 'जीवित है' के मायने, वह अन्यजीवों को खाता है।

"उत्पत्ति और स्थिति केवल विनाश के ही कारण कायम रहती है।" अपनी सृष्टिरचना का यह एक मौलिक नियम है।

१२. मृत्यु, विनाश और क्रान्ति उसीका स्वरूप है और उसका स्वीकार करने के लिये गीता का आग्रह है। गीता कहती है, कि "भगवान् की जैसे कल्याणप्रद स्वरूप में, वैसेही रुद्रस्वरूप में भी पूजा करो।"

युद्ध सर्वत्र है। अपनी सृष्टिरचना में स्थूल जीवन को कायम रखने के लिये जीवनसंग्राम नित्यके लिये है ही; परंतु सूक्ष्ममें भी जीवनसंग्राम हमेशा चलता रहता है। विचारोंमें, आदर्शोंमें, योजना में, तत्त्वदर्शन में क्या आजसी संग्राम जारी नहीं है?

१३. आजकलके मनुष्योंसे यह प्रश्न निकलता है, 'क्या इस संग्रामकी समाप्ति कभी न होगी?' इसका उत्तर क्या दिया जा सकता है? संसारकी सद्यःस्थिति और मनुष्यकी आजकी प्रगति विचारमें ली जाय, तो जो अहिंसाका सिद्धांत आज अपने सामने रख गया है, उसका यथोचित पालन होना सर्वथा अशक्य है।

इसी लिये भगवान्ने अर्जुनको युद्ध करनेकी आज्ञा दी है।

यह बात विदितही है, कि अहिंसाके योगसे आध्यात्मिक शक्ति जागृत होती है; परंतु यह बात कितने लोगोंको मालूम होगी, कि जागृत शक्ति जब पूर्णतया बलवती होती है, तब वह विनाशक होती है?

बन्दूकों और तलवारोंकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक शक्ति कहीं अधिक भयानक और विनाशक है। इसकी योग्य कल्पना उन्हींको हो सकती है, जिन्होंने अपनी आंखें खुली रखकर इस शक्तिका प्रयोग किया है।

१४. यह विनाश काहेके लिए? इसका उत्तर ऐसा है, कोई कोई अनिष्ट वस्तु ऐसी हैं, जिनका केवल सूक्ष्मही में विनाश करनेसे काम नहीं होता। जबतक उनका स्थूलतः विनाश न किया जाय, तबतक संसार में उनका अस्तित्व नष्ट नहीं हो सकता। इसीके कारण दुष्कृत-संहारार्थ अवतारोंका उदय हुआ करता है।

१५. आप कहेंगे, कि स्वतः 'अहिंसा' का पालन करना बस है! विकास की अनेक भूमिकामें अहिंसा का बहुत उपयोग है; परंतु क्या इससे विश्व-रचना में जो संग्राम भरा हुआ है, उसको बाधा आ सकती है?

१६. कई लोग कहेंगे,- 'क्या जीवनमें सहकार्य और सहाय्य, प्रेम और आत्मसमर्पण नहीं है?'

परन्तु इस बातको कैसे भूलेंगे, कि सहकार्य की सहायता दुनियां में कितना घनघोर युद्ध हुआ है?

प्रेमकी कितनी बातोंका करुणपर्यवसान क्या आपको विदित नहीं है? और आत्मसमर्पणका मतलब ही है, मृत्युके द्वारा जीवन प्राप्त करनेका प्रयत्न, अर्थात् इससे जीवनसंग्रामही सिद्ध होता है।

जीवन क्रूरता से भरा है। वह जैसा है, वैसा ही देखने के लिये हमें सीखना चाहिये।

जीवन की ओर देखना ही प्रभु को देखना है; क्योंकि जीवन और प्रभु एकही हैं, भिन्न नहीं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि विश्व के मौलिक नियमों की जिम्मेदारी भगवान् पर है।

१८. परंतु पाठकगण! यह मानने की भूल मत करना, कि 'संग्राम' ही अकेला जीवन का उत्तमोत्तम तत्त्व है और वही जीवन की इति-कर्तव्यता है।

१९. वस्तुस्थिति ऐसी है, कि अपन सब को कुरुक्षेत्र का- संसारसंग्राम का स्वीकार करनाहि पडेगा; उसके बिना आपना छुटकारा नहीं है। अमर-जीवन प्राप्त करने का नियम हमें पालना है।

कहने का तात्पर्य यह है, कि विश्व का संहार

करनेवाले प्रभु का इनकार मत करो। उसको पीठ मत बतलाओ।

२०. भगवान् केवल संहारक कालस्वरूपीही नहीं है; वह प्राणिमात्र का परम सखा है।

कुरुक्षेत्र का जो स्वामी है, वही अर्जुन का परम सखा है, वही मानवात्माका दिव्य सखा पुरुषोत्तम है और वही जगत् के रथ का सारथी है।

२१. अपने इष्टमित्रसंबंधियों को मारने के पूर्व कुरुक्षेत्र के मैदान पर अर्जुन के दिल में जो अनुकंपा उत्पन्न हुई, क्या वह उच्च गुण नहीं है? उच्च जरूर है, परन्तु दिव्य नहीं। इसमें संदेह नहीं, कि यह दैवी करुणा भगवान् की कृपा से अवतीर्ण होती है; परन्तु अर्जुन की प्रकृति में वह नहीं है, उस करुणा के लिये अर्जुन का स्वभाव अभी तैयार नहीं है, तथापि वह इस प्रकार का भाव धारण करता है। इसी का नाम है मिथ्याचार, परधर्मस्वीकार।

२२. भगवान् की दिव्य शक्ति जब जब दुष्टों का विनाश करती है, तब वह किस रीति से करती है? क्रोध और ईर्ष्या को छोडकर! प्राचीन पुस्तकों में वर्णन है, कि अतुल करुणा और विश्वकल्याण की भावनासेही राक्षसों का संहार हुवा है।

दुःख देनेवाले राक्षसों, तथा दुःखी कष्टी जनसमूह के साथ भगवान् करुणार्द्र दृष्टि से ही बर्ताव करते हैं और संहारभी करते हैं।

२३. जगत् में जो संग्राम हो रहा है, उसके अंतर्बाह्य स्वरूप का जो स्वीकार करता है, वही क्षत्रिय है।

'भगवान्को पहिचानो! तुम अपने आत्माको जानो, मानवजातिकी सहायता करो, सत्यका- धर्मका रक्षण करो।' जीवनसंग्राममें जो कर्तव्यकर्म तुम्हें करना हो, वह निर्भय होकर, दौर्बल्यको छोडकर और जरा भी न हिचकिचाते हुए करो। आर्य योद्धाका यही मुद्रालेख है।

हे आर्यवीर! तुम तो सनातन, अमर, आत्मस्वरूप हो! जीवनमें अमरता साध्य करनेही के लिए तुम्हारा आत्मा पृथिवीपर अवतीर्ण हुआ है। जीवन-मरण निरा खेल है। दुःखशोकादिक को जीतना आवश्यक है।

मानवजाति तुम्हें आह्वान कर रही है। वह तुम्हारे साहाय्य की अपेक्षा कर रही है। उसकी सहायता करो! युद्ध करो! विनाश करने ही से मानवी प्रगति होती हो, तो बेखटके विनाश करो। परंतु जिसका विनाश करोगे, उसके संबंधमें वैर, अथवा क्रोध अथवा तिरस्कारकी भावना मत रखो!

सर्वत्र एकही आत्मा है; उसका साक्षात्कार करो! शरीर उसका पात्र, आधार है। शांत रहकर, सामर्थ्यसे और ममतासे अपने धर्मका आचरण करो! युद्ध करो! युद्ध करनेमें मृत्यु आ जाय, तो वीर मृत्युको- वीरोचित मृत्युको आलिंगन दो! विजय मिले, तो धर्मराज्यकी स्थापना करके साम्राज्यका उपभोग लो।

२४. भारतीय युद्ध आजकलसरीखा नहीं था, वह धर्मयुद्ध था।

महाभारतका युद्ध जीवनसंग्रामका अनिवार्य रूप है, तथापि वह युद्ध क्षत्रियधर्मके अनेक नियमोंसे बद्ध था; क्योंकि उसका हेतु हिंसकवृत्तिका पोषण करना नहीं था; इसी कारण आर्यवीरोंको स्वतःका आध्यात्मिक विकास साध्य हो सकता था।

२५. युद्ध होनेसे विनाश जरूर होता था, परन्तु क्षात्रधर्मके नियंत्रणसे वह विनाश मर्यादित होता था। ऐसे युद्धसे कई लोगोंका आध्यात्मिक विकास हो जाता था और संपूर्ण जाति उदात्त और गौरवशाली बनती थी।

२६. यह विचार सकलांशमें ठीक नहीं है, कि युद्ध होनेसे सदैव पाशवी वृत्तिही की अर्चा होती है। जपानमें सामुराईके विकाससे तथा हिंदुस्थान में क्षात्रधर्मके विकाससे यह बात प्रतीत होगी।

२७. मानवप्रकृतिमें जागरूक ऐसे संग्रामसामर्थ्य का जो मूर्त स्वरूप, वही क्षत्रिय है। क्षत्रिय लडता

है और यह करनेमें किसी उच्च धर्मकी, किसी महान् आदर्शकी स्थापना करनेके हेतु झगडता है।

२८. मनुष्य कर्मसे बद्ध होता है; इसका कारण यह है, कि वह अज्ञानजन्य प्रेरणासे कर्म करता है, उसकी बुद्धि अयथार्थ रीतिसे कर्म करनेमें प्रवृत्त होती है।

मनुष्य बुद्धियुक्त होकर बर्ताव नहीं करता। इसी लिए वह आशा, भय, क्रोध और शोकके वशमें चला जाता है और क्षणिक सुखके प्रलोभनमें पड जाता है।

२९. बुद्धियोग करनेके लिए जो बुद्धि चाहिए, वह कैसी बुद्धि है?

गीताका आशय है, कि 'निर्णय करनेवाली, विवेक करनेवाली मनकी जो शक्ति, वह बुद्धि है।'

जिससे मनुष्य निर्णय करता है, तथा एकवार निर्णय करनेपर उस निर्णयको अमलमें लानेके लिए अविरत आग्रह करनेवाली मनकी जो एकत्रित शक्ति है, उसको 'बुद्धि' कहते हैं।

गीतामें (१) व्यवसायात्मिका और (२) बहुशाखायुक्त ऐसी दो प्रकारकी बुद्धि बतलाई गई है। उपर्युक्त शक्तिवान् बुद्धि व्यवसायात्मिका बुद्धि है और विविध विचारतरंगों में बहती हुई जानेवाली बुद्धि बहुशाखायुक्त है।

यह दूसरे प्रकारकी बुद्धि विशेषतः प्रचारमें रहती है। अनेक इच्छाओंमें मानवी मनका निमग्न रहना, अर्थात् तपःशक्तिका छिन्नभिन्न होते जाना, बहुशाखायुक्त बुद्धिका खास लक्षण है।

बुद्धिके दो धर्म हैं- (१) तःपशक्ति (Will) और (२) ज्ञानप्राप्ति।

३०. 'मैं' के मायने क्या? तटस्थ चैतन्यका पुरुषरूपमें जब प्रकृतिसे संबंध होता है, तब 'मैं' ऐसी स्वानुभूति उत्पन्न होती है : इसी तरह 'पदार्थ' मायने 'जगत्' ऐसा विषयत्व उत्पन्न होता है।

३१. अपने आत्मा के साधनों को प्रकृति संपन्न करती है। मनुष्य में सबसे उच्च प्रकारका हथियार बुद्धि है।

'मैं' यह व्यक्तित्व की अनुभूति, अपने साथ (बुद्धिको और पदार्थको भिन्न करनेवाली) विवेकशक्तिको लेकर जन्म लेती है।

३२. बुद्धिको जो सहाय्य करता है, वह मन है। जिस पदार्थको बुद्धि विभक्त करती है, उस पदार्थको मन पकडता है और मनके नीचे पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय आते हैं।

इस प्रकार प्रथमतः तीन साधन हुए (१) बुद्धि, (२) मन और (३) ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

३३. इसके बाद प्रत्येक इन्द्रियके विषय आते हैं, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। प्रत्येक पदार्थ की मानवी मनको कल्पना होने के पहिले, इन्द्रियों द्वारा उस पदार्थ के गुण मन में पहुंचते हैं; और मन को जो संस्कार मिलते हैं, उन संस्कारों को 'मन' निर्णयके लिये बुद्धिके स्वाधीन करता है।

आखिर ये पांच तत्त्व (पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश) उपर्युक्त गुणों के आधारभूत हैं। सकल सृष्टि की स्थूल बुनियाद यही पांच तत्त्व हैं। बुद्धि से लेकर पंचतत्त्वों तक यह सब साधनसामग्री मिलकर 'प्रकृति' होती है।

३४. शुद्ध पुरुषचैतन्य में उपर्युक्त प्रकृतिकी साधनसामग्री जब प्रतिबिंबित होती है, तब प्रथमतः 'अज्ञानयुक्त' स्वानुभूति मनुष्य में जागृत होती है।

अज्ञानयुक्त कहने का कारण यह है, कि वह स्वानुभूति स्वयंभू ज्ञानवान् नहीं रहती, क्योंकि उसके ज्ञान का आधार है, बाह्य पदार्थों के इन्द्रियों पर होनेवाले संस्कार तथा मनोबुद्धि के व्यापार।

३५. प्रकृति में जो निर्णयात्मक ज्ञानशक्ति कार्य करती रहती है, वही मनुष्य में 'बुद्धि' का रूप

धारण करती है। इन्द्रियों के संस्कारों में मन लुब्ध होकर कामनावश होता है और इन्द्रियोपभोग के, इच्छा के, वासना के तीव्र आवेग के पीछे दौडता है और अंत में तपःशक्ति का विकारी स्वरूप बन जाता है। शुद्ध तपःशक्ति ऐसा कभी नहीं करती।

३६. बुद्धियोग की "समाधि" किसको कहते हैं? स्वतः के ही स्वरूप में और स्वयंज्ञान में शान्त, कामनारहित, शोकरहित ऐसी समत्वबुद्धि की स्थिर स्थापना होना, यही बुद्धि की समाधि है।

संन्यास की आवश्यकता अपरिहार्य है; परन्तु अन्तःकरण के कामनाओं का तथा अहंता का त्याग ही सच्चा संन्यास है। इसके बिना, केवल कर्मों का बाह्य त्याग करना निष्फल और मिथ्या प्रयत्न है।

३७. ज्ञानभी प्राप्त करना आवश्यक है; क्योंकि मुक्तिसंपादन के लिये जगत् में इससे उच्च शक्ति कोई नहीं है; परन्तु ज्ञानयुक्त होकर कर्माचरण करना उतनाही आवश्यक है।

ज्ञान-कर्म का समन्वय हो, तो न केवल निष्क्रिय शान्तिही में, किंतु कर्म करते हुए भी आत्मा 'ब्राह्मी स्थिति' में रह सकता है।

परन्तु इन सब की अपेक्षा भक्ति की आवश्यकता विशेष है और भक्तियुक्त कर्मभी उतनेही आवश्यक हैं।

मनुष्य को जहां ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय करना आ गया, वहां सनातन परम शान्ति का, तथा विराट् विश्व की अखिल क्रियाओं का प्रभु जो पुरुषोत्तम उसका स्वरूप सहज प्राप्त होगा।

३८. इस बात को फिकर से ध्यान में रहने दो, कि "शब्दोंद्वारा जो सत्य का स्वरूप प्रकट होता है, उसकी अपेक्षा अनंतगुण से सत्यश्रेष्ठ है।"

यह भूल कभी न करना चाहिये, कि तुम्हारी बुद्धि को कोई सत्य नहीं दिखता, इसलिये तुम मान लो, कि वह सत्य उसमें हो नहीं सकता। गीता कहती है, "शब्दब्रह्मातिवर्तते।"

तब फिर सत्य की परीक्षा कैसी की जाय? तुम अपने हृदय के मुखपर कान रखो। इसके पश्चात् ज्ञान की ज्योति में जो तुम्हें दिखेगा, उसपर श्रद्धा रखो। इसकी परवा मत करो, कि पूर्व के लोगोंने वह प्राप्त किया था या नहीं।

मानवी हृदय में सनातन वेद-ज्ञान का सनातन दीप जागृतही है, उसकी ज्योति का दर्शन करो!

मनुष्य के हृदय में अनंतकालसे श्रीकृष्ण की मुरली का दिव्य स्वर उसका आह्वान करही रहा है- उसका दिव्य नाद श्रवण करो, उसका अनुसरण करो।

३९. गीता में कर्म का अत्यंत व्यापक अर्थ है। "कर्मयोग का अर्थ है, अन्तर्बाह्य समूचे कार्यों को भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे, यज्ञरूपसे भगवान् के चरणों में अर्पण करना।" अखिल कर्मों का और अखिल-यज्ञोंका स्वामी, इस दृष्टि से भगवान् का स्वीकार करना कर्मयोग का प्रारंभ है। "अपनी सारी अन्तर्बाह्य शक्तियों का सच्चा मालिक भगवान् है।" इस भावना से कर्मयोग का प्रारंभ होता है। संपूर्ण तप भगवान् ही को समर्पण करना पडता है।

४०. सांख्य मत में पदार्थ और शक्ति (Matter and Energy) को भिन्न नहीं समझते। पंचतत्त्वोंसे द्रव्य की सूक्ष्म दशा सूचित होती है। आकाश, वायु, तेज, आप और पृथ्वी, इन स्थूल पदार्थोंके पांच सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनमें द्रव्यभी है और शक्तिभी है, और ये दोनों एक हैं।

भौतिक जगत् में इन पांच तत्त्वोंमेंसे एक भी तत्त्व शुद्ध स्वरूप में मिलना असंभाव्य है! सारांश, शक्ति के सूक्ष्म स्वरूप के ये पांज नाम हैं।

पूर्वोक्त पांच धर्म- गुण इन पांच तत्त्वों के ही आधारसे हैं। मनुष्य का मन इन गुणों से इन्द्रिय-द्वारा पदार्थों का ग्रहण करता हुआ बाह्य जगत् को जान सकता है।

सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की अपनी यह पद्धति है।

४१. स्वानुभूति- "मैं" हूं, इस प्रकारकी अनुभूति होने के लिये १३ तत्त्वों की आवश्यकता है-

१ बुद्धि अथवा महत्, १ अहंकार, मन-इन्द्रिय-संस्कारोंका स्वीकार करनेकी शक्ति, ५ कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय मिलकर बना हुआ पिंड = १३, ऐसे प्रकृतिके ये तेरह मौलिक तत्त्व हैं।

४२. पुरुषके तीन प्रकार हैं- १ क्षर, २ अक्षर और ३ उत्तम।

(१) प्रकृतिके विविध स्वरूपमें विकार पाता हुआ, एकके बाद एक ऐसे अनेक स्वरूपोंमें रूपांतरित होनेवाला पुरुषका जो स्वरूप, वह क्षर है। वह अनन्तव्यक्तित्व धारण करनेकी भगवान् की शक्तिका स्वरूप है।

(२) सब प्रकारके विकारोंसे अलिप्त, प्रकृतिकी क्रियासे तटस्थ, शांत और निष्क्रिय रहनेवाला चैतन्य अक्षर है।

अनन्त स्वरूपोंमें व्यापकर रहनेवाला भगवान् की एकता का वह स्वरूप है। प्रकृति की क्रियामात्र का वह 'साक्षी' है।

(३) उत्तम पुरुष के मायने स्वयं भगवान्, वही परब्रह्म और वही पुरुषोत्तम है। वह क्षरकी आसक्ति के परे और अक्षरकी साक्षित्वरूप निष्क्रियताके भी परे है।

४३. विराट् विश्वमें अनन्त क्रियाशक्तियां चल रही हैं, यह स्वीकार करनेमें, तथा सनातन सक्रिय विराट् शक्ति- विश्वमें जो शक्ति कार्य कर रही है, उसका महत्त्व स्वीकार करने में, गीता हिंदीधर्म-ग्रंथों में अपूर्व है।

इसके बाद जो तांत्रिक हुए, उन्होंने महाशक्तिको पुरुषसे भी विशेष दिव्यशाली समझा है और महाशक्तिकी आराधनाको अग्रस्थान दिया। उसमेंभी इसी सत्यका उल्लेख हुआ है।

४४. वेदान्त मतपर योगसाधनके जो जो मार्ग स्थापित किए गए हैं, उनमें दो तत्त्व प्रमुखतासे दिख पडते हैं- १ निष्क्रियता और २ जीवनका त्याग। शांति और तटस्थता पर इन मार्गोंने वाजवी से अधिक जोर दिया है।

परन्तु गीताके साधनमार्ग में भगवान्की भक्ति का तत्त्व, कर्म करना और जीवनका स्वीकार, इन बातों का आग्रह है। अर्थात् गीतोक्त साधनमार्गमें वेदान्त-मार्गका अतिरेक प्रविष्ट नहीं हुआ।

४५. गीता केवल स्थूल- शारीरिक- क्रियाओंको ही कर्म नहीं समझती; किंतु अपनी सबही सूक्ष्म-मानसिक क्रियाएं, इच्छा, संकल्प, विचार इत्यादि से भरे हुए इस आंतरिक जीवनको गीता 'कर्म' समझती है।

अपना अन्तर्जीवन अनेक क्रियाओंका घुटाला है। जीवनमें कार्य करनेवाली चंचल शक्ति का यह सूक्ष्म स्वरूप स्थूल कर्म से भी अत्यंत महान् और कईगुना अधिक उपयोगी है।

स्थूल कर्म का आधार सूक्ष्म क्रियाओं पर रहता है। सूक्ष्म कर्म स्थूल कर्म का कारणरूप है।

४६. परिणामरूप स्थूल कर्म का निरोध करके, कारणरूप सूक्ष्म (मानसिक) 'कर्म' की गति वैसीही जारी रखी जाय, तो क्या फायदा? सच्ची जड अभीतक जीवित ही है। क्या इसको 'संयम' कह सकेंगे? गीता कहती है- नहीं नहीं, यह मिथ्याचार है! यह संमय का झूठा दृश्य है।

४७. स्थूल अथवा सूक्ष्म कर्म स्वतः बन्धनरूप नहीं होता, और न बन्धन का कारण होता है। कामनावश होकर कर्म करने से तथा आसक्ति से बन्धन प्राप्त होता है।

तब क्या केवल निष्क्रियता धारण की जाय? गीता कहती है, कि ऐसा करना अशक्य है; यह केवल आत्मवंचन है, भूल है।

कर्म करो और वह पूर्ण और समर्थ करो; परन्तु कामनावश होकर, इच्छासे प्रेरित होकर मत करो। निष्कामकर्म- अनासक्त कर्म- पूर्णताकी पहिली सिद्धी है।

४८. कई लोग समझते हैं, कि ज्ञानयोग करनेके लिए कर्मका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है। यह भी प्रचलित भूल है। ज्ञानका व्यावहारिक उपयोग करनेसे मनुष्यको (१) समता और (२) मनकी तथा इन्द्रियविषयोंकी अनासक्ति प्राप्त होती है।

स्वतःके आत्मस्वरूपमें बुद्धि स्थिर होनेसे जो साम्यावस्था प्राप्त होती है, उसको ज्ञान कहते हैं। यह साम्यावस्था प्रकृतिके अपूर्ण साधनोंसे, उनके परस्पर संघटनसे स्वतन्त्र, ऊर्ध्वस्थित और अस्पृश्य रहती है।

४९. यथार्थ रीतिसे जिसको 'निष्काम' कह सकते हैं, ऐसे कर्मका होना क्या सचचमुमें संभवनीय है? निःस्वार्थ कहकर जो कर्म अपन करते हैं, वे 'निष्काम' नहीं रहते। वास्तविक रीतिसे देखा जाय, तो निःस्वार्थ-परोपकारी-कर्मोंमें अपन क्या कर सकते हैं? अपन इतनाही करते हैं, कि संकुचित अहंकारसे भरी हुई स्वार्थ-वृत्तिको हटाकर उसकी जगह दूसरी विशाल इच्छाकी अथवा कामनाकी स्थापना करना, (देशका अथवा मानव-जातिका कल्याणके करनेकी इच्छा त्यादि।)

परंतु ये कामनाएं सच्ची कामनाएं नहीं हैं। सद्-गुण, नीति, देश अथवा मानव-जातिके लिए किये जानेवाले कर्मोंका अन्तर्भाव इस प्रकारमें होता है।

परंतु जबतक अपनेमें अहं-बुद्धिका राज्य चल रहा है, तबतक अपन यज्ञार्थ कर्म करही नहीं सकते; तबतक अपन अहंताके लिए (वह अहंता चाहे कितनीभी विशाल हो) और अहंताके संतोष के ही लिए कर सकते हैं; 'यज्ञ'-रूपसे नहीं।

२४

तात्पर्य यह है, कि मनुष्यके बन्धनकी एक गाठ 'अहंता' है। वह छोडनेपर अपन भगवान्के पास जा सकते हैं।

५०. उपयुक्तता और व्यवहारही को सर्वोच्च माननेवाले आधुनिक मनोवृत्तिवाले लोग 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इ० श्लोकका जैसा अर्थ करते हैं, वैसा करना बडी भूल है।

आधुनिक मनोवृत्तिवाले लोग अधीर हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके हेतु जीवनमें जो महान् परिश्रम करना आवश्यक है, वे परिश्रम करना उन्हें संकट मालूम होता है। चिंतनरूपी समुद्रमें वे ऊपरही ऊपर तैरना चाहते हैं।

समाजसेवा, देशभक्ति, मानवजातिकी सेवा, विश्वबंधुत्व इत्यादि जो भिन्न भिन्न आदर्श आजकल के लोगोंको आकर्षित करते हैं, उन सबका स्वीकार करके गीता उन आदर्शोंको धार्मिक तात्त्विक मान्यता देती है, ऐसा भाव इस श्लोकमें इन लोगोंको दिखता है।

इतना जरूर है, कि अन्य लोगोंसे स्वतःका ऐक्य प्राप्त कर लेनेकी दृष्टिसे 'देशभक्ति- समाजसेवा' इत्यादि आदर्श बहुतही उपयुक्त साधन हैं। परन्तु जिस प्रकारसे मनुष्य सांप्रतमें उनका व्यवहार करता है, उस रीतिसे वे पूर्ण नहीं हैं और सांप्रतकी मनुष्यस्थितिमें उनका पूर्ण अमल भी नहीं हो सकता।

'भगवान्से ऐक्य करनेका आध्यात्मिक नियम'- इस विषयमें गीता कहती है- "भगवान्से ऐक्य करो; क्योंकि उसमें सकल प्राणिमात्र जीवन धारण करते हैं और वह सबको व्याप कर रहा है।"

५१. अपना सामाजिक बन्धन ऐसा है, कि उसमें व्यक्तिहित गौण माना गया है और समाजहित प्रधान माना जाता है; परन्तु धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनमें व्यक्तिस्वातंत्र्य और व्यक्ति-महत्त्वही अपने देशमें ग्राह्य समझा गया है।

'दिव्य आत्मजीवन प्राप्त करना, सांप्रतकी मानव की मर्यादा लांघकर स्वतःके भी परे जाना,' व्यक्ति का परम ध्येय था। उच्च होनेके लिए, महान् होनेके लिए, भगवत्स्वरूप बननेके लिए व्यक्ति अवरित प्रयत्न करती थी।

५२. गीताके सूत्रका अर्थ यदि 'परोपकार और समाजसेवा अथवा इसी भांतिका कोई आदर्श' किया जाय, तो भगवान्ने जो स्वतःका उदाहरण दिया है, वह निरर्थक ही समझा जावेगा।

गीतामें 'दिव्य कर्म' करनेका जो आदेश है, उसका मूल भगवच्चैतन्य प्राप्त करनेमें है।

'मुक्त कर्म' कौन कर सकेगा? जो मुक्त होगा वह। मुक्त कौन है? जिसने स्वतःमें दैवी प्रकृति प्राप्त की हो और जिसने सामान्य मानवताकी क्षुद्रता और मर्यादा लांघ ली हो। उसके कर्म 'दिव्य प्रकृति'के ही अनुरोधसे होते हैं, मानसिक आदर्श सिद्ध करनेकी गरजसे नहीं होते।

अर्थात् पूर्णता का जो आदर्श गीतामें बतलाया है, उसमें (१) कर्म के लिये आतुर, चंचल और केवल क्रियाशील वृत्ति को और (२) संन्यासी की निष्क्रिय ज्ञानज्योति को स्थान नहीं है। कार्यव्यापृत कर्मशील मानव की स्थिति को अथवा उदासीन तत्त्ववेत्ता की स्थिति को गीता आदर्श स्थिति नहीं समझती।

दिव्यता का सच्चा आदर्श स्वयं भगवान् ही है। पुरुषोत्तमरूपमें उसकी प्रकृतिसे वह आदर्श प्रकट हुआ है। उसमें सब प्रकारके परस्परविरोधी तत्त्वों का समन्वय है।

५३. ऐसा एक प्रश्न हो सकता है, कि "परस्पर-विरोधी दिखनेवाले संन्यास के आदर्श में और कर्मशीलता के आदर्श में क्या कोई सत्यांश नहीं है?" इसका उत्तर यह है, कि दोनोंमें सत्य है। परंतु "परिमित" सत्य को "संपूर्ण" सत्य कह-कर प्रकट किया है; इसलिये उसकी ओर मनुष्य का ध्यान लग गया है।

मनुष्य को यह मान्य करना आवश्यक है, कि निष्क्रियता में तथा संन्यासी-वृत्ति में अपूर्णता है। क्रिया के बिना और जीवन का स्वीकार किये बिना वह आदर्श अपूर्ण ही रहेगा।

क्रियाशीलता में कौनसा सत्य है? मनुष्य में जो भगवान् कार्य करता रहता है, उस भगवान् को प्रकट करनेकी प्रेरणा- क्रियाशीलता का सत्य है।

भगवान् केवल अनंत मौन में और निष्क्रियता में ही नहीं, किंतु कर्म में भी है।

५४. इस अध्यायसे यह समझ में आता है, कि वेदान्त के अद्वैतवाद का व्यावहारिक उपयोग गीता किस तरह करती है। (१) सोऽहम्।- "मैं वह (ब्रह्म) हूं।" (२) सर्वं खल्विदं ब्रह्म। "संपूर्ण विश्व सत्य, ब्रह्मस्वरूप है।" (३) अयमात्मा ब्रह्म। "आत्माही स्वतः ब्रह्म है।"- ये ब्रह्मवादके मौलिक सत्य हैं।

इस सूत्र में जो सत्य कहा गया है, उसका सार यह है- "विराट् विश्व की संपूर्ण एकता है।" अर्थात् कर्ता, कर्म, करना और हेतु इत्यादि में, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटि में एक-अनंत-प्रकट हुआ है।

५५. परंतु गीता में बतलाए हुए समग्र योगका अभ्यास करनेको उत्सुक ऐसे साधक को इस त्रिपुटी की एकता साध्य करने के लिये किस उपाय का अवलम्बन करना चाहिये? गीता कहती है, कि उसको 'ब्रह्मयज्ञ' करना चाहिये। विराट् विश्व में खेलनेवाली अनंतशक्ति मानव की नहीं, अनंत ब्रह्म की है। इस ब्रह्मयज्ञ में मनुष्य जिन स्थूल-सूक्ष्म शक्तियों का होम करता है, वे शक्तियां भी ब्रह्मकी ही हैं। हुत द्रव्य-स्थूल अथवा सूक्ष्म-ब्रह्म ही का स्वरूप है। यज्ञ का यजमान भी मनुष्य में स्थित ऐसे ब्रह्म ही का स्वरूप है और समर्पणरूप यज्ञकी क्रिया-भी उसी ब्रह्म की क्रियाशक्ति का स्वरूप है, जो सारे ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही है। ब्रह्म का क्रियात्मक

स्वरूपही 'यज्ञ' है और इस यज्ञ का फलस्वरूप जो ब्रह्म उसी की प्राप्ति करना उद्देश्य है।

इसलिये गीता कहती है, कि "ब्रह्मही वह वस्तु है, जिसका अर्पण किया गया; ब्रह्मही स्वयं हवि है; होम करनेवालाभी ब्रह्म है और वेदीमें जो प्रगट हुवा, वह अग्निभी ब्रह्म है। ब्रह्म के क्रियात्मक स्वरूप से पूर्ण एकता करके ब्रह्म ही की प्राप्ति करनी है।"

५६. "ज्ञान के मायने मालूम होना, ज्ञानके मायने विचार, ज्ञानके मायने तर्क, अथवा ज्ञानके मायने विचारपद्धति नहीं है, किंतु ज्ञानका अर्थ है, भगवान् से अद्वैतका अनुभव। ज्ञान समग्र चैतन्यका रूपान्तर है, न कि बुद्धिका व्यापार।"

विराट् के अनंत क्रियाओं में से प्रकट होनेवाला ब्रह्माग्नि अनंतसुख है। जीवन में कोईभी स्वरूप, किसी भी प्रकार की क्रिया, ब्रह्मयज्ञके साधनके रूपमें उपयोगी हो सकती है। वह सब एकही अनंत ब्रह्म का स्वरूप है।

कई लोग कहेंगे, कि "हम निष्क्रय रहकर ब्रह्मयज्ञ करेंगे।" गीता कहती है, कि "यह बात अशक्य है। ब्रह्मयज्ञ (किसी भी प्रकारका स्थूल अथवा सूक्ष्म यज्ञ) केवल कर्म ही से हो सकता है।" विराट् में से अनंत रूपसे जो ब्रह्मकी दिव्य शक्ति प्रकट हुई, उसी शक्ति से सब कुछ उत्पन्न हुवा है। विराट् शक्ति के समूचे कर्म क्रमशः ब्रह्मको समर्पित होते हुए प्रगति कर रहे हैं। वह ब्रह्माग्नि जब मानवी चैतन्य में प्रकट होता है, तब वह ज्ञानपूर्वक और राजीखुशी से स्वतःके सब स्थूल सूक्ष्म कर्मों का इस अग्निमें हवन करता है।

ब्रह्मयज्ञ की अन्तिम अवस्थामें मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार का फल मिलता है और जब इस यज्ञ का फल सिद्ध होता है, तब ब्रह्म के चैतन्य का सदैव के लिये उसको साक्षात्कार प्राप्त होता है।

५७. "कर्म करने" का यह अर्थ नहीं, कि सब तरह के कर्म निर्भीकता से करते जाना। मनुष्य को उन कर्मों का त्याग करना चाहिये, जो कि अविद्या-शक्ति से प्रेरित हुए हों।

तब क्या उसको कर्म करनाही छोड देना चाहिये? गीता कहती है, "नहीं।" मोक्षप्राप्ति का यह पुरातन प्रयत्न है। जगत् के कार्य से दूर हटानेवाला यह 'उदासीनता' का मार्ग कहा जा सकता है। अपने को जगत् के जीवन के- कर्म का त्याग नहीं करना।

ब्रह्मके निर्गुण स्वरूपको अपने साधन का अंतिम ध्येय समझने के बदले, पुरुषोत्तमस्वरूप भगवान् को अपना अन्तिम ध्येय स्थिर करना चाहिये।

यह करनेसे कर्म करते हुए भी, भगवान् की दिव्य मुक्ति का अनुभव हमें प्राप्त होगा।

अर्थात् शांत, निष्क्रिय, निर्गुण ब्रह्मको यदि तुम अपनी आध्यात्मिक प्रगति का अंतिम ध्येय मानकर उसका स्वीकार करोगे, तो जगत्का और कर्म का त्याग करना तुम्हें अनिवार्य होगा। परंतु यदि तुम अपना अन्तिम ध्येय भगवान् को-पुरुषोत्तम को-मानकर उसका स्वीकार करोगे, तो यह कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं, कि सारी क्रियाओंसहित तुमने जगत् को जीत लिया। जगत् के भी पार होकर तुम उसको 'अपना' बना सकोगे। यह होनेपर जगत् कारागृह न रहेगा, किंतु समृद्धशाली राज्य होगा।

गीता-मर्म ।

(२)

दिव्य जन्म—अवतारतत्त्व ।

५८. दिव्य जन्मके दो प्रकार हैं- (१) मानवरूपसे मानवप्रकृतिमें भगवान् का अवतार होना। दिव्य चैतन्यका यह अवतार सनातन है। (२) ऊर्ध्वगति करके भागवत-चैतन्य में मानवजन्म प्राप्त करना। यह दूसरे प्रकारका अवतार, मानव-चैतन्य, दिव्य चैतन्य और दिव्य प्रकृतिमें ऊर्ध्वगति करता है।

५९. तब फिर श्रीकृष्ण कौन हैं? पूर्णस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् के दो स्वरूप श्रीकृष्ण में प्रकट हुए थे। (१) मनुष्य देहमें मनुष्यरूपसे जिसने जन्म लिया वह श्रीकृष्ण और (२) उसका पूर्ण स्वरूप। उस स्वरूपमें वह मानवोंका प्रभु और परम सखा है।

ऊर्ध्व चैतन्य में श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम स्वयं हैं। मानवजातिमें अवतार का प्रकार— इस दृष्टिसे वह पुरुषोत्तमही श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुआ है।

पूर्णस्वरूप पुरुषोत्तम अपूर्णता- मानवता स्वीकार करता है! इस विश्वमें इससे बढकर कौनसा महान् रहस्य हो सकता है?

६०. आत्माके क्या मायने है? उसकी व्याख्या क्या है? जो स्वयंभू सत् है, वही आत्मा है। उसमें अनंत चैतन्यशक्ति और अहेतुक आनंद स्वाभाविक हैं।

परंतु इतना तो सच है न, कि 'पदार्थ' अथवा 'वस्तु' अर्थात् जड पदार्थ चैतन्य-रहित है? नहीं, वास्तविक ऐसा है, कि शरीर, पदार्थ, जड वस्तु ये सब सत् की क्रिया का स्वरूप है, अर्थात् चिन्मय शक्ति की गति का वह घन स्वरूप है।

इंद्रियादि साधनों द्वारा कार्य करके बाह्य जगत् से विविध भांतिका संबंध स्थापन करनेके हेतु चैतन्य उसका उपयोग करता है।

"पदार्थद्रव्य" जड नहीं है, अर्थात् चैतन्यशून्य नहीं है। अत्यंत सूक्ष्म परमाणु में तथा शरीरके बिलकुल छोटेसे छोटे कोश(Cell) में भी तपःशक्ति आत्मचेतना है।

६१. "माया" अथवा "मिथ्याभास" एक प्रचलित कल्पना है। परंतु गीतामें और वेदोंमें माया का वैसा अर्थ नहीं है। वस्तुतः "माया" का अर्थ है, स्वतःकी जातिके अनेक स्वरूप धारण करनेवाली दिव्य चैतन्य की शक्ति। अनंत प्रकारसे आत्मसृष्टि करनेकी भगवान् की जो शक्ति है, वह है माया।

मनुष्यमें जो "भ्रम" और "मिथ्याभास" है, उसका कारण उसकी अविद्याप्रकृतिमें रहनेवाला अज्ञान है।

यहां प्रश्न ऐसा होगा, कि माया भिन्न है और 'अविद्यामय प्रकृति अथवा अविद्याशक्ति' भिन्न है; यह कैसा?

मायाका सच्चा स्वरूप ऊपर बतलाही दिया है। "प्रकृति" भी मायाकाही स्वरूप है। मायाका प्रत्येक स्वरूपके पीछे जो दिव्य तत्त्व है, जो दिव्य विचारबीज है, उसका विकास 'प्रकृति' करती है। मायाकी जो कार्यवाहक शक्ति है, वह प्रकृति है। प्रत्येक (भूत) के अंदर जो सत्य हो, उसके अनुसार कार्य करके उसका वह पद्धतिवार विकास करती है।

६२. मानवजातिमें भगवानका जन्म किस प्रकार संभवनीय है? गीता कहती है, 'प्रकृतिका अधिष्ठान रहनेसे।'

"अधिष्ठान" का मतलब है, सचेतन रहकर अधिकार चलाना। प्रकृतिमें रहनेवाला प्रभु उस प्रकृतिपर अपना 'अमल' चलाता है; इसका नाम 'अधिष्ठान' है। अर्थात् भगवान् जन्म लेते हैं,

तब अज्ञानी मनुष्यकी तरह प्रकृतिवश होकर कार्य नहीं करते; किंतु प्रकृतिपर अपना अधिकार चलाते हैं, स्वतःकी ज्ञानज्योतिसे समग्र प्रकृतिको प्रकाशित करते हैं।

भगवान् जब मानवताका और मानवप्रकृतिका स्वीकार करते हैं,तब उस गूढ रहस्यमय क्रियाको 'अवतरण' कहते हैं।

६३. सामान्य मनुष्योंमें भी यह दिव्य भागवत चैतन्य रहता है, परंतु वह अज्ञानसे आच्छादित रहता है।

मनुष्य इस सत्यको भूल गया है, कि वह मूल स्वरूपमें भगवान्ही से आया है; किंबहुना उसको उस दिव्यत्व-प्रभुत्व-का भी विस्मरण हो गया है, जो सनातन कालसे मानवचैतन्यमें विद्यमान है।

मानव-चैतन्यरूपी मंदिरके मध्यभागमें हृदयकी वेदी है। खाकसे ढँके हुए अग्निके समान यह दिव्य-चैतन्य इस वेदीमें सनातन कालसे है।

६४. अवतार जब होता है, तब अविद्या-प्रकृतिके त्रिगुणात्मक रूपमेंसे दिव्य स्वरूप चमकता है, जैसा कि त्रिधातुके मिश्रणमें से सुवर्ण चमकता है।

भगवान्का दिव्य चैतन्य मानो मूल सुवर्णधातु है। मायाने उससे मानवरूपी सिक्का तयार किया; परंतु उसमें अविद्या-प्रकृतिने हलके दर्जेकी धातुका भरपूर मिश्रण करके-त्रिगुणात्मक स्वरूपका मिश्रण करके-उसपर स्वतःके अज्ञानकी छाप लगा दी और 'पाशवतायुक्त मनुष्य' इस दृष्टिसे वह सिक्का चालू कर दिया।

६५. मानवजातिमें जो अवतार प्रकट होता है, वह प्रकृतिका कोई चमत्कार नहीं है; किंतु प्रत्येक मनुष्यमें रहनेवाले अव्यक्त सनातन परमात्माका वह बाह्य जीवनका आविर्भाव है। परंतु अवतारके प्रकटीकरणका यह आध्यात्मिक रहस्य बहुतही थोडे लोगोंकी समझमें आता है।

अवतारसे मनुष्यका अद्वैत साध्य करना और स्वतःके संपूर्ण जीवनमें उसको प्रगट करना—यही अवतारकी सार्थकता है।

६६. विभूतिके लक्षण क्या हैं? (१) अंतर्बाह्य ऐसे दोनों कार्यक्षेत्रमें प्रभावशाली संपादन, (२) कुछ विशिष्ट दिव्य गुण, अद्वितीय कार्यशीलत्व, सफल क्रियाशक्ति-ऐसे विभूतिके लक्षण हैं।

परंतु विभूति और अवतार एक नहीं हैं। अवतारमें भगवान्का चैतन्य सतत जागृत रहना चाहिये। वह अपने सिद्ध प्रभुत्वके योगसे सर्व-प्रकृतिका शासन करता है। मानवी दृष्टिकोणसे अथवा मानसिक आदर्शसे वह अपनी प्रकृतिको संचालित नहीं करता; किंतु मनके ऊपर रहकर स्वतःकी प्रकृतिका चालन करता है। इसी रीतिसे वह समग्र विश्वप्रकृतिपर भी अमल चलाता है।

६७. दिव्य आनंदका-पूर्ण आनंदका- अवतार जो प्रकट होगा, उसके पहिले दुःखशोकका भी अवतार होना जरूर है।

भगवान्को मानवी बंधनका- मानवी प्रकृतीकी सारी अपूर्णताका- स्वीकार करना चाहिये;क्योंकि ऐसा किये विना यह न कह सकेंगे, कि अपूर्ण मानवताका उच्छेद कैसा करना। अवतारको यह हेतुभी साधना है।

६८. अवतार अलौकिक सिद्धि प्रकट करता है, वह क्या बाह्य जीवनमें करता है अथवा अंतर्जीवन में अथवा उभय जीवनोंमें? ऐसा प्रश्न कई लोग करेंगे। उसका उत्तर यह है, कि " इसका आधार मानवजीवितके विकासपर अवलंबित है। जैसी मानवजातिकी अपेक्षा,वैसा अवतारका आविर्भाव होगा।"

सारांश यह, कि चमत्कार करनेके लिये अवतार प्रकट नहीं होता। उसमें मुख्य बात है,प्रभुचैतन्यकी सदैव जागृति।

अधर्मका विनाश करके धर्मकी स्थापना करने के हेतुसे अवतार होता है। इससे कई लोग अनुमान करते हैं, कि अवतार का हेतु किसी प्रचंड बाह्य क्रांतिमें मुख्य भाग लेनेका होना चाहिये,परंतु यह अनुमान अवास्तव है।

सच बात यह है, कि कोई भी बनाव (चाहे वह कितना भी बडा हो) अथवा कोई भी कर्म, केवल बनाव अथवा कर्मही की दृष्टिसे बडा नहीं हो सकता। देखना यह पडता है, कि "कर्म और घटना" किस प्रकारकी शक्ति पसंद करती है, कौनसा बल प्रकट करती है। किसी विशिष्ट प्रसंग के पीछे किस प्रकारके विचारोंकी ऊर्मियां गिर रही हैं; इससे उसके महत्त्वका तोल हो सकता है।

उदाहरणार्थ, चेंगीजखानने जो रोमांचकारी हमला किया और खून बहाया, उसको 'घटना' की दृष्टिसे देखा जाय, तो वह फ्रेंच राज्यक्रांतिसेभी बडा दिखता है। परंतु उपर्युक्त दृष्टिसे देखा जाय, तो फ्रेंच राज्यक्रांति विशेष और महान् घटना सिद्ध होती है। इसी तरह मार्टिन लूथरने पोपकी हुकूमतको नाकबूल किया। यह घटना दिखनेमें बहुतही छोटी दिखती है; परंतु उसके पीछे जो विचारबल है, उसको ध्यानमें लेनेसे यह घटना महान् समझी जायगी।

तात्पर्य यह है, कि बाह्य जीवनकी घटना, महान् युद्धप्रसंग, क्रांति इत्यादि बातें देखनेकी हमारी दृष्टि बदलनी चाहिये। बाह्यदृष्ट्या घटनाके मायने भौतिक रद्दोबदल है। परंतु वस्तुस्थिति क्या है ? घटना, युद्ध, क्रांति, ये सब बाह्य लक्षण हैं। उसका सच्चा बीज है मानवजातिका चैतन्यपरिवर्तन। अब यह देखा जाय, कि वह किस प्रकारकी शक्ति मूर्तिमान् करता है।

विकासके मार्गमें पदक्षेप करनेके पहिले इस तरहकी अनेक परिस्थितिमेंसे मानवजातिको जाना पडा है।

युरोपमें सुधारके युगमें मार्टिन लूथरने पोपकी धार्मिक सत्ताको अमान्य करना प्रारंभ किया। फ्रेंच राज्यक्रांतिने राजसत्ताको और समाजसत्ताको (जिसमें अमीरउमरावोंका प्राधान्य था) तिलांजलि दे दी। ये दोनों प्रसंग 'महान्' समझे जा सकते हैं। एकने विचारस्वातंत्र्यको और धर्मनिर्णयमें व्यक्तिको प्राधान्य दिया। फ्रान्सने प्रजासत्ता, समानता इत्यादि तत्त्वोंकी घोषणा की।

ये दोनों प्रसंग महान् व्यावहारिक तथा मानसिक परिवर्तनके सूचक हैं। परंतु इन दो प्रसंगोंकी गणना आध्यात्मिक घटनामें नहीं कर सकते। यह जरूर है, कि इन प्रसंगोंसे मानवजातिकी सामान्य चेतनामें अनेक मानसिक रूपांतर स्थिर हुए हैं और अनेक क्रियाशील तत्त्व अस्तित्वमें आये हैं; तथापि गौतमबुद्धके जीवन में अथवा जीजस क्राइस्टके जीवनमें जो तत्त्व हमें दिखता है, वह इन प्रसंगोंमें नहीं दिखता।

मनुष्य अमूर्त विचारतत्त्वका प्रतिनिधि है। सूक्ष्म शक्तिका स्थूल मूर्तिमंत स्वरूप अवतार जब होता है, तब ऊर्ध्वगामी तत्त्वके प्रतिनिधिरूप जो मानव होंगे, उनकी रक्षा वह करता है और जो अंधकार, जुलूम, स्वार्थ इत्यादि अधोगामी तत्त्वोंके प्रतिनिधि होंगे, उनका विनाश करता है। यही धर्मका संरक्षण और दुष्टोंका विनाश है! और यही अवतार का प्रयोजन है।

परंतु इससे यह समझना भूल है, कि अवतार का रहस्य केवल उसके बाह्य जीवन में है, अथवा उसके महत्कार्यमें है, अथवा उसने किये हुए महत्त्वपूर्ण ऐसे सामाजिक, राजकीय अथवा धार्मिक परिवर्तन में ही है। यह मान्यता अपूर्ण है। इस भावना में अवतार के आध्यात्मिक चैतन्य का समावेश नहीं है। यह अपूर्ण व्याख्या स्वीकृत करने से बुद्ध और क्राइस्टसरीखे बडे बडे अवतार हमारी गणनाके अंदर न आ सकेंगे। भगवान् गौतम बुद्ध ने अथवा जीजस क्राइस्टने दुष्ट लोगोंका विनाश और साधुओंका परित्राण करनेका प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने अखिल मानवजाति को आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करनेका मार्ग बतलाया है। उन्होंने दिव्य-जीवनका विकास करनेके लिये और जीवनमें प्रभुका साक्षात्कार

करनेके लिये मनुष्यको आह्वान करके वह मार्ग बतलाया है, कि जिसका अनुभव उन्होंने स्वयं लिया था।

सामान्यतः प्रत्येक अवतार के जीवन में दो प्रकारके कार्यक्षेत्र देखने मिलते हैं-(१) बाह्य, (२) आन्तर, अर्थात् (१) स्थूल, (२) आध्यात्मिक। और यह होना अनिवार्य है। अवतार मानवजाति में आकर भगवान्का निजी कार्य अपने सिरपर लेता है। जीवनमें वह दिव्य ज्ञानशक्ति और दिव्य तपःशक्ति प्रकट करता है।

अवतारमें भगवान्का चैतन्य सतत जागृत रहना चाहिये। इसी तरह स्वतःका कार्य समाप्त होनेपर भी उसका आध्यात्मिक परिणाम जीवित रहना अत्यावश्यक है। कर्मलीला समाप्त होनेपर भी अवतार का आध्यात्मिक व्यक्तित्व मानवजाति में कार्य करता रहे, इतना जागृत और जीवित रहना चाहिये। यह व्यक्तित्व स्थूल भूमिकामें नहीं, किंतु सूक्ष्म भूमिकामें रहता है।

कभी ऐसाभी होता है, कि अवतार स्वतःका जीवनकार्य केवल आध्यात्मिक अर्थात् अंतर्भूमिका परही करता है। उसका सहवास जिनको होता है, उन्हें वह अंतर्ज्योति तथा अंतर्दिव्यचैतन्यकी प्राप्ति करा देता है; परंतु उसका अंतर्धान होनेपर इस धर्मप्रचारसे मानवजातिमें रूपान्तर होना चाहिये। कालप्रभावसे इस धर्मका अथवा आध्यात्मिक साधनका मार्ग कदाचित् शिथिल हो- तथापि मानवजातिके मनपर, स्वभावपर और बाह्य जीवनपर उसका शाश्वत परिणाम होना चाहिये। जब इतना हो, तभी वह व्यक्ति 'अवतार मानी जायगी।

६९. दिव्य-जीवन प्रकट होनेपर उसमें तीन शक्तियां रहती हैं-(१) धर्म, (२) संघ, (३) बुद्ध अथवा (१) क्रिस्ती दर्शन, (२) चर्च (धर्मसंस्था) और (३) जीजस क्राइस्ट। अपने यहां वैष्णव धर्म में तीन विभाग हैं- (१) भागवत, (२) भक्त और (३) भगवान्; इससे यही तत्त्व व्यक्त होता है।

(१) अवतार-मानवजातिको धर्मप्रदान करता है। इस धर्म के आश्रयसे मनुष्य अधोगामी जीवन में से उच्च जीवन की ओर प्रवृत्त होता है।

(२) जिस तरह मनुष्यमें वैयक्तिक विकास करनेकी प्रेरणा रहती है, उसी तरह उसमें समाजरूपसे अर्थात् समष्टिरूपसेभी कार्य करनेकी प्रेरणा रहती है। एकही धर्मका आश्रय करनेवाले जब एकत्र होते हैं, तब 'समाज' अथवा 'संघ' की स्थापना होती है।

(३) अवतार स्वतः तीसरा तत्त्व है। अवतार के मायने दिव्य-व्यक्ति, अवतारके मायने स्वयं भगवान् मानवरूपमें, अवतारके मायने प्राप्तकालमें और परिस्थिति में जितना शक्य हो, उतना भगवान्का स्वतःका आविर्भाव। धर्म और संघ- इन दोनोंका आत्मा अवतार है। उसके अतिरिक्त दोनों असंभाव्य हैं।

७०. अवतार का आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र अंतःकरण है। उसमें उसके शत्रु मानवी अंतःकरणमें रहनेवाली कामना, अहंता, जडता, अज्ञान इत्यादि (अंतःशत्रु) हैं। अर्थात् मानवी चैतन्यमेंसे कामना, अहंता, अज्ञान इत्यादि का विनाश करने में अवतारका विजय है।

ऐसाभी होता है, कि धर्मको स्वतःके अंतःकरणमें स्थापन करनेवाला एक और अधर्मका अंगीकार करनेवाला एक, ऐसे दो भिन्न प्रकारके जनसमूहोंमें बाह्य जीवनमेंभी युद्ध होता है। एक पक्षमें दैवी प्रकृति और उसका प्रतिनिधिरूप मानवसमुदाय रहता है और दूसरे पक्षमें आसुरी प्रकृति और उसका साधनरूप समूह रहता है।

७१. अवतारके आनेजानेका सच्चा रहस्य, उसके आविर्भावका सच्चा फल उन्हींको अवगत होता है, जिन्होंने अवतारी पुरुषद्वारा दिव्य जन्म

और दिव्य-कर्मका रहस्य समझ बूझ लिया है। अवतारमें प्रगट होनेवाला चैतन्य ये लोग प्राप्त कर लेते हैं; स्वतःके अंतःकरणमें वे उसका स्वरूप धारण करते हैं। इस प्रकारके साधक भगवत्स्वरूपी अवतारका सर्वभावसे आश्रय लेते हैं, उसको सब कुछ समर्पण करते हैं और अंतमें दिव्य चैतन्य और दैवी प्रकृति प्राप्त कर लेते हैं।

७२. ब्रह्मयज्ञ-- गीताके कर्मयोगका सच्चा आधार " यज्ञकी भावना " है। गीताकी यज्ञभावना इस सूत्रपर प्रस्थापित है, कि " जीवनमात्र- जगत्में जो कुछ है, वह सब- एक-अनंत- ब्रह्मरूप है। "

अस्तित्वमात्रका-समग्र जीवनका-आदिकारण स्वयं भगवान् है। यज्ञभावनाकी बुनियाद इस सत्य पर है, कि भगवान्में विद्यमान् ऐसी दिव्य गतिसे यह जगत् निर्माण हुआ है और भगवान्की ओर झुका है।

सक्रिय जीवनके मायने प्रकृतिका कर्मयोग कर्म-स्वरूप यज्ञ। इसकी आहुति परमेश्वरको अर्पण हुई है। जीवनके मायने, विराट् प्रकृतिका वह यज्ञ जो कि अनंत ब्रह्मस्वरूपको सतत अर्पण किया जाता है।

जीवनके मायने प्रकृतिकी वेदी। इस वेदीमें प्रकृतिके सब कर्मोंका, कर्मफल इत्यादिका निरंतर हवन होता रहता है। प्रकृतिमें प्रकट हुए चैतन्यमें भगवान्का जो कुछ स्वरूप उस कालमें प्रकट हुआ होगा, उसको प्रकृति यह यज्ञ समर्पण करती है।

७३. प्रकृतिका कार्य देखा जाय, तो सब जगह लेने और देनेका नियम जारी दिखता है। अनंत व्यापारमें यही नियम चालू है। ' आदान-प्रदान ' ही जीवनका महान् नियम है। उसके विना जीवन एक क्षणभी नहीं रह सकता।

जीवनके विविध अनुभवका अंतिम हेतु क्या है? क्या अहंताकी और मानवी कामनाओंकी तृप्तिही जीवनका अंतिम ध्येय है? गीता कहती है, नहीं। अहंताकी सार्थकता नहीं, किंतु भगवान्की खोज; कामनाओंकी तृप्ति नहीं किंतु अनंत परमात्माकी भक्ति ही जीवनका ध्येय है।

यह ध्येय कैसे साध्य होगा? गीता कहती है, कि " यज्ञ " करनेसे वह सिद्ध होगा। अखिल कर्मोंको यज्ञरूपसे करना सीखो—क्रमशः यज्ञकी वेदी विशाल करो; उसमें तुम्हारे स्वतःके व्यक्तित्व का सर्वभावसे हवन करना सीखो- जीवितके दिव्य विकासका यही मार्ग है।

अखिल जगत्में- समग्र प्रकृतिकी अनंत क्रिया-ओंमें, उसके अनेक व्यापारोंमें, देन लेनका यज्ञ-समारंभ चल रहा है। परंतु मानवात्मा अहंकार से भरे हुए स्वार्थमें डूब गया है। गीता कहती है, कि " इस प्रकार का मनुष्य चोर है। " प्रकृति उसको सब तरफसे देती है और वह लेताभी है; परंतु अपनी राजी खुशीसे वह अपना कुछभी देना नहीं चाहता। यह बात अलग है, कि प्रकृति उससे जबरदस्तीसे मय व्याजके ले लेती है।

ज्यों ज्यों व्यक्ति अपने स्वार्थकी अपेक्षा अन्योंके हितका, दूसरोंके हकका अधिक विचार करती है- स्वतःके सेवाभावका वह वह ज्यों ज्यों पोषण करती है, त्यों त्यों उसका चैतन्य विशाल होता है, उसके अंतरात्माका आकार बढता है, पुष्ट होता है।

मनुष्यको जो यज्ञ करना है, वह प्रकृतिके लिये, प्रकृतिकी अनेक शक्तियोंके लिये करना है। मनुष्य-की सारी मानसिक और शारीरिक शक्तियां, शरीर, मनके समूचे कार्य और व्यापार प्रकृतिसेही पुष्ट होते हैं। प्रकृतिनियमोंपरही इन दोनोंकी शाश्वति है; इसलिये प्रकृतिकी शक्तिको समर्पण करना उसे आवश्यक है। इससे मनुष्यमें वे शक्तियां वृद्धिंगत होती हैं; अर्थात् मानवकी विचारशक्तिमें, तपःशक्तिमें तथा जीवनमें इन शक्तियोंका विकास होनेके कारण आखिर मनुष्यका ज्ञान, उसकी शक्तियां, क्रियाशक्ति इत्यादि अनेकशः वृद्धिंगत होती हैं।

परन्तु यह स्थिति उत्तमोत्तम नहीं है। यह प्रयत्न कामना से प्रेरित है। इसमें भी अहंता है, यद्यपि कुछ अंश में वह शुद्ध हो; इसमें भी कामना है, यद्यपि थोडे अंश में वह नियमित हो।

७४. "कर्म" करने का सच्चा सच्चा रहस्य, "यज्ञ" करने का सच्चा मार्ग इससे भी परे है। मनुष्य को जब यह समझेगा, की अपने में तथा अन्यों में एक ही आत्मा है, तब उसे वह मार्ग मिलेगा। इस स्थिति में उसे मालूम होता है, कि "अहंता" और "आत्मा" उनका स्वत: का सत्यस्वरूप, एक नहीं है। आत्मा अनंत है- व्यक्तित्व के बन्धन के परे है। सब प्राणी उसी में जीवनधारण करते हैं।

अर्थात् पूर्णता प्राप्त करने का मार्ग, सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग, अधिकाधिक विशाल चैतन्य प्राप्त करने से मिलता है। व्यक्तित्व के बन्धन के पार गए बिना नहीं मिलता।

आध्यात्मिक जीवन की पहिली सिद्धी है- क्षुद्र व्यक्तित्व से स्वत: के चैतन्य को उन्नत करना, अनंत चैतन्य का ज्ञान जागृत करना और उस में स्वतः का चैतन्य और अंत:करण धारण करना।

एक अनन्त आत्मामें संपूर्ण जगत्को देखनेका अभ्यास करनेसे मानवात्मा अहंताके अज्ञानसे छूटकर अन्त:शांति प्राप्त करता है। ऐसा करनेसे मनुष्य अज्ञानयुक्त कर्मसे और उसके परिणामसे मुक्त होता है।

७५. उन्नतिके मार्गसे संन्यास आवश्यक है ही; परंतु केवल जगत्से और जीवनसे दूर होना सच्चा संन्यास नहीं है। कामना और अहंताका विनाश करनाही सच्चा संन्यास है।

अपने कर्मफलका अंत:करणपूर्वक सतत त्याग करनेका अभ्यास करना ही इस प्रकारके संन्यासको साध्य करनेका मार्ग है! कर्म करते करतेही यह अभ्यास होना चाहिए।

२५

अहंताका विनाश करनेसे, चैतन्यमें जो तटस्थता और वैयक्तिक परिमितता है, उससे मुक्ति मिलती है।

कामनाका त्याग करनेसे अपनी समग्र प्रकृतिमें निःपक्षपात मुक्तावस्थाका अनुभव होगा।

७६. अहंताका विनाश करनेके बाद कर्म किस लिए करना? अब कर्म करनेका हेतु क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें गीता कहती है कि इसके पश्चात् अखिल कर्मरूपी यज्ञका स्वामी और भोक्ता स्वयं भगवान् ही है और यज्ञका हेतु भी यहीं है।

आध्यात्मिक जीवनका उच्चतम ध्येय निरंजन, निराकार, निष्क्रिय ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं है। अपने जीवनका परम रहस्य इसमें नहीं है।

योगका सच्चा उद्देश्य भगवान्से एकता प्राप्त करनेका, पुरुषोत्तमसे एक होनेका है; निरंजनमें- अक्षरब्रह्ममें- विलीन होनेका नहीं।

७७. यह कब समझा जाय, कि मनुष्यको पूर्णत्व प्राप्त हो गया? जब मनुष्यका चैतन्य भगवान्के चैतन्यसे एकता पायेगा और मनुष्यकी अपूर्ण प्रकृति भगवान् की दिव्य और पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिंब बनेगी, तब कह सकेंगे, कि उसके पूर्णत्वका-सिद्धिका-प्रारंभ हुआ। भगवान्के दिव्य प्रेममें और आनन्दमें जब कामनाओंका त्याग होगा, तब कह सकेंगे, कि मनुष्यको पूर्णत्व प्राप्त हुआ।

दिव्यकर्मयोगी

७८. आजकल कई लोगोंका यह ख्याल है, कि कर्म करना और कर्म-योग करना एकही बात है। कोई कोई समझते हैं, कि निःस्वार्थ कर्म करनेसे कर्मयोग हो जाता है। कई लोग सेवा और कर्मयोग एकही वस्तु समझते हैं। कोई कोई समझते हैं, कि स्वत:के कर्तव्यको पूरा करनाही कर्मयोग करना है।

परन्तु ये विचार गलत हैं। ऐसी भूल होने का एक कारण 'कर्म' शब्द का उपयोग है। मनमाना कर्म करने से कर्मयोग नहीं होता। यदि ऐसा हो,

तो जन्म से लेकर देहत्याग तक मनुष्य और प्राणी कुछ न कुछ कर्म करता ही है। इस भूल का दूसरा कारण है. 'योग' शब्द का अर्थ।

'योग' के मायने भगवान् से संबंध, भगवान् से ऐक्य। कर्म के द्वारा भगवान् से ऐक्य करने का जो साधनमार्ग, वह कर्मयोग है।

अर्थात् प्रत्येक कर्मयोगी का मुख्य हेतु केवल भगवत्प्राप्ति ही हो। कर्म करना उसका हेतु नहीं है। कर्म साधन है, साध्य नहीं।

७९. गीता में कर्मयोगी की दो स्थिति बतलाई गई हैं। पहिली साधकावस्था। इसमें प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म कर्म प्रभुप्राप्ति के साधन की दृष्ट से किया जाता है। दूसरी सिद्धावस्था। इसमें स्वतः प्राप्त की हुई दिव्य, आध्यात्मिक स्थिति का आविर्भाव कर्मद्वारा किया जाता है।

८०. साधकावस्था- इस अवस्था में कर्मयोगी अपने अन्तरंग में से स्वतः की कर्मफलासक्ति का समूल त्याग करने का अभ्यास करता है। अपन जो कुछ करते हैं, वह सब कार्य 'भगवान्' का है, ऐसा समझकर वह कर्म से अपना मालिकपन छोड देता है; साथही इस भगवत्कार्य को सफल करने का लोभ भी छोड देता है, क्योंकि सफलता अथवा विफलतारूपी फल को निर्माण करनेवाला स्वतः प्रभुही है।

वह स्वयं जो कर्म प्रभुप्रीत्यर्थ करता है, उसमें स्थूल अथवा सूक्ष्मरूप से जहां कहीं अहंता और आसक्ति हो, उसे मालूम करने के लिये वह सदैव भगवान् की प्रार्थना करता रहता है।

छोटा या बडा कोई भी कर्म करते समय कर्मयोगी अन्दरसे खूब सचेत रहता है और इस बात में हमेशा दक्ष रहता है कि स्वतः में शुद्ध हेतु तथा अहंकार और आसक्ति का अभाव इत्यादि पूर्णतया बद्धमूल हुए हैं या नहीं।

सच्चा कर्मयोगी स्वतःकी तपःशक्ति अथवा प्रयत्न के द्वारा कर्म का फल निर्माण नहीं करता। भगवान् का 'सेवक' होने के सात्विक अभिमान से भी वह सचेत रहता है। वह यह इच्छा भी नहीं रखता, कि मेरे कर्म से भगवान् को संतोष हो।

क्योंकि अपने सब कर्मों का सच्चा कर्ता स्वयं भगवान् ही है और अपना कार्य सफल हुआ भी, तो उसका यश वस्तुतः किसको है? अर्थात् स्वतः भगवान् की दिव्यशक्ति को। उसकी प्रकृति में परिमित स्वरूप धारण करके भगवान् का हेतु सिद्ध किया; इसमें संकुचित मानवशक्ति को गौरव मानने सरीखा क्या है?

मनुष्य जिसको सफलता, सिद्धि अथवा विफलता- पराजय कहता है, वह कर्म करनेसे प्राप्त होता है। परन्तु उससे कर्मयोगीके चित्तमें अणुमात्र क्षोभ नहीं होता।

सच्चा कर्मयोगी स्वतःकी इच्छित सफलता प्राप्त हो, ऐसी अभिलाषा नहीं रखता; किंतु प्रभुनिर्मित सफलता प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। प्रभुने निर्माण किये हुए किसीभी फलका स्वीकार करनेको वह तैयार रहता है।

अनेक समयोंपर भगवान्की दिव्यशक्ति दिखाऊ सफलताके द्वारा और दिखाऊ विफलताके द्वारा अपना स्वतःका दिव्यहेतु साध्य करती है।

इसका यह अर्थ नहीं है, कि कर्मयोगी प्रारब्धवादी है, अथवा वह अपने कामोंको बेफिकरीसे करता है।

कर्मयोगमें आलस्य, प्रमाद अथवा तमोगुणके लिए कोई स्थानही नहीं है। स्वतःके कार्यमें जो भूल होती हो, त्रुटियां रहती हों अथवा अभाव रहता हो उन्हें दूर करनेका बुद्धिपूर्वक प्रयत्न वह करताही रहता है; किंतु वह अपने अन्तःकरणमें प्रभुसे यह भी प्रार्थना निरंतर करता रहता है, कि ऐसे दोषभी उसे दिख जांय जो उसको नहीं दिखते,

जो उसकी बुद्धिकी कक्षाके बाहर हैं।

सफलताकी पूरी योजना वह फिकरके साथ करता है, परंतु परिणाम अर्थात् फलको प्रभुके चरणों में अर्पण करता है।

८१. कर्मयोगी स्वतःका हेतु सिद्ध करनेकी कामना नहीं रखता। वह स्वतःके रागद्वेषके परे रहने का सदैव प्रयत्न करता है।

तब फिर कर्म करनेका उसका संधान किस प्रकारका रहता है? वह अपने हठसे, आग्रहसे निश्चित किया हुआ कोई संधान नहीं रखता। वह समझता है, कि अपने सबही संधान तात्कालिक है, अपूर्ण हैं।

'प्रभुका कार्य इसी तरह होना चाहिए' अथवा 'प्रभुकार्य करनेका मार्ग अमुक ही है-' इस प्रकारके मताग्रहसे वह अपने मनको दूर रखता है।

अपने जीवनमें वह अचल ध्रुवके समान एकही संधानकी स्थिररूपसे स्थापना होनेकी अपेक्षा करता है; वह संधान यह है-

'सर्वधर्मान् परित्यज्य-'

स्वतःके माने हुए नीति-अनीतिके, योग्यायोग्यताके, इष्टानिष्टताके, पवित्रापवित्रताके सारे धर्म वह प्रभु को समर्पण करता है। अपने मनको वह ऐसे आग्रहका स्पर्शभी नहीं होने देता, कि 'यह बात उत्तमही है, यह बिलकुल सच है।' परन्तु तावत्कालके लिए यह मानकर, कि 'यह सच है, वह प्रभुसे निरंतर प्रार्थना करता है, कि 'हे प्रभु! इसके भी परे जो सत्य है, वह मुझे बतलाओ।'

कर्मयोगी को इस सत्य का ज्ञान रहता है, कि मानवजाति की प्रगति बहुतही विशाल और अनेक देशीय सं[illegible]ान से हुई है। समय आनेपर शीघ्रहि [illegible]ह अपने माने हुए नियमों को, विचारों को, आदर्शों को, पद्धति को और सिद्धान्तों को फेंक देने के लिये तैयार रहता है।

मनुष्य के निश्चित किये हुए विचार और सन्धान कितने अस्थिर रहते हैं, उलझने के समय वे कैसे अपूर्ण ठहरत हैं, इसका उत्तम उदाहरण स्वतः अर्जुन है।

कर्तव्य और कर्मयोग को एकही समझनेवाले आधुनिक विद्वान् लोग विवेकानंद को यही अनुरोध करते, कि तुम वकालत अथवा मास्टरी करके, अपने क्षुधापीडित परिवार का पोषण करो। परन्तु विवेकानंदने निराला ही मार्ग लिए[illegible] का संधान समर्पणभावहीपर अवलंबित रहता [illegible]

८२. कर्मयोग के आचार में संग्राम को भी स्थान है। परन्तु कर्मयोगी अपने विरोधकों को शत्रु कभी नहीं मानता। स्वतः के लिये उनका विनाश करने की अथवा उनपर विजय प्राप्त करने की वह कभी इच्छा नहीं करता।

तब क्या वह हाथपैर सिकोडकर चुपचाप बैठता है? नहीं! वह विरोधकों को प्रकृति के हाथ की पुतली समझता है और यही धारणा रखता है, कि विराट् की गूढ योजना में भवितव्यता की अनिवार्य गति को विरोध करके, यह मेरी सहायता करने को आया है।

दिव्यप्रकृति में क्रोध और तिरस्कार के लिये स्थान ही नहीं है।

८३. कर्मयोगी के जीवन में एक तत्त्व सर्वव्यापी देखने मिलेगा-अर्थात् संपूर्ण समता।

स्वीय प्रकृति के द्वारा प्रभुकी दिव्य तपःशक्ति का स्वीकार करना, भागवत कर्म करना; यही उसका कर्म करनेका मौलिक हेतु रहेगा।

८४. कर्म का "कर्ता मैं हूं" इस प्रकार की कर्तृत्वबुद्धि का वह सदैव त्याग करता है। कर्म करानेवाले भगवान् पर उसकी अन्तर्दृष्टि स्थिर होती है।

आसक्ति, का[illegible]ना, वासना इत्यादि से वह मुक्त रहता है। वह अपने जी[illegible]न में इस बात का पता लगाता रहता है कि 'भगवान्" का हेतु क्या है,

वह कौनसी इच्छा कर रहा है ।

उसकी प्रकृति में संपूर्ण समता रहती है ।

जब प्रगति होती है, तब कर्मयोगी की प्रकृति में एक प्रकारकी अद्भुत शांति और अहेतुक आनन्द सदैव भरा हुआ नजर आता है । समय पाकर यही तत्त्व उसकी प्रकृति के मौलिक तत्त्व बन

... जागृत रहकर स्वतः का प्रत्येक स्थूल का या सूक्ष्म कर्म वह प्रभु को समर्पण करता रहता है; इससे वह कर्म का संन्यास यथार्थ रीतिसे करता है ।

कर्मयोगी को कर्म करने में सिद्धावस्था की उत्तमोत्तम अनुभूति भी प्रतिबन्धक नहीं होती । वह संपूर्णतया तटस्थ, साक्षी और त्रिगुणातीत रहता है ।

विश्व-प्रकृति में कर्म करता हुआ वह (Impersonal Forces) अग्नि-वायुके सामर्थ्य के सदृश तटस्थ रीतिसे जा सकता है ।

स्वीय प्रकृति के, तथा विराट् विश्वप्रकृति के सकल गुणोंसे मुक्त होकर वह पुरुषोत्तम चैतन्य का साक्षात्कार करता है और अन्त में स्वतः की प्रकृति में भी वह पूर्ण समता स्थापित करता है ।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने जो यह स्थिति बतलाई है, वह उसे प्राप्त रहती है- "तुम्हारा चैतन्य मुझ में एकत्र करके, मुझ में सारे कर्मों का संन्यास करके, स्वतः की आशाकामनाओं से मुक्त होकर, "मैं और मेरा" यह विचार छोडकर इस जगत् में मेरी दिव्यशक्ति के अनुसार तुम अपना जीवन व्यतीत करो ।"

८५. लोग जिसको पाप कहते हैं, उसकी ओर देखने का कर्मयोगी का दृष्टिकोण निरालाही रहता है ।

"कोई ए... बाह्य क्रिया अथवा रूढि अथवा शास्त्रनिषिद्ध कर्माचरण करना पाप है "-यह विचार यथार्थ नहीं है ।

मनुष्य का अपूर्ण, परिमित, संकुचित उसका क्षुद्र मन- प्राण और हृदयजी... अशुद्ध प्रतिकार्य करता है, उसीका नाम पा...

कर्मयोगी इस अन्तःस्थिति में से मुक्त... प्रयत्न करता है । बाह्य कर्म की ओ... लक्ष्य गौण रहता है ।

८६. तब गीतोक्त कर्मयोग क्या... जीवित में कर्म करने के सामान्य अपूर्ण... भी परे ऐसा एक संधान है । चैतन्य की... भूमिका के भी परे दिव्यचैतन्य की भूमिक... कर्मका उद्भव वहां होना चाहिये ।

वह प्राप्त करने का मार्ग ही कर्ममार्ग है... पद्धति गीता में वर्णित है ।

गीता मोक्षप्राप्तिका मार्ग नहीं बतलात... त्मिक उन्नतिके साधनकी दृष्टिसे गीता... है, कि कर्मका उपयोग किस तरह ... केवल इतनाही नहीं, किंतु वह यह... है, कि आध्यात्मिक मुक्ति और सि... करनेपर भी कर्म करना बन्धनरूप नहीं है ।

आत्माकी संपूर्ण मुक्ति और जीवनमें... स्वीकार परस्परविरोधी नहीं हैं ।

अन्तरमें प्रभुसे ऐक्य संपादन करके... भगवान्की शक्ति प्रकट करना; और यह ... स्वतःकी मानवप्रकृतिका दिव्यप्रकृतिम... करना- गीताके कर्मयोगका रहस्य है ।

८७. संन्यासका सच्चा रहस्य काहे में है... में या बाह्य उपाधिमें ? गीता कहती है, ... अंतरमें है, बाह्य उपाधिमें नहीं ;'

८८. योगी किसको कहना चाहिए? स्वतःमें विद्यमान ऐसे परमचैतन्यसे ऐक्य... वह योगी है ।

स्वतःकी प्रकृतिमें- मन- प्राण और शरीर... विविध विकार अथवा परिवर्तन अथवा क्षोभ... हैं, उनका योगीपर कोई असर नहीं होता... का चैतन्य इन सबके परे रहता है । इस प्रक...

... सन्तुष्ट रहता है । उसकी ... समता रहती है । इस ...तुओंके विषयमें, मानवों के ...ों के विषय में सम रहते ...

...नज्या... ...रके... ...स्थिति एकदम प्राप्त की जा ... है, नहीं । सतत और ...ही यह काम है । ध्यानसे, ...करनेसे और अन्तःकरणकी ...व रखनेसे यह स्थिति प्राप्त ...

...क... ...ध्यायमें निम्नलिखित उपाय ...नुष्यमें प्राण है, जो कि ...से जीव गुलाम है । यह प्राण ...णकी स्थिररू... ...तःकरण अशांत कर ...यह संधान इस प्राणको बिलकुल ...ांत और क्षुधित प्राणको ...इन्द्रियभोगोंसे परावृत्त करो; ...करके अज्ञानयुक्त प्रतिकार ...ाना अभ्यास है, उसका त्याग ...

...ी कर्मोंका सर्वथा त्याग ही किया ..., 'नहीं ।' कामनाओंका त्याग ...र हटाकर, जरूरत हो तो उन ... रखकर, जो कि स्वतःकी ...ित किये हैं और जो क्षुद्र मानवी ...र्म करना ।

...लिये ? क्योंकि कामना, अहंता, ...तपःशक्ति और बुद्धि के विचार- ...भिन्न स्थितिही में कर्म करने के ... दूसरा ह... ...स्मृतिकारोंने बतलाया ... प्राचीन पुरुषोंने जो ... को नहीं ... हैं और

जिन्हें लोग अद्भुत समझते हैं । अहंता का जब लय होगा, तभी योगी को परमचैतन्य का अनुभव होगा । विशाल और उच्च चैतन्यमेंसे जहां योगीके समूचे कर्म आपही आप प्रकट होने लगे, वहां समझना चाहिये, कि "दिव्यकर्मों" का प्रारंभ हो गया ।

पहिले पहिल सबही कर्म इस प्रकार नहीं होते । केवल एकनिष्ठा से और सतत अभ्यास से यह साध्य होता है ।

इस प्रकार से जब कर्म किये जाते हैं, तब भी उनमें पुरानी अज्ञान से भरी हुई आदतों को लेकर बहुतसी दुर्बलता और अशुद्धि प्रविष्ट होती हैं ।

विशुद्ध दिव्यकर्म करने के लिये, " मयि संन्यस्य कर्माणि " (अर्थात् भगवान् के चरणों में सर्वकर्म-संन्यास) का सम्पूर्ण साक्षात्कार होना आवश्यक है । अर्थात्, सर्वत्र केवल भगवान् को देखने की, सब प्रसंगों में और पदार्थों में उसीका अनुभव करने की आवश्यकता है; इस दिव्यदृष्टि के अनुसार मनुष्य को कर्म करना चाहिये ।

९१. परन्तु ज्ञानयोग के पक्षपाती कहेंगे, " कर्म किस लिये करना ? तटस्थ रहकर साक्षिस्वरूप से जगत् के अनन्त व्यापारों को क्यों न देखें ? अन्तर की चैतन्य-समाधि में क्यों न लीन होवें ? "

गीता कहती है, " इस प्रकार के " बन्धनों को सच्चा योगी क्यों स्वीकृत करे ? यदि मुक्ति मिली हो, तो वह निरपेक्ष होनी चाहिये । कर्म करने में जो लुप्त हो जाय, वह मुक्ति कैसी ? इस शर्तपर मिली हुई मुक्ति से अथवा स्थिति से मनुष्य को सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति कैसे होगी ?

सच्चा योगी भगवान् से सदैव युक्त ही रहता है । जीवन में और जगत् में सर्वत्र भगवान् का दर्शन होनेपर किस बात का डर है ? ऐसे समर्थ

योगी सर्वव्यापी वासुदेव में अखिल विश्व को आलिंगन देते रहते हैं। जिसको सब ही वासुदेवमय दिखता है, वह किसी बातका तिरस्कार अथवा धिक्कार नहीं करता। वह जगद्व्यापी भगवान्को और भगवान् में लीन ऐसे जगत् को पूर्ण प्रेमसे चाहता है।

९२. परमयोगी कौन है ?

(१) "भगवान् में सब कुछ है" "सर्वत्र वासुदेव है" इस प्रकार का अनुभव लेकर जो सकल वस्तुओं का स्वीकार करता है, वह परमयोगी है।

(२) स्वतः में और विश्व में रहनेवाली अविद्या प्रकृति के (अज्ञानमय प्रकृति के) त्रिगुणात्मक कार्य को, क्षुब्ध न होकर, शांततासे जो देख सकता है, वह।

(३) स्वतः प्राप्त किये हुए अद्वैत से जिसका चैतन्य चलित नहीं होता प्रकृति का रूपान्तर करने के की तपःशक्ति का उपयो वह।

(४) जो स्वतः में ज्ञा माधुर्य इत्यादि दिव्यप्रकृति तत्त्वों को धारण करके उन्हें सकता है, वह।

९३. योगी का मुख्य ऐक्य। वह कर्म के द्वारा. ज्ञा अथवा भक्ति के द्वारा भलेही दिव्यशक्ति और दिव्यआन करे; परन्तु वह इन बातों मांगता।

केवल भगवान् के लिये करने की योगी इच्छा करता

स्मार्त और भागवत।

(लेखक- श्री० अनन्त लक्ष्मण महाजनी)

भगवन्तराव- कहां की तैयारी है, विश्वासराव? आइये, बैठिये। कल क्या बात हुई?

विश्वासराव— अपन सब लोगोंपर मानाजीराव बहुत क्रुद्ध हुए हैं। सुबह मैंने पुकारा, परन्तु उन्होंने जबाव तक न दिया। विजया-दशमीकी शमी देनेके लिये अपनेमें से कोई उनके घर न गया; इसीसे उन्हें बहुत गुस्सा आया है।

भगवन्तराव— वे भलेही घर न जाँय और हम सब लो ऐसे कौन बडे विद्वान् या साहूकार बने हैं? जहां बराब येही कौन बडे लाटसाहब हैं कि शमी देनेको अप यह बेहत्तर होकर अ

त्रिधा होगी और लि तु दिनोदिन लोग ब्रह्म। यथार्थमें जिनका संन्या एकतरफः और ये शरीर अ बनकर बैठे हैं। आश्रम मे रके घूमने चले। में संसार के विषय में उदास तु आज मुझे कुछ की तैयारी करनी है और संन्यास र कीजिए। आज सकल कर्मों का त्याग करके पर ा दूध लूंगा। लेने का काल।

आज कहते हैं? कल

हैं। हमारी पहिली है,आप की दूसरी है।

स्मार्त हैं और हम लगाते हैं और हम

! यह स्मार्त और शंकर के भक्त स्मार्त । ऐसाही है न?

ा खडा चंदन लगाना र रूढि की बात है। छुट्टीही मिल गई है। ना करनेवाले शैव और ले वैष्णव समझे जाते ाचार भिन्नभी दिखेंगे। भागवत का तत्त्वतः कोई

और भागवत के मूल तत्त्व क्या हैं? और क्यों पडे होंगे?

क धर्म में मोक्षप्राप्ति के है; इसीको सांख्य अथवा दूसरा है भागवत धर्म। र नहीं होता स्मृतिकारोंने बतलाया हुआ। है। इस प्रकार प्राचीन पुरुषोंने जो स्मृतियां

भागवत-धर्म का यह तत्त्व है, कि उ लेने की आवश्यकता नहीं है। सब कर्मों को करना ही चाहिये, परन्तु उनसे मिलनेवाले फल की ओर आसक्ति न रहे। इन का कहना है, कि प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना ही पडता है; कर्म से किसी को छुटकारा नहीं है। स्मार्तधर्म का मतलब है, निवृत्ति-मार्ग और भागवतधर्म का मतलब है, प्रवृत्तिमार्ग। यह प्रवृत्तिमार्ग भगवान् श्रीकृष्ण ने बतलाया है, इसलिये उसको भागवत-धर्म कहते हैं।

विश्वासराव- इन दो मार्गों का मतलब मैं अच्छी तरह समझ गया; परन्तु मेरी समझ में यह बात न आई, कि अपन लोग जो स्मार्त का मतलब शंकर समझते हैं, वह कैसे?

भगवंतराव- स्मार्त का मतलब शंकर समझना यथार्थ नहीं है। क्योंकि स्मृति में जैसे शंकर की वैसे विष्णु की भी उपासना बतलाई है। स्मार्तधर्म और भागवतधर्म बहुत प्राचीन हैं और स्मार्तधर्म जैसे स्मृतिकारोंने बतलाया है, वैसेही भागवत-धर्म प्राचीन काल में नारायण ऋषिने बतलाया है। परन्तु कालान्तर से भागवतधर्म लुप्त हुआ और निवृत्तिपर स्मार्तधर्मही रूढ हुआ। इसका परिणाम यह हुआ, कि "तुम्हारा दैवत संन्यासीसरीखा रहनेवाला शैव है, हमारा दैवत विष्णु है।" इस तरह उपर्युक्त धर्मोंका कुछभी रूढ अर्थ हो गया और लोग समझने लगे, कि स्मार्त के मायने शैव और भागवत के मायने वैष्णव। इसी अनुरोध से ये

योगी सर्वव्यापी वासुदेव में अखिल विश्व को आलिंगन देते रहते हैं । जिसको सब ही वासुदेवमय दिखता है, वह किसी बातका तिरस्कार अथवा धिक्कार नहीं करता । वह जगद्व्यापी भगवान्‌के और भगवान् में लीन ऐसे ... स्मार्त अथवा ... चाहता है । ...ते थे, तथापि उनकी ... विष्णु और शारदा ... प्रचलित थी और अवभी ...

९२. परमयोगी कौन

(१) "भगवद्... का अर्थ है संन्यासधर्म औ... शंकराचार्य का 'गीताभाष्य' प्रसिद्ध ... धर्म का अर्थ है कर्मयोग और इ... तिलक का "गीतारहस्य अथवा कर्म... नामक ग्रंथ लोगोंको परिचित है ...